रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला सं० ६

यजुर्वेद-भाष्यम्

महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मितम्

संस्कृतार्यभाषाभ्यां समन्वितम्

श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञ-पण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासु-विरचितविवरणेन
तद्भूमिकया च विभूषितं, तेनैव च संशोधितम् ।

तस्यायं

प्रथमो भागः

(दशाध्यायात्मकः)

स च

महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिभिः स्वयंसंशोधितैर्हस्तलेखैः
सम्मेल्य सम्यक् संशोध्य

अमृतसरीय--रामलालकपूरट्रस्टाख्यसंस्थया
वाराणसीस्थ-ज्योतिष-प्रकाश-मुद्रणालये मुद्रापयित्वा प्रकाशितः ।

वेद-सृष्ट्यब्दः १९७२९४९०६०
दयानन्दाब्दः १३५
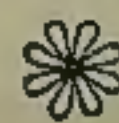
भाद्रपद २०१६ वैक्रमम्,
सितम्बर १९५९ ईशवीयम्

ट्रस्ट के उद्देश्य
प्राचीन वैदिक साहित्य का
अन्वेषण, रक्षा तथा प्रचार तथा भारतीय संस्कृति,
भारतीय शिक्षा, भारतीय विज्ञान
और चिकित्सा द्वारा जनता
की सेवा

*
**

संशोधितं परिवर्द्धितम्
द्वितीयं संस्करणम्
१०००—एकसहस्रम्

मूल्यम्
षोडशमुद्राः—१६)

*
**

प्रकाशकः—
मन्त्री रामलाल कपूर ट्रस्ट;
गुरुबाज़ार, अमृतसर

मुद्रकः—
बालकृष्णशास्त्री;
ज्योतिषप्रकाश प्रेस, कालभैरवमार्ग,
वाराणसी

यजुर्वेद-भाष्यम्
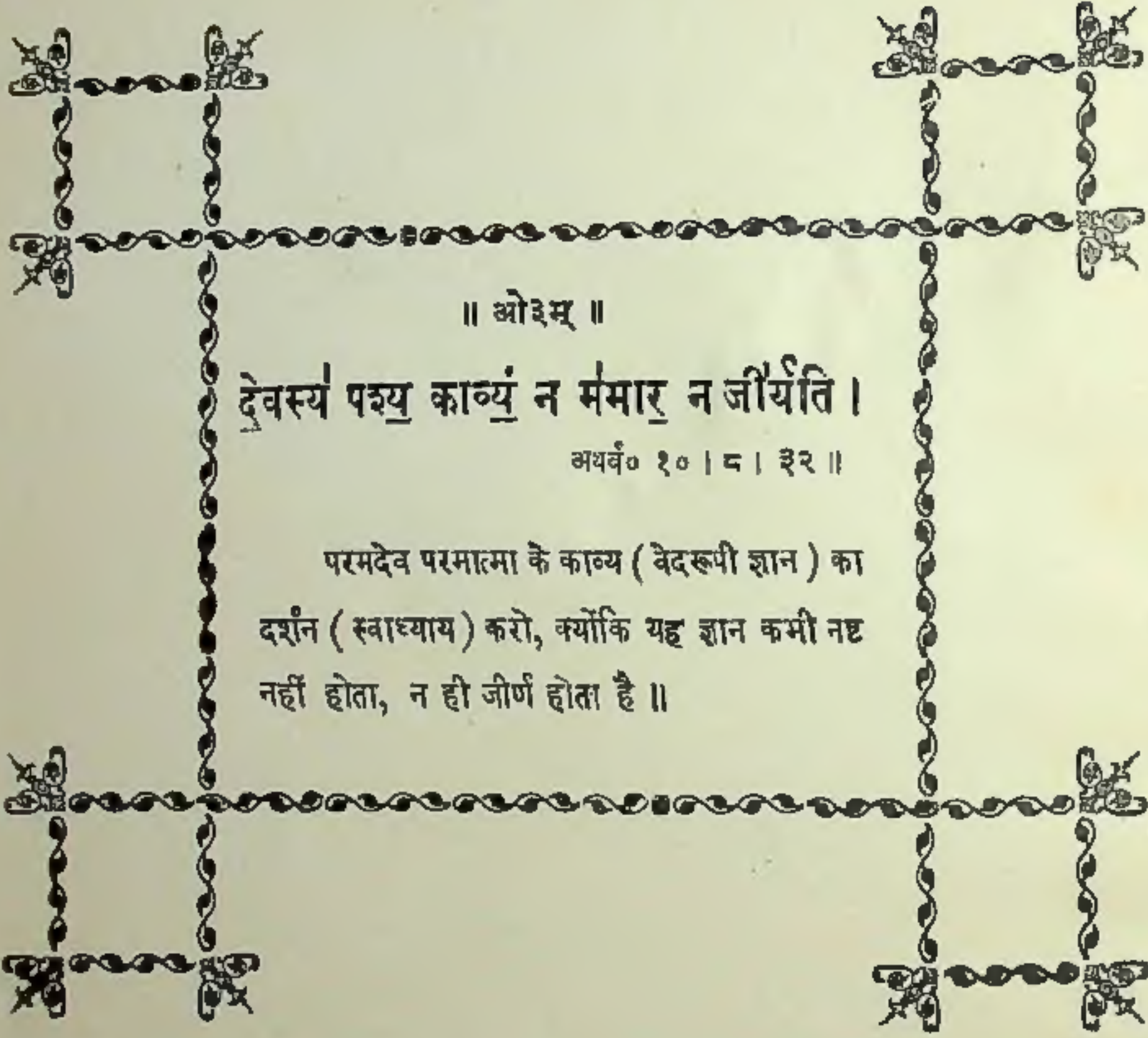
॥ ओ३म् ॥

देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।

अथर्व० १० । ८ । ३२ ॥

परमदेव परमात्मा के काव्य (वेदरूपी ज्ञान) का दर्शन (स्वाध्याय) करो, क्योंकि यह ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता, न ही जीर्ण होता है ॥

महर्षि दयानन्द

॥ ओ३म् ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य (प्रथम संस्करण)

वेदार्थ समझने का अधिकारी वेदार्थ की परिभाषाओं का विद्वान्, धर्मात्मा तथा ब्रह्मनिष्ठ ही हो सकता है। सो इन्हीं गुणों से सम्पन्न श्री पूज्यपाद पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने महर्षि श्री स्वामी दयानन्द जी के यजुर्वेदभाष्य पर जो टिप्पणी लिखी है, सो ऐसे ही महानुभावों का यह काम सदा रहा है। हर कोई यह नहीं कर सकता। श्री पण्डित जी को भी इस में कितनी कठिनाई आई, कितना समय लगा, कितना परिश्रम पड़ा, यह हमें ही ज्ञात है॥

आरम्भ आरम्भ में तो सब ध्यान छोड़ कर निरन्तर दिन रात वर्षों वेद के विषय को समझने के लिए तैयारी की। स्थान २ पर भिक्षा मांग कर, गुरुओं की सेवा कर, भटक २ कर आर्षग्रन्थ पढ़े, फिर कई वर्ष अनेक विद्यार्थियों को पढ़ाया। कभी २ मोक्षगामी श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज तथा हम लोग अधीर होकर पण्डित जी से कहा करते थे कि यह काम कब होगा ? श्री पण्डित जी कहा करते थे "यह वेद है कोई अन्य साधारण साहित्य नहीं, प्रथम अपना सन्तोष करलूँ फिर जो समझूँगा उपस्थित कर दूँगा।" अनेकों वर्ष आर्य तथा अन्य चोटी के विद्वानों से पण्डित जी इस विषय में संघर्ष करते रहे। अन्त में जब सन्तोष हो गया तो यह प्रेसकापी लिखनी आरम्भ की; जो अब छपाकर आप के सम्मुख उपस्थित कर सके हैं॥

इस यजुर्वेद भाष्य-प्रथमभाग के लिए जो कुछ हमें कहना था श्री पण्डित जी ने प्रायः अपने संक्षिप्त विवरण आदि में कह दिया है। हमारे लिये केवल धन्यवाद और सर्वसाधारण अपने जैसों को कुछ कहना ही शेष है। दूसरी बात इस लिए कि सर्वसाधारण की कठिनाईयां एक सर्वसाधारण ही समझ सकता है। सो पहिले हम सृष्टि के रचनेवाले सवितारूप परमात्मा का, जिसने हमारे सुख ऐश्वर्यार्थ जगत् रचा और उसी जातवेद प्रभु का धन्यवाद करते हैं जिसने जगत् को समझने के लिये रचना के साथ ही ऋषियों द्वारा इनका ज्ञान (वेद) दिया।

वेद शब्द का अर्थ ही ज्ञान है, जिसको अन्य भाषाओं में 'इल्म या Knowledge कहते हैं। वेद (ज्ञान) में सब प्रकार की सत्यविद्यायें आजाती हैं, जो प्राणिमात्र के लिये हितकारी हैं। यद्यपि प्रभु की देन बहुत बड़ी है, उचित शब्द धन्यवाद के लिये हमारे पास नहीं, परन्तु प्रभु अन्तर्यामी है अतः हार्दिक धन्यवाद उनकी सेवा में भेंट करता हूँ।

दूसरे कोटिशः धन्यवाद है उन ऋषिमुनियों का, जो इस वेद के विषय में समय २ पर ऐसे ग्रन्थ अपनी स्वानुभूत सच्चाइयों का निचोड़ दे गये, जो आज तक जब कभी कोई भूला भटका वेद के अर्थों का अनर्थ करना चाहता है, तो हमारी रक्षा करते हैं और अभी तक जिनकी कृपा से वेद के शुद्ध अर्थ समझने में हम समर्थ बने रहे हैं।

तीसरे इस युग के प्रवर्त्तक महर्षि श्री स्वामी दयानन्द जी का धन्यवाद करते हैं, जिन्होंने इस घोर विपरीत काल में और विरुद्ध वातावरण में, जब कि वेदों के मूलग्रन्थ भी दुर्लभ हो रहे थे और वेदाङ्ग भी कहीं २ भूमि के नीचे दबे हुए थे, या किन्हीं पण्डितों के घरों में गठरियों में बन्द थे, ऋषिवर

चप्पा २ छान मारा, अपने साहित्य का अवलोकन
ने तपोबल, योगबल तथा विद्याबल से भारतयात्रा कर चप्पा २ छान मारा, अपने साहित्य का अवलोकन
किया, प्रभु ने उन्हें दिव्य बुद्धि अथवा बल दिया ही था, अतः थोड़े ही समय में जन्मों का कार्य कर
गये। और शेष अनेक कार्यों के अतिरिक्त वेदार्थ के शुद्ध स्वरूप को समझने का मार्ग बता गये।
थोड़े काल में दिन रात के संघर्ष (कशमकश) के जीवन में, यात्रा की दौड़ धूप, अन्य विचार वालों
से दिन रात के शास्त्रार्थ अथवा लड़ाई झगड़े, और इस पर भी वेद के सूक्ष्म मर्म निकाल ऋग्वेदादि-
भाष्यभूमिका, सारा यजुर्वेद, ऋग्वेद के सात मण्डल के ६२ सूक्त २ मन्त्र तक का भाष्य करके छोड़ गये।
समय बड़ा विकट है, हमारे विद्वान् पण्डित वर्ग यत्न करने पर भी इस पथ को बहुत आगे स्पष्ट नहीं
कर सके। परन्तु हम इस युग के मनुष्यमात्र उस महर्षि का जितना भी धन्यवाद करें, थोड़ा है। हम भी
उनमें सम्मिलित हो श्रद्धा से धन्यवाद करते हैं। क्योंकि संसार की सुख शान्ति का मार्ग इस वेदार्थ
में ही निहित है। जब संसार सुखी होगा, इसी के आश्रय से होगा। इसका श्रेय तब अन्त में
ऋषिवर को मिलेगा।

अन्त में अब हम अपनों ही का धन्यवाद करते हैं अर्थात् श्रीयुत जिज्ञासु जी, पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक अजमेर, पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य विरजानन्दाश्रम लाहौर, पं० सत्यदेव जी आयुर्वेदाचार्य अमृतसर तथा श्री जिज्ञासु जी के अन्य विद्यार्थी वर्ग का जो समय २ पर इस कार्य में सहायक रहे, धन्यवाद करना अत्यावश्यक समझते हैं, कारण यह कि उन्हीं की तपस्या का फल है कि यह प्रथम भाग आप लोगों के सम्मुख उपस्थित कर सके हैं।

इसी प्रकार यह कार्य सफल न हो सकता, सम्भवतः बन ही न सकता, यदि परोपकारिणी सभा अजमेर, उसका वैदिक यन्त्रालय तथा श्री बा० हरबिलास जी शारदा सहयोग न देते। श्री स्वामी जी के हस्तलेखों का फोटो करवाकर न मिलता तो हम संशोधन का कार्य कर ही न सकते थे। न केवल इतना ही, अपितु एक बड़ा महत्त्वपूर्ण और आवश्यक यह कार्य आरम्भ हो गया कि ऋषि के सारे साहित्य का हस्तलेखों के आधार पर संशोधन हो रहा है। उसके लिए आर्यजनता के साथ सम्मिलित होकर हम इन सब का धन्यवाद करते हैं।

अन्त में यदि कोई नाम रह गया हो तो हम क्षमा चाहते हैं। इसलिए कदापि नहीं रह गया होगा कि हम कृतघ्न हैं, परन्तु हो सकता है, इस समय हमें ध्यान में न रहा हो॥

अब दो शब्द अपने जैसों से अर्थात् सर्वसाधारण से कहना भी अनुपयुक्त न होगा—

मनुष्य को जिस प्रकार जल में तैरने के लिए सीखना ही पड़ता है, इस में कठिनाइयां भी आती हैं, इसी प्रकार विद्यारूपी सागर में तैरना उसी को आता है, जो उसको परिश्रम से सीखता है।

जो कठिनाइयां मेरे सम्मुख आईं, उन्हें संक्षेप से वैसी ही वर्णित कर देता हूँ, ताकि जब अन्य मेरे जैसों के सामने वही स्थिति आवे तो कुछ सहायता मिल सके॥

आरम्भ आरम्भ में अनेक बार मैंने वेद का अध्ययन प्रारम्भ किया। हिन्दी पदार्थ जिसको मैं तब गुलाबी या बे मुहावरा हिन्दी कहा करता था, मेरा दम शीघ्र फुला दिया करता था। कई बार ऐसा हुआ और कई वर्ष इसी प्रकार से व्यतीत हो गये। क्रम (सिलसिला) चल न सका। आठ वर्ष हुये यह निश्चय ही कर लिया कि समझ में आवे न आवे, मन लगे या न लगे, यजुर्वेद का ऋषिभाष्य अवश्य पढ़ना है। यह व्रत धारण करते ही ईश्वर की कृपा हुई, हालात ऐसे बने कि मुझे विवश होकर लगभग एक वर्ष के लिए अपने विरजानन्दाश्रम में रहना पड़ा। फिर क्या था, श्री जिज्ञासु जी के चरणकमलों में कार्य सिद्ध हो गया। थोड़े ही काल में मुझे वेदरूपी अमृत जल में तैरने का साहस हो गया। जो वेद का पठनपाठन रूखा सूखा था, अर्थ न सूझते थे, अब बड़ा मनोरञ्जक, और रहस्यपूर्ण बन बया। अहह !!! ऊंचे से ऊंचे कार्य जो मनुष्य कर सकता है, या कर रहा है

या कभी मनुष्य ने किये, वा करेगा सबका बड़ा सुन्दर वर्णन मन्त्रों में बड़ा स्पष्ट, सब प्रकार से पूर्ण है। विद्या का भण्डार यह वेद देखकर मन गद्‌गद हो जाता है।

इस सम्पत्ति के अधिकारी हम जब अपनी अधोगति को देखते हैं तो रोना भी आता है, यजुर्वेद भाष्य का मैं दो बार पाठ कर चुका हूँ, एक वर्ष से ऋग्भाष्य का कर रहा हूँ, पर पेट नहीं भरता, जिस दिन पाठ नहीं होता ऐसा जान पड़ता है, जैसे भोजन विना भूखा हूँ।

आपको बता दूं कि मैं संस्कृत से अनभिज्ञ हूँ। जो थोड़ी बहुत जानता हूँ, वह इतनी नहीं कि मैं कह सकूं कि संस्कृत जानता हूँ, क्योंकि यह वेदार्थ समझने में स्वतन्त्र पर्याप्त नहीं। सो हिन्दी पदार्थ व भावार्थ के आधार पर पढ़ता हूँ, जहाँ इनमें अड़चन हो, कभी २ संस्कृत भाग की सहायता लेता हूँ। जो इससे भी न हो, वहां किसी न किसी आर्य विद्वान् से सहायता लेता हूँ।

यहाँ यह बात समझ लेनी आवश्यक है कि श्री स्वामी जी ने अर्थों की व्यापकता को हिन्दी में दर्शाने को अधिक महत्त्व दिया है। भाषा के जोड़ मेल में इतना ध्यान नहीं दिया, कारण मेरे विचार में हिन्दी भाषा इतनी दुर्बल है कि वेदमन्त्र के व्यापक अर्थ को जब कहने लगती है तो लड़खड़ा जाती है। अतः हिन्दी करने वालों का क्या दोष? मेरे विचार से हिन्दी में बहुत अधिक सुधार नहीं हो सकता, भय है कि ऐसा करने में अर्थ को हानि न पहुँच जावे। इस हिन्दी पदार्थ में स्वाध्यायशील के लिए अनेक प्रकार के अर्थ निकालने के संकेत हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अर्थ तो हैं ही, फिर समष्टि, व्यक्ति के हित, अनेक विद्याओं का विषय, सारी सृष्टि की रचना में कार्य करने वाले नियमों का भी वर्णन है, मन्त्र की भाषा का सौन्दर्य, हर प्रकार से सम्पूर्ण, यह सब हिन्दी भाषा में कैसे समा सकता था। सो इसकी परवाह न करके पाठक मूल शब्दों पर विचार करें, वेदार्थ की परिभाषायें ऋषियों ने खोल कर लिखी हुई हैं। आर्षग्रन्थों का नित्य ही पठनपाठन स्वाध्याय करें। जितना जिसका यह कोष बढ़ेगा, वेदार्थ उतना ही अधिक फल देगा। वेद का सुनना सुनाना पढ़ना पढ़ाना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है, ऐसा ऋषिवाक्य है। ऐसा न करने के लिए पण्डितों के पास तो कोई बहाना नहीं, अब मेरे जैसों को भी महर्षि हिन्दी में वेदार्थ करके निरुत्तर कर गये।

अब तो जो आर्य (हिन्दू) वेद का नित्य स्वाध्याय न करें, तो 'मन हमारी हुज्जतां ढेर' वाली बात है। करना नहीं चाहता और व्यर्थ बहाने ढूंढता है। सो यदि वेद के कुछ भक्त भी वेद का श्रद्धा से अर्थ सहित पाठ करके श्रवण, मनन, निदिध्यासन क्रम को पूर्ण करके लाभ उठावेंगे, तो हम अपने यत्न को सफल समझेंगे। अन्त में प्रभु से प्रार्थना है कि हम सब के अन्तरात्माओं में प्रेरणा करें कि हम सब सत्य विद्याओं के भण्डार वेद से विद्यारूपी धन प्राप्त कर मालामाल हों! देश जाति को उन्नत कर सकें!! प्राणिमात्र का कल्याण हो!!!

रामभवन-गान्धी स्क्वेयर
(लाहौर)
५ फरवरी १९४४ ई०

निवेदक—
रूपलाल
मन्त्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

यजुर्वेदभाष्य-विवरण का दूसरा संस्करण

यजुर्वेदभाष्य-विवरण के प्रथम भाग-१० अध्याय के प्रथम संस्करण को श्री पूज्यपाद पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने कई वर्ष लगा कर, बड़े परिश्रम से अपनी टिप्पणी सहित लाहौर रावी-तट पर विरजानन्द आश्रम में बैठ कर तैय्यार किया था, और महर्षि दयानन्द की वेदार्थप्रक्रिया का ज्ञान उन्होंने बड़ी विद्वत्तापूर्वक अपने विवरण में दिया। इस पुस्तक छपने के थोड़े समय पश्चात् ही अगस्त १९४७ में देश के विभाजन के साथ हमें लाहौर छोड़ना पड़ा। और इस वेद की पुस्तक का अन्य सब स्टाक लाहौर में रह गया। पैसा अखबार के जिस मकान में थे, वह १३ अगस्त १९४७ को भस्म कर दिया गया था। यहाँ आकर पहले लगभग ३ वर्ष तो नियत स्थान न बन सका। कई प्रकार की और भी प्रतिकूल वा अनुकूल विघ्न-बाधायें आती रहीं, और बहुत यत्न करने पर भी यह दूसरा संस्करण प्रस्तुत करने में १२ वर्ष का लम्बा समय लग गया॥

आशा है इसका अगला दूसरा भाग तैयार होने में अब कम समय लगेगा। उसकी तैय्यारी पूरे परिश्रम से जिज्ञासु जी महाराज कर रहे हैं। अभी पिछले अत्यन्त गर्मी के लगभग ३ मास का समय लगा कर अजमेर में बैठ कर प्रतिदिन सूर्योदय से सूर्यास्त तक काम में जुट कर परोपकारिणी सभा के पूरे सहयोग से महर्षिदयानन्द के हस्तलेखों से मिलान कर के अगली प्रेसकापी की तैय्यारी करते रहे। इसी कारण यह संस्करण, जो मार्च के अन्त तक निकलना चाहिये था, उसमें विलम्ब हो गया। परन्तु इसे अनुकूल विघ्न ही कहना चाहिये। आशा है इस विलम्ब के लिये सहृदय महानुभाव हमें क्षमा करेंगे॥

तेजवाटिका (अमृतसर)
२७ अगस्त १९५९ ई०

निवेदक
हंसराज कपूर
मन्त्री श्री० रामलाल कपूर ट्रस्ट

स्वर्गीय श्री० ला० रामलाल जी कपूर

असतो मा सद् गमय ! तमसो मा ज्योतिर्गमय !!

यजुर्वेदभाष्य-विवरण

की

योजना का संक्षिप्त विवरण

ट्रस्ट की स्थापना

२७ फरवरी सन् १९२८ को धर्मनिष्ठ-सदाचार की मूर्ति विद्याप्रेमी श्रीमान् ला० रामलाल जी कपूर (कागजों वाले) अमृतसर के स्वर्गवास के पश्चात् प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और साहित्य में श्रद्धावान्–धर्मानुरागी–उदारचित्त उनके सुपुत्रों श्री० बा० रूपलाल, बा० हंसराज, बा० ज्ञानचन्द, बा० प्यारेलाल जी कपूर ने अपने पूज्य पिता जी की स्मृति में एक ट्रस्ट स्थापित करने का विचार किया। मैं उस समय विरजानन्द आश्रम (पूर्व गण्डासिंहवाला अमृतसर) के अपने विद्यार्थियों सहित काशी में था। इनके प्रेम और आग्रह से ही १ मई १९२८ को विद्यार्थियों सहित अमृतसर पहुँचा और परस्पर परामर्श के पश्चात् ट्रस्ट का उद्देश्य—"प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण–रक्षा तथा प्रचार" निश्चित हुआ और ट्रस्ट की रजिस्ट्री हो गई ॥

यजुर्वेदभाष्य पर टिप्पणी का विचार

बहुत वर्षों से मेरे मन में यह विचार उठता था कि ऋषिदयानन्दकृत वेदभाष्य आर्यसमाज की अपनी संस्थाओं में भी पढ़ानेवालों की उपेक्षा के कारण श्रद्धा और उत्साह से नहीं पढ़ाया जाता, जैसा कि होना चाहिये। साथ ही यह विचार भी रह रहकर उठता था कि यह अपूर्व वेदभाष्य आज तक भी भारत के विश्वविद्यालयों[1] के पाठ्यक्रम तक में नहीं आ सका, जिसके लिये श्री स्वामी जी महाराज ने अपने जीवनकाल में विशेष यत्न किया।

---

१. हर्ष का विषय है कि सन् १९५१ से पंजाबविश्वविद्यालय की शास्त्रीपरीक्षा में विकल्प में ऋषिदयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य का कुछ अंश तथा गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज बनारस (वर्त्तमान संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी) में भी शास्त्री तथा आचार्य की परीक्षा में ऋषिदयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य का कुछ अंश पाठ्यक्रम में निर्धारित हो चुका है। जिसमें इन पङ्क्तियों के लेखक का भी कई वर्ष तक निरन्तर प्रयत्न रहा, जो प्रभुकृपा से सफल हुआ ॥

इस भाष्य के विषय में भारत तथा बाहर के अनेक विद्वानों—और अपनी आर्य संस्थाओं में पढ़े शास्त्री तथा स्नातकों के मनमें कई प्रकार के सन्देह वा शङ्कायें उत्पन्न होती हैं। उधर पढ़नेवाले योग्य विद्यार्थियों को अध्यापक लोग इस वेदभाष्य को तय्यारी करके पढ़ाने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। स्वाध्यायशील महानुभावों को कई प्रकार की बाधायें उपस्थित होती हैं। ये सब कठिनाइयां इस भाष्य के व्यापक प्रचार में बाधारूप सामने आते देखकर मेरे मनमें कुछ वेदना सी उठती थी॥

उधर हमारे इस ट्रस्ट ने स्वर्गीय श्री महात्मा हंसराज जी के प्रधानत्व में अपने ८ जुलाई १९२८ के प्रथमाधिवेशन में सबसे पहला प्रस्ताव ही यह पास किया कि—

"श्री० १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज के यजुर्वेदभाष्य पर टिप्पणी कराकर जितनी जल्दी हो सके, छपवा कर प्रकाशित किया जावे। और जहां तक हो सके, कम मूल्य रखा जावे······। इसके सम्पादन का कार्य श्री० पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने बड़ी कृपा से करना स्वीकार किया"।

इसी अधिवेशन में पञ्चमहायज्ञविधि से लेकर ऋषिकृत सन्ध्या १० हज़ार छपाकर अल्प मूल्य पर वितरण की जावें, यह भी निश्चय हुआ॥

टिप्पणीसहित छापने का विचार इस लिये भी हुआ कि इसके छापने का अधिकार परोपकारिणी सभा अजमेर को है, टिप्पणीसहित छापने में कोई बाधा न होगी और अल्पमूल्य बढ़िया शुद्ध संस्करण होने पर विश्वविद्यालयों की पढ़ाई में रखा जा सकेगा॥

यद्यपि मैं पहले से ही इस वेदभाष्य का स्वाध्याय करता रहता था, तथापि उपर्युक्त निश्चय होने के पश्चात् उक्त प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने के लिये, मैंने निरन्तर नियमपूर्वक वेदभाष्य का विशेष अनुशीलन करना आरम्भ कर दिया। सन् २८ और २९ के ग्रीष्मकाल के अवकाश का एक एक मास का समय विशेषरूप से इसी कार्य में लगता रहा। यह विदित रहे कि इस समय में मेरा मुख्य काम ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्षपाठविधि के अनुसार अपने विद्यार्थियों को अष्टाध्यायी महाभाष्य-निरुक्तादि पढ़ाना था। तीन श्रेणियां थीं। इन सबको पढ़ानेवाला मैं स्वयं अकेला ही था। उधर ट्रस्ट के संचालक महानुभावों की सेवा में मैंने यह बात आरम्भ में ही स्पष्ट कर दी थी कि मेरा मुख्य काम ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्षपाठविधि का है। उससे समय बचने पर ही मैं ट्रस्ट सम्बन्धी कोई भी काम कर सकूंगा, और अब तक भी प्रायः मेरी यही स्थिति है, आगे का ज्ञाता परमेश्वर है॥

विशेष घटना

यद्यपि ट्रस्ट के संचालकों का बहुत आग्रह था कि मैं इस वेदभाष्य पर टिप्पणी तय्यार कर दूं तो शीघ्र छाप दिया जावे, क्योंकि काग़ज़ तो घर में था ही, प्रेसों की कमी नहीं। पर मेरा हृदय टिप्पणी लिखते हुए बहुत ही झिझकता था, कि कहां वेद—कहां ऋषि का भाष्य और कहां मैं !!! यह काम तो आर्यसमाज के अनेक प्रौढ़ विद्वानों द्वारा होना चाहिये। पर एक ऐसी विशेष रोचक घटना घटी, जिसका वर्णन मेरे लिये अनिवार्य सा हो रहा है—

सम्भवतः सन् १९२९ के दिसम्बर मास की बात है, जब मैं अपने आश्रम (रामभवन अमृतसर) में बैठा यजुर्वेदभाष्य के "आयं गौः पृश्नि०" (यजु० ३। ६) मन्त्र पर विचार कर रहा था। उसमें श्री० स्वामी जी महाराज ने "गौ" का अर्थ किया—"गौरिति पृथिवीनामसु पठितम्। निघ०॥ गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरंगता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति" निरु० २। ५॥ यहां गौ का अर्थ पृथिवी स्वामीजी ने निघण्टु तथा निरुक्त के उपर्युक्त प्रमाण से किया और "पृथिवी घूमती है" इस विषय का प्रतिपादन किया। मैंने स्वयं ही स्वामीजी के उपर्युक्त अर्थ पर अपने मनमें प्रबल पूर्वपक्ष उठाया कि स्वामी जी का यह अर्थ करना ठीक नहीं, क्योंकि उसी निरुक्त में और उसी स्थल में "आदित्योऽपि गौरुच्यते" (निरु० २। ६) सूर्य को भी 'गौ' कहा है। निरु० २। १४ में भी यास्क ऐसा ही मानते हैं। तो फिर यहां इस मन्त्र में 'गौ' का अर्थ पृथिवी ही कैसे है,

आदित्य क्यों नहीं ? उधर जब ऋग्वेद-सामवेद-अथर्ववेद-तैत्तिरीय संहितादि में अनेक स्थलों पर इस मन्त्र का सायणाचार्य का अर्थ देखा तो इन सब में "गौ" का अर्थ 'सूर्य' ही मिला और सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमता है, सब जगह ऐसा ही सायण का अर्थ पाया। सूर्य अपनी परिधि पर घूमता है, ऐसा लिखा होता, तब भी कोई बात थी ॥

अब इतने प्रबल पूर्वपक्ष को उठाकर आत्मा में शान्ति कैसे हो सकती थी। निरन्तर सप्ताह भर इसी पर विचार करते २ बड़ी ही व्याकुलता रही। अन्त में सातवें दिन अथर्ववेद का एक मन्त्र (अथर्व० १२ । १ । ५२) मिला, जिसमें "वर्षेण भूमिः पृथिवी वृताऽवृता०" अर्थात् वर्ष भर में भूमि अपना चक्र काट कर पूरा करती है, ऐसा कहा गया है। उधर गोपथब्राह्मण (गो० ४ । १०) तथा ऐतरेयब्राह्मण (ऐ० ब्रा० १४ । ६) में "स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति" (देखो विवरण पृ० २४८ से २५५ तक) वाला स्थल भी मिला तथा अन्य भी कई प्रमाण मिले। जिस से सारा विषय स्पष्ट होकर शङ्का निर्मूल हो गई ॥

पाठकवृन्द ! सत्य समझें समाधान सामने आने पर जो अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ, उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। जैसे कि कोई धनी अपने व्यापार में लाख या करोड़ रुपया मिल जाने पर अपनी प्रसन्नता शब्दों द्वारा प्रकट करने में असमर्थ होता है, लगभग वैसी ही अवस्था मेरी थी ॥

इसी प्रकार सर्वत्र टिप्पणी लिखते समय श्री० स्वामी जी महाराज के भाष्य को प्रथमतः ही ठीक समझ कर लिखने में मैं प्रवृत्त नहीं होता रहा। अपितु प्रत्येक स्थल पर प्रबल पूर्वपक्ष अपने मन में उपस्थित करके, उनका ठीक समाधान विचार कर ही सदा इस विवरण के लिखने में प्रवृत्त होता रहा हूं ॥

विवरण लिखने का दृढ़ संकल्प

बस उस दिन से मेरे मन में यह भाव दृढ़ हो गया कि यद्यपि यह काम अनेक आर्य विद्वानों के करने का है, पर इसका ढङ्ग पता नहीं कभी बने भी या न बने, अपनी बुद्धि, शक्ति, थोड़ी बहुत विद्या के अनुसार जितना तुम से हो सके उतना कर दो, आगे जो भी विद्वान् चाहेगा, वह उससे आगे लिखेगा। और तब से मेरा मन ऋषि के यजुर्वेदभाष्य में लग गया और मैंने विवरण लिखने का दृढ़ संकल्प कर लिया। सन् ३० के आरम्भ में मैंने टिप्पणी में प्रौढ़ता अनुभव की। इसी लिये सन् ३० के ग्रीष्मावकाश में आर्यसमाज वेद्धन डलहौज़ी में एक मास निरन्तर इसी कार्य में लगाया। जिसमें ५ अध्याय तक सामान्य टिप्पणी तय्यार की और प्रथम और द्वितीयाध्याय की विशेषतया तय्यार हुई। यह मेरे इस विवरण का उपक्रम समझना चाहिये ॥

जहां सन् २८–२९ में मैंने सम्पूर्ण महाभाष्य आठों अध्याय बहुत ही परिश्रम से अपने विद्यार्थियों को पढ़ाया, वहां सन् ३० में निरुक्त के पढ़ाने में भी बहुत ही परिश्रम पड़ा। सन् ३१ के आरम्भ से महात्मा हंसराज जी द्वारा "वेद में इतिहास" विषय पर आर्यसमाज का ऐतिहासिक शास्त्रार्थ वा विचार हुआ। जो विशेष निमन्त्रित आर्यविद्वानों तथा नेताओं के सामने ही हुआ था, (जिसकी पौने दो सौ पृ० की रिपोर्ट तय्यार हुई)। उस में श्री० बा० रूपलाल, बा० हंसराज, बा० ज्ञानचन्द जी की ही विशेष प्रेरणा से आर्य समाज की रक्षा के विचार से हम लोगों को बहुत सा समय लगाना पड़ा। सन् १९३१ में दो मास के ग्रीष्मावकाश के समय डलहौज़ी में मैंने १० अध्याय की टिप्पणी अक्तूबर के अन्त में समाप्त कर ली थी। उस समय उपर्युक्त शास्त्रार्थ हो चुका था ॥

काशी में सवा तीन वर्ष

अन्त में मीमांसा-श्रौत और ब्राह्मणों की प्रक्रिया के गम्भीर ज्ञान की अपने में कमी अनुभव करके, उसकी पूर्ति के लिये ही दूसरी बार दिसम्बर सन् ३१ में मैं सब विद्यार्थियों सहित पुनः काशी पहुँचा और निरन्तर फरवरी १९३५ तक काशी में शीतलाघाट राजमन्दिर मुहल्ले में रहा। जिस में अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ और मीमांसा-श्रौत-ब्राह्मण आदि का मर्म समझ में आया, जिसे मैं आर्यसमाज की बहुमूल्य सम्पत्ति समझता हूँ, अपनी नहीं ॥

काशीवास के इस निरन्तर सवा तीन वर्ष के समय में यजुर्वेदभाष्य-विवरण का काम आगे कुछ भी नहीं हो सका। हां १९३३ में अजमेर निर्वाणार्द्धशताब्दी पर छापने के लिये काशी में ही जून तथा जुलाई १९३३ में प्रथमाध्याय की प्रेसकापी तय्यार की, जिस में एक मास का समय लगा होगा और हम यह एक अध्याय दयानन्दनिर्वाणार्द्धशताब्दी अजमेर के अवसर पर नमूने के रूप में प्रकाशित करना चाहते थे। बड़े आश्चर्य की बात है कि प्रथमाध्याय की यह प्रेसकापी उस समय न जाने हम कैसे छापने को तय्यार थे, जब कि अभी हस्तलेखों से मिला भी नहीं पाये थे। इस समय जब मैं उस समय के साहस को विचारता हूं तो मुझे हंसी आने लगती है॥

लाहौर में विवरण का पुनः आरम्भ

काशी से लौट कर हम मार्च १९३५ में लाहौर आये और विरजानन्द आश्रम के वर्तमान स्थान रावीतट पर कार्य आरम्भ किया। सितम्बर १९३४ से काशी में ही भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका का कार्य आरम्भ कर चुका था, लाहौर आकर जुलाई ३५ तक १२ फर्मे इसकी प्रेसकापी तय्यार की। ऋषि के वेदभाष्य का काम इससे अधिक आवश्यक समझकर उसको छोड़ दिया और पूर्ववत् वेदभाष्य-विवरण के कार्य में लग गया। इस प्रकार सन् ३५ के अन्त तक भाष्य-विवरण के इस कार्य में सन् २८ से ३१ तक के ग्रीष्मावकाश के ५ मास और सन् ३३ का एक मास अर्थात् कुल ६ मास का विशेष निरन्तर समय लगा, यही कहा जा सकता है॥

कार्य का नया स्वरूप

हस्तलेखों से मिलान

यदि हम काशी न जाते मीमांसा-श्रौत और ब्राह्मण सम्बन्धी ज्ञान हमें वहां न मिला होता। तब तो दस अध्याय की टिप्पणी हम सन् ३१ में ही पूरी कर चुके थे, कुछ मास में ही छाप देते, और उस समय तो थोड़े ही दिनों में छप जाती। पर काशी में शास्त्रों के गहरे अनुशीलन ने हमारे पहिले किये हुए कार्य का सारा स्वरूप ही बदल दिया। ऐसा अनुभव होने लगा कि अब तो विवरण के इस कार्य को नये सिरे से आरम्भ करना होगा। हमने सबसे प्रथम ऋषि की हस्तलिखित प्रतियों से मिलान करना अत्यावश्यक समझा और १५ नवम्बर सन् १९३५ को हम चार व्यक्तियों ने अजमेर जाकर लगभग ४० दिन में यजुर्वेदभाष्य के दस अध्यायों का मिलान हस्तलिखित प्रतियों से किया, जिनका पूरा विवरण हम अन्यत्र दे रहें हैं॥

इस मिलान से हम ऋषि के वेदभाष्यादि ग्रन्थों की संशोधनप्रणाली की धारणा बनाने में समर्थ हो सके और हमें अपने सारे कार्य का पुनरवलोकन करना पड़ा। अब हम विवरण की चिन्ता छोड़ कर हस्तलेखों के मिलान से शुद्ध पाठों के निश्चय करने में निमग्न हो गये, और हमें अन्य सुधबुध कुछ भी नहीं रही॥

यह काम कितना कठिन और परिश्रमसाध्य है, यह मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। केवल हस्तलेखों से मिलान कर प्रेसकापी बनाने का काम दो वर्ष से कम का नहीं, वह भी १० अध्याय का। वैसे तो दो वर्ष में नया वेदभाष्य सम्पूर्ण यजुर्वेद ४० अध्याय का हो सकता था, चाहे वह कैसा ही होता॥

"अयं मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः"

उपर्युक्त मिलान से उत्पन्न हुई समस्या अभी पूर्ण नहीं हुई थी कि १९३६ के आरम्भ में एक नवीन समस्या और सामने आ खड़ी हुई। वह समस्या थी कि यजुर्वेदभाष्य के संस्कृतपदार्थ के अन्त में ऋषि दयानन्द का लेख है—"अयं मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः" अर्थात् इस मन्त्र का व्याख्यान शतपथ के अमुक स्थल पर है। इसका क्या अभिप्राय है, यह प्रश्न बड़ी प्रबलता से मन में उठा। क्या इसका अभिप्राय यह है कि श्री० स्वामी जी महाराज कहते हैं कि मैंने इस मन्त्र का यह अर्थ किया है और शतपथ का किया हुआ अर्थ वहां २ देख लेना। अथवा इसका यह अभिप्राय है कि मैंने इस मन्त्र का जो अर्थ किया है, उसकी पुष्टि के लिये शतपथब्राह्मण का यह निर्दिष्ट स्थल देख लेना अर्थात् मैंने जो अर्थ किया है, वह शतपथब्राह्मण के अनुसार है॥

यह प्रबल शंका उठी और सारा काम छोड़कर कुछ मास तो अर्थात् सन् १९३६ के जुलाई मास के अन्त तक केवल इसी एक समस्या के हल करने में उलझा रहा। और काशीवास के पश्चात् इसी विचार को मन में रख कर समस्त ब्राह्मणग्रन्थ-श्रौत और मीमांसा का अपनी प्रक्रिया से पुनः अनुशीलन किया, अन्त में इस विषय पर इतनी सामग्री एकत्रित हो गई कि "अयं मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः" पर एक नया ही ग्रन्थ लिखना होगा, ऐसा प्रतीत हुआ। पता नहीं इसका समय परमदेव परमात्मा की कृपा से कब प्राप्त होगा। इस प्रकार लगभग ६ मास उपर्युक्त अनुशीलन करने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचे कि श्री० स्वामी जी महाराज का संस्कृतपदार्थ निरुक्त के ढङ्ग पर सर्वतोमुखी है, अर्थात् सब प्रक्रियानुगामी है। उसी का एक देश अर्थात् प्रायः याज्ञिकपक्ष शतपथ में भी व्याख्यात है, जिसकी वस्तुतः परिसमाप्ति अध्यात्म में ही होती है (देखो विवरण पृ० ३७ टिप्पणी सं० ५)॥

अब हमने श्री० स्वामी जी महाराज के सूत्ररूप भाष्य के अभिप्राय को विशेषरूप में समझा और सहयोगियों से गम्भीर परामर्श-विमर्श द्वारा अपने विवरण की अन्तिम रूपरेखा निर्धारित की और ४ अगस्त १९३६ से इस भाष्य के विवरण का नया जन्म हुआ, अर्थात् पुनः लिखा जाना आरम्भ हुआ। प्रतिदिन ७–८ घण्टे इसी कार्य में निरन्तर लगाने पर प्रथमाध्याय का विवरण अपनी नई धारणानुसार दिसम्बर ३६ में कहीं जाकर समाप्त हो पाया॥

हस्तलेखों के फोटो प्राप्त करने का संकल्प

१९३५ के अन्त में मिलाकर लाये उपर्युक्त मिलान से कार्य करते समय उसकी अपूर्णता का अनुभव होने लगा और यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि जब तक यह काम चले तब तक हस्तलेखों का हमारे पास निरन्तर उपस्थित रहना आवश्यक है। आरम्भ के कुछ अध्यायों में तो अनिवार्य ही है, ऐसा तीव्र विचार उत्पन्न हुआ। २६ दिसम्बर ३६ को निश्चय किया कि हस्तलेखों की असली कापी सामने होनी चाहिये, तब काम ठीक चल सकेगा। और अगले ही दिन अर्थात् २७ दिसम्बर को उनको प्राप्त करने के लिये अजमेर चल पड़ा। अब या तो असली कापी लाहौर के लिये मिलती, या उसका फोटो मिलता, या आश्रम का काम बन्द कर दिया जाता और अजमेर में बैठकर यह काम किया जाता। ये सब एक से एक बढ़कर उलझन सामने आईं। कितनी भारी कठिनाई हमारे सामने उपस्थित हुई, यह वही विद्वान् समझ सकते हैं, जिन्हें हस्तलेखों से काम पड़ता है, जो सैंकड़ों वर्षों से एक ही निश्चित रूप में चले आ रहे हैं। हमें तो प्रत्येक मन्त्र का तीन २ कापियों से मिलान करना पड़ता था। उधर परोपकारिणी सभा ऋषि के हस्तलेखों के फोटो करा रही थी, जिसका विवरण हमने पृथक् दिया है। दीवान-बहादुर श्री० बा० हरविलास जी शारदा तथा सभा के अन्य स्थानीय सभासदों की कृपा वा प्रेम से हस्तलेखों के फोटो प्राप्त करने में समर्थ हो सका। और इस यजुर्वेदभाष्य के प्रथम और द्वितीय अध्याय का फोटो लेकर १५ जनवरी ३७ को मैं लाहौर पहुँचा। इस प्रकार १५ फरवरी सन् ३७ को जाकर कहीं हम यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र की दूसरी बार प्रेस कापी पूरी कर पाये और मार्च ३७ के आरम्भ में सम्पूर्ण अध्याय की प्रेस कापी समाप्त हुई। १ अगस्त १९३७ को द्वितीयाध्याय की प्रेस कापी पुनः लिखी जाकर पूर्ण हुई॥

विशेष बाधा

इसके पश्चात् लगभग एक वर्ष तक वेदभाष्य के इस कार्य में निम्नलिखित विशेष अन्तराय (रुकावट) उत्पन्न हो गये, जिससे यह कार्य स्थगित रहा—

(१) अगस्त से नवम्बर ३७ के अन्त तक ४ मास निरन्तर रुग्णता।

(२) दिसम्बर ३७ मेरठ में संयुक्तप्रान्तीय आर्यप्रतिनिधि सभा के स्वर्णजयन्तीमहोत्सव पर उत्पन्न हुये प्रधानतया "देवतावाद" विषयक प्रसिद्ध विवाद का उत्पन्न हो जाना।

(३) वेदभाष्य के लिये विशेषरूप से टीटाघर पेपर मिल्स कलकत्ता में अत्युत्तम रैग पेपर (Special Rag Paper) ट्रस्ट के संचालकों द्वारा तय्यार करवाया गया, जिसमें लगभग ६ मास का समय लगा।

(४) उपर्युक्त तय्यार कराये गये स्पैशल (विशेष) दो टन काग़ज़ पर वैदिक यन्त्रालय अजमेर में साधना-भाव से छपाई न हो सकने के कारण काग़ज़ रद्दी करके नया दो टन रैग पेपर बनवाना पड़ा, जिसमें कई मास का समय और लग गया।

इस प्रकार अनेक विघ्न बाधायें आने पर हम ६ सितम्बर १९३८ को प्रथम फ़र्मे का आर्डर देने में समर्थ हुये। और सन् ३८ में ३ अध्याय के ५० मन्त्र तक विवरण तय्यार हो पाया। सन् ३९-४० में ३ अध्याय से ५ अध्याय तक की प्रेसकापी पूर्ण हुई। सन् ४१ से ६-७-८ अध्याय की। सन् ४२ में ८-९-१० अध्यायों की प्रेसकापी पूर्ण हुई।

मुद्रण कार्य

जनवरी १९३७ में हमने एक मन्त्र (य० अ० १ मं० २) को विविध रूप में कम्पोज़ करा कर देखा जिसमें भाष्य और टिप्पणी दोनों ही दो कालम में छपा कर देखे। कई एक योग्य विद्वान् मित्रों के आग्रह से भाष्य को एक ही कालम में छापने का निश्चय किया। कपूर भ्राताओं ने साइज़ भी २२×३१ निश्चय किया, जिससे पर्याप्त मार्जन बना रहे। ६ सितम्बर १९३८ को प्रथम फ़र्मे का प्रूफ़ अन्तिम आर्डरी हुआ। इस प्रकार सन् १९३९ के अन्त तक दूर होने के कारण १३ फ़र्मे छप सके। सन् ४० में ५२ फ़र्मे तक, सन् ४१ में ७२ फ़र्मे तक, सन् १९४२ में १०२ फ़र्मे तक, १७ मई १९४३ को १०९ फ़र्मे अर्थात् १० अध्याय छप कर तैय्यार हुये। अन्तिम सूची तय्यार होकर १५ जुलाई १९४३ को समाप्त हुई। इस प्रकार लगभग १११ फ़ार्म का पुस्तक सन् ३८ से ४३ तक पांच वर्षों में छपा अर्थात् २२ फ़र्मे प्रति वर्ष छपे, यद्यपि प्रतिवर्ष कम से कम ४८ फ़र्मे छापने का वैदिक यन्त्रालय अजमेर के अधिकारियों ने निश्चय किया था॥

वैदिक यन्त्रालय अजमेर में कैसे छपा ?

प्रत्येक आर्यबन्धु के हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि लाहौर जैसे स्थान में उत्तम से उत्तम प्रेस होने पर भी अजमेर में इतनी दूर क्यों छपाया गया ? इसका कारण यह है कि सन् २८ से ३६ तक अनेक बार हस्त-लेखादि के अवलोकन, उनके संरक्षण तथा फोटो आदि के सम्बन्ध में वर्ष में कई कई बार अजमेर जाना पड़ता रहा (जिसका समस्त प्रबन्ध ट्रस्ट के संचालक महानुभाव अपनी उदारता से करते रहे, तब तक मैं परोपकारिणी सभा का सदस्य नहीं था)। इससे अजमेर के प्रतिष्ठित कार्यकर्ताओं के मन में मेरे प्रति विशेष प्रेम तथा आदर का भाव उत्पन्न हो गया और जब उनको यह पता लगा कि इतने परिश्रम से (जिस को कि वे स्वयं वर्षों से देख रहे थे) तय्यार किया हुआ ग्रन्थ छपने लगा है, तब स्वभावतः उनके मन में वैदिक यन्त्रालय अजमेर में ही छापने का प्रबल भाव उत्पन्न हुआ। तदनुसार दीवानबहादुर श्री० बा० हरबिलास जी शारदा मन्त्री परोपकारिणी सभा अजमेर ने एक पत्र श्री० मन्त्री रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर के नाम ता० ९। ९। ३६ ई० को लिखा, जिसकी मूल प्रतिलिपि अनुवाद सहित हम नीचे देते हैं—

To

The Secretary,

RAM LALL KAPOOR TRUST,

LAHORE.

Dear Sir,

I understand that a commentary on Swami Dayanand Saraswati's Bhashya on YAJUR VEDA has been prepared by Pt. Brahma Dattji Jijnasu. I am sure, it is a very valuable and learned work. As it has been written with a view to support and present a proper exposition of Swamiji's Bhashya, it is but meet that it may have some connection

with the heritage left by Swamiji. As the Paropakarini Sabha stands now in his place and is administering Swamiji's affairs and trying to propagate his views, it would be a good and a desirable thing, if this new publication, which has become possible only by your munificence and laudable interest in Vedic-studies, may have some connection with the Sabha. We know that full credit has to be given to you for this great and useful venture, and if consistant with this, arrangement could be made to achieve the purpose in view, I am sure the Paropakarini Sabha could be willing to co operate wi.h you in this. If you suggest an arrangement to have this accomplisLed, I shall be glad to hear from you and do all I can to see that it fructifies.

Hoping to hear soon.

AJMER
9th Sept. 1936.

Yours faithfully,
Sd. Harbilas Sarda,
Secretary,
Paropakarini Sabha.

[भाषानुवाद]

सेवा में

श्रीमान् मन्त्री जी रामलालकपूर ट्रस्ट—लाहौर।

श्रीमान् जी-नमस्ते !

मुझे ज्ञात हुआ है कि श्री० स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज के यजुर्वेदभाष्य पर श्री० पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने एक विवरण तय्यार किया है। मुझे विश्वास है कि यह एक बहुमूल्य और विद्वत्तापूर्ण काम हुआ है। चूंकि यह स्वामी जी महाराज कृत भाष्य की पुष्टि और उसकी उत्कृष्ट व्याख्या के रूप में लिखा गया है, अत एव इसका श्री० स्वामी जी महाराज के उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त कार्य के साथ सम्बन्ध होना उचित ही है। श्री स्वामी जी महाराज के उत्तराधिकारी के रूप में परोपकारिणी सभा काम कर रही है और उन्हीं के सिद्धान्तों का प्रचार कर रही है, इसलिये यह अच्छा हो और हम चाहते हैं कि यदि यह नया प्रकाशन जोकि केवल आपकी उदारता और वैदिक साहित्य में श्रद्धा से तय्यार हुआ है, वह इस सभा से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित रहे। यह हम जानते हैं कि इस महान् तथा लाभप्रद साहसयुक्त परिश्रम का सारा श्रेय आप का ही है। अतः इन उपर्युक्त बातों को दृष्टि में रखते हुये, यदि हमारे उक्त विचार की पूर्त्ति के लिये कोई मार्ग निकल सके तो परोपकारिणी सभा इस कार्य में आप को पूर्ण सहयोग देने के लिये तय्यार है। यदि आप कोई ऐसा मार्ग बतायें कि जिससे यह बात हो सके तो मुझे जान कर बड़ी प्रसन्नता होगी, और मैं उसकी पूर्त्ति के लिये पूरा उद्योग करूंगा॥

आशा है आप शीघ्र उत्तर देंगे॥

अजमेर
९ सितम्बर १९३६

भवदीय
ह० हरविलास शारदा
मन्त्री परोपकारिणी सभा

इस पत्र पर तथा वैदिक यन्त्रालय अजमेर के मैनेजर श्री० बा० चान्दमलजी चण्डक के विशेष प्रेमपूर्वक आग्रह पर ट्रस्ट की मीटिङ्ग में विचार किया गया, और ट्रस्ट ने सहर्ष अजमेर में छापने की स्वीकृति देदी।

इन कारणों से इस यजुर्वेदभाष्य-विवरण का छपना अजमेर में प्रारम्भ हुआ॥

परोपकारिणी सभा से मेरा सहयोग

हस्तलेखों की दुरवस्था

सन् १९२८ के अक्तूबर मास के अन्त में श्री० स्वामी व्रतानन्द जी के निमन्त्रण पर गुरुकुल चित्तौड़ की पाठविधि के विषय में विचारार्थ उदयपुर जाते समय मैं प्रथमबार अजमेर ठहरा। उस समय ऋषि के हस्तलेखों का साधारण परिचय श्री० म० गणेशीलालजी की कृपा से प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् पुनः १९३१ के अगस्त मास में दूसरी बार चित्तौड़ के पाठ्यक्रमादि के विचारार्थ तथा प्रबन्धार्थ जाते समय ता० १३ से २७ अगस्त के समय में जब मैं ऋषिदयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य के कुछ स्थल मूल हस्तलेखों से मिलाने लगा तो मेरे आश्चर्य और दुःख का कोई ठिकाना नहीं रहा, जब मैंने देखा कि वेदभाष्य सारे का सारा अस्त व्यस्त अवस्था में पड़ा हुआ है। मेरी डायरी में २० अगस्त १९३७ की तारीख में लिखा है—

"आज सारे दिन में प्रथम मण्डल के पृथक् भागों अर्थात् प्रैसकापी तथा असली कापी को पृथक् मात्र कर सके हैं। आज चारों लगे रहे। कार्य तब भी समाप्त नहीं हुआ, प्रैसकापी तो ठीक हो गई"।

ता० २१ में—"असली कापी के पृष्ठ मिलवाये तथा अध्यायानुसार पृथक् २ मोटे कागज़ों में लपेटा"।

ता० २२ में—"यजुर्वेद व्यवस्थित हो गया। ऋग्वेद प्रथम मण्डल में अत्यन्त ही परिश्रम करना पड़ा। ६ घण्टे निरन्तर कार्य करने पर भी अभी शेष है"

डायरी के इस लेख से ही स्पष्ट है कि हस्तलेखों की क्या अवस्था थी। ऋग्वेद के पत्रों को जो सर्वथा ही अव्यवस्थित थे, पहले मण्डलवार छांटा, फिर सूक्तवार, फ़िर मन्त्रानुसार।

उस समय का मुझे स्मरण है, स्थल देखने की सम्भावना न देखकर एक बार तो उन हस्तलेखों को उसी अवस्था में छोड़कर आने का विचार मन में उठा। पर तत्काल ही मन में आया कि परोपकारिणी सभा के अधिकारियों को तो पाप जब लगेगा तब लगेगा, तुमको तो अभी से लगेगा, क्योंकि तुम इस दुरवस्था को स्वयं अपनी आंखों से देख रहे हो। देखने और समझने वाले को ही पाप अधिक लगा करता है। वेदभाष्य के स्थल देखने का विचार छोड़ कर मैंने और ब्र० युधिष्ठिर ने वहीं के दो और व्यक्तियों को साथ लेकर उन सारे हस्तलेखों को २७ अगस्त तक (१५ दिन) का निरन्तर समय लगा कर ठीक किया। तब कहीं आत्मा में सन्तोष हुआ कि चलो ऋषि का कुछ ऋण ही उतरा॥

(२) सहयोगविषय के इस प्रकरण में यह भी ज्ञात रहे कि हम परोपकारिणी सभा के साथ सन् ३० से ही ऋषिदयानन्द का कार्य समझ कर सहयोग करना चाहते थे। इसके लिये हम सन् ३० से ऋषि के अभूतपूर्व अष्टाध्यायीभाष्य का कार्य, बिना किसी व्ययादि के लिये, करने को तय्यार थे और इस आशय का एक पत्र परोपकारिणी सभा को लिखा था, जिसका उन्होंने कोई उत्तर न दिया क्योंकि तब परिचय न था॥

फोटो की आवश्यकता का अनुभव

(३) उपर्युक्त हस्तलेख ठीक करते समय हमें अनुभव हुआ कि सन् १८७५ के हाथी छाप के कागज़ पर जो अपनी आयु समाप्त कर चुका है, जिसका रङ्ग एकदम मटियाला हो चुका है और हाथ लगाने से भुर भुराकर गिर पड़ता है, तथा पीले पीले कागज़ों पर लेयी से चिपकाई हुई सैकड़ों चेपियां वा चिटें, जो संशोधन के काम के लिये परमावश्यक हैं, ये सब कैसे सुरक्षित रहेंगी? इस चिन्ता ने मुझे अत्यन्त व्याकुल कर दिया। और मैंने "महर्षि दयानन्दकृत हस्तलेखों का फोटो" विषयक लेख कई आर्यपत्रों के ऋष्यङ्कों में लिखे और आर्य समाज के मुख्य नेताओं, आर्यजनता तथा परोपकारिणी सभा के सदस्य महानुभावों का इस महान् कार्य की आवश्यकता की ओर समझा समझा कर ध्यान आकर्षित किया। तब कहीं श्री० पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज की विशेषप्रेरणा से परोपकारिणी सभा के माननीय सदस्यों ने पांच हज़ार ५०००) रुपये की फोटो की मैशीन १९३३ में

वैदिक यन्त्रालय अजमेर में लगा दी और २० सहस्र पृष्ठों के फोटो करने का विचार किया। जिसमें लगभग २० सहस्र रुपये का व्यय उस समय सोचा गया, और जनता से सहायता की अपील भी की गई।

(४) सन् ३३ में मैं काशी में था। अजमेरवालों ने मेरी सम्मति के बिना ही सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति की ५ पांच प्रतियां शीघ्रता में फोटो करा डालीं। यद्यपि दूसरी प्रति का फोटो करना अधिक आवश्यक था॥

परोपकारिणी सभा की सदस्यता

(५) सन् ३१ से ३६ तक तो अजमेर मेरा तीर्थस्थान सा बन चुका था। जब भी अवसर मिलता, मैं अजमेर पहुँच कर ऋषि के हस्तलेखों के दर्शन और अनुशीलन में निमग्न हो जाता। इसमें ऋषि के परमभक्त अजमेर के उस समय के निवासी श्री० ला० हरजसराय जी मेरे विशेष सहायक थे। अब कई एक सदस्यों के अनुरोध और श्री० दीवान बहादुर बा० हरबिलास जी शारदा के तार पर मैं १४ नवम्बर १९३६ को अजमेर पहुँचा और उसी दिन की मीटिङ्ग में मुझे सर्वसम्मति से श्रीमती परोपकारिणी सभा का सदस्य चुना गया। सम्भव है इससे ऋषिदयानन्द के कार्य में कुछ सुगमता होगी, मैंने कर्त्तव्य समझ कर स्वीकार कर लिया और उस अधिवेशन में सम्मिलित हुआ॥

सदस्य बनने से पूर्व मुझ पर लाहौर में अपने आश्रम के छात्रों को अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्त-मीमांसादि आर्षग्रन्थों को ५, ६ घण्टे प्रति दिन पढ़ाने का तथा यजुर्वेदभाष्य के विवरण के काम का ही पर्याप्त भार था। बाहर मैं प्रायः यथासम्भव जाता ही नहीं था जैसा कि अब भी, परोपकारिणी सभा का सदस्य हो जाने पर मेरे ऊपर स्वभावतः एक दम इस सभा का कार्यभार और आ पड़ा। तथा उसी दिन के अधिवेशन में यह प्रस्ताव निश्चित हुआ—

"श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु की सम्पादकता में अष्टाध्यायीभाष्य तैयार कराया जावे। उनकी सहायता के लिये दो पण्डित ८०) रुपये माहवार के नियत किये जावें, जो अष्टाध्यायीभाष्य के अतिरिक्त शतपथब्राह्मण वा ऋग्वेदभाषाभाष्य का भी कार्य करेंगे" ॥

इस प्रस्ताव के अनुसार दिसम्बर १९३६ से पं० सत्यदेव जी की अष्टाध्यायीभाष्य के कार्य में सहायक रूप में नियुक्ति हुई और वे लाहौर में रहकर प्रतिदिन नियमानुसार कार्य करने लगे। यह अष्टाध्यायीभाष्य जहां ऋषि की अलौकिक अभूतपूर्व कृति है, वहां व्याकरणविषय का ग्रन्थ होने से अत्यन्त कष्टसाध्य काम है! जहां पं० सत्यदेव जी का प्रतिदिन पूरा समय लगता था, वहां मेरा तथा प्रिय पं० युधिष्ठिर मीमांसक दोनों का प्रतिदिन आधा समय निरन्तर तीन वर्ष तक अर्थात् सन् ३९ के अन्त तक लगता रहा। जिसके लिये रामलालकपूर ट्रस्ट के संचालकों का अति धन्यवाद है, क्योंकि उन्हों ने ऋषि का कार्य समझ कर चाहे वह कहीं भी हो, कभी आपत्ति नहीं की। तभी यह कार्य हो सका। तृतीय और चतुर्थ अध्याय की प्रेसकापी तय्यार हो पाई, जिसमें प्रथम भाग से दुगुनी से अधिक प्रेसकापी बनी। ५४२ + ५४० = १०८२ पृ० अन्तिम प्रेस कापी बनी और कुल १००० + १४०० = २४०० पृ० फुलस्केप लिखा गया। ४८० पृ० में द्वितीय भाग छपा। चतुर्थ अध्याय की प्रेस कापी तय्यार पड़ी है, न जाने उसके छापने में विलम्ब क्यों हो रहा है[1]। शतपथ ब्राह्मण का काम करने को मैं तय्यार था, पर सभा के अधिकारियों ने न जाने क्यों अपना विचार बदल दिया॥

मूलवेद छापने तथा ऋषिकृत वेदभाष्य की प्रेसकापी का निश्चय

(६) २१ जुलाई १९३८ को परोपकारिणी सभा में निश्चय हुआ—

(i) **"एक पण्डित श्री पं० ब्रह्मदत्त जी के पास रहकर जितने वेदों के संस्करण निकले हैं, उन सबको मिलाकर प्रेसकापी तैयार करे और वह कापी बनारस (काशी) भेज कर वैदिक विद्वानों से दिखला कर श्री० पं०**

---

१. हर्ष का विषय है कि अब परोपकारिणी सभा इस चतुर्थाध्याय के अष्टाध्यायीभाष्य को छापने को तैयार है।

ब्रह्मदत्त जी अपने दस्तख़तों से प्रेसकापी पूर्ण तय्यार कराकर वैदिक यन्त्रालय में भेजें और यन्त्रालय अन्तिम प्रूफ पं० ब्रह्मदत्त जी को भेजकर और स्वीकृत कराकर छाप देवे। इस कार्य के लिये एक पण्डित ६०) रु० मासिक तक का श्री० पं० ब्रह्मदत्त जी के पास रखा जावे ॥

(ii) "ऋग्वेदभाष्य की प्रेसकापी तय्यार करने के लिये दो विद्वान् पण्डित रखे जावें कि जो हस्तलिखित सब कापियों को मिला करके एक कापी तय्यार करें। दोनों पण्डितों को १२५) रु० मासिक तक शुल्क दिया जावे। इस शुद्ध कापी के अनुसार ही वेदभाष्य छापा जावे। यह अन्तिम शुद्ध प्रेसकापी श्री० पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के हस्ताक्षरों से प्रैस में भेजी जावे। तदनन्तर यन्त्रालय अन्तिम प्रूफ पं० ब्रह्मदत्त जी से पास करा के छाप देवे" ॥

इन दोनों प्रस्तावों में मूल ऋग्वेद तथा ऋग्वेदभाष्य की प्रेसकापी बनाने का निश्चय किया गया। अष्टाध्यायीभाष्य का काम तो निरन्तर चल ही रहा था, अब कार्य का भार मेरे ऊपर और आ पड़ा। पूर्व निश्चयानुसार ऋग्वेद मूल के काम में श्री० पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक की नियुक्ति स्वीकृत हुई, जिन को रामलाल कपूर ट्रस्ट के कार्य से हटा कर इधर लगाना पड़ा। और वह चार मास इस कार्य में लगे रहे और बहुत ही योग्यता से इस कार्य का सम्पादन किया। हम ने सभा को कह दिया था कि यह कार्य हम लगभग १॥ डेढ़ वर्ष में पूरा करेंगे, अधिक से अधिक दो वर्ष में। उधर ऋग्वेदभाष्य की प्रैसकापी तय्यार करने के लिए दो पण्डित अजमेर में ही कार्य करने लगे और हस्तलेखों से मिला कर उसकी प्रैसकापी बन कर मेरे पास आने लगी। इस प्रकार अष्टाध्यायीभाष्य-ऋग्वेदमूल-ऋग्वेदभाष्य की उपर्युक्तरीति से तय्यार की हुई प्रैसकापी तथा ऋग्वेद के भाषाभाष्य की पृथक् प्रेसकापी का काम, इतने बड़े २ महान् कार्य थे, जिन में मुझे दिनरात लगना पड़ रहा था। अत्यन्त परिश्रम पड़ने पर भी मुझे यही ध्यान आता था कि ऋषि का काम ही तो हो रहा है, कोई बात नहीं ॥

अजमेर के कार्य में उलझन

(७) लगभग ४ मास उपर्युक्त कार्य सभा की प्रस्तावित विधि के अनुसार चला होगा, कि न जाने क्यों सभा के मन्त्री जी वा अन्य अधिकारियों ने मूल ऋग्वेद को ३१ । ७ । ३८ के निश्चय के सर्वथा[1] विपरीत, पूर्वोक्त प्रस्तावों में स्वीकृत प्रक्रिया को न मानकर, एकदम छाप देने का आग्रह किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हमें चाहते हुये भी मूल ऋग्वेद के काम को छोड़ देना पड़ा। वह जिस प्रकार छपवाना चाहते थे, उसका कुछ लाभ न होने से हम ने स्वीकार नहीं किया और इस कार्य को छोड़ दिया ॥

इस प्रकार इस बार (सं० १९९९) के छपे मूल ऋग्वेद के साथ हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यह बात भी इस लिये लिखनी पड़ रही है कि "आर्यमार्त्तण्ड" ता. १ सितम्बर १९४० में लिखा था कि यह कार्य मेरे द्वारा हो रहा है। जिस शीघ्रता के लिये ३१ । ७ । ३८ की सर्वसम्मत प्रस्तावित प्रक्रिया का त्याग वा उल्लङ्घन किया गया, वह शीघ्रता भी न हो सकी और मूल ऋग्वेद १॥ वर्ष के स्थान में २॥ वर्ष में छपा, और वह भी पहले जैसा ही रहा। हां, आकार प्रकार आरम्भ में हमारी सम्मति से अच्छा हो गया था, नहीं तो वर्त्तमान रूप में कभी न छपता ॥

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि अजमेर के कार्य ने हमारे वेदभाष्य के इस कार्य में अत्यन्त बाधा डाली, और दुर्भाग्यवश वह काम भी न हो सका ॥

दीपावली १९४२ से पुनःसहयोग

(८) नवम्बर सन् १९४२ में सभा के कुछ माननीय सदस्यों की अति प्रबल इच्छा होने के कारण मैंने सभा के कार्यों में पुनः सहयोग देना स्वीकार किया। उन का यह आग्रह था कि मैं सभा के कार्य को स्वीकार कर लूँ, मना न कर दूं। अतः मैंने विषम परिस्थिति होने पर भी अथर्ववेदमूल का काम स्वीकार कर लिया जो मेरी देख रेख में दो पण्डितों द्वारा अजमेर तथा लाहौर में हुआ। जिस में यह आज्ञा दी गई कि हम उसे छः मास

१. सम्भवतः अति शीघ्रता के विचार से ही ऐसा हुआ होगा ॥

में पूरा करके दें। मैंने भी उसको इस लिये स्वीकार कर लिया कि सभासद् महानुभाव यह न कहें, कि मैं काम करने को तय्यार नहीं। हमने जैसे तैसे अत्यन्त ही परिश्रम करके अथर्ववेद के काम को पूरा किया। यदि वह हमारी इच्छानुसार होता तो उस में निःसन्देह अपूर्व सुन्दरता आ सकती थी। यह बात ऐसे कार्य करने वाले व्यक्ति ही समझ सकते हैं। ६ मास के काल की अवधि न लगाई गई होती तो यह काम और भी उत्तमरीति से पूर्ण होता, क्योंकि इतने स्वल्प समय में हस्तलेखादि का संग्रह और वैदिकों से संशोधन भी (जैसा चाहते थे) न करा सके॥

अथर्ववेद का कार्य समाप्त करने के पश्चात् और भी कई ग्रन्थों का सम्पादन तथा संशोधन हो चुका है और आगे यह कार्य चल रहा है।

यह सब वर्णन करने का यजुर्वेदभाष्य के विवरण में भला क्या प्रयोजन और क्या प्रसंग? यह सारा वर्णन हमें यहां इसलिये करना पड़ रहा है कि इन सारे कार्यों के कारण हमारे यजुर्वेदभाष्य के विवरण के कार्य में इतना अधिक विलम्ब हुआ है।

सन् ३९ तक तथा पीछे भी अजमेर के काम के कारण, जिसे मैं ऋषि का काम समझ कर लग जाता रहा, मेरा इतना समय लगता रहा, जिसको कि कोई प्रत्यक्षदर्शी ही ठीक २ अनुभव कर सकता है। काम में समय जावे तो कोई हानि नहीं। बैल ने चलना है, चाहे हल में चला लो, या कूये में। काम करना है ऋषि का, चाहे वह परोपकारिणी सभा द्वारा हो या रामलालकपूर ट्रस्ट द्वारा। मेरे मन में तो इस का भेद कभी आया ही नहीं। परोपकारिणी सभा से मेरा उपर्युक्त विस्तृत सहयोग मेरे यजुर्वेदभाष्यविवरण के इस कार्य में विलम्ब का सब से अधिक कारण बना।

दूसरे शब्दों में सब से बड़ा अनुकूल विघ्न मेरे लिये परोपकारिणी सभा का कार्य रहा, जिस में कि मुझे श्री० रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से करने की पूरी सुविधा रही।

जिस कार्य का बीड़ा श्री० रामलाल कपूर ट्रस्ट ने सर्वप्रथम उठाया, वह कार्य वस्तुतः ऋषि की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा का ही मुख्य काम था। हां, आर्यसमाज की अन्य सभाओं का भी कहा जा सकता है॥

अन्य अनुकूल विघ्न

अजमेर के कार्य से अतिरिक्त दूसरे कई अनुकूल विघ्न रहे, उन का उल्लेख भी संक्षेपतः करना मैं उचित समझता हूं। अभीष्ट तथा अनुकूल होने पर भी जिस से महान् कार्य में बाधा हो, उसे मैं अनुकूल विघ्न कहता हूँ। यह शब्द श्री० बा० रूपलाल जी से मिला, जो बहुत ही उपयुक्त और यथार्थ है। वे विघ्न निम्न प्रकार हैं—

महाभाष्य की भर्तृहरिटीका

(१) सितम्बर सन् १९३४ में काशी रहते हुये ही महाभाष्य पर भर्तृहरि की टीका, जिसकी संसार में एक ही हस्तलिखित प्रति सन् १९३० तक जर्मनी में ही थी। जिसके फोटो की प्रति पंजाब यूनिवर्सिटी से प्राप्त कर हमने प्रतिलिपि कर संशोधन भी किया। उस ग्रन्थ का सम्पादन, अपने अभिन्न मित्र काशी के योग्य विद्वान् श्री० पं० केदारनाथ जी सारस्वत की प्रबल प्रेरणा से, संस्कृतसाहित्यसमाज काशी की ओर से करने को मैं सितम्बर १९३४ में तय्यार हो गया, और उसके ४ फार्म काशी में ही छपे। उक्त संस्कृतसाहित्यसमाज की आर्थिक कठिनाई के कारण आगे का प्रकाशन उस समय बन्द हो गया। मैंने लाहौर आकर भी १२ फ़र्मों की प्रेसकापी जुलाई १९३५ तक तय्यार की। इस कार्य की काशी के प्रायः सभी मुख्य विद्वानों ने भूरि २ प्रशंसा की। मद्रास यूनिवर्सिटी के क्यूरेटर, संस्कृत के विद्वान् श्री पी० पी० ऐस० शास्त्री ने इसके शीघ्र छापने का आग्रह किया। नागपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रमुख विद्वान् श्री० पं० स० प्र० चतुर्वेदी ने लिखा—

"आप से निवेदन करने की आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन परम आवश्यक है। आप की प्रकाशित अंश पर टिप्पणियाँ अत्यन्त बोधप्रद और मार्मिक थीं, अतः आप इस पुण्यकार्य को बीच में न छोड़ें"।

पिछले मास ही इसी विषय में नैपाल के राजगुरु विद्वद्वर श्री० पं० हेमराज जी का पत्र आया। वह लिखते हैं—

"श्रीमत्सु विद्वद्वरब्रह्मदत्तजिज्ञासुमहाभागेषु..............भवद्भिः सम्पाद्य प्रकाश्यमानाया भर्तृहरिकृताया महाभाष्यव्याख्याया अष्टपृष्ठात्मकः प्राथमिको मुद्रित आदर्शो बहोः कालात् पूर्वं मया दृष्ट आसीत्।...भवद्भिर्बहुशो ग्रन्थान्तराण्यपि समालोच्य संवाददानेन साधु तत् सम्पादनं प्रक्रान्तमासीत्। येन सुवर्णे सुगन्ध इवावगम्यते, तादृशस्योत्तमलाभस्य प्रकाशनं योग्यरीत्योपक्रान्तमिति बहुशः सन्तोषविषय आसीत्, परं तत्प्रकाशनं सम्पन्नं न वेद्मि नाद्यापि विज्ञायते। अथ केनापि कारणविशेषेण तत्कार्यं स्थगितं चेदादर्शपत्रप्राप्त्या विवृद्धोत्कण्ठा सहसा कुण्ठीभवन्ती नितरां चेतो दुनोति।.....भावत्कः—हेमराजशर्मा।"

विद्वानों की दृष्टि में भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीका का यह काम कितना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है, उपर्युक्त लेख से स्पष्ट ज्ञात हो रहा है॥

सन् १९३५ में लाहौर आने पर तथा कुछ समय भर्तृहरि की टीका का उपर्युक्त कार्य करने पर मेरे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या भर्तृहरि टीका का सम्पादन पूरा करूँ, जिससे संसार के विद्वानों का प्रेमपात्र बनूँ, या उस लुप्तवेदार्थ के पुनरुद्धारक महर्षिदयानन्दकृत वेदभाष्य के कार्य को पूरा करूँ, जिसे मैं पहले ही से आरम्भ किये हुये हूँ। मैंने भर्तृहरि की उस टीका का सम्पादन स्थगित कर दिया, जो पिछले ८ वर्ष से पड़ा है। ऋषिभाष्य में ही संलग्न हो गया। यदि मेरे पास अपने आश्रम में महाभाष्य-निरुक्तादि का कई २ घण्टे का अध्यापनकार्य न होता, तब तो मैं भर्तृहरि की टीका और इस वेदभाष्यविवरण को एक साथ ही पूरा कर सकता था, पर आर्षग्रन्थों के अध्यापनकार्य को आज तक मैं किसी अवस्था में भी छोड़ने को तय्यार नहीं हो सका। यह मेरी कमी कही जावे, या आर्षपाठविधि में भक्ति।

सारभूत यही है कि अन्य योग्य विद्वानों की दृष्टि में जो कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, उस कार्य को भी मैंने वेदभाष्य के सामने अत्यन्त तुच्छ समझकर छोड़ दिया॥

(२) पठनपाठन के लिये कई वर्ष निरन्तर काशी रहने के कारण वहाँ के मुख्य २ पण्डितों में से बहुत से हमारे साथ घनिष्ठ प्रेम में बन्ध गये, जिसके कारण शुद्धि आन्दोलन और गवर्नमैण्ट संस्कृत कालेज बनारस के पाठ्यक्रम में नया जीवन लाने के लिये अपूर्व सहायता मिली। वास्तव में वहाँ का बहुत सा कार्य लाहौर आ जाने पर भी इन माननीय महानुभावों की प्रेरणा से ही मुझे करना पड़ा। चिर अभीप्सित अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, प्राचीन दर्शन, तथा वेदनैरुक्तप्रक्रिया-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-ऋषिकृतवेदभाष्य आदि का समावेश यू० पी० गवर्नमैण्ट द्वारा काशी की परीक्षाओं में हो गया, जो कि अत्यन्त उज्ज्वल भविष्य का द्योतक था। अतएव स्वभावतः इस कार्य में गहरे अनुराग के कारण मेरा आकर्षित होना और उसके लिये भरसक प्रयत्न करना स्वाभाविक था। जिसके फलस्वरूप सन् १९३५ से १९४३ तक प्रतिवर्ष कई २ मास वा सप्ताह मेरे इस काम में लगते रहे, जिसका स्वाभाविक परिणाम आश्रम तथा वेदभाष्य के काम में अत्यन्त बाधा होना था॥

(३) तीसरा अनुकूल विघ्न-घनश्यामदास वैदिकविद्यालय देवरिया, गुरुकुल हापुड़, गुरुकुल गोरखपुर, गुरुकुल अमृतसर आदि ऋषिदयानन्दप्रदर्शित आर्षपाठविधि की अनुगामिनी संस्थाओं के पाठ्यक्रम आदि की व्यवस्थाओं को सुचारुरूप से चलाने के लिये वर्ष में अनेक बार जा २ कर पर्याप्त समय लगाना पड़ा। यह भी इतना भारी विघ्न रहा कि विघ्न समझते हुये भी मैं इस कार्य को छोड़ नहीं सकता था॥

(४) चौथा अनुकूल विघ्न—अनेक गुरुकुलों-विद्यालयों-आर्यसंस्थाओं तथा अनेक प्रान्तों के विश्वविद्यालयों की उच्च परीक्षाओं के प्रश्नपत्र बनाने तथा कापियाँ देखने का काम भी वर्ष में प्रायः करके दो-दो मास से अधिक करना पड़ता रहा। प्रायः सर्वथा न चाहते हुये भी यह काम आग्रहवश करना पड़ता रहा। इससे भी वेदभाष्य के काम में बहुत बाधा होती रही॥

(५) पांचवाँ अनुकूलविघ्न श्रीमद्दयानन्द विद्यापीठ की परीक्षाओं का समस्त प्रबन्ध अर्थात् परीक्षासम्बन्धी

सब व्यवस्था में निरन्तर पाँच वर्ष से प्रतिवर्ष निरन्तर दो-डेढ़ मास का समय कम से कम लगता रहा है। आर्य-पाठविधि की परीक्षाओं का काम होने से यह कार्य भी अभीष्ट है, पर वेदभाष्य कार्य में तो विघ्न ही है॥

(६) आर्यसमाजों वा सभाओं या अन्य शिक्षासंस्थाओं के उत्सवादि पर जाना यद्यपि मैं प्रायः स्वीकार नहीं करता, पर कहीं भी न जाऊँ, ऐसा भी मैं नहीं कर पाया॥

ये सब हैं विघ्न और अनुकूल विघ्न हैं।

(७) अब एक और प्रतिकूल विघ्न का निर्देश भी आवश्यक है। वह है शरीर का अस्वस्थ हो जाना, जो सबसे बड़ा विघ्न है। यह भी समय २ पर होता ही रहता है। कभी २ कार्य की अधिकता से कई २ मास का चक्र पड़ जाता है। ये सब विघ्न बाधायें रहते हुये वेदभाष्यविवरण के इस कार्य को कुछ कर पाया हूँ॥

उक्त सब कामों में ट्रस्ट का मुख्य श्रेय

धन्य है श्री रामलालकपूर ट्रस्ट के संचालक महानुभावों को, जिन्होंने अजमेर, काशी, विद्यापीठ सम्बन्धी इन सभी कामों में कुछ भी बाधा नहीं डाली, अपितु सदा भारी सहायता दी, जिसको कोई जानता तक नहीं। अष्टाध्यायीभाष्य में निरन्तर ३ वर्ष हम दो व्यक्तियों का आधा समय तथा परोपकारिणी सभा वा काशी आदि के उपरि निर्दिष्ट सभी कामों में जो बहुत सा समय लगता रहा है, उस से वेदभाष्यविवरण के इस कार्य में हानि पहुँचनी स्वाभाविक थी अतः इन सभी कार्यों के होने का मुख्य श्रेय ट्रस्ट के संचालकों का ही है, इस में कुछ भी सन्देह नहीं। इस अनिर्वचनीय निष्काम सेवा के लिये मेरे हृदय में उन के प्रति कितना प्रेम और आदर का भाव है, मैं शब्दों में नहीं कह सकता। ये उपर्युक्त सभी काम इन के उदारभाव के कारण ही मैं कर सका हूँ, यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा॥

नये वेदभाष्य के कार्य में मेरी अरुचि

अनेक सभायें नये नये वेदभाष्य करा रही हैं, और कराना चाहती हैं। मेरा सहयोग प्रायः सभी न जाने क्यों, आग्रहपूर्वक चाहती हैं। आर्यप्रतिनिधिसभा संयुक्त प्रान्त के प्रधान श्री० बा० मदनमोहन जी सेठ ने मेरे नाम २७ सितम्बर १९३५ के पत्र में निम्नप्रकार लिखा—

"साहु शिवचन्द जी ने १५०००) वेदभाष्य के लिये दिया है। सभा इस कार्य को शीघ्र ही आरम्भ कराना चाहती है। यदि आप अपने निरीक्षण में इस कार्य को प्रारम्भ करा सकें तो बहुत उत्तम हो, अन्यथा वेदभाष्य-सम्पादक समिति में होना तो अवश्य स्वीकार करें। विना आप की क्रियात्मक सहायता के यह कार्य कैसे सुसम्पन्न होगा....................कार्य तो तभी अच्छा होगा, यदि आप अपने अधीन इस कार्य को करना स्वीकार करें। आप की रहन सहन की व्यवस्था का भार सभा पर होगा"।

मैंने २६ अक्तूबर १९३५ को उपर्युक्त पत्र का जो उत्तर दिया, उसका अतिसंक्षेप देदेना ही पर्याप्त होगा। मैंने लिखा कि—

"......धन्यवाद।......मैंने इस समय तक विवशतः जानकर ही उत्तर नहीं दिया। मेरी दृष्टि में आप जिस कार्य का आरम्भ करना चाहते हैं, वह जितना ही महत्त्वपूर्ण है, उतना ही परिश्रमसाध्य तथा उत्तरदायित्वपूर्ण है। उससे जहाँ ऋषि के वेदार्थ का गौरव स्थापित होना सम्भव है, वहां उससे वह गौरव घट जाना भी सम्भव है। जिस से लाभ के स्थान में हानि भी हो सकती है। मेरे पत्र न लिखने का मुख्य कारण यही था। यह विचार निम्न कारणों से उत्पन्न हो रहा है—

(१) ऋषि के भाष्य से पृथक् भाष्य आप बना रहे हैं, या उसी को घटाना या बढ़ाना चाहते हैं? इस भाष्य की प्रामाणिकता क्या ऋषिभाष्य से अधिक होगी? या कम? अथवा इसके छप जाने पर ऋषिभाष्य

(जहां तक भी छप चुका है) की क्या स्थिति होगी ? मैं तो ऋषिभाष्य के आगे किसी भाष्य को प्रामाणिक मानने को तैय्यार नहीं। अतः मैं सहयोग क्या और कैसे दूं। अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध करने को मैं उद्यत नहीं। हां यदि जैसे शङ्कर के पश्चात् उनके शिष्यों आनन्दगिरि, वाचस्पतिमिश्रादि ने शङ्कर की धाक संसार में बिठाई, ऐसे आर्य कहलाने वाले विद्वान् ऋषि दयानन्द की धाक बिठाने का कार्य करें, तब तो मैं भी सहयोग दे सकता हूँ॥

(२) उपर्युक्त व्यवस्था ठीक हो जाने पर भी कई एक बाधायें हैं—

अन्तिम निर्णय वेदभाष्य का कौन करेगा या करेंगे ?

वेदार्थ का निर्णय वोटिंग द्वारा होने से क्या होगा यह आप अधिक जानते हैं।

आरम्भ में एक बार आर्यविद्वानों की एक परिषद् बुला कर मौलिक विषयों पर परस्पर विचारविनिमय होकर एक स्थायी धारणा बना ली जावे......तो बहुत अच्छा हो॥

यू० पी० सभा वेदभाष्य तैय्यार करा रही है, आर्य सार्वदेशिक सभा की भी प्रामाणिक वेदभाष्य के विषय में अपील निकली थी, उधर आर्यप्रतिनिधिसभा पञ्जाब भी वेदभाष्य तैय्यार करा रही है। उस के लिये रुपया भी एकत्र हुआ है और हो रहा है। करेंगे कौन ? यह मैं समझ नहीं रहा। सब का एकीकरण कैसे होगा यह भी एक विचारणीय बात है॥

इन सब उलझनों को देख कर मैं अब तक जान कर चुप रहा, उत्तर देता भी क्या..............."

मेरे उपर्युक्त पत्र से नये वेदभाष्य के विषय में मेरी धारणा का दृष्टिकोण स्पष्ट विदित हो जाता है। मेरी अब तक यही धारणा है। इसी कारण मेरी नये नये वेदभाष्य के कार्य में रुचि नहीं होती॥

आर्यप्रादेशिकसभा ने भी वेदभाष्य के लिये अत्यन्त आग्रह किया। पर सब को तो अपने अपने वेदभाष्य और नाम की पड़ी है। कराने वाले जैसा चाहते हैं, वैसे भाष्य हो रहे हैं, होने ही हुए। कोई भी नहीं जो समझ से दस बीस योग्य विद्वानों द्वारा पहले एक धारणा निश्चित कराता और उसके अनुसार कर सकने वाले योग्य विद्वानों को लगाता। इन सब का परिणाम वेदभाष्य पूर्ण होने के पूर्व ही दीख रहा है कि इन में क्या होगा।

भला ऐसे मनुष्यकृत भाष्यों से वैदिक धर्म का गौरव बढ़ेगा, मेरी बुद्धि में तो आता नहीं। परमात्मा करे मेरी यह बात अयथार्थ सिद्ध हो।

ऋषिदयानन्दकृत वेदभाष्य पर लिखते समय आत्मा में एक उल्लास और अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है, जो इन वेदभाष्यों से (चाहे वह मेरा ही क्यों न हो) कदापि नहीं हो सकता॥

आर्षग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन

मेरे कृपालु मित्र तथा परिचित महानुभाव तो जानते ही हैं कि मैं लगभग सन् १९२० से ऋषिदयानन्दप्रदर्शित आर्षपाठविधि के काम में ही मुख्यतया लगा रहा हूं। इस कार्य के बीच में दो बार मिला कर लगभग ६-७ वर्ष काशी में हम लोग रहे। इस काल में हमारा अध्यापनकार्य भी बराबर चलता रहा। इस विषय में इतना कहा जा सकता है कि अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्त-मीमांसा तथा अन्य दर्शन-श्रौत-ब्राह्मण आदि तथा वेद के पठन पाठन का मार्ग श्री० स्वामी जी महाराज प्रदर्शित प्रक्रियानुसार ठीक परिमार्जित हो चुका है। वैसे तो ये सभी विषय एक से एक कठिन हैं, किन्तु वेद का विषय अत्यन्त ही परिश्रम चाहता है। मेरे जीवन का मुख्य तथा अधिक काल ऋषिदयानन्दप्रदर्शित आर्षपाठविधि के कार्य में ही लगा है। इस समय भी मेरे लगभग ६ घण्टे इस पाठविधि के अध्यापन कार्य में ही लगते हैं। हमारे इस कार्य में निरन्तर लगे रहने का ही यह परिणाम है कि महर्षिप्रदर्शित आर्षपाठविधि का कार्य करनेवाले अनेक योग्य विद्वान तय्यार हो गये हैं, जो अनेक भिन्न २ स्थानों में इस पाठविधि का ही कार्य सुचारुरूप से चला रहे हैं और आर्य जनता की ओर से आर्षपाठविधि के विद्वानों की मांग बराबर आती रहती है, जिसे हम पूरा भी नहीं कर पाते। ऐसी अवस्था में विचारशील सज्जन स्वयं सोच सकते हैं, कि आर्षपाठविधि के इस कार्य को मैं कैसे बन्द कर सकता हूं।

आर्षपाठविधि के विषय में हमारी इतनी दृढ़ धारणा अथवा इसे मुख्यता देने का कारण यह है कि श्री० स्वामी जी के भाष्य में संस्कृतपदार्थ की व्यापकता, अन्वय की श्रेष्ठता अर्थात् इन में के व्यापक अर्थों का ज्ञान विना ऋषिकृत ग्रन्थों की शैली को समझे पूरा २ नहीं हो सकता। आर्षशैली की उत्कृष्टता का उदाहरण हमें महाभाष्य की संस्कृत में मिलता है। नवीन लौकिक संस्कृत दूसरे शब्दों में अनार्षशैली से संस्कृत में अभ्यस्त व्यक्ति श्री० स्वामी जी के भाष्य की सरलता, स्वाभाविकता और गम्भीरता का अनुभव नहीं कर सकते। आर्षपाठविधि हमारा साधन है, साध्य है वेद, जो आगे स्वयं ईश्वरप्राप्ति में साधन है।

शेष यजुर्वेदभाष्य-विवरण की पूर्ति

विचार तो यही है कि ४० अध्याय सम्पूर्ण यजुर्वेदभाष्य विवरणसहित यथासम्भव शीघ्र हम पूरा करें। मेरा अनुभव यह है कि आरम्भिक धारणा निश्चित करने में बहुत समय लगा, जो लगना स्वाभाविक था, मार्ग अब बन चुका है। शेष ३० अध्याय यदि आधा समय प्रतिदिन इस कार्य में निरन्तर लगता रहे और दो योग्य सहायक भी साथ में इसी काम में संलग्न रहें और प्रेस अपने पास ही हो, तो यह कार्य ३ वर्ष में नहीं तो ४ वर्ष में तो अवश्य हो सकता है। भविष्य का ज्ञाता परमेश्वर है। उसी की कृपा पर सब शुभकार्य निर्भर हैं। बुद्धि और साधन सदा एक जैसे नहीं रहते॥

कृतज्ञताप्रकाश

सबसे पूर्व उस परमपिता परमात्मा का कोटि कोटि धन्यवाद है, जिसकी असीम कृपा से मेरे जैसे सर्वथा अपठित माता पिता की सन्तान, अपनी अतिप्रिय विधवा बहिन कर्मदेवी जी से हिन्दी अक्षरों का प्रारम्भिक बोधकर १८ वर्ष की आयु में संस्कृत का अध्ययन आरम्भ करनेवाले व्यक्ति के मनमें न जाने किस जन्म के शुभसंस्कारों का उदय हुआ, जो निरन्तर ३५ वर्षों से ऋषिदयानन्दप्रदर्शित आर्षपाठविधि अर्थात् वेदादिशास्त्रों में गहरी भावना बनी रही और उसमें सदा प्रीति बढ़ती ही गई। कल की प्रभु जाने, इस समय तक उसमें कुछ अन्तर नहीं आया। यह उस अन्तर्यामी–सर्वप्रेरक–परमदेव परमात्मा की ही कृपा समझता हूँ॥

जिन गुरुजनों की महती कृपा से दो चार अक्षर का बोध हुआ, उनमें सर्वप्रथम आदिगुरु स्वर्गीय पूज्य सदाचार की मूर्ति, परमदयालु, आदर्श आर्यसन्यासी, श्री० स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी महाराज हैं, जिनकी कृपा और प्रेरणा से आर्ष-ग्रन्थों में इतनी श्रद्धा उत्पन्न हुई। वास्तव में ऋषिदयानन्द (अर्थात् उनके सिद्धान्तों) का सच्चा दर्शन कराने वाले आप ही थे। अनेक पर्वतों–जङ्गलों–गङ्गातट तथा अनेक प्रान्तों में उनके चरणों में रहकर जो लाभ मैंने उठाया, उसका वर्णन शब्दों में नहीं हो सकता। मैं इतना ही कह सकता हूँ, कि मुझमें जो गुण है (यदि कोई है तो) वह सब उनका है, और दोष मेरे अपने हैं।

तदनन्तर काशी में अनेक विद्वानों से विद्यालाभ हुआ। जिनमें भारत में व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् स्वर्गीय पूज्य श्री पं० देवनारायण त्रिपाठी (तिवारी जी), भारत में मीमांसा के अद्वितीय विद्वान् महामहोपाध्याय श्री० पू० पं० अ० चिन्नस्वामी जी शास्त्री तथा माननीय श्री० पं० ढुण्ढिराज जी शास्त्री आदि अनेक महानुभाव हैं, जिनके चरणों में बैठकर अनेकविध शास्त्रज्ञान की प्राप्ति हुई, इन सबका मैं अत्यन्त आभारी हूँ॥ इनके अतिरिक्त काशी के प्रसिद्ध विद्वान् माननीय श्री० पं० केदारनाथ जी सारस्वत, श्री० पं० महादेव शास्त्री जी, पं० पट्टाभिराम जी शास्त्री आदि महानुभावों से काशीवास के समय में अनेकविध लाभ प्राप्त हुआ, जिसके लिये मैं इन सबका अनुग्रहीत हूँ॥

जब कभी मैं श्री० बा० रूपलाल, बा० हंसराज, बा० ज्ञानचन्द, बा० प्यारेलालजी कपूर तथा इनके शेष सारे परिवार के प्रेम–सेवाभाव–उदारता–सद्भावना–निरन्तर वर्षों तक के धैर्य आदि गुणों का स्मरण करता हूँ तो मेरा हृदय अत्यन्त हर्षित हो उठता है। सामान्यतया सभी भाइयों के विशेषतया श्री० बा० रूपलाल जी की सदा गहरी प्रेरणा, ऋषि के मार्ग में परमभक्ति, गम्भीर विचारधारा, वेद के कार्य में लगे रहने की हार्दिक प्रेमभरी अभ्यर्थना

आदि जीवन भर स्मरण रहेंगे। चारों भाइयों ने आज तक सदा आर्षपाठविधि–वेदभाष्य–काशी–परोपकारिणीसभा तथा दयानन्दविद्यापीठ के कार्यों में बड़ा भारी सहयोग दिया। इनके समस्त परिवार के लिये मैं प्रभु से शुभ-मङ्गलकामना करता हूँ और जगदीश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि इनके कुल में सच्ची धर्मभावना सदा बढ़ती रहे ॥

श्री० रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रधान स्वर्गीय महात्मा हंसराज जी का मैं धन्यवाद करता हूं जिन्होंने इस वेदभाष्य के कार्य में आवश्यकता पड़ने पर सदा हर प्रकार की सहायता प्रदान की। समय २ पर इस कार्य में उनसे बहुत सी उपयुक्त सम्मतियां प्राप्त हुईं ॥

ट्रस्ट के सदस्य, सम्मान के योग्य, प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान्, मित्रवर श्री पं० भगवद्दत्त जी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनकी निरन्तर गहरी तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा से मेरी वैदिक खोज (रिसर्च) के काम में प्रवृत्ति हुई। वह सदा मुझे हर बात में उदारतापूर्वक सहयोग देते रहे ॥

स्वर्गीय पूज्य वीतराग महात्मा श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज का आशीर्वाद मेरे इस कार्य में सदा सहायक रहा। श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज सदा ही आवश्यकता पड़ने पर सब प्रकार की सहायता अति प्रेमपूर्वक करते रहे। काशी के कार्य में भी सबसे अधिक आपका सहयोग रहा। इन दोनों महात्माओं का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ ॥

ओरियण्टल कालेज लाहौर के प्रिंसिपल श्रीमान् डा० लक्ष्मणस्वरूप जी एम० ए०, श्री० पं० शंकरदेव जी, आदि महानुभावों का भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिनसे आरम्भ में कुछ परामर्श प्राप्त हुए ॥

अजमेर के सज्जनों में सबसे प्रथम मैं ऋषिभक्त, दीवान बहादुर श्री० बा० हरबिलास जी शारदा मन्त्री परोपकारिणी सभा का अति धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने सन् ३१ से जब २ मैं अजमेर गया, मुझे ऋषि के हस्तलेखों के देखने, मिलाने, फोटो प्राप्त करने आदि की सुविधा देने की सदा कृपा की। श्री० धर्मानुरागी मा० कन्हैयालाल जी के प्रेम, श्री० बा० घीसूलाल जी की उदारता और गम्भीरता, श्री० डा० मानकरण जी के ऋषि के काम को सदा उत्कृष्ट बनाने की तीव्र भावना, श्री० पं० भगवान् स्वरूप जी का इस कार्य में हार्दिक प्रेम और सहयोग सदा सहायक रहा। यहां मैं कहे बिना नहीं रह सकता कि अजमेर में इस वेदभाष्य विवरण के छपने में मुख्य तथा प्रथम कारण श्री० बा० चान्दमल जी चण्डक मैनेजर वैदिक यन्त्रालय अजमेर रहे, जिन्होंने अतिप्रेम से इस कार्य को किया। श्री० पं० महेन्द्र शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ के प्रूफ़ बड़ी योग्यता और सावधानता से देखे, इन उपर्युक्त सब महानुभावों का मैं आभारी हूँ ॥

अब मैं अपने अन्तरङ्ग सहायकों की ओर आता हूं। सबसे अधिक मुझे अपने विरजानन्द आश्रम के स्नातक प्रिय युधिष्ठिर मीमांसक का सहयोग प्राप्त रहा, जो निरन्तर १५, १६ वर्ष अर्थात् अध्ययनकाल से मेरे पास रहा। तत्पश्चात् सन् ३६ से ४२ तक इस वेदभाष्यविवरण के कार्य में भी मेरे साथ रहा। वास्तव में तो यह कार्य हम दोनों का सांझा है। भविष्य में मेरी आशालता (ऋषि की पाठविधि और वेदभाष्यादि कार्य) को मेरी धारणानुसार, दूसरे शब्दों में ऋषि की धारणानुसार करने का काम मुख्यतया मैं इस पर समझता हूँ, यद्यपि दूसरों पर भी उतना ही है। दूसरे स्नातक प्रिय धर्मदेव निरुक्ताचार्य के सदा मेरी आज्ञा में रह कर वर्षों से हर प्रकार का कष्ट उठाने की भावना और अनथक परिश्रम से मुझे बहुत सहायता मिली। अजमेर रहते हुए हस्तलेखों के फोटो मिलान, प्रूफ़ संशोधनादि कार्यों में सदा बड़ी योग्यता तथा परिश्रमपूर्वक तत्पर रहा। आश्रम के बड़े विद्यार्थियों ने भी बहुत परिश्रम और योग्यता से समय २ पर मिलान व प्रूफ़ादि संशोधन का कार्य किया है। पुत्रकल्प इन सब को मैं हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ और परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि इन सब की बुद्धियां सुमार्ग में बनी रहें और ऋषिदयानन्दप्रदर्शित आर्षपाठविधि तथा वेदभाष्यादि कार्यों में इन की श्रद्धा और भावना सदा बनी रहे। बुद्धि बिगड़ते कुछ देर नहीं लगती ॥

श्री० पं० इन्द्रदेव जी का मैं विशेष सप्रेम धन्यवाद करता हूँ जिन्हों ने दस अध्याय के फ़र्मे देख कर उनके संशोधन भेजे। प्रिय पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री से भी ऋषि के कार्य में बहुत आशायें रखता हूँ, इन से भी मुझे सहायता मिली। अन्य अनेक महानुभावों से वा उन के ग्रन्थों से मैं समय समय पर लाभ उठाता रहा हूँ। आर्य

विद्वान् मुझे जो भी मिलते रहे, प्रायः सब से मैं इस वेदभाष्यविवरण के कार्य में कोई नई बात सुझाने वा सहायता देने की प्रार्थना सदा करता रहा हूँ, उन सब महानुभावों का मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ ॥

अन्तिम निवेदन

मैंने किसी पर यह कोई बड़ा उपकार किया है, मैं ऐसा नहीं समझता। मैं तो यह समझता हूँ कि मुझे ऋषिऋण से उऋण होने का अवसर मिला, और मैंने अपना कर्तव्य पालन किया है। वास्तव में तो मैंने यह वेदभाष्यविवरण लिखकर एक मार्ग ही सुझाया है। यदि हमारी सब प्रशंसनीय सभायें इस शैली से ऋषि के ग्रन्थों पर प्रौढ़तापूर्ण कार्य का ढङ्ग बनावें और ऋषि में सच्ची भक्ति रखने वाले योग्य विद्वानों को इस में लगावें, तो वैदिक धर्म और आर्यसमाज का अनुपम गौरव बढ़ सकता है। इसी भावना से इस संक्षिप्त विवरण द्वारा इस महान् कार्य की कठिनाइयों को आर्य बन्धुओं के समक्ष रखने का यत्न किया है, जिस से भविष्य में लाभ उठाया जा सके॥

मैंने इस वेदभाष्य के कार्य को अपनी साधारण बुद्धि और विद्या के अनुसार किया है। इस में सम्भवतः कई स्थलों में भूलें भी की होंगी जो मुझे ही आगे जा कर स्वयं समझ में आने लगेंगी, पुनरपि "गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः" इस नियम के अनुसार जो भी त्रुटि प्रतीत हो, उस की सूचना देने का कष्ट अवश्य करें, यह विद्वानों की सेवा में नम्र निवेदन है, जिस से कि आगामी संस्करण में उसका परिशोधन हो सके॥

अन्तर्यामी जातवेदाः वह प्रभु कृपा करें कि हमारी बुद्धियां सदा अन्धकार और अज्ञान से दूर रह कर प्रकाश और सत्यज्ञान की ओर चलने वाली बनें !!!

तमसो मा ज्योतिर्गमय !!!

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

वैदिक धर्म तथा विद्वानों का सेवक—

रावीतट
पूर्णिमा माघ संवत् २०००
९ फरवरी १९४४

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
विरजानन्द साङ्गवेदविद्यालय
पो० शाहदरा मिल्स
लाहौर (पंजाब)।

यजुर्वेदभाष्य–विवरण–भूमिका की विषयसूची

यजुर्वेदभाष्यविवरणे भूमिकायां च पृष्ठनिर्देशपुरःसरमुपयुक्तानां ग्रन्थानां सूची

सङ्केतः	ग्रन्थनाम	मुद्रणस्थानम्
अथ०	अथर्ववेद (मूल)	अजमेर
अथ० सा०	अथर्ववेद (सा० भा०)	बम्बई
अथ० प० प०	अथर्ववेदपञ्चपटलिका	लाहौर
अ० सं०	अहिर्बुध्न्य संहिता	काशी
अ० बृ० स०	अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी	लाहौर
आ० वि०	आर्यविद्यासुधा	लाहौर
आ० सि०	आर्यसिद्धान्त	काशी
अ०	अष्टाध्यायी (नि० सा०)	बम्बई
इ० टि०	इण्डियन रिव्यू	मद्रास
उ०	उणादिवृत्ति	अजमेर
उ० भो०	,, ,, (भोज)	मद्रास
उ० ना०	,, ,, (नारायण)	,,
उ० श्वे०	,, ,, (श्वेतवनवासी)	,,
उ० द० पा०	,, ,, (दशपादी)	काशी
उ० सू०	उपनिदानसूत्र	,,
ऋ० प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्य	इलाहाबाद
ऋ० भा० ज०	ऋग्भाष्य (जयतीर्थ)	बम्बई
	(नि० सा०)	बम्बई
ऋ० स०	ऋक्सर्वानुक्रमणी	आक्सफोर्ड
ऋ०	ऋग्वेद (मूल)	अजमेर
ऋ० द० भा०	ऋग्वेद (द० भा०)	,,
ऋ० सा०	ऋग्वेद (सा० भा०)	पूना
ऋ० भू०	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	अजमेर
एटी०	एटीमौलोजी आफ यास्क	होशियारपुर
ए० मी०	एमीनैण्ट ओरियण्टलिस्ट	मद्रास
ऐ० आ०	ऐतरेयारण्यक (आ०)	पूना
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण	,,
ऐ० आ०	ऐतरेयालोचन	कलकत्ता
काठसं०	काठक संहिता	लिब्जग, जर्मनी
काण्व सं०	काण्व संहिता	बम्बई
का०	काशिका (ला०)	काशी
किर०	किरणावली	,,
केन०	केनोपनिषद्	,,
कै०	कैय्यट (महा भा० टी०) (कृपाराम सं०)	,,
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण	कलकत्ता

सङ्केतः	ग्रन्थनाम	मुद्रणस्थानम्
छा० उ०	छन्दोविचिति (निदानसूत्रे)	इलाहाबाद
छला०	छलारीटीका	बम्बई
तं० वा०	तन्त्रवार्त्तिक (आ०)	पूना
तां० ब्रा०	ताण्ड्यमहाब्राह्मण (चौ०)	काशी
तै० आ०	तैत्तिरीयारण्यक	मैसूर
तै०का० अनु०	तैत्तिरीय काण्डानुक्रमणी (भ० भा०)	मैसूर
तै०ब्रा०भ०भा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण भा० (भ० भा०)	,,
तै०सं०भा०भ०	तैत्तिरीय संहिता भा० (भ० भा०)	,,
निघ०	निघण्टु	अजमेर
नि० सू०	निदानसूत्र	इलाहाबाद
निरु०	निरुक्त (मूल)	अजमेर
नि० टी० स्क०	,, टीका स्कन्द	लाहौर
,, दु०	,, ,, दुर्गाचार्य	,,
निरु० स०	निरुक्त समुच्चय	,,
नी० मं०	नीतिमञ्जरी	काशी
नृ०सि०ता०उ०	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्	बम्बई
न्या०	न्याय (चौ०)	काशी
न्यास	न्यास	राजशाही
प० पा०	पदपाठ (यजुः)	बम्बई
पा० शि०	पाणिनीय शिक्षा	काशी
पि० सू०	पिङ्गलसूत्र	बम्बई
प्र० पा०	प्रशस्तपादभाष्य	काशी
फि०	फिट्सूत्र (श० कौ०)	काशी
ब०सं०भा०	बह्वृचसन्ध्याभाष्य (भा०)	पूना
बृ० जा० उ०	बृहज्जाबालोपनिषद्	बम्बई
बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्	,,
भ.हरि.म.टी.	भर्तृहरि (महाभाष्य टी०)	Ms.
भा० बृ० इति०	भारतवर्ष का बृहद् इतिहास	अजमेर
म० पु०	मत्स्यपुराण	कलकत्ता
मनु०	मनुस्मृति (नि० सा०)	बम्बई
म० भा०	महाभारत (पू० सं०)	पूना
मी०	मीमांसा (आ०)	पूना
मं० दी०	मन्त्रार्थदीपिका	काशी

महा०	महाभाष्य (कृपाराम सं०)	काशी
मु० उ०	मुण्डकोपनिषद्	बम्बई
मौनि०	मौनियर विलियमकोश (संस्कृत इङ्गलिश डिक्शनरी)	आक्सफोर्ड
य०	यजुर्वेद (मूल)	अजमेर
य० उ० भा०	” भा० (उवट)	बम्बई
य० प०	यजुर्वेद (पदपाठ)	काशी
य० सर्वा	यजुःसर्वानुक्रमणी	”
यो० सू०	योगसूत्र	”
यो० व्या०	योगव्यासभाष्य	पूना
रामा०	रामायण	मद्रास
रु० भा०	रुद्रभाष्य (भ० भा०)	पूना
लौ० गृ०	लौगाक्षिगृह्यसूत्र (भा० देवपाल)	काश्मीर
ल० मं०	लघुमञ्जूषा	काशी
वा० प०	वाक्यपदीय (रा० क० ट्रस्ट)	लाहौर
वि० को०	विश्वलोचनकोश (नि० सा०)	बम्बई
वि० पु०	विष्णुपुराण	”
वे० सर्वा०	वेङ्कटमाधव-ऋक्सर्वानुक्रमणी	मद्रास
वे०	वेदान्त (नि० सा०)	बम्बई
वै० ज्यो०	वैदिकज्योतिः	पोरबन्दर
वै० वा० इ०	वैदिक वाङ्मय का इतिहास	लाहौर
वै०	वैशेषिक	काशी
श०	शतपथ ब्राह्मण (मूल)	अजमेर
स० सा० भा०	” ” सा० भा०	बम्बई
श०हरि० भा०	” ” हरिस्वामी भा०	Ms.
शां० भा०	शाङ्करभाष्य (वेदान्त)	बम्बई
शां० आ०	शाङ्खायनारण्यक आ०	पूना
शां० गृ०	शाङ्खायन गृह्यसूत्र ”	”
शां० ब्रा०	” ब्राह्मण ”	”
शां० श्रौ०	शाङ्ख्यायन श्रौत सूत्र	कलकत्ता
सां०	सांख्य	काशी
सा०	सामवेद (मूल)	अजमेर
सा० भर०	सामवेद भा० (भरतस्वामी)	मद्रास
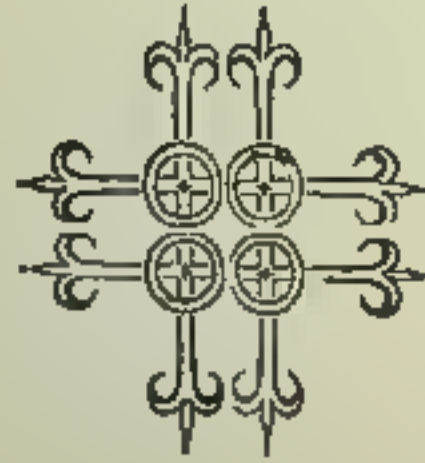
महर्षिदयानन्द-कृत

यजुर्वेदभाष्य-विवरण

की

भूमिका

सर्गारम्भ में परमपिता परमात्मा ने जीवों के कल्याणार्थ जहाँ अनेकविध पदार्थों की रचना की, पृथिवी-जल-तेज-वायु आदि पदार्थों का निर्माण किया, लोह-ताम्र-रजत-सुवर्णादि धातु तथा वृक्ष-औषधि-वनस्पति-लता-गुल्म-मूल-पुष्प-फलादि, गुहा-वन-पर्वतादि, मेघ स्रोत-नदी-समुद्रादि, अन्य असंख्य पदार्थ संसार में उत्पन्न किये, मनुष्य-पशु-पक्षी आदि के शरीरों की रचना की, अर्थात् समस्त स्थावर-जङ्गम जगत् का निर्माण किया, वहाँ उस सर्वज्ञ-सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता जगदीश्वर ने जीवों के अभ्युदय और निःश्रेयसार्थ संसार में समस्त कार्यकलाप के निर्वाहार्थ उपर्युक्त सब पदार्थों से यथावत् लाभ प्राप्त करने के निमित्त परमानुकम्पा से ज्ञान का भी प्रकाश किया। जिससे मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकें। इसी ईश्वरीयज्ञान को समस्त प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं शास्त्रों की परिभाषा में 'वेद' कहा जाता है ॥

इस ईश्वरीयज्ञान का स्वरूप कैसा होता है, वा कैसा होना चाहिये, इस विषय में स्वयं वेद ही बतलाता है—

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत् प्रैर॑त नाम॒धेयं॑ दधा॑नाः ।

यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑त् प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं॒ गुहा॒विः ॥ ऋ० १० । ७१ । १ ॥

भावार्थः—हे विद्वन्! सृष्टि के आदि में समस्त वाणियों की मूलरूप, (सृष्टिगत पदार्थों के) नामों को धारण करनेवाली, जिस वाणी को (विद्वान् लोग) उच्चारण करते हैं, जो इन सब से श्रेष्ठ और दोष-शून्य होती है, वह वाणी (ऋषियों की) गुहा (बुद्धि) में धारण की हुई (ईश्वर की) प्रेरणा से प्रकाशित होती है ॥

इस मन्त्र से निम्न सात बातों के लिये वेद का प्रमाण मिल जाता है, दूसरे शब्दों में इस मन्त्र में ईश्वरीय-ज्ञान की सात विशेषतायें वा कसौटियाँ वर्णित हैं—

(१) वेद सृष्टि के आदि में होनेवाली वाणी हो, इसलिये मन्त्र में कहा **"प्रथमम्"** ॥

(२) इस समय संसार में जितनी मानववाणियाँ हैं, उन सबका आदि-स्रोत अर्थात् मूल हो। वेदवाणी से ही सब भाषायें निकली हैं। वेदवाणी का भी मूल 'ओ३म्' (परमेश्वर) है, इसलिये कहा "वाचो अग्रम्"॥

(३) जो सृष्टि के समस्त पदार्थों का नाम धारण करती हो। आदि सृष्टि में जब पदार्थों के नाम रखने की आवश्यकता होती है, तब यह वाणी सहायक होती है। इससे ही सृष्टि के पदार्थों की संज्ञा तथा शब्दार्थ का निर्धारण होता है[1], इसलिये कहा "नामधेयं दधानाः"॥

(४) जो सर्वश्रेष्ठ, बड़ी विस्तृत और विशाल हो, केवल मानवबुद्धि में आनेवाले व्याकरण के संकुचित नियमों में बन्धी हुई न हो, उससे कहीं परे, दिव्यरूप (जिसका प्रवाह नैसर्गिक हो) में उपस्थित हो, इसलिये कहा "श्रेष्ठम्"॥

(५) जो दोषरहित हो, सब संसार के लिये एकसी, किसी देशविशेष की भाषा में न हो, इसलिये कहा "अरिप्रम्"॥

(६) जो गुहा (बुद्धि) में निहित हो, अतः कहा "निहितं गुहा०"॥

(७) जो अनेक जन्म-जन्मान्तरों में परमात्मा से प्रेम करते हैं, उनके द्वारा भगवान् की प्रेरणा से प्रकाशित होती है, उनकी बनाई नहीं, इसलिये कहा "प्रेणा आविः"॥

ये सब कसौटियाँ वेद पर ही सर्वांशेन चरितार्थ होती हैं। किं च—

य॒ज्ञेन॑ वा॒चः प॑द॒वीय॑माय॒न् तामन्व॑विन्द॒न्नृषि॑षु॒ प्रवि॑ष्टाम्॥ ऋ० १०। ७१। ३॥

भावार्थः—सृष्टि के आदि में यज्ञ अर्थात् परमात्मा के द्वारा वाणी की प्राप्ति के योग्य हुये ऋषियों में प्रविष्ट हुई वेदवाणी को मनुष्य पीछे प्राप्त करते हैं, अर्थात् वेदवाणी का प्रकाश सृष्टि के आदि में पहिले ऋषियों के अन्तःकरण में परमात्मा प्रकाशित करता है॥

इन दोनों मन्त्रों से स्पष्ट है कि ईश्वरीय ज्ञान कैसा होना चाहिये, ये सब बातें वेद में ही चरितार्थ होती हैं॥

सर्गारम्भ में सूर्य के प्रकाश की भान्ति, पूर्वसृष्टि के समान[2] वेदज्ञान का प्रकाश हुआ। प्रलय के पश्चात् अमैथुनी सृष्टि के आरम्भ में युवा अर्थात् प्रौढ़ युगल (जोड़े) उत्पन्न हुये, क्योंकि माता पिता की सत्ता तो थी नहीं। सुप्तप्रबुद्धन्याय[2] से कार्यजगत की प्रलयावस्था में जिस २ स्थिति में देहधारी अपने कारण में लीन हुये, उसी २

---

१ (क) सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥
मनु० १। २१॥

(ख) वेद एव हि सर्वेषामादर्शः सर्वदा स्थितः।
शब्दानां तत उद्धृत्य प्रयोगः सम्भविष्यति॥
कुमारिलभट्टकृत तन्त्रवार्तिक पृ० २०६॥

(ग) ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्॥
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।
शर्वर्यन्ते सुजातानामन्येभ्यो विदधात्यजः॥
महाभारत शां० पर्व अ० २३२। २५, २६॥

२ (क) युगान्तरेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥
महाभारत॥ सेतिहासान् नित्येतिहासयुक्तानित्यर्थः॥

(ख) पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष॥
मनुस्मृति कुल्लूकभट्टटीका १। २३॥

(ग) आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
मनु० १। ५॥

(घ) अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
गीता ८। १८॥

(ङ) नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥
शां० भा० १। ३। २८॥

अवस्था में उनका सब खेल पुनः वैसा का वैसा चल पड़ा। जीव अपने पूर्ववर्ती कर्मों तथा संस्कारों के अनुरूप ही शरीर, बुद्धि आदि से युक्त होते हुये कार्यों में प्रवृत्त हुये। उस समय के मनुष्यवर्ग में सब से उत्कृष्ट, श्रेष्ठ, विमलमेधा, ग्रहण तथा धारण में समर्थ चारों ऋषियों ने प्रभु के वेदज्ञान को साकल्येन हृदय में धारण किया। जिनके नाम अग्नि-वायु-आदित्य-अङ्गिरा (शतपथ तैत्तिरीयानुसार) वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं। उनके हृदय में वेद का समस्त ज्ञान नित्य नियतानुपूर्वी द्वारा आदि से अन्त तक एक ही साथ अर्थात् युगपत्[३] अक्रमारूढ़ दे दिया। अतः इसमें कितना समय लगा, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि काल[५] का व्यवहार अनित्यों में होता है। जहां क्रम होगा, वहां काल होगा। परमात्मा का आदिज्ञान एकरस है। पद[६], पदार्थ, गायत्र्यादि छन्द तथा मन्त्रादि के विभाग का ज्ञान इस वेदज्ञान में ही निहित था॥

अन्य सब लोक-लोकान्तरों में भी इसी वेदज्ञान को वह जगदीश्वर सदैव प्रदान करता है। जितना भी नैमित्तिक ज्ञान विश्व में वर्तमान है, वह सब उस परमपिता परमात्मा के इस वेदज्ञान[७] द्वारा ही प्रवृत्त होता है।

१ रेतोधा आसन् महिमान. आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ऋ० १० । १२९ । ५॥
रेतोधाः = कर्म से युक्त। महिमानः = मुक्त॥

२ (i) एवं वाऽरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥
शत० १४ । ५ । ४ । १०॥

(प्रश्न) यहां पर इतना और विचारणीय है कि इस उद्धृतांश से आगे भी शतपथ ब्राह्मण में इतना पाठ और है—"इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि"। इतने अंश से यह विदित होता है कि शतपथकार उपनिषद् आदि को भी ईश्वर-प्रणीत मानते हैं॥

(उत्तर) (ii) शब्द दो प्रकार का है, नित्य और अनित्य। सब का स्रोत तो वेद है। ऋग्, यजुः, साम, और अथर्व तो सीधे ब्रह्म से निःश्वसित हैं। शेष ऋषियों द्वारा, अर्थात् परम्परा सम्बन्ध से हैं। जब वेद स्वयं ऋग्, यजुः, साम, अथर्व को यज्ञरूप ब्रह्म से प्रादुर्भूत मानता है, तो परतःप्रमाण शतपथ उपनिषदादि को ब्रह्मनिःश्वसित कैसे कह सकता है। अतः उपर्युक्त रीति से ही इस स्थल का अभिप्राय समझना चाहिये। यहां इतना और भी ध्यान देना चाहिये कि जब आरम्भ में 'निःश्वसितम्' इतना पद आ चुका तो पुनः 'निःश्वसितानि' पद की आवश्यकता ही क्यों पड़ी। दोनों निःश्वसितों का परस्पर भेद है, इसीलिये॥

उपनिषदादि परम्परा से हैं। यह बात ऋषिदयानन्द ने अपने भ्रमोच्छेदन (शताब्दी सं०) पृ० ८५३–पं० ७, ८ में लिखी है, जो इस प्रकार है—

"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद् वा परम्परासम्बन्धादेतत् सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति"॥

(iii) अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥
शत० ११ । ५ । ८ । ३॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥
मनु० १ । २३॥

३ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥
न्याय० १ । १ । १६॥

यह नियम सर्वसाधारण का है, समाधिस्थ लोगों के लिये शास्त्र कहता है कि उनको अक्रमारूढ युगपज्ज्ञान होता है 'सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः'॥
योगभाष्य ३ । ४९॥

४ यदि ऋषिदयानन्द के पूना के १५ व्याख्यानों की रिपोर्ट, जो मराठी में छपी थी, वह, तथा उससे किया गया अनुवाद ठीक हो तो वहां ऐसा लिखा है—"ऐसी व्यवस्था आदि सृष्टि में पांच वर्ष चलती रही" उपदेशमंजरी प्रथम संस्करण पृ० ६३॥

५ क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा। तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः॥
योग-भाष्य ३ । ५२॥

६ गौरिति शब्दः, गौरित्यर्थः, गौरिति ज्ञानम्॥
योगभाष्य ३ । १७॥

७ चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥
मनु० १२ । ९७॥

आकृतियों में भेद होते हुये भी उत्पत्तिप्रकार में कोई भेद नहीं होता। मनुष्य जहां जहां होगा, वहां २ इसका प्रकाश अवश्य होगा, चाहे किसी प्रकार भी हो॥

यह है वैदिकधर्मियों की धारणा वेद के सम्बन्ध में, जो परम्परा द्वारा प्राप्त हो रही है। जिसे समस्त ऋषि-मुनियों की धारणा होने से, वर्तमानयुग के महापुरुष, परमयोगी, महर्षि दयानन्द ने स्वीकार किया और अपने ग्रन्थों में जिसका प्रतिपादन किया तथा उसी धारणा को लेकर वेद का भाष्य किया, जिसके विवरण की भूमिका आज हम सहृदय पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहे हैं॥

ईश्वर और वेद का सम्बन्ध

इसमें सन्देह नहीं, वेद के ईश्वरीयज्ञान होने की उपर्युक्त धारणा सामान्य संसारी जनों को एकदम समझ में नहीं आती। इसका कारण शताब्दियों से शुद्ध वैदिकपरम्परा का लुप्त हो जाना है। इसीलिये इस विषय में अनेकविध धारणाओं, दूसरे शब्दों में अनेक वादों वा भिन्न २ मतों की सृष्टि हुई, जिनका विवेचन हम संक्षेप से आगे करेंगे। इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक-धर्मियों को छोड़कर समस्त संसार वेदसम्बन्धी उपर्युक्त धारणा मानने को तैयार नहीं, इसके यद्यपि अनेक कारण कहे जा सकते हैं, पर मुख्य कारण जिसमें (हाथी के पांव में सब का पांव) सब कारण आ जाते हैं, यह है कि सबसे पहले अनेक लोग ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते। ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से हमारा अभिप्राय उस दैवी चेतनशक्ति के गुणों को विवेचनात्मक रीति से विश्लेषण करके स्वीकार करना है, जिसकी यह सब रचना है। ईश्वर के एक २ गुण को लेकर उस पर विचार करने से इस विषय के आधे प्रश्नों की समस्या हल हो जाती है। सर्वप्रथम ईश्वर शब्द को ही लीजिये कि यदि ईश्वर है तो किसी न किसी ऐश्वर्य (वस्तु पदार्थ) का ही तो ईश्वर (स्वामी) होगा, स्व नहीं तो स्वामी कैसा ? यदि कार्यवस्तु स्वयं नहीं बन सकती तो दृश्यमान कार्यजगत् को बनानेवाला वह ईश्वर ही हो सकता है। दूसरे को तो उसके पूर्णतया समझने की भी शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, बना सकना तो दूर रहा॥

जब स्रष्टा है तो वेत्ता स्वयं ही है। उसमें उसकी व्यापकता अर्थात् सर्वव्यापकता-सर्वान्तर्यामित्व-सर्वाधारत्व-सर्वेश्वरत्वादि[१] गुण स्वयं सिद्ध हैं। यदि वह स्वयं दूसरी शक्ति के आश्रय पर है तो उपर्युक्त सब कार्य कर ही कैसे सकता है ? अतः अज, अनादि, अनुपम[२], निर्विकार, अनन्त, मृत्युरहित, अभय, नित्य, पवित्र आदि गुण होने ही चाहियें। आकार में आनेवाला इस विशाल सृष्टि की रचना कैसे करेगा ? सत्ता और चेतनता के होते हुये आनन्दमय गुण होना भी अनिवार्य है, अन्यथा अनेक जन्म-जन्मान्तरों की कर्मवासनाओं के द्वारा संसार में सुख-दुःख का उपभोग करते हुए जीवों की शरण वा शान्ति का अन्तिम धाम क्या होगा ? जब हम इन गुणों से विशिष्ट उस परमदेव ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करलें तो तीन मुख्य सत्तायें हमने स्वयं ही स्वीकार करलीं, क्योंकि उपर्युक्त गुण इन तीनों 'ईश्वर-जीव-प्रकृति' की सत्ता को मानने से ही गतार्थ हो सकते हैं। जब हमने आधारभूत इन तीन पदार्थों को मान लिया, जो हमें मानने ही पड़ते हैं, ऐसी दशा में इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध को भी हमें जानना आवश्यक होगा। आधुनिक संसार प्रायः करके प्रकृति (मैटर) तथा उसके नियमों को तो मानता है, चाहे वह किसी भी रूप में मानता हो, मानता अवश्य है, पर ईश्वर से इन्कारी (नकारी) होने में उसे कुछ भी सङ्कोच

---

१ "यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। ......यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः, सदैवेश्वर इति" ॥ योगभाष्य १।२४॥

२ "तस्माद् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्।......तस्माद् यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इति" ॥ योगभाष्य १।२४॥

नहीं होता, चाहे युक्ति-प्रयुक्ति उपस्थित होने पर यह धारणा टिक न सकती हो। ईश्वर से इन्कारी होने वाले मन में 'ईश्वरीय ज्ञान' वेद को न मानना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं, कारण ही नहीं तो कार्य कैसा !!

"गतानुगतिको लोकः"—संसार में अधिक समुदाय निजबुद्धि वा विवेचना से काम न लेकर केवल अनुगामी होने की रुचि रखता है, क्योंकि इसमें उसे अपेक्षाकृत सुगमता प्रतीत होती है। यही कारण है कि वर्तमान भारत निज प्राचीन वैदिक साहित्य, संस्कृति, सभ्यता वा आदर्शों को थोड़ा नहीं, अपितु बहुत दूर तक, भूल चुका है। अनीश्वरवादिता की प्रचण्ड आन्धी ने जाति और देश की जड़ों को हिला दिया है। ऐसी अवस्था में 'ईश्वरीयज्ञान' वेद के विषय में सर्वसाधारण में शङ्कायें बनी रहना या हृदय का पूर्ण सन्तोष न होना स्वाभाविक ही है॥

हमारे समस्त प्राचीन दर्शनशास्त्र और ऋषिमुनि सामूहिक रूपेण 'ईश्वर-जीव-प्रकृति' इन तीनों की सत्ता का विशद निरूपण करते हैं। उनमें हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल सभी सम्भवनीय शङ्काओं के उत्थानों तथा समाधानों द्वारा इस विषय की विवेचना मिलती है। महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के आरम्भिक दो नियमों द्वारा बहुत ही उत्कृष्ट रीति से इस बात को दर्शाया है—

"सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है॥ १॥"

"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है॥ २॥"

इन दोनों नियमों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन अत्यन्त उत्तम रीति से कर दिया गया है॥

ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण वा युक्तियां हम इसीलिये उपस्थित नहीं कर रहे हैं क्योंकि यह विषय वैज्ञानिकों में अब मान्य हो गया है। योरोप के बड़े बड़े विज्ञानवेत्ताओं ने भी परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया है, चाहे वह यथावत् रूप में न हो॥

हमारा अभिप्राय इतना ही है कि पाठक महानुभाव उपर्युक्त 'सच्चिदानन्दस्वरूप–निराकार' इत्यादि गुणविशिष्ट ईश्वर को जानकर और मानकर ही प्रकृतविषय के विचार में प्रवृत्त हों। साथ ही जीव और प्रकृति के विषय की धारणा भी पूर्व ही निश्चित कर लेनी अनिवार्य है। तभी "ईश्वरीयज्ञान वेद" का यह विषय हृदयङ्गम हो सकता है॥

इस त्रित्ववाद की स्थापना वा सिद्धि हमारा इस समय मुख्य ध्येय नहीं हो सकता, क्योंकि यह एक पृथक् विस्तृत विषय है। इन तीनों को सिद्ध मान कर ही हमें प्रकृत विषय में आगे चलना होगा॥

जब पूर्वोक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि जगत् का कर्त्ता = निमित्तकारण परमेश्वर अनादि है और ज्ञान का भण्डार है, तो उसका वेद के साथ क्या सम्बन्ध है, यह आकाङ्क्षा पाठकों के हृदय में होनी स्वाभाविक है। जिज्ञासुओं की आकाङ्क्षा-निवृत्ति के लिये यहां संक्षेप से शास्त्रकारों के एक दो वचन ही दर्शाना पर्याप्त होगा—

(१) शास्त्रयोनित्वात् (वेदान्त सू० १। १। ३)

इस सूत्र में व्यासमुनि ने ब्रह्म को शास्त्र का कारण माना है। इसके भाष्य में श्री० स्वामी शङ्कराचार्यजी महाराज लिखते हैं:—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति॥"

अर्थात् सर्वविद्यामय ऋग्वेदादि का सर्वज्ञ परमात्मा के बिना कोई कारण नहीं हो सकता॥

---

१ "अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥"
योग-भाष्य १।२४॥

(२) योगभाष्य में भी व्यासमुनि कहते हैं—

"एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः ॥"

अर्थात् वेद और ईश्वर का अनादि सम्बन्ध है ॥

अब हमें यह विचार करना है कि ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता क्या है ?

ईश्वरीय-ज्ञान की आवश्यकता

(१) सृष्टि के आरम्भ में ज्ञान मिलना आवश्यक है

साधारण मनुष्य भी किसी छोटे से छोटे कार्य का आरम्भ करता है, तो वह उसमें सबसे पहले कुछ नियम वा व्यवस्था निश्चित करता है, जिसको लक्ष्य में रखकर सभी कार्यकर्ताओं को चलना होता है। यदि माता पिता वा गुरु अपने पुत्र-पुत्रियों या शिष्यों को विना बताये, कि यह करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं, ताड़ना वा दण्ड देते हैं, या कोई मनुष्य अपने भृत्यों को विना बतलाये, कि ऐसा करना, ऐसा नहीं करना, दण्ड देता है, तो उसे कोई बुद्धिमान् नहीं कह सकता। ऐसी अवस्था में दो प्रकार का भाव मन में आवेगा कि या तो उस बालक वा भृत्यादि ने कोई अपराध किया है, या दण्ड देनेवाला अन्यायी है। इसी प्रकार जगदीश्वर द्वारा भला इतनी भूल कैसे हो सकती है कि विना नियम या व्यवस्था के बनाये और बताये संसार में जीवों को आरम्भ से ही एक जैसे सुख-दुःख-युक्त उत्पन्न न करके, भिन्न भिन्न सुख या दुःख से युक्त उत्पन्न करता ?

अतः सदा सृष्टि के आदि में वेद का ज्ञान प्राप्त होना अनिवार्य है। इसके विना संसार की कोई व्यवस्था नहीं चल सकेगी, यह व्यवस्था तभी चल सकती है, जब आरम्भ में यह ईश्वरीयज्ञान जीवों को प्राप्त हो और साथ ही जीवों में भी उसके ग्रहण की शक्ति विद्यमान हो, जिसे कि हम स्वाभाविक ज्ञान कहते हैं ॥

(२) बाह्यज्ञान के विना नैसर्गिक ज्ञानमात्र से काम नहीं चल सकता

प्राणिजगत् का अध्ययन करने से हमें पता चलता है, कि चाहे पशु-पक्षी हों या मनुष्य, सब जीवों में हम स्वाभाविकज्ञान की मात्रा अवश्य पाते हैं, चाहे वह न्यूनाधिक मात्रा में ही पाई जाती हो, जो न्यूनाधिकता विधाता की रचना के कारण है। मनुष्य उसको न तो समझ ही सकता है, न उसका अन्त ही पा सकता है। वर्त्तमान जगत् में हम प्रत्येक देहधारी के जन्म से लेकर मरणपर्यन्त दूसरों के सम्पर्क वा सम्बन्ध से, चाहे वे माता पिता हों वा अन्य, ज्ञान की वृद्धि का होना निरन्तर पाते हैं। इस प्राकृतिक नियम से कोई प्राणी नहीं बचा, यह सर्वसम्मत है। इसी प्रकार सर्गारम्भ में जब सब जीव अपने स्वाभाविक ज्ञान से युक्त होते हैं, तब पशुओं के सब व्यवहार तो वर्त्तमान की भान्ति उसी स्वाभाविक ज्ञानमात्र से चल ही जाते हैं, जैसा कि वर्त्तमान में भी पशु पैदा होते ही तैरना जानते हैं, परन्तु मनुष्य का बच्चा बिना सीखे नहीं तैर सकता। पशुजगत् की विशेषता यह भी है, कि वह अपने स्वाभाविक भोजन को स्वयं पहचान लेता है, पर मनुष्य के बच्चे को अपने खाद्य पदार्थ में भी विवेक ज्ञान नहीं होता। विषयुक्त अन्न को बन्दर तो पहचान कर छोड़ देगा, पर मनुष्य जब तक जिह्वा पर रखकर न देखे, नहीं जान सकता। इसका निष्कर्ष यह है कि पशुजगत् का काम नैसर्गिक विवेक से चल जाता है, पर मनुष्य का व्यवहार विना[1] नैमित्तिक प्रज्ञा (विना किसी के सिखाये) के नहीं चल सकता। अतः आवश्यक है कि

---

[1] इस विषय में हम कुछ पाश्चात्यों के विचार भी उपस्थित करते हैं—

(i) यूनान के राजा सेमिटिकल, फ्रेड्रिक द्वितीय तथा चतुर्थ जेम्स ने १०-१२ नवजात बालकों को शीशे के मकान में रखा। धाईयों को शिक्षा देने वा सामने बोलने आदि से भी सर्वथा मना कर दिया गया। परिणाम में सभी ज्ञानरहित–बहिरे वा गूंगे थे।

(ii) अकबर बादशाह ने भी कुछ बच्चों पर ऐसा ही प्रयोग करके देखा था। वह भी इसी परिणाम पर पहुँचा था ॥

Transaction of the Victoria Institute Vol. I, पृ० १३६ ॥

सृष्टि के आदि में जो मनुष्य उत्पन्न हुये, उनको इस व्यवहार का ज्ञान किसी शक्ति से मिले। जिस शक्ति से वह मिला, वह ईश्वर है, और जो ज्ञान मिला वह वेद है। इसका स्पष्टीकरण योगसूत्र "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (योगसूत्र १। २६) से हो रहा है॥

हमारा अभिप्राय यह है कि मनुष्य का व्यवहार विना बाह्य सहायता के नहीं चल सकता। सृष्टि के आदि में भी मनुष्य का ज्ञान वा व्यवहार कैसे चला होगा, जब तक कि उसे बाह्य सहायता प्राप्त न हो। अतः बाह्य सहायता अनिवार्य है। आदि सृष्टि में प्राप्त इसी बाह्यज्ञान की सहायता वा नैमित्तिक ज्ञान को हम 'ईश्वरीयज्ञान' या 'वेद' कहते हैं, जो ईश्वर द्वारा दिया जाता है॥

(३) उपर्युक्त विषय में अन्य रीति से विचार

इस बात को हम एक अन्य प्रकार से भी विचारते हैं, कि स्वाभाविकज्ञान को सहायता की आवश्यकता अनिवार्य है। संसार में हम देखते हैं कि प्रत्येक बाह्य ज्ञानेन्द्रिय को बाह्य सहायता की आवश्यकता है। नेत्र विना सूर्य की सहायता के कुछ भी नहीं देख सकता। यद्यपि दीपक-बिजली आदि मनुष्य ने बनाये, पर उनसे मनुष्य का उतना काम नहीं चल सकता, जितना सूर्य से। चक्षु विना सूर्य की सहायता के निकम्मा है। यदि संसार में सूर्य न होता, तो नेत्र का होना न होना बराबर था। यह ठीक है, कि यदि नेत्र न होता तो सूर्य के प्रकाश से भी लाभ नहीं उठाया जा सकता था। सूर्य की उष्णता से बहुत से कार्य चलते हैं, पर प्रकाश केवल नेत्र की सहायता का ही कार्य कर सकता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की अवस्था है। कान विना आकाश के, त्वचा विना वायु के, जिह्वा विना जल के तथा घ्राण विना पृथिवी के व्यर्थ हैं॥

इस विवेचना से यह सिद्ध है कि मनुष्य की प्रत्येक बाह्य ज्ञानेन्द्रिय विना बाह्य सहायता के कार्य नहीं कर सकती। अब यहां इतना और विचारना चाहिये कि इसी प्रकार आन्तरिक करण (ज्ञान, बुद्धि) भी विना बाह्य सहायता के कुछ नहीं कर सकती, क्योंकि बाह्यज्ञान आन्तरिक (स्वाभाविक) ज्ञान के विना नहीं हो सकता। जब ईश्वर की व्यवस्थानुसार प्राकृतिक नियम ने प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय (बाह्यकरण) से पूर्व प्रत्येक इन्द्रिय का सहायक देवता उत्पन्न किया, तो सर्वोत्तम तथा सूक्ष्म पदार्थों के जानने के साधन (स्वाभाविक ज्ञान) का कोई सहायक न बनाता, यह बात मानने योग्य प्रतीत नहीं होती, न ही मानी जा सकती है। मनुष्य दीपक के प्रकाश में जैसे थोड़ी दूर तक की वस्तु देख पाता है, पर सूर्य के प्रकाश में बहुत दूर तक की वस्तु भी स्पष्ट देख सकता है, यही अवस्था बुद्धि की समझनी चाहिये। जिस प्रकार का प्रकाश अर्थात् ज्ञान प्राप्त होगा, वैसा ही स्थूल, सूक्ष्म ज्ञान मनुष्य को होता रहेगा। अतः आरम्भ में पूर्णज्ञान का मिलना ही आवश्यक है॥

इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि सृष्टि के आदि में बुद्धि अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान की सहायता के निमित्त पूर्णज्ञानी परब्रह्म परमेश्वर द्वारा पूर्णज्ञान (वेद) का जीवों को प्राप्त होना अनिवार्य है। इसके विना संसार का कोई व्यवहार चलना ही असम्भव था, यही बात बुद्धिसङ्गत बैठती है॥

(iii) क्रमशः ज्ञानविकास में कोई प्रमाण नहीं, कई पाश्चात्य ऐसा मानने लगे हैं—

(क) "There is no proof of continuously increasing intellectual power" (Social environments and moral progress.)

(ख) डा० वालेस ने मैसोपोटामिया की खुदाई में प्राप्त कलाओं और लेखों पर विचार करते हुये उनको आज कल की अच्छी से अच्छी कलाओं के समान माना है।

(ग) सर आलिवर लाज ने अपनी पुस्तक Life and Matter में क्रमशः ज्ञानविकास का सिद्धान्त माननेवालों से प्रश्न किया है कि विना बताये फोटोग्राफी आदि कलाओं का विकास स्वयं कैसे हुआ?

(घ) डा० बालफोर ने भी लाज के उपर्युक्त मत का समर्थन किया है।

(देखें—वैदिक ज्योतिः, पृ० ४–१०)॥

विना ईश्वर के, आदि ज्ञान में अन्य सम्भवनीय पक्ष, और उनका निराकरण

(४) विना ईश्वर के, आदि ज्ञान में अन्य सम्भवनीय कल्पनायें भी हो सकती हैं, जिन इस आदि ज्ञान के प्राप्त होने के विषय में कई प्रकार की अन्य सम्भवनीय कल्पनायें भी हो सकती हैं, जिन पर संक्षेप से विचार करते हैं—

(१) यदि कोई कहे कि बहुत से जीवों के परस्पर सम्पर्क वा मेल से शिक्षा का क्रम चल पड़ेगा, क्योंकि बहुतों की अल्पज्ञता वा सामान्य ज्ञान मिल कर बहुज्ञता व विशेषज्ञान बन जायगा। परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह बात सत्य प्रमाणित नहीं होती। पशुओं का उदाहरण हमारे सामने है, एक सहस्र गौ या भेड़-बकरी मिलकर भी किसी विशेष रचना—रोटी बना लेना, नदी का पुल बाँधना, या कोई अन्य आवश्यक साधन बना लेना—आदि नहीं कर सकते, यद्यपि स्वाभाविक ज्ञान उन सब में है। इससे सिद्ध है कि सृष्टि के आदि में जीवों के सामान्य ज्ञान से विशेषज्ञान उत्पन्न कभी नहीं हो सकता, जब तक कि उसमें नैमित्तिकज्ञान का सहारा न हो, अर्थात् सामान्य ज्ञान विशेषज्ञान का ग्राहक होता है। इसी आदि नैमित्तिकज्ञान को, जो बुद्धि का सहायक ज्ञान है, हम 'ईश्वरीयज्ञान वेद' कहते हैं। अत एव इसकी आवश्यकता अनिवार्य है॥

(२) यदि यह कहा जावे कि जीवात्मा सदा उन्नति करता है, अतः समय पाकर सर्वज्ञ हो जायगा। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्मा बिना निमित्त के कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। वृद्धि क्या है ? अपने उपयोगी अवयवों को प्रकृति से वा कहीं से ग्रहण करने का नाम ही तो वृद्धि है। अतः ज्ञान की वृद्धि भी नये ज्ञान (नैमित्तिक ज्ञान) के द्वारा ही होगी, अन्यथा नहीं। सृष्टि के आदि के इसी ज्ञान को हम 'ईश्वरीय ज्ञान' कहते हैं।

(३) यदि कहा जावे कि मनुष्य अपने आप ही अपने पूर्वजों से आये हुवे ज्ञान वा अपने अनुभव द्वारा शनैः[1] शनैः उन्नति कर लेगा, ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है। यद्यपि यह बात साधारण दृष्टि से देखने में ठीक प्रतीत होती है, परन्तु कुछ गहराई से विचारने से यह बात भी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि

---

१ शनैः शनैः उन्नति वा विकासवाद का सिद्धान्त ठीक नहीं, इस विषय में पाश्चात्यों की दृष्टि से कुछ विचार उपस्थित करते हैं॥

(प्रश्न) विकासवादी अपने पक्ष का समर्थन इस तरह करते हैं कि पहिले के लोगों में ज्ञान की कमी थी। अब लोगों में ज्ञान का विकास चरम सीमा पर पहुँच चुका है। अतः मानना पड़ेगा कि ज्ञान का क्रमिक विकास होता है।

(उत्तर) इसका समाधान यह है कि पहिले के लोग मूर्ख और जङ्गली नहीं थे, अपितु आजकल के ज्ञानी और सभ्यों से अधिक ज्ञानी और सभ्य थे। इस विषय में स्वयं पाश्चात्य क्या कहते हैं, सो देखिये—

(i) गैल्टन—"यूनानियों की मध्य योग्यता न्यून से न्यून कूती जावे तो हमारी सभ्यता से दो दर्जे ऊपर की अर्थात् लगभग उतनी ऊँची थी, जितनी हमारी जाति अफ्रीका के हब्शियों से ऊँची है॥" "It follows from this that the average ability of the Athenian Race on the lowest possible estimate, very nearly two grades higher than our own, that is, about as much as our own race is above that of the African negro.

Heriditary Genus by Galton.

(ii) आनफील्ड—"पैथागोरस, अनकसागोरस और विरहो आदि यूनानी विद्वान् भारतवर्ष में शिक्षा प्राप्त कर यूनान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बने।" History of Philosophy Vol. I पृ० ६५॥

(iii) डा० वैलेस—"We must admit that the mind, which conceived and expressed in appropriate language rich ideas as are everywhere apparent in these Vedic hymns, could not have been in anyway inferior to those of the best of our Miltons and our Tennysons." Social environments and the moral progress by Dr. Wales.

अर्थात् वेद की ऋचाओं से जो विचार प्रकट होते हैं, उनके (यदि मनुष्य ने लिखे हों तो भी सं०) लेखक हमारे उत्तम से उत्तम धार्मिक शिक्षकों तथा हमारे मिल्टन और टैनीसन और सर्वश्रेष्ठ कवियों से किसी प्रकार हीन नहीं थे॥"

मनुष्य का ज्ञान उसके अनुभव मात्र का ही फल नहीं है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि रोगी को वैद्य किसी हानिकारक वस्तु के खाने से मना कर देता है, परन्तु वह उसको प्रमादवश खा भी लेता है और अपने रोग को दिनों के स्थान में सप्ताहों तक ले जाता है। ऐसी भूल एक बार नहीं अनेकों बार निरन्तर होती देखी जाती है। प्रतिदिन हम यह भी देखते हैं कि दीपक पर पतङ्गा आता है, उसका अनुभव उसकी ज्ञानवृद्धि में कुछ भी सहायता नहीं करता, और न ही उसके भावी (आने वाले) पतङ्गों की ज्ञानवृद्धि में कुछ भी कारण होता है। उसके अनुभव से आगे आने वाले पतङ्गे जलने से बच जावें, ऐसा देखने में नहीं आता, अर्थात् वे आगे जलने बन्द नहीं होते। और तो और किसी कुल में चाहे वह कितना ही शिक्षित वा ज्ञानयुक्त हो, ब्राह्मणकुल हो या क्षत्रिय कुल, विना पढ़े वा सीखे शास्त्रसम्बन्धी ज्ञान वा युद्धविज्ञानसम्बन्धी अनुभव आनेवाली सन्तति को कुछ भी प्राप्त नहीं हो पाता, जब तक कि वे अपने बड़े वा अन्यों से सीखते नहीं, चाहे उस कुल में शास्त्रों का ज्ञान वा रणविज्ञान अनेकों पीढ़ियों से कितना भी अधिक चला आ रहा हो। उनके कुल में जो भी सन्तति हो, उसे पढ़ना न पड़ता हो, ऐसा कभी देखने में नहीं आया। किन्तु इससे विपरीत महाविद्वान् और महापुरुषार्थी का पुत्र महामूर्ख और महाआलसी तक देखने में आता है॥

ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञान अनुभव से बढ़ता है और आप ही-आप आने वाली सन्तति को मिल जाता है। ज्ञान यदि स्वयं प्राप्त होनेवाला होता तो भविष्य में भी अपने आप ही कुल-परम्परा में मिलता रहता, परन्तु ऐसा ज्ञान तो नैमित्तिक है, विना निमित्त के हो ही कैसे सकता है ?

आज इतनी ज्ञान की उन्नति हो जाने पर भी कोई मनुष्य अपने अनुभवमात्र से ज्ञान की वृद्धि नहीं कर सकता, नहीं तो प्रत्येक जङ्गली विना पढ़े व्याकरण वा गणित का आचार्य क्यों नहीं बनजाता, वा हर कोई व्यक्ति विज्ञान-सम्बन्धी यन्त्रों की रचना क्यों नहीं कर लेता ? इससे यही प्रमाणित होता है कि नैमित्तिक ज्ञान के विना केवल अनुभव से ज्ञान कदापि नहीं बढ़ सकता॥

यह बात सुतरां सिद्ध है कि सृष्टि के आदि में जब मनुष्य आरम्भिक दशा में था, उसने अपने अनुभवमात्र से ज्ञान में वृद्धि कर ली और वह ज्ञान उसकी कुल-परम्परा में स्वयं हो गया, यह कैसे माना जा सकता है ? ऐसी दशा में यही मानना पड़ता है कि ज्ञान की वृद्धि नैमित्तिक होती है और सृष्टि के आदि में वह ज्ञान मनुष्यों को परमदेव परमेश्वर की दया से ही प्राप्त होता है॥

(४) यदि यह कहा जावे कि ज्ञान से ज्ञेय जाना जाता है, ज्ञेय के गुणों से भी तो ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, मानचित्र (नकशे) को देखकर भी तो भूगोल का ज्ञान होता है, भूगोल को पढ़कर भी मानचित्र (नकशे) का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार आरम्भ में सृष्टि को देखकर ज्ञान हो सकता है। सबको नहीं तो तीव्रबुद्धि वालों को ही पहले हुआ होगा। आदिसृष्टि में मनुष्य ईर्ष्या, द्वेष से रहित थे। उनकी बुद्धि मलीन न होने से दिव्यशक्ति द्वारा संसार में कार्य होते देखकर, उसी से ज्ञान सञ्चित कर लिया, वही क्रमपरम्परा से चला और वेद कहा जाने लगा॥

पूर्वपक्षी का यह कहना भी ठीक नहीं, प्रथम तो ज्ञेय से ज्ञान की प्राप्ति बहुकालसाध्य होगी। इसकी अपेक्षा ज्ञान से ज्ञेय का बोध बहुत ही सुगम पड़ता है। यदि आयुर्वेदादि का ज्ञान वस्तुओं को चख चख कर अर्थात् एक एक वस्तु के पृथक् २ परीक्षण से होना होता तो संसार में आज वैद्यकशास्त्र का लोप ही हो चुका होता। इस प्रकार भिन्न भिन्न आप्त ज्ञाताओं के ज्ञान का समन्वय कैसे हो पाता, यह भी विचारने की बात है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अनुभव मात्र से यथेष्ट ज्ञान की वृद्धि नहीं हो सकती। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं॥

विचार करने से ज्ञात होता है कि मनुष्य के साथ प्रकृति का वह सम्बन्ध नहीं, जो उसका पशुओं के साथ है, इसलिये उसकी स्थिति सर्वथा ही प्रकृति के सहारे नहीं रह सकती। इसका कारण यही है कि मनुष्य पशु नहीं है, किन्तु ज्ञानी जीव है, अतः उसे प्रकृति वा कार्यजगत् से कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती॥

प्रश्न होता है कि जब मनुष्य ने सृष्टि अर्थात् कार्यजगत् को देखकर ही आरम्भ में अपनी ज्ञान-वृद्धि क्रमशः कर ली, तो वर्त्तमान में भी क्रमशः ज्ञानवृद्धि का वह क्रम क्यों लुप्त हो गया ? यदि कोई कहे, कि आदि सृष्टि अमैथुनी

२

थी, इसलिये वह क्रम नहीं रहा। जैसे वर्त्तमान अवस्था में अमैथुनी सृष्टि नहीं, ऐसे ही ज्ञान की क्रमशः उन्नति का वह क्रम भी नहीं।। यह भी इसलिये ठीक नहीं कि आरम्भ में तो जोड़े उत्पन्न होने से पूर्व अमैथुनी सृष्टि का होना अनिवार्य है, जब जोड़े सम्पन्न होगये तो आगे अमैथुनी सृष्टि की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, पर पशुओं में तो क्रमशः ज्ञान उत्पन्न होते रहने का क्रम तो चल सकता था, इसमें तो कुछ भी बाधा नहीं थी, वह क्यों बन्द हो गया ? जब से मनुष्य-समाज का इतिहास उपलब्ध होता है, तब से आज तक किसी ने भी इस बात को प्रमाणित नहीं किया कि गौ, घोड़े या तोते ने क्रमशः ज्ञानोन्नति द्वारा कोई औषधालय खोल दिया हो, जिसमें मनुष्यों की नहीं तो कम से कम पशुओं की ही चिकित्सा का मार्ग खुल गया हो, और तो और अपनी ही चिकित्सा करली हो, ऐसा भी देखने में नहीं आया।।

अतः सृष्टि में कार्यों को देखकर अर्थात् केवल ज्ञेय से ज्ञान की वृद्धि आदिसृष्टि में हो सके, बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं करती।।

योगियों को ज्ञेय सृष्टि से जो ज्ञान होता है, वह भी नैमित्तिक ज्ञान के बिना कभी नहीं हो सकता। उसमें भी बिना पूर्व उपलब्ध ज्ञान के निमित्त तथा योग की शिक्षा के प्राप्त किये बिना किसी भी व्यक्ति को उक्त ज्ञान कभी नहीं हो सकता।।

हमारा कहना यह है कि पदार्थों को देखकर अपनी ज्ञानशक्ति को बिना किसी निमित्त के बढ़ाया नहीं जा सकता, इसमें दृष्टान्त पशुओं की ज्ञान-वृद्धि का न होना ही है।।

देखिये! सूर्य के निमित्त से चक्षु में पदार्थों को प्रत्यक्ष देखने की शक्ति अधिक हो जाती है, इससे रूप-ज्ञान तो हो जाता है परन्तु विशेषज्ञान का अभाव ही रहता है। विशेषज्ञान की शक्ति सब जीवों में स्वतः रहती है, जिसका साधारण मनुष्य को ज्ञान नहीं होता। क्योंकि संसार में रूपज्ञान पशु-पक्षी सबको प्राप्त है, पर उनको प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमानादिजन्य ज्ञान—कार्य को देख कारण का ज्ञान, वा लिङ्ग को देख लिङ्गी का बोध—संसार में देखने में नहीं आता। अतः बुद्धि इस बात को स्वीकार करती है कि यह शिक्षा मनुष्य को कहीं बाहर से प्राप्त होती है। इस आदि बाह्यज्ञान का नाम ही वेद है।।

हमारे इस कथन से स्पष्ट है कि आदि ऋषियों को भी जब तक बाह्य सहायता न मिले, ज्ञान की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। बिना निमित्त ज्ञान के सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। केवल अनुभवमात्र से ज्ञान की वृद्धि नहीं हो सकती, यही हमारा कहना है।।

पूर्वोक्त विषय का निष्कर्ष यह हुआ कि मनुष्य के ज्ञान (बुद्धि) के विकास के साधन, वादियों के मतानुसार पांच प्रकार के ठहरते हैं—(१) माता (२) पिता (३) आचार्य (४) स्वाभाविक ज्ञानवृद्धि, और (५) प्राकृतिक जगत्।।

इनमें माता पिता से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी नैमित्तिक ज्ञान ही है, जिस से ज्ञानवृद्धि की पुष्टि होती है, परन्तु सृष्टि के आदि में माता पिता का अभाव होने से ज्ञानविकास की प्रक्रिया को सुलझाने में ये दोनों (माता पिता द्वारा ज्ञान होना) हेतु असमर्थ हैं। आचार्य के द्वारा ज्ञान का विकास होता है जैसा कि—"आचारं ग्राहयति,······आचिनोति बुद्धिमिति वा (निरु० १।४)" में कहा है। यह हेतु हमको सर्वांश में उपादेय है, क्योंकि हम भी तो यही कहते हैं कि सब मनुष्यों का आदिगुरु वा आदिआचार्य परमेश्वर है, जो सबको सृष्टि के आदि में सदा ज्ञान प्रदान करता है। अन्य कोई मनुष्य आदि आचार्य उस समय नहीं हो सकता, क्योंकि उसे दूसरे आचार्य की, उसको तीसरे की अपेक्षा रहेगी। इस प्रकार अनवस्था उत्पन्न होकर परमेश्वर के आचार्यत्व में ही जाकर समाप्ति हो सकती है।।

अब हम स्वाभाविक ज्ञान को लेते हैं। यह हम पहले कह चुके हैं, कि स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान के ग्रहण का साधन तो है, परन्तु वही स्वयं विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के ज्ञान के लिये पर्याप्त हो जाता है, यह ठीक नहीं। प्रतिदिन हम देखते हैं कि स्वाभाविक ज्ञानवाले बच्चे वर्त्तमान हैं, परन्तु उनको पढ़ाने के लिये अन्य

की आवश्यकता पड़ती ही है । नहीं तो जङ्गली मनुष्य या पशु के स्वाभाविक ज्ञान में वृद्धि क्यों नहीं होती ? भाव यह है कि स्वाभाविक ज्ञान भी नैमित्तिक ज्ञान से ही बुद्धिविकास में समर्थ है, स्वयं नहीं ॥

पांचवां प्राकृतिक जगत् भी जानी जानेवाली सामग्री ही तो है, और इसमें भी सन्देह नहीं, कि यह किसी न किसी अंश में ज्ञान का साधन भी हो जाता है, परन्तु सबके लिये यह उसी रूप में साधन होता है, यह ठीक नहीं । अन्यथा इस बात का हमें कोई उत्तर नहीं मिलता कि विद्यालय की दीवार पर टंगा हुआ मानचित्र (नक्शा) वा स्कूल में बना हुआ माडल (नमूना) विना अध्यापक के पढ़ाये बच्चे के ज्ञान को क्यों विकसित नहीं कर देते ? लोक में भी नदी, पहाड़ दिखलाई पड़ते हैं, फिर इनका नाम न जानने वाले व्यक्ति को अपनी संज्ञा का बोध क्यों नहीं करा देते, जिससे कि वह मनुष्य स्वयं बोल उठे, यह नदी है, यह पर्वत है ॥

प्राकृतिक जगत् से होनेवाले इस ज्ञान के लिये आवश्यक है कि नाम और गुण पहले ज्ञात होने चाहियें । लोक भी इस बात का साक्षी है कि वह किसी भूषण को बनाने से पूर्व उसका नाम मात्र बताता है कि अमुक भूषण बना देना । यह नहीं होता कि सोना पहले भूषण बन जावे और फिर उसकी आकृति और नाम निश्चित हो ॥

अतः नाम और वस्तु साथ २ होते हैं, और उसका गुण भी उसके साथ २ रहता है । इसलिये सारी प्रक्रिया का सुलझान इस बात में है कि मनुष्य ज्ञान विकासवाद की इस प्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों को अनादि माने, जैसा कि हम वैदिक लोग मानते हैं ॥

हमारे उपर्युक्त समस्त प्रतिपादन से सिद्ध है कि विना बाह्यज्ञान वा नैमित्तिक ज्ञान के मनुष्यों का व्यवहार कदापि नहीं चल सकता । आदिज्ञान के अन्य सभी काल्पनिक वा सम्भव उपायों की असमर्थता हमने ऊपर सिद्ध की । अतः "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" शास्त्र के इस वचनानुसार उस आदिगुरु परमदेव परमात्मा के विना और कोई शरण नहीं हो सकती, अर्थात् समस्तज्ञान के आदिस्रोत उस परब्रह्म से ही ज्ञान मिले, तभी जीव का कल्याण है, 'नान्यः पन्था विद्यते' और कोई मार्ग नहीं ॥

वेदज्ञान का प्रकाश कैसे हुआ ?

इसके दो ही प्रकार हो सकते हैं, कि या तो जगदीश्वर ने आदि मनुष्यों वा ऋषियों को आजकल की भान्ति बैठकर पढ़ाया वा लिखकर दे दिया या लिखा दिया हो, यह सब एक ही प्रकार कहा जा सकता है और ईश्वर के शरीरधारी होने पर ही हो सकता है, और तो किसी प्रकार हो नहीं सकता । ईश्वर के देहधारी होने में उसकी नित्यता और सर्वव्यापकतादि गुण रह नहीं सकते, और आगे सृष्टिकर्त्तृत्व, सर्वशक्तिमत्त्वादि गुण भी टिक नहीं सकते, ईश्वर का ईश्वरत्व ही नहीं रह सकता, अतः उसका देहधारी होना तो मानने योग्य नहीं हो सकता ॥

दूसरा प्रकार यह है कि जैसे अनन्तविद्य परमेश्वर ने प्रकृति से इस दृश्यमान सम्पूर्ण कार्य जगत् की रचना की, इसमें उसे बाह्य साधनों की कुछ भी आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार वेदज्ञान का प्रकाश भी ईश्वर ने ऋषियों के हृदयों में एक दम कर दिया । उसी ज्ञान में जीवसम्बन्धी सभी आवश्यक ज्ञान था और उसी में व्यवहार की भाषा अर्थात् देववाणी के सभी नित्य शब्दार्थसम्बन्धों को भी पुनः प्रकाशित कर दिया । सब ऋषि-मुनियों का यही सिद्धान्त है—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योग सू० १ । २६) ॥

योगदर्शन के इस सूत्र का यही अभिप्राय है कि परमात्मा सबका आदिगुरु है, आदि उपदेष्टा है । उसी ने वेदज्ञान का प्रकाश वा उपदेश किया ॥

कई महानुभावों का मत है कि सृष्टि की उत्पत्ति में वेद का स्थान मनुष्य की उत्पत्ति से पहले है, पुरुष सूक्त में वेद की उत्पत्ति का वर्णन मनुष्योत्पत्ति से पहिले मिलता है । वे यह भी कहते हैं कि प्रकृति में वर्त्तमान वेपनों (कम्पनों) के द्वारा उत्पन्न परिणामों की क्रमिक अवस्था का अनुभव वेद है । वेपन (कम्पन) ही शब्द का स्वरूप

है। अव्यक्त शब्दों का क्रमिक प्रतिबोध आदि-मनुष्यों के अन्तःकरण में हुआ और वे अन्दर नादरूप में आये, फिर स्थान-प्रयत्न द्वारा प्रकाशित हुये ॥

यह पक्ष ठीक नहीं। सृष्टि की उत्पत्ति में वेद मनुष्यों से पहले हुये (ईश्वर के ज्ञान में तो थे ही, उनका प्रकाश तो तभी कहा जायगा जब जीवों तक पहुँचे), ऐसा नहीं। पुरुषसूक्त में केवल पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन हम पाते हैं। वहाँ क्रम से यह तात्पर्य नहीं कि घोड़ों के पश्चात् भेड़, बकरियाँ पैदा हुईं, अपितु ये सब उस अनन्त-सामर्थ्य जगदीश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, इतना ही अभिप्राय है ॥

यदि शब्द अनित्य हो तो वेपन घट सकता है। शब्द के नित्यत्व में ऋषि-मुनि एकमत हैं। हाँ नित्य शब्द में प्रकाश होना घट सकता है ॥

नाद होकर प्रकाशित होना भी इसलिये ठीक नहीं कि शब्द की उत्पत्ति के विज्ञान को बताने वाले ऋषियों ने कहा है कि—

"आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥" (पाणिनीय शिक्षा) ॥

अर्थात् आकाश और वायु का संयोग होता है, फिर वह वायु शरीर से ऊर्ध्वभाग में ऊपर को उठता हुआ मुख में पहुँचता है, उसे 'नाद' कहते हैं, और वह नाद भिन्न २ स्थानों में विभक्त होकर वर्णभाव को प्राप्त होता है, अर्थात् शब्द का रूप धारण करता है ॥

यदि केवल यही उपर्युक्त वाक्य होता, तब तो वेपनों द्वारा नाद की उत्पत्ति होकर शब्द उत्पन्न होजाने का सिद्धान्त माना जा सकता था, परन्तु उपर्युक्त सूत्र के साथ ही दूसरा सूत्र है, जो शब्दोत्पत्ति के इससे भी पूर्व अर्थात् वेपन से भी पूर्व के सिद्धान्त को बहुत उत्तम रीति से बतलाता है। वह कहता है—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥......" (पा० शि०) ॥

आत्मा बुद्धि से अर्थों को संचित (संगृहीत, इकट्ठा) करके मन को कहने की इच्छा से प्रेरित करता है। मन शरीराग्नि को उत्तेजना देता है। वह आगे फिर वायु को प्रेरित करता है। वह आगे शब्द का जनक होता है ॥

कहने का अभिप्राय यह है कि वेपन से पूर्ववर्त्ती क्रियायें यथा २ होनी अनिवार्य हैं, यह विचारना होगा। ऐसी अवस्था में विचारने से पता लगता है कि जब तक पहले बुद्धि (ज्ञान) न हो, वेपन अर्थात् लहरें ही उत्पन्न नहीं हो सकतीं, क्योंकि "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्" के अनुसार आत्मा का बुद्धि द्वारा अर्थों को पहले इकट्ठा करना अनिवार्य है, अर्थात् उनके बिना वेपन का प्रादुर्भाव ही असम्भव है। होंगे भी तो उनका समन्वय किस से होगा? अर्थात् यदि उस समय आदि सृष्टि में परमात्मगत बुद्धि (ज्ञान) मात्र ही होगा और केवल उसी की प्रेरणा रहेगी तो फिर जीवों में स्वाभाविक ज्ञान का तो अभाव ही रहेगा। आगे की ज्ञानवृद्धि की प्रक्रिया जीवों में कैसे चलेगी? क्योंकि सब जीवों को एक जैसा ज्ञान वेपन द्वारा प्राप्त होने पर भी, उस ज्ञान का ग्रहण अर्थात् धारण तो एक जैसा कभी नहीं हो सकता[२]। कहने का भाव यह है कि ज्ञानवृद्धि की प्रक्रिया आरम्भ से ही माननी पड़ेगी। पदार्थों का और बुद्धि (ज्ञान) का होना आरम्भ में ही आवश्यक है। तभी "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्" की प्रक्रिया बन

१. यह पाठ शिक्षा के नाम से चिरकाल से व्यवहृत है। तद्यथा—नागेश लघुमञ्जूषा पृ० ११८।
"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् इति शिक्षायामपि ॥"

२. क्योंकि वेपन तो जड़ है। वेपनपक्ष में जीवों में तो स्वाभाविक ज्ञान है नहीं, वह तो वेपन से ही उत्पन्न होगा। सो नैमित्तिक ज्ञान सब जीवों का समान होगा। पर नैमित्तिक ज्ञान तो वर्त्तमान में असमान है, जो प्रत्यक्ष है। सृष्टि के आरम्भ में भी हमारे पक्ष में जीवों के पूर्वसंचित कर्मों का फल बुद्धि आदि होने से वह नैमित्तिकज्ञान भिन्न २ रहता है ॥

सकती है। भाषा की उत्पत्ति भी इसी प्रक्रिया से ही हो सकती है। विना निमित्तज्ञान के यह व्यवस्था नहीं चल सकती, यह हम पूर्व कह आये हैं। इसलिये यह वेपनों वाली प्रक्रिया ठीक नहीं। ठीक प्रक्रिया यही हो सकती है, कि आदि सृष्टि में जीवों का जो स्वाभाविक ज्ञान था, उसी में जगदीश्वर द्वारा नैमित्तिक ज्ञान का पुट दिया गया। "पूर्वेषामपि गुरुः०" शास्त्र के इस पूर्वोक्त वचनानुसार परमात्मा ने ही ज्ञान तथा भाषा का प्रकाश आदि ऋषियों के हृदयों में किया और आगे उन्होंने ही सब जीवों को ज्ञान तथा भाषा का उपदेश किया, जैसा कि पूर्व कह आये हैं॥

इसलिये वेपन (कंपन) द्वारा नाद की उत्पत्ति होकर वेद का ज्ञान उत्पन्न हुआ, यह विचार युक्तिसंगत नहीं ठहरता, न ही ऋषि-मुनियों की प्रक्रिया के अनुकूल बैठता है॥

हाँ! एक बात विचारने योग्य शेष रह जाती है, वह यह कि जब सर्गारम्भ में वेदज्ञान का प्रकाश एक जैसा हुआ, तो सब मनुष्यों को ही ज्ञान क्यों न हो गया, और चार ही ऋषियों को वह ज्ञान क्यों हुआ? क्यों न मान लिया जावे कि जो २ भी उस ज्ञान के धारण करने योग्य बुद्धि रखते थे, उन सबको ही (जो चार ही नहीं थे, अपितु अनेक थे) यह सब ज्ञान हुआ?॥

यह शङ्का स्वभावतः प्रत्येक विचारशील के हृदय में उत्पन्न होनी अनिवार्य है। हमारे सामने इतना ही है कि शतपथ ब्राह्मण के **"अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः"** (शत० ११। ५। ८। ३) तथा मानव धर्मशास्त्र के **"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्युजुःसामलक्षणम्॥"** मनु० १। २३॥ इन वचनों से अग्नि-वायु-आदित्य-अङ्गिरा से वेदों का प्रकाश हुआ। इस विषय में हमें यह शब्दप्रमाण ही मिलता है। सृष्टि के आदि का विस्तृत इतिहास तो है नहीं, जिसे कोई उपस्थित कर सके। शब्दप्रमाण जिसे ऋषि-मुनि सदा से मानते चले आये, हम भी उसी के आश्रय से ही कह सकते हैं कि हमारा इन चार ऋषियों को वेद का आविर्भावक कहना हमारी अपनी कपोल-कल्पना नहीं, अपितु शास्त्र के आधार पर है॥ यदि हम किञ्चित् बुद्धि से भी विचार करें तो यही प्रतीत होता है कि परमात्मा के द्वारा वेद का ज्ञान, चाहे उसका रूप कुछ भी हो, सर्गारम्भ में जीवों को नैमित्तिक ज्ञान के रूप में अवश्य मिलना चाहिये। यदि सबको ही प्रकाश दिया, जैसा कि सूर्य का प्रकाश, और फिर उन आदि जीवों ने अपने में जिन चार को सर्वोत्कृष्ट समझा, उनको प्रमाणीभूत मानकर उनके आगे सिर झुका दिया और सर्वोच्च चार आत्माओं के ज्ञान से ही अपने ज्ञान को परीक्षित करने लगे। जैसे एक श्रेणी में अनेक छात्र एक साथ पाठ पढ़ने पर अपने में योग्यतम छात्र को मुख्य मानकर अर्थात् प्रमाण वा कसौटी मानकर अपने पढ़े हुये वा जाने हुये विषय के ज्ञान की परीक्षा वा मान्यता स्वीकार करते हैं। यद्यपि इसमें कुछ आपत्ति नहीं, परन्तु जब शेष सबमें ग्रहण वा धारण करने की शक्ति ही नहीं थी, तो उन्हें वह ज्ञान आरम्भ में स्वयं मिले, इसकी आवश्यकता ही क्या है? अतः इस विषय की सर्वोत्तम प्रक्रिया यही है कि सर्गारम्भ में प्रभु ने एक साथ ज्ञान का प्रकाश चारों ऋषियों के हृदयों में दे दिया, जो मुक्ति की अवधि समाप्त कर पूर्व से ही इस ज्ञान के पात्र होकर इस सृष्टि में आये थे। क्योंकि उनमें ही ग्रहण और धारण करने की शक्ति सब से उत्कृष्ट थी। उन्हें इसीलिये यह ज्ञान दिया ताकि किसी भी अवस्था में उसमें किसी न्यूनता की सम्भावना ही न रह जावे। ज्ञान का प्रकाश होजाने पर आगे उन्होंने ही सब ज्ञान जीवों को दिया, और तत्सम्बन्धी सब कुछ बतला दिया। यही प्रक्रिया सर्वोत्कृष्ट और सुसङ्गत है, क्योंकि वेद ने भी तो **"अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्"** (ऋ० १०।७१।३) कहा है, जिसका अर्थ यही है कि वेदवाणी पहले ऋषियों के हृदय में प्रकाशित होती है, मनुष्य लोग उसको पीछे प्राप्त करते वा कर सकते हैं, क्योंकि उससे पूर्व उनमें उसके ग्रहण वा धारण की शक्ति ही नहीं होती॥

प्रकृतविषय में एक विचार और उपस्थित करना भी असंगत न होगा। कोई २ महानुभाव यह कहते हैं कि सृष्टि के आदि में केवल एक विद्वान् को सम्पूर्ण वेद का ज्ञान मिला, और वह अग्नि था। वे अपने पक्ष की सिद्धि में ऋग्वेद का यह मन्त्र उपस्थित करते हैं—

अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तमृच॑ः कामयन्ते अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तमु॒ सामा॑नि यन्ति।
अ॒ग्निर्जा॑गार॒ तम॒यं सोम॑ आह॒ तवा॒हम॑स्मि स॒ख्ये न्यो॑काः॥ ऋ० ५। ४४। १५॥

उनके कथन का सार इतना ही है कि अग्नि जागता है, उसे ही ऋचायें प्राप्त होती हैं, सामगानादि उसी की कामना करते हैं ॥

उन महानुभावों की सेवा में हम विनम्र निवेदन करेंगे कि यह भूल "अग्नि" शब्द के अर्थ पर गम्भीर विचार न करने से हो रही है। हम समझते हैं कि 'अग्नि' शब्द का अर्थ केवल 'भौतिक अग्नि" या 'अग्नि' नाम का कोई व्यक्ति विशेष (Proper Name) ही हो, यह बात नहीं। यह धारणा इस युग के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द के पुण्य प्रताप से हट चुकी है। अनेक प्रौढ़ विद्वान् समझे जाने वाले व्यक्तियों ने अग्नि से परमात्मा-विद्वान्-राजा-वैद्य-नेता आदि अनेक अर्थों को स्वीकार किया है (देखो यही यजुर्वेदभाष्य वि० पृ० ४७ टि० १) जिसके विषय में हम आगे चलकर अधिक विचार कर सकेंगे। यहां हमको इतना ही कहना है कि 'अग्नि' का अर्थ "नेता" विद्वान् भी होता है। निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं—

"अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति······त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद् दग्धाद्वा नीतात्" ॥ निरु० ७। १४ ॥

जब हमने समझ लिया कि 'अग्नि' का अर्थ विद्वान् भी है, तो देखें ऊपर वाले वेदमन्त्र की सङ्गति कैसी सुन्दर और बुद्धिग्राह्य बैठती है! अग्नि अर्थात् विद्वान् जागता है। ऋचायें उसी की कामना करती हैं, उसी को साम प्राप्त होते हैं इत्यादि ॥ विद्वान् ही जागता है, वह वेद के तत्त्व को यथावत् जान सकता है, विद्वानों के हृदय में ही वेद का ठीक ठीक प्रकाश होता है। वेदमन्त्रों के गान का विज्ञान भी उन्हें ही ठीक ठीक प्राप्त होता है। "जागर्ति को वा सदसद्विवेकी" जागता कौन है, जो सत् असत् को विवेकबुद्धि के द्वारा परीक्षण कर सकता है। ऐसा विद्वान् ही ऋचाओं के यथावत् अभिप्राय को समझ सकता है। वेद के इस मन्त्र में कैसा सुन्दर हृदयग्राह्य भावपूर्ण वर्णन है !! यह कहां से आ गया कि 'अग्नि' किसी व्यक्ति-विशेष का नाम है? वेद में आये अनेकों विशेषण ही इस बात के विरुद्ध प्रबल प्रमाण हैं ॥

अतः सर्गारम्भ में वेदों का प्रकाश चार ऋषियों द्वारा हुआ, यही बात सर्वोत्तम, शास्त्रसम्मत और बुद्धिग्राह्य है। इसमें सन्देह करने का कोई स्थान नहीं रह जाता ॥

वेदज्ञान का स्वरूप

अब हम आदि-ऋषियों को जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसका स्वरूप क्या था? इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न करते हैं। ज्ञान का क्या स्वरूप है, पहले इस बात को समझ लेना आवश्यक होगा। ज्ञान दो प्रकार का कहा जा सकता है—स्वाभाविकज्ञान तथा नैमित्तिकज्ञान। स्वाभाविक ज्ञान का स्वरूप हमें पशु-पक्षियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है, जो खाने-पीने, सन्तानक्रिया तथा पालनादि तक ही रहता है। नैमित्तिक ज्ञान वह है, जो बाह्य निमित्त से प्राप्त हो। ईश्वरीयज्ञान स्वाभाविकज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि स्वाभाविकज्ञान से मनुष्य के मस्तिष्क में ऐसी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, जिससे वह अपना ज्ञान अधिक विस्तृत कर सके। इसका प्रमाण सब बिना पढ़े लिखे और जङ्गली मनुष्य हैं। वे बिना सीखे सौ तक गिनना भी नहीं जान सकते। उधर संसार मे विस्तृत और विशाल ज्ञान देखने में आता है, अतः हमें कहना पड़ता है कि यह स्वाभाविक ज्ञान का परिणाम नहीं। अतः आदिज्ञान नैमित्तिकज्ञान ही हो सकता है, जो जगदीश्वर ने सृष्टि के आदि में ऋषियों के हृदय में प्रकाशित कर दिया वा उनके हृदयों में प्रविष्ट हुआ। उसे हम प्रविष्ट होनेवाला नैमित्तिकज्ञान कह सकते हैं ॥

यदि हम वेद को हित-अहित के सम्पादन करनेवाले साधनों के बोधक वाक्य, अर्थात् "हिताहितसाधन-बोधकत्वं वेदत्वम्" ऐसा कह दें, तो इस अवस्था में ऋषि-मुनियों के वाक्य भी हित-अहित साधन को बतलानेवाले हो सकते हैं, जो ईश्वरोक्त नहीं। अतः वेद उस अपौरुषेय (मनुष्योच्चरित से भिन्न) वाक्यसमूह का नाम है, जो हित-अहित साधनों का बोध कराता हो, अर्थात् "अपौरुषेयत्वे सति हिताहितसाधनबोधकत्वं वेदत्वम्" ऐसा लक्षण करना होगा। यह लक्षण ऋग्, यजुः, साम, अथर्व चारों पर घटित हो जाने से इनको हम वेद कहते हैं। नित्य-

शब्दार्थ-सम्बन्ध रखनेवाले अपौरुषेय वाक्यसमूह का नाम वेद है, जिसकी वर्णानुपूर्वी, पद तथा स्वर सब नित्य हैं, क्योंकि पुरुष की विद्या अनित्य होने से वेद ही नित्यज्ञान कहा जा सकता है (निरु० १ । १), और यही वेद हम तक परम्परा से बराबर यथावत्रूप में पहुँचता चला आ रहा है ॥

इस विषय में भिन्न भिन्न विचारधाराओं का उठना अस्वाभाविक नहीं । इसीलिये कई एक कहते हैं—

(१) ये वेद उन ऋषियों की ही कृति हैं, जो आदि में हुये या जिनके नाम वेदमन्त्रों के ऊपर अभी तक लिखे चले आ रहे हैं । इसका उत्तर हम पूर्व ही दे चुके हैं कि विना नैमित्तिकज्ञान के आदि ऋषियों का ज्ञान भी कभी नहीं बढ़ सकता । यदि कहो कि ज्ञान तो वह सब परमात्मा का ही था, ऋषियों ने उसे मन्त्ररूप में रचा । सो जब ज्ञान ईश्वर का था, रचने की विद्या भी ईश्वर से ही उन्होंने सीखी होगी तो वह ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान तो हुआ, इसमें भेद क्या पड़ा ? समस्त शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता उस नित्य परमेश्वर से ही प्रकाशित होने में उपर्युक्त रीति से ठीक बैठती है । अतः वह ज्ञान ऋषियों का नहीं कहा जा सकता । वेद ने भी "अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्" (ऋ० १० । ७१ । ३) ऋषियों में प्रविष्ट हुई को मनुष्य ग्रहण करते हैं, ऐसा कहा ॥

(२) यदि कहा जावे कि ज्ञानमात्र का नाम वेद है, तो प्रश्न होगा कि वह आया कहां से ? और उसका स्वरूप क्या है ? क्या सब जीवों के ज्ञान को एकत्रित करने से जो बना, उसका नाम वेद है ? तो यह बात भी ठीक नहीं हो सकती, क्योंकि एक श्रेणी में नौ अयोग्य छात्रों के अपूर्ण ज्ञान को एकत्रित करने से भी वह ज्ञान नहीं बनता, अर्थात् यथार्थ रूप में उपलब्ध नहीं हो सकता, जो दसवें एक ही योग्य छात्र द्वारा संगृहीत ज्ञान से हो सकता है ॥

(३) यदि कहो कि वेद में केवल सिद्धान्तों का ही वर्णन है, आगे जीव स्वयं उनका विस्तार कर लेंगे । इसमें इतना तो ठीक है कि मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाने से आगे विस्तार हो सकता है, पर आदि में एक बार तो उसके विस्तार करने का ज्ञान भी मिलना ही चाहिये ॥

(४) कोई कहते हैं कि मन्त्रों पर लिखे हुये ऋषियों ने ही वेदों को बनाया, वे ही उस उस मन्त्र के कर्त्ता हैं, उन्होंने क्रमशः उन्नति करते करते बहुतसा ज्ञान मन्त्रों सहित पा लिया होगा । वे ही मन्त्र पिछले ऋषियों ने या वेदव्यास ने संग्रह करके ऋग्, यजुः, साम, अथर्व नाम की चार संहिताओं के रूप में हमारे पास पहुँचाये होंगे । कालचक्र से जब मनुष्य पिछले ऋषि-मुनियों के ज्ञान को समझने में अशक्त हुये, तब कहने लगे वेदों में अपूर्व अलौकिक ज्ञान है । इन मन्त्रों की रचना करना मनुष्य की शक्ति से बाहिर है, इत्यादि ॥

इसका उत्तर यही है कि विना नैमित्तिक ज्ञान के स्वाभाविक बुद्धि से ही ज्ञान की वृद्धि कदापि नहीं हो सकती, यह ऊपर पर्याप्त कहा जा चुका है । जब समस्त ऋषि-मुनि स्वयं इन वेदों को अपौरुषेय अर्थात् उस परमदेव जगदीश्वर की रचना वा कृति बतला रहे हैं, तो फिर यों ही कहते जाना कि ऋषियों के बनाये हैं, कहां तक सङ्गत कहा जा सकता है । इस विषय में ऋषियों के वचन हम आगे उपस्थित करेंगे । जब इन कर्त्ता कहे जाने वाले, मन्त्रों पर लिखे, ऋषियों के पूर्वजों के काल में भी वेद विद्यमान था, स्वयं वेदव्यास से बहुत पहले वेद एक नहीं चतुर्धा विद्यमान था, तो उन ऋषियों ने या व्यासजी ने वेद बनाये वा संग्रह किया वा विभाग किया, यह सब अप्रमाण ही सिद्ध होता है । इसका अधिक निरूपण हम आगे चल कर करेंगे ॥

(५) जो महानुभाव वेद की ज्ञानात्मकता का प्रतिपादन करते हैं, वे कहते हैं कि ज्ञान और आत्मा परस्पर अभिन्न एकात्मक हैं । ज्ञान की श्रेणी अनन्त वेद का एक भाग ही तो है । उनकी ज्ञानात्मकता में यह दोष पड़ता है कि जब ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई पदार्थ वे स्वीकार ही नहीं करते, तो वह ज्ञान है किसका ? इसलिये उनका यह पक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता । ईश्वर, जीव, प्रकृति के विषय में सप्रमाण हम आरम्भ में कह चुके हैं । अतः यहां इतना निर्देश करना ही पर्याप्त होगा ॥

(६) बहुत से यह भी कहते हैं कि "अनन्ता वै वेदाः", ज्ञान अनन्त है, एक छोटे से ग्रन्थ में सम्पूर्ण ज्ञान आ ही कैसे सकता है ? अतः यही समझना चाहिये कि सृष्टि के आदि में जो ज्ञान मिला, वह चूंकि वेद का

अंश है, अतः वेद है और उस अनन्त वेद में प्रविष्ट होने का साधन है, न कि सम्पूर्ण वेद। इन चार संहिताओं को जो वेद कहा जाता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि बस वेद इतना ही है, क्योंकि "अनन्ता वै वेदाः" यह वचन इसमें प्रमाण है और विचार करने पर भी यही समझ में आता है कि ज्ञान की कोई सीमा नहीं हो सकती, इत्यादि॥

पूर्वपक्षी का यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि अनन्त प्रभु का ज्ञान भी अनन्त है, यदि इसको लेकर कहा जावे तो ठीक है। परन्तु वेद का ज्ञान तो है ही उतना जितना कि जीवों के लिये अपेक्षित है। वेद ईश्वर का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं। ईश्वर की दृष्टि में वह ज्ञान अनन्त नहीं हो सकता। सृष्टि के आदि में जितना ज्ञान जीवों के लिये आवश्यक था और जो परमात्मा के द्वारा दिया गया, हम उसे ही ईश्वरीयज्ञान वेद कहते हैं। स्वयं वेद ने कह दिया कि ऋक्-यजुः-साम-अथर्व का ज्ञान परमेश्वर से प्राप्त हुआ। समस्त ऋषि-मुनियों ने इस बात को ही दृढ़तापूर्वक माना है, जिसका वर्णन हम आगे करने वाले हैं। तो फिर एक वचन "अनन्ता वै वेदाः" को लेकर सारी प्रक्रिया को ही बदल डालना कैसे बुद्धिसंगत कहा जा सकता है? इस वाक्य में भी "अनन्त" शब्द का प्रयोग औपचारिक है, "अनन्तसुखिवत्"। 'वेद' शब्द भी वहां वैदिक ज्ञान वा वैदिक साहित्य के लिये कहा जा सकता है, क्योंकि वेद के व्याख्यान—शाखा-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् आदि—इस वचन के निर्माणकाल में बन चुके थे। वेद चार नहीं, अनन्त हैं, इसका यह अर्थ तो आजतक किसी ने नहीं माना॥

वेद के स्वरूप के विषय में इस प्रकार के और भी बहुत से वाद उठ सकते हैं, वा उठाये जा सकते हैं। उनका उत्तर भी दिया जा सकता है। पर यहां संक्षेप से इतना ही पर्याप्त होगा॥

अब हमें ईश्वरीय ज्ञान के स्वरूप के विषय में इतना तो अवश्य जान लेना चाहिये कि उसमें क्या क्या बातें होनी अनिवार्य हैं, जिससे वह अपौरुषेय ज्ञान अन्यों से पृथक् जाना जा सके। ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके उसकी ओर से दिया जानेवाला ज्ञान वेद है, ऐसा मानकर यह बात सुगमता से समझ में आ सकती है कि उसमें परमात्मा के सम्पूर्ण गुणों का प्रकाश अवश्य होना चाहिये। दूसरे शब्दों में परमात्मा के किसी गुण के विपरीत वह नहीं होना चाहिये, उसका सृष्टि के आदि में होना आवश्यक है, क्योंकि यदि सृष्टि के आदि में नहीं होता, तो आरम्भ से ही व्यवस्था कैसे चलेगी? सारा व्यवहार कैसे प्रारम्भ होगा? जो सृष्टि के आदि में आरम्भ नहीं हुआ, वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहला सकता। अब वह ज्ञान यदि बीच २ में बदलता रहे, तब भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे ईश्वर में अज्ञान वा अपूर्णता सिद्ध होगी। अतः वह ज्ञान पूर्ण और अपरिवर्त्तनशील होना चाहिये। परमेश्वर के एकरस होने से उसका दिया ज्ञान भी एकरस ही होना आवश्यक है। जैसे सूर्य में किसी प्रकार का अन्धकार वा मैल नहीं रहता, इसी प्रकार यह ज्ञान भी निर्मल तथा सम्पूर्ण विद्याओं से युक्त होना चाहिये, जो सभी जीवों के व्यवहार के लिये आवश्यक हो। प्रत्येक मनुष्य की समझ में न आनेवाले विषयों की विद्याओं का इसमें होना उसका दूषण नहीं, भूषण है॥

कहने का भाव यही है कि वह ज्ञान पूर्ण होना चाहिये। यतः वह जीवों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये है, अतः अन्त तक वह उनकी आवश्यकताओं को पूरा करता हो। तर्क की कसौटी पर भी पूरा उतरता हो। ऋषि-मुनियों की परम्परा के अनुगत हो। जिसमें किसी जाति वा देशविशेष के लिये नहीं, अपितु सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन हो, जो सर्वकाल सर्वदेश में एक जैसे अपेक्षित हों॥

ये सब बातें हों, तभी समझना चाहिये कि वह ईश्वरीय ज्ञान है। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को वेद का परीक्षण करना चाहिये कि ये सब नियम इसमें संघटित होते हैं या नहीं?

ये सभी नियम वेद में पाये जाते हैं, ऋषिमुनियों का भी यही सिद्धान्त है, अत एव वैदिकधर्मियों ने इस धारणा को स्वीकार किया है॥

आदि-भाषा का प्रकाश तथा उसका स्वरूप

अब हम आदि-भाषा के स्वरूप पर कुछ विचार उपस्थित करते हैं। जब आदि-ज्ञान के स्वरूप को जान लिया जावे, तो प्रारम्भ में भाषा का व्यवहार कैसे चला होगा ? ऐसी आकाङ्क्षा प्रत्येक व्यक्ति को होनी स्वाभाविक ही है ॥

यह नियम है कि मनुष्यों में ज्ञान विना[1] भाषा के नहीं रह सकता, और भाषा विना ज्ञान के नहीं रह सकती। इन दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। एक के विना दूसरे का रहना असम्भव है। जैसे कुल परम्पराओं में ज्ञान विना सिखाये नहीं चल सकता, इसी प्रकार भाषा भी विना सिखाये नहीं आ सकती। मनुष्य वही भाषा बोलता हुआ देखा जाता है, जो कि उसके कान में पड़ती है। एक शिशु भी वही भाषा बोलता हुआ दृष्टिगोचर होता है, जो भाषा वह अपनी माता वा पिता की गोद में बैठकर सुना करता है, चाहे वह माता पिता से कान में पड़े या अपने परिवार वा अन्य बाह्य व्यक्तियों से, वह वही शब्द बोलता है, जो वह सुनता है। यही कारण है कि एक एक प्रान्त (ज़िले) वा प्रदेश की भाषा में निरन्तर भिन्नता पाई जाती है। तात्पर्य यही है कि कोई भी मनुष्य वा बालक विना सिखाये दूसरों की भाषा कदापि नहीं बोल सकता। जब बोल नहीं सकता, तो यह कहना कि वह भाषा स्वयं बना लेगा, किसी प्रकार भी माननीय नहीं हो सकता, यह तो उसकी शक्ति से सर्वथा बाहर की बात है। संसार में कोई भी जन्म का गूंगा नहीं मिलेगा जो बहिरा न हो। चूंकि वे बहिरे होते हैं, उन्हें सुनाई कुछ देता नहीं, अतः वे गूंगे भी रह जाते हैं। योरोप, अमेरिकादि में अनेक बादशाहों ने, तथा भारत में सम्राट् अकबर आदि ने कुछ नवजात बच्चों को मनुष्य की बोलचाल से सर्वथा पृथक् रखकर परीक्षण करने का यत्न किया। जिसके लिये उन्होंने कड़ा पहरा लगाया। परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के पश्चात् यही देखने में आया कि कोई कुछ भी नहीं बोल सकता था ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि विना निमित्त अर्थात् विना शिक्षा के संसार में कोई भी भाषा बोली नहीं जा सकती। ऐसी अवस्था में हमें यही कहना पड़ेगा, अर्थात् इसी सिद्धान्त को मानना होगा कि सृष्टि के आदि में ज्ञान और भाषा साथ २ लेकर ही मानव-समुदाय का प्रादुर्भाव संसार में हुआ, क्योंकि विना भाषा (शब्द) के ज्ञान रह ही कैसे सकता है ? जहाँ वैदिक ज्ञान वा ईश्वरीय ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ भाषा का प्रादुर्भाव होना भी अनिवार्य है ॥

---

१ इस विषय में पाश्चात्यों के कुछ विचार भी उपस्थित करते हैं—

(i) "I therefore declare my conviction as explisively as possible that thought in the sense of reasoning is not possible without language."

(साइंस आफ लैंग्वेज—मूलरकृत ॥)

(ii) "Without language, says Sheeling, it is impossible to conceive philosophical nay, even any human consciousness"

(साइंस आफ लैंग्वेज—मूलरकृत) ॥

अर्थात् विना भाषा के विचारों का प्रकट होना सर्वथा असम्भव है, उपर्युक्त दोनों का यही भाव है।

(iii) "At one time Sanskrita was the one language spoken all over the world."

(इण्डियन रिव्यू भाग २, ३ पृ० ४२) ॥

अर्थात् एक समय था जब संस्कृत विश्व भर की भाषा थी ॥

(iv) "That Panini knew the Pratishakhyas had been indicated long ago by professor Bohtlingk, and it can be proved, by a comparison of Panini sutras with those of Pratishakhyas, that Panini largely availed himself of the works of his predecessors,"

(The Sanskrit Literature by Maxmuller) ॥

यदि कोई कहे कि मनुष्य बहुत समय तक गूंगा ही रहा और वह इशारों से वा चक्षु के व्यापार अर्थात् इङ्गित, चेष्टित से ही काम चलाता रहा, जब मनुष्य का काम इतने से न चला तो भाषा बना ली। हम पूछते हैं भाषा बनाने से पूर्व निरन्तर इतने समय तक उनमें परस्पर संवाद कैसे चलता रहा होगा? जब तक अर्थ का निश्चय नहीं कर लिया होगा, तब तक परस्पर का संवाद क्या निरर्थक ही चलता रहा होगा? जो हो नहीं सकता, क्योंकि जब तक परस्पर यह निश्चय न हो जावे कि अमुक ध्वनि का अमुक अर्थ नियत रहेगा, संवाद की प्रक्रिया का चलना ही नितान्त असम्भव है, और वह भी उस दशा में, जब कि उनके पास अर्थयुक्त कोई ध्वनि ही नहीं थी। किस प्रकार एक ने दूसरे से कहा होगा कि भाई के लिये 'भा' और बहिन के लिये 'ब' और माता के लिये 'मा' कहना और समझना चाहिये। इतना ही नहीं, दूसरों ने इस अभिप्राय को भला समझा ही कैसे होगा? ॥

अतः यह सब बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। बुद्धि में तो यही बात ठीक बैठती है, जैसा कि हम ऊपर सिद्ध कर आये हैं, कि स्वाभाविकज्ञानमात्र से ज्ञान की वृद्धि कदापि नहीं हो सकती, जब तक उसे नैमित्तिकज्ञान की सहायता न मिले। इसी प्रकार भाषा भी बिना सिखाये नहीं आ सकती। अतः इसी सिद्धान्त पर पहुँचना पड़ता है, कि आदि-ज्ञान और आदि-भाषा का प्रादुर्भाव परमपिता परमात्मा की ओर से हुआ, और सृष्टि के आरम्भ में, जैसे ज्ञान एक था, वैसे भाषा भी एक थी। यदि मनुष्यों की भाषा एक न होती, तो मनुष्यों का परस्पर का व्यवहार ही कैसे चलता? क्योंकि मनुष्य ऐसा प्राणी है, जो समूह (सोसाइटी) के बिना रह नहीं सकता। एक भाषा न होने से उसका काम चलना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है ॥

हम ऊपर कह आये हैं कि 'ईश्वरीय-ज्ञान वेद' वह ज्ञान है जो सृष्टि के आदि में मनुष्यों को परमपिता परमात्मा से प्राप्त होता है। यह ज्ञान प्रभु ने जिस भाषा के द्वारा संसार को दिया है, वह भाषा किसी भी अन्य भाषा से उत्पन्न नहीं हुई, और न ही वह आप से आप प्रगट हो गई, क्योंकि मनुष्य के मुख से जो ध्वनि नादरूप में होती हुई वर्णात्मकध्वनि के रूप में हमारे कानों तक पहुँचती है, वैसी ध्वनि संसार में मनुष्य के अतिरिक्त और कहीं से भी सुनाई नहीं देती। हम स्पष्ट देखते हैं कि पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ वर्णात्मक नहीं होतीं। इससे यह बात भली-भाँति समझ में आ सकती है, कि मनुष्य अपने वर्णों को किन्हीं बाह्यध्वनियों से अनुकरण कर लेगा, ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि मनुष्य ऐसा कर सकता, तो संसार में किसी देश वा जाति की वर्णमाला अपूर्ण कभी दृष्टिगोचर न होती। प्रत्येक व्यक्ति बाह्यध्वनियों से अपनी २ वर्णमाला को बढ़ा लेता, इससे यह सिद्ध है कि बाह्यध्वनियों से भाषा कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार यह भी असम्भव है कि मनुष्य के मुख से भाषा अपने आप ही निकल पड़े, क्योंकि मनुष्य वही भाषा बोलता है जो कि वह दूसरों से सुनता है ॥

अतः यह सिद्ध है कि भाषा अपने ही आप मुख से निकल पड़े या बाह्यध्वनियों के अनुकरण द्वारा भाषा बन जावे, यह दोनों प्रक्रियाएँ ही नहीं बन सकतीं। यही मानना पड़ेगा कि वह आदि-भाषा केवल परमात्मा की प्रेरणा से ही उत्पन्न हो सकती है जैसे कि आदि ज्ञान। दूसरे शब्दों में आदि-ज्ञान और आदि-भाषा उस परमपिता परमात्मा की ही देन हैं और वे ऋषियों द्वारा प्राप्त होते हैं। परमात्मा की प्रेरणा से ही ज्ञान और भाषा उत्पन्न हो सकते हैं, अन्य उपायों से नहीं। देववाणी किसी भाषा का अपभ्रंश हो सो भी नहीं क्योंकि इसकी उत्कृष्टता को संसार की कोई भी भाषा नहीं पा सकती। और संसार में जितनी भाषायें चलीं, वे सब देवभाषा (संस्कृत) से परम्परा से बिगड़ कर बनीं जिनका उद्गम स्थान वेद है। यह सत्य है कि एक ही मूल भाषा अनेक कारणों से अनेक शाखाओं में फैलकर अनेक विभागों में विभक्त हो जाती है जिसका विस्तृत विवेचन यहाँ कठिन है, अर्थात् कालान्तर में वही एक देवभाषा अनेक कारणों से, अनेक शाखाओं में फैलकर अनेक विभागों में विभक्त हो गई है, जिसका विस्तृत विवेचन करना यहाँ पर कठिन है। इस देवभाषा का भी उद्गम स्थान वेदवाणी है ॥

अतः वेदवाणी ही सब भाषाओं की आदिजननी है। वेद की भाषा कभी बोली जाती रही हो, ऐसी बात नहीं। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में इसे भाषा शब्द से नहीं पुकारा गया है, क्योंकि अनन्त प्रभु के ज्ञान वेद में समस्त संसार के ज्ञान का समावेश होने के लिये उसकी रचना स्वभावतः ही ऐसी होनी चाहिये थी, जिसमें

एक शब्द अनेक अर्थों का द्योतक हो, अनेकविध ज्ञान एक ही शब्द के द्वारा प्रकट न होने पर ईश्वर को न जाने कितनी बड़ी रचना करनी पड़ती। अतः यही मानना होगा कि आदि में वेद से ले २ कर शब्दों का प्रयोग होने लगा। जैसा कि शास्त्र कहता है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० १। २१॥

वेद से लेकर ही लौकिक शब्दों के नित्य वाच्यवाचक सम्बन्ध जाने गये। वही देववाणी अर्थात् संस्कृत के नाम से कही जाने वाली भाषा व्यवहार में चली॥ वेद में कहा है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। ऋ० ८। १००। ११॥

विद्वान् लोग वेदवाणी के द्वारा (नित्य शब्दार्थसम्बन्धों को जानकर) देववाणी अर्थात् संस्कृतभाषा का विस्तार करते हैं, उसी को अन्य सब साधारण मनुष्य बोलते हैं॥

संसार में जितनी भाषायें हैं, उनमें सब से अधिक विस्तृत, पूर्ण और परिश्रम-साध्य उच्चारण वेदभाषा का ही है। उच्चारण-विषय में जितनी सावधानता वेदवाणी के विषय में की गई है, उतनी किसी में नहीं। इतना ही नहीं, लौकिक संस्कृत भाषा के ही उच्चारण में जितनी मौलिकता, स्वाभाविकता और सावधानता आज तक बर्ती गई है, संसार की किसी भी भाषा के उच्चारण में नहीं बर्ती गई। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो भिन्न २ ध्वनियाँ हम सुनते हैं, वे संख्या में भी अधिकमात्रा में संस्कृतभाषा में ही पाई जाती हैं। केवल संख्या में ही अधिक पाया जाना कोई महत्त्व नहीं रखता, सबसे बड़े महत्त्व की बात तो यह है कि संस्कृतभाषा की ६३ की ६३ ध्वनियां अपनी स्वाभाविकता-नैसर्गिकता-मौलिकता और अनिवार्यता को लिये हुये हैं। संख्या के विषय में सब विद्वान् जानते हैं कि लातीनी-हिब्रू में २० वर्ण माने जाते हैं, फ्रांस की भाषा में २५, अङ्ग्रेजी में २६, स्पेन की भाषा में २७, तुर्की और अरबी में २८, फ़ारसी में ३१, रूसी भाषा में ३५ और संस्कृत में[1] ६३। वर्त्तमान आर्यभाषा वा सामान्य संस्कृत में ४७ अक्षर बोले जाते हैं, ऐसा किन्हीं का मत है, सो ठीक नहीं। वास्तविक ६३ अक्षर ही देववाणी संस्कृत में हैं, ये ध्वनियाँ स्वाभाविक हैं, जो सार्थक हैं। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा की ही वर्णमाला सब से पूर्ण वा विस्तृत है॥

लौकिक और वैदिक भाषा का भेद भी अवश्य ध्यान देने योग्य है। थोड़ीसी संस्कृत जानने वाला भी समझ सकता है कि वेद के व्याकरण के नियम लौकिक व्याकरण के नियमों से भिन्न होते हैं। यह बात हम अपने पाठकों को आगे बतावेंगे। धातुओं की जितनी संख्या हमें संस्कृत भाषा में मिलती है, संसार की किसी भाषा में नहीं मिलती। अतः देववाणी (संस्कृत) के आदि भाषा होने और वेद-मूलक होने में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता॥

आशा है भाषा की उत्पत्ति और उसके स्वरूप के विषय में यहाँ संक्षेप से इतना लिखना ही पर्याप्त होगा॥

वेद और प्राचीन ऋषि-मुनियों की परम्परा

वेदज्ञान के स्वरूप का हमने जो ऊपर निरूपण किया, इसमें वेद तथा अन्य ऋषि-मुनियों की दृष्टि से भी पर्यालोचन करना लाभकारी होगा। वेद से पुराना ज्ञान वा ग्रन्थ संसार के पुस्तकालय में नहीं है, इसमें संसार के प्रायः आधुनिक विद्वान् भी सहमत हैं॥

(१) इस विषय में स्वयं वेद क्या कहता है सो प्रथम दर्शाते हैं—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांꣳसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ य० ३१। ७॥

---

१. वायुपुराण में ६३ अक्षर मानकर भी स्वर केवल ह्रस्व, दीर्घ ही माने हैं। ६३ अक्षर पूरे नहीं गिनाये॥

उस सर्वपूज्य, सर्वोपास्य, पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न हुए, अर्थात् उस परमेश्वर ने ही वेदों का प्रकाश किया है। यहां यह ध्यान रहे कि ऋग्-यजुः-साम में भी तो छन्द हैं, फिर मन्त्र में "छन्दांसि" का ग्रहण किसलिये किया? "व्यर्थं सज्ज्ञापयति" इस नियम से "अथर्व" का ग्रहण ज्ञापक से निकलता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व० १० । ७ । २० ॥

जिस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, जिस परब्रह्म से यजुर्वेद प्रादुर्भूत हुआ, सामवेद जिसके लोम के समान है और अथर्व जिसका मुखरूप है, अर्थात् जिससे सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुये, वह ब्रह्म कैसा है? "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रम्०" (ऋ० १० । ७१ । १) इस मन्त्र के सम्बन्ध में हम आरम्भ में दर्शा चुके हैं कि वेदवाणी ही सृष्टि में सब से प्रथम वाणी होती है। संसार के सब पदार्थों के नाम-कर्मादि का बोध उसी से होता है। वह श्रेष्ठ सर्वोत्कृष्ट होती है। सबके लिये समान परिश्रम-साध्य और प्रभु की प्रेरणा से ऋषियों की बुद्धि में निहित होकर प्रकाशित होती है। इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र "यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्०" में यह बतलाया है कि वेद का ज्ञान पहले ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट होता है, तब पीछे मनुष्य उसको प्राप्त करते हैं। इस प्रकरण में ये दोनों मन्त्र स्पष्ट बतलाते हैं कि वेद में वेद का स्वरूप कैसा माना गया है। इन उपर्युक्त मन्त्रों पर विचार करने से स्पष्ट है कि वेदज्ञान का प्रकाश तथा वाणी (भाषा) का प्रकाश उस परब्रह्म परमेश्वर से होता है। चारों वेदों का विभाग जगदीश्वर के द्वारा हुआ, तथा वह ज्ञान वा वाणी ऋषियों द्वारा ही मनुष्यों को प्राप्त होती है, यह वेद का सिद्धान्त है। यहां "अनु-अविन्दन्" पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। "ऋषिषु प्रविष्टाम्" से स्पष्ट है कि वह ऋषियों में प्रविष्ट हुआ ज्ञान वा वाणी है, ऋषियों की अपनी बनाई नहीं, अर्थात् उनका अपना ज्ञान नहीं ॥

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया ।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम् ॥ ऋ० ८ । ७५ । ६ ॥

इस मन्त्र में "वाचा विरूप नित्यया" इन पदों से वेदवाणी को नित्य कहा गया है। सायणाचार्य ने भी इसका ऐसा ही अर्थ किया है, यथा—"नित्यया उत्पत्तिरहितया वाचा मन्त्ररूपया सुष्टुतिं नूनमिदानीं चोदस्व स्तुहि"—अर्थात् हे महर्षे! उत्पत्तिरहित मन्त्ररूप वेदवाणी के द्वारा स्तुति किया कर ॥

(२) शतपथ तथा ऐतरेयब्राह्मण—

वेद का प्रमाण उपस्थित करने के पश्चात् अब हम यह दर्शाना चाहते हैं कि परम्परा से ऋषि-मुनियों की दृष्टि में वेद का क्या स्वरूप है। शतपथब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के संवाद में कहा है कि—

(क) "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निः[1]श्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः" ॥ श० १४ । ५ । ४ । १० ॥

अर्थात् हे मैत्रेयि! उस महान् परब्रह्म परमेश्वर से चारों वेद श्वास-प्रश्वास की भांति अनायास निःश्वसित अर्थात् प्रकाशित हुए ॥

(ख) इसी शतपथ ब्राह्मण में आगे कहा है—

१ इस विषय में देखें पृ० ३ टि० २ ॥

"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः" ॥ श० ११ । ५ । ८ । ३ ॥

अर्थात् (परमात्मा की प्रेरणा से) अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद का प्रादुर्भाव हुआ ॥

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण २५ । ७ में भी लिखा है—

"ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्याद्" ॥

(३) निरुक्तकार यास्कमुनि—

(क) "पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" ॥ निरु० १ । २ ॥

पुरुष की विद्या अनित्य होने से वेद ही सम्पूर्ण कर्मों का बोधक है ॥

(ख) "नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति" ॥ निरु० १ । १६ ॥

वेदवाणी नित्य है, तथा उसकी आनुपूर्वी भी नित्य होती है, अर्थात् उसमें घटा बढ़ी नहीं हो सकती।

(४) पाणिनि तथा पतञ्जलि—

ये दोनों आचार्य भी वेद को नित्य मानते हैं, अर्थात इनकी आनुपूर्वी को नित्य बतलाते हैं। जहां पाणिनिमुनि ने "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" (अ० ४ । २ । ६६) इस सूत्र में तथा अन्य कई सूत्रों में ब्राह्मणों की वेद से भिन्नता स्वीकार की, वहां 'कृते ग्रन्थे' (अ० ४ । ३ । ११६) और "तेन प्रोक्तम्" (अ० ४ । ३ । १०१) इन दोनों सूत्रों को पृथक् २ बनाकर कृति और प्रवचन का भेद दर्शाया। "तेन प्रोक्तम्" सूत्र में भाष्यकार पतञ्जलिमुनि कहते हैं—

या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति" ॥ अ० ४ । ३ । १०१ भाष्ये ॥

इसमें कठ-कलाप-पैप्पलादादि शाखा-ग्रन्थों की आनुपूर्वी को महाभाष्यकार अनित्य मानते हैं, उधर वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं, जैसा कि—

"स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियतास्यवामशब्दस्य" ॥
महाभा० ५ । २ । ५९ ॥

आम्नाय अर्थात् वेद की आनुपूर्वी तथा स्वर नित्य होते हैं, यह स्पष्ट यहां कहा गया है। यह स्वरूप है वेद का, पाणिनि और पतञ्जलि के मत में। पतञ्जलि का तो यह वचन ही है, वह जिस सूत्र की व्याख्या करता है, वा जिस सूत्र का यह भाष्य है, वह सूत्र पाणिनि का है, अत एव हम कहते हैं कि यह मत उपर्युक्त दोनों आचार्यों का है। इस उपर्युक्त वचन से वेद की नित्यता सूर्य के प्रकाश की भान्ति सिद्ध है ॥

(५) मानवधर्मशास्त्र—

अब हम मनुमहाराज की वेद के विषय में क्या धारणा है, सो दर्शाते हैं—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ १ ॥ मनु० १२ । ९४ ॥

वेद ज्ञानी, विद्वान् और मनुष्यों का सनातन चक्षु है, इसको कोई व्यक्ति बना नहीं सकता। यह (अङ्गोपाङ्गों के विना) जाना नहीं जा सकता ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥ २ ॥ मनु० १२ । ९७ ॥

चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम तथा भूत, वर्त्तमान और भविष्य की सब व्यवस्थायें, वेद से ही संसार में प्रचलित होती हैं, अर्थात् वेद ही इनका उद्गम स्थान है ॥

बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥ ३ ॥ मनु० १२। ९९ ॥

सर्वकाल से वर्त्तमान सनातन वेदशास्त्र द्वारा सम्पूर्ण जीवों का धारण वा पोषण होता है। प्राणिमात्र के लिये वेद को मैं (मनु) परमसाधन मानता हूँ ॥ 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" (मनु० २। १३) इसमें भी वेद को ही परम प्रमाण माना है ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ ४ ॥ मनु० १२। १०० ॥

सेनापत्य, राज्य तथा दण्डादि की सब व्यवस्था और सब लोकों पर आधिपत्य = राज्य करने के लिये वेदशास्त्र का ज्ञाता सब से मुख्य अधिकारी होता है ॥

वेद का कैसा उत्तम स्वरूप भगवान् मनु ने बतलाया ! इन उपर्युक्त श्लोकों में बार बार वेद को नित्य, सनातन, सब विद्याओं का भण्डार और परमप्रमाण कहा गया है। "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है", इस पर कई आशङ्का किया करते हैं; पाठक देखें इस विषय में मनु महाराज क्या कहते हैं—

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ५ ॥ मनु० २। ७ ॥

वेद में सब धर्म अर्थात् नियमों का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि वेद सर्वज्ञान का स्रोत है। दूसरे शब्दों में समस्त विद्यायें वा विज्ञान वेद में हैं। 'सर्वज्ञानमय' वेद को तभी कहा जा सकता है ॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ६ ॥ मनु० १२। ९६ ॥

वेद से भिन्न (विपरीत) अनेक ग्रन्थ बनते रहते हैं, और नष्ट होते रहते हैं। वे सब प्राचीन-परम्परा के अनुसार न होने से निष्फल और असत्यपूर्ण होते हैं ॥

वेद के विषय में कितने उत्कृष्ट विचारों से भरा यह वर्णन है, जो मनु महाराज के उपर्युक्त श्लोकों में हमें मिलता है। यह है वेद का स्वरूप जो ऋषियों ने समझा ॥

वेद किनके द्वारा प्रकाशित हुए, यह भी मनु महाराज ने बतलाया—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ ७ ॥ मनु० १। २३ ॥

ऋग्, यजुः आदि अग्नि, वायु आदि ऋषियों के द्वारा प्रकाशित हुए। इसी श्लोक की टीका में कुल्लूकभट्ट ने भी लिखा है—

"वेदापौरुषेयत्वपक्ष एव मनोरभिमतः। पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्त्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष···" ॥ मनु० १।२३ टीका ॥

अर्थात् मनु महाराज वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। जो वेद पूर्व कल्प में थे, वे ही अब भी वर्त्तमान हैं ॥

(६) महाभारत—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२। २४ ॥

सृष्टि के आरम्भ में स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी वाणी (वेद) का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका आदि वा अन्त नहीं, जो नित्य है, और जिसका कभी नाश नहीं होता, जो दिव्य है, उसी से संसार में सब प्रवृत्तियां चलती हैं ॥ "अनादिनिधना" से यहां पर अक्रमारूढ़ ज्ञान समझना चाहिये, जिसके विषय में हम आरम्भ में पर्याप्त कह चुके हैं ॥

अब हम दर्शनकार ऋषियों के मत में वेद का क्या स्वरूप है, वे वेद को कैसा समझते हैं, इसका दिग्दर्शन अति संक्षेप से कराते हैं—

(७) वैशेषिक—

(क) [1]तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ वै० १ । १ । ३ ॥

ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता सिद्ध है ॥

वेद ईश्वरोक्त हैं, इनमें सत्यविद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है। इससे चारों वेद नित्य हैं, ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है, क्योंकि ईश्वर नित्य है, उसका वचन (विद्या) भी नित्य होने से प्रमाण है, यह कणादमुनि का मत है ॥

उदयनाचार्य ने भी इस सूत्र में "तत्" शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हुए कहा कि वेद ईश्वरोक्त होने से प्रमाण हैं, इसलिये वेदप्रमाणक धर्म के निरूपण की प्रतिज्ञा करने में कोई दोष नहीं ॥

(ख) वैशेषिकदर्शन का टीकाकार शङ्कर मिश्र अपने उपस्कार में लिखता है—

"तद्वचनादिति। तदित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतयेश्वरं परामृशति, यथा "तदप्रामाण्यमनृत-व्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" (न्या० २ । १ । ५६) इति गौतमीयसूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते। तथा च तद्वचनात् तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्" ॥

वै० १ । १ । ३ उपस्कार पृ० ७ ॥

अर्थात् वैशेषिक के इस सूत्र में 'तद्' शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है। ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता है ॥

(ग) उदयनाचार्यकृत किरणावली (पृ० १३) में उद्धृत 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" सूत्र के विषय में "किरणावलीप्रकाश" में लिखा है—"तद्वचनादिति। तेनेश्वरेण वचनात् प्रणयनादाम्नायस्य प्रामाण्यमित्यर्थः ॥

अर्थात् तद्वचन = ईश्वर का वचन होने या उसकी कृति होने से वेद का प्रामाण्य है ॥

(घ) प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या किरणावली में उदयनाचार्य कहते हैं—

"अविच्छेदे तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति व्याकुप्येत। लोकसन्तत्यविच्छेदे वेदसम्प्रदायस्याप्यविच्छेदात् ॥" पृ० ८९ ॥

अर्थात्—यदि सृष्टि का आरम्भ नहीं मानें तो कणाद मुनि का 'ईश्वरवचन होने से वेद का प्रामाण्य है' कथन युक्तिसंगत नहीं ठहरता। क्योंकि यदि सृष्टि का आरम्भ और अन्त नहीं हो तो वेद का भी आरम्भ और अन्त न होगा, अतः सूत्रकार के मत में सृष्टि का आरम्भ है और उसी समय ऋषियों के अन्तःकरण में ईश्वर वेद का ज्ञान देता है ॥

---

१ यहां, इस सूत्र का अर्थ करनेवालों ने 'तद्' शब्द से प्रायः 'धर्म' का ग्रहण किया है ? ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका पृ० ३२ में—

"तद्वचनात् तयोधर्मेश्वरवचनाद् धर्मस्यैव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरस्यैवोक्तत्वादाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम्" ॥

विदित रहे कि वैशेषिक के टीकाकार शङ्करमिश्र ने अपने उपस्कार में 'तद्' शब्द से ईश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसका उल्लेख हमने आगे किया है ॥

(८) न्यायशास्त्र—

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥ न्या० २ । १ । ६७ ॥

गौतममुनि कहते हैं—आप्तों द्वारा सदा से प्रामाण्य स्वीकार करते आने के कारण वेद का प्रामाण्य मानना चाहिये, जैसा कि मन्त्र (विचार) और आयुर्वेद का प्रामाणत्व स्वीकार करना ही पड़ता है ॥

न्यायभाष्यकार कहते हैं—"य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम् ॥"
न्या० भा० २ । १ । ६७ ॥ पृ० १६७ ॥

अर्थात्—आप्त (ऋषि) लोग वेद के प्रवक्ता (प्रवचन करनेवाले) तथा द्रष्टा हुए, न कि कर्त्ता ॥

आगे फिर लिखते हैं—'मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम् । आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यं लौकिकेषु शब्देषु चैतत् समानमिति' ॥ पृ० १६८ ॥

अतीत वा अनागत मन्वन्तर वा युगान्तरों से वेद अविच्छिन्न चले आ रहे हैं, अतः नित्य हैं ॥

(९) सांख्य—

सांख्यशास्त्र के पञ्चमाध्याय में वेद के नित्यत्व तथा अपौरुषेयत्व विषय में कई एक सूत्र दिये हैं । जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥ सां० ५ । ४५ ॥

वेद नित्य नहीं, क्योंकि उनके विषय में "उत्पन्न हुये" आदि शब्दों का व्यवहार अर्थात् उनके कार्य होने का उपदेश स्वयं वेद में पाया जाता है, जैसा कि "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" (यजुः ३१ । ७) इत्यादि ॥

इस पूर्वपक्ष का उत्तर अगले ही सूत्र में देते हैं—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ॥ सां० ५ । ४६ ॥

वेद किसी पुरुष के बनाये नहीं, क्योंकि उनका बनानेवाला आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ ॥ अतः वेद की उत्पत्ति को प्रवाह से अनादि मानने में कोई दोष नहीं आता ॥

यही बात मीमांसाभाष्य की व्याख्या में **भट्टकुमारिल** ने भी कही है—**"कर्त्तुः स्मरणाभावादपौरुषेया वेदा इति"** ॥ (तन्त्रवार्त्तिक पृ० १०१) ॥

यदि कहो कि मुक्त पुरुष बनालेंगे, सो भी ठीक नहीं ।

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥ सां० ५ । ४७ ॥

मुक्त और अमुक्त दोनों ही वेद का निर्माण नहीं कर सकते, क्योंकि मुक्त तो आनन्द भोगने में रहता है, वह उस समय करता कुछ नहीं, अमुक्त अज्ञानी होने से नहीं बना सकता ॥

अन्त में कहते हैं—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥ सां० ५ । ५१ ॥

ईश्वर की स्वाभाविक शक्ति द्वारा प्रकाशित होने से वेद स्वतःप्रमाण हैं ।

(१०) योगशास्त्र—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ यो० १ । २४ ॥

क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इनसे रहित जो पुरुषविशेष है, उसको ईश्वर कहते हैं ॥

इस सूत्र पर व्यासभाष्य में लिखा है—

"तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किन्निमित्तम् ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिसम्बन्धः । एतस्मादेतद् भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति" ॥
योगभाष्य १ । २४ ; पृ० २८, २९ ॥

उस उत्कर्ष (उत्कृष्टता) का निमित्त शास्त्र है । शास्त्र का निमित्त क्या है ? इस पर कहते हैं कि प्रकृष्ट सत्त्व अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ज्ञान शास्त्र का निमित्त है । ईश्वर के ज्ञान में वर्त्तमान इस शास्त्र और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान का सम्बन्ध अनादि है । इस कारण से वह सदा ऐश्वर्यवाला तथा सदैव मुक्त कहा जाता है ॥

यहां वाचस्पति मिश्र भी यही कहते हैं—

"तथा चाभ्युदयनिःश्रेयसोपदेशपरोऽपि वेदराशिरीश्वरप्रणीतस्तद्बुद्धिसत्त्वप्रकर्षादेव भवितुमर्हति···तत्सिद्धं प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तं शास्त्रमिति" ॥

लौकिक और पारलौकिक सुख के साधनों का उपदेश करने वाला ईश्वर का रचा हुआ वेद भी उसके उत्कृष्ट ज्ञान से ही उत्पन्न हो सकता है ।······इससे सिद्ध हुआ कि वेद का निमित्त ईश्वर का उत्कृष्ट ज्ञान ही है ॥

(११) वेदान्त—

(१) शास्त्रयोनित्वात् ॥ वेदा० १ । १ । ३ ॥

ऋग्वेदादि-शास्त्र का कारण होने से ब्रह्म सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है ॥

इसी सूत्र के भाष्य में श्री० स्वामी शङ्कराचार्यजी महाराज लिखते हैं—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति" ॥ वेदा० शां० भा० १ । १ । ३ ॥

अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूर्ण, प्रदीप के समान सब पदार्थों का प्रकाश करनेवाले महान् ऋग्वेदादि-शास्त्र का कारण ब्रह्म ही है । सर्वज्ञ ब्रह्म को छोड़ कर और कौन है जो ऐसे शास्त्र को बना सकता हो ? ॥

(२) अत एव च नित्यत्वम् ॥ वेदा० १ । ३ । २९ ॥

परब्रह्म परमेश्वर से प्रकाशित होने से वेद नित्य हैं ॥

इसी सूत्र के शाङ्कर भाष्य में लिखा है—

"यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् (ऋ० १० । ७१ । ३) इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति । वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥ इति" (महाभारत)

अर्थात् नित्य वेदवाणी को जो ऋषियों में प्रविष्ट होती है, पश्चात् अन्य मनुष्य प्राप्त करते हैं । व्यासजी भी यही कहते हैं कि वेद स्वयम्भू परमात्मा से प्रकाशित होते हैं ॥

नित्य प्रभु से प्रकाशित होनेवाला वेद भी नित्य है, इतना दर्शाना यहां अभिप्रेत है ॥

(१२) मीमांसा—

जैमिनि मुनि भी अपने मीमांसाशास्त्र के प्रथमाध्यायस्थ प्रथम पाद के पञ्चमाधिकरण में वेद का प्रामाण्य सिद्ध करके षष्ठाधिकरण में शब्द की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए—

४

(१) नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥ मी० १ । १ । १८ ॥

इस सूत्र में शब्द का नित्यत्व स्वीकार करते हैं । जब लौकिक शब्द तक नित्य हैं, तो भला वैदिक शब्दों का तो कहना ही क्या !

आगे आठवें अधिकरण में वेदापौरुषेयत्व विषय का निरूपण करते हैं—

(२) वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या ॥ मी० १ । १ । २७ ॥

जैमिनि मुनि इस सूत्र में पूर्वपक्ष उठाते हैं, कि वेदों के साथ पुरुष का सम्बन्ध अर्थात् समाख्या (नाम) देखा जाता है (जैसे शाकलादि), अतः वेद अनित्य हैं ॥

इसका उत्तर स्वयं देते हैं—

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वात् ॥ मी० १ । १ । २९ ॥

इसका उत्तर हम पहले (शब्दनित्यताधिकरण में) दे चुके हैं । यहां समाख्यामात्र का परिहार करते हैं—

आख्या प्रवचनात् ॥ मी० १ । १ । ३० ॥

आख्या (समाख्या) प्रवचन के कारण से है । पदपाठादि के प्रवचन द्वारा भी इनकी समाख्या पुरुष के सम्बन्ध को लेकर चली है ॥

(३) इस विषय में मीमांसा के आचार्य कुमारिलभट्ट आदि ने भी वेद की नित्यता को स्वीकार किया है । वह मीमांसा १ । १ । २९ की व्याख्या 'तन्त्रवार्त्तिक' में लिखते हैं—

"सर्वे हि यथैव गुरुणाधीतं तथैवाधिजिगांसन्ते, न पुनः स्वातन्त्र्येण कश्चिदपि प्रथमोऽध्येता वेदानामस्ति, यः कर्त्ता स्यात् । तस्मात् कर्त्तृस्मरणाभावादपौरुषेया वेदा इति भावः । एवं च पूर्वमेव वेदापौरुषेयत्वस्य सिद्धत्वात् तद्विषये पुनः प्रयत्नो न करणीय इति केवलं समाख्याद्यवलम्बनेन कृतस्याक्षेपस्य परिहारो वक्तव्योऽभिधीयते" ॥

अर्थात् बिना अध्ययन के वेदों का ज्ञान हो नहीं सकता । वेद किसी ने बनाये, यह किसी ने आज तक नहीं कहा । अतः स्पष्ट है कि वेद अपौरुषेय हैं ॥ यहां यह भी बतलाया कि पूर्वसूत्र 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या (मी० १ । १ । २७) में जो पूर्वपक्ष उठाया गया है, वह केवल समाख्या (संज्ञा, शाकलादि नाम) को लेकर ही उठाया गया है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि वेद की अपौरुषेयता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है ॥ इससे सिद्ध है कि कुमारिल भट्ट भी यहां पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के सूत्रों से जैमिनि के मत में वेद की अपौरुषेयता मान कर केवल शाकलादि समाख्या (संज्ञा) को लक्ष्य में रखकर ही पूर्वपक्ष उठाया गया है, ऐसा मानते हैं ।

(१३) शाङ्खायन-श्रौतसूत्र-भाष्य—

"कथं वेदस्य प्रामाण्यम् ? अपौरुषेयत्वात्, अर्थप्रत्यायकत्वात्, बाधकप्रत्ययाभावात्" ॥

(आनर्त्तीय भा० पृ० १) ॥

इसी प्रकार अन्य श्रौतसूत्रों के भाष्यकारों ने भी वेद को अपौरुषेय माना है ॥

इसी प्रकार निरुक्त के टीकाकार स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य तथा अन्य, भर्तृहरि, उदयनाचार्य, विज्ञानभिक्षु, वाचस्पतिमिश्रादि प्रायः सभी विद्वान् वेद को अपौरुषेय तथा नित्य मानते हैं ॥ प्रायः सभी श्रौत–गृह्य तथा धर्म-सूत्रकार और उनके टीकाकार भी मानते हैं, यहां इतना ही पर्याप्त होगा ॥

ये सब प्रमाण उपस्थित करने का हमारा अभिप्राय इतना ही है कि वेद परमपिता परमात्मा की वाणी है, वेद किसी पुरुष की कृति नहीं, अपितु अपौरुषेय है, नित्य प्रभु का नित्य प्रकाश (ज्ञान) है ॥ 'वेदनित्यत्व' विषय की विशेष विवेचना पाठकों को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अवश्य देखनी चाहिये ॥

शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता

जिस शब्द का जो अर्थ है, वह कब से है, कैसे है, इन दोनों का परस्पर में सम्बन्ध कैसा है, इस बात का विचार किये बिना भी वेदविषय की यथार्थ धारणा पर नहीं पहुँचा जा सकता ॥

'गौ' का अर्थ गाय ही है, था और होगा। 'अश्व' नाम घोड़े का ही है और रहेगा। संस्कृत में 'गच्छति' का अर्थ जाना ही है, 'पिबति' का पीना ही है, था और रहेगा। यह सब क्यों ? इस प्रश्न के हल करने में, जो देखने में बहुत छोटा सा प्रतीत होता है, बड़े बड़े विद्वान् भी बड़े भारी सन्देह में पड़ जाते हैं। हमारे सुहृद् स्वर्गीय श्री० पं० रघुनन्दन शर्माजी अपने जन्मस्थान के समीप (जि० रायबरेली) रघुराजगंज स्टेशन पर १९१७ में जब मिले, तो वह उस समय इसी विचारधारा (चक्र) में थे। 'अक्षरविज्ञान' की पुस्तक वह उससे पूर्व लिख चुके थे। जब उन्हें महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि का—

"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (महाभाष्य पस्पशाह्निक)॥

अर्थात् शब्द-अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है, यह प्रकरण समझाया गया, तो अतीव सन्तुष्ट हुए। इसका अर्थ यही है कि सृष्टि के आदि में शब्द अर्थ का जो संबंध था, वह वही था जो प्रलय से पूर्व था, तथा जब जब सृष्टि हुई तब २ था, क्योंकि परमात्मा के नित्य होने से उसका दिया वेदज्ञान, उसमें की समस्त विद्यायें और ज्ञान भी नित्य हैं। शब्दार्थ-सम्बन्धों के ज्ञानसहित ही वेदज्ञान का प्रकाश ऋषियों के हृदय में हुआ॥

जिस शब्द का जो अर्थ है, वह उसकी स्वाभाविक शक्ति पर ही निर्भर है। इसमें मनुष्य क्या कर सकता है ? यह स्वाभाविकता ही शब्द अर्थ सम्बन्ध की नित्यता है, जो ईश्वर द्वारा सृष्टि के आदि में वेदज्ञान के अन्तर्निहित होती हुई ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित होकर आगे सृष्टि में व्यवहार में आती है। अत एव महाभाष्यकार कहते हैं—

(क) "किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थानामभिधानम्, आहोस्विद् वाचनिकम् ? स्वाभाविकमित्याह॥ ...स्वभावत एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानां निमित्तत्वेनान्वाख्यानं क्रियते।............... असम्भवः खल्वप्यर्थादेशनस्य। को हि नाम समर्थो धातुप्रातिदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम्॥" अ० २।१।१ महाभाष्य पृ० ३२५, ३२६॥

(ख) "अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्॥" अ० २।२।२९ महाभाष्य पृ० ४६८॥

इन दोनों स्थलों में कहा गया है कि शब्द का अपने ही अर्थ को कहना स्वाभाविक है, कृतक नहीं। धातु-प्रातिपदिक-प्रत्यय-निपात इनके अर्थों की इयत्ता को कोई नहीं बाँध सकता कि इस धातु या प्रातिपदिक का इतना ही अर्थ है, भिन्न नहीं हो सकता, यह बात नहीं। वेद से (अर्थात् ईश्वर द्वारा) प्रकाशित शब्दार्थसम्बन्ध नित्य होते हैं॥

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदनित्यत्वविषय में ऋषि दयानन्द कहते हैं—

"ये परमात्मस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति, येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते ते तु कार्याश्च॥" पृ० २७॥

ईश्वर के ज्ञान में तथा उसके द्वारा दिया गया जो शब्दार्थ-सम्बन्ध है, वह सब नित्य है। ईश्वर ने सृष्टि के आदि में जितने भी पदार्थ उत्पन्न किये, आदिज्ञान वेद में उन सब के नाम वा तत्सम्बन्धी ज्ञान, (जिसमें शब्दार्थ सम्बन्ध का ज्ञान भी है) आरम्भ में ही अवश्य दिया, क्योंकि पदार्थ दिये और उनका ज्ञान न दिया, यह कभी नहीं हो सकता। इतना ईश्वरकृत शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है। उसके पश्चात् मनुष्यों ने वा ऋषियों ने 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥' इस वचन के अनुसार वेद के शब्दों से लेकर जो शब्दार्थ-सम्बन्ध व्यवहार में चलाया, वह सब भी नित्य ही है। हाँ जो शब्द-अर्थ-

सम्बन्ध मनुष्य समाज ने पीछे कल्पित वा साङ्केतिक परस्पर व्यवहार के लिये किया, वह शब्दार्थ-सम्बन्ध अवश्य ही अनित्य है ॥ श्री० स्वामीजी महाराज के उपर्युक्त लेख का अभिप्राय भी यही है। पाणिनि, पतञ्जलि, व्यास तथा जैमिनि आदि ऋषि शब्द-अर्थ-सम्बन्ध की नित्यता को ही मानते आ रहे हैं। सम्पूर्ण वैदिक तथा लौकिक साहित्य में शब्द-अर्थ-सम्बन्ध की नित्यता को माना गया है, जो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपर्युक्त प्रकरण तथा उस २ शास्त्र के अवलोकन से देखा जा सकता है ॥

(१) नित्य शब्दार्थसम्बन्ध के विषय में मीमांसा के "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" (अ० १। १। ५) सूत्र के शाबरभाष्य में लिखा है—"औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धो नोत्पन्नयोः पश्चात् संबन्धः ॥"

मीमांसा के (१। १। ५) सूत्र में 'औत्पत्तिक' शब्द का अर्थ नित्य है। उत्पत्ति शब्द से लक्षणा द्वारा भाव कहा जाता है। शब्द और अर्थ का नित्य भाव=सम्बन्ध है, न कि शब्द और अर्थ के उत्पन्न होने के पीछे उनका सम्बन्ध किया जाता है ॥

(२) वाक्यपदीय १। २३ ॥

"नित्याः शब्दार्थसंबन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥

अर्थानामपि नित्यत्वं कैश्चिदाकृतिनित्यत्वादेवाभ्युपगम्यते। तथा ह्याह—'कतरस्मिन् पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ? आकृतावित्याह'। एतस्मिंश्च भाष्योद्देशे यावन्तः पक्षास्तेष्वर्थस्य नित्यता बहुधा व्याख्याता। सा यथाभाष्यमनुगन्तव्या" ॥ (वाक्यपदीय भर्तृहरि टीका भाग १। पृ० ३१) ॥ शब्दार्थनित्यता के सम्बन्ध में वाक्यपदीय में बहुत उत्तम निरूपण किया गया है, जो बहुत ही उपादेय है, पाठक वहीं से देखें ॥

सूत्र, वार्त्तिक और भाष्य के रचने वाले महर्षियों ने शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य ही माना है। कई लोग आकृति (जाति) पक्ष में अर्थों को नित्य मानते हैं। जैसा कि भाष्य में कहा है—"किस पक्ष में यह 'शब्दे अर्थे सम्बन्धे च' विग्रह युक्त है ? आकृतिपक्ष में"। भाष्य के इस प्रकरण में जितने पक्ष उठाए हैं उनमें अर्थ की नित्यता बहुत प्रकार से बताई है। उसे भाष्य से ही समझना चाहिये ॥

(३) शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता पर कुछ अन्य प्रमाण भी उपस्थित करते हैं—

(i) तस्मै॑ नू॒नम॒भिद्य॑वे वा॒चा वि॑रूप॒ नित्य॑या (ऋ० ८। ७५। ६) ॥

इस का अर्थ पूर्व पृ० २० पर कहा जा चुका है ॥

(ii) "वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवत् स्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते 'अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति'। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते, सम्प्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः—इत्यागमिनः प्रतिजानते" (योगव्यासभाष्य १। २७) ॥ अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध नित्य है। संकेत भी जो किया जाता है वह ईश्वर द्वारा दिये नित्य अर्थ का द्योतन ही करता है। जैसा कि पिता पुत्र का सम्बन्ध 'यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है' स्थित होता है, संकेत से बताया जाता है। अन्य सृष्टियों में भी उसी वाच्यवाचकशक्ति के आधार पर संकेत किया जाता है, ज्ञान की नित्यता से शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होता है ॥

(iii) शाङ्करभाष्य—"अतः प्रभवत्वात्। अत एव हि वैदिकशब्दाद् देवादिकं जगत् प्रभवति" (वेदान्त १। ३। २८ शां० भा०) ॥

अर्थात् वैदिक शब्दों से जगत् में देवादि का व्यवहार चला, यह सूत्र का अभिप्राय है ॥

(iv) शां० भा० "अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद् वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम् । तथा मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्' इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति । वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥" (शां० भा० १ । ३ । २९ पृ० १२८)

अर्थात्—(हर कल्प में) नियत आकृति वाले देवादि शब्दों का ज्ञान वेद शब्दों से होने के कारण वेदशब्दों की नित्यता स्वयं सिद्ध है । जैसा कि मन्त्र में भी कहा कि '(परमात्मा द्वारा) ऋषियों में प्रविष्ट हुई वाणी को ऋषियों ने उसके अनन्तर ही जाना', इस वचन से भी नित्य वाणी को पीछे जाना, ऐसा ही अर्थ निकलता है ।

(v) शां० भा० १ । ३ । ३० (पृ० १३०, १३१)—

"प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते । शक्तिमूलमेव च प्रभवति । इतरथाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गात्············समानरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयद् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ इति । यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत्क्लृप्तं तथाऽस्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः·········। स्मृतिरपि—

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः । शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः । १ ॥
यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ २ ॥
यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह । देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च ॥ ३ ॥"

अर्थात् प्रलय होने पर शक्ति (जिसके द्वारा कि प्रलय होती है) बनी रहती है । उसीके आधार पर आगे उत्पत्ति होती है । नहीं तो 'सृष्टि की उत्पत्ति आकस्मिक हो जाती है' ऐसा मानना पड़ेगा·········पूर्वसृष्टि के समान ही सृष्टि होती है यह 'यथापूर्वमकल्पयत्' में कहा है । इस विषय में स्मृति भी प्रमाण है—

"ऋषियों के नाम तथा वेद के जो अर्थ हैं, प्रलय के पश्चात् सृष्टि होने पर अज (परमात्मा) जीवों के लिये वही वही (पूर्ववत्) देता है । जैसे ऋतु ऋतु में समाप्ति पर आने वाली ऋतु के चिह्न दीखने लगते हैं, पूर्व ऋतुओं के समान ही वे देखे जाते हैं, उसी प्रकार युगों के आरम्भ में भी होता है । अतीत देव वर्त्तमान के देवों के समान रूप और नामादि में देखे जाते हैं" ॥

शब्दार्थनित्यत्व के विषय में उपर्युक्त लेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ॥

(४) अहिर्बुध्न्यसंहिता ३० । १२ ॥

हरिः स्वशक्तिरूपेण कालेन च समन्वितः । महदादिषु सृज्येषु सृष्टिं चक्रे जगन्मयः ॥
वेदानालोच्य भूतानां देवादीनां यमः प्रभुः । नामरूपे च विविधं यथापूर्वमकल्पयत् ॥

परमात्मा अपनी शक्ति से महदादि के क्रम से सृष्टि को बनाता है । और वेद के अनुसार ही भौतिक पदार्थों और देवों के नाम और रूप पूर्वसृष्टि के अनुसार रचता है ॥

जो न्यायविद् शब्दार्थ-सम्बन्ध को साङ्केतिक मानते हैं, वे भी ईश्वर द्वारा ही साङ्केतिक मानते हैं । इस प्रकार दोनों पक्षों में कोई भेद नहीं पड़ता ॥

यहाँ इतना और समझ लेना आवश्यक है—

'धाता यथापूर्वमकल्पयत्" ॥ ऋ० १० । १९० । ३ ॥

'गौ' 'अश्व' आदि शब्दों का जो अर्थ पूर्वसृष्टि में रहा, वही अब वर्त्तमान में भी है, और आगे भी रहेगा । यह कभी नहीं होगा कि पूर्व सृष्टि में 'अश्व' का अर्थ गाय और 'गौ' का अर्थ घोड़ा, गच्छ (गम्) का अर्थ खाना और भक्ष का अर्थ जाना रहा हो । सृष्टि के आदि में भाषा भी परमात्मा द्वारा दी गई, यह हम पूर्व भली-भाँति दर्शा

चुके हैं। जब भाषा दी, तो वाच्यवाचक सम्बन्ध के बिना संसार में व्यवस्था कभी चल ही नहीं सकती, अतः वाच्य-वाचक सम्बन्ध का उपदेश भी वेदज्ञान द्वारा सृष्टि के आदि में ऋषियों को दिया गया, जिससे आगे सब व्यवहार की प्रवृत्ति हुई ॥

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वेद में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, लौकिक भाषा में उनका संकोच हो गया है। महाभाष्यकार कहते हैं—

"प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनानेकस्याभिधानम्। ···नैकेन शब्देनानेकस्याभिधानं प्राप्नोति।······ इष्यते च एकेनाप्यनेकस्याभिधानं स्यादिति" ॥ अ० १। २। ६४ महाभाष्य पृ० ७३ ॥

यहाँ लौकिक शब्दों की अनेकार्थता का निरूपण किया गया। वैदिक शब्दों के विषय में तो निरुक्तकार स्वयं उनके अर्थों को व्यापक मानते हैं। जैसा कि कर्मनामों में 'चित्ति' पद का पाठ न होने पर भी "चित्तिभिः कर्मभिः" (नि० २। ९) द्वारा स्पष्ट विदित हो रहा है कि यास्क ने अपने निघण्टुप्रदर्शित अर्थों को बाँध नहीं दिया। इस विषय में हम आगे अधिक कहेंगे ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस वाच्यवाचक सम्बन्ध के सामान्य नियमों के विषय में निरुक्त, निघण्टु, व्याकरण तथा प्राचीनकोशादि ग्रन्थ परमसहायक हैं। वर्त्तमान नवीन मनुष्यकृत कोशों में वाच्यवाचक सम्बन्ध की उस प्राचीन परम्परा से अज्ञानवश या किन्हीं कारणों से विमुख होकर अनेक नई कल्पनायें की गईं, जिनके अनुसार बहुत सा नवीन साहित्य बन जाने पर शब्दार्थ-सम्बन्ध की उस नित्यता का वास्तविक स्वरूप लुप्त हो गया, जो सृष्टि के आदि से वंश-परम्पराओं से आ रही थी। इस बात की सत्यता को हृदयङ्गम करने के लिये वैदिक साहित्य के गम्भीर अनुशीलन तथा विमलमेधा की आवश्यकता है, जो अनेक तहों में छिपी वाच्यवाचक सम्बन्ध की धुन्दली (धूली वा अन्धकार से आच्छादित) प्रकाश की रेखा को देख सके। इस विषय पर बहुत विशद प्रकाश डालने की आवश्यकता है, यहां हम इतना कहना चाहते हैं, कि शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता की इस धारणा को भली प्रकार समझ कर और मन में धारण करके ही हमें आगे के प्रकरणों को समझना होगा। वास्तव में तो वेद विषय में सब से कठिन और सब से अधिक आवश्यक विषय ही यही है। वेदशब्दों के वाच्य-वाचकसम्बन्धों का निर्णय करना ही वेदार्थ प्रक्रिया का जीवनस्थानीय मूलमन्त्र है। इस मूल विचार को लेकर प्रकाश डालना ही हमारे इस समस्त कथन का मौलिक उद्देश्य वा अभिप्राय समझना चाहिये।

वेदों का विभाग

ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान भेद से वेद के चार विभाग ऋग्, यजुः, साम और अथर्व नाम से सृष्टि के आदि में प्रसिद्ध हुए। 'ऋचन्ति[1] स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावमनया सा ऋक्'—पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव बतानेवाला ऋग्वेद है। 'यजन्ति येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति, शिल्पविद्यासङ्गतिकरणं च कुर्वन्ति शुभविद्यागुणदानं च कुर्वन्ति तद् यजुः'—अर्थात् जिससे मनुष्य ईश्वर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, शिल्पक्रियासहित विद्याओं की सिद्धि, श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ गुणों का दान करें वह यजुर्वेद है। 'स्यति कर्माणाति सामवेदः'—जिससे कर्मों की समाप्ति द्वारा कर्म बन्धन छूटें, वह सामवेद। 'थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्-प्रतिषेधः' (निरु० ११। १८), चर संशये (चुरादिः), संशयराहित्यं सम्पाद्यते येनेत्यर्थकथनम्—अर्थात् जिसके द्वारा संशयों की निवृत्ति हो उसे अथर्ववेद कहते हैं ॥

ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है, यजुर्वेद कर्मकाण्ड, सामवेद उपासनाकाण्ड और अथर्ववेद विज्ञानकाण्ड है। सब पदार्थों के गुणों का निरूपण ऋग्वेद करता है, 'ऋग्भिः शंसन्ति' का यही अभिप्राय है, पदार्थों के लक्षण बताना उनका

1. निरु० १३। ७ में—"यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति" ॥ और काठकसं० ४०। ७ के ब्राह्मण में—"ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति ॥" ऐसा कहा है ॥

शंसन करना ही है। वस्तु के ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसको कार्यरूप में परिणत करने की क्रिया का नाम कर्म-काण्ड है, जो यजुर्वेद का प्रधान विषय है। जिसके द्वारा मनुष्यों की कर्मग्रह ग्रन्थियां परिसमाप्त होती हैं, वह उपासना सामवेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यह सब हो जाने पर विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने का नाम विज्ञान है, जो अथर्ववेद का विषय है। इन इन विषयों की उस उस वेद में प्रधानता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ इस विषय में विशेष ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रश्नोत्तरविषय (पृ० ३६४ से ३६६) में देखें ॥

अब हमें यह विचार करना है कि [1]दुर्ग, भट्टभास्कर, महीधरादि ने जो यह लिखा कि ब्रह्मा से परम्परा द्वारा प्राप्त एक वेद के चार विभाग महर्षिव्यास ने किये, उनका यह कथन कहां तक सत्य है ?

स्वयं ऋग्वेद (१० । ९० । ९), में तथा अथर्ववेद (१० । ७ । २०) में चारों वेदों का विभागशः वर्णन है। अथर्ववेद (४ । ३५ । ६ तथा १९ । ९ । १२ में) "वेदाः" बहुवचन पद स्पष्ट आता है इससे वेद एक है, यह बात अयुक्त सिद्ध हो जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों में शतपथ (१४ । ५ । ४ । १०), तथा गोपथ (१ । १ । १६ तथा ३ । १) में स्पष्ट चारों वेदों का नाम निर्देश तथा 'सर्वांश्च वेदान्' इत्यादि लेख पाया जाता है ॥

उपनिषदों में 'अपरा' विद्या का परिगणन करते हुए स्पष्ट ही उल्लेख है—

"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति"
मुण्डक० १ । १ । ५ ॥

मनु के श्लोक हम पूर्व लिख चुके हैं, चरक तथा काश्यप संहिता में भी चारों वेदों की सत्ता स्पष्ट वर्णित है (देखो चरक सूत्रस्थान अध्याय ३० । १८ तथा काश्यप संहिता पृ० ४३) ॥

महाभारत में भी वेद चार हैं, ऐसा कहा है (देखो शल्यपर्व अ० ४१ । श्लो० ३१४ ॥ द्रोणपर्व अ० ५१ । श्लो० २२) ।

महाभाष्य पस्पशाह्निक में लिखा है—

"चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदः......" पृ० ६५ ॥

रामायण में भी इस प्रकार लिखा है—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥ रामा० किष्किन्धा काण्ड सर्ग ३ श्लोक २८ ॥

जब स्वयं वेद से तथा अन्य आप्तवचनों से यह सिद्ध है कि वेद सृष्टि के आदि में ही ऋग् यजुः साम अथर्व इन चार विभागों में विभक्त विद्यमान थे। तब वेदव्यास ने एक वेद के चार विभाग किये यह कल्पना सर्वथा अयुक्त है। हां वेदव्यास ने उस काल में भिन्न भिन्न बहुत सी शाखायें बन चुकने के कारण ब्राह्मण और श्रौतादि का सम्बन्ध निश्चय कर दिया हो, कि किस २ शाखा का कौन कौन ब्राह्मण है। अथवा उन्होंने वेद की कुछ शाखाओं का प्रवचन या उनकी व्यवस्था की हो। जैसे आजकल भी काशी आदि में ऋग्वेदी कुलों ने ही अथर्ववेद का ग्रहण, (उसकी रक्षा का परम पवित्र कर्त्तव्य समझ कर) स्वयं अपनी इच्छा से अपने ऊपर लिया हुआ है। ऐसे कुलों का विभाग व्यासजी के समय में प्रथम आरम्भ हुआ हो, ऐसा भी सम्भव है ॥

प्रकृत विषय में एक विचार और उपस्थित होता है, वह यह कि वैदिकसाहित्य में तीन वेद वा चारवेद दोनों प्रकार का व्यवहार मिलता है। वेद चार हैं यह व्यवहार ऋग्-यजुः-साम-अथर्व चारों वेदों में, तैत्तिरीय,

१. महीधर अपने भाष्य के आरम्भ में, भट्टभास्कर तै० सं० भाष्य के आरम्भ में, दुर्ग निरु० १ । २० की टीका में 'व्यासजी ने वेद को चार विभाग में किया' ऐसा लिखते हैं। विष्णुपुराण ३ । ३ । १९, २० तथा मत्स्यपुराण १४४ । ११ में भी ऐसा ही कहा गया है।

काठक, मैत्रायणी, पैप्पलाद, जैमिनीय आदि शाखाओं में, तथा प्रायः सभी ब्राह्मण, श्रौत, गृह्यादि में सर्वत्र मिलता है। ऋग्वेद के 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' (ऋ० १ । १६४ । ४५) तथा 'चत्वारि शृङ्गा०' (ऋ० ४ । ५८ । ३) आदि के व्याख्यान में यास्क ने—

"चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः" (निरु० १३ । ७) में स्पष्ट ही चारों वेदों का ग्रहण किया है ॥

यहाँ पूर्वपक्षी कह सकता है कि यजु० ३१ । ७ में तीन वेदों की उत्पत्ति का वर्णन है। मनु महाराज भी 'त्रयं ब्रह्म सनातनम्' (मनु० १ । २३) वेद तीन हैं, यह स्वीकार करते हैं। शतपथब्राह्मण में 'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः' (श० १४ । ५ । ४ । १०) तीन वेद माने हैं। अतः वेद तीन ही हैं ॥

इसका समाधान हमारे पूर्वोक्त कथन से हो जाता है कि वेद चार हैं, इस विषय में वेद तथा अन्य सब वैदिक ग्रन्थ सहमत हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि फिर तीन विभाग का क्या अभिप्राय ? जहाँ भी वेद के तीन होने का वर्णन है, वहां विद्याभेद से है, क्योंकि जिस शतपथब्राह्मण में चारों वेदों का नामों सहित उल्लेख है। उसी में यह भी कहा है—

"त्रयी वै विद्या ऋचो यजूंषि सामानि इति" ॥ श० ४ । ६ । ७ । १ ॥

अर्थात् त्रयी नाम ऋग्-यजुः-साम का विद्या के कारण है ॥

मीमांसा द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद में ऋग् आदि का लक्षण इस प्रकार किया है—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ मी० २ । १ । ३५ ॥ इस शास्त्र में 'ऋक्' शब्द से पादबद्ध ऋचाओं का ग्रहण करना चाहिये ॥

गीतिषु सामाख्या ॥ मी० २ । १ । ३६ ॥ गान विधायक मन्त्र 'साम' कहलाते हैं ॥

शेषे यजुः शब्दः ॥ मी० २ । १ । ३७ ॥ शेष में 'यजुः' का व्यवहार समझना चाहिये ॥

इस प्रकार विद्याभेद से याज्ञिक प्रक्रिया में पारिभाषिक रीति से वेदमन्त्र तीन प्रकार के माने जाते हैं, वास्तव में वेद चार ही हैं जो ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान काण्ड के भेद से हैं। यही प्राचीन परम्परा है ॥

इस यजुर्वेद में जिसका कि भाष्य हम विवरणसहित उपस्थित कर रहे हैं, कर्मकाण्ड के सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गों का निरूपण किया गया है। ऐसा समझना चाहिये ॥

वेदों की आनुपूर्वी

वेद के मन्त्रों में आये पद, मण्डल,[1] सूक्त तथा अध्यायों में आये मन्त्रों का क्रम सृष्टि के आदि में जो था, इस समय भी वही है, या उसमें कुछ परिवर्त्तनादि हुआ है, यह अत्यन्त ही गम्भीर और विचारणीय विषय है। इस विषय का सम्बन्ध वास्तव में तो हमारे आदिकाल से लेकर आज तक के भूतकाल के साहित्य तथा इतिहास के साथ है। दुर्भाग्यवश हमारा पिछला समस्त इतिहास तो दूर रहा, हमें दो सहस्र वर्ष पूर्व का इतिहास भी यथावत् रूप में नहीं मिल रहा, विशेष कर वैदिक साहित्य का। हां कुछ बातें हमें ठीक मिल रही हैं, जो संख्या में अत्यन्त अल्प हैं। ऐसी स्थिति में जो भी सामग्री हमें अपने इस प्राचीन साहित्य के विषय में मिलती है, उसी पर सन्तोष करना होगा ॥

वेद नित्य हैं, सदा से चले आ रहे हैं। इनका बनानेवाला कोई व्यक्तिविशेष नहीं। इनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं इत्यादि विषय हम पूर्व प्रकरणों में भली भान्ति स्पष्ट कर आये हैं। सब ऋषि-मुनि तथा अन्य

१. इस विषय में ऋग्वेद में जो अष्टक, अध्याय, वर्ग और मन्त्र तथा दूसरा मण्डल, अनुवाक, सूक्त, और मन्त्र तथा तीसरा मण्डल, सूक्त और मन्त्र का अवान्तर विच्छेद है, वह आर्ष है। ऐसा ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कटमाधव ने अष्टक ५ अध्याय ५ के आरम्भ (आर्षानुक्रमणी पृ० १३) में लिखा है ॥

विद्वान् वेद को नित्य मानते चले आ रहे हैं, यह सब पूर्व ही विस्तार से दर्शा चुके हैं। प्राचीन ऋषियों के काल में वेद क्या ऐसा का ऐसा ही था, जैसा कि इस समय हमें उपलब्ध हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में यह विचार उठना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, अतः इसकी विवेचना आवश्यक ही है॥

(१) जहां तक हमें पता लगता है ब्राह्मणग्रन्थों के काल में ये ऋग्, यजुः आदि वेद वही थे, जो इस समय हैं, क्योंकि गोपथब्राह्मण में लिखा है—

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्' इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते।..."इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण' इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते।..."अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये नि होता सत्सि बर्हिषि' इत्येवमादिं कृत्वा सामवेदमधीयते॥" (गो० १।१।२९)॥

इससे स्पष्ट है कि गोपथब्राह्मण के काल तक ऋग्, यजुः, साम इन तीनों वेदों की संहितायें वही थीं, जो इस समय वर्त्तमान में हैं। इनके आरम्भ के मन्त्रों की प्रतीकें वही की वही हैं, जो इन तीनों संहिताओं में हैं। यही बात हम पीछे के काल में भी पाते हैं (देखो विवरण टिप्पणी पृ० ९)॥

गोपथब्राह्मण के उपर्युक्त लेख से यद्यपि इनकी सारी वर्णानुपूर्वी का निर्णय नहीं हो सकता, पर इतना तो स्पष्ट सिद्ध है कि इन संहिताओं के आदि मन्त्र का स्वरूप वही है, जो उस काल में पूर्वकाल की परम्परा से चला आ रहा था, और अब तक भी वैसा का वैसा चला आ रहा है। गोपथ के इस स्थल में जो अथर्ववेद का प्रारम्भ 'शन्नो देवी०' से कहा गया है, वह पैप्पलाद शाखा का पाठ माना जाता है। हम आगे विशदरूप में बतावेंगे कि पैप्पलाद शाखाग्रन्थ है, और वह ऋषिप्रोक्त है। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने 'तेन प्रोक्तम्' (अ० ४। ३।१०१) सूत्र के भाष्य में शाखाविषय में 'पैप्पलादकम्' ऐसा उदाहरण दिया है। सम्भव है गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद की उसी शाखा का हो, जिसका आदि मन्त्र "शन्नो देवी०" कहा है। ऐसी अवस्था में अथर्ववेद के नाम से 'शन्नो देवी०' आदि मन्त्र का उल्लेख करना अन्य विरोधी प्रमाण होने से विशेष महत्त्व नहीं रखता॥

(२) अब हम इस बात को एक अन्य रीति से भी स्पष्ट करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के मन्त्रों की प्रतीकें बराबर आरम्भ से कुछ अध्याय तक निरन्तर (आगे भी यत्र तत्र) देकर तत्तद् विषय में मन्त्रों का विनियोग दर्शाया गया है। १७ अ० तक के मन्त्रों के पाठ तथा आनुपूर्वी के विषय में इन प्रतीकों से हमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। यह आनुपूर्वी और पाठ वैसा का वैसा है, जैसा हमें यजुर्वेद में मिल रहा है। हां! इतना अवश्य है कि कहीं २ मन्त्रों के किसी प्रकरण को याज्ञिकप्रक्रिया के कारण कुछ क्रमभेद से भी विनियुक्त किया गया है, जैसा कि यजुर्वेद के प्रारम्भिक दर्शेष्टिसंबन्धी ४ मन्त्रों का विनियोग शतपथब्राह्मण में प्रारम्भ में न करके पौर्णमासेष्टि के अनन्तर किया है। क्योंकि याज्ञिकप्रक्रिया में प्रथम[1] पौर्णमासेष्टि करने का विधान है (अथर्व.७।८०।४)॥ इससे यह तो पता लग ही जाता है कि शतपथब्राह्मणकार के समय यजुर्वेद के कम से कम १७ अध्याय तक के मन्त्रों की आनुपूर्वी तो वही थी जो अब है। इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह का स्थान नहीं रह जाता॥

(३) ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन चारों वेदों की अनुक्रमणियां भी उनकी इस आनुपूर्वी को जो वर्त्तमान में मिल रही है, वैसी की वैसी सिद्ध करने में परम सहायक हैं, चाहे उनका निर्माणकाल कभी का रहा हो। कम से कम इनसे यह तो सिद्ध हो ही जाता है, कि उन २ सर्वानुक्रमणियों के काल में वर्त्तमान चारों वेदों की आनुपूर्वी वही थी जैसी कि अब है, इसमें यत्किञ्चित् भी भेद नहीं हुआ। उन सर्वानुक्रमणियों के टीकाकार भी हमें इस विषय में पूरी २ सहायता दे रहे हैं। वे सब के सब इसी बात का प्रतिपादन करते हैं। इन ग्रन्थों की तो रचना ही इस आनुपूर्वी (क्रम) की रक्षा के लिये हुई, इसमें क्या सन्देह है? ऋक्सर्वानुक्रमणी से यह बात विशेष रूप में सिद्ध हो रही है॥

१ "पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु। ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः" ॥ अथर्व० ७।८०।४॥

(४) अब हम यह बताना चाहते हैं कि महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि वेद की आनुपूर्वी और स्वर दोनों को ही नित्य (नियत) मानते हैं—

"स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता···"(महाभाष्य ५।२।५९)॥

अर्थात्—वेद में अस्यवामादि शब्दों का स्वर नित्य[1] होता है, और उनकी वर्णानुपूर्वी (क्रम) भी नित्य होता है ॥

महाभाष्यकार का यह प्रमाण ही इतना स्पष्ट है कि इसके आगे और किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसीलिये समस्त ऋषि-मुनि वेद को नित्य मानते हैं ॥

इस पर एक शंका हो सकती है कि महाभाष्यकार ने "तेन प्रोक्तम्" (अ० ४।३।१०१) के भाष्य में लिखा है—

'यद्यप्यर्थो नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति— काठकं, कालापकं, मौदकं, पैप्पलादकमिति'।

अर्थात्—यद्यपि अर्थ नित्य है, परन्तु वर्णानुपूर्वी अनित्य है। उसी के भेद से काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादक ये भेद होते हैं। इससे विदित होता है कि महाभाष्यकार वेद की वर्णानुपूर्वी को अनित्य मानते हैं।

इसका उत्तर यह है कि महाभाष्यकार ने यहां जितने उदाहरण दिये हैं, वे सब शाखाग्रन्थों के हैं। मूल वेद के नहीं। प्रवचनभेद से शाखाओं में वर्णानुपूर्वी की भिन्नता होनी स्वाभाविक है (शाखा के विषय में हम अगले प्रकरण में विस्तार से लिखेंगे)। इतने पर भी यदि पूर्वपक्षी को संतोष न हो तो मानना पड़ेगा कि अपने ग्रन्थ में दो परस्पर विरोधी वचनों को लिखने वाला पतञ्जलि अत्यन्त प्रमत्त पुरुष था, जो ठीक नहीं ॥

(५) निरुक्तकार यास्कमुनि भी वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं, जैसा कि—

"नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति ॥" निरु० १।१६॥

अर्थात्—वेद की आनुपूर्वी नित्य है ॥

यही बात जैमिनि, कपिल, कणाद, गौतमादि ऋषि मुनि मानते हैं, यह हम पूर्व कह आये हैं ॥

(६) इस विषय में सब से बड़ा और प्रत्यक्ष प्रमाण तो उन ब्राह्मणकुलों के अनुपम तप और त्याग का है, जिससे अब तक वेद की आनुपूर्वी हम तक वैसी की वैसी सुरक्षित पहुँच रही है, जिन्होंने एक २ मन्त्र के जटा-माला-शिखा-रेखा-ध्वज-दण्ड-रथ-घनपाठादि को बराबर कण्ठस्थ करके सदैव सुरक्षित रक्खा, और अबतक रख रहे हैं। उनके पाठ में किसी प्रकार का व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, न हो ही रहा है। यदि यह प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सामने न होता, तो सम्भव था कि किसी को कहने का अवसर होता कि न जाने वेद में किस २ काल में क्या २ परिवर्त्तन, परिवर्द्धन होते रहे, इसको कोई क्या कह सकता है। पर ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण संसार भर में केवल भारतवर्ष में ही मिलेगा, जहाँ वेद के एक २ अक्षर और मात्रा की रक्षा का ऐसा सुन्दर और सुनिश्चित प्रबन्ध सदा से निरन्तर चलता रहा हो। वेद की आनुपूर्वी को सुरक्षित रखने का यह ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है ॥

आर्षी-संहिता और दैवत-संहिता

कई लोग वेद की इन संहिताओं को आर्षी अर्थात् ऋषियों के क्रम से संगृहीत की हुई मानते हैं। यथा ऋग्वेद के आरम्भ में शतर्ची, अन्त में क्षुद्रसूक्त वा महासूक्त और मध्य में मण्डलद्रष्टा गृत्समद, विश्वामित्र आदि ऋषियों वाले क्रमशः मन्त्र हैं।

१ यहां नित्य और नियत पर्यायवाची शब्द हैं। 'अव्ययात् त्यप्' (अ० ४।२।१०४) पर वार्त्तिक है—"त्यब् नेर्ध्रुवे", नियतं ध्रुवम्। काशिकाकार आदि वैयाकरण इसकी यही व्याख्या करते हैं।

हम वादी से पूछते हैं कि क्या जैसा क्रम ऋग्वेद में दर्शाया, वैसा अन्य संहिताओं में दर्शाया जा सकता है? कदापि नहीं। तथा ऋग्वेद में भी जो क्रम वादी बताता है वह भी असम्बद्ध है। यदि ऋग्वेद वस्तुतः ऋषिक्रमानुसार संगृहीत होता तो विश्वामित्र के देखे हुए मन्त्र उसके पुत्र 'मधुच्छन्दाः' और पौत्र 'जेता' से पहिले होने चाहियें थे, न कि पीछे। ऋग्वेद में विश्वामित्र के मन्त्र तृतीय मण्डल में और मधुच्छन्दाः व जेता के मन्त्र प्रथम मण्डल में क्यों रक्खे गये? यदि वादी कहे कि प्रथम मण्डल में केवल शतर्चियों का संग्रह है, विश्वामित्र शतर्ची नहीं अपितु माण्डलिक है, तो यह भी ठीक नहीं प्रथम मण्डल के जितने ऋषि हैं, उनमें बहुतसे शतर्ची नहीं हैं। सव्य आङ्गिरस ऋषिवाले (१। ५१–५७) कुल ७२ मन्त्र हैं। जेता ऋषिवाले कुल (१। ११) ८ ही मन्त्र हैं। ऐसे ही और भी अनेक ऋषि हैं। आश्चर्य की बात है कि शतर्चियों में पढ़े हुए प्रस्कण्व काण्व के ८२ मन्त्र तो प्रथम मण्डल में हैं, १० मन्त्र आठवें और ५ मन्त्र नवम मण्डल में क्यों संगृहीत हुए? समस्त ९७ मन्त्र एक जगह क्यों नहीं संगृहीत किये गये? इसी प्रकार जिसके सूक्त में १० से कम मन्त्र हों वह क्षुद्रसूक्त और जिसके सूक्त में १० से अधिक हों वह महासूक्त कहाते हैं, तो क्या ऐसे ऋषि ऋग्वेद के दशम मण्डल से अतिरिक्त अन्य मण्डलों में नहीं हैं? हम कह आये हैं कि जेता के केवल आठ ही मन्त्र हैं, क्षुद्रसूक्त होने से उसके मन्त्रों का संग्रह दशममण्डल में न करके प्रथम मण्डल में किस नियम से किया? तथा जब विश्वामित्र माण्डलिक ऋषि है तो उसके समस्त मन्त्र तृतीय मण्डल में क्यों संगृहीत नहीं किये? कुछ मन्त्र नवम (६७। १३–१५) और दशम (१३७। ५) मण्डल में किस आधार पर संगृहीत किये? इत्यादि अनेक प्रश्न वादी से किये जा सकते हैं।

वस्तुतः वादियों के पास इन प्रश्नों का कोई भी उत्तर नहीं है। वे तो "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"—इस उक्ति के अनुसार स्वयं शास्त्र के तत्त्व को न समझकर अन्य साधारण व्यक्तियों को बहकाने की क्षुद्र चेष्टा[1] किया करते हैं।

वेदों की इन संहिताओं को आर्षी[2] संहिता कहने का तात्पर्य यह है—ऋषि अर्थात् सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ जगदीश्वर से इनका प्रादुर्भाव हुआ है। वस्तुतः यह नाम ही इस बात का संकेत करता है कि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं॥

जो व्यक्ति आर्षी नाम होने से इन्हें ऋषियों द्वारा संगृहीत मानते हैं, वे यह भी कहते हैं कि इन संहिताओं में इन्द्रादि देवताओं के मन्त्र विभिन्न प्रकरणों में बिखरे हुए हैं। अतः क्रमशः एक २ देवता के समस्त मन्त्रों को संगृहीत करके एक दैवत संहिता बनानी चाहिये, जिससे अध्ययन में सुगमता होगी॥

देवता-क्रम से संहिता के मन्त्रों को संगृहीत करने से जिन मन्त्रों की आनुपूर्वी और देवता समान हैं, उन मन्त्रों का एक स्थान में संग्रह होने से पौनरुक्त्य तथा आनर्थक्य दोष आवेंगे। उन्हीं मन्त्रों को, जैसा वर्त्तमान संहिताक्रम में पढ़ा गया है, वैसा पाठ मानने में कोई दोष नहीं आता, क्योंकि वर्णानुपूर्वी समान होने पर भी प्रकरणभेद होने से अर्थभेद की प्रतीति झटिति हो सकती है। उदाहरणार्थ पाणिनि के "बहुलं छन्दसि" सूत्र को उपस्थित किया जा सकता है। पाणिनि ने इस सूत्र को १४ स्थानों में पढ़ा है। इस सूत्र की वर्णानुपूर्वी समान होने पर भी प्रकरणभेद से अर्थ की भिन्नता होने के कारण सबकी सार्थकता रहती है। आनर्थक्य या पौनरुक्त्य दोष नहीं आता। यदि कोई व्यक्ति सब "बहुलं छन्दसि" सूत्रों को उठाकर एक स्थान में पढ़ दे, तो क्या उससे कुछ भी लाभ या विशेष अर्थ की प्रतीति होगी? उलटी उस एक स्थान में पढ़ने वाले की ही मूर्खता सिद्ध होगी। भला इससे कोई पाणिनि की ही मूर्खता सिद्ध करना चाहे तो कभी हो सकती है! कभी नहीं। ऐसे ही इस देवताक्रम से पढ़ी जाने वाली संहिता का होगा। इसमें और भी अनेक दोष हैं, जिनका विस्तरभिया यहाँ अधिक उल्लेख करना अनुपयुक्त होगा॥

१. हमारी दृष्टि में वेद को अपौरुषेय न माननेवाले ही ऐसा मान सकते हैं। ऐसे व्यक्ति जनता के समक्ष कहने का साहस नहीं करते कि हम वेद को पौरुषेय (ऋषियों का बनाया) मानते हैं॥

२. अथर्ववेद पञ्चपटलिका ५। १९ में जो आचार्यसंहिता तथा आर्षीसंहिता का उल्लेख मिलता है, वह पुराने आचार्यों की एक संज्ञा मात्र है, ऐसा समझना चाहिये॥

जिसका शास्त्रीयचक्षुः है वही इन बातों के रहस्यों को समझ सकता है। शास्त्र-ज्ञान विहीन क्या जाने शास्त्रों के रहस्य को—

पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ॥ ऋ० १। १६४। १६॥

इस प्रकार हमने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया कि वेद की आनुपूर्वी सर्वकाल से नित्य मानी जाती रही है, और इस समय भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही निश्चित है कि हमें वही आनुपूर्वी प्राप्त हो रही है, जिसे सर्ग के आरम्भ में परमपिता परमात्मा ने आदिऋषियों के हृदयों में प्रकाशित किया था॥

अब हम शाखाविषय में संक्षेप से कुछ लिखते हैं—

वेद और उसकी शाखायें

शाखा का स्वरूप

शाखायें वेद के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, ऐसा महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है (देखो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २९१), अर्थात् चार वेद मूल हैं और ११२७ उनकी शाखायें हैं, दूसरे शब्दों में उनके व्याख्यानग्रन्थ हैं॥

शाखाओं की आनुपूर्वी अनित्य है, "या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या" (अ० ४। ३। १०१ महाभाष्य) यह महाभाष्यकार का मत है, और इसमें उदाहरण 'काठकम् कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकम्' ये दिये हैं, जो स्पष्टतया शाखाग्रन्थ हैं। वेद की आनुपूर्वी को पतञ्जलि मुनि नित्य मानते हैं—"स्वरो नियत आम्नाये ऽस्यवामशब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता अस्यवामशब्दस्य" (अ० ५। २। ५९ महाभाष्ये)॥ इन दोनों प्रमाणों से वेद और शाखाग्रन्थों का भेद भगवान् पतञ्जलि के मत से सूर्य के प्रकाश की भान्ति स्पष्ट सिद्ध है॥

निरुक्त के "पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"—(निरु० १। १) तथा "नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति" (निरु० १। १६) इन वचनों से भी वेद की आनुपूर्वी नित्य है, ऐसा यास्क का सिद्धान्त है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। यद्यपि शाखा के विषय में यास्क ने स्पष्टतया नहीं लिखा, तथापि "यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम्, यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्" (निरुक्त १०। ५) इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि यहाँ अर्थ की समानता होने पर भी शाखाओं की वर्णानुपूर्वी का भेद दर्शाने के लिये ही यास्क ने दो भिन्न भिन्न उदाहरण दिये हैं। इनकी व्याख्या करता हुआ दुर्गाचार्य लिखता है—"स एवार्थः, केवलं शाखान्तरमन्यत्" अर्थात्—अर्थ समान है, केवल शाखाभेद से वर्णानुपूर्वी का भेद है। निरुक्त के इस स्थल की यदि महाभाष्यकार के "योऽसावर्थः स नित्यः, या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या" के साथ तुलना की जाय तो यास्क का अभिप्राय भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यास्क मूल वेदों की आनुपूर्वी को नित्य और शाखाओं की आनुपूर्वी को अनित्य मानता है।

शाखाएँ ऋषि-प्रोक्त हैं और उनकी आनुपूर्वी अनित्य है, इसको स्पष्ट करने के लिये एक और प्रमाण देते हैं—

महाभाष्यकार पतञ्जलि "अनुवादे चरणानाम्" (अ० २। ४। ३) के भाष्य में लिखते हैं—"अनुवदते कठः कलापस्य"—अर्थात् कठ कलाप के प्रवचन का अनुवाद करता है। इससे व्यक्त है कि कठादि शाखाएं ऋषियों के प्रवचन हैं और उनमें किन्हीं किन्हीं शाखाओं की परस्पर पर्याप्त समानता है॥

इन प्रमाणों से शाखाग्रन्थों की आनुपूर्वी के अनित्य होने में यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं रह सकता, यही हम कहना चाहते हैं। शाखाओं का स्वरूप भी हमारे इस कथन से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है॥

अब रह जाती है यह बात कि शाखा व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, यह कैसे जानें? इसका उत्तर तो यही है कि जब सूक्ष्म दृष्टि से हम इन शाखाग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो इनके भिन्न २ पाठों से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। इसके अनेक उदाहरण हैं॥

अब हम उपर्युक्त "तेन प्रोक्तम्" (अ० ४। ३। १०१) पाणिनि के इस सूत्र का न्यासकार का अर्थ दर्शाते हैं, वह लिखता है—

"तेन व्याख्यातं तद्ध्यापितं वा प्रोक्तमित्युच्यते" (अ० ४ । ३ । १०१ । न्यास पृ० १००५) ॥

जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि ये कठ, कलाप, पैप्पलाद आदि शाखायें वेदों के व्याख्यानरूप ग्रन्थ ही हैं। प्रोक्तग्रन्थ वह है जो व्याख्यान[1] रूप हो या पढ़ाया गया हो। प्रवचन और व्याख्यान समानार्थक शब्द हैं, ऐसा न्यासकार का कहना है ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद स्वतः प्रमाण हैं, और शाखायें प्रोक्त होने से परतः प्रमाण, इन शाखाग्रन्थों की कोटि (दर्जा) वह नहीं, जो वेद का है। यह है भेद वेद और शाखा-ग्रन्थों का, जिनको संहिता के नाम से कहा जा रहा है ॥

अब हम इन शाखाग्रन्थों की अपनी आन्तरिक साक्षी उपस्थित करते हैं, जिससे पता लगेगा कि शाखायें स्वयं अपने आपका स्वरूप क्या दर्शाती हैं। काठक, मैत्रायणी आदि संहिताओं में चारों वेदों के नाम स्पष्ट मिलते हैं, तद्यथा—

ऋक्सामयोरेवाध्यभिषिच्यते ॥ का० सं० ३७ । ३ ॥
यजुर्भी रायस्पोषे समिधा मदेम ॥ का० सं० २ । ४ ॥
आशीर्वा अथर्वभिः ॥ का० सं० ५ । ४ ॥

इसी प्रकार काठक संहिता में अन्यत्र भी चारों वेदों का नाम तथा विभाग स्पष्ट मिलता है ॥

इतना ही नहीं, अपितु कठसंहिता के प्रवचनकर्त्ता के मत में ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे और वह मन्त्र की प्रतीक देकर इस सूक्त का ऋषि वामदेव है, ऐसा कहते हैं। जैसा कि—

"वामदेवस्यैतत् पञ्चदशं रक्षोघ्नं सामिधेन्यो भवन्ति ......। स वामदेव उख्यमग्निमबिभरतम-वैक्षत स एतत् सूक्तमपश्यत् 'कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमि'ति" (का० सं० १० । ५) ॥

अर्थात् "कृणुष्व पाजः०" इस सूक्त का द्रष्टा वामदेव ऋषि है जो स्वयं वेद की प्रतीक देकर उसका ऋषि बताता है, वह ग्रन्थ स्वयं वेद कैसे हो सकता है ? यह बात साधारण बुद्धिवाले भी तत्काल समझ सकते हैं ॥

अब प्रसङ्गात् यहां एक और आवश्यक शङ्का पर विचार कर लेना भी समुचित होगा। वह यह है कि गोपथ ब्राह्मण (पूर्वार्ध १ । २९) में अथर्ववेद का आरम्भ "शन्नो देवी०" इस मन्त्र से होता है, ऐसा माना गया है। जब ऋग्, यजुः, साम के आरम्भिक मन्त्रों का पाठ वैसा का वैसा हमें वर्त्तमान में भी उपलब्ध हो रहा है, तो अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र "शन्नो देवी०" क्यों न माना जावे ? इतना ही नहीं, महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने भी महाभाष्य के आरम्भ में लौकिक वैदिक शब्दों का भेद दर्शाते हुये जहां ऋग्, यजुः, साम के आरम्भ के मन्त्रों का पाठ वही दिया है जो वर्त्तमान में मिलता है, वहां चतुर्थ वेद का पाठ उन्होंने भी 'शन्नो देवी०" ही दिया है। इससे पता लगता है कि अथर्ववेद का आरम्भ "शन्नो देवी" से ही होना चाहिये ॥

वादी की यह शङ्का पर्याप्त बलवती है, परन्तु थोड़ा विचार करने से यह स्वयं दूर हो जाती है। इस पर सामान्यतया हम पृ० ३३ पं० १७ से २० पर कह चुके हैं। इस पर विशद विचार करते हैं। "तेन प्रोक्तम्" (अ० ४ । ३ । १०१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

"या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या । तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकम्, कालापकम्, मौदकम्, पैप्पलादकमिति" ॥

---

१. "तत्र नाट्यशास्त्रशब्देन चेदिह ग्रन्थस्तद्ग्रन्थस्येदानीं करणं न तु प्रवचनम्। तद्धि व्याख्यानरूपं करणं भिन्नं कठेन प्रोक्तमिति यथा ॥" भरतनाट्यशास्त्र टीका० अभिनवगुप्तः ॥

अर्थात्—यदि नाट्यशास्त्र शब्द से यहां ग्रन्थ का ग्रहण है, तो उसका कर्तृत्व अभिप्रेत है, प्रवचन नहीं। प्रवचन व्याख्यान होता है और करण से पृथक् होता है, जैसे काठकप्रवचन कठका व्याख्यान है। (देखें वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ पृ० १७८, संस्क० २)

महाभाष्यकार के इस वचन से स्पष्ट सिद्ध है—

(क) काठक, कालापक, मौदक, पैप्पलादादि प्रोक्त हैं, अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रवचन किये हुये वा ऋषिकृत हैं ॥

(ख) ये काठक, पैप्पलादादि शाखाग्रन्थ हैं, वेद नहीं, क्योंकि महाभाष्यकार इनकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं। वही महाभाष्यकार अन्यत्र वेद की आनुपूर्वी को नित्य मानते हैं, जैसा कि हम पूर्व प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं (देखो पृ० ३४)। तथा आगे ग में देखें ॥

(ग) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की आनुपूर्वी को "**स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य। वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता**" (अ० ५।२।५९ महाभाष्य) इस प्रमाण से महाभाष्यकार नित्य ही मानते हैं, अनित्य कदापि नहीं। यही कहना पड़ेगा ॥

(घ) प्रोक्त, व्याख्यात, प्रवचन और व्याख्यान पर्यायवाची शब्द हैं, यह न्यासकार तथा अभिनवगुप्त का मत हम पूर्व (पृ० ३७) दर्शा चुके हैं ॥

इन सब से यह सिद्ध है कि पतञ्जलि मुनि पैप्पलाद को शाखा मानते हैं, उसकी आनुपूर्वी को अनित्य मानते हैं, उसे वेद नहीं मानते।

अब रही 'शन्नो देवी॰' के आरम्भ में आने की बात सो महाभाष्य के आरम्भ में वैदिक शब्दों का उदाहरणमात्र देना अभिप्रेत है। वहां वेदों की आरम्भिक प्रतीक दर्शाना मुख्य नहीं। यदि वह वेद की आरम्भिक प्रतीक मानी जावे तो पतञ्जलि भगवान् के स्ववचनों में ही परस्पर विरोध आवेगा। अतः लौकिक वैदिक शब्दों का भेदमात्र दर्शाना अभिप्रेत है, यही मानना होगा ॥

अब रही गोपथ ब्राह्मण में आये 'शन्नो देवी०' इस पाठ की बात। सो यह "शन्नो देवी०" पाठ पैप्पलाद संहिता का है, यह छान्दोग्यमन्त्रभाष्य के कर्त्ता गुणविष्णु ने माना है (पृ० ६, ४८, ११७)। पैप्पलाद शाखा महाभाष्यकार के मत से ऋषिप्रोक्त है, उसकी आनुपूर्वी अनित्य है, यह भली भान्ति सिद्ध हो चुका। अतः गोपथ ब्राह्मण में 'शन्नो देवी०' से अथर्ववेद का आरम्भ उसकी पैप्पलाद शाखा का ब्राह्मण होने से वा किसी अवान्तर शाखा का आरम्भिक पाठ ऐसा होने से है, ऐसा ही मानना पड़ेगा ॥

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि "ये त्रिषप्ताः०" आदि अथर्ववेद के आरम्भ की प्रतीकें हमें श्रौत, गृह्य, अथर्व, बृहत्सर्वानुक्रमणी तथा अन्य अनेक स्थलों में मिलती हैं ॥

शाखायें प्रोक्त हैं, वेद का व्याख्यान हैं, यह हम ऊपर दर्शा चुके। अब यहां हम एक और प्रबल शङ्का का समाधान कर देना भी आवश्यक समझते हैं, जो बहुत से विद्वानों के मन में यत्र तत्र देखी जाती है ॥

महर्षिदयानन्दस्वीकृत शाखा के स्वरूप पर उठाई गई शङ्का का समाधान

ऐतरेयालोचन पृ० १२७ पर श्री० पं० सत्यव्रतसामश्रमीजी ने श्री० स्वामी जी के "शाखा वेदव्याख्यान हैं" इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है—

"**हन्त का नाम संहिता शाखेति व्यपदेशशून्या तेन महात्मनोररीकृता, यस्या मूलवेदत्वं मत्वा शाखेति प्रसिद्धानामन्यासां तद्व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति त्वस्माकमज्ञेयमेव**" ॥

अर्थात्—स्वामी दयानन्द ने किसको मूलवेद माना है, जिसमें कि शाखाशब्द का व्यवहार न होता हो, और जिसको मूल मानकर अन्य शाखाओं को उनका व्याख्यानरूप ग्रन्थ माना जा सके ॥

इस आक्षेप के दो भाग हैं। एक तो यह कि मूल वेद कोई नहीं। दूसरा कोई ऐसी संहिता नहीं, जिसका कि शाखाशब्द से व्यवहार न हो ॥

अब हम इन दोनों आक्षेपों का उत्तर क्रमशः देते हैं—

(क) शतपथ ब्राह्मण का कर्त्ता याज्ञवल्क्य लिखता है—

"तदु हैकेऽन्वाहुः। 'होता यो विश्ववेदस' इति। नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेवानुब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसमिति" (शत० १।४।१।३५ पृ० २९ अजमेर सं०)॥ (तु० काण्व शत० २।३।४।२५)॥

इसका भाव यह है कि किसी शाखा वाले,[१] "होता यो विश्ववेदसः" ऐसा पाठ पढ़ते हैं। सो ऐसा पढ़ना ठीक नहीं। यह मनुष्यकृत पाठ है। वे यज्ञ में मानुषपाठ करते हैं। यज्ञ में मानुषपाठ पढ़ना यज्ञ की हीनता है। यज्ञ में हीनता न हो, इसलिए जैसा ऋचा का पाठ है, वैसा ही बोले 'होतारं विश्ववेदसम्' (ऋ० १।१२।१)॥

इस प्रमाण से दो बातें सिद्ध होती हैं—प्रथम शाखायें जितनी हैं वे सब मानुष (मनुष्यप्रोक्त वा मनुष्य-सम्बन्ध से युक्त) हैं। दूसरा—कोई ऋक्पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्य का कोई सम्बन्ध नहीं, और वही मनुष्य-सम्बन्ध से रहित मूलवेद है॥

शतपथ के इस स्थल के व्याख्यान में—

"होता य इति पाठविपरिणामस्य मनुष्यबुद्धिप्रभवतया मानुषत्वम्। यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यमित्युपसंहरति तस्मादिति। कीदृगृविधं तर्हि वेदे पठितमिति तदाह होतारमिति" (शतपथ १।४।१।३५ सा० भा० पृ० १४४)॥

अर्थात् सायण भी "होता यो विश्ववेदसः" शाखान्तर के इस पाठ को मानुष मानता है। और "होतारं विश्ववेदसम्" को वेद का पाठ मानता है॥

विदित रहे कि शतपथ ब्राह्मण में 'तदु तथा न ब्रूयात्', 'तदु तथा न कुर्यात्' ऐसे वचन, शतपथब्राह्मण (अजमेर संस्करण) में पृ० ८, १५, २३, २५, २९, ३१, ३९, ५०, ६८, १०२, १३७, १३८, १९७, २७७ आदि लगभग १५ स्थलों में है। इन सब में शाखागत पाठों का ही प्रत्याख्यान किया गया है, इनमें मुख्यतया तैत्तिरीय संहिता है। विद्वानों को इस पर और अधिक विचार करना चाहिए॥

(ख) शतपथ ब्राह्मण का सबसे प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी (सन् ६३९ ई०) जो कि स्कन्दस्वामी का शिष्य था, शतपथ-ब्राह्मण-भाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखता है—

"वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यमिति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्" (शतपथ हरिस्वामी भाष्य हमारा हस्तलेख पृ० २)॥

अर्थात्—वेदों का अपौरुषेय होने से ही स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है। उनकी शाखाओं का भी प्रामाण्य तद्धेतुता से अर्थात् वेद के अनुकूल होने से बादरायणादि ने स्वीकार किया है॥

हरिस्वामी के इस वचन से दो बातें स्पष्ट सिद्ध होती हैं, एक तो यह है कि कोई अपौरुषेय वेद अपनी पृथक् सत्ता रखता है और शाखायें उनसे भिन्न हैं। हरिस्वामी वेद को शाखा से भिन्न मानता है। दूसरे उसके मत में उन शाखाओं का प्रामाण्य भी वेदानुकूल होने से स्वीकार किया जाता है॥

---

१. तुलना करो—"उपायव स्थेत्यु हैक आहुः" यह शतपथ ब्राह्मण १।७।१।३ में है, 'उपायव स्थः' यह पाठ तैत्तिरीय संहिता का है। इससे जाना जाता है कि जहां २ शतपथकार 'हैक आहुः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करके किन्हीं पाठों का प्रत्याख्यान करते हैं, वे पाठ निश्चय ही शाखान्तरों के हैं। इसी प्रकार 'होता यो विश्ववेदसः' यह पाठ भी निश्चय ही किसी अनुपलब्ध शाखा का है, जिसे उपर्युक्त उद्धरण में मानुष पाठ कहा है॥

हमारे उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भ्रान्ति यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि शतपथकार तथा हरिस्वामी के मत में शाखाओं से अतिरिक्त मूलवेद अवश्य थे ॥

इस विषय में अन्य साक्षी भी उपस्थित करते हैं—

(i) "ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गा सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति" ॥ नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् पृ० ११३ ।

अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चार वेद, साथ अङ्गों के, साथ शाखाओं के चार पाद हैं ॥

(ii) एतद् बृहज्जाबालमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वाणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते" ॥ बृहज्जाबालोपनिषद् ॥

इसमें भी शाखा और कल्प आदिकों को वेद से भिन्न गिनाया गया है ।

अतः वेद और शाखायें भिन्न २ हैं, यह परम्परा थी ॥

अब सत्यव्रत सामश्रमी के दूसरे आक्षेप का उत्तर लिखते हैं— वैदिक साहित्य में 'शाखा' शब्द का व्यवहार किन किन कारणों से होता है, यह तो हम नहीं कहते, किन्तु आगे उल्लिखित दो कारण अवश्य हैं । एक तो पाठभेदादि करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है, वह शाखा का रूप धारण कर लेता है, जैसे तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता तथा काण्व संहितादि ॥ दूसरा शाखा शब्द का व्यवहार मूल ग्रन्थों में विना किसी परिवर्त्तन या परिवर्द्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ में संयुक्त हो जाता है । इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकल संहिता है । शाकल्य ने संहिता पाठ में कोई परिवर्त्तन वा परिवर्द्धन किया हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं । हां, निरुक्त अ० ६ । २८ के "वा इति च य इति च चकार शाकल्यः" इस पाठ से ऋग्वेद के पदपाठ का कर्तृत्व शाकल्य का सिद्ध होता है, पुराणों में भी इस शाकल्य को 'पदवित्तम' नाम से पुकारा गया है । पदपाठ का कर्त्ता होने मात्र से ऋक्संहिता के साथ शाकल्य का नाम जोड़ दिया गया और उसका शाकलसंहिता वा शाकलशाखा के नाम से व्यवहार होने लग गया (कई लोगों ने शाकल को शाकलसंहिता का प्रवचनकर्त्ता माना है, वह प्रमाणाभाव से चिन्त्य है) । किसी संहिता का पदपाठ मात्र कर देने से भी उसमें शाखा शब्द का व्यवहार होता है, इसके लिये हम एक स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं—

"उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने । तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते ॥
यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः । तां विद्वांसो महाभागां भद्रमश्नुवते महत् ॥

भट्टभास्कर तै० सं० भाष्य भाग १—तैत्तिरीय काण्डानुक्रम पृ० ९ श्लोक २६, २७ ॥

अर्थात्—तित्तिरि ने इस तैत्तिरीय संहिता को उख को पढ़ाया । उसने इस शाखा को आत्रेय को पढ़ाया । आत्रेय द्वारा बनाई हुई यह शाखा आत्रेयी कहलाती है, जिसका पदकार आत्रेय है, और वृत्तिकार कुण्डिन है । इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आत्रेय के द्वारा पदपाठ कर दिये जाने से जैसे यह तैत्तिरीय संहिता आत्रेयी संहिता के नाम से भी व्यवहृत होने लगी, ठीक वैसी ही दशा शाकलसंहिता की भी समझनी चाहिये ॥

इसी प्रकार से यजुर्वेद की जितनी शाखायें उपलब्ध होती हैं, उनमें कृष्णयजुर्वेदगण में तो स्पष्ट प्रतीकें देकर व्याख्यान उपलब्ध होने के कारण उनका वेदत्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता । दूसरे सम्प्रदाय की दो संहितायें उपलब्ध होती हैं, उनमें से काण्वसंहिता में पाठभेद द्वारा मन्त्र व्याख्यान होने से मूल सिद्ध नहीं हो सकती ॥ माध्यन्दिनी संहिता ही मूल यजुर्वेद है, इस विषय में एक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

गवर्नमैण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास के सूचीपत्र भाग III पृ० ३४२६. ग्रन्थ नं० २४४६ पर "माध्यन्दिनशाखाविषयः" नाम से एक ग्रन्थ का उल्लेख है । यह उस ग्रन्थ का वास्तविक नाम नहीं है । पुस्तक

का आद्यन्त खण्डित होने से उसका नाम अज्ञात है। इस पुस्तक का कुछ पाठ उपर्युक्त पृष्ठ पर निम्न प्रकार उद्धृत है—

"अथ पञ्चदशशाखासु माध्यन्दिनशाखा मुख्येति वेदितव्या। यदुक्तं बृहन्नारदीये—
'यजुर्वेदमहाकल्पतरोरेकोत्तरं शतम्। शाखा तत्र शिखाकारा दश पञ्चाथ शुक्लगाः॥'
तथा चेदं होलीरभाष्यम्—

'यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः। सर्वानुक्रमणी तस्याः कात्यायनकृता तु सा॥'
तस्मान्माध्यन्दिनीयशाखा एव पञ्चदशसु वाजसनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणा च॥
अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा'॥"

अर्थात्—शुक्ल यजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं में माध्यन्दिन शाखा ही मुख्य है। बृहन्नारदीय में कहा है—'यजुर्वेदरूपी महावृक्ष की १०१ शाखायें हैं। उनमें पन्द्रह शुक्ल शाखायें शिखाकार अर्थात् सर्वोच्च हैं।' होलीरभाष्य में लिखा है–'यजुर्वेद का मूल माध्यन्दिनीय संज्ञक है। जिसकी कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी बनाई है। इसलिये माध्यन्दिनीय शाखा ही पन्द्रह वाजसनेय शाखाओं में मुख्य और सर्वसाधारण है। अत एव वसिष्ठ ने भी कहा है—माध्यन्दिनी शाखा सर्वसाधारण है'॥

यह उपर्युक्त ग्रन्थ लगभग ४०० वर्ष प्राचीन होगा। इसमें उद्धृत होलीरभाष्य यजुःसर्वानुक्रमणी का भाष्य है॥

इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि आज से कई सौ वर्ष पूर्व तक माध्यन्दिन शाखा ही मूल यजुर्वेद माना जाता था। अभी भी कई हस्तलेख ऐसे मिलते हैं, जिनके अन्त में इसका माध्यन्दिन नाम से उल्लेख न होकर वाजसनेयी संहिता के नाम से उल्लेख मिलता है। सम्भव है शाकल संहिता की तरह माध्यन्दिन भी इस संहिता का पदकार हो और उसके नाम से इस माध्यन्दिनीय शाखा का व्यवहार चल पड़ा हो। ऐसी ही सम्भावना साम तथा अथर्व में भी की जा सकती है॥

उपलब्ध शाखाग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन से पता लगता है कि विभिन्न शाखाओं के मन्त्रपाठ में भी पर्याप्त पाठान्तर हैं। उन पाठान्तरों की सूक्ष्म विवेचना करने पर विदित होगा कि किसी संहिता में कोई क्लिष्ट या अस्पष्टार्थक शब्द है तो दूसरी संहिता में उसके स्थान पर जो पद प्रयुक्त हुआ है, वह अधिक स्पष्टार्थक है। शाखाओं के प्रवचनकर्त्ताओं ने कहीं २ इस प्रकार का पाठान्तर[1] मात्र करके मन्त्र के भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ, कपिष्ठल ये संहितायें स्पष्टरूप में शाखायें हैं, क्योंकि इनमें अनेक मन्त्रों की प्रतीकें देकर व्याख्या की गई है और ब्राह्मणभाग का सम्मिश्रण भी प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। अब रही काण्व तथा माध्यन्दिनीय, अब इन पर भी विचार करते हैं—

(१) माध्यन्दिनीय संहिता में पाठ है **"भ्रातृव्यस्य वधाय"** (१।१८)॥ काण्व संहिता में इसके स्थान पर **"द्विषतो वधाय"** ऐसा पाठ है॥

(२) माध्यन्दिनीय ९।४० में पाठ है—**"एष वो अमी राजा"**॥ काण्व संहिता में इसके स्थान पर पाठ है—**"एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा"**।११।३।३॥

इन दोनों में प्रथम "भ्रातृव्यस्य" की अपेक्षा "द्विषतः" पाठ अधिक स्पष्टार्थक है। दूसरे उदाहरण में माध्यन्दिन संहिता का पाठ "अमी राजा" है। "अमी" यह सर्वनाम पद है। यह मन्त्र राजसूययज्ञ में विनियुक्त है। अतः माध्यन्दिन का पाठ सब राजाओं के प्रति समान है, परन्तु काण्वसंहिता में "कुरवः" तथा "पञ्चालाः" ये विशेष पद पठित हैं। काण्वशाखा का कुरु तथा पञ्चालदेश में अधिक प्रचार था, अतः उसमें उन्हीं पदों का प्रयोग मिलता है। काण्वपाठ इन दो देशों के राजाओं के साथ बन्ध गया है। अन्य देश का राजा यदि राजसूययज्ञ करे तो

१. पाठान्तर भेद से शाखायें बनती गईं, इस विषय में वायुपुराण का निम्नाङ्कित श्लोक भी ध्यान देने योग्य है—
"पाठान्तरे पृथग्भूता वेदशाखा यथा तथा" वायुपुराण अ० ६१॥

काण्वमन्त्र नहीं बोला जा सकता। इसलिये पूर्वोल्लिखित उद्धरण में माध्यन्दिन का पाठ सर्वसाधारण माना गया है, जो कि सर्वथा युक्त है ॥

इस प्रकार इस प्रकरण में संक्षेप से इन शाखाओं को प्रोक्त वा व्याख्यान सिद्ध किया। इनकी आनुपूर्वी ऋषि-मुनियों के प्रमाणानुसार अनित्य है। मूल वेद इनसे पृथक् हैं और उनकी आनुपूर्वी नित्य है। शतपथकार के मत से शाखायें मानुष अर्थात् मनुष्यप्रोक्त = मनुष्यकृत हैं। शतपथ का भाष्यकार हरिस्वामी वेद को स्वतःप्रमाण मानता है और शाखाओं को परतःप्रमाण। वर्त्तमान शाकलसंहिता तथा माध्यन्दिनीय ही मूल वेद हैं, इसमें उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रकाश डालने का यत्न किया है। आशा है विद्वज्जन इस विषय पर और गम्भीर विचार करेंगे। निस्सन्देह यह शाखा का विषय अत्यन्त गम्भीर अनुशीलन का है। इसके लिये विपुल मात्रा में सामग्री की आवश्यकता है, अर्थात् वेद की लुप्त शाखाओं सम्बन्धी साहित्य मिलने पर ही गम्भीर विवेचना हो सकती है ॥

वेद का अर्थ

पूर्व प्रकरणों में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता, वेद-ज्ञान का प्रकाश, उसका स्वरूप, नित्य-शब्दार्थसम्बन्ध, वेद के विभाग, वेद की आनुपूर्वी, तथा उसकी शाखाओं के विषय में निरूपण किया जा चुका है। आदिभाषा का प्रकाश कैसे हुआ, यह भी पूर्व कहा जा चुका है। अब स्वभावतः वेद के अर्थ के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सृष्टि के आदि में वेद के अर्थ का ज्ञान कैसे आरम्भ हुआ होगा। शब्द का वाच्य अर्थ और अर्थ का वाचक शब्द अवश्य होता है, यह सर्वसम्मत है। लोक में हम देखते हैं, एक शब्द उच्चरित होते ही अपने अर्थ का भान अवश्य कराता है। अनेक पशुओं के समुदाय में खड़े एक पशु 'गौ' का नाम लेते ही हमें उसके वाच्यार्थ का बोध तत्काल होने लगता है। इसी प्रकार वेद का एक मन्त्र बोलते ही उसके वाच्यार्थ का बोध अवश्य ही होना चाहिये। तत्तद् भाषा के वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ज्ञान वाले को ही वाचक शब्द के उच्चारण होने पर वाच्यार्थ का भान हो सकता है, दूसरे को नहीं, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है, और यह बात प्रत्येक व्यक्ति के सामने प्रत्यक्ष है। एक फ़ारसी या अंग्रेजी न जानने वाले के सामने 'अस्प' या 'हॉर्स' कहने से उसे किसी भी अर्थ का बोध नहीं हो सकता, 'कुकुड़ी' कहने से पंजाब में 'मुर्गी' समझा जाता है, और उत्तरप्रदेश में ज्वार वा मक्का के भुट्टे (छल्ली) को 'कुकुड़ी' कहते हैं। इसका भी कारण यही है, जो ऊपर कहा गया ॥

वेद में आये शब्दों के वाच्य-वाचक-सम्बन्ध को लौकिक कोशों के आधार पर समझ कर वेद के अर्थ करने से ही संसार में सच्चे वेदार्थ का लोप हुआ, और उसके लुप्त होने से संसार में अन्धकार फैला, और मानव समाज की अकथनीय हानि हुई। उदाहरणार्थ वेद के कोश (निघण्टु) के अनुसार 'अहि' और 'पर्वत' शब्द का अर्थ मेघ होता है, 'पुरीष' शब्द का अर्थ जल है। पर लोक में 'अहि' सांप को, 'पर्वत' पहाड़ को, 'पुरीष' मल (मल-मूत्रादि) को कहते हैं। अब यदि लोक में आये इन शब्दों के वाच्य-वाचक-सम्बन्ध को लेकर हम वेद में भी वही अर्थ करने लगेंगे, तो कितना अनर्थ होगा, यह विज्ञ पाठक स्वयं विचार सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद का अर्थ समझने के लिये हमें लौकिक (साधारण) संस्कृत का आश्रय न लेकर वेद के कोश तथा कोश के आधारभूत ग्रन्थों का आश्रयण करना होगा, तभी हम सच्चे वेदार्थ तक पहुँच सकते हैं, अन्यथा नहीं। हमारा आगे का सारा प्रकरण तथा उसके सब अवान्तर विभाग इसी वाच्य-वाचक-सम्बन्ध के दर्शाने के लिये हैं, यद्यपि वे भिन्न २ दृष्टियों को लेकर इस बात का प्रतिपादन करते हैं। भाव यह है कि वेद का अर्थ वाच्य-वाचक-सम्बन्ध भी विशेष नियमों पर आश्रित है। जब तक उन नियमों का ज्ञान नहीं हो जाता, वेद का अर्थ कभी नहीं खुल सकता ॥

अतः सब से पूर्व वेदार्थ के नियमों वा सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना आवश्यक है, जिससे प्रत्येक पाठक के मन में वेदार्थ के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में धारणा निश्चित हो जावे और तदनुसार वह देख सके कि क्या वेद के कोश वा अन्य आर्ष ग्रन्थ, वेद के अर्थ उन्हीं सिद्धान्तों वा कसौटियों के अनुकूल करते हैं वा नहीं, या कहां तक करते हैं, तभी आज तक के किये हुए वेदार्थ के विषय में यथार्थ ज्ञान हो सकता है, चाहे वह ऋषियों की की हुई व्याख्या के रूप में हो, या वेदभाष्यकारों के भाष्य के रूप में। अतः यहां हम सर्वप्रथम वेदार्थ की कसौटियों का निरूपण करते हैं—

वेदार्थ की कसौटियां

यह पहिले बतलाया जा चुका है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान, अपौरुषेय, नित्य तथा सृष्टिनियमों के अनुकूल है। अतः उसका अर्थ करते समय भी उन्हीं कसौटियों को यथार्थ समझना अनिवार्य है, जो कि इन पूर्वोक्त बातों का विरोध न करती हों, अतः वेदार्थ की दृष्टि से संक्षेपतः उनका निरूपण करते हैं—

(१) वेद में सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन होना चाहिये, जो मानवसमाज में परस्पर विरोध उत्पन्न करने वाले न हों ।।

(२) किसी देश या जातिविशेष का सम्बन्ध उसमें न होना चाहिये ।।

(३) ईश्वर के गुण, कर्म तथा सृष्टिनियमों के विरुद्ध न हो ।।

(४) 'सर्वज्ञानमयो हि सः' वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, उससे यह अवश्य विदित हो ।।

(५) मानव-जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर प्रकाश डालता हो, अर्थात् मानव की ज्ञानसम्बन्धी सभी आवश्यकताओं को पूरा करता हो ।।

(६) न्यायादि शास्त्रों के नियमों के विपरीत न हो, दूसरे शब्दों में तर्क की कसौटी पर ठीक उतरे, अर्थात् तर्कसम्मत हो ।।

(७) जिसमें किसी व्यक्तिविशेष का इतिहास न हो ।।

(८) त्रिविध अर्थों का ज्ञान कराता हो ।।

(९) आप्तसम्मत हो, ऋषि-मुनियों की धारणायें भी जिसके अनुरूप हों ।।

(१०) जिसकी एक आज्ञा दूसरी आज्ञा को न काटती हो ।।

अति संक्षेप से ये वेदार्थ की कसौटियाँ कही जा सकती हैं। इनके विषय में पूर्व (पृ० १६) संक्षेप से लिखा जा चुका है, यहाँ इस विषय में कुछ और प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा—

(१) **सर्वतन्त्र-सिद्धान्त या सार्वभौम-नियम**—जो बातें सब के अनुकूल, सब में सत्य, जिनको सब सदा से मानते आये, मानते हैं और मानेंगे, जिनका कोई भी विरोधी न हो, जो प्राणिमात्र के कल्याणकारक हैं, ऐसे सर्वतन्त्र सर्वमान्य सिद्धान्त ही संसार में सुख और शान्ति के प्रतिपादक हो सकते हैं। वेद तो स्पष्ट ही कहता है—

············मित्रस्य॑ मा चक्षु॑षा सर्वा॑णि भूतानि॒ समी॑क्षन्ताम् ।
············मित्रस्य॒ चक्षु॑षा समी॑क्षामहे ।। (यजु० ३६ । १८) ।।

प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखो। "यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः" (यजु० ४०।७), "भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः" (केनोप० २ । ५), "स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः" (अथर्व० १।३१।४), वेद के इन मन्त्रों तथा उपनिषद् के वचनों में स्पष्ट इस उपर्युक्त बात का प्रतिपादन हमें मिलता है। ऐसी अवस्था में यदि कोई वेद का अर्थ इसके विरुद्ध करता है, तो कैसे माननीय हो सकता है! ईश्वर का ज्ञान वेद, फिर भी जाति जाति में, और देश देश में फूट डलवाने वाली बात कहे, यह कैसे हो सकता है। वह तो समता का प्रतिपादक है, न कि विषमता का। मानवहृदय की विषमता दूर करना ही तो उसका ध्येय है। वेद का प्रत्येक मन्त्र किसी न किसी रूप में सर्वतन्त्र सिद्धान्त का प्रतिपादक है, यह हमारा कहना है। इस कसौटी को लेकर प्रत्येक को वेद के अर्थ का परीक्षण करना चाहिये ।।

(२) **किसी देश या जातिविशेष का सम्बन्ध उसमें न होना चाहिये**—ऐसा होने से ईश्वर में पक्षपात सिद्ध होगा। दूसरे—जिस जाति वा देश का वर्णन वेद में होगा, वेद की उत्पत्ति उसके पीछे ही माननी पड़ेगी, इस प्रकार उसकी नित्यता नहीं रह सकती ।। ऋ० १ । ३ । ११, १२ में—

"चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्" ।
"धियो विश्वा वि राजति" ॥

विश्व के लिये बुद्धियों वा ज्ञान के प्रकाश का उपदेश वेद करता है। योगदर्शन (२ । ३१) में भी 'जाति-देशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' ऐसा लिखा है ॥

इसके विरुद्ध जो शङ्का करते हैं, कि वेद में अमुक जाति वा अमुक व्यक्तियों का इतिहास है, इसके विषय में हम आगे लिखेंगे ॥

(३) ईश्वर के गुण, कर्म और सृष्टिनियमों के विरुद्ध न हो—ईश्वर सर्वज्ञ है, उत्पत्ति, स्थिति, संहार का कर्त्ता, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी आदि गुणों से युक्त है। यदि वेद के मन्त्रों के अर्थ इन गुणों के विपरीत हों तो यही कहना होगा कि वह वेद का ठीक अर्थ नहीं है, अन्यथा वेद ईश्वर की कृति नहीं माना जा सकता। वेद कहता है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः ॥ ऋ० १० । ८१ । ३ ॥
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे ॥ अथर्व० ७ । ८७ । १ ॥
प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ॥ अथर्व० १० । ७ । ८ ॥
यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः ॥ ······अथर्व० १० । ७ । १२ ॥

सब का स्रष्टा, धर्त्ता, नियन्ता परमेश्वर है, इत्यादि मन्त्र उपर्युक्त कसौटी के सर्वथा अनुरूप हैं ॥

(४) वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक हो—जब वेद ईश्वरीय ज्ञान है, तो वह पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, जो प्राणिमात्र को अपेक्षित है। अन्यथा उसकी अपूर्णता उसके वेदत्व का ही विघात करेगी। इसलिये ऋषि मुनि 'सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु० २ । ७) वह समस्त विद्याओं का भण्डार है, ऐसा मानते हैं। यद्यपि यह बात अभी तक प्रायः साध्यकोटि में है, और तब तक रहेगी, जब तक सम्पूर्ण विद्याओं के ज्ञाता नहीं हो जाते। उससे पूर्व हमें इसका निर्बाध ज्ञान कैसे हो सकता है। पुनरपि हमें अंशतः इसका ज्ञान अवश्य हो रहा है। पर वेद में समस्त विद्यायें होनी चाहियें, इसका बाध तो कोई नहीं कर सकता। यह बात सर्वसम्मत है। स्वामी दयानन्दजी ने ही नहीं, स्वामी शङ्कराचार्यजी ने भी ऐसा ही माना है—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति"॥ (वेदान्त शाङ्करभाष्य १ । १ । ३) ॥

अर्थात्—अनेक विद्याओं के स्रोत ऋग्वेदादि का कर्त्ता बिना सर्वज्ञ जगदीश्वर के कोई नहीं हो सकता ॥

(५) मानव-जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर प्रकाश डालता हो—इस नियम से चारों वर्णों और चारों आश्रमों के सब धर्मों का मूलतः उपदेश वेद में होना अनिवार्य है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (यजु० ३१ । ११) इत्यादि मन्त्र चारों वर्णों के कर्तव्यों का उपदेश करते हैं, इसी प्रकार चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का निरूपण करने वाले ब्रह्मचर्य सूक्त (अथर्व० ११ । ५) तथा गृहस्थाश्रम (अथर्व० १४ । २३) आदि के प्रकरण वेदों में अनेक स्थलों में हैं।

(६) तर्कसम्मत हो—"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (वैशे० ६ । १ । १) के अनुसार वेद में तर्क के विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता। "तर्क एव ऋषिः" (निरु० १३ । १२) ऋषियों के इन वचनों के आधार पर हमें मानना होगा कि वेद का कोई भी मन्त्र इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। यह बात भी अभी वेद के मर्मज्ञ विद्वानों को छोड़कर अन्य साधारण जनता के लिये तो प्रायः साध्यकोटि में ही कही जा सकती है ॥

(७) व्यक्तिविशेषों का इतिहास न हो—इन्द्र-कण्व-अङ्गिरः आदि शब्दों के आगे तरप्-तमप् (Comparative तथा Superlative degree) प्रत्यय हमें वेद में (ऋ० ७ । ७९ । ३ तथा ऋ० १ । ४८ । ४) स्पष्ट मिलते हैं । तरप्-तमप् प्रत्यय विशेषणवाची शब्दों के ही आगे प्रयुक्त होते हैं, न कि व्यक्तिविशेषों के नाम के आगे । इस से हम समझ सकते हैं कि ये विशेषणवाची शब्द हैं, न कि किन्हीं व्यक्तिविशेषों के नाम । स्थालीपुलाक-न्याय से यहां हम इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं । शेष ऐतिहासिक स्थलों के विषय में आगे लिखा जायगा ॥

(८) त्रिविध अर्थों का ज्ञान कराने वाला हो—निरुक्तकार यास्क मुनि के मत में वेद के प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होना चाहिये, ऐसा ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने (निरुक्त का प्रमाण दे कर) कहा है (देखो भाष्यविवरण पृ० २१, ३३) । ऐसी दशा में हमें किसी का भी किया अर्थ सामने आने पर देखना होगा कि वह तीनों अर्थों को कहता है, या तीनों में से किसी एक को, या तीनों से भिन्न ही कुछ बोल रहा है । इस कसौटी से हमें वेदार्थ करनेवाले व्यक्ति की योग्यता का भी पता तत्काल लग जायगा कि उसको वेदार्थ के विषय में कहां तक गहरा ज्ञान है ॥

(९) ऋषि-मुनियों की धारणा के अनुकूल हो—जैसा हमने ऊपर यास्क का मत दिखाया, इसी प्रकार यास्कमुनि की अन्य धारणाओं तथा अन्य ऋषियों की वेदार्थविषय में जो धारणाएं हैं, उनको लेकर वेदार्थ की परीक्षा करनी होगी । जब यास्क प्रत्येक मन्त्र के तीन अर्थ मानता है, तो हमें बाधित होकर वैसा ही वेद का अर्थ ग्राह्य समझना होगा, दूसरा नहीं ॥

(१०) जिसकी एक आज्ञा दूसरी आज्ञा को न काटती हो—विप्रतिषिद्ध बात या तो पागल कहता है, या अज्ञानी । सो ईश्वर से बढ़ कर ज्ञानी और कौन हो सकता है ! अतः उसका ज्ञान भी परस्पर विरुद्ध कभी नहीं हो सकता । यह बात वेद में पूरी लागू होती है । अतः वेद के अर्थ में ऐसी किसी विप्रतिषिद्धता की सम्भावना नहीं हो सकती ॥

ये सब कसौटियां हमने अति सक्षेप से निर्देश-मात्र वर्णन की हैं । इस विषय में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है । पर यहां इतना ही पर्याप्त होगा । इन कसौटियों को लेकर ही हमें आगे वेदार्थविषय में विवेचना करनी होगी ॥

सर्गारम्भ में वेद का अर्थ

यह पूर्व कहा जा चुका है कि शब्द विना अर्थ के नहीं रह सकता, और भाषा विना ज्ञान के, ऐसी दशा में आदिज्ञान के साथ ही अर्थ[1] का प्रकाश भी उन आदि ऋषियों के हृदयों में हुआ । उनसे ही आगे भाषा का व्यवहार चला, और उन्हीं से अर्थ का ज्ञान आगे सबको हुआ । व्यवहार की भाषा वेद से ही चली, अर्थात् लौकिक भाषा का निर्माण वेद में वर्णित[2] नियमों के आधार पर ही हुआ और वह वेद की भाषा से भिन्न थी । इतना तो ठीक है कि वेद से निकली होने के कारण देववाणी (संस्कृत) में वेद से लिये शब्दों का बाहुल्य रहा । यह भी कहा जा सकता है कि वेद के कुछ शब्दों को छोड़ कर लोक में उन्हीं शब्दों का व्यवहार हुआ, जो वेद में थे, अतः वेद के आधार पर निर्मित भाषा में जो शब्द मनुष्यों द्वारा बोले गये, वे लौकिक हैं और वेद में प्रयुक्त आनुपूर्वी से युक्त शब्द जो कभी किसी जातिविशेष के मनुष्यों द्वारा बोले नहीं गये, वे वैदिक हैं । इन लौकिक-वैदिक शब्दों का वर्णन महामुनि पतञ्जलि निम्न प्रकार करते हैं—

१.—पृ० २ (ऋ० १० । ७१ । १) में "नामधेयं दधानाः" से यह बात अवभासित होती है । 'अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्' से यह अवभासित होता है कि वाणी (वैदिक वा लौकिक) ऋषियों द्वारा सबको बताई गई, पढ़ाई गई वा निर्धारित हुई ॥

२.—देखें इसी पृ० की टिप्पणी नं० १, तथा पूर्व पृ० २ टिप्पणी नं० १ ॥

"केषां शब्दानां ? लौकिकानां वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावद्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति ।। वैदिकाः खल्वपि—शं नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा । अग्निमीळे पुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतये ।।" (महाभाष्यारम्भे) ।।

यहां वैदिक शब्दों में एक भी शब्द ऐसा नहीं जो लोक में न बोला जाता हो । उधर 'अश्वो ब्राह्मणः' आदि सभी शब्द वेद में आते हैं । तब स्वभावतः प्रश्न उठता है कि फिर लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है कि वेद की आनुपूर्वी (क्रम) नित्य होती है । "अग्निमीळे पुरोहितम्" ऐसा ही पाठ रहेगा, "पुरोहितमग्निमीळे" इत्यादि नहीं हो सकता, अर्थात् वेद में ये शब्द आगे पीछे कभी नहीं हो सकते । लौकिक शब्दों में यह बात नहीं । मीमांसकों ने "य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः" ऐसा सिद्धान्त निश्चय किया है, उसका अभिप्राय यही है कि सामान्यतया जो शब्द वेद में आये हैं, वही लोक में आते हैं । दूसरे शब्दों में वेदवाणी की पुत्री देववाणी का व्यवहार वेद के शब्दों को लेकर हुआ । यह बात ध्यान में रखने की है कि वेद में कुछ विशेष शब्द आते हैं जो लोक में नहीं आते। यह ज्ञान सृष्टि के आदि में ही सब ऋषि-मुनियों को था, उन्हीं के द्वारा आगे भी सबको हुआ ।।

लौकिक-वैदिक शब्दों के विषय में अर्थ के सामान्य, विशेष नियमों का ज्ञान प्रारम्भ में ही हुआ होगा। आगे अध्ययन अध्यापन का व्यवहार कैसे चला होगा, इसमें सामान्य व्यवस्था तो वही हो सकती है, जो अब है अर्थात् विना सिखाये कोई सीख नहीं सकता, किसी न किसी के द्वारा वेदार्थ का ज्ञान और आगे लौकिक शब्दों के अर्थ-सम्बन्ध का ज्ञान भी होना ही चाहिये । अध्यापन की प्रक्रिया में उस समय कोई भेद रहा हो, ऐसा तो समझ में नहीं आता । इतना भेद अवश्य रहा होगा कि यतः उस समय भाषा देववाणी थी, अतः उन्हें वेद का अर्थ समझने में अतीव सुगमता थी । प्रारम्भ में वेदार्थ ज्ञान की क्या शैली थी, इस विषय में निरुक्तकार केवल इतना सङ्केत करते हैं—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः" ।। निरु० १ । २० ।।

अर्थात्—साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने, जिनको ज्ञान नहीं था, उनको उपदेश के द्वारा वेदार्थ का ज्ञान कराया ।।

'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम्' ।। ऋ० १ । १ । १ ।।

'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद् भद्रं तन्न आ सुव' ।। यजु० ३० । ३ ।।

इनमें तथा इसी प्रकार वेद के अन्य मन्त्रों में अर्थ का ज्ञान तत्काल ही हो जाता रहा होगा । इस समय भी इनके अर्थ समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं, न ही लौकिक शब्दों से कोई विशेष भेद है, सिवाय इसके कि 'अग्नि' आदि शब्दों का अर्थ वेद में केवल इतना ही नहीं होता। जितना कि लोक में । मन्त्र उच्चारण करने के साथ ही उसका अर्थ हृदयङ्गम हो जाता होगा, जैसा कि इस समय भी हो रहा है । भेद केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उस समय वैदिक शब्दों के व्यापक अर्थों का ज्ञान प्रायः करके सबको था, क्योंकि आरम्भ में वह ऋषियों के द्वारा सबको मिला था ।।

पदकार और वेदार्थ

वेद का अर्थ सब से प्रथम[1] शक्तिग्रह द्वारा ही होना आरम्भ हुआ होगा, जैसा कि वर्त्तमान में भी किसी भाषा का शब्द बोलने पर उसके वाच्यार्थ का बोध शक्तिग्रह द्वारा होता है । यह भी समझने की बात है कि प्रारम्भ में कोई पृथक् व्याकरण नहीं था, वेदविषयक जो भी विशेष नियम थे, वे सब अध्ययन-परम्परा द्वारा सबको विदित रहते थे । लोगों की ग्रहणशक्ति में शैथिल्य आजाने पर पदकार ऋषियों ने पदपाठों की रचना की,

१.—सर्गारम्भ में शक्तिग्रह सर्वप्रथम ईश्वर द्वारा ही कराया गया, जिसका निरूपण हम पहिले कर चुके हैं ।

जिससे वेदार्थ में किसी प्रकार की उलझन न होने पावे। सामान्य अध्येता लोग वेद के पृथक् २ शब्दों के स्वरूप निश्चय करने में भ्रम में न पड़ें। तब तक भी वेदार्थ अपने उच्चतम स्थान अर्थात् पूरी समुन्नत अवस्था में वर्त्तमान था, यही कहना पड़ता है। किसी वेदभाष्य की रचना उस समय तक नहीं हुई थी, यही हमें पता लगता है, क्योंकि उस समय इसकी आवश्यकता ही नहीं थी। वेद के व्यापक अर्थ को ऋषि लोग संकुचित नहीं करना चाहते थे। अर्थज्ञ ऋषियों में हमें इन पदकार ऋषियों की सर्वप्रथम कृति इस समय मिल रही है। ये पदकार ऋषि व्याकरण तथा निर्वचनविद्या के नियमों से पूर्ण परिचित थे, क्योंकि विना व्याकरण के नियमों का ज्ञान हुये पदविभाग हो नहीं सकता। पदकारों के इस प्रयत्न को हम सर्वसाधारण की दृष्टि से वेदार्थ की ओर होने वाले यत्नों में प्रथम प्रयत्न कह सकते हैं। वाक्यार्थबोध के विना भी पदज्ञान नहीं हो सकता, अतः वे वाक्यार्थ का भी पूरा ज्ञान रखते थे, यही कहना पड़ता है॥

यहां पदकारों से हमारा अभिप्राय उन पदकारों से है, जिन्होंने सर्वप्रथम मन्त्रों का पदच्छेद करके अर्थ-ज्ञान कराया। वर्त्तमान में उपलभ्यमान पदपाठों के रचयिता शाकल्यादि उनकी अपेक्षा बहुत पीछे के हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इनसे पूर्व भी पदविभाग के ज्ञाता वा उपदेष्टा ऋषि अवश्य रहे होंगे[1]॥

पदकारों ने वेद के भाष्य न करके केवल पदविभाग मात्र का उपदेश किया, इससे यह बात सहज में समझ में आ जाती है कि उस समय वेद के भाष्यों की आवश्यकता ही नहीं थी॥

शाखायें और वेदार्थ

शाखायें वेद के व्याख्यानरूप ग्रन्थ हैं, यह हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। सम्भव है इन शाखाओं में से कुछ एक पदकारों से पूर्व की हों, पर बहुतसी तो स्पष्ट ही पदकारों के पश्चात् की प्रतीत होती हैं। चाहे ये किसी समय की रचना हों। इनमें शतपथादि में कहे जानेवाले मानुषपाठ अर्थ की दृष्टि से ही बदले हुए समझने चाहियें। अर्थात् मन्त्रों से मन्त्रों का अर्थ समझा जाता है तथा शाखायें विस्पष्टार्थद्योतक शब्दों द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करती हैं॥ सम्पूर्ण शाखायें यज्ञ के लिये बनी हैं। इनका एकांशिक याज्ञिक अर्थ के साथ ही सम्बन्ध है॥

ऋग्वेद १०।७१।६ में 'सचिविदं सखायं' के स्थान में तै० आरण्यक में इसी मन्त्र के व्याख्यान में 'सखिविदं सखायं' (तै० आ १।३।१) पाठ है॥

यजुर्वेद १।१८ के 'भ्रातृव्यस्य वधाय' के स्थान में काण्व संहिता १।६।२, ३ में 'द्विषतो वधाय' ऐसा पाठ है। पाठक देखें इन दोनों स्थलों में स्पष्ट ही एक शब्द के अर्थ को दूसरे से दर्शाया गया है। ऐसे स्थल यद्यपि बहुत से दर्शाये जा सकते हैं, तथापि शाखाओं के द्वारा हमें वेदार्थ में अति स्वल्प सहायता मिलती है। जो बहुत सूक्ष्म दृष्टि से प्रयत्न करने पर उपलब्ध होती है। वेङ्कटमाधव भी ऋग्भाष्यानुक्रमणी पृ० ७७ में लिखता है—

"अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानेवं मन्त्रान्तरैरपि। शाखास्वन्यासु पठितैर्विस्पष्टार्थैर्मनीषिणः॥"

अब वेदार्थ के विषय में ब्राह्मणग्रन्थ कहां तक सहायक हैं, इस पर विचार करते हैं—

ब्राह्मण-ग्रन्थ और वेदार्थ

ब्राह्मणग्रन्थ ऋषियों की कृति, वेदों के व्याख्यान, पौरुषेय ग्रन्थ हैं, यह पूर्व कहा जा चुका है। वेदार्थ के विषय में ब्राह्मणग्रन्थों की स्थिति क्या है, यह उनकी परम्परा लुप्त हो जाने से पूर्णरूप से परिज्ञात नहीं हो सकता। फिर भी

१ इस विषय में विशेष खोज की आवश्यकता है॥

यह तो निश्चित है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं, इनका याज्ञिक अर्थ के साथ सम्बन्ध है। इनमें केवल याज्ञिक- प्रक्रिया का प्रतिपादन है, या विनियोगमात्र ही दर्शाया गया है, यह कहना इनके गौरव को कम करना है। ब्राह्मणग्रन्थों का यज्ञ शब्द व्यापक और विस्तृत अर्थों को लिये हुये है, जिनमें ज्ञान-विज्ञान तथा अन्य सभी उपयोगी बातों का समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के १८ वें अध्याय में "यज्ञेन कल्पन्ताम्" (मं० २४, २५) द्वारा गणित को भी बतला दिया है। "मुद्गाश्च मसूराश्च यवाश्च" इत्यादि से पार्थिव पदार्थों को भी "यज्ञेन कल्पन्ताम्" (मं० १२) से ही प्रकट किया है ॥

अत्र यज्ञ शब्द का अर्थ यदि संकुचित होता तो इस १८ वें अध्याय का महत्त्व कुछ भी न होता। यही ब्राह्मण ग्रन्थों की उपयोगिता है कि उन्होंने उसको स्पष्ट किया, यथा "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" इससे 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' यज धातु के सब अर्थ आगये। इसी प्रकार आध्यात्मिक अर्थों को भी ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। इनमें सृष्टि के विकास पर भी पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला गया है, पर है यह सब आनुषङ्गिक। मुख्यतया इनका प्रतिपाद्य विषय यज्ञ ही है। अन्यथा विनियोग विधायक शास्त्र अपना विषय छोड़कर "नासदासीन्नो सदासीत्" (ऋ० १० । १२९ । १), जो न यजुर्वेद का मन्त्र है, न इसमें जिसका विषय आता है, उसकी व्याख्या करने के लिये क्यों प्रवृत्त होते (श० १० । ५ । ३ । २ पृ० ५३५) ? "आत्मा इदमग्र आसीत्" "सदेवेदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्य सृष्टि की गूढ़ पहेलियों को सुलझाते हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक शब्दों के अर्थ यौगिक प्रक्रिया के अनुसार करने का नैरुक्तसूत्र अर्थात् निर्वचन-विज्ञान भी हमें इन ब्राह्मणग्रन्थों से ही मिलता है। इनके भीतर सहस्रों वैदिक शब्दों का अर्थनिर्वचन और पर्याय सम्बन्ध प्रकट कर दिया गया है।[1] वेद के शब्दों के साथ सृष्टि का क्या सम्बन्ध है, इसका ब्राह्मण ग्रन्थ प्रतिपादन कर देते हैं। उदाहरणार्थ दैवत प्रक्रिया के अनुसार सृष्टि के तीन विभाग हैं, वे हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ। इन तीन शब्दों से यास्क ने इन स्थानों में रहने वाली सारी दिव्य शक्तियों का ग्रहण किया है और इसमें सृष्टि का विभाग अच्छी तरह से आ जाता है। इनके लिये शब्द का होना भी आवश्यक था, ऋषियों की प्रक्रिया के अनुसार तो "भूः भुवः स्वः" ये तीन शब्द इनके लिये पर्याप्त हैं। परन्तु यास्क ने "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" पर चत्वारि पद के अर्थ करते हुए बतलाया है कि जो वाक् पृथिवी में, वह अग्नि में, वह रथन्तर साम में; जो अन्तरिक्ष में, वह वायु में, वह वामदेव्य में; जो द्युलोक में वह आदित्य में, वह बृहती में (द्र० नि० १३ । ९)। इनमें तीनों पृथिवी, अन्तरिक्ष और आदित्य का रथन्तर वामदेव्य और बृहत् के साथ क्या सम्बन्ध है, इसको ब्राह्मण स्पष्ट करता है कि रथन्तरादि वाचक हैं और पृथिव्यादि वाच्य हैं। यथा—"अयं वै पृथिवी लोको रथन्तरम्" (ऐ० ८ । २), "उपहूतं रथन्तरं सह पृथिव्या" (श० १ । ८ । १ । १९) ऐसे वर्णन अनेक प्रकार से पाये जाते हैं ॥

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों से जहां सृष्टि आदि का ज्ञान होता है, वहां वेद के शब्दों की अनेकार्थता का भी बोध होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रक्रिया के अनुसार वेदों का अर्थ संकुचित नहीं रह जाता। ये किस मन्त्र से किस कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, उसका तथा उसके पात्र का वर्णन करते हैं। साथ में उस क्रिया का लाभ बतलाते हुए प्रतिज्ञात मन्त्र की यज्ञप्रक्रिया के साथ सङ्गति दर्शा देते हैं। ये तीनों बातें एक दूसरे से इतनी संश्लिष्ट हैं कि विश्लेषण करने में कठिनता होती है, परन्तु ये बातें किस पर निर्भर हैं, और इनके विस्तार का आधार क्या है, यह विचार उत्पन्न होने पर मानना पड़ेगा कि इनके आधार वेदमन्त्र हैं। फिर जब इनसे इतना विस्तार इन्होंने किया और सङ्गति लगाई, तो स्पष्ट ही ये उसके व्याख्यान हुए। इसी प्रकार सब ब्राह्मणग्रन्थ किन्हीं न किन्हीं वेदमन्त्रों के अंशों का व्याख्यान अवश्य करते हैं, किन्तु इनके समझने में कठिनाई इसलिये होती है कि वह प्रक्रिया

१. विदित रहे कि व्याकरण केवल शब्दनिर्वचन है। निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थ अर्थनिर्वचन हैं, अर्थात् अर्थ को लक्ष्य में रखकर निर्वचन किए गये हैं। व्याकरण और निरुक्त के भेद को न जाननेवाले पाश्चात्य वा उनके कुछ अनुगामी भारतीय इस रहस्य को न जानकर गोते खाते रहते हैं कि यास्क के किए निर्वचन बेहूदा और अयुक्त हैं। इस विषय का विशेषविवेचन आगे 'यास्क और वेदार्थ' प्रकरण के आरम्भ में देखें। पूरा विवेचन वेदवाणी वर्ष ९, सन् १९५६ के पृ० १३२ से १५२ में हमारे लेख में देखें ॥

लुप्त होचुकी है, परन्तु हैं वेद के व्याख्यान, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका। यही भाव महर्षि दयानन्दजी के ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेद का व्याख्यान ग्रन्थ कहने का है॥

निरुक्तकार यास्क मुनि ने भी यत्र तत्र "इति च ब्राह्मणम्" इत्यादि कह कर अपने अर्थ वा व्याख्यान की पुष्टि में ब्राह्मणग्रन्थों को उपस्थित किया है। इससे भी हमें ब्राह्मणग्रन्थों की उत्कृष्टता का ही परिचय मिलता है, यही कहना होगा॥

यहां पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ब्राह्मणग्रन्थों में वेदार्थ का निर्देश प्रायः मिलता है, जिसके अभी बहुत कुछ विस्तार और व्याख्यान की आवश्यकता है। यह होते हुये भी हम इन्हें वेद के भाष्य नहीं कह सकते, हां वेदार्थोपबृंहक कह सकते हैं। जो लोग इन ब्राह्मणग्रन्थों को **'विनियोजकं ब्राह्मणम्'** केवल विनियोजक मात्र मानते हैं (जिसका कारण ब्राह्मणग्रन्थों के आज तक उपलभ्यमान भाष्य वा टीकायें हैं), वे महानुभाव ब्राह्मणग्रन्थ वेदार्थ के विषय में **'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति'** के अनुसार कुछ सहायक नहीं, ऐसा मानते हैं। वर्त्तमान भाष्यों को देखते हुए और ब्राह्मणग्रन्थों पर विस्तृत प्रकाश के अभाव में अभी यह बात सर्वथा निराधार नहीं कही जा सकती। शतपथब्राह्मण में यजुर्वेद के कुछ अध्यायों की व्याख्या और जैमिन्युपनिषद् ब्राह्मण में आध्यात्मिक अर्थों पर पर्याप्त प्रकाश हमें मिलता है, शेष ब्राह्मणों में कहीं कहीं। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यान होते हुये भी वेदार्थ के निर्देश बताने वाले भले ही कहे जा सकते हैं, वेदार्थ के सीधे प्रतिपादक नहीं, यह बात सर्वथा ही अतथ्य हो, यह बात नहीं। इसमें कुछ अंश तक सत्यता अवश्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों का यह पक्ष भी विचारणीय अवश्य है। महर्षि दयानन्द अभिमत पक्ष हमने ऊपर दर्शाया है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेद के व्याख्यान रूप ग्रन्थ हैं। इसमें किसी को कुछ भी वक्तव्य नहीं रह जाता। परमात्मा ने चाहा तो हम इस विषय पर कालान्तर में पृथक् विस्तृत विचार उपस्थित करेंगे॥

आरण्यक-उपनिषद् और वेदार्थ

आरण्यक ग्रन्थ जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के ही एक भाग हैं, उनमें वानप्रस्थियों के कर्त्तव्य यज्ञादि कर्मों का उल्लेख है, जैसा कि आरण्यक नाम से ही स्पष्ट विदित होता है। उपनिषदें इन्हीं आरण्यकों का एक भाग हैं, जिनमें विशेष रूप से ब्रह्म का विचार किया गया है। इनमें वेदमन्त्रों के साक्षात् अर्थ उपलब्ध नहीं होते (जैमिन्युपनिषद् ब्राह्मण तथा अन्य कुछ स्थलों को छोड़कर)। कहीं २ प्रसङ्गतः किन्हीं मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ लिखा गया है, जो कि न होने के बराबर है। अर्थात् इनमें कतिपय मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक दिखाया गया है, प्रधानतया इन्होंने वेद के आध्यात्मिक अर्थ को गौण ही माना है, क्योंकि इनके काल में वेद प्रधानतया कर्मकाण्ड के ग्रन्थ माने जाने लगे थे। इसीका सङ्केत "यया तदक्षरमधिगम्यते" में मिलता है। अतः ये ग्रन्थ भी वेदार्थज्ञान में उपयोगी होते हुये भी साक्षात् वेदों के भाष्य नहीं कहे जा सकते, अर्थात् वेद के भाष्य नहीं हैं। यह ठीक है कि उपनिषदें अनेक स्थलों में ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा हमें वेद के आध्यात्मिक अर्थ का ज्ञान अधिक उत्कृष्टता से कराती हैं, चाहे वह इतना स्पष्ट न हो, जो सर्वसाधारण की समझ में आ सके॥

कल्पसूत्र और वेदार्थ

श्रौत और गृह्यसूत्रों में ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर ही मन्त्रों के विनियोग अपने २ विभागानुसार दर्शाये हैं, अर्थात् आध्वर्यव कर्म का प्रतिपादन कात्यायन श्रौत करेगा, तो आश्वलायन हौत्र कर्म का, लाट्यायन औद्गात्र कर्म को ही कहेगा। इसी प्रकार अन्य श्रौतों के विषय में समझना चाहिये। इनका काम केवल इतना ही है। गृह्यसूत्रों में भी तत्तत् मन्त्र से तत्तत् क्रिया का विधान किया गया है। श्रौत और गृह्य केवल इस अंश में वेदार्थ में

भले ही सहायक हो सकते हैं कि तत्तत् क्रिया और तत्तत् मन्त्र का परस्पर में कितना सम्बन्ध है, अर्थात् जहां तक दोनों की समानता दीख रही है, बस उतना अर्थ वेद का ये गृह्य और श्रौत सूत्र निर्देश कर रहे हैं, यही समझना चाहिये। धर्मसूत्र वैदिक आचार और व्यवहार का निरूपण करते हैं, यही इनका कार्य है। ऐसे तो महाभारत भी यत्र तत्र वेदार्थ का निर्देश करता है॥

वेदाङ्ग-उपाङ्ग तथा अन्य आर्षग्रन्थ और वेदार्थ

निरुक्त तथा व्याकरण के विषय में आगे पृथक् निरूपण करेंगे। शेष वेदाङ्ग वेदार्थ में अपने २ विद्या-सम्बन्ध से सहायक कहे जा सकते हैं। कल्प के विषय में ऊपर कहा जा चुका है। शिक्षा उच्चारण भेद से कहीं २ अर्थ का भेद दर्शाती है। छन्दःशास्त्र मन्त्र के पाठों का परिमाण वा अक्षर-गणना द्वारा वाक्यार्थ-बोध में सहायक है।

त्वम॑ग्ने य॒ज्ञानां॒ होता॒ विश्वे॑षां हि॒तः। दे॒वेभि॒र्मानु॑षे॒ जने॑॥ ऋ० ६। १६। १॥

इस मन्त्र का ऋक्सर्वानुक्रमणी में 'वर्धमाना गायत्री' (६+७+८) छन्द माना है। सामवेदीय निदान-सूत्र तथा उसके टीकाकार (८+५+८) पिपीलिकामध्या गायत्री मानते हैं। कारण इसमें केवल इतना ही है कि जब 'त्वमग्ने यज्ञानां' एक पाद मानें तो आगे 'होता विश्वेषां हितः' में सात अक्षर होते हैं। इस रीति से यह वर्धमाना गायत्री हो जाता है। जब 'त्वमग्ने यज्ञानां होता' इतना पाद माना जावे तो यह ८ अक्षर का पाद बन-कर, आगे ५ अक्षर का पाद रह जाता है, तब यह 'पिपीलिकामध्या गायत्री' छन्द बन जाता है। 'होता' पद के पूर्वान्वयी वा उत्तरान्वयी होने में अर्थ में अवश्य भेद पड़ता है, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म हो। इस प्रकार छन्दो-भेद से अर्थ भेद के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। छन्दोविषय में विस्तार से पृथक् लिखा जायगा॥

वेद में आये ज्योतिष्सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान को ज्योतिषशास्त्र दर्शाता हुआ ज्योतिर्विज्ञान द्वारा वेदार्थ में सहायक है। वेदभाष्य इन वेदाङ्गों में से (निरुक्त को छोड़कर) किसी को भी नहीं कहा जा सकता है। दर्शनशास्त्र भी, अपनी २ भिन्न २ विद्याओं के नियत अंशों वा विज्ञान द्वारा, वेदार्थ के समझने में उपाङ्गतया ही तो सहायक कहे जा सकते हैं। प्रमाणप्रमेयपदार्थविभाग, कार्यकारणप्रकृति का निरूपण, चित्तवृत्तिनिरोध, यज्ञ-यागादि द्वारा आत्म-कल्याण तथा ब्रह्मप्राप्ति के विविध उपायों के निरूपण द्वारा ही तो वेदार्थ में सहायक कहे जा सकते हैं। स्वयं सीधे तो वेदार्थ के प्रतिपादक नहीं कहे जा सकते॥

ऋषियों ने सीधा सरल वेदार्थ या वेदभाष्य क्यों नहीं किया?

यहां पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऋषि लोगों ने वेदमन्त्रों का सीधा सरल अर्थ, वा दूसरे शब्दों में वेदभाष्य, क्यों न कर दिया, जिससे प्रत्येक जिज्ञासु को वेदार्थ का यथार्थ बोध होजाता, किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित न होती॥

हमारा इसमें यह कहना है कि ऋषि लोग वेदभाष्य कर सकते थे, और एक से एक उत्कृष्ट भाष्य करते। पर उन्हें तो वेदभाष्य करना अभीष्ट ही न था। इसका मुख्य कारण यह है कि वेद 'सर्वज्ञानमयो हि सः'—सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है, वेद में सब सत्य विद्यायें हैं, यह ऋषि लोगों की निश्चित धारणा थी। किसी भी व्यक्ति को सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञान नहीं हो सकता। हां ज्ञान वा विद्या के अधिक से अधिक विभागों का विशेषज्ञ एक ऋषि वा आचार्य हो सकता है। हमारी इस बात का प्रमाण इसी से मिल जाता है कि[1] यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि-व्यास-जैमिनि आदि ऋषियों ने विद्या के एक २ विभाग को लेकर साक्षात् ज्ञान द्वारा संसार को उपदेश दिया। एक ही

१. इस पर आगे पृ० ५२ पं० १० से १७ तक देखें॥

ऋषि ने सब विद्याओं का पूर्ण ज्ञाता होने का दावा नहीं किया। जब एक व्यक्ति चाहे वह ऋषि हो या मुनि, आचार्य हो या बड़े से बड़ा विद्वान्, सब विषयों का ज्ञाता कदापि नहीं हो सकता, तो भला वह वेद का सम्पूर्ण अर्थ कर भी कैसे सकता है। इसीलिये ऋषि-मुनि वेदों के भाष्य न कर गये, क्योंकि वे समझते थे कि वेद के ज्ञान की इयत्ता नहीं हो सकती। यद्यपि वेद की इयत्ता (चार विभागों में) नियत है, पर उसके अर्थ की इयत्ता का अवधारण नहीं हो सकता। जैसे ईश्वरीय पदार्थ वायु-अग्नि-जल-विद्युत् आदि को मनुष्य के मस्तिष्क ने बहुत कुछ वश में किया है और उससे अपनी इच्छानुसार काम ले रहा है, पर ये पदार्थ सम्पूर्णतया मानव मस्तिष्क में कभी नहीं आ सकते, क्योंकि ये ईश्वरीय हैं। जब भौतिक पदार्थों का यह हाल है तो भला ईश्वरीय ज्ञान का तो कहना ही क्या, वह अल्पज्ञ मानव के वश में कैसे आ सकता है? जैसे हमारा शरीर परिमित है, इयत्ता वाला है, पर उसके अङ्ग मस्तिष्क में आने वाले विचार वा ज्ञान की इयत्ता का निर्धारण तो नहीं हो सकता॥

यास्क के निरुक्त में 'वा'[1] शब्द इसी बात का द्योतक है। यास्क निर्वचन करते समय जो 'वा' शब्द का प्रयोग प्रायः करता है, उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि यास्क को अपने ही कथन में सन्देह हो रहा है। निर्वचन-विद्या का यह विज्ञान सहज में प्रत्येक को समझ में नहीं आ सकता। यहां हम एक दृष्टान्त द्वारा इस बात को स्पष्ट करने का यत्न करते हैं—

मीमांसाभाष्य अ० ३ पा० ३ के सप्तम बलाबलाधिकरण में—"ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते। अत्र चिन्त्यते किमिन्द्रस्य गार्हपत्यस्य वोपस्थानं कर्त्तव्यमित्यनियम उत गार्हपत्यस्यैव॥.........यस्तु गार्हपत्यश्रवणाद्वेवार्थः प्रतीयते, स लिङ्गेन बलीयसा परित्यक्तो भवति। नासावुपस्थानेन सम्बध्यते। तदा हीन्द्रं गार्हपत्यशब्दोऽभिवदेदग्निसमीपं वा" (मी० शा० भा० पृ० ८२३, ८२८ पूना सं०)॥

यहाँ पर सिद्धान्त में उपर्युक्त वाक्य से गार्हपत्य अग्नि का ही उपस्थान होता है। यहां

कुदा चुन स्तुरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे (ऋ० ८।५१।७)॥

इस ऋचा का देवता इन्द्र है। ऐसी अवस्था में इन्द्र का अर्थ "गार्हपत्याग्नि" हो तभी तो विनियोजक वाक्य का अभीष्टार्थ सिद्ध हो सकता है, तभी गार्हपत्याग्नि का उपस्थान होना सम्भव है। अब इन्द्र से गार्हपत्याग्नि का अर्थ विना यौगिकवाद के कैसे लिया जा सकता है, क्योंकि यहां सत्यवसरे प्रसिद्धार्थ "इन्द्र" का त्याग और प्रकरणानुगुण होने से "अग्नि" अर्थ का ग्रहण विना यौगिकवाद के होगा ही कैसे?

तात्पर्य यह है कि मीमांसकों का सिद्धान्त है कि "गुणाद्वाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्य शास्त्रहेतुत्वात्" (मीमां० ३।२।४) गुणसंयोग से भी शब्द अर्थाभिधायक होता है, यह सर्वसाधारण नियम इस जैमिनीय सूत्र में बतलाया है। वह गुणसंयोग ऐश्वर्य को लेकर जिस प्रकार 'इदि' धातु से सम्पन्न हो रहा है, उसी प्रकार दीप्तिरूप गुण को लेकर 'इन्धी' धातु से भी सम्पन्न होता है॥

इसी कारण से "गुणवादस्तु" (मीमां० १।२।४७) इत्यादि स्थलों में भी गुण को लेकर शब्दार्थ का निश्चय होता है, ऐसा मीमांसाशास्त्र का सिद्धान्त है॥

अब यहां पाठक थोड़ा ध्यान से विचार करें कि जब हम यास्क के निर्वचनों को देखते हैं तो आपाततः एक साधारण व्यक्ति को वे व्यर्थ से प्रतीत होने लगते हैं, या उसके मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि यास्क को स्वयं सन्देह रहा कि कौन सी धातु से निर्वचन करूँ। हमारा यही उदाहरण अर्थात् 'इन्द्र' शब्द इसका पूरा समाधान कर देता है।

देखिये यास्क ने—निरु० १०।८ में—"इन्धे भूतानीति वा"।

ऐसी व्युत्पत्ति दर्शाई है। यही निर्वचन ब्राह्मणग्रन्थों (शतपथ ब्रा० १४।६।११।२) में लिखा है—"तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणेव"॥

1. इस विषय में आगे पृ० ५४ पं० २९ पर देखें॥

इसी प्रकार दशपादी उणादिवृत्ति ८।४६ में भी इन्ध धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई है—
"इन्धेर्दकारोऽन्त्यस्य निपात्यते। इन्धते इध्यते वा तेजोभिरिति इन्द्रः" ॥
(पृ० ३१६, सरस्वती भवन संस्करण)॥

इससे यास्क के निर्वचनविज्ञान का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाता है। यास्क इस विद्या के साक्षात्-कर्ता थे, इसी से उन्होंने वेदार्थ को बान्धा नहीं, क्योंकि "अनन्ता वै वेदाः" का वास्तविक अर्थ यही है कि वेदार्थ बान्धा नहीं जा सकता। यह है कारण जो ब्राह्मणकार-वेदाङ्ग-उपाङ्गों के बनाने वाले साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने वेद-भाष्यों का निर्माण न किया। ये कर नहीं सकते थे, या करने की आवश्यकता नहीं समझते थे, यह बात नहीं थी, अपितु पूर्णतया हो ही नहीं सकता, यह उनकी धारणा थी॥

इसी बात को लेकर तो वेङ्कटमाधव ऋग्भाष्यानुक्रमणी में कहता है—

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः ॥ पृ० ७४ ॥
तस्मान्नाल्पश्रुतैर्मन्दैः कार्यो वेदार्थनिर्णयः ॥ पृ० ७७ ॥
शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः।
यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी ॥ पृ० ७४ ॥

अर्थात्—आजकल के विद्वान् संहिता का चतुर्थांश जानते हैं। इसलिये अल्पश्रुतों को वेदार्थ का निर्णय नहीं करना चाहिये। शाकल्य, पाणिनि और यास्क, ये ऋग्वेद के अर्थों के ज्ञाता हैं, परन्तु ये भी यथाशक्ति अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, सब नहीं कहते॥

ऋषि दयानन्द के भाष्य में ही आपको यह विशेषता मिलेगी कि उन्होंने वेद के अर्थ को संकुचित नहीं किया, अपितु आप्त ऋषि-मुनियों की शैली के अनुसार व्यापक अर्थों का निर्देश अपने संस्कृतपदार्थ में किया है। अन्य सभी भाष्य इससे शून्य हैं। इसीलिये हम उसे नैरुक्तप्रक्रिया का वेदभाष्य कहते हैं। उसमें कहीं कहीं यास्क मुनि के दर्शाये पथ पर चलकर निरुक्त से भी अधिक निर्वचन किये हैं। यह इस भाष्य की अपूर्वता है, जिसे हर कोई नहीं समझ सकता॥

हम निरुक्तकार यास्कमुनि को (जिनके भाष्य उपलब्ध हैं उनमें) प्रथम वेदभाष्यकार मानते हैं। अतः यहां वेदार्थ के विषय में निरुक्तकार की धारणाओं का निरूपण संक्षेप से करते हैं—

यास्क और वेदार्थ

निरुक्त अर्थनिर्वचन शास्त्र है।

यास्क का वेद के अर्थ के साथ सीधा सम्बन्ध है, क्योंकि निरुक्त = निर्वचन शास्त्र है, जो अर्थ के आधार पर प्रवृत्त हुआ है, क्योंकि शब्द के आधार पर तो व्याकरण शास्त्र है ही, जो पृथक् और मुख्य वेदाङ्ग है। यदि निरुक्त भी शब्द के आधार पर ही निर्वचन करता, तो उसके पृथक् वेदाङ्ग की आवश्यकता ही क्या थी। अत एव निरुक्त शब्द के आधार पर ही नहीं, अपितु अर्थ के आधार पर निर्वचन विद्या प्रतिपादक शास्त्र है।

दूसरे शब्दों में व्याकरण शब्दनिर्वचन है, निरुक्त अर्थनिर्वचन शास्त्र है। यही दोनों का भेद है। इसे हम और अधिक स्पष्ट करते हैं—

(i) निरुक्त टीकाकार दुर्गाचार्य लिखता है—

"यस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं अर्थनिर्वचनं, व्याकरणं तु लक्षणप्रधानम्" (निरुक्त टी० दुर्ग १।१५)॥

अर्थात्—यह निरुक्त स्वतन्त्र विद्यास्थान, निर्वचनशास्त्र है। व्याकरण तो लक्षणप्रधान = शब्दप्रधान है (लक्षण का अर्थ होता है वाचक शब्द, लक्ष्य का अर्थ होता है वाच्य)॥

(ii) प्रपञ्च हृदय में—

"तान्यवयवप्रत्यवयवविभागपूर्वकं स्वरवर्णमात्रादिभेदेनार्थनिर्वचनाय निर्वचनानि"। (षडङ्ग प्रकरण पृ० २९ त्रिवेन्द्रम संस्करण)॥

अर्थात्—अवयव-प्रत्यवयव के विभागपूर्वक स्वर-वर्ण और मात्रादि के भेद से अर्थ के निर्वचन के लिये निरुक्तशास्त्र के निर्वचन हैं॥

(iii) निर्वचन शब्द का मुख्यार्थ वा पर्याय 'अन्वाख्यान' शब्द है॥

"निर्वचनं नाम अर्थस्यान्वाख्यानम्" (अन्नंभट्ट भाषिक सूत्र ३। ६ की व्याख्या में)॥

(iv) एक और प्रमाण भी स्वयं यास्क का है, जो बड़े ही महत्त्व का है—

"तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय"। यह स्थल निरुक्त में बार २ आता है। निरुक्तकार मन्त्र का अर्थ कर चुकते हैं तो कहते हैं—पूर्व प्रदर्शित अर्थ को अधिक स्पष्टता से दर्शाने के लिये उत्तरा (आगे वाली) ऋचा (मन्त्र) उपस्थित किया जाता है। अर्थ को लक्ष्य में रख कर ही यास्क भिन्न २ निर्वचन दर्शाते हैं, यह स्पष्ट है॥

(v) अब हम यास्क के निर्वचन प्रकरण का मुख्यस्थल भी पाठकों के समक्ष रखते हैं, जो ऊपर के प्रकरण समझ लेने पर सुगमता से समझ में आ जायगा। निरुक्तकार कहते हैं—

"तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि, यथार्थं निर्वक्तव्यानि"॥ (निरु० २। ७)॥

अर्थात्—यदि ये शब्द समानार्थक हों, तब उनका निर्वचन भी समान होगा, यदि भिन्न अर्थ वाले हैं, तो निर्वचन भी भिन्न होंगे। अर्थ का अनुसरण करके ही निर्वचन करना चाहिये. यहाँ समानकर्माणि का अर्थ है समानार्थानि॥

कितना स्पष्ट लेख है। इसीलिये निरुक्तकार ने इस प्रकरण के आरम्भ में **'अथ निर्वचनम्'** कह कर **'अर्थनित्यः परीक्षेत'** तथा **'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्'** ऐसा कहा। अर्थात् जहाँ प्रकृतिप्रत्यय का बोध न हो रहा हो, अर्थ ठीक न बैठे, वहाँ अर्थ के अनुसार निर्वचन करना चाहिये और इस प्रकार उपर्युक्त स्थिति में अर्थानुसार विभक्ति का परिवर्त्तन भी कर लेना चाहिये॥

क्या यास्क के निर्वचन बेहूदा हैं?

विदित रहे कि निरुक्त ४, ५, ६, अध्याय नैगमकाण्ड है। अनवगतसंस्कार शब्दों के निर्वचन का प्रकरण है, अर्थात् यह वह प्रकरण है, जिसमें प्रकृति-प्रत्यय का स्पष्टतया कुछ भी बोध नहीं होता। अर्थ-प्रकरणादि के आधार पर निर्वचन करके अर्थ दर्शाया गया है। जब यास्क ने स्वयं कह दिया कि इस प्रकरण में प्रकृति-प्रत्यय का बोध नहीं होता, और अर्थ के आधार पर निर्वचन किये हैं, तो उन निर्वचनों को बेहूदा- पागलपन-झक आदि कहना अपनी मूर्खता प्रकट करना है॥

चतुर्थ अध्याय के उपक्रम में अर्थ-निर्वचन के सिद्धान्त का प्रतिपादन निरुक्तकार इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

"तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः, अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्" का यही अर्थ है कि यहां से आगे अनेकार्थ वाले एक शब्दों का निरूपण करेंगे, जिनमें कि संस्कार (प्रकृति प्रत्यय का भेद) अवगत (ज्ञात) नहीं हो रहा। दूसरे शब्दों में जिनमें व्याकरणानुसार प्रकृति प्रत्यय का ज्ञान स्पष्टतया विदित नहीं हो रहा, उनका हम (निरुक्तकार यास्क) निर्वचन करेंगे। इस सरल और सीधी सी, पर मौलिक बात को न समझ कर पाश्चात्य स्कालरों, वा उनके उच्छिष्टभोजी भारतीय रिसर्चस्कालरों ने, यास्क के निर्वचनों को बेहूदा तक कह डाला, जैसा कि काशीनाथ राजवाड़े ने अपने निरुक्त (पूना भण्डारकर इंस्टीच्यूट संस्करण) की भूमिका में लिखा है—

(१) भूमिका पृ० ४०-४१—The Nirukta method is a strange one, it hardly deserves the name of शास्त्र or science.................it is not a Science, but travesty of Science...........I venture to say that the Nirukta method of derivation is absurd and yet it has held its ground to this day...........Numbers of Etymologies in the Nirukta seem senseless......derivations are really inventions." (पृ० ४१ से ४२) ॥

अर्थात्—"निरुक्त का ढंग इतना विचित्र है, कि इसे शास्त्र=विज्ञान वा विद्यास्थान का नाम नहीं दिया जा सकता............यह निरुक्त विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान की हँसी है............निरुक्त का निर्वचन का प्रकार एक भ्रममात्र है या मानवमस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है............मैं साहस से कह सकता हूँ कि निरुक्त की निर्वचनविधि बेहूदा (मूर्खतापूर्ण) है, और फिर भी यह आज तक अपना स्थान बनाये हुये है।.........निरुक्त में बहुत संख्या में निर्वचन मूर्खतापूर्ण हैं, क्योंकि वे निर्वचन के गलत सिद्धान्त पर आश्रित हैं।............इस सिद्धान्त के आश्रय से बहुत से निर्वचन घड़े गये हैं॥"

इन विचारों का खण्डन डा० भण्डारकर, डा० स्कोल्ड, डा० लक्ष्मण स्वरूप ने किया है (डा० लक्ष्मण स्वरूप निरुक्तभूमिका पृ० ५६ से ५७)। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने यद्यपि काशीनाथ राजवाड़े का प्रतिवाद किया है, पर स्वयं २२५ निर्वचनों को दुर्बोध बतलाया। डा० वर्मा का लेख इस प्रकार है—

"Yaska was so much of an etymologist that his craze for etymology overpowered, enslaved and crushed his imagination, for poverty of his imagination is remarkable. Owing to this serious defect, he is driven, not only to offer supperfluous and unnecessary, but also loose, unsound and even wild etymologies. (Etymology of yask पृ० ८) ॥

अर्थात्—"यास्क इस प्रकार का अतिमात्रा निर्वचन कर्त्ता था, कि निर्वचन करने में उसके पागलपन ने उसकी" विचारशक्ति को, कल्पनाशक्ति के कारण परे फेंक दिया था। यह बात ध्यान देने योग्य है। उसकी इसी भारी कमी के कारण उसके निर्वचन न केवल व्यर्थ और अनावश्यक हैं, अपितु शिथिल, दोषपूर्ण और भद्दे भी हैं" ॥

पाश्चात्यों के अनुगामी ये लोग इसीलिये भ्रान्त हैं कि इन्हें यास्क की प्रतिज्ञा पर आस्था नहीं। वह उनके मस्तिष्क में घुसती नहीं कि इस प्रकरण (निरुक्त अ० ४ से ६ तक) में यास्क ने उन्हीं शब्दों का निर्वचन दर्शाया है जो अनवगत संस्कार हैं अर्थात् जिनका प्रकृति प्रत्यय नहीं दिखाई देता॥ इसी लिये यास्क ने इनके निर्वचन अर्थ के आधार पर किये। जब यास्क ने स्वयं आरम्भ में कह दिया कि इनका प्रकृति प्रत्यय विदित नहीं हो रहा, तब यास्क पर आक्षेप करना अपनी अज्ञता ही प्रकट करना है। यह भी विदित रहे कि यास्क के ४, ५, ६ अध्यायों को छोड़कर अन्य अध्यायों के निर्वचनों पर इन लोगों ने आक्षेप नहीं उठाये। इसमें रहस्य यही है जो इनकी समझ में नहीं आया[1]। इसी से निरुक्त का 'वा' संशयबोधक है, इस शंका का उत्तर भी आ जाता है। आगे हम वेदार्थ के विषय में यास्क के अभिमत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं —

यास्क ने यद्यपि किसी भी वेद का भाष्य नहीं किया। पर उसने वेद के अर्थ करने की शैली बहुत ही उत्कृष्ट रीति से दर्शाई है। इसीलिये निरुक्त को वेदाङ्गत्व की प्राप्ति हुई। इसकी भूमिका में यास्क ने इस ग्रन्थ के बनाने के प्रयोजनों का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है—"इसके बिना न पदविभाग हो सकता है, न अर्थ का ज्ञान, मन्त्र के देवता का ज्ञान भी इसके द्वारा ही होता है" इत्यादि अनेक प्रयोजन बताये॥

यह ठीक है कि यास्क ने हमें वेदार्थ की जो शैली बतलाई, वह उससे पूर्व शाकपूणि आदि अनेक नैरुक्ताचार्यों द्वारा आविष्कृत होकर यास्क के समय में परिमार्जित वा पूर्ण हुई। निरुक्त में हमें वेद का अर्थ अपने स्वाभाविक रूप में बहुत उत्तम रीति से मिलता है। अब हम यास्काभिमत वेदार्थ के सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं—

यास्क के वेदार्थ के सिद्धान्त

(१) "पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" (निरु० १।२), "नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति" (निरु० १।१५), तथा "ऋषिर्दर्शनात् ,स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः" (निरु० २।११)

१. इस विषय में पाठक वेदवाणी (काशी) का वेदाङ्क वर्ष ९ सन् १९५६ का वेदाङ्क पृ० १३५ से १४९ में हमारा लेख देखें।

इन वचनों के अनुसार यास्क वेद को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। निरुक्त में जितना भी अर्थ वेदमन्त्रों का मिलता है, वह पूर्वोक्त सिद्धान्तों के विपरीत कदापि नहीं हो सकता, इसी परिणाम पर प्रत्येक को पहुँचना होगा ॥

(२) प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधियज्ञिक इन तीनों प्रक्रियाओं में होता है, जिसके विषय में उपलब्ध होनेवाले वर्त्तमान वेदभाष्यकारों में सबसे प्रथम वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी ने लिखा है कि (यास्क के मत में प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीन प्रकार का होता है)। तद्यथा—

"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' (निरु० १। २०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्"॥
स्कन्द निरु० टी० ७। ५ भा० ३ पृ० ३६, ३७॥

इसलिये जो भाष्य तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ नहीं बताता, यास्क के मत में वह ग्राह्य नहीं हो सकता ॥

(३) "अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते" (निरु० १। १५) इससे यास्क ने दर्शाया कि वेद-मन्त्रों का अर्थ निरुक्त वा निर्वचनविद्या के बिना कदापि ठीक २ नहीं समझा जा सकता। अतः हमें निर्वचन के आधार पर मन्त्र के वास्तविक अर्थ तक पहुँचना होगा, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं। त्रिविध निर्वचन मन्त्रगत पदों के व्यापक अर्थों के द्योतक हैं। निरुक्त से भिन्न निर्वचन भी हो सकते हैं, यह बात हमें निरुक्त से स्पष्ट विदित होती है कि यास्क के समस्त निर्वचन तत्तद् (अवगतसंस्कार तथा अनवगतसंस्कार) पदों के वास्तविक अर्थों को लक्ष्य में रख कर ही किये गये हैं, वेदार्थज्ञान के लिये यह बड़ी भारी सहायता है ॥

(४) साथ ही यास्क ने यह भी बता दिया कि—

"नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च"। निरु० १। १२ ॥

अर्थात्—वेद के सब शब्द यौगिक हैं, प्रकृति-प्रत्यय के योग से अपना अर्थ बताते हैं, यह सिद्धान्त यास्क ने निश्चित कर दिया। वेदार्थ का यह सिद्धान्त समस्त वेद में अत्यन्त सहायक है, उसके गम्भीर वा व्यापक अर्थ का परम पोषक है। इसके बिना वेद का व्यापक अर्थ जाना ही नहीं जा सकता। इस विषय में केवल सिद्धान्त ही बताया हो, सो बात नहीं, इस सिद्धान्त में अनेक पूर्वपक्ष उठा कर, उन सब का विस्तृत हृदयग्राही समाधान भी उपस्थित किया है। यास्क ने तो 'इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव' (निरु० ४। १३) इत्यादि वचनों से लौकिक शब्दों के भी व्यापक अर्थों का निर्देश इस यौगिकवाद के आश्रय पर ही किया है ॥

'नाम सब धातुज हैं' यास्क का यह सिद्धान्त, व्याकरण और निर्वचन-विद्या के न जानने वाले पाश्चात्यों वा उनके अनुगामी स्कालर कहे जाने वाले लोगों की समझ में नहीं आता। आवे भी कैसे, जब व्याकरण ही नहीं आता, मूल ही दृढ़ नहीं तो समझ में आवे भी कैसे! कोरे वैयाकरणों को यह बात इसलिये समझ में नहीं आ सकती, क्योंकि वे निरुक्त नहीं जानते। उनको यह भी पता नहीं कि जब व्याकरण एक वेदाङ्ग है, शब्द का निर्वचन तो बता ही देगा, फिर नये वेदाङ्ग निर्वचन-शास्त्र की पृथक् क्या आवश्यकता है? किसी विज्ञ गुरु से पढ़े हों तो पता लगे। रट कर शास्त्री आचार्य का एम० ए० पास कर लिया, तो उस से क्या होता है, निरुक्त समझ में कैसे आ सकता है॥

(५) "बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति" (महाभाष्य १। ३। १ पृ० १६४) यह महाभाष्यकार पतञ्जलिमुनि का मत है, जो पाणिनि के धातुपाठ से भी सिद्ध है। "कुर्द खुर्द गुर्द गुद क्रीडायामेव" में 'एव' कहने से धातुपाठ में पठित अर्थों को छोड़ कर धातुओं के अन्य भी अर्थ होते हैं, यह पाणिनि के मत से सिद्ध हो रहा है। धातुपाठ पर लिखने वाले सभी विद्वानों ने धातुओं का अनेकार्थत्व माना है ॥[1]

यास्कमुनि भी धातुओं की अनेकार्थता को मानते हैं जैसा कि—

(क) 'मृड सुखने' 'मृड हिंसायाम्' (तुदा०), 'मृड सुखे च' (क्र्या०) ऐसा धातुपाठ में है। निरुक्त

१. इस विषय का विशद विवेचन आगे 'धातुओं का अनेकार्थत्व' प्रकरण में देखें ॥

में यह धातु 'मृडतिर्दानकर्मा' (अ० १० । १५), 'मृडयतिरुपदयाकर्मा, पूजाकर्मा वा' (निरु० अ० १० । १६) इत्यादि भिन्न अर्थों में लिखी हैं ॥

(ख) 'विध विधाने' (तुदा०) ऐसा धातुपाठ में है, 'विधतिर्दानकर्मा' (निरु० अ० १० । २३) ऐसा निरुक्त में लिखा है ॥

(ग) 'रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु, रिह इत्येके' (तुदा०) ऐसा धातुपाठ में है, निरुक्त में 'रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा' (निरु० अ० १० । ३९) लिखा है ॥

(घ) 'तक्ष तनूकरणे' (भ्वा०), 'तक्ष त्वचने' (भ्वा०) धातुपाठ में है । निरुक्त (४ । १९) में 'तक्षति' का अर्थ 'करोतिकर्मा' लिखा है ।

इत्यादि अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । वेदार्थ में सब धातुओं का अनेकार्थक होना उसके परम व्यापकत्व का बोधक है । इसको जाने विना यथार्थ वेदार्थ का दर्शन कदापि नहीं हो सकता ॥

(६) यास्क वेद में अनित्य अर्थात् व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं मानते । "उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति" (निरु० २ । १६), तथा "ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" (निरु० १० । १० । ४६) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान के रूप में कहने की प्रीति होती है, न कि कोई इतिहास वेद में है । औपचारिक वा आलङ्कारिक वर्णन वेदों में है, ऐसा यास्क मानते हैं । इसी बात को—

(क) निरु० स्कन्द टी० भा० २ पृ० ७८ में कहा है—"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या । एष शास्त्रे सिद्धान्तः ।···औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः । परमार्थेन नित्यपक्ष इति सिद्धम्" ॥

अर्थात्—इसी प्रकार जिन जिन मन्त्रों में आख्यान, इतिहास का वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की यजमानपरक, अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये । यह निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त है । मन्त्रों में इतिहास, आख्यान का सिद्धान्त औपचारिक अर्थात् गौण है, वास्तव में तो नित्यपक्ष ही मन्त्रों का विषय है ॥

(ख) निरुक्तसमुच्चय पृ० ७१—"औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात् । परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः" ॥

"मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है, क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जावेगा । परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही ठीक है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है" ॥

(ग) निरु० १० । २७ दुर्गाचार्य टी० पृ० ७४४—"इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण यः कश्चिद् आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थ आख्यायते दिष्ट्युदितावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते । स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः, तदर्थप्रतिपत्तृणामुपदेशपरत्वात्" ॥

अर्थात्—"जो कोई वर्णन आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अर्थ–ज्ञान के प्रकाश के लिये प्रसिद्ध किया जाता है, वह इतिहास कहाता है । सो यह सब प्रकार का इतिहास निःसंशय नित्य तथा अविवक्षितस्वार्थ होता है, अर्थात् मुख्यता से इतिहास अर्थ को नहीं कहता, क्योंकि वह केवल उस अर्थ को जानने वालों के लिये उपदेश की दृष्टि से होता है (वास्तव में वह कोई इतिहास नहीं होता") ॥

यहां हमारे उपर्युक्त तीनों उद्धरणों के देने का यह प्रयोजन है कि विज्ञ पाठक स्पष्टतया देख सकते हैं कि इतिहास विषय में निरुक्तकार का क्या सिद्धान्त है और निरुक्त के पश्चाद्वर्ती नैरुक्त आचार्यों ने भी 'यास्क का यही सिद्धान्त है' इस बात को बहुत ही स्पष्ट रीति से माना है, उनका हेतु भी स्पष्ट ही है । यतः यास्क वेद को अपौरुषेय तथा नित्य मानते हैं, अतः यास्क वेद में इतिहास कभी नहीं मान सकते । इसी सिद्धान्त को हम ऋषि

दयानन्द के भाष्य में यथावत् रूप में पाते हैं। ऐसा सिद्धान्त मानने वाले भाष्यकार भी (ऋषि दयानन्द को छोड़ कर) अपने वेदभाष्य में इस नियम वा सिद्धान्त का परिपालन नहीं कर सके ॥[1]

(७) यास्क अर्थ के पीछे विभक्ति वा स्वर को मानता है। 'अर्थनित्यः परीक्षेत' (निरु० २।१) 'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (निरु० २।१), 'कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्, दृष्टव्ययं तु भवति' (निरु० १।८) इत्यादि में स्पष्ट विभक्ति तथा स्वर का व्यत्यय माना है। अर्थ की प्रधानता यास्क का सिद्धान्त है। वेदार्थ की गम्भीरता कहां तक है, यह हमें इन उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है॥

(८) यास्क पदपाठ के पीछे अर्थ को नहीं बांधते, जैसा कि कई लोग भ्रमवश ऐसा समझते हैं। मासकृत् और मा सकृत् (निरु० ५।२१) आदि दो प्रकार का पदविभाग करना हमारी इस धारणा में प्रमाण है। ये ७, ८ दोनों बातें हमें दयानन्दभाष्य में बहुत उत्तम रीति से मिलती हैं॥

(९) अर्थ की प्रधानता के कारण यास्क मन्त्रों के अर्थों में व्यत्यय को स्पष्ट मानता है। जैसे—'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्' (निरु० २।१) अर्थात्—अर्थ के अनुकूल विभक्ति का परिवर्तन सदा करना चाहिये। तथा निरु० ६।१ में "आशुशुक्षणिः" पद को प्रथमान्त होते हुए यास्क ने "पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा" यह कह कर मनसा वाचा ही नहीं, अपितु कर्मणा भी व्यत्यय को स्वीकार किया है॥

इस व्यत्यय के विषय में ऋषि दयानन्द पर आक्षेप करनेवाले अनार्षग्रन्थों के पृष्ठपोषक कई एक महानुभाव इतना घबराते हैं कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। कोई "बाऊला छन्दसि" बन जाते हैं, तो कोई "बहुलं छन्दसि" विषय के उदाहरणों का परिगणन करने का अभिमान दर्शाने लगते हैं, जिसमें वे कभी सफल नहीं हो सकते, चाहे सारी आयु लगे रहें, तो भी अन्त नहीं पा सकते॥

वेदार्थ की प्रक्रिया का यथार्थ बोध न होने से ये सब अज्ञान घुसे हैं, आर्षज्ञान तथा गुरुपरम्परा से पढ़े बिना यथार्थज्ञान हो भी कैसे सकता है। कई एक महानुभाव कहते हैं कि यहां स्वर ऐसा है, इसलिये अर्थ ऐसा ही होगा। भला ये क्या जानें ऋषियों के अभिप्रायों को। जिस बात को पाणिनि-पतञ्जलि-यास्क जैसे वेदपारदर्शी आप्त ऋषि मुनि कहें, वह बात कैसे अमाननीय हो सकती है॥

व्यत्यय तभी करना होता है, जब वेद के गम्भीर अर्थ के मार्ग में विभक्ति वा वचन की बाधा उपस्थित हो। तभी तो यास्क ने कहा 'अर्थनित्यः परीक्षेत'। व्यत्यय का सिद्धान्त दयानन्दभाष्य का एक महान् भूषण है॥

(१०) यास्क मन्त्र में आये पद को ही देवता नहीं मानते, अपितु मन्त्र में आये पद के अर्थ को भी देवता मानते हैं। देखो निरु० ९।११ में 'वनस्पति' के अर्थ 'रथ' को देवता माना है। यास्क का सिद्धान्त है कि केवल लिङ्ग अर्थात् चिह्न को देख कर देवता नहीं जाना जा सकता, देखो निरु० १।१७॥

"एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते" (निरु० ७।४) से यास्क ब्रह्म को वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानता है। 'अग्नि', 'वायु' आदि सब उसके गुणभेद से नाम हैं॥

(११) विनियोग को निरुक्तकार अर्थानुसारी मानते हैं। जिस मन्त्र का जो अर्थ होगा, तदनुसार ही वह मन्त्र विनियुक्त होगा, अन्यथा वह विनियोग अयुक्त माना जायगा, देखो निरु० १।१६॥

इन उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा हमने वेदार्थ के मौलिक सिद्धन्तों के विषय में यास्क का मत अतिसंक्षेप से निर्देशमात्र दिया है। यह है यास्क का वेदार्थ। ठीक यही सिद्धान्त ऋषि दयानन्द का है। दयानन्दभाष्य उपर्युक्तसिद्धान्त के आधार पर ही किया हुआ है और ठीक इसके विपरीत आर्षप्रक्रिया से अनभिज्ञ संस्कृत वा अंग्रेजी के आजकल के विद्वान् कहे जाने वालों का। यास्क के वेदार्थ के ये सिद्धान्त हमें दयानन्दभाष्य में सम्पूर्णता से मिलते हैं। यास्क के इतने प्रमाण देने का हमारा अभिप्राय यह है कि वेद के भाष्यकर्त्ता वा भाष्यशैली बताने वाले

१. 'वेद में इतिहास' विषय बहुत विस्तृत है। विशद विवेचन तो पृथक् ग्रन्थ का विषय है। हां कुछ साधारण विवेचन आगे 'वेद में इतिहास' प्रकरण में देखें॥

यास्क ने वेद के अर्थ को जैसा समझा, वैसा पीछे के लोग नहीं समझ सके। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य के नमूने के अङ्क के प्रथम मन्त्र के भाष्य के अन्त में लिखा है—

"कश्चिद् ब्रूयात्—सायणाचार्यादिभिर्निरुक्तादिप्रामाण्ययुक्तं भाष्यं विहितं कथं दोषवदिति? अत्रोच्यते—निरुक्तादिवचनानि तु लिखितानि, परन्तु तानि तद्वचनाद् विरुध्यन्त एव" ॥ (पृ० ६)॥

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यास्क ने अपने निरुक्त में 'इति च ब्राह्मणम्' आदि लिख कर अपने इन सब सिद्धान्तों का आधार ब्राह्मण-ग्रन्थों को माना है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार वा निर्देशों से ही यास्क ने निरुक्त में इतने निर्वचनों की भरमार की है, अर्थात् यास्क के वेदार्थ का मुख्य आधार ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, यह हमारा कहना है॥

यहां पर पाठक यह भी देखें कि निरुक्तकार के उपर्युक्त सिद्धान्त, जो हमने निदर्शन मात्र ही दिखाये हैं, इनका पूर्व (पृ० ४३–४५) दिखाई गई वेदार्थ की कसौटियों से कहां तक समन्वय हो रहा है! इस विषय में हमारा यही कहना है कि पूर्वोक्त दस कसौटियों के विपरीत हमें यास्क का वेदार्थ कहीं भी नहीं मिलता। इतना ही नहीं अपितु वेद को अपौरुषेय, उसकी आनुपूर्वी को नित्य मानकर वास्तव में पूर्वोक्त दस कसौटियों का मूलभूत सिद्धान्त तो मान ही लिया गया है। इतिहासवाद-यौगिकवाद-त्रिविधप्रक्रिया 'इति च ब्राह्मणम्' 'आप्त ऋषियों के आधार' इत्यादि बातें उन कसौटियों के साथ सीधी समन्वित हैं ही। शेष बातों में भी यास्क के वेदार्थ से हमें निर्देश अवश्य मिलते हैं॥

यास्क के वेदार्थ का स्वरूप क्या था, यह इस ग्रन्थ के गम्भीर अध्ययन से विज्ञ पाठकों को स्वयं ज्ञात हो सकता है। यहां हमने विवशतः अतिसंक्षेप से ही कुछ लिखा है[1]॥

व्याकरण और वेदार्थ

यद्यपि यास्क से पूर्व भी व्याकरण थे। पर हम पाणिनि व्याकरण के विचार से लिखते हैं। यद्यपि व्याकरण-शास्त्र वेद का भाष्य वा व्याख्यान नहीं, तथापि महाभाष्यकार के दर्शाये व्याकरणाध्ययन के १८ प्रयोजन स्पष्ट ही वेदार्थ के लिये व्याकरण-शास्त्र की परमोपयोगिता का निर्देश करते हैं। 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्' 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति' (महाभाष्ये पस्पशाह्निके) इत्यादि महाभाष्यकार के वचनों से यही सिद्ध होता है कि वेदार्थ जानने के लिये सब से प्रथम और सब से मुख्य व्याकरण की ही आवश्यकता है। जब कि यास्क और पतञ्जलि के मत में सब वैदिक शब्द यौगिक हैं, प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध से अर्थ बताते हैं। तब प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध का ज्ञान भला बिना व्याकरण के कैसे हो सकता है! अतः वेदार्थ के लिये व्याकरण तो अनिवार्य है। यदि स्वयं व्याकरणज्ञान से रहित व्याकरण-शास्त्र को वेदार्थज्ञान में अनावश्यक बतावें तो यही कहना पड़ेगा 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' (निरु० १। १६)। यास्क ने भी वैयाकरण को ही निरुक्त का अधिकारी माना है (निरु० २। ३)॥

[2]महाभाष्यकार पतञ्जलि और भगवान् पाणिनि वेद को अपौरुषेय तथा नित्यानुपूर्वीवाला मानते हैं, अतः ये भी हमारी (पृ० ४३–४५) दर्शाई वेदार्थ की कसौटियों के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुकूल हैं, यह स्पष्ट है॥

---

१. इस विषय में जो सज्जन अधिक देखना चाहें, वह मेरे बनाये 'वेद और निरुक्त' और 'निरुक्तकार और वेद में इतिहास' इन लघु ग्रन्थों में देख सकते हैं। जो पंजाब यूनिवर्सिटी के ओरियण्टल मैगज़ीन में छप चुके हैं। अब "रामलाल कपूर ट्रस्ट गुरुबाजार-अमृतसर (पंजाब)" से मिल सकते हैं।

२. विदित रहे कि महाभाष्यकार ने पस्पशाह्निक में प्रसङ्गतः कुछ मन्त्रों के अर्थ किये हैं। आगे भी कहीं कहीं अर्थ पर प्रकाश डाला है॥

सायण से पूर्ववर्ती वेद-भाष्यकार और वेदार्थ

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि सायण से पूर्व उपलब्ध होने वाले वेदभाष्यों तथा सायण के भाष्य में मौलिक भेद बहुत अधिक नहीं। जैसे सायणाचार्य याज्ञिकवाद तक ही सीमित रहा, वहां इसके पूर्ववर्ती भाष्यकार भी प्रायः सभी, न्यूनाधिकता को लिये हुए, इसी याज्ञिकवाद की कीली (खूंटे) के चारों ओर ही घूमते रहे। याज्ञिकवाद की रूढ़ि से कोई नहीं बच पाया। बात तो सारी यह है कि बहुत समय से ही, वेदार्थ वास्तव में बहुत कुछ संकुचितरूप धारण करता गया। इन सब का परिणाम यही हुआ कि वेदार्थ याज्ञिकवाद तक ही सीमित होगया। परन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि जितना २ पुराना वैदिक साहित्य हमें मिलता है, उतनी २ पुरानी वेदार्थ की परम्परा हमें अधिक सुस्पष्ट मिल रही है। इस समय हमें निम्न प्राचीन व्याख्याताओं के वेदार्थ मिल रहे हैं—

(१) स्कन्दस्वामी (संवत् ६८७ वि०) ॥
(२) दुर्ग (निरुक्त टीका में) ॥
(३) उद्गीथ (संवत् ६८७ वि०) ॥
(४) हरिस्वामी (शतपथ ब्राह्मणभाष्य में) ॥
(५) उवट (यजुर्वेद भाष्य) ॥
(६) वररुचि (निरुक्तसमुच्चय में) ॥
(७) भट्टभास्कर (तै० सं० तथा तै० ब्रा० भाष्य) ॥
(८) वेङ्कटमाधव (ऋग्भाष्य) ॥
(९) आत्मानन्द (अस्यवामीयभाष्य में) ॥
(१०) आनन्दतीर्थ (ऋग्वेद ४० सूक्त का भाष्य) जयतीर्थ-टीका तथा नरसिंह यति की छलारी टीका ॥
(११) शत्रुघ्न (मन्त्रार्थदीपिका में) ॥
(१२) गुणविष्णु (छान्दोग्यमन्त्रभाष्य) ॥
(१३) माधव (सामवेदभाष्य) ॥
(१४) भरतस्वामी "
(१५) देवपाल (लौगाक्षिगृह्यभाष्य में) ॥
(१६) आनन्दबोधादि (काण्वशाखा) ॥
(१७) सायण (ऋक्-साम, अथर्व तथा काण्वभाष्य)

सायण से पूर्ववर्ती इन १६–१७ व्याख्याताओं के वेदार्थ हमें मिल रहे हैं। इनके वेदार्थ का विवेचन हम सामान्यतः उपस्थित करते हैं—

आचार्य स्कन्दस्वामी-दुर्गाचार्य तथा वेदार्थ

सब से पूर्व हम उपलब्ध होने वाले वेदभाष्यकारों में प्रथम ऋग्वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी तथा निरुक्त के टीकाकार आचार्य दुर्ग को लेते हैं। इन दोनों आचार्यों की निरुक्त पर टीकायें मिलती हैं। इतने से ही पाठक समझ सकते हैं, कि उन्होंने वेदार्थ पर कितना परिश्रम किया होगा, क्योंकि निरुक्त वेदार्थ-प्रक्रिया का मुख्य ग्रन्थ है।

(१) वेदार्थ की मूलभूत प्रक्रिया—सब मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं अर्थात् आध्यात्मिक-आधिदैविक तथा आधिभौतिक—में होता है, यह यास्क का सिद्धान्त है, यह हम विवरण में पृ० २१,३२ पर तथा विवरण की इसी भूमिका के पृ० ५५ पर दर्शा चुके हैं। स्कन्द के पूर्वोक्त वचन से यह बात सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट है कि यास्क प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीन प्रकार का मानते हैं। स्कन्द ने निरु० टी० भा० २ पृ० २६३, २६४ में 'अदितिः' का आध्यात्मिक पक्ष में 'प्रकृति' परक व्याख्यान किया है ॥

इस त्रिविधप्रक्रिया के विषय में आचार्य स्कन्दस्वामी के पूर्वोक्त (पृ० ५५) लेख को पढ़ने के पश्चात् जब हम दुर्गाचार्य की निरुक्तटीका को देखते हैं तो हमें वह इस विषय में तथा अन्य कई विषयों में बहुत ही स्पष्ट प्रतीत होती है, तद्यथा—

(क) "तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाऽश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति" ॥

"तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते । क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम् । तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रया सर्वे एव ते योज्या नात्रापराधोऽस्ति ॥" (निरु० २ । ८ दुर्ग० टी० १२६, द्वितीय संस्करण) ॥

अर्थात्—विनियोगभेद से मन्त्र का भिन्न २ अर्थ होगा । सो ये मन्त्रप्रवक्ता के अभिप्राय-भेद से भिन्नता को प्राप्त हो जाते हैं । अमुक मन्त्र का अर्थ इतना ही है, इसकी सीमा नहीं लगाई जा सकती । ये मन्त्र महान् अर्थों से युक्त हैं, अत्यन्त ही दुष्परिज्ञान, बड़े ही परिश्रम, विद्या तथा योगादि से जाने जा सकते हैं । जैसे सवार २ के भेद से घोड़ा अच्छा और अतीव अच्छा चलने लगता है । इसी प्रकार वक्ता जितना अधिक योग्य और तपस्वी होगा, उसके दर्शाये वेदार्थ से भी उतने ही अधिक साधु और साधुतर अर्थों का प्रकाश होगा । इस प्रकार निरुक्त शास्त्र में लक्षणोद्देशमात्र (लक्षणों को दर्शाने के लिये सङ्केत मात्र) के लिये ही एक २ शब्द का निर्वचन दिखाया गया है । कहीं २ आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधियज्ञ अर्थों का बोध कराने के लिये शब्दों का निर्वचन दिखाया गया है । अतः इन मन्त्रों में जितने भी अर्थ उपपन्न (युक्त) हो सकें, चाहे वे आधिदैविक, आध्यात्मिक आधियज्ञादि हों, उन सबकी ही योजना कर लेनी चाहिये । इसमें किसी प्रकार का भी दोष नहीं ॥

दुर्गाचार्य का यह लेख कितना स्पष्ट है ॥

यह भी विदित रहे कि निरुक्त के द्वारा मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या करते हुये भी, इन टीकाकारों ने निरुक्त की व्याख्या याज्ञिक पक्षानुसार ही की है । टीकाकारों ने निरुक्त की व्याख्या भी केवल यज्ञपरक ही की है । कारण समय का प्रभाव, जिसमें सायण तो डूब ही गया ॥

(ख) पृ० २११ पर दुर्ग—"एवं तत्र तत्र योज्यम् । प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेणेति" । अर्थात्—इसी प्रकार आध्यात्मिक-आधिदैविक अर्थों की योजना कर लेनी चाहिये । भाष्यकार (यास्क) ने प्रकार मात्र दर्शाया है ॥ निरु० ७ । ६ पृ० ५६३ दुर्ग टी० में भी यही बात अन्य रीति से कही है ॥

दुर्ग के ये स्थल स्कन्द के उपर्युक्त स्थल के लगभग समान ही हमें मिलते हैं । इन दोनों आचार्यों के इन उद्धरणों से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि मन्त्रों की त्रिविधप्रक्रिया का सिद्धान्त दुर्ग और स्कन्द के काल तक तो अध्ययनपरम्परा से अत्यन्त ही विस्पष्ट चला आ रहा था, जो सायण तक आते २ समाप्त होगया, या सायण ने उसे आगे नहीं बढ़ने दिया । यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों ने निरुक्त की टीका में मन्त्रों के अर्थ याज्ञिक ही किये हैं । दुर्ग के ऋग्वेद पर भाष्य का तो पता नहीं लग रहा, स्कन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य में अर्थ प्रायः यज्ञपरक ही किये हैं ॥

(२) अर्थ की प्रधानता को लेकर निर्वचन होता है, दूसरे शब्दों में यौगिकवाद वेदार्थ का आधारभूत है, इस विषय में दुर्ग कहता है—

(क) "एवं व्याकरणेऽपि लक्षणप्रधाने सति अर्थवशेन लोपागमौ विपरिणामश्च शब्दानां दृष्टः, किमुत निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव" ॥ निरु० २ । २ पृ० १०२ दुर्ग टी० ॥

(ख) "अर्थनित्य इत्युक्तेऽर्थप्रधान इति गम्यते । अर्थप्राधान्येनानादृत्य स्वरसंस्कारौ परीक्षेत" ॥ निरु० २ । १ पृ० ५७ दुर्ग टी० ॥ अर्थानुसार निर्वचन का सिद्धान्त निरुक्त में है, यह दुर्गाचार्य दर्शाते हैं ॥

(ग) "प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते" निरु० ५ । १, दुर्ग टी० पृ० ३४६ ॥

(घ) "मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानं याथात्म्यतो दृश्यते" ॥ निरु० ४ । १९, दुर्ग टी० पृ० ३१५ ॥

इनमें अर्थ की प्रधानता, निरुक्त अर्थ-प्रधान है, अर्थ के आधीन लोपागमस्वरसंस्कारादि होते हैं, प्रकरण से शब्दों के अर्थों में भेद होजाता है, 'अग्नि' के आध्यात्मिकादि अर्थ होते हैं, यह कहा गया है ॥ दुर्गाचार्य

निरुक्त के सब निर्वचनों को अर्थाधीन मानता है (देखो निरु० २ । २ पृ० १०२) दूसरे शब्दों में निरुक्त में जितने निर्वचन किये गये हैं, वे सब अर्थ को लक्ष्य में रखकर ही किये गये हैं । निर्वचन के आधार पर उन उन शब्दों का अर्थ समझना होगा । निरु० ७ । १४ दुर्ग टी० पृ० ५९१ पर भी आत्मवित् पक्ष में व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ करने की बात कही गई है ॥

अर्थ की प्रधानता वा यौगिकवाद के लिये स्कन्द ने भी लिखा है—

(क) "स्त्रीशब्दोऽत्र क्रियानिमित्तस्त्रातुर्बोधकः, पुंशब्दोऽपि पुरुमनसः" ॥ निरु० ५ । १ स्कन्द टी० पृ० २८६ ॥

(ख) "रूढ्यर्थस्यासम्भवात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेतेत्येवमर्थम्" ॥ निरु० १ । १५ स्कन्द टी० पृ० ९२ ॥ तु० दुर्ग पृ० २७६ तथा ३२४ ॥

(ग) "स्वरसंस्कारयोः उद्देश उपदेश एषोऽपि नात्यन्तं भवतीति वाक्यशेषः । स्वरसंस्कारयोरुद्देशस्यार्थविशेषाधीनत्वात् ताभ्यामेव हि स्वरसंस्काराभ्यां युक्तः शब्दः क्वचिदर्थे साधुः, क्वचिदसाधुः"॥ स्कन्द निरु० टी० भाग १ पृ० ९३ पं० ८ ॥

(ii) पदविभागोऽर्थज्ञानाधीनः" (द्र० पूर्ववद् पृ० १०४ पं० ५) ॥

इन स्थलों में स्कन्द ने भी अर्थ[१] की प्रधानता तथा यौगिकवाद के सिद्धान्त को माना है ॥

(३) व्यत्यय के सिद्धान्त को स्कन्द और दुर्ग दोनों ने अपनी टीकाओं में बराबर माना है । जिसके असंख्य उदाहरण हैं—"द्वितीयार्थे षष्ठी" (निरु० ४ । १५ स्कन्द टी० पृ० २३३) ॥ "व्यत्ययेनैते चतुर्थीद्वितीयार्थयोर्द्वितीयाचतुर्थ्यौ" (निरु० ४ । १७ पृ० २४३) ॥ इसी प्रकार दुर्ग टी० निरु० २ । १ पृ० ९९, निरु० २ । १२ पृ० १३३ । " चतुर्थ्यर्थे द्वितीया" । स्कन्द ने ऋग्वेदभाष्य में भी बहुत संख्या में व्यत्यय माने हैं ॥

(४) इतिहासवाद के विषय में स्कन्द और दुर्ग का क्या सिद्धान्त है, यह हम पूर्व (पृ० ५६) दर्शा चुके हैं । अन्य सब विषयों में भी ये दोनों आचार्य निरुक्त के अनुगामी हैं । दोनों के निरुक्त व्याख्यान को गम्भीरता से देखने पर हमें वेदार्थ की बहुत कुछ उपयोगी सामग्री उनमें मिलती है । ये दोनों आचार्य याज्ञिकवाद से अपने आप को ऊपर नहीं उठा सके, अतः आधिदैविक अर्थप्रधान नैरुक्त मन्त्रों का व्याख्यान भी इन्होंने याज्ञिकप्रक्रियानुसार ही किया है ॥

इस प्रकार हमने त्रिविधप्रक्रिया-यौगिकवाद-व्यत्ययादि के विषय में दुर्गाचार्य तथा आचार्य स्कन्दस्वामी के कुछ स्थल निदर्शनमात्र दर्शाये हैं, इन विषयों में असंख्य स्थल शेष हैं, जो हमने नहीं दिखाये, इससे स्पष्ट है कि दोनों भाष्यकारों के काल तक वेदार्थ की मूलप्रक्रिया पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी, क्योंकि यदि ये चारों बातें मान ली जावें (जो सबको माननी ही पड़ेंगी) तो ऋषि दयानन्द का वेदार्थ संसार की दृष्टि में अनिवार्यतया उपादेय और उत्कृष्ट स्वयं सिद्ध होजाता है ॥

सायण से पूर्ववर्त्ती शेष आचार्य और वेदार्थ

अब हम सायणाचार्य से पहिले के अन्य आचार्यों के वेदार्थ के विषय में लिखते हैं—

(३) **उद्गीथ**—का भाष्य भी लगभग स्कन्द जैसा ही है । त्रिविध प्रक्रिया के विषय में इसका कोई स्थल नहीं मिला । हां यौगिकवाद के आधार पर ऋ० १० । ८२ । २ में इसने धात्वर्थ को लेकर **'ऋषि'** शब्द का अर्थ **'रश्मि'** किया है, और इसी मन्त्र में **,'प्रथमार्थे वा द्वितीया"** व्यत्यय भी माना है ॥

(४) **हरिस्वामी**—यद्यपि यह वेदभाष्यकार नहीं, पर इसने शतपथ ब्राह्मण का भाष्य किया है । सो भी वर्त्तमान में हस्तलिखित, अपूर्ण तथा अत्यन्त अशुद्ध उपलब्ध होता है । उसमें हमें पृ० २, ३ पर "शाखा वेद-

१. इस विषय का विवेचन आगे 'धातुओं का अनेकार्थत्व' प्रकरण के अन्त में भी देखें ॥

व्याख्यान हैं" ऐसा मिलता है। पृ० ३० तथा अन्य अनेक स्थलों में स्कन्द के ढङ्ग पर इतिहासवाद का औपचारिकत्व मिलता है। हरिस्वामी था ही स्कन्द का शिष्य, उसे तो यह प्रक्रिया विदित होनी ही चाहिये थी ॥

(५) उवट—यद्यपि उवट का सारा भाष्य यज्ञपरक ही है तथापि य० ७।४२॥ १०।१६ तथा ३३।७४ के भाष्य में अधियज्ञ तथा आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ का प्रतिपादन हमें मिलता है। य० १०। १६ में तो महीधर भी उवटानुसार ही अर्थ करता है। चाहे उवट, महीधर का अर्थ यज्ञवाद को लेकर ही चला है, पर व्यत्यय, पदकारों से भिन्न पदपाठ, यौगिकवाद के सिद्धान्तों को इन्हें भी अवश्य मानना ही पड़ा है ॥

(६) वररुचि निरुक्तसमुच्चयकार—यद्यपि इसका उद्धरण स्कन्दभाष्य में मिलता है, पुनरपि पूर्ण निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रन्थ किस काल का है। इसमें स्कन्द नि० टी० भाग २ पृ० ७८ वाला ऐतिहासिकवाद का उद्धरण वा सिद्धान्त सर्वथा वैसा ही मिलता है। (देखो, पूर्व पृ० ५६) शेष व्यत्यय-यौगिक-वादादि के विषय में भी बहुत से उद्धरण मिलते हैं। नैरुक्तविषयक होने से आध्यात्मिकादि अर्थ इसमें नहीं किये, ऐसा प्रतीत होता है। "निरुक्तप्रक्रियानुरोधेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः" यह इसके आरम्भ में ही लिखा है ॥

(७) भट्टभास्कर—(११ वीं शताब्दी) के तै० संहिता, तै० ब्रा० और तै० आरण्यक के भाष्य में व्याकरणादि की प्रक्रिया सायण से बहुत अच्छी मिलती है। तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में अनेक शब्दों के विशेष अर्थ मिलते हैं, जैसे कि "गावो गन्तारः" भा० १ पृ० २९६, 'यज्ञं परमात्मानं' भा० २ पृ० १०४, "कक्षी-वन्तमीश्वरं" भा० २ पृ० १८४। तैत्तिरीयारण्यक के भाष्य में यत्र तत्र आध्यात्मिक प्रक्रिया को भी स्वीकार किया है (देखो पृ० २७४)। पदपाठ की भिन्नता और व्यत्यय के सिद्धान्त को भी इसने अपने भाष्य में माना है ॥

(८) वेङ्कटमाधव—(सं० ११००-१२००) का ऋग्वेदभाष्य भी यज्ञपरक ही है। और यह भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। अतः इसमें उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में कुछ नहीं है। हां, वेङ्कट ने अपने ऋग्वेदभाष्यान्तर्गत स्वरादि-अनुक्रमणियों में वेदार्थसम्बन्धी बहुतसी आवश्यक बातों पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है, जो प्रत्येक वेदार्थजिज्ञासु को देखना चाहिये। माधव के नाम से ऋग्वेद का एक विस्तृत भाष्य भी अडियार से प्रकाशित हो रहा है, जो सम्भवतः इसी वेङ्कट माधव का है। उसमें वेदार्थसम्बन्धी कुछ उपयोगी स्थल भी मिलते हैं ॥

(९) आत्मानन्द—(सं० १२००-१३००) पृष्ठ ३ पर स्कन्दादि के विषय में कहता है—'यद्यपि स्कन्द-उद्गीथ-भट्टभास्करादि ने वेद का भाष्य अधियज्ञपरक किया है, पर मैं आध्यात्मिक व्याख्यान ही करूँगा'। पुनः पृ० ६० पर लिखता है—"अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतविषयम्। इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणां विरोधः"॥ पृ० ५४ पर 'अग्नि' का अर्थ 'अग्रणीः = परमात्मा' करता है। इसी पृष्ठ पर "एकैव देवता परमात्मा" ऐसा लिखता है। इस प्रकार यह भाष्यकार तो आध्यात्मिक प्रक्रिया का परमप्रतिपादक है ॥

(१०) आनन्दतीर्थ—(सं० १२५५-१३३५) ने ऋग्वेद के आरम्भ के ४० सूक्तों का भाष्य किया। जयतीर्थ ने उसी शैली पर उसकी व्याख्या की। उस पर नरसिंहयति ने छलारी नाम की टीका लिखी है। इन सबका दृष्टिकोण एक ही है। इनमें मन्त्रों का अर्थ 'विष्णु' परक किया गया है। इसमें पृ० ३ पर 'अग्नि' का अर्थ प्रभु, पृ० १ पर "गुणाधिक्यं येन भवेद् वेदस्यार्थः स एव हि" लिखा है। इसी प्रकार जयतीर्थ ने भी पृ० ३ पर त्रिविधप्रक्रिया को अङ्गीकार कर पृ० ४३ पर लिखा है—

"निरुक्तव्याख्यानं बाह्यकर्मपरम्। उपनिषद्व्याख्यानमध्यात्मपरम्। विशेषतश्च वेदानां भगवानृषिः" (पृ० ६) ॥

छलारीटीका में भी इसी प्रकार अनेक स्थल हैं ॥

इन्हीं की शैली पर राघवेन्द्र यति मन्त्रार्थमञ्जरी में पृ० १०४ पर "अग्न्यादिदेवतापरत्वेन अध्यात्मपरत्वेन चेत्येवं त्र्यर्थपरतया व्याख्यातानि"। पृ० २ "विष्णुः सर्ववेदप्रतिपाद्यः, सर्ववेदानां विष्ण्वर्थत्वसिद्धेः" इससे स्पष्ट त्रिविधप्रक्रिया को माना है ॥

वेद के जितने भी भाष्य इस समय उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें क्रियात्मकरूप से सब मन्त्रों की (चाहे वे संख्या में कितने ही थोड़े हों) अध्यात्मपरक व्याख्या करने का यत्न आत्मानन्द और आनन्दतीर्थ ने ही किया है। चाहे इनकी अध्यात्मपरक व्याख्या कैसी ही हो, चाहे किसी भी लक्ष्य को रख कर की गई हो, तथापि यह निर्विवाद मानना पड़ेगा कि त्रिविधप्रक्रियान्तर्गत आध्यात्मिकप्रक्रिया से मन्त्रार्थ करने की शैली को बहुत कुछ अंशों में इन्होंने सुरक्षित रक्खा। सायण से पूर्ववर्त्ती इन लोगों ने अपने काल में याज्ञिकवाद के प्रवाह के विरुद्ध झण्डा खड़ा किया, यह एक आश्चर्य की बात है ॥

(११) शत्रुघ्नाचार्य—मन्त्रार्थदीपिका पृ० २५० पर कहता है—

"एवमधिदैवमध्यात्मं च यः देवः पुरुषः परमात्माऽध्येयत्वेनोक्तस्तस्य प्रशंसार्थं नानारूपैरुपासनं दर्शयति तमेतमिति यः पुरुष उक्तः स परमात्मेति व्याख्येयः"। स्पष्ट ही यह त्रिविधप्रक्रिया को मान रहा है ॥

ये उपर्युक्त विद्वान् यौगिकवाद और व्यत्यय को भी मानते हैं ॥

(१२) गुणविष्णु—अपने छान्दोग्यमन्त्रभाष्य में प्रायः यज्ञपरक ही व्याख्या करता है। उसने ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के विषय में पृ० ११६ पर लिखा है—"विनियोगो ब्रह्मयज्ञे"। अर्थात् आजकल प्रचलित विनियोग से भिन्न विनियोग दर्शाया है। और किसी वाद पर इसमें विशेष कुछ नहीं मिलता ॥

(१३, १४) माधव और भरतस्वामी—(सं० १३५०) ने "अत्रि" का अर्थ "अदनशील" (पृ० १७, ६१) लिखा है। त्रिविधप्रक्रिया का वर्णन विशेष रूप से नहीं किया ॥

(१५) देवपाल—ने लौगाक्षिगृह्यव्याख्या में तदन्तर्गत मन्त्रों का भाष्य किया है। इसमें पृ० २७, ५५ ५७, तथा ६० में आध्यात्मिक और आधिदैविक प्रक्रिया को माना है। इसी विचार से "इन्द्र" तथा "आदित्य" का परमेश्वरपरक व्याख्यान किया है। यौगिकवाद और व्यत्ययादि को भी माना है ॥

इनके अतिरिक्त आनन्दबोध, अनन्ताचार्य, मुद्गल, यजुर्मञ्जरीकार, पारस्करमन्त्रभाष्य, वेङ्कटेश का तै० सं० भाष्य, षडङ्गरुद्रभाष्य, जैमिनीयगृह्यमन्त्रवृत्ति आदि इतने सामान्य हैं कि इन पर अधिक लिखने की भी आवश्यकता नहीं है ॥

हमने यहाँ यह दर्शाया कि सायण से पूर्ववर्त्ती भाष्यकारों तक त्रिविधप्रक्रिया पर्याप्त मात्रा में रही, न जाने सायण ने क्या इनको देखा ही नहीं वा देखने पर भी याज्ञिकवाद की ऐनक ने सायण को उससे बाहिर नहीं जाने दिया, कारण जो भी रहा हो ॥

यहाँ पर यह विदित रहे कि हम सायण के पूर्ववर्त्ती इन आचार्यों के सिद्धान्त वा उनके वेदार्थ को अधूरा होने से तथा केवल याज्ञिकवाद की छायामात्र होने से नहीं मानते। यह होते हुये भी हमें उनमें वेदार्थ प्रक्रिया के जो गुण दृष्टिगोचर हुए, वे हमने दर्शाये हैं, उपर्युक्त विवेचन का हमारा इतना ही अभिप्राय है ॥

स्कन्दादि ने त्रिविधप्रक्रिया में अर्थ क्यों नहीं किया ?

एक प्रश्न पाठकों के मन में स्वभावतः ही उठता है, जो उठना ही चाहिये कि जब स्कन्द, दुर्ग तथा अन्य भाष्यकार त्रिविधप्रक्रिया के सिद्धान्त को मानते थे, तो उन्होंने सब वेदमन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में किये क्यों नहीं ? इसके कारण चाहे कुछ भी रहे हों। स्कन्द की निरुक्त टीका में हम जितना विशद और प्रौढ़तापूर्ण वेदार्थ का निरूपण पाते हैं, उतना हमें उसके वेदभाष्य में दृष्टिगोचर नहीं हुआ (जितना कि हमने देखा है)। सम्भव है उसने पहिले ऋग्वेद का भाष्य किया हो, तब निरुक्त टीका लिखी हो। इसके लिये एक उदाहरण भी उपस्थित करते हैं—निरुक्त टीका पृ० ३६६ पर ऋ० १। ११७। १६ की व्याख्या स्कन्द ने नित्यपक्ष को लेकर की है। "वर्तिका वर्त्तते पुनः पुनरावर्त्तयते इत्युषा अत्र वर्तिकाऽभिप्रेता न चटका" ऐसा लिखा। उधर ऋग्वेद

भाष्य (मद्रास संस्करण) पृ० ४७७ पर इसी मन्त्र की व्याख्या में "वर्तिका चटका वां युवाम्" ऐसा लिखा, जो स्पष्ट ही निरुक्त-व्याख्या के विपरीत है। इससे तो यही विदित होता है, जो हमने ऊपर कहा। यदि ऐसा नहीं तो परस्पर में विरोध कैसा ? एक और कारण भी हो सकता है कि उद्गीथ-नारायण के साथ मिलकर ऋ० भाष्य करने से ऐसा हुआ हो। जो भी कारण हो, निरुक्तटीका में जिन सिद्धान्तों को माना, उनका परिपालन ऋग्वेदभाष्य में नहीं किया ॥

त्रिविधप्रक्रिया में अर्थ न करने का इन सब वेदभाष्यकारों का मुख्य कारण उनकी आध्यात्मिक भावना की कमी वा उसमें निष्ठा का अभाव ही समझना चाहिये। अन्तर्यामी जगन्नियन्ता प्रभु में निष्ठा के कारण ही दयानन्दभाष्य में आध्यात्मिक प्रक्रिया की प्रायः सर्वत्र प्रधानता है, अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ के प्रकाश करने का श्रेय निस्सन्देह ऋषि दयानन्द को ही मिलेगा, यह कहना पड़ता है ॥

सायण से पूर्ववर्त्ती इन उपर्युक्त आचार्यों के वेदार्थ देखने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यास्कादि आप्त ऋषियों के वेदार्थ के सिद्धान्तों की कुछ २ परम्परा इन आचार्यों तक भी रही। चाहे वह कितनी भी थोड़ी मात्रा में हो। इनमें स्कन्द और दुर्ग ही मुख्यतया अधिक उपादेय कहे जा सकते हैं। वेदार्थ की कही कसौटियों (पृ० ४३-४५) से ये भाष्य धीरे २ दूर होते गये, और इस समय बहुत अंश में यास्कादि महर्षियों के वेदार्थ से दूर हैं, यह स्पष्ट है। शताब्दियों तक याज्ञिकवाद की ही प्रधानता रही। इसी के चारों ओर उस समय का सारा का सारा वैदिकसाहित्य घूमता रहा, और सायण के काल तक तो इसमें इतनी अधिकता आ चुकी थी कि जो मन्त्र आध्यात्मिक तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश कर रहा हो, उसे भी जैसे बलात् (ज़बरदस्ती) पकड़ कर उससे कहा जावे कि तू भी याज्ञिक अर्थ को ही कह, ठोक पीट कर ऐसे मन्त्रों के अर्थ को भी यज्ञप्रक्रिया में ही घसीटा गया है ॥

सायण का वेदार्थ

याज्ञिकप्रक्रिया का शुद्ध स्वरूप बना रहता, तब तो कुछ भी हानि नहीं थी, त्रिविधप्रक्रिया में याज्ञिक प्रक्रिया भी एक है ही, तदनुसार भी मन्त्र का अर्थ होना ही चाहिये। पर सायणाचार्य ने तो अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की प्रक्रिया को न जाने कैसे छोड़ कर केवल याज्ञिकप्रक्रियापरक ही वेदमन्त्रों का अर्थ किया और वह भी अधूरा। अधूरा इसलिये कि सायण का वेदभाष्य केवल श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया को लक्ष्य में रख कर ही किया हुआ है। गृह्य-सूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में सायण का भाष्य कुछ एक स्थलों को छोड़ कर प्रायः कुछ भी नहीं कहता। गृह्य अर्थात् स्मार्त्त प्रक्रिया में भी तो वेदमन्त्रों का अर्थ होना ही चाहिये। इस प्रक्रिया के लिये हमें गृह्यसूत्रों के भाष्यकारों के किये वेदार्थ से वेदमन्त्रों के अर्थ देखने होंगे। ऐसी दशा में सायण भाष्य को याज्ञिकप्रक्रिया में अधूरा ही कहेंगे। इतना ही नहीं श्रौतप्रक्रिया के विषय में भी सायण कहाँ तक प्रामाणिक है, यह अभी साध्यकोटि में ही है। श्रौत विषय में भी सायण की अनेक भूलें हैं, जो कालान्तर या स्थानान्तर में दिखाई जा सकती हैं ॥

इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि सायणाचार्य ने अपने समय में वैदिक साहित्य में महान् प्रयास किया। वेदों के भाष्य तथा ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यकों के भाष्य बनाये। अन्य अनेक विषयों में भी बहुत से प्रौढ़तापूर्ण ग्रन्थ लिखे, चाहे वे सब उनकी अपनी कृति न हों, उनके संरक्षण में बने हों, पर उनका उत्तरदायित्व तो उन पर ही है। सायणाचार्य के इस प्रयास के लिये प्रत्येक वेदप्रेमी को उनका अनुगृहीत होना चाहिये। उनके वेदभाष्य में व्याकरण और निरुक्तादि का प्रयोग भी हमें पर्याप्त मात्रा में मिलता है। परन्तु मूलभूत धारणा के अनिश्चित वा भ्रान्त होने के कारण उनका मूल्य कुछ भी नहीं है और कई स्थानों में विरुद्ध भी है ॥

जब सायणाचार्य के मन में यह मिथ्या धारणा निश्चित हो चुकी थी कि वेदमन्त्र यज्ञप्रक्रिया का ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक ही था कि वह अपना समस्त यत्न वा प्रमाणादि सामग्री यज्ञप्रक्रिया के लिये ही समर्पित करते। जब ऐनक ही हरी पहन ली तो सब पदार्थ हरे दिखाई देने में आश्चर्य ही क्या हो सकता है !

उपर्युक्त धारणा के कारण उसका वेदार्थ में अनेक अनावश्यक और आधाररहित सिद्धान्तों तथा परिणामों पर पहुँचना अनिवार्य था। उदाहरणार्थ पाठक देखें—

(१) सायण के वेदभाष्य में प्रायः सर्वत्र जहाँ २ मूलमन्त्र में 'जन' 'मनुष्य' 'जन्तु' 'नर' 'विट्' 'मर्त्त' आदि सामान्य मनुष्यवाचक शब्द आये हैं, वहाँ सर्वत्र निर्वचन के आधार को छोड़कर, वाच्यवाचक-सम्बन्ध के सामान्य नियम की अवहेलना करके, सामान्य 'मनुष्य' अर्थ न करके 'यजमान' आदि ही किया है॥

जैसा कि—ऋ० १। ६०। ४ में '**मानुषेषु यजमानेषु**'॥ ऋ० १। ६८। ४ में '**मनोरपत्ये यजमानरूपायां प्रजायाम्**'॥ 'मनुष: मनुष्यस्याध्वर्योः' ऋ० १। १२८। १॥ 'जनान् यजमानान्' ऋ० १। १४०। १२॥ 'जनानां यजमानानाम्' ऋ० ५। १६। २॥ '**विशां यजमानरूपाणां प्रजानाम्**' ऋ० १। ३१। १५॥ 'नरः कर्मणां नेतारोऽध्वर्य्वादयः' ऋ० ३। ८। ६॥

भला बताइये इन मनुष्य-जन्तु-नर आदि शब्दों के अर्थ 'यजमान' ही हों, इसमें क्या नियामक है? कारण क्या? कारण यही कि यज्ञप्रक्रिया की ऐनक चढ़ी है। प्रत्येक मनुष्य यजमान या ऋत्विक् ही दिखाई दे रहा है। भला नेता या मननशील जो कोई भी हो, यह अर्थ क्यों नहीं लेते? सायण होते तो उनसे पूछा जाता!

(२) यह तो हमने अतिस्थूल उदाहरण उपस्थित किया है। वह प्रायः करके अपनी उपर्युक्त मिथ्या धारणा के कारण अपने परिणामों पर पहुँचने के लिये सामान्य वैदिक परिभाषाओं की और नियत वैदिक नियमों तक की अपनी व्याख्या में आश्चर्यजनक असंगति दर्शाता है। आध्यात्मिक प्रक्रिया में मनुष्य वा मननशील कैसा सुन्दर अर्थ बैठता है! इस वैदिक नियम को न जान कर सायण का किया हुआ अर्थ हृदयग्राही नहीं बैठता। सायण के वेदार्थ की मूल त्रुटि ही यह है कि वह सदा अपने वेदार्थ में कर्मकाण्ड के भँवर में ही फंसा रहता है और इसीलिये वेद के आशय को निरन्तर बलपूर्वक कर्मकाण्ड के संकुचित सांचे में ढाल कर वैसा ही रूप देने का यत्न करता है। इसीलिये वह बहुतसे मूलभूत सिद्धान्तों की अवहेलना कर देता है, या उसे करनी पड़ती है, जिससे प्रभु की पवित्र वेदवाणी के ऊंचे से ऊंचे अर्थ में बाधा पड़ती है। उदाहरणार्थ—

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥ ऋ० १। १। ६॥

प्रियतम देव! शरणागत का कल्याण करना तुम्हारा सत्य व्रत है!!!

कैसा सुन्दर हृदयग्राही, सन्तप्त हृदयों की आन्तरिक ज्वाला को एकदम शान्त करनेवाला, आत्मसमर्पण का, प्रभुप्रेम वा प्रभुभक्ति में असीम निष्ठा का अद्भुत दृश्य है!!! चित्तवृत्तियों के निरोध और उससे आत्मस्वरूप में अवस्थिति का साधनभूत यह मन्त्र हमारे समक्ष है। '**ईश्वरप्रणिधानाद् वा**' (यो० १। २३) योगदर्शन के इस सिद्धान्तानुसार केवल इस मन्त्र के अनुसार ही योग की प्राप्ति हो जाती है। ईश्वरप्रणिधानमात्र से भी चित्तवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध होता है। शास्त्र का यह वचन और उपर्युक्त मन्त्र का अभिप्राय सर्वथा एक ही है। मन्त्रगत भाव को ही महामुनि पतञ्जलि ने उपर्युक्त सूत्र में दर्शाया है॥

इस मन्त्र का उपर्युक्त भावनापूर्ण अर्थ महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाष्य में ही मिलेगा। पाठक उनके भाष्य में इस मन्त्र के अर्थ को देखें। सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार किया है—

"**अङ्ग अग्ने त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं यद् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि। तद्भद्रं तवेत् तवैव···एतच्च सत्यं (व्रतं), नात्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति···**"॥

अर्थात्—हे अग्ने! तुम हविःप्रदान करनेवाले यजमान के लिये उनकी प्रीति के निमित्त धन-गृह-प्रजा-पशु-प्राप्ति रूप कल्याण करनेवाले हो। यह तुम्हारा सत्यव्रत है। इसमें कुछ भी विपरीतता नहीं······इत्यादि॥

सायणाचार्य यदि जानते होते कि इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी है, तब वह इसका अर्थ यही न करते, जो किया है। उनके अर्थ का स्वरूप ही कुछ अन्य होता। सायण के अर्थ में—

९

(क) भौतिक अग्नि से ही सम्बोधन किया गया है ॥

(ख) भौतिक अग्नि ही सब कल्याण का देनेवाला है ॥

(ग) संसार में सब से बड़ी कामना वा सब से बड़ा कल्याण धन, ऊंची अट्टालिका, सन्तान और पशु, भूमि आदि ही सायण के मत में हैं ॥

(घ) आत्मिक सम्पत्ति का इसमें निर्देश तक नहीं, जैसे उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं ॥

(ङ) हविः देने वाले यजमान का ही कल्याण होगा, जो शुभकर्म का अनुष्ठान करे उसका नहीं ? हविः देने का स्वरूप क्या है ? आहुति डालना मात्र ही तो !

भला बताइये जहां धन-गगनचुम्बीभवन-सन्तान और पशुओं की ही कामना की गई हो, वहां आत्मिक-सम्पत्ति की कामना का नाम तक न आना स्वाभाविक है । कारण क्या ? कारण यही कि सायण स्वयं आध्यात्मिकता से शून्य थे, या भ्रम-वश वह यह नहीं समझ सके कि वेद में आध्यात्मिकता का भी निरूपण है ॥

हविः देने वाले का ही कल्याण 'अग्नि' करता है । गीता (४ । २४, २५) में बताये आध्यात्मिक यज्ञ को भी भूल गये । हविः प्रदान का स्वरूप क्या है, इस पर तो कुछ प्रकाश डाला होता । ज्ञान ही न था तो डालते कहां से ? ब्राह्मणों में (शत० ११ । २ । ४ । ८ पृ० ५५६) बताये यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का ही कुछ निर्देश कर दिया होता ॥

(३) इस सब में मौलिक भूल ही सर्वत्र अपना वैभव दिखा रही है कि वेदमन्त्र केवल याज्ञिक अर्थ को ही कहते हैं । यह बात हम अनुमान वा अपनी ही कल्पना से कहते हों, यह बात नहीं । स्वयं सायणाचार्य ने ही ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में लिखा है—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥ (सायण ऋ० भा० उपोद्घातारम्भे) ॥

अर्थात्—यज्ञों में अध्वर्यु के कर्मों की प्रधानता होने के कारण मैंने (सायण ने) प्रथम यजुर्वेद का व्याख्यान किया, इसके अनन्तर हौत्रकर्म के लिये ऋग्वेद का व्याख्यान किया जायगा ॥

यहां पर सायणाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि मैं यज्ञों में अध्वर्यु और हौत्रादि के कर्मों को बताने के लिये ही वेद का भाष्य कर रहा हूँ । सायण के सामने जैसे और कुछ था ही नहीं, जिसके लिये कि वेदभाष्य करने की आवश्यकता हो ॥

यदि वह यहां पर यह भी कह देते कि भाई ! मैं तो केवल यज्ञपरक व्याख्यान कर रहा हूँ, शेष आध्यात्मिकादि अर्थों के लिये अन्य भाष्यों को देखें, जिसकी परम्परा सहस्रों वर्षों से चली आ रही थी । तब भी वेदार्थप्रक्रिया का लोप तो न होता ॥

(४) आरम्भ से उठा कर अन्त तक देखा जावे तो सायण के सम्पूर्ण भाष्य में यही मौलिक भ्रान्ति सर्वांश में मिलेगी । इसका परिणाम यही हुआ और होना ही चाहिये था कि सायणभाष्य को पढ़कर किसी को भी वेद में श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती, और पढ़नेवाला कभी नहीं मान सकता कि वेद परमात्मा की बुद्धिपूर्वक कृति है, या इसमें किन्हीं उच्चतम सिद्धान्तों, मानवसमाज सम्बन्धी उत्कृष्ट भावनाओं वा आवश्यकीय विविध ज्ञान का प्रतिपादन है । जिज्ञासु एकदम निराश होकर ऐसे वेद से ही विमुख होने लगता है, यह है सायणभाष्य की देन ॥

सायणाचार्य ने ऋषियों को, उनके विचारों को, उनकी संस्कृति को, उनकी अभीष्ट भावनाओं को ऐसी सारहीन-संकुचित-दरिद्रतापूर्ण रीति से उपस्थित किया है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जावे, तो वह वेद के सम्बन्ध में भारतीयों की पवित्र उच्च भावना को, वेद की पवित्र प्रामाणिकता को, नहीं २ वेद की दिव्य ज्योति को हेय बना देता है, और प्रत्येक व्यक्ति को यह प्रतीत होने लगता है कि सायण के भाष्यानुसार वेद उस समय की एक अन्धी और प्रश्न उठाये जाने के अयोग्य परम्परा है । जिसका कारण सायण की अपनी ही मिथ्याधारणा है ॥

(५) इस विषय में हम एक अन्य दृष्टि से भी विचार करते हैं। हम देखते हैं सायण वेद में आये शब्दों के सूक्ष्म सङ्केत और उनके सूक्ष्म अन्तर को सर्वथा मिटा देता है। वेद में आये शब्दों का अधिक से अधिक स्थूल और सामान्य जो अर्थ होता है, वही कर देता है और सबके सब विशेषण जो उसके साथ लगे होते हैं, जिनका लाया जाना किसी गम्भीर सूक्ष्म कारण का निर्देश करता है, उनको वह एकदम भुला देता है। दूसरे शब्दों में यज्ञ-विषयक उपर्युक्त मिथ्याधारणा सायण को उन शब्दों के वास्तविक स्वरूप तक पहुँचने ही नहीं देती॥

ऐसा प्रतीत होता है कि सायण का ध्यान वेद में आये शब्दों के विशेष्यविशेषणभाव की प्रक्रिया पर गया ही नहीं। एक ही मन्त्र में 'उर्वी पृथिवी' या 'पृथिवी मही' में दो शब्द एक साथ आये हैं, दोनों ही पृथिवी के नाम हैं। जब एक ही शब्द पृथिवी अर्थ को कह रहा है, तो दूसरे की क्या आवश्यकता है। दो शब्द पढ़ने से वेद में पुनरुक्तदोष आवेगा, इसलिये महाभाष्य के सिद्धान्तानुसार 'व्यर्थं सज्ज्ञापयति' व्यर्थ होकर इस बात को सिद्ध करता है कि इन दोनों में एक विशेष्य है, दूसरा विशेषण। यह निश्चय मन्त्रगत शेष पदों के अर्थ के समन्वय पर होगा॥

दुःख से कहना पड़ता है कि इन अनिवार्य सूक्ष्मेक्षिकाओं के न होने से वेद के अर्थ का स्वरूप ही संसार से ओझल हो गया और सायणभाष्य वेद की अन्तिम प्रामाणिक भित्ति बन गया॥

इस विषय में हम कुछ अन्य उदाहरण भी उपस्थित करते हैं—

ऋ० १।७७।१ में "नृणां नृतमोऽसि"॥ ऋ० १।२७।१ में "अग्निं विप्रम्"॥ ऋ० १।६०।१ में "वह्निं द्विजन्मानम्"॥ ऋ० १।१।१ में "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"॥ ऋ० १।४।४ में "इन्द्रं विपश्चितम्"॥ ऋ० १।११।४ में "युवा कविरमितौजाः······इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता"॥ ऋ० १।२४।८ में "उरुं हि राजा वरुणश्चकार"॥ ऋ० १।४४।१० में "अग्ने···असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः"॥

इन मन्त्रों में पाठक 'अग्नि', 'इन्द्र' आदि पदों के विशेषणों पर ध्यान देवें। रूढिवाद की प्रक्रिया के अनुसार ये विशेषण आपाततः चैतन्यविशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ को ही प्रकट कर रहे हैं, फिर भी घसीट कर भौतिक अर्थ में ही इन मन्त्रों के अर्थों की समाप्ति कर देना वेदार्थ का लोप करना या यौगिकप्रक्रिया के विषय में अपनी असीम अनभिज्ञता प्रकट करना नहीं तो और क्या है? हमारे मत में तो यौगिकवाद को मानकर त्रिविधप्रक्रिया के आधार पर ये विशेषण तीनों प्रक्रियाओं में घट जाते हैं॥

अग्ने॑ पू॒र्वा अ॒नूषसो॑ विभावसो दी॒देथ॑ वि॒श्वद॑र्शतः।
असि॒ ग्रामे॑ष्ववि॒ता पु॒रोहि॑तो॒ऽसि॒ य॒ज्ञेषु॒ मानु॑षः॥ ऋ० १।४४।१०॥

इस मन्त्र में अग्नि को विभावसु-विश्वदर्शनीय–ग्रामों में रक्षक–यज्ञों में पुरोहित–मानुष आदि कहा गया है। ये विशेषण भौतिक अग्नि में कैसे घट सकते हैं। मुख्यवृत्ति से तो ये सब विशेषण किसी चेतन में घट सकते हैं॥

त्वम॑ग्ने॒ प्रम॑ति॒स्त्वं पि॒तासि॑ न॒स्त्वं व॑य॒स्कृत्तव॑ जा॒मयो॑ व॒यम्।
सं त्वा॒ रायः॑ श॒तिनः॒ सं स॑ह॒स्रिणः॑ सु॒वीरं॑ यन्ति व्रत॒पाम॑दाभ्य॥ ऋ० १।३१।१०॥

इस मन्त्र में अग्नि को प्रकृष्टमति–उत्कृष्टज्ञानवान्–पिता–जिसकी सन्तान हम अपने आपको कह सकें–सुवीर–व्रतपा और असंख्य धनवाला इत्यादि गुणविशिष्ट कहा गया है भला ये सब विशेषण रूढिवाद के अनुसार आपाततः भौतिक अग्नि में कभी घट सकते हैं?

(६) भला इन मन्त्रों से ठोक पीट कर या जबरदस्ती (बलात्) यज्ञ की बोली बुलवाना कहां तक सुसङ्गत है? जब कि ऋग्वेद में आये बहुत से मन्त्रों का विनियोग ही नहीं। ऋग्वेद के मन्त्रों का विनियोग हौत्रकर्म में ही होना चाहिये। सम्पूर्ण दस हज़ार से अधिक मन्त्रों का विनियोग वाचस्तोमादि में करना अगतिकगति है। यह तो वैसा ही है, जैसे सम्पूर्ण चारों वेद की संहिताओं से स्वाहाकारान्त होम करना। उसे मुख्य विनियोग नहीं कहा जा

सकता। सायण ने अपने भाष्य में अनेक मन्त्रों का विनियोग लैङ्गिक माना है। तथा बहुत से मन्त्रों का विनियोग स्मार्त कर्म में खोजने को कहा (देखो सायणभाष्य ऋ० १। १५, १७, १९, २२, ३८, ३९, ४० इत्यादि अनेक स्थल हैं)। इस विनियोग के विषय में हम कभी फिर विस्तार से कहना चाहते हैं। यह एक पृथक् विवेचनीय विषय है। यहां तो हम इतना ही कहना चाहते हैं कि सब मन्त्रों को केवल यज्ञपरक अर्थ में घसीटना सायण-भाष्य की दुर्भाग्यपूर्ण देन है। इससे वेद सभी सम्भव अर्थों से हटकर इस निम्नतम यज्ञपरक अर्थ के साथ बन्ध गया। सायणभाष्य का यह सबसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ। दूसरा परिणाम यह हुआ कि सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लगा दी, जो बहुत समय तक जब तक कि बड़ा भारी प्रयास न किया जावे, दूर नहीं हो सकती॥

वेदार्थ के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न करने में सायण का भाष्य मुख्य कहा जा सकता है। सायणाचार्य से पूर्व और भी वेदभाष्यकार हो चुके थे (जिनका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं) जिन्होंने "वेद का अर्थ यज्ञपरक ही होता है" इस मिथ्याधारणा के फलस्वरूप अपने भाष्य यज्ञपरक ही किये हैं, यद्यपि ये लोग भी वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया के लोप के उतने ही कारण कहे जा सकते हैं जितना कि सायण, तथापि उनके भाष्यों में वेदार्थ-प्रक्रिया के किन्हीं सिद्धान्तों का निर्देश कहीं कहीं मिलता तो है, जैसा कि हम पूर्व दर्शा चुके हैं। परन्तु सायण ने तो उन निर्देशों का भी लोप ही कर दिया, जिससे वेदार्थ का स्वरूप शताब्दियों के लिये लुप्त हो गया॥

सायणभाष्य की इस मौलिक मिथ्याधारणा का क्या परिणाम हुआ, सो हम आगे दर्शायेंगे। इससे पूर्व अब हम यह दर्शाना चाहते हैं कि सायण की उपर्युक्त मिथ्याधारणा का मिथ्यात्व कहां तक ठीक है॥

सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुँचा

हमारा पूर्वोक्त विवेचन ही इस बात के सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है (जैसा कि पूर्व पृ० ५५, ५९, ६० पर दर्शा चुके हैं)। इतने से ही सायण का सारा वेदार्थ तीसरा भाग रह जाता है, शेष दो भाग (आध्यात्मिक तथा आधिदैविक) में उसकी अनभिज्ञता वा अपूर्णता स्पष्ट सिद्ध है॥

त्रिविधप्रक्रिया की अवहेलना ही वेदार्थ में एक ऐसी हिमालय जैसी भूल है, जो कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकती। सायण की भूल की समाप्ति यहीं पर नहीं हो गई। उनकी अन्य मौलिक भूलों का निर्देश भी करना हम आवश्यक समझते हैं—

(१) यज्ञ में अध्वर्यु आदि के कर्मों को बताने के लिये ही वेदभाष्य करता हूँ, ऐसा सायण ने कहा है। (देखो सायण ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात के प्रारम्भ में)॥

(२) सायण सामवेदभाष्य भूमिका में लिखता है—

'यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः। अध्वर्युमुख्यैर्ऋत्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञसम्पदः'॥ ६॥

इसमें वेद के मन्त्रों का अर्थ यज्ञपरक तथा ब्रह्मपरक माना। हमें तो सायण के इस लेख से अति प्रसन्नता हुई कि चलो ब्रह्मपरक अर्थ नहीं किया तो न सही, ब्रह्मपरक का निर्देश तो कर ही दिया है। पर हमारी यह प्रसन्नता अधिक देर न रह सकी, जब हमने काण्व-संहिताभाष्य की भूमिका में सायण का यह लेख देखा—

"तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्ड-स्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्, तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्श-पूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्"॥

यहां पर सायण शतपथब्राह्मण ही नहीं, अपितु 'संहिता' में भी "दर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्" इस वचन से केवल दर्शपूर्णमासादि यज्ञ कर्मों का ही प्रतिपादन मात्र मानता है।

पाठक विचार करें कि स्कन्दस्वामी की त्रिविधप्रक्रिया (जिसे वह यास्काभिमत मानता है) उपस्थित होने पर भी, सायण 'नहि स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति' वा 'पश्यन्नपि न पश्यति' देखता हुआ भी नहीं देखता, यही तो कहना पड़ेगा । क्या सायण ने स्कन्द का भाष्य देखा ही नहीं होगा, यह कभी हो सकता है ? जब कि इस समय भी सैकड़ों वर्ष पीछे सायण की जन्मभूमि दक्षिण में ही स्कन्दभाष्य तथा निरुक्त टीका मिली है ॥

कुछ भी सही सायण वेदार्थ की दीवार बन गया । इतनी ऊंची, और इतनी दृढ़ कि किसी को लांघने का साहस नहीं होता था, पर प्रभु की असीम कृपा से आचार्य दयानन्द उस दीवार को लांघ गये, और उनकी कृपा से आज हम शास्त्र के आधार पर लांघ रहे हैं ॥

(३) सायण ने ऋग्भूमिका में मीमांसा के सिद्धान्तानुसार वेद में अनित्य इतिहास वा व्यक्तिविशेषों के इतिहास का निषेध मान कर वा निषेध करके भी, अपने वेदभाष्य में यत्र तत्र अनित्य व्यक्तियों का इतिहास स्पष्ट दर्शाया है ॥

(४) देखिये सायण ऋग्भूमिका में—

(क) "शतं हिमा' इत्येतद् व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्" ॥

(ख) "शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति" ॥ सायणकाण्वभूमिका ॥

इन दोनों स्थलों में शतपथ को मन्त्र का व्याख्यान मान कर भी ऋगादिभाष्यभूमिका में "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" की ही रट लगाई है ॥

इतिहास तथा वेदलक्षणविषय के परस्पर विरोध को देख कर भला थोड़ासा ज्ञान रखनेवाला भी कौन सायण की विद्वत्ता का प्रशंसक हो सकता है ? इन विषयों में वास्तव में सायण के मन में सन्देह ही बना रहा, आध्यात्मिक भावना थी नहीं, नहीं तो आचार्य दयानन्द की भांति १८-१८ घण्टे की समाधि द्वारा वेदार्थ के इन परमावश्यक मौलिक सिद्धान्तों का निर्णय आत्मा में करता, तब लिखता तो ठीक था ॥

जैसा कि आजकल भी बहुत से व्यक्ति वेद का स्वाध्याय आरम्भ करते हैं, तो साथ ही उस विषय में ग्रन्थ छापना भी आरम्भ कर देते हैं । "स्वयं नष्टः परान् नाशयति" जो स्वयं ही अनिश्चित है, वह भला दूसरों को निश्चित ज्ञान कैसे दे सकता है ?

यदि यह अनिश्चयात्मकता सायण के हृदय में न होती, यथावत् व्यवसायात्मक बुद्धि से वेदभाष्य करता तो संसार का महान् उपकार होता । इस अनिश्चयात्मकता के कारण ही वह—"तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते । यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानात्"··· 'सायण-ऋग्-भाष्य-भूमिका ॥ अर्थात्—परमेश्वर के ही इन्द्रादि रूप में होने से यह सब ईश्वर की ही स्तुति है—अपनी इस बात पर भी दृढ़ न रह सका । यह बात हम आचार्य दयानन्द में ही पाते हैं । जो बात लिखी निश्चयात्मकता से लिखी । संसार को सन्देह में नहीं डाल गये । किसी विषय पर न लिखा हो, यह दूसरी बात है ॥

इस प्रकार की अन्य भी अनेक बातें दर्शाई जा सकती हैं, जिनसे प्रत्येक निष्पक्ष विद्वान् को इसी परिणाम पर पहुँचना होगा (और हम इस विवेचना से इसी परिणाम पर पहुँचते हैं) कि सायण वेद के मौलिक अर्थों तक नहीं पहुँच सका । सायण की हिमालय जैसी ये मौलिक भूलें कदापि क्षन्तव्य नहीं हो सकतीं ॥

पूर्व पृ० ४३ पर दर्शाई वेदार्थ की कसौटियों पर सायण का वेदार्थ नहीं ठहरता, पाठक यह बात स्वयं अपनी दृष्टि से देखें ॥

सायण की भूल के दुष्परिणाम

यह भूल सायण तक ही रह जाती या शताब्दियों तक भारत तक ही यह भूल रह गई होती, तब भी कोई बात नहीं थी । इसके परिणाम बड़े भयङ्कर हुए । यह ठीक है कि महात्मा बुद्ध के काल में भी यज्ञयागादि

की इस प्रधानता ने ही बुद्ध जैसे महापुरुष, पवित्रहृदय महात्मा को यह कहने पर बाधित कर दिया था कि मैं ऐसे वेदों को मानने को उद्यत नहीं, जिनमें पशुहिंसा का विधान हो ॥

विदेशीय राज्य की रक्षा को लक्ष्य में रख कर, या पीछे से भाषाविज्ञान में विशेष जानकारी प्राप्त करने के विचार से, संस्कृतभाषा में सामान्यतया और वेदविषय में विशेषतया लगने वाले योरोप-अमेरिका आदि देशों के अनेक विद्वानों को भी (और कोई वेदार्थ उपलब्ध न होने से) सायण का ही अनुगामी बनना पड़ा और जो २ सायण के भाष्य में पुरानी मिथ्या बातों वा मिथ्या धारणाओं पर प्रामाणिकता की मोहर लग चुकी थी, उसी के पीछे विदेशी विद्वानों का समूह चला। ऐतिहासिकवाद के विषय में सायण से पूर्व आचार्य स्कन्द स्वामी का **"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः"** यह सिद्धान्त चला आता था और जो प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है, यह धारणा परम्परा से स्कन्द के काल तक चली आई थी, सायण ने उनका उल्लेख भी अपने भाष्य में किया होता, तब भी वेदार्थ की मौलिक धारणायें किसी प्रकार जीवित रह जातीं। तब इन विदेशीय स्कालरों को भी वेदार्थ के विषय में सोचने का अवसर मिलता कि आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ तो अभी शेष हैं, सायण के भाष्य में ही वेदार्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती और इतिहास का सारा वर्णन औपचारिक (Simile) के रूप में है, न कि वास्तविक। तब महान् उपकार होता। विदेशीय विद्वान् हमारी सारी संस्कृति, सभ्यता, और साहित्य को उलटे रूप में सब के सामने न रख सकते ॥

मैं तो कहता हूँ कि यदि सायणभाष्य का ही हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू वा अन्य जिस किसी भाषा में अनुवाद करके किन्हीं शिक्षणालयों में रख दिया जावे तो निश्चय ही समझना चाहिये कि कुछ श्रद्धालुओं को छोड़कर सबकी एक ही ध्वनि उठेगी कि ये वेद जङ्गलियों की यों ही बड़बड़ाहट या अण्ट सण्ट कृतियाँ हैं, जिनका मानवसमाज को कुछ भी उपयोग वा लाभ नहीं हो सकता। पञ्जाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री परीक्षा में जितना अंश सायणभाष्य का है, उससे सायण की छाप के कारण शास्त्री उत्तीर्ण छात्र प्रायः वेद से विमुख ही हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेद के वास्तविक स्वरूप का तो दर्शन भी नहीं हो पाता। इस सारे अनर्थ का मूल सायणाचार्य का वेदार्थ ही है। यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि 'मुख्येन व्यपदेशः' नियमानुसार सेना जा रही हो तो भी मुख्यता से यही कहा जाता है कि 'राजा जा रहा है'. इसी प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार भाष्य करनेवाले अन्य सभी भाष्यकार इसी कोटि में आ जाते हैं। उनके पृथक् निर्देश की यहाँ आवश्यकता नहीं। सब 'यथा हरिस्तथा हरः' के अनुसार ही समझने चाहियें। सायण का नाम इसलिये भी बार २ आता है कि वेदों तथा ब्राह्मणग्रन्थों पर सब से अधिक भाष्य सायणाचार्य के ही हैं, जिनको लेकर आगे लोगों ने अनुवादादि किये। सायण के भाष्य को पढ़कर कोई भी समझदार वेद के उस स्वरूप तक नहीं पहुँच सकता, जो ऋषि-मुनि मानते हैं, जिसका निरूपण हम पहिले कर चुके हैं। जैसे—

"स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स'। (मनु० २। ७४) ॥

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ महाभारत शान्तिपर्व अ० २३२। २४ ॥

वेद समस्त विद्याओं का स्रोत है, सम्पूर्ण ज्ञान वेद से ही मानवसमाज को प्राप्त हुआ, सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन वेद में है, इत्यादि सब बातें सायणभाष्य को पढ़कर कभी मन में नहीं बैठ सकतीं ॥

सायण और विदेशीय विद्वान्

विदेशीय विद्वानों को वेदविषय में सायणभाष्य ही एकमात्र आश्रय मिला। वह उनके अनुकूल निकला, क्योंकि वे तो चाहते ही थे कि भारतीयों को अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता और साहित्य (वाङ्मय) के प्रति जितनी अश्रद्धा पैदा करने में हम सफल हो जायेंगे, उतना ही हमारा राज्य भारत में स्थायी तथा दृढ़ होता

जायेगा। उन्होंने वेद या अन्य वैदिक वाङ्मय के जो अनुवाद अंग्रेजी में किये, वे सबके सब सायण की छाया से ही किये। यह ठीक है कि इन विदेशीय विद्वानों ने भारतीय न होते हुए भी हमारे संस्कृतसाहित्य में, विशेष कर वैदिक वाङ्मय में, अनुपम प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय उद्योग किया, इसके लिये हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। निस्सन्देह उन्होंने वैदिकवाङ्मय में खोज (Research) का उपक्रम करके हम भारतीयों के सामने अपने साहित्य की रक्षा का उत्तम मार्ग दर्शा दिया। जिस जिस ग्रन्थ का भी किसी विदेशी ने सम्पादन किया है, सर्वसाधारण की दृष्टि से निस्सन्देह वह उनके अत्यन्त परिश्रम और निरन्तर धैर्य और गम्भीर विवेचना का परिचय देता है। यह दूसरी बात है कि उनका ज्ञान शास्त्रविषय में गहरा नहीं, अपितु बहुत थोड़ा है। अतः जिस विषय में उनका ज्ञान नहीं उसमें उनसे भूलें रह जाना स्वाभाविक ही है। पर उन जैसा परिश्रम इस पराधीन देश के विद्वानों ने प्रायः नहीं किया, वा उनके गुणों की ओर ध्यान नहीं दिया, यही कहना पड़ता है। देशकी पराधीनता के बन्धन[1] ढीले होने पर आर्यों (हिन्दुओं) को या कांग्रेस को समझ आगई (जो अभी बहुत कठिन प्रतीत होती है, प्रायः सब विदेशी संस्कृति-सभ्यता और साहित्य के उपासक हो रहे हैं, यह विष भारत से न जाने कितने लम्बे काल के पश्चात् निकल सकेगा) तो सम्भव है हमारी वैदिकवाङ्मय की यह अमूल्य सम्पत्ति फिर से अपने पहले उच्च शिखर पर पहुँच जावे ॥

यह सब होते हुए भी हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि उनकी भावना अच्छी नहीं थी, जिससे प्रेरित होकर वे हमारे साहित्य की खोज में लगे। अपने इस विचार की पुष्टि में विचारशील महानुभावों के सामने कुछ एक उदाहरण उपस्थित करते हैं। मोनियर विलियम अपने संस्कृत-अंग्रेजी-कोश की भूमिका में लिखता है—

(1) "That the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into Sanskrit, so as to enable his countrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian Religion"

(भूमिका पृ० ९) ॥

इसका भाव यह है कि यह संस्कृत-अंग्रेज़ी-डिक्शनरी या संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य जो मि० बोडन के ट्रस्ट द्वारा हो रहा है, वह सब भारतीयों को ईसाई बनाने में अपने देश (इङ्गलैण्ड) वासियों को सहायता पहुँचाने के लिये है। इस एक उदाहरण से ही विचारशील महानुभाव समझ सकते हैं कि विदेशियों ने किस ध्येय को लक्ष्य में रखकर हमारे वैदिकसाहित्य, तथा अन्य संस्कृतसाहित्य में इतना घोर परिश्रम किया। सब योरोपीय तथा अन्यदेशीय विद्वान् प्रायः इसी धारणा और भावना को लेकर हमारे सारे साहित्य की खोज में आये, हमारे कल्याण के लिये नहीं, यह दुःख से कहना पड़ता है ॥

पाठकों की अधिक जानकारी के लिये हम यहां कुछ एक उदाहरण और भी उपस्थित करते हैं—

(२) बौडनचेयर के प्रथमाध्यापक हेमन विलसन ने जान मूर के दो सौ पौण्ड का पारितोषक पाने के लिये निबन्ध लिखा, जो हिन्दू धार्मिक पद्धति के खण्डन में सर्वोत्तम लेख माना गया। "These lectures were written to help candidates for prize of £ 200 given by John Muir, a well known old Haileyburyman and great scholar, for the best refutation of the Hindu Religious system."

Eminent orientalist Madras P. 72.

(३) राथ—ह्विटने और मैक्समूलर लगभग समकालीन थे। ह्विटने मैक्समूलर का सहपाठी था, उसने लिखा—"जर्मन पद्धति के नियम एकमात्र ऐसे नियम हैं, जो वेद के सत्यता से समझे जाने का मार्ग दिखा सकते हैं।

१. भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भी अभी तक स्थिति वैसी की वैसी है। विदेशीय स्कालरों से प्रमाणित हुये भारतीयों को (जिन्हें संस्कृत वाङ्मय का मौलिक ज्ञान तो है नहीं, अङ्गरेजी ढंग से संस्कृत का अध्ययन किया है) जब तक प्रश्रय मिलता रहेगा, बड़े भारी वेतन मिलते रहेंगे, तब तक स्थिति नहीं सुधर सकती। भारत की मस्तिष्क की दासता दूर नहीं हो सकती। भारत सच्चे अर्थों में तब तक स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

(४) मैक्समूलर ने लिखा "Largest number of Vedic hymns are childish in the extreme tedious, low, common place."

Chips from a German Workshop. second edition, 1866 P. 27,

अर्थात्—वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या परम बालकतापूर्ण, जटिल, अधम और साधारण है ॥

(५) मैक्समूलर ईसाई धर्म को सब से अच्छा, बाइबल को सबसे उत्तम धर्मपुस्तक, और वेद को कुरान से भी नीचे बताता है—

"Would you say that any one sacred book is superior to all other in the world ? I say the new Testament. After that, I should place the koran which in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the new Testament. Then would follow……the old Testament, the southern Buddhist Tripitikas……the Veda and the Avesta."

अर्थात्—संसारकी सब धर्मपुस्तकों में से नईप्रतिज्ञा(ईसा की बाइबल) उत्कृष्ट है। इसके पश्चात् कुरान, जो आचार की शिक्षा में नई प्रतिज्ञा (बाइबल) का रूपान्तर है, रखा जा सकता है। इसके पश्चात् पुरानी प्रतिज्ञा (बाइबल), दाक्षिणात्य बौद्ध त्रिपिटक, वेद और अवेस्ता आदि हैं। (एक पत्र में अपने पुत्र के नाम मैक्समूलर ने लिखा) ॥

(६) मैक्समूलर के पत्र—"The ancient religion of India is doomed and if christianity does not step in, whose fault it will be."

अर्थात्—"भारत का प्राचीन धर्म नष्टप्राय है, और यदि ईसाई धर्म उसका स्थान नहीं लेता, तो यह किस का दोष होगा" ? (मैक्समूलर ने भारतसचिव को लिखा १६ दिसम्बर १८६८) ॥

(७)मैक्समूलर के वेद के अनुवाद और रिसर्च में लगने का क्या उद्देश्य था, वह स्वयं अपनी पत्नी के नाम लिखता है—

"The edition of mine and the translation of the Veda, will here after tell to a great extent on the fate of India and on the growth of millions of souls in that country. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is 'the only way of uprooting' all that has sprung from it, during the last three thousand years."

अर्थात्—वेद का अनुवाद और मेरा (सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का) यह संस्करण उत्तर काल में भारत के भाग्य पर दूर तक प्रभाव डालेगा। यह उनके धर्म का मूल है, और मैं निश्चय से अनुभव करता हूँ कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन सहस्र वर्ष में इससे उत्पन्न होने वाली सब बातों के मूलसहित उखाड़ने का एकमात्र उपाय है ॥

(८) मैक्समूलर के नाम उसके घनिष्ठ मित्र ई० बी० पुसे का पत्र—

"Your work will form a new era in the efforts for the conversion of India……"

अर्थात्—"आपका कार्य भारतीयों को ईसाई बनाने के यत्न में नवयुग लाने वाला होगा ॥"

यह भी विदित रहे कि पाश्चात्यों में संस्कृतवाङ्मय के प्रति किसी को भी श्रद्धा नहीं हुई, सो बात नहीं। जर्मनी में बान विश्वविद्यालय के प्रथम संस्कृताध्यापक के सहयोगी हैम्बोल्ट ने गीता को "गम्भीरतम, और उच्चतम वस्तु" कहा। जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने उपनिषदों का लेटिन में अनुवाद किया। उपनिषदों के विषय में लिखा—"सब से अधिक सन्तोषप्रद तथा उन्नत करने वाले……मेरे जीवन और मृत्यु के आश्वासन"।

फ्रैंच विद्वान् जैकालियट (प्रधान न्यायाधीश चन्द्रनगर सन् १८६९) ने लिखा—

"प्राचीन भारत भूमि, मानवजाति के जन्मस्थान, तेरी जय हो……क्या कभी ऐसा दिन भी आयेगा, जब हम अपने पाश्चात्य देशों में तेरे अतीत काल की सी उन्नति देखेंगे ॥"

यह सब देख कर पाश्चात्य विद्वानों को विशेष कर यहूदी और ईसाई मत वालों को बहुत बुरा लगा, जैकालियट के विरुद्ध इन लोगों ने घोषणा की, कि "The author seems to have been taken in by the Brahmanas in India' अर्थात् "लेखक ब्राह्मणों के धोखे में आ गया है" ।। उधर गोल्डस्टकर ने जब लिखा कि "पाश्चात्य दुर्भावना से भारत को गिराने का षड्यन्त्र करते हैं", तब वैबर तथा राथ ने लिखा कि "गोल्डस्टकर के मस्तिष्क में पूर्ण विकार हो गया है"।

अर्थात् उसे पागल बना दिया। गोल्डस्टकर ने इनका भाण्डा फोड़ किया कि राथ वैबर मोटलिङ्ग कूहन आदि कृतसंकल्प हैं कि भारत का गौरव नष्ट किया जावे ॥[१]

ऐसी और भी अनेक बातें इस विषय की उपस्थित की जा सकती हैं। इतने से ही पाठकों की समझ में आ सकता है कि ये पाश्चात्य लोग तथा इनकी पद्धति में की जानेवाली रिसर्च भारतवर्ष की जड़ खोदने में घोर प्रयत्नशील रहीं। भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भी, अभी तक उसी ओर अग्रसर है। भारतीय विद्वानों को अब परतन्त्र वा विदेशी दासता की मनोवृत्ति को त्याग कर विशुद्ध भारतीयता को अपना कर देश को ऊंचा उठाना चाहिये ॥ कहना यह है कि जब पाश्चात्य विद्वान् प्रायः भारत के गौरव को नष्ट करने में लगे थे, तो उनके वेदों के अनुवाद भी कैसे उत्तम वा ग्राह्य हो सकते थे, इसमें उन्हें सायण परम सहायक सिद्ध हुआ ॥

हमें प्रकृत में यह बतलाना है कि सायण की वेदार्थ विषय की मिथ्याधारणा का कितना दुष्परिणाम हुआ। सोचने की बात है कि इन विदेशी विद्वानों को यदि सायण की अपेक्षा वेद का उत्तम भाष्य मिला होता, तो इनके अंग्रेज़ी वा अन्य योरोपियन भाषाओं में किये अनुवाद निश्चय ही भिन्न होते (दूषित भावनावालों को छोड़कर)। अब तो वे सबके सब सायण से आगे नहीं जा सके। एक आध ने थोड़ा बहुत यत्न किया, पर धारणा सुदृढ़ न होने तथा प्रमाण न मिलने से रह गये। कर ही क्या सकते थे। यदि सायण की मिथ्याधारणा और उसके आधार पर किया वेदार्थ अर्थात् वेदभाष्य न होता तो मैक्समूलर का ऋग्वेदभाष्य पर का लेख, तथा ग्रिफ़िथ के ऋग्-यजु-साम-और अथर्व के अनुवाद, विलसन का ऋग्वेद का अंग्रेज़ी अनुवाद, लुडविग (A. Ludwig) का ऋग्वेद का जर्मनानुवाद, राथ तथा ह्विटनी का अथर्ववेद का अंग्रेज़ी अनुवाद, बैनफ़ी का सामवेद का जर्मनानुवाद, कीथ का तै० संहिता, ऐतरेय और कौषीतकी ब्राह्मण का अनुवाद, हाग का ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद, ऐगलिङ्ग का शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद, इन सबका स्वरूप अवश्य ही वह न होता जो अब है। सायण के वेदार्थ ने इनकी आंखों पर भी पट्टी बांध दी ॥

इनके अतिरिक्त रोजन, ग्रासमैन, ओल्डनबर्ग, वैबर, कोलब्रुक, ब्लूमफील्ड, आफ्रेक्ट, जैकोबी, स्टीवैन्सन, मैकडानल, मोटलिङ्ग आदि ने जो वैदिक वाङ्मय के भिन्न २ विषयों पर घोर परिश्रम किया, उसका स्वरूप भी अवश्य ही भिन्न होता। इसी प्रकार Adolf Kaegi, E. Hultzsch, J. Kirste, I. N. Reuter, I. W. Solomons, A. C. Burnel, Kust Klemm, D. Gaustra, I. N. Neglein आदि श्रौत और गृह्यसूत्रादि पर परिश्रम करनेवाले विद्वानों का दृष्टिकोण भी अवश्य ही भिन्न होता। इनमें जिनका स्वार्थ इसी बात में था कि भारत की संस्कृति, सभ्यता का निम्नतम स्वरूप ही संसार के सामने आवे, और जिन्हें भारतवासियों को भी उनके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रखना ही अभिप्रेत था, उनको छोड़कर बहुत से विद्वान् वेदार्थ के शुद्ध स्वरूप को जानकर अवश्य प्रसन्न होते और भारत के सदा ऋणी रहते !!!

वेदार्थ का सच्चा स्वरूप कभी भी सामने नहीं आ सकता, जब तक सायण के वेदार्थ की भित्ति (दीवार) बीच में खड़ी रहेगी। जो व्यक्ति उस दीवार को लांघ जायेगा, वही सच्चे वेदार्थ का दर्शन कर सकता है, दूसरा नहीं। यहां इस विषय के हमारे सारे कथन का सार यही है कि अन्य सामग्री के अभाव में सायण के कन्धे पर चढ़कर पूर्वोक्त धारणाओं के आश्रय से (उसकी मिथ्या धारणाओं को छोड़कर) हमें दूर की वस्तु देखने में कुछ सहायता भले ही मिले, परन्तु हमें वेदार्थ के लिये सायण से आगे चलना होगा ॥

१. पाठक इस विषय का विशेष-विशद और सप्रमाण विवेचन प्राचीन भारतीय इतिहास के अद्वितीय विद्वान् श्री० पं० भगवद्दत्तजी रिसर्चस्कालर कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' ग्रन्थ में 'भारतीय इतिहास की विकृति के कारण' प्रकरण में पृ० ३४ से ६८ तक अवश्य देखें ॥

महान् दयानन्द का प्रादुर्भाव

ऐसी दुरवस्था में परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से महापुरुष दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि जगन्नियन्ता अन्तर्यामी जगदीश्वर पर पूर्ण निष्ठावान् होने के कारण ही उनको दैवी अन्तःप्रेरणा हुई कि तुम वेद और वेदार्थ के सच्चे स्वरूप को संसार के सामने रखो, जिससे शताब्दियों से इस विषय की फैली हुई भ्रान्ति दूर होकर विश्व का कल्याण हो।

दयानन्द ने घोषणा की—

वेद प्रभु की पवित्रवाणी है, जो सृष्टि के आदि में जीवों के कल्याणार्थ, संसार के अन्य भोग्य पदार्थों की भान्ति कर्मों की यथार्थ व्यवस्था के ज्ञानार्थ, तदनुसार आचरण करने के लिये परम पवित्र ऋषियों द्वारा प्रदान की गई। भावी कल्पकल्पान्तरों में भी यही वाणी इसी प्रकार प्रादुर्भूत होगी। यह किसी व्यक्ति या व्यक्तिविशेषों की कृति नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परमपिता परमात्मा की ही रचना है। इसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता कल्पकल्पान्तरों में नहीं होती। 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—समस्त संसार तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान, यह सब विधाता की यथापूर्व कृति हैं॥

यह है वेद के सम्बन्ध में वैदिकधर्मियों की धारणा, जिसका विशद निरूपण हम पूर्व कर चुके हैं। यथार्थता की कसौटी पर ठीक उतरने से वैदिकधर्मियों ने इस धारणा को अङ्गीकार किया है, और उसके पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है। वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहां तक परिश्रम करना पड़ा होगा, वह भी उस अवस्था में जब कि वेदों का पठन-पाठन लुप्तप्राय ही हो रहा था, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रसम्बन्धी विविध रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों और शास्त्रकारों के कहे जाने वाले परस्पर विरोध की काली घटाओं, विविध वादों तथा मतमतान्तरों के तूफान (झंझा) में दयानन्द चट्टान की तरह अविचल रहे। हम तो जब उस भयङ्कर तूफान का ध्यान करते हैं, स्तब्ध हो जाते हैं। उस तूफान से दयानन्द डिगे नहीं, अपने आपको केवल सम्भाले रहे, इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने एकदम इन सब परस्पर विरुद्ध रूढ़ियों और वादों के विरुद्ध घोषणा कर दी कि **"वेद प्रभु की वाणी है, नित्य स्वतःप्रमाण है, इसमें किसी का इतिहास नहीं, अन्य सब शास्त्र वेदानुकूलतया ही प्रमाण हैं।"** कल्पनामात्र से नहीं, अपितु प्रमाण और तर्क के आधार पर।

ऋषि दयानन्द की इन धारणाओं का विशद निरूपण हमें उनकी **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में बहुत उत्तम रीति से मिलता है। वेदविषय का यह एक अपूर्व ग्रन्थ है, जिसमें वेदविषय की सभी आवश्यक बातों का समावेश है, जो कि वेद का स्वाध्याय करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को जाननी चाहियें। इसको पढ़ने के पश्चात् ही उनके वेदभाष्य की प्रक्रिया ठीक तरह समझ में आ सकती है। यद्यपि इस वेदभाष्य का वास्तविक स्वरूप स्वयं पढ़ने पर ही बुद्धिगत होगा, तथापि हम ऋषिदयानन्दकृत भाष्य की कुछ विशेषतायें दर्शाते हैं, जिससे पाठकों को इस विषय का ज्ञान सुगमता से हो सके॥

दयानन्द-भाष्य की विशेषतायें

(१) यह वेदभाष्य वेदापौरुषेयत्ववाद की धारणा के आधार पर है। इस वेदभाष्य में कहीं पर भी इस धारणा के विरुद्ध कुछ नहीं मिलेगा। वेद पूर्ण ब्रह्म जगदीश्वर द्वारा प्रदत्त होने से पूर्णज्ञान है, इसमें अज्ञान का लेश भी नहीं॥

(२) इसमें लौकिक और वैदिक शब्दों के भेद को ध्यान में रखकर यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि आदि ऋषि-मुनियों के आधार पर वेद के शब्दों के लिये समस्त वैदिक नियमों का आश्रयण किया गया है॥

(३) वेद में आये नामशब्दों को धातुज मान कर (जैसा कि यास्क और पतञ्जलि का सिद्धान्त है) प्रकरणादि के आधार पर उनके सभी सम्भव अर्थों का निरूपण किया गया है। निर्वचनभेद से भिन्न २ अर्थों का निरूपण भी इसमें मिलता है ॥

(४) धातुओं के अनेकार्थत्व के सिद्धान्त को, जो सभी वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त है, जिसको प्रायः सब वेदभाष्यकारों ने अपने भाष्यों में माना है, उसके आधार पर मन्त्रों के अर्थ किये गये हैं। दूसरे शब्दों में वेदों के शब्द यौगिक और योगरूढि हैं, रूढि नहीं, यह इस भाष्य की आधारशिला है ॥

(५) आध्यात्मिक-आधिदैविक और अधियज्ञादि तीनों प्रक्रियाओं के आधार पर वेदमन्त्रों के अर्थ होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार दयानन्दभाष्य के संस्कृतपदार्थ में प्रायः सभी प्रक्रियाओं में अर्थ दर्शाया गया है ॥

(६) अनेक स्थानों में वैदिक पदों के अर्थ वेदमन्त्रों के आधार पर किये गये हैं। जैसे य० १ । १३ ॥

(७) 'अग्नि' शब्द से केवल भौतिक अग्नि का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु 'अग्नि' शब्द के निर्वचन के आधार पर आध्यात्मिक-आधिदैविक प्रक्रिया में परमेश्वर-विद्वान्-राजा-सभाध्यक्ष-नेतादि तथा विद्युत्-प्रकाश जठराग्नि आदि का भी ग्रहण होता है, इसी प्रकार वायु, आदित्य, इन्द्र, यम, रुद्र आदि शब्दों के विषय में भी समझना चाहिये। और ये इन्द्र-वरुण-मरुत्-अग्नि-वायु-मित्रादि शब्द जहां भौतिक पदार्थों के नाम हैं, वहां मुख्यवृत्ति से ईश्वर के वाची हैं। यह प्रक्रिया सारे भाष्य में बराबर मिलेगी, सबसे बड़ा और मौलिक भेद दूसरे भाष्यों से इस भाष्य में यही है। यही इसका मूलाधारभूत वाद वा सिद्धान्त है, जिसको लक्ष्य में रखकर इस भाष्य की रचना हुई है ॥

(८) इसमें "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (वै० ६ । १ । १) अर्थात् वेद में कोई बात तर्क के विरुद्ध नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेदमन्त्रों का अर्थ किया गया है ॥

(९) यास्क-पाणिनि-पतञ्जलि आदि के दर्शाये नियमानुसार अनेक स्थानों में प्राचीन कहे जाने वाले पदपाठों से भिन्न पदविभाग भी इस वेदभाष्य में दर्शाये गये हैं। "यथाभिमतदृष्टयो व्याख्यातृणाम्" अर्थात् व्याख्या करनेवालों की भिन्न २ दृष्टियां होती हैं। 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्त्यम्' (महाभाष्य ३ । १ । १०९) अर्थात् पदकारों के पीछे सूत्रकार नहीं चलेंगे, अपितु पदकारों को व्याकरण के पीछे चलना होगा। अतः इस भाष्य में व्याकरणानुसार पदकारों से भिन्न पदविभाग भी माना गया है। वेद में अर्थ के पीछे स्वर है, न कि स्वर के पीछे अर्थ। स्वर के अनुसार ही अर्थ हो, इसमें वेद बन्धा[१] हुआ नहीं, अपितु अर्थ के अनुसार भी स्वर वेद में हो सकता है, यह नियम है। जिस को न समझ कर, प्राचीन परम्परा से अनभिज्ञ वा न पढ़े होने के कारण व्याकरणादि शास्त्रों का मर्म न जानने वाले, विद्वान् समझे जाने वाले व्यक्ति भ्रान्त देखे जाते हैं ॥

(१०) काव्य के अङ्गभूत श्लेषादि अलङ्कारों का प्रायः उपयोग इस वैदिक काव्य में सर्वप्रथम आचार्य दयानन्द ने ही अपने भाष्य में किया है, और इन अलङ्कारों के द्वारा अर्थों में बहुविध वैचित्र्य दर्शाया है ॥

(११) वेद में अनित्य (अर्थात् व्यक्ति-जाति-देश-विशेषों का) इतिहास नहीं, अपितु उसमें प्रकृति के औपचारिक वा आलङ्कारिक वर्णन हैं, ऐसा निरूपण किया गया है। जिसमें कि आज तक की परम्परा साक्षी है, जो पृ० ५६ पर पूर्व भी दर्शा चुके हैं, कुछ आगे भी दर्शायेंगे। तदनुसार इन्द्र-कण्व-अङ्गिराः आदि किन्हीं व्यक्ति-विशेषों के नाम नहीं हैं ॥

(१२) इस भाष्य में 'देवता' को मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय माना है तथा इन्द्र-मित्र-वरुणादि सब देवतावाची शब्द उसी एक महान् आत्मा परब्रह्म जगदीश्वर की विभूतियों के वाचक हैं (जैसा कि निरु० ७ । ४ में माना है)।

१. इसमें श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरणादि का ध्यान तो रखना ही होगा ॥
२. अलंकार को किसी २ आचार्य ने कहीं २ माना है। तद्यथा—
"कक्षीवान् सोमाभिषवकर्त्ता तमिव, लुप्तोपमानमेतत् ॥" नीतिमंजरी भाष्य पृ० १६ ॥

ऐसा मानकर यौगिकवाद के आधार पर उनके अर्थ दर्शाये हैं। सर्वानुक्रमणी से भिन्न भी कहीं २ वाच्यार्थ को देवता मानकर मन्त्रों की व्याख्या की गई है ॥

(१३) इस भाष्य में मन्त्रों के छन्द भी प्रायः अनुक्रमण्युक्त छन्दों से भिन्न दर्शाये हैं। यह छन्दोभेद भी प्राचीन आर्षपद्धति के मौलिक सिद्धान्त के अनुसार है। ऋषि दयानन्द ने मन्त्रों के छन्द पिङ्गल-छन्दःसूत्र के आधार पर दिये हैं, यह हम आगे छन्दोवाद-प्रकरण में सप्रमाण दर्शायेंगे ॥

(१४) 'व्यत्यय' के सिद्धान्त को मानकर ही वेद के विषय में 'सर्वज्ञानमयो हि सः', यह बात ठीक ठीक प्रमाणित हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस सिद्धान्त का बहुत ही सुन्दर सप्रमाण-हृदयग्राही उपयोग इस भाष्य में मिलता है ॥

(१५) **'वाक्यं हि वक्तुरधीनम्'** के अनुसार मन्त्र के पदों को अन्वय में सम्बद्ध करके अर्थ किया गया है ॥

(१६) 'यज्ञ' आदि शब्दों से त्रिविध आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक यज्ञों का अर्थ लिया गया है। केवल भौतिक यज्ञ को लेकर तो आचार्य दयानन्द का भाष्य समझ में ही नहीं आ सकता। दूसरे शब्दों में समस्त शुभ कर्मों का नाम यज्ञ है **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"**[1] (श०१। ७। १। ५), न कि हवनकुण्ड में आहुति डाल देने मात्र का नाम, यह बात समझ कर ही इस भाष्य को पढ़ना होगा ॥

(१७) पिङ्गल-छन्दःसूत्रानुसार प्रत्येक मन्त्र के[2] षड्जादि स्वर भी इस भाष्य में दर्शाये गये हैं ॥

(१८) वेद सर्वतन्त्रसिद्धान्त अर्थात् सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन करता है, यह बात इस भाष्य से स्पष्ट विदित होती है ॥

(१९) दयानन्दभाष्य में नैरुक्त शैली के अनुसार अनेक ऐसे शब्दों के निर्वचन मिलते हैं, जिनके निर्वचन निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में भी उपलब्ध नहीं होते ॥

(२०) दयानन्दभाष्य की सबसे बड़ी और अन्तिम विशेषता यह है कि उसमें नैरुक्त शैली के अनुसार संस्कृतपदार्थ[3] मन्त्रगत पदों के क्रम से रक्खा गया है और उसमें यत्र तत्र मन्त्रों के तीनों प्रकार के अर्थों को लक्ष्य में

---

१. पूर्व पृ० ४८ पं० ९ में भी यह उद्धरण है। कोई २ कहते हैं कि इस प्रकरण से तो यह सिद्ध हुआ कि श्रेष्ठतम कर्मों का नाम यज्ञ है। देवपूजा-सङ्गतिकरण और दान में तो समस्त श्रेष्ठ कर्म नहीं आ जाते। इसमें हमारा यह कहना है कि समस्त श्रेष्ठतम कर्म इन तीन विभागों में अवश्य आ जाते हैं। ब्राह्मणकार को यही अभिप्रेत है। सब श्रेष्ठ कर्म नहीं तो श्रेष्ठतमकर्म तो आ ही जायेंगे 'तमप्' प्रत्यय का यही सार्थकत्व है ॥

२. देखें 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पृ० ३६२—"प्रतिछन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते। कुतः ? इदानीं यच्छन्दान्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहारासिद्धेः"।
अर्थात्—"जिस मन्त्र का जो (षड्जादि) स्वर है, उस को वैसा बोलना चाहिये। यह परम्परा नष्ट हो चुकी है। इसीलिये हम लिख रहे हैं"। ऐसा ऋषि दयानन्द कहते हैं ॥

३. विदित रहे कि यजुर्वेदभाष्य ५। २२ से ६। ६ तक २७ मन्त्रों में आचार्य ने संस्कृतपदार्थ के पदों में यत्र तत्र अध्याहार करके अर्थ किया है। इसे हम निर्देशमात्र समझते हैं, क्योंकि अध्याहारयुक्त अर्थ करना भी दोषावह तो है नहीं। अध्याहार को निरु० १२। २८ तथा ५। १९ में माना है,। निरुक्त के टीकाकार तो सर्वत्र अध्याहार के सिद्धान्त को मानते ही हैं। ऋषि दयानन्द ने जब अन्वय को अध्याहारसहित सर्वत्र दर्शा दिया, तब उन्होंने सर्वत्र भाष्य में संस्कृत पदार्थ में अध्याहार नहीं दिखाया, उस अवस्था में अध्याहार दिखाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यह वास्तविक स्थिति है ॥
रही उपर्युक्त २७ मन्त्रों में ही अध्याहार दिखाने की बात। इसे हम निर्देशमात्र कह सकते हैं अर्थात् अध्याहारयुक्त दिखाना भी ठीक है, उसे दोषावह नहीं कहा जा सकता पठनार्थियों की दृष्टि से तथा अधिक लाभ की दृष्टि से संस्कृतपदार्थ और अन्वय को पृथक् २ दर्शाना आचार्य ने अधिक लाभकर समझा, ऐसा हमारा विचार है ॥

रखकर निर्वचन तथा अर्थ दर्शाया गया है, जो अन्वय में नहीं हो सकता था। अन्वय को संस्कृतपदार्थ का एक अंश समझना चाहिये। और इस संस्कृत अन्वय का ही भाषार्थ किया गया है, जो भाषा करनेवालों से ठीक २ पूरा हो भी नहीं सका। इस वेदभाष्य की इस विशेषता को न समझ कर बहुतसे सज्जन घबराने लगते हैं। इसका प्रकार समझ लेने से फिर कोई कठिनाई नहीं रहती। दयानन्दभाष्य की इन विशेषताओं की मूलभूत मुख्य २ सभी धारणाओं के लिये क्या आधार है, इसका विशद पर अतिसंक्षेप से निरूपण हम आगे करेंगे॥

यहाँ पर हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं (जैसा कि हम पृ० ५९, ६० पर विशद निरूपण कर चुके हैं) कि जितना भी कोई विद्वान् विद्या के भिन्न २ अङ्गों का ज्ञाता, तथा योगादि दिव्यशक्तिसम्पन्न होगा, उतना ही उसको वेदार्थ का भान अधिक उत्कृष्ट होगा॥

वेदार्थ और यौगिकवाद

अब हम वैदिकप्रक्रिया के मुख्य २ वादों पर प्रकाश डालना चाहते हैं, ताकि वेदार्थविषय की अनेक ग्रन्थियां सुलझ सकें॥

लौकिक और वैदिक शब्दों तथा उनके कोशों में भेद

लौकिक और वैदिक शब्दों के अर्थ में भेद होता है। लौकिक और वैदिक शब्दों का भेद महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य के आरम्भ में दर्शाया है कि—**"केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च"** (महाभा० पस्पशाह्निक)। आगे **"नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्च"** (महाभाष्य अ० ३।३।१) यह कह कर लौकिक और वैदिक शब्द भिन्न २ हैं, यह बतलाया, तथा नैगम अर्थात् वेद के शब्द रूढि नहीं होते, यह भी दर्शाया। इस भेद को न समझ कर बहुतसे साधारण लोगों को या आर्षग्रन्थों की परिपाटी न समझनेवालों को भ्रम होता है। देखिये! वैदिक निघण्टु में 'कण्व' मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् का नाम है। साधारण लोग 'कण्व' ऋषि का नाम समझने लगते हैं। 'अहि' निघण्टु में 'मेघ' को कहते हैं। 'पुरीष' निघण्टु में जल का नाम है। लौकिक कोशों में 'अहि' सांप को, तथा 'पुरीष' मलको कहते हैं। निघण्टु में कण्व, वेन, उशिक्, गृत्स इत्यादि जो लोक में संज्ञावाची शब्द हैं, इनको मेधावी नामों में पढ़ा है। 'कुरवः' ऋत्विक् नामों में है, कुरुवंश वाला नहीं। 'अपः' कर्मनामों में पढ़ा है, लोक में जल का नाम है, नश् धातु वेद में व्याप्ति अर्थ वाला है, और लोक में अदर्शन होने अर्थ में।

यह सब क्यों? यह इसलिये कि लौकिक और वैदिक शब्दों में भेद होता है। जो व्यक्ति वेद के शब्दों के अर्थ इन लौकिक कोशों के आधार पर समझेंगे, उन्हें वेद का अर्थ तीनकाल में भी समझ में नहीं आ सकता। इसीलिये आचार्य दयानन्द ने जब 'अग्नि' शब्द का अर्थ परमात्मा किया, तो उस समय के बड़े २ पण्डित माने जाने वाले विद्वान् भी एक दम चौंक पड़े कि 'अग्नि' का अर्थ भला सिवाय आग के कुछ हो सकता है!!! (देखो भ्रान्तिनिवारण पृ० ६ तथा १३ पर कलकत्ता यूनिवर्सिटी के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न की शङ्का)॥

हमारे उपर्युक्त उदाहरणों से एक साधारण पढ़ा लिखा भी भली भान्ति समझ सकता है कि वेद के शब्दों के अर्थ लौकिक कोशों के आधार पर कदापि नहीं समझे जा सकते। वास्तविक प्राचीन भाषाविज्ञान तो वह है, जो कि यास्क के निघण्टु और निरुक्त से ज्ञात होता है। वेद के शब्दों के व्यापक अर्थ की लचक वा उनकी व्यापकता को इन लौकिक कोशों ने कहां तक नष्ट कर दिया, यह समझा जा सकता है। वास्तव में लौकिक कोश लोक के लिये हैं, वेद के लिये नहीं, वेद के लिये उनको समझना ही नितान्त मौलिक भूल है॥

'नाम सब धातुज हैं'—ऋषियों का सिद्धान्त

विचारने की बात है कि यास्क (निरु० १ । १२ में) सब नामवाची पदों को आख्यातज कहता है । यही बात पतञ्जलि ने—"नाम च[1] धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्" (अ० ३ । ३ । १ महाभाष्य) कही है । जब 'नाम' सब धातुज (यौगिक) हैं, अर्थात् धातु से उनकी उत्पत्ति होती है, तो जिस धातु से उनकी निरुक्ति हुई, उस धातु के अर्थ को तो वे शब्द अवश्य ही कहेंगे । उधर "बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति" (अ० १ । ३ । १ महाभाष्य) महाभाष्यकार के इस सिद्धान्तानुसार एक २ शब्द का कितना व्यापक अर्थ होगा, यह स्वयं समझने की बात है । धातुओं के अनेकार्थत्व को समस्त वैयाकरणों तथा सब प्राचीन वेदभाष्यकारों ने माना है, जो हम आगे विस्तार से लिखेंगे । अनेक धातुओं से भी एक शब्द की व्युत्पत्ति करने का सिद्धान्त यास्क ने माना है । विदित रहे कि यह नियम ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है (शत० १४ । ८ । ४ । १) । यास्क ने निर्वचन करने के १०, १२ प्रकार बतलाये हैं । इनसे यही सिद्ध होता है कि यास्क के काल तक वैदिक शब्दों के अर्थों की व्यापकता बराबर मानी जाती रही । सम्पूर्ण निरुक्त का अभिप्राय ही हम तो अर्थों की व्यापकता का निरूपण करना समझते हैं । यदि निरुक्त कोशमात्र होता, तो शब्दों के वाच्यार्थमात्र बतलाता, जैसा कि अन्य कोश बतलाते हैं । हर एक पद के निर्वचन बताने का काम ही क्या था ? भाषाविज्ञान का यह परमप्रतिपादक ग्रन्थ है, ऐसा समझना चाहिये, और सच्चा भाषाविज्ञान यही है।[2] यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि शब्द का निर्वचन व्याकरण बताता है । शब्द के पर्याय कोश बताता है । अर्थ को लक्ष्य में रखकर निर्वचन करना निरुक्त का विषय है । यह मर्म की बात है, जिसे प्रायः विद्वान् नहीं जानते, विशेषकर अंग्रेजी ढंग से नाममात्र संस्कृत पढ़े लिखे पी० एच० डी० वा डी० लिट्० स्कालरों की समझ में नहीं आता, कारण यह कि उनके गुरुओं (पाश्चात्य स्कालरों) की समझ में भी नहीं आता ॥

यौगिकवाद में शैथिल्य क्यों आया ?

धातुओं की अनेकार्थता और नामवाची पदों को धातुज मानने से अर्थ समझने वालों को अपनी अयोग्यता या प्रमाद के कारण कठिनाई पड़ने लगी । 'उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे' (निरु० १ । २०) यास्क के इस वचन का भी इसी बात की ओर सङ्केत है । तब अर्थों के संकोच की आवश्यकता हुई, क्योंकि व्यापक अर्थ धारण करने वा सम्भालने की सामर्थ्य न रही । उदाहरणार्थ हमने बहुत से सज्जनों को देखा है, जो हमें कहने लगते हैं—'मन्त्र का एक अर्थ बतादो, या करदो, उस मन्त्र के अनेक अर्थ हों या न हों, इसकी हमें कोई आवश्यकता नहीं', यही अवस्था उस समय रही होगी, तब लोग शब्दों के धातु से उत्पन्न होने वाले अनेक अर्थों से तङ्ग होकर ग्लानि करने लगे होंगे, और संकुचित अर्थों के लिये प्रबल इच्छा उत्पन्न होने लगी होगी, ऐसा अनुमान होता है । इस प्रकार शनैः शनैः यौगिकवाद का प्रकाश संसार की दृष्टि से ओझल होता गया ।

अब हम इस यौगिकवाद पर अतिसंक्षेप से विचार करते हैं—

(१) वेद और यौगिकवाद—

सबसे पूर्व हमें वेद से ही देखना होगा कि वह इस विषय में क्या कहता है । यदि हमें वेद से ही पता लग जावे कि ऋ० १ । १२ । ९ में 'अग्नि' को कवि, गृहपति, युवा कहा गया है, तथा ऋ० २ । २८ । १ में 'आदित्य' को कवि कहा गया है । ऋ० १ । ४८ । ४ में "कण्व एषां कण्वतमः" में 'कण्व' को स्पष्ट ही

१. प्लेटो को केवल 'नाम' और 'आख्यात' का ही ज्ञान था । जैनोडोरास सर्वनाम का ज्ञान रखता था । अरिस्टार्क्स को उपसर्ग का ज्ञान हुआ । यूनान में इस विषय का क्रमशः ज्ञान हुआ । पाणिनि को इन सबका ज्ञान था, जैसा कि यास्क को भी था, पूर्व ऋषियों को भी रहा ही होगा ॥

२. इसका विवेचन पूर्व पृ० ५५, ५६ तथा आगे 'धातुओं का अनेकार्थत्व' प्रकरण पृ० ८८ में भी देखें ॥

विशेषणवाची माना है। ऋ० १। ८४। १ में 'मरुतः नृतमासः' में मरुत् मनुष्यों में श्रेष्ठ मनुष्य ही कहे गये हैं। इन्द्र को ऋ० १। ८४। २० में 'मानुषः', ऋ० ५। ३४। ३ में "विश्वस्य दमिता", ऋ० १। १००। ७ में 'विश्वस्य ईशे'। इन से इन्द्र, मनुष्य कहने से विद्वान् तथा परमेश्वर का नाम वेद ने बताया, क्योंकि 'मानुष' 'इन्द्र' मनुष्य ही तो होना चाहिये, सबका स्वामी होने से परमेश्वर। ऋ० ७। ७९। ३ में 'इन्द्रतमा' शब्द उपलब्ध होता है, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि 'इन्द्र' शब्द विशेषणवाची है। वाच्य और वाचक का यह सम्बन्ध कितना सुस्पष्ट है। इसमें सन्देह का लेशमात्र भी नहीं रह जाता॥ तब ये सब अर्थ 'अग्नि', 'इन्द्र' आदि के धातुज होने से ही तो हो सकते हैं। "नान्यः पन्था विद्यते" और कोई मार्ग हो ही नहीं सकता। यहां पर यह विदित रहे कि हम इन्द्रादि को विशेषण या यौगिक अर्थ में न लेने वालों के लिये निदर्शन दे रहे हैं, वैसे तो यौगिक प्रक्रिया के अनुसार-विशेषण विशेष्य नामादि सबका निरुक्ति वा निर्वचन के अनुसार अर्थ होगा॥

यदि कोई कहे कि वेद ने धातु के योग से शब्दों का अर्थ होना माना हो यह बात नहीं, तो हम दुर्जन-सन्तोषन्याय से स्वयं वेद से ही दर्शाते हैं—

ऋ० ८। ९६। ४ में "च्यवनसच्युतानाम्", ऋ० ८। ५। ३१ में "[1]अश्नन्तावश्विनौ" लिखा है। इनसे स्पष्ट है कि निरुक्ति करने का प्रकार स्वयं वेदमन्त्र ही दर्शा रहे हैं॥

ऋ० १। ८९। १० में—

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम्॥

इस मन्त्र में 'स पिता स पुत्रः' वही पिता वही पुत्र कहा है। भला वही पिता वही पुत्र कभी हो सकता है।

इस मन्त्र का अंग्रेजी अनुवाद—"Aditi is the Mother and the Sire and Son." (यजुः० २५। २३ ग्रिफिथानुवाद)। यहाँ इन्होंने Sire से Father अर्थ लिया है। अन्यथा Mother का अर्थ भी कुछ और कर सकते थे।

'पिता' का अर्थ है पालन करनेवाला, जैसा कि निरु० ४। २१ में "पिता पाता वा पालयिता वा" तथा 'पुत्र' का अर्थ है पवित्र करनेवाला, जैसा कि निरु० २। ११ में "पुत्रः पुरु त्रायते...पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा" लिखा है। मनुस्मृति (२। १५३) में भी "पिता भवति मन्त्रदः" वेद के उपदेश करनेवाले को पिता कहा है॥ ऋग्वेद १। १६४। ४६ में अग्नि के इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक नाम कहे हैं, जो बिना यौगिकवाद के बन नहीं सकते। उक्त मन्त्र और उसकी यास्कीय व्याख्या (निरु० ७। १८) निम्न प्रकार है—

इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।
एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥

"इममेवाग्निं महान्तं [च] आत्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं...गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा"॥ यहां स्पष्ट ही निरुक्तकार ने इन्द्र-मित्र-वरुणादि 'अग्नि' के नाम बताये हैं। इस मन्त्र में 'अग्नि' पद दो बार आने से विशेष्यवाची स्पष्ट है, और शेष इन्द्रादि उसके विशेषण हैं॥

---

१. 'यद्वा अश्नवन्तौ व्याप्नुवन्तौ, अशू व्याप्तौ, अस्माद् व्यत्ययेन परस्मैपदं च'। (ऋ० ८। ५। ३१ सा० भा०)॥

२. श० ६। १। २। २६ 'स एष प्रजापतिः। पिता पुत्रः। यदेषो (प्रजापतिः) ऽग्निमसृजत, तेनैषोऽग्नेऽग्नेः पिता। यदेतमग्निः समादधत् तेनैतस्याग्निः पिता। यदेष देवानसृजत् तेनैष देवानां पिता। यदेतं देवाः समादधुः तेनास्य देवाः पितरः'।

(ii) दुर्ग निरु० टी० पृ० ५५६ वेङ्कटे० सं०॥ (iii) नित्यपक्ष प्रकृतिरुच्यते। निरुक्तसमुच्चय पृ० ८॥

आत्मानन्द अपने अस्यवामीयसूक्त के भाष्य पृ० ५४ में इसी के व्याख्यान में लिखता है।

"एकैव देवता परमात्मा सर्वदेवता। एकस्यैव नानानामग्रहणी·············इन्द्रं परेशमाहुः ···मित्रं परेशमाहुः···वरुणं परेशमाहुः···अग्निं परेशमाहुः त्वमग्ने रुद्र इत्यादौ···इदानीमग्निं परेशमाहुः" ॥ ठीक इसी प्रकार से आचार्य दयानन्द ने अपने भाष्य में माना है ॥

(२) ब्राह्मण ग्रन्थ और यौगिकवाद—

ब्राह्मण ग्रन्थों का यौगिकवाद के विषय में क्या मत है, इसको विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ तो निर्वचनों से भरे पड़े हैं। वे तो शब्दों की निरुक्ति द्वारा उनके अर्थ समझने की बात पदे पदे कहते हैं—

(क) अश्विनाविमे हीदꣳ सर्वमश्नुवाताम् (श० ४। १। ५। १६) ॥
(ख) अश्नुवाते हि तौ लोकान् ज्योतिषा च रसेन च (बृहद्देवता ७। १२७) ॥
(ग) अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्यः (निरु० १२। १) ॥

क्या कहें, ब्राह्मण ग्रन्थों ने तो मानो प्रत्येक शब्द की निरुक्ति के आधार पर अर्थ समझने की बात पदे पदे कहने का व्रत ही ले लिया हो, ऐसा जान पड़ता है ॥

तद्यदक्षरत् तदक्षरम् श० ६। १। ३। ६ ॥ श० ६। १। १। ११ में 'अग्नि' शब्द की निरुक्ति दर्शाई। गो० पू० १। ७ में 'अङ्गिराः', श० १। ८। २। ७ में 'अनुयाज', जै० उ० १। २०। ४ में 'अन्तरिक्ष', श० १४। ६। ११. २ में 'इन्द्र', श० १०। १। १। ५ में 'ग्रह', तै० २। २। ९। ९ में 'देव', ऐ० ब्रा० ३। १८ में 'धाय्या', गो० पू० १। २ में 'पुत्र', श० १४। ५। ५। १८ में 'पुरुष', गो० पू० १। ३ में 'भृगु', श० ३। ९। ४। २३ में 'यज्ञ', इत्यादि असंख्य शब्दों की व्युत्पत्तियां दर्शा कर उन उनके आधार पर अर्थ समझना चाहिये, यह स्पष्ट कहा है। सो ब्राह्मणग्रन्थ तो इस यौगिकवाद के परमप्रतिपादक हैं[1]।

(३) निरुक्त और यौगिकवाद—

(i) निरु० १। १२—"तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च" में यास्क सब नामवाची शब्दों को धातुज (प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न) मानता है, और सब नैरुक्तों का यही सिद्धान्त है, यह कहता है।

निरुक्त तो है ही इसी लिये, इसमें तो जितनी व्युत्पत्तियां दर्शाई गई हैं, वे सब इसीलिये हैं कि उन २ शब्दों की निरुक्तियों को ले लेकर तत्तत् शब्दों का अर्थ होता है, क्योंकि ये निर्वचन अर्थ को लक्ष्य में रख कर ही किये गये हैं ॥

इस विषय में यास्क तथा अन्य सब नैरुक्ताचार्यों का भी यही सिद्धान्त है। देखिये यास्कीय निरुक्त—"इदमपीतरच्छिर एतस्मादेव" निरु० ४। १३, "मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव (समुद्गीर्णो भवतीति)" निरु० १। २० ॥ ऐसे वचनों से भरा पड़ा है। 'एतस्मादेव' क्यों कहा, यह दर्शाने को कि लोक में प्रसिद्ध शिर आदि शब्द उस लचकीले (व्यापक) अर्थ को दर्शानेवाली व्युत्पत्ति के एक अंश हैं, जो वेद में व्यापकरूप में थी, पर लोक में जाकर सीमित वा संकुचित हो गई। यास्क के सामने तो, 'अर्थनित्यः परीक्षेत' अर्थ की

१. जो लोग यह समझते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों में जो 'यज्ञो वै वसुः' 'यज्ञ एव सविता' आदि वचन आते हैं। वे उन शब्दों के अर्थों को नहीं कहते, अपितु औपचारिक गौणीवृत्ति से अर्थ को बताते हैं। उनका यह कथन ठीक नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में आये 'वा' 'वै' आदि शब्द सायण तथा दुर्ग के मत में स्पष्ट अर्थ के बोधक हैं—
(क) "वसुशब्दार्थमाह यज्ञो वा वसुः"। शत० सायणभाष्य भा० १ पृ० २४६ ॥
(ख) "यज्ञशब्देन च विष्णुरुच्यते, विष्णुर्वै यज्ञ इति ह विज्ञायते"। दुर्गटीका पृ० ५५१ ॥

प्रधानता[1] को लेकर शब्दों का निर्वचन करना चाहिये, यह सिद्धान्त था। अनेक प्रकार से अर्थ की प्रतीति होने के कारण अनेक[2] व्युत्पत्तियां दर्शाईं॥

निरुक्त में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यास्क ने अपने निघण्टु (२।१) में २६ 'कर्म'-नाम गिनाये हैं, उधर निरु० २।९ में "चित्तिभिः कर्मभिः" ऐसा लिखा है। निघण्टु में 'चित्ति' शब्द कर्म-नामों में नहीं पढ़ा और निरुक्त में उसका अर्थ 'कर्म' किया गया है। इसी प्रकार निरुक्तटीका पृ० ५२६ में "बिठम् अन्तरिक्षम्, अपठितमन्तरिक्षनाम," तथा पृ० ४०७ पर "तूर्णाशमुदकम्, अपठितं चैतदुदकनामसु" ऐसा दुर्गाचार्य ने लिखा है। इसी प्रकार स्कन्द स्वामी ने भी निरु० टीका ६।१८ पृ० ४५७ में "स्वक्षत्रम् इत्य-पठितमपीह बलनाम द्रष्टव्यम्", तथा निरु० टीका २।१॥ भा० २ पृ० ६९ में "पञ्चदश तानि पठ्यन्ते अपठितान्यपि द्रष्टव्यानि" लिखा है॥

इन सब से स्पष्ट है कि यास्क के पढ़े निघण्टु में तत्तत् शब्दों के वाचक नाम निर्देशमात्र हैं। यह बात भी यौगिकवाद की व्यापकता को ही दर्शाती है। इससे यास्क के काल तक वेद के शब्दों की व्यापकता बराबर रही, यही कहना पड़ता है।

(४) पतञ्जलि और यौगिकवाद

यही बात पतञ्जलि भी मानते हैं—

(i) "नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।···नैगमरूढिभवं हि सुसाधु"॥ महाभाष्य ३।३।१॥ यह बात हम ऊपर लिख चुके, इस प्रकरण में पुनः लिख रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि यास्क और पतञ्जलि यौगिकवाद के परम प्रतिपादक हैं॥

(ii) महाभाष्यकार ने "भोगैः" का "शरीरैः" (अ० ५।१।९ में), "सप्तसिन्धवः का सप्तविभक्तयः" तथा "सखायः" का "वैयाकरणाः" अर्थ किया है। सो यह विना यौगिकवाद के हो ही कैसे सकता है! पस्पशाह्निक में 'सत्यदेवः' पर लिखते हुए नागेश लिखता है—"यौगिकोऽयम्" इत्यादि, पृ० ४६॥

(५) भर्तृहरि और यौगिकवाद—

वाक्यपदीय २।१७५ में भर्तृहरि कहता है—

"कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः। गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्॥

---

१. इस विषय में पूर्व पृ० ६०, पृ० ७८ पं० १५, तथा पृ० ८७, ८८ में 'धातुओं का अनेकार्थत्व' प्रकरण में देखें॥

२. कई लोग निरुक्त में अनेक धातुओं से शब्द की व्युत्पत्ति और उसके साथ 'वा' शब्द का प्रयोग देख कर यह समझते हैं कि निरुक्तकार के समय तक शब्द का असली अर्थ नष्ट हो चुका था। इसीलिये सन्देह के कारण उन्होंने अनेक धातुओं से निर्वचन दिखलाया, और अपने सन्देह को स्पष्ट करने के लिये 'वा' शब्द का प्रयोग किया॥ यह कथन ठीक नहीं है। भला विचारने की बात है कि सम्पूर्ण निरुक्त में जहां अनेक व्युत्पत्तियां दिखाईं वहां कोई भी ऐसी व्युत्पत्ति नहीं, जिसमें 'वा' शब्द का प्रयोग न किया गया हो। यदि ग्रन्थकार को किसी भी शब्द के अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं था, तो भला वह ग्रन्थ लिखने क्यों बैठता? इसलिये मानना पड़ेगा कि निरुक्तकार ने सन्देह के कारण अनेक धातुओं से निर्वचन नहीं दर्शाया। ऐसे लोगों को निरुक्तकार की प्रक्रिया समझने में ही सन्देह है, न कि निरुक्तकार को सन्देह है। 'अर्थनित्यः परीक्षेत' इसको लक्ष्य में रख कर जितनी धातुओं से उस अर्थ की प्रतीति हो सकती थी, उतनी भिन्न २ धातुओं से निर्वचन किये। 'वा' कहने का अभिप्राय यह है कि जितनी निरुक्तियां दिखाई गईं उनसे अतिरिक्त भी निरुक्ति की जा सकती है॥ (इस विषय में विशेष विवेचन श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत 'वैदिक-छन्दोमीमांसा' पृ० २०–३४ में देखें)॥

गिरति गर्जति गदति इत्येवमादयः साधारणाः सामान्यशब्दनिबन्धनाः क्रियाविशेषास्तैस्तैरा-चार्यैर्गोशब्दव्युत्पादनक्रियायां परिगृहीताः" ॥ वाक्यपदीय टी० भा० २, पृ० ९२ लवपुरसंस्करण ॥

यहां पर भर्तृहरि व्युत्पत्ति के आधार पर शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, यह दर्शा रहा है ॥

(६) मीमांसाभाष्य और यौगिकवाद—

(क) "विद्यमानोऽप्यर्थः प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते । निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः । यथा सृण्येव···" ॥ मीमांसाभाष्य १ । २ । ४१ पृ० १५६, १५७ ॥

(ख) शमयतीति शमिता, यौगिक एष शब्दः प्रकृतेष्वपि कल्पते ॥
मीमां० शा० भा० ३ । ७ । २९ ॥ पृ० १०९३ ॥

मीमांसकों के मत में वैदिक शब्द का अर्थ व्यापक होता है और वह यौगिकवाद के आधार पर होता है ॥

(७) निरुक्त के टीकाकार स्कन्द-दुर्ग और यौगिकवाद—

यास्क के अभिप्राय को उसके टीकाकार दुर्ग और स्कन्द ने भी ऐसा ही समझा है । देखो स्कन्द निरु० टी० भा० १, पृ० ९२—

(क) "एवमेतत् सर्वनाम्नामाख्यातजत्वं प्रतिपादितम् । तत् किमर्थम् ? उच्यते—अर्थान्तरे यो रूढिशब्दस्तस्यार्थान्तरे प्रयोगः······रूढ्यर्थस्याभावात् कर्मनिमित्तो यथा प्रतीयेतेत्येवमर्थम्" ॥

अर्थात्—नामों को धातुज मानने का कारण यह है कि प्रकृति-प्रत्यय के योग के आधार पर शब्द अपने व्यापक अर्थ को कह सके, रूढि अर्थ तक ही न रह जावे ॥

(ख) "स्त्रीशब्दोऽत्र क्रियानिमित्तस्त्रातुर्वाचकः, पुंशब्दोऽपि पुरुमनसः" निरु० स्कन्द टी० ५ । १ ॥ पृ० २८६ ॥ तथाप्यस्य तत्र तत्र मन्त्रवाक्यार्थसमवायसम्भवादभिधेयं निश्चित्य···········" ॥ निरु० टी० २ । ५ ॥ पृ० ४२ ॥

अर्थात्—क्रिया के निमित्त से शब्दों के वाच्यवाचक सम्बन्ध का निश्चय होता है, इत्यादि ॥

(ग) दुर्गाचार्य निरु० १ । १४, पृ० ६४ पर—

"स्वभावतो हि शब्दानां क्रियाजत्वेऽपि सति कांचिदेव क्रियामङ्गीकृत्यावस्थितिर्भवति । अथवा क्रियातिशयकृतो नियमः स्यात्, यो हि यदतिशयेन करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति तद्धेतुक एव नामधेयप्रतिलम्भो भवतीत्ययं समाधिः" ॥

अर्थात्—क्रिया वा प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर शब्दों का वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है, इत्यादि ॥

(घ) "आत्मवित्पक्षे तु सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति सर्वावस्थमात्मानं सर्वाभिधानव्युत्पत्तितो निरुच्य यथार्थतः परिज्ञाय सर्वात्मन आत्मनः सर्वावस्थं विभूतिताद्भाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनमिति" ॥ निरु० दुर्ग टी० पृ० ५९१ ॥

अर्थात्—सब पदों की व्युत्पत्ति दर्शाने का प्रयोजन यह है कि आत्मवित् पक्ष में सब अभिधान अभिधेय सम्बन्ध आत्मा में अन्वित हो सकें, इत्यादि ॥

(ङ) "अनेकैर्नामभिरङ्गुलय एवोक्ताः, अनेकक्रियाशक्त्युपप्रदर्शनाय" ॥ निरु० दुर्ग० टी० ३ । ९ ॥ पृ० १९४ ॥

(च) "अनुपक्षीणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दा यथाप्रज्ञपुरुषाणामर्थाभिधाने विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रकुर्वन्तीत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति" ॥ निरु० दुर्ग० टी० १ । २० ॥ पृ० ९४ ॥

इन उपर्युक्त उदाहरणों में स्कन्द सब शब्दों को धातुज मानकर उनके क्रियानिमित्त को लेकर अर्थ का बोध करना चाहिये, यह कहता है। दुर्ग भी कह रहा है कि अनेक निर्वचनों का अभिप्राय अनेकार्थता का बोध कराना है और वेद के शब्दों से अर्थ समझनेवाला व्यक्ति जितना योग्य होगा, उतना ही अधिक वेद के शब्दों का अर्थ समझ सकेगा ॥ (देखो दुर्गटीका पृ० १२६) ॥

(८) निरुक्तसमुच्चय[1] और यौगिकवाद—

"ब्रह्म, नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि। नैरुक्तसमयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः"॥ (पृ० २)

अर्थात्—नाम समान्यतया सब धातुज हैं, प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध को मानकर प्रयोग है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है ॥

(९) सायण से पूर्ववर्त्ती वेदभाष्यकार और यौगिकवाद—

अब हम यहां कुछ ऐसे शब्दों का संग्रह अतिसंक्षेप से देंगे, जिनके तत्तद् भाष्यकारों के किये हुए अर्थ, विना यौगिकवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किये, कदापि नहीं हो सकते। "अग्नि' 'वायु' आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा कभी नहीं हो सकता", ऐसा मानने वाले व्यक्ति भी हैं। (देखो भ्रान्तिनिवारण पृ० ६ पर पं० महेशचंद्र न्यायरत्न, प्रिंसिपल संस्कृतविभाग कलकत्ता यूनीवर्सिटी का लेख) ॥ हमारे दर्शाये इन सब स्थलों को पाठक उन २ भाष्यों में स्वयं निकाल कर भी देखें कि ये लोग भी यौगिकवाद के सिद्धान्त को नहीं छोड़ सके—

(क) स्कन्द के यौगिकवाद के कुछ और उदाहरण—

ब्रह्म = आदित्यः पूर्ववत् पृ० ७० । विष्णुः = परमात्मा भा० २ पृ० ५५ । असुरः = प्राणवानुद्गाता पृ० १७२ । सिन्धवः = रश्मयः भा० १ पृ० ६९ । ईश्वरम् = आदित्यम् भा० २ पृ० २०० । सविता = यजमानः निरु० ११ । ४८ । अदितिः = कारणं ब्रह्म पृ० २६४ । शुना = वायुः पृ० २१४ । मनः = विज्ञानम् भा० १ पृ० १०६ इत्यादि ॥

(ख) दुर्गाचार्य निरु० टी०—प्राज्ञश्चात्मा = परमात्मा पृ० ८५७ । सुपर्णः = अग्निः पृ० ८४२ । वरुणः = आदित्यः पृ० ८४१ । वरुणः = विद्युत् पृ० ८५१ । असुरः = प्रज्ञानवान् पृ० ३६१, ७५३ । असुरः = ब्रह्मा उद्गाता वा पृ० २२८ । इन्द्रश्चाग्निश्च = ब्राह्मणश्च राजा च पृ० ४१७ । सोमः = दुग्धम् पृ० ३५९ । रश्मयः = स्त्रियः पृ० ३५९ । रश्मयः = बहुप्रज्ञानाः पृ० ३५९ । आपः = वाणी पृ० ४३८ इत्यादि ॥

(ग) भट्टभास्कर—तै० सं० भाष्य भाग १ पृ० २९६ पर—गावो = गन्तारो जनाः, । पृ० १०४ पर यज्ञं = परमात्मानं विष्णुम्, ऐसा अर्थ करता है ॥ तै० आ० भा० १ पृ० ६२ पर "वसवो रश्मयः" ऐसा अर्थ किया है।

(घ) उवट—यजुर्वेदभाष्य में—पिता = पाता (य० २ । ११) । इन्द्रः = यजमानः (य० ४ । २७) । वरुणः = परब्रह्म । इसी प्रकार महीधर ने भी—सवितुः = परमेश्वरस्य (य० १० । ६) ॥ इन्द्रः = आत्मा (य० ६ । २०) इत्यादि लिखा ॥

(ङ) आत्मानन्द—अस्यवामीय (ऋ० १ । १६४) सूक्त भाष्य में—अग्ने = अग्रणीः परमात्मा पृ० ५४ । सूर्यः = परमात्मा पृ० ३४ । सोमः = जगदीश्वरः पृ० ४४ । पुत्राः = अवयवाः अंशाः पृ० १४ । स्वसारः = ज्ञानेन्द्रियाणि पृ० ७ । अश्विभ्याम् = गुरुशिष्याभ्याम्[2] पृ० ३६ ॥

(च) जयतीर्थ (ऋग्वेदभाष्ये)—इन्द्रः = परमेश्वरः पृ० २२ । वायुः = परमेश्वरः, पृ० १३ । अत्रिः = न विद्यन्ते त्रयो यासाम्, पृ० ३ । श्वा = वायुः पृ० ३२ ॥

(छ) शत्रुघ्न—यजुर्मञ्जरी में—अश्वः = पतिः पृ० ४० । इन्द्रः = परमेश्वरः आदित्यो वा पृ० १३३ ॥

---

१. इस विषय का विशद विवेचन 'धातुओं का अनेकार्थत्व और यौगिकवाद' प्रकरण के अन्त में पृ० ८८ पर देखें ॥

२. आचार्य दयानन्द ने अपने भाष्य में अनेक स्थलों में "अश्विनौ" का अर्थ 'गुरु शिष्य' तथा 'अध्यापकोपदेशक' किया है, जिसे मानने में अनेक व्यक्ति हिचकिचाते हैं ।

(ज) (i) भरतस्वामी—सामवेदभाष्य—देवः = दाता पृ० १० । अग्निः = रुद्रः पृ० १३ । अत्रिणं = अदनशीलं पृ० १७, ६१ । प्रियमेधाः = प्रिययज्ञाः पृ० १४३ । तरुतारम् = गन्तृतमम्, हिंसितारम् पृ० १५१ ॥

(ii) "आध्यात्मिकत्वेन तावद् योज्यते पवित्रं सुखपावनं, ते तव । आत्मभूतं तेजः । परमात्माख्यं······" भरतस्वामिकृत सामवेदभाष्य मं० सं० ४०० ॥

(झ) देवपाल—लौगाक्षिगृह्यसूत्रभाष्य में—इन्द्रः = परमेश्वरः पृ० १६३, १८१, २२३ । आदित्यः = परमेश्वरः पृ० २२८, ३४८ । श्येनः = शंसनीयः पृ० २५६ ॥

इन अर्थों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि बिना यौगिकवाद को माने उपर्युक्त अर्थ कदापि नहीं हो सकते ॥

एक शब्द के अनेकार्थों के उदाहरण—

अब हम यहाँ कुछ विशेष शब्दों की तालिका उपस्थित करते हैं, जिनमें एक शब्द के भिन्न २ अनेक अर्थ तत्तद् आचार्यों ने अपने भाष्यों में किये हैं—

अग्निः = एष परमात्मा अग्निः (सायण अथर्वभा० २ । १ । ४ पृ० १९६) ॥
= ब्राह्मणः (श० १ । ४ । २ । २, सा० भा०) ॥ जै० उ० ब्रा० पृ० १४० ॥
= विद्युत् (दुर्ग पृ० २६३) ॥
= वेदः, सर्वज्ञः (सन्ध्याभाष्य पृ० १४, ५५, ६०) ॥
= परमेश्वरः (श्रीकण्ठ श्रीःसूक्त भाष्य पृ० ३) ॥
= विष्णुः (राघवेन्द्र यति पृ० ८, २३) ॥
= सर्वगः सर्वविद्, नेता (भरतस्वामी ८ मन्त्रव्याख्याने पृ० ५) ॥

आपः = अप्शब्दो व्याप्तिवचनः आप्नोतेः, नोदकवचनः (स्कन्द० ऋग्भा० १ । ९१ । १) ॥
= परमात्मा (सन्ध्याभाष्य पृ० ४५, ४६, ४७, १६९, १७१) ॥
= धेनवः (शां० ब्रा० १२ । १-३) ॥
= बहुवचनान्तोऽप्शब्दोऽन्तरिक्षनामसु पठितः (स्कन्दभा० ऋ० १ । ५२ । १२) ॥
= आपो वृत्तयः, अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिषु (सायण अथर्वभा० ४ । ३० । ७) ॥
= दुग्धम् (शत्रुघ्न पृ० १८४) ॥

इन्द्रः = वायुः (दुर्ग पृ० ७१०) ॥
= आदित्यः, ईश्वरश्च । (स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ३३४ ॥)
= सूर्यः परमेश्वरः (शत्रुघ्नः पृ० ९०, १३३) ॥
= परमेश्वरः (जयतीर्थ पृ० २२) ॥
= परमात्मा (सा० ऋग्भाष्य भा० १ पृ० ५९ (बम्बई संस्करण) ॥
= परमैश्वर्यवान् मरुद्गणः (स्कन्द ऋग्भा० १ । ६ । ७) ॥
= परमेश्वरः (सायण ऋग्भा० १० । ९२ । ८) ॥

इन्द्रम् = परमैश्वर्यापेक्षं देवं, वणिजम्, वाणिज्यकर्त्तारम् (सायण अथर्व० भा० ३ । १५ । १) ॥
= इन्धं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते (बृह० उप० ४ । २ । २) ॥
= परमेश्वरः (देवपाल पृ० १८१, २२३) ॥
= ईश्वरः (तै० आ० भट्टभास्कर पृ० १०२, १०३, २७४) ॥

रात्रिः = परमात्मा (सन्ध्याभाष्य पृ० ४२, १५३) ॥

सविता = अग्निः, वरुणः, वायुः, यज्ञः, स्तनयित्नुः, आदित्यः, चन्द्रः, मनः, पुरुषः ॥ (जै० उप० ब्रा० पृ० १५२) ॥
= परमात्मा (सन्ध्याभाष्य पृ० ४२, १३५) ॥
= यजमाननामसु शाकपूणिना पठितम् (स्कन्द ऋग्भाष्य १ । ३४ । १० ॥ १ । ९५ । ७) ॥
= 'देवेन सवित्रा यजमानेन प्रसूते'...... (शाबर भा० मी० ९ । १ । ९) ॥
प्राणः = प्राणो ह्यग्निः परमात्मा (मैत्र्युप० ६ । ९) ॥
= प्राणो अग्निः परमात्मा (प्राणाग्निहोत्रोप० २) ॥

ये उपर्युक्त शब्द और इनके अर्थ हमने निदर्शनमात्र दिये हैं। ऐसे शब्दों का बहुतसा संग्रह हमारे पास है। पाठक स्वयं विचार करें कि जब लौकिक कोशों में इन शब्दों के ये अर्थ हैं नहीं, निघण्टु निरुक्त में भी पढ़े नहीं, तो इन अर्थों के वाचक कैसे हो सकते हैं, जब तक यौगिकवाद का आश्रय न लिया जावे। क्योंकि हमारे विचारानुसार तो निघण्टु-निरुक्त की प्रक्रियानुसार अर्थात् निर्वचन के आधार पर, ये सब अर्थ उपपन्न हैं। यह भी ध्यान रहे कि हमने जो अर्थ ऊपर दिखाये हैं, वे प्रायः सायण से पूर्ववर्त्ती आचार्यों के दर्शाये अर्थ हैं ॥

(१०) सायणाचार्य और यौगिकवाद—

अब हम यहाँ सायण के ही कुछ स्थल उपस्थित करते हैं कि जिनसे यह कहा जा सकता है, कि सायणाचार्य स्वयं भी यौगिकवाद से बच नहीं सके—

अश्वः = व्यापनशील आदित्यः (ऋग्भाष्य १ । १६४ । २) ॥ आदित्यः = परमेश्वरः (ऋ० भा० १ । १६४ । २१) ॥ इन्द्रः = पर्जन्यः (ऋ० भा० १ । १६४ । ३३) ॥ भ्राता = परोपकारकः (ऋ० भा० १ । १७० । ४) ॥ वसिष्ठः = सर्वस्य वासयितृतमः (ऋ० भा० २ । ९ । १) ॥ रथः = यज्ञः (ऋ० भा० २ । १८ । १) ॥ मनुष्यः = मनुष्येभ्यो हितः (ऋ० भा० २ । १८ । १) ॥ बभ्रुः = भर्त्ता सर्वस्य (ऋ० भा० २ । ३३ । ५) ॥ वायवः—गन्तारः (ऋ० भा० १० । ४६ । ९) ॥ मनुः = मनुष्यो यष्टा माननीयो राजा वा (ऋ० भा० १० । ५१ । ५) ॥ इन्द्रस्य = परमेश्वरस्य परमात्मनः (ऋ० भा० १० । ९२ । ८) ॥ बृहस्पते = परमेश्वर (ऋ० भा० १० । ९८ । ४) ॥ इन्द्रतमा = सर्वस्येश्वरतमा । अङ्गिरस्तमा = गन्तृतमा (ऋ० भा० ७ । ७९ । ३) ॥

उवट महीधर के उदाहरण भी हमने ऊपर दिये, वे इसलिये कि उवट महीधर आदि की गाड़ी भी यौगिकवाद के बिना आगे नहीं बढ़ सकी। सायणादि की आत्मा में यौगिकवाद के स्वरूप का व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं था, यही कहना पड़ता है। जब किसी भी प्रकार ये लोग यौगिकवाद से बच नहीं सके (जैसा कि हमने ऊपर दर्शाया) तो स्वामी दयानन्द के लिये यह कहना कि 'अग्नि' 'वायु' 'आदित्य' 'सविता' आदि से परमेश्वर विद्वान् राजा आदि अर्थ कैसे लिये जा सकते हैं, यह अपनी अज्ञता ही प्रकट करना है। धन्य है दयानन्द की विमल मेधा को, जिसने सूक्ष्म दृष्टि से वेदार्थ के इस तत्त्व को पहिचाना और व्यावसायात्मक बुद्धि से वेदार्थ में प्रवृत्त हुये ॥

(११) ऋषि दयानन्द और यौगिकवाद—

ऋषि दयानन्द का भाष्य उठाकर देखें, उसमें आरम्भ में ही 'अग्नि' 'वायु' 'इन्द्र' 'सूर्य' 'रुद्र' 'सविता' आदि नामों से परमात्मा का सप्रमाण ग्रहण किया गया है। "इन्द्रेण वायुना ऋ० १ । १४ । १०" (य० १ । १३ भाष्ये) में 'इन्द्र' को विशेष्य माना है। मूलवेद के इस उदाहरण से आचार्य दयानन्द ने विशेष्य-विशेषणभाव की प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया है, जैसा कि हमने पूर्व वेद के उदाहरण दर्शाये हैं। इस विशेष्य-विशेषणभाव के विषय में स्कन्द लिखता है—

"अध्वरशब्दोऽयं यज्ञमित्यनेन पौनरुक्त्यान्न यज्ञनाम, किन्तर्हि विशेषणम्"
स्कन्द ऋग्भा० १ । १ । ४ ॥

"विशेष्यविशेषणभावे कामचारः" ॥ छलारी टी० २ । ४१ ॥

इस विशेष्यविशेषण भाव के विषय में इतना और समझना चाहिये कि "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" (अष्टा० २ । १ । ५७) में महाभाष्यकार कहते हैं—"विशेषणविशेष्ययोरुभयविशेषणत्वादुभयविशेष्यत्वादुपसर्जनाप्रसिद्धिः । तदुभयं विशेषणं भवत्युभयं च विशेष्यम्" अर्थात् जो विशेष्य है, वह विशेषण हो सकता है और जो विशेषण है वह विशेष्य हो सकता है। अन्त में यहां यह सिद्धान्त किया है कि जो द्रव्यवाची होगा, वह प्रधान होगा, जो गुणवाची वह अप्रधान । अब हमें—

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ ऋ० १ । ८६ । १०॥

इस मन्त्र में[1] 'अदिति' को विशेष्य मानकर शेष सब गुणवाची अर्थात् विशेषण[2] मानने होंगे । इसी प्रकार—

इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न् ।
एकं॒ सद् विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः ॥ ऋ० १ । १६४ । ४६॥

इस मन्त्र में भी 'अग्नि' दो बार आने से विशेष्य है, शेष सब इसके विशेषण हैं ।

(१२) विशेष्य-विशेषण वा यौगिकवाद—

एक ही मन्त्र में दो शब्द एकार्थवाचक आने पर एक विशेषण होगा, दूसरा विशेष्य । इससे यौगिकवाद स्वयं सिद्ध है, क्योंकि विशेषण बन नहीं सकता, जब तक धात्वर्थ के आधार पर व्युत्पत्ति करके उसे दूसरे शब्द का विशेषण न बनावें ॥

हमारा कहना यह है कि वेद में 'अदिति' 'अङ्गिराः' 'कण्व' 'इन्द्र' आदि शब्द विशेष्य और विशेषण दोनों रूप से आते हैं । यह वेद की ही विशेषता है, लोक में यह व्यापकता नहीं रही ॥

इस विषय में वेद के अपने आन्तरिक प्रमाण हमने दर्शाये । थोड़ा सा इस विषय में और विचार कर लेना चाहिए । जैसे अध्वर और यज्ञ में पुनरुक्ति दोष को हटाने के लिए विशेष्य-विशेषणभाव की कल्पना करनी पड़ती है, वहां इस प्रकार के उदाहरणों से वेद भरा पड़ा है । हम कुछ एक उदाहरण उपस्थित करते हैं—

उर्वी पृथिवी ॥ ऋ० ६ । ४७ । २० ॥ १ । १८५ । ७ ॥ ६ । १ । ७ ॥ ७ । ३८ । २ ॥ येयं पृथिवी मही दाधार ऋ० १० । ६० । ९ ॥ क्षां उर्वीम् ऋ० ६ । १७ । ७ ॥ क्षितिर्न पृथिवी ऋ० १ । ६५ । ३ ॥ तोकं तनयं ऋ० ६ । ४९ । १० ॥ वाजिनमश्वम् ऋ० १ । १३५ । ५ ॥ वाजेभिरश्वेभिः ऋ० ६ । ४५ । २१ ॥ अघ्न्याया धेनोः ऋ० ४ । १ । ६ ॥ गावो धेनवः । ऋ० ६ । ४५ । २८ ॥ नरो मर्याः । ऋ०५ । ५३ । ३ इत्यादि ॥

विशेष्यविशेषणभाव का यह स्वरूप विना यौगिकवाद के कदापि उपपन्न नहीं हो सकता । जिसको भी हम विशेषण मानेंगे, उसका अर्थ हमें प्रकृति-प्रत्यय के सम्बन्ध द्वारा ही निश्चित करना होगा । यौगिकवाद की यह महिमा है जो वेद में आये इन वा इस प्रकार के अन्य शब्दों को पौनरुक्त्य वा वैयर्थ्य से बचाता हुआ वेद के वेदत्व में कोई दोष नहीं आने देता ॥

---

१. "नित्यपक्षेण प्रकृतिरुच्यते" निरुक्तसमुच्चय ॥

२. विदित रहे कि 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अन्त में, 'अदिति के ये सब अर्थ हैं' ऐसा कहा है, ऋ० १ । ८९ । १० में 'अदिति = अविनाशी' विशेषण माना । सो यह दोनों ही प्रकार ठीक हैं । जब अर्थ मानेंगे तो उसमें हेतु निर्वचन के आधार पर ही हो सकेगा । जब विशेषण मानेंगे तब भी । दोनों अवस्थाओं में धात्वर्थ का आधार लेना ही पड़ता है, चाहे अर्थ मानें चाहे विशेषण मानें ॥

[1]धातुओं का अनेकार्थत्व और यौगिकवाद

यौगिकवाद के इस प्रकरण में यह बात भी बहुत ही ध्यान देने योग्य है कि धातुओं की अनेकार्थता प्राचीन ऋषि-मुनियों, समस्त वैयाकरणों वा वेदभाष्यकारों को स्वीकृत है, वेदभाष्यकारों में किसी को कम किसी को अधिक, यह स्वीकार सबको है। हम इसमें अतिसंक्षेप से प्रमाणमात्र ही उपस्थित करते हैं—

(१) (i) महाभाष्यकार पतञ्जलि—"बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति" (अ० भा० १ । ३ । १)॥

(ii) "करोतिश्च क्रियासामान्ये वर्त्तते" (अ० ३ । १ । १९ भा०)॥

(iii) शब्दकौस्तुभे—१ । ३ । १ । पृ० ५२—

"भट्टिश्चाह—विभज्यसेनां परमार्थकर्मा सेनापतींश्चापि पुरन्दरोऽथ।
नियोजयामास स शत्रुसैन्ये करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून्" ॥

(२) (i) स्कन्द ऋग्भाष्य पृ० १०४ कृञ् सर्वार्थत्वाद् दानेऽत्र ॥

(ii) निरु० स्क० टी० भा० २ पृ० २१३ "करोतिरेव वा सामर्थ्याद् वधार्थः" ॥
"शेतिरत्र स्थानार्थः" पृ० २२६ ॥

(iii) "व्रीहि खाद्‌......पुरोडाशकर्मत्वाच्च व्रीतेः खादतिकर्मत्वाध्यवसानम्" ॥

(३) कुमारिल भट्ट—(i) "निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः" ॥

(ii) "निगमादिवशाच्चाद्य धातुतोऽर्थः प्रकल्पितः"॥कुमारिलभट्ट तन्त्रवार्त्तिक पृ० १५६,१५७ ॥

(iii) तन्त्रवार्त्तिके—पृ० ३८० (पूना संस्करणे)—
"तथा करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून्" ॥

(iv) तन्त्रवार्त्तिकटीकान्यायसुधायाम्—
"तथा चाहुरिति—विभज्यसेनां परमार्थकर्मा सेनापतींश्चापि पुरन्दरोऽथ।
नियोजयामास स शत्रुसैन्ये करोतिरर्थेष्विव सर्वधातून्" ॥

(४) आत्मानन्द पृ० ७ "अनेकार्था धातवः" ॥

(५) श्वेतवनवासी-उणादिवृत्ति ४ । १६२ 'षो अन्तकर्मणि' अनेकार्थत्वाद् गाने वर्त्तते ॥

(६) अनेकार्थत्वाद् धातूनामिति वा दसु विभेदन इत्युक्तम् ॥ छलारी टी० पृ० ३७ ॥

(७) अनेकार्थत्वाद् धातूनां तुञ्जतिः प्रेरणे वर्त्तते ॥ जयतीर्थ टी० पृ० २७ ॥
धातूनामनेकार्थत्वात् ऋञ्जते प्राप्नुवन्ति ॥ जयतीर्थ टी० पृ० २६ ॥

(८) मन्वतेऽवबुध्यते, यद्वा धातूनामनेकार्थत्वात् क्षमत इत्यर्थः ॥ सा०ऋ० भा० १० । १२ । ६ ॥
धातूनामनेकार्थत्वाद् रिचिरत्र परिहारार्थे वर्त्तते ॥ सा० भा० ऋ० १० । १३ । ४ ॥

अब हम इस यौगिकवाद के विषय में एक बात और दर्शाना आवश्यक समझते हैं। अब प्रश्न यह है कि जब वेद में पूर्वोक्त तथा अन्य शब्द विशेष्य वा विशेषण दोनों हो सकते है, तथा निरुक्त के सिद्धान्तानुसार धातुज हैं, जितने भी धातुओं से उनके निर्वचन हो सकें, किये जा सकते हैं। साथ ही धातुओं के अनेकार्थत्व का सिद्धान्त भी सर्वसम्मत है, ऐसी अवस्था में अर्थ की नियामकता कैसे हो सकेगी ? अर्थात् अर्थ की व्यवस्था कैसे निर्धारित होगी, इसमें नियम क्या होगा ? सो हम यहां अतिसंक्षेप से शास्त्रीय नियम उपस्थित करते हैं—

---

१. वस्तुतः यह प्रकरण भी यौगिकवाद का एक अङ्ग ही समझना चाहिये, क्योंकि धातुओं के अनेकार्थत्व का यौगिकवाद से सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

प्राचीनों के मत से शब्दार्थबोध में नियामकता

(१) श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥
मीमांसा ३ । ३ । १४ ॥

(२) वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यमविरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ वाक्यपदीय २ । ३१६, ३१७ ॥

(३) यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ वाक्यपदीय १ । ३४ ॥

(४) अर्थात् प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्याद् देशकालतः ।
मन्त्रेष्वर्थविवेकः स्यादितरेष्विति स्थितिः ॥ बृहद्दे० २ । १२० ॥

(५) भावतत्त्वविदः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः ॥ हरिः, कैयट ४ । १ । ३ । पृ० १७ ॥

उपर्युक्त उद्धरणों के भावार्थ—

(१) मीमांसा के मतानुसार श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या = संज्ञा, ये छ अर्थ के नियामक हैं । इनमें भी पर-पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व बलवान् होता है ।

(२) भर्तृहरि का मत है—कि शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय केवल रूप को देख कर ही नहीं कर लेना चाहिये, अपितु इसके निर्णय के लिये हमें वाक्य, प्रकरण, औचित्य तथा देश-कालादि का भी ध्यान रखना चाहिये । संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द की समीपता इन आठ नियमों से वाच्यार्थ का निर्णय करना चाहिये ।

(३) योग्य विद्वानों द्वारा यत्नपूर्वक निर्धारित किया हुआ अर्थ भी अन्य योग्यतम विद्वान् द्वारा अन्यथा प्रतीत होने लगता है ।

(४) बृहद्देवताकार भी अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, औचित्य और देश-काल आदि द्वारा ही मन्त्रार्थ का विवेक मानता है ।

(५) भर्तृहरि और कैयट आदि भी शिष्टों को ही शब्दार्थ में प्रमाण मानते हैं ॥

लौकिक शब्दों के अर्थनियम को बताते हुए आचार्यों ने जो नियम बताये हैं, वे वेद के सम्बन्ध में भी प्रायः लागू होते हैं, रूढिभाव को छोड़ कर ॥

उपर्युक्त विषय में भाष्यकारों का मत

पूर्वोक्त विषय में कुछ अन्य प्रमाण भी उपस्थित[1] करते हैं—

(१) प्रकरणसामर्थ्याच्छब्दोऽप्यर्थान्तरं भजते ॥ दुर्ग पृ० ३४६ ॥

(२) विपर्ययेणापि ह्यभिधानानामर्थो भवत्येवं मन्यमानो भाष्यकारो बलनामसु पठितमपि सदेतदभिधानमेवमाह शुष्ममिति बलनाम ॥ दुर्ग पृ० १५९ ॥

(३) न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति । महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च······एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधूतरांश्चार्थान् स्रवन्ति ॥ दुर्ग पृ० १२६ ॥

(४) तपस्विने—न हि तयोरसाध्यं किञ्चिदस्ति । तपसा हि स्वयमपि वेदार्थः प्रादुर्भवेदेव । मेधाव्यपि स्वयमप्युत्प्रेक्षितुं शक्नुयात् । दुर्ग पृ० ११२ ॥

१. इस विषय का विवेचन पूर्व पृ० ६० तथा ७८–७९ पर भी देखें ॥

(५) अर्थप्रधानं निरुक्तम् ॥ दुर्ग पृ० १०२ ॥

(६) अर्थनित्य इत्युक्ते अर्थप्रधान इति गम्यते ॥ दुर्ग पृ० ९७ ॥

(७) अर्थप्रधानत्वाच्च नैरुक्तस्य सर्वत्रैवार्थप्रधानस्य पर्यनुयोगो निर्वचनं च, अग्निः कस्मात्, जातवेदाः कस्मात् ॥ निरु० स्कन्द टी० ७ । १९ । भा० ३ पृ० ८३ ॥

सब आचार्य उपर्युक्त श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरणादि से शब्दों के अर्थों की व्यवस्था मानते हैं। अर्थ की प्रधानता को लक्ष्य में रख कर ही निरुक्तादि में शब्दों के निर्वचन भिन्न २ हैं, यह भी स्पष्ट है ॥

कौन शब्द प्रधान अर्थात् विशेष्य है, गुण शब्द अर्थात् विशेषण कौन है, यह सब उपर्युक्त साधनों द्वारा ही निर्धारित होंगे। 'वेद के शब्द रूढ़ हैं' ऐसा कोई नहीं कह सकता। जब ऐसा है तो वेद के शब्द बहुत व्यापक अर्थों को कहते हैं, ऐसी अवस्था में हमें उपर्युक्त नियमों के आधार पर उनके अर्थों को समझना होगा, यही इस यौगिकवाद का तत्त्व समझना चाहिये ॥

अग्नि आदि शब्द मुख्यवृत्ति से परमेश्वर के वाचक

प्रसङ्गात् हमें यह भी विचारना चाहिये कि 'अग्नि-मित्र-वरुण-सविता' आदि पद मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधा वृत्ति से 'परमेश्वर-विद्वान्-नेता' आदि के वाचक हैं, या गौणी अर्थात् लक्षणा वा व्यञ्जना से। हमारा मत है कि जैसे लोक में 'सिंहोऽयं माणवकः; अग्निरयं बालकः, अग्निरियं योषा' यह लड़का सिंह है, यह बालक आग है, यह स्त्री अग्नि है, इत्यादि में सिंह, अग्नि आदि शब्द गौणीवृत्ति से बालक आदि को कहते हैं, वैसे वेद में 'अग्नि-मित्र' आदि शब्द गौणी वृत्ति से परमेश्वर आदि के वाचक नहीं हैं, अपितु अग्न्यादि शब्द मुख्यवृत्ति से परमेश्वरादि अर्थ को कहते हैं। इस विषय में हम ऋषि दयानन्द की धारणा उपस्थित करते हैं, जिसकी ओर विद्वानों का भी ध्यान पूर्ण रूप से नहीं गया (जहाँ तक हमें ज्ञात है)। सत्यार्थप्रकाश के प्रारम्भ में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

(१) "(प्रश्न)—मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये ?

(उत्तर)—(शन्नो मित्रः शं वरुणः०) यहाँ उनका ग्रहण करना योग्य नहीं, क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है, इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता; किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु, न किसी से उदासीन है। इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का नहीं हो सकता, इसलिये परमात्मा ही का ग्रहण यहाँ होता है। हाँ, गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है" ॥
(सत्यार्थप्रकाश पृ० ८, ९ संस्करण ९) ॥

(२) "अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है ॥" सत्या० प्र० पूर्ववत् पृ० ५ ॥

(३) "एते [आग्न्यादयो देवताः] परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत् सङ्गच्छन्ते। अतोऽन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते।"

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० ६९ चतुर्थ संस्करण ॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि ऋषिदयानन्द अग्नि आदि शब्दों का अर्थ परमेश्वर मुख्यवृत्ति (अभिधावृत्ति) से ही लेते हैं, गौणीवृत्ति से नहीं। यह बात उनके भाष्य पढ़ते समय भी अत्यन्त ध्यान देने योग्य है ॥

मैं समझता हूँ आचार्य दयानन्द की यह सूझ अवश्य ही अत्यन्त हृदयग्राही और अनुपम है। यौगिकवाद पर यहाँ हम अतिसंक्षेप से ही विचार कर पाये हैं, बहुतसे प्रमाणों के अर्थ भी नहीं दर्शाये। ईश्वर ने चाहा तो विस्तार से यथासम्भव कभी पृथक् ग्रन्थरूप में उपस्थित करने का यत्न करेंगे ॥

त्रिविधप्रक्रिया

यौगिकवाद से तो वेद में आये अग्नि-इन्द्र-वायु-मरुत्-सविता आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा, विद्वान्, ज्ञानी वा भौतिक अग्नि कैसे होता है, यह बात समझ में आ सकती है। अब यदि यह बात वेद का अध्ययन करने वाले की समझ में आजावे कि वेद का हर एक मन्त्र आध्यात्मिक (आत्मा परमात्मा का निरूपक), आधिदैविक (प्रकृति के तत्त्वों का प्रतिपादक), और अधियज्ञ (यज्ञविषयक), इन सब अर्थों को कहता है, तो मेरे विचार में ऐसा निश्चय होजाने पर, समस्त वेदभाष्य, जो हमें मिल रहे हैं, उनकी स्थिति भिन्न ही प्रकार की हो जायगी। उन की अपूर्णता का हमें तत्काल निश्चय हो जायगा ॥

(१) ब्राह्मण, आरण्यक और त्रिविधप्रक्रिया

स्वयं वेद में तो विशेष्य-विशेषण की व्यवस्था (जो हम पहले यौगिकवाद में विस्तार से दर्शा चुके हैं) त्रिविध अर्थों का हमें 'निर्देश' कराती है। आरण्यकग्रन्थ 'ब्रह्म' का प्रतिपादन करते हैं, वे तो हैं ही आध्यात्मिक। ब्राह्मणग्रन्थों में भी हमें आध्यात्मिक प्रक्रिया वा त्रिविधप्रक्रिया के निर्देश पर्याप्त मिलते हैं। उनमें से कुछ एक हम यहाँ उपस्थित करते हैं—

(क) "अथाध्यात्मम्—उदान एव पूर्णमा······प्राण एव दर्शो······॥ मन एव पूर्णमा······ वागेव दर्शो······" ॥ शत० ११।२।४।५, ६॥ पृ० ५५६, ५५७॥

(ख) "शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत् प्रणीताः। प्राण एवास्येध्मः······मुखमेवास्य प्रथमः प्रयाजः॥······हृदयमेवास्योपांशुयाजः" ॥ शत० ११।२।६।१–५॥ पृ० ५५८, अजमेर संस्करण॥

(ग) "पुरुषो वै यज्ञः।·········तस्येयमेव जुहूः। इयमुपभृदात्मैव ध्रुवा। तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति, तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति॥ प्राण एव स्रुवः"॥ शत० १।३।१।१–३॥ पृ० २९॥

(घ) तै० ब्रा० ३।३।१ में भी "प्राणो वै स्रुवः,···आत्मा ध्रुवा" ऐसा ही कहा है॥ तथा शतपथ ब्राह्मण पृ० ५७७ में—ब्रह्मयज्ञ में मन को उपभृत्, गोपथ ब्रा० (पू० ४।५) में "वायुर्वाध्वर्युरधिदैवं प्राणोऽध्यात्मम्"॥ तै० ब्रा० ३।३।१ में अन्तरिक्ष को उपभृत्, पृथिवी को ध्रुवा। तै० आ० २।१७ में धृति को ध्रुवा, प्राण को हविः आदि कहा॥

(ङ) शांख्यायन ब्राह्मण (३।४) में "प्रयाजान् यजन्। ऋतवो वै प्रयाजाः, ऋतूनेव तत् प्रीणाति। ते वै पञ्च भवन्ति। तैर्यत् किञ्च पञ्चविधमधिदैवतमध्यात्मं तत् सर्वमाप्नोति"॥

(च) शांख्यायन आरण्यक ६।१०—"यो हैतमुपास्ते तेजस आत्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम्······"॥

(छ) जै० उ० ब्रा० ३।४।१, २—"आदित्यो हि निवित्। दिशः परिधानीयेत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—आत्मैव स्तोत्रियः प्रजाऽनुरूपः प्राणो धाय्या मनः प्रगाथः······"॥

(ज) ऐ० ब्रा० १०।४० तथा १६।६॥

(झ) ऐ० आ० (१।२) "अन्नेन हीदं सर्वमश्नुते इति। इत्यधिदैवतमथाध्यात्मम् इति। पुरुष एवोक्थ्यमयमेव महान् प्रजापतिरहमुक्थ्यमस्मीति विद्यात् इति"॥

(ञ) "मन एवास्यात्मा, वाग् जाया, प्राणः प्रजा"॥ बृह० उप० १।४।७॥

(ट) "वाक् पादः, प्राणः पादः, चक्षुः पादः, श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्॥ अथाधिदैवतम्—अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः॥ छां० उप० ३।१८।२॥

ब्राह्मणों के उपर्युक्त स्थल बहुत ही स्पष्ट हैं। इनमें याज्ञिक प्रक्रिया के साथ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रिया का भी निरूपण किया गया है। ऐसे स्थल ब्राह्मणों में भरे पड़े हैं, जिनसे हमें मन्त्रों के गूढार्थों को समझने में सहायता मिल रही है। उदाहरणार्थ ऋ० ३।१३।६,३ मन्त्र की प्रतीक लेकर ऐतरेय ब्राह्मण (१०।४०) में कहा है—

"उतो नो ब्रह्मन्नाविष इति शंसति, श्रोत्रं वै ब्रह्म, श्रोत्रेण हि ब्रह्म शृणोति, श्रोत्रे ब्रह्म प्रतिष्ठितं······ स यन्ता विप्र एषामिति शंसति, अपानो वै यन्ता, अपानेन ह्ययं यतः प्राणो न पराङ् भवति······ इत्यध्यात्ममथाधिदैवतम्" ॥

इस प्रकार ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ मन्त्रों की प्रतीकें ले २ कर पदे २ मन्त्रों की आध्यात्मिकादि प्रक्रियाओं का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं ॥

यहां उपर्युक्त थोड़े से उदाहरण उपस्थित करने का हमारा इतना ही अभिप्राय है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक वेदमन्त्रों की त्रिविधप्रक्रिया के अत्यन्त पोषक वा प्रतिपादक हैं ॥

(२) यास्कादि ऋषि और त्रिविधप्रक्रिया

अब हम इस विषय में अन्य प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) शांख्यायनगृह्यसूत्र १।२।१८, १९—

> "न श्रुतमतीयात् ॥ १८ ॥
> अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम् ।
> मन्त्रेषु ब्राह्मणे चैव श्रुतमित्यभिधीयते ॥ १९ ॥"

मन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होते हैं और वे ब्राह्मणग्रन्थों द्वारा भी अभिमत हैं। यह स्पष्ट है ॥

(ख) निरु० २। १२ में 'यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्' ऋ० १। १६४। २१ "········· आदित्य······इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्······आत्मा"

(ग) निरु० १०। २६ "विश्वकर्मा। आदित्यः······इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्······ आत्मा तान्यस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे" ॥

(घ) निरु० १२। ३७, ३८ "देवौ वाय्वादित्यौ······इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—प्राज्ञ-आत्मा च ॥ ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयः······इत्यधिदैवतम्।······ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि··· इत्यात्मगतिमाचष्टे" ॥

(ङ) निरुक्त के १३ वें १४ वें अध्याय में तो त्रिविधप्रक्रिया का प्रतिपादन सर्वथा स्पष्ट है। यथा—

"रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते···इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्···शरीरमत्र ऋगुच्यते······ इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते" ॥ निरु० १३। ११ ॥

निरुक्त के[1] १४ वें अध्याय में तो प्रायः सभी मन्त्रों के अध्यात्म और अधिदैवत अर्थ हैं ॥

---

१. निरुक्त के ये दोनों (१३ तथा १४) अध्याय कब के हैं, यह हम निश्चित नहीं कह सकते। हमारा विचार है कि ये दोनों अध्याय निरुक्त के ही भाग हैं। दुर्ग ने १३-१४ वें अध्याय के उद्धरण पूर्व अध्यायों में दिये हैं। देखो दुर्गटीका निरु० १०। १२ पृ० ७३८ में निरु० १४। ११ तथा १४। २६ का उद्धरण दिया है। दुर्ग की तो १३ वें अध्याय की टीका भी उपलब्ध है ॥ ऐसे ही स्कन्दस्वामी ने भी निरु० टी० भा० १ पृ० २७ में निरु० १४। ३ का पाठ उद्धृत किया है और निरु० १। २० में निरु० १३। १३ का। ऐसे उद्धरण अन्य आचार्यों, वररुचि तथा सायण तक के हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि ये १३, १४ अध्याय भी निरुक्त के भाग हैं। दुर्ग स्कन्द आदि ने १३, १४ अध्याय के उद्धरण ठीक उसी प्रकार दिये हैं, जैसे शेष १२ अध्याय के उद्धरण देते हैं। अतः इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि दुर्ग के काल में ये अध्याय निरुक्त का भाग ही समझे जाते थे ॥

(३) निरुक्तसमुच्चयकार (वररुचि) और त्रिविधप्रक्रिया

निरुक्तसमुच्चयकार नित्य, नैरुक्त और याज्ञिक इन तीनों पक्षों को मानते हैं, जिनके उदाहरण हम यहां दे रहे हैं। वररुचि ने ऐतिहासिक पक्ष भी दर्शाया है। इस विषय में यही समझना चाहिये कि जैसे निरुक्तकार यास्क ने भी निरुक्त में ऐतिहासिक पक्ष दिखाया है, वैसे ही यहां वररुचि ने भी दिखाया है। वस्तु एक ही है, जिसके नाम भिन्न भिन्न पक्ष वाले भिन्न भिन्न लेते हैं। वास्तविक इतिहास नहीं, ऐतिहासिक लोग उस रूप में उसका वर्णन करते हैं[1] ॥

उद्धरण निम्न प्रकार हैं—

(१) "वायुरिति नैरुक्ताः, सूर्य इति याज्ञिकाः।······प्रथमं तावद् याज्ञिकपक्षेण व्याख्यायते····· नैरुक्तपक्षेऽपि······" ॥ निरुक्तसमुच्चय पृ० ६९, ७१ ॥

(२) "इत्यैतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु पुरूरवा मध्यमस्थानो वाय्वादीनामेकतमः, पुरु रौतीति पुरूरवाः। उर्वशी विद्युत्·········औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः" ॥ निरुक्तसमुच्चय पृ० ६९ ॥

(३) "नैरुक्तपक्षे तु—यमी मध्यमस्थाना वाक्। यमश्च मध्यमस्थानः। सा यमी वर्षाकाले मध्यमस्थानाभिमुख्येन सहायं सहस्थानयोगात् सखीत्यर्थः" ॥ निरुक्तसमुच्चय पृ० ७३ ॥

(४) भर्तृहरि (महाभाष्यटीकाकार) और त्रिविधप्रक्रिया

भर्तृहरि महाभाष्यटीका—हमारा हस्तलेख पृ० २६८—

"यथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन्निधिदैवतमध्यात्माधियज्ञं चात्मनि च नारायणे च शाले च तया शक्त्या प्रवर्त्तते। एवं च कृत्वा वृको मासकृदित्यवग्रहभेदेऽपि भवति चन्द्रमसि प्रवृत्तो मासशब्दोऽवगृह्यते वृके मा सकृदिति" ॥

इसमें भर्तृहरि मन्त्र के अधियज्ञ-आध्यात्मिक अर्थ दर्शाते हैं। साथ ही 'मासकृत्' का दोनों प्रकार का पदपाठ भी सहेतुक दर्शाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अर्थाधीन अवग्रह, निर्वचन, तथा स्वर होता है, ऐसा वह मानते हैं ॥

(५) यास्क और स्कन्द का सिद्धान्त

यास्क ने न केवल उपर्युक्त वेदमन्त्रों की ही आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि व्याख्या मानी है, अपितु वह तो समस्त वेदमन्त्रों की आध्यात्मिकादिपरक व्याख्या मानता है। जैसा कि निरु० १। २० में "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा" कहते हुये यास्क ने इसमें सम्पूर्ण वेदवाणी के अधियज्ञ, आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ को वाणी का पुष्प और फलस्थानीय माना है। निरुक्त के इस स्थल का यह अभिप्राय हम अपनी ओर से लिख रहे हों, यह बात नहीं, अपितु आज से १५०० वर्ष प्राचीन वेदभाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी लिखता है कि यास्क के मत में प्रत्येक वेदमन्त्र का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है। तद्यथा—

[2]"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्" ॥

स्क० निरु० टी० ७। ५ भा० ३ पृ० ३६, ३७ ॥

---

१. इस विषय का विशेष विवेचन हमारी बनाई "वेद और निरुक्त" नामक लघु पुस्तिका में देखें ॥

२. "यद्यपि सूक्तस्याग्निसूर्यादिपञ्चदेवताकत्वात् पञ्चधायं मन्त्रो व्याख्येयस्तथापि निरुक्ताद्युक्तरीत्या यज्ञात्मकाग्नेः सूर्यस्य च प्रकाशकत्वेन तत्परतया व्याख्यायते·········एवमबादि पक्षेऽपि योज्यम्" सायणः ४। ५८। ३ ऋग्भाष्ये ॥

अर्थात्—सब मन्त्रों का (कुछ एक का नहीं) तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ होता है। यह यास्क का सिद्धान्त है। मैं समझता हूँ, यह उद्धरण वेदार्थप्रक्रिया का परमावश्यक स्थल है, जिससे हमें वेदार्थ के शुद्धस्वरूप का ज्ञान हो जाता है और पता लग जाता है कि अब तक के भाष्यकार वेद के अर्थों में कहां तक पहुँचे हैं॥

स्कन्द के अन्य प्रमाण

स्कन्द ने तो प्रायः सर्वत्र नित्यपक्ष दिखाया है। नैरुक्तपक्ष भी दर्शाया। यास्क के ऐतिहासिक पक्ष की भी व्याख्या की है। स्कन्द के अन्य अनेक स्थलों में से हम कुछ एक और दर्शाते हैं—

(१) "एष परिव्राजकानामात्मविदां दर्शने अस्या ऋचोऽर्थः"॥ (निरु० स्कन्द टीका—२।८ पृ० ६१)॥

(२) "दृढां दुर्भेदां पुरं परमात्माख्यामाविविशुराविशन्ति, परमात्मनि लीयन्ते, मोक्षं गच्छन्तीत्यर्थः॥" (निरु० स्कन्द टी० ४।१९ पृ० २५२)॥

(६) दुर्गाचार्य और त्रिविधप्रक्रिया

इस प्रक्रिया के विषय में निरुक्त के टीकाकार दुर्ग के भी कुछ स्थल हम उपस्थित करते हैं। स्थानाभाव के कारण हम सब स्थल नहीं दे रहे हैं तथा इन उद्धरणों का भाषार्थ भी नहीं दे रहे हैं। तीनों प्रक्रियाओं में मन्त्रों के अर्थ दुर्ग मानता है। तद्यथा—

(क) "आध्यात्माधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते"॥

निरु० १।१८, पृ० ८६, दुर्ग टी० बम्बई सं०॥

(ख) "सोऽयमेवमधिदैवतमधियज्ञं चोच्छिद्याध्यात्ममेवाभिसम्पादयति"॥

निरु० १।२०, पृ० ९०, दु० टी०॥

(ग) "अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञपुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति"॥ निरु० १।२०, पृ० ९४, दु० टी०॥

(घ) "तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न हि एतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देश्यमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्—आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति"॥ निरु० २।८, पृ० १२६, दुर्ग टी०॥

(ङ) "तत्र तत्र एक एव ह्यसावादित्यमण्डले चाधिदैवते चाध्यात्मे च बुद्ध्यधिदेवताभूतः स एव तत्र तत्रोपेक्षितव्यः।......अध्यात्मेऽपि हृदयाकाशाद् यानीन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति, त एव रश्मयः। अधिदैवते च त एव विश्वेदेवा इत्युक्तम्। एवं तत्र तत्र योज्यम्। प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेणेति"॥ दुर्ग टी० निरु० ३।१२, पृ० २११॥

(च) "तत्रैवं सति आत्मविद् आत्मनि त्रित्वनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयित्वैकमात्मानं पश्यन्ति। तथा नानात्वैकत्वे नैरुक्ता इति त्रित्वे, तथा त्रित्वैकत्वे याज्ञिका नानात्वे। एवमेषामविरोधः।........वैदिकानां पदवाक्यप्रमाणानामात्मभावानुशयवशेनात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिका वेदस्याविपर्यासिनीमिव मन्यमानाः परस्परतो विपर्यस्यन्ते। तदेतत् सर्वथापि भेदाभेदवर्त्ति देवतासतत्त्वं यथाग्रहं वक्तृप्रतिपत्तृवशेन प्रख्यातिमुपनयत्, स्तुतिरूपकेणात्मनोऽर्थसतत्त्वं तथाभूतं मन्त्रैराविष्क्रियते, तदुक्तम्—उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति इति"॥ दुर्ग० टी० निरु० ७।६, पृ० ५६३॥

(छ) "मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेषु स्थानं याथात्म्यतो दृश्यते" ॥ दुर्गा० टी० निरु० ४ । १९, पृ० ३१५ ॥

इन उपर्युक्त स्थलों का भाव यह है कि वेदमन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं अर्थात् अध्यात्म-अधिदैव तथा अधियज्ञ में होते हैं, और वह भी यथाप्रज्ञ अर्थात् जितने ही अधिक विमलमेधावालों द्वारा होंगे, उतने ही अधिक उत्कृष्ट होंगे। त्रिविधप्रक्रिया के प्रतिपादक उपर्युक्त स्थल इतने स्पष्ट हैं, कि इनकी व्याख्या की भी आवश्यकता नहीं ॥

(७) सायणाचार्य से पूर्ववर्त्ती भाष्यकार और त्रिविधप्रक्रिया

अब हम त्रिविधप्रक्रिया के विषय में सायण से पूर्ववर्त्ती वेदभाष्यकारों का मत भी अतिसंक्षेप से देते हैं—

(१) हरिस्वामी शतपथभाष्य हमारा हस्तलेख पृ० ६ पर—

"मन्त्रा आधियाज्ञिका इषे त्वादयः, त एव देवतापरत्वेनाधिदैविकाः, आधिदैविकास्त एवात्मानमधिकृता आध्यात्मिकाः। ईशावास्याद्य आध्यात्मिका एव" ॥

(२) उवट—(क) "अधिदैवं वागुच्यते। अधियज्ञं पत्नी" य० १ । १५ उवटभाष्य ॥

(ख) "एवं तावदधियज्ञं गतोऽप्ययं मन्त्रोऽधिदैवमाचष्टे। अध्यात्मं तु वक्ष्यति" ॥ य० ७ । ४२ उवटभा० ॥

(ग) "इन्द्रो परमेश्वरौ...पुरुषो गर्त्त इति श्रुतिः। अध्यात्मविषये व्याचष्टे, अधिदैवं तु गर्त्तो रथः" ॥ य० १० । १६ उवट भा० ॥

(३) भट्टभास्कर तै० आ० ३ । ११ पृ० २७४ पर—"अध्यात्मपक्षे तु परमात्मने।...इन्द्र ईश्वरश्च" ॥

(४) आत्मानन्द अस्यवामीयसूक्तभाष्य पृ० ३ पर—

(क) "यद्यपीह स्कन्दभाष्यादिषूद्गीथभास्करादिभिः, शौनकं च वेदमित्रं च बृहद्देवताकारं च अनुक्रमणीकारं च—अनादृत्य सूक्तव्याख्या कृता, तथापि वयमत्र स्कन्दादिव्याख्याऽधियज्ञविषया एव, क्वचित्तु निरुक्तानुसारादधिदैवतविषया एवेति निश्चित्य क्वचिदध्यात्मविषयां शौनकादिरीतिमाश्रित्याध्यात्मं व्याख्यास्यामः" ॥

(ख) देवता परमात्मैव सूक्तस्य ॥ पृ० ३ ॥

(ग) 'अश्विभ्याम्' = गुरुशिष्याभ्याम् ॥ पृ० ३६ ॥

(घ) वेदानामर्थनानात्वप्रतीतावपि सन्मतिः।
मुनिवाक्यानुरोधेन व्याख्यां कुर्वन्न दुष्यति ॥
अधियज्ञं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतम्। इदन्तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणां विरोधः ॥ पृ० ६० ॥

(५) आनन्दतीर्थ—"स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च। स एव सर्वशब्दार्थ इत्याह उपनिषत् परा" ॥ पृ० १ ॥ "गुणाधिक्यं येन भवेद् वेदस्यार्थः स एव हि। प्रयोजकत्वान्नान्यस्य फलाभावात् तदर्थता" ॥ पृ० ५ ॥

(६) जयतीर्थ—(क) "ईश्वरपरा वेदा इति'''अतस्तेषां भगवत्परत्वप्रकारदर्शनार्थं कासांचिदृचां भाष्यम्'''" पृ० १ ॥

(ख) तथात्वं चेश्वरस्याग्निशब्दो वक्ति ॥ पृ० ३ ॥

(ग) सकलवेदानां मुख्यतो भगवत्प्रतिपत्तिहेतुत्वात्'''॥ पृ० ३ ॥

(७) राघवेन्द्रयति—(क) सर्वो वेदो विष्णुपर इति ॥

(ख) "अग्न्यादिदेवतापरत्वेन''''''तदन्तर्गतविष्णुपरत्वेन अध्यात्मपरत्वेन चेत्येवं त्र्यर्थपरतया व्याख्यातानि" ॥ पृ० १ ॥

(८) शत्रुघ्न—(क) "एवमधिदैवतमध्यात्मं च यः पुरुषः परमात्मा ध्येयत्वेनोक्तस्तस्य प्रशंसार्थं नानारूपैरुपासनं तमेतमिति यः पुरुष उक्तः स परमात्मेति सर्वत्र व्याख्येयः" ॥

(मन्त्रार्थदीपिका पृ० २५०)

(ख) "सूर्यमण्डलार्चिः पुरुषत्रयस्याऽधिदैवाधियज्ञाऽध्यात्मपरत्वेनार्थं उच्यते। तत्राधिदेवेऽयमर्थः" ॥ मन्त्रार्थदीपिका पृ० २३५ ॥

(९) देवपाल—(क) "भर्गः सामर्थ्यम्।'''तदनेनाध्यात्माधिदैवतं वा सवितुर्भर्गो रूपमुक्तम्" ॥ पृ० २७ ॥

(ख) "परमात्मरूपेण स्तूयमानः सूर्यो देवता। हन्ति ध्वान्तं। गच्छति चाध्वानमधिदैवरूपेण वाऽविद्यामिति हंसः'''अध्यात्मरूपेण वा सर्वजीवात्मनामन्तरिक्षं हृदयाकाश अन्तर्यामिरूपेण सीदतीत्यन्तरिक्षसत्" ॥

देवपाल लौगाक्षि गृ० भा० पृ० ५५, ५६ ॥

(८) सायणाचार्य और त्रिविधप्रक्रिया

अब हम सायणाचार्य के भी कुछ स्थल दर्शाते हैं, जिनमें स्पष्ट ही उसने भी आध्यात्मिकादि प्रक्रियाओं का प्रतिपादन किया है—

(क) "चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादाः''''''प्रणवरूपस्य ब्रह्मणस्त्रयः पादाः। पद्यते गम्यते ब्रह्मतत्त्वमेभिरिति पादाः। आध्यात्मं विश्वतैजसप्राज्ञाः ॥ अधिदैवं विराड् हिरण्यगर्भाख्यकृतानि। वृषभः प्रणवो महत्तेजोरूपं ब्रह्मतत्त्वं रोरवीति अतिशयेन प्रतिपादयति। देवः परमेश्वरो मर्त्यान् मनुष्यदेहान् आविवेश सर्वतः प्रविष्टः" ॥ तै० आ० १०। १० पृ० ७२३ सा० भा० ॥

(ख) "ऋतं च सत्यं च० (ऋ० १०। १९०। १) तै० आ० १०। १ सा० भा० अभीद्धात् परमात्मनः, ततः परमेश्वरात्, धाता परमेश्वरः" ॥

(ग) 'प्रजापतिः परमेश्वरः' पृ० ७१९ ॥ "सविता परमेश्वरः" पृ० ७४४ ॥ परमेश्वरप्रार्थनारूपाः केचिन्मन्त्राः ॥ पृ० ७०२ ॥

'केचिन्मन्त्राः" कहने से यह विदित होता है कि सायणाचार्य को 'सब मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होता है' यह निरुक्तकार का मत है, जिसे स्कन्द स्वामी ने दर्शाया, यह सिद्धान्त या तो विदित नहीं था, या उसने देखा नहीं, या आध्यात्मिक भावना की कमी होने के कारण उसकी बुद्धि में यह सिद्धान्त बैठा नहीं, और क्या कहा जा सकता है। त्रिविधप्रक्रिया की परम्परा चली आ रही थी, इसे सर्वथा छोड़ता भी कैसे, विवश होकर लिखना पड़ा, ऐसा प्रतीत होता है ।।

यहां इतना और ध्यान रहे कि सायणाचार्य ने ऋ० १० । ३० । १० ।। ऋ० १० । ८२ । २ ।। ऋ० १० । १०६ । ११ ।। ऋ० १० । १०९ । १ तथा अन्यत्र कहीं २ आध्यात्मिक अर्थों का निर्देश किया है। पर उनके आत्मा में इस त्रिविधप्रक्रिया पर विश्वास नहीं था, अन्यथा वह आरम्भ से ही मन्त्रों के अर्थ करते समय इतना लिख सकते थे कि मैं केवल यज्ञपरक अर्थ करता हूँ, मन्त्रों के अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होते हैं, पर सायणाचार्य के ऐसा न लिखने से वेदार्थ की शुद्ध प्रक्रिया का नाश हो गया, यही हमारा कहने का तात्पर्य है ।।

यह भी हो सकता है कि स्वयं सायणादि भाष्यकारों के समय में याज्ञिकवाद का प्रवाह अत्यन्त प्रबल था ? इसलिये इन लोगों ने वेदों का जो भी कोई भाष्य रचा, वह सबका सब याज्ञिकप्रक्रियानुसार रचा ।।

सायणाचार्य के विषय में हम यों ही नहीं लिख रहे क्योंकि जब आज से १५०० वर्ष पहले तक मन्त्रों की त्रिविधप्रक्रिया विद्यमान थी और वह सायण से पूर्ववर्त्ती भाष्यकारों तक बराबर रही, तो फिर सायण की स्वयं अपनी अयोग्यता वा अज्ञता ही समझनी चाहिये, जो वेदार्थ की इस सर्वोत्कृष्ट विधि का नाश उसके द्वारा हो गया, और पीछे आने वाले तथा विद्वान् कहे जाने वाले विदेशीय स्कालरों को भी वेदार्थ शुद्ध स्वरूप में न मिलकर अत्यन्त विकृत रूप में मिला, जिसको आधार मानकर अंगरेज़ी–जर्मन–आदि भाषाओं में वेद के जो अनुवाद हुये, वे सायण की छायामात्र थे। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत से बाहिर विश्वभर में वेद विषय की मिथ्या धारणा प्रचरित हो उठी। इसके लिये सायण ही सबसे अधिक उत्तरदायी है, यह हमारा कहना है ।।

(६) ऋषिदयानन्द और त्रिविधप्रक्रिया

महापुरुष दयानन्द ने वेदार्थ की इस लुप्त त्रिविधप्रक्रिया का पुनरुद्धार किया। भारत उनके इसी ऋण से सहस्रों वर्षों तक उऋण नहीं हो सकता।

अन्त में हम त्रिविधप्रक्रिया के विषय में ऋषि दयानन्द का एक उद्धरण उपस्थित करते हैं—

"अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति······अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते, नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति" ।। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३६२, ३६३ ।।

अर्थात्—"इस वेदभाष्य में कर्मकाण्ड का वर्णन शब्दों के अर्थ दर्शाते हुये किया जायगा। परन्तु इन मन्त्रों के कर्मकाण्ड (के सम्बन्ध) में विनियोग द्वारा जहां जहां अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जो जो कर्त्तव्य है, वह २ इस (वेदभाष्य) में विस्तारपूर्वक नहीं दर्शाया जायगा। क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ठीक ठीक विनियोग ऐतरेय शतपथ ब्राह्मण, श्रौत सूत्र और मीमांसादि में किया हुआ है। उसे पुनः कहने से अनार्ष ग्रन्थ के समान पुनरुक्त पिष्टपेषण दोष आवेगा। अतः उन (ब्राह्मण–श्रौत–मीमांसादि) में कहा विनियोग भी वही मानने योग्य है, जो युक्ति-

सिद्ध—वेदादि प्रमाणों के अनुकूल तथा मन्त्र के अर्थानुसारी हो।·········यहां (इस वेदभाष्य में) जिस जिस वेद मन्त्र का पारमार्थिक तथा व्यावहारिक अर्थ श्लेषादि अलङ्कारों के द्वारा सप्रमाण होना सम्भव है, उन उन के दो दो अर्थ दर्शाये जावेंगे। किसी भी मन्त्र के अर्थ में ईश्वर का त्याग नहीं है। (अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ तो हर एक मन्त्र का है ही—सं०)॥"

देवतावाद

विवरण की इस भूमिका का कलेवर अधिक बढ़ जाने से हम यहां पर देवतावाद के विषय में अतिसंक्षेप से ही कुछ लिखने में विवश हो रहे हैं, विस्तार से पृथक् ग्रन्थ में ही अपने सब विचार कभी उपस्थित कर सकेंगे।

अपने इस यजुर्वेदभाष्य विवरण के पृ० ७, ८ तथा इसी विवरण भूमिका के पृ० ७५, ७९ पर हम देवतावाद का निरूपण अतिसंक्षेप से कर चुके हैं कि मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है, एक महान् आत्मा परमेश्वर ही मुख्य देवता है। यहां उसका पुनः पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझते। विज्ञ पाठक संस्कृत तथा भाषार्थ के इन पृष्ठों को यदि ध्यान से पढ़ेंगे तो उन्हें पर्याप्त सारभूत सिद्धान्त वहां पर वर्णित मिलेंगे॥

यहां पर हम पहले अतिसंक्षेप से देवतावाद के विषय का पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं—

पूर्वपक्ष

(१) देवता किन्हीं विग्रहवती (शरीरधारी) चेतन व्यक्तियों का नाम है। वे आकाश में रहती और अपना काम करती रहती हैं॥

(२) वेदों के देवता के विषय में सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवतादि ही परमप्रमाण हैं, अर्थात् उनसे भिन्न देवता मानना वा लिखना अशुद्ध है॥

(३) मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय देवता नहीं॥

(४) मन्त्रों में आये 'अग्नि' आदि पद ही देवता हो सकते हैं, उन पदों के अर्थ देवता नहीं हो सकते॥

(५) मन्त्रों के समान देवता और छन्द भी ईश्वरीय हैं, अर्थात् नित्य हैं॥

यह संक्षेप से पूर्वपक्ष दर्शाया॥

उत्तरपक्ष

सर्वानुक्रमणी (२। ५) में लिखा है—"या तेनोच्यते सा देवता"॥ इसी पर षड्गुरुशिष्य कहता है—"तेन वाक्येन यत् प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता"। अर्थात्—मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है॥

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति"॥ नि० ७। १॥

अर्थात्—जिस कामना वाला ऋषि, मैं अर्थ का स्वामी बनूं, ऐसा चाहता हुआ जिस देवता की स्तुति करता है, उस देवता वाला वह मन्त्र कहाता है॥

इससे स्पष्ट है कि मुसलमानों के फरिश्तों की तरह विग्रहवती (शरीरधारी) देवताओं का तो वेद में कोई स्थान ही नहीं। नव्य और प्राचीन मीमांसकों तक ने इन विग्रहवती (शरीरधारी) देवताओं का स्पष्ट खण्डन किया है। जैसा कि—

"का पुनरियं देवता नाम ?···या एता इतिहासपुराणेष्वग्न्याद्याः सङ्कीर्त्यन्ते नाकसदस्ता देवता इति ? उच्यते। तासु देवतासु अहरादीनां शार्दूलादीनां वा न सङ्ग्रहः। स्मर्यते च कालवाचिनां देवतात्वं, कालेभ्यो भववदिति, मासो देवता संवत्सरो देवतेति॥

अपरं मतं, येषु देवताशब्दो मन्त्रब्राह्मणे श्रूयते, 'अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता' इत्येवमादिषु तेऽत्र देवताशब्देनोच्यन्त इति । तत्राप्यहरादीनामनुपसंग्रह एव...........एवं मूर्त्तानाममूर्त्तानां चेतनानामचेतनानां श्रुत्या किञ्चिदर्थं प्रति तादर्थ्येन सङ्कल्पनीयानां देवतात्वं भविष्यति। सामान्यवचनत्वं चोपपत्स्यते ।...........देवतायाश्च यज्ञसाधनभावो न रूपेण भवति । केन तर्हि ? सम्बन्धिना शब्देन । यथाऽध्वर्युर्हस्ताभ्यामुपकरोति, एवं देवता शब्देनोपकरोति । यथा होतुः पाणौ द्विलेपेनोपस्तृणातीति पाणिसम्बन्धेऽपि होतैवोपकरोति, एवं सम्बन्धिना शब्देनोपकुर्वती देवता उपकारिणी गम्यते । देवतायामप्युपकारिण्यां चोदितायां शब्दस्यैव यज्ञे समवायः......शब्द एव हविषा सम्बद्ध्यते, तत्सम्बन्धादर्थोऽपि देवता भविष्यति । यस्य हि शब्दो हविषा तादर्थ्येन सम्बद्ध्यते, सा देवता । शब्दे कार्यस्यासम्भवादर्थे कार्यं विज्ञायते । इह तु शब्द एव कार्यं सम्भवति" ॥

मीमांसा १०।४।२३ शाबरभाष्ये देवताभिधानाधिकरणे ॥ तथा मी० ९।१।८ अपि ॥

यहां विग्रहवती देवताओं का स्पष्ट खण्डन करते हुये शब्दमयी देवता मानी है ॥ इसी विषय में खण्डदेव ने अपने ग्रन्थ 'भाट्टदीपिका' में लिखा है—"अतः कथमपि न विग्रहादिस्वीकारः । किन्तु शब्दमात्रं देवता। अर्थस्तु प्रातिपदिकानुरोधात् चेतनोऽचेतनो वा कश्चित् स्वीक्रियते । न तु विग्रहादिमान् । उपासनादौ परं ध्यानमात्रमाहार्यं तस्येति जैमिनिमतनिष्कर्षः । मम त्वेवं वदतोऽपि वाणी दुष्यतीति हरिस्मरणमेव शरणम्" (भाट्टदीपिका ९।१।४ अधिकरण पृ० ५३) ॥

अर्थात्—"देवता विषय में विग्रह (शरीर) आदि किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता । (मीमांसकों के मत में) शब्दमात्र देवता है, अर्थ प्रातिपदिक के अनुसार चेतन या अचेतन कोई भी माना जा सकता है, वह मूर्ति देवता नहीं माना जा सकता । उपासनादि के समय उसका चिन्तन (बिना मूर्त्ति के ही) किया जा सकता है, यह जैमिनि मत का निष्कर्ष है । यह सब (सत्य) कहते हुये मुझे पाप लग रहा हो, तो इसके लिये प्रभु का स्मरण ही मेरे लिये शरण* है" ॥

इससे सिद्ध है कि विग्रहवती (शरीरधारी वा मुसलमानों के फरिश्ते के समान) देवता तो किसी अवस्था में मन्त्र के देवता नहीं माने जा सकते । मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का नाम ही देवता है ॥

(२) सर्वानुक्रमणी से भिन्न देवता भी हो सकते हैं । ऋ० ५।४२।१४ में एक ही मन्त्र में भिन्न २ आचार्यों ने भिन्न २ देवता माने हैं, जो सर्वानुक्रमणी में नहीं (देखो विवरण पृ० ८) ॥ जो देवता को नित्य मानते हैं तथा मन्त्रगत पद ही देवता होते हैं, ऐसा माननेवाले महानुभाव भी इस स्थल पर विचार करेंगे तो उन्हें स्पष्ट ज्ञात होगा कि उनका कथन सर्वथा निराधार है ॥

(३) प्रतिपाद्यविषय देवता के सम्बन्ध में ऊपर दर्शाया जा चुका है ॥

(४) मन्त्रों में आये पद ही देवता हो सकते हैं, यह बात नहीं । पाठक देखें, "अञ्जन्ति त्वामध्वरे०" (ऋ० ३।८।१) इस सूक्त के आदि-अन्त तथा मध्य में 'वनस्पते' ऐसा सम्बोधन पद कई बार आया है, पर ऋक्सर्वानुक्रमणी में इस सूक्त का देवता (एक दो मन्त्रों को छोड़कर) 'यूपस्तुति' माना है । उधर निरु० ८।१७ में 'वनस्पति' देवता का वर्णन करते हुये यास्क कहते हैं—"तत् को वनस्पतिः ? यूप इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः" । इससे स्पष्ट है कि 'यूप' और 'अग्नि' ये दोनों 'वनस्पति' पद के अर्थ हैं । इसीलिये बृहद्देवताकार ने 'यूप' और 'अग्नि' दोनों को सूक्त का देवता माना है, देखो बृह० ४।१०० ॥

* हमारे इस उद्धरण के यहाँ उपस्थित करने का यही अभिप्राय है कि 'देवता' शरीरधारी हो, यह बात नहीं। यह सब कल्पना बहुत नवीन है । खण्डदेव कहता भी जा रहा है कि देवता शरीरधारी कभी नहीं होते, यह मीमांसकों का मत है, साथ ही पौराणिक संस्कारों के कारण डरता भी जा रहा है कि कहीं मैं ऐसा सत्य कहता हुआ नरक में ही न जाऊं, (या मेरी वाणी ही न जल जाये) इसके लिये मैं प्रभु का स्मरण करता हूँ॥ देवतावाद विषय का यह स्थल बहुत ही स्पष्ट है । पाठक इस अधिकरण को मीमांसा में देख सकते हैं ॥

हमारे इस एक उदाहरण से ही सिद्ध है कि मन्त्र में आया पद ही देवता हो, यह बात नहीं। भला ऐसी अवस्था में देवता नियत हुआ वा अनियत ? यह बात पाठक स्वयं विचार सकते हैं ॥

जो लोग विषय को देवता नहीं मानते, उनसे पूछना चाहिये कि—

ऋ० १ । १८ । ५ में दक्षिणा । ऋ० १ । १२६ । ६, ७ में जायापत्योः संवादः । ऋ० ४ । ५० । ७, ९ में पुरोधातुः कर्मप्रशंसा । ऋ० ४ । ५७ । ५ में कृषिः । ऋ० ४ । ४७ । २६ में भाववृत्तम्, इत्यादि देवता सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता आदि में कहे हैं या नहीं ? और ये विषय हैं या नहीं ? ये तो उदाहरणमात्र हैं, परिगणन के लिये सैंकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं ॥

अब रही पर्यायवाची वा अर्थ देवता हैं या नहीं—

ऋ० २ । ३३ । ११ का देवता सर्वानुक्रमणी में	'इन्द्र' है,	बृहद्देवता में		'मृग' है ॥
ऋ० २ । ४२ । ४३	,,	शकुन्तः	,,	कपिञ्जलरूपी इन्द्रः
ऋ० ६ । ७५ । ८	,,	रथः	,,	आयुधागारम्
,, १३	,,	प्रतोद	,,	कशा
,, १४	,,	हस्तघ्न	,,	हस्तत्राण
ऋ० ६ । ७ । ५३	,,	द्यावापृथिवी	,,	रोदसी
ऋ० १ । ५०	,,	सूर्य	,,	वरुण

क्या यहां 'प्रतोद' और कशा', 'हस्तघ्न' और 'हस्तत्राण', द्यावापृथिवी और रोदसी ये शब्द स्पष्टतया पर्यायवाची नहीं हैं ?

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में भी देवताविषय में बहुत भेद है। ऋ० १ । ५० में सर्वानुक्रमणी 'सूर्य' देवता मानती है, बृहद्देवता उसी मन्त्र का 'वरुण' देवता मानते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं ॥ निरुक्तकार ने जैसे 'अग्नि' और 'जातवेदाः' को भिन्न २ देवता माना है, वैसे ही याज्ञिकप्रक्रिया में मीमांसा के मतानुसार 'इन्द्र' और महेन्द्र' भी भिन्न २ देवता हैं, एक नहीं, जैसा कि मीमांसा के २ । १ । १६ के भाष्य में स्पष्ट लिखा है—"तस्मात् देवतान्तरमिन्द्राद् महेन्द्रः" ॥

हमारा कहना यह है कि यदि किसी मन्त्र में 'इन्द्र' पद है, और अगले मन्त्र में 'वृत्रहा इन्द्र', तो यह विशेषणपद घटित होने से इन्द्र से भिन्न देवता माना जायगा, एक नहीं। इस प्रकार के देवताभेद[1] से तो सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता भरे पड़े हैं। इसको भी छोड़ यहां हम दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हैं। ऋ० १ । ९४ । १–१६ का देवता सर्वानुक्रमणी में 'अग्नि' माना है, उधर बृहद्देवता में 'जातवेदाः'। ऐसे उदाहरण ऋ० १ । १४० तथा ऋ० २ । २ आदि असंख्य स्थानों में मिलेंगे। 'अग्नि' और 'जातवेदाः' निरुक्तकार के मत में भिन्न २ देवता हैं (देखो निरु० अ० ७) । ऋ० १ । ५० । ६ में निरुक्तकार 'वरुण' देवता मानता है, सर्वानुक्रमणी सूर्य। ऋ० ६ । १४, १५ का निरुक्त (१२ । १८) में 'पूषा' देवता माना है, सर्वानुक्रमणी में विश्वेदेवाः। ऋ० १० । १८५ । २० में निरुक्त 'सूर्य' देवता मानता है, सर्वानुक्रमणी 'आशीः प्रायः'। पाठक देखें निरुक्त और सर्वानुक्रमणी में देवता का कितना स्पष्ट भेद है ॥

यदि इन भिन्न २ देवताओं को भिन्न २ मत से विकल्प में माना जा सकता है; तो आचार्य दयानन्द के दर्शाये देवता भला क्यों विकल्प में नहीं माने जा सकते ?

ऋ० २ । ३० । ८ 'सरस्वती' इति सर्वानुक्रमणी, मध्यमा वागिति बृहद्देवता ॥

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि विशेषणवाची पदों के निर्देश के विना भी देवता का सामान्य निर्देश हो सकता है, ऐसा सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में माना है ॥

---

१. देवताभेद के विस्तृत उदाहरण हमारे यजुर्वेदभाष्य विवरण पृ० ७, ८ में देखें। तथा 'वेदवाणी' काशी के वेदाङ्क सन् १९५७ के पृ० १०२ पर देखें ॥

पाठक पृ० ७, ८ पर विवरण में दिये हुए हमारे प्रमाणों को देखें कि कैसे एक ही मन्त्र (ऋ० १० । ८५ । १९) का देवता सर्वानुक्रमणी आदि के मत में 'चन्द्रमा' है, उसी मन्त्र का देवता तैत्तिरीय संहिता-बौधायनश्रौतसूत्र-सत्याषाढ़श्रौतसूत्रादि के मत में 'आदित्य' है और यास्क तथा वररुचि आदि के मत में चन्द्रमा और आदित्य दोनों। इसी प्रकार 'प्र सुष्टुतिम्' (ऋ० ५ । ४२ । १४) इस एक ही मन्त्र का शाकपूणि के मत में 'इडस्पतिः' देवता, गालव के मत में पर्जन्य और अग्नि, यास्क के मत में पूषा, शौनक के मत में इन्द्र, और भागुरि के मत में वैश्वानर है ॥ यहां पर केवल 'इडस्पति' पद तो मन्त्र में आया है, अन्यों में से कोई भी पद इस मन्त्र में नहीं आया। बताइये ! जब देवतावाद के विधायक (वादी के मत में) कहे जाने वाले ग्रन्थ ही ऐसा कहते हैं, तो क्यों न माना जावे॥ देवता नित्य ईश्वरोक्त हैं, यह कहने वा समझने वालों को हम क्या कहें, सिवाय इसके कि वे वेदार्थ की प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं ॥

यह हाल आदिष्टदेवताक मन्त्रों का है, अनादिष्टदेवता वाले मन्त्रों का तो कहना ही क्या। **'अपि वा सा कामदेवता स्यात्'** (निरु० ७ । ४) वहां प्रकरणादि से सुसङ्गत यथेष्ट देवता हो सकता है। अन्यथा **'नैरुक्तः शक्नोति दैवतं ज्ञातुम्'** (स्कन्द भा० १ पृ० १०८)। निरुक्त का जानने वाला ही देवता का निश्चय कर सकता है, इस बात के कहने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? विनियोगभेद से भी देवताभेद होता है, यह बात भी यहां ध्यान रखने की है (देखो दुर्ग टी० २ । ८ पृ० १२६) ॥

जो महानुभाव मन्त्रों में लिङ्ग = देवतावाचक पद के दर्शनमात्र से ही देवता का ज्ञान तत्काल हो जाता है, उसके लिये किसी तपश्चर्या वा अगाध पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं, ऐसा मानते हैं, उनके लिये हम यास्क का एक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

"अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति। तद्देतेनोपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति। 'इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति' (ऋ० ६ । ४ । ७)। वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं चाग्नेये मन्त्रे"। निरु० १ । १७ ॥

अर्थात्—यज्ञकर्म में देवतानिर्देश द्वारा विधान किया जाता है, जैसे **'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** इत्यादि। बिना निरुक्तशास्त्र के गहन अनुशीलन के देवता का यथार्थ ज्ञान (अर्थात् कौन प्रधान देवता है, कौन निपात अर्थात् गौण) नहीं हो सकता। यदि वे कहें कि हम लिङ्ग (देवतावाचकपद) को जानते हैं, तो यास्क दो मन्त्र उद्धृत करके पूछते हैं—**'इन्द्रं न त्वा'** (ऋ० ६ । ४ । ७) अग्नि देवता वाले मन्त्र में वायु तथा इन्द्र, तथा **'अग्निरिव मन्यो'**, (ऋ० १० । ८४ । २) 'मन्यु' देवता वाले मन्त्र में 'अग्नि' का लिङ्ग देखा जाता है, बताओ यहां कौन देवता है ? अर्थात् यहां मन्त्र में आया पद देवता नहीं ।।

यह बात उन मन्त्रों के विषय में है जो आदिष्ट देवतावाले हैं। जब इनमें ही देवतावाची पद के दर्शनमात्र से देवता का निश्चय नहीं हो सकता, तो अनादिष्ट देवता वाले मन्त्रों के देवता का निर्णय तो बिना तपोबल वा योगबल के द्वारा अर्थ जाने बिना हो ही कैसे सकता है ? इसीलिये ऋग्वेद का भाष्यकार वेङ्कटमाधव अपनी देवतानुक्रमणी में लिखता है—

> देवतातत्त्वविज्ञानं महता तपसा भवेत्।
> शक्यते किमस्माभिर्याथातथ्येन भाषितुम् ॥ पृ० ५५ ॥

पुनः कहा—**न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम् ॥**

> योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
> उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवताः ॥ बृह० ८ । १२९,१३० ॥

अर्थात्—मन्त्र ऋषि को प्रत्यक्ष नहीं होते, योग, दम (इन्द्रियनिग्रह), व्यापक पाण्डित्य तथा तप आदि के द्वारा समस्त देवताओं को जानने का यत्न करना चाहिये ॥

यहां यह बात और समझ लेने की है, कि यास्क ने दैवतकाण्ड में प्राधान्यस्तुति देवताओं का निरूपण किया है। निपात (गौण) देवताओं के विषय में निरु० १।२० में निर्देश किया है। निरुक्तकार ने जो देवताओं के तीन भेद किये हैं, उनमें "पृथिवी" और "त्वष्टा" को पृथिवीस्थानीय, मध्यमस्थानीय और द्युस्थानीय माना है। निश्चय ही तीनों स्थानीय 'पृथिवी' के और 'त्वष्टा' के स्वरूप में भेद है। वरुण, यम, सविता और उषा इन चार देवताओं को निरुक्तकार ने मध्यमस्थानीय और द्युस्थानीय अर्थात् दो स्थानीय माना है। निर्वचन के आधार पर ही ये शब्द पृथिवीस्थानीय हैं, तो शेष दोनों स्थानीय भी विशेष्य-विशेषणवाची होने से निर्वचन के आधार पर ही युक्त बैठेंगे। ऐसे ही मध्यमस्थानीय और द्युस्थानीय के विषय में भी समझना चाहिये। यास्क ने इसीलिये इन शब्दों का निर्वचन किया है। निर्वचन दिखाने से यही सिद्ध होता है कि ये विशेषणवाची भी हैं और विशेष्यवाची भी। एक आत्मा को ही मुख्य देवता मानकर पृथिवीस्थानीय, मध्यमस्थानीय और द्युस्थानीय देवताओं का निरूपण किया है। इन सबका समन्वय विशेष्यविशेषणवाद वा निर्वचन के आधार पर ही ठीक युक्त बैठता है॥

यजुःसर्वानुक्रमणी

ऊपर हमने ऋक्सर्वानुक्रमणी के विषय में लिखा, जिसके देवता आचार्य दयानन्द ने भी प्रायः माने हैं॥

अब पाठक यजुःसर्वानुक्रमणी के विषय में विचार करें। इसी विवरण के पृ० ७ पर हमने विस्तार से दर्शाया है कि दुर्ग और स्कन्द "इषे त्वा" (य० १।१) इस प्रथम मन्त्र को अनादिष्टदेवता वाला मानते हैं। उनके मत में शाखाछेदनादि में इस मन्त्र का विनियोग मात्र है, शाखा देवता नहीं। इससे स्पष्ट है कि उनके काल में यह यजुःसर्वानुक्रमणी तो थी नहीं। दर्श याग के मुख्य देवता 'इन्द्र' या 'महेन्द्र' ही इस मन्त्र के देवता हैं, शाखादि नहीं॥

और देखिये! जब उवट ने यजुःप्रातिशाख्य पर टीका लिखी तो वह यजुर्वेद का भाष्यकार होते हुये यजुःसर्वानुक्रमणी पर भी अवश्य ही टीका लिखता[1]। टीका लिखना तो एक ओर रहा, उवट ने तो यजुःसर्वानुक्रमणी का नाम तक भी अपने भाष्य में नहीं लिया। सायणादि भाष्यकार अपने भाष्यों में सर्वत्र ऋक्सर्वानुक्रमणी के उद्धरण दे देकर ऋषि, देवता, छन्द आदि का निर्देश करते हैं। उवट यजुर्वेदभाष्य के प्रारम्भ में लिखता है

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः। ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छान्दसं च यत्॥

(उवट भा० पृ० १)

इस वचन से तो उवट ने देवता के निर्णय में यजुःसर्वानुक्रमणी का इङ्गित (इशारा) मात्र नहीं किया। इस सबसे हमने विवरण पृ० ७ पर यही सिद्ध किया है कि यह यजुःसर्वानुक्रमणी अवश्य ही उवट से पीछे की है॥ ऐसी अवस्था में ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित यजुर्वेदभाष्य के प्रथम अध्याय के ३१ मन्त्रों में से २९ मन्त्रों के देवता भिन्न मानना किसी प्रकार भी अयुक्त नहीं कहा जा सकता॥

यहां इतना और ध्यान रहे कि शतपथ ब्राह्मण (९।४।२।१५) में "यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते" अर्थात् जिसके लिये 'हविः' दी जावे, वही देवता कहलाता है। इसी विषय में मीमांसा शाबरभाष्य (चौखम्बा संस्करण) १०।८।२२ पृ० ९७ पर लिखा है—"यस्य वाचकमुद्दिश्य स्मृत्वा वा हविस्त्यक्ष्यामीति संकल्पः क्रियते सा देवता भवति तत्र" अर्थात्—जिसके लिये 'हविः' दी जाती है, वही देवता कहाता है, इत्यादि॥ भला ब्राह्मणों तथा श्रौत स्मार्त प्रक्रिया का जानने वाला कौन कह सकता है कि 'शाखा' को हविः दी जाती है, कोई सर्वथा अनभिज्ञ ही ऐसा कहने का साहस भले कर सकता है।

1. डी० ए० वी० कालेज लाहौर (वर्त्तमान साधु आश्रम होशियारपुर) के लालचन्द पुस्तकालय में ऋक्सर्वानुक्रमणी की उवटकृतटीका विद्यमान है। जब उवट ने ऋक्प्रातिशाख्य की तरह ऋक्सर्वानुक्रमणी पर भी टीका रची, तब यदि उसके काल में यजुःसर्वानुक्रमणी विद्यमान होती तो उस पर टीका क्यों न लिखता?

अब पाठक स्वयं विचार करें कि 'सविता' जो मन्त्र में आया है, वह देवता ठीक है (जैसा कि ऋषि दयानन्द ने माना) या शाखा ? इसी प्रकार अन्यों के विषय में भी समझना चाहिये ॥

हमारे इस लेख का अभिप्राय इतना ही है कि सर्वानुक्रमणी या बृहद्देवता ने जो देवता लिख दिये, वही अन्तिम प्रमाण नहीं। इनसे भिन्न भी देवता हो सकते हैं और मन्त्र के प्रतिपाद्यविषय का नाम देवता है। ऐसी अवस्था में प्रतिपाद्यविषय में भिन्न २ दृष्टि होने से यत्र तत्र सर्वानुक्रमणी से भिन्न देवता मानना किसी प्रकार भी दोषावह नहीं कहा जा सकता। विकल्प मानने पर प्रकरणादि के अनुसार ग्राह्य माने जा सकते हैं ॥

ऋषि दयानन्द देवता किसको मानते हैं, इसके लिये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को स्वयं देखें, विशेषतया पृ० ६० से ७० तक ॥ हम यहां संक्षेप के कारण एक ही उद्धरण उपस्थित करते हैं, जिसमें उन्होंने अर्थ को देवता माना है—

"यस्मिन् मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते" ऋ० भा० भूमिका पृ० ६०। 'तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते'। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्………" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३६८, ३६९ ॥

अर्थात्—जिस जिस मन्त्र का जो जो अर्थ होता है, वही उसका देवता कहाता है ॥

देवतावाद के विषय में ये विचार अतिसंक्षेप से हमने लिखे हैं। इस छोटीसी भूमिका में इस विषय में अधिक लिखना असम्भव था। देवतावाद के विषय में विपुल सामग्री संगृहीत हो चुकी है, इस विषय का विशद निरूपण अवसर प्राप्त होने पर हम कभी पृथक् ग्रन्थ रूप में करेंगे ॥

वेद में इतिहास[1]

यह हम पहले कह चुके हैं कि वैदिक शब्दों के यौगिक प्रक्रिया के आधार पर अर्थ होते हैं, तथा प्रत्येक मन्त्र का तीन प्रकार का अर्थ होता है। योरुपीयन स्कालर और उनके अनुगामी बहुतसे भारतीय यह कहते हैं कि 'इन्द्र' 'अङ्गिराः' और 'कण्व' आदि व्यक्तिविशेषों के नाम हैं, जो वेदों में स्पष्ट पाये जाते हैं, अर्थात् ये व्यक्तिविशेषों की संज्ञाएं (Proper Names) हैं। भला हम पूछते हैं थोड़ीसी अंग्रेजी जाननेवाला बालक भी जान सकता है कि व्यक्तिविशेष (Proper Names) के आगे आतिशायिक प्रत्यय 'तर' और 'तम', जिनको अंग्रेजी में er. est. अर्थात् Comparative, Superlative degrees कहते हैं, कभी आ सकते हैं ? Devdatta-Devdatter-Devdattest, कभी नहीं हो सकता ? ये डिग्रियां विशेषणवाची शब्दों (Adjectives) के साथ ही लगती हैं। उधर स्वयं वेद इन शब्दों के विषय में क्या कहता है, सो देखें—

(१) अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत् सुविताय श्रवांसि ।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥ ऋ० ७ । ७९ । ३ ॥

इस एक ही मन्त्र में 'इन्द्र' और अङ्गिराः' इन दोनों से आगे तमप् प्रत्यय (Superlative degree) है। इसी प्रकार 'कण्वतमा' भी आता है अग्निः कण्वतमः कण्वसखा (ऋ० १० । ११५ । ४) कण्व एषां कण्वतमः……(ऋ० १ । ४८ । ४)॥ इससे स्पष्ट है कि वेद इन शब्दों को विशेषणवाची (Adjectives) मानता है, व्यक्तिविशेष (Nouns) नहीं मानता ॥

---

१. इस विषय का विवेचन अतिसंक्षेप से हम पूर्व (पृ० ५६) कर चुके हैं। पाठक वहां देखें। हमारे बनाये "निरुक्तकार और वेद में इतिहास" तथा "वेदार्थ और शन्तनु" को देखें। इस विषय में सहायक रूप में पं० युधिष्ठिर मीमांसककृत 'क्या वैदिक ऋषि मन्त्ररचयिता थे' तथा "ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार" में भी देखें। ये सब ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट गुरुबाजार अमृतसर से मिल सकते हैं ॥

(१) और भी देखें, ऋ० १ । ५९ । ७ में "भारद्वाजेषु यजतो०", ऋ० १ । ७१ । ५ में "विप्रेभिः" ऋ० ३ । ५३ । १६ में "जामदग्नयो ददुः", इत्यादि स्थलों के बहुवचनान्त प्रयोगों से ये शब्द व्यक्तिविशेषों के नाम कैसे हो सकते हैं, विशेषणवाची ही हैं, यह स्पष्ट है ॥

(२) अब निरुक्तकार ने "तत्रेतिहासमाचक्षते" इत्यादि कहकर (या न कह कर) जो भी देवापि, शन्तनु आदि के इतिहास दर्शाये हैं, इसके लिये हमें यास्क के 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (नि० १० । १०, ४६) वचनानुसार मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों की आख्यान (इतिहास) आदि से युक्त कहने (व्याख्या करने) की प्रीति होती है, न कि वे वास्तविक इतिहास हैं, यह समझना चाहिये ॥

यास्क के इतिहास के स्वरूप को बताने के लिये हम एक और स्थल उपस्थित करते हैं । यास्क ने निरुक्त १२ । १० में सरण्यू विषयक मन्त्र की व्याख्या करते हुए 'तत्रेतिहासमाचक्षते' ऐसा लिख कर एक आख्यान लिखा है । पुनः अगले खण्ड में उस आख्यान सम्बन्धित ऋचा का व्याख्यान करके अन्त में लिखा है—

'यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश । रात्रिरादित्यस्य, आदित्योदयेऽन्तर्धीयते'

अर्थात्—यम की माता और महान् विवस्वान् की पत्नी विवाह होते ही नष्ट होगई । आदित्य की जाया रात्रि आदित्य के उदय होने पर नष्ट हो जाती है ॥

यास्क के इस पाठ से स्पष्ट है कि निरुक्त १२ । १०, ११ का सरण्यूविषयक इतिहास किन्हीं व्यक्ति-विशेषों का नहीं है, अपितु रात्रि और सूर्यादि प्राकृतिक पदार्थों का आलङ्कारिक वर्णनमात्र है । इस प्रकार स्वयं यास्क के मतानुसार उसके द्वारा लिखित इतिहास के स्वरूप को स्पष्ट करके नैरुक्त सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की इस विषय में क्या धारणा है, इसको व्यक्त करते हैं—

सायण से लगभग एक सहस्र वर्ष प्राचीन ऋग्भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी अपनी निरुक्त की टीका भाग २ पृ० ७८ पर लिखता है—

"एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या । एष शास्त्रे सिद्धान्तः । ......औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः । परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्" ॥

अर्थात्—इसी प्रकार जिन जिन मन्त्रों में आख्यान = इतिहास का वर्णन किया गया है, उन सब मन्त्रों की यजमानपरक अथवा नित्य पदार्थों में योजना कर लेनी चाहिये । यह निरुक्त शास्त्र का सिद्धान्त है......मन्त्रों में आख्यान = इतिहास का सिद्धान्त औपचारिक अर्थात् गौण है । वास्तव में तो नित्यपक्ष ही मन्त्रों का विषय है ॥

आचार्य स्कन्दस्वामी ने केवल 'देवापि और शन्तनु' को विद्युत् और जल बताकर इन मन्त्रों या उस सूक्त की ही सङ्गति नहीं दिखाई, अपितु सारे निरुक्तशास्त्र का सिद्धान्त इस विषय में प्रतिपादित कर दिया । "एष शास्त्रे सिद्धान्तः" "परमार्थेन तु नित्यपक्ष इत्येव सिद्धम्" क्या ये उद्धरण कुछ भी व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं !

(३) इतना ही नहीं इससे भी पूर्ववर्त्ती कहा जानेवाला आचार्य वररुचि अपने निरुक्तसमुच्चय में (पृ० ७१) स्कन्दस्वामी के शब्दों में ही कहता है—

"औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात् । परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव इति नैरुक्तानां सिद्धान्तः" ॥

अर्थात्—मन्त्रों में इतिहास औपचारिक (गौण) है, क्योंकि इतिहास मानने से वेद के नित्यत्व में विरोध हो जायगा । परमार्थ से तो नित्यपक्ष ही (ठीक) है, यह नैरुक्तों का सिद्धान्त है ॥

ऊपर के दोनों उद्धरणों में सर्वथा एक जैसे शब्द हैं । जैसे दोनों ने सम्मति करके लिखे हों । यह है वेद में इतिहास विषय की नैरुक्तों की परिभाषा वा परम्परा का स्वरूप । इन दोनों प्रमाणों से सिद्धान्तरूप में ऐतिहासिक पक्ष का औपचारिकत्व (गौणत्व) सूर्य के प्रकाश की भाँति सिद्ध है । हम समझते हैं कि पक्षपातरहित विद्वानों को नैरुक्तों के इस सिद्धान्त को मानने में यत् किञ्चित् भी ननुनच न होगी ॥

(४) निरु० १० । २६ दुर्ग टी० पृ० ७४४ "स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः, तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात्" (देखो पूर्व पृ० ५६) ॥

दुर्ग और स्कन्द के इस इतिहास विषय की उपर्युक्त धारणा के अनेक स्थल हैं, जो पाठकों को स्वयं उक्त ग्रन्थों में अवश्य देखने चाहियें ॥

(५) इनके अतिरिक्त उद्गीथ ने ऋ० १० । ८२ । २ में 'ऋषि' का अर्थ 'रश्मि' किया है। अस्यवामीय सूक्त के भाष्य में आत्मानन्द ने 'अश्विनौ' का अर्थ "गुरुशिष्यौ" किया है, और भी कई एक शब्दों का अर्थ हम पूर्व पृ० ७६ पर दर्शा चुके हैं। इसी प्रकार एकाग्निकाण्ड के भाष्य में हरदत्त पृ० १७३ पर, शबर-स्वामी ने मीमांसा भाष्य १ । २ । १० पृ० ३३, ३६, ३८, ४३, तथा मी० ९ । १ । ४४ पृ० १६९० में लिखा है—"मेधातिथेर्मेष इत्येवमादि । इतिहासवचनमिदं प्रतिभाति, इतिहासे च विधौ सति आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्येत" अर्थात्—यह इतिहास जैसा प्रतीत होता है (है नहीं), यदि इतिहास माना जावे, तो वेद को अनित्य मानना होगा ॥

कुमारिलभट्ट मीमां० तन्त्रवार्त्तिक पृ० ६४, ६६, ६७, १३३ १४७, १५३, १५५ १५६ पर इतिहास विषय में बहुत कुछ लिखा है, जिससे हमारे विचार की पुष्टि होती है। सुश्रुत सूत्रस्थान ५ अध्याय में लिखा है—

"यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः ।······रुद्रो रोषः । सोमः प्रसादः । वसवः सुखम् । अश्विनौ कान्तिः । मरुदुत्साहः । तमो मोहः । ज्योतिर्ज्ञानम्······॥" इसी प्रकार चरक में भी है ॥

इन प्रमाणों से सूर्य के प्रकाश की भान्ति यह स्पष्ट है कि आज से डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व तक वेद में अनित्य वा व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं, अपितु प्रकृति के प्रवाह से नित्य पदार्थों का औपचारिक वा आलङ्कारिक रूप में वर्णन है, यह परम्परा विद्यमान थी, जिसे सायण वा पश्चाद्वर्त्ती वेदभाष्यकारों ने नष्ट कर दिया, जिसका पुनरुद्धार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया ॥

हमारा यह दृढ़ मत है कि समस्त वेद में किसी भी प्रकार का किसी का कोई इतिहास नहीं है। प्राकृतिक जगत् के कारण तथा कार्य रूप तत्त्वों का औपचारिक आलङ्कारिक वर्णन है[1] ॥

स्थान न होने से यहां इतिहास विषय में केवल निर्देश मात्र ही लिखा है[2] ॥

[3]व्यत्यय और वेदार्थ

यास्क अर्थ के पीछे विभक्ति वा स्वर को मानते हैं, यह हम पूर्व पृ० ५३,५७ पर कह चुके हैं। "अर्थनित्यः परीक्षेत", "यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्" (निरु० २ । १)। निरुक्त ५ । २३ में—"कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्याद् दृष्टव्ययं तु भवति" स्पष्ट स्वर का व्यत्यय माना है। यह तो स्वर के व्यत्यय की बात हुई। सामान्य व्यत्यय में "यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत्" (निरुक्त २ । १) से यास्क का मत स्पष्ट विदित हो जाता है। इतना

१. निरुक्त के समस्त ऐतिहासिक स्थलों पर विशद निरूपण होना आवश्यक है। इसी विचार से 'देवापि और शन्तनु' पर मैंने लिखा भी है। जो छप चुका है। इसी प्रकार मैकडानल तथा कीथ कृत "वैदिक इण्डैक्स" (Vedic Index of names and subjects) आदि में ऐतिहासिक कहे जाने वाले सब स्थलों पर पूरा प्रौढ़तापूर्ण प्रकाश डाला जाना चाहिये। ये सब काम हैं जोआर्य समाज को उठाने चाहियें। एक अकेला व्यक्ति कोई भी ये सब काम नहीं कर सकता। लोगों के सामने काम नहीं, मुझे तो इतने काम प्रतीत होते हैं जो दस बीस कार्यकर्त्ता निरन्तर और एक ही कार्य करें, तो जीवन भर में भी समाप्त होते नहीं दीखते। प्रभु की पवित्र वेदवाणी के ये कार्य हैं, वही भिन्न २ आत्माओं में प्रेरणा करेंगे, तभी होने सम्भव हैं। अन्तर्यामी प्रभु हमें बल देवें !

२. स्वतन्त्र विषय होने से इस विषय का पृथक् वा विस्तृत विवेचन अलग होना आवश्यक है। देखें कब हो पाता है ॥

३. यास्क निरु० ७ । ९ में 'सुविदत्रेभ्यः' में 'सु' और 'वि' दो उपसर्ग मानते हैं। उभर एक उपसर्ग भी मानते हैं। इस से भी स्पष्ट है कि यास्क स्वरव्यत्यय को मानते हैं।

ही नहीं, निरु० ६। १ में 'आशुशुक्षणि' पद को प्रथमान्त होते हुये भी यास्क ने 'पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा' यह कह कर मनसा वाचा ही नहीं, अपितु कर्मणा भी व्यत्यय को स्वीकार किया है। इस व्यत्यय को समस्त वेदभाष्यकारों को अपने भाष्यों में अवश्य मानना पड़ा है। उदाहरणार्थ पाठकवृन्द स्कन्द ऋग्वेदभाष्य प्रथम खण्ड (मद्रासमुद्रित) में पदे पदे देख सकते हैं॥

व्यत्यय के विषय में प्रमाणादि पाठक इस वेदभाष्य विवरण के पृ० १५, १६ तथा पृ० २८, २९ पर देखें। वहां संक्षेप से इस व्यत्यय के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला गया है॥

आचार्य दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में एक और नियम को ध्यान में रख कर भाष्य किया है। य० १।८ के भाष्य में "(असि) अस्ति वा, अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते"। इस स्थल में 'सर्वत्र भौतिकपक्षे' ये दोनों पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं। भौतिकपक्ष में सर्वत्र मध्यम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष का अर्थ होता है, ऐसा उनका विचार है। इसी प्रकार जहां भौतिक वा जड़ पदार्थों में सम्बोधन है, वहां वहां भी प्रथमा विभक्ति का अर्थ लेना चाहिये, ऐसा उनका अभिप्राय है। वेदार्थ जिज्ञासुओं के लिये उनकी इस धारणा को समझ कर ही इस भाष्य का अध्ययन करना आवश्यक है॥

इस व्यत्यय के विषय में वास्तविक स्थिति यह है कि जिस विभक्ति या वचन में जो शब्द जिस रूप में वेद में आया है, उस शब्द का उसके अपने वर्त्तमान रूप में अर्थ होगा ही नहीं, यह बात नहीं। स्थिति यह है कि 'अर्थनित्यः परीक्षेत' (अर्थ की मुख्यता को सदा लक्ष्य में रखना चाहिये) निरुक्तकार के इस सिद्धान्तानुसार अर्थ की प्रधानता को लक्ष्य में रखते हुए जो विभक्ति जिस अर्थ में सुसङ्गत और सुसम्बद्ध होती हो, वह अर्थ उस वर्त्तमान विभक्ति के अन्दर ही वेद के शब्दों में विद्यमान है, यह व्यत्यय की स्थिति है। लोक में वह विभक्ति या वचन प्रायः अपने नियत अर्थ में प्रयुक्त होता है। यही लौकिक और वैदिक शब्दों का भेद है॥

दूसरी स्थिति यह भी है कि वेद के शब्द की विभक्ति का लौकिक विभक्ति के अनुसार वर्त्तमान अर्थ भी होता अवश्य है, अर्थात् यदि एक पद याज्ञिक प्रक्रिया में व्यत्यय से ठीक बैठता है तो वही शब्द आधिदैविक प्रक्रिया में अपनी वर्त्तमान विभक्ति वा वचनों के अर्थों को लेकर ही ठीक उतर जायगा, इसी प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रिया में यह बात घट जायगी। यह सर्वत्र सम्भव नहीं, यह विचार केवल विभक्ति वचन में ही नहीं अपितु 'सुप्तिङुपग्रह०' (महा० भा० ३। १। ८५) आदि सबके विषय में होगा। वैदिक और लौकिक शब्दों का यही मुख्य अन्तर है॥

पदपाठ और वेदार्थ

बहुत से लोगों का यह कहना है कि पदकारों ने जो पदपाठ किये, उनसे भिन्न पदविभाग नहीं किया जा सकता और इनमें जैसा स्वर होगा, उसके अनुसार ही उसका अर्थ होगा। ऐसा समझना उनकी भ्रान्ति है। इस विषय में इतने प्रमाण हैं जो यहाँ लिखे नहीं जा सकते। यास्क, पतञ्जलि आदि महर्षियों के कुछ एक वचन ही उपस्थित करने पर्याप्त होंगे—

(१) निरु० ५।२१। में मासकृत् 'मासानां चार्द्धमासानां च कर्त्ता भवति चन्द्रमाः'—इससे यास्क ने 'मासकृत्' शब्द को उपपदसमास द्वारा एक पद माना है। 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (अ० ६। २। १३९) से उत्तर-पदान्तोदात्त स्वर भी ठीक है। उधर शाकल्य के पदपाठ में इस 'मासकृत्' शब्द को दो पद 'मा, सकृत्' ऐसा माना गया है॥

ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य ऋ० १।१०५।१८ में दोनों पक्ष दर्शा दिये हैं। इससे सिद्ध है कि दोनों प्रकार का व्याख्यान हो सकता है। यास्क और शाकल्य दोनों ठीक कह रहे हैं। आचार्य स्कन्दस्वामी इसी पर लिखता है—

"मासकृदिति यस्यैकं पदं तदभिप्रायेणैतदेवं भाष्यकारेण व्याख्यातम्। शाकल्यस्य द्वे एव पदे"॥ स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ३६६॥

पदपाठ अर्थ के पीछे है, न कि पदपाठ के पीछे अर्थ, यह यास्क के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है।

1. पदपाठ के विषय में विवरण पृ० ९ पर हमारी टिप्पणी (क) भी देखें॥

(२) निरु० ६ । २८ में—

"वेति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः" ॥

यहां यास्क ने शाकल्य के पदपाठ को न मानकर स्वर में भेद दिखाते हुये, उनका प्रत्याख्यान किया है ॥

(३) निरुक्त समुच्चय पृ० ६६ में

"पदकारैरेतत् पदं नावगृहीतं, तथापि भाष्यकारवचनात् पदकारमनादृत्यैतन्निरुक्तम्" ॥

अर्थात्—पदकारों ने इस पद का अवग्रह (पृथक् करना) नहीं किया, तथापि भाष्यकार के वचन से पदकार की बात न मानकर ही निर्वचन दिखाया गया है ॥

(४) महाभाष्य ८ । २ । १६ पृ० ६२—

"अवग्रहोऽपि—न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्त्यम्, यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्" ॥

अर्थात्—व्याकरण के पीछे पदकारों को चलना पड़ेगा, न कि पदकारों के पीछे व्याकरण को ॥

(५) भर्तृहरि महाभाष्य टीका—हमारा हस्तलेख पृ० २६८—

"एवं च कृत्वा वृको मासकृदित्यवग्रहभेदेऽपि भवति चन्द्रमसि प्रवृत्तो मासशब्दोऽवगृह्यते, वृके मा सकृदिति"

अर्थात्—यदि चन्द्रमा का प्रकरण है वा अर्थ है, तब तो 'मास-कृत्' ऐसा अलग अवग्रह करना ठीक है, जब यह अर्थ न होगा तब 'मा-सकृत्' ऐसा अवग्रह पृथक् २ पद रहेगा ॥

(६) (i) "आदी केचित् पदकारा आ आदीत्यवगृह्णन्ति, केचिदैकपद्यं मन्यन्ते" ॥

महाभा० प्रदीप ६ । ४ । ६४ । पृ० २७६ ॥

यहाँ कैयट ने दो प्रकार का पदविभाग दर्शाया है ॥

(ii) महा भा० ३ । १ । १०९ पृ० १२३ कैयट—"संहिताया एव नित्यत्वं, पदविच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम् । तथा च यत्रार्थनिश्चयाभावस्तत्रावग्रहो न क्रियते । तदुक्तम्—हरिद्रुरनवगृह्यते इति । हरिद्रुरित्यत्र किं हरिशब्द इकारान्त अथ हरित्शब्दस्तकारान्त इति सन्देहात्" ॥

यहां भी कैयट ने पूर्ववत् दो प्रकार का पदविभाग दर्शाया है ॥

(७) स्कन्द निरु० टी० २ । १३ भा० २ पृ० ८१—

"शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण । गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतमिति, तदेव कारणम् । विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः । क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति । यथा शाकल्येन 'अधीवासम्' नावगृहीतम् । आत्रेयेण तु 'अधि वासम्' इत्यवगृहीतम् । तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः" ॥

अर्थात्—शाकल्य, आत्रेय आदिकों ने अवग्रह नहीं किया, पूर्व निर्वचन को लक्ष्य में रखने से । गार्ग्य प्रभृतियों ने अवग्रह किया है । इसमें कारण वही है । पदकारों के अभिप्राय विचित्र होते हैं, कहीं पर उपसर्ग के विषय में भी अवग्रह नहीं करते । जैसे शाकल्य ने ऋ० १ । १६२ । १६ में 'अधीवासम्' पद का अवग्रह नहीं किया, आत्रेय ने (तै० सं० के पदपाठ में) 'अधिऽवासम्' ऐसा अवग्रह दर्शाया है । अन्त में स्कन्द स्वामी कहता है—तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः" । अर्थात् अवग्रह नियत नहीं ॥

इसलिये हमारा कहना यह है कि अवग्रह को नियत नहीं समझ लेना चाहिये । एक आचार्य ने किसी पद का एक प्रकार से अवग्रह दर्शाया, तो उसी को पकड़ कर न बैठ जाना चाहिये ।

इन उद्धरणों से सिद्ध है कि अवग्रह ऐच्छिक है, जो भी अर्थानुसारी ठीक बैठे । ऋषि दयानन्द की भी यही धारणा है, इसी धारणा के अनुसार उन्होंने यत्र तत्र पदपाठ से भिन्न पदविभाग करके भी मन्त्रों के अर्थ दर्शाये हैं ॥

यहां इतना ध्यान रहे कि सब पदकार वैयाकरण हुये हैं, ऐसी हमारी धारणा है । क्योंकि धातु, उपसर्ग, समासादि का ज्ञान विना व्याकरण के नहीं हो सकता । निरुक्तशास्त्र के ज्ञान के बिना पदविभाग का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता, यह हम पूर्व कह चुके हैं ।

पदपाठ के विषय में भी यहां इस भूमिका में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा । विशद निरूपण अवसर प्राप्त होने पर पुनः कभी करने का यत्न करेंगे ॥

वैदिक छन्दोवाद

छन्दोज्ञान की आवश्यकता

वेदार्थविषय में वाक्यार्थबोध के लिये छन्दोज्ञान[1] को भी आवश्यकता है (इस विषय में हम कुछ पृ० ५० पर भी दर्शा चुके हैं)। इसीलिये कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में लिखा है—मन्त्राणामार्षेयच्छन्दोदैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति ॥ (परि० १ । ४)। छन्दों के ज्ञान से वेदार्थज्ञान में प्रौढ़ता आती है, क्योंकि वाक्यार्थबोध में इससे पर्याप्त सहायता मिलती है ॥

छन्दोलक्षण

ऋक्सर्वानुक्रमणी (२ । ६) में—"यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः", तथा अथर्ववृहत्सर्वानुक्रमणी (१ । १) में "छन्दोऽक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते", अर्थात् अक्षरों के परिमाण का नाम छन्द है। जिस शब्द को सुनते ही मन्त्रगत अक्षरों की संख्या का परिज्ञान होजावे, वह छन्द कहाता है।

छन्दों के भेद

वेद में प्रयुक्त होने वाले छन्दों के मुख्यतया चार भेद हैं—

(१) प्रथम सप्तक—प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-जगती इन सात छन्दों के सप्तक (समूह) को छन्दों का मुख्य भेद माना है। इनके लक्षण तथा विस्तार यथाशास्त्र देखने चाहियें। इनमें सामान्य रूप से गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पङ्क्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४, और जगती ४८ अक्षर का होता है।

(२) द्वितीय सप्तक—अतिजगती ५२, शक्करी ५६, अतिशक्करी ६०, अष्टि ६४, अत्यष्टि ६८, धृति ७२, अतिधृति ७६ अक्षरों का होता है ॥ देखो पिङ्गलसूत्र अ० ४, ५–७; ऋक्प्रातिशाख्य १६, ८१–८६; निदानसूत्र १, ५ पृ० ८; ऋक्सर्वानुक्रमणी परिभाषाप्रकरण ३, २; बृहत्सर्वानु० १३, ३ पृ० १३३; उपनिदानसूत्र पृ० ५; वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४१; वेदार्थदीपिका पृ० ७६ ॥

(३) तृतीय सप्तक—कृति ८०, प्रकृति ८४, आकृति ८८, विकृति ९२, संकृति ९६, अभिकृति १००, उत्कृति १०४ ॥ देखो पिङ्गलसूत्र अ० ४, १–४; निदानसूत्र १, ५ पृ० ८; उपनिदानसूत्र पृ० ५, ६ तथा १; ऋक्प्रातिशाख्य १६, ८८; बृहत्सर्वानु० पृ० १३२, १३३; वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४२; षड्गुरुशिष्य वेदार्थदीपिका पृ० ७६, ७७ ॥

(४) मा ४, प्रमा ८, प्रतिमा १२, उपमा १६, समा २० ॥ देखो ऋक्प्राति० १७, १९; वेङ्कटमाधव छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४२॥ ऋक्प्रातिशाख्यकार ने दो अक्षरों की न्यूनता में इन्हीं 'मा'आदि को क्रमशः हर्षीका, सर्षीका, मर्षीका, सर्वमात्रा, विराट्कामा (ऋक्प्राति० १७, २०; निदानसूत्र १, ५ पृ० ९) संज्ञाओं से व्यवहृत किया है। उपनिदानसूत्र पृ० ६ में "पञ्चादौ चोक्तात्युक्तमध्ये प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठेत्यनिर्दिष्टानि" इन मादि के उक्तादि नाम दर्शाये हैं। ये ही उक्तादि नाम जानाश्रयी छन्दोविचितिकार ने भी माने हैं। षड्गुरुशिष्य ने वेदार्थदीपिका पृ० ७६, ७७ में इन उक्तादि छन्दों के उदाहरण दिखाये हैं। 'उक्तादिपञ्चकं कैश्चिद् गायत्रीत्येव कथ्यते' कहकर इनको गायत्री का भेद माना है। वेङ्कटमाधव ने अपनी छन्दोऽनुक्रमणी में लिखा है—

[1] इस विषय का विशेष विवेचन रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत "वैदिक छन्दोमीमांसा" के पञ्चमाध्याय में देखें। छन्दोविषय में अन्य ज्ञातव्य भी उसी में देखें। इसमें छन्दोविषय में अत्यन्त उपयोगी, विस्तृत विवेचन है। पाठक इसे अवश्य देखें ॥

प्रातिशाख्ये निदाने च मा प्रमा प्रतिमेति च। नानाविधानि छन्दांसि लक्षितानि च लक्षणैः॥

ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा अथर्ववृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने इन मादि का उल्लेख नहीं किया। ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका वेदार्थदीपिका (पृ० ७६, ७७) में इनका निरूपण मिलता है। यह पूर्व (पृ० १०७) लिख चुके॥

ये चार प्रकार (यदि हर्षीकादि को भिन्न मानें तो पांच प्रकार) के छन्द हैं, जिनके द्वारा समस्त वैदिक छन्दों का निरूपण किया गया है॥

छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार

पूर्वोक्त चार प्रकार के छन्दों में प्रायः सर्वत्र गायत्र्यादि को ही प्रधानता सर्वसम्मत है। इन गायत्र्यादि छन्दों के निर्णय के दो प्रधान प्रकार हैं।

प्रथम—अक्षरगणना—जिसमें केवल अक्षरों की गिनती करके ही छन्द का निश्चय किया जाता है। ये प्रतिछन्द दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, आर्ची, याजुषी, साम्नी, आर्षी और ब्राह्मी भेद से अनेक प्रकार के हैं।

द्वितीय—जिसमें अक्षरगणना के साथ २ पादव्यवस्था का भी ध्यान रक्खा जाता है। दोनों ही प्रकार शास्त्रसम्मत हैं। यह इस प्रकरण का निष्कर्ष है। कई लोगों का मत है कि केवल यजुर्मन्त्रों में ही अक्षरगणना से छन्दोनिर्णय होता है, ऋङ्मन्त्रों में पादव्यवस्था से ही छन्दों का निश्चय करना चाहिये। उनका यह कथन अत्यन्त भ्रमपूर्ण है, इसकी विवेचना हम आगे करेंगे॥

गायत्र्यादि छन्दों के अवान्तर भेद

पूर्वोक्त छन्दों के अवान्तर अनेक सूक्ष्म भेद-प्रभेद हैं, जिनका विस्तृतज्ञान यथाशास्त्र ही हो सकता है। यह बात भी ध्यान में रखने की है, कि छन्दःशास्त्र के जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उन सबमें परस्पर बहुतसे सूक्ष्म भेद हैं। अतः जो व्यक्ति केवल एक ग्रन्थ के आधार पर ही सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय के छन्दों की विवेचना करने का दुःसाहस करेगा, वह अवश्य ही धोखा खायेगा॥

अतिजगत्यादि छन्दों की पादव्यवस्था में मतभेद

कृत्यादि तृतीय सप्तक में किसी आचार्य ने पादव्यवस्था नहीं मानी। वेदार्थदीपिका (पृ० ७७) में षड्गुरुशिष्य ने कृत्यादि में दो तीन स्थलों में पादव्यवस्था दर्शाई है। अतिजगत्यादि द्वितीय सप्तक में पादव्यवस्था के विषय में मतभेद है। ऋक्सर्वानुक्रमणी की टीका करते हुये षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—"**उत्तरसप्तवर्गेऽतिजगत्यायतिधृत्यन्तेऽक्षरसंख्यैव, न पादविशेषात् संज्ञाविशेषाः। पादाश्चानुक्रमण्यन्तरसिद्धा उच्यन्ते**" (पृ० ७९)। अर्थात् ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने अतिजगत्यादि में पादव्यवस्था नहीं मानी, पुनरपि मैं अन्य सर्वानुक्रमणियों के मत से पादव्यवस्था दर्शाता हूँ"। इस प्रकार कृत्यादि सप्तक में पादव्यवस्था का अभाव, और अतिजगत्यादि में उभयथा है। कृत्यादि सप्तक ऋक्सर्वानुक्रमणी को छोड़कर सबने माना है। यह यहां का सार है॥

ऋङ्मन्त्रों के छन्दों के दो प्रधान भेद

छन्दोनिर्णय के दो प्रधान प्रकार हम ऊपर दर्शा चुके। अर्थात् एक वे छन्द हैं जिनमें केवल अक्षरगणना के आधार पर निर्णय होता है। दूसरे वे हैं जो अक्षरगणना के साथ २ पादव्यवस्था के नियम से सिद्ध होते हैं॥

याजुषमन्त्रों के छन्द अक्षरगणना से ही सिद्ध होते हैं। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसमें किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं। पर ऋङ्मन्त्रों में दोनों प्रकार के छन्द माने जाते हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणीकार आदि प्रायः पादव्यवस्थित छन्दों का ही उल्लेख करते हैं (कहीं २ अक्षरगणना से भी छन्द माने हैं, उन्हें हम आगे दर्शायेंगे), और जहां पाद में अक्षर की न्यूनता होती है, वहां व्यूह करके (सन्धिच्छेद द्वारा पृथक् स्वतन्त्र अक्षर मान कर) अक्षरों की पूर्ति करते हैं। यह गणना क्यों की जाती है, इसका विवेचन आगे किया जायगा, पर अन्य कई एक **प्राचीन आचार्य केवल अक्षरगणना से भी ऋङ्मन्त्रों के छन्द लिखते हैं।** इस प्रकार ऋङ्मन्त्रों में दोनों

प्रक्रियाओं का आश्रयण करने पर सहस्रों मन्त्रों के छन्दों में भेद हो जाता है। इस व्यवस्था को न समझ कर कई लोगों को भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। भ्रान्ति अज्ञान वा अल्पज्ञता की बोधक होती है। जब तक वह दूर न होजावे, भ्रान्ति बनी ही रहेगी ॥

अतः अब हम इस छन्दोवाद के विषय में अत्यन्त प्रबल कहे जाने वाले पूर्वपक्ष का उल्लेख करते हैं, जिससे विज्ञ पाठकों को इस विषय के निर्णय तक पहुँचने में सुगमता होगी ॥

क्या स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में छन्दों की सात हज़ार अशुद्धियां हैं ?

आचार्य दयानन्द ने अपने ऋग्वेदभाष्य में इन उपर्युक्त दोनों प्रक्रियाओं में से प्रायः अक्षरगणना वाली प्रक्रिया के अनुसार छन्द लिखे हैं। पर आजकल के कुछ अल्पश्रुत लोग (जो इस शास्त्रीय प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं) स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अक्षरगणना की प्रक्रियानुसार लिखे हुये छन्दों को सर्वथा अशुद्ध मानते हैं। इनमें से एक महानुभाव स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य में लिखे हुए छन्दों में सात हज़ार अशुद्धियां दर्शाते हुये लिखते हैं—

अथ पूर्वपक्ष

(क) "दूसरी और प्रधान अड़चन यह है कि अक्षरसंख्या से छन्दोनिर्णय जो करते हैं, वह पादव्यवस्था जिन मन्त्रों में नहीं होती, उनका ही किया जाता है। जहां पादबद्ध रचना होती है, उन मन्त्रों की व्यवस्था स्वतन्त्र है। "पादः" इस अधिकार सूत्र से पूर्व ही "आर्ची", "दैवी" आदि भेद छन्दःशास्त्र में कहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ये पादव्यवस्था न होने की अवस्था के छन्द हैं। अर्थात् जहां पादव्यवस्था नहीं है, उन यजुर्वेद मन्त्रों के लिये वह नियम है" ॥

(ख) "यजुर्वेद के पादहीन छन्दों की गणना जैसी की जाती है, वैसी ही पादवाले छन्दों की गणना करके बड़ी ही असावधानता की है" ॥

(ग) "अजमेरमुद्रित ऋग्वेद में दूसरे दूसरे ही छन्द दिये हैं, वे सबके सब अशुद्ध हैं। इस तरह की सम्पूर्ण ऋग्वेद के ग्यारह हज़ार मन्त्रों में से ७।८ हज़ार मन्त्रों मे अशुद्धियां ही अशुद्धियां हैं[1] ॥"

इनमें पूर्वोद्धरण के तीन भाग हैं—

(१) प्रथम—ऋङ्मन्त्रों के छन्द केवल अक्षरगणना से सिद्ध नहीं होते ॥

(२) द्वितीय—ऋङ्मन्त्रों में "दैवी", "आर्ची" आदि विशेषण नहीं लगते, क्योंकि ये "दैवी", "आर्ची" आदि छन्द पिङ्गलसूत्र में 'पादः' (३ । १) अधिकार से पूर्व के हैं ॥

(३) तृतीय—स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य में छन्दों की सात आठ हज़ार अशुद्धियां हैं ॥

साधारण बुद्धिवाले को ये तीनों ही आक्षेप ठीक प्रतीत होंगे। ऐसी अवस्था में जब प्रक्रिया का ही भेद हो जाता है, तो सात हज़ार तो क्या "सबके सब अशुद्ध हैं", पूर्वपक्षी का यह कहना भी मानना ही पड़ेगा। ऐसे अवसरों पर मनुष्य एकदम अभिमान से गर्वित हो उठता है, और उसको संसार में अपने से अधिक विद्वान् कोई नहीं दीखता। मदान्ध होकर आपे से बाहर हो जाता है। आप्त पुरुषों पर लेखनी उठाने से पूर्व यही सोच ले कि कहीं हमारी समझ में ही तो न्यूनता नहीं है ?, इतना मार्जन अवश्य रखना चाहिये ॥ अस्तु ॥

उपर्युक्त आक्षेपों के उत्तर

सर्वप्रथम हम ऋग्वेद में अक्षरगणना से छन्दों का निर्णय होता है या नहीं, इस विषय को लेते हैं।

(१) ऋक्प्रातिशाख्य स्पष्ट ही ऋग्वेदसम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें ऋग्वेद तथा उसकी शाखाओं के सम्बन्ध में निरूपण किया है। इसके अन्तिम तीन पटलों में ऋग्वेद के छन्दों का निरूपण मिलता है। इसमें जो

१. देखो 'वैदिकधर्म' मई १९३८ पृ० ४३९, ४४० ॥

भी नियम बताये गये हैं, वे ऋङ्मन्त्रों पर अवश्य लागू होते हैं। अक्षरगणना के आधार पर ऋग्वेद के छन्द होते हैं या नहीं, इस विषय में ऋक्प्रातिशाख्य का सिद्धान्त निम्न प्रकार है—

"अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्"। ऋक्प्राति० १७।२१॥

अर्थात्—पाद, वृत्त और अक्षरों से छन्दों के निर्णय करने में अक्षरगणना को ही मुख्यता देनी चाहिये। इस वचन से स्पष्ट सिद्ध है कि ऋग्वेद में अक्षरों की गणना द्वारा छन्दों की व्यवस्था माननीय है, यह सिद्धान्त ऋक्प्रातिशाख्यकार को अभिमत है। इतना ही नहीं, अपितु अक्षरगणना को मुख्यता देनी चाहिये, इस पर बल दिया गया है॥

(२) ऋक्सर्वानुक्रमणी जिसके आधार पर पूर्वपक्षी छन्दों को मानता है, उसका क्या सिद्धान्त है, सो भी देखिये—

"षष्ठ्यक्षरैरुष्णिक्"। ऋक्सर्वानुक्रमणी ऋ० १।१२०।६ पृ० १०॥

अर्थात्—ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२० वें सूक्त की छठी ऋचा अक्षरों की गणना से 'उष्णिक्' है। यहां इस मन्त्र में ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने अक्षरों की गणना द्वारा छन्द का निर्णय करके 'उष्णिक्' छन्द बतलाया है। 'अक्षरैः' यह पद यहां विशेष ध्यान देने योग्य है। यदि ऋग्वेद के मन्त्रों में अक्षरगणना के आधार पर छन्द का निर्णय करने का सिद्धान्त न होता, तो सर्वानुक्रमणीकार अक्षरों द्वारा उष्णिक् छन्द होता है, यह कदापि न लिखते॥

(३) इसी (ऋ० १।१२०।६) मन्त्र पर ऋक्सर्वानुक्रमणी का टीकाकार षड्गुरुशिष्य अपनी वेदार्थ-दीपिका पृ० ९३ में लिखता है—

"षष्ठ्यक्षरैरुष्णिक्। षष्ठ्यृगष्टाविंशत्यक्षरसंख्ययोष्णिक्त्वं सम्पादनीयं न तु पादभेदात्"॥

अर्थात्—इस उपर्युक्त सूक्त की छठी ऋचा अक्षरों की गणना से 'उष्णिक्' छन्दवाली है। इसमें अक्षर-संख्या के द्वारा उष्णिक् छन्द का लक्षण घटता है, पादव्यवस्था से इस मन्त्र में छन्द का निर्णय नहीं किया जाता है॥

इस उपर्युक्त उद्धरण में भी अक्षरगणना के द्वारा छन्दोनिर्णय स्पष्ट माना है। इतना ही नहीं, अपितु "न तु पादभेदात्" कह कर इस मन्त्र में स्पष्ट ही पादव्यवस्था से छन्दोनिर्णय का निषेध भी कर दिया गया है, जो विशेष ध्यान देने योग्य है। जो कहते हैं कि ऋग्वेद में पादव्यवस्था अर्थात् पादों की अक्षरसंख्या से ही छन्दों का निर्णय होगा, उपर्युक्त वचन से ही उनकी सारी बात मिथ्या सिद्ध हो जाती है॥

कात्यायन और उसके टीकाकार षड्गुरुशिष्य ने यहां अक्षरों की गणना के आधार पर ही छन्दों को माना है और पादव्यवस्था का स्पष्ट ही निषेध कर दिया है। यह सूर्य के प्रकाश की भांति कितना स्पष्ट है, पाठक स्वयं विचारें॥

(४) सायणाचार्य ने भी इसी सूक्त के आरम्भ में अपने भाष्य में लिखा है—

"यद्यपि पादसंख्ययोष्णिक्त्वं न भवति, तथाप्यक्षरसंख्ययोष्णिग् इति" (सा० भा० पृ० ९६ ऋ० १।१२०)॥

अर्थात्—अक्षरों की गणना द्वारा यह मन्त्र 'उष्णिक्' छन्द वाला है। पादव्यवस्था से 'उष्णिक्' छन्द नहीं बनता। अर्थात् यहां पादव्यवस्था से छन्द का निश्चय नहीं होता॥

(५) ऋ० १।१२०।२ अर्थात् उपर्युक्त सूक्त के दूसरे मन्त्र के विषय में षड्गुरुशिष्य का लेख और भी प्रबल है—

"अथवा 'विद्वांसाविद्दुर' इत्येषोष्णिक्। ननु च चतुर्विंशतिर्गायत्र्यष्टाविंशतिरुष्णिगिति लक्षणमुक्तं, तत् किं 'विद्वांसाविद्दुर' इत्यस्य गायत्रीत्वमुष्णिक्त्वं वोच्यते? इयं हि पञ्चविंशत्यक्षरा। किञ्च 'ऊनाधिव्यूहेन चाक्षरसम्पत्तिः' (परि० ३।४) सूत्रे भुरिग्गायत्र्युदाहरणं चैषेत्युक्तम्? उच्यते, ब्राह्मणद्वयदर्शनादेवमुक्तम्। सर्वश्रुतिदर्शी ह्ययमाचार्यः॥"

अर्थात्—'विद्वांसाविद्दुरः' (ऋ० १ । १२० । २) इस मन्त्र का छन्द 'उष्णिक्' है। यहां पर शङ्का उठाते हैं कि २४ अक्षर का 'गायत्री' छन्द होता है, २८ का उष्णिक् होता है, ऐसा लक्षण शास्त्र में माना गया है। इस मन्त्र का छन्द 'गायत्री' होगा या उष्णिक्? क्योंकि इस मन्त्र में तो २५ अक्षर हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि इतना ही नहीं, आपने तो स्वयं **'ऊनाधिकेन निचृद्भुरिजौ'** (ऋक्सर्वा० परि० ३ । ४) इस सूत्र का उदाहरण देते हुये लिखा है—**"विद्वांसाविद्दुरः पृच्छेदिति भुरिग् गायत्री"** (पृ० ६३)। अर्थात् इस मन्त्र का छन्द 'भुरिग् गायत्री' बतलाया है। यहाँ अब आप ही उसी मन्त्र का छन्द 'उष्णिक्' बतलाते हैं। यहाँ 'उष्णिक्' कैसे हो जायगा? यह परस्पर विरोध कैसा? तब षड्गुरुशिष्य स्वयं उत्तर देता है कि ब्राह्मण में इस मन्त्र के 'उष्णिक्' और 'गायत्री' दोनों ही छन्द माने गये हैं। अक्षरसंख्या से भुरिग् गायत्री होगा और पादव्यवस्था से जब उष्णिक् माना जायगा तब व्यूह के द्वारा अक्षरों की गिनती पूरी करनी होगी, क्योंकि आचार्य कात्यायन सर्वश्रुतिदर्शी हैं॥

यहां भी ऋक्सर्वानुक्रमणी और उसके टीकाकार ने अक्षरगणना के आधार पर छन्दोव्यवस्था मानी है, यह स्पष्ट है॥

ये सब हमने कात्यायन और उसके टीकाकार के वचन दर्शाये। हमारा कहना यहां यह है कि ऋक्सर्वानुक्रमणी और उसके टीकाकार जो ऋग्वेद के ही छन्द आदि बताते हैं, इनके मत में अक्षरों की गणना द्वारा स्पष्ट छन्दोनिर्णय माना है, तभी तो व्यूह करने की बात कही। यहां यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि व्यूह अनिवार्य नहीं, इसीलिये यहां व्यूह होने पर 'उष्णिक्' छन्द माना है, और दूसरे पक्ष में अर्थात् व्यूह न होने पर भुरिग् गायत्री। ऋग्वेद के छन्दों में अक्षर वा पादव्यवस्था दोनों प्रक्रियाओं से छन्दों का निर्णय करना सर्वथा उपादेय है, यह स्पष्ट है। व्यूह भी पक्ष में होता है, न कि अनिवार्य॥

हम तो इस मन्त्र के 'भुरिग् गायत्री' और 'उष्णिक्' दोनों ही छन्द मानते हैं। अक्षरगणना के आधार पर भी ऋग्वेद में छन्द होते हैं, यही दिखाना हमको यहां अभिप्रेत है॥

(६) इसी उपर्युक्त (ऋ० १ । १२० । २) मन्त्र के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य १६ । २० पृ० ४४५ में लिखा है—

"विद्वांसाविति सा भुरिक्"

अर्थात्—ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार भी इस मन्त्र का छन्द 'भुरिग् गायत्री' है॥

(७) वेङ्कटमाधव ने छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ३० पर लिखा है—**"विद्वांसाविद्दुरः पृच्छेद् गायत्री सा भुरिक् स्मृता"**। अर्थात् इस (ऋ० १ । १२० । २) का छन्द 'भुरिग् गायत्री' है॥

यह भी ज्ञात रहे कि आचार्य दयानन्द ने भी अपने भाष्य में इस मन्त्र का 'भुरिग्गायत्री' छन्द माना है॥

पाठकों के लाभार्थ उपर्युक्त विषय में हम कुछ और भी प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(८) नदं व ओदतीनां (ऋ० ८ । ६९ । २) और मंसीमहि (ऋ० १० । २६ । ४) में २७ अक्षर हैं। इन मन्त्रों के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य १६ । ३२ में निम्न लेख है—

"सप्ताक्षरैश्चतुर्भिर्द्वे नदं मंसीमहीति च। पादैरनुष्टुभौ विद्यादक्षरैरुष्णिहाविमे"॥

अर्थात्—नदं० (ऋ० ८ । ६९ । २) तथा मंसीमहि० (ऋ० १० । २६ । ४) इन दोनों ऋचाओं में अक्षरों की गणना से ये दोनों मन्त्र 'उष्णिक्' छन्द वाले हैं। दोनों में २७ अक्षर हैं। यदि पादव्यवस्था के द्वारा छन्दोनिर्णय किया जाय तो ये दोनों मन्त्र 'अनुष्टुप्' छन्द वाले कहलावेंगे। इस सूक्त के अन्य मन्त्रों का छन्द प्रायः 'अनुष्टुप्' है। ऐतरेय ब्राह्मण (१६ । ४) में भी इसका 'अनुष्टुप्' छन्द ही कहा गया है। तद्यथा—**"प्रप्र वस्त्रिष्टुभ"**……(ऋ० ८ । ६९) इति प्रज्ञाता (तृचः) अनुष्टुभः शंसति" ऐतरेय ब्रा० १६ । ४॥ इसके सायण भाष्य पृ० ४४२ में लिखा है—

"एवमत्रापि पूर्वोक्तरीत्या कृत्रिमा अनुष्टुभः शंस्त्वा पश्चादेतासां स्वतःसिद्धानामनुष्टुभां शंसनं द्रष्टव्यम्"।

पाठक देखें कि यहाँ भी ऋक्प्रातिशाख्यकार ने अक्षरगणना तथा पादव्यवस्था दोनों ही प्रक्रियाओं से छन्दों के निर्णय का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उपर्युक्त श्लोक में ग्रन्थकार ऊर्ध्वबाहु होकर इस सिद्धान्त की घोषणा कर रहा है। यदि ऋग्वेद में केवल अक्षरों द्वारा छन्दों के निर्णय का सिद्धान्त न होता, अर्थात् अक्षर और पाद एक साथ दोनों के द्वारा ही छन्दों का निर्णय होना अनिवार्य होता, तो ऋक्प्रातिशाख्यकार अक्षरगणना से 'उष्णिक्' और पादव्यवस्था से 'अनुष्टुप्' भिन्न २ छन्द कभी नहीं बतलाते ॥

(९) इन उपर्युक्त दोनों मन्त्रों के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य का टीकाकार उवट भी स्पष्ट लिखता है—

"सप्ताक्षरैश्चतुर्भिः पादैर्द्वे ऋचावुष्णिहौ भवतः। पादैरनुष्टुभौ जानीयात्। अक्षरैः कृत्वोष्णिहौ भवतः। नदं व ओदतीनां (ऋ० ८।६९।२), मंसीमहि त्वा वयम् (ऋ० १०।२६।४) इत्येते"॥ यहां उवट भी "अक्षरैः कृत्वोष्णिहौ भवतः" अर्थात् अक्षरगणना से ये दोनों मन्त्र 'उष्णिक्' छन्द वाले हैं, यही कहता है। यहां उसने स्पष्ट ही ऋग्वेद में अक्षरगणना के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया है ॥

(१०) निदानसूत्र (१।२ पृ० ३) तथा इसकी छन्दोविचिति टीका (पृ० ८) में इस मन्त्र का 'चतुष्पाद् उष्णिक्' छन्द माना है॥ यदि अक्षरों द्वारा छन्दों का निर्णय होता है, यह सिद्धान्त न होता तो निदानसूत्रकार, तथा उसका टीकाकार 'उष्णिक्' छन्द कैसे लिख सकता था?

(११) उपनिदानसूत्र पृ० ५ में—"नां शब्देन च नदं व वर्जम्" सूत्र द्वारा 'नदं व' (ऋ० ८।६९।२) मन्त्र में व्यूह का निषेध किया है, अतः उसके मत में भी इस मन्त्र का 'उष्णिक्' छन्द ही है ॥

इस प्रकार हमने ऋक्प्रातिशाख्य, तथा उसके टीकाकार उवट, ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा उसके टीकाकार षड्गुरुशिष्य, निदानसूत्र, तथा उसके टीकाकार, उपनिदानसूत्र तथा ऋग्वेदभाष्यकार वेङ्कटमाधवादि वादी के मत में प्रामाणिक माने जाने वाले प्राचीन ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों के आधार पर ऋग्वेद में अक्षरगणना द्वारा छन्दोनिर्णय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ॥

क्या 'दैवी' 'आर्षी' आदि विशेषण ऋग्वेद में नहीं हो सकते?

अब हम पूर्वपक्षी के दूसरे आक्षेप का समाधान आरम्भ करते हैं। उसका मूलभूत कहना इतना ही है कि इन "दैवी" "आर्षी" आदि का निरूपण पिङ्गलसूत्र के "पादः" सूत्र से पहले २ किया गया है। अतः ये सब विशेषण पादहीन याजुष मन्त्रों में ही हो सकते हैं, ऋक्-साम-अथर्व के मन्त्रों में नहीं हो सकते ॥

(१) ऋक्प्रातिशाख्य के १६।३–१६ सूत्रों में इन 'दैवी-आर्ची-प्राजापत्या-आर्षी' आदि छन्दों का प्रतिपादन हमें विस्तार से मिलता है। इन सबके लक्षण भी इन्हीं सूत्रों में किये गये हैं। जब ऋग्वेद में दैवी आदि विशेषण हो ही नहीं सकते, जैसा कि वादी का कहना है, तो फिर ऋग्वेद तथा उसकी शाखाओं के छन्दों के निरूपण करनेवाले ऋक्प्रातिशाख्य में इनका वर्णन ही क्यों किया गया? इतना ही नहीं, उसमें तो—

(i) "अक्षराणि तु षट्त्रिंशद् गायत्री ब्रह्मणो मिता ॥
यजुषां षड्चां त्रिः षट्, साम्नां द्वादश सम्पदि ॥" ऋक्प्राति० १६।१२, १३ ॥

(ii) "एवं समाहारे गायत्री ब्राह्मी षट्त्रिंशदक्षरा वेदितव्या। कथं यद् ब्रह्मणो गायत्री षट्त्रिंशदक्षरा भवतीति मन्यसे? तच्छृणु। यजुषां गायत्री षडक्षरा। ऋचां त्रिःषट् अष्टादशाक्षरेत्यर्थः। साम्नां द्वादशाक्षरा अस्यां सम्पदि षट्त्रिंशदक्षरा भवति ॥ (ऋक्प्रातिशाख्य उवट टीका पृ० ४४३) ॥

(i) अर्थात्—ऋक्प्रातिशाख्य मूल में कहा कि—"ब्राह्मी गायत्री ३६ अक्षरों की होती है। याजुषी गायत्री ६ अक्षर की, साम्नी गायत्री १२ अक्षर की और आर्ची १८ अक्षर की होती है ॥"

(ii) इसी की व्याख्या में टीकाकार उवट लिखते हैं—मिला देने से ब्राह्मी ३६ अक्षर की बनती है। सो कैसे बनती है, सो सुनिये। याजुषी गायत्री ६ अक्षर की होती है, साम्नी गायत्री १२ अक्षरों की, आर्ची १८ अक्षर की होती है, तीनों को मिलाने से ३६ अक्षर बनते हैं, यही ब्राह्मी गायत्री बनती है ॥"

यहां ऋग्वेदप्रातिशाख्यकार शौनक और उसके टीकाकार उवट ने, याजुषी-साम्नी-आर्ची और ब्राह्मी ऋग्वेद में होती हैं, स्पष्ट माना है, इसीलिये दोनों ने इनके लक्षण यहाँ दिखाये हैं ॥

स्पष्ट ही इन दैवी आदि छन्दों की सत्ता को स्वीकार करते हुये इनके लक्षण भी किये गये हैं। जब ऋग्वेद है ही पादबद्ध, तो फिर इसमें इन 'दैवी-आर्षी' छन्दों के कथन करने का अवसर ही क्या था। अतः यह सिद्ध है कि ऋक्प्रातिशाख्य के मत में ऋग्वेद में ये 'दैवी' आदि छन्द अवश्य होते हैं ॥

इसीलिये ऋक्प्रातिशाख्य १७। १ में कहा—

"एवं वक्ष्यप्रमाणानां छन्दसामुपदिश्यते"।

अर्थात्—अब हम यहां पूर्वोक्त प्रमाण माने हुये (२१) छन्दों के विषय में कुछ विशेष कहेंगे। यही अर्थ टीकाकार ने किया है। इससे यह स्पष्ट है कि ऋक्प्रातिशाख्य में इससे पूर्व जो कुछ भी कहा गया है, वह इन २१ छन्दों के विषय में सामान्य रीति से कहा गया है, अब कुछ विशेष कहेंगे। इससे जो दैवी आर्ची आदि विशेषण हैं, जिनके लक्षण ऋक्प्रातिशाख्यकार पूर्व कर चुके हैं, वे सब इन सब २१ छन्दों में लग सकते हैं, यह बात यहाँ ध्वनित हो रही है ॥

'मा' आदि छन्द केवल अक्षरगणना के आधार पर ही होते हैं, इनका भी निरूपण ऋक्प्रातिशाख्यकार ने क्यों किया, यह बात भी ध्यान देने योग्य है ॥

(२) उपनिदानसूत्र के तृतीयाध्याय के आरम्भ में लिखा है—

"देवासुरप्रजापतीनां यजुःसामर्चां च छन्दांसि भवन्ति। दैव्येकाक्षरा गायत्री। पञ्चदशासुराणाम्।" इत्यादि सम्पूर्ण तृतीयाध्याय में इन्हीं 'दैवी आर्ची' आदि का प्रतिपादन किया गया है। अतः सामवेद में ये विशेषण तो उपनिदानसूत्रकार के मत से होते ही हैं। इसमें विप्रतिपत्ति का कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। जैसा कि उपनिदानसूत्र पृ० १२ में "भगो न चित्रा इति त्रिपादासुरी जगती" (डा० मंगलदेव शास्त्री सम्पादित)। यहां "जगती" के साथ आसुरी विशेषण स्पष्ट मिलता है ॥

(३) निर्णयसागर बम्बई में छपे पिङ्गलछन्दःसूत्र की टिप्पणी में कई स्थानों पर भवदेव के नाम से 'आर्ची साम्नी' आदि विशेषण ऋङ्मन्त्रों के मिलते हैं, तद्यथा—

(क) "साम्नी त्रिष्टुप्.........महिराधो विश्वजन्यम्......पृ० ९॥"

(ख) "आर्ची त्रिष्टुप्.........अग्निं नरो.....पृ० ९॥"

ये उपर्युक्त दोनों ही मन्त्र विना किसी भी प्रकार के सन्देह के ऋग्वेद में हैं, क्योंकि ये दोनों ऋ० ६। ४७। २५ तथा ऋ० ७। १। १ के मन्त्र हैं ॥

(४) अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी में इन "आर्षी" "दैवी" आदि का व्यवहार हमें स्पष्ट मिलता है, यह विदित रहे कि अथर्ववेद में ऋचायें हैं ॥

(क) अथर्व ७। ९। ३ के विषय में बृहत्सर्वानुक्रमणी का लेख इस प्रकार है—"पूषन् तव इति त्रिपदार्षी गायत्री"। अथर्ववेद का यह मन्त्र वैसे का वैसा ऋ० ६। ५४। ९ तथा यजुः ३४। ४१ में आया है। यह स्पष्ट पादबद्ध ऋङ्मन्त्र है। पूर्वपक्षी को बताना चाहिये कि इसमें "आर्षी" विशेषण उसके मत से कैसे आ सकता है ॥

(ख) "सीरा युञ्जन्ति" अथर्व ३। १७। १, ऋ० १०। १०१। ४ तथा यजुः १२। ६७ इस मन्त्र के विषय में अथर्वसर्वानुक्रमणी (पृ० २३) में "प्रथमार्षी गायत्री" ऐसा लिखा है ॥

(ग) आर्षी आदि विशेषण एक आध स्थान में ही आये हों, सो बात नहीं। अथर्व १३। २। १६-२४ "उदु त्यं जातवेदसम् इति नवार्ष्यो गायत्र्यः" (पृ० १३१) में ९ मन्त्र आर्षी गायत्री छन्द वाले बताये। ये

नौ मन्त्र ऋग्वेद के हैं, क्योंकि ये मन्त्र प्रायः वैसे के वैसे ऋग्वेद १ । ५० । १ से ९ तक आये हैं। इन को पादबद्ध मानने में किसी को यत्किञ्चित् भी सन्देह नहीं हो सकता। अथर्वसर्वानुक्रमणीकार निस्सन्देह इन विशेषणों को ऋङ्मन्त्र में भी मानता है, यह सूर्य के प्रकाश की भान्ति सिद्ध है ॥

(घ) अथर्व १८ । १ । ८, १५ इन दोनों मन्त्रों के विषय में सर्वानुक्रमणी में—"यमस्य मा यम्यम् आर्षी पङ्क्तिः······१५, 'बतो बतासि यम' आर्षी पङ्क्तिः" ऐसा लेख है। ये दोनों मन्त्र ऋ० १० । १० । ७ तथा १३ में भी स्पष्ट मिलते हैं ॥

(ङ) अथर्व १९ । २४ । ७ के विषय में बृहत्सर्वानुक्रमणीकार कहता है—"योगे योग इति त्रिपदार्षी गायत्री"। अर्थात् इस मन्त्र का छन्द 'आर्षी गायत्री' है। यह मन्त्र ऋ० १ । ३० । ७ में भी वैसे का वैसा विद्यमान है ॥

(च) इसी प्रकार अथर्व ३ । १६ । १ में केवल एकपद के भेद से ऋ० ७ । ४१ । १ का मन्त्र है। आगे भी इस सूक्त में ऋङ्मन्त्र हैं। अथर्व ७ । ४९ । १, यह मन्त्र केवल एक ही पद के भेद से ऋ० ५ । ४६ । ७ में भी है। दोनों में बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने "आर्षी जगती" छन्द दर्शाया है। अथर्व १८ । ३ । ५६ मन्त्र ऋग्वेद १० । १७ । १४ में भी किञ्चित् पाठभेद से विद्यमान है। यहां इसका छन्द 'आर्ष्यनुष्टुप्' दर्शाया है। ऐसे ही अन्य बहुत से उदाहरण हैं उन्हें हम छोड़ते हैं ॥

अब हम शेष "आर्ची" आदि विशेषणों के विषय में भी कुछ दर्शाते हैं—

(छ) अथर्व १६ । ६ । १ तथा २ के विषय में बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का लेख इस प्रकार है—"अजैष्माद्या इत्येकादशोषोदेवत्याः, प्रथमाश्चत्वारः प्राजापत्याऽनुष्टुभः"। अर्थात् इस सूक्त के प्रथम चार मन्त्र "प्राजापत्याऽनुष्टुप्" छन्द वाले हैं। विदित रहे कि अथर्ववेद के इन चारों मन्त्रों में से पहले दो वैसे के वैसे ऋ० ८ । ४७ । १८ के भाग हैं। यहां पर एक बात और बता देना आवश्यक होगा कि कई एक लोग इन सूक्तों को पर्यायसूक्तों के नाम से पुकारते हैं। उनके मत में यह सोलहवां (१६) काण्ड सम्पूर्ण पर्याय सूक्तों से युक्त है। और अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी में पर्याय सूक्तों में तो इन "दैवी-आर्ची" आदि की भरमार है। फिर भी हमने दुर्जनसन्तोषन्याय से उपर्युक्त अथर्व १६ । ६ । १, २ का उदाहरण उपस्थित किया है, जो स्पष्ट ऋग्वेदीय मन्त्र हैं। हमारे इस उदाहरण पर विद्वन्महानुभाव गम्भीरतापूर्वक विचार करें ॥

(ज) अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणीकार अथर्व के सब मन्त्रों में "पाद" व्यवस्था मानता है। पर्याय सूक्तों तक में सर्वत्र उसने स्पष्ट ही "द्विपदा" "त्रिपदा" आदि विशेषण दिये हैं (देखो पृ० १७७)। इतना ही नहीं अथर्ववेद के जो मन्त्र केवल यजुर्वेद में ही आये हैं, उनमें भी वह 'द्विपदा' 'त्रिपदा' 'चतुष्पदा' आदि शब्दों का स्पष्ट व्यवहार करता है। जैसे—अथर्व ७ । ९७ । ५ में "यज्ञ यज्ञम् इति त्रिपदार्ची भुरिग्गायत्री, ६ एष ते यज्ञः इति त्रिपात् प्राजापत्या बृहती, ७ वषड्हुतेभ्यः इति त्रिपदा साम्नी भुरिग् जगती" ॥

इस प्रकार अथर्ववेद के सब मन्त्र पादबद्ध हैं। यही बृहत्सर्वानुक्रमणी का मत है। यह (अथर्व ७।९७।५) सूक्त पर्यायसूक्त नहीं। इसके उपर्युक्त तीनों मन्त्र यजुः ८।२२ तथा २।२० में भी आये हैं। सो जो लोग यजुर्वेद में गद्य मानते हैं, उन्हें बृहत्सर्वानुक्रमणी के ऐसे स्थलों को विशेष ध्यान से देखना चाहिये (जो इसमें भरे हैं)। बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने अथर्व के समस्त मन्त्रों में 'त्रिपदा' 'चतुष्पदा' आदि व्यवहार माना है। इससे सिद्ध है कि यजुर्मन्त्रों में भी पाद-व्यवस्था होती है। पर्यायसूक्तों में भी यही व्यवस्था बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने मानी है। इनके अतिरिक्त अथर्व ५ । २६ । ५ ॥ ६ । २ । १ ॥ ६ । ७९ । ८३ ॥ १० । ८ । ४२ ॥ ये सब मन्त्र भी स्पष्ट पादबद्ध हैं और इनके उपर्युक्त 'आर्ची' 'साम्नी' 'प्राजापत्या' आदि विशेषण स्पष्ट मिलते हैं ॥

(५) प्रकृत में अब एक ही बात उत्तर देने योग्य रह गई है। प्रश्न यह होगा कि फिर 'पादः' से पूर्व दैवी आदि लक्षणों वाले (पिङ्गल अ० २) सूत्रों में 'पाद' का सम्बन्ध कैसे लगेगा। सो इसमें हमारा कहना यह है

कि व्याकरण शास्त्र के 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' कार्यकाल पक्ष को मानकर इनमें 'पाद' का सम्बन्ध होगा। 'निचृद्' और 'विराट्' आदि के विषय में भी यही व्यवस्था समझनी चाहिये ॥

बृहत्सर्वानुक्रमणी का विशेष स्थल

यद्यपि 'दैवी' 'आर्ची' आदि विशेषणों के लिये हम अनेक उदाहरण उपस्थित कर चुके हैं, तथापि अब हम बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का एक और विशेष स्थल उपर्युक्त विषय की पुष्टि में उपस्थित करते हैं—

अथर्व १८।४ के अन्त में बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का लेख निम्न प्रकार है—

"एकोननवतिश्चैव यमेषु विहिता ऋचः"।

अर्थात् चतुर्थ यमसूक्त में ये ८९ ऋचायें विहित हैं ॥

इस बात को कुछ अधिक स्पष्ट करते हैं—

बृहत्सर्वानुक्रमणीकार का यह उपर्युक्त वचन पञ्चपटलिका ४।१७ से वैसे का वैसा लिया हुआ है। वहां का सम्पूर्ण लेख निम्न प्रकार है—

"एकषष्टिश्च षष्टिश्च सप्ततिस्त्र्यधिकात् परः।
एकोननवतिश्चैव यमेषु विहिता ऋचः ॥"

अर्थात्—अठारहवें काण्ड में क्रमशः प्रथम सूक्त में ६१, दूसरे में ६०, तीसरे में ७३, और चौथे में ८९ ऋचायें हैं। यहां 'ऋचः' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी तथा अथर्ववेदीय पञ्चपटलिका के मत में उपर्युक्त चारों सूक्तों के (६१ + ६० + ७३ + ८९ = २८३) मन्त्र ऋचायें हैं। 'ऋक्' पादबद्ध को कहते हैं, यह सर्वसम्मत है ॥

अब हम पाठकों के समक्ष इन उपर्युक्त चारों सूक्तों में आये 'दैवी' 'आर्षी' 'आर्ची' 'प्राजापत्या' आदि विशेषण दर्शाते हैं—

(१) अथर्व १८।१।८, १९ आर्षी पङ्क्तिः ॥
(२) " १८।२।१९ त्रिपदार्षी गायत्री ॥
(३) " १८।२।२४ त्रिपदा समविषमार्षी गायत्री॥
(४) " १८।२।२८ सप्तार्षीगायत्र्यः ॥
(५) ,, १८।३।३६ आसुर्यनुष्टुप् ॥
(६) " १८।३।५६ आर्ष्यनुष्टुप् ॥
(७) " १८।४।२७ याजुषी गायत्री ॥
(८) " १८।४।६७ द्विपदार्च्यनुष्टुप् ॥
(९) अथर्व १८।४।७१ आसुर्यनुष्टुप् ॥
(१०) " १८।४।७२ तिस्रः आसुरीपङ्क्तयः ॥
(११) " १८।४।७५ आसुरी गायत्री ॥
(१२) " १८।४।८१ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ॥
(१३) ,, १८।४।८२ साम्नी बृहती ॥
(१४) " १८।४।८४ साम्नीत्रिष्टुभौ ॥
(१५) " १८।४।८५ आसुरी बृहती ॥

इन १५ स्थलों में स्पष्ट, आर्षी-आर्ची आदि लगभग सभी विशेषण विद्यमान हैं और इस सारे काण्ड को तथा इन उपर्युक्त मन्त्रों को बृहत्सर्वानुक्रमणीकार ने स्पष्ट ही 'ऋचायें' माना है।

इस प्रकार हमने 'दैवी' 'आर्ची' 'प्राजापत्या' आदि विशेषण अथर्व में आये ऋग्वेद के मन्त्र तथा पादबद्ध अन्य मन्त्रों में भी दर्शाये हैं। और अथर्व के सब मन्त्र पादबद्ध हैं, यह भी दर्शाया, और उनमें पिङ्गल के पादाधिकार के पूर्व के भी सब विशेषण विपुल मात्रा में दर्शाये हैं। ऋक्प्रातिशाख्य–उपनिदानसूत्र–भवदेव की टिप्पणी तथा अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी के आधार पर इतने प्रमाणों के उपस्थित करने पर भी यदि वादी का भ्रम दूर न हो तो "ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति", हमारा इसमें क्या दोष है ?

इस तरह हमने वादी के दोनों आक्षेपों अर्थात् ऋग्वेद में अक्षरगणना से छन्द निर्णीत नहीं होते, तथा 'दैवी' 'आर्ची' आदि विशेषण नहीं लगा सकते, इनका उत्तर ऋक्प्रातिशाख्य-ऋक्सर्वानुक्रमणी-निदानसूत्र-अथर्व-

बृहत्सर्वानुक्रमणी तथा इनके टीकाकारों आदि के आधार पर दिया है। जब वादी की प्रक्रिया में ही दोष है तो स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य में छन्दों की ७। ८ हज़ार अशुद्धियों की आशङ्का स्वयं सर्वथा निर्मूल हो जाती है, हां छपने वा गिनती में कहीं भूल रह जाना दूसरी बात है ॥

अब हम इस विषय में अन्य दृष्टि से विचार प्रस्तुत करते हैं—

छन्दोनिर्णय में अन्य दृष्टि से विचार

सब से पूर्व यह विचारना चाहिये कि छन्द कहते किसको हैं ? 'यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः' (ऋक्सर्वानुक्रमणी पृ० १), तथा 'छन्दोऽक्षरसंख्याव्यवच्छेदकमुच्यते' (अथर्वबृहत्सर्वानुक्रमणी पृ० १)। इन दोनों प्रमाणों का अर्थ यही है कि छन्द उसको कहते हैं, जिसका नाम सुनते ही मन्त्राक्षरों की इयत्ता का परिज्ञान तत्काल हो जावे। अर्थात् जिस मन्त्र के अक्षरों की इयत्ता का ज्ञान उसके छन्द के श्रवण करने से न हो, वह उस मन्त्र का वास्तविक छन्द नहीं है, यही कहना होगा। पिङ्गल के छन्दःसूत्र के आधार पर भी यही मानना पड़ता है। इस बात को हम उदाहरण से स्पष्ट करते हैं ॥

(१) देखिये ! ऋ० १।६३।५ मन्त्र का छन्द ऋक्सर्वानुक्रमणी ने 'त्रिष्टुप्' लिखा है। 'त्रिष्टुप्' के ४४ अक्षर होते हैं, पर अक्षरगणना करने पर इस मन्त्र के अक्षर होते हैं ३७। यहां 'त्रिष्टुप्' छन्द सुनते ही प्रथम आभास यही होगा कि इसमें ४४ अक्षर हैं। पर जब अक्षरों की गणना करके देखेंगे तो ३७ अक्षर ही मिलेंगे। अतः यह सिद्ध हुआ कि छन्दःसूत्र के लक्षणानुसार सर्वानुक्रमणी के छन्द वास्तविक (वा मुख्य) छन्द नहीं हो सकते। यदि 'त्रिष्टुप्' छन्द के स्थान में इस मन्त्र का 'भुरिग् बृहती' या 'भुरिगार्ची जगती' छन्द माना जावे तो ये दोनों शब्द सुनते ही तत्काल यह ज्ञान होगा कि इस मन्त्र में ३७ अक्षर हैं। हमारा कहना यह है कि पिङ्गलछन्दःसूत्र के आधार पर इस मन्त्र का 'भुरिग् बृहती' या 'भुरिगार्ची जगती' छन्द ही वास्तविक छन्द है, 'त्रिष्टुप्' नहीं ॥

यह भी विदित रहे कि इस सूक्त के ३ तथा ६ मन्त्र में भी ३८ ही अक्षर हैं, केवल ४ मन्त्र में ४२ अक्षर हैं, शेष सब में ४१-४१ ही हैं। छन्दोनिदर्शक ग्रन्थों के छन्दोनिर्णायक सूत्रों के अनुसार विना व्यूह किये इस सूक्त का त्रिष्टुप् छन्द हो नहीं सकता ॥

पाठक प्रश्न करेंगे कि फिर ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने इसे 'त्रैष्टुभम्' कह कर इसका 'त्रिष्टुप्' छन्द क्यों कहा ? इसमें हमारा कहना यह है कि यज्ञ तथा सामगानादि में जब "त्रैष्टुभं शंसति" किसी त्रिष्टुप् छन्द वाले सूक्त वा मन्त्र का शंसन करना कहा हो, और उसमें भी इसी १। ६३ सूक्त का निर्देश किया गया हो तो ऐसी अवस्था में सामगान तथा यज्ञ की प्रक्रिया के अनुकूल इसे 'त्रिष्टुप्' मान कर गाया वा उच्चारण किया जा सके, इस विचार से ही ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने इसका 'त्रिष्टुप्' छन्द बतला दिया। जो वास्तविक वा मुख्य छन्द नहीं है।

अपनी इस बात की पुष्टि में हम इस सूक्त के सायणभाष्य के आरम्भ का लेख उपस्थित करते हैं—

"समूळ्हे दशरात्रे द्वितीये छन्दोमे मरुत्वतीये शस्त्र एतत् सूक्तं विश्वजितोऽग्निं नर इति खण्डे सूत्रितम्......" ॥

इससे स्पष्ट है कि मरुत्वतीय शस्त्र में इस सूक्त का निर्देश है। जो स्पष्ट साम वा यज्ञप्रक्रिया के अनुसार गान वा उच्चारण का विषय है। इस समय इस मन्त्र का 'त्रिष्टुप्' छन्द मानकर गाने वा उच्चारण करने में कोई हानि नहीं। क्योंकि यज्ञ वा सामगान की प्रक्रिया का तो विषय ही पृथक् है ॥

(२) इसी प्रकार ऋ० १। ४०। २ में ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने इस मन्त्र का छन्द 'सतोबृहती' माना है, जिसके ४० अक्षर होते हैं। पिङ्गलछन्दःसूत्र में 'सतोबृहती' को बृहती का भेद माना गया है। कात्यायन इसे पङ्क्ति का भेद मानता है। पर इस मन्त्र में अक्षर ३५ ही हैं। इसका वास्तविक छन्द 'निचृद् बृहती' हो सकता है। कारण यहां भी पूर्वोक्त ही है ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थों में जो छन्द लिखे हैं, वे वास्तविक छन्द नहीं हैं ॥

इस पर यह कहा जा सकता है कि व्यूह के द्वारा इन छन्दों के अक्षरों की पूर्ति की जावेगी। सो भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यूह केवल यज्ञ वा सामगान में होता है। जिसके विषय में हम आगे स्पष्ट करेंगे। व्यूह से सर्वानुक्रमणी आदि में लिखे छन्द तो ठीक उपपन्न हो जायेंगे, पर व्यूह से बढ़ाई हुई अक्षरसंख्या वास्तविक संख्या नहीं होगी। यदि हम इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र में (जहां आवश्यक हो) अक्षर बढ़ाते जायेंगे तो केवल ऋग्वेद में ही सहस्रों अक्षर बढ़ जायेंगे ॥

व्यूह की कल्पना क्यों की जाती है ?

अब यह प्रश्न होता है कि ऋक्सर्वानुक्रमणीकार आदि ने व्यूह की कल्पना ही क्यों की ? इसमें कारण यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों में **'गायत्रं शंसति' 'त्रैष्टुभं शंसति'** आदि विधिवाक्यों के निर्देश हैं, जिनका भाव यह है कि अमुक यज्ञ में अमुक समय पर गायत्री या अनुष्टुप् छन्द वाले सूक्त का उच्चारण करे। सो जिस सूक्त में सब मन्त्र 'गायत्री' या 'त्रिष्टुप्' छन्द वाले न हों, और वह एक दो की न्यूनाधिकता से स्वराट्-विराट् आदि से भी पूरी न होती हो, ४, ५ या ६ अक्षरों की न्यूनता हो, तो ऐसी अवस्था में उन एक दो मन्त्रों को अन्य मन्त्रों के समान अक्षर वाला बनाने के लिए 'व्यूह' करना होता है ॥

व्यूह केवल याज्ञिक प्रक्रिया में ही होता है

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार काल्पनिक छन्द क्यों माने जाते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यज्ञ में समान देवता और समान छन्दों वाले अनेकानेक मन्त्रों की आवश्यकता होती है। प्रकृत में जब समान देवता नहीं मिलता तो समानता के लिये देवता का काल्पनिक व्यवहार किया जाता है, जैसा कि निरुक्त सप्तमाध्याय में लिखा है—

"तदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दाशतयीषु विद्यते। यत्तु किंचिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते" (निरु० ७।२०) ॥

अर्थात्—यज्ञरूपी कर्मकाण्ड में गायत्रीछन्दोयुक्त जातवेदाः देवता वाले अनेक मन्त्रों की आवश्यकता होती है, पर सम्पूर्ण ऋग्वेद में गायत्रीछन्दोयुक्त जातवेदाः देवता वाले तीन ही मन्त्र हैं। ऐसी विषमावस्था में अग्निदेवता वाले गायत्रीछन्दोयुक्त जो कोई मन्त्र हैं, वे उन जातवेदाः देवता वाले मन्त्रों के स्थान में विनियुक्त होते हैं। ठीक यही विषम परिस्थिति छन्द के विषय में भी उपस्थित होती है। समान देवतायुक्त एक जैसे छन्द वाले मन्त्र अत्यल्प हैं, आवश्यकता बहुत अधिक की होती है। ऐसी परिस्थिति में पूर्वोक्त देवता की भांति काल्पनिक छन्दों की भी सृष्टि करनी पड़ती है। जिससे 'गायत्रं शंसति' इत्यादि विधिवाक्य तथा प्रकृत कर्मकाण्ड दोनों ही भली प्रकार उपपन्न हो जावें। बस यही कल्पना वैयूहिक छन्दों की उत्पत्ति में प्रधान हेतु है। इसका प्रभाव सामगान पर भी पड़ता है। पर वस्तुतः सारी कल्पना यज्ञ के लिये ही है। अतः यह मानना पड़ेगा कि वैयूहिक छन्द केवलमात्र याज्ञिक छन्द हैं, वास्तविक छन्द नहीं। वास्तविक छन्द वे ही हैं, जो अक्षरगणना से सिद्ध होते हैं, जो छन्दःशास्त्र के मुख्य ग्रन्थ पिङ्गलछन्दःसूत्र के आधार पर हैं, क्योंकि उनमें ही छन्द का वास्तविक लक्षण उपपन्न होता है ॥

पिङ्गल छन्दःसूत्र को छन्दोविषय में प्रधान मानते हुये भी हमने अपने समाधान उत्तर में ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि के प्रमाणों से ऋङ्मन्त्रों में अक्षरगणना के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह सब वादी को उक्त ग्रन्थ प्रमाणीभूत होने से अभ्युपगमवाद वा दुर्जनसन्तोषन्याय से ही समझना चाहिये। हम तो छन्दोविषय में वर्त्तमान में छन्दोज्ञान के प्रवर्त्तक पिङ्गलछन्दःसूत्र को ही प्रधानता[1] देते हैं ॥

[1]. पिङ्गल से पूर्व भी छन्दःशास्त्र के अनेक प्रवक्ता रहे हैं, स्वयं पिङ्गलाचार्य ने अपने से पूर्व ७ छन्दः-प्रवक्ताओं के नाम स्मरण किये हैं। तद्यथा तण्डी (३।३४), क्रौष्टुकि (३।२९), यास्क (३।३०),

हमारे उपर्युक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि व्यूह को जो अनिवार्य वा अटल मानते हैं, यह भी उनकी भूल है। यही बात 'प्रगाथ' के विषय में भी समझनी चाहिये ॥

"तदभ्यासः समासु स्यात्" (मीमांसा ९।२।२१ वर्णक १) ॥

के भाष्य में सिद्धान्त दर्शाते हुये लिखा है—

"समास्वेव गेयं न नानाछन्दस्कास्विति। किमेवं भविष्यति ? गीतेः संशरविलेशौ न भविष्यतः। यदि न्यूनछन्दस्का ऋच उपादास्यामहे गीतिं संश्रृणीयाम। अथ अधिकछन्दस्काः, ततो गीतिं विलेशयाम। उभयथा चार्षं बाधेमहि। समासु तूपादीयमानासु न किञ्चिद् दुष्यति। तस्मात् समासु गानं कर्त्तव्यमिति"॥

यहां गान समान छन्दों वाले मन्त्रों में ही हो सकता है, यह कहा है, समान देवता में गान होता है, इस विषय में मीमांसाभाष्य (९। २। २४ वर्णक २) में लिखा है—

"एवं च समानदेवताके त्रैशोके तृच इति तृचशब्दोपचारो युक्तो भविष्यति"।

हमारे ऊपर के प्रमाण से सिद्ध है कि गान समान छन्दों वाली ऋचाओं में ही होता है और गान के समय ही हम व्यूहादि से छन्दों की पूर्ति करेंगे, न कि सदैव ॥

क्या छन्दःसंज्ञा के भेद (बदल जाने) से वेद अनित्य हो जायगा ?

कुछ एक अल्पज्ञ, अदूरदर्शी तथा अहम्मन्य लोगों का कहना है कि मन्त्रों के छन्द अर्थात् उनकी तत्तत् संज्ञायें भी ईश्वरीय ही हैं, अर्थात् अपौरुषेय हैं। यदि उनमें अदला बदली की जायगी तो वेद ही अनित्य हो जायगा। ऐसे लोगों के भ्रमनिवारणार्थ हम विस्तृतरूप से उन कारणों पर प्रकाश डालेंगे, जिनसे छन्दों में विभिन्नता होती है और उनमें विभिन्नता होने पर भी आज तक किसी आचार्य ने वेद को अनित्य कहने का साहस नहीं किया। कहते भी कैसे, क्योंकि वे लोग उक्त वैदिक परम्परा को भली प्रकार जानते थे, जो आर्षकाल में तथा उसके पश्चात् भी अविच्छिन्नरूप से चली आ रही है ॥

छन्दोभेद के कारण

प्रथम कारण—छन्दोनिर्णय की प्रक्रिया के भेद से छन्दोभेद

यह हम पूर्व भलीभान्ति दर्शा चुके हैं कि ऋङ्मन्त्रों में छन्दोनिर्णय अक्षरगणना तथा पादविभाग दोनों प्रक्रियाओं के आधार पर होता है। केवल अक्षरगणना से भी ऋङ्मन्त्रों के छन्दों का निर्णय होता है, इसके लिये हम अनेक प्राचीन प्रमाण दे चुके हैं। एक ही मन्त्र में अक्षरगणना से एक छन्द होता है तो पादविभाग से दूसरा। यह सब निरूपण यद्यपि बहुत हो चुका है, (देखो पूर्व पृ० १०९—११२), पुनरपि अतिसंक्षेप से हम उन उदाहरणों को यहां पर दोहरा देना आवश्यक समझते हैं, जिससे प्रकरणानुकूल समझने में भी सुगमता हो—

(१) "विद्वांसो विदुदुरः" (ऋ० १।१२०।२) में अक्षरगणना से षड्गुरुशिष्य ने (सर्वा० टी० पृ० ६१) तथा ऋक्प्रातिशाख्य (१६।२०) में इस मन्त्र का छन्द "भुरिग् गायत्री" माना है। और पुनः पृ० ९३ पर उसने व्यूह से इसी मन्त्र का 'उष्णिक्' छन्द माना है ॥

(२) ऋ० १। १२०। ६ में ऋक्सर्वानुक्रमणीकार ने 'अक्षरैरुष्णिक्' लिखा है, षड्गुरुशिष्य ने भी "षष्ठ्यक्षरैरुष्णिक्, षष्ठ्यृगष्टाविंशत्यक्षरसंख्ययोष्णिक्त्वं सम्पादनीयम्, न तु पादभेदात्" (पृ० ९६) में स्पष्ट पादविभाग का निषेध करते हुये अक्षरगणना से 'उष्णिक्' छन्द माना है ॥

सैतव (५। १८), काश्यप (७। ९), रात (७। ३३), माण्डव्य (७। ३) ॥ इनमें किसी के भी उपलब्ध न होने से इस समय पिङ्गल ही सर्वप्रधान है, यह हमारा कहना है ॥

(३) 'नदं व ओदतीनाम्' (ऋ० ८।६९।२), तथा 'मंसीमहि त्वा' (ऋ० १०।२६।४) इन दोनों मन्त्रों के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य १६।६२ में लिखा है—

पादैरनुष्टुभौ विद्यादक्षरैरुष्णिहाविमे ॥ १६।३२॥

यहां स्पष्ट ही पादव्यवस्था से इन दोनों मन्त्रों का छन्द 'अनुष्टुप्' माना है और अक्षरगणना से 'उष्णिक्' ॥ निदानसूत्रकार ने इस ऋ० ८ । ६९ । २ का 'उष्णिक्' छन्द माना है ॥

इस प्रकार अक्षरगणना से यदि किसी मन्त्र का एक छन्द बनता है, तो पादव्यवस्था से दूसरा बनता है। दोनों ही छन्द ठीक हैं, शास्त्रीय हैं ॥

इस प्रकार प्रक्रियाभेद से छन्दःसंज्ञा में भेद हो जाना कुछ भी दोषावह नहीं है ॥

द्वितीय कारण—मन्त्रगणना के प्रकारभेद से छन्दोभेद

(१) ऋग्वेद में १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचायें हैं। इनके विषय में षड्गुरुशिष्य लिखता है—

"ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे द्वे द्विपदे एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति·······'समामनन्ति इति वचनात् शंसनादौ न भवन्ति। तेन 'पश्वा न तायुमिति द्वैपदसिति शंसने दशर्चत्वम्, आसामध्ययने पञ्चत्वं भवति" (ऋक्सर्वा० टीका पृ० ७९)॥

अर्थात्—अध्ययनकाल में दो दो द्विपदा ऋचाओं को मिलाकर एक २ ऋचा करके उच्चारण करते हैं। इससे 'पश्वा न तायुम्' (ऋ० १ । ६५) इस सूक्त में १० द्विपदा ऋचायें हैं। यज्ञकाल में ये दस मन्त्र माने जाते हैं, पर अध्ययनकाल में ये दो दो की एक २ ऋचा होकर पांच मन्त्र ही होते हैं[१]।

इस प्रकार यहां यह स्पष्ट है कि जब 'पश्वा न तायुम्' (ऋ० १ । ६५) सूक्त में अध्ययनकाल में ५ मन्त्र माने जायेंगे; तब छन्द दूसरा होगा। पांच मन्त्र मानने पर सूक्त के समस्त मन्त्रों का पङ्क्ति छन्द होगा और दस मन्त्र मानने पर द्विपदा विराट् छन्द होगा। वर्णानुपूर्वी तथा अक्षर वैसे के वैसे होने पर भी प्रक्रियाभेद से मन्त्रों के छन्दों में भेद हो जाता है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है ॥

(२) ऋग्वेद में "असिक्न्यां यजमानो न होता" (ऋ० ४ । १७ । १५) आदि अनेक एकपदा ऋचायें हैं, जिनका छन्द सर्वानुक्रमणी में 'एकपदा विराट्' माना है। पर आचार्य यास्क के मत में एकपदा ऋचायें (एक को छोड़कर शेष) पूर्व मन्त्र का अवयव मानी जाती हैं। तदनुसार ये मन्त्र पांच २ पाद के बन जाते हैं, जैसा कि ऋक्प्रातिशाख्य (१७ । ४२) में कहा है—

न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः।
अन्यत्र वैमद्याः सैका दशिनी मुखतो विराट्॥

वेङ्कटमाधव ने छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४२ में भी कहा है—

न दाशतय्येकपदा काचिद् यास्कस्य विद्यते।
भद्रन्नो अपि वातय सा स्यादेकपदा विराट्॥

अर्थात्—सम्पूर्ण ऋग्वेद में यास्क के मत से एक को छोड़कर कोई एकपदा नहीं है। परन्तु ऋक्सर्वानुक्रमणीकार तथा उसके टीकाकार ने ऋ० ४।१७।१५; ५।४१।२०; ५।४२।१७; ५।४३।१६ को एकपदा ऋचायें माना है। जब ये एकपदा ऋचायें स्वतन्त्र मानी जायेंगी, तब इनका तथा इनके पूर्ववर्ती मन्त्रों का छन्द अन्य होगा। पर जब ये ही पूर्व ऋचाओं की अन्त्यावयव मानी जायेंगी, तब दोनों को मिलाकर भिन्न छन्द होगा ॥

इस प्रकार इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मन्त्रगणना की प्रक्रिया के भेद से मन्त्रों के छन्दों में बहुत अन्तर हो जाता है और इससे वेद की नित्यता पर कोई आघात नहीं आता, क्योंकि सब आचार्य संहितापाठ को अपौरुषेय मानते हैं ॥

१. नैमित्तिक द्विपदा और ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' निबन्ध देखना चाहिये ॥

तृतीय कारण—पादव्यवस्था के भेद से छन्दोभेद

मीमांसा २ । १ । ३५ "तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार शबरस्वामी तथा तन्त्रवार्त्तिककार कुमारिलभट्ट दोनों ने अर्थ के आधार पर पादव्यवस्था को माना है, जैसा कि जैमिनि ने पूर्वोक्त सूत्र में लिखा है ॥

भाट्टदीपिका तथा उसके टीकाकार शम्भुभट्ट आदि मीमांसकों ने भी इसी व्यवस्था को स्वीकार किया है। "प्रायोऽर्थो वृत्तमिति पादज्ञानस्य हेतवः" (ऋक्प्रातिशाख्य १७ । २५) में भी पाठ, अर्थ तथा वृत्त के आधार पर पादव्यवस्था मानी है। वेङ्कटमाधव की छन्दोऽनुक्रमणी पृ० ४८ पर भी यही बात कही है ॥

पादव्यवस्था अर्थ के अधीन है, यही हमारा कहना है। जब अर्थ के अधीन पादव्यवस्था का सिद्धान्त मान लिया जावेगा (जो मानना ही पड़ेगा), तब तो छन्दों की व्यवस्था में भेद पड़ना अवश्यंभावी है। ऐसा न होने से जिन २ आचार्यों ने जो २ छन्द जिन २ मन्त्रों के निर्धारित किये हैं, वे प्रायः वैकल्पिक ही हो जायेंगे। छन्दोनिर्णय का अवधारण कभी नहीं हो सकता। अर्थात् एक मन्त्र का एक ही छन्द होगा, यह बात नहीं। छन्दोभेद का यह महान् कारण छन्दों की व्यवस्था को कहां तक बदल देगा, यह विद्वन्महानुभाव स्वयं विचार सकते हैं। हमारा उपर्युक्त सारा कथन निराधार वा कपोलकल्पित नहीं है। हम इस विषय में निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति के टीकाकार का एक अत्यन्त हृदयग्राही उद्धरण उपस्थित करते हैं—

"त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने" ॥ ऋ० ६।१६।१ ॥

ऋक्प्रातिशाख्य १६।१४ में क्रमशः तीनों पादों में ६।७।८ अक्षर होने से इस मन्त्र का छन्द 'वर्धमाना गायत्री' माना है। इसी प्रकार ऋक्सर्वानुक्रमणी (परि० ९।१) के अनुसार भी इस मन्त्र का 'वर्धमाना गायत्री' छन्द ही माना गया है। अब हम इस विषय में निदानसूत्रान्तर्गत छन्दोविचिति के टीकाकार तातप्रसादशास्त्री का मत दर्शाते हैं—

"अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति। 'विश्वेषाᳬ हितः' इति" (सामवेद पू० १।१।२ ॥ ऋ० ६।१६।१) ॥

पञ्चाक्षराणि यस्य स पञ्चाक्षरः, तस्य भावः पञ्चाक्षरता, आपञ्चाक्षरतायाः पञ्चाक्षरतापर्यन्तमष्टाक्षरः पादः प्रतिक्रामति न्यूनो भवति। अत्रोदाहरणम्—'विश्वेषाᳬ हितः' इति।

अयं 'त्वमग्ने यज्ञानाम्' इति गायत्र्या द्वितीयः पादः। नन्वत्र शौनकेन—

> उत्तरोत्तरिणः पादाः षट् सप्ताष्टाविति त्रयः।
> गायत्री वर्धमानैषा त्वमग्ने यज्ञानामिति ॥ (ऋक्प्रातिशाख्य १६।२४)

पादकल्पनेन द्वितीयपादस्य सप्ताक्षरत्वावगमात् कथमस्य पञ्चाक्षरत्वनिर्णयः ? इत्युच्यते—'होता' इति पदस्य पूर्वत्रान्वयमुपगम्य द्वितीयः पादः पञ्चाक्षर इत्याह। आचार्यशौनकस्तु 'होता' इत्यस्य 'विश्वेषाम्' इत्यत्रान्वयमभ्युपेत्य सप्ताक्षर इत्यवोचत्। अर्थवशेन पादस्य व्यवस्थेति न्यायविदः। अत्र मतभेदेन व्यवस्थितोऽस्य विकल्प इति न विरोधः ॥"

इसका अभिप्राय यह है कि "त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने" ऋ० ६।१६।१ 'त्वमग्ने यज्ञानां' इस पाद में ६ अक्षर हैं, "होता विश्वेषां हितः" इस दूसरे पाद में ७ अक्षर हैं, जैसा कि ऋक्प्रातिशाख्य १६।२४ में कहा है। सो यहां "अष्टाक्षर आपञ्चाक्षरतायाः प्रतिक्रामति" इस सूत्र की व्याख्या करते हुये 'छन्दोविचिति' का टीकाकार तातप्रसाद शास्त्री गायत्री के पाद में पांच अक्षर होते हैं, इस विषय में इस मन्त्र को उदाहरण रूप में देता हुआ यह कहता है कि दूसरा पाद घट कर पांच अक्षर का हो जाता है, और पहला आठ अक्षर का हो जाता है। इस पर पुनः शङ्का उठती है कि ऋक्प्रातिशाख्य १६।२४ में जब इस मन्त्र को वर्धमाना गायत्री मानते हुये इसके तीनों पादों के अक्षरों की गणना क्रमशः ६ + ७ + ८ बताई है, तब द्वितीय पाद में पांच अक्षर हो ही कैसे सकते हैं ? इसके उत्तर में टीकाकार कहता है कि दूसरे पाद में से

'होता' इस पद को पहले पाद में ले लेंगे, तब दूसरा पाद पांच अक्षर का अपने आप रह जायगा और पहला पाद ८ अक्षर का बन जायगा। टीकाकार कहता है कि यद्यपि शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में "होता" इस पदको दूसरे पाद के अन्तर्गत मान कर 'होता विश्वेषां हितः' इतने को सप्ताक्षर का दूसरा पाद माना है, तथापि "अर्थवशेन पादव्यवस्था" (मीमांसा २।१।३५) अर्थात् पाद की व्यवस्था अर्थ के अधीन होती है, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। अतः निदानसूत्रकार (पतञ्जलि) के मत में ८+५+८ अक्षरों के पादों की व्यवस्था होगी और शौनक के मत में ६+७+८ अक्षरों के पादों की, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं समझना चाहिये। उपर्युक्त उद्धरण का यह अभिप्राय है।

अब पाठक विचार करें कि "वाक्यं वक्तर्यधीनं हि" (महाभाष्य १।१।५६) इस सिद्धान्त के अनुसार इस उपर्युक्त मन्त्र में "होता" पद को जब पूर्वपाद में मानते हैं तो वह पाद ८ आठ अक्षर का हो जाने से छन्द बदल कर पिपीलिकामध्या (८+५+८) बन जाता है, वर्धमाना (६+७+८) गायत्री नहीं रहता। जब "होता" पद को दूसरे पाद में मानते हैं, तब वर्धमाना गायत्री छन्द बनता है। यही बात निदानसूत्र के दूसरे टीकाकार प्रेत्ताशास्त्री ने भी लिखी है॥

पादव्यवस्था से छन्दोभेद का कितना स्पष्ट उदाहरण है॥

यहां विज्ञ पाठक हमारे पूर्व दर्शाये "षष्ठ्यृगष्टाविंशत्यक्षरसंख्ययोष्णिक्त्वं सम्पादनीयं न तु पादभेदात्" (वेदार्थदीपिका पृ० ९३), षड्गुरुशिष्य के इस कथन को भी पुनः ध्यान में लावें। 'न तु पादभेदात्' कह कर उसने यह दर्शाया है कि ऋग्वेद में पादव्यवस्था से ही छन्द माने जायेंगे, यह बात नहीं॥

इस प्रकार पादव्यवस्था तथा बिना पादव्यवस्था के छन्दःसंज्ञाओं में भेद हो जाना स्वाभाविक ही है, इसका कोई क्या कर सकता है॥

चतुर्थ कारण—आचार्यों के लक्षणभेद से छन्दोभेद

सब शास्त्रकारों ने अपनी २ सुविधानुसार संज्ञा वा परिभाषाओं की कल्पना करके अपने २ प्रतिपाद्य विषय का निरूपण किया है। परिभाषादि पृथक् २ होने पर भी विषय के प्रतिपादन में किसी प्रकार की विषमता उत्पन्न नहीं होती। जैसे अकारादि स्वरों की पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'अच्' संज्ञा रखी। उधर फिट्सूत्रकार ने 'अष्' संज्ञा मानी। अष्टाध्यायी में प्रत्ययादर्शन की 'लोप' संज्ञा कही है, फिट्सूत्रकार ने इसकी 'स्फिग्' संज्ञा मानी। संज्ञाभेद होने पर भी किसी प्रकार की विषमता नहीं होती। इसी प्रकार प्रकृत छन्दःशास्त्र में पारिभाषिक संज्ञाओं में भिन्न २ आचार्यों के मत से बहुत मात्रा में हमें भेद मिलता है. उदाहरणार्थ हम कुछ एक स्थल दर्शाते हैं—

(१) पिङ्गल ३।२८–३० में ८+१२+८+८ अक्षरों वाले छन्द को 'न्यङ्कुसारिणी' माना है। वही क्रौष्टुकि के मत में 'स्कन्धोग्रीवी' है और यास्क के मत में 'उरोबृहती'॥

(२) पिङ्गल के मतानुसार २५ अक्षर का पदपङ्क्ति छन्द पङ्क्ति का अवान्तरभेद है। पर कात्यायन के मत में वही गायत्री छन्द का प्रभेद है॥ देखो पिङ्गल सू० ३।४६, ४७, ऋक्सर्वानु० ४।१॥

(३) ऋक्प्रातिशाख्यकार शौनक के मत में जो 'मा', 'प्रमा' आदि छन्द माने गये हैं, जानाश्रयी छन्दोविचितिकार के मत में उन्हीं के 'उक्त', 'अत्युक्त' आदि नाम हैं। अक्षरों की न्यूनता में उन्हीं के "हर्षीका", "मर्षीका" आदि नामान्तर हैं॥

(४) पिङ्गल ने १२+१२+१२ को महाबृहती माना है। ताण्ड्य के मत में उसी का नाम सतोबृहती है, देखो पिङ्गल ३।३५, ३६। ऋक्सर्वानुक्रमणीकार के मत में ऊर्ध्वबृहती संज्ञा है (ऋक्सर्वानु० परि० ६।७)॥

(५) निदानसूत्र में अतिजगत्यादि को विधृति आदि भिन्न नामों से कहा गया है। और कृत्यादि का नाम सिन्धु आदि रक्खा है॥

(६) पिङ्गल के मतानुसार महाबृहती छन्द बृहती (३६ अक्षर) का अवान्तर भेद है। पर ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन के मत में "त्रिष्टुप्" (४४ अक्षर) का प्रभेद है (ऋक्सर्वा० परि० ९।९)॥

(७) ताण्डी के मत में 'सतोबृहती' के ३६ अक्षर होते हैं, और वह बृहती का भेद माना गया है (पि० ३ । ३६) । पर कात्यायन ने 'सतोबृहती' के ४० अक्षर माने हैं, और इसे पङ्क्ति का अवान्तर भेद माना है (ऋक्सर्वा० परि० ८।४) ।।

इस प्रकार अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं ।।

हमारे उपर्युक्त प्रमाणों में दो भेद हैं । प्रथम पाँच उदाहरणों में तो अक्षर समान होने पर भी भिन्न २ संज्ञायें मानी हैं । छठे और सातवें में छन्दों की संज्ञाएँ तो समान हैं, पर संज्ञी अर्थात् उनकी अक्षरसंख्या में भेद है । अब यदि कोई व्यक्ति ३६ (८ + १२ + ८ + ८) अक्षर वाले मन्त्र का न्यङ्कुसारिणी के स्थान पर उरोबृहती या स्कन्धोग्रीवी छन्द लिखदे वा कहदे, तो क्या वह अशुद्ध होगा ? इसी प्रकार यदि कोई ३६ अक्षर (महाबृहती पिङ्गल, या ऊर्ध्वबृहती ऋक्सर्वानुक्रमणी) वाले मन्त्र का सतोबृहती (ताण्डी के मतानुसार) छन्द माने, तो क्या वह केवल इसलिये अशुद्ध होगा कि कात्यायन के मत में इस (सतोबृहती) नाम वाले छन्द में ४० अक्षर होते हैं ? कदापि नहीं । अतः इन उद्धरणों से यह सर्वथा विस्पष्ट हो जाता है कि जब किसी भी आचार्य के लिखे वा कहे छन्दों की जाँच पड़ताल करनी हो तो सबसे पहले हमें यह निश्चय करना होगा कि उक्त आचार्य ने किस लक्षण (छन्दःशास्त्र) के आधार पर छन्द लिखे हैं । यदि उस छन्दःशास्त्र के आधार पर भी छन्दों के नाम अशुद्ध प्रतीत हों, तो पुनः विचार करना चाहिये कि कहीं आचार्य ने किसी अन्य छन्दःशास्त्र के अनुसार तो छन्दों की संज्ञाओं का निर्देश नहीं किया । क्योंकि शास्त्रों में अन्य आचार्यों की संज्ञाओं का भी व्यवहार प्रायः देखा जाता है । जैसे आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरणशास्त्र में "वृद्ध" "औङ्" "आङ्" आदि अनेक प्राचीन आचार्यों की संज्ञाओं का उपयोग किया है ।

विज्ञ पाठक स्वयं विचार करें कि इन चारों कारणों पर पूरा ध्यान दिये बिना छन्दों का यथार्थ ज्ञान कभी हो सकता है ?

उपसंहार

इस प्रकार हमने छन्दोवाद के इस प्रकरण में अति संक्षेप से छन्दों के लक्षण तथा पादव्यवस्था से छन्दों के निर्णय में मतभेद दर्शाया है । आचार्य दयानन्द के भाष्य में लिखे हुए छन्दों पर विस्तृत पूर्वपक्ष उपस्थित करके ऋग्वेद में भी अक्षरगणना से छन्दों का निर्णय होता है तथा "दैवी" "आर्षी" "आर्ची" आदि विशेषण ऋङ्मन्त्रों में भी प्राचीन आचार्यों ने माने हैं । अक्षरगणना के आधार पर ही छन्दों की संज्ञा का निश्चय करने से वास्तविक छन्दों का ज्ञान हो सकता है, अन्य रीति से जो भी छन्द माने जायेंगे, वे सब गौण ही माने जा सकते हैं । व्यूह और प्रगाथ, यज्ञ तथा सामगान विषयक हैं, पुरुषकृत वा अनित्य हैं, इत्यादि अनेक विषयों पर सप्रमाण लिखा है । अन्त में छन्दोभेद के चार कारणों का संक्षेप से निरूपण किया है, तथा वादी का स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्योल्लिखित छन्दों में ७, ८ हज़ार अशुद्धियाँ दर्शाना कहाँ तक सत्य है, यह इस विवेचन से भली प्रकार विदित हो जायगा । वस्तुतः पूर्वोक्त समस्त शास्त्रीय नियमों के आधार पर ही छन्दों का यथार्थ निर्णय हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं हो सकता । जो व्यक्ति शास्त्रीय पद्धति को समझते नहीं, या समझने की क्षमता नहीं रखते, उनके लिये ही शास्त्र कहता है—

"बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति" ।। महाभारत ।।
"पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति" ।। निरु० १ । १६ ।।

कुछ थोड़ा बहुत पढ़ सुन कर यों ही शास्त्रीय प्रक्रिया में हस्तक्षेप नहीं करने लग जाना चाहिये । हमारा समझा कहीं अयुक्त ही न हो; शास्त्र में इतना मार्जन अवश्य रखना चाहिये । अभिमान और मात्सर्य बुद्धि को मलीन करते हैं, अतः शास्त्रीय निर्णय में इससे कदापि लाभ नहीं होता, हाँ हानि अवश्य होती है । अन्त में इतना कह कर ही हम अपनी लेखनी को विराम देते हैं कि—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" समझ में न आने पर यों ही अशुद्ध कहने का दुःसाहस नहीं करना चाहिये, यही बुद्धिमत्ता की बात है ।।

विवरण की विशेषतायें

आरम्भ में हमारा टिप्पणी का प्रकार संस्कृत पदार्थ की पुष्टि के लिये प्रमाणसंग्रह कर देने मात्र तक ही सीमित था। बहुत काल के पश्चात् निरन्तर इस कार्य में संलग्न रहने, और इस विषय की अन्तिम धारणा निर्धारित होने पर जो क्रम हमारे इस विवरण का बना, सो संक्षेप से निदर्शनरूप निम्नप्रकार है—

(१) देवतावाद के स्वरूप को अतिसंक्षेप से हमने टिप्पणी में दर्शाया (द्र० पृ० ७, ८ की सम्पूर्ण टिप्पणी) कि लगभग १५०० वर्ष पूर्व इस मन्त्र का देवता वह नहीं था, जो यजुःसर्वानुक्रमणी के अनुसार सम्प्रति माना जाता है। अतः श्री० स्वामीजी महाराज का यजुःसर्वानुक्रमणी से भिन्न देवता लिखना किसी प्रकार भी अयुक्त नहीं॥ हमने अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि यास्क-पतञ्जलि तथा अनेक ऋषि-मुनियों का यही सिद्धान्त है। देवतावाद के मूलभूत सिद्धान्त का यथार्थ स्वरूप जानने के लिये हमारी यह टिप्पणी परमावश्यक समझनी चाहिये॥

(२) य० १। २ में 'यज्ञो देवता' लिखा है। हमने मूलवेद का प्रमाण देकर यह दर्शाया है कि वसु और यज्ञ पर्यायवाची हैं (देखो पृ० ३६ टि० १)॥

(३) श्री० स्वामीजी महाराज के भाष्य में संस्कृत तथा हिन्दी में लिखी प्रत्येक मन्त्र की विषयसङ्गति (उपक्रमणिका) पर मैंने अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार गम्भीर विचार किया है। बहुत से विद्वान् श्री० स्वामीजी महाराज के मन्त्रार्थ को परस्पर में असम्बद्ध वा विसङ्गत समझते हैं। कई इस दोष को हटाने के लिये मन्त्रों को मुक्तक (परस्पर अनाकाङ्क्षित) बनाने की कल्पना करते हैं, किन्तु मैंने जिस समय इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया तो प्रत्येक मन्त्रार्थ परस्पर में एक दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत हुआ। इस सम्बद्धता को प्रतिमन्त्र दर्शाने का यत्न किया है। हो सकता है कि कई स्थानों पर हमारी दर्शाई सङ्गति उचित प्रतीत न हो। हमने तो इस विषय में एक मार्ग निदर्शन करने का ही प्रयास किया है। इसके लिये पहले हमने सम्पूर्ण यजुर्वेदभाष्य के ४० अध्यायों की मन्त्रसङ्गति को एक स्थान पर संगृहीत किया और सब अध्यायों की सङ्गति पर पृथक् २ विचार किया। यह सब विचार कर लेने के पश्चात् हमने आरम्भ से १० अध्याय तक सब मन्त्रों की वेदभाष्य में प्रदर्शित विषयसङ्गति का प्रत्येक मन्त्र के पदार्थ तथा भावार्थ से मिलान करके देखा कि यह सङ्गति मन्त्रगत पदार्थ-अन्वय-भावार्थादि के साथ कहाँ तक युक्त बैठती है। और यह भी देखा कि इसका पूर्वमन्त्र के साथ क्या सम्बन्ध है, जिसमें प्रायः करके मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का सार भी स्पष्ट समझ में आ जाता है। यह सङ्गति का काम मेरे लिये मूल हस्तलेखों के मिलान से भी कहीं अधिक परिश्रमसाध्य रहा॥

(४) पदपाठ से भिन्न जहाँ श्री० स्वामीजी का अर्थ और पदच्छेद है, वह भी ठीक है, यह बात प्रमाण-सहित अनेक स्थलों में दर्शाई गई है। जैसा कि पृ० १९६ पर 'देवपणिभिः' यह पदकार के मत में दो पद हैं। श्री० स्वामीजी ने समस्त एक ही पद माना है, और स्वर की दृष्टि से ठीक है इत्यादि, ऐसा ही अन्यत्र भी समझें॥

(५) (क) शब्दों के अर्थों में गम्भीरता से स्वयं मन में पूर्वपक्ष उठा २ कर समाधान दिया गया है, जैसा कि पृ० १० पर "इषे" का अर्थ श्री० स्वामीजी ने "अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये" लिखा है। सो "अन्न" यह अर्थ तो ठीक है, क्योंकि 'इष्' अन्ननामों में निघण्टु में पढ़ा है, 'विज्ञान' अर्थ कहाँ से आ गया? यह शङ्का उत्पन्न होने पर "सब गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक हैं" अर्थात् गति अर्थ वाले धातु ज्ञान-गमन-प्राप्ति इन तीनों अर्थों से युक्त होते हैं, इसमें ९-१० प्रमाण सायणाचार्य से पूर्व २ के हमने उपस्थित किये हैं, इधर के नहीं। इससे श्री० स्वामीजी महाराज का यहाँ "विज्ञान" अर्थ करना सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होता है॥

(ख) य० ५। ३१ में 'अवस्यूः' पद को श्री० स्वामीजी ने 'अव्' पूर्वक 'सिवु' धातु से सिद्ध किया है। उधर समस्त भाष्यकारों ने 'अव् रक्षणे' धातु से ही बनाया है। हमने पहले 'अव् रक्षणे' से किया हुआ अर्थ और व्युत्पत्ति श्री० स्वामीजी महाराज के यजुर्वेदभाष्य में से ही अन्य स्थलों से दर्शाई। फिर स्वामीजी का यहां किया हुआ अर्थ भी ठीक है, यह सिद्ध किया है॥

इसी मन्त्र में 'कृशानुः' पद पर भी श्री० स्वामीजी की व्युत्पत्ति से ही स्वर ठीक बनता है। अन्य भाष्यकारों की व्युत्पत्ति से स्वर ठीक नहीं बनता, जब तक व्यत्यय न माना जावे ॥

(ग) कई एक महानुभाव स्वामीजी के 'अतिथि' शब्द के किये हुये अर्थ और उसकी व्युत्पत्ति पर बड़ी विप्रतिपत्ति उठाते हैं, उनके आक्षेपों का सप्रमाण निराकरण य० ३। १ पृ० २३८, २३९ पर किया है ॥

(घ) "आयं गौ०" य० ३। ६ के विषय में हम अन्यत्र विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। यह प्रकार हमारी टिप्पणी के आरम्भ से अन्त तक चला है ॥

(ङ) श्री० स्वामीजी महाराज ने य० १। १३ (पृ० ७२) के पदार्थ में "इन्द्रेण वायुना० ऋ० १। १४। १०" 'इन्द्र' का अर्थ वायु वेद के मूलमन्त्र के प्रमाण द्वारा दर्शाया है। हमने भी जहां तक हो सका है, स्वामीजी के अर्थों की पुष्टि में मूलमन्त्र देने का यत्न किया है, जैसा कि पृ० ३६ टि० २, पृ० ४७ टि० १ इत्यादि ॥

(च) य० ५। २ पृ० ४२६ में "उर्वशी" का अर्थ भाष्य में 'यज्ञक्रिया' किया गया है। इसी भाष्य में अन्यत्र, 'वाक्' अर्थ भी किया है। इस विषय में हमने 'उर्वशी' के प्रचलित 'अप्सरा' अर्थ का सप्रमाण निराकरण करते हुये, मूल मन्त्रों के आधार पर इस शब्द का अर्थ विद्युत्-वाक् आदि दर्शाया है ॥

(६) श्री० स्वामीजी के अर्थ में जो "व्यत्यय" माना गया है, उसमें हमने प्रमाण उपस्थित किये हैं। व्यत्यय के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर ही उनके वेदार्थ की उत्कृष्टता समझ में आ सकती है। हमारी दृष्टि में "व्यत्यय" का स्वरूप यह है कि भाषा (लोक) के नियमों की अपेक्षा वेद में उपलब्ध होनेवाले विलक्षण नियम ही "व्यत्यय" शब्द से व्यवहृत होते हैं। महाभाष्यकार के मतानुसार "सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्" यह पाणिनि व्याकरण सब वेदों का समान व्याकरण है, इस दृष्टि से वैदिक वाङ्मय के समस्त विशेष नियमों को सूत्रों द्वारा बांधा नहीं जा सकता। इसीलिये अगाधबुद्धि पाणिनि ने उन सब विशेष नियमों का बोध "व्यत्ययो बहुलम्", "बहुलं छन्दसि" इत्यादि सूत्रों द्वारा दर्शाने का यत्न किया है। हमारी दृष्टि में इन विशेष नियमों के दर्शाने का "नान्यः पन्था विद्यते" तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम् (महा० ६। ३। १४) है और कोई मार्ग हो नहीं सकता। उनके परिगणन करने की बात तो दूर रही, कहना ही साहसमात्र है, क्योंकि वेद में आये शब्द तो अनिवार्यतया वैसे के वैसे ही रहेंगे। उनमें परिवर्त्तन नहीं हो सकता। व्याकरण ने उनके पीछे चलना है, न कि वेद ने व्याकरण के पीछे ॥

इस प्रकार "व्यत्यय" का सिद्धान्त सार्वकालिक है, इसका कोई भी कदापि निषेध नहीं कर सकता। वेद में प्रयुक्त विशेष पदों का लौकिकभाषा के अनुसार 'व्यत्यय' करके अर्थ दर्शाया जाता है, तो कई लोग एकदम चौंक पड़ते हैं। ऐसे लोगों को पता होना चाहिये कि यह कोई अपूर्व बात नहीं है। शब्दप्रयोग के प्रमाणीभूत आचार्य पाणिनि, पतञ्जलि आदि ने अनेक स्थानों पर 'व्यत्यय' के प्रयोग दर्शाये हैं। श्री० स्वामीजी महाराज ने भी इन्हीं के आधार पर अनेक स्थानों पर "व्यत्यय" मानकर अर्थ किये हैं, जो कि युक्तिसङ्गत हैं। फिर भी हमने दुर्जनसन्तोषन्याय से कहीं २ पर प्राचीन वेदभाष्यकारों के व्यत्यय के उदाहरण भी दर्शाये हैं। जैसा कि—

(क) पृ० १२ पर ३ (ग) टिप्पणी में "शृण्वे" मन्त्रगत पद उत्तमपुरुष एकवचन में आया है। इसका अर्थ आचार्य स्कन्दस्वामी ने "श्रूयते प्रत्याख्यायते" प्रथमपुरुषैकवचन में किया है। तो यहां 'स्थः' का अर्थ 'सन्ति' और 'असि' का "अस्ति वा" होने में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है !!

(ख) पृ० १५, १६ पर 'अघ्न्या' सर्वानुदात्त पद आमन्त्रित (सम्बोधन) में ही सदा होगा, यह प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। यहां 'व्यत्यय' का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती। परन्तु हमने यहां भी दुर्जनसन्तोषन्याय से यह दर्शा दिया है कि ऋ० १। १६५। ७ में आये "मरुतः" सर्वानुदात्त पद का (जो लौकिक नियम से सम्बोधनमें ही होना सम्भव है), आचार्य स्कन्दस्वामी तथा सायणाचार्य दोनों ने अपने भाष्य में 'व्यत्यय' मान कर अर्थ किया है। स्कन्द ने इसे प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में माना है ॥

इसी प्रकार हमने अपने विवरण में अनेक स्थानों में स्वामीजी के भाष्य में आये ऐसे पदों के अर्थों को सप्रमाण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, क्योंकि हमारा यह दृढ़ मत है कि "व्यत्यय" के सिद्धान्त को मानकर और समझकर ही श्री० स्वामीजी महाराज के भाष्य का तात्पर्य भली प्रकार समझ में आ सकता है ॥

(७) सायण–महीधर–भट्टभास्करादि वेदभाष्यकारों की व्याकरणादि की अशुद्धियों का निदर्शन भी तत्तत् स्थान में किया है। वह केवल इस दृष्टि से कि जिनको सायणादि की विद्वत्ता और योग्यता पर अटल विश्वास है और श्री० स्वामीजी महाराज की विद्वत्ता में सन्देह करते हैं, वे देख सकते हैं कि इन आचार्यों ने कैसी २ भूलें की हैं। उदाहरणार्थ प्रथम मन्त्र में ही पृ० १६, १८ पर "इन्द्राय" तथा "अघशंसः" की टिप्पणी देखें। आगे भी अनेक स्थलों पर इसी प्रकार समझें॥

(८) अनेक योग्य विद्वान् मित्रों तथा कृपालु महानुभावों के विशेष आग्रह से ही हमने इस प्रथम भाग में प्रति मन्त्र "व्याकरण-प्रक्रिया" दर्शाई है। इसमें हमने यह विशेष यत्न किया है कि ऋषि दयानन्दकृत अर्थों की पुष्टि स्वरादि से भी हो। कहीं २ हमने "यथाभिमतद्व्यो व्याख्यातॄणाम्' इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही पद का निर्वचन अनेक प्रकार से भी दर्शाया है। जैसे पृ० ४३८, ८१५ पर 'अंशु' शब्द के विषय में॥ यह व्याकरण-प्रक्रिया योग्य विद्वानों तथा अध्ययन अध्यापन करने करानेवालों की सुगमता और उनके विशेष लाभार्थ दीगई है। विद्वानों का यह मत है कि इस विषय में यह क्रम अन्त तक बराबर चलना चाहिये। मेरे विचार में श्री० स्वामीजी महाराज प्राचीन आर्ष साहित्य के वेद-व्याकरण-निरुक्तादि शास्त्रों के अपने समय के एक अद्वितीय वेत्ता थे। वह व्याकरण के पचड़े में सबको डालना नहीं चाहते थे कि जिससे व्याकरण का व्यर्थ का शास्त्रार्थ खड़ा होकर असली वेदार्थ पीछे न पड़ जावे। इसीलिये उन्होंने स्वरप्रक्रिया पर विशेष नहीं लिखा। यह कार्य तो उनके चरणचिह्नों पर चलनेवाले हम साधारण लोगों का है। आशा है विद्वज्जन तथा जिज्ञासुजन हमारे इस प्रयास से लाभ उठाने का यत्न करेंगे॥

(९) सर्वविधज्ञान का भण्डार और सब लौकिक तथा पारमार्थिक व्यवहारों का प्रकाशक वेद है, यह सर्व ऋषि-मुनियों का सिद्धान्त है, यह हम पूर्व भूमिका के पृ० २१–२६ में ही दर्शा चुके हैं। अतएव सब यास्कादि प्राचीन ऋषि-मुनियों का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक-अधियाज्ञिक-आधिदैविक तीनों प्रक्रियाओं में होता है (देखो विवरण पृ० २१–२२)। तदनुसार श्री० स्वामीजी महाराज ने भी सब मन्त्रों के संस्कृत पदार्थ में अत्यन्त कौशल से प्रायः करके तीनों प्रकार के अर्थों को सूक्ष्म रीति से दर्शाने का प्रयास किया है। इसी लिये स्वामीजी ने यास्क की भान्ति सर्व प्रक्रियाओं में घटित होने वाला (अर्थात् त्रिविधार्थगर्भित) संस्कृत पदार्थ पृथक रूप से दर्शाया है और केवल अन्वयानुसारी भाष्य नहीं बनाया। श्री० स्वामीजी महाराज के वेदभाष्य की यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। जिसे बहुत कम विद्वान् अनुभव करते हैं। कहीं २ अन्वय तथा भावार्थ से भी तीनों प्रकार के अर्थों की ध्वनि निकलती है। अन्वय प्रायः करके एक या दो प्रक्रियाओं में ही घटित होता है, इसलिये उसको पृथक् रक्खा है। भाषापदार्थ में संस्कृतपदार्थ को अन्वयपूर्वक लाने का यत्न किया गया है, किन्तु उससे तीनों प्रकार के अर्थों की विस्पष्ट प्रतीति नहीं होती। हमने पांच अध्याय तक प्रत्येक मन्त्र में आचार्य दयानन्द-प्रदर्शित त्रिविधप्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया है, इसी प्रकार आगे भी बुद्धिमान् पाठक स्वयं समझने का यत्न करें॥

इस विषय में भी एक विशेष घटना ही प्रेरक हुई। वेदभाष्य पर विचार करते २ दस अध्याय तक एक बार टिप्पणी लिखने और विवरण पृ० २१, २३ की त्रिविधप्रक्रिया के आत्मा में विश्वास हो जाने पर मन्त्रों के भिन्न २ अर्थों पर विचार करते समय अन्तःप्रेरणा हुई कि श्री० स्वामीजी महाराज ने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में किया है (इससे पूर्व यही धारणा थी कि कुछ मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया में होता है, कुछ का आधिदैविक और कुछ का आधिभौतिक में)। मैंने उसी समय नेत्र बन्द करके सम्पूर्ण वेदभाष्य में जहां कहीं से भी अकस्मात् निकाल २ कर देखा, तो मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही, जब मुझे सर्वत्र तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ विद्यमान होता हुआ किसी न किसी वाक्य वा पद से भासित हुआ। इस पर मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। उस दिन से इस विषय पर टिप्पणी लिखने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया॥

निस्सन्देह श्री० स्वामीजी के भाष्य में आध्यात्मिक अर्थ की प्रधानता है, और यह भाष्य एक प्रकार से "सूत्ररूप" है। यदि श्री० स्वामीजी होते तो सम्भवतः इस वेदभाष्य का विस्तार बहुत अच्छे रूप में करते। ऋग्वेदाङ्क के नमूने से, जो संवत् १९३३ में लाजरस प्रेस काशी में छपा था, यह विदित होता है कि श्री० स्वामीजी महाराज प्रत्येक मन्त्र का अनेक प्रकार का अर्थ पृथक् २ दर्शाना चाहते थे॥

श्री बा० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायकृत 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र' भाग प्रथम पृ० २९१ से

विदित होता है कि श्री० स्वामीजी महाराज ने संवत् १९३१ में भी ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का नमूने के रूप में भाष्य बम्बई में छपवाया था, जिसके विषय में देवेन्द्र बाबू लिखते हैं—

"उसके पीछे ही स्वामीजी ने ऋग्वेद के पहले सूक्त का भाष्य जिसमें गुजराती और मराठी भाषा में अनुवाद भी था, वेदभाष्य नमूने के तौर पर प्रकाशित किया। जिसमें ऋग्वेद के पहले मन्त्र "अग्निमीळे पुरोहितम्" आदि के दो अर्थ किये थे, एक भौतिक और दूसरा पारमार्थिक। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था कि मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूँगा। यदि किसी को इस पर आपत्ति हो तो पहले से ही सूचित करदे, ताकि मैं उसका खण्डन करके ही भाष्य करूँ। यह नमूना स्वामीजी ने काशी के पण्डित बालशास्त्री, स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती प्रभृति तथा कलकत्ता और अन्य स्थानों के पण्डितों के पास भेजा था, परन्तु किसी ने उसकी समालोचना नहीं की, न उस पर कोई आपत्ति उठाई" पृ० २९५ ॥

किन्तु इस प्रकार के विस्तृत भाष्य करने में ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता, जिसका प्रबन्ध होना ही उस समय कठिन था। इसलिये उन्होंने वेदभाष्य छापते समय अपने भाष्य की प्रक्रिया का संक्षेप कर दिया, ऐसा प्रतीत होता है।

(१०) भाषापदार्थ के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहां संस्कृत में संशोधन कर दिया और भाषा पहिली संस्कृत की ही रह गई, ऐसे स्थलों को छोड़ कर शेष संस्कृत का जो भाषार्थ किया गया है, वह लगभग ठीक है। इतना तो है कि भाषा करने वाले की योग्यता बहुत अधिक होनी चाहिये, जो इस भाष्य के भाषार्थ करने वालों में पूरी मात्रा में दिखाई नहीं देती, कहीं २ आर्यभाषा करने वाले श्री० स्वामीजी महाराज के अभिप्राय को पूरा २ नहीं समझ सके, श्री० स्वामीजी का आर्यभाषा पर पूरा २ अधिकार उस समय नहीं था। अतः आर्यभाषा के संशोधन में कुछ न्यूनता रहजाना स्वाभाविक था। हां यदि श्री स्वामीजी महाराज स्वयं भाषा करते (और वह भी दूसरे संस्करण में) तो सर्वोत्तम बात होती। हमने मूल हस्तलेखों के आधार पर यत्र तत्र भाषा का संशोधन किया है। मूल हस्तलेखों के आधार पर किए संशोधनों का विशद निरूपण हमने अन्यत्र किया है॥

यह तो हमारी सामान्य सार्वत्रिक टिप्पणियों का प्रकार है। इस विवरण में हमने वेदभाष्य में आये समस्त प्रमाणों के पाठ और उनके पते मूल ग्रन्थों से मिला २ कर शुद्ध किये हैं। इनके अतिरिक्त प्रथम मन्त्र में हमने कुछ अन्य विषयों पर भी विचार प्रकट किये हैं—

(१) **देवतावाद**—इसका संक्षेप से निरूपण विवरण पृ० ७, ८, तथा २६, २७, आदि पर किया है।

(२) **वाक्ययोजनाविचार**—कई एक विद्वानों का विचार है कि पदों का दूरान्वय करना दोषावह होता है, सो इस विषय में हमने इस बात को सप्रमाण दर्शाया है कि मन्त्रों के पदों का, चाहे वे कितने ही दूर २ पड़े हों, परस्पर में सम्बन्ध करने में कोई बाधा तथा असङ्गति नहीं है, देखो विवरण पृ० २०, ३१ ॥

(३) प्रायः सायणादि आधुनिक वेदभाष्यकार मन्त्रों का **केवल याज्ञिक अर्थ** ही दर्शाते हैं। इसका वैदिक वाङ्मय पर इतना दूषित प्रभाव पड़ा है कि बड़े २ विद्वान् कहे जानेवाले भी मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ मानने को तय्यार नहीं होते। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण कलकत्ता यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग के प्रिंसिपल पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न का वह लेख है, जो उन्होंने श्री स्वामीजी महाराज के वेदभाष्य की आलोचना करते हुये लिखा है—

"स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है। जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता" देखो भ्रान्तिनिवारण पृ० ६ ॥

ऐसा भ्रम विद्वानों में अभी तक फैला हुआ है। इस महान् भ्रम को, जो कि वेदार्थ प्रक्रिया का महान विघातक है, दूर करने के लिये यास्कादि प्राचीन नैरुक्ताचार्यों के प्रमाणों से हमने भली भान्ति दर्शा दिया है कि वेद के किन्हीं मन्त्रों या मन्त्रों में आये पदों का ही आध्यात्मिकादि तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ नहीं होता, **अपितु वेद के प्रत्येक मन्त्र का तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ होता है** (देखो विवरण पृ० २२, ३३) ॥

यह भी विदित रहे कि वेदार्थ की यह प्रक्रिया आज से लगभग १५०० वर्ष (सायणाचार्य से लगभग ७५० वर्ष) पूर्व तक किसी न किसी रूप में सुरक्षित रही। आगे इसका लोप कैसे हुआ, यह कहना कठिन है। इस युग में ऋषि दयानन्द ही इस प्रक्रिया के पुनरुद्धारक हुये, यही कहना पड़ता है ॥

यजुर्वेदभाष्य के इस संस्करण की विशेषता

मूल मन्त्रपाठ का संशोधन

सब से पूर्व हमने मूल मन्त्रपाठ का मिलान, लगभग २२ हस्तलिखित तथा छपी हुई यजुर्वेद की भिन्न २ प्रतियों से किया, जिनमें ७-८ उत्तम हस्तलिखित प्रतियां थीं तथा तीन हस्तलेख पदपाठ के थे। इनमें तीन हस्तलेख जो कि प्रायः शुद्ध हैं, हमारे अपने संग्रह के हैं, शेष हस्तलेख [1]लालचन्द रिसर्च पुस्तकालय डी० ए० वी० कालेज लाहौर के पुस्तकालय के तत्कालीन अध्यक्ष श्री० पं० भगवद्दत्तजी की उदारता से प्राप्त हुए। इतनी पुस्तकों के मिलान में हमारा पर्याप्त समय लगा। आरम्भ में किये इस परिश्रम ने हमें बहुत काम दिया ॥

पदपाठ का संशोधन

पदपाठ का संशोधन हमने तीन उपर्युक्त पदपाठों तथा श्री० स्वामीजी के भाष्य के अनुसार किया है। इस संशोधन में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि यदि कहीं स्वामीजी का अभिमत पदपाठ अन्यों से भिन्न प्रतीत हुआ तो उसको उसी रूप में रक्खा गया है। हां लेखकप्रमादादि से जहां पदपाठ में अशुद्धि रही, उसे ठीक कर दिया है। पूर्वपाठ सर्वत्र टिप्पणी में दिया गया है ॥

वेदभाष्य का संशोधन

यजुर्वेदभाष्य के इस संशोधन में वैदिक यन्त्रालय अजमेर में मुद्रित तीनों संस्करण तथा उनकी असली हस्तलिखित प्रतियां जो श्रीमती परोपकारिणी सभा के पास सुरक्षित रक्खी हैं, उनके आधार पर किया गया है ॥

यजुर्वेदभाष्य के हस्तलेखों का परिचय

अब हम उस सारी सामग्री का परिचय देते हैं, जिसके आधार पर इन दस अध्यायों में संशोधन का कार्य किया गया है। अजमेर में ऋषिदयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य के हस्तलेखों की तीन कापियां हैं। जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(१) प्रथम क—यह कापी सबसे पूर्व लिखी गई है। यह असली कापी नं० १ है। इस कापी में ६–७–८ ये तीन अध्याय इस समय अनुपलब्ध हैं, शेष ३७ अध्याय पूरे हैं। इस पर अन्त तक श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ के पर्याप्त संशोधन विद्यमान हैं ॥

इसकी पृष्ठसंख्या प्रथमाध्याय से अ० ३ के ४८ मन्त्र तक १९९ है। आगे २०१ के स्थान में फिर १०१ से आरम्भ करके २९२ तक पांच अध्याय समाप्त हुए हैं, अर्थात् १०० की गणना की भूल है, वस्तुतः ३९२ पृष्ठों में पाच अध्याय समाप्त हुए हैं, ऐसा समझना चाहिये। ६, ७, ८ ये तीन अध्याय इसमें नहीं हैं। आगे नवम अध्याय से पुनः नई संख्या आरम्भ होती है। ९ से १८ अध्याय तक पृ० १ से ७५१ है। १९ अध्याय से फिर नई संख्या चलती है, जो १९–२० अध्याय तक १९८ तक ही है। आगे फिर २१ अध्याय के आरम्भ से नई संख्या १८१० से ३५९४ तक ४० वें अध्याय की समाप्ति तक है ॥

---

१. भारतविभाजन के पश्चात् यह पुस्तकालय वर्त्तमान में होशियारपुर (पंजाब) में है। जो श्री पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री और उनके सहयोगियों के अनिर्वचनीय कष्ट सहन तथा उत्साह का परिणाम है। नहीं तो सर्वथा जला दिया जाता। जैसा कि गुरुदत्त भवन तथा स्वामी वेदानन्दजी का विशाल पुस्तकालय जला दिया गया। हमारी ५०–६० मन पुस्तकें जला दी गईं, पुनरपि हम लगभग ९० मन पुस्तकें भारत लाने में सफल हो गये। कैसे हुआ यह तो प्रभु ही जाने, जिसके रखने के लिये आज १२ वर्ष पीछे तक भी सुरक्षित स्थान का कोई प्रबन्ध नहीं। हम भी 'राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा हो ॥

इस प्रकार इस 'क' कापी में तीन अध्यायों को छोड़कर शेष ३७ अध्याय की कुल पृष्ठसंख्या २५११ है, इसमें दुबारा लिखे गये पत्रे भी सम्मिलित हैं ॥

कागज़—इसमें काग़ज़ सब फुलस्केप साइज़ का है। आरम्भ के पांच अध्यायों में नीला बढ़िया तथा घटिया दोनों प्रकार का है। आगे ९ अध्याय से अन्त तक हाथी छाप का पतला काग़ज़ काम में लाया गया है। जो इस समय अत्यन्त मटियाले रङ्ग का तथा जीर्ण हो चुका है। अध्याय १९ से ४० तक का अभी कुछ ठीक दशा में है।

संशोधन—१ से ५ अध्याय तक काली तथा लाल स्याही से संशोधन हैं। आगे काली स्याही का संशोधन है। १६ अध्याय से कहीं २ पैन्सिल के संशोधन भी हैं, जो अध्याय २६ तक गये हैं। आगे पुनः लाल स्याही के ही संशोधन हैं ॥

ग्रन्थ के अन्त में "इति चत्वारिंशोऽध्यायः सम्पूर्णः मार्ग कृष्णा १ शनिः सं० १९३९" ऐसा लिखा है। पौष शु० १३ गुरुवार संवत् १९३४ से आरम्भ करके लगभग ६ वर्ष में यह भाष्य ऋषि ने समाप्त किया, यह ज्ञात होता है। यह भी विदित रहे कि इस समय ऋग्वेदभाष्य का काम भी साथ साथ चलता रहा ॥

(२) ख—दूसरी "ख" कापी है, जो आरम्भ से लेकर चतुर्थाध्याय के ३६ मन्त्र तक है। अर्थात् चतुर्थाध्याय के अन्तिम मन्त्र से पूर्व ही समाप्त हो जाती है। इसकी पृष्ठसंख्या ३५५ है। यह पूर्व 'क' कापी की शुद्ध प्रति है। इस पर भी श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ के संशोधन हैं। इसका साइज़ और काग़ज़ादि पूर्ववत् अर्थात् नीला और हाथी छाप का है ॥

(३) ग—यह तीसरा हस्तलेख प्रेस कापी है। इसकी पृष्ठसंख्या १ से ५ अध्याय तक ३५५ है। ६ अध्याय में ३०१ से १७८ तक गई है। ७ वें में पुनः १ से आरम्भ होकर ९६५ तक १९ अध्याय, २० वें अध्याय से पुनः १०१ संख्या आरम्भ होकर ४० वें अध्याय की समाप्ति पर्यन्त ९५९ तक गई है। इस प्रकार यह प्रेस कापी १९२९ पृष्ठों में समाप्त हुई है ॥

कागज़—१-२ अध्याय तक नीला बढ़िया काग़ज़ है, जिसके दोनों ओर लिखा हुआ है। तीसरे अध्याय से नीला पतला काग़ज़ है। ५ अध्याय तक नीला मध्यम है, आगे ८ वें अध्याय के पृष्ठ ९२ तक नीला साधारण है। आगे सफेद मटियाला विना रूल का है। लेख इसमें भी भिन्न भिन्न हाथों का है ॥

संशोधन—संशोधन लाल स्याही का है। आगे काली स्याही का भी है। १५ अध्याय तक एक ही क्रम में जाता है। आगे २२ अध्याय तक थोड़ा सा अन्तर है। इस पर प्रारम्भ से २२ वें अध्याय तक श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ का संशोधन विद्यमान है ॥

उपर्युक्त हस्तलेखों का फोटो[1]

जैसा कि हम अन्यत्र लिख चुके हैं, हमें इस यजुर्वेदभाष्य का फोटो ४ अध्याय तक क. ख. ग. इन तीनों कापियों का मिला। पञ्चमाध्याय में ख. कापी न होने से केवल क. और ग. इन दो कापियों का ही मिला। ये उपर्युक्त फोटो भी काग़ज़ की मंहगाई होने से केवल Negative (नैगेटिव काली प्रति) ही लिये हुये थे, जिस पर अक्षर सफेद रहते हैं और काग़ज़ काला, यदि इसकी अन्तिम Positive फोटो ली जाती तो हमें बहुत ही सुभीता रहता। Negative (नैगेटिव काली प्रति) से मिलान करने में नेत्रों पर अत्यन्त भार पड़ता है। उधर क. प्रति में संशोधन की अत्यधिकता होने से कहीं कहीं पर तो हमें विशेष शीशे से काम लेना पड़ता था।

१. ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों के हस्तलेखों का फोटो होना परमावश्यक है। बड़े हर्ष का विषय है कि श्रीमती परोपकारिणी सभा फोटो कराने के लिये दृढ़संकल्प है। सभा के वर्त्तमान सुयोग्य मन्त्री श्री डा० मानकरणजी शारदा इस पवित्र कार्य को कराने में विशेष यत्नशील हैं। आर्यजनता वा आर्यपुरुषों का परम कर्त्तव्य है कि वह इस पुनीत कार्य में सभा की पूरी सहायता करें, जिससे आर्यों की यह अपूर्व सम्पत्ति चिरकाल के लिये सुरक्षित हो जावे ॥

हस्तलेखों में काटे हुये पाठ को भी हमें जानने की आवश्यकता रहती थी। अतः फोटो के इस मिलान में हमें सबसे अधिक कठिनाई का अनुभव हुआ॥

निस्सन्देह ये फोटो हमारे वेदभाष्य के पाठसंशोधन के कार्य में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुये॥

हमारे संशोधन के आधार तथा प्रकार

हमने जो कुछ भी संशोधन किया है, वह हस्तलेखों के आधार पर ही किया है। लेखन और शोधन आदि की जो साधारण भूलें (अर्थात् Clerical mistakes) थीं, उन्हें हमने ठीक कर दिया है, जो प्रत्येक सम्पादक का कर्त्तव्य होता है। संस्कृत भाग में हमने अपनी ओर से बिना हस्तलेखों के आधार के कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं की। हां, जहां पर हमें कोई पाठ खण्डित प्रतीत हुआ, उसकी पूर्त्ति [ ] बड़े कोष्ठक में करदी है, जिससे देखते ही पृथक्ता की प्रतीति हो सके। भावार्थ में भी प्रायः इसी प्रकार किया है॥

लेखक आदि की भूलों के कुछ नमूने

अपने पाठकों की जानकारी के लिये हस्तलेखादि के आधार पर किये हुये संशोधन के कुछ प्रकार सोदाहरण नीचे देते हैं—

१. लेखकों की भूल

संस्कृत पदार्थ में कई स्थानों पर मन्त्रगतपद और उनका व्याख्यान लेखकप्रमाद से छूटा हुआ है, उनको हमने [ ] इस बड़े कोष्ठक में पूरा कर दिया है॥

(क) **प्रारम्भिक लेखन में छूट गया**—जैसा कि पृ० ८६, ८७ में "[(वयम्)]" और "[(वः) तान्]" हैं। पृ० ९४ में—"[(भ्रातृव्यस्य) द्विषतः शत्रोः (वधाय) नाशाय हननाय]" यह पाठ संस्कृतपदार्थ में लेखक की भूल से रह गया। पृ० ९५ पर भी पुनः यही पाठ छूटा है। ये पाठ आरम्भ में ही लेखक की भूल से रह गये प्रतीत होते हैं। अतः हमने इन्हें [ ] कोष्ठक में पूरा किया है॥

(ख) **प्रतिलिपिकर्त्ता से छूट गया**—पृ० १०३ पर पंक्ति ८ में "व्यवहारेण तेजसा (चक्षुषे) प्रत्यक्षज्ञानाय नेत्रव्यवहाराय च (त्वा) तं" इतना पाठ क. कापी में है। प्रतिलिपि करनेवाले के प्रमाद से ख. और ग. दोनों कापियों में यह पाठ छूट गया और मुद्रित ग्रन्थ में भी इसी कारण यह पाठ छूट गया। इसी प्रकार १३२, १३३, १३३, १३४, १६१ पृष्ठों के पाठ क. ख. कापी में तो हैं, पर ग. अर्थात् प्रेस कापी और मुद्रित में प्रमाद से रह गये। ऐसे पाठ अन्त तक बहुत संख्या में हैं, जिनको हमने हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पूरा कर दिया है॥

(ग) **लेखक से अशुद्ध लिखा गया**—पृ० ८९ पर का पाठ क. ख. में शुद्ध था। प्रेस कापी ग. में लेखक के प्रमाद से अशुद्ध लिखा गया, और इससे छपने में भी अशुद्ध छप गया॥

(घ) **लेखक की अज्ञानता से अशुद्ध लिखा गया**—पृ० ४९ पर ख. कापी अन्वय में २....२ तथा १....१ संख्या दी हुई है, जिसका अभिप्राय यह है कि पिछला पाठ पहिले लाओ, इसीलिये उस पाठ के आदि तथा अन्त पर १ का अङ्क लगा दिया और पहले पाठ पर २ का अङ्क, अर्थात् यह पाठ पीछे पढ़ा वा लिखा जावे। ऐसा स्पष्ट सङ्केत होने पर भी ग. कापी के लिखने वाले ने मूर्खता से इस बात को न समझ कर जिस क्रम से पहिले लिखा था, वैसा नकल कर दिया। इसी से वह पाठ बहुत अस्त व्यस्त हो गया, और मुद्रण में भी वह दोष बना रहा। इस बात को स्पष्ट करने के लिये २ तथा १ अङ्क से अंकित ख. कापी का मूलपाठ (पृ० ४९ पर) नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है॥

२. संशोधक की भूल

संशोधक की अनवधानता—से कहीं २ पर भूलें रह गई हैं, जैसा कि—

(क) पृ० ३८० पर "(जागरणे) शयनानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा" ऐसा अजमेरसंस्करण में छपा है। इसमें (जागरणे) यह पद मन्त्र में नहीं है, अतः कोष्ठक में देना अयुक्त था। वस्तुतः मन्त्र का '(पुनः)' पद कोष्ठ में चाहिये जिसका यह अर्थ है, तथा 'शयनानन्तरं' यह पाठ किसी भी हस्तलेख में उपलब्ध नहीं। अतः हमने इस प्रकार के पाठों को ठीक कर दिया है, और प्रायः टिप्पणी भी दे दी है॥

(ख) पृ० २४४ पर मन्त्र (य० ३। ४) का वर्त्तमान संस्कृत अन्वय क. ख. ग. तीनों कापियों में नहीं है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रूफ में जाकर, यह अन्वय परिवर्त्तित किया गया। अब यहां भूल यह हुई है, कि जब संस्कृत का अन्वय जितना बदल दिया गया, उतना ही भाषापदार्थ भी उसी समय परिवर्त्तित कर देना चाहिये था, जो अनवधानता से रह गया है॥

इसी प्रकार पृ० ३५५ तथा ३८४ पर टिप्पणी में दर्शाया हुआ भाषा का पाठ पहिली संस्कृत का है, अजमेरीय संस्करणों में वैसा ही छपता चला आ रहा है। संस्कृत के बदल जाने से भाषार्थ में भी वैसा परिवर्त्तन करना आवश्यक था। ऐसे स्थल बहुत से हैं, जो स्थान २ पर हमारी टिप्पणी में स्पष्ट हो रहे हैं॥

(ग) पृ० ९२ "सर्वशक्तिमतेश्वरेण" के स्थान में अजमेर के तीनों संस्करणों में "सर्वशक्तिमतेनेश्वरेण" ऐसा अशुद्ध पाठ छपता चला आ रहा है। यह अशुद्ध पाठ तीनों हस्तलिखित कापियों में नहीं है। ग. कापी में ऊपर से किसी ने 'न' इतना बढ़ा दिया। विचित्रता तो यह है कि श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ का लिखा यजुर्वेद भाष्य का एक शुद्धिपत्र इन्हीं हस्तलेखों में पड़ा है। उसमें इस उपर्युक्त पृ० ९२ के पाठ को शुद्ध कर दिया गया है, किन्तु अभी तक वैसा ही अशुद्ध छपता चला आ रहा है॥

(घ) पृ० ४४० पर [या ते अग्ने ''अवधीत् स्वाहा] ये १७ पद मूल मन्त्र में तो हैं, पर आगे पदपाठ में छूट गये हैं। ये १७ पद और इनके अर्थ का इतना लम्बा पाठ संस्कृतपदार्थ, अन्वय और भाषार्थ में बराबर छूटता चला आ रहा है। यह पाठ क. कापी में विद्यमान था, किन्तु समझ में नहीं आता कि इतना लम्बा पाठ ख. कापी में कैसे काट दिया गया। तदनन्तर संशोधन पत्र में इस भूल का संशोधन कर दिया है, अर्थात् उपर्युक्त स्थलों में जहां २ भी उक्त पाठ छूटा है, सर्वत्र दिखा दिया है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि वैदिक-यन्त्रालय के संस्करणों में यह इतना लम्बा पाठ अभी तक बराबर छूटता चला आ रहा है॥

इन उपर्युक्त प्रकार की संशोधन की भूलों को हस्तलेखों के आधार पर हमने ठीक कर दिया है, और प्रायः तत्तत् स्थानों में टिप्पणी भी दी है।

इसी प्रकार के संशोधनों के विषय में यजुर्वेदभाष्य अ० ८ मं० १४ की प्रेसकापी के हस्तलेख पृ० १०२ के हाशिये पर श्री० स्वामीजी महाराज के हाथ का निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण लेख मिलता है—

"सर्वत्र त्वष्टा ही है, इसी को मन्त्र और पद में त्वष्ट्रा को ही शोध के त्वष्टा बना दिया है। जिसको हम करते हैं वह तो ठीक होता है, जो दूसरे से कराते हैं वही गड़बड़ होता है। हमने मन्त्रपद शोधवाया था सो शुद्ध है, बाकी पण्डितों से शोधवाया था वही अशुद्ध रहा"।

मुद्रणकाल में संशोधनादि

वेदभाष्य के छपते २ भी बहुत से संशोधन हुये हैं, जिनका होना स्वाभाविक ही था। ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ में छपते २ अनेक परिवर्त्तन वा परिवर्द्धन करते ही हैं, यह कोई नवीन बात नहीं है। इस प्रकार के संशोधनादि का ज्ञान तभी हुआ जब सब हस्तलेखों में तो एक पाठ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु छपा हुआ विद्यमान है, तो स्पष्ट ही वह पाठ प्रूफ के समय में परिवर्त्तित वा परिवर्द्धित किया गया होगा। जैसे पृ० ६४ पर 'शत्रवे

वा' यह पाठ हस्तलेखों में नहीं, परन्तु मुद्रित ग्रन्थ में मिलता है। इसी प्रकार पृ० ७० पर 'पवनपावकौ" पृ० ११५ पर 'सर्वोपकारक' के स्थान में 'सर्वोपकारी' बनाया गया है। पृ० १५१ पर "अहमच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः तं यज्ञमुत्पुनामि त्वां यजमानं च" यह पाठ क. ख. ग. तीनों कापियों में नहीं है, प्रूफ में परिवर्धित किया गया होगा ॥

विशेष स्थल

(१) यहां पर हम कुछ विशेष स्थल विज्ञ पाठकों के सामने उपस्थित करते हैं। यजु० अ० २ मं० २६ के संस्कृतभावार्थ में "नैव परमेश्वरस्य विदुषो जीवस्य वा कौचिन्मातापितरौ कदाचित् स्तः, किन्त्वयमेव सर्वस्य माता पिता चास्ति" ऐसा पाठ और भाषाभावार्थ में "परमेश्वर और जीव का कोई माता वा पिता नहीं, किन्तु यही सब का माता वा पिता है" ऐसा पाठ अजमेरीय संस्करणों में छपा है। तीनों हस्तलेखों अर्थात् क. ख. ग. में इन पाठों का (तथा इसी प्रकार के अन्य पाठों का, जिन्हें हमने टिप्पणी में दर्शाया है) अत्यन्ताभाव है, अर्थात् किसी में भी ये पाठ उपलब्ध नहीं होते। कहीं आगे पीछे पैन्सिल से ही लिखे हों या अन्वय तथा पदार्थ से ज्ञापित होते हों सो भी नहीं। थोड़ा विचारने से भी यही सिद्ध होता है "परमेश्वर का कोई माता वा पिता नहीं, किन्तु यही सब का माता वा पिता है" इतनी बात तो प्रत्येक की समझ में बैठ जाती है। 'विद्वान् जीव का कोई माता वा पिता नहीं किन्तु यही सब का माता वा पिता है', यह बात समझ में ही नहीं बैठती। यहां हमने हस्तलेखों के पाठ को ही ठीक माना है, क्योंकि वही हमें बुद्धिसङ्गत प्रतीत हुआ। यह सब परिवर्त्तन कैसे हुआ, यह हम नहीं कह सकते ॥

(२) विदित रहे कि यजुर्वेदभाष्य के श्री स्वामीजी महाराज के पीछे छपे संस्करणों में संशोधकों द्वारा हुई अनेकविध अशुद्धियों को पूर्वोक्त हस्तलेखों और प्रथम संस्करण के आधार पर हमने ठीक कर दिया है। और ऐसे स्थलों पर अनावश्यक समझ कर हमने कोई टिप्पणी नहीं दी। इस विषय में हम विज्ञ पाठकों के समक्ष एक ही उदाहरण उपस्थित कर देना आवश्यक समझते हैं—

यजुर्वेदभाष्य के दूसरे अध्याय के १० वें मन्त्र के भाष्य में प्रथम संस्करण (जो निर्णयसागर प्रेस बम्बई में सं० १९३५ में छपा था) के पृ० १२० की अन्तिम पङ्क्ति में संस्कृतपदार्थ के प्रारम्भ की पूरी लाइन इस प्रकार छपी हुई विद्यमान है—

"पदार्थः—(मयि) आत्मनि। (इदम्) यच्छुद्धं ज्ञानयुक्तं साधु—" आगे पृ० १२१ पर—

"कारि प्रत्यक्षं तत् (इन्द्रः) परमेश्वरः। (इन्द्रियम्) इन्द्रस्येश्व०" शेष ऐसा युक्त पाठ छपा है ॥

दूसरा संस्करण संवत् १९६१ में छपा। उसमें पृ० १२० की उपर्युक्त अन्तिम पङ्क्ति अर्थात् "पदार्थः—(मयि) आत्मनि (इदम्) यच्छुद्धं ज्ञानयुक्तं साधु"—इतना पूरी एक लाइन का पाठ छूट गया। अब जब संवत् १९७८ में तीसरा संस्करण इसी यजुर्वेद भाष्य का प्रकाशित हुआ तो उसमें उपर्युक्त छूटी हुई लाइन पूरी हो जाती, तब भी ठीक था। पर उस समय के संशोधक ने पृ० १२१ पर आरम्भ के—"कारि प्रत्यक्षं तत्" इतने पाठ को जुड़ता न देख कर यह आधी लाइन भी उड़ा दी। यदि छपे हुए पहले संस्करण को ही देखने का कष्ट उठाया होता तो भी यह भयानक भूल तत्काल सुधर जाती ॥

ऐसी भयानक भूलों को हमने प्रथम संस्करण के आधार पर ठीक कर दिया है। यहां केवल एक ही उदाहरण उपस्थित किया है। यह सब दर्शाने का हमारा लक्ष्य यह है कि विज्ञ पाठक हमारी प्रयोग में लाई हस्तलेख सामग्री तथा संशोधनसम्बन्धी परिस्थिति से पूर्ण परिचित हो सकें ॥

ऋषिभाष्य की अध्ययनविधि

अब हम यहाँ ऋषिभाष्य के अध्ययनविषयक कुछ विशेष निर्देश[1] कर देना भी आवश्यक समझते हैं, जिससे इस भाष्य का अध्ययन करने वालों की बाधायें पर्याप्त दूर हो सकती हैं।

(१) ऋषिदयानन्दकृतवेदभाष्य का अध्ययन करने वाले अनेक सज्जनों की एक ही जैसी शङ्कायें हमारे सम्मुख समय २ पर आती रही हैं—

(क) विना ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का सम्यक् अनुशीलन किये वेदभाष्य समझ में नहीं आ सकता। सर्वप्रथम इस पर अधिकार होना आवश्यक है॥

(ख) संस्कृतपदार्थ देखने से मन्त्र का अभिप्राय कुछ भी समझ में नहीं आता।

(ग) संस्कृत और भाषा मेल नहीं खाती।

जिन महानुभावों को ऐसी शङ्का होती है, वह उनका भ्रममात्र है। मन्त्र का अभिप्राय अन्वय से ही ज्ञात हो सकता है। इसलिये मन्त्रोच्चारण के पश्चात् अर्थ समझने के लिए सब से प्रथम अन्वय को ही देखना चाहिए। तत्पश्चात् ही संस्कृतपदार्थ को देखने से ज्ञात होगा कि आचार्य ने उक्त अभिप्राय मन्त्र के किन २ शब्दों से और कैसे २ निकाला। इस का रहस्य आर्षशैली से संस्कृत पढ़े लिखे ही यथावत् रीति से अनुभव कर सकते हैं।

इस प्रक्रिया को न समझ कर बहुत से संस्कृत के पढ़े लिखे भी भूल करते देखे गये हैं। यह भी ज्ञात रहे कि भाषार्थ भाषा जानने वालों की सुगमता को लक्ष्य में रखकर अन्वय के अनुसार ही किया गया है। "भ्रान्तिनिवारण" पृ० ६ में ऋषि का लेख निम्न प्रकार है—

"भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है। केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो यह तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं, उनको विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकता"।

इस भाषार्थ को संस्कृत के पढ़े-लिखे अपनी संस्कृत के अभिमान में नहीं देखते, वास्तव में मन्त्र का अभिप्राय 'अन्वय' से याथातथ्य ज्ञात हो जाता है। भाषार्थ देखने से वह और भी स्पष्ट विदित हो जाता है, कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। श्री स्वामी जी महाराज के उक्त अर्थ में प्रमाण क्या हैं, तथा सब प्रक्रियाओं को लक्ष्य में रखते हुए तत्तत् पद का अर्थ क्या होगा, बस इसके लिये संस्कृत पदार्थ है। ऋषिभाष्य में यह विशेष रहस्य की बात है, जिसको साधारण संस्कृत पढ़े-लिखे समझ नहीं सकते। वास्तव में संस्कृतपदार्थ ही ऋषि दयानन्द का मुख्य वेदार्थ है, अन्वय उसका एक अंश है, इसी में आचार्य की अपूर्व योग्यता और अगाध पाण्डित्य का परिचय मिलता है॥

आशा है विज्ञ पाठक इतने से समझ लेंगे कि संस्कृतपदार्थ और भाषार्थ के मेल न मिलने की बात सर्वथा अज्ञतापूर्ण है; तथा संस्कृत में पदार्थ देखने का क्या प्रकार है, यह भी उनकी समझ में आ जायेगा। जिनको इस विषय में सन्देह हो, वे सज्जन मिलकर समझ सकते हैं॥

(२) श्री स्वामी जी के संस्कृतपदार्थ में सब प्रक्रियाओं का अर्थ विद्यमान है, यह समझना चाहिये। जहाँ दो प्रकार का अन्वय है, वहाँ भी कहीं तो अन्वय सबका सब समान है, केवल अर्थभेद दिखा दिया है। जैसे यजु० १। ८ पृ० ५७, ५८। कहीं २ तीन प्रकार का अन्वय दिखाया है जैसे १। ११ पृ० ६६, ६७। यहाँ तीनों अन्वय भिन्न हैं॥

---

१. सामान्य निर्देश यह है कि श्री० स्वामी जी महाराज अग्नि-वायु-इन्द्र आदि शब्दों से अभिधा (मुख्य) वृत्ति से ही परमेश्वर अर्थ लेते हैं, गौणीवृत्ति से नहीं। यह बात समझकर ही वेदभाष्य का अध्ययन करना चाहिये। जैसा कि हम भूमिका पृ० ८९ पर भी दर्शा चुके हैं॥

(३) महर्षिकृतभाष्य में जड़पदार्थों के सम्बोधन में सर्वत्र व्यत्यय मानकर विकल्प में प्रथमान्त में अर्थ किया गया है, यह बात प्रत्येक पाठक को ध्यान में रखनी चाहिये। वर्तमान भ्रान्त संसार को जड़पदार्थों की पूजा वा उपासना से अभीष्ट कामनाओं की प्राप्ति होती है, इस मिथ्याविचार को दूर करने की भावना से ऋषिदयानन्द ने जड़पदार्थों के सम्बोधन में उपर्युक्त प्रकार वर्त्ता है, जो वर्त्तमान अवस्था में तो सर्वोत्कृष्ट प्रकार ही कहा जायगा। हाँ, वेदार्थ का सच्चा ज्ञान होने पर सम्बोधन मान कर भी अर्थ किया जा सकता है। जब हम वेदमन्त्रों का मुख्य अर्थ आध्यात्मिक मानते हैं (जो वास्तव में मुख्य ही है), तो आधिभौतिक अर्थ में स्वभावतः सम्बोधन पदों को प्रथमा में ही समझने से हमें वेद में सब सत्यविद्याओं का ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। नहीं तो जैसे विदेशी विद्वान् कहते हैं कि वेद जङ्गलियों की भौतिकपदार्थसम्बन्धी प्रार्थना मात्र है, यही मानना पड़ेगा, चाहे इसके लिये उन्हें विग्रहवती (शरीरधारी) देवताओं की कल्पना ही करनी पड़ी, जैसा कि पिछले लगभग दो तीन सहस्र वर्ष से की जा रही है, जिन विग्रहवती देवताओं का मीमांसाशास्त्र के आचार्य कुमारिलभट्टादि ने भी स्पष्ट खण्डन किया है (देखो मीमांसा ९। १। ५)॥

(४) यजु० १। २ पृ० ३६ आदि में जहाँ २ "यज्ञो वै वसु" इत्यादि शतपथ तथा अन्य ब्राह्मणों के प्रमाणों में 'वै' शब्द का प्रयोग है, वहाँ कोई २ सज्जन शङ्का उठाया करते हैं कि यह 'वै' शब्द अर्थबोधक नहीं है। उनकी जानकारी के लिए हम यहाँ केवल एक ही स्थल उपस्थित करते हैं। लौगाक्षिगृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल पृ० ३२ में लिखता है—'वैशब्दोऽवधारणार्थः'॥

(५) (क) पाठकों को विदित होगा कि हमने भाषापदार्थ की सङ्गति, जो पूर्व संस्कृतसंगति के साथ ही थी, पाठकों की सुगमता के लिए भाषापदार्थ से पहिले रखी है। इस विषय में यह विदित रहे कि तीन अध्याय तक की 'क' हस्तलेख कापी में भी भाषासङ्गति भाषा-पदार्थ से पूर्व में ही है।

(ख) भाषार्थ (पदार्थ) के स्थान में 'पदार्थान्वय भाषा' ऐसे बहुत से मन्त्रों में उपलब्ध होता है। अर्थात् भाषा 'पदार्थ' अन्वय के आधार पर है।

(ग) संस्कृतपदार्थ में प्रत्येक व्याख्येय पद के अन्त में [।] इस प्रकार के विराम हैं। सो वे यजु० ५। ३४ तक तो हैं, आगे ४० वें अध्याय के अन्त तक नहीं। हाँ जहाँ प्रमाण आ जाता है, वहां तो प्रमाण के अन्त में विराम है। ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ २ में विराम हैं, आगे अन्त तक प्रमाणमात्र में हैं। भाषापदार्थ में भी यजु० ५। ३५ से आगे विराम नहीं हैं। पाठकों को इसका ध्यान रहे॥

(घ) द्वितीय अध्याय ९ वें मन्त्र से लेकर २० वें मन्त्र तक आचार्यप्रदर्शित मन्त्र की सङ्गति विशेष देखने योग्य है॥

(६) वेदमन्त्रों में एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ होने में यह हेतु है कि यह सृष्टि जीव के ज्ञान की अपेक्षा अनन्त है। कोई भी एक जीव इसका पारावार नहीं पा सकता, क्योंकि यह उसकी शक्ति से बाहिर है। इस अनन्त सृष्टि में अनन्त पदार्थ हैं, उनमें से यदि एक २ का वर्णन होने लगे तो एक २ ग्रन्थ बन जावे। केवल अग्नि, वायु, जल, मिट्टी, तुलसी की पत्ती वा आक (मदार) का ही वर्णन करने लगें तो एक २ पृथक् ग्रन्थ की रचना करनी पड़े। परमात्मा ने जीवों को ऐसा ज्ञान दिया कि एक ही मन्त्र से जिस ऋषि को जिस विषय की प्रौढ़ता प्राप्त थी, उस २ ने उस २ विषय का ज्ञान उस २ मन्त्र से उपलब्ध किया। इन्हीं से वेदाङ्ग तथा उपाङ्गों की रचना पृथक् २ हुई॥

इस प्रकार ही ज्ञान देने से विश्वभूमण्डल का ज्ञान जीवों को दिया जा सकता था। यह बात तभी हो सकती है, जब एक २ शब्द के अनेक अर्थ हों। अन्यथा "सर्वज्ञानमयो हि सः" मनु के इस वचनानुसार सम्पूर्ण विद्याओं का समावेश वेद में हो ही कैसे सकता है। सब व्यवहार तथा सर्वविध ज्ञान का भण्डार तो वेद ही है। वेद का स्वाध्याय करने वालों को यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए॥

(७) वेद के प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधियज्ञपरक होता है, यह हम पृ० २१, २२ तथा ३२, ३३ पर सविस्तर निरूपण कर चुके हैं। याज्ञिक अर्थ मुख्य अर्थ नहीं, यह भी कह चुके हैं। यहां इतनी बात ध्यान में रखने योग्य है कि महर्षि दयानन्द ने "यज्ञ" शब्द से देवपूजा, संगतिकरण और दान इन तीनों अर्थों के आधार पर अति विस्तृत अर्थ लिये हैं। संसार के समस्त शुभकार्य "यज्ञ" शब्द के अन्तर्गत आजाते हैं। इस भाष्य का स्वाध्याय करते हुये यह बात ध्यान में रखनी अनिवार्य है, तभी इस भाष्य का स्वरूप समझ में आसकता है ॥

(८) भविष्य में वेदार्थगवेषणा का कार्य बहुत ही योग्यता और गम्भीरता से होने की आवश्यकता है। इसके लिए विपुल सामग्री और प्रौढ़ पाण्डित्य चाहिये, तथा अनेक श्रद्धापूर्ण विद्वानों द्वारा निरन्तर परिश्रम से ही यह कार्य हो सकता है। भावी वेदार्थ की खोज में ऋषि का भाष्य प्रकाश का काम देगा, यह हमें पूर्ण विश्वास है। हमारा यह विवरण इस ओर एक छोटा सा यत्न है। विज्ञ पाठक महानुभाव हमारे इस विवरण को इसी दृष्टि से देखने का कष्ट करें; तभी इसकी उपयोगिता का ज्ञान हो सकता है ॥

आशा है पाठक ऋषिभाष्य का अध्ययन करते समय हमारे इन निर्देशों पर अवश्य ध्यान देंगे और उनसे अवश्य लाभ उठावेंगे ॥

सम्पादक का अन्तिम निवेदन

सन् १९४३ के अन्त में मूलवेदभाष्य के दस अध्याय विवरण टिप्पणी सहित छप कर तय्यार हुए थे। जनवरी १९४४ में विवरण की इस भूमिका का विचार तथा लेखन प्रारम्भ हुआ। भूमिका लगभग ४-५ मास में पूर्ण हुई। प्रैसकापी तो फरवरी सन् ४४ के अन्त में ही अजमेर भेजनी आरम्भ कर दी थी। फिर भी वहां छपने में बहुत ही बाधा रही। इतने में विश्वव्यापी युद्ध काल में कन्ट्रोल के कारण कई मास तक अजमेर में न छपी। हमारा विशेष कागज़ (Special Ragpaper) अजमेर में ही था। शीघ्र छपने के लिए उस कागज को लाहौर लाने का यत्न किया गया, किन्तु सरकार की ओर से मनाही हो गई। कन्ट्रोलर से बहुत कुछ लिखा पढ़ी होती रही, पर आज्ञा न मिली। अन्त में अपने कोटे के अनुसार अजमेर में ही छपे, इसी पर सन्तोष करना पड़ा। अब जिस मशीन पर ये फार्म छप रहे थे, वह मशीन ही टूट गई और कई मास उसके ठीक होने में लगे। हम विवश थे, करते भी तो क्या करते। निरन्तर यत्न करने तथा आर्डर का प्रबन्ध वहीं कर देने पर भी २० मास में १२-१३ फर्मे ही छपे। जो १ मास का काम था॥

कागज़ की कठिनाई से संस्कृतभाग रह गया

जब भूमिका लिखनी आरम्भ हुई। उस समय १० रिम ही कागज़ स्वीकृत हुआ, क्योंकि उतना ही था। भला इतने में संस्कृत भूमिका का तो क्या कहना, केवल हिन्दी भूमिका भी पूरी नहीं होने पाई। इसी से इस भूमिका में तथा संक्षिप्त विवरण आदि में दो तीन तरह का कागज़ लगाना पड़ा। अन्यथा हमारा विचार संस्कृत और आर्यभाषा दोनों में ही भूमिका छापने का था। बहुत से प्रकरण संस्कृत में लिखे हुए छोड़ देने पड़े। (कागज़ वालों का ट्रस्ट होने पर भी) कागज़ की कमी, एवं पुस्तक का कलेवर कहीं बढ़ न जाय ये दोनों आशङ्कायें हमारे प्रत्येक प्रकरण के अन्त में बाधक रहीं, यह पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। अन्यथा इन विषयों पर भी हम अभी बहुत कुछ लिखना चाहते थे॥

भूमिका का महत्त्व

वास्तव में यह भी तो भूमिका ही है। इसमें वेदार्थप्रक्रिया के इन सब मुख्य विषयों का पूरा २ समावेश हो भी कैसे सकता था। अन्त में यही सोच कर कि परमपिता परमात्मा की कृपा रही तो भविष्य में कभी इन विषयों पर प्रौढ़ता से पृथक् ग्रन्थरूप में विस्तृत लिखा जावेगा, इसी पर सन्तोष करना पड़ा। वेदार्थप्रक्रिया के प्रधान वादों पर हमने इस संक्षिप्त लेख में ऋषि की धारणा को प्रौढ़ता से पाठकों के सम्मुख रखने का यत्न किया है। इन लाइनों (धारणाओं) पर विशेष यत्न करने से ही संसार दयानन्दभाष्य की महत्ता को हृदयङ्गम कर सकेगा, यह हमारा दृढ़ विश्वास है। अतः नया भाष्य आदि करने का सर्वथा विचार छोड़ कर, हमें तो इन वादों पर ही विचार करने, लिखने वा पढ़ाने आदि का रोग सा हो गया है और कुछ अच्छा लगता ही नहीं। इसी से वेदार्थ खुलेगा, ऐसी धारणा निश्चित बन चुकी है॥

भूमिका में छपने से रहे विषय

समस्त भूमिका का संस्कृतभाग, वेद और ब्राह्मण, ऋषिवाद, विनियोगवाद, वाक्ययोजना, त्रिविधार्थयोजना, यज्ञों की दृष्टार्थता, वेद में यज्ञ का स्वरूप, 'अयं मन्त्रः शतपथे व्याख्यातः' का तात्पर्य, नवीन भाष्यकार आदि २ अनेक आवश्यक विषय कागज़ के अभाव के कारण लिखे हुए छपने से रह गये, या लिखे नहीं। इसी से 'विवरण-

भूमिकायां द्रष्टव्यः' इत्यादि कहे कुछ स्थलों में भविष्य की ही प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। ईश्वर ने चाहा तो ये भी कभी न कभी पूरे हो ही जायेंगे॥

अन्त में हम प्रूफ़ादि की अशुद्धियों के विषय में भी निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं। चार २ पांच २ प्रूफ़ और वे भी तीन २ चार २ व्यक्तियों द्वारा देखे जाने पर भी दृष्टिदोष से तथा छपते २ अक्षर टूट जाने से अशुद्धियां रह गई हैं। उनको भी यथासम्भव शुद्धि-पत्र में दर्शाने का यत्न किया है। अब भी सम्भवतः बहुत सी अशुद्धियां अवश्य रह गई होंगी। आशा है सहृदय विद्वान् इन का निर्देश कर हमें अनुगृहीत करेंगे। ताकि आगामी संस्करण में वे ठीक हो जावें॥

निस्सन्देह वेदभाष्य के इस भाग के प्रकाशित होने में बहुत समय लगा है। इसमें अनेक कठिनाईयां आईं, जिनके विषय में हमने "यजुर्वेदभाष्य-विवरण की योजना का संक्षिप्त विवरण" नामक प्रकरण में लिखा है, जो विशेषतया ऋषिकृतभाष्य पर भविष्य में कार्य करने वालों के लिये अत्यन्त उपयोगी होगा। यह भाग भूमिका से पृथक् इसी ग्रन्थ में अन्यत्र है। पाठक इसे एक बार अवश्य पढ़ें॥

वैदिकधर्म का सेवक
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

रावीतट (लाहौर)
२६ श्रावण, सं० २००२ वि०।
७ अगस्त, सन् १९४५ ई०॥

यजुर्वेदभाष्य का द्वितीय संस्करण

द्वितीय संस्करण की विशेषतायें

प्रथम संस्करण छप जाने पर प्रत्येक सम्पादक वा ग्रन्थकार को सब सामग्री समक्ष आ जाने पर स्वयं बहुत सी बातें सूझने लगती हैं। कुछ सुझाव भी सामने आते हैं। कुछ रह गई भूलों का भी परिज्ञान होता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही होता है। हमारा यह दूसरा संस्करण भी वैसा है। सामान्यतया प्रथम संस्करण और द्वितीय संस्करण समान हैं। निम्नाङ्कित विषयों में कुछ विशेषतायें वा भेद हुये हैं, जो विशेष उल्लेखनीय हैं—

(१) विशेष परिवर्धन—लगभग ४०० चार सौ पदों की व्याख्या वा व्याकरणप्रक्रिया नवीन लिखी गई है। ये पद सूची में भी यथास्थान परिवर्द्धित किये गये हैं। सूची का पुनः नये सिरे से पर्यालोचन किया गया है।

(२) टाइपभेद—अन्वय में पहले जिन मन्त्र-गत पदों का टाइप इटैलिक नहीं था, उनका इटैलिक कर दिया गया है। इसी प्रकार अशुद्ध इटैलिक पदों का टाइप शोधन किया गया है। इससे मन्त्रगत पदों की व्यवस्था और सुन्दर बन गई है।

(३) संस्कृतभाष्य में हस्तलेखों के आधार पर जहां कहीं छपने आदि में भूल रही, वह ठीक कर दी गई है, यद्यपि ऐसे स्थल स्वल्पमात्रा में ही हैं। द्वितीय संस्करण में अन्य परिवर्त्तन वा भेद नहीं॥

(४) अन्य आवश्यक तथा उपयोगी परिवर्धनों का प्रकार—हमने इस संस्करण में विवरण में अनेक स्थलों में उपयोगी परिवर्धन किये हैं। छोटे२ परिवर्धन तो बहुत हैं। पाठकों की जानकारी के लिये हम केवल प्रथमाध्याय के कुछ एक आवश्यक स्थल ही दर्शाते हैं—जैसा कि पृ० ९ पं० ३० से ३८ पर ९ पङ्क्तियां पदपाठ के विषय में आवश्यक बढ़ाई गई हैं। पृ० १०, ११ में टिप्पणी सं० ३ में ६३ पङ्क्तियां नई लिखी गई हैं, जो निर्वचन विषय की दृष्टि से बहुत उपयोगी वा लाभप्रद हैं। पृ० २१ पं० ५ से १० छह पंक्तियां, इसी प्रकार पृ० ३१ पं० १४ से १७ तथा पं० ३२ से ४० तक भी वाक्ययोजना विषय में परिवर्धित हैं। पृ० ५० पं० १५ से २२ व्याकरणप्रक्रिया परिवर्द्धित है॥ पृ० ६६ पं० ३३ से ३७ भावार्थ में एक आवश्यक निर्देश परक हैं। पृ० ८० पं० २६ से २९ पदकारों सम्बन्धी टि० है। पृ० ८० पं० ३४ से पृ० ८१ पं० २२ से ३७ तक ये १९ पङ्क्तियां व्याकरण के एक विशेष विषय पर परिवर्धित की गई हैं। पृ० ८३। पं० ११ से २७ तक पङ्क्ति त्रिविधप्रक्रिया विषयक बढ़ाई गई है। इसी पृ० पर टिप्पणी में नीचे पं० २९ से ४० तक पाठविषयक टि० बढ़ाई गई है। पृ० ८६ पर पं० २७ से आगे १९ पङ्क्तियां व्याकरणप्रक्रिया में बढ़ाई हैं। पृ० ९२ पं० २९ से ३५ तक सात पङ्क्ति अर्थविषयक परिवर्धित हैं। पृ० १०८ पं० २८ से ३४ तक पाठविषयक टि० परिवर्धित है। पृ० ११३ पं० २६ से २७ पर पाठ की अनन्वितता दर्शाई गई है। पृ० ११७ पं० १९ से ३३ तक विशेष प्रयोग पर टिप्पणी लिखी गई है। पृ० १२१ पं० ३० से ३८ तक धाम शब्द पर विचार किया गया है। पृ० १३४ से १४७ तक १३ पृष्ठ "वेष्पः" पद के पाठ पर विस्तृत विचार किया गया है। इसमें २५० हस्तलेखों के आधार पर विदेशीय स्कालरों और उनके अनुयायी भारतीयों के मत का सप्रमाण निराकरण किया गया है। केवल इस एक शब्द के विवेचन में हमारे लगभग ३ मास लगे। यह हमने उदाहरण (नमूने) के रूप में प्रथमाध्याय के कुछ परिवर्धित स्थल दिखाये, छोटे २ परिवर्द्धन तो बहुत मिलेंगे, पाठक स्वयं देख लें। प्रथमाध्याय से आगे भी इसी प्रकार परिवर्धित स्थल पाठक स्वयं देख लें॥

(५) परिवर्त्तन—पृ० १७ पं० १८ से व्याकरणप्रक्रिया में आवश्यक संशोधन वा परिवर्त्तन किया गया है। पृ० ४० पं० २८ से ३३ में आध्यात्मिक प्रक्रिया विषय में परिवर्त्तन हुआ है। पृ० ८६ पं० २० से आगे ६ पङ्क्तियां 'अथ व्याकरणप्रक्रिया' पं० २८ में परिवर्जित कर दी गई है, जिससे इसका रूप परिवर्त्तित भी हो गया है॥ पृ० ९९ पं० २६ से चार पङ्क्तियां स्वरविषयक परिवर्त्तन है॥ पृ० २६ पं० २८ से आगे व्याकरणप्रक्रिया में आवश्यक

संशोधन है ॥ ऐसे अनेक परिवर्त्तन यत्र तत्र किये गये हैं। छपा ग्रन्थ सामने उपस्थित होने पर बहुत कुछ सूझने लगता है। इन्हीं कारणों से दूसरे संस्करण का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। जो स्वाभाविक है। पहिले संस्करण में हमारी शक्ति मुख्यतया हस्तलेखों के पाठों के अनुशीलन तथा तदनुसार संशोधन में अधिक लगी। टिप्पणी हमारा निजी कार्य था, अतः इसमें पर्याप्त परिवर्त्तनादि किये गये हैं, जो करने आवश्यक थे। इस दृष्टि से हम अपने इस द्वितीय संस्करण को 'परिशोधित संस्करण' भी कह सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥

(६) **व्याकरणप्रक्रिया**—का हमने पुनरवलोकन कर उसमें अनेक स्थलों पर आवश्यक और महत्त्वपूर्ण संशोधन किये है, जिस से व्याकरणप्रक्रिया बहुत उपयुक्त बन गई है। स्वर का विषय पढ़ने वाले छात्रों तथा विद्वानों को बहुत लाभ होगा। इसकी सहायता से स्वरप्रक्रिया बहुत सुगम हो गई है ॥

(७) **पदपाठ**—में हमने प्राचीन हस्तलेखों तथा मुद्रित पद पाठों के आधार पर संशोधन किया है।

(८) **भाषा-पदार्थ वा भावार्थ में**—जहां २ टाइप भेद है, पाठकों को वहां समझ लेना चाहिये कि वहां २ हिन्दी पदार्थ वा भावार्थ में संस्कृत के प्रतिकूल-अनुवाद की भूल वा भाषा की भूलें हैं, जिन्हें संशोधित किया गया है। विदित रहे कि भाषापदार्थ वा भावार्थ में जहां २ विशेष है, वहां २ नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया गया है। अति साधारण स्थलों पर टिप्पणी लिखना आवश्यक नहीं समझा ॥

(९) कई स्थलों पर हमने अपने मित्रों के उचित सुझावों को मान कर, उनके कथनानुसार संशोधन कर दिये हैं। जैसा कि पृ० ५० पं० ४ में पाठ को कोष्ठान्तर्गत कर दिया है। पृ० ६५ पं० २१ पर, पृ० ७१ पं० ३ पर ऐसे अनेक संशोधन हमने किये हैं ॥

(१०) इसी प्रकार विवरण की भूमिका में भी अनेक उपयोगी लम्बे स्थल बढ़ गये हैं। आवश्यक परिवर्द्धन-परिवर्त्तन-संशोधन किया गया है। विषयों के अवान्तर शीर्षक बहुत बढ़ गये हैं, जिससे पाठकों को विषय पर अधिकार करने में बड़ी सुगमता होगी।

द्वितीय संस्करण सम्बन्धी विशेष निर्देश

(१) जहां तक हो सका है हमने पदों की व्याख्या (चाहे वह सामान्य व्याख्या है, या विशेष व्याख्या) में वह जहां भी प्रथमवार आया है, वहीं पर उसकी विशेष व्याख्या लिखने का इस संस्करण में यत्न किया है। हां, अपवाद रूप में कहीं २ यह विशेष व्याख्या पीछे आये पदों में भी मिले, ऐसा भी सम्भव है। पाठक इस बात को ध्यान में रख कर ही सूची का उपयोग करें ॥

(२) हमारा (ट्रस्ट का) अष्टाध्यायी मूलपाठ का परिशोधित संस्करण पीछे तय्यार हुआ। इस कारण पूर्ववत् हमने अष्टाध्यायी के पते काशिका (या निर्णय सागर बम्बई की छपी अष्टाध्यायी) के आधार पर ही रखे हैं। कहीं व्यतिक्रम जान पड़े तो पाठक ठीक कर लें ॥

(३) शुद्धिपत्र और परिशिष्ट पर अतीव परिश्रम किया गया है। आशा से अधिक सफलता हुई है। तदनुसार पाठक पहिले ठीक कर लें। साथ में परिशिष्ट भी दिया गया है, जिसमें छपने से छूटे हुये बहुत उपयोगी स्थल आ गये हैं, पाठक इससे अवश्य लाभ उठावें ॥

(४) (i) टिप्पणी में यत्र तत्र "इति अ० मु० पाठः" से तात्पर्य अजमेर मुद्रित यजुर्वेदभाष्य संवत् १९६१ विक्रमी के छपे से है। यह ध्यान रहे कि आगे के संस्करणों में पाठ परिवर्तित हुये हैं। हमने तो अजमेर मुद्रित प्रथम संस्करण के आधार पर भी कई जगह पाठ संशोधित किये हैं, जो ऋषि के समय में मासिक अंकों में निकलता था। पीछे संवत् १९४६ वि० में जाकर पूरा छपा था ॥

(ii) उपर्युक्त विषय में इस कारण भी लिखा है कि भ्रान्ति न रहे, क्योंकि संवत् २०१५ के छपे यजुर्वेदभाष्य (अ० मु०) में हमारे सन् १९४६ के अनेक कोष्ठान्तर्गत पाठ पूरे किये हुये बिना कोष्ठ

के ही बढ़ाये गये हैं, जैसा कि हमारे पृ० १०३ पं० ४ का [पणिर्] छाप दिया गया है, पृ० १०५ पं० ९ [वः], पृ० १०९ पं० १५ का [अमेर्], ये सब कोष्ठान्तर्गत पाठ बिना कोष्ठ के छाप दिये गये हैं। ऐसे स्थल पर्याप्त संख्या में हैं ॥

द्वितीय संस्करण की बाधायें

(१) पाकिस्तान की स्थापना

अगस्त १९४५ ई० में हमारे यजुर्वेदभाष्य का प्रथम संस्करण भूमिका-सहित छप कर तैयार हुआ। कुछ समय जिल्द बन्धने में लगा। लगभग ४०० प्रतियां बिक भी गईं। अगला भाग तैयार करने में लग ही रहे थे कि ३ मार्च १९४६ को अमृतसर, लाहौर आदि में मकानों में भीषण आगें लगनी आरम्भ हुईं। रावीतट लाहौर (विरजानन्दाश्रम, बारहदरी रोड) में हम ट्रङ्कों में पुस्तकें बन्द कर रात्रि भर पहरा देने लगे। सब आर्य (हिन्दुओं) वा नेताओं की आशा से बाहर अंग्रेज़ों की कूटनीति से १४ अगस्त १९४७ को हमारे नेताओं की अदूरदर्शिता से पाकिस्तान (हम तो इसे नापाकिस्तान ही कहते हैं) बन गया। जीवन और मृत्यु की घड़ियों में घिरे न जाने कितनी बार मृत्यु के द्वार पर पहुँच कर भी हम कैसे बचे रहे। २४ अगस्त १९४७ को मिलिटरी द्वारा लाहौर कैम्प में लाये गये। २८ अगस्त को भारत (अमृतसर) पहुँचे। कहां कहां गये, क्या २ बीता, यह सब दुःखद वृत्त यहीं समाप्त कर आगे की बात कहते हैं। जुलाई १९४७ के अन्त में अपने पुस्तकालय की तीस अल्मारियां वहीं छोड़ उनमें से ५२ पेटी लगभग ९० मन पुस्तकें हमने शाहदरा स्टेशन पर फगवाड़ा के लिये बुक करा दी थीं। कई मास तक उन पुस्तकों का कुछ भी पता न चला। मैंने भी यही निश्चय कर लिया कि यदि पुस्तकें न मिलीं तो फिर आजीवन पुस्तक को हाथ नहीं लगाना। सुना कि जालन्धर में मेरे किसी प्रिय शिष्य ने पुस्तकों का वैगन कराची से निकलवाया, जिसका मुझे आज तक कोई पता नहीं कि वह कौन था और पुस्तकें कैसे आईं (५०–६० मन तो पुस्तकालय की पुस्तकें १३ अगस्त ११४७ को पैसा अखबार लाहौर वाले मकान में ट्रस्ट की बिक्री की पुस्तकों के सम्पूर्ण स्टाक के साथ जला दी गई थीं) पुस्तकें फगवाड़ा पहुँचीं। फगवाड़ा निवासी स्वर्गीय हकीम गुरुदास राम जी आर्य की सहायता को मैं भूल नहीं सकता। फगवाड़ा से पेटियां लुधियाना बाबू जी के गोदाम में पहुँचीं, जहां ५–६ बार स्थान बदलना पड़ा। अब पुस्तकें भारत में थीं। पर न तो कहीं बैठने का निश्चित सुरक्षित स्थान था, न मेरे ठहरने की व्यवस्था। ट्रस्ट के सञ्चालक अपनी २०–२५ लाख रुपये की सम्पत्ति पाकिस्तान में छोड़ चुके थे। यह क्रम मार्च १९५० तक चला। इस प्रकार पूरे चार वर्ष पाकिस्तान की भेंट हुए। इसमें वेदभाष्य की क्या चलाई थी ॥

(२) काशी में बैठने का प्रारम्भ

मार्च १९५० में जैसे तैसे श्री बाबू अर्जुन देव जी अग्रवाल झरिया की प्रेरणा और सहायता से मोतीझील बनारस में बैठ गये। पुस्तकों की पेटियां लुधियाने से बनारस पहुँच गईं। जिनके मालगाड़ी द्वारा लाने में ट्रस्ट का लगभग एक सहस्र रुपया व्यय हुआ। पुस्तकें पहुँच गईं तो मुझे भी पुस्तक फिर से हाथ में लेनी पड़ी। वेदभाष्य का कार्य नये सिरे से आरम्भ करने के लिये यजुर्वेद भाष्य प्रथम संस्करण की कुछ प्रतियां इन्दौर आदि से मोल खरीद कर मंगानी पड़ीं। अब पुस्तकों का ढेर हमारे पास पड़ा था, क्योंकि पुस्तकें पेटियों में बन्द थीं, उनसे काम कैसे लेते। तीस बड़ी, अल्मारियां चाहिये थीं, जिनके लिये कई हज़ार रुपया चाहिये था। किराये पर पर्याप्त व्यय हो चुका था। धन की कठिनाई थी। अन्त में पुस्तकों के लिये लगभग २५ रैक (दोनों ओर से खुले) बनवाये गये, तब कहीं उन पुस्तकों से काम लेने योग्य व्यवस्था हो पाई। धूल आदि के बचाने के लिये ऊपर वस्त्र लगा लिये। पुस्तकों की स्थिति अभी तक यही चल रही है।

(३) कार्यारम्भ

इस प्रकार अप्रैल १९५० से बनारस (मोती झील) में ट्रस्ट का कार्य चालू हुआ और वेदभाष्य का कार्य यथावसर होने लगा। १९५० में भी मैं १८९ दिन बनारस से बाहर रहा। आर्ष पाठविधि के कार्य में ६८ दिन साधु आश्रम, ७० दिन एटा, सासनी आदि, ३२ दिन अजमेर तथा अमृतसर, २० दिन झरिया में लगे। १९५१ में १२२ दिन बाहर रहा, जिसमें साधु आश्रम ४७, मेरठ सम्मेलन १९, काङ्गड़ी १३, भुज्ञारका आदि में ११ दिन लगे। १९५२ में १५६ दिन बाहर रहा, जिसमें पाणिनि विद्यालय सुल्तानपुर ४०, देवरिया-सासनी २०, बम्बई यज्ञ १७, इलाहाबाद ज़िला १३ दिन लगे। अगस्त १९५२ में काशी (ललिता घाट पर सुप्रभात कार्यालय) में पाणिनि विद्यालय की शाखा चली। १९५३ में १८३ दिन बाहर रहा। मई-जून में अष्टाध्यायी का शिविर रहा। ४३ दिन सुल्तानपुर-देहली पा० वि० में, शिमला १२, खुर्जा वेदसम्मेलन १२, अमृतसर ३ बार तथा अजमेर ५४, देवरिया १५, इटावा यज्ञ आदि में १८ दिन लगे।

विदित रहे कि सन् ५१, ५२, ५३ में वेदभाष्यसम्बन्धी विषमता में पर्याप्त शक्ति और समय का अपव्यय हुआ, जो न चाहते हुए भी करना पड़ा। बुराई में से भलाई निकलती है। इसके पश्चात् हम बहुत ही परिश्रम और सावधानता से अपने काम में लगे, नहीं तो सम्भव था हम शिथिल ही रहते। प्रभु ने हम से कुछ विशेष लाभप्रद कार्य कराना था, इसीलिये ऐसा हुआ हो। अनन्त प्रभु की महिमा अपार है, सान्त जीव उसे पूर्णतया समझ नहीं सकता !!! उपर्युक्त कारणों से तथा मेरे काशी से बाहर रहने के कारण वेदभाष्य के कार्य में बाधा रही॥

(४) वेदभाष्य प्रेस में

ये सब विघ्न बाधायें होते हुए भी हमने १० अगस्त १९५३ को यजुर्वेदभाष्य प्रथम अध्याय की प्रेस कापी ज्योतिषप्रकाश प्रेस (विश्वेश्वर गञ्ज) बनारस में छपने के लिये दी। दुर्भाग्यवश प्रेस मालिकों और कर्मचारियों में विषमता उत्पन्न हो गई, जिस से प्रेस लगभग १४ मास बन्द रहा।

अन्त में वेदवाणी को भी नये "आर्यविजय" प्रेस बीबीहटिया में छपवाने का विचार किया, जिसकी स्वीकृति २४ मार्च १९५४ को मिली। जिसमें २४-७-५४ को (एक वर्ष पीछे) हमने वेदभाष्य का प्रथम फार्म आर्डरी किया। उस में ३-२-५५ तक सात फार्म ही छपे। उक्त प्रेस का ढंग ठीक न था। उन्होंने परस्पर विषमता में हमारी प्रेसकापी ही गुम कर दी या जान कर न दी (हमारे साथ उनका कोई झगड़ा था नहीं)। हमें शेष प्रथम अध्याय की प्रेस कापी फिर से बनानी पड़ी। अब नये प्रेस चन्द्रशेखर मुद्रणालय में वेदवाणी और वेदभाष्य का प्रबन्ध सोचा गया, जिस का डिक्लेरेशन मार्च १९५५ में लिया गया। अप्रैल १९५५ से वेदवाणी इस नये यन्त्रालय द्वारा छपने लगी और २ जून १९५५ को हमने वेदभाष्य का आठवाँ फार्म आर्डरी किया। इस प्रकार नये प्रेस के कारण वेदभाष्य ८ मास फिर बन्द रहा। सन् ५५ के अन्त तक आठ मास में ९ फार्म ही छपे। इस प्रकार २९ मास में सब मिलाकर १६ फार्म ही छपे॥

(५) वेदभाष्य का वास्तविक मुद्रण आरम्भ

अब सन् १९५६ से वेदभाष्य छपना आरम्भ हुआ, यही कहना पड़ता है। १९५६ में ३६ फर्मे छपे। आगे ५ मास वेदभाष्य छपना फिर बन्द रहा। १९५७ में १७ ही छपे, ५ मास सर्वथा बन्द रहा। १९५८ में ३१ फार्म छपे और ७ मास छपना बन्द रहा। विदित रहे कि १९५६–५७ में जो बन्द रहा, उसमें पञ्चाङ्ग के अतिरिक्त मुख्य कम्पोज़िटर के कई मास प्रेस में न रहने के कारण भी काम नहीं हुआ। पञ्चाङ्ग के विषय में ज्ञात रहे कि इस ज्योतिष प्रकाश प्रेस की स्थापना ही पञ्चाङ्ग के लिये हुई, जिसका पञ्चाङ्ग भारत में सर्वोत्तम माना जाता है और इस प्रेस में न जाने कितने पञ्चाङ्ग प्रति वर्ष छपते हैं। अतः इसकी विवशता तो माननी ही पड़ेगी। हां, इस प्रकार १९५९ में वेद भाष्य के ७ फार्म ही छपे। मैं चार मास काशी से बाहर टङ्कारा, अजमेर आदि में रहा। इतना समय मेरे कारण वेदभाष्य का कार्य बन्द रहा।

भूमिका की छपाई—बड़े हर्ष और सन्तोष की बात है कि भूमिका लगभग २५ फार्म (२०० पृष्ठ) १० अगस्त १९५९ से १५ सितम्बर १९५९ तक लगभग १ मास में छाप दिये। जिसे हमारे सहयोगियों तथा प्रेस वालों ने दिन रात एक करके पूरा किया।

मेरी दृष्टि में यह सम्पूर्ण भाग अधिक से अधिक २॥–३ वर्ष में छप सकता था, पर ६ वर्ष का समय प्रेस में लगा।

(६) अन्य बाधायें

पाकिस्तान, वेदभाष्य की विषमता से अतिरिक्त बड़ी बाधा मेरे काशी से बाहर रहने की रही, जिसका विवरण ऊपर पर्याप्त आ चुका। इससे यह भी विदित हो जाता है कि आर्ष पाठविधि में निष्ठा के कारण एटा, देवरिया, साधु आश्रम, सासनी, पाणिनि विद्यालय सुल्तानपुर, देहली, बनारस कैम्प आदि के साथ २ अजमेरकार्य, अमृतसर जाना, काशी तथा अन्यत्र की संस्कृत परीक्षाएं तथा उनका पाठ्यक्रम, वेदसम्मेलन, झरिया और लखनऊ आदि ये वेदभाष्य के अनुकूल विघ्न हैं, जो गत ३० वर्षों से तो हैं ही। इधर ७–८ वर्ष से वेदवाणी का कार्य भी वेदभाष्य के कार्य में अनुकूल विघ्न ही कहा जायेगा। अष्टाध्यायी श्रेणी वा पाणिनि विद्यालय तो बाहर जाने पर भी पीछा नहीं छोड़ता। गत मई–जून १९५९ की भर गर्मी में अजमेर में दिन भर का थका होने पर भी एक घण्टा पढ़ाता भी था, जो कुछ लोगों की दृष्टि में पागलपन हो सकता है।

अब एक प्रतिकूल विघ्न का निर्देश करना भी अनुचित न होगा। ३० जनवरी १९५७ को बम्बई से काशी लौटने पर भयानक वात का प्रकोप हुआ जो डेढ़ वर्ष तक बहुत औषध करने पर भी बहुत मात्रा में रहा और अन्त में औषध छोड़ने पर दूर हुआ, जो विचित्र बात है॥

सम्पादक का अन्तिम निवेदन

शुद्धि पत्र के विषय में सहृदय पाठकों की सेवा में निवेदन है कि हमने अपनी शक्ति भर अशुद्धियाँ शुद्धि पत्र में दर्शा दी हैं। ऐसा भी सम्भव है कि किसी पाठक की पुस्तक में ठीक हो और हमने अशुद्ध दिखाया हो, क्योंकि छपते २ मात्रायें, ऊपर का रेफ़, हल् और स्वर आदि उड़ जाते हैं। किसी पुस्तक में रहा, किसी में उड़ गया, यह सब सम्भव है। हमने इस प्रकार की सभी अशुद्धियाँ दे दी हैं, जो प्रेसकापी और आर्डरी प्रूफ़ में ठीक थीं, छपने में अशुद्धि बन गईं। अनुमानतः आधे से अधिक अशुद्धियाँ ऐसी होंगी।

वैसे तो दृष्टिदोष की अशुद्धियाँ भी हैं। इसमें न जाने कितनी २ बार और कई २ व्यक्तियों द्वारा देखने पर भी न जाने अशुद्धि कैसे छिपी रह जाती हैं। योग्य व्यक्तियों के देखने के पश्चात् भी एक तेरह वर्षीय बालक ने "कुवन्ति" के स्थान में "कुर्वन्ति" चाहिये, यह दिखाकर हम सबको चकित कर दिया। इस विषय में हमारा तो यह मत है कि कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि हमारे ग्रन्थ में छपने में कोई अशुद्धि नहीं रही। यदि मशीन का प्रूफ़ मिलता तो सम्भव है एक तिहाई अशुद्धियाँ ही रह जातीं। प्रेस से हम दो ढ़ाई मील बाहर रहते हैं। वर्त्तमान स्थिति में हमारे लिये मशीन के प्रूफ का प्रबन्ध असम्भव ही था।

आशा है सहृदय पाठक हमारी कठिनाइयों को समझ गये होंगे। वे पहले शुद्धिपत्र से ठीक करके पढ़ें तो अधिक अच्छा होगा। जो कोई और अशुद्धि किसी महानुभाव को दिखाई दे, वह अवश्य सूचित करने की कृपा करें, ताकि भविष्य में संशोधन हो सके।

धन्यवाद

सर्वप्रथम परमपिता परमात्मा का धन्यवाद है जो यह भाग छपकर तैयार हुआ। यह दूसरा संस्करण भी पूर्ववत् मेरा और प्रिय युधिष्ठिर का सांझा है। इसे धन्यवाद क्या दूं। प्रभु इसे स्वस्थ रखें और दीर्घ आयु प्रदान करें, यही कामना करता हूँ। श्री पं० भानुदत्त जी शास्त्री मीमांसाचार्य काशी ने कुछ एक स्थल दर्शाये, जिनके लिये

मैं उनका आभारी हूँ। प्रिय वीरेन्द्र ने भी मार्च १९५८ तक कुछ स्थलों पर उपयोगी सुझाव दिये और प्रूफ देखे। प्रिय ओ३म् प्रकाश, प्रिय विजयपाल द्वारा प्रूफ़ देखने तथा समय २ पर कई उपयोगी सुझावों द्वारा सहयोग मिला तथा भूमिका के छपने तथा सूची, शुद्धिपत्रादि में इन तथा अन्यों द्वारा जो सहायता मिली, उसके लिये मैं इन सबको सप्रेम आशीर्वाद देता हूँ। ऋषि के कार्य में इन सबकी निष्ठा-विश्वास-कार्यक्षमता बढ़े, यह कामना करता हूँ।

पाकिस्तान में इतनी भारी क्षति हो जाने पर भी ट्रस्ट के सञ्चालक कपूर भ्राताओं तथा परिवार, विशेषकर श्री बाबू हंसराज जी कपूर की दूरदर्शिता, निष्ठा तथा तत्परता से ट्रस्ट के काम को पुनः चलाने का साहस—काशी में प्रतिमास कई सौ रुपये व्यय करने की उदारता—वेदवाणी में निरन्तर एक सहस्र रुपया वार्षिक घाटा डालकर भी चलाना और वेदभाष्य जैसे महान् ग्रन्थ को छपवाना (जो बड़ी २ सभायें भी नहीं कर सकीं) तथा ऐसे अन्य बड़े उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन इस युग में इनके महान् साहस का परिचय देता है, जो विना गहरी धर्मभावना के कदापि नहीं हो सकता। प्रभु इन्हें (सारे परिवार को) अधिक से अधिक धर्म में निष्ठा और सामर्थ्य प्रदान करें।

अब अन्त में मैं श्री धर्मनिष्ठ बाबू अर्जुनदेव जी अग्रवाल झरिया का धन्यवाद किये विना नहीं रह सकता, जिन्हों ने आरम्भ १९५० में मुझे काशी बिठाया। अन्यथा न जाने कब तक और भटकता रहता। इस सब में मेरे सहाध्यायी आर्यसमाज के सुयोग्य विद्वान् श्री पं० अखिलानन्द जी की प्रेरणा तथा सद्भावना सहायक हुई। श्री अर्जुन बाबू जी ने एक वर्ष का व्यय लगभग ५०००) रुपया प्रदान किया और पीछे जब मुझे ट्रस्टसे अतिरिक्त निजी सहायक की आवश्यकता पड़ी तो पुनः १८०० रुपये १८ मास के एक कार्यकर्त्ता के मासिक व्ययार्थ दिये। श्री अर्जुन बाबू जी और भी सहायता करते रहते हैं। इनके भतीजे प्रिय मदनलाल जी अग्रवाल झरिया से भी ७५०) रुपये पुस्तक आदि में विशेष सहायता, २५०) रु० वेदवाणी की सहायता में तथा अग्रवाल ट्रस्ट से प्रिय बाबू राममोहन जी अग्रवाल द्वारा ९००) छात्रवृत्ति अब तक मिली। ये सभी धर्मनिष्ठ महानुभाव मेरे कार्य में सहायक हुए। इन सब को मैं धन्यवाद और आशीर्वाद देता हूँ। धर्मानुरागी श्री दीवान बहादुर बलीराम जी तनेजा ने ३६००) मेरे द्वारा रामलाल कपूर ट्रस्ट को उत्तम ढंग से ऋषि ग्रन्थ प्रकाशनार्थ दिया, जिससे हमारे कार्य में वृद्धि हुई। वह भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राचीन संस्कृति और धर्म में निष्ठावान् श्री पं० बालकृष्ण जी शास्त्री मालिक ज्योतिष प्रकाश प्रेस तथा उनके सहयोगियों का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि जिन्होंने प्रेससम्बन्धी सभी कठिनाइयों को दूर कर इस बड़े भारी ग्रन्थ को बहुत ही प्रेम और सद्भावना से छापा। प्रेस के सभी कर्मचारियों, विशेषकर ठाकुर प्रसाद और बालमुकुन्द जी आदि को भी मैं धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने प्रेमपूर्वक लग्न से इस काम को किया।

मेरा उत्तरदायित्व

यजुर्वेदभाष्य के इस सारे कार्य अर्थात् इस संस्करण में जो कुछ संशोधनादि है, उस सब के लिये मैं स्वयं उत्तरदायी हूं। मैं किसी सभा या समाज को इसमें सम्मिलित नहीं करना चाहता, न ही इसकी आवश्यकता है। गत लगभग ३१ वर्ष के मेरे वेदभाष्यसम्बन्धी परिश्रम और अनुभव का यह फल है, इतना होने पर भी अपनी भूल समझने के लिये मैं सदैव उद्यत हूँ॥

अन्तर्यामी प्रभु हमें सुमति प्रदान करे ! धियो यो नः प्रचोदयात् !!!

मोतीझील (वाराणसी)
रविवार २८ भाद्र सं० २०१६ वि०
१३ सितम्बर १९५९ ई०

वैदिक धर्म और विद्वानों का सेवक
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

अथ यजुर्वेदभाष्यम्

(सटिप्पणं सविवरणम् च)

यजुर्वेदभाष्य (विवरणसहित) की अध्याय सूची

परिशिष्ट

ओ३म्

अथ यजुर्वेदभाष्यारम्भः

क्रियते

यो जीवेषु दधाति सर्वसुकृतज्ञानं गुणैरीश्वर-
स्तं नत्वा क्रियते परोपकृतये सद्यः सुबोधाय च ।
ऋग्वेदस्य विधाय वै गुणगुणिज्ञानप्रदातुर्वरं
भाष्यं काम्यमथो क्रियामैयजुर्वेदस्य भाष्यं मया ॥ १ ॥

व्रतेन॑ दी॒क्षाम॑प्नोति दी॒क्षया॑प्नोति॒ दक्षि॑णाम् ।
दक्षि॑णा श्र॒द्धाम॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते ॥ य० १९ । ३० ॥

सर्गादौ या समुद्भूता श्रुतिरज्ञाननाशनी ।
ज्ञानकर्मा॒त्मिका दैवी परा वाक् तामुपास्महे ॥ १ ॥

समाधावाधूताखिलकलिमलाज्ञाननिवहा
यमाराध्यं सिद्धा निहतकुविकल्पास्सुगतयः ।
समीक्षन्ते नित्यं मुदितमनसोऽनन्यमतयः
स नो दद्यात् प्रज्ञां विमल-विमलां मानवहिताम् ॥ २ ॥

सुविहितहितमार्गं वैदिकं ख्यापयन्त्यः
कुमतिकुमतजालान्यञ्जसोन्मूलयन्त्यः ।
अविदितमपरेषां तत्त्वमुद्घोषयन्त्यो
दिशि दिशि विजयन्तां श्रीदयानन्दवाचः ॥ ३ ॥

विद्यारण्यविहारिणस्सुनिपुणाश्शास्त्रार्थसंगाहने
ग्रन्थग्रन्थिविभेदिनोऽतिपटवो मायातमश्शातने ।
क्रूराः पण्डितमानिने सहृदयाः शिष्येषु ये वत्सलाः
शान्तास्सज्जनसङ्गतेषु कुशलास्तेभ्यो गुरुभ्यो नमः ॥ ४ ॥

अन्तःक्षोभनिवारणाय मनसो विद्वत्प्रसादाय च
बालानां प्रतिपत्तयेऽप्यविदुषामन्तस्तमःशान्तये ।
स्तोकज्ञानमवाप्य गर्वितधियां दर्पापहाराय च
व्याख्यातुं क्रियते श्रमोऽत्र विबुधा भाष्ये तु लोकोत्तरे ॥५॥

केचिच्चात्र वदन्ति वेदविमुखाः पाश्चात्यशिक्षाप्रिया
आर्षं ज्ञानमपास्य कुण्ठितधियः श्रुत्यर्थसंगाहने ।
प्रत्नार्थानवमान्य नूतनतरानर्थान् समुद्भावयन्
नेदं भाष्यमकल्प्यकल्पविकलं प्रामाण्यमाप्तुं क्षमम् ॥६॥

प्रत्याख्यातुं कुमतिकथितं युक्तिहीनं यदेतत्
प्रज्ञाहीनान् विपथपतितान् मार्गमादेष्टुकामः ।
कुर्वे भाष्ये विवरणमिदं सत्प्रमाणैर्निबद्धं
तुष्टाः सन्तु स्वयमिह बुधा किं मुधाऽभ्यर्थनाभिः ॥७॥युग्मम्॥

१. (क) अत्र प्रमाणम्—'बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत्
प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः ॥' ऋ० १०।७१।१॥

(ख) एतेन जीवात्मनो ज्ञानाश्रयत्वं न ज्ञानस्वरूप-
त्वमिति द्योत्यते ॥

२. न्यायकारित्वदयालुत्वादिभिः ।

३. "वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे ।
ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम्" ॥
इत्यृग्भाष्योपक्रमणिकायाम् ॥

४. ऋग्भिः स्तुवन्ति (निरु० १३ । ७) इति वक्ष्यमा-
णाभिप्रायेणाह—गुणगुणिज्ञानेत्यादि ।

५. यजुर्भिर्यजन्तीति सम्बन्धः ॥

चतुस्त्र्यङ्कैरङ्कैरवनिसहितैर्विक्रमसरे[1]
शुभे पौषे मासे सितदल[2]भविश्वोन्मिततिथौ ।
गुरोर्वारे प्रातः प्रति[3]पदमतीष्टं सुविदुषां
[4]प्रमाणैर्निर्बद्धं शत[5]पथनिरुक्ता[6]दिभिरपि ॥ २ ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ॥

※अस्यार्थो भूमिकायामुक्तः । ईश्वरेण जीवानां[8] गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय ऋग्वेदे सर्वान् पदार्थान् व्याख्यायेदानीं मनुष्यैस्तेभ्यो यथा[9]यथोपकारग्रहणाय क्रियाः कथं कर्त्तव्या इत्युपदिश्यते । तत्र यद्यदङ्गं यद्यत्साधनं चापेक्षितं तत्तदत्र यजुर्वेदे प्रकाश्यते । कुतः ? यावत् क्रियानिष्ठं ज्ञानं न भवति, नैव तावच्छ्रेष्ठं सुखं कदाचिज्† जायते, विज्ञानस्य क्रियाहेतुत्वप्रकाशकारकत्वाविद्यानिवर्त्तकत्वा + धर्मप्रवर्त्तकत्वैर्धर्मपुरुषार्थयोः संयोजकत्वात् । यद्यत् कर्म विज्ञाननिमित्तं भवति तत्तत् सुखजनकं सम्पद्यते । तस्मान्मनुष्यैर्विज्ञानपुरःसरमेव कर्मानुष्ठानं नित्यं ‡ कर्त्तव्यम् । कुतः ? जीवस्य चेतनत्वादकर्मतया स्थातुमशक्यत्वात् । नैव कश्चिद् × आत्म[10]मनःप्राणेन्द्रियचालनेन विना क्षणे[11]ऽपि स्थातुमर्हति ।

---

१. अङ्कानां वामतो गतिरिति न्यायेन १९३४ वि० संवत्सर इति बोध्यम् ॥

२. सितदले शुक्लपक्षे भवतीति 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अ० ३ । २ । १०१) इति 'ड' प्रत्ययः, स्त्रियां सितदलभा । विश्वशब्दो ज्योतिःशास्त्रे (सूर्यसि० अ० २ । श्लोक १७) त्रयोदशसंख्याया वाचकः, तेनोन्मिता विश्वोन्मिता, विश्वोन्मिता चासौ तिथिश्च विश्वोन्मिततिथिः । सितदलभा चासौ विश्वोन्मिततिथिश्च, सितदलभविश्वोन्मिततिथिः । 'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' (अ० ६ । ३ । ४२) इति पुंवद्भावः । तस्यां सितदलभविश्वोन्मिततिथौ ॥

३. एतेन पदार्थस्य मुख्यत्वं प्रतिपादितं, तस्य सर्वासु प्रक्रियास्वध्यात्माधिदैवाधियज्ञादिषु विनियोक्तुं शक्यत्वात् ॥

४. प्रमासाधनैर्ज्ञानसाधनैरिति यावत्, प्रत्यक्षानुमित्यादिभिः, प्रमाणभूतैः शतपथादिभिरपि ॥

५. अभ्यर्हितत्वाच्छतपथस्य पूर्वनिपातः, अभ्यर्हितत्वं च ब्राह्मणानां निरुक्तकारेण प्रमाणत्वेनाभ्यनुज्ञानात् ॥

६. शतपथनिरुक्तादीनां शब्दप्रमाणान्तर्भूतेऽपि पृथग्ग्रहणं वेदार्थज्ञानविशेषसाधकत्वात् ॥

७. यत्र यत्र ग्रन्थारम्भे मन्त्रस्य श्लोकानां च सहोपक्रम उपलभ्यते, तत्र तत्र मन्त्रस्यैव पूर्वनिर्देशः क्रियते, न तथात्र यजुर्वेदभाष्य इति । ऋग्वेदाङ्के तु मन्त्रश्लोकयोरुपक्रम एव नास्ति इति ध्येयम् ॥

८. "कर्तृकर्मणोः कृति" (अ० २ । ३ । ६५) इति कर्मण्येषा षष्ठी ।

९. "यथास्वे यथायथम्" (अ० ८ । १ । १४) इति द्विर्वचनं नपुंसकलिङ्गता च निपात्यते, कर्मधारयवच्च भवति, उपकरणमुपकारः, यथायथमुपकारः, यथायथोपकारः । मयूरव्यंसकादित्वात् समासः । उक्तं च—"अविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः" इति (का० वृ० २ । १ । ७२) ॥

१०. स्वपर्यायवाच्यत्रात्मशब्दः ॥

११. तु० गी० अ० ३ । श्लो० ५ ॥
"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" ।

※ 'अस्यार्थो भूमिकायामुक्तः' इति क हस्तलेखपाठः ॥

† 'कदाचित्' इति पदं सर्वहस्तलेखकोशेषु वर्त्तते, अजमेरमुद्रिते नास्ति ॥

+ "निवर्त्तकत्वाधर्मप्रवर्त्तकत्वै०" इति अजमेरमुद्रितेऽपिपाठः ॥

‡ 'नित्यम्' इति कखकोशयोर्वर्तमानमपि गकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा त्यक्तम्, अत एव 'अजमेर'मुद्रितेऽपि नोपलभ्यते।

× 'आत्ममनःप्राणेन्द्रियशरीराणां चालनेन विना' इति कखहस्तलेखयोः पाठः ।

यजुर्भिर्यजन्तीत्युक्तप्रामाण्यात् येन मनुष्या ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति, सर्वचेष्टासाङ्गत्यं शिल्पविद्यासङ्गतिकरणं ❀ शुभविद्यागुणदानं यथायोग्यतया सर्वोपकारे शुभे व्यवहारे विद्वत्सु च द्रव्यादिव्ययं कुर्वन्ति तद्यजुः। अन्यत् सर्वं भूमिकायां प्रकाशितं तत्र द्रष्टव्यम्। सा भूमिका चतुर्णां वेदानामेकैव वर्त्तते॥

अस्मिन् यजुर्वेदे चत्वारिंशदध्यायाः सन्ति, तत्रैकैकस्मिन्नध्याये मन्त्राः संख्यायन्ते—

अध्यायः	मन्त्राः	अध्यायः	मन्त्राः	अध्यायः	मन्त्राः	अध्यायः	मन्त्राः
१	३१	११	८३	२१	६१	३१	२२
२	३४	१२	११७	२२	३४	३२	१६
३	६३	१३	५८	२३	६५	३३	९७
४	३७	१४	३१	२४	४०	३४	५८
५	४३	१५	६५	२५	४७	३५	२२
६	३७	१६	६६	२६	२६	३६	२४
७	४८	१७	९९	२७	४५	३७	२१
८	६३	१८	७७	२८	४६	३८	२८
९	४०	१९	९५	२९	६०	३९	१३
१०	३४	२०	९०	३०	२२	४०	१७

चत्वारिंशदध्यायस्थाः सर्वे मन्त्रा एतावन्तः = १९७५ एकोनविंशतिः शतानि पञ्चसप्ततिश्च सन्ति॥

भाषार्थ—अब यजुर्वेद के भाष्य का आरम्भ किया जाता है।

१. (क) "यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति" (निरु० १३। ७)

(ख) काठकसंहितायाः (४०। ७) ब्राह्मणे—"ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति, अथर्वभिर्जपन्ति"

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकां पठित्वैवास्य वेदभाष्यस्य यथार्थज्ञानं सम्भाव्यत इत्याचार्याभिप्रायः॥

३. अत्र २५ पञ्चविंशतितमेऽध्याये ४७ सप्तचत्वारिंशन्मन्त्राः परिगणिताः, भाष्ये तु ४८ अष्टाचत्वारिंशन्मन्त्रा व्याख्याताः। यजुर्वेदस्य सार्वत्रिके पाठे ४७ सप्तचत्वारिंशन्मन्त्रा एवोपलभ्यन्ते। तत्रान्तिमे मन्त्रे द्विपदिकास्त्रयो भागाः सन्ति, तथैव यजुर्वेदस्य १५ पञ्चदशाध्यायस्य ४८ अष्टचत्वारिंशत्तमे मन्त्र एते एव द्विपदिकास्त्रयोभागा उपलभ्यन्ते। यजुर्वेदस्य ३ तृतीयाध्यायस्य २५, २६ पञ्चविंशतितमषड्विंशतितमयोः प्रतिमन्त्रं द्वौ द्वौ द्विपदिकभागौ (सम्मेल्य चत्वारो भागाः) निर्दिष्टौ॥

सम्भाव्यतेऽत्र यद् भाष्यकरणकाले तृतीयाध्यायस्य द्विपदिकाश्चत्वारो भागा एवात्र स्मृतिपथमारूढाः स्युः। तत्कारणादेव कदाचिदत्र त्रिभागात्मकस्य मन्त्रस्य स्थाने चतुर्भागयोर्द्वौ मन्त्रौ संजातौ स्याताम्। किमप्यन्यत् कारणमत्र स्यान्न सुनिश्चितमस्माभिर्वक्तुं शक्यते॥

४. "भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है केवल शब्दार्थ ही नहीं, क्योंकि भाषा करने का तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं उनको विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा"।

स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत 'भ्रान्तिनिवारण पृ० ६'।

❀ इतोऽग्रे 'च कुर्वन्ति' इति पाठः क हस्तलेखे प्रवर्धितोऽपि खहस्तलेखे परिमृष्टः।

जो निर्गुण गुणपुंज से देत सुकृत विज्ञान। प्रणतपाल जगदीश्वरहि करि प्रणाम तिहि ध्यान ॥ १ ॥
ज्ञानदापि ऋग्वेद का भाष्याभीष्ट विधाय। पर-उपकार विचारिकरि शीघ्र सुबोध निधाय ॥ २ ॥
शतपथब्राह्मण आदि पुनि निघण्टु निरुक्त निहारि। यजुर्वेद जो क्रियापर बनौं ताहि विचारि ॥ ३ ॥
एकसहस्र नवशत अधिक विक्रमसर चौंतीस। पौष शुक्ल तेरसि तिथी दिन अधीश वागीश ॥ ४ ॥

विक्रम के संवत् १९३४ पौष शुदि[1] १३ गुरुवार के दिन यजुर्वेद के भाष्य बनाने का आरम्भ किया जाता है ॥ (विश्वानि०) इस मन्त्र का अर्थ भूमिका में कर दिया है। ईश्वर ने ऋग्वेद में गुण और गुणी के विज्ञान के प्रकाश द्वारा सब पदार्थ प्रसिद्ध किये हैं, उन मनुष्यों को पदार्थों से जिस जिस प्रकार यथायोग्य उपकार लेने के लिये क्रिया करनी चाहिये, तथा उस क्रिया के जो जो अङ्ग या साधन हैं, सो सो यजुर्वेद में प्रकाशित किये हैं। क्योंकि जब-तक क्रिया करने का दृढ़ज्ञान न हो, तबतक उस ज्ञान से श्रेष्ठसुख कभी नहीं हो सकता, और विज्ञान होने के ये हेतु हैं कि जो क्रियाप्रकाश, अविद्या की निवृत्ति, अधर्म में अप्रवृत्ति तथा धर्म और पुरुषार्थ का संयोग करना है। ※ जो जो कर्म विज्ञानपूर्वक किया जाता है, वह सुख का देनेवाला होता है, इसलिये सब मनुष्यों को विज्ञानपूर्वक ही कर्मों का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये। † क्योंकि जीव चेतन होने से कर्म के विना नहीं रह सकता। कोई जीव ऐसा नहीं है कि जो अपने मन, प्राणवायु और इन्द्रियों के चलाये विना एक क्षण भर भी रह सके। ‡ यजुर्वेद के मन्त्रों से सब क्रिया करनी प्रसिद्ध की है क्योंकि + (यजुः) इस शब्द का अर्थ भी यही है कि जिससे मनुष्य लोग ईश्वर से लेके पृथ्वीपर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, सब शिल्पक्रियासहित विद्याओं की सिद्धि, श्रेष्ठ विद्या, श्रेष्ठ गुण वा विद्या का दान, × यथायोग्यरीति से प्राणिमात्र के उपकार, शुभव्यवहार तथा विद्वानों की सेवा आदि कार्यों में द्रव्यादि पदार्थों का खर्च करें इसीलिये इसका नाम

---

१. 'शुदि' इति शुक्लपक्षः इति गणरत्नावलीकारः (हस्तलेख पृ० ४१) ॥

※ यहाँ से आगे 'जो कर्मकाण्ड है सो विज्ञान का निमित्त और जो विज्ञानकाण्ड है सो क्रिया से फल देनेवाला होता है' ऐसा अजमेर मुद्रित में पाठ है। इसका मूल संस्कृत 'यद्यत् कर्मकाण्डं तत्तद् विज्ञाननिमित्तं भवति, यद्यद् विज्ञानकाण्डं तत्तत् क्रियावसानफलं भवति' ऐसा 'क' अर्थात् रफ कापी में लिखकर काटा हुआ है। तदनुसार भाषा के अनुवाद में संशोधन करना रह गया है। आचार्य ने स्वयं संस्कृत के जिस पाठ को बदल दिया अथवा न्यून अधिक कर दिया, भाषार्थ में भी उसी प्रकार संशोधन होना उचित है (अर्थात् संस्कृत पाठ में संशोधन या परिवर्तन परिवर्धन हो जाय और भाषा उसी पुरानी संस्कृत की पड़ी रहे यह परस्पर विरुद्ध हो जाने से अनुचित है)। इसलिये हमने भाषा के ऐसे पाठों को मूल हस्तलेखों के आधार पर संशोधित संस्कृत के अनुसार ठीक कर दिया है।—सम्पादक।

† यहाँ से आगे 'कोई जीव ऐसा नहीं है कि जो मन, प्राणवायु, इन्द्रिय और शरीर के चलाये विना एक क्षणभर भी रह सके, क्योंकि जीव अल्पज्ञ एकदेशवर्ती चेतन है' ऐसा अजमेर मुद्रित में पाठ है। इसका मूल संस्कृत "नैव कश्चिद्······प्राणेन्द्रिय शरीराणां चालनेन······अर्हति ? कुतो जीवस्य चेतनत्वादल्पज्ञत्वाच्च' ऐसा पाठ 'क' अर्थात् रफ कापी में लिखकर काटा हुआ है। इसलिये हमने यहाँ भी पूर्ववत् संशोधित संस्कृत के अनुसार भाषा ठीक कर दी है।

‡ इससे पूर्व "इस लिये जो ईश्वर ने ऋग्वेद के मन्त्रों से सब पदार्थों के गुण गुणी का ज्ञान और" इतना पाठ अजमेर मुद्रित में अधिक है। इसका मूल संस्कृत पाठ 'ऋग्भिः स्तुवन्ति' ऐसा 'क' (रफ) कापी में लिखकर काट दिया है। अतएव हमने भी भाषार्थ में उक्त पाठ नहीं रक्खा।

+ यहाँ से आगे 'क्योंकि (ऋक्) और (यजुः) इन शब्दों का' ऐसा पाठ अजमेर मुद्रित में है। इसके लिये ऊपरवाली टिप्पणी देखें।

× यहाँ से आगे 'यथायोग्य उक्त विद्या के व्यवहार से सर्वोपकार के अनुकूल द्रव्यादि' ऐसा अजमेर मुद्रित में पाठ है। इसे इस संस्कृत का अधूरा अनुवाद होने से हमने ठीक कर दिया है।

यजुर्वेद है ॥ * और सब विषय भूमिका में प्रगट कर दिया गया है, वहाँ देख लेना चाहिये, क्योंकि उक्त भूमिका चारों वेदों की एक ही है ॥

इस यजुर्वेद में सब चालीस अध्याय हैं, एक एक अध्याय में कितने कितने मन्त्र हैं, सो पूर्व संस्कृत में कोष्ठ बना के सब लिख दिया है और चालीसों अध्याय के सब मिलके १९७५ उन्नीससौ पचहत्तर मन्त्र हैं ॥

१ संस्कृत भाग के कोष्ठक में २५ वें अध्याय के ४७ मन्त्र दर्शाये हैं। परन्तु २५ वें अध्याय के भाष्य में ४८ मन्त्र व्याख्यात हैं। यजुर्वेद की जितनी भी पुस्तकें उपलब्ध होती हैं उनमें इस अध्याय के ४७ ही मन्त्र मिलते हैं। वहाँ ४७ वें मन्त्र में दो दो पाद के तीन भाग उपलब्ध होते हैं। यही तीन भाग १५ वें अध्याय के ४८ वें मन्त्र में भी आ चुके हैं। यजुर्वेद के तीसरे अध्याय में इन तीनों भागों के अतिरिक्त 'सनो बोधि'''समस्मात्' भाग भी उपलब्ध होता है। वहाँ दो दो भागों का एक एक मन्त्र है। सम्भव है २५ वें अध्याय का भाष्य करते समय तृतीयाध्यायस्थ दो दो भागों के दोनों मन्त्र स्मृतिपथ में रहे हों और उसीके आधार पर २५ वें अध्याय के ४७ वें मन्त्र के तीन भाग और 'सनो-बोधि''' समस्मात्' को मिलाकर तृतीय अध्याय के समान दो दो भागों के दोनों मन्त्रों का व्याख्यान कर दिया गया हो। अथवा इसमें अन्य कारण रहा हो, हम निश्चय से नहीं कह सकते ॥

---

* यहाँ से आगे 'और भी इन शब्दों का अभिप्राय भूमिका में' ऐसा पाठ अजमेर मुद्रित में है। इसे संस्कृत से विपरीत होने के कारण ठीक कर दिया है।

ॐ

अथ यजुर्वेदभाष्यम्

इषे त्वेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । इषे त्वेत्यारभ्य

भाष्यविवरणम्

१. (i) शाखा वायुरिन्द्रश्चेति तु सर्वानुक्रमणी ॥

(ii) यत्त्वत्र मन्त्रे सर्वानुक्रमणीकारेण शाखाद्यो देवता उक्तास्ता आचार्यद्वयाभिमताः दुर्गस्कन्दयोरप्यनभिमताः । तद्यथा—निरु० ७-४

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा इत्युपक्रम्य यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति इति यास्केनोच्यते ।

(क) अत्र दुर्गः पृ० ५५०—

यद्देवतः स यज्ञः, यद्देवतं प्रधानं हविः, तद्यथा प्रकृतावैन्द्रं सान्नाय्यं माहेन्द्रं वा, तत्संस्कारपरा 'इषे त्वा'दयः (य० १ । १) तेऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति माहेन्द्रा वा ।

(ख) स्कन्दोऽपि—भाग २ पृ० २३—

यद्देवत इति 'ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' (तै० सं० २ । ५ । ३ । ४ ।) इति श्रूयते । 'माहेन्द्रं वा' इति तच्छेषभूताः शाखाछेदनादिषु सान्नाय्यसंस्कारत्वेन विनियुक्ताः 'इषे त्वा'दयस्तद्देवत्याः।

अत्र च 'अनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषां देवतोपपरीक्षा' इति यास्कवचनं सुव्यक्तम्, 'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रस्य 'इन्द्रो' महेन्द्रो वा देवतेति दुर्गस्कन्दाभ्यामुभाभ्यामस्मिन्ननादिष्टदेवतानां मन्त्राणां प्रकरणे प्रतिपाद्यते, तेनास्य शाखाछेदनादिषु विनियोग एव, न तु शाखा देवतेत्यप्युक्तं भवति ।

एवमत्र सर्वानुक्रमणीकारप्रदर्शितः शाखादिदेवतावादो दुर्गस्कन्दयोः काले न भवेदिति प्रतीमः । एष्वेवोपसहस्रेषु वर्षेषु सर्वानुक्रमणीग्रन्थो निर्मितः स्यादित्यर्थादापद्यते । अत एवोवटेनापि स्वभाष्यारम्भे—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शतपथश्रुतेः ।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छान्दसं च यत् ॥

इति सर्वानुक्रमण्यवहेलना कृता स्यात् ॥

एवं प्रचलितयाजुषदेवतावादस्तु सर्वानुक्रमणीसदृशसैकतभित्तिमारूढ इति न तिरोहितं विदुषाम् ।

(iii) एवमन्यत्रापि देवताभेदः प्राचीनर्षिमुनिसम्मत इति प्रदर्श्यते—अत्र वेदभाष्ये यत्र तत्र बृहद्देवतासर्वानुक्रमण्यादिभ्यो भिन्नां देवतां दृष्ट्वा केचिद् विवदन्ते तत्तेषामज्ञानविजृम्भितमेव । कुतः ? यास्कादिभिः परमर्षिभिर्बृहद्देवतासर्वानुक्रमण्यादिनिर्दिष्टदेवतावादमनपेक्ष्य (तदानीं तस्यासद्भावात्) भिन्नदेवतावादस्य प्रदर्शितत्वात्, पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति (निरु० १३।१२) इत्यादिशास्त्रवचनस्यानाश्रयणाच्च । तद्यथा—

(क) निरु० ११ । ६—"नवो नवो भवति जायमानो ....ऋ० १० । ८५ । १९ ॥"

अत्र चन्द्रमा देवतेति सर्वानुक्रमणीकारः ।

यास्कस्तु—आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके ...... प्रवर्द्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः इति चन्द्रमा देवतेत्याह ॥

तथैवाश्वलायनश्रौतसूत्रादिषु (आ० श्रौ० ९ । ८॥ शां० श्रौ० १४ । ३२ । ४॥ तै० ब्रा० ३।१।३। १॥) अयंमन्त्रश्चान्द्रमसे चरौ विनियुक्तः ।

तैत्तिरीयसंहितादिषु तु— यः पापयक्ष्म-
गृहीतः स्यात् तस्मा एतदादित्यं चरुं·········
अमावास्यायां निर्वपेत्·········नवो नवो भवति
जायमान इति पुरोऽनुवाक्या भवति (तै० सं० २ । ३ । ५ । ३, बौधायनश्रौते १३ । २८ ॥ सत्याषाढश्रौ० २२ । ४ । १५) इत्यादिनादित्यदेवताके चरौ विनियुक्तः ॥
मैत्रायणीसंहितायां तु (मै० २ । २ । ३ ॥ ४ । १२ । २) वैश्वदेवे चरौ विनियुक्तः ॥
अत एव निरुक्तसमुच्चयेऽपि प्रथमकल्पे प्रकृतमन्त्रव्याख्याने चन्द्रमाः स्तूयत आदित्यो वा, पापयक्ष्मगृहीतस्यादित्ये चरौ पुरोऽनुवाक्यैषा । (लाहौर सं० पृ० ४) इत्युक्तम् ॥

एवं यस्य मन्त्रस्य सर्वानुक्रमण्यादिमते 'चन्द्रमा' देवता तस्यैव तैत्तिरीयसंहिता-बौधायनश्रौतसत्याषाढश्रौतादिषु 'आदित्यो देवता', यास्क-वररुच्यादिमत उभे अपि देवते॥

बृहद्देवताकारस्तु—७ । १२५, १२६—

परस्याः प्रथमौ पादौ सौर्यौ चान्द्रमसौ परौ ।
और्णवाभो द्वृचे त्वस्मिन्नश्विनौ मन्यते स्तुतौ ॥१२५॥
सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ॥ १२६ ॥

और्णवाभमते तु "अश्विनौ" देवते अस्य मन्त्रस्य ॥ "मन्त्रगतपदान्येव देवताः, न तेषामर्था देवताः," "सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता चैव देवतावादे परमं प्रमाणम्" इत्यादि वदन्तस्तु यास्क-वररुचि-बृहद्देवताकार-और्णवाभादीनां प्रमाणैरुपेक्षणीया एव ॥

(ख) चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः ऋ० ४ । ५८ । ३ ॥ इत्यत्र सर्वानुक्रमणीकारस्तु—

समुद्रादेकादशाग्नेयं जगत्यन्तं
सौर्यं वापं वा गव्यं वा घृतस्तुतिर्वा इत्याह ॥

बृहद्देवताकारस्तु—बृहद्० ५ । ११ ॥

·········समुद्रादित्यमेमध्यमस्य
आदित्यं वा ब्राह्मणोक्तं प्रदिष्टं
आग्नेयं वाप्याज्यसूक्तं हि दृष्टम् ।
अपां स्तुतिं यदि वा घृतस्तुतिं
गव्यमेके सौर्यमेतद्वदन्ति ॥

अत्र यास्कः— अथैषा यज्ञस्य—'चत्वारि शृङ्गा०'
चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः···
·····महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञः ॥
(निरु० १३।६, ७), इत्यादिना यज्ञदेवतामाह ॥

महाभाष्यकारो महामुनिपतञ्जलिस्तु—पस्पशाह्निके—

महान् देवः शब्दः । महता देवेन नः साम्यं
यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ॥

इत्यादिना शब्ददेवतामाह ॥

यत्र तु बृहद्देवतासर्वानुक्रमणीमतेऽस्य मन्त्रस्य 'अग्निः, अपां स्तुतिः, घृतस्तुतिः, गौः, सूर्य इति विकल्पेन देवताः, तत्र ब्राह्मणग्रन्थानुसारं तु आदित्य आज्यसमिर्वेति ॥

एवमेतेषां परस्परं भेदः स्पष्टः ॥

(ग) न त्वेतेषां परस्परमेव भेदः, अपित्वेकस्मिन्नपि ग्रन्थे ऋषीणां मतभेदाद् देवताभेदः समुपलभ्यते । तद्यथा—

·····प्र सुष्टुतिरिरिति त्वृचि ॥ ३८ ॥
शौनकादिभिराचार्यैर्देवता बहुधेरिता ।
इळस्पतिं शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः ॥३९॥
यास्कस्तु पूषणं मेने, स्तुतमिन्द्रं तु शौनकः ।
वैश्वानरं भागुरिस्तु·····॥ ४० ॥

एवं 'प्र सुष्टुति०' (ऋ० ५ । ४२ । १४) इत्यस्यामृचि "शाकपूणि, गालव, यास्क, शौनक, भागुरि" इत्येतेषां मते यथासंख्यं इळस्पतिः, अग्नि-पर्जन्यौ, पूषा, इन्द्रः, वैश्वानर इत्यसमाना देवताः ॥

यदैकस्यामेवर्च्येकेनैव ग्रन्थकृतैतावन्तो भेदा अङ्गीक्रियन्ते, तदा "सर्वानुक्रमणीबृहद्देवतादिग्रन्थोक्ताभ्योऽन्या देवता न सम्भवन्ति" इति प्रवादस्त्वज्ञानजनित एव ॥

एवमेष सर्वोऽपि देवताभेदो मन्त्रार्थदृष्टिभेदेनैव समुत्पद्यते, अत एव च निरुक्तकारोऽप्याह—उच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति न चान्या गतिः सम्भवति । अतो यत्रापि मन्त्रार्थदृष्टिभेदेन शास्त्रप्रक्रियामनुसृत्य सर्वानुक्रमण्याद्युक्तदेवताभ्योऽन्या देवता उपलभ्यन्ते ताः सर्वा अपि प्रमाणकोटिमारोहन्तीति सुव्यक्तम् ॥

विस्तरस्तु 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां' द्रष्टव्योऽस्मद्विवरणभूमिकायाञ्चेति ॥

'भागं' पर्य्यन्तस्य स्वराड्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः । अग्रे सर्वस्य ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥[1]

अथोत्तमकर्मसिद्ध्यर्थमीश्वरः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[2,3]

॥ ओ३म् ॥ इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आ प्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वं स्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ १ ॥

❀ इषे । त्वा । ऊर्जे । त्वा । वायवः । स्थ । देवः । वः । सविता । प्र । अर्पयतु । श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय । कर्मणे । आ । प्यायध्वम् । अघ्न्याः । इन्द्राय । भागम् । प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः । अनमीवाः । अयक्ष्माः । मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघशंस इत्यघऽशंसः । ध्रुवाः । अस्मिन् । गोपताविति गोऽपतौ । स्यात । बह्वीः । यजमानस्य । पशून् । पाहि ॥ १ ॥

---

१. छन्दोविषये स्वरविषये च विवरणं भूमिकायां द्रष्टव्यम्॥

२. श्रेष्ठकर्मानुष्ठानं जीवनोद्देश्यं, तच्च 'यज्ञ'शब्दपर्य्यायभूतम्, यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (श० १।७।१।५) इति वचनात् । यज्ञैर्यजन्ति (नि० १३ । ७ ॥ (काठकसंहितायां ४० । ७ ब्राह्मणे) इति वचनेनास्मिन् वेदे सर्वाण्यपि शुभकर्माणि स्वरूपतो लक्षणतश्च निरूप्यन्ते, तदनुष्ठानमेवास्य वेदस्य प्रतिपाद्यो विषय इति समर्पेजकत्वमेवास्य वेदस्य । तत्र च सर्वविधकर्मानुष्ठानाय गवादिपशवो भृशमेवापेक्ष्यन्त इति प्रथममन्त्रसङ्गतिः ॥

३. इतोऽग्रे यत्र यत्र मन्त्रभूमिकायामुपदिश्यत इति क्रियापदं प्रयुज्यते तस्य सर्वस्य कर्त्तेश्वर एव बोध्यः, कुतः? वेदानां तेनैवोक्तत्वात् इति ऋ० १ । १ । १ भाष्ये पृ० १३ ॥

४. (क) अयं व्याख्यायमानग्रन्थ एव यजुर्वेद इत्यत्र गोपथब्राह्मणप्रमाणम्—

तद्यथा—इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते (गो० पूर्व० १ । २९) तै० सं० पाठस्तु वायव स्थोपायव स्थ । एवं गोपथब्राह्मणमते तैत्तिरीयसंहिताया यजुर्वेदत्वं नाङ्गीकृतम् ।

(ख) छान्दोग्यमन्त्रभाष्ये (पृ० ११६, ११७) इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे यजुर्वेदादिमन्त्रोऽयं याज्ञवल्क्यदृष्टः, वायुदैवतः, जपे विनियुक्तः, छन्द उष्णिक् ।

(ग) अत्र केचिदाहुः इषे त्वा इत्यारभ्य पशून् पाहि पर्यन्तमेका कण्डिका, न त्वेतावान् मन्त्रः । इषे त्वा ऊर्जे त्वा इत्यादयो बहवो मन्त्राः कण्डिकान्तर्गता इति ॥

अत्रेदमवधार्यम्—एकस्यैव मन्त्रस्यानेकमन्त्रत्वं विविधविनियोगेन याज्ञिकप्रक्रियानुरोधेन प्रदर्श्यते, वस्तुतस्तु 'पाहि' पर्यन्तमेक एव मन्त्रः ।

अत्र प्रमाणानि—

महाभारते—(शान्तिपर्व ३४४ । २१ । कुम्भकोणसंस्करणे)

पशुहिंसा वारिता च यजुर्वेदादिमन्त्रतः ।

❀ (क) अस्मिन् संस्करणे पदपाठस्य संशोधनं परम्परागतपदपाठानुसारं कृतम् । अजमेरमुद्रितपदपाठे प्रतिलिपिकर्तृमुद्रणसंशोधनादिजन्यापपाठोऽधस्तात् टिप्पण्यां तत्र तत्र प्रदर्शितः । पदपाठविषयकाः सामान्यविचारा भूमिकायां द्रष्टव्याः ।

(ख) पण्डितभीमसेनस्यैकेन पत्रेणेदमपि सूच्यते यद्वेदभाष्यस्य मुद्रणार्हायां प्रतिलिप्यां (प्रेसकापी) पदपाठे मन्त्रगतपदानि तत्र तत्र त्रुटितान्यासन्, तेषां पण्डितभीमसेनशर्मणा मन्त्रं दृष्ट्वा पूर्तिः कृता । अत इदं सम्भाव्यते यदवग्रहद्विरावृत्त्यादिनियमानामज्ञानाद् अनवधानाद्वा एतादृशा अशुद्धयो यास्तत्र तत्र उपलभ्यन्ते ता मुद्रणालयस्यान्यसंशोधककृता वा स्युः ।

पण्डितभीमसेनशर्मा एतद्विषय एवं लिखति—

"बहुतेरे पद पदपाठ में नहीं होते, मन्त्र देख के रख देता हूं । बहुतेरे स्वर अशुद्ध होते हैं, बना देना…।" (द्र० ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार महात्मा मुंशीराम सम्पादित, पृष्ठ० ४१) ॥

पदार्थः—(इषे) अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये । इषमित्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । इष्यतीति गतिकर्मसु पठितम् । निघ० २ । १४ । अस्माद् धातोः क्विपि कृते पदं सिध्यति । (त्वा) विज्ञानस्वरूपं परमे-

यजमानस्य पशून् पाहि इत्यन्तस्यैवादिमन्त्रत्वव्यवहार इति सम्पूर्णोऽयमेक एव मन्त्र इति सिद्धम् ॥

गोपथब्राह्मणकारेण (गो० पूर्व० १ । २९)
'इषे त्वा' 'ऊर्जे त्वा' इति मन्त्रद्वयं नाङ्गी क्रियते, अपितु इषे त्वा···श्रेष्ठतमाय कर्मण इत्येवमादिं कृत्वा इति वदता सम्पूर्णपाठस्यैव मन्त्रत्वं द्योत्यते ॥

किञ्च वायुपुराणे—उ० अ० २६

ततः पुनर्द्विमात्रन्तु चिन्तयामास चाक्षरम् ।
प्रादुर्भूतं च रक्तं तच्छेदेन गृह्य सा यजुः ॥१९॥
इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता पुनः ।
ऋग्वेद एकमात्रस्तु द्विमात्रन्तु यजुः स्मृतम् ॥२०॥

(घ) भ० भा० रुद्रभाष्ये पृ० २६
त्रिष्वनुवाकेषु नमस्कारादि नमस्कारान्तमेकं यजुः इति शाकपूणिः ।
नमस्काराद्येकं यजुः, नमस्कारान्तमेकं यजुः इति यास्कः ।
अष्टावनुवाका अष्टौ यजूंषि इति काशकृत्स्नः ॥

अर्थमभिप्रेत्य भिन्नत्वेनापि विभक्तुं शक्यन्ते मन्त्रा इति भावः ॥

१. इष गतौ (दिवा० परस्मै०) ॥
गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वे मानन्तु—

(क) विचरन्ति विजानन्ति इति यास्कः (निरु० २ । १६ ।)

(ख) सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः इति ऋग्वेदभाष्यकार आचार्यस्कन्दस्वामी स्वनिरुक्तटीकायां भा० २ पृ० ९२ उपर्युक्त (निरु० २ । १६ ।) व्याख्यान आह ॥

(ग) दुर्गनिरुक्तटीकायां पृ० ३२०—
अपि गुरिति चैष गमिस्तदा ज्ञानार्थः ॥

(घ) भट्टभास्करमिश्रस्तैत्तिरीयारण्यकभाष्ये (पृ० २७६) गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः ॥

(ङ) आत्मानन्दोऽस्यवामीयसूक्तभाष्ये (पृ० ५४)—
अग्निं परमेश्वरमाहुः······अङ्गं नयतीत्यग्निः । गत्यर्था ज्ञानार्थाः ॥

(च) गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् गमेर्ज्ञानार्थता इति ऋग्भाष्यकृज्जयतीर्थस्वामी (पृ० २) ॥

(छ) गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् इत्याशयेनोक्तम् इति छलारिटीकायां (पृ० ४७) नृसिंहो यतिः ॥

(ज) गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् वा इति यज्ञेश्वरभट्ट आर्यविद्यासुधायां (पृ० २२) ॥

(झ) गतिर्दशायां गमने ज्ञाने मर्माभ्युपाययोः विश्वलोचनकोशः (पृ० १२१) ॥

निदर्शनमात्रमेतत्, एवंविधानि शतशः प्रमाणानि प्राचीनग्रन्थेषु द्रष्टुं शक्यानि ॥

२. (क) अन्नं वा इषम् ॥ कौ० ब्रा० २८ । ५ ॥

(ख) स नो वाजाय श्रवसे इषे च राये धेहि द्युमत इन्द्र विप्रान् ॥ ऋ० ६ । १७ । १४
अत्र वाजः—श्रवः—इषम् इत्येतेषामन्ननामसु पाठे सामर्थ्यात् पुनरुक्तदोषाभावः, तथाहि 'इषे' इति ज्ञानाय, श्रवसे कीर्त्यर्थं, 'वाजायान्नाय' इति, 'इषे' इति पदस्यान्नव्यतिरिक्तार्थयोजनायां प्रमाणम् ॥

(ग) तथैवान्यत्रापि ऋ० १ । १२१ । १४ । इषे यन्धि श्रवसे सूनृतायै इत्यपि बोध्यम् ॥

३. नात्र निर्धारणमिष्यते अस्मादेव धातोरिति, किं तर्हि, निदर्शनमात्रमेवेदम् । तेन 'इषु इच्छायाम्' (तु०प०) इत्यस्मादपि धातोः पदमिदं व्युत्पादयितुं शक्यते । अत एव भाष्यकारेणानुपदमेवान्वये 'उत्तमेच्छायै' इत्यप्यर्थः प्रदर्शयिष्यते ।

पदव्युत्पत्तिपक्ष इदमत्राभिधीयते—

यस्य पदस्य यस्माद्धातोः, यस्मिन् प्रत्यये, यस्मिन्नर्थे च व्याकरणनिरुक्तभाष्यकारादिभिः व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते, तस्मादेव धातोः तस्मिन्नेव प्रत्यये

श्वरम्[1] । (ऊर्जे) परा[2]क्रमोत्तमरसलाभाय । ऊर्ग् रसः । श० ५ । २ । २ । ८ । (त्वा) अनन्तपराक्र[म]मा-

तस्मिन्नेवार्थे च पदमिदं व्युत्पादनीयमिति नैकान्तो नियमः । अपितु यस्माद्यस्मादपि धातोः, यस्मिन् यस्मिन्नपि प्रत्यये, यं यं चार्थं वक्तुं पदं समर्थं स्यात् तत् तथा तथा निर्वक्तुं शक्यते । एष एव चात्र व्युत्पत्तिपक्षे सिद्धान्तः । तद्यथा—

(क) अथ निर्वचनम् । तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात् । अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत । केनचिद् वृत्तिसामान्येन । अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात् । न त्वेव न नि[र्ब्रू]यात् । न संस्कारमाद्रियेत । विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति । निरु० २।१॥

अत्राचार्यस्कन्दः—"यत्र शब्दः क्रियामभिधातुं शक्नोति, सा च क्रियाभिधेयम्······तानि तावत् तथैव निर्ब्रूयात्······ । न संस्कारमाद्रियेत वैयाकरणोक्तं संस्कारं नाद्रियेत । अक्षरवर्णसामान्यादेव निर्ब्रूयात् । अयं च संस्कारप्रतिषेधो यत्रैव व्याकरणोक्तः संस्कारो नार्थान्वितस्तत्रैव नान्यत्रेति ।

अत्रैव दुर्गाचार्यः—"अथ पुनरनन्वितेऽर्थे न्याय्यस्वरसंस्कारयुक्तेन शब्देन यत्र निपुणमप्यन्विष्यमाणः शब्दोऽर्थान् कल्पयितुं न शक्यते ?, अन्यथैवार्थो व्यवतिष्ठते (अन्यथैव शब्दः)......तत्र किं कर्तव्यम् । उच्यते, तत्रैवं सति अर्थनित्यो भूत्वा······अर्थनित्य इत्युक्ते अर्थप्रधान इति गम्यते । अर्थप्राधान्येनानादृत्य स्वरसंस्कारौ परीक्षेत । ततस्तदभिधानं बुद्ध्वा केनचिद्-वृत्तिसामान्येन क्रियागुणसामान्येनेत्यर्थः । कतमस्य धातोरर्थसामान्यमिहास्ति इति ततस्तर्कयित्वा सामान्यं तेन निर्ब्रूयात् । अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः । तस्मादर्थसामान्यं बलीयः शब्दसामान्यात् (पृ० ९७ वेङ्कटेश्वर संस्करण) ।

अनेन निरुक्तसन्दर्भेण तद्भाष्यकारदुर्गस्कन्दाभ्यामपि "अर्थप्राधान्येन धातुतोऽर्थोऽवगन्तव्यः" इति निर्वचनसिद्धान्तः स्वीकृतो भवति इति सुव्यक्तम् ।

(ख) यच्च निरुक्ते (७।१४)—"अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः, अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः । न क्नोपयति, न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः—इताद्, अक्ताद्दग्धाद्वा, नीतात् । स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नीः परः ।" इत्युक्तं तेनापि अर्थाधीनमेव शब्दार्थनिर्वचनमिति प्रदर्शितं भवति ।

(ग) निरुक्ते (५।२१) 'अरुणो मासकृद्' (ऋ. १।१०५।१८) इति मन्त्रव्याख्याने 'मासकृद्' इति व्युत्पत्तौ 'मासानामर्धमासानां च कर्ता' इत्यनेनैकमिदं पदमिति प्रदर्शितं भवति । शाकल्यस्तु स्वपदपाठे 'मा–सकृत्' इति पदद्वयं मन्यते । अनेनाप्यर्थस्यैव प्राधान्यम्, तदधीनं च निर्वचनमित्युक्तं भवति ।

(घ) यच्च (स्कन्द० निरु० टीका पृ० २१२) "करोतिरेष सामर्थ्याद्ध्यार्थः" (पृ० २८६) ध्यायतिदर्शने" । अनेन धातूनां पठितेभ्योऽर्थेभ्यो भिन्ना अप्यर्था भवन्तीति ज्ञाप्यते ।

(ङ) दुर्गाचार्यः (निरु० टीका पृ० ९४) "अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दाः यथाप्रज्ञपुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीत्येव प्रदर्शितं भवति ।"

अयमपि सन्दर्भोऽस्माकं पूर्वोक्तमेवाभिप्रायं सम्पोषयति ।

१. सर्वनाम्नः पूर्वपरामर्शित्वाद् ऋग्वेदेन पूर्वं निर्दिष्टस्वरूपः सर्वोऽपि पदार्थसमूहोऽत्र ग्रहीतुं शक्यते, पुनरपि ब्रह्मणः प्रधानत्वाद् भाष्यस्य चाध्यात्मपरत्वात् परमेश्वर एव परामृश्यते, प्रसिद्धपरामर्शित्वाद् वा 'त्वा' पदेन ब्रह्मणो निर्देशः ॥

२. ऊर्ज् (चु० पर०) बलप्राणनयोः । अस्मात् पूर्ववत् क्विपि रूपम् ॥

(क) उत्साहेऽन्नरसेऽप्यूर्क् स्यात्" इति वैजयन्ती ॥

(ख) अथवोर्जशब्दवाच्याय परमात्मने भगवत्प्रसादाय वा ता भवत ॥ यूयं नोऽस्माकमूर्जेऽन्नाय बलाय वा । अथवोर्जनीयत्वादूर्जशब्दवाच्याय परमात्मने वा दधातन स्थापयत इति बह्वृचसन्ध्यापद्धतिभाष्ये (पृ० ४५) ॥

न्दरसघनम् । (वायवः) सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिकाः प्राणादयः। वायुरिति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ४। अनेन प्राप्तिसाधका वायवो गृह्यन्ते। वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात् कृवापा० उ० १ । १। अनेनाप्युक्तार्थो गृह्यते । (स्थ) सन्ति । अत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमपुरुषस्य स्थाने मध्यमपुरुषः । (देवः) सर्वेषां सुखानां दाता सर्वविद्याद्योतकः । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः सा देवता । निरु० ७ । १५ । (वः) युष्माकम् । (सविता) सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्य्यवान् जगदीश्वरः । (प्रार्पयतु) प्रकृष्टतया संयोजयतु । (श्रेष्ठतमाय) अतिशयेन प्रशस्तः श्रेष्ठः❀, सोऽतिशयितः श्रेष्ठतमः❀, तस्मै यज्ञाय । (कर्मणे) कर्तुं योग्यत्वेन सर्वोपकारार्थाय । (आप्यायध्वम्) आप्यायामहे वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः । (अघ्न्याः) वर्धयितुमर्हा हन्तुमनर्हा गावः इन्द्रियाणि पृथिव्यादयः पशवश्च । अघ्न्या इति गोनामसु पठितम् । निघ० २ । ११ । (इन्द्राय) परमैश्वर्य्ययोगाय । (भागम्) सेवनीयं, भगानां† धनानां ज्ञानानां वा

१. वायुर्वै प्राणः । कौ० ब्रा० ८ । ४ ॥ जै० उ० ब्रा० ४ । २२ । ११ ॥ श०४ । ४ । १ । १५ ॥ वायुर्हि प्राणः । ऐ० ब्रा० २ । २६ । ३ । २ ॥

२. गन्तार इति भट्टभास्करः ॥ तै० सं० भा० १ । १ । १ । १ ॥

३. (क) पुरुषव्यत्ययः—अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः । वियूयादिति प्राप्ते.........

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥ इत्याह महाभाष्यकारो 'व्यत्ययो बहुलम्' (अ० ३।१।८५) इति व्याख्याने स्वसिद्धान्तं, भगवतः पाणिनेः सूत्रकारस्यापि ॥

(ख) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० ३७३-३७८) तथैव व्याख्यातम् ॥

(ग) स्कन्दनिरुक्तटीकायां (६।२२ पृ० ४६८)— "शृण्वे वीर उग्रमुग्रं०" ऋ० ६ । ४७ । १६ ॥ इति मन्त्रव्याख्याने शृणोतेर्व्यत्ययेनात्र आत्मनेपदोत्तमैकवचनं शत् [?, श्नु] विकरणः कर्मणि लट् । प्रथमैकवचनस्य स्थाने । श्रूयते प्रत्याख्यायत इत्यर्थः ॥

४. (क) प्रजापतिर्वै सविता । तां० ब्रा० १६।५।१७॥ प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत ॥ तै० ब्रा० १ । ६ । ४ । १॥

(ख) देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान । इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ऋ० ३ । ५५ । १९ ॥

५. 'ऋ' गतिप्रापणयोः । प्रापणं संयोजनमिति ॥

६. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म । श० १ । ७ । १ । ५ ॥ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । य० अ० ३१ मं० १६ ॥ यज्ञः प्रथमो धर्मः, धर्महेतुर्वेति ॥

७. आप्यायध्वम्, आप्यायामहे वेत्यर्थः ॥

८. (क) माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः । प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥ ऋ० ८ । १०१ । १५ ॥

(ख) अघ्न्या अहन्तव्या भवत्यघघ्नीति वा ॥ (निरु०११। ४३) ॥ पापनाशनी शक्तिरित्यपि ॥

(ग) अघ्न्येति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति इति महाभारते (शा० २६२।४६)॥

(घ) इन्द्रियं वै वीर्यं गावः ॥ श० ५ । ४ । ३ । १०॥

९. भावे रन् । ऋज्रेन्द्रा......(उ० २ । २८) इति निपातनात् ॥

❀ 'श्रेष्ठः' 'श्रेष्ठतमः' इत्येते पदे क, ख इत्युभयत्रोपलभ्यमाने ग-कोशे प्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्ते, अत एव अजमेरमुद्रिते न स्तः ॥

† हस्तलेखेषु शुद्धं सदपि पदमिदमजमेरमुद्रिते 'भागानाम्' इति संशोधकानवधानादशुद्धं मुद्रितम् ॥

भाजनम्। (प्रजावतीः) भूयस्यः प्रजा वर्त्तन्ते यासु ताः। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। (अनमीवाः) अमीवो व्याधिर्न विद्यते यासु ताः। 'अम रोगे' इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिक ईवन्प्रत्ययः। (अयक्ष्माः) न विद्यते यक्ष्मा रोगराजो यासु ताः। यक्ष इत्यस्मात्। अर्त्तिस्तु० उ० १।१४०। अनेन मन्प्रत्ययः। (मा) निषेधार्थे। (वः) ताः। अत्र पुरुषव्यत्ययः। (स्तेनः) चोरः। (ईशत) ईष्टां समर्थो भवतु। अत्र लोडर्थे लङ्, बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति शपो लुगभावः। (मा) निषेधार्थे। (अघशंसः) योऽघं पापं शंसति सः। (ध्रुवाः) निश्चलसुखहेतवः। (अस्मिन्) वर्त्तमाने प्रत्यक्षे। (गोपतौ) यो गवां पतिः स्वामी तस्मिन्। (स्यात) भवेयुः (बह्वीः) बह्व्यः। अत्र वा छन्दसि। अ० ६।१।१०६। अनेन पूर्वसवर्णदीर्घादेशः। (यजमानस्य) यः परमेश्वरं सर्वोपकारं धर्मं च यजति तस्य विदुषः। (पशून्) गोऽश्वहस्त्यादीन् श्रियः प्रजां वा। श्रीर्हि पशवः। श० १।८।१।३६॥ प्रजा वै पशवः। श० ५।६।१।१७। (पाहि) रक्ष॥

अयं मन्त्रः श० १।७।१।१—८ व्याख्यातः॥ १॥

---

१. अथर्ववेदे 'यक्ष्ममोचन' सूक्ते(अथर्व०का०८सू०७)
त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव॥ २॥
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम्॥ ११॥
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः॥ १५॥
यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः॥ २५॥

यक्ष्मरोगेण सह गवां विशेषसम्बन्ध इत्येषां मन्त्राणामभिप्रायः। गोषु यक्ष्मपरमाणूनां प्रवेशेनास्य रोगस्यातिवृद्धिर्जायत इति भावः। विविधैः खाद्यपदार्थैर्घासादिभिर्गवां यक्ष्मनाशः, ततश्च पुरुषाणामपि॥

२. धर्मादिषूभयम् (अ० २।२।३१॥ गणसूत्रम्) इति राजरोगः, रोगराज इत्युभयथापि भवति।

३. (यद्धरिणो यवमत्तीति) विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणः, विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति, तस्माद् राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं पशुं मन्यत इति तस्माद् राजा पशून् न पुष्यति शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायतीति, तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति॥ श०१३।२।९।८॥

४. विस्तरस्त्वत्र व्याकरणप्रक्रियायां द्रष्टव्यः॥

५. "यद् यजते तद् यजमानः"॥ श० ३।२।१।१७॥

६. 'पशवः प्रजाः' अत्रान्यान्यपि प्रमाणानि—तद्यथा विवाहप्रकरणे—

(क) वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान्॥ अथर्व० १४।२।२५॥
विवाहेऽस्य मन्त्रस्य वध्वा आशीःपरत्वादत्र पशुशब्देन मनुष्यरूपाः प्रजा एव ग्रहीतुं शक्यन्ते॥

(ख) "पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत च द्विपदाम्।
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः॥
इति भट्टभास्करो (रुद्रभाष्ये पृ० २८)॥

(ग) दैव्यो वा एता विशो यत् पशवः॥ श०३।७।३।९॥
पशवो वै महस्तस्माद्यस्यैते बहवो भवन्ति, भूयिष्ठमस्य कुले महीयन्ते॥ श० ११।८।१।३॥
पशवो वै रायः॥ श० ३।३।१।८॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इषे) इष गतौ (दि० प०), इषु इच्छायाम् (तु० प०) आभ्यां क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति क्विप्। कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३ महाभाष्यवा०) इति वचनात् तौदादिकात् कर्मणि 'इष्यत इतीट्',

दैवादिकात्तु करणे, इष्यते ज्ञायतेऽनेनेति 'इट्' तस्मै, तत्प्राप्त्यर्थम्, तदर्थे चतुर्थी ॥ 'इष्' धातोः (अ० ६ । १ । १६२) इत्यन्तोदात्तत्वे प्रत्ययलोपे प्रातिपदिकमन्तोदात्तम् । ततः सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्, अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ० ६ । १ । १५८) इतीकारोऽनुदात्तः, हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् (अ० ६ । १ । २२३ महा०) इति सार्वत्रिको नियमः ॥ न्यासकारस्तु विभाषा छन्दसि (अ० १ । २ । ३६) इति सूत्रव्याख्याने (पृ० १७६) इडस्यास्तीति इषः इषशब्दात् सप्तम्येकवचनम्, आद्गुणः (अ० ६ । १ । ८७) इत्येकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तत्वं प्रतिपेदे, तथा चेष्टस्वरसिद्धिः ॥ तत्तु गौरवाच्छतपथविरोधात्, सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इतीष्टस्वरसिद्धेरनावश्यकत्वाच्चाकिञ्चित्करम् ॥

(त्वा) युष्मदः 'त्वामौ द्वितीयायाः' (अ० ८ । १ । २३) इति 'त्वा' आदेशः । 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (अ० ८ । १ । १८) इत्यनुवर्तनादनुदात्तत्वम् ॥

(ऊर्जे) ऊर्ज बलप्राणनयोः (चु० प०) इत्यस्मात् कर्त्तरि क्विप् । ऊर्जयति बलयति प्राणयति, बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीत्यर्थः ॥ सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इति पूर्ववदेव विभक्तेरुदात्तत्वम् इति प्रतिपदस्वरः । संहितायां तु पूर्वेण त्वाशब्देन आद् गुणः (अ० ६ । १ । ८७) इत्येकादेश आन्तरतम्यादनुदात्तत्वम् । इषे इत्येकार उदात्तः, ततः उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८ । ४ । ६६) इति स्वरितत्वप्राप्तौ जे इत्यस्योदात्तस्य परत्वात् नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् (अ० ८ । ४ । ६७) इति स्वरिताभावे 'त्वो' इत्यस्यानुदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(त्वा) पूर्ववदनुदात्तत्वे संहितायां स्वरितत्वम् ॥

(वायवः) वा गतिगन्धनयोः (अदा० प०) कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उणा० १ । १) आतो युक् चिण्कृतोः (अ० ७ । ३ । ३३) इति युक् । यद्वा वेतेर्गतिकर्मणो बाहुलकादुण्, यद्वा 'छन्दसीणः' (उ० १ । २) इत्युणि वकारोपजनः । तथा च यास्कः (नि० १० । १) वायुर्वातेर्वा वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मण एतेरिति स्थौलाष्ठीविरनर्थको वकारः । गच्छन्ति विविधविषयेष्विति वायवः, प्राणादयः, इन्द्रियाणि वा सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वं च वक्तव्यम् (अ० ६ । १ । १५८ भाष्ये वार्त्तिकम्) इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । 'वायु'शब्दस्य जसि च (अ० ७ । ३ । १०९) इति गुणेऽवादेशे, अनुदात्तौ सुप्पितौ (अ० ३ । १ । ४) इति विभक्तेरनुदात्तत्वे 'य'उदात्तः । शेषनिघाते उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८ । ४ । ६६) इति 'व' स्वरितः ॥ पूर्वत्रासिद्धम् (अ० ८ । २ । १) इत्यनेन 'त्वा' शब्दस्य स्वरितासिद्धत्वप्राप्तौ न ब्रूमो देवब्रह्मणोरनुदात्तवचनं ज्ञापकं सिद्धं इह स्वरित इति, किं तर्हि ? परमेतत् सूत्रकाण्डमिति (अ० १ । २ । ३२ महाभाष्ये) इति वचनात् स्वरितत्वे सिद्धे स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (अ० १ । २ । ३९) इत्येकश्रुतिः प्राप्ता ॥ ननु च अनुदात्तानामिति बहुवचननिर्देशे कथमत्रैकश्रुतिप्राप्तिरिति चेदत्र महाभाष्यकारा आहुः—द्व्येकयोरैकश्रुत्यवचनम् । नैष दोषः । कथम् ? एकशेषनिर्देशोऽयं, अनुदात्तस्यानुदात्तयोश्चानुदात्तानां चानुदात्तानाम् इति ॥ एवमैकश्रुत्ये प्राप्ते उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (अ० १ । २ । ४०) इति सन्नतरः ॥ संहितायां वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः (अ० ८ । ३ । ३६ भा० वा०) इति विसर्जनीयलोपः ॥

(स्थ) अस् भुवि (अ० प०) मध्यमपुरुषबहुवचने 'थ'प्रत्यये श्नसोरल्लोपः (अ० ६ । ४ । १११) इत्यकारलोपे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः । अत्र व्यत्ययेन प्रथमपुरुषस्यार्थः, प्रमाणं चात्र पूर्वं प्रदर्शितम् । 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' (अ० १।२।३९) इत्येकश्रुतिः ॥

(देवः) दिवु क्रीडाद्यर्थः (दि० प०) दीव्यत्यसौ, क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु युक्तो यः सः ॥ नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (अ० ३ । १ । १३४) इति 'अच्'प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥ केषाञ्चिन्मते चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(वः) युष्मदः षष्ठीबहुवचनस्थस्य स्थाने बहुवचनस्य वस्नसौ (अ० ८ । १ । २१) इत्यनुदात्तो वसादेशः तस्य संहितायां उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८ । ४ । ६६) इति स्वरितत्वम् ॥

(सविता) षूङ् प्राणिप्रसवे (दि० आ०) तृचि स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (अ० ७ । २ । ४४) इतीड्विकल्पः, तस्य च आगमा अनुदात्ता भवन्ति इत्यनुदात्तत्वम् । सर्वकर्मणां जलसुखवृष्टिप्रदानादिना 'सविता' अभ्यनुज्ञायते ॥ यद्वा षू प्रेरणे (तु० प०) तृचि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्, पक्षे चितः (अ० ६ । १ । १६३) इति । अनङो 'ङिच्च' (अ० १ । १ । ५३) इत्यन्त्यस्य 'ऋकारस्य' स्थाने आन्तरतम्यात् स एव स्वर इति । ततश्च शेषनिघाते संहितायां पूर्ववदैकश्रुत्यं सन्नतरत्वं च ॥

(प्र अर्पयतु) 'प्र' इत्युपसर्गाद्युदात्तत्वम् । 'अर्पयतु' इति ऋ गतिप्रापणयोः 'णिचि' अर्त्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ (अ० ७ । ३ । ३६) इति पुक् । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः । सवर्णदीर्घत्वे स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इत्युदात्तत्वे ततः स्वरितत्वे संहितायामैकश्रुत्यम् । 'तु' उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (अ० १ । २ । ४०) इत्यग्रिमोदात्तपरत्वेन सन्नतर इति ॥

(श्रेष्ठतमाय) अतिशयेन प्रशस्यः प्रशस्यस्य श्रः (अ० ५ । ३ । ६०) इति श्रादेशः । इष्ठन्प्रत्यये ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वम् । ततश्च तमपः पित्वादनुदात्तत्व आद्युदात्तस्वरसिद्धिरिति । स्वरितत्वैकश्रुत्ये पूर्ववत् ॥

(क) अत्र 'अतिशायने' इष्ठन्-तमपोः सहप्रयोगविषये महाभाष्यकारः—

तदन्ताच्च स्वार्थे छन्दसि दर्शनं श्रेष्ठतमायेति ॥ तदन्तादातिशायिकान्तात् स्वार्थे छन्दस्यातिशायिको दृश्यते । देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे (अ० ५ । ३ । ५५ भा०) ॥

(ख) लोकेऽप्ययं प्रयोगो दृश्यते—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा (महाभारत आदिपर्वणि अ० ७४ श्लोक ४१) ॥

(कर्मणे) डुकृञ्-धातोः सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४ । १४५) इति कर्मणि मनिन् । क्रियते यत् तत् कर्म, क्रिया । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वे सुपोऽनुदात्तत्वे च स्वरसिद्धिः ॥

(आ प्यायध्वम्) 'आ' उपसर्गाद्युदात्तत्वम् ॥ 'प्यायध्वम्' स्फायी ओप्यायी वृद्धौ (भ्वा० आ०), यद्वा प्यैङ् वृद्धौ (भ्वा० आ०) लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने रूपम् । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति सर्वनिघातत्वम् । स्वरितत्वैकश्रुत्ये पूर्ववत् ॥

(अघ्न्याः) अघ्न्याहन्तव्या भवत्यघघ्नीति वा (निरु० ११ । ४३) । यद्वा अघ्न्यादयश्च (उ० ४ । ११२) इति यक् प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । यो न हन्यते, न हन्तीति वा, धातोरुपधालोपो निपातनात्, हो हन्तेः० (अ० ७ । ३ । ५४) इति हस्य घत्वं च ॥ यद्वा घञर्थे कविधानम् (अ० ३ । ३ । ५८ भा० वा०) इति कः, अहननं अघ्नः तमर्हतीति 'अघ्न्या' स्त्रियाम् ॥ अत्र अघ्न्यापदस्य बहुविधव्युत्पत्तिसम्भवात् 'सन्दिग्धे नावगृह्णन्ति' (द्र० वाज० प्रति० ५।३४) इति न्यायेन पदकारा नावगृह्णन्ति । यथाभिमतदृष्टयस्तु पदकाराणामिति त्वन्यत्र व्याख्यास्यते ॥ यदा तु प्रजावतीः अनमीवाः अयक्ष्माः अघ्न्याः प्रार्पयतु इति वाक्यभेदस्तदा—

"सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन ॥"

इति महाभाष्यकारप्रामाण्यात् (अ० ३ । १ । ८५ भाष्य) 'प्रजावतीः' इत्यादिशब्दानां सामानाधिकरण्याच्च छान्दसव्यत्ययेन स्वरसिद्धिरिति 'अघ्न्याः' इत्यस्य सर्वानुदात्तत्वम् ॥ अत्र स्वरव्यत्यये प्रमाणानि—

(क) यास्कः (निरु० ५ । २३) अथ कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्याद् दृष्टव्ययं तु भवति । उतो समस्मिन्ना-शिशीहि नो वसो (ऋ० ८ । २१ । ८) मा नः समस्य दूढ्यः (ऋ० ८ । ७५ । ९) ।

अत्र 'समस्मिन् समस्य' इति पदद्वयस्य विभक्त्यन्तत्वे नामत्वं व्यक्तमेव । पुनः कथमेतयोः सर्वानुदात्तत्वम् इति प्रश्नमुद्भाव्य यास्कमुनिः स्वयमेवाह–'दृष्टव्ययं तु भवति' अत्र व्यत्ययेनेष्टस्वरसिद्धिरिति भावः ॥

अत एव फिट्सूत्रकारेणापि 'सम' इत्येतस्य पदस्य स्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि (फि० ७८) इति सूत्रेणोदात्तत्वपरिहारायानुदात्तत्वं प्रतिपादितमिति ध्येयम् ॥

(ख) तथा चात्र दुर्गः—पृ० ४२१ दृष्टव्ययं तु एतत्, यस्मादनुदात्तप्रकृतित्वेऽपि सति तस्मान्नामैवैतद् भवति ॥ आह । क्व पुनरस्य व्ययो दृष्ट इति । उच्यते—उतो समस्मिन्नाशिशीहि नो वसो—इति सप्तम्यां व्ययो दृष्टः । (स्वरस्येत्यर्थः) ॥

(ग) स्कन्दनिरुक्तभाष्ये (नि० ६ । ७ पृ० ४१२)—

भूरीणि हि कृणवामा शविष्ठेन्द्र क्रत्वा मरुतो यद्वशाम (ऋ० १ । १६५ । ७)······

इन्द्रं मरुत आहुः ।······शविष्ठ हे अतिशयेन बलवन् इन्द्र ! क्रत्वा कर्मणा न वाङ्मात्रेण वयं मरुतः । आमन्त्रितत्वाभावात् छान्दसमनुदात्तत्वम् । यद् व्यत्ययेनैकवचनं बहुवचनस्य स्थाने यानि······

मन्त्रे 'मरुतः' इति पदं सर्वानुदात्तम्, तस्य सम्बोधनस्य व्यत्ययेन जसि प्रथमाबहुवचने योजना कृताचार्यस्कन्देन, आरम्भेऽपि 'इन्द्रं मरुत आहुः' इत्यपि स्पष्टम् ॥

(घ) सायणभा० ऋ० १ । १६५ । ७ । उपर्युक्तमन्त्रस्यैव व्याख्याने—

यतो वयं मरुतः । छान्दसमनुदात्तत्वम् । एतेन स्वमहत्त्वं स्थापितं भवति, स्वरो व्यस्तः ॥ नात्र तिरोहितमस्ति ॥

(ङ) दुर्गस्त्वस्य मन्त्रस्य व्याख्याने 'मरुतः' इति पदं नहि व्याख्यातवान् ॥

(च) 'मर्या' अनुदात्तस्य चामन्त्रितत्वासम्भवान्न दोषः । छान्दसत्वादुभयं भविष्यति (निरु० ४ । २ स्कन्दभा० पृ० १९९) ॥ एतेन स्वकपोलकल्पितमर्थं कुर्वन्ति······स्वरसंचाराद्यनभिज्ञाः···स्वरादिदोषादप्यशुद्धोऽन्वयः सर्वथोपेक्षणीयः इति प्रलपन्तो वेदज्ञानलवदुर्विदग्धा उपेक्षणीया इति वेदितव्यम् । बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति इत्याप्तवचनमत्र शरणम् ॥ यद्वा वाक्यभेदेन 'अघ्न्याः' इति सम्बोधनम् । हे अघ्न्याः ! आप्यायध्वमिति सम्बन्धः । आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति सर्वनिघातः ॥ ततश्च प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा भवत इति वाक्यशेष आश्रयितव्यो भवति । कथं भूताः सत्यः । प्रजावतीः । प्रजावत्यः......अनमीवाः......अयक्ष्माः' इत्युवटः । 'अघ्न्याः' इत्यत्र स्वरदोषोद्भावनपक्ष एतदप्ययुक्तम् । 'हे अघ्न्याः कथंभूताः प्रजावतीः अनमीवाः अयक्ष्माः' सामानाधिकरण्ये त्वनिष्टस्वरप्राप्तिः । सम्बोधनसमानाधिकरण एतेषामपि त्रयाणामामन्त्रितत्वे सर्वनिघातप्राप्तिः, तच्चानिष्टम् । यद्येतानि पदानि नामन्त्रितानि तदा 'अघ्न्याः' इति आमन्त्रितत्वाभावे व्यत्ययेन निघातस्वरसिद्धिराश्रयणीया भवतीत्युभयतःपाशा रज्जुरिति विदुषां प्रमोदायैव दोषोद्भावनमेतत् ॥

वाक्यभेदस्वीकारोऽप्यत्राविचारितरमणीयः, शतपथविरोधात्, अध्याहृतक्रियायाश्च तत्रासत्त्वात् ॥ व्यत्ययशास्त्रं स्वीकुर्वतान्तु नेदं दोषोद्भावनं सम्भवति ॥

(इन्द्राय) इदि परमैश्वर्ये (भ्वा० प०) ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र...... (उ० २ । २८) इति कर्तरि रन् प्रत्ययः । इन्दति परमैश्वर्यवान् भवतीति ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वम् । विभक्त्यनुदात्तत्वे शेषनिघाते चाद्युदात्तस्वरसिद्धिः । स्वरितत्वैकश्रुत्ये पूर्ववत् ॥ देवराजस्तु स्वनिघण्टुभाष्ये 'रक्'प्रत्ययमाह । स च लेखकप्रमाद एवेत्यनुमिमीमहे, वेदेऽन्तोदात्तस्येन्द्रशब्दस्य सर्वथाऽसत्त्वात्, रन्प्रत्ययस्यानुवर्तनाच्च । उ० २।२७॥

यत्तु सायणाचार्याः (तै० सं० भाष्ये पृ० ४६) इन्द्रशब्दं वृषादित्वाद् (अ० ६ । १ । २०३) आद्युदात्तमाहुः स तु तेषां स्ववचोविरोध एव । ऋग्भाष्ये १ । २ । ६ 'इन्द्र' शब्दस्य व्युत्पत्तिपक्षे 'रन्' प्रत्ययान्तेन ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वप्रतिपादनात् ॥ उणादयोऽव्युत्पन्नानि

प्रातिपदिकानि इत्यस्मिन् पक्षेऽपि ग्रामादीनां च (फि० सू० ३८) इति सूत्रेणेष्टस्वरसिद्धौ वृषादीनामित्य नर्थकमेवेति नास्त्यविदितमेतद् वैयाकरणानाम् ॥

(भागम्) भज सेवायाम् (भ्वा० उ०) । अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (अ० ३।३।१९) इति कर्मणि 'घञ्' ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६।१।१५९) इत्यन्तोदात्तत्वम् । यद्वा भज्यते सेव्यते लौकिकैर्मुमुक्षुभिर्वा 'भगः' । हृद्भगसिन्ध्वन्ते० (अ० ७।३।१९) इत्यत्र निपातनाद् 'घ'प्रत्ययः । चजोः कु घिण्ण्यतोः (अ० ७ । ३ । ५२) इति कुत्वम् । भगानामयमित्यर्थे तस्येदम् (अ० ४ । ३ । १२०) इत्यण्, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, अमि पूर्वः (अ० ६ । १ । १०७) इति पूर्वसवर्णे, स्वरः पूर्व एव, अमोऽनुदात्तत्वे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तत्वम्, अग्रे य० ८।७ विवरणेऽपि द्रष्टव्यम् ।

(प्रजावतीः) प्र पूर्वाज्जनेः उपसर्गे च संज्ञायाम् (अ० ३ । २ । ९९) इति 'ड' प्रत्ययः । छान्दसत्वादसंज्ञायामपीति । उपपदमतिङ् (अ० २ । २ । १९) इति समासः । समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । ततश्च अजाद्यतष्टाप् (अ० ४ । १ । ४) इति टाप् एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तः प्रजाशब्दः । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (अ० ५ । २ । ९४) इति मतुप् । मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (अ० ८ । २ । ९) इति मकारस्य वकारः । उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीप् । ङीम्मतुपोः पित्वादनुदात्तत्वे 'जा' उदात्तः । स्वरितत्वैकश्रुत्ये च पूर्ववत् ॥

(अनमीवाः) आङ्पूर्वाद् 'मीङ् हिंसायाम्' इत्यस्मात् शेवायह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः (उ० १ । १५४) इति सूत्रेण वन् प्रत्ययान्तो निपात्यते । निपातनादेवोपपदस्य ह्रस्वत्वम्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते आद्युदात्तत्वं च द्रष्टव्यम् । केचन वृत्तिकारा अस्मिन् सूत्रे 'मीवा'' पदं निपातयन्ति, संहितायास्तुल्यत्वात्तदपि संभवति । यद्वा 'अम रोगे' इत्यस्माद् बाहुलकादत्र ईवन् प्रत्ययो द्रष्टव्यः । अमीवा रोगः, जलम् , मनश्च । ततो बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ।

(अयक्ष्माः) अत्रापि पूर्ववदेव नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । शेषनिघाते संहितायां स्वरितत्वे, स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (अ० १ । २ । ३९) इत्यैकश्रुत्ये प्राप्ते उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (अ० १ । २ । ४०) इति सन्नतरस्वरः ॥

यत्त्वत्रोवटः—अयनमयः गमनं, क्ष्मा पृथिवी, अयः क्ष्मायां यासां विद्यते ता अयक्ष्माः, तत्त्वयुक्तम् । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इतीणोऽच्यन्तोदात्तत्वे पूर्वपदप्रकृतिस्वरे मध्योदात्तप्रसङ्गात् ॥ स्वरव्यत्ययशास्त्रं स्वीकुर्वतान्तु छान्दसत्वाद् (बाहुलकाद्) इष्टस्वरसिद्धिरिति ॥

(मा) निपाता आद्युदात्ताः इत्युदात्तः ॥

(वः) पूर्वं (पृष्ठ १५) व्याख्यातः ॥

(स्तेनः) स्तेनः कस्मात् संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः (निरु० ३ । १९) । अत्र यास्कः 'स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः' इति धातोर्व्युत्पादयति । तत्र यकारलोपो बाहुलकाद्, इनच् प्रत्ययः ॥

श्वेतवनवासी उणादिवृत्तौ स्तेनाद्यन्नलोपश्च (अ० ५।१।१२५) इति स्तेनशब्दोऽपि साधुः । तथाहि स्तेन चौर्ये इति चौरादिकस्तस्मात् पचाद्यचि स्तेनः (उ० २ । ४८) इत्याह । एवं प्रत्ययस्वरेण, पक्षे चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(ईशत) ईश ऐश्वर्ये (अदा० आ०) इति लङ् । माङि लुङ् (अ० ३ । ३ । १७५) इति छान्दसत्वान्न । न माङ्योगे (अ० ६ । ४ । ७४) इत्याडभावः । प्रथमपुरुषैकवचने रूपम् ॥ तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति सर्वनिघातः ॥

यत्त्वत्रोवटेनोक्तम्—माङि लुङ् । मा युष्माकं चौर ईशनं कार्षीदिति तत्त्वविचारितरमणीयम् । छान्दस-व्यत्ययेन च्लेरङादेशे तु कथञ्चित् सम्भवत्यपि । यद्वा लुङि प्राप्ते लङ् छान्दस इति भवितव्यम् ॥

(मा) पूर्ववदाद्युदात्तः ॥

(अघशंसः) योऽघं पापं शंसति इत्येवं व्युत्पादयताचार्यदयानन्देनोपपदसमासः प्रदर्शितः । यत्तु अघस्य पापस्य स्तोता (य० ३३।६१) इति तत्त्वर्थप्रदर्शनपरमिति ध्येयम् । यथा निरुक्तकारेणाऽपि अघस्य शंसितारम्, अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्गः, आहन्तीति (नि० ६ । ११) इत्युक्तम् । उवटमहीधरावपि पापस्योत्कीर्तकः (य० १३ । ११) पापस्य प्रशंसकः (य० ३ । ३२) इत्याहतुः ॥

यद्वार्थप्रदर्शनाभावेऽपि नानिष्टत्वं दासीभारादीनाम् (अ० ६।२।४२) इत्यनेनैवेष्टस्वरसिद्धेः ॥

उपपदसमासे कथमिष्टस्वरसिद्धिरिति प्रदर्शयामः—

आङ्पूर्वाद्धन्तेः अन्येष्वपि दृश्यते (अ० ३ । २ । १०१) इति डः । पृषोदरादित्वात् (अ० ६ । ३ । १०९) (यथा च निरुक्ते ६।११) आङो ह्रस्वत्वं हकारस्य घत्वं च । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तत्वम् । ततो 'अघं शंसतीति' कर्मण्युपपदे शंसु स्तुतौ अ० प० इति धातोरण् प्रत्ययः । उपपदमतिङ् (अ० २। १९) इति समासः । अघशंसस्तु पूर्वमन्तोदात्तः सिद्धः । समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते तद्बाधकं गतिकारकोपपदाद् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वं प्राप्तम् । सर्वेष्वपि वैदिकग्रन्थेषु 'अघशंसः' पूर्वपदान्तोदात्त एवोपलभ्यते । अतस्तत्पुरुषसमासे कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपापारेवडवातैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च (अ० ६ । २ । ४२) इति सूत्रे दासीभाराणां च इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तत्वं सिद्धम् । तथाहि महाभाष्यकारः—

······दासीभारादीनामिति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात् । देवहूतिः । देवनीतिः । ओषधिः । चन्द्रमाः । तर्त्तर्हि वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । योगविभागः करिष्यते । कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपापारेवडवातैतिलकद्रूः पण्यकम्बलं इति । ततो दासीभाराणां चेति । तत्र बहुवचननिर्देशाद् दासीभारादीनामिति विज्ञास्यते ॥ (अ० ६ । २ । ४२ महाभाष्ये) ॥

कैयटजयादित्यादयोऽप्याहुः—यस्य तत्पुरुषस्य पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमिष्यते न च विहितम्, स सर्वो दासीभारादिषु द्रष्टव्यः । ननु च 'अघशंसः' इत्यत्र दासीभारादीनामित्येतस्य प्राप्तौ किम्मानमिति चेत् । तत्र ब्रूमः । महाभाष्यकारेण "ओषधिः" शब्दोऽप्यनेन योगविभागेन साध्यते । तत्र च उपपदसमास एव । ओषो धीयतेऽस्मिन्निति 'ओषधिः' कर्मण्यधिकरणे च (अ० ३ । ३ । ९३) इति 'किः' प्रत्ययः । अतः सूत्रमेतद् योगविभागेनोपपदस्वरस्यापि बाधकम् ॥ यत्तु महीधर आह—

अघं शंसति इच्छतीत्यघशंसः । शसि इच्छायाम् । अच् । तत्पुरुषे तुल्यार्थ······(अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्, तत्तु सर्वथैवायुक्तम् । कुतः ? अघं शंसतीति व्युत्पत्त्योपपदसमासो निर्विवादः, तेन गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्यनिवार्यतया प्राप्नोति, । न च तत्पुरुषे तुल्यार्थ-तृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः (अ० ६ । २ । २) इति सूत्रस्य कथमपि प्राप्तिसम्भवः, दुर्जन-सन्तोषन्यायेन प्राप्तावपि सत्यां गतिकारकोपपद० इति परप्राप्तिः कथं बाधिष्यते । न चैवं तत्पुरुषे तुल्यार्थ० इति सूत्रस्य प्राप्तिसम्भवः, इति व्यामोह एवात्र महीधरस्य ॥

यच्चात्र भट्टभास्करमिश्र आह—अघे पापे भक्षणलक्षणे शंसा अभिलाषो यस्य नियोगेन, सोऽघशंसः पापतत्परः, बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् तत्तु शोभनतरं व्याकरणे च तस्य पाण्डित्यसूचकम् ॥

तथा च सायण ऋग्भाष्ये (ऋ० ७ । १०४ । २ ॥ ६ । ८ । ५) बहुत्र षष्ठीसमासं प्रदर्शयति, तत्र कथं स्वरसिद्धिरिति तु नैव प्रतिपादितवान् ॥

संहितायां 'मा' इत्यनेनैकादेशे स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८।२।६।) इति 'मा' उदात्तः ॥

(ध्रुवाः) ध्रु गतिस्थैर्ययोः। (तु० प०) ध्रुवति स्थिरं भवतीति ध्रुवः कः (उ० २।६१) इत्यनेन बाहुलकाद् 'ध्रु'धातोरपि कः प्रत्ययः, यद्वा अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४ भाष्ये) इति 'अच्' प्रत्ययः, स च कुटादित्वान्ङित्, ततं उवङ् च। यद्वा ध्रुव स्थैर्ये (तु० प०) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इति कः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। टापि सवर्णदीर्घत्वे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्त एव। पूर्वस्य शेषनिघाते सन्नतरत्वम् ॥

(अस्मिन्) 'इदम्' शब्दात् सप्तम्येकवचने ङौ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (अ० ७।१।१५) इति स्मिन्नादेशे त्यदादीनामः (अ० ७।२।१०२) इत्यत्वे हलि लोपः (अ० ७।२।११३) इति लोपे ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (अ० ६।१।१७१) इति विभक्त्युदात्तत्वेऽन्तोदात्तत्वम्। शेषं पूर्ववत् ॥

(गोपतौ) गवां पतिः 'गोपतिः' षष्ठीसमासः। गमेर्डोः (उ० २।६७) इति डोप्रत्यये डित्वाट्टिलोपे प्रत्ययस्वरेणोदात्तो गोशब्दः। ततश्च षष्ठीसमासे समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते पत्यावैश्वर्ये (अ० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन गोशब्द उदात्तः, शेषनिघाते स्वरितत्वैकश्रुत्ये पूर्ववत् ॥

(स्यात) अस् धातोर्विधिलिङि मध्यमपुरुषबहुवचनं, छान्दसत्वात् पुरुषव्यत्ययः। तिङ्ङतिङः इति निघातः ॥

(बह्वीः) लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च (उ० १।२९) इति सूत्रेण बंहेः 'कु'प्रत्यये 'बहु'शब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततश्च नित्यं छन्दसि (अ० ४।१।४६) इति ङीष् प्रत्ययः, स चोदात्तः, यणि वा छन्दसि (अ० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णे शेषनिघाते चेष्टस्वरसिद्धिः ॥

(यजमानस्य) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु इति धातोः कर्त्तरि पूङ्यजोः शानन् (अ० ३।२।१२८) इति 'शानन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। ततश्च विभक्तेरनुदात्तत्वे शेषनिघाते स्वरितत्वे चैकश्रुत्यम् ॥

यद्वा—लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (अ० ३।२।१२४) इति शानच्। शपःपित्त्वादनुदात्तत्वम्। शानचश्चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते—तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तस्वरसिद्धिरिति दिक्। शेषनिघाते स्वरितैकश्रुत्ये च पूर्ववत् ॥

(पशून्) दृशधातोः अर्जिदृशिकम्यमि……(उ० १।२७) इत्यनेन 'कुः' प्रत्ययः। पशादेशश्च। पश्यतीति पशुः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। सुपोऽनुदात्तत्वे पूर्वसवर्णे चेष्टस्वरसिद्धिः ॥

(पाहि) पा रक्षणे (अदा० परस्मै०) लोटि तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

इषे त्वेत्यस्य मन्त्रस्य दयानन्दानुकूलतः।
बालानां† सुखबोधाय प्रक्रियेयं प्रदर्शिता ॥

॥ इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

† स्वरविषयेऽग्रे य० ४।१० आचार्यदयानन्दभाष्ये, 'आङ्गिरसि' इति पदस्य व्याख्याने, तत्रास्मत्टिप्पणे च द्रष्टव्यं कथमाचार्येण भाष्यकाराणां स्वरज्ञानविषय अप्यालोच्यते ॥

अथात्र विशेषविचारणा

१—वाक्ययोजनाविचारः

अत्र केचिल्लौकिका आशङ्कन्ते, समीपगतपदानामेव परस्परमन्वयः सम्भवति, दूरस्थानि पदानि नान्वेतुमर्हन्ति, मन्त्रपूर्वार्द्धगतपदानामुत्तरार्द्धेन संबन्धे सति वाक्यरचनाऽपि सामर्थ्याभावाद् दोषावहा सम्पद्यते। अतः स्वामिदयानन्दप्रकल्पितवाक्ययोजना दूषितैवेति ॥

तदयुक्तम्। कुतः ? 'वाक्यं हि वक्त्रधीनम्' इति शास्त्रोक्तेः। तथाहि—महाभाष्यकार आह (अ० १।१।५७ भा० पृ० ४५०)—

अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। तद्यथा—अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति। तस्य यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति—उदहारि भगिनि या त्वं कुम्भं हरसि शिरसा अनड्वाहं साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति ॥

वात्स्यायनोऽपि न्यायभाष्ये—(न्या० भा० १।२।९)

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥

अतिविस्पष्टार्थमिदम्। दुर्गाचार्यनिरुक्तटीकायां "दूरस्थमपि तस्य तत्" इति पाठः (पृ० ५२८) ॥

एवं, सति सामर्थ्ये दूरस्थानामपि पदानामन्वयो भवति, तदनुसारं वाक्यरचनायामपि न दोषः। अर्थाद् व्याख्यातृभेदाद् वाक्यभेदो भवति ॥

य० ३।८ 'त्रिंशद् धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः', अत्रान्तिमपादस्य 'प्रतिवस्तोरह द्युभिः' इति पदानि तृतीयपादस्य सन्त्यपि पूर्वपादेन सहानिवार्यतयान्वितानीति ध्येयम् ॥

आचार्यदयानन्देन त्वस्मिन् (य० १।१) मन्त्रे अष्टौ वाक्यानि स्वीक्रियन्ते। तानि च क्रमशः प्रदर्श्यन्ते—

(१) सविता देवो वायव स्थ वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु।
(२) इषे त्वोर्जे त्वा भागं (आश्रयामः)।
(३) आप्यायध्वम्।
(४) इन्द्राय प्रजावतीः, अनमीवाः, अयक्ष्माः, अघ्न्याः ('प्रार्पयतु' इत्यध्याहारः)।
(५) अवशंसः स्तेनो मा ईशत।
(६) यजमानस्य पशून् पाहि।
(७) वः (स्तेनो मेशत)।
(८) अस्मिन् गोपतौ बह्वीर्ध्रुवाः स्यात।

इदानीमन्येऽत्र कथं प्रतिपद्यन्त इति प्रतिपाद्यते—अस्य वेदस्य सर्वतोमुख्यं यजुरर्थव्याख्यानरूपं ब्राह्मणं शतपथमुपलभामहे, तत्र च वाक्यभेदेन सप्तवाक्यानि (श० १।७।१) व्याख्यायन्ते। पञ्चमे वाक्यभेदे सत्यष्टाविति ॥

सर्वानुक्रमणीकारेण (पृ० १३।१४) तु पञ्चैव व्यपदिश्यन्ते, कात्यायनश्रौतसूत्रकारस्तु (का० श्रौ० ४।५) वाक्यचतुष्टयमेवाह। तैत्तिरीयब्राह्मणे (तै० ब्रा० ३।२।१ पृ० ५४-५६) अष्टावेव सन्ति, उवटमहीधरौ त्वेकादश नव चाहतुः, तानि च तत्र तत्र द्रष्टव्यानि।

भट्टभास्करमिश्रस्तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये (पृ० ३-९) सत्यपि पाठभेदेऽष्टवाक्यानि स्वीचकार, तत्रैव सायणो (पृ० ११-१५) वाक्यपञ्चकमेव प्रतिपेदे।

इत्थं वाक्ययोजनायामत्र मन्त्रे (सामान्येन सर्वत्र वा) मिथो विप्रवदमाना एतेऽन्ये वा कथं व्यवस्थापयिष्यन्त इति युक्तैवैषा विचारणा, तत्र पूर्वोक्तरीत्या नैका सरणिर्वाक्ययोजनायामाश्रयितुं शक्यते, व्याख्यातॄणां बुद्धिभेदादिति स्पष्टमेव ॥

सत्यप्येवं भाष्यकाराणां सर्वापि विविधा वाक्ययोजना तदनुसारी च विविधोऽर्थः प्रामाणिक एवेति न स्वीकर्तुं शक्यते । यतो हि वेदान्तगीतादिषु ग्रन्थकर्तुरभिप्रायं परित्यज्य सर्वेऽपि भाष्यकाराः स्वस्वसम्प्रदायानुकूलं विविधमर्थं प्रतिपादयन्ति । तत्र सर्वेष्वेवार्थेषु ग्रन्थकर्तुरभिप्रायोऽस्तीति न कथमपि शक्यते वक्तुम् । एवमेव वेदेऽपि तत्कर्तुः सच्चिदानन्दादिगुणविशिष्टस्य ब्रह्मणो विभिन्नभाष्यकारप्रतिपादितेषु विविधार्थेषु सर्वेष्वेवाभिप्रायोऽस्तीति न शक्यते वक्तुम् । तथा सति कस्य भाष्यकारस्याभिप्रायः प्रामाणिक इत्याकाङ्क्षायां व्याकरणाद्याश्रयेण 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (वैशे० ६ । १ । १) इति शास्त्रवचनानुसृत एव वेदार्थः प्रामाणिको भवितुमर्हति, नान्यः ॥

२—सर्वमन्त्राणां त्रिविधार्थयोजना ॥

आचार्यदयानन्दोऽप्येत्थं प्रतिपद्यते—

(क) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पृ० ६५—"महाभाग्याद्देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते" (निरु० ७ । ४) इति व्याख्याने "आत्मन एव मुख्यदेवतात्वमस्ति, अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च ते सर्वे एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति" ॥

(ख) "अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते, परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति" भू० पृ० ३६३ ॥

(ग) ऋग्वेदभाष्यप्रथमसूक्ते (प्रथमाङ्के) प्रायेण सर्वेषां मन्त्राणां द्वावर्थावाचार्येण प्रदर्शितौ (ततोऽग्रेऽपि कतिपयसूक्तानामेवंविध एवार्थोऽद्यावध्यमुद्रितो हस्तलिखितः "अजमेरवैदिकयन्त्रालये" अस्माभिः स्वयं दृष्टः) तेनापि मन्त्राणां बहुविधोऽर्थ इत्याचार्यस्य सिद्धान्त इति व्यज्यते ॥

(घ) न च वेदभाष्ये कतिपयेष्वेव मन्त्रेष्वर्थत्रैविध्यस्य प्रदर्शितत्वादन्यत्र त्रिविधार्थयोजनाऽसम्भवेति शङ्क्यम् । पदार्थे सर्वत्रान्वयादावपि यत्र तत्रानेकप्रक्रियासंवलितार्थस्योद्भावितत्वात्, क्वचिदुद्भावने च गूढश्लेषाद्यर्थप्रदर्शनपरत्वाच्च ॥

अत्र च प्रमाणानि—

(१) स्कन्दनिरुक्तभाष्ये (७ । ४ पृ० ३० भा० ३)

सोऽयं माहाभाग्यादित्यादिग्रन्थ आपादपरिसमाप्तेरध्यात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिकपरिकल्पितेषु देवतैकत्वनित्यवृत्त्यभिधानदेवताभेदपक्षेषु त्रिष्वपि देवताया माहाभाग्याभ्युपगमाद्योजयितुं शक्यः । प्रायेण तु व्याख्यातृभिरध्यात्मवित्पक्षेणैव योजयितव्य इति ॥

(२) स्कन्दनिरुक्तभाष्ये (७ । ५ पृ० ३५-३७)

······दर्शनभेदः परस्परविरोध्यध्यात्मविन्नैरुक्तयाज्ञिकानाम् । अनेकजन्मान्तराभ्यासवासनापरिपाकवशात् प्रतिभानव्यवस्था द्रष्टव्या ।

तत्राध्यात्मविदस्तावत् सन्मात्रनिबद्धबुद्धयः शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थयो भिन्नविषयभवसंक्रमस्थानवैराग्याभ्यासवशात् समासादितस्थिरसमाधयो निरस्तसमस्ताधयो निरस्तबाह्यविषयैषणा निरुद्धान्तःकरणवृत्तयो निष्कम्पदीपकल्पाः क्षेत्रज्ञानमननाः······अन्यं न पश्यन्ति न शृण्वन्ति ।······

नैरुक्ता अपि मन्त्रदेवतानिर्वचनेन तावद् द्रव्यमनुबुभूषन्तोऽग्न्यादिभ्यस्त्रिभ्यो नान्यं पश्यन्ति न शृण्वन्ति ॥

शुद्धयाज्ञिकास्तु (याज्ञिकशुद्धयाज्ञिकयोर्भेद इति सम्पा०) शब्दव्यतिरिक्तामितिहासपुराणप्रसिद्धां 'त्रिविग्रीवः' इत्यादिमन्त्रप्रत्यायितरूपां प्रतिजानते स्तुवते ध्यायन्ति वेति ।

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह" (निरु० १ । २०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात् । अधिदैवादिविषयेणैव श्रुतेः न श्रुतप्रवृद्धतायाः स्मरणात् ॥

अत्राचार्यस्कन्दस्वामी सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः इत्यनेन वेदस्य समस्तमन्त्राणां सर्वेष्वपि पक्षेषु (आध्यात्मिकनैरुक्तयाज्ञिकादिषु) अर्थो भवन्ति, किमुतैकस्याध्यायस्य मण्डलस्य सूक्तस्य वेति सर्वथा विस्पष्टम् ॥

तथैव चात्राचार्यदयानन्दस्य सिद्धान्तः ॥

आचार्यस्कन्देन न स्वकल्पनामात्रेणैवैतत् प्रतिपाद्यतेऽपि त्वत्र महामुनियास्कस्यापि साक्ष्यमुद्भाव्यते। तथाहि प्रथमाध्याये (नि० १ । २०)—

अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा इत्यनेन निरुक्तकारोऽपि सर्वेषां मन्त्राणां त्रिविधमर्थं मन्यते इति स्कन्दलेखस्याभिप्रायः ॥

४—आचार्यदयानन्दप्रदर्शितास्त्रिविधक्रियाः

एवमग्रे यद्यपि सर्वत्र त्रिविधप्रक्रियासु मन्त्रार्थः प्रदर्शयितुं शक्यते, तथापि क सन्त्यक्तनिखिलबुद्धीनां शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थीनां भिन्नविषयभवसङ्क्रमस्थानवैराग्याभ्यासवशाद्, अनेकजन्मतीव्रवैराग्यसंस्कारवशाद्वा समासादितस्थिरसमाधीनां निरस्तसमस्ताधीनां निरस्तबाह्यविषयैषणानां निरुद्धान्तःकरणवृत्तीनां परोपकारको वेदार्थप्रकाशः, क चास्मादृशानां साधारणबुद्धीनां, चञ्चलचित्तानां, धनपिपासूनां, सर्वदैव लौकिकप्रवाहेऽस्थिरजनानां, धनोद्देश्येनान्तर्ध्वनिविरुद्धमप्यङ्गीकुर्वतां, प्राप्तजनसाधारणप्रचलितशिक्षाणां आर्षज्योतिर्विरहाणामनार्षग्रन्थरुचां शास्त्रप्रमाणरहिता निराधारकल्पनाः ।

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः ...... इति न्यायं पुरस्कृत्यास्माभिराचार्यशब्दैरेव प्रथममन्त्रस्य 'आध्यात्मिक—आधियाज्ञिक—आधिदैविक'प्रक्रियाः क्रमशः प्रदर्श्यन्ते—

अथाध्यात्मिकार्थः

"...... विज्ञानप्राप्तये पराक्रमाय [च] विज्ञानस्वरूपं, अनन्तपराक्र[म]मानन्दरसघनं ज्ञानानां भाजनं परमेश्वरं त्वाम् आश्रयामः । एवमाप्यायामहे । सर्वविद्याद्योतको देवः (देवो भगवान् इत्यन्वये), सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (ईश्वरानुग्रहेण सर्वेषां सुखैश्वर्यस्य वृद्धिः स्यात् इति भावार्थे) प्राणान्तःकरणेन्द्रियाणि श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु । हे परमात्मन् ! परमैश्वर्यप्राप्तयेऽनमीवा अयक्ष्मा इन्द्रियाणि प्रार्पयतु । अस्माकं मध्ये कश्चिच्चौरः पापी मोत्पद्यताम् गवां पतिरिन्द्रियाणां पतिस्तस्य धार्मिकमनुष्यस्य समीपे इन्द्रियाणि बह्वीर्ध्रुवाः स्युः" ॥

"यः (परमेश्वरं) यजति तस्य विदुषो जीवस्य पशून् प्रजाः पाहि" ॥ किञ्च भावार्थे—"येनेयं विचित्रा सृष्टी रचिता तस्य जगदीश्वरस्य धन्यवादा वाच्याः । एवं कुर्वतो भवतः परमदयालुरीश्वरः स्वकृपया सदैव रक्षयिष्यतीति मन्तव्यम्" ॥ आचार्यशब्दैरेवाध्यात्मिकप्रक्रियायां सम्पूर्णोऽपि मन्त्रार्थः सुव्यक्त एव ज्ञायते । अत्र चास्माकं स्वकल्पितमक्षरमात्रमपि नास्ति, आचार्यशब्दा एव अस्माभिः प्रदर्शिता इति ॥

अथाधियज्ञार्थः

अन्नस्य प्राप्तये[1] उत्तमरसलाभाय जगदुत्पादकं सेवनीयं (अग्निं) आश्रयामः । सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् देवः सविता भौतिकोऽग्निः (अग्निरेव सविता ॥ जै० उ० ४ । २७ । १ ॥ गो० पू० १ । ३३ ॥) ये सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवो वायवः सन्ति तान् श्रेष्ठतमाय कर्मणे यज्ञाय प्रार्पयति । इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये (यज्ञार्थं) प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्या गावः स्युः । एवं रोगाख्यो विघ्नश्चौरः पापी (पापमूलकः) स्तेनो (हरणशीलः) हर्तुं

१. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः । मनुः ३ । ७६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या अयं सविता॰ देवो भगवान् वायव स्थ यान्यस्माकं वो युष्माकं च प्राणान्तःकरणेन्द्रियाणि सन्ति तानि श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु । वयमिषेऽन्नायोर्जमेच्छायै सवितारं देवं त्वा त्वां तथोर्जे पराक्रमोत्तमरसप्राप्तये भागं भजनीयं त्वा त्वां सततमाश्रयामः । एवं भूत्वा + यूयमाप्यायध्वं वयं चाप्यायामहे ।

समर्थो न भवेत्, प्रजाश्च सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुः । ता अस्मिन् गोपतौ प्रत्यक्षे गवां स्वामिनि (यजमाने) ध्रुवा निश्चलसुखहेतवः स्युः । सर्वोपकारं यजति यस्तस्य विदुषो यजमानस्य पशून् प्रजाः श्रियो वा (भौतिकोऽग्निः) पाति ॥

अथाधिदैविकार्थः

पराक्रमायोत्तमरसलाभाय सर्वपदार्थानां संप्रयोगेण पुरुषार्थसिद्धये भागं भगानां धनानां भाजनं तं सवितारमाश्रयामः (सविता वै सर्वस्य प्रसविता । निरु० १० । ३२), एवमाप्यायामहे । सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् द्युस्थानो देवः सविता (सूर्यः सर्वौषधिवनस्पत्यादीनामुत्पादकः, असत्यस्मिन् संसारे किमप्युत्पत्तुं नार्हति) ये सर्वक्रियाप्राप्तिहेतवः स्पर्शगुणा भौतिका वाय्वादयः सन्ति तान् श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयति । परमैश्वर्यप्राप्तये अघ्न्याः पृथिव्यादयोऽनमीवा अयक्ष्माः प्रजावतीः प्रार्पयतु । (सवितरि सति) स्तेनो विघ्नो वा समर्थो न भवति । गोपतौ पृथिव्यादिरक्षणमिच्छुकस्य ता ध्रुवाः स्युः । सविता सर्वोपकारं यजति यस्तस्य यजमानस्य श्रीः रक्षति ॥

आचार्येणेङ्गितचेष्टितैः सर्वा अपीमाः प्रक्रियाः स्वभाष्ये प्रायः समासतो निरूपिता इति सुधिय एव विभावयन्तु ॥

वस्तुतस्तु प्रकाण्डभूत आचार्यैः शुचाववकाशे उपविश्य महता प्रयत्नेन वेदभाष्यं प्रणयतिस्म, तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता वेदभाष्येणेति ॥

सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि भाष्ये यदनर्थकं स्यात् ॥

विशेषवक्तव्यम्

(१) अत्र यजुर्वेदभाष्ये 'मन्त्रोऽयं शतपथे व्याख्यातः' इति वाक्यं प्रायशः पश्यामः । तत्र किमाचार्यस्यैतदभिप्रेतं यन्मया प्रदर्शितो भाष्यार्थः शतपथकारस्याप्यभिप्रेतः, अथवोद्धरणमात्रमेव, ब्राह्मणप्रदर्शितोऽप्यर्थो वेदार्थजिज्ञासुभिः समाश्रयणीय इति । किञ्च दर्शपौर्णमासादियज्ञेषु विनियुक्तानामेषां मन्त्राणां कोपपत्तिरनेन भाष्येण सहेतरत्सर्वं स्वतन्त्रविषयत्वात् पृथगेव विस्तरशो निरूपयिष्यते ॥

(२) (क) मनुष्याः श्रेष्ठकर्मसु प्रवर्तेरन् । ज्ञानोपलब्ध्यर्थं यत्नो विधेय इति 'इषे त्वोर्जे त्वा' इति ज्ञापयति । तदर्थमीश एव शरणम् ॥

(ख) कर्मसु गवां महत्त्वावश्यकता···ता गावः सदैव अयक्ष्माः स्युः, ताभ्य एव कर्मारम्भ इति ध्वनितम् ॥

(ग) पापी 'अघशंसः' मा ईशत । रोगो वा विघ्नो वा मा भूत् ॥

(घ) 'यजमानस्य पशून् पाहि' यस्मिन् देशे पशुपालनं सम्यग् भवति, तत्रैव रोगाणां शान्तिः, विविधक्रियाकलापसिद्धिः, सर्वविघ्नोपशमश्च सम्भवति नान्यथा ॥

॥ इति विशेषविचारणा ॥

१ क्रमविपर्यासेन व्याख्याने त्वभियुक्ता एव प्रमाणम्—तद्यथा—
यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः । अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥ न्यायवात्स्यायनभाष्ये १।२।९ ॥

२. सर्वप्रक्रियासु चार्थस्य सम्भवात् सवितुः परमेश्वरस्य प्रार्थितत्वात् 'आश्रयामः' इत्यध्याहारोऽत्र संगच्छते ॥

॰ अत्र '······देवो भगवान् यान्यस्माकं वो युष्माकं च वायवः प्राणान्तःकरणेन्द्रियाणि स्थ सन्ति तानि······' इति सुबोधतरोऽन्वयः स्यात् ।

+ इतोऽग्रे "हे मनुष्या" इति तु क ख पाठः, स च सम्यक्, भाषायामपि तथैव वर्त्तते, ग हस्तलेखे पृथक् कृतः ॥

हे परमेश्वर ! भवान् कृपयाऽस्माकमिन्द्राय परमैश्वर्य्यप्राप्तये श्रेष्ठतमाय कर्मणे चेमाः प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा अघ्न्या† गाः सदैव प्रार्पयतु । हे[२] परमात्मन् ! भवत्कृपयास्माकं मध्ये कश्चिदघशंसः पापी स्तेनश्चोरश्च मेशत कदाचिन्मोत्पद्यताम् । तथा त्वमस्य यजमानस्य जीवस्य पशून् पाहि सततं रक्ष । यतो वः ता गा इमान् पशूंश्चाघशंसः स्तेनो मेशत । हर्तुं समर्थो न भवेद्यतोऽस्मिन् गोपतौ पृथिव्यादिरक्षणमिच्छुकस्य धार्मिकमनुष्यस्य समीपे बह्वीर्बह्व्यो गावो ध्रुवाः स्यात भवेयुः ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदैव धर्म्यं पुरुषार्थमाश्रित्यर्ग्वेदाध्ययनेन[३] गुणगुणिनौ ज्ञात्वा सर्वपदार्थानां संप्रयोगेण पुरुषार्थसिद्धये श्रेष्ठतमाभिः क्रियाभिः संयुक्तैर्भवितव्यम् । यत ईश्वरानुग्रहेण सर्वेषां सुखैश्वर्य्यस्य वृद्धिः स्यात् । तथा सम्यक्क्रियया प्रजाया रक्षणशिक्षणे सदैव कर्त्तव्ये । यतो नैव कश्चिद्रोगाख्यो विघ्नश्चोरश्च प्रबलः कदाचिद्भवेत्, प्रजाश्च सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुः । येनेयं विचित्रा सृष्टी रचिता तस्मै जगदीश्वराय सदैव धन्यवादा वाच्याः । एवं कुर्वतो भवतः परमदयालुरीश्वरः कृपया सदैव रक्षयिष्यतीति मन्तव्यम्[४] ॥१॥

ऋग्वेद के भाष्य करने के पश्चात् यजुर्वेद के मन्त्रभाष्य का आरम्भ किया जाता है[५] । इसके प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में, उत्तम कामों[६] की सिद्धि के लिये मनुष्यों को ईश्वर की प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये, इस बात का प्रकाश किया है ॥

१ 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इति पदद्वयमर्थस्वारस्याय पुनः पठितमिति बोध्यम् ॥

२ "हे······कश्चित्" इति वाक्यशेषः ॥

३ ऋग्वेदेन सह यजुर्वेदस्य सम्बन्धप्रदर्शनमिदमाचार्य्यस्य ॥

४ मन्त्रगतार्थपदान्यभिलक्ष्यैव भावार्थोऽयं निरूप्यत आचार्यैः । स चेत्थं नेयः—
१ इषे त्वोर्जे······। २ श्रेष्ठतमाय कर्मणे······आप्यायध्वम् । ३ इन्द्राय भागं । ४ प्रजावतीः······। ५ मा वस्तेन ईशत । ६ ध्रुवा अस्मिन्······यजमानस्य पशून् पाहि क्रमशोऽत्र सम्बन्धो द्रष्टव्यः ॥

५ ऋग्वेदभाष्य का आरम्भ संवत् १९३४ मार्गशीर्ष शुक्ला ६ मङ्गलवार के दिन किया था अर्थात् महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ करने के २७ दिन पश्चात् यजुर्वेद भाष्य का आरम्भ किया । बस इतनी ही पूर्वकालता है । यजुर्वेद भाष्य से पूर्व महर्षि ऋग्वेद का सम्पूर्ण भाष्य कर चुके थे, उपर्युक्त लेख से किसी २ सज्जन का ऐसा अर्थ निकालना नितान्त भूल है ॥

६ श्रेष्ठकर्मों का अनुष्ठान ही जीवन का लक्ष्य है । यज्ञ शब्द से संसार के सभी शुभ कर्मों का ग्रहण होता है । जैसा कि इसी मन्त्र के व्याख्यान में शतपथ ब्राह्मण में कहा "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" अर्थात् यज्ञ से अभिप्राय श्रेष्ठतम, संसार के उत्तम से उत्तम कर्मों का है ॥
इसीलिये "यजुर्भिर्यजन्ति" इत्यादि वचनों से सम्पूर्ण शुभकर्मों का अनुष्ठान यजुर्वेद द्वारा किया जाता है, ऐसा यास्कमुनि कहते हैं ॥

उन सब शुभ कर्मों का निरूपण ही इस वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है । श्रेष्ठतम—कर्मानुष्ठान (अर्थात् यज्ञ) के लिये गौ आदि पशु अनिवार्य हैं । इन पशुओं के बिना कोई भी यज्ञ (शुभ कर्म, चाहे वह आध्यात्मिक हो या आधिदैविक या आधिभौतिक) सम्पन्न नहीं हो सकता । अत एव प्रथम मन्त्र में इसके लिये ईश्वर से प्रार्थना की गई है । प्रभुभक्ति ही सर्वतोमुख्य शुभ कर्म है । ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा अन्नादि की प्राप्ति में तत्पर जिज्ञासुओं के लिये गोपालन परमावश्यक कर्तव्य है ॥

इस प्रकार प्रभुभक्ति, ज्ञानोपलब्धि, प्राणों के संयम द्वारा इन्द्रियों का शमन तथा गौ आदि महोपकारक प्राणियों की पूर्ण रक्षा द्वारा इस संसार में शुभ कर्मों का प्रारम्भ करना आवश्यक है । परम दयालु पिता ने सर्गारम्भ में हम जीवों को यह उपदेश दिया है तथा देता है ॥

† पदमेतद् ग हस्तलेखे प्रमादात्यक्तम्, क ख भाषायाञ्चाप्युपलभ्यमानत्वात् ॥

पदार्थान्वयभाषा—+ हे मनुष्य लोगो जो (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाला संपूर्ण ऐश्वर्य्ययुक्त (देवः) सब सुखों के देने और सब विद्या के प्रसिद्ध करनेवाला परमात्मा है ※ सो हमारे और (वः) तुम्हारे (वायवः) सब क्रियाओं के सिद्ध करानेहारे [जो] स्पर्शगुणवाले प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियां (स्थ) हैं, उन को (श्रेष्ठतमाय) अत्युत्तम (कर्मणे) करने योग्य सर्वोपकारक यज्ञादि कर्मों के लिये (प्रार्पयतु) अच्छी प्रकार संयुक्त करे। हम लोग (इषे) अन्न आदि † उत्तम पदार्थों और विज्ञान की [प्राप्ति तथा उत्तम] इच्छा के लिये (त्वा) उक्त गुण वाले और (ऊर्जे) पराक्रम अर्थात् उत्तम रस की प्राप्ति के लिये (भागम्) सेवा करने योग्य धन और ज्ञान

---

१ सविता से परमात्मा अर्थ लेने में ऋ० ३। ५५। १९ तथा संस्कृत टिप्पण देखें ॥

२ आचार्य दयानन्द ने यत्र तत्र मध्यमपुरुष का प्रथमपुरुष में भी अर्थ दर्शाया है। अल्पश्रुत लोग महाभाष्यकार पतञ्जलि के सिद्धान्त (जो अ० ३। १। ८५ के भाष्य में है) को न समझकर कहा करते हैं कि स्वामी दयानन्द ने कितना दुःसाहस किया है। भला 'असि' का अर्थ 'अस्ति' कैसे हो जायगा इत्यादि २। ऐसे लोगों की बुद्धि के विषय में क्या कहा जावे। महाभाष्य में महामुनि पतञ्जलि ने 'वियूयाः' 'तू छूट जावे' का अर्थ 'वियूयात्' 'वह छूट जावे' किया है ॥

आचार्य स्कन्दस्वामी ने निरुक्त ६। २२ की टीका पृ० ४६८ में 'शृण्वे' मैं सुनता हूँ का अर्थ 'श्रूयते' 'सुना जाता है' ऐसा किया है।

३ यज्ञ संसार में सर्वोत्तम अर्थात् मुख्य कर्म है, जैसा कि यजुर्वेद अ० ३१ मं० १६ में कहा है ॥

४ (क) अनेक सज्जनों के विशेष आग्रह से हम पदार्थ की संस्कृत-टिप्पणी के आवश्यक तथा सर्वसाधारण की समझ में आ सकने वाले अंश आर्यभाषा में भी दे रहे हैं। पाठक विस्तृत टिप्पण संस्कृत में देखें।

कई एक व्याकरणानभिज्ञ—वैदिकशब्दार्थ के मर्मज्ञान से शून्य कहा करते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में बहुत से शब्दों का अर्थ निज कल्पनामात्र से लिखा है, जैसा कि गम् अथवा गत्यर्थ धातुओं का अर्थ उन्होंने 'ज्ञान गमन प्राप्ति' किया है, सो किसी प्रकार नहीं हो सकता। क्योंकि जाने का अर्थ जानना और प्राप्ति कैसे होगा? ऐसे पुरुषों के भ्रम निवारणार्थ हम ने संस्कृत टिप्पण में विस्तार से दर्शा दिया है कि गम् आदि गत्यर्थ धातुओं का अर्थ 'ज्ञान, गमन और प्राप्ति' तीनों होता है। इसमें महामुनि यास्क-आचार्य, स्कन्द स्वामी, (सायण से लगभग एक सहस्रवर्ष पूर्व) दुर्गाचार्य, भट्टभास्कर मिश्र, आत्मानन्द, जयतीर्थ, नृसिंह यति, यज्ञेश्वर भट्ट आदि ऋषि मुनि वैदिक विद्वानों की साक्षी संस्कृत टिप्पण में दर्शा दी है। स्वाध्यायप्रेमी सज्जन वहां देख सकते हैं ॥

(ख) 'इषे' का अर्थ अन्न भी निघण्टु में है। पूर्व में 'इषे' ज्ञान के लिये, ऐसा अर्थ दिखा चुके हैं, उसमें ऋ० ६। १०। १४। भी प्रमाण है क्योंकि 'वाजाय' 'श्रवसे' 'इषे' यह तीन समानार्थक अन्नवाची शब्द आजाने से पुनरुक्त परिहार को लक्ष्य में रखकर जब 'वाजाय' का अर्थ 'अन्न के लिये' तथा 'श्रवसे' का अर्थ कीर्त्ति के लिये हो गया तब 'इषे' का अर्थ तद्भिन्न ही होना चाहिये। अतः धात्वर्थ को लेकर उसका अर्थ 'ज्ञान के लिये' ठीक ही है।

५ बह्वृच संध्या-पद्धतिभाष्य पृ० ४५ पर 'ऊर्जे' का अर्थ 'परमात्मा के लिये' ऐसा भी किया गया है। आचार्य दयानन्द ने यदि ऐसा अर्थ किया होता तो ये अल्पश्रुत लोग कोलाहल मचा देते ॥

+ भाषा का विशेष परिशोधन हमने हस्तलेखों के आधार पर किया है, किसी किसी स्थान पर भाषा के अस्पष्ट पदों को स्पष्ट भी कर दिया है ॥ सम्पादक

※ "सो (वः) तुम हम और सब मित्रों के जो (वायवः)" इति ग कोशे अजमेरमुद्रिते च पाठः। कखयोस्तु नास्ति।

† "उत्तम उत्तम पदार्थों और विज्ञान की इच्छा और (ऊर्जे) पराक्रम अर्थात् उत्तम रस की प्राप्ति के लिये (भागं) सेवा करने योग्य धन और ज्ञान के भरे हुए (त्वा) उक्तगुण वाले और (त्वा) श्रेष्ठ" इति अजमेरमुद्रितः पाठः।

के भरे हुए (त्वा) श्रेष्ठ पराक्रमादि गुणों के देनेहारे आपका सब प्रकार से आश्रय करते हैं। हे मित्र लोगो! तुम भी ऐसे होकर (आप्यायध्वम्) उन्नति को प्राप्त हो तथा हम भी हों। हे भगवन् जगदीश्वर! हम लोगों के (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (प्रजावतीः) जिन के बहुत संतान हैं तथा जो (अनमीवाः) व्याधि और (अयक्ष्माः) जिन में राजयक्ष्मा आदि रोग नहीं हैं वे (अघ्न्याः) जो २ गौ आदि पशु वा उन्नति करने योग्य हैं, जो कभी हिंसा करने योग्य नहीं तथा जो इन्द्रियां वा पृथिवी आदि लोक हैं, उन को सदैव † प्राप्त कराइये। हे जगदीश्वर! आप की कृपा से हम लोगों में से दुःख देने के लिये कोई (अघशंसः) पापी वा (स्तेनः) चोर डाकू (मा ईशत) मत उत्पन्न हो [अथवा शासन करने वाला न हो[3]]। तथा आप इस (यजमानस्य) परमेश्वर और सर्वोपकार [रूप] धर्म के सेवन करने वाले मनुष्य के (पशून्) गौ घोड़े और हाथी आदि तथा लक्ष्मी और प्रजा की (पाहि) निरन्तर रक्षा कीजिये, जिससे (वः) इन पदार्थों के हरने को पूर्वोक्त कोई दुष्ट मनुष्य समर्थ [(मा)] न हो। (अस्मिन्) इस धार्मिक (गोपतौ) पृथिवी आदि पदार्थों की रक्षा चाहने वाले सज्जन मनुष्य के समीप (बह्वीः) बहुत से उक्त पदार्थ (ध्रुवाः) निश्चल सुख के हेतु (स्यात[4]) हों॥

इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में की है उसका ठिकाना पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया और आगे भी ऐसा ही ठिकाना लिखा जायगा, जिसको देखना हो वह उस ठिकाने से देख लेवे॥ १॥

भावार्थभाषा—विद्वान् मनुष्यों को सदैव परमेश्वर और धर्मयुक्त पुरुषार्थ के आश्रय से ऋग्वेद को पढ़के गुण और गुणी को ठीक २ जानकर सब पदार्थों के संप्रयोग से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अत्युत्तम क्रियाओं से

१ सब मन्त्रों का अर्थ सब प्रक्रियाओं में होने से 'सविता' परमदेव परमात्मा की प्रार्थना होने के कारण संस्कृत में जो 'आश्रयामः' पद का अध्याहार है उसी का अर्थ 'आश्रय करते हैं' किया गया है॥

२ गोवध का घोर निषेध ऋ० ८। १०१। ५ में किया है। ऐसा ही महाभारत (शान्तिपर्व अ० २६३ श्लोक ३६) में है। अधिक संस्कृत टिप्पण में देखें॥

३ मन्त्र के 'मा ईशत' पदों का अर्थ संस्कृत पदार्थ में 'मा ईष्टां समर्थो मा भवतु' किया है और संस्कृत अन्वय में 'मोत्पद्यताम्' दर्शाया है अतः यहां दोनों अर्थों का ग्रहण समझना चाहिये।

४ पदों का क्रमशः व्याख्यान न करके परस्पर सम्बद्ध पदों का आगे पीछे भी व्याख्यान किया जा सकता है, इसमें शिष्टों का प्रमाण है, जैसा कि न्यायवात्स्यायन भाष्य १। २। ९ में कहा है—जिस पद का जिसके साथ अर्थ का सम्बन्ध हो उसका दूर होते हुए भी (सम्बन्ध) हो सकता है। अर्थ से परस्पर असमर्थ पदों का समीप होना अर्थ को नहीं बना सकता॥

५ आचार्य ने यह भावार्थ मन्त्रगत पदों को ही लक्ष्य में रखकर किया है, वह संस्कृत टिप्पण में क्रमशः दर्शा दिया गया है॥

१—देवताविषयक विचार

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र का देवता 'सविता' लिखा है इसमें विचार यह है—

१—याजुषसर्वानुक्रमणीकार ने इस मन्त्र का जो शाखादि देवता माना है आचार्य दयानन्द की भांति दुर्ग तथा स्कन्द स्वामी भी उसे नहीं मानते (निरुक्त सप्तमाध्याय के ४र्थ खण्ड की दोनों टीकाओं के उदाहरण संस्कृत में देखें)।

वहां दोनों ही "इषे त्वा" आदि मन्त्रों को अनादिष्टदेवता (अर्थात् इनका देवता नहीं कहा गया) मानते हैं और इसका देवता इन्द्र अथवा महेन्द्र बताते हैं। इनके उपर्युक्त उद्धरण से यह भी सिद्ध हो रहा है कि वे दोनों ही 'इषे त्वा' आदि मन्त्र को शाखाच्छेदन में विनियुक्त मात्र मानते हैं। शाखादि इसका देवता है, यह नहीं मानते॥

† "(प्रापयतु) नियत कीजिये" इति अजमेरपाठः।

युक्त होना चाहिये कि जिससे परमेश्वर की कृपापूर्वक सब मनुष्यों को सुख और ऐश्वर्य की वृद्धि हो। सब लोगों को चाहिये कि अच्छे-अच्छे कामों से प्रजा की रक्षा तथा उत्तम गुणों से पुत्रादि की शिक्षा सदैव करें कि जिससे प्रबलरोग विघ्न और चोरों का अभाव होकर प्रजा और पुत्रादि सब सुखों को प्राप्त हों ❀ यही श्रेष्ठ काम सब सुखों की खान है। हे मनुष्य लोगो! आओ अपने मिलके जिस ने इस संसार में आश्चर्यरूप पदार्थ रचे हैं, उस जगदीश्वर के लिये सदैव धन्यवाद देवें। वही परम दयालु ईश्वर अपनी कृपा से उक्त कामों को करते हुए मनुष्यों की सदैव रक्षा करता है॥ १॥

यजुःसर्वानुक्रमणीकार का दिखाया हुआ शाखादि देवतावाद दुर्ग और स्कन्द के काल में नहीं था, ऐसा भी प्रतीत होता है, क्योंकि यदि होता तो वह उसका कुछ तो वर्णन करते। यह भी जान पड़ता है कि इन पिछले लगभग सहस्रवर्ष में ही इस सर्वानुक्रमणी ग्रन्थ की रचना हुई है क्योंकि उवट ने भी अपने भाष्य के आरम्भ में लिखा है कि—"गुरु से, तर्क से तथा शतपथ के आधार पर मन्त्रों के ऋषि देवता और छन्द कहूंगा" सर्वानुक्रमणी का नाम तक नहीं लिया॥

इस प्रकार प्रचलित याजुषदेवतावाद याजुषसर्वानुक्रमणी जैसी बालू की भित्ति पर खड़ा है, भला इसका क्या ठिकाना। पाठक इस विषय को विस्तार से विवरणभूमिका में देख सकते हैं॥

२—प्राचीन ऋषि मुनियों ने अन्यत्र भी एक २ मन्त्र का देवता भिन्न २ दृष्टि से भिन्न २ माना है, जिनका सर्वानुक्रमणी में उल्लेख नहीं, सो आगे दर्शाते हैं—

इस वेदभाष्य में जहां तहां सर्वानुक्रमणी से भिन्न देवता को देखकर कुछ अल्पज्ञ लोग शङ्का करने लगते हैं सो यह उनका अज्ञानमात्र है, क्योंकि परमर्षि यास्क तथा पतञ्जलि आदि ने बृहद्देवता तथा सर्वानुक्रमणी आदि के निर्दिष्ट देवतावाद को न मानकर (मानते भी कैसे जब उस काल में ये ग्रन्थ थे ही नहीं) भिन्न देवता दर्शाया है। तद्यथा—

(क) "नवो नवो भवति जायमानो······ऋ० १०। ८५। १९" इस मन्त्र में सर्वानुक्रमणीकार (पृ० ४०) के मत में चन्द्रमा देवता है। उधर निरुक्त अ० ११ खं० ६ में यास्कमुनि कहते हैं कि कई एक आचार्यों के मत में द्वितीय पाद का आदित्य देवता है। चन्द्रमा का तो प्रकरण ही है 'प्रवर्द्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः"॥

आश्वलायनश्रौतसूत्र (९। ८) में यह मन्त्र चन्द्रमादेवताक चरु में विनियुक्त है। मानव-श्रौतसूत्र (२। २) में यक्ष्मगृहीतेष्टि में आदित्यदेवताक चरु में। इससे आदित्य और चन्द्रमा दो भिन्न २ देवता भिन्न २ सूत्रकारों के मत में हैं। निरुक्तसमुच्चयकार ने भी प्रथमकल्प में इसी मन्त्र की व्याख्या में 'चन्द्रमा और 'आदित्य' देवता माना है। सर्वानुक्रमणी और इन सब का परस्पर भेद विस्पष्ट है॥

(ख) पावीरवी तन्यतुरेकपादजो······ऋ० १०। ६५। १३॥

इस मन्त्र में सर्वानुक्रमणीकार तो 'विश्वेदेवा' देवता कहता है। यास्कमुनि (नि० १२। ३०) 'वाक्' देवता बताते हैं। दोनों परस्पर भिन्न हैं॥

(ग) "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा······ऋ० ४। ५८। ३॥"

इस मन्त्र का सर्वानुक्रमणी में "सूर्य, जल, गौ अथवा घृतस्तुति" देवता है।

बृहद्देवताकार कहते हैं—

"ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका देवता आदित्य अथवा अग्नि कहा गया है। कइयों के मत में जल की स्तुति, घृतस्तुति, गौ, सूर्य देवता हैं॥"

❀ "यही श्रेष्ठ······मिलके" यह पाठ मूलसंस्कृत में नहीं॥

उधर महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि इस मन्त्र का शब्ददेवतापरक व्याख्यान करते हैं—महो देवः । महान् देवः, वह महान् देव कौन है ? शब्द ॥

जहां बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणीकार के मत में इस मन्त्र का देवता जलस्तुति, घृतस्तुति, गौ और सूर्य है, वहां ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार आदित्य तथा अग्नि है । इससे सर्वानुक्रमणी तथा बृहद्देवता का देवता ब्राह्मणग्रन्थों के देवता से विपरीत अथवा भिन्न है । यास्क-पतञ्जलि आदि निर्दिष्ट देवतावाद के साथ बृहद्देवता सर्वानुक्रमणी प्रदर्शित देवतावाद का क्या समन्वय होगा ?

अधिक क्या बुद्धिमान् पक्षपातरहित विद्वान् स्वयं विचार कर सकते हैं कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रदर्शित देवता का यह स्वरूप कहां तक सुसंगत सुसम्बद्ध प्रतीत होता है ॥

२. व्याकरणप्रक्रिया (भाषा)

अनेक सज्जनों के आग्रह से व्याकरणप्रक्रिया के संस्कृतभाग के विशेष स्थलों का भावार्थ आर्यभाषा में दिखाते हैं—

(अघ्न्याः) निरुक्तकार ने अघ्न्या पद की बहुत प्रकार की निरुक्तियां दर्शाई हैं। इसलिये 'सन्दिग्धे नावगृह्णन्ति' (निर्वचन में सन्देह होने पर अवग्रह नहीं किया जाता) इस नियम से पदकार यहां अवग्रह नहीं करते हैं। व्याख्यातृभेद से पदविभाग में भेद हो जाता है, इस विषय का विशेष निरूपण इसी विवरण की भूमिका में देखें ॥

ऋषि दयानन्द ने यहां पर 'प्रजावतीः, अनमीवाः, अयक्ष्माः' इन पदों के साथ अघ्न्या पद का अर्थ द्वितीया विभक्ति के बहुवचन (शस्) में किया है । वे यहां पर व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां इत्यादि महाभाष्य (अ० ३ पा० १ सू० ८५) के आधार पर छान्दस व्यत्यय से स्वरसिद्धि मान रहे हैं ॥

(पूर्वपक्षी) स्वामी दयानन्द 'व्यत्ययो बहुलम्' (अ० ३ । १ । ८५) या 'बहुलं छन्दसि' इत्यादि छान्दस बहुल को मानकर प्रायः वेदमन्त्रों के अर्थों का अनर्थ करते हैं । इसी मन्त्र में 'अघ्न्याः' पद निघात (सर्वानुदात्त) है जो आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इस पाणिनीय सूत्र से सम्बोधन मानकर ही हो सकता है। ऐसी अवस्था में इसका अर्थ 'हे गौओ' ही होगा । 'गौवों को' अर्थात् द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में किसी तरह भी अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वानुदात्त केवल संबोधन में ही हो सकता है । स्वामी दयानन्द की यह अपनी कल्पना है । भला आज तक किसी ने भी ऐसा माना ?

(उत्तर) ऋषि दयानन्द के ऐसा मानने में हम प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) निरुक्त ५ । २३ में यास्क मुनि तत् कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्याद्, दृष्टव्ययं तु भवति इसमें स्वयं शङ्का उठाते हैं कि 'समस्य' तथा 'समस्मिन्' ये दोनों पद विभक्त्यन्त पढ़े ही हैं, अतः ये नाम हैं, यह स्पष्ट सिद्ध है। फिर नाम होते हुये इनमें सर्वानुदात्तत्व कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यास्क मुनि स्वयं देते हैं कि—दृष्टव्ययं तु भवति अर्थात् यहां व्यत्यय से नाम अनुदात्तप्रकृति हो जाता है ॥

इसीलिये फिट्सूत्रकार ने भी 'सम' इस पद को नाम मान कर ही त्वत्त्वसमसिमेत्यनुच्चानि (फि० ७८) इस सूत्र से उदात्तत्व को हटाने के लिये अनुदात्तत्व का विधान किया है ॥

(२) इसी स्थान में दुर्ग तथा स्कन्द ने भी यही बात कही है ॥ इस प्रकार व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन महाभाष्यकार के इस सिद्धान्त को यास्कमुनि भी मान रहे हैं, यह स्पष्ट सिद्ध है ॥

(३) अब हम एक ऐसा प्रमाण देते हैं जो प्रकृत विषय में सब प्रकार से ठीक घट रहा है । हमें भी खोजते ठीक ऐसे ही पद मिल गये, जिनसे आचार्य दयानन्द के उपर्युक्त लेख की अक्षरशः पुष्टि होती है—

स्कन्द निरु० टी० भाग २ पृ० ४१२ (निरु० ६।७) में ऋग्वेद १। १६५। ७ में 'मरुतः' पद निघात (सर्वानुदात्त) है जो पूर्वपक्षी के विचारानुसार आमन्त्रित (सम्बोधन) में ही हो सकता है। इसका अर्थ संबोधन में न करते हुए आचार्य स्कन्दस्वामी ने प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में किया है। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है कि यह 'मरुतः' पद सर्वानुदात्त होता हुआ भी आमन्त्रित (संबोधन) में नहीं है। यदि ऐसा है तो अनुदात्त कैसे है, इसका उत्तर 'छान्दस-व्यत्यय है' यही दिया है—'आमन्त्रितत्वाभावाच्छान्दसमनुदात्तत्वम्' ॥

यहां हमें यही दिखाना है कि सम्बोधन पद का व्यत्यय से अन्य विभक्तियों में भी अर्थ हो जाता है, यह बात स्कन्दस्वामी कहते हैं। इसी सिद्धान्तानुसार ऋषिदयानन्द ने भी सम्बोधन में होने वाले सर्वानुदात्त 'अघ्न्याः' पद को द्वितीया के बहुवचन में माना है ॥

(४) यही सिद्धान्त आचार्य स्कन्द स्वामी ने निरु० ४।२ की टीका पृ० १९९ पर भी दर्शाया है। वहां भी 'मर्याः' पद सर्वानुदात्त होने से सम्बोधन-परक होता हुआ प्रथमा के बहुवचन में माना है ॥

(५) दुर्जनसन्तोष-न्याय से हम यहां उपर्युक्त (ऋ० १। १६५। ७) में सायणाचार्य का मत भी देते हैं—
यतो वयं मरुतः। छान्दसमनुदात्तत्वम् "क्योंकि हम मरुत, यहां छान्दस अनुदात्त है"।

अर्थात् यहां सम्बोधन पद होने से अनुदात्त है, सो बात नहीं ॥

मेरे विचार में पूर्वपक्षी को अब कुछ भी सन्देह नहीं रह जायगा। सन्देह तो तब तक ही था जब स्वामी दयानन्द लिख रहे थे। वही बात जब सायणाचार्य के मुख से निकलती है, तो हमारे पूर्वपक्षी सर्वथा मौन हो जाते हैं। संसार में जब तक ऐसा पक्षपात रहेगा, वेदार्थ का शुद्धस्वरूप कदापि संसार के सामने नहीं आ सकता ॥

अब जो लोग ऐसा कहते हैं कि—

"यह पद यदि सर्वानुदात्त है तो द्वितीयान्त कैसे होगा ?
इसलिये स्वरादि दोष से यह अन्वय अशुद्ध है सर्वथा त्याज्य है" इत्यादि ॥

वेदार्थ प्रक्रिया से सर्वथा अनभिज्ञ—वैदिक व्याकरण से शून्य व्यक्तियों के ऐसे प्रलाप पर इससे अतिरिक्त क्या कहा जावे कि—"अल्पश्रुत (थोड़े पढ़े) से वेद डरता है कि कहीं मुझे गढ़े में ही न गिरादे" ॥

ऐसे लोगों के सामने हम एक बात और उपस्थित करते हैं—

जब एकवाक्यता मानकर "प्रजावतीः, अनमीवाः, अयक्ष्माः" इन पदों के साथ 'अघ्न्याः' पद का समानाधिकरण मानकर अर्थ करेंगे, जैसा कि उवटादि ने किया है, तब एक तो अध्याहार भी मानना पड़ेगा तथा इन तीनों पदों में अनिष्ट स्वर की प्राप्ति होगी। अर्थात् ये तीनों पद भी आमन्त्रित तथा सर्वानुदात्त ही मानने पड़ेंगे। यदि ये आमन्त्रित नहीं हैं तब 'अघ्न्याः' पद की 'प्रजावतीः, अनमीवाः' आदि के साथ एकवाक्यता कैसे होगी ? समानाधिकरण कैसे बनेगा ? उभयतःपाशा रज्जुः—इधर कुआं उधर खाई ॥

यदि छान्दसव्यत्यय के सिद्धान्त को माना जावे, जैसा कि ऋषि दयानन्द ने माना, तब कोई दोष नहीं रह जाता ॥

(इन्द्राय) यहां उणादि २।२८ से रन् प्रत्यय होकर ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इस सूत्र से आद्युदात्त स्वर सिद्ध होता है ॥

'देवराज यज्वा' के निघण्टुभाष्य में इस पद को रक् प्रत्ययान्त लिखा है। वह लेखकप्रमाद जान पड़ता है। क्योंकि वेद में अन्तोदात्त 'इन्द्र' शब्द कहीं नहीं। तथा रक् तो उ० २। १३ से आ ही रहा है पुनः निपातन की आवश्यकता ही नहीं ॥

सायणाचार्य ने भी जो (तै० सं० भाष्य पृ० ४६) 'इन्द्र' शब्द को वृषादि होने से आद्युदात्त माना है सो ठीक नहीं, तथा परस्पर विरोध भी है, क्योंकि जब ऋग्वेद १। २। ६ के भाष्य में सायण ने स्वयं इन्द्र शब्द

को व्युत्पत्तिपक्ष में रन् प्रत्ययान्त होने से नित्स्वर से आद्युदात्त माना, सो यहां भी वही हो सकता है। अव्युत्पत्ति पक्ष में तो 'ग्रामादीनां च' (फिट् सू० ३८) इतने से ही इष्टस्वर सिद्ध हो जाता है, वृषादि में मानने का काम ही नहीं, क्योंकि "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (अ० ६ । १ । १९७) से इष्टस्वर सिद्ध हो ही जाता है ॥

(अयक्ष्माः) यहां पर भी पूर्ववत् 'नञ्सुभ्याम्' (अ० ६। २। १७२) इस सूत्र से उत्तरपद अन्तोदात्त स्वर होता है। शेषनिघात—स्वरित होकर एकश्रुति की प्राप्ति में सन्नतर स्वर सिद्ध होता है ॥

यहां उवट ने 'अयः क्ष्मायां यासां' इस प्रकार बहुव्रीहि समास दिखाया है सो ठीक नहीं क्योंकि बहुव्रीहि मानने में "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" से पूर्वपदान्तोदात्त अनिष्टस्वर की प्राप्ति होती है। स्वरव्यत्यय मानने वालों के पक्ष में तो छान्दसव्यत्यय से इस विग्रह में भी इष्टस्वर की सिद्धि हो सकती है ॥

(ईशत) यहां "माङि लुङ्" (अ० ३ । ३ । १७५) छान्दस होने से नहीं लगा "न माङ्योगे" (अ० ६। ४ । ७४) से अट् का अभाव होता है। यहां जो उवट ने 'माङि लुङ्' करके लुङ् लकार माना सो उसकी भूल है, हां यदि छान्दसव्यत्यय मानकर लुङ् लकार में 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' मानें तब तो किसी प्रकार सिद्ध हो भी सकता है ॥

(अघशंसः) आचार्य दयानन्द ने इस पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है। यहां तो "योऽघं पापं शंसति" इस व्युत्पत्ति से उपपद समास दर्शाया है। तथा य० ३३ । ६९ के भाष्य में 'अघस्य पापस्य स्तोता चौरः' इत्यादि षष्ठ्यन्त से विग्रह किया है जैसा कि निरुक्तकार ने भी (नि० ६ । ११ में) दर्शाया है। षष्ठ्यन्त से विग्रह अर्थ समझाने के लिये है ऐसा समझना चाहिये। अथवा यदि विग्रह अर्थपरक न भी माना जावे, तो भी कोई दोष नहीं आता, "दासीभारादीनां च" (अ० ६ । २ । ४२) से ही इष्ट स्वर की सिद्धि हो जाती है ॥

उपपद समास में इष्टस्वर की सिद्धि निम्न प्रकार होगी—

'कर्मण्यण्' (अ० ३ । २ । १) इस सूत्र से अण् प्रत्यय होकर 'उपपदमतिङ्' (अ० २ । २ । १९) से समास हुआ। आङ् पूर्वक हन् धातु से 'अघ' शब्द 'गतिकारकोपपदात् कृत्' सूत्र से अन्तोदात्त है। पुनः 'शंस' के साथ समास होने पर 'समासस्य' (अ० ६ । १ । २२३) से अन्तोदात्त स्वर की प्राप्ति होती है। उसको बाधकर पुनः 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (अ० ६ । २ । १३९) से उत्तरपदप्रकृतिस्वर की प्राप्ति हुई। वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र 'अघशंसः' पद पूर्वपदान्तोदात्त ही उपलब्ध होता है। अतः तत्पुरुष समास में 'कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपापारेवडवातैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च' (अ० ६ । २ । ४२) सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर होता है। इस सूत्र के भाष्य में 'ततो दासीभाराणां चेति। तत्र बहुवचननिर्देशाद्दासीभारादीनामिति विज्ञास्यते' इत्यादि महाभाष्य के वचन से 'दासीभारादीनां' को एक गण माना है। इसी पर कैयट ने भी लिखा है कि जिस तत्पुरुष का पूर्वपदप्रकृतिस्वर किसी से प्राप्त न होता हो, वह सब 'दासीभारादि' में समझना चाहिये ॥

अब यदि कोई कहें कि यह पद 'दासीभारादि' मानकर कैसे सिद्ध होगा और इसमें क्या प्रमाण? इसमें हमारा यह कहना है कि महाभाष्यकार ने 'ओषधि' शब्द इसी गण में माना है। यह ओषधि शब्द भी 'ओषो धीयतेऽस्मिन् इति' 'ओष' उपपद होने पर अ० ३ । ३ । ९३ से 'कि' प्रत्ययान्त होने से स्पष्ट ही उपपद समास है। इस प्रकार 'दासीभारादीनाम्' यह वचन गतिकारकोपपदात् कृत् का भी बाधक है, यह सिद्ध है ॥

यहां महीधर लिखता है—'अघं शंसति' इस व्युत्पत्ति से 'शसि इच्छायाम्' इस धातु से यह शब्द सिद्ध होता है। तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः (अ० ६ । २ । २) इस सूत्र से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर सिद्ध होता है' सो यह उसकी भूल है। क्योंकि 'अघं शंसति' इस व्युत्पत्ति से तो उपपद समास की प्राप्ति अनिवार्य है। उपपद स्वर के पर होने से तत्पुरुषे तुल्यार्थ० इत्यादि सूत्र इसका बाधक नहीं हो सकता, अतः इस सूत्र से पूर्वपद प्रकृतिस्वर की प्राप्ति ही कैसे होगी ॥

यदि कोई कहे कि 'अर्वं शंसति' यह केवल अर्थप्रदर्शनमात्र है व्युत्पत्ति नहीं, 'अर्घे शंसः' 'अर्घेन शंसः' तृतीया या सप्तम्यन्त से है और इस प्रकार 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' सूत्र से इष्टस्वर की सिद्धि हो जायगी, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि उपर्युक्त तृतीया या सप्तमी से कुछ भी अर्थ नहीं बन सकता ॥

इस प्रकार तत्पुरुषे तुल्यार्थ० सूत्र की किसी प्रकार भी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसमें महीधर की भूल स्पष्ट है ॥

हां भट्टभास्कर मिश्र ने जो बहुव्रीहि समास मानकर इष्टस्वर की सिद्धि की है, वह तो भला हो भी सकती है क्योंकि भिन्न निर्वचन से अर्थ करना हम दोषावह नहीं मानते ॥

सायण ने ऋग्वेदभाष्य में अनेक स्थलों पर षष्ठीसमास दिखाया, स्वरसिद्धि कैसे होगी यह कुछ नहीं लिखा ॥

३. वाक्ययोजनाविचार

कई एक लौकिक—अर्वाचीन काव्यों में व्यासक्त यह शंका उठाया करते हैं कि समीपस्थ पदों का ही परस्पर अन्वय होना उचित है, दूर २ पड़े पदों का नहीं। मन्त्रगत पूर्वार्ध पदों को उत्तरार्ध पदों के साथ जोड़ कर बनाई गई वाक्यरचना अत्यन्त दूषित समझनी चाहिये। स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में जहां तहां ऐसी ही वाक्यरचना की है ॥

(उ०) यह भी शंका करने वालों की भूल है क्योंकि शास्त्र का नियम है कि जिस पद का जिस पद के साथ संबन्ध होने का सामर्थ्य होता है, उस पद का चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न पड़ा हो, अन्वय करते समय संबन्ध जोड़ा जाता है। (इस विषय में महाभाष्य और न्यायवात्स्यायनभाष्य के प्रमाण पूर्वक पृ० २० देखें)। इस नियम से केवल दूर-दूर पदों का सम्बन्ध जोड़ कर की गई वाक्यरचना कदापि अशुद्ध नहीं कही जा सकती।

आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र में आठ वाक्य माने हैं, जो क्रमशः संस्कृत में दिखा दिये गये हैं ॥

य० ३।८ में तृतीयपाद के पदों को प्रथमपाद के साथ जुड़ना ही पड़ता है। इस से भी उपर्युक्त बात ठीक समझी जा सकती है।

अब इस मन्त्र के विषय में अन्य भाष्यकार क्या कहते हैं सो दर्शाते हैं—शतपथ ब्राह्मण (श० १। ७।१) में (जो इस वेद का यज्ञपरक व्याख्यान है) इस मन्त्र में सात वाक्य माने हैं, पञ्चम में यदि वाक्यभेद माना जावे तो आठ। सर्वानुक्रमणीकार (पृ० १३, १४) पांच वाक्य मानता है। कात्यायनश्रौतसूत्रकार (४।२) चार ही। तैत्तिरीयब्राह्मण के मत से आठ हैं। उवट ११ ग्यारह, महीधर नौ वाक्य बताते हैं। भट्टभास्करमिश्र ने तैत्तिरीय संहिता (पृ० ३–९ में पाठभेद होने पर भी आठ वाक्य स्वीकार किये हैं। इसी स्थल में सायणाचार्य ने केवल पांच ही माने हैं। इन सब उद्धरणों को लिखने की आवश्यकता हम नहीं समझते, पाठक उस २ ग्रन्थ में स्वयं देख सकते हैं ॥

इस प्रकार वाक्ययोजना में इसी मन्त्र पर सब विभिन्नमति हैं। इसकी व्यवस्था क्या होनी चाहिये यह विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उपर्युक्त लेख से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इन आचार्यों के मत में वाक्य-योजना के सम्बन्ध में व्याख्याताओं के बुद्धिभेद के कारण एक ही सरणि (रास्ता) नहीं बनाई जा सकती ॥

इतना होने पर भी यह नहीं माना जा सकता कि सभी व्याख्याताओं की विभिन्न वाक्ययोजनायें ठीक ही हों। नियम यह है कि 'वाक्य वक्ता के आधीन होता है', तदनुसार जैसे लौकिक ग्रन्थों की वाक्यरचना उन उन ग्रन्थों के रचयिताओं की होती है, उसी प्रकार वेद की वाक्यरचना सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की है। जैसे वेदान्त गीता आदि ग्रन्थों में उनके रचयिता का तात्पर्य कोई न कोई निश्चित है। परन्तु इन ग्रन्थों का प्रत्येक भाष्यकार अपने अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण ग्रन्थकार का अभिप्राय अपने अपने मतानुकूल ही प्रकट करने की चेष्टा करता है। वेदान्त गीता आदि के रचयिता के मन में सभी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण रहे होंगे, यह कदापि नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार वेदभाष्यकारों के विभिन्न दृष्टिकोणों से किये गये सभी अर्थ ठीक हैं, यह भी

कदापि नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्था में व्याकरणादि के आधार पर 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वैशे० ६। १। १) इत्यादि शास्त्रीय कसौटी पर जो वेदार्थ ठीक उतरेगा, वही प्रमाण माना जा सकेगा ॥

४. सब मन्त्रों की तीन प्रकार से अर्थयोजना

वेदार्थ का मूलमन्त्र

वेदार्थ की प्राचीनपरम्परा से सर्वथा अनभिज्ञ-विद्वान् कहलाने वाले बहुत से व्यक्ति ऋषि दयानन्द प्रदर्शित मन्त्रों के अर्थों में प्रायः परमेश्वरपरक अर्थों को देखकर नाक भौं चढ़ाने लगते हैं। वे कहते हैं "और जो हो सो हो 'अग्नि' का अर्थ परमात्मा कभी नहीं हो सकता"। खेद की बात है कि ऋषि के समय में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रिंसिपल पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न जैसे विद्वान् समझे जाने वाले भी इसी अनभिज्ञता के गर्त में गिरे हुये थे (देखो भ्रान्ति निवारण में पूर्वपक्ष पृ० ६) ॥

सायण से एक सहस्रवर्ष पूर्व तक वेदार्थ की यह आध्यात्मिक प्रक्रिया विद्यमान थी। ऋषि दयानन्द ही इस युग में इसके पुनरुद्धारक हुए, हमारे आगे के लेख का यही अभिप्राय है—

मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं इस विषय में आचार्य दयानन्द का ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृ० ६५ पर निम्न लेख है—

(क) देवता के महामहिम होने से एक आत्मा की ही बहुत प्रकार से (वेदमन्त्रों में) स्तुति की जाती है निरु० ७। ४ के इस उद्धरण की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि आत्मा ही मुख्य देवता है, इससे भिन्न जो भी देव कहे गये हैं, वे इसी एक आत्मा के प्रत्यङ्ग हैं ॥

(ख) ऋ० भू० पृ० ३६३ का भाषानुवाद—इस वेदभाष्य में जिस २ मंत्र का पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का अर्थ होना सम्भव है उस २ का दोनों प्रकार का अर्थ किया जायगा परन्तु किसी भी मन्त्र के अर्थ में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं। (यहां व्यावहारिक से आधिदैविक तथा आधियाज्ञिक दोनों अभिप्रेत हैं—ले०) ॥

(ग) आचार्य दयानन्द ने अपने वेदभाष्य के आरम्भ काल में जो ऋग्वेदभाष्य के नमूने का अङ्क छपवाया था, उसमें उन्होंने सब मन्त्रों के दो दो अर्थ दिखाये थे। उससे स्पष्ट है कि वह सब मन्त्रों के अनेकविध अर्थ पृथक् २ करना चाहते थे ॥

विदित रहे कि ऋग्वेद के प्रारम्भ में कई सूक्तों का इस प्रकार का किया हुवा विस्तृतभाष्य अभी तक अमुद्रित ही पड़ा है। संन् १९३१ में इसे हमने अजमेर में स्वयं देखा था ॥

अब इस विषय में अन्य प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) आचार्य स्कन्दस्वामी अपनी निरुक्त ७। ४ की टीका भाग ३. पृ० ३० में लिखते हैं—

भावार्थ—माहाभाग्याद्देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते निरुक्तकार का यह स्थल पाद की समाप्ति पर्यन्त अध्यात्मवित्—नैरुक्त तथा याज्ञिकों के देवता एकत्व तथा नित्यत्व को कहते हुए भी देवताभेद पक्ष में देवता के भाग्यशाली होने से तीनों ही प्रक्रियाओं में लगाया जा सकता है "तथापि व्याख्याताओं को प्रायः अध्यात्मवित् पद के अनुसार ही मन्त्रों के अर्थों की योजना करनी चाहिये"। अर्थात् प्रत्येक मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक तो अवश्य ही करना चाहिये ॥

(२) अब आचार्य स्कन्दस्वामी का इस विषय का सर्वोत्तम स्थल उपस्थित करते हैं। जिससे यह स्पष्ट विदित हो रहा है कि सायण से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व तक वेद के मन्त्रों का अर्थ तीनों प्रक्रियाओं में होने की परम्परा विद्यमान थी, जिसको सायण ने जानकर या न जानकर नष्ट किया। इस अत्युपयोगी स्थल का भावार्थ हम आर्यभाषा में भी उपस्थित करते हैं—

"अध्यात्मविद् आत्मवेत्ता, निरुक्तप्रक्रिया के जानने वाले नैरुक्त, यज्ञ यागादि की प्रक्रिया से सुख शान्ति के उत्पादक याज्ञिक होते हैं। इन तीनों का ही वेदमन्त्रों के अर्थ करने में परस्पर दर्शनभेद (भिन्न २ विचार) रहता है, क्योंकि ये तीनों अपनी २ दृष्टि से वेदमन्त्रों का अर्थ विचारते हैं, इस कारण इनकी विचारधारा एक ही विषय में भिन्न २ रूप से चलती है।

उनमें जो अध्यात्मवित् आत्मतत्त्वदर्शी, जिनकी बुद्धियां सन्मार्ग की अनुगामिनी होती हैं, जिनकी कर्मों की ग्रन्थियां शिथिल हो चुकी हैं, जिन्होंने विषयवासनारूपी संसारचक्र से वैराग्यवान् होते हुए अभ्यास द्वारा समाधि की स्थिरता उपलब्ध करली है। जिनके चित्त के सब मल विक्षेप दूर हो चुके हैं। जिनकी बाह्यविषयों की इच्छा क्षीण हो चुकी है। जिनकी अन्तःकरण की वृत्तियां निरुद्ध हो चुकी हैं—कम्पादि से रहित दीप के समान (अचल)—क्षेत्रज्ञ जीव संबन्धी ज्ञान से भरपूर हैं······वे परमात्मा से अन्य को न बुद्धि में लाते हैं न सुनते हैं......॥ (अर्थात् प्रत्येक मन्त्र में परमात्मा की ज्योतिः का ही अनुभव करते हैं) ॥

नैरुक्त—भी मन्त्र के देवता के निर्वचन द्वारा (अर्थात् देवतावाची पद के धात्वर्थ अर्थात् प्रकृति प्रत्यय की योजना करते हुए) द्रव्य के अनुभव की इच्छा से अग्नि आदि तीन देवताओं से अन्य को न देखते हैं न सुनते हैं ॥

याज्ञिक —भी शब्दमात्र से भिन्न देवता को न देखते हैं, न ही सुनते हैं ॥

शुद्धयाज्ञिक—तो शब्दव्यतिरिक्त इतिहास पुराण प्रसिद्ध तुविग्रीवादि मन्त्र द्वारा प्रतिपादित (देवता) को कहते, स्तुति करते तथा विचारते हैं ॥

सब प्रक्रियाओं में सब मन्त्रों के अर्थ की योजना करनी चाहिये, क्योंकि स्वयं ही भाष्यकार (यास्क) ने सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है, इस बात को दिखाने के लिये "अर्थं वाचः पुष्पफलमाह" (निरु० १।२०) इत्यादि स्थल में यज्ञादिकों को पुष्पफलरूप से कहा है इत्यादि ॥"

यहां आचार्य स्कन्दस्वामी सब प्रक्रियाओं में 'सब मन्त्रों का अर्थ करना चाहिये' इस वचन से स्पष्ट बता रहे हैं कि वेद के सभी मन्त्रों का अर्थ आध्यात्मिक, नैरुक्त, याज्ञिकादि प्रक्रिया में होता है। एक अध्याय-मण्डल या सूक्त का तो क्या कहना। यही सिद्धान्त आचार्य दयानन्द का है ॥

स्कन्दस्वामी ने केवल अपनी कल्पनामात्र से ऐसा लिखा हो, यह बात नहीं, अपितु उसने महामुनि यास्क की उपर्युक्त साक्षी द्वारा यह बात लिखी है ॥

वेदार्थ जिज्ञासुओं के लिये उपर्युक्त स्थल कितना उपकारी है, यह विद्वान् ही समझ सकते हैं।

५. आचार्य दयानन्द प्रदर्शित त्रिविधप्रक्रिया

इसी प्रकार यद्यपि आगे भी सर्वत्र तीनों प्रक्रियाओं में मन्त्रों का अर्थ दर्शाया जा सकता है, परन्तु कहां ऐसे महापुरुषों का वेद के मन्त्रों का अर्थ दर्शाना, जिनकी बुद्धियां सदैव सन्मार्ग में प्रवृत्त रहती हों, जिनके कर्मरूप ग्रहों की ग्रन्थियां शिथिल हो चुकी हों, जो विषयवासना के चक्र से उपरत हों, अनेक जन्मों के अभ्यास व तीव्र वैराग्य तथा संस्कारों द्वारा स्थिर समाधि को प्राप्त हो चुके हों, जिनकी बाह्यविषयों की एषणा लीन हो चुकी हो, जिनकी अन्तःकरण की वृत्तियां निरुद्ध हो चुकी हों, कहां ऐसी उत्कृष्ट निर्मल आत्माओं द्वारा वेदार्थरूप दिव्यप्रकाश ! और कहां हम जैसे साधारण बुद्धिवालों का किया वेदार्थ। जिनका मन स्थिर नहीं, जो धन की पिपासा से सदैव पीड़ित रहते हैं—संसार में जो भी प्रवाह चले उसी में बह जाने वाले, केवल धन प्राप्ति के उद्देश्य से अपनी अन्तरात्मा के विपरीत, जिस किसी भी कार्य को करने में तत्पर—आर्षज्योतिः से अनभिज्ञ—अनार्ष ग्रन्थों द्वारा पराहतबुद्धि—केवल जन साधारणमात्र प्रचलित शिक्षा रखने वाले—कहां ऐसे लोगों की निराधार कल्पना !!

इस विचार से हम ऋषि दयानन्द की अपने वेदभाष्य में दर्शाई, अर्थों की अनेक प्रकार की प्रक्रिया, केवल उनके अपने शब्दों में दिखाते हैं—

सब प्रक्रियाओं में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये, इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए ऋषि दयानन्द के ही शब्दों में इस प्रथम मन्त्र की आध्यात्मिक, आधियाज्ञिक, आधिदैविक तीनों प्रक्रियाएं निम्न प्रकार हैं—

(१) आध्यात्मिक अर्थ

विज्ञान तथा पराक्रम की प्राप्ति के लिए उस विज्ञानस्वरूप–अनन्त पराक्रम वाले आनन्दरूप रस के भण्डार सब प्रकार के ज्ञान देने वाले परमात्मदेव की शरण आवें। इस प्रकार हम संसार में समुन्नत हो सकते हैं। सब विद्याओं का प्रकाशक देव सकल जगत् का उत्पन्न करने वाला-समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी, हमारे प्राण, अन्तःकरण तथा इन्द्रियों को शुभ कर्मों में प्रेरित करे, क्योंकि उसके अनुग्रह से ही सबके सुख तथा ऐश्वर्य की वृद्धि होना सम्भव है॥

हे अन्तर्यामिन् देव ! परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये रोगरहित, विषय वासनाओं से उपरत, हमारी इन्द्रियां हों। हम (हमारे परिवार-कुल-ग्राम) में कोई कुलकलङ्क पापी-अधर्मी उत्पन्न न हो। धर्म में सच्ची प्रीति रखने वाले की इन्द्रियां चलायमान नहीं होतीं।

वैचित्र्यपूर्ण इस सृष्टि के रचयिता जगदीश्वर का सदैव धन्यवाद करो, दृढ़ विश्वास रक्खो, परमदयालु परमेश्वर शुभ कर्मानुष्ठान करनेवाले उपासक लोगों की सदैव रक्षा करता है॥

आचार्य के अपने शब्दों से ही इस सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया में स्पष्ट है। हमने (संस्कृत में) अपनी ओर से एक भी शब्द नहीं बढ़ाया, ऋषि के अपने शब्द ही दिखाये हैं। आर्यभाषा में भावमात्र लिखा है॥

(२) आधियाज्ञिक अर्थ

अन्नादि की प्राप्ति के लिये–उत्तम २ ओषधियों के रसों की उपलब्धि के निमित्त जगत् उत्पत्ति के हेतु, सेवन करने योग्य अग्नि का हम आश्रयण करते हैं। [अग्नि में उत्तम रीति से डाली हुई आहुति आदित्यमण्डल तक जाती है। आदित्य से वृष्टि होती है–उससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से सब प्रजाएं उत्पन्न होती हैं (मनु ३।७६)। तथा अग्नि ही संसार में सब औषध वनस्पत्यादि का उत्पादक है, इसके विना संसार में कुछ उत्पन्न नहीं होता। गोपथ तथा जैमिन्युपनिषद्-ब्राह्मण में 'अग्नि' को 'सविता' कहा गया है॥] जगत् में सब उत्पत्ति का निमित्त दिव्यगुण युक्त सविता अग्नि सब क्रियाओं को प्राप्त करानेवाले वायु आदिकों को श्रेष्ठ कर्मरूप यज्ञ के लिये प्रेरित करता है (यज्ञ में हुत द्रव्य को वायु सर्वत्र पहुंचा देता है, जिससे सबको सुख होता है)। परमैश्वर्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जब विपुलमात्रा में गौएं उपलब्ध हों, वे भी रोगरहित हों। विशेष कर यक्ष्मादि महारोगों से मुक्त हों (गौओं का यक्ष्मादि से रहित होना परमावश्यक है)। इस प्रकार शरीर में तथा राष्ट्र में महामारी आदि रोग–तथा पापपूर्ण मानसिक वृत्तियें उपद्रव नहीं कर पातीं। प्रजा सब सुखों को प्राप्त कर सकती हैं। ऐसी गौएं सर्वोपकारी यज्ञ करनेवाले स्त्री पुरुषों के लिये निश्चल सुख की देनेवाली होती हैं। इस प्रकार यह भौतिक अग्नि ज्ञानपूर्वक यज्ञ करने वाले, उनके पुत्र-पौत्र-सम्बन्धी तथा धन ऐश्वर्य की रक्षा करता है॥

तत्त्वार्थ——

१. अग्नि के साथ यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध है॥
२. यज्ञ में भौतिक अग्नि सब प्रकार की क्रियाओं के हेतु वायु को प्रेरित करता है, अर्थात् वायु के द्वारा हविः के सूक्ष्म परमाणुओं को दूर-दूर पहुंचाता है॥

३. जब तक गौएं न हों, यज्ञ सम्पन्न ही नहीं हो सकता। गौएं भी ऐसी हों, जो रोगरहित हों, प्रजावाली हों, यक्ष्मादि से मुक्त हों ॥

४. गौओं की रक्षा द्वारा यज्ञ के अनुष्ठान से रोगों की प्रबलता तथा पापों का बाहुल्य कदापि न होगा। अतः राष्ट्र में गौएं अधिक मात्रा में होनी चाहियें ॥

५. यज्ञकर्म द्वारा सन्तति तथा सर्वविध सम्पत्ति की रक्षा होती है ॥

(३) आधिदैविक अर्थ

सर्वविध पराक्रम-सब पदार्थों के संयोग द्वारा पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये सर्वविध सम्पत्ति के देने वाले सविता का हम आश्रयण करते हैं ('सविता वै सर्वस्य प्रसविता' निरु०, सविता सब का प्रेरक है) इस प्रकार जनसमाज उत्कृष्टता को प्राप्त हो सकता है ॥

सब जगत् का उत्पादक-सकल ऐश्वर्यवान्-द्युलोकस्थ-दिव्यगुण युक्त सविता [क्योंकि सविता ही सब ओषधि वनस्पत्यादि का उत्पन्न करने वाला है, सूर्य के विना संसार में कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता] सब क्रियाओं की प्राप्ति करानेवाले भौतिक वायु को उत्तम क्रिया में युक्त करता है [सूर्य अपने किरणों द्वारा ऊष्मा से वायु में गति पैदा करता है, उसके विना वायु में गति उत्पन्न नहीं हो सकती। वायु यदि गति छोड़ दे, पृथिवी के चारों ओर वायु के चक्र बनने बन्द हो जावें, वायु के चक्रों के विना यह पृथिवी छिन्न भिन्न हो जावे] ॥ जीव अपने कृतकर्मों का फल परमैश्वर्यादि तभी प्राप्त कर सकता है, जब पृथिवी सब विघ्नों से रहित हो [पञ्चभूतों में विकार होने पर संसार में भयङ्कर हाहाकार मचने लग जाता है। पृथिवी में कुछ क्षण ही भूकम्पादि होने पर अकथनीय यातनाएं जीवों को भुगतनी पड़ती हैं]। सूर्य के होते हुए चोर और नीचों को अपनी कुवासनाएं पूर्ण करने का अवसर नहीं मिलता, सविता सर्वोपकारक यजमान की अवश्य रक्षा करता है ॥

आचार्य ने इङ्गित चेष्टित द्वारा सभी प्रक्रियाएं अपने भाष्य में दिखाई हैं, यह बात विद्वन्महानुभाव सहजता से जान सकते हैं, अधिक क्या लिखें ॥

वास्तव में तो प्रमाणभूत आचार्य ने पवित्र उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए अतिपावन प्रभात काल में समाधिस्थ होकर महान् यत्न से वेदभाष्य की रचना की, वहां एक भी शब्द अनर्थक नहीं (प्रैसादि की भूल के अतिरिक्त) इतने महान् वेदभाष्य को तो कौन कहे ॥

६. विशेष वक्तव्य

यहां यजुर्वेदभाष्य में आचार्य ने प्रायः मन्त्रों के अन्त में "मन्त्रोऽयं शतपथे व्याख्यातः" अर्थात् इस मन्त्र की शतपथ के अमुक स्थल में व्याख्या की हुई है ऐसा संस्कृत में लिखा है। यहां यह विचार उठता है कि क्या आचार्य का ऐसा लिखने में यह अभिप्राय है कि मैं मन्त्रों का जो अर्थ कर रहा हूँ शतपथब्राह्मण के कर्त्ता को भी वही अर्थ अभिप्रेत है अर्थात् शतपथब्राह्मण में भी वही अर्थ है, अथवा शतपथब्राह्मण का उद्धरणमात्र दिया गया है कि वेदार्थ के जिज्ञासुओं को यह उस उस स्थल में देख लेना चाहिये ॥

इससे अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी उठता है कि दर्शपौर्णमासेष्टि आदि में विनियुक्त मन्त्रों की इस वेदभाष्य के साथ क्या उपपत्ति होगी ॥

इस प्रकार के और भी विचार उपस्थित किये जा सकते हैं। ये सब स्वतन्त्र विचारणीय विषय हैं, अतः इनका सविस्तर निरूपण पृथक् करेंगे ॥

॥ यह प्रथम मन्त्र का विवरण समाप्त हुआ ॥

वसोः पवित्रमित्यस्य ऋषिः स[1] एव । यज्ञो[2] देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

स[3] यज्ञः कीदृशो भवतीत्युपदिश्यते ।

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाऽअसि ।
परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ २ ॥

वसोः । पवित्रम् । असि । द्यौः । असि । पृथिवी । असि । मातरिश्वनः । घर्मः । असि । विश्वधा इति विश्वऽधाः † । असि । परमेण । धाम्ना । दृꣳहस्व । मा । ह्वाः । मा । ते । यज्ञपतिरिति यज्ञऽपतिः । ह्वार्षीत् ॥२॥

पदार्थः—(वसोः[5]) वसुः, अत्रार्थाद्[6]विभक्तेर्विपरिणाम इति प्रथमा विभक्तिर्विपरिणम्यते । यज्ञो वै वसुः । श० १ । ७ । १ । ९ । (पवित्रम्) पुनाति येन कर्मणा तत् । (असि[4]) भवति, अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (द्यौः[7]) विज्ञानप्रकाशहेतुः । (असि) भवति । (पृथिवी[8]) विस्तृतः । (असि[9]) भवति । (मातरिश्वनः[10]) मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति आश्वनिति वा तस्य वायोः । श्वन्नुक्षन्० उ० १ । १५९ अनेनायं शब्दो निपातितः, मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा । निरु० ७ । २६ । (घर्मः) अग्नितापयुक्तः शोधकः, घर्म इति यज्ञनामसु पठितम् । निघ० ३ । १७ । (असि)

१ परमेष्ठी प्रजापतिरित्यर्थः, एवमेवाग्रे सर्वत्र बोध्यम् ॥

२ (क) यज्ञो देवता—"यज्ञो वै वसुस्तस्मादाह–वसोः पवित्रमसीति" शतपथप्रामाण्यात् ,
"वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि"
अथर्व० १६ । ९ । ४ ॥
इति श्रुतेश्च व्यक्तमेव वसुशब्दस्य यज्ञपर्यायत्वम् ।

(ख) वायुः, उखा इति सर्वानुक्रमणी ॥

३ 'देवः सविता'..........'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इत्यभिलक्ष्य 'स यज्ञ' इति ॥

४ उत्तमकर्मसिद्ध्यर्थमीश्वरः प्रार्थनीय इति पूर्वमन्त्र उक्तम्, तच्च श्रेष्ठतमं कर्मैव यज्ञः । इदानीं तत्स्वरूपाभिधानप्रासावाह—स यज्ञ इति ॥

५ वसुशब्दः 'वस निवासे' (भ्वा० प०), 'वस आच्छादने' (अ० आ०) इत्येताभ्यां (वसन्त्यस्मिन् , वस्यत आच्छाद्यतेऽनेनेति वा) करणाधिकरणयोः 'शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च' (उ० १ । १०) इति सूत्रेण 'उ'प्रत्ययः, स च नित् , नित्त्वाद् ञ्नित्यादिर्नित्यम् , (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः । छान्दसत्वात् प्रथमार्थे षष्ठी ॥

६ अर्थवशादित्यर्थः ॥

७ अद्युतदिव वा अद इति तद्दिवो दिवत्वम् (तां० २० । १४ । १) ॥

८ आख्यातजा हि शब्दाः क्वचित् क्रियायोगमाहुः, क्वचिच्च क्रियायोगेण सत्त्वं, अन्यथा भूमिं पृथिवीं (अथर्व० १२ । १ । ७) उर्वीं पृथिवी (ऋ० १ । १८५ । ७) इत्यादिप्रयोगेषु पौनरुक्त्यप्रसङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात् ॥

९ वेदे जडपदार्थानां योगे प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, अयं च सार्वत्रिको नियमस्तदाहुराचार्यभगवद्दयानन्दपादाः—"व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति । तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः, परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति । इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारितया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यौरूपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः" ॥ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३७३ सं० ४) ॥

१० 'अयं वै वायुर्मातरिश्वा योऽयं पवते' इति (श० ६ । ४ । ३ । ४) ॥

† अत्र 'विश्वधाः' इति अजमेरमुद्रितः पाठः । अत्रावग्रहचिह्नाभावो [ऽ] मुद्रणादिदोषजन्यः ।

भवति। (विश्वधाः) विश्वं दधातीति। (असि) भवति* (परमेण) प्रकृष्टसुखयुक्तेन। (धाम्ना) सुखानि यत्र दधति तेन, वाहुलकाड्डुधाञ्धातोर्मनिन् प्रत्ययः (दृंहस्व) वर्धते, अत्र पुरुषव्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (मा) निषेधार्थे। (ह्वाः) ह्वरतु, अत्र लोडर्थे लुङ्। (मा) निषेधार्थे। (ते) तव। (यज्ञपतिः) यज्ञस्य स्वामी यज्ञकर्ता यजमानः, धात्वर्थाद्यज्ञार्थस्त्रिधा भवति, विद्याज्ञानधर्मानुष्ठान-वृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमार्थिकसुखसंपादनाय सत्करणं, सम्यक्पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं, नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति[3] (ह्वार्षीत्) ह्वरतु ह्वर वा, अत्रापि लोडर्थे लुङ्॥ अयं मन्त्रः श० १।७।१।९—११ व्याख्यातः॥ २॥

१ यजमानो हि यज्ञपतिः॥ (श० ४।२।२।१०)

२ एवमेवात्रेऽपि धात्वर्थादनेकविधोऽर्थ आचार्येणाभिप्रेयते॥

३ शिक्षणमिति भावः

४ 'ह्वर वा' इत्येष पाठः 'ह्वाः' इति पदस्य व्याख्याने युक्तः, अन्वये तस्य तथैवोपलब्धेः॥ यद्वेत्थं नेयः—(ह्वार्षीत्) ह्वरतु ह्वर वा। अन्वये 'तथा ते यज्ञपतिर्मा ह्वार्षीत् मा त्यजतु, तथा त्वं तं यज्ञपतिं मा ह्वर मा त्यज' इत्यनुषङ्गः॥

५ शाखायां पवित्रसंज्ञकौ कुशौ बध्नाति। तत उखां (दोहनस्थालीं) हस्ते गृह्णाति। मातरिश्वनो घर्मोऽसीत्यादिना तां स्थालीं गार्हपत्येऽग्नावधिश्रयति॥ तत्र—"आत्मैवोखा" श० ६।५।३।४॥ शिर एतद्यज्ञस्य यदुखा॥ (श० ६।५।३।८)॥ अध्यात्मपक्ष आत्मैव उखा, तस्या गार्हपत्ये (गृहाश्रमसम्बन्धिनि) अग्नौ (तपश्चर्यायाम्) अधिश्रयणं सुसंयतमनसा स्थापनमेवात्राभिलक्ष्यते॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वसोः) पूर्वमेव (पृ० ३६ टि० ५) निरूपितोऽयं शब्दः प्रसङ्गात्॥

(पवित्रम्) 'पूङ् पवने', 'पूञ् पवने' आभ्यां कर्तरि चर्षिदेवतयोः (अ० ३।२।१८६) इति सूत्रेण चकारात् करणे 'इत्र'प्रत्ययः। तत्र च आद्युदात्तश्च (अ० ३।१।३) इतीकार उदात्तः। ततो अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ० ६।१।१५७) इति शेषनिघातः। ततः उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८।४।६६) इति पूर्ववत् स्वरितत्वम्। संहितायां तु स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (अ० १।२।३९) इति स्वरितात् परस्य 'प' अनुदात्तस्यैकश्रुत्ये प्राप्ते उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः (अ० १।२।४०) इति सूत्रेणानुदात्ततरः॥

(असि) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति सर्वनिघातः॥

(द्यौः) द्युत दीप्तौ इत्यस्मात्, गमेर्डोः (उ० २।६७) इति बहुलवचनाद् डोप्रत्ययः, डित्त्वाट्टिलोपे प्रत्ययस्वरेणोदात्तः, द्योश्च सर्वनामस्थाने वृद्धिविधिः (अ० ६।१।९३ भा० वा०) इति प्रथमैकवचने वृद्धिः॥ भोजस्तु द्युगमिभ्यां डोः इति प्रत्यक्षं द्युधातुं पपाठ। यद्वा 'द्यु अभिगमने' (अदा० पर०) इत्येतस्य 'अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति' इति भाष्यप्रामाण्यात् दीप्त्यर्थोऽत्र ग्राह्यः॥

(पृथिवी) प्रथेः षिवन्षवन् (उ० १।१५०) इत्यादिना षिवन्प्रत्ययः। षित्त्वान् ङीष्, स च प्रत्ययस्वरेणोदात्तः, सतिशिष्टस्वरेणान्तोदात्तः पृथिवीशब्दः। संहितायां तु इको यणचि (अ० ६।१।७७) इति यणादेशे उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति 'असि' पदस्याकारः स्वरितः। स च यजुःप्रातिशाख्ये १।११५ सूत्रेण क्षैप्रसंज्ञक इत्यपि बोध्यम्॥

(मातरिश्वनः) मातर्यन्तरिक्षे आश्वनिति (निरु०) इति निरुक्तव्युत्पत्तौ पृषोदरादित्वात् सप्तम्यलोप आकारलोप इष्टस्वरसिद्धिश्च। यद्वा श्वन्नुक्षन्पूषन्० (उ० १।१५९) इति सूत्रे निपातनात् सप्तम्यलोप इष्टस्वरसिद्धिश्च॥

* इतोऽग्रे "अत्र सर्वत्रैव पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्थाने मध्यमः" इति, क. ख. ग. कोशेषूपलभ्यते; स च "(असि) भवति, अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः" इति पूर्वपाठेन गतार्थत्वात् मुद्रणकाले निष्कासितः स्यात्।

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य ! ❀ त्वं यो वसोर्वसुरयं यज्ञः पवित्रमसि पवित्रताकारकोऽस्ति । द्यौरसि सूर्य्यरश्मिस्थो भवति । पृथिव्यसि वायुना सह विस्तृतो भवति । तथा मातरिश्वनो घर्मोऽसि वायोः शोधको भवति । विश्वधा असि संसारस्य सुखधारको भवति । परमेण धाम्ना सह दृंहस्व दृंहते † वर्धते । तमिमं + यज्ञं मा ह्वार्मा त्यज तथा ते तव यज्ञपतिस्तं मा ह्वार्षीत् मा त्यजतु ॥ २ ॥

(घर्मः) 'घृ सेचने' इत्यस्मात् घर्मग्रीष्मौ (उ० १। १४९) इति निपातनान्मक् प्रत्ययो गुणभावश्च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । उत्तरपदेनैकादेशे स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८। २। ६) ओकारः स्वरितः । स च यजुःप्रातिशाख्ये १। १४४ इति सूत्रेण 'अभिनिहित' संज्ञक इति ॥

(विश्वधाः) विश्वं दधातीति डुधाञ् धातोरसुनि उपपदमतिङ् (अ० २। २। १९) इति समासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६। २। १०६ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(परमेण) परमः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, यद्वा पुरश्च (उ० ५। ७८ नारा०) इति पृधातोरमच्प्रत्ययः । चित्वादन्तोदात्तः ॥ ततो विभक्तेरनुदात्तत्वं एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८। २। ५) इति 'मे' उदात्तः, शेषं पूर्ववत् ॥

(धाम्ना) डुधाञ्धातोः सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४। १४५) इति मनिन् प्रत्ययः, ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(दृंहस्व) 'दृह दृहि वृद्धौ' (भ्वा० आ०) इति दृंहेर्लोटि मध्यमपुरुषैकवचनम् । तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः (अ० ६। १। १८६) इति लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वं, शपः पित्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेण 'दृ' उदात्तः । स्वरितप्रचयौ च । तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति पूर्वपदान्निघातत्वे प्राप्ते सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पन्ते इति छान्दसत्वान् निघातप्रतिषेधः । अत आद्युदात्तत्वमेव । यद्वा चादिलोपे विभाषा (अ० ८। १। ६३) इतीष्टस्वरसिद्धिः ॥

(मा) निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इत्युदात्तः ॥

(ह्वाः) पूर्ववन्निघातः ॥

(मा) पूर्ववत् ॥

(ते) तेमयावेकवचनस्य (अ० ८। १। २२) इति 'ते' आदेशः स चानुदात्तः ॥

(यज्ञपतिः) यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् (अ० ३। २। ९०) इति यजधातोर्नङ् प्रत्ययः, यज्ञस्य पतिर्यज्ञपतिरिति षष्ठीसमासः । समासस्य (अ० ६। १। २२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते पत्यावैश्वर्ये (अ० ६। २। १८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे यज्ञशब्दो नङ्स्वरेणान्तोदात्तः । ततश्च स्वरितत्वम् ॥

(ह्वार्षीत्) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इत्येव निघातः । स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (अ० १। २। ३९) इत्येकश्रुतिः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥२॥

१ (क) "हे विद्वन् मनुष्य त्वम्" इत्यध्याहारः ॥

(ख) अपरपक्षे—हे सवितः परमात्मन् ! त्वं (वसोः) विष्णुरूपस्य यज्ञस्य (पवित्रमसि) (द्यौरसि) प्रकाशकोऽसि (पृथिवी) प्रथनशीलः (असि) (मातरिश्वनो घर्मोऽसि) वायोश्चालकोऽसि (विश्वधा) विश्वधारकः (असि) (परमेण धाम्ना) (दृंहस्व) वर्धयस्व (मा) (ह्वाः) त्यज (मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्) अस्मिन्नध्यात्मपक्षे व्यत्ययाभावेऽपि सर्वं सङ्गच्छते ॥

❀ 'हे विद्वन् मनुष्य' इत्यंशं क. ख. ग. हस्तलेखेषु नास्ति । † साम्प्रतिकानां मते 'दृंहति' इति । उपर्युक्तः पाठोऽस्माभिः शुद्धः सम्यक् च मन्यते । अग्रेऽपि यत्र यत्र "साम्प्रतिकानां मते" इत्यादि टिप्पणी स्यात् तत्राप्येवमेव विज्ञेयम् । विस्तरशस्तूपर्युक्तानां भाष्यस्थप्रयोगाणां साधुत्वं ग्रन्थान्ते सोपपत्तिकं प्रदर्शयिष्यते ।
+ अत्र 'तमिमं' इत्यस्य स्थाने 'हे मनुष्य तस्मात् त्वमिमं' इति क. ख. ग. कोशेषु पाठ उपलभ्यते ।

भावार्थः—मनुष्याणां विद्याक्रियाभ्यां सम्यगनुष्ठितेन यज्ञेन पवित्रताप्रकाशः, पृथिवीराज्यं, वायुप्राणवद्राज्यनीतिः प्रतापः सर्वरक्षा, अस्मिँल्लोके परलोके च परमसुखवृद्धिः, परस्परमार्जवेन वर्त्तमानं, कुटिलतात्यागश्च जायते। अत एव सर्वैर्मनुष्यैः परोपकाराय विद्यापुरुषार्थाभ्यां प्रीत्या यज्ञो नित्यमनुष्ठातव्य इति ॥२॥

वह यज्ञ किस प्रकार का होता है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थ—+हे विद्यायुक्त मनुष्य ! तू जो [यह] (वसोः) यज्ञ (पवित्रं) शुद्धि का हेतु (असि) है। (द्यौः) जो विज्ञान के प्रकाश का हेतु और सूर्य की किरणों में स्थिर होनेवाला (असि) है। जो (पृथिवी) वायुके साथ देश-देशान्तरों में फैलनेवाला (असि) है। जो (मातरिश्वनः) वायु को (घर्मः) शुद्ध करनेवाला (असि) है। जो (विश्वधाः) संसारका धारण करनेवाला (असि) है। तथा जो (परमेण) उत्तम (धाम्ना) स्थान से (दृꣳहस्व) सुखका बढ़ानेवाला है। † उस यज्ञ का (मा) मत (ह्वाः) त्याग कर, तथा (ते) तेरा (यज्ञपतिः) यज्ञ की रक्षा करनेवाला यजमान भी उस को (मा) न (ह्वार्षीत्) त्यागे।

धात्वर्थ[4] के अभिप्राय से यज्ञ शब्द का अर्थ तीन प्रकार का होता है अर्थात् एक जो इस लोक और परलोक के सुख के लिये विद्या, ज्ञान और धर्म के सेवन से वृद्ध अर्थात् बड़े बड़े विद्वान् हैं उनका सत्कार करना। दूसरा अच्छे प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से शिल्पविद्या का प्रत्यक्ष करना और तीसरा नित्य विद्वानों का समागम अथवा विद्या सुख धर्म और सत्यादि शुभ गुणों का नित्य दान करना है ॥ २ ॥

१ वर्त्तमानं वर्त्तनमिति भावः। अत्र कृतो बहुलमिति भावे ऽपि शपूशानचौ, ।

२ सर्वोऽप्ययं भावार्थो मन्त्रगतपदैरेवावबोध्यस्तद्यथा—
१–वसोः पवित्रमसि २–पृथिव्यसि ३–द्यौरसि ४–मातरिश्वनो घर्मोऽसि ५–विश्वधाऽसि ६–परमेण धाम्ना दृꣳहस्व ७–मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥

आचार्यप्रदर्शितत्रिविधप्रक्रिया

आध्यात्मिकार्थः—वसुर्जगदीश्वरः पवित्रताकारकः विज्ञानप्रकाशहेतुः, विस्तृतो वाय्वादिचालकः, विश्वधारकश्च भवति। परमेण धाम्ना (धारणेन) वर्द्धयते। हे विद्वन् मनुष्य तं मा त्यज। स तव यज्ञस्य स्वामी (त्वां) मा ह्वार्षीत् ॥
"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ" (ऋ० ८। ९८। ११) इति वसुः परमेश्वर इत्यपि बोध्यम् ॥

आधिदैविकार्थः—वसुः वासहेतुः प्रकृतेर्विकारः, पवित्रं जलस्वरूपो भवति, द्यौः प्रकाशहेतुः पृथिवी वायुः, अग्निस्तापयुक्तः, विश्वधारकमन्तरिक्षं च भवति, (अर्थात् पृथिव्यादयो वासहेतुत्वाद् वसव इत्युच्यन्ते) स च परमेण धाम्नोत्कृष्टसुखधारणेन वर्द्धयते, तं मा त्यज, मा ते यज्ञपतिः यजमानः (अग्निवाय्वादिसंगमनकर्त्ता) त्यजतु ॥

अधियज्ञार्थः—अन्वय एव स्पष्टः ॥

विशेषवक्तव्यम्

अन्वयोऽयमाचार्यैर्याज्ञिकप्रक्रियायामेवं प्रदर्शितः। पदार्थस्तु सर्वप्रक्रियास्वपि संघटत इति विशेषोऽत्र बोध्यः ॥ २ ॥

३ उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये और यज्ञ नाम श्रेष्ठ कर्मों का ही है, यह प्रथम मन्त्र में कह चुके हैं। अब उस यज्ञ का स्वरूप कैसा है इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति इस मन्त्र से होती है, यह पूर्वमन्त्र के साथ सङ्गति समझनी चाहिये ॥

४ इसी प्रकार जहां २ यज्ञ शब्द आवे, वहां २ तीनों प्रकार के अर्थ को ध्यान में रखना उचित है। इसी निमित्त आचार्य ने प्रारम्भ में ही यज्ञ शब्दके तीनों प्रकारके अर्थ दर्शाये हैं ॥

+ 'हे विद्यायुक्त मनुष्य' इति क० ख० ग० कोशेषु नास्ति।
† 'इस से हे मनुष्य तू' इति अधिकः पाठो गकोशे उपलभ्यते।

भावार्थ—मनुष्य लोग अपनी विद्या❀ और उत्तम क्रिया से जिस यज्ञ का [सम्यक्] सेवन करते हैं उस से पवित्रता का प्रकाश, पृथिवी का राज्य, वायुरूपी प्राण के तुल्य राजनीति, प्रताप, सब की रक्षा, इस लोक और परलोक में सुख की वृद्धि, परस्पर कोमलता से वर्तना और कुटिलता का त्याग इत्यादि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं, इसलिये सब मनुष्यों को परोपकार तथा❀ अपने सुख के लिये विद्या और पुरुषार्थ के साथ प्रीतिपूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये[१] ॥ २ ॥

वसोः पवित्रमित्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता ।
भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[४] ॥

१ यह सम्पूर्ण भावार्थ मन्त्रगत पदों से ही लिया गया है, इसको विशेष जानने के लिये संस्कृत टिप्पणी देखनी चाहिये ॥

आचार्यप्रदर्शित त्रिविधप्रक्रिया ।

संस्कृत का अन्वय वास्तव में केवल अन्वय नहीं है, अपितु अन्वितार्थ है । भाषा का पदार्थ अन्वय तथा पदार्थ का प्रायः रूपान्तर है † । इसीलिये इस मन्त्र में भाषार्थ संस्कृतान्वय के अनुसार केवल यज्ञपरक ही किया हुआ है । संस्कृत पदार्थ को सूक्ष्मदृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक तथा आधिदैविक प्रक्रियायें भी आचार्य के अपने शब्दों से ही निकल रही हैं, जैसा कि हम संस्कृत टिप्पणी में उनके अपने शब्द देकर दिखा चुके हैं, सज्जन पुरुष संस्कृत टिप्पण में देख सकते हैं । आर्यभाषा जानने वाले वेदप्रेमियों के लाभार्थ उनका भावार्थ भी दिखाये देते हैं—

आध्यात्मिकार्थ—त्वं हि नः पिता वसो (ऋ० ८।९८।११) में वसु नाम जगदीश्वर का है । (हे वसु जगदीश्वर ! आप ही हमारी माता और आप ही हमारे पिता हो) इसी प्रकार इस मन्त्र में भी 'वसु' पद से जगदीश्वर का ग्रहण है । सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार है—

वह वसु जगदीश्वर पवित्रता का हेतु, विज्ञानरूप प्रकाश का करने हारा, सर्वव्यापक, वायु आदि का प्रेरक तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का धारण करनेवाला है । परम करुणा से धारण करता हुआ वह सब को उन्नतिपथ पर ले जाता है । ऐ ज्ञानवान् मनुष्य ! तू उसको मत छोड़ । विश्व का पालक स्वामी भी तुझ को नहीं छोड़ेगा ॥

आधिदैविकार्थ—वास के हेतु होने से पृथिव्यादिकों को वसु कहा है–पवित्र जल, प्रकाश का हेतु द्यौ, पृथिवी, वायु, तापयुक्त अग्नि, तथा विश्व का धारण करने वाला अन्तरिक्ष ये सब वसु हैं । इतने गुणों से युक्त यह पञ्चभूतसमुदायरूप वसु उत्तमैश्वर्य को धारण कराता हुआ वृद्धि का हेतु है । अतः उसका त्याग मत करो । अग्नि वायु आदि को सुसङ्गत करनेवाला यज्ञपति यजमान उसको न छोड़े ॥

अधियज्ञार्थ–अन्वयानुसारी भाषार्थ में ही स्पष्ट है ॥

विशेषवक्तव्य—

(क) इस मन्त्र में आचार्य ने अन्वय यज्ञपरक ही दर्शाया है । संस्कृत पदार्थ सब प्रक्रियाओं में घटता है, यह बात सूक्ष्म दृष्टि से समझने योग्य है ॥

(ख) सर्वानुक्रमणीकार ने इस मन्त्र का 'वायु' तथा 'उखा' देवता माना है । आचार्य दयानन्द ने 'यज्ञ' देवता माना है, इसमें शतपथ का प्रमाण है, जो हमने संस्कृत टिप्पण के प्रारम्भ में ही दर्शाया है । विशेष इस विषय में प्रथम मन्त्र के देवता सम्बन्धी विवरण में देखें ॥ २ ॥

२ (क) अत्र किं मानमिति य० भा० १ । १ देवताविषयकटिप्पणे द्रष्टव्यम् ॥

(ख) वायुः पयः प्रश्न इति तु सर्वानुक्रमणी ॥

३ वसुर्यज्ञ इति पूर्वमन्त्रे द्रष्टव्यम् ॥

४ स यज्ञः सुखदोऽस्ति, शतधारं सहस्रधारं चास्तीति पूर्वमन्त्राद् विशेषः ॥

❀ संस्कृते नास्ति ।　　† देखो यजुर्वेदभाष्य अंक १४ के आवरणपत्र पृष्ठ ३ पर छपा विज्ञापन ।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः ॥ ३ ॥

वसोः । पवित्रम् । असि । शतधारमिति शतऽधारम् । वसोः । पवित्रम् । असि । सहस्रधारमिति सहस्रऽधारम् ॥ देवः । त्वा । सविता । पुनातु । वसोः । पवित्रेण । शतधारेणेति शतऽधारेण । सुप्वेति सुऽप्वा । काम् । अधुक्षः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(वसोः) वसुर्यज्ञः । (पवित्रम्) शुद्धिकारकं कर्म । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (शतधारम्) शतं बहुविधमसंख्यातं विश्वं धरतीति † तम् । शतमिति बहुनामसु पठितम् । निघ० ३ । १ । (वसोः) वसुर्यज्ञः । (पवित्रम्) शुद्धिनिमित्तम् । (असि) अस्ति । (सहस्रधारम्) सहस्रं ❀ बहुविधं ब्रह्माण्डं धरतीति + तं यज्ञम् । सहस्रमिति बहुनामसु पठितम् । निघ० ३ । १ । (देवः) स्वयं-प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः । (त्वा) तं यज्ञम् । (सविता) सर्वेषां वसूनामग्निपृथिव्यादीनां त्रयस्त्रिंशतो देवानां प्रसविता । सविता वै देवानां प्रसविता । श० १ । १ । २ । १७ । (पुनातु) पवित्रीकरोतु । (वसोः) पूर्वोक्तो यज्ञः । (पवित्रेण) पवित्रतानिमित्तेन वेदविज्ञानकर्मणा । (शतधारेण) बहुविधाधारकेण परमेश्वरेण वेदेन वा । (सुप्वा) सुष्ठुतया पुनाति पवित्रताहेतुर्वा तेन । (काम्) कां कां वाचं । (अधुक्षः) दोग्धुमिच्छसीति प्रश्नः । अत्र लडर्थे लुङ् ॥ अयं मन्त्रः श० १।७।१।१२–१६ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

१ अत्र मन्त्र ईश्वरपक्षे 'देवो वः सविता पुनातु' इति वचने 'हे पुरुषाः' इत्यध्याहारो वेदितव्यः ॥

२ यद्वा—यज्ञ एव सविता (गो० पू० १ । ३३)
वेदा एव सविता (गो० पू० १ । ३३)
सैषा त्रयी विद्या यज्ञः (श० १ । १ । ४ । ३)॥

३ (क) एकशेषनिर्देशोऽयं छान्दसमेकवचनमिति । वीप्सायां सत्यां वाचस्त्रिविधत्वमभिलक्ष्य प्रश्नोऽत्र ॥

(ख) वाचमिति कुतोऽत्राध्याह्रियत इति चेत् । मैवम् । श्रौतप्रक्रियायां यथा कामित्याकाङ्क्षायां प्रथम-मन्त्रगतम् 'अघ्न्या' इति पदं दृष्ट्वा 'गाम्' इत्युच्यते, तथैवात्र गौरिति वाङ्नामसु पठित-मिति कृत्वा 'अघ्न्या' पदेन 'वाग्' इत्यपि सम्भवतीति हेतोर्वाचमित्यध्याह्रियते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वसोः पवित्रमसि) पूर्वमन्त्र–(य० १।२) वदेव सर्वमवगन्तव्यम् ॥

(शतधारम्) शतं पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्० (अ० ५ । १ । ५९) इत्यादिसूत्रे निपातनात् 'त' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तः,उपपदसमासे दासी-भारादीनाम् (अ० ६ । २ । ४२) इति पूर्वपदप्रकृति-स्वरेण पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । अग्रे निघाते स्वरितैक-श्रुत्ये चेष्टस्वरसिद्धिः । शेषं पूर्ववत् । अ० १ मं० २४ व्या० प्र० द्र० । यद्वा शतं धारा यस्य तमिति बहुव्रीहौ समासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे शतशब्दोऽन्तोदात्त एव ॥

(सहस्रधारम्) सहस्रशब्दः लघावन्ते इति 'ह' उदात्तः । अग्रे पूर्ववदेव बहुव्रीहौ समास उपपदसमासे वा पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अ० १ मं० २४ व्या० प्र० द्र० ॥

(देवः) य० १।१ पृ० १४ व्याख्यातः ।
(त्वा) अत्रापि निघातः पूर्ववदेव ॥
(सविता) चित्त्वादेवान्तोदात्तः य० १।१ पृ० १५ पूर्ववत् ॥
(पुनातु) सर्वनिघातः तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८)॥
(वसोः) आद्युदात्तः (य० १ । २) व्याख्यातः ॥
(पवित्रेण) पवित्रशब्दः 'इत्र'प्रत्यये प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः (य० १ । २) व्याख्यातः । अग्रे सुप्त्वाद् विभक्तेरनुदात्तत्वम् ॥

† 'धारयतीति' इति क. ख. पाठः ।
❀ 'सहस्रम्' इति पदं क. ख. कोशयोरस्ति. तत् प्रतिलिपिकर्त्रा ग.कोशे त्यक्तम्, अत एव अ० मु० नास्ति ।
\+ 'धारयतीति' इति क-ख-ग पाठः ।

अन्वयः—यो वसोर्वसुर्यज्ञः शतधारं पवित्रमसि शतधा शुद्धिकारकोस्ति तथा॰ [वसोर्वसुर्यज्ञः†] सहस्रधारं पवित्रमसि सुखदोस्ति त्वा तं सविता देवः पुनातु । हे जगदीश्वर! भवान् [वसोः वसुर्यज्ञः†] तेनास्माभिरनुष्ठितेन पवित्रेण शतधारेण सुप्वा यज्ञेनास्मान् पुनातु। हे विद्वन् जिज्ञासो वा त्वं कां वाचमधुक्षः प्रपूरयसि वा प्रपूरयितुमिच्छसि ॥ ३ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः पूर्वोक्तं यज्ञमनुष्ठाय पवित्रा भवन्ति, तान् जगदीश्वरो बहुविधेन विज्ञानेन सह वर्त्तमानान् कृत्वैतेभ्यो बहुविधं सुखं ददाति, परन्तु ये क्रियावन्तः परोपकारिणः सन्ति, ते सुखमाप्नुवन्ति नेतरेऽलसाः। अत्र कामधुक्ष इति प्रश्नोस्ति ॥ ३ ॥

+फिर उक्त यज्ञ कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है।

पदार्थः—जो (वसोः) यज्ञ (शतधारम्) असंख्यात संसार का धारण करने और (पवित्रम्) शुद्धि करनेवाला कर्म (असि) है, जो (वसोः) यज्ञ (सहस्रधारम्) अनेक प्रकार के ब्रह्माण्ड को धारण करने और (पवित्रम्) शुद्धि का निमित्त सुख देने वाला [(असि)] है, (त्वा) उस यज्ञ को × (सविता) वसु आदि तैंतीस देवों का उत्पत्ति करने वाला (देवः) स्वयंप्रकाशस्वरूप परमेश्वर (पुनातु) पवित्र करे। हे जगदीश्वर आप हम लोगों

(सुप्वा) सुष्ठुतया पुनातीति क्विप् च (अ० ३। २। ७६) इति क्विप्, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे ऽन्तोदात्तः। ततश्च 'टा' अनुदात्तः, यणि उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६। १। १७४) इति विभक्तेरुदात्तत्वे प्राप्ते नोङ्धात्वोः (अ० ६। १। १७५) इति निषेध उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८। २। ४) इति स्वरितः, स च क्षैप्रसंज्ञ इति ॥

(काम्) किमः शब्दात् 'अमि' किमः कः (अ० ७। २। १०३), अजाद्यतष्टाप् अ० ४। १। ४) एकादेशे, अमि पूर्वः (अ० ६। १। १०७) इति पूर्वत्वे प्रातिपदिकस्वरे चान्तोदात्तः ॥

(अधुक्षः) 'दुह' प्रपूरणेऽस्मात् लुङि मध्यमपुरुषैकवचने शल इगुपधादनिटः क्सः (अ० ३। १। ४५) इति च्लेः स्थाने 'क्स' आदेशोऽनुदात्तत्वादिडभाव इति ॥ तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति सर्वनिघातः। स्वरितप्रचयौ पूर्ववत् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥ ३ ॥

१ 'यज्ञेनास्मान् पुनातु''''''जिज्ञासो वा त्वं' इत्यध्याहारः। शेषं पूर्वमन्त्रवत् ॥ यज्ञपरोऽयमन्वय इत्यपि बोध्यम् ॥

२ न केवलमिच्छामात्रेणैतत् सम्पद्यत इति प्रदर्श्यते ॥

३ पूर्वं पृष्ठ ३९ टि० १ द्रष्टव्या ॥

आ० प्रदर्शितत्रिविधप्रक्रिया

४ 'त्रिविधोऽयं यज्ञः' इत्याचार्येण पूर्वमन्त्रभाष्य उक्तम्। तदभिलक्ष्यात्रापि पदार्थे वसुर्यज्ञः, स च 'देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इत्यादिना'आध्यात्मिक-आधिदैविक आधिभौतिक' भेदेन त्रिविध इत्यवगन्तुं शक्यते॥

किञ्च पदार्थे 'वेदविज्ञानकर्मणा' 'परमेश्वरेण वेदेन वा' 'बहुविधं ब्रह्माण्डं धरति' इत्यादयः शब्दास्त्रिविधार्थप्रक्रियाद्योतनपरा एवात्र बोध्याः ॥

विशेषवक्तव्यम्

(क) पूर्वमन्त्रे 'पञ्चमहाभूतानां पावकोऽयं यज्ञ' इत्युक्तम्, अत्र स्वात्मपावक इति विशेषः ॥

(ख) 'कां वाचमधुक्षः' वाङ्मयीं वैदिकीं क्रियामित्यर्थोऽत्रावगन्तव्यः ॥ ३ ॥

५ यज्ञ अनेक प्रकार से प्राणी अप्राणी जगत् को धारण करता हुआ सुखावह होता है, यह पूर्वमन्त्र से यहां विशेष है ॥

॰ 'तथा' इति क. ख. पाठः, ग कोशे त्वपमृष्टः।

† भाषार्थे सत्त्वात् त्यक्तोऽयं पाठः।

+'फिर उक्त यज्ञ कैसा सुख करता है' इति ग कोशे अ० मु० च पाठः। क. ख. कोशयोस्तु 'उक्त यज्ञ से क्या सिद्ध होता है' इति पाठः।

× इतो ऽग्रे '(देवः) स्वयंप्रकाशस्वरूप' इति पाठ आसीत्, तस्यात्रास्थानस्थत्वाद् योग्ये स्थाने नीतः।

से सेवित जो (वसोः) यज्ञ है, उस (पवित्रेण) शुद्धि के निमित्त वेद के विज्ञान (शतधारेण) बहुत क्रियाओं के धारण करनेवाले वेद और (सुप्वा) अच्छे प्रकार पवित्र करने वाले यज्ञ से हम लोगों को पवित्र कीजिये। हे विद्वान् पुरुष वा जानने की इच्छा करनेवाले मनुष्य तू (काम्) वेद की श्रेष्ठ वाणियों में से किस २† वाणी के अभिप्राय को (अधुक्षः) अपने मन में पूरण करना अर्थात् जानना चाहता है ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य पूर्वोक्त यज्ञ का सेवन करके पवित्र होते हैं, उन्हीं को जगदीश्वर बहुतसा ज्ञान देकर अनेक प्रकार के सुख देता है, परन्तु जो लोग ऐसी क्रियाओं के करनेवाले वा परोपकारी होते हैं, वे ही सुख को प्राप्त होते हैं, आलस्य करनेवाले कभी नहीं। इस मन्त्र में (कामधुक्षः) इन पदों से वाणी के विषय में प्रश्न है[1]॥३॥

सा विश्वायुरित्यस्य ऋषिः स एव। विष्णुर्देवता[2]। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥
अथ त्रिविधस्यै[3] प्रश्नस्य त्रीण्युत्तराण्युपदिश्यन्ते[4]॥

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेना तनच्मि विष्णो हव्यꣳ रक्ष॥ ४॥

सा। विश्वायुरिति विश्वऽआयुः। सा। विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा। सा। विश्वधाया इति विश्वऽधायाः॥ इन्द्रस्य। त्वा। भागम्। सोमेन। आ। तनच्मि। विष्णो इति विष्णो। हव्यम्। रक्ष॥ ४॥

पदार्थः—(सा) वाक्। वाग् वै यज्ञः। श० १।१।४।११। (विश्वायुः) पूर्णमायुर्यस्यां सा ग्रहीतव्या। (सा) शिल्पविद्यासंपादिका। (विश्वकर्मा[5]) विश्वं संपूर्णं क्रियाकाण्डं सिध्यति यया सा। (सा) संपूर्णविद्याप्रकाशिका। (विश्वधायाः) या विश्वं सर्वं जगद्विद्यागुणैः सह दधाति

आचार्यप्रदर्शित-त्रिविधप्रक्रिया

१ मन्त्र का अन्वय सामान्ययज्ञपरक है तथापि "यज्ञ तीन प्रकार का है" यह पूर्वमन्त्र के भाष्य में आचार्य कह चुके। यहाँ भी उसी 'वसु' का प्रकरण है, जिसको यहां भी 'यज्ञ' कहा गया है। देवपूजा सङ्गतिकरण और दान ये तीनों अर्थ यज्ञ शब्द से उसके धात्वर्थ को लेकर बताये जा चुके हैं। तदनुसार यहां भी आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक भेद से तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ समझा जा सकता है॥

यहां मन्त्र के पदार्थ में भी 'वेदविज्ञानकर्मणा' 'परमेश्वरेण वेदेन वा' 'बहुविधं ब्रह्माण्डं धरति' ये वाक्य तथा इनका भाषार्थ तीनों प्रक्रियाओं को ही दर्शा रहे हैं॥

विशेषवक्तव्य

(क) यज्ञ पञ्चमहाभूतों को पवित्र करता है ऐसा पूर्वमन्त्र में कहा है। यहां उसे आत्मा को पवित्र करने वाला कहा, इतना दोनों में भेद है।
(ख) 'कां वाचमधुक्षः' इस पद से वैदिकवाङ्मय-रूपी वैदिकक्रिया का ग्रहण है॥ ३॥

२ (क) विष्णुर्देवतेत्यत्र किं मानमिति चेत्? लिङ्गाद् विष्णुर्देवतेति बोध्यम्। यथा च सर्वानुक्रम-भाष्यकारः 'अनन्तदेवः' सर्वानुक्रमविरुद्धं (य० १। ७ पृ० १७) लिङ्गादन्तिरक्ष-देवतेत्याह॥
(ख) गौरिन्द्रः पयश्चेति सर्वानुक्रमणी॥

३ विपूर्वाद् डुधाञ्धातोः 'आतश्चोपसर्गे' (अ० ३। ३। १०६) इत्यङ्। विधा विधौ प्रकारे चेत्यादिकोशात् प्रकारवचनोऽयं शब्दः। तिस्रो विधा यस्य स त्रिविधस्तस्य॥

४ पूर्वमन्त्रे "कामधुक्षः" इति प्रश्ने एकशेषनिर्देशः, छान्दसमेकत्वं च, वीप्सायां सत्यां वाचस्त्रिविधत्वम-भिलक्ष्याचार्यैः 'त्रिविधस्य प्रश्नस्य' इत्युक्तम्, अत एव पूर्वोक्तानां त्रयाणां प्रश्नानां त्रीण्युत्तराण्युपदि-श्यन्त इति सङ्गच्छते॥

५ वाग्वै विश्वकर्मर्षिः, वाचा हीदं सर्वं कृतम् (श० ८। १। २। ९)॥

† 'कौन २' ऐसा अजमेर मुद्रित में है।

सा। विश्वोपपदे डुधाञ्धातोरसुन्प्रत्ययः, बाहुलकाण्णिच्च[१]। (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य, यज्ञस्य वा[२]। (त्वा) तम्। अत्र पुरुषव्यत्ययः। (भागम्) भजनीयं शुभगुणभाजनं यज्ञम्। (सोमेन[३]) शिल्पविद्यया संपादितेन रसेनानन्देन वा। (आ) समन्तात्। (तनच्मि) संकोचयामि, दृढीकरोमि। (विष्णो) वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं विश्वं, तत्संबुद्धौ परमेश्वर। (हव्यम्[४]) पूर्वोक्तयज्ञसंबन्धि[५] दातुं ग्रहीतुं योग्यं द्रव्यं विज्ञानं वा। (रक्ष) पालय॥ अयं मन्त्रः श० १।७।१।१८—२१ व्याख्यातः॥४॥

अन्वयः[६]—हे विष्णो व्यापकेश्वर भवता या वाग्धार्य्यते सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया अस्ति। तया त्रिविधया गृहीतयैवाहं यमिन्द्रस्य भागं यज्ञं सोमेनातनच्मि [त्वा] तं हव्यं यज्ञं त्वं सततं रक्ष॥४॥

भावार्थः[७]—त्रिविधा वाग्भवति। या ब्रह्मचर्य्याश्रमे पूर्णविद्यापठनाय पूर्णायुःकरणाय च सेव्यते सा प्रथमा। या गृहाश्रमेऽनेकक्रियायोद्योगसुखप्रापकफला विस्तीर्य्यते सा द्वितीया। या च

---

१ णित्त्वात् आतो युक् चिण्कृतोः (अ० ७।३।३३) इति युक्।

२ (क) एष ब्रह्मैव इन्द्रः॥ ऐ० उ० ५।३॥
इन्द्रो यज्ञस्यात्मा॥ श० ९।५।१।३३॥

(ख) इन्दतीति इन्द्रः परमेश्वरः, आदित्यो वा इति शत्रुघ्नकृतमन्त्रार्थदीपिकायाम् (पृ० १३३)॥ इन्द्रं परमेश्वरम् इति जयतीर्थ-ऋग्भाष्यटीकायां पृ० २२। परमेश्वरः (देवपाल लौ० पृ० १५७, २२३) इन्द्रः परमात्मा इति सायणः ऋ० १।३।४॥१०।९२।८ भाष्ये॥

३ सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः (श० ५।१।२।१०)॥

४ बृहन्नमो हव्यं मतिं भरता मृळयद्भ्याम्। ऋ० १।१३६।१॥

इति हव्यं मतिं विज्ञानमित्यनर्थान्तरम्॥

५ पूर्वप्रतिपादितं (पृ० ३७) त्रिविधयज्ञसंबन्धीत्यर्थः।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सा) तच्छब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, ततश्च सु, त्यदाद्यत्वम्, टाप्, एकादेश इति। एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

(विश्वायुः) अशिप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् (उ० १।१५१) इति क्वन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः। तस्य बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६।२।१०६) इति सूत्रेण छान्दसत्वादसंज्ञायामपीति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्॥

(विश्वकर्मा) बहुव्रीहौ समासे स्वरः पूर्ववत्॥

(विश्वधायाः) अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१०६ भा० वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्॥

(इन्द्रस्य) य० १।१ व्याख्यातः, पूर्ववदाद्युदात्तस्तस्य शेषनिघातः॥

(त्वा) अनुदात्त एकश्रुतिश्च।

(भागम्) पूर्ववत् (य० १।१ पृ० १७)

(सोमेन) सुवत्यैश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। 'अर्तिस्तुसुहुसृधृ…क्षिनीभ्यो मन् (उ० १।१४०), ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम्। शेषनिघाते स्वरित एकश्रुतौ चेष्टस्वरसिद्धिः॥

(आ) उदात्तः। (तनच्मि) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः। उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८।४।६६) इति स्वरितत्वम्॥

(विष्णो) आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इति पदात् पदस्येति कृत्वाष्टमिकनिघाते प्राप्ते छान्दसत्वात् आमन्त्रितस्य च (अ० ६।१।१९८) इत्याद्युदात्तत्वम्॥ भिन्नवाक्यपक्षे तु समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः (अ० ८।१।१८ भा० वा०) इति सिद्धमेवाद्युदात्तत्वम्॥

(हव्यम्) हु दानादनयोः, अचो यत् (अ० ३।१।९७) इति यत् प्रत्ययः। यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादन्तोदात्तः॥

(रक्ष) तिङ्ङतिङ इति सर्वनिघातः॥

इति व्या० प्रक्रिया॥४॥

६ आमन्त्रितत्वाद् 'विष्णो' इति पदं पूर्वमत्राक्षिप्यते, 'भवता या वाग् धार्य्यते' इत्यध्याहारः॥

७ त्रिविधवाचः स्वरूपमत्र निर्दिश्यते॥

सर्वमनुष्यैः + सर्वमनुष्येभ्यः शरीरात्मसुखवर्धनायेश्वरादिपदार्थविज्ञानप्रकाशिका वानप्रस्थसंन्यासाश्रमे खल्पदिश्यते सा तृतीया। नचैनया विना कस्यापि सर्वं सुखं भवितुमर्हति। अनयैव मनुष्यैः पूर्वोक्तो यज्ञोऽनुष्ठातव्यः। व्यापकेश्वरः स्तोतव्यः प्रार्थनीय उपासनीयश्च भवति। अनुष्ठितोऽयं यज्ञो जगति रक्षाहेतुः प्रेम्णा सत्यभावेन प्रार्थितश्चेश्वरस्तान् सर्वदा रक्षति। परन्तु ये क्रियाकुशला धार्मिकाः परोपकारिणो जनाः सन्ति त ईश्वरं धर्मं च विज्ञाय सम्यक् क्रियासाधनेनैहिकं पारत्रिकं च सुखं प्राप्नुवन्ति, नेतरे ॥ ४॥

जो पूर्वोक्त मन्त्र में तीन प्रश्न कहे हैं, उन के उत्तर अगले मन्त्र में क्रम से प्रकाशित किये हैं ॥

पदार्थः—हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! आप जिस वाणी का धारण करते हैं, (सा) वह (विश्वायुः) पूर्ण आयु की देने वाली (सा) वह (विश्वकर्मा) जिस से कि संपूर्ण क्रियाकांड सिद्ध होता है और (सा) वह (विश्वधायाः) सब जगत् को विद्या और गुणों से धारण करने वाली है। ॐपूर्वमन्त्र में जो प्रश्न है उस के उत्तर में यही तीन प्रकार की वाणी ग्रहण करने योग्य है, इसी से मैं (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (भागम्) सेवन करने योग्य यज्ञ को (सोमेन) [शिल्प] विद्या से सिद्ध किये रस अथवा आनन्द से (आतनच्मि) अपने हृदय में दृढ़ करता हूं, तथा हे परमेश्वर! [(त्वा) उस] (हव्यम्) पूर्वोक्त यज्ञसंबन्धि देने लेने योग्य द्रव्य वा विज्ञान की (रक्ष) निरन्तर रक्षा कीजिये ॥४॥

भावार्थः—तीन प्रकार की वाणी होती है अर्थात् प्रथम वह जो कि ब्रह्मचर्य में पूर्ण विद्या पढ़ने वा पूर्ण आयु होने के लिये सेवन की जाती है। दूसरी वह जो गृहाश्रम में अनेक क्रिया वा उद्योगों से सुखों की देने

आ० प्र० त्रिविधप्रक्रिया

१ आध्यात्मिकार्थः—हे विष्णो व्यापकेश्वर ! भवता या वाग् वेदवाणी धार्यते सा विश्वायुः, आयुर्निमित्तं भवति, यथाह महाभाष्यकारः—"आयुर्वै घृतम्", आयुर्निमित्तमिति गम्यते (अ० १।१।५८ भाष्ये), सा विश्वकर्मा या गृहाश्रमेऽनेकक्रियायोगप्रापकसुखफला, सा विश्वधाया विश्वं सर्वं जगद् विद्यागुणैर्दधाति सा, तया त्रिविधगृहीतयैवाहं तव इन्द्रस्य परमेश्वरस्य भजनीयं स्वरूपमानन्देनातनच्मि (हृदि) दृढीकरोमि, विज्ञानं (विविधज्ञानं) पारत्रिकं च सुखं रक्ष, प्रेम्णा सत्यभावेन प्रार्थितो भगवाँस्तान् रक्षति ॥

आधिदैविकार्थः—सा शिल्पविद्यासम्पादिका वाग् (विद्युत्) विश्वायुः (आयुरित्युपलक्षणम्) भोगनिमित्ता, विश्वकर्मा सम्पूर्ण–(शिल्प) क्रियाकाण्डं सिध्यति यया सा, विश्वधाया विश्वं सर्वं जगद् विद्यागुणैर्दधाति, इन्द्रस्य (शिल्पयज्ञस्य) त्वा शुभगुणभाजनं शिल्पविद्यया सम्पादितेन रसेन सम्यक्-क्रियासाधनेन दृढीकरोमि। स विष्णुर्व्यापनशीलः = विद्युत् हव्यमैहिकं सुखं दातुं ग्रहीतुं योग्यं द्रव्यं विज्ञानं वा रक्षति ॥

अधियज्ञार्थः—सा (यज्ञीया वाग्, वाग् वै यज्ञः) विश्वायुः, आयुर्वर्द्धिका, सा विश्वकर्मा सम्पूर्णं क्रियाकाण्डं सिध्यति यया सा, विश्वधाया विश्वं दधाति तयैवाहं इन्द्रस्य यज्ञस्य शुभगुणभाजनं सोमरसेन (उत्तमौषधैः) आतनच्मि (दुग्धस्यातञ्चनं यथा भवति तद्वद् वायौ, अन्तरिक्षे च यज्ञस्य हविः परमाणुभिरातनच्मि) ॥

विशेषवक्तव्यम्

आश्रमभेदेन सा वेदवाणी तत्र तत्र भिन्नरूपेणाचर्यमाणत्वात् त्रिविधा जायते। त्रिविधा वाक् ऋग्यजुःसामरूपेत्यपि बोध्यम्। गुणगुणिज्ञानेनायुर्निमित्तमिति विश्वायुः, अनेकविधकर्मसु युक्तत्वाद् विश्वकर्मा, समस्तक्लेशोपशमकत्वाद् विश्वधाया ॥ ४ ॥

२ पूर्वमन्त्र में 'कामधुक्षः' किस २ वाणी के अभिप्राय को जानना चाहता है, यही त्रिविध वाणी का प्रश्न है जिसका कि यहाँ उत्तर है ॥ ४ ॥

+ 'जनैः' इति क पाठः। वस्तुतस्तु 'जनैः, सर्वमनुष्यैः' अनयोः कतरदपि पदमत्र नापेक्ष्यते।

ॐ "तया त्रिविधया गृहीतयैवाहं यम्" इति संस्कृते पाठ इति ध्येयम्।

वाली विस्तार से प्रगट की जाती है। और तीसरी वह जो इस संसार में सब मनुष्यों के शरीर और आत्मा के सुख की वृद्धि वा ईश्वर आदि पदार्थों के विज्ञान को देने वाली वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में विद्वानों से उपदेश की जाती है। इस [तीन] प्रकार की वाणी के विना किसी को सब सुख नहीं हो सकते, क्योंकि इसी से पूर्वोक्त यज्ञ तथा व्यापक ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करना योग्य है। इसी वाणी के द्वारा नियम से किया हुआ यज्ञ संसार में रक्षा का हेतु और प्रेम सत्यभाव से प्रार्थना को प्राप्त हुआ ईश्वर विद्वानों की सर्वदा रक्षा करता है, वही सब का अध्यक्ष है, परन्तु जो क्रिया में कुशल धार्मिक परोपकारी मनुष्य हैं, वे ही ईश्वर और धर्म को जानकर मोक्ष और सम्यक् क्रियासाधनों से इस लोक और परलोक के सुख को प्राप्त होते हैं[1] [अन्य नहीं] ॥ ४ ॥

अग्ने व्रतपत इत्यस्य ऋषिः स एव। अग्निर्देवता। आर्ची त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

किं च तद्वाचो व्रतमित्युपदिश्यते[2]

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्।
इ॒दम॒हमनृ॑तात् स॒त्यमुपै॑मि ॥ ५ ॥

अग्ने॑। व्र॒त॒प॒त॒ इति॑ व्रतऽपते। व्र॒तम्। च॒रि॒ष्या॒मि॒। तत्। श॒के॒य॒म्। तत्। मे॒। रा॒ध्य॒ता॒म्॥
इ॒दम्। अ॒हम्। अनृ॑तात्। स॒त्यम्। उप॑। ए॒मि॒ ॥ ५ ॥

आ० प्र० त्रिविधप्रक्रिया

१ आध्यात्मिकार्थ—हे विष्णु व्यापक परमेश्वर! आपके द्वारा संसार में प्रवृत्त वेदवाणी जीवों के लिये शुभ कर्मानुष्ठान का उपदेश करती हुई दीर्घायु को प्राप्त कराने वाली है। इसी वेदवाणी से गृहाश्रम में गृहस्थ नरनारी अनेकविध क्रियायोग द्वारा सुख वृष्टि का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। सब सत्य विद्याओं का भण्डार होने से सम्पूर्ण जगत् को धारण करती है। उपासक जन आपकी भक्तिभावना द्वारा ही इन तीनों प्रकार की वाणी के रहस्य को जान कर, विविधज्ञान से युक्त होकर ऐहिक तथा पारमार्थिक सुखों को प्राप्त कर सकते हैं॥

२—आधिदैविकार्थ—अनेकविध शिल्पविद्याओं को सम्पन्न करनेवाली विद्युत् सम्पूर्ण भोगों की हेतु है—समस्त क्रियाकलाप को सिद्ध करने हारी तथा समग्र जगत् को विविध गुणों द्वारा धारण करती है। शिल्परूप यज्ञ का संचालन अनेकविध क्रिया-कौशल द्वारा करती है। अनेकविध ऐश्वर्य की प्राप्त कराने वाली होने से यह विद्युत् सांसारिक तथा उस ऐश्वर्य से दानादि शुभकर्मानुष्ठान द्वारा पारलौकिक सुख की देने वाली है॥

३—अधियज्ञार्थ—यज्ञीय पवित्र वाणी आयु की (बाह्य तथा आन्तरिक रोगनाश द्वारा) बढ़ाने वाली तथा समस्त कर्मकाण्ड को सिद्ध करने वाली है।

इस के द्वारा सोमरस आदि उत्तम २ ओषधियों से वायु तथा अन्तरिक्ष में हवि पहुंचा कर यज्ञ का विस्तार करना परम सुखदायक है।

विशेष वक्तव्य

ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमों में यह वेदवाणी भिन्न रूप में सेवन की जाती है। ब्रह्मचर्य में इसका श्रवण, गृहस्थाश्रम में व्यवहार द्वारा मनन, वानप्रस्थ में निदिध्यासन किया जाता है। ऋग् यजुः साम यह तीन प्रकार की वाणी गुणगुणी के ज्ञान द्वारा अनेकविध कर्मों के अनुष्ठान में परम साधन होती हुई समस्त क्लेशों का उपशमन करती है॥

इस तीन प्रकार की वाणी का गौरव अवस्थाभेद से भिन्न २ है॥ ४॥

---

२ पूर्वोक्तायास्त्रिविधवाचः 'अनृतात् सत्यप्राप्तिरेव व्रतम्' इत्येव सङ्गतिः॥

पदार्थः—(अग्ने[१]) हे सत्योपदेशकेश्वर! (व्रतपते[२]) व्रतानां सत्यभाषणादीनां पतिः पालकस्तत्संबुद्धौ। (व्रतम्) सत्यभाषणं सत्यकरणं सत्यमानं च। (चरिष्यामि) अनुष्ठास्यामि। (तत्) व्रतमनुष्ठातुम्। (शकेयम्) यथा समर्थो भवेयम्। (तत्) तस्यानुष्ठानं पूर्तिश्च। (मे) मम। (राध्यताम्) संसेध्यताम्। (इदम्) प्रत्यक्षमाचरितुं सत्यं व्रतम्। (अहम्) धर्मादिपदार्थचतुष्टयं चिकीर्षुर्मनुष्यः। (अनृतात्[६]) न विद्यते ऋतं यथार्थमाचरणं यस्मिन् तस्मान्मिथ्याभाषणान् मिथ्याकरणान्मिथ्यामानात् पृथग्भूत्वा। (सत्यम्[७]) यद्वेदविद्यया प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः सृष्टिक्रमेण विदुषां संगेन

१ (क) कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम्॥ (ऋ० १। १२। ७)॥

कथं भूतमग्निम्? सत्यधर्माणम्—सत्यधर्मयुक्तम्, कविम्—ज्ञानस्वरूपम्।

सत्यधर्मताया ज्ञानस्य चेश्वरे सर्वोत्कृष्टत्वादग्निशब्देनेश्वर एव ग्राह्यः॥

(ख) आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः।
देवेभिरग्न आ गहि॥ (ऋ० १। १४। २)॥

हे विप्राग्ने! इति सम्बोधनेनात्रेश्वर एव ग्रहीतुं योग्यः प्रकर्षगतिविज्ञानात्॥

(ग) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजुः ३२। १)॥

एवं वेदे बहवो मन्त्रा विद्यन्ते यत्रेश्वरस्याग्निशब्दवाच्यत्वं दृश्यते॥

(घ) एष वै प्रजापतिर्यदग्निः॥ तै० ब्रा० १। १। ५। ५॥

आत्मैवाग्निः॥ श० ६। ७। १। २०॥
ब्रह्म वा अग्निः॥ कौ० ब्रा० ९। १। ५॥ १२। ८॥

अग्निर्ब्रह्म॥ श० ३। २। २। ७॥

एतेष्वपि प्रमाणेष्वग्निशब्देन ब्रह्मप्रजापतिपदवाच्यः सकलभुवनोत्पादकः परमेश्वर एव गृह्यते। यद्यपि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धेनैव 'अग्नि'शब्दः परमात्मवाचक इति दर्शयितुं पूर्वोक्तप्रमाणान्येव पर्याप्तानि तथाप्यन्यान्यप्यभ्युपगमवादेन प्रदर्श्यन्ते—

प्राणो अग्निः परमात्मा॥ मैत्र्यु० ६। ९॥ प्राणाग्निहोत्रोप० १॥

तदेवाग्निस्तदादित्यः॥ यजु० ३२।१॥ श्वेता० ४। २॥

स कलोऽग्निः स चन्द्रमाः॥ कैवल्यो० ८॥

तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत् सूर्यः॥ महानारा०१।७॥

अयमग्निशब्दः परमात्मपर इत्येतैः सुव्यक्तम्॥

२ अग्निर्वै देवानां व्रतभृत्॥ गो० ब्रा० उ० १। १५॥

३ एतत् खलु वै व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्॥
श० १२। ८। २। ४॥

अमानुष—इव वा एतद् भवति यद् व्रतमुपैति॥ श० १। ९। ३। २३॥

४ अग्रे य० ५। २२ टिप्पण्यां द्रष्टव्यम्॥

५ षिधु संराधौ (दि० प०) इत्यास्माण्ण्यन्ताद् पारलौकिके आत्वाभाव इति ध्येयम्।

६ एतद् वाचश्छिद्रं यदनृतम्॥ तां० ८। ६। १३॥

७ तद् यत् सत्यं त्रयी सा विद्या॥ श०९। ५। १। १८॥

यो वै धर्मः सत्यं वै तत्, तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति। धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति॥ श० १४। ४। २। २६॥

सत्यसंहिता वै देवाः॥ ऐ० ब्रा० १। ६॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अग्ने) 'अगि गतौ' इत्येतस्माद् धातोः अङ्गेर्नलोपश्च (उ० ४। ५०) इति निप्रत्ययः। यद्वा "अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः, अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति, त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः—इतात्, अक्ताद् दग्धाद्वा, नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नीः परः" इति यास्कः निरु० ७। १४॥

एवं बहुविधमस्य शब्दस्य निर्वचनम्, तत् सर्वमेवानवद्यम्, निर्वचनशब्दस्य निश्चयार्थकत्वप्रतिपादनात्। यथाह धन्वन्तरिः—निश्चितं वचनं निर्वचनम्। यथायुर्विद्यतेऽस्मिन्ननेन वायुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः" इति (सुश्रुतोत्तरतन्त्रे अ० ६५)॥

सुविचारेणात्मशुद्ध्या वा निर्भ्रमं सर्वहितम् तत्त्वनिष्ठं सत्प्रभवं सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत्। सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा। निरु० ३।१३। (उप) क्रियार्थे। (एमि) ज्ञातुं प्राप्तुमनुष्ठातुमिच्छामि +॥ अयं मन्त्रः श० १।१।१।१-६ व्याख्यातः॥५॥

अन्वयः—हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मोपदेशकेश्वर अहं यदिदमनृतात् पृथग्वर्त्तमानं सत्यं व्रतमाचरि-

सर्वेष्वपि पक्षेषु सम्बोधने आमन्त्रितस्य च (अ० ६।१।१९८) इति सूत्रेणाद्युदात्तः। शेषनिघाते उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८।४।६६) इति स्वरितत्वम्॥

(व्रतपते) 'व्रतानां पतिः व्रतपतिः' इति षष्ठीसमासे समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते पत्यावैश्वर्ये (अ० ६।२।१८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते सम्बोधनत्वात् आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इत्याष्टमिकेन निघातः प्राप्नोति, तद्बाधकेन 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' (अ० ८।१।७२) इत्यनेन 'अग्ने' इत्येतस्याविद्यमानत्वात् षाष्ठिकम् आमन्त्रितस्य च (अ० ६।१।१९८) इत्याद्युदात्तत्वं पुनः प्राप्तम्, तत्र नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् (अ० ८।१।७३) इत्यामन्त्रितस्याविद्यमानत्वं प्रतिषिद्धं सत् पदात् पर इति कृत्वाष्टमिकेन आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इति सूत्रेण निघातत्वमेवास्य सम्पन्नम्। स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (अ० १।२।३९) इत्येकश्रुतिः॥

(व्रतम्) अत्र यास्कः—'व्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः। इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव वृणोतीति सतः' (निरु० २।१३) इति। वारयति पापेभ्यो मनुष्यानिति, यद्वा वृञ् वरणेऽस्माद् व्रियते स्वीक्रियते येन इति करणे पृषिरञ्जिभ्यां कित् (उ० ३।१११) इत्यतच्प्रत्ययः। कित्वाद् गुणाभावो यणादेशश्च। चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

(चरिष्यामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघाते स्वरितप्रचयौ॥

(तत्) प्रातिपदिकान्तोदात्तत्वम्॥

(शकेयम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२२) इति निघातः॥

(मे) तेमयावेकवचनस्य (अ० ८।१।२२) इति 'मे' आदेशः। स चानुदात्तः॥

(राध्यताम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघात एकश्रुतिश्च।

(इदम्) इन्देः कमिर्नलोपश्च (उ० ४।१५७) इति कमिप्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(अहम्) युष्यसिभ्यां मदिक् (उ० १।१३९) इति असुधातोः 'मदिक्' प्रत्ययेऽस्मच्छब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः सम्पन्नः। ततः सौ परतः, त्वाहौ सौ (अ० ७।२।९४) इति 'अह' आदेशः। ङेप्रथमयोरम् (अ० ७।१।२८) इत्यमादेशः शेषे लोपः (अ० ७।२।९०) इति लोपः। अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

(अनृतात्) 'न ऋतमनृतम्' इति नञ्समासः, समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वसिद्धिः॥

(सत्यम्) सत्सु भवम् भवेच्छन्दसि (अ० ४।४।११०) इति यत्। यद्वा सत्सु साधु तत्र साधुः (अ० ४।४।९८) इति यत्। यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते उञ्छादेराकृतिगणत्वात् सत्यादशपथे (अ० ५।४।६६) इत्यन्तोदात्तनिपातनाद्वा इष्टस्वरसिद्धिः॥

(उप) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८१) इत्याद्युदात्तत्वम्, ततः, स्वरितत्वं च॥

(एमि) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः, स्वरितत्वैकश्रुत्यं च॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥५॥

१ अयमन्वयोऽध्यात्मपरः सन्नप्यन्यासु प्रक्रियास्वपि योजयितुमर्हः।

+ 'प्राप्नोमि' इति अ० मु० पाठः। क. ख. ग. कोशेषु 'इच्छामि' इत्येवोपलभ्यते। अत्र 'ज्ञातुं प्राप्तुमनुष्ठातुमिच्छामि प्राप्नोमि वा' इति पाठो युक्ततरः स्यात्। तेनान्वये प्राप्नोमीत्यपि संगच्छते॥

ष्यामि यदुपैमि प्राप्नोमि यच्चानुष्ठातुं शकेयं त[त्]न्मे मम भवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यताम्॥ ॥ ५ ॥

भावार्थः[१]——ईश्वरेण सर्वमनुष्यैरनुष्ठेयोऽयं धर्म उपदिश्यते। यो न्याय्यः + पक्षपातरहितः सुपरीक्षितः सत्यलक्षणान्वितः सर्वहिताय वर्त्तमान ऐहिकपारमार्थिकसुखहेतुरस्ति, स एव सर्वमनुष्यैः सदाचरणीयः † यश्चैतस्माद्विरुद्धो ह्यधर्मः स नैव केनापि कदाचिदनुष्ठेयः। एवं हि सर्वैः प्रतिज्ञा कार्य्या। हे परमेश्वर वयं वेदेषु भवदुपदिष्टमिमं सत्यधर्ममाचरितुमिच्छामः। येयमस्माकमिच्छा सा भवत्कृपया सम्यक् सिध्येत्। यतो वयमर्थकाममोक्षफलानि प्राप्तुं शक्नुयाम। यथा चाधर्मं सर्वथा त्यक्त्वाऽनर्थकुकामबन्धदुःखफलानि पापानि त्यक्तुं त्याजयितुं च समर्था भवेम। यथा भवान् सत्यव्रतपालकत्वाद् व्रतपतिर्वर्त्तते तथैव वयमपि भवत्कृपया स्वपुरुषार्थेन यथाशक्ति सत्यव्रतपालका भवेम। एवं सदैव धर्मं चिकीर्षवः सत्क्रियावन्तो भूत्वा सर्वसुखोपगताः सर्वप्राणिनां सुखकारकाश्च भवेमेति सर्वैः सदैवैषितव्यम्×। शतपथब्राह्मणेऽस्य मन्त्रस्य व्याख्यायामुक्तं मनुष्याणां द्विविधमेवाचरणं सत्यमनृतं च, तत्र ये वाङ्मनःशरीरैः सत्यमेवाचरन्ति ते देवाः। ये चैवानृतमाचरन्ति ते मनुष्या अर्थादसुरराक्षसाः सन्तीति वेद्यम्[२] ॥ ५ ॥

उक्त वाणी का व्रत क्या है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[३] ॥

---

१ जगदीश्वरस्य साहाय्येनैव सर्वेष्टसिद्धेः सम्भव इति प्रतिपादितं भवति ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ दृढसङ्कल्पमन्तरेणोपासकस्य परमदेवाराधनम्, शिल्पविद्याविदामनेकविधशिल्पविद्यारहस्यज्ञानम्, यज्ञानुष्ठातॄणां तन्नियमपरिपालनं च न सम्भवतीति धर्मादिपदार्थचतुष्टयं चिकीर्षुर्मनुष्योऽवश्यं तद् व्रतमाचरेदिति त्रिविधप्रक्रियासम्बन्धोऽत्रोहनीयः ॥

विशेषवक्तव्यम्

मन्त्रोऽयं संहितापाठक्रमेण पञ्चमोऽपि सन् शतपथब्राह्मणे सर्वतः प्रथम एव विनियुज्यते। संहितापाठापेक्षया ब्राह्मणपाठस्य गौणता, व्याख्यानरूपता, पौरुषेयता चास्मादेवावगन्तुं शक्यते। 'विनियोजकं ब्राह्मणम्' इत्यस्मान्न्यायादप्येतदेव सिद्ध्यति। अपौरुषेयत्वे मन्त्रपाठव्यतिक्रमस्यासंगत्यापत्तेश्च। विस्तरस्त्वत्र विषये विवरणभूमिकायां द्रष्टव्यः ॥ ५ ॥

३ अनृत से सत्य की प्राप्ति ही पूर्वोक्त त्रिविधवाणी का व्रत है। यह पूर्वमन्त्र के साथ इस मन्त्र की सङ्गति समझनी चाहिये ॥

॥ मुद्रिते त्वेवमन्वयः—"हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मोपदेशकेश्वर! अहं यदिदमनृतात् पृथग्वर्त्तमानं सत्यं व्रतमाचरिष्यामि तन्मे मम भवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यताम् ॥ ५ ॥"

स च हस्तलेखकप्रमादपरः, ख हस्तलेखे त्वित्थमासीत्—

"हे व्रतपते अग्ने सत्यधर्मेश्वर यदिदमनृतात् पृथग् वर्त्तमानं सत्यं व्रतं आचरिष्यामि तन्मे भवता स्वकृपया राध्यतां संसेध्यतां यदुपैमि प्राप्नोमि यच्चानुष्ठातुं शकेयं, अग्रे—'तदपि सर्वं राध्यताम्' इति लिखित्वा खण्डितोऽयं पाठः ॥

अत्र केनचिन्मूढलेखकेन '२' '१' संख्यया वाक्ययोः क्रमभेदमविदित्वैवासंशोध्यैवायं पाठो लिखितो भवेत् ॥

आचार्यदयानन्देन कार्यबाहुल्यादन्येषां विश्वासं च कृत्वा यत्र तत्र नगरेषु परिभ्रमणाच्चास्य भाष्यस्य संस्कृतमपि सर्वत्र नैव दृष्टमित्यपि सुव्यक्तम् ॥

(ख) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामपि (पृ० ९९) अस्य मन्त्रस्यान्वयः सम्यङ् निरूपितो द्रष्टव्यः। आर्याभिविनये द्वितीयप्रकाशे ४६ संख्याङ्कमन्त्रेऽपीति ॥

+ 'न्यायः' इति ख. ग. अ. मु. च पाठः, क कोशे 'न्याय्यः' इत्येवोपलभ्यते ॥

† 'यश्च' इति क पाठः, 'यच्च' इति ख. ग. अ. मु. च पाठः, स चाशुद्धः ॥

× 'सदैवेष्टितव्यम्' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥

पदार्थः—※ हे (व्रतपते) सत्यभाषणादि धर्मों के पालन करने और (अग्ने) सत्य [धर्म के] उपदेश करने वाले परमेश्वर (अहं) [धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों को चाहने वाला] मैं [जो] (इदम्) इस (अनृतात्) झूठ से अलग (सत्यम्) [सत्यव्रत के आचरण रूप नियम को जो] वेदविद्या, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, सृष्टिक्रम, विद्वानों का सङ्ग, श्रेष्ठ विचार तथा आत्मा की शुद्धि आदि प्रकारों से निर्भ्रम सर्वहित तत्त्व अर्थात् सिद्धान्त के प्रकाश करने हारे प्रमाणों से‡ सिद्ध अच्छी प्रकार परीक्षा किया हुआ है; उस सत्य बोलना सत्य मानना सत्य करनारूप (व्रतम्) व्रत को (चरिष्यामि) पालन करूंगा जिसको कि मैं (उपैमि) नियम से ग्रहण करने या जानने और प्राप्त करने की इच्छा करता हूं। (तत्) उस सत्यव्रतरूप नियमानुष्ठान करने को मैं (शकेयम्) समर्थ होऊं। (तत्) (मे) मेरे उस व्रत को आप अपनी कृपा से (राध्यताम्) अच्छी प्रकार सिद्ध कीजिये ॥ ५ ॥

भावार्थः—[1] परमेश्वर ने सब मनुष्यों को नियम से सेवन करने योग्य धर्म का उपदेश किया है जो कि न्याययुक्त [पक्षपात से रहित] परीक्षा किया हुआ सत्य लक्षणों से प्रसिद्ध और सब का हितकारी तथा इस लोक अर्थात् संसारी और परलोक अर्थात् मोक्षसुख का हेतु है, वही सब को आचरण करने योग्य है, और उससे विरुद्ध जो कि अधर्म कहाता है वह किसी को ग्रहण करने योग्य कभी नहीं हो सकता क्योंकि सर्वत्र उसी का त्याग करना [उचित] है। इसी प्रकार हम [सब] को भी प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हे परमेश्वर ! हम लोग वेदों में आपके प्रकाशित किये सत्यधर्म का ही ग्रहण करें, तथा हे परमात्मन् ! आप हम लोगों पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग उक्त सत्यधर्म का पालन करके अर्थ, काम और मोक्ष रूप फलों को सुगमता से प्राप्त हो सकें [और जिससे हम अधर्म को सर्वथा त्याग कर अनर्थ, बुरी कामनाओं, बन्धन तथा दुःख को उत्पन्न करने वाले पापों को छोड़ने और छुड़ाने में समर्थ हो सकें।] जैसे सत्यव्रत के पालने से आप व्रतपति हैं, वैसे ही हम लोग भी आप की कृपा और अपने पुरुषार्थ से यथाशक्ति सत्यव्रत के पालने वाले हों, तथा धर्म करने की इच्छा से अपने सत्कर्म के द्वारा सब सुखों को प्राप्त होकर सब प्राणियों को सुख पहुंचाने वाले हों, ऐसी इच्छा सब मनुष्यों को [सदा] करनी चाहिये ॥ शतपथ ब्राह्मण में इस मन्त्र की व्याख्या में कहा है कि मनुष्यों का आचरण दो प्रकार का [ही] होता है एक सत्य और दूसरा झूंठ का, अर्थात् जो पुरुष वाणी मन और शरीर से सत्य का आचरण करते हैं वे देव कहाते और जो झूंठ का आचरण करने वाले हैं वे [मनुष्य] असुर राक्षस आदि नामों के अधिकारी होते हैं[2] ॥ ५ ॥

कस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव। प्रजापतिर्देवता[3]। आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः पञ्चमः स्वरः ॥

१ परमदेव जगदीश्वर के आश्रय से ही मनुष्य संसार में फलीभूत होता है ॥

त्रिविध प्रक्रिया

२ दृढ़ सङ्कल्प के विना उपासक परमात्मदेव की आराधना नहीं कर सकता, विद्वान् शिल्पी अनेकविध शिल्परहस्यों को बुद्धि में नहीं बिठा सकता, यज्ञयागादि आत्मा के पवित्र करने वाले कर्मों का नियमपूर्वक अनुष्ठान नहीं हो सकता। अतः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पदार्थचतुष्टय की प्राप्ति की इच्छा रखने वाला मनुष्य वाणी से इस व्रत का पालन करे। इस प्रकार यह मन्त्र तीनों प्रक्रियाओं में सुसङ्गत होता है ॥

विशेष वक्तव्य

यह मन्त्र संहितापाठ के क्रम से पांचवां होता हुआ भी शतपथब्राह्मण में सब से प्रथम व्रतोपायन में विनियुक्त हुआ है। संहितापाठ की अपेक्षा ब्राह्मणपाठ गौण है—व्याख्यान रूप है—तथा मनुष्यकृत (ईश्वर कृत नहीं) है, यह इस से स्पष्ट सिद्ध है, क्योंकि ब्राह्मण विनियोजकमात्र ही तो है। यदि ब्राह्मण पौरुषेय नहीं तो मन्त्रपाठ का व्यतिक्रम क्यों हुआ, इसका कुछ उत्तर नहीं बनता। इस विषय में विस्तार से विवरणभूमिका में देखें ॥

३ सुक् सूर्ये चेति सर्वानुक्रमणी ॥

※ हस्तलेखानुसार संस्कृत अन्वय भिन्न हो जाने के कारण भाषा के पूर्व मुद्रित पदार्थ के शब्दों के क्रम को भी हस्तलेख के आधार पर ही अन्वयानुसार कर दिया गया है ॥

‡ 'करने हारों से सिद्ध हुआ अच्छी' इति ग कोशे अ.मु.च पाठः। 'करने हारे प्रमाणों से' इति क.ख. पाठः ॥

केन सत्यमाचरितुमसत्यं त्यक्तुमाज्ञा दत्तेत्युपदिश्यते[1] ।

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति ।
कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ ६ ॥

कः । त्वा । युनक्ति । सः । त्वा । युनक्ति । कस्मै । त्वा । युनक्ति । तस्मै । त्वा । युनक्ति ॥ कर्मणे । वाम् । वेषाय । वाम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(कः) को † हि सुखस्वरूपः । (त्वा) क्रियानुष्ठातारं मनुष्यं पुरुषार्थे×। (युनक्ति) नियुक्तं करोति । (स[2]:) परमेश्वरः । (त्वा) विद्यादिशुभगुणानां ग्रहणे विद्यार्थिनं विद्वांसं वा। (युनक्ति) योजयति, अत्र सर्वत्रान्तर्गतो ण्यर्थः (कस्मै) ❀ प्रयोजनाय। (त्वा) त्वां सुखमिच्छुकम्। (युनक्ति) योजयति । (तस्मै) सत्यव्रताचरणाय यज्ञाय । (त्वा) धर्मं प्रचारयितुमुद्योगिनम् । (युनक्ति) योजयति । (कर्मणे) पूर्वोक्ताय यज्ञाय । (वाम्) कर्तृकारयितारौ +। (वेषाय[3]) सर्वशुभगुणविद्याव्याप्तये । (वाम्) अध्येत्रध्यापकौ ॥ अयं मन्त्रः । श० १ । १ । १ । १३–२२ ॥ १ । १ । २ । १ ॥ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

१ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (श० १ । ७ । १ । ५) तस्मिन्नपि सत्यमेव सर्वतो मुख्यं, तच्च जीवनलक्ष्यम् । ईश्वरो मनुष्यं सत्यव्रताचरणाय नियुनक्ति इत्यस्य पूर्वेण सह सङ्गतिरत्र बोध्या ॥

२ प्रजापतिर्वै कः प्रजापतिरेवैनं युनक्ति ॥ तै० सं० । १ । ६ । ८ । ४ ॥

३ कर्मणे वां वेषायं वामिति, यज्ञो वै कर्म, यज्ञाय हि तस्मादाह कर्मणे वामिति । (श० १ । १ । २ । १)॥

४ विद्यायोनिसम्बन्धस्यानुवर्त्तनाद् आनङृतो द्वन्द्वे (अ० ६ । ३ । २५) इत्यानङ् न भवति ॥

५ वेषाय वामिति वेवेष्टीव यज्ञम् । श० १ । १ । २ । १ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कः) किमः कः (अ० ७ । २ । १०३) इति 'क' आदेशः, प्रातिपदिकस्वरेणैवान्तोदात्तः । यद्वा कै गै शब्दे इति कायति शब्दयति उपदिशति सर्गादावि‍ति छान्दसत्वात् आतश्चोपसर्गे (अ० ३ । १ । १३६) इति उपसर्गाभावेऽपि कः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(त्वा) त्वामौ द्वितीयायाः (अ० ८ । १ । २३) इति त्वादेशः, अनुदात्तश्च । उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८ । ४ । ६६) इति स्वरितत्वम् ॥

(युनक्ति) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(सः) प्रातिपदिकस्वरेणैवान्तोदात्तः । यद्वा त्यजितनियजिभ्यो डित् (उ० १ । १३२) इति अदिप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(त्वा युनक्ति) पूर्ववत् ॥

(कस्मै) क इति प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । ततः सावेकाचस्तृतीयादि० (अ० ६ । १ । १६८) इत्यादिना विभक्त्युदात्तत्वे प्राप्ते न गोश्वन्साववर्ण० (अ० ६ । १ । १८२) इत्यादिना निषेधे प्रातिपदिकस्वर एव । ततः उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८ । २ । ६६) इति स्वरितः ॥

(तस्मै) कस्मैपदवत् ।

(कर्मणे) कृञ् धातोः सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४ । १४५) इति मनिन्प्रत्ययः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

† इतोऽग्रे 'हि सुखस्वरूपः' इति पदद्वयमत्रानन्वितं प्रतीयते ॥
× 'पुरुषार्थे' इति ग प्रवर्द्धितं पदम् ॥
❀ मुद्रिते प्रमादत्यक्तमिदं पदं कोशेषूपलभ्यते ॥
+ 'कर्ताकारयितारौ' इति ख, ग, अमु० च पाठः । 'कर्ता कारयिता च' इति [illegible] ॥

अन्वयः—हे मनुष्य[1]! कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति स एव वां कर्मणे नियोजयति। एवं च वां वेषायाज्ञापयति॥ ६॥

भावार्थः[2]—अत्र प्रश्नोत्तराभ्यामीश्वरो जीवेभ्य उपदिशति। कश्चित् कंचित्प्रति ब्रूते। को मा सत्यक्रियायां प्रवर्त्तयतीति सोऽस्योत्तरं ब्रूयात्। ईश्वरः पुरुषार्थक्रियाकरणाय त्वामादिशतीति। एवं कश्चिद्विद्यार्थी विद्वांसं प्रति पृच्छेत् को मदात्मन्यन्तर्यामिरूपतया सत्यं प्रकाशयतीति। स उत्तरं दद्यात् सर्वव्यापको जगदीश्वर इति। कस्मै प्रयोजनायेति केनचित् पृच्छ्यते। सुखप्राप्तये परमेश्वरप्राप्तये चेत्युत्तरं ब्रूयात्। पुनः कस्मै प्रयोजनाय मां नियोजयतीति पृच्छ्यते। सत्यविद्याधर्मप्रचारायेत्युत्तरं ब्रूयात्। आवां किं करणायेश्वर उपदिशति। यज्ञानुष्ठानायेति परस्परमुत्तरं ब्रूयाताम्। पुनः स किमाप्तय आज्ञापयतीति। सर्वविद्यासुखेषु व्याप्तये तत्प्रचारायेत्युत्तरं ब्रूयात्। मनुष्यैर्द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रवर्त्तितव्यम्। एकमत्यन्तपुरुषार्थशरीरारोग्याभ्यां चक्रवर्त्तिराज्यश्रीप्राप्तिकरणम्। द्वितीयं सर्वा विद्याः सम्यक् पठित्वा तासां सर्वत्र प्रचारीकरणं चेति। नैव केनचिदपि कदाचित् पुरुषार्थं त्यक्त्वाऽऽलस्ये स्थातव्यमिति[3]॥ ६॥

किसने सत्य करने और असत्य छोड़ने की आज्ञा दी है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[4]॥

पदार्थः—[हे मनुष्य!] (कः) कौन (त्वा) तुझ को अच्छी २ क्रियाओं के सेवन करने के लिए (युनक्ति) आज्ञा देता है। (सः) सो जगदीश्वर (त्वा) तुम को विद्या आदिक शुभ गुणों के प्रगट करने के लिये विद्वान् वा विद्यार्थी होने को (युनक्ति) आज्ञा देता है। (कस्मै) वह किस २ प्रयोजन के लिये (त्वा) मुझ और तुझ को (युनक्ति) युक्त करता है। (तस्मै) पूर्वोक्त सत्यव्रत के आचरणरूप यज्ञ के लिये (त्वा) धर्म के प्रचार करने में उद्योगी को (युनक्ति) आज्ञा देता है। वही ईश्वर (कर्मणे) उक्त श्रेष्ठ कर्म करने के लिये (वाम्) कर्म करने और कराने वालों को नियुक्त करता है। (वेषाय) शुभ गुण और विद्याओं में व्याप्ति के लिये (वाम्) विद्या पढ़ने और पढ़ानेवाले तुम लोगों को उपदेश करता है॥ ६॥

भावार्थः—इस मन्त्र में प्रश्न और उत्तर से ईश्वर जीवों के लिये उपदेश करता है, जब कोई किसी से पूछे कि मुझे सत्यकर्मों में कौन प्रवृत्त करता है? इस का उत्तर ऐसा दे कि प्रजापति अर्थात् परमेश्वर ही पुरुषार्थ और अच्छी २ क्रियाओं के करने की तुम्हारे लिये वेद के द्वारा उपदेश की प्रेरणा करता है। इसी प्रकार कोई विद्यार्थी किसी विद्वान् से पूछें कि मेरे आत्मा में अन्तर्यामिरूप से सत्य का प्रकाश कौन करता है? तो वह उत्तर देवें कि सर्वव्यापक

(वाम्) युष्मदस्मदोः षष्ठी० (अ० ८।१।२०) इत्यादिना वामादेशः, स चानुदात्तः॥

(वेषाय) विष्लृ व्याप्तौ इत्यतो भावे घञ्, ञित्त्वादाद्युदात्तः॥

(वाम्) पूर्ववदेव॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ हे मनुष्य! इत्यध्याह्रियते॥

२ सर्वोऽपि भावार्थो मन्त्रगतपदैर्योजयितुं शक्यः॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ कस्त्वेत्यादिसर्वनामपदानामत्र सामान्यवाचकत्वम्, सामान्यस्य च विशेषे पर्यवसानादाध्यात्मिकाधिदैविकाधियाज्ञिकप्रक्रियासु सम्भवान्मन्त्रोऽयमीश्वर-शिल्पज्ञ-ऋत्विगादिपरतया योजयितव्यः॥

विशेषवक्तव्यम्

अत्र पदार्थोऽन्वयश्च सर्वप्रक्रियास्वपि योजयितुमर्हः॥ ६॥

४ श्रेष्ठतमकर्मों का नाम ही यज्ञ है। उन में भी सत्य ही सब से मुख्य है, यही जीवन का लक्ष्य है। वही परमदेव परमात्मा मनुष्यों को सत्याचरणरूप व्रत के परिपालन करने की आज्ञा करता है, यह इस मन्त्र की पूर्वमन्त्र के साथ सङ्गति समझनी चाहिये॥

जगदीश्वर। फिर वह पूछे कि वह हमको किस २ प्रयोजन के लिए उपदेश करता और आज्ञा देता है ? उसका उत्तर देवे कि सुख और सुखस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति [के लिये। यदि फिर पूछे कि किस प्रयोजन के लिए नियुक्त करता है। इसका यही उत्तर है कि] सत्यविद्या और धर्म के प्रचार के लिये। + हम दोनों को कौन २ काम करने के लिये वह ईश्वर उपदेश करता है ? इस का परस्पर उत्तर देवें कि यज्ञ करने के लिये। फिर वह कौन २ पदार्थ की प्राप्ति के लिये आज्ञा देता है ? इस का उत्तर देवें कि सब विद्याओं की प्राप्ति और उनके प्रचार के लिये॥ मनुष्यों को दो प्रयोजनों से प्रवृत्त होना चाहिये अर्थात् एक तो अत्यन्त पुरुषार्थ और शरीर की आरोग्यता से चक्रवर्त्ती राज्य लक्ष्मी की प्राप्ति करना और दूसरे सब विद्याओं को अच्छी प्रकार पढ़ के उनका [सर्वत्र] प्रचार करना चाहिये। किसी मनुष्य को पुरुषार्थ को छोड़ के आलस्य में कभी नहीं रहना चाहिये[1]॥ ६॥

प्रत्युष्टमित्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता[2]। प्राजापत्या जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

सर्वैर्दुष्टगुणानां दुष्टमनुष्याणां च निषेधः कर्तव्य इत्युपदिश्यते[3]।

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः॥ उर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥ ७॥

प्रत्युष्टमिति प्रतिऽउष्टम्। रक्षः। प्रत्युष्टा इति प्रतिऽउष्टाः। अरातयः। निष्टप्तम्। निस्तप्तमिति निःऽतप्तम्। रक्षः। निष्टप्ताः। निस्तप्ता इति निःऽतप्ताः। अरातयः॥ उरु। अन्तरिक्षम्। ॐ अनु। एमि॥ ७॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ 'कस्त्वा' इत्यादि पदों में सर्वनाम का प्रयोग सामान्यपरक है और सामान्य की परिसमाप्ति विशेष में होती है। आध्यात्मिक आधिदैविक आधियाज्ञिक प्रक्रियाओं में इस मन्त्र का अर्थ क्रमशः ईश्वर-शिल्पज्ञ तथा ऋत्विक् आदि परक समझना चाहिये॥

विशेष वक्तव्य

इस मन्त्र में पदार्थ तथा अन्वय से सब प्रक्रियाएं सिद्ध हो रही हैं॥ ६॥

---

२ (क) रक्षः, रक्षोघ्नं ब्रह्मेति सर्वानुक्रमणी॥

(ख) यज्ञो देवता—अत्र ब्राह्मणम्—अथ वाचं यच्छति वाग्वै यज्ञोऽविक्षुब्धो यज्ञं तनया इति। अथ प्रतपति-प्रत्युष्टꣳ रक्षः...... । (शत० १।१।२।२)। रक्षो रक्षःस्वभावो यदा प्रणश्यति, तदैव मनुष्यस्य वाचि संयमनेन शोभनत्वं संपद्यते। दुर्भावा एवारातयस्तेषां नाशेनैव जीवः सुखमेति। अतो वाचो यमनमेवात्र यज्ञशब्देनाभिप्रेयते॥

(ग) उरु ब्रह्म रक्षोघ्नं सर्वत्रेति सर्वानुक्रमणी। अत्र सर्वानुक्रमणीभाष्येऽनन्तदेवः—'लिङ्गादन्तरिक्षदेवता। अथवाऽयमर्थः-उर्वन्तरिक्षमित्यस्य रक्षोघ्नं ब्रह्म देवतेति एवं काण्वसंहिताभाष्ये व्याख्यातमस्ति'। अत्रान्तरिक्षस्य कल्पना तु सर्वानुक्रमण्यामभावात् अनन्तदेवस्य स्वकल्पितैवेति बोध्यम्। सर्वानुक्रमणीविरोधेऽपि देवतास्वीकारे लिङ्गादन्तरिक्षदेवतेति तु नात्र काचिदपि विप्रतिपत्तिरिति विवेकः॥

३ दुर्गुणावगुणिनोः सदैव सत्यव्यवहारप्रतिबन्धकत्वादाह—सर्वैर्दुष्टगुणानामिति। एतेनार्थापत्त्या सत्संगतिरूपो यज्ञो निरूप्यते॥

+ 'हम दोनों को' इति क. ख. पाठः। ग. कोशे तु 'मैं और आप इन दोनों को', मुद्रिते तु 'मैं और आप दोनों को' इति पाठः॥

ॐ 'अनुंऽएमि' इति अजमेरमुद्रितः पाठः। अत्र तिङोऽनुदात्तत्वात् समासाभावे पृथक् पदं युक्तम्। पदकाराणां चैषा शैली यत्र तिङन्तमनुदात्तं भवति तत्र तदव्यवहितपूर्वपठितमुपसर्गं पृथक्पदत्वेन प्रदर्शयन्ति। भगवान् वार्तिककारो ऽप्याह—"उदात्तगतिमता च तिङा" (अ० २।२।१८ भा० वा०) इत्यादिना यत्रैकोपसर्गे तिङन्तमुदात्तं भवति, तत्रैवोपसर्गेण सह समासो भवति, नान्यत्र। तेन 'अनु एमि' इत्यादिस्थलेषु उपसर्गस्य पृथक् पदत्वमेवाङ्गीकर्तव्यम्। यत्र तु अजमेरमुद्रिते ऽन्यथा पाठ उपलभ्यते, स सर्वोऽपि संशोधकादिप्रमादजन्य इत्येवास्माभिर्मन्यते। अत्र विषये यजु० १।१ पदपाठटिप्पण्यपि द्रष्टव्या॥

पदार्थः—(प्रत्युष्टम्) यत्प्रतीतं च तदुष्टं दग्धं च तत् । (रक्षः) रक्षःस्वभावो दुष्टो मनुष्यः । (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्षतया उष्टा दग्धास्ते† । (अरातयः) अविद्यमाना रातिर्दानं येषु ते शत्रवः (निष्टप्तम्) नितरां तप्तं संतापयुक्तं च कार्य्यम् । (रक्षः) स्वार्थी मनुष्यः । (निष्टप्ताः) पूर्ववत् । (अरातयः) कपटेन विद्यादानग्रहणरहिताः (उरु) बहुविधं सुखं प्राप्तुं प्रापयितुं वा। उर्विति बहुनामसु पठितम् । निघ० ३ । १ । (अन्तरिक्षम्) सुखसाधनार्थमवकाशम् । (अन्वेमि) अनुगतं प्राप्नोमि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । २ । २–४ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः[3]—मया रक्षः प्रत्युष्टमरातयः प्रत्युष्टा रक्षो निष्टप्तमरातयो निष्टप्ताः पुरुषार्थेन सदैव कार्य्याः । एवं कृत्वान्तरिक्षमुरु बहु सुखं चान्वेमि ॥ ७ ॥

भावार्थः[4]—इदमीश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैः स्वकीयं दुष्टस्वभावं त्यक्त्वाऽन्येषामपि विद्या-

१ सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति बाहुलकाद् भीमादयोऽपादाने (अ० ३।४।७४) इत्यपादानेऽसुन् प्रत्ययः । अत्र च प्रमाणम्—रक्षो, रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षत इति वा (निरु०४। १८) इत्यनेनापादाने कर्त्तरि वाऽस्य व्युत्पत्तिः । तिर इवैतद्रक्षांसि इत्यैतरेयब्राह्मणे (२ । ७) ॥

२ अन्यत्र दानशीलतारहिताः शत्रवः (यजुः १ । १४) इति, अदानस्वभावाः कृपणाः (यजुः १ । १९) इति च स्वयमेव भाष्यकृता विवृतत्वादिदमर्थप्रदर्शनपरमेव न तु व्युत्पत्तिपरम् । अस्मिन्नपि मन्त्रे कपटेन विद्यादानग्रहणरहिताः इत्युपरिष्टाद्वक्ष्यते । तेनापि तत्पुरुष एव समास इति व्यक्तम् । तत्र च तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । बहुव्रीहिसमासाग्रहपक्षे तु छान्दसत्वात् नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इति न भवतीति समाधेयम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रत्युष्टम्) उष दाहे नपुंसके भावे क्तः (अ० ३ । ३ । ११४) इति क्तः प्रत्ययः । प्रतिगतमुष्टं प्रत्युष्टम् प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६ । २ । २) इत्यत्र 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' इति परिगणनात्पूर्वपदप्रकृतिस्वरे निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इत्याद्युदात्तत्वम्, शेषनिघाते स्वरितत्वम् । यदा कर्मणि क्तस्तदा गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इतीष्टस्वरसिद्धिः ॥

(रक्षः) पदार्थटिप्पणी १ द्र० ॥

(अरातयः) रा दाने अस्मात् अमेरतिः (उ० ४ । ५९) इति बाहुलकादतिप्रत्यये प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः । रातिर्दानशीलः, न रातिररातिः, तेऽरातयः । शेषः प्रमाणभागे द्रष्टव्यः ॥

(निष्टप्तम्) अत्रापि प्रत्युष्टशब्दवत् स्वरो द्रष्टव्यः॥

(अरातयः) अत्र व्यक्त एव तत्पुरुषसमासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्त एव ॥

(उरु) महति ह्रस्वश्च (उ० १ । ३१) इति कुप्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तः । संहितायां तु उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इत्यकारः स्वरितः ॥

(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा, शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा । (निरु० २ । १०) । इति निरुक्तव्युत्पत्त्या पृषोदरादित्वात् साधुः, स्वरोऽपि ॥

(अन्वेमि) एकपदत्वे छान्दसत्वात् समासः आद्युदात्तत्वं च । पदपाठानुसारं तु 'अनु' उपसर्गोऽभिवर्जम् (फिट् ८१) इत्याद्युदात्तः । 'एमि' तिङ्ङतिङः । (अ० ८ । १ । २८) इत्येव निघातः स्वरितत्वं पूर्ववत् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अन्वयोऽयं सर्वास्वपि प्रक्रियासु संगच्छते ॥

४ भावार्थोऽयं मन्त्रगतैः पदैः सह सम्बद्ध एवात्र प्रदर्शित इति ध्येयम् ॥

† 'दग्धव्यास्ते' इति अजमेर मु० पाठः ।

धर्मोपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च संपाद्य विद्याधर्मपुरुषार्थान्विताः सुखिनः सर्वे प्राणिनः सदा संपादनीयाः ॥ ७ ॥

सब मनुष्यों को उचित है कि दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्यों का निषेध करें', इस बात का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—मुझको चाहिये कि पुरुषार्थ के साथ (रक्षः) दुष्ट गुण और दुष्ट स्वभाववाले मनुष्यको (प्रत्युष्टम्) निश्चय करके निर्मूल करूं, तथा (अरातयः) जो राति अर्थात् दान आदि धर्म से रहित दयाहीन दुष्ट शत्रु हैं, उनको (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्ष निर्मूल वा (रक्षः) दुष्ट स्वभाव दुष्ट गुण विद्याविरोधी स्वार्थी मनुष्य और (निष्टप्तम्) (अरातयः) छलयुक्त हो के विद्या में ग्रहण वा दानसे रहित दुष्टप्राणियों को (निष्टप्ताः) निरन्तर संतापयुक्त करूं। इस प्रकार करके (अन्तरिक्षम्) सुख के सिद्ध करने वाले उत्तम स्थान और (उरु) अपार सुखको (अन्वेमि) प्राप्त होऊं[३] ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को अपना दुष्ट स्वभाव छोड़कर विद्या और धर्म के उपदेश से औरों को भी दुष्टता आदि अधर्म के व्यवहारों से अलग करना चाहिये तथा उनको बहुत प्रकार का ज्ञान और सुख देकर सब मनुष्य आदि प्राणियों को विद्या धर्म पुरुषार्थ और नाना प्रकार के सुखों से युक्त करना चाहिये[४] ॥ ७॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ त्रिविधा अपि प्रक्रियाः पदार्थत एवावगन्तव्याः। दुष्टस्वभावानां नाश एवाध्यात्मिकार्थः, दूषितांशनिराकरणोपाय एवाधिदैविकार्थः, दुष्टानां ताडनमपि यज्ञ इत्यधियज्ञार्थसम्बन्ध इति ॥

विशेषवक्तव्यम्

उर्वन्तरिक्षमन्वेमीत्यत्र पदार्थेऽन्वये च 'सुखम्' इति बाह्यमेवात्र पदं पश्यामः। तत्कुत इति चेन्मैवम्। विशेषणे सति विशेष्यस्याक्षेपसम्भव इति वेदार्थविद् आहुः। यथाह वेङ्कटमाधवः—

विशेषणाद्विशेष्यस्य कल्पनञ्च भवेत्तथा।
रथो न यातशिक्वभिः शक्तैः स्याच्छिल्पिभिः कृतः ॥
(ऋक्सर्वानुक्रमणी परिशिष्ट पृ० Cvii)

यथात्र एवमग्रेऽपि सर्वत्र बोध्यम् ॥ ७ ॥

---

२ दुर्व्यसन तथा दुर्व्यसनी सत्यव्यवहारों के सदैव प्रतिबन्धक होते हैं। अतः सब मनुष्यों को सदैव दुष्टगुण और दुष्ट मनुष्यों का परित्याग करना चाहिये। यह इस मन्त्र में कहते हैं। अर्थात् सत्संगतिरूप यज्ञपरिपालन सज्जनों का परम धर्म है ॥

३ यहां अन्वय सब प्रक्रियाओं में सुसङ्गत है।

त्रिविधप्रक्रिया

४ त्रिविधप्रक्रिया पदार्थ से ही समझ लेनी चाहिये। दुष्ट स्वभावों का नाश ही आध्यात्मिक अर्थ है। दूषितांश का दूर करना ही आधिदैविक अर्थ है। दुष्टों का ताडन भी यज्ञ है, यह अधियज्ञ अर्थ है ॥

विशेषवक्तव्य

इस मन्त्र में 'उरु' (=बहु) पद के आने से 'बहुविध सुख' तथा 'अपार सुख को' यहां 'सुख' पद का अध्याहार आचार्य ने अन्वय तथा पदार्थ में किया है ॥

यदि कोई शङ्का करे कि 'उरु' का अर्थ तो 'बहुत' है 'सुख' पद कहां से आगया। साधारण बुद्धिवालों के लिये ऐसी शङ्का उठनी स्वाभाविक है। इस के लिये हमने संस्कृत में ऋग्वेद के भाष्यकार वेङ्कटमाधव का प्रमाण दिया है। जिसका भाव यह है कि "जहां विशेषण मिलता हो वहां विशेष्य की कल्पना कर लेनी चाहिये"। इसी सिद्धान्तानुसार प्रकृत मन्त्र में 'उरु' विशेषणवाची पद के विद्यमान होने से अन्वय तथा पदार्थ में उपयुक्त विशेष्यवाची पद का अध्याहार करना सुसंगत हो जाता है। वेदार्थ विषय में ऐसी २ ग्रन्थियां प्राचीन वेदार्थ के आधार पर ही खुल सकती हैं ॥ ७ ॥

धूरसीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । [निचृद्] अतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ सर्वविद्याधारकेश्वरो विद्यासाधनीभूतो भौतिकोऽग्निश्चोपदिश्यते[2] ।

धूर॑सि॒ धूर्व॒ धूर्व॑न्तं॒ धूर्व॒ तं योऽस्मान्धूर्व॑ति॒ तं धूर्व॒ यं व॒यं धूर्वा॑मः ॥
दे॒वाना॑मसि॒ वह्नि॑तम॒ꣳ सस्नि॑तमं॒ पप्रि॑तमं॒ जुष्ट॑तमं दे॒वहू॑तमम् ॥ ८ ॥

धूः । अ॒सि॒ । धूर्व॑ । धूर्व॑न्तम् । धूर्व॑ । तम् । यः । अ॒स्मान् । धूर्व॑ति । तम् । धूर्व॒ । यम् । व॒यम् । धूर्वा॑मः ॥ दे॒वाना॑म् । अ॒सि॒ । वह्नि॑तम॒मिति॒ वह्नि॑ऽतमम् । सस्नि॑तम॒मिति॒ सस्नि॑ऽतमम् । पप्रि॑तम॒मिति॒ पप्रि॑ऽतमम् । जुष्ट॑तम॒मिति॒ जुष्ट॑ऽतमम् । दे॒वहू॑तम॒मिति॑ दे॒वऽहू॑तमम् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(धूः) सर्वदोषनाशकोऽन्धकारनाशको वा । (असि) अस्ति वा । अत्र सर्वत्र भौतिकपक्षे[4] व्यत्ययेन प्रथमपुरुषो गृह्यते । (धूर्व) हिंसय, धूर्वति हिनस्ति वा । (धूर्वन्तम्) हिंसाशीलं प्राणिनम् । (धूर्व) हिंसय, हिनस्ति वा । (तम्) सर्वभूताभिद्रोग्धारम् । (यः) अस्मद्द्वेष्टा । (अस्मान्) धार्मिकान् सर्वेभ्यः सुखोपकर्तॄन् । (धूर्वति) हिनस्ति । (तम्) दुष्टं दस्युं चोरं वा । (धूर्व) हिंसय, हिनस्ति वा । (यम्) पापिनम् । (वयम्) विद्वांसः सर्वमित्राः । (धूर्वामः) हिंसामः ।

---

१. (क) अग्निर्वै धूः·········स धुरमभिमृशति धूरसि धूर्व धूर्वन्तं······ । श० १ । १ । २ । ९, १० ॥ इत्येतस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने दर्शनादत्र 'अग्निर्देवता' इति बोध्यम् ॥

(ख) धूः अनः इति सर्वानुक्रमणी ॥

२ ईश्वरोपासनेनैव दुष्टगुणा दूषितभावनाश्च नश्यन्ति ! अग्निविद्यानिर्मितशस्त्रास्त्रैरेव दुष्टमनुष्या निवारयितुं शक्यन्ते, अग्निनैव पदार्थानां मला अपाकर्त्तुं शक्यन्ते ॥

३ पूर्वोक्तमेव सर्वमत्र बोध्यम् । अग्निशब्दस्य परमेश्वरार्थे भौतिकार्थे च सर्वं पुरस्तादुक्तम् (यजुः १ । ५ पृ० ४७) तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

४ द्र० यजुः १ । २ पृ० ३६ टि० ९ ॥

५ तस्याज्ञानं नाशय इति भाषानुसारम् । यथार्थाभिविनये प्र० मं० २३ ॥

६ हिसि-हिंसायाम् (चुरा०) इदित्करणज्ञापकात् पक्षे शप् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(धूः) धुर्वी हिंसार्थः । धूर्वति हिनस्तीति धूः कर्त्तरि क्विप् । र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (अ० ८ । २ । ७६) इत्युपधादीर्घत्वम् । धातोः (अ० ६ । १ । १६२) इत्येवान्तोदात्तः ॥

(धूर्व) लोटि शपः पित्वाद् धातुस्वरेणैवाद्युदात्तः । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघाते प्राप्ते समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः (अ० ८ । १ । १९ वा०) इति वचनान्निघाताभाव आद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(धूर्वन्तम्) तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः (अ० ६ । १ । १८६) इति शतृप्रत्ययस्य लसार्वधातुकस्वरेणानुदात्तत्वे शपः पित्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणैवाद्युदात्तत्वसिद्धिः ॥

(धूर्व) पूर्ववत् स्वरः ॥

(तम्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ।

(यः) प्रातिपदिकस्वरेणैवान्तोदात्तः । संहितापाठे उत्तरपदस्य अकारेणैकादेशो स्वरितो वानुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इति स्वरितः ॥

(अस्मान्) अस्मच्छब्दः युष्यसिभ्यां मदिक् (उ० १ । १३९) इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । असत् + शस् द्वितीयायां च (अ० ७ । २ । ८७) इत्याकारादेशः । शसो न (अ० ७ । १ । २९) इति विभक्तेर्नकारादेशः ॥

(धूर्वति) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातप्राप्तौ यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे धातुरुदात्तः ॥

(धूर्व) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(देवानाम्) विदुषां पृथिव्यादीनां वा । (असि) उत्पादको वर्त्तसे, प्रकाशको वर्त्तते वा । (वह्नितमम्) वहति प्रापयति यथायोग्यसुखानि स वह्निः, सोऽतिशयितस्तम् । (सस्नितमम्) अतिशयेन शुद्धं शुद्धिकारकं च, तथा शुद्धिहेतुं भौतिकं वा । अथवा स्वव्याप्त्या सर्वं जगद्वेष्टयितारमीश्वरं शिल्पविद्याहेतुं व्यापनशीलं भौतिकं वा । ष्णा शौचे, अथवा ष्णै वेष्टने इत्यस्य रूपम् । (पप्रितमम्) प्राति प्रपूरयति सर्वाभिर्विद्याभिरानन्दैश्च जनान् स्वव्याप्त्या जगद्वा मूर्त्तं वस्तु शिल्पविद्यासाध्याङ्गानि च यः सोतिशयितस्तम् । (जुष्टतमम्) धार्मिकैर्भक्तजनैः शिल्पिभिश्च यो जुष्यते स जुष्टः, अतिशयेन जुष्टस्तम् । (देवहूतमम्) देवैर्विद्वद्भिर्हूयते‡ शब्द्यते सोऽतिशयितस्तम् । ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे चेत्यस्य रूपम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । २ । १०–१२ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ! यतस्त्वं धूरसि सर्वाभिरक्षकश्चासि तस्माद् वयमिष्टबुद्ध्या देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमं त्वां नित्यमुपास्महे । योऽस्मान् धूर्वति [तं धूर्व] यं च वयं धूर्वामस्तं त्वं धूर्व । यश्च सर्वद्रोही तमपि धूर्वन्तं सर्वहिंसकं सदैव धूर्व इत्येकः ॥

हे शिल्पविद्यां चिकीर्षो[२] ! त्वं यो भौतिकोऽग्निर्धूः सर्वपदार्थच्छेदकत्वाद्धिंसको[ऽस्य]स्ति तं कलाकौशलेन यानेषु सम्प्रयोजनीयं❀ देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतममग्निं [यं च] वयं

(वयम्) युष्यसिभ्यां मदिक् (उ० १ । १३९) इति मदिक् प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः 'अस्मद्' शब्दः । ततो जसि 'यूयवयौ जसि (अ० ७ । २ । ९३) इति 'वय' आदेशः । 'शेषे लोपः' (अ० ७ । २ । ९०) इत्यन्त्यागस्य लोपे 'ङे प्रथमयोरम्' (अ० ७ । १ । २८) इति जसोऽम् । तस्यानुदात्तत्वे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६ । १ । २७) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।

(धूर्वामः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे धातुस्वरेणैवाद्युदात्तः पूर्ववत् ॥

(देवानाम्) दीव्यत्यसौ देवः पचाद्यच्यन्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता नामन्यतरस्याम् (अ० ६ । १ । १७७) इति तु न भवति, न गोश्वन्साववर्ण० (अ० ६१ । १८२) इति निषेधात् ॥

(असि) पूर्ववत् निघातः ॥

(वह्नितमम्) वहधातोः वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् (उ० ४ । ५१) इति निः प्रत्ययः, स च नित् । नित्त्वात् ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः । ततः तमपः पित्त्वात् पूर्वस्वर एव ॥

(सस्नितमम्) ष्णा शौचे स्नाति पवित्रो भवतीति सस्निः । आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (अ० ३ । २ । १७१) इति किन् प्रत्ययो लिड्वच्च । नित्त्वादाद्युदात्तः, ततोऽतिशायने तमबिष्ठनौ (अ० ५।३ ५५) इति तमप् । अतिशयितः सस्निः सस्नितमः, पित्त्वादनुदात्तः । तेन 'सस्नितमम्' आद्युदात्त एव । ततःस्वरितत्वमैकश्रुत्यं च ॥

(पप्रितमम्) प्रा पूरणे, शेषं पूर्ववत् ॥

(जुष्टतमम्) जुष् प्रीतौ इत्यस्मात् क्तः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते नित्यं मन्त्रे (अ० ६ । १ । २१०) इत्याद्युदात्तः । ततस्तमप्, स च पित्त्वादनुदात्तः ॥

(देवहूतमम्) अत्र तृतीयातत्पुरुषः । तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वात् समासान्तोदात्तत्वम् । यद्वा ह्वेञ् धातोः क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । ह्वयतीति हूः । देवानां हूः देवहूः इति षष्ठीसमासे समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तः ॥

यद्वा देवान् ह्वयतीति गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । ततस्तमप् । स च पित्त्वादनुदात्तः । तेन 'हू' शब्द एवोदात्तः, शेषनिघाते स्वरितैकश्रुत्यम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ प्रक्रियाभेदेनाध्याहारभेदः ॥

२ अस्मिन् विषये 'समराङ्गणसूत्रधार' ग्रन्थे यन्त्रविधानं नामैकत्रिंशोऽध्यायो द्रष्टव्यः ।

‡ 'विद्वद्भिः स्तूयते' इति क. ख. ग. अमु. च पाठः ।

❀ 'सम्प्रयोजनीयं' इति पदं कोशेषु नास्ति संशोधने परिवर्द्धितः स्यात् ॥

धूर्वामस्ताडयामः। योऽयुक्त्या सेवितोऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वन्तमग्निं धूर्व। हे वीर त्वं यो दुष्टशत्रुरस्मान् धूर्वति तमग्न्याग्नेयोस्त्रेण धूर्व यश्च दस्युर [स] रित तमपि धूर्व [*इति द्वितीयः*] ॥ ८॥

भावार्थः—यो धातेश्वरः सर्वं जगद्धाति पापिनो दुष्टान् जीवान् तत्कृतपापफलदानेन ताडयति धार्मिकांश्च रक्षति, सर्वसुखप्रापक आत्मशुद्धिकारकः पूर्णविद्याप्रदाता विद्वद्भिः स्तोतव्यः प्रीत्येश्वरबुद्ध्या च सेवनीयोऽस्ति, स एव सर्वैर्मनुष्यैर्भजनीयः। तथैव योऽग्निः सकलशिल्पविद्याक्रियासाधकतमः पृथिव्यादिपदार्थानां मध्ये प्रकाशकप्रापकतमतया श्रेष्ठोऽस्ति, यस्य प्रयोगेणाग्नेयास्त्रादिविद्यया शत्रूणां पराजयो भवति, स एव शिल्पिभिर्विद्यायुक्त्या होमयानक्रियासिध्यर्थं सम्प्रीत्या सेवनीयः ॥ ८ ॥

सब [विद्याओं] के धारण करने वाले ईश्वर और पदार्थविद्या की सिद्धि के हेतु भौतिक अग्नि का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4] ॥

पदार्थः[5]—हे परमेश्वर ! [जिससे] आप (धूः) सब दोषों के नाश [करने वाले (असि) हैं] और जगत् की रक्षा करने वाले (असि) हैं, इस कारण हम लोग इष्टबुद्धि से (देवानाम्) विद्वानों को विद्या मोक्ष और सुख में (वह्नितमम्) यथायोग्य पहुंचाने (सस्नितमम्) अतिशय करके शुद्ध करने (पप्रितमम्) सब विद्या और आनन्द से संसार को पूर्ण करने [अथवा अपनी व्याप्ति से सब जगत् को व्याप्त करने] (जुष्टतमम्) धार्मिक भक्त जनों के सेवा करने योग्य और (देवहूतमम्) विद्वानों के स्तुति करने योग्य आपकी नित्य उपासना करते हैं। (यः) जो कोई द्वेषी छली कपटी पापी कामक्रोधादियुक्त मनुष्य (अस्मान्) धर्मात्मा और सब को सुख से युक्त करने वाले हम लोगों को (धूर्वति) दुःख देता है [(तम्) उस सब प्राणियों से द्रोह करने वाले का (धूर्व) नाश कीजिये] और (यम्) जिस पापी जन को (वयम्) हम लोग (धूर्वामः) दुःख देते हैं (तम्) उसको आप (धूर्व) शिक्षा + कीजिये, तथा जो सबसे द्रोह करने वा सबको [(धूर्वन्तम्)] दुःख देता है, उसको भी आप सदैव (धूर्व) ताडना कीजिये। [यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ] ॥

हे शिल्प विद्या को जानने की इच्छा करने वाले मनुष्य ! तू जो भौतिक अग्नि (धूः) सब पदार्थों का छेदन और अन्धकार का नाश करने वाला (असि) है, तथा जो कला चलाने की चतुराई से यानों में [(देवानाम्)]

१ पदार्थे सूक्ष्मभावेन, अन्वये तु विस्पष्टमेव द्विविधोऽर्थः प्रदर्शितः। भावार्थे ततो व्यक्ततरं पश्यामः। 'होमयानक्रियासिद्ध्यर्थं सेवनीयः' इत्यादिना तु भौतिकाग्निपक्ष आधिदैविकाधियाज्ञिकावुभावप्यर्थौ ध्वनयति ॥ मन्त्रगतपदैः सम्बद्ध एवायं भावार्थः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ पूर्वान्वयोऽध्यात्मपरः, अपरस्त्वाधिदैविकार्थपरः। तस्मिन्नेवाधियज्ञपदार्थोऽपि निहित इति सोऽपि तत एव बोध्य इत्युक्तं पुरस्तात् ॥

विशेषवक्तव्यम्

३ अस्य मन्त्रस्योत्तरार्धः, उत्तरस्य नवमस्य च पूर्वार्धः स्पर्शने विनियुज्यते शतपथब्राह्मणे कात्यायनश्रौतसूत्रादौ च। विनियोगप्रयुक्तस्यैकमन्त्रत्वमिति वैनियोगिकानां सम्प्रदायः। इदानीं संहितागतमन्त्रपाठानां ब्राह्मणश्रौतादिमन्त्रैः सह विरोधापत्तिरिति स्पष्टम्। विनियोगाधीनो मन्त्र इति पक्षे तु संहितापाठोऽप्यत्र तथैवाभविष्यत्, न च तथोपलभ्यतेऽतो मन्त्राधीनो विनियोग इत्येव पक्षः प्राचीनसम्प्रदायाभिमत इत्यत्र वेदार्थसूक्ष्मेक्षिण एव प्रमाणम् ॥ ८ ॥

४ प्रभु की उपासना से ही दुष्टगुण तथा दूषित भावनाओं का नाश होता है। अग्निविद्या द्वारा निर्मित शस्त्रास्त्रों द्वारा ही दुष्ट मनुष्यों का नाश हो सकता है ॥

५ पदार्थ में सूक्ष्मरूप से तथा अन्वय में स्पष्ट दो प्रकार का अर्थ आचार्य ने स्वयं ही दर्शाया है। भावार्थगत कुछ शब्दों से भी भौतिकाग्निपक्ष तथा अधियज्ञ अर्थ भासित हो रहे हैं ॥

+ 'नाश' इति क, ख, ग पाठः, स च गकोष्ठे संशोधितः।

विद्वानों को (वह्नितमम्) सुख पहुंचाने (सस्नितमम्) शुद्धि करने का हेतु (पप्रितमम्) शिल्प विद्या का मुख्य साधन (जुष्टतमम्) कारीगर लोग जिसका सेवन करते हैं, तथा जो (देवहूतमम्) विद्वानों को स्तुति करने योग्य अग्नि है, उसको (वयम्) हम लोग (धूर्वामः) ताड़ते [अर्थात् प्रयुक्त करते] हैं और जिसका सेवन युक्ति से न किया जावे तो (अस्मान्) हम लोगों को (धूर्वति) पीडा करता है, (तम्) उस (धूर्वन्तम्) पीडा करने वाले अग्नि को (धूर्व) यानादिकों में युक्त कर ॥ तथा हे वीर पुरुष ! तुम (यः) जो दुष्ट शत्रु (अस्मान्) हम लोगों को (धूर्वति) दुःख देता है । (तम्) उसको [भी आग्नेय अस्त्र से] (धूर्व) नष्ट कर तथा जो कोई चोर आदि है, उसका भी (धूर्व) नाश कीजिये ॥ [यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ] ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो ईश्वर सब जगत् को धारण कर रहा है, वह पापी दुष्ट जीवों को उनके किये हुए पापों के अनुकूल दण्ड देकर दुःखयुक्त और धर्मात्मा पुरुषों को उत्तम कर्मों के अनुसार फल देके उनकी रक्षा करता है, वही सब सुखों की प्राप्ति, आत्मा की शुद्धि कराने और पूर्ण विद्या का देनेवाला, विद्वानों के स्तुति करने योग्य तथा प्रीति और इष्ट बुद्धि से सेवा करने योग्य है, दूसरा कोई नहीं [उसकी ही सबको उपासना करनी चाहिये]। तथा यह प्रत्यक्ष भौतिक अग्नि भी संपूर्ण शिल्प विद्याओं की क्रियाओं का सिद्ध करने वाला ❀ तथा उनका मुख्य साधन और पृथिवी आदि पदार्थों में अपने प्रकाश अथवा उनकी प्राप्ति से श्रेष्ठ है, क्योंकि जिससे सिद्ध की हुई आग्नेय आदि उत्तम शस्त्रास्त्रविद्या से शत्रुओं का पराजय होता है, इससे यह भी विद्या की युक्तियों से होम और विमान आदि के सिद्ध करने के लिये प्रीति के साथ † सेवा करने के योग्य है' ॥ ८ ॥

अह्रुतमसीत्यस्य ऋषिः स एव । विष्णुर्देवता[२] । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ यजमानभौतिकाग्निकृत्यमुपदिश्यते[३] ।

अह्रुतमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳरक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥ ९ ॥

अह्रुतम् । असि । हविर्धानमिति हविःऽधानम् । दृꣳहस्व । मा । ह्वाः । मा । ते । यज्ञपतिरिति यज्ञऽपतिः । ह्वार्षीत् ॥ विष्णुः । त्वा । क्रमताम् । उरु । वाताय । अपहतमित्यपऽहतम् । रक्षः । यच्छन्ताम् । पञ्च ॥ ९ ॥

त्रिविध प्रक्रिया

१ प्रथम अन्वय अध्यात्मपरक है, दूसरा आधिभौतिकार्थ दर्शाता है । अधियज्ञ अर्थ भी इसी के अन्तर्भूत है ॥

विशेषवक्तव्य

शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र में आठवें मन्त्र का अन्तिम भाग तथा नवम का पूर्वार्ध दोनों एक साथ ईषा (गाड़ी का अगला भाग, जिसे जुआ कहते हैं) को स्पर्श करने में विनियुक्त हैं अर्थात् इन दोनों भागों को एक साथ बोलकर स्पर्श करना चाहिये । एक विनियोग में जितने का प्रयोग हुआ हो उतने में एक मन्त्र का व्यवहार याज्ञिक लोग मानते हैं । यहां उपर्युक्त मन्त्रांशों को मिलाकर एक मन्त्र बनता है, इस से संहिता तथा ब्राह्मणश्रौतादिगत मन्त्रपाठ का परस्पर विरोध स्पष्ट है । विनियोग मन्त्र के आधीन है, इसको मानने से तो कोई दोष नहीं आता । हां यदि विनियोग के पीछे मन्त्र चले तो दोष यह आता है कि यदि मन्त्र विनियोग के आधीन है तो फिर संहितागत मन्त्रपाठ वैसा अर्थात् एक मन्त्र रूप में क्यों नहीं ? वहां तो पृथक् २ दो मन्त्र हैं । इससे सिद्ध है कि विनियोग मन्त्र के आधीन है तथा उस मन्त्र का अन्यत्र भी विनियोग होना सम्भव है । इस पर विशेष विवरण भूमिका में देखें ॥

२ अनः, (हविष्याः) व्रीहियवादयः, रक्षः, इति सर्वा० ॥

३ अत्रापि पूर्वमन्त्रोक्तैव संगतिर्बोध्या ॥

❀ 'वाला' इति क ख पाठः ।

† 'प्रीति के साथ' इति क ख पाठः; गकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा त्यक्तः स्यात् ।

पदार्थः—(अह्रुतम्) कुटिलतारहितम्। (असि) अस्ति। अत्र व्यत्ययः। (हविर्धानम्) हविषां धानं स्थित्यधिकरणम्। (दृंहस्व) वर्धयस्व वर्धयति वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः। (मा ह्वाः) मा त्यजेः। अत्र लिङर्थे लुङ्। (मा) क्रियार्थे निषेधवाची। (ते) तव। (यज्ञपतिः) पूर्वोक्तस्य यज्ञस्य पतिः पालकः। (ह्वार्षीत्) त्यजतु। अत्र लोडर्थे लुङ्। (विष्णुः[2]) व्यापनशीलः सूर्य्यः। (त्वा) तद्धोतव्यं द्रव्यम्। (क्रमताम्) चालयति। अत्र लडर्थे लोट्। (उरु) बहु। उर्विति बहुनामसु पठितम्। निघं० ३। १। (वाताय) वायोः शुद्धये सुखवृद्धये वा। (अपहतम्) विनाशितम्। (रक्षः[3]) दुर्गन्धादिदोषजालम् +। (यच्छन्ताम्) निगृह्णन्तु। (पञ्च) पञ्चभिरुत्क्षेपणादिभिः कर्मभिः। उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। वैशे० १। ७। अत्र सुपां सुलुग् [अ० ७। १। ३९] इति भिसो लुक्॥ अयं मन्त्रः श० १। १। २। १२—१६ व्याख्यातः॥ ९॥

१ णिलुगित्यपि बोध्यम्॥

२ (विष्णुः = सूर्यः) स (आदित्यः) यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः। श० १४। १। १। ६॥

३ वज्रो वा आपस्तद् वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रारक्षांस्यतोऽपहन्ति। श० १। ७। १। २०॥

अध्यात्मपक्षे

हे प्रभो! त्वमह्रुतमसि हविर्धानं वेदविज्ञानं (वाक् चैव मनश्च हविर्धाने। कौ० ९। ३) दृंहस्व। मा ह्वा अस्मान्। हे मनुष्य! मा ते यज्ञपतिः परमात्मा ह्वार्षीत्। विष्णुस्त्वा शुभकर्मसु क्रमताम्। अग्रे पूर्ववत्॥

सैषा त्रयीविद्या यज्ञः। श० १। १। ४। ३॥

स (विष्णुः) इमाँल्लोकान् विचक्रमेऽथो वेदानथो वाचम्। ऐ० ब्रा० ६। १५॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अह्रुतम्) ह्वृ कौटिल्ये, निष्ठायां ह्रु ह्वरेश्छन्दसि (अ० ७। २। ३१) इति ह्रु—आदेशः। न ह्रुतमित्यह्रुतम्, नञ्समासः। तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तस्वरसिद्धिः। ततः स्वरितत्वमैकश्रुत्यं च॥

(असि) पूर्ववन्निघातः॥

(हविर्धानम्) हविर्धीयतेऽस्मिन्निति हविर्धानम् करणाधिकरणयोश्च (अ० ३। ३। ११७) इति ल्युट्। हविषां धानं हविर्धानम्। कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम् (अ० २। २। ८ भा० वा०) इति वचनात् समासः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे लिति (अ० ६। १। १९३) इत्यनेन धातुस्वरे उत्तरपदाद्युदात्तत्वसिद्धिः॥

(दृंहस्व, मा, ह्वाः, मा, ते, यज्ञपतिः, ह्वार्षीत्) एते पूर्वं (यजुः १।२ पृ० ३८) व्याख्याताः॥

(विष्णुः) विषेः किच्च (उ० ३। ३९) इति णुप्रत्ययः। अजिवृरीभ्यो निच्च (उ० ३। ३८) इति निदनुवर्तते, तेन ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इत्याद्युदात्तः॥

(त्वा) निघातः॥

(क्रमताम्) पूर्ववदेव व्याख्यातः॥

(उरु) पूर्वत्र (यजुः १।७ पृ० ५४) व्याख्यातः॥

(वाताय) हसिमृग्रिण् (उ० ३।८६) इत्यादिना तन्प्रत्ययः ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इत्याद्युदात्तः॥

(अपहतम्) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इत्यकार उदात्तः। ततः स्वरितैकश्रुती॥

(रक्षः) यजुः (१।७।पृ० ५४) व्याख्यातः॥

(यच्छन्ताम्) यम उपरमे (भ्वा० प०) शपि तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६। १। १८६) इति सार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणैवाद्युदात्तत्वसिद्धिः। तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातस्तु न भवति भिन्नवाक्यत्वात्। यदा तु वाक्यभेदो नाश्रीयते तदा छान्दसत्वादेव निघाताभाव इति विज्ञेयम्, एष च सार्वत्रिको नियमः॥

+ 'दुःखजालम्' इति ग. अमु. च पाठः। कखकोशयोस्तु '०दोषजालम्' इत्येवोपलभ्यते।

अन्वयः—हे ऋत्विक् त्वं यदग्निना दृंहितमह्रुतं हविर्धानमस्यस्ति तद् दृंहस्व, किन्तु तत्कदाचिन्मा ह्वार्मा त्यजेरिदं ते तव यज्ञपतिर्दृंहतां मा ह्वार्षीन्मा त्यजतु । एवं भवन्तः सर्वे मनुष्याः पञ्च पञ्चभिरुत्क्षेपणादिभिः कर्मभिर्यदग्नौ हूयते तन्नियच्छन्तां निगृह्णन्तु । यद् द्रव्यं विष्णुर्व्यापनशीलः सूर्य्योऽपहतं रक्षो यथा स्यात्तथोरु वाताय [क्रमतां] क्रमयति चालयति । त्वा तत्सर्वं मनुष्या अग्नौ होमद्वारा यच्छन्तां निगृह्णन्तु ॥ ९ ॥

भावार्थः[2]—यदा मनुष्याः परस्परं प्रीत्या कुटिलतां विहाय शिक्षकशिष्या भूत्वेमामग्निविद्यां विज्ञानक्रियाभ्यां ज्ञात्वाऽनुतिष्ठन्ति, तदा महतीं शिल्पविद्यां संपाद्य शत्रुदारिद्र्यनिवारणपुरःसरं सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्तीति[3] ॥ ९ ॥

अब यजमान और भौतिक अग्नि के कर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4] ॥

पदार्थः—हे ऋत्विग् मनुष्य ! तुम जो अग्नि से बढ़ा हुआ (अह्रुतम्) कुटिलतारहित (हविर्धानम्) होम के योग्य पदार्थों का धारण करना है, उसको (दृंहस्व) बढ़ाओ, किन्तु किसी समय में (मा ह्वाः) उसका त्याग मत करो तथा यह (ते) तुम्हारा (यज्ञपतिः) यजमान भी उस यज्ञ [को बढ़ावे और उस] के अनुष्ठान को [(मा ह्वार्षीत्)] न छोड़े ॥ इस प्रकार तुम लोग (पञ्च) एक तो ऊपर को चेष्टा होना, दूसरा नीचे को, तीसरा चेष्टा से अपने अङ्गों को संकोचना, चौथा उनका फैलाना, पांचवां चलना फिरना आदि इन पांच प्रकार के कर्मों से हवन के योग्य जो द्रव्य हो उसको अग्नि में [नियम से धारण करो अर्थात्] हवन करो । (त्वा) वह जो हवन किया हुआ द्रव्य है, उसको (विष्णुः) जो व्यापनशील सूर्य्य है, वह (अपहतम्) (रक्षः) दुर्गन्धादि दोषों को नाश करता हुआ (उरु वाताय) अत्यन्त वायु की शुद्धि वा सुख की वृद्धि के लिए [ऊपर को] (क्रमताम्) चढ़ा देता है [(त्वा) उस सब को मनुष्य हवन द्वारा (यच्छन्ताम्) नियम से धारण करें] ॥ ९ ॥

भावार्थः—जब मनुष्य परस्पर प्रीति के साथ कुटिलता को छोड़कर शिक्षा देनेवाले के शिष्य होके विशेष ज्ञान और क्रिया से भौतिक अग्नि की विद्या को जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं, तभी शिल्पविद्या की सिद्धि के द्वारा सब शत्रु दारिद्र्य और दुःखों से छूटकर सब सुखों को प्राप्त होते हैं ❀ इस प्रकार विष्णु अर्थात् व्यापक परमेश्वर ने सब मनुष्यों के लिये आज्ञा दी है, जिसका पालन करना सबको उचित है[5] ॥ ९ ॥

देवस्य त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता[6] । भुरिग्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

(पञ्च) सप्यशूभ्यां तुट् च (उ० १ । १५७) इति बाहुलकात् पञ्चतेरपि, पञ्चति व्यक्तीकरोति इति 'पञ्चन्' कनिन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा पञ्चेश्च (नारा० उ० वृ० १ । १४७) इति कनिन्, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ यज्ञपरोऽयमन्वयः ॥

२ मन्त्रगतपदैः सम्बन्धोऽत्र द्रष्टव्यः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ अप्रदर्शितोऽप्याध्यात्मिकार्थोऽत्रोहितव्यः । आधिदैविकार्थस्तु पदार्थे स्पष्टः । अन्वये त्वधियज्ञार्थ इति त्रिविधोऽप्यर्थोऽत्र बोध्यः ॥

४ यहां भी पूर्वमन्त्र में कही सङ्गति समझनी चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ आध्यात्मिकार्थ यद्यपि यहां स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा गया तथापि वह ऊहा से जाना जा सकता है । आधिदैविकार्थ पदार्थ में स्पष्ट अवगत हो रहा है । अधियज्ञ अन्वय में है ही । इस प्रकार यहां तीनों प्रक्रिया जान लेनी चाहियें ॥

६ सविता, अग्निः, अग्नीषोमौ चेति सर्वानुक्रमणी ॥

❀ इतोऽग्रे वर्तमानः "इस प्रकार........उचित है" इति कहस्तलेखस्थापमृष्टसंस्कृतस्य भाषार्थः ।

तस्य यज्ञफलस्य ग्रहणं केन कुर्वन्तीत्युपदिश्यते[१] ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नये जुष्टं गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ १० ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ॥ अग्नये । जुष्टम् । गृह्णामि । अग्नीषोमाभ्याम् । जुष्टम् । गृह्णामि ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य सर्वसुखदातुरीश्वरस्य । (त्वा) तत् । (सवितुः) सविता वै देवानां प्रसविता । श० १।१।२।१७। तस्य सर्वजगदुत्पादकस्य सकलैश्वर्य्यप्रदातुः । (प्रसवे[२]) सवितृप्रसूतेऽस्मिन् जगति । (अश्विनोः[३]) सूर्य्याचन्द्रमसोरध्वर्य्वोर्वा, सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके । निरु० १२। १। (बाहुभ्याम्) बलवीर्य्याभ्याम् । वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू । श० ५।४।१।१७। (पूष्णः) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य । (हस्ताभ्याम्) ग्रहणविसर्जनाभ्यां । (अग्नये) अग्निविद्यासंपादनाय । (जुष्टम्) विद्यां चिकीर्षुभिः सेवितं कर्म । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्निश्च सोमश्च[६] ताभ्यामग्निजलविद्याभ्याम् । (जुष्टम्) विद्वद्भिः प्रीतं फलम् । (गृह्णामि) पूर्ववत् ॥ अयं मन्त्रः श० १।१।२।१७-१९। व्याख्यातः ॥ १० ॥

---

१. उपदिष्टे यज्ञफले, तत्कारणभूतोऽग्निश्च । इदानीं तत्फलप्राप्त्युपाय उच्यते—तस्येति ॥

२ प्रसूयतेऽस्मिन्निति ऋदोरप् (अ० ३।३।५७) इत्यधिकरणेऽप् प्रत्ययः । तत् सवितृप्रसूत एवैतद् गृह्णाति । श० १।१।२।१७ ॥

३ अश्विनावध्वर्यू । ऐ० ब्रा० १।१८। श० १।१।२।१७ ॥

४ अयं वै पूषा योऽयं पवते । एष (वातः) हीदं सर्वं पुष्यति । श० १४।२।१।१९ ॥

५ सत्यस्य हस्ताभ्याम् (अथ० ३।११।८) । ग्रहणविसर्जनाभ्यामित्यर्थः ॥

६ रसः सोमः । श० ७।३।१।३ ॥
आपः सोमः सुतः । श० ७।१।१।२२ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(देवस्य) दीव्यत्यसौ देवः पचाद्यच्, चितः (अ० ६।१।१६३) इति देवशब्दोऽन्तोदात्तः । ततो विभक्त्यनुदात्तत्वम् । ततः स्वरितत्वम् ॥

(त्वा) अनुदात्तः । ततः संहितायामेकश्रुतिः ॥

(सवितुः) षु प्रसवैश्वर्ययोः इत्यस्मात् ण्वुल्तृचौ (अ० ३।१।१३३) इति तृच्, तदेवं सवितृशब्दोऽन्तोदात्तः । ततो ङसि ऋत उत् (अ० ६।१।१११) इत्येकादेशोऽन्तोदात्त एव ॥

(प्रसवे) प्रकर्षेण सूयतेऽस्मिन्निति प्रसवः ऋदोरप् (अ० ३।३।५७) इत्यप्प्रत्ययः, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६।२।१४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तः । विभक्त्यनुदात्तत्वं एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ०८।२।५) इत्येकादेश उदात्तः । ततः उत्तरपदेन संहितायां स्वरितो वानुदात्ते पदादौ (अ० ८।२।६) इति स्वरितत्वम् ।

(अश्विनोः) अश्विनौ यदश्नुवाते सर्वम् इति निरुक्त (१२।१) प्रामाण्यात् अशूङ् व्याप्तौ इत्यस्मादौणादिको विनिः प्रत्ययो बाहुलकात् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता । तस्य च उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८।४।६६) इति स्वरितत्वम् ॥

(बाहुभ्याम्) 'अर्जिदृशि' (उ० १।२७) इति 'कु' प्रत्ययः, । स चोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ।

(पूष्णः) श्वन्नुक्षन्पूषन् (उ० १।१५९) इत्यादिना कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते । स च निपातनादेवान्तोदात्तः । ततः अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

अन्वयः—यत् सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टमस्ति, त्वा तत् कर्माहं गृह्णामि। एवं च यद्विद्वद्भिरग्नीषोमाभ्यां जुष्टं प्रीतं चारु ❀ फलमस्ति तदहं गृह्णामि ॥ १० ॥

भावार्थः[२]—विद्वद्भिर्मनुष्यैर्विद्वत्संगत्या सम्यक् पुरुषार्थेनेश्वरेणोत्पादितायामस्यां सृष्टौ सकलविद्यासिद्धये सूर्य्यचन्द्राग्निजलादिपदार्थानां सकाशात् सर्वेषां बलवीर्य्यवृद्धये च सर्वा विद्याः संसेव्य प्रचारणीयाः। यथा जगदीश्वरेण सकलपदार्थानामुत्पादनधारणाभ्यां सर्वोपकारः कृतोस्ति, तथैवास्माभिरपि नित्यं प्रयतितव्यम्[३] ॥ १० ॥

उस यज्ञ के फल का ग्रहण किस करके होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[४] ॥

पदार्थः—मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्नकर्त्ता सकल ऐश्वर्य्यके दाता तथा (देवस्य) संसार के प्रकाश करनेहारे और सब सुखदायक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस संसार में (अश्विनोः) सूर्य्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्यसे तथा (पूष्णः) पुष्टि करानेवाले प्राण के (हस्ताभ्याम्) ग्रहण और त्याग से (अग्नये) अग्नि विद्या के सिद्ध करने के लिये (जुष्टम्) विद्या पढ़नेवाले जिस कर्म की सेवा करते हैं (त्वा) उसे (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ। इसी प्रकार (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और जल की विद्या से (जुष्टम्) विद्वानों ने जिस कर्म को चाहा है, उसके उत्तम फलको (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ ॥ १० ॥

भावार्थः—विद्वान् मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों का समागम वा अच्छे प्रकार अपने पुरुषार्थ से परमेश्वर की उत्पन्न की हुई प्रत्यक्ष सृष्टि अर्थात् संसार में सकल विद्या की सिद्धि के लिये सूर्य्य चन्द्र अग्नि और जल

(हस्ताभ्याम्) हसिमृग्रिण् (उ० ३ । ८६) इत्यादिना तन्प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः। ततः स्वरित एकश्रुतिश्च ॥

(अग्नये) अग्निशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(जुष्टम्) नित्यं मन्त्रे (अ० ६ । १ । २१०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(गृह्णामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अग्नीषोमाभ्याम्) ईदग्नेः सोमवरुणयोः (अ० ६ । ३ । २७) अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः (अ० ८ । ३ । ८२) इत्याभ्यामीत्वषत्वे। अग्निश्च सोमश्चेति द्वन्द्वसमासः। देवताद्वन्द्वे च (अ० ६ । २ । १४१) इति युगपदुभयपदप्रकृतिस्वरः। तत्राग्निशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, सोमशब्दश्च नामन्सीमन् (उ० ४ । १५१) इत्यादिना मनिन्प्रत्ययान्तो निपातितः, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(जुष्टं गृह्णामि) पूर्ववदेव ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ सामान्येनायमन्वयः सर्वास्वपि प्रक्रियासु योजनार्हः ॥

२ मन्त्रगतपदान्यत्र योज्यानि ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ आध्यात्मिकार्थस्तु व्यक्त एव। सूर्यचन्द्रमसोर्बलवीर्याभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामित्यादि त्वाधिदैविकप्रक्रियायां योजनीयम्। अधियज्ञार्थोऽपि पदार्थान्तर्गत एवोहनीयः ॥

विशेषवक्तव्यम्

पदार्थे (अश्विनोः) 'अध्वर्य्वोर्वा' इति पदमधियज्ञप्रक्रियाद्योतनपरम्, एवमग्रेऽपि यत्र तत्रोहनीयम्। अन्येषां पदानामर्थोऽपि तत्तत्प्रक्रियायां योजयितव्यः ॥ १० ॥

४ यज्ञ का फल तथा अग्नि उसका साधन है, यह कह चुके। अब उसकी फलप्राप्ति का उपाय क्या है सो कहते हैं—उस यज्ञ के इत्यादि ॥

❀ इतोऽग्रे "फलं चारु गृह्णामि" इति कोशेषु पाठः ॥

आदि पदार्थों के सकाश से* सबके बल वीर्य्य की वृद्धि के अर्थ अनेक विद्याओं को पढ़ के उनका प्रचार करना चाहिये अर्थात् जैसे जगदीश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति और धारणा से सबका उपकार किया है, वैसे ही हम लोगों को भी नित्य प्रयत्न करना चाहिये[१] ॥ १० ॥

भूताय त्वेति ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । स्वराड्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

यज्ञशालादिगृहाणि कीदृशानि रचनीयानीत्युपदिश्यते[४] ।

भूताय॑ त्वा॒ नारा॑तये॒ स्व॒रभि॒विख्ये॑षं॒ दृꣳह॑न्तां॒ दुर्याः॑ पृथि॒व्यामु॒र्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि । पृथि॒व्यास्त्वा॒ नाभौ॑ सादया॒म्यदि॑त्या॒ऽउप॑स्थे॒ऽग्ने॑ ह॒व्यꣳ र॑क्ष ॥ ११ ॥

भूताय॑ । त्वा॒ । न । अरा॑तये । स्वः॑ । अ॒भि॒विख्ये॑ष॒मित्य॑भि॒ऽविख्ये॑षम् । दृꣳह॑न्ताम् । दुर्याः॑ । पृथि॒व्याम् । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् । अनु॑ । ए॒मि॒ । पृ॒थि॒व्याः । त्वा॒ । नाभौ॑ । सा॒द॒या॒मि॒ । अदि॑त्याः । उ॒पस्थ॒ इत्यु॒पऽस्थे॑ । अग्ने॑ । ह॒व्यम् । र॒क्ष॒ ॥ ११ ॥

पदार्थः—(भूताय) उत्पन्नानां प्राणिनां सुखाय । (त्वा) तं कृषिशिल्पादिसाधिनम् । (न) निषेधार्थे । (अरातये) रातिर्दानं न विद्यते यस्मिन् तस्मै शत्रवे[†], बहुदानकरणार्थं दारिद्र्यविनाशाय वा (स्वः) सुखमुदकं वा स्वरिति सुखनामसु पठितम्[५] निघ० ३ । ६ । उदकनामसु च १ । १२ । (अभिविख्येषम्) अभितः सर्वतो विविधं पश्येयम् । अत्राभिव्योरुपपदे चक्षिङ् इत्यस्याशीर्लिङ्यार्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य ख्याञ् आदेशः लिङ्याशिष्यङ् [अ० ३ । १ । ८६] इत्यङ् सार्वधातुकसंज्ञामाश्रित्य च या इत्यस्य इय् आदेशः । सकारलोपाभाव इति । (दृꣳहन्ताम्) दृंहन्तां वर्धयन्ताम् । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । (दुर्याः) गृहाणि । दुर्या इति गृहनामसु पठितम् । निघ० ३ । ४ । (पृथिव्याम्) विस्तृतायां भूमौ । (उरु) बहु । (अन्तरिक्षम्) अवकाशं, सुखेन निवासार्थं । (अनु) क्रियार्थे । (एमि) प्राप्नोमि । (पृथिव्याः) शुद्धाया विस्तृताया

त्रिविधप्रक्रिया

१ आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट ही है। सूर्य और चन्द्रमा की शक्ति से पूषा पुष्टि करने वाले के ग्रहण और त्याग से आधिदैविक प्रक्रिया जाननी चाहिये । अधियज्ञार्थ पदार्थ के अन्तर्गत जानने योग्य है ॥

विशेषवक्तव्य

संस्कृत पदार्थ में 'अश्विनोः' का अर्थ दोनों अध्वर्युओं के' भी किया गया है। अध्वर्यु का सम्बन्ध यज्ञ प्रक्रिया से प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार आगे भी ऊहा कर लेनी चाहिये । अन्य पदों का अर्थ भी तत्तत् प्रक्रिया में सुसङ्गत हो जाता है ॥ १० ॥

---

२ हविः, सूर्यः, गृहाः, हव्यं चेति सर्वानुक्रमणी ॥

३ 'दुर्याः' इति गृहनामसु । निघ० ३ । ४ ॥

४ पूर्वोक्तत्रिविधयज्ञप्रकरणे तदुपकरणान्यपेक्ष्यन्त इति प्राप्त जपप्राणायामाद्यनुष्ठानायोपासनागृहाणि, यज्ञार्थं होमशाला, पदार्थविज्ञानाय प्रयोगशालाश्च निर्मातव्या इति संबन्धः ॥

५ साम्प्रतं सुखनामसु नोपलभ्यते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(भूताय) भवतेः क्तः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो विभक्तेरनुदात्तत्वं स्वरितत्वं च ॥

(त्वा) त्वामौ द्वितीयायाः (अ० ८ । १ । २३) इति त्वादेशः, स चानुदात्तः ॥

(न) निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इत्युदात्तत्वम् ॥

---

* 'पदार्थों करके' इति क ख पाठः । 'पदार्थों के सकाश से' इति गपाठः । 'पदार्थों के प्रकाश से' इति अमु० पाठः । संस्कृते 'पदार्थानां सकाशात्' इति पाठदर्शनात् गपाठ एव ज्यायान् ।

† 'शत्रवे, वा' इति संशोधने परिवर्द्धितौ ॥

भूमेः। (त्वा) तं पूर्वोक्तं यज्ञम्। (नाभौ) मध्ये। (सादयामि) स्थापयामि। (अदित्याः) विज्ञानदीप्तेर्वेदवाचः सकाशादन्तरिक्षे मेघमण्डलस्य मध्ये, अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति मन्त्रप्रामाण्यात्। ऋ० १। ८९। १०। अदितिरिति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १। ११। पदनामसु च। निघ० ४। १। (उपस्थे) समीपे (अग्ने) परमेश्वर। (हव्यम्) दातुं ग्रहीतुं योग्यं क्रियाकौशलं सुखं वा। (रक्ष) पालय॥ अयं मन्त्रः श० १। १। २। २०—२३। व्याख्यातः॥ ११॥

(अरातये) यजुः १। ७ मन्त्रे पृ० ५४ टि० २ द्रष्टव्यम्॥

(स्वः) अत्र निरुक्तम्—सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो रसान्, स्वृतो भासम्…(निरु० २। १४)। अनेन 'सु' उपपदे 'ऋ' धातोरन्तर्भावितण्यर्थात् अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३। २। ७५) इति 'विच्प्रत्ययो' गुणश्च। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते दासीभारादीनामिति वक्तव्यम् (अ० ६। २। ४२ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्, ततोऽनुदात्ते उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८। २। ४) इति स्वरितत्वम्। प्रादिसमासपक्षे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे पूर्ववत्।

यद्वा न्यङ्स्वरौ स्वरितौ (फिट् ७४) इति स्वरितः।

(अभिविख्येषम्) उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २। २। १८ भा० वा०) इति समासे गतिर्गतौ (अ० ८। १। ७०) इति 'अभि' अनुदात्तः। उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् १८) इति 'वि' उदात्तः॥

(दृंहन्ताम्) पदात् परत्वेऽपि भिन्नवाक्यत्वात् तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातो न भवति। तदभावे तास्यनुदात्तेत्० (अ० ६। १। १८६) इति सार्वधातुकानुदात्तत्वे, शपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातोः (अ० ६। १। १६२) इति धातोरुदात्तत्वम्।

(दुर्याः) 'दुर्वी हिंसायाम्' इत्यस्माद् अघ्न्यादयश्च (उ० ४। ११२) इति यकि निपातनादिष्टस्वरसिद्धिर्वेदितव्या॥

(पृथिव्याम्) 'प्रथ प्रख्याने' इत्यस्मात् प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः० (उ० १। १५०) इत्यादिना षिवन्प्रत्ययः। षिद्गौरादिभ्यश्च (अ० ४। १। ४१) इति ङीष्, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततः सप्तम्येकवचने ङिप्रत्ययः, स च सुप्त्वादनुदात्तः, तत आमादेशे यणादेशे च उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६। १। १७४) इति विभक्तिरुदात्ता॥

(उरु, अन्तरिक्षम्, अन्वेमि) पूर्ववत् (यजुः १। ७ पृ० ५४)॥

(पृथिव्याः, त्वा) पूर्ववत्॥

(नाभौ) नहो भश्च (उ० ४। १२६) इतीञ्प्रत्ययः, ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इत्याद्युदात्तत्वम्॥

(सादयामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः॥

(अदित्याः) दीङ् क्षये (दिवा० आ०) कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३। ३। ११३) इति कर्त्तरि क्तिन्, छान्दसं ह्रस्वत्वं नञ्समास इति देवराजः पृ० १३। तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। ततो विभक्त्यनुदात्तत्वम्॥

(उपस्थे) सुपि स्थः (अ० ३। २। ४) इति कः। अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६। २। १०६ भा० वा०) इत्यनेन पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्।

(अग्ने) भिन्नवाक्यत्वादाष्टमिकेन आमन्त्रितस्य च (अ० ८। १। १९) इति निघातो न भवति, तदभावे षाष्ठिकेन आमन्त्रितस्य च (अ० ६। १। १९८) इत्यनेनाद्युदात्तत्वम्॥

(हव्यम्) पूर्ववत् (यजु० १। ४ पृ० ४४)॥

(रक्ष) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः, ततः स्वरितत्वमैकश्रुत्यं च॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ वाग् वा अदितिः। शत० ६। ५। २। २०॥

अन्वयः—※ अहं भूतायारातयेऽदानायादित्या उपस्थे यं यज्ञं सादयामि [त्वा] तं कदाचिन्न त्यजामि । हे विद्वांसो भवन्तः पृथिव्यां दुर्य्या दंहन्तां वर्धयन्ताम् । अहं पृथिव्या नाभौ मध्ये, येषु गृहेषु स्वरभिविख्येषं यस्यां पृथिव्यामुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि, हे अग्ने जगदीश्वर [तत्र] त्वमस्माकं × [त्वा] हव्यं सर्वदा रक्ष ॥ *इत्येकोऽन्वयः* ॥

हे अग्ने परमेश्वराहं भूतायारातये पृथिव्या नाभौ ईश्वरत्वोपास्यत्वाभ्यां स्वः सुखरूपं त्वामभिविख्येषं प्रकाशयामि, भवत्कृपयेमेऽस्माकं दुर्य्या गृहादयः पदार्थास्तत्रस्था मनुष्यादयः प्राणिनो दंहन्तां नित्यं वर्धन्ताम् । अहं पृथिव्यामुर्वन्तरिक्ष + मदित्या उपस्थे व्यापकं त्वा त्वामन्वेमि नित्यं प्राप्नोमि न कदाचित् त्वा त्वां [सादयामि] त्यजामि, त्वमिममस्माकं हव्यं सर्वदा रक्ष ॥ *इति द्वितीयः* ॥

अहं शिल्पविद्यजमानो भूतायारातये पृथिव्या नाभौ त्वा [अग्ने] तमग्निं होमार्थं शिल्पविद्यार्थं च सादयामि । यतोऽयमग्निरदित्या अन्तरिक्षस्योपस्थे हुतं हव्यं द्रव्यं [रक्ष] रक्षति, तस्मात्तं पृथिव्यां स्थापयित्वोर्वन्तरिक्षमन्वेमि । अत एव त्वा तं पृथिव्यां सादयामि । एवं कुर्वन्नहं स्वरभिविख्येषम् । तथैवेमे दुर्य्याः प्रासादास्तत्स्था मनुष्याश्च दंहन्तां शुभगुणैर्वर्धन्तामिति मत्वा तमिममग्निं कदाचिन्नाहं त्यजामि॥ *इति तृतीयोऽन्वयः* ॥ ११ ॥

अत्र श्लेषालंकारः ॥

भावार्थः—ईश्वरेण मनुष्य आज्ञाप्यते—हे मनुष्य ! अहं त्वां सर्वेषां भूतानां सुखदानाय पृथिव्यां रक्षयामि, त्वया वेदविद्याधर्मानुष्ठानयुक्तेन पुरुषार्थेन सुन्दराणि सर्वर्तुसुखयुक्तानि सर्वतो विशालावकाशसहितानि गृहाणि रचयित्वा सर्वदा † सुखं प्रापणीयम् । तथा मत्सृष्टौ यावन्तः पदार्थाः सन्ति तेषां सम्यग्गुणान्वेषणं कृत्वाऽनेका विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य तासां रक्षणं प्रचारश्च सदैव संभावनीयः । तथैव मनुष्येणात्रैवं मन्तव्यं ‡ सर्वत्राभिव्यापकं सर्वसाक्षिणं सर्वमित्रं सर्वसुखवर्धकमुपासितुमर्हं सर्वशक्तिमन्तं परमेश्वरं ज्ञात्वा सर्वोपकारो विविधविद्यावृद्धिर्धर्मोपस्थानमधर्माद् दूरे स्थितिः क्रियाकौशलसंपादनं यज्ञक्रियानुष्ठानं च कर्त्तव्यमिति[3] ॥

---

१ त्रिविधप्रक्रियाहेतोरेव त्रिविधान्वयोऽत्र प्रदर्शितः । अत एव तत्र तत्राध्याहारेऽपि भेदः ॥

२ हेतावत्र पञ्चमी, ईश्वरत्वकारणात्, उपास्यत्वकारणाच्चेति भावः ।

त्रिविधप्रक्रिया

३ क्रमेणाधियज्ञाध्यात्मिकाधिदैविकार्था अन्वय एव प्रदर्शिताः ॥

विशेषवक्तव्यम्

अत्र यद् वक्तव्यं तत्सर्वं मन्त्राणां त्रिविधार्थयोजनाप्रकरणे (पृ० २१, २२) उक्तम्, तत एव द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥

※ 'अहं यं भूताया.........उपस्थे यज्ञं' इति अजमेरमुद्रिते पाठः ।

× 'तत्रास्माकं' इति क पाठः । 'तेऽस्माकं' इति ख पाठः । 'त्वमस्माकं' इति ग अ० मु० च पाठः । 'तत्र त्वमस्माकं' इति तु युक्ततरः पाठः ।

\+ इतोऽग्रे 'व्यापकमुपस्थे त्वा' इति ग० अ० मु० च पाठः । 'व्यापकमदित्या उपस्थे त्वा' इति क.ख. पाठः । अत्र 'व्यापकम्' पदं 'उपस्थे' इत्यस्मादग्र एवान्वेतीति कृत्वास्माभिस्तत्रानीतम् ।

† 'सर्वदा' इति कखयोरुपलभ्यते, गकोशे प्रतिलिपिकर्त्रा त्यक्तः ॥

‡ अत्र भावार्थान्ते 'कर्तव्यमिति' इत्यस्मादनन्तरं क हस्तलेखे "तथैवेश्वररचितोऽयमनेकगुणवान् मूर्त्तद्रव्यच्छेदकविमानादियानवृष्टिकरणहेतुसर्वाभिपाचक इत्यादिगुणविशिष्टोऽग्निः शिल्पिभिः सदैवान्वेष्टव्योऽस्तीति" इति पाठ उपलभ्यते । तत्र 'अन्वेष्टव्योऽस्ति' इति क्रियया सह 'मनुष्येणात्रैवं मन्तव्यम्' इत्यस्य दूरान्वयी संबन्ध आसीत् । यथामुद्रितपाठे तु 'मनुष्येणात्रैवं मन्तव्यम्' इत्यस्याग्रे 'यदस्माभिः' इत्यध्याहारः कर्तव्यो भवतीति ध्येयम् ॥ कपाटस्तु ग्रन्थकृता स्वयं परिमृष्टो लिपिकर्त्रा वा परित्यक्त इति न विद्मः, सम्प्रति हस्तलेखानामनुपलम्भात् ॥

अत्र महीधरेण भ्रान्त्या अभिविख्येषमिति पदं 'ख्या प्रकथने' इत्यस्य दर्शनार्थे गृहीतं, तत् धात्वर्थादेव विरुद्धम् ॥ ११ ॥

यज्ञशाला आदिक घर कैसे बनाने चाहियें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः[2]—मैं जिस यज्ञ को (भूताय) [उत्पन्न] प्राणियों के सुख तथा (अरातये) [शत्रुरूप] दारिद्र्य आदि दोषों के नाश के लिये (अदित्याः) वेदवाणी वा विज्ञानप्रकाश के (उपस्थे) गुणों में (सादयामि) स्थापन करता हूँ और (त्वा) उसको कभी (न) नहीं छोड़ता हूँ। हे विद्वान् लोगो ! तुमको × (पृथिव्याम्) विस्तृत भूमि में (दुर्य्याः) अपने घर (दंहन्ताम्) बढ़ाने चाहियें, मैं (पृथिव्याः) (नाभौ) पृथिवी के बीच में जिन गृहों में (स्वः) जल आदि सुख के पदार्थों को (अभिविख्येषम्) सब प्रकार से देखूं और (उर्वन्तरिक्षम्) उक्त पृथिवी में बहुतसा अवकाश देकर, सुख से निवास करने के योग्य स्थान रचकर (अन्वेमि) प्राप्त होता हूँ। हे (अग्ने) जगदीश्वर ! आप [(त्वा) उस] (हव्यम्) हमारे देने लेने योग्य पदार्थ की (रक्ष) सर्वदा रक्षा कीजिये ॥ *यह प्रथम पक्ष हुआ* ॥

अब दूसरा पक्ष—हे (अग्ने) परमेश्वर ! मैं (भूताय) संसारी जीवों के सुख तथा (अरातये) दरिद्रता का विनाश और दान आदि धर्म करने के लिये (पृथिव्याः) पृथिवी के (नाभौ) बीच में ईश्वर की सत्ता और उसकी उपासना से [अर्थात् सब के स्वामी तथा उपासनीय जानकर] (स्वः) सुखस्वरूप आपको (अभिविख्येषम्) प्रकाश करता हूं, तथा आपकी कृपा से मेरे [(दुर्य्याः)] घर आदि पदार्थ और उनमें रहने वाले मनुष्य आदि प्राणी (दंहन्ताम्) वृद्धि को प्राप्त हों और मैं (पृथिव्याम्) विस्तृत भूमि में (उरु) बहुत से (अन्तरिक्षम्) अवकाश-युक्त स्थान को निवास के लिये (अदित्या उपस्थे) [वेदवाणी वा विज्ञानप्रकाश के उत्कृष्टता आदि गुणों में] सर्वत्र व्यापक +[(त्वा)] आपको सदा (अन्वेमि) प्राप्त होता हूँ। कदाचित् (त्वा) आपका [(न सादयामि)] त्याग नहीं करता हूँ। हे जगदीश्वर ! आप मेरे (हव्यम्) अर्थात् उत्तम पदार्थों की सर्वदा (रक्ष) रक्षा कीजिये ॥ *यह दूसरा पक्ष हुआ* ॥

तथा तीसरा और भी कहते हैं—मैं शिल्पविद्या का जानने वाला यज्ञ को करता हुआ (भूताय) सांसारिक प्राणियों के सुख और (अरातये) दरिद्रता आदि दोषों के विनाश वा सुख से दान आदि धर्म करने की इच्छा से (पृथिव्या नाभौ) इस पृथिवी पर शिल्पविद्या की सिद्धि करने वाला जो (अग्ने) अग्नि है [(त्वा)] उसको हवन करने वा शिल्पविद्या की सिद्धि के लिए (सादयामि) स्थापन करता हूँ, क्योंकि उक्त शिल्पविद्या इसीसे सिद्ध होती है (अदित्याः) [(उपस्थे)] तथा जो अन्तरिक्ष में स्थित मेघमण्डल में [(हव्यम्)] होमद्वारा पहुँचे हुए उत्तम २ पदार्थों की [(रक्ष)] रक्षा करने वाला है, इसलिये इस अग्नि को (पृथिव्याम्) पृथिवी में स्थापन करके (उर्वन्तरिक्षम्) बड़े अवकाशयुक्त स्थान और विविध प्रकार के सुखों को [(अन्वेमि)] प्राप्त होता हूँ, इसी प्रयोजन के लिये [(त्वा)] इस अग्नि को पृथिवी में स्थापन करता हूँ, इस प्रकार श्रेष्ठ कर्मों को करता हुआ (स्वः) अनेक सुखों को (अभिविख्येषम्) देखूँ ❀ इसी प्रकार ये (दुर्य्याः) घर और उनमें रहने वाले

---

१ पूर्वोक्त त्रिविधयज्ञ के प्रसङ्ग में उपकरणों (साधनों) की आवश्यकता है। अत एव जप प्राणायामादि के अनुष्ठान के लिये एकान्त उपासनागृहों, यज्ञ करने के लिये उत्तम यज्ञशालाओं, तथा पदार्थविज्ञान के लिये प्रयोगशालाओं का निर्माण करना चाहिये ॥

२ तीन प्रकार की प्रक्रिया के कारण ही तीन प्रकार का अन्वय यहाँ दर्शाया गया है, इसलिये तीनों अन्वयों के अध्याहारों में जो भेद है, वह स्वाभाविक है ॥

× इतोऽग्रे 'उचित है कि' इति अ० मु० पाठः, स च सर्वेष्वपि हस्तलेखेषु नास्ति।

+ इतोऽग्रे 'आप के समीप सदा' इति अजमेरमुद्रितपाठः।

❀ इतोऽग्रे 'तथा मेरे' इति अजमेरमुद्रितपाठः।

मनुष्य (दृंहन्ताम्) शुभ गुण और सुख से वृद्धि को प्राप्त हों, इसलिये इस भौतिक अग्नि का भी त्याग मैं कभी (न) नहीं करता हूँ ॥ *यह तीसरा अर्थ हुआ ॥ ११ ॥*

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥

भावार्थः—ईश्वर ने आज्ञा दी है कि हे मनुष्य लोगो ! मैं तुम्हारी रक्षा इसलिये करता हूँ कि तुम लोग पृथिवी पर सब प्राणियों को सुख पहुंचाओ तथा तुमको * वेदविद्या धर्म के अनुष्ठान और अपने पुरुषार्थ द्वारा विविध प्रकार के सुख सदा बढ़ाने चाहियें। तुम सब ऋतुओं में सुख देने के योग्य बहुत अवकाशयुक्त सुन्दर घर बनाकर सर्वदा सुख सेवन करो और मेरी सृष्टि में जितने पदार्थ हैं, उनसे अच्छे अच्छे गुणों को खोजकर अथवा अनेक विद्याओं को प्रगट करते हुए फिर उक्त गुणों का संसार में अच्छे प्रकार प्रचार करते रहो कि जिससे सब प्राणियों को उत्तम सुख बढ़ता रहे तथा तुम को चाहिये कि मुझको सब जगह व्याप्त, सब का साक्षी, सब का मित्र, सब सुखों का बढ़ानेहारा, उपासना के योग्य, और सर्वशक्तिमान् जानकर, सबका उपकार, विविध विद्या की वृद्धि, धर्म में प्रवृत्ति, अधर्म से निवृत्ति, क्रियाकुशलता की सिद्धि, और यज्ञक्रिया के अनुष्ठान आदि करने में सदा प्रवृत्त रहो[1] † ।

इस मन्त्र में महीधर ने भ्रान्ति से (अभिविख्येषम्) यह पद (ख्या प्रकथने) इस धातु का दर्शन अर्थ में माना है, यह धातु के अर्थ से ही विरुद्ध होने करके अशुद्ध है ॥ ११ ॥

पवित्रे स्थ इत्यस्य ऋषिः स एव । अप्सवितारौ देवते[2] । ‡ भुरिगत्यष्टिश्छन्दः[3] । गान्धारः स्वरः ॥

अग्नौ हुतं द्रव्यं मेघमण्डलं प्राप्य कीदृशं भवतीत्युपदिश्यते[4] ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ भावार्थ में क्रमशः अधियज्ञ, आध्यात्मिक, आधिदैविक अर्थों का निरूपण आचार्य ने किया है ॥

विशेष वक्तव्य

यहां पर जो वक्तव्य है सो 'सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है' इस प्रकरण में (पृ० ३२ पर) कह चुके, पाठक वहीं पर देखें ॥११॥

---

२ लिङ्गोक्ता आपश्च इति सर्वानुक्रमणी ॥

३ अत्र वेदभाष्ये प्रतिमन्त्रमक्षराणां संख्यानं कृत्वा कारयित्वा वा छन्दांस्याचार्यवर्यैर्निर्दिष्टानि। तत्रापि प्रायेण लेखककृतमक्षरसंख्यानं गृहीत्वैव छन्दसां नामानि निरूपितानि। तदेवं क्वचिद् गणकानां प्रमादवशादशुद्धयः समजनिषत ।

एवंभूताः प्रमादा न केवलं मन्त्राक्षरसंख्यानेऽपि तु मन्त्रसंख्यानेऽप्युपलभ्यन्ते। तद्यथर्ग्वेदभाष्यारम्भे—

(क) नवममण्डलस्य प्रतिसूक्तं मन्त्रसंख्या शुद्धा सत्यपि सर्वयोगे ११०८ स्थाने १०९७ प्रदर्शिता। इयं चाशुद्धिः लेखककृतसंख्यानपरैवेति नात्र तिरोहितम्॥

(ख) अष्टममण्डलस्य (२०) विंशतितमस्य सूक्तस्य मन्त्रसंख्याने लेखकेन प्रमादात् (२६) षड्विंशतिस्थाने (३६) षट्त्रिंशत् संख्या प्रदर्शिता। तदनुरोधेनैव च मण्डलमन्त्रगणनाऽपि १७१६ स्थाने १७२६ निर्दिष्टा॥

तथैव प्रकृतमन्त्रेऽपि प्रमादात् ६९ स्थाने ६८ अक्षराणि संख्याय "स्वराट् (ब्राह्मी) त्रिष्टुप्" छन्दः प्रदर्शितं स्यात्। एवं लेखकानामक्षरसंख्यानजाश्छान्दस्यस्तदनुरोधेनैव स्वरविषयिकाश्चाशुद्धयः यथाशास्त्रं यथामति संशोधिता इति विज्ञेयम्।

इत्थं क्वचिल्लेखकप्रमादे सत्यपि यां प्रक्रियामाश्रित्याचार्यैश्छन्दांसि निर्दिष्टानि, सा सर्वथैव निर्दुष्टा शास्त्रसम्मता चास्ति। विस्तरस्तु विवरणभूमिकायां द्रष्टव्यः ॥

४ प्रसङ्गाद् यज्ञियगृहाणि निरूप्य प्रागुक्तं यज्ञस्य पावनत्वं साधयितुमाह—अग्नौ हुतमिति ॥

---

* इतोऽग्रे 'योग्य है कि' इति अजमेरमुद्रिते पाठः, स च सर्वहस्तलेखेषु नास्ति ।

† इतोऽग्रे 'प्रवृत्त होना चाहिये, तथा ईश्वररचित बहुगुणयुक्त मूर्तिमान् द्रव्यों को छेदन करने वाला विमानादि यान साधक वर्षा कराने का हेतु तथा सत्र को पचाने वाला इत्यादि गुणधारी जो भौतिक अग्नि है, उसको शिल्पी विद्वानों का अपने विद्यादि गुणों से सदा खोजना चाहिये' इति कखहस्तलेखयोरधिकः पाठः। अत्र संस्कृतभावार्थस्यापि टिप्पणी द्रष्टव्या ।

‡ इतोऽग्रे 'स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः' इति अजमेरमुद्रितपाठः। यद्वा "अत्र पूर्वार्द्धे विराडार्ची त्रिष्टुप् छन्दः, उत्तरार्द्धे स्वराड् जगती छन्दः। निषादः स्वरः" ।

प॒वित्रे॑ स्थो वैष्ण॒व्यौ॑ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒व उत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑ । दे॒वी॑रापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपु॒वोऽग्र॒ऽइ॒मम॒द्य य॒ज्ञं न॑यता॒ग्रे॑ य॒ज्ञप॑तिꣳ सु॒धातुं॑ य॒ज्ञप॑तिं देव॒युव॑म् ॥ १२ ॥

प॒वित्रे॒ऽइति॑ प॒वित्रे॑ । स्थः॒ । वै॒ष्ण॒व्यौ॑ । स॒वि॒तुः । व॒ः । प्र॒स॒व इति॑ प्र॒ऽस॒वे । उत् । पु॒ना॒मि॒ । अच्छि॑द्रेण । प॒वित्रे॑ण । सूर्य॑स्य । र॒श्मिभि॒रिति॑ र॒श्मिऽभिः॑ ॥ दे॒वीः॑ । आप॑ः । अ॒ग्रे॒गु॒व इत्य॑ग्रेऽगुवः । अ॒ग्रे॒पु॒व इत्य॑ग्रेऽपुवः । अग्रे॑ । इ॒मम् । अ॒द्य । य॒ज्ञम् । न॒य॒त॒ । अग्रे॑ । य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम् । सु॒धातु॒मिति॑ सु॒ऽधातु॑म् । य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञऽप॑तिम् । दे॒व॒यु॒व॒मिति॑ दे॒व॒ऽयुव॑म् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(पवित्रे[1]) पवित्रकरणहेतू प्राणापानगती । (स्थः) भवतः । अत्र व्यत्ययः । (वैष्णव्यौ[3]) यज्ञस्येमौ व्याप्तिकर्त्तारौ पवनपावकौ * तौ । (सवितुः) जगदुत्पादकस्येश्वरस्य । (वः) ताः । अत्र पुरुषव्यत्ययः । (प्रसवे) उत्पन्नेऽस्मिन् जगति । (उत्) धात्वर्थे । उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १ । ३ । (पुनामि) पवित्रीकरोमि । (अच्छिद्रेण) छिद्ररहितैः (पवित्रेण) शुद्धिकरणहेतुभिः । (सूर्य्यस्य) प्रत्यक्षलोकस्य । (रश्मिभिः) किरणैः (देवीः) दिव्यगुणयुक्ताः । अत्र † सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति पूर्वसवर्णादेशः । (आपः) जलानि । (अग्रेगुवः[4]) अग्रे समुद्रेऽन्तरिक्षे[5] गच्छन्तीति ताः । (अग्रेपुवः[6]) प्रथमां पृथिवीस्थसोमौषधिं सेविकाः (अग्रे) पुरःसरत्वे क्रियासम्बन्धे । (इमम्)

१ अयं वै पवित्रं योऽयं पवते । श० १ । १ । ३ । २ ॥ यत्त्वत्र महीधरसायणाभ्यां 'हे पवित्रे'! इति संबोधनमुक्तं तत्त्वयुक्तमेव । आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्यनेनाद्युदात्तत्वप्रसङ्गात् ॥

२ (क) अस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने शतपथे (१ । १ ३ । २) ताविमौ प्राणोदानौ ॥

(ख) अस्यैवाध्यायस्यैकत्रिंशमन्त्रेऽस्य भागस्य यज्ञो देवता, अत्र तु अप्सवितारौ प्राणापानावित्यपि बोध्यम् ॥

३ पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थऽ इत्येवैतदाह (श० १ । १ । ३ । १) इत्येतन्मन्त्रव्याख्याने ब्राह्मणम् ॥

४ ता (आपः) यत्समुद्रं गच्छन्ति तेनाग्रेगुवः । श० १ । १ । ३ । ७ ॥

५ समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघ० १ । ३ ॥

६ ता (आपः) यत्प्रथमाः सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति तेनाग्रेपुवः । श० १ । १ । ३ । ७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पवित्रे) पूर्ववत् (यजुः १ । २ । पृ० ३७)॥

(स्थः) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः । तत एकश्रुतिः । पूर्वं पृष्ठ १४ व्याख्यातः ॥

(वैष्णव्यौ) विष्णुशब्दात् तस्येदम् (अ० ४ । ३ । १२०) इत्यण्, ततः टिड्ढाणञ्० (अ० ४ । १ । १५) इत्यादिना ङीप् । अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६ । १ । १६१) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तः । तत 'औ', यणि उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इत्यन्तस्वरितत्वम् ॥

(सवितुः) पूर्ववत् (यजुः १ । १० पृ० ६२)॥

(प्रसवे) पूर्ववत् (यजुः १ । १० पृ० ६२)॥

(उत्) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८१) इत्युदात्तः ॥

(पुनामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अच्छिद्रेण) न छिद्रमच्छिद्रम्, तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः । ततः स्वरितत्वमैकश्रुत्यं च ॥

(पवित्रेण) पूर्ववत् (यजु० १।३ पृ० ४१) ॥

(सूर्यस्य) सर्त्तेर्गत्यर्थात् (भ्वा० प०) सुवतेर्वा प्रेरणार्थत्वात् (तु० प०) राजसूयसूर्यमृषोद्य० (अ०

* 'पवनपावकौ' इति हस्तलेखेषु नास्ति ।

† अत्र 'वा छन्दसि' (अ० ६ । १ । १०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घादेश इति सम्यक्तरं स्यात् ।

प्रत्यक्षम् । (अद्य) अस्मिन्नहनि । (यज्ञम्) पूर्वोक्तम् । (नयत) प्रापयत । (अग्रे) (यज्ञपतिम्) यज्ञस्यानुष्ठातारं स्वामिनम् (सुधातुम्) शोभना धातवः शरीरस्था मनआदयः सुवर्णादयो वा यस्य तम् । (यज्ञपतिम्) यज्ञस्य कामयितारं । (देवयुवम्) देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा यौति प्राप्नोति प्रापयतीति वा तम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । ३ । १–७ । व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो यथा सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवेऽस्मिन् संसारेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः पवित्रे शुद्धौ वैष्णव्यौ पवनपावकौ* स्थो भवतः, यथा चैतैरग्रेगुवोऽग्रेपुवो [वो] देवीरापः पवित्रा भवेयुस्तथा शुद्धानि द्रव्याण्यग्नौ नयत † प्रापयत, तथैवाहमद्येमं यज्ञमग्रे नीत्वाऽग्रे सुधातुं यज्ञपतिं देवयुवं यज्ञपतिं चोत्पुनामि ॥ १२ ॥

अत्र लुप्तोपमालंकारः ॥

३ । १ । ११४) इत्यादिसूत्रेण क्यप्प्रत्ययान्तो निपात्यते । क्यपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(रश्मिभिः) अश्नोतेरश् च (उ० ४ । ४६) इति मिः प्रत्ययः । स च प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । ततो भिस्, स च सुप्त्वादनुदात्तः, तस्य स्वरितत्वम् ॥

(देवीः) देवशब्दः पचाद्यजन्तः, चित्त्वादन्तोदात्तः । पचादौ देवडिति पाठात् टिड्ढाणञ्० (अ० ४ । १ । १५) इति ङीपि अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६ । १ । १६१) इत्यन्तोदात्तो देवीशब्दः । आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इत्याद्युदात्तः ।

(आपः, अग्रेगुवः, अग्रेपुवः) अत्रापि 'अघ्न्याः' पदवत् आमन्त्रिताभावेऽपि छान्दसः सर्वनिघातः ।

(अग्रे) ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २ । २८) इत्यादिना रन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः ॥

(इमम्) इदं (यजुः १ । ५ पृ० ४८) शब्दवत् ।

(अद्य) सद्यःपरुत्परार्य्यैषमः० (अ० ५ । ३ । २२) इत्यादिसूत्रे द्यप्रत्ययान्तो निपातितः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(नयत) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अग्रे) पूर्ववत् ॥

(यज्ञपतिम्) पूर्ववत् (यजुः १ । २ पृ० ३८)

(सुधातुम्) धातुशब्दः सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् (उ० १ । ६९) इति तुन्प्रत्ययान्तः, ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः, शोभना धातवो यस्येति सुधातुः, बहुव्रीहौ समासे समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं प्राप्तं तच्च आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६ । २ । ११९) इत्यनेनोत्तरपदाद्युदात्तत्वेन बाध्यते, ततश्च स्वरितत्वं पूर्ववदेव ॥

(यज्ञपतिम्) पूर्ववदेव ॥

(देवयुवम्) देवान् यौतीति देवयुः, क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप्, तुगभावश्छान्दसः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

यद्वा 'आत्मानं देवमिच्छन्तं' (द० ऋग्भाष्य १ । ८३ । २) इत्यस्मिन्नर्थे क्यचि ईत्वाभावश्छान्दसः । क्याच्छन्दसि (अ० ३ । २ । १७०) इति उः प्रत्ययः । वा च्छन्दसि (अ० ६ । १ । १०६) इति पूर्वसवर्णाभावे इयङादिप्रकरणे तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् (अ० ६ । ४ । ७७ भा० वा०) इत्युवङ् प्रत्ययस्वरेण 'यु' उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः । आरम्भ एवोभावप्युपमानौ प्रदर्शितावन्ते चोपमेयाविति ।

* पवनपावकौ इति हस्तलेखेषु नास्ति ।

† 'नयत प्रापयत' इति पाठः क ख कोशयोः स्थानान्तर आसीत् । तस्य संशोधनसमये स्थानपरिवर्तने क्रियमाणे 'नयत' पदं परिभ्रष्टं स्यात् ।

भावार्थः—† ये पदार्थाः संयोगेन विकारं प्राप्नुवन्ति, अग्निना छिन्नाः पृथक्-पृथक् परमाणवो भूत्वा वायौ विहरन्ति, ते शुद्धा भवन्ति। यथा यज्ञानुष्ठानेन वायुजलानामुत्तमे शुद्धिपुष्टी जायेते, न तथाऽन्येन भवितुमर्हतः, तस्माद्धोमक्रियाशुद्धेर्वायवग्निजलादिभिः, शिल्पविद्यया यानानि साधयित्वा कामनासिद्धिं कुर्युः कारयेयुश्च। या आपोऽस्मात् स्थानादुत्थाय समुद्रमन्तरिक्षं गच्छन्ति ततः पुनः पृथिव्यादिपदार्थानागच्छन्ति, ताः प्रथमाः संख्यायन्ते, या मेघस्थास्ता द्वितीया इति। शतपथब्राह्मणे मेघस्य वृत्रस्य सूर्यलोकस्य च युद्धाख्यायिकयाऽस्य[२] मन्त्रस्य व्याख्याने मेघविद्योक्ता[३] ॥ १२ ॥

अग्नि में जिस द्रव्य का होम किया जाता है, वह मेघमण्डल को प्राप्त होके किस प्रकार का होकर क्या गुण करता है, इस बात का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[४]।

पदार्थः[५]—हे विद्वान् लोगो! तुम जैसे (सवितुः) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस संसार में (अच्छिद्रेण) निर्दोष और (पवित्रेण) पवित्र करने में हेतु जो (सूर्य्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरण हैं, उनसे (वैष्णव्यौ) [यज्ञ को सर्वत्र फैलाने वाले वायु तथा अग्नि] (पवित्रे) यज्ञसंबन्धी प्राण और अपान की गति तथा पदार्थों के भी पवित्र करने में हेतु (स्थः) हैं और जैसे उक्त सूर्य की किरणों से (अग्रेगुवः) आगे समुद्र वा अन्तरिक्ष में चलने वाले (अग्रेपुवः) प्रथम पृथिवी में रहने वाली सोम ओषधि के सेवन करने [वाले] तथा (देवीः) दिव्यगुणयुक्त [(वः) वह] (आपः) जल पवित्र हों। वैसे (नयत) पवित्र पदार्थों का होम अग्नि में करो, वैसे ही मैं भी (अद्य) आज के दिन (इमम्) इस (यज्ञम्) पूर्वोक्तक्रिया संबंधी यज्ञ को प्राप्त करके (अग्रे) जो प्रथम (सुधातुम्) श्रेष्ठ मन आदि इन्द्रिय और सुवर्ण आदि धन वाला (यज्ञपतिम्) यज्ञ का नियम से पालक तथा

---

१ अधियज्ञाधिदैविकार्थयोर्मिथः सम्बन्धोऽत्र भावार्थे स्पष्टः ॥

२ अत्र प्रमाणानि—

(क) तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरम्। श० ११। १। ६। ९ ॥

(ख) तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। निरु० २।१६।

(ग) 'वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये' इत्यादि, तदपि नैरुक्तदिशा प्रवाहनित्य एव विद्युदादिव्यवहारवाचित्वेन। ऐतिहासिकदृशां वा सर्ववृत्तान्तानामेव शीतोष्णवर्षाद्यावर्त्तवद् यथाकालवर्तमानानामनाद्यनन्तानां वेदेन कर्मकालेऽतीतरूपेण प्रतिपादनाददोषः इति शतपथभाष्यकारो हरिस्वामी (अस्मद्धस्तलेखे पृ० ३०) ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ पदार्थे 'प्राणापानगती' इत्यनेनाध्यात्मिकार्थोऽपि द्योत्यते। यज्ञार्थस्तु पदार्थे स्पष्टः, शिल्पविद्यया यानानि साधयित्वा कामनासिद्धिं कुर्युः, कारयेयुरित्याधिदैविकार्थयोजनापरम् ॥

अन्वयारम्भे द्वयोरुपमानयोरप्सवितारौ देवते द्रष्टव्ये, लुप्तोपमालङ्कारेण च वाक्यद्वययोजनात्र संभाव्यते। वस्तुतस्तु वाक्यद्वयमित्थं नेयम्। हे विद्वांसो यथा सवितुः परमेश्वरस्य······पवनपावकौ स्थो भवतः। तथा शुद्धानि द्रव्याण्यग्नौ प्रापयत इत्येकम्। अपरं च—यथा चैतैः अग्रेगुवोऽग्रेपुवो···देवीरापः पवित्रा भवेयुः, तथैवाहमद्येमं यज्ञमग्रे यज्ञपतिं चोत्पुनामि, इत्युपमानोपमेयार्थयोजना ॥

लुप्तोपमाद्यलङ्कारजातं प्रदर्शयताऽऽचार्येण वेदशब्दानां गम्भीररहस्यमुद्घाट्यते ॥

इयमिन्द्रवृत्रयुद्धपराख्यायिकाऽन्यत्र शतपथतैत्तिरीयब्राह्मणयोरैतरेयारण्यके निरुक्तादौ चापि द्रष्टव्या ॥ १२ ॥

४ प्रसङ्ग से यज्ञगृहों का निरूपण करके पूर्वोक्त पवित्रता का साधन यज्ञ कैसा है, सो कहते हैं ॥

५ यहां अन्वय यज्ञपरक है, इस मन्त्र के भाष्य में आचार्य ने दोनों उपमान एक साथ आरम्भ में ही कह दिये और उपमेय अन्त में, ऐसा समझना चाहिये ॥

---

† अत्र 'ये पदार्थाः······प्राप्नुवन्ति तेऽग्निना छिन्ना······विहरन्ति शुद्धाश्च भवन्ति' इति पाठः स्पष्टतरः स्यात् ॥

(देवयुवम्) विद्वान् और श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त होने वा उनका प्राप्त कराने (यज्ञपतिम्) यज्ञ की इच्छा करने वाला मनुष्य है, उसको (उत्पुनामि) पवित्र करता हूँ ॥ १२ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालंकार है ।

भावार्थः[1] — जो पदार्थ संयोग से विकार को प्राप्त होते हैं वे अग्नि के निमित्त से अति सूक्ष्म परमाणुरूप होकर वायु के बीच रहा करते हैं और कुछ शुद्ध भी हो जाते हैं, परन्तु जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है, वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती, इससे विद्वानों को चाहिये कि होम क्रिया से शुद्ध किये वायु अग्नि जल आदि पदार्थ वा शिल्पविद्या से अच्छी सवारी बनाके अनेक प्रकार के लाभ उठावें अर्थात् अपनी मनोकामना [की] सिद्धि करके औरों की भी कामनासिद्धि करें । जो जल इस पृथिवी से अन्तरिक्ष को चढ़कर वहां से लौटकर फिर पृथिवी आदि पदार्थों को प्राप्त होते हैं, वे प्रथम और जो मेघ में रहने वाले हैं, वे दूसरे कहाते हैं । ऐसी शतपथ ब्राह्मण में मेघ का वृत्र तथा सूर्य्य का इन्द्र नाम से वर्णन करके युद्धरूप कथा के प्रकाश से मेघविद्या दिखलाई है ॥ १२ ॥

---

१ यहां भावार्थ में अधियज्ञ तथा आधिदैविक अर्थों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

आ० त्रिविधप्रक्रिया

२ पदार्थ में 'प्राणापानगती' इत्यादि शब्द से आध्यात्मिकार्थ भी आचार्य को अभीष्ट है, ऐसा समझना चाहिये । अधियज्ञार्थ पदार्थ में स्पष्ट है । 'शिल्पविद्यया यानानि साधयित्वा कामनासिद्धिं कुर्युः' ये शब्द आधिदैविक प्रक्रिया में ही सुसंगत हो रहे हैं ॥

विशेष वक्तव्य

(क) श्री० स्वामीजी महाराज ने यजुर्वेद के छन्द मन्त्राक्षरों की गणना करवा कर लिखे या लिखवाये हैं । प्रायः लेखक अक्षरसंख्या गिन लेते थे और तदनुसार छन्दों के नाम लिखे जाते थे। इस अक्षरगणना में कहीं २ लेखकों की असावधानी हुई है । इस प्रकार की असावधानी केवल मन्त्राक्षरों की गणना में ही हुई हो ऐसी बात नहीं, अपितु मन्त्रों की गिनती में भी ऐसी असावधानी हुई है । जैसे ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भ में—

(i) नवममण्डल के प्रत्येकसूक्त की मन्त्रसंख्या शुद्ध होने पर भी अन्तिम योग ११०८ के स्थान में १०९७ (अङ्कों और अक्षरों दोनों में) दिखाया है। जो कि योग करने वाले की गणनामात्र की भूल है। इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥

(ii) इसी प्रकार अष्टममण्डल के २० वें सूक्त के मन्त्रों की गिनती लेखक की भूल से २६ के स्थान में ३६ संख्या लिखी गई । इस अशुद्धि के कारण ही सम्पूर्ण मण्डल की मन्त्रसंख्या का योग १७१६ के स्थान में १७२६ (अङ्क तथा अक्षर दोनों में) दिखाया गया है ॥

इसी प्रकार प्रकृतमन्त्र में भी सम्भवतः लेखकप्रमाद से ६९ के स्थान पर ६८ गिनकर "स्वराड् [ब्राह्मी] त्रिष्टुप् छन्दः" लिखा गया है । गणना की ऐसी भूलों से हुई छन्द की तथा तदाश्रित स्वरविषयक अशुद्धियों को हमने शास्त्रनियमानुसार यथामति ठीक कर दिया है ॥

इस प्रकार लेखकप्रमाद से कहीं अशुद्धि होने पर भी जिस प्रक्रिया के अनुसार आचार्य ने छन्दों का निर्देश किया है, वह प्रक्रिया सर्वथा निर्दोष तथा शास्त्रसम्मत है । इस विषय का विस्तृत शास्त्रीय विवेचन विवरण की भूमिका में किया गया है ॥

(ख) अन्वय के आरम्भ में दो उपमान अप् (जल) और सविता (सूर्य) हैं । जो मन्त्र के देवता भी हैं । लुप्तोपमालङ्कार से यहाँ दो वाक्य किस प्रकार सुसङ्गत हैं, यह संस्कृत टिप्पणी में देखें ॥

आचार्य ने लुप्तोपमादि अलङ्कार दर्शाते हुए वैदिक शब्दों का गम्भीर अर्थ संसार के सम्मुख रक्खा है ।

(ग) इन्द्रवृत्रयुद्ध की यह आख्यायिका अन्यत्र भी शतपथब्राह्मण-तैत्तिरीयब्राह्मण ऐतरेयारण्यक तथा निरुक्तादि में औपचारिक रूप से वर्णित की गई है । सो वहां २ देख लेनी चाहिये ॥

युष्मा इन्द्रो ऽवृणीतेत्यस्य ऋषिः पूर्वोक्तः । इन्द्रो देवता[1] । निचृदुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥ अग्नये त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । भुरिगार्ची गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥ दैव्याय कर्म्मणे इत्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्ताः कथंभूता आप इन्द्रवृत्रयुद्धं चेत्युपदिश्यते[2] ॥

युष्मा ऽ इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य्ये प्रोक्षिता स्थ । अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । दैव्याय कर्म्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ १३ ॥

युष्माः । इन्द्रः । अवृणीत । वृत्रतूर्य्य इति वृत्रऽतूर्य्ये । यूयम् । इन्द्रम् । अवृणीध्वम् । वृत्रतूर्य्य इति वृत्रऽतूर्य्ये । प्रोक्षिता इति प्रऽउक्षिताः । स्थ । अग्नये । त्वा । जुष्टम् । प्र । उक्षामि । अग्नीषोमाभ्याम् । त्वा । जुष्टम् । प्र । उक्षामि ॥ दैव्याय । कर्म्मणे । शुन्धध्वम् । देवयज्याया इति देवऽयज्यायै + । यत् । वः । अशुद्धाः । पराजघ्नुरिति पराऽजघ्नुः । इदम् । वः । तत् । शुन्धामि ॥ १३ ॥

पदार्थः—(युष्माः) ताः पूर्वोक्ता आपः । अत्र व्यत्ययः† । वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति शसः सकारस्य नत्वाभावश्च । (इन्द्रः) सूर्य्यलोकः । (अवृणीत) वृणीते । अत्र लडर्थे लङ् । (वृत्रतूर्य्ये) वृत्रस्य मेघस्य तूर्य्यो वधस्तस्मिन् । वृत्र इति मेघनामसु पठितम् । निघ० १ । १० । तूरी गतित्वरणहिंसनयोरित्यस्मात् कर्मणि ण्यत् । वृत्रतूर्य्य इति संग्रामनामसु पठितम् । निघ० २ । १७ । (यूयम्) विद्वांसो मनुष्याः‡ (इन्द्रम्) वायुम्[4] । इन्द्रेण वायुना । ऋ० १ । १४ । १० । इतीन्द्रशब्देन वायोर्ग्रहणम् ।(अवृणीध्वम्) वृणते स्वीकुरुध्वम् । अत्र प्रथमपक्षे लडर्थे लङ् [द्वितीयपक्षे लोडर्थे] । (वृत्रतूर्य्ये) वृत्रस्य तूर्य्ये शीघ्रवेगे । (प्रोक्षिताः) प्रकृष्टतया

१ आपः लिङ्गोक्ते, पात्राणि इति सर्वानुक्रमणी ॥

२ दिव्यानि जलानि यज्ञेनैव सम्पादयितुं शक्यन्ते । ता आपोऽनेकविधगुणाधायका इति ॥

३ यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य्य । सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ यजुः ३३ । ३५ ॥

इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते य एष (सूर्यः) तपति । श० ४ । ६ । ७ । ११ ॥

४ यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः । श० ४।१। ३ । १९ ॥

अयं वाऽ इन्द्रो योऽयं (वातः) पवते । श० १४ । २ । २ । ६ ॥

इन्द्रो वायुश्च पर्यायौ (निरु० ७।५) स्कन्दटीका भाग ३ पृष्ठ ३१ ॥

वेदे बहुत्र 'इन्द्रतमा' (ऋ० १ । १८२ । २ ॥ ७ । ७९ । ३) इत्येवं तमबन्तनिर्देशादिन्द्रस्य विशेषणत्वम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(युष्माः) 'युष्मसिभ्यां मदिक्' (उ० १ । १३९) इति 'मदिक्' प्रत्ययः, तेन युष्मच्छब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततः शसि 'द्वितीयायां च' इत्याकारादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।

(इन्द्रः) पूर्ववत् (यजुः १ । १ । पृ० १६)

(अवृणीत) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ ।२८) इति निघातः, ततः स्वरितत्वमैकश्रुत्यं च ॥

(वृत्रतूर्य्ये) वृत्रस्य तूर्य्यं इति कृद्योगा च षष्ठी समस्यते (अ० २ । २ । ८ भा० वा०) इति षष्ठीसमासे

+ 'देवयज्यायै' इति अ० मु० अवग्रहरहितः पाठः ॥

† 'अत्र प्रथमार्थे व्यत्ययेन मध्यमः' इति सर्वकोशेषु पाठः । तच्छब्दस्थाने युष्मच्छब्दस्य प्रयोग इति भावः ।

‡ 'विद्वांसो मनुष्याः' इत्यस्य स्थाने 'मनुष्याश्च' इति सर्वकोशेषु पाठः ।

सिक्ताः सेचिता वा‡। (स्थ) भवन्ति । अत्रापि व्यत्ययः† । (अग्नये) भौतिकाय परमेश्वराय वा । (त्वा) तं यज्ञम् । (जुष्टम्) विद्याप्रीतिक्रियाभिः सेवितम् । (प्रोक्षामि) सेचयामि । (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्निश्च सोमश्च ताभ्याम् । (त्वा) तं वृष्ट्यर्थम् । (जुष्टम्) प्रीतं प्रीत्या सेवनीयम् । (प्रोक्षामि) प्रेरयामि । (दैव्याय) दिवि भवं दिव्यं तस्य भावस्तस्मै । (कर्मणे) पञ्चविधलक्षणचेष्टामात्राय । उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि । वैशे० १ । ७ । इत्यत्र पञ्चविधं कर्म गृह्यते । (शुन्धध्वम्) शुन्धन्ति, शोधयत वा । अत्रापि व्यत्ययः, आत्मनेपदं च‡ । (देवयज्यायै) देवानां विदुषां दिव्यगुणानां वा यज्या सत्क्रिया तस्यै । छन्दसि निष्टर्क्य० ३ । १ । १२३ । इति देवयज्याशब्दो निपातितः । (यत्) यस्माद्यज्ञेन शोधितत्वात् । (वः) तासां युष्माकं वा । (अशुद्धाः) न शुद्धा अशुद्धा गुणाः॥ । (पराजघ्नुः) पराहता विनष्टा भवेयुः । अत्र लिङर्थे लिट् । (इदम्) शोधनम् । (वः) तासां युष्माकं वा (तत्) तस्मादशुद्धिनाशेन सुखार्थत्वात् । (शुन्धामि) पवित्रीकरोमि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । १ । ३ । ८–१२ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इति समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६ । २ । १९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(यूयम्) प्रातिपदिकस्वरेणैवान्तोदात्तः ॥

(इन्द्रम्) पूर्ववत् (यजुः १ । १ पृ० १६) ॥

(अवृणीध्वम्) पूर्ववन्निघातः ॥

(प्रोक्षिताः) उक्ष सेचने (भ्वा० प०) निष्ठायां गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इत्युदात्तः प्रशब्दः । ततः स्वरितैकश्रुती ॥

(स्थ) पूर्वं (य० १।१ पृ० १४) व्याख्यातः ॥

(अग्नये, जुष्टम्) व्याख्यातौ (यजुः १ । १० पृ० ६३) ॥

(प्रोक्षामि) अत्र (प्र) (उक्षामि) इति पृथक् पदत्वमेवावगन्तव्यम् । पदपाठेऽपि तथैवोपलभ्यते । अत्र समासाभावः कथमिति पूर्वं यजु० १।७ धन्वेमि इत्यस्य टिप्पणी द्रष्टव्या । उपसर्गाद्युदात्तत्वं ततो निघातः ।

(अग्नीषोमाभ्याम्) व्याख्यातः (यजुः १।१० पृ० ६३) ॥

(दैव्याय) दिव्यशब्दाद् गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (अ० ५ । १ । १२४) इति ष्यञ् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वे स्वरितत्वमेकश्रुत्यं च ॥

(कर्मणे) पूर्वं (यजुः १।१। पृ० १५) व्याख्यातः ॥

(शुन्धध्वम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः । संहितायामेकश्रुतिः ॥

(देवयज्यायै) छन्दसि निष्टर्क्यदेवहूय० (अ० ३ । १ । १२३) इत्यादिना निपातनाद् यप्रत्ययः । षष्ठीसमासे समासान्तोदात्तत्वम् । उपपदसमासे तु गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(यत्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वः) पूर्वं य० १ । १ । पृ० १५ व्याख्यातः ॥

(अशुद्धाः) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(पराजघ्नुः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावे तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति पराऽनुदात्तः ॥

(इदम्) व्याख्यातः (यजुः १।५ पृ० ४८) ॥

(तत्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(शुन्धामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः, ततः स्वरितः एकश्रुतिश्च ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

‡ 'सेचिता वा' इति स्थाने 'सेचिताश्च' इति कोशेषु सार्वत्रिकः पाठः ॥

† 'अत्रापि व्यत्ययः' इति स्थाने 'प्रथमार्थे मध्यमः' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥

‡ अत्रापि 'व्यत्ययः, आत्मनेपदं च' इति स्थाने 'प्रथमार्थे मध्यमः, व्यत्ययेनात्मनेपदं च,' इति कोशेषु सार्वत्रिकः पाठः ॥

॥ दोषा इत्यर्थः ॥

अन्वयः[1]—यथाऽयमिन्द्रो वृत्रतूर्य्ये युष्मांस्ताः पूर्वोक्ता अप अवृणीत वृणीते। यथा ता इन्द्रं वायुमवृणीध्वं वृणते तथैव ता अपो यूयं वृत्रतूर्य्ये प्रोक्षिता वृणीध्वम् ❀। यथा ता आपः शुद्धाः स्थ भवेयुरेतदर्थमहं यज्ञानुष्ठाता दैव्याय कर्मणे देवयज्याया अग्नये जुष्टं त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि एवमग्नीषोमाभ्यां जुष्टं † त्वा तं यज्ञं प्रोक्षामि। एवं यज्ञशोधितास्ता आपः शुन्धध्वं शुन्धन्ति यद्वस्तासामशुद्धा □गुणास्ते पराजघ्नुस्तत् तस्मात् वस्तासामिदं शोधनं शुन्धामि ॥ *इत्येकोऽन्वयः* ॥

हे यज्ञानुष्ठातारो मनुष्या § यद्य [स्मा] दिन्द्रो वृत्रतूर्य्ये युष्मा इन्द्रमवृणीत यद्यस्माच्चेन्द्रेण वृत्रतूर्य्ये ताः प्रोक्षिताः स्थ भवन्ति। तस्माद्यूयं त्वा तं यज्ञं सदाऽवृणीध्वम्। एवं च सर्वो जनोऽहं दैव्याय कर्मणे देवयज्याया अग्नये त्वा तं जुष्टं यज्ञं प्रोक्षामि तथा चाग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा () तं यज्ञं प्रोक्षामि, एवं कुर्वन्तो यूयं सर्वान् पदार्थान् जनांश्च शुन्धध्वं शोधयत। यद्वोऽशुद्धा दोषास्ते सदैव पराजघ्नुर्निवृत्ता भवेयुस्तत्तस्मात् कारणादहं वो युष्माकमिदं शोधनं शुन्धामि ॥ *इति द्वितीयोऽन्वयः* ॥ १३ ॥

अत्र लुप्तोपमालंकारः ॥

भावार्थः[2]—ईश्वरेणाग्निसूर्य्यावेतदर्थौ ⁂ रचितौ यदिमौ सर्वेषां पदार्थानां मध्ये प्रविष्टौ जलौषधिरसान् + छिन्तः, [ते] वायुं प्राप्य मेघमण्डलं गत्वाऽऽगत्य च शुद्धिसुखकारका भवेयुस्तस्मान्मनुष्यैरुत्तमसुखलाभायाग्नौ सुगन्ध्यादिपदार्थानां होमेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा दिव्यसुखानामुत्पादनाय संप्रीत्या नित्यं यज्ञः करणीयः। यतः सर्वे दोषा नष्टा भूत्वाऽस्मिन् विश्वे सततं शुद्धा गुणाः प्रकाशिता भवेयुः। एतदर्थमहमीश्वर इदं शोधनमादिशामि यूयं परोपकारार्थानि शुद्धानि कर्माणि नित्यं कुरुतेति। एवं रीत्यैव वाय्वग्निजलगुणग्रहणप्रयोगाभ्यां ‡ शिल्पविद्ययाऽनेकानि यानानि यन्त्रकलाश्च रचयित्वा पुरुषार्थेन सदैव सुखिनो भवतेति[3] ॥ १३ ॥

—⁂—

१ अत्रापि 'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रोक्तं (यजुः १। १। पृ० २१, २२) विशेषवक्तव्यमनुसन्धेयम् ॥

२ 'अग्नये' 'अग्नीषोमाभ्याम्' चेत्यत्राध्यात्मिकार्थे परमेश्वरः प्राणापानौ च, आधिदैविकार्थे तु 'अग्नीषोमौ वै देवानां मुखम् (गो० उ० १। २०) इति विद्युदग्निजले चेति विज्ञेयम्। अधियज्ञमपि दार्शपौर्णमासिके वा एते देवते इति ब्राह्मणकाराणां मतम् ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ प्रथमान्वयस्त्वाधिदैविकार्थपरः, अपरस्त्वधियज्ञार्थ इति। शान्तिरापः। श० १। २। २। ११॥ आपो वै रक्षोघ्नी। तै० ब्रा० ३। २। ३। १२॥ आपः शान्तवृत्तयः प्रसङ्गप्राप्ताः पापनाशनवृत्तयो वा प्रोक्षिताः शुद्धाः स्युरित्यनुक्तोऽप्याध्यात्मिकार्थोऽत्रोहितव्यः॥

❀ नेदं मन्त्रपदम् ॥

† 'जुष्टं' इति क. ख. कोशयोर्वर्त्तते ॥

□ दोषा इत्यर्थः ॥

§ अत्र मन्त्रे 'यत्' इति पदं सकृत् पठितं, तस्यात्रान्वये त्रिः प्रयोगो दृश्यते ॥

() अत्र मन्त्रे 'त्वा' पदं द्विः पठितं, तस्यात्रान्वये त्रिः प्रयोगो दृश्यते ॥

⁂ साम्प्रतिकानां मते 'एतदर्थं' इति ॥

+ अत्र छित्वा वायुं प्राप्य इति ग. कोशे अ० मु० च पाठः। स चासम्यक्। क. ख. कोशयोः 'जलं रसं च छिन्तः तद् वायुं प्राप्य' इति पाठः, तदनुसारमस्माभिः संशोधितः ॥

‡ 'प्रयोजनाभ्यां' इति ग अ० मुद्रिते च पाठः, स च लेखकप्रमादपरः, क. ख कोशयोः 'प्रयोगाभ्यां' इत्येवोपलम्भात् ॥

उक्त जल किस प्रकार के हैं वा इन्द्र और वृत्र का युद्ध कैसे होता है, सो अगले मन्त्र में कहा गया है[१] ॥

पदार्थः[२]—[जैसे] यह (इन्द्रः) सूर्य्यलोक (वृत्रतूर्य्ये) मेघ के वध के लिये (युष्माः) पूर्वोक्त जलों को (अवृणीत) स्वीकार करता है, जैसे जल (इन्द्रम्) वायु को (अवृणीध्वम्) स्वीकार करते हैं, वैसे ही हे मनुष्यो ! (यूयम्) तुम लोग उन जल ओषधि रसों को शुद्ध करने के लिये (वृत्रतूर्य्ये) मेघ के शीघ्र वेग में (प्रोक्षिताः) संसारी पदार्थों के सींचने वाले जलों को स्वीकार करो, और जैसे ये जल शुद्ध (स्थ) होते हैं वैसे तुम भी शुद्ध होओ। इसलिये मैं यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला (दैव्याय) सबको शुद्ध करने वाले (कर्मणे) उत्क्षेपण-उछालना, अवक्षेपण–नीचे फेंकना, आकुञ्चन–सिमेटना, प्रसारण–फैलाना, गमन–चलना आदि पांच प्रकार के कर्म हैं उनके और (देवयज्यायै) विद्वान् वा श्रेष्ठ गुणों की दिव्यक्रिया के लिये तथा (अग्नये) भौतिक अग्नि से सुख के लिये (जुष्टम्) अच्छी क्रियाओं से सेवन करने योग्य (त्वा) उस यज्ञ को (प्रोक्षामि) करता हूं, तथा (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम से वर्षा के निमित्त (जुष्टम्) प्रीति देनेवाला और प्रीति से सेवने योग्य (त्वा) उक्त यज्ञ को मेघमण्डल में (प्रोक्षामि) पहुंचाता हूं, इस प्रकार यज्ञ से शुद्ध किये हुए जल (शुन्धध्वम्) अच्छे प्रकार शुद्ध होते हैं। (यत्) जिस कारण यज्ञ की शुद्धि से (वः) पूर्वोक्त जलों के [(अशुद्धाः)] अशुद्धि आदि दोष (पराजघ्नुः) निवृत्त हों, (तत्) उन जलों की शुद्धि को मैं (शुन्धामि) अच्छे प्रकार ❀ शुद्ध करता हूँ ॥ † *यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ है ॥*

हे यज्ञ करने वाले मनुष्यो ! ‡ (यत्) जिस कारण (इन्द्रः) सूर्यलोक (वृत्रतूर्य्ये) मेघ के वध के निमित्त (युष्माः) पूर्वोक्त जल और (इन्द्रम्) पवन को (अवृणीत) स्वीकार करता है, तथा जिस कारण सूर्य ने (वृत्रतूर्य्ये) मेघ की शीघ्रता के निमित्त पूर्वोक्त जलों को (प्रोक्षिताः) पदार्थ सींचने वाले (स्थ) किया है, इससे (यूयम्) तुम उक्त यज्ञ को सदा × (अवृणीध्वम्) स्वीकार करो, इस प्रकार हम सब लोग (दैव्याय) श्रेष्ठ [(कर्मणे)] कर्म वा (देवयज्यायै) विद्वान् और दिव्य गुणों की श्रेष्ठ क्रियाओं के तथा (अग्नये) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये [(त्वा) उस] (जुष्टम्) प्रीति कराने वाले यज्ञ को (प्रोक्षामि) सेवन करें, तथा (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम से प्रकाशित होनेवाले [(जुष्टम्) प्रीति से सेवन करने योग्य] (त्वा) उक्त यज्ञ को (प्रोक्षामि) मेघमण्डल में पहुंचावें, हे मनुष्यो ! इस प्रकार करते हुए तुम सब पदार्थों वा सब मनुष्यों को (शुन्धध्वम्) शुद्ध करो और (यत्) जिससे (वः) तुम लोगों के [(अशुद्धाः)] अशुद्धि आदि दोष हैं, वे

विशेषवक्तव्यम्

'इन्द्रेण वायुना' इति प्रमाणं प्रदर्शयताचार्येण 'इन्द्रः' 'वायुः' इति पर्यायाविति निदर्शितं भवति। तच्च मूलमन्त्रप्रामाण्यादिति। एवमिन्द्रादयः शब्दा न केवलं विशेष्यवाचका अपि तु विशेषणपरा अपीति सिद्धम्। तदेतत् सर्वं यौगिकवादमन्तरा कथं सम्भविष्यतीति सुधिय एव विभावयन्तु। अत एव च 'अभूदुषा इन्द्रतमा मघोनी······अङ्गिरस्तमा' (ऋ० ७ । ७९ । ३) इत्यादिमन्त्रगतपदानि संगच्छन्ते। एवमेव विशेष्यविशेषणपरतया वेदमन्त्राणामर्थगाम्भीर्यं सर्वत्रात्र भाष्य इति ध्येयम् ॥ १३ ॥

१ यज्ञों द्वारा ही जल दिव्यशक्ति का संचार करने वाले बनाये जा सकते हैं। ये जल अनेकविध गुणों के धारण कराने वाले होते हैं ॥

२ मन्त्र में 'अग्नये-अग्नीषोमाभ्याम्' इन पदों से क्रमशः आध्यात्मिक प्रक्रिया में परमेश्वर और प्राणापान का ग्रहण करना चाहिये। आधिदैविक में विद्युत् और अग्नि-जल का, अधियज्ञ में तो ये दोनों दर्शपौर्णमास याग के देवता हैं ॥

❀ 'शुद्ध' इति पदमत्रानावश्यकं, 'करता हूँ' इत्येव पर्याप्तं, 'शुद्धि को' इति पूर्वमुपलम्भात् ॥

† अत्र प्रथमार्थे 'वः' इति पदं तस्यार्थश्च त्यक्त इति ध्येयम् ॥

‡ अत्र संस्कृतान्वयटिप्पणी द्रष्टव्या ॥

× 'सदा स्वीकार करके सिद्धि को प्राप्त करो' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः, अस्य मूले संस्कृते नास्ति ॥

सदा (पराङ्मुः) निवृत्त होते रहें [(तत्)] वैसे ही मैं वेद का प्रकाश करने वाला [(वः)] तुम लोगों के [(इदम्)] शोधन अर्थात् शुद्धिप्रकार को (शुन्धामि) अच्छे प्रकार बढ़ाता हूँ। *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ १२ ॥

[इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है] ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने अग्नि और सूर्य्य को इसलिये रचा है कि वे सब पदार्थों में प्रवेश करके उनके रस और जल को छिन्न-भिन्न कर दें। जिससे वे वायुमण्डल में जाकर फिर वहां से पृथिवी पर आके सबको सुख और शुद्धि करने वाले हों। इससे मनुष्यों को उत्तम सुख प्राप्त होने के लिये अग्नि में सुगन्धित पदार्थों के होम से वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा श्रेष्ठ सुख बढ़ाने के लिये प्रीतिपूर्वक नित्य यज्ञ करना चाहिये, जिससे इस संसार के सब रोग आदि दोष नष्ट होकर उसमें शुद्ध गुण प्रकाशित होते रहें। इसी प्रयोजन के लिये मैं ईश्वर तुम सभों को उक्त यज्ञ के निमित्त शुद्धि करने का उपदेश करता हूं कि हे मनुष्यो! तुम लोग परोपकार करने के लिये शुद्ध कर्मों को नित्य किया करो तथा उक्त रीति से वायु अग्नि और जल के गुणों को शिल्पक्रिया में युक्त करके अनेक यान आदि यन्त्रकला बनाकर अपने पुरुषार्थ से सदैव सुखयुक्त होओ ॥ १२ ॥

शर्मासीत्यस्य पूर्वोक्त ऋषिः। यज्ञो देवता। स्वराड्जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः[3] कीदृशोऽस्ति कथं कर्तव्यश्चेत्युपदिश्यते[4]।

त्रिविधप्रक्रिया

१ प्रथम अन्वय आधिदैविकार्थपरक है। दूसरा—अधियज्ञार्थ को कहता है। शतपथ ब्राह्मण में 'शान्तिरापः' (१। २। २। ११) जल शान्ति के देने वाले होते हैं, जल से राक्षसों का नाश होता है इत्यादि वचनों से 'आपः' शब्द से यहां पापनाशक शान्तवृत्तियां समझनी चाहियें, ऐसा अर्थ यहां है जो आध्यात्मिक प्रक्रिया में ही सम्भव है।

विशेषवक्तव्य

आचार्य ने इस मन्त्र में 'इन्द्रेण' का अर्थ 'वायुना' किया है। अर्थात् 'इन्द्र' को वायु का पर्यायवाची दर्शाते हुए इन्द्र का अर्थ वायु लिखा है। वह भी अपनी कल्पनामात्र से नहीं, अपितु मूल वेदमन्त्र के प्रमाण से दिया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि इन्द्र आदि शब्द केवल विशेष्यवाची ही नहीं, अपि तु विशेषणवाची (Adjective) भी होते हैं।

यह विशेष्यविशेषणसम्बन्ध भला यौगिकवाद के बिना कभी बन सकता है ? । वेदार्थ रहस्यों पर परिश्रम करने वाले निष्पक्ष विद्वान् इस बात को भलीभाँति समझ सकते हैं। ऋग्वेद संहिता ७। ७९। ३ में 'उषा' 'इन्द्रतमा' 'मघोनी' इत्यादि में इन्द्र शब्द से तमप् प्रत्यय विशेषण मान कर ही हो सकता है। क्योंकि इन्द्र को यदि व्यक्ति-विशेष का नाम (Proper name) मानें तब तो तम प्रत्यय (Superlative degree) कैसे लग सकेगा ॥

वेदमन्त्रों के गम्भीर अर्थ इसी प्रकार इस वेद-भाष्य में सर्वत्र मिलेंगे, दृष्टि चाहिये ॥ १२ ॥

---

२ कृष्णाजिनम्, रक्षः, उलूखल इति सर्वानुक्रमणी ॥

३ इमं यज्ञं नयत यज्ञपतिं देवयुवम् (यजुः १। १२) इति सम्बन्धात् ॥

४ प्रसक्तानुप्रसक्तमुपपाद्य पुनस्तमेवोपक्रमते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शर्म) शृणातीति शर्म गृहं सुखं वा सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४। १४५) इति मनिन् प्रत्ययः। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इत्याद्युदात्तत्वम्, ततः स्वरितः ॥

(असि) निघातत्वादेकश्रुतिः ॥

(अवधूतम्) धूञ् कम्पने इत्यतः निष्ठायां गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्वे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इत्याद्युदात्तस्वरसिद्धिः। स्वरितत्वमेकश्रुत्यं च ॥

शर्मा॑स्यव॑धूत॒ꣳ रक्षोऽव॑धूता॒ऽअरा॑तयोऽदि॑त्या॒स्त्वग॑सि॒ प्रति॒ त्वादि॑ति॒र्वे॑त्तु।
अद्रि॑रसि वानस्प॒त्यो ग्रावा॑सि पृ॒थुबु॑ध्नः॒ प्रति॒ त्वादि॑त्या॒स्त्वग्वे॑त्तु ॥ १४ ॥

शर्म॑। अ॒सि॒। अव॑धूत॒मित्यव॑ऽधूतम्। रक्षः॑। अव॑धूता॒ इत्यव॑ऽधूताः। अरा॑तयः। अदि॑त्याः। त्वक्। अ॒सि॒। प्रति॑। त्वा॒। अदि॑तिः। वे॒त्तु॒॥ अद्रिः॑। अ॒सि॒। वा॒न॒स्प॒त्यः। ग्रावा॑। अ॒सि॒। पृ॒थुबु॑ध्न॒ इति॑ पृ॒थुऽबु॑ध्नः +। प्रति॑। त्वा॒। अदि॑त्याः। त्वक्। वे॒त्तु॒ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(शर्म) सुखकारकं गृहम् शर्म इति गृहनामसु पठितम्। निघं० ३।४। (असि) भवति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (अवधूतम्) दूरीकृतं विचालितम्। (रक्षः) दुष्टस्वभावो जन्तुः। (अवधूताः) दूरीभूताः (अरातयः) दानशीलतारहिताः शत्रवः। (अदित्याः) पृथिव्याः। अदितिरिति पृथिवीनामसु पठितम्। निघं० १।१। (त्वक्) त्वग्वत्। (असि) भवति। (प्रति) क्रियार्थे पश्चादर्थे। प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह। निरु० १।३। (त्वा) तत् तं वा। (अदितिः) नाशरहितो जगदीश्वरः। अदितिरिति पदनामसु पठितम्। निघं० ५।५। अनेन ज्ञानस्वरूपोऽर्थो गृह्यते। अन्तरिक्षं वा। (वेत्तु) जानातु ज्ञापयतु वा। (अद्रिः) मेघः। अद्रिरिति मेघनामसु पठितम्। निघं० १।१०। (असि) अस्ति। (वानस्पत्यः) वनस्पतेर्विकारो रसमयः। (ग्रावा) जलगृहीतो मेघः। ग्रावेति मेघनामसु पठितम्। निघं० १।१०। (असि) अस्ति। (पृथुबुध्नः) पृथु विस्तीर्णं बुध्नमन्तरिक्षं निवासार्थं यस्य स पृथुबुध्नो मेघः। बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन् धृता आप इति। निरु० १०।४४। (प्रति) उक्तार्थे। (त्वा) तम्। (अदित्याः) अन्तरिक्षस्य। (त्वक्) त्वग्वत् सेविनम्। (वेत्तु) जानातु ज्ञापयतु वा॥

अयं मन्त्रः। श० १।१।४।४-७। व्याख्यातः॥ १४॥

(अरातयः) पूर्वं व्याख्यातः (यजुः १।७ पृ० ५४ टि० २)॥

(अवधूताः) पूर्ववदेव॥

(अदित्याः) व्याख्यातः (यजुः १।११ पृ० ६५)

(त्वक्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः॥

(प्रति) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१), इत्याद्युदात्तः।

(त्वा) अनुदात्तः। उत्तरपदेनैकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्याकार उदात्तः॥

(अदितिः) पूर्ववदेव (यजुः १।११ पृ० ६५)॥

(वेत्तु) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(अद्रिः) अद भक्षणे (अदा० प०) एतस्मात् अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४।६५) इति क्रिन्प्रत्ययः। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम्। मेघो ह्यादित्यरश्मिभिर्भौमान् रसान् वर्षार्थमत्ति॥

(असि) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(वानस्पत्यः) वनस्पतेर्विकारः दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः (अ० ४।१।८५) इति ण्यः प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तः॥

(ग्रावा) गॄ निगरणे (तु० प०) गिरत्युदकं वर्षार्थम् अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३।२।७५) इति क्वनिप्। तस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणैवाद्युदात्तः। छान्दस आडागमः ततः उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति स्वरितत्वे प्राप्ते छान्दसमुदात्तत्वम्॥ यद्वा पृषोदरादित्वाद् 'ग्रा' आदेशः॥

(असि) पूर्ववन्निघातः॥

(पृथुबुध्नः) प्रथ विस्तारे प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च (उ० १।२८) इति कुप्रत्ययः।

+ "पृथुबुध्नः" इत्यवग्रहरहितो ऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते॥

अन्वयः[1]—हे मनुष्याः[2] ! युष्मद्गृहं शर्मासि भवतु तस्माद् गृहाद्रक्षोऽवधूतमरातयोऽवधूता भवन्तु । तच्च गृहमदित्यास्त्वगसि पृथिव्यास्त्वग्वदस्त्विति सर्वो जनः प्रतिवेत्तु । यो वानस्पत्योऽद्रिः [असि] पृथुबुध्नो ग्रावा मेघोसि वर्त्तते, एतद्विद्यामदितिर्जगदीश्वरस्तुभ्यं [प्रति] वेत्तु कृपया वेदयतु । विद्वानप्यदित्यास् [त्वम्] त्वग्वत् त्वा तं व्यवहारं प्रतिवेत्तु ॐ ॥ १४ ॥

भावार्थः[3]—ईश्वरेणाज्ञाप्यते मनुष्यैः शुद्धायाः सर्वतोऽवकाशयुक्तायाः पृथिव्या मध्ये सर्वेष्वृतुषु सुखदायकं गृहं रचयित्वा तत्र सुखेन स्थातव्यम् । तस्मात् सर्वे दुष्टा मनुष्या दोषाश्च निवारणीयास्तत्र सर्वाणि साधनान्यपि स्थापनीयानि । तत्रैव वृष्टिहेतुर्यज्ञोऽनुष्ठातव्यस्तेन †सुखानि च संपादनीयानि । एवं कृते वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा जगति महत्सुखं सिध्यतीति[4] ॥ १४ ॥

उक्त यज्ञ किस प्रकार का है और किस प्रकार से करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[5] ।

पदार्थः[6]—हे मनुष्यो ! तुम्हारा घर (शर्म) सुख देनेवाला (असि) हो । उस घर से (रक्षः) दुष्टस्वभाव वाले प्राणी (अवधूतम्) अलग हों और (अरातयः) दान आदि धर्मरहित शत्रु (अवधूताः) दूर हों । उक्त गृह (अदित्याः) पृथिवी की (त्वक्) त्वचाके तुल्य (असि) हों≠ । यह सब मनुष्य जाने तथा जो (वानस्पत्यः) वनस्पति के निमित्त से उत्पन्न होने [वाला (असि) है और] (अद्रिः) मेघ (पृथुबुध्नः) अतिविस्तारयुक्त अन्तरिक्ष में रहने तथा (ग्रावा) जलका ग्रहण करने वाला (असि) है, उस और इस विद्या को (अदितिः) जगदीश्वर तुम्हारे लिये (प्रतिवेत्तु) कृपा करके जनावे । विद्वान् पुरुष भी (अदित्याः) पृथिवी को (त्वक्) त्वचाके समान (त्वा) उक्त [व्यवहार] घर की रचना को (प्रतिवेत्तु) जानें ॥ १४ ॥

भावार्थः—ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि तुम लोग शुद्ध और विस्तारयुक्त भूमि के बीच में अर्थात् बहुत से अवकाश में सब ऋतुओं में सुख देने योग्य घर को बना के उसमें सुखपूर्वक वास करो । तथा उसमें रहने वाले दुष्टस्वभावयुक्त मनुष्यादि प्राणी और दोषों को निवृत्त करो । फिर उसमें सब पदार्थ स्थापन और वर्षा का हेतु जो यज्ञ है उसका अनुष्ठान और नानाप्रकार के सुख उत्पन्न करने चाहिये इस प्रकार यज्ञ के करने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा संसार में अत्यन्त सुख सिद्ध होता है[7] ॥ १४ ॥

बहुव्रीहौ समासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥ शेषं पूर्ववत् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ सामान्यार्थपरोऽयमन्वय इति तत्राध्याहारोऽपि तथैव॥

२ हे विद्वन्, हे राजन् इति वा ॥

३ मन्त्रगतपदैः सह सम्बन्ध ऊहनीयः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ हे जगदीश्वर इत्यध्याहारेण सर्वोऽप्यन्वय आध्यात्मिकार्थपरो भवति । यज्ञशालादीनि गृहाणि यज्ञार्हाणीति यज्ञार्थः स्पष्टः, आधिदैविकार्थोऽपि तदन्तर्गत एवात्र बोध्यः ॥

५ प्रसङ्ग से जिन बातों का कहना आवश्यक था, उन्हें कहकर पुनः उसी विषय का उपक्रम उठाते हैं ॥

६ यह अन्वय सब प्रक्रियाओं में घटता है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

७ 'हे जगदीश्वर' इस पद का अध्याहार संस्कृत अन्वय में करने से मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया में समझना चाहिये । 'यज्ञशाला आदि गृह' यज्ञप्रक्रियापरक हैं । आधिदैविक अर्थ उसके ही अन्तर्गत है ॥ १४ ॥

ॐ अत्रान्वये 'त्वा' इत्येकं पदं त्यक्तं, न च क्वचिदन्वेति, तथैव भाषापदार्थेऽपि ॥

† पाठोऽयं क. ख. अनुसारी, अ० मुद्रिते तु 'यज्ञोऽनुष्ठाय सुखानि सम्पादनीयानि' इति व्यस्तः पाठ इति ध्येयम् ॥

≠ इतोऽग्रे ('अदितिः) ज्ञानस्वरूप ईश्वर ही से उस घर को (प्रतिवेत्तु) सब मनुष्य जानें और प्राप्त हों' इति सार्वत्रिकः पाठः, स चान्वयाननुसारीति ध्येयम् ॥

अग्नेस्तनूरित्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो देवता[1] । निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।
हविष्कृदिति याजुषीपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृशो भवतीत्युपदिश्यते[2] ।

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि वा॒चो वि॒सर्ज॑नं दे॒ववी॑तये त्वा गृह्णामि बृ॒हद्ग्रा॑वासि वानस्प॒त्यः स ऽइ॒दं दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः श॑मीष्व सु॒शमि॑ शमीष्व । हवि॑ष्कृ॒देहि॒ हवि॑ष्कृ॒देहि॑ ॥ १५ ॥

अ॒ग्नेः । त॒नूः । अ॒सि॒ । वा॒चः । वि॒सर्ज॑न॒मिति॑ वि॒ऽसर्ज॑नम् । दे॒ववी॑तय॒ इति॑ दे॒वऽवी॑तये । त्वा॒ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । बृ॒हद्ग्रा॒वेति॑ बृ॒हत्ऽग्रा॑वा । अ॒सि॒ । वा॒न॒स्प॒त्यः । सः । इ॒दम् । दे॒वेभ्यः॑ । ह॒विः । श॒मी॒ष्व॒ । श॒मि॒ष्वेति॑ शमिष्व + । सुशमीति॑ सु॒ऽशमि॑ । श॒मी॒ष्व॒ । श॒मि॒ष्वेति॑ शमिष्व । † हवि॑ष्कृत् । हवि॑:कृ॒दिति॒ हवि॑:ऽकृत् ¥ । आ । इ॒हि॒ । हवि॑ष्कृत् । हवि॑:कृ॒दिति॒ हवि॑:ऽकृत् । आ । इ॒हि॒ ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अग्नेः) भौतिकस्य । (तनूः[3]) शरीरवत्तस्य संयोगेन‡ विस्तृतो यज्ञः (असि) भवति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (वाचः[4]) वेदवाण्याः । (विसर्जनम्) यजमानेन होतृभिश्च हविषस्त्यागो मौनं वा❀ । (देववीतये) देवानां विदुषां दिव्यगुणानां ❀वा वीतिर्ज्ञानं प्रापणं प्रजनं व्याप्तिः प्रकाशः, अन्येभ्य उपदेशनं विविधभोगो ❀वा यस्यां तस्यै । वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु । (त्वा) तमिमं सम्यक् शोधितं हविःसमूहम् । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (बृहद्ग्रावा) ×बृहच्चासौ ग्रावा च सः । (असि) अस्ति । (वानस्पत्यः) यो वनस्पतेर्विकारस्तं हविःसंस्कारार्थं । (सः) त्वं यजमानः । (इदम्) यत् प्रत्यक्षं हुतं तत् । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो ❀वा । (हविः) संस्कृतं सुगन्ध्यादियुक्तं द्रव्यम् (शमीष्व) दुःखनिवृत्तये सुखसंपादनार्थं कुरुष्व । शमु उपशमे इत्यस्माद् बहुलं छन्दसीति [अ० २।४।७३] ≬ श्यनो लुक् । तुरुस्तुशम्यमः० अ० ७।३।९५। इतीडागमः । महीधरेणात्र[5] शपो लुगित्य-

१ 'हविः, मुसलम्, वागिति सर्वानुक्रमणी ॥

२ यज्ञेन दूषितभावानां नाशो दिव्यगुणप्राप्तिश्च जायत इत्याह पुनः स इति ॥

३ यज्ञो हि तेनाग्नेस्तनूः''''''इति । श० १।१।४।८ ॥

४ सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । श० १।१।४।३ ॥

५ यत्तु 'शमीष्व शमय शमु उपशमे व्यत्ययेन शपो लुक्' इति महीधरेणोक्तं तदसत् । शमुधातोर्भ्वादावदर्शनात् । यस्तु 'शमोऽदर्शने' इति घटादौ पठ्यते स तु दैवादिकस्य दर्शनादन्यत्र मित्संज्ञानियमार्थः पाठः । यथाह सायणः—शमु उपशमने दिवादिः,

+ "श॒मी॒ष्वेति शमीष्व" इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ।

† पदकाराणामेषा शैली वर्त्तते यत् "अनितावध्याये" (यजुः प्रातिशाख्ये ३।१९) इत्यधिकृत्याध्यायपरिसमाप्तेः येऽन्तःपदं आगमा विकाराश्चोपलभ्यन्ते तत्प्रदर्शनाय सागमविकारं पदं पूर्वं निर्दिश्य तदुत्तरमागमविकाररहितं पदं इतिना प्रदर्श्यावग्रहः प्रदर्श्यते ॥ शैली चैषाऽऽचार्यदयानन्देनापि यजुर्वेदभाष्ये प्रायेण सर्वत्रैव स्वीकृता । यत्र तु तादृङ् नोपलभ्यते, तत् संशोधकादिप्रमादजन्यमित्येवास्माभिर्मन्यते ॥ (द्रष्टव्याऽत्रविषये य० १।१ पृ० ९ पदपाठटिप्पणी) ॥

¥ "हविष्कृ॒दिति॒ ह॒विः कृत्" इत्यावृत्त्यवग्रहरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

‡ अग्निसंयोगेन यज्ञो विस्तृतो जायत इत्यभिप्रायः ॥

❀ 'च' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥

× साम्प्रतिकानां मते 'बृहंश्च' इति स्यात् ॥

≬ बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७३) इत्यनेन शपो लुकि श्यन्नभाव इत्यर्थः ॥ इदमत्रावधेयम्—
ऋग्वेदभाष्य आचार्यदयानन्देन प्रथमभागे प्रत्यपादि—

(i) (ऋ० १।६।१० भाष्ये) पृ० १३५—"बहुलं छन्दसीति शपो लुकि श्नोरभावः" इत्युच्यते ॥

शुद्धं व्याख्यातम् । (सुशमि) सुष्ठु दुःखं शमितुं शीलं धर्मः पदार्थानां साधुकरणं वा यस्य तत् । शमित्यष्टा० अ० ३ । २ । १४१ । अनेन शमेर्घिनुण् । इदमपि पदमुवट[1]महीधराभ्यामन्यथैव व्याख्यातम् । (शमीष्व) पुनरुच्चारणं हविषोऽत्यन्तसंस्कारद्योतनार्थम् । (हविष्कृत्) हविः करोति अनया वेदवाण्या सा हविष्कृद् वाक्[2]। (एहि) अध्ययनेनैवैति प्राप्नोति । (हविष्कृत्) अत्र यज्ञसंपादनाय ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययनसंस्कृता सुशिक्षिता वाग् गृह्यते [(एहि)] ॥ अयं मन्त्रः श० १।१।४।८–१७ व्याख्यातः ॥१५॥

अयं च दर्शने न मिदमन्तोऽपि (धातुवृ० भा० २ पृ० ४४९) इति ॥

यदि तु 'व्यत्ययेन शपो लुक्' इत्यस्यायमर्थः—शमुधातोर्व्यत्ययेन शप् भवति तस्य च लुगिति तदप्यसारम्, श्यनो लुकैवेष्टसिद्धेः शपः कल्पनाया अन्याय्यत्वात् ॥

१ 'क्रियाविशेषणम्' इत्युवटः । महीधरोऽप्यत्रैवानुकूलः । तदुभयोरप्ययुक्तत्वमप्रामाणिकत्वात्, स्वरदोषाद्, घिनुण्प्रत्ययेनैवेष्टसिद्धेश्च । तथाहि भट्टभास्करोऽप्याह 'सुष्ठु स्वयमेव शाम्यतीति सुशमि' (तै० सं० १ । १ । ५ । २ ॥ भा० १ पृ० ३०) इति ॥

एतेनैव स्वरज्ञानदक्षा एतेषामन्धानुकारिणोऽपि पराहता इति नात्र तिरोहितम् ॥

२ वाग्वै हविष्कृत् । वाचमेवैतद्विसृजते । वाग्वै यज्ञः । श० १ । १ । ४ । ११ ॥

३ अयं सर्वोऽपि भाव आचार्येण शतपथानुसारमेव प्रतिपादितः । तथाह्येतस्य मन्त्रस्य व्याख्याने शतपथब्राह्मणम्—

वाग्वै हविष्कृत् । वाचमेवैतत् विसृजते, वागु वै यज्ञस्तद् यज्ञमेवैतत् पुनरुपह्वयते ॥ ११ ॥ तानि वा एतानि । चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य······ । श० १ । १ । ४ । ११—१२ ॥

एवमेवापस्तम्बश्रौतसूत्रकारोऽपि (प्र० १ प० ६ खं० ८, ९) ॥

अनेन ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवच्छूद्रस्यापि यज्ञेऽधिकार इति सुव्यक्तम् । वेदाध्ययनेन विना यज्ञसम्पत्तिः कथमपि न सम्भवतीत्यर्थापत्त्या शूद्रस्यापि वेदाध्ययनं सिद्धमेव ।

इदानीमेतस्यैव सिद्धान्तस्योपोद्बलकानि कानिचित् प्रमाणान्तराण्यप्युच्यन्ते—

(ii) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां ४ संस्करणे पृ० ३७७—
"बहुलं छन्दसि । अ० २।४।७३ । वेदविषये शपो बहुलं लुग् भवति । वृत्रं हनति । अहि शयते । अन्येभ्यः भवति, त्राध्वं नो देवाः" ॥ भाषार्थः—'महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यन् आदि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है । शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है । जब शप् का लुक् हो गया, तब श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते" ॥ पृ० ३७७ ॥

(iii) अष्टाध्यायीभाष्ये—(अ० २।४।७३) भाग १ पृ० ३८४—
"छन्दसि वैदिकप्रयोगविषये शप्प्रत्ययस्य बहुलं लुग् भवति । वृत्रं हनति ।······'शबादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते' इति वचनाच्छपो लुकि तत्स्थानभाविनामादेशानामप्यभावः । तेन श्यन्नादीनाम् लुक्युदाहरणानि सिध्यन्ति" ॥
"श्यन् आदि जो विकरण हैं, वे शप् के स्थान में आदेश होते हैं । इस लिये शप् के लुक् होने से उसके स्थान में होने वाले श्यन् आदि विकरण भी नहीं होते । इससे सब विकरणों का लुक् होता है ॥

(iv) महीधरपक्षे यदा व्यत्ययेन श्यन्स्थाने शप्, तस्य लुक्, तदा तु दोषः, शपो लुकि श्यनोऽभावः स्वयं सिद्धः । यदि महीधरस्यायमेवाशयो यत् 'शपो लुकि श्यन्न भवतीति' तदा तु न दोषः । परं च तस्य स आशयो नास्तीत्येव ध्येयम् । अन्यथा तस्य 'व्यत्ययेन शपो लुक्' इति कथनं व्यर्थमेव स्यात् ।
आचार्यदयानन्दस्य यद्यपि 'श्यनो लुक्', 'श्नोर्लुक्' इत्यादयः पाठाः क्वचिद् दृश्यन्ते, तथापि तेषामन्यत्र स्पष्टमेव 'शपो लुकि श्यन्नभावः' इति सुव्यक्तमेव प्रतिपादनमस्ति, इत्येतस्मात् कारणान्नास्ति कश्चिदपि दोष इति सुधियः विभावयन्तु ॥

(क) ऐतरेयब्राह्मणेऽष्टमाध्याये प्रथमखण्डे—

ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ते कवषमैलूषं सोमादनयन् (निस्सारितवन्त इत्यर्थः) दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्येऽदीक्षिष्टेति। ······ [कवष ऐलूषः] एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु [ऋ० १०। ३०।] इति। तेनापां प्रियं धामोपागच्छत् ······ इति ॥

अत्र दासीपुत्रस्याब्राह्मणस्य 'अपोनप्त्रीय'सूक्त-दर्शनाद् वेदे तस्याधिकारो व्यक्तः ॥

(ख) इत्थमेव शाङ्खायनब्राह्मणेऽपि (शां० ब्रा० १२। ३)।

(ग) छागलेयोपनिषद्यपीत्थमेव (पृ० ९)।

(घ) महाभारते शान्तिपर्वणि (अ० ३२७ श्लो० ४९)

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत्स्मृतम् ॥

(ङ) अन्यच्च—(महाभा० वन० अ० १३४ श्लो० ११)

चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति ॥

(च) वृद्धहारीतस्मृतावपि—(अ० ६। श्लो० २५७)

मन्त्राधिकारिणः सर्वे ······ ॥

(छ) लघुविष्णुस्मृतौ तु— (अ० ५ श्लो० ९)

पञ्चयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अग्नेः) अग्निशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। विभक्त्यनुदात्तत्वे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८। २। ५) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेणैवान्तोदात्तः ॥

(तनूः) तनु विस्तारे (तना० उ०) इत्यस्मात् कृषिचमितनि० (उ० १। ८०) इत्यादिना ऊः प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तः ॥

(वाचः) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६। १। १६८) इत्यन्तोदात्तः ॥

(विसर्जनम्) विसृज्यते वागनेनेति विसर्जनम्, करणे ल्युट् गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण लिति (अ० ६। १। १९३) प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तमिति 'स' उदात्तः। स्वरितप्रचयौ पूर्ववत् ॥

(देववीतये) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ २। १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे 'देव'शब्दोऽन्तोदात्तः। यद्वापरपक्षे दासीभाराणां च इति भाष्यप्रामाण्यादेव पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे देवशब्दोऽन्तोदात्तः, अग्रे पूर्ववत्। इत्थमेव भट्टभास्करोऽपि (तै० सं० १। १। ५। २ भा०) ॥

(त्वा) पूर्ववन्निघातः ॥

(गृह्णामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः, तत ऐकश्रुत्यञ्च ॥

(बृहद्ग्रावा) समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसपूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(वानस्पत्यः) पूर्वं य० १। ४४ पृ० ७८ व्याख्यातः। प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(सः) पूर्वं य० १।६ पृ० ५१ व्याख्यातः ॥

(इदम्) कमि प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्त इत्युक्तम् (यजुः १। ५ पृ० ४८) ॥

(देवेभ्यः) देवशब्दः पचाद्यजन्तोदात्तः पूर्वं य० १। १ पृ० १४ व्याख्यातः ॥

(हविः) अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः (उ० २। १०८) इतीसिः प्रत्ययः, तेनान्तोदात्तः ॥

(शमीष्व) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १।२८) इति निघातः ॥

(सुशमि) सुष्ठु शाम्यतीति सुशमि शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् (अ० ३। २। १४१) इति घिनुण्। परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६। २। १९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

यद्वा—सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४। ११८) इतीन्प्रत्यये गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन 'श'उदात्तः। अनेन स्वरसंचारिणीकारोऽपि प्रत्युक्तः ॥

(शमीष्व) पूर्ववदेव ॥

(हविष्कृत्). हविः करोतीति क्विप्, ततः सम्बुद्धौ वाक्यभेदे आमन्त्रितस्य च (६। १। १९८

अन्वयः[1]—विद्वद्भिर्यो यज्ञो देववीतये वाचो वेदवाण्या उच्चारणेन हविषो विसर्जनं अग्नेर्मध्ये क्रियते, सोऽग्निसंयोगेन विस्तृतो भूत्वा ऽग्नेर्भौतिकाग्नेस्तनूः शरीरवदसि भवति, अतोऽहं सर्वो जनस्त्वा तं गृहणामि, हे विद्वन्! यस्य हविषः संस्काराय बृहद्ग्रावा वानस्पत्यश्चास्त्यस्ति तदिदं हविर्देवेभ्यो विद्वद्भ्यः सुशमि शमीष्व शमीष्व। कुतः ये मनुष्या वेदादीनि शास्त्राणि पठन्ति पाठयन्ति च, तानेवेयं वाग्[2] हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीत्याह॥ ॥ १५ ॥

भावार्थः[3]—यदा मनुष्या वेदादिशास्त्रद्वारा यज्ञक्रियां फलं च विदित्वा सुसंस्कृतेन हविषा यज्ञं कुर्वन्ति, तदा स सुगन्ध्यादिद्रव्यहोमद्वारा परमाणुमयो भूत्वा वायौ वृष्टिजले च विस्तृतः सन् सर्वान् पदार्थानुत्तमान् कुर्वन् दिव्यानि सुखानि सम्पादयति। यश्चैवं सर्वेषां प्राणिनां सुखाय पूर्वोक्तं त्रिविधं यज्ञं नित्यं करोति, तं सर्वे मनुष्या हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीति सत्कुर्युः[4] ॥ १५[5] ॥

इत्याद्युदात्तत्वम्। पक्षे तु दिवोदासादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।९१) इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वम्॥

(आ) निपाताद्युदात्तत्वम्॥

(इहि) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ त्रिविधप्रक्रियापरोऽयमन्वयः॥

२ (वाग्) अधिदैवं वागुच्यते, अधियज्ञं पत्नी इत्येवं प्रदर्शयन्नुवटोऽपि मन्त्राणामधिदैवमधियज्ञं चार्थं स्वीकरोतीति स्पष्टम्। द्विविधार्थयोजना भवितुं शक्नोति, आध्यात्मिक्यपि कथं नेति विचारणीयम्। सर्वानुक्रमणीभाष्यकारोऽनन्तदेवोऽप्यत्रैवमेव प्रतिपद्यते॥

३ भावार्थे त्रिविधं यज्ञं नित्यं करोतीत्यादिना यत्र यत्र 'सुसंस्कृतेन हविषा यज्ञं कुर्वन्ति' इत्याद्युपदिश्यते, तत्र तत्र त्रिविधयज्ञोऽभिप्रेयत आचार्येणेति ध्येयम्॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ (क) अन्वये त्वत्राधिदैविकार्थः, पदार्थे आध्यात्मिकाधियज्ञार्थावपीति बोध्यम्॥

(ख) "त्रिविधं यज्ञं नित्यं करोति .....तं सत्कुर्युः" इत्यादिना त्रिविधार्थोऽत्राभिप्रेयत इति ध्वनितम्॥ स चेत्थं नेयः—

(१) आध्यात्मिकार्थः—सात्त्विकवृत्त्यर्थं संयमाद्यौषधप्रसूताः सेवनीयाः, तत एव कामादिशान्तिसम्भवः। एतत् सर्वं वेदवाचैव वैदिककर्मानुष्ठानेन सम्भवतीत्यभिप्रायः।

(२) आधिदैविकार्थः—वैद्यकशास्त्रवर्णिता वनस्पतिसमूहा दिव्यशक्तिसम्पादनाय प्रभवन्तीति तेषां ज्ञानं, सत्क्रियासु प्रयोगश्च कर्तव्यः, ततः शारीरिकशान्तेः सम्भवः॥

(३) अधियज्ञार्थः—शास्त्रविधिना सुसंस्कृतैर्वनस्पतिभिरनुष्ठितो यज्ञो वायुमण्डले दिव्यप्रभावमुत्पाद्यानेकविधां शान्तिं सम्पादयति। वेदश्च एव एवंविधयज्ञस्यानुष्ठानेऽनुष्ठापने वा समर्थः। देवानां विदुषां दिव्यगुणानां वा वीतिर्ज्ञानं, प्रापणं प्रजननं व्याप्तिः, प्रकाशो यस्यां तस्यै; इत्यादि वचनसामर्थ्यादपि त्रिविधोऽर्थोऽत्राभिप्रेयत इति ध्येयम्॥

विशेषवक्तव्यम्

५ अत्र ब्राह्मणे मनोर्जायाया मनाव्या आलम्भोऽर्थवादरूपेण प्रतिपाद्यते॥१५॥

❀ "अहं सर्वो जनो यस्य हविषः संस्काराय बृहद्ग्रावास्त्यस्ति वानस्पत्यश्च यदिदं देवेभ्यो भवति तं देववीतये गृह्णामि। हे विद्वन्! स त्वं देवेभ्यो विद्वद्भ्यः सुशमि तद्धविः शमीष्व शमीष्व। ये मनुष्या वेदादीनि शास्त्राणि पठन्ति पाठयन्ति च तानेवेयं वाग् हविष्कृदेहि हविष्कृदेहीत्याह" इति अ० मुद्रिते ख. ग. कोशयोश्च पाठः॥

अस्मिन्नन्वये मन्त्रस्य "अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनं" इति पञ्च पदानि तेषामर्थश्च त्यक्त इति सुस्पष्टम्।

क. ख. कोशयोर्भाषापदार्थे सर्वाण्येव मन्त्रगतपदानि तेषामर्थश्चोपलभ्यत इत्यतोऽस्माभिः स एव भाषापदार्थः सम्यगिति मत्वा स्वीकृतः। तदनुसारमेव संस्कृतान्वयोऽपि पूरितः संशोधितश्च॥

उक्त यज्ञ किस प्रकार का होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1]।

पदार्थः[2]—जिस यज्ञ को विद्वान् लोग (देववीतये) श्रेष्ठ गुणों के प्रकाश और श्रेष्ठ विद्वान् वा विविध भोगों की प्राप्ति के लिये (वाचः) वेदवाणी के उच्चारण से (विसर्जनम्) हविः आदि पदार्थों को अग्नि में छोड़ते हैं (सः) वह [यज्ञ] अग्नि के संयोग से अतिविस्तार को प्राप्त हुवा उस (अग्नेः) भौतिक अग्नि के (तनूः) शरीर के तुल्य (असि) होता है, इस कारण हम सब लोग (त्वा) उसे (गृह्णामि) ग्रहण करते हैं। हे विद्वान् लोगो ! जिस हविः के संस्कार के लिये (बृहद्ग्रावा) बड़े २ पत्थर तथा (वानस्पत्यः) काष्ठ के मूसलादि पदार्थ (असि) हैं और वह (हविः) अच्छे प्रकार शुद्ध हुवा, सुगन्ध्यादि पदार्थयुक्त किया हुवा (इदम्) होम [द्वारा विस्तृत] होकर (देवेभ्यः) विद्वानों के सुख वा दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये होता है उस (सुशमि) दुःखनाशक और उत्तम २ पदार्थों को अच्छे प्रकार देनेवाले हविः को (शमीष्व) अपने सुखों की प्राप्ति वा सर्वदुःखों की निवृत्ति के लिये बार-बार सम्पादन (शमीष्व) करो, क्योंकि जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों को प्रीति के साथ पढ़ते वा पढ़ाते हैं, उन्हीं को यह (हविष्कृदेहि) (हविष्कृत्) हविः अर्थात् होम में डालने योग्य पदार्थों का विधान करने वाली वेदवाणी, जो कि यज्ञ का विस्तार करने के लिये वेद के पढ़ने से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों[3] की शुद्ध और सुशिक्षित प्रसिद्ध वाणी है सो (एहि) प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

१ यज्ञ से दूषित भावनाओं का नाश तथा दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है, इसको लक्ष्य में रखकर कहते हैं कि—उक्त यज्ञ इत्यादि ॥

२ यहां संस्कृत अन्वय तीनों प्रक्रियाओं में सुसंगत हो रहा है ॥

३ यहां आचार्य ने शतपथ ब्राह्मण के जिस प्रमाणानुसार शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार लिखा है वह निम्न प्रकार है—

इसी मन्त्र (यजुः १ । १५) के व्याख्यान में शतपथ ब्राह्मणकार ने चारों वर्णों के यज्ञों में हवि के अवहनन (=कूटने) के लिये भिन्न २ रीति से बुलाने का विधान किया है। शूद्र के यज्ञ में उसकी पत्नी (या अन्य ऋत्विक्) अवहनन कर्म करने के लिये आवेगी। इससे यह स्पष्ट है कि शूद्रों को भी दर्शपौर्णमासादि श्रौतयज्ञों के करने का अधिकार है, जो कि बिना वेदाध्ययन के किसी प्रकार सिद्ध

क. कोशे त्वित्थं पाठ उपलभ्यते—"विद्वद्भिर्यो यज्ञो देववीतये हविषो विसर्जनं अग्नेर्मध्ये क्रियते सः तनूरसि भवति, तस्मादहं सर्वो जनस्त्वा तं गृह्णामि। यस्य हविषः संस्काराय बृहद्ग्रावासि अस्ति वानस्पत्यश्च यदिदं हविर्देवेभ्यो भवति, तं देववीतये गृह्णामि। हे विद्वन् स त्वं देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च सुशमि तद्धविः शमीष्व शमीष्व। ये मनुष्या वेदादीनि शास्त्राणि सम्प्रीत्या पठन्ति पाठयन्ति च, तानेवेयं हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि सा वागेति" ॥

अस्मिन् पाठेऽपि 'वाचः' इति पदं त्यक्तम्। तच्च भाषापदार्थे क. ख. कोशयोर्वर्त्तते। अत एव स क. ख. भाषापदार्थोऽत्र सम्यक्तरोऽभिमतः ॥

❀ "मैं सब जनों के सहित जिस हवि अर्थात् पदार्थ के संस्कार के लिये (बृहद्ग्रावासि) बड़े २ पत्थर (असि) हैं, और (वानस्पत्यः) काष्ठ के मुसल आदि पदार्थ (देवेभ्यः) विद्वान् वा दिव्य गुणों के लिये उस यज्ञ को (देववीतये) श्रेष्ठ गुणों के प्रकाश और श्रेष्ठ विद्वान् वा विविध भोगों की प्राप्ति के लिये (प्रतिगृह्णामि) ग्रहण करता हूँ। हे विद्वान् मनुष्य ! तुम (देवेभ्यः) विद्वानों के सुख के लिये (सुशमि) अच्छे प्रकार दुःख शान्त करनेवाले (हविः) यज्ञ करने योग्य पदार्थ को (शमीष्व) (शमीष्व) अत्यन्त शुद्ध करो। जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों को प्रीतिपूर्वक पढ़ते वा पढ़ाते हैं, उन्हीं को यह (हविष्कृत्) हविः अर्थात् होम के पढ़ाने योग्य पदार्थों का विधान करनेवाली, जो कि यज्ञ को विस्तार करने के लिये वेद के पढ़ने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की शुद्ध सुशिक्षा और प्रसिद्ध वाणी है, सो प्राप्त होती है" इति ग. कोशेऽजमेरमुद्रिते च पाठः। अस्माभिः क. ख. हस्तलेखयोः पाठोऽत्र स्वीकृतः। तत्र हेतुः संस्कृतान्वयस्य टिप्पण्यां द्रष्टव्यः ॥

भावार्थः—जब मनुष्य वेद आदि शास्त्रों के द्वारा यज्ञक्रिया और उसका फल जान के शुद्धि और उत्तमता के साथ यज्ञ को करते हैं, तब वह सुगन्धि आदि पदार्थों के होम द्वारा परमाणु अर्थात् अतिसूक्ष्म होकर वायु और वृष्टि जल में विस्तृत हुआ सब पदार्थों को उत्तम करके दिव्य सुखों को उत्पन्न करता है। जो मनुष्य सब प्राणियों के सुख के अर्थ पूर्वोक्त तीन[1] प्रकार के यज्ञ को नित्य करता है, उसको सब मनुष्य हविष्कृत् अर्थात् यह यज्ञ का विस्तार करने वाला, यज्ञ का विस्तार करने वाला उत्तम मनुष्य है, ऐसा वारंवार कह कर सत्कार करें[2]॥१५॥

कुक्कुटोऽसीत्यस्य ऋषिः स एव। वायुर्देवता। [स्वराड्] ब्राह्मीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

दैव्यो वः सवितेत्यस्य ऋषिः स एव। सविता देवता। विराड्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

नहीं हो सकता। अतः यहां शूद्रों का वेदाध्ययन अर्थापत्ति से स्वतः सिद्ध है॥

अब प्रसङ्गवश इस सिद्धान्त के पोषक अन्य प्रमाण भी लिखते हैं—

(१) ऋग्वेद १०।३० के द्रष्टा कवष ऐलूष के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण (८।१) शांख्यायन ब्राह्मण (१२।३) और छागलेयोपनिषद् में भी लिखा है—

किसी समय सरस्वती के तट पर यज्ञ करते हुए ऋषियों ने कवष ऐलूष को दासी का पुत्र–जुआरी तथा अब्राह्मण कह कर सोमयज्ञ से अलग कर दिया। पर जब उसने अपोनप्त्रीय (ऋ० १०। ३०) सूक्त का दर्शन किया, तब उन्हीं ऋषियों ने अपने पूर्वकृत्य के लिये क्षमा मांगते हुए कहा कि तुम ही हम सबों में श्रेष्ठ हो। हमारा नाश मत करो इत्यादि (यहां सब का सारांश लिखा है)।

इससे स्पष्ट है कि दासीपुत्र = शूद्र को वेद पढ़ने तथा यज्ञ करने का अधिकार है, अन्यथा कवष ऐलूष अपोनप्त्रीय सूक्त का द्रष्टा कैसे हो सकता है।

(२) महाभारत शान्तिपर्व (३२८।४९) में स्पष्ट लिखा है कि वेद सुनने का अधिकार चारों वर्णों को है॥

(३) चारों वर्णों को यज्ञ करने का अधिकार है यह भी महाभारत वनपर्व (१३४।११) में लिखा है॥

(४) वृद्धहारीतस्मृति में (६।२५७) में लिखा है कि मन्त्र (= वेद) के सब अधिकारी हैं।

(५) इसी प्रकार लघुविष्णुस्मृति (५।९) में शूद्र के लिये भी पञ्चयज्ञ करने का विधान किया गया है॥

इन सब प्रमाणों से शूद्रों को वेदाध्ययन तथा यज्ञानुष्ठान का अधिकार है, यह स्पष्ट है॥

१ 'पूर्वोक्त तीन प्रकार के यज्ञ को नित्य करता है' इत्यादि से यह सिद्ध है कि जहां जहां भी 'सुसंस्कृत हवि से यज्ञ करते हैं' इत्यादि कहा हो, वहां वहां तीनों प्रकार का यज्ञ समझना चाहिये, यह आचार्य दयानन्द को अभिप्रेत है। आचार्य सब स्थानों पर 'तीन प्रकार का यज्ञ' ऐसा बार २ नहीं लिखेंगे। एक स्थान में निर्देश कर दिया, बस उसी से सर्वत्र समझ लेना बुद्धिमानों का काम है॥

२ 'तीन प्रकार के यज्ञ को' इत्यादि से आध्यात्मिकादि तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ ध्वनित हो रहा है—

आध्यात्मिक अर्थ—सात्त्विक वृत्ति उत्पन्न करने के लिये संयम तथा तितिक्षारूप परमौषधों का सेवन करना आवश्यक है क्योंकि तभी काम क्रोध रूप रोगों का शमन होना सम्भव है। यह सब वैदिक पवित्र वाणी में वर्णित वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानसे ही हो सकता है॥

आधिदैविक अर्थ—वैद्यकशास्त्र में वर्णित अनेक वनस्पतियों के सेवन से मनुष्य के शरीर व आत्मा में दिव्य शक्ति का संचार होता है। अतः सत्कर्मों के लिये इनका ज्ञानपूर्वक प्रयोग करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, उससे शारीरिक शक्ति प्राप्त होगी।

अधियज्ञ अर्थ—शास्त्रविधि से सुसंस्कृत वनस्पतियों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ वायुमण्डल में दिव्य प्रभाव उत्पन्न करता हुआ अनेकविध शान्ति का देने वाला होता है। वेद का ज्ञाता ही इस प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान करने कराने में समर्थ होता है। 'देववीति' शब्द के धात्वर्थ को दर्शाते हुए भी आचार्य त्रिविध प्रक्रिया को दर्शा रहे हैं॥ १५॥

विशेषवक्तव्य

यहां शतपथ में मनु की जाया मनावी का अर्थवाद रूप से वर्णन किया है॥ १५॥

३ वाक , शूर्पम् , हविः, रक्षः, तण्डुला इति सर्वानुक्रमणी॥

॥ पुनः स यज्ञः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते[1] ॥

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतं रक्षः परापूता अरातयोऽपहतं रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥

कुक्कुटः । असि । मधुजिह्व इति मधुऽजिह्वः । इषम् । ऊर्जम् । आ । वद । त्वया । वयम् । संघातमिति संघातम्ऽसंघातम् । जेष्म । वर्षवृद्धमिति वर्षऽवृद्धम् । असि । प्रति । त्वा । वर्षवृद्धमिति वर्षऽवृद्धम् । वेत्तु । परापूतमिति पराऽपूतम् । रक्षः । परापूता इति पराऽपूताः । अरातयः । अपहतमित्यपऽहतम् । रक्षः । वायुः । वः । वि । विनक्तु । देवः । वः । सविता । हिरण्यपाणिरिति हिरण्यऽपाणिः । प्रति । गृभ्णातु । अच्छिद्रेण । पाणिना ॥ १६ ॥

पदार्थः—(कुक्कुटः[2]) कुकं परद्रव्यादातारं चोरं शत्रुं वा कुटति येन स यज्ञः । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (मधुजिह्वः[3]) मधुरगुणयुक्ता जिह्वा ज्वाला प्रयुज्यते यस्मिन् सः । (इषम्) अन्नादिपदार्थसमूहम् । इषमित्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (ऊर्जम्) विद्यादिपराक्रममनुत्तमरसं वा । (आ) क्रियायोगे । (वद) उपदिश । (त्वया) परमेश्वरेण विदुषा वीरेण वा सह संगत्य । [(वयं)] (संघातंसंघातम्) सम्यग्घन्यन्ते जना यस्मिन् तं संग्रामम् । संघात इति संग्रामनामसु पठितम् । निघ० २ । १७ । अत्र वीप्सायां द्विरुक्तिः । (जेष्म) जयेम । अत्र लिङर्थे लुङ् । अडभावश्चावश्च । (वर्षवृद्धम्) शस्त्रास्त्राणां वर्धयितारम् । (असि) भवति । (प्रति) क्रियायोगे । (त्वा) त्वाम्, तं यज्ञं वा । (वर्षवृद्धम्[4]) वृष्टेर्वर्धकं यज्ञम् । (वेत्तु) जानातु । (परापूतम्) परागतं पूतं पवित्रत्वं यस्मात्तत् ।

---

१ दिव्यगुणप्राप्तौ च सत्यां विवेकबुद्धेः सम्भवः, तयैवानुष्ठेयोऽयं यज्ञ इत्याह—'पुनः स यज्ञः' इति ॥

२ व्याकरणप्रक्रियायां द्रष्टव्यम् ॥

३ जिह्वा सरस्वती । श० १२ । ९ । १ । १४ । मधुरगुणयुक्ता जिह्वा सरस्वती वाग् यस्मिन् स यज्ञः । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे मधुशब्दो वृषादित्वादाद्युदात्तः ॥

४ वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव विद्युद् हीदं वृष्टिमन्नाद्यं सम्प्रयच्छति । ऐ० ब्रा० २ । ४१ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कुक्कुटः) कुक आदाने (भ्वा० आ०) सम्पदादित्वात् क्विप् (अ० ३ । ३ । १०८ भा० वा०) । कुकं कुटतीति कुट कौटिल्ये इत्यस्मात् मूलविभुजादित्वात् कः । उपपदसमासः, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे स्वरितो वानुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इति स्वरितः ॥

यद्वा लकुटमकुटकुक्कुटादयः (भोज उणादि २ । २ । १०६) इति 'उटच्'प्रत्ययान्तो निपात्यते । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । यद्वा संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति (अ० ४ । ४ । ४६) इति निपातनं द्रष्टव्यम् । तेनैव च स्वरः ॥

(मधुजिह्वः) 'मन ज्ञाने' (दिवा० आ०) फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च (उ० १ । १८) इति 'उ' प्रत्ययः, स च नित्त्वादाद्युदात्तः । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे पूर्वपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(इषम्) (ऊर्जम्) पूर्वं य० १।१ सू० १३,१४, व्याख्यातः ॥

(संघातम्) सम्यग्घन्यन्ते यस्मिन्नित्यधिकरणे कः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(जेष्म) पूर्ववन्निपातः ॥

(वर्षवृद्धम्) वर्षं वृष्टिं वर्धयतीति वर्षवृद्धस्तं मूलविभुजादित्वात् कः, मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्, यद्वापरावग्रहे वर्षेण वृद्धं वर्षवृद्धम् । अत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे 'वर्ष' शब्दः पचाद्यन्तोदात्तः ॥

(रक्षः) दुष्टस्वभावो मूर्खः। (परापूताः) परागतः पूतः पवित्रस्वभावो येभ्यस्ते। (अरातयः) परपदार्थग्रहीतारः शत्रवः। (अपहतम्) अपहन्यते यत् तत्। (रक्षः) दस्युस्वभावः। (वायुः) योऽयं भौतिको वाति। (वः) तान् हुतान् परमाणुजलादिपदार्थान्। (वि) विशेषार्थे। (विनक्तु) वेचयति वेचयतु, वा, अत्राद्ये पक्षे लडर्थे लोट् [उभयत्रा] न्तर्गतो ण्यर्थश्च। (देवः) प्रकाशस्वरूपः। [(वः) युष्मान्] (सविता) वृष्टिप्रकाशद्वारा दिव्यगुणानां प्रसवहेतुः। (हिरण्यपाणिः) ※ हिरण्यं ज्योतिः पाणिर्हस्तः किरणव्यवहारो वा यस्य सः। ज्योतिर्हि हिरण्यम्। श० ४।३।१।२१। (प्रतिगृभ्णातु) प्रतिगृह्णाति। अत्र हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम्। अ० ८।२।३२। इति हकारस्य स्थाने भकारः, लडर्थे लोट् च। (अच्छिद्रेण) छिद्ररहितेनैकरसेन। (पाणिना) किरणसमूहेन व्यवहारेण॥ अयं मन्त्रः श०। १।१।४।१८-२४। व्याख्यातः॥ १६॥

अन्वयः—यतोऽयं यज्ञो मधुजिह्वः कुक्कुटोऽस्त्रीषमूर्जं च प्रापयति तस्मात्स सदैवानुष्ठेयः। हे विद्वन् त्वमस्य त्रिविधस्य यज्ञस्यानुष्ठानस्य गुणानां च + वेत्तासि तस्मात् अस्मान् ‡ प्रतिवद प्रत्यक्षमुपदिश। यतो वयं त्वया सह संघातं संघातमजेष्म सर्वान् संग्रामान् विजयेमहि। सर्वो मनुष्यो वर्षवृद्धं त्वा त्वां, तं वर्षवृद्धं यज्ञं वा प्रतिवेत्तु। एवं कृत्वा सर्वैर्जनैः परापूतं रक्षः परापूता अरातयोऽपहतं रक्षः [यथा स्यात् तथा] सदैव कार्य्यम्। यथायं † हिरण्यपाणिर्वायुरच्छिद्रेण पाणिना यज्ञे संसारेऽग्निना सूर्य्येण विच्छिन्नान् पदार्थकणान् [प्रतिगृभ्णातु] प्रतिगृभ्णाति। यथा च हिरण्यपाणिः सविता देवः [वः] तान् [विविनक्तु] विविनक्ति पृथक्करोति, तथैव परमेश्वरो

(असि) पूर्ववन्निघातः॥

(प्रति) उपसर्गाद्युदात्तत्वम्॥

(त्वा) त्वामौ द्वितीयाया (अ० ८।१।२३) इति त्वादेशः। स चानुदात्तः॥

(परापूतम्, परापूताः) अवधूतमिव (पृ० ७७)॥

(अरातयः) पूर्वं य० १।७ पृ० ५४ व्याख्यातः॥

(अपहतम्, रक्षः) पूर्वं य० १।९ (पृ० ६०) व्याख्यातौ॥

(देवः वः, सविता) एतेऽपि पूर्वं (यजुः १।१ पृ० १४,१५) निरूपिताः॥

(विनक्तु) विचिर् पृथग्भावे '(रु० प०), केचिद् 'विजिर्' इति पठन्ति। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(हिरण्यपाणिः) हर्यतेः कन्यन् हिर च (उ० ५।४४) इति हिरण्यशब्द आद्युदात्तः। ततो बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति हिरण्यशब्द आद्युदात्तः॥

(प्रतिगृभ्णातु) अत्रैकपदत्वे छान्दसः समास आद्युदात्तत्वं च। पृथक्पदत्वे तु (प्रति) पूर्ववदाद्युदात्तः (गृभ्णातु) पूर्ववत् तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(अच्छिद्रेण) पूर्वं (यजुः १।१२ पृ० ६९) व्याख्यातः॥

(पाणिना) पाणिशब्द इण्प्रत्ययान्तः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततो विभक्तिरनुदात्ता॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

※ 'हिरण्यं' ज्योतिः किरणं पाणि'र्हस्तो व्यवहारो यस्य' इति साधीयान् स्यात्॥

\+ 'वेपिता' इति अ० मुद्रितपाठः। कोशेषु 'वेत्ता' इति सार्वत्रिकः पाठः। अ० मुद्रिते दकारस्य पकारो लेखकप्रमादपरः स्यात्। 'विद् ज्ञाने' (अ० प०) धातुरयं सेड् वर्त्तते। तदनुसारं 'वेदिता' इति पाठः सम्यक् स्यात्। 'वेत्ता' इति काचित्कः प्रयोगोऽपि दृश्यते, 'यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य' इत्यादि॥

‡ 'अस्मान् इति क. कोश उपलभ्यते॥

† अत्र मन्त्रे 'हिरण्यपाणिः' पदं सकृत् पठ्यते। यथा तु पदार्थस्तथाऽत्र वायुना सह नान्वेति, उत्तरत्र सवितृपदेन-सह तु पठ्यत एव॥

विद्वान् मनुष्यश्चाच्छिद्रेण पाणिना सर्वा विद्या विविनक्तु । तथैव कृपया संप्रीत्या चैतौ वो युष्मानानन्दकरणाय प्रतिगृभ्णातु* प्रतिगृह्णीतः ॥ १६ ॥

अत्र †श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः[1]—ईश्वरः सर्वान् मनुष्यानाज्ञापयति–मनुष्यैर्यज्ञानुष्ठानम्, संग्रामे दुष्टशत्रूणां विजयो[2] गुणज्ञानं विद्यावृद्धसेवनम्, दुष्टानां मनुष्याणां दोषाणां वा निराकरणम्, सर्वपदार्थच्छेदकोऽग्निः सूर्यो वा तथा सर्वपदार्थधारको वायुश्चास्तीति विज्ञानम्, परमेश्वरोपासनां विद्वत्समागमं च कृत्वा सर्वा विद्याः प्राप्य सदैव सर्वार्था सुखोन्नतिः कार्येति[3] ॥ १६ ॥

फिर भी यह यज्ञ कैसा है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[4] ।

पदार्थः—जिस कारण यह यज्ञ (मधुजिह्वः) जिसमें मधुरगुणयुक्त वाणी हो तथा (कुक्कुटः) चोर वा शत्रुओं का विनाश करने वाला (असि) है । और (इषम्) अन्न आदि पदार्थ वा (ऊर्जम्) विद्या आदि बल और उत्तम से उत्तम रस को देता है, इसीसे उसका अनुष्ठान सदा करना चाहिये । हे विद्वान् लोगो ! तुम उक्त गुणों को देनेवाला जो तीन प्रकार का यज्ञ है, उसके अनुष्ठान और [गुण के ज्ञाता (असि) हो, अतः] हम लोगों को भी उसके गुणों का (वद) उपदेश करो, जिससे (वयम्) हम लोग (त्वया) तुम्हारे साथ (संघातं संघातम्) जिनमें उत्तम रीति से शत्रुओं का पराजय होता है अर्थात् अतिभारी संग्रामों को वारंवार (आ जेष्म) सब प्रकार से जीतें, क्योंकि आप युद्ध विद्या के जानने वाले हैं, इसी से सब मनुष्य (वर्षवृद्धम्) शस्त्र और अस्त्र विद्या की वर्षा को बढ़ाने वाले (त्वा) आप तथा (वर्षवृद्धम्) वृष्टि के बढ़ाने वाले उक्त यज्ञ को (प्रतिवेत्तु) जानें । इस प्रकार संग्राम करके सब मनुष्यों को (परापूतम्) पवित्रता आदि गुणों को छोड़ने वाले (रक्षः) दुष्ट मनुष्य तथा (परापूताः) शुद्धि को छोड़ने वाले और (अरातयः) दान आदि धर्म से रहित शत्रुजन तथा (रक्षः) डाकुओं का जैसे (अपहतम्) नाश हो सके, वैसा प्रयत्न सदा करना चाहिये, जैसे यह (‡हिरण्यपाणिः) जिसका ज्योति हाथ है ऐसा जो (वायुः) पवन है वह (अच्छिद्रेण) एकरस (पाणिना) अपने गमनागमन व्यवहार से यज्ञ और संसार में अग्नि और सूर्य्य से अति सूक्ष्म हुए पदार्थों को (प्रतिगृभ्णातु) ग्रहण करता है । वा जैसे (हिरण्यपाणिः) किरण हैं हाथ जिसके वह हिरण्यपाणि (सविता) किरणव्यवहारसे वृष्टि वा प्रकाश के द्वारा दिव्य गुणों के उत्पन्न करने में हेतु (देवः) प्रकाशमय सूर्य्यलोक

---

१ श्लेषालङ्कारेण सर्वोऽप्यर्थो मन्त्रगतपदैरेवोहनीय इति भावः ॥

२ कर्मण्यत्र षष्ठी, न तु सम्बन्धसामान्य इति ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ अन्वये 'हे विद्वन् त्वमस्य त्रिविधस्य यज्ञस्य अनुष्ठानस्य गुणानां च वेदितासि······तथैव परमेश्वरो विद्वान् मनुष्यश्च सर्वा विद्या विविनक्तु······'इत्यादिपाठात् पदार्थतश्चात्रापि त्रिविधोऽर्थो ध्वनितः ॥ यज्ञस्य त्रिविधत्वप्रतिपादन एव सर्वाः प्रक्रियाः स्वीक्रियन्त इत्याचार्यहृदयम् ॥

विशेषवक्तव्यम्

'वेत्ताऽसि' इति मूलहस्तलेखपाठः पाठभ्रष्टता पाठभेदो वा कथं जायत इत्यनेनानुमातुं शक्यते ॥ १६ ॥

४ दिव्यगुणों की प्राप्ति होने पर ही विवेकबुद्धि उत्पन्न होती है । उस विवेकबुद्धि के आश्रय से ही यज्ञ का यथावत् अनुष्ठान होना सम्भव है, ऐसी संगति समझनी चाहिये।

* अ० मुद्रिते शब्दोऽयं 'विविनक्तु' इत्यतोऽग्रेऽपि वर्त्तमानोऽस्थानेऽयमिति मत्वाऽस्माभिरत्रानीतः, यथा च भाषापदार्थेऽपि वर्त्तते ॥

† 'अत्र श्लेषालङ्कार' इति ग. प्रवर्धितपाठः, क. ख. कोशयोस्तु नास्ति । अन्वये तु 'यथा' 'तथा' इत्युपलम्भादत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः इति युक्तं स्यात् ॥

‡ "(हिरण्यपाणिः) जिसका ज्योतिः हाथ है, ऐसा जो" पाठोऽयं ग. प्रवर्द्धितः । शेषमत्र विषये पूर्वत्र संस्कृतान्वये यदुक्तं, तत्तत्र द्रष्टव्यम् ॥

(वः) उन पदार्थों को (विविनक्तु) अलग अलग अर्थात् परमाणुरूप करता है, वैसे ही परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष निरन्तर अपने उपदेशरूप व्यवहार से सब विद्याओं को प्रकाश करें, वैसे ही कृपा करके प्रीति के साथ (वः) तुमको अत्यन्त आनन्द करने के लिये ग्रहण करते हैं ॥ १६ ॥

इस मन्त्र में †श्लेषालङ्कार[1] है ॥

भावार्थः—परमेश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि यज्ञ का अनुष्ठान, संग्राम में शत्रुओं का पराजय, अच्छे अच्छे गुणों का ज्ञान, विद्वानों की सेवा, दुष्ट मनुष्य वा दुष्ट दोषों का त्याग, तथा सब पदार्थों को अपने तापसे छिन्न भिन्न करने वाला अग्नि वा सूर्य्य और ※सब पदार्थों का धारण करने वाला वायु है, ऐसा ज्ञान और ईश्वर की उपासना तथा विद्वानों का समागम करके और सब विद्याओं को प्राप्त होके सब के लिये सब सुखों की उत्पन्न करने वाली उन्नति सदा करनी चाहिये[2] ॥ १६ ॥

धृष्टिरसीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता[3] । [निचृद्] ब्राह्मीपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देन किं किं गृह्यते, तेन किं किं च भवतीत्युपदिश्यते[4] ॥

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं‡ सेधा देवयजं वह । ध्रुवमसि पृथिवीं दृंह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युप दधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥१७॥

धृष्टिः । असि । अप । अग्ने । अग्निम् । आमादमित्यामऽअदम् । जहि । निः । क्रव्यादमिति क्रव्यऽअदम् । सेध । आ । देवयजमिति देवऽयजम् । वह ॥

ध्रुवम् । असि । पृथिवीम् । दृंह । ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । सजातवनीति सजातऽवनि । ¥उप । दधामि । भ्रातृव्यस्य । वधाय ॥ १७ ॥

१ यहां "हमारा लिखा अर्थ मन्त्रगत पदों के ही अन्तर्निहित है" यह दर्शाने के लिये आचार्य ने 'इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है' ऐसा लिखा है । जहां २ श्लेषालङ्कार होता है वहां २ अनेक अर्थों का सम्भव होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ 'हे विद्वान् लोगो उक्त गुणों का देने वाला जो तीन प्रकार का यज्ञ है' तथा 'वैसे ही परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष······सब विद्याओं का प्रकाश करें' इत्यादि से तथा संस्कृतपदार्थ से त्रिविध प्रक्रिया का अर्थ यहां भासित होता है ॥

यज्ञ तीन प्रकार का है, यह त्रिविध प्रक्रिया का ही तो रूपान्तर है । जहां २ ऐसा लेख हो वहां २ यही समझना चाहिये, यह आचार्य के इङ्गित चेष्टित से विदित हो रहा है ॥

विशेषवक्तव्य

यहां छपे ग्रन्थ में संस्कृत अन्वय में 'गुणानां च वेपितासि' ऐसा पाठ है । हस्तलेखों में सर्वत्र 'गुणानां च वेत्ताऽसि' ऐसा पाठ है जो शुद्ध है । लेखकों ने न जानकर तथा कहीं २ जानकर भी शुद्ध पाठों को अशुद्ध कर दिया है । इस भाष्य में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं ॥ १६ ॥

३ उपवेशः, अग्निः इति सर्वानुक्रमणी ॥

४ अग्निर्वै यज्ञस्य मुखम् इत्यग्निमुपक्रम्य प्रकाशस्वरूप-

† अत्र विषये पूर्वं संस्कृतभागेऽलङ्कारटिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ॥

※ 'उनका' इति अ० मु० पाठः ॥

‡ यत्तु अ० मुद्रिते निष्क्रव्यादमिति 'निष्क्रव्या अदम्' तत्तु 'ग' कोशलेखकप्रमादपरम्, क. ख. उभयत्रापि शुद्धपाठस्योपलभ्यमानत्वात् ॥

¥ 'उपऽदधामि' इति अ० मु० पाठः ॥

पदार्थः—(धृष्टिः) प्रगल्भ इव यजमानः । (असि) भवसि, भवति वा, अत्र पक्षे व्यत्ययः । (अप) क्रियायोगे । (अग्ने[1]) परमेश्वर धनुर्वेदविद्वन्वा । (अग्निम्[2]) विद्युदाख्यम् । (आमादम्) आमानपक्वानत्ति तम् । (जहि) हिंसय । (❀निष्क्रव्यादम्) क्रव्यं पक्वं[3] मांसमत्ति तस्मान्निर्गतस्तम् । (सेध) शास्त्राणि शिक्षय । (आ) क्रियायोगे । (देवयजम्) देवान् विदुषो दिव्यगुणान् यजति संगतान् करोति येन यज्ञेन स देवयट् तम् । अत्र अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त [अ० ३ । २ । ७५] इति सूत्रेण कृतो बहुलम् [अ० ३ । २ । ११३ भा० वा०] इति वार्त्तिकेन [च] करणे विच् प्रत्ययः । (वह) प्रापय, प्रापयति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (ध्रुवम्) निश्चलं सुखम् । (असि) भवति । (पृथिवीम्) विस्तृतां भूमिं तत्स्थान् प्राणिनश्च । (दृंह) उत्तमगुणैर्वर्धय वर्धयति वा । (ब्रह्मवनि) ब्राह्मणं विद्वांसं वनति तम् । छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । अ० ३ । २ । २७ । अनेन ब्रह्मोपपदे वनधातोरिन्प्रत्ययः । सुपां सुलुगित्यमो लुक् च । (त्वा) त्वां तं वा । (क्षत्रवनि) क्षत्रं संभाजिनं वनति तम् । अत्राप्यमो लुक् । (सजातवनि[4]) जातं जातं वनति स जातवनिः समानश्चासौ जातवनिस्तम् । समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु । अ० ६ । ३ । ८४ । अनेन समानस्य सकारादेशः । (उपदधामि) हृदये, वेद्यां, विमानादियानेषु[5] वा धारयामि । (भ्रातृव्यस्य[6]) द्विषतः शत्रोः । (वधाय) नाशाय हननाय ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । १ । ३-८ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

परमात्मदेवाश्रयेण दुर्भावा नश्यन्ति, अग्निनैव च सर्वविधयज्ञसिद्धिरित्यत आह—अथाग्निशब्देनेति ॥

१ अग्निः प्रजानां प्रजनयिता । तै० ब्रा० १ । ७ । २ । ३ ॥ अग्निर्वै धाता । तै० ब्रा० ३ । ३ । १० । २ ॥

परमात्मपक्षे पूर्वं (यजुः १ । ५) सम्यग् व्याख्यातः । तत्रैव द्रष्टव्यः ॥

विद्वत्पक्षे तु—अग्ने महाँ असि ब्राह्मण । कौ० ब्रा० ३ । २० ॥ श० १ । ४ । २ । २ ॥ अग्निर्वाव पुरोहितः । ऐ० ब्रा० ८ । २७ ॥

२ तान्येतान्यष्टौ (रुद्रः, सर्वः = शर्वः, पशुपतिः, उग्रः अशनिः, भवः, महान् देवः, ईशानः) अग्निरूपाणि श० ६ । ४ । २ । २५ ॥

३ पक्वं दग्धमित्यर्थः, भाषापदार्थे तथैव दर्शनात् ।

४ उत्तरमन्त्रे समानान् जातान्······वनयति समाना जाता विद्या वनयतीति ।

५ अत्र विषये विस्तरेणोपरिष्टाद् (यजुः ४।१८)वक्ष्यते ॥

६ भ्रातुर्व्यच्च (अ० ४ । १ । १४४)इत्यतो भ्रातृशब्देऽनुवर्त्तमाने व्यन् सपत्ने (अ० ४ । १ । १४५) इति व्यन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(धृष्टिः) पदिप्रथिभ्यां नित् (उ० ४ । १८३) इति सूत्रेण बाहुलकाद् धृषेरपि तिप्रत्ययः, स च नित् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(अप) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८२) इत्याद्युदात्तः ॥

(अग्ने) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति सर्वनिघातः ॥

(अग्निम्) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(आमादम्) आममत्तीति अदोऽनन्ने (अ० ३ । २ । ६८) इति विट्प्रत्ययः, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनोत्तरपदमाद्युदात्तम् । शेषनिघाते एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति 'मा' उदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

❀ अस्य 'निष्क्रव्यादं' इति पदस्य भाषापदार्थे क. ख. हस्तलेखयोः "पके हुये मांस आदि पदार्थों को छोड़ के" इति पाठ उपलभ्यते । स च. ग. कोशे 'पके हुये भस्म आदि पदार्थों को छोड़ के' इत्येवं परिवर्त्तितः, तेन विज्ञायते संस्कृतपदार्थेऽपि 'मांस' पदस्य स्थाने 'भस्म' इति पदं परिशोधनीयं सद् अनवधानतया तथैव स्थितं स्यात् । तदैवास्य पदस्य पदार्थे समन्वयः सम्भवति । अग्नेर्ह्ययं स्वभावो यददग्धं दहति, न दग्धम् । स एवात्र 'आमादं' 'निष्क्रव्यादं' इति शब्दाभ्यामुच्यते । 'आम' पदस्य विरोधितया क्रव्यशब्दे पक्वार्थोऽभिप्रेतोऽत्र द्रष्टव्यः ॥

अन्वयः[१]—हे अग्ने परमेश्वर ! त्वं धृष्टिरसि। अतो निष्क्रव्यादमामादं देवयजमग्निं सेध। एवं मङ्गलाय शास्त्राणि शिक्षयित्वा† दुःखमपजहि सुखं चावह तथा हे परमेश्वर त्वं ध्रुवमसि। अतः पृथिवीं दृंह। हे जगदीश्वराग्ने ! यत ईदृशो भवान् तस्मादहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा त्वामुपदधामीत्येकोऽन्वयः ॥

हे यजमान विद्वन् ! यतोऽय [मग्नेऽ] ग्निर्धृष्टिरस्यस्ति तथा चामान्निष्क्रव्याद्देवयजं यज्ञमावहति तस्मात्त्वमिममामादं निष्क्रव्यादं देवयजमग्निमावह। अन्येभ्यस्तमेवं सेध ‡ शिक्षय, तदनुष्ठानेन दोषानपजहि।

(जहि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(निष्क्रव्यादम्) क्रव्ये च (अ० ३ । २ । ६९) इति विट्प्रत्ययः, क्रव्यमत्तीति क्रव्याद् गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति 'व्या' उदात्तः। पुनः प्रादिसमासे उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६ । २ । १४०) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वे सतीष्टस्वरसिद्धिः ॥

पदकारस्त्वत्र निरिति पृथक्पदमाह। तस्मिन् पक्षे निरिति निपातत्वादाद्युदात्तः। यथाभिमतदृष्टयस्तु पदकाराणामिति शास्त्रे सिद्धान्तः। विस्तरस्तु विवरणभूमिकायां द्रष्टव्यः ॥

(सेध) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(आ) निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८१) इत्युदात्तः। एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति 'धा' उदात्तः ॥

(देवयजम्) देवान् यजतीति अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३ । २ । ७५) इति विच् प्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वम् ॥

(वह) पूर्ववन्निघातः ॥

(ध्रुवम्) ध्रुवति स्थिरं भवति। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३ । १ । १३५) इति ध्रुवधातोः कः प्रत्ययः। यदा तु ध्रुपाठस्तदा पचाद्यचि गाङ्कुटादिभ्यः० (अ० १ । २ । १) इत्यादिना ङित्वे अचि श्नुधातु० (अ० ६ । ४ । ७७) इत्यादिनोवङ्। उभयथाऽपि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः

(असि) पूर्ववन्निघातः।

(पृथिवीम्) व्याख्यातः (यजुः १।११ पृ० ६५)

(दृंह) पूर्ववन्निघातः ॥

(ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् (अ० ३ । २ । २७) इतीन् नित्वादाद्युदात्तः। उभयत्र गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्य नित्वादुत्तरपदाद्युदात्तत्वे वकार उदात्तः ॥

(सजातवनि) अर्थप्रदर्शनपरमिदम्। व्युत्पत्तिस्तूत्तरमन्त्रभाष्यानुसारं समानश्चासौ जातश्च सजातः, तं वनतीति सजातवनि। पूर्ववदुत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(उप) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८२) इत्याद्युदात्तः ॥

(दधामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(भ्रातृव्यस्य) व्याख्यातः प्रमाणभागे (पृ० ९०) ॥

(वधाय) हनश्च वधः (अ० ३ । ३ । ७६) इति हन्तेर्धातोर्भावेऽनुपसर्गेऽप् प्रत्ययः तत्सन्नियोगेन च वधादेशः स चादन्तत्वादन्तोदात्तः। प्रत्ययस्तु पित्त्वादनुदात्तः। तत उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वे उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८ । ४ । ६६) इति यकारः स्वरितः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अत्र यद् वक्तव्यं तद् भूताय त्वा (यजु० १ । ११) इत्यत्रोक्तम् ॥

† 'शिक्षित्वा' इति तु अ० मु० पाठः। क. ख. ग. कोशेषु 'शिक्षयित्वा' इत्येव पाठः ॥

‡ शब्दोऽयमस्माभिः 'अन्येभ्यस्तमेवं' इत्यतः पूर्वं सन्नात्रोपयुक्त इति हेतोरत्रानीतः ॥

यतोऽयमग्निः सूर्य्यरूपेण [ध्रुवं] ध्रुवोऽस्यस्ति तस्मादयमाकर्षणेन पृथिवीं दंह दंहति धरति तस्मात् [त्वा] तमहं [ब्रह्मवनि] ब्रह्मवनिं [क्षत्रवनि] क्षत्रवनिं [सजातवनि] सजातवनिं भ्रातृव्यस्य वधायोपदधामीति *द्वितीयः* ॥१७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः‡

भावार्थः[1]—सर्वशक्तिमतेश्वरेण*यतोऽयमामाद्दाहकस्वभावोऽग्नी रचितस्ततो नायं भस्मादिकं दग्धुं समर्थो भवति। येनामान् पदार्थान् पक्त्वाऽदन्ति [स आमात्], येनोदरस्थमन्नं पच्यते येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति स+क्रव्यात्संज्ञोऽग्निर्येनायं दिव्यगुणप्रापको विद्युदाख्यश्च रचितस्तथा येन पृथिवीधारणाकर्षणप्रकाशकः सूर्य्यो रचितः। यश्च ब्रह्मभिर्वेदविद्भिर्ब्राह्मणैः क्षत्रियैः समानजन्मभिर्मनुष्यैश्च वन्यते संसेव्यते, तथा यः सर्वेषु जातेषु पदार्थेषु वर्त्तमानः परमेश्वरो भौतिकोऽग्निर्वा, स एव सर्वैरुपास्यो भौतिकश्च क्रियासिध्यर्थं सेवनीय इति[2] ॥ १७ ॥

अब अग्निशब्द से किस-किस का ग्रहण किया जाता और इससे क्या-क्या कार्य्य होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ।

पदार्थः[4]—हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (धृष्टिः) प्रगल्भ अर्थात् अत्यन्त निर्भय (असि) हैं, इस कारण (निष्क्रव्यादम्) पके हुए भस्म× आदि पदार्थों को छोड़के (आमादम्) कच्चे पदार्थ जलाने और (देवयजम्)

---

१ अत्रापि श्लेषालङ्कारेण पूर्वमन्त्रवदेवार्थोऽवगन्तव्यः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ प्रथमान्वये आध्यात्मिकप्रक्रिया सुव्यक्ता। द्वितीये त्वाधिदैविकाधियज्ञावुभावप्यर्थावभिव्यज्येते आचार्येणेति नात्र तिरोहितमस्ति ॥

विशेषवक्तव्यम्

यज्ञस्य विशदनिरूपणं पूर्वं त्रिषु मन्त्रेषु प्रस्तुत्येदानीम् 'अग्निर्मुख्यं यज्ञसाधनम्' इत्युपक्रमते। यजुः १।८, ९ मन्त्रयोः 'शस्त्रास्त्रसाधनम्' इति प्रतिपादितम्। अत्र तु 'आमात्, देवयट्, निष्क्रव्याद्' इत्यादिगुणविशिष्ट इति भेदः ॥ १७ ॥

३ 'अग्नि ही यज्ञ का मुख है' इत्यादिगुणविशिष्ट अग्नि अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमात्मा के ही आश्रय से दुर्भावनाओं का नाश होता है और इस अग्नि के द्वारा ही सब प्रकार के शुभकर्मरूप यज्ञों की पूर्त्ति होती है ॥

४ यहां अन्वय के विषय में जो वक्तव्य है वह यजुर्वेद १।११ के विवरण में कहा जा चुका है ॥

---

‡ इतोऽग्रे "अत्र प्रथमान्वये परमेश्वरस्य, द्वितीये भौतिकस्य च ग्रहणम्" इति कोशेषु सार्वत्रिकः पाठः, प्रूफसंशोधने पृथक् कृतः स्यात् ॥

*अ० मुद्रिते 'सर्वशक्तिमतेनेश्वरेण'। क. ख. ग. त्रिष्वपि कोशेषु 'सर्वशक्तिमतेश्वरेण' इति पाठो विद्यमानोऽपि 'ग' पुस्तके केनचित् पण्डितब्रुवेण 'न' इति मध्ये निवेश्य दूषितः। शुद्धिपत्रे संशोधितोऽपि यन्त्रालयस्थकार्यकर्त्तॄणां प्रमादादद्यावधिरशुद्ध एव मुद्रितः ॥

+ 'क्रव्य' शब्दस्य कोऽर्थोऽत्र भाष्ये गृह्यत इति न स्पष्टमवबुध्यामहे। क्रव्यं = 'पक्वं मांसं' इति तु संस्कृतपदार्थे वर्त्तते। स च 'आमात्' इत्येतस्य प्रतिद्वन्द्वितया कृतः स्यात्। भाषापदार्थे तु 'पके हुये भस्मादि पदार्थों को' इत्येवमर्थ उपलभ्यते॥ संस्कृतभाषाभावार्थयोस्तु 'येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति, स क्रव्यात्' इत्यर्थः कृतः, स च श्मशानाग्निपर एव, एवं त्रिविधानामप्येषामर्थानां परस्परं कः सम्बन्ध इति नावबुध्यामहे ॥

यच्च भावार्थे "येनामान् पदार्थान् पक्त्वादन्ति, येनोदरस्थमन्नं पच्यते, येन च मनुष्या मृतं देहं दहन्ति स क्रव्यात्" इति पाठे यदि 'क्रव्यात्' इति शब्देन त्रयोऽपीमेऽग्नयो गृह्यन्ते, यद्वैक एवाग्निः 'क्रव्यात्' इति गृह्यते, तदुभयमपि न सुव्यक्तम्। एवं 'क्रव्यात्' शब्दस्यार्थो विवेचनीय एवेति ध्येयम् ॥

× 'मांस आदि' इति क. ख कोशयोः पाठः। 'भस्म' इति ग. कोशे संशोधितः, संस्कृतपदार्थे तु-'पक्वं मांसमत्ती'त्येव सार्वत्रिकः पाठः ॥

विद्वान् वा श्रेष्ठ गुणों से मिलाप कराने वाले (अग्निम्) भौतिक वा विद्युत् अर्थात् बिजलीरूप को आप (सेध) सिद्ध कीजिये, इस प्रकार हम लोगों के मङ्गल अर्थात् उत्तम उत्तम सुख होने के लिये शास्त्रों की शिक्षा करके दुःखों को (अपजहि) दूर कीजिये और आनन्द को (आवह) प्राप्त कराइये, तथा हे परमेश्वर ! आप (ध्रुवम्) निश्चल सुख देने वाले (असि) हैं; इससे (पृथिवीम्) विस्तृत भूमि वा उसमें रहने वाले मनुष्यों को (दृंह) उत्तम गुणों से वृद्धियुक्त कीजिये । हे अग्ने जगदीश्वर ! जिस कारण आप अत्यन्त प्रशंसनीय हैं इससे मैं (भ्रातृव्यस्य) दुष्ट वा शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि) (सजातवनि) ब्राह्मण क्षत्रिय तथा प्राणिमात्र के सुख के देने वाले (त्वा) आपको (उपदधामि) हृदय में स्थापित करता हूं । *यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ* ॥

तथा हे विद्वन् यजमान ! जिस कारण यह (अग्ने) भौतिक अग्नि (घृष्टिः) अति तीक्ष्ण (असि) है, तथा निकृष्ट पदार्थों को छोड़कर उत्तम पदार्थों से विद्वान वा दिव्य गुणों को प्राप्त कराने वाले यज्ञ को प्राप्त कराता है, इससे तुम (निष्क्रव्यादम्) पके हुये = भस्मादि पदार्थों को छोड़ के (आमादम्) कच्चे पदार्थ जलाने और (देवयजम्) विद्वान् वा दिव्य गुणों के प्राप्त कराने वाले (अग्निम्) प्रत्यक्ष वा बिजलीरूप अग्नि को (आवह) प्राप्त करो, तथा उसके जानने की इच्छा करने वाले लोगों को शास्त्रों की उत्तम २ शिक्षाओं के साथ उसका उपदेश (सेध) करो, तथा उसके अनुष्ठान से दोषों को (अपजहि) विनाश करो, जिस कारण यह अग्नि सूर्यरूप से (ध्रुवम्) निश्चल (असि) है, इसी कारण यह आकर्षणशक्ति से (पृथिवीम्) विस्तृत भूमि वा उसमें रहने वाले प्राणियों को (दृंह) दृढ़ करता है, इसी से मैं [(त्वा)] उस (ब्रह्मवनि) (क्षत्रवनि) (सजातवनि) ब्राह्मण, क्षत्रिय वा जीवमात्र के सुख दुःख को अलग २ कराने वाले भौतिक अग्नि को (भ्रातृव्यस्य) दुष्ट वा शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये हवन करने की वेदी वा विमान आदि यानों में (उपदधामि) स्थापन करता हूं । *यह दूसरा अर्थ हुआ ॥ १७ ॥*

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है‡ ।

भावार्थ[१]:—सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने यह भौतिक अग्नि आम अर्थात् कच्चे पदार्थ जलानेवाला बनाया है, इस कारण भस्मरूप पदार्थों के जलाने को समर्थ नहीं है जिससे कि मनुष्य कच्चे-कच्चे पदार्थों को पकाकर खाते हैं, [वह आमात्] तथा जिस करके सब प्राणियों का खाया हुआ अन्न आदि द्रव्य पकता है, [वह जाठर] और जिस करके मनुष्य लोग मरे हुए शरीर को जलाते हैं वह क्रव्यात् अग्नि कहाता है, और जिससे दिव्य गुणों को प्राप्त कराने वाली विद्युत् बनी है तथा जिससे पृथिवी का धारण और आकर्षण करने वाला सूर्य बना है और जिसे वेदविद्या के जाननेवाले ब्राह्मण वा धनुर्वेद के जाननेवाले क्षत्रिय वा सब प्राणिमात्र सेवन करते हैं, तथा जो सब संसारी पदार्थों में वर्त्तमान परमेश्वर है, वही सब मनुष्यों का उपास्य देव है । तथा जो क्रियाओं की सिद्धि के लिये भौतिक अग्नि है यह भी यथायोग्य कार्य द्वारा सेवन करने के योग्य है[२] ॥ १७ ॥

अग्ने ब्रह्मेत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता सर्वस्य । पूर्वस्य ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः ।
ऋषभः स्वरः ॥ धर्त्रमसीति मध्यस्यार्ची त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।
विश्वाभ्य इत्युत्तरस्यार्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

१ इस मंत्र में भी श्लेषालङ्कार से पूर्वमन्त्र के समान अनेकविध अर्थ समझने चाहियें ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ प्रथम अन्वय में आध्यात्मिक प्रक्रिया स्पष्ट है । आधिदैविक तथा अधियज्ञ दोनों ही अर्थ आचार्य ने दूसरे अन्वय में दर्शा दिये । यह बात सहज ही में समझी जा सकती है ॥

विशेषवक्तव्य

पूर्व तीनों मन्त्रों में यज्ञ का विस्तृत निरूपण कर अब अग्नि ही यज्ञ का मुख्य साधन है ऐसा उपक्रम करते हैं । ८,९ मन्त्रों में अग्नि को अस्त्र शस्त्र निर्माण में साधन कहा है । यहां उसको विद्वान् वा दिव्य गुणों का प्राप्त कराने वाला इत्यादि कहा, इतना भेद उन मन्त्रों से यहां है, ऐसा समझना चाहिये ॥१७॥

‡ "प्रथमान्वय में परमेश्वर का और द्वितीय अन्वय में भौतिक अग्नि का ग्रहण है" इति ख. पाठः ॥

पुनरग्निशब्देनोक्तावर्थावुपदिश्येते[1] ॥

अग्ने॑ ब्रह्म॑ गृभ्णीष्व ध॒रुण॑मस्य॒न्तरि॑क्षं दृꣳह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑ दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑ । ध॒र्त्रम॑सि॒ दिवं॑ दृꣳह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑ दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑ । विश्वा॑भ्य॒स्त्वाशा॑भ्य॒ऽउप॑ दधामि॒ चित॑ स्थोर्ध्व॒चितो॒ भृगू॑णामङ्गिरसां॒ तप॑सा तप्यध्वम् ॥ १८ ॥

अग्ने॑ । ब्रह्म॑ । गृ॒भ्णी॒ष्व॒ । ध॒रुण॑म् । अ॒सि॒ । अ॒न्तरि॑क्षम् । दृ॒ꣳह॒ । ब्र॒ह्म॒वनीति॑ ब्रह्म॒ऽवनि॑ । त्वा॒ । क्ष॒त्र॒वनीति॑ क्षत्र॒ऽवनि॑ । स॒जा॒त॒वनीति॑ सजात॒ऽवनि॑ । उप॑ । द॒धा॒मि॒ । भ्रातृ॑व्यस्य । व॒धाय॑ ॥ ध॒र्त्रम् । अ॒सि॒ । दिव॑म् । दृ॒ꣳह॒ । ब्र॒ह्म॒वनीति॑ ब्रह्म॒ऽवनि॑ । त्वा॒ । क्ष॒त्र॒वनीति॑ क्षत्र॒ऽवनि॑ । स॒जा॒त॒वनीति॑ सजात॒ऽवनि॑ । ⁂उप॑ । द॒धा॒मि॒ । भ्रातृ॑व्यस्य । व॒धाय॑ ॥ विश्वा॑भ्यः । त्वा॒ । आशा॑भ्यः । उप॑ । द॒धा॒मि॒ । चित॑ः । स्थ॒ । ऊ॒र्ध्व॒चित॒ इत्यू॑र्ध्व॒ऽचित॑ः । भृगू॑णाम् । अङ्गि॑रसाम् । तप॑सा । त॒प्य॒ध्व॒म् ॥ १८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर भौतिको वा । (ब्रह्म) वेदम् । (गृभ्णीष्व) ग्राहय गृह्णाति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । हृग्रहोर्भश्छन्दसीति [अ० ८ । २ । ३२ मा० वा०] हकारस्य भकारः । (धरुणम्[2]) धरति सर्वलोकान् यत्तत् तेजश्च । (असि) अस्ति [वा] । अत्र पक्षे प्रथमार्थे मध्यमः । (अन्तरिक्षम्) आकाशस्थान् पदार्थान्, अन्तरात्मस्थमक्षयं ज्ञानं[3] वा । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा । निरु० २ । १० । (दृंह) + दृढीकुरु करोति वा । (ब्रह्मवनि) वेदं वनयति तम् । (त्वा) त्वाम् । (क्षत्रवनि) राज्यं वनयति तम् । (सजातवनि) समाना जाता विद्याः समानं जातं राज्यं वा वनयति † तम् । (उपदधामि) धारयामि [(भ्रातृव्यस्य) द्विषतः शत्रोः । (वधाय) नाशाय हननाय] ‡ (धर्त्रम्) धरति यत् येन वा । वायुर्वाव धर्त्रं चतुष्टोमः । स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुते तद्य-त्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रम् । वायुरु सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेव तद्रूपमुपदधाति स वै वायुमेव प्रथममुपदधाति वायुमुत्तमं वायुनैव तदेतानि सर्वाणि भूतान्युभयतः परिगृह्णाति । श० ८ । ४ । १ । २६ । अनेन प्रमाणेन धर्त्रशब्देन वायुरी-श्वरश्च गृह्येते । (असि) अस्ति वा । (दिवम्) ज्ञानप्रकाशं × सूर्यलोकं वा । (दृंह) सम्यग्वर्धय, वर्धयति वा । (ब्रह्मवनि) सर्वमनुष्यार्थं ब्रह्मणो वेदस्य विभाजितारम् ÷ । ब्रह्माण्डस्य मूर्त्तद्रव्यस्य प्रकाशकं वा । (त्वा) त्वां तं वा । (क्षत्रवनि) राजधर्मप्रकाशस्य विभाजितारं ÷ राजगुणानां दृष्टान्तेन प्रकाशयितारं वा । (सजातवनि) समानान् जातान् वेदान् क्षत्रधर्मान् मूर्त्तान् जगत्स्थान् पदार्थान् वा

१ स उभयविधोऽप्यग्निस्तपसा साधनीय इत्यत आह— पुनरग्निशब्देन इति ॥

२ प्रतिष्ठा वै धरुणम् । श० ७ । ४ । २ । ५ ॥

३ वागन्तरिक्षम् । जै० ब्रा० । ४ । २२ । ११ ॥ अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः । षड्० १ । ५ ॥

⁂ 'उप॑ऽदधामि' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । इतोऽग्रे 'उ॒प॑द॒धा॒मि' इत्यपि तत्रापपाठः । अस्मिन्नेव मन्त्रे पूर्वं 'उप । द॒धा॒मि॒' इति शुद्धपाठस्य विद्यमानत्वात् । एकस्मिन्नेव मन्त्रे कियद् वैषम्यमिति सुधियो विभावयन्तु । संशोधकानाम-ज्ञानबोधकमित्यपि ध्येयम् ॥

+ 'दृढी करोति वा' इति क. ख. पाठः ॥

† इतोऽग्रे अ० मुद्रिते 'येन' इति पाठः, स च क. ख. अनुसारमस्माभिः संशोधितः ॥

‡ कोष्ठान्तर्गतपाठः प्रमादेन त्यक्तः ॥

× 'द्योतनात्मकं' इति क. ख. पाठः ॥

÷ साम्प्रतिकानां मते तु 'विभाजयितारं' इति ध्येयम् ॥

वनयति प्रकाशयति तम् [(उपदधामि) धारयामि । (भ्रातृव्यस्य) द्विषतः शत्रोः । (वधाय) नाशाय हननाय वा]* । (विश्वाभ्यः) सर्वाभ्यः । (त्वा) त्वां तं वा । (आशाभ्यः) दिग्भ्यः । आशा इति दिङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ६ । (उपदधामि) उपदधाति वा सामीप्ये धारयामि तेन पुष्णामि वा । (चितः) चेतयन्ति संजानन्ति ये ते चितः । अत्र वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्य [अ० ८ । ३ । ३६ मा० वा०] इति वार्त्तिकेन विसर्जनीयलोपः । (स्थ) भवथ भवन्ति वा । (ऊर्ध्वचितः) ऊर्ध्वानुत्कृष्टगुणान् चेतयन्ति ते मनुष्याश्रितानि कपालानि वा । (भृगूणाम्[१]) भृज्जन्ति यैस्तेषाम् । (अङ्गिरसाम्[२]) प्राणानामङ्गाराणां वा । प्राणो वा अङ्गिराः श० ६ । ५ । २ । ३ । अङ्गारेष्वङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः निरु० ३ । १७ । (तपसा) धर्मविद्याऽनुष्ठानेन तापेन तेजसा वा । (तप्यध्वम्) तपन्तु तापयत वा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । १ । ९—१३ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

१ भृगवः''''''माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः । निरु० ११ । १९ ॥

भृगुर्भृज्यमानो न देहे । निरु० ३ । १७ ॥

तथा च स्कन्दस्वामी ॥

वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः । गो०. पू० २ । ९ ॥

२ अङ्गिरा उ ह्यग्निः । श० १ । ४ । १ । २५ ॥

अङ्गिरा वा अग्निः । श० ६ । ४ । ४ । ४ ॥

भृग्वङ्गिरादयो न व्यक्तिविशेषा इत्यत्र प्रमाणम्—

अङ्गिरस्तमः (ऋ० १ । १०० । ४) इत्येवं बहुषु मन्त्रेषु दर्शनान्नेयं संज्ञा व्यक्तिविशेषस्येति सुव्यक्तम् । अन्यथा तमप्प्रत्ययस्यानुपपत्तिः स्यात् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अग्ने) आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तः ॥

(ब्रह्म) बृंहेर्नोऽच्च (उ० ४ । १४६) इति मनिन् प्रत्ययान्तो ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः, स्वरितस्ततः ॥

(गृभ्णीष्व) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघात एकश्रुतिश्च ॥

(धरुणम्) धृञ् धारणे (भ्वा० उ०) कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३ । ५३) इति बाहुलकाद् उनन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वात् प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः । अन्ये तु धारेर्णिलुक् च इति सूत्रं पठन्ति (श्वेतवनवासी पृ० १७७, नारायण पृ० ६५ दश० उ० ५ । ६०) अत्र दशपादीवृत्तिकारोऽपि चित्त्वमनुवर्तयति । श्वेतवनवासी तु नानुवर्तयति तस्य मते नित्त्वादाद्युदात्तत्वं प्राप्नोति तदुभयमपि न, धरुणशब्दस्य मध्योदात्तदर्शनात् । अत एव च नारायणः प्राह—अस्य नित्त्वं चित्त्वं च विना प्रत्ययस्वर एव इष्टः (पृ० ६९) इति ॥

(असि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अन्तरिक्षम्) पूर्वं व्याख्यातम् (यजुः १ । ७ । पृ० ५४) ॥

(दृंह) पूर्ववदेव निघातः ॥

(ब्रह्मवनि) पूर्वमन्त्रे व्याख्यातः (पृ० ९१) । यद्वा सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) इतीन्, नित्त्वादाद्युदात्तः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्व उत्तरपदाद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(क्षत्रवनि, सजातवनि) पूर्ववदेव पृ० ९१ ॥

(उपदधामि) अत्रैकपदत्वे छान्दसत्वात् समास आद्युदात्तत्वं च द्रष्टव्यम् । पृथक् पदत्वे तु (उप) उपसर्गाद्युदात्तत्वं, (दधामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(भ्रातृव्यस्य) व्यन् सपत्ने (अ० ४ । १ । १४५) इति व्यन् शत्रौ । नित्त्वादाद्युदात्तः । ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् ॥

(वधाय) हनश्च वधः (अ० ३ । ३ । ७६) इत्यप् । शेषं पूर्ववत् पृ० ९१ ॥

(धर्त्रम्) गुधृवीपचि''''''भ्यस्त्रः (उ० ४ । १६७) इति त्रः प्रत्यय । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

* पूर्ववदत्रापि कोष्ठान्तर्गतः पाठः प्रमादेन त्यक्तः ॥

अन्वय[1]:—हे अग्ने परमेश्वर ! त्वं धरुणमसि कृपयाऽस्मत्प्रयुक्तं ब्रह्म गृभ्णीष्व तथाऽस्मास्वन्तरिक्षमक्षयं विज्ञानं दृंह वर्धय। अहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वोपदधामि। हे सर्वधातर्जगदीश्वर ! त्वं सर्वेषां लोकानां धर्त्रमसि कृपयाऽस्मासु दिवं ज्ञानप्रकाशं दृंह। अहं भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा त्वामुपदधामि। [त्वा] त्वां सर्वव्यापकं ज्ञात्वा विश्वाभ्य आशाभ्य उपदधामि। हे मनुष्या ॐ यूयमप्येवं विदित्वा चित [स्थ] ऊर्ध्वचितः ‡ कपालानि कृत्वा भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वं यथा तपन्तु तथा तापयतेत्येकः ॥

† हे ! विद्वन् [अग्ने] येनाग्निना धरुणं ब्रह्मान्तरिक्षं गृह्यते दृह्यते च [त्वा] तं त्वं होमार्थं शिल्पविद्यासिध्यर्थं च गृभ्णीष्व दृंह च। तथैवाहमपि भ्रातृव्यस्य वधाय [त्वा] तं ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि। एवं सोऽग्निर्धृतः ⚘ सन् सुखमुपदधाति। एवं यो वायुर्धर्त्रं सर्वलोकधारकोऽस्ति दिवं च दृंह दृंहति तमहं यथा भ्रातृव्यस्य वधाय ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि। तथैव त्वमप्येतं तस्मै प्रयोजनायोपदृंह। हे ❖ शिल्पविद्यां चिकीर्षो विद्वन् ! येन वायुना पृथिवी द्यौः सूर्य्यलोकश्च धार्य्यते दृह्यते च तं त्वं जीवनार्थं शिल्पविद्यायै च धारय दृंह च ब्रह्मवनि इत्यादि पूर्ववत्। हे मनुष्या यथाऽहं वायुविद्यावित्त्वा तमग्निं वायुं च विश्वाभ्य आशाभ्य उपदधामि, तथैव यूयमप्युपधत्त। यज्ञार्थं शिल्पविद्यार्थंसुपरिचित ऊर्ध्वचितः ‡ कपालानि कला धारितवन्तः सन्तो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वं

(असि) निघातत्वं स्वरितत्वं च पूर्ववत् ॥

(दिवम्) दिवुधातोः क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति क्विप्। धातुस्वरेणोदात्तः। ततोऽम्, स चानुदात्तः ॥

(दृंह, ब्रह्मवनि, त्वा, क्षत्रवनि, सजातवनि, उप, दधामि, भ्रातृव्यस्य, वधाय) इति सर्वं पूर्ववदेव पृ०९५॥

(विश्वाभ्यः) अशिप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। (उ० १।५१) इति क्वन् प्रत्ययः नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् दापि पित्वे विभक्त्यनुदात्तत्वे च स एव स्वरः ॥

(आशाभ्यः) आङ्पूर्वात् 'अशूङ् व्याप्तौ' (स्वा० आ०) इत्यस्मात् नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (अ० ३।१।१३४) इति 'अच्' प्रत्ययः। चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६।१।१९७) इत्यनेनाद्युदात्तत्वम्। तथा च फिट्सूत्रम्—आशाया अदिगाख्या चेत्, (फि० १९) ॥

(चितः) चिञ्धातोः क्विपि धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम्॥

(स्थ) निघातः पूर्ववत् ॥

(ऊर्ध्वचितः) क्विपि, उपपदसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे 'चि' उदात्तः ॥

(भृगूणाम्) भ्रस्ज पाके (तु० उ०) अस्मात् प्रथिम्रदिभ्रस्जां० (उ०१।२८) इत्यादिना 'कु' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्ते प्राप्ते वृषादित्वाद् बाहुलकत्वाद्वाद्युदात्तः ॥

(अङ्गिरसाम्) अङ्गेरिरसिः (उ० ४।२३६)। वृषादित्वाद् बाहुलकत्वाद्वाद्युदात्तः। उज्ज्वलदत्तादयस्तु 'अङ्गिराः' इत्येवं निपातयन्ति तेषां निपातनादिष्टस्वरसिद्धिः ॥

(तपसा) तप सन्तापे (भ्वा० प०) असुन्प्रत्यान्तत्वादाद्युदात्तः वृषादित्वाद् वा ॥

(तप्यध्वम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति सर्वानुदात्तत्वे एकश्रुतिः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अत्र यद् वक्तव्यं तत् पूर्वत्र (यजुः १।११, १६) विवरण उक्तम् ॥

२ अत्र केचिदाक्षिपन्ति—'वेदभाष्ये विमानादियन्त्राणां प्रतिपादनं कुर्वता स्वामिदयानन्देन प्रत्नभारतगौरवधिया मुधैव सर्वमलेखि। तेषामस्यामेव शताब्द्यामाविष्कारः समजनि कुतस्तेषां प्राक् सम्भव' इति।

ॐ 'यूयमथैवं' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥

‡ संस्कृतपदार्थे स्वयं शब्दः प्रथमार्थे व्याख्यायते, अत्र द्वितीयार्थ इति ध्येयम् ॥

† अत्रान्वये 'स्थ' इति मन्त्रगतपदं त्यक्तम्, तथैव च भाषापदार्थेऽपि, तच्चात्र न क्वचिदन्वेति ॥

⚘ "सोऽग्निर्धत्तः सन्" इति सार्वत्रिकः पाठः, साम्प्रतिकानां मते हितः इति स्यात् ॥

❖ "हे शिल्पविद्यां चिकीर्षो......इत्यादि पूर्ववत्" इति पाठोऽनावश्यक इव प्रतिभाति।

तापयत च [इति द्वितीयः] ॥ १८ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः[1]—ईश्वरेणेदमादिश्यते भवन्तो विद्वदुन्नतये मूर्खत्वविनाशाय सर्वशत्रूणां निवारणेन राज्यवर्धनाय च वेदविद्यां गृह्णीयुः । †योऽग्नेर्वृद्धिहेतुः सर्वाधारको वायुरग्निमयः सूर्य्य ईश्वरश्च स्थ सन्ति, तान् सर्वासु दिक्षु विस्तृतान् व्यापकान् विदित्वा यज्ञसिद्धिं विमानादियानरचनं च ‡ धर्मेण कुर्वन्तु, ताभ्यामग्नि-वायुभ्यां यानानि चालयित्वा दुःखानि निवार्य्य शत्रून् विजयन्ताम्[2] ॥ १८ ॥

फिर भी अग्नि शब्द से अगले मन्त्र में पूर्वोक्त दोनों अर्थों का प्रकाश किया है[3] ।

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (धरुणम्) सबके धारण करनेवाले (असि) हैं, इससे मेरी (ब्रह्म) वेदमन्त्रों से की हुई स्तुति को (गृभ्णीष्व) ग्रहण कीजिये, तथा (अन्तरिक्षम्) आत्मा में स्थित जो अक्षय ज्ञान है, उसको (दृंह) बढ़ाइये, मैं (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि) सब मनुष्यों के सुख के निमित्त वेद के ≠ विभाग करनेवाले तथा (क्षत्रवनि) राजधर्म के प्रकाश करनेहारे (सजातवनि) जो

अत्र वदामः—रामायणमहाभारतादि-ऐतिह्यग्रन्थेषु बाहुल्येन विमानादीनां वर्णनमुपलभ्यते । नहि शशश्रृङ्गायमानानां वर्णनं कथंचिदपि संगच्छते । अपि च न केवलं नामतो वर्णनमात्रमेवापितु याथातथ्येन निर्माणप्रकारोऽपि सुस्पष्ट उपलभ्यते । तद्यथा—समराङ्गणसूत्रधारे यन्त्राध्याये—

लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य ।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्याग्निपूर्णम् ॥
तत्रारूढः पुरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालप्रोज्झितेनानिलेन ।
सुप्तस्यान्तः पारदस्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं संचलत्यलघु दारुविमानम् ।
आदधीत विधिना चतुरोऽन्तरतस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
अयःकपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन ।
व्योम्नो झगित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद् रसराजशक्त्या ॥

समरा० सू० अ० ३१ । श्लो० ९५—९८ ॥
कपालशब्दोऽत्र विशेषध्यानार्हः ।

एतेन नामूलं किञ्चिदलेखि स्वामिदयानन्देनेति सुव्यक्तम् ।

त्रिविधप्रक्रिया

१ प्रथमान्वयस्त्वाध्यात्मिकार्थपरो व्याख्यातः । अपरस्तु आधिदैविकाधियज्ञपरो वेदितव्यः । पदार्थस्तु सर्वप्रक्रियापरोऽस्त्येव ॥

विशेषवक्तव्यम्

२ 'अन्तरिक्षं दृंह' 'दिवं दृंह' इत्यादिपदैरग्नेः परमेश्वरस्य भौतिकस्य चाद्भुतशक्तिमाह । अष्टमनवममन्त्रयोरप्ययं विषयः प्रतिपादितः । कपालाग्निप्रक्रियया-ऽत्र विमानादिनिर्माणमिति विशेषः ॥

३ उक्त दोनों प्रकार का अग्नि तपश्चर्या अर्थात् महान् प्रयत्न से ही सिद्ध हो सकता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

---

† भाषायां तु 'वृद्धिका हेतु अग्नि' तदनुसारमत्रापि 'अग्निर्वृद्धिहेतुः' इति स्यात् । अथवा भाषापदार्थे 'अग्निकी वृद्धिका हेतु' इति पाठः स्यात् ।

‡ "......विमानादियानरचनं तानि चालयित्वा" इति अ० मुद्रिते ख. ग. कोशयोश्च पाठः । अस्मत्पाठस्तु क. कोशानुसारी ॥

≠ 'वेद के शाखा शाखान्तर द्वारा विभाग करने वाले तथा' इति क. ख. पाठः । "वेद के शाखा शाखान्तर द्वारा विभाग करने वाले ब्राह्मण तथा" इति अ० मु० पाठः । तत् सर्वं संस्कृतपदार्थविरोधात् ग्रन्थकर्तुः स्वसिद्धान्तविरोधाच्चोपेक्ष्यम् ॥

परस्पर समान क्षत्रियों के धर्म और संसारी मूर्तिमान् पदार्थ हैं, इन[का]प्राणियों के लिये अलग-अलग प्रकाश करनेवाले (त्वा) आपको (उपदधामि) हृदय के बीच में धारण करता हूं। हे सबके धारण करनेवाले परमेश्वर ! जो आप (धर्त्रम्) लोकों के धारण करनेवाले [(असि)] हैं इससे कृपा करके हम लोगों में (दिवम्) अत्युत्तम ज्ञान को (दृंह) बढ़ाइये और मैं (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि) उक्त वेद राज्य वा परस्पर समान विद्या वा राज्यादि व्यवहारों को यथायोग्य विभाग करनेवाले (त्वा) आपको (उपदधामि) वारंवार अपने हृदय में धारण करता हूं। तथा मैं (त्वा) आपको सर्वव्यापक जानकर (विश्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) दिशाओं से सुख होने के निमित्त वारंवार (उपदधामि) अपने मन में धारण करता हूं। हे मनुष्यो ! तुम लोग उक्त व्यवहार को अच्छी प्रकार जानकर (चितः) विज्ञानी [(स्थ) होवो] तथा (ऊर्ध्वचितः) उत्तम ज्ञानवाले पुरुषों की प्रेरणा से [शिल्पकला के निमित्त] कपालों को अग्नि पर धरके तथा (भृगूणाम्) जिनसे विद्या आदि गुणों को प्राप्त होते हैं, ऐसे (अङ्गिरसाम्) प्राणों के (तपसा) प्रभाव से (तप्यध्वम्) * तप करो और कराओ ॥ *यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ ॥*

अब दूसरा भी कहते हैं। हे विद्वान् धर्मात्मा पुरुष ! जिस (अग्ने) भौतिक अग्नि से (धरुणम्) सबका धारण करनेवाला तेज (ब्रह्म) वेद और (अन्तरिक्षम्) आकाश में रहनेवाले पदार्थ ग्रहण वा वृद्धियुक्त किये जाते हैं (त्वा) उसको तुम होम वा शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये (गृभ्णीष्व) ग्रहण करो वा (दृंह) विद्यायुक्त क्रियाओं से बढ़ाओ उसी प्रकार मैं भी (भ्रातृव्यस्य) शत्रुओं के (वधाय) विनाशके लिये (त्वा) उस (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि) संसारी मूर्तिमान् पदार्थों के प्रकाश करने वा राजगुणों के दृष्टान्तरूप से प्रकाश करानेवाले भौतिक अग्नि को शिल्पविद्या आदि व्यवहारों में (उपदधामि) स्थापन करता हूं। ऐसे स्थापन किया हुआ अग्नि हमारे अनेक सुखों को धारण करता है। इसी प्रकार [जो वायु] (धर्त्रम्) सब लोकों का धारण करनेवाला (असि) है तथा (दिवम्) प्रकाशमय सूर्य्यलोक को (दृंह) दृढ़ करता है, हे मनुष्यो ! जैसे मैं (भ्रातृव्यस्य) अपने शत्रुओं के (वधाय) विनाश के लिये (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, सजातवनि) वेद, राज्य वा परस्पर समान उत्तम २ शिल्पविद्याओं को यथायोग्य कार्य्यों में युक्त करनेवाले उस † भौतिक वायु को (उपदधामि) स्थापन करता हूं, वैसे तुम भी उत्तम २ क्रियाओं में युक्त करके विद्या के बल से उसको बढ़ाओ। ‡ हे [शिल्प] विद्या चाहनेवाले पुरुष ! जो पवन पृथिवी और सूर्य्य आदि लोकों को धारण कर रहा है, उसे तुम अपने जीवन आदि सुख वा शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये यथायोग्य कार्यों में लगाकर धारण करो और उसकी विद्या से वृद्धि करो, तथा जैसे हम अपने शत्रुओं के विनाश के लिये अग्नि के उक्त गुणों के समान वायु को शिल्पविद्या आदि व्यवहारों में (उपदधामि) संयुक्त करते हैं, वैसे ही तुम भी अपने अनेक दुःखों के विनाश के लिये उसको यथायोग्य कार्यों में संयुक्त करो। हे मनुष्यो ! जैसे मैं वायुविद्या का जाननेवाला (त्वा) उस अग्नि वा वायु को (विश्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) दिशाओं से सुख होने के लिये यथायोग्य शिल्पव्यवहारों में (उपदधामि) धारण करता हूं, वैसे तुम भी धारण करो। तथा शिल्पविद्या वा होम करने के लिये (चितः) (ऊर्ध्वचितः) § पदार्थों के भरे हुए पात्र वा सवारियों में स्थापन किये हुए कलायन्त्रों को, (भृगूणाम्) जिनसे पदार्थों को पकाते हैं, उन [(अङ्गिरसाम्)] अंगारों के (तपसा) ताप से (तप्यध्वम्) उक्त पदार्थों को तपाओ ॥ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ १८ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

* 'तपो और तपाओ' इति अ० मु० पाठः ॥ † 'उस भौतिक अग्निको' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥
‡ 'हे (शिल्प) विद्या चाहनेवाले पुरुष ······ कार्यों में संयुक्त करो' इति पाठोऽनावश्यक इव प्रतिभाति ॥
§ अत्र द्वितीयार्थे 'स्थ' इति मन्त्रगतपदं त्यक्तं, अनन्वितं चेति ध्येयम् ॥

भावार्थः—ईश्वर का यह उपदेश है कि हे मनुष्यो ! तुम विद्वानों की उन्नति तथा मूर्खपन का नाश वा सब शत्रुओं की निवृत्ति से राज्य बढ़ने के लिये वेदविद्या को ग्रहण करो, तथा § वृद्धि का हेतु अग्नि वा सबका धारण करनेवाला वायु, अग्निमय सूर्य्य और ईश्वर इन्हें सब दिशाओं में व्याप्त जानकर यज्ञसिद्धि वा विमान आदि यानों की रचना धर्म के साथ करो, तथा ❀ इनसे इनको सिद्ध करके दुःखों को दूर करके शत्रुओं को जीतो[1]॥ १८ ॥

शर्मासीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अथ [2]यज्ञस्य स्वरूपमङ्गानि चोपदिश्यन्ते[3]॥

शर्मा॒स्यव॑धूत॒ꣳरक्षो॒ऽव॑धूता॒ऽअरा॑त॒योऽदि॑त्या॒स्त्वग॑सि॒ प्रति॒ त्वादि॑तिर्वे॑त्तु । धि॒षणा॑सि प॒र्व॒ती प्रति॒ त्वादि॑त्या॒स्त्वग्वे॑त्तु दि॒वः स्क॑म्भ॒नीर॑सि धि॒षणा॑सि पार्वते॒यी प्रति॑ त्वा प॒र्व॒ती वे॑त्तु ॥ १९ ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ प्रथम अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ का निरूपण है । दूसरा आधिदैविक तथा अधियज्ञपरक है । संस्कृत-पदार्थ सब प्रक्रियाओं का द्योतक है ॥

विशेषवक्तव्य

यहां पर कई एक यह आक्षेप करते हैं कि स्वामी दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में विमानादि यन्त्रों का वर्णन केवल भारत के प्राचीन गौरव के प्रदर्शनार्थ ही किया है, क्योंकि इन यन्त्रों का आविष्कार इसी शताब्दी में हुआ है, अतः प्राचीनकाल में इनका होना कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि रामायण महाभारत आदि प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में विमानादि का वर्णन बहुधा उपलब्ध होता है । यदि विमानादि उस काल में न होते तो शशशृङ्ग की तरह उनका वर्णन ही नहीं हो सकता था । उनका वर्णन नाममात्र से ही मिलता हो ऐसी बात भी नहीं है, अपितु उनके बनाने का प्रकार भी स्पष्टतया उपलब्ध होता है । जैसा कि समराङ्गणसूत्रधार के यन्त्राध्याय में लिखा है

"अत्यन्त हलकी लकड़ी का, बड़े पक्षी के आकार के समान, सुदृढ़ विमान बनाकर उसके मध्य में रस (पारा) का यन्त्र रक्खे । उसके नीचे अग्नि का यथोचित प्रबन्ध करे । गरम हुए पारे की शक्ति से उसमें बैठा हुआ पुरुष आकाश में अत्यन्त दूर दूर तक जाता है । उस विमान में पारे के अत्यन्त सुदृढ़ मुंहबन्द चार घड़े यथोचित रीति से रक्खे । मन्द २ अग्नि से परितप्त पारद की शक्ति से शब्द करता हुआ शीघ्र ही आकाश में पहुंच जाता है" ।

इस उद्धरण से स्पष्ट सिद्ध है कि भारत के प्राचीन आर्य भी विमानादि विचित्र २ यान बनाने में अत्यन्त सिद्धहस्त थे । इस प्रकार के अनेक आश्चर्यकारी यन्त्रों का वर्णन समराङ्गणसूत्रधार तथा अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । अतः ऋषि दयानन्द की यह कपोलकल्पना नहीं है, अपितु यथार्थ वस्तु का संकेतमात्र है ।

इसलिये प्रकृतमन्त्र के भाष्य में कपालाग्निक्रिया से, 'अयः कपाल' इत्यादि (स० सू० ३१ । ९८) श्लोक सिद्ध विमानादि यन्त्रों के निर्माण का विषय कहा है । पूर्व आठवें नवमें मन्त्र से इतना यहां विशेष समझना चाहिये । ईश्वर तथा भौतिक अग्नि की शक्ति अद्भुत है, यह इस मन्त्र में कहा है ॥१८॥

२ एष वै यज्ञो यदग्निः ॥ श० २ । १ । ४ । १९ ॥ दृषद्, शम्या, उपल इति सर्वानुक्रमणी । रक्षः इति सायणः तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये । कथं चात्र विप्रतिपत्तिरिति त एवानुयोज्याः ॥

३ उभयविधाग्नेर्ज्ञानं वेदादेव सम्भवति, तत्र च वेद-वाणी यज्ञस्य मुख्यमङ्गमित्याह—अथ यज्ञस्येति ॥

§ अत्र विषये संस्कृतभावार्थे टिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ॥

❀ 'तथा उक्त वायु और अग्नि से यानादि उत्तम क्रिया' इति ख० पाठः । स च संस्कृतानुसारी इत्यपिध्येयम् ॥

शर्म॑। अ॒सि॒। अव॑धूत॒मित्यव॑ऽधूतम्। रक्षः॑। अव॑धूता॒ इत्यव॑ऽधूताः। अरा॑तयः। अदि॑त्याः। त्वक्। अ॒सि॒। प्रति॑। त्वा॒। अदि॑तिः। वे॒त्तु॒॥ धि॒षणा॑। अ॒सि॒। प॒र्व॒ती। प्रति॑। त्वा॒। अदि॑त्याः। त्वक्। वे॒त्तु॒। दि॒वः। स्क॒म्भनीः। अ॒सि॒। धि॒षणा॑। अ॒सि॒। पा॒र्व॒ते॒यी। प्रति॑। त्वा॒। प॒र्व॒ती। वे॒त्तु॒॥ १९॥

पदार्थः—(शर्म) सुखहेतुः। (असि) भवति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (अवधूतम्) विनाशितम्। (रक्षः) दुःखं निवारणीयम्। (अवधूताः) निवारणीया विचालिता हताः। अवेति विनिग्रहार्थीयः। निरु० १। ३ (अरातयः) अदानस्वभावाः कृपणाः। (अदित्याः) अन्तरिक्षस्य। (त्वक्) त्वग्वत्। (असि) भवति। (प्रति) क्रियार्थे। (त्वा) तं यज्ञम्। (अदितिः) ❀ यज्ञस्यानुष्ठाता यजमानः। अदितिरिति पदनामसु पठितम्। निघ० ५। ५। + इति यज्ञस्य ज्ञाता पालकार्थो गृह्यते। (वेत्तु) जानातु। (धिषणा[1]) वाक् वेदवाणी ग्राह्या। धिषणेति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १। ११। धृष्णोति सर्वा विद्या यया सा। धृषेर्धिष च संज्ञायाम्। उ० २। ८२। अनेनायं शब्दः सिद्धः। महीधरेण धिषणेदं पदं धियं बुद्धिकर्म वा सनोति व्याप्नोतीति भ्रान्त्या[2] व्याख्यातम्। (असि) भवति। (पर्वती) †पर्वणं पर्वहुज्ञानं विद्यतेऽस्यां क्रियायां सा पर्वती। अत्र संपदादित्वात् [अ० ३। ३। १०८ भा० वा०] क्विप्। भूम्नि मतुप्। उगितश्च [अ० ४। १। ६] इति ङीप्। (प्रति) वीप्सार्थे। (त्वा) ‡ तां ताम् (अदित्याः[3])

१ धृषेर्धिष च संज्ञायाम् (उ० २। ८२) इति क्युप्रत्ययः। युवोरनाकौ (अ० ७। १। १) इति अनादेशः। स च प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः। तेन धिषणाशब्दो मध्योदात्तः सम्पन्नः।

२ उक्तेनोणादिसूत्रेणैकस्मादेव धातोः सिद्धे धातुद्वयकल्पनाया गौरवात्, स्वरदोषाच्च। तथा हि—धियं बुद्धिं सनोतीति षणु (त० उ०) धातोः पचाद्यच्, थाथघञ्क्ताज० (अ० ६। २। १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तस्वरः प्राप्नोति, मध्योदात्तश्चेष्यते इति भ्रान्तिरेव महीधरस्येति भाष्यकारस्याभिप्रायः॥

अन्यच्च यदा धिषणाशब्दो वाचो द्यावापृथिव्योश्च वाचको निघण्टौ निरुक्ते च वर्तते तदा तदनुल्लेखोऽपि भ्रान्त्यैवेति विज्ञेयम्॥

३ अदितिर्द्यौः (ऋ० १। ८९। १०) इति द्युलोकः प्रकाश एव॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शर्म—वेत्तु) पूर्वार्धोऽयं पूर्वं (यजुः १। १४) व्याख्यातः॥

(पर्वती) पर्व पूरणे इत्येतस्माद् धातोः सम्पदादित्वात् क्विपि राल्लोपः (अ० ६। ४। २१) इति लोपे सति 'पर्' इति सम्पद्यते। ततो भूमन्यर्थे मतुपि स्त्रियां ङीपि च पर्वतीति सिद्धम्। ङीपः पित्त्वे छान्दसोऽन्तोदात्तः॥

(अवधूताः) पूर्वं य० १। १४ पृ० ७७ व्याख्यातः।

(प्रति, त्वग्, वेत्तु, दिवः) पूर्वत्र (यजुः १। १४) व्याख्याताः॥

(स्कम्भनीः) स्कम्भं नयति क्विप् च (अ० ३। २ ७६) इति क्विप्, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः॥

(असि) पूर्ववन्निघातः॥

(धिषणा) धृषेर्धिष च संज्ञायाम् (उ० २। ८२) इति क्युः प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। ततष्टाप् एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८। २। ५) इति स एव स्वरः व्याख्यातः॥

(पार्वतेयी) पूर्वविग्रहे छान्दसो ढक्प्रत्ययः, तस्य कित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। टिड्ढाणञ् (अ० ४। १। १५)

❀ संस्कृतान्वये भाषापदार्थे च 'नाशरहितः' इति पठ्यते, अत्र तु भिन्नोऽर्थः। कथमत्र समन्वय इति तु न प्रतिपद्यामहे॥
\+ 'इत्यनेनादितिशब्देन यज्ञस्य···' इति क० पाठः। 'इत्यनेन यज्ञस्य' इति ख० पाठः॥
† "पर्वणं पः ज्ञानं [तद्] बहु विद्यते······" इति क. ख. पाठः। स च सम्यक्तर इति ध्येयम्॥
‡ पूर्वं '(प्रति) वीप्सार्थे' इत्युक्तं, तेनात्रापि वीप्सार्थः स्यात्॥

प्रकाशस्य। (त्वक्) त्वचति संवृणोत्यनया सा। (वेत्तु) जानातु। (दिवः) प्रकाशवतः सूर्य्यादिलोकस्य। (स्कम्भनीः) स्कम्भं प्रतिबद्धं नयतीति सा। (असि) भवति। (धिषणा) धारणावती द्यौः। धिषणे[इ]ति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम्। निघ० ३।३० (असि) अस्ति। (पार्वतेयी) पर्वतस्य मेघस्य दुहितेव या सा पार्वतेयी। पर्वत इति मेघनामसु पठितम्। निघ० १।१०।‡ पर्वतस्येयं घनपङ्क्तिः पार्वती तस्यापत्यं दुहितेव पार्वतेयी वृष्टिः। स्त्रीभ्यो ढक्। अ० ४।१।१२० अनेन ढक्। (प्रति) इत्थंभूताख्याने। (त्वा) तामीदृशीं। (पर्वती) पः प्रशस्तं आपणं यस्यां सा, अत्र प्रशंसार्थं मतुप्। (वेत्तु) जानातु॥ अयं मन्त्रः श० १।२।१।१४—१७। व्याख्यातः॥ १९॥

अन्वयः—हे मनुष्या भवन्तो योऽयं यज्ञः ※ शर्म सुखदोऽदितिर्नाशरहितोऽस्यस्ति, येन रक्षो दुःखमवधूतमरातरोऽवधूता विनष्टाश्च भवन्ति, योऽदित्या अन्तरिक्षस्य पृथिव्याश्च [त्वक्] त्वग्वदस्यस्ति। त्वा तं [प्रति] वेत्तु विदन्तु[1] येन विद्याख्येन यज्ञेन पर्वती दिवः स्कम्भनीः [असि] पार्वतेयी धिषणाऽ[स्य]दित्या [त्वक्] त्वग्वद्विस्तार्य्यते, त्वा तं प्रतिवेत्तु यथावज्जानन्तु, येन सत्संगत्याख्येन पर्वती ब्रह्मज्ञानवती धिषणा [असि] प्राप्यते, [त्वा] तमपि प्रतिवेत्तु [1]जानन्तु॥ १९॥

भावार्थः[2]—मनुष्यैर्यो, विज्ञानेन सम्यक् सामग्रीं संपाद्य, यज्ञोऽनुष्ठीयते, यश्च वृष्टिवुद्धिवर्धकोऽस्ति, सोऽग्निना मनसा च संसाधितः सूर्य्यप्रकाशं त्वग्वत्सेवते[3]॥ १९॥

इसके अनन्तर ईश्वर ने यज्ञ का स्वरूप और इसके अङ्ग अगले मन्त्र में उपदेश किये हैं[5]।

पदार्थः—हे मनुष्यो! तुम लोग जो यज्ञ (शर्म) सुख का देनेवाला (असि) है, और (अदितिः) नाशरहित है, तथा जिससे (रक्षः) दुःख और दुष्टस्वभावयुक्त मनुष्य (अवधूतम्) विनाश को प्राप्त तथा (अरातयः) दान आदि धर्मों से रहित पुरुष (अवधूताः) नष्ट होते हैं, और जो (अदित्याः) अन्तरिक्ष वा पृथिवी के (त्वक्) त्वचा के समान (असि) है, (त्वा) उसे (प्रतिवेत्तु) जानो और जिस विद्यारूप उक्त यज्ञ से (पर्वती) बहुत ज्ञानवाली (दिवः) प्रकाशमान सूर्य्यादि लोकों की (स्कंभनीः) रोकनेवाली [(असि) है] तथा (पार्वतेयी) मेघ की कन्या अर्थात् पृथिवी के तुल्य (धिषणा) वेदवाणी [(असि) है], (अदित्याः) पृथिवी के (त्वक्) शरीर के तुल्य विस्तार को प्राप्त होती है। (त्वा) उसे (प्रतिवेत्तु) यथावत् जानो, और जिस सत्संगतिरूप यज्ञ से (पर्वती) उत्तम २ ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेवाली (धिषणा) द्यौः अर्थात् प्रकाशरूपी बुद्धि [(असि)] प्राप्त होती है (त्वा) उसे भी। (प्रतिवेत्तु) जानो॥ १९॥

इत्यनेन ङीप्, ततोऽनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप् उदात्तः॥

(प्रति, त्वा, पर्वती, वेत्तु) इति तु सर्वं व्याख्यातम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ विदन्तु जानन्तु इत्युभयत्र व्यक्तिपरं बहुत्वम्॥

२ यथा त्वग् विस्तृता सती सूर्यप्रकाशेन संयुज्यते तथैवायं यज्ञोऽपीति॥

३ अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ सर्वप्रक्रियास्वप्यत्रान्वयः पदार्थश्च संगच्छते।

विशेषवक्तव्यम्

अस्य मन्त्रस्य पूर्वार्द्धः पूर्वत्र (यजु० १।१४) गृहविशेषणोऽपि सन्नत्र यज्ञपर इति विशेषः॥१९॥

५ उभयविध अग्नि का ज्ञान वेद से ही हो सकता है और वेदवाणी यज्ञ का मुख्य अङ्ग है यह कहते हैं—

---

‡ "पर्वतस्येयं पार्वती घनपङ्क्तिः" इति पाठः सम्यक्तरः स्यात्॥

※ 'शर्मासि सुखदोऽदितिर्नाशरहितोऽस्ति येन रक्षोऽवधूतं 'दुःखम्' इति सार्वत्रिकः पाठः॥

भावार्थः—मनुष्यों को अपने विज्ञान से अच्छे प्रकार पदार्थों को इकट्ठा करके उनसे यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये, जो कि वृष्टि वा बुद्धि के बढ़ानेवाला है। वह अग्नि और मन से सिद्ध किया हुआ [यज्ञ] सूर्य के प्रकाश को त्वचा के समान सेवन करता है[2] ॥ १९ ॥

धान्यमसीत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कस्मै प्रयोजनाय स यज्ञः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा ।
दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रति
गृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि ॥ २० ॥

धान्यम् । असि । धिनुहि । देवान् । प्राणाय । त्वा । उदानायेत्युत्ऽआनाय । त्वा । व्यानायेति विऽआनाय । त्वा । दीर्घाम् । अनु । प्रसितिमिति प्रऽसितिम् । आयुषे । धाम् । [देवः । वः । सविता । हिरण्यपाणिरिति हिरण्यऽपाणिः । प्रति । गृभ्णातु । अच्छिद्रेण । पाणिना ।] चक्षुषे । त्वा । महीनाम् । पयः । असि ॥ २० ॥

पदार्थः—धान्यम् धातुमर्हं यत् यज्ञात् शुद्धम् । रोगनाशकेन स्वादिष्टतमेन [च हेतुना] सुखकारकं व्रीह्यादिकमन्नं* तत्, अत्र दधातेर्यत् नुट् च । उ० । ५ । ४८ । अनेन यत्प्रत्ययो नुडागमश्च (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (धिनुहि) धिनोति प्रीणाति । अत्र लडर्थे लोट् । (देवान्) विदुषो[7] जीवानिन्द्रियाणि च । (प्राणाय) प्रकृष्टमन्यते जीव्यते येन तस्मै जीवनधारणहेतवे बलाय । (त्वा) तत् । (उदानाय) स्फूर्त्तिहेतव ऊर्ध्वमन्यते चेष्ट्यते येन तस्मै उत्क्रमणपराक्रमहेतवे । (त्वा) तत् । (व्यानाय) विविधमन्यते व्याप्यते येन तस्मै, सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्याङ्गानां च व्याप्तिहेतवे । (त्वा) तत् । अत्र त्रिषु प्रथमार्थे मध्यमः । (दीर्घाम्) विस्तृताम् । (अनु) पश्चादर्थे (प्रसितिम्) प्रकृष्टं सिनोति बध्नास-

१ 'कराता है' इतिभावः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ यहां अन्वय और पदार्थ दोनों से त्रिविध अर्थ भासित हो रहा है ॥

विशेषवक्तव्य

इस मन्त्र का पूर्वार्ध यजु० १ । १४ में गृह का विशेषण होता हुआ भी यहां यज्ञपरक है, इतना विशेष समझना चाहिये ॥१९॥

---

३ हविः, आज्यम् इति सर्वानुक्रमणी ॥

४ दुर्भावनाः प्राणापानगतिनिरोधेन नश्यन्ति । ततश्चायुर्वृद्धिरिति यज्ञप्रयोजनमाह—'कस्मै प्रयोजनाय' इति॥

५ हेतावत्र पञ्चमी ॥

६ 'इह भाषायां द्वितीयः प्रकर्षप्रत्ययो नेष्यते, तेन श्रेष्ठतरो ज्येष्ठतर इति न भवतीत्येके । भवतीति जयादित्यः । तेन 'युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्' इति सिद्धं भवति' इति पुरुषोत्तमदेवः (भाषा वृ० ५ । ३ । ६१) तथैव च तत्पूर्ववर्त्तिनः ॥

अतिशायने प्रत्ययद्वयस्य सहप्रयोगस्तु महाभारतादावपि दृश्यते । तद्यथा—अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा । महा० आ० प० ७४ । ४१ ॥

७ अथ हैते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः । षड्विं० १ । १ ॥

द्वया ह वै देवाः । अहैव देवाः । अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः । श० । २ । २ । २ । ६, ४ । ३ । ४ । ४॥ चक्षुर्देवः । गो०पू० २ । ११ ॥
देवा विप्राः । श० ६ । ३ । १ । १६ ॥
सत्यसंहिता वै देवाः । ऐ० ब्रा० १ । ६ ॥
जाग्रति देवाः । श० २ । १ । ४ । ७ ॥

* 'व्रीह्यादिकं' इति क. ख. पाठः, ग कोशे तु प्रमादेन त्यक्तः ॥

नया ताम् । (आयुषे) पूर्णायुर्वर्धनेन सुखभोगाय । (धाम्) दधामि † । अत्र छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अ० ३ । ४ । ६] इति वर्त्तमाने लुङ्ङडभावश्च । (देवः) प्रकाशमानः, प्रकाशहेतुर्वा । (वः) अस्मानेतान् जगत्स्थान् स्थूलान् पदार्थांश्च । (सविता) सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्य्यदातेश्वरः, सूर्य्यलोको वा (हिरण्यपाणिः) हिरण्यस्यामृतस्य मोक्षस्य दानाय [पाणिर्] व्यवहारो यस्य सः । अमृत ँ हिरण्यम् श० ७ । ४ । १ । १५ । यद्वा हिरण्यं प्रकाशार्थं ज्योतिः पाणिर्व्यवहारो यस्य सः । (प्रतिगृभ्णातु) प्रतिगृह्णातु प्रतिगृह्णाति वा । अत्र हृग्रहो० [अ० ८ । २ । ३२ भा० वा०] इति हस्य भः । पक्षे लडर्थे लोट् च । (अच्छिद्रेण) निरन्तरेण व्यापनेन प्रकाशेन वा । (पाणिना) स्तुतिसमूहेन ‡व्यवहारेण तेजसा । (चक्षुषे) प्रत्यक्षज्ञानाय, नेत्रव्यवहाराय च । (त्वा) तं च । (महीनाम्) महतीनां वाचां पृथिवीनां वा । महीति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ । पृथिवीनामसु च । निघ० १ । १ । (पयः)

१ अत्र व्यत्ययः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(धान्यम्) दधातेर्यन्नुट् च (उ० ५ । ४८) इति यति यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इति न भवति बाहुलकात् । तदभावे तित् स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८५) इत्यनेनान्तस्वरितत्वम् । यद्वा धान्यानां भवने० (अ० ५ । २ । १) इत्यत्र निपातनादन्तस्वरितत्वम् । यद्वा धन धान्ये इत्यस्माच्छान्दसादपि ऋहलोर्ण्यत् (अ० ३ । १ । १२४) इति ण्यत्प्रत्ययो भाषायाम् । तथा चाहुर्निरुक्तकाराः—अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः—उष्णम्, घृतमिति (निरु० २ । १ ।) ।

महाभाष्यकारस्तु—'धिनोतेर्धान्यम्, एते चापि धिनुतः' इत्यादिना धिनोतेर्धान्यशब्दनिष्पत्तिमाह । तथा चायमेव मन्त्रवर्णः—धान्यमसि धिनुहि देवान् (यजुः १ । २०) इति ॥

(असि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(धिनुहि) धिनोतेर्लोटि मध्यमपुरुषैकवचने सेर्ह्यपिच्च (अ० ३ । ४ । ८७) इत्यनेन पित्वे प्रतिषिद्धे प्रत्ययस्वरेण 'हि' उदात्तः । ततो धिन्विकृण्व्योर च (३।१।८०) इति 'उ' प्रत्ययः, अकारश्चान्तादेशः सतिशिष्टस्वरो बलीयान् (अ० ६ । १ । १५८ भा० वा०) इत्यनेन विकरणस्वरे प्राप्ते सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६ । १ । १५८ भा० वा०) इति वचनात् हिस्वरबलीयस्त्वे अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ० ६ । १ । १५८) इति धातुविकरणावनुदात्तौ तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातस्तु समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः (अ० ८ । १ । १८ भा० वा०) इति वचनाद् वाक्यादित्वान्न प्रवर्तते ॥

(देवान्) देवशब्दः पचाद्यचि चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यनेन, प्रत्ययस्वरेण वाऽन्तोदात्तः ॥

(प्राणाय) प्रपूर्वादनितेर्घञि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे कर्षात्वतो घञोऽन्तऽउदात्तः (अ० ६।१। १५९) इत्यन्तोदात्तत्वम् । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(व्यानाय) (उदानाय) पूर्ववदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

(दीर्घाम्) दृणातेः कित् (भोज उ० २ । २ । ६९) इति घः प्रत्ययः । स चोदात्तः । टापि, अमि च एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(अनु) निपातायुदात्तत्वम् ॥

(प्रसितिम्) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(आयुषे) एतेर्णिच्च (उ० २ । ११८) इति उसिः प्रत्ययः । ईयते प्राप्यते यत्तदायुः, जीवनं वा, पूर्वसूत्राच्चिदनुवृत्तेराद्युदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता॥

(धाम्) डुधाञ् धारणपोषणयोः, दानधारणयोरित्यन्ये । तथा चाहुर्निरुक्तकाराः—रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम् इति (निरु० ७ । १५)।

† 'दधाति' इति अ०मुद्रितपाठः, स च लेखकप्रमादपरः । ख. ग. कोशयोः 'दधाति' इति पाठः । क. कोशे 'दधामि' इत्येव ॥

‡ 'व्यवहारेण······तं च' इति ख. ग. कोशे प्रमादेन त्यक्तः पाठः, क कोशे उपलभ्यमानत्वादस्माभिः पूरितः ॥

अन्नं जलं च येन शुद्धम् । पय इत्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ † (असि) अस्ति ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । १ । १८-२२ । व्याख्यातः ॥ २० ॥

‡अन्वयः—यदिदं यज्ञशोधितं धान्यम [स्य]स्ति, यच्च यज्ञशोधितं पयो [ऽस्य] स्ति, तत् देवान् पिनुहि धिनोति, तस्माद्यथाऽहं [त्वा] तत्प्राणाय [त्वा] तदुदानाय [त्वा] तद् व्यानाय दीर्घां प्रसितिमायुषे [धाम्] दधामि, तथैव यूयं सर्वे मनुष्यास्तस्मै प्रयोजनायैतन्नित्यं धत्त । यथा यो [वः] §अस्मान् हिरण्यपाणिर्देवः सविता जगदीश्वरोऽच्छिद्रेण पाणिना महीनां चक्षुषे [त्वा] प्रत्यनुगृभ्णातु प्रकृष्टतयानुगतं गृह्णाति, तथैव वयं तं [प्रतिगृह्णीमः] ।

‖ यथा च हिरण्यपाणिर्देवः सविता सूर्य्यलोको महीनां चक्षुषेऽच्छिद्रेण पाणिना पयो गृहीत्वा धान्यं पोषयति तथैव तं वयमप्यच्छिद्रेण पाणिना महीनां चक्षुषे प्रतिगृह्णीमः ॥ २० ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः[२] ॥

भावार्थः—ये यज्ञेन शोधिता अन्नजलवाय्वादयः पदार्था भवन्ति । ते सर्वेषां शुद्धये, बलपराक्रमाय, दृढाय दीर्घा[या]युषे च समर्था भवन्ति, तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरेतद्यज्ञकर्म नित्यमनुष्ठेयम् । तथा च परमेश्वरेण या महती पूज्या वाक् प्रकाशितास्त्यस्याः प्रत्यक्षकरणायेश्वरानुग्रहापेक्षा स्वपुरुषार्थता च कार्य्या । यथेश्वरः परोपकारिणां नृणामुपर्य्यनुग्रहं करोति तथैवाऽस्माभिरपि सर्वेषां प्राणिनामुपरि नित्यमनुग्रहः कार्य्यः । यथाऽयमन्तर्यामीश्वरः सूर्य्यलोकश्च अध्यात्मनि‡‡ वेदेषु च सत्यं ज्ञानं मूर्त्तद्रव्याणि च [संसारे] नैरन्तर्य्येण प्रकाशयति, तथैव सर्वैरस्माभिर्मनुष्यैः सर्वेषां सुखायाऽखिला विद्याः प्रत्यक्षीकृत्य नित्यं प्रकाशनीयाः । ताभिः पृथिवीराज्यसुखं नित्यं कार्य्यमिति[३] ॥ २० ॥

एतस्माल्लुङि गातिस्थाघुपाभूभ्यः० (अ० २ । ४ । ७७) इत्यादिना सिचो लुक् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अ० ६ । ४ । ७५) इत्यडभावः । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(देवः, वः, सविता, हिरण्यपाणिः, प्रतिगृभ्णातु, अच्छिद्रेण) इति सर्वं पूर्वत्र (यजुः १ । १६) व्याख्यातम् ॥

(त्वा) पूर्ववन्निघातः ॥

(चक्षुषे) चक्षेः शिच्च (उ० २ । ११९) इति 'उसिः' प्रत्ययः । नित्तदनुवर्त्तनादाद्युदात्तत्वम् । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(महीनाम्) मह पूजायाम् (भ्वा० प०) महति पूजार्हा भवतीति (वाक् पृथिवी वा) सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) इतीन् प्रत्ययः ततः कृदिकारादक्तिनः (अ० ४ । १ । ४५ गण सू०) इति ङीष्, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता॥

(पयः) 'पय गतौ' इत्येतस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन्प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः, ततः स्वरितत्वम् ॥

(असि) पूर्ववन्निघातः, एकश्रुतिश्च ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आध्यात्मिकाधियज्ञार्थावत्र वर्णितौ ॥

२ लुप्तोपमा त्वन्वये स्पष्टा ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ आध्यात्मिकाधियज्ञार्थस्त्वन्वय एव बोध्यः, अधियज्ञार्थान्तर्गत एवाधिदैविकार्थोऽपि । सवितृपदव्याख्याने पदार्थेऽपीमे सर्वेऽर्था निदर्शिता भवन्तीत्यवधेयम् ॥ २० ॥

---

† "(असि) अस्ति" एष पाठोऽपि पूर्ववदेव त्यक्तः ॥

‡ अत्रान्वयोऽस्पष्टः, 'दीर्घां प्रसितिं......एतत्' इत्येतेषां परस्परं सम्बन्धस्याभावात् ॥

§ अत्र कदाचित् 'योऽस्मान्' इति स्थाने लेखकप्रमादात् 'योऽस्मान्' इति पाठः संजातः स्यात् भाषापदार्थे 'यः' इत्यस्यार्थस्याभावात् ॥ ‖ द्वितीयार्थस्यायं स्वल्पोंऽश इति ध्येयम् ॥ ‡‡ साम्प्रतिकानां मते 'अध्यात्मम्' इति ॥

किस प्रयोजन के लिये उक्त यज्ञ करना चाहिये सो अगले मन्त्र में, प्रकाशित किया है[1] ॥

पदार्थः—जो (धान्यम्) यज्ञ से शुद्ध उत्तम स्वभाववाला, सुख का हेतु, रोग का नाश करने[वाला,] तथा चावल आदि अन्न [(असि) है] (पयः) जल (असि) है, वह (देवान्) विद्वान् वा जीव तथा इन्द्रियों को (धिनुहि) तृप्त करता है, इस कारण हे मनुष्यो ! मैं जिस प्रकार (त्वा) उसे (प्राणाय) अपने जीवन के लिये वा (त्वा) उसे (उदानाय) स्फूर्ति बल और पराक्रम के लिये वा (त्वा) उसे (व्यानाय) सब शुभ गुण शुभ कर्म वा विद्या के अङ्गों के फैलाने के लिये तथा (दीर्घाम्) बहुत दिनों तक (प्रसितिम्) अत्युत्तम सुखबन्धनयुक्त [यज्ञक्रिया] (आयुषे) पूर्ण आयु के भोगने के लिये (धाम्) धारण करता हूं, वैसे तुम भी उक्त प्रयोजन के लिये उसको नित्य धारण करो, जैसे [(वः)] हम विद्वान् लोगों को (हिरण्यपाणिः) जिसका मोक्ष देना ही व्यवहार है, ऐसा सब जगत् का उत्पन्न करनेहारा [(देवः)] (सविता) सब ऐश्वर्य का दाता ईश्वर (अच्छिद्रेण) अपनी व्याप्ति वा [(पाणिना)] उत्तम व्यवहार से (महीनाम्) वाणियों के [(चक्षुषे)] प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये (त्वा) उसे] (प्रत्यनुगृभ्णातु) अपने अनुग्रह से ग्रहण करता है, वैसे ही हम भी उस ईश्वर को (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पाणिना) स्तुतियों से ग्रहण करें ॥

* और जैसे (हिरण्यपाणिः) पदार्थों का प्रकाश करनेवाला [(देवः)] (सविता) सूर्य्यलोक (महीनाम्) लोकलोकान्तरों की पृथिवियों में नेत्र [सम्बन्धी] व्यवहार के लिये (अच्छिद्रेण) निरन्तर तीव्र प्रकाश से (पयः) जल को (प्रतिगृभ्णातु) ग्रहण करके अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करता है, वैसे ही हम लोग भी उसे (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पाणिना) व्यवहार से (महीनाम्) पृथिवी के (चक्षुषे) पदार्थों की दृष्टिगोचरता के लिये स्वीकार करते हैं ॥ २० ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है[2] ॥

भावार्थः—जो यज्ञ से शुद्ध किये अन्न जल और पवन आदि पदार्थ हैं, वे सबकी शुद्धि , बल, पराक्रम और दृढ़ दीर्घ आयु के बढ़ाने के लिये समर्थ होते हैं, इससे सब मनुष्यों को [इस] यज्ञ कर्म का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये तथा परमेश्वर की प्रकाशित की हुई [अत्यन्त उत्कृष्ट] जो वेदचतुष्टयी अर्थात् चारों वेदों की वाणी है, उसके प्रत्यक्ष करने के लिये ईश्वर के अनुग्रह की इच्छा तथा अपना पुरुषार्थ करना चाहिये, और जिस प्रकार परोपकारी मनुष्यों पर ईश्वर कृपा करता है, वैसे ही हम लोगों को भी सब प्राणियों पर नित्य कृपा करनी चाहिये । अथवा जैसे †अन्तर्यामी ईश्वर आत्मा और वेदों में सत्य ज्ञान का तथा सूर्य्यलोक संसार में मूर्तिमान् पदार्थों का निरन्तर प्रकाश करता है, वैसे ही हम सब लोगों को परस्पर सबके सुख के लिये संपूर्ण विद्या दृष्टिगोचर करके नित्य प्रकाशित करनी चाहिये, और उनसे हमको पृथिवी के चक्रवर्तिराज्य आदि अनेक उत्तम २ सुखों को निरन्तर उत्पन्न करना चाहिये[3] ॥ २० ॥

---

१ दुर्वासनाओं का नाश प्राण और अपान के संयम द्वारा होता है, उससे आयु की वृद्धि होती है, यही यज्ञ का प्रयोजन है ॥

२ लुप्तोपमा संस्कृत अन्वय तथा तदनुसारी भाषापदार्थ में स्पष्ट है ।

त्रिविधप्रक्रिया

३ आध्यात्मिक तथा अधियज्ञ अर्थ अन्वय में समझना चाहिये । उस अधियज्ञ अर्थ के अन्तर्गत ही आधिदैविक अर्थ भी है, यह भी जानना चाहिये । पदार्थ में भी सविता पद की व्याख्या में उपर्युक्त तीनों

---

* अत्र विषये पूर्वं संस्कृतान्वयटिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ॥

† अयं क. ख. हस्तलेखयोः पाठः । ग. कोशे मुद्रिते तु 'अन्तर्यामी ईश्वर वा सूर्यलोक संसार आत्मा और वेदों में सत्यज्ञान का तथा मूर्ति पर' इति पाठः ॥

देवस्य त्वेत्यस्यर्षिः स एव । यज्ञो देवता सर्वस्य । आदौ संवपामीत्यन्तस्य गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः । अन्त्यस्य ‡ निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

ईश्वरेण, याभ्य ओषधिभ्योऽन्नादिकं जायते, ताः कथं शुद्धा जायन्त इत्युपदिश्यते[2] ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । सं वपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन । सꣳरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । सम् । वपामि । सम् । आपः । ओषधीभिः । सम् । ओषधयः । रसेन । सम् । रेवतीः । जगतीभिः । पृच्यन्ताम् । सम् । मधुमतीरिति मधुऽमतीः । मधुमतीभिरिति मधुऽमतीभिः । पृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

पदार्थः—(देवस्य) विधातुरीश्वरस्य द्योतकस्य सूर्य्यस्य वा । (त्वा) तं त्रिविधं यज्ञम् । (सवितुः) सर्वत सकलैश्वर्य्यं जनयति तस्य । (प्रसवे) उत्पादितेऽस्मिन् संसारे । (अश्विनोः[3]) प्रकाशभूम्योः । द्यावापृथिव्यावित्येके । निरु० १२ । १ । (बाहुभ्याम्) तेजोदृढत्वाभ्याम् । (पूष्णः[4]) पुष्टिकर्त्तुर्वायोः । पूषेति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ६ । अनेन पुष्टिहेतुर्गृह्यते । (हस्ताभ्याम्) प्राणापानाभ्याम् । (सम्) सम्यगर्थे । (वपामि[5]) विस्तारयामि । (सम्) संमेलने । समित्येकीभावं प्राह । निरु० १ । ३ । (आपः) जलानि । आप इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । (ओषधीभिः) यवादिभिः । ओषधय ओषद् धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा । निरु० ६ । २७ । (सम्) सम्यगर्थे । (ओषधयः) यवादयः । ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । मनुस्मृतौ । अ० १ । श्लो० ४६ । (रसेन) सारेणार्द्रेणानन्दकारकेण । (सम्) प्रशंसार्थे । (रेवतीः[6]) रेवत्य आपः, अत्र सुपां सुलुगिति [अ० ७ । १ । ३९] पूर्वसवर्णादेशः ।

अर्थ आचार्य को अभिप्रेत हैं यह व्यक्त हो रहा है ॥

विशेषवक्तव्य

इस मन्त्र के संस्कृतपदार्थ में 'स्वादिष्ठतमेन' इस प्रयोग में आतिशायिक दो प्रत्ययों का एक साथ प्रयोग किया है । इस विषय में महाभारत आदि के प्रमाण संस्कृत टिप्पणी में दर्शाये हैं ॥ २० ॥

१ हविः, आपः इति सर्वानुक्रमणी ॥

आपो वै यज्ञः । ऐ० ब्रा० २ । २० ॥ श० ३ । ८ । ५ । १ ॥

२ यज्ञार्थं शुद्धान्नौषधयोऽपेक्ष्यन्ते, इदानीं तच्छुद्ध्युपाय उच्यते—ईश्वरेण याभ्य इति ॥

३ इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवाताम् । श० ४ । १ । ५ । १६ ॥

४ अयं वै पूषा योऽयं वातः पवते, एष हीदं सर्वं पुष्यति । श० १४ । २ । १ । ९ ॥

५ वपिः प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्तते इति भगवान् पतञ्जलिराह (अ० १ । ३ । १ भा०) ॥

६ आपो वै रेवतीः । तै० ब्रा० ३ । २ । ८ । २ ॥ आपो वै रेवत्यः । तां० ७ । ९ । २० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(देवस्य........हस्ताभ्याम्) इत्यादि सर्वं व्याख्यातम् (यजुः १ । १०) ॥

(सम्) उपसर्गाद्युदात्तत्वम् ॥

(वपामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(आपः) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च (उ० २ । ५८) इति क्विप्, धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

‡ विराट्पङ्क्तिश्छन्द इति अ० मु० पाठः ॥

(जगतीभिः) उत्तमाभिरोषधीभिः । (पृच्यन्ताम्) मेल्यन्ताम्, पृच्यन्ते वा । (सम्) श्रैष्ठ्ये । (मधुमतीः) मधु प्रशस्तो रसो विद्यते यासु ता मधुमत्य आपः । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । ❀ वा छन्दसि [अ० ६ । १ । १०६] इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशश्च । (मधुमतीभिः) मधुर्बहुविधो रसो वर्त्तते यासु ताभिरोषधीभिः । अत्र भूमार्थे मतुप् । (पृच्यन्ताम्) युक्त्या वैद्यकशिल्पशास्त्ररीत्या मेल्यन्ताम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । १—२ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः[1]—हे मनुष्या यथाऽहं सवितुर्देवस्य परमात्मनः प्रसवे सवितृमण्डलस्य प्रकाशे चाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो † हस्ताभ्यां यमिमं यज्ञं संवपामि । तथैव त्वा तं यूयमपि संवपत । यथैतस्मिन् प्रसवे प्रकाशे चौषधीभिराप ओषधयो रसेन जगतीभी [रेवती] रेवत्यश्च संपृच्यन्ते । यथा च मधुमतीभिः [मधुमतीः] मधुमत्यः संपृच्यन्ते तथैवौषधीभिरोषधय ओषधयो रसेन जगतीभिः सह रेवत्यश्चास्माभिः संपृच्यन्ताम् । एवं मधुमतीभिः सह मधुमत्यो नित्यं संपृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः[2]—विद्वद्भिर्मनुष्यैरीश्वरोत्पादिते सूर्य्यप्रकाशितेऽस्मिन् जगति बहुविधानां संप्रयोक्तव्यानां द्रव्याणां संप्रयोक्तुमर्हैर्बहुविधैर्द्रव्यैः संमेलनेन त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेयः । यथा जलं स्वरसेनौषधीर्वर्धयति, ता उत्तमरसयोगाद्रोगनाशकत्वेन सुखदायिन्यो भवन्ति, यथेश्वरः कारणात् कार्य्यं यथावद्रचयति, सूर्य्यः सर्वं जगत् प्रकाश्य सततं रसं भित्त्वा पृथिव्याद्याकर्षति, वायुश्च धारयित्वा पुष्णाति

(ओषधीभिः) उष दाहे भावे घञ्, ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः ओषं धयति पिबति विनाशयति इति 'धेट्' धातोः कर्मण्यधिकरणे च (अ० ३ । ३ । ९३) इति किप्रत्ययः । कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इति कर्त्तरि प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते दासीभारादीनां च (अ० ६ । २ । ४२) इत्यत्र भाष्ये पठितत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(सम्, ओषधयः) व्याख्यातौ ॥

(रसेन) पचाद्यचि रसशब्दो वृषादित्वादाद्युदात्तः ॥

(रेवतीः) 'रीङ् गतौ' इत्यस्मात् अच इः (उ० ४ । १३९) इति 'इ' प्रत्ययः । गुणे रयिशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । रयिरासामस्तीति मतुप् । रयेर्मतौ बहुलम् (अ० ६ । १ । ३४ वा०) इति सम्प्रसारणम् । ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६।१।१७०) इति वकार उदात्तः । ततो ङीप् । यद्वा रैशब्दात् प्रशंसार्थे मतुप् । मतुबुदात्तत्वे रेग्रहणम् (अ० ६ । १ । १७६ वा०) इत्यनेन मतुप उदात्तत्वम् ॥

(जगतीभिः) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २ । ८४) इत्यादिनाऽतिप्रत्ययान्तो निपातितः । शतृवत्कार्यविधानात् कर्त्तरि शप् (अ० ३ । १ । ६८) इति शप्, तस्य निपातनात् श्लुः, श्लौ द्विर्वचनम् । अतिप्रत्ययस्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते अभ्यस्तानामादिः (अ० ६ । १ । १८९) इत्याद्युदात्तत्वम् । ततः शतृवत्त्वादेव उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीप्, स च पित्त्वादनुदात्तः॥

(पृच्यन्ताम्) निघातः पूर्ववत् ॥

(मधुमतीः) मधुशब्दः फलिपाटिनमि० (उ० १ । १८) इत्यादिना उप्रत्ययान्तः, प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तः, ततो मतुप्, ततो ङीप् उभावनुदात्तौ ।

(मधुमतीभिः, पृच्यन्ताम्) पूर्ववत् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अत्राऽन्वयोऽपि सामान्यार्थद्योतकः ॥

२ उपसर्गाश्च पुनरेवमात्मकाः, यत्र कश्चित् क्रियावाचीशब्दः प्रयुज्यते, तत्र क्रियाविशेषमाहुः । यत्र हि न प्रयुज्यते ससाधनां तत्र क्रियामाहुः (अ० ५ । २ । २८ भाष्ये) इति वचनात् 'पृच्यन्ते' इति पदस्योभयत्राध्याहारः ॥

❀ 'सुपां सुलुक्० इति पूर्वसवर्णादेशश्च' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः । स च व्यस्त इति ध्येयम् । क. ख. कोशयोश्च नास्तीति ध्येयम् ॥ † 'हस्ताभ्यां तमिमं यज्ञं संवपामि, तथैव यूयमपि तं संवपत' इति सर्वकोशेषु पाठः ॥

तथैवाऽस्माभिरपि यथावत् ‡ संस्कृतैः संप्रयोजितैर्द्रव्यैर्विद्वत्संगविद्योन्नतिर्होमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्वायुवृष्टिजलशुद्धयश्च सदैव कार्य्या इति ॥ २१ ॥

जिन ओषधियों से ⁂अन्न आदि उत्पन्न होता है, वे यज्ञादि करने से कैसे शुद्ध होती हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं (सवितुः) सकल ऐश्वर्य्य के देनेवाले (देवस्य) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए प्रत्यक्ष संसार में, वा सूर्य्यलोक के प्रकाश में (अश्विनोः) सूर्य्य और भूमि के (बाहुभ्याम्) तेज वा दृढ़ता से (पूष्णः) पुष्टि करने वाले वायु के (हस्ताभ्याम्) प्राण और अपान से (†त्वा) पूर्वोक्त तीन प्रकार के यज्ञ का (संवपामि) विस्तार करता हूँ, वैसे ही तुम भी उसको विस्तार से सिद्ध करो । जैसे इस उत्पन्न किये हुए संसार में वा सूर्य्य के प्रकाश में (ओषधीभिः) यवादि ओषधियों से (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधी (रसेन) आनन्दकारक रस से तथा (जगतीभिः) उत्तम ओषधियों से (रेवतीः) उत्तम जल [(सम्) उत्तम रीति से मिलाये जाते हैं] और जैसे (मधुमतीभिः) अत्यन्त मधुर रसयुक्त ओषधियों से (मधुमतीः) अत्यन्त उत्तम रसरूप जल, ये सब मिलकर, [(सम्) भली प्रकार] वृद्धियुक्त होते हैं, वैसे इस सब लोगों को भी ओषधियों से जल और औषधी उत्तम जल से, तथा सब उत्तम ओषधियों से, उत्तम रसयुक्त जल [(सम्पृच्यन्ताम्) उत्तम रीति से मिलाने चाहियें] तथा अत्युत्तम मधुर रसयुक्त औषधियों से प्रशंसनीय रसरूप जल इन सबों को यथायोग्य परस्पर (संपृच्यन्ताम्) युक्ति से वैद्यक या शिल्पशास्त्र की रीति से मेल करना चाहिये ॥ २१ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है[2] ॥

भावार्थः— विद्वान् मनुष्यों को ईश्वर के उत्पन्न किये हुए सूर्य्य से प्रकाश को प्राप्त हुए इस संसार में अनेक प्रकार से संप्रयुक्त करने योग्य पदार्थों को [§ सम्प्रयोगी अर्थात्] मिलाने के योग्य पदार्थों से मेल करके उक्त तीन प्रकार के यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये । जैसे जल अपने रस से ओषधियों को बढ़ाता है और वे उत्तम रसयुक्त जल के संयोग से रोग नाश करने से सुखदायक होती हैं, और जैसे ईश्वर कारण से कार्य्य को यथावत् रचता है, तथा सूर्य्य सब जगत् को प्रकाशित करके निरन्तर रस को भेदन करके पृथिवी आदि पदार्थों का आकर्षण करता

त्रिविधप्रक्रिया

अन्वयः सर्वप्रक्रियासु योजनीयः । पदार्थे तु— 'विधातुरीश्वरस्य द्योतकस्य सूर्यस्य वा तम्, त्रिविधं यज्ञं विस्तारयामि' इत्यादिना त्रिविधार्थयोजनापरोऽप्ययं मन्त्र इति द्योत्यते ॥

१ शुद्ध अन्न तथा औषध से यज्ञ सम्पन्न होते हैं, अब उनके शोधन का क्या उपाय है, सो कहते हैं— जिन ओषधियों से इत्यादि ॥

२ संस्कृतान्वय में लुप्तोपमा स्पष्ट व्यक्त हो रही है ।

---

‡ "संस्कृत..........वायुवृष्टिजलशुद्धिविमानादियानशुद्धयश्च सदैव कार्या" इति क. पाठः । पूर्वत्र "त्रिविधो यज्ञोऽनुष्ठेयः" इति वचनादत्र "संस्कृतैः सम्प्रयोजितैर्द्रव्यैर्विद्वत्सङ्गहोमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्विद्योन्नतिर्वायुवृष्टिजलशुद्धिविमानादियानसिद्धयश्च कार्याः" इति ग्रन्थकर्तुरभिप्रेतः पाठः स्यात् । क. हस्तलेखे भावार्थ इत्थमुपलभ्यते—"यथावत् संस्कार युक्त सम्प्रयोजित किये हुये पदार्थों से होम—शिल्पकार्य वा विज्ञानरूपी यज्ञ से वायु और वर्षाजल की शुद्धि, विमानादि यानों की सिद्धि, विज्ञान की उन्नति परस्पर नित्य करनी चाहिये" । तदनुसारमत्र भूतपूर्वसंस्कृतपाठः "यथावत् संस्कृतैः सम्प्रयोजितैः पदार्थैर्होमशिल्पविज्ञानाख्यैर्यज्ञैर्वायुवृष्टिजलशुद्धिविमानादिसिद्धिविज्ञानोन्नतयश्च सदैव कार्या इति" इत्येवं स्यादित्यनुमीयते, स चापि युक्त एव ॥ ⁂'अन्न बनता है' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥

† संस्कृतान्वयानुसारं तु 'त्वा' इति पदमग्रे स्यात् ॥ § 'सम्प्रयोगी अर्थ' इति ग. पाठः ॥

है, तथा वायु रस को धारण करके पृथिवी आदि पदार्थों को पुष्ट करता है, वैसे हम लोगों को भी यथावत् ()संस्कार-युक्त संयुक्त किये हुए पदार्थों से विद्वानों का संग तथा विद्या की उन्नति से वा होम शिल्पकार्य्यरूपी यज्ञों से वायु और वर्षाजल की शुद्धि सदा करनी चाहिये[1] ॥ २१ ॥

जनयत्यै त्वेत्यस्यर्षिः पूर्वोक्तः । प्रथतामितिपर्य्यन्तस्य यज्ञो[2] देवता । स्वराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥ अन्त्यस्याग्निसवितारौ देवते । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

स यज्ञः कस्मै प्रयोजनाय संपादनीय इत्युपदिश्यते[3] ॥

जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरु-प्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामग्निष्टे त्वचं मा हिंसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके ॥ २२ ॥

जनयत्यै । त्वा । सम् । यौमि । इदम् । अग्नेः । इदम् । अग्नीषोमयोः । इषे । त्वा । घर्मः । असि । विश्वायुरिति विश्वऽआयुः । उरुप्रथा इत्युरुऽप्रथाः । उरु । प्रथस्व । उरु । ते । यज्ञपतिरिति यज्ञऽपतिः । प्रथताम् । अग्निः । ते । त्वचम् । मा । हिंसीत् । देवः । त्वा । सविता । श्रपयतु । वर्षिष्ठे । अधि । नाके ॥ २२ ॥

पदार्थः—(जनयत्यै) सर्वसुखोत्पादिकायै राज्यलक्ष्म्यै । (त्वा) तं त्रिविधं यज्ञम् । (सम्) सम्यक् । (यौमि) मिश्रयामि । अग्नौ प्रक्षिप्य वियोजयामि वा । (इदम्) संस्कृतं हविः । (अग्नेः) [अग्नेर्] मध्ये । (इदम्) यद्धुतं तत् । (अग्नीषोमयोः) अग्निश्च सोमश्च तयोर्मध्ये । (इषे) अन्नाद्याय । (त्वा) तं वृष्टिशुद्धिहेतुम् (घर्मः[4]) यज्ञः । घर्म इति यज्ञनामसु पठितम् । निघं० ३ । १७ । (असि) भवति । अत्र व्यत्ययः । (विश्वायुः) विश्वं पूर्णमायुर्यस्मात् सः । (उरुप्रथाः) बहुः प्रथः सुखस्य विस्तारो यस्मात् सः । उर्विति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३ । १ । (उरु प्रथस्व) बहु विस्तारय । (उरु) बहु । (ते) तुभ्यम् (यज्ञपतिः) यज्ञस्य स्वामी पालकः । (प्रथताम्) विस्तारयतु । (अग्निः) भौतिको यज्ञ-संबन्धी शरीरस्थो वा (ते) तव तस्य वा । युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम् अ० ८ । ३ । १०३ । अनेन मूर्द्धन्यादेशः । (त्वचम्) किञ्चिदपि शरीरावयवं सुखहेतुम् । (मा) निषेधार्थे । (हिंसीत्) हिनस्तु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (देवः) सर्वप्रकाशकः परमेश्वरः सूर्य्यलोको वा । (त्वा) त्वां तं वा । (सविता[5])

त्रिविधप्रक्रिया

1. अन्वय सब प्रक्रियाओं में सुसङ्गत हो रहा है। पदार्थ के उपर्युक्त पदों से भी त्रिविध अर्थ की योजना व्यक्त हो रही है ॥
2. यज्ञपतिः प्रथताम् इति ॥ हविः, आज्यम्, पुरोडाश इति सर्वानुक्रमणी ॥
3. पूर्वोक्तो यज्ञोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धये प्रभवतीति प्रयोजनान्तरमाह—'स यज्ञः' इति ॥
4. वेदमिथुनं वा एतद् यद् घर्मः । गो० उ० २ । ६ ॥
5. सविता—रश्मिभिर्वर्षं समदधात् । गो० पू० १ । ३६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(जनयत्यै) जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०) ण्यन्ताद् बाहुलकाद् अमेरतिः (उ० ४ । ५९) इति 'अति'-प्रत्ययः । छन्दस्युभयथा (अ० ३ । ४ । ११७) इति सार्वधातुकत्वाण्णिलोपाभावः । कृदिकारादक्तिनः (अ० ४ । १ । ४५ ग० सू०) इति ङीष् । प्रत्यय-स्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादाद्युदात्तः ॥

यद्वा जनीण्यन्ताच्छतरि स्त्रियां शप्श्यनोर्नित्यम् (अ० ७ । १ । ८१) इति नुम् न भवति छान्दसत्वादेव । आद्युदात्तत्वं तु पूर्ववदेव ।

() इतोऽग्रे संस्कृतभावार्थटिप्पण्यनुसारं त्वित्थं भाषार्थः स्यात्—"संस्कार से सम्प्रयुक्त किये हुए पदार्थों से विद्वानों का सङ्ग, होम और शिल्परूपी यज्ञों से विद्या की उन्नति, वायु और वर्षाजल की शुद्धि तथा विमानादि यान की सिद्धि सदा करनी चाहिये" इत्यनुमीयते ॥

अन्तःप्रेरको वृष्टिहेतुर्वा । (श्रपयतु) श्रपयति पाचयति । अत्र लडर्थे लोट् । (वर्षिष्ठे) अतिशयेन वृद्धो वर्षिष्ठस्तस्मिन् विशाले सुखस्वरूपे । (अधि) * अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं प्राह । निरु० १ । ३ । (नाके) अकं दुःखं न विद्यते यस्मिन्नसौ नाकस्तस्मिन् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । २ । ३—१४ । व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः[1]—हे मनुष्य यथाऽहं जनयत्यै [त्वा] तं यज्ञं संयौमि तथैव स भवद्भिरपि संयूयताम् । अस्माभिर्यदिदं संस्कृतं हविरग्नेर्मध्ये प्रक्षिप्यते, तदिदं विस्तीर्णं भूत्वाऽग्नीषोमयोर्मध्ये स्थितं वै भवति । यो विश्वायुरुरुप्रथा घर्मो यज्ञोऽ [स] स्ति यथाऽयं मया उरु प्रथ्यते तथैव † प्रतिजनस्त्वं [त्वा] तमेतमुरु प्रथस्व । एवं कृतवते ते तुभ्यमयं यज्ञपतिरग्निः सविता देवो जगदीश्वरश्चोरु सुखं प्रथताम् । ते तव त्वचं मा हिंसीत् नैव हिनस्ति । स खलु त्वां वर्षिष्ठेऽधि नाके [त्वा तं श्रपयतु] सुखयुक्तं करोतु ॥ *इत्येकः* ॥

हे मनुष्य ! यथाऽहं मनुष्यो यो विश्वायुरुरुप्रथा घर्मो यज्ञोस्त्यस्ति त्वा तं जनयत्या इषे संयौमि तत्सिद्ध्यर्थमिदमग्नेर्मध्य इदमग्नीषोमयोर्मध्ये संस्कृतं हविः संवपामि प्रक्षिपामि, तथा त्वमप्येतमुरु प्रथस्व बहु विस्तारय, यतोऽयमग्निस्ते तव त्वचं मा हिंसीत् न हिंस्यात् । यथा च देवः सविता वर्षिष्ठेऽधि नाके यं यज्ञं श्रपयेत् । तथा भवानपि त्वा तं संयौतु श्रपयतु । ते तव यज्ञपतिश्च [त्वा] तमुरु प्रथताम् ॥ *इति द्वितीयः* ॥ २२ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारो वेद्यः ॥

भावार्थः[2]—मनुष्यैरेवंभूतो यज्ञः सदैव कार्य्यः, यः पूर्णां श्रियं, सकलमायुरन्नादिपदार्थान्, रोगनाशं, सर्वाणि सुखानि च प्रथयति, स केनापि कदाचिन्नैव त्याज्यः । कुतः ? नैवैतेन वायुवृष्टिजलौषधि-

यत्त्वत्राहोवटः—'जनेर्ण्यन्तस्य क्तिन्' इति तत्सर्वथैवायुक्तम् । ण्यन्तात् ण्यासश्रन्थो युच्(अ०३।३।१०७) इत्यनेन युच्प्रसक्तेः । क्तिनि च णेरनिटि(अ०६।४।५१) इति णिलोपप्रसक्तेश्च रूपासिद्धिः स्पष्टैव ॥

'जनयत्यै' इत्यत्र क्तिन्प्रत्ययान्तत्वेन ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः' इति (तै०सं० भा० १ पृ० ११५) वदन् सायणाचार्योऽप्येतेनैव प्रत्युक्तः । ये तु धातुस्वरेणाद्युदात्त इत्याहुस्तेऽपि धातुस्वरेणानिष्टस्वरप्रसक्तेर्निरस्ता वेदितव्याः ॥

भट्टभास्करस्तु 'अमेरतिः' इति 'अति'प्रत्ययमाह, तत्तु युक्तमेव (भा० १ पृ० ४१) ॥'

(त्वा) अनुदात्तः ॥

(सम्) उपसर्गाद्युदात्तत्वम् ॥

(यौमि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(इदम्) व्याख्यातः (यजुः १ । ५ । पृ० ४८) ॥

(अग्नेः) अग्निशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । विभक्तिरनुदात्ता, विभक्तौ गुणे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति उदात्तः ॥

(अग्नीषोमयोः) पूर्वत्र (यजुः १ । १३ पृ० ६४) व्याख्यातः ॥

(वर्षिष्ठे) अतिशयेन वृद्ध इतीष्ठनि प्रियस्थिरस्फिरोरु० (अ० ६ । ४ । १५७) इति वर्षादेशः । प्रत्ययस्य नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अधि) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(नाके) कं सुखं तद् यस्मिन् नास्ति तद् अकं दुःखम्, तद्यस्मिन् नास्ति स नाकः । नभ्राण्नपान्न० (अ० ६ । ३ । ७५) इति निपातनान्नञः प्रकृतिभावः । नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादेवाद्युदात्तत्वम् ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(इषे, त्वा) पूर्वत्र (यजुः १ । १ पृ० १३, १४) व्याख्यातौ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ उभयविधो ऽप्यन्वयो यज्ञपर एव, उभयथा प्रदर्शनं तु द्विविधयोजनाप्रदर्शनपरम् ॥

२ मन्त्रगतपदैर्भावार्थोऽयं योजयितव्यः ॥

* निरुक्ते 'अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा' इति पाठ उपलभ्यते ॥　　† साम्प्रतिकानां मते 'प्रतिजनं' इति ।

शुद्धिकारकेण विना कस्यापि प्राणिनः सम्यक् सुखानि सिध्यन्तीत्यतः । एवं स जगदीश्वरः सर्वान् प्रत्याज्ञापयति' ॥ २२ ॥

उक्त यज्ञ किस प्रयोजन के लिये करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे मैं (जनयत्यै) सर्व सुख उत्पन्न करने वाली राज्यलक्ष्मी के लिये (त्वा) उस यज्ञ को (संयौमि) [युक्त करता हूं अथवा] अग्नि के बीच में पदार्थों को छोड़कर [वि] युक्त [अर्थात् छिन्न भिन्न] करता हूं, वैसे ही तुम लोगों को भी अग्नि के संयोग से सिद्ध करना चाहिये । जो हम लोगों का (इदम्) यह संस्कार किया हुआ हवि (अग्नेः) अग्नि के बीच में छोड़ा जाता है (इदम्) वह विस्तार को प्राप्त होकर (अग्नीषोमयोः) अग्नि और सोम के बीच पहुंचकर (इषे) अन्न आदि पदार्थों के उत्पन्न करने के लिये होता है और जो (विश्वायुः) पूर्ण आयु और (उरुप्रथाः) बहुत सुख का देने वाला (घर्मः) यज्ञ (असि) है, उसका जैसे मैं अनेक प्रकार विस्तार करता हूं, वैसे (त्वा) उसको हे पुरुषो तुम भी (उरु प्रथस्व) विस्तृत करो । इस प्रकार विस्तार करने वाले (ते) तुम्हारे लिये (यज्ञपतिः) यज्ञ का स्वामी (अग्निः) यज्ञसंबन्धी अग्नि (सविता) अन्तर्यामी (देवः) जगदीश्वर (उरु प्रथताम्) अनेक प्रकार सुख को बढ़ावे [(त्वचं) तुम्हारे शरीर को] (मा हिंसीत्) कभी नष्ट न करे, तथा वह परमेश्वर (वर्षिष्ठे) अतिशय करके वृद्धि को प्राप्त हुआ (अधिनाके) जो अत्युत्तम सुख है, उसमें (त्वा) तुम को (अपयतु) सुख से युक्त करे ॥ *यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ* ॥

अब दूसरा[३] *कहते हैं* । हे मनुष्य ! जैसे मैं जो (विश्वायुः) पूर्ण आयु तथा (उरुप्रथाः) बहुत सुख का देने वाला (घर्मः) यज्ञ (असि) है । (त्वा) उस यज्ञ को (जनयत्यै) राज्यलक्ष्मी तथा (इषे) अन्न आदि उत्पन्न करने के लिये (संयौमि) संयुक्त करता हूं, तथा उसकी सिद्धि के लिये (इदम्) यह (अग्नेः) अग्नि के बीच में और (इदम्) यह (अग्नीषोमयोः) अग्नि और सोम के बीच में संस्कार किया हुआ हविः [(संवपामि)] छोड़ता हूं, वैसे तुम भी उस यज्ञ को (उरु प्रथस्व) विस्तार को प्राप्त कराओ, जिस कारण यह (अग्निः) भौतिक अग्नि (ते) तुम्हारे (त्वचम्) शरीर को (मा हिंसीत्) रोगों से नष्ट न करे, और जैसे (देवः) जगदीश्वर (सविता) अन्तर्यामी (वर्षिष्ठे) अतिशय करके वृद्धि को प्राप्त हुआ जो (अधिनाके) अत्युत्तम सुख है, उसमें उस यज्ञ को अग्नि के बीच में परिपक्व करता है, वैसे तुम भी ❀ (त्वा) उस यज्ञ को † [अग्नि के बीच में विस्तार

त्रिविधप्रक्रिया

१ पदार्थारम्भे 'सर्वसुखोत्पादिकायै राज्यलक्ष्म्यै तं त्रिविधं यज्ञं······' इत्यादिभिः सर्वा अपि प्रक्रियाः प्रदर्श्यन्ते । अन्वयस्तूभयविधो भौतिकयज्ञपर एवास्ति ॥

विशेषवक्तव्यम्

'देवस्य त्वा' इत्यतः पूर्वं (का० श्रौ० २ । ५ । २२) "पर्यग्नि करोति 'अन्तरितं रक्षोऽन्तरिता अरातयः' इति सहाज्यम्" ॥

अनेन मन्त्रेण पर्यग्नि कुर्यादिति भावः । अयं मन्त्रभागस्तु मूलसंहितायां नास्ति । शतपथब्राह्मणेऽप्यस्मिन् प्रकरणे (१ । २ । ६ । १३) नास्त्ययं भागः । 'नेदेनं नाष्ट्रा रक्षांसि प्रमृशानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात् पर्यग्निं करोति' इति वचनमुपलभामहे । तत एव श्रौतकारैर्मन्त्रकल्पना कृता स्यात् । काण्वसंहितायां तु पूर्वोक्तः पाठ उपलभ्यते । कात्यायनश्रौतसूत्रं तु माध्यन्दिनीयकाण्वसंहितयोरुभयोरपि सामान्यं सूत्रमिति कृत्वा सोऽत्रोपलभ्यत इति ध्येयम् ॥ २२ ॥

२ अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि यज्ञ से ही हो सकती है, सो पूर्वोक्त यज्ञ का अन्य प्रयोजन कहते हैं—उक्त यज्ञ इति ॥

३ यहां दोनों प्रकार का अन्वय यज्ञपरक है, एक ही प्रक्रिया में दो प्रकार का अन्वय दिखाने का यह प्रयोजन है कि मन्त्रों में वाक्ययोजना के भेद से अर्थ में भी भेद हो जाता है ॥

❀ '(त्वा) उस यज्ञ को अग्नि के बीच में······तुम भी' इति तु सार्वत्रिकः पाठः ॥
† कोष्ठान्तर्गतः पाठः ख. कोश उपलभ्यते, स चावश्यकः, संस्कृतान्वये 'संयौतु' इति पदस्य दर्शनात् ॥

तथा] (श्रपयतु) परिपक्व करो और (ते) तुम्हारे (यज्ञपतिः) यज्ञ का स्वामी भी [(त्वा)] उस यज्ञ को (उरु प्रथताम्) विस्तारयुक्त करे ॥ २२ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार जानना चाहिये ॥

भावार्थः[१]—मनुष्यों को इस प्रकार यज्ञ करना चाहिये कि जिससे पूर्ण लक्ष्मी, सकल आयु, अन्न आदि पदार्थ रोगनाश और सब सुखों का विस्तार हो, उसको कभी नहीं छोड़ना चाहिये । क्योंकि उसके विना वायु और वृष्टिजल तथा ओषधियों की शुद्धि नहीं हो सकती, और शुद्धि के विना किसी प्राणी को अच्छी प्रकार सुख नहीं हो सकता, इसलिये ईश्वर ने उक्त यज्ञ करने की आज्ञा सब मनुष्यों को दी है[२] ॥ २२ ॥

मा भेर्मेत्यस्यर्षिः स एव । अग्निर्देवता[३] । बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

निःशङ्कतया सर्वैः स यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते ॥

मा भेर्मा संविक्थाऽअतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥ २३ ॥

मा । भेः । मा । सम् । विक्थाः । अतमेरुः । यज्ञः । अतमेरुः । यजमानस्य । प्रजेति प्रऽजा । भूयात् । त्रिताय । त्वा । द्विताय । त्वा । एकताय । त्वा ॥ २३ ॥

पदार्थः—(मा) निषेधार्थे । (भेः) बिभीहि । अत्र लोडर्थे लङ् । बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् । (मा) निषेधार्थे (सम्) । एकीभावे । (विक्थाः) चल । ओविजी भयचलनयोरित्यस्माल्लोडर्थे लङ् । लङि मध्यमैकवचने बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति विकरणाभावश्च । ([५]अतमेरुः) न ताम्यति येन यज्ञेन सः । तमुधातोर्बाहुलकादेरुः प्रत्ययः । (यज्ञः) इज्यते यस्मिन् सः । (अतमेरुः) न ताम्यति यः स यज्ञकर्त्ता मनुष्यः । (यजमानस्य) यज्ञस्यानुष्ठातुः (प्रजा) सुसन्ताना यज्ञसंपादिका (भूयात्) भवेत् । (त्रिताय[६]) त्रयाणामग्निकर्महविषां भावाय । (त्वा) तम् । (द्विताय) द्वयोर्वायुवृष्टिजलशुद्धयोर्भावाय । (त्वा) तम् । (एकताय) एकस्य सुखस्य भावाय । (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । २ । १५–१८ तथा १ । २ । ३ । १—९ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

---

१ यह सबका सब भावार्थ मन्त्रगतपदों से सुसंगत है ।

त्रिविधप्रक्रिया

२ पदार्थ के आरम्भ में 'सब सुखों की उत्पन्न करनेहारी राज्यलक्ष्मी के लिये उक्त तीन प्रकार के यज्ञ को'''' इत्यादि से आचार्य ने तीनों प्रक्रियाएं दर्शा दी हैं, दोनों प्रकार का अन्वय तो भौतिक यज्ञपरक ही है ॥

विशेषवक्तव्य

'देवस्त्वा सविता श्रपयतु' (यजुः १ । २२) इत्यादि से पूर्व "अन्तरितं रक्षोऽन्तरिता अरातयः"इत्यादिसे पर्यग्निकरणविधि करनी चाहिये, ऐसा कात्यायनश्रौतसूत्र (२ । ५ । २२) में लिखा है । यह 'अन्तरितं''' मन्त्रभाग मूलसंहिता में नहीं है । शतपथ ब्राह्मण के इस प्रकरण में भी इतना भाग नहीं है । 'तदेनं नाम्ना रक्षांसि''''''' इत्यादि वचन तो मिलता है । सम्भव है इसी वचन के आधार पर श्रौतसूत्रकार ने इस विधि के मन्त्र की कल्पना करली हो । अथवा श्रौतसूत्रकार ने कात्यायनब्राह्मण के आधार पर ऐसा लिखा हो, यह वेदज्ञ विद्वानों के अन्वेषण का विषय है । ऐसी बातों से श्रौतसूत्रों की रचना पर विशेष प्रकाश पड़ेगा। संहिताओं में न होने पर भी कल्पना कर लेना श्रौतसूत्रकारों के अधिकार की बात है या नहीं, यह भी विचारणीय है ॥२२॥

३ पुरोडाशः, त्रितः, द्वितः, एकतः इति सर्वानुक्रमणी॥

४ नैव यज्ञस्य अनुष्ठाता कदाचिद् प्रत्यवायेन लिप्यतेऽत आह—निःशङ्कतया इति ॥

५ तमु काङ्क्षायाम्—ताम्यतीति तमेरुः, एरुः प्रत्ययः, ततो नञ्समासः ॥

६ (क) सोऽङ्गारेणापोऽभ्यपातयत् । तत एकतोऽजायत, स द्वितीयमभ्यपातयत् ततो द्वितः, स तृतीयं ततस्त्रितः । मै० सं० ४ । १ । ९ ॥ तु०-तै० ब्रा० ३ । २ । ८ ॥

*अन्वय[1]:—हे विद्वन्! त्वमतमेरुः सन् यजमानस्य यज्ञस्यानुष्ठानान्मा भेर्भयं मा कुरु। एतस्मान्मा संविक्था मा विचल। एवं यज्ञं कृतवतस्तेऽतमेरुः प्रजा भूयात्। अहं त्वा तमग्निं †यज्ञाय त्रिताय [त्वा] द्विताय [त्वा] एकताय च सुखाय ‡संयौमि॥ २३॥

भावार्थः[2]—ईश्वरः प्रतिमनुष्यमाज्ञापयत्याशीश्च ¶ ददाति, नैव केनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशाद् भेतव्यम्, विचलितव्यं वा कस्माद्युष्माभिरेतैरेव सुप्रजाः § शारीरिकवाचिकमानसानि निश्चलानि सुखानि [च] प्राप्तुं शक्यानि भवन्त्यस्मादिति[3]॥ २३॥

(ख) तथा च स्कन्दस्वामी निरुक्तटीकायाम् (भा० २ पृ० २१०, २११)—नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षणः कर्मपाशैस्त्रिभिः स्वर्गनरकमर्त्येषु बद्धः कश्चित् क्षेत्रज्ञः। कर्मज्ञानसमुच्चयाभावादपवर्गम (वाप्ना) प्नुवन् नरके घटियन्त्रवद् घटिते संसारे बंभ्रम्यमाणः परिदेवयाञ्चक्रे······इति॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मा) निपाताद्युदात्तत्वम्॥

(भेः) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(सम्, विक्थाः) पूर्ववदाद्युदात्तसर्वनिघातौ॥

(अतमेरुः) नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ०(अ० ६।२।२)इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तः॥

(यज्ञः) नङ्प्रत्ययेऽन्तोदात्तः॥

(यजमानस्य) व्याख्यातः पूर्वत्र (यजुः १।१ पृ० १९)॥

(प्रजा) प्रपूर्वाज्जनेः उपसर्गे च संज्ञायाम् (अ० ३।२।९९) इति डप्रत्ययः। गतिकारको० (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तः॥

(भूयात्) निघातः पूर्ववत्॥

(त्रिताय, द्विताय, एकताय) सर्वत्र यथायथमुपपदे तनोतेर्डप्रत्ययः। गतिकारको० (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ सर्वत्रायमन्वयो योजनार्हः॥

२ मन्त्रगतपदैः सम्बद्धोऽयं भावार्थः॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ यज्ञस्य त्रिविधत्वेऽत्रापि पूर्ववत् सर्वविधोऽर्थोऽस्तीति ध्येयम्। यद्वाऽन्वय एव सर्वविधप्रक्रियापरो योजनीयः॥

विशेषवक्तव्यम्

त्रिविधयज्ञानुष्ठाने संशयाना अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिं न लभन्त इति फलितार्थो द्रष्टव्यः॥ २३॥

---

*(क) अत्रान्वये 'यज्ञः' इति मन्त्रगतपदं त्यक्तम्। तच्च वर्त्तमानान्वये न कथञ्चित् कुत्राप्यन्वेति। भाषापदार्थे यद्यपि "(यज्ञः) यज्ञ करते हुये तुमको उत्तम से उत्तम" इति पाठ उपलभ्यते, परं च सोऽप्यनन्वित एवेति स्पष्टम्।

(ख) मन्त्रे 'अतमेरुः' इति पदं द्विः पठ्यते। तच्च संस्कृतपदार्थे क्रमशो यज्ञविशेषणत्वेन प्रजाविशेषणत्वेन च व्याख्यायते। अत्रान्वये प्रथमं 'अतमेरुः' इति पदं विदुषो विशेषणत्वेन इति मिथो वैषम्यं प्रतिभाति॥

† "यज्ञाय सुखाय च संयौमि" इति क. ख. पाठः। 'त्रिताय द्वितायैकताय' इति पाठस्तु ग. प्रवर्द्धितः। पाठोऽयं भाषार्थे क्रमभेदेनोपलभ्यत इति ध्येयम्॥

‡ संयौमीति पूर्वमन्त्रादनुवर्त्तत इति॥

¶ अस्ति ईकारान्तोऽपि 'आशी'शब्द इति ध्येयम्। "केचित् तु ईकारान्तं आशीशब्दमाहुः। उदाहरन्ति च 'आशीमिव कलामिन्दो' इति" आशीपदव्याख्याने ऽमरटीकायां भानुजीदीक्षितः॥

§ 'शारीर···' इति अ० मुद्रिते ग० कोशे च पाठः॥

निःशङ्क होकर उक्त यज्ञ सबको करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वान् पुरुषो ! तुम (अतमेरुः) श्रद्धालु होकर (यजमानस्य) यजमान के यज्ञ के अनुष्ठान से (मा भेः) भय मत करो, और उससे (मा संविक्थाः) मत चलायमान हो, इस प्रकार (यज्ञः) यज्ञ करते हुए तुम को उत्तम से उत्तम (अतमेरुः) ग्लानिरहित श्रद्धावान् (प्रजा) सन्तान (भूयात्) प्राप्त हो, और मैं (त्वा) भौतिक अग्नि को उक्त गुणयुक्त तथा (एकताय) सत्य सुख के लिये (द्विताय) वायु तथा वृष्टि जल की शुद्धि तथा (त्रिताय) अग्नि कर्म और हवि के होने के लिये (संयौमि) निश्चल करता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः—ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्य को यज्ञ, सत्याचार और विद्या के ग्रहण से डरना वा चलायमान कभी न होना चाहिये क्योंकि मनुष्यों को उक्त यज्ञ आदि अच्छे २ कार्यों से ही उत्तम २ सन्तान, शारीरिक, वाचिक और मानस त्रिविध प्रकार के निश्चल सुख प्राप्त हो सकते हैं[3] ॥२३॥

देवस्य त्वेत्यस्यर्षिः स एव । द्योविद्युतौ देवते । स्वराड्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृशोऽस्ति, किमर्थश्चानुष्ठेय इत्युपदिश्यते[5] ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । आद॑देऽध्वर॒कृतं॑ दे॒वेभ्य॒ ऽ इन्द्र॑स्य बा॒हुर॑सि दक्षिणः स॒हस्र॑भृष्टिः श॒तते॑जा वा॒युर॑सि ति॒ग्मते॑जा द्वि॒ष॒तो व॒धः ॥ २४ ॥

दे॒वस्य॑ । त्वा॒ । स॒वि॒तुः । प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे । अ॒श्विनोः॑ । बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म् । पू॒ष्णः । हस्ता॑भ्याम् ॥ आ । द॒दे॒ । अ॒ध्व॒र॒कृत॒मित्य॑ध्वर॒ऽकृत॑म् । दे॒वेभ्यः॑ । इन्द्र॑स्य । बा॒हुः । अ॒सि॒ । दक्षि॑णः । स॒हस्र॑भृष्टि॒रिति॑ स॒हस्र॑ऽभृष्टिः । श॒तते॑जा॒ इति॑ श॒तऽते॑जाः । वा॒युः । अ॒सि॒ । ति॒ग्मते॑जा॒ इति॑ ति॒ग्मऽते॑जाः । द्वि॒ष॒तः । व॒धः ॥ २४ ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वानन्दप्रदस्य । (त्वा) तम् । (सवितुः) प्रेरकस्येश्वरस्य सूर्य्यस्य वा । (प्रसवे) प्रेरणे, ऐश्वर्य्यहेतौ वा । (अश्विनोः) सूर्य्याचन्द्रमसोरध्वर्य्वोर्वा । अश्विनावध्वर्य्यू । श० १ । २ । ४ । ४ । (बाहुभ्याम्) । बलवीर्य्याभ्याम् । (पूष्णः) पुष्टिहेतोर्वायोः । वृषा पूषा श० २ । ५ । १ । ११ । (हस्ताभ्याम्) ग्रहणत्यागहेतुभ्यामुदानापानाभ्याम् । (आददे) आसमन्तात् स्वीकरोमि । (अध्वरकृतम्) अध्वरं करोति येन सामग्रीसमूहेन तम् । अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ मा० वा०] इति वार्त्तिकेन करणे क्विप् । अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतम् । श० १ । २ । ४ । ५ । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा । (इन्द्रस्य) सूर्य्यस्य । (बाहुः) वीर्य्यवत्तमकिरणसमूहस्थो यज्ञः । (असि) भवति ।

---

१ सत्यभाव से यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला पुरुष प्रत्यवाय अर्थात् पाप का भागी नहीं होता, ऐसी संगति समझनी चाहिये ।

२ संस्कृत अन्वय तीनों अर्थों में उपयुक्त है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ यहां पर भी पूर्ववत् यज्ञ का त्रिविधत्व दिखाते हुए तीनों अर्थों की ध्वनि आचार्य के शब्दों से व्यक्त हो रही है । अन्वय में भी यही भासित हो रहा है ॥

विशेषवक्तव्य

यहां फलितार्थ यही है कि त्रिविध यज्ञ के अनुष्ठान में संशयात्मा जन अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि नहीं कर सकते ॥ २३ ॥

४ स्फ्यः इति सर्वानुक्रमणी ॥

५ अयं विषयो यजुर्वेदस्य प्रथमाध्याये षोडशैकोनविंशतितमद्वाविंशतितममन्त्रेष्वप्यभिहितः ॥

६ दुःखनिवृत्तिसाधनोऽयं यज्ञः, अतस्तदनुष्ठानं विधीयते—पुनः स यज्ञ इति ॥

७ अथ य स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः । श० ८ । ५ । ३ । २ ॥

८ इन्द्रस्य सूर्यस्य बाहुरूपो यज्ञ इत्यर्थः ॥

(दक्षिणः) प्राप्तः। दक्ष गतिहिंसनयोरित्यस्मात् द्रुदक्षिभ्यामिनन्। उ० २। ५०। इतीनन् प्रत्ययः। अनेन गतेरन्तर्गतः प्राप्त्यर्थो गृह्यते। (सहस्रभृष्टिः) सहस्राणि बहूनि भृष्टयः पाका यस्मात् सः, सूर्य्यस्य प्रकाशः। सहस्रमिति बहुनामसु पठितम्। निघ० ३। १। (शततेजाः) शतानि बहूनि तेजांसि यस्मिन् स सूर्य्यः। शतमिति बहुनामसु पठितम्। निघ० ३। १। (वायुः) गमनागमनशीलः पवनः। (असि) अस्ति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः (तिग्मतेजाः) तिग्मानि तीक्ष्णानि तेजांसि भवन्ति यस्मात् सः। युजिरुचितिजां कुश्च। उ० १। १४६। अनेन 'तिज निशाने' इत्यस्मान् मक्प्रत्ययः कुत्वादेशश्च। तथैव सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। अनेन 'तिज' इत्यस्मादसुन् प्रत्ययः। (द्विषतः) शत्रोः। (वधः) नाशः॥ अयं मन्त्रः श० १। २। ४। ३ -७ व्याख्यातः॥ २४॥

अन्वयः[2]—अहं सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां देवेभ्योऽध्वरकृतं [त्वा तं] † आददे, यो मयाऽनुष्ठितो यज्ञ इन्द्रस्य सहस्रभृष्टिः शततेजा दक्षिणो बाहुरसि भवति। यस्येन्द्रस्य सूर्य्यलोकस्य मेघस्य वा तिग्मतेजा वायुर्हेतुरस्यस्ति तेन सुखानि द्विषतो वधश्च कार्य्यः॥ २४॥

भावार्थः[3]—ईश्वर आज्ञापयति—मनुष्यैः सम्यक् संपादितोऽयं यज्ञोऽग्निनोर्ध्वं प्रक्षिप्तद्रव्यः सूर्य्यकिरणस्थो वायुना धृतः ॐ सर्वोपकारी भूत्वा सहस्राणि सुखानि प्रापयित्वा दुःखानां नाश-

1 तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः (निरु० १०। ६)॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(देवस्य......हस्ताभ्याम्) अयमंशः पूर्वत्र (यजुः १। १०) व्याख्यातः॥

(आ) उपसर्गाद्युदात्तत्वम्॥

(ददे) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः॥

(बाहुः) पूर्वं य० १। १० पृ० ६२ व्याख्यातः॥

(अध्वरकृतम्) क्विप्युपपदसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरेणान्तोदात्तं प्रातिपदिकम्॥

(दक्षिणः) इनन्प्रत्यय आद्युदात्तः॥

(सहस्रभृष्टिः) 'सहः' बलनामसु पठितम्। सहो बलमस्मिन्नस्तीति मत्वर्थे रः प्रत्ययः। अल्पापि भाविनी शक्तिरस्मिन्नस्तीति देवराजः। एवं प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वं प्राप्नोति मध्योदात्तश्चेष्यते। व्यत्यये तु सम्भवत्येव। वयं तु षह मर्षण इत्यस्माद् बाहुलकाद् 'असक्' प्रत्ययः। स च प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः। तदेवं मध्योदात्तस्वरसिद्धिः। सहते बहून् इति सहस्रमिति युक्तं पश्यामः।

यद्वा पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्......(अ० ५। १। ५९) इत्यादिवत् निपातनादेव प्रत्ययस्वरः। सहस्राणि बहूनि भृष्टयो यस्माद्यस्य वेति बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६। २। १) इति पूर्वपदस्य मध्योदात्तस्वरसिद्धिः॥

(शततेजाः) शतशब्दः पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्० (अ० ५। १। ५९) इत्यादिना निपातनादन्तोदात्तः। बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणेष्टस्वरसिद्धिः॥

(वायुः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(असि) पूर्ववन्निघातः॥

(तिग्मतेजाः) मक्प्रत्ययान्तस्तिग्मशब्दोऽन्तोदात्तः, बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरे मकार उदात्तः॥

(द्विषतः) 'द्विष अप्रीतौ' शतृप्रत्ययः, स च प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततो विभक्त्यनुदात्तत्वे प्राप्ते शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६। १। १७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वेऽन्तोदात्तस्वरसिद्धिः॥

(वधः) हनश्च वधः (अ० ३। ३। ७६) इत्यनेन हन्तेरनुपसर्गे भावेऽप्प्रत्ययः। तत्सन्नियोगेन वधादेशश्च, स चान्तोदात्तः। प्रत्ययस्तु पित्वादनुदात्तः। ततः अतो लोपः (अ० ६। ४। ४८) इत्यकारलोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६। १। १६१) इत्यन्तोदात्तस्वरसिद्धिरिति दिक्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

2 सर्वविधोऽप्यर्थोऽत्रान्वये निहित इति बोध्यम्॥

3 मन्त्रगतपदैः सम्बद्धोऽयं भावार्थो द्रष्टव्यः॥

4 गत्यभावपक्षे रूपमिदमिति ध्येयम्॥

† अत्र 'त्वा' इति मन्त्रगतपदं त्यक्तं, तच्चात्र नान्वेति। यदि 'अध्वरकृतम्' इत्यस्यार्थः 'अध्वरेण कृतम्' तदा 'अध्वरकृतं त्वा तमाददे' इति वाक्यं सम्यगुपपद्यते॥ ॐ 'सर्वोपकाराय' इति कोशेषु पाठः संशोधने परिवर्त्तितः स्यात्॥

कारी भवतीति[1] ॥ २४ ॥

फिर भी उक्त यज्ञ कैसा और क्यों उसका अनुष्ठान करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[2] ॥

पदार्थः[3]—मैं (सवितुः) अन्तर्यामी प्रेरणा करने (देवस्य) सब आनन्द के देने वाले परमेश्वर की (प्रसवे) प्रेरणा में (अश्विनोः) सूर्य्य चन्द्र और अध्वर्य्युओं के [(बाहुभ्याम्)] बल और वीर्य्य से तथा (पूष्णः) पुष्टिकारक वायु के (हस्ताभ्याम्) जो कि ग्रहण और त्याग के हेतु उदान और अपान हैं, उनसे (देवेभ्यः) विद्वान् वा दिव्य सुखों को प्राप्ति के लिये (अध्वरकृतम्) *यज्ञ से सुखकारक [(त्वा) उस] कर्म को (आददे) अच्छे प्रकार ग्रहण करता हूँ । और मेरा किया हुआ जो यज्ञ है, सो (इन्द्रस्य) सूर्य्य का (सहस्रभृष्टिः) जिसमें अनेक प्रकार के पदार्थों के पचाने का सामर्थ्य वा (शततेजाः) अनेक प्रकार का तेज तथा (दक्षिणः) प्राप्त करने वाला (बाहुः) किरणसमूह (असि) है, और जिस सूर्य्य वा मेघमण्डल का (तिग्मतेजाः) तीक्ष्ण तेजवाला (वायुः) वायु हेतु (असि) है, उससे हमको अनेक प्रकार के सुख तथा (द्विषतः) शत्रुओं का (वधः) नाश करना चाहिये ॥२४॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा करता है कि मनुष्यों के [द्वारा] अच्छी प्रकार सिद्ध किया हुआ यज्ञ, जिसमें भौतिक अग्नि के संयोग से ऊपर को अच्छे २ पदार्थ छोड़े [जाते] हैं, वह सूर्य्य की किरणों में स्थिर होता है, तथा पवन उसको धारण करता है, और वह सबका उपकार करने वाला होकर हजारों सुखों को प्राप्त कराके दुःखों का विनाश करनेवाला होता है[4] ॥ २४ ॥

पृथिवीत्यस्य ऋषिः स एव । सविता देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः क गत्वा किंकारी भवतीत्युपदिश्यते ॥

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ अधियज्ञार्थोऽन्वये व्यक्ततरः । आध्यात्मिकाधिदैविकार्थौ पदार्थतोऽप्यवगन्तव्यौ ॥

विशेषवक्तव्यम्

यत्तु कात्यायनश्रौतसूत्रे (२ । ५ । २७, २८ ॥ २ । ६ । ५) अन्वाहार्य्यं दक्षिणाग्नावधिश्रयति, अत्र वा व्रतोपायनम्, वेदिं परिसमुह्य वितृतीयेऽग्नीदुत्तरत उत्करं करोति इत्यादि सूत्रैर्विधीयमानम् 'अन्वाहार्यपचनम्', 'व्रतग्रहणे विकल्पः' 'उत्करकरणम्' एतत्सर्वं शतपथब्राह्मणे नास्त्येवेति विशेषः । किमत्र कारणमिति तु सुधिय एव विभावयन्तु ॥ २४ ॥

२ यह यज्ञ दुःख की निवृत्ति का साधन है अतः उसके अनुष्ठान का विधान करते हैं—फिर भी उक्त इत्यादि ॥

३ सब प्रकार का अर्थ संस्कृत अन्वय में देखना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ अधियज्ञ अर्थ अन्वय में व्यक्त है । आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ पदार्थ में भी समझने चाहियें ॥

विशेषवक्तव्य

यहां शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्र की विधि में परस्पर भेद है, यह हम संस्कृत विवरण में भली प्रकार दर्शा चुके हैं । यह भेद क्यों है ? इसे विद्वज्जन ही विचारें ॥ २४ ॥

५ वेदिः, पुरीषम्, सविता इति सर्वानुक्रमणी ।

६ ततःसर्वविधान्तरायाभाव इति यज्ञप्रभावमाह—पुनः स यज्ञः इति ॥

* संस्कृतपदार्थानुसारं तु—"जिस से यज्ञ किया जावे उस सामग्रीसमूह को" इति स्यात् ॥

पृथिवि । देवयजनीति देवऽयजनि । ओषध्याः । ते । मूलम् । मा । हिंसिषम् । व्रजम् । गच्छ । ❀गोष्ठानम् । गोस्थानमिति गोऽस्थानम् । वर्षतु । ते । द्यौः । बधान । देव । सवितरिति सवितः । परमस्याम् । पृथिव्याम् । शतेन । पाशैः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः । तम् । अतः । मा । मौक् ॥ २५ ॥

पदार्थः—(पृथिवि) विस्तृताया भूमेः । (देवयजनि) देवा यजन्ति यस्यां† तस्याः । (ओषध्याः) यवादेः । (ते) अस्याः । अत्र सर्वत्र विभक्तेर्विपरिणामः क्रियते । (मूलम्) वृद्धिहेतुकम् । (मा) निषेधार्थे । (हिंसिषम्) उच्छिन्द्याम् । अत्र लिङर्थे लुङ् । (व्रजम्) व्रजन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्त्यापो यस्मात् यस्मिन् वा तं व्रजं मेघम् । व्रज इति मेघनामसु पठितम् निघं० १ । १० । (गच्छ) गच्छतु । अत्र व्यत्ययः । (गोष्ठानम्) गवां सूर्य्यरश्मीनां पशूनां वा स्थानम् । गाव इति रश्मिनामसु पठितम् । निघं० १ । ५ । (वर्षतु) स्पष्टार्थः । (ते) तस्य । अत्र संबन्धार्थे षष्ठी । (द्यौः) सूर्य्यप्रकाशः । (बधान) बन्धय । (देव) सूर्य्यादिप्रकाशकेश्वर । (सवितः) राज्यैश्वर्य्यप्रद । (परमस्याम्) उत्कृष्टायाम्‡ । (पृथिव्याम्) बहुसुखप्रदायाम् । (शतेन) बहुभिः । (पाशैः) बन्धनसाधनैः, पश बन्धन इत्यस्य रूपम् । (यः) अधर्मात्मा दस्युः शत्रुश्च । (अस्मान्) सर्वोपकारकान् धार्मिकान् । (द्वेष्टि) विरुध्यति[2] । (यम्) दुष्टं शत्रुम् । (च) समुच्चये । (वयम्) धार्मिकाः शूराः । (द्विष्मः) विरुध्यामः । (तम्) पूर्वोक्तम् । (अतः) बन्धात् कदाचित् (मा) निषेधार्थे । (मौक्) मोचय । मुच्लृ मोक्षणे

१ यो ह्येव सविता स प्रजापतिः । श० १२ । ३ । ५ । १ ॥ प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत । तै० ब्रा० १ । ६ । ४ । १ ॥

२ दिवादेराकृतिगणत्वात् 'श्यन्,' क्षीयते मृग्यत इति यथा । यद्वा विरुणद्धीति विरुत् । कर्त्तरि क्विप्, तदिवाचरति उपमानादाचारे (अ० ३ । १ । १०) इति क्यच् विरुध्यतीति । तथा च माधवः—"अतोऽन्यत्राङ्गादेर्धातोरनुकरणात् क्विबन्ताद् वा 'क्यच्' द्रष्टव्यः । युध्यति भिषज्यतिप्रभृतयो गताः ॥" माधवीयधातुवृत्तौ पृ० ४१० ॥

अन्यत्र य० २ । १५ "(द्विष्मः) विरुध्यामः" य० २ । २५ तु "(द्वेष्टि) विरुणद्धि", "(द्विष्मः) विरुन्ध्मः" इति अजमेरमुद्रितपाठः । तत्रापि सर्वहस्तलेखेषु 'विरुध्यति' 'विरुध्यामः' इत्येवोपलभ्यते, तस्मादस्य दिवादित्वमप्याचार्याणां सम्मतमिति व्यक्तम् ।

"ब्राह्मणं प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणश्च विरुध्यति" । विदुरनीति १ । ९० इति प्रयोगोऽप्युपलभ्यत एव ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पृथिवि) आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तत्वम् । विभक्तिव्यत्ययेनात्र षष्ठ्यर्थं इत्याचार्यस्याभिप्रायः । प्रमाणं तु प्रथममन्त्रविवरणे द्रष्टव्यम् ॥

(देवयजनि) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ततो देवयजनशब्दात् स्त्रियां ङीप् । सम्बोधनह्रस्वत्वे आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः । पूर्वस्याविद्यमानवद्भावस्तु न भवति 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे' (अ० ८ । १ । ७३) इत्यनेन प्रतिषेधात् ॥

(ओषध्याः) व्याख्यातः पूर्वत्र (यजुः १ । २१ पृ० १०७) ॥

❀ 'गोष्ठानम्' । इति पदं अ० मुद्रिते त्यक्तम् ॥

† "यस्यां सा ते अस्याः" इति ख. ग. अ० मुद्रिते च पाठः । क. कोशे तु 'सा (ते) तव' इत्युपलभ्यते, स चापपाठ एव, 'देवयजनि' इत्युत्तरं मन्त्रे 'ते' इति पदस्यादर्शनात् । विशेष्यभूतस्य पृथिवीपदस्य षष्ठ्यामर्थदर्शनात्, अन्वये 'देवयजनि'पदस्य 'देवयज्ञाधिकरणायाः' इति स्पष्टं षष्ठ्यामर्थदर्शनात् ॥

‡ अत्र अ० मुद्रिते तु—"(परम्) शत्रुम् (अस्याम्) प्रत्यक्षायाम्" इति पाठः । स च हस्तलेखसंशोधनपत्रानुसारमस्माभिः संशोधितः । अस्मिन् (२५) अग्रिमे च (२६) मन्त्रे—पदपाठे, पदार्थे, अन्वये, भाषापदार्थे च सर्वत्र मुद्रिते "परम् + अस्याम्" इति पदद्वयमुपलभ्यते । तच्च मन्त्रद्वयेऽपि सर्वमस्माभिर्हस्तलेखसंशोधनपत्रानुसारमेव संशोधितमिति ध्येयम् ॥

इत्यस्माल्लोडर्थे लुङघडभावे च्लेः सिजादेशे, [अ० ३ । १ । ४४] बहुलं छन्दसि [अ० ७ । ३ । ९७] इतीड्भावः । वदव्रज० [अ० ७ । २ । ३] इति वृद्धिः । संयोगान्तस्य लोपः [अ० ८ । २ । २३] इति सिचस्सकारलोपः ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । ४ । १६ व्याख्यातः ॥ २५ ॥

(मूलम्) मूशक्यबिभ्यः क्लः (उ० ४ । १०८) इति 'क्ल': प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ शब्दोऽयं वेदे सर्वत्राद्युदात्त एवोपलभ्यते, तेन प्रत्यये नित्त्वमनुमेयम् , तच्च शोभनतरं स्यात् ॥

(मा) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(हिंसिषम्) पदात् पर इति कृत्वा सर्वनिघातः ॥

(व्रजम्) व्रज गतौ गोचरसंचरवहव्रज० (अ० ३ । ३ । ११९) इत्यादिना घप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(गच्छ) पूर्ववत् सर्वनिघातः ॥

(गोष्ठानम्) गावस्तिष्ठन्ति यस्मिन्निति गोष्ठानम् । अम्बाम्बगोभूमि० (अ० ८ । ३ ।९७) इत्यादिना षत्वम् । करणाधिकरणयोश्च (अ० ३ । ३ । ११७) इति ल्युट् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् । शेषनिघाते एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति मध्योदात्तस्वरसिद्धिः । यत्तु मन्क्तिन्व्याख्यान० (अ० ६ । २ । १५१) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वप्राप्तिः, सा तु छान्दसत्वान्न प्रवर्त्तते । यद्वा परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६ । २ । १९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वं बोध्यम् ॥

(वर्षतु) भिन्नवाक्यत्वात् तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति न प्रवर्त्तते । शप्तिपोरनुदात्तत्वाद्धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(द्यौः) द्योतन्ते लोका अस्याम्, यया वा द्योत्यन्ते सा द्यौः । द्युतधातोः गमेर्डोः (उ० २ । ६७) इति बाहुलकाद् डोप्रत्ययः । द्योश्च सर्वनामस्थाने वृद्धिविधिः (अ० ६ । १ । ९३ भा० वा०) इत्यनेन वृद्धिः, प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तः । अग्रिममन्त्रपदार्थेऽपि तथैव ॥

(बधान) हलः श्नः शानज्झौ (अ० ३। १। ८३) इति शानच् । चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः । अत्रापि भिन्नवाक्यत्वात् तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति न प्रवर्त्तते ॥

(देव) आमन्त्रितत्वादाष्टमिको निघातः ॥

(परमस्याम्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् । अत्र छान्दसः स्याडागमस्तस्य चागमत्वादनुदात्तत्वम् ॥

(पृथिव्याम्) पृथिवीशब्दः पूर्वत्र (यजुः १ । २ पृ० ३७) व्याख्यातः । ततो ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (अ० ७ । ३ । ११६) इत्याम् । स्थानिवद्भावेन अनुदात्तौ सुप्पितौ (अ० ३ । १ । ४) इत्यनुदात्तत्वम् । ततो यणादेशे उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्त्युदात्तत्वेऽन्तोदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(शतेन) शतशब्दो व्याख्यातः पूर्वमन्त्रे (यजुः १ । २४ पृ० ११५) ॥

(पाशैः) घञन्तः । कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६ । १ । १५९) इति अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तः ॥

(यः) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । संहितायां स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इति स्वरितः ॥

(अस्मान्) पूर्वत्र (यजुः १ । ८ । पृ० ५६) व्याख्यातः ॥

(द्वेष्टि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे तिपः पित्त्वाद् धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(च) चादयोऽनुदात्ताः (फिट् ८४) इति निघातः ॥

(वयम्) युष्मसिभ्यां मदिक् (उ० १ । १३९) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तोऽस्मच्छब्दः । तत उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(द्विष्मः) यद्वृत्तान्नित्यम (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

अन्वयः—हे देव सवितः परमात्मन् ते तव कृपयाऽहं देवयजनि देवयज्ञाधिकरणायास्तेऽस्याः पृथिवि भूमे[रोषध्याश्च] [2]मूलं वृद्धिहेतुं मा हिंसिषं, मया पृथिव्यां योऽयं × यज्ञोऽनुष्ठीयते स व्रजं मेघं गच्छ गच्छतु, गत्वा गोष्ठानं × वर्षतु द्यौर्वर्षतु ×। हे वीर त्वं परमस्यां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं शत्रुं शतेन पाशैर्वधान बन्धय। तमतो बन्धनात् कदाचिन्मा मौक् मा मोचय ॥ २५ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति विद्वद्भिर्मनुष्यैः पृथिव्याः※ राज्यस्य तस्यां त्रिविधस्य यज्ञस्यौषधीनां च हिंसनं कदाचिन्नैव कार्य्यम्। योऽसौ हुतस्य द्रव्यस्य सुगन्ध्यादिगुणविशिष्टो धूमो मेघमण्डलं गत्वा वायुसूर्याभ्यां छिन्नस्याकर्षितस्य धारितस्य जलसमूहस्य शुद्धिकरो भूत्वाऽस्यां पृथिव्यां वायुजलौषधिशुद्धिद्वारा महत्सुखं संपादयति, तस्मात् स यज्ञः केनापि कदाचिन्नैव त्याज्यः। ये दुष्टा मनुष्यास्तानस्यां पृथिव्यामनेकैः पाशैर्बद्ध्वा दुष्टकर्मभ्यो निवर्त्य कदाचित्ते न मोचनीयाः। अन्यच्च परस्परं द्वेषं विहायान्योन्यस्य[4] सुखोन्नतये सदैव प्रयतितव्यमिति[5] ॥ २५ ॥

फिर उक्त यज्ञ कहां जाके क्या करने वाला होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[6] ॥

पदार्थः—हे (देव) सूर्यादि जगत् के प्रकाश करने तथा (सवितः) राज्य और ऐश्वर्य के देनेवाले परमेश्वर ! (ते) आपकी कृपा से मैं (देवयजनि) विद्वानों के यज्ञ करने की जगह (ते) यह जो (पृथिवि) भूमि है, उसके [और (ओषध्याः) जो यवादि औषधि हैं उनके] (मूलम्) वृद्धि करनेवाले मूल [कारणों] को (मा हिंसिषम्) नाश न करूं, और मैं (पृथिव्याम्) अनेक प्रकार सुखदायक भूमि में जिस यज्ञ का अनुष्ठान करता हूँ, वह (व्रजम्) जलवृष्टिकारक मेघ को (गच्छ) प्राप्त हो, वहां जाकर (गोष्ठानम्) सूर्य की किरणों के गुणों से (वर्षतु) वर्षाता है, और (द्यौः) सूर्य के प्रकाश को वर्षाता है। हे वीरपुरुषो ! आप † (परमस्याम्) इस [उत्कृष्ट] पृथिवी में (यः) जो कोई अधर्मात्मा डाकू (अस्मान्) सबके उपकार करनेवाले धर्मात्मा सज्जन हम लोगों से (द्वेष्टि) विरोध

(तम्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः। तत अमि पूर्वः (अ० ६ । १ । १०७) इत्यादिना पूर्वरूपैकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः(अ० ८। २ ।५)इत्युदात्तत्वम् ॥

(अतः) तसिल्प्रत्यये लिति (अ० ६। १। १९३) प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वं विभक्तिस्वरमपि परत्वाद् बाधते।

(मा) निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इति उदात्तत्वम् ॥

(मौक्) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आध्यात्मिकार्थपरोऽयमन्वयः स्थूलदृष्ट्या, सूक्ष्मेक्षिकया तु त्रिविधार्थपर इति ॥

२ अत्र प्रमाणम्—सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। अथ० १२ । १ । १ ॥

३ मन्त्रगतपदैरयं भावार्थो योजनीयः ॥

४ कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः, समासवच्च बहुलम् (अ० ८ । १ । १२ भा० वा०) ॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ अत्र त्रिविधोऽर्थः पदार्थतोऽप्यवगन्तव्यः ॥ २५ ॥

६ यज्ञ से सब प्रकार के अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव होता है यह कहते हैं—फिर उक्त यज्ञ इत्यादि ॥

७ अत्र विषये संस्कृतान्वयटिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ॥

× अत्र संस्कृतान्वये 'वर्षतु' इत्यस्याः क्रियायाः 'गोष्ठानं' इत्यनेन कर्तृसम्बन्धः स्यात्, 'द्यौः' इत्यनेन वा, अथवोपरिष्टाद् 'योऽयं यज्ञः' इत्यनेन स्यादिति सन्दिह्यते ॥

※ अयं क. हस्तलेखानुसारी पाठः। ख. ग. हस्तलेखयोः, अजमेरमुद्रिते च 'पृथिव्यां राज्यस्य' इति पाठ उपलभ्यते। सप्तमीनिर्देशे उत्तरस्थं 'तस्यां' इति पदमनर्थकं भवति। लेखकप्रमादादत्रानुस्वारनिर्देशो जातः स्यात् ॥

† पृ० ११७ संस्कृतटिप्पण्यां द्रष्टव्यम्।

करता है, (च) और (यम्) जिस दुष्ट शत्रु से (वयम्) धार्मिक शूर हम लोग (द्विष्मः) विरोध करें, (तम्) उस दुष्ट शत्रु को (शतेन) अनेक (पाशैः) बन्धनों से (बधान) बांधो, और उसको (अतः) इस बन्धन से कभी (मा मौक्) मत छोड़ो ॥ २५ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् मनुष्यों को पृथिवी का राज्य तथा उसी पृथिवी में तीन प्रकार के यज्ञ और ओषधियां इनका नाश कभी न करना चाहिये। जो यज्ञ अग्नि में हवन किये हुए पदार्थों का [सुगन्धयुक्त] धूम मेघमण्डल में जाकर ‡ सूर्य और वायु से [कण कण करके खैंचे और धारण किये हुये] जलसमूह [का शुद्धि करने वाला होकर] इस पृथिवी में वायु, जल, औषध की शुद्धि के द्वारा हुआ अत्यन्त सुख उत्पन्न करने वाला होता है, इससे यह यज्ञ किसी पुरुष को कभी छोड़ने योग्य नहीं है, तथा जो दुष्ट मनुष्य हैं, उनको इस पृथिवी पर अनेक बन्धनों से बांधे, और उनको कभी न छोड़ें, जिससे कि वे दुष्ट कर्मों से निवृत्त हों, और सब मनुष्यों को चाहिये कि परस्पर ईर्ष्या द्वेष से अलग होकर एक दूसरे की सब प्रकार सुख की उन्नति के लिये सदा यत्न करें[1] ॥ २५ ॥

अपाररुमित्यस्य सर्वस्य ऋषिः स एव। सविता[2] देवता। पूर्वार्द्धे स्वराड्ब्राह्मीपङ्क्तिश्छन्दः। उत्तरार्धे भुरिग्ब्राह्मीपङ्क्तिश्छन्दः। [उभयत्र] पञ्चमः स्वरः॥

पुनरेतेन यज्ञेन किं किं सिध्यतीत्युपदिश्यते[3] ॥

अपाररुँ पृथिव्यै देवयजनाद्वध्यासं व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳪ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। अररो दिवं मा पप्तो द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याᳪ शतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्॥ २६॥

अप। अररुम्। पृथिव्यै। देवयजनादिति देवऽयजनात्। वध्यासम्। व्रजम्। गच्छ। ❀गोष्ठानम्। गोस्थानमिति गोऽस्थानम्। वर्षतु। ते। द्यौः। बधान। देव। सवितरिति सवितः। परमस्याम्। पृथिव्याम्। शतेन। पाशैः। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। च। वयम्। द्विष्मः। तम्। अतः। मा। मौक्॥ अररोऽ इत्यररो। दिवम्। मा। पप्तः। द्रप्सः। ते। द्याम्। मा। स्कन्। व्रजम्। गच्छ। ❀गोष्ठानम्। गोस्थानमिति गोऽस्थानम्। वर्षतु। ते। द्यौः। बधान। देव। सवितरिति सवितः। परमस्याम्। पृथिव्याम्। शतेन। पाशैः। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। च। वयम्। द्विष्मः। तम्। अतः। मा। मौक्॥ २६॥

पदार्थः—(अप) धात्वर्थे। (अररुम्) असुरराक्षसस्वभावशत्रुम्। अर्तेररुः। उ० ४। ७९। अनेन

त्रिविधप्रक्रिया

१ इस मन्त्र का अन्वय प्रधानतया आध्यात्मिक अर्थ परक है। वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर तीनों प्रक्रियाओं में संबद्ध हो सकता है तथा पदार्थ से भी त्रिविधप्रक्रिया द्योतित हो रही है ॥ २५ ॥

२ असुरः वेदिः इति सर्वानुक्रमणी ॥

३ त्रिविधशत्रवः कथमपाकर्तुं शक्यन्त इति पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति—पुनरेतेन इत्यादि ॥

४ अर्यते गृह्यत इत्यररुः इति श्वेतवनवासी (उ० ४। ८३ पृ० १५७) ॥

अर्यते गृह्यते न्यायाधीशैर्वेति कर्मणि अरुः प्रत्ययः।

---

‡ ग. कोशे अजमेरमुद्रिते च—"सूर्य और वायु''''''''जल औषधि की" एतावान् पाठो भिन्नः, स च ग. हस्तलेखे लेखकप्रमादात् परिभ्रष्टो वर्तते। अत एवाजमेरमुद्रिते नोपलभ्यते। संस्कृतभावार्थे दर्शनादावश्यकोऽयं पाठः ॥

❀ 'गोष्ठानम्' इतिपदमुभयत्र अ० मुद्रिते त्यक्तम् ॥

ऋधातोररुः प्रत्ययः । (पृथिव्यै) पृथिव्याम् । अत्र सुपां सुलुग [अ० ७ । १ । ३९] इति सप्तमीस्थाने चतुर्थी । (देवयजनात्) देवा यजन्ति यस्मिन् तस्मात् । (वध्यासम्) हन्याम । (व्रजम्[1]) व्रजन्ति जानन्ति जना येन तं सत्सङ्गम् । (गच्छ) प्राप्नुहि गच्छतु वा । (गोष्ठानम्) गौर्वाणी तिष्ठति यस्मिन्नध्ययनाध्यापने तं व्यवहारम् । गौरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ । (वर्षतु) शब्दविद्याया वृष्टिं करोतु । (ते) तव । (द्यौः) विद्याप्रकाशः । दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । निरु० १३ । २५ । (बधान) बन्धय । (देव) सर्वानन्दप्रदेश्वर व्यवहारहेतुर्वा । (सवितः) सर्वेषु जीवेष्वन्तर्यामितया सत्यप्रेरक व्यवहारप्रेरणाहेतुर्वा (परमस्याम्) उत्कृष्टायामाधारभूतायाम् । (पृथिव्याम्) बहुपदार्थप्रदायाम् । (शतेन) बहुभिः (पाशैः) बन्धनैः । (यः) मूर्खः । (अस्मान्) विद्यारतप्रचारकान्[2] । (द्वेष्टि) अपप्रीणाति । (यम्) विद्याविरोधिनम् । (च) पुनरर्थे (वयम्) विद्वांसः । (द्विष्मः) अपप्रीणीमः । (तम्) पूर्वोक्तं विद्याशत्रुम् । (अतः) अस्माद् बन्धनादुपदेशाद्वा । (मा) निषेधार्थे । (मौक्) त्यज । (अररो) दुष्टमनुष्य । (दिवम्) प्रकाशम् । (मा) निषेधार्थे । (पप्तः) पततु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (द्रप्सः) हर्षकारी रसः । दृप हर्षणमोहनयोरित्यस्मादौणादिकः सः प्रत्ययः । अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् । अ० ६ । १ । ५९ । अनेनामागमः । (ते) तव तस्याः पृथिव्या वा । (द्याम्) आनन्दम् । दिवुधातोर्बाहुलकाड्डोप्रत्ययष्टिलोपे प्राप्ते वकारलोपश्च । (मा) निषेधार्थे । (*स्कन्) निस्सारयतु, अत्र लोडर्थे लङ् बहुलं छन्दसि (अ० २ । ४ । ७३) इति शपो लुक् । (व्रजम्) व्रजन्ति विद्वांसो यस्मिन् सन्मार्गे तम् । (गच्छ) गच्छतु, गमय वा । (गोष्ठानम्) गौः पृथिवी तिष्ठति यस्मिन् तदन्तरिक्षम् । (वर्षतु) सिञ्चतु । (ते) तव । (द्यौः) कान्तिः । द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम् । श० १४ । ३ । २ । ८ । (बधान) बध्नाति वा, पक्षे व्यत्ययः । (देव) विजयप्रद विजयहेतुर्वा । (सवितः) सर्वोत्पादक व्यवहारोत्पत्तिहेतुर्वा । (परमस्याम्) [उत्कृष्टायां] सर्वबीजारोपणार्थायाम् । (पृथिव्याम्) बहुप्रजायुक्तायाम । (शतेन) बहुभिः । (पाशैः) † सामदानदण्डभेदादिकर्मभिः । (यः) न्यायविरोधी । (अस्मान) न्यायाधीशान् (द्वेष्टि) कोपयति[3] । (यम्) अन्यायकारिणम् । (च) पुनरर्थे । (वयम्) सर्वहितसंपादिनः । (द्विष्मः) कोपयामः । (तम्) अधर्मप्रियम् । (अतः) शिक्षणात् । (मा) निषेधे । (मौक्) त्यजतु ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । ४ । १७–२१ व्याख्यातः ॥ २६ ॥

प्राप्यते गम्यते वा न्यायधीशैरिति वा ॥

१ व्रज गतौ । गत्यर्थानां ज्ञानार्थता तु प्रदर्शितैव (यजुः १ । १ पृ० १०) ॥

२ विद्यायां रता विद्यारताः, विद्यारताश्च प्रचारकाश्च विद्यारतप्रचारकाः, तान् ॥

३ कोपं करोति कोपयति । तत्करोतीत्युपसंख्यानम् (अ० ३ । १ । २६ भा० वा०) इति णिच् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अप) उपसर्गाद्युदात्तत्वम् ॥

(अररुम्) अर्त्तेररुः (उ० ४ । ७९) प्रत्ययस्वरेणैव मध्योदात्तः ॥

* पूर्वापरविचारेण भाषार्थेन चात्र "(स्कन्) स्कन्दतु प्राप्नोतु" इति पाठः साधीयान् प्रतिभाति ।

† 'सामदामदण्ड०' इति कोशेषु, अजमेरमुद्रिते च पाठः । स च प्राकृतभाषाप्रयुक्तदामशब्दभ्रान्त्या लेखकेन लिखितः स्यात् । सर्वत्र राजनीतिग्रन्थेषु चतुर्विधोपायेषु 'दान' इत्येव पठ्यते (ग्रन्थकृतापि च ऋग्वेदभाष्ये १।११।४ भावार्थे 'शत्रुबलं छित्त्वा सामदानादिभिः......" इत्यादिवाक्ये दानशब्द एव प्रयुक्तः । अतोऽत्र "सामदानदण्डभेदादिकर्मभिः" इत्येव पाठः साधीयान् । यत्तु प्राकृतभाषासु सामदामदण्डभेद इत्यादिषु प्रयुज्यमानो 'दाम' शब्दः स सामशब्दसाहचर्याद् 'दाम' इत्येव निष्पन्नः । तस्माद् 'दाम' शब्दस्यापि 'दान' इत्येवार्थः, न तु दमनादिकम् ।

प्रकृतविषये राजनीतिग्रन्थेष्वित्थमुपलभ्यते— (१) साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ॥ मनु० ७।१९७ ॥
(२) "अभ्यन्तरेषु प्रतिजपत्सु सामदाने प्रयुञ्जीत । स्थानमानकर्म सान्त्वम् । अनुग्रहपरिग्रहौ कर्मण्यायोगो वा दानम् । बाह्येषु प्रतिजपत्सु भेददण्डौ प्रयुञ्जीत" (कौटिल्यार्थशास्त्र अ० ९ । अ० ५ । ८ ॥
(३) "सामदानभेददण्डाश्चिन्तनीयाः स्वयुक्तितः" ॥ शुक्रनीतिसार ४।१।२७॥

अन्वयः—हे देव सवितर्भवत्कृपया वयं परस्परं विद्यामेवोपदिशामः । यथायं सविता देवः सूर्य्यलोकोऽस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बन्धनहेतुभिः किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् सर्वान् पदार्थान् बध्नाति, तथैव त्वमपि दुष्टान् बद्ध्वा शुभगुणान् प्रकाशय । हे विद्वांसो यथाहं [पृथिव्यै] पृथिव्यां देवयजनादरमपवध्यासं तथैव तं यूयमप्यपाहनत । यथाऽहं व्रजं गच्छामि तथैव त्वमप्येतं गच्छ । यथाहं गोष्ठानं वर्षामि तथैव भवानपि वर्षतु । यथा मम द्यौविद्याप्रकाशः सर्वान् प्राप्नोति, तथैव ते तवापि प्राप्नोतु । यथाऽहं, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्नित्यं बध्नामि, कदाचित्तं न त्यजामि, तथैव हे वीर, तं त्वमिमं बधान तं चातः कदाचिन्मा मौक् । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो बन्धनात् कोपि मा मुञ्चतु ॥ एवं च तं प्रति सर्व उपदिशन्तु, हे अररो त्वं दिवं मा पप्तस्तथा ते तव द्रप्सो द्यां मा स्कन् । हे सन्मार्गजिज्ञासो यथाऽहं व्रजं सन्मार्गं गच्छामि, तथैव त्वमप्येतं गच्छ । यथेयं द्यौर्गोष्ठानं वर्षति, तथैवेश्वरो विद्वान् वा ते तव कामान् वर्षतु । यथायं [देव सवितः] सविता देवः सूर्य्यलोकः [परम]स्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बन्धनहेतुभिः किरणैराकर्षणेन पृथिव्यादीन् सर्वान् पदार्थान् [बधान] बध्नाति, तथैव त्वमपि च पुनर्योऽस्मान्, द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं परमस्यां पृथिव्यां शतेन पाशैर्बधान । यथाऽहं तं द्वेष्टारं शत्रुं शतेन पाशैर्बद्ध्वा न कदाचिन्मुञ्चामि, तथैव त्वमप्येनं सदा बधान [तं चातः] कदाचिन्मा मौक् ॥ २६ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः[1] ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति हे मनुष्या युष्माभिर्विद्वत्कार्य्यानुष्ठाने विघ्नकारिणो दुष्टाः प्राणिनः सदाऽपहन्तव्याः । सत्समागमेन विद्यावृद्धिर्नित्यं कार्य्या । यथाऽनेकोपायैः श्रेष्ठानां हानिर्दुष्टानां च वृद्धिर्न स्यात् तथैवानुष्ठेयम् । सदा श्रेष्ठाः सत्कार्य्या दुष्टास्ताडनीया बन्धनीयाश्च । परस्परं प्रीत्या विद्याशरीरबलं संपाद्य क्रियया कलायन्त्रैरनेकानि यानानि रचयित्वा सर्वेभ्यः सुखं देयं, निरन्तरमीश्वरस्याज्ञापालनं [कर्त्तव्यं], स एवोपासनीयश्चेति[3] ॥ २६ ॥

फिर इस यज्ञ से क्या २ कार्य सिद्ध होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4] ॥

(पृथिव्यै) 'पृथिव्यां' पदवत् (यजुः १ । २५ पृ० ११८) उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(देवयजनात्) व्याख्यातः पूर्वमन्त्रे (यजुः १ । २५ पृ० ११७) देवयजनशब्दः ॥

(वध्यासम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अररो) आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तः ॥

(दिवम्) दिव्शब्दः प्रातिपदिकस्वरेणोदात्तः ॥

(द्रप्सः) प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तः ॥

(स्कन्) 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' (भ्वा० प०) इत्यस्य शपो लुक् । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० (अ० ६ । १ । ६८) इति लोपे संयोगान्तस्य लोपः (अ० ८ । २ । २३) इति लोपे च 'स्कन्', छन्दस्यपि दृश्यते (अ० ६ । ४ । ७३) इत्यटोऽभावः । माङि लुङ् (अ० ३ । ३ । १७५) इति छान्दसत्वादेव न भवति, यद्वात्र माङ्प्रयोगो न माङ इति ॥

तिङ्ङतिङ (अ० ८ । १ । २८) निघातः ॥ अन्यत् सर्वं व्याख्यातम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ लुप्तोपमालङ्कारोऽत्रान्वये स्पष्टः ॥

२ मन्त्रगतपदैर्भावार्थोऽयं योजनीयः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ पदार्थत एव सर्वविधप्रक्रिया ऊहनीया ॥

विशेषवक्तव्यम्

क गत्वा किंकारी भवतीति पूर्वमन्त्र उक्तम् । दुष्टापहतिः, विद्यावृद्धिः, श्रेष्ठसत्कारः, दुष्टताडनम्, कलायन्त्रैर्यानादिनिर्माणं चास्मिन् मन्त्र इति विशेषोऽत्रावगन्तव्यः ॥ २६ ॥

४ त्रिविध शत्रु किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं इसको स्पष्ट करते हैं—फिर इस यज्ञ से इत्यादि ॥

पदार्थः—हे (देव) सर्वानन्द के देनेवाले जगदीश्वर ! (सवितः) सब प्राणियों में अन्तर्यामी, सत्य प्रकाश करनेहारे आपकी कृपा से हम लोग परस्पर *उपदेश करें कि जैसे यह सबका प्रकाश करनेवाला सूर्यलोक इस पृथिवी में अनेक बन्धन के हेतु किरणों से खैंचकर पृथिवी आदि सब पदार्थों को बांधता है, वैसे तुम भी दुष्टों को बांधकर अच्छे २ गुणों का प्रकाश करो। हे विद्वानो ! जैसे मैं (पृथिव्यै) पृथिवी में (देवयजनात्) विद्वान् लोग जिस संग्राम से अच्छे २ पदार्थ वा उत्तम २ विद्वानों की सङ्गति को प्राप्त होते हैं, उससे (अररुम्) दुष्टस्वभाववाले शत्रुजनको (अपवध्यासम्) मारता हूं, वैसे ही तुम लोग भी उसको मारो। तथा जैसे मैं (व्रजम्) उत्तम २ गुण जतानेवाले सज्जनों के सङ्ग को प्राप्त होता हूँ, वैसे तुम भी उसको (गच्छ) प्राप्त हो। जैसे मैं (गोष्ठानम्) पठन पाठन व्यवहार की बतानेवाली मेघ की गर्जना के समतुल्य वेदवाणी को अच्छे २ शब्दरूपी बूंदों से वर्षाता हूँ, वैसे तुम भी (वर्षतु) वर्षाओ, जैसे मेरी विद्या की (द्यौः) शोभा सबको दृष्टिगोचर है, वैसे (ते) तुम्हारी भी विद्या सुशोभित हो। जैसे मैं (यः) जो मूर्ख (अस्मान्) विद्या का प्रचार करनेवाले हम लोगों से (द्वेष्टि) विरोध करता है (च) और (यम्) जिस विद्याविरोधी जन को (वयम्) हम विद्वान् लोग (द्विष्मः) दुष्ट समझते हैं। (तम्) उसको (परमस्याम्) इस उत्कृष्ट, सब पदार्थों की धारण करने और विविध सुख देनेवाली (पृथिव्याम्) पृथिवी में (शतेन) बहुत से (पाशैः) बन्धनों से नित्य बांधता हूं, कभी उससे उसको नहीं त्यागता, वैसे हे वीर लोगो ! तुम भी उसको (बधान) बांधो, कभी उसको (अतः) उस बन्धन से (मा मौक्) मत छोड़ो अर्थात् जो दुष्ट जन हम लोगों से विरोध करे, तथा जिस दुष्ट से हम लोग विरोध करें, उसको उस बन्धन से कोई मनुष्य न छोड़े, इस प्रकार सब लोग उसको उपदेश करते रहें कि हे (अररो) दुष्ट पुरुष ! तू (दिवम्) प्रकाश उन्नति को (मा पप्तः) मत प्राप्त हो तथा (ते) तेरा (द्रप्सः) आनन्द देनेवाला विद्यारूपी रस (द्याम्) आनन्द को (मा स्कन्) मत प्राप्त हो सकता। हे श्रेष्ठ मार्ग चाहनेवाले मनुष्यो ! जैसे मैं (व्रजम्) विद्वानों के प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ मार्ग को प्राप्त होता हूं, वैसे तुम भी (गच्छ) उसको प्राप्त हो, जैसे यह (द्यौः) सूर्य का प्रकाश (गोष्ठानम्) पृथिवी के स्थान अन्तरिक्ष को सींचता है [अर्थात् प्रकाश से भरपूर करता है] वैसे ही ईश्वर वा विद्वान् पुरुष (ते) तुम्हारी कामनाओं को (वर्षतु) वर्षावें अर्थात् क्रम से पूरी करें। जैसे यह (देव) व्यवहार का हेतु (सवितः) सूर्यलोक (परमस्याम्) इस [उत्कृष्ट] बीज बोने योग्य (पृथिव्याम्) बहुत प्रजायुक्त पृथिवी में (शतेन) अनेक (पाशैः) बन्धन के हेतु किरणों से आकर्षण के साथ पृथिवी आदि सब पदार्थों को (बधान) बांधता है, वैसे तुम भी † दुष्टों को (यः) जो न्यायविरोधी (अस्मान्) न्यायाधीश हम लोगों से (द्वेष्टि) कोप करता है, (च) और (यम्) अन्यायकारी जन पर (वयम्) संपूर्ण हित संपादन करनेवाले हम लोग (द्विष्मः) कोप करते हैं, (तम्) उस शत्रु को उक्त गुणवाली पृथिवी में (शतेन) अनेक (पाशैः) साम दाम [दान] दण्ड और भेद आदि उद्योगों से तुम (बधान‡) बान्धो और जैसे हम उसको उस दण्ड से बांधकर कभी नहीं छोड़ते, वैसे ही तुम भी बांधो अर्थात् बन्धनरूप दण्ड सदा दो। [(अतः)] उसको कभी (मा मौक्) मत छोड़ो‡‡ ॥ २६ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोमालङ्कार है[1]।

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोगों को विद्या के सिद्ध करनेवाले कार्य्यों के नियमों में विघ्नकारी दुष्ट जीवों को सदा मारना चाहिये, और सज्जनों के समागम से विद्या की वृद्धि नित्य करनी चाहिये, जिस प्रकार अनेक उद्योगों से श्रेष्ठों की हानि दुष्टों की वृद्धि न हो, सो नियम करना चाहिये, और सदा श्रेष्ठ सज्जनों का सत्कार तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिये उनका बन्धन करना चाहिये। परस्पर प्रीति के साथ विद्या

१ लुप्तोपमालङ्कार संस्कृत अन्वय में स्पष्ट दर्शा दिया गया है ॥

* संस्कृतानुसारं त्वत्र 'उपदेश करते हैं' इति स्यात्। यद्वा संस्कृतान्वय एव 'उपदिशाम' इति पाठः स्यात् ॥
† "दुष्टों को बांधो और" इति सार्वत्रिकः पाठः। स च संस्कृताननुसारी ॥
‡ "(बधान) बांधता हूं" इति सार्वत्रिकः पाठः। स चापि संस्कृताननुसारी ॥
‡‡ अत्र कतिपयशब्दा लुप्तोमालङ्कारकारणाद् द्विः पठिताः ॥

और शरीर का बल संपादन करके क्रिया तथा कलायन्त्रों से अनेक यान बनाकर सबको सुख देना, ईश्वर की आज्ञा का पालन तथा ईश्वर की उपासना करनी चाहिये[1] ॥ २६ ॥

गायत्रेणेत्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो[2] देवता । ब्राह्मीत्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

केन स यज्ञो *ग्राह्योऽनुष्ठातव्यश्चेत्युपदिश्यते*[3] ॥

गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि । सु॒क्ष्मा चासि॑ शि॒वा चा॑सि स्यो॒ना चासि॑ सु॒षदा॒ चास्यू॒र्ज॑स्वती॒ चासि॒ पय॑स्वती च ॥ २७ ॥

गा॒य॒त्रेण॑ । त्वा॒ । छन्द॑सा । परि॑ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । ※त्रैष्टु॑भेन । त्रैस्तु॑भेनेति॒ त्रैऽस्तु॑भेन । त्वा॒ । छन्द॑सा । परि॑ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । जाग॑तेन । त्वा॒ । छन्द॑सा । परि॑ । गृ॒ह्णा॒मि॒ ॥ सु॒क्ष्मा । च॒ । अ॒सि॒ । शि॒वा । च॒ । अ॒सि॒ । स्यो॒ना । च॒ । अ॒सि॒ । सु॒षदा॑ । सु॒सदेति॑ सु॒ऽसदा॑ । च॒ । अ॒सि॒ । ऊर्ज॑स्वती । च॒ । अ॒सि॑ । पय॑स्वती । च॒ ॥ २७ ॥

पदार्थः—(गायत्रेण[4]) गायत्र्येव गायत्रं तेन । छन्दसः प्रत्ययविधाने नपुंसकात् स्वार्थ उपसंख्यानम् । अ० ४ । २ । ५५ [भा०वा०] । अनेन गायत्रशब्दे अण् त्रैष्टुभादिषु अञ् च । (त्वा) परमात्मानं तमिमं यज्ञं वा । (छन्दसा[6]) आह्लादकारिणा । चन्देरादेश्च छः उ० ४ । २२६ । अनेनासुन प्रत्ययः । (परि) सर्वतो भावे । परीति सर्वतोभावं प्राह । निरु० १ । ३ । (गृह्णामि) संपादयामि । (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभं तेन । (त्वा) त्वां सर्वानन्दमयं, तं पदार्थसमूहं वा । (छन्दसा) स्वातन्त्र्यानन्दप्रदेन । (परि) अभितः । (गृह्णामि) संपादयामि । (जागतेन) जगत्येव जागतं तेन । (त्वा) त्वां सुखस्वरूपं, तमग्निं वा । (छन्दसा) अत्यानन्दप्रकाशेन । (परि) समन्तात् । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (सुक्ष्मा) शोभना चासौ क्ष्मेयं पृथिवी च सा । क्ष्मेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघ० १ । १ । (च) समुच्चयार्थे । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (शिवा) मङ्गलप्रदा । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (स्योना) सुखप्रदा । स्योनमिति

त्रिविधप्रक्रिया

१ सब प्रक्रियाओं का अर्थ संस्कृतपदार्थ में निहित है। वहीं समझने का यत्न करना चाहिये ॥

विशेषवक्तव्य

यज्ञ कहां पहुंचकर क्या करता है, यह पूर्वमन्त्र में कह चुके । 'दुष्टों का नाश, विद्या की वृद्धि, श्रेष्ठजनों का सत्कार, दुष्टों का ताडन तथा कलायन्त्रों से यानादि का निर्माण' इतना विषय इस मन्त्र में विशेष कहा है ॥ २६ ॥

२ विष्णुः वेदिः इति सर्वानुक्रमणी ॥

३ वेदज्ञ एव सर्वमेतदनुष्ठातुं शक्नोतीति यज्ञे कोऽधिकारीत्याह—केन स यज्ञः इति ॥

४ तमेतदेव (गायत्रं) साम गायन्नत्रायत । यद् गायन्नत्रायत तद् गायत्रस्य गायत्रत्वम् ॥ जै० उ० ब्रा० । ३ । ३८ । ४ ॥

पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्य गायत्री । श० ३ । ५ । १ । १० ॥ ३ । ६ । ४ । २० ॥

५ त्रिष्टुब्जगतीशब्दयोः उत्सादिषु (अ० ४ । १ । ८६) पाठात् प्राग्दीव्यतीयोऽञ्प्रत्ययः ॥

६ छन्दांसि छन्दयति । दै० ब्रा० ३ । १९ ॥

इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि । ता० ६ । ९ । २६ ॥

रसो वै छन्दांसि । श० ७ । ३ । १ । ३७ ॥

७ वीर्यं वै त्रिष्टुप् । ऐ० ब्रा० १ । २१ ॥

ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप् । ऐ० ब्रा० १ । ५ । २८ ॥

ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप् । श० १ । ३ । ५ । ५ ॥

८ जगत्येव यशः । गो० पू० ५ । १५ ॥

बलं वै वीर्यं जगती । कौ० ब्रा० ११ । २ ॥

※ अत्र 'त्रैष्टुभेन ।' इति पदं अ० मुद्रिते त्यक्तम् ॥

सुखनामसु पठितम् । निघ० ३ । ६ । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (सुपदा) सुष्ठु सीदन्ति यस्यां सा । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (ऊर्जस्वती) अन्नवती । ऊर्गित्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । ऊर्ग्बहुविधमन्नं यस्यां सन्ति भूम्नि मतुप् ज्योत्स्नातमिस्रा० अ० ५ । २ । ११४ । इति निपातितः । (च) समुच्चये । (असि) भवति । (पयस्वती) पयः प्रशस्तो रसो विद्यतेऽस्यां सा । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । पयस्वती रसवती । श० १ । २ । ५ । ११ । (च) समुच्चये ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । ५ । १—११ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

१ छान्दसत्वाद् मतुपि 'असुक्' आगमो निपात्यत इति भावः । प्रातिपदिकस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गायत्रेण) अण्प्रत्ययेऽन्तोदात्तो गायत्रशब्दस्ततो विभक्त्यनुदात्तत्वे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति 'त्रे' उदात्तः ॥

(छन्दसा) असुन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः ॥

(परि) उपसर्गाद्युदात्तत्वम् ।

(गृह्णामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(त्रैष्टुभेन) प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(त्वा, छन्दसा, परि, गृह्णामि जागतेन) पूर्ववत् स्वरः ॥

(सुक्ष्मा) क्षमूष् सहने (भ्वा० आ०) क्षमेरुपधालोपश्च (उ० ५ । ६५) इत्यच् , टापि प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । ततस्तत्पुरुषसमासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यत्र 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' इति निपातत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १९९ भा० वा०) इत्यन्तोदात्तत्वं सिद्धम् ॥

'सुक्ष्मा शोभना भूमिरसि'······'सुक्ष्मा नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्यन्तोदात्तः' तत्पुरुषे विग्रहो बहुव्रीहौ च स्वर इति प्रलपन्तः सर्वथैवोपेक्षणीयाः ॥

(च, असि) पूर्ववत् ॥

(शिवा) शिवु कल्याणे इति धातुः बहुलमेतन्निदर्शनम् (चु० ग० सू०) इति वचनादूह्यः । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३ । १ । १३५) इति कर्त्तरि कः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततष्टापा सहैकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यनेनाकार उदात्तः ॥

तथा चाहाचार्यदयानन्दः सत्यार्थप्रकाशे (पृ०२०)—

'शिवु कल्याणे इस धातु से शिवशब्द सिद्ध होता है । 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इससे शिवु धातु माना जाता है । जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है, इसलिये उस परमेश्वर का नाम शिव है' ॥

यद्वा—सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे (उ० १ । १५३) इत्यनेन वन्प्रत्ययान्तो निपात्यते । शेतेऽसौ शिवः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वे गुणे च प्राप्ते निपातनादन्तोदात्तत्वं धातोर्ह्रस्वत्वं च । ह्रस्वत्वविधानसामर्थ्याद् गुणोऽपि न भवति ॥

शेव इति सुखनाम शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः । शिवमित्यप्यस्य भवति इति निरुक्तम् (१० । १७) ॥

अत्र शिष्यतेर्व्युत्पादितो यास्केन । शेषति हिनस्ति क्लेशं, शेषयति विशेषयति वा स्वाश्रयम् इति देवराजः (पृ० ३१८) ॥

शिव इति शमयत्येवैनम् (अग्निम्) एतदहिंसायै, तथो हैष (अग्निः) इमाँल्लोकाञ्छान्तो न हिनस्ति। श० ६ । ७ । ३ । १५ ॥ शमधातोरप्येष व्युत्पादनीय इत्यर्थः ॥

शिवयतीति शिवः इत्यमरकोशटीकाकारो भानुजीदीक्षितः (अम० १ । १ । ३०) शिव धातुश्चुरादिरदन्त इति तस्याभिमतम् ।

सायणोऽपि शिवं कल्याणकरम् (ऋ० भा० ३ । ५८ । ६) इत्याह । परमस्यार्थस्य ग्रहणे किम्मानमिति नैवावोचत् सः ॥

महीधरोऽपि—शिवः कल्याणकारी (यजुः १२ । १६) शिवः कल्याणकृत् (यजु० १२ । ३१) शिवः कल्याणकरः (यजुः २७ । ३१), शिवः कल्याणः (यजुः ३४ । १२) इत्याह । उव्वटोऽपि शिवः कल्याणः (यजुः ३४ । १२) इत्याह ।

अन्वयः—*येन यज्ञेनोत्तमैः पदार्थैः सह सुक्ष्मासि भवति । येन च कल्याणकारिभिर्गुणैर्मनुष्यैश्चेयं शिवासि भवति । येन चानुत्तमैः सुखैः सहेयं स्योनासि भवति । येन चोत्तमाभिः सुखकारिकाभिः स्थितिर्गतिभिः सहेयं सुषदासि भवति । येन चोत्तमैर्यवादिभिरन्नैः सहेयमूर्जस्वत्यसि भवति । येन चोत्तमैर्मधुरादिरसवद्भिः फलैर्युक्तेयं पृथिवी पयस्वती च जायते । अहं यज्ञविद्याविन्मनुष्यो गायत्रेण छन्दसा त्वा तं यज्ञं परिगृह्णामि । अहं त्रैष्टुभेन छन्दसा त्वा तमिमं पदार्थसमूहं परिगृह्णामि । अहं जागतेन छन्दसा त्वा तमिममग्निं परिगृह्णामि ॥ २७ ॥

भावार्थः—वेदप्रकाशकेश्वरोऽस्मान् प्रत्यभिवदति युष्माभिर्नं †चान्तरेण वेदमन्त्राणां पठनं, तदर्थज्ञानं यज्ञानुष्ठानं सुखफलं [च] प्राप्तुं, सर्वशुभगुणाढ्याः सुखकारिणोऽन्नजलवाय्वादयः पदार्थाः शुद्धाश्च कर्तुं शक्यन्ते. तस्मादेतस्य त्रिविधस्य यज्ञस्य सिद्धिं प्रयत्नेन निष्पाद्य सुखे स्थातव्यम् । ये चाऽस्यां वायुजलौषधिदूषका दुर्गन्धादयो दोषा दुष्टाश्च मनुष्याः सन्ति ते सर्वदा निवारणीयाः[४] ॥ २७ ॥

उक्त यज्ञ का ग्रहण वा अनुष्ठान किससे करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है[५] ।

(स्योना) सिवेष्टेर्यू च (उ० ३ । ९) इति बाहुलकात् केवलो नप्रत्ययः । तस्मिन् लघूपधगुणात् पूर्वमूठि कृतेऽन्तरङ्गत्वाद्यणादेशः वार्णादाङ्गं बलीय इति तु न प्रवर्तते नानाश्रयत्वात् । प्रत्ययाश्रयो गुणः, ऊठाश्रयो यणादेशः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततष्टापैकादेशः, सोऽप्युदात्त एव ॥

(सुषदा) मूलविभुजादित्वात् कः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते परादिश्च परान्तश्च० (अ० ६ । २ । १ ९ भा० वा०) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वे मध्योदात्तस्वरसिद्धिः ॥

यद्वा—सुपूर्वात् सदेः क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरः । ततः—
वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥
इति वचनाद्धलन्तादपि टाप् , स चानुदात्तः ।

(ऊर्जस्वती) ऊर्ज बलप्राणनयोः (चु० प०) इत्यस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन्प्रत्ययः, नित्वादाद्युदात्तत्वे अस्मायामेधा०(अ० ५ । २ । १२१) इत्यादिना 'विनि'प्राप्तौ छान्दसत्वादेव (अ० ५।२।१२२) मतुप् । ततो ङीप् । उभयोः पित्वाद्युदात्तः । यथाभाष्यं तु पूर्वमुक्तम् (पृ० १२५) ॥

(पयस्वती) सर्वं पूर्ववत् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आधिदैविकार्थपरोऽयमन्वयः ॥

२ 'येन यज्ञेनोत्तमैश्च पदार्थैः' इत्यर्थः ॥

३ सर्वोऽप्ययं भावार्थो मन्त्रगतपदैरेवार्थादापद्यते ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ 'परमात्मानमिमं यज्ञं वा, सुखस्वरूपं तमग्निं वा' इत्यादिना आध्यात्मिकाधियज्ञार्थौ प्रदर्शितौ वेदितव्यौ । अन्वयश्चाधिदैविकार्थपरो योजयितव्यः ॥

विशेषवक्तव्यम्

अत्रान्वयस्य भाषापदार्थस्य च पाठस्त्रिष्वपि (क-ख-ग) हस्तलेखेषु विपर्यासेनोपलभ्यते तद्यथा—अहं यज्ञविद्याविन्म.........तमिममग्निं परिगृह्णामि । येन यज्ञेन चोत्तमैः पदार्थैः सह.........पयस्वती च जायते। भाषापदार्थोऽप्यनेनैव क्रमेण बोध्यः ॥

५ वेदवेत्ता ही इन सबका अनुष्ठान करने में समर्थ है, इससे यज्ञ का अधिकारी कौन है यह कहते हैं—उक्त यज्ञ का इत्यादि ॥

---

* अन्वये क. ख. ग. सर्वेष्वपि हस्तलेखेषु 'येन यज्ञेन''''''पयस्वती च जायते' इति पाठः । अहं 'यज्ञविद्यावित्''' 'तमिममग्निं परिगृह्णामि' इत्येतस्मादग्र उपलभ्यते । क्रमविपर्यासः संशोधनसमये कृतः स्यात् ॥

† चकारोऽत्र भिन्नक्रमः; 'यज्ञानुष्ठानं' इत्येतस्मात् परो द्रष्टव्यः ॥

पदार्थः—†जिस यज्ञ से उत्तम पदार्थों के साथ (सुक्ष्मा) यह पृथिवी शोभायमान (असि) होती है। (च) तथा जिससे सुखकारक गुण (च) अथवा मनुष्यों के साथ यह (शिवा) मङ्गल की देनेवाली (असि) होती है। (च) तथा जिस करके उत्तम से उत्तम सुखों के साथ यह पृथिवी (स्योना) सुख उत्पन्न करनेवाली (असि) होती है। (च) और जिससे उत्तम २ सुख करनेवाले और चलने के साथ यह (सुषदा) सुख से स्थिति करने योग्य (असि) होती है। [(च)] तथा जिन उत्तम यव आदि अन्नों के साथ यह (ऊर्जस्वती) अन्नवाली (असि) होती है। (च) और जिन उत्तम मधुर आदि रसवाले फलों करके यह पृथिवी (पयस्वती) प्रशंसा करने योग्य रस वाली होती है। (त्वा) उस यज्ञ को मैं यज्ञविद्या का जाननेवाला मनुष्य (गायत्रेण) गायत्री (छन्दसा) जो कि चित्त को प्रफुल्लित करनेवाला है, उससे (परिगृह्णामि) सब प्रकार से सिद्ध करता हूँ, और मैं (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुभ् (छन्दसा) जो कि स्वतन्त्रता रूप से आनन्द का देनेवाला है, उससे (त्वा) पदार्थसमूह को (परिगृह्णामि) सब प्रकार से इकट्ठा करता हूँ। तथा मैं (जागतेन) जगती जो कि (छन्दसा) अत्यन्त आनन्द का प्रकाश करने-वाला है, उससे (त्वा) उस भौतिक अग्नि को (परिगृह्णामि) अच्छी प्रकार स्वीकार करता हूँ ॥ २७ ॥

भावार्थः—वेद का प्रकाश करनेवाला ईश्वर हम लोगों के प्रति कहता है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग वेद मन्त्रों के विना ※ पढ़े, उनके अर्थों के विना जाने और यज्ञ का अनुष्ठान विना किये सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकते और जो सब शुभ गुणयुक्त सुखकारी अन्न जल और वायु आदि पदार्थ हैं, उनको शुद्ध नहीं कर सकते। इससे इस तीन प्रकार के यज्ञ की सिद्धि यत्नपूर्वक संपादन करके सदा सुख ही में रहना चाहिये, और जो इस पृथिवी में वायु जल तथा ओषधियों को दूषित करनेवाले दुर्गन्ध अपगुण तथा दुष्ट मनुष्य हैं, वे सर्वदा निवारण करने चाहियें[1] ॥२७॥

पुरा क्रूरस्येत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो[2] देवता। विराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

ते दोषाः कथं निवारणीयास्तत्र मनुष्यैः पुनः किं करणीयमित्युपदिश्यते[3] ॥

पुरा क्रूरस्य॑ वि॒सृपो॑ विरप्शि॒न्नुदा॒दाय॑ पृथि॒वीं जी॒वदा॑नुम्। यामैर॑यँश्च॒न्द्रम॑सि स्व॒धाभि॒-स्ताम्॑ धीरा॑सोऽअनु॒दिश्य॑ यजन्ते। प्रोक्ष॑णी॒राम॑दय द्वि॒ष॒तो व॒धोऽसि॥ २८॥

पु॒रा। क्रूरस्य॑। वि॒सृप॒ इति॑ † वि॒ऽसृपः॑। विर॑प्शि॒न्निति॒ विऽरप्शिन्। उ॒दा॒दायेत्यु॑त्ऽआ॒दाय॑। पृ॒थि॒वीम्। जी॒वदा॑नु॒मिति॑ जी॒वऽदा॑नुम्। याम्। ऐर॑यन्। च॒न्द्रम॑सि। स्व॒धाभि॒रिति॑ स्व॒धाभिः॑। ताम्। ऊँ॒ इत्यूँ॑। धीरा॑सः। अ॒नु॒दिश्येत्य॑नु॒ऽदिश्य॑। य॒जन्ते॑। प्रोक्ष॑णी॒रिति॑ प्र॒ऽउ॒क्षणीः॑। आ। सा॒द॒य॒। द्वि॒ष॒तः। व॒धः। अ॒सि॒॥ २८॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ आध्यात्मिक तथा अधियज्ञ अर्थ पदार्थगत शब्दों से विदित हो रहा है और अन्वय आधिदैविक अर्थ-परक समझना चाहिये ॥

२ चन्द्रमाः प्रैप अभिचारिकम् (=स्फ्यः इति स० टी०) इति सर्वानुक्रमणी ॥

३ जितेन्द्रिय एव सर्वदोषान् निवारयितुंपारयतीत्याह—ते दोषाः कथम् इति ॥

† क. ख. ग. सब हस्तलेखों में "मैं यज्ञ विद्या का जानने वाला······(परिगृह्णामि) अच्छी प्रकार स्वीकार करता हूँ और जिस यज्ञ से उत्तम पदार्थों के साथ······(पयस्वती) प्रशंसा करने योग्य रसवाली (असि) होती है" ॥ इस क्रमसे पाठ है, अर्थात् मन्त्र के पूर्व भाग का व्याख्यान क. ख. ग. तीनों हस्तलेखों में मन्त्रगत शब्दों के क्रमानुसार ही था। मुद्रण–समय में पीछे का पाठ पहिले और पहिले का पीछे कर दिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। अर्थ दोनों ही प्रकार सुसङ्गत है॥

※ इतोऽग्रे "और उनके अर्थों को बिना जाने यज्ञ का अनुष्ठान प्राप्त होना और सब शुभ" इति ख. ग. अ०मुद्रिते च पाठः॥

† 'विसृऽपः' इति अ० मु० पाठः॥

पदार्थः—(पुरा) पुरस्तात् । (क्रूरस्य) कृन्तन्त्यङ्गानि यस्मिन् तस्य युद्धस्य[1] । कृतेरछः क्रू च । उ० २ । ११ । अनेन कृन्तते रक् प्रत्ययः, क्रू इत्यादेशश्च । (विसृपः) योद्धृभिर्विविधं यत्सृप्यते तस्य । सृपितृदोः कसुन् । अ० ३ । ४ । १७ । अनेन भावलक्षणे सृपिधातोः कसुन् । (विरप्शिन्[2]) महागुणविशिष्टेश्वर, वा महैश्वर्य्यमिच्छुक मनुष्य ! विरप्शीति महन्नामसु पठितम् । निघ० ३ । ३ । (उदादाय) ऊर्ध्वं समन्तात्

१ सङ्ग्रामो वै क्रूरम् । श० १ । २ । ५ । १९ ॥

२ रप लप व्यक्तायां वाचि (भ्वा०प०) विपूर्वाद् रपधातोः जनिदाच्युसृ० (उ० ४ । १०४) इति बाहुलकात् शक्प्रत्ययः । स च भावे । विरपणं विरप्शः । तदस्यास्तीति विरप्शी अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति इन् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

सम्बोधने तु आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति सर्वनिघातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पुरा) पुरा इत्यव्ययम् । चादिषु पाठात् निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इति निपातत्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते एवादीनामन्तः (फिट् ८२) इत्यत्र 'आदि' शब्दस्य प्रकारवाचित्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(क्रूरस्य) रक्प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

(विसृपः) विपूर्वात् सृपेः कसुन् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृति-स्वरत्वे प्रत्ययस्य नित्वात् 'सृ' उदात्तः । क्त्वातोसुन्-कसुनः (अ० १ । १ । ४०) इत्यनेनाव्ययसञ्ज्ञा ततो विभक्तेर्लुक् ॥

(विरप्शिन्) व्याख्यातः पदार्थविवरणे ॥

(उदादाय) उद् आङ्पूर्वाद्ददातेः क्त्वा । कुगतिप्रादयः (अ० २। २।१८) इति समासः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे ल्यपः पित्त्वाद् धातुस्वर एवावशिष्टः । तेन 'दा' उदात्तः । शेषा अनुदात्ताः । उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८ । ४ । ६६) इति 'य' स्वरितः ॥

(पृथिवीम्) व्याख्यातः पूर्वत्र (यजुः १ । २ । पृ० ३७) ।

(जीवदानुम्) दाभाभ्यां नुः (उ० ३ । ३२) इति दाधातोर्नुः प्रत्ययः । जीवपदेन समासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १०६ भा० वा०) इति पूर्वपदस्यान्तोदात्तत्वम् ॥

अत्राभिसन्धिः—अस्यैव मन्त्रस्यान्यत्र(तै०सं० १ । १ । ९ ॥ मै० सं० १ । १ । १० ॥ का०सं १ । ९) 'जीरदानुम्' इति पाठान्तरश्रवणान्निश्चीयते यत् 'जीवदानुजीरदानू' शब्दौ समानार्थौ स्त इति । यथा चानयोः पदपाठस्तथा समस्तावेतौ शब्दाविति प्रतीयते । परं व्योश्च लोपो वक्तव्यः...... 'जीवेरदानुक्' जीरदानुः वलीति लोपो न प्राप्नोति इति च्छ्वोरूठ्सूत्रस्थभाष्याद् समस्तोऽपि जीरदानुशब्दोऽस्तीत्यवगम्यते । जीवेरदानुक् इति हि दशपाद्युणादेः सूत्रम् । तेन जीवतीति जीरदानुः । विवृतं चैवं वेदभाष्ये (यजुः ३४।४८) उणादिवृत्तौ (२ । २३ पृ० ४४) चाचार्यदयानन्देनापि । जीरदानुपदसादृश्यात् जीवदानुरित्यप्येकं पदम् । कथमस्यैकपदत्वे सिद्धिरिति चेदुच्यते—जीवेरदानुक् (द० उ० १।६३) दशपाद्युणादिसूत्रम् । तत्र हि 'जीवेः + रदानुक्, जीवेः + अदानुक्' इत्युभयथापि विच्छेदसम्भवः । उभयथा संहितायास्तुल्यत्वात् । तदेवं रदानुक्प्रत्यये 'जीरदानुः,' अदानुकि तु 'जीवदानुः' इत्युभयमपि सिद्ध्यति । एवं च कित्त्वोभयत्र प्रत्ययस्वरेण द्वितीयाक्षरस्योदात्तत्वं निष्पन्नम् ॥

अत्रैकपदपक्षे 'जीवऽदानुम्, जीरऽदानुम्' इत्युभयत्रावग्रहो न प्राप्नोतीति न दोषः, पदपाठस्य लक्षणाधीनत्वात् । तदाहुर्भाष्यकाराः—न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् । यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम् (अ० ३ । १ ।१०९ भा० ॥ अ० ८। २ । १६ भा०) इति ॥

भाष्यकृता तु 'जीरदानुः' इत्यत्र समस्तपदत्वमप्यङ्गीकृतम् । तदुक्तम्—नैतज्जीवे रूपम्, रक्येतज्ज्यः सम्प्रसारणं भवति । यावता चेदानीं रकि, जीवेरपि सिद्धं भवति (अ०१ । १ ।४ भा०) इति । अनेन वचनेन ज्ञाप्यते यत् स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २ । १३) इत्यादिना विधीयमानो रक् प्रत्ययः ज्याधा-

गृहीत्वा । (पृथिवीम्) विस्तृतप्रजायुक्ताम् (जीवदानुम्) या जीवेभ्यो जीवनार्थं वस्तु ददाति ताम् । (याम्) पृथिवीम् । (ऐरयन्) राज्याय प्राप्नुवन्ति । अत्र लडर्थे लङ् । (चन्द्रमसि) चन्द्रलोकसमीप आह्लादे वा । (स्वधाभिः) अन्नैः सह वर्त्तमानाम् । स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (ताम्) एतल्लक्षणाम् । (उ) वितर्के । (धीरासः) मेधाविनः । धीर इति मेधाविनामसु पठितम् । निघ० ३ । १५ । (अनुदिश्य) प्राप्तुं शोधयितुमनुलक्ष्य । (यजन्ते) पूजयन्ति संगतिं कुर्वते । (प्रोक्षणीः) प्रकृष्टतया सिञ्चन्ति याभिः क्रियाभिः पात्रैर्वा ताः । (आ) समन्तात् । (सादय) स्थापय । (द्विषतः) शत्रोः । (वधः) हननम् । (असि) भवेत् । अत्रापि पुरुषव्यत्ययो लिङर्थे लट् च ॥ अयं मन्त्रः श० १ । २ । ५ । १९—२६ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

तोर्जीवेश्चापि भवति । तत्र जिनातेः कित्त्वाद् ग्रहिज्या-वयि० (अ० ६ । १ । १६) इत्यादिना सम्प्रसारणम्, जीवेश्च लोपो व्योर्वलि (अ० ६ । १ । ६६) इति वकारलोपः (यदा तु 'लोपो व्योर्वलीति' सूत्रं प्रत्याख्यायते तदा छान्दसो वर्णलोपो बोद्धव्यः' अ० ६ । १ । ६६ भा०) । जीरी च (उ० २ । २३) इत्यनेन सौत्राज्जुधातोरपि रकि ईत्वादेशे च 'जीर' इति पदं सिध्यति । तस्य हि दाभाभ्यां नुः (उ०३ । ३२) इत्यादिना निष्पन्नेन दानुपदेन सह समासः । समासेऽन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति, इष्यते तु द्वितीयस्यो-दात्तत्वम् । तत्र 'बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्' इति कैयटनागेशौ (अ० १ । १ । ४ भाष्यव्याख्याने) । अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १०६) इति पूर्वपदस्यान्तोदात्तत्वम् इति भट्टभास्करमिश्रः (तै० सं भा० १ पृ० ५०) ॥

एवं जीवदानुपदेऽपि जीवतीति जीवः, तस्य दानुपदेन समासे स्वरः पूर्ववदवगन्तव्यः ॥

(ऐरयन्) ईर गतौ कम्पने च इत्यादादिकः, अस्मात् स्वार्थे णिच् । यद्वा ईर क्षेपे इत्यस्य चौरादि-कस्य धातूनामनेकार्थत्वात् प्राप्त्यर्थोऽपि । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघाते प्राप्ते यद्वृत्ता-न्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे आद्युस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(चन्द्रमसि) यास्केन बहुधाऽयं निरुक्तः । तद्यथा—चन्द्रमाश्चायन् द्रमति, चन्द्रो माता, चान्द्रं मानमस्येति वा । चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः । चन्दन-मप्यस्य भवति । चारु द्रमति, चिरं द्रमति, चमेर्वा पूर्वम् । निरु० ११ । ५ ॥

उणादौ तु—चन्द्रे मो डित् (उ० ४ । २२८) इत्यसिः प्रत्ययः । उपपदसमासे उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते 'पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' (उ० ४ । २२७) इत्यस्यानुवृत्तेः पूर्वपदप्रकृतिस्वरे चन्द्रशब्दो रक्प्रत्य-यान्तोऽन्तोदात्तः । भाष्यकारेण स्वयं शब्दः दासीभारा-दिषु (अ० ६ । २ । ४२) पठितः । तेन 'पूर्वपदप्रकृ-तिस्वरत्वं च' इति नानुवर्तत इति ज्ञायते ऽन्यथाऽनु-वृत्त्या सिद्धे दासीभारादिषु पाठो व्यर्थः स्यात् ॥

(स्वधाभिः) स्वं दधातीति आतोऽनुपसर्गे कः (अ० ३ । २ । ३) इति कः प्रत्ययः । थाथघञ्० (अ० ६ । २ । १४४) स्वरेणान्तोदात्तः । टाप्येकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यु-दात्तत्वम् ॥

(उ) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(धीरासः) धीरशब्दः सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् (उ० । २ । २४) नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । ततो जसि आज्जसेरसुक् (अ० ७ । १ । ५०) इत्यसुक् ॥

(अनुदिश्य) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे ल्यपः पित्त्वाद् धातुरुदात्तः ॥

(प्रोक्षणीः) प्रपूर्वादुक्षतेः करणे ल्युट् । गतिकार-कोपपदात् कृत् (अ० ६। २ । १३९) इत्युत्तरपद-प्रकृतिस्वरत्वे लिति (अ० ६। १ १९३) इति धातोरुकार उदात्तः । ततः पूर्वपदेनैकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८। २। ५) इत्येकादेश उदात्तः ।

(द्विषतः) शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(वधः) पूर्वत्र (यजुः १ । १७ । पृ० ९१) व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

अन्वयः—हे विरप्शिन् जगदीश्वर ! भवानेव यां स्वधाभिर्युक्तां जीवदानुं पृथिवीमुदादाय चन्द्रमसि स्थापितवानस्ति तस्माद् धीरासस्तामिमां पृथिवीं प्राप्य भवन्तमनुदिश्य नित्यं † यजन्ते, यथा चन्द्रमस्यानन्देन वर्त्तमाना धीरासः यां जीवदानुं पृथिवीमनुदिश्य सेनां शस्त्राण्युदादाय विसृपः क्रूरस्य मध्ये शत्रून् जित्वा राज्यमैरयन् प्राप्नुवन्ति । यथा चैवं कृत्वा धीरासः पुरा प्रोक्षणीश्चासादितवन्तस्तथैव हे विरप्शिन् ! त्वमपि उ इति वितर्के तां प्राप्येश्वरं यज, प्रोक्षणीश्चासादय, यथा च द्विषतो वधोऽसि भवेत्, तथा कृत्वाऽऽनन्दे नित्यं प्रवर्त्तस्व ॥२८॥

भावार्थः[2]—येनेश्वरेणान्तरिक्षे पृथिव्यस्तत्समीपे चन्द्रास्तत्समीपे पृथिव्योऽन्योन्यं समीपस्थानि नक्षत्राणि सर्वेषां मध्ये सूर्यलोका एतेषु विविधाः प्रजाश्च रचयित्वा स्थापिताः, सर्वैस्तत्रस्थैर्मनुष्यैः स एवोपासितुं योग्योस्ति । यावन्मनुष्या बलक्रियाभ्यां युक्ता भूत्वा शत्रून् न विजयन्ते, नैव तावत्स्थिरं राज्यसुखं प्राप्नुवन्ति । ‡[कुतः] नैव युद्धबलाभ्यां विना शत्रवो बिभ्यति । नैव च विद्यान्यायविनयैर्विना यथावत् प्रजाः पालयितुं शक्नुवन्ति, तस्मात् सर्वैर्जितेन्द्रियैर्भूत्वैतत् समासाद्य सर्वेषां सुखं कर्तुमनुलक्ष्य नित्यं प्रयतितव्यम्[3] ॥ २८ ॥

वे दोष कैसे निवारण करने और वहाँ मनुष्यों को फिर क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4] ।

पदार्थः[5]—हे (विरप्शिन्) महाशय महागुणवान् जगदीश्वर ! आपने (याम्) जिस (स्वधाभिः) अन्न आदि पदार्थों से युक्त और (जीवदानुम्) प्राणियों को जीवन देने वाले पदार्थ तथा (पृथिवीम्) बहुतसी प्रजायुक्त पृथिवी को (उदादाय) ऊपर उठाकर (चन्द्रमसि) चन्द्रलोक के समीप स्थापन किया है इस कारण [(ताम्)] उस पृथिवी को (धीरासः) धीर बुद्धि वाले पुरुष प्राप्त होकर आपके [(अनुदिश्य)] अनुकूल चलकर [(यजन्ते)] यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करते हैं जैसे ❀ (चन्द्रमसि) आनन्द में वर्तमान होकर (धीरासः) बुद्धिमान् पुरुष (याम्) जिस (जीवदानुम्) जीवों की हितकारक (पृथिवीम्) पृथिवी के [(अनुदिश्य)] आश्रित होकर सेना और शस्त्रों को (उदादाय) क्रम से लेकर (विसृपः) जो कि युद्ध करने वाले पुरुषों के प्रभाव दिखाने योग्य और (क्रूरस्य) शत्रुओं के अङ्ग विदीर्ण करनेवाले संग्राम के बीच में शत्रुओं को जीतकर राज्य को [(ऐरयन्)] प्राप्त होते हैं, तथा जैसे इस उक्त प्रकार से धीर पुरुष (पुरा) § पहिले समय में प्राप्त हुए, जिन क्रियाओं से अच्छी प्रकार पदार्थों को सींच के उनको संपादन करते हैं, वैसे ही हे (विरप्शिन्) महान् ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुष ! तू भी [(उ)] उसको प्राप्त होके ईश्वर का पूजन तथा (प्रोक्षणीः) पदार्थसिद्धि करने वाली उत्तम २ क्रियाओं का [(आसादय)] संपादन कर । जैसे (द्विषतः) शत्रुओं का (वधः) नाश (असि) हो, वैसे कामों को करके नित्य आनन्द में वर्तमान रह ॥ २८ ॥

१ सर्वत्रायमन्वयो योजयितुं शक्यः ॥

२ मन्त्रगतपदैः सर्वोऽप्ययं भावार्थः सम्बन्धनीयः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत एवावबोध्यः । अन्वयस्तु मुख्यत्वेनाधिदैविकार्थपरो ऽवगन्तव्यः ॥

४ जितेन्द्रिय पुरुष ही सब दोषों को दूर करने में समर्थ होता है इसलिये कहते हैं—वे दोष कैसे इत्यादि ॥

५ यहाँ अन्वय सब प्रक्रियाओं में युक्त है ॥

यहाँ पदार्थ में (चन्द्रमसि, धीरासः, यां, जीवदानुं पृथिवीं, उदादाय विरप्शिन्) ये पद दो बार आये हैं ।

† 'नित्यं यजन्ते........जीवदानुं पृथिवीं' इति पाठो गकोशे प्रमादत्यक्तः, क. ख. उभयत्रोपलभ्यमानत्वात् ॥

‡ 'कुतः' इति क.कोशे उपलभ्यते ॥

❀ अत्र 'चन्द्रमसि, धीरासः, यां, जीवदानुं, पृथिवीं, अनुदिश्य' तथा च 'विरप्शिन्' इत्येतानि पदानि, ईश्वरपरतया पुरुषपरतया चार्थस्य संस्कृतपदार्थे स्वीकरणादत्र द्विः पठितानीति ध्येयम् । आंशिकरूपेणात्रोपमालङ्कारः स्यादिति प्रतीमः ॥

§ "(पुरा) पहिले समय में प्राप्त हुये......सींच के उनको" अयं भाषापदार्थः संस्कृतानुसारी ॥

भावार्थः—जिस ईश्वर ने क्रम से अन्तरिक्ष में पृथिवियें, पृथिवियों के समीप चन्द्रलोक, चन्द्रलोकों के समीप पृथिवियें, एक दूसरे के समीप तारालोक, और सबके बीच में अनेक सूर्यलोक तथा इन सबमें नानाप्रकार प्रजा रचकर स्थापना की है, वही परमेश्वर [वहाँ वहाँ के] सब मनुष्यों के उपासना करने के योग्य है। जब तक मनुष्य बल और क्रियाओं से युक्त होकर शत्रुओं को नहीं जीतते, तब तक [स्थिर] राज्य सुख को नहीं प्राप्त हो सकते, क्योंकि बिना युद्ध और बल के शत्रु जन कभी नहीं डरते। तथा ‡ विद्वान् लोग विद्या न्याय और विनय के बिना यथावत् प्रजा के पालन करने को समर्थ नहीं हो सकते, इस कारण सबको जितेन्द्रिय होकर उक्त पदार्थों का संपादन करके सबके सुख के लिए उत्तम २ प्रयत्न करना चाहिये[1] ॥ २८ ॥

प्रत्युष्टमित्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो[2] देवता सर्वस्य। पूर्वार्द्धे त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः[3] स्वरः॥
उत्तरार्द्धे त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स संग्राम[4]ः किं कृत्वा जेतव्यो यज्ञश्चानुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते[5]।

प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः।
अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि।
प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः।
अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनीं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि ॥ २९ ॥

प्रत्युष्टमिति प्रतिऽउष्टम्। रक्षः। प्रत्युष्टा इति प्रतिऽउष्टाः। अरातयः। निष्टप्तम्। निस्तप्तमिति निःऽतप्तम्। रक्षः। निष्टप्ताः। निस्तप्ता इति निःऽतप्ताः। अरातयः। अनिशित इत्यनिऽशितः। असि। सपत्नक्षिदिति सपत्नऽक्षित्। वाजिनम्। त्वा। वाजेध्याया इति वाजऽइध्यायै। सम्। मार्ज्मि। प्रत्युष्टमिति प्रतिऽउष्टम्। रक्षः। प्रत्युष्टा इति प्रतिऽउष्टाः। अरातयः। निष्टप्तम्। निस्तप्तमिति निःऽतप्तम्। रक्षः। निष्टप्ताः। निस्तप्ता इति निःऽतप्ताः। अरातयः। अनिशितेत्यनिऽशिता। असि। सपत्नक्षिदिति सपत्नऽक्षित्। वाजिनीम्। त्वा। वाजेध्याया इति वाजऽइध्यायै। सम्। मार्ज्मि ॥ २९ ॥

पदार्थः—(प्रत्युष्टम्) प्रतिदग्धव्यम्[6]। (रक्षः) विघ्नकारी प्राणी। (प्रत्युष्टा) प्रतिदग्धव्याः। (अरातयः) सत्यविरोधिनोऽरयः। (निष्टप्तम्) यन्नितरां तप्यते तत्। (रक्षः) बन्धनेन रक्षयितव्यम्। (निष्टप्ताः) नितरां तप्यन्ते ये ते। (अरातयः) विद्याविघ्नकारिणः। (अनिशितः[7]) न विद्यते नितरां शिता तीक्ष्णा क्रिया यस्मिन् स[8] संग्रामो यज्ञपात्रं[9] वा (असि) भवति। अत्र पुरुषव्यत्ययः। (सपत्नक्षित्[10]) सपत्नान् शत्रून् क्षयति येन सः। अत्र क्तो बहुलम् [अ० ३।३।११३ भा० वा०] इति वार्त्तिकेन

त्रिविधप्रक्रिया

१ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ पदार्थ से जानने योग्य है। अन्वय मुख्यरूप से आधिदैविक अर्थपरक होता हुआ त्रिविधप्रक्रिया में भी युक्त है ॥

२ रक्षः सुवः इति सर्वानुक्रमणी ॥
३ द्र० यजुः १। १२ पृ० ६८ टि० ३ ॥
४ पूर्वमन्त्रे क्रूरपदव्याख्याने संग्रामो वै क्रूरम् (श० १।२।५।१९) इत्युक्तम् (पृ० १२८) ॥
५ स पूर्वोक्तः संग्रामः सुशिक्षया शस्त्राद्युक्तसेनया यज्ञश्च सुसंस्कृतैः पदार्थैरनुष्ठेय इत्यत आह—पुनः स सङ्ग्राम इति ॥
६ कर्मणि क्त इति भावः ॥
७ संग्रामो न केवलं दण्डेनैवापितु सामदानभेदैरपि जेतव्य इति भावः ॥
८ उभयत्र तृतीयार्थे प्रथमा ॥
९ यज्ञो देवता इत्यतः ॥
१० पाप्मा वै सपत्नः। श० ८।५।१।६ ॥

‡ 'विद्वान् लोग' इत्यस्य संस्कृते मूलं नास्ति ॥

करणकारके क्विप्। क्षि क्षये, इत्यस्य रूपम् । एतदुवटमहीधराभ्यां क्षिणु हिंसायामित्यस्य भ्रान्त्या[1] व्याख्यातम् । (वाजिनम्) अन्नवन्तं वेगवन्तं वा । वाज इत्यन्ननामसु पठितम्। निघण्टौ २ । ७ । (त्वा) तम् । (वाजेध्यायै) वाजेनान्नेन युद्धेन वा इध्या दीपनीया सेना यज्ञपात्रं वा यया क्रियया तस्यै । (संमार्ज्मि) सम्यक् शोधयामि । (प्रत्युष्टम्) नित्यं प्रजापालनाय तापनीयः । (रक्षः) परसुखासहो मनुष्यः । (प्रत्युष्टाः) प्रत्यक्षं ज्वालनीयाः । (अरातयः) परसुखासोढारः । (निष्टप्तम्) निःसारणीयः । †(रक्षः) द्यूतजारकर्मशीलः (निष्टप्ताः) निस्सारणीयाः (अरातयः) अन्येभ्यो दुःखप्रदाः । (अनिशिता[2]) अतिविस्तीर्णा सेना कार्य्या वेदिर्वा[3] । (असि) अस्ति, अत्रापि व्यत्ययः । (सपत्नक्षित्) सपत्नान् क्षयति यया सा । (वाजिनीम्) बलवेगवतीम् । (त्वा) ताम् । (वाजेध्यायै) वाजेन बहुसाधनसमूहेन संग्रामेण सेनया यज्ञेन वा प्रकाशनीयायै सत्यनीत्यै[4] । (संमार्ज्मि) सम्यक् शिक्षया शोधयामि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ३ । १ । ४—११ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः[5] —येन अहं [अनिशितः]❋अनिशितेन [सपत्नक्षित्]❋सपत्नक्षिता संग्रामेण प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो [असि] भवन्ति [त्वा] तं वाजिनं वाजेध्यायै युद्धाङ्गानि संमार्ज्मि । अहं यया [सपत्नक्षित्]❋सपत्नक्षिता [अनिशिता] ❋अनिशितया सेनया प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो [असि] भवन्ति [त्वा] तां वाजिनीं सेनां शिक्षया वाजेध्यायै संमार्ज्मि ॥ [इत्येकोऽर्थः] ॥

१ क्षिणु हिंसायाम् क्विपि झलूपरत्वाभावाद् अनुदात्तोपदेशवनति० (अ० ६ । ४ । ३७) इत्यादिनानुनासिकलोपो न संभवति । ननु अनुदात्तोपदेशवनति० (अ० ६ । ४ । ३७) इत्यादिना मास्तु, गमः क्वौ (अ० ६ । ४ । ४०) इत्यत्र गमादीनामिति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात् । परीतत् सह कुण्डिकया । संयत् । परीतत् इति भाष्यवचनेन क्षिणोऽप्यनुनासिकलोपो भविष्यतीति चेत्, न, भाष्ये क्षिणोतेरपरिगणनात्, क्षि क्षये इत्येतस्मादेव धातोरुक्तप्रयोगस्य सिद्धत्वाच्च । अत आह भ्रान्त्येति ॥

यत्तु शतपथब्राह्मणे १।३।१।६ 'सपत्नान् क्षिणुयात्' इत्युपलभ्यते तत्त्वर्थप्रदर्शनपरमिति बोध्यम् ।

गतानुगतिको लोक इति चरितार्थयन्तो द्वेषमूलबुद्धयोऽप्यनेनैव निरस्ताः ॥

२ व्यत्ययेन तृतीयार्थे प्रथमा ॥

३ यज्ञो देवतेत्यतः ॥

४ वज गत्यर्थः । गत्यर्थानां ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति त्रयोऽर्थाः प्रसिद्धा एव (द्र० पृ० १०) ॥

५ प्रथमोऽन्वय आधिदैविकार्थपरः, अपरश्चाधियज्ञपरः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रत्युष्टम्, रक्षः इत्यादयः) पूर्वत्र (यजुः १ । ७ पृ ५४,) व्याख्याताः ॥

(अनिशितः) नितरां शितो निशितः । गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इत्याद्युदात्तः । ततो नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(सपत्नक्षित्) उपपदसमास उत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वाजिनम्) इनिप्रत्ययो मत्वर्थे । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो विभक्तेरनुदात्तत्वे स्वरितत्वम् ॥

(वाजेध्यायै) इन्धी दीप्तौ. अस्मात् अघ्न्य'दयश्च (उ०४ । ११२) इति यक्प्रत्ययो बाहुलकात् । बहुव्रीहिस्वरे प्राप्ते अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १९९ भा० वा०) इत्यन्तोदात्तत्वम् । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(सम्, मार्ज्मि) उपसर्गाद्युदात्तत्वे तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(वाजिनीम्) 'वाजिन्' शब्दात् ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४ । १ । ५) इति ङीप् । तस्यानुदात्तत्वादिन एव स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† 'रक्षः......निस्सारणीयाः' इति ग-कोशे प्रमादत्यक्तः, क ख. उभयत्राप्युलभ्यत एव ॥

❋ संस्कृतपदार्थे प्रथमान्तत्वेन व्याख्याताः । तथाग्रिमान्वयेऽपि ॥

अहं येन [अनिशितः] ❀ अनिशितेन [सपत्नक्षित्] ❀ सपत्नक्षिता यज्ञेन प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयो [असि] भवन्ति [त्वा] तं वाजिनं यज्ञं वाजेध्यायै संमार्ज्मि † [एवं यया [सपत्नक्षित्] ❀ सपत्नक्षिता [अनिशिता] ❀ अनिशितया क्रियया प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो [ऽसि] भवन्ति [त्वा] तां वाजिनीं वाजेध्यायै संमार्ज्मि तथैव भवन्तोऽप्येतं, एतां सम्मार्जन्तु]॥ *[इति द्वितीयोऽर्थः]* ॥ २९ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैर्विद्याशुभगुणदीप्त्या दुष्टशत्रुनिवारणाय नित्यं पुरुषार्थः कर्त्तव्यः । सुशिक्षया शस्त्रास्त्रसत्पुरुषाढ्यसेनया श्रेष्ठानां रक्षणं दुष्टानां ताडनं च नित्यं कर्त्तव्यम्, यतोऽशुद्धिक्षयात् सर्वत्र पवित्रता प्रवर्त्तेत[2] ॥ २९ ॥

फिर उक्त संग्राम कैसे जीतना और यज्ञ का अनुष्ठान कैसे करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—मैं जिस [अनिशितः] अतिविस्तृत [सपत्नक्षित्] शत्रुओं के नाश करनेवाले संग्राम से (प्रत्युष्टं रक्षः) विघ्नकारी प्राणी और जिससे (प्रत्युष्टा अरातयः) सत्यविरोधी अच्छी प्रकार दाहरूपदण्ड को प्राप्त होते हैं, वा जिस बन्धन से (निष्टप्तं रक्षः) बांधने योग्य (निष्टप्ता अरातयः) विद्या के विघ्न करने वाले निरन्तर सन्ताप को प्राप्त [(असि)] होते हैं, (त्वा) उस (वाजिनम्) वेग आदि गुणवाले संग्राम को (वाजेध्यायै) जो कि अन्न आदि पदार्थों से बलवान् करने के योग्य सेना है उसके लिये युद्ध के साधनों को (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूँ, अर्थात् उनके दोषों का विनाश करता हूँ, और मैं जिस (सपत्नक्षित्)शत्रु का नाश करने वाले और (अनिशिता) अतिविस्तारयुक्त सेना से (प्रत्युष्टं रक्षः) परसुखका न सहनेवाला मनुष्य वा (प्रत्युष्टा अरातयः) उक्त अपगुणवाले अनेक मनुष्य (निष्टप्तं रक्षः) जुआ खेलने और परस्त्रीगमन करने तथा (निष्टप्ता अरातयः) औरों को सब प्रकार से दुःख देने वाले मनुष्य अच्छी प्रकार निकाले जाते [(असि)] हैं (त्वा) उस (वाजिनीं) बल और वेग आदि गुणवाली सेना को (वाजेध्यायै) बहुत साधनों से प्रकाशित करने [योग्य सत्यनीति] के लिये (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार उत्तम २ शिक्षाओं से शुद्ध करता हूँ *[यह प्रथम अर्थ हुआ]* ॥

‡ मैं जिस (अनिशितः) बड़ी क्रियाओं से सिद्ध होने योग्य वा (सपत्नक्षित्)दोषों वा शत्रुओं के विनाश ❦ करनेहारे [यज्ञ से] (प्रत्युष्टं रक्षः) विघ्नकारी प्राणी और (प्रत्युष्टा अरातयः) जिसमें सत्यविरोधी अच्छी प्रकार दाहरूप दण्ड को प्राप्त होते हैं, वा (निष्टप्तं रक्षः) जिस बन्धन से बान्धने योग्य (निष्टप्ता अरातयः) विद्या के विघ्न करने वाले निरन्तर सन्ताप को प्राप्त [(असि)] होते हैं (त्वा) उस (वाजिनम्) यज्ञ को (वाजेध्यायै) अन्न आदि पदार्थों ✤ को प्रकाशित करनेवाली क्रिया के लिये (संमार्ज्मि) शुद्धता से सिद्ध करता हूँ § [इस प्रकार जिस

---

१ त्रिविधार्थपरत्वेन मन्त्रगतपदैः सम्बद्धोऽयं भावार्थः ॥
(ii) अत्र श्लेषालंकारः स्यात्, तथैव च भाषापदार्थेऽपि ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ वाजेन बहुसाधनसमूहेन सङ्ग्रामेण सेनया यज्ञेन वा प्रकाशनीयायै सत्यनीत्यै......इत्यादिना त्रिविधोऽप्यर्थःपदार्थान्तर्भूत इति ध्वनितम् । अन्वयस्तु आधिदैविकार्थपरोऽधियज्ञपरश्चावगन्तव्यः ॥ २९ ॥

३ पूर्वोक्त संग्राम सुशिक्षा तथा शस्त्रास्त्र से सुसज्जित सेना द्वारा ही किया जा सकता है, और यज्ञ का अनुष्ठान भी सुसंस्कृत पदार्थों से ही हो सकता है, इसलिये फिर उक्त संग्राम इत्यादि कहा है ॥

---

† 'एवं यया......एतां सम्मार्जन्तु' इति क. पाठः ॥
‡ 'और जो कि' इति सार्वत्रिकः पाठः । स च संस्कृताननुसारी ॥
❦ "करने हारे यज्ञ वा युद्ध को (वाजेध्यायै) अन्नादि पदार्थों के प्रकाशित होने के लिये (सम्मार्ज्मि) शुद्धता से सिद्ध करता हूँ ।" इति कोशेषु सार्वत्रिकः पाठः । संस्कृताननुसारी चेत्यपि ध्येयम् ॥
✤ "पदार्थों के प्रकाशित होने के लिये" इति ख.ग.अ० मु० च० पाठः ॥
§ यह कोष्ठान्तर्गत पाठ 'क' के पूर्वोक्त संस्कृतपाठानुसार है ॥

(सपत्नक्षित्) शत्रुओं का नाश करने वाली (अनिशिता) अतिविस्तारयुक्त क्रिया से (प्रत्युष्टं रक्षः) विघ्नकारी प्राणी और (प्रत्युष्टा अरातयः) दुर्गुण तथा नीच मनुष्य नष्ट होते हैं (निष्टप्तं रक्षः) काम, क्रोध आदि राक्षसी भाव दूर होते हैं (निष्टप्ता अरातयः) जिसमें दुःख तथा दुर्गन्ध आदि दोष नष्ट (असि) होते हैं (त्वा) उस (वाजिनीम्) सत्क्रिया को (वाजेध्यायै) अन्न आदि पदार्थों के प्रकाशित होने योग्य सत्यनीति के लिये (सम्मार्ज्मि) भली प्रकार सिद्ध करता हूँ। इसी प्रकार आप भी इस यज्ञ तथा सत्क्रिया को पवित्रतापूर्वक सिद्ध करो] ॥ *[यह दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ २९ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को विद्या और शुभ गुणों के प्रकाश से दुष्ट शत्रुओं की निवृत्ति के लिये नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये तथा सदैव श्रेष्ठ शिक्षा शस्त्र अस्त्र और सत्पुरुषयुक्त उत्तम सेना से श्रेष्ठों की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करना चाहिये, जिस करके अशुद्धि आदि दोषों के विनाश होने से सर्वत्र पवित्रता फैले[1] ॥ २९ ॥

अदित्या इत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो[2] देवता। निचृज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स यज्ञः कीदृशः किंफलो भवतीत्युपदिश्यते[3] ॥

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पो॰ऽस्यूर्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि। अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे ॥ ३० ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ संस्कृत पदार्थ में आये हुए 'वाजेन बहुसाधनसमूहेन...' इत्यादि पदों से यहाँ भी त्रिविध प्रक्रिया भासित हो रही है। अन्वय आधिदैविक तथा अधियज्ञपरक समझना चाहिये ॥ २९ ॥

२ योक्त्रम्, आज्यं चेति सर्वानुक्रमणी ॥

३ पूर्वोक्तस्य यज्ञस्य स्वरूपान्तरं तत्फलं चाह—पुनः स यज्ञः इति ॥

॰"वेष्पः" इति पाठ-विवेचनम्

अत्र मूलमन्त्रे "वेष्पः" इत्येव पाठोऽभिमतः। अत्राचार्यदयानन्दभाष्येऽपि तथैव व्याख्यातः। स च सम्यगित्येवात्र निश्चयः॥

संहिता-पद-क्रमपाठ-ब्राह्मण-श्रौतसूत्रादिषु मूलग्रन्थेषु तेषां भाष्येषु च मुद्रिते अमुद्रिते (हस्तलेखेषु) च क्वचित् क्वचित् यत्र तत्र "वेष्यः" इत्यपि पाठ उपलभ्यत इति सत्यम्। यावत् तत्र पक्षपातराहित्येनौदार्यधिया वा सप्रमाणः सोपपत्तिको वा विचारो न समुपस्थाप्यते, तावद् 'वेष्पः' इति निर्णयोऽनिर्णय एवेति समेषामपि विदुषां स्वभावतो विप्रतिपत्तिर्दुर्निवारैव, नात्र सन्देहस्य लेशोऽपि वर्त्तते। अतोऽत्रेदानीं प्रथमं पूर्वपक्ष एवोपस्थाप्यते—

पूर्वपक्षः—

मुद्रितेषु 'वेष्यः' इति पाठः

अधोनिर्दिष्टेषु मुद्रितग्रन्थेषु 'वेष्यः' इति पाठ उपलभ्यते—

(१) वैबरसम्पादिते जर्मनीदेशस्थलिप्जिगनगरमुद्रिते महीधरभाष्ये (१८४९ ई०) ॥
(२) ,, ,, ,, ,, ,, शतपथब्राह्मणे (१८४९ ई०) पृ०२४ पं०३ ॥
(३) ,, ,, ,, ,, ,, कात्यायनश्रौतसूत्रकर्कभाष्ये (१८५९ ई०) ॥
(४) पं० सत्यव्रत सामश्रमि ,, कलकत्ता रा०ए०सोसाइटी ,, शतपथब्राह्मणसायणभाष्ये (१९०३ ई०) ॥
(५) पं० वासुदेवशर्म ,, बम्बई निर्णय सागर यन्त्रालय ,, यजुर्वेद-उवटमहीधरभाष्ये (१९१२ ई०) ॥

(६) पं० रामसकलमिश्रसम्पादिते काशीस्थ चौखम्बा यन्त्रालय-मुद्रिते यजुर्वेदोवटमहीधरभाष्ये (१९१२ ई०) ॥
(७) विद्वद्भिः सम्पादिते बम्बई वेङ्कटेश्वरयन्त्रालय ,, मा०शु०शतपथ ब्रा० सायणभाष्ये(१९२६ई०)पृ०९७ ॥
(८) श्रीधर-अण्णाशास्त्रिवारेसम्पादिते बम्बईलक्ष्मीवेङ्कटेश्वर ,, शतपथब्राह्मणसायणभाष्ये (१९४०ई०)पृ०९५॥
(९) पू०म०म०ए०चिन्नस्वामिशास्त्रि ,, चौखम्बायन्त्रालय ,, शतपथब्राह्मणे (१९३७ ई०) पृ० २८ ॥
(१०) कैलेण्डसम्पादितेलवपुरमोतीलालबनारसीदासपुस्तकालयमुद्रिते काण्वशतपथब्राह्मणे (१९२६ ई०) पृ० ९६ ॥
(११) विद्वद्भिः सम्पादिते बम्बईनिर्णयसागरयन्त्रालयमुद्रिते माध्यन्दिनीय शु० यजुर्वेदे (१९२५ ई०) ॥
(१२) पं० विश्वबन्धुशास्त्रिसम्पादिते लवपुरनित्यानन्दविश्वेश्वरानन्दसंस्थानमुद्रिते वैदिकपदानुक्रमकोशे (१९३५ई०) ॥

वैवरानुगामिनः प्रदर्श्यन्ते—

(१३) पं० दामोदर सातवलेकरसम्पादिते औन्धस्वाध्यायमण्डलमुद्रिते मा० शु० यजुर्वेदे (१९२७ ई०) ॥
(१४) ,, ,, ,, सम्पादितायां ,, ,, मुद्रितायां काण्वसंहितायां १।४७ ॥
(१५) पं० दुर्गाप्रसादलाहिरीसम्पादिते कलकत्तानगरमुद्रिते यजुर्वेद उवटमहीधरभाष्ये (१९३५ ई०) ॥
(१६) पं० जयदेवविद्यालङ्कार ,, अजमेरार्यसाहित्यमण्डलमुद्रिते यजुर्वेदभाष्ये (१९३० ई०) ॥
(१७) सम्पादकमण्डलसम्पादिते वृन्दावनगुरुकुलवैदिकसंस्थान ,, यजुर्वेदभाषाभाष्ये (१९३८ ई०) ॥

एषु वैवरेण तु पुनरपि यत्नः कृत इति प्रतिभाति हस्तलेखानामुपयोगदर्शनात्। कैलेण्डेन सत्यव्रतसामश्रमिणापि कतिपयहस्तलेखानामुपयोगः कृत एवेति पश्यामः, भवेत् स पूर्णोऽपूर्णो वेति त्वन्यत्। शेषाश्चतुर्दश (१४) गणनार्हा अपि न सन्ति, कथमिति त्वग्र एव स्फुटीभविष्यति, एषु प्रायेण वैवरानुगामिन एव सन्ति ॥

उत्तरपक्षः—

मुद्रितेषु 'वेष्पः' इति पाठः

यद्यपि १७१ हस्तलेखेषु 'वेष्पः' इति पाठ इत्यग्रे प्रदर्शयिष्यते, तथाप्यधोऽङ्कितमुद्रितेष्वपि ग्रन्थेषु प्रकृते 'वेष्पः' इति पाठ उपलभ्यते—

(१) बम्बईवेङ्कटेश्वरमुद्रणालयमुद्रिते मा० शु० यजुर्वेदे (१९२२ ई०) 'वेष्पः इति पाठः ॥
(२) ,, तत्त्वविवेचकयन्त्रालय ,, ,, ,, ,, (१८९६ ई०) ,, ,, ॥
(३) काशीतिमिरनाशक ,, ,, ,, ,, ,, (१८९० ई०) ,, ,, ॥
(४) लवपुरविरजानन्द ,, ,, ,, ,, ,, (१८९० ई०) ,, ,, ॥
(५) बम्बईतत्त्वविवेचक ,, ,, ,, ,,यजुर्वेदपदपाठे (१८९३ ई०) ,, ,, ॥
(६) काशी गौरीश ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ॥
(७) काशीस्थवैदिकशिरोमणिप्रभुदत्तशास्त्रिसम्पादिते संवत् १९४८ वि० मुद्रिते मध्यन्दिनीयसंहितोवटभाष्ये" ॥

तत्र चेत्थं पाठ उपलभ्यते—"ऊर्ध्वमुद्गृह्णाति। विष्णोर्वेष्पोऽसि। विष्णोर्यज्ञस्य वेष्पः। विष्लृ व्याप्तौ वेष्ट वेष्टने ऽनयोर्धात्वोरन्यतरस्य रूपम्, यज्ञस्य व्यापनं वेष्टन वा त्वमसि। वेष्प आवर्त्त उच्यत"। अत्र लि: 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलभ्यते। एभिर्वैवरस्य पाठो न स्वीकृत इति ध्येयम् ॥

(८) महर्षिस्वामिदयानन्दसरस्वतीकृते बम्बईनिर्णयसागरयन्त्रालयमुद्रिते यजुर्वेदभाष्ये (सं० १९३५ वि०) 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(९) पं० उदयप्रकाशकृते मथुराविद्योदययन्त्रालयमुद्रिते—यजुर्वेदसंहिताभाष्ये (संवत् १९४२ वि०) 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(१०) पं० ज्वालाप्रसादकृते—लखनऊनगरमुद्रिते यजुर्वेदब्रह्मभाष्ये (१८८८ ई०) 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(११) पं० सुब्रह्मण्यशास्त्र्यादिभिः सम्पादितायां आनन्दवनरोषाचलमुद्रणालयमुद्रितायां शुक्लकाण्वयजुर्वेदसंहितायां (१९१५ ई०) पृ० ३ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(१२) पं० रत्नगोपालभट्टसम्पादिते—काशीचौखम्बाविद्याविलासयन्त्रालयमुद्रिते शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहितासायणभाष्ये (१९०८ ई०) पृ० ५५-'छान्दसः पकारादेशः' इति पाठः ॥

(१३) अजमेरवैदिकयन्त्रालयमुद्रिते—शतपथब्राह्मणे (१९०२ ई०) पृ० १८ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(१४) पं० चन्द्रधरशर्मसम्पादिते—काशी-अच्युतग्रन्थमालामुद्रिते मा० शु० शतपथब्राह्मणे (१९३७ ई०) पृ० ३५ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(१५) पं० लक्ष्मीपतिशास्त्रिसम्पादिते—तेनालीरजतमुद्राक्षरशालामुद्रिते (तैलगूभाषायां) काण्वशतपथब्राह्मणे (१९२३ ई०) पृ० १२३ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(१६) पं० नित्यानन्दपर्वतीयसम्पादिते—काशीचौखम्बाविद्याविलासयन्त्रालयमुद्रिते कात्यायनश्रौतसूत्रकर्कभाष्ये (१९२७ ई०) पृ० ११० 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(१७) म० म० विद्याधरशर्मगौडसम्पादिते—काशी-अच्युतग्रन्थमालामुद्रिते कात्यायनश्रौत्रसूत्रभाष्ये (१९३० ई०) पृ० ९४ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(१८) म० म० विद्याधरशर्मगौडसम्पादिते—काशी-अच्युतग्रन्थमालामुद्रिते कात्यायनदेवयाज्ञिकभाष्ये (१९३३ ई०) पृ० ३८ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(१९) श्रीअनन्तदेवयाज्ञिककृते—काशीचौखम्बाबनारसप्रिंटिंगप्रेसमुद्रिते शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रभाष्ये(१८९३ई०) पृ० ५७ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(२०) म० म० नित्यानन्दपर्वतीयसम्पादिते—काशीचौखम्बाविद्याविलासयन्त्रालयमुद्रिते कात्यायनश्रौतदर्शपूर्णमासप्रयोगे (१९२४ ई०) पृ० ३३ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(२१) पं० भीमसेनशर्मसम्पादिते—इटावासरस्वतीयन्त्रालयमुद्रिते दर्शपूर्णमासपद्धतिप्रयोगे (१८९९ ई०) पृ० ४७ 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(२२) स्वा० नित्यानन्दविश्वेश्वरानन्दसम्पादिते बम्बईनिर्णयसागरयन्त्रालयमुद्रिते यजुर्वेदपदानुक्रमकोशे (१९०८ई०) 'वेष्पः' इति पाठः ॥

(२३) पं० दा०सातवलेकरसम्पादिते औंधस्वाध्यायमण्डलमुद्रिते यजुर्वेदपदसूचीसंग्रहे (१९२९ ई०) 'वेष्पः' इति पाठः ॥

संहितायां तु 'वेष्यः' इति । कथमुभयथाऽपि पाठस्तेन स्वीकृतः, कुतोऽत्र विरोध इति विद्वांस एव शरणम् ॥

अत्रेदमप्यवधेयं यत् १९४८ वि० संवत्सरे महामहोपाध्यायपण्डित-प्रभुदत्तशास्त्रिमहोदयैः स्वसम्पादित उवट-भाष्ये तैः 'वेष्पः' इति पाठः स्वीकृतः । तेन काश्यां विद्वद्भिः 'वेष्य' इति पाठो न स्वीकृतः इति स्पष्टम् ॥

तदनन्तरं कात्यायनश्रौतदर्शपूर्णमासप्रयोगे 'कातीयेष्टि' ग्रन्थे (पृ० ३३) महामहोपाध्यायपण्डितनित्यानन्द पर्वतीयेनेयं टिप्पणी कृता—

"विष्णोर्वेष्प इत्यत्र 'विष्लृ व्याप्तौ' इति धातोः 'पानीविषिभ्यः पः' इत्यौणादिकसूत्रेण तृतीयपादस्थेन पप्रत्ययेन 'वेष्पः' इति रूपं निष्पद्यते । अत्र वेष्य इति पाठकल्पनं एतदौणादिकसूत्राज्ञान-मूलकम् । पवर्गीयघटितपाठस्य आसेतुहिमाचलं सम्प्रदायसिद्धत्वात् । अन्तस्थघटितलेखस्य लेखक प्रमादेन भाष्यादिपुस्तकेषु संजातत्वात् । एतद् व्युत्पादनं च लखनऊनगरमुद्रितभाष्ये स्पष्टमुपलभ्यते-इति ततो निरसनीयः संशयः संदिहानैरित्यलम् ॥"

वैश्वरस्य 'वेष्यः' इत्यशुद्धपाठे प्रसिद्धे जाते सति, उपर्युक्तैः प्रायेण सर्वैरयमेव पाठो ऽनुकृतः । तदनन्तरं नित्यानन्दपर्वतीयमहोदयेन सर्वादौ वैश्वरस्य विरोधे 'वेष्पः' इति पाठस्य घोषणा कृता । तत्र हेतुरपि सम्यगेव प्रदर्शितः । तदनन्तरं महामहोपाध्यायपण्डितविद्याधरगौडमहोदयेन स्वकात्यायनश्रौतसूत्रभाष्ये (पृ० ९४) इयमेव टिप्पणी सर्वांशेन लिखिता । तदनुकरणेन पं० चन्द्रधरशर्मणाच्युतग्रन्थमालाप्रकाशिते शतपथब्राह्मणेऽपि (पृ० ३५) लिखिता, सैव च टिप्पणी पं० श्रीधराण्णावारेशास्त्रिणा स्वसम्पादित शतपथब्राह्मणसायणभाष्ये (पृ० ९९) प्रदर्शिता । सर्वैः 'वेष्पः' इति पाठः स्वीकृतः । परं ध्यानेन महानुभावेन पाठस्तु 'वेष्यः' इत्येव स्वीकृत इति विचित्रम् ॥

व्याकरणमुद्रितग्रन्थेषु 'वेष्पः' इति पाठः

(२४) उज्ज्वलदत्तकृतायामुणादिवृत्तौ (३ । २३) ॥
(२५) श्वेतवनवासिकृतायामुणादिवृत्तौ (३ । २३) ॥
(२६) नारायणकृतायामुणादिवृत्तौ (३।२३ पृ० ५८) ।
(२७) स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतोणादिवृत्तौ (३ । २३ पृ० ६६) ॥
(२८) पं० युधिष्ठिरमीमांसकसम्पादितायां दशपाद्युणादिवृत्तौ (७ । २ । पृ० २३०) ॥
(२९) शब्दकल्पद्रुमकोशे चतुर्थकाण्डे पृ० ५०६ ॥

एषु सर्वेषु 'वेष्पः' इति पाठः । अस्मिन् विषये विस्तरेणाग्रे वक्ष्यते ॥

'वेष्यः' इति पाठे पूर्वपक्षः

(१) जर्मनीदेशस्थवैबरसम्पादिते महीधरभाष्ये, शतपथब्राह्मणे, कात्यायनश्रौतसूत्रकर्कभाष्ये च 'वेष्यः' इति पाठो विशेषविचारणीयः । कुतः ? वैबरमहोदयेन त्रयोऽप्येते ग्रन्था विविधहस्तलेखैः सम्यक् सम्पादिताः, विचार्यैव च पाठोऽयं निश्चितः स्यात् । यावत् तत्रस्थहस्तलेखानां विरोधे कापि प्रबला युक्तिः, प्रमाणं वा नोपलभ्यते, तावद् 'वेष्यः' इति वैबरसम्मतः पाठोऽशुद्ध इति न वक्तुं शक्यत इति निश्चितम् ।

(२) बम्बईनिर्णयसागरमुद्रणालयमुद्रिते मा० शु० यजुःसंहितापाठे 'वेष्यः' इति पाठो मूलसंहितायाम् उवट-महीधरभाष्ये चापि स्वीकृतः । तत्र च संहितायां नीचैः टिप्पण एवमुपलभ्यते—

"टीपः—वेष्योऽसि इति काण्वानां पाठः । तत्संहिताभाष्ये 'छान्दसः पकारादेशः' इति सायणाचार्योक्तेः ।

(३) कैलेण्डसम्पादिते काण्वशतपथब्राह्मणे (पृ० ९६) 'वेष्यः' इत्येव पाठ उपलभ्यते, सोऽपि विशेष-विचारणीय एवास्ति ।

(४) सत्यव्रतसामश्रमिणा चापि हस्तलेखानामाधारेणैवैष पाठः स्वीकृतो भवेत् ॥

अत्र समाधिः

१७१ हस्तलेखेषु "वेष्पः" इति पाठः

साम्प्रतमस्माभिः हस्तलेखेषु 'वेष्पः' इति पाठः क्रमशः प्रदर्श्यते । स च माध्यन्दिनीयशुक्लयजुःसंहितायाः ६० हस्तलेखेषूपलभ्यते । पूर्वोक्तसंहितापदपाठस्य ४६ हस्तलेखेषु, क्रम-जटा-घनपाठस्य ७ हस्तलेखेषु, उवटमहीधरभाष्यस्य १२ हस्तलेखेषु, शुक्लयजुःमाध्यन्दिनीयशतपथब्राह्मणस्य तत्सायणभाष्यस्य च ११ हस्तलेखेषु, शुक्लयजुःकाण्वसंहितायाः १३ हस्तलेखेषु, काण्वसंहितापदपाठस्य ७ हस्तलेखेषु, काण्वसंहितासायणभाष्यस्य २ हस्तलेखयोः, काण्वशतपथ-ब्राह्मणस्य ४ हस्तलेखेषु, कात्यायनश्रौतसूत्रस्य ८ हस्तलेखेषु, कात्यायनश्रौतसूत्रकर्कभाष्यस्य ८ हस्तलेखेषु, कात्यायनश्रौत-सूत्रदर्शपूर्णमासस्य ६ हस्तलेखेषु, कात्यायनसर्वानुक्रमणीभाष्यस्य ३ हस्तलेखेषु, एषु सर्वेषु १८७ हस्तलेखेषु मध्ये १७१ हस्तलेखेषु 'वेष्पः' इति पाठ उपलभ्यते, १६ हस्तलेखेषु 'वेष्यः' इति, तत्र च चतुर्षु 'वेष्यः' इत्येव पाठ उपलभ्यते, अव-शिष्टेषु १२ हस्तलेखेषु, पकारयकारयोरभेदकारणात् 'वेष्पः' 'वेष्यः' इति सन्दिग्धः पाठ उपलभ्यते । पकारयकारयोरभेद-विषयेऽग्रे विचारः करिष्यते ।

इदानीं पूर्वोक्तानां हस्तलेखानां विवरणं परिचयो वा क्रमशः प्रदर्श्यते—

माध्यन्दिनीयशुक्लयजुःसंहिताया हस्तलेखेषु

एषु सर्वत्र ६० हस्तलेखेषु 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलभ्यते । तेषां विवरणम्—

I सरस्वतीभवन (गवर्नमेण्ट संस्कृतकालेज-बनारसाधिकृते) संग्रहे

(१) ms. संख्या ६८४ (१-२० अध्यायाः) तत्र 'वेष्पः' इति पाठः ॥
(२) „ „ ६९७ (क) (१-२० अध्यायाः) „ „ „ ॥
(३) „ „ ७१३ (१-१२ अध्यायाः) „ „ „ ॥

(४) ms. सं० ७२२ (पूर्वार्द्धेऽतिजीर्णः) 'वेष्पः इति पाठः
(५) ,, सं० ७६५ (१-२० अतिजीर्णः) ,, ,,
(६) ,, ,, ७९९ (१-३ अ०) ,, ,,
(७) ,, ,, ८०७ ,, ,,
(८) ,, ,, ८१६ ,, ,,
(९) ,, ,, ८३० दीर्घपाठः(सं०१९१५वि०),, ,,
(१०) ,, ,, ८३१ दीर्घपाठः ,, ,,
(११) ,, ,, ८३३ (संवत् १६१६ वि०),, ,,
(१२) ,, ,, ८५९ ,, ,,
(१३) ,, ,, ७०९ (पूर्वार्धः) संवत् १६६३ वि० ,,
(१४) ,, ,, ७११ (पूर्वार्धः) संवत् १८७४ वि० ,,
(१५) ,, ,, ७१३ ,, ,,
(१६) ,, ,, ७८६ (अतिजीर्णः) ,, ,,
(१७) ,, ,, बटालाहस्तलेखः (रा०क० ट्रस्ट ms) ,,
(१८) ,, ,, अमृतसरहस्तलेखः
(रामलालकपूरट्रस्ट ms.) ,, ,,
(१९) ,, ,, अमृतसररामलालकपूर—
ट्रस्टहस्तलेखः ,, ,,

II काशीस्थवैदिकानां संग्रहे

(i) मा० शु० यजुः संहिताहस्तलेखेषु पाठः = ४१
(ii) ,, ,, ,, पदपाठ ,, ,, ,, = ४१
(iii) ,, ,, ,, संहितायाः प्रत्यक्षोच्चारणे = ४१
(iv) ,, ,, ,, पदपाठस्य प्रत्यक्षोच्चारणे = ४१

एवं ४१ × ४ = १६४ अधोऽङ्कितेषु पाठेषु 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलभ्यते। स च पाठोऽस्माभिः स्वयं दृष्टः श्रुतश्चापि ॥

काश्यां सन्त्यन्येऽपि यजुःसंहिताया वैदिकविद्वांसो येऽनकाशवशादस्माभिर्न प्राप्ताः ॥

तेषां पूर्वोक्तानां ४१ विदुषां परिचयः प्रदर्श्यते—

(१) श्री पं० गणेशदीक्षितः (महाराष्ट्रियः) दुर्गाघट्टे
(२) ,, ,, हरिनाथशास्त्रीघोणेकरः (महाराष्ट्रियः) दशाश्वमेधे
(३) ,, ,, लालतिवारी-आर्यावर्त्तीयः
(४) ,, ,, काशीनाथः (बाबवरियारसिंहवीथिकायाम्)
(५) ,, ,, बद्रीनारायणः (पूर्ववत्)
(६) ,, ,, रामनाथदीक्षितः (पञ्चनदीयः) ब्रह्मनाले
(७) ,, ,, श्रीनाथदीक्षितः (पञ्चनदीयः)
(८) ,, ,, दौलतरामगौडः (पं० विद्याधरगौडपुत्रः) राजस्थानीयः (संवत् १७२९ वि० ms.)
(९) ,, ,, वेणारामगौडः (,, ,, ,, ,,)
(१०) श्री पं० हरिनारायणः (पञ्चनदीयः)
(११) ,, ,, काशीनाथगौडसे(महाराष्ट्रियः)सं०१८७२वि०
(१२) ,, ,, विष्णुजीजानी (गुर्जरप्रान्तीयः)
(१३) ,, ,, भगवत्प्रसादमिश्रः (राजस्थानीयः)
(१४) ,, ,, गोपालचन्द्रमिश्रः (,,)
(१५) ,, ,, यागेशजीपाठकः (बिहारप्रान्तीयः)
(१६) ,, ,, विश्वनाथः विश्वविद्यालये ,,
(१७) ,, ,, अमरनाथसारस्वतः (पञ्चनदीयः)
(१८) ,, ,, (क) ,, ,, ,, ,,सम्वत् १५८५वि०ms
(ख) ,, ,, ,, पदपाठः सम्वत् १७३४वि०
(१९) ,, ,, राजारामनिर्मले (महाराष्ट्रियः)सं०१८८३वि०
(ख) ,, ,, ,, पदपाठः संवत् १५३२ वि०
(२०) ,, ,, मान्देकरवैदिकः (हैद्राबादीयः)
(२१) ,, ,, भवानीरामोऽग्निहोत्री (महारा०)
(२२) ,, ,, लक्ष्मीनारायणः (सुडिया)
(२३) ,, ,, गुरुप्रसादः (राजस्थानीयः) संवत् १८६४वि०
(२४) ,, ,, ,, ,, भ्राता ,,
(२५) ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(२६) ,, ,, ढुण्ढिराजः (महारा०)
(२७) ,, ,, दामोदरः ,,
(२८) ,, ,, पुरुषोत्तमः (पञ्चनदीयः)
(२९) ,, ,, नारायणः सारस्वतः (पञ्चनदीयः)
(३०) ,, ,, नित्यानन्दो गौडः ,,
(३१) ,, ,, शम्भुनाथो वैदिकः ,,
(३२) ,, ,, नरसिंहः सारस्वतः ,,
(३३) ,, ,, वंशीधरः (राजस्थानीयः) संवत् १९३० वि०
(३४) ,, ,, ब्र०माधवः(साङ्गवेदविद्या०)प्राचीनो हस्तलेखः
(३५) ,, ,, अपरः ,, ,, प्राचीनहस्तलेखः
(३६) ,, ,, मद्रप्रान्तीय ,, ,, प्राचीनहस्तलेखः
(३७) ,, ,, मांगीलालः (राजस्थानीयः)
(३८) ,, ,, मंगलदेवः (दाक्षिणात्यः)
(३९) ,, ,, गोपीनाथः (केदारघट्टे)
(४०) ,, ,, फलाहारी (शास्त्रार्थविद्यालये)
(४१) ,, ,, शशिभूषणः (आर्यावर्त्तीयः)

III शुक्लयजुः मा० संहितापदपाठे

काशीसरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) हस्तलेख संख्या १०५१ शु. संहितापदपाठे वेष्प इति पाठः
(२) ,, ,, ,, १०५२ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(३) ,, ,, ,, १०६३ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
(४) ,, ,, ,, ११०१ ,, ,, "वेष्यः" ,, ,,

(५) पं० राजारामनिर्मले (आंगराबाड़ा) सं०१५३२वि०वेष्पः एवं काशीस्थ ४१ विदुषां पूर्वोक्तानां पदपाठहस्तलेखेषु सर्वत्र 'वेष्पः' इति पाठः। योगः = ४६

IV (शु० य० मा० संहिता) क्रमपाठे, जटापाठे

(१) ms.सं. ७२१ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) पद-क्रम-जटापाठे 'वेष्पः' इति पाठः।

(२) श्री पं० गणेशजीदीक्षितप्राचीनक्रमपाठे 'वेष्पः' इति।

(३) ,, पं० रामनाथदीक्षितक्रमपाठे 'वेष्पः' इति पाठः।

(४) ,, पं० दौलतरामगौड़क्रमपाठे 'वेष्पः' इति पाठः।

(५) ,, पं० वेणीरामगौड़क्रमपाठे 'वेष्पः' इति पाठः।

(६) ,, पं०भगवत्प्रसादमिश्रजटाक्रमपाठे'वेष्पः'इति पाठः।

(७) ,, पं० गोपालचन्द्रमिश्रक्रमपाठे 'वेष्पः' इति पाठः।

(८) ,, पं० भगवत्प्रसादमिश्रघनपाठे 'वेष्पः' इतिपाठः।

V शु० य० मा० संहिताभाष्ये

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) ms. सं० ७१५ (महीधरभाष्ये) 'वेष्पः' इति पाठः। (अभेदः पकारयकारयोः)।

(२) ,, ,, ७१८ (उवटभा०) ,, ,, ,, (अभेदः पकारयकारयोः)।

(३) ,, ,, ७१९ (उवटभा०) ,, ,, ,, (अभेदः पकारयकारयोः)।

(४) ,, ,, ७२० (उवटभा०)'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(५) ,, ,, ७२६ (,, ,,) 'वेष्पः' इति पाठः। (अभेदः पकारयकारयोः)।

(६) ,, ,, ७२८ (महीधरभा०) ,, ,, ,, (अभेदः पकारयकारयोः)।

(७) ,, ,, ७३३ (महीधरभा०)'वेष्पः'इति स्पष्टःपाठः।

(८) ,, ,, ८८४ (,, ,,) ,, ,, ,, ,,

(९) ,, ,, ७३२ (भवदेवनाथ) ,, ,, ,, ,,

(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—

(१०) पं० रामनाथदीक्षितस्य (अतिसुन्दरहस्तलेख उवटभाष्ये) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(११) पं० दौलतरामगौड़स्य (बन्धन सं० १३७) महीधरभाष्ये (पृ०२८) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(१२) पं० गणेशजीदीक्षितस्य (उवटभा०) हस्तलेखे 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

VI शु० मा० शतपथब्राह्मणे भाष्ये च

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) ms. ९९१ (संवत् १७४१ वि०) पृ० ३६ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(२) ,, १०२६ (अतिप्राचीनः प्राचीनमातायुतः) पृ० २८ 'वेष्पः इति स्पष्टः पाठः।

(ख) वैदिकानां संग्रहे—

(३) पं० काशीनाथगौड़से (संवत्१७७९वि० अतीवसुन्दरे) हस्तलेखे 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(४) पं० विष्णुजीजानीनागरहस्तलेखे 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(५) पं०अमरनाथसारस्वत-हस्तलेखे(सं०१९४९वि०)'वेष्पः इति स्पष्टः पाठः (अच्युतग्रन्थमालाशतपथब्राह्मणस्य मूलपुस्तकम्)

(६) ब्र० जोशी (सिध्येश्वरीमन्दिरे) हस्तलेखे संवत् १७३६ वि० 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(७) पं० विद्याधरगौड़संग्रह-हस्तलेखे 'वेष्पः' इति पाठः (अभेदः पकारयकारयोः)।

(८) पं० गणेशजीदीक्षितहस्तलेखे 'वेष्पः' इति स्पष्टःपाठः।

(ग) मा० शतपथभाष्ये

(९) ms. ९१७ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) शतपथसायणभाष्ये, 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः।

(१०) ,, १०२७ (,, ,,) ,, ,, ,, 'वेष्पः'। इति पाठः पृ० ७० (अभेदःपकारयकारयोः)।

(११) गणेशजीदीक्षितहस्तलेखे ,, ,, ,, 'वेष्पः'। इति पाठः।

(१२) सांगवेदविद्यालयहस्तलेखे ,, ,, ,, ,, ,,।

VII शुक्लयजुःकाण्वसंहितायाम्

सरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) ms. ७७९ प्राचीनः पृ० ८—'वेष्पः' इति पाठः—'वेष्य' इत्यस्य स्थाने परिशोधितः।

(२) ,, ८३५ (पृ० ५) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(३) ,, ८४१ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(४) ,, ८४६ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(५) ,, ८५५ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(६) ,, ८७१ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः।

(७) ,, ७६३ (संवत् १८५३ वि०) 'वेष्यः' इति पाठः (अभेदः पकारयकारयोः)।

(८) ms. सं० ८२९ 'वेष्यः' इति पाठः ।
(९) पं० श्रीरामाचार्यपुराणिकस्य 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।
(१०) पं० श्रीकान्तपुराणिकस्य 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।
(११) दक्षिणब्रह्मचारिहस्तलेखे सांगवेदविद्यालये (प्राचीनः) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।
(१२) ब्रह्मचारिहस्तलेखे ,, ,, ,, ।
(१३) पं० गणेशदीक्षित ,, ,, ,, ,, ।

VIII शु० य० काण्वसंहितापदपाठे

(क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) ms. सं० १०६९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।
(२) ,, १०८० 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।
(३) ,, १०९० 'वेष्पः' इति पाठः ।
(४) ,, १०५५ (नवीनः) 'वेष्पः' इति पाठः ।
(अभेदः पकारयकारयोः)
(५) ,, ११०१ 'वेष्पः' इति पाठः ।

(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—

(६) पं० रामाचार्यपुराणिकस्य (काण्वाध्यापकः सां० वेद विद्यालये) हस्तलेखे (संवत् १६६७ वि०) 'वेष्पः' इति पाठः ।
(७) ,, ,, ,, ,, ,, ,, क्रमपाठे (संवत् १६७२ वि०) 'वेष्पः' इति पाठः ।
(८) ,, ,, ,, ,, ,, ,, जटापाठे (सं० १७६१ वि०) 'वेष्पः' इति पाठः ।

IX काण्वसंहितासायणभाष्ये

(१) ms. सं० ६९२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) का० संहिता सायणभाष्ये-पृ० ९९ 'वेष्पः छान्दसः पकारादेशः' इति पाठः ।
(२) पं० गणेशजीदीक्षितस्य—काण्वसंहितासायणभाष्ये (सं० १८५५ वि० पृ० ८५)—'वेष्पः' इति पाठः' 'छान्दसः पकारादेशः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

X काण्वशतपथब्राह्मणे

(१) ms. सं० ९०६ क (सरस्वतीभवनसंग्रहे) पृ० १५ 'वेष्पः' इति पाठः (पकारयकारयोरभेदः) ।
(२) पं० रामाचार्यपुराणिकस्य, अतिप्राचीनहस्तलेखे पृ० ३१ वेष्पः इति स्पष्टः पाठः ।
(३) ,, ,, ,, नवीन ,, ,, ,,
(४) ,, पं० लक्ष्मीपतिशास्त्रि (तैलगू—तेनाली) हस्तलेखे पृ० १२२ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।

XI कात्यायनश्रौतसूत्रे

(i) (क) सरस्वतीभवनसंग्रहे—

(१) ms. सं० १५२९ 'वेष्पः इति स्पष्टः पाठः ।
(२) ,, १४१६ ,, ,, ,, (पकारयकारयोरभेदः) ।
(३) ,, १६४६ (अतीवजीर्णे) 'वेष्पः' इति पाठः (स्वल्पभेदः पकारयकारयोः) ।
(४) ,, १७५० 'वेष्पः' इति पाठः (पकारयकारयोरभेदः) ।
(५) ,, १५३८ ,, ,, ,,
(६) ,, १८७६ 'वेष्यः' इति पाठः ।

(ख) वैदिकानां हस्तलेखसंग्रहे—

(७) पं० शिवरामसामवेदिकात्यायनश्रौतहस्तलेखे (संवत् १७१४ वि०) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।
(८) पं० रामाचार्यपुराणिककात्यायनश्रौतहस्तलेखे 'वेष्पः' इति (स्वल्पभेदः पकारयकारयोः) ।

(ii) कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्ये

(९) ms. सं० १५१४ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) कर्कभाष्ये पृ० ४९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।
(१०) ,, १५२० (सरस्वतीभवनसंग्रहे) कर्कभाष्ये 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।
(११) ,, १५२२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) देवयाज्ञिकभाष्ये १-३ (संवत् १७५२ वि०) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।
(१२) ,, पं० गणेशजीदीक्षितस्य (मंगला गौरी) कात्यायनश्रौतसूत्रे, कर्कभाष्ये च 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।
(१३) ,, पं० रामनाथदीक्षितस्य (ब्रह्मनाल) कात्यायनश्रौतसूत्रे, कर्कभाष्ये च 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।
(१४) ,, पं० नारायणसारस्वतवैदिकस्य (गढ़वासी टोला) कात्यायनश्रौतसूत्रे, कर्कभाष्ये च 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।
(१५) ,, पं० शिवरामसामवेदिनः (देवयाज्ञिकभाष्ये १-३ अ०) प्राचीनहस्तलेखे पृ० ९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।
(१६) ,, १८१८ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) का० श्रौ० सू० कर्कभाष्यस्य (सम्पूर्णः पृ० ८५) 'वेष्पः' इति पाठः । (अभेदःपकारयकारयोः) ।

(iii) कात्यायनश्रौतदर्शपूर्णमासप्रयोगे

(१७) ms. पं० भवानीरामदीक्षितसंग्रहे—'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

(१८) ,, ,, शशिभूषणाग्निहोत्रिसंग्रहे—'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

(१९) ,, ,, शिवरामसामवेदिसंग्रहे—पृ०७ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

(२०) ,, ,, गणेशजीदीक्षितस्य (मंगला गौरी) संग्रहे पृ० १९ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

(२१) ,, ,, गणेशजीदीक्षितमंगलागौरीसंग्रहे-'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः । (पत्रयोरभेदः) ।

(२२) ms. श्रीराजाधिराजशाहपुराधीशसंग्रहे—पृ० ३६ 'वेष्पः' इत्यसन्दिग्धः पाठः ।

XII कात्यायनसर्वानुक्रमणीभाष्ये

(१) ms.सं०२२६४ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) (१-२ अ०) 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।

(२) ,, २३४२ (सरस्वतीभवनसंग्रहे) पृ०१६ 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।

(३) पं० विद्याधरदौलतरामगौडसंग्रहे पृ० २० 'वेष्पः' इति स्पष्टः पाठः ।

हस्तलेखानां पाठस्य विवेचनम्

एवमस्माभिः १८७ हस्तलेखानां पाठः प्रदर्शितः । एषु १७१ हस्तलेखेषु 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलभ्यते । यद्यत्र मा० शु० यजुःसंहितायाः ४१ विदुषां परम्परागतप्रत्यक्षोच्चारणं, किञ्च ४१ पदपाठानां 'वेष्पः' इति प्रत्यक्षोच्चारणं च गण्येत, तदानीं १७१ + ४१ + ४१ = २५३ 'वेष्पः' इति पाठाः सम्पद्यन्ते, नात्र संदेहस्य लेशमात्रोऽप्यवसर इति पश्यामः । यथा तु पूर्वमस्माभिरुक्तं पकारयकारयोरभेदो लेखकानामिति हेतोरेवास्मिन् 'वेष्पः' इति वा 'वेष्यः' इति वा प्रश्नो ऽयमुत्पन्नः । अनेनैव लेखकानां प्रमादेन सर्वत्र भ्रान्तिरभूत् इत्यस्माभिरनुमीयते । इदानीं पूर्वप्रदर्शितानां १२ पकारयकाराभेदस्थलानां, ४ चतुर्णां च 'य' घटितपाठानां सहेतुकं विवेचनमारभ्यते—

पकारयकारयोरभेदविवेचनम्

प्रतिलिपिकर्त्तारः प्रायेण संस्कृतानभिज्ञा आसन्, तेषामज्ञानेन प्रमादेन वा पकारयकारलेखनेऽभेद उत्पन्न इति मन्यामहे । हस्तलेखानामनुशीलने ऽन्वेषणकार्ये वा तत्पराणां विदुषां प्रत्यक्षमेवेदं इति सर्वदा सर्वत्र च दृश्यते, नात्र सन्देहावसरः । प्रकृतपाठेऽपि पकारयकारयोरभेद इदमेव कारणं मुख्यत्वेन पश्यामः । इदानीमस्यैव विवेचनमारभ्यते—(अत्र सर्वत्र लेखकशब्देन प्रतिलिपिकर्त्रैव गृह्यत इति ध्येयम्) ।

(१) ११०१ संख्याके विकृतिहस्तलेखे (१ । ३०) 'यजुषे यजुषे' इति स्थाने 'ययुषे यजुषे' इत्युपलभ्यते । तेन लेखकस्य (प्रतिलिपिकर्त्तुः) मूढता सर्वथैव विस्पष्टा ॥

(२) ms. सं० ७१५–७१८–७१९–७२८ एषु महीधरभाष्यस्य हस्तलेखेषु 'यज्ञस्य' इत्यस्मिन् 'स्य' इति यकारस्य, 'वेष्पः' इत्यस्य संयुक्तेन पकारेण सह न किञ्चिदपि भेदो ऽस्ति । असंयुक्तयोः पकारयकारयोस्तु भेदोऽस्ति । अनेन लेखकप्रमाद एवात्र कारणमिति स्पष्टम् ॥

(३) ms. सं० ७६३–८२९–८७१ एषु काण्वसंहिताभाष्यहस्तलेखेषु यो 'वेष्यः' इति पाठ उपलभ्यते, स तु तत्रस्थेन 'छान्दसः पकारादेश इत्यनेन वेष्पः' इति पाठेनैव प्रत्युक्तो भवति । कुतः ? यदा 'प' प्रत्ययेन सिद्धिः प्रदर्शिता, कथं तत्र यकारः सम्भवतीति स्पष्टम् । ७६३ संख्याके हस्तलेखे तु तस्मिन्नेव पृष्ठे 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्' इत्येतस्मिन् पाठे 'क्रूरस्य' इत्यत्र 'स्य' स्थाने 'स्प' पठ्यते । ८२९ हस्तलेखे 'चक्षुषा' इति षकारेण सह 'वेष्पः' इत्येतस्य पकारः सर्वथा समान उपलभ्यते । अतो लेखकप्रमादः स्पष्टः ॥

(४) ms. ६९२ काण्वसंहिताभाष्ये 'छान्दसः पकारादेशः' उपलभ्यते, अतोऽत्रापि पूर्ववत् सर्वं द्रष्टव्यम् ।

(५) ms. ९०६ काण्वशतपथब्राह्मणहस्तलेखे 'वेष्पः' इत्येतस्य पकारः 'अव पश्यामि' इत्येतस्य पकारेण सह सर्वथा समानः, न तु यकारेण सह । अतोऽत्रापि 'वेष्पः' इत्येव पाठो मन्तव्यः ॥

(६) ms. १०५५—काण्वसंहितापदपाठे तूभयथाऽपि पठितुं शक्यते । परस्मिन्नेव पृष्ठे 'अदब्धेन' इत्येतस्य स्थाने 'अदध्वेन', 'यजुषे' इत्येतस्य स्थाने च 'षयुजे' इति पाठो ऽस्ति । तेनमहा मूढो ऽयं लेखक इति संदेहस्यावसरोऽपि नास्तीति ध्येयम् । किञ्च यदा १०९०–१०८०–१०६९ एषु त्रिषु पकारः स्पष्ट उपलभ्यते, तदात्र न संदेहावसरः ॥

(७) ms. १५१६ कात्यायनश्रौतसूत्रहस्तलेखे 'उपविश्यां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण 'त्रिव्रताय...' इत्यत्र 'पत्यस्य' स्थाने 'पत्पस्य', 'त्रिव्रताय' इति स्थाने 'त्रिव्रताप' इति सर्वथाप्यशुद्धः पाठो लेखकस्य परममूढतामेव द्योतयति ।

(८) ms. १७४६ कात्यायनश्रौतसूत्रहस्तलेखे 'वेष्यः' इति यकार उपलभ्यते । स चायं तत्रैव पठितस्य 'त्वेत्याज्यमुद्वास्य पत्नीमवेक्षते' इत्यत्र 'पत्नी' शब्दस्य पकारेण सह समान इति हेतोर्लेखकस्य प्रमादपरतामेव प्रदर्शयति ॥

(९) ms. १८७६ कात्यायनश्रौतसूत्रहस्तलेखे 'वेष्यः' इति यकारः स्पष्टः पठ्यते, परञ्च तत्रैव 'करोयूर्जे' इत्यस्य स्थाने 'करोपूर्जे', 'आज्यमुद्वास्य' इत्येतस्य यकारस्य स्थाने 'आज्यमुद्वास्प' इति पकारघटितः पाठ उपलभ्यते। 'उद्वास्य पत्नी०' इत्यत्र पकारयकारौ सर्वथापि समानावेव स्तः । अत्र लेखनस्य भ्रान्तिर्नास्ति, अपितु लेखकः कश्चित् संस्कृतानभिज्ञो मूढ एव स्यात् । अत्रेदमपि विचारणीयं यदा कर्कभाष्ये देवयाज्ञिकभाष्ये च 'वेष्पः' इति सर्वथा ऽसन्दिग्धः पाठोऽस्ति, तदा मूलहस्तलेखे 'वेष्यः' इति पाठः (तदप्येकस्मिन्नेवास्ति नान्यत्र) । तस्य किं मूल्यम् ? सर्वमेतद् विचार्य लेखकस्य जाड्यमेवात्रापीति स्पष्टम् । शेषेष्वपि तथैव व्यवस्था द्रष्टव्या ॥

एवं १६ हस्तलेखेषु 'वेष्यः' इति पाठः सन्दिग्धो ऽसन्दिग्धो वोभयथाप्युपलभ्यमानः सोपपत्तिकं सप्रमाणं च प्रत्याख्यातो ऽस्माभिरिति सुधिय एव प्रमाणम् ॥

वैबरकैलेण्डयोर्हस्तलेखानां विवेचनम्

साम्प्रतं वैबरेण महीधरभाष्यस्य, शतपथब्राह्मणसायणभाष्यस्य, कात्यायनश्रौतसूत्रकर्कभाष्यस्य च सम्पादने ये हस्तलेखा आधारत्वेन गृहीतास्तेषां विवेचनमारभ्यते । तत्र च येषां हस्तलेखानां प्रयोगः प्रकृतपाठे तेन कृतः, तेषामेव परिचयः प्रथममुपस्थाप्यते—

(i) मा० शुक्लयजुः-संहिता-संबन्धि-हस्तलेखाः (१८४९ ई० संवत्सरे)

(१) मा० शु० यजुःसंहिता—संवत्१८३८वि० ॥ (२) मा० शु० यजुःसंहिता (स्वररहिता) संवत्१८४०वि० (पैरिसप्रतिलिपिः) ॥

(३) मा० शु० यजुःसंहितापदपाठः—संवत् १६५३वि० ॥ (४) मा० शु० यजुःसंहितापदपाठः संवत्१६५७वि०॥

(५) काण्वसंहिता (समयोऽनिर्दिष्टः) ॥ (६) महीधरभाष्ये—द्वौ हस्तलेखौ (तत्र च कालोऽनिर्दिष्टः) ॥

(७) त्रयो हस्तलेखाः संहितापाठस्य, येष्वेकः संवत् १८९७ वि० बैनफीद्वारा प्रतिलिपिकृतः ॥

(ii) शतपथब्राह्मणे (१८४९ ई० संवत्सरे)

(१) ms. १७०५ वि० संवत्सरे लिखितः । स एव १७४५ वि० संवत्सरे स्वराङ्कितः । ११७ पत्राणि सन्ति ॥

(२) „ संवत् १७०९ वि० लिखितः । १५२ पत्राणि ।

(३) „ संवत् १६५४ वि० । १२३ पत्राणि ॥ (४) „ नास्य वृत्तं ज्ञायते ॥

(iii) कात्यायनश्रौत्रसूत्रभाष्ये

(१) ms. देवयाज्ञिकव्याख्या = १-४ अध्यायाः—५२० पत्राणि (कालोऽनिर्दिष्टः) ॥

(२) याज्ञिकदेवव्याख्या द्वितीयाध्याये—संवत् १६६० वि० काश्यां लिखितः ॥

(ii) कात्यायनश्रौतसूत्रमूलपुस्तके

(३) ms. (१-११ अध्यायाः) संवत् १७४५ वि० ॥ (४) संवत् १८३८ वि० (जयपुर) ६७ पत्राणि

(५) पूर्वार्द्धः संवत १६५५॥

(६) ms. २–३ अध्यायाः, संवत् नास्ति ॥

काण्वशतपथब्राह्मणे प्रयुक्तकैलेण्डहस्तलेखानां विवेचनम्

(१) मद्रास ms.–(Govt. ms. library) इष्ट्यायनकाण्डे–१६७ पत्राणि–संवत् नास्ति–(द्र० कैलेण्ड-भूमिका पृ० १२) ॥

(२) तंजोर ms.–स्वररहितः "Although this ms. may be fairly old, it is of little use." (इति कै० भूमिका पृ० १४) ॥

(३) कलकत्ता ms.–"may have been written in the second half of 17th century." (इति कै० भू० पृ० १४) ॥

(४) पैरिस ms. }
(५) आक्सफोर्ड ,, } काण्ड २—संवत् १८९५ वि० "To me it seems highly probable that O and perhaps also P. are, at least in part, copied from C." (इति कै० भू० पृ० १७) ॥

(६) बनारस ,, नवीनः संवत् १९३७ ॥

(७) मयसूर ,, तैलगूहस्तलेखस्य प्रतिलिपिः डा० थामस द्वारा (कै० भू० पृ० २०) नवीन एव ॥

अन्येऽपि ५ हस्तलेखाः प्रयुक्ताः तेषु द्वितीयकाण्डं नास्ति ॥

एषु सप्तसु मद्रास-कलकत्ता-हस्तलेखावेव मुख्यौ स्तः, तत्र च द्वयोरपि संवत्सरोल्लेखो नास्ति । तृतीयस्यानुमानेनैव कालो निर्दिष्टः । ४-५ द्वावपि तृतीयहस्तलेखस्यैव प्रतिलिपिरूपौ स्तः । तंजोर हस्तलेखः स्वररहितः । अतः वेदपाठिनां कार्ये नैवागत इति स्पष्टम्, अकिञ्चनकर इति कैलेण्डकथनम्, अशुद्धलेखनमित्यर्थः ॥

इदानीं शतपथब्राह्मणस्य ये ९ + ३ + ४ = १६ हस्तलेखा अस्माभिर्दृष्टाः (येषु द्वितीयं काण्डं प्राप्तम्) तेषु द्वौ १७४१ विक्रमसंवत्सरे लिखितौ स्तः । ब्रह्मचारिजोशीमहोदयस्य १७३६ विक्रमसंवत्सरे लिखितोऽस्ति, काशीनाथगौडस्य हस्तलेखोऽतीव शोभनः (संवत् १७७९ वि० लिखितः) तत्र चैषु १६ हस्तलेखेष्वैकमत्येन 'वेष्यः' इति पाठ उपलभ्यते। मा० शुक्लयजुःसंहितायाः १०० हस्तलेखेषु 'वेष्यः' इति पाठः । यदा सर्वप्रान्तीयानां विदुषां हस्तलेखेषु, वेष्य इत्युपलभामहे, तदानीं कैलेण्डमहोदयस्य द्वित्रा हस्तलेखाः प्रमाणत्वेन कथं स्वीक्रियेरन् ।

अथ वैबरानुगामिनां विवेचनम्

(१) सामश्रमिमहोदयस्य भ्रान्तिः

इदानीं वैबरानन्तरं (सन् १८४९ ई०) यैरस्यैवानुकरणमात्रं कृत्वा 'वेष्यः' इति पाठः स्वीकृतस्तेषां विवेचनं कुर्मः—

(१) एषु सर्वमुख्यः सत्यव्रतसामश्रमिमहोदयोः मा० शु० शतपथ-ब्राह्मण-सम्पादने शतपथब्राह्मणस्य तद्भाष्यस्य च ८ हस्तलेखानामुपयोगं कृतवान् । तेषां विवेचनं क्रियते—

द्वौ हस्तलेखौ संवत् १५११ वि० १६९१ वि० संवत्सरे च लिखितौ स्तः । अन्ये च ४ हस्तलेखाः १८७५–१८८३–१८७५–१९३७ वि० संवत्सरेषु लिखिताः सन्ति । द्वयोस्तु कालनिर्णयो नास्ति ।

सामश्रमिमहोदयेनास्य पाठस्य निर्णयः कर्त्तव्य आसीत् । यदि कलकत्तानगरे माध्यन्दिनशुक्लयजुषो वैदिका विद्वांसो नासन्, तर्हि काशीत एव पाठनिर्णयः कर्त्तव्य आसीत् । वैबरपाठं दृष्ट्वा तद्विरुद्धलेखने तस्य साहसमेव नाभूद् इत्येवास्माकं मतिः । यतो हि तस्मिन् काल आङ्ग्लीयाः (पाश्चात्या वा) एव सर्वेषु विषयेषु विशेषतो गवेषणकर्मणि प्रामाणिकाः सन्तीति भावना प्रायेण सर्वत्र व्याप्ताऽसीत् । मूढलेखकानां (प्रतिलिपिकर्तॄणां) पकारयकारयोरभेदेन लेखनमपि तस्य भ्रान्तिमजनयदित्यपि सम्भवति । यदि काशीस्था वेष्यप्रतिपादका इदानीमप्युपलभ्यमाना हस्तलेखाः काश्यामागत्य तेन दृष्टा अभविष्यंस्तर्हि भ्रान्तिरियं नोदेष्यत् तस्य । परञ्च तावत् कष्टं को नाम स्वीकुर्यात् !!

(२) महीधर-भाष्य-सम्पादकानां भ्रान्तिरप्यनुकरणमूला

यत्तु मा० शु० यजुःसंहितायां, तस्या उवटमहीधरभाष्ये बम्बईनिर्णयसागरमुद्रिते, काशीस्थचौखम्बाप्रकाशनमुद्रिते चोवटमहीधरभाष्ये 'वेष्यः' इति पाठो मुद्रितः । तत्र पूर्वस्मिन् द्वित्रा हस्तलेखाः सम्प्रयुक्ताः । तत्राप्येकेनैव विदुषा

वैबरादिपाठं दृष्ट्वायं पाठः स्वीकृतः स्यात् । काशीस्थसंस्करणं तु सर्वथैव हेयम् । कुतः ? इदानीमपि काश्यां १७१ हस्तलेखेषु 'वेष्पः' इति पाठ उपलब्धः, तदानीं तु न जानेऽत्र काश्यां कियन्तो यजुर्वेदपाठिनो वैदिका विद्वांसः स्युः । काशीस्थेनानेन सम्पादकेन तु यत् तस्य बुद्धावागतं तदेव कृतम् । वैबरसंस्करणमेवैषां सर्वेषां मार्गप्रदर्शकं समजनि, निजज्ञानस्याभावात् । यस्यास्वनेत्रं (ज्ञानं) न भवेत् तस्येयमेव गतिरनिवार्यतया जायते । निर्णयसागरमुद्रिते संहितापाठे, बम्बईवेङ्कटेश्वरमुद्रिते मा० शु० शतपथब्राह्मणभाष्ये, तत्रैव लक्ष्मीवेङ्कटेश्वरमुद्रिते शतपथब्राह्मणभाष्ये च, एषु सर्वेषु वैबरानुकरणमेव कृतम् तत्रान्वेषणे कोऽपि यत्नो न कृत इत्येव वक्तुं शक्यते किमन्यत् । उवटभाष्ये 'वेष्पः' इति निः पाठः प्रभुदत्तशास्त्रि-संस्करणेऽस्माभिः पूर्वमेव प्रदर्शितः ॥

(३) दा० सातवलेकरमहोदयस्याज्ञानपरकता

इदानीमौंधस्वाध्यायमण्डलस्य दामोदरसातवलेकरसम्पादितसंस्करणेऽपि 'वेष्यः' इति पाठो वि० सं० १९८४ मुद्रित उपलभ्यते । तत्र च तेन व्यर्थमेव घोषः क्रियते—तद्यथा

"प्रथमं तावत् प्राचीन-हस्तलिखित-विविध-पुस्तकानि समवलोक्य मन्त्रपाठनिश्चयः कृतः । एतदर्थं काशी-जनस्थान-त्र्यम्बकेश्वर-ग्वालेयराहमदनगरादि-नानानगरेभ्यो वैदिकब्राह्मणेभ्यो हस्तलिखितानि बहूनि पुस्तकान्यानीय तेषां पाठतुलनया.........संशोधनं क्रियते" (मा० शु० यजुः संहिताभूमिकायां पृ० ८ सम्पादकः पण्डितो दा० सातवलेकरमहोदयः—पौष शु० १५ विक्रमीय संवत् १९८४)॥

अत्र काशीशब्दस्तु सर्वथा मिथ्यैवेति ध्येयम् । काश्यां कस्यापि 'वेष्यः' इति पाठो नास्ति । तद्विरुद्धं १७१ हस्तलेखेषु ८२ प्रत्यक्षोच्चारणेषु 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलभ्यते । कपोलकल्पनयेदं लिखितं स्यात्, यद्वा स्वमनीषिकया । 'काशी' इति पदं मध्ये क्षिप्तं प्रतिभाति, किमन्यद् वक्तुं शक्यते । अन्येषामपि नामोल्लेखोऽविश्वसनीय एव जायते ॥

औन्धस्वाध्यायमण्डले पण्डितदामोदरसातवलेकरमुद्रितायां यजुर्वेदसंहिताया मन्त्रपदानां वर्णानुक्रमसूच्यां वि० सं० १९८६ मुद्रिते पृ० ९७—

"विष्णोर्वेष्पोऽसि १।३० ।।" इति पाठ उपलभ्यते । मा० शु० संहितायां तु 'वेष्यः' इति पाठः स्वीकृतः । भ्रान्तिरेवेयं सर्वथा पण्डितदामोदरसातवलेकरस्य किमन्यद् वक्तुं शक्यते । अस्य च भ्रान्त्या न जाने मनुष्याणां कति लक्षाणि 'वेष्यः' इत्यशुद्धपाठेन भ्रान्तानि जातानि स्युरिति को वक्तुं शक्नोति।

इदानीं २८ वर्षानन्तरमनेन महानुभावेन मा० शु० यजुःसंहितायां (१।३०) मन्त्रे प्रकृतपाठः 'वेष्पः' इति कृतः । अस्मिन् विषये लेखनीयमासीद् यद् भ्रान्त्या पूर्वं लिखितो 'वेष्य' इति पाठ इदानीं हस्तलेखादीनामुपलम्भादस्माभिः 'वेष्पः' इति संशोधितः । यद्युच्येत यत् 'वेष्यः' इति पाठोऽशुद्धो मुद्रित आसीत्, अत एव यजुर्वेदसंहिताया मन्त्रपदानां वर्णानुक्रमसूच्यां सं० १९८६ वि० संवत्सरेऽस्माभिः शुद्धः पाठो मुद्रितः । अत्रोच्यते–इदमपि न तथ्यम् । कुतः ? १९८४ वि० संवत्सरे मुद्रितायां यजुःसंहितायां बहुषु स्थलेषु 'चेत्री' इति कृत्वा संशोधनमुपलभ्यते, तद्यथा—य० ३।६ 'प्रश्नि' इत्यस्य स्थाने 'पृश्नि' । ३।१६ ।। 'योनिन्द्राय' इत्यस्य स्थाने 'योनिरिन्द्राय' ।। (इदं चेत्रीति करणेन संशोधनमेतेषां बहुप्रशंसनीयं कार्यमिति मन्यामहे) 'वेष्पः' इत्यस्य संशोधनं कुतो न कृतम् ॥

अनेन 'वेष्यः' इत्येव पाठ तेषामभिमतः । स चेदानीं कथं परिवर्त्तित इति न विद्मः । अनेन हस्तलेखानां प्रयोगे यत्नो न क्रियते, प्रदर्शनमात्रमेवैतेषामिति सुधिय एव विभावयन्तु ॥

काण्व-संहिता-पाठेऽप्येषां महती भ्रान्तिः

इदानीं काण्वसंहितायां दा० सातवलेकरमहोदयेन 'वेष्यः' इत्येव पाठः स्वीकृतः । इदमप्येतेषां दुःसाहसमेवेति मन्तव्यम् । कुतः ? शुक्लयजुःकाण्वसंहितायाः १३ हस्तलेखेषु, तस्याः ८ पदपाठहस्तलेखेषु, द्वयोः काण्वसंहिता-सायणभाष्य-हस्तलेखयोः, ४ काण्व-शतपथ-हस्तलेखेषु, काण्व-संहिताया वैदिकानां प्रत्यक्षोच्चारणे चापि 'वेष्पः' एव पाठ उपलभ्यते । सायणभाष्ये च 'छान्दसः पकारादेशः 'वेष्पः' इति च सर्वमसन्दिग्धतयैवोपलभ्यते । बम्बईनिर्णयसागर मुद्रिते "वेष्पोऽसि इति काण्वानां पाठः" इति टिप्पण्यां मुद्रितोऽस्ति । अनेन सर्वेण काण्वानां तु 'वेष्पः' इत्येव पाठः सर्वसम्मतः । अत्र च दामोदर-सातवलेकर-महोदयेन कथं 'वेष्यः' इति पाठो मुद्रितः ? अज्ञानजृम्भितमेवेदं सर्वं किमन्यदत्र वक्तुं शक्यते ॥

(४) आधुनिकानामत्र का गतिः

पूर्वोक्तविवरणेन स्पष्टं जायते यत् कलकत्तायजुःसंहितोवटमहीधरभाष्यसंस्करणे दुर्गादासलाहिरीमहोदयः, अजमेरस्थार्यसाहित्यमण्डलसंस्करणे च पण्डितजयदेवविद्यालङ्कारमहोदयः, वृन्दावनगुरुकुलवैदिकसंस्थानसंस्करणे च तत्सम्पादका अप्यज्ञानमूलत्वात् , हस्तलेखानां विषये सर्वथाप्यनभिज्ञत्वाद् , वेबरादीनामनुकरणमात्रस्यैव विज्ञत्वाच हेयाः, परिहेया अकिञ्चनकराश्चेति बोध्यम् ॥

(५) वैदिकानुक्रमब्राह्मणकोशनिर्मातॄणां विश्वबन्धुशास्त्रिमहोदयानां (पृ० ९४८) 'वेष्यः' इति पाठस्य का गतिरित्याकाङ्क्षायामुच्यते—इमे तु विदेशीयविदुषां स्कालरपदवाच्यानां शिष्यत्व एव स्वगौरवं मन्यन्ते । स्वरज्ञानहत्तार इमे 'वेष्यः' इत्यत्र कथमन्तस्वरितत्वं सम्पत्स्यते इत्याद्यनभिज्ञा इत्येव वक्तुम् शक्यते । वेबरकैलेण्डादीनां प्रत्याख्यानेनैवेमेऽपि प्रत्युक्ता गतानुगतिका इति ध्येयम् ॥

एवमस्माभिः 'वेष्यः' इति पाठं मन्यमानानां सर्वेषामपि पक्षं निरूप्य तेषां सोपपत्तिकं सप्रमाणं च प्रत्याख्यानं कृतमिति दिक् ॥

हस्तलेखानां कालविवेचनम्

(प्रश्नः) वेबरेण कैलेण्डेन सत्यव्रतसामश्रमिणा च येषां प्राचीनहस्तलेखानामाधारेण 'वेष्यः' इति पाठः स्वीकृतः तेषां क्रमशो निर्देशः क्रियते—

(१) वेबरेण मा० शु० यजुःसंहितायाः १८३८, १८४० वि० संवत्सरयोः हस्तलेखयोरुपयोगः कृतः । पदपाठस्य १६५३, १६५७ विक्रमीयसंवत्सरयोः हस्तलेखौ निर्दिष्टौ । मा०शतपथब्राह्मणेऽपि १७०९, १७४५, १६५४ वि० संवत्सराणां निर्दिष्टाः । कात्यायनश्रौतसूत्रभाष्ये १६५५, १६६० वि० संवत्सरयोः निर्दिष्टवानसौ ॥

(२) कैलेण्डस्य १८९५ वि० संवत्सरात् पूर्वस्यैकोऽपि संहिताहस्तलेखो नास्ति । शतपथहस्तलेखानां कालोऽनिर्दिष्ट एव ॥

(३) सत्यव्रतसामश्रमिणा तु १५११ वि० संवत्सरस्यैको हस्तलेखः प्राप्तः, अपरः १६९१ वि०संवत्सरस्य । अन्ये चत्वारः १८७५, १८८३, १८७५, १९३७ वि०संवत्सराणां सन्ति ॥

कथं तर्ह्येतेऽमन्तव्याः स्युः ?

(उत्तरम्) कैलेण्डहस्तलेखास्तु नवीना एव, न चापि महत्त्वपूर्णाः । वेबरस्य कतिपयाः सन्ति गणनार्हाः । तत्र च भ्रान्तिरेव कारणं पकारयकारयोरभेदादिति पूर्वमस्माभिर्विस्तरशः प्रदर्शितम् । तस्य संहिताया हस्तलेखौ नवीनावेव, पदपाठस्य १६५३-१६५७ वि०संवत्सरयोः स्तः, अस्माकं १५३२ वि० संवत्सरस्यास्ति । सत्यव्रतसामश्रमिणस्त्वेक एव १५११ वि०संवत्सरस्य हस्तलेखो गणनार्होऽस्ति । अस्माकं तु १५३२-१५८५ वि० संवत्सरस्य संहितापदपाठयोः 'वेष्पः' इति पाठ उपलभ्यते, १६१६, १६६३, १७२९ वि०संवत्सराणां मा० शु०यजुःसंहिताहस्तलेखेषु 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलब्धः १६२७, १६६८ वि०संवत्सरयोः काण्वसंहिताहस्तलेखयोरपि 'वेष्पः' इत्येव पाठोऽस्ति । शतपथब्राह्मणस्यापि १७३६-१७४१-१७७९ वि०संवत्सरहस्तलेखेषु 'वेष्पः' इति । १७१४ वि० संवत्सरस्य कात्यायनश्रौतहस्तलेखे, १७५२ वि० संवत्सरस्य दैवयाज्ञिकभाष्यहस्तलेखे चापि 'वेष्प' इति पाठ उपलभ्यते ॥

यस्मिन् कुले शतपथब्राह्मणं कण्ठस्थीकृतं तत्रापि 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलब्धः । एवं कालविवेचनेऽप्यस्माकं अनेन विवेचनेन सामश्रमिणां श्रमाभाव एवेति स्पष्टम्, यत्तेन गतानुगतिकतयैव 'वेष्यः' इति पाठः स्वीकृतः । वेबरकैलेण्डयोस्तु भ्रान्तिः स्पष्टैवेति । उवटमहीधरभाष्येऽप्यस्माभिर्दृष्टहस्तलेखेषु 'वेष्पः' इति पाठः सर्वथाऽप्यसन्दिग्ध एवोपलभ्यते, तेनैते सर्वेऽपि प्रत्युक्ता इति स्पष्टम् । २५१ दृष्टहस्तलेखानां समक्षे एषां का गतिः ॥

व्याकरण-कोशादिषु 'वेष्पः' इत्येव पाठः

इदानीं व्याकरणे कोशेषु चास्मिन् विषये किमुच्यते इति प्रदर्शयामः—

(१) उणादिसूत्रे—पानीविषिभ्यः पः (उ० ३ । २३) इति सर्वेषामपि वैयाकरणानां ग्रन्थेषु 'वेष्पः' पकारघटित एवोणादिपाठः स्वीकृतः, न कस्याप्यत्र वैमत्यमुपलभ्यते ॥

(२) नारायणोणादिवृत्तौ 'वेष्पः' जलम् ३ । २३ ॥" पृ० ५८ इति पाठः ॥

(३) उज्ज्वलदत्तोणादिवृत्तौ "वेष्पः पानीयम् ३ । २३ ॥" पृ० १०७ इति पाठः ॥

(४) श्वेतवनवासी-उणादिवृत्तौ—"वेवेष्टीति वेष्पम्, जलं कूपं च" पृ० १०५ इति पाठः ॥

(५) दशपादी-उणादिवृत्तौ ७ । २ "वेवेष्टीति वेष्पम् परमात्मा" पृ० २६० इति पाठः ॥

(६) सिद्धान्तकौमुदी-उणादिवृत्तौ "पाति रक्षत्यस्मादात्मानमिति पापम्, तद्योगात् पापः" उ० ३१००॥

(७) अजमेरोणादिवृत्तौ "वेवेष्टि व्याप्नोतीति वेष्पः । पेयमुदकं वा" ३ । २३ ॥

(८) शब्दकल्पद्रुमकोशे पृ० ५०६ "विष व्याप्तौ, पानीविषिभ्यः पः (उणादि ३ । २३) इति पः पानीयम् इत्युणादिकोषः" । अस्मिन् 'वेष्यः' इति पदमेव नास्ति ॥

(९) वाचस्पत्ये—अमर—वैजयन्ती-मेदिनी-शाश्वत-विश्वलोचन-अभिधानचिन्तामणि-नानार्थसंग्रह-अनेकार्थ-तिलकइत्यादिकोशेषु, क्षीरस्वामि—सर्वानन्दटीकयोरपि 'वेष्यः' इति पदं क्वापि नास्ति ॥

(१०) चतुर्षु वेदेषु (वैबरादिकं विहाय), ब्राह्मणेष्वपि (पूर्ववत्), उपनिषत्सु चापि 'वेष्यः' इति पदं क्वापि नास्ति ॥

एवं कोशेषु, व्याकरण उणादिसूत्रे तद्वृत्तिषु च 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलभ्यते, 'वेष्यः इति तु क्वापि नास्ति, इति सप्रमाणं सोपपत्तिकं चास्माभिः प्रदर्शितम् ।

इदानीं पाणिनिसूत्रस्य (अ० ५ । १ । १००) अपि विवेचनं कर्त्तव्यम्—

ननु च भोः कर्मवेषाद्यत् (अ० ५ । १ । १००) इत्यत्र पाणिनिना, 'वेषेण सम्पद्यते, सम्पादी वा वेष्यो नटः" इति काशिकाकृता भट्टोजिदीक्षितेन चापि 'वेष्यः' इति पाठः स्वीक्रियते, अस्य प्रत्याख्यानं त्वया कथं क्रियते ?

(उ०) इति प्राप्ते ब्रूमः—कर्मवेषाद्यत् (अ० ५ । १ । १००) इति सूत्रे तालव्यशकारघटितः प्राचीनपाठ उपलभ्यते । अत्र च कोशकारैरपि बहुविचारितं प्रतिभाति । असन्दिग्धमेव, तैः तालव्य—शकार-घटित एव पाठः स्वीकृत इत्यग्रे प्रदर्शयामः—

न वयं मन्यामहे यद् 'वेष्यः' इति शब्द एव न सम्पद्यते । स तु विष् धातोर्घञि वेषः, वेषमर्हतीति वेष्यः, तदर्हति (अ० ५।१।६२) इति यत्, यद्वा दिगादिभ्यो यत् (अ० ४।३।५४) इति यत्प्रत्ययेन सम्पत्स्यत एव । परं च कोशेषु क्वापिनास्त्येवेत्यस्माकं कथनम् । व्याकरणे चाप्युणादिसूत्रेषु क्वापि नास्ति । न तत्राद्यावधि पाठभेदो ऽपि केनचित् प्रदर्शितः । निःसन्दिग्धो 'वेष्पः' इत्येव पाठ उपलभ्यते । कर्मवेशाद्यत् (अ० ५ । १ । १००) इत्यत्र तु तालव्य-शकार घटित एव पाठः साधुः । कथमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—

(१) पुरुषोत्तमदेवकृतभाषावृत्तौ (अ० ५ । १ । १०० पृ० ३०५)—"कर्मवेशाद्यत् । आभ्यां यत् स्यात् तेन सम्पाद्यर्थे । कर्मण्यं शरीरम् । वेश्या स्त्री । वेश्यं वपुः ॥

(२) अमरकोशे भानुजीदीक्षितकृतटीकायां पृ० २०९ (२।९९)—"वेशेन नेपथ्येन शोभते । कर्मवेशाद्यत् (अ० ५।१।१००) वेशे वेश्यावाटे भवा वा, दिगादिभ्यो यत् (अ० ४।३-५४)......"॥

(३) अमरकोशे क्षीरस्वामिटीकायां पृ० १०७—"वेवेष्ट्यङ्गं वेषः, विशति चेतसीत्येके तालव्यं शमाहुः, कर्मवेशाद्यत् (सू०) इत्यत्र तथा विचारात्" ॥ 'तालव्यं शमाहुः' इत्यनेनात्र 'वेश्यः' इति क्षीरस्वाम्यभिमतः पाठः, न तु 'वेष्यः' इति सर्वथापि स्पष्टमेव पश्यामः ॥

(४) अमरकोशे सर्वानन्दटीकायां ii भागे पृ० ३६०—"विशति चेत् इत्येव शमाहुः । कर्मवेशाद्यत् (५।१।१००) इति तथा विचारात्......नेपथ्ये गृहमात्रे च वेशो वेश्यागृहेऽपि च इति तालव्यान्ते रभसः । तदा च 'विश प्रवेशने' साध्यः" ॥

इत्यादिविवेचनेनायं परिणामो दृश्यते यत् कर्मवेशाद्यत् (अ० ५।१।१००) इति सूत्रे तालव्य-शकार-घटित एव पाठः साधीयान् । न तु काशिकासिद्धान्तकौमुद्यादिषु मूर्धन्यघटितः पाठ इति । अधुना यद्युच्येत यद्व्याकरणे कोशेषु च 'वेष्यः' इति शब्द एव नोपलभ्यते, तदानीं नेयमतिशयोक्तिः स्याद् इति सुधिय एव विभावयन्तु ॥

अत्र स्वर-विमर्शः

दुर्जनसन्तोषन्यायेन यद्यत्र पूर्वोक्तसूत्रे कर्मवेषाद्यत् इत्येव मूर्धन्यषकारघटितः पाठोऽपि स्वीक्रियेत, तदानीमप्यत्र (१।३०) यजुर्वेदपाठे तु 'वेष्यः' इत्येव पाठः साधुः। कथमिति चेदुच्यते यप्रत्ययस्य विधानं न केनापि सूत्रेण वार्तिकेन वास्ति, यत् प्रत्ययेनैव 'वेष्यः' इति सम्भवति। तत्र च यत्प्रत्यये सति यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वस्य प्राप्तिर्दुर्निवारैव। अत्र त्वन्तस्वरितः स्वरोऽस्ति। स च 'वेष्यः' इति पाठे यप्रत्ययेनान्तोदात्तत्वे सति संहितायां 'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ (अ० ८।२।६)' इति सूत्रेण विकल्पेन स्वरितः सम्पद्यते इति बोध्यम्। अत एव पदपाठे ऽन्तोदात्त उपलभ्यते। यत्प्रत्ययः केन सूत्रेण भवेत्, दिगादिभ्यो यत् इत्यनेन (अ० ४।३।५४), तदर्हति (अ० ५।१।६२) इत्यनेन, कर्मवेषाद्यत् (५।१।१००) इति मूर्धन्यषकारघटितपाठेन, अन्येन वा केनचिदपि सूत्रेण, नात्र काचन विप्रतिपत्तिरस्माकं, नवा कोऽपि भेदो जायते। यत्प्रत्यये स्वरदोषस्तु सर्वथापि दुर्निवार एव।

इत्यादिविवेचनेनात्र वेदे (य० १।३०) तु सर्वथाऽपि 'वेष्यः' इत्येव पाठः शुद्धः, न तु 'वेष्यः' इत्यलमतिविस्तरेण॥

'वेष्यः' इति पाठस्येतिहासः

एवं सन् १८४९ ई० संवत्सरे वैबरेण 'उवटमहीधरभाष्यसम्पादने, मा० शु० शतपथब्राह्मणसम्पादने सन् १८५९ संवत्सरे कर्कभाष्ये च सर्वप्रथमं 'वेष्यः' इति पाठः स्वीकृतः। तत्र लेखकानां पकारयकारामेदेनैव तस्य भ्रान्तिर्जाता स्यादित्यस्माभिरनुमीयते। वैबरेण क्वापि टिप्पण्यपि न कृता यत् केषांचित् 'वेष्यः' इत्यपि पाठ उपलभ्यते, महदाश्चर्यमेतद् बुद्ध्यगम्यं चापि। तमनुकुर्वतां कैलेण्ड-सामश्रम्यादीनामपि 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' इत्यनुसरणमेव कारणम्। ताभ्यां 'वेष्पः इत्यपि पाठः क्वचिदुपलभ्यते' इति टिप्पण्यपि न कृता। न चैभिः काशीस्थानामन्यप्रान्तीयवैदिकविदुषां परम्पराज्ञानस्य प्रयत्नः कृतः, वैबरकैलेण्डौ तु विदेशीयौ, सत्यव्रतसामश्रमिणस्तु महानपराध एव मन्तव्यो यत् कलकत्तानगरे सतापि तेन पत्रव्यवहारेण, काश्यां स्वयमेवागत्य वा काशीस्थवैदिकविदुषां परम्पराया ज्ञानस्य लेशमात्रोऽपि यत्नो न कृतः।

वैबरात् पूर्वं 'वेष्यः' इति पाठः केनापि न स्वीकृतः। तदनुगामितयैव सत्यव्रतसामश्रमिणाऽपि 'विदेशीयानामन्वेषणं निरापदं सर्वथापि सत्यम्' इति सिद्धान्तं मत्वा तस्यैवानुकरणमात्रं कृतम्। सत्स्वपि कतिपयप्राचीनहस्तलेखेषु तस्य साहसमेव नाभूत् यद् वैबरं प्रत्याख्याय स्वबुद्ध्यालेखिष्यत्। तेनात्र स्वरमात्रोऽपि प्रयत्नो न कृतः। वैबरमनुसरता कैलेण्डेन काण्वसंहितापाठानामनुशीलनमेव न कृतम्, काण्वभाष्यमपि कथं न दृष्टमित्यपि महदाश्चर्यम्। स तु विद्वान् योग्यश्च, कथं तेनास्मिन् विषये प्रमादः प्रदर्शित इति न वक्तुं शक्यते। काशीस्थचौखम्बासंस्करणस्य सम्पादकस्तु न वैदिकः, काशीस्थवैदिकानां परम्पराया दर्शनस्य तेन लेशमात्रोऽपि यत्नो न कृतः, इति तस्य परममूढताया एव द्योतक इति मन्तव्यम्॥

अन्तिमं निवेदनम्

इदानीमन्ते अस्माकमेतद् एव कथनं यत् वैदिकान्वेषणे शास्त्रान्वेषणे वा पाश्चात्या एव प्रमाणं भवितुमर्हन्ति, भारतीयानां बुद्धिरेव नास्ति, न च भारतीया अन्वेषणकार्यं जानन्ति, असत्यमेवैतत् सर्वम्। यावद् इङ्गलैण्ड-फ्रांस-जर्मनी-अमेरिकादिदेशानां विश्वविद्यालयेभ्य उपाधीन् गृहीत्वा भारते नागमिष्यन्ति, तावत् ते न सम्माननीयाः स्युः, उच्चपदेषु तेषां नियुक्तिश्च न सम्भवति, इयं धारणा परम्परा वा पराधीनभारते आङ्गलराज्यावसरे २०० वर्षेभ्योऽतीव दृढमूलाऽभूत्, सैवेदानीमपि व्यापकतया भारते प्रायशः सर्वत्र दरीदृश्यते। इदानीं स्वतन्त्रभारतेऽस्या विचारधारायाः सर्वथापि नाश एव भवेत्, कर्तव्यश्चेत्येवास्माकं नम्रनिवेदनम्। नहि वैबरादयः कैलेण्डादयो वा स्वतः प्रमाणत्वेन स्वीकर्तुं शक्यन्ते इति विचारं स्वीकुर्वता मयेयं टिप्पणी प्रदर्शितेति ध्येयम्। कियच्च तत्र साफल्यमिति प्राचीनसंस्कृत्युपासका महाविद्वांस एव प्रमाणमिति विरम्यते॥

अदित्यै । रास्ना । असि । विष्णोः । वेष्पः । असि । ऊर्जे । त्वा । अदब्धेन । त्वा । चक्षुषा । अव । पश्यामि ॥ अग्नेः । जिह्वा । असि । सुहूरिति सुऽहूः । देवेभ्यः । + धाम्ने धाम्नऽइति धाम्ने धाम्ने । मे । भव । यजुषे यजुषऽइति यजुषे यजुषे ॥ ३० ॥

पदार्थः—(अदित्यै) पृथिव्या अन्तरिक्षस्य वा । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अदितिरिति पृथिवीनामसु पठितम् । निघ० १ । १ । पदनामसु च । निघ० ।४ । १ । अनेन गमनागमनव्यवहारप्राप्तिहेतुरवकाशोऽन्तरिक्षं गृह्यते । (रास्ना) रसहेतुभूता क्रिया [वा] । रास्नासास्नास्थूणावीणाः । उ० ३ । १५ । अनेन रसधातोर्निपातनान्नः प्रत्ययः । (असि) अस्ति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (विष्णोः) व्यापकेश्वरस्य यज्ञस्य वा[1] । यज्ञो वै विष्णुः । श० १ । १ । २ । १३ । (वेष्पः) वेवेष्टि व्याप्नोति पृथिवीमन्तरिक्षं वा स यज्ञोत्थो बाष्पो ज्ञानसमूहो वा पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । अनेन विषेः पः प्रत्ययः । (असि) अस्ति वा । (ऊर्जे) अन्नाय रसाय पराक्रमाय च । (त्वा) त्वां तं वा । (अदब्धेन) सुखयुक्तेन । (त्वा) त्वां तं वा । (चक्षुषा) विज्ञानेन प्रत्यक्षप्रमाणेन[2] नेत्रेण । (अव) क्रियार्थे । अवेति विनिग्रहार्थीयः । निरु० १ । ३ । (पश्यामि) संप्रेक्षे । (अग्नेः) भौतिकस्य । (जिह्वा[3]) जिहीते विजानाति रसमनया सा । शेवायह्वजिह्वा० उ० १ । १५४ । अनेनायं निपातितः । (असि) अस्ति वा । (सुहूः) सुष्ठु हूयते यो या वा सा कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०] इति कर्मणि ह्वेञ् इत्यस्य क्विबन्तः प्रयोगः । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा । (धाम्ने धाम्ने) दधति वस्तूनि सुखानि च यस्मिन् तस्मै, प्रत्यधिकरणप्राप्तये ।

१ यज्ञपक्षे यज्ञीयपदार्थानामिति भावः ॥

२ सत्यं वै चक्षुः । सत्यं हि वै चक्षुस्तस्माद् यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति, य एव ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम । श०१।३।१।२७॥ चक्षुर्वा ऋतम् । ऐ० ब्रा० २ । ४० ॥

३ जिह्वा सरस्वती । श० १२ । ९ । १ । १४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अदित्यै) पूर्वत्र व्याख्यातः (यजुः १ । ११ पृ० ६५) ॥

(रास्ना) रास्नासास्ना० (उ० ३ । १५) इत्यादिना निपातनात् नप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तः । यद्वा कृवृजृ० (उ० ३ । १०) इत्यतो निदनुवर्त्तते ॥

(विष्णोः) विषेः किच (उ० ३ । ३९) इति णुप्रत्ययः, स च कित् निच्च । कित्त्वाद् गुणाभावः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । विभक्तेरनुदात्तत्वे शेषं पूर्ववत् ॥

(वेष्पः) प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तः । ततो निघातेनासिपदेनैकादेशे स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इति स्वरितत्वम् ॥

(ऊर्ज, त्वा) पूर्वत्र (यजुः १ । १ पृ० १४) व्याख्यातौ ॥

(अदब्धेन) न दब्धोऽदब्धः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(चक्षुषा) चक्षेः शिच्च (उ० २ । ११९) इत्युसिः प्रत्ययः, निदनुवृत्त्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अव, पश्यामि) उपसर्गाद्युदात्तत्वे तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अग्नेः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । विभक्तिरनुदात्ता । ङसिङसोश्च (अ० ६ । १ । ११०) इत्येकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तः ॥

(जिह्वा) शेवायह्वजिह्वा० (उ० १ । १५४) इत्यादिना वन्प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते उञ्छादीनां च (अ० ६ । १ । १६०) इत्यस्मात् निपातनाद्वान्तोदात्तः ॥

(सुहूः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(देवेभ्यः) पूर्वत्र (यजुः १ । १ पृ० १४) व्याख्यातः ॥

+ "धाम्ने । धाम्न इति धाम्ने" इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ।

धामानि त्रयाणि[1] भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति। निरु० ६। २८। अत्र वीप्सायां द्वित्वम्। [(मे) मह्यम्] (भव) भवति वा। (यजुषे यजुषे) यजन्ति येन तस्मै प्रतियजुर्वेदमन्त्रम्॥ अयं मन्त्रः श० १। ३। १। १२—१९ व्याख्यातः॥ ३०॥

अन्वयः[2]—हे जगदीश्वर यस्त्वम [दित्यै अ] दित्या रास्नासि [विष्णोः] विष्णु[3]रसि सर्वस्य वेष्पोऽस्यग्नेर्जिह्वासि देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे सुहूरसि। एवंभूतं [त्वा] त्वामहमदब्धेन चक्षुषा ऊर्जेऽदित्यै देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे च [त्वा] अवपश्यामि। स च त्वमस्माभिः सर्वत्र कृपया विदितः [मे] पूजितश्च भव॥ इत्येकः॥

यतोऽयं यज्ञोऽ [दित्यै अ] दित्या रास्ना [स्य] स्ति, विष्णो[3]र्वेष्पोऽ [स्य] स्त्यग्नेर्जिह्वा [स्य] स्ति, देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे सुहूः [मे भव] भवति, तस्मात्तमहं [त्वा] अदब्धेन चक्षुषोर्जेऽवपश्यामि, तथा [त्वा] ऽदित्यै देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने यजुषे यजुषे हितायावपश्यामि॥ [*इति द्वितीयः*]॥ ३०॥

अत्र श्लेषालंकारः॥

भावार्थः[4]—सर्वैर्मनुष्यैरयं जगदीश्वरः ❀ प्रतिवस्तुषु स्थितः, ‡ प्रतिमन्त्रं प्रतिपादितः, पूज्यश्च भवतीति मन्तव्यम्। तथा चायं यज्ञः प्रतिमन्त्रेण सम्यगनुष्ठितः सर्वप्राणिभ्यः प्रतिवस्तुषु पराक्रमबलप्राप्तये भवतीति[5]॥ ३०॥

फिर उक्त यज्ञ किस प्रकार का और किस फल का देने वाला होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[6]।

पदार्थः—हे जगदीश्वर! जो आप (अदित्यै) पृथिवी के (रास्ना) रस आदि पदार्थों के उत्पन्न करने वाले (असि) हैं, (विष्णोः) व्यापक (वेष्पः) पृथिवी आदि सब पदार्थों में प्रवर्तमान भी (असि) हैं, तथा (अग्नेः) भौतिक अग्नि के (जिह्वा) जीभरूप (असि) हैं, वा (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (धाम्ने धाम्ने) जिनमें कि वे विद्वान् सुखरूप पदार्थों को प्राप्त होते हैं, जो तीनों धाम अर्थात् स्थान नाम और जन्म हैं, उन धामों की प्राप्ति के तथा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र २ का आशय प्रकाशित होने के लिये (सुहूः) जो श्रेष्ठता से स्तुति करने के योग्य है, इस प्रकार के (त्वा) आपको मैं (अदब्धेन) प्रेमसुखयुक्त (चक्षुषा) विज्ञान से (ऊर्जे) पराक्रम (अदित्यै) पृथिवी तथा (देवेभ्यः) श्रेष्ठगुणों वा (धाम्ने धाम्ने) स्थान नाम और जन्म आदि पदार्थों की

(धाम्ने धाम्ने) नामन्सीमन्व्योमन्० (उ० ४। १५१) इत्यादिना मनिन्प्रत्ययान्तो निपातितः। नित्वादाद्युदात्तत्वम्। वीप्सायां नित्यवीप्सयोः (अ० ८। १। ४) इति द्विर्वचनम्। परस्य अनुदात्तं च अ० ८। १। ३) इत्यनुदात्तत्वम्॥

(मे) तेमयावेकवचनस्य (अ० ८। १। २२) इति 'मे' आदेशः। स चानुदात्तः॥

(यजुषे यजुषे) अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् (उ० २। १२७) इति उसिः प्रत्ययः। नित्वादाद्युदात्तत्वम्। अपरस्य पूर्ववदनुदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ यास्कमुनेर्वचनादार्षोऽयं प्रयोग इति बोध्यम्॥

२ आध्यात्मिकाधियज्ञपरावत्रान्वयौ॥

३ अत्रान्वये पदार्थे वा पाठस्य व्यत्यासः प्रतिभाति, तथैव च भाषापदार्थेऽपि॥

४ मन्त्रगतपदैः सर्वोऽप्ययं भावार्थो योजनीयः॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ आध्यात्मिकाधियज्ञार्थौ तु द्विविधान्वये स्पष्टौ। आधिदैविकार्थस्तु अधियज्ञान्तर्गत एवेति ध्येयम्॥

६ पूर्वोक्त यज्ञ का रूपान्तर कहते हैं, तथा भलीभांति अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ सब प्राणियों के लिये

❀ 'प्रतिवस्तु' इति क.ख.पाठः। उत्तरत्र य० २। १७ भावार्थे, क.ख.ग.सर्वकोशेषु अ० मुद्रिते च 'प्रतिवस्तुषु' इति पाठस्योपलम्भाद् ग.अजमेरमुद्रितपाठ एवास्माभिरत्र स्वीकृतः॥

‡ 'प्रतिमन्त्रं' इति पाठः क.ख.कोशयोरुपलभ्यते, ग.कोशे लेखकप्रमादेन त्यक्तः स्यात्॥

प्राप्ति तथा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र २ के आशय जानने के लिये [(त्वा) आपको] (अवपश्यामि) ज्ञानरूपी नेत्रों से देखता हूँ, आप भी कृपा करके मुझको विदित और [(मे)] मेरे पूजन को प्राप्त (भव) हूजिये। *यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ*[1] ॥

अब दूसरा कहते हैं । जिस कारण यह यज्ञ (अदित्यै) अन्तरिक्ष के सम्बन्धी (रास्ना) रसादि पदार्थों की क्रिया का कारण (असि) है। (विष्णोः) यज्ञसम्बन्धी कार्य्यों का (वेष्पः) व्यापक[2] (असि) है। (अग्नेः) भौतिक अग्निका (जिह्वा) जिह्वारूप (असि) है। (देवेभ्यः) तथा दिव्य गुण (धाम्ने धाम्ने) कीर्ति स्थान और जन्म इनकी वा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र २ का आशय जानने के लिये (सुहूः) अच्छी प्रकार प्रशंसा करने योग्य [(मे) मेरे लिये (भव)] होता है, इस कारण (त्वा) उस यज्ञ को मैं (अदृब्धेन) सुख-पूर्वक (चक्षुषा) प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ नेत्रों से (अवपश्यामि) देखता हूं, तथा (त्वा) उसे * (अदित्यै) पृथिवी आदि पदार्थ (देवेभ्यः) उत्तम २ गुण [(ऊर्जे) पराक्रम के लिए] (धाम्ने धाम्ने) स्थान २ तथा (यजुषे यजुषे) यजुर्वेद के मन्त्र २ से हित होने के लिये (अवपश्यामि) क्रिया की कुशलतासे देखता हूं ॥ ३० ॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को जैसे यह जगदीश्वर वस्तु २ में स्थित तथा वेद के मन्त्र २ में प्रतिपादित और सेवा करने योग्य है, वैसे ही यह यज्ञ वेद के प्रतिमन्त्र से अच्छी प्रकार † सिद्ध किया हुआ, सब प्राणियों के लिये पदार्थ २ में पराक्रम और बल के पहुंचाने के योग्य होता है[3] ॥ ३० ॥

सवितुस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता सर्वस्य। पूर्वार्द्धे जगती छन्दः। निषादः स्वरः। तेजोऽसीत्यस्याऽनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

स यज्ञः कथं पवित्रीकरोतीत्युपादिश्यते[4] ॥

स॒वि॒तुस्त्वा॑ प्रस॒व ऽउत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑ ।
स॒वि॒तुर्वः॑ प्रस॒व ऽउत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑ ।
तेजो॑ऽसि शु॒क्रम॑स्य॒मृत॑मसि॒ धाम॒ नामा॑सि प्रि॒यं दे॒वाना॒मना॑धृष्टं दे॒व॒यज॑नमसि ॥ ३१ ॥

स॒वि॒तुः । त्वा॒ । प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे । उत् । पु॒ना॒मि॒ । अच्छि॑द्रेण । प॒वित्रे॑ण । सूर्य॑स्य । र॒श्मिभि॒रिति॑ र॒श्मिऽभिः॑ । स॒वि॒तुः । वः॒ । प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे ।‡ उत् । पु॒ना॒मि॒ । अच्छि॑द्रेण । प॒वित्रे॑ण । सूर्य॑स्य । र॒श्मिभि॒रिति॑ र॒श्मिऽभिः॑ । तेजः॑ । अ॒सि॒ । शु॒क्रम् । अ॒सि॒ । अ॒मृत॑म् । अ॒सि॒ । धाम॑ । नाम॑ । अ॒सि॒ । प्रि॒यम् । दे॒वाना॑म् । अना॑धृष्टम् । दे॒व॒यज॑न॒मिति॑ दे॒व॒ऽयज॑नम् । अ॒सि॒ ॥ ३१ ॥

पराक्रम तथा बल प्राप्तिमें साधन है, इसलिये कहा—फिर उक्त यज्ञ इत्यादि ॥

१ प्रथम अन्वय आध्यात्मिक तथा दूसरा अधियज्ञपरक है॥

२ दोनों पदार्थों में 'विष्णोः' और 'वेष्पः' दोनों पदों का भाषार्थ कुछ व्यस्त प्रतीत होता है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ दो अर्थ तो अन्वय में ही स्पष्ट हैं, अधियज्ञके अन्तर्गत आधिदैविक अर्थ भी समझना चाहिये ॥३०॥

४ आपः आज्यमिति सर्वानुक्रमणी ॥

५ प्रकाशस्वरूपपरमेश्वरस्य ज्ञानेन, अग्नौ हुतद्रव्येण च सर्वा पवित्रता साध्यत इत्यत आह स यज्ञः कथम् इति ॥

---

* अत्र 'अदित्यै', 'देवेभ्यः', 'धाम्ने धाम्ने', 'यजुषे यजुषे', 'अवपश्यामि' इति पदानि द्विः पठितानीति ध्येयम् ॥

† "प्रतिपादित विद्वानों ने सेवित" इति पाठो ऽजमेरमुद्रितेऽस्ति। स च क.ख.ग.कोशेषु कुत्रापि नास्ति ॥

‡ 'उत् । पुनामि' इति अ० मुद्रिते त्यक्तम् ॥

पदार्थः—(सवितुः) परमेश्वरस्य सूर्य्यलोकस्य वा । (त्वा) त्वां जगदीश्वरं तं यज्ञं वा । (प्रसवे) प्रकृष्टतयोत्पद्यन्ते सर्वे पदार्था यस्मिंस्तस्मिन् संसारे । (उत्) उत्कृष्टार्थे । उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १ । ३ । (पुनामि) पवित्रीकरोमि । (अच्छिद्रेण) न विद्यते छिद्रं छेदनं यस्मिन् तेन । (पवित्रेण) शुद्धेन । (सूर्य्यस्य[2]) चराचरात्मनः परमेश्वरस्य प्रकाशमयस्य सूर्य्यलोकस्य वा । सरति जानाति प्रकाशयति चराचरं जगदिति । राजसूयसूर्य० अ० ३ । १ । ११४ । अनेन निपातितः । (रश्मिभिः[3]) प्रकाशकैर्गुणैः किरणैर्वा । (सवितुः) उक्तार्थस्य । (वः) युष्मानेतांश्च । (प्रसवे) उक्तार्थे । [(उत्) उत्कृष्टार्थे (पुनामि) पवित्रीकरोमि] (अच्छिद्रेण) निरन्तरेण । (पवित्रेण) शुद्धिकारके । (सूर्य्यस्य) यः सुवत्यैश्वर्य्यं ददाति, ऐश्वर्य्यहेतून् प्रेरयति स परमेश्वरः प्राणो वा तस्य । (रश्मिभिः) अन्तःप्रकाशकैर्गुणैः । (तेजः) स्वप्रकाशः प्रकाशहेतुर्वा । (असि) अस्ति वा, अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (शुक्रम्) शुद्धं शुद्धिहेतुर्वा । (असि) अस्ति वा । (अमृतम्) अमृतात्मकं मोक्षसुखं प्रकाशनं वा । (असि) अस्ति वा । (धाम) धीयन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् तत् । (नाम) नमस्करणीयो जलहेतुर्वा नाम इत्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । (असि) अस्ति वा । (प्रियम्) प्रीतिकारकम् । (देवानाम्) विदुषां दिव्यगुणानां वा । (अनाधृष्टम्) यन्न समन्ताद् धृष्यत इत्यनाधृष्टम् । (देवयजनम्) देवैर्यैर्दिव्यते येन वा देवानां यजनं देवयजनं तत् । (असि) अस्ति वा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ३ । १ । २२-२८ ॥ १ । ३ । २ । १—१८ व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः[4]—यो * यज्ञः [सवितुः प्रसवे] अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः सह सर्वान् पदार्थान्

---

१ सर्वस्य प्रसविता । निरु० १० । ३१ ॥
प्रजापतिर्वै सविता । तां० १६ । ५ । १७ ॥
असावादित्यो देवः सविता । श० ६ । ३ । १ । १८ ॥
प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत । तै० ब्रा० १ । ६ । ४ । १ ॥

२ सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा । श० १४ । ३ । २ । ९ ॥
असौ वादित्यः सूर्यः । श० ९ । ४ । २ । २३ ॥
आदित्यो वै प्राणः । जै० उ० ४ । २२ । ११ ॥

३ ये रश्मयस्ते सुकृतः । श० १ । ९ । ३ । १० ॥
एते वै विश्वेदेवा रश्मयः । श० २ । ३ । १ । ७ ॥
प्राणा रश्मयः । तै० ब्रा० ३ । २ । ५ । २ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सवितुस्त्वा…रश्मिभिः) इति सर्वं पूर्वत्र (यजुः १ । १२ पृ० ६९, ७०) व्याख्यातम् ॥

(तेजः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति नित्वादाद्युदात्तः ॥

(असि) निघातः पूर्ववत् ॥

(शुक्रम्) ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २ । २८) इत्यादिना शुचधातो रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादेवान्तोदात्त्वमगुणत्वं च ॥

(अमृतम्) नञो जरमरमित्रमृताः (अ० ६।२।११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(धाम, नाम) मन्प्रत्ययान्तौ निपातितौ (उ० ४ । १५१) नित्वादाद्युदात्तौ ॥

(प्रियम्) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययेऽन्तोदात्तः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

(देवानाम्) देव इत्यन्तोदात्तः पूर्वत्र (यजुः १ । १ पृ० १४) व्याख्यातः । ततो विभक्तिरनुदात्ता । तस्य नामन्यतरस्याम् (अ० ६ । १ । १७७) इति विभाषोदात्तत्वे प्राप्ते न गोश्वन् (अ० ६ । १ । १८२) इत्यादिना प्रतिषेधेऽनुदात्तत्वमेव, ततः स्वरितत्वम् । संहितायान्तूदात्तपरत्वान्न स्वर्यते ॥

(अनाधृष्टम्) आधृष्ट इत्यत्र गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । ततो नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदस्य प्रकृतिस्वरत्वम् । शेषनिघाते स्वरितत्वमैकश्रुत्यं च ॥

(देवयजनम्) अयं पूर्वत्र (यजुः १ । २५ पृ० ११७) व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४. द्विविधोऽप्यन्वयो यज्ञपरोऽपि सन् भिन्नवाक्ययोजनपरो द्रष्टव्यः ॥

---

* 'अहम् अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः तं यज्ञम् उत्पुनामि त्वां यजमानं च' इति क.ख.ग. पाठः संशोधनसमये परिवर्तितः स्यात् ॥

पुनाति, [त्वा] त्वां [तं यज्ञं] यजमानं वाहमुत्पुनामि, एवं च सवितुः प्रसवेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिर्वो युष्मानेतांश्च पदार्थान् यज्ञेनोत्पुनामि। हे ब्रह्मन् यतस्त्वं तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धामासि नामासि देवानां प्रियमस्यनाधृष्टमसि देवयजनमसि तस्मात् त्वामेवाहमाश्रयामि ॥ इत्येकः ॥

यतोऽयं यज्ञस्तेजो [स्य] स्ति शुक्रम [स्य] स्त्यमृतम [स्य] स्ति धामास्ति नामा [स्य] स्ति, देवानां प्रियमनाधृष्टं देवयजनम [स्य] स्ति, तेनानेन यज्ञेनाहं सवितुर्जगदीश्वरस्य प्रसवेऽच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्वो युष्मानेतान् सर्वान् पदार्थांश्चोत्पुनामि † ॥ इति *द्वितीयः ॥ ३१ ॥*

अत्र श्लेषालंकारः ॥

भावार्थः[1]—ईश्वरो यज्ञविद्याफलं ज्ञापयति—युष्माभिर्यथावदनुष्ठितो यज्ञः सूर्य्यस्य रश्मिभिर्विहरति, स स्वकीयेन पवित्रेणाच्छिद्रेण गुणेन सर्वान् पदार्थान् पवित्रयति। स च तद्द्वारा सूर्य्यस्य रश्मिभिस्तेजस्विनः शुद्धानमृतरसान् सुखहेतुकान् प्रसन्नताजनकान् दृढान् यज्ञहेतून् पदार्थान् करोति यतस्तद्भोजनाच्छादनद्वारा वय शरीरपुष्टिबुद्धिबलादीन् शुद्धगुणांश्च संपाद्य नित्यं सुखयामै इति ॥३१॥

ईश्वरेणास्मिन्नध्याये मनुष्यान् प्रति शुद्धकर्मानुष्ठातुं, दोषान् शत्रूंश्च निवारयितुं, यज्ञक्रियाफलं ज्ञातुं, सम्यक् पुरुषार्थं कर्त्तुं, विद्या विस्तारयितुं, धर्मेण प्रजाः पालयितुं, धर्मानुष्ठाने निर्भयतया स्थातुं, सर्वैः सह मित्रतामाचरितुं, वेदाध्ययनाध्यापनाभ्यां सर्वा विद्या ग्रहीतुं, ग्राहयितुं, शुद्धये परोपकाराय च प्रयतितुमाज्ञा दत्तास्ति, सेयं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावदनुष्ठातव्येति ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्यश्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना सुविरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभिभूषिते

यजुर्वेदभाष्ये प्रथमोऽध्यायः संपूर्णः ॥ १ ॥

उक्त यज्ञ कैसे पवित्र होता है सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[3] ॥

पदार्थः—जो यज्ञ [(सवितुः) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में] (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पवित्रेण) पवित्र तथा (सूर्य्यस्य) प्रकाशमय सूर्य्य की (रश्मिभिः) किरणों के साथ मिलके सब पदार्थों को शुद्ध करता है, (त्वा) उस यज्ञ वा यज्ञकर्त्ता को मैं (उत्पुनामि) उत्कृष्टता के साथ पवित्र करता हूं। इसी प्रकार (सवितुः) परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पवित्रेण) शुद्धिकारक (सूर्य्यस्य) ऐश्वर्य्य हेतुओं के प्रेरक प्राण के (रश्मिभिः) अन्तराशय के प्रकाश करने वाले गुण हैं, उनसे (वः) तुम लोगों को तथा प्रत्यक्ष पदार्थों को यज्ञ के द्वारा (उत्पुनामि) पवित्र करता हूँ। हे ब्रह्मन्! जिस कारण आप (तेजोसि) स्वयंप्रकाशवान् (शुक्रमसि) शुद्ध (अमृतमसि) नाशरहित (धामासि) सब पदार्थों का आधार (नामासि) वन्दना करने योग्य (देवानाम्) विद्वानों के (प्रियम्) प्रीतिकारक (अनाधृष्टम्) तथा किसी की भयता में न आने के योग्य वा (देवयजनमसि) विद्वानों के पूजा करने योग्य हैं, इससे मैं आपका ही आश्रय करता हूं॥ *यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ ॥*

---

१ मन्त्रगतपदैः सम्बद्ध एवायं भावार्थः ॥

२ परमेश्वरस्य सूर्यलोकस्य वा, जगदीश्वरं तं यज्ञं वा, प्रकाशगुणैः किरणैर्वा······इत्यादिना आध्यात्मिकाधिदैविकार्थावप्यत्राभिप्रेताविस्येवगन्तव्यम्। अधियज्ञार्थस्त्वन्वय एव सुव्यक्तः ॥

३ प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के ज्ञान से तथा अग्नि में डाली हुई आहुति से पवित्रता का संचार होता है, इसलिये कहते हैं—'उक्त यज्ञ कैसे' इत्यादि ॥

† "सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" इत्ययमंशः 'त्वा वः' इति पदयोरेव भिन्नत्वात् समानार्थ इति कृत्वाऽत्र पुनर्नैव प्रदर्शितः। अत्र 'त्वा' इति मन्त्रगतं पदं त्यक्तमिति ध्येयम् ॥

जिस कारण यह यज्ञ (तेजोसि) प्रकाश और (शुक्रमसि) शुद्धि का हेतु (अमृतमसि) मोक्ष सुख का देने तथा (धामासि) सब अन्न आदि पदार्थों की पुष्टि करने वा (नामासि) जल का हेतु (देवानाम्) श्रेष्ठ गुणों की (प्रियम्) प्रीति कराने तथा (अनाधृष्टम्) किसी को खण्डन करने के योग्य नहीं अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट और (देवयजनम्) विद्वान् जनों को परमेश्वर का पूजन करानेवाला (असि) है, इस कारण इस यज्ञ से मैं (सवितुः) जगदीश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अच्छिद्रेण) निरन्तर (पवित्रेण) अति शुद्ध यज्ञ वा (सूर्य्यस्य) ऐश्वर्य्य उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर के गुण अथवा ऐश्वर्य्य के उत्पन्न करानेवाले सूर्य्य की (रश्मिभिः) विज्ञानादि प्रकाश वा किरणों से (वः) तुम लोगों वा प्रत्यक्ष पदार्थों को (उत्पुनामि) पवित्र करता हूँ ॥ *यह दूसरा अर्थ हुआ*[१] ॥ ३१ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ॥

भावार्थः[२]—परमेश्वर यज्ञविद्या के फल को जनाता है कि जो तुम लोगों से अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ है, वह सूर्य्य की किरणों के साथ रहकर अपने निरन्तर शुद्ध गुण से सब पदार्थों को पवित्र करता है, तथा वह उसके द्वारा सब पदार्थों को सूर्य्य की किरणों से तेजवान् शुद्ध उत्तम रसवाले सुखकारक प्रसन्नता का हेतु दृढ़ और यज्ञ करानेवाले पदार्थों को [उत्पन्न] करके उनके भोजन वस्त्र से शरीर की पुष्टि बुद्धि और बल आदि शुद्ध गुणों को संपादन करके सब जीवों को सुख देता है[३] ॥ ३१ ॥

ईश्वर ने इस अध्याय में मनुष्यों को शुद्ध कर्म के अनुष्ठान, दोष और शत्रुओं की निवृत्ति, यज्ञक्रिया के फल को जानने, अच्छी प्रकार पुरुषार्थ करने, विद्या के विस्तार करने, धर्म के अनुकूल प्रजा पालने, धर्म के अनुष्ठान में निर्भयता से स्थित होने, सब के साथ मित्रता से वर्त्तने, वेदों से सब विद्याओं का ग्रहण करने और कराने को, शुद्धि तथा परोपकार के लिये प्रयत्न करने को आज्ञा दी है, सो यह सब मनुष्यों को अनुष्ठान करने के योग्य है ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दया-
नन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिते संस्कृतार्य-
भाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाण-
युक्ते यजुर्वेदभाष्ये
प्रथमोऽध्यायः
समाप्तः]

इति प्रथमोऽध्यायः
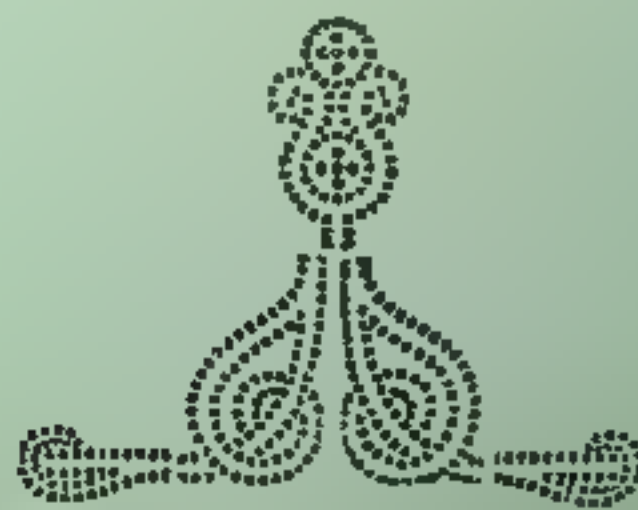
१ यहाँ दोनों प्रकार का अन्वय यज्ञपरक होता हुआ भी वाक्यभेद से अर्थभेद को दर्शाता है ॥

२ यह सम्पूर्ण भावार्थ मन्त्रगत पदों से सुसंगत हो रहा है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ संस्कृतपदार्थ में आये उपर्युक्त शब्दों से आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थों का बोध होता है । अन्वय में अधियज्ञ अर्थ व्यक्त ही है । इस प्रकार तीनों अर्थ इस मन्त्र में हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

ओं विश्वा॑नि देव सवितर्दु॒रि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ॥

ईश्वरेणैतत्[1] सर्वमाद्येऽध्याये विधायेदानीं द्वितीयेऽध्याये प्राणिनां सुखायोपकार्थस्य सिद्धिं कर्त्तुं विशिष्टा विद्याः प्रकाश्यन्ते ॥

कृष्णोऽसीत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः। यज्ञो[3] देवता । निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

तत्रादौ वेद्यादिरचनमुपदिश्यते[5] ॥

कृ॒ष्णो॑ऽस्याखरे॒ष्ठो॑ऽग्नये॑ त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑मि॒ वेदि॑रसि ब॒र्हिषे॑ त्वा॒ जुष्टां॒ प्रोक्षा॑मि ब॒र्हिर॑सि स्रु॒ग्भ्यस्त्वा॒ जुष्टं॒ प्रोक्षा॑मि ॥ १ ॥

कृ॒ष्णः॑ । अ॒सि॒ । आ॒ख॒रे॒ष्ठः । आ॒ख॒रे॒ऽस्थ इत्या॑खरे॒ऽस्थः । अ॒ग्नये॑ । त्वा॒ । जुष्ट॑म् । * प्र । उ॒क्षा॒मि॒ । वेदिः॑ । अ॒सि॒ । ब॒र्हिषे॑ । त्वा॒ । जुष्टा॑म् । * प्र । उ॒क्षा॒मि॒ । ब॒र्हिः । अ॒सि॒ । स्रु॒ग्भ्य इति॑ स्रु॒क्ऽभ्यः । त्वा॒ । जुष्ट॑म् । * प्र । उ॒क्षा॒मि॒ ॥ १ ॥

पदार्थः—(कृष्णः) अग्निना छिन्नो वायुनाऽऽकर्षितो[6] यज्ञः[7] । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (आखरेष्ठः) समन्तात् खनति[8] यं तस्मिन् तिष्ठतीति सः । खनो डडरेकेकवकाः । अ० ३ । ३ । १२५ । अनेन वार्तिकेनाऽऽखरः सिध्यति । (अग्नये) हवनार्थाय । (त्वा) तद्धविः । (जुष्टम्) प्रीत्या संशोधितम् । (प्रोक्षामि) शोधितेन घृतादिनाऽऽर्द्रीकरोमि । (वेदिः[9]) विन्दति सुखान्यनया

१ प्रथमाध्याये यज्ञस्वरूपलक्षणादि यदुक्तं तत् ॥

२ श्रेष्ठकर्मानुष्ठानरूपस्य यज्ञस्य, विशिष्टा विद्या वेदिरचनादिरूपाः ॥

३ (क) यज्ञो हि कृष्णः स यः स यज्ञः ॥ श० ३।२।१।२८ इति प्रामाण्याद् यज्ञो देवता ॥

(ख) इध्मः, वेदिः, बर्हिरिति सर्वानुक्रमणी ॥

४ आदिशब्देन शिल्पिनामग्निप्रज्वालनानि संगृहीतानि भाष्ये, तत्र तत्र शिल्पयज्ञस्यापि प्रतिपादितत्वात् ॥

५ पूर्वप्रतिपादिते यज्ञे वेदिरचनायाः प्रधानसाधनत्वात् प्रथमं तदेवाह—'तत्रादौ वेद्यादिरचनम्' इति ॥

६ 'कृष' इति भ्वादिस्तुदादिश्च । स चानिट् । अत्र सेट् कथमिति चेत् ? अत्र निरुक्ते (९।१९) 'कृष्यतेर्वाणूभावात्' इति वचनात् 'कृषिः' दिवादिरपीति ज्ञायते । स च सेट् इति ध्येयम् । 'कृषिकर्षती तथा' इति वचनात् भ्वादितुदादी अनिटावित्यभिप्रायः । यद्वा आकर्षः संजातोऽस्येति तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् (अष्टा० ५।२।३६) इतीतजत्र द्रष्टव्यः । यद्वा णिजन्तात् सेट्त्वम् ॥

७ (क) यज्ञो हि कृष्णः स यः स यज्ञः ॥ श० ३ । २ । १ । २८ ॥ इति पूर्वोक्तमेव प्रमाणमत्रापि बोध्यम् ॥

(ख) अग्निना छिन्न इत्यादि तु यज्ञविशेषणम् ॥

८ अत्र 'कृतो बहुलम्' (अ० ३ । ३ । ११३ भा०वा०) इति कर्मणि प्रत्ययः ।

९ वेदयित्री हविषामाधारत्वेन प्रकाशयित्र्यसीति भट्टभास्करः ॥

* 'प्रऽउक्षामि' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।

सा। (असि) भवति। (बर्हिषे) अन्तरिक्षगमनाय। बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु पठितम्। निघं० १।३। (त्वा) तां वेदिम्। (जुष्टाम्) प्रीत्या सम्पादिताम्। (प्रोक्षामि) प्रकृष्टतया घृतादिना सिञ्चामि। (बर्हिः) शुद्धमुदकम्। बर्हिरित्युदकनामसु पठितम्। निघं० १।१२। (असि) भवति। (स्रुग्भ्यः) स्रावयन्ति गमयन्ति हविर्येभ्यस्तेभ्यः। अत्र स्रु गतावित्यस्मात्। चिक् च। उ० २। ६२। अनेन चिक् प्रत्ययः। (त्वा) तत्। (जुष्टम्) पुष्ट्यादिगुणयुक्तं प्रीतिकरं जलं[२] पवनं वा। (प्रोक्षामि) शोधयामि[३]॥ अयं मन्त्रः श० १।३।३।१—३ व्याख्यातः॥ १॥

अन्वयः[४]—यतोऽयं यज्ञ आखरेष्ठः कृष्णो [ऽसि] भवति, तस्मात् त्वा तमहमग्नये जुष्टं प्रोक्षामि। यत इयं वेदिरन्तरिक्षस्थासि[५] भवति, तस्मादहं त्वा तामिमां बर्हिषे जुष्टां प्रोक्षामि। यत इदं बर्हिरुदकमन्तरिक्षस्थं सच्छुद्धिकारि [असि] भवति, तस्मात् त्वा तच्छोधितं[६] जुष्टं हविः स्रुग्भ्योऽहं प्रोक्षामि॥ १॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कृष्णः) कृषधातोः कृषेर्वर्णे (उ० ३।४) इति 'नक्' प्रत्ययो बाहुलकादवर्णेऽपि भवति। प्रत्ययाद्युदात्तत्वेनान्तोदात्तत्वे प्राप्ते बाहुलकादेवाद्युदात्तस्वरसिद्धिः॥

यत्तूवटमहीधराभ्यामुच्यते—"अस्ति कृष्णशब्दो मृगवचन आद्युदात्तः। तदिहाद्युदात्तत्वात् कृष्णमृगो गृह्यते"। तदयुक्तम्। वेदेष्वन्तरेणापि मृगार्थग्रहणमाद्युदात्तत्वस्य दर्शनात्। तद्यथा—'यमाय कृष्णः' (य० २४।३०) इत्यत्र विशेषणत्वेन वर्णवाचीति ताभ्यामेवोपर्युक्तमन्त्रभाष्ये व्याख्यातम् तद्यथा—"एकः कृष्णो मेषो यमाय" इति। अतः परस्परविरुद्धत्वादुपेक्षणीयमेतत्। एतेन तैत्तिरीयसंहितायामस्यैव मन्त्रस्य भाष्यं कुर्वन् भट्टभास्करोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्यः॥

(आखरेष्ठः) आङ्पूर्वात् खनो 'डर' प्रत्ययः, डित्वाट्टिलोपे गतिसमासे 'गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तमुत्तरपदम्। तत आखरे तिष्ठतीति सुपि स्थः (अ० ३।२।४) इति कप्रत्ययः। तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अ० ६।३।१४) इति सप्तम्या अलुक्। सुषामादिषु च (अ० ८।३।९८) इत्यनेन, पूर्वपदात् (अ० ८।३।१०६) इत्यनेन वा षत्वम्। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ०६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तस्वरसिद्धिः॥

अग्रिमपदेन सहैकादेशे स्वरितो वानुदात्ते पदादौ (अ० ८।२।६) इति स्वरितः। स च एङः पदान्तादति (अ० ६।१।१०९) इत्यनेन पूर्वरूपेऽभिनिहितस्वरितः॥

(प्रोक्षामि) 'अन्वेमि' (यजु० १।७) पदवदत्रापि द्रष्टव्यम्॥

(वेदिः) 'विद्लृ लाभे' इत्यस्मात् सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) इति करणे 'इन्' प्रत्ययः। नित्त्वाद् ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम्॥

(बर्हिषे) 'बृहि वृद्धौ' इत्येतस्माद् बृंहेर्नलोपश्च (उ० २।१०९) इति 'इसि' प्रत्ययो नलोपश्च। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। ततः सुपोऽनुदात्तत्वे स्वरितत्वम्॥

(स्रुग्भ्यः) अन्तर्भावितण्यर्थात् स्रुधातोः चिक् च (उ० २।६२) इति चिक्प्रत्ययोऽपादाने। प्रत्ययस्यानच्कत्वात् धातुस्वरेणोदात्तः। सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ इत्यर्थयोजना।
२ 'हविः' इत्यन्वये।
३ अनेकार्थत्वाद्धातूनामिति बोध्यम्।
४ अधियज्ञप्रक्रियापरो ऽयमन्वयः प्राधान्येन, गौणतयान्यास्वपि प्रक्रियासु बोध्यः, तदा च व्यत्ययः॥
५ 'अन्तरिक्षस्था' इत्यसम्बद्धः पाठः प्रतीयते। 'यत इयं वेदिः सुखदात्री असि भवति' इति पाठो युक्तो भवेत्।
६ 'तस्मात्त्वा शोधितं जुष्टं हविः स्रुग्भ्योऽहं प्रोक्षामि' अर्थात् शोधयामि, इत्यत्र यदि हविः पूर्वमेव शोधितं, तर्हि पुनस्तस्य शोधनमनावश्यकमिति कृत्वा वाक्यमिदं मान्वेति। तस्मादत्र कदाचिद् 'तच्छोधितम्' इति

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति सर्वैर्मनुष्यैर्वेदिं रचयित्वा, पात्रादिसामग्रीं गृहीत्वा, सम्यक् शोधयित्वा तद्धविरग्नौ हुत्वा कृतो यज्ञः शुद्धेन वृष्टिजलेन सर्वा ओषधीः पोषयति। तेन सर्वे प्राणिनो नित्यं सुखयितव्या इति[3] ॥ १ ॥

अब दूसरे अध्याय में परमेश्वर ने उन विद्याओं की सिद्धि करने के लिये विशेष विद्याओं का प्रकाश किया है कि जो २ प्रथम अध्याय में प्राणियों के सुख के लिये प्रकाशित की हैं। उनमें से वेदी, आदि पदार्थों के बनाने को हस्तक्रियाओं के सहित विद्याओं के प्रकार प्रकाशित किये हैं। उनमें से प्रथम मन्त्र में यज्ञ सिद्ध करने के लिये साधन अर्थात् उनकी सिद्धि के निमित्त कहे हैं॥

पदार्थः—जिस कारण यह यज्ञ (आखरेष्ठः) वेदी की रचना से खुदे हुए स्थान में स्थिर होकर (कृष्णः) भौतिक अग्नि से छिन्न अर्थात् सूक्ष्मरूप और पवन के गुणों से आकर्षण को प्राप्त (असि) होता है, इससे मैं (अग्नये) भौतिक अग्नि के बीच में हवन करने के लिये (जुष्टम्) प्रीति के साथ शुद्ध किये हुए (त्वा) उस यज्ञ अर्थात् होम की सामग्री को (प्रोक्षामि) घी आदि पदार्थों से सींचकर स्निग्ध करता हूं। और जिस कारण यह [वेदिः] वेदि अन्तरिक्ष में स्थित [असि] होती है, इससे मैं (बर्हिषे) होम किये हुए पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुंचाने के लिये (जुष्टाम्) प्रीति से संपादन की हुई (त्वा) उस वेदी को (प्रोक्षामि) अच्छे प्रकार घी आदि पदार्थों से सींचता हूँ, तथा जिस कारण यह (बर्हिः) जल अन्तरिक्ष में स्थिर होकर पदार्थों की शुद्धि करानेवाला [असि] होता है, इससे (त्वा) उनकी शुद्धि के लिये (जुष्टम्) पुष्टि आदि गुणों को उत्पन्न करनेहारा हवि है,

---

स्थाने 'तच्छुद्धये' इति पाठः स्यात्। भाषापदार्थैकदेशोऽपि '(त्वा) उसकी शुद्धि के लिये' पूर्वोक्तमेवाभिप्रायं दर्शयति। यदि तु अजमेरमुद्रितभाषापदार्थेऽस्य 'उसकी शुद्धि के लिये जो कि शुद्ध किया हुआ' पाठ इष्येत, तर्हि तदनुसारं 'त्वा तच्छुद्धये यच्छोधितम्' इति पाठः प्रकल्पितः स्यात्। तत्रापि शोधितस्य पुनः शोधनमनावश्यकमिति कृत्वा पूर्वप्रदर्शितः पाठ एव ज्यायान्।

अस्मिन्नन्वये 'जुष्टम्' इत्यस्यार्थः 'हविः' गृहीतः। पदार्थे तु 'जलं पवनं वा' इत्युक्तम्। तदनुसारमित्थमन्वय ऊहितव्यः—'तस्मात्त्वा तत् जुष्टं जलं पवनं वा सुखेभ्यो यथा शुद्धं स्यात्तथाऽहं शोधयामि।

१ सर्वेषां प्राणिनां सुखसाधनानि सम्पादनीयानीति भावार्थे स्पष्टम्॥

२ 'शोधित्वा' अ० मु० पाठः। क, ख, ग, सर्वकोशेषु 'शोधयित्वा' इत्येव पाठ इति ध्येयम्।

आ० प्र० त्रिविधप्रक्रिया

३ (क) पदार्थः सर्वप्रक्रियासु योजनार्हः। आध्यात्मिकपक्षे योगसाधनरूपो यज्ञोऽभिप्रेतः। 'अन्तरिक्षगमनाय' 'अन्तरिक्षस्था वेदिः' इत्यादिनाधिदैविकार्थोऽपि द्योतितः॥

(ख) अत्र विवरणे पूर्वमग्रे ऽपि 'आ० प्र० त्रिविधप्रक्रिया' 'त्रिविधप्रक्रिया' इति वा यत्र यत्र वर्त्तते, तत्र तत्र 'आचार्यदयानन्दप्रदर्शितत्रिविधप्रक्रिया' इत्येव ग्राह्यम्॥

वि० वक्तव्यम्

'वेदयित्री हविषामाधारत्वेन प्रकाशयित्री' इत्यादिना भट्टभास्करः प्रकृतिप्रत्ययेनार्थप्रकाशनरूपं यौगिकवादं प्रदर्शयति॥ १॥

४ पूर्वप्रतिपादित यज्ञ में वेदिरचना के प्रधान साधन होने से प्रथम उसी का निरूपण करते हैं—"उनमें से वेदी आदि"॥

५ यहां अन्वय मुख्यतया अधियज्ञपरक है, गौणतया अन्य प्रक्रियाओं में भी अर्थ की प्रतीति हो रही है॥

६ 'कृष्ण' शब्द से यज्ञ कैसे अभिप्रेत है, इसमें शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण संस्कृत टिप्पण में देखें। उवट, महीधर ने कृष्ण शब्द को मृगवाची लिखा, सो ठीक नहीं, कारण संस्कृत टिप्पण में देखें॥

७ यहां 'सुख देनेवाली होती है' ऐसा पाठ युक्त प्रतीत होता है।

८ इतोऽग्रे 'जो कि शुद्ध किया हुआ' इति अ० मु० पाठः।

उसको मैं (स्रुग्भ्यः) स्रुवा आदि साधनों से अग्नि में डालने के लिये (प्रोक्षामि) शुद्ध करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि सब मनुष्यों के द्वारा वेदी बनाकर और पात्र आदि होम की सामग्री लेके, उस हवि को अच्छी प्रकार शुद्ध कर, तथा अग्नि में होम करके किया हुआ यज्ञ वर्षा के शुद्ध जल से सब ओषधियों को पुष्ट करता है, उस यज्ञ के अनुष्ठान से सब प्राणियों को नित्य सुख देना मनुष्यों का परम धर्म है[1] ॥१॥

अदित्या इत्यस्य ऋषिः स एव । यज्ञो[3] देवता । स्वराड्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

एवंकृतो यज्ञः किंहेतुको भवतीत्युपदिश्यते[4] ॥

अदि॑त्यै॒ व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑ स्तु॒पो॑ऽस्यूर्ण॑म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासु॒स्थां दे॒वेभ्यो॑ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भू॒ताना॒ पत॑ये॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

अदि॑त्यै । व्युन्द॑न॒मिति॑ वि॒ऽउन्द॑नम् । अ॒सि॒ । विष्णोः॑ । स्तु॒पः । अ॒सि॒ । ऊर्ण॑म्रदस॒मित्यूर्ण॑ऽम्रदसम् । त्वा॒ । स्तृ॒णा॒मि॒ । स्वा॒स॒स्थामिति॑ सु॒ऽआ॒स॒स्थाम् । दे॒वेभ्यः॑। भुव॑पतय॒ इति॒ भुव॑ऽपतये । स्वाहा॑ । भुव॑नपतय॒ इति॒ भुव॑नऽपतये । स्वाहा॑ । भू॒ताना॑म् । पत॑ये । स्वाहा॑ ॥ २ ॥

पदार्थः—(अदित्यै) पृथिव्याः अत्र चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । अ० २ । ३ । ६२ । इति [सूत्रस्थेन 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी' इति वार्त्तिकेन] षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । (व्युन्दनम्) विविधानामोषध्यादीनामुन्दनं क्लेदनं येन तत् । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (विष्णोः[5]) यज्ञस्य । (स्तुपः) शिखा । यज्ञो वै विष्णुस्तस्येयमेव शिखा स्तुपः । श० १ । ३ । ३ । ५ । (असि) अस्ति । (ऊर्णम्रदसम्) ऊर्णानि धान्याच्छादनानि तुषाणि म्रदयति येन तं पाषाणमयम् । (त्वा) तम् । (स्तृणामि) आच्छादयामि । (स्वासस्थाम्) सुष्ठु आसाः[6] प्रक्षिप्तास्तिष्ठन्ति यस्यां सा वेदिस्ताम् । अत्र घञर्थे कविधानं [स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्] । अ० ३ । ३ । ५८ । इति वार्त्तिकेन 'कः' प्रत्ययः । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा । (भुवपतये[7]) भवन्त्युत्पद्यन्ते भूतानि यस्मिन् संसारे तस्य पतिस्तस्मै जगदीश्वराय, आहवनीयाख्याग्नये वा । अत्र बाहुकलाद् भूधातोरौणादिकः 'कः' प्रत्ययः । (स्वाहा) सत्यभाषणयुक्ता वाक् । स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ । स्वाहाशब्दस्यार्थं निरुक्तकार एवं समाचष्टे—स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहो-

---

१ 'सब प्राणियों को नित्य सुख देना' इत्यादि से भावार्थ में भी अनेक प्रकार का अर्थ दर्शाया गया है ॥

आ० प्र० त्रिविधप्रक्रिया

२ (क) संस्कृतपदार्थ सब प्रक्रियाओं में समझना चाहिये। आध्यात्मिक पक्ष में यज्ञ से अभिप्राय योगसाधनरूप यज्ञ का है। 'अन्तरिक्षगमनाय' 'अन्तरिक्षस्था वेदिः' इत्यादि से आधिदैविक अर्थ का निर्देश भी आचार्य ने किया है ॥

(ख) वेदभाष्य के इस विवरण में जहां २ 'आ० प्र० त्रिविधप्रक्रिया' अथवा 'त्रिविधप्रक्रिया' ऐसा है, वहां २ 'आचार्य दयानन्दप्रदर्शित त्रिविधप्रक्रिया' ही समझना चाहिये ॥

वि० वक्तव्य

भट्टभास्कर ने 'वेदि' शब्द की व्युत्पत्ति में वेदयित्री हविषामाधारत्वेन प्रकाशयित्री' लिखकर यौगिक प्रक्रिया का आश्रयण किया है ॥ १ ॥
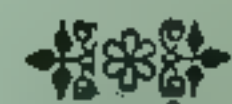
३ आपः, प्रस्तरः, वेदिः, अग्निरिति सर्वानुक्रमणी ॥

४ प्रथममन्त्रेण वेदिरचनमुक्तं, तत् सम्पाद्य किं सम्भवतीत्याकाङ्क्षायां सर्वप्राणिसुखसम्पादनं परमेश्वरप्राप्तिश्चेत्यत आह—'एवंकृतो यज्ञः' इति ॥

५ यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० १।९।३।९॥ तां० १३।३।२॥

६ 'आसाः' कर्मणि घञ् ।

७ एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद् भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः ॥ श० १ । ३ । ३ । १७ ॥

तीति वा । निरु० ८ । २० । यत् शोभनं वचनं, सत्यकथनं, स्वपदार्थान् प्रति ममत्ववचो मन्त्रोच्चारणेन हवनं चेति स्वाहाशब्दार्थो विज्ञेयाः । (भुवनपतये[२]) भुवनानां सर्वेषां लोकानां पतिः पालक ईश्वरः, पालनहेतुर्भौतिको वा तस्मै । (स्वाहा) उक्तार्थः । (भूतानां पतये[२]) भूतान्युत्पन्नानि यावन्ति वस्तूनि सन्ति तेषां यः पतिः स्वामीश्वर ऐश्वर्य्यहेतुर्भौतिको वा तस्मै । (स्वाहा) उक्तार्थः ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ३ । ३ । ४—२० व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः—यतोऽयं विष्णुर्यज्ञोऽ [दित्या अ] दित्या [व्युन्दनं] व्युन्दनकार्य्यासि भवति, तस्मात्तमहमनुतिष्ठामि । अस्य विष्णोर्यज्ञस्य स्तुपः प्रस्तर उलूखलाख्यः साधकोस्त्यस्ति, तस्मात् [त्वा] तमहमूर्णम्रदसं स्तृणामि । वेदिर्देवेभ्यो हिता * भवति तस्मात् तामहं स्वासस्थां रचयामि । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह । यतोऽयं भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिरीश्वरः प्रसन्नो भवति, भौतिको वा सुखसाधको भवति, तस्मै भुवपतये स्वाहा विधेया, भुवनपतये स्वाहा वाच्या, भूतानां च पतये स्वाहा प्रयोज्या भवतीत्यस्मै प्रयोजनाय ॥ २ ॥

१ न त्वन्यस्य पदार्थानिति भावः ॥

२ एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद् भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः ॥ श० १ । ३ । ३ । १७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(व्युन्दनम्) कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ ।१८) इति समासः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे ल्युटो लित्वात् लिति (अ० ६।१।१९३) इति सूत्रेण 'उकारः' उदात्तः ॥ बहुव्रीहिपक्षे तु छान्दसव्यत्ययः ॥

(स्तुपः) स्त्यः सम्प्रसारणमुश्च (श्वेत० उ० वृ० ३ । २५) इत्यनेन स्त्यायतेः सम्प्रसारणसंज्ञक उकारादेशः, चकाराद्दीर्घत्वं पश्च प्रत्ययः । बाहुलकाद्दीर्घो न भवति । माधवस्तु " 'ऊ' इत्येव वक्तव्ये दीर्घविधानं ह्रस्वस्यापि श्रवणार्थं तेन स्तुप इत्यपि भवति" इत्याह (धातु० पृ० १६८)। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । येषां 'स्तुवो दीर्घश्च' इति पाठस्तेषामपि बाहुलकाद् दीर्घाभावो बोध्यः । तैत्तिरीयसंहितायां तु 'स्तूप' इति पाठ उपलभ्यते, तत्र दीर्घानुवृत्तेर्दीर्घो बोध्यः । व्यत्ययेन चाद्युदात्तत्वम् ॥

सायणस्तु ऋ० १ । २४ । ७ इति भाष्ये स्तूपशब्दव्याख्याने स्त्यः सम्प्रसारणमूङ् च इति 'ऊ'-कारमादेशं विधाय "निदित्यनुवृत्तेराद्युदात्तत्वम्" इत्याह । निद्ग्रहणं कुतोऽनुवर्त्तत इति तु न ज्ञायते, पूर्वं निद्ग्रहणस्याभावात् ॥

यत्तु "ष्ट्यै स्त्यै शब्दसंघातयोः । औणादिको डुप् प्रत्ययः" इत्याह महीधरस्तत् तस्याज्ञानमूलमेव स्वरदोषात्, यलोपाभावाद् रूपासिद्धेश्च । डुप्रत्यये सति प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः स्तुपशब्दः स्यात्, अन्तोदात्तस्त्वस्ति । एतेन काण्वसंहिताभाष्यकृत् सायणोऽपि प्रत्युक्त इति बोध्यम् ॥

(ऊर्णम्रदसम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते 'दासीभारादीनाम्' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्राप्तौ ऊर्णोतेर्डः (उ० ५ । ४७) इति डप्रत्यये वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इतीष्टस्वरसिद्धिः ॥

(स्वासस्थाम्) कप्रत्यये थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तस्वरेणोदात्तत्वं । शेषस्तु निघातः ॥

(भुवपतये) षष्ठीसमासे पत्यावैश्वर्ये (अ० ६ । २ । १८) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । भुवशब्दस्तु बाहुलकाद् औणादिके कप्रत्ययेऽन्तोदात्ते प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तः ॥

(भुवनपतये) भूधातोः भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि (उ० २ । ८०) इत्यादिना क्युन् प्रत्ययः । नित्स्वरेणाद्युदात्तः । ततः षष्ठीसमासे वा भुवनम् (अ० ६ । २ । २०) इत्यादिना पक्षे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ त्रिविधार्थे योजनीयोऽयमन्वयः ॥

* 'हितासि भवति' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । 'असि' इति पदं मन्त्रे कोशे च नास्ति । अग्रे भ्रान्त्या लिखित इति ध्येयम् ।

भावार्थः—ईश्वरः सर्वमनुष्येभ्य इदमुपदिशति युष्माभिर्वेद्यादीनि यज्ञसाधनानि सम्पाद्य सर्वप्राणिनां सुखाय, परमेश्वरप्रीतये च सम्यक् क्रियायज्ञः कार्य्यः। सदैव सत्यमेव वाच्यम्। यथाऽहं न्यायेन सर्वं विश्वं पालयामि, तथैव युष्माभिरपि पक्षपातं विहाय सर्वेषां पालनेन सुखं सम्पादनीयमिति[२] ॥ २ ॥

इस प्रकार किया हुआ यज्ञ क्या सिद्ध करानेवाला होता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[३] ॥

पदार्थः—जिस कारण यह यज्ञ (अदित्यै) पृथिवी के (व्युन्दनम्) विविध प्रकार के ओषधी आदि पदार्थों का सींचनेवाला (असि) होता है, इससे मैं उसका अनुष्ठान करता हूँ। और (विष्णोः) इस यज्ञ की सिद्धि करानेहारा (स्तुपः) शिखारूप (ऊर्णम्रदसम्) उलूखल (असि) है, इससे मैं (त्वा) उस अन्न के छिलके दूर करनेवाले पत्थर और उलूखल को (स्तृणामि) पदार्थों से ढांपता हूँ, तथा वेदी (देवेभ्यः) विद्वान् और दिव्य सुखों के हित कराने के लिये होती है, इससे उसको मैं (स्वासस्थाम्) जिसमें होम किये हुए पदार्थ अच्छी प्रकार स्थिर हों ऐसी बनाता हूँ और जिससे संसार का पति, भुवन अर्थात् लोकलोकान्तरों का पति, संसारी पदार्थों का स्वामी परमेश्वर प्रसन्न होता है, तथा भौतिक अग्नि सुखों का सिद्ध करानेवाला होता है, इस कारण (भुवपतये) (स्वाहा), (भुवनपतये) (स्वाहा), (भूतानां पतये) (स्वाहा) उक्त परमेश्वर की प्रसन्नता और आज्ञापालन के लिये * सत्यभाषण अर्थात् अपने [ही] पदार्थों को मेरे हैं यह कहना, वा श्रेष्ठ वाक्य आदि उत्तम वाणीयुक्त वेद है, उसके मन्त्रों के साथ स्वाहा शब्द का अनेक प्रकार उच्चारण करके यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों का विधान किया जाता है, इस प्रयोजन के लिये भी वेदी को रचता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थः—परमेश्वर सब मनुष्यों के लिये उपदेश करता है कि हे मनुष्यो! तुम को वेदी आदि यज्ञ के साधनों का संपादन करके सब प्राणियों के सुख तथा परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये अच्छी प्रकार क्रियायुक्त यज्ञ करना और सदा सत्य ही बोलना चाहिये, और जैसे मैं न्याय से सब विश्व का पालन करता हूँ, वैसे ही तुम लोगों को भी पक्षपात छोड़कर सब प्राणियों के पालन से सुखसंपादन करना चाहिये[६] ॥ २ ॥

---

१ मन्त्रगतपदैः भावार्थोऽयं सङ्गतः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ त्रिविधोऽप्यर्थोऽन्वये प्रदर्शितः, पदार्थे 'भौतिको वा' इत्यनेनाधियज्ञाधिदैविकार्थावपि ग्राह्यौ ॥

विशेषवक्तव्यम्

'सर्वमनुष्येभ्यः' इत्यादिप्रयोगा वक्तुर्विवक्षापराः, 'कारकं चेद् विजानीयाद् यां यां मन्यते सा भवेत्' इति यथा ॥ २ ॥

३ पूर्वमन्त्र में वेदी की रचना बतलाई, उसके बन जाने से क्या हो सकता है, इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये सर्व प्राणियों को सुख होने तथा परमेश्वरप्राप्ति का उपाय कहते हैं—'इस प्रकार किया हुआ यज्ञ' इत्यादि ॥

४ यहां अन्वय की योजना तीनों प्रक्रियाओं में करनी चाहिये ॥

५ यहां भावार्थ मन्त्रगत पदों से समन्वित है ॥

आ० प्र० त्रिविधप्रक्रिया

६ संस्कृत अन्वय तीनों अर्थों में है ही। साथ ही संस्कृत पदार्थ में भी 'भौतिको वा' कह देने से तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ की योजना कर लेनी चाहिये, ऐसा आचार्य को अभिप्रेत है। यह बात स्पष्ट जानी जा सकती है। ऐसा ही अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये ॥ २ ॥

---

* इतोऽग्रे 'उस वेदी के गुणों से जो कि' इत्यसम्बद्धः पाठो ऽजमेरमुद्रिते।

गन्धर्वस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता सर्वस्य । आद्यस्य भुरिगार्चीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः । मध्यभागस्य [भुरिग्] आर्चीपङ्क्तिश्छन्दः । अन्त्यस्य पङ्क्तिश्छन्दः । उभयत्र पञ्चमः स्वरः ॥

स यज्ञोऽग्न्यादिभिर्धार्य्यत इत्युपदिश्यते ॥

गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ऽईडितः । इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ऽईडितः । मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ऽईडितः ॥ ३ ॥

गन्धर्वः । त्वा । विश्वावसुः । * विश्ववसुरिति विश्वऽवसुः । परि । दधातु । विश्वस्य । अरिष्ट्यै । यजमानस्य । परिधिरिति परिऽधिः । असि । अग्निः । इडः । ईडितः । इन्द्रस्य । बाहुः । असि । दक्षिणः । विश्वस्य । अरिष्ट्यै । यजमानस्य । परिधिरिति परिऽधिः । असि । अग्निः । इडः । ईडितः । मित्रावरुणौ । त्वा । उत्तरतः । परि । धत्ताम् । ध्रुवेण । धर्मणा । विश्वस्य । अरिष्ट्यै । यजमानस्य । परिधिरिति परिऽधिः । असि । अग्निः । इडः । ईडितः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(गन्धर्वः) यो गां पृथिवीं वाणीं वा धरति धारयति वा स गन्धर्वः सूर्यलोकः । (त्वा) तम् । (विश्वावसुः) विश्वं वासयति यः सः । (परि) सर्वतो भावे । (दधातु) दधाति वा । अत्र लडर्थे लोट् । (विश्वस्य) सर्वस्य जगतः । (अरिष्ट्यै[5]) दुःखनिवारणेन सुखाय । (यजमानस्य) यज्ञानुष्ठातुः । (परिधिः[6]) परितः सर्वतः सर्वाणि वस्तूनि धीयन्ते येन सः । (असि) भवति । अत्र चतुर्षु प्रयोगेषु पुरुषव्यत्ययः । (अग्निः) (इडः) स्तोतुमर्हः । अत्र वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वादेशः । (ईडितः) स्तुतः । (इन्द्रस्य) सूर्य्यस्य । (बाहुः) बलं बलकारी वा । (असि) अस्ति । (दक्षिणः) वृष्टेः प्रापकः । दक्षधातोर्गत्यर्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते । (विश्वस्य) सर्वप्राणिसमूहस्य । (अरिष्ट्यै) सुखाय । (यजमानस्य) शिल्पविद्यां चिकीर्षोः । (परिधिः) विद्यापरिधानम् । (असि) भवति । (अग्निः[8]) विद्युत् । (इडः) दाहप्रकाशादिगुणाधिक्येन स्तोतुमर्हः (ईडितः) अध्येषितः । ‡ (मित्रावरुणौ)

१ परिधय, इति सर्वानुक्रमणी ॥
२ आदिशब्देन सूर्यविद्युदादयो गृह्यन्ते ॥
३ वेद्यां समाहितोऽप्यसौ यज्ञो वस्तुतोऽग्न्यादिभिर्धार्य्यते न तु वेद्या, तस्या अग्न्याधारभूतत्वात्, अत आह—'स यज्ञोऽग्न्यादिभिः' इति ॥
४ सूर्यो गन्धर्वः श० ९ । ४ । १ । ८ ॥ असौ वादित्यो दिव्यो गन्धर्वः श० ६।१।३।१९ ॥
५ 'रिष हिंसायाम्' (भ्वा० प०), ततः स्त्रियां क्तिन् , रेषणं हिंसनं रिष्टिः न रिष्टिः अरिष्टिस्तस्यै ॥
६ दिशः परिधयः ॥ ऐ० ब्रा० ५ । २८ ॥ तै० २ । १ । ५ । २ ॥
७ तं (यज्ञं) देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं (यज्ञं) दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम ॥ श० २ । २ । २ । २ ॥ ४ । ३ । ४ । २ ॥
८ विद्युत् । तान्येतान्यष्टौ (रुद्रः, सर्वः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रः, अशनिः, भवः, महादेवः, ईशानः) अग्निरूपाणि ॥ श० ६ । १ । ३ । १८ ॥

* 'विश्वावसुरिति' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ।

‡ इतोऽग्रे "(मित्रावरुणौ)·········ऽपानो वरुणः" इति पाठः 'क' हस्तलेख उपलभ्यमानो लेखकेन प्रमादात् त्यक्तः, अत एव 'ग' हस्तलेखे मुद्रितपुस्तके च नोपलभ्यते ॥

विश्वस्य प्राणापानौ। प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः ॥ श० ८।२।४।१६ ॥ (त्वा) तम्। (उत्तरतः) उत्तरकाले। (परिधत्ताम्) सर्वतो धारयतो वा। अत्र लडर्थे लोट्। (ध्रुवेण) निश्चलेन। (धर्मणा) स्वाभाविक-धारणशक्त्या (विश्वस्य) चराचरस्य। (अरिष्ट्यै) सुखहेतवे। (यजमानस्य) सर्वमित्रस्य। (परिधिः) † सर्व [शिल्प] विद्यावधिः ‡ (असि) भवति। (अग्निः) प्रत्यक्षो भौतिकः। (इडः) विद्याप्राप्तये स्तोतुमर्हः। (ईडितः) विद्यामीप्सुभिः सम्यगध्येषितः × ॥ अयं मन्त्रः श० १।३।४।१—५ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गन्धर्वः) गवि शब्द उपपदे धृञो गवि गन् धृञो वः (उणा० ना० सू० ५।८४) इति वः प्रत्यय उपपदस्य च गनादेशः, उपपदसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपद-प्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। अग्रे यजु० ९।१ अपि द्रष्टव्यम्।

(विश्वावसुः) विश्वोपपदे वसधातोः शृस्वृ-स्निहि० (उ० १।१०) इत्यादिना 'उः' प्रत्ययः स च नित्। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पूर्वान्तश्चापि दृश्यते (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इति, अन्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६।२।१०६ भा० वा०) इत्यनेन वा पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। विश्वस्य वसुराटोः (अ० ६।३।१२८) इत्यनेन पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् ॥

(विश्वस्य) विशति सर्वत्र स विश्वः। विश (तु० प०) धातोः अशुप्रुषि......विशिभ्यः क्वन् (उ० १।१५) इति क्वन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(अरिष्ट्यै) 'रिष हिंसायाम्' अस्मात् स्त्रियां क्तिन (अ० ३।३।९४) इति क्तिन्, रिष्टिः, न रिष्टिः अरिष्टिः, तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(परिधिः) उपसर्गे घोः किः (अ० ३।३।९२) इति किप्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तः ॥

(इडः) घञर्थे कविधानम्० (अ० ३।३।५८ वा०) इति कप्रत्ययः। स चोदात्तः ॥

(ईडितः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(वाहुः) अर्जिदृशि० (उ० १।२७) इति 'कुः' प्रत्ययः। स चोदात्तः।

(मित्रावरुणौ) अमिचिमिशंसिभ्यः क्त्रः (उ० ४।१६४) इत्यनेन मिनोतेः क्त्रप्रत्यये प्रत्ययस्वरे-णान्तोदात्तो मित्रशब्दः। अन्ये तु मिदिशंसि० इति पठित्वा मेद्यतेः साधयन्ति। अपरे पुनः अमिचि-मिदिशंसिभ्यः कित् इति पठन्ति, तेषां मेद्यतेस्त्रन्प्रत्ययो भवति, किच्च। एतस्मिन् पाठे प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्यु-दात्तो मित्रशब्दः प्राप्नोति, अस्ति त्वन्तोदात्तः, तस्मात् प्रामादिकोऽयं पाठः ॥ वरुणशब्दस्तु कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३।५३) इत्यनेन 'उनन्' प्रत्यये नित्त्वादा-द्युदात्तः। तयोर्द्वन्द्वसमासे देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।२।१४१) इत्यनेनोभयपदप्रकृतिस्वरः ॥

(उत्तरतः) दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् (अ० ५।३।२८) इत्यनेन स्वार्थिकेऽतसुचि चित्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(ध्रुवेण) 'ध्रु गतिस्थैर्ययोः इत्यस्मात् अजवि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४ भा० वा०) इत्यनेन 'अच्' प्रत्ययः। स च गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित् (अ० १।२।१) इत्यनेन ङिद्वत्। क्ङिति च (अ० १।१।५) इत्यनेन गुणप्रतिषेधे अचि श्नुधातुभ्रुवां० (अ० ६।४।७७) इत्यनेनोवङ्। चित्त्वादन्तोदात्तः। येषां तु 'ध्रुव गतिस्थैर्ययोः' इति पाठस्तेषां 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः। प्रत्यय-स्वरेणान्तोदात्तः ॥

† 'सर्वविद्यावधिः' इति क. पाठः, 'विद्यावधिः' इति ख.ग.अ०मु०पाठः।
‡ 'असि भवति' इति क. कोशे पाठः, ख.ग. कोशयोः प्रमादेन त्यक्त इति बोध्यम्।
× 'अध्येषितव्यः' इति अ० मु० ख. ग. कोशयोश्च पाठः। क. कोशे तु 'अध्येषितः' इति पाठः, स च सम्यक्।

अन्वयः—विद्वद्भिर्योऽयं गन्धर्वो विश्वावसुः [परिधि] रिडोऽग्निरीडितोऽस्यस्ति, स विश्वस्य यजमानस्य चारिष्टयै यज्ञं परिदधाति, तस्मात् [त्वा] विद्यासिद्ध्यर्थं मनुष्यो यथावत् परिदधातु। विदुषा यो वायुरिन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणः परिधिरिड ईडितोऽग्निश्चास्यस्ति, स सम्यक् प्रयोजितो यजमानस्य विश्वस्यारिष्ट्यै [असि] भवति। यौ ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ स्तस्तौ, ध्रुवेण धर्मणोत्तरतो विश्वस्य यजमानस्यारिष्ट्यै [त्वा] तं यज्ञं परिधत्तां सर्वतो धारयतः। यो विद्वद्भिरिडः परिधिरीडितोऽग्निर्विद्युद [स्य] स्ति, सोऽपीमं यज्ञं सर्वतः परिदधात्वेतान् मनुष्यो यथागुणं सम्यग् दधातु ॥ ३ ॥

भावार्थः—ईश्वरेण यः सूर्य्यविद्युत्प्रत्यक्षरूपेण त्रिविधोऽग्निर्निर्मितः, स मनुष्यैर्विद्यया सम्यग्योजितः सन् बहूनि कार्य्याणि साधयतीति[3] ॥ ३ ॥

उक्त यज्ञ अग्नि आदि पदार्थों से धारण किया जाता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[४] ॥

पदार्थः—विद्वान् लोगों ने जिस (गन्धर्वः) पृथिवी वा वाणी के धारण करनेवाले (विश्वावसुः) विश्व को बसानेवाले। [(परिधिः) सब ओर से सब वस्तुओं को धारण करनेवाले] (इडः) स्तुति करने योग्य (अग्निः) सूर्य्यरूप अग्नि की (ईडितः) स्तुति (असि) की है, जो (विश्वस्य) संसार के वा विशेष करके (यजमानस्य) यज्ञ करनेवाले विद्वान् के (अरिष्टयै) दुःखनिवारण से सुख के लिये इस यज्ञ को धारण करता है, इससे विद्वान् [(त्वा)] उसको विद्या की सिद्धि के लिये [यथावत्] (परिदधातु) धारण करे, और विद्वानों से जो वायु (इन्द्रस्य) सूर्य्य का (बाहुः) बल और (दक्षिणः) वर्षा की प्राप्ति कराने अथवा (परिधिः) शिल्पविद्या का धारण करानेवाला तथा (इडः) दाह प्रकाश आदि गुण [वाला] होने से स्तुति के योग्य (ईडितः) खोजा हुआ और (अग्निः) प्रत्यक्ष अग्नि (असि) है, वे वायु वा अग्नि अच्छी प्रकार शिल्पविद्या में युक्त किये हुए (यजमानस्य) शिल्पविद्या के चाहनेवाले वा (विश्वस्य) सब प्राणियों के (अरिष्टयै) सुख के लिये (असि) होते हैं। और जो ब्रह्माण्ड में रहने और गमन वा आगमन स्वभाव वाले (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु हैं, वे (ध्रुवेण) निश्चल (धर्मणा) अपनी धारणा शक्ति से (उत्तरतः) पूर्वोक्त वायु और अग्नि से उत्तर अर्थात् उपरान्त समय में (विश्वस्य) चराचर जगत् वा (यजमानस्य) सब से मित्रभाव में वर्त्तनेवाले सज्जन पुरुष के (अरिष्टयै) सुख के हेतु (त्वा) उस पूर्वोक्त यज्ञ को (परिधत्ताम्) सब प्रकार से धारण करते हैं, तथा जो विद्वानों से (इडः) विद्या की प्राप्ति के लिये प्रशंसा करने के योग्य और (परिधिः) सब शिल्पविद्या की * सिद्धि की अवधि तथा (ईडितः) विद्या की इच्छा करनेवालों से प्रशंसा को प्राप्त (अग्निः) बिजुलीरूप

(धर्मणा) सर्वधातुभ्यो मनिन् (उं० ४। १४५) 'धृञ् धारणे' इत्यस्मात् 'मनिन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आधिदैविकाधियज्ञपरोऽयमन्वयः ॥

२ त्रिविधाग्नेर्निरूपणं पदार्थ एव व्यक्तमुपलभामहे ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ आधिदैविकाधियज्ञपरोऽपि सन्नत्र पदार्थोऽध्यात्मपरोऽपि योजयितव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

सूर्येण विद्युता प्रत्यक्षरूपेणाग्निना च किं किं साध्यत इत्यन्यत्र द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

४ वेदी में किया हुआ यज्ञ वास्तव में अग्नि आदि से धारण किया जाता है, न कि वेदी से, क्योंकि उसका आधार अग्नि है, इसी को लक्ष्य में रखकर कहते हैं—'उक्त यज्ञ अग्नि' इत्यादि ॥

५ यहाँ अन्वय में आधिदैविक तथा अधियज्ञ अर्थों का बोध कराया गया है ॥

---

* 'सिद्धि की घेरने से अवधि' इति अजमेरमुद्रितः पाठः। 'घेरने से' इति क. कोशे नास्ति, स एव साधुः।

अग्नि (अग्नि) है, वह भी इस यज्ञ को सब प्रकार से धारण करता है। इन के गुणों को मनुष्य यथावत् जान के उपयोग करें ॥ ३ ॥

भावार्थः[1]—ईश्वर ने जो सूर्य्य, विद्युत् और प्रत्यक्षरूप से तीन प्रकार का अग्नि रचा है, वह विद्वानों से शिल्पविद्या के द्वारा यन्त्रादिकों में अच्छी प्रकार युक्त किया हुआ अनेक कार्य्यों को सिद्ध करनेवाला होता है[2] ॥३॥

वीतिहोत्रमित्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता[3] । [निचृद्] गायत्रीछन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देनोभावर्थावुपदिश्येते[4] ॥

वी॒तिहो॑त्रं त्वा कवे द्यु॒मन्त॒ꣳ समि॑धीमहि । अग्ने॑ बृ॒हन्त॑मध्व॒रे ॥ ४ ॥

वी॒तिहो॑त्र॒मिति॑ वी॒तिऽहो॑त्रम् । त्वा । क॒वे । द्यु॒मन्त॒मिति॑ द्यु॒ऽमन्त॑म् । सम् । इ॒धी॒म॒हि॒ ॥
अग्ने॑ । बृ॒हन्त॑म् । अ॒ध्व॒रे ॥ ४ ॥

पदार्थः—(वीतिहोत्रम्) वीतयो विज्ञापिता होत्राख्या यज्ञा येनेश्वरेण, यद्वा वीतयः प्राप्तिहेतवो होत्राख्या यज्ञक्रिया भवन्ति यस्मात्, तं परमेश्वरं भौतिकं वा। 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' इत्यस्य रूपम्। (त्वा) त्वां तं वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः। (कवे[5]) सर्वज्ञ, क्रान्तप्रज्ञ, कविं क्रान्तदर्शनं भौतिकं वा। (द्युमन्तम्) द्यौर्बहुप्रकाशो विद्यते यस्मिँस्तम्। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। (सम्) सम्यगर्थे। (इधीमहि) प्रकाशयेमहि, अत्र बहुलं छन्दसि (अ० २। ४। ७३) इति श्नमो लुक्। (अग्ने[6]) ज्ञानस्वरूपेश्वर, प्राप्तिहेतुं भौतिकं वा। (बृहन्तम्) सर्वेभ्यो महान्तं सुखवर्धकमीश्वरं, बृहतां कार्य्याणां साधकं भौतिकं वा। (अध्वरे[7]) मित्रभावेऽहिंसनीये यज्ञे वा ॥ अयं मन्त्रः श० १। ३। ४। ६ [व्याख्यातः] ॥ ४ ॥

---

१ तीनों प्रकार का अग्नि पदार्थ में दर्शाया है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ आधिदैविक तथा अधियज्ञपरक अर्थ तो पदार्थ में दिखाये ही हैं, अध्यात्मार्थ की योजना भी सं० पदार्थ से कर लेनी चाहिये ॥

विशेषवक्तव्य

सूर्य, विद्युत् तथा इस प्रत्यक्ष भौतिक अग्नि से क्यों २ सिद्ध होता है, यह अन्यत्र कहा जा चुका है ॥ ३ ॥

---

३ अग्निरिति सर्वानुक्रमणी ॥

४ तत्र स्वरूपाकाङ्क्षायामग्निशब्देनेश्वरो भौतकोऽप्यग्निर्गृह्यते इत्यत आह—'अथाग्निशब्देनोभाव०' इति ॥

५ असौ वा आदित्यः कविः ॥ श० ६। ७। २। ४ ॥

६ अत्र य० १। ५ विवरणे द्रष्टव्यम् ॥

७ अध्वरो वै यज्ञः ॥ श० ३। ९। २। ११ ॥ दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वितुं ते पराबभूवुस्तस्माद् यज्ञोऽध्वरो नाम ॥ श० १। ४। १। ४० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वीतिहोत्रम्) वीधातोः मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः (अ० ३। ३। ९६) इत्यनेन क्तिन्, स चोदात्तः। ततो बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे छान्दसव्यत्ययेन पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(कवे) 'कु शब्दे' एतस्माद् 'अच इः' (उ० ४। १३९) इत्यनेन 'इः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। आमन्त्रितस्य च (अ० ८। १। १९) इति सर्वनिघातः ॥

(द्युमन्तम्) ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६। १। १७६) इति मतुप उदात्तत्वम् ॥

(इधीमहि) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः ॥

(बृहन्तम्) वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महत्० (उ० २। ८४) इत्यनेन सूत्रेण बृहू उद्यमने (तुदा०) इत्येतस्माद् धातोः 'अति' प्रत्ययान्तो निपातितः। शतृवत्कार्यातिदेशात् तुदादिभ्यः शः (अ० ३। १। ७७) इति शः। उगिदचां सर्वनामस्थानेऽ

अन्वयः—हे कवे अग्ने जगदीश्वर ! वयमध्वरे बृहन्तं द्युमन्तं वीतिहोत्रं त्वा समिधीमहि ॥ इत्येकः ॥ वयमध्वरे वीतिहोत्रं द्युमन्तं बृहन्तं कवे कविं त्वा तमग्ने भौतिकमग्निं समिधीमहि ॥ *इति द्वितीयः* ॥ ४ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः[2] ॥

भावार्थः—यावन्ति क्रियासाधनानि क्रियया साध्यानि च वस्तूनि सन्ति तानि सर्वाणीश्वरेणैव रचयित्वा ध्रियन्ते, मनुष्यैस्तेषां सकाशात् गुणज्ञानक्रियाभ्यां बहव उपकाराः संग्राह्याः[3] ॥ ४ ॥

अब अग्नि शब्द से अगले मन्त्र में दो अर्थों का प्रकाश कियाँ है ॥

पदार्थः—हे (कवे) सर्वज्ञ तथा हर एक * पदार्थ के जाननेवाले (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! हम लोग (अध्वरे) मित्रभाव से रहने में (बृहन्तम्) सब के लिये बड़े से बड़े अपार सुख के बढ़ाने और (द्युमन्तम्) अत्यन्त प्रकाश वाले वा (वीतिहोत्रम्) अग्निहोत्र आदि यज्ञों को विदित करानेवाले (त्वा) आपको (समिधीमहि) अच्छे प्रकार प्रकाशित करें ॥ *यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ* ॥

हम लोग (अध्वरे) अहिंसनीय अर्थात् जो कभी परित्याग करने योग्य नहीं, उस उत्तम यज्ञ में जिसमें कि (वीतिहोत्रम्) पदार्थों की प्राप्ति कराने के हेतु अग्निहोत्र आदि क्रिया सिद्ध होती हैं, और (द्युमन्तम्) अत्यन्त प्रचण्ड ज्वालायुक्त (बृहन्तम्) बड़े २ कार्य्यों को सिद्ध कराने तथा (कवे) पदार्थों में अनुक्रम से दृष्टिगोचर होनेवाले (त्वा) उस (अग्ने) भौतिक अग्नि को (समिधीमहि) अच्छी प्रकार प्रज्वलित करें ॥ *यह दूसरा अर्थ हुआ* ॥ ४ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार[6] है ॥

धातोः (अ० ७ । १ । ७०) इति नुम् । तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्ल० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यादिना प्रत्ययानुदात्तत्व आद्युदात्तो बृहच्छब्दः प्राप्नोति । अत्रैव निपातनादन्तोदात्तत्वमपि बोध्यम् ॥ उक्तं च काशिकायाम्—'बृहदित्येतदन्तोदात्तं निपातयन्ति' (अ० ६ । २ । १४०) बृहस्पतिरित्यत्र त्वाद्युदात्त एव बृहच्छब्दो दृश्यते । तत्र तु अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति इत्यनया परिभाषया यथाप्राप्त आद्युदात्तस्वरोऽपि बोध्यः ॥

(अध्वरे) निघण्टौ ध्वरतेराद्युदात्तस्य हिंसाकर्मसु पाठात् 'ध्वृ' इति नैरुक्तो धातुः । तस्माद् 'ऋदोरप्' (अ० ३ । ३ । ५७) इत्यनेन 'अप्' प्रत्ययः । यद्वा 'ध्वृ' धातोः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अ० ३ । ३ । ११८) इति घः, ध्वरः । न विद्यते ध्वरो हिंसा यस्मिन् सोऽध्वरः । नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्यनेनोत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा 'अध्वनि रमते' इत्यध्वरः । डप्रत्ययः । सहगमनमेव मित्रभावः ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ प्रथमान्वयोऽध्यात्मपरो ऽ परश्चाधिदैविकाधियज्ञार्थपर इति व्यक्तम् ॥

२ श्लेषालङ्कारेण कथमर्थसङ्गतिरिति प्रदर्शितम् ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ सर्वमन्वय एव स्पष्टम् ॥

विशेषवक्तव्यम्

विद्वत्परोऽयं मन्त्रो व्याख्यात आचार्येण ऋ० ५ । २६ । ३ भाष्ये ॥ ४ ॥

४ अग्नि का क्या स्वरूप है, इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये ईश्वर तथा भौतिक दोनों अग्नियों का ग्रहण होता है । इसी से कहते हैं—'अब अग्नि शब्द से' इत्यादि ॥

५ यहाँ प्रथमान्वय अध्यात्मपरक है, दूसरा आधिदैविक तथा अधियज्ञ अर्थों को दर्शा रहा है, यह स्पष्ट है ॥

६ श्लेषालङ्कार से अर्थसङ्गति दर्शाई जा चुकी है ॥

---

* 'हर एक पदार्थ में अनुक्रम से विज्ञानवाले' इति अ० मु० पाठः ।

भावार्थः—संसार में जितने क्रियाओं के साधन वा क्रियाओं से सिद्ध होने वाले पदार्थ हैं, उन सब को ईश्वर ही ने रचकर अच्छी प्रकार धारण † किया है। मनुष्यों को उनसे गुणज्ञान और उत्तम २ क्रियाओं को अनुकूलता द्वारा अनेक प्रकार के उपकार लेने चाहियें[1] ॥ ४ ॥

समिदसीत्यस्य ऋषिः स एव। यज्ञो देवता[2]। निचृद्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनस्तस्य यज्ञस्य साधकान्युपदिश्यन्ते[3] ॥

सुमिदसि सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदुभिशस्त्यै। सुवितुर्बाहू स्थुऽऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासुस्थं देवेभ्युऽआ त्वा वसवो रुद्राऽआदित्याः सदन्तु ॥ ५ ॥

समिदिति सम्ऽइत्। असि। सूर्य्यः। त्वा। पुरस्तात्। पातु। कस्याः। चित्। अभिशस्त्या इत्युभिऽशस्त्यै। सवितुः। बाहूऽइति बाहू। स्थः। ऊर्णम्रदसमित्यूर्णऽम्रदसम्। त्वा। स्तृणामि। स्वासस्थमिति सुऽआसस्थम्। देवेभ्यः। आ। त्वा। वसवः। रुद्राः। आदित्याः। सदन्तु ॥ ५ ॥

पदार्थः—(समित्[4]) सम्यगिध्यतेऽनया ऽनेन वा सा समिदग्निप्रदीपकं काष्ठादिकं, वसन्त ऋतुर्वा। (असि) भवति। अत्र व्यत्ययः। (सूर्य्यः) सुवत्यैश्वर्य्यहेतुर्भवति सोऽयं सूर्य्यलोकः। (त्वा) तम्।

त्रिविधप्रक्रिया

१ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ अन्वय में स्पष्ट हैं॥

वि० वक्तव्य

ऋ० ५। २६। ३ के भाष्य में आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र का 'विद्वान्परक' व्याख्यान किया है॥४॥

२ अग्निः, लिङ्गोक्ताः, विधृतिः, प्रस्तर इति सर्वानुक्रमणी॥

३ प्रसक्तमग्निशब्दं निरूप्य साधकान्तराणि निरूपयति, तानि च वसवो रुद्रा आदित्या इत्यादीन्यत आह—'पुनस्तस्य यज्ञस्य' इति॥

४ यदेनं समयच्छत् तत् समिधः समित्त्वम्॥ तै० २। १। ३। ८॥

वसन्तो वै समित्॥ श० १। ५। ३। ९॥

समिद्धि वसन्तः॥ श० १। ३। ४। ७॥

समिधो यजति वसन्तमेव, वसन्ते वा इदं सर्वं समिध्यते॥ कौ० ३। ४॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(समित्) सम्पूर्वात् त्रिइन्धी दीप्तावित्यस्मात् क्विपि नलोपे कुगतिप्रादयः (अ० २। २। १८) इति समासे, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तत्वम्॥

(पुरस्तात्) दिक्शब्देभ्य० (अ० ५। ३। २७) इत्यादिना 'अस्ताति' प्रत्ययः। प्रत्ययाद्युदात्तत्वेन मध्योदात्तः॥

(पातु) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः॥

(कस्याः) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६। १। १६८) इत्यनेन प्राप्तं विभक्त्युदात्तत्वं न गोश्वन्० (अ० ६। १। १८२) इत्यादिना प्रतिषिध्यते। ततः प्रातिपदिकस्वरेणाद्युदात्तः॥

(चित्) चादयोऽनुदात्ताः (फिट् ८४) इत्यनुदात्तः।

(अभिशस्त्यै) अभिपूर्वात् 'शंसु' धातोः स्त्रियां क्तिन् (अ० ३। ३। ९४) इति क्तिनि कुगतिप्रादयः (अ० २। २। १८) इति गतिसमासे तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६। २। ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे, उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इत्यनेन अभेः पर्युदासादन्तोदात्तत्वम्। तदेवं पूर्वपदान्तोदात्तस्वरसिद्धिः॥

(रुद्राः) ण्यन्ताद् 'रुद्'धातोः रोदेर्णिलुक् च (उ० २। २२) इत्यनेन 'रक्' प्रत्ययो णिलुक् च। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

† इतोऽग्रे 'किये हैं, मनुष्यों को उचित है कि उनकी सहायता गुण ज्ञान' इति अ० मुद्रिते पाठः।

(पुरस्तात्) पूर्वस्मादिति पुरस्तात्। (पातु) रक्षति। अत्र लडर्थे लोट्। (कस्याः) कस्यै सर्वस्यै, अत्र चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि अ० २। ३। ६२। इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। (चित्) चिदित्युपमार्थे। निरु० १। ४। (अभिशस्त्यै) आभिमुख्यायै स्तुतये। शंसु स्तुतावित्यस्य क्तिन्प्रत्ययान्तः प्रयोगः। (सवितुः) सूर्य्यलोकस्य। (बाहू) बलवीर्य्याख्यौ। (स्थः) स्तः, अत्र व्यत्ययः। ऊर्णम्रदसम्) ऊर्णानि सुखाच्छादनानि म्रदयति येन तं यज्ञम्। (त्वा) तम्। (स्तृणामि) सामग्र्याऽऽच्छादयामि। (स्वासस्थम्) शोभने आसे उपवेशने तिष्ठतीति तम्। (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यः। (आ) समन्तात् क्रियायोगे। (त्वा) तम्। (वसवः) अग्न्यादयोऽष्टौ। (रुद्राः) प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्या दश प्राणा एकादशो जीवश्चेत्येकादश रुद्राः। (आदित्याः) द्वादश मासाः। कतमे वसव इति। अग्निश्च, पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदᳬ सर्वं वसु हितमेते हीदᳬ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदᳬ सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति॥ कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति। तद्यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति॥ कतम आदित्या इति। द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदᳬसर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदᳬसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति। श० १४। ६। ९। ४-६। (सदन्तु) अवस्थापयन्ति। षद्लृ इत्यस्य स्थाने वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [अ० १। ४। ९ भा०] इति सीदादेशाभावो लडर्थे लोट् च॥ अयं मन्त्रः श० १। ४। १। ७-१२ व्याख्यातः॥ ५॥

अन्वयः— चित् यथा कश्चिन्मर्त्यः सुखार्थं क्रियासिद्धानि द्रव्याणि * रक्षित्वाऽऽनन्दयते, तथैव योऽयं यज्ञः समिदसि भवति [त्वा] तं सूर्यः कस्या अभिशस्त्यै पुरस्तात् पातु पाति, यौ सवितुर्बाहू स्थः स्तो यो [हू] याभ्यां नित्यं विस्तार्य्यते [त्वा] † तमूर्णम्रदसं स्वासस्थं यज्ञं वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्त्ववस्थापयन्ति प्रापयन्ति [त्वा] तं यज्ञमहमपि सुखाय देवेभ्य आस्तृणामि॥ ५॥

अत्रोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—ईश्वरः सर्वेभ्य इदमुपदिशति मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्याख्येभ्यो यद्यदुपकर्तुं शक्यं तत्तत्सर्वस्याभिरक्षणाय नित्यमनुष्ठेयम्। योऽग्नौ द्रव्याणां प्रक्षेपः क्रियते, स सूर्य्यं वायुं वा प्राप्नोति,

(आदित्याः) आङ्पूर्वाद् दातेर्दीप्यतेर्वा अव्यादयश्च (उ० ४। ११२) इत्यादिना यक्प्रत्ययः। दान आकारस्य इकारस्तुक् च। दीप्यतेर्वा ईकारस्य च ह्रस्वादेशोऽन्त्यस्य तकारादेशः। ततो गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥ यद्वा—अदितिशब्दाद् दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः (अ० ४। १। ८५) इति ण्यप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, तदुक्तम्—आदित्यः कस्माद् आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्रः इति वा (निरु० २। १३)॥

यत्तु देवराजो ऽव्यादयश्चेति यत्प्रत्ययमाह, स तु प्रमादपाठ इत्येव प्रतीमः। यच्चात्र शतपथब्राह्मणप्रमाणम्—'सर्वमाददाना यन्तीति' तत्रापि 'आङ्'-पूर्वाद् डुदाञ्धातो 'यां' धातोश्चेति धातुद्वयेनेष्टसिद्धिः, पृषोदरादित्वात् साधुः, एवम्भूतानामृषिमुनिप्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वं कथं स्यादित्येवाभिलक्ष्य भगवता पाणिनिमुनिना पृषोदरादिरूपा विविधा व्यवस्था स्वव्याकरणे निरूपिता॥

स्वरस्तु प्रातिपदिकस्वरेण प्रत्ययस्वरेण वान्तोदात्तः।

(सदन्तु) वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति इति न्यायेन सीदादेशाभावः। तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति सर्वनिघात उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (अ० ८। ४। ६६) इति स्वरितत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अधियज्ञाधिदैविकार्थावत्र निरूपितौ॥

२ अत्र यद् वक्तव्यं तत् (य० २। २ विवरणे) पृ० १५९ द्रष्टव्यम्॥

३ अत्र समुच्चयार्थे 'वा' शब्दः।

* 'रक्षयित्वा' इति ख. ग. पाठः।

† 'यम्' इति गकोशे अ० मुद्रिते च पाठः। 'तम्' इति तु क. ख. पाठ, स एव सम्यक्॥

तावेव तत्पृथग्भूतं द्रव्यं* रक्षित्वा पुनः पृथिवीं प्रति विसृजतः। येन पृथिव्यां दिव्या ओषध्यादयः पदार्था जायन्ते, येन च प्राणिनां नित्यं सुखं भवति, तस्मादेतत् सदैवानुष्ठेयमिति॥ ५॥

फिर उक्त यज्ञ के साधनों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3]॥

पदार्थः—(चित्) जैसे कोई मनुष्य सुख के लिये क्रिया से सिद्ध किये पदार्थों की रक्षा करके आनन्द को प्राप्त होता है, वैसे ही यज्ञ (समित्) [अग्निप्रदीपक काष्ठादि अथवा] वसन्त ऋतु के समय के समान अच्छी प्रकार प्रकाशित (असि) होता है। (त्वा) उसको (सूर्य्यः) ऐश्वर्य्य का हेतु सूर्य्यलोक (कस्याः) सब पदार्थों की (अभिशस्त्यै) प्रकटता करने के लिये (पुरस्तात्) पहिले ही से उनकी (पातु) रक्षा करनेवाला होता है, तथा जो कि (सवितुः) सूर्य्यलोक के (बाहू) बल और वीर्य्य (स्थः) हैं, † जो यह यज्ञ इनसे विस्तार को प्राप्त होता है, (त्वा) उस (ऊर्णम्रदसम्) सुख के विघ्नों के नाश करने (स्वासस्थम्) और श्रेष्ठ अन्तरिक्षरूपी आसन में स्थित होनेवाले यज्ञ को (वसवः) अग्नि आदि आठ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य्य, प्रकाश, चन्द्रमा, और तारागण ये वसु (रुद्राः) प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, और जीवात्मा ये रुद्र (आदित्याः) बारह महीने (सदन्तु) प्राप्त करते हैं, (त्वा) उस अत्यन्त सुख बढ़ाने और अन्तरिक्ष में स्थिर होनेवाले यज्ञ को मैं भी सुख की प्राप्ति वा (देवेभ्यः) दिव्यगुणों को सिद्ध करने के लिये (आस्तृणामि) अच्छी प्रकार सामग्री से आच्छादित करके सिद्ध करता हूँ॥ ५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है॥

भावार्थः—ईश्वर सब मनुष्यों के लिये उपदेश करता है कि मनुष्यों को वसु, रुद्र, और आदित्यसंज्ञक पदार्थों से, जो २ काम सिद्ध हो सकते हैं, सो २ सब प्राणियों के पालन के निमित्त नित्य सेवन करने योग्य हैं। तथा अग्नि के बीच जिन २ पदार्थों का प्रक्षेप अर्थात् हवन किया जाता है, सो २ सूर्य्य और वायु को प्राप्त होता है। वे ही [सूर्य्य और वायु] उन अलग हुए पदार्थों की रक्षा कर के उन्हें फिर पृथिवी में पहुँचा देते हैं, जिससे कि पृथिवी में दिव्य ओषधी आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उनसे जीवों को नित्य सुख होता है, उस कारण सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान सदैव करना चाहिये[5]॥ ५॥

१ सामान्ये नपुंसकम्-इति नपुंसकनिर्देशः।

त्रिविधप्रक्रिया

२ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थ एवोहितव्यः॥

वि० वक्तव्यम्

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः (य० ३१। १४) इत्यादावपि वसन्तस्य यज्ञेन कः सम्बन्ध इति द्रष्टव्यम्॥ ५॥

३ प्रसङ्गप्राप्त अग्नि शब्द का निरूपण करके अन्य साधनों वसु-रुद्र आदि को कहते हैं—'फिर उक्त यज्ञ के साधनों' इत्यादि॥

४ अधियज्ञ तथा आधिदैविक अर्थों का निरूपण यहां अन्वय में किया गया है॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ सं० पदार्थ में तीनों अर्थों की ऊहा कर लेनी चाहिये॥ ५॥

वि० वक्तव्य

'वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्' (य० ३१। १४) इत्यादि मन्त्रों में वसन्त का यज्ञ के साथ क्या संबन्ध है, यह कहा गया है।

* 'रक्षयित्वा' इति ख. ग. पाठः॥

† इतोऽग्रे 'जिनसे यह यज्ञ विस्तार को प्राप्त' इति अ० मु० पाठः।

घृताच्यसीत्यस्य ऋषिः स एव । विष्णुर्देवता सर्वस्य । षट्षष्टितमाक्षरपर्य्यन्तं ब्राह्मीत्रिष्टुप् छन्दः । अग्रे निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । सर्वस्य धैवतः स्वरः ॥

स किं किं प्रियं सुखं साधयतीत्युपदिश्यते[2] ॥

घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद । ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥ ६ ॥

घृताची । असि । जुहूः । नाम्ना । सा । इदम् । प्रियेण । धाम्ना । प्रियम् । सदः । आ । सीद । घृताची । असि । उपभृदित्युपऽभृत् । नाम्ना । सा । इदम् । प्रियेण । धाम्ना । प्रियम् । सदः । आ । सीद । घृताची । असि । ध्रुवा । नाम्ना । सा । इदम् । प्रियेण । धाम्ना । प्रियम् । सदः । आ । सीद । प्रियेण । धाम्ना । प्रियम् । सदः । आ । सीद । ध्रुवा । असदन् । ऋतस्य । योनौ । ता । विष्णोऽइति विष्णो । पाहि । पाहि । यज्ञम् । पाहि । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । पाहि । माम् । यज्ञन्यमिति यज्ञऽन्यम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(घृताची) घृतमाज्यमञ्चति प्राप्नोत्यनयाऽऽदानक्रियया सा । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (जुहूः) जुहोति ददाति हविरादत्ते सुखं चानया सा । हु दानादनयोरित्यस्मात् हुवः श्लुवच्च । उ० २ । ६० । अनेन क्विप् प्रत्ययो दीर्घादेशश्च । (नाम्ना) प्रसिद्धेन । (सा) पूर्वोक्ता । (इदम्) प्रत्यक्षम् । (प्रियेण) सुखैस्तर्पकेण कमनीयेन । (धाम्ना) स्थानेन । (प्रियम्) प्रीणाति सुखयति यत्तत् । (सदः) सीदन्ति प्राप्नुवन्ति सुखानि यस्मिन् तद् गृहम् । (आ) समन्तात् । (सीद) सादयति । अत्रोभयत्र लडर्थे लोडन्तर्गतो ण्यर्थो व्यत्ययश्च । (घृताची) या होमक्रिया घृतमुदकमञ्चति प्रापयति सा । घृतमित्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । (असि) अस्ति । (उपभृत्) योपगतं बिभर्त्यनया हस्तक्रियया सा । (नाम्ना) प्रख्यातेन । (सा) पूर्वोक्ता । (इदम्) ओषध्यादिकम् । (प्रियेण) प्रीतिहेतुना । (धाम्ना) स्थलेन । (प्रियम्) प्रीयते सुखयत्यारोग्येण यत्तत् । (सदः) सीदन्ति घ्नन्ति दुःखानि येन तदोषधसेवनं पथ्याचरणं च । अत्र सदिर्विशरणार्थः । (आ) समन्तात् । (सीद) प्रापयति । (घृताची)

---

१ जुहूपभृद्ध्रुवाः, हविः, विष्णुः इति सर्वानुक्रमणी ॥

२ फलाकाङ्क्षायां तेन यज्ञेन हृदयशान्तिः, अनेकविधज्ञानवृद्धिः, सार्वजनिकशरीरसुखं च सम्भवतीत्यत आह—'स किं किं प्रिय' इति ॥

३ जुहूशब्देन बहवोऽर्था ब्राह्मणे गृह्यन्ते, तद्यथा—

(क) क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रुचः, क्षत्रमेवैतद् विश उत्तरं करोति, तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते, तस्मादुपरि जुहूं सादयति ॥ (श० १ । ३ । ४ । १५) ॥

(ख) अथाज्यब्राह्मणे—पुरुषो वै यज्ञः । पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते, एष वै तायमानो यावानेव पुरुषस्तावानेव विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः ॥ १ ॥

तस्येयमेव जुहूः । इयमुपभृत्, आत्मैव ध्रुवा, तद्वा आत्मन एवेमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति, तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवति ॥ २॥

प्राण एव स्रुवः । सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गानि सञ्चरति ॥ ३ ॥

तस्यासावेव द्यौर्जुहूः । अथेदमन्तरिक्षमुपभृदिदमेव ध्रुवा । तद्वा अस्या एवेमे सर्वे लोकाः प्रभवन्ति, तस्माद् ध्रुवाया एव सर्वो यज्ञः प्रभवन्ति ॥४॥ (श० १ । ३ । २ । १—४)॥

'जुहू' इत्यादयः शब्दा आध्यात्मिकार्थेषु युक्तास्तत्र तत्र योजयितव्या इति स्पष्टम् ॥

४ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु, गत्यर्थानां ज्ञानार्थतोक्ता य० १ । १ विवरणे पृ० १० ॥

घृतमायुर्निमित्तमञ्चति प्राप्नोत्यनया सुनियमाचरणक्रियया सा। (असि) भवति। (ध्रुवा) ध्रुवन्ति प्राप्नुवन्ति स्थिराणि सुखान्यनया विद्यया। ध्रु गतिस्थैर्य्ययोरित्यस्य कप्रत्ययान्तः प्रयोगः। कृतो बहुलम् [अ० ३।३।११३ भा० वा०] इति करणकारके। (नाम्ना) प्रसिद्धेन। (सा) उक्तार्था। (इदम्) जीवनम्। (प्रियेण) प्रीतिकरेण। (धाम्ना) स्थित्यर्थेन। (प्रियम्) आनन्दकरम्। (सदः) वस्तु। (आ) अभितः। (सीद) सीदति गमयति। अत्रोभयत्र लडर्थे लोड् व्यत्ययश्च। (प्रियेण) प्रीतिसाधकेन। (धाम्ना) हृदयेन। (प्रियम्) प्रीतिकरम् (सदः) सीदति जानाति येन तत् ज्ञानम्। (आ) सर्वतः। (सीद) सीदति प्राप्नोति। (ध्रुवा) ध्रुवाणि निश्चलानि वस्तूनि। अत्र शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६।१।७०] इति लोपः। (असदन्) भवेयुः। अत्र लिङर्थे लङ्। वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [अ० १।४।६ भा०] इति सीदादेशो न। (ऋतस्य) शुद्धस्य सत्यस्य। (योनौ) यज्ञे। यज्ञो वा ऋतस्य योनिः। श० १।३।४।१६। (ता) तानि। अत्रापि शेर्लोपः। (विष्णो[1]) व्यापकेश्वर। (पाहि) रक्ष। (पाहि) पालय। (यज्ञम्) पूर्वोक्तं त्रिविधम् (पाहि) पालय। (यज्ञपतिम्) यज्ञस्य पालकं यजमानम् (पाहि) रक्ष। (माम्) होतारमध्वर्य्युमुद्गातारं ब्रह्माणं वा। (यज्ञन्यम्) यज्ञं नयति प्रापयतीति यज्ञनीस्तम्। अत्र अमि पूर्वः। अ० ६। १।१०७। इत्यत्र वा छन्दसि [अ० ६।१।१०६] इत्यनुवर्तनात् पूर्वरूपादेशो न भवति॥ अयं मन्त्रः श० १।३।४।१३-१६ व्याख्यातः॥ ६॥

अन्वयः—या जुहूर्नाम्ना घृताच्यसि भवति, सा यज्ञे प्रयुक्ता सती प्रियेण धाम्ना सह वर्तमानमिदं प्रियं सद आसीद आसादयति। योपभृन्नाम्ना घृताच्यस्ति, सा यज्ञे प्रयुक्ता सती प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(घृताची) घृतमञ्चतीति ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिग० (अ० ३।२।५९) इत्यादिना क्विन्। अनिदितां हल उपधाया० (अ० ६।४।२४) इति नलोपः। उगितश्च (अ० ४।१।६) इति ङीप्प्राप्तौ धातोरुगितः प्रतिषेधः (अ० ४।१।६ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते। स च अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् (अ० ४।१।६ भा० वा०) इत्यनेन प्रतिप्रसूयते। भसंज्ञायां सत्यां अचः (अ० ६।४।१३८) इत्यनेनाकारलोपः। चौ (अ० ६।३।१३८) इत्यनेन पूर्वपदस्य दीर्घः। अकारलोपात् प्राग् गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति सूत्रेणोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽञ्चतेरकार उदात्तः। तत उदात्तलोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इत्यनेनेकारस्योदात्तत्वे प्राप्ते चौ (अ० ६।१।२२२) इत्यनेन आकारस्योदात्तत्वं क्रियते॥

(जुहूः) धातुस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(सदः) षद्लृ धातोः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्यसुन्, नित्त्वादाद्युदात्तः॥

(उपभृत्) उपपूर्वाद् 'भृञ् भरणे' इत्यस्मात् क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति क्विप्। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरेऽन्तोदात्तत्वम्॥

(ध्रुवा) ध्रुवशब्दो य० २। ३ व्याख्यातः॥ ततष्टाप् स्त्रियाम्। पित्त्वादनुदात्तः। एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्तः॥

(ऋतस्य) 'ऋ गतौ' एतस्मात् नपुंसके भावे क्तः (अ० ३।३।११४) इति क्तः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्त ऋतशब्दः॥

(योनौ) 'यु मिश्रणे अमिश्रणे च' एतस्माद् वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् (उ० ४।५१) इत्यनेन 'निः' प्रत्ययो नित्। नित्त्वादाद्युदात्तः॥

(पाहि) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः प्राप्तः। स च चादिलोपे विभाषा (अ० ८।१।६३) इत्यनेन प्रतिषिध्यते। ततः सेर्ह्यपिच्च (अ० ३।४।८७) इत्यपित्त्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(यज्ञन्यम्) यज्ञं नयतीति क्विपि कृत्स्वरेणान्तोदात्तत्वम्। ततो यणादेशे (अ० ६।४।८२) उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितो ऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति स्वरितत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ स (विष्णुः) इमाँल्लोकान् विचक्रमेऽथो वेदानथो वाचम्॥ ऐ० ६।१५॥

२ आधिदैविकाधियज्ञार्थावत्र निरूपितौ॥

समन्तात् प्रापयति । या ध्रुवा नाम्ना घृताच्यसि भवति, सा सम्यक् स्थापिता सती प्रियेण धाम्नेदं प्रियं सद आसीद आगमयति, यया क्रियया प्रियेण धाम्ना प्रियं सद आसीद समन्तात् प्राप्नोति, सा सर्वैर्नित्यं साध्या । हे विष्णो ! यथेमानि ऋतस्य योनौ ध्रुवा ध्रुवाणि वस्तून्यसदन् भवेयुस्तथैव [ता] एतानि निरन्तरं पाहि तथा कृपया यज्ञं पाहि । यज्ञन्यं यज्ञपतिं पाहि यज्ञन्यं मां च पाहि ॥ ६ ॥

भावार्थः—यो यज्ञः पूर्वोक्ते मन्त्रे वसुरुद्रादित्यैः सिध्यति, स वायुजलशुद्धिद्वारा सर्वाणि स्थानानि सर्वाणि वस्तूनि च प्रियाणि निश्चलसुखसाधकानि ज्ञानवर्धकानि च करोति, तेषां वृद्धये रक्षणाय च सर्वैर्मनुष्यैर्व्यापकेश्वरस्य प्रार्थना सम्यक् पुरुषार्थश्च सदा कर्तव्य इति[1] ॥ ६ ॥

फिर उक्त यज्ञ से क्या २ प्रिय सुख सिद्ध होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[2] ॥

पदार्थः—जो [(नाम्ना)] (जुहूः) हवि अग्नि में डालने के लिए सुख की उत्पन्न करनेवाली [तथा] (घृताची) घृत [को प्राप्त करने वाली आदानक्रिया] (असि) है (सा) वह यज्ञ में युक्त की हुई † (प्रियेण) सुखों से तृप्त करनेवाले शोभायमान (धाम्ना) स्थान के साथ वर्तमान होके (इदम्) यह (प्रियम्) जिसमें तृप्त करनेवाले (सदः) उत्तम २ सुखों को प्राप्त होते हैं उन [गृहों] को (आसीद) सिद्ध करती है । जो (नाम्ना) प्रसिद्धि से (उपभृत्) समीप प्राप्त हुए पदार्थों को धारण करने तथा (घृताची) जल को प्राप्त करानेवाली हस्तक्रिया (असि) है, (सा) वह यज्ञ में युक्त की हुई (प्रियेण) प्रीति के हेतु (धाम्ना) स्थल से (इदम्) यह ओषधी आदि पदार्थों का समूह (प्रियम्) जो कि आरोग्यपूर्वक सुखदायक और (सदः) दुःखों का नाश करनेवाला है, उसको (आसीद) अच्छे प्रकार प्राप्त कराती है । तथा जो [(नाम्ना)] (ध्रुवा) स्थिर सुखों वा (घृताची) आयु के निमित्त की देनेवाली विद्या (असि) होती है, (सा) वह अच्छी प्रकार उत्तम कार्यों में युक्त की हुई (प्रियेण) प्रीति उत्पन्न करनेवाले [धाम्ना] स्थिरता के निमित्त से (इदम्) इस (प्रियम्) आनन्द करानेवाले जीवन वा (सदः) वस्तुओं को (आसीद) प्राप्त करती है । जिस क्रिया करके (प्रियेण) प्रसन्नता के करनेहारे (धाम्ना) हृदय से (प्रियम्) प्रसन्नता करनेवाला (सदः) ज्ञान (आसीद) अच्छी प्रकार प्राप्त होता है, वह विज्ञानरीति सबको नित्य सिद्ध करनी चाहिये । हे (विष्णो) व्यापकेश्वर ! जैसे जो २ (ऋतस्य योनौ) शुद्ध यज्ञ में (ध्रुवा) स्थिर वस्तु (असदन्) हो सके, वैसे ही [(ता)] उनकी निरन्तर (पाहि) रक्षा कीजिये, तथा कृपा करके [(यज्ञम्)] यज्ञ की (पाहि) रक्षा कीजिये, (यज्ञन्यम्) यज्ञ को प्राप्त करने (यज्ञपतिम्) यज्ञ को पालन करनेहारे यजमान की (पाहि) रक्षा करो, और यज्ञ को प्रकाशित करनेवाले (माम्) मुझे [*होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा को] भी (पाहि) पालिये ॥ ६ ॥

भावार्थः—जो यज्ञ पूर्वोक्त मन्त्र में वसु, रुद्र और आदित्य से सिद्ध होने के लिये कहा है, वह वायु और जल की शुद्धि के द्वारा सब स्थान और वस्तुओं को प्रीति करानेहारे उत्तम सुख को बढ़ानेवाले कर देता है,

---

त्रिविधप्रक्रिया

१ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत एवावगन्तव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

आध्यात्मिकप्रक्रियायां जुह्वादीनां स्वरूपं पदार्थटिप्पण्या सम्यङ् निरूपितं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

२ उससे क्या फल होता है ऐसी आकाङ्क्षा होने पर हृदय की शान्ति—अनेक प्रकार के ज्ञान की वृद्धि, सार्वजनिक आरोग्यता होती है, अतः कहा—'फिर उक्त यज्ञ से' इत्यादि ॥

३ यहां अन्वय में आधिदैविक तथा अधियज्ञ अर्थों का निरूपण है ॥

---

† इतोऽग्रे 'सारग्रहण की क्रिया है सो' इति अ. मु. पाठः, स चानावश्यकः । संस्कृतेऽभावोऽप्यस्य । क. ख. कोशयोरपि नास्ति ।

* पाठोऽयं 'क' हस्तलेखानुसारीति ॥

सब मनुष्यों को उनकी वृद्धि वा रक्षा के लिये व्यापक ईश्वर की प्रार्थना और सदा अच्छे प्रकार पुरुषार्थ करना चाहिये[1] ॥ ६ ॥

अग्ने वाजजिदित्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता[2] । + बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स यज्ञः कीदृश इत्युपदिश्यते[3] ।

अग्ने॑ वाजजि॒द्‌ वाजं॑ त्वा सरि॒ष्यन्तं॑ वाज॒जित॒ꣳ सम्मा॑र्ज्मि ।
नमो॑ दे॒वेभ्यः॑ स्व॒धा पि॒तृभ्यः॑ सु॒यमे॑ मे भूयास्तम् ॥ ७ ॥

अग्ने॑ । वा॒ज॒जि॒दिति॑ वाजऽजित् । वाज॑म् । त्वा॒ । स॒रि॒ष्यन्त॑म् । वा॒ज॒जित॒मिति॑ वाज॒ऽजित॑म् । सम् । मा॒र्ज्मि॒ । नमः॑ । दे॒वेभ्यः॑ । स्व॒धा । पि॒तृभ्य॒ इति॑ पि॒तृऽभ्यः॑ । सु॒यमे॒ऽइति॑ सु॒ऽयमे॑ । मे॒ । भू॒या॒स्त॒म् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अग्ने) अग्निर्भौतिकः । (वाजजित्) वाजमन्नं जयति येन सः । वाज इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । अत्रोभयत्र कृतो बहुलम् । अ० ३ । ३ । ११३ । भा० वा० । इति करणे क्विप् । (वाजम्) वेगवन्तम् । (त्वा) तम् । (सरिष्यन्तम्) सर्वान् पदार्थानन्तरिक्षं गमयिष्यन्तम् । (वाजजितम्) वाजं युद्धं जयति येन तम् । (सम्) सम्यगर्थे । (मार्ज्मि) मार्ष्टि वा, अत्र पक्षे पुरुषव्यत्ययः । (नमः) अमृतात्मकं जलम् । नम इत्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । (देवेभ्यः) दिव्यसुखकारकेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो वस्वादिभ्यः । (स्वधा) अमृतात्मकसन्नम्[6] । स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । स्वं स्वकीयं सुखं दधात्यनया सा । (पितृभ्यः) पालनहेतुभ्य ऋतुभ्यः । ऋतवो वै पितरः । श० २ । ५ । २ । ३२ । (सु) शोभनेऽर्थे । (यमे) यच्छन्ति बलपराक्रमौ याभ्यां ते । (मे) मम । (भूयास्तम्) भूयास्ताम् । अत्र व्यत्ययः ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ४ । ४ । १४—१५ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ त्रिविध अर्थ सं० पदार्थ से जानने योग्य है ॥

वि० वक्तव्य

आध्यात्मिक-प्रक्रिया में जुहू आदि शब्दों के क्या अर्थ हैं, यह सब संस्कृत-टिप्पणी में देखें ॥ इस बात को भलीप्रकार समझ लेने से यज्ञ का आध्यात्मिक स्वरूप सुगमता से समझा जा सकता है ॥६॥

२ अग्निः, देवाः, पितरः, स्रुचौ, इति सर्वानुक्रमणी ॥

३ अत्र यज्ञशब्देन यज्ञप्रधानसाधनीभूतोऽग्निर्ग्राह्यः, स कीदृश इत्यतोऽग्निगुणानाह 'पुनः स यज्ञ' इति ॥

४ वाज इति सङ्ग्रामनामसु ॥ निघ० २ । १७ ॥

५ निघण्टावुदकनामसु नोपलभ्यते, निरुक्तेऽपि नास्ति ।

६ स्वधो वै पितॄणामन्नम् ॥ श० १३ । ८ । १ । ४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वाजजित्) वाजोपपदाज्जयतेः क्विपि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इत्यविद्यमानत्वे प्राप्ते नामन्त्रिते समानाधिकरणे (अ० ८ । १ । ७३) इत्यनेनाविद्यमानस्य प्रतिषेधात् आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति सर्वनिघातः ॥

(वाजम्) 'वज गतौ' इत्यतः अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (अ० ३ । ३ । १९) इत्यनेन घञ् । अजिव्रज्योश्च (अ० ७ । ३ । ६०) इति चकारस्यानुक्तसमुच्चायकत्वाद् वाज इत्यत्रापि कुत्वाभावः। कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६ । १ । १५९) इत्यनेनान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तत्वम् । ततो मत्वर्थे अर्श

+ 'भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः पञ्चमः स्वरः' इति अ० मु० पाठः ।

अन्वयः[१]—यतोऽयम [अग्ने] ग्निर्वाजजिद् भूत्वा सर्वान् पदार्थान् संमार्ष्टि, तस्मात् [त्वा] तमहं वाजं सरिष्यन्तं वाजजितं संमार्ज्मि, येन यज्ञे * प्रयुक्तेनाग्निना देवेभ्यो नमः पितृभ्यः स्वधा सुयमे भवतस्तेनैते मे मम सुयमे भूयास्तम् भूयास्ताम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—मनुष्यैर्यः पूर्वमन्त्रोक्तोऽग्निः [स] यज्ञस्य मुख्यसाधनः कर्त्तव्यः । कुतः ? अग्नेरूर्ध्वगमनशीलेन † सर्वपदार्थच्छेदकत्वाच्च । यानास्त्रेपु सम्यक् प्रयुक्तः ‡ शीघ्रगमनविजयहेतुः सन्नृतुभिर्दिव्यान् पदार्थान् सम्पाद्य शुद्धे सुखप्रापके अन्नजले करोतीति विज्ञातव्यम्[२] ॥ ७ ॥

फिर वह यज्ञ कैसा है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[३] ॥

पदार्थः[४]—जिससे यह (अग्ने) अग्नि (वाजजित्) अर्थात् जो उत्कृष्ट अन्न को प्राप्त करानेवाला होके सब पदार्थों को शुद्ध करता है, इससे मैं (त्वा) उस (वाजम्) वेगवाले (सरिष्यन्तम्) सब पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुंचाने और (वाजजितम्) [वाज] अर्थात् युद्ध को जितानेवाले भौतिक अग्नि को (सम्मार्ज्मि) अच्छे प्रकार शुद्ध करता हूँ । यज्ञ में युक्त किये हुए जिस अग्नि से (देवेभ्यः) सुखकारक पूर्वोक्त वसु आदि से सुख के लिये (नमः) अत्यन्त मधुर श्रेष्ठ जल तथा (पितृभ्यः) पालन के हेतु जो वसन्त आदि ऋतु हैं, उनसे जो आरोग्य के

आदिभ्योऽच् (अ० ५ । २ । १२७) इत्यचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(सरिष्यन्तम्) लृटः सद्वा (अ० ३ । ३ । १४) इति शतृप्रत्ययः । ततोऽदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वं, 'स्य' इति प्रत्ययस्वरेणोदात्तः, तत एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तः ॥

(स्वधा) स्वोपपदाद् दधातेः आतोऽनुपसर्गे कः (अ० ३ । २ । ३) इति कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । १०८ वा०) इति करणे कः, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्, ततष्टाप् तस्य एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(पितृभ्यः) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उ० २।९५) इत्यादिना 'तृच्' प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तः पितृशब्दः ॥

(सु) पदार्थानुसारं पृथक् पदम् । अस्मिन् पक्षे निपाताद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसमनुदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ।

(यमे) अत्र करणे घञ् प्रत्ययः । धातुपाठे 'अड उद्यमे' इति निपातनात् वृद्ध्यभावः । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् । पदकारास्तु 'सुयमे' इत्येकपदमाहुः । तेषां पक्षे इत्थं स्वरो नेयः—

शोभनो यमः सुयम इति कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति समासे यमशब्दस्याद्युदात्तत्वात् आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६ । २ । ११९) इत्यनेनोत्तरपदस्याद्युदात्तत्वं भवति ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अत्राधिदैविकाधियज्ञार्थौ स्पष्टौ ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ अनुक्तोऽप्यध्यात्मार्थः पदार्थान्तर्भूत एवेत्यवगन्तव्यम् ॥ ७ ॥

३ इस मन्त्र में यज्ञ शब्द से प्रधान साधन अग्नि का ग्रहण होता है, वह कैसा है, इसलिये अग्नि के गुणों का कथन करते हैं—'फिर वह यज्ञ' इत्यादि।

४ इस अन्वय में आधिदैविक और अधियज्ञ अर्थों का निरूपण है ॥

---

* 'यज्ञेन' इति अ० मु० पाठः । क. कोशे 'यज्ञे' इत्येव शुद्धपाठः ।

† 'शीलत्वात्' इति क. पाठः । यथामुद्रितपाठे हेतावत्र तृतीयाऽऽग्रे च पञ्चमी द्रष्टव्या ।

‡ 'प्रयुक्तेन' इति कोशेषु अ० मुद्रिते चापपाठः ।

लिये (स्वधा)* अमृतात्मक अन्न [(सुयमे) बल और पराक्रम के देने वाले] हैं, वे [जल तथा अन्न] उस यज्ञ से (मे) मेरे लिये बल वा पराक्रम देनेवाले (भूयास्तम्) होवें ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि प्रथम मन्त्र में कहे हुए यज्ञ का मुख्यसाधन अग्नि होता है, † क्योंकि अग्नि का ऊपर ही को जाने का स्वभाव है, जैसे प्रत्यक्ष में भी उसकी लपट देखने में आती है, तथा सब पदार्थों के छिन्न भिन्न करने का भी उसका स्वभाव है। और यान वा अस्त्रशस्त्रों में अच्छे प्रकार युक्त किया हुआ शीघ्रगमन वा विजय का हेतु होकर वसन्त आदि ऋतुओं से उत्तम २ पदार्थों का सम्पादन करके अन्न और जल को शुद्ध वा सुख देनेवाले कर देता है, [सब मनुष्यों को] ऐसा जानना चाहिये[1] ॥ ७ ॥

अस्कन्नमद्येत्यस्य ऋषिः स एव। विष्णुर्देवता[2]। विराड् [ब्राह्मी] पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनः स कीदृशो भूत्वा किं करोतीत्युपदिश्यते[3]॥

अस्कन्नमद्य देवेभ्य ऽ आज्यꣳ संभ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीत ऽ इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वर ऽ आस्थात् ॥ ८ ॥

अस्कन्नम्। अद्य। देवेभ्यः। आज्यम्। सम्। भ्रियासम्। अङ्घ्रिणा। ‡ विष्णोऽइति विष्णो। मा। त्वा। अव। क्रमिषम्। वसुमतीमिति वसुऽमतीम्। अग्ने। ते। छायाम्। × उप। स्थेषम्। विष्णोः। स्थानम्। असि। इतः। इन्द्रः। वीर्यम्। अकृणोत्। ऊर्ध्वः। अध्वरः। आ। अस्थात् ॥ ८ ॥

पदार्थः—(अस्कन्नम्) अविक्षुब्धम्। (अद्य) अस्मिन्नहनि। (देवेभ्यः) दिव्यसुखानां प्राप्तये। (आज्यम्) घृतादिकम्। (सम्) क्रियायोगे। (भ्रियासम्) धारयेयम् +। (अङ्घ्रिणा) गमनसाधनेनाग्निना। (विष्णो[4]) व्यापकेश्वर। (मा) निषेधार्थे। (त्वा) तं वा। (अव) अवेति विनिग्रहार्थीयः। निरु० १। ३। (क्रमिषम्) उल्लङ्घयेयम्, अत्र लिङर्थे लुङ्। (वसुमतीम्) वसूनि बहूनि वस्तूनि भवन्ति यस्यां ताम्, अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। (अग्ने[5]) परमेश्वर भौतिको वा। (ते) तव तस्य वा। (छायाम्) आश्रयम्। (उप) क्रियार्थे। (स्थेषम्) उपपत्सीय, अत्र लिङ्याशिष्यङ् [अ० ३। १। ८६] इत्यङि कृते छन्दस्युभयथा [अ० ३। ४। ११७] इति सार्वधातुकत्वादियादेश

त्रिविधप्रक्रिया

१ आध्यात्मिक अर्थ संस्कृतपदार्थ से जाना जा सकता है ॥ ७ ॥

२ सुचौ, विष्णुः, अग्निः, इन्द्र इति सर्वानुक्रमणी ॥

३ एवंगुणकेऽग्नौ विहितोऽयमाहुतिरूपो यज्ञः किंस्वरूपो भूत्वा कथं प्राणिहितं सम्पादयतीत्याह—'पुनः स कीदृशः' इति ॥

४ स (विष्णुः) सर्वान् लोकान् विचक्रमेऽथो वेदानथो वाचम् ॥ ऐ० ६। १५ ॥

५ य० १। ५ विवरणे द्रष्टव्यम् ॥

* अमृतात्म अन्न (सुयमे) सुयम अर्थात् बल वा पराक्रम के देने वाले होते हैं, उस यज्ञ से उक्त अन्न वा जल (मे) मेरे (सुयमे) बल पराक्रम के देने वाले (भूयास्तम्) होवें, इति क. कोशे पाठः, स च संस्कृतानुसारी ॥

† 'क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष में भी उसकी लपट देखने में आती है, वैसे अग्नि का ऊपर ही को चलने जलने का स्वभाव है तथा सब' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'विष्णो इति' इत्यवग्रहचिह्नरहितो ऽपपाठो ऽजमेरमुद्रिते।

× 'उपस्थेषम्' इत्यजमेरमुद्रिते ऽपपाठः।

+ इतोऽग्रे '(सम्) क्रियायोगे' इति अ० मु० कोशेषु चापि। स च मन्त्रे नास्तीत्यपपाठ एव।

आर्द्धधातुकत्वात् सकारलोपो न भवति । (विष्णोः) यज्ञस्य[1] । (स्थानम्) स्थित्यर्थम् । (असि) भवति, अत्र व्यत्ययः । (इतः) स्थानात् । (इन्द्रः) सूर्य्यो[2] वायुर्वा । (वीर्य्यम्) वीरस्य कर्म, पराक्रमं वा । (अकृणोत्) करोति, अत्र लडर्थे लङ् । (ऊर्ध्वः) आकाशस्थः सन् । (अध्वरः) यज्ञः । (आ) समन्तात् । (अस्थात्) तिष्ठति, अत्र लडर्थे लुङ् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ४ । ५ । १–३ व्याख्यातः ॥८॥

१ यज्ञो वै विष्णुः ॥ श० १ । १ । २ । १३ ॥

२ इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते य एष (सूर्यः) तपति ॥ श० ४ । ६ । ७ । ११ ॥

यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः ॥ श० ४ । १ । ३ । १९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अस्कन्नम्) स्कन्दतेर्भावे क्तः, ततो नञ्-समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अद्य) पूर्वं (यजु० १ । १२ पृष्ठ ७०) व्याख्यातः ।

(आज्यम्) अञ्जेश्चोपसंख्याने संज्ञायाम् (अ० ३ । १ । १०९ भा० वा०) इत्यनेनाङ्पूर्वादञ्जेः क्यप् । ततो गतिसमासे गतिकारकोपपदात्० (अ० ६ । २ । १३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरः, क्यपोऽनुदात्तत्वाद् धातुस्वरः तत आकारेणैकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तत्वम् ॥

नन्वस्मिन् व्याख्यानेऽवग्रहः प्राप्नोति, पदकारैस्तु नावगृह्यते ?

अत्राह महाभाष्यकारः—यद्येवमवग्रहः प्राप्नोति । न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् । यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यमिति (अ० ३ । १ । १०९ भा०) तस्माददोषः ॥ एवं चात्र वेदभाष्ये यत्र पदपाठानुकूला व्याकृतिर्न स्यात्, तत्रापि दोषाभाव एव । संहिताया एवापौरुषेयत्वात् ॥ विस्तरस्तु विवरणभूमिकायां द्रष्टव्यः ॥

ये तु 'अञ्जेश्चोपसंख्यानमिति' यत्, 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्त इत्याहुः, तद् तेषामज्ञानमूलमेव । स्पष्टमेवेदं वार्त्तिकं भाष्ये क्यप्प्रकरणे पठ्यते 'तस्मात् क्यबेव' इति चान्तेऽवधार्यते, यति हि सति कथमनुनासिकलोपो भविष्यतीति त एवात्रानुयोज्याः ॥

(अङ्घ्रिणा) 'अघि गत्याक्षेपे' अस्माद् धातोः 'वङ्क्र्यदयाश्च' (उ० ४ । ६६) इत्यनेन क्रिन् प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तः ॥

(वसुमतीम्) वसुशब्द उप्रत्ययस्य नित्वादाद्युदात्तः । ततो मतुप्, स च पित्वादनुदात्तः । अन्तोदात्तादित्यनुवर्त्तनाद् ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६ । १ । १७६) इति न प्रवर्तते । ततो ङीप्, सोऽप्यनुदात्तः ॥

(छायाम्) माच्छाससिभ्यो यः (उ० ४ । १०९) इति यप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(इतः) पञ्चम्यास्तसिल् (अ० ५ । ३ । ७) इति 'इदम'स्तसिल् प्रत्ययः । स च विभक्तिसंज्ञकः । इदम इश् (अ० ५ । ३ । ३) इति 'इश्', शित्वात् सर्वादेशः । ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (अ० ६ । १ । १७१) इत्यस्यात्रकाश आभ्याम्, एभिः । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इत्यस्यावकाशः पचनं पाचकः । इहोभयं प्राप्नोति 'इतः' इति । तत्र पूर्वविप्रतिषेधाद् विभक्तिस्वर एव भवति तसिलो विभक्तिसंज्ञाविधानसामर्थ्यात् ॥

(स्थानम्) 'ष्ठा' इत्येतस्मात् ल्युट् अधिकरणे । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् । एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तत्वम् ।

(वीर्यम्) 'शूर वीर विक्रान्तौ' अस्माच्चौरादिकाण् णिचि, अचो यत् (अ० ३ । १ । ९७) इति यत् । णेरनिटि (अ० ६ । ४ । ५१) इति णिलोपः ॥ वीरवीर्यौ च (अ० ६ । २ । १२०) इति सूत्रे वीर्यग्रहणं ज्ञापकं यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वाभावस्य । सति ह्याद्युदात्तत्वे पूर्वेणैव आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६ । २ । ११९) इत्यनेन सिद्धं स्यात् । ततः तित् स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८५) इति प्रत्ययस्य स्वरितत्वम् ॥ अत एव च बिल्वभक्ष्यवीर्याणि च्छन्दसि (फिट् ७९) इति फिट्सूत्रकारोऽप्येषां छन्दस्यन्तस्वरितत्वं शास्ति ॥

अन्वयः—अहं देवेभ्यो यदस्कन्नमविक्षुब्धमाज्यमङ्घ्रिणा संभ्रियासं [विष्णो] अद्य त्वा तदहं मावक्रमिषं मोल्लङ्घयेयम् । हे अग्ने जगदीश्वर ! ते तव वसुमतीं छायामहमुपस्थेषमुपपत्सीय । योयमग्निर्विष्णोर्यज्ञस्य स्थानमस्त्यस्ति तस्यापि वसुमतीं छायामुपस्थाय यज्ञं साधयामि । य ऊर्ध्वोध्वरोऽग्नौ हुतः [आऽस्थात्] समन्तात् तिष्ठति तमित इन्द्रो * धृत्वा वीर्य्यमकृणोत् करोति ॥ ८ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति येन पूर्वोक्तेन यज्ञेनान्नजले शुद्धे पुष्कले भवतस्तदेतस्य सिद्ध्यर्थं मनुष्यैः पुष्कलाः संभाराः सदा चेतव्याः । नैव मम व्यापकस्याज्ञामुल्लङ्घ्य वर्तितव्यम् , किन्तु बहुसुखप्रापकं सदाश्रयं गृहीत्वाऽग्नौ यो यज्ञः क्रियते, यमिन्द्रः स्वकीयैः किरणैश्छित्त्वा वायुना सहोर्ध्वमाकृष्योर्ध्वं मेघमण्डले स्थापयति, पुनस्तस्माद् भूमिं प्रति निपातयति, येन भूमौ महद् वीर्य्यं जायते, स सदाऽनुष्ठातव्य इति[४] ॥ ८ ॥

फिर भी उक्त यज्ञ कैसा होकर क्या करता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है[५] ॥

पदार्थः—मैं (देवेभ्यः) उत्तम सुखों की प्राप्ति के लिये जो (अस्कन्नम्) निश्चलसुखदायक (आज्यम्) घृत आदि उत्तम २ पदार्थ है, उसको (अङ्घ्रिणा) पदार्थ पहुंचाने वाले अग्नि से (अद्य) आज (संभ्रियासम्) धारण करूं, और + (विष्णो) व्यापकेश्वर ! (त्वा) उसका मैं (मावक्रमिषम्) कभी उल्लङ्घन न करूं । तथा हे (अग्ने) जगदीश्वर ! (ते) आपके (वसुमतीम्) पदार्थ देनेवाले (छायाम्) आश्रय को (उपस्थेषम्) प्राप्त होऊं । जो यह (अग्ने) अग्नि (विष्णोः) यज्ञ के (स्थानम्) ठहरने का स्थान (असि) है, उसके भी उत्तम पदार्थ देनेवाले आश्रय को मैं प्राप्त होकर यज्ञ को सिद्ध करता हूँ, तथा जो (ऊर्ध्वः) आकाश और जो (अध्वरः) यज्ञ अग्नि में ठहरने वाला (आ) सब प्रकार से (अस्थात्) ठहरता है, उसको [(इतः) यहां से] (इन्द्रः) सूर्य्य और वायु धारण करके (वीर्य्यम्) कर्म अथवा पराक्रम को (अकृणोत्) करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि जिस पूर्वोक्त यज्ञ से जल और वायु शुद्ध होकर बहुतसा अन्न उत्पन्न करनेवाले होते हैं, उसको सिद्ध करने के लिये मनुष्यों को बहुतसी सामग्री जोड़नी चाहिये ।

यद्वा भावे कर्मणि च छान्दसो यत्प्रत्ययः, स्वरश्च पूर्ववत् ॥

(ऊर्ध्वः) उर्देर्धश्च इति भोजः (उ० २ । ३ । १२५) 'उर्द माने' इत्यस्माद् धातोर्वः प्रत्ययः, उपधायां च (अ० ८ । २ । ७८) इति दीर्घः । यद्वा कृगॄशृदृभ्यो वः (उ० १ । १५५) इति बाहुलकाद् ऊर्देरपि वः, धकारादेशश्च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आध्यात्मिकार्थोऽत्र सुस्पष्टः ॥
२ सर्वोऽपि भावार्थो मन्त्रगतपदैः सङ्गतोऽत्र बोध्यः ॥
३ तत्सिद्ध्यर्थमेतस्य सिद्ध्यर्थमिति भावः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थ एव निरूपितो द्रष्टव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

यत्तु पदार्थे 'अग्ने' इति व्याख्याने 'परमेश्वरः, भौतिको वा' इत्युक्तं तस्य भाषायामन्यथैवानुवादः कृतः, स चानुवादकानामयोग्यतामेव दर्शयति । आचार्यस्य भाषायामनभ्यासवशादित्थम्भूतानि बहूनि स्थलानि वेदभाष्ये यत्र तत्र द्रष्टुं शक्यन्ते ॥ ८ ॥

५ इस प्रकार के गुणोंवाले अग्नि में किया हुआ यज्ञ, किस तरह का रूप धारण कर, किस प्रकार प्राणिमात्र का हितसाधन करता है, सो कहते हैं—'फिर भी उक्त यज्ञ' इत्यादि ॥

६ यहां आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट विदित हो रहा है ॥

७ समस्त भावार्थ मन्त्रगत पदों से समन्वित है ॥

* 'धारयित्वा' इति क. ख. ग. पाठः ।
+ ' (विष्णो) व्यापकेश्वर' इति सर्वकोशेषु पाठः । स च अजमेरमुद्रिते प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ।

* मुझ सर्वत्र व्यापक की आज्ञा कभी उल्लङ्घन नहीं करनी चाहिये, किन्तु जो असंख्यात सुखों का देनेवाला मेरा आश्रय है, उसको सदा ग्रहण करके अग्नि में जो हवन किया जाता है, तथा जिसको सूर्य्य अपनी किरणों से खैंचकर वायु के योग से ऊपर मेघमण्डल में स्थापन करता है, और फिर वह उसको वहाँ से मेघ द्वारा गिरा देता है, और जिससे पृथिवी पर बड़ा सुख उत्पन्न होता है, उस यज्ञ का अनुष्ठान सब मनुष्यों को सदा करना योग्य है[१] ॥ ८ ॥

अग्ने वेरित्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता[२] । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तेन किं भवतीत्युपदिश्यते[३] ॥

अग्ने॒ वेर्हो॒त्रं वेर्दू॒त्यमव॑तां त्वां द्यावापृथि॒वी ऽ अव॒ त्वं द्यावापृथि॒वी स्वि॑ष्ट॒कृद्दे॒वेभ्य॒ ऽ इन्द्र॒ ऽ आज्ये॑न ह॒विषा॑ भू॒त्स्वाहा॒ सं ज्योति॑षा॒ ज्योतिः॑ ॥ ९ ॥

अग्ने॑ । वेः । होत्रम् । वेः । दूत्यम् । अव॑ताम् । त्वाम् । द्यावा॑पृथिवीऽइति॒ द्यावा॑ऽपृथि॒वी । अव॑ । त्वम् । द्यावा॑पृथिवीऽइति॒ द्यावा॑ऽपृथिवी । स्वि॒ष्ट॒कृदिति॑ स्वि॒ष्ट॒ऽकृत् । दे॒वेभ्यः॑ । इन्द्रः॑ । आज्ये॑न । ह॒विषा॑ । भू॒त् । स्वाहा॑ । सम् । ज्योति॑षा । ज्योतिः॑ ॥ ९ ॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर ! भौतिको वा । (वेः) विद्धि, वेदयति प्रापयति वा, अत्रोभयत्र लडर्थे लङ् । वी गति० इत्यस्य प्रयोगोऽडभावश्च । (होत्रम्) जुह्वति यस्मिन् तद्यज्ञकर्म (वेः) विद्धि, वेदयति प्रापयति वा । (दूत्यम्) दूतस्य कर्म तत् । दूतस्य भागकर्मणी । अ० ४ । ४ । १२० । अनेन यत् प्रत्ययः । (अवताम्) रक्षतः । (त्वाम्) तत् । (द्यावापृथिवी) द्यौश्च पृथिवी च ते, दिवो द्यावा । अ० ६ । ३ । २९ । अनेन द्वन्द्वे समासे दिवः स्थाने द्यावादेशः । (अव) रक्ष रक्षति वा, अत्र पक्षे व्यत्ययः । (त्वम्) स वा । (द्यावापृथिवी) अस्मत्प्राप्ते न्यायप्रकाशपृथिवीराज्ये, द्यावापृथिवी इति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ३ । इत्य [नेना] त्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते । (स्विष्टकृत्) यः शोभनमिष्टं करोति सः । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यसुखेभ्यो वा । (इन्द्रः[४]) भौतिकः सूर्य्यो वायुर्वा । इन्द्रेण वायुना । ऋ० १ । १४ । १० । अनेनेन्द्रशब्देन वायुरपि गृह्यते । (आज्येन[५]) यज्ञेऽग्नौ च * प्रक्षेप्तुं योग्येन घृतादिना । (हविषा) संस्कृतेन होतव्येन

त्रिविधप्रक्रिया

१ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ सं० पदार्थ से समझ लेना चाहिये ॥

वि० वक्तव्य

भाषानुवाद करनेवाले लोग आचार्य के संस्कृत-पदार्थ में दर्शाये भाव को भाषार्थ में दिखा नहीं सके । यहाँ अग्नि का अर्थ 'परमेश्वर ! भौतिको वा' (पृ० १७३) परमेश्वर व भौतिक है—यहाँ 'वा' शब्द से मन्त्र के आधिदैविक अर्थ की ऊहा स्वाध्यायशील सज्जनों को अपनी बुद्धि से कर लेनी चाहिये ॥ इस वेदभाष्य में इसी प्रकार के अनेक स्थल हैं । विचारशील पाठकों को ध्यानपूर्वक आचार्य के अभिप्राय तक पहुंचने का यत्न करना चाहिये ॥८॥

२ इन्द्रः, आज्यमिति सर्वानुक्रमणी ॥

३ इदानीं तत्फलप्राप्त्याकाङ्क्षायामिष्टसाधकतामाह—'पुनस्तेन किम्' इति ॥

४ पूर्वमन्त्रे व्याख्यातः (पृ० १५९) ॥

५ आज्यं (स्वयं विलीनं सर्पिः) वै देवानां सुरभि ॥ ऐ० १ । ३ ॥

* 'जैसे मैं सर्वत्र व्यापक हूं मेरी आज्ञा' इति अ. सु. पाठः ख. ग. कोशयोश्च । क. कोशे तु 'तथा मैं व्यापक हूं उसकी आज्ञा' इति पाठः ।

* 'प्रक्षेपितुं' इति अ. सु. पाठः, सर्वकोशेषु चेति बोध्यम् ।

पदार्थेन। (भूत्) भवति, अत्र लडर्थे लुङ्, अडभावश्च। (स्वाहा) वेदवाणीदं कर्माह। (सम्) सम्यगर्थे। (ज्योतिषा) तेजस्विना लोकसमूहेन सह। (ज्योतिः) प्रकाशवान् † द्युतेरिसन्नादेश्च जः। उ० २।११०। इति द्युतधातोरिसन् प्रत्यय आदेर्जकारादेशश्च॥ अयं मन्त्रः श० १।४।५।४—९ व्याख्यातः॥ ९॥

अन्वयः[2]—हे [अग्ने] परमेश्वर! ये द्यावापृथिवी [त्वां तं] यज्ञमवतां रक्षतस्ते त्वं वेः रक्ष। यथायमग्निर्होत्रं दूत्यं च कर्म प्राप्तो द्यावापृथिवी रक्षति, तथा हे भगवन्! देवेभ्यः स्विष्टकृत् त्वमस्मान् वेः सदा पालय। यथायमाज्येन हविषा ज्योतिषा सह ज्योतिः स्विष्टकृदिन्द्रो द्यावापृथिव्यो रक्षको भूद् भवति, तथा त्वं विज्ञानज्योतिःप्रदानेनास्मान् समवेति स्वाहा॥ ९॥

भावार्थः[3]—ईश्वरो मनुष्येभ्यो वेदेपूपदिष्टवानस्ति—मनुष्यैर्यद्यदग्निपृथिवीसूर्य्यवाय्वादिभ्यः पदार्थेभ्यो होत्रं दूत्यं च ‡ कर्म निमित्तं विदित्वाऽनुष्ठीयते, तत्तदिष्टकारि भवति। अष्टममन्त्रेण यज्ञसाधनं यदुक्तं तत्फलं नवमेन प्रकाशितमिति[4]॥ ९॥

---

१ स प्रजापतिर्विदाञ्चकार स्वो वै मा महिमाहेति स स्वाहेत्येवाजुहोत्, तस्मादु स्वाहेत्येव हूयते॥श० २।२।४।६॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वेः) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघाते प्राप्ते आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८।१।७२) इत्यामन्त्रितस्याविद्यमानत्वे धातुस्वरेणोदात्तः।

(होत्रम्) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उ० ४।१६८) इति ताभ्यामन्यत्रोणादयः (३।४।७५) इत्यधिकरणे त्रन् प्रत्ययः; नित्त्वादाद्युदात्तप्राप्तौ छान्दसत्वादन्तोदात्तत्वम्॥

(दूत्यम्) यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्यनेनाद्युदात्तत्वं प्राप्तं, तत्र छन्दसि सर्वे विधयो विकल्पन्त इति न भवति, तदभावे तित् स्वरितम् (अ० ६।१।१८५) इति स्वरितत्वम्॥

(अवताम्, अव) तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः (अ० ६।१।१८६) इत्यनेन लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः। ततः तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः प्राप्तः, स च छान्दसत्वान्न भवति॥

(द्यावापृथिवी) द्यौश्च पृथिवी चेति चार्थे द्वन्द्वः (अ० २।२।२९) इत्यनेन द्वन्द्वसमासे दिवसश्च पृथिव्याम् (अ० ६।३।३०) इति 'द्यावा' आदेशः। आद्युदात्तश्च निपात्यते। पृथिवीशब्दस्तु 'प्रथेः षिवन्'० (उ० १।१५०) इत्यनेन षिवन्प्रत्ययान्तः। ततो ङीष्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु (अ० ६।२।१४२) इत्यनेन पृथिव्युत्तरपद उभयपदप्रकृतिस्वरप्रतिषेधस्य पर्युदासाद् देवताद्वन्द्वे च (अ० ६।२।१४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरो भवति॥

(स्विष्टकृत्) स्विष्टं करोतीति स्विष्टकृत् क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति क्विपि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः॥

(ज्योतिषा) द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उ० २।११०) इति द्युतधातोरिसिन् प्रत्यय आदेश्च जादेशः। प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

२ अध्यात्मपरोऽयमन्वय इति ध्येयम्। पदार्थे 'भौतिको वा' इति वचनादाधिदैविकोऽधियज्ञार्थश्चावगन्तव्यः।

३ मन्त्रगतपदैः सुसम्बद्धोऽयं भावार्थः॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थ एव सुव्यक्तः॥

---

† 'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः' इत्यजमेरमुद्रितोणादौ पाठः। दशपाद्यां तु भिन्नः पाठः॥

‡ यथामुद्रितपाठस्तु वाक्ये नान्वेति। कदाचिदत्रेत्थं स्यात्—'पदार्थेभ्यो निमित्तं होत्रं दूत्यं कर्म च विदित्वा'।

फिर उस यज्ञ से क्या लाभ होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[1] ॥

पदार्थः[2]—हे (अग्ने) परमेश्वर ! जो (द्यावापृथिवी) प्रकाशमय सूर्यलोक और पृथिवी [(त्वा) उस] यज्ञ की (अवताम्) रक्षा करते हैं उनकी (त्वम्) आप (वेः) रक्षा करो, तथा जैसे यह भौतिक अग्नि (होत्रम्) यज्ञ और (दूत्यम्) दूतकर्म को प्राप्त होकर (द्यावापृथिवी) प्रकाशमय सूर्यलोक और पृथिवी की रक्षा करता है वैसे हे भगवन् ! (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (स्विष्टकृत्) उनकी इच्छानुकूल अच्छे २ कार्यों के करनेवाले आप हम लोगों की (वेः) रक्षा कीजिये । जैसे यह (आज्येन) यज्ञ के निमित्त अग्नि में छोड़ने योग्य घृत आदि उत्तम २ पदार्थ (हविषा) संस्कृत अर्थात् अच्छे प्रकार शुद्ध किये हुए होम के योग्य कस्तूरी केसर आदि पदार्थ वा (ज्योतिषा) प्रकाशयुक्त लोकों के साथ (ज्योतिः) प्रकाशमय किरणों से स्विष्टकृत् अच्छे २ वाञ्छित कार्य सिद्ध करनेवाला (इन्द्रः) सूर्यलोक भी * प्रकाश और पृथिवी की रक्षा करनेवाला (भूत्) होता है, वैसे आप (ज्योतिः) विज्ञानरूप ज्योति के दान से हम लोगों की [(सम्) भली प्रकार] (अव) रक्षा कीजिये, इस कर्म को (स्वाहा) वेदवाणी कहती है ॥ ९ ॥

भावार्थः[3]—ईश्वर ने मनुष्यों के लिये वेदों में उपदेश किया है कि जो २ अग्नि पृथिवी सूर्य और वायु आदि पदार्थों के † निमित्त होम और दूतसंबन्धी कर्म को जान के अनुष्ठान करने योग्य हैं, सो २ उनके लिये वाञ्छित सुख के देनेवाले होते हैं । अष्टम मन्त्र से कहे हुए यज्ञसाधन का फल नवमे मन्त्र से प्रकाशित किया है[4] ॥ ९ ॥

मयीदमित्यस्य ऋषिः स एव । इन्द्रो देवता[5] । भुरिग्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

वि० वक्तव्यम्

अत्रैतस्मान्नवममन्त्रादारभ्य विंशतिमन्त्रपर्यन्तेषु द्वादशसु मन्त्रेषु सर्वेषां मिथः सङ्गतिराचार्यदयानन्देन भावार्थे प्रदर्शिता । सा चोपलक्षणमात्रमिति ध्येयम् । अन्यत्रापि मन्त्रेष्वेवमेव मिथः साङ्गत्यमूहनीयम् । सङ्गतिमन्विष्यमाणैरेषां मन्त्राणां सङ्गतिप्रदर्शनेनाचार्याणां किमत्र हृदयमिति द्रष्टुं शक्यते ॥ ९ ॥

1 अब उस फल की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये इष्टसिद्धि का हेतु बताते हैं—'फिर उक्त यज्ञ से क्या' इत्यादि ॥

२ अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया गया है ॥

३ मन्त्रगत पदों से भावार्थ समन्वित कर लेना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ संस्कृतपदार्थ में तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ स्पष्ट विदित हो रहा है ॥

वि० वक्तव्य

इस नवम मन्त्र से लेकर आगे २०वें मन्त्र तक अर्थात् १२ मन्त्रों में आचार्य दयानन्द भावार्थ में एक मन्त्र से दूसरे मन्त्र का परस्पर सम्बन्ध बहुत ही स्पष्ट रीति से बराबर दर्शा रहे हैं, जिससे मन्त्रों का परस्पर समन्वय उत्तम रीति से समझ में आ रहा है । यह स्मरण रहे कि यह सङ्गति उपलक्षणमात्र है । अन्य मन्त्रों में भी इसी प्रकार समझने का यत्न करना चाहिये ॥

एक मन्त्र की दूसरे मन्त्र से क्या सङ्गति है, इस बात को न समझ सकनेवाले महानुभावों को आचार्य की इन मन्त्रों की भावार्थ में दर्शाई हुई परस्पर सङ्गति ध्यान से देखनी चाहिये ॥ ९ ॥

---

५ आशीः प्रतिग्रहणम्, पृथिवी इति सर्वानुक्रमणी ॥

लिङ्गादिन्द्रो मघवा देवता, अथवाऽशीःप्रतिग्रहणे देवताजपे वा रूपग्रहणस्याप्रस्तुतत्वादिति सर्वानुक्रमणीटीकाकृत् । देवतावादे कथं मिथो विचारभेद इति सुधियो विभावयन्तु ॥

---

* 'हमारे न्याय वा पृथिवी के राज्य की' इति अ० मु० पाठः । अस्माभिस्तु क. पाठः स्वीकृतः ॥

† 'निमित्तों को जान के होम और दूतसम्बन्धी कर्म अनुष्ठान' इति अ० मु० पाठः ॥

अथ तज्जन्यं फलमुपदिश्यते¹ ॥

मयीदमिन्द्र ऽ इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष ऽ उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात् स्वाहा ॥ १० ॥

मयि । इदम् । इन्द्रः । इन्द्रियम् । दधातु । अस्मान् । रायः । मघवान इति मघऽवानः । सचन्ताम् ॥ अस्माकम् । सन्तु । आशिष इत्याऽशिषः । सत्याः । नः । सन्तु । आशिष इत्याऽशिषः । उपहूतेत्युपऽहूता । पृथिवी । माता । उप । माम् । पृथिवी । माता । ह्वयताम् । अग्निः । आग्नीध्रात् । स्वाहा ॥ १० ॥

पदार्थः—(मयि) आत्मनि । (इदम्) यच्छुद्धं ज्ञानयुक्तं साधुकारि प्रत्यक्षं तत् । (इन्द्रः²) परमेश्वरः । (इन्द्रियम्) इन्द्रस्यैश्वर्य्यप्राप्तेर्लिङ्गं चिह्नमिन्द्रेण * परमेश्वरेण दृष्टमिन्द्रेण परमेश्वरेण सृष्टं प्रकाशितमिन्द्रेण विद्यावता जीवेन जुष्टं संप्रीत्या सेवितमिन्द्रेण परमेश्वरेण यद्दत्तं सर्वसुखज्ञानसाधकम् । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । अ० ५ । २ । ९३ । अनेनोक्तेष्वर्थेष्विन्द्रियशब्दो निपातितः । (दधातु) नित्यं धारयतु । (अस्मान्) मनुष्यान् । (रायः³) विद्यासुवर्णचक्रवर्त्तिराज्यादिधनानि । राय इति धननामसु पठितम् । निघ० २ । १० (मघवानः⁴) मघानि बहूनि धनानि विद्यन्ते येष्वैश्वर्य्ययोगेषु ते । अत्र भूम्न्यर्थे †वनिप् । मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः । निरु० १ । ७ । (सचन्ताम्) समवेताः प्राप्ता भवन्तु । (अस्माकम्) परोपकारिणां धार्मिकाणां मानवानाम् । (सन्तु) भवन्तु । (आशिषः) कामनाः । (सत्याः) सिद्धाः । (नः) अस्माकं विद्यावतां राज्यसेविनाम् । (सन्तु) भवन्तु ।

१ प्रकारान्तरेण तत्फलमेव व्याचष्ट इत्यत आह 'तज्जन्यं फलं' इति ॥

२ इन्द्रः पूर्वं व्याख्यातः (पृ० ४४) ॥

३ पशवो वै रायः ॥ श० ३ । ३ । १ । ८ ॥

४ इन्द्रो वै मघवान् ॥ श० ४ । १ । २ । १५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मयि) अस्मच्छब्दो युष्यसिभ्यां मदिक् (उ० १।१३९) इति मदिक्प्रत्ययान्तो ऽन्तोदात्तः । ततः सप्तम्येकवचने त्वमावेकवचने (अ० ७ । २ । ९७) इत्यनेन मपर्यन्तस्य 'म' आदेशः, ततो यो ऽचि (अ० ७ । २ । ८९) इत्यनेनान्त्यस्य दकारस्य यादेशः । अवशिष्टोऽकार उदात्तः । प्रत्ययस्त्वनुदात्तः सुप्त्वात् ॥

(इन्द्रियम्) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग० (अ० ५ । २ । ९३) इत्यत्र निपातनादन्तोदात्तः ॥

(रायः) ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (अ० ६ । १ । १७१) इति छान्दसत्वान्न भवति ॥

(मघवानः) 'मघि गत्याक्षेपे', निघण्टौ तु दानकर्मसु 'मंहते' इति पठितम् । निरुक्तकारो ऽप्याह—मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः (निरु० १ । ७) । उभाभ्यामेव घञर्थे कविधानम्० (अ० ३ । ३ । ५८ भा० वा०) इत्यादिना कप्रत्ययः परिगणनस्य प्रायिकत्वात् । यद्वा कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ वा०) इत्यनेन बाहुलकात् कप्रत्ययः । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६ । ३ । १०९) इत्यादिना नकारलोपो द्वितीयपक्षे हकारस्य च घकारः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततः छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ (अ० ५ । २ । १०९ वा०) इत्यनेन भूम्न्यर्थे वनिप् प्रत्ययः । स च पित्त्वादनुदात्तः ॥ यद्वा श्वन्नुक्षन्० (उ० १ । १५९) इत्यादिसूत्रे निपातनात् कनिन्प्रत्ययान्तं मघवन्पदं ज्ञेयम् । मतुबन्तस्य तु 'मघवान् मघवन्तौ मघवन्तः' इति रूपाणि । वनिप्प्रत्ययान्तस्य कनिन्प्रत्ययान्तस्य च मघवा मघवानौ मघवान इत्येवं रूपाणि ।

* 'परमेश्वरेण' इति क. कोशपाठः । अन्यत्र नास्ति ॥

† 'भूम्न्यर्थे मतुप्' इति अ. मु. पाठः सर्वकोशेषु च । तथैव ऋग्वेदभाष्ये १ । ३२ । ३ अपि वर्तते, स सर्वोऽपि लेखकप्रमादादिपर इति ध्येयम् । शिष्टं व्याकरणप्रक्रियातो ज्ञेयम् ॥

(आशिषः) न्यायेच्छाविशिष्टाः क्रियाः। शास इत्वे आशासः क्वावुपसंख्यानम्। अ० ६।४।३४। अनेन वार्त्तिकेनाशीरिति सिद्धः। (उपहूता) उपहूयते जनै राज्यसुखार्थं या। (पृथिवी) पृथुसुखनिमित्ता। (माता) मान्यकरणहेतुः। (उप) † उपगतार्थे। (माम्) सुखार्थिनं धार्मिकम्। (पृथिवी) पृथुसुखदात्री विद्या। (माता) धर्मार्थकाममोक्षसिद्धया मान्यदात्री। (ह्वयताम्) स्पर्धतामुपदिशताम्। (अग्निः) ईश्वरः। (आग्नीध्रात्) अग्निरिध्यते प्रदीप्यते यस्मिन् तस्येदं शरणमाश्रयणं तस्मात्। अग्नीधः शरणे रञ् भं च। अ० ४। ३। १२०। अनेन वार्त्तिकेनाधिकरणवाचिनः क्विबन्तादग्नीध्प्रातिपदिकाद् रञ्प्रत्ययः। (स्वाहा) सुहुतमाह यया सा॥ अयं मन्त्रः श० १।८।१।३९—४४ व्याख्यातः॥ १०॥

अन्वयः[1]—इन्द्रो मयीदमिन्द्रियं रायश्च दधातु तत्कृपया स्वपुरुषार्थेन च यथा वयं मघवानो भवेम, तथाऽस्मान् रायः सचन्ताम्, एवं चास्माकमाशिषः [सन्तु], सत्याः [नः आशिषः] सन्त्वेवं मातेयं पृथिवी विद्योपहूता च सती [पृथिवी माता] मामुपह्वयतामुपदिशताम्, तथा मयाऽनुष्ठितोऽयमग्निराग्नीध्रादिष्टकृत् + सन् अस्माकं सुखान्युपह्वयति, एवं सम्यग्घुतमिष्टकारि भवतीति स्वाहा वेदवाण्याह॥ १०॥

भावार्थः[3]—ये पुरुषार्थिन ईश्वरोपासकास्त एव शोभनं मनः श्रेष्ठान्युत्तमानि धनानि सत्या इच्छाश्च प्राप्नुवन्ति, नेतरे। सर्वस्य मान्यप्राप्तिहेतुत्वात् भूमिविद्ये पृथिवीशब्देनात्र प्रकाशिते स्तः। सर्वैरेते सदोपकर्त्तव्ये भवत इतीश्वरोऽनेन वेदमन्त्रेणाह। नवममन्त्रेणाग्न्यादिभ्यः साधितेभ्य इष्टसुखप्राप्तिरुदिता, सैवानेन दशमेन मन्त्रेण प्रकाशितेति॥ १०॥

अब अगले मन्त्र में उक्त यज्ञ से उत्पन्न होने वाले फल का उपदेश किया है[4]॥

पदार्थ[5]—(इन्द्रः) परमेश्वर (मयि) मुझ में (इदम्) प्रत्यक्ष (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य की प्राप्ति के चिह्न, तथा परमेश्वर ने जो अपने ज्ञान से देखा वा प्रकाशित किया है, और जो सब सुखों को सिद्ध करानेवाले विद्वानों को दिया है, जिसको वे इन्द्र अर्थात् विद्वान् लोग प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, उन्हें तथा (रायः) विद्या सुवर्ण वा चक्रवर्त्ति राज्य आदि धनों को (दधातु) नित्य स्थापना करे, और उसकी कृपा से तथा हमारे पुरुषार्थ से

(आशिषः) 'आङः शासु इच्छायाम्' अस्मात् क्विपि क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् (अ० ८।२।१०४) इत्यत्र निपातनाच्छास इत्वम्। वृत्तिकारस्तु 'क्वौ च शास इत्वम्' इत्यत्र उभयोरेव ग्रहणं शास्ति। ततो गतिसमासे गतिकारकोपप० (अ० ६।२।१३९) इत्यादिनोत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम्। जस् तु सुप्त्वादनुदात्तः॥

उत्तरत्र तु 'आङ्पूर्वात् शासु अनुशिष्टौ' इत्यस्मादेव प्रत्ययविधिरिति विशेषः। अतो वार्त्तिकादेवेत्वं भविष्यति॥

(उपहूता) उपपूर्वाद् ह्वयतेः कर्मणि क्तः। वचिस्वपियजादीनां किति (अ० ६।१।१५) इति सम्प्रसारणम्। गतिसमासे गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८१) इत्यनेनाद्युदात्तत्वम्॥

(आग्नीध्रात्) रञ्प्रत्यये ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ आध्यात्मिकार्थोऽत्र निरूपितः॥

२ संस्कृतपदार्थे "(अग्निः) ईश्वरः" इति प्रदर्शितः। इहान्वये भौतिकपरो व्याख्यातः। आचार्यस्योभयथा व्याख्यानादुभावप्यर्थावत्र ग्राह्याविति सूच्यते॥

३ मन्त्रगतपदैरयं सङ्गमयितव्यः॥ १०॥

४ प्रकारान्तर से उसी फल को कहते हैं—उक्त यज्ञ से इत्यादि॥

५ सं० अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है॥

† 'उपगतार्थे' इति क. पाठः। उत्तरत्र लेखकप्रमादात् 'उप' इति भागस्त्यक्तः॥

+ 'सन् नो ऽस्माकं' इति अ० मु० पाठः सर्वकोशेषु च। स चापपाठः। तथैव भाषापदार्थेऽप्यासीत्॥

(मघवानः) जिनमें कि बहुत धन राज्य आदि पदार्थ विद्यमान हैं, जिन करके हमलोग पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त हों * वैसे (अस्मान्) हम विद्वान् धर्मात्मा लोगों को धन (सचन्ताम्) प्राप्त हों तथा इसी प्रकार (अस्माकम्) हम परोपकार करनेवाले धर्मात्माओं की (आशिषः) कामना (सत्याः) [सत्य] सिद्ध (सन्तु) हों और ऐसे ही (नः) हमारी (आशिषः) जो न्यायपूर्वक इच्छायुक्त क्रिया हैं वे भी सत्य सिद्ध (सन्तु) हों, तथा इसी प्रकार (माता) धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि से मान्य करनेहारी विद्या और (पृथिवी) बहुत सुख देने वाली भूमि है, (उपहूता) जिसको राज्य आदि सुख के लिये मनुष्य क्रम से प्राप्त होते हैं, वह [(माता) (पृथिवी)] (माम्) सुख की इच्छा करने वाले मुझको (उपह्वयताम्) अच्छे प्रकार उपदेश करती है, तथा मेरा अनुष्ठान किया हुआ यह (अग्निः) + भौतिक अग्नि जिसको कि (आग्नीध्रात्) इन्धनादि से प्रज्वलित करते हैं, वह वाञ्छित सुखों का करने वाला होकर हमारे सुखों का आगमन करावे, क्योंकि ऐसे ही अच्छे प्रकार होम को प्राप्त होके चाहे हुए कार्यों को सिद्ध करनेहारा होता है । (स्वाहा) सब मनुष्यों के करने के लिये वेदवाणी इस कर्म को कहती है ॥ १० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य पुरुषार्थी, परोपकारी, ईश्वर के उपासक हैं, वे ही श्रेष्ठ ज्ञान उत्तम धन और सत्य कामनाओं को प्राप्त होते हैं, और नहीं । जो सबको मान्य देने के कारण इस मन्त्र में पृथिवी शब्द से भूमि और विद्या का प्रकाश किया है, सो ये सब मनुष्यों को उपकार में लाने के योग्य हैं । ईश्वर ने इस वेदमन्त्र से यही प्रकाशित किया है, तथा जो नवम मन्त्र से अग्नि आदि पदार्थों से इच्छित सुख की प्राप्ति कही है, वही बात दशम मन्त्र से प्रकाशित की है[२] ॥ १० ॥

उपहूतेत्यस्य ऋषिः स एव । द्यावापृथिवी देवते[३] । ब्राह्मीबृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तमेवार्थं द्रढयति[४] ॥

उप॑हूतो॒ द्यौष्पि॒तोप॒ मां द्यौष्पि॒ता ह्व॑यताम॒ग्निरा॑ग्नी॑ध्रात् स्वाहा॑ । दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॑ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । प्रति॑गृह्णाम्य॒ग्नेष्ट्वा॒स्ये॒न प्राश्ना॑मि ॥ ११ ॥

उप॑हूत॒ इत्युप॑ऽहूतः । द्यौः । पि॒ता । उप॑ । माम् । द्यौः । पि॒ता । ह्व॒य॒ता॒म् । अ॒ग्निः । आग्नी॑ध्रात् । स्वाहा॑ ॥ दे॒वस्य॑ । त्वा । स॒वि॒तुः । प्र॒स॒व इति॑ प्र॒ऽस॒वे । अ॒श्विनोः॑ । बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म् । पू॒ष्णः । हस्ता॑भ्याम् । प्रति॑ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । अ॒ग्नेः । त्वा । आ॒स्ये॑न । प्र । अ॒श्ना॒मि॒ ॥ ११ ॥

पदार्थः—(उपहूतः) कृतोपह्वानः । (द्यौः) प्रकाशरूपः । (पिता) सर्वपालक ईश्वरः । (उप) क्रियार्थे । (माम्) सुखभोक्तारम् । (द्यौः) प्रकाशमयः । (पिता) पालनहेतुः सूर्यलोकः । (ह्वयताम्) ह्वयति, अत्र व्यत्ययेन लडर्थे लोट् । (अग्निः) जाठरस्थः । (आग्नीध्रात्) अन्नाशयात् । साधुत्वमस्य पूर्ववज्ज्ञेयम् । (स्वाहा) सुहुतं सुखकार्यहेश्वरः । (देवस्य) हर्षकरस्य । (त्वा) त्वां तं वा । (सवितुः)

---

१ मन्त्रगत पदों से भावार्थ का समन्वय समझ लेना चाहिये ॥

२ देवतावाद में परस्पर भेद संस्कृतटिप्पण में देखें ॥ १० ॥

३ द्यौः, सविता, प्राशित्रम् इति सर्वानुक्रमणी ॥

४ संसारे पदार्थानां भोगो धर्मेण युक्त्या च कार्य इति सुखरूपफलप्राप्त्युपायं ब्रुवाण आह—पुनस्तमेव इत्यादि ॥

५ अग्निर्वै देवानामन्नादः ॥ तै० ३ । १ । ४ । १ ॥ अन्नादोऽग्निः ॥ श० २ । १ । ४ । २८ ॥

६ यजु० २।१० मन्त्रवद् इति भावः ।

७ उभयथाऽपि मन्त्रार्थोऽत्र योजनीय इत्याचार्याणां हृदयमिङ्गितचेष्टितैर्ज्ञायते ॥

* 'वैसे धन (नः) हम विद्वान् धर्मात्मा लोगों की' इति अ. मु. पाठः ॥

\+ 'जिस भौतिक अग्नि को कि' इति अ. मु. पाठः ॥

सर्वस्य जगतः प्रसवितुरीश्वरस्य । (प्रसवे) उत्पन्नेऽस्मिन् जगति । (अश्विनोः) प्राणापानयोः । (बाहुभ्याम्) आकर्षणधारणाभ्याम् । (पूष्णः) पुष्टिहेतोः समानस्य वायोः । (हस्ताभ्याम्) शोधन-सर्वाङ्गप्रापणाभ्याम् । (प्रतिगृह्णामि) नित्यं स्वीकरोमि । (अग्नेः) भौतिकस्य पाचकस्य । (त्वा) तं भक्ष्यं पदार्थम् । (आस्येन) मुखेन, ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकादास्यम् अ० १ । १ । ९ । इति महाभाष्ये, अस्यन्ति प्रक्षिपन्ति उदरेऽन्नादिकं येन, तदास्यं मुखम् । (प्र) गुणैर्यत्प्रकृष्टं तदर्थे, क्रियायोगे । प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १ । ३ । (अश्नामि) भुञ्जे ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । १ । ३९-४४ व्याख्यातः ॥११॥

अन्वयः—मया द्यौः पितेश्वर उपहूतो मामुपह्वयतां स्वीकरोत्वेवं मया द्यौः पिता पालनहेतुः सूर्य्यलोक उपहूतः स्पर्द्धितः सन् मां विद्यायै उपह्वयति । योऽग्निः स्वाहा सुहुतं भुक्तमन्नमाग्नीध्रात्[२] पचति, यो देवस्य सवितुः प्रसवे वर्त्तमानोऽस्ति [त्वा] तमहं भोगम्[३] अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि । गृहीत्वा च प्रदीप्तस्याग्नेर्मध्ये [त्वा तं] पाचयित्वा ऽऽस्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

भावार्थः—† मनुष्यैरात्मशुद्ध्यर्थमनन्तविद्याप्रकाशकस्य परमेश्वरस्याह्वानं नित्यं कार्य्यम्, तथा च विद्यासिद्धये चक्षुषा संशोध्य, जाठराग्निं प्रदीप्य, संस्कृतं मितमन्नं नित्यं भोक्तव्यम् । ईश्वरेण जगत्युत्पादितैः पदार्थैर्यः सर्वो भोगः सिध्यति, स च विद्याधर्मयुक्तेन व्यवहारेण भोक्तव्यो भोजयितव्यश्च ।

ये पूर्वमन्त्रेण पृथिव्यां विद्यया प्राप्तव्या मान्यकारिणः पदार्था उक्तास्तेषां भोगो धर्मेण युक्त्या च सर्वैः कार्य्य इत्यनेन *प्रतिपादितम् ॥ ११ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(द्यौः) द्युगमिभ्यां डोः इति भोजः, यद्वा बाहुलकादौणादिको गमेर्डोः (उ०२।६७) इति विहितो 'डो' प्रत्ययो द्युतेरपि भवति । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(पिता) पूर्वं यजुः २ । ७ पृ० १७२ व्याख्यातः ॥

(हस्ताभ्याम्) पूर्वं यजुः १।१० व्याख्यातः, इह तु भावे, तनूप्रत्यय इति विशेषः ।

(प्रसवे) पूर्वं यजुः १।१० । व्याख्यातः ।

(आस्येन) 'असु क्षेपणे' अस्मात् कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इति करणे ऋहलो-र्ण्यत् (अ० ३ । १ । १२४) इति ण्यत् ॥

इति व्या० प्रक्रिया ॥

१ आध्यात्मिकाधिदैविकार्थावत्र सम्मिश्रितौ प्रकाशितौ।

२ ल्यब्लोपे पञ्चमी, आग्नीध्रमन्नाशयं प्राप्य पचतीत्याशयः ।

३ भोगसाधनमित्याशयः ।

४ अर्थं सङ्घटयन् मन्त्रगतपदानि स्पष्टीकरोति ॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत एव योजनीयः ॥

विशेषवक्तव्यम्

शतपथब्राह्मणे १ । ८ । १ । ४१, ४२ ॥ कात्यायनश्रौतसूत्रे च दर्शपौर्णमासप्रकरणे (का० श्रौ० ३ । ४ । १७, १८) अयं मन्त्रो व्यतिक्रमेण विनियुक्तः ॥ ११ ॥

---

† इतः पूर्वं 'अत्र श्लेषालङ्कारः' इति पाठः ख. ग. कोशयोः, अ० मुद्रिते चोपलभ्यमानोऽप्यपपाठोऽयमिति मत्वाऽऽस्माभिर्न स्वीकृतः ॥

अत्र च हेतुः—'द्यौष्पिता ह्वयताम्' इत्यत्र पितृशब्दव्याख्यानावसरे 'क' पुस्तके 'पालनहेतुः सूर्यलोकः' इत्येव पाठः । पुनः 'ख' पुस्तके श्लेषालङ्कारेणार्थद्वैविध्यविवक्षया "(पिता) पालक ईश्वरः सूर्यलोको वा" इत्येवं परिवर्द्धितः । अत एव च भावार्थेऽपि 'अत्र श्लेषालङ्कारः' इत्येवं परिवर्द्धितः । पुनः 'ग' कोशे 'ख' परिवर्द्धितः "पालक ईश्वरः'''वा" इति पाठः पृथक् कृतः, तद्धेतुकः 'अत्र श्लेषालङ्कारः' इति पाठोऽपि निर्गमयितव्यः सन्न निर्गमित इति ध्येयम् । एवमेव भाषायामपीति बोध्यम् ॥

* 'प्रतिपादितः' इति अ. मु. कोशेषु च पाठः । स च क. कोशकारणाद् व्यस्तः ॥

फिर भी अगले मन्त्र में उक्त अर्थ को दृढ़ किया है[1] ॥

पदार्थः[2]—मुझसे जो (द्यौः) प्रकाशमय (पिता) सर्वपालक ईश्वर (उपहूतः) प्रार्थना किया हुआ (माम्) सुख भोगनेवाले मुझको (उपह्वयताम्) अच्छे प्रकार स्वीकार करे, इसी प्रकार जो (द्यौः) प्रकाशवान् (पिता) सब उत्तम क्रियाओं के पालने का हेतु सूर्यलोक मुझसे क्रियाओं में प्रयुक्त किया हुआ सब सुख भोगने वाले मुझको विद्या के लिये युक्त करता है, तथा जो (अग्निः) जाठराग्नि (स्वाहा) अच्छे [प्रकार] भोजन किये हुए अन्न को (आग्नीध्रात्) उदर में अन्न के कोठे में पचा देता है, उस [अग्नि] से मैं [जो] (देवस्य) हर्ष देने (सवितुः) और सबके उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर के उत्पन्न किये हुये (प्रसवे) संसार में विद्यमान है (त्वा) उस उक्त भोग [अन्नादिक] को (अश्विनोः) प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) आकर्षण और धारण गुणों से तथा (पूष्णः) पुष्टि के हेतु समानवायु के (हस्ताभ्याम्) शोधन वा शरीर के अङ्ग २ में पहुंचाने के गुण से (प्रतिगृह्णामि) अच्छे प्रकार ग्रहण करता हूँ, [और] ग्रहण करके (अग्नेः) प्रज्वलित अग्नि में पकाकर (त्वा) उस भोजन करने योग्य अन्न का (आस्येन) अपने मुख से (प्राश्नामि) भोजन करता हूँ ॥ ११ ॥

भावार्थः[3]—+मनुष्यों को अपने आत्मा की शुद्धि के लिये अनन्तविद्या के प्रकाश करनेवाले पिता परमेश्वर का आह्वान अर्थात् अच्छे प्रकार नित्य सेवन करना चाहिये, तथा विद्या की सिद्धि के लिये उदर की अग्नि को दीप्त कर और नेत्रों से अच्छे प्रकार देख के संस्कार किये हुए परिमाणयुक्त अन्न का नित्य भोजन करना चाहिये, सब भोग, इस संसार में जो कि ईश्वर के उत्पन्न किये [हुए] पदार्थ हैं, उनसे सिद्ध होते हैं। वह भोग विद्या और धर्मयुक्त व्यवहार से भोगना चाहिये, और वैसे ही औरों को वर्तांना चाहिये ॥

जो पूर्व मन्त्र से पृथिवी में विद्या से प्राप्त होने वा मान्यके करानेवाले पदार्थ कहे हैं, उनका भोग धर्म वा युक्ति के साथ सब मनुष्यों को करना चाहिये। ऐसा इस मन्त्र से प्रतिपादन किया है[4] ॥ ११ ॥

एतन्त इत्यस्य ऋषिः स एव। सविता देवता[5]। भुरिग्बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

कस्मै प्रयोजनाय केनायं विद्याप्रबन्धः प्रकाशित इत्युपदिश्यते[6] ॥

एतं ते देव सवितर्य॒ज्ञं प्राहुर्बृह॒स्पत॑ये ब्र॒ह्मणे॑ ।
तेन॑ य॒ज्ञम॑व॒ तेन॑ य॒ज्ञप॑तिं॒ तेन॒ माम॑व ॥ १२ ॥

एतम्। ते। देव। सवितः। यज्ञम्। प्र। आहुः। बृहस्पतये। ब्रह्मणे ॥ तेन। यज्ञम्। अव। तेन। यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम्। तेन। माम्। अव ॥ १२ ॥

१ संसार में पदार्थों का भोग धर्मानुसार युक्तिपूर्वक करना चाहिये। इस अभिप्राय से सुखरूप फल की प्राप्ति के उपाय कहते हुये पूर्वोक्त अर्थ को ही दृढ करते हैं। इसी से कहा—फिर भी अगले मन्त्र में इत्यादि ॥

२ अन्वय में आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थों का मिश्रित निरूपण है ॥

३ मन्त्रगत पदों को दृष्टि में रखकर यहां भावार्थ सङ्घटित हो रहा है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ त्रिविध अर्थ की योजना संस्कृतपदार्थ से करनी चाहिये ॥

विशेषवक्तव्य

कात्यायनश्रौतसूत्र के दर्शपौर्णमासप्रकरण में इस मन्त्र का विनियोग व्यतिक्रम से किया गया है ॥११॥

---

५ विश्वेदेवाः इति सर्वानुक्रमणी ॥

६ सर्वप्राणिनां ज्ञानप्राप्त्या सुखसम्पादकोऽयं यज्ञ ईश्वरेण प्रकाश्यते, तस्मात् सांसारिकसुखावाप्तयेऽप्यसावनुष्ठेयोऽत आह—'कस्मै प्रयोजनाय' इति ॥

+ इतः पूर्वं 'इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है' इति अ. सु. पाठः। अस्मिन् विषये संस्कृतटिप्पणी द्रष्टव्या ॥

पदार्थः—(एतम्) पूर्वोक्तम् । (ते) तव । (देव) दिव्यसुखगुणानां दातः । (सवितः) सकलैश्वर्य्यविधातर्जगदीश्वर । (यज्ञम्) * सुखाय यष्टुमर्हम् । (प्राहुः) प्रकृष्टं ब्रुवन्ति । (बृहस्पतये) बृहत्या वेदवाण्याः पालकाय । (ब्रह्मणे) चतुर्वेदाध्ययनेन ब्रह्मत्वाधिकारं प्राप्ताय । (तेन) बृहद्विज्ञानदानेन । (यज्ञम्) पूर्वोक्तं त्रिविधम् । (अव) नित्यं रक्ष । (तेन) धर्मानुष्ठानेन । (यज्ञपतिम्) यज्ञस्यानुष्ठानेन पालकम् । (तेन) विद्याधर्मप्रकाशेन । (माम्) (अव) रक्ष ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ७ । ४ । १४—२१ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे देव सवितर्जगदीश्वर ! वेदा विद्वांसश्च यमेतं [ते] यज्ञं सवत्प्रकाशितं प्राहुर्येन बृहस्पतये ब्रह्मणे सुखाधिकाराः प्राप्नुवन्ति तेनेमं यज्ञं [अव तेन] यज्ञपतिं [तेन] मां चाव सततं रक्ष † ॥ १२ ॥

भावार्थः—ईश्वरेण सृष्ट्यादौ ⁂ दिव्यगुणवद्भ्योऽग्निवायुरव्यङ्गिरोभ्यश्चतुर्वेदोपदेशेन सर्वेषां मनुष्याणां विद्याप्राप्त्या सुखाय यज्ञानुष्ठानविधिरुपदिष्टोऽनेनैव ‡ सर्वरक्षणविधानं च । नैव विद्याशुद्धिक्रियाभ्यां विना कस्यचित् सुखरक्षणे भवितुमर्हतस्तस्मात् सर्वैः परस्परं प्रीत्यै तयोर्वृद्धिरक्षणे प्रयत्नतः सदैव कार्य्यं ।

यश्चैकादशेन मन्त्रेण यज्ञफलभोग उक्तस्तत्प्रकाश ईश्वरेणैव कृत इति गम्यते ॥ १२ ॥

---

१ वाग् वै बृहती, तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः ॥ श० १४ । ४ । १ । २२ ॥

यदस्यै वाचो बृहत्यै पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः ॥ जै० उ० २ । २ । ५ ॥

२ यमेवामुं त्रय्यै विद्यायै तेजो रसं प्रावृहत्, तेन ब्रह्मा ब्रह्मा भवति ॥ कौ० ६ । ११ ॥

अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्ययेति । ऐ० ५ । ३३ ॥

तस्माद्यो ब्रह्मनिष्ठः स्यात्, तं ब्रह्माणं कुर्वीत ॥ गो० उ० १ । ३ ॥

बृहस्पतिर्हि वै देवानां ब्रह्मा ॥ कौ० ६ । १३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(बृहस्पतये) बृहतां पतिः तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (अ० ६ । १ । १५७ मा० वा०) इति सुडागमस्तकारलोपश्च । उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६ । २ । १४०) इति युगपत् प्रकृतिस्वरः । बृहच्छब्दस्य स्वरस्तु 'बृहन्तम्' (यजुः २ । ४ पृ० १६३) इत्यत्र व्याख्यातः । पातेर्डतिः इति पतिशब्दः प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ आध्यात्मिकाधियज्ञपरावर्थावत्र द्रष्टव्यौ ॥

४ विद्या च शुद्धिक्रिया च, विद्याशुद्धिक्रिये ताभ्याम् ॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ अर्थद्वयं पदार्थतोऽवगम्यते, तृतीयोऽपि तदन्तर्भूत एवेति ध्येयम् ॥

वि० वक्तव्यम्

(क) चतुर्वेदाध्ययनेन 'ब्रह्मा' इति प्रतिपादितं भवति ॥

(ख) १२, १३ इत्युभाभ्यां मन्त्राभ्यामध्वर्युं माज्ञापयति, व्यतिक्रमेण विनियुक्ताविमावपि मन्त्रौ कात्यायनश्रौतसूत्रे २ । २ । १९ तत एव द्रष्टव्यौ ॥

एकस्यां क्रियायामेको मन्त्रो विनियुज्यत इति येषां सिद्धान्तस्तन्मत उभौ संहत्यैको मन्त्रः, संहितायां तु पृथक् पृथक् स्तः ॥

---

* अत्र 'यं सुखाय यष्टुमर्हम्' इति अ. मु. पाठः, ख. ग. कोशयोरपि । क. कोशे 'यं' इति नास्ति । स च सम्यक् पाठः ॥

† 'सततं रक्ष' इति क. ख. कोशयोर्नास्ति ॥ ⁂ 'दिव्य' पदं क. कोशे वर्तते । ख. ग. कोशयोस्तु त्यक्तम् ॥

‡ 'सर्व' पदं क. कोशे एव वर्तते । ख. ग. कोशयोस्तु त्यक्तम् ॥

किस प्रयोजन के लिये और किसने यह विद्या का प्रबन्ध प्रकाशित किया है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[1]॥

पदार्थः[2]—हे (देव) दिव्य सुख वा उत्तम गुण देने तथा (सवितः) सब ऐश्वर्य्य का विधान करने वाले जगदीश्वर ! वेद और विद्वान् [(ते)] आपके प्रकाशित किये हुए (एतम्) इस पूर्वोक्त [(यज्ञम्)] यज्ञ को (प्राहुः) अच्छी प्रकार कहते हैं, जिससे (बृहस्पतये) उत्तम से उत्तम जो वेदवाणी है, उसके पालन करनेवाले (ब्रह्मणे) चारों वेदों के पढ़ने से ब्रह्मा की पदवी को प्राप्त हुए विद्वान् के लिये, सुख और श्रेष्ठ अधिकार प्राप्त होते हैं, ‡ सो हे परमेश्वर ! आप (तेन) उससे (यज्ञम्) इस ॐ पूर्वोक्त त्रिविध यज्ञ की (अव) रक्षा कीजिये, (तेन) उस यज्ञ संबन्धी धर्म से (यज्ञपतिम्) यज्ञ को करने वा सब प्राणियों को सुख देनेवाले विद्वान् [की] और (तेन) उस विद्या वा धर्म के प्रकाश से (माम्) मेरी भी (अव) रक्षा कीजिये ॥ १२ ॥

भावार्थः[2]—ईश्वर ने सृष्टि के आदि में दिव्यगुणवाले अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा ऋषियों के द्वारा चारों वेदों के उपदेश से सब मनुष्यों के लिये § विद्याप्राप्ति से सुख के लिये यज्ञ के अनुष्ठान की विधि का उपदेश किया है, जिससे सबकी रक्षा होती है, क्योंकि विद्या और शुद्धिक्रिया के बिना किसी को सुख वा सुख की रक्षा प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये हम सब को परस्पर प्रीति के साथ ¶ उनकी वृद्धि और रक्षा यत्न से [सदा] करनी चाहिये।

जो ग्यारहवें मन्त्र से यज्ञ का फल कहा है, उसका प्रकाश परमेश्वर ही ने किया है, ऐसा इस मन्त्र से विधान है[3] ॥ १२ ॥

मनोजूतिरित्यस्य ऋषिः स एव। बृहस्पतिर्देवता। विराड् जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

अत्र यद् वक्तव्यं तद् वयं (यजुः १ । ५ पृ० ४९) विवरणेऽवोचाम ॥ १२ ॥

१ यज्ञ से ज्ञानप्राप्ति होकर प्राणियों के लिये सुख प्राप्त होता है, अतः सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिये भी यज्ञ का अनुष्ठान करना उपयुक्त है। अतः कहा 'किस प्रयोजन के लिये' इत्यादि ॥

२ आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों अर्थ अन्वय में दर्शाये हैं ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ सं० पदार्थ से दो अर्थ स्पष्ट विदित हो रहे हैं। तृतीय अर्थ की योजना भी उसी में समझनी चाहिये ॥

वि० वक्तव्य

(क) चारों वेदों के अध्ययन से ब्रह्मा होता है।

(ख) यहाँ भी कात्यायन श्रौतसूत्र में व्यतिक्रम से १२, १३ दोनों ही मन्त्रों से अध्वर्यु को प्रैष देते हैं। एक क्रिया में एक मन्त्र होता है, ऐसा जिनका सिद्धान्त है, उनके मत से यह दोनों मिलकर पूरा एक मन्त्र हुआ। संहिता में पृथक् २ हैं। इस विषय में जो कुछ विशेष वक्तव्य है, वह हम (यजु० १ । ५ पृ० ५०) विवरण में कह चुके हैं ॥ १२ ॥

४ 'विश्वेदेवाः' इति सर्वानुक्रमणी ॥

---

‡ इतोऽग्रे 'सो हे परमेश्वर आप उससे' इति पाठः क. ख. कोशयोर्वर्तमानोऽपि कथं व्यस्त इति न विद्मः ॥

ॐ इतोऽग्रे 'पूर्वोक्त त्रिविध यज्ञ की (अव) रक्षा कीजिये (तेन) उस' इति पाठः क. ख. कोशयोरुपलभ्यते। ग. कोशे कथं त्यक्त इति न ज्ञायते ॥

§ 'विद्या प्राप्ति के साथ यज्ञ के' इति अ. मु. पाठः ॥

¶ 'अपनी वृद्धि' इति अ. मु. कोशेषु च पाठः। स चापपाठः संस्कृतविरोधात् ॥

येन यज्ञः कर्त्तुं शक्यस्तदुपदिश्यते[1] ॥

मनो॑ जू॒तिर्जु॑षता॒माज्य॑स्य॒ बृह॒स्पति॑र्य॒ज्ञमि॒मं त॑नो॒त्वरि॑ष्टं य॒ज्ञ ँ᳖ समि॒मं द॑धातु।
विश्वे॑ दे॒वास॑ऽ इ॒ह मा॑दयन्ता॒मो३म्प्रति॑ष्ठ ॥ १३ ॥

मनः॑। जू॒तिः। जु॒षता॒म्। आज्य॑स्य। बृह॒स्पतिः॑। य॒ज्ञम्। इ॒मम्। त॒नो॒तु। अरि॑ष्टम्। य॒ज्ञम्। सम्। इ॒मम्। द॒धा॒तु॥ विश्वे॑। दे॒वासः॑। इ॒ह। मा॒द॒य॒न्ता॒म्। ओ३म्। प्र। ति॒ष्ठ॥ १३॥

पदार्थः—(मनः) मननशीलं ज्ञानसाधनम्। (जूतिः) वेगेन व्याप्तिकर्म, ऊतियूतिजूति० अ० ३। ३। ९७। अनेन निपातितः। (जुषताम्) प्रीत्या सेवताम्। (आज्यस्य) यज्ञसामग्रीम्। सुपां सुलुग्०[2] [अ० ७। १। ३९] इति द्वितीयास्थाने षष्ठी। (बृहस्पतिः) बृहतां प्रकृत्याकाशादीनां पतिः पालको जगदीश्वरः। तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च। अ० ६। १। १५७। अनेन वार्त्तिकेन बृहस्पतिशब्दो❀ निपातितः। (यज्ञम्) संसाराख्यम्। (इमम्) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं सुखभोगहेतुम्। (तनोतु) विस्तारयतु। (अरिष्टम्) रिष्यते हिंस्यते यः स रिष्टो न रिष्टोऽरिष्टस्तम्। (यज्ञम्) अस्माभिरनुष्ठातुमर्हम्। (सम्) एकीभावे क्रियायोगे। (इमम्) समक्षं, विज्ञानयज्ञम्। (दधातु) धारयतु। (विश्वे देवासः) सर्वे विद्वांसः, अत्र जसेरसुगागमः। (इह) अस्मिन् संसारे हृदये वा। (मादयन्ताम्) † हर्षन्ताम्। (ओ३म्) ईश्वरवाचको यज्ञो वेदविद्या वा। ओ३म् खं ब्रह्म। यजुः ४०। १७। अत्र अवतेष्टिलोपश्च। उ० १। १४२। अनेनाऽवधातोर्मन् प्रत्ययोऽस्य टिलोपश्च। (प्रतिष्ठ) ‡ प्रतिष्ठति वा, अत्रान्त्यपक्षे व्यत्ययो लडर्थे लोट् च॥ अयं मन्त्रः श० १। ७। ४। २२ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—मम जूतिर्मन आज्यस्य जुषतां बृहस्पतिर्यमिमं यज्ञमरिष्टं तनोतु + तम् इममरिष्टं यज्ञं

---

१ अधर्मं सर्वथा परित्यज्य ये धर्मकार्याण्येव सेवन्ते, त एव यज्ञानुष्ठानार्हाः, सुखभाजः, प्रतिष्ठाभाजश्च भवन्ति, अतः परिपूतमनसैवानुष्ठेयोऽयं यज्ञ इत्याह-येन यज्ञं कर्तुं शक्यः इत्यादि ॥

२ 'सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्' इति वार्त्तिकेनेति भावः ॥

३ पूर्वमन्त्रे व्याकरणप्रक्रियायां व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मनः) मन ज्ञाने इत्यस्माद् धातोः सर्वधातुभ्यो ऽसुन् (उ० ४। १८९) इत्यसुन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(जूतिः) उदात्तानुवृत्तेः प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् ॥

(अरिष्टम्) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(विश्वे) पूर्वं (यजुः २। ३) व्याख्यातः ॥

(देवासः) देवशब्दोऽयमच्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः। ततो जसनुदात्तः। आज्जसेरसुक् (अ० ७। १। ५०) इत्यसुक् ॥

(इह) इदमो हः (अ० ५। ३। ११) इति हप्रत्ययः, स च विभक्तिसंज्ञकः। इदम इश् (अ० ५। ३। ३) इतीश् आदेशः। ऊडिदंपदाद्यप्० (अ०६। १। १७१) इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(ओ३म्) अवतेष्टिलोपश्च (उ० १। १४२) इति मन्प्रत्ययः, तस्य टिलोपश्च। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। छान्दसं वाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४ आध्यात्मिकार्थं प्रदर्शयन्नधियज्ञमपि द्योतयति ॥

❀ 'निष्पादितः' इति स्यात्। पाठोऽयं क. कोशे नास्त्येव ॥

† 'हृषन्तु' इति अ० मु० पाठः। 'हर्षन्ताम्' इति क. ख. ग. पाठः। साम्प्रतिकानां मते 'हर्षन्तु' इति स्यात् ॥

‡ साम्प्रतिकानां मते तु 'प्रतिष्ठते' इति स्यात् ॥

+ इतोऽग्रे 'इममरिष्टं यज्ञम्' इति पाठः अ० मु० ख. ग. कोशयोश्च नास्ति, क. कोशे वर्तमानोऽपि ख. कोशे प्रमादेन त्यक्त इति प्रतिभाति ॥

संदधातु, हे विश्वेदेवास एतमरिष्टं यज्ञद्वयं संतन्य† संधाय चेह मादयन्ताम्। हे ओंकारवाच्य बृहस्पते! त्वमिह प्रतिष्ठ कृपयेमं यज्ञं विद्यां च प्रतिष्ठापय ॥ १२ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति हे मनुष्या युष्मन्मनः सत्कर्माण्येव प्राप्नोतु, मया योऽयं संसारे यज्ञः कर्तुमाज्ञाप्यते, तमेवानुष्ठाय सुखिनो भवन्तु भावयन्तु वा। ओमिति- परमेश्वरस्यैव नाम, यथा पितापुत्रयोः प्रियः संबन्धस्तथैवेश्वरेण सहोंकारस्य संबन्धोऽस्ति। नैव कस्यचित् सत्क्रियया विना प्रतिष्ठा भवितुमर्हति। तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथाऽधर्मं विहाय धर्मकार्य्याण्येव सेवनीयानि। यतः खल्वविद्यान्धकारनिवृत्तये विद्यार्कः प्रकाशेत।

द्वादशमन्त्रेण यो यज्ञः प्रकाशितस्तस्यानुष्ठानेन सर्वेषां प्रतिष्ठासुखे भवत इत्यनेन प्रकाशितम्[2] ॥ १२ ॥

जिससे यज्ञ किया जा सकता है, सो विषय अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[3] ॥

पदार्थः[4]—(जूतिः) अपने वेग से सब जगह जानेवाला (मनः) विचारवान् ज्ञान का साधन मेरा मन (आज्यस्य) यज्ञ की सामग्री का (जुषताम्) सेवन करे। (बृहस्पतिः) बड़े २ जो प्रकृति और आकाश आदि पदार्थ हैं, उनका जो पति अर्थात् पालन करनेवाला ईश्वर है, वह (इमम्) इस प्रकट और अप्रकट (अरिष्टम्) अहिंसनीय (यज्ञम्) सुखों के भोगरूपी यज्ञ को (तनोतु) विस्तार करे, तथा (इमम्) इस जो छोड़ने योग्य नहीं (यज्ञम्) जो हमारे अनुष्ठान करने योग्य विज्ञान की प्राप्तिरूप यज्ञ है, इसको (संदधातु) अच्छी प्रकार धारण करावे। हे (विश्वेदेवासः) सकल विद्वान् लोगो! तुम इन पालन करने योग्य दो यज्ञों का धारण वा विस्तार करके (इह) इस संसार वा अपने मनमें (मादयन्ताम्) आनन्दित होओ। हे (ओ३म्) ओंकार जगदीश्वर! प्रकृत्यादि के पालन करनेहारे आप इस संसार वा विद्वानों के हृदय में (प्रतिष्ठ) कृपा करके इस यज्ञ वा वेदविद्या को स्थापन कीजिये ॥१२॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्यो! तुम्हारा मन अच्छे ही कामों में प्रवृत्त हो, तथा मैंने जो संसार में यज्ञ करने की आज्ञा दी है, उसका उक्त प्रकार से यथावत् अनुष्ठान करके सुखी हो, तथा औरों को भी सुखी करो। (ओम्) यह परमेश्वर का नाम है। जैसे पिता और पुत्र का प्रिय संबन्ध है, वैसे ही परमेश्वर के साथ (ॐ) ओंकार का संबन्ध है, तथा अच्छे कामों के विना किसी की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती, इसलिये सब मनुष्यों को सर्वथा अधर्म छोड़कर धर्मकामों का ही सेवन करना योग्य है, जिससे संसार में निश्चय करके अविद्यारूपी अन्धकार निवृत्त होकर विद्यारूपी सूर्य्य प्रकाशित हो ॥

बारहवें मन्त्र से जिस यज्ञ का प्रकाश किया था, उसके अनुष्ठान से सब मनुष्यों की प्रतिष्ठा वा सुख होते हैं, यह इसमें प्रकाशित किया है[5] ॥ १२ ॥

---

१ सत्कर्मसु प्रवर्त्ततेति भावः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थान्तर्भूतोऽत्र द्रष्टव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

यज्ञ इति 'ज्ञप' धातोः कर्म, न करोतेः ॥ १२ ॥

३ अधर्म का सर्वथा परित्याग कर जो धर्मकार्यों को करते हैं, वे ही यज्ञ का अनुष्ठान कर सकते हैं। इसी से कहते हैं—"जिससे यज्ञ किया जा सकता है" इत्यादि ॥

४ आध्यात्मिक अर्थ को दर्शाते हुये यहां अधियज्ञ अर्थ का भी निर्देश किया है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ सं० पदार्थ से समझ लेना चाहिये ॥ १२ ॥

† सम्प्रतिकानां मते 'संतत्य' इति ॥

एषा त इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता[1] सर्वस्य । पूर्वोऽनुष्टुप्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
अग्ने वाजजिदित्यत्र ❀ भुरिगार्ची गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अग्निना यज्ञे कथमुपकारो ग्राह्य इत्युपदिश्यते[2] ॥

एषा तेऽ अग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व । वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि । अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा ससृवा ᳪ सं वाजजित ँ सम्मार्ज्मि ॥१४॥

एषा । ते । अग्ने । समिदिति सम्ऽइत् । तया । वर्धस्व । च । आ । च । । प्यायस्व । वर्धिषीमहि । च । वयम् । आ । च । प्यासिषीमहि ॥ अग्ने । वाजजिदिति वाजऽजित् । वाजम् । त्वा । ससृवा ᳪ सम्मिति + ससृऽवांᳪसम् । वाजजितमिति वाजऽजितम् । सम् । मार्ज्मि ॥ १४ ॥

पदार्थः—(एषा) प्रदीप्तिहेतुः । (ते) तव तस्य वा । (अग्ने) परमेश्वर ! भौतिको वा । (समित्[3]) सम्यगिध्यते दीप्यतेऽनया सा विद्या काष्ठादिर्वा । (तया) विद्यया समिधा वा । (वर्धस्व) वर्धते वा । सर्वत्रान्यपक्षे व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (च) समुच्चये । (आ) क्रियायोगे । (च) पुनरर्थे । (प्यायस्व) प्यायते वा । (वर्धिषीमहि) स्पष्टार्थम् । (च) समुच्चये । (वयम्) विद्यावन्तो धार्मिकाः । (आ) समन्तात् क्रियायोगे । (च) अन्वाचये । (प्यासिषीमहि) अत्र प्यैङ्धातोः सिबुत्सर्गश्छन्दसि[4] । अ० ३ । १ । ३४ । अनेन वार्त्तिकेन सिप्प्रत्ययः (अग्ने) ज्ञानस्वरूप विजयप्रदेश्वर ! भौतिको वा । (वाजजित्) वाजं सर्वस्य वेगं जयति स ईश्वरः । वाजं जयति येन वा स भौतिकः । (वाजम्) ज्ञानवन्तं वेगवन्तं वा । (त्वा) त्वां तं वा । (ससृवांसम्) सर्वं ज्ञानवन्तं शिल्पविद्यागुणप्राप्तिमन्तं वा । (वाज-

१ अग्निरिति सर्वानुक्रमणी ॥
२ प्रधानसाधनीभूतेनाग्निना भौतिकेनेश्वरेण च कथमुपकारो ग्राह्य इत्याह—'अग्निना यज्ञे' इति ॥
३ य० २ । ५ पृ० १६५ व्याख्यातः ॥
४ वार्त्तिकेन सिप्, ततो लिङ् इत्यर्थः ॥
५ गत्यर्थानां ज्ञानार्थतोक्ता, य० १ । १ । भा० विवरणे (पृ० १०) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वर्धस्व) 'वृधु वृद्धौ' अस्माल्लोट्यात्मनेपदे मध्यमपुरुषैकवचने थासः से (अ० ३ । ४ । ८०) इति 'से' आदेशे सवाभ्यां वामौ (अ० ३ । ४ । ९१) इत्यनेनैकारस्य वादेशः । ततः शप् । तस्यादुपदेशत्वात् तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्व० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यादिना लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वम्, एवं धातुस्वरेणोदात्तः । ततः तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघाते प्राप्ते चवायोगे प्रथमा (अ० ८।१।५८) इत्यनेन प्रथमायास्तिङ्विभक्तेर्निघातप्रतिषेधः ॥

(प्यायस्व) प्यायतेः पूर्ववल्लोण्मध्यमपुरुषैकवचने चवायोगे प्रथमा (अ० ८ । १ । ५९) इत्यनेन प्रथमाया एव तिङ्विभक्तेर्निघातप्रतिषेधः क्रियते । तेन तिङ्ङतिङः (अ० ८।१। २८) इति निघातत्वमेव ॥

(वर्धिषीमहि) आशीर्लिङि इटोऽनुदात्तत्वे महिङः प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । प्रकृतेस्तु अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ० ६ । १ । १५८) इत्यनुदात्तता । ततः तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघाते प्राप्ते चवायोगे प्रथमा (अ० ८ । १ । ५८) इति निघातप्रतिषेधे यथाप्राप्तस्वरः ॥

(प्यासिषीमहि) प्यायतेः पूर्ववदाशीर्लिङि रूपम् । सिबुत्सर्गश्छन्दसि (अ० ३ । १ । ३४ भा० वा०) इति सिप्प्रत्ययः । सप्पक्षे छान्दसत्वादिडभावः । लोपो व्योर्वलि (अ० ६ । १ । ६६, इति यलोपः । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

यत्तूवटेन 'सीयुडश्छान्दसोऽभ्यासः' इत्युक्तं तत् क्वचिदप्यागमानां द्वित्वस्यादर्शनान्न सम्यक् ॥

❀ 'निचृद्गायत्री' इति अ. मु. पाठः ॥
+ 'ससृवाᳪसमिति' इत्यवग्रहरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

जितम्) यो येन वा वाजं संग्रामं ॐ जापयति तम्। (सम्) सम्यगर्थे। (मार्ज्मि) शुद्धो भवामि, शोधयामि वा ॥ अयं मन्त्रः श० १। ८। २। ३-७ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः[१]—हे अग्ने जगदीश्वर! ते तव यैषा समित् वेदविद्यास्ति तयास्माभिः स्तुतः सँस्त्वं वर्धस्व चास्मान् नित्यं वर्धय। हे भगवन्नेवं भवद्विदितगुणैरस्माभिः प्रकाशितः सँस्त्वं [आ] प्यायस्व चास्मान् नित्यं+प्यायय। हे भगवन्नग्ने वाजजिद्वाजं ससृवांसं [वाजजितं] त्वा वयं वर्धिषीमहि। कृपया भवान् चास्मानपि वाजजितः ससृषो वाजान् करोतु[२], यथा वयं भवन्तमाप्यासिषीमहि तथैव भवांश्चास्मान् सर्वैः शुभगुणैराप्यायताम् अहं भवन्तमाश्रित्य संमार्ज्मि भवदाज्ञानुष्ठानेन शुद्धो भवामि॥ इत्येकः॥

यैषा[३] तेऽस्याग्नेर्वर्धिका समिदस्ति तया चायं वर्धते आप्यायते च वयं तं वाजं ससृवांसं वाजजितमग्निं विद्यावृद्धये वर्धिषीमहि, आप्यासिषीमहि च। यतोऽयं शिल्पविद्यासिद्धैर्विमानादिभिर्यो-नैर्वाजान् ससृषो वाजजितोऽस्मान् विजयेन वर्धयति, तमहं संमार्ज्मि॥ *इति द्वितीयः*॥ १४॥

अत्र श्लेषालङ्कारः[४], क्रियाद्वयं चादरार्थं विज्ञेयम्॥

भावार्थः—ये मनुष्याः परमेश्वराज्ञापालने क्रियाकौशले च वर्धन्ते, ते विद्यायां सर्वानानन्दयित्वा दुष्टान् शत्रून् जित्वा शुद्धा भूत्वा सुखयन्ति नेतरेऽलसाः। चकारचतुष्टयेनेश्वराज्ञा धर्म्या सूक्ष्मस्थूलतयाऽनेकविधास्ति तथा क्रियाकाण्डे कर्तव्यानि कर्माण्यनेकानि सन्तीति विज्ञेयम्॥

त्रयोदशमन्त्रेण या वेदविद्या प्रतिपादितास्ति तया सुखार्थं यज्ञसन्धानम् § उक्तमनेनैवं पुरुषार्थः कार्य्य इति प्रकाशितम्॥ १४॥

यज्ञ में अग्नि से कैसे उपकार लेना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[६]॥

पदार्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर! (ते) आपकी जो (एषा) यह (समित्) अच्छे प्रकार पदार्थों के गुणों की प्रकाश करनेवाली वेदविद्या है, (तया) उससे हम लोगों की की हुई स्तुति को प्राप्त होकर आप नित्य (वर्धस्व) हमारे ज्ञान में वृद्धि को प्राप्त हूजिये, (च) और उस वेदविद्या से हमलोगों की भी नित्य वृद्धि कीजिये।

(ससृवांसम्) सृधातोः क्वसुप्रत्यये आद्युदात्तश्च (अ० ३। १। ३।) इत्युदात्तत्वं क्वसोः। ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

त्रिविधप्रक्रिया॥

५ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः॥

विशेषवक्तव्यम्

ईश्वरपक्षेऽन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र द्रष्टव्यः। तथैव पदार्थे जयतीत्यत्रापि॥ १४॥

१ प्रथमान्वय आध्यात्मिकार्थपरोऽपरस्त्वाधिदैविकार्थपर इति॥

२ करोतिरत्र द्विकर्मकः।

३ मन्त्रगतपदानि भाषापदार्थेऽवगन्तव्यानि।

४ श्लेषालङ्कारेण विविधार्थयोजनां द्योतयति॥

६ यज्ञ के प्रधान साधन भौतिक अग्नि तथा ईश्वर से मनुष्य को किस प्रकार लाभ उठाना चाहिये? इसी को कहते हैं—'यज्ञ में अग्नि से कैसे' इत्यादि॥

७ यहां प्रथम अन्वय आध्यात्मिक अर्थपरक है और दूसरा आधिदैविक अर्थपरक॥

ॐ 'जापयति' इति अ. मु. क. ख. ग. कोशेषु च पाठः। 'जयति' इति अ. मु. द्वितीयसंस्करणे पाठः॥
+ 'व्यापय' इति ग. कोशे अ. मुद्रिते च पाठः। 'प्यायय' इति तु क. ख. पाठः॥
§ 'उक्तमनेनैतयैवं' इति अ. मु. पाठः। स च व्यस्त इति ध्येयम्॥

इसीप्रकार हे भगवन्! आपके गुणों को जाननेहारे हम लोगों से (च) प्रकाशित होकर आप [(आ)] (प्यायस्व) हमारे आत्माओं में वृद्धि को प्राप्त हूजिये। इसी प्रकार हमको भी बढ़ाइये। हे भगवन्! (अग्ने) विज्ञानस्वरूप विजय देने और (वाजजित्) सबके वेग को जीतनेवाले परमेश्वर! हमलोग (वाजम्) जो कि ज्ञानस्वरूप (ससृवांसम्) अर्थात् सबको जाननेवाले [(वाजजितम्) संग्राम के जितानेवाले अर्थात् जिसकी सहायता से संग्राम जीता जा सकता है उस] (त्वा) आपकी स्तुतियों से (वर्धिषीमहि) वृद्धि तथा प्राप्ति करें। (च) और आप कृपा करके हमको भी सबके वेग को जीतने तथा ज्ञानवान् अर्थात् सबके मनके व्यवहारों को जाननेवाले कीजिये। और जैसे [(वयम्)] हम लोग आपकी (आप्यासिषीमहि) अधिक २ स्तुति करें, वैसे ही आप [(च)] भी हम लोगों को सब उत्तम २ गुण और सुखों से वृद्धियुक्त कीजिये। हम आपके आश्रय को प्राप्त होकर तथा आप की आज्ञा के पालने से (संमार्ज्मि) अच्छे प्रकार शुद्ध होते हैं॥ *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ]*॥

जो (एषा) यह (अग्ने) भौतिक अग्नि है (ते) उसकी (समित्) बढ़ाने अर्थात् अच्छे प्रकार प्रदीप्त करनेवाली लकड़ियों का समूह है (तया) उससे यह अग्नि (वर्धस्व) बढ़ता और (आप्यायस्व) परिपूर्ण भी होता है। हम लोग (त्वा) उस (वाजम्) वेग और (ससृवांसम्) शिल्पविद्या के गुणों को देने तथा (वाजजितम्) संग्राम के जिताने के साधन अग्नि को विद्या की वृद्धि के लिये (वर्धिषीमहि) बढ़ाते हैं। (च) और कलाओं में (आप्यासिषीमहि) परिपूर्ण भी करते हैं, जिससे यह शिल्पविद्या से सिद्ध किये हुए विमान आदि यानों तथा वेगवाले शिल्पविद्या के गुणों की प्राप्ति से हमको विजय के साथ बढ़ाता है, इससे उस संग्राम को जितानेवाले अग्नि का हम (संमार्ज्मि) अच्छी प्रकार प्रयोग करते हैं॥ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]*॥ १४॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है[1]। और एक २ अर्थ के दो २ क्रियापद आदर के लिये जानने चाहियें॥

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा के पालने और क्रिया की कुशलता में उन्नति को प्राप्त होते हैं, वे विद्या और सुख में सबको आनन्दित कर और दुष्ट शत्रुओं को जीतकर शुद्ध होके सुखी होते हैं। जो आलस्य करनेवाले हैं, वे ऐसे कभी नहीं हो सकते। चार चकारों से ईश्वर की धर्मयुक्त आज्ञा, सूक्ष्मता वा स्थूलता से अनेक प्रकार की [है] और क्रियाकाण्ड में करने योग्य कार्य्य भी अनेक प्रकार के हैं, ऐसा समझना चाहिये॥

जो तेरहवें मन्त्र में वेदविद्या कही है, उससे सुख के लिये यज्ञ का संधान [कहा] तथा [उससे इस प्रकार] पुरुषार्थ करना चाहिये, ऐसा इस मन्त्र से प्रतिपादन किया है[2]॥ १४॥

अग्नीषोमयोरिति सर्वस्य ऋषिः स एव। * पूर्वार्द्धे–अग्नीषोमौ[3] देवते, ब्राह्मीबृहती छन्दः, मध्यमः स्वरः॥
उत्तरार्द्धे—इन्द्राग्नी देवते, [निचृद्] अतिजगती छन्दः, निषादः स्वरः॥

अथ तेन किं किं दूरीकर्त्तव्यमित्युपदिश्यते[4]॥

अ॒ग्नीषोम॑यो॒रुज्जि॑ति॒मनूज्जे॑षं॒ वाज॑स्य मा प्रस॒वेन॒ प्रोहा॑मि। अ॒ग्नीषो॑मौ॒ तमप॑नुदतां॒

---

१ विविध अर्थ की योजना श्लेष अलङ्कार से समझनी चाहिये।

निविधप्रक्रिया

२ त्रिविध अर्थ संस्कृत पदार्थ से जान लेना चाहिये॥

वि॰ वक्तव्य

ईश्वरपक्ष में 'वर्धस्व' का अर्थ अन्तर्भावित ण्यर्थ होने से 'बढ़ाओ', तथा 'जीतने' के स्थान में 'जिताना' समझना चाहिये॥ १४॥

३ लिङ्गोक्ताः इति सर्वानुक्रमणी॥

४ पूर्वमन्त्रोक्तमभिप्रायं प्रकारान्तरेण पोषयति—'अथ तेन किं किं दूरीकर्त्तव्यम्' इति॥

* 'अग्निषोमौ देवते। पूर्वार्धे ब्राह्मी बृहती छन्दः' इति अ. मु. पाठः। स च व्यस्त इति ध्येयम्॥

यो ऽ स्मान् द्वेष्टि यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्र॒स॒वेनापो॑हामि । इ॒न्द्रा॒ग्न्योरु॒ज्जिति॒-मनूज्जे॑षं वाज॑स्य मा प्र॒स॒वेन॒ प्रोहा॑मि । इ॒न्द्रा॒ग्नी तमप॑नुदतां॒ यो ऽ स्मान् द्वेष्टि यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मो वाज॑स्यैनं प्र॒स॒वेनापो॑हामि ॥१५॥

अ॒ग्नीषोम॑योः । उज्जि॑ति॒मित्यु॒त्ऽजि॑तिम् । अनु॑ । उत् । जे॒ष॒म् । वाज॑स्य । मा॒ । प्र॒स॒वेनेति॑ प्रऽस॒वेन॑ । प्र । ऊ॒हा॒मि॒ । अ॒ग्नीषोमौ॑ । तम् । अप॑ । नु॒द॒ता॒म् । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । च॒ । व॒यम् । द्वि॒ष्मः । वाज॑स्य । ए॒न॒म् । प्र॒स॒वेनेति॑ प्रऽस॒वेन॑ । अप॑ । ऊ॒हा॒मि॒ । इ॒न्द्रा॒ग्न्योः । † उज्जि॑ति॒मित्यु॒त्ऽजि॑तिम् । अनु॑ । उत् । जे॒ष॒म् । वाज॑स्य । मा । प्र॒स॒वेनेति॑ प्रऽस॒वेन॑ । प्र । ऊ॒हा॒मि॒ । इ॒न्द्रा॒ग्नीऽ इती॑न्द्रा॒ग्नी । तम् । अप॑ । नु॒द॒ता॒म् । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । च॒ । व॒यम् । द्वि॒ष्मः । वाज॑स्य । ए॒न॒म् । प्र॒स॒वेनेति॑ प्रऽस॒वेन॑ । अप॑ । ऊ॒हा॒मि॒ ॥ १५ ॥

पदार्थः—(अग्नीषोमयोः) अग्निश्च सोमश्च तयोः प्रसिद्धाग्निचन्द्रलोकयोः, अत्र ईदग्नेः सोमवरुणयोः । अ० ६ । ३ । २७ । अनेन देवताद्वन्द्वसमासेऽग्नेरीकारादेशः । (उज्जितिम्) जयत्यनया सा जितिरुत्कृष्टा चासौ जितिश्च तामुत्कृष्टं विजयम् । (अनु) पश्चाद्भावे । (उत्) उत्कृष्टार्थे । (जेषम्) जयं कुर्य्याम्, अत्र लिङर्थे लुङडभावो वृद्ध्यभावश्च । (वाजस्य) युद्धस्य । (मा) मां विजेतारम् । (प्रसवेन) उत्पादनेन प्रकृष्टैश्वर्य्येण सह वा । (प्रोहामि) प्रकृष्टतया विविधशुद्धतर्केण योजयामि । (अग्नीषोमौ) विद्यया सम्यक् प्रयोजितौ । (तम्) शत्रुं रोगं वा । (अप) दूरीकरणे । (नुदताम्) प्रेरयतः, अत्र लडर्थे लोट् । (यः) अन्यायकारी । (अस्मान्) न्यायकारिणः । (द्वेष्टि[2]) शत्रूयति । (यम्) अन्यायकारिणम् । (च) समुच्चये (वयम्) न्यायाधीशाः । (द्विष्मः) विरुध्यामः । (वाजस्य) यानवेगादियुक्तस्य सैन्यस्य । (एनम्) पूर्वोक्तं दुष्टम् । (प्रसवेन) प्रकृष्टतया युद्धविद्याप्रेरणेन । (अप) दूरीकरणे । (ऊहामि) विविधतर्केण क्षिपामि । (इन्द्राग्न्योः) इन्द्रो वायुरग्निर्विद्युत्तयोः । (उज्जितिम्) विद्यया सम्यगुत्कर्षम् । (अनूज्जेषम्) अनुगतमुत्कर्षं प्राप्नुयाम्, अस्य सिद्धिः पूर्ववत् । (वाजस्य[3]) प्रेरणाप्रेरणवेगप्राप्तेः । (मा) मां वायुविद्युद्विद्याप्राप्तम् । (प्रसवेन) ऐश्वर्यार्थमुत्पादितेन । (प्रोहामि) प्रकृष्टैर्विविधैस्तर्कैः सुखानि प्राप्नोमि* । (इन्द्राग्नी) पूर्वोक्तौ सम्यक् साधितौ । (तम्) द्वेषस्वभावम् । (अप) निषेधार्थे । (नुदताम्) प्रेरयतः, अत्र लडर्थे लोट् । (यः) अविद्वान् । (अस्मान्) विदुषः । (द्वेष्टि) अप्रीतयति[4] । (यम्) दुष्टस्वभावम् । (च) समुच्चयार्थे । (वयम्) विद्वांसः । (द्विष्मः) अप्रीतयामः । (वाजस्य) विज्ञानस्य । (एनम्) मूर्खम् । (प्रसवेन) उत्पादनेन । (अप) वर्जने । (ऊहामि) विविधां शिक्षां करोमि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । ३ । १–६ व्याख्यातः ॥ १५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उज्जितिम्) उत्पूर्वाज्जयतेः स्त्रियां क्तिन् (अ० ३ । ३ । ९४) इति क्तिन् प्रत्ययः । गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इति प्राप्ते तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इत्युदात्तत्वम् ॥

(जेषम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(प्रोहामि) अत्रापि यजु० १ । ७ पृ० ५४ 'अन्वेमि' पदवत् द्रष्टव्यम् ॥

१ द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । आर्द्रं चैव शुष्कं च, यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत् सौम्यम् ॥ श० १ । ६ । ३ । २३ ॥

सूर्य एवाग्नेयः । चन्द्रमाः सौम्योऽहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्या । य एवापूर्य्यतेऽर्धमासः स आग्नेयो योऽपक्षीयते स सौम्यः ॥ श० १ । ६ । ३ । २४ ॥

२ अत्रापि यजुः १ । २५ पृष्ठ ११७ टिप्पणी द्रष्टव्या ॥

३ वज गतौ, ज्ञानयुक्तस्य गतियुक्तस्य वा ॥

४ अप्रीतिं करोति, 'तत् करोति तदाचष्टे' इति णिच्, अप्रीतयति ॥

† 'उज्जितिम्' इति द्विरुक्त्यवग्रहादिरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

* 'प्राप्नोति' अ. मु. कोशेषु च पाठः । स च व्यस्तः प्रतिभाति ॥

अन्वयः—अहमग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषमहं वाजस्य प्रसवेन मा मां प्रोहामि, मया सम्यक् साधितावग्नीषोमौ योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तम [पनुदताम] पनुदतः। अहमेनं वाजस्य प्रसवेनापोहामि। अहमिन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषमहं वाजस्य प्रसवेन मा मां नित्यं प्रोहामि। अस्माभिः सम्यक् साधिताविन्द्राग्नी योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तम [पनुदताम] पनुदतः। अहं वाजस्य प्रसवेनैनमपोहामि॥ १५॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति सर्वैर्मनुष्यैरिह विद्यायुक्तिभ्यामग्निजलयोर्मेलनेन, कलाकौशलाद् वेगादिगुणानां प्रकाशेन, तथा वायुविद्युतोर्विद्यया † सर्वदारिद्र्यनाशेन, शत्रूणां विजयेन, सुशिक्षया मनुष्याणां मूढत्वं दूरीकृत्य विद्वत्त्वं प्रापय्य च विविधानि सुखानि प्राप्तव्यानि प्रापयितव्यानि चैवं सम्यक् सर्वाः पदार्थविद्या जगति प्रकाशनीयाः॥

पूर्वेण मन्त्रेण यत्कार्य्यं प्रकाशितं तदनेन पोषितम्॥ १५॥

अब उस यज्ञ से क्या २ दूर करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है॥

पदार्थः—मैं (अग्नीषोमयोः) प्रसिद्ध भौतिक अग्नि और चन्द्रलोक के (उज्जितिम्) दुःख से सहने योग्य शत्रुओं को (अनूज्जेषम्) यथाक्रम से जीतूं, और (वाजस्य) युद्ध के (प्रसवेन) उत्पादन से विजय करने वाले (मा) अपने आपको (प्रोहामि) अच्छी प्रकार शुद्ध तर्कों से युक्त करूं। जो मुझ से अच्छी प्रकार विद्या से क्रिया कुशलता में युक्त किये हुए (अग्नीषोमौ) उक्त अग्नि और चन्द्रलोक हैं, वे (यः) जोकि अन्याय में वर्त्तनेवाला दुष्ट मनुष्य (अस्मान्) न्याय करनेवाले हम लोगों को (द्वेष्टि) शत्रुभाव से वर्त्तता है। (यं च) और जिस अन्याय करनेवाले से (वयम्) न्यायाधीश हमलोग (द्विष्मः) विरोध करते हैं। (तम्) उसशत्रु वा रोग को (अपनुदताम्) दूर करते हैं, और मैं भी (एनम्) इस दुष्ट शत्रु को (वाजस्य) यान वेगादि गुणों से युक्त सेनावाले संग्राम की (प्रसवेन) अच्छी प्रकार प्रेरणा से (अपोहामि) दूर करता हूँ। मैं (इन्द्राग्न्योः) वायु और विद्युत् रूप अग्नि के (उज्जितिम्) विद्या से अच्छे प्रकार उत्कर्ष को (अनूज्जेषम्) अनुक्रम से प्राप्त होऊं। और मैं (वाजस्य) ज्ञान की प्रेरणा के द्वारा वेग की प्राप्ति के (प्रसवेन) ऐश्वर्य के अर्थ उत्पादन से वायु और बिजुली की विद्या के जाननेवाले (मा) अपने आपको नित्य (प्रोहामि) अच्छी प्रकार तर्कों से सुखों को प्राप्त कराता हूं, और मुझसे जो अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुए (इन्द्राग्नी) वायु और विद्युत् अग्नि हैं, वह (यः) जो मूर्ख मनुष्य (अस्मान्) हम विद्वान् लोगों से (द्वेष्टि) अप्रीति से वर्त्तता है (च) और (यम्) जिस मूर्ख से (वयम्) हम विद्वान् लोग (द्विष्मः) अप्रीति से वर्त्तते हैं। (तम्) उस वैर करनेवाले मूढ़ को (अपनुदताम्) दूर करते हैं, तथा मैं भी

(इन्द्राग्न्योः) देवताद्वन्द्वे च (अ० ६। २। १४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते नोत्तरपदेऽनुदात्तादाव० (अ० ६। २। १४२) इति प्रतिषेधे समासस्य (अ० ६। १। २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६। १। १७४) इति विभक्तिरुदात्ता॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ आधिदैविकार्थः प्राधान्येन प्रकाशितः॥

२ मन्त्रगतपदैः समन्वितोऽयं भावार्थः॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ आधिदैविकाधियज्ञार्थौ पदार्थे निरूपितौ, आध्यात्मिकोऽपि तत्रैवान्तर्भूत इति॥

विशेषवक्तव्यम्

कात्यायनश्रौतसूत्रेऽविनियुक्तोऽस्यान्तिमभाग इति बोध्यम्॥ १५॥

४ पूर्वमन्त्रोक्त अभिप्राय को प्रकारान्तर से पुष्ट करते हैं—'अब उस यज्ञ से क्या २' इत्यादि॥

५ अन्वय प्रधानतया आधिदैविकार्थपरक है॥

† 'विद्यया' इति क. ख. ग. कोशेषु पाठः। 'विद्ययातो' इति मुद्रितेऽपपाठः॥

(एनम्) इसे (वाजस्य) विज्ञान के (प्रसवेन) प्रकाश से (अपोहामि) अच्छी २ शिक्षा देकर शुद्ध करता हूँ ॥ १५ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को विद्या और युक्तियों से, अग्नि और जल के मेल से, कलाओं की कुशलता करके वेगादि गुणों के प्रकाश से, तथा वायु और विद्युत् अग्नि की विद्या से सब दरिद्रता के विनाश और शत्रुओं के पराजय से श्रेष्ठशिक्षा देकर अज्ञान को दूर कर और उन मूढ़ मनुष्यों को विद्वान् करके अनेक प्रकार के सुख इस संसार में सिद्ध करने योग्य और औरों को सिद्ध कराने के योग्य हैं। इस प्रकार अच्छे प्रयत्न से सब पदार्थविद्या संसार में प्रकाशित करनी योग्य हैं।

पूर्व मन्त्र में जो कार्य प्रकाश किया, उसकी पुष्टि इस मन्त्र से की है[२] ॥ १५ ॥

वसुभ्यस्त्वेति सर्वस्य ऋषिः स एव। पूर्वार्द्धे द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च देवताः। * भुरिगार्ची पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥ व्यन्तु वय इत्यारभ्यान्तपर्य्यन्तस्याग्निर्देवता। † भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

तस्मात् किं भवतीत्युपदिश्यते[४]॥

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पा ऽ अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि॥ १६॥

वसुभ्य इति वसुऽभ्यः। त्वा। रुद्रेभ्यः। त्वा। आदित्येभ्यः। त्वा। सम्। जानाथाम्। द्यावापृथिवीऽइति द्यावाऽपृथिवी। मित्रावरुणौ। त्वा। वृष्ट्या। अवताम्। व्यन्तु। वयः। अक्तम्। रिहाणाः। मरुताम्। पृषतीः। गच्छ। वशा। पृश्निः। भूत्वा। दिवम्। गच्छ। ततः। नः। वृष्टिम्। आ। वह। चक्षुष्पाः। ‡ चक्षुःपा इति चक्षुःऽपाः। अग्ने। असि। चक्षुः। मे। पाहि॥ १६॥

पदार्थः—(वसुभ्यः) अग्न्यादिभ्योऽष्टभ्यः। (त्वा) तं पूर्वोक्तं यज्ञम्। (रुद्रेभ्यः) पूर्वोक्तेभ्य एकादशभ्यः। (त्वा) तम्। (आदित्येभ्यः) द्वादशभ्यो मासेभ्यः। (त्वा) तं क्रियासमूहम्। (सम्) सम्यगर्थे। (जानाथाम्) जानीतः, प्रादुर्भूतविद्यासाधिके भवतः, अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (द्यावापृथिवी) सूर्य्यप्रकाशो भूमिश्च, अत्र दिवो द्यावा [अ० ६। ३। २९] इति द्यावादेशः (मित्रावरुणौ) यः सर्वप्राणो बहिःस्थो वायुर्वरुणोऽन्तस्थ उदानो वायुश्च तौ। (त्वा) तमिमं संसारम्। (वृष्ट्या)

---

१ भावार्थ का सम्बन्ध मन्त्रगत पदों से स्पष्ट है॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ सं० पदार्थ में आधिदैविक तथा अधियज्ञ अर्थों का निरूपण है, आध्यात्मिक भी उसी में अन्तर्भूत है॥

वि० वक्तव्य

कात्यायनश्रौतसूत्र में इस मन्त्र का विनियोग नहीं, यह बात यहाँ विचारणीय है॥ १५॥

३ परिधयः, प्रस्तरः, अग्निरिति सर्वानुक्रमणी॥

४ पूर्वोक्तमेवार्थमुपबृंहयितुमाह 'तस्मात्' इत्यादि॥

५ वसवो रुद्रा आदित्या य० २।५ भाष्ये व्याख्याताः॥

६ प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ॥ श० १।८।३।१२॥

---

* 'निचृदार्षी पंक्तिश्छन्दः' इति अ. मु. पाठः॥ † 'विराट् त्रिष्टुप् छन्दः' इति अ. मु. पाठः॥

‡ 'चक्षुः पा इति चक्षुःऽपाः' इति अजमेरमुद्रिते नास्ति॥

शुद्धजलवर्षणेन। (अवताम्) रक्षतः। (व्यन्तु) व्यन्ति प्राप्नुवन्ति, अत्र सर्वत्र लडर्थे लोट्। (वयः) पक्षिण इव गायत्र्यादीनि छन्दांसि। (अक्तम्) प्रकटं वस्तु सुखं वा। (रिहाणाः) अर्चकाः। रिहतीत्यर्चतिकर्मसु पठितम्। निघ० ३। १४। (मरुताम्) वायूनाम्। (पृषतीः) † पृषन्ति सिञ्चन्ति ‡ याभिर्नाडीभिर्नदीभिर्यास्ताः। (गच्छ) गच्छति। (वशा) काम्रिताहुतिः। (पृश्निः) अन्तरिक्षस्था। पृश्निरिति साधारणनामसु पठितम्। निघ० १। ४। (भूत्वा) भावयित्वा, अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः [वा]। (दिवम्) सूर्यप्रकाशम्। (गच्छ) गच्छति। (ततः) तस्मात्। (नः) अस्माकम् (वृष्टिम्) जलसमूहम्। (आ) समन्तात् क्रियायोगे। (वह) वहति प्रापयति। (चक्षुष्पाः) चक्षुर्दर्शनं रक्षतीति सः। (अग्ने) अग्निर्भौतिकः। (असि) भवति, अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः। (चक्षुः) बाह्यमाभ्यन्तरं विज्ञानं, तत्साधनं वा। (मे) मम। (पाहि) पाति रक्षति॥ अयं मन्त्रः श० १। ८। ३। ७-१९ व्याख्यातः॥ १६॥

अन्वयः[2]—वयं वसुभ्यस्त्वा तं रुद्रेभ्यस्त्वा तमादित्येभ्यस्त्वा तं नित्यं प्रोहामः। यज्ञेनेमे द्यावापृथिवी संजानाथाम्। मित्रावरुणौ वृष्ट्या त्वा तमिमं संसारं द्यावापृथिवीस्थमवतामवतः। यथा वयः पक्षिणोऽक्तं व्यक्तं

१ इयं (पृथिवी) वै वशा पृश्निः॥ श०१।८।३।१५॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वृष्ट्या) वृषधातोः स्त्रियां क्तिन् (अ० ३। ३। ९४) इति क्तिन्, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(व्यन्तु) इयङ्प्राप्तौ छान्दसत्वाद् यणादेशः। प्रत्ययाद्युदात्तत्वेनाकार उदात्तः॥

(वयः) वातेर्डिच्च (उ० ४। १३४) इत्यनेन वाधातोः 'इ' प्रत्ययो डिच्च। प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। सुपो ऽनुदात्तत्वे स्वरितत्वम्। केचित्तु 'वञो डित्' इति पठन्ति॥

(अक्तम्) 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' इत्यस्मात् क्तः प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(रिहाणाः) 'रिहति' अर्चतिकर्मसु (निघ० ३। १४)। रिह इति नैरुक्तो धातुः। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। ततः शानच् शप् च छान्दसत्वान्मुक् न भवति, गुणश्च। तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६। १। १८६) इत्यादिना शानचोऽनुदात्तत्वम्। धातुस्वरेणाद्युदात्तः। यद्वा लिह आस्वादन इत्यस्माद् वर्णव्यत्यये रेफः, शेषं पूर्ववत्॥

(पृषतीः) पृषधातोः वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महत्० इत्यादिना 'अति' प्रत्ययान्तो निपातितः गुणाभावश्च। शतृवत्कार्यातिदेशो कर्त्तरि शप् (अ० ३। १। ६८) इति शप्, तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्ल० (अ० ६। १। १८६) इत्यादिना प्रत्ययस्यानुदात्तत्वे पृषच्छब्द आद्युदात्तः, तत उगितश्च (अ० ४। १। ६) इति ङीप्॥

(वशा) 'वश कान्तौ' इत्येतस्माद् धातोः कर्मणि 'अच्' प्रत्ययः। चितो ऽन्तोदात्तत्वे टापि, अनुदात्तौ सुप्पितौ (अ० ३। १। ४) इत्यनुदात्तत्वे, एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८। २। ५) इत्यन्तोदात्तः॥ अथर्ववेदे (अथ० १। १०। १) आद्युदात्तोऽप्यर्थान्तरे दृश्यते॥

(पृश्निः) स्पृशधातोः घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः (उ० ४। ५२) इत्यनेन निप्रत्ययान्तो निपातितः। निपातनात् सकारलोपः। निदनुवर्तनादाद्युदात्तः। केचित् 'पृष' सेचन इत्यस्मान्निपातयन्ति। अपरे 'संस्प्रष्टा रसान्' (निरु० २। १४) इत्यनेन स्पृशधातोरेव व्युत्पादयन्ति॥

(चक्षुष्पाः) चक्षुरुपपदात् पातेः आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३। २। ७४) इत्यनेन विच् प्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। नित्यं समासे ऽनुत्तरपदस्थस्य (अ० ८। ३। ४५) इत्यनेन विसर्जनीयस्य सः। आदेशप्रत्यययोः (अ० ८। ३। ५९) इति षत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

२ आधिदैविकाधियज्ञपरोऽयमन्वयः॥

† साम्प्रतिकानां मते 'पर्षन्ति' इति साधु स्यात्॥

‡ 'याभिस्ता नाडीर्नदीर्वा' इति पाठोऽत्र भवेत्॥

स्थानं व्यन्तु व्यन्ति गच्छन्ति, तथा रिहाणा वयं छन्दोभिस्तं यज्ञं नित्यमनुतिष्ठामः। यज्ञे कृताहुतिर्वशा पृश्निरन्तरिक्षे भूत्वा मरुतां संगेन दिवं गच्छ गच्छति सा ततो नोऽस्माकं वृष्टिमावह समन्ताद् वर्षयति, तज्जलं पृषतीर्नाडीर्नदीर्वा [गच्छ] गच्छति। यतोऽयम [ग्ने ऽ] ग्निश्चक्षुष्पा असि यस्ततो मे मम चक्षुः पाहि पाति ॥ १६ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः। ॐ प्रोहासि, अपोहासीति पदद्वयानुवृत्तिश्च[1] ॥

भावार्थः—मनुष्यैरग्नौ याऽऽहुतिः क्रियते, सा वायोः संगेन मेघमण्डलं गत्वा, सूर्य्याकर्षितं जलं शुद्धं भावयित्वा, पुनस्तस्मात् पृथिवीमागत्यौषधीः पुष्णाति। सा वेदमन्त्रैरेव कर्त्तव्या, यतस्तस्याः ‡ फलज्ञाने नित्यं श्रद्धोत्पद्येत। अयमग्निः सूर्यरूपो भूत्वा सर्वं प्रकाशयत्यतो दृष्टिव्यवहारस्य पालनं जायते। एतेभ्यो वस्वादिभ्यो विद्योपकारेण दुष्टानां गुणानां प्राणिनां चापोहनं निवारणं नित्यं कर्त्तव्यम्। इदमेव सर्वेषां पूजनं सत्करणं चेति ॥

यत्पूर्वेण मन्त्रेणोक्तं तदनेन विशिष्टतया प्रकाशितमिति ॥ १६ ॥

उक्त यज्ञ से क्या होता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[5] ॥

पदार्थः[6]—हमलोग (वसुभ्यः) अग्नि आदि आठ वसुओंसे (त्वा) उस यज्ञ को तथा (रुद्रेभ्यः) पूर्वोक्त एकादश रुद्रों से (त्वा) पूर्वोक्त यज्ञ को, और (आदित्येभ्यः) बारह महीनों से (त्वा) उस क्रियासमूह को नित्य उत्तम तर्कों से जानें, और यज्ञ से ये (द्यावापृथिवी) सूर्य का प्रकाश और भूमि (संजानाथाम्) जो उनसे शिल्पविद्या उत्पन्न हो सके, उनके सिद्ध करनेवाले हों, और (मित्रावरुणौ) जो सब जीवों का बाहिर का प्राण और जीवों के शरीर में रहनेवाला उदानवायु है, ये (वृष्ट्या) शुद्ध जल की वर्षा से (त्वा) जो संसार सूर्य के प्रकाश और भूमि में स्थित है, उसकी (अवताम्) रक्षा करते हैं। जैसे (वयः) पक्षी अपने २ [(अक्तम्)] ठिकानों को रचते और (व्यन्तु) प्राप्त होते हैं, वैसे उन छन्दों से (रिहाणाः) पूजन करनेवाले हम लोग उस यज्ञ का [नित्य] अनुष्ठान करते हैं, और जो यज्ञ में हवन की आहुति (पृश्निः) अन्तरिक्ष में स्थिर और (वशा) शोभित (भूत्वा) होकर (मरुताम्) पवनों के संग से (दिवम्) सूर्य के प्रकाश को (गच्छ) प्राप्त होती है, वह (ततः) वहां से (नः) हम लोगों के सुख के लिये (वृष्टिम्) वर्षा को (आवह) अच्छे प्रकार वर्षाती है। उस वर्षा का जल (पृषतीः) नाड़ी और नदियों को [(गच्छ)] प्राप्त होता है। जिस कारण यह [(अग्ने)] अग्नि (चक्षुष्पाः) नेत्रों की रक्षा करनेवाला (असि) है, इससे (मे) हमारे (चक्षुः) नेत्रों के बाहिरले भीतरले विज्ञानकी (पाहि) रक्षा करता है ॥ १६ ॥

---

१ पदद्वयानुवृत्त्या सम्यगर्थयोजना प्रदर्शिता भवति ॥

२ अत्र 'आहुति'पदेनाग्नौ प्रक्षिप्तं द्रव्यं गृह्यते।

३ अत्र यजु० २। १ टि० द्रष्टव्या।

त्रिविधप्रक्रिया

४ यद्यप्यत्र पदार्थः प्राधान्येनाधिदैविकाधियज्ञार्थपरस्तथापि सूक्ष्मेक्षिकयाऽध्यात्मिकार्थोऽप्यत्र निहित इत्यवगन्तव्यम् ॥

वि० वक्तव्यम्

वेदमन्त्रैरेव यज्ञा अनुष्ठेया इत्याचार्येण प्रतिपाद्यते ॥ १६ ॥

५ पूर्वोक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं, अतः कहा—'उक्त यज्ञ से क्या' इत्यादि ॥

६ अन्वय आधिदैविक तथा अधियज्ञ दोनों अर्थों का बोधक है ॥

ॐ 'प्रोहासि, ...ऽनुवृत्तिश्च' इति पाठो ग. अ० मुद्रिते चोपलभ्यते, क. ख. नास्ति। 'प्रोहासि' इति पदमन्वये 'प्रोहाम' इति वचनव्यत्ययेन निर्दिष्टम्। अपोहासीति पदमन्वयेऽनन्वितमपि भावार्थे 'अपोहनं निवारणम्' इत्येवंरूपेण गृहीतमिति ध्येयम् ॥

‡ 'फलज्ञानेनानुष्ठाने नित्यं' इति क. पाठः। स च सम्यक् ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यलोग यज्ञ में जो आहुति देते हैं, वह वायु के साथ मेघमण्डल में जाकर सूर्य से खिचे* हुए जल को शुद्ध करके फिर वहां से वह पृथिवी में आकर ओषधियों को पुष्ट करती है। वह उक्त आहुति वेदमन्त्रों से ही करनी चाहिये, क्योंकि ❀ उसके फल को जाननेमें नित्य श्रद्धा उत्पन्न होवे। जो ये अग्नि सूर्यरूप होकर सबको प्रकाशित करता है, इससे सब † दृष्टिविषयक व्यवहार सिद्ध होते हैं, और उनकी पालना होती है। ये जो वसु आदि देव कहाते हैं, उनसे विद्या के उपकारपूर्वक दुष्ट गुण और दुष्ट प्राणियों को नित्य निवारण करनी चाहिए, यही सबका पूजन अर्थात् सत्कार है ॥

जो पूर्व मन्त्रमें कहा था उसका इस मन्त्रसे विशेषता करके प्रकाश किया है[1] ॥ १६ ॥

यं परिधिमित्यस्य ऋषिर्देवलः। अग्निर्देवता। [निचृद्] जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

सोऽग्निः कीदृश इत्युपदिश्यते ॥[2]

यं प॒रि॒धिं प॒र्यध॑त्था॒ऽअग्ने॑ देव प॒णिभि॒र्गुह्य॑मानः। तं त॑ऽ ए॒तमनु॒ जोषं॑ भराम्ये॒ष नेत्त्वद॑पचे॒तया॑ताऽ अ॒ग्नेः प्रि॒यं पाथो॒ऽ पीत॑म् ॥ १७ ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ यद्यपि सं० पदार्थ आधिदैविक तथा अधियज्ञ अर्थ को मुख्यतया कहता है, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से आध्यात्मिक अर्थ भी इसमें जानना चाहिये ॥

वि० वक्तव्य

वेद मन्त्रों से ही यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा आचार्य दर्शाते हैं ॥ १६ ॥

२ अग्नेर्व्यापकत्वरूपं गुणान्तरं प्रतिपादयन्नाह—'सोऽग्निः कीदृशः' इत्यादि ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(परिधिम्) पूर्वं यजुः २। ३। व्याख्यातः ॥

(पर्यधत्थाः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे अट्स्वरे उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।४ वा०) इति समासे तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति उपसर्गस्यानुदात्तत्वम्।

(देवपणिभिः) 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' अस्मात् अच इः (उ० ४। १३९) इति बाहुलकादनजन्तादपि 'इ' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततः षष्ठीसमासे समासस्य (अ० ६।१।२२३) इति समासान्तोदात्तत्वम्। यद्वा गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वम् ॥

पदद्वयमिति पदकारा व्याचक्षते। तत्रापि स्वरे नास्ति भेदः ॥

(गुह्यमानः) 'गुह' धातोः (अ० ६।१।१६२) इत्यन्तोदात्तः। ततः कर्मणि शानच्। सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वं च (अ० ६। १। १५८ भा० वा०) इति नियमेन शानच्स्वरः प्राप्तः, ततः सार्वधातुके यक् (अ० ३। १। ६७) इति यक्। प्रत्ययस्वरेण यक उदात्तत्वे प्राप्ते सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६। १। १५८ भा०) इति यक उदात्तत्वप्रतिषेधे अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ० ६। १। १५८) इति शानचो ऽनुदात्तत्वं न भवति। तस्योदात्तत्वे प्राप्ते तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६। १। १८६) इत्यनेन लसार्वधातुकानुदात्तत्वे प्रत्ययस्वरेण यक उदात्तत्वम्, शेषमनुदात्तम् ॥

---

* इतोऽग्रे अ० मुद्रिते ऽसम्बद्धः पाठः ॥

❀ 'उसके फल को जानकर उससे अनुष्ठान करने में' इति क. ख. पाठः ॥

† इतोऽग्रे 'व्यवहार दृष्टिगोचर उनकी पालना होती है' इति अ० मुद्रिते ऽपपाठः। 'व्यवहार दृष्टिगोचर होके उनकी पालना होती है' इति ग. पाठः ॥

यम् । † परिधिमिति परिऽधिम् । ‡ पर्य्यधत्था इति परि ऽ अधत्थाः । अग्ने । ¶ देव । पणिभिरिति पणिऽभिः । गुह्यमानः । तम् । ते । एतम् । अनु । जोषम् । भरामि । एषः । न । इत् । त्वत् । ❀ अपचेतयाता ऽइत्यपऽचेतयाति । अग्नेः । प्रियम् । पाथः । ÷ अपि । इतम् ॥ १७ ॥

पदार्थः—(यम्) एतद्गुणविशिष्टम् । (परिधिम्) परितः सर्वतो धीयते यस्मिँस्तम् । (पर्य्यधत्थाः) सर्वतो दधासि दधाति वा, अत्र लडर्थे लङ्, पक्षे व्यत्ययश्च । (अग्ने) सर्वत्र व्यापकेश्वर ! भौतिको वा । (देवपणिभि.) देवानां दिव्यगुणवतामग्निपृथिव्यादीनां विदुषां वा पणयो व्यवहाराः स्तुतयश्च ताभिः । (गुह्यमानः) सम्यक् क्रियमाणः । (तम्) परिधिम् । (ते) तव । (एतम्) यथोक्तम् । (अनु) पश्चादर्थे । अन्विति सादृश्यापरभावं प्राह । निरु० १ । ३ । (जोषम्) जुष्यते प्रीत्या सेव्यते तम् । (भरामि) धारयामि (एषः) परिधिरहं वा । (न*) प्रतिषेधे । (इत्) एव । (त्वत्) अन्तर्यामिनो जगदीश्वरात्तस्मादग्नेर्वा । (अप) दूरार्थे । (चेतयातै) चेतयेत् । 'चिती संज्ञाने' इति ण्यन्तस्य लेटः प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगोऽयम् । (अग्नेः) जगदीश्वरस्य, भौतिकस्य वा । (प्रियम्) प्रीतिजनकम् । (पाथः) पाति शरीरमात्मानं च येन § तदन्नम् । अन्न च । उ० ४ । २०५ । अनेन पातेरन्नेऽसुन्प्रत्ययः, थुडागमश्च । (अपीतम्) अपि संयोगे, अपीति संसर्गं प्राह । निरु० १ । ३ । इतं प्राप्तम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । ३ । २२ व्याख्यातः ॥१७॥

(एतम्, एषः) एतेस्तुट् च (उ० १।१३३) इति 'अदिः' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(जोषम्) 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इत्यस्माद् अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (अ० ३ । ३ । १९) इति कर्मणि घञ् । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अप) उपसर्गाद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसमनुदात्तत्वम् । समासाभावोऽपि तथैव ।

(चेतयातै) 'चिती संज्ञाने' अस्माद् हेतुमति च (अ० ३ । १ । २६) इति णिचि सनाद्यन्ता धातवः (अ० ३ । १ । ३२) इति धातुसंज्ञायां धातोः (अ० ६ । १ । १६२) इत्यन्तोदात्तत्वे लेट्यात्मनेपदे 'त' प्रत्यय उदात्तः । तस्य तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६।१।१८६) इत्यनुदात्तत्वे धातुस्वरे 'चेतिः' अन्तोदात्तः, गुणे ऽयादेशे च 'त' उदात्तः । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघाते प्राप्ते निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेत्० (अ०८।१।३०) इति प्रतिषेधे पूर्वोक्त एव स्वरः ।

पदकाराः 'अपचेतयातै' एकं पदमित्याहुः । अस्मिन् पक्षे 'अप' इत्यस्य तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति 'अप' अनुदात्तः ॥

(अपीतम्) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् । शेषे अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ०६।१।१५८) इत्यनुदात्तत्वम् ॥

पदद्वयमिति पदकाराः । अस्मिन् पक्षे तिङन्त्वात् 'इतम्' तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

† 'परिधिम्' इत्येव द्विरुक्त्यवग्रहस्वररहितोऽजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

‡ 'परि । अधत्थाः' इत्यजमेरमुद्रितपाठः । पदकाराणां चैषा शैली यद्यत्र तिङन्तं पदमुदात्तं भवति, तत्पूर्व चाव्यवहितोपसर्गः श्रूयते तत्रैकपद्यं मत्वावग्रहः प्रदर्श्यते । कात्यायनोऽपि 'उदात्तगतिमता च तिङा' (अ० २ । २ । ४ भा० वा०) इति वार्तिकं विरचयन्नमुं पक्षमनुमोदितवान् । अजमेरमुद्रितपदपाठेऽप्येषैव शैली लक्ष्यते । यत्र क्वचिदन्यथाभावः स लेखकसंशोधकप्रमादजन्यः । एवमस्य मन्त्रस्य सकले अजमेरमुद्रिते पदपाठे स्वराभावात् लेखकसंशोधकयोः प्रमादः स्पष्ट एव । द्र० यजुः १।१ टि० भाष्ये पृ० ९ ॥

¶ 'देवऽपणिभिः' इत्यजमेरमुद्रितः पाठः ॥

❀ 'अप । चेतयातै' इत्यजमेरमुद्रिते पदपाठः । अत्र पर्यधत्था पदस्य पूर्वा टिप्पणी द्रष्टव्या ॥

÷ 'अपीतम्' इत्यजमेरमुद्रितपाठः । पदकारस्त्वत्र सर्वानुदात्तम् 'इतम्' पदं तिङन्तं मत्वा पृथक् पदं स्वीचकार ॥

* अत्र पदपाठपदार्थान्वयादिषु 'मा' इति सार्वत्रिकः पाठ इति ध्येयम् ॥

§ 'तत्तदन्नम्' इति अ. मु. पाठः कोशेषु च । स च व्यस्त इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर एष देवपणिभिर्गुह्यमानस्त्वं यमेतं जोषं परिधिं पर्यधत्थाः सर्वतो दधासि तमित् त्वामहमनुभरामि । अहं [त्वत्] त्वां नापचेतयातै, कदाचिद् † विरुद्धो न भवेयम्, मया [ते] तवाग्नेः सृष्टौ यत् प्रियं पाथोऽपीतं तस्मादहं न कदाचिदपचेतयातै ॥ इत्येकः ॥

हे जगदीश्वर ! ते तव सृष्टौ योऽयं देवपणिभिर्गुह्यमान एषो [ऽग्ने] ऽग्निर्यमेतं परिधिं जोषं पर्यधत्थाः सर्वतो दधाति, तमित्तमहमनुभरामि [त्वत्] तस्मात् कदाचिन्नाऽपचेतयातै मया यदस्याग्नेः प्रियं पाथो ऽपीतं तदहं जोषं नित्यमनुभरामि ॥ *इति द्वितीयः* ॥ १७ ॥

अत्र श्लेषालंकारः । ‡ आद्ये ऽन्वये ऽग्निशब्देन जगदीश्वरो गृहीतोऽस्ति, ※ अपरे भौतिको ऽग्निश्च ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः प्रतिवस्तुषु व्यापकत्वेन धारको विद्वद्भिः स्तोतव्यः संप्रीत्या नित्यमनुसेवनीयः, यतस्तदाज्ञापालनेन [सर्वे मनुष्याः] प्रियं सुखं प्राप्नुयुः, § योऽयमीश्वरेण प्रकाशदाहवेगगुणादिसहितो मूर्त्तद्रव्यानुगतो ऽग्नी रचितस्तस्मान्मनुष्यैः कलाकौशलादिषु प्रयोजितादग्नेर्व्यवहाराः ❀ संसाधनीयाः, यतः सुखानि सिध्येयुः ॥

यत्पूर्वेण मन्त्रेण वृष्ट्यादिसाधकत्वमुक्तं तस्यानेन व्यापकत्वं प्रकाशितमिति संगतिः ॥ १७ ॥

उक्त अग्नि कैसा है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है[५] ॥

पदार्थः[६]—हे (अग्ने) सर्वत्र व्यापक ईश्वर ! आप (देवपणिभिः) दिव्य गुणवाले विद्वानों की स्तुतियों से (गुह्यमानः) अच्छी प्रकार अपने गुणों के वर्णन को प्राप्त होते हुए (यम्) उन गुणों के अनुकूल (जोषम्) प्रीति से सेवने योग्य (परिधिम्) प्रभुता को (पर्यधत्थाः) निरन्तर धारण करते हैं । (तम्) उस आपको (इत्) ही (एषः) मैं (अनुभरामि) अपने हृदय में धारण करता हूँ । तथा मैं (त्वत्) आपसे (न) (अपचेतयातै) कभी प्रतिकूल न होऊँ और [(ते)] आप (अग्नेः) जगदीश्वर की सृष्टि में जो मैंने (प्रियम्) प्रीति बढ़ाने और (पाथः) शरीर की रक्षा करनेवाला अन्न (अपीतम्) पाया है, उससे भी कभी प्रतिकूल न होऊँ । [*यह प्रथम अर्थ हुआ*] ॥

---

१ प्रथमान्वय आध्यात्मिकार्थपरः, अपरस्त्वाधिदैविकाधियज्ञपर इति स्पष्टम् ॥

२ श्लेषालङ्कारेण द्विविधो ऽप्यन्वयः प्रदर्शितः, स चात्र स्फुटतरः ॥

३ अत्र विषये यजु० १ । ३० पृ० १४९ भावार्थे टिप्पणी द्रष्टव्या ।

४ 'ईश्वरः' इति शेषः ।

त्रिविधप्रक्रिया

त्रिविधो ऽप्यर्थः पदार्थत एव द्रष्टव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

'देवपणिभिः' 'अपीतम्' इत्येतयोः पदकाराणां भिन्नपदत्वम् । किमत्र मानमिति विस्तरस्तु विवरणभूमिकायां द्रष्टव्यः ॥ १७ ॥

५ अग्नि का व्यापकत्वरूप अन्य गुण दर्शाते हैं—'उक्त अग्नि कैसा' इत्यादि ॥

६ प्रथम अन्वय आध्यात्मिकार्थपरक है । दूसरा आधिदैविक तथा अधियज्ञ अर्थ को कहता है, यह स्पष्ट है ॥

---

† 'विरुद्धो मा भवेयम्' इति अ. मु. पाठः ॥ ‡ 'आद्ये ऽन्वये········ऽग्निश्च' इति क. ख. पाठः ॥

※ 'अपरेण' इति अ. मु. अपपाठः । 'अपरे' इति क. पाठः ॥

§ 'सोऽयम्' इति अ. मु. ग. कोशे चापपाठः । 'योऽयम्' इति क. ख. पाठः ॥

❀ 'संसेधनीयाः' इति सर्वकोशेषु पाठः ॥

हे जगदीश्वर ! (ते) आपकी सृष्टि में (एषः) यह (अग्ने) भौतिक अग्नि (देवपणिभिः) दिव्य गुणवाले पृथिव्यादि पदार्थों के व्यवहारों से (गुह्यमानः) अच्छी प्रकार स्वीकार किया हुआ (यम्) जिस (परिधिम्) विद्यादि गुणों से धारण और (जोषम्) प्रीति करने योग्य कर्म को (पर्य्यधत्थाः) सब प्रकार से धारण करता है (तत् इत्) उसी को मैं (अनुभरामि) उसके पीछे स्वीकार करता हूँ और [(त्वत्)] उससे कभी (न) (अपचेतयातै) प्रतिकूल नहीं होता हूँ, तथा मैंने जो (अग्नेः) इस अग्नि के संबन्ध से (प्रियम्) प्रीति देने और (पाथः) शरीर की रक्षा करनेवाला अन्न (अपीतम्) ग्रहण किया है, उसको मैं अत्यन्त प्रीति के साथ नित्य क्रम से धारण करता हूँ । *[यह दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ १७ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है तथा पहिले अन्वय में अग्नि शब्द से जगदीश्वर का और दूसरे में भौतिक अग्नि का ग्रहण है ॥

भावार्थः—जो प्रति वस्तु में व्यापक होने से सब पदार्थों का धारण करनेवाला, और विद्वानों के स्तुति करने योग्य ईश्वर है, उसकी सब मनुष्यों को प्रीति के साथ नित्य सेवा करनी चाहिये । जो मनुष्य उसकी आज्ञा नित्य पालते हैं, वे प्रिय सुख को प्राप्त होते हैं । तथा जो यह ईश्वर ने प्रकाश दाह और वेग आदि गुणवाला मूर्तिमान् पदार्थों को प्राप्त होनेवाला अग्नि रचा है, उससे भी मनुष्यों को क्रिया की कुशलता के द्वारा उत्तम उत्तम व्यवहार सिद्ध करने चाहियें जिससे कि उत्तम २ सुख सिद्ध होवें ॥

जो पूर्वमन्त्र से वृष्टि आदि पदार्थों का साधक कहा है, उसका इस मन्त्र से व्यापकत्व प्रकाश किया है[2] ॥१७॥

संस्रवेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । स्वराट्त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ।

*स यज्ञः कथं * किमर्थं च कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते[3] ॥*

सुᳬस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः । इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त ऽआसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वᳬ स्वाहा वाट् ॥ १८ ॥

† सुᳬस्रवभागा इति सᳬस्रवऽभागाः । स्थ । इषा । बृहन्तः । प्रस्तरेष्ठाः । ‡प्रस्तरेस्था इति प्रस्तरेऽस्थाः । § परिधेया इति परिऽधेयाः । च । देवाः । इमाम् । वाचम् । अभि । विश्वे । गृणन्तः । ¶ आसद्येत्याऽसद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् । स्वाहा । वाट् ॥ १८ ॥

---

१ श्लेषालङ्कार से आचार्य ने दोनों प्रकार का अन्वय दर्शाया है, ऐसा समझना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ सं० पदार्थ से भी समझ लेना चाहिये ॥

वि० वक्तव्यम्

'देवपणिभिः', 'अपीतम्' इन पदों में पदकार भिन्न २ पद मानते हैं । इस विषय में विशेष इसी विवरण की भूमिका में देखें ॥ १७ ॥

३ उपकारान्तरं यज्ञस्य प्रतिपादनायाह—'स यज्ञः कथं किमर्थश्च' इति ॥

---

* 'किमर्थः' इति अ. मु. द्वितीयसंस्करणे पाठः । स च हस्तलेखानारूढः ॥

† 'संस्रवभागाः' इत्येवाजमेरमुद्रिते पाठः स्वररहितश्च । एतन्मन्त्रपदपाठस्यान्येष्वपि पदेषु स्वराङ्कनमजमेरमुद्रिते नोपलभ्यते ॥

‡ अयं द्विरुक्त्यात्मकः पाठोऽजमेरमुद्रिते नास्ति ॥

§ 'परिधेयाः' इत्येव स्वररहितोऽजमेरमुद्रिते पाठः ॥

¶ 'आसद्य' इत्येव स्वररहितोऽजमेरमुद्रिते पाठः ॥

पदार्थः—(संस्रवभागाः) सम्यक् स्रूयन्ते ये ते संस्रवाः, भज्यन्ते ये ते भागाः, संस्रवा भागा येषां ते । (स्थ) भवत । (इषा) इष्यते ज्ञायते येन तदिट् ज्ञानम्, इष गतावित्यस्य क्विबन्तस्य रूपम् । कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०] इति करणे क्विप् । (बृहन्तः) वर्धमाना वर्धयन्तश्च । (प्रस्तरेष्ठाः) शुभे न्यायविद्यासने तिष्ठन्ति ते । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । अ० ६ । ३ । १४ । इति सप्तम्या अलुक् । (परिधेयाः) परितः सर्वतो धातुं धापयितुमर्हाः । (च) समुच्चयार्थे । (देवाः) विद्वांसो दिव्याः पदार्था वा । (इमाम्) प्रत्यक्षाम् । (वाचम्) वचन्ति वाचयन्ति सर्वा विद्या यया ताम् सत्यलक्षणां वेदचतुष्टयीम् वागिति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ५ । (अभि) आभीक्ष्ण्ये आभिमुख्यं प्राह । निघ० १ । ३ । (विश्वे) सर्वे । (गृणन्तः) स्तुवन्त उपदिशन्तो वा । (आसद्य) समन्ताद् विज्ञाय स्थित्वा वा । (अस्मिन) प्रत्यक्षप्राप्ते । (बर्हिषि) ❀ बृंहन्ते वर्धन्ते येन तद् बर्हिर्ज्ञानं प्राप्तं कर्मकाण्डं वा तस्मिन् । (मादयध्वम्) हर्षयध्वम् । (स्वाहा) सु आहेत्यस्मिन्नर्थे । (वाट्) वहन्ति सुखानि यया क्रियया सा वाट् निपातोऽयम् ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । ३ । २३—२६ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

१ गत्यर्थानां ज्ञानार्थता य० १ । १ विवरणे पृ० १० द्रष्टव्या ॥

२ अत्र नव्यास्तु—

(क) 'नहि वचिरन्तिपरः प्रयुज्यते' प्र० कौ० भा० २ पृ० १९७ ॥

(ख) "वचन्तीति न प्रयोगार्हम् । यथाह क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिण्यां—वचन्तीति नेष्यते, अनभिधानात्"इति ॥ (प्रक्रि० कौ० टी० भा० २ पृ०१९७)॥

(ग) अत्र च माधवो ऽप्याह—वचन्तीत्यस्याप्रयोगो ऽनभिधानादिति स्वामिसम्मताकारौ । तथा भोजः—'न वचन्तीति प्रयुञ्जते' इति । आत्रेयस्तु एकवचनान्युदाहृत्यान्यत्रानभिधानमित्येके । झिमात्र एवानभिधानमिति केचित् ॥ माध० धा० वृ० पृ० २५८॥

महाभाष्यानारूढत्वात् सर्वमेतदकिञ्चित्करमुपेक्षणीयं च ॥

ननु च स्वामिदयानन्देनैव प्रयुक्तत्वान्नायं प्रमाणार्ह इति ? तदप्ययुक्तम् । यदि नाप्रयोक्तव्यो ऽयं प्रयोगस्तदा प्रमाणमन्तरा कथं वारयितुं शक्यते ॥ दुर्जनसन्तोषन्यायेनास्य प्रयोगो ऽपि प्रदर्श्यते । तद्यथा—

"यत्र कश्चित् क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः । प्रवचन्ति प्रकरोतीति" स्कन्द ऋग्वेदभाष्ये १ । ५४ । ८ ॥

अनेन 'प्रवचन्ति' इति प्रयोगः पञ्चदशशताब्दीभ्यः पूर्वमासीदिति सुव्यक्तम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(संस्रवभागाः) संस्रवः सम्पूर्वात् स्रवतेः कर्मणि ऋदोरप् (अ० ३ । ३ । ५७) इति 'अप्' । गतिसमासे थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वेनोदात्तः । 'भज' धातोरपि कर्मणि घञ् । कर्षात्वतो घञो ऽन्त उदात्तः (अ० ६ । १ । १५९) इत्यन्तोदात्तत्वम् । ततः अनेकमन्यपदार्थे (अ० २ । २ । २४) इति बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(बृहन्तः) 'बृह वृद्धौ' (भ्वा० प०) 'बृहि उद्यमने' (तु० प०) अन्ये तु बकारादि पठन्तीति धातुवृत्तावुक्तम्, अन्ये ऽप्येवं पठन्ति ॥

ततः शतरि तुदादिभ्यः शः (अ० । ३ । १ । ७७) इति शः प्रत्ययः । तस्य सति शिष्टत्वे बलीयस्त्वम्, सतिशिष्टो ऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६ । १ । १५८ भा०) इति तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेश० (अ० ६ । १ । १८६) इति सूत्रेण शतृप्रत्ययस्यानुदात्तत्वम् । ततः स एव 'श' विकरणस्वरः प्राप्तः, प्रत्ययस्वरेणोदात्त इति 'श' उदात्त । ततो अतो गुणे (अ० ६ । १ । ९७) इति पररूपैकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति 'ह' उदात्तः सम्पन्नः, ततः स्वरितत्वम् इतीष्टस्वरसिद्धिः ॥

❀ साम्प्रतिकानां मते 'बृंहन्ति' इति साधु ॥

अन्वयः—हे बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाः [विश्वे] देवा विद्वांसो यूयमिमां वाचमभिगृणन्त इमा संस्तवमागास्थ भवत, स्वाहावाडासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमन्यानेतल्लक्षणान् मनुष्यान् कृत्वा हर्षयत च [इत्येकः] ॥

एवमस्मिन् बर्हिषि इमां वाचम [भिगृणन्तोऽ] भिगृणद्भिर्युष्माभिरिवा स्वाहावाडासद्य बृहन्तः प्रस्तरेष्ठा विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसः सदा परिधेयाः तान् [संस्तवमागाश्च स्थ] प्राप्य चास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् [इति द्वितीयः] ॥ १८ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति ये मनुष्या धार्मिकाः पुरुषार्थिनो वेदविद्याप्रचारे, उत्तमे व्यवहारे च नित्यं वर्त्तन्ते तेषामेव बृहन्ति सुखानि भवन्ति ॥

यौ पूर्वस्मिन् मन्त्रेऽग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थावुक्तावनेन तयोः सकाशादीदृशा उपकारा ग्राह्या इत्युच्यते ॥ १८ ॥

ननु च 'बृहन्तः-महान्तः' इति सर्वे ऽपि वेदभाष्यकारा व्याचक्षते, कथञ्च बृहच्छब्दः शतृप्रत्ययान्तो व्याख्यातुं शक्यते ?

अत्र वदामः—आचार्यदयानन्देनाप्यन्यत्र 'बृहन्तं महान्तं' इत्येव व्याख्यातम् । तद्यथा य० २।४ भाष्येऽस्मिन्नेवाध्याये बृहन्तं महान्तं इति व्याख्यातम् । अन्यत्रापि य० ११ । २३ बृहन्तं महान्तम् । कुत इति चेत् ? तथाप्यस्य शब्दस्य व्युत्पादयितुं शक्यत्वात् ॥

अस्मिन् मन्त्रे तद्भिन्नो ऽप्यस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिप्रकार इति प्रदर्शनपरमेव तस्यैतद् व्याख्यानम् इति । उभयथापि स्वरसिद्धिः । कथमिति चेत् ? शतृपक्षे तूपरिष्टादस्माभिः प्रदर्शिता । न च तत्र कस्याश्चिद् विप्रतिपत्तेः सम्भवः । अपरपक्षे ऽपि—वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २ । ८४) इति 'अतिः' प्रत्ययः, तथा च पूर्वं (पृ० १६३, १६४) प्रतिपादितम् ॥

भिन्नदिशास्य शब्दस्य व्युत्पत्तिप्रकारप्रदर्शनं तु तस्य पुरुषसिंहस्य महाविदुषो दयानन्दस्य समासादितस्थिरसमाधित्वं, निरस्तबाह्यविषयैषणत्वं निरुद्धान्तःकरणवृत्तित्वं, वेदवेदाङ्गविज्ञाने च तस्य निष्कम्पदीपकल्पत्वं, वेदार्थविज्ञानसुनिश्चितार्थत्वं च बोधयति ॥

(प्रस्तरेष्ठाः) प्रपूर्वात् 'स्तृञ् आच्छादने' इत्यस्माद् ऋदोरप् (अ० ३ । ३ । ५७) इत्यप् । गतिसमासे थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६ । २ । १४४) इत्यादिनोत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । ततः प्रस्तरे तिष्ठतीति सुपि स्थः (अ० ३ । २ । ४) इति 'कः' प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे (६ । २ । १४४) इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(परिधेयाः) परिपूर्वाद् दधातेर्यति ईद्यति (अ० ६ । ४ । ६५) इति 'ई'कारादेशे गुणे च रूपम् । गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे यतो ऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्युत्तरपदमाद्युदात्तम् ॥

(गृणन्तः) गॄ निगरण इत्यस्माद् धातोः शतृप्रत्ययः । स च प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । श्नाभ्यस्तयोरातः (अ० ६ । ४ । ११२) इत्याकारलोपः ।

(आसद्य) आङ्पूर्वात् सीदतेः 'क्त्वा' प्रत्ययः । गतिसमासे क्त्वो ल्यबादेशः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे ल्यपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुरुदात्तः ॥

(वाट्) निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) ॥ व्युत्पत्तिपक्षे ण्विः प्रत्ययः । धातुस्वरेणाद्युदात्तः । यथा स्वाहा इति निपातः सन्नपि निरुक्तादिषु व्युत्पाद्यते तद्वदत्रापि ध्येयम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अधियज्ञाध्यात्मपरो ऽत्रान्वयः ॥

२ मन्त्रगतपदैः सह समन्वयो द्रष्टव्यः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ त्रिविधो ऽप्यर्थः पदार्थतो ऽवगन्तव्यः ॥

वह यज्ञ कैसे और किस प्रयोजन के लिये करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (बृहन्तः) वृद्धि को प्राप्त होने (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम न्याय विद्यारूपी आसन में स्थित होनेवाले (परिधेयाः) सब प्रकार से धारणवती बुद्धियुक्त [(विश्वे) सब (देवाः) विद्वानो ! तुम] (इमाम्) इस प्रत्यक्ष (वाचम्) चार वेदों की वाणी का [(अभिगृणन्तः)] उपदेश करनेवाले [(च)] और (इषा) अपने ज्ञानसे (संस्रवभागाः) घृतादि पदार्थों को होम में छोड़ने वाले (स्थ) होओ, तथा (स्वाहा) अच्छे २ वचनों से (वाट्) प्राप्त होने और सुख बढ़ानेवाली क्रिया को [(आसद्य)] प्राप्त होकर (अस्मिन्) प्रत्यक्ष (बर्हिषि) ज्ञान और कर्मकाण्ड में (मादयध्वम्) आनन्दित होओ, वैसे ही औरों को भी आनन्दित करो ॥ *[यह प्रथम अर्थ हुआ]* ॥

इस प्रकार उक्त ज्ञानको कर्मकाण्ड में [(इमाम्)] उक्त [(वाचम्)] वेदवाणीकी [(अभिगृणन्तः)] प्रशंसा करते हुए तुम लोग [(इषा)] अपने विचारसे [(स्वाहावाट्)] उत्तम ज्ञानको प्राप्त होनेवाली क्रिया को [(आसद्य)] प्राप्त होकर (बृहन्तः) बढ़ने और (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम कामोंमें स्थिर होनेवाले (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम २ पदार्थ (परिधेयाः) धारण करो वा औरों को धारण कराओ, [(च) और (संस्रवभागाः) घृतादि पदार्थों को होम में छोड़ने वाले (स्थ) होओ] और उनकी सहायता से [(अस्मिन्)] उक्त [(बर्हिषि)] ज्ञान वा कर्मकाण्ड में सदा (मादयध्वम्) हर्षित होओ ॥ *[यह दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ १८ ॥

भावार्थः[2]—ईश्वर आज्ञा देता है कि जो धार्मिक पुरुषार्थी वेदविद्या के प्रचार वा उत्तम व्यवहार में वर्तमान हैं, उन्हीं को बड़े २ सुख होते हैं ॥

जो पूर्व मन्त्र में ईश्वर और भौतिक अर्थ कहे हैं, उनसे ऐसे २ उपकार लेने चाहियें, सो इस मन्त्र में कहा है[3] ॥ १८ ॥

घृताची स्थ इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निवायू देवते । भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथोक्तेन यज्ञेन किं भवतीत्युपदिश्यते[5] ॥

घृताची स्थो धुर्यौ पात ँ सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तम् ।
यज्ञ नमश्च तऽउप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे संतिष्ठस्व ॥ १९ ॥

वि० वक्तव्यम्

'वचन्ति' इति पदार्थे प्रयोगः अस्मिन् विषये तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

१ यज्ञ से अन्य उपकार कहते हैं—'वह यज्ञ कैसे और' इत्यादि ॥

२ यह भावार्थ मन्त्रगतपदों से मिला कर समझ लेना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ सं०पदार्थ से जानना चाहिये ॥

वि० वक्तव्य

यहाँ संस्कृतपदार्थ में 'वचन्ति' ऐसा प्रयोग है । इस में कई एक नवीन वैयाकरण आक्षेप करते हैं कि 'वचन्ति' प्रयोग नहीं होता । इस में महाभाष्यकार की अनुमति न होने से अमाननीय है । 'प्रवचन्ति' ऐसा प्रयोग लगभग १५ शताब्दी पूर्व ऋग्वेद भाष्यकार स्कन्द स्वामी के भाष्य (ऋ० १।५४।८) में मिलता है । इससे भी इन नवीन लोगों का कहना प्रमाणयोग्य नहीं, ऐसा समझना चाहिये । विशेष संस्कृत टिप्पणी में देखें ॥ १८ ॥

---

४ स्रुचौ, यज्ञ इति सर्वानुक्रमणी ॥

५ पूर्वोक्तमेव प्रकारान्तरेण पोषयति—'अथोक्तेन यज्ञेन किम्' इति ॥

* घृताचीऽइति॑ घृताची॑ । स्थः । धुर्य्यौ॑ । पातम् । † सुम्ने ऽ इति॑ सुम्ने । स्थः । सुम्ने । मा । धत्तम् ॥ यज्ञ॑ । नमः॑ । च । ते । उप॑ । च । यज्ञस्य॑ । शिवे । सम् । तिष्ठस्व । स्विष्टे इति॑ सुऽइष्टे । मे । सम् । तिष्ठस्व ॥ १९ ॥

पदार्थः—(घृताची) घृतमुदकमञ्चत इति घृताची, अग्निवाय्वोर्धारणाकर्षणक्रिये, अत्र पूर्वसवर्णादेशः, घृतमित्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ (स्थः) स्तः, अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः । (धुर्य्यौ) धुरं यज्ञस्याग्रं मुख्याङ्गं वहतस्तौ । अत्र धुरो यड्ढकौ । अ० ४ । ४ । ७७ । इति यत्प्रत्ययः । (पातम्) रक्षतः । (सुम्ने) सुखकारिके, उक्ते क्रिये । सुम्नमिति सुखनामसु पठितम् निघ० ३ । ६ । (स्थः) भवतः । (सुम्ने) अत्युत्कृष्टे सुखे । (मा) मां यज्ञानुष्ठातारम् । (धत्तम्) धारयतः (यज्ञ[1]) इज्यते सर्वैर्जनैः स यज्ञ ईश्वरस्तत्सम्बुद्धौ, क्रियासाध्यो वा, अत्रान्त्ये पक्षे सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति सोर्लुक् । (नमः) नम्रीभावार्थे । (च) समुच्चये । (ते) तुभ्यं तस्य वा । (उप) सामीप्ये क्रियायोगे । उपेत्युपजनं प्राह । निरु० १ । ३ । (च) पश्चादर्थे । (यज्ञस्य) ज्ञानक्रियाभ्यामनुष्ठेयस्य । (शिवे) कल्याणसाधिके । सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इत्य [नेना] यं सिद्धः । (संतिष्ठस्व) संतिष्ठते, अत्र लडर्थे लोट् । (स्विष्टे) शोभनमिष्टं याभ्यां ते । (मे) मम । (संतिष्ठस्व) सुष्ठुसाधने स्थिरो भव, संतिष्ठते वा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ८ । ३ । २७ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः[2]—यावग्निवायू यज्ञस्य धुर्य्यौ सुम्ने [च] स्थो घृताची स्थः सर्वं जगत् पातं रक्षतस्तौ मया सम्यक् प्रयोजितौ सुम्ने सुखे मा मां धत्तं धारयतः । [यज्ञ] ※ यज्ञो नमश्च ये यथा ते तव [स्विष्टे] शिवे संतिष्ठेते मे ममाप्येते तथैव संतिष्ठेताम् । तस्माद् यथाहं तस्य यज्ञस्यानुष्ठाने संतिष्ठे, तथा त्वमप्यत्र + उप संतिष्ठस्व । यथाऽहं यज्ञमनुष्ठाय सुखे संतिष्ठे, तथा त्वमपि तत्र संतिष्ठस्व ‡ ॥ १९ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ॥

---

१ यज्ञो वै विष्णुः । श० ११ । ९ । ३ । ९ ॥
प्रजापतिर्वै यज्ञः ॥ गो० उ० २ । १८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(धुर्यौ) यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तः ॥

(सुम्ने) राम्नासास्नासुम्नद्युम्ननिम्नेति० (उणा० भोजवृत्ति० २ । २ । १८४) इति शोभनेन कर्मणा मीयते निमीयते, सुष्ठु मीयते परिछिद्यते भागेनेति वा इति देवराजः (पृ० ३१७) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे नप्रत्ययान्तो निपात्यत इति कृत्वा प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(नमः) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' एतस्मात् सर्वधातुभ्यो ऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन् प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तः ॥

(शिवे) 'शीङ् स्वप्ने' अस्मात् सर्वनिघृष्वरिष्व० (उ० १।१५३) इत्यादिना वन् प्रत्ययान्तो निपातितः । निपातनाद्ध्रस्वत्वमन्तोदात्तत्वं च ॥ पदकारस्तु सप्तम्येकवचनं मन्यते ॥

(स्विष्टे) सु इष्टः प्रादिसमासे ऽव्ययस्वरेणोदात्तः, ततो यणादेशे उदात्तस्वरितयोर्यणः० (अ० ८ । २ । ४) इति स्वरितत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ प्राधान्येनाधियज्ञपरोऽयमन्वयः ॥

---

* 'घृताची' इत्येवाजमेरमुद्रिते ऽ पपाठः ॥ † 'सुम्ने' इत्येवाजमेरमुद्रिते ऽ पपाठः ॥
※ संस्कृतपदार्थे सम्बुद्धावीश्वरपक्षे व्याख्यातम्, अत्रान्वये भाषापदार्थे च प्रथमान्त इति ध्येयम् ॥
+ 'उप' इति पूर्वं 'सन्तिष्ठते' इत्यनेन सह अ० मुद्रिते ॥ ‡ अत्र सर्वोऽप्यन्वयो व्यस्त इव प्रतिभाति ॥

भावार्थः—ईश्वरोऽभिवदति–हे मनुष्या यूयमेतयो रसच्छेदकधारकयोर्जगत्पालनहेत्वोः सुखकारिणोः क्रियाकाण्डस्य निमित्तयोरूर्ध्वतिर्य्यग्गमनशीलयोरग्निवाय्वोः सकाशात् कार्य्याणि ‡ साधित्वा सुखेषु संस्थितिं कुरुत, मदाज्ञापालनं मां च सततं नमस्कुरुत ॥

पूर्वमन्त्रोक्तैरुपकारैः परमं सुखं भवतीत्यनेनोक्तमिति[2] ॥ १९ ॥

अब उक्त यज्ञ से क्या होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[3] ॥

पदार्थः— जो अग्नि और वायु (धुर्य्यौ) यज्ञ के मुख्य अङ्ग को प्राप्त करानेवाले (च) और (सुम्ने) सुखरूप (स्थः) हैं तथा (घृताची) जल को प्राप्त करानेवाली क्रियाओं को करनेहारे (स्थ) [हैं] और सब जगत् को (पातम्) पालते हैं, वे मुझ से अच्छी प्रकार उत्तम २ क्रियाकुशलता से युक्त हुए (मा) मुझे, यज्ञ करनेवाले को (सुम्ने) सुख में (धत्तम्) स्थापन करते हैं । जैसे यह (यज्ञ) जगदीश्वर (च) और (नमः) नम्र होना (ते) तेरे लिये [(स्विष्टे) सुख तथा] (शिवे) कल्याण में स्थित होते हैं । वे वैसे ही (मे) मेरे लिये भी स्थित होते हैं। इस कारण जैसे मैं (यज्ञस्य) यज्ञ के अनुष्ठान में स्थित होता हूं वैसे तुम भी उसमें (उपसंतिष्ठस्व) स्थित होओ *तथा जैसे मैं यज्ञ का अनुष्ठान करके सुख में रहता हूं वैसे तुम भी सुखमें (संतिष्ठस्व) स्थित हो ॥ १९ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—ईश्वर कहता है कि हे मनुष्यो ! ‡ रसके छेदक तथा धारक, जगत् के पालन के निमित्त सुख करनेवाले क्रियाकाण्ड के हेतु और ऊपर को तथा टेढे वा सूधे जानेवाले अग्नि और वायु से कार्यों को सिद्ध करो, इससे तुम लोग सुखों में अच्छी प्रकार स्थिर हो तथा मेरी आज्ञा पालो और मुझ को ही बार बार नमस्कार करो[5] ॥

[पूर्वमन्त्र में कहे उपकारों से परम सुख की प्राप्ति होती है, यह इस मन्त्र में कहा है] ॥ १९ ॥

---

१ पूर्ववदत्रापि मन्त्रगतपदैः समन्वयो बोध्यः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ त्रिविधो ऽप्यर्थः पदार्थतो ऽवगन्तव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

(क) लुप्तोपमालङ्कारेणात्रार्थवैशद्यं प्रदर्शितमिति ध्येयम् ॥

(ख) 'यज्ञ' इति पदस्य व्याख्याने पक्षान्तरं प्रदर्शयताचार्येणार्थद्वैविध्यं प्रकाशितं भवति ॥१९॥

३ पूर्वोक्त को ही प्रकारान्तर से पुष्ट करते हैं—"अत्र उक्त यज्ञ से क्या" इत्यादि ॥

४ अन्वय यहां मुख्यतया अधियज्ञपरक है ॥

५ पूर्ववत् यहां भी मन्त्रगत पदों से सम्बन्ध जानना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

६ सब प्रक्रियाओं में अर्थ सं० पदार्थ से जानने योग्य है ॥

वि० वक्तव्यम्

लुप्तोपमालङ्कार से यहां अर्थ का विस्तार जानना चाहिये । सं० पदार्थ में 'यज्ञ' का अर्थ दर्शाते हुये आचार्य ने अनेकार्थ दर्शाया है ॥ १९ ॥

---

‡ 'साधयित्वा' इति तु साम्प्रतिकानां मते स्यात् ॥ * 'तथा जैसे..........स्थित हो' इति अ० मुद्रिते नास्ति ॥
‡ 'रस के परमाणु करने' इति अ० मु० पाठः ॥

अग्नेऽदब्धायो इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निसरस्वत्यौ देवते[1] । भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ सोऽग्निः कीदृशः, किमर्थं प्रार्थनीयश्चेत्युपदिश्यते[2] ॥

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्या ऽ अविषं नः पितुं कृणु । सुषदा योनौ स्वाहा वाडग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ॥ २० ॥

अग्ने । अदब्धायो ऽ इत्यदब्ध ऽ आयो । ꙮ अशीतम । † अशितमेत्यशिऽतम । पाहि । मा । दिद्योः । पाहि । प्रसित्या इति प्रऽसित्यै । पाहि । दुरिष्ट्या इति दुःऽइष्ट्यै । पाहि । दुरद्मन्या इति दुःऽअद्मन्यै । अविषम् । नः । पितुम् । कृणु । सुषदा । सुसदेति सुऽसदा । योनौ । स्वाहा । वाट् । अग्नये । संवेशपतय इति संवेशऽपतये । स्वाहा । सरस्वत्यै । यशोभगिन्या इति यशः ऽ भगिन्यै । स्वाहा ॥ २० ॥

पदार्थः—(अग्ने[3]) जगदीश्वर भौतिको वा । (अदब्धायो) अदब्धमहिंसितमायुर्यस्मात् तत्संबुद्धौ, अदब्धायुर्वा । (अशीतम) अश्नुते व्याप्नोति ‡ चराचरं यज्ञं सोऽतिशयितस्तत्संबुद्धौ, स वा । अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घः । (पाहि) रक्ष पाति वा । (मा) माम् । (दिद्योः[4]) अतिदुःखात्, दिवुधातोः कुर्भश्च । उ० १ । २२ । इति चकारेण कुप्रत्ययो बाहुलकाद् वकारलोपश्च । (पाहि) रक्ष रक्षति वा । (प्रसित्यै) प्रकृष्टा चासौ सितिर्बन्धनं यस्यां तस्याः । अत्र पञ्चम्यर्थे चतुर्थी । (पाहि) पाति वा । (दुरिष्ट्यै) दुष्टा इष्टिर्यजनं यस्यां तस्याः, अत्रापि पञ्चम्यर्थे चतुर्थी । (पाहि) पाति वा । (दुरद्मन्यै) दुष्टा अद्मनी अदनक्रिया यस्यां तस्याः । अत्रापि पञ्चम्यर्थे चतुर्थी (अविषम्) विषादिदोषरहितम् । (नः) अस्माकम् । (पितुम्) अन्नम् । पितुरित्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (कृणु) कुरु करोति वा, अत्र सर्वत्र पक्षे लडर्थे लोट् । (सुषदा) सुखेन सीदन्ति यस्यां तस्याम् । अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति ङेः स्थान आकारादेशः । (योनौ) युवन्ति यस्यां सा योनिगृहं जन्मान्तरं वा तस्याम्, योनिरिति गृहनामसु पठितम् । निघ० ३ । ४ । (स्वाहा) सु आहानया सा । (वाट्) क्रियार्थे । (अग्नये) परमेश्वराय भौतिकाय वा । (संवेशपतये) सम्यक् विशन्ति ये ते पृथिव्यादयः पदार्थास्तेषां पतिः पालकस्तस्मै । (स्वाहा) सुष्ठु आहुतं करोति यस्यां सा । (सरस्वत्यै) सरन्ति जानन्ति येन तत् सरो ज्ञानं तत्प्रशस्तं विद्यते यस्यां वाचि तस्यै । सरस्वतीति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ । (यशोभगिन्यै) यशांसि सत्यवचनादीनि कर्माणि * भजितुं शीलं यस्यास्तस्यै । (स्वाहा) स्वकीयं पदार्थं प्रत्याह यस्यां क्रियायां सा ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ९ । २ । १९–२० व्याख्यातः ॥ २० ॥

१ गार्हपत्यः, दक्षिणाग्निः, लिङ्गोक्ता इति सर्वानुक्रमणी ॥

२ अग्निना परमेश्वरेण विद्युता च दिव्यानि सुखानि सम्भाव्यन्त इत्यग्निं पुनरुपक्रमते, भौतिकमग्निं विशिष्य लक्षयति, श्लेषेणेश्वरं चापि प्रस्तौति, अत आह—'अथ सो ऽग्निः कीदृशः' इति ॥

३ य० १।५ विवरणे व्याख्यातः (पृ० ४७) ॥

४ इषवो वै दिद्यवः ॥ श० ५।४।२।२ ॥

५ वागेव सरस्वती ॥ ऐ० २ । २४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अदब्धायो) 'दम्भु दम्भने' अस्मात् क्तः, यस्य विभाषा (अ० ७ । २ । १५) इत्यनिट्त्वम् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । न दब्धमदब्धम् । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृति-

ꙮ अजमेरमुद्रितेऽयं नास्ति ॥

‡ 'चराचर जगत्' इति क. ख. पाठः ॥

† 'अशीतमेत्यशीतम' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

* 'भक्तुम्' इति साम्प्रतिकानां मते स्यात् ॥

अन्वयः—हे अदब्धायोऽशीततमाग्ने जगदीश्वर ! त्वं यज्ञं दुरिष्ट्यै पाहि [मा] मां दिद्योः प्रमादरूपाद् दुःखात् पाहि प्रसित्यै पाहि, दुरद्मन्यै पाहि नोऽस्माकमविषं पितुं कृणु नोऽस्मान् [सुषदा] सुषदायां योनौ स्वाहा वाक्सत्क्रियायां च कृणु [कुरु], वयं यशोभगिन्यै सरस्वत्यै स्वाहा संवेशपतयेऽग्नये तुभ्यं स्वाहा नमश्च नित्यं कुर्मः ॥ इत्येकः ॥

स्वरः 'आयुः'शब्दस्तु छन्दसीणः (उ० १ । २) इत्युण्प्रत्ययान्तः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः । तस्य सम्बोधने ऽविद्यमानत्वे प्राप्ते नाऽमन्त्रिते समानाधिकरणे० (अ० ८ । १ । ७३) इत्यादिना पूर्वस्याविद्यमानत्वनिषेधे 'आमन्त्रितस्य च' (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(अशीतम) 'अशूङ् व्याप्तौ' इत्येतस्माद् धातोः सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) इति 'इन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः । तत आतिशायिकस्तमप् । तस्य पित्त्वात् स एव स्वरः । पूर्वस्यामन्त्रितस्य पूर्ववदेव विद्यमानत्वान्निघातः । अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६ । ३ । १३७) इति दीर्घः ॥

(दिद्योः) दिव् धातोः कुप्रत्ययो द्वित्वं च प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(प्रसित्यै) गतिसमासे तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । अत्र पक्षे व्युत्पादनं स्वर्थप्रदर्शनपरम् ॥ यद्वा प्रादिभ्यो धातुजस्य वा (अ० २ । २ । २४ भा० वा०) इत्यनेन बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणेष्टस्वरसिद्धिः ॥

(दुरिष्ट्यै) दुःपूर्वाद् यजधातोःस्त्रियां क्तिन् (अ० ३ । ३ । ९४) इति क्तिन् प्रत्ययः । गतिसमासे तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥ यद्वा—दुर्निन्दायाम् (अ० २ । २ । १८ वा०) इति प्रादिसमासः । ततः तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे निपातस्वरेणाद्युदात्तः, प्रकृतिप्रत्ययप्रदर्शनं स्वर्थप्रदर्शनपरम् । पूर्ववद् वा बहुव्रीहिसमासे इष्टस्वरसिद्धिः ॥

(दुरद्मन्यै) दुःपूर्वाद् 'अद' धातोः अमेर्मुट् च (उ० २ । १०५) इति 'अनिः' प्रत्ययो मुट चागमः, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययाद्युदात्तत्वेन मध्योदात्तः । ततः कृदिकारादक्तिनः (अ० ४ । १ । ४५ गणसूत्रम्) इति ङीप् । प्रत्ययस्वरेण सतिशिष्टत्वादीकार उदात्तः । ततो विभक्तौ यणादेशे उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(अविषम्) न विद्यते विषमस्मिन् इति बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥ यत्तु तैत्तिरीयसंहितायामाद्युदात्तं दृश्यते, तत्र नञ्समासः, अव्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(पितुम्) कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च (उ० १ । ६९ श्वेतवन०) इत्यनेन पातेः 'तुः' प्रत्ययो बाहुलकादित्वम् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सुषदा) सुपूर्वात् सीदतेः सत्सूद्विषद्रुहदुह० (अ० ३ । २ । ६१) इत्यादिना क्विप् । सदिरप्रतेः (अ० ८ । ३ । ६६) इति षत्वम् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । ततो ङेस्थान आकारदेशः ॥

(संवेशपतये) संपूर्वाद् विशतेः पचाद्यच्, थाथघञ्० (अ० ६ । २ । १४४) इत्यन्तोदात्तः । तेषां पतिरिति षष्ठीसमासे पत्यावैश्वर्ये (अ० ६ । २ । १८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे 'श' उदात्तः ॥

(सरस्वत्यै) सृ गतौ सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति 'असुन्' । नित्वादाद्युदात्तः । ततः प्राशस्त्यार्थे मतुप् । स च पित्त्वादनुदात्तः ततो ङीप् सोऽप्यनुदात्तः ॥

(यशोभगिन्यै) यशउपपदे भजधातोः सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (अ० ३ । २ । ७८) इति णिनिः स चोदात्तः । छान्दसत्वाद् वृद्ध्यभावः । ततो ङीप् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आध्यात्मिकाधियज्ञपरोऽत्रान्वयः ॥
२ पूर्वत्र (य० १ । २७ पृ० १२६) व्याख्यातम् ॥

हे जगदीश्वर ! योऽयं भवताऽदब्धायुरशीतमोऽग्निर्निर्मितः, स यज्ञं दुरिष्ट्याः पाति। मां दिद्योः पाति, प्रसित्याः पाति, दुरद्मन्याः पाति। नोऽस्माकमविषं पितुं करोति, सुपदायां योनौ स्वाहा वाट् सत्क्रियायां च हेतुरस्ति, वयं तस्मै संवेशपतयेऽग्नये स्वाहा, यशोभगिन्यै सरस्वत्यै स्वाहा कुर्मः ॥ *इति द्वितीयः* ॥ २० ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः[1] ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वथा सर्वस्माद् दुःखाद् रक्षक उत्तमजन्मनिमित्तकर्मज्ञापक उत्तमभोगप्रदाता जगदीश्वरोऽस्ति, स एव सदा सेवनीयः। तेन स्वसृष्टौ सूर्यविद्युत्प्रत्यक्षरूपेण योऽयमग्निः प्रकाशितः, सोऽपि सम्यक् विद्योपकारे संयोजितः सन् सर्वथा रक्षणोत्तमभोगहेतुर्भवति। यया कीर्तिहेतुभूतया सत्यलक्षणया वेदरूपया वाचोत्तमानि जन्मानि सर्वपदार्थेभ्य उत्कृष्टा विविधा विद्या च प्रकाशिता भवति, सा सदैव स्वीकर्तव्या स्वीकारयितव्या वेति ॥

अत्र † नम इति पदं पूर्वस्मान्मन्त्रादाकर्षितम् ‡। पूर्वमन्त्रोक्तानां मनुष्यैरनुष्ठितानां कर्मणां फलमनेनोक्तमिति वेद्यम् ॥ २० ॥

उक्त अग्नि कैसा और क्यों प्रार्थना करने योग्य है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[3] ॥

पदार्थः[4]—हे (अदब्धायो) निर्विघ्न आयु देनेवाले (अग्ने) जगदीश्वर ! आप ❀ (अशीतम) चराचर संसार में व्यापक यज्ञकी (दुरिष्टयै) दुष्ट अर्थात् वेदविरुद्ध यज्ञ [कर्मों] से (पाहि) रक्षा कीजिये। तथा (मा) मुझे (दिद्योः) अति दुःख से (पाहि) बचाइये। तथा (प्रसित्यै) भारी २ बन्धनों से (पाहि) अलग रखिये। (दुरद्मन्यै) जो दुष्ट भोजन करना है, उस विपत्ति से (पाहि) बचाइये। और (नः) हमारे लिये (अविषम्) विष आदि दोष रहित (पितुम्) अन्नादि पदार्थ (कृणु) उत्पन्न कीजिए तथा (नः) हम लोगों को (सुषदा) सुखसे स्थिरता को देनेवाले [(योनौ)] घर में (स्वाहा) (वाट्) वेदोक्त वाक्यों से सिद्ध होने वाली उत्तम क्रियाओं में स्थिर कीजिये, जिससे हम लोग (यशोभगिन्यै) सत्य वचन आदि उत्तम कर्मों का सेवन करानेवाली (सरस्वत्यै) पदार्थों के प्रकाशित कराने में उत्तम ज्ञानयुक्त वेदवाणी के लिये (स्वाहा) धन्यवाद वा (संवेशपतये) अच्छी प्रकार जिन पृथिव्यादि लोकों में प्रवेश करते हैं, उनके पति अर्थात् पालन करने हारे जो (अग्नये) आप हैं, उनके लिये (स्वाहा) धन्यवाद और नमस्कार करते हैं ॥ *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ]* ॥

---

१ श्लेषालङ्कारेण द्विविधोऽन्वयः प्रदर्शितो भवति ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थ एवावगन्तव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

'कृणु' इति व्याख्याने 'सर्वत्र' इति पदं विविधार्थबोधपरम् ॥ २० ॥

३ अग्नि विद्युत् तथा परमेश्वर से उत्तम २ सुखों की प्राप्ति हो सकती है, इस विचार से पुनः अग्नि का कथन करते हैं। भौतिक अग्नि को लक्ष्य में रख कर कहा, श्लेषालङ्कार से जगदीश्वर का निरूपण करते हैं। अतः कहा—'उक्त अग्नि कैसा और' इत्यादि ॥

४ यहां अन्वय में आध्यात्मिक तथा अधियज्ञपरक अर्थों का निरूपण है ॥

---

† अ० मुद्रिते 'ग' कोशे च 'नमो यज्ञ इति च पदद्वयम्' इति पाठः क. ख. तु नास्ति ॥

‡ यजुः २। १ पृ० १५४ टि० द्रष्टव्या। ❀ 'अशीतम' पदं संस्कृतान्वये 'अग्ने' पदात् पूर्वं वर्तते।

हे भगवन् जगदीश्वर ! आपने जो यह (अदब्धायो) निर्विघ्न आयुका निमित्त † (अशीतम) सर्वत्र व्यापक (अग्ने) भौतिक अग्नि बनाया है, वह भी यज्ञको (दुरिष्ट्यै) दुष्ट यज्ञसे [दूषित पदार्थों के प्रभाव से] (पाहि) रक्षा करता है, तथा (मा) मुझे (दिद्योः) अति दुःखों से (पाहि) बचाता है, (प्रसित्यै) बड़े २ दारिद्र्य के बन्धनों से (पाहि) बचाता है, तथा (दुरद्मन्यै) दुष्ट भोजन रूप क्रियाओं से (पाहि) बचाता है, और (नः) हमारे (पितुम्) अन्न आदि पदार्थ (अविषम्) विष आदि दोष रहित (कृणु) कर देता है, वह (सुषदा) सुखसे स्थिति देनेवाले [(योनौ)] घर अथवा दूसरे जन्मों में (स्वाहा) (वाट्) वेदोक्त वाक्यों से सिद्ध होनेवाली क्रियाओं का हेतु है, हम लोग उस (संवेशपतये) पृथिव्यादि लोकों के पालने वाले (अग्नये) भौतिक अग्नि को ग्रहण करके (स्वाहा) होम तथा उसके साथ (यशोभगिन्यै) उक्त गुणवाली (सरस्वत्यै) वेदवाणी की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) परमात्मा का धन्यवाद करते हैं ॥ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ २० ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जो सर्वव्यापक, सब प्रकार से रक्षा करने, उत्तम जन्म देने, उत्तम कर्म कराने, और उत्तम विद्या वा उत्तम भोग देनेवाला जगदीश्वर है, उसी का सेवन सदा करना योग्य है। तथा जो यह अपनी सृष्टि में परमेश्वर ने भौतिक अग्नि प्रत्यक्ष सूर्य्यलोक और बिजुली रूप से प्रकाशित किया है, वह भी अच्छी प्रकार विद्या से उपकार लेने में संयुक्त किया हुआ सब प्रकार से रक्षा और उत्तम भोग का हेतु होता है। जिसकी कीर्ति के निमित्त सत्य लक्षणयुक्त वेदवाणी से उत्तम जन्म अथवा सब पदार्थों से अच्छी २ विद्या प्रकाशित होती हैं, वे सब विद्वानों के स्वीकार करने योग्य तथा औरों को भी स्वीकार कराने योग्य हैं ॥

इस मन्त्र में (नमः ‡) यह पद पूर्व मन्त्र से लिया है[२]। [पूर्व मन्त्र में कहे अनुष्ठान करने योग्य कर्मों का फल इस मन्त्र में कहा है, ऐसा समझना चाहिये] ॥ २० ॥

वेदोऽसीत्यस्य वामदेव ऋषिः। प्रजापतिर्देवता[३]। भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

स जगदीश्वरः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते[४] ॥

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत ऽ इमं देव यज्ञ ँ स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

वेदः। असि। येन। त्वम्। देव। वेद। देवेभ्यः। वेदः। अभवः। तेन। मह्यम्। वेदः। भूयाः। देवाः। गातुविद इति गातुऽविदः। गातुम्। वित्त्वा। गातुम्। इत। मनसः। पते। इमम्। देव। यज्ञम्। स्वाहा। वाते। धाः ॥२१॥

---

१ श्लेषालङ्कार से अन्वय में दोनों प्रकार का अर्थ समझना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ सं० पदार्थ से समझ लेना चाहिये ॥

वि० वक्तव्य

अनेकविध अर्थों की सम्भावना कैसे है, सो संस्कृत टिप्पण में देखें ॥ २० ॥

३ वेदः, वात इति सर्वानुक्रमणी ॥

४ पूर्वमन्त्रप्रतिपादितः सर्वान्तर्यामीश्वरः सर्वसुखाधायक इत्याह—'स जगदीश्वरः कीदृशः' इति ॥

---

† ('अशीतम) सर्वत्र व्यापक' इति पाठः 'यज्ञको' इत्येतस्मात् पूर्वं अ०मु० वर्तते। स च संस्कृतान्वयाननुसारी ॥

‡ यहां '(नमः) और (यज्ञ) ये दोनों पद' ऐसा पाठ ग. तथा अ० मुद्रित में है क, ख, दोनों में नहीं॥

पदार्थः—(वेदः) वेत्ति चराचरं जगत् स जगदीश्वरः, विदन्ति येन स ऋग्वेदादिर्वा । (असि) *अस्ति वा । (येन) विज्ञानेन वेदेन वा । (त्वम्) (देव) शुभगुणदातः । (वेद) जानासि वेत्ति वा । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः । (वेदः) वेदयिता । (अभवः) † भवसि भवति वा । (तेन) विज्ञानप्रकाशनेन । (मह्यम्) विज्ञानं जिज्ञासवे । (वेदः) ज्ञापकः । (भूयाः) । (देवाः) विद्वांसः । (गातुविदः) गीयते स्तूयतेऽनया सा गातुः स्तुतिस्तस्या विदो ‡वक्तारः । कमिमनिजनि० । उ० १ । ७३ । अनेन गा स्तुतावित्यस्मात् तुः प्रत्ययः । (गातुम्) गीयते ज्ञायते येन स गातुर्वेदस्तम् । गातुरिति पदनामसु पठितम् । निघ० ४ । १ । अनेन ज्ञानार्थो गृह्यते । (वित्त्वा) लब्ध्वा । (गातुम्) गीयते शब्द्यते यस्तं यज्ञम् । (इत) प्राप्नुत । (मनसः) विज्ञानस्य (पते) पालक । (इमम्) प्रत्यक्षमनुष्ठितमनुष्ठातव्यं वा । (देव) सर्वजगत्प्रकाशक । (यज्ञम्) क्रियाकाण्डजन्यं संसारम् । (स्वाहा) सुष्ठु आहुतं हविः करोत्यनया सा । (वाते) वायौ । (धाः) धापय धापयति वा । अत्र सर्वत्र पक्षान्तरे व्यत्ययेन प्रथमः । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि [अ० ६ । ४ । ७५] इत्यडभावः ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ९ । २ । २१—२८ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे देव जगदीश्वर ! येन त्वं वेदोऽसि सर्वं च वेद येन च त्वं देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन त्वं मह्यमपि वेदो भूयाः । हे गातुविदो देवा भवन्तो येन वेदेन सर्वा विद्या विदन्ति, तेन यूयं गातुं वित्त्वा गातुमित । हे मनसस्पते देव ! त्वमिमं वाते धाः स्वाहा हे देवास्तमिमं मनसस्पतिं परमेश्वरमेव देवं नित्यमुपासीध्वम् ॥ २१ ॥

१ प्राजापत्यो वै वेदः ॥ तै० ३ । ३ । ७ । २ ॥

२ गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह ॥ श० १ । ९ । २ । २८ ॥

गातुविदो हि देवाः ॥ श० ४ । ४ । ४ । १३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वेदः) विद्धातोः पचाद्यच् प्रत्ययः प्रथमार्थे, चित्त्वादन्तोदात्तः । द्वितीयार्थे हलश्च (अ० ३ । ३ । १२१) इति करणे घञ् प्रत्ययः । उञ्छादीनां च (अ० ६ । १ । १६०) इत्यन्तोदात्तः ॥

(गातुविदः) कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च (उ० १ । ७३) इति गातेस्तुप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । तां विदन्ति जानन्तीति क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् प्रत्ययः । विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम् (अ० ८ । १ । ७४) इति पूर्वस्याविद्यमानतायाः प्रतिषेधपक्षे आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(वित्त्वा) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(इत, धाः) तिङ्ङतिङः अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(मनसः, पते) अनयोः पृथक्पदत्वेऽपि सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे (अ० २ । १ । २) इति पराङ्गवद्भावे 'मनसः' इति आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इति षाष्ठिकेनाद्युदात्तस्वरसिद्धिः । 'पते' इति त्वाष्टमिकेन आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इत्यनेन सर्वानुदात्तत्वम् । यद्यप्यत्र मनस्शब्दस्यासुन्प्रत्ययान्तत्वाद्विनाऽपि पराङ्गवद्भावे इष्टस्वरसिद्धिर्भवति, तथाप्येतादृशेषु पदेषु पराङ्गवद्भाव एव प्रवर्तते । यथा ऋ० १ । ३४ । ६ 'शुभस्पती' पदे ॥

(वाते) हसिमृग्रिण्वामि० (उ० ३ । ८६) इत्यादिना वातेस्तन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ प्राधान्येनात्राध्यात्मपरोऽर्थः प्रकाशितः ॥

* 'भवसि वा' अ. मु. पाठः । स चापपाठ एव । 'अस्ति वा' इति कोशेषु पाठः ॥

† 'भवति वा' इत्येव क. पाठः । 'भवसि भवति वा' इति ख. पाठः । ग. कोशे प्रतिलिपिकर्त्रा 'वा' पदं त्यक्तम् । अजमेरमुद्रिते च 'भवति' इत्यपि लुप्त्वा 'भवसि' इत्येवावशिष्टम् ॥

‡ अत्र कदाचिद् 'वेत्तारः' इति स्यात् । भावार्थे सर्वत्रैव पदस्योपलम्भात्, हिन्दीपदार्थे च 'स्तुति के जानने वाले' इति निर्देशाच्च ॥

भावार्थः—हे विद्वांसो मनुष्या यूयं येन ❀ सर्ववेत्रा वेदविद्या प्रकाशिता, तमेवोपास्यं विदित्वा क्रियाकाण्डमनुष्ठाय सर्वहितं सम्पादयत। नैव वेदविज्ञानेन तत्रोक्तविधानानुकूलस्यानुष्ठानेन च विना मनुष्याणां कदाचित् सुखं संभवति, वेदविद्यया सर्वसाक्षिणमीश्वरं देवं सर्वतो व्यापकं मत्वैव † नित्यं धर्मस्यानुष्ठातारो भवतेति[1] ॥ २१ ॥

सो जगदीश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे (देव) शुभ गुणों के देने हारे जगदीश्वर ! [(येन) जिससे] (त्वम्) आप (वेदः) चराचर जगत के जाननेवाले (असि) हैं, सब जगत् को (वेद) जानते हैं, तथा जिस विज्ञान वा वेद से (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (वेदः) पदार्थों के जनाने वाले (अभवः) होते हैं, (तेन) उस विज्ञान के प्रकाश से आप (मह्यम्) मेरे लिये जो कि मैं विशेष ज्ञान की इच्छा कर रहा हूँ, (वेदः) विज्ञान देने वाले (भूयाः) हूजिये। हे (गातुविदः) स्तुति के जानने वाले (देवाः) विद्वानो ! जिस वेद से मनुष्य सब विद्याओं को जानते हैं, उससे तुम लोग (गातुम्) विशेष ज्ञान को (वित्त्वा) प्राप्त होकर (गातुम्) प्रशंसा करने योग्य वेद को (इत) प्राप्त हो। हे (मनसस्पते) विज्ञान से पालन करने हारे (देव) सर्व जगत् प्रकाशक परमेश्वर ! आप (इमम्) प्रत्यक्ष अनुष्ठान करने योग्य (यज्ञम्) क्रिया काण्ड से सिद्ध होने वाले यज्ञरूप संसार को (स्वाहा) क्रिया के अनुकूल (वाते) पवन के बीच (धाः) स्थित कीजिये। हे विद्वानो ! उस विज्ञान के देने वाले परमेश्वर ही की नित्य उपासना करो ॥ २१ ॥

भावार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम लोग जिस सब जानने वाले परमेश्वर ने वेद विद्या प्रकाशित की है, उसकी उपासना करके उसी की वेदविद्या को जानकर और क्रियाकाण्ड का अनुष्ठान करके सबका हित संपादन करो, क्योंकि वेदों के विज्ञान के विना तथा उसमें जो २ कहे हुए काम हैं, उनके किये विना मनुष्यों को कभी सुख नहीं हो सकता, जो सबका साक्षी ईश्वर देव है, उसको वेदविद्या से सब जगह व्यापक मान के नित्य धर्म में रहो[6] ॥ २१ ॥

---

१ मन्त्रगतपदैः सम्बन्धनीयोऽयमर्थः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थान्तर्भूत ऊहितव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

'देवयज्ञम्' एकं पदमिति केचित्। तच्चानावश्यकम् ॥ २१ ॥

३ पूर्व मन्त्र में कहा सर्वान्तर्यामी परमेश्वर सब सुखों का देने वाला है, अतः कहा—'सो जगदीश्वर कैसा है' इत्यादि ॥

४ अन्वय में मुख्यतया आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया गया है ॥

५ मन्त्रगत पदों से भावार्थ का सम्बन्ध समझ लेना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

६ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ की ऊहा सं० पदार्थ से कर लेनी चाहिये ॥

वि० वक्तव्य

कुछ एक लोगों का यह मत है कि 'देवयज्ञम्' एक पद है। इसकी यहां कोई आवश्यकता नहीं ॥ २१ ॥

❀ अत्रेऽभावविषये पूर्वं (यजुः १।१६) टि० द्रष्टव्या।

† 'नित्यधर्मस्य' इति समस्तः पाठः अ० मु० ख, ग, कोशयोश्च। 'नित्यम्' इत्यसमस्तं क्रियाविशेषणं क, पाठे।

सं बर्हिरित्यस्य वामदेव ऋषिः। इन्द्रो देवता। विराट्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अग्नौ हुतं द्रव्यमन्तरिक्षस्थं भूत्वा केन सह चरतीत्युपदिश्यते[2] ॥

सं बर्हिरङ्क्ताꣳ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः।
समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा॥ २२॥

सम्। बर्हिः। अङ्क्ताम्। हविषा। घृतेन। सम्। आदित्यैः। वसुभिरिति वसुऽभिः। सम्। मरुद्भिरिति मरुत्ऽभिः। सम्। इन्द्रः। विश्वदेवेभिरिति विश्वऽदेवेभिः। अङ्क्ताम्। दिव्यम्। नभः। गच्छतु। यत्। स्वाहा॥ २२॥

पदार्थः—(सम्) एकीभावे क्रियायोगे। (बर्हिः) ⁂ बृंहन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् तदन्तरिक्षम्। बर्हिरित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् निघ० १।३। (अङ्क्ताम्) संयोजयतु। (हविषा) होतुमर्हं शुद्धं संस्कृतं हविस्तेन। (घृतेन) सुगन्ध्यादिगुणयुक्तेनाज्येन सह। (सम) संयोगार्थे। (आदित्यैः) द्वादशभिर्मासैः। (वसुभिः) अग्न्यादिभिरष्टभिः (सम्) मिश्रीभावे। (मरुद्भिः) वायुविशेषैः सह। (सम्) मेलने। (इन्द्रः) सूर्य्यलोकः। (विश्वदेवेभिः) स्वकीयै रश्मिभिः। रश्मयो ह्यस्य विश्वेदेवाः। श० ३।६।२।६ (अङ्क्ताम्) प्रकटं संयोजयति। (दिव्यम्) दिवि प्रकाशे भवम्। द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्। अ० ४।२।१०१। इति शैषिको यत्। (नभः) जलम्। नभ इत्युदकनामसु पठितम्। निघ० १।१२। (गच्छतु) गच्छति। (यत्) यदा (स्वाहा) शोभनं हविर्जुहोति यया क्रियया सा॥ अयं मन्त्रः श० १।९।२।२९—३१ व्याख्यातः॥ २२॥

अन्वयः[4]—हे मनुष्य! भवान्* यद् यदा इदं होतव्यं द्रव्यं हविषा घृतेन सह संयुक्तं कृत्वा दित्यैर्वसुभिर्मरुद्भिः सह सुखं समङ्क्ताम्। अयमिन्द्रो यज्ञे स्वाहा यत्सुगन्धयादि द्रव्ययुक्तं† हविः समङ्क्ताम् यत् संमिश्रितैर्विश्वदेवेभिर्दिव्यं नभः संगच्छतु सम्यक् प्रकटयति॥ २२॥

१ लिङ्गोक्ता इति सर्वानुक्रमणी॥

२ प्रस्तुतमीश्वरं निरूप्याग्नौ हुतद्रव्यस्यान्तरिक्षे केन सह संयोग इत्याह—'अग्नौ हुतं द्रव्यम्' इति॥

३ रश्मयो ह्यस्य (सूर्यस्य) विश्वेदेवाः॥ श० ३।९।२।६, १२॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(घृतेन) अञ्जिघृसिभ्य क्तः (उ० ३।८९) इति क्तप्रत्ययः, स च प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तस्ततो-विभक्तिरनुदात्ता॥

(मरुद्भिः) मृग्रोरुतिः (उ० १।९४) इति म्रियतेरुतिप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणोकार उदात्तः॥

(विश्वदेवेभिः) बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६।२।१०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्॥

(दिव्यम्) यत्प्रत्यये यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसस्वरव्यत्ययेनान्तोदात्तः॥ यद्वा—उञ्छादित्वाद् घृतादित्वाद् वान्तोदात्तत्वम्॥

इति व्या० प्र०॥

४ अधियज्ञार्थोऽत्र प्राधान्येन प्रदर्शित इति ध्येयम्॥

⁂ 'बृंहन्ति' इति तु साम्प्रतिकानां मते॥ * 'यद् यदा' इति पदे क. ख. ग. कोशेषु न स्तः॥

† इतोऽग्रे 'हविः सङ्गच्छतु सङ्गमयति तेन संमिश्रितैर्विश्वदेवेभिर्दिव्यं नभः समङ्क्तां सम्यक् प्रकटयतु' इति क. ख. ग. पाठः। द्वावप्यन्वयावस्पष्टार्थौ, उभयत्र च मन्त्रगतं 'बर्हि' इति पदं त्यक्तम्। तच्च न क्वचिदन्वेति। यथा-मुद्रितान्वये च 'यत्' 'यदा' इत्यादीनि पदानि साकाङ्क्षाण्येवावतिष्ठन्ते 'तत्' 'तदा' इत्यादिपदानामभावात्॥

भावार्थः[1]—यज्ञे संशोधितं यद्धविरग्नौ प्रक्षिप्यते तदन्तरिक्षे वायुजलसूर्य्यकिरणैः सह वर्तमानमितस्ततो गत्वाऽऽकाशस्थान् सर्वान् पदार्थान् दिव्यान् कृत्वा सततं प्रजाः सुखयति, तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरुत्तमसामग्र्या श्रेष्ठैः साधनैस्त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय इति[2] ॥ २२ ॥

अग्नि में ‡ छोड़ा हुवा पदार्थ अन्तरिक्ष में ठहर कर किसके साथ रहता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है[3] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! तुम (यत्) जब हवन करने योग्य द्रव्य को (हविषा) होम करने योग्य (घृतेन) घी आदि सुगन्धियुक्त पदार्थ से संयुक्त करके हवन करोगे, तब वह (आदित्यैः) बारह महीनों (वसुभिः) अग्नि आदि आठों निवास के स्थान और (मरुद्भिः) प्रजा के जनों के साथ मिलके सुखको (समङ्क्ताम्) अच्छी प्रकार प्रकाश करेगा । (इन्द्रः) यह सूर्य्यलोक + (स्वाहा) यज्ञ में छोड़ा हुआ उत्तम क्रिया से सुगन्ध्यादि पदार्थयुक्त जिस हवि को (संगच्छतु) पहुंचाता है, उससे (सम्) अच्छी प्रकार मिश्रित हुए (विश्वदेवेभिः) अपनी किरणों से (दिव्यम्) अपने प्रकाश में इकट्ठा होनेवाले (नभः) जलको (समङ्क्ताम्) अच्छी प्रकार प्रकट करता है ॥ २२ ॥

भावार्थः[5]—जो हवि अच्छी प्रकार शुद्ध किया हुआ, यज्ञ के निमित्त अग्नि में छोड़ा जाता है, वह अन्तरिक्ष में वायु जल और सूर्य्य की किरणों के साथ मिलकर इधर उधर फैलकर आकाश में ठहरनेवाले सब पदार्थों को दिव्य करके अच्छी प्रकार प्रजा को सुखी करता है, इससे सब मनुष्यों को उत्तम सामग्री और उत्तम २ साधनों से उक्त तीन प्रकार के यज्ञ का नित्य अनुष्ठान करना चाहिये[6] ॥ २२ ॥

---

१ मन्त्रगतपदैः सह सम्बद्धोऽयं भावार्थ इति ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ "त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेयः" इत्यनेन यज्ञस्वरूपोऽत्र बोधितः । स च पूर्वं यजुः १ । २ । पृ० ३६ संस्कृतपदार्थेऽपि द्रष्टव्यः ॥

विशेषवक्तव्यम्

यद्यप्यत्र त्रिविधार्थयोजना न सुव्यक्ता दृश्यते, तथाप्याचार्य्याणामिङ्गितचेष्टितैरत्रापि सूक्ष्मेक्षिकया द्रष्टव्या ॥ २२ ॥

३ ईश्वर का निरूपण करके अग्नि में डाला हुआ द्रव्य अन्तरिक्ष में किसके साथ संयुक्त होता है, सो कहते हैं—'अग्नि में छोड़ा हुवा' इत्यादि ॥

४ अन्वय यहां अधियज्ञपरक है ॥

५ भावार्थ का मन्त्रगतपदों से समन्वय स्पष्ट है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

६ "उक्त तीन प्रकार के यज्ञ का नित्य अनुष्ठान" इस वचन से यज्ञ का स्वरूप दर्शाया है । इस विषय में पूर्व यजुः १।२ पृष्ठ ३९ भाषापदार्थ भी देखने योग्य है ॥

वि० वक्तव्य

यद्यपि यहां तीन प्रकार के अर्थ की योजना स्पष्ट रूप से विदित नहीं हो रही है, तथापि उसे आचार्य के इङ्गित चेष्टित से सूक्ष्म दृष्टि से समझना चाहिये ॥

---

‡ 'अग्निमें चढ़ाया हुआ' इति अ. मु. पाठः । 'अग्नौ हुतम्' इति संस्कृते पाठः ॥

+ इतोऽग्रे 'ओऽग्नि में छोड़ा हुआ (स्वाहा)' इति अ. मु. पाठः ॥

अजमेरमुद्रित और हस्तलेखों के अन्वय के अस्पष्ट होने से हमने अजमेरमुद्रित भाषापदार्थ ही रहने दिया है और उक्त भाषापदार्थ प्रायः हस्तलेख के संस्कृतान्वय के अनुसार है ॥

कस्त्वेत्यस्य ऋषिः स एव । प्रजापतिर्देवता । निचृद्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अग्नौ द्रव्यं किमर्थं प्रक्षिप्यत इत्युपदिश्यते[२] ॥

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति । पोषाय रक्षसां भागोऽसि ॥ २३ ॥

कः । त्वा । वि । मुञ्चति । सः । त्वा । वि । मुञ्चति । कस्मै । त्वा । वि । मुञ्चति । तस्मै । त्वा । वि । मुञ्चति । पोषाय । रक्षसाम् । भागः । असि ॥ २३ ॥

पदार्थः—(कः) सुखकारी यजमानः । (त्वा) तम् । (वि) विविधार्थे क्रियायोगे । व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १ । ३ । (मुञ्चति) त्यजति । (सः) यज्ञः । (त्वा) त्वां [तं वा] । (वि) विशेषार्थे । (मुञ्चति) त्यजति । (कस्मै) प्रयोजनाय । (त्वा) त्वां [तं वा] । (वि) विविक्तार्थे । (मुञ्चति) प्रक्षिपति । (तस्मै) यतः सर्वसुखप्राप्तिर्भवेत्तस्मै । (त्वा) पदार्थसमूहम् । (वि) विशिष्टार्थे । (मुञ्चति) त्यजति । (पोषाय) पुष्यन्ति प्राणिनो यस्मिन् व्यवहारे तस्मै । (रक्षसाम्) दुष्टानाम् । (भागः) भजनीयः । (असि) भवति ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ९ । २ । ३३—३५ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः[४]—को मनुष्यस्त्वा तं यज्ञं विमुञ्चति कोऽपि नेत्यर्थः । यश्च यज्ञं विमुञ्चति [त्वा] तं स यज्ञः परमेश्वरो[५] विमुञ्चति । यज्ञकर्त्ता कस्मै प्रयोजनाय [त्वा] तं पदार्थसमूहमग्नौ विमुञ्चति । यतः सर्वसुखप्राप्तिर्भवेत्तस्मै पोषाय त्वा तं विमुञ्चति । किन्तु यः पदार्थः सर्वोपकारे यज्ञे न प्रयुज्यते स रक्षसां भागोऽसि भवति ॥ २३ ॥

भावार्थः[६]—यो मनुष्य ईश्वरेण वेदद्वाराऽऽज्ञापितं व्यवहारं त्यजति, स सर्वैः सुखैर्हीनो भूत्वा दुष्टैः पीडितः सन् सर्वदा दुःखीभवति । केनचित् कंचित्प्रति पृष्टं, यो यज्ञं त्यजति तस्मै किं भवतीति । स आह, ईश्वरोऽपि तं त्यजतीति । स पुनराह, ईश्वरः कस्मै प्रयोजनाय तं त्यजतीति । स ब्रूते, तस्मै दुःखमेव स्यादित्यस्मै । यश्चेश्वराज्ञां पालयति स सुखैः पोषितुमर्हति, यश्च त्यजति स एव राक्षसो भवतीति[७] ॥ २३ ॥

अग्नि में किस लिये पदार्थ छोड़ा जाता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है[८] ॥

पदार्थः[९]—(कः) कौन सुख चाहने वाला यज्ञका अनुष्ठाता पुरुष (त्वा) उस यज्ञ को (विमुञ्चति)

---

१ प्रजापतिः, रक्षः इति सर्वानुक्रमणी ॥

२ पूर्वोक्तस्य होतव्यस्य द्रव्यस्याग्नौ प्रक्षेपे लाभमाह—'अग्नौ द्रव्यम्' इति ॥

३ को हि प्रजापतिः । श० ६ । २ । २ । ५ ॥ यजमानो ह्येव स्वे यज्ञे प्रजापतिः । श० १ । ६ । १ । २० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पोषाय) हलश्च (अ० ३ । ३ । १२१) इति पुषधातोः 'घञ्' ञित्त्वादाद्युदात्तः । ततः स्वरितत्वैकश्रुत्यं चेति ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४ द्विविधार्थयोजनामत्र पश्यामः ॥

५ यज्ञपालकः परमेश्वर इति भावः ॥

६ मन्त्रगतपदैरनुगन्तव्योऽयं भावार्थः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

७ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतो द्रष्टव्यः ॥

वि० वक्तव्यम्

सं० पदार्थे कः सुखकारी यजमानो वेति भवेत् । अनेन वाशब्दस्य महत्त्वमप्यवगन्तुं शक्यते ॥ २३ ॥

८ पूर्वोक्त द्रव्य को अग्नि में डालने से क्या लाभ है, सो कहते हैं—'अग्नि में' इत्यादि ॥

९ अन्वय से यहाँ दो अर्थों का बोध होता है ॥

छोड़ता है अर्थात् कोई नहीं। और जो कोई यज्ञ को छोड़ता है, (त्वा) उसको (सः) यज्ञ का पालन करनेहारा परमेश्वर भी (विमुञ्चति) छोड़ देता है। जो यज्ञ का करनेवाला मनुष्य पदार्थसमूह को यज्ञमें छोड़ता है, (त्वा) उसको (कस्मै) किस प्रयोजन के लिये अग्नि के बीच में (विमुञ्चति) छोड़ता है, (तस्मै) जिससे सबको सुख प्राप्त हो, तथा (पोषाय) पुष्टि आदि गुण के लिये (त्वा) उस पदार्थसमूह को (विमुञ्चति) छोड़ता है। जो पदार्थ सबके उपकार के लिये यज्ञ के बीच में नहीं युक्त किया जाता, वह (रक्षसाम्) दुष्ट प्राणियों का (भागः) अंश (असि) होता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य * ईश्वर के वेद द्वारा कहे हुये व्यवहारों को छोड़ता है, वह सब सुखों से हीन होकर और दुष्ट मनुष्यों से पीडा पाता हुआ सब प्रकार दुःखी रहता है। किसी ने किसी से पूछा कि जो यज्ञ को छोड़ता है, उसके लिये क्या होता है ? वह उत्तर देता है कि ईश्वर भी उसको छोड़ देता है। फिर वह पूछता है कि ईश्वर उसको किस लिये छोड़ देता है ? वह उत्तर देनेवाला कहता है कि दुःख भोगने के लिये। जो ईश्वर की आज्ञा को पालता है, वह सुखों से †पुष्ट होने योग्य है, और जो छोड़ता है वह राक्षस हो जाता है[२] ॥ २३ ॥

सं वर्चसेत्यस्य ऋषिः स एव। त्वष्टा देवता। विराट्त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

तेन यज्ञेन वयं किं किं प्राप्नुम इत्युपदिश्यते[३] ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ २४ ॥

सम्। वर्चसा। पयसा। सम्। तनूभिः। अगन्महि। मनसा। सम्। शिवेन। त्वष्टा। सुदत्र इति सुऽदत्रः। वि। दधातु। रायः। अनु। मार्ष्टु। तन्वः। यत्। विलिष्टमिति विऽलिष्टम् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(सम्) सम्यगर्थे। (वर्चसा) वर्चन्ते दीप्यन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन् वेदाध्ययने तेन। (पयसा) पयन्ते विजानन्ति सर्वान् पदार्थान् येन ज्ञानेन तेन। (सम्) सन्धानार्थे। (तनूभिः) तन्यते सुखानि कर्माणि च यासु ताभिः। (अगन्महि) प्राप्नुमः। गमधातोर्लिङि उत्तमबहुवचने। मन्त्रे घसह्वरणश०। अ० २।४।८०। अनेन च्लेर्लुक्। म्वोश्च। अ० ८।२।६५। अनेन मकारस्य नकारा-

१ मन्त्रगत पदों से भावार्थ का सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ सब प्रक्रियाओं में अर्थ सं० पदार्थ से समझना चाहिये ॥

वि० वक्तव्य

'वा' शब्द संस्कृत पदार्थ में यत्र तत्र देखा जाता है। केवल इस एक 'वा' शब्द के आधार पर पूरे पूरे अर्थ की योजना आचार्य दर्शा जाते हैं। यह बात इस वेदभाष्य में बहुत ही ध्यान देने योग्य है। सूक्ष्मता से ऐसे अर्थों की पूरी योजना स्वाध्यायशील वेदप्रेमियों को स्वयं करनी होगी। ऐसी योजनायें थोड़े से परिश्रम से ही समझ में आ सकती हैं तथा ग्रन्थ बहुत बढ़ता जा रहा है अतः इनको हम पूरा २ खोल कर नहीं लिख सके हैं ॥ २३ ॥

३ पूर्वोक्तरीत्या साधितेन यज्ञेनाभ्युदयिकनैःश्रेयसिकसुखं प्राप्तुं शक्यमित्याह—'तेन यज्ञेन वयम्' इति ॥

४ 'वेदाध्ययनशूराश्च शूराश्चाध्ययने रताः' इति ॥

५ अन्तर्हितमिव वा एतद्यत् पयः ॥ तां० ९।९।३॥

* 'ईश्वर के करने कराने वा आज्ञा देने योग्य व्यवहार को' इति अ. सु. पाठः। स च क. संस्कृतानुवादरूपः ॥

† 'युक्त होने योग्य' इति ग. अ. सु. च पाठः। 'पुष्ट' इति क. ख. पाठः॥

देशः, अत्र लडर्थे लुङ्। (मनसा) मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वे व्यवहारा येनान्तःकरणेन तेन। (सम्) मिश्रीभावे। (शिवेन) सर्वसुखनिमित्तेन। (त्वष्टा) त्वक्षति तनूकरोति दुःखानि प्रलये, सर्वां पदार्थान् छिनत्ति वा स जगदीश्वरः। (सुदत्रः) सुष्ठु सुखं ददातीति सः। (विदधातु) विधानं करोतु। (रायः) विद्याचक्रवर्त्तिराज्यश्रियादीनि धनानि। (अनु) पश्चादर्थे। (मार्ष्टु) शोधयतु। (तन्वः) शरीरस्य। (यत्) यावत्। (विलिष्टम्) परिपूर्णम्। अत्र विरुद्धार्थे विशब्दः॥ अयं मन्त्रः श० १।९।३।६ व्याख्यातः॥ २४॥

अन्वयः[२]—वयं यस्य कृपयाऽ॰ वर्चसा पयसा मनसा शिवेन तनूभिश्च सह रायः समगन्महि। सः सुदत्रस्त्वष्टेश्वरः कृपयाऽस्मभ्यं रायः संविदधातु यदस्माकं तन्वो विलिष्टं तत्समनुमार्ष्टु॥ २४॥

भावार्थः[३]—मनुष्यैः सर्वकामप्रदस्येश्वरस्याज्ञापालनसम्यक्पुरुषार्थाभ्यां विद्याध्ययनं, विज्ञानं, †शरीरबलं, मनःशुद्धिः, कल्याणसिद्धिः सर्वोत्तमश्रीप्राप्तिश्च सदैव कार्य्या। तथा सर्वे व्यवहाराः पदार्थाश्च नित्यं शुद्धा भावनीयाः॥ २४॥

उक्त यज्ञ से हम लोग किस २ पदार्थ को प्राप्त होते हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है॥

पदार्थः[६]—हमलोग [जिसकी कृपा से] पुरुषार्थी होकर (वर्चसा) जिससे सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं,‡ उस वेद का पढ़ना वा (पयसा) जिससे पदार्थों को जानते हैं, उस ज्ञान (मनसा) जिससे सब व्यवहार

---

१ इन्द्रो वै त्वष्टा॥ ऐ० ६। १०॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पयसा) (यजुः १। २०) व्याख्यातः॥

(तनूभिः) भृमृशीङ्तॄ० (उ० १।७) इत्यादिना तनोतेरुः प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततः ऊङुतः (अ० ४।१।६६) इति 'ऊङ्' प्रत्ययः। स च प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। शेषस्य निघाते सति एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्युदात्त ऊकारः॥

(अगन्महि) पादादित्वान्निघातप्रतिषेधः। अट्स्वरेणाद्युदात्तः॥

(त्वष्टा) त्वक्षूधातोः 'तृन्', संयोगादिलोपश्च, यद्वा त्विषेर्देवतायामकारश्चोपधाया अनिट्त्वं च (अ० ३।२।१३५ भा० वा०) इति त्विषेस्तृन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः॥ यद्वा नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उ० २।९५) इति तृन्प्रत्ययान्तो निपात्यते॥

(सुदत्रः) सुपूर्वाद् ददातेः सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उ० ४।१५९) इति ष्ट्रन् प्रत्ययः, बाहुलकाद्-ददातेर्ह्रस्वत्वम्। गतिसमासे 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते नित्त्वादाद्युदात्तमुत्तरपदम्॥

(दधातु) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(विलिष्टम्) 'लिश अल्पीभावे' अस्मात् क्तः प्रत्ययः, विगतं लिष्टं विलिष्टं प्रादिसमासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

२ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः॥

३ मन्त्रगतपदान्यत्र सम्बद्धानि द्रष्टव्यानि॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत एवावगन्तव्यः॥ २४॥

५ पूर्वोक्त रीति से सिद्ध किये हुये यज्ञ से अभ्युदय तथा निःश्रेयस सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसी से कहते हैं—'उक्त यज्ञ से' इत्यादि॥

६ अन्वय यहां अध्यात्मपरक है॥

॰ 'यस्य कृपया' इति पाठः कोशेषु नास्ति॥

† अयं क. कोशे पाठः। स च सम्यक्। ख, ग, अ, मु. तु 'शरीरबलमनःशुद्धिः' इति पाठः॥

‡ 'उस' इति कोशेषु नास्ति॥

विचारे जाते हैं, उस अन्तःकरण (शिवेन) सब सुख और (तनूभिः) जिनमें विपुल सुख प्राप्त होते हैं उन शरीरों के साथ (रायः) श्रेष्ठ विद्या और चक्रवर्ति राज्य आदि धनों को (समगन्महि) अच्छी प्रकार प्राप्त हों। सो (सुदत्रः) अच्छी प्रकार सुख देने और (त्वष्टा) दुःखों तथा प्रलय के समय सब पदार्थों को सूक्ष्म करने वाला ईश्वर कृपा करके हमारे लिये (रायः) उक्त विद्या आदि पदार्थों को। (संविदधातु) अच्छी प्रकार विधान करे, और हमारे (तन्वः) शरीर की (यत्) जितनी (विलिष्टम्) व्यवहारों की सिद्धि करने की परिपूर्णता है, उसे (समनुमार्ष्टु) अच्छी प्रकार निरन्तर शुद्ध करे ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को सब कामना परिपूर्ण करनेवाले परमेश्वर की आज्ञा पालन और अच्छी प्रकार पुरुषार्थ से विद्या का अध्ययन, विज्ञान, शरीर का बल, मन की शुद्धि, कल्याण की सिद्धि तथा उत्तम से उत्तम लक्ष्मी की प्राप्ति सदैव करनी चाहिये। इस संपूर्ण यज्ञ की धारणा वा उन्नति से सब सुखों को प्राप्त होके औरों को सुख प्राप्त कराना चाहिये, तथा सब व्यवहार और पदार्थों को नित्य शुद्ध करना चाहिये[१] ॥ २४ ॥
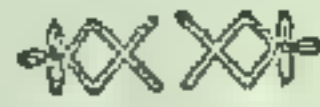
दिवीत्यस्य ऋषिः स एव। सर्वस्य विष्णुर्देवता। दिवीत्यारभ्य द्विष्म इत्यन्तस्य निचृदार्ची तथाऽन्तरिक्ष इत्यारभ्य द्विष्मः पर्य्यन्तस्यार्ची पङ्क्तिश्छन्दः। [उभयत्र] पञ्चमः स्वरः ॥ पृथिव्यामित्यारभ्यान्तपर्य्यन्तस्य [भुरिग्] जगतीच्छन्दो निषादः स्वरश्च ॥

स यज्ञस्त्रिषु लोकेषु विस्तृतः सन् किं किं सुखं साधयतीत्युपदिश्यते[४] ॥

दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया ऽ अगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

दिवि। विष्णुः। वि। अक्रꣳस्त। जागतेन। छन्दसा। ततः। निर्भक्त इति निःऽभक्तः। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। च। वयम्। द्विष्मः। अन्तरिक्षे। विष्णुः। वि। अक्रꣳस्त। त्रैष्टुभेन। त्रैस्तुभेनेति त्रैस्तुभेन। छन्दसा। ततः। निर्भक्त इति निःऽभक्तः। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। च। वयम्। द्विष्मः। पृथिव्याम्। विष्णुः। वि। अक्रꣳस्त। गायत्रेण। छन्दसा। ततः। निर्भक्त इति निःऽभक्तः। यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। च। वयम्। द्विष्मः। अस्मात्। अन्नात्। अस्यै। प्रतिष्ठायै। प्रतिस्थाया इति प्रतिऽस्थायै। अगन्म। स्वरिति स्वः। सम्। ज्योतिषा। अभूम ॥ २५ ॥

पदार्थः—(दिवि) सूर्य्यप्रकाशे। (विष्णुः) यो वेवेष्टि व्याप्नोत्यन्तरिक्षस्थलवाय्वादिपदार्थान् स यज्ञः, यज्ञो वै विष्णुः। श॰ १।१।२।१३। (वि) विविधार्थे क्रियायोगे। (अक्रꣳस्त) क्रमते,

१ भावार्थ का सम्बन्ध मन्त्रगत पदों से है, यह स्वयं जान लेना चाहिये ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ सं॰ पदार्थ से तीनों प्रकार के अर्थ की योजना कर लेनी चाहिये ॥ २४ ॥

३ विष्णुः, भागः, भूमिः, देवाः, आहवनीय इति सर्वानुक्रमणी ॥

४ इत्थम्भूतस्य यज्ञस्य सार्वभौमिकत्वं निरूप्येदानीं दिवि पृथिव्यादौ च तस्य प्रकारान्तरेण सुखसाधकतामाह—'स यज्ञस्त्रिषु लोकेषु' इति ॥

५ यज्ञो विष्णुः ॥ गो॰ उ॰ ६। ७ ॥ तां॰ १३। ३। २ ॥ कौ॰ ४। २ ॥

अत्र सर्वत्र लडर्थे ❂ लुङ्। (जागतेन) जगत्येव जागतं सर्वलोकसुखकारकं तेन। (छन्दसा) आह्लादकारकेण। (ततः) तस्माद् द्युलोकात्। (निर्भक्तः) विभक्तं प्राप्तः। (यः) विरोधी। (अस्मान्) यज्ञानुष्ठातॄन्। (द्वेष्टि) ❀ विरुणद्धि। (यम्) शासितुं योग्यं दुष्टं प्राणिनम्। (च) पुनरर्थे। (वयम्) यज्ञक्रियानुष्ठातारः। (द्विष्मः) † विरुन्ध्मः। (अन्तरिक्षे) अवकाशे। (विष्णुः) यज्ञः। (वि) विविधगमने क्रियार्थे। (अक्रंस्त) गच्छति। (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुबेव त्रैष्टुभं त्रिविधसुखहेतुस्तेन। (छन्दसा) स्वच्छन्दताप्रदेन। (ततः) तस्मादन्तरिक्षात्। (निर्भक्तः) पृथग्भूतः। (यः) दुःखप्रदः प्राणी। (अस्मान्) सर्वोपकारकान्। (द्वेष्टि) दुःखयति। (यम्) सर्वाहितकरम्। (च) समुच्चये। (वयम्) सर्वहितकारिणः। (द्विष्मः) पीडयामः। (पृथिव्याम्) विस्तृतायां भूमौ ‡। (विष्णुः) यज्ञः। (वि) विविधसुखसाधने। (अक्रंस्त) विविधसुखप्राप्तिहेतुना क्रमते। § (गायत्रेण) गायत्र्येव गायत्रं तेन रक्षणसाधनेन। (छन्दसा) आनन्दप्रदेन। (ततः) तस्मात् पृथिवीस्थानात्। (निर्भक्तः) पृथग्भूत्वान्तरिक्षं गतः। (यः) अस्मद्राज्यविरोधी। (अस्मान्) न्यायाधीशान्। (द्वेष्टि) वैरायते। (यम्) शत्रुम्। (च) समुच्चये। (वयम्) राज्याधीशाः। (द्विष्मः) वैरायामहे। (अस्मात्) प्रत्यक्षाद्यज्ञशोधितात् (अन्नात्) अत्तुं योग्यात्। (अस्यै) प्रत्यक्षं प्राप्तायै। (प्रतिष्ठायै[2]) ☘ प्रतितिष्ठन्ति सत्कारं प्राप्नुवन्ति यस्यां तस्यै। (अगन्म) प्राप्नुयाम (स्वः) सुखम्। स्वरिति साधारणनामसु पठितम्। निघं० १।४। (सम्) सम्यगर्थे। (ज्योतिषा) विद्याधर्मप्रकाशकारकेण संयुक्ताः। (अभूम) सङ्गता भवेम॥ अयं मन्त्रः श० १।९।३।८-१४ व्याख्यातः॥ २५॥

अन्वयः—अस्माभिर्जागतेन छन्दसाऽनुष्ठितोऽयं विष्णुर्यज्ञो दिवि व्यक्रंस्त, स पुनस्ततो निर्भक्तः सन् छन्दसा सर्वं जगत् ❁ प्रीणाति, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निराकुर्मः। अस्माभिर्योऽयं [विष्णुः] यज्ञस्त्रैष्टुभेन छन्दसाऽग्नौ ¶ प्रयोजितः सोऽन्तरिक्षे व्यक्रंस्त, स पुनस्ततः स्थानान्निर्भक्तः सन् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वं जगत्सुखयति, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन निवारयामः। अस्माभिर्योऽयं विष्णुर्यज्ञो गायत्रेण छन्दसा पृथिव्यामनुष्ठीयते स पृथिव्यां व्यक्रंस्त स ततो निर्भक्तः सन् पृथिवीस्थान् पदार्थान् ❖ पोषयति। योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमनेन ✤ निषिध्यामः। वयमस्मादन्नात्स्वरगन्म। वयमनेन यज्ञेनास्यै प्रतिष्ठायै ज्योतिषा संयुक्ताः समभूम भवेम॥ २५॥

१ पूर्वमेतद् व्याख्यातम् (य० १।२७ विवरणे पृ० १२१ पं ४, ५)

२ पदकारास्तु 'प्रतिष्ठायाः' इत्येवं व्यवच्छिन्दन्ति॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(निर्भक्तः) निःपूर्वाद् भजधातोः कर्मणि 'क्त' प्रत्ययः। ततो गतिसमासे थाथादिस्वरे प्राप्ते गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८१) इति निरुदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

३ प्राधान्येनाधियज्ञार्थोऽत्र निरूपितः॥

❂ 'लङ्' इति तु अ० मुद्रिते कोशेषु चापपाठः॥

❀ 'विरुध्यति' इति सर्वहस्तलेखेषु पाठः॥ † 'विरुध्यामः' इति सर्वहस्तलेखेषु पाठः॥

‡ 'भूमौ' इति कोशेषु नास्ति॥ § '(गायत्रेण)'........'साधनेन' अयं पाठः, 'ख'हस्तलेखस्य प्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः, अत एव ख. ग. अ० मुद्रिते च नोपलभ्यते॥

☘ 'प्रतिष्ठन्ते' इति क. ख. ग. पाठः॥ ❁ 'प्रीणयति' इति क. ख. ग. पाठः॥

¶ 'प्रयोजितेऽन्तरिक्षे' इति अ० मु० पाठः। क. ख. ग. कोशेषु 'प्रयोजितः सो' इत्येवास्ति॥

❖ 'शोषयति' इति ग. कोशे अ० मु० च पाठः। 'पोषयति' इति क. ख. पाठः॥

✤ 'निषिध्यासम' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यावन्ति सुगन्ध्यादिगुणयुक्तानि द्रव्याण्यग्नौ प्रक्षिप्यन्ते, तानि पृथक् पृथक् भूत्वा सूर्य्यप्रकाशे आकाशे भूमौ च विहृत्य सर्वाणि सुखानि साधयन्ति। तथा च वाय्वग्निजलपृथिव्यादीनि शिल्पविद्यासिद्धैः कलायन्त्रैर्विमानादियानेषु प्रयोज्यन्ते, तानि सूर्य्यप्रकाशेऽन्तरिक्षे च सर्वान् प्राणिनः सुखेन विहारयन्ति। यद् द्रव्यं सूर्य्यकिरणाग्निद्वारा विच्छिद्यान्तरिक्षं [गच्छति] पुनस्तदेव भुवमागत्य पुनर्भूमेः सकाशादुपरि गत्वा, पुनस्तत आगच्छत्येवमेव पुनः पुनर्मनुष्यैरित्थं पुरुषार्थेन दोषदुःखशत्रून् सम्यक् निवार्य्य सुखं भोक्तव्यं भोजयितव्यं च। यज्ञशोधितैर्वायुजलौषध्यन्नैरारोग्यबुद्धिशरीरबलवर्धनान्महत्सुखं प्राप्य विद्याप्रकाशेन नित्यं प्रतिष्ठीयताम्[1] ॥ २५ ॥

वह यज्ञ तीनों लोक में विस्तृत होकर कौन २ * सुख का साधन होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[2] ॥

पदार्थः—(जागतेन) सब लोकों के लिये सुख देनेवाले (छन्दसा) आह्लादकारक जगती छन्द से हमारा अनुष्ठान किया हुआ वह (विष्णुः) अन्तरिक्ष में ठहरने वाले पदार्थों में व्यापक यज्ञ (दिवि) सूर्य्य के प्रकाश में (व्यक्रंस्त) जाता है, वह फिर (ततः) वहां से (निर्भक्तः) विभाग अर्थात् परमाणुरूप होके सब जगत् को तृप्त करता है। (यः) जो विरोधी शत्रु (अस्मान्) यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाले हम लोगों से (द्वेष्टि) विरोध करता है, (च) तथा (यम्) दण्ड देकर शिक्षा करने योग्य जिस दुष्ट प्राणी से (वयम्) हम लोग यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं, उसको इसी यज्ञ से दूर करते हैं। हम लोगों ने जो यह (विष्णुः) यज्ञ (त्रैष्टुभेन) तीन प्रकार के सुख करने और (छन्दसा) स्वतन्त्रता देने वाले त्रिष्टुप् छन्द से अग्नि में अच्छी प्रकार संयुक्त किया है, वह (अन्तरिक्षे) आकाश में (व्यक्रंस्त) पहुंचता है, वह फिर (ततः) उस अन्तरिक्ष से (निर्भक्तः) अलग होके वायु और वर्षा जल की शुद्धि से सब संसार को सुख पहुंचाता है। (यः) जो दुःख देनेवाला प्राणी (अस्मान्) सब के उपकार करनेवाले हम लोगों को (द्वेष्टि) दुःख देता है, (च) तथा (यम्) सबके अहित करनेवाले दुष्ट को (वयम्) हम लोग सबके हित करनेवाले (द्विष्मः) पीड़ा देते हैं, उसे [द्वेष को] उक्त यज्ञ से निवारण करते हैं, हम लोगों से जो (विष्णुः) यज्ञ (गायत्रेण) संसार की रक्षा सिद्ध करने और (छन्दसा) अति आनन्द करनेवाले गायत्री छन्द से निरन्तर किया जाता है, वह (पृथिव्याम्) विस्तारयुक्त इस पृथिवी में (व्यक्रंस्त) विविध सुखों की प्राप्ति के हेतु से विस्तृत होता है। (ततः) उस पृथिवी से (निर्भक्तः) अलग होकर और अन्तरिक्ष में जाकर पृथिवी के पदार्थों की पुष्टि करता है। (यः) जो पुरुष हमारे राज्य का विरोधी (अस्मान्) हम लोग जो कि न्याय करनेवाले हैं, उनसे (द्वेष्टि) वैर करता है। (च) तथा (यम्) जिस शत्रु जन से (वयम्) हमलोग न्यायाधीश (द्विष्मः) वैर करते हैं, उस [द्वेष] का इस उक्त यज्ञ से नित्य निषेध करते हैं। हम लोग (अस्मात्) यज्ञसे शोधा हुआ प्रत्यक्ष (अन्नात्) जो भोजन करने योग्य अन्न है, उससे (स्वः) सुखरूपी स्वर्ग को (अगन्म) प्राप्त हों तथा (अस्यै) इस प्रत्यक्ष प्राप्त होनेवाली (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा अर्थात् जिसमें सत्कार को प्राप्त होते हैं, उसके लिये (ज्योतिषा) विद्या और धर्म के प्रकाश से संयुक्त (समभूम) अच्छी प्रकार हों ॥२५॥

---

४ सम्बद्धोऽयं भावार्थो मन्त्रगतपदैरिति बोध्यम् ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ पदार्थे त्रिविधोऽप्यर्थोऽवबोध्यः ॥

विशेषवक्तव्यम्

कलायन्त्रविमानादिविषये यद् वक्तव्यं तत् पूर्वमुक्तं (पृ० ९७), ततएवात्रगन्तव्यम् ॥ २५ ॥

२ इस प्रकार यज्ञ का सार्वभौमिकत्व निरूपण कर अब द्युलोक तथा पृथिवी आदि में प्रकारान्तर से यज्ञ कैसे सुखसाधक है, सो कहते हैं—'वह यज्ञ तीनों लोक' इत्यादि ॥

३ यहां अन्वय अधियज्ञपरक है ॥ २५ ॥

'सुगन्धादि०' इति साम्प्रतिकाः ॥ 'सर्वान् प्राणिनः' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥

* 'सुख को सिद्ध करता है' इति क. पाठः। 'सुख करता है' इति क. ख. ग. पाठः ॥

भावार्थः—मनुष्य लोग जो २ सुगन्धि आदि [गुणयुक्त] पदार्थ अग्नि में छोड़ते हैं, वे अलग २ होकर सूर्य्य के प्रकाश, आकाश तथा भूमि में फैलकर सब सुखों को सिद्ध करते हैं तथा जो वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि पदार्थ शिल्पविद्यासिद्ध कला यन्त्रों से विमान आदि यानों में युक्त किये जाते हैं, वे सब सूर्य्य प्रकाश वा अन्तरिक्ष में सुख से विहार करते हैं। जो पदार्थ सूर्य्य की किरण वा अग्नि के द्वारा परमाणुरूप होके अन्तरिक्ष में जाकर फिर पृथिवी पर आते हैं फिर भूमि से अन्तरिक्ष वा वहां से भूमि को आते जाते हैं वे भी संसार को सुख देते हैं। मनुष्यों को इसी प्रकार बार २ पुरुषार्थ से दोष दुःख और शत्रुओं को अच्छी प्रकार निवारण करके सुख भोगना भुगवाना चाहिये तथा यज्ञ से शुद्ध वायु जल ओषधि और अन्न के द्वारा आरोग्य बुद्धि और शरीर के बल की वृद्धि से अत्यन्त सुख को प्राप्त होके विद्या के प्रकाश से नित्य प्रतिष्ठा को प्राप्त होना चाहिये[२] ॥ २५ ॥

स्वयम्भूरित्यस्य ऋषिः स एव। ईश्वरो देवता[३]। उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथ सूर्य्यशब्देनेश्वर ॐ भौतिकार्थावुपदिश्येते[४]॥

स्वयम्भूर॑सि॒ श्रेष्ठो॑ र॒श्मिर्व॑र्चो॒दाऽअ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि। सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते ॥ २६ ॥

स्व॒य॒म्भूरिति॑ स्व॒य॒म्ऽभूः। अ॒सि॒। श्रेष्ठः॑। र॒श्मिः। व॒र्चो॒दा इति॑ वर्चः॒ऽदाः। अ॒सि॒। वर्चः॑। मे॒। दे॒हि॒। सूर्य॑स्य। आ॒वृत॒मित्या॒ऽवृत॑म्। अनु॑। आ। व॒र्ते॒॥ २६॥

पदार्थः—(स्वयम्भूः) स्वयं भवत्यनादिस्वरूपः। (असि) अस्ति वा। (श्रेष्ठः) अतिशयेन प्रशस्तः। (रश्मिः) प्रकाशकः प्रकाशमयो वा। (वर्चोदाः) वर्चो विद्यां दीप्तिं वा ददातीति। (असि) अस्ति वा †। (वर्चः) विज्ञानं प्रकाशनं वा। (मे) मह्यम्। (देहि) ददाति वा। (सूर्य्यस्य) चराचरस्यात्मनो जगदीश्वरस्य ‡ सूर्यलोकस्य वा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। य० ७। ४२। अनेनेश्वरस्य ग्रहणम्। सूर्य इति पदनामसु पठितम्। निघ० ५। ६। इति गत्यर्थेन ज्ञानरूपत्वादीश्वरो व्यवहारप्रापकत्वात् ǂ सूर्य्यलोको वा ऽत्र गृह्यते। (आवृतम्) समन्ताद् वर्त्तन्ते यस्मिन् तमीश्वराज्ञापालनं §§ सूर्यप्रकाशनं वा। (अनु) पश्चादर्थे (आ) अभ्यर्थे। (वर्त्ते) स्पष्टार्थः॥ अयं मन्त्रः श० १।९।३। १५-१७ व्याख्यातः॥२६॥

१ मन्त्रगतपदों से भावार्थ का सम्बन्ध लगा लेवें॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ सं० पदार्थ में तीनों अर्थों की योजना कर लेनी चाहिये॥

त्रि० वक्तव्यम्

कला-यन्त्र-विमानादि के विषय में पूर्व (यजुः १। १९। ६० ९९) कह चुके हैं, वहीं देख लेवें॥२५॥

३ सूर्य इति सर्वानुक्रमणी॥

४ प्रसङ्गप्राप्तं सूर्यं निरूपयन्नाह—'अथ सूर्यशब्देन' इत्यादि॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(स्वयम्भूः) स्वयं भवतीति भुवः संज्ञान्तरयोः (अ० ३। २। १७९) इति क्विप्। उपपदसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ०। ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरेण 'भू' उदात्तः॥

(वर्चोदाः) वर्चो ददातीति आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३। २। ७४) इति विच् प्रत्ययः, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

ॐ इतोऽग्रे—'विद्वदर्थावुप०' इति पाठः क. ख. ग. कोशेष्वनुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रित एवोपलभ्यते॥
† 'भवसि' इति पूर्ववद् अ० मुद्रित एव पाठः॥ ‡ अतः परं अ० मुद्रिते तु—'विदुषो जीवस्य वा' इति पाठः॥
ǂ इतोऽग्रे—'विद्वान् एव' इति अ० मुद्रित एवोपलभ्यते॥
§§ अतोऽग्रे—'उपदेशप्रकाशनम्' इति अ० मुद्रित एवोपलभ्यते॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! § त्वं श्रेष्ठो रश्मिः स्वयम्भूरसि वर्चोदा असि त्वं मे वर्चो देहि । अहं सूर्य्यस्य तवावृतमाज्ञापालनमन्वावर्त्ते । [इत्येकः] ॥

✤ तथा यः श्रेष्ठो रश्मिः स्वयम्भूः स्वयंप्रकाशो ऽस्यस्ति, वर्चोदा ऽस्यस्ति, यो मे मह्यं विद्यां वर्चो [देहि] ददाति, तस्यास्य सूर्य्यस्यावृतं शिल्पविद्यायै अन्वावर्त्ते [इति द्वितीयः] ॥ २६ ॥

[अत्र श्लेषालङ्कारः ॥]

भावार्थः—नैव परमेश्वरस्य ❀ कौचिन्मातापितरौ कदाचित् स्तः किन्त्वयमेव सर्वस्य माता पिता चास्ति । तथा नैतस्मात् कश्चिदुत्तमः प्रकाशको विद्याप्रदो वा पदार्थोऽस्ति, अतः सर्वैर्मनुष्यैरस्यैवाज्ञायामनुवर्त्तनीयम् । † तथैवायमेव सूर्यलोकः प्रकाशकानां मध्येऽधिकप्रकाशको व्यवहारविद्याहेतुर्वर्त्तते ऽस्यैव प्रकाशं प्राप्य चन्द्रादयो ऽनुप्रकाशन्ते ॥ २६ ॥

अब अगले मन्त्र में सूर्य शब्द से ईश्वर और ‡ सूर्य लोक का उपदेश किया है[४] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आप ❁ (श्रेष्ठः) अत्यन्त प्रशंसनीय और (रश्मिः) प्रकाशमान वा (स्वयम्भूः) अपने आप होनेवाले (असि) हैं । तथा (वर्चोदाः) विद्या देनेवाले (असि) हैं, इसी से आप (मे) मुझे (वर्चः) विज्ञान और प्रकाश (देहि) दीजिये, मैं (सूर्य्यस्य) जो आप चराचर जगत् के आत्मा हैं, उनके (आवृतम्) निरन्तर सज्जन जन जिसमें वर्त्तमान होते हैं उस उपदेश को (अन्वावर्त्ते) स्वीकार करके वर्त्तता हूँ [यह प्रथम *अर्थ हुआ*] ॥ २६ ॥

✥ तथा यह (श्रेष्ठः) अत्यन्त प्रशंसा के योग्य (रश्मिः) प्रकाशमय और (स्वयम्भूः) आपसे आप प्रकाशित और (वर्चोदाः) पदार्थों का प्रकाश करनेहारा (असि) है इससे यह (मे) मुझे (वर्चः) शिल्पविद्या साधन विज्ञान को (देहि) देता है, मैं इस (सूर्य्यस्य) व्यवहार को सिद्ध करनेहारे सूर्य का (आवृतम्) जो कि संसार के अन्धकार को दूर करनेवाला प्रकाश है उसको (अन्वावर्त्ते) शिल्पविद्या के लिये यथायोग्य वर्त्तता हूँ ॥ यह दूसरा *अर्थ हुआ* ॥

[इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है] ॥

(आवृतम्) आङ्पूर्वात् 'वृतु वर्त्तने' अस्मात् क्विप् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरेण 'वृ' उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अन्वयोऽपि त्रिविधार्थप्रदर्शनपर इति ॥

२ मन्त्रगतपदैः सम्बद्ध एवायं भावार्थः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ सूर्य्यस्येति व्याख्याने पदार्थेऽपि त्रिविधार्थयोजना ऊहनीया ॥ २६ ॥

४ प्रसङ्गागत सूर्य का स्वरूप दर्शाते हैं—'अब अगले मन्त्र में सूर्य शब्द से' इत्यादि ॥

५ यहां अन्वय तीनों प्रक्रियाओं में समझें ॥

§ अतोऽग्रे—'विद्वन् वा' इति अ० मुद्रित एवोपलभ्यते ॥

✤ 'तथा यः श्रेष्ठो······अन्वावर्त्ते' इति पाठः कोशेषु विद्यमानः सन्नपि अ० मुद्रिते नोपलभ्यते ॥

❀ इतोऽग्रे—'विदुषो जीवस्य वा' इति पूर्ववद् अ० मुद्रित एव पाठः ॥

† 'तथैवायमेव सूर्यलोकः······ऽनुप्रकाशन्ते' इत्ययं क. ख. ग. कोशेषूपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते नोपलभ्यते ॥

‡ इतोऽग्रे—'विद्वान् मनुष्य का' इति पूर्ववद् अ० मुद्रित एव पाठः ॥

❁ अग्रे—'विद्वन् वा' इति पूर्ववदेवात्रापि अ० मुद्रित एवास्ति ॥

✥ 'तथा यह···वर्त्तता हूँ' अयं पाठः सर्वकोशेषूपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते नोपलभ्यते ॥

भावार्थः—परमेश्वर ⁞ का कोई माता वा पिता नहीं है, किन्तु यही सबका माता पिता है, तथा जिससे बढ़के कोई विज्ञानप्रकाशक विद्या देनेवाला नहीं है, सब मनुष्यों को इस परमेश्वर ही की आज्ञा में वर्त्तमान होना चाहिये। वैसे ही जो § सूर्यलोक भी प्रकाशवाले पदार्थों में ǂ अधिक प्रकाशक और व्यवहारविद्या का हेतु है, इसी के § प्रकाश को प्राप्त होकर ✿ चन्द्रादिलोक प्रकाशित होते हैं[2] * ॥ २६ ॥

अग्ने गृहपत इत्यस्य ऋषिः स एव। सर्वस्याग्निर्देवता। पूर्वार्द्धे निचृत्पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥ उत्तरार्द्धे गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथ गृहाश्रमिभिरस्यानुष्ठानेन किं किं साधनीयमित्युपदिश्यते[4] ॥

अग्ने॑ गृहपते सुगृहप॒तिस्त्वया॑ऽग्ने॒ऽहं गृ॒हप॑तिना भूयासꣳसुगृहप॒तिस्त्वं मया॑ऽग्ने गृ॒हप॑तिना भूयाः। अ॒स्थू॒रि णौ॒ गार्ह॑पत्यानि सन्तु श॒तꣳ हिमा॑ः सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते॒ ॥२७॥

अग्ने॑। गृ॒ह॒प॒त॒ इति॑ गृहऽपते। सु॒गृ॒ह॒प॒तिरिति॑ सुऽगृहप॒तिः। त्वया॑। अ॒ग्ने॒। अ॒हम्। गृ॒हप॑ति॒नेति॑ ❀ गृहऽप॑तिना। भू॒या॒स॒म्। सु॒गृ॒ह॒प॒तिरिति॑ सुऽगृहप॒तिः। त्वम्। मया॑। अ॒ग्ने॒। गृ॒हप॑ति॒नेति॑ गृहऽप॑तिना। भू॒याः। अ॒स्थू॒रि। नौ॒। गार्ह॑पत्या॒नीति॒ गार्ह॑ऽपत्यानि। स॒न्तु॒। श॒तम्। हिमा॑ः। सूर्य॑स्य। आ॒वृत॒मित्या॒ऽवृत॑म्। अनु॑। आ। व॒र्ते॒ ॥२७॥

पदार्थः—(अग्ने[5]) परमेश्वर भौतिको वा (गृहपते[6]) गृह्णन्ति स्थापयन्ति पदार्थान् यस्मिन् ब्रह्माण्डे शरीरे निवासार्थे वा गृहे तस्य यः पतिः पालयिता तत्सम्बुद्धौ ❁ पालनहेतुर्वा। (सुगृहपतिः) शोभनानां गृहाणां पतिः पालयिता, †पालनसाधनो वा। (त्वया) जगदीश्वरेणानेनाग्निना‡ वा। (अग्ने) सर्वस्वामिन्,✿ प्राप्तिसाधको वा। (अहम्) गृहस्वामी मनुष्यो यज्ञानुष्ठाता वा। (गृहपतिना) सर्वस्वा-

१ मन्त्रगत पदों से भावार्थ का सम्बन्ध स्पष्ट है॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ सं० पदार्थ में भी 'सूर्य' पद के व्याख्यान में त्रिविध-प्रक्रिया की ऊहा कर लेनी चाहिये॥ २६॥

३ गार्हपत्यः, सूर्य इति सर्वानुक्रमणी॥

४ प्रस्तुतं निरूप्य गृहाश्रमिणां मुख्यकर्त्तव्यतया यज्ञं निरूपयति— 'अथ गृहाश्रमिभिः' इति॥

५ य०१। ५ विवरणे पृ० ४७ व्याख्यातः॥

६ अग्निर्गृहपतिरिति हैक आहुः। सो ऽस्य लोकस्य (पृथिव्याः) गृहपतिः॥ ऐ० ५। २५॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गृहपते) 'गृहं गृह्णातेः' गेहे कः (अ० ३। १। १४४) इति कः प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। तस्य पतिरिति षष्ठीसमासे पत्यावैश्वर्ये (अ० ६। २। १८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्राप्तः। नामन्त्रिते समानाधिकरणे० (अ० ८। १। ७३) इति पूर्वामन्त्रितस्याविद्यमानवत्प्रतिषेधे आमन्त्रितस्य च (अ० ८। १। १९) इति सर्वनिघातः॥

⁞ अग्रे—'और जीव' इति पूर्ववदेवात्रापि अ० मुद्रित एवास्ति॥ § 'विद्वान् भी' इति पूर्ववदेवात्रापि अ० मुद्रित एवास्ति॥
ǂ 'अवधिरूप' अ० इति मुद्रितपाठः॥ § अग्रे 'उपदेशरूप' इति पूर्ववदत्रापि अ० मुद्रित एव दृश्यते॥
✿ 'चन्द्रादिलोक' इति कोशेषु सार्वत्रिकः पाठः, अ० मुद्रिते तु नोपलभ्यते॥
* इतोऽग्रे—'वह क्यों न सेवना चाहिये' कोशेष्ववर्त्तमानोऽप्ययं पाठो अ० मुद्रित एवोपलभ्यते॥
❀ 'गृहपतिना' इत्यवग्रहचिह्नरहितो ऽजमेरमुद्रिते ऽपपाठः॥
❁ 'पालनहेतुर्वा' इति पाठः कोशेषु सर्वत्रोपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते नास्ति॥
† 'पालनसाधनो वा' इति पाठः कोशेषु सर्वत्रोपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते नास्ति॥
‡ इतोऽग्रे—'विज्ञानसुखहस्थेन वा' इति पाठः सर्वत्र कोशेष्वनुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रित एवास्ति॥
✿ इतोऽग्रे—'विद्या' इति पाठः सर्वत्र कोशेष्वनुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रित एवास्ति॥

मिना ※ गृहपालनार्थेन भौतिकेन वा। (भूयासम्) स्पष्टार्थः। (सुगृहपतिः) शोभनश्चासौ गृहस्य पालकश्च सः। (त्वम्) जगदीश्वरोऽयं ※भौतिको वा। (मया) सत्कर्मानुष्ठात्रा सह। (अग्ने) जगदीश्वर,$ अयं भौतिको वा। (गृहपतिना) धार्मिकेण पुरुषार्थिना गृहपालकेन वा। (भूयाः)† भवति वा। (अस्थूरि) तिष्ठन्ति यस्मिन्नालये तत्स्थूरं तन्निन्दितं विद्यते यस्मिन् तत्स्थूरि न स्थूरि अस्थूरि यथा स्यात्तथा, अत्र निन्दार्थे इनिः। (नौ) आवयोर्गृहसम्बन्धिनोः स्त्रीपुरुषयोः। (गार्हपत्यानि) गृहपतिना संयुक्तानि कर्माणि। गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः। अ० ४।४।९०। (सन्तु) भवन्तु। (शतम्) शतादधिकानि वा। (हिमाः) हेमन्तर्त्तवः। भूयाꣳसि शताद्वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति। श० १।९।३।१९। (सूर्य्यस्य)‡ प्रत्यक्षस्य लोकस्य। (आवृतम्)§ आसमन्ताद्वर्त्तन्तेऽहोरात्राणि यस्मिन् तं समयम्। (अनु) अनुगतार्थे। (आ) समन्तात्। (वर्त्ते) वर्त्तमानो भवेयम्॥ अयं मन्त्रः श० १।९।३।१८-२१ व्याख्यातः॥ २७॥

अन्वयः[1]— हे गृहपतेऽग्ने जगदीश्वर ¶ त्वं सुगृहपतिरसि, त्वया गृहपतिना सहाहं सुगृहपतिर्भूयासम्। मया गृहपतिनोपासितस्त्वं मम गृहपतिर्भूयाः। एवं नौ स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्त्वेवं वर्त्तमानोऽहं वर्त्तमाना च सूर्य्यस्यावृतं शतं हिमा अन्वावर्त्ते॥ *[इत्येकः]*

※अयमग्निर्विद्यया संगृहीतः सुगृहपतिर्भवति। अहमनेन सुसाधितेन गृहपतिनाग्निना सुगृहपतिर्भूयासम्। मया गृहपतिना संयोजितोऽयमग्निः सुगृहपतिर्भवति, अनेनावयोः स्त्रीपुरुषयोर्गार्हपत्यान्यस्थूरि सन्तु। एवं प्रयत्नं कुर्वन् कुर्वती चाहं सूर्यस्यावृतं सुखेन शतं हिमा अन्वावर्त्ते॥ *[इति द्वितीयः]*॥ २७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः[2]॥

(सुगृहपतिः) कुगतिप्रादयः (अ० २।२।१८) इति समासः। ततश्छान्दसत्वात् समासस्य (६।१।२२३) इति समासान्तोदात्तत्वम्॥

(अस्थूरि) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति प्राप्ते छान्दसव्यत्ययेनोत्तरपदान्तोदात्तत्वम्॥

(गार्हपत्यानि) गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः (अ० ४।४।९०) इति ञ्यः। ञित्त्वाद् वृद्धिराद्युदात्तत्वं च॥

(हिमाः) हन्तेर्हिं च (उ० १।१४७) इति मक् प्रत्ययः। बाहुलकादाद्युदात्तः। वृषादिषु वा द्रष्टव्यः। ये तु नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वमाहुः कथमत्र नित्त्वमिति त एवात्रानुयोक्तव्याः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ द्विविधोऽर्थोऽत्र प्रकाशितः, तृतीयोऽपि तदन्तर्भूत एवेति बोध्यम्॥

२ श्लेषालङ्कारं प्रदर्शयन्नर्थवैविध्यं दर्शयति।

※ 'गृहपालकेन वा' इति पाठः सर्वत्र कोशेष्वनुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रित एवास्ति॥

※ 'धार्मिको वा' इति पाठः सर्वत्र कोशेष्वनुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रित एवास्ति॥

$ इतोऽग्रे—'प्रशस्तविद्य' इति पाठः सर्वत्र कोशेष्वनुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रित एव वर्त्तते॥

† इतोऽग्रे—'भवेः' इति पाठः सर्वत्र कोशेष्वनुपलभ्यानोऽपि अ० मुद्रित एव वर्त्तते॥

‡ इतोऽग्रे—'स्वप्रकाशस्येश्वरस्य विद्यान्यायप्रकाशकस्य विदुषो वा' इति पूर्ववद् अ० मुद्रित एवास्ति॥

§ 'आसमन्तात्' इति क. पाठः। अग्रे 'आ' नास्ति॥

¶ इतोऽग्रे—'विद्वन् वा' इति कोशेष्वनुपलभ्यमानः पाठो अ० मुद्रित एव दृश्यते॥

※ अत्र 'अयमग्निर्विद्य०……शतं हिमा अन्वावर्त्ते' इति कोशेषु सर्वत्रोपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते नास्त्येव॥

भावार्थः—आवां स्त्रीपुरुषौ सुपुरुषार्थिनौ भूत्वा योऽस्य सर्वेषां स्थित्यर्थस्य जगतो गृहस्य सततं रक्षको जगदीश्वरो ※ऽस्ति, तमाश्रित्य भौतिकाग्न्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः स्थिरसुखसाधकानि सर्वाणि कर्माणि संसाध्य शतं वर्षाणि जीवेव, तथा जितेन्द्रियत्वभावेन शतादधिकमपि सुखेन जीवनं मुद्वहे इति[१] ॥ २७ ॥

गृहस्थ लोगों को इसके अनुष्ठान से क्या २ सिद्ध करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[२] ॥

पदार्थः[३]—हे (गृहपते) घर के पालन करनेहारे (अग्ने) परमेश्वर * (त्वम्) आप (सुगृहपतिः) ब्रह्माण्ड शरीर और निवासार्थ घरों के उत्तमता से पालन करनेवाले हैं, उस (गृहपतिना) उक्त गुणवाले (त्वया) आप के साथ [(अहम्)] मैं (सुगृहपतिः) अपने घर का उत्तमता से पालन करनेहारा (भूयासम्) होऊँ। हे परमेश्वर † ! (मया) जो मैं श्रेष्ठ कर्म का अनुष्ठान करनेवाला (गृहपतिना) धर्मात्मा और पुरुषार्थी मनुष्य हूँ, उस मुझ से आप उपासना को प्राप्त हुए मेरे घर के पालन करनेहारे (भूयाः) हूजिये। इसी प्रकार (नौ) जो हम स्त्री पुरुष घर के पति हैं, सो हमारे (गार्हपत्यानि) अर्थात् जो गृहपति के संयोग से घर के काम सिद्ध होते हैं वे (अस्थूरि) जैसे निरालस्यता हो, वैसे सिद्ध (सन्तु) हों। इस प्रकार अपने वर्त्तमान में वर्त्तते हुए हम स्त्री वा पुरुष (सूर्य्यस्य) ‡ सूर्यलोक के (आवृतम्) वर्तमान अर्थात् जिसमें अच्छी प्रकार रात्रि वा दिन होते हैं, उसमें (शतं हिमाः) सौ वर्ष वा सौ से भी अधिक [(अन्वावर्त्ते)] वर्त्तें ॥ *यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ* ॥

§ यह अग्निविद्या से संग्रह किया हुवा (सुगृहपतिः) अर्थात् ठीक २ पूर्वोक्त घरों की रक्षा का उत्तम हेतु होता है। इस कारण मैं अच्छे प्रकार सिद्ध किये हुये इस (गृहपतिना) धर्म के पालन करनेहारे अग्नि से (सुगृहपतिः) उत्तमता से घर का रक्षक (भूयासम्) होऊँ। (मया) मुझ (गृहपतिना) घर के पालन करनेहारे से शिल्पविद्या में संयुक्त किया हुवा यह अग्नि (सुगृहपतिः) घर के कामों में उत्तम गुणवाला (भूयाः) होता है। इस अग्नि से (नौ) हम स्त्री पुरुषों के (गार्हपत्यानि) उक्त गार्हपत्य कर्म (अस्थूरि) आलस्य को छोड़ के (सन्तु) सिद्ध होते हैं। इस प्रकार हम दोनों स्त्री पुरुष पुरुषार्थ करते हुये (सूर्यस्य) सूर्यलोक के निमित्त से सिद्ध हुये रात्रि दिनों को (शतं हिमाः) सौ वर्ष वा सौ से अधिक भी (अन्वावर्त्ते) वर्त्तें ॥ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ २७ ॥

इस मन्त्र में ¶ श्लेषालङ्कार है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थ एव स्पष्टः ॥ २७ ॥

२ प्रस्तुत का कथन कर गृहाश्रमियों के मुख्य कर्त्तव्य कर्म यज्ञ का निरूपण करते हैं—'गृहस्थ लोगों को' इत्यादि ॥

३ अन्वय में दो प्रकार का अर्थ दर्शाया गया है, तृतीय भी उसी में है, ऐसा समझना चाहिये ॥

४ श्लेषालङ्कार का स्वरूप दर्शाते हुये मन्त्र के अनेक अर्थों का निरूपण किया गया है ॥

※ इतोऽग्रे—'विद्वान् वा' इति अ० मुद्रित एव पश्यामः ॥ * इतोऽग्रे 'और विद्वान्' इति अ० मुद्रित एवोपलभ्यते ॥

† इतोऽग्रे 'विद्वान् वा' इति पाठो अ० मुद्रित एव दरीदृश्यते ॥

‡ इतोऽग्रे 'आप और विद्वान् के' इति कोशेष्वनुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रित एवास्ति ॥

§ इतोऽग्रे 'यह अग्नि विद्या से संग्रह किया……वर्त्तें' इति पाठः कोशेषूपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते नास्त्येव ॥

¶ जब श्लेषालङ्कार है तो वह दिखाना भी तो चाहिये। सो अ० मु० पाठ में एक ही प्रकार का है, अतः परस्पर विरोध होगा। अतः हस्तलेखपाठ ही समुपयुक्त है ॥

भावार्थः—हम दोनों स्त्री पुरुष पुरुषार्थी होकर जो इस सब पदार्थों की स्थिति के योग्य संसाररूपी घर का निरन्तर रक्षा करनेवाला जगदीश्वर ❀ है, उसका आश्रय करके भौतिक अग्नि आदि पदार्थों से स्थिर सुख करने वाले सब काम सिद्ध करते हुए सौ वर्ष जीवें, तथा जितेन्द्रियता से सौ वर्ष से अधिक भी सुखपूर्वक जीवन भोगें[1] ॥ २७ ॥

अग्ने व्रतपत इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ यत्सत्याचरणेन सुखं भवेत्तदुपादिश्यते[2] ॥

अग्ने॑ व्रतपते व्रतम॑चारिषं॒ तद॑शकं॒ तन्मे॑ ऽराधी॒दम॒हं य ए॒वास्मि॒ सो ऽस्मि ॥ २८ ॥

अग्ने॑ । व्रतप॒त॒ इति॑ व्रतऽपते । व्र॒तम् । अ॒चा॒रि॒ष॒म् । तत् । अ॒श॒क॒म् । तत् । मे॒ । अ॒रा॒धि॒ । इ॒दम् । अ॒हम् । यः । ए॒व । अस्मि॑ । सः । अ॒स्मि॒ ॥ २८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) सत्यस्वरूपेश्वर ! (व्रतपते) व्रतं नियतं धर्म्याख्यं कर्म तत्पतिस्तत्संबुद्धौ । (व्रतम्) सत्यलक्षणम् । (अचारिषम्) चरितवान् । (तत्) पूर्वोक्तम् । (अशकम्) शक्तवान् । (तत्) मया चरितुं योग्यम् । (मे) मम । (अराधि) संसाधितम् । (इदम्) प्रत्यक्षमाचरितुमहं मनुष्यः । (यः) यादृशकर्मकारी । (एव) निश्चयार्थे । (अस्मि) † वर्त्ते । (सः) तादृशकर्मभोगी । (अस्मि) भवामि ॥ अयं मन्त्रः श० १ । ९ । ३ । २२-२३ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः— हे व्रतपतेऽग्ने भवता कृपया [मे] मदर्थं यद् व्रतमराधि तदहमशकमचारिषम् । [इदं] यन्मयाऽराधि तदेवाहं भुञ्जे, योऽहं यादृशकर्मकार्य्यस्मि सोऽहं तादृशफलभोग्यस्मि भवामि ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्येणेदं निश्चेतव्यं मयेदानीं यादृशं कर्म क्रियते, तादृशमेवेश्वरव्यवस्थया फलं भुज्यते भोक्ष्यते च । नहि कश्चिदपि जीवः स्वकर्मविरुद्धं फलमधिकं न्यूनं वा ‡ प्राप्तुं शक्नोति । तस्मात् सुखभोगाय धर्म्याण्येव कर्माणि कार्य्याणि, यतो नैव कदाचिद् दुःखानि स्युरिति ॥ २८ ॥

त्रिविधप्रक्रिया

१ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ पदार्थ से स्पष्ट है ॥ २७ ॥

२ प्रथमाध्यायोक्तस्य सत्याचरणरूपस्य यज्ञस्य फलं निरूपयन्नाह—'अथ यत् सत्याचरणेन' इति ॥

३ सर्वोऽयं मन्त्रो य० १ । ५ एव व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अराधि) राधतेः कर्मणि लुङि रूपम् । चिण् भावकर्मणोः (अ० ३ । १ । ६६) इति चिण् । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४ आध्यात्मिकार्थपरोऽयमन्वयः ॥

५ सम्बद्ध एवायं भावार्थः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

६ 'अग्ने' इति पदेन किं किं ग्रहीतुं शक्यते इत्यवलम्ब्य त्रिष्वपि प्रक्रियास्वर्थो योजनीयः ॥ २८ ॥

❀ इतोऽग्रे 'और विद्वान्' कोशेष्वसन्नपि अ० मुद्रित एव दृश्यते ॥ † 'भवामि इति कोशपाठः ॥
‡ 'प्राप्नोति' इति कोशेषु पाठः ॥

अब जो सत्याचरण से सुख होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[1] ॥

पदार्थः[2]—हे (व्रतपते) न्याययुक्त नियतकर्म के पालन करनेहारे (अग्ने) सत्यस्वरूप परमेश्वर ! आपने जो कृपा करके [(मे)] मेरे लिये (व्रतम्) सत्यलक्षण आदि प्रसिद्ध नियमों से युक्त सत्याचरण व्रत को (अराधि) अच्छे प्रकार सिद्ध किया है, (तत्) उस अपने आचरण करने योग्य सत्य नियमको (अशकम्) जिस प्रकार में करने को ❀ समर्थ हुआ हूँ, (अचारिषम्) अर्थात् उसका आचरण अच्छी प्रकार कर सका हूँ, वैसा मुझको कीजिये । [(यः)] जो मैंने उत्तम वा अधम कर्म किया है [(तदेवाहम्)] उसी को भोगता हूँ, अब भी जो [(इदम्)] मैं जैसा कर्म करनेवाला (अस्मि) हूँ, वैसे [(सः)] कर्म के फल भोगने वाला (अस्मि) होता हूँ ॥२८॥

भावार्थः[3]— मनुष्यको यही निश्चय करना चाहिये कि मैं अब जैसा कर्म करता हूँ, वैसा ही परमेश्वर की व्यवस्था से फल भोगता हूँ और भोगूंगा । सब प्राणी अपने कर्म से विरुद्ध फल को कभी नहीं प्राप्त होते, इससे सुख भोगने के लिये धर्मयुक्त कर्म ही करना चाहिये कि जिससे कभी दुःख नहीं हो[4] ॥ २८ ॥

अग्नय इत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । स्वराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ भौतिकावग्नीषोमौ कीदृशगुणौ वर्तेते इत्युपदिश्यते[6] ॥

अग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय॒ स्वाहा॒ सोमा॑य पितृ॒मते॒ स्वाहा॑ ।
अप॑हता ऽ असु॑रा रक्षा॑ᳪसि वेदि॒षदः॑ ॥ २९ ॥

अ॒ग्नये॑ । क॒व्य॒वाह॑न॒येति॑ कव्य॒ऽवाह॑नाय । स्वाहा॑ । सोमा॑य । पि॒तृ॒मत॒ इति॑ पि॒तृ॒ऽमते॑ । स्वाहा॑ । अप॑हता इत्यप॑ऽहताः । असु॑राः । रक्षा॑ᳪसि । वे॒दि॒षदः॑ । वे॒दि॒सद॒ इति॑ वेदि॒ऽसदः॑ ॥ २९ ॥

पदार्थः—(अग्नये) अङ्गति सर्वान् पदार्थान् दग्ध्वा देशान्तरे प्रापयति तस्मै । (कव्यवाहनाय) कुवन्ति शब्दयन्ति सर्वा विद्या ये ते कवयः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञाश्च, तेभ्यो हितानि कर्माणि कव्यानि, तानि यो वहति प्रापयति तस्मै । (स्वाहा) सुष्ठु आह यस्यां सा । (सोमाय[7]) सुवन्त्यैश्वर्य्याणि

[1] प्रथमाध्याय में कहे सत्याचरणरूप व्रत के फल का निरूपण करते हैं—'अब जो सत्याचरण से सुख' इत्यादि ॥

[2] अन्वय यहां आध्यात्मिकप्रक्रियापरक है ॥

[3] मन्त्रगतपदों से भावार्थ का सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

[4] 'अग्नि' पद से किस २ का ग्रहण होता है, इसका निरूपण कई स्थलों में किया जा चुका है। तदनुसार सब प्रक्रियाओं में अर्थ की योजना समझनी चाहिये ॥ २८ ॥

[5] देवाः, असुरा इति सर्वानुक्रमणी ॥

[6] सम्मिलितयोरग्नीषोमयोर्गुणानाह—'अथ भौतिकावग्नीषोमौ' इति ॥

[7] पितृलोकः सोमः ॥ कौ० १३ । ५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कव्यवाहनाय) कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् (अ० ३ । २ । ६५) इति 'कव्य' उपपदे 'वह' धातोर्ञ्युट् प्रत्ययः । ञित्वाद् वृद्धिः । उपपदसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(पितृमते) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उ० २ । ९५) इत्यादिना पातेस्तृच्प्रत्ययान्तो निपातितः । चित्त्वादन्तोदात्तस्ततो नित्ययोगे मतुप् । तस्य पित्त्वादनु-

❀ "समर्थ होऊं......कर सकूँ" इति अ० मु० कोशेषु च पाठः । स च क. संस्कृतानुवादः। तत्र '(अशकम्) शक्तवान् भवेयम्' इति सं० पदार्थे आसीत् । 'भवेयम्' इति ख, ग, नास्त्येवेत्यतः ॥

प्राप्नुवन्ति यस्मिन् संसारे तस्मै। (पितृमते) पितर ऋतवो नित्ययुक्ता विद्यन्ते यस्मिन् तस्मै। अत्र नित्ययोगे मतुप्। ऋतवः पितरः श० २।४।२।२४। (स्वाहा) स्वं दधात्यनया सा स्वाहा क्रिया। (अपहताः) अपहिंसिताः। (असुराः) अविद्वांसो दुष्टस्वभावाः प्राणिनः। (रक्षांसि) परपीडकाः, स्वार्थिनः। (वेदिषदः) ये वेद्यां पृथिव्यां सीदन्ति ते, यावती वेदिस्तावती पृथिवी। श० १।२।५।७। अयं मन्त्रः श० २।४।२।१२—१३ व्याख्यातः॥ २९॥

अन्वयः—मनुष्यैः कव्यवाहनायाग्नये स्वाहा पितृमते सोमाय स्वाहा विधाय ये वेदिषदो रक्षांस्यसुराश्च ते नित्यमपहताः कार्य्याः॥ २९॥

भावार्थः—विद्वद्भिर्युक्त्या संयोजितोऽयमग्निः शिल्पिनां कार्य्याणि वहति, येन संसारस्योपकारेण सामयिकं सुखं पृथिवीस्थानां दुष्टानां दोषाणां च निवृत्तिः स्यादयं प्रयत्नो नित्यं विधेय इति[३]॥ २९॥

अब ❀ भौतिक अग्नि और सोम कैसे गुणवाले हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है[४]॥

पदार्थः—मनुष्यों को उचित है कि (कव्यवाहनाय) विद्वानों को हितकर्मों की प्राप्ति कराने तथा (अग्नये) सब पदार्थों को अपने आप एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचानेवाले भौतिक अग्निका ग्रहण करके सुख के लिये (स्वाहा) वेदवाणी से [व्यवहार करें तथा] (पितृमते) जिसमें वसन्त आदि ऋतु पालन के हेतु होने से पितर संयुक्त होते हैं, (सोमाय) † जिसमें ऐश्वर्यों को प्राप्त होते हैं, उसके लिये (स्वाहा) अपने पदार्थों को धारण करनेवाले धर्म से युक्त विधान करके जो (वेदिषदः) इस पृथिवी में रमण करनेवाले (रक्षांसि) औरों को दुःखदायी स्वार्थीजन तथा (असुराः) दुष्ट स्वभाववाले मूर्ख हैं, उनको (अपहताः) विनष्ट कर देना चाहिये॥२९।

भावार्थः[६]—विद्वानों से युक्ति के साथ शिल्पविद्या में संयुक्त किया हुआ यह अग्नि उनके लिये उत्तम २ कार्यों की प्राप्ति करनेवाला होता है, मनुष्यों को यह यत्न नित्य करना चाहिये कि जिससे संसार के उपकार से सब सुख और पृथिवी के दुष्टजन वा दोषों की निवृत्ति हो जाँय॥ २९॥

दात्तत्वे प्राप्ते ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६।१।१७६) इति मतुप उदात्तत्वम्॥

(असुरः) असेरुरन् (उ० १। ४२) इति 'उरन्' प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः॥

(वेदिषदः) वेद्यां सीदन्तीति सत्सूद्विष० (अ० ३।२।१३९) इति क्विप्। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरेणान्तोदात्तस्ततो जसोऽनुदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अधियज्ञपरोऽयमन्वयः॥

२ मन्त्रगतपदैः सम्बद्धोऽयं भावार्थः॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ पदार्थवत्त्रिविधार्थयोजनोहितव्या॥ २९॥

४ अग्नि और सोम दोनों के मिल कर क्या गुण होते हैं, सो कहते हैं—'अत्र भौतिक अग्नि' इत्यादि॥

५ यहां अन्वय अधियज्ञपरक है॥

६ भावार्थ का सम्बन्ध स्पष्ट है॥

त्रिविधप्रक्रिया

७ त्रिविध अर्थ सं० पदार्थ से जानना चाहिये॥ २९॥

❀ पाठोऽयं क. कोश उपलभ्यते, स च संस्कृतानुसारीति कृत्वा साधीयान् वर्त्तते। ख. ग. अ० मुद्रिते तु 'अत्र संसारी अग्नि और चन्द्रमा'.....'किया है' इति पाठ उपलभ्यते। स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम्॥

† '(सोमाय) जिससे ऐश्वर्यों को प्राप्त होते हैं उस सोमलता को लेके' इति अ० मु० पाठः। '(सोमाय) और प्राणी ऐश्वर्यों को प्राप्त होते हैं, उस सोम लोक के लिये' इति क. पाठः॥

ये रूपाणीत्यस्य ऋषिः स एव । अग्निर्देवता । भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

कीदृग्लक्षणास्तेऽसुरा भवन्तीत्युपदिश्यते[2] ॥

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना ऽअसुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात् ॥ ३० ॥

ये । रूपाणि । प्रतिमुञ्चमाना इति प्रति ऽमुञ्चमानाः । असुराः । सन्तः । स्वधया । चरन्ति । परापुर इति पराऽपुरः । निपुर इति ❀ निऽपुरः । ये । भरन्ति । अग्निः । तान् । लोकात् । प्र । नुदाति । अस्मात् ॥ ३० ॥

पदार्थः—(ये) मनुष्याः । (रूपाणि) अन्तःस्थानि ज्ञानमध्ये यादृशानि ज्ञानानि सन्ति तानि । (प्रतिमुञ्चमानाः) आभिमुख्यं ये प्रतीतं मुञ्चन्ते त्यजन्ति ते । (असुराः) धर्म्माच्छादकाः । (सन्तः) वर्त्तमानाः । (स्वधया) पृथिव्या सह । स्वधे इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् । निघ० ३ । ३० । (चरन्ति) वर्त्तन्ते । (परापुरः) परागतानि स्वसुखार्थान्यधर्मकार्य्याणि पिपुरति ते । (निपुरः) निकृष्टान् दुष्टस्वभावान् पिपुरति पूरयन्ति ते, † पॄ पालनपूरणयोरित्यस्यैव द्वाविमौ प्रयोगौ, अत्रोभयत्र क्विप् । (ये) स्वार्थसाधनतत्पराः । (भरन्ति) अन्यायेन परपदार्थान् धरन्ति । (अग्निः) जगदीश्वरः । युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तः पादम् । अ० ८ । ३ । १०३ । अनेन मूर्द्धन्यादेशः । (तान्) दुष्टान् । (लोकात्) स्थानादस्मद्दर्शनाद्वा । (प्रणुदाति) दूरीकरोतु (अस्मात्) प्रत्यक्षात् ॥ अयं मन्त्रः श० २ । ४ । २ । १४–१८ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

१ कव्यवाहनोऽग्निरिति सर्वानुक्रमणी ॥

२ प्रसङ्गेन पूर्वमन्त्रोक्तयोरसुररक्षसोः सादृश्येन लोकेऽप्यसुररक्षसां लक्षणमाह—'कीदृग्लक्षणास्तेऽसुराः' इति॥

३ अहवै देवा अश्रयन्त रात्रीमसुराः ऐ० ४ । ५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रूपाणि) खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पाः (उ० ३ । २८)। इत्यत्र रौतेः पप्रत्ययान्तो निपात्यते, दीर्घत्वं च धातोः । गुणो न भवति दीर्घविधानसामर्थ्यात् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(प्रतिमुञ्चमानाः) प्रतिपूर्वान् मुच्लृ मोचनेऽस्माल्लटः स्थाने शानजादेशः । तस्मिन् तुदादिभ्यः शः (अः ३ । १ । ७७) इति शः । शे मुचादीनाम् (अ० ७ । १ । ५९) इति नुमागमः । तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्ल० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यादिना लसार्वधातुकानुदात्तत्वे प्रत्ययस्वरेण 'श' उदात्तः । ततो गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे शप्रत्ययस्याकार उदात्तः ॥

यस्तु प्रतिमुञ्चमाना इत्यत्र तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इत्यनेन प्रतेर्निघातत्वमाह तत् तस्याज्ञानमूलमेव मुञ्चमाना इत्यस्योदात्तवतस्तिङोऽभावात् ॥

(परापुरः, निपुरः) 'पॄ' धातोः क्विपि 'पूः' धातुस्वरेणोदात्तः, ततः परागताः पुरः, निगताः पुरः इति कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति प्रादिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण 'पु' उदात्तः ॥

(लोकात्) लोकृ दर्शने ऽस्माण्णिजन्तात् एरच् (अ० ३ । ३ । ५६) इति कर्मण्यच् । णेरनिटि (अ० ६ । ४ । ५१) इति णिलोपः । काशिकाकारस्तु एरजण्यन्तानाम् (अ० ६ । १ । १६०) इत्याह, तदप्रमाणं भाष्ये ऽदर्शनात् । चित्त्वादन्तोदात्तः॥

(नुदाति) लेटोऽडाटौ (अ० ३ । ४ । ९४) इत्याडागमः । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

❀ 'निपुरः' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'पॄ.........प्रयोगौ' इति क. पाठः, ख. ग. कोशयोर्नास्ति ॥

अन्वयः—अग्निरीश्वरो ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति, ये च परापुरो निपुरः सन्तोऽन्यायेन परपदार्थान् भरन्ति धरन्ति, तानस्माल्लोकात् प्रणुदाति दूरीकरोतु ॥ ३० ॥

भावार्थः[2]—ये दुष्टा मनुष्या मनोदेहवाग्भिर्मिथ्या चरित्वा पृथिव्यामन्यायेनान्यान् प्राणिनः पीडयित्वा स्वसुखाय परपदार्थान् सञ्चिन्वन्ति। ईश्वरस्तान् दुःखयुक्तान् मनुष्येतरनीचशरीरधारिणः*कृत्वा, तेषु पापफलानि † भोजयित्वा पुनर्मनुष्यदेहधारणे योग्यान् करोति। अतो मनुष्यैरीदृशेभ्यो मनुष्येभ्यः पापकर्मभ्यो वा पृथक् स्थित्वा सदैव धर्म एव सेवनीय इति[3] ॥ ३० ॥

उक्त असुर कैसे लक्षणों वाले होते हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है[4] ॥

पदार्थः[5]—(ये) जो दुष्ट मनुष्य (रूपाणि) ज्ञानके अनुकूल अपने अन्तःकरणों में विचारे हुए भावों को (प्रतिमुञ्चमानाः) दूसरे के सामने छिपाकर विपरीत भावों के प्रकाश करनेहारे (असुराः) धर्म को ढांपते (सन्तः) हैं। (स्वधया) पृथिवी में जहां तहां (चरन्ति) आते जाते हैं। तथा [(ये)] जो (परापुरः) संसार से उलटे अपने सुखकारी कामों को नित्य सिद्ध करने के लिये यत्न करने (निपुरः) और दुष्ट स्वभावों को परिपूर्ण करनेवाले (सन्तः) हैं, अर्थात् जो अन्याय से औरों के पदार्थों को [(भरन्ति)] धारण करते हैं, (तान्) उन दुष्टों को (अग्निः) जगदीश्वर (अस्मात्) इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष [(लोकात्)] लोक से (प्रणुदाति) दूर करे ॥ ३० ॥

भावार्थः[6]—जो दुष्ट मनुष्य अपने मन वचन और शरीर से झूठे आचरण करते हुए अन्याय से अन्य प्राणियों को पीड़ा देकर अपने सुख के लिये औरों के पदार्थों को ग्रहण कर लेते हैं, ईश्वर उनको दुःखयुक्त करता और नीच योनियों में जन्म देता है, कि वे अपने पापों के फल को भोगके फिर भी मनुष्य देह के योग्य होते हैं। इससे सब मनुष्यों को योग्य है कि ऐसे दुष्ट मनुष्यों, वा पापों से बचकर सदैव धर्म का ही सेवन किया करें[7] ॥३०॥

अत्र पितर इत्यस्यर्षिः स एव। पितरो देवताः। बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

मनुष्यैर्धार्मिका ज्ञानिनो विद्वांसः कथं सत्कर्तव्या इत्युपदिश्यते[8] ॥

अत्र॑ पितरो मादयध्वं यथाभा॒गमावृ॑षायध्वम् ।
अमी॑मदन्त पि॒तरो॑ यथाभा॒गमावृ॑षायिषत ॥ ३१ ॥

---

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः ॥

२ सम्बद्ध एवायं भावार्थो मन्त्रगतपदैः ॥

५ यहाँ अन्वय आध्यात्मिकार्थपरक है।

६ भावार्थ का मन्त्रगतपदों से सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ त्रिविधाप्यर्थयोजना पदार्थतोऽवगन्तव्या ॥ ३० ॥

४ प्रसङ्ग से पूर्व मन्त्र में कहे हुये असुर और राक्षसों के सादृश्य को लेकर लोक में भी असुर और राक्षसों के लक्षण को कहते हैं—'उक्त असुर कैसे' इत्यादि ॥

त्रिविधप्रक्रिया

७ तीनों प्रकार के अर्थ की योजना सं० पदार्थ से करनी चाहिये ॥ ३० ॥

८ असुरप्रतिपक्षभूताः पितरोऽपि तत्र प्रतिपादितास्ते कथमादरणीया इत्यत आह—'मनुष्यैर्धार्मिका' इति ॥

* 'करोति' इति क. पाठः। 'कृत्वा येषु' इति ग. अ० मु० च पाठः ॥
† 'भुक्त्वा' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥

अत्र॑ । पि॒तरः॑ । मा॒द॒य॒ध्व॒म् । य॒था॒भा॒गमिति॑ यथा ऽभा॒गम् । आ । वृ॒षा॒य॒ध्व॒म् । वृ॒षा॒य॒ध्व॒मिति॑ वृष॒ऽय॒ध्व॒म् । अमी॑मदन्त । पि॒तरः॑ । य॒था॒भा॒गमिति॑ यथाऽभा॒गम् । आ । अ॒वृ॒षा॒यि॒ष॒त ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(अत्र) अस्माकं सत्कारसंयुक्ते व्यवहारे स्थाने वा । (पितरः) पान्ति पालयन्ति सद्विद्याशिक्षाभ्यां ये ते तत्सम्बुद्धौ । (मादयध्वम्) हर्षयध्वम् । (यथाभागम्) भागमनतिक्रम्य कुर्वन्तीति यथाभागम् । (आ) समन्तात् । (वृषायध्वम्) आनन्दसेक्तारो वृषा इवाचरत । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च अ० ३ । १ । ११ । अनेन क्यङ् प्रत्ययः । (अमीमदन्त) आनन्दयतास्मान् मोदयत, विद्यां ज्ञापयत वा । (पितरः) विद्वांसो विद्यादानेन रक्षकाः । (यथाभागम्) भागं भागं प्रतीति यथाभागम्, अत्र वीप्सार्थे *यथा । (आ) आभिमुख्यतया (अवृषायिषत) विद्याधर्मशिक्षया हर्षकारका भवत । लोडर्थे लुङ् ॥ अयं मन्त्रः श० २ । ४ । २ । १९—२३ व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—[२]हे पितरो यूयमत्र यथाभागमावृषायध्वम् मादयध्वमस्मान् [पितरः] यथाभागमावृषायिषतामीमदन्तास्मान् हर्षयत ॥ ३१ ॥

भावार्थः—[३]ईश्वर आज्ञापयति—मातापित्रादीन् विदुषोऽध्यापकान् धार्मिकान् पितॄन् समीपस्थानागच्छतश्च दृष्ट्वैवं वाच्यं सेवनं च कार्य्यम्—हे अस्मत्पितरो यूयं [४]स्वागतमागच्छतास्मद्विषये ‡यथायोग्यान् भोगानासनादींश्चमानस्मद्दत्तान् स्वीकृत्य सुखयत । यद्यदाऽवश्यकं युष्माकमिष्टं वस्त्वस्माभिरानेतुं योग्यं तदाज्ञापयत । एवमत्राऽस्माभिः सत्कृताः सन्तो भवन्तः प्रश्नोत्तरविधानेनाऽस्मान् स्थूलसूक्ष्मविद्याधर्मोपदेशेन यथावद् वर्द्धयन्तु । युष्मद्वर्द्धिता वयं नित्यं सत्क्रियाः कृत्वाऽन्यैः कारयित्वा च सर्वेषां प्राणिनां सुखविद्योन्नती नित्यं कुर्य्यामेति ॥ ३१ ॥

---

१ गृहाणां ह पितर ईशते ॥ श० २ । ४ । २ । २४ ॥ २ । ६ । १ । ४२ ॥

देवा वा एते पितरः ॥ गो० उ० १ । २४ ॥ कौ० ५ । ६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(यथाभागम्) अव्ययं विभक्ति० (अ० २ । १ । ६) इत्यादिना यथार्थे समासः । समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तः ॥

(अमीमदन्त) मद धातोर्हेतुमति च (अ० ३ । १ । २६) इति णिच् । सनाद्यन्ता धातवः (अ० ३ । १ । ३२) इति धातुसंज्ञायां धातोः (अ० ६ । १ । १६२) इत्यन्तोदात्तः । ततः छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३ । ४ । ६) इति लुङ् । ततो लादेशोऽट् च प्राप्नुतः, तत्रान्तरङ्गत्वादडागमं बाधित्वा लादेशः । पुनः णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (अ० ३ । १ । ४८) इति चङपि प्राप्नोत्यडागमश्च । तत्र कृताकृतप्रसङ्गादुभयोर्नित्यत्वे प्राप्ते शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्य इति वचनादडनित्यः, तस्मात् पूर्वं चङ् । चङि सति चङन्तस्याट् प्राप्नोति, असति तु धातुमात्रस्येति शब्दान्तरस्य प्राप्तिः ॥ तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकमनुदात्तत्वम् । चङ्यन्यतरस्याम् (अ० ६ । १ । २१८) इति धात्वकार उदात्तः, पक्षे तु प्रत्ययस्वरेण चङुदात्तः । तत्रो लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (अ० ६ । ४ । ७१) इत्यनेन 'अट्' स चोदात्तः, सतिशिष्टन्यायेन अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ० ६ । १ । १५८) इति सर्वेऽनुदात्ताः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ त्रिविधार्थयोजनाथामयमन्वयः सङ्गच्छते ॥

३ मन्त्रगतपदैः सम्बद्ध एवायम् ॥

४ स्वागतं भवताम्, आगच्छत यूयमित्यर्थः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतो ऽवगन्तव्यः ॥

---

* अ० मुद्रिते कोशेषु च 'प्रतिः' इत्यपपाठः ॥ ‡ 'यथायोग्यम्' इति साम्प्रतिकाः ॥

मनुष्य लोगों को धर्मात्मा ज्ञानी विद्वान् पुरुषों का कैसा सत्कार करना योग्य है, सो अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः[2]—हे (पितरः) उत्तम विद्या वा उत्तम शिक्षाओं और विद्यादान से पालन करने वाले विद्वान् लोगो ! (अत्र) हमारे सत्कारयुक्त व्यवहार अथवा स्थान में (यथाभागम्) यथायोग्य पदार्थों के विभाग को (आवृषायध्वम्) अच्छे प्रकार, जैसे कि आनन्द देनेवाले बैल अपने घासको चरते हैं, वैसे पाओ और (मादयध्वम्) आनन्दित भी होओ, तथा [(पितरः)] आप हम लोगों के जिस प्रकार (यथाभागम्) यथायोग्य अपनी २ बुद्धि के अनुकूल विभाग को प्राप्त हों, वैसे (आवृषायिषत) विद्या और धर्म की शिक्षा करनेवाले हो, और (अमीमदन्त) सबको आनन्द दो ॥ ३१ ॥

भावार्थः[3]—ईश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य लोग माता और पिता आदि धार्मिक सज्जन विद्वानों को समीप आये हुए देख कर उनकी सेवा करें, और प्रार्थनापूर्वक वाक्य कहें कि हे पितरो ! आप लोगों का आना हमारे उत्तम भाग्य से होता है, सो आइये और जो अपने व्यवहार में यथायोग्य भोग और आसन आदि पदार्थों को हम देते हैं, उनको स्वीकार करके सुख को प्राप्त हूजिये । तथा जो २ आपके प्रिय [illegible] हमारे लाने योग्य हों उस उस की आज्ञा दीजिये, क्योंकि सत्कार को प्राप्त होकर आप प्रश्नोत्तर विधान से हम लोगों को स्थूल और सूक्ष्म विद्या वा धर्म के उपदेश से यथावत् वृद्धियुक्त कीजिये । आप से वृद्धि को प्राप्त हुए हम लोग अच्छे २ कामों को करके तथा औरों से अच्छे काम कराके सब प्राणियों के सुख और विद्या की उन्नति नित्य करें[4] ॥ ३१ ॥

नमो व इत्यस्यर्षिः स एव । पितरो देवता[5] । मन्यवे पर्यन्तस्य ब्राह्मी बृहती ।
अग्रे च स्वराड्बृहती छन्दः । ❀ मध्यमः स्वरः ॥

अथ कथं किमर्थोऽयं पितृयज्ञः क्रियत इत्युपदिश्यते[6] ॥

**नमो॑ वः पितरो॒ रसा॑य॒ नमो॑ वः पितरः॒ शोषा॑य॒ नमो॑ वः पितरो जी॒वाय॒ नमो॑ वः पि-
तरः स्व॒धायै॒ नमो॑ वः पितरो घो॒राय॒ नमो॑ वः पितरो म॒न्यवे॒ नमो॑ वः पितरः॒ पित॑रो॒
नमो॑ वो गृ॒हान्नः॑ पितरो दत्त स॒तो वः॑ पितरो देष्मै॒तद्वः॑ पितरो॒ वासः॑ ॥ ३२ ॥**

नमः॑ । वः॒ । पि॒तरः॒ । रसा॑य । नमः॑ । वः॒ । पि॒तरः॒ । शोषा॑य । नमः॑ । वः॒ । पि॒तरः॒ । जी॒वाय॑ । नमः॑ । वः॒ । पि॒तरः॒ । स्व॒धायै॑ । नमः॑ । वः॒ । पि॒तरः॒ । घो॒राय॑ । नमः॑ । वः॒ । पि॒तरः॒ । म॒न्यवे॑ । नमः॑ । वः॒ । पि॒तरः॒ ।

वि० वक्तव्यम्

य० २ । ९ अग्रे व्यतिक्रमेणायं मन्त्रो विनियुक्त इति बोध्यम् ॥ ३१ ॥

वि० वक्तव्य

इस मन्त्र का विनियोग क्रमशः न करके य० २ । ९ से आगे इस मन्त्र का विनियोग किया गया है ॥ ३१ ॥

१ असुरों के विपरीत पितर कैसे आदर करने योग्य हैं, सो कहते हैं—'मनुष्य लोगों को' इत्यादि ॥
२ अन्वय तीनों प्रक्रियाओं में सङ्घटित हो रहा है ॥
३ मन्त्रगतपदों से सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ त्रिविध अर्थ की योजना सं० पदार्थ से कर लेनी चाहिये ॥
५ लिङ्गोक्ता इति सर्वानुक्रमणी ॥
६ पितृयज्ञप्रयोजनमाह—'अथ कथं किमर्थः' इति ॥

❀ 'पञ्चमः' इति अ० मुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥

पितरः । नमः । वः । गृहान् । नः । पितरः । दत्त । सतः । वः । पितरः । देष्म । एतत् । वः । पितरः । वासः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(नमः) नम्रीभावे, यज्ञो नमो यज्ञियानेवैनानेतत्करोति । श० २ । ४ । २ । २४ । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः[1]) विद्यानन्ददायकास्तत्सम्बुद्धौ[3] । (रसाय[4]) रसभूताय विज्ञानानन्दप्रापणाय । (नमः) आर्द्रीभावे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) दुःखनाशकत्वेन रक्षकास्तत्सम्बुद्धौ[3] । (शोषाय) दुःखानां शत्रूणां वा निवारणाय । (नमः) निरभिमानार्थे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) धर्म्यंजीविकाज्ञापकास्तत्सम्बुद्धौ[3] । (जीवाय) जीवति प्राणं धारयति प्राणधारणेन समर्थो भवति यस्मिन्नायुषि तस्मै । (नमः) शीलधारणार्थे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) अन्नभोगादिविद्याशिक्षकास्तत्सम्बुद्धौ[3] । (स्वधायै) अन्नाय पृथिवीराज्याय न्यायप्रकाशाय वा । स्वधेत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । स्वधे इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम् । निघ० ३ । ३० । (नमः) नम्रत्वधारणे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) पापापत्कालनिवारकास्तत्सम्बुद्धौ[3] । (घोराय) हन्यन्ते सुखानि यस्मिन् तद् घोरं तन्निवारणाय । हन्तेरच् घुर च । उ० । ५ । ६४ । अनेन घोर इति सिद्धयति । (नमः) क्रोधत्यागे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) श्रेष्ठानां पालका दुष्टेषु क्रोधकारिणस्तत्सम्बुद्धौ[3] । (मन्यवे) मन्यन्तेऽभिमानं कुर्वन्ति यस्मिन् स मन्युः क्रोधो दुष्टाचरणेषु दुष्टेषु तद्भावनाय । यजिमनि० । उ० ३ । २० । अनेन मन्यतेर्युच् प्रत्ययः । (नमः) सत्कारे । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) प्रीत्या पालकास्तत्संबुद्धौ[3] । (पितरः) ज्ञानिनस्तत्सम्बुद्धौ[3] । (नमः) ज्ञानग्रहणार्थे । (वः) युष्मभ्यम् (गृहान्) गृह्णन्ति विद्यादिपदार्थान् येषु तान् । (नः) अस्मभ्यमस्माकं वा । (पितरः) विद्यादातारस्तत्सम्बुद्धौ[3] । (दत्त) तत्तद्दानं कुरुत । (सतः) विद्यमानानुत्तमान् पदार्थान् (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) जनकादयस्तत्सम्बुद्धौ । (देष्म) देयास्म । डुदाञ् इत्यस्मादाशीर्लिङ्युत्तमबहुवचने । लिङ्याशिष्यङ् [अ० ३ । १ । ८६] इत्यङ् । छन्दस्युभयथा [अ० ३ । ४ । ११७] इति सस आर्द्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य सकारलोपाभावः । सार्वधातुकसंज्ञामाश्रित्यातो येयः [अ० ७ । २ । ८०] इतीयादेशश्च । (एतत्) अस्मद्दत्तम् । (वः) युष्मभ्यम् । (पितरः) सेवितुं योग्यास्तत्सम्बुद्धौ । (वासः*) वसते आच्छादयन्ते शरीरं येन तद्वस्त्रादिकम् ॥ अयं मन्त्रः श० २ । ४ । २ । २४ व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

अन्वयः[5]—हे पितरो रसाय वो युष्मभ्यं नमोस्तु । हे पितरः शोषाय वो नमोस्तु । हे पितरो जीवाय वो नमोस्तु । हे पितरः स्वधायै वो नमोस्तु । हे पितरो घोराय वो नमोस्तु । हे पितरो मन्यवे वो नमोस्तु । हे पितरो विद्यायै

१ 'गृहात्' इति काशीपदपाठेऽपपाठः ॥

२ पूर्वमन्त्रे व्याख्यातः ॥

३ सम्बुद्धिपदेन पारिभाषिकस्य सम्बुद्धेर्ग्रहणं नास्ति, अपि तु सम्बोधनं सम्बुद्धिरिति (द्र० म०भा० १।२।३३)

४ रसो वा आपः ॥ श० ३ । ३ । ३ । १८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शोषाय) भावे (अ० ३ । ३ । १८) इति घञ् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१.१९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(जीवाय) जीव प्राणधारणे ऽस्मात् पचाद्यच् प्रत्ययः, चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(घोराय) अच्प्रत्यये चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(मन्यवे) मनधातोर्युच् प्रत्ययः । युवोरनाकौ (अ० ७ । १ । १) इति 'अन' आदेशो न भवत्यनुनासिकत्वाप्रतिज्ञानात् । यद्वा उणादयो बहुलम् (अ० ३ । ३ । १) इति 'अन' आदेशाभावः ॥

(देष्म) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

५ सर्वत्रैवायमन्वयः सम्भाव्यते ॥

* 'ग' हस्तलेखे अ० मुद्रिते चेदं पदं लेखकप्रमादात् त्यक्तम् ॥

वो नमोस्तु। हे पितरः सत्काराय वो नमोस्तु। [हे] [पितरः] यूयं [नः] अस्माकं [गृहान्] गृहाणि नित्यमागच्छत। आगत्य च शिक्षाविद्ये नित्यं दत्त। हे पितरो वयं वो युष्मभ्यं सतः पदार्थान् नित्यं देष्म। हे पितरो [वः] यूयमस्माभिरेतद्दत्तं वासो वस्त्रादिकं यूयं स्वीकुरुत ॥ ३२ ॥

भावार्थः—अत्रानेके नमः शब्दा अनेकशुभगुणसत्कारद्योतनार्था यथा वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिराः षडृतवो रसशोषजीवान्नघनत्वमन्यूत्पादका भवन्ति, तथैव ये पितरोऽनेकविद्योपदेशैर्मनुष्यान् सततं प्रीणयन्ति तानुत्तमैः पदार्थैः सत्कृत्य तेभ्यः सततं विद्योपदेशा ग्राह्याः[2] ॥ ३२ ॥

अब पितृयज्ञ किस प्रकार से और किस प्रयोजन के लिये किया जाता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे (पितरः) विद्या के आनन्द को देनेवाले विद्वान् लोगो ! (रसाय) विज्ञानरूपी आनन्द की प्राप्ति के लिये (वः) तुमको हमारा (नमः) नमस्कार हो। हे (पितरः) दुःख का विनाश और रक्षा करने वाले विद्वानो ! (शोषाय) दुःख और शत्रुओं की निवृत्ति के लिये (वः) तुमको हमारा (नमः) नमस्कार हो। हे (पितरः) धर्मयुक्त जीविका के ज्ञान करानेवाले विद्वानो ! (जीवाय) जिससे प्राण का स्थिर धारण होता है, उस जीविका के लिये (वः) तुमको हमारा (नमः) शीलधारण विदित हो। हे (पितरः) विद्या अन्न आदि भोगों की शिक्षा करनेहारे विद्वानो ! (स्वधायै) अन्न पृथिवी राज्य और न्याय के प्रकाश के लिये (वः) तुमको हमारा (नमः) नम्रीभाव विदित हो। हे (पितरः) पाप और आपत्काल के निवारक विद्वान् लोगो ! (घोराय) दुःखसमूह की निवृत्ति के लिये (वः) तुमको हमारा (नमः) क्रोध का छोड़ना विदित हो। हे (पितरः) श्रेष्ठों के पालन करनेहारे विद्वानो ! (मन्यवे) दुष्टाचरण करनेवाले दुष्ट जीवों पर क्रोध करने के लिये (वः) तुमको हमारा (नमः) सत्कार विदित हो। हे (पितरः) ज्ञानी विद्वानो ! (वः) तुमको विद्या के लिये (नमः) हमारी विज्ञानग्रहण करने की इच्छा विदित हो। हे (पितरः) प्रीति के साथ रक्षा करनेवाले विद्वानो ! (वः) तुम्हारे सत्कार होने के लिये हमारा (नमः) सत्कार करना तुमको विदित हो। आप लोग हमारे (गृहान्) घरों में नित्य आओ और आके रहो। हे (पितरः) विद्या देने वाले विद्वानो ! (नः) हमारे लिये शिक्षा और विद्या नित्य (दत्त) देते रहो। हे [(पितरः)] पिता माता आदि विद्वान् पुरुषो ! हमलोग (वः) तुम्हारे लिये जो २ (सतः) विद्यमान पदार्थ हैं, वे नित्य (देष्म) देवें। हे (पितरः) सेवा करने योग्य पितृलोगो [(वः) आप] हमारे दिये [(एतद्)] इन (वासः) वस्त्रादि को ग्रहण कीजिये ॥ ३२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में अनेकवार (नमः) यह पद अनेक शुभगुण और सत्कार के प्रकाश करने के लिये धरा है, जैसे वसन्त ग्रीष्म वर्षा शरद हेमन्त और शिशिर ये छः ऋतु, रस शोष जीव अन्न कठिनता और क्रोध के उत्पन्न करनेवाले होते हैं, वैसे ही पितर भी अनेक विद्याओं के उपदेश से मनुष्यों को निरन्तर सुख देते हैं। इससे मनुष्यों को चाहिये कि उक्त पितरों को उत्तम २ पदार्थों से सन्तुष्ट करके उनसे विद्या के उपदेश का निरन्तर ग्रहण करें[6] ॥ ३२ ॥

---

१ सम्बद्ध एवार्थं मन्त्रगतपदैः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

२ पदार्थंत एव त्रिविधार्थयोजना ऽवगन्तव्या ॥ ३२ ॥

३ पितृयज्ञ का प्रयोजन कहते हैं—'अब पितृयज्ञ किस प्रकार' इत्यादि ॥

४ यहां अन्वय में सब प्रक्रियाओं का अर्थ है ॥

५ मन्त्रगत पदों से सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

६ सं० पदार्थ से त्रिविध अर्थ समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

आधत्त इत्यस्य ऋषिः स एव । पितरो देवताः । [निचृद्] गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तैः किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते¹ ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषो ऽसत् ॥ ३३ ॥

आ । धत्त । पितरः । गर्भम् । कुमारम् । पुष्करस्रजमिति पुष्करऽस्रजम् । यथा । इह । पुरुषः । असत् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् । (धत्त) धारयत । (पितरः) ये पान्ति विद्यान्नादिदानेन ※ तत्संबुद्धौ । (गर्भम्) गर्भमिव । (कुमारम्) ब्रह्मचारिणम् । (पुष्करस्रजम्) विद्याग्रहणार्था स्रग् धारिता येन तम् । (यथा) येन प्रकारेण । (इह) अस्मिन् संसारे ऽस्मत्कुले वा । (पुरुषः) विद्या-पुरुषार्थयुक्तोऽयं मनुष्यः । (असत्) भवेत्, लेटः प्रयोगो ऽयम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे पितरो यूयं यथायं ब्रह्मचारीह शरीरात्मबलं प्राप्य † पुरुषोऽसद् भवेत, तथैव गर्भमिव पुष्करस्रजं कुमारं विद्यार्थिनमाधत्त धारयत ॥ ३३ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—विद्वद्भिर्विदुषीभिश्च विद्यार्थिनः कुमारा विद्यार्थिन्यः कुमार्यश्च विद्यादानाय गर्भवद्धार्य्याः । यथा गर्भे देहः क्रमेण वर्धते, तथैव सुशिक्षयैत एताश्च सद्विद्यायां वर्धयितव्याः पालनीयाश्च । यतो विद्यायोगेन धार्मिकाः पुरुषार्थयुक्ता भूत्वा सदैव सुखयुक्ता भवेयुरित्येतत् सदैवानुष्ठेयमिति ॥ ३३ ॥

---

१ तैः सत्कृतैः पितृभिः किं कार्यमित्याह 'तैः किं किं कर्त्तव्यम्' इति ॥

२ द्र० पृ० २३१ टि० ३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गर्भम्) अर्त्तिगृभ्यां भन् (उ० ३ । १५२) इति भन् प्रत्ययो नित्वादाद्युदात्तः ॥

(कुमारम्) कमेः किदुच्चोपधायाः (उ० ३ । १३८) इति 'आरन्' प्रत्ययः, चिदनुवर्त्तनादन्तोदात्तः ॥ यद्वा 'कुमार क्रीडायाम्' अस्मात् पचाद्यचि चित्वादन्तोदात्तः ॥

(पुष्करस्रजम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । पुष्करशब्दस्तु पुषः कित् (उ० ४ । ४) इति 'करन्' प्रत्ययान्तो व्युत्पाद्यते, नित्वादाद्युदात्तः ॥

(इह) पूर्वं यजुः २ । १३ व्याख्यातः ॥

(पुरुषः) पुरः कुषन् (उ० ४ । ७४) इति कुषन् प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ सर्वार्थबोधकोऽयमन्वयः ॥

४ मन्त्रगतपदैः सम्बद्धोऽयं भावार्थः ॥

त्रिविधप्रक्रिया

५ त्रिविधार्थयोजनार्थं पदार्थोऽयं सङ्गमयितव्यः ॥

त्रि० वक्तव्यम्

(क) अव्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ॥

(ख) स्रक्शब्देन यज्ञोपवीतमित्यवधेयम् ॥

(ग) यजुः २ । ३१—३४ इमे चत्वारो मन्त्रा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पितृयज्ञप्रकरणे व्याख्याता इति ध्येयम् ॥ ३३ ॥

※ 'तत्संबोधने' इति क. पाठः ।

† इतोऽग्रे 'पुरुषवद् भवति' इति ख. ग. कोशयोः अ० मुद्रिते च पाठः, स चासम्यक् ॥

उक्त पितरों को क्या २ करना चाहिये, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (पितरः) विद्यादान से रक्षा करने वाले विद्वान् पुरुषो ! आप (यथा) जैसे यह ब्रह्मचारी (इह) इस संसार वा हमारे कुल में अपने शरीर और आत्मा के बल को प्राप्त होके विद्या और पुरुषार्थयुक्त [(पुरुषः)] मनुष्य (असत्) हो, वैसे (गर्भम्) गर्भ के समान (पुष्करस्रजम्) विद्याग्रहण के लिये फूलों की माला धारण किये हुए (कुमारम्) ब्रह्मचारी को (आधत्त) अच्छी प्रकार स्वीकार कीजिये ॥ ३३ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिये कि विद्यार्थी कुमार वा कुमारी को विद्या देने के लिये गर्भ के समान धारण करें । जैसे क्रम २ से गर्भ के बीच देह बढ़ता है, वैसे अध्यापक लोगों को चाहिये कि अच्छी २ शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा पालना करें। वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों, यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिये ॥ ३३ ॥
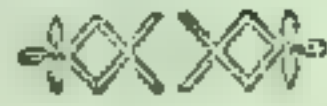
ऊर्जमित्यस्यर्षिः स एव । आपो देवताः । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

एते पितरः केन २ पदार्थेन सत्कर्त्तव्या इत्युपदिश्यते[5] ॥

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् । स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ३४ ॥

ऊर्जम् । वहन्तीः । अमृतम् । घृतम् । पयः । कीलालम् । परिस्रुतमिति परिऽस्रुतम् । स्वधाः । स्थ । तर्पयत । मे । पितॄन् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(ऊर्जम्[6]) इष्टं विविधं रसम् । ऊर्गसः । श० १ । ७ । १ । २ । (वहन्तीः) प्रापयन्तीः स्वादिष्ठा ※ अपः । (अमृतम्) सर्वरोगहरं सुरसं मिष्टादिकम् । (घृतम्) आज्यम् । (पयः) दुग्धम् । (कीलालम्) सुसंस्कृतमन्नम् । कीलालम् इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (परिस्रुतम्) परितः सर्वतः स्रुतं

१ सत्कार को प्राप्त उन पितर लोगों को क्या २ करना चाहिये, सो कहते हैं—'उक्त पितरों को' इत्यादि ॥

२ यहां अन्वय सब प्रक्रियाओं में है ॥

३ मन्त्रगत पदों से भावार्थ का सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ सं० पदार्थ से तीनों प्रक्रियायें समझनी चाहियें ॥

वि० वक्तव्य

(क) शतपथ में इस मन्त्र का व्याख्यान नहीं है ॥

(ख) 'स्रग्' शब्द से यहां यज्ञोपवीत अभिप्रेत है॥

(ग) य० २ । ३१ से ३४ तक ये चार मंत्र ऋ०भा० भूमिका पितृयज्ञ प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥३३॥

५ कैः पदार्थैस्ते सत्कर्त्तव्या इत्याह—'एते पितरः केन' इति ॥

६ य० १ । १ व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वहन्तीः) वह धातोः शतृप्रत्यये कर्त्तरि शप् (अ० ३ । १ । ६८) इति शप् । पित्त्वादनुदात्तः, तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः । तत उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीप्, सोऽप्यनुदात्तः ॥

(अमृतम्) तनिमृङ्भ्यां किच्च (उ० ३ । ८८) इति तन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः । ततो नञा बहुव्रीहौ नञो जरमरमित्रमृताः (अ० ६ । २ । ११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

※ 'आपः' इति अ० मु०, कोशेषु च पाठ इति ध्येयम् ॥

सुरसयोगेन परिपक्वं फलादिकम्। (स्वधाः) ये स्वमेव दधते ते। (स्थ) सर्वं पितृसेविनो भवत। (तर्पयत) सुखयत। (मे) मम। (पितॄन्) पूर्वोक्तान्॥ ३४॥

अन्वयः—हे पुत्रादयो यूयं मे मम पितॄनूर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतं दत्त्वा तर्पयतैवं तत्सेवनेन विद्याः प्राप्य स्वधाः स्थ परस्वत्यागेन सदा स्वसेविनो भवत॥ ३४॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति— मनुष्याः सर्वान् पुत्रप्रभृतीन् प्रत्येवमादिशन्तु, युष्माभिर्मम पितरो जनका विद्याप्रदाश्च प्रीत्या नित्यं सेवनीयाः। यथा तैर्बाल्यावस्थायां विद्याप्रदानसमये च वयं यूयं च पालितास्तथैवास्माभिरपि ते सर्वथा सत्कर्त्तव्याः। यतो नैवाऽस्माकं मध्ये कदाचिद् विद्यानाशकृतघ्न [ता] दोषौ भवेतामिति॥ ३४॥

ईश्वरेण यद्यदस्मिन्नध्याये वेद्यादिरचनं, यज्ञस्य फलगमनसाधकानि सामग्रीधारणमग्नेर्दूतत्वप्रकाशनमात्मेन्द्रियादिशोधनं, सुखभोगो वेदप्रकाशनं, पुरुषार्थसाधनं, युद्धे विजयकरणं शत्रुनिवारणं, द्वेषत्यागोऽग्न्यादीनां यानेषु योजनं, पृथिव्यादिभ्य उपकारग्रहणमीश्वरे प्रीतिर्दिव्यगुणविस्तरणं, सर्वरक्षणं, वेदशब्दार्थवर्णनं, वाय्वग्न्यादीनां परस्परमेलनं, पुरुषार्थग्रहणमुत्तमानां पदार्थानां स्वीकरणं, त्रिषु लोकेषु यज्ञाहुतद्रव्यस्य गमनं, पुनस्तस्मादागमनं, स्वयंभूशब्दार्थवर्णनं, गृहस्थकृत्यं, सत्याचरणमग्नौ होमो दुष्टानां निवारणं, पितॄणां सेवनं, चोक्तं तत्तन्मनुष्यैः संप्रीत्या सेवनीयमिति प्रथमाध्यायार्थेन सहास्य द्वितीयाध्यायार्थस्य संगतिरस्तीति वेद्यम्॥

इति श्रीमत्परमविद्वत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना सुविरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिते यजुर्वेदभाष्ये द्विनीयोऽध्यायः संपूर्णः॥ २॥

(कीलालम्) 'कील बन्धने' अस्मात् स्थालचात्वालकीलाल० (भोज० उ० २। ३। १०५) इत्यादिभोजसूत्रेण कालन् प्रत्ययो निपात्यते॥ यद्वा पीयुक्वणिभ्यां कालन् (उ० ३। ७६) इत्यादिना बाहुलकाद् कीलधातोरपि कालन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तस्वरः प्राप्तः। वेदे तु कीलालशब्दो मध्योदात्तो दृश्यते ऽतो निपातनाद् बाहुलकात् वा बोध्यः॥ अव्युत्पन्नपक्षे लघावन्ते० (फिट्० ४२) इत्यादिनेष्टस्वरसिद्धिः॥

(परिस्रुतम्) परिपूर्वाद् 'स्रु गतौ' इत्यस्मात् क्विप् प्रत्ययः। गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्यादिनोत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रातिपदिकस्यान्तोदात्तत्वम्॥

(तर्पयत) तिङन्तात् परत्वेन निघाताभावे लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे पयन्तस्य धातुस्वरेण 'प' उदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ पूर्ववदयमन्वयोऽपि सर्वार्थेषु योजनीयः॥

२ मन्त्रगतपदैः सम्बद्धोऽयं भावार्थः॥

त्रिविधप्रक्रिया

३ पितृशब्देनाध्यात्मबोधकः, शिल्पक्रियायां संरक्षकः, यज्ञे च पालको ग्राह्य इति कृत्वा त्रिविधार्थयोजनाऽत्रापि सङ्गच्छत इति ध्येयम्॥

वि० वक्तव्यम्

अव्याख्यातोऽयमपि मन्त्रः शतपथब्राह्मणे। व्यतिक्रमेणास्य विनियोगः श्रौत इति ध्येयम्। किञ्चातोऽग्रे य० ३।१ विनियोग आरभ्यत इत्यपि॥३४॥

उक्त पितर किन २ पदार्थों से सत्कार करने योग्य हैं, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः[2,3]—हे पुत्रादिको ! तुम (मे) मेरे (पितॄन्) पूर्वोक्त गुणवाले पितरों को (ऊर्जम्) अनेक प्रकार के उत्तम २ रस (वहन्तीः) सुख प्राप्त करनेवाले स्वादिष्ठ जल (अमृतम्) सब रोगों को दूर करनेवाले ओषधि मिष्टादि पदार्थ (पयः) दूध (घृतम्) घी (कीलालम्) उत्तम २ रीति से पकाया हुआ अन्न तथा (परिस्रुतम्) रससे चूते हुए पके फलों को देके (तर्पयत) तृप्त करो। इस प्रकार तुम उनके सेवन से विद्या को प्राप्त होकर (स्वधाः) परधन का त्याग करके अपने धनके सेवन करनेवाले (स्थ) होओ ॥ ३४ ॥

भावार्थः[2,3]—ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्योंको पुत्र और नौकर आदि को आज्ञा देके कहना चाहिये कि तुमको हमारे पितर अर्थात् पिता माता आदि वा विद्या के देनेवाले प्रीतिसे सेवा करने योग्य हैं, जैसे कि उन्होंने बाल्यावस्था वा विद्यादान के समय हम और तुम पाले हैं वैसे हमलोगों को भी वे सब काल में सत्कार करने योग्य हैं, जिससे हम लोगों के बीच में विद्या का नाश और कृतघ्नता आदि दोष कभी न प्राप्त हों[4] ॥ ३४ ॥

ईश्वर ने इस दूसरे अध्याय में जो २ वेदि आदि यज्ञ के साधनों का बनाना, यज्ञ का फल गमन वा साधन सामग्री का धारण, अग्नि के दूतपन का प्रकाश, आत्मा और इन्द्रियादि पदार्थों की शुद्धि, सुखों का भोग, वेद का प्रकाश, पुरुषार्थ का संधान, युद्ध में शत्रुओं का जीतना, शत्रुओं का निवारण, द्वेष का त्याग, अग्नि आदि पदार्थों को सवारियों में युक्त करना, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेना, ईश्वर में प्रीति, अच्छे २ गुणों का विस्तार और सबकी उन्नति करना, वेद शब्द के अर्थ का वर्णन, वायु और अग्नि आदि का परस्पर मिलाना, पुरुषार्थ का ग्रहण, उत्तम २ पदार्थों का स्वीकार करना, यज्ञ में होम किये हुए पदार्थों का तीनों लोक में जाना आना, स्वयंभू शब्द [के अर्थ] का वर्णन, गृहस्थों का कर्म, सत्य का आचरण, अग्नि में होम, दुष्टों का निवारण, और जिन २ पितरों का सेवन करना कहा है, उन २ का सेवन मनुष्यों को प्रीति के साथ करना अवश्य है। इस प्रकार से प्रथमाध्याय के अर्थ के साथ द्वितीयाध्याय के अर्थ की संगति जाननी चाहिये ॥

[इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्यश्रीयुतदयानन्दसरस्वती-
स्वामिना विरचिते संस्कृतभाषार्यभाषाभ्यां
सुभूषिते यजुर्वेदभाष्ये द्वितीयो-
ऽध्यायः पूर्त्तिमगात्]

इति द्वितीयोऽध्यायः

---

१ किन पदार्थों से उनका सत्कार करना चाहिये, अतः कहते हैं—'उक्त पितर किन २' इत्यादि ॥
२ यह अन्वय भी सब प्रक्रियाओं में है ॥
३ मन्त्रगत पदों से सम्बन्ध स्पष्ट है ॥

त्रिविधप्रक्रिया

४ 'पितृ' शब्द से आध्यात्मिक जीवन की नौका को पार लगानेवाला, शिल्पक्रियाओं में विविध विज्ञानों का रक्षक, तथा यज्ञ में अनेकविध बाधाओं से बचाने वाला ऐसा अर्थ समझना चाहिये। इसी में तीनों प्रकार की प्रक्रियाओं का रहस्य समझा जा सकता है ॥

वि० वक्तव्य

शतपथब्राह्मण में इस मन्त्र का भी व्याख्यान नहीं। इस मन्त्र का विनियोग श्रौतविषय में व्यतिक्रम से है, सो उक्त स्थल में देखें ॥ ३४ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआसु॑व ॥ १ ॥

अस्मिन्नध्याये त्रिषष्टिर्मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम् ॥

तत्र समिधेत्यस्य प्रथममन्त्रस्य [विरूप] आङ्गिरस ऋषिः[1] । अग्निर्देवता[2] । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ भौतिकोऽग्निः[3] क्व कोपयोक्तव्य इत्युपादिश्यते[3] ॥

स॒मिधा॒ग्निं दु॑वस्यत घृ॒तैर्बो॑धय॒ताति॑थिम् । आस्मि॑न् ह॒व्या जु॑होतन ॥ १ ॥

स॒मिधेति॑ स॒म्ऽइधा॑ । अ॒ग्निम् । दु॒व॒स्य॒त॒ । घृ॒तैः । बो॒ध॒य॒त॒ । अति॑थिम् । आ । अ॒स्मिन् । ह॒व्या । जु॒हो॒त॒न॒ ॥ १ ॥

पदार्थः—(समिधा[4]) सम्यगिध्यते प्रदीप्यते यया तया । अत्र सम्पूर्वादिन्धेः क्वौ बहुलम्

---

१ (क) "अग्न्याधेयं प्रजापतेरार्षम्, देवानामग्नेर्गन्धर्वाणां वा" इति सर्वानुक्रमणीकारः ॥

(ख) "अग्न्याधेयमन्त्राणां देवा ऋषयः, अग्निर्वा ऋषिः, गन्धर्वा वा ऋषयः, प्रजापतिर्वा पूर्वमन्त्रोक्त इति सर्वमन्त्रेषु चत्वारो विकल्पाः" इति सर्वानुक्रमणीभाष्यकृदनन्तदेवः ॥

२ अग्निशब्देन त्रिविधोऽप्यग्निर्गृह्यत इति पूर्वमुक्तम् । सर्वत्र मन्त्रेषु त्रिविधोऽप्यर्थ इति सप्रमाणं सोपपत्तिकं य० १।१ विवरणे (पृ० १८-२०) निरूपितम् ॥

३ यज्ञस्वरूपलक्षणे तत्साधनानि च सामान्येन प्रागुपवर्ण्य तत्प्रधानसाधनमग्निं वर्णयितुमुपक्रमते ॥

तत्र प्रथममन्त्रे तत्प्रदीपनोपायमाह, ज्वलनसाधनत्वात् समिदाज्यानपि वर्णयति—'अथ भौतिकोऽग्निः' इत्यादि ॥

४ 'समित्'पदेनान्यत् किं किं गृह्यत इत्याकाङ्क्षायामाचार्यप्रदर्शितार्थं एवोच्यते—

(क) 'सम्यगिध्यते प्रदीप्यते यया स्ववेदविद्यया तया' इति ऋ० १।९६।९ भाष्ये ॥

(ख) 'सम्यक् प्रदीपकेनेन्धनेन सुविज्ञानेन वा' ऋ० ३।१०।३ भाष्ये ॥

(ग) 'इन्धनादिनेव विद्यया' ऋ० ६।१।१० भाष्ये सर्वेष्वप्युपर्युक्तमन्त्रेषु 'अग्निः' एव देवता । उपलक्षणतार्थस्य सर्वत्रेति सुव्यक्तम् ॥

(घ) समित्शब्देन वाणी गृह्यत इति वेदे पश्यामः । तद्यथा—

समि॑द्धम॒ग्निं स॒मिधा॑ गि॒रा गृ॑णे
शुचिं॑ पाव॒कं पु॒रो अ॑ध्व॒रे ध्रु॒वम् ।
विप्रं॒ होता॑रं पुरु॒वार॑म॒द्रुहं॑ क॒विं
सु॒म्नैरी॑महे जा॒तवे॑दसम् ॥

ऋ० ६।१५।७ ॥

अनेन 'स्ववेदविद्यया' इति (ऋ० १।९६।९) आचार्यप्रदर्शितोऽर्थोऽपि संगच्छते । तथैव ऋ० १०।१२२।२, ३ इत्यादावपि द्रष्टव्यम् ॥

(ङ) स॒प्त ते॑ ऽअग्ने स॒मिधः॑ (य० १७।७९) व्याख्याने शतपथकारोऽप्याह प्राणा वै समिधः श० १।५।४।१ इत्यनेन 'समिद्' शब्देनाध्यात्मिकार्थो ग्राह्यः ॥

[अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०] इति करणे क्विप्। (अग्निम्) भौतिकम्। (दुवस्यत) सेवध्वम्। (घृतैः[3]) शोधितैः सुगन्ध्यादियुक्तैर्घृतादिभिर्यानेषु जलवाष्पादिभिर्वा। घृतमित्युदकनामसु पठितम्। निघ० १।१२। अत्र बहुवचनमनेकसाधनद्योतनार्थम्। (बोधयत) उद्दीपयत। (अतिथिम्) अविद्यमाना

१ अग्निर्वै यज्ञमुखम् ॥ तै० १ । ६ । १ । ८ ॥
अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य ॥ श० १ । ५ । ११ ॥
अग्निर्वै ज्योती रक्षोहा ॥ श० ७ । ४ । १ । ३४ ॥
अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता ॥ श० १ । २ । १ । ६, ९॥
सर्वेषां वा एष (अग्निः) भूतानामतिथिः ॥
श० ६ । ७ । ३ । ११ ॥

२ 'दुवस् परितापपरिचरणयोः,' (कण्ड्वादिः) कण्ड्वादिभ्यो यक् (अ० ३ । १ । २७) इति यक् ॥

३ घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोममघ्नन् ॥ गो० उ० २ । ४ ॥ रेतो वै घृतम् ॥ श० ९ । २ । ३ । ४४ ॥ घृतेन तेजसा वर्द्धते ॥ ऋ० ६ । ७० । ४ द० भा० ॥

४ 'अत सातत्यगमने' अस्मात् ऋतन्यञ्जि० (उ० ४ । २) इति 'इथिन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः। 'अतति निरन्तरं गच्छति भ्रमतीत्यतिथिः। अकस्मादागतः सज्जनो वा, न विद्यते नियता तिथिर्यस्येति व्युत्पत्त्यन्तरम्।' इत्येष विग्रह उणादिवृत्तौ (उ० ४ । २) दयानन्दसरस्वतीस्वामिना प्रदर्शितः।

तथैव च स्ववेदभाष्येऽपि—

(क) अतिथिः नित्यं भ्रमणकर्त्ता विद्वान्।
य० १२ । ३४ द० भा० ॥
राज्यरक्षणाय यथासमयं भ्रमणकर्त्ता ॥
य० १२ । १४ द० भा० ॥
महाविद्वान् भ्रमणशीलः ॥
ऋ० १ । ७३ । १ द० भा० ॥
अतिथिं नित्यं भ्रमणशीलम् ॥
ऋ० १ । ४४ । ४ द० भा० ॥

(ख) अपरपक्षेऽपि—

अविद्यमाना तिथिर्यस्य सः ॥
य० १२ । १४ ॥
अनियततिथिम् ॥
य० १२ । ३० ॥ ३ । १ ॥ ऋ० १ । १२८ । ४ ॥

एवमतिथिशब्दस्योभयथाऽपि व्युत्पत्तिरिति दयानन्दस्वामिनां मतमिति स्पष्टम् ॥

ननु च 'इथिन्' प्रत्यये तु नित्त्वादाद्युदात्तस्वरसिद्धिः, अपरपक्षे कथं स्वरसिद्धेः सम्भवः? तत्र बहुव्रीहिसमासे नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्यनेनान्तोदात्तप्रसक्तिः कथं वार्यते?

अत्रोच्यते—'तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्' (अ० ६ । ३ । १४ भा०) इति शास्त्रवचनप्रामाण्यात् सर्वमिष्टं संगृहीतं भवति। कुतः? यथोपदिष्टानामेव शब्दानां व्याकरणेन साधुत्वमात्रमन्वाख्यायते। यथा निरुक्तकारो यास्कमुनिरपि "अर्थनित्यः परीक्षेत न संस्कारमाद्रियेत" (निरु० २ । १) इत्यभिलक्ष्याग्न्यादिशब्दान् बहुधा व्युत्पादयामास, तद्यथा—

(१) अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्, अक्तात् दग्धाद्वा, नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः। निरु० ७ । १४॥

इमाः सर्वा अपि व्युत्पत्तय अर्थानुगता इति कृत्वा युक्ता एव इति ध्येयम् ॥

प्रकृतातिथिशब्दोऽपि पूर्वोक्तन्यायमनुसृत्यैवं प्रदर्शितो निरुक्तकारेण—

(२) "अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, परगृहाणीति वा। अयमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव" ॥ निरु० ४ । ५ ॥

(३) एवं च कृत्वा पाणिनिनाऽपि इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (अ० ५ । २ । ९३) इत्यनेनेन्द्रियशब्दो बहुधा व्युत्पादितः ॥ उणादिसूत्रेऽपि शब्दानां बहुधा व्युत्पादनं दृश्यते। तद्यथा—'कन्तु' शब्दः 'कमु कान्तौ' इत्येतस्माद् धातोः अर्जिदृशिकम्यमि० (उ० १ । २७) इत्यादिना 'कु'प्रत्ययः, तुगागमश्चेत्येवं व्युत्पादितः। अपरं च कमिमनिजनि० (उ० १ । ७३) इति 'तु' प्रत्यय इत्यपि व्युत्पाद्यते ॥

तिथिर्यस्य तम्। (आ) समन्तात्। (अस्मिन्) अग्नौ। (हव्या) दातुमत्तुमादातुमर्हाणि वस्तूनि। अत्र शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६।१।७०] इति लोपः। (जुहोतन) प्रक्षिपत। अत्र हुधातोर्लोण्मध्यमबहुवचने * तप्तनप्० [अ० ७।१।४५] इति तनबादेशः॥ अयं मन्त्रः शत० ६।८।१।६ व्याख्यातः॥१॥

(४) पदकारा अपि—अनेकविधव्युत्पत्तिसम्भवे पदं नावगृह्णन्ति, तद्यथा 'आशुशुक्षणिः समुद्रः, न्यग्रोधः, पवीरवन्, चन्द्रमाः' इत्येवमादीनि (द्र० यजुः प्रातिशा० ५।३७)॥

एवं च कृत्वा बहुधा व्युत्पादनं न दोषावहमिति व्यक्तम्॥

स्वरस्तु—बहुव्रीहिपक्षे नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्येष इष्टानुरोधात्त प्रवर्त्तते॥

बहुव्रीहिपक्षे प्रमाणानि—

न केवलमाचार्यदयानन्देनैवायं बहुव्रीहिपक्षोऽङ्गीकृतोऽपि त्वन्यैरपि प्राचीनैर्ऋषिभिर्विद्वद्भिश्चाङ्गीक्रियते, तद्यथा—

(१) मानवधर्मशास्त्रे (मनु० ३।१०२)

अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते॥

अत्र च तद्भाष्यकारा आहुः—न विद्यते द्वितीया तिथिर्यस्येति वा इति कुल्लूकभट्टो राघवानन्दो गोविन्दराजश्च॥

(२) पराशरस्मृतावाचारकाण्डे (अ० १ श्लो० ४२)

अनित्यमागतो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते॥४२॥

(३) अस्यैव भाष्ये—'न विद्यते तिथिर्यस्यासावतिथिः'॥ 'तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना। सोऽतिथिः सर्वभूतानां शेषानभ्यागतान् विदुः' इति माधव आह॥

(४) अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते। मार्कण्डेयपुराणे २८।२९॥ एवं शब्दार्थचिन्तामणौ, वाचस्पत्यकोशे चापि॥

(५) यस्य न ज्ञायते नाम न च गोत्रं न च स्थितिः। अकस्माद् गृहमागतः सो ऽतिथिरुच्यते बुधैः॥ शब्दकल्पद्रुमकोशे॥

(६) तै० सं० १।८।१५।२ भा० ३ पृ० १९० भट्टभास्करो ऽस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने—अतिथिः सततगतिः। तिथिकृतविशेषरहितो वा॥

(७) ऐत० ब्रा० भा० १८।६ पृ० ४९४—सायण आह—अतिथिर्दुरोणसत्……न विद्यते तिथिर्विशेषनियमो यात्रार्थे यस्य सोऽयमतिथिः॥

(८) अमावास्यादितिथिविशेषमनपेक्ष्य भोजनयाच्ञार्थं तत्र तत्र गच्छन् पुरुषो वैदेशिकोऽतिथिः॥ तै० आ० १०।१० सा० भा० पृ० ७१९॥

(९) न विद्यते अमावास्यादितिथिर्यस्मिन्नतिथिः॥ अमादितिथिराहित्यात्, पूज्यत्वाद् वातिथिः स्मृतः॥ खण्डराजदीक्षितः सन्ध्यासमुच्चयभाष्ये, पृ० १०॥ एवं च मन्वादिस्मृतिकाराणां तद्व्याख्यातॄणां वेदभाष्यकाराणां च प्रमाणैः 'अतिथि' शब्दोऽयं बहुव्रीहिपक्षे ऽपि व्युत्पादित इति सुव्यक्तम्॥ अत्र च 'अतिथिशब्द आद्युदात्तः तस्य चाद्युदात्तत्वे बहुव्रीहिसमासः स्वरदोषात् सर्वथा ऽप्यसङ्गतः' इति वदन्तस्तु एतैः प्रमाणसमूहैः परास्ता इति सुधियो विभावयन्तु॥ एतावताचार्यदयानन्दस्य पाण्डित्यं मुक्तकण्ठेन को न स्वीकुर्यात्? व्युत्पत्तिभेदे ऽन्यदपि बहु प्रतिपादयितुं शक्यते, विस्तरभिया तु विरम्यते॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(समिधा) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम्, ततो विभक्तिरनुदात्तेति मध्योदात्तोऽयं शब्दः॥

(दुवस्यत) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(अतिथिम्) पदार्थविवरणे स्वरो द्रष्टव्यः॥

(अस्मिन्) पूर्वं (य० १।१) पृ० १९ विवरणे व्याख्यातः। अत्रान्वादेशेऽनुदात्तत्वम्॥

(जुहोतन) निघातः पूर्ववद्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

* 'लोटि मध्यमबहुवचने' इति क. ख. ग. पाठः। प्रूफसमये संशोधितः स्यात्॥

अन्वयः—हे विद्वांसो यूयं समिधा घृतैरग्निं बोधयत, तमतिथिमिव दुवस्यत। अस्मिन् हव्या होतव्यानि द्रव्याण्याजुहोतन प्रक्षिपत ॥ १ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः[2] ॥

भावार्थः—यथा गृहस्था मनुष्या आसनान्नजलवस्त्रप्रियवचनादिभिरुत्तमगुणमतिथिं † सेवन्ते, तथैव विद्वद्भिर्यज्ञवेदीकलायन्त्रयानेष्वग्निं स्थापयित्वा यथायोग्यैरिन्धनाज्यजलादिभिः प्रदीप्य वायुवृष्टिजलशुद्धिर्यानोपकाराश्च नित्यं कार्या इति ॥ १ ॥

अब तीसरे अध्याय के पहिले मन्त्र में भौतिक अग्नि का किस २ काम में उपयोग करना चाहिये, इस विषय का उपदेश किया है[3] ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो ! तुम (समिधा) जिन इन्धनों से अच्छे प्रकार प्रकाश हो सकता है, उन लकड़ी [(घृतैः)] घी आदिकों से (अग्निम्) भौतिक अग्नि को (बोधयत) उद्दीपन अर्थात् प्रकाशित करो। तथा जैसे (अतिथिम्) अतिथि अर्थात् जिसके आने जाने वा निवास का कोई दिन नियत नहीं है, उस सन्यासी का सेवन करते हैं, वैसे अग्नि का (दुवस्यत) सेवन करो और (अस्मिन्) इस अग्नि में (हव्या) सुगन्ध कस्तूरी केसर आदि, मिष्ट गुड़ शकर आदि, पुष्टि [कारक] घी दूध आदि रोग को नाश करने वाले सोमलता अर्थात् गुडूची[4] आदि ओषधी इन चार प्रकार के शाकल्य को (आजुहोतन) अच्छे प्रकार हवन करो[5] ॥ १ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है[6] ॥

भावार्थः—जैसे गृहस्थ मनुष्य आसन अन्न, जल, वस्त्र और प्रियवचन आदि से उत्तम गुणवाले संन्यासी आदि का सेवन करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोगों को यज्ञ, वेदी, कलायन्त्र, और यानों में अग्निको स्थापन कर यथायोग्य ईन्धन, घी, जलादि से प्रज्वलित करके वायु, वर्षा जलकी शुद्धि, तथा यानों की रचना नित्य करनी चाहिये ॥ १ ॥

---

१ अधियज्ञपरोऽयमन्वयः ॥

२ अलङ्कारेणाधिदैविकार्थमपि द्योतयति ॥

वि० वक्तव्यम्

(क) 'समिधा' पदेन वाणी वेदविद्या वा कथं ग्राह्येति पदार्थटिप्पणे निरूपितमस्माभिः। अन्यत्र चाचार्यैः पदमेतदाध्यात्मिकार्थे प्रदर्शितं तत्रैव द्रष्टव्यम्। अत्रैव नवममन्त्रेऽग्निपदेन परमेश्वरो गृह्यते ऽतो ऽत्र त्रिविधोऽप्यर्थो ग्राह्य इत्याचार्यस्याभिप्रायो लक्ष्यते ॥

(ख) यत्तु भावार्थे 'अग्निं ·········जलादिभिः प्रदीप्य' इत्याद्युच्यते, तद् वाष्पादिभिरग्निवर्धनमित्यवगन्तव्यम्। यद्वा विद्युद्रूपो ऽग्निर्जलेनोत्पाद्यत इति भावः ॥ १ ॥

३ यज्ञ के स्वरूप तथा लक्षणों का सामान्य वर्णन कर, अब उक्त यज्ञ के प्रधान साधन 'अग्नि' के वर्णन का आरम्भ करते हैं ॥ उसमें प्रथम मन्त्र में उस अग्नि के प्रदीप्त करने के उपायोंका निरूपण तथा प्रज्वालन में साधनीभूत समिधा तथा आज्य का भी वर्णन करते हैं—'अब तीसरे अध्याय के' इत्यादि ॥

४ "सूयते पीड्यते यज्ञादौ जनैर्यः स सोमः गिलोय इति भाषा" इति व्युत्पत्तिसारे (ह० ले० पृ० ३८) ॥

५ अन्वय यहां अधियज्ञपरक है ॥

६ अलङ्कार से आधिदैविक अर्थ का द्योतन भी कराते हैं ॥

---

† 'सेवयन्ति' इति कोशेषु पाठः ॥

सुसमिद्धायेत्यस्य [व] सुश्रुत ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः सः कीदृशः कथमुपयोजनीयश्चेत्युपदिश्यते[1] ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे ॥ २ ॥

सुसमिद्धायेति सुऽसमिद्धाय। शोचिषे। घृतम्। तीव्रम्। जुहोतन। अग्नये। जातवेदस इति जातऽवेदसे ॥ २ ॥

पदार्थः—(सुसमिद्धाय) सुष्ठु सम्यगिद्धो दीप्तस्तस्मिन्, अत्र सर्वत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७। १।३९] इति सप्तमीस्थाने चतुर्थी (शोचिषे) शोधिते दोषनिवारके (घृतम्) आज्यादिकम्। (तीव्रम्) सर्वदोषाणां निवारणे तीक्ष्णस्वभावम्। (जुहोतन) प्रक्षिपत, सिद्धिरस्य पूर्ववत्। (अग्नये) रूपदाहप्रकाशच्छेदनादिगुणस्वभावे। (जातवेदसे) जाते जाते उत्पन्ने उत्पन्ने पदार्थे विद्यमानस्तस्मिन्[2]। जातं जाते विद्यत इति वा। जातवित्तो वा। जातधनो जातविद्यो वा जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति। निरु० ७। १९ ॥ २ ॥

वि० वक्तव्य

(क) 'समिधा' पद से वाणी तथा वेदविद्या का ग्रहण कैसे है, यह संस्कृत पदार्थ की टिप्पणी में हम लिख चुके हैं, वहीं देखें ॥ आचार्य ने अन्यत्र भी इस पद से आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है, सो वहाँ २ देख लेना चाहिये। इसी अध्याय के नवम मन्त्र में 'अग्नि' पद से परमेश्वर का ग्रहण है। इस से स्पष्ट है कि यहाँ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ का ग्रहण है, ऐसा आचार्य का अभिप्राय है ॥

(ख) यहाँ भावार्थ में "जलादि से अग्नि को प्रज्वलित करके" इत्यादि कहा, उसका अभिप्राय वाष्प आदि से अग्नि की वृद्धि करनी चाहिये, ऐसा है। अथवा जल से विद्युत् रूप अग्नि की उत्पत्ति होती है ऐसा समझना चाहिये ॥ १ ॥

---

1 तदेवोपोद्घलयतीत्यत आह—'पुनः स कीदृशः' इत्यादि ॥

2 सोऽब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति। यदब्रवीज्जाता वै प्रजा अनेनाविदमिति तज्जातवेदस्यमभवत् तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम् ॥ ऐ० ३। ३६ ॥

तद्यज्जातं जातं विन्देत तस्माज्जातवेदाः ॥ श० ९। ५। १। ६८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुसमिद्धाय) 'सु समिद्धः' इत्यत्र सुशब्दस्य शोभनवाचित्वात् कुगतिप्रादयः (अ० २। २। १८) इत्यत्र स्वती पूजायाम् इति वचनात् समासे, तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६। २। २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व इष्टस्वरसिद्धिः ॥

गतिसंज्ञकोऽपि 'सु' शब्दः, तस्यात्राविवक्षा ॥ तथा सति गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इत्यनन्तरगतेराद्युदात्तत्वे 'स' इत्यस्योदात्तत्वं स्यात् ॥

'समो म उदात्तत्वम्' इत्यादि ब्रुवाणास्त्वपपाठभागिन इति प्रतीमः ॥

(शोचिषे) 'ईशुचिर् पूतीभावे' (दि० उ०) एतस्माद् अर्चिशुचि० (उ० २। १०८) इत्यादिना कर्मणि कर्त्तरि वा 'इसिः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तस्ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् ॥

(तीव्रम्) 'तिज निशाने' इति ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २। २८) इत्यादिना 'रन्' प्रत्ययः। आद्युदात्तप्राप्तौ उञ्छादीनां च (अ० ६। १। १६०) इत्यन्तोदात्तः, निपातनाद्वान्तोदात्तः। देवराजस्तु रक्प्रत्ययान्तमाह, अस्मिन् पक्षे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(जातवेदसे) जाते जाते विद्यत इति जातवेदाः। गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४। २२७), इति 'असि' प्रत्ययः। पूर्वपदप्रकृतिस्वरे 'जात' शब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं सुसमिद्धाय सुसमिद्धे शोचिषे शोचिषि जातवेदसे जातवेदसि अग्नये अग्नौ तीव्रं घृतं जुहोतन ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरस्मिन् प्रदीप्तेऽग्नौ शीघ्रं दोषनिवारकाणि शोधितानि द्रव्याणि प्रक्षिप्य सुखानि साधनीयानीति ॥ २ ॥

फिर वह भौतिक अग्नि कैसा है, किस प्रकार उपयोग करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो ! तुम (सुसमिद्धाय) अच्छे प्रकार प्रकाशरूप (शोचिषे) शुद्ध किये हुए, दोषों को निवारण करने वा (जातवेदसे) सब पदार्थों में विद्यमान (अग्नये) रूप, दाह, प्रकाश, छेदन, आदि गुण स्वभाववाले अग्नि में (तीव्रम्) सब दोषों के निवारण करने में तीक्ष्ण स्वभाववाले (घृतम्) घी मिष्ट आदि पदार्थों का (जुहोतन) अच्छे प्रकार हवन करो[3] * ॥ २ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को इस प्रज्वलित अग्नि में जल्दी दोषों को दूर करने वा शुद्ध किये हुए पदार्थों को गेरकर इष्ट सुखों को सिद्ध करना चाहिये ॥ २ ॥

तन्त्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । [निचृद्] गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यैः स नित्यं वर्द्धनीय इत्युपदिश्यते[4] ॥

तं त्वा॑ स॒मिद्भि॑रङ्गिरो घृ॒तेन॑ वर्धयामसि । बृ॒हच्छो॑चा यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

तम् । त्वा॒ । स॒मिद्भि॒रिति॑ स॒मित्ऽभिः॑ । अ॒ङ्गि॒रः॒ । घृ॒तेन॑ । व॒र्द्धया॒म॒सि॒ । बृ॒हत् । शो॒च॒ । य॒वि॒ष्ठ्य॒ ॥ ३ ॥

पदार्थः—(तम्) भौतिकमग्निम् । (त्वा) यः, अत्र व्यत्ययः । (समिद्भिः) काष्ठादिभिः । (अङ्गिरः) अङ्गति प्रापयति यः सोऽङ्गिराः [अङ्गारेष्वङ्गिरा] अङ्गारा ऽअङ्कना ऽअञ्चनाः । निरु० ३ । १७ ।

१ पूर्ववदयमप्यधियज्ञपरोऽन्वयः ॥

विशेषवक्तव्यम्

(क) मन्त्रोऽयमृग्वेदभाष्ये (ऋ० ५ । ५ । १) आचार्यैर्भिन्नार्थेऽपि व्याख्यातस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥

(ख) अव्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणेऽविनियुक्तश्च ॥ कात्यायनश्रौतसूत्रकारस्तु (का० ४ । ८ । ५) जपे विनियोजयति ॥ २ ॥

२ उसी को सुदृढ़ करते हैं, अतः कहा—'फिर वह भौतिक अग्नि' इत्यादि

३ पूर्ववत् यहाँ भी अधियज्ञपरक अन्वय है ॥

वि० वक्तव्य

(क) आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ ऋग्वेदभाष्य (ऋ० ५ । ५ । १) में भिन्न रूप से दर्शाया है, सो वहीं देख लेवें ॥

(ख) शतपथब्राह्मण में इस मन्त्र का व्याख्यान तथा विनियोग नहीं है । कात्यायन श्रौतसूत्रकार ने इस मन्त्र का विनियोग (का० श्रौ० ४ । ८ । ५) जप में किया है ॥ २ ॥

४ पुनस्तद्वृद्ध्युपायान् वर्णयतीत्याह—'मनुष्यैः स नित्यम्' इत्यादि

५ 'अङ्गिरा उ ह्यग्निः' शतपथब्राह्मणेऽस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने (श० १ । ४ । १ । २५ ॥ ६ । ४ । ४ । ४) ॥

अग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेम इत्यग्निं पशव्यमग्निवदच्छेम इत्येतत् ॥ श० ६ । ३ । ३ । ३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अङ्गिरः) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ।

* 'गेरो' इति ग, कोष्ठे अ० मुद्रिते च । 'छोड़ो' इति ख, पाठः । 'हवन करो' इति क, पाठः ॥

(घृतेन) पूर्वोक्तेन । (वर्द्धयामसि) वर्द्धयामः, अत्र इदन्तो मसिः [अ० ७।१।४६] इतीकारादेशः। (बृहत्) महत् * यथा स्यात्तथा। (शोच) शोचति, † प्रकाशते, अत्र व्यत्ययेन लडर्थे लोट्, द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घश्च। (यविष्ठ्य) योतिशयेन युवा पदार्थानाममिश्रीकरणे बलवान् सः। यविष्ठ एव यविष्ठ्यः। अत्र युवन्शब्दादिष्ठन् प्रत्ययस्ततो नवसूरमर्तयविष्ठेभ्यो यत्। अ० ५।४।३६ इति वार्तिकेन स्वार्थे यत्प्रत्ययः॥ अयं मन्त्रः श० १।४।१।२५-२६ व्याख्यातः॥ ३॥

अन्वयः—वयं ‡ त्वा योऽङ्गिरोऽङ्गिरा यविष्ठ्य यविष्ठ्योऽग्निर्बृहच्छोच महद्यथा स्यात्तथा शोचति प्रकाशते ‡ तं समिद्भिर्घृतेन [च] वर्द्धयामसि वर्द्धयामः प्रदीपयामः॥ ३॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यो गुणैर्महान् पूर्वोक्तोऽग्निर्वर्त्तते, स होमशिल्पविद्यासिद्धये साधनैरिन्धनादिभिः सेवित्वा नित्यं वर्द्धनीय इति॥ ३॥

मनुष्यों को उक्त अग्नि की नित्य वृद्धि करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२]॥

पदार्थः—हम लोग [(त्वा)] जो (अङ्गिरः) पदार्थों को प्राप्त कराने वा (यविष्ठ्य) पदार्थों के भेद करने में अतिबलवान् (बृहत्) बड़े तेज से युक्त अग्नि (शोच) प्रकाश करता है। (तम्) उसको (समिद्भिः) काष्ठादि और (घृतेन) घी आदि से (वर्द्धयामसि) बढ़ाते हैं[३]॥ ३॥

भावार्थः—मनुष्यों को जो सब गुणों से बलवान् पूर्व कहा हुआ अग्नि है, वह होम और शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये लकड़ी घी आदि साधनों से सेवन करके निरन्तर वृद्धियुक्त करना चाहिये॥ ३॥

(यविष्ठ्य) आतिशायिके सति स्वार्थिको यत्प्रत्ययस्ततः सम्बुद्धौ सर्वनिघातत्वादामन्त्रितोऽपि सन्नत्र व्यत्ययेन प्रथमान्तो व्याख्यातः। अत्र यद् वक्तव्यं तत् सर्वं य० १।१ भाष्ये 'अघ्न्याः' पदस्य व्याकरणप्रक्रियायामवोचाम॥

ऋ० ६।१६।११ भाष्यव्याख्याने स्वाचार्यैः सम्बोधनपरमेवेदं व्याख्यातं तत एव द्रष्टव्यम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अधियज्ञपर आधिदैविकार्थपरोऽप्ययमन्वयः

विशेषवक्तव्यम्

अत्रान्वये पदार्थे च 'अङ्गिरः यविष्ठ्य' इत्येतयोः पदयोर्व्यत्ययेनार्थः प्रदर्शितः सोऽन्यत्रास्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने (ऋ० ६।१६।११) अन्तरेण व्यत्ययं प्रदर्शितस्तत्रैव द्रष्टव्यः॥ ३॥

२ पुनः उक्त अग्नि की अनेकविध वृद्धि के उपायों का निरूपण करते हुये कहते हैं—'मनुष्यों को उक्त अग्नि की' इत्यादि॥

३ अन्वय में अधियज्ञ तथा आधिदैविक प्रक्रिया में अर्थ है॥

वि० वक्तव्य

अन्वय के आदि में 'अङ्गिरः' तथा 'यविष्ठ्य' इन दोनों पदों का अर्थ व्यत्यय से किया है, अन्यत्र ऋग्वेदभाष्य में (ऋ० ६।१६।११) इसी मन्त्र के व्याख्यान में बिना व्यत्यय के दर्शाया है, सो वहां देखें॥ ३॥

---

* 'यथा स्यात् तथा' इति पाठो ऽत्रान्वये चानावश्यक इव प्रतिभाति, वाक्येऽन्वयाभावात्॥

† 'प्रकाशयति इति क. ख. ग. पाठः॥

‡ 'वयं त्वा यो' इति क. ख. ग. पाठः। अग्रे 'प्रकाशते त्वा तं' इत्यत्र 'त्वा' इति पदं लिपिकर्त्तुः प्रमादात् ग. कोश आगतम्, अ० मुद्रिते चापि। पुनः अजमेरमुद्रिते पूर्वस्थं 'त्वा' इति पदं पृथक् कृतमिति ध्येयम्॥

उप त्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[1] ॥

उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताचीर्य॑न्तु हर्यत । जुषस्व॑ स॒मिधो॒ मम॑ ॥ ४ ॥

उप॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । ह॒विष्म॑तीः । घृ॒ताचीः॑ । य॒न्तु॒ । ह॒र्य॒त॒ । जु॒षस्व॑ । स॒मिध॒ऽइति॑ स॒म्ऽइधः॑ । मम॑ ॥४॥

पदार्थः—(उप) सामीप्ये । (त्वा) । तम् । (अग्ने[2]) अग्निः * । (हविष्मतीः) प्रशस्तानि हवींषि विद्यन्ते यासु ताः, अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । (घृताचीः) या घृतमाज्यादिकं जलं वाऽञ्चन्ति प्रापयन्ति ताः । (यन्तु) प्राप्नुवन्तु । (हर्यत) † प्रापकः कामनीयो वा । (जुषस्व) जुषते । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (समिधः) काष्ठादिसामग्रीः । (मम) कर्मानुष्ठातुः ॥ ४ ॥

अन्वयः[3]—हे ❀ मनुष्या यो हर्यत प्रापकः कामनीयोऽग्नेऽग्निर्मम समिधो जुषस्व जुषते सेवते । यथा [त्वा] तमेताः समिधो [उप] यन्तु प्राप्नुवन्तु, तथाऽस्मिन् यूयं हविष्मतीर्घृताचीः समिधः प्रतिदिनं संचिनुत ॥ ४ ॥

भावार्थः— मनुष्यैर्यदा ऽस्मिन्नग्नौ समिध आहुतयश्च प्रक्षिप्यन्ते, स एताः परमसूक्ष्माः कृत्वा वायुना सह देशान्तरं प्रापयित्वा दुर्गन्धादिदोषाणां निवारणेन सर्वान् सुखयतीति वेदितव्यम् ॥ ४ ॥

---

१ पुनस्तदेव द्रढयन्नाह—'पुनः स कीदृशः' इत्यादि ॥

२ अत्रापि सर्वत्र पूर्वमन्त्रवद् व्यत्ययो द्रष्टव्यः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हविष्मतीः) अर्चिशुचिहु० (उ० २ । १०८) इत्यादिना 'इसिः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो मतुपि उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीपि सुपि चानुदात्ते सति प्रत्ययस्वरेण 'वि' उदात्तः ॥

(हर्यत) 'हर्य गतिकान्त्योः' (भ्वा० पर०) इति धातोः भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्यिभ्योऽतच् (उ० ३ । ११०) इति 'अतच्' । चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः । आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति सर्वानुदात्तः । पूर्वोक्तव्यत्यये सति विशेषणत्वादत्रापि व्यत्ययः ॥

'हर्यत' इति क्रियापदमपि । तथा चाचार्येण ऋ० ५ । ५४ । १५ भाष्ये "(हर्यत) कामयध्वम्" इति व्याख्यातम् । उभावपि पक्षावत्र सम्भवतः । तद्यथा भट्टभास्करेण तै० ब्रा० १ । २ । १ । १० भाष्ये उभयथापि व्याख्यानं कृतम् । अन्यत्रर्ग्वेदेऽथर्ववेदे चोभयथापि दृश्यते । स्वरस्तु क्रियापक्षे तिङ्ङतिङः (८ । १ । २८) इति निघातत्वम् ॥

(मम) युष्मदस्मदोर्ङसि (अ० ६ । १ । २११) इत्याद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अधियज्ञपरोऽत्रार्थो निदर्शितः । 'संचिनुत' इत्यध्याहारः ॥

वि० व०

अव्याख्यातो ऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ऽविनियुक्तश्च, किमत्र कारणमिति सुधियो विभावयन्तु । कात्यायनश्रौतसूत्रकारस्तु 'उप त्वेति जपति' (का० श्रौ० सू० ४ । ८ । ४) इत्याह ॥ ४ ॥

---

* 'अग्निम्' इति तु कोशेषु अ० मुद्रिते च पाठः । अन्वये तु 'अग्निः' इत्येव प्रदर्शित इति ध्येयम् ॥

† '(हर्यत) प्रापयत' इति क. ख. ग. पाठः । प्रूफसमये संशोधितोऽयं स्यात् ॥

❀ "हे मनुष्या यो ऽग्ने ऽग्निर्मम समिधो जुषस्व जुषते सेवते । यथा तमेताः समिधो यन्तु प्राप्नुवन्तु, तथा ऽस्मिन् यूयं हविष्मतीर्घृताचीः समिधः प्रतिदिनं हर्यत प्रापयत" इति क. ख. ग. पाठः । वर्तमानक्रमस्तु प्रूफसमये संशोधितः स्याद् इति प्रतीयते ॥

फिर वह अग्नि कैसा है, सो अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—† हे मनुष्यो ! जो (हर्य्यंत) प्राप्ति का हेतु वा कामना के योग्य (अग्ने) प्रसिद्ध अग्नि (मम) यज्ञ करनेवाले मेरे (समिधः) लकड़ी घी आदि पदार्थों को (जुषस्व) सेवन करता है, जिस प्रकार (त्वा) उस अग्नि को घी आदि पदार्थ [(उप)] (यन्तु) प्राप्त हों, वैसे तुम (हविष्मतीः) श्रेष्ठहवियुक्त (घृताचीः) घृत आदि पदार्थों से संयुक्त आहुति वा काष्ठ आदि सामग्री प्रतिदिन संचित करो[2] ॥ ४ ॥

भावार्थः— मनुष्यलोग जब इस अग्नि में काष्ठ घी आदि पदार्थों की आहुति छोड़ते हैं, तब वह [अग्नि] उनको अतिसूक्ष्म करके वायु के साथ देशान्तर को प्राप्त कराके दुर्गन्धादि दोषों के निवारण से सब प्राणियों को सुख देता है, ऐसा सब मनुष्यों को जानना चाहिये ॥ ४ ॥

भूर्भुवः स्वरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निवायुसूर्या देवताः । भूर्भुवः स्वरित्यस्य ‡ दैवी बृहती छन्दः । द्यौरिवेत्यस्य निचृद्बृहती छन्दः । उभयत्र मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स किमर्थ उपयोजनीय इत्युपदिश्यते[3] ॥

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ ५ ॥

भूः । भुवः । स्वः । द्यौरिवेति द्यौःऽइव । भूम्ना । पृथिवीवेति पृथिवीऽइव । वरिम्णा । तस्याः । ते । पृथिवि । देवयजनीति देवऽयजनि । पृष्ठे । अग्निम् । अन्नादमित्यन्नऽअदम् । अन्नाद्यायेत्यन्नऽअद्याय । आ । दधे ॥ ५ ॥

पदार्थः—(भूः) भूमिः[4] । भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत । (भुवः) भुवरित्यन्तरिक्षम्[5] । (स्वः)

---

[1] पुनः उसी को दृढ़ करते हुये कहा—'फिर वह अग्नि कैसा' इत्यादि ॥

[2] यहां अन्वय अधियज्ञपरक है ॥

वि० वक्तव्य

इस मन्त्र की व्याख्या तथा विनियोग शतपथ ब्राह्मण में नहीं है, इसमें क्या कारण है, सो विद्वन्-महानुभाव इस पर विचार करें । कात्यायन श्रौतसूत्र (का० श्रौ० ४ । ८ । ४) में तो इसका जप में विनियोग है ॥ ४ ॥

[3] उपर्युक्तो ऽग्निः कथं कुत्र चाधातव्य इत्यत आह—'पुनः स किमर्थः' इत्यादि ॥

[4] स भूरिति व्याहरत् । स भूमिमसृजत । अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ यजूंषि ॥ तै० २ । २ । ४ । २ ॥ भूरियं (पृथिवी) श० ७ । ४ । २ । ७ ॥ भूरिति वायं लोकः तै० उ० १ । ५ । १ ॥

[5] स भुव इति व्याहरत् । सोऽन्तरिक्षमसृजत । चातुर्मास्यानि सामानि । तै० २ । २ । ४ । २, ३ ॥ भुव इत्यन्तरिक्षम् ॥ तै० उ० १ । ५ । १ ॥

---

† इससे पूर्व "हे मनुष्यो जो (अग्ने) प्रसिद्ध अग्नि (मम) यज्ञ करने" इतना पाठ मुद्रित में अधिक है, सो हस्तलेखों की संस्कृत के अनुसार है । वह असम्बद्ध और अनावश्यक है । पूर्व टिप्पणी में दर्शाये हस्तलेखों के संस्कृत अन्वय का भाषापदार्थ ग. कोश में इस प्रकार है—"हे मनुष्यो जो (अग्ने) अग्नि (मम) यज्ञकर्म करने वाले मेरे (समिधः) लकड़ी घी आदि पदार्थ को (जुषस्व) सेवन करता है, सो जिस प्रकार (तम्) उस अग्नि को घी आदि पदार्थ (यन्तु) प्राप्त हों, वैसे तुम (हविष्मतीः) श्रेष्ठ हवियुक्त (घृताचीः) घृतादि पदार्थों से संयुक्त आहुति वा काष्ठादि सामग्री प्रतिदिन (हर्यत) प्राप्त करो ॥"

लगभग यही भाषार्थ ख. कोश में भी है ॥

‡ 'भूर्भुवः स्वरित्यस्य' इति पाठः ख. ग. कोशयोः अ० मु० च नास्ति । क. कोशे तूपलभ्यते । स चावश्यकः ॥

स्वरिति दिवमेतावद्वा इदꣳसर्वं यावदिमे लोकाः, सर्वेणैवाधीयते। शत० २।१।४।११। (द्यौरिव)** यथा सूर्यप्रकाशयुक्त आकाशे। (भूम्ना) विभुना। (पृथिवीव) यथा विस्तृता भूमिः (वरिम्णा) श्रेष्ठगुणसमूहेन। (तस्याः) वक्ष्यमाणायाः। (ते) अस्याः प्रत्यक्षायाः, अत्र व्यत्ययः। (पृथिवि) पृथिव्याः। (देवयजनि) देवा यजन्ति यस्यां तस्याः, अत्रोभयत्र प्रातिपदिकनिर्देशानामर्थतन्त्रत्वात् षष्ठ्यर्थे प्रथमा विपरिणम्यते (पृष्ठे) उपरि। (अग्निम्) भौतिकम्। (अन्नादम्[2]) योऽन्नं यवादिकं सर्वमत्ति तम्। (अन्नाद्याय) अत्तुं योग्यमद्यमन्नं च तदद्यं चान्नाद्यं तस्मै। अत्र* बहुलं कृत्याः [अ० ३।१।११२ भा० वा०] इति

१ स सुवरिति व्याहरत्। स दिवमसृजत। अग्निष्टोममुक्थ्यमतिरात्रमृचः॥ तै० २।२।४।३॥

२ अन्नादोऽग्निः॥ श० २।१।४।२८॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(द्यौरिव) इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २।१।४ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तत्वम्॥

(भूम्ना) बहुशब्दात् पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (अ० ५।१।१२२) इति भावे 'इमनिच्' प्रत्ययः। बहोर्लोपो भू च बहोः (अ० ६।४।१५८) इति 'भू' आदेशः। चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तः। ततोऽल्लोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

(पृथिवीव) पूर्ववदेव पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन ङीषोऽन्तोदात्तत्वम्॥

(वरिम्णा) उरुशब्दो बहुवाची, तस्य पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (अ० ५।१।१२२) इति भावे 'इमनिच्' प्रत्ययः, तत्र प्रियस्थिरस्फिरोरु० (अ० ६।४।१५७) इत्यादिना 'वर्' आदेशः, 'वरिमन्' इत्यत्र चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। ततोऽल्लोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

प्रकारोऽयं 'उरोर्भावः' इत्यादिना य० ११।२९। य० १३।२ भाष्य आचार्यैः प्रादर्शि॥

शब्दोऽयमन्यथाऽप्याचार्यैर्व्याख्यायते, तद्यथा—'वरस्य भावः' य० १८।४॥ ऋ० १।५५।१॥

ननु च वरशब्दात् कथमिमनिच्प्रत्ययोत्पत्तिरिति चेत्?

अत्राभिसन्धिः—आकृतिगणत्वाद् 'इमनिच्' प्रत्ययः। यथोक्तम्—

(क) 'कटुकिम्ना [निरु० ५।४] पृथ्वादिषु दृढादिषु वा ऽवृत्करणात् प्रक्षेप्तव्यः' स्कन्दस्वामिनिरुक्तटीकायां पृ० ३१० भा० २॥

(ख) मुग्धिमा प्रौढिमा इत्यादिषु 'इमनिज्' सुग्यः इति वामनः। का० टी० ५।२।५४ पृ० १७८॥

(ग) यथा चार्कस्य कटुकिम्ना सर्वद्रव्याणां कटुकिमानमापादयेत्॥ न्या० भा० ३।२।११॥ पृ० ३०२॥

(घ) अतिप्रौढिम्ना···कन्दली पृ० ८१॥

(ङ) यद्वा वरिमाणं वारकत्वम्। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते इति मनिन् इति भट्टभास्करः। तै० सं० १।२।८।१५ भाष्ये पृ० १८०॥

यथा कटुकिमन्मुग्धिमन्प्रौढिमन्नतिप्रौढिमन्नादिषु इमनिच्प्रत्ययः पृथ्वादिगणस्यावृत्करणादिष्यते तथैव वरशब्दादपि द्रष्टव्य इति भावः॥

(पृष्ठे) पर्षति सिञ्चति यो येन वा तत् पृष्ठम्, तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः (उ० २।१२) इति थक् प्रत्ययान्तो निपातितः। ततो विभक्तावेकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) इत्युदात्तत्वे ऽग्निना सह पूर्वरूपैकादेशे स्वरितो वा ऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८।२।६) इत्यभिनिहितस्वरितः॥

(अन्नादम्) अन्नमत्तीति कर्मण्यण् (अ० ३।२।१) इत्यण्। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तः॥

** 'यथा सूर्य आकाशे' 'यथा सूर्यप्रकाश आकाशे' इति वा युक्ततरः स्यात्॥

* "अत्र बहुलं कृत्या·········यत् प्रत्ययः" इति पाठः क. पुस्तके वर्तमानोऽपि ख. ग. उभयत्र लेखकैः प्रमादात् त्यक्तः॥

वार्त्तिके बहुलग्रहणात् कृत्यो यत्प्रत्ययः। (आ) समन्तात्। (दधे) स्थापयामि॥ अयं मन्त्रः शत० २।१।४।११-२८। व्याख्यातः॥ ५॥

अन्वयः—अहमन्नाद्याय भूम्ना द्यौरिव वरिम्णा पृथिवीव तेऽस्याः प्रत्यक्षायास्तस्या अप्रत्यक्षाया अन्तरिक्षलोकस्थाया देवयजनि देवयजन्याः पृथिवि पृथिव्याः पृष्ठे पृष्ठोपरि भूर्भुवः स्वर्लोकान्तर्गतमन्नादमग्निमादधे स्थापयामि॥ ५॥

अत्रोपमालङ्कारौ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यूयमीश्वरेण रचितं त्रैलोक्योपकारकं स्वव्याप्त्या सूर्यप्रकाशसदृशं श्रेष्ठैर्गुणैः पृथिवीसमानं स्वस्वलोके सन्निहितमिममग्निं कार्यसिद्ध्यर्थं प्रयत्नेनोपयोजयत॥ ५॥

फिर उस अग्नि का किस लिये उपयोग करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2]॥

पदार्थः—मैं (अन्नाद्याय) भक्षणयोग्य अन्न के लिये (भूम्ना) विभु अर्थात् ऐश्वर्य्य से (द्यौरिव) आकाश में सूर्य के समान (वरिम्णा) अच्छे २ गुणों से (पृथिवीव) विस्तृत भूमि के तुल्य (ते) प्रत्यक्ष वा (तस्याः) अप्रत्यक्ष अर्थात् आकाशयुक्त, लोक में रहनेवाली (देवयजनि) देव अर्थात् विद्वान् लोग जहाँ यज्ञ करते हैं, उस (पृथिवी) भूमि के (पृष्ठे) पृष्ठके ऊपर, (भूः) भूमि, (भुवः) अन्तरिक्ष, (स्वः) दिव अर्थात् प्रकाशस्वरूप सूर्यलोक, इनके अन्तर्गत रहने तथा (अन्नादम्) यव आदि सब अन्नों को भक्षण करनेवाले (अग्निम्) प्रसिद्ध अग्निको (आदधे) स्थापन करता हूँ[3]॥ ५॥

इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं॥

भावार्थः—हे मनुष्य लोगो! तुम, ईश्वर से तीन लोकों के उपकार करने वा अपनी व्याप्ति से सूर्य प्रकाश के समान तथा उत्तम २ गुणों से पृथिवी के समान अपने २ लोकों में निकट रहने वाले रचे हुए अग्नि को, कार्य की सिद्धि के लिये यत्न के साथ उपयोग करो॥ ५॥

आयमित्यस्य सर्प्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः। अग्निर्देवता। [निचृद्] गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथाग्निनिमित्तेन पृथिवीभ्रमणविषय उपदिश्यते[4]॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ ६॥

(अन्नाद्याय) मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६। २। १९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तस्वरसिद्धिः॥

यत्त्वत्र महीधरेण 'अन्नं च तदाद्यं च' इति ण्यत्-प्रत्ययान्तं पदमेतत् प्रदर्शितं तत् पदकारविरोधात्सन्मते ऽयुक्तमित्यवधेयम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अधियज्ञपरोऽयमन्वयः, आधिदैविको ऽप्यन्तर्भूत एवेति॥ ५॥

२ पूर्वोक्त अग्नि का किस प्रकार तथा कहां आधान करना चाहिये, इसलिये कहते हैं—'फिर उस अग्नि का' इत्यादि॥

३ यहां अन्वय अधियज्ञपरक है। आधिदैविक अर्थ उसके अन्तर्भूत ही समझना चाहिए॥ ५॥

४ अग्नेः कार्यान्तरं प्रदर्श्य पूर्वोक्तमर्थं पोषयति—अथाग्निनिमित्तेनेति॥

आ। अयम्। गौः। पृश्निः। अक्रमीत्। असदत्। मातरम्। पुरः। पितरम्। च। प्रयन्निति प्रऽयन्। स्वरिति स्वः॥ ६॥

पदार्थः—(आ) अभ्यर्थे। (अयम्) प्रत्यक्षः। (गौः[1]) यो गच्छति स भूगोलः। गौरिति पृथिवीनामसु पठितम्। निघ० १।१। गौरिति पृथिव्या नामधेयम्। यद् दूरं गता भवति। यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति। निरु० २।५। (पृश्निः[2]) अन्तरिक्षे। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इति सप्तम्येकवचने प्रथमैकवचनम्। पृश्निरिति साधारणनामसु पठितम्। निघ० १।४। (अक्रमीत्) क्राम्यति, अत्र लडर्थे लुङ्। (असदत्) स्वकक्षायां भ्रमति। अत्रापि लडर्थे लुङ्। (मातरम्[3]) स्वयोनिमपः। जलनिमित्तेन पृथिव्युत्पत्तेः। (पुरः) पूर्वं पूर्वम्। (पितरम्[4]) पालकम्। [(च)] (प्रयन्) प्रकृष्टतया गच्छन्। (स्वः) आदित्यम्। स्वरादित्यो भवति। निरु० २।१४॥ अयं मन्त्रः श० २।१।४।२९ निगदव्याख्यातः॥ ६॥

अन्वयः—अयं गौः पृथिवीगोलः स्वः पितरं पुरः* असदत् मातरमपश्च प्रयन् पृश्निरन्तरिक्षं आक्रमीदाक्राम्यति समन्ताद् भ्रमति॥ ६॥

---

१ (क) अत्र च वेङ्कटमाधव ऋग्वेदानुक्रमण्यां ३।६।१३-

गमनात् पृथिवी गौः स्यादादित्यः पशुरेव च।
वाग्वा सा गच्छति जलश्चिन्नमप्रत्येति सर्वदा॥१३॥

अनेन गौपदेन 'पृथिवी' इत्यर्थो गृहीतो भवति भाष्यकारेण, तस्याः गतिरप्यनेनैव सिद्धा भवतीति स्पष्टम्॥

(ख) इमे लोका गौः॥ श० ६।५।२।१७॥

२ साधारणनामप्रकमादन्तरिक्षः। स्पृशति संयुक्तो भवतीति पृश्निः। पृषोदरादित्वात् सलोप इति॥

३ यन्मातृरपोऽगम उपशाम्यन्॥ निरु० ४।१४॥

४ एष वै पिता य एष (सूर्यः) तपति॥ श० १४।१।४।१५॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गौः) गोशब्दः पूर्वं (यजुः १।१) 'गोपतौ' पदे व्याख्यातः॥

(पृश्निः) स्पृशति संयुक्तो भवतीति पृश्निः, घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णयः (उ० ४।५२) इति निपातनाद् 'नि' प्रत्ययः, निदित्यनुवर्त्तनादाद्युदात्तत्वम्॥

(असदत्) तिङ्परत्वात् पादादित्वाद्वा निघातो न॥

(मातरम्) मानयति सत्करोतीति माता। नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उ० २।९५) इति निपातनात् तृच्प्रत्ययः। चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तः॥

(प्रयन्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

५ आधिदैविकपरोऽयमन्वयः॥

विशेषवक्तव्यम्

अस्मिन् मन्त्र आचार्यदयानन्देन भूभ्रमणं प्रतिपादितं तत्प्रमाणं च भाष्ये द्रष्टुं शक्यते॥

उवटमहिधराभ्यां तु मन्त्रोऽयमग्निपरो व्याख्यायते। सायणाचार्यस्त्वनेकस्थलेष्वस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने 'सूर्यभ्रमणम्' एव सर्वत्र प्रतिपादितवान्। तद्यथा—

(क) ऋ० १०।१९०।१ भाष्ये "गौर्गमनशीलः ......सूर्यः अक्रमीत् आक्रान्तवान्। उदयाचलं प्राप्तवानित्यर्थः। ......पृथिवीमसदत् आसीदति प्राप्नोति"

(ख) अथर्व० ६।३१।१ भाष्ये॥

(ग) साम० उ० ६ प्र। १ अर्द्ध। ११ सू० १॥

---

* अ० मुद्रितपुस्तके 'प्रयन्' इत्यपपाठोऽत्र, तस्यानावश्यकत्वात्, 'असदत्' इति क. कोशे चोपलम्भात्। अग्रे 'प्रयन्' पदं वर्तत एव इत्यपि ध्येयम्॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यस्माज्जलाग्निनिमित्तोत्पन्नोऽयं भूगोलोऽन्तरिक्षे स्वकक्ष्यायामाकर्षणेन रक्ष-

(घ) तै० सं० १ । ५ । ३ । १ भाष्ये ॥
एषु सर्वत्रैव गौर्गमनशीलः सूर्य इत्येवाह ॥

(ङ) ऐ० ब्रा० ५ । २३ । ३ भाष्ये तु विनियोगमात्रमेवास्य मन्त्रस्य प्रदर्शितवान् ॥

तदनुसरद्भिरपि युक्तदाभासैरपि निमीलितनेत्रैरयं मन्त्रो गतानुगतिकतया सूर्यभ्रमणपर एव व्याख्यातः॥ सूर्यस्य स्वकक्षाभ्रमणे प्रतिपादिते तु नाभविष्यदत्र काचिद् विप्रतिपत्तिः कस्यापि शास्त्रजुषः । वयन्त्वेषां लौकिकपरम्परासरणिमनुरुन्धतां स्खलितमेव संपश्यामः ॥ तत्रेयं विचारसरणिः—

सूर्यभ्रमणवादिनां पूर्वपक्षः

ननु च भो आचार्येण भूभ्रमणपक्षमङ्गीकुर्वता यन्नैरुक्तप्रमाणं तदुपोद्बलकं प्रादायि तदकिञ्चित्करम्, आदित्यगतिपक्षेऽपि तत्प्रमाणस्य सद्भावात्—तद्यथा—

(१) आदित्योऽपि गौरुच्यते (निरु० २ । ५) ॥
गौरादित्यो भवति । गमयति रसान् ।
गच्छत्यन्तरिक्षे । अथ द्यौः ।
यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति ।
यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति । निरु० २।१४ ॥

आभ्यामादित्योऽपि गच्छतीति सुव्यक्तम् । तेन प्रकृतमन्त्रेऽपि यत् सायणाचार्यादिभिः सूर्यभ्रमणं प्रत्यपादि तन्नासम्यग्, तस्यापि नैरुक्तप्रामाण्यदिशा युक्तत्वात् । यश्चोभयोर्दोषो न तमेकश्चोद्यो भवति ॥

अतः प्रकृतमन्त्रे भूभ्रमणं न सिद्धमिति व्याख्यातं भवति ॥

(२) प्रमाणान्तराणि चोपलभामह आदित्यगतिसाधकानि, वेदे खल्वपि—

यथेमे द्यावा॑पृथि॒वी स॒द्यः प॒र्यैति॒ सूर्यः॑ ।
ए॒वा पर्ये॑मि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां
का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा अस॑ः ॥
अथर्व० ६ । ८ । ३ ॥

आ कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ वर्त॑मानो निवे॒शय॑न्न॒मृतं॒ मर्त्यं॑ च ।
हि॒र॒ण्यये॑न सवि॒ता रथे॒ना दे॒वो या॑ति॒ भुव॑नानि॒ पश्य॑न्॥
ऋ० १ । ३५ । २ ॥

आ दे॒वो या॑ति सवि॒ता प॑रा॒वतो॑ऽप॒
विश्वा॑ दुरि॒ता बाध॑मानः ॥ ऋ० १ । ३५ । ३ ॥

एषु मन्त्रेषु 'सूर्यः द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति', 'सविता देव आयाति' इत्यादिवचनैरादित्यगतिः सुस्पष्टमवगन्तुं शक्यते ॥

भूभ्रमणे दोषोद्भावनम्

(३) किञ्च भूभ्रमणेऽभिमते—

(क) यदि तस्याः पूर्वस्यां दिशि गतिरङ्गीक्रियेत तर्हि वयांसि स्वकुलायेभ्यो विनिर्गत्याहारार्थं ख उड्डीयमानानि ततो विनिवृत्य न स्वकुलायान्याप्नुयुः, तावति काले, भूभ्रमणेन सहैव कुलायानां पूर्वस्यां दिश्यतिदूरं गतत्वात्, वयसां च नभसि स्थितेः पश्चाद्भावित्वात् ॥

(ख) अपरं च पताकाध्वजादयः पश्चिमायां दिश्युड्डीयमाना एव दृश्येरन्, न च दृश्यन्ते । तदुपपादनार्थं च पृथिव्या अतिमन्दगतिस्वीकारे पृथिव्या एकस्मिन्नहनि 'अक्ष' भ्रमणं न सिध्येत् ॥

(ग) तथा पृथिव्या भ्रमणेनोच्चानां हर्म्याणां पर्वतादीनां शिखाः कदाचिन्नीचैः स्युरेवं चावश्यमेषां पातः स्यात्, न च भवति ॥ इति पूर्वपक्षः ॥

अत्र समाधिः

पूर्वोक्तसूर्यभ्रमणसाधकानि वैदिकप्रमाणान्युपरिष्टात् परीक्षिष्यामहे, इदानीं तावद् भूभ्रमण उद्भावितान् दोषान् समादध्मः—

(१) (क) तत्र नाद्यो हेतुः, भूभ्रमणवेगस्य कुलाये विहायसि च तुल्यत्वात् । यावद्वेगेन कुलायं पूर्वस्यां दिशि भ्रमति, तावतैव वेगेन वयांस्यपि भ्रमन्ति, न च तानि तां गतिं विदन्ति । यथा यानस्थः पुरुषस्तस्य वेगं नानुभवति । सत्यपि च यानवेगेऽसौ तत्र यथेष्टं गतागतादिकं कर्तुं पारयति । सर्वेष्वेव तत्सम्बद्धपदार्थेषु यानवेगस्य विद्यमानत्वात् । खेऽपि भूवेगस्य विद्यमानत्वाद् वयांस्यपि स्वकुलायान्याप्नुवन्ति ॥

(ख) पताकादिष्वपि प्रतिकणे भूवेगस्य विद्यमानत्वात्, वायावपि तस्य पृथिव्यङ्गभूतत्वाद् वेगो

कस्य सूर्यस्याभि [त]ः प्रतिक्षणं भ्रमति तस्मादहोरात्रशुक्लकृष्णपक्षर्त्वयनादयः ✽कालविभागाः क्रमशः

विद्यत एव । अत एव च पताकादयो न प्रत्यगुड्डीयमाना दृश्यन्ते । यथा बद्धद्वारेषु यानेषु तदन्तर्वर्त्तिन्यः पताका यानस्थवायोर्यानगत्या सहभावित्वान्न विपरीतदिश्युड्डीयन्ते ॥

(ग) उच्चनीचत्वकल्पनाया अपि पृथिव्याश्रितत्वात्, का पुनरधोदिशा या पृथिव्यभिमुखी, ऊर्ध्वा चाकाशाभिमुखी । एवं च भूभ्रमणाङ्गीकारे किमधः स्यात्, यस्याः कर्षणेन पृथिवीस्था हर्म्यादयः पर्वता वा पतेयुः, पृथिव्याश्चाभित आकाश एवास्ति । अत एव भ्रमन्त्यामपि भुवि हर्म्यादिशिखा नभोऽभिमुखा एव स्थास्यन्ति, न पृथिव्यभिमुखाः, तदानीं च कुत्र ताः पतेयुः ॥

आदित्यभ्रमणे दोषोद्भावनम्

(२) न चादित्यभ्रमणं युक्तिभिरपि युक्तमुत्पश्यामः—

(क) अस्ति हि भुवो द्विविधा गतिराह्निकी वार्षिकी च, याभ्यामहोरात्रर्तुषट्कादीनां संभवः । अनवरतं भ्रमन्त्या भुवो यो भाग आदित्यस्याभिमुखीभवति, तत्र दिवसोऽपरत्र च रात्रिर्जायते । सूर्यस्य प्रात्यहिकी गतिरुरीक्रियेत चेत्, तदानीं तस्योदयोऽवश्यमेव भुवो मध्यभागस्योपरिष्टादेवाभास्यत्, तथा चासौ प्रतिदिनं नियतप्रागुदिश्येव समुदैष्यत्, प्रत्यक् चास्तमैष्यत्, न चैवं जायते । संवत्सरे द्वयोरेव दिवसयोर्यथार्थतः पूर्वस्यां दिश्युदीयमानं पश्चिमायां चास्तमीयमानमेनं पश्यामः ॥

(ख) तथा च सूर्योऽयं पृथिव्यास्त्रयोदशलक्षगुणादप्यधिको वर्त्तते, कथमयं पृथिवीपरिभ्रमणं कर्त्तुं पारयेत् । न चातिबृहतः कस्यचित् पदार्थस्यातिलघोः परिक्रमणं युक्तम् ॥

(ग) प्रत्यक्षं च पृथिवीपरिभ्रमणप्रमाणं पश्यामः—भ्रमतः कस्यचित् पदार्थस्य वेगातिशयः स्वीयकेन्द्रापेक्षया दूरतर एव प्रदेशे भवति । अत एव चात्युच्चस्तूपात् पात्यमानं वस्त्वधः किञ्चित् पूर्वांशे पतिष्यति, न च पातनस्थानादध एव । एवं चानुमिमीमहे पृथिव्याः पश्चिमतः पूर्वस्यां दिशि गमनम् ॥

(घ) बहूनि नक्षत्राणि संवत्सरस्यैकतमे भागे दृश्यन्ते, अन्यदा च तिरोभवन्ति । पुनश्च वत्सरानन्तरं तत्रैव दृश्यन्ते । अन्यान्यपि च नक्षत्राणि तेषां स्थानगतानि, उदीयमानानि विलीयमानानि च दृश्यन्ते । सर्वं चैतद् वात्सरिके भूभ्रमणेऽङ्गीकृत एव सिध्यति, नान्यथा ॥

भूभ्रमणेऽङ्गीक्रियमाणे न कश्चिद् दोषो भवति ॥

(३) साम्प्रतमुपन्यस्यन्ते भूभ्रमणे वैदिकप्रमाणानि—

(क) अथर्व० १२ । १ । ५२—

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते
अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता
सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥

सा भूमिः पृथिवी वर्षेण संवत्सरपरिमितेन कालेन वृतावृता गच्छति प्रत्यागच्छति चेति । सांवत्सरिकीयं भुवो गतिः, किञ्च 'अहोरात्रे विहिते' इत्यादिवचनेन प्रात्यहिकी गतिरपि द्योत्यते ॥

(ख) प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयु-
र्न्य१न्या अर्कमभितो विविश्रे ।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः
पवमानो हरित आविवेश ॥
ऋ० ८ । १०१ । १४ ॥

अनेन प्रमाणेन सूर्यस्य भुवनेष्वन्तः स्थितिः, पृथिव्यादीनां च तत्परितो भ्रमणं सिद्धम् ॥

(ग) या गौर्वर्तनिं पर्येति निष्कृतं
पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे
देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥
ऋ० १० । ६५ । ६ ॥

✽ 'कालविभागाः' इति क. ख. ग. कोशेषु नास्ति । मुद्रणसमये परिवर्धितः स्यात् । ततः पूर्वं 'अहोरात्रशुक्लकृष्णपक्षर्त्वयनादीनि' इति सर्वकोशेषु वर्तमानः पाठोऽसम्बद्धो जायत इति कृत्वाऽस्माभिः संशोधित इति ध्येयम् ॥

संभवन्तीति वेद्यम् ॥ ६ ॥

गौः पृथिवी स्वकीयमार्गे भ्रमन्ती सूर्यस्य परितो गच्छति ॥

अस्यार्थ आचार्येण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० १४१) प्रदर्शितस्ततोऽपि द्रष्टव्यः ॥

(घ) अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः
शचीभिर्वेद्यानाम् ।
शुष्णं परि प्रदक्षिणिद्
विश्वायवे नि शिश्नथः ॥

ऋ० १० । २२ । १४ ॥

अहस्ता हस्तरहिता अपदी पादरहिता शुष्णं (सामर्थ्यात् शोषयितारं) आदित्यं परि सर्वतः प्रदक्षिणित् प्रदक्षिणां करोति । शेषं योज्यम् ॥

(ङ) अहं परस्तादहमवस्ताद्
यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्शाहं
देवानां परमं गुहा यत् ॥

य० ८ । ९ ॥

अहं सूर्यमुभयतः पश्यामि पूर्वं पश्चिमं वा, ममैवैतद् दर्शनम्, न तु सूर्यः पूर्वं वा पश्चाद् वा गच्छतीति भावः ॥

(च) अवः परेण पर एनावरेण
पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्
क्व स्वित् सूते नहि यूथे अन्तः ॥

ऋ० १ । १६४ । १७ ॥

इयं पृथिवी सूर्यादध ऊर्ध्वं दक्षिणमुत्तरतश्च गच्छति । अस्याः परे ऽर्द्धे सदान्धकारः पूर्वेऽर्द्धे प्रकाशश्च वर्त्तते, मध्ये सर्वे पदार्था वर्त्तन्ते, सेयं पृथिवी जननीव सर्वान् पाति ॥

(छ) अवर्त्तयत् सूर्यो न चक्रम् ॥

ऋ० २ । ११ । २० ॥

यथा सूर्यश्चक्रं वर्त्तयति सामर्थ्यात् पृथिव्या इति शेषः । न चक्रं करोति, अपि तु भूचक्रं निर्वर्त्तयतीति स्पष्टम् ॥

उपर्युक्तैरेभिः प्रमाणैर्व्यक्तं भूभ्रमणस्य युक्ततामुपलभामहे नादित्यगतेः ॥

(४) ब्राह्मणेष्वपि—

यत् सूर्यो गच्छन्निव प्रतिभाति, वस्तुतस्तु न सूर्य उदेति, न च कदाचिदस्तं गच्छतीति, भ्रमवशादेव जनाः सूर्यो गच्छतीति मन्यन्ते तद्यथा—

(क) स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति । तं यदस्तमेतीति मन्यन्त अह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते रात्रीमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात् ॥

अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वा ऽथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् । स वा एष न कदाचन निम्लोचति ॥

ऐ० ब्रा० अ० १४ । ख० ६ ॥

(ख) गोपथब्राह्मणेऽपि—

"स वा एष न कदाचनास्तमयति, नोदयति । तद्यदेनं पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते, अह्न एव तदन्तं गत्वात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवाधस्तात् कुरुते रात्रीं परस्तात् ॥

स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति । तद्यदेनं पुरस्तादुदयतीति मन्यन्ते, रात्रेरेव तदन्तं गत्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते । रात्रिमेवाधस्तात् कुरुते ऽहः परस्तात् । स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति । न ह वै कदाचन निम्लोचति ॥"

गो० ब्रा० उत्तरार्द्धे ४ । १० ॥

आभ्यां समानार्थाभ्यां ब्राह्मणवचनाभ्यामपरीक्षिताभ्युपगन्तॄणां लौकिकानां विस्पष्टं भ्रान्तिमेव पश्यामो ये सूर्यमुदेतीति, अस्तमेतीति वा मन्यन्ते । आदित्यगतिवादिनां मत एव 'सूर्य उदेति, सूर्योऽस्तमेति' इति व्यवहारस्य मुख्यवृत्त्या ग्रहीतुं शक्यत्वात्, पृथिवीभ्रमणे चासम्भवाद् ब्राह्मणकारैरादित्यभ्रमणस्यैव प्रत्याख्यातत्वादिति सुव्यक्तम् ॥

(५) इदानीं ज्योतिःशास्त्रविषयकाणि प्रमाणानि प्रदर्श्यन्ते—

(क) प्राणेनैति कलां भूः ॥ आर्यसिद्धान्ते देशगो० आर्या० ४ ॥

(भू) पृथिवी (कलां) कलां कलां कृत्वा गच्छति । पृथिव्या गतिः कलात्मिका भवतीत्यर्थः ॥

अब अग्नि के निमित्त से पृथिवी का भ्रमण होता है, इस विषय को अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है[1] ॥

पदार्थः—(अयम्) यह प्रत्यक्ष (गौः) गोलरूप पृथिवी (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) सूर्य लोकके (पुरः) आगे २ [(असदत्) चलती है] और (मातरम्) अपनी योनिरूप जलों के साथ वर्तमान (प्रयन्) अच्छी प्रकार चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (आक्रमीत्) चारों तरफ घूमती है[2] ॥ ६ ॥

आधुनिकैस्त्वस्य पाठः परिवर्त्तितः—"प्राणेनैति कलां भम्" तदसम्यगिति ध्येयम् ॥

(ख) अनुलोमगतिनौं पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ॥
आर्यसिद्धान्तगोलपादे ॥

(ग) भपञ्जरस्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदैवसिकौ
उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणाम् ॥
आर्यसिद्धान्ते ॥

आभ्यां ज्यौतिषप्रमाणाभ्यां भूभ्रमणं स्पष्टतया प्रतिपादितं भवति ॥

एवमस्माभिर्वेदब्राह्मणज्योतिषां भूभ्रमणे प्रमाणानि प्रदर्शितानि, सत्येवमादित्यगतिवादिभिरुपन्यस्तानि प्रमाणानीत्थं नेयानि—

'द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः' दिवं च पृथिवीं च रश्मिभिः परितो व्याप्नोतीत्यर्थः । न चादित्यगतिवादिनामपि सूर्यस्य द्युलोकपरिभ्रमणमभिमतम् । 'आ सविता देवो याति' इत्यत्र 'आयाति' प्राप्नोतीत्यर्थः । भवन्ति हि भाक्ता अप्येवंविधाः प्रयोगाः, 'ग्राम आयातः', नगर आयातः' इति ॥

यत्तु न्यायवात्स्यायनभाष्ये (१ । १ । ५ न्या० वा० भा०) 'तस्मादादित्यस्य व्रज्या', महाभाष्ये च (अ० २ । २ । ५ भाष्ये) 'कया क्रियया आदित्यगत्या' इत्याद्युक्तं, तत्रापि 'आदित्यगत्या' इत्यत्र "एकशतं षष्ठ्यर्थाः" (अ० १।१।४६ महाभाष्ये) इति कृत्वा ऽत्र 'आदित्यमभिलक्ष्य गतिरादित्यगतिः' इति सम्बन्धसामान्ये षष्ठ्येति ध्येयम् ॥

'यच्च आयं गौः' इति मन्त्रव्याख्याने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामुक्तम् (पृ० २३९), तदपि गोशब्दस्य भूगोलाद्युपलक्षकत्वादयं शब्दस्य पुंल्लिङ्गनिर्देशाच्च सर्वमनवद्यम् । तत्र सूर्यस्य स्वकक्षाभ्रमणम् इतरेषां च तत्सूर्यादिपरिभ्रमणं च यथार्थं योज्यम् ॥

सायणाचार्योऽनेकस्थलेष्वस्य मन्त्रस्य व्याख्याने सूर्यो गच्छतीति प्रतिपादितवान् इति पूर्वमुक्तमस्माभिः । स्वकक्षायां सूर्यो गच्छतीत्यपि नोदलेखि । संशयापन्नेन तेनान्यत्र मन्त्रव्याख्याने भूमिश्चलतीत्यपि प्रतिपादितम्, तद्यथा—

नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं महीमपारां सदने ससत्थ ॥ ऋ० ३ । ३० । ९ ॥ हे इन्द्र ! महीं महतीं अत एवापारां······इषिरां स्थानाभावेन चलन्तीं एवंविधां भूमिं सामनां समनां······(ऋ० ३ । ३० । ९ सायणभाष्ये) ॥

'स्थानाभावेन चलन्तीम्' इत्यत्र का नाम युक्तिः स्यादिति देवा ज्ञातुमर्हन्ति । तदेवं परस्परविरोध एव सायणाचार्यस्य संशयापन्नत्वादिति । ऐतरेयब्राह्मणभाष्यावसरे च तस्य भ्रान्तिरेवेति किमन्यद् वक्तुं शक्यते ॥

यत्तु निरुक्तोक्तमादित्यगतिविषयकं प्रमाणं तत्तु न पृथिव्याः परित आदित्यगतिसाधकम्, तस्य स्वकक्षाभ्रमणे ऽपि चरितार्थत्वात् ॥

एवं वेदादिशास्त्रप्रमाणैर्युक्तिभिश्च पृथिव्या गतेरङ्गीकारे प्रक्रियालाघवहेतोश्च भूभ्रमणमेवात्र निरवद्यमिति विस्तरभिया विरम्यते ॥

१ अग्नि के अन्य कार्य दर्शा कर पूर्वोक्त अर्थ की पुष्टि करते हैं—अब अग्नि के निमित्त से इत्यादि ।

२ अन्वय में आधिदैविक अर्थ दर्शाया है ॥

विशेष वक्तव्य

आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र में 'पृथिवी घूमती है, इस विषय का प्रतिपादन किया है । इस विषय में निघण्टु तथा निरुक्त का प्रमाण भी भाष्य में दर्शाया है ॥

उवट तथा महिधर इस मन्त्र का अग्निपरक व्याख्यान करते हैं । सायणाचार्य ने इसी मन्त्र की व्याख्या (ऋ० १० । १९० । १, अथर्व ६ । ३१ । १, साम उ० ६ प्र । १ अर्द्ध । ११ सू । १ ऋचा, तै० सं० १ । ५ । ३ । १) में सर्वत्र सूर्य

भावार्थः—मनुष्यों को जानना चाहिये कि जिससे यह भूगोल=पृथिवी जल और अग्नि के निमित्त से

पृथिवी के चारों ओर घूमता है और पृथिवी स्थिर है ऐसा लिखा है। ऐ० ब्रा० ५।२३।३ के भाष्य में विनियोगमात्र दर्शाते हुये पृथिवी को स्थिर ही लिखा है॥

सायणभाष्य के अनुगामी नाममात्र के वेद-भाष्यकारों ने भी आंख मून्द कर अपने आचार्य का अनुकरण करते हुये सूर्य पृथिवी के चहुं ओर घूमता है, ऐसा अर्थ किया है। यदि ये सब महानुभाव सूर्य अपनी परिधि पर घूमता है, ऐसा भी लिख देते तो किसी को कोई आपत्ति न होती। उस २ समय की रुढ़िवाद की परम्परा के आधीन होकर ही यह सब भूल हुई है, यही कहा जा सकता है।

अब इस विषय में विचार उपस्थित करते हैं—

सूर्यभ्रमण-वादियों का पूर्वपक्ष

देखिये! आचार्य दयानन्द ने पृथिवीभ्रमण पक्ष को मानकर जो प्रमाण दिये हैं, वह उक्त बात सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि जहां निरुक्त के प्रमाण से गौ पृथिवी का नाम है, तो उसी निरुक्त के प्रमाण से गौ सूर्य का भी तो नाम है (निरु० २।५ तथा २।१४)। जब सूर्य का भी नाम गौ है, तो फिर इस मन्त्र में गौ से पृथिवी अर्थ लिया जावे सूर्य नहीं, इसमें कोई नियामक न रहा। क्योंकि कहा भी है—

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकस्तत्रानुयोक्तव्यः सम्यगर्थविनिर्णये॥

अतः 'आयं गौः' इस प्रकृत मन्त्र से पृथिवी-भ्रमण सिद्ध नहीं होता, अपि तु सूर्यभ्रमण सिद्ध होता है॥

(२) सूर्यभ्रमण में अन्य भी बहुत से प्रमाण हैं—अथर्व ६।८।३ में 'सद्यः पर्येति सूर्यः' का अर्थ सूर्य द्यावापृथिवी की अतिशीघ्र परिक्रमा करता है। इसी प्रकार ऋ० १।३५।२, ३ में 'सविता देवो याति' "सूर्य भगवान् चलता है" स्पष्ट ही कहा है॥

इतना ही नहीं, अपितु—

पृथिवीभ्रमण में दोष

(३) पृथिवी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, यदि ऐसा मानेंगे तो ये दोष आवेंगे—

(क) यदि यह माना जावे कि पृथिवी पश्चिम से पूर्व की ओर चलती (घूमती) है, तो पक्षी अपने घोंसलों से निकल कर जब आकाश में आहार के लिये उड़ जायेंगे, तो लौटते समय उन पक्षियों को अपने २ गृह (घोंसले) न मिल सकेंगे क्योंकि इतनी देर में तो पृथिवी कहीं की कहीं आगे निकल जायेगी, पक्षी आकाश में पीछे रह जावेंगे॥

(ख) और भी—पताका और ध्वजादि पश्चिम की ओर ही उड़ती हुई सदा दिखाई देनी चाहियें, पर ऐसा नहीं होता, उत्तर की वायु आने पर दक्षिण दिशा में उड़ते हुये दिखाई देते हैं। यदि कोई कहे कि पृथिवी अति धीरे धीरे २ चलती है, ऐसी अवस्था में एक ही दिन में पृथिवी अपनी परिधि पर नहीं घूम सकती तथा रात्रि और दिन ठीक २ नहीं बन सकेंगे॥

(ग) पृथिवी के भ्रमण से मकानों और बड़े महलों, मन्दिरों वा स्तूपादि के शिखर कभी नीचे कभी ऊपर होने से गिर पड़ेंगे॥

उत्तरपक्ष

पूर्वपक्षी की सूर्यभ्रमण में दर्शाई युक्तियों तथा वैदिक प्रमाणों पर हम पीछे प्रकाश डालेंगे, प्रथम हम पृथिवीभ्रमण में ऊपर दर्शाये दोषों का समाधान उपस्थित करते हैं—

(१) (क) आप का दर्शाया पहिला हेतु ठीक नहीं, क्योंकि पृथिवी जब घूमती है तो उस में जो वेग है वह पक्षिगण तथा उनके घोंसलों में भी विद्यमान है। क्योंकि पृथिवी के ऊपर जो एक वायु का चक्र रहता है जिसके कारण कि पृथिवी छिन्न भिन्न नहीं होती, वह चक्र पृथिवी के साथ २ ही रहता है। जितने वेग से घोंसले पूर्व की ओर जाते हैं उतने ही वेग से पक्षी भी घूमते रहते हैं, वह उस गति को जान नहीं सकते जैसे तीव्र गति से

उत्पन्न हुई अन्तरिक्ष वा अपनी कक्षा अर्थात् योनिरूप जलके सहित आकर्षणरूपी गुणों से सबकी रक्षा करनेवाले

चलने वाली बन्द गाड़ी में पुरुष वेग को अनुभव नहीं करता। चलती गाड़ी में उसी डिब्बे में जहाँ चाहे इधर उधर चलता फिरता भी रहता है। इसी प्रकार आकाश में भी पृथिवी का वेग बना रहता है, उसी से पक्षी और घोंसले भी चलते रहते हैं। वैज्ञानिकों ने इस वेग की परिधि ४००० मील तक मानी है॥

(ख) पताका तथा ध्वजादि के प्रत्येक अंश वा परमाणु में पृथिवीभ्रमण का वेग बराबर रहता है। इसी से पताकादि पश्चिम की ओर उड़ते हुये दिखाई नहीं देते। जैसे गाड़ी के बन्द डिब्बे में उसके अन्दर वाली पताकायें डिब्बे की वायु के वेग के साथ२ होने से उलटी दिशा में नहीं उड़तीं। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये॥

(ग) यह ऊंचा है, यह नीचा है, यह कल्पना भी तो पृथिवी के आश्रित ही है। पृथिवी के एक भाग के दूसरी ओर हो जाने पर भी मकान-छत्तें-शिखरादि आकाश की ओर ऊंचे होंगे, पृथिवीगत आकर्षण से इन में कुछ भेद नहीं आवेगा, न वे गिर सकेंगे॥ अतः पृथिवी के भ्रमण करते हुये भी उपर्युक्त सब शिखरादि आकाश की ओर ही रहेंगे, न कि पृथिवी की ओर गिर पड़ेंगे॥

सूर्यभ्रमण में दोष

(२) युक्तिद्वारा भी सूर्यभ्रमण (पृथिवी के चारों ओर) सिद्ध नहीं होता, जैसा कि—

(क) पृथिवी की आह्निकी (प्रतिदिन की) तथा वार्षिकी (वर्ष भर की) दो प्रकार की गति हैं, जिन से दिनरात तथा छः ऋतुएं बनती हैं। निरन्तर घूमती हुई पृथिवी का जो भाग सूर्य के सामने रहता है उसमें दिन तथा दूसरे भाग में रात्रि होती है। यदि माना जावे कि २४ घण्टे में सूर्य पृथिवी के चारों ओर चक्कर लगाता है, तो सूर्य का उदय अवश्य ही प्रतिदिन ठीक पूर्व दिशा में पृथिवी के एक नियत स्थान पर ही होना चाहिये, इसी प्रकार अस्त भी, ऐसा होता नहीं। वर्ष में केवल दो दिन ही सूर्य ठीक पूर्वदिशा में (भूमध्य रेखा पर) उदय तथा ठीक पश्चिमदिशा में अस्त होता हुवा दृष्टिगोचर होता है॥

(ख) और सूर्य के चारों ओर यह पृथिवी-भ्रमण प्रत्यक्ष भी है, जब कोई पदार्थ घूमता है तो उसका वेग अपने केन्द्रस्थान (ठीक बीच) की अपेक्षा दूरतर स्थान में अधिक होता है। इसी लिये यदि किसी बहुत ऊंचे स्तूप (मीनार) से कोई वस्तु गिराई जावे, तो वह वस्तु कुछ दूर पूर्वांश में गिरेगी, जहां से गिराई जावे उस स्थान से ठीक नीचे नहीं। इसी से हम अनुमान करते हैं कि पृथिवी पश्चिम से पूर्व की ओर जाती है॥

(ग) बहुतसे नक्षत्र वर्ष में एक दिन अथवा वर्ष के नियत भाग में प्रकाशित होते दिखाई देते हैं, और दूसरे नियत समय में अस्त होते देखे जाते हैं, वर्ष भर के पश्चात् वे फिर ठीक वहीं दिखाई देते हैं। अन्य भी कई एक नक्षत्र उनके स्थान पर उदय और अस्त होते दिखाई देते हैं। यह सब पृथिवी के सूर्य के चारों ओर वर्ष भर में घूमने से ही सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं॥

(३) वैदिक प्रमाण—अब पृथिवीभ्रमण में दर्शाते हैं—

(क) अथर्व० १२।१।५२ में स्पष्ट है कि—'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता' वार्षिकगति से (वर्ष भर में) पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्र काट कर लौट आती है॥ 'अहोरात्रे विहिते' प्रतिदिन की गति भी इसी से सिद्ध है॥

(ख) ऋ० ८।१०१।१४ से स्पष्ट है कि सूर्य बहुत बड़ा है और सब के मध्य में स्थित है। पृथिव्यादि उसके चारों ओर घूमते हैं॥

(ग) ऋ० १०।६५।६ में गौ अर्थात् पृथिवी अपने मार्ग पर घूमती हुई सूर्य के चारों ओर जाती है। आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० १४१ में किया है, पाठक उसे भी देखें॥

(घ) ऋ० १०।२२।१४ में विना हाथ पांव के पृथिवी सूर्य (शुष्ण) की चारों ओर प्रदक्षिणा करती है, ऐसा प्रतिपादन है॥

सूर्य के चारों तरफ क्षण २ घूमती है, इसीसे दिन रात्रि शुक्ल वा कृष्ण पक्ष ऋतु और अयन आदि कालविभाग क्रम से संभव होते हैं ॥ ६ ॥

(ङ) य० ८।९–मैं सूर्य को दोनों ओर देखता हूँ, पूर्व भी तथा पश्चिम भी, अर्थात् सूर्य पूर्व वा पश्चिम जाता है वा घूमता है यह बात नहीं, अपितु वह घूमता है ऐसा मैं समझता हूँ, घूमते देखना वा प्रतीत होना मेरी दृष्टिदोष से सम्बन्ध रखता है, वस्तुतः सूर्य घूमता नहीं ॥

(च) ऋ० १। १६४। १७—यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर जाती है। इसके पिछले आधे भाग में सदा अन्धकार तथा सामने आधे भाग में सदा प्रकाश बना रहता है। बीच में सब पदार्थ हैं, यह पृथिवी माता के समान रक्षा करती है ॥

(छ) ऋ० २। ११। २० जैसे सूर्य चक्र को पैदा करता है अर्थात् सूर्य पृथिवी आदि के चक्रोत्पन्न होने में हेतु है, स्वयं चक्र नहीं करता ॥

उपर्युक्त वेद के सब प्रमाणों से पृथिवी का भ्रमण स्पष्ट सिद्ध है ॥

(४) इस विषय में हमने ऐ० ब्रा० अ० १४। खं० ६ तथा गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्द्ध ४। १० के जो प्रमाण संस्कृत में दिखाये हैं पाठक देखें कि वे सूर्य के प्रकाश की भांति कितने स्पष्ट हैं। वहां स्पष्ट लिखा है कि 'यह सूर्य न कभी अस्त होता है, न उदय होता है। उसे जो पश्चिम में अस्त या पूर्व में उदय होता है, ऐसा समझते हैं, वे अपने आपको भूल में डाल रहे हैं' ॥ वेद की इस प्राचीन व्याख्या के अनुसार तो इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। आदित्यगति मानने वालों के पक्ष में ही "सूर्य पश्चिम में जाकर अस्त हो गया, अब पूर्व दिशा में उदित हो रहा है" मुख्य वृत्ति से ऐसा व्यवहार हो सकता है। पृथिवीभ्रमणवादी तो गाड़ी में बैठे पीछे दौड़ते हुये वृक्षों को "वृक्ष दौड़ रहे हैं" इस व्यवहार के समान उपचार से ही कहते हैं, न कि वस्तुतः। उनका ऐसा कहना या तो उपचार से बनता है या अज्ञानवश। अतः ब्राह्मण के उपर्युक्त दोनों प्रमाणों से सूर्यभ्रमण का खण्डन तीव्रता से किया गया है, यही समझना चाहिये ॥

(५) अब ज्योतिःशास्त्र के प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(क) पृथिवी की गति कलात्मिका होती है अर्थात् कला २ करके चलती है। आधुनिक ज्योतिष् के ग्रन्थकारों ने अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये 'प्राणेनैति कलां भूः' के स्थान में "प्राणेनैति कलां भम्" ऐसा पाठ बदल दिया है ॥

(ख) आचार्य आर्यभट्ट अपने आर्यभटीय ग्रन्थ में पृथिवी का चलना मानते हैं। 'अनुलोमगतिनौंस्थः०' इसका अभिप्राय यह है कि—जैसे चलती हुई नाव पर बैठे हुये मनुष्य को नाव स्थिर और किनारे के पेड़, घर आदि उलटी दिशा में चलते हुये दिखाई पड़ते हैं, इसी तरह नक्षत्रचक्र अचल होने पर भी घूमने वाली पृथिवी पर के रहने वाले मनुष्यों को पश्चिम की ओर घूमता हुवा देख पड़ता है ॥

(ग) सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही बार २ अपनी धुरी पर घूम कर प्रतिदिवस इनके उदय और अस्त का सम्पादन करती है, प्रमाण संस्कृत में देखें ॥

ज्योतिष् के इन प्रमाणों से पृथिवी का भ्रमण स्पष्ट सिद्ध है ॥

इस प्रकार हम ने वेद, ब्राह्मण तथा वेदाङ्ग ज्योतिष् के प्रमाण पृथिवीभ्रमण विषय में दर्शाये। अब आदित्यगति विषय में दर्शाये प्रमाणों के विषय में विचार उपस्थित करते हैं—

"द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः" यहां सूर्य द्युलोक तथा पृथिवीलोक को प्राप्त होता है ऐसा अर्थ है। क्योंकि यह तो सूर्यभ्रमणवादी भी नहीं मानते कि सूर्य द्युलोक का परिभ्रमण करता है ॥

'आ सविता देवो याति' इसमें 'आयाति' का अर्थ 'प्राप्नोति' 'प्राप्त होता है' ऐसा है। क्योंकि ऐसे गौण प्रयोग देखे जाते हैं जैसे—'ग्राम आगया' 'नगर आगया' ॥

अन्तरित्यस्य सर्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः । अग्निर्देवता । [विराड्] गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

सोऽग्निः कथंभूत इत्युपदिश्यते[1] ॥

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥ ७ ॥

अन्तरित्यन्तः । चरति । रोचना । अस्य । प्राणात् । अपानतीत्यपऽअनती । वि । अख्यत् । महिषः । दिवम् ॥७॥

पदार्थः—(अन्तः) ब्रह्माण्डशरीरयोर्मध्ये । (चरति) गच्छति । (रोचना) दीप्तिः । (अस्य) अग्नेः । (प्राणात्) ब्रह्माण्डशरीरयोर्मध्य ऊर्ध्वगमनशीलात् (अपानती[2]) अपानमधोगमनशीलं वायुं

जो न्यायवात्स्यायन भाष्य (१ । १ । ५ न्या० वा० भा०) तथा महाभाष्य (अ० २ । २ । ५ भाष्य) में सूर्य की गति कही है, वहां 'आदित्यगति' से आदित्य को लक्षित करके पृथिवी की जो गति वह उपचार से आदित्यगति कही जाती है ॥

जो 'आयं गौः' इस मन्त्र के व्याख्यान में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० १३९ में अन्य लोकों का भ्रमण भी कहा है, वह गो शब्द से भूगोलादि के उपलक्षण से तथा 'अयं' इस पुल्लिङ्ग प्रयोग से सब ठीक है । वहां सूर्य का अपनी कक्षा में तथा अन्यों का सूर्य के चारों ओर भ्रमण यथाक्रम समझना चाहिये ॥

सायणाचार्य ने इस मन्त्र के व्याख्यान में अनेक स्थलों में सूर्य पृथिवी के चारों ओर भ्रमण करता है, ऐसा निरूपण किया है, यह हम पहिले कह चुके हैं । सूर्य अपनी कक्षा पर घूमता है, यदि ऐसा भी लिख देते तो कोई आपत्ति न होती । संशययुक्त आचार्य सायण ने एक अन्य मन्त्र के व्याख्यान में भूमि चलती है, ऐसा भी लिखा है— 'नि सामनामिषिरामिन्द्र भूमिं' (ऋ० ३ । ३० । ९) के भाष्य में 'इषिरां स्थानाभावेन चलन्तीं एवंविधां भूमिं' 'स्थानाभाव से चलती हुई इस प्रकार की भूमि को' ऐसा अर्थ किया है । 'स्थानाभाव से 'चलती हुई' यह क्या युक्ति है सो विद्वान् ही स्वयं विचारें ॥ इस प्रकार सायणाचार्य ने भूभ्रमण में संशययुक्त होने से परस्पर विरुद्ध ही लेखन किया है । ऐतरेयब्राह्मण के भाष्य में तो उनकी भ्रान्ति स्पष्ट ही है ॥

जो निरुक्त में 'आदित्योऽपि गौरुच्यते' (निरु० २ । ५) इत्यादि कहा, वह सूर्य के चारों ओर पृथिवी घूमती है, इसका साधक नहीं; अपितु 'अपनी कक्षा में सूर्य घूमता है' इस बात का द्योतक है ॥ वेङ्कटमाधव की ऋग्वेदानुक्रमणी ३ । ६ । १३ में 'गमनात् पृथिवी गौः' चलने से पृथिवी को गौ कहते हैं, यह हम पदार्थटिप्पण में दर्शा चुके हैं ॥

इस प्रकार वेदादि सच्छास्त्रों के प्रमाणों, से, युक्ति से तथा पृथिवीभ्रमण में प्रक्रिया के लाघव से भी यही सिद्ध है कि पृथिवी ही सूर्य के चारों ओर घूमती है न कि सूर्य पृथिवी के चारों ओर । अतः पृथिवीभ्रमण ही निर्दोष पक्ष है । विस्तारभय से हम अब इतना लिखना ही पर्याप्त समझते हैं । विद्वन्महानुभाव इस विषय में स्वयं विस्तार से समझ सकते हैं ॥ ६ ॥

इति भूभ्रमणे टिप्पणम् ॥

---

१ तस्याग्नेः स्वरूपान्तरं कार्यान्तरं चाह—

२ अग्निरपानः ॥ जै० उ० ब्रा० ४ । २२ । ९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अन्तः) अव्युत्पन्नपक्षे प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । व्युत्पन्नपक्षे तु अमेस्तुट् च (उ० ५ । ६०) इति 'अरन्' प्रत्ययः । आद्युदात्तत्वप्राप्तौ उञ्छादीनां च (अ० ६ । १ । १६०) इत्यन्तोदात्तः ॥

(रोचना) 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' (भ्वा० आ०) एतस्माद् धातो रोचत इति रोचना, अनुदात्तेतश्च हलादेः (अ० ३ । २ । १४९) इति युच् । यद्वा बहुलमन्यत्रापि (उ० २ । ७८) इति युच् प्रत्ययः । चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

निष्पादयन्ती विद्युत्। (वि) विविधार्थे। (अख्यत्) ख्यापयति, अत्र लडर्थे लुङन्तर्गतो ण्यर्थश्च। (महिषः) स्वगुणैर्महान्। (दिवम्) सूर्यलोकम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—* अस्याग्नेःप्राणादपानती सती रोचना दीप्तिर्विद्युच्छरीरब्रह्माण्डयोरन्तश्चरति। स महिषोऽग्निर्दिवं व्यख्यत् विख्यापयति ॥ ७ ॥

भावार्थः—मानवैर्या † ग्नेर्विद्युदाख्या सर्वान्तःस्था कान्तिर्वर्तते सा प्राणापानाभ्यां सह संयुज्य सर्वान् प्राणापानाग्निप्रकाशगत्यादीन् चेष्टाव्यवहारान् प्रसिद्धीकरोतीति बोध्यम् ॥ ७ ॥

वह अग्नि कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—(अस्य) जिस अग्निकी (प्राणात्) ब्रह्माण्ड और शरीर के बीच में ऊपर जानेवाले वायुसे (अपानती) नीचे को जाने वाले वायु को उत्पन्न करती हुई (रोचना) दीप्ति अर्थात् प्रकाशरूपी बिजुली (अन्तः) ब्रह्माण्ड और शरीर के मध्य में (चरति) चलती है, वह (महिषः) अपने गुणों से बड़ा अग्नि (दिवम्) सूर्यलोकको (व्यख्यत्) प्रगट करता है[३] ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जानना चाहिये कि जो विद्युत् नाम से प्रसिद्ध सब मनुष्यों के अन्तःकरण तथा सब पदार्थों ‡ में रहनेवाली जो अग्निकी कान्ति है, वह प्राण और अपान वायु के साथ युक्त होकर प्राण अपान, अग्नि के प्रकाश और गति आदि चेष्टाओं के व्यवहारों को प्रसिद्ध करती है ॥ ७ ॥

त्रिंशद्धामेत्यस्य सर्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[४] ॥

त्रिँशद्धाम॒ वि रा॑जति॒ वाक् प॑त॒ङ्गाय॑ धीयते। प्रति॒ वस्तो॒रह॒ द्युभिः॑ ॥ ८ ॥

त्रिँश॑त्। धाम॑। वि। रा॒ज॒ति॒। वाक्। प॒त॒ङ्गाय॑। धी॒य॒ते॒। प्रति॑। वस्तोः॑। अह॑। द्युभि॒रिति॒ द्युऽभिः॑ ॥ ८ ॥

(अस्य) ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (अ० ६ । १ । १७१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(अपानती) अपानितीत्यपपूर्वादनितेः शतृप्रत्ययस्ततो ङीप्। शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति 'ती' उदात्तः ॥

(महिषः) महति पूजयति स्वपुरुषार्थेनेति महिषः, अविमह्योष्टिषच् (उ० १ । ४५) इति टिषच् प्रत्ययः। चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अधियज्ञाधिदैविकार्थपरोऽयमर्थः ॥ ७ ॥

२ उस अग्नि के अन्य स्वरूप तथा कार्य कहते हैं—

३ अधियज्ञ तथा आधिदैविक अर्थपरक यहां अन्वय है ॥ ७ ॥

४ पूर्वोक्तमर्थं पोषयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(त्रिंशत्) पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्० (अ० ५ । १ । ५९) इत्यादिना 'शत्' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥ यद्वा प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(पतङ्गाय) पतति गच्छतीति पतेरङ्गच् पक्षिणि (उ० १ । ११९) इति 'अङ्गच्' प्रत्ययः। चित्स्व-

* 'यास्याग्नेः' इति तु अ० मुद्रितपाठः ॥ † 'योऽग्निर्वि०' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'तथा सब पदार्थों' इति पाठः क. कोश उपलभ्यमानः ख, ग, प्रमादत्यक्तः ॥

पदार्थः—(त्रिंशत्) पृथिव्यादीनि त्रयस्त्रिंशतो वस्वादीनां देवानां मध्ये पठितानि । अन्तरिक्षमादित्यमग्निं च विहाय त्रिंशत्संख्याकानि । (धाम) दधति येषु तानि धामानि । अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति शसो लुक् । (वि) विशेषार्थे । (राजति) प्रकाशयति, अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । (वाक्) उच्यते यया सा । वागिति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ । (पतङ्गाय) पतति गच्छतीति पतङ्गस्तस्मा अग्नये । (धीयते) † धार्यताम् । (प्रति) वीप्सायाम् । (वस्तोः) दिनं दिनम् । वस्तोरित्यहर्नामसु पठितम् । निघ० १ । ९ । (अह) विनिग्रहार्थे । अह इति विनिग्रहार्थीयः । निरु० । १ । ५ । (द्युभिः) प्रकाशादिगुणविशेषैः । दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनाम् । निरु० १३ । २५ ॥ ८ ॥

अन्वयः—※ योऽग्निर्द्युभिः प्रतिवस्तोस्त्रिंशद्धाम धामानि विराजति प्रकाशयति, तस्मै पतङ्गाय पतनपातनादिगुणप्रकाशिताय प्रतिवस्तोः प्रतिदिनं विद्वद्भिरह वाग् [धीयते] धीयताम् ॥ ८ ॥

भावार्थः— या वाणी ‡ प्राणयुक्तशरीरस्थेन विद्युदाख्येनाग्निना नित्यं प्रकाश्यते, सा तद्गुणप्रकाशाय विद्वद्भिर्नित्यमुपदेष्टव्या श्रोतव्या चेति ॥ ८ ॥
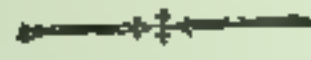
फिर वह अग्नि कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—§ जो अग्नि (द्युभिः) प्रकाश आदि गुणों से (प्रतिवस्तोः) प्रतिदिन (त्रिंशत्) अन्तरिक्ष आदित्य और अग्नि को छोड़ के पृथिवी आदि जो तीस (धाम) स्थान हैं, उनको (विराजति) प्रकाशित करता है, उस (पतङ्गाय) चलने चलाने आदि गुणों से प्रकाशयुक्त अग्नि के लिये प्रतिदिन विद्वानों को (अह) अच्छे प्रकार (वाक्) वाणी (धीयते) अवश्य धारण करनी चाहिये[3] ॥ ८ ॥

रेणान्तोदात्तस्ततो विभक्त्यनुदात्तत्वे स्वरितत्वम् ॥ 'पक्षिणीत्युच्यमानेऽपि बाहुलकात् पतङ्गः सूर्योऽग्निश्च' इत्युणादिवृत्तौ प्रदर्शयत आचार्यैः ॥ अपरेऽपि—'पक्षिग्रहणमनर्थकम्, सूर्येऽपि दर्शनात्' इति । श्वेतवनवासी—उणादिवृत्तौ पृ० ४५ ॥

(वस्तोः) वस्ते (अदा० आ०) आच्छादयतीति ज्योतिः । व्यत्ययेन कर्त्तरि तोसुन् (अ० ३ । ४ । १३)......'वस्तोरितीदशमेवेदं नाम न विभक्त्यन्तरम्' इति देवराजः पृ० ५४ ॥

तोसुन्प्रत्यये ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अह) निपाताद्युदात्तः ॥

(द्युभिः) दिव्शब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, ततः ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (अ० ६ । १ । १७१) इति विभक्त्युदात्तत्वे प्राप्ते दिवो झल् (अ० ६ । १ । १८३) इति विभक्तिर्नोदात्तेति कृत्वाद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आधिदैविकाधियज्ञपरोऽयमन्वयः ॥ ८ ॥

२ पूर्वोक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं ॥

३ यहां अन्वय में अधियज्ञ तथा आधिदैविक अर्थ है ॥ ८ ॥

---

† 'धार्यते' इति क. ख. ग. पाठः ॥

※ अत्र 'मनुष्यैर्योऽग्निः' इति पाठः अजमेरमुद्रिते । स च व्यस्तः, क. ख. ग. कोशेषु च नास्ति ॥

‡ 'प्राणयुक्तेन शरीरस्थेन' इति सर्वकोशेषु अ० मु० च पाठः, स चापपाठः ॥

§ 'मनुष्यों को जो अग्नि' इति अ० मु० पाठः । क. ख. ग. कोशेषु च नास्ति ॥

भावार्थः—जो वाणी प्राणयुक्त शरीर में रहनेवाले बिजुलीरूप अग्नि से प्रकाशित होती है, उसके गुणों के प्रकाश के लिये विद्वानों को उपदेश वा श्रवण नित्य करना चाहिये ॥ ८ ॥

अग्निरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। अग्निसूर्यौ देवते। † पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥
ज्योतिरित्यस्य याजुषी पङ्क्तिश्छन्दः ‡ पञ्चमः स्वरः॥

अथाग्निसूर्यौ कीदृशावित्युपदिश्यते[1]॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।
अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।
ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥ ९ ॥

अग्निः। ज्योतिः। ज्योतिः। अग्निः। स्वाहा। सूर्यः। ज्योतिः। ज्योतिः। सूर्यः। स्वाहा॥ अग्निः। वर्चः। ज्योतिः। वर्चः। स्वाहा। सूर्यः। वर्चः। ज्योतिः। वर्चः। स्वाहा॥ ज्योतिः। सूर्यः। सूर्यः। ज्योतिः। स्वाहा॥ ९ ॥

पदार्थः—(अग्निः) परमेश्वरः[2]। (ज्योतिः) सर्वप्रकाशकः[3]। (ज्योतिः) प्रकाशमयः। शिल्पविद्यासाधनप्रकाशकः। (अग्निः) भौतिकः। अग्निरिति पदनामसु पठितम्। निघ० ५। ४। अनेनाग्नेर्गत्यर्थत्वेन ज्ञानस्वरूपत्वादीश्वरः, प्राप्तिहेतुत्वाद्भौतिकोऽर्थो वा गृह्यते। (स्वाहा) सुष्ठु सत्यमाह यस्यां वाचि सा। स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १। ११॥ (सूर्यः) चराचरात्मा। यः सरति जानाति चराचरं जगत् स जगदीश्वरः। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। यजु० ७। ४२। अनेन सर्वस्यान्तर्यामी परमेश्वरोऽर्थो गृह्यते। (ज्योतिः) सर्वात्मप्रकाशको वेदद्वारा सकलविद्योपदेशकः। (ज्योतिः) पृथिव्यादिमूर्तद्रव्यप्रकाशकः। (सूर्यः) यः सुवति स्वप्रकाशेन प्रेरणाहेतुर्भवति स सूर्यलोकः। सूर्य इति पदनामसु पठितम्। निघ० ५। ६। अनेन ज्ञापकेनेश्वरो, व्यवहारसिद्धेः प्राप्तिहेतुत्वात् सूर्यलोको वा गृह्यते। (स्वाहा) स्वा स्वकीया हृदयस्था वाग् यदाह तदेव सत्यं वाच्यं नानृतमित्यस्मिन्नर्थे। (अग्निः) सर्वविद्योपदेष्टा। (वर्चः)

१ सूर्यस्याग्निमयत्वाद् भौतिकत्वाच्चोभयोः स्वरूपवर्णनपूर्वकं सादृश्यमाह—

२ अग्निरेव ब्रह्म॥ श० १०। ४। १। ५॥
ब्रह्म वा अग्निः॥ कौ० ९। १। ५॥ १२। ८॥

३ सुवर्गो वै लोको ज्योतिः॥ तै० १। २। २। २॥

४ एष वै ब्रह्मणस्पतिः य एष (सूर्यः) तपति॥ श० १४। १। २। १५॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

सर्वाणि पदानि पूर्वमन्त्रेषु व्याख्यातानि तत एव द्रष्टव्यानि॥

(स्वाहा) अव्युत्पन्नप्रातिपदिकं चादिषु पाठान्निपातात्युदात्तत्वम्॥ व्युत्पत्तिपक्षे तु छान्दसत्वादिष्टस्वरसिद्धिः। या व्युत्पत्तिस्तु निरुक्तकारेण प्रदर्शिता, सा स्वर्थप्रदर्शनपरैवेति ध्येयम्॥

यत्तूवटः—"अथवा स्वस्याहानमस्तु। हानं हाः, न हा अहाः, स्वस्य अहा अपरित्यागः, आत्मनो द्रव्यस्य वेति" इत्याह। अर्थस्तु शोभनोऽयमपि, परञ्च समासस्य (अ० ६। १। २२३) इत्यन्तोदात्तत्वप्राप्तौ छान्दसव्यत्ययमस्वीकुर्वता कथमत्र स्वरसिद्धिरिति त एवानुयोक्तव्याः॥

(वर्चः) 'वर्च दीप्तौ' (भ्वा०) इत्यस्माद् सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८९) इति 'असुन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

† 'बृहतीच्छन्दः' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः॥ ‡ 'मध्यमः स्वरः' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः॥

वर्चन्ते दीप्यन्तेऽनेन तद् वर्चो विद्याप्रापणम् । (ज्योतिः) सकलपदार्थप्रकाशनम् । (वर्चः) विद्याव्यवहारप्रापकम् । (स्वाहा) मनुष्यैः स्वकीयान् पदार्थान् प्रति ममेति वाच्यं नान्यपदार्थान् प्रतीत्यस्मिन्नर्थे । (सूर्यः) सकलविद्यादिव्यवहारप्रापकत्वेन वर्तमानः प्राणादिसमूहो वायुगुणः । (वर्चः) प्रकाशकं विद्युत्सूर्यप्रसिद्धाग्न्याख्यं तेजः । (ज्योतिः) सर्वव्यवहारप्रकाशकम् । [(*वर्चः) चक्रवर्त्यादिराज्यदीपकं (स्वाहा) होतव्यं हविर्नित्यं मनुष्यैर्होतव्यम्] (ज्योतिः) सत्यप्रकाशकः । (सूर्यः) सर्वव्यापक ईश्वरः । [(†सूर्यः) प्रकाशमयः सूर्यलोकः (ज्योतिः) चक्षुर्व्यवहारप्रकाशकम्] (स्वाहा) वेदवाणी यज्ञक्रियामाहेत्यस्मिन्नर्थे । स्वाहाशब्दार्थं निरुक्तकार एवं समाचष्टे । स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा निरु० ८ । २० ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । १ । १—३६ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अग्निर्जगदीश्वरः स्वाहा ज्योतिः सर्वस्मै ददाति । एवं भौतिकोऽग्निः सर्वप्रकाशकं ज्योतिर्ददाति । सूर्यश्चराचरात्मा स्वाहा ज्योतिः सर्वात्मसु ज्ञानं ददाति, [एवम] यं [सूर्यः] सूर्यलोको ज्योतिर्दानं मूर्तद्रव्यप्रकाशनं च करोति । सर्वविद्याप्रकाशकोऽग्निर्जगदीश्वरो मनुष्यार्थं सर्वविद्याधिकरणं [स्वाहा] वर्चो वेदचतुष्टयं प्रादुर्भावयति, एवं ज्योतिर्विद्युदाख्योऽयमग्निः शरीरब्रह्माण्डस्थो वर्चो विद्यावृष्टिहेतुर्भवति । सूर्यः सकलविद्याप्रकाशको जगदीश्वरः सर्वमनुष्यार्थं स्वाहा ‡ वर्चः प्रकाशकं विद्युत्सूर्यप्रसिद्धाग्न्याख्यं तेजः करोति । एवं ज्योतिः सूर्यलोकोऽपि वर्चः शरीरात्मबलं प्रकाशयति । सूर्यः प्राणो ज्योतिः सकलविद्याप्रकाशकं ज्ञानं कारयति । तथाऽयं ज्योतिः ज्योतिर्मयः सूर्यो जगदीश्वरः स्वाहा स्वाहुतं हविः स्वसृष्टपदार्थेषु स्वशक्त्या सर्वत्र प्रसारयति ॥ ९ ॥

भावार्थः— स्वाहाशब्दार्थो निरुक्तकाररीत्यात्र गृहीतः । ईश्वरेणाऽग्निना कारणेनाग्न्यादिकं जगत् प्रकाश्यते । तत्राग्निः स्वप्रकाशेन स्वं स्वेतरं विश्वं च प्रकाशयति । परमेश्वरो वेदद्वारा सर्वा विद्याः प्रकाशयत्येवमग्निसूर्यावपि शिल्पादिविद्याः प्रकाशयत इति ॥ ९ ॥

अग्नि और सूर्य्य कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

पदार्थः—[जैसे] (अग्निः) परमेश्वर (स्वाहा) सत्यकथन करनेवाली वाणी को (ज्योतिः) विज्ञान प्रकाश से युक्त करके सब मनुष्यों के लिये विद्या को देता है, इसी प्रकार (अग्निः) प्रसिद्ध अग्नि (ज्योतिः) शिल्पविद्यासाधनों के प्रकाश को देता है [जैसे] (सूर्यः) चराचर सब जगत् का आत्मा परमेश्वर (ज्योतिः) सबके

---

१ सर्वप्रक्रियाद्योतनपरोऽयमन्वयः ॥

वि० वक्तव्यम्

(क) मन्त्रोऽयं भागशो मैत्रायणीसंहितायाम् आधानप्रकरणे (मै० १ । ६ । १०), अग्निहोत्रप्रकरणे (मै० १ । ८ । १५) चयनप्रकरणे च (मै० २ । ८ । १६) विनियुज्यते ॥ कात्यायनश्रौतसूत्रे त्वग्निहोत्रप्रकरण एव (का० ४ । १४) विनियुक्त इति ध्येयम् ॥

(ख) मन्त्रोऽयं पञ्चमहायज्ञविधावृग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० २६४-२६५) चापि सुव्याख्यातस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

२ सूर्य के अग्निमय तथा भौतिक होने से स्वरूपवर्णनपूर्वक दोनों का सादृश्य दर्शाते हैं—

* '(वर्चः)……होतव्यम्' इति पाठः 'क' पुस्तके वर्तमानः ख. ग. कोशयोः प्रमादेन त्यक्तः ॥
† '(सूर्यः)……प्रकाशकम्' इति पाठः 'क' पुस्तके वर्तमानः ख. ग. कोशयोः प्रमादेन त्यक्तः ॥
‡ इतो ऽग्रे अ० मुद्रिते 'ज्योतिः' इत्यधिकः पाठः । तथा चाग्रे 'तथा ऽयं ज्योतिः ज्योतिर्मयः' इत्यत्र 'ज्योतिः' इति नास्ति ॥

आत्माओं में प्रकाश वा ज्ञान तथा सब विद्याओं का उपदेश करता है कि (स्वाहा) मनुष्य जैसा अपने हृदय से जानता हो वैसा ही बोले वैसे (सूर्यः) अपने प्रकाश से प्रेरणाका हेतु सूर्यलोक (ज्योतिः) मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करता है ॥ [जैसे] (अग्निः) सब विद्याओं का प्रकाश करने वाला परमेश्वर मनुष्यों के लिये [(स्वाहा)] (वर्चः) सब विद्याओं के अधिकरण चारों वेदों को प्रकट करता है, वैसे (ज्योतिः) बिजुलीरूप से शरीर वा ब्रह्माण्डमें रहनेवाला अग्नि (वर्चः) विद्या और वृष्टिका हेतु है ॥ (सूर्यः) जो सब विद्याओं का प्रकाश करनेवाला जगदीश्वर सब मनुष्यों के लिये (स्वाहा) वेदवाणी से (वर्चः) सकल विद्याओं का प्रकाश और बिजुली, सूर्य, प्रसिद्ध और अग्नि नाम के तेज का प्रकाश करता है, तथा जो (ज्योतिः) सूर्यलोक भी (वर्चः) शरीर और आत्माओं के बलका प्रकाश करता है जैसे (सूर्यः) प्राणवायु (ज्योतिः) सकल विद्या के प्रकाश करने वाले ज्ञान को बढ़ाता है, और (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप [सूर्यः] जगदीश्वर [स्वाहा] अच्छे प्रकार से हवन किये हुए पदार्थों को अपने रचे हुए पदार्थों में अपनी शक्ति से सर्वत्र फैलाता है† ॥

* वही परमात्मा सब मनुष्यों का उपास्यदेव और भौतिक अग्नि कार्य्यसिद्धिका साधन है[1] ॥ ९ ॥

भावार्थः—स्वाहाशब्द का अर्थ निरुक्तकार की रीति से इस मन्त्र में ग्रहण किया है। अग्नि अर्थात् ❀ ईश्वर ने अपने सामर्थ्यरूप कारण से अग्नि आदि सब जगत् को उत्पन्न करके प्रकाशित किया है उनमें से अग्नि अपने प्रकाश से आप वा और सब पदार्थों का प्रकाश करता है, तथा परमेश्वर वेद के द्वारा सब विद्याओं का प्रकाश करता है। इसी प्रकार अग्नि और सूर्य भी शिल्पविद्यादिका प्रकाश करते हैं ॥ ९ ॥

सजूरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। पूर्वार्द्धस्याग्निरुत्तरार्द्धस्य सूर्यश्च देवता।
पूर्वार्द्धस्य गायत्र्युत्तरार्द्धस्य भुरिग्गायत्री च छन्दः। षड्जः स्वरः॥

भौतिकावग्निसूर्यौ कस्य सत्तया वर्तेते इत्युपदिश्यते[2] ॥

सजूर्देवेन॑ सवि॒त्रा स॒जू रात्र्येन्द्र॑वत्या। जु॒षा॒णोऽअ॒ग्निर्वे॑तु स्वाहा॑।
स॒जूर्देवेन॑ सवि॒त्रा स॒जूरु॒षसेन्द्र॑वत्या। जु॒षा॒णः सूर्यो॑ वेतु स्वाहा॑ ॥ १० ॥

स॒जूरिति॑ ‡ स॒ऽजूः। दे॒वेन॑। स॒वि॒त्रा। स॒जूरिति॑ ‡ स॒ऽजूः। रात्र्या॑। इन्द्र॑व॒त्येतीन्द्र॑ऽवत्या। जु॒षा॒णः। अ॒ग्निः। वे॒तु। स्वाहा॑। स॒जूरिति॑ ‡ स॒ऽजूः। दे॒वेन॑। स॒वि॒त्रा। स॒जूरिति॑ ‡ स॒ऽजूः। उ॒षसा॑। इन्द्र॑व॒त्येतीन्द्र॑ऽवत्या। जु॒षा॒णः। सूर्यः॑। वे॒तु। स्वाहा॑ ॥ १० ॥

१ अन्वय में यहाँ तीनों अर्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥

वि० वक्तव्य

(क) यह मन्त्र कई भागों में मैत्रायणीसंहिता के आधान, अग्निहोत्र तथा चयनप्रकरण में विनियुक्त है। कात्यायन श्रौतसूत्र में तो अग्निहोत्रप्रकरण में ही इसका विनियोग है, यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है ॥

(ख) इस मन्त्र का अर्थ पञ्चमहायज्ञविधि, तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृ० २६४, २६५) में किया गया है, सो वहाँ देख लेना चाहिये ॥९॥

२ तौ पूर्वोक्तावग्निसूर्यौ कस्य शक्त्या कार्ये प्रवर्तेते इत्यत आह—

† संस्कृतान्वयानुसारेण कानिचित् पदानि भाषायामस्थान आसन्, सुस्थाने स्थापितान्यस्माभिरिति ध्येयम् ॥
* 'वही परमात्मा'''साधन है'' इति पाठः क. ख. ग. कोशेषु नास्ति इति ध्येयम् ॥
❀ 'ईश्वर ने सामर्थ्य करके कारण से' इति अ. मु. पाठः, क. ख. ग. कोशेषु च ॥
‡ 'सजूः' इत्यवग्रहचिह्नरहितः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(सजूः) यः समानं जुषते सेवते सः । (देवेन) सर्वजगद्द्योतकेन । (सवित्र्या)[1] सर्वस्य जगत उपादकेनेश्वरेणोत्पादितया । (सजूः) यः समानं जुषते प्रीणाति सः । (राज्या) तमोरूपया । (इन्द्रवत्या) इन्द्रो बह्वी विद्युद् विद्यते यस्यां तया । अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । स्तनयित्नुरेवेन्द्रः । शत० १४ । ६ । ६ । ७ । (जुषाणः) यो जुषते सेवते सः । (अग्निः) भौतिकः । (वेतु) व्याप्नोति । अत्र लडर्थे लोट् । (स्वाहा) ईश्वरस्य स्वा वागाहेत्यस्मिन्नर्थे । (सजूः) उक्तार्थः । (देवेन) सूर्यादिप्रकाशकेन । (सवित्र्या) सर्वान्तर्यामिना जगदीश्वरेणोत्पादितया । (सजूः) उक्तार्थः । (उषसा) राज्यवसानोत्पन्नया दिवसहेतुना । (इन्द्रवत्या) सूर्यप्रकाशसहितयोषसा । (जुषाणः) सेवमानः [(सूर्यः)] सूर्यलोकः । (वेतु) व्याप्नोति, अत्रापि लडर्थे लोट् । (स्वाहा) हुतामाहुतिम् ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । १ । ३७–३९ व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः[3]—अयमग्निर्देवेन सवित्रा जगदीश्वरेणोत्पादितया सृष्ट्या * सजूः सह जुषाण इन्द्रवत्या राज्या सह [सजूः] स्वाहा जुषाणः सन् वेतु सर्वान् पदार्थान् व्याप्नोति, एवं सूर्यो देवेन सवित्रा सकलजगदुत्पादकेन धारितया सृष्ट्या * सजूः सह जुषाण इन्द्रवत्योषसा [सजूः] सह स्वाहा जुषाणः सन् हुतं द्रव्यं वेतु व्याप्नोति ॥ १० ॥

---

१ सवितृशब्दो विशेषणतयाऽत्र वर्त्तते । तत ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४ । १ । ५) इति ङीपः छान्दसत्वादप्रवृत्तिः ॥

२ यदशनिरिन्द्रस्तेन ॥ कौ० ६ । ९ ॥ इतोऽत्र उषसो विशेषणत्वेनेत्यपि ध्येयम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सजूः) क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विपि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । सह जुषते इत्यस्मिन्नर्थे त्रिचक्रादीनामित्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् इति भट्टभास्करः । तै. सं० भाग १ पृ० ३१४ ॥

यत् त्वत्रोवटमहिधरसायणादिभिः—'समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूः समानप्रीतिः' इति व्याख्यातम्, तद् बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्राप्तेः सर्वमयुक्तम् । अव्युत्पन्नपक्षे तु चादिपाठान्निपाताद्युदात्तत्वप्राप्तिरपि एवादीनामन्तः (फि० ८२) इत्येवं वारणीया ॥ बहुव्रीहिं प्रदर्शयतां कृत्स्वरेण कथमिष्टस्वरसिद्धिरिति त एव प्रष्टव्याः ॥

(राज्या) राशदिभ्यां त्रिप् (उ० ४ । ६७) इति पितोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । रात्रेश्चाजसौ (अ० ४ । १ । ३१) इति छन्दसि ङीप् । स चानुदात्तः । ततो विभक्त्यनुदात्तत्व आद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(जुषाणः) शानचि 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' तु० आ०) शप्रत्ययः । सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते इति शप्रत्ययस्योदात्तत्वेऽपि शानच्स्वरबलीयस्त्वं तस्य चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वप्राप्तावपि तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यादिना लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वप्राप्तिः, सा आने मुक् इति मुगागमश्च छान्दसत्वादत्र न प्रवर्त्तेत इति चित्स्वरेणैवान्तोदात्तत्वसिद्धिः ॥ यद्वा ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् (अ० ३ । २ । १२८) इति चानशि छान्दसविकरणलुकि, चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(उषसा) उषः किच्च (उ० ४ । २३४) इति 'असिः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण 'उषस्' शब्दोऽन्तोदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

ऋग्वेदभाष्ये (ऋ० १ । ११३ । ७ द० भा०) "अत्र 'वस निवासे' इत्यस्मादौणादिकोऽसुन् । स च बाहुलकात् कित्" इत्याद्युक्तम् । तत् वसेः कित् (उ० दशपादी ९ । ९५) इति सूत्रेण तु सर्वमिष्टं सिध्यति ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अधियज्ञाधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः ॥ १० ॥

* अत्र अ० मु० तु 'सह सजूः' इत्युभयत्र पाठः ॥

भावार्थः—† हे मनुष्या यूयं योऽयमग्निरीश्वरेण निर्मितः, स तत्सत्तया स्वस्वरूपं धारयन् सन् रात्रिस्थान् व्यवहारान् प्रकाशयति । एवं च सूर्य उषःकालमेत्य सर्वाणि मूर्तद्रव्याणि प्रकाशयितुं शक्नोतीति ‡ विजानीत ॥ १० ॥

भौतिक अग्नि और सूर्य ये दोनों किसकी सत्ता से वर्त्तमान हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ।

पदार्थः—यह जो (अग्निः) भौतिक अग्नि (देवेन) सब जगत् को ज्ञान देने वाले और (सवित्रा) सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले ईश्वर के उत्पन्न किये हुए जगत् के साथ (सजूः) तुल्य वर्तमान (जुषाणः) सेवन करता हुवा (इन्द्रवत्या) बहुत बिजुली से युक्त (रात्र्या) अन्धकाररूप रात्रि के [(सजूः)] साथ (स्वाहा) वाणी को सेवन करता हुआ (वेतु) सब पदार्थों में व्याप्त होता है ॥ इसी प्रकार (सूर्यः) सूर्यलोक (देवेन) सबको प्रकाश करनेवाले और (सवित्रा) सबके अन्तर्यामी परमेश्वर के उत्पन्न वा धारण किये हुये जगत् के (सजूः) साथ तुल्य वर्तमान (जुषाणः) सेवन करता वा (इन्द्रवत्या) सूर्यप्रकाश से युक्त (उषसा) दिनके प्रकाशके हेतु प्रातः काल के [(सजूः)] साथ (स्वाहा) अग्नि में होम की हुई आहुतियों को सेवन करता हुआ व्याप्त होकर हवन किये हुए पदार्थों को (वेतु) देशान्तरों में पहुंचाता है, ❀ उसी से सब व्यवहार सिद्ध करें[2] ॥ १० ॥

भावार्थः—¶ हे मनुष्यो ! तुमलोग जो भौतिक अग्नि ईश्वर ने रचा है, वह इसी की सत्ता से अपने अपने रूपको धारण करता हुआ दीपक आदि रूप से रात्री के व्यवहारों को सिद्ध करता है, इसी प्रकार जो प्रातःकाल को प्राप्त होकर सब मूर्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश करने को समर्थ है,✿ वही काम सिद्धि करनेहारा है इसको जानो ॥१०॥

उपेत्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । [पिपीलिकामध्या] निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथेश्वरेण स्वस्वरूपमुपदिश्यते[3] ॥

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये । आरेऽअस्मे च शृण्वते ॥ ११ ॥

उपप्रयन्त इत्युप ऽप्रयन्तः । अध्वरम् । मन्त्रम् । वोचेम । अग्नये ॥ आरे । अस्मेऽइत्यस्मे । च । शृण्वते ॥११॥

पदार्थः—(उपप्रयन्तः) उत्कृष्टं निष्पादयन्तो जानन्तः । (अध्वरम्[4]) क्रियामयं यज्ञम् ।

१ वे पूर्वोक्त अग्नि और सूर्य किस की शक्ति से कार्य में प्रवृत्त होते हैं ? यह कहते हैं—

२ यहां अधियज्ञ तथा आधिदैविक दोनों प्रक्रियाओं में अर्थ समझना चाहिये ॥ १० ॥

३ यस्य शक्त्येमौ कार्यकारिणौ, स कीदृश इत्याकाङ्क्षायामाह—

४ अध्वरो वै यज्ञः ॥ श० २ । ३ । ४ । १० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उपप्रयन्तः) 'उप' 'प्र' पूर्वाद् इण्धातोः लटः शतृशानचाव० (अ० ३ । २ । १२४)

† 'हे मनुष्या यूयम्' इति क. ख. ग. नास्ति ॥

‡ 'विजानीत' इति क. ख. ग. हस्तलेखेषु नास्तीति ध्येयम् । अत्रेदमवधेयम्—'विजानीत' इत्यस्यादौ वर्तमानेन 'हे मनुष्या यूयम्' इति पाठेन संबन्धो वर्त्तते । उभावपि मुद्रणकाले परिवर्धिताविति प्रतीमः ॥

❀ 'उसी से सब व्यवहार सिद्ध करें' इति पाठः क. ख. ग. नास्तीति ध्येयम् ॥

¶ 'हे मनुष्यो तुम लोग' इति क. ख. ग. नास्ति । ✿ 'वही काम सिद्धि करनेहारा है' इति क.ख.ग. नास्ति ॥

(मन्त्रम्) वेदस्थं विज्ञानहेतुम्। (वोचेम) ‡ उच्याम, अयमाशिषि लिङ्युत्तमबहुवचने प्रयोगः। लिङ्याशिष्यङ् [अ० ३।१।८६] इत्यङि कृते छन्दस्युभयथा [अ० ३।४।११७] इति सार्वधातुकमाश्रित्येयुसकारलोपौ। वच उम्। अ० ७।४।२० इत्यङि पर उमागमश्च। (अग्नये) विज्ञानस्वरूपायान्तर्यामिने जगदीश्वराय (आरे) दूरे। आर इति दूरनामसु पठितम्। निघ० ३।२६। (अस्मे) अस्माकम्। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] † इत्यामः स्थाने शे आदेशः। (च) समुच्चये। (शृण्वते) यो यथार्थतया शृणोति तस्मै। अयं मन्त्रः शत० २।३।४।९—१० व्याख्यातः॥ ११॥

अन्वयः—अध्वरमुपप्रयन्तो वयमस्मे अस्माकमारे दूरे [च] चात् समीपे शृण्वतेऽग्नये जगदीश्वराय मन्त्रं वोचेमोच्याम ‡॥ ११॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वेदमन्त्रैरीश्वरस्य ❀ स्तुतिर्यज्ञानुष्ठानं च कार्यम्, य ईश्वरोऽन्तर्बहिश्चाभिव्याप्य सर्वं शृण्वन् वर्तते तस्माद् भीत्वा न कदाचिदधर्मं कर्तुमिच्छापि कार्या। यदा मनुष्य एतं जानाति तदा समीपस्थो यदैनं न जानाति तदा दूरस्थ इति वेद्यम्॥ ११॥

इत्यादिना शतृप्रत्ययः, तस्यापित्सार्वधातुकत्वेन ङित्त्वे गुणप्रतिषेधे इणो यण् (अ० ६।४।८१) इत्यनेन यणादेशे 'प्र' शब्देन सह कुगतिप्रादयः (अ० २।२।१८) इति समासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेण शतुरकार उदात्तः। तत 'उप' शब्देन पुनः कुगतिप्रादयः (अ० २।२।१८) इति समासे पूर्ववद् गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति पुनरुत्तरपदप्रकृतिस्वरे 'य' उदात्तः, ततश्च अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ० ६।१।१५८) इति शेषमनुदात्तम्॥

(मन्त्रम्) 'मत्रि गुप्तपरिभाषणे' (चु० आ०) इति धातोः स्वार्थे णिच्, ततो अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (अ० ३।३।१९) इति कर्मणि घञ्, ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। भाष्यमते ण्यन्तादपि अजेव भवति॥

यद्वा अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४ भा० वा०) इत्यनेन कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३।३।११३) इत्यनेन च कर्मणि 'अच्' प्रत्ययः, तस्य चित्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६।१।२०३) इत्यनेनाद्युदात्तत्वम्॥ यद्वा एरच् (अ० ३।३।५६) इति 'अच्' प्रत्ययः॥

(आरे) एवादीनामन्तः (फि० ८२) इत्यन्तोदात्तः॥

(अस्मे) 'अस्मत्' शब्दो मदिक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तस्तस्मात् सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इत्यादिना षष्ठीबहुवचनस्थाने 'शे' आदेशः। स्थानिवद्भावात् सुप्त्वादनुदात्तः, ततः शेषे लोपः (अ० ७।२।९०) इति 'त्' शब्दलोपे अतो गुणे (अ० ६।१।९७) इत्यनेन पररूप एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्यनेनोदात्तत्वम्॥

यदा तु शेषे लोपष्टिलोपस्तदा अनुदात्तस्य च० (६।१।१६१) इत्यादिनोदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

(शृण्वते) 'श्रु श्रवणे' इत्यस्माच्छतृप्रत्यये श्रुवः शृ च (अ० ३।१।७४) इति श्नुविकरणो धातोः शृ चादेशः। हुश्नुवोः सार्वधातुके (अ० ६।४।८७) इति यणादेशे विभक्तेः शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६।१।१७३) इत्यनेनोदात्तत्वम्।

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः॥

---

‡ साम्प्रतिकानां मते तु 'उच्यास्म' इति स्यात्, तथैवान्यत्रापि॥

† अ० मु० तु 'इत्यमः स्थाने' इति पाठः॥ ‡ पूर्ववदत्रापि बोध्यम्॥

❀ 'स्तुतिर्यज्ञानुष्ठानं च कृत्वा' इति ख. ग. कोशयोः पाठः, अ० मुद्रिते तु 'स्तुतियज्ञानुष्ठाने कृत्वा' इति पाठः॥

अब अगले मन्त्र में ईश्वर ने अपने स्वरूप का प्रकाश किया है[1] ॥

पदार्थः—(अध्वरम्) क्रियामय यज्ञ को (उपप्रयन्तः) अच्छे प्रकार जानते हुए हम लोग (अस्मे)* जो हम लोगों के (आरे) दूर वा (च) निकट में (शृण्वते) यथार्थ सत्यासत्य को सुननेवाला (अग्नये) विज्ञान स्वरूप अन्तर्यामी जगदीश्वर है, इसी के लिये (मन्त्रम्) ज्ञानको प्राप्तकरानेवाले मन्त्रों को (वोचेम) नित्य उच्चारण वा विचार करें ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को वेदमन्त्रों के द्वारा ईश्वर की स्तुति वा यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये क्योंकि जो ईश्वर भीतर बाहर सब जगह व्याप्त होकर सब व्यवहारों को सुनता वा जानता हुआ वर्तमान है, इस कारण उससे भय मानकर अधर्म करने की इच्छा भी न करनी चाहिये। जब मनुष्य परमात्मा को जानता है तब समीपस्थ, और जब नहीं जानता तब दूरस्थ है, ऐसा निश्चय जानना चाहिये ॥ ११ ॥

अग्निर्मूर्द्धेत्यस्य विरूप ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देनेश्वरभौतिकावुपदिश्येते[3] ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् । अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ॥ १२ ॥

अग्निः। मूर्द्धा। दिवः। ककुत्। पतिः। पृथिव्याः। अयम् ॥ अपाम्। रेताꣳसि। जिन्वति ॥ १२ ॥

पदार्थः—(अग्निः) सर्वस्वामीश्वरः, प्रकाशादिगुणवान् भौतिको वा। (मूर्द्धा[5]) सर्वोपरि विराजमानः। (दिवः) प्रकाशवतः सूर्यादेर्जगतः। (ककुत्) महान्। ककुह इति महन्नामसु पठितम्। निघ० ३।३। ककुहशब्दस्य स्थाने ककुत् पृषोदराद्याकृतिगणान्तर्गतत्वात् सिद्धः। (पतिः) पालयिता पालनहेतुर्वा। (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य पृथिव्यादेर्जगतः। (अयम्) निरूपितपूर्वः। (अपाम्) प्राणानां[6] जलानां वा। आप इति पदनामसु पठितम्। निघ० ५।३। अनेन चेष्टादिव्यवहारप्रापकाः प्राणा गृह्यन्ते।

विशेषवक्तव्यम्

(क) मन्त्रोऽयमृग्वेदभाष्ये (ऋ० १।७४।१) अन्वयादौ स्वल्पभेदेन व्याख्यात आचार्यैः।

(ख) मन्त्रोऽयं कात्यायनश्रौतसूत्रे (का० श्रौ० ४।१२।३) 'बृहदुपस्थाने' विनियुक्तः ॥ ११ ॥

१ जिसकी शक्ति से ये कार्य करने में समर्थ होते हैं, वह कैसा है? इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति में कहा—

२ यहां अन्वय अध्यात्मपरक है ॥

वि० वक्तव्य

(क) इस मन्त्र का व्याख्यान ऋग्वेदभाष्य (ऋ० १।७४।१) में आचार्य ने कुछ भिन्न किया है ॥

(ख) कात्यायन श्रौतसूत्र (४।१२।३) में इस मन्त्र का विनियोग 'बृहदुपस्थान' में किया गया है ॥ ११ ॥

३ अग्निशब्देनोभावर्थौ ग्राह्याविस्यत आह—

४ य० ३।९ विवरणे व्याख्यातः ॥

५ प्रजापतिर्वै मूर्द्धा ॥ श० ८।२।३।१० ॥

मूर्त्तमस्मिन् धीयते, मूर्द्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति निरु० ७।२७ ॥ मूर्द्धा इव 'मूर्द्धा' इति भावः ॥

६ प्राणा ह्यापः ॥ तै० ३।२।५।२ ॥ जै० उ० ३।१०।९ ॥

* 'जो.....है, इसी के' इति पाठो हस्तलेखेषु नास्ति ॥

आप इत्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । (रेतांसि) वीर्याणि (जिन्वति) रचयितुं[1] जानाति, प्रापयति वा । जिन्वतीति गतिकर्मसु पठितम् । निघ० २ । १४ ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ११ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः[2]—हे मनुष्या यूयं यो ऽयं ककुन्मूर्द्धाग्निर्जगदीश्वरो दिवः पृथिव्याश्च पतिः पालकः सन्नपां रेतांसि जिन्वति स्रष्टुं जानाति, तमेव पूज्यं मन्यध्वम् ॥ [इत्येकः]

❀ योऽयमग्निः ककुद्दिवो मूर्द्धा पृथिव्याश्च पतिः पालनहेतुः सन्नपां रेतांसि जिन्वति, स सुखं प्रापयति ॥ इति द्वितीयः ॥ १२ ॥

† अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः[3]—यो जगदीश्वरः प्रकाशाप्रकाशवद् द्विविधं जगदर्थात् प्रकाशवत् सूर्यादिकमप्रकाशवत् पृथिव्यादिकं च रचयित्वा पालयित्वा प्राणेषु बलं च दधाति, तथा योऽयमग्निः पृथिव्यादिजगतः पालनहेतुर्भूत्वा विद्युज्जाठरादिरूपः प्राणानां जलानां वीर्याणि जनयति, ‡ स एव सुखसाधको भवतीति ॥ १२ ॥

१ 'रचयितुम्' इत्यध्याहारः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मूर्द्धा) 'मुर्वी बन्धने' इत्यस्मात् श्वन्नुक्षन्-पूषन्० (उ० १।१५९) इत्यादिना कनिन्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तो निपातितः । उकारस्य दीर्घो वकारस्य धकारश्च निपातनादेव ॥ अन्ये तु मुहधातोर्निपातयन्ति, तेषां मत उपधाया दीर्घोऽन्त्यस्य धकारोऽन्त्यात् पूर्वो रेफागमश्च । कातन्त्रीयास्तु मुरेर्धनिः (का० उ० ५ । ३६) इति सूत्रेण मुरधातोर्धनिप्रत्ययं विदधते ॥

(दिवः) 'दिवु क्रीडादौ' अस्माद् दिवेर्डिविः (श्वेत० उ० ५ । ८०) इत्यनेन 'डिविः' प्रत्ययः, इकार इत्संज्ञकः, डित्वाद् धातोष्टिलोपे प्रत्ययस्वरेणोदात्तः । ततः षष्ठ्येकवचनम् । तस्य ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (अ० ६ । १ । १७१) इत्यनेन विभक्तेरुदात्तत्वम् ।

(ककुत्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥ यद्वा कं सुखं कौतीति ककुत्, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अपाम्) ऊडिदंपदाद्यप्० (अ० ६ । १ । १७१) इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(रेतांसि) स्रुरीभ्यां तुट् च (उ० ४ । २०२) इत्यसुन् प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अध्यात्मपरः पूर्वोऽन्वयः, अपरस्त्वधियज्ञ आधिदैविकश्चापीति ॥

३ श्लेषालङ्कारेण द्विविधोऽप्यर्थः प्रदर्शितो भवति । स चान्वयेऽत्र भावार्थे चापि प्रदर्श्यते ॥

विशेषवक्तव्यम्

(क) मन्त्रोऽयं य० १३ । १४ भाष्ये राजप्रसङ्गेन व्याख्यातः । य० १५ । २० भाष्ये चर्तूनामुपपादनप्रसङ्गे हेमन्तविषये व्याख्यातस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥

(ख) य० १५ । २० स्थानेऽयमेव मन्त्रः 'चयने' विनियुक्तः ॥ (का० श्रौ० १७ । १२ । ५) ॥१२॥

❀ अन्वयादौ 'यः' इति पदम्, अन्ते च 'स सुखम्' इति क. ख. ग. कोशेषु नास्ति ॥

† 'अत्र श्लेषालङ्कारः' इति पाठः क. ख कोशयोर्नास्ति ॥

‡ 'स एव सुखसाधको भवतीति' इति पाठो हस्तलेखेषु नास्ति ॥

अब अगले मन्त्र में अग्निशब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि [का] प्रकाश किया है[1] ॥

पदार्थः—§हे मनुष्यो ! तुम लोग (अयम्) जो यह कार्यकारण से प्रत्यक्ष (ककुत्) सबसे बड़ा (मूर्द्धा) सबके ऊपर विराजमान (अग्निः) जगदीश्वर (दिवः) प्रकाशमान सूर्य आदि लोक और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकों का (पतिः) पालन करता हुआ (अपाम्) प्राणों के (रेतांसि) वीर्यों की (जिन्वति) रचना को जानता है,‡ उसी को पूज्य मानो । *[यह प्रथम अर्थ हुआ]* ॥ १ ॥

[जो] (अयम्) यह [(अग्निः)] अग्नि (ककुत्) सब पदार्थों से बड़ा (दिवः) प्रकाशमान पदार्थों के (मूर्द्धा) ऊपर विराजमान (पृथिव्याः) प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकों के (पतिः) पालन का हेतु होकर (अपाम्) जलों के (रेतांसि) वीर्योंको (जिन्वति) प्राप्त करता है [वही सुखों को प्राप्त कराता है]॥ *[यह दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ २ ॥ १२ ॥

§इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो जगदीश्वर प्रकाश वा अप्रकाशरूप दो प्रकार के जगत् अर्थात् प्रकाशवान् सूर्य आदि और प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकों को रचकर पालन करके प्राणों में बल को धारण करता है, तथा जो भौतिक अग्नि पृथिवी आदि जगत् के पालन का हेतु होकर बिजुली जाठर आदि रूप से प्राण वा जलों के वीर्यों को उत्पन्न करता है, [वह सुखों का सिद्ध करने वाला होता है] ॥ १२ ॥

उभा वामिन्द्राग्नी इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । * विराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

अथेश्वरभौतिकावग्निवायू उपदिश्येते[3] ॥

उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्या ऽ उभा राधसः सह मादयध्यै ।
उभा दातारविषाᳬ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥ १३ ॥

उभा । वाम् । इन्द्राग्नीऽइतीन्द्राग्नी । आहुवध्याऽइत्याहुऽवध्यै † । उभा । राधसः । सह । मादयध्यै । उभा । दातारौ । इषाम् । रयीणाम् । उभा । वाजस्य । सातये । हुवे । वाम् ॥ १३ ॥

१ अग्नि शब्द से दोनों अर्थ लेने चाहियें, इसलिये कहा—

२ प्रथम अन्वय आध्यात्मिक अर्थ में है, दूसरा आधियाज्ञिक तथा आधिदैविक अर्थों में है ॥

वि० वक्तव्य

(क) यह मन्त्र य० १३ । १४ में राजप्रकरण में तथा य० १५ । २० में ऋतुओं के प्रसङ्ग में हेमन्त ऋतु के विषय में व्याख्यात है ॥

(ख) आगे य० १५ । २० में इस मन्त्र का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्रकार 'चयन' में करते हैं ॥ १२ ॥

३ श्लेषेणार्थान्तरमप्याह—

§ 'हे मनुष्यो तुम लोग' इति क. पाठः । स च ख. ग. कोशयोः, अ० मुद्रिते च नास्ति । संस्कृते त्वस्त्येवेति ध्येयम् ॥
‡ 'उसी को पूज्य मानो' इति पाठो हस्तलेखेषु नास्ति ॥
§ 'इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है' इति पाठः क. ख. ग. कोशेषु नास्ति ॥
* 'स्वराट् त्रिष्टुप्' इति अ. मु. सर्वकोशेषु चापपाठः ॥ † 'इत्याहुवध्यै' इत्यवग्रहचिह्नरहितः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(उभा) द्वौ। अत्र सर्वत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इत्याकारादेशः। (वाम्) तौ। अत्र व्यत्ययः। (इन्द्राग्नी[1]) इन्द्रो वायुर्विद्युदादिरूपोऽग्निश्च तौ। (आहुवध्यै) शब्दयितुमुपदेष्टुं श्रोतुं वा। अत्र ह्वेञित्यस्मात् तुमर्थे सेसे० [अ० ३ । ४ । ९] इति कध्यैप्रत्ययः। (उभा) उभौ। (राधसः) राध्नुवन्ति सम्यङ् निर्वर्तयन्ति सुखानि येभ्यः साधनेभ्यस्तानि धनानि। राध इति[2] धननामसु पठितम्। निघ० २ । १० । (सह) परस्परम्। (मादयध्यै) मोदयितुम्। अत्र मदी हर्षग्लेपनयोरिति णिजन्ताच्छध्यै प्रत्ययः। (उभा) उभौ। (दातारौ) सुखदानहेतू। (इषाम्) सर्वैर्जनैर्यानीष्यन्ते तेषाम्। (रयीणाम्) परमोत्तमानां चक्रवर्तिराज्यादिधनानाम्। (उभा) द्वौ। (वाजस्य) अत्युत्तमस्यान्नस्य। वाज इत्यन्ननामसु पठितम्। निघ० २ । ७ । (सातये) संभोगाय। (हुवे) गृह्णामि। अत्र हु दानादनयोरित्यस्माद् बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७५] इति शपो लुक्, व्यत्ययेनात्मनेपदं च। (वाम्) तौ। अत्रापि पूर्ववद् व्यत्ययः॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । १२ व्याख्यातः॥ १३॥

अन्वयः[3]—अहं यावु [भो] भौ दातारौ सुखदानहेतू वर्तेते, तौ [* उभा उभौ] इन्द्राग्नी आहुवध्यै शब्दयितुं हुवे गृह्णामि, राधसो भोगेन सह मादयध्यै मोदयितुं [उभा] उभौ वां तौ हुवे इषां रयीणां वाजस्य च सातये [उभा] उभौ वां तौ हुवे गृह्णामि॥ १३॥

अत्र श्लेषालङ्कारः॥

भावार्थः—ये मनुष्या ईश्वरसृष्टौ सुष्ठु किलाग्निवायुगुणान् विदित्वैतौ संप्रयुज्य कार्याणि साधयन्ति, ते सर्वाणि सार्वभौमराज्यादिधनानि प्राप्य नित्यं मोदन्ते नेतर इति॥ १३॥

---

१ ज्योतिरिन्द्राग्नी॥ श० १० । ४ । १ । ६॥ इन्द्राग्नी वै देवानामोजिष्ठौ॥ तां० २४ । १७ । ३॥ तै० ३ । ८ । ७ । १॥

अध्यात्मपक्षे तु—ब्रह्मैव इन्द्रः॥ ऐ० उ० ५ । ३॥ शेषं य० १ । ४ विवरणे द्रष्टव्यम्॥

२ राध इति धननाम, राध्नुवन्त्यनेन॥ निरु० ४ । ४॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उभा) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः॥

(आहुवध्यै) आङ्पूर्वाद् ह्वेञः तुमर्थे० (अ० ३ । ४ । ९) इति 'कध्यै' प्रत्ययः। कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति समासः। ततो गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्, प्रत्ययाद्युदात्तत्वेन अकार उदात्तः॥

(राधसः) 'राध साध संसिद्धौ' एतस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति 'असुन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः॥

(मादयध्यै) मदेर्णिजन्तात् 'शध्यै' प्रत्ययः। आद्युदात्तश्च (अ० ३ । १ । ३) इति प्रत्ययाद्युदात्तत्वम्। प्रत्ययस्य सार्वधातुकसंज्ञकत्वाण्णेर्लोपो न भवति, यद्यपि 'मदी हर्षग्लेपनयो'रिति गणसूत्रेण हर्षार्थे मित्संज्ञा विधीयते, तथाप्यत्र छान्दसत्वान्मित्संज्ञा न भवति॥

(दातारौ) 'डुदाञ् दाने' इत्यस्मात् 'तृच्' प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तः, ततो विभक्तेरनुदात्तत्वे स्वरितत्वम्॥

(इषाम्) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

(रयीणाम्) नामन्यतरस्याम् (अ० ६ । १ । १७७) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

(सातये) ऊतियूतिजूतिसाति० (अ० ३ । ३ । ९७) इत्यादिना क्तिन उदात्तत्वं निपात्यते॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

३ अधियज्ञाधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः॥

* पाठोऽयं 'क' कोश उपलभ्यते, लेखकप्रमादादग्रे त्यक्तः॥

अगले मन्त्र में भौतिक अग्नि और वायु का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—मैं जो (उभा) दो (दातारौ) सुख देने के हेतु [जो (उभा) दोनों] (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि हैं * उनको (आहुवध्यै) गुण जानने के लिये (हुवे) ग्रहण करता हूँ। (राधसः) उत्तम सुखयुक्त राज्यादि धनों के भोग के (सह) साथ (मादयध्यै) आनन्द के लिये (वाम्) उन (उभा) दोनों को ग्रहण करता हूँ, तथा (इषाम्) सबको इष्ट (रयीणाम्) अत्यन्त उत्तम चक्रवर्ति राज्य आदि धन वा (वाजस्य) अत्यन्त उत्तम अन्न के (सातये) अच्छे प्रकार भोग करने के लिये (उभा) उन [(वाम्)] दोनों को ग्रहण करता हूँ ॥ १३ ॥

[यहां श्लेषालङ्कार है ॥]

भावार्थः—जो मनुष्य ईश्वर की सृष्टि में अग्नि और वायु के गुणों को जानकर कार्यों में संयुक्त करके अपने २ कार्यों को सिद्ध करते हैं, वे सब भूगोल के राज्य आदि धनों को प्राप्त होकर आनन्द करते हैं, इनसे भिन्न मनुष्य नहीं ॥ १३ ॥

अयं त इत्यस्य देवश्रवोदेववातौ भारतावृषी । अग्निर्देवता । †निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनरीश्वरभौतिकावुपदिश्येते[3] ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः ।
तं जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ १४ ॥

अयम् । ते । योनिः । ऋत्वियः । यतः । जातः । अरोचथाः ॥ तम् । जानन् । अग्ने । आ । रोह । अथ । नः । वर्द्धय । रयिम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—(अयम्) वायुः । (ते) तवेश्वरस्य तस्याग्नेर्वा‡ [सृष्टौ] (योनिः) निमित्तकारणम् । (ऋत्वियः) ऋतुः प्राप्तोऽस्य सः । अत्र छन्दसि घस् । अ० ५ । १ । १०६ अनेन ऋतुशब्दाद् घसप्र-

विशेषवक्तव्यम्

ऋ० ६ । ६० । १३ भाष्ये स्वध्यापकोपदेशकपरो व्याख्यातोऽयं मन्त्रः ॥ १३ ॥

१ श्लेषालङ्कार से दूसरा अर्थ भी दिखलाते हैं—

२ यहाँ अधियज्ञ तथा आधिदैविक दोनों प्रक्रियाओं में अर्थ है ॥

विशेष वक्तव्य

ऋ० ६ । ६० । १३ के भाष्य में इस मन्त्र का अध्यापक तथा उपदेशकपरक व्याख्यान है ॥१३॥

३ अग्निं विशिष्याह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(योनिः) वहिश्रिश्रुयुदु० (उ० ४ । ५१) इत्यादिना युधातोर्निः प्रत्ययो निच्च, नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(ऋत्वियः) आयनेयीनीयि० (अ० ७ । १ । २) इत्यादिना प्रत्ययादेरियादेशः, ततः प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः । सिति च (अ० १ । ४ । १६) इति पदसंज्ञकत्वाद् ओर्गुणः (अ० ६ । ४ । १४६) इति गुणो न भवति ॥

* इतोऽग्रे '(वाम्)' इति पदं व्यर्थम् अ. मु. वर्तते ॥
† 'स्वराडनुष्टुप्' इति अ. मु. कोशेषु च पाठः ॥ ‡ 'तस्याग्नेर्वा' इति ख. पाठः ॥

त्ययः । (यतः) यस्मात् । (जातः) प्रादुर्भूतः । (अरोचथाः) दीपयति । अत्र व्यत्ययो लडथ लङ्‡ । (तम्) अग्निम् (जानन्) § स्पष्टार्थः । (अग्ने) जगदीश्वर विद्युद् वा । (आ) समन्तात् क्रियायोगे (रोह) उन्नतिं गमय, गमयति वा । (अथ) आनन्तर्ये, अत्र निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३६] इति दीर्घः । (नः) अस्माकम् (वर्द्धय) सर्वोत्कृष्टतां संपादय, संपादयति वा । अन्यान्येषामपि० [अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घः । (रयिम्) पूर्वोक्तं धनम् ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । १३ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! ते तव सृष्टौ य ऋत्वियोऽग्नि [यतो] वायोः सकाशाज्जातः सन्न॰ रोचथाः समन्तात् प्रदीपयति । यः सूर्यादिरूपेण दिवमारोह समन्ताद्रोहति [अथ] यो नोऽस्माकं रयिं वर्द्धयति यस्याग्नेरयं वायुर्योनिरस्ति, तं जानंस्त्वं तेन नोऽस्माकं रयिं सार्वभौमराज्यादिसिद्धिं धनं वर्द्धय ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यः सर्वेषु कालेषु यथावद्योजनीयोऽस्ति, यो वायुनिमित्तेनोत्पद्यते यो वानेककार्यसिद्धिकरत्वेन सर्वान् सुखयति, तं [अग्निं] यथावद् विदित्वा ❀संप्रयोज्य कार्याणि साधनीयानीति ॥ १४ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में ईश्वर और भौतिक अग्नि का उपदेश किया है[२] ॥

पदार्थः[३]—हे (अग्ने) जगदीश्वर ! (ते) आपकी सृष्टि में जो (ऋत्वियः) ऋतु ऋतुमें प्राप्ति कराने योग्य अग्नि और जो [(यतः)] वायु से (जातः) प्रसिद्ध हुआ (अरोचथाः) सब प्रकार प्रकाश करता है, वा

(यतः) यत् प्रतिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, ततस्तसिल् । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वम् ॥

(जातः) जनधातोः क्तः प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अरोचथाः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इत्यादिना निघातप्रतिषेधे लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (अ० ६ । ४ । ७१) इति 'अट्' स्वरः ॥

(जानन्) 'ज्ञा अवबोधने' इत्यस्माच्छतृप्रत्यये ज्ञाजनोर्जा (अ० ७ । ३ । ७९) इति जादेशः । श्नाभ्यस्तयोरातः (अ० ६ । ४ । ११२) इत्याकारलोपे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अथ) निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

(ख) भाष्यकारेणाध्यात्मपर एवान्वयः प्रदर्शितः, 'पुनरीश्वरभौतिकावुपदिश्येते' इति वचनात्, पदार्थ उभयथा व्याख्यानाचान्यार्थोऽपि ज्ञाप्यत इति ध्येयम् । तत्र च भौतिकपक्ष इत्थमन्वयो नेयः—

"य ऋत्वियोऽग्नेऽग्निर्वायुसकाशाज्जातः प्रसिद्धोऽरोचथाः प्रदीपयति, यः सूर्यादिरूपेण दिवमारोहारोहति, यो नोऽस्माकं रयिं वर्धय वर्धयति, ते तस्याग्नेरयं वायुर्योनिरस्ति तं जानन् हुवे गृह्णामि ॥"

अयं क० भूतपूर्वपाठ इत्यपि बोध्यम् ॥ अस्मिन् पक्षे 'हुवे' इति पूर्वमन्त्रादनुवर्त्तत इति ध्येयम् ॥

विशेषवक्तव्यम्

मन्त्रोऽयं य० १५ । ५६ हेमन्तर्तुपरो व्याख्यातः, य० १२ । ५२, ऋ० ३ । २९ । १० उभयत्रापि भेदेन व्याख्यातस्तत्र तत्र द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥

१ (क) अध्यात्मपरोऽयमन्वयः । आधिदैविकपक्षेऽप्यत्रान्वय ऊहितव्यः ॥

२ अग्नि का विशेषरूप से वर्णन करते हैं—

३ (क) यहाँ आध्यात्मिक अर्थपरक अन्वय है, इसमें आधिदैविक अर्थ की ऊहा की जा सकती है ॥

‡ 'लुङ्' इति अ० मुद्रिते पाठः । क. कोशे तु 'अत्र वर्त्तमाने लङ्, व्यत्ययेन मध्यमः' इति पाठः ॥

§ अ० मुद्रिते तु 'स्पष्टार्थः' इति नास्ति । सर्वकोशेषु वर्तते ऽयं पाठः इति बोध्यम् ॥

※ 'सन्नारोचथाः' इति अ० मुद्रिते कोशेषु चापपाठः । ❀ 'संप्रयुज्य' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः ॥

जो सूर्य आदि रूप से प्रकाशवाले लोकों की (आरोह) उन्नति को सब ओर से बढ़ाता है [(अथ)] और जो हमारे राज्य आदि धन को बढ़ाता है, [जिस अग्नि का (अयम्) यह वायु (योनिः) निमित्तकारण है]। (तम्) उस अग्नि को (जानन्) जानते हुए आप उससे (नः) हमारे सब भूगोल के राज्य आदि सिद्धिरूप (रयिम्) धनको (वर्द्धय) वृद्धियुक्त कीजिये ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जो सब काल में यथावत् उपयोग करने योग्य, वा जो वायु के निमित्त से उत्पन्न हुआ, तथा जो अनेक कार्यों की सिद्धिरूप कारणसे सबको सुख देता है, उस अग्नि को यथावत् जानकर उसका उपयोग करके सब कार्योंकी सिद्धि करनी चाहिये ॥ १४ ॥

अयमिहेत्यस्य वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः।

पुनः सोऽग्निः कीदृश इत्युपदिश्यते[1] ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ १५ ॥

अयम्। इह। प्रथमः। धायि। धातृभिरिति धातृऽभिः। होता। यजिष्ठः। अध्वरेषु। ईड्यः॥ यम्। अप्नवानः। भृगवः। विरुरुचुरिति विऽरुरुचुः। वनेषु। चित्रम्। विभ्वमिति विऽभ्वम्। विशेविश इति विशेऽविशे॥ १५ ॥

पदार्थः—(अयम्) ईश्वरो भौतिको वा। (इह) अस्यां सृष्टौ। (प्रथमः) यज्ञक्रियायामुपास्य आदिमं साधनं वा। (धायि) ध्रियते। अत्र वर्तमाने लुङ्। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि [अ० ६।४।७५] इत्यडभावः। (धातृभिः) यज्ञक्रियाधारकैर्विद्वद्भिः। (होता) ग्राहकः। (यजिष्ठः) अतिशयेन [यष्टा] आनन्दशिल्पविद्ययोः संगतिहेतुः। (अध्वरेषु[2]) उपासनाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तेषु शिल्पविद्या-

(ख) यद्यपि अन्वय केवल आध्यात्मिक अर्थपरक है, तथापि 'ईश्वर तथा भौतिक अग्नि का उपदेश किया है' इससे तथा संस्कृत पदार्थ में दोनों प्रकार का अर्थ दर्शाने से स्पष्ट विदित है कि आचार्य को यहाँ भौतिक अर्थ भी अभिमत है। भौतिकपक्ष में क्या अन्वय होगा सो हमने संस्कृत टिप्पण में दर्शा दिया है। यह भी ध्यान रहे कि यह भौतिक अन्वय मूल हस्तलेख की 'क' प्रति का भूतपूर्व पाठ है ॥

वि० वक्तव्य

इस मन्त्र का अन्यत्र य० १५।५६ में हेमन्त ऋतुपरक तथा य० १२।५२, ऋ० ३।२९।१० दोनों स्थलों में भिन्न रूप से व्याख्यान किया है, सो वहाँ २ देख लेवें ॥ १४ ॥

१ पुनः स पूर्वोक्त उभयविधो ऽग्निः कीदृश इति भावः॥

२ प्राणोऽध्वरः ॥ श० ७।३।१।५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रथमः) प्रथेरमच् (उ० ५।६८) इति 'अमच्' प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(धायि) 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' इत्यस्मात् कर्मणि लुङ्, चिण् भावकर्मणोः (अ० ३।१।६६) इति चिण्। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अ० ६।४।७५) इत्यडभावः। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(धातृभिः) डुधाञ्धातोस्तृच्। चित्त्वादन्तोदात्तः, ततो विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(होता) तृन् प्रत्ययान्तः, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

न्तर्गतेषु वा यज्ञेषु। (ईड्यः) उपासितुमध्येषितुं वार्हः। (यम्) उक्तार्थम्। (अप्नवानः) ये ऽप्नान्विद्यासन्तानान् कुर्वन्ति ते, अप्न इत्यस्मात् तत्करोति तदाचष्टे अ० ३।१।२६ अनेन [वार्त्तिकेन] करोत्यर्थे णिच्। ततोऽन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते [अ० ३।२।७५] इति वनिप्। अप्न इत्यपत्यनामसु पठितम्। निघ० २।२। (भृगवः) यज्ञविद्यावेत्तारः। भृगव इति पदनामसु पठितम्। निघ० ५।५। अनेन ज्ञानवत्त्वं गृह्यते। (विरुरुचुः) विदीपयन्ति। अत्र लडर्थे लिट्। (वनेषु) संभजनीयेषु। (चित्रम्) अद्भुतगुणम्। (विभ्वम्) व्यापनशीलम्। अत्र वा छन्दसि [अ० ६।१।१०६] इत्यनेन पूर्वरूपादेशो न। (विशेविशे)* प्रतिप्रजम्॥ अयं मन्त्रः शत० २।३।४।१४ व्याख्यातः॥ १५॥

(यजिष्ठः) 'यष्टृ' शब्दात् तुश्छन्दसि (अ० ५।३।५९) इति 'इष्ठन्', तुरिष्ठेमेयस्सु (अ० ६।४।१५४) इति तुर्लोपः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

यत्त्वत्र महीधरः—"अतिशायने तमबिष्ठनौ (अ० ५।३।५५) इति 'इष्ठन्' प्रत्ययः" 'तदयुक्तम्। अजादी गुणवचनादेव (अ० ५।३।५८) इति नियमे तृजन्तादप्राप्तश्छन्दसि तुश्छन्दसि (अ० ५।३।५९) इति विधीयतेऽन्यथा पूर्वेणैव सिद्धे विधानमेतदनर्थकं स्यात्॥

(ईड्यः) 'ईड स्तुतौ' इत्येतस्माद् ऋहलोर्ण्यत् (अ० ३।१।१२४) इति ण्यत्। ईडवन्दवृशंस० (अ० ६।१।२१४) इत्यादिनाद्युदात्तत्वम्॥

(अप्नवानः) णिजन्तस्य धातुसंज्ञकत्वाद् धातोः (अ० ६।१।१६२) इत्यन्तोदात्तत्वं छान्दसत्वान्न भवति, तदभावे आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च (उ० ४।२०८) इत्यादिना 'असुन्' प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तोऽप्नश्शब्दः, सकारमात्रलोपश्छान्दसः। ततो वनिपः पित्त्वादनुदात्तत्वे स एव स्वरः॥ अस्मिन् शब्द आचार्यरीत्या णौ परतो बहुलमिष्ठवत् (चुरा० ग० सू०) इति बहुलग्रहणाट्टिलोपो न भवति। यद्वा बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः (उ० ४।२३) इति णेर्लुकि सर्वेष्टसिद्धिः। यद्वा ईवनिपौ छन्दसि (अ० ५।२।१०९ भा० वा०) इति 'अप्नस्' शब्दाद् 'वनिप्' प्रत्ययः। छान्दसः सकारलोपः। स्वरः पूर्ववत्॥

(भृगवः) प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च (उ० १।२८) इति 'उ' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्ते प्राप्ते वृषादीनामाकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम्॥

न चात्र धान्ये नित् (उ० १।९) इति निद्ग्रहणं शक्यमनुवर्त्तयितुं यो द्वे च (उ० १।२१) इत्युत्तरसूत्रविहितानां पद्वानामाद्युदात्तत्वप्रसङ्गात्। अत एव दशपादीवृत्तिकृता कुर्भ्रश्च (उ० १।२२) इत्यत्र निदिति निवृत्तमित्युक्तम्। अन्ये वृत्तिकृतस्तु बलेर्गुक् च (उ० १।१९) इत्यत्र, इत्यतः प्रागेव वा निद्ग्रहणं निवर्त्तयन्ति॥

(विरुरुचुः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति तिङो निघाताभावः। तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतेरनुदात्तत्वम्॥

(वनेषु) अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३।१।१३४ भा० वा०) इति 'अच्' प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्ते प्राप्ते वृषादीनामाकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(चित्रम्) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः (उ० ४।१६४) इति क्त्रप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(विभ्वम्) विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम् (अ० ३।२।१८०) इति विपूर्वाद् भवतेर्डुप्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततो वाच्छन्दसि (अ० ६।१।१०६) इति सूत्रस्य अमि पूर्वः (अ० ६।१।१०७) इत्यत्रानुवृत्तिसद्भावाद् देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बन्धाद्वा पूर्वसवर्णत्वं न, ततो यणादेशे उदात्तस्वरितयोर्यणः० (अ० ८।२।४) इत्यादिनाऽमः स्वरितत्वम्।

(विशेविशे) विशे सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्, ततो नित्यवीप्सयोः (अ० ८।१।४) इति वीप्सायां द्विर्वचनम्। उत्तरस्य च अनुदात्तं च (अ० ८।१।३) इत्यनेनानुदात्तत्वे स्वरितस्वैकश्रुती॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

* 'प्रतिप्रजाम्' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः॥

१ 'वेत्तारः' इति विषये पूर्वं (यजुः १।१६) द्रष्टव्यः॥१५॥

अन्वयः—अप्नवानो भृगवो विद्वांस इह वनेष्वध्वरेषु विशे विशे विभ्वं चित्रं यमग्निं विरुरुचुर्विदीपयन्ति, सोऽयं धातृभिः प्रथम ईड्यो होता यजिष्ठोऽग्निरिह धायि ध्रियते ॥ १५ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—विद्वांसो यज्ञक्रियासिद्ध्यर्थमुपास्यसाधनत्वाभ्यामेतमग्निं स्तुत्वा गृहीत्वा वाऽस्यां सृष्टौ प्रजासुखानि निर्वर्तयेयुरिति ॥ १५ ॥

फिर वह अग्नि कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—(अप्नवानः) विद्यासन्तान अर्थात् विद्या पढ़ाकर विद्वान् कर देनेवाले (भृगवः) यज्ञविद्या के जाननेवाले विद्वान् लोग (इह) इस संसारमें (वनेषु) अच्छे प्रकार सेवन करने योग्य (अध्वरेषु) उपासना अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त और शिल्पविद्यामय यज्ञों में (विशेविशे) प्रजा २ के प्रति (विभ्वम्) व्यापकस्वभाव वा (चित्रम्) आश्चर्यगुणवाले (यम्) जिस ईश्वर और अग्निको (विरुरुचुः) विशेष करके प्रकाशित करते हैं, (अयम्) वही (धातृभिः) यज्ञक्रिया के धारण करने वाले विद्वान् लोगों के द्वारा (ईड्यः) खोज करने योग्य* (प्रथमः) यज्ञक्रिया में उपास्य [ईश्वर,] तथा यज्ञ का मुख्य साधन [अग्नि] (होता) यज्ञका ग्रहण करानेवाला (यजिष्ठः) उपासना और शिल्पविद्याका हेतु है, उसको इस संसार में (धायि) धारण करते हैं ॥१५॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—विद्वान् लोग यज्ञ की सिद्धि के लिये मुख्य करके उपास्यदेव [ईश्वर की स्तुति] और साधन भौतिक अग्नि को ग्रहण करके इस संसार में प्रजाके सुखों को नित्य सिद्ध करें ॥ १५ ॥

अस्य प्रत्नामित्यस्याऽवत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[४] ॥

---

१ अध्यात्मपक्ष आधिदैविकपक्षे च समानोऽन्वय इति ॥

३ यहां अन्वय आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों पक्षों में समान ही समझना चाहिये ॥

विशेषवक्तव्यम्

मन्त्रोऽयं य० १५ । २६ भाष्येऽन्वये स्वल्पभेदेन भौतिकपरत्वेन व्याख्यातः । किञ्च ऋ० ४ । ७ । १ भाष्येऽप्यध्यात्मार्थपरो व्याख्यातस्ततस्तत्र द्रष्टव्यः ॥ १५ ॥

वि० वक्तव्य

इस मन्त्र का अर्थ य० १५ । २६ के भाष्य में भौतिकपरक तथा ऋग्वेदभाष्य (ऋ० ४ । ७ । १) में अध्यात्मपरक दर्शाया गया है ॥ १५ ॥

२ 'पुनः वह पूर्व मन्त्र में कहा उभयविध अग्नि कैसा है' यह दर्शाया है ॥

४ पुनस्तदेवाह—

* इतोऽग्रे "(प्रथमः) यज्ञक्रिया का आदि साधन (होता) यज्ञ का ग्रहण करने वाला (यजिष्ठः) उपासना··· ···" इति अ. मु. कोशेषु च स्वल्पभेदेन पाठ इति ध्येयम् ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳ शुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः । पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १६ ॥

अस्य । प्रत्नाम् । अनु । द्युतम् । शुक्रम् । दुदुह्रे । अह्रयः ॥ पयः । सहस्रसामिति सहस्रऽसाम् । ऋषिम् ॥१६॥

पदार्थः—(अस्य) अग्नेः । (प्रत्नाम्) अनादिवर्त्तमानां पुराणीमनादिस्वरूपेण नित्याम् । प्रत्नमिति पुराणनामसु पठितम् । निघ० ३ । २७ । (अनु) पश्चादर्थे । (द्युतम्) कारणस्थां दीप्तिम् । अत्र द्युत दीप्तावित्यस्मात् क्विप् प्रत्ययः । (शुक्रम्) शुद्धं कार्यकरं साधनम् । (दुदुह्रे) प्रपूरयन्ति । अत्र वर्त्तमाने लिट् । इरयो रे [अ० ६ । ४ । ७६] अनेनेरेजित्यस्य स्थाने रे आदेशः । (अह्रयः) अह्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वा विद्या ये, ते विद्वांसः । अत्राऽह् व्याप्तावित्यस्माद् बाहुलकेनौणादिकः† क्रिन्प्रत्ययः । महीधरेण अयं ह्री लज्जायामित्यस्य प्रयोगोऽशुद्ध एव व्याख्यात इति । (पयः) जलम् । पय इत्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । (सहस्रसाम्) या सहस्राण्यसंख्यातानि कार्याणि सनोति ताम् । (ऋषिम्) कार्यसिद्धिप्राप्तिहेतुम् । अत्रेगुपधात् कित् उ० ४ । १२० अनेन ऋषी गतावित्यस्माद्धातोरिन् प्रत्ययः ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । १५ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अह्रयो विद्वांसोऽस्याग्नेः सहस्रसामृषिं प्रत्नां द्युतं ज्ञात्वा शुक्रं पयश्चानुदुदुह्रे प्रपूरयन्ति ॥१६॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथाग्नेस्स्वगुणसहितस्य कारणरूपेणानादित्वेन नित्यत्वं विज्ञेयमस्ति, तथैवान्येषामपि जगत्स्थानां कार्यद्रव्याणां कारणरूपेणानादित्वं वेदितव्यम्, एतद्विदित्वैतानग्न्यादीन् पदार्थान् कार्येषूपकृत्य सर्वे व्यवहाराः *संसाधनीया इति ॥ १६ ॥

---

१ यदत्र यजुर्वेदभाष्य उवटमहीधराभ्यां, सायणाचार्येण च तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये काण्वभाष्ये च "नास्ति ह्रीर्लज्जा यासाम्" इत्यादिना बहुव्रीहिसमास इति प्रदर्शितम्, तदयुक्तम् । नञ्सुभ्याम (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वप्रसक्तेः क्रिन्प्रत्ययेन सर्वेष्टसिद्धेश्च ।

किञ्च भट्टभास्करेणापि तै० सं० भाष्ये १ । ५ ५ । १ 'अह्नोतेर्वा 'क्रिन्' प्रत्ययः, ज्ञातार उच्यन्ते' पृ० १६४ इत्यादि व्याख्यातं, तद्वदेवात्रापि भाष्य इति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रत्नाम्) प्रगस्य छन्दसि गलोपश्च त्नश्च वक्तव्यः (अ० ४ । ३ । २३ भा० वा०) इति 'त्न' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । ततष्टाप्, तस्याऽप्येकादेश उदात्तः । 'प्रत्नाम्' पदस्यान्तोदात्तत्वे सत्यपि 'प्रकृतिस्वरः' इति वदन्तस्तु चिन्त्याः ।

(द्युतम्) द्युतेः क्विपि प्रकृतिस्वरः ॥

(अह्रयः) क्रिनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(सहस्रसाम्) सहस्रोपपदात् सनोतेः जनसनखनक्रमगमो विट् (अ० ३ । २ । ६७) इति 'विट्', विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अ० ६ । ४ । ४१) इत्यात्वम् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(ऋषिम्) प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । 'इगुपधात् किः' इति केचित् पठन्ति तच्चिन्त्यम्, 'ऋषिशुचि' इत्यादिपदानामन्तोदात्तत्वापत्तेः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ 'अस्य' इति पदेन पूर्वमन्त्रपरामर्शादत्रापीश्वरभौतिकत्वेनान्वयो योजयितव्यः ॥ १६ ॥

† 'किः प्रत्ययः' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः । स चापपाठः । उणादि ४।६८ 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्' इति सर्वत्रोपलभ्यमानत्वादनुदात्तत्वस्य चापि दर्शनात् ॥

* 'संसेधनीया' इति सर्वकोशेषु पाठः । तथैव य० २ । १७ भावार्थे टिप्पण्यां च द्रष्टव्यम् ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—(अह्रयः) सब विद्याओं को व्याप्त होनेवाले विद्वान् लोग (अस्य) इस भौतिक अग्निकी (सहस्रसाम्) असंख्यात कार्यों की [देने वाली] (ऋषिम्) कार्यसिद्धि की प्रापिका हेतु (प्रत्नाम्) प्राचीन अनादि स्वरूप से नित्य वर्तमान (द्युतम्) कारणमें रहनेवाली दीप्ति को जानकर (शुक्रम्) † कार्यों को सिद्ध करनेवाले शुद्ध [साधनरूप] (पयः) जलको (अनुदुदुहे) अच्छे प्रकार पूरण करते हैं, अर्थात् अग्नि में हवनादि करके वृष्टि से संसार को पूरण करते हैं[2] ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्योंको जैसे गुणसहित अग्निका ‡कारणरूप से अनादि होने के कारण नित्यत्व जानना योग्य है, वैसेही जगत् के अन्य पदार्थों का भी कारणरूपसे अनादिपन जानना चाहिये, इनको जानकर कार्यों में उपयुक्त करके सब व्यवहारों की सिद्धि करनी चाहिये ॥ १६ ॥

तनूपा इत्यस्याऽवत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरभौतिकौ किं कुरुत इत्युपदिश्यते[3] ॥

तनूपा ऽ अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा ऽ अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा ऽ अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऽ ऊनं तन्म ऽ आपृण ॥ १७ ॥

तनूपा इति तनूऽपाः । अग्ने । असि । तन्वम् । मे । पाहि । आयुर्दा इत्यायुःऽदाः । अग्ने । असि । आयुः । मे । देहि । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । अग्ने । असि । वर्चः । मे । देहि ॥ अग्ने । यत् । मे । तन्वाः । ऊनम् । तत् । मे । आ । पृण ॥ १७ ॥

पदार्थः—(तनूपाः) यस्तनूः सर्वपदार्थदेहान् पाति रक्षति स जगदीश्वरः, पालनहेतुर्भौतिको वा । (अग्ने[4]) सर्वाभिरक्षकेश्वर, रक्षाहेतुर्भौतिको वा । (असि) अस्ति वा, अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः ।

१ फिर पूर्वोक्त को कहते हैं—

२ मन्त्रगत 'अस्य' पद से पूर्वमन्त्र के सम्बन्ध से ईश्वर तथा भौतिक अर्थों में अन्वय की योजना कर लेनी चाहिये ॥ १६ ॥

३ स्वरूपवर्णनानन्तरमुभयोः कृत्यमाह—

४ अग्निरिति पदेन कथमीश्वरोऽपि गृह्यते तद् (य० १ । ५) विवरणे द्रष्टव्यम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(तनूपाः) तनूपपदात् पातेः आतो मनिन्० (अ० ३ । २ । ७४) इत्यादिना विच् प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(तन्वम्) तनोतेः कृषिचमितनि० (उ०१।८०) इत्यादिना 'ऊः' प्रत्यय । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । पूर्ववत् (विभ्वम् य० ३ । १५) पूर्वरूपप्रतिषेधे यणादेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इत्यमः स्वरितत्वम् ॥

(आयुर्दाः) आतो मनिन्० (अ० ३ । २ । ७४) इत्यादिना 'विच्', तत उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(वर्चोदाः) पूर्वं (य० २ । २६) व्याख्यातः ॥

† 'शुद्ध कार्यों को सिद्ध करनेवाले (पयः)' इति अ. मु. पाठः ॥

‡ 'कारणरूप वा अनादिपन से नित्यपन' इति अ. मु. पाठः, कोशेषु चापि स्वल्पभेदेन ॥

(तन्वम्) शरीरम्, अत्र वाच्छन्दसि [अ० ६ । १ । १०६] इत्यमि पूर्वं इत्यत्रानुवर्तनात् पूर्वरूपादेशो न भवति । (मे) मम । (पाहि) पाति वा । (आयुर्दाः) आयुःप्रदः । (अग्ने*) विज्ञानस्वरूपेश्वर विज्ञाननिमित्तोऽग्निर्वा । (असि) भवति वा । (आयुः) जीवनम् । (मे) मह्यम् । (देहि) ददाति वा । (वर्चोदाः) यो वर्चो विज्ञानं ददातीति तत्प्राप्तिहेतुर्वा । (अग्ने) सर्वविद्यामयेश्वर, विद्याहेतुर्वा । (असि) भवति वा । (वर्चः) विद्याप्राप्तिं वा । (मे) मह्यम् । (देहि) ददाति वा । (अग्ने) कामानां प्रपूरकेश्वर, कामपूर्तिहेतुर्वा । (यत्) यावद् यस्माद् वा । (मे) मम । (तन्वाः) अन्तःकरणाख्यस्य बाह्यस्य शरीरस्य वा । (ऊनम्) अपर्याप्तम् । (तत्) तावत् तस्माद् वा । (मे) मम । (आ) समन्तात् (पृण) पूरयति वा ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । १९-२० व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! यद्यस्मात्त्वं तनूपा असि तत्तस्मान्मे मम तन्वं पाहि । हे अग्ने यद्यस्मात्त्वमायुर्दा असि तत्तस्मान्मे मह्यं पूर्णमायुर्देहि । हे अग्ने यद्यस्मात् त्वं वर्चोदा असि तत्तस्मान्मे मह्यं वर्चः पूर्णविद्यां देहि । हे अग्ने मे मम तन्वा यद्यावदूनं बुद्धिबलशौर्यादिकमपर्याप्तमस्ति तत् तावत् [मे मम] आपृण समन्तात् प्रपूरय ॥ इत्येकः ॥

अयम [ग्ने] ऽग्निर्यद्यस्मात् तनूपा [अस्य] स्ति तत् तस्मान्मे मम जाठररूपेण तन्वं [पाहि] पाति । यद् यस्मादयम [ग्नेऽ] ग्निरायुर्दा आयुर्निमित्तम [स्य] स्ति, तत् तस्मान्मे मह्यमायु [र्देहि] ददाति । यद् यस्मादयम [ग्नेऽ] ग्निर्वर्चोदा [असि] अस्ति, तत् तस्माद् [मे मह्यं] वर्चो दीप्तिं [देहि] ददाति । अयम [ग्नेऽ] ग्निर्यद् यावन्मे मम तन्वा ऊनमपर्याप्तं तत् तावद् [मे मम आपृण] समन्तात् प्रपूरयति ॥ *इति द्वितीयः* ॥ १७ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—परमेश्वरेणास्मिञ्जगति यतः सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः शरीरायुर्निमित्तविद्याप्रकाशसर्वाङ्गपूर्तिर्निर्मिता, तस्मात् सर्वे पदार्थाः स्वस्वरूपं धारयन्ति, तथैवास्य सृष्टौ प्रकाशादिगुणवत्त्वादयमग्निरेतेषां मुख्यः साधकोस्तीति सर्वैर्वेदितव्यम् † ॥ १७ ॥

अब ईश्वर और भौतिक अग्नि क्या करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः[१]—हे (अग्ने) [सबके रक्षक] जगदीश्वर ! जिस कारण आप (तनूपाः) सब मूर्तिमान् पदार्थों तथा शरीरों की रक्षा करनेवाले (असि) हैं, इससे आप (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की (पाहि) रक्षा कीजिये । हे (अग्ने) [विज्ञानस्वरूप] परमेश्वर ! जैसे आप (आयुर्दाः) सबको आयु के देनेवाले (असि) हैं, वैसे (मे) मेरे लिये (आयुः) पूर्ण आयु अर्थात् सौ वर्ष तक जीवन (देहि) दीजिये । हे (अग्ने) सर्वविद्यामय ईश्वर !

(अग्ने) अन्तिमे 'अग्ने' इत्यत्र वाक्यादित्वात् षाष्ठिकमाद्युदात्तत्वम् । अन्यत्र 'अग्ने'इत्याष्टमिको निघातः ॥

(ऊनम्) अवतेः इण्सिञ्जिदीङ्०(उ० ३ । २) इत्यादिना 'नक्' प्रत्ययः । ज्वरत्वरस्रिव्य० (अ० ६ । ४ । २०) इत्यूठ्, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ श्लेषालङ्कारेण द्विविधोऽप्यन्वयः प्रदर्शितः ॥ १७ ॥
२ स्वरूपवर्णन के पश्चात् दोनों का कार्य दिखलाते हैं—
३ यहां दो प्रकार का अन्वय श्लेषालङ्कार से दर्शाया गया है ॥ १७ ॥

---

* क. ख. कोशयोर्वर्तमानोऽपि ग. कोशे लेखकप्रमादत्यक्तोऽयम् "अग्ने............ऽग्निर्वा" पाठः ॥
† भावार्थोऽयं सन्दिग्ध इव प्रतिभाति ॥

जैसे आप (वर्चोदाः) सब मनुष्यों को विज्ञान देनेवाले (असि) हैं, वैसे (मे) मेरे लिये भी ठीक २ गुणज्ञानपूर्वक (वर्चः) पूर्ण विद्याको (देहि) दीजिये। हे (अग्ने) सब कामों को पूरण करनेवाले परमेश्वर! (मे) मेरे (तन्वः) शरीर में (यत्) जितना (ऊनम्) बुद्धिबल और शौर्य आदि गुण कम है (तत्) उतना अङ्ग (मे) मेरा (आपृण) अच्छे प्रकार पूर्ण कीजिये ॥ १ ॥ [*यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ*] ॥

(अग्ने) यह भौतिक अग्नि जैसे (तनूपाः) पदार्थों की रक्षा का हेतु (असि) है, वैसे जाठराग्निरूप से (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की (पाहि) रक्षा करता है। (अग्ने) जैसे ज्ञानका निमित्त यह अग्नि (आयुर्दाः) सबके जीवन का हेतु (असि) है, वैसे (मे) मेरे लिये भी (आयुः) जीवन के हेतु क्षुधा आदि गुणों को (देहि) देता है। (अग्ने) यह अग्नि जैसे (वर्चोदाः) विज्ञानप्राप्तिका हेतु (असि) है वैसे (मे) मेरे लिये भी (वर्चः) विद्याप्राप्ति के निमित्त बुद्धिबलादि को (देहि) देता है, तथा (अग्ने) जो कामके पूर्ण करने में हेतु भौतिक अग्नि है, वह (यत्) जितना (मे) मेरे (तन्वाः) शरीर में बुद्धि आदि सामर्थ्य (ऊनम्) कम है, (तत्) उतना गुण [(मे) मेरा] (आपृण) पूर्ण करता है ॥ २ ॥ १७ ॥ [*यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ*] ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—जिस कारण परमेश्वर ने इस संसार में सब प्राणियों के लिये शरीर के आयुनिमित्त विद्या का प्रकाश और सब अङ्गों की पूर्णता की है, इसीसे सब पदार्थ अपने २ स्वरूप को धारण करते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर की सृष्टि में प्रकाश आदि गुणवान् होने से यह अग्नि भी सब पदार्थों के पालन का मुख्य साधन है ॥१७॥

इन्धानास्त्वेत्यस्याऽवत्सार ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनस्तावेवोपदिश्येते[1] ॥

इन्धा॑नास्त्वा श॒तꣳहिमा॑ द्यु॒मन्त॒ꣳ समि॑धीमहि। वय॑स्वन्तो वय॒स्कृत॒ꣳ सह॑स्वन्तः सह॒स्कृत॑म्। अग्ने॑ सपत्न॒दम्भ॑नमद॑ब्धासो॒ऽअदा॑भ्यम्। चित्रा॑वसो स्व॒स्ति ते॑ पा॒रम॑शीय ॥ १८ ॥

इन्धा॑नाः। त्वा॒। श॒तम्। हिमाः॑। द्यु॒मन्त॒मिति॑ द्युऽमन्त॑म्। सम्। इ॒धी॒म॒हि॒॥ वय॑स्वन्तः। * वय॒स्कृत॑म्। * व॒यः॒कृ॒त॒मिति॑ व॒यः॒ऽकृत॑म्। सह॑स्वन्तः। † स॒ह॒स्कृ॒त॒म्। † स॒ह॒ःकृ॒त॒मिति॑ स॒ह॒ःऽकृत॑म्॥ अग्ने॑। स॒प॒त्न॒दम्भ॑न॒मिति॑ सपत्न॒ऽदम्भ॑नम्। अद॑ब्धासः। अदा॑भ्यम्॥ चित्रा॑वसो। चित्र॑वसो॒ऽइति॒ चित्र॑ऽवसो। स्व॒स्ति। ते॒। पा॒रम्। अ॒शी॒य॒॥१८॥

पदार्थः—(इन्धानाः) प्रकाशयन्तः। (त्वा) त्वामनन्तगुणं जगदीश्वरं, प्रकाशादिगुणवन्तं भौतिकं वा। (शतम्) शतसंख्याकान् संवत्सरानधिकं वा। (हिमाः) हेमन्तर्तुयुक्तानि वर्षाणि। शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यास्म। शत० २।३।४।२१। (द्युमन्तम्) द्यौरनन्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिन् परमेश्वरे, वा प्रशस्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिन् भौतिके तम्। अत्र भूम्न्यर्थे प्रशंसार्थे च मतुप्। (सम्) सम्यगर्थे। (इधीमहि) जीवेम वा। (वयस्वन्तः) प्रशस्तं पूर्णमायुर्विद्यते येषां ते। अत्र प्रशंसार्थे मतुप्। (वयस्कृतम्) यो वयः करोति तम्। (सहस्वन्तः) सहनं सहो [बहुविधो] विद्यते येषां ते, अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। (सहस्कृतम्) यः सहः सहनं करोति कारयति वा तम्। (अग्ने) विज्ञात ईश्वर, कार्यप्रापकोऽग्निर्वा। (सपत्नदम्भनम्) यः सपत्नान् दम्भयतीति तम्। (अदब्धासः) दम्भाहंकाररहिताः, अनुपहिंसिताः। हिनस्ति दभ्नोतीति वधकर्मसु पठितम्। निघ० २।१९। अत्र आज्जसेरसुक् [अ० ७।१।५०] इत्यसुगागमः। (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम्। (चित्रावसो[2]) चित्रमद्भुतं वसु धनं विद्यते यस्मिंस्तत्सं-

[1] पूर्ववत् ॥

[2] अग्निदेवताकोऽयं मन्त्रः। एवं 'अग्ने' इति संबोध-

* उभयोः स्थाने 'व॒य॒स्कृत॒मिति॑ व॒यः॒ऽकृत॑म्' इत्येवाजमेरमुद्रिते पाठः ॥

† उभयोः स्थाने 'स॒ह॒स्कृत॒मिति॑ स॒हः॒ऽकृत॑म्' इत्येवाजमेरमुद्रिते पाठः ॥

बुद्धावीश्वर, चित्राणि वसूनि धनानि यस्माद् वा स भौतिकः, अत्राऽन्येषामपि [दृश्यते । अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घः । (स्वस्ति) प्राप्तव्यं सुखम्, स्वस्तीति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ५ । अनेन प्राप्तव्यं सुखं गृह्यते । (ते) तव तस्य वा । (पारम्) सर्वदुःखेभ्यः पृथग्भूतम् । (अशीय) प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे चित्रावसो अग्ने जगदीश्वराऽदब्धासो वयस्वन्तः सहस्वन्तोऽदाभ्यं सपत्नदम्भनं वयस्कृतं सहस्कृतं द्युमन्तं त्वा त्वामिन्धानाः सन्तो वयं शतं हिमाः समिधीमहि प्रकाशयेम जीवेमैवं कुर्वन्नहमपि यत् ते तव कृपया सर्वदुःखेभ्यः पारं गत्वा स्वस्ति सुखमशीय प्राप्नुयाम् ॥ इत्येकः ॥

अदब्धासो वयस्वन्तः सहस्वन्तस्त्वा तमदाभ्यं सपत्नदम्भनं वयस्कृतं सहस्कृतं [द्युमन्त] मग्ने अग्निं नित्यमिन्धानाः प्रदीपयन्तो वयं शतं हिमाः शतं वर्षाणि [समिधीमहि] जीवेमैवं कुर्वन्नहमपि योऽयं चित्रावसो चित्रावसुरग्निस्ते तस्य सकाशाद् दारिद्र्यादिदुःखेभ्यः पारं गत्वा स्वस्ति सुखमशीय प्राप्नुयाम् ॥ इति द्वितीयः ॥ १८ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः[1] ॥

नान्तं पदं, 'चित्रावसो' इत्यपि सम्बोधनान्तमेव पदम्, अनेन 'चित्रावसो' इत्यग्निविशेषणत्वेन प्रसङ्गतः प्रासेश्वाग्निवाचकः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इन्धानाः) 'इन्धी दीप्तौ' ततश्शानच् । विभाषा वेण्विन्धानयोः (अ० ६ । १ । २१५) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(द्युमन्तम्) पूर्वं यजुः २ । ४ व्याख्यातः ।

(वयस्वन्तः) 'वय गतौ' इति धातोः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा०) इत्यसुन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तो वयश्शब्दः । ततः प्रशंसार्थे मतुप् । स पित्त्वादनुदात्त इति आद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(सहस्वन्तः) सहधातोरसुन् प्रत्ययः । अग्रे सर्वं पूर्ववत् ॥

(वयस्कृतम् , सहस्कृतम्) क्विपि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(सपत्नदम्भनम्) सपत्नान् दम्भयतीति कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इति कर्त्तरि ल्युट् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वम् ॥

(अदब्धासः) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(अदाभ्यम्) लपिदभिभ्यां च (अ ३ । १ । १२४ भा० वा०) इति ण्यत्, नञ्समासे स्वरः पूर्ववत् ॥

(चित्रावसो) आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(स्वस्ति) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥ यद्वा यथा निरुक्ते (३ । २१) व्युत्पत्तिः प्रदर्शिता—"अस्तिरभिपूजितः सु अस्तीति" । अस्मिन् व्युत्पत्तिपक्षे सह सुपा (अ० २ । १ । ४) इति समासः । समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(पारम्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥ यद्वा 'पार तीर कर्मसमाप्तौ' (चु०) तत एरच् (अ० ३ । ३ । ५६) इति अच्, चित्त्वादन्तोदात्तः ॥ ये तु एरजण्यन्तानामित्याश्रयन्ति तेषां मते घञ्, कर्षात्वतो घञोऽन्तोदात्तः (अ० ६ । १। १५९) इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

(अशीय) 'अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च' इत्यस्य लिङ्युत्तमपुरुषैकवचनम् । बहुलं छन्दसि (अ० २। ४। ७३) इति छान्दसो विकरणाभावः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ श्लेषालङ्कारेण द्विविधो ऽन्वयः प्रदर्शितः ॥

२ अस्मिन् पक्षे व्यत्ययेन द्वितीयार्थे सम्बुद्धिः । 'अग्निरस्ति तम्' इत्याचार्याणामभिप्रायः ॥ १८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः पुरुषार्थेनेश्वरोपासनयाऽग्न्यादिपदार्थेभ्य उपकारकरणेन च सर्वदुःखान्तं गत्वा परं सुखं प्राप्य शतवर्षपर्यन्तं जीवितव्यं, न च केनाप्येकक्षणमप्यालस्ये स्थातव्यम्, किन्तु यथा पुरुषार्थो वर्द्धेत तथैवानुष्ठातव्यमिति ॥ १८ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में परमेश्वर और भौतिक अग्नि का प्रकाश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (चित्रावसो) आश्चर्यरूप धनवाले (अग्ने) परमेश्वर ! (अदब्धासः) दम्भ अहंकार और हिंसादि दोषरहित (वयस्वन्तः) प्रशंसनीय पूर्ण अवस्थायुक्त (सहस्वन्तः) अत्यन्त सहन स्वभावसहित (अदाभ्यम्) मानने योग्य [अहिंसनीय अर्थात् न त्यागने योग्य] (सपत्नदम्भनम्) शत्रुओं के नाश करने (वयस्कृतम्) अवस्था की पूर्ति करने (सहस्कृतम्) सहन करने कराने तथा (द्युमन्तम्) अनन्त प्रकाशवाले (त्वा) आपका (इन्धानाः) उपदेश और श्रवण करते हुए हमलोग (शतं) सौ वर्ष तक वा सौ से अधिक (हिमाः) हेमन्त ऋतुयुक्त (समिधीमहि) अच्छे प्रकार प्रकाश करें वा जीवें । इस प्रकार करता हुआ मैं भी जो (ते) आप की कृपा से सब दुःखों से (पारम्) पार होकर (स्वस्ति) सुख को (अशीय) प्राप्त होऊँ ॥ १ ॥ *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ]* ॥

(अदब्धासः) * हिंसादि दोषरहित (वयस्वन्तः) पूर्ण अवस्थायुक्त (सहस्वन्तः) अत्यन्त सहन करने वाले (त्वा) उस (अदाभ्यम्) उपयोग करने योग्य (सपत्नदम्भनम्) आग्नेयादि शस्त्र अस्त्र विद्या में हेतु होने से शत्रुओं को जिताने (वयस्कृतम्) अवस्था को बढ़ाने (सहस्कृतम्) सहन का हेतु (द्युमन्तम्) अच्छे प्रकार प्रकाशयुक्त (अग्ने) कार्यों को प्राप्त कराने वाले भौतिक अग्निको (इन्धानाः) प्रज्वलित करते हुए हमलोग (शतम्) सौ वर्षपर्यन्त (हिमाः) हेमन्तऋतुयुक्त (समिधीमहि) जीवें, इस प्रकार करता हुआ मैं भी जो यह (चित्रावसो) आश्चर्यरूप धन की प्राप्ति का हेतु अग्नि है (ते) उससे दारिद्र्य आदि दुखों से (पारम्) पार होकर (स्वस्ति) अत्यन्त सुखको (अशीय) प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥ १८ ॥ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार[2] है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ, ईश्वर की उपासना तथा अग्नि आदि पदार्थों से उपकार लेके दुःखों से पृथक् होकर उत्तम २ सुखों को प्राप्त होकर सौ वर्ष जीना चाहिये, अर्थात् क्षणभर भी आलस्य में नहीं रहना किन्तु जैसे पुरुषार्थ की वृद्धि हो, वैसा अनुष्ठान निरन्तर करना चाहिये ॥ १८ ॥

सं त्वमित्यस्यावत्सार ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते[3] ॥

सं त्वम॑ग्ने॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॑साग॒थाः समृषी॑णाᳪ स्तु॒तेन॑ । सं प्रि॒येण॒ धाम्ना॒ सम॒हमायु॑षा॒ सं वर्च॑सा॒ सं प्र॒जया॒ सᳪ रा॒यस्पोषे॑ण ग्मिषीय ॥ १९ ॥

सम् । त्वम् । अग्ने । सूर्य्यस्य । वर्चसा । अगथाः । सम् । ऋषीणाम् । स्तुतेन । सम् । प्रियेण । धाम्ना । सम् । अहम् । आयुषा । सम् । वर्चसा । सम् । प्रजयेति प्रऽजया । सम् । रायः । पोषेण । ग्मिषीय ॥ १९ ॥

१ पुनः पूर्वोक्त को ही कहते हैं ॥
२ श्लेषालङ्कार से दोनों प्रकार का अन्वय दर्शाया है ॥१८॥ ३ पुनरुभयोः स्वरूपं प्रयोगं चाह—

* इतोऽग्रे 'दम्भ अहंकार' इति पाठः अ० मु० कोशेषु नास्ति, स चासम्यक् ॥

पदार्थः—(सम्) समागमे । (त्वम्) परमेश्वरोयं भौतिको वा । (अग्ने) विज्ञानस्वरूप, व्यवहारप्राप्तिहेतुर्वा । (सूर्य्यस्य) सर्वान्तर्गतस्य प्राणस्य, सूर्यलोकस्य वा । (वर्चसा) दीप्त्या । (अगथाः) गच्छसि प्राप्नोति वा । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । वर्तमाने लुङ् मन्त्रे घसह्वरणश० [अ० २।४।८०] इति च्लेर्लुक् च । (सम्) संगतार्थे । (ऋषीणाम्) वेदविदां, मन्त्रद्रष्टॄणां विदुषाम् । (स्तुतेन) प्रशंसितेन । (सम्) एकीभावे । (प्रियेण) प्रसन्नताकारकेण । (धाम्ना) स्थानेन । (सम्) समीचीनार्थे । (अहम्) जीवः । (आयुषा) जीवनेन । (सम्) संगत्यर्थे । (वर्चसा) विद्याध्ययनप्रकाशनेन । (सम्) श्रैष्ठ्यार्थे । (प्रजया) सन्तानेन, राज्येन वा । (सम्) प्रशस्तार्थे । (रायस्पोषेण) रायो धनानां भोगेन ॐ पुष्ट्या । (ग्मिषीय) प्राप्नुयाम् । अत्राशिषि लिङि वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [अ० १।४।६। भा०] इतीडागमः । गमहनजन० अ० ६।४।९८ इत्युपधालोपश्च ॥ अयं मन्त्रः शत० २।३।४।२४ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर यस्त्वं सूर्यस्य प्राणस्यर्षीणां येन संस्तुतेन सम्प्रियेण संवर्चसा धाम्ना समायुषा [संवर्चसा] संप्रजया संरायस्पोषेण सह समगथास्तेनैवाहमपि सर्वाणि सुखानि संग्मिषीय सम्यक् प्राप्नुयाम् ॥ *इत्येकः* ॥

† यो [ऽग्ने ऽ] ग्निः सूर्यस्य प्रत्यक्षस्य सवितृमण्डलस्यर्षीणां संस्तुतेन संप्रियेण संवर्चसा धाम्ना समायुषा [संवर्चसा] संप्रजया संरायस्पोषेण समगथाः संगतो भूत्वा राजते, तेन संसाधितेनाहं सर्वाणि व्यवहारसुखानि संग्मिषीय सम्यक् प्राप्नुयाम् ॥ *इति द्वितीयः* ॥ १९ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥ १९ ॥

भावार्थः—मनुष्या ईश्वरस्याज्ञापालनेन सम्यक् पुरुषार्थेनाग्न्यादिपदार्थानां संप्रयोगेणैतत् सर्वं सुखं प्राप्नुवन्तीति ॥ १९ ॥

फिर भी परमेश्वर और अग्नि कैसे हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है ॥

१ आदित्यः प्राणः ॥ जै० उ० ब्रा० ४।२२।९ ॥

२ समो गम्यृच्छिभ्याम् (अ० १।३।२९) इत्यात्मनेपदम् । लेर्लुक् ॥

३ ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः (निरु० २।११) ॥ यो वै ज्ञातो ऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः ॥ श० ४।३।४।१९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रायः) उडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (अ० ६।१।१७१) इति विभक्तिरुदात्ता ॥ पूर्वं य० २।१० व्याकरणप्रक्रियायां जसि प्रत्यये विभक्तिरनुदात्तेति ध्येयम् ॥

(पोषेण) घञि ञित्वादाद्युदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(ग्मिषीय) गमेराशिषि लिङि, उत्तमैकवचने समो गम्यृच्छिभ्याम् (अ० १।३।२९) इत्यात्मनेपदम्, तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४ श्लेषालङ्कारेणात्र द्विविधो ऽप्यन्वयः प्रदर्शितो भवति, स चात्रास्पष्टार्थः ॥ १९ ॥

५ दोनों का स्वरूप तथा प्रयोग पुनः दर्शाते हैं—

ॐ 'भोगपुष्ट्या' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥

† अस्मिन्नन्वये त्वमिति मन्त्रगतं पदं त्यक्तम् । तच्च न क्वचिदन्वेतीत्यपि ध्येयम् ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) जगदीश्वर! जो [(त्वम्)] आप (सूर्यस्य) सबके अन्तर्गत प्राण वा (ऋषीणाम्) वेदमन्त्रों के अर्थों को देखनेवाले विद्वानों की जिस (संस्तुतेन) स्तुति करने (संप्रियेण) प्रसन्नता से मानने (संवर्चसा) विद्याध्ययन और प्रकाश करने (धाम्ना) स्थान (समायुषा) उत्तम जीवन (संप्रजया) सन्तान वा राज्य और (रायस्पोषेण) उत्तम धनों के भोग [से] पुष्टि के साथ (समगथाः) प्राप्त होते हो, उसी के साथ (अहम्) मैं भी सब सुखों को (संग्मिषीय) प्राप्त होऊं ॥ १ ॥

‡ जो (अग्ने) भौतिक अग्नि (सूर्यस्य) प्रत्यक्ष सूर्यमण्डल वा (ऋषीणाम्) वेद-मन्त्रों के अर्थों को देखनेवाले विद्वानों की जिस (संस्तुतेन) स्तुति करने (संप्रियेण) प्रसन्नता से मानने (संवर्चसा) विद्याध्ययन और प्रकाश करने (धाम्ना) स्थान (समायुषा) उत्तम जीवन (संप्रजया) सन्तान वा राज्य और (रायस्पोषेण) उत्तम धनों के भोग से पुष्टि द्वारा (समगथाः) सङ्गत हो कर प्रकाश को प्राप्त होता है, उस सिद्ध किये हुए अग्नि के साथ (अहम्) मैं व्यवहार के सब सुखों को (संग्मिषीय) प्राप्त होऊं ॥ २ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है[1] ॥

भावार्थः—मनुष्य लोग ईश्वर की आज्ञा का पालन, अपना पुरुषार्थ और अग्नि आदि पदार्थों के संप्रयोग से इन सब सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ १९ ॥

अन्ध स्थेत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः। आपो देवताः। भुरिग् बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

अथ यज्ञेन कृतशुद्धय ओषध्यादयः पदार्था उपदिश्यन्ते[2] ॥

अन्ध॑ स्थान्धो॑ वो भक्षीय॒ मह॑ स्थ॒ महो॑ वो भक्षीयोर्ज॒ स्थोर्जं॑ वो भक्षीय रा॒यस्पोष॑ स्थ रा॒यस्पोषं॑ वो भक्षीय ॥ २० ॥

अन्धः॑। स्थ॒। अन्धः॑। वः॒। भ॒क्षी॒य॒। महः॑। स्थ॒। महः॑। वः॒। भ॒क्षी॒य॒। ऊर्जः॑। स्थ॒। ऊर्ज॑म्। वः॒। भ॒क्षी॒य॒। रा॒यः। पोषः॑। स्थ॒। रा॒यः। पोष॑म्। वः॒। भ॒क्षी॒य॒ ॥ २० ॥

पदार्थः—(अन्धः) अन्नम्। अन्ध इत्यन्ननामसु पठितम्। निघं० २। ७। अदेर्नुम् धौ च उ० ४। २०६। अनेनाऽदेरसुन् प्रत्ययो नुमागमो धकारादेशश्च। वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः [अ० ८। ३। ३६

१ श्लेषालङ्कार से यहां दोनों प्रकार का अन्वय दर्शाया गया है ॥ १९ ॥

२ अग्निसाधनीभूतस्य यज्ञस्य फलमाह—

अथ व्या० प्रक्रिया ॥

(अन्धः) अदेर्नुम् धौ च (उ० ४। २०६) इत्यसुन्, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(महः) 'मह पूजायाम्' इत्यतः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८९) इति 'असुन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(रायः) ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः (अ० ६। १। १७१) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(पोषः) घञि नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

‡ अयं द्वितीयोऽर्थोऽस्माभिः संस्कृतानुसारं प्रदर्शितः। अ० मुद्रिते त्वेवम्—

"जो (अग्ने) भौतिक अग्नि पूर्व कहे हुये सबों के (समगथाः) संगत होकर प्रकाश को प्राप्त होता है, उस सिद्ध किये हुये अग्नि के साथ (अहम्) मैं व्यवहार के सब सुखों को (संग्मिषीय) प्राप्त होऊं ॥ १९ ॥"

मा० वा०] इति विसर्जनीयलोपः । (स्थ) सन्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (अन्धः) प्राप्तुं योग्यो रसः । अन्ध इति पदनामसु पठितम् । निघ० ४ । २ । अनेन प्राप्तव्यो रसो गृह्यते । (वः) सर्वेषामोषध्यादिपदार्थानाम् । (भक्षीय) सेवेय । (महः) महांसि । (स्थ) सन्ति । (महः) महागुणसमूहम् । (वः) महतां पदार्थानाम् । (भक्षीय) स्वीकुर्याम् । (ऊर्जः) पराक्रमः । (स्थ) सन्ति । (ऊर्जम्) पराक्रमम् । (वः) बलवतां पदार्थानाम् । (भक्षीय) सेवेय । (रायस्पोषः) या बहुगुणभोगेन पुष्टयः । भूमा वै रायस्पोषः । शत० ३ । १ । १ । १२ । (स्थ) सन्ति । (रायस्पोषम्) उत्तमानां धनानां भोगम् । (वः) चक्रवर्तिराज्यश्रियादिपदार्थानाम् । (भक्षीय) अद्याम् ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । २५ व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः[1]—येऽन्धः स्थान्धो वीर्यवन्तो वृक्षौषध्यादयः पदार्थाः सन्ति, वस्तेषां सकाशादहमन्धो वीर्यकराण्यन्नानि भक्षीय स्वीकुर्य्याम् । ये महः स्थ महो महान्तो वाय्वग्न्यादयो विद्यादयो वा सन्ति, वस्तेषां सकाशात् [महो] महांसि क्रियासिद्धिकराण्यहं भक्षीय । य ऊर्जः * स्थोर्जो रसवन्तो जलदुग्धघृतमधुफलादयः सन्ति, वस्तेषां सकाशाद् ऊर्जं रसमहं भक्षीय भुञ्जीय । ये रायस्पोषः स्थ रायस्पोषो बहुगुणसमूहयुक्ताः पदार्थाः सन्ति, वस्तेषां सकाशादहं रायस्पोषं बहुशुभगुणैः पोषं भक्षीय सेवेय ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्जगत्स्थानां पदार्थानां गुणज्ञानपुरःसरं क्रियाकौशलेनोपकारं संगृह्य सर्वं सुखं भोक्तव्यमिति ॥ २० ॥

अब अगले मन्त्र में यज्ञ से शुद्ध किये ओषधी आदि पदार्थों का उपदेश किया है[2] ॥

पदार्थः—जो (अन्धः) बलवान् वृक्ष वा ओषधि आदि पदार्थ (स्थ) हैं, (वः) उनके † सकाश से मैं (अन्धः) वीर्य को पुष्ट करनेवाले अन्नों को (भक्षीय) ग्रहण करूँ । जो (महः) बड़े २ वायु अग्नि आदि वा विद्या आदि पदार्थ (स्थ) हैं, (वः) उनसे मैं (महः) बड़ी २ क्रियाओं की सिद्धि करनेवाले कर्मों का (भक्षीय) सेवन करूँ । जो (ऊर्जः) जल, दूध, घी, मिष्ट वा फल आदि रसवाले पदार्थ (स्थ) हैं, (वः) उनसे मैं (ऊर्जम्) पराक्रमयुक्त रस का (भक्षीय) भोग करूँ । और जो (रायस्पोषः) अनेक गुणयुक्त पदार्थ (स्थ) हैं, (वः) उन चक्रवर्ति राज्य और श्रीआदि पदार्थों के मैं (रायस्पोषम्) उत्तम २ धनों के भोग का (भक्षीय) सेवन करूँ[3] ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जगत् के पदार्थों के गुणज्ञानपूर्वक क्रिया की कुशलता से उपकार को ग्रहण करके सब सुखों का भोग करना चाहिये ॥ २० ॥

---

१ आधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः ॥ आपो ह वा ओषधीनां रसः ॥ श० ३ । ६ । १ । ७ ॥ इत्यनेन सर्वोऽप्यन्वयः सङ्गच्छते ॥ आपो वै सर्वे देवाः ॥ श० १० । ५ । ४ । १४ इत्यादिना, आपो देवतेति हेतोश्चान्यावप्यर्थावूहनीयौ ॥ २० ॥

२ अग्नि से सिद्ध होने वाले यज्ञ का फल कहते हैं—

३ यहाँ अन्वय आधिदैविकपरक है । शतपथ के उपर्युक्त वचन से इसकी सङ्गति समझ लेनी चाहिये ॥ 'आपो वै सर्वे देवाः' इस से तथा 'आपः' देवता होने से अन्य अर्थों की भी ऊहा कर लेनी चाहिये ॥ २० ॥

* 'स्थोर्जो' इति अ. मु. पाठः ॥ † 'प्रकाश' इति अ. मु. पाठः ॥

रेवतीरित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथ विदुषां सत्कारायोपदिश्यते[1]॥

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन् क्षये। इहैव स्त मापगात॥ २१॥

रेवतीः। रमध्वम्। अस्मिन्। योनौ। अस्मिन्। † गोष्ठे। गोस्थ इति गोऽस्थे। अस्मिन्। लोके। अस्मिन्। क्षये॥ इह। एव। स्त। मा। अप। गात॥ २१॥

पदार्थः—(रेवतीः[2]) विद्याधनसहिता प्रशस्ता नीतयो गात्र इन्द्रियाणि पशवः पृथिवीराज्यादियुक्ता यासु ताः। अत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७। १। ३९] इति पूर्वसवर्णादेशः प्रशंसार्थे मतुप् च। (रमध्वम्) रमणं कुर्वन्तु। अत्र व्यत्ययः। (अस्मिन्) प्रत्यक्षे। (योनौ[3]) जन्मनि स्थले वा (अस्मिन्) समक्षे। (गोष्ठे) गावः पशव इन्द्रियाणि यस्मिंस्तिष्ठन्ति तस्मिन्। (अस्मिन्) सेव्यमाने। (लोके) संसारे। (अस्मिन्) अस्माभिः संपादिते। (क्षये[4]) निवसनीये गृहे। (इह) एतेषु। (एव) अवधारणार्थे। (स्त) सन्ति। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (मा) निषेधे। (अप) दूरार्थे। (गात) गच्छन्तु। अत्र लोडर्थे*लुङ् पुरुषव्यत्ययश्च॥ अयं मन्त्रः शत० २। ३। ४। २६ व्याख्यातः॥ २१॥

अन्वयः[5]—हे मनुष्याः प्रशस्ता नीत्यादयो रेवती रेवत्यः [स्त सन्ति] ता अस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन् लोकेऽस्मिन् क्षये रमध्वं रमन्तामितीच्छन्तो भवन्त इहैतेष्वेव नित्यं प्रवर्त्तन्ताम्,‡ एतेभ्यो मापगात कदाचिद् दूरं मा गच्छन्तु॥ २१॥

---

१ सत्कृतिरूपयज्ञार्थैश्वर्यस्यावश्यकतां दर्शयन्नाह—

२ वाग् वै रेवती॥ श० ३। ८। १। १२॥

पशवो वै रेवत्यः॥ तां० १३। ७। ३॥ १२। ९। १५॥

३ योनि'''स्थानम् इति निरु० २। १९॥

योनिरिति गृहनाम॥ निघ० ३। ४॥

योनिरन्तरिक्षम् इति निरु० २। ८॥

यौति संयाजयति पृथक् करोति वा स योनिः॥ उ० वृ० ४। ५१॥

४ 'क्षि निवासगत्योः' इत्यस्मात्, क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षयः। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अ० ३। ३। ११८) इति 'घः' प्रत्ययः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रेवतीः) रैशब्दात् प्रशंसार्थे मतुप्, मतुबुदात्तत्वे रेग्रहणम् (अ० ६। १। १७६ वा०) इत्यनेन मतुप उदात्तत्वम्, व्यत्ययेनामन्त्रितस्वरः॥ पूर्वं (यजुः १। २१) पृ० १०७ व्याकरणप्रक्रियायां व्याख्यातः। व्यत्ययेनामन्त्रितस्वर इति त्वत्र विशेषः॥

(रमध्वम्) पूर्वपदस्यामन्त्रितत्वाभावे छान्दसत्वादिष्टस्वरसिद्धिः। आमन्त्रितपक्षे तु आमन्त्रितस्याविद्यमानत्वादनिघातः॥

(क्षये) क्षिधातोः एरच् (अ० ३। ३। ५६) इति 'अच्' प्रत्ययः, चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते क्षयो निवासे (अ० ६। १। २०१) इत्यनेनाद्युदात्तत्वम्। घपक्षेऽपि पूर्ववत् स्वरः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

५ (क) 'सर्वप्रक्रियापरो ऽत्रान्वयः, आधिदैविकस्तु प्राधान्येन॥

(ख) 'प्रवर्त्तन्ताम्' इत्यध्याहारः॥ २१॥

---

† 'गोष्ठे' इति नास्त्यजमेरमुद्रिते॥ * 'लङ्' इति अ० मु० पाठः। 'लुङ्' इति तु कोशेषु॥

‡ 'किन्त्वेतेभ्यः' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः। तत्र 'किन्तु' इति तु पदमनावश्यकम्॥

भावार्थः—यत्र विद्वांसो निवसन्ति तत्र विद्यादीनां गुणानां निवासात् प्रजा विद्यासुशिक्षाधनवत्यो भूत्वा नित्यं सुखेन सह युञ्जते, तस्मात् सर्वैरेवमिच्छा कार्याऽस्माकं ‡ समीपाद् विद्वांसो विदुषां समीपाच्च वयं कदाचिद् दूरे मा भवेमेति ॥ २१ ॥

अब विद्वानों के सत्कार के लिये उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जो (रेवतीः) विद्या धन इन्द्रिय पशु और पृथिवी के राज्य आदि से युक्त श्रेष्ठ नीति (स्त) हैं, वे (अस्मिन्) इस (योनौ) जन्म, स्थल (अस्मिन् गोष्ठे) इन्द्रिय वा पशु आदिके रहने के स्थान (अस्मिंल्लोके) संसार वा (अस्मिन् क्षये) हमारे रचे हुए घरों में (रमध्वम्) रमण करें, ऐसी इच्छा करते हुए तुम लोग (इहैव) इन्हीं में प्रवृत्त होओ (मापगात) इनसे दूर कभी मत जाओ ॥ २१ ॥

भावार्थः—जहां विद्वान् लोग निवास करते हैं, वहां प्रजा विद्या उत्तम शिक्षा और धन वाली होकर निरन्तर सुखों से युक्त होती है । इससे सब मनुष्यों को ऐसी इच्छा करनी चाहिये कि हमारा और विद्वानों का नित्य समागम बना रहे अर्थात् कभी हम लोग विरोध से पृथक् न होवें ॥ २१ ॥

सꣳहितेत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । पूर्वार्द्धस्य भुरिगासुरी गायत्री, उपत्वे [त्यारभ्य] एमसि इत्यन्तस्य गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथाग्निशब्देन विद्युत्कर्माण्युपदिश्यन्ते[3] ॥

सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन ।
उप॑ त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त ऽ एमसि ॥ २२ ॥

सꣳहितेति सम्ऽहिता । असि । विश्वरूपीति विश्वऽरूपी । ऊर्जा । मा । आ । विश । गौपत्येन ॥ उप । त्वा । अग्ने । दिवेदिव इति * दिवेऽदिवे । दोषावस्तरिति दोषाऽवस्तः । धिया । वयम् ॥ नमः । भरन्तः । आ । इमसि ॥ २२ ॥

पदार्थः—(संहिता) सर्वपदार्थैः सह वर्तमाना विद्युत्, सर्वव्यापक ईश्वरो वा[4] । (असि) अस्ति वा[5] । अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः । (विश्वरूपी) विश्वं सर्वं रूपं यस्याः सा । अत्र † जातेरस्त्रीविषया-

१ सत्काररूप यज्ञ के लिए ऐश्वर्य की आवश्यकता बतलाते हैं—

२ यहां अन्वय सब प्रक्रियाओं में समझना चाहिये, प्रधानतया आधिदैविक अर्थ का निरूपण है ॥२१॥

३ ऐश्वर्यसाधकत्वादग्निरूपाया विद्युतः कर्माण्याह—

४ सर्वपदार्थैः सह वर्त्तमाना सर्वव्यापकरूपेश्वरशक्तिरिति भावः । अनेनाध्यात्मपरो ऽयं मन्त्रो व्याख्यात इति ध्येयम् ॥

५ 'अस्ति वा' इत्यत्र 'वा' इति पदेन यथान्यासोऽप्यर्थो योजनीय इति ध्वन्यते, तथैव चान्यत्रापीति बोध्यम् ॥

‡ 'सङ्गसमीपात्' इति अ० मु० ख. ग. कोशयोश्चास्ति । क. कोशे तु 'समीपाद्' इत्येव पाठः । स च साधीयान् ॥

* 'दिवेदिवे' इत्यवग्रहचिह्नरहितः पाठोऽजमेरमुद्रिते ।

† कथमत्र जातित्वम्? प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद् गुणैः । असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः ॥ (अ० ४ । १ । ६३ भाष्ये) इत्यनेन स्यात् । यावद्द्रव्यभाविनी इति तु कैयटः । यद्वा बह्वर्थां बहुविषयां इति वा स्यात् ॥

दयोपधात् [अ० ४ । १ । ६३] इति ङीप् प्रत्ययः । (ऊर्जा) वेगपराक्रमादिगुणयुक्ता । (मा) मां (आ) समन्तात् । (विश) विशति । (गौपत्येन) गवामिन्द्रियाणां पशूनां वा पतिः पालकस्तस्य भावः कर्म वा तेन । अत्र पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् अ० ५ । १ । १२८ इति यक् प्रत्ययः । (उप) उपगमेर्थे । (त्वा) त्वाम् [तं वा] (अग्ने) अग्निम् ‡ । (दिवेदिवे) ज्ञानस्य प्रकाशाय प्रकाशाय [प्रतिदिनं वा] दिवेदिव इत्यहर्नामसु पठितम् । निघ० १ । ९ । (दोषावस्तः) दोषां रात्रिं वस्ते स्वतेजसाऽऽच्छाद्य निवारयति सोऽग्निः [तम्] । दोषेति रात्रिनामसु पठितम् । निघ० १ । ७ । (धिया) कर्मणा प्रज्ञया वा । धीरिति कर्मनामसु पठितम् । निघ० २ । १ । प्रज्ञानामसु वा । निघ० ३ । ९ । (वयम्) क्रियाकाण्डानुष्ठातारः । (नमः) अन्नम् । नम इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (भरन्तः) धारयन्तः । (आ) समन्तात् । (इमसि) प्राप्नुमः । अत्रेदन्तो मसिः [अ० ७ । १ । ४६] इतीकारादेशः ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । २७, २८ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः[२]—नमोन्नं भरन्तः सन्तो वयं धिया योग्निर्विद्युद्रूपेण सर्वेषु पदार्थेषु संहितोर्जा विश्वरूपी [अस्यस्ति सा] गौपत्येन मा मां विश प्रविशति, त्वाग्ने [दोषावस्तः] तं दोषावस्तारमग्निं दिवेदिवे प्रतिदिनमुपैमसि ॥ २२ ॥

---

१ 'प्रतिदिनम्' इत्यन्वये ऽस्यार्थस्य प्रदर्शितत्वादनेन सह तस्य सङ्गतिरिति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(संहिता) संपूर्वाद् दधातेः क्तप्रत्ययः । थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वमसंज्ञात्वात् । संज्ञायां तु संहिता ऽगवि (अ० ६ । २ । १४६) इति गणसूत्रेण गोरन्यत्रान्तोदात्तत्वं प्रतिषिध्यते ॥

(विश्वरुपी) ङीपः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । तत 'ऊर्जा' पदस्यानुदात्त ऊकारे परतो यणादेशः, उदात्तस्वरितयोर्यणः ० (अ० ८ । २ । ४) इत्यादिनोकारस्य स्वरितत्वम् ॥

(ऊर्जा) ऊर्जयतीति अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३ । १ । १३४ भा० वा०) इति 'अच्' प्रत्ययः । ऊर्जः चित्वादन्तोदात्तः । स्त्रियां अजाद्यतष्टाप् (अ० ४ । १ । ४) इति टाप्, पित्वादनुदात्तः, एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा अर्शादिभ्योऽच् (अ० ५ । २ । १२७) इति 'अच्' प्रत्ययो मत्वर्थे, अन्यत् सर्वं पूर्ववत् ॥

(गौपत्येन) यकि कित्वाद् वृद्धिः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्, यद्वा तद्धितस्य कितः (अ० ६ । १ । १६५) इत्यन्तोदात्तत्वम् । ततस्तृतीयैकवचनम् ॥

(दिवेदिवे) दिव्शब्दाच्चतुर्थ्येकवचने ऊडिदं० (अ० ६ । १ । १७१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । नित्यवीप्सयोः (अ० ८ । १ । ४) इति द्विर्वचनम्, अनुदात्तं च (अ० ८ । १ । ३) इत्याम्रेडितस्यानुदात्तत्वम् ॥

(दोषावस्तः) व्यत्ययपक्षे छान्दसत्वादिष्टस्वरसिद्धिः । आमन्त्रितपक्षे तु पादादित्वाद् आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इति षाष्ठिकामन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ॥

(धिया) ध्यायतेः संप्रसारणं च (अ० ३ । २ । १७८ वा०) इत्यनेन क्विप् प्रत्ययः । धातुस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(भरन्तः) भृञ् धारणे (भ्वा० उ०) इत्यस्माच्छतरि शप् । तास्यनुदात्तेङिददुपदेशात्० (अ० ६ । १ १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ (क) आधिदैविकाधियज्ञपरोऽयमन्वयः ॥

(ख) आध्यात्मिकप्रक्रियायान्त्वेषोऽन्वयोऽत्र द्रष्टव्यः—

"हे दोषावस्तरग्ने त्वं संहिता ऊर्जा विश्वरूपी असि, गौपत्येन मा मामाविश । वयं त्वा त्वां दिवेदिवे नमो भरन्तो धिया उपैमसि ॥"

---

‡ अ० मुद्रिते 'अग्निः' इत्यपपाठः ॥

भावार्थः—मनुष्यैरित्थं वेदितव्यम्—येनेश्वरेण सर्वत्र मूर्तद्रव्येषु विद्युद्रूपो व्याप्तः सर्वरूपप्रकाशकश्चेष्टादिव्यवहारहेतुर्विचित्रगुणोऽग्निर्निर्मितस्तस्यैवोपासनं नित्यं कार्यमिति ॥ २२ ॥

अब अगले मन्त्र में अग्नि शब्द से बिजुली के कर्मों का उपदेश किया है[2] ॥

पदार्थः—(नमः) अन्नको (भरन्तः) धारण करते हुए [(वयम्)] हम लोग (धिया) अपनी बुद्धि वा कर्म से जो अग्नि बिजुलीरूप से (संहिता) सब पदार्थों के साथ (ऊर्जा) वेग वा पराक्रम आदि गुणयुक्त (विश्वरूपी) सब पदार्थों में रूपगुणयुक्त [(अस्ति) है, वह] (गौपत्येन) इन्द्रिय वा पशुओं के पालन करने वाले जीव के साथ वर्तमान [होने] से (मा) मुझ में (आविश) प्रवेश करता है, (त्वा) उस (दोषावस्तः) अपने तेज से रात्रि को दूर करनेवाले विद्युद्रूप (अग्ने) अग्नि को (दिवेदिवे) ज्ञान के प्रकाश होने के लिये प्रतिदिन (उपैमसि) समीप [होकर] प्राप्त करते हैं[3] ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ऐसा जानना चाहिये कि जिस ईश्वर ने सब जगह मूर्तिमान् द्रव्यों में बिजुलीरूप से परिपूर्ण सब रूपों का प्रकाश करने, चेष्टा आदि व्यवहारों का हेतु, विचित्र गुणवाला अग्नि रचा है, उसी की उपासना नित्य करें ॥ २२ ॥

राजन्तमित्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । [विराड्] गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

१ (क) त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः ॥

(ख) अस्य मन्त्रस्यान्यत्र (ऋग्वेदाङ्के पृ० २०) आचार्यप्रदर्शितोऽप्यर्थोऽत्रोपयुक्त इति कृत्वा प्रदर्श्यते—

"हे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तेश्वराग्ने ! भवन्तमुपगता नमस्कुर्वन्तः कथयन्तश्च भवन्तं नित्यं प्रार्थयामः । भवत्प्रार्थनया त्वद्रचितस्य भौतिकाग्नेः सकाशाद् वायुवृष्टिशुद्धिकरं यज्ञानुष्ठानं शिल्पविद्यामयं च प्राप्नुयाम । एतदर्थं निरन्तरं नमोऽस्तु ते" ॥

अध्यात्मपरत्वेनायं मन्त्रः ऋ० १ । १ । ७ भाष्य आचार्येर्व्याख्यातस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥ २२ ॥

२ ऐश्वर्य की प्राप्ति में साधक होने से अग्निरूप विद्युत् के कर्म कहते हैं—

३ (क) यहां अन्वय अधियज्ञ तथा आधिदैविक अर्थपरक है ॥

(ख) आध्यात्मिक प्रक्रिया में इस मन्त्र का अन्वय ऊपर संस्कृत टिप्पण में दर्शा दिया गया है ॥

विशेष वक्तव्य

(क) तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ संस्कृत पदार्थ से जाना जा सकता है ॥

(ख) इस मन्त्र का व्याख्यान ऋग्वेदाङ्क पृ० २० पर निम्न प्रकार है—

"हे परमेश्वर अग्ने ! हम लोग आपके शरणागत हैं । नित्य आपको नमस्कार और प्रार्थना करते हैं कि जो २ आपने भौतिकाग्नि में गुण रखे हैं, उन उन गुणों से हम लोग सुगन्धि आदि पदार्थों का होम करके वायु तथा वर्षा के जल की शुद्धि करें तथा शिल्पविद्या को भी प्राप्त हों, इसलिये और मोक्षादि सुख के लिये भी आपको नमस्कार करते हैं ॥"

अर्थ स्पष्ट है ॥

आचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया में ऋग्वेदभाष्य (ऋ० १ । १ । ७) में दर्शाया है, सो वहां देख लें ॥ २२ ॥

पुनरीश्वराग्निगुणा उपदिश्यन्ते[1] ॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानं स्वे दमे ॥ २३ ॥

राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् । वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥ २३ ॥

पदार्थः—(राजन्तम्) प्रकाशमानम् । (अध्वराणाम्) अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां, शिल्पविद्यासाध्यानां वा सर्वथा रक्ष्याणां यज्ञानाम् । (गोपाम्) इन्द्रियपश्वादीनां रक्षकम् । (ऋतस्य) अनादिस्वरूपस्य सत्यस्य, कारणस्य जलस्य वा । ऋतमिति सत्यनामसु पठितम् । निघ० ३ । १० । उदकनामसु च । निघ० १ । १२ । (दीदिविम्) व्यवहारयन्तम्, अत्र दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य । उ० ४ । ५५ इति दिवः क्विन्प्रत्ययो द्वित्वाभ्यासदीर्घौ च । (वर्धमानम्) हानिरहितम् । (स्वे) स्वकीये । (दमे[2]) दाम्यन्त्युपशाम्यन्ति यस्मिंस्तस्मिन् स्वस्थाने, परमोत्कृष्टे प्राप्तुमर्हे पदे ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । २९ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः[3]—नमो भरन्तो वयं धियाऽध्वराणां गोपां राजन्तमृतस्य दीदिविं स्वे दमे वर्धमानं जगदीश्वरमुपैमसि नित्यमुपाप्नुम इत्येकः ॥

१ ईश्वरस्य स्वभावं विवक्षुः श्लेषेण भौतिकमीश्वरं च वर्णयति—

२ दम इति गृहनामसु (निघ० ३ । ४) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(राजन्तम्) शतृप्रत्यये शपोऽनुदात्तत्वे प्रत्ययस्वरप्राप्तौ तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुक० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यादिना लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्व आद्युदात्तत्वम् ॥

(अध्वराणाम्) अध्वरशब्दः पूर्वं (यजुः २ । ४) व्याख्यातः ॥

(गोपाम्) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३ । २ । ७४) इति विचि, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

अत्र 'गोपाय' धातोः क्विपि वलि लोपेऽपृक्तलोपे चेष्टसिद्धिसम्भवात् 'सन्देहे नावगृह्णन्ति' इति न्यायेन नैतदवगृह्यत इति ध्येयम् ॥

(दीदिविम्) ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः ॥

यत्त्वत्र सायणः—"दीदिविशब्दस्याभ्यस्तानामादिरित्याद्युदात्तत्वम्" ऋ० १ । १ । ८ भाष्य आह, तदयुक्तम्—अभ्यस्तानामादिः (अ० ६।१।१८९) इति सूत्रेण त्वभ्यस्तानामजादावनिटि लसार्वधातुके परत एवाद्युदात्तत्वं विधीयतेऽतस्तत्सूत्रप्राप्तेरभावात् ॥

(वर्धमानम्) शानचि लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे (अ० ६ । १ ।१८६) धातुस्वरेणाद्युदात्तः ।

(स्वे) स्वाङ्गशिटामदन्तानाम् (फि०) इत्याद्युदात्तः, ततः सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इति विभक्त्युदात्तत्वे प्राप्ते न गोश्वन्० (अ० ६ । १ । १८२) इति प्रतिषेधे स एव स्वरः । तत एकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तः ॥

(दमे) हलश्च (अ० ३ । ३ । १२१) इति घञ् । नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः (अ० ७ । ३ । ३४) इति वृद्धेः प्रतिषेधः ॥

यत्त्वत्र सायणः—(ऋ० १ । १ । ८ भाष्ये) "दमशब्दो वृषादित्वादाद्युदात्तः" । तदयुक्तमेव, पूर्वोक्तरीत्या सर्वेष्टसिद्धेः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ प्रथमान्वयेऽध्यात्मार्थः प्रदर्शितः, द्वितीये त्वधियज्ञाधिदैविकार्थावपीति ध्येयम् ॥

येन परमात्मनाऽध्वराणां गोपा राजन्नृतस्य दीदिविः स्वे दमे वर्धमानोऽग्निः प्रकाशितोऽस्ति, तं नमो भरन्तो वयं धियोपैमसि नित्यमुपाप्नुम *इति द्वितीयः* ॥ २३ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—नमः, भरन्तः, धिया, उप, आ, इमसि, इत्येतेषां षण्णां पदानां पूर्वस्मान्मन्त्रादनुवृत्तिर्विज्ञेया । परमेश्वरोऽनादिस्वरूपस्य कारणस्य सकाशात् सर्वाणि कार्याणि रचयति, भौतिकोऽग्निश्च जलस्य प्रापणेन सर्वान् व्यवहारान् साधयतीति वेद्यम् ॥ २३ ॥

फिर ईश्वर और अग्नि के गुणों का उपदेश अगले मंत्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—(नमः) सत्कारपूर्वक (भरन्तः) धारण करते हुए हम लोग (धिया) बुद्धि वा कर्म से (अध्वराणाम्) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ वा (गोपाम्) इन्द्रिय पृथिव्यादि की रक्षा करने [वाले] (राजन्तम्) प्रकाशमान (ऋतस्य) अनादि सत्यस्वरूप कारण के (दीदिविम्) व्यवहार को करनेवाले (स्वे) अपने (दमे) मोक्षरूप स्थान में (वर्धमानम्)* जिस में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं अर्थात् सर्वोपरि परमात्मा को (उपैमसि) नित्य प्राप्त होते हैं ॥ *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ]* ॥

जिस परमात्मा ने (अध्वराणाम्) शिल्पविद्यासाध्य यज्ञ वा (गोपाम्) पश्वादि की रक्षा करने [वाला (राजन्तम्) प्रकाशमान] (ऋतस्य) जल के (दीदिविम्) व्यवहार को प्रकाश करनेवाला (स्वे) अपने (दमे) शान्तस्वरूप में (वर्धमानम्) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अग्नि प्रकाशित किया है, उस [परमात्मा] को (नमः) सत्क्रिया से (भरन्तः) धारण करते हुए हम लोग (धिया) बुद्धि और कर्म से (उपैमसि) नित्य प्राप्त होते हैं[2] ॥ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ २३ ॥

वि० वक्तव्यम्

नमः, भरन्तः, धिया पदानामनुवर्त्तनमन्तरेण मन्त्रोऽयमाध्यात्मपरो व्याख्यात आचार्यैः स्वर्ग्वेदभाष्ये (ऋ० १ । १ । ८) । ऋग्वेदाङ्के त्वित्थं व्याख्यातः—

"एमसीत्यनुवर्त्तते । (अध्वराणाम्) अग्निष्टोमादियज्ञानां तत्कर्त्तृणां मानवानां च (गोपाम्) रक्षकं, तथा (राजन्तम्) सूर्यादीनां लोकानां मध्ये योगिनामात्मनश्च मध्ये धारकान्तर्यामितया राजन्तं सदा प्रकाशमानं (ऋतस्य) सत्यविद्यामयस्य वेदचतुष्टयस्य मोक्षस्य च (दीदिविम्) सम्यक् प्रकाशकं, तथा (स्वे) स्वकीये (दमे) परमोत्कृष्टे पदे (वर्धमानम्) अत्यन्तवृद्धिमन्तं, एवंभूतं परमेश्वरमग्निं त्वां वयं सदैवोपैमसि, भवत्परमपदमोक्षप्राप्तये परमप्रेम्णा सर्वतः सदा भवन्तं जगदीश्वरमेवोपाप्नुमः । यतोऽस्मिन्नेव जन्मनि भवत्कृपयास्माकं निश्चितो मोक्षो भवेदिति नित्यमिच्छामः" ॥ ८ ॥ ॥ २३ ॥

[1] ईश्वर के स्वभाव को कहने की इच्छा से श्लेषालङ्कार द्वारा भौतिक और ईश्वर दोनों का वर्णन करते हैं ॥

[2] प्रथमान्वय अध्यात्मपरक है । दूसरे में अधियज्ञ तथा आधिदैविक दोनों अर्थ समझने चाहियें ॥

वि० वक्तव्य

आचार्य ने इस मन्त्र का व्याख्यान पदों की अनुवृत्ति के विना ऋ० १ । १ । ८ के भाष्य में किया है ॥

ऋग्वेदाङ्क पृ० २१ में इस मन्त्र का व्याख्यान निम्नप्रकार है—

---

* 'वृद्धि को प्राप्त होने वाले परमात्मा को' इति अ. मु. ग. कोशे च पाठः । 'वृद्धि को प्राप्त होते हुए जगदीश्वर को' इति ख पाठः । क. कोशे तु नास्त्येवायं पाठ इति ध्येयम् ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—नमः । भरन्तः । धिया । उप । आ । इमसि । इन छः पदोंकी अनुवृत्ति पूर्वमन्त्र से जाननी चाहिये । परमेश्वर आदिरहित सत्यकारणरूप से संपूर्ण कार्यों को रचता और भौतिक अग्नि जल की प्राप्ति के द्वारा सब व्यवहारों को सिद्ध करता है, ऐसा मनुष्य को जानना चाहिये ॥ २३ ॥

स न इत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथाग्निमेण मन्त्रेणेश्वर+ उपदिश्यते[1] ॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ २४ ॥

सः । नः । पितेवेति पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सूपायनऽइति सुऽउपायनः । भव । सचस्व । नः । स्वस्तये ॥ २४ ॥

पदार्थः—(सः) जगदीश्वरः । (नः) अस्मभ्यम् । (पितेव) जनक इव । (सूनवे) औरसाय सन्तानाय, सूनुरित्यपत्यनामसु पठितम् । निघ० २ । २ । (अग्ने) करुणामय विज्ञानस्वरूप सर्वपितः । (सूपायनः) सुष्ठूपगतमयनं[2] ज्ञानं प्रापणं यस्मात् सः । (भव) भवसि । अत्र लडर्थे लोट् । (सचस्व) संयोजय, अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घः । (नः) अस्मान् । (स्वस्तये) सुखाय ॥ [अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३० व्याख्यातः] ॥ २४ ॥

"(अध्वराणां गोपाम्) अध्वर जो अग्निष्टोमादि यज्ञ और इन यज्ञों के करनेवाले जो धर्मात्मा मनुष्य हैं, उनकी जो यथावत् रक्षा करनेवाला है, तथा (राजन्तम्) सूर्य आदि जो लोक उनके बीच में और योगियों के आत्मा के बीच में जो धारण करनेवाला और अन्तर्यामीरूप से प्रकाशमान है, तथा (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यास्वरूप जो चारों वेद हैं, उनका और मोक्ष का जो प्रकाश करनेवाला है । (वर्धमानम् स्वे दमे) (स्वे) अपना, जो (दमे) परमपद है, उसमें (वर्धमानम्) सब सामर्थ्य से युक्त होके जो सदा विराजमान है । और जो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उनको अपने उस परमपद में विज्ञान और आनन्दादि गुणों से जो सदा बढ़ानेवाला है, उस परमात्मा जो मोक्षादि सुखों की प्राप्ति के लिये (उपैमसि) हम लोग प्राप्त होते हैं । अर्थात् हे परमेश्वर! सत्य प्रेम भक्ति से हम लोग आपको सदा प्राप्त रहें कि आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध हम लोग कभी न हों। जिससे हम लोगों को आपकी प्राप्ति से मोक्ष आदि इसी जन्म में प्राप्त हों ॥ ८ ॥" २३ ॥

१ ईश्वरसेवाह प्राधान्येन—

२ अर्थप्रदर्शनपरमिदम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पितेव) 'पा रक्षणे' (अदा० प०) अस्मात् नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उ० २ । ९५) इत्यादिना तृच्याकारस्येत्त्वम् । चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः पितृशब्दः, विभक्तावप्यन्तोदात्त एव 'पिता' शब्दः । 'इव' शब्दः चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८४) इति सर्वानुदात्तः । इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २ । १ । ४ भा० वा०) इति समासे 'पितेव' स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इति मध्योदात्तः ॥

(सूनवे) 'षूङ् प्राणिप्रसवे' (दिवा० आ०) इत्यस्मात् सुवः कित् (उ० ३ । ३५) इति 'नु' प्रत्यय उदात्तः । ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् । घेर्ङिति (अ० ७ । ३ । १११) इति गुणेऽवादेशे मध्योदात्तः ॥

(सूपायनः) उपगतमयनमित्युपायनं सुष्ठूपायनं यस्मात्, बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

+ 'मन्त्रेणेश्वर एवोपदिश्यते' इति अ. मु. पाठः । 'एव' पदं सर्वकोशेषु नास्तीति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! यस्त्वं कृपया सूनवे पितेव नो ऽस्मभ्यं सूपायनो [भव] भवसि, स त्वं नोऽस्मान् स्वस्तये सततं सचस्व संयोजय ॥ २४ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—हे सर्वपितरीश्वर ! यथा कृपायमाणो विद्वान् पिता स्वसन्तानान् संरक्ष्य सुशिक्ष्य च विद्याधर्मसुशीलतादिषु संयोजयति, तथैव भवानस्मान् निरन्तरं* रक्षित्वा श्रेष्ठेषु व्यवहारेषु संयोजयत्विति ॥ २४ ॥

अब अगले मन्त्र से × ईश्वर का उपदेश किया है[२] ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) जगदीश्वर ! जो आप कृपा करके (सूनवे) अपने पुत्र के लिये (पितेव) [जैसे] पिता अच्छे २ गुणों को सिखलाता है, वैसे (नः) हमारे लिये (सूपायनः) श्रेष्ठ ज्ञान के देनेवाले (भव) हैं, (सः) सो आप (नः) हम लोगों को (स्वस्तये) सुख के लिये (सचस्व) निरन्तर संयुक्त कीजिये[३] ॥ २४ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थः—हे सबके पालन करनेवाले परमेश्वर ! जैसे कृपा करनेवाला कोई विद्वान् मनुष्य अपने पुत्रों की रक्षा कर श्रेष्ठ २ शिक्षा देकर विद्या, धर्म, अच्छे अच्छे स्वभाव, और सत्यविद्या आदि गुणों में संयुक्त करता है, वैसे ही आप हम लोगों की निरन्तर रक्षा करके श्रेष्ठ २ व्यवहारों में संयुक्त कीजिये ॥ २४ ॥

अग्ने त्वमित्यस्य सुबन्धुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिग्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपादिश्यते[४]

(सचस्व) तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशाल्ल० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यादिना लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(स्वस्तये) 'स्वस्ति' इति पदं पूर्वं (यजुः ३ । १८) व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥

वि० वक्तव्यम्

आधिदैविकाधियज्ञपरावप्यर्थावूहनीयौ ।

मन्त्रो ऽयमृग्वेदाङ्के ऋ० १ । १ । ९, आर्याभिविनये च २।१५ व्याख्यातस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥ २४ ॥

२ प्रधानतया ईश्वर का वर्णन करते हैं—

३ अन्वय यहां अध्यात्मपरक है ॥

वि० वक्तव्य

आधिदैविक तथा अधियज्ञ अर्थों की भी ऊहा कर लेनी चाहिये ।

आचार्य द्वारा इस मन्त्र का व्याख्यान आर्याभिविनय २ । १५ में भी किया गया है, पाठक वहां भी देखें ॥ २४ ॥

४ तत्स्वरूपाकाङ्क्षायामाह—

---

* 'रक्षयित्वा' इति सर्वकोशेषु पाठः ॥

× 'ईश्वर ही का' इति अ. मु. पाठः । 'ही' इति पदं सर्वकोशेषु नास्तीति ध्येयम् ॥

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥ २५ ॥

अग्ने । त्वम् । नः । अन्तमः । उत । त्राता । शिवः । भव । वरूथ्यः । वसुः । अग्निः । वसुश्रवा इति वसुऽश्रवाः । अच्छ । नक्षि । द्युमत्तममिति द्युमत्ऽतमम् । रयिम् । दाः ॥ २५ ॥

पदार्थः—(अग्ने) सर्वाभिरक्षकेश्वर । (त्वम्) करुणामयः । (नः) अस्माकमस्मभ्यं वा । (अन्तमः) य आत्मान्तःस्थोऽनिति जीवयति सोऽतिशयितः । स उ प्राणस्य प्राणः । केनोपनिषत् खं० १ मं० २ । अनेनात्मान्तःस्थोऽन्तर्यामी गृह्यते । (उत) अपि । (त्राता) रक्षकः । (शिवः) मङ्गलमयो मङ्गलकारी । (भव) अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः । (वरूथ्यः) ‡ यो वरूथेषु श्रेष्ठेषु गुणकर्मस्वभावेषु भवः [सः] । (वसुः) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन् यो वा सर्वेषु भूतेषु वसति सः । (अग्निः) विज्ञानप्रकाशमयः । (वसुश्रवाः) वसूनि सर्वाणि श्रवांसि श्रवणानि यस्य सः । (अच्छ) श्रेष्ठार्थे । निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३६] इति दीर्घः । (नक्षि[1]) सर्वत्र व्याप्नोसि, अत्र णक्ष गतावित्यस्माल्लटि मध्यमैकवचने बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् । (द्युमत्तमम्) द्यौः प्रशस्तः प्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तदतिशयितस्तम् । (रयिम्) विद्याचक्रवर्त्यादिधनसमूहम् । (दाः) देहि । अत्र लोडर्थे लुङ्, बहुलं छन्दस्यमाङ्० [अ० ६ । ४ । ७५] अनेनाडभावश्च ॥ [अयं मन्त्रः श० २ । ३ । ४ । ३१ व्याख्यातः] ॥ २५ ॥

[1] नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा । निघ० २ । १८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अन्तमः) 'अन प्राणने' (अदा० प०) इत्येतस्माद् धातोः क्विपि, अतिशायने तमप् । प्रत्ययस्य पित्वाद् धातुस्वरेणाद्युदात्तः । अयस्मयादीनि छन्दसि (अ० १ । ४ ।) इति भत्वान्नकारलोपो न भवति ॥

'समीपस्थः' इति तु ऋ० ५ । २४ । १ भाष्य आचार्यैर्व्याख्यातः ॥ अस्मिन् पक्षेऽन्तिकशब्दस्य तमपि 'तमे तादेश्च । तमे तादेश्च लोपो वक्तव्यः । अग्ने त्वं नो अन्तमः' (अ० ६ । ४ । १४९ भा०वा०) ॥

यत्त्वत्र महिधर आह—'यद्वान्तिकशब्दान्तमपि पृषोदरादित्वेन साधुः,' तत्तु पूर्वनिर्दिष्टभाष्यविरोधादुपेक्षणीयम् ॥

(उत) एवादीनामन्तः (फि० ८२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(त्राता) तृचि चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(वरूथ्यः) व्रियते स्वीक्रियत इति गुणकर्मसङ्घातो वरूथः । तस्मिन् भवो भवे छन्दसि (अ० ४ । ४ । ११०) इति यति, तित् स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८५) इत्यन्तस्वरितः । यत्तु य० २५ । ४७, ऋ० ५ । २४ । १ भाष्ये "वरूथेषूत्तमेषु गृहेषु भवः", तत्तु वरूथमिति गृहनाम, अग्रे पूर्ववत् ॥

(वसुश्रवाः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे 'वसु' शब्दः शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनि० (उ० १ । १०) इति 'उ' प्रत्यये तस्य निद्वदतिदेशादाद्युदात्तः ॥

(द्युमत्तमः) ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६ । १ । १७६) इति 'मतुप्' उदात्तः । ततस्तमप्यनुदात्ते पूर्व एव स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

‡ 'ये वरूथाः श्रेष्ठा मनुष्यास्तेभ्यो हिताः' इति क. ख. ग. कोशेषु पाठ इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे अग्ने! यस्त्वं वसुश्रवा वसुरग्निर्नक्षि सर्वत्र प्राप्नोसि, स त्वं नोऽस्माकमन्तमस्त्राता वरूथ्यः शिवो भव उतापि नोऽस्मभ्यं द्युमत्तमं रयिमच्छ दाः सम्यग्देहि ॥ २५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरित्थं वेदितव्यम्-परमेश्वरं विहाय नो [अ] स्माकं कश्चिदन्यो रक्षकः * सर्वसुखसाधनप्रदश्च नास्तीति कुतस्तस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन सर्वत्राभिव्यापकत्वादिति ॥ २५ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सबकी रक्षा करनेवाले जगदीश्वर! जो (त्वम्) आप (वसुश्रवा) सबको सुनने के लिये श्रेष्ठ कानों को देने (वसुः) सब प्राणी जिसमें वास करते हैं, वा सब प्राणियों के बीच में बसनेहारे और (अग्निः) विज्ञानप्रकाशयुक्त (नक्षि) सब जगह व्याप्त अर्थात् रहने वाले हैं, सो आप (नः) हम लोगों के (अन्तमः) अन्तर्यामी वा जीवन के हेतु (त्राता) रक्षा करनेवाले (वरूथ्यः) † श्रेष्ठ गुण कर्म और स्वभाव में होने (शिवः) तथा मङ्गलमय, मङ्गल करनेवाले (भव) हूजिये, और (उत) हम लोगों के लिये (द्युमत्तमम्) उत्तम प्रकाशों से युक्त (रयिम्) विद्याचक्रवर्ति आदि धनों को (अच्छ दाः) अच्छे प्रकार दीजिये[3] ॥ २५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ऐसा जानना चाहिये कि परमेश्वर को छोड़कर और हमारी रक्षा करने वा सब सुखों के साधनों का देने वाला कोई नहीं है, क्योंकि वही अपने सामर्थ्य से सब जगह परिपूर्ण हो रहा है ॥ २५ ॥

तन्त्वेत्यस्य सुबन्धुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराड्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[4] ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥

वि० व०

पूर्ववत् सम्बोधनान्तस्य प्रथमान्तेनान्वये ऽधियज्ञाधिदैविकपरोऽप्यर्थ ऊहनीयः ॥

ऋ० ५ । २४ । १ भाष्ये राजपरो व्याख्यातोऽयं मन्त्रः आचार्यैः ॥ य० ५ । ४७ विद्वत्परोऽपीति ॥ मन्त्रो ऽयं शतपथे २ । ३ । ४ । ३१ द्रष्टव्यः ॥ २५ ॥

२ उस ईश्वर का स्वरूप क्या है? इस आकाङ्क्षा की निवृत्ति के लिये कहते हैं—

३ यहाँ अन्वय में अध्यात्मार्थ है ॥

वि० वक्तव्य

सम्बोधनान्त का प्रथमान्त में समन्वय करने से यहाँ भी अधियज्ञ तथा आधिदैविक अर्थों की ऊहा कर लेनी चाहिये ॥

आचार्य ने इस मन्त्र का व्याख्यान ऋ० ५ । २४ । १ के भाष्य में राजापरक किया है, तथा यजुर्वेद १५ । ४८ के भाष्य में विद्वान-परक किया है । इस मन्त्र का व्याख्यान श० २ । ३ । ४ । ३१ में किया गया है ॥ २५ ॥

४ पूर्ववद्

* 'सर्वसुखसाधनप्रदश्च' इति क पाठः । अग्रे लेखकेन प्रमादात् त्यक्त इति प्रतिभाति, 'नोऽस्माकं' इत्यत्र च 'नो' इति व्यर्थः पाठः । अग्रे 'न' इति वर्त्तमानात् ॥

† 'श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये हित करने' इति सर्वकोशेषु पाठ इति ध्येयम् ॥

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ।
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णोऽअघायतः समस्मात् ॥ २६ ॥

तम् । त्वा । शोचिष्ठ । । दीदिव इति दीदिऽवः । सुम्नाय । नूनम् । ईमहे । सखिभ्यऽइति सखिऽभ्यः ॥ सः । नः । बोधि । श्रुधि । हवम् । उरुष्य । नः । अघायतः । अघयतऽइत्यघऽयतः । समस्मात् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(तम्) जगदीश्वरम् । (त्वा) त्वाम् । (शोचिष्ठ) पवित्रतम । (दीदिवः) प्रकाशमयानन्दप्रद, अत्र दिवुधातोश्छन्दसि लिट् [अ० ३ । २ । १०५] इति लिट् । क्वसुश्च [अ० ३ । २ । १०७] इति लिटः स्थाने क्वसुः । छन्दस्युभयथा [अ० ३ । ४ । ११७] इति लिडादेशस्य क्वसोः सार्वधातुकत्वादिडभावः । तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य [अ० ६ । १ । ७] इत्यभ्यासदीर्घः । मतुवसो रुः संबुद्धौ छन्दसि [अ० ८ । ३ । १] इति रुरादेशश्च । (सुम्नाय) सुखाय । सुम्नमिति सुखनामसु पठितम् । निघ० ३ । ६ । (नूनम्) निश्चयार्थे । (ईमहे) याचामहे । ईमह इति याच्ञाकर्मसु पठितम् । निघ० ३ । १९ । (सखिभ्यः) मित्रेभ्यः । (सः) जगदीश्वरः । (नः) अस्मानस्माकं वा । (बोधि) बोधयति । अत्र लडर्थे लुङ्, बहुलं छन्दसि [अ० ६ । ४ । ७३] इत्यडभावोन्तर्गतो ण्यर्थश्च । (श्रुधि) शृणु । अत्र ❀ अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घः । बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति श्नोर्लुक् । श्रुशृणु० [अ० ६ । ४ । १०२] इति हेर्ध्यादेशश्च । (हवम्) श्रोतुं श्रावयितुमर्हं स्तुतिसमूहं यज्ञम् । (उरुष्य[2]) रक्ष । अत्र

१ अनेन सूत्रेण शपो लुकि श्नोरभाव इत्यर्थः । पूर्वं यजुः १ । १५ टिप्पण्यामस्मिन् विषये विस्तरश उक्तम् । तत एव द्रष्टव्यम् ॥

२ अत्र निरुक्तम्—'उरुष्याणो अघायतः समस्माद् इति पञ्चम्यां, उरुष्यती रक्षाकर्मा । निरु० ५।२३॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शोचिष्ठ) 'ईशुचिर् पूतीभावे' (दि० उ०) इत्येतस्माद् धातोस्तृचि तुश्छन्दसि (अ० ५ । ३ । ५९) इति 'इष्ठन्' प्रत्ययः । आमन्त्रितस्वरेण सर्वनिघातः ॥

(दीदिवः) अत्रैव भाष्ये व्याख्यातः ॥ आमन्त्रितत्वात् सर्वनिघातः ॥

(सुम्नाय) पूर्वं यजु० २ । १९ व्याख्यातः ॥

(नूनम्) एवादीनामन्तः (फिट् ८२) इत्यन्तोदात्तः ॥

(सखिभ्यः) समाने ख्यः स चोदात्तः (उ० ४ । १३५) इति इण् प्रत्ययः सादेशस्योदात्तवचनादाद्युदात्तत्वम् ॥

(श्रुधि) श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि (अ० ६ । ४ । १०२) इति हेर्धित्वं, अपित्वात् तस्योदात्तत्वम् । तिङ्परत्वादनिघातः ॥

(हवम्) ऋदोरप् (अ० ३ । ३ । ५७) इत्यप् भावे । धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(उरुष्य) उरुष्यती रक्षाकर्मा (निरु० ५ ।२३)। ततो लोटि धातुस्वरेणान्तोदात्तः, पादादित्वादनिघातः ॥

यद्वा उरुस्यतीति आतोऽनुपसर्गे कः (अ० ३ । २ । ३) इति 'क' प्रत्ययः पूर्वपदात् (अ० ८ । ३ । १०६) इति षत्वम् ॥ ततः कण्ड्वादेराकृतिगणत्वाद् यक् । स्वरस्तु पूर्ववत् । तथाहि सायणाचार्योऽप्याह—

"उरुष्यन्तां रक्षतां । उरुष्यतिः कण्ड्वादिः" ऋ० ८ । २५ । १० ॥

"उरुष्य उरु (? उरुष) शब्दः कण्ड्वादिः, लोटि रूपं, निघातः" ऋ० ४ । २ । ६ ॥

(अघायतः) शतृप्रत्यये शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति तृतीयादिर्विभक्तिरुदात्ता भवतीत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(समस्मात्) प्रातिपदिकत्वादत्र पञ्चमी विभक्तिः । स्वाङ्गशिटामदन्तानाम् (फि० २९) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते कथमनुदात्तः । अत्र निरुक्तकार आह—

"तत् कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् । दृष्टव्ययं तु भवति" (निरु० १ ।८।५॥ २३)॥ त्वत्त्वसमसिमेत्य

❀ अत्र अ० मुद्रिते कोशेषु च 'द्व्यचोऽतस्तिङः' इति पाठः ॥

कण्ड्वाद्या [अ० ३ । १ । २७] इतिगणत्वादुरुषशब्दाद् यक् । ततोऽन्येषामपि० [अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घः । (नः) अस्मान् । अत्र नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः । अ० ८ । ४ । २७ । इति णकारादेशः । (अघायतः) यः परस्याघमिच्छत्यघायति ततः । "आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यवशब्दाच्छन्दसि परेच्छायां क्यजिति, यदयमश्वाघस्यादिति क्यचि प्रकृत ईत्वबाधनार्थमाकारं शास्ति" । अ० ३ । १ । ८ । अस्मिन् सूत्रे भाष्यकारस्य व्याख्यानाशयेनेदं सिद्ध्यतीति बोध्यम् । (समस्मात्) सर्वस्मात् । समशब्दोत्र सर्वपर्यायः ॥ [अयं मन्त्रः श० २ । ३ । ४ । ३१-३३ व्याख्यातः] ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे शोचिष्ठ दीदिवो जगदीश्वर ! वयं नोऽस्माकं सखिभ्यश्च नूनं सुम्नाय तं [त्वा] त्वामीमहे यो भवान् नोऽस्मान् बोधि सम्यग्विज्ञानं बोधयति स त्वं नोऽस्माकं हवं श्रुधि कृपया शृणु, नोऽस्मान् समस्मात् सर्वस्मादघायतः परपीडाकरणरूपात् पापादुरुष्य* सततं पृथक् रक्ष ॥ २६ ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः स्वार्थं स्वमित्रार्थं सर्वप्राण्यर्थं च सुखप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थनीयस्तथैवाचरणं च कार्यम् । प्रार्थितः सन् जगदीश्वरोऽधर्मान्निवृत्तिमिच्छुकान् मनुष्यान् स्वसत्तया सर्वेभ्यः पापेभ्यो निवर्त्तयति, तथैव स्वविचारपरमपुरुषार्थाभ्यां सर्वेभ्यः पापेभ्यो निवर्त्य धर्माचरणे सर्वैर्मनुष्यैर्नित्यं प्रवर्तितव्यमिति बोध्यम् ॥ २६ ॥

फिर वह कैसा है इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे (शोचिष्ठ) अत्यन्त शुद्धस्वरूप (दीदिवः) स्वयंप्रकाशमान आनन्द के देनेवाले जगदीश्वर ! हमलोग (नः) अपने (सखिभ्यः) मित्रों के (सुम्नाय) सुख के लिये (तं त्वा) आपसे [(नूनम्) निश्चय से] (ईमहे) याचना करते हैं, तथा जो आप हमको (बोधि) अच्छे प्रकार विज्ञान को देते हैं, (सः) सो आप हमारे (हवम्) सुनने सुनाने योग्य स्तुतिसमूह यज्ञ को (श्रुधि) कृपा करके श्रवण कीजिये और (नः) हमको (समस्मात्) सब प्रकार (अघायतः) पापाचरणों से अर्थात् दूसरे को पीड़ा करनेरूप पापों से [सदा] (उरुष्य) † अलग रखिये[4] ॥ २६ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को अपने मित्र और सब प्राणियों के सुख के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करनी और वैसा ही आचरण भी करना [चाहिए] कि जिससे प्रार्थना किया हुआ परमेश्वर अधर्म से अलग होने की इच्छा

नुदात्तानि (फि० ७८), अनेन वा सर्वानुदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ तथैवर्ग्वेदभाष्ये (ऋ० १ । ५८ । ८)—'उरुष्य पृथग् रक्ष । अयं कण्ड्वादिगणे नामधातुर्गणनीयः' ॥ तथैव च सायणः ऋ० ४ । २ । ६ भाष्ये ॥

२ अध्यात्मार्थपरोऽयमन्वयः ॥

वि० वक्तव्यः

ऋ० ५ । २४ । २ व्याख्याने पूर्वमन्त्रवत् सर्वं द्रष्टव्यम् । अयमपि पूर्ववत् श० २ । ३ । ४ । ३१ द्रष्टव्यः ॥ २६ ॥

३ पुनः उसी का वर्णन करते हैं ॥

४ यहां अन्वय में आध्यात्म अर्थ दर्शाया गया है ॥

वि० वक्तव्य

पूर्व मन्त्र के समान यह भी ऋ० ५ । २४ । ३ में व्याख्यात है । इस मन्त्र का व्याख्यान श० २ । ३ । ४ । ३१ में देखें ॥ २६ ॥

---

* 'सततं रक्ष' इत्येव क. ख. पाठः ॥ † 'रक्षा कीजिये' इति क. ख. पाठः ॥

करनेवाले मनुष्यों को अपनी सत्तासे पापों से पृथक् कर देता है, वैसे ही उन मनुष्यों को भी पापों से बचकर धर्म के करने में निरन्तर प्रवृत्त होना चाहिये ॥ २६ ॥

इड एह्यदित इत्यस्य श्रुतबन्धुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[1]

इड ऽ एह्यदित ऽ एहि काम्या ऽ एत । मयि वः कामधरणं भूयात् ॥ २७ ॥

इडे । आ । इहि । अदिते । आ । इहि । काम्याः । आ । इत ॥ मयि । वः । कामधरणमिति कामऽधरणम् । भूयात् ॥ २७ ॥

पदार्थः—(इडे) इडा पृथिवी, इडेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघ० १ । १ । (आ) समन्तात् । (इहि) प्राप्नुयात्, अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (अदिते[2]) नाशरहिता राजनीतिः, अदितिरिति पदनामसु पठितम् । निघ० ४ । १ । अनेनात्र प्राप्त्यर्थो गृह्यते । (आ) समन्तात् । (इहि) प्राप्नुयात् । (काम्याः) काम्यन्त इष्यन्ते ये पदार्थास्ते । (आ) समन्तात् । (इत) यन्तु प्राप्नुवन्तु । (मयि) मनुष्ये । (वः) तेषां काम्यानां पदार्थानाम् । (कामधरणम्) कामानां धरणं स्थानम् । (भूयात्) ॥ [अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३४ व्याख्यातः] ॥ २७ ॥

अन्वयः[3]—हे जगदीश्वर ! भवत्कृपयेडेयं पृथिवी मह्यं राज्यकरणायेहि समन्तात् प्राप्नुयात् । एवम [दिते ऽ] दितिः सर्वसुखप्रापिका नाशरहिता राज्यनीतिरेहि प्राप्नुयात् । एवं हे भगवन् पृथिवीराज्यनीतिभ्यां मह्यं काम्याः पदार्था एत समन्तात् प्राप्नुवन्तु, तथा मयि वस्तेषां काम्यानां पदार्थानां कामधरणं भूयात् ॥ २७ ॥

---

१ प्रसङ्गतः प्रार्थनाप्रयोजनमाह—

२ वाग् वा अदितिः । श० ६ । ५ । २ । २० ॥

राज्यव्यवस्थाकारिणी वाग् । अत्र सर्वत्र प्रथमार्थे सम्बुद्धिः । पुरुषव्यत्ययः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इडे) प्रथमार्थे सम्बुद्धिः । आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तः । य० ३८ । २ भाष्ये सम्बुद्धिपरो व्याख्यात आचार्यैः ॥

(अदिते) (काम्याः) उभयोरपि पादादित्वादाष्टमिको निघातो न प्रवर्त्तते । आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

पादादित्वं तु—सर्वलक्षणविरहितेयं पञ्चपदा गायत्री । 'इड एहि' 'अदित एहि' 'काम्या एत' 'मयि वः' 'कामधरणं भू यात्' इति यथाक्रमं पञ्चपदान्यूह्यानि, अन्यथा स्वरे दोषः स्यात् ॥

यद्वा समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः (अ० ८ । १ । १८ भा० वा०) इति निघाताभावः ।

(कामधरणम्) कामानां धरणम् कर्तृकर्मणोः कृति (अ० २ । ३ । ६५) इति कृद्योगा षष्ठी । कामा ध्रियन्ते यस्मिन्नित्यधिकरणे ल्युट् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन लिति (अ० ६ । १ । १९३) प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तमित्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अन्वयोऽत्राध्यात्मपरः ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः काम्यानां पदार्थानां कामना सततं कार्या, तत्प्राप्तये जगदीश्वरस्य प्रार्थना पुरुषार्थश्च। नहि कश्चिदप्येकक्षणमपि ॐ कामान् विहाय स्थातुमर्हति, तस्मादधर्म्यव्यवहारात् कामनां निवर्त्य धर्म्ये व्यवहारे यावती वर्धयितुं शक्या तावती नित्यं वर्द्धनीयेति ॥ २७ ॥
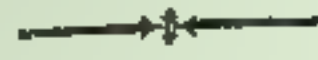
फिर उसकी प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः[2]—हे परमेश्वर! आपकी कृपा से (इडे) यह पृथिवी मुझको राज्य करने के लिये (आ इहि) अवश्य प्राप्त हो, तथा (अदिते) सब सुखों को प्राप्त करानेवाली नाश रहित राजनीति (आ इहि) प्राप्त हो। इसी प्रकार हे भगवन्! पृथिवी और राज्यनीति के द्वारा [मुझे] (काम्याः) इष्ट २ पदार्थ (आ इत) प्राप्त हों, तथा (मयि) मेरे में (वः) उन पदार्थों की (कामधरणम्) स्थिरता† [(भूयात्)] यथावत् हो ॥ २७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उत्तम २ पदार्थों की कामना निरन्तर करनी [चाहिये] तथा उनकी प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना और पुरुषार्थ सदा करना चाहिये। कोई मनुष्य अच्छी वा बुरी कामना के बिना क्षण भर भी स्थित होने को समर्थ नहीं हो सकता, इससे सब मनुष्यों को अधर्मयुक्त व्यवहारों की कामना को छोड़कर धर्मयुक्त व्यवहारों की जितनी इच्छा बढ़ सके उतनी बढ़ानी चाहिये ॥ २७ ॥

सोमानमित्यस्य विप्रबन्धुर्ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। विराड् गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स जगदीश्वरः किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[3] ॥

सोमानꣳ स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं यऽऔशिजः ॥ २८ ॥

सोमानम्। स्वरणम्। कृणुहि। ब्रह्मणः। पते॥ कक्षीवन्तम्। यः। औशिजः॥ २८॥

पदार्थः—(सोमानम्) सुनोति निष्पादयत्योषधिसारान् विद्यासिद्धींश्च येन तम्। (स्वरणम्) सर्वविद्याप्रवक्तारम्। (कृणुहि) संपादय। (ब्रह्मणस्पते) सनातनस्य वेदशास्त्रस्य पालकेश्वर! (कक्षीवन्तम्) कक्षेषु विद्याध्ययनकर्मसु[4] साध्वी नीतिः* कक्ष्या, सा बह्वी विद्यते यस्य विद्यां जिघृक्षोस्तम्। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। कक्ष्यायाः[5] संज्ञायां मतौ संप्रसारणं कर्तव्यम्। अ० ६।१।३७ इति वार्तिकेन संप्रसारणादेशः। आसन्दीवदष्ठीवच्च० अ० ८।२।१२। इति निपातनान्मकारस्थाने वकारादेशश्च। (यः) विद्वान्। (औशिजः[6]) यः सर्वा विद्या वष्टि स उशिक्, तस्य विद्यापुत्र इव॥

१ प्रसङ्ग से प्रार्थना का प्रयोजन कहते हैं—

२ अन्वय यहां अध्यात्मपरक है ॥ २७ ॥

३ पुनस्तदेवाह—

४ अत्र निरुक्तम्—'कक्षो गाहतेः क्स इति नामकरणः। ख्यातेर्वाऽनर्थकोऽभ्यासः। किमस्मिन् ख्यानमिति' निरु० २।२॥ 'गाहू विलोडने' (विद्यायाः), 'ख्या प्रकथने' इति व्युत्पत्त्यर्थः प्रदर्शितो भवति॥

५ छान्दसत्वादसंज्ञायामपीति दिक्॥

६ 'उशिगेव औशिजः प्रज्ञादिः' मा० धा० वृ० वशधातोर्व्याख्याने॥

ॐ 'कामनां विहाय' इति कोशेषु पाठः॥ † 'इच्छा स्थिर हो' इति कोशेषु पाठः॥

* 'कक्षा' इति अ. मु. ग. कोशे चापपाठः। क. ख. कोशयोः 'कक्ष्या' इत्युपलम्भात्।

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं समाचष्टे—सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्र उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणोपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्, तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते ॥ निरु० ६ । १० ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३५ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते त्वं योऽहमौशिजोऽस्मि, तं कक्षीवन्तं स्वरणं सोमानं मां कृणुहि संपादय ॥२८॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः[२] ॥

भावार्थः—पुत्रो द्विविध एक औरसो द्वितीयो विद्याजः । सर्वैर्मनुष्यैरीश्वर एतदर्थं प्रार्थनीयः,† यस्माद् वयं विद्याप्रकाशितैः सर्वक्रियाकुशलैः प्रीत्या विद्याध्यापकैः पुत्रैर्युक्ता भवेमेति ॥ २८ ॥

फिर उस जगदीश्वर की किस लिये प्रार्थना करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[३] ॥

पदार्थः—हे (ब्रह्मणस्पते) सनातन वेदशास्त्र के पालन करने वाले जगदीश्वर ! आप (यः) जो मैं (औशिजः) सब विद्याओं के प्रकाश करनेवाले विद्वान् के पुत्र के तुल्य हूँ, उस मुझको (कक्षीवन्तम्) विद्या पढ़ने में उत्तम नीतियों से युक्त (स्वरणम्) सब विद्याओं का कहने और (सोमानम्) ओषधियों के रसों का निकालने तथा विद्या की सिद्धि करनेवाला (कृणुहि) कीजिये ॥ २८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सोमानम्) सुनोतेः नामन्सामन्सोमन्हेमन्० (उ० ४ । १५२) इत्यादिना मनिन् प्रत्ययो निपात्यते । यद्वा अन्येभ्यो ऽपि दृश्यन्ते (अ० ३ । २ । ७५) इति मनिन् । नित्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्त उञ्छादीनां च (अ० ६ । १ । १६०) इत्यन्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(स्वरणम्) 'स्वृ शब्दोपतापयोः' (भ्वा० प०) इत्येतस्माद् धातोः कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इति बहुलवचनात् कर्त्तरि ल्युट् । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ।

(ब्रह्मणः) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे (अ० २ । १ । २) इति पराङ्गवद्भावेन सर्वनिघातः ॥

(कक्षीवन्तम्) तत्र साधुः (अ० ४ । ४ । ९८) इति यत् प्रत्ययः । यद्वा भवे छन्दसि (अ० ४ । ४ । ११०) इति यत् । यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते, छान्दसत्वादन्तोदात्तः 'कक्ष्या'शब्दः । सम्प्रसारणे एकादेशे च एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्त ईकारः । मतुप्सुपौ पित्वादनुदात्तौ ॥

यत्तु सायणभाष्ये ऋ० १ । १८ । १ "भवे छन्दसि इति यप्रत्ययः......यप्रत्ययस्वरेण......ईकार उदात्तः" तदयुक्तम् । 'भवे छन्दसि' इत्यत्राधिकारप्राप्तो यत् प्रत्यय एव सर्वसम्मतः । अतो 'य'प्रत्ययेनेष्टस्वरसिद्धेरपि यत एव सर्वसम्मतत्वाच्छान्दसत्वादेवेष्टस्वरसिद्धिरिति साधीयान् स्यात् ॥

(औशिजः) प्राग् दीव्यतोऽण् (अ० ४ । १ । ८३) इति सामान्येन 'अण्' प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः प्रदर्श्यते ॥

२ लुप्तोपममेतद् इति दुर्गः (निरु० ६ । १०) ॥

विशेषवक्तव्यम्

मन्त्रोऽयं ऋ० १ । १८ । १ अपि व्याख्यातो द्रष्टव्यः ॥ २८ ॥

३ पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं ॥

† 'यस्माद् वयं विद्याप्रकाशिताः सर्वक्रियाकुशलाः प्रीत्या विद्याध्यापका भवेमेति' सर्वकोशेषु पाठः ।
म० ३८

ऐसा ही व्याख्यान इस मन्त्र का निरुक्तकार यास्क मुनिजी ने भी किया है, सो पूर्व लिखे हुए संस्कृत में देख लेना ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है[2] ॥

भावार्थः—पुत्र दो प्रकार के होते हैं। एक तो औरस अर्थात् जो अपने वीर्य से उत्पन्न होता, और * दूसरा [जो विद्या से उत्पन्न किया जाता है अर्थात्] जो विद्या पढ़ाके विद्वान् किया जाता है। इस सब मनुष्यों को इसलिये ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे हम लोग विद्या से प्रकाशित सब क्रियाओं में कुशल और प्रीति से विद्या के पढ़ानेवाले पुत्रों से युक्त हों ॥ २८ ॥

योरेवानित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[3] ॥

यो रे॒वान् योऽअ॑मीव॒हा व॑सु॒वित् पु॑ष्टि॒वर्द्ध॑नः। स नः॑ सिषक्तु॒ यस्तु॒रः ॥ २९ ॥

यः। रे॒वान्। यः। अ॒मी॒व॒हेत्य॑मीव॒ऽहा †। व॒सु॒विदिति॑ वसु॒ऽवित्। पु॒ष्टि॒वर्द्ध॑न॒ इति॑ पुष्टि॒ऽवर्द्ध॑नः ॥ सः। नः॑। ‡ सि॒ष॒क्तु॒। ‡ सि॒स॒क्त्वि॒ति॑ सि॒स॒क्तु। यः। तु॒रः ॥ २९ ॥

पदार्थः—(यः) ब्रह्मणस्पतिर्जगदीश्वरः। (रेवान्) विद्याधनवान्। अत्र रयिशब्दान्मतुप्। छन्दसीरः। अ० ८। २। १५। इति मकारस्थाने वकारादेशः। रयेर्मतौ संप्रसारणं बहुलं वक्तव्यम्। अ० ६। १। ३७। इति वार्तिकेन यकारस्थाने संप्रसारणादेशश्च। (यः) महान्। (अमीवहा) योऽमीवानविद्या-

१ यहां अन्वय में अध्यात्म अर्थ दर्शाया है ॥

२ दुर्गाचार्य ने इस मन्त्र में निरु० ६। १० की टीका में लुप्तोपमा मानी है ॥

वि० वक्तव्य

ऋ० १। १८। १ में भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है, सो वहां देख लें ॥ २८ ॥

३ पुनस्तत्स्वरूपं प्रार्थनामिषेण वर्णयति—

४ 'अमीवः' इत्यकारान्तः, तथा च भट्टभास्करः तै० सं० भाष्ये भा० १ पृ० ८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रेवान्) मतुबुदात्तत्वे रेग्रहणम् (अ० ६। १। १७६ भा० वा०) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(अमीवहा) क्विपि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वम् ॥

(वसुवित्) पूर्ववदेवान्तोदात्तत्वम् ॥

(पुष्टिवर्द्धनः) नन्द्यादित्वाल्ल्युः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे लिति (अ० ६। १। १९३) इति प्रत्ययात् पूर्व वकार उदात्तः ॥

(तुरः) 'तुर त्वरणे' इति धातोः कर्त्तरि इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३। १। १३५) इति 'क' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

* 'दूसरा जो पढ़ाने के लिये विद्वान् किया जाता है' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः। 'दूसरा विद्या पढ़ा के जो विद्वान् होता है' इति क. ख. पाठ इति बोध्यम् ॥

† 'त्यमीऽवुहा' इत्यजमेरमुद्रितेऽस्थानेऽवग्रहचिह्नम्। ‡ उभयोः स्थाने 'सिषक्त्विति सिषक्तु' इत्येवाजमेरमुद्रितेऽपपाठः।

दिरोगान् हन्ति सः । (वसुवित्) यो वसूनि सर्वाणि वस्तूनि यथावद् वेत्ति वेदयति वा सः । (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टिं शरीरात्मबलं धातुसाम्यं च वर्द्धयतीति । (सः) परमात्मा । (नः) अस्मान् । (सिषक्तु) संयोजयतु । षच समवाय इत्यस्माच्छपः स्थाने बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७६] इति श्लुर्बहुलं छन्दसि [अ० ७ । ४ । ७८] इत्यभ्यासस्येकारादेशश्च । (यः) उक्तो वक्ष्यमाणश्च । (तुरः) शीघ्रकारी ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३५ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः[1]—यो रेवान् [योऽ] मीवहा वसुवित् पुष्टिवर्द्धनो यस्तुरो ब्रह्मणस्पतिर्जगदीश्वरोऽस्ति, स नोऽस्मान् शुभैर्गुणैः कर्मभिश्च सह सिषक्तु संयोजयतु ॥ २९ ॥

भावार्थः[2]—यदिदं विश्वस्मिन् धनमस्ति, तदिदं सर्वं जगदीश्वरस्यैव वर्त्तते । मनुष्यैर्यादृशी प्रार्थनेश्वरस्य क्रियते, ❀ स्वैरपि तादृश एव पुरुषार्थः कर्त्तव्यः । यथा नैव रेवानितीश्वरस्य विशेषणमुक्त्वा श्रुत्वा च कश्चित् कृतकृत्यो भवति, किं तर्हि स्वेनापि परमपुरुषार्थेन धनवृद्धिरक्षणे सततं कार्ये, यथा सोऽमीवहास्ति, तथैव मनुष्यैरपि रोगा नित्यं हन्तव्याः । यथा स वसुविदस्ति तथैव यथाशक्ति पदार्थविद्या कार्या । यथा स सर्वेषां पुष्टिवर्द्धनस्तथैव सर्वेषां नित्यं पुष्टिर्वर्द्धनीया । यथा स शीघ्रकारी तथैवेष्टानि कार्याणि शीघ्रं कर्त्तव्यानि । यथा तस्य शुभगुणकर्मप्राप्त्यर्था प्रार्थना क्रियते, तथैव सर्वान् मनुष्यान् परमप्रयत्नेन शुभगुणकर्माचरणेन ‡ सह नित्यं संयोजयेदिति ॥ २९ ॥

फिर वह ईश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ।

पदार्थः—(यः) जो वेदशास्त्र का पालन करने (रेवान्) विद्या आदि अनन्त धनवान् [यः] (अमीवहा) अविद्या आदि रोगों को दूर करने वा कराने (वसुवित्) सब वस्तुओं को यथावत् जानने (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टि अर्थात् शरीर वा आत्मा के बल को बढ़ाने और (तुरः) अच्छे कामों में जल्दी प्रवेश करने वा करानेवाला जगदीश्वर है, (सः) वह (नः) हम लोगों को उत्तम २ कर्म वा गुणों के साथ (सिषक्तु) संयुक्त करे[4] ॥ २९ ॥

भावार्थः[5]—जो इस संसार में धन है सो सब जगदीश्वरका ही है । मनुष्य लोग जैसी परमेश्वरकी प्रार्थना करें वैसा ही उनको पुरुषार्थ भी करना [चाहिये] । जैसे विद्या आदि धनवाला परमेश्वर है, ऐसा विशेषण ईश्वर का कह वा सुनकर कोई मनुष्य कृतकृत्य अर्थात् विद्या आदि धनवाला नहीं हो सकता, किन्तु अपने पुरुषार्थ से विद्या आदि धन की वृद्धि वा रक्षा निरन्तर करनी चाहिये, जैसे वह परमेश्वर अविद्या आदि रोगों को दूर करनेवाला है, वैसे मनुष्यों को भी उचित है कि आप भी अविद्या आदि रोगों को निरन्तर दूर करें । जैसे वह सब वस्तुओं को यथावत् जानता है, वैसे मनुष्यों को भी उचित है कि अपने सामर्थ्य के अनुसार सब पदार्थविद्याओं को यथावत् जानें । जैसे वह सबकी पुष्टि को बढ़ाता है, वैसे मनुष्य भी सबके पुष्टि आदि गुणों को निरन्तर बढ़ावें । जैसे वह अच्छे २ कार्यों

---

१ आध्यात्मपरोऽयमन्वयः ।

२ प्रार्थना कथं सफलीस्यादिति भावार्थेऽत्र विस्तरशो व्याख्यातम् ॥

विशेषवक्तव्यम्

ऋग्वेदे ऽस्य मन्त्रस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः, ब्रह्मणस्पतिर्देवता ॥ २९ ॥

३ पुनः प्रार्थना के व्याज से ईश्वर का स्वरूप वर्णन करते हैं—

४ यहां अन्वय आध्यात्मिकार्थ परक है ॥

५ 'प्रार्थना सफल कैसे हो सकती है' यह भावार्थ में स्पष्ट दर्शाया है ॥ २९ ॥

❀ 'स्वयमपि' इत्यर्थः ॥

‡ इतोऽग्रे 'वर्तमानान्' इति पदं अ' मु. वर्तते कोशेषु नास्ति इति ध्येयम् ॥

को बनाने में शीघ्रता करता है, वैसे मनुष्य भी उत्तम २ कार्यों को त्वरा से करें, और जैसे हम लोग उस परमेश्वर की उत्तम कर्मों को करने के लिये निरन्तर प्रार्थना करते हैं, वैसे वह परमेश्वर भी हम सब मनुष्यों को उत्तम पुरुषार्थ से उत्तम २ गुण वा कर्मों के आचरण के साथ निरन्तर संयुक्त करे ॥ २९ ॥

मा न इत्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[1] ॥

मा नः शंसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३० ॥

†मा । नः । शंसः । अररुषः । धूर्तिः । प्रणक् । मर्त्यस्य ॥ रक्ष । नः । ब्रह्मणः । पते ॥ ३० ॥

पदार्थः—(मा) निषेधार्थे । (नः) अस्माकम् । (शंसः) शंसन्ति स्तुवन्ति यस्मिन् सः । (अररुषः) राति ददाति स ररिवान्, न ररिवानररिवान् तस्य । (धूर्तिः) हिंसा । (प्रणक्) प्रणश्यतु, अत्र लोडर्थे लुङ् । मन्त्रे घसह्वरण० [अ० २ । ४ । ८०] इति च्लेर्लुक् च । (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य । मर्त्ता इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघ० २ । ३ । (रक्ष) पालय । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः । (नः) अस्मान् । (ब्रह्मणस्पते[2]) जगदीश्वर । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । अ० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सकारादेशः ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३५ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

१ पूर्ववद् ॥

२ सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे (अ० २ । १ । २) इति 'ब्रह्मणः' इत्येतस्यापि सर्वनिघातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शंसः) शंसु स्तुतौ (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धिकरणे घञ् प्रत्ययः । ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अररुषः) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तः ॥

(धूर्तिः) स्त्रियां क्तिन् (अ० ३ । ३ । ९४) इति क्तिन्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादन्तोदात्तत्वम् । यद्वा क्तिचि सर्वेष्टसिद्धिः ॥

(प्रणक्) सह सुपा (अ० २ । १ । ४) इत्यत्र 'सह' इति योगविभागेन समासः । समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते परत्वात् तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति तिङो निघाते, उपसर्गस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

इदमत्रावधेयम्—सायणाचार्यैः 'प्रणक्' इति शब्दं 'पृची सम्पर्के' इत्येतस्माद् धातोर्व्युत्पाद्य 'मा प्रणक् सम्पृणक्तु' इत्याह सर्वेष्वृग्वेदभाष्ये (ऋ० १ । १८ । ३ ॥ २ । २३ । १२ ॥ ७ । ५६ । ९) ॥ तदसम्यक् मन्त्रे घसह्वरणश० (अ० २।४।८०) इति सूत्रे णशूधातोर्लुङि लेर्लुग्विधानात् ॥

किंच—मन्त्रे घसह्वरणश० (अ० २ । ४ । ८०) इत्यत्र णशविषये काशिकापदमञ्जरीन्यासकारादयः 'प्रणङ् मर्त्यस्य' इति प्रकृतमन्त्रस्यैवोदाहरणं प्रदर्शयन्ति । एभिः सर्वैरपि 'प्रणङ्' इति रूपं णशधातोरेव सम्पादितम् । अपरं च सायणाचार्यदिशा तु 'पृची' धातोः 'प्र' इति रेफस्य कथं निर्वृत्तिः स्यादित्यपि विचारणीयम् । अत आचार्यदयानन्दप्रदर्शितमेव साधीय इति ध्येयम् ॥

(मर्त्यस्य) 'मृङ् प्राणत्यागे' (तु० आ०) अघ्न्यादयश्च (उ० ४ । ११२) इति यक् प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरे प्राप्ते निपातनादेवाद्युदात्तत्वम् । यद्वा मर्त्यशब्दो वेदेष्वाद्युदात्त एव दृश्यते तेन 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन्' (उ० ३ । ८६) इति मर्त्तः तन्प्रत्ययान्तः । मर्त्त एव मर्त्यः, नवसूर-

† 'मानः' इत्यजमेरमुद्रिते ऽपपाठः ।

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते भवत्कृपया नोऽस्माकं शंसो मा प्रणक् कदाचिन्मा प्रणश्यतु। योऽररुषः परस्वादायिनो मर्त्यस्य धूर्त्तिर्हिंसास्ति, तस्याः सकाशान्नोऽस्मान् सततं रक्ष ॥ ३० ॥[1]

भावार्थः—मनुष्यैः सदा प्रशंसनीयानि कर्माणि कर्तव्यानि नेतराणि, कस्यचिद् द्रोहो दुष्टानां संगश्च नैव कर्तव्यः, धर्मस्य रक्षेश्वरोपासनं च सदैव कर्तव्यमिति ॥ ३० ॥

फिर भी उस परमेश्वर की प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (ब्रह्मणस्पते) जगदीश्वर ! आपकी कृपा से (नः) हमारी *[(शंसः)] वेदविद्या (मा) (प्रणक्) कभी नष्ट मत हो, और जो (अररुषः) दान आदि धर्मरहित परधन ग्रहण करनेवाले (मर्त्यस्य) मनुष्य की (धूर्त्तिः) हिंसा अर्थात् द्रोह है, उससे (नः) हम लोगों की निरन्तर (रक्ष) रक्षा कीजिये[3] ॥ ३० ॥

भावार्थः—मनुष्य को सदा उत्तम २ काम करना और बुरे २ काम छोड़ना तथा किसी के साथ द्रोह वा दुष्टों का संग कभी न करना और धर्म की रक्षा वा परमेश्वर की उपासना स्तुति और प्रार्थना निरन्तर करनी चाहिये ॥ ३० ॥

महि त्रीणामित्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः। आदित्यो देवता। विराड्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनः स किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[4] ॥

मर्त्तयविष्ठेभ्यो यत् (अ० ५ । ४ । ३६ वा०) इति स्वार्थे यत् प्रत्ययः। यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

श्वेतवनवासी-नारायण-उज्ज्वल-दशपादी-कारादयः सर्वे यक् प्रत्ययान्तो निपात्यत इत्याहुः। अस्मिन् पक्षे निपातनादेवाद्युदात्तत्वम् ॥

देवराजस्तु निघण्टुभाष्ये—'मर्त्यः। मृङ् प्राणत्यागे' (तु० आ०) अघ्न्यादयश्च (उ० ४ । १०८) इति यत् प्रत्ययान्तं निपात्यते। तुडागमस्तु विकल्पेन। गुणः। म्रियन्ते मर्त्याः। छन्दसि निष्टर्क्य-देवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्य० (अ० ३ । १ । १२३) इत्यादिना यत्प्रत्ययान्तं निपातितम्।··· यद्वा 'मृङ् प्राणत्यागे' (तु० आ०) हसिमृग्रिण्वा-मिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् (उ० ३ । ८३) इति तन् प्रत्ययः। अर्थः पूर्ववत्। मर्त्तशब्दात् 'वस्वमर्त्त'···यविष्ठेभ्यश्छन्दसि (अ० ५।४।३६ वा०) स्वार्थिकस्तद्धितो यत् इति। (देवराजनिघण्टुभाष्य पृ० १८०,१८१) ॥

सायणोऽपि तथैव ऋ० १ । १८ । २ भाष्ये—'भवे छन्दसि (अ० ४ । ४ । ११०) इति यत् प्रत्ययः' इत्याह ॥ यत्पक्षे सर्वत्र 'यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

भोजस्तु—"मृङस्त्यः (६ । १२ भोजोणादिवृत्तौ) म्रियते प्राणैर्वियुज्यत इति मर्त्यः" अस्मिन् पक्षे बाहुलकादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः ॥ ३० ॥

२ पूर्ववत् ॥

३ यहां अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया गया है ॥ ३० ॥

४ अत्रापि पूर्ववद् ॥

* (शंसः) इति क. कोशे पाठः। स चावश्यकः, अग्रे प्रमादात् त्यक्तः स्यात् ॥

महिं त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः । दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ३१ ॥

महि । त्रीणाम् । अवः । अस्तु । द्युक्षम् । मित्रस्य । अर्यम्णः ॥ दुराधर्षमिति दुःऽआधर्षम् । वरुणस्य ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(महि) महत् । (त्रीणाम्) त्रयाणां सकाशात् । अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति [अ० १ । ४ । ९ भा०] त्रेस्त्रयः इति त्रयादेशो न । (अवः) ❀रक्षणादिकम् । (अस्तु) भवतु । (द्युक्षम्) द्यौर्दीप्तिः प्रकाशः क्षियति निवसति यस्मिंस्तत् । (मित्रस्य) बाह्याभ्यन्तरस्थस्य प्राणस्य । (अर्य्यम्णः) य ऋच्छति नियच्छत्याकर्षणेन पृथिव्यादीन् स [1]सूर्यलोकस्तस्य । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । अनेनायं निपातितः । (दुराधर्षम्) दुःखेनाधर्षितुं योग्यं दृढम् । (वरुणस्य) वायोर्जलस्य वा । वरुण इति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ४ । अनेन प्राप्तिसाधनो गृह्यते ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३७ व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः[2]—हे ब्रह्मणस्पते तव कृपया मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्य च त्रीणां [त्रयाणां] सकाशान्नोस्माकं द्युक्षं दुराधर्षं [महि] महदवोस्तु ॥ ३१ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मान्मन्त्राद् 'ब्रह्मणस्पते, नः' इति पदद्वयानुवृत्तिर्विज्ञेया । मनुष्यैस्सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः स्वस्यान्येषां च न्यायेन रक्षणं कृत्वा राज्यपालनं कार्यमिति ॥ ३१ ॥

---

१ ऋ गतौ इयर्तीति अर्यमा आदित्यः इत्युणादिवृत्तौ (२ । ५) दुर्गसिंहः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(महि) 'मह पूजायाम्' इत्येतस्मात् सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८) इति इन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥ 'महि' इति महदर्थे व्याख्यातः (निरु० ११ । ९) ॥

(त्रीणाम्) यत्तु काशिकायां (अ० ७ । १ । ५३) 'त्रीणामित्यपि छन्दसीष्यते' इत्युक्तं, तत्तु छान्दसबाहुलकप्रदर्शनपरमेवेति । कुतः ? एवंविधस्य वचनस्य भाष्येऽनुपलम्भात् । ऋ० १० । १८५ । १ भाष्ये सायणोऽपि तथैव ॥

स्वरस्तु—षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (अ० ६ । १ । १७९) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(अवः) अवधातोः सर्वधातुभ्यो ऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति 'असुन्' प्रत्ययः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः ॥

(द्युक्षम्) अन्येष्वपि दृश्यते (अ० ३ । २ । १०१) इति 'ड' प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(अर्यम्णः) 'कनिन्' प्रत्यय आद्युदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादन्तोदात्तत्वम् ॥

पदकारा नावगृह्णन्ति, सन्दिग्धत्वात्, तथाहि—

"प्राङ्न्त्रानुद्रोऽब्भ्राय संशयात् (यजुः प्रातिशाख्य ५ । ३४) ॥ अस्यैव सूत्रस्य भाष्य उवट आह—

"एतानि पदानि संशयान्नावगृह्यन्ते । ......हेतुवचनादन्यत्रापि यत्र संशयस्तत्रावग्रहो न भवति" ।

तथैवानन्तभट्टोऽपि—संशयादिति हेतुवचनात् अन्यत्रापि यत्र संशयः पूर्वोत्तरपदयोस्तत्रापि नावग्रहः" ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अन्वयो ऽत्राध्यात्मपरः ॥ ३१ ॥

❀ 'रक्षणं' इति कोशेषु पाठः ॥

फिर भी उसकी प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मणस्पते जगदीश्वर! आपकी कृपासे (मित्रस्य) बाहिर वा भीतर रहनेवाला जो प्राणवायु तथा (अर्यम्णः) जो आकर्षण से पृथिवी आदि पदार्थों को धारण करनेवाला सूर्यलोक और (वरुणस्य) जल इन (त्रीणाम्) तीनों के सकाश से (नः) हम लोगों की (द्युक्षम्*) नीति का प्रकाश करने वाली) दुराधर्षम्) अतिकष्ट से भी न दबाई जा सकने वाली (महि) उत्कृष्ट, (अवः) रक्षा (अस्तु) हो[2] ॥ ३१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से (ब्रह्मणस्पते) (नः) इन दो पदों की अनुवृत्ति जाननी चाहिये। मनुष्यों को सब पदार्थों से अपनी वा औरों की न्यायपूर्वक रक्षा करके यथावत् राज्य का पालन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

नहि तेषामित्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः। आदित्यो देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[3] ॥

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः॥ ३२॥

नहि। तेषाम्। अमा। चन। न। अध्वस्वित्यध्वऽसु। वारणेषु॥ ईशे। रिपुः। अघशंस इत्यघऽशंसः॥ ३२॥

पदार्थः—(नहि) निषेधार्थे। (तेषाम्) परमेश्वरोपासकानां, सूर्यप्रकाशस्थितानां वा। (अमा) गृहेषु। अमेति गृहनामसु पठितम्। निघं० ३। ४। (चन) अपि। (न) निषेधार्थे। (अध्वसु) मार्गेषु। (वारणेषु) †वारयन्ति यैर्युद्धैस्तेषु, वा वारयन्ति ये चोरदस्युव्याघ्रादयो येषु तेषु। (ईशे) समर्थो भवामि। (रिपुः) शत्रुः। (अघशंसः) योऽघानि पापानि कर्माणि शंसति सः॥ अयं मन्त्रः शत० २। ३। ४। ३७ व्याख्यातः॥ ३२॥

१ पूर्ववत् ॥

२ यहाँ अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥३१॥

३ प्रार्थनापरायणेष्वीश्वरस्य कृपालुतां दर्शयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नहि) एवादीनामन्तः (फि० ८२) इत्यन्तोदात्तः ॥

(अमा) 'अम गत्यादिषु' ततः खनो घ च (अ० ३। ३। १२५) इति घप्रत्ययः। तत्र च चित्करणाज्ज्ञाप्यतेऽन्येभ्योऽपि घप्रत्ययो भवतीति, छन्दगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च (अ० ७। ३। १९) इत्यत्र भगग्रहणादपीति। टाप्येकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८। २। ५) इत्यन्तोदात्तः ततः सुपां सुलुक्० (अ० ७। १। ३९) इति सुपो लुक्यन्तोदात्तत्वमेव ॥

(अध्वसु) 'अद भक्षणे' इत्यस्मात् अदेर्ध च (उ० ४। ११६) इति क्वनिप् प्रत्ययः। अतेर्धश्च इति नारायणश्वेतवनवासिनोः पाठः। तथा सति 'अत सातत्यगमने' इत्यस्मात् 'क्वनिप्' इति बोध्यम्। धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(वारणेषु) वृञ् आवरणे (चु० उ०) इत्येतस्माद् धातोः करणाधिकरणयोश्च (अ० ३। ३। ११७) इति करणेऽधिकरणे वा ल्युट्, लित्वात् प्रत्ययपूर्वस्योदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

* इतोऽग्रे अ० मुद्रितपाठस्तु "(द्युक्षम्) जिसमें नीति का प्रकाश निवास करता है (दुराधर्षम्) अतिकष्ट से ग्रहण करने योग्य दृढ़ (महि) बड़े वेदविद्या की (अवः) रक्षा (अस्तु) हो उस दृढ़ बड़े यज्ञ की रक्षा (अस्तु) हो ॥ ३१ ॥" इति ख. पाठः। स च मूलाननुसारीति बोध्यम् ॥

† "वारयन्ति चोरदस्युव्याघ्रादीन् यैर्येषु वा तेषु संग्रामेषु" इति सम्यक् पाठः स्यात्, भाषापाठोऽप्यत्रैवानुकूलः ॥

अन्वयः—य ईश्वरोपासकास्तेषाममा गृहेष्वध्वसु वारणेषु चनाप्यघशंसो रिपुर्नह्यत्तिष्ठते, न खलु तान् क्लेशयितुं शक्नोति तं तांश्चाहम् [प्राप्तुम्] ईशे ॥ ३२ ॥

भावार्थः—ये धर्मात्मानः सर्वोपकारकाः सन्ति, नैव क्वापि तेषां भयं भवति, येऽजातशत्रवो नैव तेषां कश्चिदपि शत्रुर्जायते ॥ ३२ ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—जो ईश्वर की उपासना करनेवाले मनुष्य हैं (तेषाम्) उनके (अमा) गृह (अध्वसु) मार्ग और (वारणेषु) चोर शत्रु डाकू व्याघ्र आदि के निवारण करनेवाले संग्रामों में (चन) भी (अघशंसः) पापरूप कर्मों का कथन करने वाला (रिपुः) शत्रु (नहि) नहीं स्थित होता, और (न) न उनको क्लेश देने को समर्थ हो सकता [है,] उस ईश्वर और उन धार्मिक विद्वानों के प्राप्त होने को मैं (ईशे) समर्थ होता हूँ[3] ॥३२॥

भावार्थः—जो धर्मात्मा वा सबके उपकार करनेवाले मनुष्य हैं, उनको भय कहीं नहीं होता और शत्रुओं से रहित मनुष्य का कोई शत्रु भी नहीं होता ॥ ३२ ॥

ते हीत्यस्य वारुणिः सत्यधृतिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । विराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

आदित्यानां किं कर्मास्तीत्युपदिश्यते[4] ॥

ते हि पुत्रासो ऽ अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥ ३३ ॥

ते । हि । पुत्रासः । अदितेः । प्र । जीवसे । मर्त्याय ॥ ज्योतिः । यच्छन्ति । अजस्रम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(ते) पूर्वोक्ताः । (हि) निश्चये । (पुत्रासः) मित्रार्यमवरुणाः । (अदितेः) अखण्डितायाः कारणशक्तेः । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (जीवसे) जीवितुम् । (मर्त्याय) ✻ विनाशाय, तुमर्थाच्

(ईशे) तास्यनुदात्तेन्ङिदद्रुपदेशाल्ल० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(रिपुः) रपेरिच्चोपधायाः (उ० १ । २६) इति 'कुः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अघशंसः) अत्र य० १ । १ विवरणे पृ० १५ द्रष्टव्यम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः । कस्यचिदीश्वरपरायणस्योक्तिरित्यपि बोध्यम् ॥ ३२ ॥

२ भक्तों पर ईश्वर कृपालु है, यह दर्शाते हैं ॥

३ अन्वय में यहां आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है । किसी ईश्वरपरायण का यह कहना है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

४ प्रसङ्गाच्छ्लेषेणादित्यादीनां कर्माह—

५ अत्र च मर्त्यशब्दः 'अघ्न्यादयश्च' (उ० ४ । ११२) इति भावे ॥

✻ 'मनुष्याय' इति अ० मु० पाटः । स च क. ख. ग. कोशेषु नास्ति ॥

भाववचनात् (अ० २ । ३ । १५) इति चतुर्थी । (ज्योतिः) तेजः । (यच्छन्ति) ददति । (अजस्रम्) निरन्तरम् ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३७ व्याख्यातः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—ये ऽदितेः पुत्रासः पुत्रास्ते हि मर्त्याय जीवसेऽजस्रं ज्योतिः प्रयच्छन्ति ॥ ३३ ॥

भावार्थः—एते कारणादुत्पन्नाः प्राणवाय्वादयो नित्यं ज्योतिः प्रयच्छन्तः सर्वेषां जीवनाय मरणाय वा ❀ निमित्तानि भवन्तीति ॥ ३३ ॥

आदित्यों का क्या २ कर्म है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः[3]—जो (अदितेः) नाशरहित कारणरूपी शक्ति के (पुत्रासः) बाहिर भीतर रहनेवाले प्राण, सूर्यलोक, पवन और जल आदि पुत्र हैं, (ते) वे (हि) ही (मर्त्याय) मनुष्यों के मरने वा (जीवसे) जीने के लिये (अजस्रम्) निरन्तर (ज्योतिः) तेज वा प्रकाश को ([प्र] यच्छन्ति) देते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थः—जो ये कारणरूपी समर्थ पदार्थों से उत्पन्न हुए प्राण सूर्यलोक वायु वा जल आदि पदार्थ हैं, वे ज्योति अर्थात् तेज को देते हुए, सब प्राणियों के जीवन वा मरण के निमित्त होते हैं ॥ ३३ ॥

कदाचनेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

स इन्द्रः कीदृश इत्युपदिश्यते[4] ॥

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय ऽ इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ३४ ॥

कदा । चन । स्तरीः । असि । न । इन्द्र । सश्चसि । दाशुषे ॥ ‡ उपोपेत्युपऽउप । ‡ इत् । नु । मघवन्निति मघऽवन् । भूयः । इत् । नु । ते । दानम् । देवस्य । पृच्यते ॥ ३४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पुत्रासः) पुवो ह्रस्वश्च (उ० ४ । १६५) इति 'क्त्रः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । आज्जसेरसुक् (अ० ७ । १ । ५०) इत्यसुकि विभक्तेरनुदात्तत्वे स एव स्वरः ॥

(जीवसे) तुमर्थे सेऽसेन्० (अ० ३ । ४ । ९) इति 'असे', प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् ॥

(यच्छन्ति) हि च (अ० ८ । १ । ३४) इति निघातप्रतिषेधे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अजस्रम्) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ सर्वप्रक्रियापरो ऽयमन्वयः ॥ ३३ ॥

२ प्रसङ्ग से श्लेष द्वारा आदित्यों का कर्म कहते हैं ॥

३ यहाँ अन्वय सब प्रक्रियाओं में समान है ॥ ३३ ॥

४ पुनरीश्वरमिन्द्ररूपेण निरूपयन्नाह—

❀ इतोऽग्रे 'निमित्तानि प्रभवन्ति' इति क. ख. ग. कोशेषु सार्वत्रिकः पाठः ॥

‡ 'उपोपेत्युपऽउप ऽ इत्' इत्यजमेरमुद्रिते ऽपपाठः ।

पदार्थः—(कदा) कस्मिन् काले । (चन) आकाङ्क्षायाम् । (स्तरीः) यः सुखैः स्तृणात्याच्छादयति सः । अत्र अवितॄ० उ० ३ । १५८ । इति ईः प्रत्ययः । (असि) भवसि । (न) निषेधार्थे । (इन्द्र) सुखप्रदेश्वर ! (सश्चसि) जानासि प्रापयसि वा । सश्चतीति गतिकर्मसु पठितम् । निघ० २ । १४ । (दाशुषे) विद्यादिदानकर्त्रे । (उपोप) सामीप्ये । (इत्) एति जानात्यनेन तदिङ्ज्ञानम् । (नु) क्षिप्रम् । न्विति क्षिप्रनामसु पठितम् । निघ० २ । १५ । (मघवन्) परमधनवन् । (भूयः) पुनः । (इत्) एव । (नु) क्षिप्रे । (ते) तव । (दानम्) दीयमानम् । (देवस्य) कर्मफलप्रदातुः । (पृच्यते) संबध्यते ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३८ व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—*हे इन्द्र ! यदा त्वं स्तरीरसि † सदा दाशुषे कदाचनेन्नु न सश्चसि, तदा हे मघवन् देवस्य ते तव दानं तस्मै दाशुषे भूयः कदाचनेन्नु नो [पो] पपृच्यते ॥ ३४ ॥

भावार्थः—यदीश्वरः कर्मफलप्रदाता न स्यात्तर्हि न कश्चिदपि जीवो व्यवस्थया कर्मफलं प्राप्नुयादिति ॥ ३४ ॥

वह इन्द्र कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ‡ सुख देनेवाले ईश्वर ! जो आप (स्तरीः) सुखों से आच्छादन करनेवाले (असि) हैं, और (दाशुषे) विद्या आदि दान करनेवाले मनुष्य के लिये (कदाचन) कभी (इत्) ज्ञानको

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कदा) सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा (अ० ५ । ३ । १५) इति 'दा' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । 'कदा न रिष्येम पूर्वम्' (य० प्राति० २ । २३) इति सूत्रस्य प्रत्युदाहरणेनापीष्टस्वरसिद्धिः ॥

(चन) एवादीनामन्तः (फि० ८२) इत्यन्तोदात्तः ॥

(स्तरीः) 'अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३ । १५८) इति 'ईः' प्रत्ययः, स चोदात्तः ॥

(दाशुषे) दाश्वान् इति किं निपात्यते । दाशेः कसौ द्वित्वेट्प्रतिषेधौ निपात्येते (अ० ६ । १ । १२ भा०) क्वसुः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, विभक्त्यनुदात्तत्वे सम्प्रसारणे स एव मध्योदात्तस्वरः ॥

(उपोप) 'उप' इति निपाताद्युदात्तः, ततो नित्यवीप्सयोः (अ० ८ । १ । ४) प्रसमुपोदः पादपूरणे (अ० ८ । १ । ६) इति वा द्वित्वे, अनुदात्तं च (अ० ८ । १ । ३) इत्याम्रेडितस्यानुदात्तेऽकारोकारैकादेशे 'पो' अनुदात्तः ।

(इत्) क्विपि धातुस्वरेणोदात्तः । तेन सहैकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति 'पे' उदात्तः ॥

(नु) निपाताद्युदात्तः ॥

(मघवन्) पूर्वं यजुः २ । १० व्याख्यातः ॥

(भूयः) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(इत्) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(दानम्) लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः ॥ प्रकारान्तरेण मन्त्रोऽयमन्यत्र (य० ८ । २) व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

२ फिर ईश्वररूप से इन्द्र का वर्णन करते हैं—

---

* अन्वयोऽयमस्पष्टः प्रतीयते, मन्त्रोऽयमग्रेऽपि (य० ८ । २) व्याख्यातः ॥

† 'तदा' इति अ० मु० पाठः । 'सदा' इति सर्वकोशेषु पाठः ॥

‡ 'सब मनुष्यों को सुख देने वाले ईश्वर' इति क्र. ख. पाठः ॥ स चानन्वितः प्रतिभाति ॥

(नु) + शीघ्र (नै) नहीं (सश्चसि) प्राप्त कराते, तो हे (मघवन्) विद्यादि धनवाले जगदीश्वर ! (देवस्य) कर्मफल के देनेवाले (ते) आपका (दानम्) दिया हुआ (इत्) ही ज्ञान (दाशुषे) विद्यादि देनेवाले के लिये (भूयः) फिर (नु) शीघ्र [कभी नहीं] (उपोपपृच्यते) प्राप्त होता ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो जगदीश्वर कर्म के फल को देनेवाला नहीं होता, तो कोई भी प्राणी व्यवस्था के साथ किसी कर्म के फल को प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ३४ ॥

तत्सवितुरित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तस्य जगदीश्वरस्य कीदृश्यः स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्या इत्युपदिश्यते[3] ॥

तत् स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यं॒ भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि । धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ३५ ॥

तत् । स॒वि॒तुः । वरे॑ण्यम् । भर्गः॑ । दे॒वस्य॑ । धी॒म॒हि॒ ॥ धियः॑ । यः । नः॒ । प्र॒ । * चो॒दया॑त् ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(तत्) वक्ष्यमाणम् । (सवितुः[4]) सर्वस्य जगतः प्रसवितुः । सविता वै देवानां प्रसविता, तथो हास्मा एते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृध्यन्ते । शत० २ । २ । ४ । ३६ । (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठम् । अत्र वृञ एण्यः । उ० ३ । ९८ अनेन वृञ्धातोरेण्यप्रत्ययः । (भर्गः) भृज्जन्ति पापानि दुःखमूलानि येन तत् । अञ्च्यञ्जियुजि० उ० ४ । २१६ इति भ्रस्जधातोरसुन् प्रत्ययः कवर्गादेशश्च । (देवस्य) प्रकाशमयस्य शुद्धस्य सर्वसुखप्रदातुः परमेश्वरस्य । (धीमहि) दधीमहि । अत्र डुधाञ्धातोः प्रार्थनायां लिङ् छन्दस्युभयथा [अ० ३ । ४ । ११७] इत्यार्धधातुकत्वाच्छप् न, † सार्वधातुकत्वाद् [ङित्वे]❀ आतो लोप

१ तत्क्षणमेव फलं न प्रापयसीत्यभिप्रायः ॥

२ यहां अन्वय अध्यात्मपरक है ॥ यजुः ८ । २ में यह मन्त्र भिन्नरूप से व्याख्यात है ॥ ३४ ॥

३ स्तुतिप्रार्थनादीनां स्वरूपं वर्णयति—

४ प्रमाणमत्र य० १ । १ विवरणे पृ० १२ द्रष्टव्यम् ।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वरेण्यम्) 'एण्यन्' इति तु श्वेतवनवासी, अयमेव च सम्यक् । तेन ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः । पक्षान्तरे छान्दसस्वरव्यत्यय इत्येव स्यात् ॥

(भर्गः) नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(धियः) ध्यायतेः सम्प्रसारणं च (अ० ३ । २ । १७८ वा०) इति क्विपि धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(प्र चोदयात्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघाते प्राप्ते यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे णिजन्तस्य सनाद्यन्ता धातवः (अ० ३ । १ । ३२) इति धातुत्वे लेटि शप्याडागमे गुणे च धातुस्वरेण दकार उदात्तः । ततः तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति गतिरनुदात्ता ।

एकं पदमिति पदकाराः । तेषां मते उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २ । १ । ४) इति समासः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

+ इतोऽग्रे '(सश्चसि) प्राप्त (न) नहीं करते तो उस काल में' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥

* 'चोदयात्' इत्यशुद्धः स्वरोऽजमेरमुद्रिते । † 'सार्वधातुकत्वाद्' इति पदं क. ख. ग. कोशेषु वर्तते, अ. मु. नास्ति ॥

❀ 'आतो लोप इटि च' इति हस्तलेखेषु नास्ति, अ. मु. एवास्ति ॥

इटि च [अ० ६ । ४ । ६४] इत्याकारलोपश्च । (धियः) प्रज्ञा बुद्धीः । धीरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघ० ३ । ६ । (यः) सविता देवः परमेश्वरः । (नः) अस्माकम् । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (चोदयात्) प्रेरयेत् ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ३ । ४ । ३९ व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वयं सवितुर्देवस्य परमेश्वरस्य यद् वरेण्यं भर्गः स्वरूपमस्ति तद्धीमहि । यः सविता देवोऽन्तर्यामी परमेश्वरः स नोऽस्माकं धियः प्रचोदयात् प्रेरयेत् ॥ ३५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सकलजगदुत्पादकस्य सर्वोत्कृष्टस्य सकलदोषनाशकस्य शुद्धस्य परमेश्वरस्यैवोपासना नित्यं कार्या, कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह स स्तुतो धारितः प्रार्थित उपासितः सन्नस्मान् सर्वेभ्यो दुष्टगुणकर्मस्वभावेभ्यः पृथक्कृत्य सर्वेषु शुभेषु गुणकर्मस्वभावेषु नित्यं प्रवर्तयेदित्यस्मै [प्रयोजनाय] । अयमेव प्रार्थनाया मुख्यः सिद्धान्तः, यादृशीं प्रार्थनां कुर्यात् तादृशमेव कर्माचरेदिति ॥ ३५ ॥

उस जगदीश्वर की कैसी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—हम लोग (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करने वा (देवस्य) प्रकाशमय शुद्ध वा सुख देनेवाले परमेश्वर का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ (भर्गः) पापरूप दुःखों के मूल को नष्ट करनेवाला तेजःस्वरूप है, (तत्) उसको (धीमहि) धारण करें, और (यः) जो अन्तर्यामी सब सुखों का देनेवाला है, वह अपनी करुणा करके (नः) हमलोगों की (धियः) बुद्धियों को उत्तम २ गुणकर्मस्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे[३] ॥ ३५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि इस सब जगत् को उत्पन्न करने [वाले] वा सबसे उत्तम, सब दोषों के नाश करने [वाले] तथा अत्यन्त शुद्ध परमेश्वर की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना [सदा] करें । किस प्रयोजन के लिये, जिससे वह धारण वा प्रार्थना किया हुआ हमलोगों को खोटे २ गुण और कर्मों से अलग

---

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः ॥

वि० वक्तव्यम्

मन्त्रोऽयं गोपथब्राह्मणे (गो० १ । १ । ३४-३६), जैमिन्युपनिषद्ब्राह्मणे च (जै० ४ । २७, २८) सम्यग् व्याख्यातः । सवितृपदेन 'अग्निः, वरुणः, वायुः, यज्ञः, स्तनयित्नुः, आदित्यः, चन्द्रः, मनः, पुरुषः' इति गृह्यन्ते ॥ कौषीतकी-शतपथ-ऐतरेय-तैत्तिरीयादिब्राह्मणेष्वप्ययं मन्त्रो व्याख्यातस्तत्र तत्र द्रष्टव्यः ॥

(ख) मन्त्रोऽयमाचार्यैः पञ्चमहायज्ञविधौ, वेदभाष्ये चान्यत्रापि व्याख्यातस्तत्रापि द्रष्टव्यः ॥ ३५ ॥

२ स्तुति प्रार्थनादि के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

३ यहां अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया गया है ॥

वि० वक्तव्य

इस मन्त्र का व्याख्यान गोपथ ब्राह्मण (गो० १ । १ । ३४-३६) तथा जैमिन्युपनिषद् ब्राह्मण (जै० उ० ४ । २७, २८) में बड़े सुन्दररूप में किया गया है । 'सवितृ' पद से 'अग्नि, वरुण, वायु यज्ञ, स्तनयित्नु, आदित्य, चन्द्र, मन, पुरुष' इनका ग्रहण है ॥ कौषीतकी-शतपथ-ऐतरेय-तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में भी इस मन्त्र का व्याख्यान किया है, सो वहां २ देख लें ॥

(ख) आचार्य दयानन्द ने इस मन्त्र का व्याख्यान पञ्चमहायज्ञविधि तथा वेदभाष्यादि में भी अनेक स्थानों में किया है सो पाठक वहां २ देख सकते हैं ॥ ३५ ॥

करके अच्छे २ गुण कर्म और स्वभाव में [सदा] प्रवृत्त करे, इस [प्रयोजन के] लिये, और प्रार्थना का मुख्य सिद्धान्त यही है कि जैसी प्रार्थना करनी, वैसा ही पुरुषार्थ से कर्म का आचरण भी करना चाहिये ॥ ३५ ॥

परि त इत्यस्य वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

स जगदीश्वरः कीदृश इत्युपदिश्यते[1]॥

परि॑ ते दू॒ड॒भो॒ रथो॒ऽस्माँ२ऽअ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑। येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑ ॥ ३६ ॥

परि॑। ते॒। दू॒ड॒भः॑। दु॒र्द॒भ इति॑ दुःऽद॒भः॑। रथः॑। अ॒स्मान्। अ॒श्नो॒तु॒। वि॒श्वतः॑॥ येन॑। रक्ष॑सि। दा॒शुषः॑ ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः। (ते) तव व्यापकेश्वरस्य। (दूडभः) दुःखेन दम्भितुं हिंसितुं योग्यः। अत्र दम्भुधातोः खल् प्रत्ययः। दुरोदाशनाशदभध्येषु उत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्। अ० ६। ३। १०६। एतत्सूत्रभाष्योक्तवार्त्तिकेन नकारलोपेन चास्य सिद्धिः। (रथः[2]) रयते जानाति येन स रथः[3]। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा रसतेर्वा। नि० ९। ११। (अस्मान्) भवदाज्ञासेवकान्। (अश्नोतु) अश्नुताम्, व्याप्नोतु। अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम्। (विश्वतः) सर्वतः। (येन) ज्ञानेन। (रक्षसि) पालयसि। (दाशुषः) विद्यादिदानकर्तॄन्॥ अयं मन्त्रः शत० २। ३। ४। ४०-४१ व्याख्यातः॥ ३६॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर! त्वं येन रथेन दाशुषो विश्वतो रक्षसि, स ते तव दूडभो रथो विज्ञानं विश्वतो रक्षितुमस्मान् पर्यश्नोतु सर्वतः प्राप्नोतु ॥ ३६॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वाभिरक्षकस्य परमेश्वरस्य विज्ञानस्य च प्राप्तये प्रार्थनापुरुषार्थौ नित्यं कर्त्तव्यौ। यतो रक्षिताः सन्तो वयमसद्विद्याऽधर्मादिदोषांस्त्यक्त्वा सद्विद्याधर्मादिशुभगुणान् प्राप्य सदा सुखिनः स्यामेति॥ ३६॥

वह परमेश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4]॥

१ प्रार्थनास्वरूपवर्णनप्रसङ्ग एवेश्वरं वर्णयति—

२ यौगिको ऽयं रथशब्दः। प्रमाणमत्र "त्राता रथो नवो योजि······ऋ० २। १८। १॥" रथो मनुष्य इति विशेषणात् सुस्पष्ट इति सायणभाष्यादौ द्रष्टव्यः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(दूडभः) पृषोदरादित्वात् साधुः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे मध्योदात्तत्वम्॥

(रथः) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २। २) इति नित्स्वरः। रयते रपते रसतेर्वा इति पक्षे छान्दसो धात्वन्तलोपः॥

(विश्वतः) पञ्चम्यास्तसिल् (अ० ५। ३। ७) इति 'तसिल्' प्रत्ययः। लिति (अ० ६। १। १९३) इति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तम्॥

(रक्षसि) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघाते प्राप्ते यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८। १। ६६) इति निघातप्रतिषेधे धातुस्वरेणाद्युदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया

३ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः॥ अर्थभेदेन मन्त्रोऽयमृग्वेदभाष्ये (ऋ० ४। ९। ८) व्याख्यातः॥ ३६॥

४ प्रार्थना का स्वरूप वर्णन करते हुए फिर ईश्वर का वर्णन करते हैं—

पदार्थः—हे जगदीश्वर! आप (येन) जिस ज्ञानसे (दाशुषः) विद्यादि दान करनेवाले विद्वानों को (विश्वतः) सब ओर से (रक्षसि) रक्षा करते [हो], और जो (ते) आपका (दूडभः) दुःख से भी नहीं नष्ट होने योग्य (रथः) सबको जानने योग्य विज्ञान सब ओर से रक्षा करने के लिये है, वह (अस्मान्) आपकी आज्ञा के सेवन करनेवाले हम लोगों को (परि) सब प्रकार (अश्नोतु) प्राप्त हो[1] ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को सबकी रक्षा करनेवाले परमेश्वर वा विज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रार्थना और अपना पुरुषार्थ नित्य करना चाहिये, जिससे हमलोग अविद्या अधर्म आदि दोषों को त्याग करके उत्तम २ विद्या धर्म आदि शुभ गुणों को प्राप्त होके सदा सुखी होवें ॥ ३६ ॥

भूर्भुवरित्यस्य वामदेव ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स जगदीश्वरः किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[2] ॥

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। नर्य प्रजां मे पाहि शᳬस्य पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ ३७ ॥

भूः। भुवः। स्वरिति स्वः। सुप्रजा इति सुऽप्रजाः। प्रजाभिरिति प्रऽजाभिः। स्याम्। सुवीर इति सुऽवीरः। वीरैः। सुपोष इति सुऽपोषः। पोषैः॥ नर्य। प्रजामिति प्रऽजाम्। मे। पाहि। शᳬस्य। पशून्। मे। पाहि। अथर्य। पितुम्। मे। पाहि ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(भूः) प्रियस्वरूपः प्राणः। (भुवः) बलनिमित्त उदानः। (स्वः) सर्वचेष्टानिमित्तो व्यानश्च, तैः सह। (सुप्रजाः) शोभना सुशिक्षासद्विद्यासहिता प्रजा यस्य सः। (प्रजाभिः)* अनुकूलैः स्त्र्यौरसविद्यासन्तानमित्रभृत्यराज्यपश्वादिभिः। (स्याम्) भवेयम्। (सुवीरः) शोभना वीराः शरीरात्मबलसहिता यस्य सः। (वीरैः) शौर्यधैर्यविद्याशत्रुनिवारणप्रजापालनकुशलैः। (सुपोषः) श्रेष्ठाः पोषाः पुष्टयो यस्य सः। (पोषैः) पुष्टिकारकैराप्तविद्याजनितैर्बोधयुक्तैर्व्यवहारैः। (नर्य) नीतियुक्तेषु नृषु साधुस्तत्संबुद्धौ, परमेश्वर! (प्रजाम्) सन्तानादिकाम्। (मे) मम (पाहि) सततं रक्ष। (शंस्य) शंसितुं सर्वथा स्तोतुमर्ह। (पशून्) गोऽश्वहस्त्यादीन्। (मे) मम। (पाहि) रक्ष। (अथर्य[3]) संशयरहित। थर्वतिश्चरतिकर्मा। निरु० ११। १८। थर्वति संशेते यः स थर्य्यो न थर्योऽथर्यस्त-

१ यहां अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥ अर्थभेद से मन्त्र का व्याख्यान ऋग्वेदभाष्य (अ० ४। ९। ८) में किया है ॥ ३६ ॥

२ प्रार्थनायाः फलमाह—

३ अतनवान् अथर्यं इत्यन्य आचक्षते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(भूः) 'भू सत्तायाम्' इति धातोः क्विपि धातुस्वरेणोदात्तः ॥

(भुवः) भूरञ्जिभ्यां कित् (उ० ४। २१७) इति 'असुन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(स्वः) पूर्वं (यजुः १। ११) पृष्ठ ६५ व्याख्यातः ॥

(सुप्रजाः) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः (अ० ५। ४। १२२) इति 'असिच्' समासान्तः। चितः (अ० ६। १। १६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(सुवीरः) वीरवीर्यौ च (अ० ६। २। १२०) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

* 'अनुकूलाभिः' इति अ० मुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥

त्संबुद्धौ । अत्र वर्णव्यत्ययेन वकारस्थाने यकारः । (पितुम्) अन्नम् । पितुरित्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (मे) मम । (पाहि)* रक्षय । अत्रोभयत्रान्तर्गतो ण्यर्थः ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ४ । १ । १–६ व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः[1]—हे नर्य त्वं कृपया मे मम प्रजां पाहि, मे मम पशून् पाहि । हे अथर्य मे मम पितुं पाहि । हे शंस्य जगदीश्वर भवत्कृपयाहं भूर्भुवः स्वः प्राणापानव्यानैर्युक्तः सन् प्रजाभिः सुप्रजा वीरैः सुवीरः पोषैः सह च सुपोषः स्यां नित्यं भवेयम् ॥ ३७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वरोपासनाज्ञापालनमाश्रित्य सुनियमैः पुरुषार्थेन श्रेष्ठप्रजावीरपुष्ट्यादिकारणैः प्रजापालनं कृत्वा नित्यं सुखं संपादनीयम् ॥ ३७ ॥

फिर उस जगदीश्वर की प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः[3]—हे (नर्य) नीतियुक्त मनुष्यों पर कृपा करनेवाले परमेश्वर ! आप कृपा करके (मे) मेरी (प्रजाम्) पुत्र आदि प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिए, वा (मे) मेरे (पशून्) गौ घोड़े हाथी आदि पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये । हे (अथर्य) संदेह रहित जगदीश्वर ! आप (मे) मेरे (पितुम्) अन्न की (पाहि) रक्षा कीजिये । हे (शंस्य) स्तुति करने योग्य ईश्वर ! आपकी कृपा से मैं (भूर्भुवः स्वः) जो प्रियस्वरूप प्राण, बल का हेतु उदान तथा सब चेष्टादि व्यवहारों का हेतु व्यानवायु है, उनके साथ युक्त होके (प्रजाभिः) अपने अनुकूल स्त्री पुत्र विद्या धर्म मित्र भृत्य पशु आदि पदार्थों के साथ (सुप्रजाः) उत्तम विद्या धर्मयुक्त प्रजासहित वा, (वीरैः) शौर्य, धैर्य, विद्या, शत्रुओं के निवारण, [तथा] प्रजा के पालन में कुशलों के साथ (सुवीरः) उत्तम शूरवीरयुक्त और (पोषैः) पुष्टिकारक पूर्णविद्या से उत्पन्न हुए व्यवहारों के साथ (सुपोषः) उत्तम पुष्टि उत्पादन करनेवाला (स्याम्) नित्य होऊँ ॥ ३७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ईश्वर की उपासना वा उसकी आज्ञा के पालन का आश्रय लेकर उत्तम २ नियमों से वा उत्तम प्रजा, शूरता, पुष्टि आदि कारणों से प्रजा का पालन करके निरन्तर सुखों को सिद्ध करना चाहिये ॥ ३७ ॥

(वीरैः) स्फायितञ्चि० (उ० २ । १३) इति 'रक्' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्ते विभक्तिरनुदात्ता । एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तः ॥

(सुपोषः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६ । २ । ११९) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(पोषैः) घञन्तत्वादाद्युदात्तः ॥

(नर्य) 'नर' शब्दात् तत्र साधुः (अ० ४।४।९८) इति यत् प्रत्ययः । तत आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तत्वम् । पदार्थे 'नृषु' इत्यर्थप्रदर्शनपरम् ॥

(शंस्य) (अथर्य) असमानवाक्यत्वादत्रापि पूर्ववत् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥ ३७ ॥

२ प्रार्थना का फल कहते हैं—

३ यहां अन्वय अध्यात्मपरक है ॥ ३७ ॥

---

* 'रक्षय' इति क पाठः । 'रक्ष' इति ख. ग. अ. मुद्रिते च पाठः । अस्मिन् पाठे 'अत्रोभयत्रान्तर्गतो ण्यर्थः' इति पाठो ऽसङ्गतः स्यात् ॥

आगन्मेत्यस्यासुरिर्ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

अथाग्निशब्देनेश्वरभौतिकावर्थावुपदिश्येते[1] ॥

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्। अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ॥ ३८ ॥

आ। अगन्म। विश्ववेदसमिति विश्वऽवेदसम्। अस्मभ्यम्। वसुवित्तममिति वसुवित्ऽतमम्। अग्ने। सम्राडिति सम्ऽराट्। अभि। द्युम्नम्। अभि। सहः। आ। यच्छस्व ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात्। (अगन्म) प्राप्नुयाम। अत्र लिङर्थे लुङ्, मन्त्रे घसह्वर० (अ० २।४।८०) इति च्लेर्लुक्। म्वोश्च। अ० ८।२।६५। इति मकारस्य नकारः। (विश्ववेदसम्) यो विश्वं वेत्ति स विश्ववेदाः परमेश्वरः, विश्वं सर्वं सुखं वेदयति प्रापयति स भौतिकोऽग्निर्वा। अत्र विदिभुजिभ्यां विश्वे। उ० ४। २३८। अनेनासिः प्रत्ययः। (अस्मभ्यम्) उपासकेभ्यो यज्ञानुष्ठातृभ्यो वा। (वसुवित्तमम्) वसून् पृथिव्यादिलोकान् वेत्ति सोतिशयितस्तम्, पृथिव्यादिलोकान् वेदयति सूर्यरूपेणाग्निरेतान् प्रकाश्य प्रापयति स वसुवित्, अतिशयेन वसुविदिति वसुवित्तमो वा तम्। (अग्ने) विज्ञानस्वरूपेश्वर, विज्ञापको भौतिको वा। (सम्राट्) यः सम्यग्राजते प्रकाशते सः। (अभि) आभिमुख्ये। (द्युम्नम्) प्रकाशकारकमुत्तमं यशः। द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा। निरु० ५।५। (अभि) आभिमुख्ये। (सहः) उत्तमं बलम्। सह इति बलनामसु पठितम्। निघ० २।९। (आ) समन्तात्। (यच्छस्व) विस्तारय विस्तारयति वा। अत्र पक्षे लडर्थे लोट्। आङो यमहनः। अ० १।३।२८। अनेनात्मनेपदम्[2]। आङ्पूर्वको 'यम' धातुर्विस्तारार्थे॥ अयं मन्त्रः शत० २।४।१।७, ८ व्याख्यातः ॥ ३८ ॥

---

१ ईश्वररूपाग्नेः प्रार्थनीयत्वमुपवर्ण्य पुनः श्लेषेणोभावर्थौ प्रदर्शयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(विश्ववेदसम्) विदिभुजिभ्यां विश्वे (उ० ४। २३८) इति 'असिः' प्रत्ययः। 'पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इत्यनुवर्त्तते, तेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरे अशिप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् (उ० १। १५१) इति 'विश्व' शब्दः क्वन्प्रत्ययान्तः, तस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

यद्वा विदिभुजिभ्यां विश्वे (उ० ४। २३८) इत्यत्र प्रत्ययसन्नियोगेनोपपदस्यान्तोदात्तत्वमपि निपात्यते ॥

ये त्वत्र बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदमिति वदन्ति तदयुक्तम्। उणादिसूत्रेणैव पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वस्य विधानात्। बहुव्रीहिपक्षे तु बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६। २। १०६) इत्यनेनैव सर्वेष्टसिद्धेश्च ॥

(वसुवित्तमम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः, पित्त्वात्तमपोऽनुदात्तत्वम् ॥

(सम्राड्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरप्राप्तौ आमन्त्रितस्य च (अ० ८। १। १९) इति सर्वनिघातः। आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८। १। ७२) इत्यविद्यमानत्वे प्राप्ते नामन्त्रिते समानाधिकरणे (अ० ८। १। ७३) इति तन्निषेधे सर्वनिघातः ॥

(द्युम्नम्) रास्नासास्नास्थूणावीणाद्युम्न० (भो० उणा० २। २। १८४) इत्यादिना 'द्युत दीप्तौ' (भ्वा० आ०) इत्यस्मात् 'न' प्रत्ययो मकारश्चान्तादेशो निपात्यते। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(सहः) 'षह मर्षणे' (भ्वा० आ०) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८९) इति 'असुन्' प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ आङो यमहनः (अ० १। ३। २८) इति सूत्रे 'अकर्मकात्' इति वर्तते। अत्र च 'द्युम्नं' 'सहः' इति कर्मणी वर्तेते। अतश्छान्दसत्वादत्रात्मनेपदमित्यपि बोध्यम् ॥

अन्वयः—हे सम्राडग्ने जगदीश्वर ! त्वमस्मभ्यं द्युम्नं सहश्चाभ्यायच्छस्व विस्तारय, एतदर्थं वयं वसुवित्तमं विश्ववेदसं त्वामभ्यागन्म प्राप्नुयाम ॥ इत्येकः ॥

यः सम्राडग्नेऽयमग्निरस्मभ्यं [द्युम्नम्] सहश्चा [भ्यायच्छस्वा] भ्यायच्छति सर्वतो विस्तारयति, तं वसुवित्तमं विश्ववेदसमग्निं वयमभ्यागन्म प्राप्नुयाम ॥ इति द्वितीयः ॥ ३८ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः[२] ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरभौतिकाग्न्योर्गुणविज्ञानेन तदनुसारानुष्ठानेन सर्वतः कीर्त्तिबले नित्यं विस्तारणीये इति ॥ ३८ ॥

अब अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि का उपदेश किया है[३] ॥

पदार्थः—हे (सम्राट्) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) जगदीश्वर ! आप (अस्मभ्यम्) उपासना करनेवाले हम लोगों के लिये (द्युम्नम्) प्रकाशस्वरूप उत्तम यश वा (सहः) उत्तम बलको (अभ्यायच्छस्व) सब ओर से विस्तारयुक्त करते हो, इसलिये हमलोग (वसुवित्तमम्) पृथिवी आदि लोकों के जानने वा (विश्ववेदसम्) सब सुखों के जानने वाले आपको (अभ्यागन्म) सब प्रकार प्राप्त होवें। *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ]* ॥

जो यह (सम्राट्) प्रकाश होने वाला (अग्ने) भौतिक अग्नि (अस्मभ्यम्) यज्ञके अनुष्ठान करने वाले हम लोगों के लिये (द्युम्नम्) उत्तम २ यश वा (सहः) उत्तम २ बलको (अभ्यायच्छस्व) सब प्रकार विस्तारयुक्त करता है, उस (वसुवित्तमम्) पृथिवी आदि लोकों को सूर्यरूप से प्रकाश करके प्राप्त कराने वा (विश्ववेदसम्) सब सुखों को † प्राप्त कराने वाले अग्नि को हम लोग (अभ्यागन्म) सब प्रकार प्राप्त होवें[४]। *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ ३८ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है[५] ॥

भावार्थः—मनुष्यों को परमेश्वर वा भौतिक अग्नि के गुणों को जानने वा उसके अनुसार अनुष्ठान करने से कीर्ति यश और बल का विस्तार करना चाहिये ॥ ३८ ॥

अयमग्निरित्यस्यासुरिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिग्बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथेश्वरभौतिकावग्नी उपदिश्येते[६] ॥

---

१ अधियज्ञान्तर्भूत एवाधिदैविकार्थ इति त्रिविधार्थपरोऽयमन्वयः ॥

२ श्लेषालङ्कारेण द्विविधोऽर्थोऽत्र प्रदर्शितो भवति ॥३८॥

३ ईश्वररूप अग्नि प्रार्थना करने योग्य है, यह दर्शा कर पुनः श्लेषालङ्कार से दोनों अर्थ दर्शाते हैं ॥

४ अधियज्ञ अर्थ के अन्तर्गत आधिदैविक के भी होने से यहां अन्वय तीनों प्रक्रियाओं में संघटित हो रहा है ॥

५ श्लेषालङ्कार से दोनों प्रकार का अर्थ यहां दिखाया है ॥ ३८ ॥

६ पूर्ववद् ॥

† 'जानने' इति क. ख. ग. पाठः ॥

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह ऽ आयच्छस्व ॥ ३९ ॥

अयम् । अग्निः । गृहपतिरिति गृहऽपतिः । गार्हपत्य इति गार्हऽपत्यः । प्रजाया इति प्रऽजायाः । वसुवित्तम इति वसुवित्ऽतमः ॥ अग्ने । गृहपत इति गृहऽपते । अभि । द्युम्नम् । अभि । सहः । आ । यच्छस्व ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(अयम्) प्रत्यक्षो वक्ष्यमाणः । (अग्निः) ईश्वरो विद्युत् सूर्यो ज्वालामयो भौतिको वा । (गृहपतिः) गृहाणां स्थानविशेषाणां पतिः पालनहेतुः । (गार्हपत्यः) गृहपतिना संयुक्तः। अत्र गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः । अ० ४ । ४ । ९० । अनेन ञ्यः प्रत्ययः । इदं पदं महीधरादिभि[1]र्व्याकरणज्ञानविरहत्वात्, गृहस्य पतिः पालक इत्यशुद्धं व्याख्यातम् । (प्रजायाः[2]) विद्यमानायाः । (वसुवित्तमः) यो वसूनि द्रव्याणि वेदयति, प्रापयति* सोऽतिशयितः । (अग्ने) अयमग्निः (गृहपते) गृहाभिरक्षकेश्वर, गृहाणां पालयिता वा । (अभि) अभितः । (द्युम्नम्) सुखप्रकाशयुक्तं धनम् । द्युम्नमिति धननामसु पठितम् । निघ० । २ । १० । (अभि) आभिमुख्ये । (सहः) उदकं बलं वा । सह इत्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । बलनामसु च । निघ० २ । ९ । (आ) समन्तात् क्रियायोगे । (यच्छस्व) सर्वतो देहि † आयच्छते, विस्तारयति वा, अत्र पक्षे व्यत्ययः, सिद्धिश्च पूर्ववत् ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ४ । १ । ९-११ व्याख्यातः ॥ ३९ ॥

अन्वयः[3]—हे गृहपतेऽग्ने परमात्मन् ! योऽयं भवान् गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमोऽग्निरस्ति, तस्मात् त्वमस्मदर्थं द्युम्नमभ्यायच्छस्व सहश्चाभ्यायच्छस्व ॥ इत्येकः ॥

यस्माद् गृहपतिः प्रजाया वसुवित्तमो गार्हपत्योऽयमग्निरस्ति, तस्मात् स [गृहपतेऽग्ने] ऽभिद्युम्नं सहश्चा [भ्यायच्छस्व] भ्यायच्छति आभिमुख्येन समन्तात् विस्तारयतीति द्वितीयः ॥ ३९ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः[4] ॥

भावार्थः—गृहस्थैर्यदेश्वरमुपास्यैतस्याज्ञायां वर्त्तित्वायमग्निः कार्यसिद्धये संयोज्यते, तदानेकविधे धनबले अत्यन्तं विस्तारयति । कुतः ? प्रजाया मध्येऽस्याग्नेः पदार्थप्राप्तये साधकतमत्वादिति ॥ ३९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया ॥

(गृहपतिः) पत्यावैश्वर्ये (अ० ६ । २ । १८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे 'गृह' शब्दो गेहे कः (अ० ३ । १ । १४४) इति 'क' प्रत्ययेऽन्तोदात्तः ॥
(गार्हपत्यः) ञित्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ महीधरेण 'गार्हपत्य एतन्नामकोऽग्निर्गृहस्य पतिः पालकः' इत्युक्तम् । यदि गृहस्य पतिः गार्हपत्यस्यार्थे तदैवायं दोषः । तदास्य सिद्धौ गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः (अ० ४ । ४ । ९०) इति सूत्रं न प्रदर्शितमित्येवात्राभिप्रेतं स्यात् । अन्यथा 'गृहपतिः' इत्यस्य व्याख्याने तु न काचन क्षतिरिति ध्येयम् ॥
२ अत्र चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ॥
३ अधियज्ञोऽप्याधिदैविकान्तर्भूत एवेति त्रिविधोऽप्यर्थोऽत्रावगन्तव्यः ॥
४ श्लेषालङ्कारेण द्विविधोऽर्थोऽत्र प्रदर्शितो भवति ॥ ३९ ॥

* 'सोऽतिशयितः सः' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥
† 'आयच्छति' इति अ, मु. पाठः ॥ अस्मिन् विषये यद्वक्तव्यं तत् पूर्वमन्त्रविवरणे द्रष्टव्यम् ।

अब अगले मन्त्र में ईश्वर और भौतिक अग्नि का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (गृहपते) घर के पालन करनेवाले (अग्ने) परमेश्वर ! जो (अयम्) यह [आप] (गृहपतिः) स्थानविशेषों के पालन [के] हेतु (गार्हपत्यः) घरके पालन करनेवालों के साथ संयुक्त (प्रजाया वसुवित्तमः) प्रजा के लिये सब प्रकार धन प्राप्त करानेवाले [(अग्निः) प्रकाशस्वरूप] हैं सो आप (द्युम्नम्) सुख और प्रकाश से युक्त धन को (अभ्यायच्छस्व) अच्छी प्रकार दीजिये, तथा (सहः) उत्तम बल पराक्रम [(अभि)] अच्छी प्रकार दीजिये[2]। [*यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ*] ॥

जिस कारण (गृहपतिः) उत्तम स्थानों के पालन का हेतु (प्रजायाः) पुत्र, मित्र, स्त्री और भृत्य आदि प्रजाको (वसुवित्तमः) द्रव्यादिको प्राप्त कराने वा (गार्हपत्यः) गृहों के पालन करानेवालों के साथ संयुक्त (अयम्) यह (अग्निः) बिजुली सूर्य वा प्रत्यक्षरूप अग्नि है, इससे वह (गृहपते) घरों का पालन करनेवाला (अग्ने) अग्नि हम लोगों के लिये (अभिद्युम्नम्) सब ओर से उत्तम २ धन वा (सहः) उत्तम २ बलों को (अभ्यायच्छस्व) सब प्रकार से विस्तारयुक्त करता है। [*यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ*] ॥ ३९ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार[3] है ॥

भावार्थः—गृहस्थ लोग जब ईश्वर की उपासना और उसकी आज्ञा में प्रवृत्त होके कार्य की सिद्धि के लिये इस अग्नि को संयुक्त करते हैं, तब वह अग्नि अनेक प्रकार के धन और बलों को विस्तारयुक्त करता है, क्योंकि यह प्रजा में पदार्थों की प्राप्ति के लिये अत्यन्त सिद्धि करनेहारा है ॥ ३९ ॥

अयमग्निः पुरीष्य इत्यस्यासुरिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्भौतिकेश्वरौ कीदृशावित्युपदिश्यते[4] ॥*

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः । अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ॥ ४० ॥

अयम् । अग्निः । पुरीष्यः । रयिमानिति रयिऽमान् । पुष्टिवर्धन इति पुष्टिऽवर्धनः ॥ अग्ने । पुरीष्य । अभि । द्युम्नम् । अभि । सहः । आ । यच्छस्व ॥ ४० ॥

१ पूर्ववत् ॥

२ अधियज्ञ अर्थ आधिदैविक के अन्तर्गत होने से तीनों अर्थों की योजना यहाँ कर लेनी चाहिये ॥

३ श्लेषालङ्कार से दोनों अर्थ यहाँ दर्शाये हैं ॥ ३९ ॥

४ प्रकारान्तरेणेश्वरभौतिकयोः स्वरूपमेव वर्णयन्नाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पुरीष्यः) तित् स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८५) इति स्वरितः ॥

(रयिमान्) 'री गतिरेषणयोः' (क्र्या० प०) अच इः (उ० ४ । १३९) इति 'इ' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तस्ततो मतुपोऽनुदात्तत्वे ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६ । १ । १७६) इति मतुप उदात्तत्वम् ॥

(पुष्टिवर्द्धनः) षष्ठीसमासे छान्दसत्वादेवेष्टस्वरसिद्धिः । यद्वा यथापूर्वं अ० ३ । २९ भाष्ये व्युत्पाद्यते । तत्र कर्त्तरि नन्द्यादित्वाद् (अ० ३ । १ । १३४) ल्युः । गतिकारकोपपदा० (अ० ६ । २ । १३९) इति कृत्स्वरेणोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वे 'ध' कार उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

* भौतिकोऽग्निः कीदृशः' इति अ० मुद्रितपाठः । स च क, ख, ग, सर्वत्रानुपलब्धश्चेत्यपपाठः ॥

पदार्थः—(अयम्) वक्ष्यमाणलक्षणः । (अग्निः) पूर्वोक्तो भौतिकः । (पुरीष्यः) ✻ पृणन्ति यानि कर्माणि तानि पुरीषाणि, तेषु साधुः । (रयिमान्) प्रशस्ता रययो धनानि विद्यन्ते यस्मिन् सः । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । रयिरिति धननामसु पठितम् । निघ० २ । १० । (पुष्टिवर्द्धनः) वर्द्धयतीति वर्द्धनः पुष्टेर्वर्द्धनः पुष्टिवर्द्धनः । (अग्ने) सर्वोत्तमपदार्थप्रापकेश्वर ! (पुरीष्य) पृणन्ति पूरयन्ति सुखानि यैर्गुणैस्ते पुरीषास्तेषु साधुस्तत्संबुद्धौ । ✻✻ (अभि) अभितः । (द्युम्नम्) विज्ञानसाधकं धनम् । (अभि) आभिमुख्ये । (सहः) शरीरात्मबलम् । (आ) समन्तात् क्रियायोगे । (यच्छस्व) विस्तारय । अस्य सिद्धिः पूर्ववत् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे पुरीष्याग्ने जगदीश्वर* योऽयं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनोऽग्निरस्ति, तस्माद् [स्मभ्यम्]-मिद्युम्नमभिसहो वायच्छस्व विस्तारय ॥ ४० ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरानुग्रहस्वपुरुषार्थाभ्यामग्निविद्यां प्राप्यानेकविधं धनं बलं च सर्वतो विस्तारणीयमिति ॥ ४० ॥

---

† फिर वह ईश्वर और भौतिक अग्नि कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः[३]—हे (पुरीष्य) कर्मों के पूर्ण करने में अतिकुशल (अग्ने) उत्तम से उत्तम पदार्थों के प्राप्त करानेवाले * जगदीश्वर ! आप जो (अयम्) यह (पुरीष्यः) सब सुखों के पूर्ण करने में + अत्युत्तम (रयिमान्) उत्तम २ धनयुक्त (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टि को बढ़ानेवाला (अग्निः) भौतिक अग्नि है, उससे हम लोगों के लिये (अभिद्युम्नम्) उत्तम २ ज्ञान को सिद्ध करनेवाले धन वा (अभिसहः) उत्तम २ शरीर और आत्मा के बलों को (आयच्छस्व) सब प्रकार से विस्तारयुक्त कीजिये ॥ ४० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को परमेश्वर की कृपा वा अपने पुरुषार्थ से अग्निविद्या को संपादन करके अनेक प्रकार के धन और बलों को विस्तारयुक्त करना चाहिये ॥ ४० ॥

---

१ आध्यात्मिकार्थस्तु स्पष्टोऽन्वये वर्तते, आधिदैविकान्तर्भूतोऽधियज्ञार्थोऽपीति ध्येयम् ॥

अत्र मन्त्रसंगतौ 'पुनर्भौतिकेश्वरौ कीदृशौ' इति निर्देशेऽपि श्लेषालंकारः कुतो नेति चेद् यत्र सकृत् पठितस्यैव शब्दस्य श्लेषेणार्थद्वयं त्र्यं वा प्रदर्श्यते, तत्रैव श्लेषालङ्कारो भवति । इह तु मन्त्रेऽग्निपदस्य द्विः पाठे एकस्येश्वरार्थोऽपरस्य च भौतिकार्थः प्रदर्शितः, न तु सकृत्पठितस्य ॥

वि० वक्तव्यम्

मन्त्रोऽयं शतपथब्राह्मणे, कात्यायनश्रौतसूत्रादौ चाविनियुक्तः । अग्रेऽपि य० ३ । ४३ पर्यन्तमविनियुक्ता इत्यपि ध्येयम् ॥ ४० ॥

२ प्रकारान्तर से ईश्वर और भौतिक अग्नि का स्वरूपवर्णन करते हुए कहा—

३ आध्यात्मिक अर्थ तो स्पष्ट है, आधिदैविक के अन्तर्भूत अधियज्ञार्थ भी है ॥

✻ इतोऽग्रे अ. मु. कोशेषु च 'ये पृणन्ति' इति पाठः ॥

✻✻ '(अभि) अभितः (द्युम्नम्) विज्ञानसाधकं धनम्' इति पाठः क. ख. हस्तलेखयोर्वर्तमानोऽपि 'ग' कोशे लेखकप्रमादेन त्यक्तः ॥

* अत्र 'विद्वंस्त्वं' इति अ० मुद्रितपाठः । स च क. ख. ग कोशेषु, नास्त्येव तथैव भाषापदार्थेऽपि ॥

† 'फिर भौतिक अग्नि कैसा है' इति अ. मु. कोशेषु च पाठः । स च सर्वहस्तलेखानां संस्कृतपाठविरोधादपपाठ एव ॥ + 'कुशल' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥

गृहा मेत्यस्यासुरिर्ऋषिः । § वास्तुपतिरग्निर्देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ गृहाश्रमानुष्ठानमुपदिश्यते[1] ॥

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत ऽ एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ४१ ॥

गृहाः । मा । बिभीत । मा । वेपध्वम् । ऊर्जम् । बिभ्रतः । आ । इमसि ॥ ऊर्जम् । बिभ्रत् । वः । सुमना इति सुऽमनाः । सुमेधा इति सुऽमेधाः । गृहान् । आ । एमि । मनसा । मोदमानः ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(गृहाः) गृह्णन्ति ब्रह्मचर्याश्रमानन्तरं गृहाश्रमं ये मनुष्यास्तत्संबुद्धौ । (मा) निषेधार्थे । (विभीत) भयं कुरुत । (मा) प्रतिषेधे । (वेपध्वम्) कम्पध्वम् । (ऊर्जम्) पराक्रमम् । (बिभ्रतः) धारयन्तः । (आ) समन्तात् । (इमसि) प्राप्नुमः । अत्र इदन्तो मसिः [अ० ७ । १ । ४६] इतीदादेशः । (ऊर्जम्) अनेकविधं बलम् । (बिभ्रत्) धारयन् । (वः) युष्मान् । (सुमनाः) शोभनं मनो विज्ञानं यस्य सः । (सुमेधाः) सुष्ठु मेधा धारणावती संगमिका धीर्यस्य सः । (गृहान्) गृहाश्रमस्थान् विदुषः । (आ) समन्तात् । (एमि) प्राप्नुयाम् । अत्र लिङर्थे लट् । (मनसा) विज्ञानेन । (मोदमानः) हर्षोत्साहयुक्तः ॥ एतदादिमन्त्रत्रयम् शत० २ । ४ । १ । १४ व्याख्यातम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः[2]—हे ब्रह्मचर्येण※ कृतविद्या गृहा गृहाश्रमिणो मनुष्या ऊर्जं बिभ्रतो यूयं गृहाश्रमं प्राप्नुत, तदनुष्ठानान्मा बिभीत मा वेपध्वं च । ऊर्जं बिभ्रतो वयं युष्मान् गृहानिमसि समन्तात् प्राप्नुमः । वो युष्माकं

वि० वक्तव्य

इस मन्त्र का विनियोग शतपथब्राह्मण तथा कात्यायनश्रौतसूत्रादि में नहीं है । आगे भी य० ३ । ४३ तक मन्त्रों का विनियोग नहीं । यह बात ध्यान से विचारने योग्य है ॥ ४० ॥

---
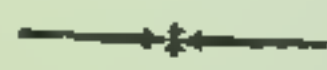
[1] गृहाश्रमस्थस्यैवाग्निकर्मण्यधिकाराद् गृहाश्रमावश्यकतामाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया ॥

(गृहाः) ग्रहधातोः गेहे कः (अ० ३ । १ । १४४) इति कः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, तत आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तः ॥

(मा) निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्युदात्तः॥

(बिभीत) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(बिभ्रतः) (बिभ्रत्) अभ्यस्तानामादिः (अ० ६ । १ । १८९) इत्यभ्यस्तस्यादिः 'बि' उदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(सुमनाः) सोर्मनसी अलोमोषसी (अ० ६।२ । ११७) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(सुमेधाः) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः (अ० ५ । ४ ।१२२) इति 'असिच्' समासान्तः । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । यद्वा 'नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(मनसा) मन्यतेऽनेनेति मनः, सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९), नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(मोदमानः) तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्ल० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[2] अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥

---

§ 'वास्तुपतिः' इति क पाठः । ख. ग अ. मु. च 'पति' इति प्रमादात्त्यक्तः ॥

※ कृतविद्या गृहाश्रमिण ऊर्जं बिभ्रतो गृहा मनुष्या यूयं' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च वर्तते । कोशेषु 'गृहाश्रमिणः' इति पदं नास्ति । अस्माभिः 'गृहा मनुष्याः' इति द्वे पदे सुस्थाने स्थापिते ॥

मध्ये स्थित्वैवं गृहाश्रमे वर्तमानः सुमनाः सुमेधा मनसा मोदमान ऊर्जं बिभ्रत् सन्नहं सुखान्यैमि नित्यं प्राप्नुयाम् ॥४१॥

भावार्थः—मनुष्यैः पूर्णब्रह्मचर्याश्रमं संसेव्य, युवावस्थायां स्वयंवरविधानेन स्वतुल्यस्वभावविद्यारूपबलवतीं सुपरीक्षितां स्त्रीमुद्वाह्य, शरीरात्मबलं संपाद्य, सन्तानोत्पत्तिं विधाय, सर्वैः साधनैः सद्व्यवहारेषु स्थातव्यम्। नैव केनापि गृहाश्रमानुष्ठानात् कदाचिद् भेतव्यं कम्पनीयं च। कुतः? सर्वेषां सद्व्यवहाराणामाश्रमाणां च गृहाश्रमो मूलमस्त्यत एष सम्यगनुष्ठातव्यः। नैतेन विना मनुष्यवृद्धी राज्यसिद्धिश्च जायते ॥ ४१ ॥

अब अगले मन्त्र में गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मचर्याश्रम से सब विद्याओं को ग्रहण‡ किये (गृहाः) गृहाश्रमी मनुष्यो! (ऊर्जम्) शौर्यादि पराक्रमों को (बिभ्रतः) धारण करते हुये तुम गृहस्थाश्रम को यथावत् प्राप्त होओ, उस गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान से (मा बिभीत) मत डरो, तथा (मा वेपध्वम्) मत कांपो, तथा पराक्रमों को धारण किये हुए हम लोग (गृहान्) गृहस्थाश्रम को प्राप्त हुए तुम लोगों को (आ इमसि) नित्य प्राप्त होते रहें, और (वः) तुम लोगों में स्थित होकर इस प्रकार गृहस्थाश्रम में वर्तमान (सुमनाः) उत्तम ज्ञान (सुमेधाः) उत्तमबुद्धियुक्त (मनसा) विज्ञान से (मोदमानः) हर्ष उत्साहयुक्त (ऊर्जम्) अनेक प्रकार के बलों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ मैं अत्यन्त सुखों को [(आ)] (एमि) निरन्तर प्राप्त होऊं ॥ ४१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को पूर्ण ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करके, युवावस्था में स्वयंवर के विधान की रीति से अपने तुल्य स्वभाव विद्या रूप बुद्धि और बल आदि † गुणों वाली सुपरीक्षित स्त्री से विवाह कर, तथा शरीर आत्मा के बल को सिद्ध कर, और पुत्रों को उत्पन्न करके सब साधनों से अच्छे[2] व्यवहारों में स्थित रहना चाहिये। तथा किसी मनुष्य को गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान से भय नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह गृहस्थाश्रम सब अच्छे व्यवहार वा सब आश्रमों का मूल है। इससे इस गृहस्थाश्रम का अनुष्ठान अच्छे प्रकार से करना चाहिये और इस गृहस्थाश्रम के बिना मनुष्यों की वा राज्यादि व्यवहारों की सिद्धि कभी नहीं होती ॥ ४१ ॥

येषामित्यस्य शंयुर्ऋषिः। वास्तुपतिरग्निर्देवता। अनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

* *पुनः स गृहाश्रमः कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते*[3] ॥

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः। गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ॥ ४२ ॥

त्रि० वक्तव्यम्

अविनियुक्तोऽयमपि शतपथादौ पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

त्रि० व०

पूर्ववत् इस मन्त्र का विनियोग भी शतपथ आदि में नहीं है ॥ ४१ ॥

१ अग्निकर्म में गृहस्थ का ही अधिकार है, अतः गृहस्थाश्रम की आवश्यकता दर्शाते हैं—

२ यहां अन्वय में अध्यात्म अर्थ दर्शाया है ॥

३ पूर्ववद् ॥

‡ 'किये गृहाश्रम तथा (ऊर्जम्)......(बिभ्रतः) धारण किये हुये (गृहाः) ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर अर्थात् गृहाश्रम को प्राप्त होने की इच्छा करते हुये मनुष्यो' इति अ. मु. कोशेषु च पाठः। कारणं संस्कृतटिप्पण्यां द्रष्टव्यम् ॥

† 'गुणों को देखकर विवाह' इति अ. मु. कोशेषु च पाठः ॥

* 'पुनस्ते गृहाश्रमिणः कीदृशाः सन्तीत्युपदिश्यते' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः। क. ख. ग. सर्वकोशेषु 'पुनः स गृहाश्रमः कीदृशो ऽस्तीत्युपदिश्यते' इत्येव पाठ उपलभ्यते ॥

येषा॑म् । अ॒ध्येतीत्य॑धि॒ऽएति॑ । प्र॒वस॒न्निति॑ प्र॒ऽवस॑न् । येषु॑ । सौम॑न॒सः । ब॒हुः ॥ गृ॒हान् । उप॑ । ह्व॒या॒म॒हे॒ । ते । नः॒ । जा॒न॒न्तु॒ । जा॒न॒तः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(येषाम्) गृहस्थानाम् । अत्र अधीगर्थदयेशां कर्मणि अ० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । (अध्येति) स्मरति । (प्रवसन्) प्रवासं कुर्वन् । (येषु) गृहस्थेषु । (सौमनसः) शोभनं मनः सुमनस्तस्यायमानन्दः सुहृद्भावः । अत्र तस्येदम् [अ० ४ । ३ । १२०] इत्यण् (बहुः) अधिकः । (गृहान्) गृहस्थान् (उप) सामीप्ये । (ह्वयामहे) शब्दयामहे । (ते) गृहस्थाः । (नः) अस्मान् प्रवसतोऽतिथीन् । (जानन्तु) विदन्तु । (जानतः) धार्मिकान् विदुषः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—प्रवसन्नतिथिर्येषामध्येति येषु बहुः सौमनसोऽस्ति, तान् [गृहान्] गृहस्थान् वयमतिथय उपह्वयामहे । ये सुहृदो गृहस्थास्ते जानतो नोऽस्मानतिथीन् जानन्तु ॥ ४२ ॥

भावार्थः—गृहस्थैः सर्वैर्धार्मिकैर्विद्वद्भिरतिथिभिः सह, गृहस्थैः सहातिथिभिश्चात्यन्तः सुहृद्भावो रक्षणीयो नैव दुष्टैः सह, तेषां सङ्गे परस्परं संलापं कृत्वा विद्योन्नतिः कार्या । ये परोपकारिणो विद्वांसोऽतिथयः सन्ति, तेषां गृहस्थैर्नित्यं सेवा कार्या नेतरेषामिति ॥ ४२ ॥

फिर वह गृहस्थाश्रम कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[१] ॥

पदार्थः—(प्रवसन्) प्रवास करता हुआ अतिथि (येषाम्) जिन गृहस्थों का (अध्येति) स्मरण करता वा (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) अधिक (सौमनसः) प्रीतिभाव है, उन (गृहान्) गृहस्थों की हम अतिथिलोग (उपह्वयामहे) नित्य प्रति प्रशंसा करते हैं । जो प्रीति रखनेवाले गृहस्थ लोग हैं (ते) वे (जानतः) जानते हुए (नः) हम धार्मिक अतिथिलोगों को (जानन्तु) यथावत् जानें[३] ॥ ४२ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अध्येति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधः । उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २ । २ । १८ भा०) इति समासः । तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इत्युपसर्गस्यानुदात्तत्वे धातुस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(प्रवसन्) 'वसन्' शब्दः तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्ल० (अ० ६ । १ । १८६) इति शतुरनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः । ततः कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति समासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे मध्योदात्तत्वम् ॥

(सौमनसः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(जानतः) शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इत्यन्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्माधियज्ञपरोऽत्रान्वयः ॥

वि० वक्तव्यम्

अविनियुक्तोऽयमपि पूर्ववत् ॥ ४२ ॥

२ पूर्ववत् ॥

३ इस अन्वय में अध्यात्म तथा अधियज्ञपरक अर्थ दर्शाया है ॥

वि० व०

पूर्व की भाँति इस मन्त्र का विनियोग भी शतपथब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र आदि में नहीं ॥ ४२ ॥

भावार्थः—गृहस्थों को सब धार्मिक अतिथि लोगों के [साथ] वा अतिथि लोगों को गृहस्थों के साथ अत्यन्त प्रीति रखनी चाहिये, दुष्टों के साथ नहीं। तथा उन विद्वानों के संग से परस्पर वार्तालाप कर विद्या की उन्नति करनी चाहिये, और जो परोपकार करने वाले विद्वान् अतिथि लोग हैं, उनकी सेवा गृहस्थों को निरन्तर करनी चाहिये, औरों की नहीं ॥ ४२ ॥

उपहूता इत्यस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः। वास्तुपतिर्देवता। भुरिग्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स कीदृशः संपादनीय इत्युपदिश्यते[1] ॥

उप॑हूताऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑हूताऽअ॒जाव॑यः। अथो॒ऽअन्न॑स्य की॒लाल॒ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः।
क्षेमा॑य व॒: शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः ॥ ४३ ॥

उप॑हूता॒ इत्युप॑ऽहूताः। इ॒ह। गावः॑। उप॑हूता॒ इत्युप॑ऽहूताः। अ॒जाव॑यः॥ अथो॒ऽइत्यथो॑। अन्न॑स्य। की॒लाल॑ः। उप॑हूत॒ इत्युप॑ऽहूतः। गृ॒हेषु॑। न॒ः॥ क्षेमा॑य। व॒ः। शान्त्यै॑। प्र। प॒द्ये। शि॒वम्। श॒ग्मम्। शं॒योरिति॑ श॒म्ऽयोः। शं॒योरिति॑ श॒म्ऽयोः॥ ४३ ॥

पदार्थः—(उपहूताः) सामीप्यं प्रापिताः। (इह) अस्मिन् गृहाश्रमे संसारे वा। (गावः) दुग्धप्रदा धेनवः। (उपहूताः) सामीप्यं प्रापिताः। (अजावयः) अजाश्चावयश्च ते। (अथो) आनन्तर्ये। (अन्नस्य) प्राणधारणस्य निरन्तरसुखस्य च हेतुः। कृवृ० उ० ३। १० इत्यनधातोर्नः प्रत्ययः। धापृवस्यज्य० उ० ३। ६। इत्यतधातोर्नः प्रत्ययः[2]। (कीलालः) उत्तमान्नादिपदार्थसमूहः। कीलालम् इत्यन्ननामसु पठितम्। निघ० २। ७। (उपहूतः) सम्यक् प्रापितः। (गृहेषु) निवसनीयेषु प्रासादेषु। (नः) अस्माकम्। (क्षेमाय) रक्षणाय। (वः) युष्माकम्। (शान्त्यै) सुखाय। (प्रपद्ये) प्राप्नोमि। (शिवम्) कल्याणम्। (शग्मम्) सुखम्[3]। (शंयोः) कल्याणवतः साधनात् कर्मणः सुखवतो वा। (शंयोः) सुखात्। अत्रोभयत्र कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः। अ० ५। २। १३८। इति शमो युस्प्रत्ययः। शिवं शग्मं चेति सुखनामसु पठितम्। निघ० ३। ६॥ ४३ ॥

---

१ गृहाश्रमिणेऽर्थस्यावश्यकतामाह—

२ बाहुलकात् तकारस्य नत्वम्।

३ 'क्षेमाय शान्त्यै शिवं शग्मं' इत्यादयः सामान्येन सुखवाचकाः, पुनरुक्तिपरिहारार्थमभ्युदयनिःश्रेयसरूपयोः सुखमोक्षयोर्भेद इति दिक् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उपहूताः) गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व उपसर्गाद्युदात्तत्वम् ॥

(अजावयः) द्वन्द्वसमासे समासस्य (अ० ६। १। २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(कीलालः) 'कील बन्धने' इति धातोर्बाहुलकाद् 'आल' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् ॥ शेषं सर्वं य० २। ३४ विवरणे पृ० २३५ द्रष्टव्यम् ॥

(क्षेमाय) अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि० (उ० १। १४०) इति भावे मन्, ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इत्याद्युदात्तः।

(शान्त्यै) स्त्रियां क्तिन् (अ० ३। ३। ९४) नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(शिवम्) सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिव० (उ० १। १५३) इत्यादिना वन्प्रत्ययो निपातनाद् गुणाभावश्च, नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादेवान्तोदात्तत्वम् ॥

अन्वयः[1]—इहास्मिन् संसारे वो युष्माकं शान्त्यै नोऽस्माकं क्षेमाय गृहेषु गाव उपहूता अजावय उपहूता अथोऽन्नस्य कीलाल उपहूतोऽस्त्वेवं कुर्वन्नहं गृहस्थः शंयोः शिवं [शंयोः] शर्म्म च प्रपद्ये ॥ ४३ ॥

(शर्म्म) युजिरुचितिजां कुश्च (उ० १ । १४६) इति शमधातोर्बाहुलकाद् 'मक्' प्रत्ययः, गत्वं च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(शंयोः) अत्रैकमेवैतत् पदम् । कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः (अ० ५ । २ । १३८) इति 'युस्' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इदमत्रावधेयम्—अत्र निरुक्तम् (४ । २१)–

"शंयुः सुखंयुः ।......शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् । अथापि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते तच्छंयोरावृणीमहे........"

अत्र 'शंयुः सुखंयुः' इति विग्रहं प्रदर्शयता निरुक्तकारेणैकमिदं पदमिति प्रदर्शितं भवति, तत्र चान्तोदात्तत्वं भवति, तथाहि निघण्टौ 'अन्तोदात्तः' एव 'शंयोः' इति पठ्यते ।

एकपदत्वं व्याख्याय निरुक्तकारेणापरोऽपि पक्षः 'शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्' इति व्युत्पत्त्या प्रदर्श्यते, तत्र चोदाहरणं प्रदर्शितमेव । प्रथमव्युत्पत्तेरुदाहरणं त्वृग्वेदेऽनुपलम्भादर्थादेकपदत्वस्याभावान्न प्रादर्शि । यथा च 'इदंयुः (निरु० ६ । ३१) इदं कामयमानः' इत्यादि नैगमकाण्डे सत्यपि तस्योदाहरणं न प्रदर्श्यते, तत्र तस्यासद्भावात् । तद्वदत्रापि बोध्यम् ॥

इदानीमेकपदत्वपक्षेऽर्थादन्तोदात्तपक्ष उदाहरणं तु यजुर्वेदे प्रदर्शयामः—अत्रैव य० ३ । ४३ मन्त्रे, किञ्च य० १९ । २९ अपि ॥ अनेन वेदे 'शंयुः' शब्द उभयथाऽपि दृश्यत इति सुव्यक्तम् ॥

अत्र च राघवेन्द्रयतिः—"शंयोः 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' इति मत्वर्थे युस्.........चतुर्थ्यर्थे षष्ठीयम्" । मन्त्रार्थमञ्जरी ऋ० १ । ३४ । ६ पृ० १४४॥

यत्त्वत्र स्कन्दस्वामिनोक्तम्—(निरु० ४ । २१ टीकायां पृ० २६१)—

"शंयोरिति द्वैपदमेतदनवगतम्......शमित्येकमनवगतम् । शमनमित्यवगमः । योरिति द्वितीयम् । अन्यस्यापि यावनमिति । द्वयोरप्येकमेवोदाहरणम्" तदेतत् सर्वमयुक्तम् । निघण्टौ 'शंयोः' इत्येकमेव पदमन्तोदात्तं च समाम्नातम्, न तु पदद्वयं तस्य सर्वोदात्तत्वात् । अत एव भाष्यकारेण 'शंयुः सुखंयुः' इत्येवं व्युत्पाद्य प्रदर्शितम् । अतोऽत्र भ्रान्तिरेव स्कन्दस्वामिन इति ध्येयम् । पदद्वये सर्वोदात्तपक्ष एव स्कन्दोक्तिः सङ्गच्छेत, नान्तोदात्तपक्षे ॥

यच्चात्र दुर्गाचार्येण ऋ० १० । १५ । ४ निरुक्तकारोद्धृतमन्त्रव्याख्यानान्त उक्तम्—"एवमेतत् पदमेकम्, अर्थासम्भवाद् द्विधा प्रविभज्य भाष्यकारेण निरुक्तम्" तदप्यसत् । ऋ० १० । १५ । ४ निरुक्तोद्धृतमन्त्रे तु 'शंयोः' इति पदस्य सर्वोदात्तत्वात् पदद्वयमेव सम्भवति कुतोऽत्र मन्त्र एकपदत्वसम्भवः स्यात्, अतोऽत्र भ्रान्तिरेव दुर्गाचार्यस्यापि ॥ निघण्टुपाठः सर्वोदात्तोऽन्तोदात्तो वेति विदुषां विमर्शार्हम् । वयं त्वन्तोदात्तं मत्वाऽपि न कामपि विप्रतिपत्तिं पश्यामः ॥

किमत्र तत्त्वमिति विवक्षायामुच्यते—यास्कः स्वनिघण्टौ 'शंयु' शब्दमन्तोदात्तं पठति, स्वनिरुक्तभाष्ये तु सर्वोदात्तमुदाहरति, व्युत्पत्तिं चोभयथाऽपि प्रदर्शितवान् । कथमत्र समन्वयः ? अन्तोदात्तमेवेदं पदं निघण्टाविति मत्वा भाष्यकारस्य (निरुक्तकारस्य) इङ्गितचेष्टितैरेतज्ज्ञाप्यते—"नात्रैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्, उपलक्षणमेतद् व्युत्पत्तिप्रदर्शनं, उपलक्षणभूतान्येव तत्र तत्रोदाहरणानि, यथायथमुन्नेयानि" । कुतः ? यदि निघण्टावन्तोदात्तस्य स्थाने सर्वोदात्त एव स्यात् (सम्भाव्यते च सर्वोदात्त एव स्यात्), तर्हि सर्वमप्युदाहरणव्युत्पत्त्यादिप्रदर्शनं सुसंङ्गतं स्यात्, न किमपि विघटनं तत्रावतिष्ठेत । परञ्च यजुर्वेदे स्थलद्वये त्वन्तोदात्त एवोपलभ्यते 'शंयुः' शब्दः । निरुक्तकारेणापरपक्षस्य सम्भवात् स कथन्नोदाह्रियते । अतः सर्वमप्येवदभिलक्ष्य पूर्वोक्तमेव समाधानमत्र सुसङ्गच्छते । एवं सति निघण्टावन्तोदात्तपाठोऽपि सर्वथाऽनवद्य एवेति दिक् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अधियज्ञपरोऽत्रान्वयः ॥

भावार्थः—गृहस्थैरीश्वरोपासनाज्ञापालनाभ्यां गोहस्त्यश्वादीन् पशून् भक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्यान् पदार्थांश्चोपसंचित्य, स्वेषामन्येषां च रक्षणं कृत्वा विज्ञानधर्मपुरुषार्थैरैहिकपारमार्थिके सुखे संसेधनीये। नैव केनचिदालस्ये स्थातव्यम्। किन्तु ये मनुष्याः पुरुषार्थवन्तो भूत्वा धर्मेण चक्रवर्त्तिराज्यादीनुपार्ज्य संरक्ष्योन्नीय सुखानि प्राप्नुवन्ति* ते श्रेष्ठा गण्यन्ते, नेतरे[2] ॥ ४३ ॥

फिर कैसे उस गृहस्थाश्रम को सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—(इह) इस गृहस्थाश्रम वा संसार में (वः) तुम लोगों के (शान्त्यै) सुख [तथा] (नः) हम लोगों की (क्षेमाय) रक्षा के [लिये] (गृहेषु) निवास करने योग्य स्थानों में जो (गावः) दूध देनेवाले गौ आदि पशु (उपहूताः) समीप प्राप्त किये वा (अजावयः) भेड़ बकरी आदि पशु (उपहूताः) समीप प्राप्त हुए (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) प्राण धारण करनेवाले (कीलालः) अन्न आदि पदार्थों का समूह (उपहूतः) अच्छे प्रकार प्राप्त हुआ हो, इन सबकी रक्षा करता हुआ जो मैं गृहस्थ हूँ सो (शंयोः) सब सुखों के साधनों से (शिवम्) कल्याण वा [(शंयोः) सुख से] (शग्मम्) उत्तम सुखोंको (प्रपद्ये) प्राप्त होऊं[4] ॥४३॥

भावार्थः—गृहस्थों को योग्य है कि ईश्वर की उपासना वा उसकी आज्ञा के पालन से गौ हाथी घोड़े आदि पशु † तथा खाने पीने योग्य स्वादु भक्ष्य[5] पदार्थों का संग्रह कर अपनी वा औरों की रक्षा करके [वि] ज्ञान धर्म विद्या और पुरुषार्थ से इस लोक वा परलोक के सुखों को सिद्ध करें, किसी पुरुष को आलस्य में नहीं रहना चाहिये, किंतु सब मनुष्य पुरुषार्थवाले होकर धर्म से चक्रवर्ति राज्य आदि धनों को संग्रह कर उनकी अच्छे प्रकार रक्षा करके उत्तम २ सुखों को प्राप्त हों, इससे अन्यथा मनुष्यों को न वर्तना चाहिये क्योंकि अन्यथा वर्तनेवालों को सुख कभी नहीं होता[6] ॥ ४३ ॥

---

१ चतुर्विध आहार इति सुश्रुतः। दन्तैः खाद्यं भक्ष्यम्, संयावादिकं भोज्यं दन्तैर्विना ॥

—"भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयमेवञ्चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविधमभिहितमत्रोह्यमिति। अन्नपाने विशिष्टे द्वयोर्ग्रहणे कृते चतुर्णामपि ग्रहणं भवति, त्रिञ्चान्यत्, अन्नेन भक्ष्यमवरुद्धं त्वन्नसाधर्म्यात्। पेयेन लेह्यं द्रवसाधर्म्यात्, चतुर्विधश्चाहारः प्रायेण द्विविधः प्रसिद्ध इति ॥ सुश्रुत उत्तरतन्त्रे अ० ६५ ॥

वि० वक्तव्यम्

२ अविनियुक्तोऽयं मन्त्रोऽपि पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

३ गृहस्थ के लिये धन की आवश्यकता बतलाते हैं—

४ अन्वय यहां अधियज्ञपरक है ॥

५ सुश्रुतकार ने आहार चार प्रकार का माना है। दान्तों से चबाकर जो खाया जावे वह 'भक्ष्य' कहाता है। दान्तों से विना चबाये जो संयाव (हलुआ) आदि खाया जाता है, उसे 'भोज्य' कहते हैं। अन्न तथा पान इन दो के ग्रहण में ही चारों का ग्रहण हो जाता है। भक्ष्य तथा भोज्य दोनों अन्नसामान्य से एक ही हैं, तथा द्रव्यसामान्य होने से लेह्य भी पेय के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। इस प्रकार चार प्रकार का आहार दो (अन्न पान) के अन्तर्गत होने से दो ही प्रकार का है ॥ (देखो सुश्रुत उत्तर तन्त्र अ० ६५) ॥

वि० वक्तव्य

६ पूर्ववत् इस मन्त्र का विनियोग भी शतपथब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्रादि में नहीं है ॥ ४३ ॥

---

* 'ते श्रेष्ठा गण्यन्ते' इति हस्तलेखेषु नास्ति, अ. मु. अस्ति।

† 'तथा भोजन पीने स्वादु योग्य पदार्थों' इति अ० मु० पाठः। 'तथा भक्षण करने योग्य पीने योग्य स्वादिष्ट आदि पदार्थों का संग्रह' इति क. पाठः, स च साधीयान् ॥

प्रघासिन इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थैः किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते [1] ॥

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः । करम्भेण सजोषसः ॥ ४४ ॥

प्रघासिन इति प्रऽघासिनः । हवामहे । मरुतः । च । रिशादसः ॥ करम्भेण । सजोषस इति सऽजोषसः ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(प्रघासिनः) प्रघस्तुमत्तुं शीलमेषां तान् । (हवामहे) आह्वयामहे । (मरुतः) विदुषो [2] ऽतिथीन् । (च) समुच्चये । (रिशादसः) रिशान् दोषान् शत्रूंश्चादन्ति हिंसन्ति तान् । (करम्भेण) अविद्याहिंसनेन । अत्र कृ हिंसायामित्यस्माद्धातोर्बाहुलकादौणादिकोऽम्भच् प्रत्ययः । (सजोषसः) समानप्रीतिसेविनः ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ५ । २ । २१ व्याख्यातः ॥

अन्वयः [3]—वयं करम्भेण सजोषसो रिशादसः प्रघासिनोऽतिथीन् मरुत ऋत्विजश्च हवामहे ॥ ४४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वैद्यान्* शूरवीरान् यज्ञसंपादकान् मनुष्यानाहूय सेवित्वा [च] तेभ्यो विद्याशिक्षा नित्यं संग्राह्याः ॥ ४४ ॥

गृहस्थ मनुष्यों को क्या २ करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥ [4]

पदार्थः—हमलोग (करम्भेण) अविद्यारूपी दुःख से अलग होके (सजोषसः) बराबर प्रीति के सेवन करने (रिशादसः) दोष वा शत्रुओं को नष्ट करने और (प्रघासिनः) उत्तम रीति से पदार्थों के भोजन करने वाले (मरुतः) अतिथि [(च)] और यज्ञ करनेवाले विद्वान् लोगों को (हवामहे) सत्कारपूर्वक नित्यप्रति बुलाते रहें [5] ॥ ४४ ॥

---

१ उपार्जितस्य धनस्योपयोगमाह—

२ मरुत इत्यृत्विङ्नामसु पठितम् (निघ० ३ । १८) ऋत्विजश्च विद्वांस एव ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रघासिनः) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (अ० ३ । २ । ७८) इति 'णिनि'प्रत्ययः । उपपदसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेण 'सि'उदात्तस्ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् ॥

(मरुतः) पूर्वं यजुः २ । २२ व्याख्यातः ॥

(रिशादसः) 'रिश हिंसायाम्' इत्येतस्माद् धातोः इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३ । १ । १३५) इति 'क'प्रत्ययः, स चोदात्तः । ततोऽदधातोः गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४ । २२७) इति 'असि'प्रत्ययः । एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति मध्योदात्तः ॥

(करम्भेण) चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तस्ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(सजोषसः) उपपदसमास उत्तरपदप्रकृतिस्वरेण 'असुन्' प्रत्यये नित्त्वादाद्युदात्ते 'जो' उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अधियज्ञपरोऽत्रान्वयः ॥ ४४ ॥

४ कमाये हुये धन का उपयोग बताते हैं—

५ यहां अन्वय में अधियज्ञ अर्थ दर्शाया है ॥ ४४ ॥

---

* 'मनुष्यैर्वैद्यकशूरवीरान्' इति अ० मुद्रितपाठः । क. ख. कोशोयस्तु 'वैद्यान्' इति पाठः ॥

भावार्थः—‡ गृहस्थों को उचित है कि वैद्य, शूरवीर और यज्ञ को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को बुला-कर उनकी यथावत् सत्कारपूर्वक सेवा करके उनसे उत्तम २ विद्या वा शिक्षा को निरन्तर ग्रहण करें ॥ ४४ ॥

यद्ग्राम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । स्वराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थकृत्यमुपदिश्यते[1] ॥

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥ ४५ ॥

यत् । ग्रामे । यत् । अरण्ये । यत् । सभायाम् । यत् । इन्द्रिये ॥ यत् । एनः । चकृम । वयम् । इदम् । तत् । अव । यजामहे । स्वाहा ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(यत्) यस्मिन् वक्ष्यमाणे । (ग्रामे) शालासमुदाये गृहस्थैः सेविते । ग्राम इत्युपलक्षणं नगरादीनाम् । (यत्) यस्मिन् वक्ष्यमाणे (अरण्ये) वानप्रस्थैः सेवित एकान्तदेशे वने । (यत्) यस्यां वक्ष्यमाणायाम् । (सभायाम्) विद्वत्समूहशोभितायाम् । (यत्) यस्मिँश्छ्रेष्ठे (इन्द्रिये) मनसि श्रोत्रादौ वा । (यत्) वक्ष्यमाणम् । (एनः) पापम् । (चकृम) कुर्महे, करिष्यामो वा । अत्र लङ्लृटोरर्थे लिट् । अन्येषामपीति दीर्घश्च । (वयम्) कर्मानुष्ठातारो गृहस्थाः । (इदम्) प्रत्यक्षमनुष्ठीयमानं करिष्यमाणं वा । (तत्) कर्म । (अव) दूरीकरणे । (यजामहे) ❀संगच्छामहे । (स्वाहा) सत्यवाचा । स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ५ । २ । २५ । व्याख्यातः ॥ ४५ ॥

अन्वयः[2]—वयं यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये यद्यत्रैनश्चकृम [इदं] तदवयजामहे दूरीकुर्मः । यद्यत्र तत्र स्वाहा सत्यवाचा पुण्यकर्म चकृम तत्तत्सर्वं संगच्छामहे ॥ ४५ ॥

भावार्थः—चतुराश्रमस्थैर्मनुष्यैर्मनसा वाचा कर्मणा सदा सत्यं कर्माचर्यं पापं † च त्यक्त्वा सभाविद्याशिक्षाप्रचारेण प्रजायाः सुखोन्नतिः कार्येति ॥ ४५ ॥

---

१ स्वार्थमभीप्सताऽपि समाजहानिर्नो कार्येति गृहस्थस्य सामाजिककर्त्तव्यमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ग्रामे) ग्रसेरा च (उ० १ । १४३) इति 'मन्'प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अरण्ये) अर्तेर्निच (उ० ३ । १०२) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(सभायाम्) सन्धातोः कृशॄशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् (उ० ३ । १२२) इत्यनेन 'अभच्' प्रत्ययः औणादिकः, डिच्च । तथा च भोजः—सनेर्डित् (भो० उ० २ । २ । २३०) । चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः ॥

(एनः) इण आगसि (उ० ४ । १९८) इति 'असुन्' प्रत्ययः । नुडागमश्च । नित्त्वादाद्युदात्तः ।

(चकृम) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ आध्यात्मिकार्थपरोऽत्रान्वयः ॥ देवताभेदेन मन्त्रोऽयमन्यत्र (य० २० । १७) व्याख्यातः ॥ ४५ ॥

---

‡ 'मनुष्यों को' इति क. ख. पाठः ॥

❀ साम्प्रतिकास्तु समो गम्यृच्छिभ्याम् (अ० १ । ३।२९) इत्यत्र 'अकर्मकात्' इत्यनुवर्तयन्ति ॥

† 'च' इति पदं सर्वकोशेषूपलभ्यते, अ० मु० नास्ति ।

फिर अगले मन्त्र में गृहस्थों के कर्मों का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—(वयम्) कर्म के अनुष्ठान करनेवाले हमलोग (यत्) (ग्रामे) जो गृहस्थों से सेवित ग्राम (यत्) (अरण्ये) वानप्रस्थों ने जिस वनका सेवन किया हो (यत्सभायाम्) विद्वान् लोग जिस सभा* को सुशोभित करते हों और (यत्)† (इन्द्रिये) जिस मन वा श्रोत्रादिकों के सेवन में स्थित होके [यत्] जो २ (एनः) पाप वा अधर्म (चकृम) करते हैं वा करेंगे [(इदम्) (तत्)] उन सबको (अवयजामहे) दूर करते रहें, तथा जो २ उक्त स्थानों में (स्वाहा) सत्यवाणी से पुण्य वा धर्माचरण करना योग्य है, उस २ को प्राप्त होते रहें[2] ॥ ४५ ॥

भावार्थः—चारों आश्रमों में रहनेवाले मनुष्यों को मन वाणी और कर्मों से [सदा] सत्य कर्मों का आचरण कर पाप वा अधर्मों का त्याग करके विद्वानों की सभा, विद्या, तथा उत्तम २ शिक्षा का प्रचार करके प्रजा के सुखों की उन्नति करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

मो षू ण इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । इन्द्र*मारुतौ देवते । भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

ईश्वरशूरवीरसहायेन[3] युद्धे विजयो भवतीत्युपदिश्यते[4] ॥

मो षू णऽइन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः ।

महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥४६॥

मोऽइति मो । सु । नः । इन्द्र । अत्र । पृत्स्विति पृत्ऽसु । देवैः । अस्ति । हि । स्म । ते । शुष्मिन् । अवयाऽइत्यवऽयाः ॥ महः । चित् । यस्य । मीढुषः । यव्या । हविष्मतः । मरुतः । वन्दते । गीः ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(मो) निषेधार्थे । (सु) शोभनार्थे । निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३६] इति दीर्घः । (नः) अस्मान् । (इन्द्र) जगदीश्वर सुवीर वा । (अत्र) अस्मिन् संसारे (पृत्सु) संग्रामेषु । पृत्स्विति सङ्ग्रामनामसु पठितम् । निघ० २ । १७ । (देवैः) विद्वद्भिः शूरैः । (अस्ति) । (हि) खलु । (स्म) वर्तमाने । निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३६] इति दीर्घः । (ते) तव । (शुष्मिन्) अनन्तबलवन्, पूर्णबलवन् वा ।

---

१ स्वार्थपूर्त्ति की इच्छा रखते हुये भी समाज की हानि नहीं करनी चाहिये, अतः गृहस्थ के सामाजिक कर्त्तव्य कहते हैं—

२ अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है । देवताभेद से इस मन्त्र का व्याख्यान य० २० । १७ में किया है ॥ ४५ ॥

३ साहाय्येनेत्यर्थः । भवति हि विनापि भावप्रत्ययेन भावप्रधाननिर्देशः । तद्यथा 'नामुत्र हि सहायार्थम्' [मनु० ४ । २३९] । उक्तं च 'अन्तरेणापि भावप्रत्ययं गुणप्रधानो भवति निर्देशः [महा० भा० १ । ४ । २१] ॥

४ प्राधान्येन गृहस्थस्यैव सांसारिककर्मण्यधिकारात्, संसारस्य च समररूपत्वादौपम्येन युद्धं वर्णयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मो) (सु) उभौ निपातावुदात्तौ ॥

(पृत्सु) 'पृतना' इति सङ्ग्रामनामसु पठितम् । पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम् (अ० ६ । १ ।

---

* 'सेवा करते हों' इति अ० मु० पाठः । 'विद्वानों के समुदाय से सुशोभित सभा' इति क. ख. पाठः ॥

† '(इन्द्रिये) योगीजन जिस मन वा श्रोत्रादि की सेवा करते हों और' इति अ० मु० पाठः, ग. कोशे च भेदेनास्ति ॥

* साम्प्रतिकानां मते "इन्द्रामरुतौ" इति स्यात् ॥

शुष्ममिति बलनामसु पठितम्। निघ० २।९। (अवयाः) अवयजते विनिगृह्णाति। (महः) महत्तरम्। (चित्) उपमार्थे। (यस्य) वक्ष्यमाणस्य। (मीढुषः) विद्यादिसद्गुणसेचकान्। (यव्या) यवेषु साधूनि हवींषि यव्यानि। अत्र शेश्छन्दसि० [अ० ६।१।७०] इति शेर्लोपः। (हविष्मतः) प्रशस्तानि हवींषि विद्यन्ते येषु तान्। (मरुतः) ऋत्विजः। (वन्दते) स्तौति तद्गुणान् प्रकाशयति। (गीः) वाणी। गीरिति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १।११॥ अयं मन्त्रः शत० २।५।२। २६-२८ व्याख्यातः॥ ४६॥

अन्वयः—हे इन्द्र शूरवीर ईश्वर [वा]! कृपया त्वमत्र पृत्सु देवैर्विद्वद्भिः सहितान् नोऽस्मान् सु रक्ष मो हिंन्धि। हे शुष्मिन् स्म ते तव महो गीर्हेतान् [यस्य] मीढुषो हविष्मतो मरुतो वन्दते चिदेते त्वां सततं वन्दन्तेऽभिवाद्यानन्दयन्तीव, योऽवया यजमानोऽस्ति स त्वदाज्ञया यानि यव्या यव्यानि हवींष्यग्नौ जुहोति तानि सर्वान् प्राणिनः सुखयन्तीति॥ ४६॥

अत्रोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—यदा मनुष्याः परमेश्वरमाराध्य, सम्यक् सामग्रीः कृत्वा, युद्धेषु शत्रून् विजित्य, चक्रवर्त्तिराज्यं प्राप्य सम्पाल्य महान्तमानन्दं सेवन्ते, तदा सुराज्यं जायत इति॥ ४६॥

---

६३ भा० वा०) इति 'पृत्' आदेशः, प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः। सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६।१।१६८) इति विभक्त्युदात्तत्वम्॥

(अस्ति) हि च (अ० ८।१।३४) इति निघातप्रतिषेधे धातुस्वरः॥

(स्म) चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८४) इत्यनुदात्तः। पूर्वपदात् (अ० ८।३।१०६) इति षत्वं, असमासेऽपि यत् पूर्वपदं तदपीह गृह्यत इति वचनात्॥

(शुष्मिन्) आमन्त्रितस्य च (अ० ८।१।१९) इति निघातः॥

(अवयाः) अवे यजः (अ० ३।२।७२) इति 'ण्विन्' प्रत्यये श्वेतवहादीनां डस् पदस्य (अ० ३।२।७१ वा०) इति डस्। उत्तरपदप्रकृतिस्वरे कृत्स्वरेणान्तोदात्तः॥

(महः) 'मह पूजायाम्' इति धातोरच् प्रत्ययः। चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तः। अयमेव शब्दः य० ३।२० मन्त्र आद्युदात्त उपलभ्यते, स च सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इति 'असुन्' प्रत्ययान्त इति ध्येयम्॥

(मीढुषः) अत्र च महाभाष्यम् (अ० ६।१।१२)—

"मीढ्वान् इति किं निपात्यते। मिहेर्ढत्वं च यच्च पूर्वयोः। किं च पूर्वयोः? द्वित्वेट्प्रतिषेधौ दीर्घत्वं च"॥

कसुप्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो मीढ्वस्शब्दः, ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम्॥

(यव्या) यतोऽनावः (अ० ६।१।२१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसान्तोदात्तत्वम्॥

(हविष्मतः) अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिछर्दिभ्य इसिः (उ० २।१०८) इतीसिः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो 'हविः' शब्दः, ततो 'मतुप्' विभक्तिश्चानुदात्तौ॥

(मरुतः) पूर्वं यजुः २।२२ व्याख्यातः॥

(वन्दते) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघातप्रतिषेधे लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः। यद्वा छान्दसः स्वरः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अस्याऽस्माभियज्ञपरोऽप्यन्वयः॥ ४६॥

ईश्वर और शूरवीर के सहाय से युद्ध में विजय होती है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—* हे (इन्द्र) जगदीश्वर आप (अत्र) इस लोक में (पृत्सु) युद्धों में (देवैः) विद्वानों के साथ (नः) हमलोगों की (सु) अच्छे प्रकार रक्षा कीजिये, तथा हे (शुष्मिन्) † अनन्त बलयुक्त परमेश्वर ! (स्म) वर्तमान (ते) आपकी (महः) बड़ी (गीः) वेदवाणी (हि) जिस कारण इन (मीढुषः) विद्या आदि अच्छे गुणों के सींचने वा (हविष्मतः) उत्तम २ हवि वाले (मरुतः) ऋतु २ में यज्ञ करने वालों के (चित्) सदृश जैसे ये पूर्व कहे हुए आपके गुणों का प्रकाश करते हुए आनन्दित करते हैं, वैसे जो (अवयाः) विशेष करके यज्ञ करनेवाला विद्वान् है, वह आपकी आज्ञा से जो (यव्या) उत्तम २ यव आदि हवियों को अग्नि में होम करता है, वह सब प्राणियों को सुख देनेवाली होती है[2] ॥ ४६ ॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥

भावार्थः—जब मनुष्य लोग परमेश्वर की आराधना कर, अच्छे प्रकार सब सामग्री को संग्रह करके युद्ध में शत्रुओं को जीतकर चक्रवर्ति राज्य को प्राप्त कर, प्रजा का अच्छे प्रकार पालन करके, बड़े आनन्द को सेवन करते हैं, तब उत्तम राज्य होता है ॥ ४६ ॥

अक्रन्नित्यस्यागस्त्य ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

के यज्ञयुद्धादिकर्माणि कर्तुं योग्या भवन्तीत्युपदिश्यते[3] ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अक्रन्) अट्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(कर्मकृतः) कर्म करोतीति क्विपि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९ इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् ॥

(सह) एवादीनामन्तः (फि० ८२) इत्यन्तोदात्तः ॥

१ प्रधानता से गृहस्थ का ही सांसारिक कर्मों में अधिकार है, और संसार एक संग्राम है, अतः उसकी समानता से युद्ध का वर्णन करते हैं ॥

२ अन्वय में आध्यात्मिक तथा अधियज्ञ अर्थों का निर्देश है ॥ ४६ ॥

३ के च तद्योग्या इति योग्यतामुपलक्षयन्ति—

* पदार्थः—"हे (इन्द्र) जगदीश्वर आप (अत्र) इस लोक में·········कीजिये । हे (शुष्मिन्) अनन्त बलयुक्त शूरवीर (हि) निश्चय करके (चित्) जैसे (ते) आपकी (महः) बड़ी (गीः) वाणी (मीढुषः) विद्यादि उत्तम गुणों के सींचने वा (हविष्मतः) उत्तम २ हवि अर्थात् पदार्थयुक्त (मरुतः) ऋतु में यज्ञ करनेवाले विद्वानों के (वन्दते) गुणों का प्रकाश करती है, जैसे विद्वान् लोग आपके गुणों का हमलोगों के अर्थ निरन्तर प्रकाश करके आनन्दित होते हैं, वैसे जो (अवयाः) यज्ञ करनेवाला यजमान है, वह आपकी आज्ञा से जिन (यव्या) उत्तम २ यव आदि अन्नों को अग्नि में होम करता है, वे पदार्थ सब प्राणियों को सुख देनेवाले होते हैं ।" इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः, ख. कोशे स्वल्पभेदेनास्ति । स च संस्कृतान्वयानुसारी । अत एव क. कोशपाठो ऽस्माभिः स्वीकृत इत्यपि ध्येयम् ॥

† 'अनन्त बलवाले परमेश्वर' इति क पाठः । 'पूर्णबलयुक्त शूरवीर' इति ख. पाठः । 'अनन्त बलयुक्त जगदीश्वर वा पूर्ण बलयुक्त शूरवीर इति ग. पाठः । मुद्रिते तु 'पूर्णबलयुक्त शूरवीर' इति पाठः । कोशेषु कथं विषमता जायते इत्यनेनोदाहरणेन स्पष्टं ज्ञातुं शक्यते ॥

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा । देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥ ४७ ॥

अक्रन् । कर्म । कर्मकृत इति कर्मऽकृतः । सह । वाचा । मयोभुवेति मयःऽभुवा ॥ देवेभ्यः । कर्म । कृत्वा । अस्तम् । प्र । इत । सचाभुव इति सचाऽभुवः ॥ ४७ ॥

पदार्थः—‡ (अक्रन्) कुर्वन्ति । अत्र लडर्थे लुङ् । मन्त्रे घसह्वर० [अ० २ । ४ । ८०] इति च्लेर्लुक् । (कर्म) कर्तुरीप्सिततमं कर्म । अ० १ । ४ । ४९ । कर्तुर्यदीप्सितमभीष्टयोग्यं चेष्टामयमुत्क्षेपणादि-कमस्ति तत् कर्म्म । (कर्मकृतः) ये कर्माणि कुर्वन्ति ते । (सह) संगे । (वाचा) वेदवाण्या स्वकीयया वा । (मयोभुवा) या मयः सुखं भावयति तया सत्यप्रियमङ्गलकारिण्या । मय इति सुखनामसु पठितम् । निघ० ३ । ६ । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । क्विप् च [(अ० ३ । २ । ७५)] इति क्विप् । (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणसुखेभ्यो वा । (कर्म) क्रियमाणम् । (कृत्वा) अनुष्ठाय । (अस्तम्) सुखमयं गृहम् । अस्तमिति गृहनामसु पठितम् । निघ० ३ । ४ । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (इत) प्राप्नुवन्ति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (सचाभुवः) ये सचा परस्परं सङ्गत्यनुषङ्गिणो भवन्ति ते ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ५ । २ । २९ व्याख्यातः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—ये मयोभुवा वाचा सह सचाभुवः‡‡ कर्मकृतः कर्माकँस्त एतत् कर्म कृत्वा देवेभ्योस्तं सुखमयं गृहं प्रेत प्राप्नुवन्ति ॥ ४७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्नित्यं पुरुषार्थे वर्तितव्यम् । न कदाचिदालस्ये स्थातव्यम् । तथा वेद-विद्यासंस्कृतया वाण्या सह भवितव्यम्, न च मूर्खत्वेन, सदा परस्परं प्रीत्या सहायः कर्तव्यः, ये चैवंभूतास्ते दिव्यसुखयुक्तं मोक्षाख्यं व्यावहारिकं चानन्दं प्राप्य मोदन्ते न चैवमलसा इति ॥ ४७ ॥

कौन २ मनुष्य यज्ञ, युद्ध आदि कर्मों के करने को योग्य होते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

(वाचा) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इत्यन्तोदात्तः ॥

(मयोभुवा) भवतेर्ण्यन्तात् क्विप् । बहुलमन्य-त्रापि (उ० २ । २३) इति 'णि' लुक् । गतिकार-कोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपद-प्रकृतिस्वरत्वे 'भू' शब्द उदात्तः । 'अनित्यसमासे' (अ० ६ । १ । १६९) इति पर्युदासाद् विभक्त्यु-दात्तत्वं न भवति ॥

(कृत्वा) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अस्तम्) 'असु क्षेपणे' इत्यस्माद् धातोः हसिमृग्रिण्वा० (उ० ३ । ८६) इति बाहुलकात् 'तन्' प्रत्ययः, क्षिप्यन्तेऽस्मिन् पदार्था इति । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्या-द्युदात्तः ॥

(सचाभुवः) आमन्त्रितस्वरेण निघातः । प्रथमार्थे सम्बोधनम्, यथा च य० १ । १ विवरणे पृ० १६ उक्तम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥ ४७ ॥

२ उस युद्ध के योग्य कौन हैं ? सो दर्शाते हैं—

‡ '(अक्रन्) कुर्युः । अत्र लिङर्थे लुङ्' इति क. ख. पाठः । ग. कोशे '(अक्रन्) कुर्वन्ति । इत्येवं संशोधनं कृतम् । तथा सति 'लिङर्थे' इत्यस्य स्थाने 'लडर्थे' इत्यपि कर्तव्यमासीत् । तच्चानवधानात् त्यक्तम् इति ध्येयम् ॥

‡‡ 'कर्मकृतः कर्म कर्माकँस्त एतत् कृत्वा' इति अ० मु० पाठः । क कोशे तु 'कर्मकृतः कर्माकँस्ते देवेभ्यः कर्म कृत्वा' इति पाठ उपलभ्यते ॥

पदार्थः—जो मनुष्य लोग (मयोभुवा) सत्यप्रिय मंगल के करानेवाली (वाचा) वेदवाणी वा अपनी वाणी के (सह) साथ (सचाभुवः) परस्पर संगी होकर (कर्मकृतः) कर्मों को करते हुए (कर्म) अपने अभीष्ट कर्म को (अक्रन्) करते हैं, वे (देवेभ्यः) विद्वान् उत्तम २ गुण [वा] सुखों के लिये (कर्म) करने योग्य कर्म का (कृत्वा) अनुष्ठान करके (अस्तम्) पूर्णसुखयुक्त घर को (प्रेत) प्राप्त होते हैं[1] ॥ ४७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि सर्वथा आलस्य को छोड़कर पुरुषार्थ ही में निरन्तर रहके मूर्खपन को छोड़ कर वेदविद्या से शुद्ध की हुई वाणी के साथ सदा वर्तें और परस्पर प्रीति करके एक दूसरे का सहाय करें, जो इस प्रकार के मनुष्य हैं, वे ही दिव्य सुखयुक्त मोक्ष वा इस लोक के सुखों को प्राप्त होकर आनन्दित होते हैं, अन्य अर्थात् आलसी पुरुष आनन्दको कभी नहीं प्राप्त होते ॥ ४७ ॥

अवभृथेत्यस्यौर्णवाभ ऋषिः । यज्ञो देवता । ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ यज्ञानुष्ठातृकृत्यमुपदिश्यते[2] ॥

अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पुणः । अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयासिष॒मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पुरु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि ॥ ४८ ॥

अव॑भृ॒थेत्यव॑ऽभृथ । नि॒चु॒म्पु॒णेति॑ निऽचुम्पुण । नि॒चे॒रुरिति॑ निऽचे॒रुः । अ॒सि॒ । नि॒चु॒म्पु॒णऽइति॑ निऽचुम्पुणः ॥ अव॑ । दे॒वैः । दे॒वकृ॑त॒मिति॑ दे॒वऽकृ॑तम् । एनः॑ । अ॒या॒सि॒ष॒म् । अव॑ । मर्त्यैः॑ । मर्त्य॑कृत॒मिति॒ मर्त्य॑ऽकृतम् । पु॒रु॒रा॒व्ण॒ऽइति॑ पु॒रु॒ऽराव्णः॑ । दे॒व॒ । रि॒षः । पा॒हि॒ ॥ ४८ ॥

---

१ यहां अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥४७॥

२ एवं शूरस्यैव सांसारिककर्मयोग्यतां प्रदर्श्य तत्कृत्यमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अवभृथ) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तः ॥

(निचुम्पुण) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः । तत्र आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इति प्रतिषेधे नामन्त्रिते समानाधिकरणे (अ० ८ । १ । ७३) इत्यविद्यमानवद्भावाभावे स एव निघातः ॥

(निचेरुः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(निचुम्पुणः) कृत्स्वरेणोत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(अव) उपसर्गाद्युदात्तः ॥

(अयासिषम्) (पाहि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(मर्त्यैः) 'मृङ् प्राणत्यागे' (तु० आ०) अघ्न्यादयश्च (उ० ४ । ११२) इति 'यत्' प्रत्ययः । यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(मर्त्यकृतम्) (देवकृतम्) तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(पुरुराव्णः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे वनिपोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरेण 'रा' उदात्तस्ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(रिषः) 'रिष हिंसायाम्' (भ्वा० प०) इति धातोः क्विपि धातुस्वरेणान्तोदात्तो 'रिष्' शब्दः । ततः सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

पदार्थः—(अवभृथ) विद्याधर्मानुष्ठानेन शुद्ध। अत्र अवे भृञः। उ० २।३। इति क्थन् प्रत्ययः। (निचुम्पुण) धैर्येण शब्दविद्याध्यापक। नितरां चोपति मन्दं मन्दं चलति तत्संबुद्धौ। अत्र चुपधातोर्बाहुलकादुणः प्रत्ययो मुमागमश्च। नीचैरस्मिन् क्वणन्ति नीचैर्दधतीति वा। अवभृथ निचुम्पुणेत्यपि निगमो भवति। निचुम्पुण निचुङ्कुणेति च। निरु० ५।१८। निचुम्पुण इति पदनामसु पठितम्। निघ० ४।२। अनेन प्राप्तज्ञानो मनुष्यो गृह्यते। (निचेरुः) यो नितरां चिनोति सः। अत्र निपूर्वकाच्चिञ्धातोर्बाहुलकादौणादिको रुः प्रत्ययः। (असि) भव। अत्र लोडर्थे लट्। (निचुम्पुणः) उक्तार्थः। (अव) विनिग्रहार्थे। (देवैः) द्योतनात्मकैर्मनआदीन्द्रियैः। (देवकृतम्) यद्देवैरिन्द्रियैः कृतं तत्। (एनः) पापम्। (अयासिषम्) करोमि। अत्र लडर्थे लुङ्। (अव) नीचगत्यर्थे। (मर्त्यैः) मरणधर्मैः शरीरैः। (मर्त्यकृतम्) अनित्यदेहेन निष्पादितम्। (पुरुराव्णः) यः पुरूणि बहूनि दुःखानि राति ददाति स पुरुरावा तस्मात्। अत्र आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च [(अ० ३।२।७४)] इति वनिप् प्रत्ययः। (देव) जगदीश्वर। (रिषः) हिंसकाच्छत्रोः पापाच्च। (पाहि) रक्ष॥ ४८॥

अन्वयः—हे अवभृथ निचुम्पुण! यथाहं निचुम्पुणो निचेरुः सन्देवैरिन्द्रियैर्देवकृतं मर्त्यैर्मर्त्यकृतमेनोऽवायासिषं दूरतस्त्यजामि तथा त्वमप्यसि भवावयाहि दूरतस्त्यज। हे देव! जगदीश्वरास्मान् पुरुराव्णो रिषो हिंसालक्षणात् पापात् पाहि दूरे रक्ष॥ ४८॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—मनुष्यैः पापनिवृत्तये धर्मप्रवृत्तये परमेश्वरो नित्यं * प्रार्थनीयः, यानि मनोवचःकर्मभिः पापानि सन्ति तेभ्यो दूरे स्थातव्यम्। यत् किञ्चिदज्ञानात् पापमनुष्ठितं, तद्दुःखफलं विज्ञाय द्वितीयवारं न समाचरणीयम्, किन्तु सर्वदा पवित्रकर्मानुष्ठानमेव वर्धनीयम्॥ ४८॥

अब अगले मन्त्र में यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाले यजमान के कर्मों का उपदेश किया है[२]॥

पदार्थः—हे (अवभृथ) विद्या वा धर्म के अनुष्ठान से शुद्ध (निचुम्पुण) धैर्य से शब्दविद्या को पढ़ाने वाले विद्वान् मनुष्य! जैसे मैं (निचुम्पुणः) ज्ञान को प्राप्त कराने वाला (निचेरुः) निरन्तर विद्या का संग्रह करने वाला (देवैः) प्रकाशस्वरूप मन आदि इन्द्रियों से (देवकृतम्) किया वा (मर्त्यैः) मरणधर्मवाले (मर्त्यकृतम्) शरीरों से किये हुये (एनः) पापों को (अवायासिषम्) दूर कर शुद्ध होता हूँ, वैसे तू भी (असि) हो [और (अव) दूर कर शुद्ध हो]। हे (देव) जगदीश्वर! आप हम लोगों की (पुरुराव्णः) बहुत दुःख देने वा (रिषः) मारने योग्य शत्रु वा पाप से (पाहि) रक्षा कीजिये अर्थात् दूर कीजिये[३]॥ ४८॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि पाप की निवृत्ति, धर्म की वृद्धि के लिये परमेश्वर की प्रार्थना निरन्तर करके, जो मन वाणी वा शरीर से पाप होते हैं, उनसे दूर रहके, जो कुछ अज्ञान से पाप हुआ हो, उसके

१ अध्यात्मपरोऽन्वयः॥
पाठभेदेनार्थभेदेन चायं मन्त्रः य० ८।२७॥ २०।१८ च व्याख्यातः॥ ४८॥

२ इस प्रकार शूरवीर की ही सांसारिक कर्मों में योग्यता दिखलाकर उसका कर्त्तव्य बतलाते हैं—

३ अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ का निरूपण है॥
पाठभेद तथा अर्थभेद से इस मन्त्र का व्याख्यान आगे ८।२७ तथा २०।१८ में देखें॥ ४८॥

* 'प्रार्थ्य' इति तु अ० मु० ख. ग. कोशयोश्च पाठः। प्रार्थनीय इति तु क. कोशे पाठः॥

दुःखरूप फल को जानकर, फिर दूसरी बार उसको कभी न करें किन्तु सब काल में शुद्ध कर्मों के अनुष्ठान ही की वृद्धि करें ॥ ४८ ॥

पूर्णा † दर्वीत्यस्यौर्णवाभ ऋषिः । यज्ञो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

यज्ञे हुतं द्रव्यं कीदृशं भवतीत्युपदिश्यते[1] ॥

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरा पत । वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ॥ ४९ ॥

पूर्णा । दर्वि । परा । पत । सुपूर्णेति सुऽपूर्णा । पुनः । आ । पत ॥ वस्नेवेति वस्नाऽइव । वि । क्रीणावहै । इषम् । ऊर्जम् । शतक्रतो इति शतऽक्रतो ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(पूर्णा) होतव्यद्रव्येण परिपूर्णा । (दर्वि) पाकसाधिका होतव्यद्रव्यग्रहणार्था । अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति सुलोपः । (परा) ऊर्ध्वार्थे । परेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १ । ३ । (पत) पतति गच्छति । अत्रोभयत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (सुपूर्णा) या सुष्ठु पूर्यते सा । (पुनः) पश्चादर्थे । (आ) समन्तात् । (पत) पतति गच्छति । (वस्नेव[2]) पण्यक्रियेव । (वि) विशेषार्थे क्रियायोगे । (क्रीणावहै) व्यवहारयोग्यानि वस्तूनि दद्याव गृह्णीयाव वा । (इषम्) अभीष्टमन्नम् । (ऊर्जम्) पराक्रमम् । (शतक्रतो) शतमसंख्याताः क्रतवः कर्माणि प्रजा यस्येश्वरस्य तत्संबुद्धौ ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ५ । ३ । १५-१७ व्याख्यातः ॥ ४९ ॥

अन्वयः[3]—या दर्वि होतव्यद्रव्येण पूर्णा होमसाधिका भूत्वा परापत पतत्यूर्ध्वं द्रव्यं गमयति या [हुतिरा] ❀ काशं गत्वा वृष्ट्या [सु] पूर्णा भूत्वा [पुनरापत] पुनरापतति समन्तात् पृथिवीं शोभनं जलरसं गमयति तया हे शतक्रतो तव कृपया आवामृत्विग्यज्ञपती वस्नेवेषमूर्जं च विक्रीणावहै ॥ ४९ ॥

१ तैर्हुतस्य द्रव्यस्य स्वरूपमाह—

२ वसन्त्यस्मिन्, अनेन वा वस्नं द्रव्यम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पूर्णा) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । एकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तत्वम् ॥

(दर्वि) आमन्त्रितस्वरेण निघातः । प्रथमार्थे सम्बुद्धिः । यथा य० १ । १ विवरणे पृ० १६ ॥

प्रथमा विभक्तिपक्षे सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति लुकि स्वरश्छान्दस इत्येव ध्येयम् ॥

(सुपूर्णा) 'सु' शब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वे, स्वती पूजायाम् (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(पुनः) स्वरादिगणे 'पुनराद्युदात्तः' इति पाठादाद्युदात्तत्वम् ॥

(वस्नेव) इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २ । १ । ४ भा० वा०) अनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरे धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३ । ६) इति 'न' प्रत्ययः । स चोदात्तः । टापैकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तत्वम्, पुनः स्वरितो वानुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इति मध्योदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(शतक्रतो) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अधियज्ञाध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥ ४९ ॥

† 'दर्विरित्यस्य' इति अ० मु० कोशेषु चापपाठः ॥

❀ इतोऽग्रे 'याऽऽहाराकाशं' इति तु अ० मुद्रितपाठः, 'आहार' इति कोशेषु नास्त्येव ॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यन्मनुष्यैः सुगन्ध्यादिद्रव्यमग्नौ हूयते, तदूर्ध्वं गत्वा वायुवृष्टिजलादिकं शोधयत् पुनः पृथिवीमागच्छति, येन यवादय ओषध्यः शुद्धाः सुखपराक्रमप्रदा जायन्ते। यथा वणिग्जनो रूप्यादिकं दत्त्वा गृहीत्वा द्रव्यान्तराणि क्रीणीते विक्रीणीते च, तथैवाग्नौ द्रव्याणि दत्त्वा प्रक्षिप्य वृष्टिसुखादिकं क्रीणीते, वृष्ट्योषध्यादिकं गृहीत्वा पुनर्वृष्टये विक्रीणीतेऽग्नौ होमः क्रियत इति ॥ ४९ ॥

यज्ञ में हवन किया हुआ पदार्थ कैसा होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—जो (दर्वि) † पाकक्रिया की साधनभूत, होम करने योग्य पदार्थों को ग्रहण करनेवाली (पूर्णा) द्रव्यों से पूर्ण हुई आहुति (परापत) होमे हुए पदार्थों के अंशों को ऊपर प्राप्त कराती, वा जो आहुति आकाश में जाकर वृष्टि से (सुपूर्णा) पूर्ण हुई (पुनरापत) फिर अच्छे प्रकार पृथिवी में उत्तम जल रस को प्राप्त कराती है, उससे हे (शतक्रतो) असंख्यात कर्म वा प्रज्ञावाले जगदीश्वर! आपकी कृपा से हम यज्ञ कराने और करनेवाले विद्वान् होता और यजमान दोनों * (वस्नेव) वैश्यों के व्यवहारों के समान (इषम्) उत्तम २ अन्नादि पदार्थ [तथा] (ऊर्जम्) पराक्रमयुक्त वस्तुओं को (विक्रीणावहै) दें, वा ग्रहण करें[2] ॥ ४९ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जब मनुष्य लोग सुगन्ध्यादि पदार्थ अग्नि में हवन करते हैं, तब वे ऊपर जाकर वायु वृष्टि-जल को शुद्ध करते हुए पृथिवी को आते हैं, जिससे यव आदि ओषधि शुद्ध होकर सुख और पराक्रम की देनेवाली होती हैं। जैसे कोई वैश्य लोग रुपया आदि को दे लेकर अनेक प्रकार के अन्न आदि पदार्थों को खरीदते वा बेचते हैं, वैसे हम सब लोग भी अग्नि में शुद्ध द्रव्यों को छोड़कर वर्षा वा अनेक सुखों को खरीदते हैं, खरीदकर फिर वृष्टि और सुखों के लिये अग्नि में हवन करते हैं ॥ ४९ ॥

देहि म इत्यस्यौर्णवाभ ऋषिः। इन्द्रो देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथ सर्वाश्रमव्यवहार उपदिश्यते[3] ॥

---

१ उन वीरों द्वारा हुत द्रव्य का स्वरूप कहते हैं—

२ यहाँ अन्वय में अधियज्ञ तथा आध्यात्मिक अर्थों का निर्देश है ॥ ४९ ॥

३ आदानप्रदानरूपव्यवहारस्यापि यज्ञत्वात् सर्वाश्रमेषु तस्योपयोगं दर्शयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(देहि) सेर्ह्यपिच (अ० ३ । ४ । ८७) इत्यपित्त्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(ददामि) समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः (अ० ८ । १ । १८ भा० वा०) इति निघाताभावे अनुदात्ते च (अ० ६ । १ । १९०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

---

† 'पके हुए होम करने योग्य' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः। स च संस्कृतपदार्थाननुसारीति ध्येयम् ॥
* '(वस्नेव) वैश्यों के व्यवहारों के समान' इति पाठः अ. मु. 'विक्रीणावहै' इत्येतस्मात् पूर्वमासीत्, स चान्वयाननुसारीति ध्येयम् ॥

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारन्निहराणि ते स्वाहा॥ ५०॥

देहि। मे। ददामि। ते। नि। मे। धेहि। नि। ते। दधे॥ निहारमिति निऽहारम्। च। हरासि। मे। निहारमिति निऽहारम्। नि। हराणि। ते। स्वाहा॥ ५०॥

पदार्थः—(देहि) (मे) मह्यम्। (ददामि) (ते) तुभ्यम्। (नि) नितराम्। (मे) मम। (धेहि) धारय। (नि) नितराम्। (ते) तव। (दधे) धारये। (निहारम्) मूल्येन क्रेतव्यं वस्तु नितरां ह्रियते तत्। (च) समुच्चये। (हरासि) हर प्रयच्छ। अयं लेट्प्रयोगः। (मे) मह्यम्। (निहारम्) पदार्थमूल्यम्। (नि) नितराम्। (हराणि) प्रयच्छानि। (ते) तुभ्यम्। (स्वाहा) सत्यवागाह॥ अयं मन्त्रः शत० २।५।३।१९-२० व्याख्यातः॥ ५०॥

अन्वयः—हे मित्र! त्वं यथा स्वाहा सत्या वागाहेत्येवं मे मह्यमिदं देह्यहं च ते तुभ्यमिदं ददामि, त्वं मे ममेदं वस्तु निधेह्यहं ते तवेदं निदधे, त्वं [च] मे मह्यं निहारं हरास्यहं ते तुभ्यं निहारं निहराणि नितरां ददानि॥ ५०॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैर्दानग्रहणनिःक्षेपोपनिध्यादिव्यवहाराः सत्यत्वेनैव कार्याः। तद्यथा केनचिदुक्तमिदं वस्तु त्वया देयं न वा। यदि वदेद्ददामि दास्यामि वेति तर्हि तत्तथैव कर्तव्यम्। केनचिदुक्तं ममेदं वस्तु त्वं स्वसमीपे रक्ष, यदाहमिच्छेयं, तदा देयम्। एवमहं तवेदं वस्तु रक्षयामि, यदा त्वमेष्यसि तदा दास्यामि। तस्मिन् समये दास्यामि, त्वत्समीपमागमिष्यामि वा, त्वया मह्यं, मम समीपमागन्तव्यमित्यादयो व्यवहाराः सत्यवाचा कार्याः। नैतैर्विना कस्यचित् प्रतिष्ठाकार्यसिद्धी स्यातां, नैताभ्यां विना कश्चिन् सततं सुखं प्राप्तुं शक्नोतीति॥ ५०॥

अब अगले मन्त्र में सब आश्रमों में रहनेवाले मनुष्यों के व्यवहारों का उपदेश किया है[२]॥

पदार्थः—हे मित्र तुम जैसे (स्वाहा) सत्यवाणी हृदय में कहे वैसे (मे) मुझको यह वस्तु (देहि) दे, वा मैं (ते) तुझको यह वस्तु (ददामि) देऊं वा देऊँगा, तथा तू (मे) मेरी यह वस्तु (निधेहि) धारण कर, मैं (ते) तुम्हारी यह वस्तु (निदधे) धारण करता हूँ [(च)] और तू (मे) मुझको (निहारम्) मोल से खरीदने योग्य वस्तु को (हरासि) ले, मैं (ते) तुझको (निहारम्) पदार्थों का मोल (निहराणि) निश्चय करके देऊँ। ये सब व्यवहार सत्य वाणी से करें, अन्यथा से व्यवहार सिद्ध नहीं होते हैं[३]॥ ५०॥

(निहारम्) अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (अ० ३।३।१९.) इति कर्मणि घञ्। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इति प्राप्तौ थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६।२।१४४) इत्यादिनोत्तरपदान्तोदात्तत्वं प्राप्तं छान्दसत्वान्न भवति। पुनः कृत्स्वरेण ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वसिद्धिः॥

(हरासि) लेटोऽडाटौ (अ० ३।४।९४) इति 'आट्' आगमः। चवायोगे प्रथमा (अ० ८।१।५९) इति निघातप्रतिषेधे धातुस्वरेणाद्युदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अधियज्ञपरोऽत्रान्वयः॥ ५०॥

२ आदानप्रदानरूप व्यवहार के भी यज्ञमय होने से सब आश्रमों में उसका उपयोग दर्शाते हैं—

३ यहाँ अन्वय में अधियज्ञ अर्थ दर्शाया है॥ ५०॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को देना लेना पदार्थों को रखना रखवाना वा धारण करना आदि व्यवहार सत्य प्रतिज्ञा से ही करने चाहियें। जैसे किसी मनुष्य ने कहा कि यह वस्तु तुम हमको देना, मैं यह देता [हूँ] तथा देऊँगा, ऐसा कहे तो वहाँ वैसा ही करना। तथा किसी ने कहा कि मेरी यह वस्तु तुम अपने पास रख लेओ, जब मैं इच्छा करूं, तब तुम दे देना। इसी प्रकार मैं तुम्हारी यह वस्तु रख लेता हूँ, जब तुम इच्छा करोगे, देऊंगा वा [उस समय दूंगा] उसी समय मैं तुम्हारे पास आऊंगा [तुम ले लेना] वा तुम [मेरे पास] आकर ले लेना, इत्यादि ये सब व्यवहार सत्यवाणी से ही करने चाहियें और ऐसे व्यवहारों के विना किसी मनुष्य की प्रतिष्ठा वा कार्यों की सिद्धि नहीं होती और इन दोनों के बिना कोई मनुष्य सुखों को प्राप्त होने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

अक्षन्नित्यस्य गोतम ऋषिः। इन्द्रो देवता। विराट् पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

तेन यज्ञादिव्यवहारेण किं भवतीत्युपदिश्यते[1] ॥

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया ऽ अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५१ ॥

अक्षन्। अमीमदन्त। हि। अव। प्रियाः। अधूषत ॥ अस्तोषत। स्वभानव इति स्वऽभानवः। विप्राः। नविष्ठया। मती। योज। नु। इन्द्र। ते। हरीऽइति हरी ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(अक्षन्) अदन्ति। अत्र लडर्थे लुङ्। मन्त्रे घसह्व० [अ० २।४।८०] इति च्लेर्लुक्। गमहनजन० [अ० ६।४।९८] इत्युपधालोपः। शासिवसिघ० [अ० ८।३।६०] इति षत्वम्। खरि च [अ० ८।४।५५] इति चर्त्वम्। (अमीमदन्त) आनन्दयन्ति। अत्र लडर्थे लुङ्। (हि) खलु। (अव) विरुद्धार्थे। (प्रियाः) प्रसन्नताकारकाः। (अधूषत) दुष्टान् दोषाँश्च कम्पयन्ति। अत्र लडर्थे लुङ्। (अस्तोषत) स्तुवन्ति। अत्र लडर्थे लुङ्। (स्वभानवः) स्वकीया भानुर्दीप्तिः प्रकाशो येषां ते। (विप्राः) मेधाविनः। (नविष्ठया) अतिशयेन नवा नविष्ठा तया। (मती) मत्या। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इति पूर्वसवर्णादेशः। (योज) योजयति। अत्र विकरणव्यत्ययेन शप्। लडर्थे लोडन्तर्गतो ण्यर्थो द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घश्च। (नु) क्षिप्रार्थे। (इन्द्र) सभापते! (ते) अस्य। (हरी[2]) बलपराक्रमौ ॥ अयं मन्त्रः शत० २।६।१।३८ [व्याख्यातः] ॥ ५१ ॥

१ पूर्वोक्तस्य फलमाह—

२ ऋक्सामे इन्द्रस्य हरी। ऐ० ब्रा० २।२४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अक्षन्) लुङ्सनोर्घस्लृ (अ० २।४।३७) इति 'घस्लृ' आदेशः। पूर्वं धातुस्वरस्ततः प्रत्ययस्वरेऽन्तोदात्तत्वप्राप्तौ लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (अ० ६। ४।७१) इत्यट्स्वरस्य सर्वबलीयस्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अमीमदन्त) तिङः परत्वान्निघाताभावेऽत्रापि 'अट्' स्वरेणाद्युदात्तत्वं पूर्ववदेव। पूर्वं यजुः २।३१ अपि द्रष्टव्यम् ॥

(अस्तोषत) अत्रापि पूर्ववदेव 'अट्' स्वरः।

(स्वभानवः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर आद्युदात्तत्वम् ॥

(विप्राः) वपति धर्ममिति विप्रः, ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० (उ० २।२८) इति 'रन्' प्रत्ययः। उपधाया इत्वं गुणाभावश्च निपातनाद्। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तः ॥ यद्वा 'प्रा पूरणे' (अदा० प०) इत्यस्माद् विशेषेण प्राति पूरयतीति विप्रः। मूलविभुजादित्वाद् (अ० ३।२।५ वा०) 'क'प्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते

अन्वयः—हे इन्द्र ! [यस्मात्] ते तव ये स्वभानवोऽवप्रिया विप्रा नविष्ठया मती मत्या हि खलु परमेश्वरमस्तोषत स्तुवन्त्यक्षन् श्रेष्ठान्नादिकमदन्त्यमीमदन्तानन्दयन्ति, तस्मात् ते शत्रून् दुःखानि च न्वधूषत क्षिप्रं धून्वन्ति, त्वमप्येतेषु स्वकीयौ हरी बलपराक्रमौ योज संयोजय ॥ ५१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः प्रतिदिनं नवीनविज्ञानक्रियाऽवर्द्धकैर्भवितव्यम् । यथा [मनुष्याः] विद्वत्संगशास्त्राध्ययनेन नवीनान्नवीनां मतिं क्रियां च जनयन्ति तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति ॥ ५१ ॥

उस यज्ञादि व्यवहार से क्या २ होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) सभा के स्वामी ! जो (ते) आपके संबन्धी मनुष्य (स्वभानवः) अपनी ही दीप्ति से प्रकाशित होने वा (अव प्रियाः) औरों को प्रसन्न करानेवाले (विप्राः) विद्वान् लोग (नविष्ठया) अत्यन्त नवीन (मती) बुद्धि से (हि) निश्चय करके परमात्मा की (अस्तोषत) स्तुति और (अक्षन्) उत्तम २ अन्नादि पदार्थों को भक्षण करते हुए (अमीमदन्त) आनन्द को प्राप्त होते [हैं,] उसी से वे शत्रु वा दुःखों को (न्वधूषत) शीघ्र कम्पित करते हैं । वैसे ही इस यज्ञ में तू (हरी) अपने बल और पराक्रम को हम लोगों के साथ (योज) संयुक्त कर[३] ॥ ५१ ॥

भावार्थः—* मनुष्यों को उचित है कि प्रतिदिन नवीन २ ज्ञान वा क्रिया की वृद्धि करते रहें, जैसे मनुष्य विद्वानों के सत्संग वा शास्त्रों के पढ़ने से नवीन २ बुद्धि, नवीन २ क्रिया को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही सब मनुष्यों को अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ५१ ॥

दासीभारादीनां च (अ० ६ । २ । ४२ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर आद्युदात्तत्वम् ॥

(नविष्ठया) इष्ठन्प्रत्यये नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(मती) मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः (अ० ३ । ३ । ९६) इत्यन्तोदात्तः ॥

(योज) पादादित्वादनिघातः, शपि धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(हरी) हृपिषिरुहि० (उ० ४ । ११९) इति 'इन्' प्रत्ययः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥

मन्त्रोऽयं स्वल्पभेदेन ऋ० १ । ८२ । २ भाष्ये व्याख्यातः ॥ ५१ ॥

२ पूर्वोक्त का फल बतलाते हैं—

३ यहां अन्वय अध्यात्मपरक है ॥

ऋ० १ । ८२ । २ के भाष्य में इस मन्त्र का व्याख्यान कुछ भेद से किया गया है ॥ ५१ ॥

❀ 'वर्द्धनेन' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥

* इतः पूर्वं 'इस मन्त्र में उपमालंकार है' इति ग कोशेऽजमेरमुद्रिते च पाठः । स चासम्यक् । यतो हि ख कोशे 'अत्र लुप्तोपमालंकारः' इति संस्कृते पाठ आसीत् तथैव च संस्कृतान्वयो ऽप्यासीत् । स च ग कोशे ऽपाकृतः, अतोऽत्र भाषायामपि तदपाकरणीयं सत् प्रमादान्न कृतमित्यवधेयम् ॥

सुसंदृशमित्यस्य गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

स इन्द्रः कीदृश इत्युपदिश्यते[1] ॥

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि ।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२ऽ अनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

सुसंदृशमिति सुऽसंदृशम् । त्वा । वयम् । मघवन्निति मघऽवन् । वन्दिषीमहि ॥ प्र । नूनम् । पूर्णबन्धुरऽइति पूर्णऽबन्धुरः । स्तुतः । यासि । वशान् । अनु । योज । नु । इन्द्र । ते । हरीऽइति हरी ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(सुसंदृशम्) यः सुष्ठु पश्यति दर्शयति वा तम् । (त्वा) त्वां, तं वा । (वयम्) मनुष्याः । (मघवन्) परमोत्कृष्टधनयुक्तेश्वर, धनप्राप्तिहेतुर्वा । (वन्दिषीमहि) नमेम स्तुवीमहि । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (नूनम्) निश्चयार्थे । (पूर्णबन्धुरः) यः पूर्णश्चासौ बन्धुरश्च सः । पूर्णस्य जगतो बन्धुरो बन्धनहेतुर्वा । (स्तुतः) स्तुत्या लक्षितः । (यासि) प्राप्नोषि, प्रापयति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (वशान्) *काम्यमानान् पदार्थान् । (अनु) पश्चात् । (योज) योजय युङ्क्ते वा । अत्रापि पूर्ववद् व्यत्ययदीर्घत्वे । (नु) [शीघ्रार्थे] उपमार्थे [वा] (इन्द्र) जगदीश्वर सूर्यस्य वा (ते) तवास्य वा । (हरी) बलपराक्रमौ धारणाकर्षणे वा ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ६ । १ । ३८ व्याख्यातः ॥ ५२ ॥

अन्वयः[2]—हे मघवन्निन्द्र वयं सुसंदृशं त्वा त्वां नूनं वन्दिषीमहि, अस्माभिः स्तुतः पूर्णबन्धुरः संस्त्वं वशान् कामान् यासि प्रापयसि [नु] ते तव हरी त्वमनु प्रयोज ॥ इत्येकः ॥

वयं सुसंदृशं मघवन् मघवन्तं [पूर्णबन्धुरः] पूर्णबन्धुरं त्वा तमिमं सूर्यलोकं नूनं वन्दिषीमहि । स्तुतः प्रकाशितगुणः सन्नयं वशानुत्कृष्टव्यवहारसाधकान् कामान् यासि प्रापयति । हे विद्वँस्त्वं [नु] यथा तेऽस्य [इन्द्र] इन्द्रस्य हरी अस्मिन् जगति युङ्क्तः, ‡तथैव विद्यासिद्धिकराण्यनुप्रयोज ॥ *इति द्वितीयः* ॥ ५२ ॥

१ प्रसङ्गतः पूर्वमन्त्रप्रतिपादितस्येन्द्रस्य स्वरूपं वर्णयति–

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुसंदृशम्) क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विपि, उपपदसमास उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वं, ततः कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति पुनः समासे समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् । छान्दसत्वात्तु तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति न भवति ॥ यद्वा सम्पूर्वाद् दृशेः सम्पदादित्वात् क्विप् (अ० ३ । ३ । १०८ भा० वा०) । ततो बहुव्रीहिः । नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । अस्मिन् पक्षे भाष्यकारस्यार्थप्रदर्शनपरमिदम् ॥

(वन्दिषीमहि) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८।१।७२) इति पादादित्वात् प्रत्ययस्वरः ॥

(नूनम्) पूर्वं यजुः ३ । २६ व्याख्यातः ॥

(पूर्णबन्धुरः) समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते दासीभारादीनां चेति वक्तव्यम् (अ० ६ । २ । ४२ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेण पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(स्तुतः) निष्ठाप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वशान्) वशिरण्योरुपसंख्यानम् (अ० ३ । ३ । ५८ वा०) इति 'अप्' प्रत्ययः । धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ।

(योज) पूर्ववदेव (य० ३ । ५१) ॥

(हरी) पूर्वं यजुः ३ । ५१ व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अध्यात्माधिदैविकार्थावत्र प्रदर्शितौ ॥ ५२ ॥

* काम्यमानान् इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥

‡ 'तथैव त्वं विद्यासिद्धिकराणि साधनानि नु क्षिप्रमनुप्रयोजयेति द्वितीयः' इति क. ख. पाठः ॥

अत्र श्लेषोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वजगद्धितकारी जगदीश्वरो वन्दितव्यो नैवेतरः । यथा सूर्यो † मूर्तद्रव्याणि प्रकाशयति, तथोपासितः सोपि भक्तजनात्मसु विज्ञानोत्पादनेन सर्वान् सत्यव्यवहारान् प्रकाशयति, तस्मान्नैवेश्वरं विहाय कस्यचिदन्यस्योपासनं कर्तव्यमिति ॥ ५२ ॥

वह इन्द्र कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (मघवन्) उत्तम २ विद्यादिधनयुक्त (इन्द्र) ‡परमात्मन् ! (वयम्) हमलोग (सुसंदृशम्) अच्छे प्रकार व्यवहारों के देखनेवाले (त्वा) आपकी (नूनम्) निश्चय करके (वन्दिषीमहि) स्तुति करें, तथा हमलोगों से (स्तुतः) स्तुति किये हुए [(पूर्णबन्धुरः) पूर्णबन्धु] आप (वशान्) इच्छा किये हुए पदार्थों को (यासि) प्राप्त कराते हो, अतः (ते) अपने (हरी) बलपराक्रमों को आप [(नु) शीघ्र] (अनुप्रयोज) हमलोगों के सहाय के अर्थ युक्त कीजिये ॥ १ ॥ [*यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ*] ॥

(वयम्) हमलोग (सुसंदृशम्) अच्छे प्रकार पदार्थों को दिखाने वा (मघवन्) धनको प्राप्त कराने तथा (पूर्णबन्धुरः) सब जगत् के बन्धन के हेतु (त्वा) उस सूर्यलोक की (नूनम्) निश्चय करके (वन्दिषीमहि) स्तुति अर्थात् इसके गुण प्रकाश करते हैं । (स्तुतः) स्तुति किया हुआ यह हमलोगों को (वशान्) उत्तम २ व्यवहारों की सिद्धि करानेवाली कामनाओं को (यासि) प्राप्त कराता है । [हे विद्वन् !] (नु) जैसे (ते) इस [इन्द्र] सूर्य के (हरी) धारण आकर्षण गुण जगत् में युक्त होते हैं, वैसे आप हमलोगों की विद्या को सिद्ध करनेवाले गुणों को (अनुप्रयोज) अच्छे प्रकार प्राप्त कराइये[2] [*यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ*] ॥ ५२ ॥

इस मन्त्र में श्लेष और उपमालंकार हैं ॥

भावार्थः—मनुष्यों को सब जगत् के हित करनेवाले जगदीश्वर ही की स्तुति करनी [चाहिये] और किसी की नहीं, क्योंकि जैसे सूर्यलोक सब मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करता है, वैसे उपासना किया हुआ ईश्वर भी भक्तजनों के आत्माओं में विज्ञान को उत्पन्न करने से सब सत्यव्यवहारों को प्रकाशित करता है, इससे ईश्वर को छोड़ कर और किसी की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

मनो न्वित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । अतिपादनिचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ मनसो लक्षणमुपदिश्यते[3] ॥

---

१ प्रसङ्ग से पूर्वमन्त्र में प्रतिपादित इन्द्र का स्वरूप वर्णन करते हैं—।

२ अन्वय में आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थों का निर्देश है ॥ ५२ ॥

३ ईश्वरोपासनायां मानसैकाग्र्याधीनत्वान्मनो निरूपयति—

---

† 'मूर्तान् द्रव्यान्' इति कोशेषु पाठ इति ध्येयम् ॥

‡ ' हे विद्वन् तू ' इति अ. मु. ग कोशे च पाठः । '(इन्द्र) जगदीश्वर' इति क. ख. पाठः । स च साधीयान् ॥

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन । पितॄणां च मन्मभिः ॥ ५३ ॥

मनः । नु । आ । ह्वामहे । नाराशꣳसेन । स्तोमेन ॥ पितॄणाम् । च । मन्मभिरिति मन्मऽभिः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(मनः) मननशीलं संकल्पविकल्पात्मकम् । (नु) क्षिप्रार्थे । (आ) समन्तात् क्रियायोगे । (ह्वामहे) स्पर्धामहे । (नाराशंसेन) नराणां समन्ताच्छंसः प्रशंसनं नराशंसः, नराशंसेन निर्वृत्तस्तेन, ‡ तेन निर्वृत्तम् (अ० ४।२।६८) इत्यनेनाण्प्रत्ययः । (स्तोमेन) स्तुतियुक्तेन व्यवहारेण । (पितॄणाम्[1]) पालकानामृतूनां ज्ञानवतां मनुष्याणां वा । (च) समुच्चये । (मन्मभिः) मन्यन्ते जानन्ति यैस्तैः । अत्र सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति मनिन् प्रत्ययः ॥ अयं मन्त्रः शत: २ । ६ । १ ३९ व्याख्यातः ॥५३॥

अन्वयः[2]—वयं नाराशंसेन स्तोमेन पितॄणां च मन्मभिर्मनो न्वाह्वामहे ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्मनुष्यजन्मसाफल्यार्थं विद्यादिगुणयुक्तं मनः कर्त्तव्यम् । यथर्तवः स्वान् स्वान् गुणान् क्रमेण प्रकाशयन्ति, यथा च विद्वांसः क्रमशोऽन्यामन्यां च विद्यां साक्षात् कुर्वन्ति, तथैव सततमनुष्ठाय विद्याप्रकाशौ प्राप्तव्यौ ॥ ५३ ॥

इसके आगे मन के लक्षण का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हमलोग (नाराशंसेन) पुरुषों के अत्यन्त प्रशंसनीय (स्तोमेन) स्तुतियुक्त व्यवहार [(च)] और (पितॄणाम्) पालना करनेवाले ऋतु वा ज्ञानवान् मनुष्यों के (मन्मभिः) जिनसे सब गुण जाने जाते हैं उन गुणों के साथ (मनः) संकल्पविकल्पात्मक चित्त को (न्वाह्वामहे) सब ओर से हटा के दृढ़ करते हैं[4] ॥५३॥

भावार्थः—मनुष्यों को मनुष्यजन्म की सफलता के लिये विद्या आदि गुणों से युक्त मन को करना चाहिये, जैसे ऋतु अपने २ गुणों को क्रम २ से प्रकाशित करते हैं, तथा जैसे विद्वान् लोग क्रम २ से अनेक प्रकार

---

१ ऋतवो वै पितरः ॥ श० २ । ६ । १ । ३२ ॥
मर्त्याः पितरः ॥ श० २ । १ । ३ । ४ ॥
देवा वा एते पितरः ॥ गो० उ० १ । २४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मनः) पूर्वं य० २ । १३ व्याख्यातः ॥

(नाराशंसेन) छान्दसत्वाद्देशेऽप्यत्राण् प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । ततो विभक्तिरनुदात्ता ।

(स्तोमेन) अर्तिस्तुसु० (उ० १ । १४०) इति मन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।

(पितॄणाम्) नामन्यतरस्याम् (अ० ६ । १ । १७७) इत्यन्तोदात्तः ॥

(मन्मभिः) ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥

३ ईश्वर की उपासना मन की एकाग्रता के ही आधीन है, अतः मन का निरूपण करते हैं—

४ अन्वय में यहां आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥ ५३ ॥

‡ 'तेन······प्रत्ययः' इति पाठः क कोशे वर्तमानोऽपि ख ग कोशयोः प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

की अन्य २ विद्याओं का साक्षात्कार करते हैं, वैसा ही पुरुषार्थ करके सब मनुष्यों को निरन्तर विद्या [और प्रकाश की] प्राप्ति करनी चाहिये ॥ ५३ ॥

आ न एत्वित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । विराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनस्तन्मनः कीदृशमित्युपदिश्यते¹ ॥

आ नऽ एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ५४ ॥

आ । नः । एतु । मनः । पुनरिति पुनः । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे ॥ ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् । (नः) अस्मान् । (एतु) प्राप्नोतु । (मनः) स्मरणात्मकं चित्तम् । (पुनः) वारं वारं जन्मनि जन्मनि वा । (क्रत्वे) सद्विद्याशुभकर्मानुभूतसंस्कारस्मृतये । क्रतुरिति कर्मनामसु पठितम् । निघ० २ । १ । (दक्षाय) बलप्राप्तये । दक्ष इति बलनामसु पठितम् । निघ० २ । ९ । (जीवसे) जीवितुम् । अत्र तुमर्थे से० [अ० ३ । ४ । ९] इत्यसेप्रत्ययः । (ज्योक्) निरन्तरम् । (च) समुच्चये । (सूर्यम्) परमेश्वरं सवितृमण्डलं प्राणं वा । (दृशे) द्रष्टुम् । अत्र दृशे विख्ये च । अ० ३ । ४ । ११ । इत्ययं निपातितः ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ६ । १ । ३९ व्याख्यातः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—³ [‡] यन्मनश्चित्तं ज्योक् निरन्तरं सूर्यं दृशे क्रत्वे दक्षाय जीवसे चान्येषां शुभकर्मणामनुष्ठानायास्ति, तन्नोऽस्मान् पुनः पुनरासमन्तादेतु प्राप्नोतु ॥ ५४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः श्रेष्ठकर्मानुष्ठानेन चित्तशुद्धिं कृत्वा पुनः पुनर्जन्मनि [उत्तम] चित्तप्राप्तिरेवापेक्ष्या, येन मनुष्यजन्म प्राप्येश्वरोपासनं संराध्य निरन्तरं सद्धर्मोनुसेव्य इति ॥ ५४ ॥

फिर वह मन कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है⁴ ॥

पदार्थः—जो (मनः) स्मरण करानेवाला चित्त (ज्योक्) निरन्तर (सूर्यम्) परमेश्वर सूर्यलोक वा प्राण को (दृशे) देखने वा (क्रत्वे) उत्तम विद्या वा उत्तम कर्मों की स्मृति वा [(दक्षाय) बलप्राप्ति] (जीवसे)

---

१ पूर्ववत् ॥

२ आदित्यो वै प्राणः ॥ जै० उ० ४ । २२ । ११ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(क्रत्वे) डुकृञ्धातोः कृञः कतुः (उ० १ । ७६) इति 'कतु' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः, ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् ॥

(दक्षाय) 'दक्ष गतिहिंसनयोः' (भ्वा० प०) इत्येतस्माद् धातोः करणे घञ्, ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(जीवसे) प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(ज्योक्) निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्युदात्तः ॥

(दृशे) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अध्यात्मपरो ऽत्रान्वयः ॥ ५४ ॥

४ पूर्ववत् ॥

‡ 'यत्' इति कोशेषु नास्ति ॥

सौ वर्ष से अधिक जीने (च) और अन्य शुभ कर्मों के अनुष्ठान के लिये है, वह (नः) हमलोगों को (पुनः) वारंवार जन्म २ में (आ) सब प्रकार से (एतु) प्राप्त हो[1] ॥ ५४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को [चाहिये कि] उत्तम कर्मों के अनुष्ठान के लिये चित्तकी शुद्धि वा जन्म २ में उत्तम चित्तकी प्राप्ति की ही इच्छा करें, जिससे मनुष्य जन्म को प्राप्त होकर ईश्वर की उपासना का साधन करके उत्तम २ धर्मों का सेवन कर सकें ॥ ५४ ॥

पुनर्न इत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । [पिपीलिकामध्या] निचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्मनः शब्देन बुद्धिरुपदिश्यते[2] ॥

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातꣳ सचेमहि ॥ ५५ ॥

पुनः । नः । पितरः । मनः । ददातु । दैव्यः । जनः ॥ जीवम् । व्रातम् । सचेमहि ॥ ५५ ॥

पदार्थः—(पुनः) अस्मिन् जन्मनि, पुनर्जन्मनि वा । (नः) अस्मभ्यम् । (पितरः) पान्त्यन्नसुशिक्षाविद्यादानेन तत्संबुद्धौ[3] । (मनः) धारणावतीं बुद्धिम् । (ददातु) प्रयच्छतु । (दैव्यः) यो देवेषु विद्वत्सु जातो विद्वान् । अत्र देवाद्यञञौ । अ० ४ । १ । ८५ । इति वार्त्तिकेन प्राग्दीव्यतीयान्तर्गते जातेर्थे यञ् प्रत्ययः । (जनः) यो विद्याधर्माभ्यां परोपकारान् जनयति प्रकटयति । (जीवम्) ज्ञानसाधनयुक्तम् । (व्रातम्) व्रतानां सत्यभाषणादीनां समूहस्तम् । (सचेमहि) समवेयाम ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ६ । १ । ३९ व्याख्यातः ॥ ५५ ॥

अन्वयः[4]—हे पितरो जनका विद्याप्रदाश्च भवच्छिक्षया दैव्यो जनो विद्वान् नोऽस्मभ्यं पुनः पुनर्मनो धारणावतीं बुद्धिं ददातु । येन वयं जीवं व्रातं सचेमहि समवेयाम ॥ ५५ ॥

---

१ अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥ ५४ ॥

२ बुद्धेर्मनोविषयतां दर्शयति—

३ नात्र एकवचनं सम्बुद्धिः (अ० २ । ३ । ४९) इति पारिभाषिकी संज्ञा, किं तर्हि ? सम्बोधनं सम्बुद्धिः ॥ तथा च भाष्यम् "किमिदं पारिभाषिक्याः सम्बुद्धेर्ग्रहणमेकवचनं सम्बुद्धिराहोस्विदन्वर्थग्रहणं सम्बोधनं सम्बुद्धिरिति······यथा न दोषस्तथाऽस्तु" (अ० १ । २ । ३३ भा०) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पुनः) पूर्वं यजुः ३ । ४९ व्याख्यातः ॥

(पितरः) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥ तै० सं० १ । ८ । ५ । ३ तु मध्योदात्तः 'पितरः' इति शब्दः ॥ तत्र भट्टभास्कर आह—"व्यत्ययेन निघाताभाव" इति । अर्थस्तु सम्बोधनपर एव तत्र प्रदर्शितः ॥

(ददातु) घ्वादिलोपे विभाषा (अ० ८ । १ । ६३) इति निघाताभावे अनुदात्ते च (अ० ६ । १ । १९०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(जनः) वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तः ॥

(जीवम्) घञर्थे कविधानम् (अ० ३ । ३ । ५८ भा० वा०) इति भावे 'क' विधानम्, जीवनं जीवः, तम् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(व्रातम्) अनुदात्तादेरञ् (अ० ४ । २ । ४४) इति 'अञ्' । ञित्त्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ॥ ५५ ॥

भावार्थः—नहि मनुष्याणां विदुषां मातापित्राचार्याणां च सुशिक्षया विना मनुष्यजन्मसाफल्यं संभवति। न च मनुष्यास्तया विना पूर्णं जीवनं कर्म च समवैतुं शक्नुवन्ति, तस्मात् सर्वदा मातापित्राचार्यैः स्वसन्तानानि सम्यगुपदेशेन शरीरात्मबलवन्ति कर्तव्यानीति ॥ ५५ ॥

फिर मन शब्द से बुद्धि का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (पितरः) उत्पादक वा अन्न शिक्षा वा विद्या को देकर रक्षा करनेवाले पिता आदि लोगो! आपकी शिक्षा से यह (दैव्यः) विद्वानों के बीच में उत्पन्न हुआ (जनः) विद्या वा धर्म से दूसरे के लिये उपकारों को प्रकट करनेवाला विद्वान् पुरुष (नः) हमलोगों के लिये (पुनः) इस जन्म वा दूसरे जन्म में (मनः) धारण करनेवाली बुद्धि को (ददातु) देवे, जिससे [हम] (जीवम्) ज्ञान साधन युक्त जीवन वा (व्रातम्) सत्य बोलने आदि गुण समुदाय को (सचेमहि) अच्छे प्रकार प्राप्त करें[2] ॥ ५५ ॥

भावार्थः—विद्वान् माता पिता आचार्यों की शिक्षा के बिना मनुष्यों का जन्म सफल नहीं होता, और मनुष्य भी उस शिक्षा के बिना पूर्ण जीवन वा कर्म के संयुक्त करने को समर्थ नहीं हो सकते। इससे सब काल में विद्वान् माता पिता और आचार्यों को उचित है कि अपने पुत्र आदि को अच्छे प्रकार उपदेश से शरीर और आत्मा के बलवाले करें ॥ ५५ ॥

वयमित्यस्य बन्धुर्ऋषिः। सोमो देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

अथ सोमशब्देनेश्वरौषधिरसा उपदिश्यन्ते[3] ॥

वयꣳ सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ५६ ॥

वयम्। सोम। व्रते। तव। मनः। तनूषु। बिभ्रतः ॥ प्रजावन्त इति प्रजाऽवन्तः। सचेमहि ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(वयम्) मनुष्याः (सोम[4]) सुवति चराचरं जगत् तत्संबुद्धौ जगदीश्वर! अथवा सूयन्ते रसा यस्मात् स सोम ओषधिराजः। (व्रते) सत्यभाषणादिधर्मानुष्ठाने। (तव) अस्य वा।

१ बुद्धि (ज्ञान) मन का ही विषय है, सो दर्शाते हैं—

२ अन्वय में यहां आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥५५॥

३ शान्तिमयत्वात् सोमस्य मनो निरूपयन् तस्यानेकार्थतां वर्णयति—

४ यो वै विष्णुः सोमः सः ॥ श० ३। ३। ४। २१ ॥ सोमो वै राजौषधीनाम् ॥ कौ० ४। १२ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(तव) युष्मदस्मदोर्ङसि (अ० ६। १। २११) इत्याद्युदात्तः ॥

(तनूषु) कृषिचमितनि० (उ० १। ८०) इति 'ऊ' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तस्तनूशब्दः। ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(बिभ्रतः) पूर्वं य० ३। ४१ व्याख्यातः ॥

(प्रजावन्तः) 'प्रजा'शब्द उपपदसमासेन गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तः, ततो 'मतुप्' विभक्तिश्चानुदात्तौ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

(मनः) अन्तःकरणस्याहंकारादिवृत्तिम् । (तनूषु) विस्तृतसुखशरीरेषु । (बिभ्रतः) धारयन्तः पोषयन्तश्च । (प्रजावन्तः) बह्व्यः सुसन्तानराष्ट्राख्याः प्रजा विद्यन्ते येषां ते, अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । (सचेमहि) समवेयाम ॥ ५६ ॥

अन्वयः[1]—हे सोम जगदीश्वर ! तव सत्याचरणरूपे व्रते वर्त्तमानास्तनूषु मनो बिभ्रतः प्रजावन्तः सन्तो वयं सर्वैः सुखैः सचेमहि समवेयाम ॥ *इत्येकः* ॥

तवास्य [सोम] सोमस्य व्रते सत्याचरणनिमित्ते तनूषु मनो बिभ्रतः सन्तः प्रजावन्तो भूत्वा वयं सर्वैः सुखैः सचेमहि नित्यं समवेयाम ॥ *इति द्वितीयः* ॥ ५६ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—ईश्वरस्याज्ञायां वर्त्तमाना मनुष्याः शरीरात्मसुखं नित्यं प्राप्नुवन्ति । एवं ❀ युक्त्या सोमाद्योषधिसेविनोऽपि तत्सुखं समवयन्ति, नेतर इति ॥ ५६ ॥

अब सोम शब्द से ईश्वर और ओषधियों के रसों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (सोम) सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले जगदीश्वर ! (तव) आपके (व्रते) सत्यभाषण आदि धर्मों के अनुष्ठान में वर्त्तमान होके (तनूषु) बड़े २ सुखयुक्त शरीरों में (मनः) अन्तःकरण की अहंकारादिवृत्ति को (बिभ्रतः) धारण करते हुए और (प्रजावन्तः) बहुत पुत्र आदि वा राष्ट्र आदि धनवाले होके [वयम्] हम लोग (सचेमहि) सब सुखों को प्राप्त होवें *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ]* ॥ १ ॥

(तव) इस (सोम) सोमलता आदि ओषधियों के (व्रते) सत्यगुण ज्ञान के सेवन में (तनूषु) सुखयुक्त शरीर में (मनः) चित्तकी वृत्ति को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (प्रजावन्तः) पुत्र राज्य आदि धनवाले होकर (वयम्) हमलोग (सचेमहि) सब सुखों को प्राप्त होवें[3] *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ २ ॥ ५६ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—ईश्वर की आज्ञा में वर्त्तमान हुए मनुष्यलोग शरीर आत्मा के सुखों को निरन्तर प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार युक्ति से सोम आदि ओषधियों के सेवन से उन सुखों को प्राप्त होते हैं, परन्तु आलसी मनुष्य नहीं ॥ ५६ ॥

एष त इत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । रुद्रो देवता । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

---

१ अध्यात्माधिदैविकार्थपरावत्रान्वयौ ॥ ५६ ॥

२ सोम के शान्तिरूप होने से मन का निरूपण करते हुये सोम शब्द से अनेक अर्थ दर्शाते हैं—

३ यहां दोनों अन्वयों में क्रमशः आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ का निरूपण है ॥ ५६ ॥

❀ 'युक्त्या' इति पदं अ. मु. ख ग कोशयोश्च नास्ति । क कोश एवोपलभ्यते ॥

अथ मनोलक्षणकथनानन्तरं प्राणलक्षणमुपदिश्यते[1] ॥

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः ॥ ५७ ॥

एषः । ते । रुद्र । भागः । सह । स्वस्रा । अम्बिकया । तम् । जुषस्व । स्वाहा । एषः । ते । रुद्र । भागः । आखुः । ते । पशुः ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(एषः) प्रत्यक्षः । (ते) तवास्य वा । (रुद्र) रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः स्तोता, तत्संबुद्धौ । रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम् । निघ० ३ । १६ । रुद्र इत्येतस्य त्रयस्त्रिंशद्देवव्याख्याने प्राणसंज्ञेत्युक्तम् ॥ रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा, यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकं, यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम् । निरु० १० । ५ । रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । अनेन रुद्रशब्दः सिद्धः । (भागः) सेवनीयः । (सह) सङ्गे । (स्वस्रा) सुष्ठ्वस्यति प्रक्षिपति यया विद्यया क्रियया वा, तया । सावसेर्ऋन् । उ० २ । ९६ । अनेन स्वसृशब्दः सिध्यति । (अम्बिकया) अम्बते शब्दयति यया तया । (तम्) भागम् । (जुषस्व) सेवस्व सेवते वा । अत्र पक्षे व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (स्वाहा) शोभनं देयमादेयमाह यया सा । (एषः) वक्ष्यमाणः । (ते) तवास्य वा । (रुद्र) उक्तार्थः । (भागः) भजनीयः । (आखुः) समन्तात् खनत्यवद्गाति येन भोजनसाधनेन सः । अत्र, आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । इति कुप्रत्ययो डित्संज्ञा च । † (ते) तवास्य वा । (पशुः) यो दृश्यते भोग्यपदार्थसमूहः समक्षे स्थापितः सः । अत्र अर्जिदृशिकमि० । १ । २७ । इत्यौणादिकसूत्रेणास्य सिद्धिः ॥ अयं मन्त्रः श० २ । ६ । २ । ९, १० व्याख्यातः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे रुद्र स्तोतस्ते तवैष ‡ भागोऽस्ति, तं त्वमम्बिकया स्वस्रा सह जुषस्व । हे रुद्र ते तवैषोऽयं भागः स्वाहास्ति, तं सेवस्व । हे रुद्र ते तवैष आखुः पशुश्चास्ति, तं जुषस्व सेवस्व ॥ इत्येकः ॥

योऽयं रुद्रः प्राणस्तेऽस्य रुद्रस्य योऽयं भागो ऽयमम्बिकया स्वस्रा सह जुषस्व सेवते, तेऽस्य रुद्रस्यैषोऽयं स्वाहा भागस्तथा यस्तेऽस्याखुः पशुश्चास्ति, यमयं सततं सेवते तं सर्वे मनुष्याः सेवन्ताम् ॥ [*इति द्वितीयः*] ॥ ५७ ॥

---

१ प्राणे निरुद्धे मनोनिरोध इति दर्शयितुकामो रुद्ररूपेण प्राणं लक्षयति—

२ सु असा, स्वेषु सीदतीति वा ॥ निरु० ११ । ३२ ॥

३ केचित् संज्ञापक्षमभ्यभिमन्यन्ते (द्र० १ । २ । १ भाष्ये, दशपा० उ० ६ । ४०) तमाश्रित्यायं प्रयोगः, वस्तुतस्त्वतिदेशोऽयम् ॥

४ अन्नं वै पशवः ॥ श० ६ । ८ । २ । ७ ॥ अनेन संसारे ये भोग्यपदार्थास्ते पशव इति भावः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया ॥

(स्वस्रा) सावसेर्ऋन् (उ० २ । ९६) इति 'ऋन्' प्रत्ययः । न षट्स्वस्रादिभ्यः (अ० ४।१।१०) इति ङीप्प्रतिषेधः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः ॥

(अम्बिकया) 'रबि लबि अबि शब्दे' (भ्वा० प०) इत्यस्माद् धातोर्ण्वुलि लिति (अ० ६ ।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्व आद्युदात्तत्वम् ॥

(जुषस्व) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(आखुः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

५ अध्यात्माधिदैविकार्थावत्र प्रदर्शितौ ॥ ५७ ॥

---

† '(ते) तवास्य वा' इति पाठः क. कोश एवोपलभ्यते । ख. ग. कोशयोस्तु प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥
‡ 'एषो भागः' इति अ० मु० पाठः ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा भ्राता प्रियया विदुष्या भगिन्या सह वेदादिशब्दविद्यां पठित्वाऽऽनन्दं भुङ्क्ते, यथा चाऽयं प्राणः श्रेष्ठया शब्दविद्यया प्रियो[1] जायते, तथैव विद्वान् शब्दविद्यां प्राप्य सुखी जायते। नैताभ्यां विना कश्चिदपि सत्यं ज्ञानं सुखभोगं च प्राप्तुं शक्नोतीति ॥ ५७ ॥

मन के लक्षण कहने के अनन्तर प्राण के लक्षण का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (रुद्र) अन्यायकारी मनुष्यों को रुलानेवाले विद्वन् ! जो (ते) तेरा (एषः) यह (भागः) सेवन करने योग्य पदार्थसमूह है, उसको तू (अम्बिकया) वेदवाणी वा (स्वस्रा) उत्तमविद्या वा क्रिया के (सह) साथ (जुषस्व) सेवन कर । तथा हे (रुद्र) विद्वन् ! जो ते (तेरा) (एषः) यह (भागः) धर्म से सिद्ध अंश वा (स्वाहा) वेदवाणी है, उसका सेवन कर, और हे (रुद्र) विद्वन् ! जो (ते) तेरा (एषः) यह (आखुः) खोदने योग्य शस्त्र वा (पशुः) भोग्य पदार्थ है (तम्) उसको (जुषस्व) सेवन कर [*यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ*] ॥ १ ॥

जो (एषः) यह (रुद्र) प्राण है (ते) जिसका (एषः) यह (भागः)भाग है, जिसको (अम्बिकया) वाणी वा (स्वस्रा) विद्याक्रिया के (सह) साथ (जुषस्व) सेवन करता, वा जो (ते) जिसका (स्वाहा) सत्यवाणी-रूप (भागः) भाग है, और जो [(ते)] इसके (आखुः) खोदनेवाले पदार्थ वा (पशुः) दर्शनीय भोग्यपदार्थ है जिसका यह (जुषस्व) सेवन करता है, [(तम्)] उसका सेवन सदा मनुष्य सब करें[3] [*यह दूसरा अर्थ हुआ*] ॥ ५७ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे भाई अपनी पूर्णविद्यायुक्त बहिन के साथ वेदादि शब्दविद्या को पढ़कर आनन्द को भोगता है, वैसे विद्वान् भी विद्या को प्राप्त होकर सुखी होता है । जैसे यह प्राण श्रेष्ठ शब्दविद्या से प्रिय आनन्द-दायक होता है, वैसे सुशिक्षित विद्वान् भी सबको सुख करनेवाला होता है । इन दोनों के बिना कोई भी मनुष्य सत्यज्ञान वा सुखभोगों को प्राप्त होने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

अव रुद्रमित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । रुद्रो देवता । विराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ रुद्रशब्देनेश्वर उपदिश्यते[4] ॥

अव॑ रु॒द्रम॑दीम॒ह्यव॑ दे॒वं त्र्य॑म्बकम् ।
यथा॑ नो॒ वस्य॑स॒स्कर॒द्यथा॑ नः॒ श्रेय॑स॒स्कर॒द्यथा॑ नो व्यवसा॒यया॑त् ॥ ५८ ॥

---

१ आनन्ददायक इत्यर्थः ॥

२ प्राण के निरोध से मन का निरोध होता है, यह दिखलाने के लिये रुद्ररूप से प्राण का वर्णन करते हैं—

३ अन्वय में आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ का निर्देश है ॥ ५७ ॥

४ प्राणमयत्वात्, प्राणानामपि प्राणहेतुत्वाच्चेश्वरोऽपि रुद्र इति दर्शयति—

अव । रुद्रम् । अदीमहि । अव । देवम् । त्र्यम्बकमिति त्रिऽअम्बकम् ॥ यथा । नः । वस्यसः । करत् । यथा । नः । श्रेयसः । करत् । यथा । नः । व्यवसाययादिति विऽअवसाययात् ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(अव) विनिग्रहार्थे । (रुद्रम्) दुष्टानां रोदयितारं परमेश्वरं । (अदीमहि) सर्वाणि दुःखानि क्षाययेम नाशयेम । अत्र दीङ् क्षय इत्यस्माल्लिङर्थे लङ् । बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति श्यनो लुक्[1] । (अव) अवगमार्थे । (देवम्) दातारम् । (त्र्यम्बकम्) अमति येन ज्ञानेन तदम्बं त्रिषु कालेष्वेकरसं ज्ञानं यस्य तम्, अत्र अम गत्यादिष्वस्माद् बाहुलकेन करणकारके बः प्रत्ययस्ततः शेषाद् विभाषा । अ० ५ । ४ । १५४ । इति समासान्तः कप् प्रत्ययः । (यथा) येन प्रकारेण । (नः) अस्मान् । (वस्यसः) येऽतिशयेन वसन्ति ते वसीयांसस्तान् । अत्र छान्दसो वर्णलोपो वा [अ० ८ । २ । २५ भा० का०] इतीकारलोपः । (करत्) कुर्य्यात् । अयं लेट्प्रयोगः । डुकृञ् करण इत्यस्य स्वादिगणान्तर्गतपठितत्वाच्छ्नुविकरणोऽत्र गृह्यते । तनादिभिः सह पाठादुविकरणोपि । कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः । अ० ८ । ३ । ५० । नित्यं करोतेः । अ० ६ । ४ । १०८ । एताभ्यां द्वाभ्यां ज्ञापकाभ्यामप्युभयगणप्रयोगः कृञ् गृह्यते । (यथा) (नः) अस्मान् । (श्रेयसः) अतिशयेन प्रशस्तान् । (करत्) कुर्य्यात् । अत्रापि लेट् । (यथा) (नः) अस्मान् । (व्यवसाययात्) निश्चयवतः कुर्य्यात् । अयं व्यवपूर्वात् षोऽन्तकर्मणीति ण्यन्ताद्धातोः प्रथमपुरुषैकवचने तिपि लेट्प्रयोगः ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ६ । २ । ११ व्याख्यातः ॥ ५८ ॥

अन्वयः[2]—वयं त्र्यम्बकं देवं रुद्रं जगदीश्वरमुपास्य दुःखान्यवादीमह्यवक्षाययेम । स यथा नोऽस्मान् वस्यसोऽव करद्यथा नोऽस्मान् श्रेयसोऽव करद्यथा नोऽस्मान् व्यवसाययात् तथा तं वसीयांसं श्रेयांसं व्यवसायप्रदं परमेश्वरमेव प्रार्थयामः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—नहीश्वरस्योपासनेन विना कश्चिन्मनुष्यः सर्वदुःखान्तं गच्छति, यः सर्वान् सुखनिवासान् प्रशस्तान् सत्यनिश्चयान् करोति, तस्यैवाज्ञा सर्वैः पालनीयेति ॥ ५८ ॥

---

१ अनेन सूत्रेण शपो लुकि श्यनोऽभाव इत्यर्थः । विषयोऽयं पूर्वं य० १ । १५ विवरणे (पृ० ८०,८१) विस्तरशो निरूपितः, तत एव द्रष्टव्यः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रुद्रम्) पूर्वं य० २ । ५ व्याख्यातः ॥

(त्र्यम्बकम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे 'त्रि' शब्द उदात्तः । यणि उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इति स्वरितत्वम् ॥

(वस्यसः) नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(यथा) लिति (अ० ६ । १ । १९३) प्रत्ययात् पूर्वं उदात्त इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(करत्) यावद्यथाभ्याम् (अ० ८ । १ । ३६) इति निघातप्रतिषेधः । अग्रे य० ७ । २५ अपि द्रष्टव्यम् ॥

(श्रेयसः) ईयसुनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(व्यवसाययात्) यावद्यथाभ्याम् (अ० ८ । १ । ३६) इत्येव निघातप्रतिषेधे णिजन्तस्य सनाद्यन्ता धातवः (अ० ३ । १ । ३२) इति धातुस्वरः, तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति गतिरनुदात्ता ॥

ये त्वत्र 'णिजन्तात्......चित्स्वरः', किञ्च 'करत्' इत्यत्र 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति वदन्ति । तद् सर्वमयुक्तम् । धातुस्वरेणान्तोदात्तत्वे, यावद्यथाभ्याम् (अ० ८ । १ । ३६) इति निघातप्रतिषेधे च सर्वमिष्टं सिध्यतीति बोध्यम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः ॥ ५८ ॥

अब अगले मन्त्र में रुद्र शब्द से ईश्वर का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हमलोग (त्र्यम्बकम्) तीनों काल में एकरस ज्ञानयुक्त (देवम्) देने वा (रुद्रम्) दुष्टों को रुलानेवाले जगदीश्वर की उपासना करके सब दुःखों को (अयाक्ष्महि) अच्छे प्रकार नष्ट करें। (यथा) जैसे परमेश्वर (नः) हमलोगों को (वस्यसः) उत्तम२ वास करनेवाले (अथाकरत्) अच्छेप्रकार करे (यथा) जैसे (नः) हमलोगों को (श्रेयसः) अत्यन्त श्रेष्ठ (करत्) करे, (यथा) जैसे (नः) हमलोगों को (व्यवसाययात्) निश्चयवाले करे, वैसे सुखपूर्वक निवास कराने वा उत्तम गुणयुक्त तथा सत्यपन से निश्चय देनेवाले परमेश्वर ही की प्रार्थना करें[2] ॥ ५८ ॥

भावार्थः—कोई भी मनुष्य ईश्वर की उपासना वा प्रार्थना विना सब दुःखों के अन्त को नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि वही परमेश्वर सब सुखपूर्वक निवास वा उत्तम २ सत्यनिश्चयों को कराता है, इससे जैसी उसकी आज्ञा है उसका वैसा ही पालन सब मनुष्यों को करना योग्य है ॥ ५८ ॥
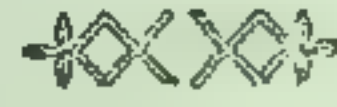
भेषजमसीत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । रुद्रो देवता । स्वराड् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[3] ॥

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुखं मेषाय मेष्यै ॥ ५९ ॥

भेषजम् । असि । भेषजम् । गवे । अश्वाय । पुरुषाय । भेषजम् ॥ सुखमिति सुऽखम् । मेषाय । मेष्यै ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(भेषजम्) शरीरान्तःकरणेन्द्रियात्मनां सर्वरोगाऽपहारकमौषधम् । (असि) । (भेषजम्) अविद्यादिक्लेशनिवारकम् । (गवे) इन्द्रियधेनुसमूहाय । (अश्वाय) तुरङ्गाद्याय । (पुरुषाय) पुरुषप्रभृतये । (भेषजम्) रोगनिवारकम् । (सुखम्) सुखं कस्मात् सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः । निरु० । ३ । १३ । (मेषाय) अवये । (मेष्यै) तत्स्त्रियै ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ६ । २ । ११ व्याख्यातः ॥ ५९ ॥

---

१ ईश्वर प्राणस्वरूप है, प्राणों का भी प्राण है, अतः ईश्वर भी रुद्र है, यह दर्शाते हैं—

२ यहां अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥ ५८ ॥

३ पूर्वोक्तस्य स्वरूपं वर्णयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(भेषजम्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥ यद्वा भिषज इदम्, भेषजम्, तस्येदम् (अ० ४ । ३ । १२०) इत्यण् । केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च (अ० ४ । १ । ३०), अनन्तावसथेतिहभेषजात्० (अ० ५ । ४ । २३) इति निर्देशाद् वा वृद्धिस्थाने एत्वं निपात्यते । अत्र पक्षे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(गवे) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६ । १ । १६८) इति विभक्त्युदात्तत्वे प्राप्ते न गोश्वन् साववर्ण० (अ० ६ । १ । १८२) इति प्रतिषेधे प्रातिपदिकस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(अश्वाय) अशूप्रुषि० (उ० १ । १५१) इति क्वन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(सुखम्) 'सुख दुःख तत्क्रियायाम्' (कण्ड्वादि) ततोऽच्प्रत्ययेऽन्तोदात्तः ॥

(मेषाय) मिषति स्पर्द्धते ऽसौ मेषः, 'मिष स्पर्द्धायाम्' (तु० प०) इति धातोः पचादित्वात्

अन्वयः—हे रुद्र जगदीश्वर ! यः [त्वं] शरीररोगनाशकत्वाद् भेषजमस्यात्मरोगदूरीकरणाद् भेषजमस्येवं सर्वेषां दुःखनिवारकत्वाद् भेषजमसि, स त्वं नोऽस्मभ्यमस्माकं वा गवेऽश्वाय पुरुषाय मेषाय मेष्यै सुखं देहि ॥ ५९ ॥

भावार्थः—नहि परमेश्वरोपासनेन विना शरीरात्मप्रजानां दुःखापनयो भूत्वा सुखं जायते, तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरौषधसेवनेन शरीरात्मप्रजापशूनां प्रयत्नेन दुःखानि निवार्य्य सुखं जननीय-मिति ॥ ५९ ॥

फिर वह परमेश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! जो आप (भेषजम्) शरीर अन्तःकरण इन्द्रिय और गाय आदि पशुओं के रोगनाश करनेवाले [(भेषजम्) आत्मिक रोगों के दूर करने वाले] (असि) हैं (भेषजम्) अविद्यादि क्लेशों को [दूर] करनेवाले हैं । सो आप हमलोगों के (गवे) गौ आदि (अश्वाय) घोड़ा आदि (पुरुषाय) सब मनुष्य (मेषाय) मेढ़ा और (मेष्यै) भेड़ आदि के लिये (सुखम्) उत्तम २ सुखों को अच्छी प्रकार दीजिये[3] ॥ ५९ ॥

भावार्थः—परमेश्वर की उपासना के विना किसी मनुष्य का शरीर आत्मा और प्रजा का दुःख दूर होकर सुख नहीं हो सकता, इससे [सबको] उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना आदि के करने, और ओषधियों के सेवन से शरीर आत्मा पुत्र मित्र और पशु आदि के दुःखों को यत्न से निवृत्त करके सुखों को सिद्ध करना उचित है ॥ ५९ ॥

त्र्यम्बकमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । रुद्रो देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[4] ॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ ६० ॥

त्र्यम्बकमिति त्रिऽअम्बकम् । यजामहे । सुगन्धिमिति सुऽगन्धिम् । पुष्टिवर्धनमिति पुष्टिऽवर्धनम् ॥ उर्वारुकमिवेत्युर्वारुकम्ऽइव । बन्धनात् । मृत्योः । मुक्षीय । मा । अमृतात् ॥ त्र्यम्बकमिति त्रिऽअम्बकम् । यजा-

---

'अच्' प्रत्यये चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(मेष्यै) मेष शब्दोऽन्तोदात्त इत्युक्तम् । ततो जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् (अ० ४ । १ । ६३) इति ङीष् प्रत्ययः, स चोदात्तः । ततो यणि उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः ॥ ५९ ॥

२ फिर पूर्वोक्त का स्वरूप दर्शाते हैं—

३ यहां अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥ ५९ ॥

४ पूर्ववद् ॥

मुहे । सुगुन्धिमिति सुऽगुन्धिम् । पुतिवेदनुमिति पतिऽवेदनम् ॥ उर्वारुकमिवेत्युर्वारुकम्ऽइव बन्धनात् । इतः । मुक्षीय । मा । अमुतः ॥ ६० ॥

पदार्थः—(त्र्यम्बकम्) उक्तार्थं रुद्रं जगदीश्वरम् । (यजामहे) नित्यं पूजयेमहि । (सुगन्धिम्) शोभनः शुद्धो गन्धो[1] यस्मात्तम् । अत्र गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः । अ० ५ । ४ । १३५ । इति सूत्रेण समासान्त इकारादेशः । (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टेः शरीरात्मक्ष्समाजबलस्य वर्धनस्तम् , अत्र नन्द्यादित्वाल्ल्युः प्रत्ययः । (उर्वारुकमिव) यथोर्वारुकफलं पक्वं भूत्वाऽमृतात्मकं भवति । (बन्धनात्) लतासम्बन्धात् । (मृत्योः) प्राणशरीरात्मवियोगात् । (मुक्षीय) मुक्तो भूयासम् । (मा) निषेधे । (अमृतात्) मोक्षसुखात् । (त्र्यम्बकम्) सर्वाध्यक्षम् । (यजामहे) सत्कुर्वीमहि । (सुगन्धिम्) सुष्ठु गन्धो[1] यस्मिँस्तम् । (पतिवेदनम्) पाति रक्षति स पतिः, †पतेर्वेदनं प्रापणं ज्ञानं वा यस्मात् तम् । (उर्वारुकमिव) उक्तोर्थः । (बन्धनात्) उक्तोर्थः । (इतः) अस्माच्छरीरात्मर्त्यलोकाद् वा । (मुक्षीय) पृथग्भूयासम् । (मा) निषेधार्थे । (अमुतः) मोक्षाख्यात् परलोकात् परजन्मसुखफलाद् धर्माद् वा ॥ अत्राह *यास्को निरुक्ते*—त्र्यम्बको रुद्रस्तं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं सुगन्धि सुष्ठु गन्धि पुष्टिवर्द्धनं पुष्टिकारकमिवोर्वारुकमिव फलं बन्धनादारोधनान्मृत्योः सकाशान्मुञ्चस्व माम् । निरु० १३ । ४८ ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ६ । २ । १२-१४ व्याख्यातः ॥ ६० ॥

१ गन्धशब्देन कीर्तिरभिप्रेता, तद्यथा—

"सुविस्तृतपुण्यकीर्तिम्" इति ऋ० ७।५९।१२ भाष्ये ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया ॥

(सुगन्धिम्) नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(पुष्टिवर्द्धनम्) 'पुष्टिं शरीरात्मबलं धातुसाम्यं च वर्धयति' इति य०३ । २९ भाष्ये विग्रहः, नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन लिति (अ० ६ । १ । १९३) प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वे 'वकारः' उदात्तः ॥

(उर्वारुकमिव) इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २ । १ । ४ भाष्ये), प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(बन्धनात्) लिति (अ० ६ । १ । १९३) प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् ॥

(मृत्योः) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ (उ० ३ । २१) इति 'त्युक्' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो मृत्युशब्दः । ततो ङसि अनुदात्तः । पूर्वरूपे स एवान्तोदात्तस्वरः ।

(अमृतात्) नञो जरमरमित्रमृताः (अ० ६ । २ । ११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तस्ततो विभक्तिरुदात्ता ॥

(पतिवेदनम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वे 'वे' उदात्तः ॥

(अमुतः) पञ्चम्यास्तसिल् (अ० ५ । ३ । ७), लिति (अ० ६ । १ । १९३) प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवतीति मध्योदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

क्ष 'समाज' इति पदं क. कोश एवास्ति, नान्येषु, न च अ. मु. इति ध्येयम् ॥
† 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ' इतिवदत्रापि बोध्यम् ॥

अन्वयः—वयं सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं त्र्यम्बकं देवं यजामहे नित्यं पूजयेमहि। एतस्य कृपयाऽहं बन्धनादुर्वारुकमिव मृत्योर्मुक्षीय मुक्तो भूयासम्। अमृतात्मा मुक्षीमहि मा श्रद्धारहिता भूयास्म। वयं सुगन्धिं पतिवेदनं त्र्यम्बकं सर्वस्वामिनं जगदीश्वरं यजामहे सततं सत्कुर्वीमहि। एतदनुग्रहेणाहं बन्धनादुर्वारुकमिवेतो मुक्षीय पृथग्भूयासम्। वयममुतो मोक्षसुखात् सत्यसुखफलाद् धर्माद् विरक्ता मा भूयास्म॥ ६०॥

अत्रोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—नैव मनुष्या ईश्वरं विहाय कस्याप्यन्यस्य पूजनं कुर्य्युः, तस्य वेदाविहितत्वेन दुःखफलत्वात्। यथोर्वारुकफलं यदा लतायां लग्नं सत् स्वयं पक्वं भूत्वा समयं प्राप्य लताबन्धनान्मुक्त्वा सुस्वादु भवति, तथैव वयं पूर्णमायुर्भुक्त्वा शरीरं त्यक्त्वा मुक्तिं प्राप्नुयाम। मा कदाचिन्मोक्षप्राप्त्यनुष्ठानात् परलोकात् परजन्मनो वा विरक्ता भवेम। नैव नास्तिकत्वमाश्रित्य कदाचिदीश्वरस्यानादरं कुर्य्याम। यथा व्यवहारिकसुखायान्नजलादिकमीप्सन्ति, तथैवेश्वरे वेदेषु तदुक्तधर्मे मुक्तौ च नित्यं श्रद्धीमहि॥ ६०॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2]॥

पदार्थः—हमलोग जो (सुगन्धिम्) शुद्ध गन्ध [=कीर्त्ति] युक्त (पुष्टिवर्धनम्) शरीर आत्मा और समाज के बल को बढ़ानेवाला (त्र्यम्बकम्) रुद्ररूप जगदीश्वर है, उसकी (यजामहे) निरन्तर स्तुति करें। इसकी कृपा से (उर्वारुकमिव) जैसे खर्बूजा फल पक कर (बन्धनात्) लता के संबन्ध से छूट कर अमृत के तुल्य होता है, वैसे हमलोग भी (मृत्योः) प्राण वा शरीर के वियोग से (मुक्षीय) छूट जावें। (अमृतात्) और मोक्षरूप सुख से (मा) श्रद्धारहित कभी न होवें॥ तथा हमलोग (सुगन्धिम्) उत्तम गन्ध[=कीर्त्ति]युक्त (पतिवेदनम्) रक्षा करनेहारे स्वामी को प्राप्त करानेवाले (त्र्यम्बकम्) सबके अध्यक्ष जगदीश्वर का (यजामहे) निरन्तर सत्कारपूर्वक ध्यान करें। और इसके अनुग्रह से (उर्वारुकमिव) जैसे खर्बूजा पककर (बन्धनात्) लताके संबन्ध से छूटकर अमृत के समान मिष्ट होता है, वैसे हमलोग भी (इतः) इस शरीर से (मुक्षीय) छूट जावें। (अमुतः) मोक्ष और अन्य जन्म के सुख और सत्यधर्म [के] फल से (मा) पृथक् न होवें[3]॥ ६०॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है॥

भावार्थः—मनुष्य लोग ईश्वर को छोड़कर किसी का पूजन न करें, क्योंकि वेद से अविहित और दुःखरूप फल होने से परमात्मा से भिन्न दूसरे किसी की उपासना न करनी चाहिये। जैसे खर्बूजा फल लतामें लगा हुआ अपने आप पककर समय के अनुसार लता से छूटकर सुन्दर स्वादिष्ट हो जाता है, वैसे ही हमलोग पूर्ण आयु को भोग कर शरीर को छोड़ के मुक्ति को प्राप्त होवें। कभी मोक्ष की प्राप्ति के लिये अनुष्ठान वा परलोक की इच्छा से अलग न होवें। और न कभी नास्तिक पक्ष को लेकर ईश्वर का अनादर भी करें। जैसे व्यवहार के सुखों के लिये अन्न जल आदि की इच्छा करते हैं, वैसे ही हमलोग, ईश्वर, वेद, वेदोक्तधर्म, और मुक्ति होने के लिये निरन्तर श्रद्धा करें॥ ६०॥

---

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः॥ ६०॥

२ पूर्ववत्॥

३ अन्वय में अध्यात्म अर्थ दर्शाया है॥ ६०॥

एतत्त इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । [रुद्रो देवता] ॐपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ रुद्रशब्देन शूरवीरकृत्यमुपदिश्यते[1] ॥

एतत्ते॑ रुद्राव॒सं तेन॑ प॒रो मूज॑व॒तोऽती॑हि ।
अव॑ततधन्वा॒ पिना॑कावसः कृत्ति॑वासा॒ऽअहि॑ꣳसन्नः शि॒वोऽती॑हि ॥ ६१ ॥

ए॒तत् । ते॒ । रु॒द्र॒ । अ॒व॒सम् । तेन॑ । प॒रः । मूज॑व॒त इति॒ मूज॑ऽवतः । अति॑ । इ॒हि॒ ॥ अव॑ततधन्वेत्यव॑ततऽधन्वा । पिना॑काव॒स इति॒ पिना॑कऽअवसः । कृत्ति॑वासा॒ इति॒ कृत्ति॑ऽवासाः । अहि॑ꣳसन् । नः॒ । शि॒वः । अति॑ । इ॒हि॒ ॥६१॥

पदार्थः—(एतत्) उक्तं वक्ष्यमाणं च । (ते) तव । (रुद्र) यो रोदयति शत्रूँस्तत्संबुद्धौ शूरवीर ! (अवसम्) रक्षणं स्वाम्यर्थं वा । (तेन) रक्षणादिना । (परः) प्रकृष्टः समर्थः । (मूजवतः) बहवो मूजा घासादयो विद्यन्ते यस्मिन् तस्मात् पर्वतात्[2] । मूजवान् पर्वतः । निरु० ६ । ८ । (अति) अतिक्रमणे । (इहि) उल्लङ्घय । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । (अवततधन्वा) अवेति निगृहीतं ततं विस्तृतं धनुर्येन सः । (पिनाकावसः) पिनष्टि शत्रून् येन तत् पिनाकं, तेनावसः, पिनाकस्यावसो रक्षणं वा‡ यस्मात् सः । पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन । निरु० ३ । २१ । (कृत्तिवासाः) कृत्तिश्चर्म तद्वद् दृढानि वासांसि धृतानि येन सः । (अहिंसन्) अनाशयन् रक्षन् सन् । (नः) अस्मान् । (शिवः) सुखप्रदः । (अति) [अति इति] अभिपूजितार्थे । निरु० १ । ३ । (इहि) प्राप्नुहि ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ६ । २ । १६, १७ व्याख्यातः ॥ ६१ ॥

१ एकदेशसाम्याच्छूरस्यापि रुद्रत्वमाह—
२ सामान्यपर्वतार्थोऽत्र मूजवान् शब्द इति प्रदर्शयति ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अवसम्) अत्यविचमितमिनमि० (उ० ३ । ११७) इति 'असच्' प्रत्ययः । चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तस्ततो विभक्तिरनुदात्ता । तत एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तत्वम् ॥

(परः) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(मूजवतः) 'मुज मुजि शब्दे' (भ्वा० प०) मोजति शब्दं करोतीति मुजः, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३ । १ । १३५) इति 'क'प्रत्ययः । अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६ । ३ । १३७) इति नारकः, पूरुष इतिवद् दीर्घत्वम् । वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तः, ततो 'मतुप्' अनुदात्तो विभक्तिश्चानुदात्ता ॥ ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६ । १ । १७६) इत्यन्तोदात्ताद् इत्यनुवर्त्तनादत्र न प्रवर्त्तते ॥

(अवततधन्वा) धनुषश्च (अ० ५ । ४ । १३२) इति 'अनङ्' । 'अवतत' शब्दो गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्याद्युदात्तः । ततः बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(पिनाकावसः) पिनाकादयश्च (उ० ४ । १५) 'आक' प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । नित्त्वादाद्युदात्ता एव । ततो बहुव्रीहिसमासे प्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(कृत्तिवासाः) 'कृती छेदने' (तु० प०), कृत्यत इति कृत्तिः चर्म । स्त्रियां क्तिन् (अ० ३ । ३ । ९४) इति क्तिन्, ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः कृत्तिशब्दः, ततो बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वमेव ॥

ॐ 'भुरिगास्तारपङ्क्तिश्छन्दः' इति अ० मु० कोशेषु च पाठ इति ध्येयम् ॥
‡ 'वा' इति पदं अ. मु. पूर्वे 'तेनावसो' इतोऽग्रे वर्त्तते ॥

अन्वयः—हे रुद्र शूरवीर विद्वन् युद्धविद्याविचक्षण सेनाध्यक्षावततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः शिवः परः प्रकृष्टसामर्थ्यः संस्त्वं मूजवतः पर्वतात् परं शत्रूनतीह् युल्लङ्घय, तस्मात् पारं गमय। यदेतत्ते तवावसं पालनमस्ति तेन [नः] अस्मानहिंसन्नतीहि ॥ ६१ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या अजातशत्रुभिर्युष्माभिर्भूत्वा, निश्शत्रुकं राज्यं कृत्वा, सर्वाण्यस्त्रशस्त्राणि संपाद्य, दुष्टानां दण्डहिंसाभ्यां श्रेष्ठानां पालकै * र्भवितव्यम्। यतो न कदाचिद् दुष्टाः सुखिनः श्रेष्ठा दुःखिताश्च भवेयुरिति ॥ ६१ ॥

अगले मन्त्र में रुद्र शब्द से शूरवीर के कर्मों का उपदेश किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (रुद्र) शत्रुओं को रुलानेवाले युद्धविद्या में कुशल सेनाध्यक्ष विद्वन्! (अवततधन्वा) युद्ध के लिये विस्तारपूर्वक धनु को धारण करने (पिनाकावसः) पिनाक अर्थात् शस्त्र से शत्रुओं के बलको पीसके अपनी रक्षा करने (कृत्तिवासाः) चमड़े और कवचों के समान दृढ़ वस्त्रों के धारण करने (शिवः) सब सुखों के देने और (परः) उत्तम सामर्थ्यवाले शूरवीर पुरुष आप (मूजवतः) मूंज घास आदियुक्त पर्वत से [परे] दूसरे देश में शत्रुओं को (अतीहि) † दूर कीजिये। (एतत्) जो यह (ते) आपका (अवसम्) रक्षण करना है (तेन) उससे (नः) हमलोगों की (अहिंसन्) हिंसा को छोड़कर रक्षा करते हुए आप (अतीहि) सब प्रकार से हमलोगों को अच्छी प्रकार प्राप्त हूजिये[3] ॥ ६१ ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! तुम शत्रुओं से रहित होकर, राज्य को निष्कण्टक करके, सब अस्त्रशस्त्रों का संपादन करके, दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों की रक्षा करो, कि जिससे दुष्ट शत्रु सुखी और सज्जन लोग दुःखी कदापि न होवें ॥ ६१ ॥

त्र्यायुषमित्यस्य नारायण ऋषिः। रुद्रो देवता। उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

मनुष्येण कीदृशमायुर्भोक्तुमीश्वरः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[4] ॥

(अहिंसन्) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्माधियज्ञपरोऽत्रान्वयः ॥

विशेषवक्तव्यम्

मन्त्रो ऽयं निरु० ३। २१ व्याख्यातः ॥ ६१ ॥

२ एकदेश की समानता से शूरवीर भी रुद्र है, यह बतलाते हैं—

३ यहां अन्वय में आध्यात्मिक तथा अधियज्ञ अर्थ दर्शाया है ॥

विशेष वक्तव्य

यह मन्त्र निरुक्त ३। २१ में व्याख्यात है ॥ ६१ ॥

---

४ प्राणनिमित्तत्वादायुषस्तस्य वृद्धिः कर्त्तव्येति दर्शयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(त्र्यायुषम्) द्विगुसमासे अचतुरविचतुरसुचतुर० (अ० ५। ४। ७७) इति 'अच्' समासान्तः।

---

* 'पालनेन' इति तु अ० मुद्रितपाठः ॥

† 'प्राप्त कीजिये' इति अ० मु० ख. ग. कोशयोश्च पाठः। 'उलंघन कीजिये' इति क. पाठः ॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥ ६२ ॥

त्र्यायुषमिति त्रिऽआयुषम् । जमदग्नेरिति जमत्ऽअग्नेः । कश्यपस्य । त्र्यायुषमिति त्रिऽआयुषम् ॥ यत् । देवेषु । त्र्यायुषमिति त्रिऽआयुषम् । तत् । नः । अस्तु । त्र्यायुषमिति त्रिऽआयुषम् ॥ ६२ ॥

पदार्थः—(त्र्यायुषम्) त्रीणि च तान्यायूंषि च त्र्यायुषम् । बाल्ययौवनवृद्धावस्थासुखकरम् । इदं पदं अचतुरविचतुर० । अ० ५ । ४ । ७७ । इति सूत्रे समासान्तत्वेन निपातितम् । (जमदग्नेः) चक्षुषः । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः । शत० ८ । १ । २ । ३ । जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति । निरु० ७ । २४ । अनेनापि प्रमाणेन रूपगुणग्राहकं चक्षुर्गृह्यते । (कश्यपस्य) आदित्यस्येश्वरस्य । प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात् कूर्म्मः । कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति । श० ७ । ५ । १ । ५ । अनेन प्रमाणेनेश्वरस्य कश्यपसंज्ञा । एतन्निर्मितं त्रिगुणमायुर्लभेमहीत्यभिप्रायः । (त्र्यायुषम्) ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थाश्रमसुखसंपादकं त्रिगुणमायुः । (यत्) यादृशं यावत् । (देवेषु) विद्वत्सु । विद्वाꣳसो हि देवाः । श० ३ । ७ । ३ । १० । (त्र्यायुषम्) विद्याशिक्षापरोपकारसहितं त्रिगुणमायुः । (तत्) तादृशं तावत् । (नः) अस्माकम् । (अस्तु) भवतु । (त्र्यायुषम्) पूर्वोक्तं त्रिगुणमायुः । अत्र एतेर्णिच्च । उ० २ । ११८ । अनेनेण्धातोरुसिः प्रत्ययो णिद्वत्त्वाद् वृद्धिः । ईयते प्राप्यते यत्तदायुः ‡ ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे[2] रुद्र जगदीश्वर ! तव कृपया यद्देवेषु त्र्यायुषं यज्जमदग्नेस्त्र्यायुषं कश्यपस्य तव व्यवस्थासिद्धं त्र्यायुषमस्ति, तत् [त्र्यायुषं] नोऽस्माकमस्तु ॥ ६२ ॥

भावार्थः—अत्र चक्षुरिन्द्रियाणां, कश्यप ईश्वरः स्रष्टॄणामुत्तमोऽस्तीति विज्ञेयम् । त्र्यायुषमित्यस्य चतुरावृत्त्या त्रिगुणादधिकं चतुर्गुणमप्यायुः संगृह्यैतत्प्राप्त्यर्थं जगदीश्वरं प्रार्थ्य स्वेन[3] पुरुषार्थश्च कर्त्तव्यः । तद्यथा हे जगदीश्वर ! भवत्कृपया यथा विद्वांसो विद्यापरोपकारधर्मानुष्ठानेनानन्दतया त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुर्भुञ्जते, तथैव यत्त्रिविधतापव्यतिरिक्तं शरीरेन्द्रियान्तःकरणप्राणसुखाढ्यं विद्याविज्ञानसहितमायुरस्ति तद्वयं प्राप्य त्रिशतवर्षं चतुःशतवर्षं वाऽऽयुः सुखेन भुञ्जीमहीति ॥ ६२ ॥

चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः, तत एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्त एव ॥

(जमदग्नेः) 'जमु अदने' (भ्वा० प०) इत्यस्माद् धातोरौणादिकः 'अदि' प्रत्ययः । 'जमत्' शब्दस्य ज्वलतिकर्मसु पाठाद् ज्वलत्यर्थोऽपि गृह्यते । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(कश्यपस्य) पश्यतीति पश्यः । पाघ्राध्माधेड्दृशः शः (अ० ३ । १ । १३७) इति 'श' प्रत्ययः, पश्य एव पश्यकः, संज्ञायां कन् (अ० ५ । ३ । ७५) इति कन् । पृषोदरादित्वादाद्यन्तविपर्ययो मध्योदात्तश्च । तथाहि तैत्तिरीयारण्यके—

"कश्यपः पश्यको भवतीति, यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्" इति ॥ तै० आ० १ । ८ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरो ऽत्रान्वयः ॥
२ 'रुद्र' इति पदं ६१ मन्त्रादनुवर्त्तत इति ध्येयम् ॥
३ आत्मवाच्यत्र स्वशब्दः ॥

‡ इतोऽग्रे "अयं मन्त्रः श० २ । ५ । ४ । १–७ व्याख्यातः" इति सार्वत्रिकः पाठः ॥ इत आरभ्य मन्त्रव्याख्यानं शतपथे नोपलभ्यते ॥

मनुष्य को कैसी आयु भोगने के लिये ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये; इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आप (यत्) जो (देवेषु) विद्वानों में (त्र्यायुषम्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, और वानप्रस्थ आश्रमों का परोपकार से युक्त आयु है, जो (जमदग्नेः) चक्षु आदि इन्द्रियों का (त्र्यायुषम्) शुद्धि, बल, और पराक्रमयुक्त तीन गुण आयु और जो (कश्यपस्य) ईश्वरप्रेरित (त्र्यायुषम्) तिगुणी अर्थात् तीन सौ वर्ष [तथा उस] से भी अधिक आयु विद्यमान है (तत्) उस शरीर आत्मा और समाज को आनन्द देनेवाले (त्र्यायुषम्) तीन सौ वर्ष [वा उस] से अधिक आयु (नः) हमलोगों को [अस्तु)] प्राप्त हो ॥ ६२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में चक्षुः सब इन्द्रियों में और परमेश्वर सब रचना करनेहारों में उत्तम है, ऐसा सब मनुष्यों को समझना चाहिये । और (त्र्यायुषम्) इस पद की चार बार आवृत्ति होने से तीन सौ वर्ष से अधिक चार सौ वर्षपर्यन्त भी आयु का ग्रहण किया है । इसकी प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करके और अपना पुरुषार्थ करना उचित है, [सो] प्रार्थना इस प्रकार करनी चाहिये, हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से जैसे विद्वान् लोग विद्या धर्म और परोपकार के अनुष्ठान से आनन्दपूर्वक तीन सौ वर्ष पर्यन्त आयु को भोगते हैं, वैसे ही तीन प्रकार के ताप से [रहित] शरीर, मन, बुद्धि, चित्त अहंकाररूप अन्तःकरण, इन्द्रिय और प्राण आदि को सुख करनेवाले विद्या विज्ञान [से] सहित आयु का हमलोग प्राप्त होकर तीन सौ वा चारसौ वर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक भोगें ॥ ६२ ॥

शिवो नामासीत्यस्य नारायण ऋषिः । रुद्रो देवता । भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ रुद्रशब्देन [ईश्वरो] पदेशकगुणा उपदिश्यन्ते[3] ॥

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः ।
निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥ ६३ ॥

वि० वक्तव्यम्

अव्याख्यातो ऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ॥ ६२ ॥

१ आयु का हेतु प्राण ही है, अतः उसको बढ़ाना चाहिये, यह दर्शाते हैं—

२ अन्वय में अध्यात्म अर्थ दर्शाया है ॥

वि० वक्तव्य

इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ में नहीं है ॥६२॥

---

३ रुद्रस्य नियन्तृत्वात् तत्सादृश्येनोपदेशकगुणान-व्याह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(स्वधितिः) 'धि धारणे' (तु० प०) इत्यस्माद् धातोः 'क्तिन्'प्रत्ययः, स्वस्य धितिरवस्थानं यस्मिन्निति बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(प्रजननाय) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे लिति (अ० ६ । १ । १९३) प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वे 'ज' उदात्तः ॥

(रायः) पूर्वं य० २ । १० व्याख्यातः ॥

(पोषः) पूर्वं य० २ । २३ व्याख्यातः ॥

(सुप्रजास्त्वाय) बहुव्रीहौ समासे नित्यमसिच् प्रजामेधयोः (अ० ५ । ४ । १२२)इत्यनेन 'असिच्' समासान्त इति सुप्रजाःशब्दः, चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः, ततः तस्य भावस्त्वतलौ (अ० ५ । १ । ११९) इति 'त्व'प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणा-न्तोदात्तः सुप्रजास्त्वशब्दः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(सुवीर्याय) वीरवीर्यौ च (अ० ६ । २ । १२०) इत्युत्तरपदाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

शि॒वः । नाम॑ । अ॒सि॒ । स्वधि॑ति॒रिति॒ स्वऽधि॑तिः । ते॒ । पि॒ता । नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु॒ । मा । मा॒ । हि॒ꣳसीः॒ ॥ नि । व॒र्त्त॒या॒मि॒ । आयु॑षे । अ॒न्ना॒द्या॒येत्य॑न्न॒ऽअद्या॑य । प्र॒जन॑ना॒येति॑ प्र॒ऽजन॑नाय । रा॒यः । पोषा॑य । सु॒प्र॒जा॒स्त्वा॒येति॑ सु॒प्र॒जाः॒ऽत्वाय॑ । सु॒वी॒र्य्या॒येति॑ सु॒ऽवी॒र्य्या॑य ॥ ६३ ॥

पदार्थः—(शिवः) मङ्गलस्वरूपो ज्ञानमयो विज्ञानप्रदः । (नाम) आख्या । (असि) भवसि । (स्वधितिः) अविनाशित्वाद् वज्रमयः । स्वधितिरिति वज्रनामसु पठितम् । निघं० २ । २० । (ते) तव । (पिता) पालकः । (नमः) सत्कारार्थे । (ते) तुभ्यम् । (अस्तु) भवतु । (मा) निषेधार्थे । (मा) माम् । (हिꣳसीः) हिन्धि । अत्र [1]लोडर्थे लुङ् । (नि) निश्चयार्थे निवारणार्थे वा । (वर्त्तयामि) ॐस्पष्टार्थः । (आयुषे) आयुर्भोगाय । (अन्नाद्याय) अत्तुं योग्यमद्यमन्नं च तस्मै । यद्वाऽन्नमोदनादिकं भोज्यं यस्मिंस्तस्मै । (प्रजननाय) सन्तानोत्पादनाय । (रायस्पोषाय) रायो विद्यासुवर्णादिधनस्य पोषाय, पुष्यन्ति यस्मिंस्तस्मै । (सुप्रजास्त्वाय) शोभनाः सन्तानादयश्चक्रवर्त्तिराज्यं च प्रजा यस्मात्तस्य भावस्तस्मै । (सुवीर्य्याय) शोभनं वीर्य्यं शरीरात्मनो बलं पराक्रमो यस्मात् तस्मै† ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे[2] [3] रुद्र [जगदीश्वर विद्वन् वा !] यस्त्वं स्वधितिरसि यस्य ते तव शिवो नामास्ति । स त्वं मम पितासि, ते तुभ्यं नमोऽस्तु । त्वं मां मा मा हिंसीर्मा हिन्ध्यहं त्वामायुषेऽन्नाद्याय [प्रजननाय] सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याय रायस्पोषाय वर्त्तयामि, त्वदाश्रयेण सर्वाणि दुःखानि निवर्त्तयामि ॥ ६३ ॥

भावार्थः—नहि कश्चिन्मनुष्यो मङ्गलमयस्य सर्वपितुः परमेश्वरस्याज्ञापालनेनोपदेशकसंगेन विनैहिकपारमार्थिकसुखे प्राप्तुं शक्नोति । नैव केनापि नास्तिकत्वेन खल्वीश्वरस्य विदुषां चानादरः कर्त्तव्यः । यो नास्तिको भूत्वैतस्यैतेषां चानादरं करोति, तस्य सर्वत्रानादरो जायते, तस्मान्मनुष्यैरास्तिकैः सदा भवितव्यमिति ॥ ६३ ॥

अत्र तृतीयाध्यायेऽग्निहोत्रादियज्ञवर्णनमग्निस्वभावार्थप्रतिपादनं पृथिवीभ्रमणलक्षणमग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थप्रतिपादनमग्निहोत्रमन्त्रप्रकाशनमीश्वरोपस्थानमग्निस्वरूपमीश्वरप्रार्थनं तदुपासनं ‡यज्ञफलप्रकाशनं तत्फलवर्णनमीश्वरस्वभावप्रतिपादनं सूर्य्यकिरणकृत्यवर्णनं नित्योपासनं सावित्रीमन्त्रप्रतिपादनꣳमीश्वरोपासनं भौतिकाग्न्यर्थवर्णनं गृहाश्रमकरणावश्यकानुष्ठानलक्षणे इन्द्रमरुत्कृत्यं पुरुषार्थकरणावश्यकं पापान्निवर्त्तनं यज्ञपूर्त्यावश्यकं सत्यत्वेन ग्रहणदानव्यवहारकरणं विद्वत्पुरुषर्त्तुस्वभाववर्णनं, अन्तःकरणचतुष्टयस्य लक्षणं रुद्रशब्दार्थप्रतिपादनं त्रिगुणायुष्करणावश्यकं धर्मेणायुरादिपदार्थसंग्रहणं च वर्णितमेतेनास्य तृतीयाध्यायार्थस्य द्वितीयाध्यायार्थेन सह संगतिरस्तीति बोद्धव्यम् ॥

इति श्रीमद्विद्वद्वर्य्यपरिव्राजकाचार्य्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये तृतीयोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥ ३ ॥

---

१ माङि लुङ् (अ० ३ । ३ । १७५) इति भावः ॥
२ अध्यात्मपरो ऽत्रान्वयः ॥ ६३ ॥
३ अत्रापि रुद्रशब्दो मन्त्रे नास्ति । पूर्वस्मात् (६१) मन्त्रादनुवर्त्तत इति ध्येयम् ॥

ॐ 'स्पष्टार्थः' इति अ० मु० नास्ति । क. ख. कोशयोस्तु 'स्पष्टार्थ'मिति पाठः ॥
† इतोऽग्रे "अयं मन्त्रः श० २ । ५ । ४ । ८-११ व्याख्यातः" इति सार्वत्रिकः पाठः ॥
‡ 'यज्ञफलप्रकाशनं' इति पाठः अ० मुद्रिते कोशेषु 'भौतिकाग्न्यर्थवर्णनं' इत्येतस्मात् पूर्वं वर्त्तते ॥
ꣳ 'ईश्वरोपासनम्' इति क. हस्तलेखपाठः, अन्यत्र नास्ति ॥

अब अगले मन्त्र में रुद्र शब्द से [ईश्वर तथा] उपदेश करनेहारों के गुणों का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर और उपदेश करनेहारे विद्वन् ! जो आप (स्वधितिः) अविनाशी होने से वज्रमय (असि) हैं, जिस (ते) आपका (शिवः) सुखस्वरूप विज्ञान का देनेवाला (नाम) नाम (असि) है, सो आप मेरे (पिता) पालन करनेवाले (असि) हैं । (ते) आपके लिये मेरा (नमः) सत्कारपूर्वक नमस्कार (अस्तु) विदित हो, तथा आप (मा) मुझे (मा) मत (हिंसीः) मृत्यु से युक्त कीजिये । और मैं आपको (आयुषे) आयुके भोगने (अन्नाद्याय) अन्न आदि के भोगने [(प्रजननाय) सन्तानोत्पादन करने] (सुप्रजास्त्वाय) उत्तम २ पुत्र आदि वा चक्रवर्ति राज्य आदि की प्राप्ति होने (सुवीर्य्याय) उत्तम शरीर, आत्मा का बल पराक्रम होने और (रायस्पोषाय) विद्या वा सुवर्ण आदि धन की पुष्टि के लिये आपके आश्रय से सब दुःखों को (‡निवर्त्तयामि) दूर करता वा कराता हूँ[2] ॥ ६३ ॥

भावार्थः—कोई भी मनुष्य, मङ्गलमय सबकी पालना करनेवाले परमेश्वर की आज्ञापालन के विना संसार वा परलोक के सुखों के प्राप्त होने को समर्थ नहीं होता । न कदापि किसी मनुष्य को नास्तिक पक्ष को लेकर ईश्वर का अनादर करना चाहिये । जो नास्तिक होकर ईश्वर का अनादर करता है उसका सर्वत्र अनादर होता है, इससे सब मनुष्यों को आस्तिक बुद्धि से ईश्वर की उपासना करनी योग्य है ॥ ६३ ॥

इस तीसरे अध्याय में अग्निहोत्र आदि यज्ञों का वर्णन, अग्नि के स्वभाव वा अर्थ का प्रतिपादन, पृथिवी के भ्रमण का लक्षण, अग्निशब्द से ईश्वर वा भौतिक अर्थ का प्रतिपादन, अग्निहोत्र के मन्त्रों का प्रकाश, ईश्वर का उपस्थान, अग्नि का स्वरूपकथन, ईश्वर की प्रार्थना, उपासना वा इन दोनों का फल, ईश्वर के स्वभाव का प्रतिपादन, सूर्य्य की किरणों के कार्य्य का वर्णन, निरन्तर उपासना, गायत्रीमन्त्र के अर्थ का प्रतिपादन, यज्ञ के फल का प्रकाश, भौतिक अग्नि के अर्थ का प्रतिपादन, गृहस्थाश्रम के आवश्यक कार्यों के अनुष्ठान और लक्षण, इन्द्र और पवनों के कार्य्य का वर्णन, पुरुषार्थ अवश्य करना, पापों से निवृत्त होना, यज्ञ की समाप्ति अवश्य करनी, सत्य से लेने देने आदि व्यवहार करना, विद्वान् वा ऋतुओं के स्वभाव का वर्णन, चार प्रकार के अन्तःकरण का लक्षण, रुद्र शब्द के अर्थ का प्रतिपादन, तीन सौ वर्ष आयु का अवश्य संपादन करना और धर्म से आयु आदि पदार्थों के ग्रहण का वर्णन किया है, इससे दूसरे अध्याय के अर्थ के साथ इस तीसरे अध्याय के अर्थ की संगति जाननी चाहिये ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्विद्वद्वर्य्यपरिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुत-
दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते
संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिते
सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
तृतीयोऽध्यायः
समाप्तिमगमत् ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

---

१ रुद्र होते हुये भी उसके कल्याणस्वरूप होने से उसकी समानता से उपदेशक के गुण कहे हैं—

२ अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है ॥ ६३ ॥

‡ "(वर्त्तयामि) वर्त्ताता वा वर्त्तता हूं, इस प्रकार वर्तने से सब दुःखों को छुड़ा के अपने आत्मा में उपास्यरूप से निश्चय करके अन्तर्यामीरूप आपका आश्रय करके धर्मों में वर्तता हूं" इति भूतपूर्वसंस्कृतानुसारी पाठः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ॥ यद्भद्रं तन्नऽआसुव ॥ १ ॥

अस्मिन्नध्याये सप्तत्रिंशन्मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम् ॥

तत्रैदमगन्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अबोषध्यौ देवते । विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ जलगुणस्वभावकृत्यमुपदिश्यते[1] ॥

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासोऽअजुषन्त विश्वे ।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम ।
इमाऽआपः शमु मे सन्तु देवीरोषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः ॥ १ ॥

आ । इदम् । अगन्म । देवयजनमिति देवऽयजनम् । पृथिव्याः । यत्र । देवासः । अजुषन्त । विश्वे ॥ ऋक्सामाभ्यामित्यृक्ऽसामाभ्याम् । सन्तरन्त इति सम्ऽतरन्तः । यजुर्भिरिति यजुःऽभिः । रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदेम ॥ इमाः । आपः । शम् । † ऊँऽइत्यूँ । मे । सन्तु । देवीः । ओषधे । त्रायस्व । स्वधित इति स्वऽधिते । मा । एनम् । हिंसीः ॥ १ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् । (इदम्) वक्ष्यमाणम् । (अगन्म) प्राप्नुयाम । अत्र लिङर्थे लुङ्[2] । (देवयजनम्) देवानां विदुषां यजनं पूजनं तेभ्यो दानं च । (पृथिव्याः) भूमेर्मध्ये । (यत्र) देशे (देवासः) विद्वांसः । (अजुषन्त) प्रीतवन्तः सेवितवन्तः । (विश्वे) सर्वे । (ऋक्सामाभ्याम्[3]) ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थान् येन स ऋग्वेदः । साम्[4]यन्ति सान्त्वयन्ति [स्यन्ति[5]] कर्मान्तं फलं प्राप्नुवन्ति येन स सामवेदः, ऋक् च साम च ताभ्याम् । अत्र अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्साम० । अ० ५ । ४ । ७७ । इति सूत्रेणायं समासान्ताच्प्रत्ययेन निपातितः । (संतरन्तः) दुःखस्यान्तं प्राप्नुवन्तः । (यजुर्भिः) यजुर्वेदस्थमन्त्रोक्तैः कर्मभिः । (रायः) धनस्य । (पोषेण) पुष्ट्या । (सम्) सम्यगर्थे । (इषा[6]) इष्टविद्ययाऽन्नादिना वा । (मदेम) सुखयेम । अत्र विकरणव्यत्ययः । (इमाः) प्रत्यक्षाः । (आपः) जलानि । (शम्) सुखकारिकाः । (उ) वितर्के । (मे) मम । (सन्तु) भवन्तु । (देवीः) शुद्धा रोगनाशिकाः । अत्र वा च्छन्दसि [अ० ६ । १ । १०६] इति जसः पूर्वसवर्णत्वम् । (ओषधे[7]) सोमा-

१ इत्थं तृतीयाध्यायेऽग्निगुणान् तद्रूपांश्चानेकविधानुपवर्ण्य, शुचिनैव कार्यं यज्ञादीति हेतोः शौचाधायकस्य तत्सहकारिणो जलस्यौषधिमूलभूतस्य गुणान् वक्तुमुपक्रमते—

२ मन्त्रे घसह्वरणश० (अ० २ । ४ । ८०) इत्यादिना च्लेर्लुक् ॥

३ ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति (निरु० १३ । ७) ॥

४ 'साम सान्त्वप्रयोगे' चुरादिः ॥

५ 'षो अन्तकर्मणि' दिवा० पर० ॥

६ य० १ । १ विवरणे व्याख्यातः ॥

७ प्रथमार्थे सम्बुद्धिः । यदत्र वक्तव्यं तत् सर्वं य० १ । १ 'अघ्न्याः' इति व्याख्यान उक्तम् ॥

† 'ऊँ इत्युँ' इत्यपपाठो ऽजमेरमुद्रिते ।

द्योषधिगणः। (त्रायस्व) त्रायताम्। (स्वधिते[1]) रोगनाशने स्वधितिर्वज्रवत् प्रवर्त्तमानः। स्वधितिरिति वज्रनामसु पठितम्। निघ० २। २०। (मा) निषेधार्थे। (एनम्) यजमानं प्राणिसमूहं वा। (हिंसीः) हिंस्यात्। अत्र लिङर्थे लुङ्॥ [अयं मन्त्रः श० ३। १। १। ११—१२॥ ३। १। २। १—१०॥ व्याख्यातः]॥ १॥

अन्वयः—हे विद्वन्! यथा पृथिव्या मध्ये मनुष्यजन्म [इदं] देवयजनं [च] प्राप्य यत्र ऋक्सामाभ्यां यजुर्भी रायस्पोषेण दुःखानि [समिधा] सन्तरन्तो विश्वे देवासो वयं सुखानि [आ] अगन्मानुपन्त मदेम सुखचेम। उ इति वितर्के मे मम विद्यासुशिक्षाभ्यां सेविता इमा [देवीः] देव्यः आपः सुखकारिकाः सन्ति, तथैव तत्र त्वं ‡ ता जुषस्व, तवैताः शं सन्तु सुखकारिका भवन्तु। यथौषधे सोमलताद्योषधिगणो रोगेभ्यस्त्रायते, तथा त्वं नस्त्रायस्व, [स्वधिते] स्वधितिर्वज्रस्त्वमेनं जीवं मा हिंसीर्हननं मा कुर्य्याः[2]॥ १॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—यथा मनुष्याः साङ्गान् सरहस्यांश्चतुरो वेदानधीत्यान्यानध्याप्य, विद्यां प्रदीप्य, विद्वांसो भूत्वा सुकर्मानुष्ठानेन सर्वान् प्राणिनः सुखयेयुस्तथैवैतान् सत्कृत्यैतेभ्यो वैदिकविद्यां प्राप्य श्रेष्ठाचारौषधिसेवनाभ्यां दुःखान्तं गत्वा शरीरात्मपुष्ट्या धनं समुपचित्य सर्वैर्मनुष्यैरानन्दितव्यम्॥ १॥

---

१ अत्रापि पूर्ववदेव प्रथमार्थे सम्बुद्धिः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इदम्) इदम्शब्दः इन्देः कमिर्नलोपश्च (उ० ४। १५७) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। संहितायां एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८। २। ५) इत्येकार उदात्तः॥

(ऋक्सामाभ्याम्) चितः (अ० ६। १। १६३) इत्यन्तोदात्तः॥

(सन्तरन्तः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुक० (अ० ६। १। १८६) इति लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे धातुस्वरेणोत्तरपदाद्युदात्तत्वम्॥

(यजुर्भिः) अर्त्तिपृवपियजि० (उ० २। ११७) इति 'उसि' प्रत्यये नित्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(रायः) ऊडिदंपदाद्यप्० (अ० ६। १। १७१) इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

(पोषेण) घञन्तः पोषशब्दः, ञित्त्वादाद्युदात्तः॥

(देवीः) पूर्वं यजुः ३।१२ पृष्ठ ७० व्याख्यातः॥

(ओषधे) य० १। २१ विवरणे पृ० १०३ व्याख्यातस्तत्र द्रष्टव्यः॥

(त्रायस्व) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८। १। ७२) इति वचनादविद्यमानवद्भावे लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(स्वधिते) समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः (अ० ८। १। १८ भा० वा०) इति वचनादाष्टमिकस्वरो न भवति, तदभावे आमन्त्रितस्य च (अ० ६। १। १९८) इति षाष्ठिकः स्वरः, पक्षे छान्दसः स्वरः॥

(एनम्) अन्वादेशे द्वितीयाटौस्स्वेनः (२। ४। ३४) इत्यनुदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

२ अध्यात्माधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः। त्रिविधप्रक्रियात्र पदार्थतोऽन्वयतश्चाप्यवगन्तव्या॥ १॥

---

‡ 'त्वं तानि जुषस्व मदेमस्तवैताः शंसन्तु' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः। क. ख. कोशयोस्तु नास्त्ययं पाठ इति ध्येयम्।

अब चौथे अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है, इसके प्रथम मन्त्र में जल के गुण, स्वभाव और कृत्य का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वन्! जैसे (पृथिव्याः) भूमिपर मनुष्यजन्म को प्राप्त होके जो (इदम्) यह (देवयजनम्) विद्वानों का यजन पूजन वा उनके लिये दान है, उसको प्राप्त होके (यत्र) जिस देश में (ऋक्सामाभ्याम्) ऋग्वेद, सामवेद, तथा (यजुर्भिः) यजुर्वेद के मन्त्रों में कहे कर्म (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि (समिषा) उत्तम २ विद्या आदि की इच्छा वा अन्न आदि से दुःखों के (सन्तरन्तः) अन्त को प्राप्त होते हुए (विश्वे) सब (देवासः) विद्वान् हम लोग सुखों को ([आ] अगन्म) प्राप्त हों, (अनुपन्त) सब प्रकार से सेवन करें (मदेम) सुखी रहें। (उ) और भी (मे) मेरे सुनियम विद्या उत्तम शिक्षा से सेवन किये हुए (इमाः) ये (देवीः) शुद्ध, [रोगनाशक] (आपः) जल सुख देनेवाले होते हैं, वैसे वहाँ तू भी उनको प्राप्त हो सेवन और आनन्द कर, वे जल आदि पदार्थ भी तुझको (शम्) सुख करानेवाले (सन्तु) होवें। जैसे (ओषधे) सोमलता आदि ओषधिगण सब रोगों से रक्षा करता है, वैसे तू भी हमलोगों की (त्रायस्व) रक्षा कर। (स्वधिते) रोगनाश करने में वज्र के समान होकर (एनम्) इस यजमान वा प्राणीमात्र को (मा हिंसीः) कभी मत मार[2] ॥ १ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे मनुष्य लोग ब्रह्मचर्य पूर्वक अङ्ग और उपनिषत् सहित चारों वेदों को पढ़कर, औरों को पढ़ाकर, विद्या को प्रकाशित कर, और विद्वान् होके उत्तम कर्मों के अनुष्ठान से सब प्राणियों को सुखी करें, वैसे ही इन विद्वानों का सत्कार कर, इनसे वैदिक विद्या को प्राप्त होकर * श्रेष्ठ आचार तथा उत्तम औषधियों के सेवन से कष्टों का निवारण करके शरीर वा आत्मा की पुष्टि से धन का अत्यन्त संचय करके सब मनुष्यों को आनन्दित होना चाहिये ॥ १ ॥

आपो अस्मानित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। आपो देवताः। स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्ताभिरद्भिः किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते[3] ॥

आपोऽअस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वꣳ हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूतऽएमि। दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवाꣳ शग्मां परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥ २ ॥

आपः। अस्मान्। मातरः। शुन्धयन्तु। घृतेन। नः। घृतप्व इति घृतऽप्वः। पुनन्तु ॥ विश्वम्। हि। रिप्रम्। प्रवहन्तीति प्रऽवहन्ति। देवीः। उत्। इत्। आभ्यः। शुचिः। आ। पूतः। एमि ॥ दीक्षातपसोः। तनूः। असि। ताम्। त्वा। शिवाम्। शग्माम्। परि। दधे। भद्रम्। वर्णम्। पुष्यन् ॥ २ ॥

१ इस प्रकार तृतीयाध्याय में अग्नि के अनेकविध गुण रूप वर्णन करके, पवित्र मनुष्य ही यज्ञादि कर सकता है, इस कारण पवित्रता के सम्पादन करनेवाले, औषधियों के मूलभूत अग्नि के सहकारी जल के गुणों का वर्णन करते हैं—

२ संस्कृतपदार्थ तथा अन्वय दोनों से त्रिविध अर्थ समझ लेना चाहिये ॥ १ ॥

३ अपां विनियोगमाह—

* इतोऽग्रे "श्रेष्ठ आचार तथा उत्तम औषधियों के सेवन से कष्टों का निवारण करके" इति पाठः अ. मु. ग कोशे च नास्ति। क. ख. तूपलभ्यते, अग्रे प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

पदार्थः—(आपः) जलानि । (अस्मान्) मनुष्यादीन् प्राणिनः । (मातरः) मातृवत् पालिकाः । (शुन्धयन्तु) बाह्यदेशं पवित्रं कुर्वन्तु । (घृतेन) आज्येन । (नः) अस्मान् । (घृतप्वः) घृतं पुनन्ति यास्ताः । (पुनन्तु) पवित्रयन्तु । (विश्वम्) सर्वं जगत् । (हि) खलु । (रिप्रम्[1]) व्यक्तवाणीप्राप्तव्यं वेदितव्यम् । अत्र लीरीङो ह्रस्वः० । उ० ५ । ५५ । अनेनायं सिद्धः । (प्रवहन्ति) प्रकर्षेण प्राप्नुवन्ति । (देवीः) देव्यः । (उत्) उत्कृष्टे । (इत्) अपि । (आभ्यः) अद्भ्यः । (शुचिः) पवित्रः । (आ) समन्तात् । (पूतः) शुद्धः । (एमि) प्राप्नोमि । (दीक्षातपसोः) दीक्षा ब्रह्मचर्य्यादिनियमसेवनं च तपो धर्मानुष्ठानं च तयोः । (तनूः) सुखविस्तारनिमित्तं शरीरम् । (असि) अस्ति । अत्र व्यत्ययः । (ताम्) (त्वा) एताम् । (शिवाम्) कल्याणकारिकाम् । (शग्माम्) सुखस्वरूपाम् । (परि) सर्वतः । (दधे) धरामि । (भद्रम्[2]) भजनीयम् (वर्णम्) स्वीकर्त्तुमर्हमतिसुन्दरम् । (पुष्यन्) पुष्टं कुर्वन् ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । १ । २ । १-११ व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः—† हे मनुष्या यथा भद्रं वर्णं पुष्यन्नहं या घृतप्वो [देवीः] देव्य आपो विश्वं [हि] रिप्रं प्रवहन्ति, विद्वांसो या मातरो या घृतप्वो घृतेन सन्ति याभिरस्मान् ‡ सुखयन्ति, ताभिर्नोऽस्मान् भवन्तः शुन्धयन्तु पुनन्तु च, यथाहमुदिदाभ्यः शुचिः पवित्रः [आपूतः शुद्धो] भूत्वा या दीक्षातपसोस्तनूरस्यस्ति तां [त्वा] त्वामेतां शिवां शग्मां [एमि प्राप्नोमि] परिदधे सर्वतो धरामि, तथा तास्तां च यूयमपि धरत[3]* ॥ २ ॥

---

१ 'रीङ्' श्रवणे (दिवा० आ०) अनेकार्थत्वाद् धातूनां गतावपि द्रष्टव्यः । ततो 'र'प्रत्ययः, तस्य पुडागमो धातोश्च ह्रस्वत्वम् ॥

२ भद्रं भगेन व्याख्यातम्, भजनीयं भूतानाम् । निरु० ४।१० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मातरः) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ (उ० २ । ९५) इत्यत्र मातृशब्दस्तृच्प्रत्ययान्तो निपातितः । चित्वात् प्रत्ययाद्युदात्तत्वाद् वान्तोदात्तो मातृशब्दः । स्वस्रादिपाठात् 'ङीप्' न भवति । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(घृतप्वः) घृतशब्दोपपदात् पुनातेः क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । ततो विभक्त्यनुदात्तत्वे यणादेशे उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इति स्वरितत्वम् ॥

(रिप्रम्) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(प्रवहन्ति) हि च (अ० ८ । १ । ३४) इति निघाताभावे लसार्वधातुकानुदात्तत्वे तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इत्यनेन गतिरनुदात्तः, तत उदात्तगतिमता च तिङा० (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति समासः ॥

(देवीः) अत्रापि वा छन्दसि (अ० ६ । १ । १०६) इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् । यथा पूर्वमन्त्रपदार्थे व्याख्यातम् ॥

(आभ्यः) इदमो ऽन्वादेशे (अ० २ । ४ । ३२) इत्यादिनाऽशादेशो ऽनुदात्तः ॥

(शुचिः) इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) इत्यनेन 'इन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(पूतः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(दीक्षातपसोः) समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(भद्रम्) ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० (उ० २ । २८) इत्यादिना 'भदि' धातो 'रन्' प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादन्तोदात्तत्वम् ॥

(पुष्यन्) लसार्वधातुकानुदात्तत्वे श्यनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ त्रिविधार्थोऽत्र योजनीयः, स च पदार्थतोऽध्यवगन्तव्यः ॥ २ ॥

---

† 'हे मनुष्या यथा भद्रं वर्णं पुष्यन्नहं' इति पाठः क. ख. कोशयोर्नास्ति इति ध्येयम् ॥

‡ 'याभिर्नोऽस्मान्' इति ग कोशेऽजमेरमुद्रिते च पाठः । * अन्वयोऽत्र व्यस्तः प्रतीयते ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—याः सर्वसुखप्रापिकाः प्राणधारिका मातृवत् पालनहेतव आपः सन्ति, ताभ्यः सर्वतः पवित्रतां संपाद्यैताः* शोधयित्वा मनुष्यैर्नित्यं संसेव्याः, ततः† सुन्दरं वर्णं रोगरहितं शरीरं च संपाद्य नित्यं प्रयत्नेन धर्ममनुष्ठाय पुरुषार्थेनानन्दः कर्त्तव्य इति ॥ २ ॥

फिर उन जलों से क्या२ करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

‡**पदार्थः**—+हे मनुष्यो ! जैसे (भद्रम्) अति सुन्दर (वर्णम्) प्राप्त होने योग्य रूपको (पुष्यन्) पुष्ट करता हुआ मैं जो (घृतप्वः) घृतको पवित्र करने (देवीः) दिव्यगुणयुक्त (मातरः) माता के समान पालन करनेवाले (आपः) जल (रिप्रम्) व्यक्तवाणी को प्राप्त करने वा जानने योग्य (विश्वम्) सबको (प्रवहन्ति) प्राप्त करते हैं, उनसे विद्वान् लोग (अस्मान्) हम मनुष्यलोगों के (शुन्धयन्तु) बाह्य देश को पवित्र करें और जो (घृतेन) घृत से पुष्ट करने योग्य जल हैं, जिनसे (नः) हमलोगों को [सुखी] करसकें, उनसे (पुनन्तु) पवित्र करें । जैसे मैं (इत्) भी (उत्) अच्छे प्रकार (आभ्यः) इन जलों से (शुचिः) पवित्र तथा (आपूतः) शुद्ध होकर (दीक्षातपसोः) ब्रह्मचर्य्य आदि उत्तम २ नियम सेवन से जो धर्मानुष्ठान के लिये (तनूः) शरीर (असि) है, जिस (शिवाम्) कल्याणकारी (शग्माम्) सुखस्वरूप शरीर को (एमि) प्राप्त होता और (परिदधे) सब प्रकार धारण करता हूँ, वैसे तुमलोग भी उन जल और (ताम्) उस (त्वा) अत्युत्तम शरीर को धारण करो[2] ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि जो सब सुखों को प्राप्त कराने, प्राणों को धारण कराने, तथा माता के समान पालन के हेतु जल हैं, उनसे सब प्रकार पवित्र होके, इनको शोधकर मनुष्यों को नित्य सेवन करने चाहियें, उससे सुन्दरवर्ण रोगरहित शरीर को संपादन कर निरन्तर प्रयत्न के साथ धर्म का अनुष्ठान कर पुरुषार्थ से आनन्द भोगना चाहिये ॥ २ ॥

महीनामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । मेघो देवता । भुरिग् [आर्ची] त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरस्य जलसमूहजन्यस्य मेघस्य किं निमित्तमस्तीत्युपदिश्यते[3] ॥

म॒ही॒नां पयो॑ऽसि वर्चो॒दा ऽ अ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि ।
वृ॒त्रस्या॑सि क॒नीन॑कश्चक्षु॒र्दा ऽ अ॑सि॒ चक्षु॑र्मे देहि ॥ ३ ॥

---

१ जलों का विनियोग बताते हैं—

२ अन्वय तथा संस्कृतपदार्थ से इस मन्त्र का तीनों प्रकार का अर्थ समझना चाहिये ॥ २ ॥

३ कार्यान्तरनिमित्ततां चासां प्रदर्श्यैश्वरमहिमानं वर्णयति—

---

* 'शोधित्वा' इति अ. मुद्रिते ग कोशे च पाठः । 'शोधयित्वा' इति क कोशे पाठः, स च सम्यगित्यस्माभिः स्वीकृतः ॥

† 'यतः' इति ख. ग. अ० मु० । 'जिससे' इति भाषार्थे ॥ ‡ भाषापदार्थोऽपि व्यस्तः ॥

+ 'हे मनुष्यो ! जैसे (भद्रम्) अतिसुन्दर (वर्णम्) प्राप्त होने योग्य रूप को (पुष्यन्) पुष्ट करता हुआ मैं' इति पाठः क. ख. कोशयोर्नास्तीति ध्येयम् ॥

म॒हीना॑म् । पय॑ः । अ॒सि॒ । व॒र्चो॒दा इति॑ वर्चः॒ऽदाः । अ॒सि॒ । वर्च॑ः । मे॒ । दे॒हि॒ ॥ वृ॒त्रस्य॑ । अ॒सि॒ । क॒नीन॑कः । च॒क्षु॒र्दा इति॑ चक्षुः॒ऽदाः । अ॒सि॒ । चक्षु॑ः । मे॒ । दे॒हि॒ ॥ ३ ॥

पदार्थः—(महीनाम्) पृथिवीनाम् । महीति पृथिवीनामसु पठितम् । निघ० १ । १ । (पयः) रसनिमित्तम्[1] । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (वर्चोदाः) दीप्तिं ददातीति । (असि) अस्ति । (वर्चः) प्रकाशम् । (मे) मह्यम् (देहि) ददाति । (वृत्रस्य) मेघस्य । (असि) अस्ति । (कनीनकः) यः कनति दीपयतीति स एव कनीनकः । अत्र कनीधातोर्बाहुलकादौणादिक ईनप्रत्ययस्ततः स्वार्थे कन् । (चक्षुर्दाः) चष्टेऽनेन तद्ददातीति । (असि) अस्ति । (चक्षुः) नेत्रव्यवहारम् । (मे) मह्यम् । (देहि) ददाति ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । १ । ३ । ९–१५ । व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः—यो महीनां पयोऽस्यस्ति, वर्चोदा अस्यस्ति, यो मे मह्यं* वर्चो [देहि] ददाति, वृत्रस्य कनीनको [ऽ स्य] ऽस्ति, चक्षुर्दा [असि] अस्ति, स सूर्य्यो मे मह्यं चक्षु [देहि] ददाति[2] ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्नहि सूर्य्यस्य प्रकाशेन विना वृष्ट्युत्पत्तिश्चक्षुर्व्यवहारश्च सिध्यति, येनायं सूर्य्यो निर्मितस्तस्मा ईश्वराय कोटिशो धन्यवादा देया इति वेद्यम् ॥ ३ ॥

फिर इस जलसमूह से उत्पन्न हुए मेघ का क्या निमित्त है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—जो यह (महीनाम्) पृथिवी आदि के (पयः) जल रसका निमित्त (असि) है। (वर्चोदाः) दीप्तिका देनेवाला (असि) है, जो (मे) मेरे लिये (वर्चः) प्रकाश को (देहि) देता है, जो (वृत्रस्य) मेघ का (कनीनकः) प्रकाश करनेवाला (असि) है, वा (चक्षुर्दाः) नेत्रके व्यवहार का सिद्ध करनेवाला (असि) है, वह सूर्य्य (मे) मेरे लिये (चक्षुः) नेत्रों के व्यवहार को (देहि) देता है[4] ॥ ३ ॥

---

१ अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते । तद्यथा । दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः । ज्वरनिमित्तमिति गम्यते । नड्वलोदकं पादरोगः । पादरोगनिमित्तमिति गम्यते । आयुर्घृतम् । आयुषो निमित्तमिति गम्यते (अ० १ । १ । ५९ भा०) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वर्चोदाः) पूर्वं यजुः २ । २६ व्याख्यातः ॥

(वर्चः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति 'असुन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(वृत्रस्य) 'वृतु वर्त्तने' इत्यस्मात् स्फायितञ्चि-वञ्चि० (उ० २ । १३) इत्यादिना 'रक्' । प्रत्यय-स्वरेणान्तोदात्तः । कित्त्वाद् गुणाभावः ॥

(कनीनकः) छान्दसव्यत्ययेनेष्टस्वरसिद्धिः । यद्वा 'कन'धातोर्बाहुलकाद् 'ईनक' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण 'ई' उदात्तः । द्रष्टव्यं यजुः ४ । ३२ भाष्ये कनीनकपदव्याख्याने ॥

(चक्षुर्दाः) पूर्ववत् कृत्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ आधिदैविकार्थपरोऽयमन्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः ॥ ३ ॥

३ यह जल अन्य कार्यों का भी निमित्त है, यह दिखला कर ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हैं—

४ यहाँ अन्वय आधिदैविक अर्थपरक है । संस्कृतपदार्थ से सब प्रक्रियाओं में अर्थ जान लेना चाहिये ॥३॥

---

* 'वर्चोदाः' इति अ. मु. ख ग कोशयोश्च पाठः । 'वर्चः' इति क पाठः स च सम्यगिति ध्येयम् ॥

भावार्थः—मनुष्यों को यह जानना उचित है [कि] सूर्य के प्रकाश के विना वर्षा की उत्पत्ति वा नेत्रों का व्यवहार सिद्ध कभी नहीं होता, जिसने इस सूर्यलोक को रचा है, उस परमेश्वर को कोटि असंख्यात धन्यवाद देते रहें ॥ ३ ॥

चित्पतिर्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। परमात्मा देवता। निचृद्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

येन सूर्यादिकं जगद्रचितं सोऽस्मदर्थं किं किं कुर्य्यादित्युपदिश्यते[1] ॥

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥ ४ ॥

चित्पतिरिति चित्ऽपतिः। मा। पुनातु। वाक्पतिरिति वाक्ऽपतिः। मा। पुनातु। देवः। मा। सविता। पुनातु। अच्छिद्रेण। पवित्रेण। सूर्यस्य। रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः॥ तस्य। ते। पवित्रपत इति पवित्रऽपते। पवित्रपूतस्येति पवित्रऽपूतस्य। यत्काम इति यत्ऽकामः। पुने। तत्। शकेयम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(चित्पतिः[2]) चेतयति येन विज्ञानेन तस्य पतिः पालयिताऽधिष्ठातेश्वरो भवान्। (मा) माम्। (पुनातु) पवित्रं करोतु। (वाक्पतिः) यो वाचो वेदविद्यायाः पतिः स्वामी पालयिता। (मा) माम्। (पुनातु) विद्वांसं कृत्वा पवित्रयतु। (देवः) यः स्वप्रकाशेन सर्वस्य प्रकाशकः। (मा) माम्। (सविता[3]) सर्वस्य जगतो दिव्यस्य प्रसवितोत्पादकः। (पुनातु) शोधयतु, शुद्धं करोतु। (अच्छिद्रेण) अविनाशिना विज्ञानेन। (पवित्रेण) शुद्धिकारकेण। (सूर्य्यस्य[4]) सवितृमण्डलस्य प्राणस्य वा। (रश्मिभिः) प्रकाशैर्गमनागमनैः। (तस्य) जगदीश्वरस्य। (ते) तव। (पवित्रपते) पवित्रस्य पालयितः। (पवित्रपूतस्य) यः पवित्रैः शुद्धैः स्वाभाविकैर्विज्ञानादिभिर्गुणैः पूतः पवित्रस्तस्य (यत्कामः) यः कामो यस्य सः। (पुने) पवित्रो भवामि। (तत्) पवित्रं कर्म। (शकेयम्) शक्नुयाम् ॥ अयं मन्त्रः श० ३। १। ३। २२–२३ व्याख्यातः ॥ ४ ॥

---

१ शुभकर्मानुष्ठानरूपयज्ञायात्मपवित्रताया अत्यावश्यकत्वात् पावकत्वसामान्यात् परमात्मनः पावकतामाह—

२ प्रजापतिर्वै चित्पतिः ॥ श० ३। १। ३। २२, २३ ॥

३ य० १। १ पदार्थविवरणे व्याख्यातः ॥

४ आदित्यो वै प्राणः ॥ जै० उ० ४। २२। ११ ॥

उद्यन्नु खलु वा आदित्यः सर्वाणि भूतानि प्राणयति। तस्मादेनं प्राण इत्याचक्षते ॥ ऐ० ५। ३१ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(चित्पतिः) षष्ठीसमासे परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६। २। १९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वमिति बोध्यम् ॥ यद्वा गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः पतिशब्दः। अस्मिन् पक्षे तस्य पतिरित्येवं भाष्यमर्थप्रदर्शनपरमेव, अन्यथा न भूवाक्चिद्दिधिषु (अ० ६। २। १९) इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्रतिषिद्धे सति समासस्वरेणान्तोदात्तत्वापत्तेः ॥

(वाक्पतिः) सर्वं पूर्ववत् ॥

(अच्छिद्रेण) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(पवित्रपूतः) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः पवित्रशब्दः ॥

(यत्कामः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६। २। १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(पुने) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८। १। ६६) इति निघाताभावे लसार्वधातुकस्वरेणान्तोदात्तः। इति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६। १। १५८ भा० वा०) इति वचनात् श्नोऽनुदात्तत्वम्, तस्य च लोप इष्टस्वरसिद्धिः ॥

अन्वयः—हे पवित्रपते परात्मन् चित्पतिर्वाक्पतिः सविता देवो भवान् पवित्रेणाच्छिद्रेण विज्ञानेन सूर्यस्य रश्मिभिश्च मा मां मम चित्तं च पुनातु । मा मां मम वाचं च पुनातु । मा मां मम चक्षुश्च पुनातु । यस्य [तस्य] पवित्रपूतस्य कृपया यत्कामोऽहं पुने पवित्रो भवामि । यस्य ते तवोपासनया [तत्] पवित्रं कर्म कर्त्तुं [शकेयं] शक्नुयां, तस्य सेवा कर्त्तुं योग्या मे कथं न भवेत्[1] ॥ ४ ॥

भावार्थः—येन॰ वेदविज्ञात्रा पत्या परमेश्वरेण विद्याभूजलवायुसूर्य्यादयः शुद्धिकारकाः पदार्थाः † निर्मितास्तस्योपासनेन‡ पवित्रकर्मानुष्ठानेन च मनुष्यैः पूर्णकामः पवित्रता च कार्य्या ॥ ४ ॥

—•—

जिसने सूर्य आदि सब जगत् को बनाया है, वह परमात्मा हमारे लिये क्या २ करे,

इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (पवित्रपते) पवित्रता के पालन करनेहारे परमेश्वर ! (चित्पतिः) विज्ञान के स्वामी (वाक्पतिः) वाणी को निर्मल और (सविता) सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले (देवः) दिव्यस्वरूप आप (पवित्रेण) शुद्ध करनेवाले (अच्छिद्रेण) अविनाशी विज्ञान वा (सूर्यस्य) सूर्य और प्राण के (रश्मिभिः) प्रकाश और गमनागमनों से (मा) मुझ और मेरे चित्तको (पुनातु) पवित्र कीजिये । (मा) मुझ और मेरी वाणी को (पुनातु) पवित्र कीजिये । (मा) मुझ तथा मेरे चक्षुको❀ (पुनातु) पवित्र कीजिये जिस [(तस्य) उस] (पवित्रपूतस्य) शुद्ध स्वाभाविक विज्ञान आदि गुणों से पवित्र आपकी कृपा से (यत्कामः) जिस उत्तम कामना [से] युक्त मैं (पुने) पवित्र होता हूँ, जिस (ते) आपकी उपासना से (तत्) उस अत्युत्तम कर्म के करने को (शकेयम्) समर्थ होऊँ, उस आपकी सेवा मुझको क्यों न करनी चाहिये[3] ॥ ४ ॥

भावार्थः—॰॰ जिस वेद के जानने वा [जगत् के] पालन करनेवाले परमेश्वर ने वेदविद्या, पृथिवी, जल, वायु और सूर्य आदि शुद्धि करनेवाले पदार्थ § रचे हैं, उसकी उपासना तथा पवित्र कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्यों को पूर्ण कामना और पवित्रता का संपादन अवश्य करना चाहिये ॥ ४ ॥

यस्वत्र—चादिलोपे विभाषा (अ० ८ । १ । ६३) इति निघाताभाव इत्याहुः, तदयुक्तम्, चादिलोपस्यात्रागम्यमानत्वात् यद्वृत्तस्य च प्रत्यक्षत्वात् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः ॥ ४ ॥

२ सत्कर्मानुष्ठानरूपयज्ञ के लिए आत्मपवित्रता की अत्यन्त आवश्यकता है, इसलिये परमदेव परमात्मा की पावकता का वर्णन करते हैं—

३ यहां अन्वय अध्यात्म अर्थपरक है । तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ संस्कृतपदार्थ से समझ लेना चाहिये ॥ ४ ॥

॰ "मनुष्यैर्येन········पदार्थाः प्रकाशितास्तस्योपासनापवित्रकर्मानुष्ठानाभ्यां" इति तु अ. मुद्रिते ग. कोशे च पाठः । 'क'हस्तलेखानुसारी पाठस्तु शोभनतर इति कृत्वाऽस्माभिः स्वीकृतः ॥

† 'प्रकाशिताः' इति अ. मु. ख ग कोशयोश्च पाठः । 'निर्मिताः' इति क पाठः ॥

‡ 'पवित्रकर्मानुष्ठानाभ्यां' इति अ. मु. ख ग कोशयोश्च पाठः । 'पवित्रकर्मानुष्ठानेन' इति तु क पाठः ॥

❀ 'प्रजा को' इति अ० मुद्रितपाठः ख ग कोशयोश्च । क कोशे तु नास्ति ॥

॰॰ इतोऽग्रे 'मनुष्यों को उचित है कि' इति अ०मु०ग. कोशे च पाठः । क.ख. कोशयोस्तु नास्ति । सतु सम्यग् इति ध्येयम् ॥

§ 'प्रकाशित किये हैं' इति अ० मु० ख. ग. कोशयोश्च पाठः । 'रचे हैं' इति क. पाठः ॥

आ वो देवास इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । यज्ञो देवता ‡ । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

मनुष्यैः कथं पुरुषार्थः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते[1] ॥

आ वो देवासऽईमहे वामं प्रयत्यध्वरे । आ वो देवासऽआशिषो यज्ञियासो हवामहे ॥५॥

आ । वः । देवासः । ईमहे । वामम् । प्रयतीति प्रऽयति । अध्वरे ॥ आ । वः । देवासः । आशिष इत्याऽशिषः । यज्ञियासः । हवामहे ॥ ५ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् । (वः) युष्मान् (देवासः) ये दीव्यन्ति विद्यादिगुणैः प्रकाशन्ते तत्संबुद्धौ[2] । (ईमहे) याचामहे । ईमह इति याच्ञाकर्मसु पठितम् । निघ० ३ । १९ । (वामम्) प्रशस्तं गुणकर्मसमूहम् । वाममिति प्रशस्यनामसु पठितम् । निघ० ३ । ८ । (प्रयति) प्रकृष्टं सुखमेति येन तस्मिन् । अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ मा० वा०] इति करणकारके क्तत् । (अध्वरे) अहिंसनीये यज्ञे । (आ) अभितः । (वः) युष्माकं सकाशात् । (देवासः) विद्वांसः । (आशिषः) इच्छाः । (यज्ञियासः) या यज्ञमर्हन्ति ताः । (हवामहे) स्वीकुर्वीमहि । लेट्प्रयोगोऽयम् ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । १ । ३ । २४ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे देवासो यथा वयं वो युष्मान् प्रयत्यध्वरे वो युष्माकं वाममीमहे समन्ताद्याचामहे, हे यज्ञियासो देवासो यथाऽस्मिन् संसारे वो युष्माकं सकाशात् यज्ञिया आशिष आहवामहेऽभितः स्वीकुर्वीमहि, तथैवास्मदर्थं भवद्भिः सततमनुष्ठेयम्[3] ॥ ५ ॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥]

भावार्थः—मनुष्यैः परमविद्वद्भ्यः प्रशस्ता विद्याः संपाद्य, स्वेच्छाः पूर्णाः कृत्वैतेषां सङ्गसेवे सदैव कर्त्तव्ये ॥ ५ ॥

---

१ आत्मपवित्रतायै विदुषामपि साधकत्वं दर्शयति—

२ नात्रैकवचनं सम्बुद्धिरिति पारिभाषिकी संज्ञा, किं तर्हि ? सम्बोधनं सम्बुद्धिरिति (द्र० १ । २ । २३ भाष्ये) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(देवासः) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति पदात् परस्य निघातः ॥

(वामम्) वन.सम्भक्तौ । इषियुधीन्धि० (उ० १ । १४५) इत्यादिना बाहुलकात् 'मक्' प्रत्ययः । नकारस्यात्वं च । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(आशिषः) पूर्वं यजुः २ । १० व्याख्यातः ॥

(यज्ञियासः) यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (अ० ५ । १ । ७१) इति घः । उपदेशावस्थायामायन्नादिषु कृतेषु प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् । कुतः ? परत्वाच्चित्करणत्वाच्च (द्र० अ० ७ । १ । २ भाष्ये) । घस्य 'इय्' आदेशे प्रत्ययस्वरेणेकार उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अधियज्ञपरो ऽध्यात्मपरश्चात्रान्वयः । त्रिविधार्थोऽत्र पदार्थतो योजनीयः ॥ ५ ॥

---

‡ 'यज्ञो देवता' इति पाठः क. ख. हस्तलेखयोर्विद्यमानोऽपि 'ग' हस्तलेखे प्रमादात् त्यक्तः । अत एवाजमेर-मुद्रिते नास्ति ॥

मनुष्यों को किस प्रकार पुरुषार्थ करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (देवासः) विद्यादिगुणों से प्रकाशित होनेवाले विद्वान् लोगो ! जैसे हमलोग (वः) तुम को (प्रयति) सुखयुक्त (अध्वरे) हिंसा करने अयोग्य यज्ञके अनुष्ठान में (वः) तुम्हारे (वामम्) प्रशंसनीय गुणसमूह की (आ ईमहे) अच्छे प्रकार याचना करते हैं। हे [(यज्ञियासः) यज्ञ को सिद्ध करनेहारे] (देवासः) विद्वान् लोगो ! जैसे हमलोग इस संसार में [वः] आप लोगों से यज्ञ को सिद्ध करने योग्य (आशिषः) इच्छाओं को (आहुवामहे) अच्छे प्रकार स्वीकार कर सकें, वैसे ही हम लोगों के लिये आप लोग सदा प्रयत्न किया कीजिये[2] ॥ ५ ॥

[यहाँ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम विद्वानों के सङ्ग से उत्तम २ विद्वानों का संपादन कर, अपनी इच्छाओं को पूर्ण करके इन विद्वानों का संग और सेवा सदा किया करें ॥ ५ ॥

स्वाहा यज्ञमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । यज्ञो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

किंकिमर्थः स यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते[3] ॥

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात् स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳯं स्वाहा वातादारभे स्वाहा ॥६॥

स्वाहा । यज्ञम् । मनसः । स्वाहा । उरोः । अन्तरिक्षात् । स्वाहा । द्यावापृथिवीभ्याम् । स्वाहा । वातात् । आ । रभे । स्वाहा ॥ ६ ॥

पदार्थः—(स्वाहा) प्रत्यक्षलक्षणया वेदस्थया वाचा । (यज्ञम्) क्रियाजन्यम् । (मनसः) विज्ञानात् । (स्वाहा) सुशिक्षितया वाचा । (उरोः) बहुनः । अत्र लिङ्गव्यत्ययेन पुँस्त्वम् । (अन्तरिक्षात्) सूर्य्यपृथिव्योर्मध्ये वर्त्तमानादाकाशात् । (स्वाहा) विद्याप्रकाशिकया वाण्या । (द्यावापृथिवीभ्याम्) प्रकाशभूम्योः शुद्धये । (स्वाहा) सत्यप्रियत्वादिगुणविशिष्टया वाचा । (वातात्) वायोः । (आ) समन्तात् । (रभे) कुर्वे । (स्वाहा) सुष्ठु जुहोति गृह्णाति ददाति यया क्रियया तया ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । १ । ३ । २५–२८ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

---

१ आत्मपवित्रता के लिये विद्वानों की साधकता दर्शाते हैं—

२ अन्वय यहाँ अधियज्ञ तथा अध्यात्मपरक है । तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ की योजना संस्कृत पदार्थ से की जा सकती है ॥

३ यज्ञप्रयोजनमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उरोः) महति ह्रस्वश्च (उ० १ । ३१) इति 'ऊर्णुञ्' धातोः 'उ'प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता । गुणे पूर्वरूपे चान्तोदात्त एव ॥

(अन्तरिक्षात्) य० १ । ७ विवरणे व्याख्यातः ॥

(द्यावापृथिवीभ्याम्) नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु (अ० ६ । २ । १४२) इत्यनेन पर्युदासे देवताद्वन्द्वे च (अ० ६ । २ । १४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरः ॥

(वातात्) हसिमृग्रिण्वा० (उ० ३ । ८६) इत्यादिना तन्प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाहं स्वाहा वेदोक्तया स्वाहा सुशिक्षितया स्वाहा विद्याप्रकाशिकया स्वाहा सत्यप्रियत्वादिगुणयुक्तया वाचा स्वाहा सुष्ठुक्रियया चोरोर्मनसोऽन्तरिक्षाद् वाताद् द्यावापृथिवीभ्यां यज्ञमारभे नित्यं कुर्वे, तथा भवन्तोऽप्यारभन्ताम्[1] ॥ ६ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वेदरीत्या यो मनोवचनकर्मभिरनुष्ठितो यज्ञो भवति, सोऽन्तरिक्षादिषु * वायुशुद्धिद्वारा प्रकाशपृथिव्योः पवित्रतां संपाद्य सर्वान् सुखयतीति ॥ ६ ॥
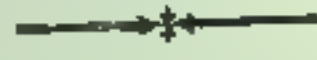
किसकिस प्रयोजन के लिये इस यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यलोगो ! जैसे मैं (स्वाहा) वेदोक्त (स्वाहा) उत्तम शिक्षासहित (स्वाहा) विद्याओं का प्रकाश (स्वाहा) सत्य और सब जीवों के कल्याण करनेहारी वाणी और (स्वाहा) अच्छे प्रकार प्रयोग की हुई उत्तम क्रिया से (उरोः) बहुत [बड़े] (अन्तरिक्षात्) आकाश और (वातात्) वायु की शुद्धि करके (द्यावापृथिवीभ्याम्) शुद्ध प्रकाश और भूमिस्थ पदार्थों तथा † (मनसः) विज्ञान और ठीक २ क्रिया से (यज्ञम्) यज्ञ को पूर्ण करने के लिये पुरुषार्थ का (आरभे) नित्य आरम्भ करता हूँ, वैसे तुमलोग भी करो[3] ॥ ६ ॥

[यहाँ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—मनुष्यों के द्वारा वेद की रीति और मन वचन कर्म से अनुष्ठान किया हुआ जो यज्ञ है, वह आकाश में रहनेवाले वायु आदि पदार्थों को शुद्ध करके [प्रकाश तथा पृथिवी में पवित्रता का सम्पादन करके] सबको सुखी करता है ॥ ६ ॥

आकूत्यै प्रयुज इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अग्न्यब्बृहस्पतयो[4] देवताः । पूर्वार्द्धस्य पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः । आपो देवीरित्युत्तरस्यार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

किमर्थः स यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते[5] ॥

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा । आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी ऽ उरो ऽ अन्तरिक्ष । बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥ ७ ॥

---

१ अन्वयोऽयमधियज्ञपर इति ध्येयम्, पदार्थतस्त्रिविधप्रक्रियोहनीया ॥

२ यज्ञ का प्रयोजन कहते हैं—

३ अन्वय यहाँ अधियज्ञपरक है, सं० पदार्थ से त्रिविध अर्थ की ऊहा करनी चाहिये ॥ ६ ॥

४ यथासंख्यत्वात् पूर्वनिपातो न ॥

५ प्रयोजनान्तराण्याह—

---

* 'अन्तरिक्षादिभ्यो' इति अ. मुद्रिते कोशेषु च पाठः ॥

† "(मनसः) विज्ञान से (यज्ञम्) क्रियाजन्य यज्ञ का" इति क पाठः, स च साधीयान् प्रतिभाति । "(मनसः) विज्ञान से (यज्ञम्) यज्ञ क्रिया से पूर्ण करने के लिये पुरुषार्थ का" इति ख पाठः ॥ अ. मु. ग कोशे चोपर्युक्तः पाठ इति ध्येयम् ॥

आकूत्या इत्याऽकूत्यै । प्रयुज इति प्रऽयुजे । अग्नये । स्वाहा । मेधायै । मनसे । अग्नये । स्वाहा । दीक्षायै । तपसे । अग्नये । स्वाहा । सरस्वत्यै । पूष्णे । अग्नये । स्वाहा ॥ आपः । देवीः । बृहतीः । विश्वशंभुव इति विश्वऽशंभुवः । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । उरोऽइत्युरो । अन्तरिक्ष । बृहस्पतये । हविषा । विधेम । स्वाहा ॥ ७ ॥

पदार्थः—(आकूत्यै) उत्साहाय । (प्रयुजे) या धर्मक्रिया प्रकृष्टैर्गुणैर्युनक्ति योजयति वा तस्यै । (अग्नये) अग्निप्रदीपनाय । (स्वाहा) वेदवाणीप्रचाराय । (मेधायै) प्रज्ञोन्नतये । (मनसे) विज्ञानवृद्धये । (अग्नये) विद्युद्विद्याग्रहणाय । (स्वाहा) परोपकारकारिकायै । (दीक्षायै) धर्मनियमाचरणरीतये । (तपसे) प्रतापाय । (अग्नये) कारणरूपाय । (स्वाहा) अध्ययनाध्यापनविद्यायै (सरस्वत्यै) विद्यासुशिक्षासहितायै वाचे । (पूष्णे) पुष्टिकरणाय । (अग्नये) जाठराग्निशोधनाय । (स्वाहा) सत्यवाक्प्रवृत्तये । (आपः) प्राणा जलानि वा । (देवीः[1]) दिव्यगुणसंपन्नाः । अत्र वा छन्दसि (अ० ६ । १ । १०६) इति जसः पूर्वसवर्णत्वम् । (बृहतीः[1]) महागुणविशिष्टाः । (विश्वशंभुवः) या विश्वस्मै शं सुखं भावयन्ति ताः । (द्यावापृथिवी) भूमिप्रकाशौ । (उरो) बहुसुखप्रतिपादकः । (अन्तरिक्ष[2]) अन्तरिक्षस्थो यज्ञः । (बृहस्पतये) बृहत्या वाचो बृहतामाकाशादीनां च पतिः स्वामी तस्मै जगदीश्वराय । (हविषा) सामग्र्या सत्यप्रेमभावेन वा । (विधेम) विधानं कुर्य्याम । (स्वाहा) संगतां क्रियां शोभनां स्तुतिप्रयुक्तां वाचम् ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । १ । ४ । ६–१५ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः[3]—हे मनुष्या यथा वयमाकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णे बृहस्पतयेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा, दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा, या [बृहतीः] बृहत्यो विश्वशंभुवो [देवीः] देव्य आपः स्वाहा वाक् द्यावापृथिवी उरोऽन्तरिक्षस्थे च एतस्ता अपि स्वाहा क्रियया हविषा च शुद्धा विधेम, तथा यूयमपि विदधत[4] ॥७॥

भावार्थः[5]—नहि यज्ञानुष्ठानेन विनोत्साहो मेधा सत्यवाक् दीक्षा तपो धर्मानुष्ठानं विद्या पुष्टिश्च संभवति । न किलैतैर्विना कश्चिदपि परमेश्वरमाराद्धुं शक्नोतीति, तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरेतत् सर्वमनुष्ठाय सर्वानन्दः प्राप्तव्यः ॥ ७ ॥

---

१ सर्वत्र प्रथमार्थे सम्बोधनम् ॥

२ अर्शआदित्वाद् 'अच्', प्रथमार्थे सम्बुद्धिः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आकूत्यै) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(मेधायै) मिधृ मेधृ संगमे च, चाद् हिंसा मेधयोः । हलश्च (अ० ३ । ३ । १२१) इति करणे घञ् । आद्युदात्तत्वे प्राप्ते उञ्छादीनां च (अ० ६ । १ । १६०) इत्यन्तोदात्तत्वम् । यद्वा गुरोश्च हलः (अ० ३ । ३ । १०३) इत्यङ् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । ततष्टाप्, चतुर्थ्येकवचनम्, तच्चानुदात्तमिति मध्योदात्तो ऽयं शब्दः ॥

(सरस्वत्यै) सृधातोः सर्वधातुभ्यो ऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन् सरः, नित्वादाद्युदात्तः । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (अ० ५ । २ । ९४) इति मतुप् । स च पित्वादनुदात्तः । तत उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीप् । तस्य चानुदात्तत्व आद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(देवीः, बृहतीः) प्रथमार्थे सम्बोधनम् । विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम् (अ० ८ । १ । ७४) इत्यनेन पूर्वस्याविद्यमानवद्भावप्रतिषेधे आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(बृहस्पतये) पूर्वं यजुः २ । १२ व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अत्रान्वयो व्यस्तः प्रतीयते ।

४ त्रिविधार्थोऽत्रोहनीयः, स च पदार्थतोऽप्यवगन्तव्यः ॥ ७ ॥

५ अन्वये 'यथा' 'तथा' इति पदप्रयोगाद् अत्र वाचकलुप्तोपमालंकार इत्यपि स्यात् ।

किस लिये उस यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1]॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे हमलोग (आकूत्यै) उत्साह (प्रयुजे) उत्तम २ धर्मयुक्त क्रियाओं (अग्नये) अग्नि के प्रदीपन (स्वाहा) वेदवाणी के प्रचार (सरस्वत्यै) विज्ञानयुक्त वाणी (पूष्णे) पुष्टि करने (बृहस्पतये) बड़ों के अधिपति होने (अग्नये) बिजली की विद्या के ग्रहण (स्वाहा) पढ़ने पढ़ाने से विद्या (मेधायै) बुद्धि की उन्नति (मनसे) विज्ञान की वृद्धि [(अग्नये) कारण रूप (स्वाहा) सत्य वाणी की प्रवृत्ति] (दीक्षायै) धर्म-नियम और आचरण की रीति (तपसे) प्रताप (अग्नये) जाठराग्नि के शोधन (स्वाहा) उत्तम स्तुतियुक्त वाणी से (बृहतीः) महागुण सहित (विश्वशंभुवः) सबके लिये सुख उत्पन्न करानेवाले (देवीः) दिव्यगुणसंपन्न (आपः) प्राण वा जल, सत्य भाषण (द्यावापृथिवी) भूमि और प्रकाश की शुद्धि के अर्थ (उरो) बहुत सुखसंपादक (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में रहनेवाले पदार्थों को शुद्ध और जिस (स्वाहा) उत्तम क्रिया वा वेदवाणी से यज्ञ सिद्ध होता है, उन सबों को (हविषा) सत्य और प्रेमभाव से (विधेम) सिद्ध करें, वैसे तुम भी किया करो[2]॥ ७॥

भावार्थः—यज्ञ के अनुष्ठान के विना उत्साह, बुद्धि, सत्यवाणी, धर्माचरण की रीति, तप, धर्म का अनुष्ठान और विद्या की पुष्टि का संभव नहीं होता और इनके बिना कोई भी मनुष्य परमेश्वर की आराधना करने को समर्थ नहीं हो सकता। इससे सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान करके सबके लिये सब आनन्द [प्राप्त] करना चाहिये॥ ७॥

विश्वो देवस्येत्यस्यात्रेय ऋषिः। ईश्वरो देवता। आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

मनुष्यैः परमेश्वराश्रयेण किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते[3]॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्त्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑॥ ८॥

विश्वः। दे॒वस्य॑। ने॒तुः। मर्त्तः॑। वु॒री॒त॒। स॒ख्यम्॥ विश्वः॑। रा॒ये। इ॒षु॒ध्य॒ति॒। द्यु॒म्नम्। वृ॒णी॒त॒। पु॒ष्यसे॑। स्वाहा॑॥ ८॥

१ पूर्वोक्त यज्ञ के अन्य प्रयोजन बतलाते हैं—
२ अन्वय तथा पदार्थ से तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ समझ लेना चाहिये॥ ७॥

३ लौकिकैश्वर्यप्राप्तये चेश्वर आश्रयितव्य इत्याह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नेतुः) नयतेस्तृचि प्रत्ययस्वरेण चित्त्वेन वाऽन्तोदात्तः। ततः षष्ठ्येकवचने ऋत उत् (अ० ६।१।१११) इत्येकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्युदात्तत्वम्॥

(मर्त्तः) हसिमृग्रिण्० (उ० ३।८६) इत्यादिना तन्प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्।

(वुरीत) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(सख्यम्) सख्युर्यः (अ० ५।१।१२६) इति यः प्रत्ययो भावे कर्मणि वा। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(इषुध्यति) 'इषुधू शरधारणे' कण्ड्वादिः। तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(पुष्यसे) छान्दसत्वादात्मनेपदत्वन्निघाताभावो मध्योदात्तत्वं च, यद्वा असमानवाक्यत्वादेव निघाताभावः॥ य० २२।२१ तु 'असे' प्रत्ययान्तो व्याख्यातः, अस्मिन् पक्षे प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तस्वरसिद्धिः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

पदार्थः—(विश्वः) सर्वो जनः । (देवस्य) सर्वप्रकाशकस्य । (नेतुः) सर्वनयनकर्त्तुः परमेश्वरस्य (मर्त्तः) मनुष्यः । मर्त्ता इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघ० २ । ३ । (वुरीत) वृणीयात् । अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति विकरणस्य लुक् । (सख्यम्) सख्युर्भावः कर्म वा । (विश्वः) अखिलः । (राये) धनप्राप्तये । (इषुध्यति) शरान् धारयेत्,✽ लेट्प्रयोगोऽयम् । (द्युम्नम्) धनम् । (वृणीत) स्वीकुर्य्यात् । (पुष्यसे) पुष्टो भवेः । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् । ✽लेट्प्रयोगोऽयम् । (स्वाहा) सत्क्रियया ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । १ । ४ । १७, १८ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः—यथा विश्वो मर्त्तो नेतुर्देवस्य जगदीश्वरस्य सख्यं वुरीत [विश्वो] राय इषुध्यति स द्युम्नं वृणीत, तथा हे मनुष्य एतत् सर्वमनुष्ठाय स्वाहा सत्क्रियया त्वमपि पुष्यसे पुष्टो† भवेः[1] ॥ ८ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वरमुपास्य परस्परं मित्रतां कृत्वा युद्धे दुष्टान् विजित्य राजश्रियं प्राप्य सुखयितव्यम् ॥ ८ ॥

मनुष्यों को परमेश्वर के आश्रय से क्या २ करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—जैसे (विश्वः) सब (मर्त्तः) मनुष्य (नेतुः) सबको प्राप्त वा (देवस्य) सबके प्रकाश करनेवाले परमेश्वर के साथ (सख्यम्) मित्रता और गुणकर्मसमूहको (वुरीत) स्वीकार और + (विश्वः) अखिल (राये) धन की प्राप्ति के लिये (इषुध्यति) बाणों को धारण करे, वह (द्युम्नम्) धन को (वृणीत) स्वीकार करे, वैसे हे मनुष्य ! इसका अनुष्ठान करके (स्वाहा) सत् क्रिया से, तू भी (पुष्यसे) पुष्ट हो[3] ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को परमेश्वर की उपासना करके, परस्पर मित्रपन का संपादन कर, युद्ध में दुष्टों को जीत के, राज्यलक्ष्मी को प्राप्त होकर सुखी रहना चाहिये ॥ ८ ॥

ऋक्सामयोरित्यस्याङ्गिरस × ऋषयः । विद्वान् देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

---

१ अन्वयो ऽयमध्यात्मार्थपरः ॥

य० ११ । ६७ तथा य० २२ । २१ देवतादिभेदेनायं मन्त्रो व्याख्यातस्तत एव द्रष्टव्यः ॥ ८ ॥

२ सांसारिक समृद्धि की प्राप्ति के लिये भी प्रभु का ही आश्रयण करना चाहिये, इस लिये कहते हैं—

३ यहाँ अन्वय अध्यात्मपरक है । इस मन्त्र का भाष्य य० अ० ११ मं० ६७ तथा य० अ० २२ मं० २१ में देवतादि के भेद से भिन्न २ किया गया है, सो वहाँ २ देख लेवें ॥ ८ ॥

✽ 'लेट् प्रयोगोऽयम्' इति पाठः कोशेषु नास्ति ॥
† 'भव' इति ग. पाठः । 'जायथाः' इति क. पाठः ॥
+ '(विश्वः) अखिल' इति पाठः क. ख विद्यमानोऽपि ग कोशे प्रमादेन त्यक्तः ॥
× 'ऋषिः' इति अ. मु. ख ग कोशयोश्च पाठः । 'ऋषयः' इति क पाठः, स च सम्यक् ॥

मनुष्यैः कथं शिल्पसिद्धिः कर्त्तव्येत्युपादिश्यते[1] ॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः ।
शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते ऽ अस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ ९ ॥

ऋक्सामयोरित्यृक्ऽसामयोः । शिल्पेऽ इति शिल्पे । स्थः । तेऽइति ते । वाम् । आ । रभे । तेऽइति ते । मा । पातम् । आ । अस्य । यज्ञस्य । उदृच इत्युत्ऽऋचः ॥ शर्म । असि । शर्म्म । मे । यच्छ । नमः । ते । अस्तु । मा । मा । हिꣳसीः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(ऋक्सामयोः) ऋक् च साम च तयोर्वेदयोः अध्ययनानन्तरम् । (शिल्पे[2]) मानसप्रसिद्धक्रियया सिद्धे । (स्थः) भवतः । (ते) द्वे । (वाम्) ये । (आ) समन्तात् । (रभे) आरम्भं कुर्वे । (ते) द्वे । (मा) माम् । (पातम्) रक्षतः । अत्र व्यत्ययः । (आ) अभितः । (अस्य) वक्ष्यमाणस्य । (यज्ञस्य) शिल्पविद्यासिद्धस्य यज्ञस्य । (उदृचः) उत्कृष्टा अधीताः प्रत्यक्षीकृता ऋचो यस्मिँस्तस्य । (शर्म्म) सुखम् । (असि) अस्ति । (शर्म) सुखम् । (मे) मह्यम् । (यच्छ) ददाति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (नमः) अन्नम् । नम इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (ते) तुभ्यम् । (अस्तु) भवतु । (मा) निषेधार्थे । (मा) माम् । (हिꣳसीः) हिन्धि । अत्र लोडर्थे लुङ् ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । १ । ५-८ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे विद्वन्नहमृक्सामयोरध्ययनानन्तरमुदृचोऽस्य यज्ञस्य संबन्धिनी वां ये शिल्पे [स्थः ते] आरभे । ये मा मां [आ अभितः] पातं रक्षतः ते ❀ यस्य तव सकाशान्मया गृह्येते, ते तुभ्यं मम नमोऽस्तु, त्वं मा मां शिल्पविद्यां शिक्षस्व मा हिंसीर्विचालनं मा कुर्य्याः । यच्छर्म सुखम [स्य] स्ति, तच्छर्म मे मह्यं यच्छ देहि[3] ॥ ९ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विदुषां सकाशाद् वेदानधीत्य शिल्पविद्यां प्राप्य हस्तक्रियाः साक्षात्कृत्य विमानयानादीनि कार्य्याणि निष्पाद्य सुखोन्नतिः कार्य्या ॥ ९ ॥

---

१ लौकिकैश्वर्याधायकस्य शिल्पस्यापि सिद्धिरीश्वरप्रणीतेन वेदेनैवेत्यतोऽपि तदुपासनमावश्यकमिति पूर्वोक्तमर्थं पुष्णाति—

२ प्राणाः शिल्पानि । कौ० २५ । १२, १३ ॥

आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा, एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते । ऐ० ६ । २७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ऋक्सामयोः) अचतुरविचतुर० (अ० ५ । ४ । ७७) इत्यादिना समासान्तेऽचि चित्वादन्तोदात्तत्वम् । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(शिल्पे) 'शील समाधौ' इत्यस्मादौणादिकः 'प'प्रत्ययः नित्च, खष्पशिल्प० (उ० ३ । २८) इति निपातनाद् धातोर्ह्रस्वत्वम् । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । ततः प्रथमाद्विवचनम् ॥

(उदृचः) पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वात् समासान्तोदात्तत्वम् ॥

(शर्म) पूर्वं (यजुः १ । १४) पृष्ठ ७० व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ आधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतो ऽवगन्तव्यः ॥ ९ ॥

❀ 'ये यस्य तव सकाशान्मया०' इति अ. मुद्रिते, ग. कोशे च पाठः । खकोशे तु 'ते यस्य भवतो विदुषः सकाशाद्' इति पाठ उपलभ्यते । तस्य प्रतिलिपिकरणे संशोधने वाऽनवधानात् 'ते' इति स्थाने 'ये' इति संजातं स्यात् ॥

मनुष्यों को शिल्पविद्या की सिद्धि कैसे करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! जो मैं (ऋक्सामयोः) ऋग्वेद और सामवेद के पढ़ने के पीछे (उद्दचः) जिसमें अच्छे प्रकार ऋचा प्रत्यक्ष की जाती है, (अस्य) इस (यज्ञस्य) शिल्प विद्या से सिद्ध हुए यज्ञ के संबन्धी (वाम्) ये (शिल्पे) मन वा प्रसिद्ध क्रिया से सिद्ध की हुई कारीगरी [की जो] विद्यायें (स्थः) हैं [(ते) उन दोनों को] (आरभे) आरम्भ करता हूँ तथा जो (मा) मेरी [(आ) सब ओर से] (पातम्) रक्षा करते हैं । * (ते) उनको जिस आप के सकाश से ग्रहण करता हूँ । † हे विद्वान् मनुष्य (ते) उस आप के लिये मेरा (नमः) अन्नादि सत्कारपूर्वक नमस्कार (अस्तु) विदित हो, तथा तुम (मा) मुझको ‡ शिल्पविद्या की शिक्षा करो, (मा हिंसीः) चलायमान मत करो और जो (शर्म) सुख (असि) है, उस (शर्म) सुख को (मे) मेरे लिये (यच्छ) देओ[2] ॥ ९ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के सकाश से वेदों को पढ़कर शिल्पविद्या वा हस्तक्रिया को साक्षात्कार कर विमान आदि यानों की सिद्धिरूप कार्य्यों को सिद्ध करके सुखों की उन्नति करें ॥ ९ ॥

❖

ऊर्गसीत्यस्याङ्गिरस § ऋषयः । यज्ञो देवता । कृधीत्यन्तस्य निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।

उच्छ्रयस्वेत्यस्य साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

स शिल्पविद्यो यज्ञः कीदृशोस्तीत्युपदिश्यते[3] ॥

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदाऽऊर्जं॒मयि॑ धेहि । सोम॑स्य नी॒विर॑सि॒ विष्णो॒ः शर्मा॑सि॒ शर्म॒ यज॑मान॒स्येन्द्र॑स्य॒ योनि॑रसि सुस॒स्याः कृ॒षीस्कृ॑धि । उच्छ्र॑यस्व वनस्पतऽऊ॒र्ध्वो मा॑ पा॒ह्यꣳह॑स॒ऽ आस्य य॒ज्ञस्यो॒दृचः॑ ॥ १० ॥

ऊर्क् । अ॒सि॒ । आ॒ङ्गि॒र॒सि॒ । ऊर्ण॑म्रदा॒ इत्यूर्ण॑ऽम्रदाः । ऊर्ज॑म् । मयि॑ । धे॒हि॒ । सोम॑स्य । नी॒विः । अ॒सि॒ । विष्णोः॑ । शर्म॑ । अ॒सि॒ । शर्म॑ । यज॑मानस्य । इन्द्र॑स्य । योनिः॑ । अ॒सि॒ । सु॒स॒स्या इति॑ सुऽस॒स्याः । कृ॒षीः । कृ॒धि॒ ॥ उत् । श्र॒यस्व॒ । व॒न॒स्प॒ते॒ । ऊ॒र्ध्वः । मा॒ । पा॒हि॒ । अꣳह॑सः । आ । अ॒स्य । य॒ज्ञस्य॑ । उ॒दृच॒ इत्यु॒त्ऽऋचः॑ ॥ १० ॥

---

1 सांसारिक ऐश्वर्य के देनेवाले शिल्प की सिद्धि भी ईश्वरप्रणीत वेद से ही हो सकती है, इसलिये भी उसकी उपासना आवश्यक है, इस प्रकार पूर्वोक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं—

2 अन्वय में आधिदैविक अर्थ दर्शाया है। तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ संस्कृत पदार्थ से समझ लेना चाहिये ॥ ९ ॥

3 शिल्पयज्ञस्य फलमाह—

---

* इतोऽग्रे '(ते) वे (स्थः) हैं' इति अ. मु. ग कोशे चापपाठो वर्तत इति ध्येयम् । तस्य च संस्कृतेऽपि मूलं नास्तीति ध्येयम् ॥

† इतोऽग्रे 'हे विद्वान् मनुष्य' इति अ. मुद्रिते क. संस्कृतान्वयानुसारी च पाठ इति ध्येयम् ॥

‡ 'शिल्प विद्या की शिक्षा करो' इति क. ख. पाठः । स च ग कोशे प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् । अत एवं अ. मु. नास्ति ॥

§ 'ऋषिः' इति अ. मु. ख. ग कोशयोश्च पाठः । ऋषय इति क पाठः, स च सम्यक् ॥

पदार्थः—(ऊर्क्) पराक्रमान्नादिप्रदा शिल्पविद्या । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (आङ्गिरसि) याङ्गिरोभिरग्न्यादिभिर्निर्वृत्ता सिद्धा सा शिल्पविद्या✻ । उवटमहीधराभ्यामिदं निघातत्वात् संबोधनान्तं पदमबुद्ध्वा व्याख्यातमत एतयोः स्वरज्ञानमपि नास्त्यर्थज्ञानस्य तु का कथा । (ऊर्णम्रदाः) ऊर्णमाच्छादनं मृद्नन्ति संवेषन्ति यया सा । (ऊर्जम्) पराक्रममन्नादिकं वा । (मयि) शिल्पिनि । (धेहि) दधाति । (सोमस्य) उत्पन्नस्य पदार्थसमूहस्य । (नीविः) या नितरां व्ययति संवृणोति । नौ व्यो यलोपः० । उ० ४ । १४१ । इत्यौणादिकसूत्रेण व्येञ्संवरण इत्यस्मादिण् प्रत्ययः, स च डित् । डित्वादाकारलोपः । यलोपस्तु सूत्रेणैव पूर्वपदस्य च दीर्घत्वम् । (असि) अस्ति । (विष्णोः) शिल्पविद्याव्यापकस्य विदुषः † सकाशात् प्राप्यम् । (शर्म) सुखम् । (असि) अस्ति । (शर्म) सुखकरम् ‡ । (यजमानस्य) शिल्पक्रियाविदः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्येण युक्तस्य योजकस्य वा । (योनिः) निमित्तम् । (असि) भवति । (सुसस्याः) शोभनानि सस्यानि धान्यादीनि याभ्यस्ताः । (कृषीः) कर्षन्ति विलिखन्ति याभिः क्रियाभिस्ताः । अत्र कःकरत्करति० । अ० ८ । ३ । ५० । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । (कृधि) कुरु, कारय वा । (उत्) उत्कृष्टार्थे । (श्रयस्व) सेवस्व, सेवते वा । (वनस्पते) वनानां विद्याप्रकाशकानां पतिः पालयिता तत्संबुद्धौ, वृक्षावयवो वा (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्वं स्थित ऊर्ध्वं स्थापितो वा । (मा) माम् । (पाहि) रक्ष, रक्षति वा । (अंहसः) पापात् तत्फलाद् दुःखाद् वा । (आ) समन्तात् । (अस्य) प्रत्यक्षमनुष्ठीयमानस्य । (यज्ञस्य) शिल्पविद्यासाध्यस्य । (उदृचः) उक्तार्थस्य ॥ अयं मन्त्रः शत० । ३ । २ । १ । १४–३५ व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे वनस्पते विद्वँस्त्वं याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्क् शिल्पविद्या [स] स्ति योर्जं दधाति या सोमस्य नीविर [स्य] स्ति, या विष्णोर्यजमानस्येन्द्रस्य [शर्म सुखकारिका] योनिर [स्य] स्ति । याऽस्योदृचो

१ आचार्यदयानन्देनात्र मन्त्रे 'अत्र सर्वत्रव्यत्ययः' इत्युपरिष्टादेवोक्तम् । तेनात्र संबोधने निघाते सत्यपि प्रथमान्तं पदमिदं व्याख्यातम् । उवटमहीधराभ्यां तु भ्रान्त्या (न तु व्यत्ययेनेत्यर्थः) 'आङ्गिरसि' इति प्रथमान्तमिदं पदमिति ज्ञात्वा व्याख्यानं कृतम् । अत्रायमेव दोष इति ध्येयम् । तेनैव मक्षिकोपरिमक्षिकानिपातेन स्वबुद्धिं परित्यज्य व्याचक्षाणः स्वरसंचारिणीकृत् मिथ्याभिमानपरः पण्डितोदयप्रकाशोऽपि पराहतः, कियत्तस्य स्वरज्ञानमित्यपि प्रकाश आगतम् ॥

२ सर्वं हि सोमः ॥ श० ५ । ५ । ४ । ११ ॥

३ इदमिन्द्रियं प्रत्यस्थादिति । तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् ॥ तै० २ । २ । १० । ४ ॥

४ 'वन शब्दे' (भ्वा० प०) वनतीति वनः । तेषां पतिरिति भावः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मयि) 'अस्मत्' शब्दो युष्यसिभ्यां मदिक् (उ० १ । १३९) इति मदिक् प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः । त्वमावेकवचने (अ० ७ । २ । ९७) इति विधीयमानो 'मा'देशोऽनुदात्तादेशत्वादनुदात्त एव । तत उदात्तेन सहैकादेशो एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तः । दकारस्य योऽचि (अ० ७ । २ । ८९) इति यकारे विभक्त्यनुदात्तत्व आद्युदात्तोऽयं शब्दः ॥

(नीविः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(योनिः) पूर्वं य० ३ । १४ व्याख्यातः ॥

(सुसस्याः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(अंहसः) अमेर्हुक् च (उ० ४ । २१२) इति 'असुन्' प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तः ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

✻ 'शिल्पविद्या' इति अ० मुद्रित नास्ति ॥ † 'विदुषः सकाशात् प्राप्यं' इति क. कोशे नास्ति ॥
‡ 'सुखम्' इति ख. ग. पाठः ॥

विष्णोर्यज्ञस्य शर्म सुखकारिका [स्य] सि, * तां मय्याधेहि। सुसस्याः कृषीस्कृधि कुरु कारय वा, [ऊर्ध्वः] ऊर्ध्वं [मा] मामुच्छ्रयस्व सुसस्याः कृषीश्चांहसो मां पाहि, विमानादिषु यानेषु यो वनस्पतिरूर्ध्वं स्थाप्यते तमप्युच्छ्रयस्व ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्वद्भ्यः शिल्पविद्यां साक्षात्कृत्यैतां प्रचार्य्य सर्वे मनुष्याः समृद्धाः कार्य्याः ॥ १० ॥

वह शिल्पविद्या [रूपी] यज्ञ कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (वनस्पते) प्रकाशनीय विद्याओं का प्रचार करनेवाले विद्वान् मनुष्य ! तू जो (आङ्गिरसि) अग्नि आदि पदार्थों से सिद्ध की हुई (ऊर्णम्रदाः) आच्छादनका प्रकाश [करने] वा (ऊर्क्) पराक्रम तथा अन्नादि को करनेवाली शिल्पविद्या (असि) है, अथवा जो (ऊर्जं) पराक्रम वा अन्नादि को धारण करती है, जो (सोमस्य) उत्पन्न पदार्थसमूह का (नीविः) संवरण करनेवाली (असि) है, जो (विष्णोः) शिल्पविद्या में व्यापकबुद्धि (यजमानस्य) शिल्पक्रिया को जाननेवाले (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त मनुष्य के [(शर्म) सुख का] (योनिः) निमित्त (असि) है, जो (अस्य) इस (उदृचः) ऋचाओं के प्रत्यक्ष करने वाले (यज्ञस्य) शिल्पक्रियासाध्य यज्ञ की (शर्म) सुख करानेवाली (असि) है, उसको (मयि) शिल्पविद्या को जानने की इच्छा करनेवाले मुझ में (आ) धेहि) अच्छेप्रकार धारणकर (सुसस्याः) उत्तम २ धान्य उत्पन्न करने वा (कृषीः) खेती वा खेंचने वाली क्रियाओं को (कृधी) सिद्धकर, (ऊर्ध्वः) ऊपरस्थित होनेवाले (मा) मुझको (उच्छ्रयस्व) उत्तम धान्यवाली खेती का सेवन कराओ, और (अंहसः) पाप वा दुःखों से (पाहि) रक्षा कर, जो विमान आदि यानों और ÷ यज्ञ मे वृक्ष की शाखा ऊँची स्थापन की जाती है, उसको भी † उपयोग में लाओ ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ‡ विद्वानों के सकाश से शिल्पविद्या का साक्षात्कार और प्रचार करके सबको समृद्धियुक्त करना चाहिये ॥ १० ॥

व्रतं कृणुतेत्यस्याङ्गिरस ऋषयः। अग्निर्देवता। पूर्वस्य स्वराड् ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः।
ये देवा इत्युत्तरस्यार्ष्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथानेकार्थमग्निं विज्ञाय कस्क § उपकारो ग्राह्य इत्युपदिश्यते[4] ॥

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳसुतीर्था नोऽअसद्वशे। ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

१ आधिदैविकार्थोऽत्र प्रदर्शितः त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः ॥ १० ॥

२ शिल्परूपयज्ञ का फल वर्णन करते हैं—

३ त्रिविध अर्थ संस्कृतपदार्थ से जानना चाहिये ॥ १० ॥

४ अग्नेरेव व्रतग्रहणादिरूपयज्ञसाधकतामाह—

* 'तानाधेहि' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥
÷ 'यज्ञ में' इति क. कोशे नास्ति, अनावश्यकश्च ॥
† 'सेवन कर' इति क. ख. पाठः ॥
‡ 'विद्वानों के सकाश से शिल्पविद्या का' इति क.ख. पाठः, ग. कोशे अ०मु० च 'शिल्पविद्या का' इति त्यक्तम् ॥
§ 'कि किमुपकारो' इति तु अ. मु. कोशेषु च पाठः ॥

व्रतम् । कृणुत । अग्निः । ब्रह्म । अग्निः । यज्ञः । वनस्पतिः । यज्ञियः ॥ दैवीम् । धियम् । मनामहे । सुमृडीकामिति सुऽमृडीकाम् । अभिष्टये । वर्चोधामिति वर्चःऽधाम् । यज्ञवाहसमिति यज्ञऽवाहसम् । सुतीर्थेति सुऽतीर्था । नः । असत् । वशे ॥ ये । देवाः । मनोजाता इति मनःऽजाताः । मनोयुज इति मनःऽयुजः । दक्षक्रतव इति दक्षऽक्रतवः । ते । नः । अवन्तु । ते । नः । पान्तु । तेभ्यः । स्वाहा ॥ ११ ॥

पदार्थः—(व्रतम्) नियमपूर्वकं धर्म्यानुचरणम् । (कृणुत) स्वीकुरुत । (अग्निः) वाचकः । (ब्रह्म) सच्चिदानन्दलक्षणं चेतनं वाच्यम् । (अग्निः) अभिधायकः । (यज्ञः) अभिधेयः । (वनस्पतिः[1]) वनानां पालयिताग्निसंज्ञकः । (यज्ञियः) यो यज्ञमर्हति । (दैवीम्) दिव्यगुणसंपन्नाम् । (धियम्) प्रज्ञां, क्रियां वा । (मनामहे) विजानीयाम, याचेमहि । मनामह इति याच्ञाकर्मसु पठितम् निघ० ३ । १९ । (सुमृडीकाम्) सुष्ठु मृडन्ति सुखयन्ति यया ताम् । अत्र मृडः कीकच्कङ्कणौ । उ० ४ । २४ । अनेन मृडीकेति सिद्धम् । (अभिष्टये) इष्टसिद्धये । अत्र एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम् । अ० ६ । १ । ९४ । अनेन वार्तिकेन पररूपादस्य सिद्धिः । (वर्चोधाम्) या वर्चो विद्यां दीप्तिं दधाति ताम् । (यज्ञवाहसम्) या यज्ञं परमेश्वरोपासनं शिल्पविद्यासिद्धं वा वहति प्रापयति ताम् । (सुतीर्था) शोभनानि तीर्थानि वेदाध्ययनधर्माचरणादीन्याचरितानि यया सा । (नः) अस्मदर्थम् । (असत्) भवेत् । लेट्प्रयोगोऽयम् । (वशे) प्रकाशन्ते यस्मिंस्तस्मिन् । अत्र बाहुलकादौणादिकोऽन् प्रत्ययः । (ये) वक्ष्यमाणाः । (देवाः) विद्वांसः । (मनोजाताः) ये मनसा विज्ञानेन जायन्ते ते । (मनोयुजः) ये मनसा सदसद्विज्ञानेन युञ्जन्ति योजयन्ति वा ते । (दक्षक्रतवः) दक्षाः शरीरात्मबलानि क्रतवः प्रज्ञाः कर्माणि वा येषां ते । दक्ष इति बलनामसु पठितम् । निघ० २ । ९ । (ते) उक्ताः । (नः) अस्मान् । (अवन्तु) विद्यासत्क्रियासुशिक्षादिषु प्रवेशयन्तु । (ते) आप्ताः (नः) अस्मान् । (पान्तु) सततं रक्षन्तु । (तेभ्यः) पूर्वोक्तेभ्यः । (स्वाहा) येभ्यो विद्यावाक् प्राप्ता भवति ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । २ । ७–१८ व्याख्यातः ॥ ११ ॥

---

१ अग्निर्वै वनस्पतिः । कौ० १० । ६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुमृडीकाम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्य कित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । ततष्टाप् । एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तत्वमेव ॥

(अभिष्टये) अभिपूर्वाद् इषेः मन्त्रे वृषेषपचमनविद० (अ० ३ । ३ । ९६) इत्यादिना 'क्तिन्' प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इति पर्युदासादभेरन्तोदात्तत्वे एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वाच्यम् (अ० ६ । १ । ९४ भा० वा०) इति पररूपैकादेशे स्वरितो वा ऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इत्यनेनोदात्तत्वम् ॥

(वर्चोधाम्) आतोऽनुपसर्गे कः (अ० ३ । २ । ३) इति 'क'प्रत्यये गतिकारकोपपदा० (६ । २ । १३९) इत्यादिनोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(यज्ञवाहसम्) णिजन्ताद् 'वह'धातोः गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४।२२७) इति 'असि'प्रत्ययः । पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे यज्ञशब्दस्य नङ्प्रत्ययान्तत्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

यत्तु सायण आह—(ऋ० १ । १५ । ११)—"वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि (उ० ४ । २२१) इति असुन्, तत्र हि 'गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतस्वरत्वं च' इति वचनात् सोपपदानामपि भवति इत्युक्तम् णित् इत्यनुवृत्तेः उपधावृद्धिः" तदयुक्तम् । वहिहाधाञ्भ्य० (उ० ४ । २२१) इत्यादिसूत्रे सुडनुवर्त्तते न णित् । तदनुवृत्तौ पक्षो वक्ष इत्यादिशब्दानामसिद्धत्वापत्तेः ।

एतेन भट्टोजिदीक्षितादयोऽपि प्रत्युक्ता इति ध्येयम् ॥

(मनोजाताः) थाथादिस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वात् तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमान० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे मनःशब्दे सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति नित्त्वादाद्युदात्तस्वरसिद्धिः ॥

अन्वयः—वयं यद् ब्रह्म [ग्नि] ग्निनामा सद्यो यज्ञोऽग्निसंज्ञोऽसद्, यो वनस्पतिर्यश्च *यज्ञियोऽग्निर्नामकस्तमुपास्योपकृत्याभिष्टये या सुतीर्थास्ति तां सुमृडीकां वर्चोधां दैवीं [यज्ञवाहसं] धियं मनामहे विजानीयाम, ये दक्षक्रतवो मनोजाता मनोयुजो देवा विद्वांसो वशे वर्त्तमानाः सन्ति❀ तेभ्यः स्वाहा प्राप्ता भवति, [अतो हे मनुष्या एतादृशं व्रतं कृणुत]। ये नोऽस्मदर्थं धियं प्रकाशयन्ति, तेभ्यः पूर्वोक्तामेतां धियं मनामहे याचामहे, ते नोऽस्मानवन्तु, ते नोऽस्मान् सततं पान्तु[1] ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यस्याग्निसंज्ञा तद् ब्रह्म विज्ञायोपास्य सुप्रज्ञा प्राप्तव्या, यां† बुद्धिं विद्वांसः स्वीकुर्वन्ति, तथा शिल्पयज्ञान् संसेध्य, विदुषां सङ्गमेन विद्यां प्राप्य, स्वतन्त्रे व्यवहारे सदा स्थातव्यम्। नहि प्रज्ञया विना कश्चित् सुखमेधते, तस्मात् सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो ब्रह्मविद्यां [‡पदार्थविद्यां] बुद्धिं च दत्त्वैते सततं रक्ष्याः, रक्षिताश्चैते परमेश्वरस्य धार्मिकाणां विदुषां च प्रियाणि कर्माणि नित्यमाचरेयुः ॥ ११ ॥

अब अनेक अर्थवाले अग्नि को जानकर उससे क्या २ उपकार लेना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हम लोग जो (ब्रह्म) ब्रह्मपदवाच्य (अग्निः) अग्नि नाम से प्रसिद्ध (असत्) है, और जो (यज्ञः) अग्निसंज्ञक और जो (वनस्पतिः) वनों का पालन करनेवाला [(यज्ञियः)] यज्ञ [का उपकारी] (अग्निः) अग्नि नामक है, उसकी उपासना कर वा उससे उपकार लेकर (अभिष्टये) इष्टसिद्धि के लिये जो (सुतीर्था) जिससे अत्युत्तम दुःखों से तारनेवाले वेदाध्ययनादि तीर्थ प्राप्त होते हैं, उस (सुमृडीकाम्) उत्तम सुखयुक्त (वर्चोधाम्) विद्या वा दीप्ति को धारण करने तथा (दैवीम्) दिव्यगुणसंपन्न [(यज्ञवाहसम्) ईश्वरो की उपासना तथा शिल्पविद्या को प्राप्त करानेवाली] (धियम्) बुद्धि वा क्रियाको (मनामहे) जानें। (ये) जो (दक्षक्रतवः) शरीर आत्मा के बल प्रज्ञा वा कर्म से युक्त (मनोजाताः) विज्ञान से उत्पन्न हुए (मनोयुजः) सत् असत् के ज्ञान से युक्त (देवाः) विद्वान् लोग (वशे) प्रकाशयुक्त कर्म में वर्त्तमान हैं, उनसे (स्वाहा) विद्यायुक्त वाणी प्राप्त होती है, [इसलिये हे मनुष्यो ! (व्रतं) धर्मयुक्त आचरण को (कृणुत) स्वीकार करो] [जो (नः) हमारे लिये बुद्धि का प्रकाश करते हैं] (तेभ्यः) उनसे पूर्वोक्त प्रज्ञा की याचना करते हैं। (ते) वे (नः) हमलोगों को (अवन्तु) विद्या उत्तम क्रिया तथा शिक्षा आदिकों में प्रवेश [करायें] और [(ते) वे] (नः) हमलोगों की निरन्तर (पान्तु) रक्षा करें[3] ॥ ११ ॥

(मनोयुजः) क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप्। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। ततो विभक्तिरुदात्ता ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ त्रिविधार्थपरोऽयमन्वयः। पदार्थतोऽपि त्रिविधार्थोऽवगन्तव्यः ॥ ११ ॥

२ व्रतग्रहणादियज्ञ का साधक अग्नि ही है, यह दर्शाते हैं—

३ सं० अन्वय तथा पदार्थ से तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ जानने योग्य है ॥ ११ ॥

---

* 'यज्ञोऽग्निः' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥

❀ 'येभ्यः' इति अ. मु. ख. ग कोशयोश्च पाठः। 'तेभ्यः' इति क पाठः। स च साधीयान् इति ध्येयम् ॥

† 'विद्वांसो यथा शिल्पयज्ञान् संसाध्नुवन्ति, तेषां सङ्गमेन विद्यां प्राप्य स्वतन्त्रे व्यवहारे सदा स्थातव्यम्' इति अ० मुद्रिते ग कोशे च व्यस्तः पाठः, क ख कोशयोस्त्वस्मत्प्रदर्शितः सम्यक् पाठ एवोलभ्यते इति ध्येयम् ॥

‡ 'पदार्थविद्यां' इति क. पाठः ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जिसकी अग्निसंज्ञा है, उस ब्रह्म को जान और उसकी उपासना करके उत्तम बुद्धि को प्राप्त करना चाहिये। विद्वान् लोग जिस बुद्धि को * स्वीकार करते हैं, उससे शिल्पविद्याकारक यज्ञों को सिद्ध करके, विद्वानों के संग से विद्याको प्राप्त होके स्वतन्त्र व्यवहार में सदा रहना चाहिये, क्योंकि बुद्धि के विना कोई भी † मनुष्य सुखपूर्वक नहीं बढ़ सकता। इससे विद्वान् मनुष्यों को उचित है कि सब मनुष्यों के लिये ब्रह्मविद्या, पदार्थविद्या और बुद्धि की शिक्षा करके [उनकी] निरन्तर रक्षा करें। और वे रक्षा को प्राप्त हुए मनुष्य परमेश्वर वा विद्वानों के उत्तम उत्तम प्रिय कर्मों का आचरण किया करें ॥ ११ ॥
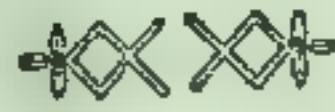
श्वात्रा इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः। आपो देवताः। [भुरिग्] ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

एतदनुष्ठायाग्रे मनुष्यैः किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो ऽ अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः।
ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः ॥ १२ ॥

श्वात्राः। पीताः। भवत। यूयम्। आपः। अस्माकम्। अन्तः। उदरे। सुशेवा इति सुऽशेवाः ॥ ताः। अस्मभ्यम्। अयक्ष्माः। अनमीवाः। अनागसः। स्वदन्तु। देवीः। अमृताः। ‡ ऋतावृधः। ऋतवृध इत्यृतऽवृधः ॥१२॥

पदार्थः—(श्वात्राः[2]) श्वात्रं प्रशस्तं विज्ञानं धनं वा विद्यते यासां ताः। अत्र अर्शआदिभ्योऽच्। अ० ५।२।१२७। इति प्रशंसार्थेऽच्। श्वात्रमिति पदनामसु पठितम्। निघ० ४।२। धननामसु च। निघ० २।१०। (पीताः) कृतपानाः। (भवत) नित्यं संपद्येरन्[3]। (यूयम्) एताः[4]। (आपः[5]) प्राणा जलादयो वा।

१ प्रसङ्गतस्तत्रापामप्युपयोगित्वमाह—
२ अत्र निरुक्तम् 'आशु अतनं भवति' निरु० ५।३॥ देवराजनिघण्टुभाष्येऽपि तथैव ॥
३ कदाचिदत्र 'सम्पद्यध्वम्' इति पाठः स्यात् ॥
४ सर्वे मनुष्या इति क पाठः ॥
५ प्रथमार्थे सम्बोधनम्। य० १।१ विवरणे पृ० १७ ऽपि द्रष्टव्यम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(श्वात्रम्) चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥ सर्वथा व्युत्पत्त्यनवधारणान्नावग्रहात इति भट्टभास्करः (तै० सं० १।३।३।१) ॥

(पीताः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(आपः) सम्बोधनत्वान्निघातत्वम्। प्रथमार्थे सम्बोधनम् ॥

(सुशेवाः) इण्शीभ्यां वन् (उ० १।१५२) इति वन्प्रत्ययान्तो नित्त्वादाद्युदात्तः शेवशब्दस्ततः सुशब्देन बहुव्रीहिसमासे आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६।२।११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(अयक्ष्माः, अनमीवाः) य० १।१ विवरणे पृ० १७ व्याख्यातौ ॥

(अनागसः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसः पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(स्वदन्तु) पादादित्वान्न निहन्यते। तास्यनुदात्तेत्० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वम्। पदार्थे तु यद् व्याख्यानं तदर्थप्रदर्शनपरमिति बोध्यम् ॥

* 'स्वीकार करते हैं' इति क ख पाठः। स च क ख संस्कृतानुसारीत्यपि ध्येयम् ॥
† 'कोई भी मनुष्य सुख को नहीं बढ़ा सकता' इति अ. मु. कोशेषु च पाठः ॥
‡ पदमिदं नोपलभ्यतेऽजमेरमुद्रिते ॥

(अस्माकम्) मनुष्याणाम् । (अन्तः) मध्ये । (उदरे) शरीराभ्यन्तरे । (सुशेवाः) सुष्ठु शेवं सुखं याभ्यस्ताः । शेवमिति सुखनामसु पठितम् । निघं० ३ । ६ । [(ताः)] (अस्मभ्यम्) मनुष्यादिभ्यः । (अयक्ष्माः) अविद्यमानो यक्ष्मा क्षयरोगो यासु * ताः । (अनमीवाः) अविद्यमानोऽमीवा ज्वरादिरोगसमूहो यासु *ताः (अनागसः) न विद्यतेऽगः पापं दोषो यासु ता निर्दोषाः । (स्वदन्तु) सुष्ठु सेवन्ताम् । (देवीः) दिव्यगुणसंपन्नाः । अत्र वा च्छन्दसि [अ० ६ । १ । १०६] इति जसः पूर्वसवर्णत्वम् । (अमृताः) नाशरहिता अमृतरसाः । (ऋतावृधः) या ऋतं सत्यं वर्धयन्ति ताः ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । २ । १९ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या या अस्माभिः पीता अस्माक [मन्तरु] दरे स्थिता अस्मभ्यं श्वात्राः सुशेवा अयक्ष्मा अनमीवा अनागस ऋतावृधोऽमृता [देवीः] देव्य आपो भवन्ति, ता भवन्तः स्वदन्तु सुसेवन्ताम् । तदेतदनुष्ठाय यूयं सुखिनो भवत[1] ॥ १२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्वत्संगेन सुशिक्षया विद्यां प्राप्य, सर्वथा सुपरीक्षिताः शोधिताः संस्कृताः शरीरात्मबलवर्धका रोगविच्छेदका जलादयः पदार्थाः सेवनीयाः । नहि विद्याऽऽरोग्याभ्यां विना कश्चिदपि निरन्तरं कर्म कर्तुं शक्नोति, तस्मादेतत् सर्वदाऽनुष्ठेयम् ॥ १२ ॥

इसका अनुष्ठान करके आगे मनुष्यों को क्या २ करना चाहिए, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो हमसे (पीताः) पिये (अस्माकम्) मनुष्यों के (अन्तः) मध्य वा (उदरे) शरीर के भीतर स्थित हुए (अस्मभ्यम्) मनुष्यादिकों के लिये [(श्वात्राः) उत्तमगुणयुक्त] (सुशेवाः) उत्तम सुखयुक्त (अनमीवाः) ‡ ज्वरादिरोगसमूह से रहित (अयक्ष्माः) क्षय आदि रोगकारक दोषों से रहित (अनागसः) पाप दोष निमित्तों से पृथक् (ऋतावृधः) सत्य को बढ़ाने वाले (अमृताः) नाशरहित अमृतरसयुक्त (देवीः) दिव्यगुणसंपन्न (आपः) प्राण वा जल हैं, (ताः) उनको आपलोग (स्वदन्तु) अच्छे प्रकार सेवन किया करो । इसका अनुष्ठान करके (यूयम्) तुम सब मनुष्य सुखों को भोगनेवाले (भवत) नित्य होवो[3] ॥ १२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को विद्वानों के संग वा उत्तम शिक्षा से विद्या को प्राप्त होकर, अच्छे प्रकार परीक्षित शुद्ध किये हुए शरीर आत्मा के बल को बढ़ाना और रोगों को दूर करनेवाले जल आदि पदार्थों का सेवन करना चाहिये, क्योंकि विद्या वा आरोग्यता के बिना कोई भी मनुष्य निरन्तर कर्म करने को समर्थ नहीं हो सकता । इससे इस कार्य्य का सर्वदा अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १२ ॥

इयन्त इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । आपो देवताः । † भुरिगार्षी बृहतीच्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

(ऋतावृधः) ऋतशब्दोपपदाद् वर्धतेः क्विप् प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६ । ३ । १३७) इति दीर्घत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः ॥ १२ ॥

२ प्रसङ्ग से उक्त कार्य में जल की उपयोगिता दर्शाते हैं—

३ तीनों प्रकार का अर्थ सं० पदार्थ में समझना चाहिये ॥ १२ ॥

* उभयत्र 'याभ्यः' इति अ. मु. ग. कोशे नास्ति । 'यासु ताः' इति तु क. ख. पाठः, स च सम्यग् इति ध्येयम् ॥
‡ 'ज्वरादि रोग के नाश करने हारे' इति हस्तलेखेषु पाठ इति ध्येयम् ।
† 'भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः' इति सं० मु० कोशेषु चापपाठः ॥

पुनस्ता आपः कीदृशः सन्तीत्युपदिश्यते[1] ॥

इयं ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम् ।
अंहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव ॥ १३ ॥

इयम् । ते । यज्ञिया । तनूः । अपः । मुञ्चामि । न । प्रजामिति प्रऽजाम् । अंहोमुच इत्यंहःऽमुचः । स्वाहाकृता इति स्वाहाऽकृताः । पृथिवीम् । आ । विशत । पृथिव्या । सम् । भव ॥ १३ ॥

पदार्थः—(इयम्) वक्ष्यमाणा । (ते) तव । (यज्ञिया) या यज्ञमर्हति सा । (तनूः) शरीरम् । (अपः) सुसंस्कृतानि जलानि । (मुञ्चामि) प्रक्षिपामि । (न) निषेधार्थे । (प्रजाम्) या प्रजायते ताम् । (अंहोमुचः) दुःखमोचयित्र्यः । (स्वाहाकृताः) याः क्रियया सुसंस्कृताः क्रियन्ते ताः । (पृथिवीम्) भूमिम् । (आ) समन्तात् । (विशत) प्रवेशं कुरुत । (पृथिव्या) भूम्या सह । (सम्) सम्यगर्थे । (भव) संपद्यस्व ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । २ । २०, २१ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यथा ते तव येयं यज्ञिया तनूरपः प्राणान् प्रजां पालनीयां न त्यजति, [यं] त्वं न मुञ्चसि, ‡ तथैवाहमेता ईदृशं स्वशरीरं च न मुञ्चामि न परित्यजामि । [हे मनुष्याः] ❀ यथा यूयं पृथिव्या सह संभवतांहोमुचः स्वाहाकृता अपः पृथिवीं चाविशत विज्ञानेन समन्तात् प्रवेशं कुरुताहं च सम्भवाम्याविशामि तथा त्वमपि सम्भव चाविश॥ १३ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैर्विद्यया परस्परं पदार्थान् मेलयित्वा सेवित्वा रोगरहितं शरीरं [कृत्वा] आत्मानं च पालयित्वा सुखयितव्यम् ॥ १३ ॥

फिर वे जल कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3]॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य ! जैसे (ते) तेरा जो (इयम्) यह (यज्ञिया) यज्ञ के योग्य (तनूः) शरीर (अपः) जल वा प्राण (प्रजाम्) प्रजाकी रक्षा करता है, जिसको तू नहीं छोड़ता, [वैसे] मैं भी अपने उस शरीर को बिना पूर्ण आयु भोगे प्रमाद से बीच में (न मुञ्चामि) नहीं छोड़ता हूँ । हे मनुष्यो ! जैसे तुम (पृथिव्या) भूमि के साथ वैभवयुक्त होते (अंहोमुचः) दुःखों को छुड़ाने वा (स्वाहाकृताः) वाणी से सिद्ध किये हुए जल

---

१ तासां स्वरूपं वर्णयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अंहोमुचः) 'अंहस्'शब्दोपपदान्मुचेः क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । ततो विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(स्वाहाकृताः) ऊर्यादित्वात् स्वाहाशब्दस्य गतिसंज्ञायां गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ त्रिविधार्थपरोऽयमन्वयः ।
स च पदार्थतोऽप्यूहनीयः ॥ १३ ॥

३ जलों का स्वरूप वर्णन करते हैं—

‡ 'यथैव' इति अ० मु० ग कोशे च पाठः । 'तथैव' इति तु क, ख. पाठः, स च सम्यक् ॥
❀ व्यस्तोऽत्रान्वयो भाषापदार्थश्च ॥

और (पृथिवीम्) भूमि को (आविशत) अच्छे प्रकार विज्ञान से प्रवेश करते [हो], मैं इनसे ऐश्वर्यसहित और इनमें प्रविष्ट होता हूँ, वैसे तू भी (सम्भव) हो और प्रवेश कर[1] ॥ १३ ॥

[यहाँ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है] ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्या से परस्पर पदार्थों का मेल और सेवन कर रोगरहित शरीर तथा आत्मा की रक्षा करके सुखी रहें ॥ १३ ॥

अग्ने त्वमित्यस्याङ्गिरस ऋषयः । अग्निर्देवता । स्वराडार्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनरग्निगुणा उपदिश्यन्ते[2] ॥

अग्ने॒ त्वꣳ सु जा॑गृहि व॒यꣳ सु म॑न्दिषीमहि ।
रक्षा॑ णो॒ऽ अप्र॑युच्छन् प्र॒बुधे॑ नः॒ पुन॑स्कृधि ॥ १४ ॥

अग्ने॑ । त्वम् । सु । जा॒गृ॒हि॒ । व॒यम् । सु । म॒न्दि॒षी॒म॒हि॒ ॥ रक्ष॑ । नः॒ । अप्र॑युच्छ॒न्नित्यप्र॑ऽयुच्छन् । प्र॒बुध॒ इति॑ प्र॒ऽबुधे॑ । नः॒ । पु॒न॒रिति॒ पुनः॑ । कृ॒धि॒ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(अग्ने) अयमग्निः । (त्वम्) यः (सु) श्रैष्ठ्ये । (जागृहि) जागर्त्ति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (वयम्) कर्मानुष्ठातारो नित्यं जागरिताः । *(सु) शोभने । (मन्दिषीमहि) शयीमहि (रक्ष) रक्षति । अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः । (नः) अस्मान् । (अप्रयुच्छन्) प्रमादमकुर्वन् । (प्रबुधे) जागरिते । (नः) अस्मान् । (पुनः) (कृधि) करोति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । २ । २२ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—अग्ने [त्वं] योऽग्निः प्रबुधे नोऽस्मान् सु जागृहि सुष्ठु जागरयति । येन वयं सुमन्दिषीमहि योऽप्रयुच्छन्नोऽस्मान् [रक्ष] रक्षति प्रयुच्छतश्च हिनस्ति, यो नोऽस्मान् पुनः पुनरेवं कृधि करोति, सोऽस्माभिर्युक्त्या सम्यक् सेवनीयः[3] ॥ १४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्योऽग्निः शयनजागरणजीवनमरणहेतुरस्ति, स युक्त्या संप्रयोक्तव्यः ॥ १४ ॥

---

१ सं० अन्वय तथा पदार्थ दोनों से ही त्रिविध अर्थ की योजना करनी चाहिये ॥ १३ ॥

२ एवमपां प्रयोगमुपवर्ण्याग्नेर्दैनन्दिनकार्योपयोगितां वर्णयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अप्रयुच्छन्) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(प्रबुधे) प्रपूर्वाद् बुधेः क्विप् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तः 'प्रबुध्' शब्दः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥
सप्तम्यर्थेऽत्र चतुर्थी । अन्तोदात्ताद्० (अ० ६ । १ । १६९) इत्यत्रानित्यसमास इति पर्युदासाद् विभक्तेरुदात्तत्वं न भवति ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ सर्वविधार्थोऽन्वयतः पदार्थतश्चोहनीयः ॥ १४ ॥

* '(सु) शोभने' इति पाठः । अ० मु० ग कोशे च नास्ति । क ख कोशयोस्तूपलभ्यते । अग्ने प्रमादेन त्यक इति ध्येयम् ॥

फिर अग्नि के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—(अग्ने) [(त्वम्)] जो अग्नि (प्रबुधे) जगने के समय (सुजागृहि) अच्छे प्रकार [हमें] जगाता वा जिससे (वयम्) जगत् के कर्मानुष्ठान करनेवाले हमलोग (सुमन्दिषीमहि) आनन्दपूर्वक सोते हैं। जो (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होके (नः) प्रमादरहित हमलोगों की (रक्ष) रक्षा तथा प्रमादसहितों को नष्ट करता, और जो (नः) हमलोगों के साथ (पुनः) बार २ इसी प्रकार (कृधि) व्यवहार करता है, उसको युक्ति के साथ सब मनुष्यों को सेवन करना चाहिये[2] ॥ १४ ॥

भावार्थः— मनुष्यों को जो अग्नि सोने, जागने, जीने, तथा मरने का हेतु है, उसका युक्ति से सेवन करना चाहिये ॥ १४ ॥

पुनर्मन इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । अग्निर्देवता । †ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

जीवा अग्निवाय्वादिनिमित्तेन जागरणे पुनर्जन्मनि वा प्रसिद्धानि

मनआदीनीन्द्रियाणि प्राप्नुवन्तीत्युपदिश्यते[3] ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा मऽआगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं मऽआगन् । वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ १५ ॥

पुनः । मनः । पुनः । आयुः । मे । आ । अगन् । पुनरिति पुनः । प्राणः । पुनः । आत्मा । मे । आ । अगन् । ※पुनरिति पुनः । चक्षुः । पुनरिति पुनः । श्रोत्रम् । मे । आ । अगन् ॥ वैश्वानरः । अदब्धः । तनूपा इति तनूऽपाः । अग्निः । नः । पातु । दुरितादिति दुःऽइतात् । अवद्यात् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(पुनः) शयनानन्तरम् जागरणे, मरणानन्तरं *द्वितीये जन्मनि वा । (मनः) विज्ञानसाधकम् । (पुनः) पश्चाज्जन्मानन्तरम् । ‡(आयुः) जीवनम् । (मे) मह्यम् (आ) समन्तात् । (अगन्) प्राप्नोति । अत्र सर्वत्र लडर्थे लुङ् । मन्त्रे घस० [अ० २ । ४ । ८०] इति च्लेर्लुक् । मो नो धातोः [अ० ८ । २ । ६४] इति मकारस्य नकारः । (पुनः) वारंवारम् । (प्राणः) शरीराधारकः । (पुनः) पश्चात्, मनुष्यदेहधारणानन्तरम् । (आत्मा) अतति सर्वत्र व्याप्नोतीति सर्वान्तर्यामी परमात्मा, स्वस्वभावो

१ इस प्रकार जल का प्रयोग बता कर, अग्नि की प्रति दिन के कार्यों में उपयोगिता दिखाते हैं—

२ सर्वविध अर्थ अन्वय तथा पदार्थ दोनों से जान लेना चाहिये ॥ १४ ॥

३ मनइन्द्रियादिसंयोगनिमित्तता चास्य दर्शयति—

† 'भुरिग्ब्राह्मी बृहती' इति अ० मु० कोशेषु चापपाठः ॥

※ 'पुनरिति' इत्येतावानंशोऽजमेरमुद्रिते नास्ति ।

* "(जागरणे) शयनानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा" इति अ० मुद्रिते प्रमादपाठः । अत्र 'पुनः पश्चात्' इति क पाठः । '(पुनः) जागरणे मरणानन्तरं, द्वितीये जन्मनि वा' इति ख पाठः । '(जागरणे) मरणानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा' इति ग. पाठः । तत्र 'शयनानन्तरम्' इति तु क्वापि नास्ति । प्रूफसंशोधने परिवर्धितः स्यात् ॥

‡ 'येन (आयुः)' इति पाठो अ० मुद्रिते कोशेषु चास्ति । अत्र'येन' इति पदं सर्वथापि व्यर्थम् ॥

वा। (मे) मह्यम्। (आ) अभितः। (अगन्) प्राप्नोति। (पुनः) पश्चात्। (चक्षुः) चष्टे येन तद्रूपग्राहकमिन्द्रियम्। (पुनः) अग्रे। (श्रोत्रम्) शृणोति शब्दान् येन तच्छब्दग्राहकमिन्द्रियम्। (मे) मह्यम्। (आ) आभिमुख्ये। (अगन्) प्राप्नोति। (वैश्वानरः[1]) शरीरनेता जाठराग्निः, सर्वस्य नेता परमेश्वरो वा। (अदब्धः) हिंसितुमनर्हः। (तनूपाः)) यः शरीरमात्मानं च रक्षति। (अग्निः) अन्तःस्थो विज्ञानस्वरूपो वा। (नः) अस्मान्। (पातु) पालयति, पालयतु वा। (दुरितात्[2]) पापजन्यात् प्रातव्याद् दुःखाद् दुष्टकर्म्मणो वा। (अवद्यात्) पापाचरणात्॥ अयं मन्त्रः श० ३। २। २। २३ व्याख्यातः॥ १५॥

अन्वयः—यस्य संबन्धेन कृपया वा मे मह्यं पुनः जागरणे पुनर्जन्मनि वा मन आयुः पुनरागन्। मे मम प्राणः पुनरागन्, आत्मा पुनरागन्। मे मह्यं चक्षुः पुनरागन्, श्रोत्रं पुनरागन्। सोऽदब्धस्तनूपा वैश्वानरोऽग्निर्नोऽस्मानवद्याद् दुरितात् पातु पालयति पालयतु वा[3]॥ १५॥

अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—यदा जीवाः शयनं मरणं च प्राप्नुवन्ति, तदा यानि कार्य्यसिद्धिसाधनानि मनआदीनीन्द्रियाणि प्रलीनानीव भूत्वा पुनः पुनर्जागरणे जन्मान्तरे वा प्राप्नुवन्ति, तानि यस्य विद्युदग्न्यादेः संबन्धेन परमेश्वरस्य सत्ताव्यवस्थाभ्यां वा सगोलकानि भूत्वा कार्य्यकरणसमर्थानि भवन्ति, स सम्यक् सेवितो जाठराग्निः सर्वं रक्षति, उपासितो जगदीश्वरः पापकर्मणः सकाशान्निवर्त्त्य धर्मे प्रवर्त्य पुनः पुनर्मनुष्यजन्मानि प्रापय्य दुष्टाचाराद् दुःखेभ्यश्च ※ पृथक्कृत्वाऽऽभ्युदयिकं नैःश्रेयसिकं च सुखं प्रापयति॥ १५॥

---

१ स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत् पुरुषः॥ श० १०। ६। १। ११॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते॥ श० १४। ८। १०। १॥

शिरो वै वैश्वानरः॥ श० ९। ३। १। ७॥

२ ते य एवमेतद् विदुः। ये वैतत् कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति। ते सम्भवन्त एवामृतत्वमभिसम्भवन्त्यथ य एवं न विदुर्ये वैतत् कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति। त एतस्य (मृत्योः) एवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति॥ श० १०। ४। ३। १०॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आयुः) एतेर्णिच्च (उ० २। ११८) इति 'उसिः' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(अगन्) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः॥

(आत्मा) 'अत सातत्यगमने' (भ्वा० प०) इत्येतस्मात् सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उ० ४। १५३) इति 'मनिण्' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणोदात्तत्वम्॥

(श्रोत्रम्) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उ० ४। १६८) इति त्रन्, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(वैश्वानरः) विश्वान् नरान् नयतीति पृषोदरादित्वात् साधुः। यद्वा नरे संज्ञायाम (अ० ६। ३। १२९) छान्दसत्वादसंज्ञायामपि दीर्घत्वम्। ततोऽपत्यार्थेऽणि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(दुरितात्) थाथघञ्क्ताज० (अ० ६। २। १४४) इत्यादिनोत्तरपदान्तोदात्तत्वम्॥

(अवद्यात्) अवद्यपण्य० (अ० ३। १। १०१) इति नञ्पूर्वाद् वदेः 'यत्'प्रत्ययः। अन्तोदात्तत्वं च निपातनादेव॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

३ त्रिविधार्थपरोऽत्रान्वयः, पदार्थोऽपि, स च श्लेषालङ्कारेण प्रदर्शित इति बोध्यम्॥ १५॥

※ 'पृथक्कृत्य' इति क. ख. पाठः। तदा तु च्व्यन्तत्वाद् गतिसंज्ञायां समासे सति 'ल्यप्' इति ध्येयम्॥

जीव अग्नि वायु आदि पदार्थों के निमित्त से जगने के समय वा दूसरे जन्म में प्रसिद्ध मन आदि इन्द्रियों को प्राप्त होते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—जिसके संबन्ध वा कृपा से (मे) मुझको जो [(पुनः) जागरण या पुनर्जन्म में] (मनः) विज्ञानसाधक मन (आयुः) उमर (पुनः) फिर २ (आगन्) प्राप्त होता (मे) मुझको (प्राणः) शरीर का आधार प्राण (पुनः) फिर (आगन्) प्राप्त होता (आत्मा) सब में व्यापक सब के भीतर की सब बातों को जाननेवाले परमात्मा का विज्ञान [(पुनः) फिर (आगन्)] प्राप्त होता (मे) मुझको (चक्षुः) देखने के लिये नेत्र (पुनः) फिर (आगन्) प्राप्त होते और (श्रोत्रम्) शब्द को ग्रहण करनेवाले कान [(पुनः) फिर] प्राप्त होते हैं, वह (अदब्धः) हिंसा करने अयोग्य (तनूपाः) शरीर वा आत्मा की रक्षा करने और (वैश्वानरः) शरीर को प्राप्त होनेवाला (अग्निः) अग्नि वा विश्व को प्राप्त होनेवाला परमेश्वर (नः) हमलोगों को (अवद्यात्) निन्दित (दुरितात्) पाप से उत्पन्न हुए दुःख वा दुष्ट कर्मों से (पातु) पालन करता है[2] [वा पालन करे] ॥ १५ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—जब जीव सोने वा मरण आदि व्यवहार को प्राप्त होते हैं, तब जो २ मन आदि इन्द्रिय नाश हुए के समान होकर फिर जगने वा जन्मान्तर में जिन कार्य्य करने के साधनों को प्राप्त होते हैं, वे इन्द्रिय जिस विद्युत् अग्नि आदि के संबन्ध परमेश्वर की सत्ता वा व्यवस्था से शरीरवाले होकर कार्य्य करने को समर्थ होते हैं † वह अच्छे प्रकार सेवन किया हुआ जाठराग्नि सबकी रक्षा करता और जो उपासना किया हुआ जगदीश्वर पापरूप कर्मों से अलग कर धर्म में प्रवृत्तकर वारंवार मनुष्य जन्म को प्राप्त कराकर दुष्टाचार वा दुःखों से पृथक् करके इस लोक वा परलोक के सुखों को प्राप्त कराता है ‡ ॥ १५ ॥

त्वमग्ने व्रतपा इत्यस्य वत्स ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते[3] ॥

त्वम॑ग्ने व्रत॒पाऽअ॑सि दे॒वऽआ मर्त्ये॑ष्वा । त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑ ।

रास्वेय॑त्सो॒मा भूयो॑ भर दे॒वो नः॑ सवि॒ता वसो॑र्दा॒ता वस्व॑दात् ॥ १६ ॥

त्वम् । अ॒ग्ने॒ । व्र॒त॒पा इति॑ व्रत॒ऽपाः । अ॒सि॒ । दे॒वः । आ । मर्त्ये॑षु । आ ॥ त्वम् । य॒ज्ञेषु॑ । ईड्यः॑ ॥ रास्व॑ । इय॑त् । सो॒म॒ । आ । भूयः॑ । भ॒र॒ । दे॒वः । नः॒ । स॒वि॒ता । वसोः॑ । दा॒ता । वसु॑ । अ॒दा॒त् ॥ १६ ॥

१ अग्नि ही मन इन्द्रियादि के संयोग का निमित्त है, यह दर्शाते हैं—

२ यहां अन्वय तथा पदार्थ से तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ जानने योग्य है । श्लेषालङ्कार से भाष्यकार अनेकविध अर्थ दर्शाते हैं । ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ॥ १५ ॥

३ ईश्वरभौतिकाग्न्योः स्वरूपमाह—

† इतोऽग्रे "मनुष्यों को योग्य है कि जो" इति ग. अ० मुद्रिते च । क. ख. कोशयोस्त्वयमेवास्मत्प्रदर्शितः सम्यक् पाठ उपलभ्यते ॥

‡ इतोऽग्रे 'वह क्यों न उपयुक्त और उपास्य होना चाहिये' इति ग. अ० मुद्रिते च । क. ख. कोशयोस्तु नास्त्ययं पाठः ॥

पदार्थः—(त्वम्) स वा । (अग्ने) * जगदीश्वर ! अग्निर्वा (व्रतपाः) यो व्रतं सत्यं धर्माचरणनियमं पाति रक्षतीति (असि) अस्ति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (देवः) दाता प्रकाशको वा । (आ) समन्तात् । (मर्त्येषु) मरणधर्मेषु मनुष्येषु कार्य्येषु वा । (आ) अभितः । (त्वम्) स वा । (यज्ञेषु) सत्कारेषूपासनादिष्वग्निहोत्रादिषु, शिल्पेषु वा । (ईड्यः) स्तोतुमध्येषितुं वाऽर्हः । (रास्व) देहि, ददाति वा । (इयत्) प्राप्नुवन् । (सोम) ऐश्वर्य्यप्रदैश्वर्य्यहेतुर्वा । (आ) अभितः । (भूयः) अतिशयेन † बहु । (भर) भरति वा । (देवः) द्योतकः । (नः) अस्मभ्यम् । (सविता) सर्वस्य जगत उत्पादकः प्रेरको वा । (वसोः) धनस्य । (दाता) प्रापकः । (वसु) धनम् । (अदात्) ददाति ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । २ । २४, २५ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे सोमाग्ने यस्त्वं मर्त्येषु व्रतपाः सविता [देवो] यज्ञेष्वीड्यो देवोऽसि, स भवान्नोऽस्मभ्यं वसोर्दाता सन् वसु [आ] अदाद् विज्ञानधनं ददाति, स भूयो वस्वारास्वेयत् संस्त्वमेतान्यस्मदर्थमाभरेत्येकः ॥

[त्वम्] योऽग्नेऽयमग्निर्मर्त्त्येषु व्रतपाः सविता [देवः] यज्ञेष्वीड्योऽध्येषितव्यः सोमो देवोऽ [स्य] स्ति, [त्वं स नो] ऽस्मभ्यं ‡ वसोर्दातियत् सन् भूयः [वस्वादात्] सर्वकार्य्येष्वारास्वारासते, आभराभितः सुखैर्भरति पुष्णातीति *द्वितीयः*[2] ॥ १६ ॥

अथ श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः सत्यस्वरूपस्य पूजार्हस्य सर्वजगदुत्पादकस्य सकलसुखप्रदातुः परमेश्वरस्यैवोपासनां कृत्वा सुखयितव्यं, एवं च कार्य्यसिद्धये भौतिकमग्निं संप्रयोज्य सर्वाणि सुखानि प्राप्तव्यानीति ॥ १६ ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे (सोम) ऐश्वर्य्य के देनेवाले (अग्ने) जगदीश्वर ! जो (त्वम्) आप (मर्त्येषु) मनुष्यों में (व्रतपाः) सत्य, धर्माचरण की रक्षा (सविता) सब जगत् को उत्पन्न करने [(देवः) दानदेनेवाले]

---

1 अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः ॥ गो० उ० १ । १४ ॥
एतत् खलु वै व्रतस्य रूपं यत् सत्यम् ॥ श० १२ । ८ । २ । ४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मर्त्येषु) पूर्वं यजुः ३ । ३० व्याख्यातः ॥

(ईड्यः) ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः (अ० ६ । १ । २१४) इत्यनेनाद्युदात्तः ॥

(रास्व) 'रा दाने' इत्यस्माद् व्यत्ययेनात्मनेपदम् । लसार्वधातुकस्वरे प्राप्ते छान्दसो धातुस्वरः वाक्यभेदान्निघाताभावः ॥

(इयत्) किमिदंभ्यां वो घः (अ० ५ । २ । ४०) इति वतुप्पक्षे उदात्तनिवृत्तिस्वरेणाद्युदात्तः । शतृप्रत्यये तु छान्दसः स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अधियज्ञाध्यात्मपरोऽयमन्वयः, अधियज्ञान्तर्भूत एवाधिदैविकार्थः, श्लेषालङ्कारेणान्यास्वपि प्रक्रियासु संगच्छते ऽत्रार्थं इत्याचार्य्याणामिङ्गितचेष्टितैर्विज्ञायते । स च पदार्थतो ऽप्यवगन्तव्यः ॥ १६ ॥

३ ईश्वर और भौतिक अग्नि का स्वरूप कहते हैं—

---

* 'जगदीश्वरो ऽग्निर्वा' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः । स च लेखने व्यस्तः प्रतिभाति ॥
† 'बहुः' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥
‡ 'वसोर्दादियत् सन्' इति अ० मु० पाठः ॥

(यज्ञेषु) सत्कार वा उपासना आदि में (ईड्यः) स्तुति के योग्य [(देवः) प्रकाश करने वाले (असि) हो, सो आप] (नः) हमलोगों के लिये (वसोः) धन के (दाता) दान करनेवाले [होते हुये] (वसु) [विज्ञानरूप] धन को ([आ] अदात्) देते हैं, * (भूयः) बारंबार अत्यन्त धन (आरास्व) दीजिये तथा हमें (इयत्) प्राप्त होते हुये (त्वम्) आप इन सब सुखों को हमारे लिये (आभर) धारण कराइये। [*यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ*] ॥ १ ॥

(त्वम्) जो (अग्ने) अग्नि (मर्त्येषु) मरण धर्म वाले मनुष्यों के कार्यों में (व्रतपाः) नियमाचरण का पालन (सविता) जगत् को प्रेरणा करने (देवः) प्रकाश करने (यज्ञेषु) अग्निहोत्रादि यज्ञों में (ईड्यः) खोजने योग्य (सोमः) ऐश्वर्य्य को देने (देवः) प्रकाशमान अग्नि [असि] है, [(त्वं)] वह (नः) हम लोगों के लिये (वसोः) धन का (दाता) देनेहारा (इयत्) प्राप्त कराता हुआ (भूयः) अत्यन्त (वसु) धन को [आ] (अदात्) देता और (आरास्व) धन को देने का निमित्त होता है (आभर) सब प्रकार के सुखों को धारण करता है [*यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ*[1]] ॥ २ ॥ १६ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को उचित है कि जैसे सत्यस्वरूप [पूजनीय] सब जगत् को उत्पन्न करने और सकल सुखों के देने वाले जगदीश्वर ही की उपासना को करके सुखी रहें। इसी प्रकार कार्यसिद्धि के लिये अग्नि को संप्रयुक्त करके सब सुखों को प्राप्त करें ॥ १६ ॥

एषा त इत्यस्य वत्स ऋषिः। अग्निर्देवता। आर्चीत्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

एतान् सेवित्वा मनुष्येण कथं भवितव्यमित्युपदिश्यते[2] ॥

एषा ते॑ शुक्र तनू॒रे॒तद्वर्च॒स्तया॒ सम्भ॑व॒ भ्राजं॑ गच्छ।
जूर॑सि धृ॒ता मन॑सा॒ जुष्टा॒ विष्ण॑वे ॥ १७ ॥

एषा। ते॒। शु॒क्र॒। त॒नूः। ए॒तत्। वर्चः॑। तया॑। सम्। भ॒व॒। भ्राज॑म्। ग॒च्छ॒ ॥ जूः। असि॒। धृ॒ता। मन॑सा। जुष्टा॑। विष्ण॑वे ॥ १७ ॥

१ इस मन्त्र में संस्कृत अन्वय अधियज्ञ तथा अध्यात्मपरक है। श्लेषालङ्कार से आचार्य सर्वप्रक्रियागत अर्थ का बोधन करा रहे हैं, अधियज्ञ के अन्तर्गत ही आधिदैविक अर्थ भी है ॥ सं० पदार्थ से भी सब प्रक्रियाओं में अर्थ समझना चाहिये ॥ १६ ॥

२ उपर्युक्तस्य यज्ञस्य सुखाधायकतामाह—

* अत्र सर्वोऽपि भाषापदार्थो व्यस्त इति। इतोऽग्रे "सो (इयत्) प्राप्त करते हुए आप (भूयः) वारंवार अत्यन्त धन (आरास्व) दीजिये, (आभर) सब सुखों से पोषण कीजिये" इति ख. ग. अ. मुद्रिते च पाठः। स च व्यस्त एव ॥
'क' कोशे त्वित्थं पाठः—"सो आप (इयत्) प्राप्त होते हुये (भूयः) फिर धन को (आरास्व) देवो वा (आभर) धारण कीजिये" ॥

पदार्थः—(एषा) वक्ष्यमाणा । (ते) तव । (शुक्र) वीर्य्यवन् विद्वन् ! (तनूः) शरीरम् । (एतत्) प्रत्यक्षम् । (वर्चः) विज्ञानं तेजो वा । (तया) तन्वा । (सम्) सम्यगर्थे । (भव) निष्पद्यस्व । (भ्राजम्) प्रकाशम् । (गच्छ) प्राप्नुहि । (जूः) ज्ञानी वेगवान् वा । (असि) भवसि । (धृता) ध्रियते यया तया । अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ वा०] इति [† करणे] क्विप् । (मनसा) विज्ञानेन । (जुष्टा) प्रीता सेविता वा । (विष्णवे) परमेश्वरार्थं यज्ञाय वा ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । ४ । ९-११ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे शुक्र विद्वंस्ते तव या [एषा] विष्णवे तनूर [स्य] स्ति या त्वया धृता जुष्टा च, तया जूः संस्त्वमेतद्वर्चः सम्भव सम्यग्भावय, भ्राजं गच्छ मनसैतेन पुरुषार्थं गच्छ प्राप्नुहि[3] ॥ १७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वराज्ञापालनेन विज्ञानयुक्तेन मनसा शरीरात्मारोग्यं ‡ वर्धयित्वा यज्ञमनुष्ठाय विज्ञानयुक्तेन मनसा सुखयितव्यम् ॥ १७ ॥

इनका सेवन करके मनुष्यों को कैसे वर्तना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4] ॥

पदार्थः—हे (शुक्र) वीर्य पराक्रम वाले विद्वन् मनुष्य ! (ते) तेरा [(एषा)] जो (विष्णवे) परमेश्वर वा यज्ञ के लिये * (तनूः) शरीर (असि) है, तैंने जिसको (धृता) धारण किया और [(जुष्टा) प्रीतिपूर्वक सेवन किया] है (तया) उससे तू (जूः) ज्ञानी वा वेग वाला होके (एतत्) इस (वर्चः) विज्ञान

१ अस्य एवैतानि (घर्मः-अर्कः-शुक्रः-ज्योतिः-सूर्यः) अग्नेर्नामानि ॥ श० ९ । ४ । २ । २५ ॥

२ (क) विष्णुः परमात्मा । स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ५५ ॥

(ख) विष्णुर्व्यापक इति शत्रुघ्नाचार्यो मन्त्रार्थदीपिकायां पृ० ७॥ विष्णुर्भगवान् इति पृ० ४७॥

(ग) विष्णुर्व्यापक इति लौगाक्षिगृह्यसूत्रे देवपालः पृ० ४५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शुक्र) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) निघातः ॥

(भ्राजम्) भ्राजतेः भ्राजभास० (अ० ३ । २ । १७७) इति क्विप् । धातुस्वरेणोदात्तस्ततो विभक्तेरनुदात्तत्वम् ॥

(जूः) वचिप्रच्छयायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घश्च (अ० ३ २ । १७८ भा० वा०) इत्यनेन क्विपि धातुस्वरेणैवान्तोदात्तत्वम् ॥ क्विब् वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घो ऽ सम्प्रसारणं च (उ० २ । ५७) इति वा क्विप् ॥

(जुष्टा) प्रत्ययस्वरे प्राप्ते नित्यं मन्त्रे (अ० ६ । १ । २१०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(विष्णवे) विषेः किच (उ० ३ । ३९) इति णुप्रत्ययः, निच्च । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । सर्वविधो ऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥ १७ ॥

४ उपर्युक्त यज्ञ सुख का देनेवाला है, यह दर्शाते हैं—

† 'करणे' इति कोशेषु पाठ इति ध्येयम् ॥

‡ 'वर्धित्वा' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः । 'आरोग्य को बढ़ा कर' अस्य तु 'आरोग्यं वर्धयित्वा' इत्येव साधीयान् पाठः । क. कोशे तु 'प्राप्य' इति पाठः ॥

* इतोऽग्रे '(तनूः) शरीर (असि) है' इति पाठः क. ख. कोशयोर्वर्तमानोऽपि ग. कोशे चास्थाने वर्तते । क. ख. क्रम एव साधीयान् ॥

और तेज को (सम्भव) अच्छे प्रकार सम्पन्न कर और तू (आजस्) प्रकाश को (गच्छ) प्राप्त हो और (मनसा) विज्ञान से पुरुषार्थ को प्राप्त हो[1] † ॥ १७ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की आज्ञा का पालन करके, विज्ञानयुक्त मन से शरीर वा आत्मा के आरोग्यपन को बढ़ा कर यज्ञ का अनुष्ठान करके सुखी रहें ॥ १७ ॥

तस्यास्त इत्यस्य वत्स ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते । स्वराडार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

ते वाग्विद्युतौ कीदृश्यावित्युपदिश्यते[2] ॥

तस्यास्ते सत्यसंवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा ।
शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥ १८ ॥

तस्याः । ते । सत्यसवस इति सत्यऽसंवसः । प्रसव इति प्रऽसवे । तन्वः । यन्त्रम् । अशीय । स्वाहा ॥ शुक्रम् । असि । चन्द्रम् । असि । अमृतम् । असि । वैश्वदेवमिति वैश्वऽदेवम् । असि ॥ १८ ॥

पदार्थः—(तस्याः) वाचो विद्युतो वा । (ते) तव । (सत्यसवसः) सत्यं सव ऐश्वर्य्यं जगत्कारणं वा यस्य तस्य परमात्मनः । (प्रसवे) उत्पादिते संसारे । (तन्वः) शरीरस्य । अत्र जसादिषु छन्दसि वा वचनम् [अ० ७ । ३ । १०९ मा० वा०] इति वार्तिकेनाडभावः । (यन्त्रम्) यन्त्रयति संकुचति चालयति निबध्नाति वा येन तत् । (अशीय) प्राप्नुयाम् । (स्वाहा) वाचं विद्युतं वा । (शुक्रम्) शुद्धम् । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (चन्द्रम्) आह्लादकारकम् । (असि) अस्ति । (अमृतम ‡) अमृतात्मकव्यवहारपरमार्थसुखसाधकम् । (असि) अस्ति । (वैश्वदेवम्) यद्विश्वेषां देवानां विदुषामिदं तत् । (असि) अस्ति ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । ४ । १२–१५ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

१ अन्वय यहां अध्यात्मपरक है । सं० पदार्थ से त्रिविध अर्थ की ऊहा कर लेनी चाहिये ॥ १७ ॥

२ अग्निवर्णनप्रसङ्गेनाऽन्तरिक्षस्थां विद्युतं वर्णयति, श्लेषेण वाचं च ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सत्यसवसः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे, सत्सु साधु इति व्युत्पत्त्या यत्प्रत्यये यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते सत्यादशपथे (अ० ५ । ४ । ६६) इति निपातनात् पूर्वपदस्यान्तोदात्तत्वम् ॥

(प्रसवे) ऋदोरप् (अ० ३ । ३ । ५७), थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(तन्वः) तनोतेः भृमृ''' (उ० १ । ७) इत्यादिना 'उः' प्रत्ययः । तत ऊङ् । एकादेश उदात्तः । तत उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितो ऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इति विभक्तेः स्वरितत्वम् ॥

(यन्त्रम्) यन्त्रि संकोचे (चु०) इत्यस्मात् पचाद्यच्यन्तोदात्तत्वम् । यद्वा यच्छतेः गुधृवीपचि० (उ० ४ । १६७) इत्यादिना त्रः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

† मुद्रिते त्वन्यथा पाठः । स च शुद्धसंस्कृतपाठाननुगत इति कृत्वा तदनुसारमस्माभिः संशोधितः ॥
‡ '(अमृतम्)''''''(असि) अस्ति' एष पाठः क. ख. हस्तलेखयोरुपलभ्यते, ग. तु प्रमादत्यक्त इति ध्येयम् । अत एव मुद्रितेऽपि नास्ति ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! सत्यसवसस्ते तव प्रसवे [तन्वो] या स्वाहा वाग् विद्युच्च वर्त्तेते तस्या विद्यां प्राप्य यच्छुक्रम [स्य] सि चन्द्रम [स्य] स्यमृतम [स्य] सि वैश्वदेवम [स्य] सि, तद् यन्त्रमहमशीय प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वरोत्पादितायामस्यां सृष्टौ विद्यया कलायन्त्रसिद्धेरग्न्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सम्यगुपकारान् गृहीत्वा सर्वाणि सुखानि संपादनीयानि ॥ १८ ॥

वह वाणी और बिजुली कैसी है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! (सत्यसवसः) सत्यऐश्वर्य्ययुक्त वा जगत् के निमित्तकारणरूप (ते) आपके (प्रसवे) उत्पन्न किए हुए संसार में आपकी कृपा से जो [(तन्वः) शरीर सम्बन्धी] (स्वाहा) वाणी वा बिजली है, (तस्याः) उन दोनों के सकाश से विद्या [प्राप्त] करके मैं जो (शुक्रम्) शुद्ध (असि) है, (चन्द्रम्) आह्लादकारक (असि) है, (अमृतम्) अमृतात्मक व्यवहार वा परमार्थ से सुख को सिद्ध करनेवाला (असि) है, और (वैश्वदेवम्) सब देव अर्थात् विद्वानों को सुख देनेवाला (असि) है, उस (यन्त्रम्) संकोचन विकाशन चालन ॐ बन्धन करने वाले यन्त्र को (अशीय) प्राप्त होऊँ[3] ॥ १८ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर की उत्पन्न की हुई इस सृष्टि में विद्या से कलायन्त्रों को सिद्ध करके अग्नि आदि पदार्थों से अच्छे प्रकार पदार्थों का ग्रहण कर सब सुखों को प्राप्त करें ॥ १८ ॥

चिदसीत्यस्य वत्स ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते । † निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृश्यावित्युपदिश्यते[4] ॥

(वैश्वदेवम्) तस्येदम् (अ० ४ । ३ । १२०) इत्यण्, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । श्लेषेण सर्वप्रक्रियासु मन्त्रोऽयं युज्यत इति ध्वनितं भवति । त्रिविधार्थः पदार्थतोऽप्यऽवगन्तव्यः ॥ १८ ॥

२ अग्नि का वर्णन करते हुये अन्तरिक्षस्थ विद्युत् का वर्णन करते हैं, श्लेष से वाणी का भी—

३ अन्वय अध्यात्मपरक है। श्लेषालङ्कार तथा सं० पदार्थ से सब प्रक्रियाओं में अर्थ समझना चाहिये ॥ १८ ॥

४ तयोरेव गुणानाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया ॥

(चित्) चेतयतेः क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् , धातुस्वरः ॥

(मना) मनुतेः अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३ । १ । १३४ भा० वा०) इत्यच् । कृतो बहुलम् (अ०

ॐ 'भीषण' इति तु अ० मु० ग. कोशे च पाठः ॥
† 'भुरिग् ब्राह्मी' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥

चिद॑सि म॒नासि॒ धीर॑सि॒ दक्षि॑णासि क्ष॒त्रिया॑सि य॒ज्ञिया॒स्यदि॑तिरस्युभय॒तःशी॒र्ष्णी । सा नः॑ सु॒प्राची॒ सुप्र॑तीच्येधि मि॒त्रस्त्वा॑ प॒दि ब॑ध्नीतां पू॒षाध्व॑नस्पा॒त्विन्द्रा॒याध्य॑क्षाय ॥ १९ ॥

चित् । अ॒सि॒ । ॐ म॒ना । अ॒सि॒ । धीः । अ॒सि॒ । दक्षि॑णा । अ॒सि॒ । क्ष॒त्रिया॑ । अ॒सि॒ । य॒ज्ञिया॑ । अ॒सि॒ । अदि॑तिः । अ॒सि॒ । उ॒भ॒य॒तःशी॒र्ष्णीत्यु॑भयतःऽशी॒र्ष्णी ॥ सा । नः॒ । सु॒प्राचीति॑ सुऽप्रा॑ची । सु॒प्र॑ती॒चीति॑ सुऽप्र॑तीची । ए॒धि॒ । मि॒त्रः । त्वा॒ । प॒दि । ब॒ध्नी॒ता॒म् । पू॒षा । अध्व॑नः । पा॒तु॒ । इन्द्रा॑य । अध्य॑क्षा॒येत्यधि॑ऽअक्षाय ॥ १९ ॥

पदार्थः—(चित्) या विद्याव्यवहारस्य चेतयमाना वाग्विद्युद् वा । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (मना) ज्ञानसाधिका । (असि) अस्ति । (धीः) प्रज्ञा कर्मविद्याधारिका । (असि) अस्ति । (दक्षिणा) दक्षन्ते प्राप्नुवन्ति विज्ञानं विजयं च यया सा । (असि) अस्ति । (क्षत्रिया) या क्षत्रस्यापत्यवद्वर्त्तते । (असि) अस्ति । (यज्ञिया) या यज्ञमर्हति सा । (असि) अस्ति । (अदितिः) अविनाशिनी । (असि) अस्ति । (उभयतःशीर्ष्णी) उभयतः शिरोवदुत्तमा गुणा यस्यां सा । अत्र पञ्चम्या अलुक् । (सा) । (नः) अस्मभ्यम् । (सुप्राची) शोभनः प्राक् पूर्वः कालो यस्यां सा । (सुप्रतीची) सुष्ठु प्रत्यक् पश्चिमः कालो यस्यां सा । (एधि) भवतु । (मित्रः) सखा । (त्वा) ताम् । (पदि) पद्यते जानाति प्राप्नोति येन व्यवहारेण तस्मिन् । अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०] इति करणे क्विप् । (बध्नीताम्) । बद्धां कुरुताम् । (पूषा) पुष्टिकर्त्ता । (अध्वनः) मार्गस्य मध्ये । (पातु) रक्षतु । (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते परमेश्वराय स्वामिने व्यवहाराय वा (अध्यक्षाय) अधिरुपरिभावे ऽन्वेक्षणेऽक्षाण्यक्षिणी वा यस्य यस्माद्वा तस्मै ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । ४ । १६-२० व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! सत्यसवसस्ते तव प्रसवे या वाग् विद्युद्वा चिद्[स्य]स्ति मना [ऽस्य]स्ति धीर[स्य]स्ति दक्षिणा[ऽस्य]स्ति क्षत्रिया[ऽस्य]स्ति यज्ञिया[ऽस्य]स्त्युभयतःशीर्ष्ण्यदितिर[ऽस्य]स्ति, सा नोऽस्मभ्यं सुप्राची सुप्रतीच्येधि भवतु । यः पूषा मित्रः सर्वसखो भूत्वा मनुष्यत्वाय [त्वा] † तां पद्यध्यक्षायेन्द्राय बध्नीताम् । स भवानध्वनो व्यवहारपरमार्थसिद्धिकरस्य मार्गस्य मध्ये नोऽस्मान् सततं पातु रक्षतु[1] ॥ १९ ॥

३ । ३ । ११३ भा० वा०) इति करणे । चित्त्वाद-न्तोदात्तः । ततः स्त्रियां टाप् । एकादेश उदात्तेनो-दात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तः ॥

(अदितिः) 'दो अवखण्डने' इत्यस्मात् स्त्रियां क्तिन् (अ० ३ । ३ । ९४) । ततो नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् ॥

(सुप्राची, सुप्रतीची) बहुव्रीहौ प्र० (अ० ६ । २ । १) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(मित्रः) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः (उ० ४ । १६४) इति क्त्रः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अध्वनः) अदेर्धश्च (उ० ४ । ११६) इति क्वनिप् । प्रत्ययस्य पित्त्वाद् धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अध्यक्षाय) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः, श्लेषेण त्रिविधोऽप्यर्थ ऊहितव्यो भवतीति ध्वनितम् ॥

त्रिविधोऽर्थः पदार्थतोऽप्यवगन्तव्यः ॥ १९ ॥

ॐ 'मनाः' इति विसर्गान्तोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ।

† 'त्वां' इति अ. मु. ख. ग. कोशयोश्च पाठः ॥ क. कोशे 'तां' इति सम्यक् पाठः ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥ (ते) (सत्यसवसः) (प्रसवे) इति पदत्रयमत्रानुवर्त्तते ॥

भावार्थः—या बाह्याभ्यन्तररक्षणाभ्यां सर्वोत्तमा वाग् विद्युच्च वर्त्तते, सैषा भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालेषु सुखकारिण्यस्तीति वेद्यम् । यः कश्चित् परमेश्वरसभाध्यक्षोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रीत्याज्ञापालनाय‡ सत्यां वाचं विद्युद्विद्यां च दृढां निबध्नाति, स एव मनुष्यः सर्वरक्षको भवतीति ॥ १९ ॥

फिर वे वाणी और बिजली किस प्रकार की हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! (सत्यसवसः) सत्य ऐश्वर्य्य युक्त (ते) आपके (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में जो (चित्) विद्या व्यवहार को चिताने वाली † वाणी वा बिजली (असि) है, जो (मना) ज्ञान कराने हारी (असि) है, जो (धीः) प्रज्ञा और कर्म को प्राप्त करने वाली (असि) है । [जो] (दक्षिणा) विज्ञान विजय को प्राप्त करने (क्षत्रिया) राजा के पुत्र के समान वर्त्ताने हारी (असि) है । जो (यज्ञिया) यज्ञ को कराने योग्य (असि) है । जो (उभयतःशीर्ष्णी) दोनों प्रकार से शिर के समान उत्तम गुण युक्त और (अदितिः) नाश रहित वाणी वा बिजली (असि) है, [(सा)] वह (नः) हम लोगों के लिये (सुप्राची) पूर्व काल और (सुप्रतीची) पश्चिम काल में सुख देने हारी (एधि) हो । जो (पूषा) पुष्टि करने हारा (मित्रः) सबका मित्र हो कर मनुष्यपन के लिये [(त्वा)] उस वाणी और बिजली को (पदि) प्राप्ति योग्य उत्तम व्यवहार में (अध्यक्षाय) अच्छे प्रकार व्यवहार को देखने (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य वाले परमात्मा अध्यक्ष और श्रेष्ठव्यवहार के लिये (बध्नीताम्) बन्धन युक्त करे, सो आप (अध्वनः) व्यवहार और परमार्थ की सिद्धि करने वाले मार्ग के मध्य में हम लोगों की निरन्तर (पातु) रक्षा कीजिये[2] ॥ १९ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । और पूर्व मन्त्र से (ते) (सत्यसवसः) (प्रसवे) इन तीन पदों की अनुवृत्ति भी आती है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जो बाह्य अभ्यन्तर की रक्षा द्वारा सबसे उत्तम वाणी वा बिजली वर्त्तमान है, वही भूत भविष्यत् और वर्त्तमानकाल में सुखों की कराने वाली है, ऐसा जानना चाहिये । जो कोई मनुष्य प्रीति से परमेश्वर सभाध्यक्ष और उत्तम कामों में आज्ञा के पालन के लिये * सत्य वाणी और उत्तम विद्या को ग्रहण करता है, वही सबकी रक्षा कर सकता है ॥ १९ ॥

---

१ वाणी और विद्युत् के गुणों को कहते हैं—

२ अन्वय अध्यात्मपरक है । श्लेषालङ्कार से, यहां तीनों अर्थों की योजना है, यह प्रतीत हो रहा है ॥ सं० पदार्थ से भी तीनों प्रकार का अर्थ समझना चाहिये ॥ १९ ॥

---

‡ व्यस्तो ऽयं पाठ इति प्रतीमः । कदाचिदत्र 'परमेश्वरप्रीतये सभाध्यक्षाज्ञापालनाय, उत्तमव्यवहारसिद्धये च' इत्येव पाठः स्यात् । क. पुस्तके तु 'परमेश्वरसभाध्यक्षप्रीत्याज्ञापालनाय' इति पाठः ॥

† 'वाणी वा बिजली' इति क. ख. पाठः, स च प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

* "जो कोई मनुष्य परमेश्वर की प्रीति, सभाध्यक्ष की आज्ञा पालन और उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये" इति पाठः सम्यक् स्यात् ॥ "जो कोई परमेश्वर और सभाध्यक्ष की उत्तम कामों में आज्ञा पालन के लिये" इति ख. कोशे पाठः । स च साधीयान् इति ध्येयम् ॥

अनु त्वेत्यस्य वत्स ऋषिः । वाग्विद्युतौ देवते । पूर्वार्द्धस्य साम्नी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ।
उत्तरार्द्धस्य भुरिगार्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृश्यावित्युपादिश्यते[1] ॥

अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒तानु॒ भ्राता॒ सग॒र्भ्योऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः ।
सा दे॑वि दे॒वमच्छे॒हीन्द्रा॑य॒ सोम॑ᳪ रु॒द्रस्त्वाव॑र्त्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑ ॥ २० ॥

अनु॑ । त्वा॒ । मा॒ता । म॒न्य॒ता॒म् । अनु॑ । पि॒ता । अनु॑ । भ्राता॑ । सग॑र्भ्य॒ इति॒ सऽग॑र्भ्यः । अनु॑ । सखा॑ । सयू॑थ्य॒ इति॒ सऽयू॑थ्यः ॥ सा । दे॒वि॒ । दे॒वम् । अच्छ॑ । इ॒हि॒ । इन्द्रा॑य । सोम॑म् । रु॒द्रः । त्वा॒ । आ । व॒र्त्त॑य॒तु॒ । स्व॒स्ति । सोम॑स॒खेति॒ सोम॑ऽसखा । पुन॑रिति॒ पुनः॑ । आ । इ॒हि॒ ॥ २० ॥

पदार्थः—(अनु) अन्यभावे । [(त्वा) त्वाम् ।] (माता) जननी । (मन्यताम्) विज्ञापयतु स्वीकुरुताम् । (अनु) पुनरर्थे । (पिता) जनकः । (अनु) पश्चादर्थे । अन्विति सादृश्यापरभावम्। निरु० १ । ३ । (भ्राता) बन्धुः । (सगर्भ्यः) समानश्चासौ गर्भः सगर्भस्तस्मिन् भवः, अत्र सगर्भसयूथसनुताद्यन्। अ० ४ । ४ । ११४ । इति सूत्रेण भवार्थे यन् प्रत्ययः । (अनु) आनुकूल्ये । (सखा) मित्रम् । (सयूथ्यः) समानश्चासौ यूथः समूहस्तस्मिन् भवः, पूर्वसूत्रेणास्य सिद्धिः । (सा) पूर्वोक्ता । (देवि) देदीप्यमाना । (देवम्) परमेश्वरं विद्यायुक्तं शुद्धव्यवहारं वा । (अच्छ) सम्यग्रीत्या । (इहि) जानीहि प्राप्नुहि वा । (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यप्राप्तये । (सोमम) उत्तमपदार्थसमूहम् । (रुद्रः) परमेश्वरः, चतुश्चत्वारिंशद्वर्षकृतब्रह्मचर्यो विद्वान् वा । (त्वा) ताम् । (आ) समन्तात् । (वर्त्तयतु) प्रवृत्तं कारयतु । (स्वस्ति) शोभनमस्ति यस्मिन् प्राप्तव्ये तत्सुखम् । स्वस्तीति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ५ । (सोमसखा) सोमः परमेश्वरः सोमविद्याविन्मनुष्यो वा सखा सुहृद् यस्य सः । (पुनः) पश्चात् (आ) समन्तात् । (इहि) प्राप्नुहि, प्राप्नोतु वा ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । ४ । २०–२१ व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—हे मनुष्य यथा रुद्रः परमेश्वरो विद्वान् † वा यां वाणीं विद्युतं सोमं देवं स्वस्ति सुखं यस्मा इन्द्राय [आ] वर्त्तयतु सा सोमसखा देवि वाग् विद्युद् वा देवं विद्वांसमेति, तथैव त्वं तस्मै पुनरच्छेहि पुनः पुनः समन्तात् सम्यग्रीत्या प्राप्नुहि । एतद्विद्यां ग्रहीतुं [त्वा] त्वां मातानुमन्यतां पितानुमन्यतां सगर्भ्यो भ्राताऽनुमन्यतां सयूथ्यः सखाऽनुमन्यतां, त्वं च [त्वा] एतां पुनः पुनः पुरुषार्थेनैहि प्राप्नुहि ॥ २० ॥

---

१ सम्यक्प्रयुक्तया वाचा विद्युता च व्यवहारस्य सुखसाध्यत्वमाह—

२ य० १ । १ विवरणे पृ० १२ व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(भ्राता) नप्तृनेष्टृ० (उ० २ । ९५) इत्यनेन तृन्प्रत्ययान्तो निपातितः, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(सगर्भ्यः) प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(सयूथ्यः) पूर्ववत् ॥

(देवि) प्रथमार्थे सम्बुद्धिः । ततश्च आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इत्याष्टमिको निघातः ॥

(अच्छ) अच्छ गत्यर्थवदेषु (अ० १ । ४ । ६९) इति निपातत्वादाद्युदात्तः ॥

(सोमसखा) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे सोमशब्दस्य मन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ आधिदैविकाध्यात्मपरो ऽत्रान्वयः । त्रिविधो ऽप्यर्थः पदार्थंत ऊहनीयः ॥ २० ॥

† 'वा वर्तयतु यां' इति अ० मु० कोशेषु चापपाठः ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परस्परमेवं वर्त्तितव्यं यथा धर्मात्मा विदुषी माता, धर्मात्मा विद्वान् पिता, भ्राता मित्रादयश्च सत्ये व्यवहारे प्रवर्त्तेरँस्तथैव पुत्रादिभिरप्यनुवर्त्तितव्यम्, यथा च विद्वांसो धार्मिकाः पुत्रादयो धर्मे व्यवहारे प्रवर्त्तेरँस्तथैव मात्रादिभिरप्यनुष्ठातव्यमित्येवं सर्वैः परस्परं वर्त्तित्वाऽऽनन्दितव्यम् ॥ २० ॥

फिर वे वाणी और बिजली कैसी हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! जैसे (रुद्रः) परमेश्वर वा ४४ चवालीस वर्ष पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्याश्रम सेवन से पूर्णविद्यायुक्त विद्वान् (त्वा) तुझको जिस वाणी वा बिजली तथा (सोमम्) उत्तम पदार्थसमूह और (स्वस्ति) सुख को (इन्द्राय) परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये (आवर्त्तयतु) प्रवृत्त करे, और जो ‡ (सा) वह (सोमसखा) परमेश्वर वा सोमविद्याविन्मनुष्य युक्त (देवि) विद्या प्रकाश युक्त वाणी और दिव्यगुणयुक्त बिजली (देवम्) उत्तम धर्मात्मा विद्वान् को प्राप्त होती है, वैसे उसको तू बार २ (अच्छ) अच्छे प्रकार (इहि) प्राप्त हो। और इसको ग्रहण करने के लिये (त्वा) तुझको (माता) उत्पन्न करनेवाली जननी (अनुमन्यताम्) अनुमति अर्थात् आज्ञा देवे। इसी प्रकार (पिता) उत्पन्न करनेवाला जनक (सगर्भ्यः) तुल्य गर्भ में होनेवाला (भ्राता) भाई और (सयूथ्यः) समूह में रहनेवाला (सखा) मित्र ये सब प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा देवें, उसको तू (पुनरेहि) अत्यन्त पुरुषार्थ करके बारंबार प्राप्त हो[2] ॥ २० ॥

इस मन्त्र में [वाचक] लुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—प्रश्न—मनुष्यों को परस्पर किस प्रकार वर्त्तना चाहिये ? उत्तर—जैसे धर्मात्मा विद्वान् माता पिता भाई मित्र आदि सत्यव्यवहार में प्रवृत्त हों वैसे पुत्रादि और जैसे विद्वान् धार्मिक पुत्रादि धर्मयुक्त व्यवहार में वर्त्तें, वैसे माता पिता आदिको भी वर्त्तना चाहिये [इस प्रकार सब को व्यवहार करके आनन्द में रहना चाहिये] ॥ २० ॥

वत्सीलस्य वत्स ऋषिः। वाग्विद्युतौ देवते। विराडार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृश्यावित्युपदिश्यते[3] ॥

वस्व्युस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि ।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके ॥ २१ ॥

वस्वी । असि । अदितिः । असि । आदित्या । असि । रुद्रा । असि । चन्द्रा । असि ॥ बृहस्पतिः । त्वा । सुम्ने । रम्णातु । रुद्रः । वसुभिरिति वसुऽभिः । आ । चके ॥ २१ ॥

---

१ अच्छे प्रकार प्रयोग की हुई वाणी और विद्युत से व्यवहार सुखपूर्वक सिद्ध होता है, यह दर्शाते हैं—

२ अन्वय में आधिदैविक तथा अध्यात्म अर्थ दर्शाया है। सं० पदार्थ से सब प्रकार के अर्थ की ऊहा कर लेनी चाहिये ॥ २० ॥

३ विद्युतं च विशिष्य लक्षयति—

‡ "(सा) वह (सोमसखा)........मनुष्य युक्त" अयं पाठः क. कोश उपलभ्यते, अग्रे प्रमोदन त्यक्त इति प्रतिभाति ॥

पदार्थः—(वस्वी) याऽग्न्यादिपदार्थाख्यवसुविद्यासंबन्धिनी वसुभिश्चतुर्विंशतिवर्षकृतब्रह्मचर्य्यैः प्राप्ता सा । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः (अदितिः) प्रकाशवन्नित्या अदितिर्द्यौः० [ऋ० १ । ८९ । १०] । इति प्रकाशकारकोऽर्थो गृह्यते । (असि) अस्ति । (आदित्या) याऽऽदित्यवदर्थविद्याप्रकाशिकाऽष्टचत्वारिंशत्संवत्सरपर्यन्तानुष्ठितब्रह्मचर्य्यैः स्वीकृता सा । (असि) अस्ति । (रुद्रा) ✽ या प्राणवायुसंबन्धिनी चतुश्चत्वारिंशद्वायनावधिसेवितब्रह्मचर्यैः स्वीकृता सा । (असि) अस्ति । (चन्द्रा) आह्लादयित्री । (असि) अस्ति । (बृहस्पतिः) परमेश्वरो विद्वान् वा (त्वा) ताम् । (सुम्ने) सुखे । (रम्णातु) रमयतु । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थो विकरणव्यत्ययश्च । (रुद्रः) दुष्टानां रोदयिता विद्वान् । (वसुभिः) उषितसर्वविद्यैर्विद्वद्भिः सह । (आ) समन्तात् (चके[2]) कामितवान् कामयतां वा, अत्र पक्षे लोडर्थे लिट् । आचक इति कान्तिकर्मसु पठितम् । निघ० २ । ६ ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । २ । १ । १, २ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य ! यथा या वस्व्यस्यस्त्यदितिरस्यस्ति रुद्रास्यस्त्यादित्यास्यस्ति चन्द्रास्यस्ति, यां बृहस्पतिः सुम्ने रमयति प्रेरयति, यां रुद्रो वसुभिः सह वर्त्तमानामाचके, यामहं कामये, तथा त्वा तां भवान् रम्णातु रमयतु ॥ २१ ॥

अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ॥

भावार्थः—ये † वाग्विद्युतौ प्राणपृथिव्यादिभिः सह वर्त्तमाने अनेकव्यवहारहेतू स्तो जितेन्द्रियादिधर्मपुरस्सरं यथायोग्यं कृतब्रह्मचर्य्यैर्मनुष्यैर्विज्ञानेन क्रियासु संप्रयोजिते सत्यौ वाग्विद्युतौ बहुसुखकारिके जायेते, एते त्वमपि नित्यं सेवस्व ॥ २१ ॥

फिर वह वाणी वा बिजली किस प्रकार की है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4] ॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य ! जैसे जो (वस्वी) अग्नि आदि विद्या संबन्धी, जिसकी सेवा २४ चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करने वालों ने की हुई (असि) है, जो (अदितिः) प्रकाशकारक (असि) है, जो (रुद्रा) प्राण वायु संबन्धवाली, और जिसको ४४ चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य करने हारे प्राप्त हुए हों वैसी (असि) है, जो (आदित्या) सूर्य्यवत् सब विद्याओं का प्रकाश करनेवाली जिसका ग्रहण ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यसेवी मनुष्यों ने किया हो वैसी (असि) है, जो (चन्द्रा) आह्लाद करनेवाली (असि) है, जिसको (बृहस्पतिः) सर्वोत्तम (रुद्रः) दुष्टों को रुलानेवाला परमेश्वर वा विद्वान् (सुम्ने) सुख में रमण युक्त करता और जिस (वसुभिः)

---

१ बृहस्पतिः पुर एता ॥ तै० ब्रा० २ । ५ । ७ । ३ ॥

२ एकमेवेदं पदमिति निघण्टुकारः । विचित्रा हि पदकाराणां वृत्तय इत्येव हेतुः ।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वस्वी) वसुशब्दः शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि० (उ० १ । १०) इति 'उ'प्रत्ययः, नित्वादाद्युदात्तः । ततो वोतो गुणवचनात् (अ० ४ । १ । ४४) इति ङीपि प्राप्ते गुणवचनान् ङीबाद्युदात्तार्थम् । आद्युदात्तः प्रयोजयन्ति वस्वी । पट्वी (अ० ४ । १ । ४४ भा०)॥ (बृहस्पतिः) पूर्वं यजुः २ । १२ व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः, श्लेषालङ्कारेण त्रिविधोऽप्यर्थोऽत्र एवोहितव्य इति ध्वन्यते । स च पदार्थतोऽप्यवगन्तव्यः ॥ २१ ॥

४ विशेषतया विद्युत् का वर्णन करते हैं—

✽ 'सा' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे चास्ति । क. ख. तु नास्त्येवेति ध्येयम् ॥

† इतः पूर्वं 'यथा' इति मुद्रिते व्यस्तः पाठः ॥

पूर्ण विद्यायुक्त मनुष्यों के साथ वर्त्तमान हुई वाणी वा बिजली का (आचके) निर्माण वा इच्छा करता अथवा जिस की मैं इच्छा करता हूँ, वैसे तू भी (त्वा) उसको (रण्णातु) रमणयुक्त वा इसको सिद्ध करने की इच्छा कर[1]॥२१॥

इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं।

भावार्थः—जो वाणी और बिजुली प्राण तथा पृथिवी आदि के साथ वर्त्तमान अनेक व्यवहारों की सिद्धि के हेतु हैं,[ॐ] वह वाणी और बिजली जितेन्द्रियादि धर्मपूर्वक यथायोग्य ब्रह्मचर्य का पालन किये हुए मनुष्यों से विज्ञान द्वारा क्रियाओं में प्रयुक्त की हुई बहुत सुखकारक होती हैं। [इन दोनों वाणी और विद्युत् का तू भी सेवन कर]॥ २१ ॥
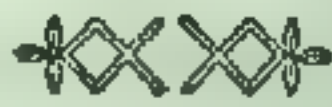
अदित्यास्त्वेत्यस्य वत्स ऋषिः। वाग्विद्युतौ देवते। ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनस्ते कीदृश्यावित्युपदिश्यते[2]॥

अदि॑त्यास्त्वा मू॒र्द्धन्नाजि॑घर्मि देव॒यज॑ने पृथि॒व्याऽइडा॑यास्प॒दम॑सि घृ॒तव॒त् स्वाहा॑। अ॒स्मे रम॑स्वा॒स्मे ते॒ बन्धु॒स्त्वे रा॒यो मे रा॒यो मा व॒यꣳ रा॒यस्पोषे॑ण॒ वियौ॑ष्म॒ तोतो॒ राय॑ः॥२२॥

अदि॑त्याः। त्वा॒। मू॒र्द्धन्। आ। जि॒घ॒र्मि॒। दे॒व॒यज॑न॒ इति॑ देव॒ऽयज॑ने। पृ॒थि॒व्याः। इडा॑याः। प॒दम्। अ॒सि॒। घृ॒तव॒दिति॑ घृ॒तऽव॑त्। स्वाहा॑॥ अ॒स्मे ऽइत्य॒स्मे। र॒म॒स्व॒। अ॒स्मे ऽइत्य॒स्मे। ते॒। बन्धु॑ः। त्वे ऽइति॒ त्वे। राय॑ः। मे ऽइति॒ मे। राय॑ः। मा। व॒यम्। रा॒यः। पोषे॑ण। वि। यौ॒ष्म॒। तोत॑ः। राय॑ः॥ २२॥

पदार्थः—(अदित्याः) अन्तरिक्षस्य। अदितिरन्तरिक्षम् [ऋ० १। ८९। १०] इत्यस्मादयमर्थो गृह्यते। (त्वा) ताम्। (मूर्द्धन्) मूर्द्धनि वर्त्तमानाम्। (आ) समन्तात्। (जिघर्मि) प्रदीप्ये संचालयामि वा। (देवयजने) देवानां विदुषां संगतिकरण एतेभ्यो दाने वा। (पृथिव्याः) भूमेर्मध्ये। (इडायाः) स्तोतुमन्वेष्टुमर्हाया वेदवाण्याः। इडेति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १। ११। (पदम्) वेदितव्यं प्राप्तव्यं वा। (असि) अस्ति। (घृतवत्) घृतेन पुष्टिदीप्तिकारकेण तुल्या। (स्वाहा) यया क्रियया सुहुतं यजति तस्याः। (अस्मे) अस्मासु। (रमस्व) रमतां रमयतु वा। (अस्मे) अस्माकम्। अत्र सर्वत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७। १। ३९] इति शे आदेशः। (ते) तव। (बन्धुः) भ्राता। (त्वे[❀]) त्वयि। (रायः) विद्यादिसुवर्णधनम्। (मे) मयि। (रायः) धनम्। (मा) निषेधार्थे। (वयम्) मनुष्याः। (रायः) उक्तधनस्य। (पोषेण) पुष्यन्ति येन तेन। (वि) विगतार्थे। (यौष्म) युक्ता भवेम। (तोतः) तुवन्ति जानन्ति प्राप्नुवन्ति हिंसन्ति वा येन सः। अत्र 'तु गतिवृद्धिहिंसास्विति धातोर्बाहुलकादौणादिकस्तन् प्रत्ययः। (रायः) विद्याराज्यसमृद्धयः॥ अयं मन्त्रः श० ३। ३। १। ४—११ व्याख्यातः॥ २२॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मूर्द्धन्) श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्० (उ० १। १५९) इत्यादिना 'मूर्द्धन्'शब्दः 'कनिन्'-प्रत्ययान्तो निपात्यते। सुपां सुलुक्० (अ० ७। १। ३९) इति सुपो लुक्। नित्त्वादाद्युदात्तत्वं प्राप्तमपि

1 अन्वय यहाँ अध्यात्मपरक है। श्लेषालङ्कार तथा सं० पदार्थ से त्रिविध अर्थ समझ लेना चाहिए॥ २१॥

2 वाग्विद्युतौ सम्यग्विज्ञायैव सुखेन जीवितुं शक्यमित्याह—

[ॐ] व्यस्तोऽत्र पाठः। अजमेरमुद्रिते ग. कोशे चैवं पाठः—"और जितनी सेवा जितेन्द्रियादि धर्म सेवन पूर्वक हो के विद्वानों ने की हो वैसी वाणी और बिजली मनुष्यों को विज्ञान पूर्वक क्रियाओं से संप्रयोग की हुई बहुत सुखों के करने वाली होती हैं"॥ अस्माभिस्तु संस्कृतानुसारी पाठः स्वीकृत इति ध्येयम्॥

[❀] '(त्वे) त्वयि......(वयम्) मनुष्याः' इति क. ख. हस्तलेखयोरुपलभ्यमानो ग. हस्तलेखे प्रमादात् त्यक्तः॥

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य ! त्वं यथा या देवयजनेऽदित्याः पृथिव्या इडायाः स्वाहा [† मूर्द्धन्] घृतवत्पदमस्यस्ति, यामहं [आ] जिघर्मि, त्वा तां त्वमपि जिघृहि, यास्मे अस्मासु रमते सा युष्मास्वपि रमस्व रमतां, यामहं रमयामि तां भवानपि स्वस्मिन् रमयतु । योऽस्मे अस्माकं बन्धुरस्ति स ते तवाप्यस्तु, यो रायो धनसमूहस्त्वे त्वय्यस्ति स मे मय्यप्यस्तु । तोतो भवान् या रायो विद्याधनसमृद्धीः प्राप्नोति ता मे मय्यपि सन्तु, या मयि वर्त्तन्ते तास्त्वय्यपि सन्त्वेता रायः समृद्धयः सन्ति ताः सर्वेषां सुखायापि संप्रयुक्ताः सन्तु, यथैवं जानन्तो निश्चिन्वन्तोऽनुतिष्ठन्तो यूयं वयं च रायस्पोषेण कदाचिन्मा वियौष्म‡ वियुक्ता मा भवेम तथैव सर्वे भवन्तु ॥ २२ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्या सत्यविद्याधर्मसंस्कृता वाग् विद्याक्रियाभ्यां संप्रयुक्ता विद्युदादिविद्यास्ति सा सर्वेभ्य उपदिश्य संग्राह्य, सुखदुःखव्यवस्थां समानां विदित्वा सर्वमैश्वर्य्यं परोपकारे संयोज्य सदा सुखयितव्यम् । नैवं कदाचिद् व्यवहारः कर्त्तव्यो येन स्वस्यान्यस्य वैश्वर्य्यह्रासः कदाचिद् भवेदिति ॥ २२ ॥

फिर वे वाणी और बिजली कैसी हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य ! तू कैसे (देवयजने) विद्वानों के यजन वा दान में इस (अदित्याः) अन्तरिक्ष (पृथिव्याः) भूमि और (इडायाः) वाणी को (स्वाहा) अच्छे प्रकार यज्ञ करनेवाली क्रिया के मध्य जो (मूर्द्धन्) सबके ऊपर वर्त्तमान (घृतवत्) पुष्टि करनेवाले घृत के तुल्य (पदम्) जानने वा प्राप्त होने योग्य पदवी (असि) है, वा जिसको मैं ([आ] जिघर्मि) प्रदीप्त करता हूं, वैसे (त्वा) उसको प्रदीप्त कर, और जो (अस्मे) हम लोगों में विभूति रमण करती है, वह तुम लोगों में भी (रमस्व) रमण करे, जिसको मैं रमण कराता हूँ उसको तू भी रमण करा, जो (अस्मे) हम लोगों का (बन्धुः) भाई है, वह (ते) तेरा भी हो, जो (रायः) विद्यादि धनसमूह (त्वे) तुझ में है, वह (मे) मुझ में भी हो, जो (तोतः) जानने प्राप्त करने योग्य [आप] (रायः)

वेदे सर्वत्रान्तोदात्तदर्शनान्निपातनादेवान्तोदात्त इति ध्येयम् ॥ यद्वा छान्दसमन्तोदात्तत्वम् ॥

(देवयजने) अर्थप्रदर्शनपरमिदम् । विग्रहस्तु 'देवा यजन्ति यस्मिन्निति' करणाधिकरणयोश्च (अ० ३ । ३ । ११७) इत्यधिकरणे ल्युट् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति 'य' उदात्तः ॥

(घृतवत्) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः (उ० ३ । ८९) इति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततो वतिप्रत्ययेऽन्तोदात्तत्वप्राप्तौ छान्दसत्वान्मध्योदात्तः ॥

(रायः) पूर्वं य० २ । १० पृ० १७९ व्याख्यातः ॥

(पोषेण) अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (अ० ३ । ३ । १९) इति करणे घञ् । ञित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(यौष्म) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(तोतः) ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अधियज्ञाध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । अधियज्ञान्तर्भूत एवाधिदैविकार्थं इति ध्येयम् ॥ २२ ॥

२ वाणी और विद्युत् को भली भांति जान कर ही सुखपूर्वक जिया जा सकता है, इसलिये कहते हैं—

---

† 'मूर्धनि' इति क. पाठः ॥

‡ 'कदाचिद् युक्ता' इति अ. सु. पाठः । अत्र कदाचिदिति पदं ऽर्थम्, पूर्वं वर्तमानत्वादिति ध्येयम् ॥

[जिस विद्या धन आदि समृद्धि को प्राप्त होते हैं, वह मुझे भी प्राप्त हो तथा जो] विद्या धन मुझ में है, सो तुझ में भी हो। जो (रायः) तुम्हारी और हमारी समृद्धि हैं, वे सब के सुख के लिये हों। इस प्रकार जानते निश्चय करते वा अनुष्ठान करते हुए तुम [(वयम्)] हम और सब लोग (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि से कभी (मा वियौष्म) अलग न होवें[1] ॥ २२ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को सत्य विद्या धर्म से संस्कार की हुई वाणी वा शिल्पविद्या से संयोग की हुई बिजुली आदि विद्या को सब मनुष्यों के लिये उपदेश वा ग्रहण और सुख दुःख की व्यवस्था को भी तुल्य ही जान के सब ऐश्वर्य को परोपकार में संयुक्त कर सदा सुखी* रहना चाहिये, और किसी मनुष्य को इस प्रकार का व्यवहार कभी न करना चाहिये कि जिससे किसी को विद्या धन आदि ऐश्वर्य्य की हानि होवे ॥ २२ ॥

समख्य इत्यस्य वत्स ऋषिः। वाग्विद्युतौ देवते। आस्तारपङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

एतयोः कथमुपयोगः कार्य्य इत्युपदिश्यते[2] ॥

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा।
मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि ॥ २३ ॥

सम्। अख्ये। देव्या। धिया। सम्। दक्षिणया। उरुचक्षसेत्युरुऽचक्षसा ॥ मा। मे। आयुः। प्र। मोषीः। मोऽइति मो। अहम्। तव। वीरम्। विदेय। तव। देवि। संदृशीति सम्ऽदृशि ॥ २३ ॥

पदार्थः—(सम्) सम्यगर्थे। (अख्ये) प्रकथयामि। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदं लडर्थे लुङ् च। (देव्या) देदीप्यमानया। (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा। (सम्) एकीभावे। (दक्षिणया) ज्ञान-साधिकयाऽज्ञाननाशिकया च। (उरुचक्षसा) उरु बहु चक्षो व्यक्तं वचनं दर्शनं वा यस्यास्तया। (मा) निषेधे (मे) मम। (आयुः) जीवनम्। (प्र) क्रियायोगे। (मोषीः) मुष्णीयात् खण्डयेत्। अत्र लिङर्थे लुङ्। (मो) निवारणे। (अहम्) सर्वप्रियं प्रेप्सुः। (तव) सर्वसुहृदः। (वीरम्) विक्रान्तं जनम्। (विदेय) अन्यायेन विन्देय। अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [अ० १। ४। ९ मा०] इति नुमभावः। अत्रावैयाकरणेन महीधरेण भ्रान्त्या विदॢ लाभ इत्यस्य व्यत्ययेन तुदादिभ्यः शप्रत्ययेन लिङि रूपमित्यशुद्धं व्याख्यातम्। कुतः ? विदॢधातोः स्वत एव तुदादित्वं वर्त्तते। (तव) तस्याः।

[1] अन्वय अधियज्ञ तथा अध्यात्मपरक है, आधिदैविक अर्थ अधियज्ञ के अन्तर्भूत ही समझना चाहिये ॥२२॥

[2] तयोर्वाग्विद्युतोरुपयोगमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अख्ये) लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (अ० ६। ४। ७१) इत्याद्युदात्तमिदं पदम्। ततः तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः ॥

(उरुचक्षसा) महति ह्रस्वश्च (उ० १। ३१) इति 'कु'प्रत्ययेऽन्तोदात्त 'उरु'शब्दः। ततो बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६। २। १) इति पूर्वपद-स्यान्तोदात्तत्वम् ॥

(संदृशि) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेऽन्तोदात्तः 'संदृक्' शब्दः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

* 'संयुक्त कर सदा सुखी रहना चाहिये' इति क. पाठः। 'संयुक्त करते रहना चाहिये' इति ख. पाठः। 'संयुक्त करना चाहिये' इति ग. कोशे अ० मु० च पाठः ॥

(देवि) दिव्यगुणैर्विराजमानायाः। अत्र अर्थाद्विभक्तेर्विपरिणामः [अ० १।३।६ मा०] इति विभक्तेर्विपरिणामः। (संदृशि) समीचीनं दृग्दर्शनं यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन्॥ अयं मन्त्रः श० ३।३।१।१२ व्याख्यातः॥ २३॥

अन्वयः—हे विद्वन्मनुष्य! यथाहं दक्षिणयोरुचक्षसा देव्या धिया तव देवि तस्यां दिव्यगुणैर्विराजमानाया वाचो विद्युतो वा संदृशि जीवनं समख्ये, सा मे ममायुर्मा प्रमोषीः खण्डनं न कुर्य्यादहमेतां समख्ये प्रख्यातां कुर्य्यामन्यायेन तव वीरं [मो] मा संविदेय, तथैव त्वमेतत्सर्वमाचर्य्यान्यायेनापि मम वीरं च मा संविन्दस्व[1]॥ २३॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—मनुष्यैः शुद्धाभ्यां कर्मप्रज्ञाभ्यां वाग्विद्युद्विद्यां संगृह्य जीवनं ❀ वर्धयित्वा विद्यादिसद्गुणेषु वीरान् संपाद्य सदा सुखयितव्यम्॥ २३॥

इस दोनों का किस प्रकार उपयोग करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2]॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य! जैसे (अहम्) मैं (दक्षिणया) ज्ञानसाधक अज्ञाननाशक (उरुचक्षसा) बहुत प्रकट वचन वा दर्शनयुक्त (देव्या) देदीप्यमान (धिया) प्रज्ञा वा कर्म से (तव) उस (देवि) सर्वोत्कृष्ट गुणों से युक्त वाणी वा बिजली के (संदृशि) अच्छे प्रकार देखने योग्य व्यवहार में जीवन को (समख्ये) कथन से प्रकट करता हूँ, वह (मे) मेरे (आयुः) जीवन को (मा प्रमोषीः) नाश न करे, उसको मैं अविद्या से नष्ट न करूँ। (तव) हे सबके मित्र! अन्याय से आपके (वीरम्) शूरवीर को (मो संविदेय) प्राप्त न होऊं, वैसे ही तू भी पूर्वोक्त सब करके अन्याय से मेरे शूरवीरों को प्राप्त मत हो[3]॥ २३॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि शुद्ध कर्म वा प्रज्ञा से वाणी वा बिजली की विद्या को ग्रहण [कर], उमर को बढ़ा और विद्यादि उत्तम २ गुणों में अपने संतान और वीरों को संपादन करके सदा सुखी रहें॥ २३॥
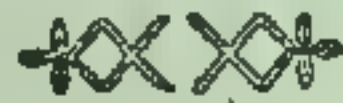
एष त इत्यस्य वत्स ऋषिः। यज्ञो देवता। पूर्वस्य ब्राह्मी जगती छन्दः। निषादः स्वरः। अन्त्यस्य दशाक्षरस्य याजुषी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

किंप्रतिपादनाय जिज्ञासुर्विदुषः पृच्छेदित्युपदिश्यते[4]॥

एष ते गायत्रो भाग ऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भाग ऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भाग ऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाᳬं साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतादास्माको ऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा विचिन्वन्तु॥ २४॥

---

१ अधियज्ञाध्यात्मपरोऽत्रान्वयः। अधियज्ञान्तर्भूत एवात्राध्याधिदैविकार्थः॥ २३॥

२ उन वाणी और विद्युत् का ही उपयोग बताते हैं—

३ अन्वय यहां अधियज्ञ तथा अध्यात्मपरक है। पूर्व मन्त्र की भाँति यहां भी अधियज्ञार्थ के अन्तर्भूत आधिदैविकार्थ भी है, ऐसा समझना चाहिये॥ २३॥

४ वैदुष्यस्य वागधीनत्वात् विदुषश्चैतद्विद्याया ज्ञाने प्रदाने च सामर्थ्याद् विद्वांसं वर्णयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गायत्रः) सोऽस्यादिरिति० (अ० ४।२।५५) इति प्राग्दीव्यतीयेऽणि प्रत्ययेऽन्तोदात्तत्वम्।

❀ 'वर्धित्वा' इति ग. पाठः। 'वर्धयित्वा' इति क. ख. पाठः॥

एषः। ते। गायत्रः। भागः। इति। मे। सोमाय। ब्रूतात्। एषः। ते। त्रैष्टुभः। त्रैस्तुभ इति त्रैऽस्तुभः। भागः। इति। मे। सोमाय। ब्रूतात्। एषः। ते। जागतः। भागः। इति। मे। सोमाय। ब्रूतात्। छन्दोनामानामिति छन्दःऽनामानाम्। साम्राज्यमिति साम्ऽराज्यम्। गच्छ। इति। मे। सोमाय। ब्रूतात्। आस्माकः। असि। शुक्रः। ते। *ग्रह्यः। विचित इति विऽचितः। त्वा। वि। चिन्वन्तु॥ २४॥

पदार्थः—(एषः) प्रत्यक्षः। (ते) तव। (गायत्रः) ×गायत्री [छन्द आदिरस्य] प्रगाथस्य सः। सोऽस्यादिरितिच्छन्दसः प्रगाथेषु। अ० ४। २। ५५। अनेन प्रगाथविषये प्रत्ययः। (भागः) सेवनीयः। (इति) प्रकारार्थे। (मे) मह्यम्। (सोमाय) पदार्थविद्यासंपादकाय। (ब्रूतात्) ब्रवीतु। (एषः) यो विज्ञातुं योग्यः सः। (ते) तव। (त्रैष्टुभः) †त्रिष्टुप् [छन्द आदिरस्य] प्रगाथस्य सः। (भागः) अंशः। (इति) प्रकारे। (मे) मह्यम्। (सोमाय) उत्तमरससंपादकाय। (ब्रूतात्) ब्रवीतु। (एषः) योक्तुमर्हः। (ते) तव। (जागतः) ‡जगती [छन्द आदिरस्य] प्रगाथस्य सः। (भागः) स्वीकर्त्तुमर्हः। (इति) प्रकारार्थे। (मे) मह्यम्। (सोमाय) पदार्थविद्यास्वीकारकाय। (ब्रूतात्) उपदिशतु। (छन्दोनामानाम्) यानि छन्दसामुष्णिगादीनां नामानि तेषाम्। अत्र अनसन्तान्न०। अ० ५। ४। १०३। इति सूत्रेण समासान्तष्टच् प्रत्ययः। (साम्राज्यम्) सम्यग् राजन्ते प्रकाशन्ते ते सम्राजो राजानस्तेषां भावः कर्म वा तत्। (गच्छ) प्राप्नुहि प्रापय वा। (इति) प्रकारे। (मे) मह्यम्। (सोमाय) ऐश्वर्य्ययुक्ताय राज्याय। (ब्रूतात्) ब्रवीतु। (आस्माकः) योऽस्माकमयमुपदेष्टाऽधिपतिः सः। (असि) वर्त्तसे। (शुक्रः) पवित्रः, पवित्र [ता] कारको वा। (ते) तव। (ग्रह्यः) ग्रहीतुं योग्यः। (विचितः) विविधविद्याशुभगुणधनादिभिश्चितः संयुक्तः। (त्वा) त्वां तं वा। (वि) विविधार्थे। (चिन्वन्तु) वर्धयन्तु। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः॥ अयं मन्त्रः श० ३। ३। २। ४–८ व्याख्यातः॥ २४॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं विद्वांसं प्रति कोऽस्य यज्ञस्य गायत्रो भागोऽस्तीति पृच्छ, स विद्वान् ते तवैषोऽयमस्तीति मे मह्यं सोमायैतं ब्रूताद् ब्रवीतूपदिशतु। कोऽस्य यज्ञस्य त्रैष्टुभो भागोऽस्तीति त्वं पृच्छ, स ते तवैषोऽयमस्तीति समक्षे खल्वेतं मे मह्यं सोमाय ब्रूतात्। कोऽस्य यज्ञस्य जागतो भागोऽस्तीति त्वं पृच्छ, स ते तवैषोऽयमस्तीति प्रसिद्धयैतं सोमाय मे मह्यं ब्रूतात्। यथा भवांश्छन्दोनामानामुष्णिगादीनां छन्दसां मध्ये

(त्रैष्टुभः) (जागतः) त्रिष्टुब्जगतीशब्दाभ्यां उत्सादिभ्योऽञ् (अ० ४। १। ८६) इति प्राग्दीव्यतीयेऽञि प्रत्यये, ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इत्याद्युदात्तत्वम्॥

(साम्राज्यम्) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (अ० ५। १। १२४) इति ष्यञ्। ञित्त्वादाद्युदात्तः॥

(आस्माकः) तस्येदम् (अ० ४। ३। १२०) इति शैषिकोऽण् प्रत्ययः। तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ (अ० ४। ३। २) इति 'अस्माका'देशः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(ग्रह्यः) कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३। ३। ११३) इति बाहुलकाद् यत्। यतोऽनावः (अ० ६। १। २१३) इत्याद्युदात्तः॥

(विचितः) गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादुत्तरपदाद्युदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

* 'गृह्यः' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते पदपाठे मन्त्रपाठे पदार्थे च॥
× 'गायत्री प्रगाथोऽस्य' इति सार्वत्रिकः पाठः॥
† 'त्रिष्टुप् प्रगाथोऽस्य' इति सार्वत्रिकः पाठः।
‡ 'जगती प्रगाथोऽस्य' इति सार्वत्रिकः पाठः॥

प्रतिपादितस्य यज्ञस्योपदेशो साम्राज्यं [गच्छ] गच्छतु [इति], तथैवैतेषामेनं सोमाय मे मह्यं ब्रूतात्। यतस्त्वमास्माकः शुक्रोऽसि तस्मात् ते तवाहं विचितो ग्रह्योऽस्मि, त्वं मां सर्वैरेतैर्विचिनु,† अहं त्वां विचिनोम्येव, तेऽपि‡ सर्वे [त्वा] त्वामेतं यज्ञं मां च विचिन्वन्तु वर्धयन्तु[1] ॥ २४ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्या विद्वद्भ्यः पृष्ट्वा सर्वा विद्याः संगृह्णीरन्। विद्वांसः खल्वेताः संग्राहयन्तु। परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकभावेन वर्त्तित्वा सर्वे वृद्धिं प्राप्य चक्रवर्त्तिराज्यं* सेवेरन्निति ॥ २४ ॥

किसके प्रतिपादन के लिये ज्ञान की इच्छा करनेहारा विद्वानों को पूछे,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य ! कौन इस यज्ञ का (गायत्रः) वेदस्थ गायत्रीछन्दयुक्त मन्त्रों के समूहों से प्रतिपादित (भागः) सेवने योग्य भाग है, (इति) इस प्रकार तू विद्वान् से पूछ। वह विद्वान् (ते) तुझको उस यज्ञ का [(एषः)] यह प्रत्यक्ष भाग है, इस प्रकार से (सोमाय) पदार्थविद्या संपादन करनेवाले (मे) मेरे लिये (ब्रूतात्) कहे। कौन इस यज्ञ का (त्रैष्टुभः) त्रिष्टुप्छन्द से प्रतिपादित (भागः) भाग है, (इति) तू इस प्रकार विद्वान् से पूछ, वह (ते) तुझको उस यज्ञ का (एषः) यह भाग है, इस प्रकार प्रत्यक्षता से समाधान (सोमाय) उत्तम रस के संपादन करने वाले (मे) मेरे लिये (ब्रूतात्) कहे। कौन इस यज्ञ का (जागतः) जगतीछन्द से कथित (भागः) अंश है, (इति) इस प्रकार तू आप्त से पूछ, वह (ते) तुझको उस यज्ञ का (एषः) यह प्रसिद्ध भाग है, इसी प्रकार (सोमाय) पदार्थविद्या को संपादन करने वाले (मे) मेरे लिये उत्तर (ब्रूतात्) कहे। जैसे आप (छन्दोनामानाम्) उष्णिक् आदि छन्दों के मध्य में कहे हुए यज्ञ के उपदेश में (साम्राज्यम्) भले प्रकार राज्य को (गच्छ) प्राप्त हों, (इति) इस प्रकार (सोमाय) ऐश्वर्य्ययुक्त (मे) मेरे लिये सार्वभौम राज्य की प्राप्ति होने का उपाय (ब्रूतात्) कहिये, और जिस कारण आप (आस्माकः) हम लोगों को (शुक्रः) पवित्र करने वाले उपदेशक (असि) हैं, वैसे मैं (ते) आपके (ग्रह्यः) ग्रहण करने योग्य (विचितः) उत्तम २ धनादि द्रव्य और गुणों से संयुक्त शिष्य हूँ। आप मुझको सब गुणों से बढ़ाइये, इस कारण मैं आपको वृद्धियुक्त करता हूँ। और सब मनुष्य (त्वा) आप वा इस यज्ञ तथा मुझको (विचिन्वन्तु) वृद्धियुक्त करें[3] ॥ २४ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थः—मनुष्य लोग विद्वानों से पूछकर सब विद्याओं का ग्रहण करें तथा विद्वान् लोग इन विद्याओं का यथावत् ग्रहण करावें। परस्पर अनुग्रह करने वा कराने से सब वृद्धि को प्राप्त होकर चक्रवर्त्ति आदि राज्य का सेवन करें ॥ २४ ॥

---

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः। सर्वविधोऽप्यर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः ॥ २४ ॥

२ विद्वत्ता वाणी के आधीन होने से, और इसके जानने और जनाने में विद्वान् के समर्थ होने से उसका वर्णन करते हैं—

३ अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया है। संस्कृत पदार्थ से सब प्रक्रियाओं में अर्थ समझें ॥ २४ ॥

† 'विचिनुहि' इति सार्वत्रिकोऽपपाठः।

‡ 'सोऽपि सर्वे' इति अ० मुद्रिते, ग. कोशे चापपाठः। 'अन्येऽपि सर्वे' इति क, ख, पाठः ॥

* 'सेवेयुः' इति सार्वत्रिकः कोशेषु पाठः।

अभि त्यमित्यस्य वत्स ऋषिः । सविता देवता । †पूर्वस्य भुरिक् शक्वरी छन्दः । धैवतः स्वरः । सुक्रतुरित्युत्तरस्य ‡भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरीश्वरराजसभाप्रजागुणा उपदिश्यन्ते[1] ॥

अ॒भि त्यं दे॒वꣳ स॑वि॒तार॑मो॒ण्योः॑ क॒विक्र॑तु॒मर्चा॑मि स॒त्यस॑वꣳ रत्न॒धाम॒भि प्रि॒यं म॒तिं क॒विम् । ऊ॒र्ध्वा यस्या॒मति॒र्भा ऽ अदि॑द्युत॒त्सवी॑मनि॒ हिर॑ण्यपाणिरमिमीत सु॒क्रतुः॑ कृ॒पा स्वः॑ । प्र॒जाभ्य॑स्त्वा प्र॒जास्त्वा॒नुप्राण॑न्तु प्र॒जास्त्वम॑नु॒प्राणि॑हि ॥ २५ ॥

अ॒भि । त्यम् । दे॒वम् । स॒वि॒तार॑म् । ओ॒ण्योः॑ । क॒विक्र॑तु॒मिति॑ क॒विऽक्र॑तुम् । अर्चा॑मि । स॒त्यस॑व॒मिति॑ स॒त्यऽस॑वम् । र॒त्न॒धामिति॑ रत्न॒ऽधाम् । अ॒भि । प्रि॒यम् । म॒तिम् । क॒विम् ॥ ऊ॒र्ध्वा । यस्य॑ । अ॒मतिः॑ । भाः । अदि॑द्युतत् । सवी॑मनि । हिर॑ण्यपाणि॒रिति॒ हिर॑ण्यऽपाणिः । अ॒मि॒मी॒त॒ । सु॒क्रतु॒रिति॑ सु॒ऽक्रतुः॑ । कृ॒पा । स्व॒रिति॒ स्वः॑ । प्र॒जाभ्य॒ इति॑ प्र॒ऽजाभ्यः॑ । त्वा॒ । प्र॒जा इति॑ प्र॒ऽजाः । त्वा॒ । अ॒नु॒प्राण॒न्त्वित्य॑नु॒ऽप्राण॑न्तु । प्र॒जा इति॑ प्र॒ऽजाः । त्वम् । अ॒नु॒प्राणि॒हीत्य॑नु॒ऽप्राणि॑हि ॥ २५ ॥

पदार्थः—(अभि) आभिमुख्ये । (त्यम्) जगदीश्वरं, राजसभास्थजनसमूहं ❀ वा । (देवम्) सुखदातारम् । (सवितारम्[2]) । देवानामग्न्यादीनां रसानां वा प्रसवितारम् । (ओण्योः) द्यावापृथिव्योः । ओण्योरिति द्यावापृथिवीनामसु पठितम् । निघ० ३ । ३० । (कविक्रतुम्) कविः, सर्वज्ञा सकलविद्यायुक्ता क्रतुः प्रज्ञा कर्म क्रमदर्शनं वा यस्य तम् । कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा । निरु० । १२ । १३ । (अर्चामि) पूजयामि । (सत्यसवम्) सत्यं सव ऐश्वर्यं जगद्वा यस्मिन् यस्य वा तम् । (रत्नधाम्) यो रत्नानि रमणीयानि विज्ञानानि हीरकादीनि भुवनानि वा दधातीति तम् । (अभि) आभिमुख्ये । (प्रियम्) यः प्रीणाति तम् । (मतिम्[3]) यो वेदादिशास्त्रैर्विद्वद्भिश्च मन्यते तम् । (कविम्) वेदविद्याया उपदेष्टारं

[1] उपदेशसाधकत्वादीश्वरं सभापतिं सभां च वर्णयति—

[2] सविता वै प्रसवानामीशे ॥ ऐ० १ । ३० ॥ प्रजापतिर्वै सविता ॥ तां० १६ । ५ । १७ ॥ सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः ॥ श० ११ । ४ । ३ । १४ ॥

[3] मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः (अ० ३।३।९६) इति कर्मणि क्तिन् । स्वरस्तु प्रत्ययस्योदात्तवचनात् साधुः ॥ यद्वा 'क्तिच्' । चितः (अ० ६ । १ । १६३ इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ओण्योः) 'ओणृ अपनयने' (भ्वा० प०) इत्येतस्मात् सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४।११८), कृदिकारादक्तिनः (अ० ४ । १ । ५४ ग० सू०) इति ङीष् । अपनयतः स्वाश्रितानां क्लेशम् । ङीषि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततो यणि उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्त्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वान्न भवति । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इत्यन्तस्वरितः ॥

(कविक्रतुम्) कौति शब्दयत्युपदिशति स कविः । मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा । अत्र इः (उ० ४ । १३९) इति 'इ'प्रत्ययः । 'कवयति प्रथ्नातीति कविः' इति नारायणः (उ० वृ० ४ । १५० पृ० ११०) । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

अत्र देवराजयज्वा—"क्रामतेः कवतेश्च 'इन् सर्वधातुभ्यः' उ० ४ । ११८ इति 'इन्' प्रत्ययः, क्रामतेर्मकारस्य वत्वं रेफलोपश्च बाहुलकात् । क्रान्तमस्यास्तीति मत्वर्थीयस्य लुक्" पृ० ३४१ ॥

† 'पूर्वस्य विराड्ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥
‡ 'निचृदार्षी' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥
❀ इतोग्रे 'प्रजासमूहं वा' इति ग. कोशे पाठः ॥

निमित्तं वा । (ऊर्ध्वा) उत्कृष्टा । (यस्य) सच्चिदानन्दस्वरूपस्य शुभगुणयुक्तस्य वा । (अमतिः) रूपम् । अमतिरिति रूपनामसु पठितम् । निघ० ३ । ७ । (भाः) यो भाति प्रकाशते सः । (अदिद्युतत्) प्रकाशितवान् प्रकाशयति वा । (सवीमनि) यः सूयते संसारस्तस्मिन् । (हिरण्यपाणिः) हिरण्यानि ज्योतींषि सूर्य्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यवहारे यस्य सः । ज्योतिर्हि हिरण्यम् । श० ४ । ३ । ४ । २१ । इति प्रमाणेन हिरण्यशब्देन ज्योतिषो ग्रहणम् । (अमिमीत) निर्मितवान् निर्मिमीते वा । (सुक्रतुः) शोभनः क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्य सः । (कृपा) करुणा । (स्वः) सुखमादित्यं वा । स्वरादित्यो भवति स पनानि सारयति । निरु० ५ । ४ । (प्रजाभ्यः) उत्पन्नाभ्यः सृष्टिभ्यः । (त्वा) त्वाम् । (प्रजाः) मनुष्यादिसृष्टयः । (त्वा) त्वाम् । (अनुप्राणन्तु) आयुर्भुञ्जताम् । (प्रजाः) जगत्स्थाः । (त्वम्) अयं वा । (अनुप्राणिहि) जीवतोऽनुजीवनं धर, धरति वा ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । ३ । २ । १२-१९ व्याख्यातः ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे परमात्मन् सभाध्यक्ष प्रजापुरुष ! [1] वा अहं यस्य सवीमन्यूर्ध्वामतिर्भा अदिद्युतत् कृपा स्वः सुखं करोति । यो हिरण्यपाणिः सुक्रतुः स्वरमिमीतादित्यं वा निर्मितवान् । *त्यमोण्योः सवितारं कविक्रतुं रत्नधां [सत्यसवं] प्रियं मतिं कविं देवं त्वा त्वां प्रजाभ्योऽभ्यर्चामि तं त्वा प्रजा [अभि] अनुप्राणन्तु कृपया त्वं प्रजा अनुप्राणिहि ॥ २५ ॥

अत्र† [2] श्लेषालङ्कारः ॥

अत्र 'द्व'पक्ष एव साधुः ॥ बहुव्रीहौ समासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० । ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन 'वि' उदात्तः ॥

(रत्नधाम्) क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वम् ॥

(ऊर्ध्वा) ऊर्ध्वशब्दः पूर्वं (य० २ । ८) व्याख्यातः, ततष्टापि एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्यन्तोदात्तः ॥

(अमतिः) अमेरतिः (उ० ४ । ५९) इति 'अति' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् ।

(अदिद्युतत्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघाते प्राप्ते यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे 'अट्'स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(सवीमनि) 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' (भ्वा० प०) इत्येतस्माद् धातोः हृभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच् (उ० ४ । १४८) इति 'इमनिच्' बाहुलकात् । चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसाद्युदात्तत्वं प्रत्ययादेर्दीर्घत्वं च ॥ श्वेतवनवासी तु (उ० ४ । १५९) भृसृहृधृस्तृशृभ्य ईमनिन् इति पठति । अस्मिन् पक्षे नित्त्वादेवाद्युदात्तत्वम् ॥

(हिरण्यपाणिः) पूर्वं य० १ । १६ पृष्ठ ८७ व्याख्यातः ॥

(सुक्रतुः) कृञः कतुः (उ० १ । ७६) यः क्रियते, यया करोतीति वा क्रतुः । यज्ञः प्रज्ञा वा । प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः । ततो बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते क्रत्वादयश्च (अ० ६ । २ । ११८) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वेन मध्योदात्तत्वम् ॥

(प्रजाभ्यः) य० १ । १ पृष्ठ १७ विवरणे व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ "हे परमात्मन् सभाध्यक्ष प्रजापुरुष वा" इति 'वा' प्रवर्द्धितपाठः । स चात्रान्वये सङ्गच्छते । अत एव भाषापदार्थेऽप्यस्माभिः प्रवर्द्धितः ॥

२ अध्यात्माधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः । स च श्लेषालङ्कारेणावबोधितः । त्रिविधस्त्वर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः ॥ २५ ॥

---

* 'त्यमोण्योः' इति क. पाठः । स च सम्यक् । अग्रे प्रमादेन भ्रष्टः ।

† अयं पाठः कोशेषु नास्ति, प्रूफसमये संशोधितः स्यात् ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वजगत्स्रष्टुर्निराकारस्य व्यापिनः सर्वशक्तिमतः सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परमेश्वरस्य प्रजापालनतत्परस्य सभापतेर्धार्मिकस्य‡ प्रजाजनस्य चैवार्चा नित्यं कर्त्तव्या, नातो भिन्नस्य कस्यचित्। विद्वद्भिः प्रजास्थानां सुखायैतेषां स्तुतिप्रार्थनोपदेशा नित्यं कार्य्याः। यतः सर्वाः प्रजास्तदाज्ञानुकूलाः सदा वर्त्तेरन्। यथा प्राणे सर्वेषां जीवानां प्रीतिरस्ति तथा परमात्मादिष्वपि कार्य्येति ॥ २५ ॥

फिर अगले मन्त्र में ईश्वर, राजसभा और प्रजा के गुणों का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—{} हे परमात्मन् सभाध्यक्ष राजपुरुष वा ! मैं (यस्य) जिस सच्चिदानन्दादिलक्षणयुक्त परमेश्वर, धार्मिक सभापति और प्रजाजन के (सवीमनि) उत्पन्न हुए संसार में (ऊर्ध्वा) उत्तम (अमतिः) स्वरूप (भाः) प्रकाशमान (अदिद्युतत्) प्रकाशित हुआ है। जिसकी (कृपा) करुणा (स्वः) सुख को करती है (हिरण्यपाणिः) जिसने सूर्य्यादिज्योति उत्तम गुण कर्मों को व्यवहार में युक्त किया हो। (सुक्रतुः) जिस उत्तम प्रज्ञा वा कर्मयुक्त ईश्वर, सभास्वामी और प्रजाजन ने सूर्य और सुख को (अमिमीत) स्थापित किया हो। (त्यम्) उस (ओण्योः) द्यावापृथिवी वा (सवितारम्) अग्नि आदि को उत्पन्न और संप्रयोग करने तथा (कविक्रतुम्) सर्वज्ञ वा क्रान्तदर्शन (रत्नधाम्) रमणीय रत्नों को धारण करने (सत्यसवम्) सत्यऐश्वर्य्ययुक्त (प्रियम्) प्रीतिकारक (मतिम्) वेदादि शास्त्र वा विद्वानों के मानने योग्य (कविम्) वेदविद्या का उपदेश करने तथा (देवम्) सुख देनेवाले, परमेश्वर, सभाध्यक्ष और प्रजाजन का ([अभि] अर्चामि) पूजन करता हूँ। वा जिस (त्वा) आपको (प्रजाभ्यः) उत्पन्न हुई सृष्टि से पूजित करता हूँ, उस [(त्वा)] आपकी सृष्टि में (प्रजाः) मनुष्य आदि [(अभि) सब ओर से] (अनुप्राणन्तु) आयु का भोग करें। (त्वम्) और आप कृपा करके (प्रजाः) ❀ प्रजा, जीवों के ऊपर (अनुप्राणिहि) अनुग्रह कीजिये[2] ॥ २५ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को सब जगत् के उत्पन्न करनेवाले, निराकार, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्दादिलक्षणयुक्त परमेश्वर, धार्मिक सभापति और प्रजाजन समूह ही का सत्कार करना चाहिये, उनसे भिन्न और किसी का नहीं। विद्वान् मनुष्यों को योग्य है कि प्रजापुरुषों के सुख के लिये इस परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना और श्रेष्ठ सभापति तथा धार्मिक प्रजाजन के सत्कार का उपदेश नित्य करें, जिससे सब मनुष्य उनकी आज्ञा के अनुकूल सदा वर्त्तते रहें, और जैसे प्राण में सब जीवों की प्रीति होती है, वैसे पूर्वोक्त परमेश्वर आदि में भी अत्यन्त प्रेम करें॥२५॥

शुक्रं त्वेत्यस्य वत्स ऋषिः। यज्ञो देवता। भुरिग्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

मनुष्यैः किं कृत्वा यज्ञः साधनीय इत्युपदिश्यते[3] ॥

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन।
सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम् ॥ २६ ॥

[1] उपदेश में साधक होने से ईश्वर सभापति और सभा का वर्णन करते हैं—

[2] अन्वय यहां अध्यात्म तथा आधिदैविक अर्थपरक है, जो श्लेषालङ्कार से दर्शाया है। संस्कृत के अन्वय तथा भाषा के पदार्थ में कुछ अन्तर है, सो इसी विषय की संस्कृत टिप्पणी में देखें ॥ २५ ॥

[3] मनुष्याः कथं विषयोपकारं ग्रहीतुं शक्नुवन्तीत्याह—

‡ 'प्रजाजनस्य' इति ग. पाठः, स च मुद्रणे प्रमादेन भ्रष्टः स्यात्॥ {} अस्य संस्कृतं भाषार्थश्च ग. कोशे प्रवर्द्धित इति ध्येयम्॥
❀ 'प्रजा के ऊपर जीवों के अनुकूल' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥

शुक्रम् । त्वा । शुक्रेण । क्रीणामि । चन्द्रम् । चन्द्रेण । अमृतम् । अमृतेन ॥ सग्मे । ते । गोः । अस्मे इत्यस्मे । ते । चन्द्राणि । तपसः । तनूः । असि । प्रजापतेरिति प्रजाऽपतेः । वर्णः । परमेण । पशुना । क्रीयसे । सहस्रपोषमिति सहस्रऽपोषम् । पुषेयम् ॥ २६ ॥

पदार्थः—(शुक्रम्) शुद्धिकारकम् । † (त्वा) तं क्रियामयं यज्ञं । (शुक्रेण) शुद्धभावेन । (क्रीणामि[1]) गृह्णामि । (चन्द्रम्) सुवर्णम् । चन्द्रमिति हिरण्यनामसु पठितम् । निघ० १ । २ । (चन्द्रेण) सुवर्णेन । (अमृतम्) मोक्षसुखम् । (अमृतेन) नाशरहितेन विज्ञानेन । (सग्मे) गच्छतीति ग्मा पृथिवी तया सह वर्त्तते तस्मिन् यज्ञे । ग्मेति पृथिवीनामसु पठितम् निघ० १ । १ । (ते) तव । (गोः) पृथिव्याः सकाशात् । (अस्मे) अस्मभ्यम् । (ते) तव सकाशात् । (चन्द्राणि) काञ्चनादयो ‡ धातवः । (तपसः[2]) धर्मानुष्ठानस्याग्नेस्तापसस्य वा । (तनूः) शरीरम् । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (प्रजापतेः) प्रजानां पतिः पालनहेतुः सूर्य्यस्तस्य । (वर्णः) वरीतुं योग्यः । (परमेण) प्रकृष्टेन । (पशुना) व्यवहृतेन विक्रीतेन गवादिना । (क्रीयसे) क्रीयते । (सहस्रपोषम्) असंख्यातपुष्टिम् । (पुषेयम्) पुष्टो भवेयम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ३ । ३ । ६–९ व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अन्वयः—अहं सग्मे या तपसस्तनूरस्यस्ति, यः पशुना प्रजापतेर्वर्णः[3] क्रीयसे क्रीयते, तं सहस्रपोषं पुषेयम् । हे विद्वन्! यानि ❀ ते तव गोः सकाशाच्चन्द्राण्युत्पन्नानि सन्ति तान्यस्मे अस्मभ्यमपि सन्तु । अहं [ते तव] परमेण शुक्रेण यं शुक्रं यज्ञं चन्द्रेण चन्द्रममृतेनामृतं च क्रीणामि, त्वा तं त्वमपि क्रीणीहि[4] ॥ २६ ॥

१ 'गृह्णामि' इत्यांशिकोऽर्थ इति बोध्यम् ॥

२ तपो वाऽअग्निः ॥ श० ३ । ४ । ३ । २ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सग्मे) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते छान्दसमन्तोदात्तत्वम् ॥

(अस्मे) 'अस्मद्' शब्दः युष्यसिभ्यां मदिक् (उ० १ । १३९) इति मदिक्प्रत्ययेनान्तोदात्तः । अव्युत्पत्तिपक्षे, प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति चतुर्थीस्थाने 'शे' इत्यादेशे सुप्त्वादनुदात्तः । भ्यसोऽभ्यम् (अ० ७ । १ । ३०) इत्यत्र भाष्य उक्तम्—"यदि तावद् भ्यम्शब्दः शेषे लोपश्चान्त्यस्य, एत्वं प्राप्नोति । अथाभ्यम् शब्दः शेषे लोपश्च टिलोपः, उदात्तनिवृत्तिस्वरः प्राप्नोति"। अनेन 'शेषे लोपः' इत्यत्र पक्षद्वयं भाष्यकारेण प्रदर्शितं भवति ॥ तथाहि टिलोपपक्ष उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् । अन्त्यलोपपक्षे अतो गुणे (अ० ६ । १ । ९७) इति पररूप एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तत्वम् । पूर्वं यजुः ३।११ पृष्ठ २६४ अपि द्रष्टव्यम् ॥

(चन्द्रम्) चन्दति हर्षयति दीपयति वा चन्द्रः । स्फायितञ्चिवञ्चि० (उ० २ । १३) इत्यादिना 'रक्' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(परमेण) ध० १ । २ विवरणे व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ 'तेजो वै हिरण्यम्' 'अग्ने रेतो हिरण्यम्' इति वर्णपदेन हिरण्यमत्राभिप्रेतम् । तच्च धनमात्रोपलक्षणम् । पश्वादिक्रयविक्रयेण महती धनस्योपलब्धिर्भवति, अत एव पशुपालनं वैश्यकर्म समादिष्टम् ॥

४ अधियज्ञपरोऽयमन्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥ २६ ॥

† '(त्वा) तं क्रियामयं यज्ञम्' इति क. कोशे पाठः । स चाग्रे प्रमादेन त्यक्त इति ख. ग. अ० मुद्रिते च नोपलभ्यते इति ध्येयम् ॥

‡ 'काञ्चनादीन् धातून्' इति अ० मुद्रिते पाठः, ग. हस्तलेखे च । 'काञ्चनादयो धातवः' इति क. ख. पाठः, स च सम्यक् ॥

❀ इतोऽग्रे 'ते तव यस्याः' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः । 'यस्याः' पदमत्र व्यर्थमस्ति ॥

भावार्थः—मनुष्यैः शरीरमनोवाग्धनेन परमेश्वरोपासनादिलक्षणं यज्ञं सततमनुष्ठायासंख्याताऽतुला पुष्टिः प्राप्तव्या ॥ २६ ॥

मनुष्यों को क्या २ साधन करके यज्ञ सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः— जो (सम्मे) पृथिवी के साथ वर्त्तमान यज्ञ में (तपसः) प्रतापयुक्त अग्नि वा तपस्वी अर्थात् धर्मात्मा विद्वान् का (तनूः) शरीर (असि) है, [तथा] शिल्पविद्या वा सत्योपदेश की सिद्धि के अर्थ (पशुना) विक्रय किये हुए गौ आदि पशुओं करके † (प्रजापतेः) प्रजा के पालन हेतु सूर्य्य का (वर्णः) स्वीकार करने योग्य तेज[2] (क्रीयसे) क्रय होता है । उस [से] (सहस्रपोषम्) असंख्यात पुष्टि को प्राप्त होके मैं (पुषेयम्) पुष्ट होऊं । हे विद्वन् मनुष्य ! जो (ते) आपको (गोः) पृथिवी के राज्य के सकाश से (चन्द्राणि) सुवर्ण आदि धातु प्राप्त हैं, वे (अस्मे) हम लोगों के लिये भी हों । जैसे मैं [(ते) आपके] (परमेण) उत्तम (शुक्रेण) शुद्ध भाव से [जिस] (शुक्रम्) शुद्धिकारक यज्ञ (चन्द्रेण) सुवर्ण से (चन्द्रम्) सुवर्ण और (अमृतेन) नाशरहित विज्ञान से (अमृतम्) मोक्ष सुख को (क्रीणामि) ग्रहण करता हूँ, वैसे तू भी (त्वा) उसका ग्रहण कर[3] ॥२६॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि शरीर, मन, वाणी और धन से परमेश्वर की उपासना आदि लक्षणयुक्त यज्ञ का निरन्तर अनुष्ठान करके असंख्यात अतुल पुष्टि को प्राप्त करें ॥ २६ ॥

मित्रो न इत्यस्य वत्स ऋषिः । विद्वान् देवता । भुरिग्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्यैर्विदुषा सह विदुषैतैश्च कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते[4] ॥

मित्रो नुऽएहि सुमित्रधुऽइन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तं स्योनः स्योनम् । स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मा वो दभन् ॥२७॥

मित्रः । नः । आ । इहि । सुमित्रध इति सुऽमित्रधः । इन्द्रस्य । उरुम् । आ । विश । दक्षिणम् । उशन् । उशन्तम् । स्योनः । स्योनम् ॥ स्वान । भ्राज । अङ्घारे । बम्भारे । हस्त । सुहस्तेति सुऽहस्त । कृशानोऽइति कृशानो । एते । वः । सोमक्रयणा इति सोमऽक्रयणाः । तान् । रक्षध्वम् । मा । वः । दभन् ॥ २७ ॥

पदार्थः—(मित्रः) सुहृत् सन् । (नः) अस्मान् । (आ) आगमने । (इहि) प्राप्नुहि । (सुमित्रधः) यः शोभनानि मित्राणि दधाति सः । (इन्द्रस्य[5])‡ परमैश्वर्यस्य सभाद्यध्यक्षस्य विदुषः ।

---

१ मनुष्य किस प्रकार लाभ प्राप्त कर सकते हैं, यह कहते हैं—

२ यहाँ वर्ण = तेज से अभिप्राय हिरण्य अर्थात् सामान्य धन से है, क्योंकि 'तेजो वै हिरण्यम्' 'अग्ने रेतो हिरण्यम्' इत्यादि वचनों से तेज का अर्थ हिरण्य होता है । सार यह है कि गवादि पशुओं के क्रय विक्रय से अनेकविध धन सम्पत्ति की वृद्धि होती है ॥

३ अन्वय यहाँ अधियज्ञपरक है । त्रिविध अर्थ की ऊहा सं० पदार्थ से कर लेनी चाहिये ॥ २६ ॥

४ उपदेशस्यापि स्नेहसाध्यत्वाद् उपदेश्योपदेशकयोर्व्यवहारमुपदिशति—

५ इन्द्रः क्षत्रम् ॥ श० १० । ४ । १ । ५ ॥

---

† इतोऽग्रे 'धन आदि सामग्री से ग्रहण करके' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः । क. कोशे तु पाठोऽयं नास्ति, ख. कोशे स्वल्पभेदेन वर्तते इति ध्येयम् ॥

‡ 'परमैश्वर्यस्य' इति पदं क. कोशे सन्नपि प्रमादेनाग्रे त्यक्तम् ॥

(उरुम्) बह्वाच्छादनं स्वीकरणं वा । (आ) समन्तात् । (विश) । (दक्षिणम्) उत्तमाङ्गं दक्षिणभागम् । (उशन्) कामयन् । (उशन्तम्) कामयन्तम । (स्योनः) सुखकारकः । (स्योनम्) सुखम् । स्योनमिति सुखनामसु पठितम् । निघ० ३ । ६ । (स्वान) स्वनत्युपदिशति यस्तत्संबुद्धौ । (भ्राज) यो भ्राजते प्रकाशते तत्संबुद्धौ । (अङ्घारे) अङ्घस्य छलस्यारिः शत्रुस्तत्संबुद्धौ । (बम्भारे) बन्धानां सुविचारनिरोधकानां शत्रुस्तत्संबुद्धौ । अत्र वर्णव्यत्ययेन धस्य भः । (हस्त) हसन्ति प्रसन्ना भवन्ति यस्मात्तत्संबुद्धौ । (सुहस्त) शोभना हस्तक्रिया यस्य तत्संबुद्धौ । (कृशानो) दुष्टान् कृशति तत्संबुद्धौ । (एते) सर्वे धार्मिकाः प्रजास्था भृत्या वा । (वः) युष्मान् । (सोमक्रयणाः) ये सोमानुत्तमान् पदार्थान् क्रीणन्ति ते । (तान्) सर्वान् । (रक्षध्वम्) सततं पालयत । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् (मा) निषेधे (वः) युष्मान् । (दभन्) हिंसेयुः । †अत्र विकरणव्यत्ययो लिङर्थे लुङ् च ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ३ । ३ । १०–१२ व्याख्यातः ॥२७॥

अन्वयः—हे स्वान भ्राजाङ्घारे ‡बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानो सभाद्यध्यक्ष सुमित्रधो मित्रः स्योन उशँस्त्वं नोऽस्मानेहि, दक्षिणमुरुमुशन्तं स्योनमाविश । हे मनुष्या एत इन्द्रस्य विदुषः सोमक्रयणा मनुष्या वो युष्मान्

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुमित्रधः) शोभनानि मित्राणीति सुमित्राणि, तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तत्वम् । ततः सुमित्राणि दधाति धारयतीति सुमित्रधः । उपपदसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते दासीभारादीनां चेति वक्तव्यम् (अ० ६ । २ । ४२ भा० वा०) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तत्वम् ॥

(उशन्) शतृप्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(स्योनः) सिवेष्टेर्यू च (उ० ३ । ९) इति बाहुलकात् केवलोऽपि 'न' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(स्वान) आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तः ॥

(भ्राज) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इति पूर्वस्याविद्यमानवद्भावे पूर्ववदाद्युदात्तत्वम् । एवमुत्तरेष्वपि पदेषु ॥

(अङ्घारे) अंहसामरिः अङ्घारिः । यद्वा 'अघि गत्याक्षेपे' अङ्घमाना अरयो यस्येत्यङ्घारिः पलायमानशत्रुः । आमन्त्रिताद्युदात्तः । आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघाते प्राप्ते आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इत्यनेन पूर्वस्याविद्यमानता ॥

(बम्भारे) पूर्ववदेवाद्युदात्तः ॥

(हस्त) पूर्ववत् ॥

(सुहस्त) पूर्ववदेवात्राप्युदात्तत्वम् ।

(कृशानो) कृशतीति कृशानुः । कृतन्यञ्जि० (उ० ४ । २) इत्यादिना 'आनुक्' प्रत्ययः, स च आद्युदात्तश्च (अ० ३ । १ । ३) इत्याद्युदात्तस्तेन मध्योदात्तोऽयं शब्दः, यथा च य० ५ । ३२ ॥

यत्त्वत्र महीधरेणोक्तम्—

"कृशं दुर्बलमनिति जीवयतीति कृशानुः" तदयुक्तम्, धातुद्वयाङ्गीकरणापत्तेः स्वरदोषापत्तेश्च । अस्मिन् विग्रहे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्यनेनोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वप्रसक्तिः । 'आनुक्' प्रत्ययेन तु सर्वमिष्टं सिध्यतीति स्पष्टम् ॥

अत्र स्वामन्त्रितत्वात् सर्वं पूर्ववदेव सिध्यतीति न भेदः ॥

(सोमक्रयणाः) करणाधिकरणयोश्च (अ० ३ । ३ । ११७) इत्यनेन सिद्धेऽपि कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इति कर्त्तरि ल्युट् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तमिति 'क्र' उदात्तः ॥

(दभन्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† 'अत्र व्यत्ययो लिङर्थे लङ् च' इति अ० मु० ख, ग, कोशयोश्च पाठः । क, कोशे तु 'अत्र विकरणव्यत्ययो लिङर्थे लुङ्' इत्येव शुद्धः पाठ उपलभ्यते ॥

‡ 'बम्भारे' इति पदं क, ख, कोशयोरस्ति, अग्रे प्रमादेन त्यक्तम् ॥

रक्षन्तु, यूयमेतान् रक्षध्वम्। यथा [तान्] सर्वान् वो युष्मान् शत्रवो मा दभन् हिंसितारो न भवेयुस्तथैव परस्परं संप्रीत्या मिलित्वाऽनुष्ठेयम्[1] ॥ २७ ॥

भावार्थः—राजप्रजापुरुषैः परस्परं प्रीत्योपकारे, धर्म्ये व्यवहारे च वर्त्तित्वा, शत्रून्निवार्य्याविद्यान्धकारं विनाश्य चक्रवर्त्तिराज्यं प्रशास्यानन्दे सदा स्थातव्यम् ॥ २७ ॥

मनुष्यों को विद्वान् मनुष्य के साथ और विद्वान् को सब मनुष्यों के संग कैसे वर्त्तना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (स्वान) उपदेश करने (भ्राज) प्रकाश को प्राप्त होने (अङ्घारे) छल के शत्रु (बम्भारे) [उत्तम] विचारविरोधियों के शत्रु (हस्त) प्रसन्न (सुहस्त) अच्छे प्रकार हस्तक्रिया को जानने और (कृशानो) दुष्टों को कृश करने (कुविन्नधः) उत्तम मित्रों को धारण करने (मित्रः) सब के मित्र (स्योनः) सुख की (उशन्) कामना करनेहारे सभाध्यक्ष ! आप (नः) हम लोगों को (आ इहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये, तथा (दक्षिणम्) उत्तम अङ्गयुक्त (उरुम्) बहुत उत्तम पदार्थों से युक्त वा स्वीकार करने योग्य (उशन्तम्) कामना करने योग्य (स्योनम्) सुख को (आविश) प्रवेश [=प्राप्त] कीजिये। हे ❀ मनुष्यो ! [(एते)] जो (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त † सभाध्यक्ष विद्वान् के (सोमक्रयणाः) सोम अर्थात् उत्तम पदार्थों का क्रय करनेहारे प्रजा और भृत्य आदि मनुष्य (वः) तुम लोगों की रक्षा करें, आप लोग भी उनकी (रक्षध्वम्) रक्षा सदा किया करो। जैसे वे शत्रु लोग (तान्) उन (वः) तुम लोगों की हिंसा करने में समर्थ (मा दभन्) न हों, वैसे ही सम्यक् प्रीति से परस्पर मिलके वर्त्तो[3] ॥ २७ ॥

भावार्थः—राज्य और प्रजा पुरुषों को उचित है कि परस्पर प्रीति उपकार और धर्मयुक्त व्यवहार में यथावत् वर्त्तें, शत्रुओं का निवारण, अविद्या वा अन्यायरूप अन्धकार का नाश और चक्रवर्त्तिराज्य आदि का पालन करके सदा ‡ आनन्द में रहें ॥ २७ ॥

परि माग्न इत्यस्य वत्स ऋषिः। अग्निर्देवता। पूर्वार्द्धस्य साम्नी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः।
उत्तरार्द्धस्य साम्न्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

सर्वैर्मनुष्यैः सर्वेषु कर्त्तव्येषु शुभकर्मानुष्ठानेषु परमेश्वरः सदा प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[4] ॥

परि॑ माग्ने॒ दुश्च॑रिताद् बाध॒स्वा मा॒ सुच॑रिते भज। उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाम॒मृताँ॒२ऽअनु॑ ॥२८॥

[1] अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः। त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥ २७ ॥

[2] उपदेश भी स्नेह से ही सिद्ध हो सकता है, अतः उपदेश्य उपदेष्टा के व्यवहार का उपदेश करते हैं—

[3] यहां अन्वय अध्यात्मपरक है। त्रिविध अर्थ की ऊहा सं० पदार्थ से की जा सकती है ॥ २७ ॥

[4] सर्वशुभकर्मस्वीश्वरस्याश्रयमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(दुश्चरितात्) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २। इत्यादिनाऽव्ययस्वरे निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(सुचरिते) पूर्ववदेवात्राप्याद्युदात्तत्वम् ॥

(स्वायुषा) बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्याम्

❀ 'हे सभाध्यक्ष !' इति ख. ग. अ० मुद्रिते च पाठः। 'हे मनुष्यो' इति क. पाठः, स च सम्यगिति ध्येयम् ॥

† 'सभाध्यक्ष विद्वान् के (सोमक्रयिणाः) सोम अर्थात् उत्तम पदार्थों के क्रय करनेहारे' इति क. कोशे विद्यमानोऽपि अग्रे प्रमादेन त्यक्त इति विज्ञेयम् ॥

‡ 'आनन्द में रहना चाहिये' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥

परि॑ । मा॒ । अ॒ग्ने॒ । दु॒श्च॑रि॒ता॒दिति॑ दुः॒ऽच॒रि॒तात् । बाध॑स्व । आ । मा॒ । सुच॑रि॒त॒ इति॑ सुऽच॒रि॒ते । भ॒ज॒ ॥ उत् । आयु॑षा । स्वा॒यु॒षेति॑ सुऽआ॒यु॒षा॑ । उत् । अ॒स्था॒म् । अ॒मृता॑न् । अनु॑ ॥ २८ ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः । (मा) माम् । (अग्ने) विज्ञानस्वरूप दयालो जगदीश्वर ! (दुश्चरितात्) दुष्टाचरणात् । (बाधस्व) निवर्त्तय । (आ) समन्तात् । (मा) माम् । (सुचरिते) यस्मिन् शोभनानि चरितानि, धर्म्ये व्यवहारे, तस्मिन् । (भज) स्थापय । (उत्) अपि । (आयुषा) जीवनेन । (स्वायुषा) शोभनमायुर्जीवनं प्राणधारणं यस्मिंस्तेन सह । (उत्) उत्कृष्टे । (अस्थाम्) तिष्ठेयम् । (अमृतान्) प्राप्तमोक्षान् सदेहान् विगतदेहान् वा विदुषो मुक्त्यानन्दानुत्तमान् भोगान् वा । (अनु) आनुकूल्ये ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ३ । ३ । १३-१४ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! त्वं कृपया* येन कर्मणाहं स्वायुषा [आयुषा] ऽमृतान् प्राप्तमोक्षान् सदेहान् विगतदेहान् वा विदुषोऽमृतात्मभोगान् वोदस्थामुत्कृष्टतया प्राप्नुयाम्, तेन मा मां संयोज्य दुश्चरितादुत [परि] बाधस्व पृथक् कुरु, पृथक् कृत्वा मा मां सुचरितेऽन्वाभज[1] † ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरधर्मत्यागाय धर्मग्रहणाय सत्यभावेन प्रार्थितोऽयं परमात्मा यथैतानधर्माद् वियोज्य धर्मे सद्यः प्रवर्त्तयति, तथैव स्वैरपि यावज्जीवनं तावत्सर्वं धर्माचरणे नीत्वा संसारमुक्तिसुखानि सेवनीयानि ॥ २८ ॥

सब मनुष्यों को उचित है कि सब करने योग्य उत्तम कर्मों के आरम्भ, मध्य और सिद्ध होने पर परमेश्वर की प्रार्थना सदा किया करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) जगदीश्वर ! आप कृपा करके जिस कर्म से मैं (स्वायुषा) उत्तमतापूर्वक प्राण धारण करनेवाले (आयुषा) जीवन से (अमृतान्) जीवनमुक्त और मोक्ष को प्राप्त हुए विद्वान् वा मोक्षरूपी आनन्दों को (उदस्थाम्) अच्छे प्रकार प्राप्त होऊं, उससे (मा) मुझको संयुक्त करके (दुश्चरितात्) दुष्टाचरण से (उत् परिबाधस्व) पृथक् करके (मा) मुझको (सुचरिते) उत्तम २ धर्माचरणयुक्त व्यवहार में (अन्वाभज) अच्छे प्रकार स्थापन कीजिये[3] ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि अधर्म के छोड़ने और धर्म के ग्रहण करने के लिये सत्यप्रेम से प्रार्थना करें, क्योंकि प्रार्थना किया हुआ परमात्मा शीघ्र अधर्मों से छुड़ा कर धर्म ही में प्रवृत्त कर देता है, परन्तु सब मनुष्यों को यह करना अवश्य है, कि जब तक जीवन है तब तक धर्माचरण ही में रहकर संसार वा मोक्षरूपी सुखों को सब प्रकार से सेवन करें ॥ २८ ॥

(अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तः 'स्वायुष्' शब्दः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥ २८ ॥

२ किसी भी शुभ कर्म में ईश्वर का त्याग नहीं किया जा सकता, यह दर्शाते हैं—

३ अन्वय में आध्यात्मिक अर्थ है । सं० पदार्थ से त्रिविध अर्थ की ऊहा करनी चाहिये ॥ २८ ॥

* 'येन कर्मणाहम्' इमानि पदानि अन्ते 'मा मा येन कर्मणाहं सुचरितेऽनुभज' इति पाठो अ० मुद्रिते आसीत् । क. ख. कोशयोस्त्वेतस्मादपि भिन्नः पाठ आसीत् । स चास्माभिर्भाषानुसारं पूर्वमानीत इति ध्येयम् ॥

† 'अनुभज' इति कात्रिकः पाठः ॥

प्रति पन्थामित्यस्य वत्स ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः [स्वरः]॥

पुनः स किमर्थं प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[1] ॥

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्तिगामनेहसम्। येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥ २९ ॥

प्रति। पन्थाम्। अपद्महि। स्वस्तिगामिति स्वस्तिऽगाम्। अनेहसम् ॥ येन। विश्वाः। परि। द्विषः। वृणक्ति। विन्दते। वसु ॥ २९ ॥

पदार्थः—(प्रति) प्रत्यक्षे वीप्सायां च। (पन्थाम्) मार्ग्यं मार्गम्। (अपद्महि) प्राप्नुयाम। (स्वस्तिगाम्) स्वस्ति सुखं गच्छति येन तम्। अत्र जनसनखन० । अ० ३। २। ६७। अनेन विट्प्रत्ययः। (अनेहसम्) अविद्यमानानि एहांसि हननानि यस्मिंस्तम्। अत्र नञि हन एह च। उ० ४। २२४। अनेनायं सिद्धः। (येन) मार्गेण। (विश्वाः) सर्वाः। (परि) सर्वतः। (द्विषः) ※ द्विषन्त्यप्रीणयन्ति याभ्यः शत्रुसेनाभ्यो दुःखक्रियाभ्यो वा ताः। अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३। ३। ११३ भा० वा०] इति हेतौ क्विप्। (वृणक्ति) वर्जयति। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। (विन्दते) लभते। (वसु) सुखकारकं धनम्। अयं मन्त्रः शत० ३। ३। ३। १५-१६ व्याख्यातः॥ २९ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वराग्ने ! त्वदनुगृहीताः पुरुषार्थिनो भूत्वा वयं येन विद्वान् विश्वाः द्विषः परिवृणक्ति वसु विन्दते, तमनेहसं स्वस्तिगां पन्थां मार्गं प्रत्यपद्महि प्रत्यक्षतया व्याप्त्या प्राप्नुयाम[2] ॥ २९ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्द्वेषादित्यागाय विद्याधनप्राप्तये धर्ममार्गप्रकाशायेश्वरप्रार्थना धर्मविद्वत्सेवा च नित्यं कार्य्या ॥ २९ ॥

फिर उस परमेश्वर की प्रार्थना किसलिये करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आपके अनुग्रह से युक्त पुरुषार्थी होकर हम लोग (येन) जिस मार्ग से विद्वान् मनुष्य (विश्वाः) सब (द्विषः) शत्रुसेना वा दुख देनेवाली भोग क्रियाओं को (परिवृणक्ति) सब प्रकार से

---

१ पूर्वोक्तमर्थं द्रढयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पन्थाम्) पन्थानमित्यर्थः, नकारलोपश्छान्दसः। पथिमथोः सर्वनामस्थाने (अ० ६। १। १९९) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ अत्र निरुक्तम् 'पन्थाः पततेर्वा, पद्यतेर्वा, पन्थतेर्वा' (निरु० २। २८) ॥

(स्वस्तिगाम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वम् ॥

(अनेहसम्) नञि हन एह च (उ० ४। २२४) इति 'असि' प्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वृणक्ति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८। १। ६६) इति निघातप्रतिषेधे श्नम्स्वरेण मध्योदात्तः ॥

(विन्दते) भिन्नवाक्यत्वान्निघातत्वं न प्रवर्त्तते। तास्यनुदात्ते० (अ० ६। १। १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरे मध्योदात्तत्वम् ॥

(वसु) शृस्वृस्निहि० (उ० १। १०) इत्याविना 'उ' प्रत्ययः। स च नित्। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६। १। १९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः। त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥ २९ ॥

३ पूर्वोक्त की ही पुष्टि करते हैं—

※ 'द्विषन्त्यपप्रीणयन्ति' इति क. पाठः। 'द्विषन्त्यप्रीणयन्ति' इति ख. पाठः, स च ग कोशे भ्रष्टः ॥

दूर करता और (वसु) सुख करनेवाले धन को (विन्दते) प्राप्त होता है, उस (अनेहसम्) हिंसारहित (स्वस्तिगाम्) सुखपूर्वक जाने योग्य (पन्थाम्) मार्ग को (प्रत्यपद्महि) प्रत्यक्ष प्राप्त होवें[1] ॥ २९ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि द्वेषादि त्याग, विद्यादि धनकी प्राप्ति और धर्म मार्ग के प्रकाश के लिये ईश्वर की प्रार्थना, धर्म और धार्मिक विद्वानों की सेवा निरन्तर करें ॥ २९ ॥

अदित्यास्त्वगसीत्यस्य वत्स ऋषिः । वरुणो देवता । पूर्वस्य स्वराड्याजुषी त्रिष्टुप्, अस्तभ्नादित्यन्तस्यार्षी❀ त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरसूर्य्यवायुगुणा उपदिश्यन्ते[2] ॥

अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सद ऽ आसीद ।
अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो ऽ अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः ।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥ ३० ॥

अदित्याः । त्वक् । असि । अदित्यै । सदः । आ । सीद ॥ अस्तभ्नात् । द्याम् । वृषभः । अन्तरिक्षम् । अमिमीत । वरिमाणम् । पृथिव्याः ॥ आ । असीदत् । विश्वा । भुवनानि । सम्राडिति सम्ऽराट् । विश्वा । इत् । तानि । वरुणस्य । व्रतानि ॥ ३० ॥

पदार्थः—(अदित्याः) पृथिव्यादेः । (त्वक्) यस्त्वचति संवृणोति सः । (असि) अस्ति वा । अत्र पक्षे सर्वत्र व्यत्ययः । (अदित्यै) पृथिव्यादिसृष्टये । (सदः) स्थापनम् । (आ) समन्तात् । (सीद) सादयति सादयसि वा । अत्र व्यत्ययोऽन्तर्गतो ण्यर्थश्च । (अस्तभ्नात्) स्तभ्नासि, स्तभ्नाति धरति वा । अत्र लडर्थे लङ् । (द्याम्) सूर्य्यादिकं प्रकाशं वा । (वृषभः) श्रेष्ठः । (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् । (अमिमीत) निर्मिमीते [निर्मिमीषे वा] । अत्रापि लडर्थे लङ् । (वरिमाणम्[3]) वरस्य भावम् । (पृथिव्याः) अन्तरिक्षस्यावकाशस्य मध्ये । पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघ० १ । ३ । (आ) सर्वतः ।

१ अन्वय यहां अध्यात्मपरक है । सं० पदार्थ से तीनों अर्थों को ऊहा कर लेनी चाहिये ॥ २९ ॥

२ वायुसूर्योपमानेनेश्वरं वर्णयति—

३ यदत्र वक्तव्यं तत् सर्वं य० ३ । ५ विवरणे द्रष्टव्यम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सदः) पूर्वं यजुः २१६ व्याख्यातः ॥

(अस्तभ्नात्, अमिमीत) वाक्यादित्वात् पादादित्वाद् वा निघाताभावः, अट्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(वृषभः) ऋषिवृषिभ्यां कित् (उ० ३ । १२३) इति 'अभच्' प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(वरिमाणम्) य० ३ । ५ विवरणे व्याख्यातो द्रष्टव्यः ॥

(सम्राट्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वम् ॥

(असीदत्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

❀ 'विराडार्षी' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥

(असीदत्) सादयसि, सादयत्यवस्थापयति वा। (विश्वा) सर्वाणि। (भुवनानि) लोकान्। (सम्राट्) यः सम्यग् राजते सः। (विश्वा) अखिलानि। (इत्) एव। (तानि) एतानि। (वरुणस्य) परमेश्वरस्य, सूर्य्यस्य, वायोर्वा। (व्रतानि) शीलानि॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ३। ४। १-५ व्याख्यातः॥ ३०॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर! यतो वृषभस्त्वमदित्यास्त्वगस्यदित्यै सद आसीदासादयसि, द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नासि, वरिमाणमन्तरिक्षममिमीत निर्मिमीषे, सम्राट् सन् पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनान्यासीददासादयसि, अस्मात्तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य तवैवेदेव व्रतानि † शीलानि सन्तीति वयमपद्महि विजानीयामेत्येकः॥

यो वृषभः सम्राट् सूर्य्यो वायुश्चादित्यास्त्वगस्त्यस्ति, संवृणोत्यदित्यै सद आसीदासादयति, द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नाति, वरिमाणमन्तरिक्षमवकाशममिमीत निर्मिमीते, पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनान्यासीददासादयति, तस्य तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य सूर्य्यस्य वायोश्चेदेव व्रतानि शीलानि सन्तीति वयमपद्महीति द्वितीयः[१]॥ ३०॥

अत्र श्लेषालङ्कारः॥ पूर्वस्मान्मन्त्राद् 'अपद्महि' इति पदमनुवर्त्तते।

भावार्थः—परमेश्वरस्यैवैष स्वभावो यदिदं सर्वमभिव्याप्य रचयित्वा धरत्येवं सूर्य्यवाय्वोरपि प्रकाशधारणस्वभावोऽस्ति॥ ३०॥

अगले मन्त्र में ईश्वर, सूर्य और वायु के गुणों का उपदेश किया है[२]॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर! जिससे * (वृषभः) श्रेष्ठ गुणयुक्त आप (अदित्याः) पृथिवी के (त्वक्) आच्छादन करनेवाले (असि) हैं, (अदित्यै) पृथिवी आदि सृष्टि के लिये (सदः) स्थापन करने योग्य (आसीद) व्यवस्था को स्थापन करते वा (द्याम्) सूर्य्य आदि को (अस्तभ्नात्) धारण करते (वरिमाणम्) अत्यन्त उत्तम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (अमिमीत) रचते और (सम्राट्) अच्छे प्रकार प्रकाश को प्राप्त हुए सबके अधिपति आप (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष के बीच में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (आसीदत्) स्थापन करते हो, इससे (तानि) ये (विश्वा) सब (वरुणस्य) श्रेष्ठरूप आपके (इत्) ही (व्रतानि) सत्य स्वभाव और कर्म हैं, ऐसा हम लोग (अपद्महि) जानते हैं। *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ]*॥ १॥

जो (वृषभः) अत्युत्तम (सम्राट्) अपने आप प्रकाशमान सूर्य्य और वायु (अदित्याः) पृथिवी आदि के (त्वक्) आच्छादन करने वाले (असि) हैं, वा (अदित्यै) पृथिवी आदि सृष्टि के लिये (सदः) लोकों को (आसीद) स्थापन (द्याम्) प्रकाश को (अस्तभ्नात्) धारण (वरिमाणम्) श्रेष्ठ (अन्तरिक्षम्) आकाश को (अमिमीत) रचना और (पृथिव्याः) आकाश के मध्य में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (आसीदत्)

---

१ त्रिविधोऽर्थोऽत्रान्वये निरूपितः। अधियज्ञाधिदैविकार्थावपरान्वये प्रदर्शितौ, तौ च श्लेषालङ्काराश्रयेणेति ध्येयम्। त्रिविधोऽर्थः पदार्थतोऽप्यवगन्तव्यः॥ ३०॥

२ वायु और सूर्य की उपमा से ईश्वर का वर्णन करते हैं—

† 'शीलानि' इति क. पाठः। अग्रे प्रमादेन त्यक्त इव प्रतिभाति॥

* '(वृषभः) श्रेष्ठगुणयुक्त आप' इति पाठोऽग्रे (अदित्यै) इत्येतस्मात् पूर्वमासीत्। स चास्थानेऽयमिति मत्वाऽस्माभिरत्रानीतः॥

स्थापन करते हैं। (तानि) वे (विश्वा) सब उस (वरुणस्य) सूर्य्य और वायु के (इत्) ही (व्रतानि) स्वभाव और कर्म हैं, ऐसा हमलोग (अपश्यहि) जानते हैं [*यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ*[1]] ॥ २ ॥ ३० ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥ पूर्व मन्त्र से (अपश्यहि) इस पद की अनुवृत्ति जाननी चाहिये ॥

भावार्थः—जैसा परमेश्वर का स्वभाव है कि सूर्य्य और वायु आदि को सब प्रकार व्याप्त होकर रचकर धारण करता है, इसी प्रकार सूर्य्य और वायु का भी प्रकाश और स्थूल लोकों के धारण का स्वभाव है ॥ ३० ॥

वनेष्वित्यस्य वत्स ऋषिः। वरुणो देवता। विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्ते कीदृशा इत्युपदिश्यते[2] ॥

वने॑षु व्य॒न्तरि॑क्षं ततान॒ वाज॒मर्व॑त्सु पय॑ऽउ॒स्रिया॑सु।
हृ॒त्सु क्रतुं॒ वरु॑णो वि॒क्ष्व॒ग्निं दि॒वि सूर्य॑मदधा॒त् सोम॒मद्रौ॑ ॥ ३१ ॥

वने॑षु। वि। अ॒न्तरि॑क्षम्। त॒ता॒न॒। वाज॑म्। अर्व॒त्स्विवत्यर्व॑त्ऽसु। पय॑ः। उ॒स्रिया॑सु॥ हृ॒त्स्विति॑ हृ॒त्ऽसु। क्रतु॑म्। वरु॑णः। वि॒क्षु। अ॒ग्निम्। दि॒वि। सूर्य्य॑म्। अ॒द॒धा॒त्। सोम॑म्। अद्रौ॑ ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(वनेषु) रश्मिषु वृक्षसमूहेषु वा। वनमिति रश्मिनामसु पठितम्। निघ० १।५। (वि) विशेषार्थे। (अन्तरिक्षम्) आकाशम्। (ततान) विस्तारितवान् विस्तारयति वा। (वाजम्) वेगम्। (अर्वत्सु) अश्वेषु प्राप्तवेगगुणेषु, विद्युदादिषु वा। अर्वेत्यश्वनामसु पठितम्। निघ० १।१४। (पयः) दुग्धम्। (उस्रियासु) गोषु। उस्रियेति गोनामसु पठितम्। निघ० २।११। (हृत्सु) हृदयेषु। (क्रतुम्) प्रज्ञां कर्म वा। (वरुणः) परमेश्वरः * प्राणः सूर्यो वायुर्वा। (विक्षु) प्रजासु। (अग्निम्)

[1] अन्वय में तीनों अर्थ दर्शा दिये हैं। दूसरे अन्वय में अधियज्ञ तथा आधिदैविक दोनों ही अर्थ दर्शाये हैं, जो श्लेषालङ्कार से हैं ॥ यहाँ अन्वय तथा सं० पदार्थ दोनों से सब प्रक्रियाओं में अर्थ की योजना समझ लेनी चाहिये ॥ ३० ॥

[2] पुनस्तदेव ब्रवीति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वनेषु) वृषादीनां च (अ० ६।१।२०३) इत्याद्युदात्तः। तथैव नब्विषयस्यानिसन्तस्य (फिट्० २६) इत्यनेन वाद्युदात्तः। पूर्वं यजुः ३।१५ व्याख्यातः। तत्र द्रष्टव्यः॥

(अर्वत्सु) स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उ० ४। ११३) इति वनिपः पित्त्वाद् धातुस्वरेणाद्युदात्तः॥

(उस्रियासु) वसन्त्येभिरिति उस्राः। 'वस निवासे' (भ्वा० प०) स्फायितञ्चिवञ्चि० (उ० २। १३) इत्यनेन 'रक्' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततो घः प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तत्वेन 'इकार' उदात्तः॥

तथा चात्र देवराजयज्वा—'उस्रशब्दात् पृषोदरादित्वेन स्वार्थे घः' निघण्टुभाष्ये पृ० २३०।

(हृत्सु) ऊडिदम्पदाद्यप्० (अ० ६।१। १७१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

(विक्षु) सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (अ० ६। १।१६८) इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

* 'प्राणो वायुर्वा' इति क. पाठः॥

विद्युतं प्रसिद्धमग्निं वा । (दिवि) प्रकाशे । (सूर्य्यम्) सवितारम् । (अदधात्) † धत्तवान् दधाति वा । (सोमम्) अमृतात्मकं रसं, सोमवल्ल्याद्यौषधीगणं वा । (अद्रौ) मेघे शैले वा । अद्रिरिति मेघनामसु पठितम् । निघ० १ । १० ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । ३ । ४ । ७ व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—यो वरुणः परमेश्वरः सूर्य्यो वायुर्वा वनेषु किरणेष्वरण्येषु वान्तरिक्षं विततानार्वत्सु वाजमुस्रियासु पयो हृत्सु क्रतुं विक्ष्वग्निं दिवि सूर्य्यमद्रौ सोमं चादधात्, स एव सर्वैरुपास्यः सम्यगुपयोजनीयो वास्ति[1] ॥ ३१ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः [वाचकलुप्तोपमालङ्कारोऽपि] ॥

भावार्थः—[यथा] परमेश्वरः स्वविद्याप्रकाशजगद्रचनाभ्यां सर्वेषु पदार्थेषु तत्तत्स्वभावयुक्तान् ‡ गुणान् संस्थाप्य विज्ञानादिकं वायुसूर्य्यादिकं च विस्तृणोति [*तथैव वायुसूर्यावपि सर्वेभ्यः सुखं विस्तारयतः] ॥ ३१ ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—जो (वरुणः) अत्युत्तम परमेश्वर, सूर्य्य वा प्राण वायु हैं, वे (वनेषु) किरण वा वनों में (अन्तरिक्षम्) आकाश को (विततान) विस्तार युक्त किया वा करता (अर्वत्सु) अत्युत्तम वेगादि गुणयुक्त विद्युत् आदि पदार्थ और घोड़े आदि पशुओं में (वाजम्) वेग, (उस्रियासु) गौओं में (पयः) दूध, (हृत्सु) हृदयों में (क्रतुम्) प्रज्ञा वा कर्म, (विक्षु) प्रजा में (अग्निम्) अग्नि, (दिवि) प्रकाश में (सूर्य्यम्) आदित्य, (अद्रौ) पर्वत वा मेघ में (सोमम्) सोमवल्ली आदि ओषधी और श्रेष्ठ रसको (अदधात्) धारण किया करते हैं, उसी ईश्वर की उपासना और उन्हीं दोनों का उपयोग करें[3] ॥ ३१ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार [तथा वाचकलुप्तोपमालङ्कार है] ॥

भावार्थः—जैसे परमेश्वर अपनी विद्या का प्रकाश और जगत् की रचना से सब पदार्थों में उनके स्वभावयुक्त गुणों को स्थापन और विज्ञान आदि गुणों को नियत करके पवन सूर्य्य आदि को विस्तारयुक्त करता है, * वैसे सूर्य्य और वायु भी सब के लिये सुखों का विस्तार करते हैं ॥ ३१ ॥

सूर्य्यस्य चक्षुरित्यस्य वत्स ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृशा इत्युपदिश्यते[4] ॥

सूर्य्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम् । यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥ ३२ ॥

---

१ त्रिविधोऽप्यर्थोऽत्र प्रदर्शितः, स च श्लेषालङ्कारेण बोध्यते, पदार्थतोऽप्यवगन्तव्यः ॥ ३१ ॥

२ पुनः पूर्वोक्त को ही दृढ़ करते हैं—

३ यहाँ श्लेषालङ्कार से तीनों प्रकार का अर्थ सुसङ्गत है । अन्वय तथा सं० पदार्थ से सब प्रक्रियाओं में अर्थ जान लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

४ उक्तमर्थं प्रकारान्तरेण पोषयति—

---

† साम्प्रतिकानां मते तु हितवान् इति स्यात् ॥

‡ 'गुणान्' इति क. ख. कोशयोर्वर्तमानोऽपि ग. कोशे प्रमादेन त्यक्त इति ध्येयम् ॥

* भाषायां 'वैसे सूर्य और वायु भी सबके लिये सुखों का विस्तार करते हैं' इति पाठो ग. कोशे प्रवर्धितः । संस्कृतभावार्थे न परिवर्धितः स चास्माभिर्विवर्धितः ॥

सूर्य॑स्य । चक्षुः॑ । आ । रो॒ह॒ । अ॒ग्नेः । अ॒क्ष्णः । क॒नीन॑कम् ॥ यत्र॑ । ए॒तशे॑भिः । ईय॑से । भ्राज॑मानः । वि॒प॒श्चि॒तेति॑ वि॒पःऽचि॒ता ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(सूर्य॑स्य) सवितृमण्डलस्य, विद्युतो वा । (चक्षुः) दर्शकम् । (आ) समन्तात् । (रोह) दर्शयसि, दर्शयति वा । ‡ अत्र लडर्थे लोट् (अग्नेः) भौतिकस्य । (अक्ष्णः) दर्शनसाधकस्य । (कनीनकम्) कनति प्रकाशते येन तत् । अत्र कनीधातोर्बाहुलकादौणादिक ईनकप्रत्ययः । (यत्र) यस्मिन् (एतशेभिः) विज्ञानवेगादिभिरागमकैर्गुणैरश्वैः । एतश इत्यश्वनामसु पठितम् । निघ० १ । १४ । (ईयसे) विज्ञायसे विज्ञायते वा । (भ्राजमानः) प्रकाशमानः । (विपश्चिता) मेधाविना विदुषा । विपश्चिदिति मेधाविनामसु पठितम् । निघ० ३ । १५ ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ३ । ४ । ८ व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ! यत्र त्वमेतशेभिर्भ्राजमानो विपश्चितेयसे, यत्र [वा] प्राणो विद्युद्वैतशेभिर्विपश्चिता भ्राजमानो विज्ञायते । यत्र त्वं स सा च सूर्यस्याग्नेरक्ष्णः कनीनकं चक्षुरारोह समन्ताद् दर्शयति वा, तत्र वयं त्वां तं तां चोपासीमहि युञ्ज्याम वा[1] ॥ ३२ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथा विद्वद्भिरीश्वरः प्राणो विद्युच्च विज्ञायोपास्यते संप्रयुज्यते च, तथैव विज्ञायोपास्य उपयोक्तव्यः संप्रयोजितव्या च ॥ ३२ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अक्ष्णः) अश्नुते व्याप्नोति विषयान् येन तदक्षि । अशेर्नित् (उ० ३ । १५६) इति 'क्सि' प्रत्ययः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तो ऽक्षिशब्दः । ततो विभक्तिरनुदात्ता । अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः (अ० ७ । १ । ७५) इत्यनेनानङ उदात्तवचने भस्याकारस्योदात्तलोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६ । १ । १६१) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(कनीनकम्) पूर्वं यजुः ४।३ व्याख्यातः ॥

(एतशेभिः) 'इण् गतौ' (अदा० प०) इत्यस्माद् एति प्राप्नोतीति 'एतशः', इणस्तशन्तशसुनौ (उ० ३ । १४९) इति 'तशन्' प्रत्ययः, नित्वादाद्युदात्तः ॥

(ईयसे) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधः । 'ईङ् गतौ' (दि० आ०) ततः थासः से (अ० ३।४।८०) इति 'से' । ततः श्यनि 'सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६ । १ । १५८ भा० वा०) इति भाष्यवचनात् तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्ल० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे पुनः श्यन्स्वरप्राप्त्या ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ यद्वा 'वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' इत्यत्र कर्मणि 'यक्' न भवति, तदभावे 'श्यन्' तु भवति ॥

(भ्राजमानः) तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(विपश्चिता) 'विप् क्षेपे' (तु० प०), विपो वाचश्चेतयत इति तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अ० ६ । ३ । १४) इत्यलुक् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तो विपश्चिच्छब्दः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] त्रिविधोऽप्यर्थोऽत्रान्वये प्रदर्शितः । स चात्र श्लेषालङ्कारेणावबोधितः । पदार्थतोऽप्यवगन्तव्यः ॥३२॥

‡ 'अत्र लडर्थे लोट्' इति क. पाठः, अग्रे प्रमादेन त्यक्तः स्यात् ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया गया है[1] ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर ! (यत्र) जहां आप (एतशेभिः) [विज्ञान] वेग आदि गुणों से (भ्राजमानः) प्रकाशमान (विपश्चिता) मेधावी विद्वान् से (ईयसे) विज्ञात होते हो, अथवा जहां प्राणवायु वा बिजली (एतशेभिः) वेगादि गुण वा (विपश्चिता) विद्वान् से (भ्राजमानः) प्रकाशित होकर विज्ञात होते हैं । और जहाँ आप प्राण तथा बिजली (सूर्य्यस्य) सूर्य्य वा बिजली और (अग्नेः) भौतिक अग्नि के (अक्ष्णः) देखने के साधन (कनीनकम्) प्रकाश करने वाले (चक्षुः) नेत्रों को (आरोह) देखने के योग्य कराते वा कराती है, वहीं हम लोग आपकी उपासना और उन दोनों का उपयोग करें[2] ॥ ३२ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि जैसे विद्वान् लोग ईश्वर प्राण और बिजली के गुणों को जान, उपासना वा कार्य्यसिद्धि करते हैं, वैसे ही उनको जानकर उपासना और अपने प्रयोजनों को सदा सिद्ध करते रहें ॥ ३२ ॥

उस्रावेतमित्यस्य वत्स ऋषिः । सूर्य्यविद्वांसौ देवते । पूर्वस्य *निचृदार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥ स्वस्तीत्युत्तरस्य याजुषी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ सूर्य्यविद्वांसौ कथंभूतावेताभ्यां शिल्पविदौ किं कुर्य्यातामित्युपदिश्यते[3] ॥

उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू ऽ अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ ।
स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥ ३३ ॥

उस्रौ । आ । इतम् । धूर्षाहौ । धूःसहाविति धूःऽसहौ । युज्येथाम् । †अनश्रूऽइत्यनश्रू । अवीरहणौ । अवीरहनाविस्यवीरऽहनौ । ब्रह्मचोदनाविति ब्रह्मऽचोदनौ ॥ स्वस्ति । यजमानस्य । गृहान् । गच्छतम् ॥ ३३ ॥

---

[1] प्रकारान्तर से पूर्वोक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं—
[2] श्लेषालङ्कार से अन्वय तथा सं० पदार्थ से सब प्रक्रियाओं में अर्थ समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

[3] शिल्पविदां सूर्यविद्युत्साद्दश्यं वर्णयन् तत्कर्त्तव्यमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उस्रौ) उस्रेति य० ४ । ३१ व्याख्यातः ॥ आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तः । प्रथमार्थे च सम्बोधनमिति ॥

(इतम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(धूर्षाहौ) पूर्ववदेव प्रथमार्थे सम्बोधनम् । आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(युज्येथाम्) भिन्नवाक्यत्वान्निघाताभावः ॥

(अनश्रू) नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(अवीरहणौ) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् ॥

अत्र सर्वेऽपि पदकाराः 'अवीर-हा' इत्यवगृह्णन्ति, 'अहन्ता च वीराणाम्' इत्यर्थं कुर्वन्ति । वस्तुतस्तु स्वरानुरोधादर्थानुरोधाच्च 'अ-वीरहा' इत्थमेवात्रावग्रहेण भवितव्यम् । विचित्रा एव पदकाराणां वृत्तय इत्यभिलक्ष्य तु सर्वमेवानवद्यम् ॥

---

*'भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः । स्वस्तीत्यस्य' इति अ. मु. ग कोशे च पाठः ॥
† 'अनुश्च्यू इत्यनुश्च्यू' इत्यजमेरमुद्रिते ऽ पपाठः । इत्थमेव मन्त्रपाठे पदार्थे च पाठ उपलभ्यते ॥

पदार्थः—(उस्रौ) ‡रश्मिमन्तौ निवासहेतू सूर्य्यवायू। उस्रा इति रश्मिनामसु पठितम्। निघ० १। ५। गोनामसु च। निघ० २। ११। (आ) समन्तात्। (इतम्) प्राप्नुतः। (धूर्षाहौ) यौ धुरं पृथिव्याः शरीरस्य ज्ञानानां वा धारणं सहेते तौ। (युञ्जेथाम्) युञ्जेते युक्तौ कुरुतः। (अनश्रू) अव्यापिनौ। (अवीरहणौ) वीरहननरहितौ। (ब्रह्मचोदनौ) आत्मान्नप्राप्तिप्रेरकौ। (स्वस्ति) सुखं सुखेन वा। (यजमानस्य) धार्मिकस्य जीवस्य। (गृहान्) गृहाणि। (गच्छतम्) गमयतः॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ३। ४। १२ व्याख्यातः॥ ३३॥

अन्वयः—§हे मनुष्या यथा विद्याशिल्पे चिकीर्षू यौ ब्रह्मचोदनावनश्रू अवीरहणावुस्रौ धूर्षाहौ सूर्य्यविद्वांसौ गावौ वृषवद्यानचालनायैतं प्राप्नुतो युञ्जेथां युक्तौ कुरुतो यजमानस्य गृहान् स्वस्ति गच्छतं सुखेन गमयतः [तथा] तौ यूयं युक्त्या सेवयत॥ ३३॥

अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ॥

भावार्थः—यथा सूर्य्यविपश्चितौ क्रमेण सर्वं प्रकाश्य धृत्वा सहित्वा युक्त्वा प्राप्य सुखं प्रापयतस्तथैव शिल्पविद्यासम्पादकेन यानेषु युक्त्या सेविते अग्निजले सुखेन सर्वत्राभिगमनं कारयतः॥३३॥

अब सूर्य और विद्वान् कैसे हैं, और उनसे शिल्पविद्या के जानने वाले क्या करें, सो अगले मन्त्र में कहा है[2]॥

पदार्थः—हे मनुष्यो! जैसे विद्या और शिल्प क्रिया को प्राप्त होने की इच्छा करनेवाले (ब्रह्मचोदनौ) अन्न और विज्ञान प्राप्ति के हेतु (अनश्रू) अव्यापी (अवीरहणौ) वीरों का रक्षण करने (उस्रौ) ज्योतियुक्त और निवास के हेतु (धूर्षाहौ) पृथिवी और धर्म के भार को धारण करने वाले विद्वान् (आ इतम्) सूर्य और वायु को प्राप्त होते वा (युञ्जेथाम्) युक्त करते और (यजमानस्य) धार्मिक यजमान के (गृहान्) घरों को (स्वस्ति) सुख से (गच्छतम्) गमन करते हैं, वैसे तुम भी उनको युक्ति से संयुक्त करके कार्य्यों को सिद्ध किया करो[3]॥३३॥

इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं॥

भावार्थः—जैसे सूर्य्य और विद्वान् सब पदार्थों को धारण करनेहारे, सहन युक्त और प्राप्त होकर सुखों को प्राप्त कराते हैं, वैसे ही शिल्पविद्या के जानने वाले विद्वान् से यानों में युक्ति से सेवन किये हुए अग्नि और जल सवारियों को चला के सर्वत्र सुखपूर्वक गमन कराते हैं॥ ३३॥

(ब्रह्मचोदनौ) करणाधिकरणयोश्च (अ० ३। ३। ११७) इति ल्युटि, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे लिति (अ० ६। १। १९३) प्रत्ययात् पूर्व उदात्त इति 'ओकारः' उदात्तः॥

(स्वस्ति) पूर्वं यजुः ३। १८ व्याख्यातः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ श्लेषालङ्कारेण द्विविधोऽप्यर्थ आध्यात्मिक आधिदैविकश्च प्रदर्शित इति ध्येयम्। सर्वप्रक्रियास्वर्थस्तु पदार्थतोऽवगन्तव्यः॥ ३३॥

२ शिल्पियों की सूर्य और विद्युत् से समानता दिखाते हुए, उनका कर्त्तव्य बतलाते हैं—

३ श्लेषालङ्कार से यहां आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ दर्शाया है। सं० पदार्थ से त्रिविध अर्थ समझ लेना चाहिये॥ ३३॥

‡ 'रश्मिमन्तौ गोमन्तौ निवासहेतू०' इति हस्तलेखेषु पाठः॥

§ अन्वयस्यात्रास्पष्टत्वात् सम्यक्पाठ ऊहनीयः॥

भद्रो मेऽसीत्यस्य वत्स ऋषिः । यजमानो देवता । पूर्वस्य ‡भुरिगार्ची गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥ मा त्वेत्यस्य भुरिगार्ची बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥ श्येनो भूत्वेत्यस्य विराडाच्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

तेन यानेन विदुषा किं किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभि धामानि ।
मा त्वा परिपरिणो विदन् मा त्वा परिपन्थिनो विदन् मा त्वा वृकाऽअघायवो विदन् ।
श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सँस्कृतम् ॥ ३४ ॥

भद्रः । मे । असि । प्र । च्यवस्व । भुवः । पते । विश्वानि । अभि । धामानि ॥ मा । त्वा । परिपरिण इति परिऽपरिणः । विदन् । मा । त्वा । परिपन्थिन इति परिऽपन्थिनः । विदन् । मा । त्वा । वृकाः । अघायवः । अघयव इत्यघऽयवः । विदन् ॥ श्येनः । भूत्वा । परा । पत । यजमानस्य । गृहान् । गच्छ । तत् । नौ । सँस्कृतम् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(भद्रः) सुखकारी । (मे) मम । (असि) भवसि । (प्र) प्रकर्षे । (च्यवस्व) गच्छ । (भुवः) पृथिव्याः । (पते) स्वामिन् ! (विश्वानि) सर्वाणि । (अभि) आभिमुख्ये । (धामानि) स्थानानि । (मा) निषेधे । (त्वा) त्वां गृहादिषूपस्थितम् । (परिपरिणः) परितः सर्वतश्छलेन रात्रौ वा परस्वादायिनश्चोराः । छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्य्यवस्थातरि । अ० ५ । २ । ८९ । अनेनैतौ शब्दौ स्तेनविषये निपात्येते । (विदन्) विन्दन्तु, प्राप्नुवन्तु । अत्र सर्वत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [अ० १ । ४ । ६ मा० वा०] इति नुमटोरभावो लोडर्थे* लङ् च । (मा) निषेधार्थे । (त्वा) प्रवाससेविनं त्वाम् । (परिपन्थिनः) उत्कोचका दस्यवः । (विदन्) लभन्ताम् । (मा) निषेधार्थे । (त्वा) त्वामैश्वर्य्यवन्तम् । (वृकाः) स्तेनाः । वृक इति स्तेननामसु पठितम् । निघ० ३ । २४ । (अघायवः) आत्मनोऽघं पापमिच्छवः । (विदन्) लभन्ताम् । (श्येनः) श्येन इव । (भूत्वा) (परा) दूरार्थे । (पत) गच्छ । (यजमानस्य) संगमं कर्त्तुं योग्यस्य पूज्यस्य मनुष्यस्य । (गृहान्) द्वीपखण्डदेशान्तरस्थानानि । (गच्छ) गमनं कुरु । (तत्) (नौ) आवयोः । (संस्कृतम्) शिल्पविद्यासंस्कारयुक्तं सर्वर्त्तुकम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ३ । ४ । १४–१६ व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

[1] शिल्पविद्यासिद्धस्य यानस्योपयोगमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(भुवस्पते) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे (अ० २ । १ । २) इति पराङ्गवद्भाव आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इत्यनेन निघातः ॥

(परिपरिणः) इनिप्रत्ययेनान्तोदात्तः । ततो विभक्तिरुदात्ता ॥

(परिपन्थिनः) पूर्ववत् ॥

(वृकाः) वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अघायवः) सुप आत्मनः क्यच् (अ० ३ । १ । ८) इत्यात्मेच्छायां तु प्राप्त एव क्यच् । परेच्छायां न प्राप्नोतीत्यत आह भाष्यकारः—

"छन्दसि परेच्छायां न प्राप्नोति । मा त्वा वृका अघायवो विदन् । ....आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यघशब्दात् छन्दसि परेच्छायां क्यजिति यदयमश्वाघस्यादिति क्यचि प्रकृते इत्वबाधनार्थमाकारं शास्ति" ॥ (अ० ३ । १ । ८ भाष्ये) ॥

‡ 'भुरिगार्षी' इति अ. मु. ख. ग. कोशयोश्च पाठः । 'भुरिगार्ची' इति क. पाठः । स च सम्यक् ॥

* 'लोडर्थे लुङ् च' इत्यजमेर मुद्रितेऽपपाठः । लुङि 'शे मुचादीनाम्' (अ० ७ । १ । ५९) इति विहितस्य नुमः प्राप्त्यभावात् तन्निवारणं (नुमभावः) अयुक्तमेव स्यात् ॥ लुङ्पक्षेऽपि छान्दसाडभावे रूपसिद्धिः स्पष्टैव ॥

अन्वयः—हे भुवस्पते विद्वंस्त्वं मे मम भद्रोऽसि। यन्नौ तव मम च संस्कृतं यानमस्ति,❀ तत् तेन विश्वानि धामान्यभिप्रच्यवस्वाभितः प्रकृष्टतया गच्छ, यथा सर्वत्राभिगच्छन्तं [त्वा] त्वां परिपरिणो वृका मा विदन् मा लभन्तां, तथा प्रयतस्व। परदेशसेविनं [त्वा] त्वां यथा परिपन्थिनो वृका मा विदन्, तथाऽनुतिष्ठ। यथा परदेशसेविनं [त्वा] त्वामघायवः पापिनो मनुष्या मा विदन्, तथाऽनुजानीहि। त्वं श्येनो भूत्वा तेभ्यः परापत गच्छैतान् वा परापत दूरे गमयैवं कृत्वा यजमानस्य गृहान् गच्छ यतो मार्गे किञ्चिदपि दुःखं न स्यात्[1] ॥ ३४ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैरुत्तमानि विमानादीनि यानानि रचयित्वा तत्र स्थित्वा तानि यथायोग्यं प्रचाल्य श्येन इव द्वीपाद्यन्तरं देशं गत्वा धनं प्राप्य तस्मादागत्य दुष्टेभ्यः प्राणिभ्यो दूरे स्थित्वा सर्वदा सुखं भोक्तव्यम् ॥ ३४ ॥

उस यान से विद्वान् को क्या २ करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (भुवः) पृथिवी के (पते) पालन करनेवाले विद्वन् मनुष्य ! तू (मे) मेरा (भद्रः) कल्याण करने वाला बन्धु (असि) है, सो तू (नौ) मेरा और तेरा [जो] (संस्कृतम्) संस्कार किया हुआ यान है, (तत्) उससे (विश्वानि) सब (धामानि) स्थानों को (अभिप्रच्यवस्व) अच्छे प्रकार जा, जिससे सब जगह जाते हुए (त्वा) तुझ को जैसे (परिपरिणः) छल से रात्रि में दूसरे के पदार्थों को ग्रहण करने वाले (वृकाः) चोर (मा विदन्) प्राप्त न [हो सकें, ऐसा यत्न कर] और परदेश को जाने वाले (त्वा) तुझको जैसे (परिपन्थिनः) मार्ग में लूटने वाले डाकू (मा विदन्) प्राप्त न होवें [ऐसा उपाय कर], जैसे परमैश्वर्य युक्त (त्वा) तुझ को (अघायवः) पाप की इच्छा करनेवाले दुष्टमनुष्य (मा विदन्) प्राप्त न हों, वैसा कर्म सदा किया कर [तू] (श्येनः) श्येन पक्षी के समान वेग बलयुक्त (भूत्वा) होकर उन दुष्टों से (परापत) दूर रह और इन दुष्टों को भी दूरकर, ऐसी क्रिया करके (यजमानस्य) धार्मिक यजमान के (गृहान्) घर वा देश देशान्तरों को (गच्छ) जा कि जिससे मार्ग में कुछ भी दुःख न हो[3] ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम २ विमान आदि यानों को रच, उन में बैठ, उनको यथायोग्य चला, श्येन पक्षी के समान द्वीप वा देश देशान्तर को जा, धनों को प्राप्त करके वहां से आ और दुष्ट प्राणियों से अलग रहकर सब काल में स्वयं सुखों का भोग करें और दूसरों को करावें ॥ ३४ ॥

(श्येनः) श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् (उ० २ । ४६) चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(भूत्वा) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । श्रयुकः किति (अ० ७ । २ । ११) इतीण्निषेधः ॥

(परा) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(संस्कृतम्) प्रवृद्धादीनां च (अ० ६ । २ । १४७) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः। त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥ ३४ ॥

२ शिल्पविद्या से सिद्ध हुए यान का उपयोग बताते हैं—

३ यहां अन्वय आधिदैविक अर्थपरक है। त्रिविध अर्थ को ऊहा सं० पदार्थ से कर लेनी चाहिये ॥ ३४ ॥

❀ 'तत्' इति पदम् अ. मु. ख. ग. कोशयोश्च नास्ति, क. कोशे ऽस्ति, तथाग्रे प्रमादेन त्यक्तमिति प्रतिभाति ॥

नमो मित्रस्येत्यस्य वत्स ऋषिः । सूर्य्यो देवता । निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनरीश्वरसवितारौ कीदृशावित्युपदिश्यते[1] ॥

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तᳪस॑पर्यत ।
दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शᳪसत ॥ ३५ ॥

नमः॑ । मि॒त्रस्य॑ । वरु॑णस्य । चक्ष॑से । म॒हः । दे॒वाय॑ । तत् । ऋ॒तम् । स॒प॒र्य्य॒त॒ ॥ दू॒रे॒दृश॒ इति॑ दूरे॒ऽदृशे॑ । दे॒वजा॑ता॒येति॑ दे॒वऽजा॑ताय । के॒तवे॑ । दि॒वः । पु॒त्राय॑ । सूर्या॑य । श॒ᳪस॒त॒ ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(नमः) सत्करणमन्नं वा । नम इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (मित्रस्य) सर्वजगत्सुहृदः प्रकाशकस्य‡ वा । (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य । (चक्षसे) सर्वद्रष्टुर्दर्शयितुर्वा । अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी० [अ० २ । ३ । ६२ भा० वा०] इति वार्त्तिकेन चतुर्थी । चष्ट इति पश्यतिकर्मसु पठितम् । निघ० ३ । ११ । (महः) महसे । अत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति ङेर्लुक् । (देवाय) दिव्यगुणाय । (तत्) चेतनस्वरूपं प्रकाशस्वरूपं वा । (ऋतम्) सत्यम् । (सपर्य्यत[2]) परिचरत । सपर्य्यतीति परिचरणकर्मसु पठितम् । निघ० ३ । ५ । (दूरेदृशे[3]) यो दूरे स्थितान् दर्शयति तस्मै । (देवजाताय) देवैर्दिव्यैर्गुणैः प्रसिद्धाय । (केतवे) विज्ञानस्वरूपाय ज्ञापकाय वा । (दिवः) प्रकाशस्वरूपस्य । (पुत्राय) पवित्रकारकायाग्निपुत्राय वा । (सूर्य्याय[4]) चराचरात्मने परमैश्वर्य्यहेतवे वा । (शंसत) प्रशंसत ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ३ । ४ । २४ व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं [5]यन्मित्रस्य वरुणस्य दिव ऋतं सत्यं स्वरूपमस्ति, तद् यूयमपि सपर्य्यत । यस्य महो महसे दूरेदृशे चक्षसे देवजाताय केतवे देवाय पुत्राय पवित्रकर्त्रे सूर्य्याय परमात्मने वयं [नमः] नमस्कुर्मस्तस्मै यूयमपि [शंसत] कुरुत ॥ इत्येकः ॥ १ ॥

हे मनुष्या यथा वयं यन्मित्रस्य वरुणस्य दिवः प्रकाशस्वरूपस्य सूर्य्यलोकस्य तं यथार्थस्वरूपं सेवेमहि,

---

१ श्लेषेणेश्वरसूर्यौ वर्णयति—

२ यद्वा 'सपर पूजायाम्' इति कण्ड्वादिः ॥

३ दूरे दर्शयतीति दूरेदृक् तस्मै । तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अ० ६ । ३ । १४) इति सप्तम्या अलुक् ॥

४ सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा ॥श० १४ । ३ । २ ।९॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(चक्षसे) सर्वधातुभ्यो ऽसुन् (उ० ४ । १८९) नित्वादाद्युदात्तः ॥

(दूरेदृशे) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदान्तोदात्तः 'दूरेदृक्' शब्दः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(देवजाताय) तृतीयासमासे तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन 'देव'शब्दः पचाद्यचि चित्त्वादन्तोदात्त इति वकार उदात्तः । अत्र छान्दसत्वात् थाथादिस्वरो न प्रवर्त्तते ।

(केतवे) चायः की (उ० १ । ७४) इति 'तु' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(पुत्राय) पुनाति पवित्रं करोतीति पुत्रः । पुवो ह्रस्वश्च (उ० ४ । १६५) इति 'क्त्रः' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

५ तत्सम्बन्धेन 'यद्' इत्यध्याहारः ॥

‡ अ. मुद्रिते 'प्रकाशस्य' इति पाठः । कोशेषु 'प्रकाशकस्य' इति पाठः ॥

तद् यूयमपि विद्यया सपर्य्यत । यथा वयं यस्मै चक्षसे देवजाताय केतवे दिवोऽग्नेः पुत्राय दूरेदृशे महो देवाय सूर्य्याय लोकाय प्राप्त्यर्थं प्रवर्त्तमहि तथा यूयमपि प्रवर्त्तध्वम्ॐ *इति द्वितीयः*[1] ॥ ३५ ॥

अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ॥

भावार्थः—यस्य कृपया प्रकाशेन वा चोरदस्य्वादयो निवर्त्तन्ते, यतः परमेश्वरेण समः समर्थः सूर्य्येण समो लोकश्च न विद्यते, तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैः स एव प्रशंसनीय इति वेद्यम् ॥ ३५ ॥

फिर ईश्वर और सूर्य्य कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग जो (मित्रस्य) सब के सुहृत् (वरुणस्य) श्रेष्ठ (दिवः) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का (ऋतम्) सत्यस्वरूप है, (तत्) उस चेतन की सेवा करते हैं, वैसे तुम भी उसका सेवन सदा (सपर्य्यत) किया करो, और जैसे उस (महः) बड़े (दूरेदृशे) दूर स्थित पदार्थों को दिखाने (चक्षसे) सब को देखने (देवजाताय) दिव्य गुणों से प्रसिद्ध (केतवे) विज्ञानस्वरूप (देवाय) दिव्यगुणयुक्त (पुत्राय) पवित्र करने वाले (सूर्य्याय) चराचरात्मा परमेश्वर को (नमः) नमस्कार करते हैं, वैसे तुम भी (शंसत) उसकी स्तुति किया करो ॥ *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुवा]* ॥ १ ॥

हे मनुष्यो ! ⊙ जैसे हम (मित्रस्य) प्रकाश[क] (वरुणस्य) श्रेष्ठ (दिवः) प्रकाशस्वरूप सूर्य्यलोक का (ऋतम्) यथार्थस्वरूप [सेवन करते] हैं, (तत्) उस प्रकाशस्वरूप को तुम भी विद्या से (सपर्य्यत) सेवन किया करो। जैसे हम लोग जिस (चक्षसे) सबके दिखाने (देवजाताय) दिव्यगुणों से प्रसिद्ध (केतवे) ज्ञान कराने [हारे] अग्नि के (पुत्राय) पुत्र (दूरेदृशे) दूर स्थित हुए पदार्थों को दिखाने (महः) बड़े (देवाय) दिव्यगुण वाले (सूर्य्याय) सूर्य्य के लिये प्रवृत्त हों, वैसे तुम भी प्रवृत्त होवो ॥ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुवा]*[3] ॥ ३५ ॥

इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को जिसकी कृपा वा प्रकाश से चोर डाकू आदि अपने कार्य्यों से निवृत्त हो जाते हैं, उसी की प्रशंसा और गुणों की प्रसिद्धि करनी और परमेश्वर के समान समर्थ वा सूर्य्य के समान कोई लोक नहीं है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

वरुणस्येत्यस्य वत्स ऋषिः । सूर्य्यो देवता । विराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तौ *कीदृशावित्युपदिश्यते*[4] ॥

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्यऽऋतसदन्यसि वरुणस्यऽऋतसदनमसि वरुणस्यऽऋतसदनमासीद ॥ ३६ ॥

---

१ आध्यात्मिकाधिदैविकार्थपरोऽयमन्वयः । आधिदैविकान्तर्भूत एवाधियज्ञोऽपि । पदार्थतश्चापि त्रिविधोऽर्थोऽवगन्तव्यः ॥ ३५ ॥

२ श्लेषालङ्कार से ईश्वर और सूर्य का वर्णन करते हैं—

३ अन्वय यहां आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थपरक है। आधिदैविक के अन्तर्भूत अधियज्ञ भी समझना चाहिये। पदार्थ से त्रिविध अर्थ समझ लेना चाहिये ॥ ३५ ॥

४ तयोरीश्वरसूर्ययोः सर्वकार्यसाधकतामाह—

ॐ अत्र द्वितीयेऽन्वये 'नमः' 'शसत' इति पदे त्यक्ते, भाषायां चापि ॥

⊙ 'हे मनुष्यो ! जो' इति अ, सृ, कोशेषु च पाठः ॥

वरुणस्य । उत्तम्भनम् । असि । वरुणस्य । स्कम्भसर्जनीऽइति स्कम्भऽसर्जनी । स्थः । वरुणस्य । ऋतसदनीत्यृतऽसदनी । असि । वरुणस्य । ऋतसदनमित्यृतऽसदनम् । असि । वरुणस्य । ऋतसदनमित्यृतऽसदनम् । आ । सीद ॥३६॥

पदार्थः—(वरुणस्य[1]) वरितुं प्राप्तुं योग्यस्य श्रेष्ठस्य जगतः । (उत्तम्भनम्) उत्कृष्टं प्रतिबन्धनम् । अत्र उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य । अ० ८ । ४ । ६१ । अनेन सस्य पूर्वसवर्णादेशः । (असि) अस्ति वा । (वरुणस्य) वायोः । वरुण इति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ४ । अनेन ज्ञानप्राप्ति † गमनवतोऽर्थस्य ग्रहणम् । (स्कम्भसर्जनी) ❀ या क्रिया स्कम्भानामाधारकाणां सर्जन्युत्पादिका सा । (स्थः) स्तः । (वरुणस्य[1]) सूर्य्यस्य । (ऋतसदनी) या क्रिया ऋतानां जलानां सदनी गमनागमनकारिणी । (असि) अस्ति वा । (वरुणस्य) चरपदार्थसमूहस्य । (ऋतसदनम्) ऋतानां यथार्थानां पदार्थानां सदनं स्थानम् । (असि) अस्ति वा । (वरुणस्य) उत्कृष्टगुणसमूहस्य । (ऋतसदनम्) यदृतानां सत्यानां बोधानां स्थानं तत् । (आ) समन्तात् । (सीद) प्रापयसि, प्रापयति वा ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ३ । ४ । २५-२९ व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! यतस्त्वं वरुणस्योत्तम्भनमसि या वरुणस्य स्कम्भसर्जनी या च वरुणस्यर्त्तसदनी क्रिये स्थः स्तस्ते धारितवानसि । यद्व वरुणस्यर्त्तसदनम [स्य] स्ति तत्कृपया वरुणस्यर्त्तसदनमासीद समन्तात् प्रापयस्यतस्त्वां वयमाश्रयाम ॥ इत्येकः ॥ १ ॥

यो वरुणस्योत्तम्भनं धारको [ऽसि] () अस्ति या वरुणस्य स्कम्भसर्जनी या च वरुणस्यर्त्तसदनी क्रिये स्थः स्तो यस्तयोर्धारको [स्थ] ऽस्ति यद्वरुणस्यर्त्तसदनम [स्य] स्ति तद्यो वरुणस्यर्त्तसदनमासीद समन्तात् प्रापयति स कुतो नोपयोक्तव्यः [*इति द्वितीयः*[2]] ॥ २ ॥ ३६ ॥

---

१ वरुण एव सविता ॥ जै० उ० ४ । २७ । ३ ॥
स वा एष (सूर्यः) अपः प्रविश्य वरुणो भवति ॥
कौ० १८ । ९ ॥
वरुणो वै देवानां राजा ॥ श० १२ । ८ । ३ । १० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उत्तम्भनम्) कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इति कर्त्तरि वा ल्युट् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वे 'त्त' उदात्तः ॥

(स्कम्भसर्जनी) पूर्ववदेवोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वे 'स' उदात्तः, ङीपि स एव स्वरः ॥

(ऋतसदनी) सर्वं पूर्ववत् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ आध्यात्मिकाधिदैविकार्थावत्र प्रतिपादितौ, आधिदैविकान्तर्भूत एवाधियज्ञार्थोऽपि । पदार्थतोऽन्वयतश्च त्रिविधोऽप्यर्थोऽवबोध्यः ॥ ३६ ॥

❀ 'वरुण इति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ४ ।' इति पाठः प्रथमस्य (वरुणस्य) इति पदस्य व्याख्याने 'जगतः' इत्येतस्मात् पदादग्र आसीत् । स चास्माभिरत्रानीतः । कुतः ? 'अनेन ज्ञानप्राप्तिगमनवतोऽर्थस्य ग्रहणम्' इत्यस्मिन् वाक्ये पूर्वपरामर्शकस्य 'अनेन' इति पदस्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तत्वाद् । 'वरुण इति पदनामसु पठितम्' इति पाठोऽत्रैव युक्तः । कुतः ? पूर्वस्य वरुणपदार्थस्य यौगिकार्थेन गतार्थत्वात् तत्रानावश्यकत्वात्, इह वाय्वर्थत्वे चावश्यकत्वात् ॥

† पाठोऽयं क. कोशानुसारी सम्यक् च । ख. 'गमन्वतो', ग. अ. मुद्रिते च 'गमधातोरर्थस्य ग्रहणम्' इति व्यस्तः पाठ इति ध्येयम् ॥

() अत्र 'धरति' इति ग. अ० मुद्रिते च पाठः । 'धारकोऽस्ति' इति क. पाठः, स एव साधीयान् इति स्वीकृतोऽस्माभिः । अग्रेऽपि तथैवोपलभ्यत इत्यतः ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—नहि कश्चित्परमेश्वरेण विना सर्वं जगद्रचितुं धर्त्तुं पालयितुं विज्ञातुं वा शक्नोति। न किल कश्चित् सूर्य्येण विना सर्वं भूम्यादि जगत् प्रकाशितुं धर्त्तुं वा शक्नोति, तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्योपासनं सूर्य्यस्योपयोगो यथावत् कार्य्य इति ॥ ३६ ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर! जिससे आप (वरुणस्य) उत्तम जगत् के (उत्तम्भनम्) अच्छे प्रकार प्रतिबन्ध करने वाले (असि) हैं। जो (वरुणस्य) वायु के (स्कम्भसर्जनी) आधाररूपी पदार्थों के उत्पन्न करने (वरुणस्य) सूर्य्य के (ऋतसदनी) जलों का गमनागमन कराने वाली क्रिया (स्थः) हैं, उनको धारण किये हुए [असि] हैं। (वरुणस्य) उत्तम (ऋतसदनम्) पदार्थों का स्थान (असि) हैं। (वरुणस्य) उत्तम (ऋतसदनम्) सत्यरूपी बोधों के स्थान को (आसीद) अच्छे प्रकार प्राप्त कराते हैं, इससे आपका आश्रय हम लोग करते हैं॥ *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुवा]* ॥ १ ॥

जो (वरुणस्य) जगत् का (उत्तम्भनम्) धारण करने वाला (असि) है। जो (वरुणस्य) वायु के (स्कम्भसर्जनी) आधारों को उत्पन्न करने वा जो (वरुणस्य) सूर्य्य के (ऋतसदनी) जलों का गमनागमन कराने वाली क्रिया (स्थः) हैं उनका धारण करने [वाला (असि) है], तथा जो (वरुणस्य) उत्तम (ऋतसदनम्) सत्य पदार्थों का स्थानरूप (असि) है, वह (वरुणस्य) उत्तम (ऋतसदनम्) पदार्थों के स्थान को (आसीद) अच्छे प्रकार प्राप्त और धारण करता है, उसका उपयोग क्यों न करना चाहिये ॥ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ[2]]* ॥ २ ॥ ३६ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—कोई परमेश्वर के बिना सब जगत् के रचने वा धारण पालन और जानने को समर्थ नहीं हो सकता और कोई सूर्य्य के बिना भूमि आदि जगत् के प्रकाश और धारण करने को भी समर्थ नहीं हो सकता। इससे सब मनुष्यों को ईश्वर की उपासना और सूर्य्य का उपयोग करना चाहिये ॥ ३६ ॥

या ते धामानीत्यस्य गोतम ऋषिः। यज्ञो देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनरेतौ कीदृशावित्युपदिश्यते[3] ॥

या ते धामा॑नि ह॒विषा॒ यज॑न्ति॒ ता ते॒ विश्वा॑ परि॒भूर॑स्तु य॒ज्ञम्।
ग॒य॒स्फानः॑ प्र॒तर॑णः सु॒वीरोऽवी॑रहा॒ प्र च॑रा सोम॒ दुर्या॑न् ॥ ३७ ॥

या। ते॒। धामा॑नि। ह॒विषा॑। यज॑न्ति। ता। ते॒। विश्वा॑। प॒रि॒भूरिति॑ परि॒ऽभूः। अ॒स्तु॒। य॒ज्ञम्॥ ग॒य॒स्फान॒ इति॑ गय॒ऽस्फानः॑। प्र॒तर॑ण॒ इति॑ प्र॒ऽतर॑णः। सु॒वीर॒ इति॑ सु॒ऽवीरः॑। अवी॑र॒हेत्यवी॑रऽहा। प्र। च॒र॒। सो॒म॒। दुर्या॑न् ॥३७॥

पदार्थः—(या) यानि। अत्र सर्वत्र शेश्छन्दसि० [अ० ६।१।७०] इति शेर्लोपः। (ते) तव, तस्य वा। (धामानि) अधिकरणानि द्रव्याणि। (हविषा) ग्राह्येण दातव्येन पदार्थेन, साधकेन

1 ईश्वर और सूर्य सब कार्यों के साधक हैं, यह दर्शाते हैं—
2 अन्वय में आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थों का निर्देश है। अन्वय तथा सं० पदार्थ से तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ समझ लेना चाहिये ॥ ३६ ॥
3 पूर्वोक्तमर्थं द्रढयति—

वा। (यजन्ति) पूजयन्ति, संगमयन्ति वा। (ता) तानि। (ते) तव, तस्य वा। (विश्वा) सर्वाणि। (परिभूः) परितः सर्वतो भवतीति। (अस्तु) भवतु। (यज्ञम्) यष्टुमर्हम्। (गयस्फानः) गयानामपत्यधनगृहाणां स्फानो वर्धयिता। गय इत्यपत्यनामसु पठितम्। निघ० २।२। धननामसु। निघ० २।१०। गृहनामसु च। निघ० ३।४। (प्रतरणः) प्रतरति दुःखानि येन सः। (सुवीरः) शोभना वीरा यस्मिन् सः। (अवीरहा) अवीरान् कातरान् मनुष्यान् हन्ति येन सः। अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३।३।११३। भा० वा०] इति करणे क्विप्। (प्रचर) विजानीह्यनुतिष्ठ। (सोम) सोमविद्यासम्पादक विद्वन्! (दुर्यान्) गृहाणि। दुर्या इति गृहनामसु पठितम्। निघ० ३।४॥ अयं मन्त्रः शत० ३।३।४। ३० व्याख्यातः ॥३७॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर! यथा विद्वांसो या यानि ते तव धामानि हविषा यजन्ति, तथा ता तानि विश्वा सर्वाणि वयमपि यजेमैतेषां यथा यस्ते तव गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा परिभूर्यज्ञः [सुख] प्रदोऽस्ति, तथा स भवत्कृपयाऽस्मभ्यमपि सुखकार्य्यस्तु। हे सोम विद्वन्! यथा वयमेतं यज्ञमनुष्ठाय गृहेषु प्रचरेम विजानीयामानुतिष्ठेम, तथा त्वमप्येतं, दुर्य्यान् गृहाणि प्रचर विजानीह्यनुतिष्ठ[1] ॥ ३७ ॥

अत्र [2]श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ ॥

भावार्थः—यथा विद्वांस ईश्वरे प्रीतिं संसारे यज्ञानुष्ठानं कुर्वन्ति तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयम् ॥३७॥

अस्मिन्नध्याये शिल्पविद्या, वृष्टिपवित्रतासम्पादनं, विदुषां संगः, यज्ञानुष्ठानम्, उत्साहादिप्रापणं, युद्धकरणं, शिल्पविद्यास्तुतिः, यज्ञगुणवर्णनं, सत्यव्रतधारणं, जलाग्न्योर्गुणवर्णनं, पुनर्जन्मकथनम्, ईश्वरप्रार्थनं, यज्ञानुष्ठानं, मातापित्रादेः पुत्रादिनाऽनुकरणं, यज्ञव्याख्या, दिव्यधीप्रापणं, परमेश्वरार्चनं, सूर्य्यगुणवर्णनं, पदार्थक्रयविक्रयोपदेशः, मित्रत्वसम्पादनं, धर्ममार्गे प्रचारकरणं, परमेश्वरसूर्य्यगुणप्रकाशनं, चोरादिनिवारणम्, ईश्वरसूर्य्यादिगुणवर्णनं, यज्ञफलं चेत्युक्तमत एतदुक्तार्थानां तृतीयाध्यायार्थेन सह संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

अयमप्यध्याय उवटमहीधरादिभिरन्यथैव व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(धामानि) सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४। १४५) इति मनिन्प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(यजन्ति) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघाते प्राप्ते यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८। १। ६६) इति निघातप्रतिषेधः ॥

(परिभूः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तः ॥

(गयस्फानः) 'स्फायी ओप्यायी वृद्धौ' इति स्फायी धातोः करणाधिकरणयोश्च (अ० ३। ३। ११७) इति ल्युट्, छान्दसो यकारलोपः। कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३। ३। ११३) इति कर्त्तरि। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन 'स्फा' उदात्तः ॥

(प्रतरणः) करणाधिकरणयोश्च (अ० ३। ३। ११७) इति करणे ल्युट्। पूर्ववदेव लिति (अ० ६। १। १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वे 'त' दात्तः ॥

(सुवीरः) पूर्वं यजुः ३।२७ व्याख्यातः ॥

(अवीरहा) न वीरोऽवीरः। तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्यु० (अ० ६। २। २) इत्यनेन अव्यये नञ्कुनिपातानाम् इति वचनात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तत्वम्। ततो गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वे प्राप्ते दासीभारादीनामिति वक्तव्यम् (अ० ६। २। ४२ भा० वा०) इति वचनादाद्युदात्तत्वम् ॥ पदकाराणामनुरोधादेषा व्युत्पत्तिः प्रदर्शितेति मन्तव्यम् ॥

पदकाराः 'अवीर-हा' इत्येवमवगृह्णन्ति, भाष्यकाराश्च अहन्ता वीराणाम्' इत्यर्थं कुर्वन्ति। काऽत्र प्रतिपत्तिरिति य० ४। ३४ पृ० ४१२ विवरण उक्तं तत एव द्रष्टव्यम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 अध्यात्मपरो ऽत्रान्वयः। श्लेषालङ्कारेणापरावप्यर्थावूहनीयाविति सूचितम्। त्रिविधोऽर्थः पदार्थतोऽप्यूहनीयः ॥

2 श्लेषार्थस्तूहनीयः ॥ १० ॥

इति श्रीमत् [परमहंस] परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतमहाविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः पूर्त्तिमगमत् ॥ ४ ॥

फिर ये कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! जैसे विद्वान् लोग (या) जिन (ते) आप के (धामानि) स्थानों को (हविषा) देने लेने योग्य द्रव्यों से (यजन्ति) सत्कारपूर्वक ग्रहण करते हैं, वैसे हमलोग भी (ता) उन (विश्वा) सभों को ग्रहण करें। जैसे (ते) आपका वह यज्ञ विद्वानों के लिये (गयस्फानः) अपत्य धन और घरों के बढ़ाने (प्रतरणः) दुःखों से पार करने (सुवीरः) उत्तम वीरों का योग कराने (अवीरहा) कायर दरिद्रतायुक्त अवीर अर्थात् पुरुषार्थरहित मनुष्य और शत्रुओं को मारने तथा (परिभूः) सब प्रकार से सुख करानेवाला है, वैसे वह आपकी कृपा से हम लोगों के लिये (अस्तु) हो‡। हे (सोम) सोमविद्या को सम्पादन करने वाले विद्वन् ! जैसे हम लोग इस [(यज्ञम्)] यज्ञ को करके घरों में आनन्द करें, जानें, इसमें कर्म करें, वैसे तू भी इसको करके (दुर्य्यान्) घरों में (प्रचर) सुख का प्रचार कर, जान, और अनुष्ठान कर[2] ॥ ३७ ॥

इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं ।

भावार्थः—जैसे विद्वान् लोग ईश्वर में प्रीति, संसार में यज्ञ के अनुष्ठान को करते हैं, वैसा ही सब मनुष्यों को करना उचित है ॥ ३७ ॥

इस अध्याय में शिल्पविद्या, वृष्टि की पवित्रता का संपादन, विद्वानों का संग, यज्ञ का अनुष्ठान, उत्साह आदि की प्राप्ति, [युद्ध का करना,] शिल्पविद्या की स्तुति, यज्ञ के गुणों का वर्णन, सत्यव्रत का धारण, अग्नि जल के गुणों का वर्णन, पुनर्जन्म का कथन, ईश्वर की प्रार्थना, यज्ञानुष्ठान,† पुत्रादिकों द्वारा माता पिता का अनुकरण, यज्ञ की व्याख्या, दिव्य बुद्धि की प्राप्ति, परमेश्वर का अर्चन, सूर्य्य गुण वर्णन, पदार्थों के क्रय विक्रय का उपदेश, मित्रता करना, धर्म मार्ग में प्रचार करना, परमेश्वर वा सूर्य्य के गुणों का प्रकाश, चोर आदि का निवारण, ईश्वर सूर्य्यादि गुण वर्णन और यज्ञ का फल कहा है, इससे इस अध्यायार्थ की तीसरे अध्याय के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

उवट और महीधर आदि ने इस अध्याय का भी शब्दार्थ विरुद्ध ही वर्णन किया है ॥

इति श्रीमत् [परमहंस] परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतमहाविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥ ४ ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः

---

१ पूर्वोक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं—

२ अन्वय यहां अध्यात्मपरक है, श्लेषालङ्कार से शेष दोनों अर्थों की ऊहा कर लेनी चाहिये, ऐसा विदित हो रहा है ॥ सं० पदार्थ से त्रिविध अर्थ की ऊहा कर लेनी चाहिये ॥ ३७ ॥

इति यजुर्वेदभाष्यविवरणे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

‡ इतोऽग्रे 'वा जिसको विद्वान् लोग (यजन्ति) यजन करते हैं, उस (यज्ञम्) यज्ञ को हम लोग भी करें' इति अ० मुद्रितादौ व्यर्थः पाठः । स च क. कोशस्य भूतपूर्वस्य संस्कृतस्यानुवादः प्रतिभाति ॥

† 'माता पिता और पुत्रादिकों का आपस में अनुकरण' इति पाठः अ० मु०ग. कोशे चास्ति । क. कोशे तु स्वल्पभेदेनास्ति ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अब चौथे अध्याय की पूर्ति के पश्चात् पांचवें अध्याय के भाष्य का आरम्भ किया जाता है ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ऽआ सु॑व ॥ १ ॥

अग्नेस्तनूरित्यस्य गोतम ऋषिः । विष्णुर्देवता । स्वराड् ब्राह्मीबृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ किमर्थो यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते[1] ॥

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे॒ त्वाऽति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ऽग्नये॑ त्वा रायस्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा ॥ १ ॥

अ॒ग्नेः । त॒नूः । अ॒सि॒ । विष्ण॑वे । त्वा॒ । सोम॑स्य । त॒नूः । अ॒सि॒ । विष्ण॑वे । त्वा॒ । अति॑थेः । आ॒ति॒थ्यम् । अ॒सि॒ । विष्ण॑वे । त्वा॒ । श्ये॒नाय॑ । त्वा॒ । सो॒म॒ऽभृत॒ इति॑ सोम॒ऽभृते॑ । विष्ण॑वे । त्वा॒ । अ॒ग्नये॑ । त्वा॒ । रा॒य॒स्पो॒ष॒द इति॑ रायस्पोष॒ऽदे । विष्ण॑वे । त्वा॒ ॥ १ ॥

पदार्थः—(अग्नेः) ❀ प्रसिद्धरूपस्य । (तनूः) शरीरवत् । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (विष्णवे[2]) यज्ञानुष्ठानाय । (त्वा) तद्धविः । (सोमस्य) जगत्युत्पन्नस्य पदार्थसमूहस्य, रसस्य वा । (तनूः) विस्तारकम् । (असि) भवति । (विष्णवे) व्यापनशीलस्य वायोश्च शुद्धये । (त्वा) तां सामग्रीम् । (अतिथेः) अविद्यमानतिथेर्विदुषः । (आतिथ्यम्) यदतिथेर्भावः सत्काराख्यं कर्म वा । (असि) वर्त्तते तत् । (विष्णवे) व्याप्तिशीलाय विज्ञानप्राप्तिलक्षणाय वा यज्ञाय । (त्वा) तद्यज्ञसाधनम् । (श्येनाय) श्येनवदितस्ततः सद्योगमनाय । (त्वा) तद्भवनं कर्म । (सोमभृते) यः सोमान् बिभर्त्ति तस्मै यजमानाय । (विष्णवे) सर्वविद्याकर्मव्यापनस्वभावाय । (त्वा) तदुत्तमं सुखम् । (अग्नये) पावकवर्द्धनाय । (त्वा) तदिन्धनादिकं वस्तु । (रायस्पोषदे) यो रायो विद्याधनसमूहस्य पोषं पुष्टिं ददाति तस्मै । (विष्णवे) सर्वसद्गुणविद्याकर्मव्याप्तये । (त्वा) तामेतां क्रियाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ४ । १ । ९–१४ व्याख्यातः ॥ १ ॥

---

1 पूर्वस्मिन्नध्याये शिल्पविद्यादिरूपं यज्ञं तत्फलं चोपवर्ण्य यज्ञफलं सामान्यतयोपदिशति—

2 यो वै विष्णुः स यज्ञः ॥ श० ५ । २ । ३ । ६ ॥ गो० उ० १ । १२ ॥

❀ इतः पूर्वं 'विद्युत्' इत्यसम्बद्धः सार्वत्रिकः पाठः ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथाऽहं यद्धविरग्नेस्तनूरसि भवति त्वा तद् विष्णवे स्वीकरोमि। या सोमस्य [तनूः] सामग्र्यसि भवति त्वा तां विष्णव ❀ उपयुञ्जे। यदतिथेरातिथ्यमसि वर्त्तते त्वा तद् विष्णवे परिगृह्णामि। यत् [श्येनाय] श्येनवच्छीघ्रगमनाय प्रवर्त्तते त्वा तदग्न्यादिषु प्रक्षिपामि। यत्कर्म विष्णवे सोमभृते वर्त्तते त्वा तदाददे, यदग्नये बरीवृत्यते त्वा तत्स्वीकरोमि। यद् रायस्पोषदे विष्णवे † समर्थमस्ति त्वा तत् संगृह्णामि, तथैवैतत् सर्वं यूयमपि सेवध्वम्॥ १॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैरेतत्फलप्राप्तये त्रिविधो यज्ञो नित्यमनुष्ठेय इति[२]॥ १॥

किस २ प्रयोजन के लिए यज्ञ का अनुष्ठान करना योग्य है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[३]॥

पदार्थः[४]—हे मनुष्यो ! ‡ जैसे मैं जो हवि (अग्नेः) ⟮⟯ प्रसिद्ध रूप अग्नि के (तनूः) शरीर के समान (असि) है, (त्वा) उसको (विष्णवे) यज्ञ की सिद्धि के लिये स्वीकार करता हूँ। जो (सोमस्य) जगत् में उत्पन्न हुए पदार्थसमूह [वा रस] की (तनूः) विस्तारक सामग्री (असि) है, (त्वा) उसको (विष्णवे) वायु की शुद्धि के लिये उपयोग करता हूँ। जो (अतिथेः) संन्यासी आदिका (आतिथ्यम्) अतिथिपन वा उनकी सेवारूप कर्म (असि) है, (त्वा) उसको (विष्णवे) [व्याप्तिशील वा,] विज्ञान [रूप] यज्ञ की प्राप्ति के लिये ग्रहण करता हूँ। जो

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अतिथेः) पूर्वं यजुः ३। १ पृष्ठ २३९ व्याख्यातः॥

(आतिथ्यम्) अतिथिशब्दात् तस्य भाव इत्यस्मिन्नर्थे पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (अ० ५। १। १२८) इति पुरोहितादिगणस्याकृतिगणत्वात्करणाद् यक्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥ यद्वा अतिथेर्ञ्यः (अ० ५। ४। २६) इति तादर्थ्ये ञ्यः प्रत्ययः। नित्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसमन्तोदात्तत्वम्॥

(सोमभृतः) क्विप् च (अ० ३। २। ७६) इति क्विप् प्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तस्ततो विभक्तिरनुदात्ता॥

(रायस्पोषदे) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३। २। ७४) इति विच्प्रत्ययः। यद्वा क्विप् च (अ० ३। २। ७६) इति क्विप्। छान्दस० षष्ठ्या अलुक्। षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठ० (अ० ८। ३। ५३) इति सकारः। गतिकारकोपदा० (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। ततश्चतुर्थ्येकवचने आतो धातोः (अ० ६। ४। १४०) इत्याकारलोप उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तः॥

केचिद् राय इति ऊडिदंपदाद्यप्० (अ० ६। १। १७१) इत्याहुः। तदयुक्तम्। नह्यस्मिन् मन्त्रे 'रायः' इति पदमन्तोदात्तमस्ति। अपि च राय इत्यस्य पृथक्पदत्वमपि नास्ति सर्वानुदात्तत्वात्। पदकारा अप्येकमेवैतत् पदमिति मन्वते॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ त्रिविधार्थयोजनापरोऽत्रान्वयः, सं० पदार्थोऽपीति॥

२ अन्वयप्रतिपादित इति भावः॥ १॥

३ पूर्व अध्याय में शिल्पविद्यारूपी यज्ञ तथा उसके फल का निरूपण करके सामान्यतया यज्ञ का फल दर्शाते हैं—

४ अन्वय यहाँ तीनों प्रक्रियाओं में है, संस्कृतपदार्थ भी॥ १॥

❀ 'उपयुञ्जामि' इति कोशेषु अ० मु० चापपाठः॥

‡ इतोऽग्रे अ० मुद्रिते 'तुम लोग' इत्यसम्बद्धः पाठः॥

† 'समर्थकं' इति ग० अ० मु० पाठश्च॥

⟮⟯ इतः पूर्वं 'बिजली' इति अ० मुद्रिते व्यर्थः पाठः॥

(श्येनाय) श्येनपक्षी के समान शीघ्र *जाने के लिये है, (त्वा) उस द्रव्य को अग्नि आदि में छोड़ता हूँ। जो (विष्णवे) सब विद्या कर्मयुक्त (सोमभृते) सोमों को धारण करने वाले यजमान के लिये सुख है, (त्वा) उसको ग्रहण करता हूँ। जो (अग्नये) अग्नि बढ़ाने के लिये काष्ठ आदि है, (त्वा) उसको स्वीकार करता हूँ। जो (रायस्पोषदे [विद्यादि] धन की पुष्टि देने वा (विष्णवे) उत्तम गुण, कर्म, विद्या की व्याप्ति के लिये समर्थ पदार्थ है, (त्वा) उसको ग्रहण करता हूँ, वैसे इस सब का सेवन तुम भी किया करो ॥ १ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त फल की प्राप्ति के लिये तीन प्रकार के यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करें ॥ १ ॥

अग्नेर्जनित्रमित्यस्य गोतम ऋषिः। विष्णुर्यज्ञो देवता। पूर्वस्यार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥
गायत्रेत्युत्तरस्यार्ची त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनः स यज्ञः कीदृश इत्युपदिश्यते[1] ॥

अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थ उ॒र्वश्य॑स्या॒युर॑सि पु॒रूर॑वाऽअसि। गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि ॥ २ ॥

अ॒ग्नेः। ज॒नित्र॑म्। अ॒सि॒। वृष॑णौ। स्थः। उ॒र्वशी॑। अ॒सि॒। आ॒युः। अ॒सि॒। पु॒रूर॑वाः। अ॒सि॒ ॥ गा॒य॒त्रेण॑। त्वा॒। छन्द॑सा। म॒न्था॒मि॒। त्रैष्टु॑भेन। त्वा॒। छन्द॑सा। म॒न्था॒मि॒। जाग॑तेन। त्वा॒। छन्द॑सा। म॒न्था॒मि॒ ॥ २ ॥

पदार्थः—(अग्नेः) आग्नेयास्त्रादेः सिद्धिकरस्य पावकस्य। (जनित्रम्) जनकं हविः। (असि) भवति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (वृषणौ) वर्षयितारौ। (स्थः) भवतः। (उर्वशी) ययोरूणि बहूनि सुखान्यश्नुवते सा यज्ञक्रिया[2]। उर्वशीति पदनामसु पठितम्। निघ० ५। ५। उर्विति बहुनामसु पठितम्। निघ० ३। १। तस्मिन्नुपपदे 'अशूङ्'धातोः संपदादिभ्यः क्विप् [अ० ३। ३। १०८ भा० वा०] ततः † शार्ङ्गरवाद्यन्तर्गतत्वान्ङीन्। (असि) भवति। (आयुः) एति जीवनं येन तत्। (असि) वर्त्तते। (पुरूरवाः) पुरूणि बहूनि शास्त्राण्युपदिशति येनाध्ययनाध्यापनेन यज्ञेन सः। पुरूरवा इति पदनामसु पठितम्। निघ० ५। ४। पुरूरवाः। उ० ४। २३२। अयमनेन पुरूपपदाद् रुधातोरसिप्रत्ययान्तेन‡ निपातितः। (असि) भवति। (गायत्रेण) गायत्री [च्छन्द आदिरस्य] प्रगाथस्य तेन। (त्वा) तमग्निम्। (छन्दसा) चन्दन्त्यानन्दन्ति येन तेन। (मन्थामि) विलोडनादिक्रियया निष्पादयामि। (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् [छन्द आदिरस्य] प्रगाथस्य तेन। (त्वा) तं सोमाद्योषधीसमूहम्। (छन्दसा) सुखकारकेण। (मन्थामि)। (जागतेन) जगती [च्छन्द आदिरस्य] प्रगाथस्य तेन। (त्वा) तं सामग्रीसमूहं शत्रुदुःखसमूहं वा।

---

१ यज्ञस्वरूपमाह—

२ यौगिकत्वेनायमर्थोऽत्राभिप्रेतः ॥

केचन "उर्वशी काचिदप्सरोविशेषा इति निरुक्तशतपथब्राह्मणादिषु दर्शनादितिहासोऽभिलक्ष्यते" इत्याहुः। तन्न। "एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या" इति नियमात् (द्र० निरु० स्कन्द टी० भा० २ पृ० ७८)॥

प्रकृत उर्वशीस्वरूपविषये तु—

---

* 'जाने आने के लिये' इति ग. पाठः ॥

† आकृतिगणत्वादिति भावः।

‡ '...प्रत्ययान्तो निपातितः' इति युक्तः पाठः स्यात्।

(छन्दसा) सुखसंपादकेन। (मन्थामि) विलोड्य निवारयामि ॥ अयं मन्त्रः शत० ३।४।१।२०-२३ व्याख्यातः ॥ २॥

(१) "विद्युतो ज्योतिः..........." ऋ० ७। ३३। १०॥ स्पष्टम्।

(२) 'इडा' = 'गृणातु' = 'गृणाना' = 'उर्वशी' = वाक् इति सर्वेषां समानार्थतां पश्यामः। तद्यथा—

अभि न इळा यूथस्य माता
स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणाना
ऽभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः॥

ऋ० ५। ४१। १९॥

(३) अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुपशिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः। ऋ० १०। ९५। १७॥

एभिः प्रमाणैः 'उर्वशी' विद्युद् वाग् वेति सुव्यक्तम्, तथैव चाचार्यदयानन्दभाष्ये ऋ० ५। ४१। १९॥

(४) निरुक्तसमुच्चये पृ० ७० (निरु० समु० ४। १४)—

"नैरुक्तपक्षे तु—पुरूरवा मध्यमस्थानो वाय्वादीनामेकतमः। पुरु रौतीति पुरूरवाः, उर्वशी विद्युत्, उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमश्नुते दीप्यत इति उर्वशी। वर्षाकाले विद्युति विनष्टायां तया वियुक्तः स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं कुर्वन् विलपति"॥

(५) स्कन्द निरु० टी० भा० २ पृ० ३४३, ३४५ "निरुयपक्षे केचिद् उर्वशी विद्युद् वायुः पुरूरवा इति मन्यन्ते। सा च उरु अन्तरिक्षमश्नुते प्रभया"॥

"......नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युद् वसिष्ठो ऽप्याच्छादित उदकसंघातः, वसुनिमित्तत्वाद् वा वसुमत्तमः। मित्रावरुणावपि वाय्वादित्यौ, विश्वेदेवा रश्मयः"॥

एभिः प्रमाणैर्विद्युत्पर्याया 'उर्वशी' इति पश्यामः॥ 'रूपवती स्त्री' इत्यपि निरुक्तविविधनिर्वचनैर्योजनार्हम्। यत्तु यत्र तत्र 'अप्सरा' शब्दं दृष्ट्वा विभ्रमप्रदर्शनं, तदपि न, अप्सराशब्दस्याप्यन्यथावगमात्। तथा हि—

(क) "अप्सा इत्यपि वाप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवति, आदर्शनीयं व्यापनीयं वा स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः॥" निरु० ५। १३॥

(ख) "तस्य (अग्नेः) ओषधयोऽप्सरसः"। य० १८। ३८॥ श० ९। ४। १। ८॥
तस्य (चन्द्रमसः) नक्षत्राण्यप्सरसः।
य० १८। ४०॥ श० ९। ४। १। ९॥
तस्य (मनसः) ऋक्सामान्यप्सरसः।
य० १८। ४३॥ श० ९। ४। १। १२॥

(ग) "सूर्यस्य मरीचयो रश्मयः अप्सरसः" ॥ १॥
"चन्द्रमसः नक्षत्राण्यप्सरसः" ॥ २॥
"अप्सरसः अपः जलानि" ॥ ३॥
"अप्सरस ऋक्सामानि" ॥ ४॥
इति शत्रुघ्नाचार्यः॥

पृ० १५१-१५३॥

शेषं सर्वं विवरणभूमिकायामितिहासप्रकरणे द्रष्टव्यम्। एवं 'उर्वशी' शब्देन विद्युद्, वाग्, स्त्री वा सामान्येन ग्राह्या इति व्यक्तम्॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वृषणौ) 'वृष' धातोः कनिन् युवृषि० (उ० १। १५६) इत्यादिना कनिन् प्रत्ययः। वा षपूर्वस्य निगमे (अ० ६। ४। ९) इति दीर्घाभावः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(उर्वशी) क्विपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे स्त्रियां शार्ङ्गरवादेराकृतिगणत्वान् ङीनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६। २। १९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वे मध्योदात्तस्वरसिद्धिः॥

यद्वा उरुशब्दोपपदात् 'अशूङ् व्याप्तौ' 'वश कान्तौ' इत्येताभ्यां सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४। ११८) इति इन्प्रत्ययः। कृदिकारादक्तिनः (अ० ४। १। ४५ ग० सू०) इति पक्षे ङीष् छान्दसत्वादनुदात्तः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणेष्टस्वरसिद्धिः। वशपक्षे पृषोदरादित्वादुरुशब्दस्यान्त्योकारस्य लोपो द्रष्टव्यः॥

(पुरूरवाः) पुरूरवाः (उ० ४। २३२) इत्यसिप्रत्ययः, निपातनात् पूर्वपदस्य दीर्घत्वम्। गति-

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽहं यदग्नेर्जनित्रमसि भवति, यौ वृषणौ स्थो भवतो या उर्वश्यसि भवति, ❀ आयुरसि भवति, यः पुरूरवा असि भवति, त्वा तं गायत्रेण छन्दसा मन्थामि, त्वा तं त्रैष्टुभेन छन्दसा मन्थामि, त्वा तं जागतेन छन्दसा मन्थामि, तथैव यूयमप्येतत्सर्वमनुष्ठायैतानि निष्पादयत ॥ २ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैरेवं रीत्योक्तेन † सेवितेन यज्ञेन परोपकारकरणं सम्पादनीयम्[3] ॥ २ ॥

फिर वह यज्ञ कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो ! जैसे मैं जो (अग्नेः) आग्नेय अस्त्रादि की सिद्धि करनेहारे अग्नि के (जनित्रम्) उत्पन्न करनेवाला हवि (असि) है, (वृषणौ) जो वर्षा करानेवाले सूर्य और वायु (स्थः) हैं, जो (उर्वशी) बहुत सुखों के प्राप्त करानेवाली [यज्ञ] क्रिया (असि) है, जो (आयुः) जीवन (असि) है, जो (पुरूरवाः) बहुत शास्त्रों के उपदेश करने का निमित्त (असि) है, (त्वा) उस अग्नि [को] (गायत्रेण) गायत्री (छन्दसा) आनन्दकारक स्वच्छन्द क्रिया से (मन्थामि) विलोडन करता हूँ । (त्वा) उस सोम आदि ओषधी

कारकोप० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपद-प्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वे, पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४ । २२७) इत्यनुवृत्तौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे वा प्राप्ते निपातनादेव उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

यत्तु ऋग्भाष्ये (१ । ३१ । ४) रुशब्दे अस्मादौणादिके असुनि······' इति सायणेनोक्तं, तदयुक्तम् । नहि पुरूरवाः (उ० ४ । २३२) इत्युणादिसूत्रे 'असुन्' प्रत्ययोऽनुवर्त्तते, अपि तु 'असिः' एव । असुन् प्रत्ययस्य मिथुने ऽसिः पूर्ववच्च सर्वम् (उ० ४ । २२३) इत्यतः प्रागेव निवृत्तत्वात्, सर्वे वृत्तिकारा अपि तथैव प्रतिपद्यन्ते ॥ तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये (तै० १ । ३ । ७ । १) भट्टभास्करः, निघण्टुभाष्ये च देवराजः (पृ० ४८२) 'असुन्' प्रत्ययान्तं व्याचक्षाणावपि तथैव प्रत्युक्तौ वेदितव्यौ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ त्रिविधोऽप्यर्थोऽन्वये पदार्थे चावबोध्यः ॥

२ पूर्वमन्त्रेवान्वये यदुक्तं तदिति भावः ॥

३ अत्र च शतपथब्राह्मणम्—"अथाधरारणिं निदधाति उर्वश्यसीत्यथोत्तरारण्याऽऽज्यविलापनीमुपस्पृशत्यायुरसीति तामभिनिदधाति पुरूरवा असीति । उर्वशी वाप्सराः पुरूरवाः पतिः·····।" श० ३ । ४ । १ । २२ ॥ उर्वशीरूपेणारणिनिरूपणमत्रेति सुव्यक्तम् । अग्रे 'वा' इति वचनान्निरुक्तवदत्रापीतिहासपक्षः प्रदर्शितो भवति, नात्र कस्यचिद् व्यक्तिविशेषस्य वर्णनमिति सर्वसन्दर्भस्याशयः ॥ २ ॥

४ अब यज्ञ का स्वरूप दर्शाते हैं—

५ यौगिक प्रक्रिया के आधार पर 'उर्वशी' शब्द से यह अर्थ लिया गया है ॥

कई महानुभावों का कहना है कि निरुक्त तथा शतपथादि ब्राह्मणों के प्रमाण से 'उर्वशी' अप्सरा विशेष का नाम है ॥

इस विषय में निरुक्तादि का क्या अभिमत है, सो आचार्यस्कन्दस्वामी कृत निरुक्त की टीका भा० २ पृ० ७८ में देखें । वहाँ स्पष्ट लिखा है कि केवल देवापि और शन्तनु वाले मन्त्र में ही नहीं, अपितु जिन मन्त्रों में भी आख्यान (इतिहास) प्रतीत होता है, उन सबके अर्थ की यजमान वा (प्रवाह से) नित्य पदार्थों (अग्नि, वायु आदि प्राकृतिक तत्त्वों) में योजना करनी चाहिये ॥ इसी के अनुसार 'उर्वशी' का अर्थ स्पष्ट विद्युत् किया गया है । (देखो निरु० टी० भाग २ पृ० ३४३-३४५) ॥

इस प्रकार समस्त ऐतिहासिक स्थलों की योजना करनी चाहिये, ऐसा उपर्युक्त वचन का अर्थ है ।

❀ 'आयुरसि भवति' इति पाठः क. ख. हस्तलेखयोर्विद्यमानोऽपि प्रमादात् त्यक्तः ॥

† 'सेवितेन' इति क. पाठः, ग. कोशे नास्ति ॥

समूह [को] (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् (छन्दसा) छन्द से (मन्थामि) विलोडन करता हूँ और (त्वा) उस शत्रु, दुःखसमूह को (जागतेन) जगती (छन्दसा) छन्द से (मन्थामि) ताड़न करके निवारण करता हूँ, वैसे ही तुम भी किया करो[1] ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को योग्य है कि इस प्रकार की रीति से प्रतिपादन वा सेवन किये हुए यज्ञ से दूसरे मनुष्यों के लिये परोपकार करें ॥ २ ॥

पाठकों को विदित रहे कि आचार्यदयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी इसी प्रकार योजना की गई है ॥

प्रकृत 'उर्वशी' के विषय में—

(क) ऋ० ७ । ३३ । १० में 'उर्वशी' को 'विद्युतो ज्योतिः' विद्युत् की ज्योतिः कहा है ॥

(ख) ऋ० ५ । ४१ । १९ में 'उर्वशी' के लिये 'गृणातु' (गॄ शब्दे) का निर्देश होने से वाक् अर्थ है ॥

(ग) निरुक्तसमुच्चय ४ । १४ में 'उर्वशी' को विद्युत् बतलाया है ॥

(घ) स्कन्द नि० टी० भा० २ पृ० ३४३-३४५ में 'उर्वशी' का अर्थ विद्युत् दर्शाया गया है ॥

इन उपर्युक्त प्रमाणों से 'उर्वशी' का अर्थ विद्युत् तथा वाक् स्पष्ट है। यह भी विदित रहे कि इस प्रकरण में 'पुरूरवाः' का अर्थ स्कन्द नि० टी० तथा निरुक्तसमुच्चय में वायु तथा इन्द्र किया गया है ॥

निरुक्त में कहे निर्वचनों के आधार पर 'रूपवती स्त्रीसामान्य' भी 'उर्वशी' शब्द का अर्थ है। 'अप्सरा' शब्द को देख कर भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि—

(क) नि० ५ । १३ में रूपवती या दर्शनीया को अप्सरा कहा है, जो कोई भी हो सकती है ॥

(ख) य० १८ । ३८ में 'अप्सरा' अग्निगुणप्रधान औषधियों का नाम कहा है। य० १८ । ४० में नक्षत्रों का नाम अप्सरा कहा गया है। य० १८ । ४३ में ऋक् और साम को अप्सरा कहा है।

(ग) शत्रुघ्नाचार्य की मन्त्रार्थदीपिका पृ० १५१-१५३ में भी सूर्य की रश्मियों, चन्द्रमा, नक्षत्रों, पवित्र जलों तथा ऋक् और साम को 'अप्सरा' कहा है ॥

इस प्रकार 'उर्वशी' शब्द से स्त्री, विद्युत् अथवा सामान्यतया किसी भी रूपवती का ग्रहण है, यह बात सर्वथा स्पष्ट है ॥

शतपथकार ने इस मन्त्र की व्याख्या में 'उर्वशी' और 'पुरूरवाः' का अर्थ उत्तरारणि और अधरारणि (जिन से अग्निमन्थन होता है) किया है ॥

इतिहासविषय की विवेचना इसी विवरण की भूमिका में देखें ॥

१ तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ अन्वय तथा सं० पदार्थ से जान लेना चाहिये ॥ २ ॥

विशेष सूचना—तीनों प्रक्रियाओं में अर्थ की योजना कहीं २ तो संस्कृत अन्वय से ही स्पष्ट विदित हो जाती है, कहीं २ संस्कृतपदार्थ से। प्रायः संस्कृतपदार्थ से स्पष्ट या अस्पष्ट सब प्रक्रियाओं में अर्थ की प्रतीति निरन्तर होती है। यह दृष्टि २ की बात है। टिप्पणी में विस्तार के भय से आगे हम भावार्थ में इस टिप्पणी को नहीं देंगे। संस्कृत अन्वय में भी जहाँ कुछ अधिक अस्पष्टता प्रतीत होगी, वहीं दर्शाने का यत्न करेंगे। विज्ञ पाठक इस विषय में हमारे यहाँ तक के विवरण से स्वयं तीनों अर्थों की ऊहा कर सकेंगे, ऐसा हमारा विचार है ॥

सम्पादक

भवतन्न इत्यस्य गोतम ऋषिः । यज्ञो देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

यजमानयज्ञसम्पादकौ कीदृशौ भवेतामित्युपदिश्यते[1] ॥

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ३ ॥

भवतम् । नः । समनसाविति सऽमनसौ । सचेतसाविति सऽचेतसौ । †अरेपसौ ॥ मा । यज्ञम् । हिꣳसिष्टम् । मा । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । जातवेदसाविति जातऽवेदसौ । शिवौ । भवतम् । अद्य । नः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(भवतम्) स्यातम् । (नः) अस्मभ्यम् । (समनसौ) समानं मनो विज्ञानं ययोस्तौ । (सचेतसौ) ‡समानं चेतस्संज्ञानं विज्ञापनं ययोस्तौ । (अरेपसौ[2]) अविद्यमानं रेपो व्यक्तं प्राकृतं[3] वचनं ययोरध्येत्रध्यापकयोस्तौ । (मा) निषेधार्थे । (यज्ञम्) अध्ययनाध्यापनाख्यं कर्म । (हिंसिष्टम्) हिंस्याताम् । (मा) निषेधार्थे । (यज्ञपतिम्) एतद्यज्ञपालयितारम् । (जातवेदसौ) जातं वेदो विद्या ययोस्तौ । (शिवौ) मङ्गलकारिणौ । (भवतम्) भवेतम् । (अद्य) अस्मिन् दिने । (नः) अस्मभ्यम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ४ । १ । २४ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः[4]—यावरेपसौ समनसौ सचेतसौ जातवेदसावध्येत्रध्यापकौ नोऽस्मभ्यमुपदेष्टारौ भवतं स्यातां[5], तौ यज्ञं यज्ञपतिं च मा हिंसिष्टं मा हिंस्याताम् । एतावद्य नोऽस्मभ्यं शिवौ मङ्गलकारिणौ भवतं स्याताम् ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्नैव कदाचिद् विद्याप्रचारायाध्ययनमध्यापनं च त्यक्तव्यं मङ्गलाचरणं च, अस्य सर्वोत्कृष्टत्वात्[6] ॥ ३ ॥

यजमान और यज्ञ की सिद्धि करनेवाले विद्वान् कैसे होने चाहियें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[7] ॥

---

१ कीदृग्भ्योऽनुष्ठातृभ्यो यज्ञः फलप्रद इति तदनुष्ठातृगुणानाह—

२ रप्यत उच्यत इति रेपः, अवद्यं वचो वा (उ०४ १९०)॥

३ प्राकृतं ग्राम्यम्, ग्राम्यप्रयोगरहिताविद्यर्थः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(भवतम्) अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(नः) बहुवचनस्य वस्नसौ (अ० ८ । १ । २१) इति 'नस्' आदेशोऽनुदात्तश्च ॥

(समनसौ, सचेतसौ) समानस्य च्छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु (अ० ६ । ३ । ८४) इति सादेशः । स च निपातनादन्तोदात्तः (द्र० काशिका ६ । ३ । ७८) । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अरेपसौ) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(जातवेदसौ) प्रथमार्थे सम्बोधनम्, तत आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः । अत्र यद् वक्तव्यं तद् यजुर्वेदभाष्यविवरणे अ० १ मं० १ पृ० १५, १६ द्रष्टव्यम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४ अन्वये पदार्थे चापि त्रिविधप्रक्रियोह्नीया ॥

५ संस्कृतपदार्थे "(भवतं) स्यातं ...... (भवतं) भवेतम्" इति, अन्वये तु 'भवतं स्याताम्' भवतं स्याताम्' इति चोभयथा दर्शनात् प्रथमपुरुषे मध्यमपुरुषे चोभयथा योजनीयाविति ध्येयम् ॥

६ अ०१२।६० दम्पतीदेवतात्वेन व्याख्यातो ऽयं मन्त्रः ॥ ३ ॥

७ किन गुणों से युक्त यज्ञ अनुष्ठान करनेवालों के लिये फलदायक होता है, अतः यज्ञ अनुष्ठान करने वालों के गुण बतलाते हैं—

---

† 'अरेपसाविय्यरेपसौ' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च प्रमादपाठः ॥

‡ 'समानं चेतसं ज्ञानं संज्ञापनं' इति ग. कोशेऽजमेरमुद्रिते च पाठः । अस्माभिस्तु क. पाठः स्वीकृतः ॥

पदार्थः—जो (अरेपसौ) प्राकृत मनुष्यों के भाषारूपी वचन से रहित (समनसौ) तुल्य विज्ञानयुक्त (सचेतसौ) तुल्य ज्ञान [या] ज्ञापनयुक्त (जातवेदसौ) वेद और उपविद्याओं को सिद्ध किये हुए पढ़ने पढ़ाने वाले विद्वान् (नः) हम लोगों के लिये उपदेश करनेवाले (भवतम्) होवें, जो (यज्ञम्) पढ़नेपढ़ानेरूप यज्ञ वा (यज्ञपतिम्) विद्याप्रद यज्ञ के पालन करनेवाले यजमान को (मा मा हिंसिष्टम्) न पीड़ित करें, वे (अद्य) आज (नः) हम लोगों के लिये (शिवौ) मङ्गल करनेवाले (भवतम्) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि विद्याप्रचार के लिये पढ़ना पढ़ाना वा मङ्गलाचरण [शुभकर्मानुष्ठान] को न छोड़ें, क्योंकि यही सर्वोत्तम कर्म है ॥ ३ ॥

अग्नावग्निरित्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अत्र महीधरेण विराडित्यशुद्धं व्याख्यातम् ॥

*विद्युद्विद्वदग्नी कीदृशावित्युपदिश्यते[२] ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऽ ऋषीणां पुत्रो ऽ अभिशस्तिपावा ।
स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा ॥ ४ ॥

अग्नौ । अग्निः । चरति । प्रविष्ट इति प्रऽविष्टः । ऋषीणाम् । पुत्रः । अभिशस्तिपावेत्यभिशस्तिऽपावा ॥ सः । नः । स्योनः । सुयजेति सुऽयजा । यज । इह । देवेभ्यः । हव्यम् । सदम् । अप्रयुच्छन्नित्यप्रऽयुच्छन् । स्वाहा॥४॥

पदार्थः—(अग्नौ[३]) विद्युति । (अग्निः[४]) विद्वान् मनुष्यः । (चरति) गच्छति । (प्रविष्टः) प्रवेशं कुर्वाणः सन् । (ऋषीणाम्[५]) वेदार्थविदाम् । (पुत्रः) सुशिक्षितोऽध्यापितः । (अभिशस्तिपावा) योऽभिशस्तेराभिमुख्याद्धिंसनात् † पाति रक्षति । (सः) विद्वान् । (नः) अस्मभ्यम् । (स्योनः)

१ अलङ्कारशास्त्रनिदर्शित ग्राम्यदोष से रहित ॥ ३ ॥

२ तत्र कीदृशोऽनुष्ठाताऽग्निप्रयोगकुशल इति तद्गुणानाह—

३ मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन् । तस्य तान्तस्य हृदयमच्छिन्दन् साऽशनिरभवत् ॥ तै० १ । १ । ३ । १२ ॥

४ अयं वाऽग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च ॥ श० ६।६।३।१५ ॥ अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत । श० १।४।२।२ ॥

५ ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः ॥ निरु० २ । ११ ॥

६ स्योन इति सुखनामसु पठितम् ॥ निघ० ३ । ६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रविष्टः) प्रादिसमासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तः ॥

(अभिशस्तिपावा) अभिशस्तिशब्द उपपदे आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३ । २ । ७४) इति वनिप्प्रत्ययः । स च पित्त्वादनुदात्तः । गतिकारको० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(सुयजा) सूपपदाद् यजेः अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३ । २ । ७५) इति विच् । तस्य सर्वापहारे गतिकारको० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण यकार उदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(सदम्) घञर्थे कविधानम्० (अ० ३ । ३ । ५८ ॥ भा० वा०) इति कः । वृषादीनाञ्च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तत्वम् ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

* 'प्रसिद्धविद्युदग्नी कीदृशावित्युपदिश्यते' इति क. पाठः ॥
† 'हिंसमानात्' इति ग. अ० सु० च पाठः । 'हिंसनात्' इति क. पाठः ॥

सुखकारी। (सुयजा) सुष्ठु यजन्ति यस्मिन् यज्ञे तेन। (यज) संगमयतु। (इह) जगति। (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा। (हव्यम्) दातुं ग्रहीतुं योग्यं पदार्थम्। (सदम्) सद्यते विज्ञायते प्राप्यते यत्तम्। (अप्रयुच्छन्) अप्रविवासयन्। (स्वाहा) सुहुतं हविरन्नम्॥ अयं मन्त्रः शत० ३।४।१। २५ व्याख्यातः॥ ४॥ ×

अन्वयः—योऽभिशस्तिपावाऽग्नौ प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रः स्योनः सुयजा अग्निर्विद्वानप्रयुच्छंश्चरति यो [नो] ऽस्मभ्यमिह देवेभ्यो हव्यं सदं स्वाहा सुहुतं हविरन्नादिकं प्रयच्छति प्रापयति, [स भवान् यज यजतु] तं वयं † संगच्छेमहि॥ ४॥

भावार्थः—मनुष्यैरिह योऽग्निः किल कार्य्यकारणभेदेन द्विधास्ति तत्र कार्य्यरूपेण ‡ सूर्य्यादौ कारणरूपा विद्युत् सर्वमूर्त्तद्रव्येषु प्रविष्टा सती वर्त्तते, § तस्यां च विज्ञानेन प्रविश्यैते सम्यक् संप्रयोज्य कार्य्योपयोगः कर्त्तव्यः॥ ४॥

विद्युत् और विद्वान् अग्नि कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है॥

पदार्थः—जो (अभिशस्तिपावा) सब प्रकार हिंसा करनेवालों से रहित (अग्नौ) विद्युत् अग्नि की विद्या में (प्रविष्टः) प्रवेश करने कराने [वाला] (ऋषीणाम्) वेदादि शास्त्रों के शब्द अर्थ और संबन्धों को यथावत् जनानेवालों का (पुत्रः) ¶ पढ़ाया हुआ (स्योनः) सर्वथा सुखकारी (सुयजा) विद्याओं को अच्छी प्रकार प्रत्यक्ष करानेहारे [यज्ञ के द्वारा] ◊ (अग्निः) विद्वान् अध्यापक (अप्रयुच्छन्) प्रमाद रहित (चरति) [आचरण करता है] जो (नः) हम लोगों के लिये (इह) इस संसार में (देवेभ्यः) विद्वान् वा दिव्य गुणों से (हव्यम्) लेने देने योग्य पदार्थ वा (सदम्) ज्ञान और (स्वाहा) हवन करने योग्य उत्तम अन्नादि को प्राप्त कराता है। (सः) सो आप (यज) सब विद्याओं को प्राप्त कराइये [उस आप को हम प्राप्त होवें]॥ ४॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो अग्नि कार्य्य कारण के भेद से दो प्रकार का निश्चित [है,] अर्थात् जो कार्यरूप से सूर्य्यादि और कारणरूप से विद्युत् अग्नि सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों में प्रवेश कर रहा है, ※ उसको विज्ञान के द्वारा जानकर कार्यकारण रूप दोनों अग्नियों का संप्रयोग कर कार्य्यों में उपयोग करना चाहिये॥ ४॥

आपतये त्वेत्यस्य गोतम ऋषिः। विद्युद् देवता। पूर्वस्यार्ष्युष्णिक् छन्दः ऋषभः स्वरः॥ अनाधृष्टमित्यग्रस्य भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

---

१ अध्यात्मपरोऽत्रार्थः प्रदर्शितः। त्रिविधोऽर्थः पदार्थतोऽवगन्तव्यः॥

२ उसमें अनुष्ठान करनेवालों में अग्नि का यथावत् प्रयोग करने में कौन कुशल है, अतः उसके गुणों का निरूपण करते हैं॥ ४॥

× अस्मिन् मन्त्रे उभयत्र पदार्थे लेखकप्रमादात् कश्चित् पाठो व्यस्त इति प्रतीमः। अस्याध्यायस्य स्वसंज्ञकहस्तलेखस्यानुपलम्भात् सम्यक् पाठनिर्णयो लेखकप्रमादश्च नावगन्तुं शक्यः। अयमेव हेतुरग्रेऽपि द्रष्टव्यः॥

† 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (अ० १।३।२९) इत्यत्र 'अकर्मकात्' पदमनुवर्तत इति साम्प्रतिकाः॥

‡ 'सूर्यादावग्नौ' इति ग० अ० मु० च पाठः॥ § 'तामिह विज्ञाय सम्यक् सम्प्रयोज्य' इति क. पाठः॥

¶ 'पढ़ाया हुआ' इति ग. पाठः, 'पढ़ा हुआ' इति अ० मुद्रिते प्रमादपाठः॥

◊ अत्र '(अग्निः) प्रकाशात्मा (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित अध्यापक विद्वान्' इति कोशेषु अ० मुद्रिते च पाठः॥

※ इतोऽग्रे "उसको इस संसार में विद्या से संप्रयोग करें" इति कोशेषु अ० मुद्रिते च पाठः। स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम्॥

मनुष्यैः किमर्थः परमात्मा प्रार्थनीयः सा विद्युच्च स्वीकार्येत्युपदिश्यते[1] ॥

आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय । अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपा ऽ अनभिशस्तेन्यमञ्जसा सत्यमुपगेषं स्विते मा धाः ॥ ५ ॥

आपतय † इत्याऽपतये । त्वा । परिपतय इति परिऽपतये । गृह्णामि । तनूनप्त्र इति तनूऽनप्त्रे । शाक्वराय । शक्वने । ओजिष्ठाय ॥ अनाधृष्टम् । असि । अनाधृष्यम् । देवानाम् । ओजः । अनभिशस्तीत्यनभिऽशस्ति । अभिशस्तिपा इत्यभिशस्तिऽपाः । अनभिशस्तेन्यमित्यनभिऽशस्तेन्यम् । अञ्जसा । सत्यम् । उप । गेषम् । स्वित इति सुऽइते । मा । धाः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(आपतये) समन्तात् पतिः पालको यस्मिंस्तस्मै । (त्वा) परमेश्वरं, विद्युतं वा । (परिपतये) परितः सर्वतः पतयो यस्मिंस्तस्मै । (गृह्णामि) स्वीकरोमि । (तनूनप्त्रे[2]) तनूर्देहान् नयन्ति[3] प्राप्नुवन्ति येन तस्मै । (शाक्वराय[4]) शक्तिजननाय । (शक्वने[5]) शक्तिमद्वीरसैन्यप्राप्तये । (ओजिष्ठाय) अतिशयेनौजो विद्यते यस्मिन् विद्याव्यवहारे तस्मै । (अनाधृष्टम्) यन्न धृष्यते ‡ तेजस्तत् । (असि) अस्ति । (अनाधृष्यम्) न केनाऽपि धर्षितुं योग्यम् । (देवानाम्) विदुषां पृथिव्यादीनां मध्ये वा । (ओजः[6]) पराक्रमकारि । (अनभिशस्ति) यन्नाभिशस्यतेऽभिहिंस्यते तत् । (अभिशस्तिपाः) योऽभिशस्तेर्हिंसनात् पाति रक्षति । (अनभिशस्तेन्यम्) यदनभिशस्तेऽविद्यमानहिंसने नयति तत् । (अञ्जसा) व्यक्तेन शत्रूणां * म्लेच्छनेन कान्त्या ज्ञापनेन वा । (सत्यम्) यथार्थम् । (उप) सामीप्ये । (गेषम्) प्राप्नुयाम् । इदं पदमवैयाकरणेन महीधरेण लेट्लकारस्य रूपमित्यशुद्धं[7] व्याख्यातम् । + (स्विते) सुष्ठु ईयते

१ अध्यात्मशिल्पादियज्ञेष्वीश्वरविद्युतौ किंप्रयोजनौ संग्राह्याविस्याकाङ्क्षायां सर्वशुभकार्यप्रेरकत्वादीश्वरं, शिल्पकार्यप्रयोजकत्वाच्च विद्युतं वर्णयति—

२ "अग्निरिति शाकपूणिः, ('विद्युत्' इत्याचार्यदयानन्दः) आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते । ततो अन्तरिक्षे ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते" ॥ निरु० ८ । ५ ॥

३ अत्र नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ० (उ० २।९५) इत्यादिसूत्रेण तृच्प्रत्ययान्तो निपात्यते । वृत्तिकारास्त्वत्र व्युत्पत्तिवैविध्यं प्रदर्शयन्ति । तद्यथा—'नयतेरीकारस्याकारो निपात्यते पुगागमश्चेति' दशपादीवृत्तिकारः । २ । ३ ॥ श्वेतवनवासी तु— नमनर्मकारस्य पकारमाह २ । ९६ ॥ भोजीयोणादावपि नमेः पश्च २ । १ । १४० ॥ सर्वानन्दोऽपि । उज्ज्वलदत्तभट्टोजिदीक्षितभानुजिदीक्षितक्षीरस्वामिनो नञ्पूर्वात् पातेर्निपातयन्ति । दुर्गसिंहोऽपि २ । ४२ ॥

४ 'शक्वरी' इति बाहुनाम ॥ निघ० २ । ४ ॥ तस्य भावः कर्म वा शाक्वरं तस्मै ॥

५ शक्नोतीति शक्वा, शकः क्वनिप् । शक्तिशाली वीरसेनापतिः ॥

६ वज्रो वा ओजः ॥ श० ८ । ४ । १ । २० ॥

७ अत्र तु महीधर आह—"उपगेषमुपगच्छेयम् । उपपूर्वाद् गायतेर्लेट्युत्तमैकवचने सिब्बहुलं लेटि (अ० ३ । १ । ३४) इति सिपि इडागमे लेटोऽडाटौ (अ० ३ । ४ । ९४) इत्यडागमे च रूपम्" ।
तदयुक्तम्—'उपगासम्' इति तु लेटि रूपं स्यात् । 'गै' अनिड् धातुः, तस्य सेट्त्वकल्पनात्, आतो लोप इटि च (अ० ६ । ४ । ६४) इत्यनेन आकारलोपस्य प्रापणादवद्यमेतदिति दिक् ॥

† 'इत्यापतये' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
‡ 'तेजस्तम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः । क. कोशे तु 'तेजस्तत्' इति सम्यक् पाठः ॥
* 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' इति पाठानुरोधात् 'म्लेच्छनेन' इत्यस्य स्थाने 'म्रक्षणेन' इति पाठो युक्तः स्यात् ॥
+ "(स्विते)……तस्मिन्" इति पाठः '(गेषम्) प्राप्नुयाम्' इत्यस्यानन्तरमासीत् ॥

प्राप्यते येन व्यवहारेण तस्मिन्। (मा) माम्। ※(धाः) धेहि दधाति वा। अत्र लडर्थे लुङडभावश्च॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ४। २। १०-१४ व्याख्यातः॥ ५॥

'उपगेषम्'रूपसिद्धिस्तु—आशिषि लिङि लुङि चोभयथा ऽपि सम्भवति। महाभाष्यकारेण लिङ्याशिष्यङ् (अ० ३। १। ८६ भाष्ये) इत्यत्र 'अञ्जसा सत्यमुपगेयम्' इति शाखाकृतस्वल्पभेदेन (उपगेषं स्थाने उपगेयं) अस्या एवानुपूर्व्याः प्रदर्शनाद् आशिषि लिङ्येतद् रूपमिति ध्वनितम्॥ अन्यत्र च मैत्रायणीसंहितायां (मै० सं० १। २। ७। पृ० १६) काठकसंहितायां (का० २। ८) चापि "अञ्जसा सत्यमुपागाम्" इति लुङि दर्शनाद् 'उपगेषम्' इति 'लुङि' अपि स्यादित्यवगन्तुं शक्यते॥

लिङि तु—'कै गै शब्दे' इति धातोराशिषि लिङि छन्दस्युभयथा (अ० ३। ४। ११७) इति सार्वधातुकत्वाद् 'अङ्'। आतो लोप इटि च (अ० ६। ४। ६४) इत्याकारस्य लोपेऽङोऽकाराद् यासुटः अतो येयः (अ० ७। २। ८०) इतीयादेशः, आर्द्धधातुकत्वात् सलोपाभावः, लोपो व्योर्वलि (अ० ६। १। ६६) इति यलोपः॥

लुङि च—उपपूर्वाद् 'इण्' धातोः इणो गा लुङि (अ० २। ४। ४५) इति गादेशः। आकारस्य इकारश्छान्दसः, गातिस्थाघुपाभूभ्यः० (अ० २। ४। ७७) इति सलोपोऽपि छान्दसव्यत्ययेनैवात्र न प्रवर्त्तत इति दिक्। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अ० ६। ४। ७५) इत्यडभावः॥

अत एव भट्टभास्करेणापि तै० सं० १। २। १०। २ भाष्ये पृ० १९७, १९८ लुङि लिङि चोभयथाऽपि सम्यक् प्रादर्शि। तत्र 'बहुलवचनाद्यलोपः' इति स्थाने तु लोपो व्योर्वलि (अ० ६। १। ६६) इत्येव साधीयान् स्यात्॥

"प्राप्नुयाम्, उपगच्छेयम्" इत्यादिस्त्वनेकार्थत्वाद् धातूनां, इण्गतावित्यस्यैतद् रूपमिति ध्येयम्॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आपतये परिपतये) अर्थप्रदर्शनं पदार्थे। व्युत्पत्तिस्तु—

आ समन्ताद् गतः प्राप्तः पतिः पालक आपतिः, परितः सर्वतो गतः प्राप्तः पतिः पालकः परिपतिः, तस्मै। तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमान० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तत्वम्॥

(तनूनप्त्रे) उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६। २। १४०) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरः। तनूशब्दः स्वतन्त्रः सर्वत्रान्तोदात्त एव दृश्यते, तनूनप्तृतनूनपात्शब्दयोस्तनूशब्द आद्युदात्तो दृश्यते। तस्य च वनस्पत्यादिषु निपातनादेवाद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम्। यत्तु काशिकाकारेण (अ० ६।२।१४०) तनूनपाच्छब्दे तनूशब्दस्यान्तोदात्तत्वं प्रतिपादितम्, तच्चिन्त्यम्, तादृशस्वरस्यानुपलम्भात्॥

(शाकराय)तस्येदम् (अ० ४। ३। १२०) इत्यण्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

'शक्लृ शक्तौ' (स्वा० प०) इत्येतस्माद् धातोः स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उ० ४। ११३), वनो र च (अ० ४। १। ७) इति ङीब्रौ। ततः तस्येदम् (अ० ४। ३। १२०) इति सामान्येन 'अण्'। छान्दसत्वान् ङीप्सन्नियोगेन रेफो न निवर्त्तत इति प्रत्ययस्वरेण पूर्ववदन्तोदात्तत्वम्॥

(शक्वने) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३। १। ७५) इति क्वनिपि पित्त्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः॥ यद्वा स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उ० ४। ११३) इति वनिप्, स्वरः पूर्ववत्॥

(ओजिष्ठाय) 'ओजस्'शब्दाद् अस्मायामेधास्रजो विनिः (अ० ५। २। १२१) इति विनिः। तदन्ताद् अतिशायने तमबिष्ठनौ (अ० ५। ३। ५५) इतीष्ठन् प्रत्ययः, विन्मतोर्लुक् (अ०५।३।६५) इति लुक्, ततः टेः (अ० ६।४।१५५) इति टिलोपे प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

(अनाधृष्टम्) नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥

(अनाधृष्यम्) आङ्पूर्वाद् धृषधातोः ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः (अ० ३। १। ११०) इति क्यप्।

※ '(धेहि) दधाति वा' इति अ० मुद्रिते पाठः। ग. कोशे तु '(धाः) धेहि दधाति वा' इति शुद्धः पाठः। स च प्रमादाद् भ्रष्ट इति स्पष्टम्॥

अन्वयः—अहं हे जगदीश्वर ! यतस्त्वमभिशस्तिपा असि तस्मात् त्वा त्वामापतये परिपतये शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय तनूनप्त्रे गृह्णामि, त्वं कृपया मा मां यद् ×देवानां विदुषां वा ऽनाधृष्टमनाधृष्यमनभिशस्त्यनभिशस्तेन्यमोजः सत्यम [स] स्ति तत् परिग्राहय स्विते धा [धेहि] यतोऽञ्जसा सत्यमुपगेषं प्राप्नुयामित्येकः ॥

अहं यदनाधृष्टमनाधृष्यमनभिशस्त्यनभिशस्तेन्यं देवानां सत्यमोजो वैद्युतं तेजोरूपाऽभिशस्तिपा विद्युद् [असि] या मा मां स्विते धा दधाति +याम् [अञ्जसा] ओजिष्ठायापतये परिपतये तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वने त्वा गृह्णामि यतस्तत्सत्यरूपं कारणमुपगेषं विजानीयामिति*द्वितीयः* ॥ ५ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—नहि मनुष्याणां‡ परमात्मविज्ञानेन विना सत्यं सुखं, ॐविद्युदादिविद्याक्रियाकौशलैर्विना सर्वं सांसारिकं सुखं च भवितुमर्हति, तस्मादेतत्सर्वं प्रयत्नेन कर्त्तव्यमिति ॥ ५ ॥

मनुष्यों को किस किस प्रयोजन के लिये परमात्मा की प्रार्थना [और] बिजली का स्वीकार करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

ततो नञ्समासः, अव्ययत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च (अ० ६ । २ । १६०) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

अत्र भट्टभास्करः—"ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः (अ० ३ । १ । ११०) इति क्यप्, ययतोश्चातदर्थे (अ० ६ । २ । १५६) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्" । [तै० सं० १ । २ । १० ॥ पृ० १६६] ॥ तदयुक्तम् । 'ययतोः' तद्धितप्रत्यययोर्ग्रहणात्, क्यपोऽग्रहणाच्च ॥

(अनभिशस्ति) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(अभिशस्तिपाः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः॥

(अनभिशस्तेन्यम्) अधिकरण उपपदे क्विप् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तः 'अनभिशस्तेनी' शब्दः । ततोऽमि उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इति स्वरितत्वे प्राप्ते छान्दसमन्तोदात्तत्वम् ॥

यद्वा अभिशसनं अभिशस्तं तच्चार्हतीति छान्दस 'एण्य'प्रत्ययः, नञो गुणप्रतिषेधे० (अ० ६ । २ । १५५) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्, तथा च भट्टभास्करः । छान्दसत्वस्यत्रापि स्वीकर्त्तव्यमेव भवति ॥

(अञ्जसा) अञ्जुधातोः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन्प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(गेषम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः, अवशिष्टं पदार्थविवरण उक्तम् ॥

(स्विते) सुप्रमानात् क्तः (अ० ६ ।२।१४५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(मा) त्वामौ द्वितीयायाः (अ० ८।१।२३) इति मादेशोऽनुदात्तश्च ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ श्लेषालङ्कारेणाध्यात्मिकाधिदैविकार्थौ प्रदर्शितौ, आधिदैविकान्तर्भूत एवाधियज्ञार्थोऽपि ॥

२ आध्यात्मिक तथा शिल्पादि यज्ञों में ईश्वर तथा विद्युत् का ग्रहण किस लिये है, यह दर्शाने के लिये सम्पूर्ण शुभकार्यों का प्रेरक होने से ईश्वर का, और सब शिल्प सम्बन्धी कामों का प्रयोजक होने से विद्युत् का निरूपण करते हैं—॥ ५ ॥

× 'वेदानाम्' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः । स च लेखकप्रमादपरः प्रतिभाति, मन्त्रे 'देवानाम्' पदस्य दर्शनात् ॥

+ इतोऽग्रे 'त्वा' इति पदं मुद्रितमासीत्, तदस्माभिः 'शक्वने' इत्यस्मादनन्तरं योग्ये स्थाने नीतम् । भाषापदार्थे तु तत्रैव दृश्यते ॥

‡ 'परमात्मा विज्ञानेन विना' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः ॥

ॐ 'न विद्युदादि०' इति ग. कोशे अ० मु० च पाठः ॥

पदार्थः—मैं, हे परमात्मन् ! जिससे आप [(अभिशस्तिपाः)] हिंसारूप कर्मों से अलग रहने और रखनेवाले हैं, इससे (त्वा) आपको (आपतये) सब प्रकार से स्वामी होने (परिपतये) सब ओर से रक्षा (शाक्कराय) सब सामर्थ्य की प्राप्ति (शक्मने) शूरवीरयुक्त सेना (ओजिष्ठाय) जिसमें सर्वोत्कृष्ट पराक्रम होता है, उस विद्या के होने और (तनूनप्त्रे) जिससे उत्तम शरीर होता है, उसके लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ । आप स्वकृपा से उस (देवानाम्) विद्वानों का (अनाधृष्टम्) जिसका अपमान कोई नहीं कर सकता, (अनाधृष्यम्) [जो] किसी के अपमान करने योग्य नहीं है, (अनभिशस्ति) किसी के हिंसा करने योग्य नहीं है (अनभिशस्तेन्यम्) अहिंसारूप धर्म की प्राप्ति कराने हारा (सत्यम्) अविनाशी (ओजः) तेज [(असि)] है, उसका ग्रहण कराके (स्विते) अच्छे प्रकार जिस व्यवहार में सब सुख प्राप्त होते हैं उसमें (मा) मुझको (धाः) धारण करें, कि जिससे [(अञ्जसा) सहजता से] सत्य व्यवहार को (उपगेषम्) जानकर करूं *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुआ]* ॥ १ ॥

मैं जो (अनाधृष्टम्) न हटाने (अनाधृष्यम्) न किसी से नष्ट करने (अनभिशस्ति) न हिंसा करने (अनभिशस्तेन्यम्) और हिंसारहित धर्म प्राप्त कराने योग्य (देवानाम्) विद्वान् वा पृथिवी आदिकों के मध्य में (सत्यम्) कारणरूप नित्य (ओजः) पराक्रमस्वरूप वाली (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा का निमित्तरूप बिजली (असि) है, जो (मा) मुझे (स्विते) उत्तम प्राप्त होने योग्य व्यवहार में (धाः) धारण करती है, [जो] (अञ्जसा) सहजता से (ओजिष्ठाय) अत्यन्त तेजस्वी (आपतये) अच्छे प्रकार पालन करने योग्य व्यवहार (परिपतये) जिसमें सब प्रकार पालन करने वाले होते हैं, (तनूनप्त्रे) जिससे उत्तम शरीरों को प्राप्त होते हैं (शाक्कराय) शक्ति के उत्पन्न करने और (शक्मने) शक्ति वाली वीर सेना की प्राप्ति के लिये है, (त्वा) उसको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ, कि जिससे उस सत्य कारणरूप पदार्थों को (उपगेषम्) जान सकूँ *[यह इस मन्त्र का दूसरा अर्थ हुआ]* ॥२॥५

[इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥]

भावार्थः—मनुष्यों को परमेश्वर के विज्ञान के बिना सत्य सुख और बिजली आदि विद्या और क्रिया-कुशलता के बिना संसार के सब सुख नहीं हो सकते, इस लिये यह कार्य्य पुरुषार्थ से सिद्ध करना चाहिये ॥ ५ ॥

अग्ने व्रतपा इत्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृशावित्युपदिश्यते[1] ॥

अग्ने॑ व्रतपा॒स्त्वे व्र॑तपा॒ या तव॑ त॒नूरि॒यꣳ सा मयि॒ यो मम॑ त॒नूरे॒षा सा त्वयि॑ ।
स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒र्मन्य॑ता॒मनु॒ तप॒स्तप॑स्पतिः ॥ ६ ॥

अग्ने॑ । व्र॒त॒पा॒ऽइति॑ व्रतऽपाः । त्वेऽइति॒ त्वे । व्र॒त॒पा॒ऽइति॑ व्रतऽपाः । या । तव॑ । त॒नूः । इ॒यम् । सा । मयि॑ । योऽइति॒ यो । मम॑ । त॒नूः । ए॒षा । सा । त्वयि॑ ॥ स॒ह । नौ॒ । व्र॒त॒प॒त॒ऽइति॑ व्रतऽपते । व्र॒तानि॑ । अनु॑ । मे॒ । दी॒क्षाम् । दी॒क्षाप॑ति॒रिति॑ दी॒क्षाऽप॑तिः । मन्य॑ताम् । अनु॑ । तप॑ः । * तप॑स्पतिः । तप॑ःपति॒रिति॒ तप॑ःऽपतिः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विज्ञानस्वरूप परब्रह्मन् ! विद्युद्वा । (व्रतपाः) व्रतानि सत्यभाषणादीनि पाति यस्माद् यया वा । (त्वे) त्वयि, तस्यां वा । (व्रतपाः) व्रतानि सुशीलादीनि[2] पाति येन यया वा । (या) वक्ष्यमाणा । (तव) भवतस्तस्या वा । (तनूः) विस्तृता व्याप्तिः । (इयम्) प्रत्यक्षा । (सा) प्रतिपादितपूर्वा । (मयि) मम मध्ये । (यो) या । अत्र *महीधरेण* या‡ उ इत्यशुद्धं व्याख्यातम्[3] †ओद-

१ पुनस्तदेव द्रढयति—

२ शीलनं शीलः, भावे घञ् । शोभनः शीलः सुशीलः ॥

३ महीधरेण य० ५ । ४० भाष्येऽप्यशुद्ध एव व्याख्यातः ॥

* उभयोः स्थाने 'तप॑स्पति॒रिति॒ तप॑ःऽपतिः' इत्येवाजमेरमुद्रिते पाठः, स चाशुद्धः ॥

‡ 'उ' इति अजमेरमुद्रिते नास्ति, क. पाठे विद्यते ॥ † 'ओदन्तोऽयं निपातः' इति क. पाठः, अ० मु० नास्ति ॥

न्तोऽयं निपातः । (मम) (तनूः) विस्तृतं शरीरं । (एषा) प्रत्यक्षा । (सा) उक्तपूर्वा । (त्वयि) जगदीश्वरे तस्यां वा । (सह) परस्परम् । (नौ) आवामावयोर्वा । (व्रतपते) व्रतानां वेदादिविद्यानां पालयितः, पालननिमित्ता वा । (व्रतानि) ब्रह्मचर्यादीनि । (अनु) पश्चादर्थे । (मे) मम । (दीक्षाम्) व्रतादेशम् । (दीक्षापतिः) + व्रतादेशानामुपदेशपालकः, रक्षणनिमित्ता वा । (मन्यताम्) स्वीकरोतु, स्वीकारयति वा । (अनु) आनुकूल्ये । (तपः) जितेन्द्रियत्वादिपुरःसरं धर्मानुष्ठानम् । (तपस्पतिः) तपसः पालयिता ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ४ । ३ । ९ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे अग्ने परमात्मन् [विद्युद् वा] व्रतपते सत्यधर्माचरणादिनियमपालनकारयितः‡ [त]न्निमित्तं वा यो भवान् सा वा [व्रतपाः] अस्ति त्वे त्वयि तस्यां वाऽहं व्रतपा अस्मि, येयं तव तस्या वा तनूरस्ति सा मयि वर्त्तते. या यैषा मम तनूरस्ति सा त्वयि तस्यां वा वर्त्तते, यानि तवास्या वा§ व्रतानि तानि मयि सन्तु यानि च ममोत्तमानि व्रतानि सन्ति तानि त्वयि तस्यां वा वर्त्तन्ताम्, यो भवानियं वा तपस्पतिरस्ति स सा वा मे मह्यं तपोऽनुमन्यतामनु ज्ञापयतु ज्ञापयति वा, यो भवानियं वा दीक्षापतिः स सा मे मह्यं दीक्षामनुमन्यतामनुज्ञापयत्वनुज्ञापयति वैवं हे अध्यापक त्वमहं चैतौ[२] विदित्वा [सह] परस्परं धार्मिकौ विद्वांसौ भवेव, यतो नावावयोर्विद्यावृद्धिः सततं भवेत् ॥ ६ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः[१]—मनुष्यैः परस्परं प्रेम्णोपकारबुद्ध्या परमेश्वरे विद्युति वा, स्वस्यान्येषां च पुरुषार्थेन व्याप्यव्यापकसम्बन्धविद्यां ज्ञात्वा, धर्मानुष्ठाने सततं प्रवर्त्तितव्यम् ॥ ६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(त्वे) सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति 'शे' आदेशः । एकादेशस्वरेणोदात्तनिवृत्तिस्वरेण वाऽऽद्युदात्तः ॥

(यो) निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्युदात्तः । ओत् (अ० १ । १ । १५) इति प्रगृह्यसंज्ञा । पदकारेणाप्यत्र प्रकृतिभावत्वेनैकपदत्वं प्रदर्शितम् । महीधरेण 'या उ' इति पदद्वय मत्वा व्याख्यातम् । तच्च पदकारविरोधादयुक्तमिति भाष्यकाराशयः ॥

(दीक्षापतिः, तपस्पतिः) पत्यावैश्वर्ये (अ० ६ । २ । १७) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । दीक्षाशब्दो गुरोश्च हलः (अ० ३ । ३ । १०३) इत्यङ्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः । टापैकादेशोऽपि एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तः ॥ 'तपस्' शब्दश्चासुनि नित्वादाद्युदात्तः ॥

(मन्यताम्) चादिलोपे विभाषा (अ०८।१।६३) इति निघातप्रतिषेधे लसार्वधातुकानुदात्तत्वे श्यनो नित्वान्नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(व्रतपाः) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इति पूर्वस्याविद्यमानत्वप्राप्तौ नामन्त्रिते समानाधिकरणे० (अ० ८ । १ । ७३) इति त्विद्यमानत्वे सर्वनिघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अन्वयेऽत्राध्यात्मिकाधिदैविकार्थौ प्रदर्श्येते । श्लेषालङ्कारेण त्रिविधोऽप्यर्थोऽवगन्तव्यः ॥

२ 'एतौ परमात्मविद्युतौ' इति भावः ॥

+ 'व्रतादेशानां रक्षकः' इति क. पाठः ॥

§ इतोऽग्रे 'अस्या वा' इत्यसम्बद्धोऽनावश्यकश्च पाठः ॥

‡ इतोऽग्रे 'या विद्युत्' इत्यसम्बद्धः पाठोऽनमेरमुद्रिते ॥

फिर वह परमात्मा और बिजली कैसी है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—जिस लिये हे (अग्ने) (व्रतपते) जगदीश्वर ! आप वा बिजली सत्यधर्मादिनियमों के (व्रतपाः) पालन करने वाले हैं, इस लिये (त्वे) उस आप वा बिजली में मैं (व्रतपाः) पूर्वोक्त व्रतों के पालन करनेवाली क्रियावाला होता हूँ । (या) जो (इयम्) यह (तव) आप और उसकी (तनूः) विस्तृत व्याप्ति है, (सा) वह (मयि) मुझ में (यो) जो (एषा) यह (मम) मेरा (तनूः) शरीर है, (सा) सो (त्वयि) आप वा उस में है (व्रतानि) जो ब्रह्मचर्यादि व्रत हैं, वे मुझमें हों और जो (मे) मुझ में हैं, वे तुम्हारे में हैं, जो आप वा वह (तपस्पतिः) जितेन्द्रियत्वादिपूर्वक धर्मानुष्ठान के पालक [तथा] निमित्त हैं, सो (मे) मेरे लिये (तपः) पूर्वोक्त तपको (अनुमन्यताम्) विज्ञापित कीजिये वा करती है, और जो आप वा वह (दीक्षापतिः) व्रतोपदेशों के रक्षा करनेवाले हैं, सो मेरे लिये (दीक्षाम्) व्रतोपदेश को आज्ञा कीजिये वा करती है, इस लिये भी [हे अध्यापक !] मैं और आप पढ़ने पढ़ाने हारे दोनों [इन दोनों परमात्मा और विद्युत को जान कर (सह) परस्पर] प्रीति के साथ वर्त्त कर विद्वान् धार्मिक हों कि जिससे (नौ) दोनों की विद्यावृद्धि सदा होवे ॥ ६ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—†मनुष्यों को परस्पर प्रेम, उपकारबुद्धि तथा अपने तथा दूसरों के पुरुषार्थ के द्वारा परमात्मा वा बिजली के विषय में व्याप्यव्यापकसम्बन्धरूपी विद्या को जान कर धर्मानुष्ठान में निरन्तर प्रवृत्त होना चाहिये ॥ ६ ॥

अꣳशुरित्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता[2] । आद्यस्यार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
आप्याययेत्यन्तस्यार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनस्ते कीदृशौ विद्वांश्चेत्युपदिश्यते[3] ॥

अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे ।
आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व ।
आप्याययास्मान्त्सखीन्त्सन्या मेधया स्वस्ति ते देव सोम सुत्यामशीय ।
एष्टा रायः प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ ७ ॥

अꣳशुरꣳशुरित्यꣳशुःऽअꣳशुः । ते । देव । सोम । आ । प्यायताम् । इन्द्राय । एकधनविदऽइत्येकधनऽविदे ॥ आ । तुभ्यम् । इन्द्रः । प्यायताम् । आ । त्वम् । इन्द्राय । प्यायस्व ॥ आ । प्यायय । अस्मान् । सखीन् । सन्या । मेधया । स्वस्ति । ते । देव । सोम । सुत्याम् । अशीय ॥ एष्टा इत्याऽइष्टाः । रायः । प्र । इषे । भगाय । ऋतम् । ऋतवादिभ्य इत्यृतवादिऽभ्यः । नमः । द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अंशुरंशुः) अवयवोऽवयवः । अत्राशूङ् व्याप्तौ संघाते [च अश] भोजने चेत्यस्माद् बाहुलकादौणादिक उप्रत्ययो नुमागमश्च । (ते) तव, तस्या वा । (देव) दिव्यगुणैः संपन्नेश्वर, विद्युद्,

[1] पुनः उसी की पुष्टि करते हैं—॥ ६ ॥ इति यजुःसर्वानुक्रमणीटीकाकृत् याज्ञिकानन्तदेवः ॥

[2] 'एष्टा रायः' इत्यादिभागस्य 'अग्निर्देवतेति माधवाचार्यः'

[3] सोमादीनां कार्यान्तरं वर्णयति, श्लेषेण विद्वांसं च—

† 'मनुष्यों को परस्पर प्रेम वा उपकार बुद्धि से परमात्मा वा बिजली आदि का विज्ञान कर वा करा के धर्मानुष्ठान से पुरुषार्थ में निरन्तर प्रवृत्त होना चाहिये' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः । क. कोशे तु स्वल्पभेदेन पाठः ॥

†विद्वन् वा । (सोम[1]) सकलपदार्थानां जनक, प्रकाशिका वा । (आ) समन्तात् । (प्यायताम्) वर्धयताम् । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय । (एकधनविदे) य एकेन धर्मेण विज्ञानेन वा धनं विन्दति तस्मै । (आ) अभितः । (तुभ्यम्) अध्यापकाय यज्ञमध्येत्रे वा । (इन्द्रः) परमात्मा, विद्वद् वा । (प्यायताम्) (आ) सर्वतः । (‡त्वम्) (इन्द्राय) दुःखविदारणाय । (प्यायस्व) वर्धस्व, वर्धयेद् वा । (आ) अभितः । (प्यायय) वर्धय, वर्धयति वा । (अस्मान्) (सखीन्) सुहृदः । (सन्या) समानान् पदार्थान् नयति यया तया । (मेधया) प्रज्ञया । (स्वस्ति) सुखम् । (ते) तव, तस्याः सकाशाद् वा । (देव) दिव्यगुणप्रद, प्रदानहेतुर्वा । (सोम) प्रेरक, प्रेरिका वा । (सुत्याम्) सुन्वन्ति यया क्रियया तस्याम् । (अशीय) व्याप्नुयां प्राप्नुयाम् । (एष्टाः) सर्वत इष्टकारिणः । (रायः) धनसमूहाः । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (इषे) अन्नायेच्छायै वा । (भगाय) ऐश्वर्याय । (ऋतम्) यथार्थम् । (ऋतवादिभ्यः) ऋतं वदितुं शीलं येषां तेभ्यो विद्वद्भ्यः । (नमः) सत्कारमन्नम् । (द्यावापृथिवीभ्याम्) प्रकाशभूमिभ्याम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ४ । ३ । १८–२१ । व्याख्यातः ॥ ७ ॥

१ सोमो वै प्रजापतिः ॥ श० ५ । १ । ३ । ७ ॥
अन्तरिक्षदेवत्यो हि सोमः ॥ गो० उ० २ । ४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अंशुरंशुः) यद्वा 'अंश विभाजने' (चुरादिः) अस्मान्मृगय्वादित्वात् कुः, बाहुलकाद् वा 'उ'प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो वीप्सायां नित्यवीप्सयोः (अ० ८ । १ । ४) इति द्विर्वचनम् । तस्य परमाम्रेडितम् (अ० ८ । १ । २) इत्याम्रेडितसंज्ञायाम् अनुदात्तं च (अ० ८ । १ । ३) इत्यनुदात्तः ॥ अमधातोरुप्रत्ययः शकारागमश्च, यजुः ७ । २६ ॥ अनधातोरुः शुगागमश्च, यजुः ९ । ३८ ॥

(एकधनविदे) एकधनोपपदाद् विन्दतेः क्विप् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(प्यायताम्) चादिलोपे विभाषा (अ० ८ । १ । ६३) इति निघातो न भवति ॥

(सन्या) समानपूर्वान्नयतेः क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । समानस्य सादेशः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ततस्तृतीयैकवचने एरनेकाच० (अ० ६ । ४ । ८२) इति यणादेशे उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्त्युदात्तत्वे प्राप्ते नोङ्धात्वोः (अ० ६ । १ । १७५) इति प्रतिषेधो न प्रवर्त्तते छान्दसत्वात् । सर्वासां विद्यानां संविभागकर्त्री, यजुः १२ । ७ अत्र 'सन्'धातोर्व्युत्पादितः ॥

(सुत्याम्) सुनोतेः संज्ञायां समजनिषद० (अ० ३ । ३ । ९९) इति क्यप्, उदात्तानुवृत्तेरुदात्तः । जसादिषु छन्दसि वा वचनम्० (अ० ७ । ३ । १०९ भा० वा०) इति याडभावः ॥

(एष्टा) आङ्पूर्वादिषेः क्तप्रत्यये गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥ तैत्तिरीयशाखायां तु 'एष्टः' इत्येव पदकारेण प्रदर्श्यते । स च इषधातोस्तृचि सम्बोधने द्रष्टव्यः, (द्र० भ० भा० तै० सं० भा० भाग १ पृ० २००) ॥

(भगाय) ह्वद्भगसिन्ध्वन्ते० (अ० ७ । ३ । १९) इति सूत्रे 'भग'पदनिपातनाद् भजेर्घप्रत्ययः, प्रत्ययेस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते निपातनाद् वृषादीनामाकृतिगणत्वाद् वाऽऽद्युदात्तत्वम् । खनो घ च (अ० ३ । ३ । १२५) इति च शब्दाद् घः कुत्वं चेति माधवः । हरदत्तस्तु घित्करणसामर्थ्यादन्येभ्योऽपि भवतीति ज्ञापयति ॥

(ऋतवादिभ्यः) ऋतशब्दोपपदात् 'वद'धातोः सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (अ० ३ । २ । ७८) इति णिनिः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः, ततो भ्यस्, तस्यानुदात्तत्वे स्वरितत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† 'विद्वन्' इति अ० मु० पाठः । 'विद्वान्' इति क. पाठः ॥
‡ '(त्वम्)' इति क. कोशे पाठः । स च ग. कोशे त्यक्तः प्रतिभाति ॥

अन्वयः—हे सोम देवेश्वर विद्वन् विद्युद्वा यतस्ते तव तस्या वा सामर्थ्यमंशुरंशुरङ्गमङ्गं✻सोमेनाप्यायतामाप्याययति वेन्द्रः सोमो भवानियं वैकधनविद इन्द्राय तुभ्यं मह्यं वाप्यायतामाप्यायतयति वा, त्वमिन्द्रायाप्यायस्व वर्धयस्व वर्धयेद् वा, † अतः सन्या मेधया सखीनस्मान् ‡ आप्याययाप्याययेद् वा, यतो [स्वस्त्याप्यायया-प्या[य]येत्, हे सोम देव ते तव शिक्षया] ऽहं सुत्यां दिव्यगुणसंपन्नो भूत्वैष्टा × रायः प्राशीय†† इषे भगायर्त्तवादिभ्यो विद्वद्भ्य एतद्धनं दत्त्वा [ऋतम्] सत्यां विद्यां द्यावापृथिवीभ्यां नमोऽन्नं च प्राप्य सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयाम् ॥ ७ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरमुपास्य विद्वांसमुपाचर्य्य विद्युद्विद्यां प्रचार्य्य शरीरात्मपुष्टिकरानोषधिसमूहान् धनसमुदायांश्च संगृह्य वैद्यकविद्यानुसारेण सर्वानन्दा भोक्तव्याः ॥ ७ ॥

फिर वह ईश्वर बिजली और विद्वान् कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (सोम) पदार्थविद्या को जानने वा (देव) दिव्यगुणसंपन्न जगदीश्वर विद्वन् विद्युत् वा जिससे (ते) आप वा इस विद्युत् का सामर्थ्य (अंशुरंशुः) अवयव २ अङ्ग २ को रक्षा से (आप्यायताम्) बढ़ा [ता] अथवा बढ़ाती है। (इन्द्रः) जो आप वा बिजली (एकधनविदे) अर्थात् धर्म विज्ञान से धन को प्राप्त होने वाले (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त मेरे [(तुभ्यम्) वा तेरे] लिये (आप्यायताम्) बढ़ावें वा बढ़ाती है, [(त्वम्) आप उसको (इन्द्राय) दुःख नाश के लिये] (आप्यायस्व) वृद्धियुक्त कीजिये वा करती है [इस लिये] वह आप बिजली आदि पदार्थों के ठीक २ अर्थों की प्राप्ति को (सन्या) [समान] प्राप्ति करानेवाली (मेधया) प्रज्ञा से (अस्मान्) हम (सखीन्) सब के मित्रों को (आप्यायस्व) बढ़ाइये वा बढ़ावें, जिससे (स्वस्ति) सुख सदा [(आप्यायय)] बढ़ता रहे। हे (सोम) पदार्थविद्या को जाननेवाले [(देव)] ईश्वर वा विद्वन्! [(ते)] आपकी शिक्षा वा बिजली की विद्या से युक्त होकर मैं (सुत्याम्) उत्तम २ उत्पन्न करनेवाली क्रिया में कुशल होके (एष्टाः) अभीष्ट सुखों को प्राप्त कराने वाले (रायः) धनसमूहों को ([प्र] अशीय) प्राप्त होऊं, और ‡‡ (इषे) सिद्धि की इच्छा वा अन्न आदि (भगाय) ऐश्वर्य के लिये (ऋतवादिभ्यः) सत्यवादी विद्वानों को यह धन देके [(ऋतम्)]

---

1 आध्यात्मिकाधिदैविकार्थौ प्रदर्शितावत्रान्वये, आधिदैविकान्तर्भूतोऽधियज्ञार्थोऽपि ॥

2 सोमादि के अन्य कार्य बतलाते हैं, श्लेष से विद्वान् का भी निरूपण करते हैं ॥ ७ ॥

✻ 'सोमेन' इति व्यस्तोऽयं पाठः प्रतीयते। भाषायां 'रक्षा से' इति वचनात् 'रक्षया' इति स्यात् ॥

† 'अतः सखीनस्मान् सन्या मेधयाप्यायस्व' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः। प्रदर्शितपाठस्तु क. कोशानुसारी ॥

‡ अत्र 'आप्यायस्वाप्याययाप्याययेद्वा' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः। मन्त्रे 'आप्यायस्व' इति सकृत् पाठादनावश्यकमिति ध्येयम् ॥

× 'रायोऽशीय' इति ग. कोशे अ० मुद्रिते च पाठः। क. कोशे तु 'प्र' इति पदम् 'अशीय' इति पदेन सम्बद्धं स्थानान्तर आसीत्। तच्च स्थानान्तरे क्रियमाणे कदाचित्दष्टं स्यात् ॥

†† इतोऽग्रे 'यैः' इत्यसम्बद्धः पाठः ॥

‡‡ '(इषे) सिद्धि की इच्छा वा अन्न आदि (भगाय) ऐश्वर्य के लिये' इत्ययं पाठः '(एष्टा)' इत्यस्मात् पूर्वमासीत्, संस्कृतानुसारमत्रानीतः ॥

सत्य विद्या और (द्यावापृथिवीभ्याम्) प्रकाश वा भूमि से (नमः) अन्न को [पाकर सब सुखों को] प्राप्त होऊं ॥ ७ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना, विद्वान् की सेवा और विद्युत्विद्या का प्रचार करके शरीर और आत्मा को पुष्ट करनेवाली औषधियों और अनेक प्रकार के धनों का ग्रहण करके चिकित्सा शास्त्र के अनुसार सब आनन्दों को भोगें ॥ ७ ॥

या त इत्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । पूर्वस्य विराडार्षी बृहती, या त इति द्वितीयस्य [तृतीयस्य च] निचृदार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः सा विद्युत् कीदृशीत्युपदिश्यते[1] ॥

या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा । या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा । या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा ॥ ८ ॥

या । ते । अग्ने । अयःशयेत्ययःऽशया । तनूः । वर्षिष्ठा । गह्वरेष्ठा । गह्वरेस्थेति गह्वरेऽस्था ॥ उग्रम् । वचः । अप । अवधीत् । त्वेषम् । वचः । अप । अवधीत् । स्वाहा ॥ या । ते । अग्ने । रजःशयेति रजःऽशया । तनूः । वर्षिष्ठा । गह्वरेष्ठा । गह्वरेस्थेति गह्वरेऽस्था ॥ उग्रम् । वचः । अप । अवधीत् । त्वेषम् । वचः । अप । अवधीत् । स्वाहा ॥ [ॐ या । ते । अग्ने । हरिशयेति हरिऽशया । तनूः । वर्षिष्ठा । गह्वरेष्ठा । गह्वरेस्थेति गह्वरेऽस्था ॥ उग्रम् । वचः । अप । अवधीत् । त्वेषम् । वचः । अप । अवधीत् । स्वाहा] ॥ ८ ॥

पदार्थः—(या) वक्ष्यमाणा । (ते) अस्याः । (अग्ने) विद्युतः । (अयःशया) याऽयस्सु सुवर्णादिषु शेते सा । अय इति हिरण्यनामसु पठितम् । निघ० १ । २ । (तनूः) व्याप्तं विस्तृतं शरीरम् । (वर्षिष्ठा) अतिशयेन वृद्धा । (गह्वरेष्ठा) गह्वरे गहने गभीरे आभ्यन्तरे तिष्ठतीति । (उग्रम्) क्रूरं भयंकरम् । (वचः) वचनम् । (अप) व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । निरु० १ । ३ । (अवधीत्) हन्ति । अत्र सर्वत्र लडर्थे लुङ् । (त्वेषम्) प्रदीप्तम् । (वचः) परिभाषणम् । (अप) पृथक्करणे । (अवधीत्) हन्ति । (स्वाहा) सुहुतं हविरन्नम् ॥ (या) (ते) (अग्ने) (रजःशया) या रजःसु सूर्यादिलोकेषु[2] शेते सा । (तनूः) व्याप्तिः । (वर्षिष्ठा) (गह्वरेष्ठा) (उग्रम्) दुःसहम् । (वचः) परिभाषणम् । (अप) पृथक्करणे । (अवधीत्) (त्वेषम्) प्रकाशितम् । (वचः) वचनम् । (अप) पृथक्करणे । (अवधीत्) हन्ति । (स्वाहा) सुहुतां वाचम् ॥ [†(या) (ते) (अग्ने) इत्युक्तार्थः (हरिशया[3]) हरिषु सूर्यादिष्वश्वादिषु वा शेते सा । (तनूः) (वर्षिष्ठा) (गह्वरेष्ठा) इत्युक्तार्थः । (उग्रं) तीव्रम् । (वचः) वचनम् ।

---

१ विद्युतः कृत्यमाह—
२ लोका रजांसि उच्यन्ते (निरु० ४ । १९) ॥
३ यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥ ... शुकेकेशवसिंहाश्ववर्णादिषु हरिं स्मरेत् ॥ इति दशपादुणादिवृत्तौ ॥ १ । ४७ ॥ पृ० २९ ॥

ॐ अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो ऽजमेरमुद्रिते नास्ति । † कोष्ठान्तर्गतोऽयं पाठः क. पुस्तके भूतपूर्वः पाठः ॥

(अप) (अवधीत्) (त्वेषम्) प्रकाशकम् । (वचः) शब्दनम् । (अप) (अवधीत्) (स्वाहा) स्वा स्वकीया वागाहेति]॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ४ । ४ । २३–२५ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः[1]—हे मनुष्या यूयं या तेऽग्नेऽस्या विद्युतो [अयःशया] वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा तनूरुग्रं वचोऽपावधीदपहन्ति त्वेषं वचः स्वाहा सुहुतं हविरन्नं चापावधीत् । या तेऽग्नेऽस्या विद्युतो वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा रजःशया तनूरुग्रं वचोऽपावधीत् त्वेषं वचः स्वाहा सुहुतां वाचं चापावधीद्धन्ति [❀ या ते ऽ ग्ने ऽ स्या विद्युतो वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा हरिशया तनूरुग्रं वचोऽपावधीत् त्वेषं वचः स्वाहा स्वां वाचं चापावधीत् हन्ति] तां सम्यग् विदित्वोपकुरुत ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्युतो या व्याप्तिर्मूर्त्तामूर्त्तद्रव्यस्था वर्त्तते, तां युक्त्या सम्यक् विदित्वोपसंप्रयोज्य सर्वाणि दुःखान्यपहन्तव्यानि ॥ ८ ॥

फिर वह बिजली कैसी है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो ! तुमको (या) जो (ते) इस (अग्ने) बिजलीरूप अग्नि का (अयःशया) सुवर्णादि में सोने (वर्षिष्ठा) अत्यन्त बड़ा (गह्वरेष्ठा) आभ्यन्तर में रहनेवाला (तनूः) शरीर (उग्रम्) क्रूर भयंकर (वचः) वचन को (अपावधीत्) नष्ट करता और (त्वेषम्) प्रदीप्त (वचः) शब्दन वा (स्वाहा) उत्तमता से हवन किये हुए अन्न को (अपावधीत्) दूर करता और [(या)] जो (ते) इस (अग्ने) बिजलीरूप अग्नि का (वर्षिष्ठा) अत्यन्त विस्तीर्ण (गह्वरेष्ठा) आभ्यन्तर में स्थित होने (रजःशया) लोकों में सोनेवाला (तनूः) शरीर (उग्रम्) क्रूर (वचः) कथन को (अपावधीत्) नष्ट [करता और] (त्वेषम्) प्रदीप्त (वचः) कथन वा (स्वाहा) उत्तम वाणी को (अपावधीत्) नष्ट करता है । [❀ (या) जो (ते) इस (अग्ने) बिजलीरूप अग्नि का (वर्षिष्ठा) अत्यन्त विस्तीर्ण (गह्वरेष्ठा) आभ्यन्तर में स्थित होने (हरिशया) सूर्य और अश्वादि में शयन करनेवाला (तनूः) शरीर (उग्रम्) क्रूर (वचः) वचन को (अपावधीत्) नष्ट करता और (त्वेषम्) प्रकाशयुक्त (वचः) कथन वा (स्वाहा) अपनी वाणी को (अपावधीत्) नष्ट करता है], उसको जान के उससे कार्य लेना चाहिये ॥ ८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अयःशयाः) अयःपूर्वात् शेतेः अधिकरणे शेतेः (अ० ३ । २ । १५) इति अच् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्, ततष्टाप् , तत एकादेश उदात्तत्वम् ॥

(वर्षिष्ठा) पूर्वं य० १ । २२ व्याख्यातः ॥

(उग्रम्) ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २ । ३१) इति निपातनादन्तोदात्तः ॥

(वचः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(त्वेषम्) अचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(गह्वरेष्ठा) गह्वरे तिष्ठतीति सुपि स्थः (अ० ३ । २ । ४) इति कप्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते थाथघञ्० (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं, ततष्टाप् । तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अ० ६ । ३ । १४) इति विभक्तेरलुक् ॥

(रजःशया, हरिशया) पूर्ववत् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः, त्रिविधोऽर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥

२ विद्युत् के कार्य दर्शाते हैं— ॥ ८ ॥

❀ कोष्ठान्तर्गतः पाठः प्रमादात् सर्वत्र त्यक्तः ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि सब स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में रहनेवाली [जो] बिजली की व्याप्ति है, उसको अच्छे प्रकार जानकर उपयुक्त करके सब दुःखों का नाश करें ॥ ८ ॥

तप्तायनीत्यस्य गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता । प्रथमस्य भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥ विदेदग्निरित्यस्य भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥ नाम्नेहीत्यस्य निचृद्ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥ अनु त्वेत्यस्य याजुष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ किमर्थोऽग्न्यादिना यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते[1] ॥

तप्तायनी मेऽसि वित्तायनी मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात् । विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिर ऽ आयुना नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे । अनु त्वा देववीतये ॥९॥

तप्तायनीति तप्तऽअयनी । मे । असि । वित्तायनीति वित्तऽअयनी । मे । असि । अवतात् । मा । नाथितात् । अवतात् । मा । व्यथितात् ॥ विदेत् । अग्निः । नभः । नाम । अग्ने । अङ्गिरः । आयुना । नाम्ना । आ । इहि । यः । अस्याम् । पृथिव्याम् । असि । यत् । ते । अनाधृष्टम् । नाम । यज्ञियम् । तेन । त्वा । आ । दधे । विदेत् । अग्निः । नभः । नाम । अग्ने । अङ्गिरः । आयुना । नाम्ना । आ । इहि । यः । द्वितीयस्याम् । पृथिव्याम् । असि । यत् । ते । अनाधृष्टम् । नाम । यज्ञियम् । तेन । त्वा । आ । दधे । विदेत् । अग्निः । नभः । नाम । अग्ने । अङ्गिरः । आयुना । नाम्ना । आ । इहि । यः । तृतीयस्याम् । पृथिव्याम् । असि । यत् । ते । अनाधृष्टम् । नाम । यज्ञियम् । तेन । त्वा । आ । दधे ॥ अनु । त्वा । देववीतय इति देवऽवीतये ॥ ९ ॥

पदार्थः—(तप्तायनी) तप्तानि स्थापनीयानि वस्तून्ययनं यस्या विद्युतः सा । (मे) मम । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (वित्तायनी) या वित्तानां भोगानां प्रतीतानां पदार्थानामयनी प्रापिका सा । वित्तो भोगप्रत्यययोः । अ० ८ । २ । ५८ । अनेन वित्तशब्दः प्रतीतार्थे भोगार्थे च निपातितः । (मे) मम । (असि) अस्ति । (अवतात्) रक्षति । अत्र सर्वत्र लडर्थे लोट् । (मा) माम् । (नाथितात्) ऐश्वर्यात् । (अवतात्) रक्षति । (मा) माम् । (व्यथितात्) भयात् संचलनात् । (विदेत्) विजानीयात् । [(अग्निः) प्रसिद्धोऽग्निः] । (नभः) जलं प्रकाशं वा । नभ इति जलनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । साधारणनामसु च । निघ० । १ । ४ । (नाम) प्रसिद्धम् । (अग्ने) जाठरस्थः । (अङ्गिरः[2]) अङ्गानां रसः । (आयुना) जीवनेन प्रापकत्वेन वा । (नाम्ना) प्रसिद्ध्या । (आ) समन्तात् । (इहि) एति । (यः) अग्निः । (अस्याम्) प्रत्यक्षायाम् । (पृथिव्याम्) भूमौ । (असि) वर्त्तते । (यत्) यादृशम् । (ते) अस्य । (अनाधृष्टम्) यत्समन्तान्न धृष्यते तत्तेजः । (नाम) प्रसिद्धम् । (यज्ञियम्) यज्ञाङ्गसमूहनिष्पादकम् । (तेन) पूर्वोक्तेन । (त्वा) तम् । (आ) अभितः । (दधे) धरामि । (विदेत्) प्राप्नुयात् । (अग्निः) भौतिकः । (नभः) अन्तरिक्षस्थं जलम् । (नाम) प्रसिद्धम् । (अग्ने) प्रसिद्धोऽग्निः ।

१ प्रसङ्गाद् यज्ञे तदुपयोगमाह—

२ अङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्, सोऽङ्गरसोऽभवत्, तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते ॥ गो० पू० १ । ७ ॥

(अङ्गिरः) अङ्गारस्थः । (आयुना) प्रापकत्वेन । (नाम्ना) प्रसिद्धया । (आ) अभितः । (इहि) प्राप्नुहि । (यः) (द्वितीयस्याम्) अस्या भिन्नायाम् । (पृथिव्याम्) विस्तृतायां भूमौ । (असि) अस्ति । (यत्) येन । (ते) (अनाधृष्टम्) प्रगल्भगुणसहितम् । (नाम) प्रसिद्धम् । (यज्ञियम्) यज्ञसम्बन्ध्यङ्गम् । (तेन) (त्वा) तम् । (आ) अभितः । (दधे) धरामि । (विदेत्) प्राप्नुयात् । (अग्निः) सूर्य्यस्थः । (नभः) अवकाशम् । (नाम) प्रसिद्धम् । (अग्ने) सूर्य्यरूपः । (अङ्गिरः) अङ्गिता । (आयुना) (नाम्ना) (आ) (इहि) उक्तार्थेषु । (यः) अग्निः । (तृतीयस्याम्) तृतीयकक्षायां वर्त्तमानायाम् । (पृथिव्याम्) भूमौ । (असि) वर्त्तते (यत्) येन । (ते) (अनाधृष्टम्) प्रौढम् । (नाम) प्रसिद्धम् । (यज्ञियम्) शिल्पविद्यायज्ञसम्बन्धि । (तेन) (त्वा) तम् । (आ) अभितः । (दधे) स्वीकरोमि । (अनु) आनुकूल्ये । (त्वा) तम् । (देववीतये) देवानां दिव्यानां गुणानां भोगानां वा प्राप्तये ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । ५ । १ ।२७—३२ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे विद्यां जिघृक्षो ! यथाऽहं तेन यद् या तप्तायन्यस्यस्ति, वित्तायनी विद्युदस्यस्ति, त्वा तां वेद्मि, तथा त्वमेतेनैतद्विद्यां मे मम सकाशादेहि प्राप्नुहि, यथाऽयं सुसेवितः [अग्निः] सविता नभो जलं प्रकाशं वा प्रयच्छन् मा मां व्यथितादवतात् [मा मां] नाथितादवतात्, तथा त्वया सेवितः संस्त्वामपि रक्षेत् । +यथाऽहं तेन योऽग्नेऽङ्गिरोऽग्निरायुना नाम्नाऽस्यां पृथिव्यां नाम प्रसिद्धोऽ[स्य]स्ति, त्वा तं देववीतये विजानामि, तथैतेनैनं त्वमपि मे मम सकाशादेहि सं जानीहि । यथाऽहं तेन नाम्ना यत् [ते]ऽनाधृष्टं यज्ञियं नाम तेज आदधे, तथा तेन त्वा तं त्वमेतेनैनमस्मानन्वेहि, सर्वो जनश्चानुविदेत् । यथाऽहं योऽग्निर्द्वितीयस्यां पृथिव्यामग्नेऽङ्गिर आयुना नाम्ना नामासि वर्त्तते यो [ऽग्निः] नभः सुखं प्रयच्छति, [तेन] त्वा तं संप्रयोजयामि, तथैतेन त्वैनं

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(तप्तायनी) अयधातोः ल्युट् च (अ० ३ । ३ । ११५) इति ल्युट् । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः । ततस्तप्तशब्देन बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते छान्दसत्वात् परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६ । २ । १९९) इति परस्याद्याकार उदात्तः । ततो दीर्घैकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तः । ततष्टित्वान्ङीप् ॥ यद्वा-अर्थप्रदर्शनमिदम्, विग्रहस्तु—तप्तानां पदार्थानामयनी प्रापिकेति कर्मणि षष्ठी । गतिकारकोपपदा० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनेष्टस्वरसिद्धिः ॥

(वित्तायनी) पूर्ववदयधातोर्ल्युट्, टित्वात् टिड्ढाणञ्० (अ० ४ । १ । १५) इति ङीप् । कर्तृकर्मणोः कृति (अ० २ । ३ । ६५) इति कर्मणि षष्ठी । कृद्योगा च षष्ठी समस्यते (अ० २ । २ । ८ भा० वा०) इति षष्ठीसमासः । गतिकारकोपपदा० (अ० ६ । २ । १३९)इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(नाथितात्) भावे क्तः । प्रत्ययान्तोदात्तत्वम् ॥

(आयुना) छन्दसीणः (उ० १ । २) इति सूत्रेण 'उण्' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्ते प्राप्ते छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(असि) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे धातुस्वरः ॥

(द्वितीयस्याम्, तृतीयस्याम्) तीयप्रत्ययस्य प्रत्ययाद्युदात्तत्वे सुपोऽनुदात्तत्वम् ॥

(देववीतये) षष्ठीसमासे छान्दसत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो देवशब्दः॥ यद्वार्थप्रदर्शनमेतत्, विग्रहस्तु—देवानां वीतिः तृप्तिः गमनं वा यस्यां सा इति, (द्र० य० १ । १५ पृ० ८२) । तत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणेष्टस्वरसिद्धिः ॥

(विदेत्) 'विद ज्ञाने' (अदा० प०) व्यत्ययेन शः, अन्यत्र विद्लृ लाभे (तु० उ०) इत्यस्मान्नुमभावश्छान्दसः, सर्वत्र विकरणस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः । अपरावपि पदार्थत ऊहनीयौ ॥

+अत्र 'तथा ऽहं' इति अ० मु० अपपाठः । ग. कोशे तु 'यथा ऽहं' इत्येवोपलभ्यते ॥

त्वमेहि सर्वो जनश्चानुविदेत्। यथाऽहं तेन †यत्तेऽनाधृष्टं यज्ञियं नाम तेजो [ऽस्यस्ति]. ‡तस्मै त्वाऽऽदधे, तथा त्वमेतेन नाम्ना त्वा [त]मेहि सर्वो जनश्चानुविदेत्। यथाऽहं तेन योऽग्निरायुना नाम्ना तृतीयस्यां पृथिव्यामग्नेऽङ्गिरः सूर्यरूपेण नामासि वर्त्तते, यो नभोऽवकाशं द्योतयति त्वा तं जानामि [तथैतन त्वैनं त्वमेहि सर्वो जनश्चानुविदेत्। यथाऽहं तेन यत्तेऽनाधृष्टं यज्ञियं नाम तेज आदधे] तथैनमेतस्मै त्वमन्वेहि, सर्वो जनोऽपि विदेत्॥ ९॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—यः प्रसिद्धसूर्यविद्युद्रूपेण त्रिविधोऽग्निः सर्वेषु लोकेषु बाह्याभ्यन्तरतो वर्त्तते, तं विदित्वा विज्ञाप्य च सर्वैर्मनुष्यैः सर्वकार्य्यसिद्धिः संपादनीया॥ ९॥

अग्नि आदि से यज्ञ का अनुष्ठान किस लिये करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1]॥

पदार्थः—हे विद्या के ग्रहण करनेवाले विद्वन्! जैसे मैं (यत्) जो (तप्तायनी) स्थापनीय वस्तुओं के स्थानवाली विद्युत् ज्वाला (असि) है, वा जो (वित्तायनी) भोग्य वा प्रतीत पदार्थों को प्राप्त करानेवाली बिजली (असि) है। (त्वा) उसकी विद्या को जानता हूँ, वैसे तू भी इसको (से) मुझसे (एहि) प्राप्त हो। जैसे यह जो (अग्निः) प्रसिद्ध अग्नि (नभः) जल वा प्रकाश को प्राप्त कराता हुआ (मा) मुझको (व्यथितात्) भय से (अवतात्) रक्षा करता वा [(मा) मुझको] (नाथितात्) ऐश्वर्य्य से (अवतात्) रक्षा करता है, वैसे तुझसे सेवन किया हुआ यह तेरी भी रक्षा करे। जैसे मैं (तेन) उस साधन से [(यः)] जो (अग्ने) जाठररूप (अङ्गिरः) अङ्गों में रहनेवाला अग्नि (आयुना) जीवन वा (नाम्ना) प्रसिद्धि से (अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नाम) प्रसिद्ध [(असि)] है (त्वा) उसको{} (देववीतये) दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिये जानता हूँ, वैसे तू भी इसको (मे) मुझसे (एहि) अच्छे प्रकार जान। जैसे मैं उस ज्ञान से जो [(ते) तेरा] (अनाधृष्टम्) नष्ट नहीं होने योग्य (यज्ञियम्) यज्ञाङ्ग समूह [का] (नाम) प्रसिद्ध तेज है उसको (आदधे) धारण करता हूँ, वैसे तू उससे इसको उत्तम गुणों की प्राप्ति के लिये धारण कर और वैसे सब मनुष्य भी उससे इसको (विदेत्) प्राप्त होवें। जैसे मैं जो (द्वितीयस्याम्) दूसरी (पृथिव्याम्) भूमि में (अग्ने) (अङ्गिरः) अङ्गारों में रहनेवाला अग्नि (आयुना) जीवन वा (नाम्ना) प्रसिद्धि से (नाम) प्रसिद्ध [(असि)] है वा (यः) जो [(अग्निः) अग्नि] (नभः) सुख को देता है, (तेन) उससे (त्वा) उसको प्राप्त हुआ हूँ, वैसे तू उससे इसको (एहि) जान और सब मनुष्य भी उससे इसको (विदेत्) प्राप्त हों। जैसे मैं पुरुषार्थ से [(यत्)] जो [(ते) तेरा] (अनाधृष्टम्) प्रगल्भगुणसहित (यज्ञियम्) यज्ञसंबन्धी (नाम) प्रसिद्ध तेज [(असि)] है (त्वा) उसे भोगों की प्राप्ति के लिये (आदधे) धारण करता हूँ, तथा तू उसके लिये धारण कर और सब मनुष्य भी धारण करें। जैसे मैं (तेन) उस क्रिया कौशल से जो (अग्ने) अग्नि (आयुना) जीवन वा [(नाम्ना)] प्रसिद्धि से [(तृतीयस्याम्) तीसरी (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अग्ने) अग्नि] (अङ्गिरः) अङ्गों का सूर्यरूप से पोषण करता हुआ (नाम) प्रसिद्ध [(असि)] है वा [(यो)] जो [(अग्निः] (नभः) आकाश को प्रकाशित करता है, (त्वा)§ उसको जानता हूँ, वैसे तू उसको जान और सब लोग भी (विदेत्) उसको ठीक ठीक जान के कार्य

---

१ प्रसङ्ग से यज्ञ में उसका उपयोग बतलाते हैं—॥९॥

---

† 'यत्रे ऽनाधृष्टं' इति अ० मु० पाठः॥ ‡ 'अस्मै' इति अ० मु० पाठः॥

{} '(देववीतये) दिव्यगुणों का प्राप्ति के लिये' इति पाठः '(त्वा) उसको' इत्येतस्मादग्रेऽस्थान आसीत्। सो ऽस्माभिर्योग्ये स्थाने स्थापितः॥

§ 'उसको धारण करता हूँ, वैसे तू भी उसको धारण कर' इति संस्कृताननुसारी सार्वत्रिकः पाठ इति ध्येयम्॥

सिद्ध करें। जैसे मैं (तेन) इन्धनादि सामग्री से [(यत्)] जो [(ते) इसका] (अनाधृष्टम्) प्रगल्भ [गुण] सहित (यज्ञियम्) शिल्पविद्यासंबन्धी (नाम) प्रसिद्ध तेज है (त्वा) उसको विद्वानों की प्राप्ति के लिए (आदधे) धारण करता हूँ, वैसे तू उससे उसकी प्राप्ति के लिये (अन्वेहि) खोज कर और सब मनुष्य भी विद्या से संप्रयोग करें ॥ ९ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो प्रसिद्ध सूर्य्य बिजली रूप से तीन प्रकार का अग्नि सब लोकों में बाहिर भीतर रहने वाला है, उसको जान और जनाकर सब मनुष्यों को कार्य्यसिद्धि का संपादन करना कराना चाहिये ॥ ९ ॥

सिंह्यसीत्यस्य गोतम ऋषिः। वाग्देवता। ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथ सर्वासां विद्यानां मुख्यसाधिकाया वाचो गुणा उपदिश्यन्ते[1] ॥

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व ॥ १० ॥

सिꣳही। असि। †सपत्नसाही। सपत्नसहीति सपत्नऽसही। देवेभ्यः। कल्पस्व। सिꣳही। असि। †सपत्नसाही। सपत्नसहीति सपत्नऽसही। देवेभ्यः। शुन्धस्व। सिꣳही। असि। †सपत्नसाही। सपत्नसहीति सपत्नऽसही। देवेभ्यः। शुम्भस्व ॥ १० ॥

पदार्थः—(सिंही[2]) हिनस्ति दोषान् यया, यद्वा सिञ्चत्युच्चारयति यया वाचा सा। हिंसेः सिंह इति हयवरडिति व्याख्याने महाभाष्यकारोक्तिः। सिचेः संज्ञायां हनुमौ कश्च। उ० ५। ६२ अनेन कप्रत्ययो हकारादेशो नुमागमश्च। अत्र सर्वत्र गौराद्याकृतिगणान्तर्गतत्वान्ङीष्। (असि) अस्ति। अत्र सर्वत्र व्यत्ययः। (सपत्नसाही) यया सपत्नान् शत्रून् सहन्ते सा। (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यो विद्यां चिकीर्षुभ्यः शूरवीरेभ्यः। (कल्पस्व) अध्यापनोपदेशाभ्यां समर्थय। (सिंही) अविद्याविनाशिका। (असि) अस्ति। (सपत्नसाही) यया सपत्नान् दोषान् सहन्ते मृष्यन्ति दूरीकुर्वन्ति सा। (देवेभ्यः) धार्म्मिकेभ्यः। (शुन्धस्व) शोधय। (सिंही) दुष्टशीलविनाशिनी। (असि) अस्ति। (सपत्नसाही) यया सपत्नान् दुष्टानि शीलानि सहन्ते सा। (देवेभ्यः) सुशीलेभ्यो विद्वद्भ्यः। (शुम्भस्व) शोभायुक्तान् कुरु॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ५। १। ३३ व्याख्यातः॥ १०॥

१ वाचोऽप्यर्थद्योतकत्वाद् विद्युत्त्वं, द्विविधा च विद्युत्, वाग्रूपा तडिद्रूपा च। तत्र वाग्रूपां वर्णयति—

२ यौगिकत्वाद् वागत्र लक्ष्यते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सिंही) ङीषः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(सपत्नसाही) सपत्नकर्मोपपदात् सहधातोः कर्मण्यण् (अ० ३। २। १) इत्यण् प्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ततः टिड्ढाणञ्० (अ० ४। १। १५) इति ङीप्। यस्येति च (अ० ६। ४। १४८) इत्यकारलोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६। १। १६१) इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

† 'सपत्नसाही' इति नास्त्यजमेरमुद्रिते ॥

अन्वयः—हे विद्वंस्त्वं या सपत्नसाही सिंही वाग [स्य] स्ति, तां देवेभ्यः कल्पस्व, या सपत्नसाही सिंही वाग [स्य] स्ति, तां देवेभ्यः शुन्धस्व, या सपत्नसाही सिंही वाग [स्य] स्ति, तां देवेभ्यः शुम्भस्व ॥ १० ॥

भावार्थः—त्रिविधा खलु वाग् भवति, शिक्षाविद्यासंस्कृता सत्यभाषणा मधुरा च, एषा मनुष्यैः सर्वदा स्वीकार्य्या ॥ १० ॥

अब अगले मन्त्र में सब विद्याओं को मुख्य सिद्ध करनेवाली वाणी के गुणों का उपदेश किया है[२] ॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य ! तू जो (सपत्नसाही) जिससे शत्रुओं को सहन करते हैं, वह (‡सिंही) जो दोषों को नष्ट करने वा शब्दों का उच्चारण करनेवाली वाणी (असि) है, उसको (देवेभ्यः) उत्तमगुण शूरवीरों के लिये (कल्पस्व) पढ़ा और उपदेश करके प्राप्त करा, जो (सपत्नसाही) दोषों को हनन वा (सिंही) अविद्या के नाश करनेवाली वाणी (असि) है, उसको (देवेभ्यः) धार्मिकों के लिये (शुन्धस्व) शुद्ध कर और जो (सपत्नसाही) दुष्ट स्वभाव और (सिंही) दुष्ट दोषों को नाश करनेवाली वाणी (असि) है, उसको (देवेभ्यः) सुशील विद्वानों के लिये (शुम्भस्व) शोभायुक्त कर ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को अति उचित है कि इस संसार में जो तीन प्रकार की वाणी होती है अर्थात् एक शिक्षा विद्या से संस्कार की हुई, दूसरी सत्यभाषणयुक्त, और तीसरी मधुर गुण सहित, उनको स्वीकार करें ॥ १० ॥

इन्द्रघोषस्त्वेत्यस्य गोतम ऋषिः । वाग्देवता । निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स सा कीदृशीत्युपदिश्यते[३] ॥

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥ ११ ॥

इन्द्रघोष इतीन्द्रऽघोषः । त्वा । वसुभिरिति वसुऽभिः । पुरस्तात् । पातु । प्रचेता इति प्रऽचेताः । †त्वा । रुद्रैः । पश्चात् । *पातु । मनोजवा इति मनःऽजवाः । †त्वा । पितृभिरिति पितृऽभिः । दक्षिणतः । पातु । विश्वकर्मेति विश्वऽकर्मा । †त्वा । आदित्यैः । उत्तरतः । पातु । इदम् । अहम् । तप्तम् । वाः । बहिर्धेति बहिःऽधा । यज्ञात् । निः । सृजामि ॥ ११ ॥

---

१ अधियज्ञपरोऽन्वयः, त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थेत ऊहनीयः ॥

२ अर्थ का द्योतक होने से वाणी को भी विद्युत् कहा है, और वह विद्युत् दो प्रकार की है, एक वाणीरूप तथा दूसरी विद्युत्रूप, उन में वाणीरूप विद्युत् का वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

३ वाग्विद्युतोः सादृश्यं वर्णयति—

---

‡ "(सिंही)······(असि) है उसको" अस्थाने समयं पाठोऽस्माभिरत्रानीतः । इतोऽग्रे "(देवेभ्यः) विद्वान् दिव्यगुण वा विद्या की इच्छावाले मनुष्यों के लिये (शुन्धस्व) शुद्धता से प्रकाशित कर" इति व्यर्थः पाठोऽजमेरमुद्रिते कोशेषु च वर्त्तते, द्विर्व्याख्यातत्वात् ॥

† 'त्वा' इति पदं नास्त्यजमेरमुद्रिते ॥ * 'पातु' इति पदं नास्त्यजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(इन्द्रघोषः) इन्द्रस्य परमेश्वरस्य वेदाख्याया विद्युतो वा घोषो विविधशब्दार्थसंबन्धो *यस्य यस्या वा स सा वा वाक्। घोष इति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १।११। (त्वा) त्वाम्, तां वाचं वा। (वसुभिः[1]) अग्न्यादिभिः कृतचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्य्यैर्वा सह वर्त्तमाना। (पुरस्तात्) पूर्वस्मात्। (पातु) रक्षतु। (प्रचेताः) या प्रकृष्टविज्ञाना, यया प्रकृष्टतया चेतन्ति संजानन्ति सा। (त्वा) त्वां तां वा। (रुद्रैः) या प्राणैः कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यैः सह वा वर्त्तते स सा वा। (पश्चात्) पश्चिमदेशात्। (पातु) पालयतु। मनोजवाः) मनोवज्जवो वेगो यस्य यस्याः स सा वा (त्वा) त्वां तां वा। (पितृभिः) ज्ञानिभिर्ऋतुभिर्वा। ते वा एत ऋतवः। शत० २।१।३।२। अनेन पितृशब्दादृतवोऽपि गृह्यन्ते। पितर इति पदनामसु पठितम्। निघ० ५।५। अनेन ज्ञानवन्तो मनुष्या गृह्यन्ते। (दक्षिणतः) दक्षिणदेशात्। (पातु) रक्षतु। (विश्वकर्मा) विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्या यस्य वा सा वाक्, स विद्वान् वा। (त्वा) त्वां तां वा। (आदित्यैः) संवत्सरस्य मासैः, कृताष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्यैः सह वा वर्त्तमाना। (उत्तरतः) उत्तरस्माद् देशात्। [(पातु)] (इदम्) अन्तःस्थमुदकम्। इदमित्युदकनामसु पठितम् निघ० १।१२। (अहम्) (तप्तम्) धर्मेणाध्ययनाध्यापनश्रमेण वा संतप्तम्। (वाः) बाह्यमुदकम् [वार्] इत्युदकनामसु पठितम्। निघ० १।१२। (बहिर्धा) या बहिर्बाह्ये देशे धरति शब्दान् सा। (यज्ञात्) अध्ययनाध्यापनाद्धोमलक्षणाद् वा। (निः) नितराम्। (सृजामि) सम्पद्ये प्रक्षिपामि वा॥ अयं मन्त्रः शत० ३।५।२।४–८ व्याख्यातः॥ ११॥

अन्वयः[2]—हे मनुष्या यथा प्रचेता इन्द्रघोषो विश्वकर्माऽहं यज्ञादिदमन्तस्थमुदकं तप्तं बहिर्धा वर्त्तमानं शीतलं [वार्] उदकं च निःसृजामि, तथा [यूयमपि कुरुत], या वसुभिः सह वर्त्तमानेन्द्रघोषो वागस्ति (त्वा)

[1] कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एते हीद ँ सर्वं वासयन्ते, ते यदिदं वासयन्ते तस्माद् वसव इति॥ श० ११।६।३।६॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इन्द्रघोषः) समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तः॥

(प्रचेताः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४।२२७) इति 'असि' प्रत्ययः। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च। उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इति 'प्र' उदात्तः॥

(पश्चात्) पश्चात् (अ० ५।३।३२) इत्यातिप्रत्ययान्तो निपात्यते, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(मनोजवाः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेऽसुन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तो 'मनस्'शब्दः॥

(दक्षिणतः) दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् (अ० ५।३।२८) इत्यतसुचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्॥

(वाः) वारयतेः क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति क्विप्, णेरनिटि (अ० ६।४।५१) इति णिलोपः। प्रत्ययलोपे० (अ० १।१।६२) इति प्रत्ययलक्षणेन वृद्धिः। तथा च श्रुतिः—

'अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हिकम्' (अथ० ३।१३।३) इति (द्र० देवराजनिघण्टुटीका पृ० १००)॥

यत्तु "वृञ् वरणे स्वार्थिको ऽण् छान्दसः, तदन्तात् क्विप्, अण्लोपः, हल्ङ्यादिलोपः, रेफस्य विसर्जनीयः" इति देवराजः (निघ० टी० पृ० १००)। तत् स्वोदाहृतश्रुतिविरुद्धत्वादयुक्तम्॥

(बहिर्धा) बहिरुपपदाद् धाञः आतोऽनुपसर्गे कः (अ० ३।२।३) इति कः। कित्त्वादाकारलोपः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। स्त्रियामजाद्यतष्टाप् (अ० ४।१।४) इति टाप्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

[2] आध्यात्मिकाधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः। स च विद्युत्परो ऽपि व्याख्यातुं शक्यः। आधिदैविकान्तर्भूत एवाधियज्ञपरोऽप्ययर्थो बोध्यः॥

* 'यस्य यस्या वा स सा वा' इति ग. प्रवर्धितः पाठः, स चानन्वित इव प्रतिभाति॥

तां पुरस्ताद् रक्षामि तथा भवानपि पातु । या रुद्रैः सह वर्त्तमाना प्रचेता वागस्ति [त्वा] तां पश्चात् पालयामि, तथा भवानपि पातु । या पितृभिः सह वर्त्तमाना मनोजवा वागस्ति [त्वा] तां दक्षिणतोऽवामि, तथा भवानपि पातु । या आदित्यैः सह वर्त्तमाना वागस्ति [त्वा] तामुत्तरतो रक्षामि तथा भवानपि पातु ॥ ११ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्वसुरुद्रादित्यपितृभिः सेवितां यज्ञाधिकृतां वाचमुदकं च विद्यया सत्क्रियया सह सेवित्वा शुद्धं निर्मलं च सततं भावनीयम् ॥ ११ ॥

फिर वह कैसा और कैसी है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्यो ! जैसे (प्रचेताः) उत्तम ज्ञानयुक्त (इन्द्रघोषः) परमात्मा वेदविद्या और बिजली के घोष अर्थात् शब्द अर्थ और संबन्धों के बोधवाला (विश्वकर्मा) सब कर्मवाला [(अहम्)] मैं (यज्ञात्) पढ़ने पढ़ाने वा होमरूप यज्ञ से (इदम्) आभ्यन्तर में रहने वाले (तप्तम्) तप्त जल (बहिर्धा) बाहर धारण होनेवाले शीतल (वाः) जल को (निःसृजामि) सम्पादन करता वा निःक्षेप करता हूँ, वैसे आप भी कीजिये। जो (वसुभिः) अग्नि आदि पदार्थ वा चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य किये हुए मनुष्यों के साथ वर्त्तमान परमेश्वर जीव बिजली के अनेक शब्द संबन्धी वाणी है [(त्वा)] उसको (पुरस्तात्) पूर्वदेश से जैसे मैं रक्षा करता हूँ, वैसे आप भी (पातु) रक्षा करें। जो (रुद्रैः) प्राण वा चवालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य किये हुए विद्वानों के साथ वर्त्तमान उत्तम ज्ञान करानेवाली वाणी है [(त्वा)] उसको (पश्चात्) पश्चिम देश से रक्षा करता हूँ, वैसे आप भी (पातु) रक्षा करें। जो (पितृभिः) ज्ञानी वा ऋतुओं के साथ वर्त्तमान (मनोजवा) मन के समान वेग वाली वाणी है [(त्वा)] उसका (दक्षिणतः) दक्षिण देश से पालन करता हूँ, वैसे आप भी (पातु) रक्षा करें। जो (आदित्यैः) बारह महीनों वा अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्य किये हुए विद्वानों के साथ वर्त्तमान सत्र कर्म युक्त वाणी है [(त्वा)] उसको (उत्तरतः) उत्तर देश से पालन करता हूँ, वैसे आप भी (पातु) रक्षा करें ॥ ११ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि जो वसु रुद्र आदित्य और पितरों से सेवन की हुई वा यज्ञ को सिद्ध करनेवाली वाणी वा जल को‡ विद्या वा उत्तम क्रिया से सेवन करके शुद्ध तथा निर्मल करें ॥ ११ ॥

सिंह्यसीत्यस्य गोतम ऋषिः । वाग्देवता । भुरिग् ब्राह्मीपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः सा कीदृशीत्युपदिश्यते[2] ॥

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान् यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा ॥ १२ ॥

---

१ वाणी और विद्युत् की समानता दर्शाते हैं—॥११॥ २ पुनर्वाचं विशिष्य लक्षयति—

‡ इतो ऽ ग्रेऽजमेरमुद्रिते तु—'सेवन विद्या वा उत्तम क्रिया के साथ बिजली है, उसके सेवन में निरन्तर वर्तें' इत्ययुक्तः पाठः ॥

सि॒ꣳही । अ॒सि॒ । स्वाहा॑ । सि॒ꣳही । अ॒सि॒ । आ॒दि॒त्य॒व॒नि॒रित्या॑दित्य॒ऽव॒निः॑ । स्वाहा॑ । सि॒ꣳही । अ॒सि॒ । ब्र॒ह्म॒व॒नि॒रिति॑ ब्रह्म॒ऽव॒निः॑ । क्ष॒त्र॒व॒नि॒रिति॑ क्षत्र॒ऽव॒निः॑ । स्वाहा॑ । सि॒ꣳही । अ॒सि॒ । सु॒प्र॒जा॒व॒नि॒रिति॑ सुप्र॒जा॒ऽव॒निः॑ । रा॒यस्पो॒ष॒व॒नि॒रिति॑ रायस्पोष॒ऽव॒निः॑ । स्वाहा॑ । सि॒ꣳही । अ॒सि॒ । आ । व॒ह॒ । दे॒वान् । यज॑मानाय । स्वाहा॑ । भू॒तेभ्यः॑ । त्वा॒ ॥ १२ ॥

❀ **पदार्थः**—(सिंही) अविद्याहन्त्री । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (स्वाहा) वाक् । (सिंही) क्रूरत्वादिदोषविनाशिका । (असि) अस्ति । (आदित्यवनिः)[1] या आदित्यान् मासान् वनति संभजति सा । (स्वाहा) ज्योतिःशास्त्रसंस्कारयुक्ता वाणी । (सिंही) बलेन जाड्यत्वविनाशिनी । (असि) अस्ति । (ब्रह्मवनिः) यया ब्रह्मविदो मनुष्या ब्रह्म परमात्मानं वेदं वा वनन्ति संभजन्ति सा । (क्षत्रवनिः)[2] यया क्षत्रं राज्यं धनुर्विद्यां शूरवीरान् पुरुषान् वा वनन्ति संभजन्ति सा । (स्वाहा) अध्ययनाध्यापनराजव्यवहारकुशला वाक् । (सिंही) चोरदस्य्वन्यायप्रलयकारिणी । (असि) अस्ति । (सुप्रजावनिः) यया शोभनाः प्रजा वनति संभजति सा । (रायस्पोषवनिः) यया रायो विद्याधनसमूहस्य पोषं पुष्टिं वनति संभजति सा । (स्वाहा) व्यवहारेण धनप्रापिका । (सिंही) सर्वदुःखप्रणाशिका । (असि) अस्ति । (आ) समन्तात् । (वह) वहति प्रापयति । (देवान्) विदुषो दिव्यगुणानृतून् भोगान् वा । (यजमानाय) यजति विदुषः पूजयति सद्गुणान् संगच्छते ददाति वा तस्मै । (स्वाहा) दिव्यविद्यासंपन्ना । (भूतेभ्यः) मनुष्यादिप्राणिभ्यः । [(त्वा) ताम्] ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । २ । ११-१३ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः[3]—अहं याऽऽदित्यवनिः सिंही स्वाहाऽस्यस्ति, या ब्रह्मवनिः सिंही स्वाहाऽस्यस्ति, या क्षत्रवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति, या रायस्पोषवनिः सिंही स्वाहास्यस्ति, या सुप्रजावनिः सिंही स्वाहा [ऽस्यस्ति] या यजमानाय देवानावह प्रापयति [त्वा] तां भूतेभ्यो यज्ञान्निःसृजामि ॥ १२ ॥

अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रात् (यज्ञात्) (निः) (सृजामि) इति पदत्रयमनुवर्त्तते ॥

भावार्थः[4]—मनुष्यैरध्ययनादिनेदृग्लक्षणां वेदादिवाणीं प्राप्यैतां सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽध्याप्यानन्दयितव्यम् () ॥ १२ ॥

---

१ कतम आदित्या इति । द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳसर्वमिदमाददाना यन्ति, यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति । श० ११ । ६ । ३ । ८ ॥

२ तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति, तद्राष्ट्रं समृद्धं तद् वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते । ऐ० ८ । ९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आदित्यवनिः)आदित्यशब्दोपपदाद् 'वन'धातोः छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् (अ० ३ । २ । २७) इति इन् प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे नित्वादाद्युदात्तमुत्तरपदम् ॥

(सुप्रजावनिः, रायस्पोषवनिः) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् (अ० ३ । २ । २७) इतीन् प्रत्ययः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे नित्वादाद्युदात्तत्वेन वकार उदात्तः ॥

३ आध्यात्मिकार्थोऽत्र प्रदर्शितः । आधिदैविकार्थो विद्युत्परत्वेन बोध्यः । तदन्तर्भूत एवाधियज्ञपरोऽपि ॥

४ पदार्थनिरूपितामिति भावः ॥

❀ इतः पूर्वम्—"अतोऽग्रे यस्य व्यत्ययः करिष्यते तस्य ग्रहणं त्वन्वये न करिष्यते, यत्र निष्पन्नं पदं तत् खलु ग्रहीष्यत इति सर्वत्र सज्जनैर्बोध्यम्" इति पाठः क. हस्तलेख उपलभ्यते । न पूर्वत्र नापि परत्रैष नियमः सम्यक्परिपालितो दृश्यते, एतस्माद् हेतोः ग. कोशेऽयं लेखो नोपलभ्यते, अन्यद्वा किमप्यत्र कारणं स्यादिति तु न विद्मः ॥

() 'आनन्दयितव्याः' इति अजमेरमुद्रिते ग. कोशे च पाठः । क. कोशे तु 'आनन्दयितव्यम्' इत्येव पाठः ॥

फिर वह कैसी है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—मैं जो (आदित्यवनिः) मासों का सेवन और (सिंही) क्रूरत्व आदि दोषों को नाश करनेवाली (स्वाहा) ज्योतिःशास्त्र से संस्कारयुक्त वाणी (असि) है, जो (ब्रह्मवनिः) परमात्मा वेद और वेद के जाननेवाले मनुष्यों का सेवन और (सिंही) बल से जाड्यपन को दूर करनेवाली (स्वाहा) पढ़ने पढ़ाने [रूप] व्यवहारयुक्त वाणी (असि) है, जो (क्षत्रवनिः) राज्य धनुर्विद्या और शूरवीरों का सेवन और (सिंही) चोर डाकू अन्याय को नाश करनेवाली (स्वाहा) राज्य व्यवहार में कुशल वाणी (असि) है, जो (रायस्पोषवनिः) विद्या धन की पुष्टिका सेवन और (सिंही) अविद्या को दूर करनेवाली (स्वाहा) वाणी (असि) है, जो (सुप्रजावनिः) उत्तम प्रजा का सेवन और (सिंही) सब दुःखों का नाश और (स्वाहा) व्यवहार से धनको प्राप्त करानेवाली वाणी (असि) है, और जो (यजमानाय) विद्वानों के पूजन करानेवाले यजमान के लिये दिव्य विद्यासंपन्न वाणी (देवान्) विद्वान् दिव्यगुण वा भोगों को (आवह) प्राप्त करती है, (त्वा) उसको (भूतेभ्यः) सब प्राणियों के लिये (यज्ञात्) यज्ञ से (निःसृजामि) सम्पादन करता हूँ ॥ १२ ॥

इस मन्त्र में पूर्वमन्त्र से (यज्ञात्) (निः) (सृजामि) इन तीन पदों की अनुवृत्ति है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि पढ़ने पढ़ाने आदि से इस प्रकार लक्षणयुक्त[2] वाणी प्राप्त कर, इसे सब मनुष्यों को पढ़ाकर सदा आनन्द में † रहें ॥ १२ ॥

ध्रुवोऽसीत्यस्य गोतम ऋषिः । यज्ञो देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनरयं यज्ञः कीदृश इत्युपदिश्यते[3] ॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृꣳह ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृꣳहाच्युतक्षिदसि दिवं दृꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥ १३ ॥

ध्रुवः । असि । पृथिवीम् । दृꣳह । ध्रुवक्षिदिति ध्रुवऽक्षित् । असि । अन्तरिक्षम् । दृꣳह । अच्युतक्षिदित्यच्युतऽक्षित् । असि । दिवम् । दृꣳह । अग्नेः । पुरीषम् । असि ॥ १३ ॥

पदार्थः—(ध्रुवः) निश्चलः । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (पृथिवीम्) भूमिं तत्स्थं पदार्थसमूहं वा । (दृꣳह) वर्धय । (ध्रुवक्षित्) यो ध्रुवाणि सुखानि शास्त्राणि वा क्षियति निवासयति सः । (असि) अस्ति । (अन्तरिक्षम्) आकाशस्थं पदार्थसमूहं । (दृꣳह) वर्धय । (अच्युतक्षित्) योऽच्युतान् नाशरहितान् पदार्थान् क्षियति निवासयति सः । (असि) अस्ति । (दिवम्) विद्यादिप्रकाशम् । (दृꣳह) वर्धय । (अग्नेः) विद्युदादेः । (पुरीषम्[4]) पशूनां प्रपूर्तिकरं साधनम् । पुरीष्योऽसि पशव्योऽसि । शत० ६ । ४ । २ । १ । (असि) अस्ति ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । २ । १४ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

१ पुनः वाणी का विशेषतया वर्णन करते हैं—॥१२॥
२ अर्थात् पदार्थ में निरूपित ॥
३ एवं प्रसङ्गाद् वाचमुपवर्ण्य क्र तदुपयोग इत्याह—
४ प्रजा पशवः पुरीषम् ॥ तै० ३ । २ । ८ । ९ ॥ पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति ॥ श० २ । १ । १ । ७ ॥

† 'रहना चाहिये' इति कोशेषु पाठः ॥

अन्वयः—हे विद्वन् ! यो यज्ञो ध्रुवोऽस्यस्ति पृथिवीं वर्धयति, तं त्वं दृंह, यो ध्रुवक्षिदस्यस्त्यन्तरिक्षमाकाशस्थान् पदार्थान् पोषयति, तं त्वं दृंह, योऽच्युतक्षिदस्यस्ति दिवं प्रकाशयति, तं त्वं दृंह, योऽग्नेः पुरीषमस्यस्ति, तं त्वमनुतिष्ठ ॥ १३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्याक्रियासिद्धं त्रैलोक्यस्थपदार्थपोषकं विद्याक्रियामयं यज्ञमनुष्ठाय सुखयितव्यम् ॥ १३ ॥

फिर वह यज्ञ कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3]॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्यो ! जो यज्ञ (ध्रुवः) निश्चल ‡(असि) [है, वह] (पृथिवीम्) भूमि को बढ़ाता है, उसको तुम ((दृंह) बढ़ाओ, जो (ध्रुवक्षित्) निश्चल सुख और शास्त्रों का निवास करानेवाला (असि) है, वा (अन्तरिक्षम्) आकाश में रहनेवाले पदार्थों को पुष्ट करता है, उसको तुम (दृंह) बढ़ाओ, जो (अच्युतक्षित्) नाशरहित पदार्थों का निवास करानेवाला (असि) है, वा (दिवम्) विद्यादिप्रकाश को प्रकाशित करता है, उसको तुम (दृंह) बढ़ाओ, जो (अग्नेः) बिजली आदि अग्नि वा (पुरीषम्) पशुओं की पूर्त्ति करनेवाला यज्ञ (असि) है, उसका अनुष्ठान तुम किया करो ॥ १३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि विद्या तथा क्रिया से सिद्ध वा त्रिलोकी के पदार्थों को पुष्ट करने वाले, विद्याक्रियामय यज्ञ का अनुष्ठान करके सुखी रहें और सब को रक्खें ॥ १३ ॥

युञ्जते मन इत्यस्य गोतम ऋषिः । सविता देवता । स्वराडार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ योगीश्वरगुणा उपदिश्यन्ते[4] ॥

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽ इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा ॥ १४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(युञ्जते) लादेशस्य प्रत्ययाद्युदात्तत्वेन मध्योदात्तः । सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते ॥

(ध्रुवक्षित्, अच्युतक्षित्) उभयत्र यथायथसुपपदे क्षियतेः क्विप् प्रत्ययः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(पुरीषम्) पॄपॄभ्यां किच्च (उ० ४ । २७) इतीषन्, नित्वादाद्युदात्तः, तस्मात् मत्वर्थीयोऽच्, छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वं वृषादित्वाद्वा ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अधियज्ञपरोऽयमन्वयः । यज्ञस्य त्रिविधत्वादपराबप्यर्थावूहनीयौ ॥

२ त्रिलोकीशब्दात् ब्राह्मणादित्वात् स्वार्थे ष्यञ् ॥

३ इस प्रकार प्रसङ्ग से वाणी का निरूपण करके उस का उपयोग कहाँ होता है, यह दर्शाते हैं—॥१३॥

४ मानसैकतानतायाः सर्वशुभकर्मसाधकत्वात् तस्य च योगाधीनत्वाद् योगिनमीश्वरं च वर्णयति—

‡ इतोऽग्रे '(पृथिवीम्) भूमि को बढ़ाता' इति ग. कोशेऽजमेरमुद्रिते च पाठः । अस्माभिस्तु क. पाठः स्वीकृतः । स च सम्यक् । ग. कोशे प्रमादेन व्यस्तो जातः स्यात् ॥

युञ्जते । मनः । उत । युञ्जते । धियः । विप्राः । विप्रस्य । बृहतः । विपश्चित इति विपःऽचितः ॥ वि । होत्राः । दधे । †वयुनावित् । †वयुनविदिति वयुनऽवित् । एकः । इत् । मही । देवस्य । सवितुः । परिष्टुतिः । परिस्तुतिरिति परिऽस्तुतिः । स्वाहा ॥ १४ ॥

पदार्थः—(युञ्जते) समादधते । (मनः) चित्तम् । (उत) अपि । (युञ्जते) स्थिराः कुर्वते । (धियः) बुद्धीः, कर्माणि वा । (विप्राः[1]) मेधाविनः । विप्र इति मेधाविनामसु पठितम् । निघ० ३ । १५ । (विप्रस्य) अनन्तप्रज्ञाकर्मणो जगदीश्वरस्य । (बृहतः) व्यापकस्य वा । (विपश्चितः) अनन्तविद्यस्य परमविदुषो वा । (वि) विविधार्थे । (होत्राः) ये जुह्वत्याददति वा ते । (दधे) धरे वृणोमि कथयामि वा । (वयुनावित्) यो वयुनानि प्रशस्तानि कर्माणि वेत्ति सः । वयुनमिति प्रशस्यनामसु पठितम् । निघ० ३ । ८ । अत्रान्येषामपि दृश्यत [अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घः । (एकः) असहायः । (इत्) एव । (मही) महती । (देवस्य) सर्वप्रकाशकस्य । (सवितुः) सकलोत्पादकस्य । (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तूयते यया सा । (स्वाहा) सत्यां वाचम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ३ । ११, १२ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः[2]—यथा ‡ये होत्राः※ विप्राः सन्ति ते या बृहतो विप्रस्य विपश्चितः सवितुर्देवस्य यस्य महेश्वरस्य मही परिष्टुतिस्वरूपा स्वाहास्ति, तां विज्ञायैतस्मिन्नेव मनो युञ्जत उतापि धियो युञ्जते, तथैवैतां विदित्वास्मिन् वयुनाविदेकोऽहं मनो विदधे युञ्जे धियं च ॥ १४ ॥

अत्र [वाचकलुप्तो] पमालङ्कारः ॥

भावार्थः— [मनुष्यैः] परमेश्वर एव मनो धियश्च समाधाय विदुषां संगेन विद्यां प्राप्यान्येभ्य एवमेवोपदेष्टव्यम् ॥ १४ ॥

---

१ प्रजापतिर्वै विप्रः ॥ श० ६ । ३ । १ । १६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(बृहतः) निरुक्तो बृहच्छब्दः पूर्वत्र (पृ० १६३), शतृवत्कार्यातिदेशादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादन्तोदात्तत्वमित्यपि तत्रैवोक्तम् । ततः शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति ङस उदात्तत्वम् । यदा तु अन्तोदात्तत्वं नेष्यते (बृहस्पत्यादावाद्युदात्तत्वदर्शनात्) तदा बृहन्महतोरुपसंख्यानम् (अ० ६ । १ । १७३ भा० वा०) इत्यनेन विभक्तेरुदात्तत्वं बोध्यम् ॥

(वयुनावित्) वयुनशब्दोपपदात् वेत्तेः क्विप् । गतिकारकोपपदात्० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(परिष्टुतिः) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व उपसर्गत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । अपरावप्यर्थौ पदार्थत ऊहनीयौ ॥ मन्त्रोऽयं य० ११ । ४ ॥ ३७ । २ ॥ तथा ऋ० ५ । ८१ । १ भाष्ये, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पृ० १६२ च भेदेन व्याख्यातस्तत्र तत्र द्रष्टव्यः ॥

---

† उभयोः स्थाने 'वयुनाविदिति वयुनऽवित्' इत्येवाशुद्धः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

‡ 'ये' इति पदं हस्तलेखेषु विद्यमानमपि मुद्रणे प्रमादात् त्यक्तम् ॥

※ क. हस्तलेखे 'ये होत्रा विप्राः सन्ति ते' इत्युत्तरार्धे पाठ आसीत्, 'तां विदधे' इति पूर्वार्धे । तयोः परिवर्तने क्रियमाणे पाठो व्यस्ततां गतः ॥

अब अगले मन्त्र में योगी और ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—जैसे जो (होत्राः) देने लेने वाले (विप्राः) बुद्धिमान् मनुष्य हैं, वे जिस (बृहतः) सब से बड़े (विप्रस्य) अनन्त ज्ञानकर्मयुक्त (विपश्चितः) सब विद्या सहित (सवितुः) सकल जगत् के उत्पादक (देवस्य) सब के प्रकाश करने वाले महेश्वर की (मही) बड़ी (परिष्टुतिः) सब प्रकार की स्तुतिरूप (स्वाहा) सत्यवाणी को जान, उसमें [(इत्) ही] (मनः) मन को (युञ्जते) युक्त करते हैं, (उत) और (धियः) बुद्धियों को भी (युञ्जते) स्थिर करते हैं, वैसे (वयुनावित्) उत्तम कर्मों को जाननेवाला (एकः) सहायरहित मैं उसको जान उसमें अपना मन और बुद्धि को (विदधे) ❀ धारण करता हूँ ॥ १४ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर में ही मन बुद्धि को युक्त कर विद्वानों के संग से विद्या को पा सुखी हो अन्य मनुष्यों को भी इसी प्रकार † आनन्दित करें ॥ १४ ॥

इदं विष्णुरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः स जगदीश्वरः कीदृश इत्युपदिश्यते[2] ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥ १५ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदम् ॥ समूढमिति सम्ऽऊढम् । अस्य । पांसुरे । स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(इदम्) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं जगत् । (विष्णुः[3]) यो वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स जगदीश्वरः । (वि) विविधार्थे । (चक्रमे) क्रान्तवान् निक्षिप्तवान्, क्राम्यति क्रमिष्यति वा । अत्र सामान्येऽर्थे लिट् । (त्रेधा) त्रिप्रकारम् । (नि) नितराम् । (दधे) हितवान् दधाति धास्यति वा । (पदम्) पद्यते गम्यते यत्तत् । अत्र घञर्थे कविधानम्० [अ० ३ । ३ । ५८ भा० वा०] इति कः प्रत्ययः । (समूढम्) सम्यगुह्यतेऽनुमीयते शब्द्यते यत्तत् (अस्य) त्रिविधस्य जगतः । (पांसुरे) पांसवो रेणवो रजांसि रमन्ते यस्मिन्नन्तरिक्षे तस्मिन् । (स्वाहा) सुहुतं जुहोतीत्यर्थे ॥ इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं व्याख्यातवान्—यदिदं किं च तद् विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा । निरु० १२ । १९ ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ३ । १३ व्याख्यातः ॥ १५ ॥

---

1 चित्त की एकाग्रता समस्त शुभ कर्मों में साधक है, और वह योगसाधन द्वारा ही हो सकती है, अतः योगी और ईश्वर का निरूपण करते हैं—॥ १४ ॥

2 योगिप्रसङ्ग एवेश्वरं वर्णयति, प्राणं चाप्राधान्येन—

3 (क) यद् विषितो भवति, तद् विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति । 'इदं विष्णु······'। निरु० १२ । १८ ॥

(ख) विष्णुः परमात्मा इति य० ४ । १७ विवरणे द्रष्टव्यम् ॥

❀ '(विदधे) सदा निश्चल विधान कर रखता हूँ' इति अ० मुद्रितपाठः । 'सदा निश्चल करता हूँ' इति क. पाठः ॥

† संस्कृतानुसारं 'उपदेश करें' इति स्यात् ॥

अन्वयः—यो विष्णुर्जगदीश्वरो यत्किञ्चिदिदं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षं जगद् वर्त्तते, तत् सर्वं विचक्रमे रचितवान् त्रेधा निदधे निदधात्यस्य त्रिविधस्य जगतः परमाण्वादिरूपं स्वाहा सुहुतं समूढमदृश्यं पदं पांसुरेऽन्तरिक्षे निहितवानस्ति, स सर्वैः सुसेवनीयः ॥ १५ ॥

भावार्थः—परमेश्वरेण यत् प्रथमं प्रकाशवत् सूर्यादि, द्वितीयमप्रकाशवत् पृथिव्यादि प्रसिद्धं जगद्रचितमस्ति, यच्च तृतीयं परमाण्वाद्यदृश्यं सर्वमेतत्कारणावयवै रचयित्वाऽन्तरिक्षे स्थापितं, तत्रौषध्यादि पृथिव्याम्, अग्न्यादिकं सूर्ये, परमाण्वादिकमाकाशे निहितं, सर्वमेतत् प्राणानां शिरसि स्थापितवानस्ति । सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद्यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम ॥ शत० १४ । ८ । १५ । ६-७ । अनेन गयशब्देन प्राणानां ग्रहणम् ॥ अत्र *महीधरः* प्रभुरकृति त्रिविक्रमावतारं कृत्वेत्यादि तदशुद्धं सज्जनैर्बोध्यम् ॥ १५ ॥

फिर वह जगदीश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—(विष्णुः) जो सब जगत् में व्यापक जगदीश्वर जो कुछ (इदम्) यह जगत् है, उसको (विचक्रमे) रचता हुआ इस प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् को (त्रेधा) तीन प्रकार का [(निदधे)] धारण करता है। (अस्य) इस प्रकाशवान्, प्रकाशरहित और अदृश्य तीन प्रकार के परमाणु आदि रूप (स्वाहा) अच्छे प्रकार देखने और दिखलाने योग्य जगत् का ग्रहण करता हुआ इस (समूढम्) अच्छे प्रकार विचार करके कथन करने योग्य अदृश्य [(पदम्)] जगत् को (पांसुरे) अन्तरिक्ष में स्थापित करता है, वही सब मनुष्यों को उत्तम रीति से सेवने योग्य है ॥ १५ ॥

भावार्थः—परमेश्वर ने जिस प्रथम प्रकाशवाले सूर्यादि, दूसरा प्रकाशरहित पृथिवी आदि और जो तीसरा परमाणु आदि अदृश्य जगत् है, उस सबको कारण से रचकर अन्तरिक्ष में स्थापन किया है उनमें से ओषधी

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(त्रेधा) त्रिशब्दात् संख्याया विधार्थे धा (अ० ५ । ३ । ४२) इति 'धा' प्रत्ययः । तस्य एधाच्च (अ० ५ । ३ । ४६) इति 'एधाच्' आदेशः । यस्येति च (अ० ६ । ४ । १४८) इतीकारलोपः, चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(समूढम्) सम्पूर्वाद् 'वह' धातोः कर्मणि निष्ठा । गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(अस्य) इदमोऽन्वादेशे० (अ० २ । ४ । ३२) इत्यशादेशः, स चानुदात्तः ॥

(पांसुरे) कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इति छान्दसोऽधिकरणे 'ड'प्रत्ययः ॥ यद्वा सिध्मादिभ्यश्च (अ० ५ । २ । ९७) इति मत्वर्थीयो 'लच्' प्रत्ययः, छान्दसो रभावः ॥ यद्वा छान्दसो मत्वर्थीयो 'र'प्रत्ययः ॥ वृत्तिकारस्तु—नगपांसुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम् (का० अ० ५ । २ । १०७) इति व्यक्तमेव 'र'प्रत्ययं पठितवान् । प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आध्यात्मिकार्थपरोऽत्रान्वयः, अपरात्वर्थोवूहनीयौ ॥ मन्त्रोऽयं ऋ० १ । २२ । १७, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृ० ३१२-३१३) च सुव्याख्यातस्तत्रापि द्रष्टव्यः ॥

२ "प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः" इति ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पृ० ३१२ ॥

३ योगी के प्रसङ्ग में ईश्वर का निरूपण करते हैं, और गौणतया प्राण का भी—

आदि पृथिवी में, प्रकाश आदि सूर्यलोक में, और परमाणु आदि आकाश और इस सब जगत् को प्राणों के शिर[1] में स्थापित किया है। इस [संस्कृत में] लिखे हुए शतपथ के प्रमाण से गय शब्द से प्राणों का ग्रहण किया है, इसमें महीधर जो कहता है कि त्रिविक्रम अर्थात् वामनावतार को धारण करके जगत् को रचा है, यह उसका कहना सर्वथा मिथ्या है ॥ १५ ॥

इरावतीत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। विष्णुर्देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

*पुनरीश्वरप्राणगुणा उपदिश्यन्ते[2] ॥

इरा॑वती धेनु॒मती॒ हि भू॒तꣳ सू॑यव॒सिनी॒ मन॑वे दश॒स्या।
व्य॑स्कभ्ना॒ रोद॑सी विष्णवे॒ते दा॒धर्थ॑ पृथि॒वीम॒भितो॑ म॒यूखैः॒ स्वाहा॑ ॥ १६ ॥

इरा॑वती॒ इतीरा॑ऽवती। धेनु॒मती॒ इति॑ धेनु॒ऽमती॑। हि। भू॒तम्। सू॒य॒व॒सिनी॑। सु॒य॒व॒सिनी॒ इति॑ सुऽयव॒सिनी॑। मन॑वे। द॒श॒स्या॥ वि। अ॒स्क॒भ्नाः। रोद॑सी॒ऽइति॒ रोद॑सी। वि॒ष्णो॒ऽइति॑ विष्णो। ए॒तेऽइत्ये॒ते। दा॒धर्थ॑। पृ॒थि॒वीम्। अ॒भितः॑। म॒यूखैः॑। स्वाहा॑ ॥ १६ ॥

पदार्थः—(इरावती) इराः प्रशस्तान्यन्नानि विद्यन्ते यस्यां सा, अत्र प्रशंसार्थे मतुप्। इरेत्यन्ननामसु पठितम्। निघ० । २ । ७ । (धेनुमती) प्रशस्ता बह्वो धेनवो वाचः पशवो वा सन्त्यस्यां सा, अत्र प्रशंसार्थे भूम्न्यर्थे च मतुप्। (हि) किल। (भूतम्) उत्पन्नं सर्वं जगत्। (सूयवसिनी) बहूनि शोभनानि मिश्रितान्यमिश्रितानि वस्तूनि विद्यन्ते यस्यां सा। (मनवे) मन्यते येन ज्ञानेन तस्मै बोधाय [प्राणाय वा]। (दशस्या[3]) दश इवाचरति तस्मै, अत्र बाहुलकादसुन्, स च कित्, तत आचारे क्यच्। (वि) विशेषार्थे। (अस्कभ्नाः) प्रतिबध्नासि प्रतिबध्नाति वा। (रोदसी) प्रकाशपृथिवीलोकसमूहौ। (विष्णो) सर्वव्यापिन् जगदीश्वर! ‡व्यापनशीलः प्राणो वा। ((एते) विद्वांसः। (दाधर्थ) धरसि धरति वा। दाधर्त्ति० अ० ७। ४। ६५ अनेनायं यङ्लुगन्तो निपातितः। (पृथिवीम्) भूमिमन्तरिक्षं वा। पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्। निघ० १। ३। (अभितः) सर्वतः। (मयूखैः[4]) ज्ञानप्रकाशादिगुणै रश्मिभिर्वा। मयूखा इति रश्मिनामसु पठितम्। निघ० १। ५। (स्वाहा) वेदवाणीं चक्षुरिन्द्रियं वा॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ५। ३। १४ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

१ यहां 'गयशिरः' शब्द से प्राणों वा प्रजाओं का जो उत्तमाङ्ग प्रकृतिरूप है, वह लिया जाता है, तथा ईश्वर की सामर्थ्य का नाम भी 'गयशिरः' है॥ यह ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृ० ३१२ के पूर्वोक्त संस्कृतस्थल का अभिप्राय है ॥ १५ ॥

२ सूर्यस्य प्राणहेतुत्वाल्लोकान्तराधारत्वाच्चेश्वरं, सूर्यसादृश्येन च प्राणं वर्णयति—

३ 'दशस्यति' दानकर्मस्वपि बोध्यम् ॥

४ मिमीते मान्यहेतुर्भवतीति मयूखः, किरणः कान्तिकरा ज्वाला वा ॥ उ० वृ० ५। २५ ॥

*'पुनरीश्वरसूर्यगुणाः' इति सार्वत्रिकः पाठः। संस्कृतपदार्थे '(विष्णो) व्यापनशीलः प्राणो वा' इति पश्यामः। तत्र च पूर्वं क. कोशे 'व्यापनशीलाय सूर्याय वा' इति पाठ आसीत्। स च ग. कोशे संशोधितः। तथा सत्यत्रापि 'ईश्वरप्राणगुणा उपदिश्यन्ते' इत्येव युक्तं स्यात् ॥

‡ 'व्यापनशीलाय सूर्याय वा' इति क. पाठः, स च ग. कोशे संशोध्य अ० मुद्रितवत् कृतः ॥

अन्वयः—हे विष्णो जगदीश्वर ! यस्त्वं येरावती धेनुमती सूयवसिनी [भूमिर्वाग्वास्ति तां] [पृथिवीम्] भूमिं स्वाहा हि किल वाणीं भूतमुत्पन्नं सकलं जगच्च मयूखैरभितो दाधर्थ धरसि रोदसी व्यस्कम्नाः प्रतिबध्नासि तस्मै [दशस्या] दशस्याय मनवे वयमेते च सर्वं जगन्निवेदयामो निवेदयन्तीत्येकः ॥

यो विष्णो प्राणो येरावती धेनुमती सूयवसिनी भूमिर्वाग्वास्ति तां पृथिवीं स्वाहा वागिन्द्रियं च मयूखैरभितो दाधर्थ धरति, रोदसी व्यस्कम्नाः प्रतिबध्नाति, तस्मै [दशस्या] दशस्याय मनवे † प्राणाय मूर्तं हि किलोत्पन्नं सर्वं कार्यं जगत् प्रकाशितुं समर्थं प्राणं [एते] सर्वे विजानीम *इति द्वितीयः* ॥ १६ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा सूर्यः स्वकिरणैः स्वकान्तिभिः सर्वं भूम्यादिकं जगत् संस्तभ्याकृष्य धरति, तथैव परमेश्वरः प्राणो वा स्वसामर्थ्येन सर्वं प्राणादिकं जगद् ‡रचयित्वा संधार्य व्यवस्थापयति ॥ १६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इरावती) इण्धातोः ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २ । २८) इत्यत्र निपातनाद् 'रन्'प्रत्ययो गुणाभावश्च, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । ततः तदस्यास्त्य० (अ० ५ । २ । ९४) इति प्रशंसार्थे मतुप्, स च पित्त्वादनुदात्तः ॥

(धेनुमती) धेट इच (उ० ३ । ३४) इति धेटो 'नु'प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । ततो ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६ । १ । १७६) इति मतुप उदात्तत्वम् । ततो ङीप्, स चानुदात्तः ॥

(सूयवसिनी) 'यु' धातोरौणादिकः 'असच्' प्रत्ययो बाहुलकाद् इति 'यवस'शब्दः । 'सुयवस'-शब्दात् अत इनिठनौ (अ० ५ । २ । ११५) इति 'इनि'प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततो निपातस्य च (अ० ६ । ३ । १३६) इति दीर्घः । तत ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४ । १ । ५) इति ङीप्, स चानुदात्तः ॥

पदपाठानुसारं 'इरावती' 'धेनुमती' 'सूयवसिनी' एतानि त्रीणि पदानि द्विवचनान्तानि । तत्र विभक्तेः पूर्वसवर्णादेशः ॥

(मनवे) कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०) बाहुलकाद् भावे 'उ'प्रत्यय औणादिकः । निदनुवर्तनादाद्युदात्तत्वम् ॥

(दशस्या) दंशधातोरसुन्, तस्य बाहुलकात् किरवेऽनुनासिकलोपे उपमानादाचारे (अ० ३ । १ । १०) इति क्यचि चित्त्वाद् धातुस्वरत्वाद् वान्तोदात्तः । ततः अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३ । २ । ७५) इति विच् । तस्य सर्वापहारे प्रातिपदिकत्वान्ङेविभक्तिः । तस्य सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति आकारादेशः । एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्येकादेश उदात्तः ॥

(रोदसी) रुदेः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीप् । सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति पूर्वसवर्णः ॥ अत्र निरुक्तम्—रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात् (नि० ६।१) । अत्र पक्षे पृषोदरादित्वाद् धकारस्य दकारः ॥

(दाधर्थ) इतिकरणस्योपसंग्रहार्थत्वाद् दाधर्त्तिवद् यङ्लुकि लिटि मध्यमैकवचनेऽभ्यासस्य दीर्घत्वं निपात्यते । ···अमन्त्रे (अ० ३ । १ । ३५) इति प्रतिषेधादाम् न । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् ॥

(अभितः) पर्यभिभ्यां च (अ० ५ । ३ । ९) इति तसिल् । लित्स्वरेण मध्योदात्तत्वम् ॥

(मयूखैः) माङ ऊखो मय च (उ० ५ । २५) इति 'ऊख'प्रत्ययः, माङो मयादेशश्च । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आध्यात्मिकाधियज्ञपरौ चात्रार्थौ, आधिदैविकोऽपि तत एवोहनीयः ॥ अत्रान्वयावस्पष्टार्थौ स्त इति प्रतीमः ॥

† 'सूर्याय' इति क. पाठः ॥

‡ 'रचित्वा' इत्यजमेरमुद्रिते ग. कोशे च पाठः । 'रचयित्वा' इति क. कोशे पाठः ॥

अगले मन्त्र में ईश्वर और †प्राण के गुणों का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—‡ हे (विष्णो) सर्वव्यापी जगदीश्वर ! जो आप जिस (इरावती) उत्तम अन्नयुक्त (धेनुमती) प्रशंसनीय बहुत वाणीयुक्त प्रजा वा पशुयुक्त (सूयवसिनी) बहुत मिश्रित अमिश्रित वस्तुओं के सहित भूमि वा वाणी (पृथिवीम्) भूमि (हि) निश्चय करके (स्वाहा) वेदवाणी वा (भूतम्) उत्पन्न हुए सब जगत् को (मयूखैः) ज्ञान प्रकाशकादिगुणों से (अभितः) सब ओर से (दाधर्थ) धारण और (रोदसी) प्रकाश वा पृथिवीलोक का (व्यस्कभ्नाः) सम्यक् स्तम्भन करते हो, उन (मनवे) विज्ञानयुक्त (दशस्या) दंशन अर्थात् दांतों के बीच में स्थित जिह्वा के समान आचरण करनेवाले आपके लिये (एते) ये हम लोग सब जगत् को निवेदन करते हैं *[यह प्रथम अर्थ हुआ]* ॥ १ ॥

जो (विष्णो) व्यापनशील प्राण जो (इरावती) उत्तम अन्नयुक्त (धेनुमती) पशुसहित (सूयवसिनी) बहुत मिश्रित अमिश्रित पदार्थवाली भूमि वा वाणी है, उस (पृथिवीम्) भूमि वा (स्वाहा) इन्द्रिय को (मयूखैः) किरणों, अपने बल आदि [से] (अभितः) सब प्रकार (दाधर्थ) धारण करता वा (रोदसी) प्रकाश भूमि को (व्यस्कभ्नाः) स्तम्भन करता है, उस (दशस्या) दशन और दान्त के समान आचरण करने वा (मनवे) विज्ञापनयुक्त ※प्राण के लिये (हि) निश्चय करके (भूतम्) सब जगत् को करने के लिये ईश्वर ने दिया है, ऐसा (एते) ये सब हम लोग जानते हैं *[यह दूसरा अर्थ हुआ]* ॥ २ ॥ १६ ॥

इस मन्त्र में ‡‡श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य अपने किरणों से सब भूमि आदि जगत् को प्रकाश आकर्षण और विभाग करके धारण करता है, वैसे ही परमेश्वर और प्राण ने अपने सामर्थ्य से सूर्य आदि जगत् को धारण करके अच्छे प्रकार स्थापन किया है ॥ १६ ॥

देवश्रुतावित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विष्णुर्देवता । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते[2] ॥

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऽ ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम् । स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्ये ऽ आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः ॥ १७ ॥

---

१ प्राणों का आधार सूर्य और लोक लोकान्तरों का आधार ईश्वर होने से सूर्य की समानता से प्राणों का निरूपण करते हैं—॥ १६ ॥

२ पुनस्तमेवार्थं द्रढयति—

---

† संस्कृतमन्त्रसंगतिटिप्पण्यां यदुक्तं तदत्रापि बोध्यम् ॥

‡ यहाँ मन्त्रार्थ अस्पष्ट प्रतीत होता है ॥

※ 'सूर्य के लिये' इति सार्वत्रिकः पाठः । तत्र च यथाऽस्माभिः पूर्वं संस्कृतमन्त्रसंगतिपदार्थयोष्टिप्पण उक्तं तथापि 'प्राण के लिये' इत्येव साधीयानिति ध्येयम् ॥

‡‡ 'इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा०' इति ग, कोशेऽजमेरमुद्रिते च पाठः । संस्कृतपाठे (अ० मुद्रिते ऽपि) क. कोशे च 'इस मन्त्र में श्लेषालंकार है' इत्येव पाठः ॥

दे॒व॒श्रु॒तावि॑ति॑ दे॒व॒ऽश्रु॒तौ । दे॒वेषु॑ । आ । घो॒ष॒त॒म् । प्राची॒ऽइति॒ प्राची॑ । प्र । इ॒त॒म् । अ॒ध्व॒रम् । क॒ल्प॒यन्ती॒ऽइति॑ क॒ल्पय॑न्ती । ऊ॒र्ध्वम् । य॒ज्ञम् । न॒य॒त॒म् । मा । जि॒ह्व॒र॒त॒म् ॥ स्वम् । गो॒ष्ठम् । गो॒स्थमि॒ति॒ गो॒ऽस्थ॒म् । आ । व॒द॒त॒म् । दे॒वी॒ऽइति॑ देवी । दु॒र्ये॒ऽइति॑ दुर्ये । आयुः॑ । मा । निः । वा॒दि॒ष्ट॒म् । प्र॒जामि॒ति॑ प्र॒ऽजाम् । मा । निः । वा॒दि॒ष्ट॒म् । अत्र॑ । र॒मे॒था॒म् । वर्ष्म॑न् । पृ॒थि॒व्याः ॥ १७ ॥

पदार्थः—(देवश्रुतौ) *यथा दिव्यविद्याश्रुतौ विद्वांसौ । (देवेषु) विद्वत्सु दिव्यगुणेषु वा प्रसिद्धौ । (आ) समन्तात् । (घोषतम्) घोषं कुर्वन्तौ स्तः । (प्राची) प्रकृष्टमञ्चति याभ्यां ते रोदसी,[1] अत्र सर्वत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति प्रथमाद्विवचनस्य लुक् । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (इतम्) प्राप्तौ भवतः । (अध्वरम्) अहिंसनीयम् । (कल्पयन्ती) समर्थयन्त्यौ । (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्टगुणम् । (यज्ञम्[2]) विज्ञानशिल्पसंगमनीयम् । (नयतम्) संप्राप्नुतम् । (मा) निषेधे । (जिह्वरतम्) कुटिलौ भवतम् । (स्वम्) स्वकीयम् । (गोष्ठम्) गवां स्थानम्, अत्र घञर्थे कविधानम्० [अ० ३ । ३ । ५८ वा०] इति कः । (आ) समन्तात् । (वदतम्) उपदिशतः । (देवी) दिव्यगुणसंपन्ने । (दुर्ये) गृहरूपे । (आयुः) जीवनं तन्निमित्तं वा । (मा) निषेधे । (निः) नितराम् । (वादिष्टम्) वदतम् । (प्रजाम्) उत्पन्नां सृष्टिम् । (मा) निषेधे । (निः) नितराम् । (वादिष्टम्) वदतम् । (अत्र) अस्मिन् जगति । (रमेथाम्) (वर्ष्मन्) सुखवृष्टियुक्ते । (पृथिव्याः) अन्तरिक्षस्य[3] मध्ये ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ३ । १३–२० व्याख्यातः॥ १७॥

१ पूर्वमन्त्रादनुवृत्त्या प्राप्तोऽयं 'रोदसी'शब्दः, तेन 'प्राची' तद्विशेषणवाचीति बोध्यम् ॥

२ य० १ । २ भाष्ये द्रष्टव्यं पृ० ३७ ॥

३ पृथिवी अन्तरिक्षस्थाना देवता इति निघण्टुनिरुक्त-प्रामाण्यादिति ध्येयम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(देवश्रुतौ) देवोपपदाच्छृणोतेः क्विप् । गतिकारको० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेऽन्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

'देवश्रुतौ' इति कारकाद् दत्तश्रुतयोरेवाशिषि (अ० ६ । २ । १४८) इत्याशिषोऽभावेन वर्ग्यादि० (अ० ६ । २ । १३१) पाठेनोत्तरपदादिस्वर इति स्वरसञ्चारिणी। तत् प्रलापमात्रमेव । अनाशिषि देवश्रुतशब्दे तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन भाव्यम् (द्र० का० अ० ६ । २ । १४८ पृ० ५७०) । न च वर्ग्यादिपाठेनाद्युदात्तत्वसम्भवः, वर्ग्यादिगणे दिगाद्यन्तर्गतानां वर्गादीनामेव यत्प्रत्ययान्तानां ग्रहणात् (द्र० का० अ० ६ । २ । १३१ पृ० ५६६)। एतेन स्वरसञ्चारिणीकृतः स्वरानभिज्ञताऽऽहोपुरुषिकामात्रञ्चेति सुव्यक्तम् ॥

(प्राची) प्राक्शब्दः कृत्स्वरेणोदात्तः । ततः अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् (अ० ४ । १ । ६ भा० वा०) इति ङीप् । स चानुदात्तः ॥ पदकारमते नात्र विभक्तेर्लुक्, अपि तु पूर्वसवर्णः, अन्यथा पदपाठे प्रगृह्यसंज्ञा न स्यात् । ईकारान्तप्रत्ययाभावात् ॥

(कल्पयन्ती) णिजन्तात् 'कृपू'धातोः शतरि उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीपि शप्श्यनोर्नित्यम् (अ० ७ । १ । ८१) इति नुम् । कृपो रो लः (अ० ८ । २ । १८) इति लत्वम् । तास्यनुदात्तेत्० (अ० ६ । १ । १८६) इति शतुरनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(गोष्ठम्) घञर्थे कविधानम्० (अ० ३ । ३ । ५८ भा० वा०) इति कप्रत्यये कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अत्र) लित्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(वर्ष्मन्) 'वृष'धातोः सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४ । १४५) इति मनिन्, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । ततः सप्तम्येकवचनस्य सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति लुकि न ङिसम्बुद्ध्योः (अ० ८ । २ । ८) इति नकारलोपाभावः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

* 'यौ देवैर्विद्वद्भिः श्रूयेते तौ प्राणापानौ' इति क. पाठः, स च सम्यक् स्यात् ॥

अन्वयः[1]—हे मनुष्या यथा यौ देवेषु देवश्रुतौ घोषतं व्यक्तं शब्दं कुरुतो ये प्राची कल्पयन्त्यूर्ध्वं [अध्वरम] यज्ञं प्रेतं प्रेतः [आनयतं] नयतस्ते च रोदसी यथा मा जिह्वरतं कुटिले न भवेतां, ‡तथा कुरुतं, ये देवी दुर्ये स्वं गोष्ठं समन्तात् ❀ प्राप्नुतस्ताभ्यां कस्याप्यायुर्मा निर्वादिष्टं, प्रजां मा निर्वादिष्टं विनष्टाम्मा कुरुतं पृथिव्यामन्तरिक्षस्य च मध्ये वर्ष्मणि जगति रमेथां तथानुतिष्ठत ⁑ ॥ १७ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यावज्जगदन्तरिक्षस्य मध्ये वर्त्तते, तावता सर्वेण बहूनि सुखानि सम्पादनीयानि॥१७॥

---

† फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम जैसे जो (देवेषु) विद्वान् या दिव्यगुणों में (देवश्रुतौ §) उत्तमविद्याओं का श्रवण किये हुये विद्वान् (घोषतम्) व्यक्त शब्द करें, और जो (प्राची) प्राप्त करने वा (कल्पयन्ती) सामर्थ्य वाली प्रकाश भूमि (ऊर्ध्वम्) उत्तम गुण युक्त [(अध्वरम्) हिंसारहित] (यज्ञम्) विज्ञान वा शिल्पमय यज्ञ को (प्रेतम्) जनाते रहें, (आनयतम्) प्राप्त करें, (मा जिह्वरतम्) कुटिल गति वाले न हों, [ऐसा यत्न तुम सब करो] जो (देवी) दिव्यगुणलक्षण (दुर्ये) गृहरूप (स्वम्) अपने (गोष्ठम्) किरण और अवयवों के स्थान के (आवदतम्) उपदेशनिमित्तक हों, (आयुः) आयु को (मा निर्वादिष्टम्) नष्ट न करें। (प्रजाम्) उत्पन्न हुई सृष्टि को (मा निर्वादिष्टम्) न नष्ट करें, और वे (पृथिव्याः) आकाश के मध्य (वर्ष्मन्) सुख से सेवनयुक्त (अत्र) इस जगत् में (रमेथाम्) रमण करें, ॥ ऐसा अनुष्ठान तुम सब करते रहो ॥ १७ ॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार] है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को जितना जगत् अन्तरिक्ष में वर्त्तता है, उतने से बहुत २ उत्तम सुखों का सम्पादन करना चाहिये ॥ १७ ॥

विष्णोर्नु कमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ व्यापकेश्वरगुणा उपदिश्यन्ते[3] ॥

विष्णो॒र्नु कं॑ वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यः पार्थि॑वानि वि॒म॒मे रजा॑ᳪंसि ।
योऽअस्क॑भाय॒दुत्त॑रᳪं स॒धस्थं॑ विचक्रमा॒णस्त्रे॒धोरु॑गा॒यो विष्ण॑वे त्वा ॥ १८ ॥

विष्णोः॑ । नु । कम् । ‖ वी॒र्या॑णि । प्र । वो॒च॒म् । यः । पार्थि॑वानि । वि॒म॒म इति॑ विऽम॒मे । रजा॑ᳪंसि ॥

---

१ अस्पष्टार्थोऽत्रान्वयः, भाषापदार्थश्च ॥

२ पुनः पूर्वोक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं—॥ १७ ॥

३ 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इत्यत्र प्रोक्तस्य विष्णोः किं वीर्यमित्याकाङ्क्षायामाह—

---

‡ 'तथा कुरुतम्' इति क. कोशे नास्ति । कदाचिदत्र 'तथा कुरुत' इति स्यात् ॥

❀ 'उपदिशतः' इति तु युक्तं पश्यामः ॥

⁑ व्यस्तोऽत्रान्वयः । अनेकानि च मन्त्रपदान्यत्र लुप्तानि । क. कोशे त्वित्थं पाठ उपलभ्यते—'हे विष्णो जगदीश्वर तव कृपया यौ देवेषु देवश्रुतौ घोषतं व्यक्तं शब्दं कुरुतो ये प्राची कल्पयन्त्यूर्ध्वं यज्ञं प्रेतं नयतं प्रापयतस्ते रोदसी मा जिह्वरतं कुटिले मा भवतं ये देवी दुर्ये स्वे गोष्ठं आवदतं समन्तात् उपदेशनिमित्ते भवतस्ते आयुर्मा निर्वादिष्टम्' ॥

† 'फिर वे प्राण और अपान कैसे हैं' इति सार्वत्रिकः पाठः । स च मन्त्रार्थे प्राणापानयोरभावादसम्बद्ध इति ध्येयम् ॥ § 'विद्वानों से श्रवण किये हुए प्राण अपान वायु' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

॥ 'तथा किया करो' इति अ० मुद्रितपाठः ॥ ‖ 'वी॒र्या॑णि' इत्यजमेरमुद्रितेऽशुद्धः स्वरः ॥

यः । अस्कंभायत् । उत्तरमित्युत्ऽतरम् । सुधस्थमिति सधऽस्थम् । विचक्रमाण इति विऽचक्रमाणः । त्रेधा । उरुगाय इत्युरुऽगायः । विष्णवे । त्वा ॥ १८ ॥

पदार्थः—(विष्णोः[1]) व्यापकस्य परमेश्वरस्य । (नु[2]) शीघ्रम् । (कम्) सुखरूपम् । (वीर्याणि) पराक्रमयुक्तानि कर्माणि । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (वोचम्) कथयेयम्, ❀ अत्र लिङर्थे लुङ् अडभावश्च । (यः) अनन्तपराक्रमः । (पार्थिवानि) पृथिव्या विकाराः, अन्तरिक्षे विदितानि वा, अत्र तत्र विदित इति च । अ० ५ । १ । ४३ अनेनाञ्प्रत्ययः । (विममे) विविधतया मिमीते । (रजांसि) लोकान्, लोका रजांस्युच्यन्ते । निरु० ४ । १९ । (यः) सर्वाधारः । (अस्कभायत्) प्रतिबध्नाति । (उत्तरम्) अन्तावयवम् । (सधस्थम्) यत् सह तिष्ठति तत्कारणं, तत् संगृह्य । (विचक्रमाणः) यथायोग्यजगद्रचनाय कारणपादान् प्रक्षिपन् नियोजयन् । (त्रेधा) त्रिप्रकाराणि । (उरुगायः) यो बहूनर्थान् वेदद्वारा गायत्युपदिशति सः । (विष्णवे) व्यापनशीलाय यज्ञाय । (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ३ । २१ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

१ य० ४ । १७ विवरणे पृ० ३८५ द्रष्टव्यम् ॥

२ 'नुकम्' निपातसमुदाय इति भट्टभास्करादयः । निपाताविति सायणः ऋ० १ । १५४ । १ भाष्ये । एकनिपात इति तै० सं० १ । २ । १३ । ३ सा० भा० । 'पृथङ् निपातौ' इति पदकाराः । सर्वथाऽपि सम्यक् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कम्) चादयोऽनुदात्ताः (फि० ८५) इत्यनुदात्तः ॥

(विममे) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावे तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति गतेरनुदात्तत्वम् ॥

(रजांसि) भूरञ्जिभ्यां कित् (उ० ४ । २१७) इत्यसुन्प्रत्ययः, किच्च । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अस्कभायत्) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधेऽट्स्वरः ॥

(उत्तरम्) 'उत्' इत्यस्मादुत्कृष्टवचनात् तरप् । तस्य पित्वादव्ययस्वर एव भवति । द्रव्यप्रकर्षविवक्षायामाम् न भवति ॥ अत्र निरुक्तम्—उत्तर उद्धततरो भवति । इति ॥ यद्वा—तरणं तरः । भावेऽप् प्रत्ययः । तत उत्कृष्टः तरो यस्येति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(सधस्थम्) सहोपपदात् तिष्ठतेः सुपि स्थः (अ० ३ । २ । ४) इति कः । कित्वादाकारलोपः । सध मादस्थयोश्छन्दसि (अ० ६ । ३ । ९६) इति सधादेशः । गतिकारकोपपदात्० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पूर्वान्तश्चापि दृश्यते (अ० ६ । २ । १९९ मा० वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । यद्वा निपातनात् (अ० ६ । ३ । ९६) सधशब्दोऽन्तोदात्तः, स च निपातनस्वरः सामर्थ्यात् समासस्वरमपि बाधते ॥

(विचक्रमाणः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । कानच्श्चित्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(उरुगायः) गापोष्टक् (अ० ३ । २ । ८) इति टकि प्राप्ते कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ मा० वा०) इति वचनात् कर्मण्यण् (अ० ३ । २ । १) इत्यण्, आतो युक्० (अ० ७ । ३ । ३३) इति युक् । गतिकारको० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

यद्वा उरुभिर्गीयत इति उरुगायः (यथा चाह भट्टभास्करः तै० सं० १ । २ । १३ । ३ भाष्ये पृ० २२३), 'गाङ् गतौ' इति धातोः कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०) इति वचनाद् 'घञ्', पूर्ववदेव युक्, उत्तरपदान्तोदात्तत्वं चापि । एवमेवाचार्येणाऽग्रे ऽपि (य० ८ । १ भाष्ये) उरूणि बहूनि शास्त्राणि गायति पठति इत्यादि व्याख्यातम्, तदपि पूर्वोक्तव्युत्पत्त्यैव प्रतिपत्तव्यम् । व्युत्पादनमिदमाचार्यदयानन्दस्य स्वोपज्ञातं सदपि व्याकरणशास्त्रसम्मतत्वादिष्टरूपेष्टस्वरसिद्धेश्च न केनाप्यपनोतुं शक्यते यथा चास्माभिरत्र विवरणे प्रदर्शितम् ।

अन्यदप्यत्रावधेयम्—

(i) य० ६ । ३ दयानन्दभाष्ये—उरवं हुगायः स्तुतिर्यस्य । तदपि 'गै शब्दे' 'गाङ् गतौ' इत्येताभ्यां

❀ 'अत्र लिङर्थे लुङडभावश्च' इति पाठः क. कोशेऽस्ति, ग. कोशे प्रमादेन त्यक्तः स्यात् ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यूयं यो विचक्रमाण उरुगायो विष्णुर्जगदीश्वरः पार्थिवानि रजांसि त्रेधा विममे, य उत्तरं सधस्थमस्कभायत् प्रतिबध्नाति, यो विष्णवे उपासनादियज्ञायाश्रीयते, यस्य विष्णोर्वीर्याणि विद्वांसो वदन्ति, यं सर्वे संश्रयन्ते, कं सुखरूपं [त्वा त्वाम्] देवमहं प्रवोचं नु शीघ्रमाश्रये [† तं परमेश्वरं जानीथ] ॥ १८ ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैर्येन परमेश्वरेण पृथिवीसूर्यत्रसरेणुभेदेन त्रिविधं जगद् ‡रचयित्वा ध्रियते, स एवोपासनीयः ॥ १८ ॥

अब अगले मन्त्र में व्यापक ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है[२] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम (यः) जो (विचक्रमाणः) जगत् रचने के लिये कारण के अंशों को युक्त करता हुआ (उरुगायः) बहुत अर्थों को वेद द्वारा उपदेश करने वाला जगदीश्वर (पार्थिवानि) पृथिवी के विकार अर्थात् पृथिवी के गुणों से उत्पन्न होने वाले वा अन्तरिक्ष में विदित (त्रेधा) तीन प्रकार के (रजांसि) लोकों को (विममे) अनेक प्रकार से रचता है, जो (उत्तरम्) पिछले अवयवों के (सधस्थम्) साथ रहने वाले कारण को (अस्कभायत्) रोक रखता है, (यः) जो (विष्णवे) उपासनादि यज्ञ के लिये आश्रय किया जाता है, उस

सामान्येन भावे (अ० ३ । ३ । १८) इति भावे घञ्, गानं गाय इति । अग्रे बहुव्रीहिसमासः । परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते (अ० ६ । २ । १९९ भा० वा०) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अत्र यास्कः—उरुगायस्य······महागतेः (निरु० २ । ७) । अत्रैव दुर्गः—उरुगायस्य उरुगायनस्य । स्कन्दः—उरुगायस्य रसादानादिक्रियाद्वारेण बहुगतेः । तथैव सायणोऽपि ऋ० ९ । ६२ । १३—उरुगायो बहुस्तुतिः । बहुकीर्तिः (ऋ० ७ । ३५ । १५ ॥ ७ । ३ । ७ ॥ ४ । ३ । ७ ॥ ३ । ६ । ४ ॥ ६ । २८ । ४ इत्यादि) । वेङ्कटमाधवोऽपि—उरुगाय उरुगमनः, उरुगतिः (ऋ० १ । १९४ । १, ६ भाष्ये) ॥ उरुगमनः, महागतिः इत्युव्वटो ऽपि (य० ५ । १८; ६ । ३ भाष्ये) । सर्वैरपि भावे (अ० ३ । ३ । १८) इति घञैव व्युत्पाद्यत इति ध्येयम् ॥

(ii) किंच ऋ० १ । १५४ । १ भाष्य आचार्य-दयानन्देन व्याख्यायते—उरुभिर्बहुभिर्मन्त्रैर्गीयते स्तूयते वा । अस्मिन् पक्षे कर्मणि घञ् । कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०) इति वचनादेव । पूर्ववत् सर्वेष्टसिद्धिः ॥ अत्रापि भट्टभास्करमिश्र आह—उरुभिर्महात्मभिर्गीयत इति उरुगायः । कै गै शब्दे घञि आतो युक् चिण्कृतोः (अ० ७ । ३ । ३३) इति युक् । थाथादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । यद्वा उरुभिर्गन्तव्यः (तै० सं० १ । २ । १३ । ३ भाष्ये पृ० २२३) । पुनः तै० सं० १ । ३ । ६ । २ भाष्ये स एवाह—उरुभिर्महात्मभिर्गीयत इत्युरुगायः । गायतेः कर्मणि घञ्, थाथादिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् (पृ० २९६) ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थेत ऊहनीयः ॥

२ 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र में कहे विष्णु का बल कैसा है, यह दर्शाते हैं—॥ १८ ॥

---

† 'हे मनुष्या यूयम्' इत्येतानि पदानि क. कोशे नासन्, तदभावे 'तं परमेश्वरं जानीथ' इत्यस्याप्यावश्यकता नासीत्, ग. कोशे तु 'हे मनुष्या यूयं' इति भागः प्रवर्धितः, तथा सति उत्तरभागोऽप्यवश्यं प्रवर्धनीयः सन्नपि कदाचिदनवधानान्न प्रवर्धित इति ध्येयम् ॥

‡ 'रचयित्वा' इति क. पाठः, 'रचित्वा' इति ग. पाठः ॥

(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) पराक्रमयुक्त कर्मों का (प्रवोचम्) कथन करूं, और हे परमेश्वर ! (नु) शीघ्र ही (कम्) सुखस्वरूप (त्वा) आपका आश्रय करता हूं। [उस परमेश्वर को जानो] ॥ १८ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को जिस परमेश्वर ने पृथिवी सूर्य और त्रसरेणु आदि भेद से तीन प्रकार के जगत् को रचकर धारण किया है, उसी की उपासना करनी चाहिये ॥ १८ ॥

दिवो वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। विष्णुर्देवता। निचृदार्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[1] ॥

दिवो वा विष्ण ऽ उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण ऽ उरोरन्तरिक्षात्।
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥ १९ ॥

दिवः। वा। विष्णोऽइति विष्णो। उत। वा। पृथिव्याः। महः। वा। विष्णोऽइति विष्णो। उरोः। अन्तरिक्षात् ॥ उभा। हि। हस्ता। वसुना। पृणस्व। आ। प्र। यच्छ। दक्षिणात्। आ। उत। सव्यात्। विष्णवे। त्वा ॥ १९ ॥

पदार्थः—(दिवः) प्रसिद्धात्, विद्युतो वा। (वा) पक्षान्तरे ❀ (विष्णो[2]) वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् तत्सम्बुद्धौ। (उत) अपि। (वा) पक्षान्तरे। (पृथिव्याः) भूमेः सकाशात्। (महः) महत्तत्त्वात्। (वा) पक्षान्तरे। (विष्णो) सर्वान्तःप्रविष्ट ! (उरोः) बह्वोरनन्तात्। (अन्तरिक्षात्) आकाशात्। (उभा) द्वौ। (हि) खलु। (हस्ता) बलवीर्य्यौ बाहू वा, अत्रोभयत्र सुपाम्० [अ० ७। १। ३९] इत्याकारादेशः। (वसुना) द्रव्येण सह। (पृणस्व) प्रीणीहि, प्रीणय वा। (आ) समन्तात्। (प्र) प्रकृष्टार्थे। (यच्छ) देहि। (दक्षिणात्) दक्षिणपार्श्वात्। (आ) अभितः। (उत) च। (सव्यात्) वामपार्श्वात्। (विष्णवे) यज्ञाय। (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ५। ३। २२ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

१ पुनस्तदेव वर्णयति—

२ पूर्वं व्याख्यातः, य० ५। १७ विवरणे पृ० ३८५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वा) चादयोऽनुदात्ताः (फिट्० ८५) इत्यनुदात्तः ॥

(महः) 'मह पूजायाम्'। क्विप्। सावेकाचस्तृतीयादि० (अ० ६। १। १६८) इति विभक्त्युदात्तत्वम्। यद्वा पचाद्यचि पञ्चम्यर्थे प्रथमा ॥

(पृणस्व) छन्दस्यनेकमपि साकाङ्क्षम् (अ० ८। १। ३५) इत्यनेन 'पृणस्व' इत्यत्र निघातो न, 'यच्छ' इति तु निहन्यते। अपि शब्देनैकस्यापि समुच्चयात्। 'पृण् प्रीणने' परस्मैपदी ततो व्यत्ययेनात्मनेपदम्। तास्यनुदात्तेत्० (अ० ६। १। १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरः ॥

(दक्षिणात्) द्रुदक्षिभ्यामिनन् (उ० २। ५०) इतीनन्। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(सव्यात्) सुनोतेः (उ० ४। ११०) इति यः प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

❀ 'विष्णवे' इति अ० मु० अपपाठः ॥

अन्वयः[१]—हे विष्णो त्वं कृपयाऽस्मान् दिवः प्रसिद्धादग्नेर्विद्युतो वा [उभा हस्ता] वसुनाऽऽपृणस्व सुखानि प्रयच्छ, उतापि [वा] पृथिव्याः † सकाशादुत्पन्नेभ्यः पदार्थेभ्यो [महः] महत्तत्त्वाचाऽव्यक्तादुतोरोरन्तरिक्षाद् वा वसुना द्यां हि पृणस्व, हे विष्णो त्वं दक्षिणादुत च सव्यात् सुखानि [आ] प्रयच्छ, तं त्वा त्वां विष्णवे यज्ञाय वयमर्चयेम ॥ १९॥

भावार्थः—येन व्यापकेनेश्वरेण महत्तत्त्वसूर्यभूम्यन्तरिक्षवाय्वग्निजलादीन् पदार्थान् तत्रस्थानन्यांश्चौषध्यादीन् मनुष्यादींश्च रचयित्वा धृत्वा सर्वेभ्यः प्राणिभ्यः सुखानि धीयन्ते, तस्यैवोपासना सर्वैः कार्येति ॥ १९ ॥

फिर वह जगदीश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—हे (विष्णो) सर्वव्यापी परमेश्वर! आप कृपा करके हम लोगों के (दिवः) प्रसिद्ध (वा) बिजलीरूप अग्नि से [(उभा हस्ता) दोनों हाथ] (वसुना) द्रव्य के साथ (आपृणस्व) सुखों से पूरण कीजिये, और (पृथिव्याः) भूमि से उत्पन्न हुए पदार्थ (उत) भी (वा) अथवा (महः) महत्तत्त्व अव्यक्त और भी (उरोः) बहुत (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से द्रव्य के साथ सुखों को (हि) निश्चय करके पूरण कीजिये । [(वा) अथवा] (विष्णो) सब में प्रविष्ट ईश्वर ! आप (दक्षिणात्) दक्षिण (उत) और (सव्यात्) वाम पार्श्व से सुखों को [(आ) अच्छी तरह (प्रयच्छ)] दीजिये, (त्वा) उस आप को (विष्णवे) योगविज्ञान यज्ञ के लिये पूजन करते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को योग्य है कि जिस व्यापक परमेश्वर ने महत्तत्त्व सूर्य भूमि अन्तरिक्ष वायु अग्नि जल आदि पदार्थ वा उन में रहनेवाले ओषधी आदि वा मनुष्यादिकों को रच, धारण कर सब प्राणियों के लिये सुखों को धारण किया है, उसी की उपासना करें ॥ १९ ॥

प्र तद्विष्णुरित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते[३] ॥

प्र तद्विष्णुं स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २० ॥

प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिष्ठाः । गिरिस्था इति गिरिऽस्थाः ॥ यस्य । उरुषु । त्रिषु । विक्रमणेष्विति विऽक्रमणेषु । अधिक्षियन्तीत्यधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ॥ २० ॥

पदार्थः—(प्र) प्रकृष्टार्थे । (तत्) तस्मात् । (विष्णुः) व्यापकेश्वरः । (स्तवते) स्तौत्युपदिशति । अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७२] इति शपो ह्लुक् । (वीर्येण) पराक्रमेण । (मृगः) यो

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । अन्वयार्थौ पदार्थत ऊह्यौ ॥

२ पुनः उसी का निरूपण करते हैं— ॥ १९ ॥

३ पूर्ववत्—

† 'प्रकाशाद्' इति अ० मुद्रिते पाठः, ग. कोशे तु सकाशादित्येव ॥

मार्ष्टर्य[1]न्विच्छति वधाय जीवानिति, ईश्वरपक्षे[1] तु मार्ष्टि व्यवस्थापनाय जीवानिति । (न) इव । (भीमः) बिभ्यति जीवा अस्मादिति व्याघ्रः, भीमादयोऽपादाने [अ० ३ । ४ । ७५] इति निपातनात् । (कुचरः) यः कुत्सितं प्राणिवधं चरति । (गिरिष्ठाः) गिरौ तिष्ठतीति, क्विबन्तोऽयं प्रयोगः । (यस्य) (उरुषु) बहुषु । (त्रिषु) त्रिविधेषु जगत्सु । (विक्रमणेषु) विविधक्रमेषु । (अधिक्षियन्ति) निवसन्ति । (भुवनानि) लोकजातानि । (विश्वा) सर्वाणि ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ३ । २३ व्याख्यातः[2] ॥ २० ॥

अन्वयः[3]—यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु [विश्वा] विश्वानि भुवनान्यधिक्षियन्ति, यश्चासौ विष्णुर्वीर्येण भीमः कुचरो गिरिष्ठा मृगो न सिंह इव विचरन् [प्रस्तवते] उपदिशति, तत् तस्मात् स नैव कदापि विस्मरणीयः ॥२०॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः[4]—यथा सिंहः स्वपराक्रमेण यथेष्टं विक्रमते, तथैव जगदीश्वरः खलु पराक्रमेण सर्वान् लोकान् नियच्छति ॥ २० ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—(यस्य) जिसके (उरुषु) अत्यन्त (त्रिषु) (विक्रमणेषु) विविधप्रकार के क्रमों में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक (अधिक्षियन्ति) निवास करते हैं, और *जो (विष्णुः) व्यापक ईश्वर (वीर्येण) अपने पराक्रम से (भीमः) भय करनेवाले (कुचरः) निन्दित प्राणिवध को करने और (गिरिष्ठाः) पर्वत में रहने वाले (मृगः) सिंह के (न) समान पापियों को खोज दुःख देता हुआ (प्रस्तवते) उपदेश करता है, (तत्) इससे उसको कभी न भूलना चाहिये ॥ २० ॥

---

१ अनेन सर्वेषामपि मन्त्राणां त्रिविधोऽर्थो ज्ञापितो भवति । स चाचार्याणामिङ्गितचेष्टितैर्यत्र तत्रोहनीय इत्यपि ध्येयम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मृगः) 'मृग अन्वेषणे' चौरादिकोऽदन्तः । ततः अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३ । १ । १३४ भा० वा०) इत्यच् । चित्वात् प्रत्ययस्वरेण वान्तोदात्तः, णेरनिटि (अ० ६ । ४ । ५१) इति णिलोपः । मृग इति इगुपधात् कः प्रत्ययस्वरश्चेति कश्चिदाह तत्तस्य व्याकरणाज्ञानसूचकम् ॥

(भीमः) भियः षुग् वा (उ० १ ।१४८) इति मक्, प्रत्ययस्वरश्च ॥

(कुचरः) चरेष्टः (अ० ३ । २ । १६) इति टः । गतिकारकोपपदात्० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(गिरिष्ठाः) पक्षान्तरे आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३ । २ । ७४) इति विच् । उभयत्र गतिकारकोपपदात्० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(त्रिषु) षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः (अ० ६ । १ । १७९) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(विक्रमणेषु) विपूर्वात् क्रमतेर्ल्युट् । गतिकारको० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥

(अधिक्षियन्ति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातो न । तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति गतिरनुदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ मन्त्रोऽयं निरु० १ । २० व्याख्यातः ॥

३ अन्वयेऽत्रोपमालङ्कारेणाध्यात्मिकार्थः प्रदर्शितो भवति, अन्यावप्यूहनीयौ ॥

४ पूर्ववत्—॥ २० ॥

* 'वह (विष्णु) व्यापक ईश्वर' इति पाठः क. कोशे आसीत् । स च ग. कोशे प्रमादेन त्यक्त इति प्रतिभाति ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे सिंह अपने पराक्रम से अपनी इच्छा *अनुसार अन्य पशुओं में यथेष्ट विचरता है, वैसे जगदीश्वर अपने पराक्रम से सब लोकों का नियम करता है ॥ २० ॥

विष्णो ररराटमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगार्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स कथंभूत इत्युपदिश्यते[1] ॥

विष्णो॑ रराट॑मसि॒ विष्णोः॑ श्नप्त्रे॒ स्थो॒ विष्णोः॒ स्यूर॑सि॒ विष्णो॑र्ध्रु॒वो॒ऽसि ।
वै॒ष्ण॒वम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा ॥ २१ ॥

विष्णोः॑ । र॒रा॒टम् । अ॒सि॒ । विष्णोः॑ । श्नप्त्रे॒ऽइति॑ श्नप्त्रे॑ । स्थः॒ । विष्णोः॑ । स्यूः॑ । अ॒सि॒ । विष्णोः॑ । ध्रु॒वः । अ॒सि॒ ॥ वै॒ष्ण॒वम् । अ॒सि॒ । विष्ण॑वे । त्वा॒ ॥ २१ ॥

पदार्थः—(विष्णोः[2]) व्यापकस्य सकाशात् । (ररराटम्) परिभाषितं जगत् । (असि) अस्ति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (विष्णोः) सर्वत्राभिप्रविष्टस्य । (श्नप्त्रे) शुद्धे ‡इव । अत्र ष्णा शौच इत्यस्य वर्णव्यत्ययेन सस्य शः । (स्थः) तिष्ठतः । (विष्णोः) सर्वसुखाभिव्यापात् । (स्यूः) यः सीव्यति सः । (असि) अस्ति । (विष्णोः) सर्वजगत्पालकात् । (ध्रुवः) निश्चलः । (असि) अस्ति । (वैष्णवम्) यद् विष्णोर्यज्ञस्येदं साधनं साधकं वा तत् । (असि) अस्ति । (विष्णवे) यज्ञाय । (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ३ । २४-२५ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः[3]—यदिदं विविधं जगदस्त्यस्ति तद् विष्णो ररराटमस्यस्ति, विष्णोः सकाशादुत्पद्य वर्त्तत इति

१ पूर्ववत् ॥
२ य० ५ । १५ विवरणे पृ० ४५३ व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ररराटम्) 'रट परिभाषणे' इत्येतस्माद् धातोः 'आटक्' प्रत्ययः सामान्यकाले, द्वित्वं च बाहुलकात् । यद्वा भोजेन ललाटशब्दः शृङ्गाटकपाटललाट० (स० क० २ । २ । १००) इत्यत्र लातेराटक्प्रत्यये निपातितः । निपातनाद् धातोर्द्वित्वम् । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः । कपिलकादीनां० (अ० ८ । २ । १८ भा० वा०) इति वा रेफादेशः ॥

(श्नप्त्रे) स्नातेर्णिजन्तात् पुकि ग्लास्नावनुवमां च इति गणसूत्रेण मित्संज्ञायां मितां ह्रस्वः (अ० ६ । ४ । ९२) इति ह्रस्वत्वे सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उ० ४ । १५९) इति ष्ट्रन् । नित्त्वादाद्युदात्तः, छान्दसत्वाच्छकारादेशः ॥

"स्नपतिश्छान्दसः शुद्धिकर्मा, औणादिकष्ट्रन्प्रत्ययः, सकारस्य शकारापत्तिः" इति भट्टभास्करः (तै० सं० १ । २ । १३ । ३ भा० । पृ० २२४) ॥

(स्यूः) 'षिवु तन्तुसन्ताने' इत्यतः क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । च्छ्वोः शूडनुनासिके च (अ० ६ । ४ । १९) इत्यूठ् । तथैव भट्टभास्करः (तै० सं० १ । २ । १३ । ३ ॥ पृ० २२४) उवटमहीधरौ च । 'सीव्यतेऽनयेति स्यूः' इति सायणोऽपि । धातुस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ त्रिविधोऽप्यर्थोऽत्रोहनीयः ॥

* अ० मुद्रिते तु 'के समान अन्य पशुओं का नियम करता फिरता है वैसे' इति व्यस्तः पाठः संस्कृताननुसारी च ॥
‡ 'इव' इति पदं क. कोशे नास्ति, अनावश्यकश्चापि ॥

यावत्। विष्णोः स्यूरस्यसि [विष्णोर्ध्रुवो] ऽसि सर्वं जगद् वैष्णवमस्यस्ति, यस्य विष्णोर्जगति द्वे रप्त्रे {} इव जडचेतनसमूहौ स्थः वर्त्तेते, तं सर्वजगदुत्पादकं जगदीश्वरं [त्वा] त्वां विष्णवे यज्ञानुष्ठानाय वयमाश्रयामः ॥ २१ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वस्यास्य जगतः परमेश्वर एव रचको धारको व्यापक इष्टदेवोऽस्तीति विज्ञाय सर्वकामसिद्धिः संपादनीया ॥ २१ ॥

फिर वह जगदीश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—जो यह अनेक प्रकार का जगत् [(असि)] है, वह (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के सकाश से (रराटम्) उत्पन्न होकर प्रकाशित [(असि)] है, (विष्णोः) सर्वसुख प्राप्त करने वाले ईश्वर से (स्यूः) विस्तृत (असि) है, [(विष्णोः) सब जगत् के पालक ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण अपनी अपनी सत्त में (ध्रुवः) निश्चल है,] सब जगत् (वैष्णवम्) यज्ञ का साधन (असि) है, और (विष्णोः) सब में प्रवेश करने वाले जिस ईश्वर के (श्नप्त्रे) जड़ चेतन *के समान दो प्रकार का शुद्ध जगत् [(स्थः)] है, हम लोग उस सब जगत् के उत्पन्न करने वाले (त्वा) आप जगदीश्वर को (विष्णवे) यज्ञ का अनुष्ठान करने के लिये आश्रय करते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि इस सब जगत् का परमेश्वर ही रचने और धारण करने वाला व्यापक इष्ट देव है, ऐसा जानकर सब कामनाओं की सिद्धि करें ॥ २१ ॥

देवस्य त्वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। यज्ञो देवता। पूर्वार्द्धस्य साम्नी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः। आदद इत्युत्तरस्य भुरिगार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनरयं यज्ञः किमर्थः कर्त्तव्य इत्युपदिश्यते[2] ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा ऽअपि॑ कृन्तामि।
बृ॒हन्न॑सि बृ॒हद्र॑वा बृ॒हतीमिन्द्रा॑य॒ वाचं॑ वद ॥ २२ ॥

दे॒वस्य॑। त्वा॒। स॒वि॒तुः। प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे। अ॒श्विनोः॑। बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्यां॑म्। पू॒ष्णः। †हस्ता॑भ्याम्॥ ‡आ। द॒दे॒। §नारि॑। अ॒सि॒। इ॒दम्। अ॒हम्। रक्ष॑साम्। ग्री॒वाः। अपि॑। कृ॒न्ता॒मि॒॥ बृ॒हन्। अ॒सि॒। बृ॒हद्र॑वा॒ इति॑ बृ॒हत्ऽर॑वाः। बृ॒ह॒तीम्। इन्द्रा॑य। वाच॑म्। व॒द॒॥ २२ ॥

---

१ पूर्ववत् ॥ २१ ॥

२ यज्ञादावप्यसावेव स्तोतुमर्हं इति तस्य स्तुतियोग्यतामाह—

{} 'इव इति पदं क. कोशे नास्ति, अनावश्यकश्चात्रास्ति ॥ * अत्र संस्कृतान्वयस्यास्पष्टत्वाद् भाषापदार्थोऽप्यस्पष्ट एव ॥
† 'हस्ता॑भ्या॒मिति॒ हस्ता॑ऽभ्याम्' इति सद्विरुक्त्यवग्रहात्मकोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
‡ 'आददे' इति त्वजमेरमुद्रिते कोशेषु च पाठ इति ध्येयम्॥ § 'नारी' इति त्वजमेरमुद्रिते कोशेषु च पाठ इति ध्येयम्॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वप्रकाशकस्यानन्दप्रदेश्वरस्य । (त्वा) तम् । (सवितुः) सकलस्य जगत उत्पादकस्य । (प्रसवे[1]) यथा सृष्टौ॥ । (अश्विनोः) प्राणापानयोरध्वर्य्वोर्वा[2] । (बाहुभ्याम्) यथा बलवीर्याभ्याम् । (पूष्णः) पुष्टिकारिकायाः पृथिव्याः । पूषेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघ० १।१। (हस्ताभ्याम्) यथाऽऽनन्दप्रदाभ्यां धारणाकर्षणाभ्याम् । (आ) समन्तात् । (ददे) स्वीकरोमि । (नारि) नराणामियं क्रिया । (असि) अस्ति वा, अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (इदम्) प्रत्यक्षं पालकं कर्म । (अहम्)@ (रक्षसाम्) दुष्टस्वभावानाम् । (ग्रीवाः) कण्ठान् । (अपि) निश्चये । (कृन्तामि) छिनद्मि । (बृहन्) वर्धमानो वर्धयन् [वा] । (असि) अस्ति वा । (बृहद्रवाः) §यथा बृहच्छब्दवान् । (बृहतीम्) महतीम् । (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्रापकाय । (वाचम्) वाणीम् । (वद) उपदिश ॥ अयं मन्त्रः शत० ३।५।४।४-८ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः[3]—() हे मनुष्य ! यथाऽहं देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनो॥यथा बाहुभ्यां पूष्णो॥यथा हस्ताभ्यां यं यज्ञमाददे त्वा तं त्वमपि तथाऽऽदत्स्व । यथाऽहं [या नार्यस्यस्ति तां] † नारीं यज्ञक्रियामिदं यज्ञानुष्ठानं कर्म चाददे, तथा त्वमप्यादत्स्व । यथाऽहं रक्षसां ग्रीवाः कृन्तामि तथा त्वमपि कृन्त । यथा चाहमेतदनुष्ठानेन बृहद्रवा बृहन् भवामि, तथा त्वमपि भव । यथा चाहमिन्द्राय बृहतीं वाचं वदामि, तथा चैतां त्वमपि वद ‡ ॥२२॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

१ प्रसूतिः प्रसवनं वा प्रसवः, भावेऽप्प्रत्ययः ॥

२ अश्विनावध्वर्यू । ऐ० १ । १८ ॥ श० १।१।२।१७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नारि) नृनराभ्याञ्चेति वक्तव्यम् (अ० ४ । ४ । ४९ भा० वा०) इति 'अञ्' तस्य धर्म्यमित्यर्थे । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा नृनरयोर्वृद्धिश्च (अ० ४ । १ । ७३ ग० सू०) इति शार्ङ्गरवाद्यन्तर्गतेन गणसूत्रेण ङीन्, नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ यद्वा तस्येदमित्यर्थे औत्सर्गिकोऽण् । ततो ङीप्, छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वम् । अत्र तु व्यत्ययेन सम्बुद्धावाद्युदात्तत्वम् ॥

(ग्रीवाः) शेवयह्वजिह्वा० (उ० १ । १५४) इति वन्प्रत्ययान्तो निपातितः, निपातनादन्तोदात्तः ॥

(अपि) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(बृहद्रवाः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । बृहच्छब्दः पूर्वत्र (पृ० १६३) निरुक्तः ॥

(बृहतीम्) बृहन्महतोरुपसंख्यानम् (अ० ६ । १ । १७३ भा० वा०) इति ङीप उदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ त्रिविधार्थपरोऽत्रान्वयः ॥

॥ 'सृष्टौ' इत्येव क. पाठः ॥ इतोऽग्रे केषुचिन्मन्त्रेषु (य० ५ । २२-४३ पर्यन्तं) पदार्थे 'यथा' तथा' इत्यादयः शब्दा अनुपयुक्ताः प्रतिभान्ति, क. हस्तलेखे न सन्तीति बोध्यम् ॥

अत्र विशेषवक्तव्यम्—अस्मात् (य० ५ । २२) मन्त्रादारभ्याध्यायपरिसमाप्तेः (य० ५ । ४३ पर्यन्तं) अग्रे च (यजुः ६ । १-९) 'यथा तथा,' 'यः सः' इत्यादिपदानां पदार्थे बाहुल्यं दृश्यते, तच्च ग. कोश एवोपलभ्यते । अग्रे चापि—(य० ६ । २६; ७ । १८) इत्यत्र पूर्वं च य० १ । ५ संस्कृतपदार्थे '(शकेयम्) यथा समर्थो भवेयम्' इत्यादिस्थलेषूपलभ्यते । एवं ३३ त्रयस्त्रिंशन्मन्त्रेष्वेव 'यथा तथा' इत्यादिशब्दानां प्रयोगो दृश्यते । एषु दशस्वध्यायेषु दयानन्दभाष्ये न क्वाप्यन्यत्रोपलभामहे । असंबद्धान्येवेमानि पदान्यनावश्यकानि चापि ॥

सर्वेष्वेवैषु ३३ मन्त्रेषु क. हस्तलेखपाठो भिन्नः । स एव पाठोऽत्र साधीयान् इत्यस्माकं मतिः । अनेनैव कारणेनास्माभिः प्रायश एषु मन्त्रेषु क. पाठोऽपि प्रदर्शितः । किमत्र रहस्यमिति तु न विद्मः । क.पाठानुसारं संस्कृतपदार्थः, अन्वयः, संस्कृतभावार्थः, भाषार्थं इत्येते सर्वेऽपि संगच्छन्त एव, न तु ग. कोशमुद्रितपाठानुसारमिति सुधियो विभावयन्तु ॥

@ इतोऽग्रे 'यज्ञानुष्ठाता' इति क. पाठः ॥

§ 'बृहन्तो रवाः शब्दा यस्य सः' इति क. पाठः । 'यथा बृहतो रवाः शब्दा यस्य सः' इति ग. पाठः ॥

() अन्वयोऽत्र व्यस्तः प्रतीयते ॥ ॥ इतोऽग्रे 'यथा' इति व्यर्थः पाठः ॥ † 'नारि' इत्यजमेरमुद्रिते ग. कोशे चापपाठः ॥

‡ अत्रान्वये एकम् 'असि' पदं त्यक्तं, न तत्क्वचिदन्वेति इति ध्येयम्, तथैव भाषापदार्थेऽपि ॥

भावार्थः—यथा विद्वद्भिरीश्वरसृष्टौ विद्यया पदार्थान् सुपरीक्ष्य कार्येषूपयुज्य सुखानि प्राप्यन्ते, तथैव मनुष्यैरिदमनुष्ठाय सर्वाणि सुखानि प्रापणीयानि ॥ २२ ॥

फिर यह यज्ञ किस लिये करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वान् मनुष्य ! जैसे मैं (देवस्य) सबको प्रकाश करने, आनन्द देनेवाले और (सवितुः) सकल जगत् को उत्पन्न करने वाले ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में [(अश्विनोः) प्राण और अपान वा यज्ञकर्त्ताओं के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्य से (पूष्णः) पोषण करने वाली पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) धारण और आकर्षण से] जिस यज्ञ को (आददे) [भली प्रकार] ग्रहण करता हूँ, वैसे तू भी (त्वा) उसको ग्रहण कर। जैसे मैं [जो] (नारी) यज्ञ क्रिया [(असि) है उस] (इदम्) यज्ञ के अनुष्ठान का ग्रहण करता हूँ, वैसे तू भी ग्रहण कर। जैसे (अहम्) मैं (रक्षसाम्) दुष्ट स्वभाव वाले शत्रुओं के (ग्रीवाः) शिरों को भी (अपिकृन्तामि) छेदन करता हूँ वैसे तुम भी छेदन करो। {} जैसे मैं इस अनुष्ठान से (बृहद्रवाः) बड़ाई पाया हुआ [(बृहन्)] बड़ा होता हूँ, वैसे तू भी हो, और जैसे मैं (इन्द्राय) परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिये (बृहतीम्) बड़ी (वाचम्) वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे तू भी (वद) [उपदेश] कर ॥ २२ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे विद्वान् लोग ईश्वर की सृष्टि में विद्या से पदार्थों की परीक्षा करके कार्यों में उपयोग कर सुखों को प्राप्त करते हैं, वैसे ही सब मनुष्यों को इस यज्ञ का अनुष्ठान कर सब सुखों को पहुँचना चाहिये ॥२२॥

रक्षोहणमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। यज्ञो देवता। आद्यस्य याजुषी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥ [वैष्णवीमित्यस्यासुरी गायत्रीच्छन्दः। षड्जः। स्वरः॥] मध्यमस्य [यं मे निष्ट्य इत्यस्य] स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥ यं मे सबन्धुरित्युत्तरस्य स्वराड्ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

सृष्टेर्मनुष्यैः कीदृश उपकारो ग्राह्य इत्युपदिश्यते[2] ॥

र॒क्षो॒हणं॑ वलग॒हनं॑ वैष्ण॒वीमि॒दम॒हं तं ब॑ल॒गमुत्कि॑रामि॒ यं मे॒ निष्ट्यो॒ यम॒मात्यो॑ निच॒खाने॒दम॒हं तं ब॑ल॒गमुत्कि॑रामि॒ यं मे॑ स॒मा॒नो यमस॑मानो निच॒खाने॒दम॒हं तं ब॑ल॒गमुत्कि॑रामि॒ यं मे॒ सब॑न्धु॒र्यमस॑बन्धुर्निच॒खाने॒दम॒हं तं ब॑ल॒गमुत्कि॑रामि॒ यं मे॑ सजा॒तो यमस॑जातो निच॒खानोत्कृ॒त्यां कि॑रामि ॥ २३ ॥

1 यज्ञादि में भी वही स्तुति करने के योग्य है, इससे उसकी स्तुति की योग्यता दर्शाते हैं ॥ २२ ॥

2 विष्णुनिर्मितायामस्यां संसृतौ कथमस्मदभिमतसिद्धिरत आह—

{} 'इस अनुष्ठान से जैसे जो (बृहद्रवाः) बड़ाई पाया हुवा (बृहन्) बड़ा (असि) होता है, उसी प्रकार जैसे मैं' इति पाठोऽत्र स्यात् ॥

रक्षोहणम् । रक्षोहनमिति रक्षःऽहनम् । बलगहनमिति * बलगाऽहनम् । वैष्णवीम् । इदम् । अहम् । तम् । बलगम् । उत् । किरामि । यम् । मे । निष्ट्यः । यम् । अमात्यः । निचखानेति निऽचखान । इदम् । अहम् । तम् । बलगम् । उत् । किरामि । यम् । मे । समानः । यम् । असमानः । निचखानेति निऽचखान । इदम् । अहम् । तम् । बलगम् । उत् । किरामि । यम् । मे । सबन्धुरिति सऽबन्धुः । यम् । असबन्धुरित्यसऽबन्धुः । निचखानेति निऽचखान । इदम् । अहम् । तम् । बलगम् । उत् । किरामि । यम् । मे । सजात इति सऽजातः । यम् । असजातः । निचखानेति निऽचखान । उत् । कृत्याम् । किरामि ॥ २३ ॥

पदार्थः—(रक्षोहणम्) § यथा येन धार्मिकेण पुरुषेण रक्षांसि हन्यन्ते तथा । (बलगहनम्) † यथा यो बलानि गाहते तम्, अत्र गाहूधातोर्बाहुलकादौणादिकः क्युः प्रत्ययो ह्रस्वत्वं च । (वैष्णवीम्) विष्णोर्व्यापकस्येमां वाचम् । (इदम्) कर्म । (अहम्) कर्मानुष्ठाता । (तम्) यज्ञम् । (बलगम्) बलं गच्छन्तम् । (उत्) उत्कृष्टम् । (किरामि) ‡ विक्षिपामि । (यम्) यज्ञम् । (मे) मम । (निष्ट्यः) नेशन्ति समादधते येन () यज्ञेन तत्सहितः साधुर्विद्वान्, अत्र निशधातोर्बाहुलकादौणादिकस्तः प्रत्ययस्ततो यत् । (यम्) यज्ञम् । (अमात्यः) मेधावी खानकः प्रधानभृत्यः । (निचखान) ⊙ यथा नितरां खातवान्[1] । (इदम्) भूगर्भविद्यापरीक्षार्थं स्थानम् । (अहम्) भूगर्भविद्यावेत्ता । (तम्) कृष्याद्याख्यं यज्ञम् । (बलगम्) बलप्रापकम् । (उत्) उत्कृष्टे । (किरामि) विक्षिपामि । (यम्) अध्ययनाध्यापनाख्यम् । (मे) मम । (समानः) सदृशः । (यम्) पूर्वोक्तम् । (असमानः) असदृशः । (निचखान) ❀ यथा नितरां खनति । (इदम्) कर्म । (अहम्) अध्यापकोऽध्येता वा । (तम्) (बलगम्) आत्मबलप्रापकम् । (उत्) उत्कृष्टे । (किरामि) विक्षिपामि । (यम्) परस्परं पालनहेतुं यज्ञम् । (मे) मम । (सबन्धुः) ❀ यथा समाना बन्धवो यस्य मित्रस्य सः । (यम्) पूर्वोक्तम् । (असबन्धुः) ❀ यथा असमाना बन्धवो यस्य सः । (निचखान) ❀ यथा नितरां खातवान् खनति वा । (इदम्) कर्म । (अहम्) सर्वसुहृत् । (तम्) (बलगम्) राज्यबलप्रापकम् । (उत्) उत्कृष्टे । (किरामि) प्रक्षिपामि । (यम्) उत्कर्षप्रापकम् । (मे) मम । (सजातः) ❀ यथा सहैव जातः । (यम्) उक्तम् । (असजातः) ❀ यथा ¶ यः सह न जातः । (निचखान) ❀ यथा नित्यं खातवान् खनति वा । (उत्) उत्कृष्टे । (कृत्याम्) करोति यया ताम् । (किरामि) प्रक्षिपामि ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ४ । ८–१२ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

[1] नितरां स्त्यायति संघातरूपेण सह वर्त्तत इत्यपि सम्यक् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रक्षोहणम्) क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६), बहुलं छन्दसि (अ० ३ । २ । ८८) इति वा क्विप्, गतिकारक० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(बलगहनम्) कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः (उ० २ । ८१) इति बाहुलकाद् गाहतेरपि 'क्यु-' प्रत्ययो धातोर्ह्रस्वत्वं च । गतिकारकोपपदा० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरः । पदकारास्तु 'बलगऽहनम्' इत्यवगृह्णन्ति, भट्टभास्करो ऽपि तथैव (तै० सं० १ । ३ । २ । १) । विचित्रा हि पदकाराणां वृत्तय इति सर्वं सम्यक् ॥

अत्र च देवराजः—"गाहू विलोडने (भ्वा० आ०), युच् बहुलम् (उ० २ । ७४) इति 'युच्'प्रत्ययः । बहुलवचनाद्ध्रस्वत्वम् । अवगाह्यते प्राणिभिः गहनम्" (पृ० ११८) । अस्मिन् पक्षे कृच्छ्रगहनयोः कषः (अ० ७।२।२२) इति निपातनाद् वा ह्रस्वत्वम् ॥

* 'बलऽगाहनम्' इत्येवं पाठोऽजमेरमुद्रिते । अर्थानुसारेण त्वयं साधीयान् इति ध्येयम् ॥

§ 'रक्षांसि हन्यन्ते येन कर्मणा तत्' इति क. पाठः ॥

† 'बलानि गाहन्ते येन तम्' इति क. पाठः ॥

‡ 'विक्षिपामि' इति कोशेषु पाठः, अ० मुद्रिते नास्ति ॥

() 'यज्ञेन तस्मै हितो विद्वान्' इति क. कोशे पाठः ॥

⊙ सर्वत्र 'यथा' इति नास्ति क. कोशे ॥

¶ 'यो न सह जातः' इति क. पाठः ॥

अन्वयः—हे विद्वन्मनुष्य ! *यथाहं बलगहनं ‡रक्षोहणं वैष्णवीं वाचमनुष्ठाय यं बलगं यज्ञमुत्किरामि तथा त्वमपि तमेत [मिद] मुत्किर, यथा कस्यचिन्मे मम निष्ट्योऽमात्यो यं यज्ञमिदं स्थानादि च निचखान, तथा [तं] तव भृत्यो निखनतु। यथाऽहं यं बलगं यज्ञमुत्किरामि तथा तं त्वमप्युत्किर, यथा मे मम वा समानोऽसमानश्च यं यज्ञमिदं कर्म च निचखान, तथा तवापि निखनतु। यथाहं यं बलगं यज्ञमुत्किरामि तथा त्वमपि तमेतमुत्किर, यथा मे मम सबन्धुरसबन्धुश्च यं यज्ञमिदं कर्म च निचखान, तथा तवापि चैतं निखनतु। यथाहं यं बलगं यज्ञमुत्किरामि, तथा त्वमप्येतमुत्किर, यथा मे मम सजातोऽसजातश्च यं यज्ञं कृत्यां निचखान, तथा तवाप्येतमेतां च निखनतु, यथाहमेतत्सर्वमुत्किरामि, तथा त्वमप्येनदुत्किर ॥ २३ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैरस्यामीश्वरसृष्टौ धार्मिकविद्वदनुकरणं कार्यं नेतरेषामिति ॥ २३ ॥

सृष्टि से मनुष्यों को किस प्रकार का उपकार ग्रहण करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

(बलगम्) डप्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते (अ० ३। २। ४८ वा०) इति डः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेऽन्तोदात्तः ॥

(उत्) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(निष्ट्यः) तत्र साधुः (अ० ४। ४। ९८) इति यत्। यतोऽनावः (अ० ६। १। २१३) इत्याद्युदात्तत्वम्। यद्वा निसो गते (अ० ४। २। १०४ भा० वा०) इति त्यप् ॥

(अमात्यः) अव्ययात् त्यप् (अ० ४। २। १०२) इति त्यप्। पित्त्वादनुदात्तः, अमाशब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(निचखान) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८। १। ६६) इति निघातो न, लिति (अ० ६। १। १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वम्। तिङि चोदात्तवति (अ० ८। १। ७१) इति गतेरनुदात्तत्वम् ॥

(समानः) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(सबन्धुः) समानस्य छन्दस्यमूर्द्ध० (अ० ६। ३। ८४) इति सादेशः, स चोदात्तः। बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६। २। १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(सजातः) सहस्य सः संज्ञायाम् (अ० ६। ३। ७८) इति छान्दसत्वादसंज्ञायामपि सादेशः। समासस्य (अ० ६। १। २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥ यत्तु भाष्ये "आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते" (अ० ६। ३। ७८) इत्युक्तं, तत्तु स निपातनस्वर उपदेशिवद्भावाद् यत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्तत्रैव। अन्यत्र समासान्तोदात्तत्वेन बाध्यत इति ध्येयम् ॥ द्रष्टव्यं भाष्ये अ० ६। ३। ७८ ॥

(कृत्याम्) कृञः श च (अ० ३। ३। १००) इति क्यप्। स चोदात्तानुवृत्तेरुदात्तः। टाप्। एकादेशोऽप्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ (क) सर्वप्रक्रियासु चायमन्वयो योजनीयः ॥

(ख) सभापतिराह—"यथा ममामात्यो मन्त्री निचखान तां वाचं वेदवाणीं निःसंशयेन ज्ञातवान्, तथैव हे प्रजापुरुष ! त्वमपि 'उत्किर' विजानीहि निखन ॥

विद्वानाह—यथा मम शिष्यो मेधावी ...... तथा यूयमपि सामान्यजना निखनत" इत्यभिप्रायोऽत्र ग्राह्यः ॥

२ विष्णु द्वारा निर्माण किये इस विश्व में हमारी अभीष्टसिद्धि किस प्रकार हो सकती है, यह कहते हैं—॥ २३ ॥

* इतोऽग्रे 'यथा कश्चिद्' इति अ० मुद्रिते पाठः, स चानावश्यकः। 'हे विद्वन् मनुष्य यथाहं बलगहनं रक्षोहणं वैष्णवीं वाचमिदं यं बलगं यज्ञमुत्किरामि तथा त्वम्' इति क. पाठः ॥

‡ इतः पूर्वं 'यथा' इति पाठो व्यर्थः, स च क. कोशे नास्त्येव ॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य! जैसे (अहम्) मैं (बलगहनम्) बलों को विलोडने और (रक्षोहणम्) राक्षसों के हनन करानेवाले कर्म और (वैष्णवीम्) व्यापक ईश्वर की वेदवाणी का अनुष्ठान करके (यम्) जिस (बलगम्) बल प्राप्त करने वाले यज्ञ को (उत्किरामि) उत्कृष्टपन से प्रेरित अर्थात् इस संसार में प्रकाशित करता हूँ, वैसे ही (तम्) उस (इदम्) इस यज्ञ को तू भी प्रकाशित कर, और जैसे (मे) मेरा (निष्ट्यः) यज्ञ में कुशल (अमात्यः) मेधावी विद्वान् मनुष्य (यम्) जिस यज्ञ वा (इदम्) भूगर्भ विद्या की परीक्षा के लिये स्थान का (निचखान) निःसंदेह [खनन] करता है, वैसे (तम्) उसको भी भृत्य खोदे। जैसे (अहम्) भूगर्भ विद्या का जानने वाला मैं (यम्) जिस (बलगम्) बल प्राप्त करनेवाले खेती आदि यज्ञ वा (इदम्) खननरूपी कर्म को (उत्किरामि) अच्छे प्रकार सम्पादन करता हूँ, वैसे (तम्) उसको तू भी कर। जैसे (मे) मेरा (समानः) सदृश वा [(असमानः)] असदृश मनुष्य (यम्) जिस कर्म को (निचखान) खनन करता है, वैसे तेरा भी खोदे। जैसे (अहम्) पढ़ने पढ़ाने वाला मैं (यम्) जिस (बलगम्) आत्मबल प्राप्त करनेवाले यज्ञ वा (इदम्) इस पढ़ने पढ़ाने रूपी कर्म को (उत्किरामि) सम्पन्न करता हूँ, वैसे (तम्) उसको तू भी कर। जैसा (मे) मेरा (सबन्धुः) तुल्य बन्धु मित्र वा (असबन्धुः) तुल्यबन्धु रहित अमित्र (यम्) जिस पालनरूपी यज्ञ वा इस कर्म को (निचखान) निःसन्देह करता है, वैसे उसको तेरा भी करे। जैसे (अहम्) सब का मित्र मैं (यम्) जिस (बलगम्) राज्य बल प्राप्त करानेवाले यज्ञ वा इस कर्म को (उत्किरामि) सम्पादन करता हूँ, वैसे उसको तू भी कर। जैसे (मे) मेरा (सजातः) साथ उत्पन्न हुआ (असजातः) साथ से अलग उत्पन्न हुआ मनुष्य (यम्) जिस यज्ञ वा (कृत्याम्) उत्तम क्रिया को (निचखान) निःसन्देह करता है, वैसे तेरा भी इस यज्ञ वा इस क्रिया को निःसन्देह करे, जैसे मैं इस सब कर्म को (उत्किरामि) सम्पादन करता हूँ, वैसे तुम भी करो ॥ २३ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ईश्वर की इस सृष्टि में विद्वानों का अनुकरण सदा करना और मूर्खों का अनुकरण कभी न करना चाहिये ॥ २३ ॥

स्वराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। सूर्यविद्वांसौ देवते। भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

अथ सूर्यसभाद्यध्यक्षगुणा उपदिश्यन्ते[1] ॥

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ॥ २४ ॥

स्वराडिति स्वऽराट्। असि। सपत्नहेति सपत्नऽहा। सत्रराडिति सत्रऽराट्। असि। अभिमातिहेत्यभिमातिऽहा। जनराडिति जनऽराट्। असि। रक्षोहेति रक्षःऽहा। सर्वराडिति सर्वऽराट्। असि। अमित्रहेत्यमित्रऽहा ॥ २४ ॥

पदार्थः—(स्वराट्[2]) यः स्वयं राजते सः। (असि) अस्ति वा। अत्र सर्वत्र पक्षे व्यत्ययः। (सपत्नहा) यः सपत्नान् शत्रून् मेघावयवान् वा हन्ति सः। (सत्रराट्) यः सत्रेषु यज्ञेषु राजते सः। (असि) अस्ति वा। (अभिमातिहा[3]) येऽभिमिमत इत्यभिमातयस्तान् हन्ति सः, अत्रौणादिकः क्तिच्।

१ यथा सृष्टौ सूर्यः सर्वोपकारी, तथैव सभाध्यक्षेणापि भाव्यम् इत्युभौ सह निर्दिशति, अत एव श्लेषेण सूर्यं सभाध्यक्षं च वर्णयति—

२ असौ वै (द्यु) लोकः स्वराट् ॥ श० ७।४।२।२२ ॥

३ अभिमातिः पाप्मा। मन्यतेः क्तिनि नित्यमप्यनुनासिकलोपं बाधित्वा व्यत्ययेन 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (अ० ६। ४। १५) इति दीर्घत्वं, ततोऽनुदात्तोपदेशादिनानुनासिकलोपः, तस्या हन्ता इति भट्टभास्करः (तै० सं० भा० १ पृ० २६४) ॥

(जनराट्) यो जनेषु धार्मिकेषु विद्वत्सु राजते सः । (असि) अस्ति वा । (रक्षोहा) यो रक्षांसि दुष्टान् हन्ति सः । (सर्वराट्) यः सर्वस्मिन् राजते सः । (असि) अस्ति वा । (अमित्रहा) यो येन वाऽमित्रान् शत्रून् हन्ति सः ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ५ । ४ । १४ व्याख्यातः ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य ! यतस्त्वं स्वराडसि तस्मात् सपत्नहा †भवसि, यतस्त्वं सत्राडसि तस्मादभिमातिहा वर्त्तसे, यतस्त्वं जनराडसि तस्माद् रक्षोहा भवसि, यतस्त्वं सर्वराडसि तस्मादमित्रहा भवसीत्येकः ॥

यतोऽयं सूर्यलोकः स्वराड [स्य] स्ति तस्मात् सपत्नहा भवति, यतोऽयं सत्राड [स्य] स्ति तस्मादभिमातिहा वर्त्तते, यतोऽयं जनराड [स्य] स्ति तस्माद् रक्षोहा जायते, यतोऽयं सर्वराड [स्य] स्ति तस्मादमित्रहा वर्त्तत *इति द्वितीयः* ॥ २४ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—हे विद्वन् ! यथा सूर्यः स्वप्रकाशेन चोरव्याघ्रादीन् क्षीणयित्वा सर्वान् सुखयति, तथैव त्वं शत्रून्निवार्य्य प्रजाः सुखय ॥ २४ ॥

अब अगले मन्त्र में सूर्य और सभाध्यक्ष के गुणों का उपदेश किया है[२] ॥

पदार्थः—हे विद्वन् मनुष्य ! जिस कारण आप (स्वराट्) अपने आप प्रकाशमान (असि) हैं, इससे (सपत्नहा) शत्रुओं के मारनेवाले होते हो । जिस कारण तुम (सत्राट्) यज्ञों में प्रकाशमान [(असि)] हो, इससे (अभिमातिहा) अभिमानयुक्त मनुष्यों को मारनेवाले होते हो । जिससे [आप] (जनराट्) धार्मिक विद्वानों में प्रकाशित [(असि)] हैं, इससे (रक्षोहा) राक्षस दुष्टों को मारनेवाले होते हैं। जिससे आप (सर्वराट्) सब में प्रकाशित [(असि)] हैं, इससे (अमित्रहा) अमित्र अर्थात् शत्रुओं के मारनेवाले होते हैं ॥ *[यह इस मन्त्र का प्रथम अर्थ हुवा]* ॥ १ ॥

जिस कारण यह सूर्यलोक (स्वराट्) अपने आप प्रकाशित (असि) है, इससे (सपत्नहा) मेघ के अवयवों को काटनेवाला होता है । जिस कारण यह (सत्राट्) यज्ञों में प्रकाशित (असि) है, इस से (अभिमातिहा) अभिमानकारक चोर आदि का हनन करनेवाला होता है । जिस कारण यह (जनराट्) धार्मिक विद्वानों के मन में प्रकाशित (असि) है, इससे (रक्षोहा) राक्षस वा दुष्टों का हनन करनेवाला होता है । जिससे यह (सर्वराट्) सब में प्रकाशमान (असि) है, इससे (अमित्रहा) दुष्टों को दण्ड देने का निमित्त होता है ॥ *[यह इस मन्त्र का द्वितीय अर्थ हुवा]* ॥ २ ॥ २४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

'स्वराट्' इत्यादिषु सर्वत्र गतिकारकोपपदात्० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ श्लेषालङ्कारेणाध्यात्मिकाधिदैविकार्थावत्र प्रदर्शितौ, आधिदैविकान्तर्भूत एवाधियज्ञार्थोऽपि ॥

२ जिस प्रकार सृष्टि में सूर्य सर्वोपकारी है, सभाध्यक्ष को भी वैसा ही होना चाहिये, इससे दोनों का एक साथ निर्देश करते हैं। अत एव श्लेषालङ्कार से सूर्य और सभाध्यक्ष का निरूपण करते हैं ॥ २४ ॥

---

† अ. मुद्रिते ग. कोशे चात्रान्वये त्रिष्वपि स्थानेषु 'भवसि' इति पदात् पूर्वम् 'असि' इति पाठ उपलभ्यते, स च व्यस्तोऽनावश्यकश्च, क. कोशे ऽपि नास्त्येवेत्यतो ऽयुक्त इति ध्येयम् ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—हे विद्वन् मनुष्य ! जैसे सूर्य अपने प्रकाश से चोर व्याघ्र आदि प्राणियों को भय दिखाकर अन्य प्राणियों को सुखी करता है, वैसे ही तू भी सब शत्रुओं को निवारण कर प्रजा को सुखी कर ॥ २४ ॥

रक्षोहण इत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता । आद्यस्य ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥ [वां] बलगहना उपेत्युत्तरस्यार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

यजमानः सभाद्यध्यक्षादयो यज्ञानुष्ठातॄन् मनुष्यान् यज्ञसामग्रीं ग्राहयेयुरित्युपदिश्यते[1] ॥

रक्षोहणो वो बलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो बलगहनोऽवनयामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो बलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान् रक्षोहणौ वां बलगहना ऽ उपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां बलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ ॥ २५ ॥

रक्षोहणः । रक्षोहन इति रक्षःऽहनः । वः । बलगहन इति बलगऽहनः । प्र । उक्षामि । वैष्णवान् । रक्षोहणः । रक्षोहन इति रक्षःऽहनः । वः । बलगहन इति बलगऽहनः । अव । नयामि । वैष्णवान् । § रक्षोहणः । रक्षोहन इति रक्षःऽहनः । वः । बलगहन इति बलगऽहनः । अव । स्तृणामि । वैष्णवान् । रक्षोहणौ । रक्षोहनाविति रक्षःऽहनौ । वाम् । बलगहनाविति बलगऽहनौ । उप । दधामि । वैष्णवीऽइति वैष्णवी । रक्षोहणौ । रक्षोहनाविति रक्षःऽहनौ । वाम् । बलगहनाविति बलगऽहनौ । परि । ऊहामि । वैष्णवीऽइति वैष्णवी । वैष्णवम् । असि । वैष्णवाः । स्थ ॥ २५ ॥

पदार्थः—(रक्षोहणः) ❀ यथा यूयं रक्षांसि दुःखानि हथ तथा । (वः) युष्मानेतांश्च । (बलगहनः) † यथा यो बलानि गाहते तथा भूतोऽहम् । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (उक्षामि) सिञ्चामि । (वैष्णवान्) विष्णुर्यज्ञो देवता येषां तान् । (रक्षोहणः) ‡ यथा यूयं रक्षांसि दुष्टान् दस्य्वादीन् हथ तथा तान् । (वः) युष्मानेतान् वा । (बलगहनः) ‖ यथा यो बलानि शत्रुसैन्यानि गाहते तथाऽहम् । (अव) विनिग्रहार्थे । (नयामि) प्राप्नोमि, प्रापयामि वा । (वैष्णवान्) विष्णोर्यज्ञस्येमान् । (रक्षोहणः) ¶ यथा यूयं रक्षांसि शत्रून् हथ तथाऽहं तान् । (वः) युष्मानेतान् वीरान् वा । (बलगहनः) ** यथाऽहं बलानि स्वसैन्यानि गाहे, तथा व्यूहशिक्षया विलोडयत । (अव) विनिग्रहे । (स्तृणामि) आच्छादयामि । (वैष्णवान्) यज्ञानुष्ठातॄन् । (रक्षोहणौ) †† यथा रक्षसां हन्तारौ प्रजासभाध्यक्षौ तथाऽहम् । (वाम्) उभौ । (बलगहनौ) ‡‡ यथा युवां बलानि गाहेथे तथाऽहम् । (उप) सामीप्ये ।

1 तस्मादस्याद् यजमानादीनां कृत्यमाह— 2 य० ५ । २३ विवरणे व्याख्यातः ॥

'रक्षोहणौ वां बलगहना०' इत्यादि वाक्यारम्भः प्रतिभाति, तदा तूत्तरभागस्य ४४ अक्षराणि भविष्यन्ति तेन चार्षी त्रिष्टुप् छन्दो धैवतश्च स्वरो द्रष्टव्यः । तथैव पूर्वभागस्य पञ्चाशदक्षरत्वात् स्वराड् ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः, गान्धारश्च स्वर इति ध्येयम् ॥

§ 'रक्षोहणः' इति नास्त्यजमेरमुद्रिते ॥

❀ 'ये रक्षांसि दुःखानि घ्नन्ति तान्' इति क. पाठः ॥

† 'यो बलानि गाहते सः' इति क. पाठः ॥

‡ 'ये रक्षांसि दुष्टान् दस्य्वादीन् घ्नन्ति तान्' इति क. पाठः ॥

‖ 'यो बलानि शत्रुसैन्यानि गाहते सः' इति क. पाठः ॥

¶ 'ये रक्षांसि शत्रून् घ्नन्ति तान् वीरान्' इति क. पाठः ॥

** 'यो बलानि स्वसैन्यानि गाहते, शिक्षया विलोडयति' इति क. पाठः ॥

†† 'रक्षसो हन्तारौ, प्रजासभाध्यक्षौ' इति क. पाठः ॥

‡‡ 'यौ बलानि गाहेते तौ' इति क. पाठः ॥

(दधामि) धरामि। (वैष्णवी) विष्णोरियं क्रिया। (रक्षोहणौ) § यथा रक्षसां शत्रूणां हन्तारौ भवथस्तथाऽहम्। (वाम्) उभौ। (बलगहनौ) ॐ यथा युवां बलानि गाहेथे तथाऽहम्। (परि) सर्वतः। (ऊहामि) तर्केण निश्चिनोमि। (वैष्णवी) † विष्णोः समग्रविद्याव्यापकस्येयं रीतिस्ताम्। (वैष्णवम्) विष्णोरिदं विज्ञानम्। (असि) अस्ति। (वैष्णवाः) विष्णोर्व्यापकस्येश उपासकाः। (स्थ) भवत॥ अयं मन्त्रः शत० ३।५।४।१८–२४ व्याख्यातः॥ २५॥

अन्वयः—‡ हे सभाध्यक्षादयो मनुष्याः! यूयं यथा रक्षोहणः स्थ, तथा बलगहनोऽहं [वैष्णवान्] वो युष्मान् सत्कृत्यैतान् दुष्टान् युद्धे शस्त्रैः प्रोक्षामि। यथा रक्षोहणो यूयं नो दुःखानि हथ, तथा बलगहनोऽहं [वैष्णवान्] वो युष्मान् सुखैः संमान्यैतानवनयामि। यथा रक्षोहणो वैष्णवान् वो § युष्मानेतांश्चावस्तृणीथ, तथा बलगहनोऽहमेवैतान् [अव] स्तृणामि। यथा रक्षोहणौ बलगहनौ यज्ञस्वामिसम्पादकौ वामुपधत्तस्तथैवाहमेतानुपदधामि, यथा रक्षोहणौ बलगहनौ वां या वैष्णवी क्रियाऽस्ति तया पर्यूहतस्तथैवाहमेतां पर्यूहामि यद्वैष्णवं ज्ञानं [वैष्णवी] [अस्यस्ति] यूयं सर्वत ऊहथ तदहमपि पर्यूहामि, यथा यूयं वैष्णवाः स्थ तथा वयमपि भवेम॥ २५॥

() अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरोपासनायुक्तव्यवहाराभ्यां पूर्णं शरीरात्मबलं सम्पाद्य यज्ञेन प्रजापालनं शत्रून् विजित्य सार्वभौमराज्यं च प्रशासनीयम्॥ २५॥

यजमान सभा आदि के अध्यक्ष यज्ञानुष्ठान करनेवाले मनुष्यों को यज्ञसामग्री का ग्रहण करावें,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२]॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष आदि मनुष्यो! जैसे तुम (रक्षोहणः) दुःखों का नाश करने वाले हो, वैसे शत्रुओं के [(बलगहनः)] बल को अस्तव्यस्त करनेहारा मैं (वैष्णवान्) यज्ञदेवता वाले (वः) आप लोगों का सत्कार कर युद्ध में शस्त्रों से इन घमण्डी मनुष्यों को (प्रोक्षामि) शुद्ध करूं। जैसे आप (रक्षोहणः) अधर्मात्मा दुष्ट दस्युओं को मारने वाले हैं, वैसे (बलगहनः) शत्रुसेना की थाह लेने वाला मैं (वैष्णवान्) यज्ञ सम्बन्धी (वः) तुमको सुखों से मान्य कर दुष्टों को (अवनयामि) दूर करता हूँ। जैसे (बलगहनः) अपनी सेना को व्यूहों

अथ व्याकरणप्रक्रिया

यदत्र व्याख्येयं तत् सर्वं य० ५। २३ विवरणे व्याख्यातं, तत एव द्रष्टव्यम्॥

१ त्रिविधोऽप्यर्थोऽत्रोहनीयः॥

२ पूर्वोक्तों के सादृश्य से यजमानादि के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हैं—॥ २५॥

---

§ 'रक्षसां शत्रूणां हन्तारौ' इति क. पाठः॥ ॐ 'यौ बलानि गाहेते तौ' इति क. पाठः॥

† 'विष्णोर्व्यापकस्येयमुपासना' इति क. पाठः॥

‡ "हे सभाध्यक्षादयो मनुष्या रक्षोहणो वैष्णवान् वो युष्मानेतांश्च बलगहनोऽहं प्रोक्षामि, बलगहनोऽहं रक्षोहणो वैष्णवान् वो युष्मानेतांश्चावनयामि। बलगहनोऽहं रक्षोहणो वैष्णवान् वो युष्मानेतांश्चावस्तृणाम्यहं रक्षोहणौ बलगहनौ यज्ञस्वामिसम्पादकौ वामुपदधामि। अहं रक्षोहणौ बलगहनौ वां या वैष्णवी क्रियास्ति तां च पर्यूहामि, यद् वैष्णवं ज्ञानमस्ति, तदपि पर्यूहामि। यूयमेते सर्वे पदार्था वा वैष्णवाः स्थ भवत सन्ति वा" इति क. पाठः, तदनुसारं भाषापदार्थेऽपि तथैव भेद इति ध्येयम्॥ § अन्वयोऽत्र व्यस्तः प्रतिभाति॥

() 'अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारो' इति अ०मुद्रिते ग. कोशे च पाठः। स च व्यस्तो मन्त्र उपमावाचकपदस्याश्रवणात्॥

की शिक्षा से विलोडन करने वाला मैं (रक्षोहणः) शत्रुओं को मारने वा (वैष्णवान्) यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले (वः) तुम को (अवस्तृणामि) सुख से आच्छादित करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो। जैसे (रक्षोहणौ) राक्षसों के मारने वा (बलगहनौ) बलों को विलोडन करने वाले (वाम्) यज्ञपति वा यज्ञ कराने वाले विद्वान् को धारण करते हो, वैसे मैं भी (उपदधामि) धारण करता हूं, जैसे (रक्षोहणौ) राक्षसों के मारने (बलगहनौ) बलों को विलोडने वाले (वाम्) प्रजासभाध्यक्ष आप (वैष्णवी) सब विद्याओं में व्यापक विद्वानों की क्रिया वा (वैष्णवम्) जो विष्णु संबन्धी ज्ञान [तथा (वैष्णवी) सब विद्याओं में व्यापक विद्वानों की रीति (असि)] है, इन सब को तर्क से जानते हैं, वैसे मैं भी (पर्यूहामि) तर्क से अच्छे प्रकार जानूं, और जैसे आप सब लोग (वैष्णवाः) व्यापक परमेश्वर की उपासना करने वाले (स्थ) हैं, वैसा मैं भी होऊं ॥ २५ ॥

()इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है॥

भावार्थः—मनुष्यों को परमेश्वर की उपासना [तथा] युक्त व्यवहार से शरीर और आत्मा के बल को पूर्ण करके यज्ञ से प्रजा की पालना और शत्रुओं को जीतकर सब भूमि के राज्य की पालना करनी चाहिये ॥ २५ ॥

देवस्य त्वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। यज्ञो देवता। आद्यस्य निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः। यवोसीत्युत्तरस्य निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

किमर्थोऽयं यज्ञोऽनुष्ठातव्य इत्युपदिश्यते[1] ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्।
आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वा ऽ अपि॑ कृन्तामि। यवो॑ऽसि य॒वया॒स्मद्द्वेषो॑ य॒वयारा॑तीः।
दि॒वे त्वा॒ऽन्तरि॑क्षाय त्वा पृथि॒व्यै त्वा॒ शुन्ध॑न्तां॒ल्लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑नमसि ॥ २६ ॥

दे॒वस्य॑। त्वा॒। स॒वि॒तुः। प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे। अ॒श्विनोः॑। बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म्। पू॒ष्णः। ❀ हस्ता॑भ्याम् ॥ आ। द॒दे॒। नारि॑। अ॒सि॒। इ॒दम्। अ॒हम्। रक्ष॑साम्। ग्री॒वाः। अपि॑। कृ॒न्ता॒मि॒॥ यवः॑। अ॒सि॒। य॒वय॑। अ॒स्मत्। द्वेषः॑। य॒वय॑। अरा॑तीः। दि॒वे। त्वा॒। अ॒न्तरि॑क्षाय। त्वा॒। पृ॒थि॒व्यै। त्वा॒। शुन्ध॑न्ताम्। लो॒काः। पि॒तृ॒षद॑नाः। पि॒तृ॒सद॑ना॒ इति॑ पितृ॒ऽसद॑नाः। पि॒तृ॒षद॑नम्। पि॒तृ॒सद॑न॒मिति॑ पितृ॒ऽसद॑नम्। अ॒सि॒ ॥ २६ ॥

पदार्थः—(दे॒वस्य) सर्वानन्दप्रदस्य। (त्वा) † त्वां होमशिल्पाख्ययज्ञकर्त्तारम्। (सवितुः) सकलोत्पादकस्येश्वरस्य। (प्रसवे) ‡ यथा सृष्टौ तथा। (अश्विनोः[2]) प्राणापानयोः। (बाहुभ्याम्) ‡‡ यथा

[1] तेषां यज्ञकरणप्रयोजनमाह—
[2] नासत्यौ चाश्विनौ। निरु० ६। १३॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नारि) भिन्नवाक्यत्वान्निघाताभावः॥
(यवः) अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३। १। १३४ भा० वा०) इत्यच्। वृषादीनां च (अ० ६। १। २०३) इत्यत्र वृषादीनामाकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम्। यद्वा यौतेः पृथग्भावकर्मणोऽन्तर्भावितण्यर्थात् पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अ० ३। ३। ११८) इति घः। वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम्। बहुल-

() 'इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा और उपमालंकार है' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः॥
❀ 'हस्ता॑भ्या॒मिति॒ हस्ता॑ऽभ्याम्' इति सद्विरुक्तयवग्रहात्मकोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
† 'तं होमशिल्पाख्यं यज्ञम्' इति क. पाठः॥
‡ 'सृष्टौ' इति क. पाठः॥ ‡‡ 'बलवीर्याभ्याम्' इति क. पाठः॥

बलवीर्याभ्यां तथा। (पूष्णः) † पुष्टिमतो वीरस्य। (हस्ताभ्याम्) ‡ यथा प्रबलभुजदण्डाभ्यां तथा। (आ) समन्तात्। (ददे) गृह्णामि। (नारि) § नराणामियं शक्तिमती स्त्री, तत्सम्बुद्धौ। (असि) भवति [वा]। (इदम्) विश्वम् (अहम्) ** सभाध्यक्षः। (रक्षसाम्) दुष्टकर्मकारिणां प्राणिनाम्। (ग्रीवाः) शिरांसि। (अपि) निश्चये। (कृन्तामि) छिनद्मि। (यवः) मिश्रणामिश्रणकर्ता। (असि) ¶ वर्त्तसे। (यवय) श्रेष्ठैर्गुणैः सह मिश्रय, दोषेभ्यश्च दूरीकारय। अत्र वा छन्दसि (अ० १। ४। ६ भा०) इति वृद्ध्यभावः। (अस्मत्) स्वेभ्यः। (द्वेषः) ईर्ष्यादिदोषान्। (यवय) दूरीकारय। (अरातीः) शत्रून्। (दिवे) सत्यधर्मप्रकाशाय। (त्वा) त्वाम्। (अन्तरिक्षाय) ‖ आकाशे गमनाय। (त्वा) त्वाम्। (पृथिव्यै) पृथिवीस्थपदार्थपुष्टये। (त्वा) त्वाम्। (शुन्धन्ताम्) ¶ पवित्रीकुर्वताम्। (लोकाः) सर्वे। (पितृषदनाः) ♦ यथा पितृषु ज्ञानिषु सीदन्ति तथा। (पितृषदनम्) § यथा विद्यावन्तो ज्ञानिनस्सीदन्ति यस्मिंस्तत्तथा। (असि) अस्ति॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ६। १। ४-१४ व्याख्यातः॥ २६॥

अन्वयः—** हे मनुष्य! यथा अहं सवितुर्देवस्य प्रसवे [त्वा] * ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामनेकानुपकारान् [च] आददे, इदं विश्वं संरक्ष्य रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि, यथा पदार्थान् यावयामि तथा त्वमप्यादत्स्व, [यतस्त्वं यवोऽसतः] यवय च, यथाऽहं द्वेषोऽरातीः शत्रूनस्मद् दूरीकारयामि, तथा त्वमपि यवय। हे विद्वन्! यथाऽहं दिवे त्वा त्वां तमन्तरिक्षाय त्वा त्वां पृथिव्यै त्वा त्वामाश्रयामि, तथा सर्वे जना आश्रयन्तां, यथा पितृषदनम् [स्य] स्ति येन पितृषदना लोकाः शुन्धन्ति यदहं शुन्धे तथेदं सर्वं शुन्धन्तां, हे नारि [या त्वमेवंभूता ऽस्यतः] त्वमप्येतत्सर्वमेवमेव समाचर॥ २६॥

ग्रहणाद् वा कर्त्तरि ऋदोरप् (अ० ३। ३। ५७) इति भट्टभास्करः। (तै० सं० भा० १ पृ० २५४)॥

(यवय) यौतेर्णिजन्तात् संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः (परिभाषावृ० पृ० १२०) इति वृद्ध्यभावः। धातुस्वरेण मध्योदात्तः। यद्वा यवं करोति यवयति तत् करोतीति० (अ० ३। १। २६ भा० वा०) इति णिच्। णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य (अ० ६। ४। १५५ भा० वा०) इतीष्ठवद्भावात् टिलोपः, तस्य स्थानिवद्भावाद् वृद्ध्यभावः। अस्मिन्नपि पक्षे धातुस्वरेण मध्योदात्तत्वम्॥

(शुन्धन्ताम्) भिन्नवाक्यत्वान्निघाताभावः। शपि लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(पितृषदनाः) कृतो बहुलम् (अ० ३। ३। ११३ भा० वा०) इति कर्त्तरि ल्युट्। गतिकारको० (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे लित्स्वरः। पूर्वपदात् (अ० ८। ३। १०६) इति षत्वं, सुषामादिषु च (अ० ८। ३। ९८) इति वा षत्वम् इति॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ त्रिविधार्थोऽत्रोहनीयः॥

† 'पुष्टिकर्त्तुर्वीर्योः' इति क. पाठः॥

‡ 'वेगधारकगुणाभ्याम्' इति क. पाठः॥

§ 'नराणामियं शक्तिः' इति क. पाठः॥

** 'यज्ञानुष्ठाता सभाध्यक्षो वा' इति क. पाठः॥

¶ 'वर्त्तते' इति क. पाठः॥

‖ 'आकाशस्थवाय्वादिपदार्थशोधनाय (त्वा) तम्' इति क. पाठः॥

¶ 'पवित्रयन्ताम्' इति क. पाठः॥

♦ 'पितृष्वृतुषु सीदन्ति ये ते' इति क. पाठः॥

§ 'सीदन्ति यस्मिंस्तत् पितृणामृतूनां सदनम्' इति क. पाठः॥

** "हे मनुष्य यथाहं या नार्यस्ति तां स्वीकृत्य सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामनेकानुपकारानादद इदं विश्वं संरक्ष्य रक्षसां ग्रीवाः कृन्तामि, यथा पदार्थान् यावयामि तथा त्वमप्यादत्स्व यवय च, यथाहमस्मद्द्वेषोऽरातीः शत्रून् दूरीकरोमि, तथा त्वमपि यवय। यथा वयं तं दिवे तमन्तरिक्षाय तं पृथिव्याऽनुतिष्ठामस्तथा यूयमप्यनुतिष्ठत, यो यज्ञः पितृषदनमस्ति येन पितृषदना लोकाः शुन्धन्ति तं सर्वे शुन्धन्ताम्" इति क. पाठः॥

* अत्र 'यथा' 'तथा' इति पदद्वयं व्यर्थमिति प्रतीमः॥

† अत्र [वाचक] लुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्यथाक्रियं यथानुक्रमं विद्वदाश्रयं कृत्वा यज्ञमनुष्ठाय सर्वेषां शुद्धिः सम्पादनीया ॥ २६ ॥

किस लिये इस यज्ञ को करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—‡ हे विद्वन् मनुष्य ! जैसे [(अहम्)] मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करने और (देवस्य) सब आनन्द के देने वाले परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में [(त्वा) तुझको तथा] (अश्विनोः) प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बल और वीर्य तथा (पूष्णः) अति पुष्ट वीर के (हस्ताभ्याम्) प्रबल प्रतापयुक्त भुजदण्ड से अनेक उपकारों को (आददे) लेता वा (इदम्) इस जगत् की रक्षा कर (रक्षसाम्) दुष्टकर्म करने वाले प्राणियों के (ग्रीवाः) शिरों का (अपि) (कृन्तामि) छेदन ही करता हूँ, तथा जैसे पदार्थों का उत्तम गुणों से मेल करता हूँ, वैसे तू भी उपकार ले और [तू (यवः) पदार्थों के मिश्रण तथा अमिश्रण में समर्थ (असि) है अतः] (यवय) उत्तम गुणों से पदार्थों का मेल कर, [और दोषों से दूर कर ।] जैसे मैं (द्वेषः) ईर्षा आदि दोष वा (अरातीः) शत्रुओं को (अस्मत्) अपने से दूर कराता हूँ, वैसे तू भी (यवय) दूर करा । हे विद्वन् ! जैसे मैं (दिवे) सत्यधर्म के प्रकाश होने के लिये (त्वा) तुझको (अन्तरिक्षाय) {} अन्तरिक्ष में जाने के लिये (त्वा) तुझको (पृथिव्यै) पृथिवी के पदार्थों की पुष्टि के लिये (त्वा) तुझको सेवन करता हूँ, वैसे तुम लोग भी करो । जैसे (पितृषदनं) विद्या पढ़े हुए ज्ञानी लोगों का यह स्थान (असि) है, और जिससे (पितृषदनाः) जैसे ज्ञानियों में ठहर [(लोकाः) लोग] पवित्र होते हैं, वैसे मैं शुद्ध होऊँ, तथा सब मनुष्य (शुन्धन्ताम्) अपनी शुद्धि करें और हे [(नारि)] स्त्री [तू उपर्युक्त गुणवाली (असि) है, अतः] तू भी यह सब इसी प्रकार कर ॥ २६ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि ठीक २ क्रिया क्रमपूर्वक विद्वानों का आश्रय और यज्ञ का अनुष्ठान करके सब प्रकार से अपनी शुद्धि करें ॥ २६ ॥

बहिरमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । यज्ञो देवता । ब्राह्मी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

सेवितः सभाध्यक्षोऽनुष्ठितो यज्ञश्च किं करोतीत्युपदिश्यते[2] ॥

१ उनके यज्ञ करने का क्या प्रयोजन है, यह दर्शाते हैं—॥ २६ ॥

२ यज्ञानुष्ठानफलं सभाध्यक्षसेवनफलं चाह—

† 'अत्रोपमालंकारः' इति अ० मुद्रिते ग.कोशे च पाठः । 'अत्र लुप्तोपमालंकारः' इति क. पाठः । भाषायां तु 'वाचकलुप्तोपमालंकारः' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥

‡ स्वल्पभेदेन भाषापदार्थः क. हस्तलेखे, स च पूर्वोक्तसंस्कृतटिप्पणप्रदर्शित क. हस्तलेखानुसारी ॥

{} 'आकाश में रहने वाले पदार्थों के शोधन के लिये' इति वर्तमानसंस्कृतानुसारी क.कोशीयसंस्कृतानुसारी सार्वत्रिकः पाठः । यदा ग. कोशेऽयं पाठः संशोधितः, तदा भाषापदार्थोऽपि संशोधनीय एवासीत्, स च न संशोधित इत्येवं वैषम्यं समजनीति ध्येयम् ॥

उद्दिवँ स्तभानान्तरिक्षं पृण दृँहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा । ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्यूहामि । ब्रह्म दृँह क्षत्रं दृँहायुर्दृँह प्रजां दृँह ॥ २७ ॥

उत् । दिवम् । स्तभान । आ । अन्तरिक्षम् । पृण । दृँहस्व । पृथिव्याम् । द्युतानः । त्वा । मारुतः । मिनोतु । मित्रावरुणौ । ध्रुवेण । धर्मणा ॥ ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । रायस्पोषवनीति रायस्पोषऽवनि । परि । ऊहामि ॥ ब्रह्म । दृँह । क्षत्रम् । दृँह । आयुः । दृँह । प्रजामिति प्रऽजाम् । दृँह ॥ २७ ॥

पदार्थः—(उत्) उत्कृष्टे । (दिवम्) प्रकाशम् । (स्तभान) [(आ) समन्तात् ।] (अन्तरिक्षम्) आकाशं तत्रस्थप्राणिवर्गं च । अत्र तात्स्थ्योपाधिना प्राणिनामपि ग्रहणम् । (पृण) अत्रान्तर्भाविणिजर्थः । (दृँहस्व) वर्धय । (पृथिव्याम्) भूमौ । (द्युतानः) * यथा दिवं सद्विद्यागुणं विस्तारयति तथा । (त्वा) त्वाम् । (मारुतः) वायुः । (मिनोतु) प्रक्षिपति । (मित्रावरुणौ[1]) * यथा प्राणापानौ तथा । (ध्रुवेण) निश्चलेन । (धर्मणा) धर्मेण । (ब्रह्मवनि) * यथा ब्रह्मविद्यासम्भाजितारं तथा । अत्र सर्वत्र सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति विभक्तेर्लुक् । (त्वा) त्वाम् । (क्षत्रवनि) क्षत्रस्य राज्यस्य संसेवयितारं तथा । (रायस्पोषवनि) यथा रायो धनसमूहस्य पोषं पुष्टिं वनन्ति सेवन्ते यस्मात्तथा । (परि) सर्वतः । (ऊहामि) वितर्कयामि । (ब्रह्म) विद्या विद्वांसं वा । (दृँह) वर्धय वर्धयति वा । (क्षत्रम्) राज्यम् । क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थो येन सः क्षत् घातादिस्ततस्त्रायते रक्षतीति क्षत्रः क्षत्रियादिवीरस्तम् । (दृँह) वर्धय । (आयुः) जीवनम् । (दृँह) वर्धय । (प्रजाम्) उत्पादनीयाम् । (दृँह) वर्धय ॥ अयं मन्त्रः शत ३ । ६ । १ । १५–१८ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः[2]—हे परमविद्वन् ! यथा त्वा त्वां मारुतो ध्रुवेण धर्मणा [मिनोतु] मिनोति मित्रावरुणौ मिनुतस्तथा त्वं कृपयाऽस्मदर्थं दिवमुत्तभानान्तरिक्षम् [आ] पृण पृथिव्यां द्युतानः सन् सुखानि दृँह [स्व] ब्रह्म दृँह क्षत्रं दृँहायुर्दृँह प्रजां दृँह [ब्रह्मवनि] ब्रह्मवनिं [क्षत्रवनि] क्षत्रवनिं [रायस्पोषवनि] रायस्पोषवनिं [त्वा] त्वामहं पर्यूहामि तथा त्वां सर्वे मनुष्याः पर्यूहन्तु ॥ २७ ॥

[1] प्राणापानौ मित्रावरुणौ ॥ तां० ६ । १० । ५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(द्युतानः) लिटः कानज् वा (अ० ३ । २ । १०६) इति सार्वकालिकस्य लिटः कानजादेशः । इदं च वृत्त्यनुसारम्, यथा तु भाष्यं तथा प्रकृतस्यैव लिटः क्वसुकानचौ भवतः ॥ यद्वा ताच्छील्यवयोवचन० (अ० ३ । २ । १२९) इति चानश्, बहुलं छन्दसि (अ० २ । ४ । ७३) इति शपो लुक् । कानच्पक्षे तु सार्वधातुकत्वाभावात् तास्यनुदात्तेत्० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वस्याप्रवृत्तेः 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वमेव प्रवर्त्तते । चानश्पक्षे तु सार्वधातुकत्वेऽपि लसार्वधातुकत्वाभावाद् लसार्वधातुकस्वरो न प्रवर्त्तते । चित्करणसामर्थ्यादन्तोदात्तत्वमेव भवति ॥ यद्वा युधिबुधिदृशोः किच्च (उ० २ । ९०) इति विधीयमान 'आनच्' बाहुलकाद् द्युतेरपि, अन्तोदात्तत्वं च ॥

दिवं तनोतीति द्युतानः, कर्मण्यण् (अ० ३ । २ । १) इति 'अण्' प्रत्ययः, उपपदसमासः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वमिति भिन्नव्युत्पत्तिपक्षोऽपि बोध्यः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[2] अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥

* अत्रापि 'यथा' 'तथा' इति पदद्वयं पूर्ववदेव व्यर्थमिति बोध्यम् ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यूयं यथा जगदीश्वरः सत्यभावेन प्रार्थितः, सद्विद्वांश्च सेवितः सर्वान् सुखयति, तथैवायं यज्ञो विद्यादीन् * संवर्ध्य सर्वान् मनुष्यादीन् प्राणिनः सुखयतीति विजानीत ॥ २७ ॥

अच्छे प्रकार सेवन किया हुआ सभापति और अनुष्ठान किया हुआ यज्ञ क्या करता है,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे परम विद्वन्! जैसे (त्वा) आप को (मारुतः) वायु (ध्रुवेण) निश्चल (धर्मणा) धर्म से (मिनोतु) प्रयुक्त करे (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान भी धर्म से प्रयुक्त करते हैं, वैसे आप कृपा करके हम लोगों के लिये (दिवम्) दिव्य गुणों के प्रकाश को (उत्तभान) अज्ञान से उघाड़ देओ, तथा (अन्तरिक्षम्) † आकाश तथा वहाँ रहने वाले प्राणियों को ([आ] पृण) परिपूर्ण कीजिये। (पृथिव्याम्) भूमि पर (द्युतानः) सद्विद्या के गुणों का विस्तार करते हुए आप सुखों को (दंहस्व) बढ़ाइये। (ब्रह्म) वेदविद्या [वा विद्वान्] को (दंह) बढ़ाइये। (क्षत्रम्) राज्य को [(दंह)] बढ़ाइये, (आयुः) अवस्था को (दंह) बढ़ाइये और (प्रजाम्) उत्पन्न हुई प्रजा को (दंह) वृद्धियुक्त कीजिये, इसी लिये मैं (ब्रह्मवनि) ब्रह्मविद्या को सेवन करने वा कराने (क्षत्रवनि) राज्य को सेवन करने कराने, (रायस्पोषवनि) और धनसमूह की पुष्टि को सेवने वा सेवन करानेवाले [(त्वा)] आप को (पर्यूहामि) सब प्रकार के तर्कों से निश्चय करता हूँ, वैसे आप मुझ को सर्वथा सुखदायक हूजिये और आप को सब मनुष्य तर्कों से जानें ॥ २७ ॥

‡ इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है॥

भावार्थः—हे मनुष्यो! आप लोग जैसे जगदीश्वर सत्य भाव से प्रार्थित, और अत्युत्तम विद्वान् सेवन किया हुआ सबको सुख देता है, वैसे यह यज्ञ भी विद्या गुण को बढ़ाकर सब जीवों को सुख देता है, यह जानो ॥ २७ ॥

ध्रुवासीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। यज्ञो देवता। आर्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनस्तेन किं भविष्यतीत्युपदिश्यते[2]॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात्।
घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥ २८ ॥

---

1 यज्ञ के अनुष्ठान तथा सभाध्यक्ष का सेवन करने से मनुष्य किस फल का भागी बनता है, सो दर्शाते हैं—॥ २७ ॥

2 पूर्वोक्तप्रकारेण साधितस्य यज्ञस्यैश्वर्यधायकत्वमाह—

---

* 'संवृध्य' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः। क. कोशे तु 'संवर्धयति' इति भिन्न एव पाठः॥
† 'सब पदार्थों के अवकाश को' इति संस्कृतानुसारी पाठ इति ध्येयम्॥
‡ 'इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालंकार है' इति अ. मुद्रिते ग. कोशे च पाठः। क. कोशे तु 'इस मन्त्र में श्लेषालंकार है' इति पाठः। ख. च ग. संशोधनसाधने स्वतः स्यात् संस्कृतान्वयविरोधादिति ध्येयम्॥

ध्रुवा । असि । ध्रुवः । अयम् । यजमानः । अस्मिन् । आयतन इत्याऽयतने । प्रजयेति प्रऽजया । पशुभिरिति पशुऽभिः । भूयात् ॥ घृतेन । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । पूर्येथाम् । इन्द्रस्य । छदिः । असि । विश्वजनस्येति विश्वऽजनस्य । छाया ॥ २८ ॥

पदार्थः—(ध्रुवा) निश्चला । (असि) भवसि । (ध्रुवः) निश्चलः । (अयम्) वक्ष्यमाणः । (यजमानः) यज्ञकर्त्ता । (अस्मिन्) वर्त्तमाने यज्ञे । (आयतने[1]) आयन्ति आगच्छन्ति प्राणिनो यस्मिंस्तज्जगत्तस्मिन् जगति स्थाने यज्ञे वा । (प्रजया) राज्येन सन्तानसमूहेन वा । (पशुभिः) हस्त्यश्वगवादिभिः । (भूयात्) (घृतेन) आज्यादिना । (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी । (पूर्येथाम्) (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यस्य । (छदिः) दुःखापवारकत्वेन प्रापकः, प्रापिका वा । (असि) भवसि । (विश्वजनस्य) विश्वस्मिन् जगति सर्वस्य जनसमूहस्य । (छाया) दुःखछेदिकाश्रयो वा ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । १ । १९-२२ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः[2]—हे यज्ञानुष्ठात्रि यजमानपत्नि ! यथा त्वमस्मिन्नायतने जगति स्वस्थाने यज्ञे वा प्रजया पशुभिः सह ध्रुवासि, तथाऽयं यजमानोऽपि ध्रुवोऽस्ति । युवां घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथां पूरणे कुर्यातमिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छायाऽसि यत्संगेन प्राणिसमूहः सुखी भूयादस्मात् तां तं त्वां वयं प्रशंसामः ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्याभ्यां यज्ञानुष्ठातृभ्यां यजमानतत्पत्नीभ्यां येन यज्ञेन च निश्चला विद्या सुखानि च प्राप्य दुःखानि नश्येयुस्तौ [स्त्रीपुरुषौ] सदा सत्कर्त्तव्यौ यज्ञश्च सदाऽनुष्ठेयः ॥ २८ ॥

फिर उस यज्ञ से क्या होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे यज्ञ करनेवाले यजमान की स्त्री ! जैसे तू (अस्मिन्) इस (आयतने) जगत् वा अपने स्थान वा सबके सत्कार करने के योग्य यज्ञ में * (प्रजया) राज्य वा अपने सन्तानों और (पशुभिः) हाथी घोड़े गाय आदि पशुओं के सहित (ध्रुवा) दृढ़सङ्कल्प (असि) है, वैसे (अयम्) यह (यजमानः) यज्ञ करने वाला तेरा पति यजमान भी (ध्रुवः) दृढ़सङ्कल्प है । तुम दोनों (घृतेन) घृत आदि सुगन्धित पदार्थों से (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि को (पूर्येथाम्) परिपूर्ण करो । हे यज्ञ करने वाली स्त्री ! तू (इन्द्रस्य) अत्यन्त ऐश्वर्य को भी

1 अर्थप्रदर्शनपरमिदम् । व्युत्पत्तिस्तु—आयतन्ते प्रयत्नं कुर्वन्ति यस्मिन् प्राणिन इति, अधिकरणे ल्युट् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आयतने) आङ्पूर्वाद् 'यती प्रयत्ने' (भ्वा० आ०) इत्यस्मादधिकरणे ल्युट्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥

(छदिः) 'छद अपवारणे' (चुरादिः प०) इत्यस्माद् णिजन्तात् अर्चिशुचिहु० (उ० २ । १०८) इति 'इसिः', इस्मन्त्रन्क्विषु च (अ० ६ । ४ । ९७) इत्युपधाह्रस्वः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(विश्वजनस्य) समासान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

2 अध्यात्माधियज्ञपरोऽत्रान्वयः, आधिदैविकोऽपि तदन्तर्भूत एवेति ॥

3 पूर्वोक्तविधि से अनुष्ठान किया हुवा यज्ञ ऐश्वर्यादि का धारण करानेवाला होता है, अतः दर्शाते हैं—॥ २८ ॥

* '(प्रजया) राज्य वा अपने सन्तानों और' इति पाठः अ० मुद्रिते ग. कोशे च '(अस्मिन्)' इत्यतः पूर्वमासीद् इति ध्येयम् ॥

अपने यज्ञ से (छदिः) † ढांई देने अर्थात् जीतने वाली (असि) है, अब तू और तेरा पति यह यजमान (विश्वजनस्य) संसार के (छाया) ‡ दुःख का नाश करनेवाला [है, जिसके सङ्ग से प्राणिवर्ग सुखी] (भूयात्) हो, [इस कारण हम उस आप तथा आप के पति के गुणगान करते हैं] ॥ २८ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जिन यज्ञ करनेवाले यजमान की पत्नी और यजमान से तथा जिस यज्ञ से दृढ़ विद्या और सुखों को पाकर दुःखों को छोड़ें, () उनका सत्कार तथा उस यज्ञ का अनुष्ठान सदा ही करते रहें ॥ २८ ॥

परि त्वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । ईश्वरसभाध्यक्षौ देवते । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

ईश्वरसभाध्यक्षाभ्यां किं किं भवितुं योग्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

परि त्वा गिर्वणो गिरऽइमा भवन्तु विश्वतः ।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥ २९ ॥

परि । त्वा । गिर्वणः । गिरः । इमाः । भवन्तु । विश्वतः । वृद्धायुमिति वृद्धऽआयुम् । अनु । वृद्धयः । जुष्टाः । भवन्तु । जुष्टयः ॥ २९ ॥

पदार्थः—(परि) सर्वतः । (त्वा) त्वां । (गिर्वणः) गीर्भिः स्तोतुमर्ह । (गिरः) स्तुतिवाचः । (इमाः) सत्कृताः । (भवन्तु) (विश्वतः) सर्वाः । अत्र प्रथमान्तात् तसिः । (वृद्धायुम्) वृद्ध इव आचरन्तम् । क्याच्छन्दसि (अ० ३ । २ । १७०) इत्युः । (अनु) पश्चाद्भावे । (वृद्धयः) वृध्यन्ते यास्ताः । (जुष्टाः) प्रीताः सेविता वा । (भवन्तु) (जुष्टयः) जुष्यन्ते प्रीयन्ते यास्ताः ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । १ । २४ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

१ संस्तुतिरूपस्यास्य महतो यज्ञस्य नायको जगदीश्वरः, एतत्समाजसंघटननायकः सभाध्यक्षश्च सदा स्तोतुमर्ह इत्याह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गिर्वणः) गिरपूर्वाद् 'वन सम्भक्तौ' इत्येतस्माद् धातोः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति 'असुन्' प्रत्यये, गीर्भिः स्तुतिभिर्वननीयः सम्भजनीयः नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(गिरः) गृणातेः क्विपि धातुस्वरः ॥

(वृद्धायुम्) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वान्मध्योदात्तत्वम्॥ अपरपक्षे तु—बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे, एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इतीष्टस्वरसिद्धिः ॥

यत्त्वत्रोवटमहीधरौ वृद्धश्चासावायुश्च इत्याहतुः, तदसम्यक्, कथमत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं, समासान्तोदात्तापत्तेः ॥

(वृद्धयः) स्त्रियां क्तिन् (अ० ३ । ३ । ९४) इति क्तिन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(जुष्टाः) नित्यं मन्त्रे (अ० ६ । १ । २१०) इत्याद्युदात्तः ॥

(जुष्टयः) क्तिनि नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† अयं ग. पाठः । स च मुद्रणे प्रमादात् त्यक्तः । 'दुःखों को दूर करने वाली' इति क. पाठः ॥
‡ 'सुख छाया करने वाला' इति अ. मुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥
() 'उन यज्ञ करने वालों का सत्कार' इति ग. पाठ इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे गिर्वण ईश्वर सभाध्यक्ष ! इमा मत्कृता विश्वतो गिरस् [त्वा] त्वां परि परितो भवन्तु। न तत्क्षण एव, किन्तु वृद्धायु त्वामनु वृद्धयो जुष्टयो जुष्टाश्च भवन्तु ॥ २९ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यथाखिलैः शुभगुणकर्म्मभिः सह वर्त्तमानो जगदीश्वरः सभापतिर्वा स्तोतुमर्होऽस्ति, तथैव युष्माभिरपि भवितव्यम् ॥ २९ ॥

ईश्वर और सभाध्यक्ष से क्या २ होने को योग्य है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे (गिर्वणः) स्तुतियों से स्तुति करने योग्य ईश्वर वा सभाध्यक्ष ! (इमाः) ये मेरी की हुई (विश्वतः) समस्त (गिरः) स्तुतियां [(त्वा) आपको] (परि) सब प्रकार से (भवन्तु) हों, और उसी समय की ही न हों किन्तु (वृद्धायुम्) वृद्धों के समान आचरण करने वाले आपके (अनु) पश्चात् (वृद्धयः) अत्यन्त बढ़ती हुई और (जुष्टयः) प्रीति करने योग्य (जुष्टाः) प्यारी [(भवन्तु)] हों ॥ २९ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो जैसे सम्पूर्ण उत्तम गुण कर्म्मों के साथ वर्त्तमान जगदीश्वर और सभापति स्तुति करने योग्य है, वैसे ही तुम लोगों को भी होना चाहिये ॥ २९ ॥

इन्द्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। ईश्वरसभाध्यक्षौ देवते। आर्च्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तौ कथंभूतावित्युपदिश्यते[4] ॥

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि। ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥ ३० ॥

इन्द्रस्य। स्यूः। असि। इन्द्रस्य। ध्रुवः। असि ॥ ऐन्द्रम्। असि। वैश्वदेवमिति वैश्वऽदेवम्। असि ॥३०॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य[5]) परमैश्वर्य्यस्य। (स्यूः) यः * सीव्यति सह योजयति सः। (असि) भवसि। (इन्द्रस्य) सूर्य्यादे राज्यस्य वा। (ध्रुवः) निश्चलो निश्चलकर्त्ता। (असि) (ऐन्द्रम्) इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्येदमधिकरणम्। (असि) (वैश्वदेवम्) †यथा विश्वेषां देवानामिदमन्तरिक्षमधिकरणं तथा। (असि) ॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ६। १। २५-२६ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः, श्लेषालङ्कारेणापरावप्यर्थावूहनीयौ ॥

२ यद्यपि परौ भुवोऽवज्ञाने (अ० ३। ३। ५५) इत्यनेन परिभवः = अवज्ञानमिति पर्यायौ। तथापि 'परिभवति,' 'परिभवन्तु' इत्यादिषु नावज्ञानार्थता, तथैव च सर्वे भाष्यकाराः, तद्यथा 'परिगृह्णन्तु' इत्युवटमहिधरादयः। स्कन्दोऽपि—"परिपूर्वो भवतिः सर्वत्र परिग्रहे, परिगृह्णन्तु" वेङ्कटमाधवोऽपि—परिभवन्तु परितो भवन्तु ॥

३ संसाररूपी इस महान् यज्ञ का नायक जगदीश्वर और इस समाज संघटन का अभिनेता सभाध्यक्ष सदा स्तुति के योग्य हैं, अतः दर्शाते हैं—॥ २९ ॥

४ एवं स्तुतौ तौ कीदृशौ भवत इत्याह—

५ य० १। १ विवरणे पृ० १२, १६ द्रष्टव्यः ॥

* 'सीवयति' इति ग. कोशेऽजमेरमुद्रिते च पाठः। क.ख. कोशयोस्तु 'सीव्यति, संयुनक्ति योजयति वा सः' इति पाठः ॥
† 'विश्वेषां देवानामिदम्' इति क. पाठः ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर सभाध्यक्ष वा! यथा वैश्वदेवमन्तरिक्षम [स्य] स्ति तथा त्वमैन्द्रं परमैश्वर्य्यस्याधिकरणमसि। अत एव सर्वेषामस्मदादीनामिन्द्रस्य परमैश्वर्य्यस्य स्यूरसि, इन्द्रस्य सूर्यादिलोकस्य राज्यस्य वा ध्रुवोऽसि॥ ३०॥

अत्र ‡ श्लेष [वाचकलुप्त] ोपमालङ्कारौ॥

भावार्थः—यथा सकलैश्वर्याधिष्ठानमीश्वरोऽस्ति तथा सभाध्यक्षादिभिरपि भवितव्यम्॥ ३०॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२]॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर सभाध्यक्ष वा! जैसे (वैश्वदेवम्) समस्त पदार्थों का निवासस्थान अन्तरिक्ष [(असि)] है, वैसे आप (ऐन्द्रम्) सबका आधार [(असि)] हैं इसी से हम लोगों को (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य का (स्यूः) संयोग करनेवाले (असि) हैं, और (इन्द्रस्य) सूर्य आदि लोक वा राज्य को (ध्रुवः) निश्चल करने वाले (असि) हैं॥ ३०॥

इस मन्त्र में श्लेष और [वाचकलुप्तो] पमालङ्कार हैं॥

भावार्थः—जैसे सकल ऐश्वर्य का देनेवाला जगदीश्वर है, वैसे सभाध्यक्षादि मनुष्यों को भी होना चाहिये॥ ३०॥

विभूरसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। विराडार्च्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनस्तौ कथंभूतावित्युपदिश्यते[३]॥

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः। श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः॥ २१॥

विभूरिति विऽभूः। असि। प्रवाहणः। प्रवाहन इति प्रऽवाहनः। वह्निः। असि। हव्यवाहन इति हव्यऽवाहनः। श्वात्रः। असि। प्रचेता इति प्रऽचेताः। तुथः। असि। विश्ववेदा इति विश्वऽवेदाः॥ ३१॥

पदार्थः—(विभूः) ❀ यथा व्यापक आकाशो वैभवयुक्तो राजा वा। (असि)। (प्रवाहणः) †यथा वायुर्महानदो वा तथा। (वह्निः) वोढा। (असि)। (हव्यवाहनः) ()यथाऽग्निर्हव्यानि वहति तथा। (श्वात्रः) ❀ज्ञानवान्। श्वात्रेति गतिकर्मसु पठितम्। निघ० २। १४। (असि)। (प्रचेताः) §यथा

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इन्द्रस्य) पूर्वं य० १।१ पृष्ठ १६ व्याख्यातः॥

(स्यूः) पूर्वं य० ५।२१ व्याख्यातः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः, श्लेषालङ्कारेणापरावप्यर्थौ वूहनीयौ॥

२ इस प्रकार स्तुति को प्राप्त वे दोनों कैसे होते हैं, सो दर्शाते हैं—

३ तदेवोपोद्बलयति—

‡ 'श्लेषालंकारः' इति क. पाठः। तत्रैव प्रतिपदं परिवर्ध्य 'श्लेषोपमालंकारः' इति ग. पाठोऽजमेरमुद्रिते च।

❀ 'व्यापकः' इत्येव क. पाठः॥ † 'यः प्रवहति सः' इति क. पाठः॥ () 'यो हव्यानि वहति' इति क. पाठः॥

❀ 'ज्ञानवान्, ज्ञानहेतुर्वा' इति क. पाठः॥ § 'यः प्रचेतयति सः' इति क. पाठः॥

प्राणः प्रचेतयति तथा। (तुथः)§ ज्ञानवर्धकः। (असि)। (विश्ववेदाः){} यथा सूत्रात्मा पवनस्तथा$ ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर +विद्वन् वा! यस्मात् त्वं यथाऽऽकाशो वैभवयुक्तो राजा वा तथा विभूरसि, यथा वायुर्महानदो वा तथा प्रवाहणोऽसि, यथा वह्निस्तथा हव्यवाहनोऽसि, यथा प्राणस्तथा प्रचेताः श्वात्रोऽसि, यथा सूत्रात्मा पवनस्तथा विश्ववेदास्तुथश्चासि, तस्मात् सत्कर्त्तव्योऽसीति वयं विजानीमः ॥ ३१ ॥

अत्र श्लेष[वाचकलुप्त]ोपमालङ्कारौ[2] ॥

भावार्थः—※न सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरविदुषोः सत्कारः कदापि त्यक्तव्यो नैतयोः प्राप्त्या विना कस्यचिद्विद्यासुखलाभो भवितुमर्हति तस्मात्तौ सर्वथा वेद्यौ स्तः ॥ ३१ ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर विद्वन् वा! जिससे आप जैसे व्यापक आकाश और ऐश्वर्ययुक्त राजा होता है, वैसे (विभूः) व्यापक और ऐश्वर्ययुक्त (असि) हैं। [जैसे वायु वा बड़ा नद होता है, वैसे (प्रवाहणः) सर्वत्र प्राप्त (असि) हैं।], (वह्निः) जैसे होम किये हुए पदार्थों को योग्य स्थान में पहुँचाने वाला अग्नि है, वैसे (हव्यवाहनः) हवन करने के योग्य पदार्थों को सम्पादन करनेवाले हैं। जैसे जीवों में प्राण है, वैसे (प्रचेताः) चेत करने वाले (श्वात्रः) विद्वान् (असि) हैं। जैसे सूत्रात्मा पवन सब में व्याप्त है, वैसे (विश्ववेदाः) विश्व को जानने (तुथः) ज्ञान को बढ़ानेवाले (असि) हैं, इससे आप सत्कार करने योग्य हैं, ऐसा हम लोग जानते हैं ॥ ३१ ॥

इस मन्त्र में श्लेष और [वाचकलुप्तो]पमालङ्कार हैं ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को उचित है कि ईश्वर और विद्वान् का सत्कार करना कभी न छोड़ें, क्योंकि अन्य किसी से विद्या और सुख का लाभ नहीं हो सकता है, इसलिये, इनको [सब प्रकार] जानें ॥ ३१ ॥

---

१ ब्रह्म वै तुथः। श० ४। ३। ४। १५ ॥

तु इति सौत्रो धातुर्वृद्धिकर्मा। 'पातृतुदि०' इत्यादिना पित्रत्यादिभ्यो विधीयमानस्थक् प्रत्ययो बहुलवचनादस्मादपि भवति, तुथो महानित्यर्थं इति भट्टभास्करः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रवाहणः, हव्यवाहनः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे किति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् ॥

(श्वात्रः) य० ४। १२ (पृ० ३७६) व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ श्लेषेण त्रिविधोऽप्यर्थ ऊहनीयः ॥

३ पूर्वोक्त को ही दर्शाते हैं—

---

§ 'ज्ञानवर्धकः, ज्ञानहेतुर्वा' इति क. पाठः ॥ {} 'यो विश्वं वेत्ति येन वा' इति क. पाठः ॥

$ इतोऽग्रे 'अयं मन्त्रः शत० व्याख्यातः' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥

+ 'वा विद्वन्' इति क. कोशे नास्ति, तथैव भाषापदार्थेऽपीति ॥

※ अत्र श्लेषालङ्कारः। 'इदं सकलं जगत् परमेश्वरेण रच्यते धार्यते एवं विद्युताऽपि च' इति क. पाठः, तदनुसारं भाषायामपि भेदः ॥

उशिगसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते[1] ॥

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः । सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदन ऽ ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥ ३२ ॥

उशिक् । असि । कविः । अङ्घारिः । असि । बम्भारिः । अवस्यूः । असि । दुवस्वान् । शुन्ध्यूः । असि । मार्जालीयः ॥ सम्राडिति सम्ऽराट् । असि । कृशानुः । † परिषद्यः । †परिसद्य इति परिऽसद्यः । असि । पवमानः । नभः । असि । प्रतक्वेति प्रऽतक्वा । मृष्टः । असि । हव्यसूदन इति हव्यऽसूदनः । ऋतधामेत्यृतऽधामा । असि । स्वर्ज्योतिरिति स्वःऽज्योतिः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(उशिक्[2]) कान्तिमान् । (असि) । (कविः[3]) क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तदर्शनो वा । (अङ्घारिः[4]) अङ्कस्य कुटिलगामिनो जीवस्यारिः शत्रुः । (असि) । (बम्भारिः[5]) बन्धस्यारिः । अत्र वर्णव्यत्ययेन घस्य भः । (अवस्यूः) योऽवसीव्यति[6] तारादितन्तून् सन्तानयति येन वा सः ।

---

१ पूर्वोक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण पोषयति—

२ वष्टि यं कामयते, यः काम्यते वा स उशिक् । उणा० २ । ७१ ॥

३ 'कु शब्दे' इत्येतस्माद् अच इः (उ० ४ । १३९) इति 'इ'प्रत्ययः । कविः क्रान्तदर्शनः इति (निरु० १२ । १३) ॥ ये वाऽनूचानास्ते कवयः । (ऐ० ब्रा० २ । २) ॥

४ अंहसां पापानामरिः अङ्घारिः, सकारलोपश्छान्दसः ॥ यद्वा 'अघि गत्याक्षेपे', अङ्घमाना अरयो यस्येत्यङ्घारिः पलायमानशत्रुः ॥ 'अंहसोऽरिरङ्घारिः पापस्य नाशकः' । देवपालः पृ० ७१–७३ ॥

५ बिभर्त्ति पालयति पुष्णाति विश्वमिति बम्भारिः ॥ 'धारकः पोषकश्च' इति देवपालः पृ: ७१, ७३ ॥

६ पदमेतद् 'अव रक्षणे' इत्येतस्मादपि धातोर्व्युत्पादितोऽस्मिन्नेव भाष्ये—तद्यथा—"अव रक्षणे अवतेरसुन्प्रत्ययः, तदिच्छति सर्वेषामिति 'छन्दसि परेच्छायामपि' (अ० ३ । १ । ८ भा० वा) इति क्यचि, क्याच्छन्दसि (अ० ३ । २ । १७०) इति 'उ'प्रत्ययः । छान्दसं दीर्घत्वम् ॥ (आचार्यदयानन्द-यजुर्वेदभाष्ये ११ । १ ॥ १८ । ४५ अवधातोर्निष्पादितोऽयं शब्दः ।) ॥

इत्थमाचार्यदयानन्देन सर्वेषामपि भाष्यकाराणामभिमतपक्षस्तु स्वभाष्ये प्रदर्शित एव । 'विचित्रा हि पदकाराणां वृत्तयः' इति न्यायेन, अर्थस्य प्राधान्याद् वा भिन्नाऽपि व्युत्पत्तिः प्रदर्शिताऽस्मिन् मन्त्रे । सा च कथं संगच्छत इत्याकाङ्क्षायामुच्यते—अव सीव्यतीति 'अवस्यूः' । क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप्प्रत्ययः । च्छ्वोः शूडनुनासिके च (अ० ६ । ४ । १९) इति 'ऊठ्' । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनान्तोदात्तत्वम् । नास्ति स्वरेऽपि भेद इति दिक् ॥

'स्यूः' इति पदं प्रायेण सर्वेऽपि भाष्यकाराः 'षिवु तन्तुसन्ताने' क्विपि च्छ्वोः शूडनुनासिके चेति व्युत्पादयन्ति (द्र० भट्टभास्करः तै० सं० भाष्ये १ । २ । १३ । २७ पृ० २२४ भाग १ ॥ उवटः—य० ५ । २१ ॥ महीधरोऽपि य० ५ । २१ ॥ ५ । ३० ॥ सीव्यतेऽनयेति स्यूः । इति सायणः (तै० सं० १ । २ । १३ । ३) ॥

किञ्च "ऐ० ब्रा० ८ । २६ 'अवस्यवे यो वरिवः कृणोतीति' अवस्यवे वसुरहिताय ब्राह्मणाय पुरोहिताय" इति सा० भा० ॥

---

† उभयोः स्थाने 'परिषद्य इति परि ऽ सद्यः' इत्येवाजमेरमुद्रिते पाठः, स चाशुद्धः ॥

(असि)। (दुवस्वान्[1]) दुवः प्रशस्तं परिचरणं विद्यते यस्य सः। (शुन्ध्यूः[2]) शुद्धः। (असि)। (मार्जालीयः) शोधकः। स्थाचतिमृजेरालज्वालजालीयरः। उ० १। ११६। अनेन सूत्रेणात्र मृजूष् शुद्धौ इत्यस्मादालीयर् ❀ प्रत्ययः। (सम्राट्) ‡ यथा सम्यग्राजते तथा। (असि)। (कृशानुः) तनूकर्त्ता[3] (परिषद्यः) परिषदि भवः। (असि)। (पवमानः) पवित्रकारकः। (नभः) यो नभते हन्ति पर-पदार्थहर्त्तॄन् सः। नभत इति वधकर्मसु पठितम्। निघ० २। १९। (असि)। (प्रतक्वा) + यथा प्रतकति प्रकर्षेण हर्षतीति। अत्रान्येभ्योपि दृश्यन्ते [अ० ३। २। ७५] इति वनिप्, तथा। (मृष्टः) यो मर्षति सर्षयति वा। (असि)। (हव्यसूदनः) † यथा हव्यानि सूदते तथा। (ऋतधामा) § यथा सत्यं ‖ कारणं जलं वा दधाति तथा। (असि)। (स्वर्ज्योतिः) {} यथा स्वरन्तरिक्षलोकसमूहं द्योतते तथा॥ ३२॥

१ दुवस्यतेति नमस्यतेति (श० ६। ८। १। ६)॥ अवस्यूर्दुवस्वान् अयं वै लोकोऽवस्यूर्दुवस्वान्। (श० ९। ४। २। ४७)॥ य० १८। ४५ व्याख्याने युक्तोऽयमर्थः॥

भट्टभास्करस्तु—दुवस्यति परिचारकर्मेति मनुते, परिचरणवान् सर्वैः परिचर्य इति॥

२ शुन्ध्युः⋯⋯शोधनात् इति निरु० ४। १६॥ यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् (उ० ३। २०) छान्दसो दीर्घः। प्रत्ययान्तोदात्तत्वम्॥

३ (क) "कृशानुः सर्वस्य कर्शयिता तनूकर्त्ता दाहको भवसि, 'कृश तनूकरणे' अस्मात् औणादिकः 'आनुक्' प्रत्ययः॥ तां० ब्रा० सा० भाष्ये पृ० १९॥ अन्यत्र य० ४। २७ विवरणे पृ० ४०४ व्याख्यातम्॥

(ख) किञ्च—'कृशानुरग्निः' इति उज्ज्वलदत्तः। 'कृशानुरेकः सोमपालः' इति सायणः (ऋ० १। १५५। २॥ १। ११२। २१॥ ९। ७७। २ भाष्ये)॥

तस्य अनुविसृज्य कृशानुः सोमपालः सव्यस्य⋯ (ऐ० ब्रा० ३। २६)॥

यत्तु 'आर्याभिविनये' "कृश दीन जनों के प्राण के सुखदाता आप ही हो" (पृ० १८२ लवपुर-संस्करणे) उक्तम्, तत्तु 'अर्थतन्त्रा हि व्युत्पत्तयः' इति न्यायेन छान्दसत्वात् सर्वं स्यादित्यवधेयम्॥ अनेन य० ४। २७ विवरणोक्ताऽयुक्तताऽपि निवारयितुं शक्यत इत्यपि बोध्यम्॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उशिक्) वशः कित् (उ० २। ७१) इति 'इजिः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(दुवस्वान्) 'दुवस् परितापपरिचरणयोः' कण्ड्वादिः, धातुस्वरेणान्तोदात्तः। कण्ड्वादिभ्यो यक् (अ० ३। १। २७) इति यक्। ततः क्विपि यस्य हलः (अ० ६। ४। ४९) इति यकारलोप इति दुवस्, ततो मतुप्। वृषादीनां च (अ० ६। १। २०३) इत्याद्युदात्तत्वम्। मतुबनुदात्तः॥ यदा तु 'नैतेभ्यः क्विब् दृश्यते' इति मतं तदा कण्ड्वादीनां प्रातिपदिकत्वपक्षमाश्रित्य नब्विषयस्यानिसन्तस्य (फि० २६) इत्याद्युदात्तत्वम्। ततो मतुपि मादु-पधायाश्च० (अ० ८। २। ९) इति वत्वम्।

(शुन्ध्यूः) यजिमनिशुन्धि० (उ० ३। २०) इत्यादिना 'युच्' प्रत्ययः। बाहुलकाद् निरनुनासि-कत्वाद्वा योरनादेशो न भवति। बाहुलकात् प्रत्ययस्य दीर्घत्वं, प्रत्ययस्वरेण चित्त्वेन वान्तोदात्तः॥

(मार्जालीयः) स्थाचतिमृजेः० (श्वे० उ० १। १०९) इति 'आलीयर्' प्रत्यय इति नारायण-श्वेतवनवासिनौ दशपादीवृत्तिकारो [१०। १] धातुवृत्तिकारश्च॥ उज्ज्वलादि-उणादिवृत्तिषु 'आलीयच्' इति पाठस्त्वयुक्तः, 'आलीयर्' इति पाठस्योपलम्भात्, तेनेष्टस्वरसिद्धेश्च। श्वेतवन-वासि-नारायणवृत्त्योरपि चकारान्तः क्वाचित्कः प्रमादपाठ एवेति। भट्टभास्करस्तु प्रत्ययस्य

❀ 'आलीयच्' इति तु अ० मुद्रिते कोशेषु च सार्वत्रिकः पाठः। अत्र विशेषस्तु विवरणे द्रष्टव्यः॥
‡ 'यः सम्यग् राजते सः' इति क. पाठः॥ + 'प्रतकन्ति येन सः' इति क. पाठः॥
† 'यो हव्यानि सूदते क्षरयति सः' इति क. पाठः॥ § 'ऋतं सत्यं कारणं जलं वा धामानि यस्य' इति क. पाठः।
‖ 'कारणं' इति पदं कोशेषु अजमेरमुद्रिते प्रथमसंस्करणे च विद्यते। द्वितीयसंस्करणे संशोधकस्यानवधानतया नष्टमिति ध्येयम्॥ {} 'यः स्वरन्तरिक्षलोकसमूहं द्योतते सः' इति क. पाठः॥

अन्वयः—हे भगवन्! यतस्त्वमुशिगस्यङ्घारिः कविरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वान्, शुन्ध्यूर् [असि] मार्जालीयः [सम्राट्] असि [कृशानुः] पवमानः परिषद्योऽसि, यथा प्रतक्वा तथान्तरिक्षप्रकाशको नभोऽसि, यथा हव्यसूदनस्तथा मृष्टोऽसि, यथा स्वर्ज्योतिर्ऋतधामाऽसि तथा सत्यस्थायी वर्त्तसे, ❀ तत एव तत्तद्गुणेन प्रसिद्धो भवान् सर्वैरुपासनीयोऽस्तीति विजानीमः ॥ ३२ ॥

अत्र [वाचकलुप्त]ोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—येन जगदीश्वरेण यादृग्गुणं जगन्निर्मितं, तादृग्गुणेन प्रसिद्धः स सर्वैर्मनुष्यैरुपासनीयः ॥ ३२ ॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर! जिस कारण आप (उशिक्) कान्तिमान् (असि) हैं, (अङ्घारिः) खोटे चलन वाले जीवों के शत्रु वा (कविः) क्रान्तप्रज्ञ (असि) हैं,(बम्भारिः) बन्धन के शत्रु वा (अवस्युः) तारादि-तन्तुओं के विस्तार करनेवाले (असि) हैं, (दुवस्वान्) प्रशंसनीय सेवायुक्त स्वयं (शुन्ध्यूः) शुद्ध (असि) हैं, (मार्जालीयः) सबको शोधनेवाले । (सम्राट्) और अच्छी प्रकार प्रकाशमान (असि) हैं, (कृशानुः) पदार्थों को अतिसूक्ष्म (पवमानः) पवित्र और (परिषद्यः) सभा में कल्याण करनेवाले (असि) हैं, जैसे (प्रतक्वा) हर्षित और (नभः) दूसरे के पदार्थ हर लेने वालों को मारनेवाले (असि) हैं, (हव्यसूदनः) जैसे होम के द्रव्य को यथायोग्य व्यवहार में लानेवाले और (मृष्टः) सुख दुःख को सहन करने और कराने वाले (असि) हैं, जैसे

च्चित्वं पठन्नपि 'उपोत्तमं रिति' (अ० ६ । १ । २१७) इत्युपोत्तमस्योदात्तत्वम् इत्याह (तै० सं० १ । ३२ । ५ । भा० १ पृ० २७३)। तदयुक्तं, पाठाशुद्धिर्वा स्यात् । भोजदेवस्तु मृजेर्जालीयर् (२ । ३ । २३) इति प्रत्ययस्य रित्वमेवाह ॥

(परिषद्यः) परिषच्छब्दादन्तोदात्ताद् भवे छन्दसि (अ० ४ । ४ । ११०) इति 'यत्' प्रत्ययः । अर्हार्थे वा छन्दसि च (अ० ५ । १ । ६७) इति यत् । उभयत्र छान्दसत्वात् प्रत्ययस्यानुदात्तत्वम् ॥ यद्वा परिपूर्वात् षदेः ऋहलोर्ण्यत् (अ० ३ । १ । १२४) इति ण्यति प्राप्ते कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इत्यधिकरणे यत् । शकिसहोश्च (अ० ३ । १ । ९९) इत्यनुक्तसमुच्चयार्थंचकाराद् वा । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(प्रतक्वा) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे धातुस्वरः ॥

(मृष्टः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(हव्यसूदनः) कृत्यल्युटो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३) इति कर्त्तरि ल्युट् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण 'सू' उदात्तः ॥

(ऋतधामा) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३ । २ । ७४) इति मनिन् । कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वरे प्राप्ते दासीभाराणां च (अ० ६ । २ । ४२ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(स्वर्ज्योतिः) स्वरुपपदात् द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उ० २ । ११०) इति 'इसिन्' प्रत्ययो जकारा-देशश्च । कृत्स्वरे प्राप्ते दासीभाराणाञ्च (अ० ६ । २ । ४२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे न्यङ्स्वरौ स्वरितौ (फि० ७४) इत्यादिस्वरितत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः, त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊह-नीयः ॥

२ पूर्वनिदिष्ट विषय का प्रकारान्तर से निरूपण करते हैं—

❀ अत्र 'तथैव' इति अ. मुद्रिते पाठः । ग, कोशे रिवत आरभ्य 'विजानीमः' इत्यन्तः पाठो नोपलभ्यते । तस्मिन्नेव कोशे 'तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरुपासनीयोऽसीति वयं विजानीमः' इति पाठो लिखित्वापमृष्टः । प्रतीयते यत्संशोधन-समयेऽनवधानतयाऽयं पाठोऽशुद्धः संजातः स्यात् ॥

(स्वर्ज्योतिः) अन्तरिक्ष [स्थ लोकों] को प्रकाश करनेवाले और † (ऋतधामा) जल और कारणरूप प्रकृति को धारण करनेवाले (असि) हैं, वैसे ही [आप सदा से रहनेवाले हैं, इसलिये] उक्त गुणों से प्रसिद्ध आप सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य हैं, ऐसा हम लोग जानते हैं ॥ ३२ ॥

इस मन्त्र में [वाचकलुप्त] उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जिस परमेश्वर ने समस्त गुण वाले जगत् को रचा है, उन्हीं गुणों से प्रसिद्ध उसकी उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

समुद्रोऽसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्यथेश्वरो वर्त्तते तथा विद्वद्भिरपि भवितव्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा ऽ अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥३३॥

समुद्रः । असि । विश्वव्यचा इति विश्वऽव्यचाः । अजः । असि । एकपादित्येकऽपात् । अहिः । असि । बुध्न्यः । वाक् । असि । ऐन्द्रम् । असि । सदः । असि । ऋतस्य । द्वारौ । मा । मा । सम् । ताप्सम् । अध्वनाम् । अध्वपत इत्यध्वऽपते । प्र । मा । तिर । स्वस्ति । मे । अस्मिन् । पथि । देवयानऽइति देवऽयाने । भूयात् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(समुद्रः) समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात् सः । (असि) । (विश्वव्यचाः) ❀ यथा विश्वस्मिन् व्यचो व्याप्तिर्यस्यास्ति तथा । (अजः) यः कदाचिन्न जायते । (असि) । (एकपात्) एकस्मिन् पादे विश्वं यस्यास्ति । (अहिः) समस्तविद्यासु व्यापनशीलः । (असि) । (बुध्न्यः[4]) बुध्नेऽन्तरिक्षे भवः बुध्नमन्तरिक्षं भवति । निरु० १० । ४४ । (वाक्) यया वक्ति सा । (असि) । (ऐन्द्रम्) परमैश्वर्यस्येदम् । (असि) । (सदः) सीदन्ति यस्मिंस्तत् । (असि) । (ऋतस्य[5]) § सत्यस्य कारणस्य व्यवहारस्य वा । (द्वारौ) बाह्याभ्यन्तरस्थे मुखे । (मा) ‡ निषेधे । (मा) माम् । (सम्) सम्यगर्थे । (ताप्सम्) तपेः । अत्र लिङर्थे लुङ् । (अध्वनाम्) ❖ यथा विद्याधर्मशिल्पमार्गाणाम् । (अध्वपते) धर्मव्यवहारमार्गपालयितः । (प्र) प्रकृष्टार्थे । (मा) माम् । (तिर) तारय । (स्वस्ति) सुखम् । (मे) मम । (अस्मिन्) प्रत्यक्षे । (पथि) मार्गे । (देवयाने[6]) {} यथा विदुषां गमनागमनाधिकरणे तथा । (भूयात्) भवतु ॥ ३३ ॥

१ सामाजिकसंघटने विदुषां प्राधान्यात् तेषामनुकरणीयमादर्शमाह—

२ पुरुषो वै समुद्रः । जै० उ० ब्रा० ३ । ३५ । ५ ॥ सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि ॥ निरु० २ । १० ॥

३ 'व्यच व्याजीकरणे' एतस्माद् धातोः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यौणादिकोऽसुन् प्रत्ययः । व्यचेः कुटादित्वमनसि० (अ० ६ । १ । १७ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन ङित्वाभावे सम्प्रसारणाभावः ॥ असौ वाऽआदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेदंसर्वं व्यचो भवति ॥ श० ८ । १ । २ । १ ॥

४ अग्निर्वाहिर्बुध्न्यः ॥ कौ० १६ । ७ ॥

५ ऋतमिति सत्यमित्येतत् ॥ श० ६ । ७ । ३ । ११ ॥

६ देवयाना वै ज्योतिष्मन्तः पन्थानः ॥ ऐ० ३ । ३८ ॥

† '(ऋतधामा) सत्यधाम युक्त' इति संस्कृतानुसारी सार्वत्रिकः पाठः ॥

❀ 'विश्वस्मिन् व्यचो व्याप्तिर्यस्य सः' इति क. पाठः ॥

§ 'सत्यस्य जलस्य वा' इति क. पाठः ॥

‡ अयं क. पाठः, ग. कोशे तु व्यस्तः पाठ आसीदिति ध्येयम् ॥

❖ 'धर्मशिल्पयोर्मार्गेण' इति क. पाठः ॥

{} 'विदुषां गमनागमनाधिकरणे' इति क. पाठः ॥

अन्वयः—यथेश्वरः समुद्रो विश्वव्यचा [असि] अस्ति, स एकपादजोऽ [स्य] स्ति, अहिर्बुध्न्योऽसि वागसि, हे अध्वपते § तथैन्द्र [मस्यस्ति,] सदोऽ [स्य] स्ति, यथा स ऋतस्य द्वारौ न सन्तापयति तथा मा [मा सन्ताप्सम्] सन्तापयेः [हे ईश्वर ! मा मामध्वनां प्रतिर,] यथा च [मे मम] अस्मिन् देवयाने पथि स्वस्ति भूयात्, तथा त्वं सततं प्रयतस्व ॥ ३३ ॥

अत्र [वाचकलुप्त]ोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—❀ यथा कृपायमाण ईश्वरोऽस्मिन् संसारे सर्वेषां जीवानां शिक्षादिकर्मसु प्रवर्त्तते, तथा विद्वद्भिरपि वर्त्तितव्यम् । यथेश्वरस्य जगत्कारणस्य जीवानां वा ऽनादित्वाज्जन्मराहित्येनाविनाशित्वं वर्त्तते, † तथा स्वस्य बोध्यम् । यथा परमेश्वरस्य कृपोपासना [भ्यां] सृष्टिविद्यापुरुषार्थैः सहैव वर्त्तमानानां मनुष्याणां विद्वन्मार्गप्राप्तिस्तत्र सुखं च जायते, तथा नेतरेषामिति ॥ ३३ ॥

फिर जैसा ईश्वर है, वैसा विद्वानों को भी होना अवश्य है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(समुद्रः) स्फायितञ्चि० (उ० २ । १३) इत्यादिना रक् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(विश्वव्यचाः) बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६ । २ । १०६) इति छान्दसत्वादसंज्ञायामपि पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(अजः) नञ्स्वरे प्राप्ते छान्दसमन्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा भावे डः । नास्ति जो जननं यस्येति बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(एकपात्) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । एकशब्द इण्भीकापा० (उ० ३।४३) इति कन्प्रत्ययान्तत्वान्नित्वेनाद्युदात्तः ॥

(अहिः) 'अह व्याप्तौ' इत्यस्मात् सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) इति 'इन्'प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

उणादाविदं पदमन्यथाऽपि व्युत्पादितम् । तथाहि आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च (उ० ४ । १३८) इत्याङ्पूर्वाद्धन्तेरिण्, उपपदस्य ह्रस्वत्वम् । उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते उदात्तानुवृत्तेः पूर्वपदस्योदात्तत्वं च । केचन वृत्तिकारा उदात्त इति नानुवर्त्तयन्ति । तेषामन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति, काशिकाकारो ऽप्यन्तोदात्तत्वं मनुते (का० ६ । २ । ४८) । न चान्तोदात्तः क्वचिदुपलभ्यते तस्मादनुवर्त्तयितव्यमेवोदात्तग्रहणम् ॥

(बुध्न्यः) भवे च्छन्दसि (अ० ४ । ४ । ११०) इति यत् । यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वात् तित् स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८५) इत्यन्तस्वरितत्वम् ॥

(देवयाने) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ल्युटि लित्स्वरेण 'या' उदात्तः । तत एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्याकार उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽथमन्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थेव ऊहनीयः ॥

२ सामाजिक संगठन में विद्वानों की प्रधानता होने से, उनके अनुकरण करने योग्य आदर्श का वर्णन करते हैं—

---

§ 'यथेन्द्रमसि' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः, पूर्ववाक्यानुसारं त्वत्रापि 'तथा' इत्येव साधीयान्, भाषायामपि तथैव दर्शनात् ॥

❀ 'यथा..........वर्त्तितव्यम्' इति पाठः क. हस्तलेखे नास्ति, तथैव भाषायामपि ॥

† 'तथा स्वस्य बोध्यं यथा' इति पाठः क. कोशे नोपलभ्यते ॥

पदार्थः—जैसे परमेश्वर (समुद्रः) सब प्राणियों का उत्पन्न करनेहारा (विश्वव्यचाः) जगत् में व्यापक [(असि) है] और (एकपात्) जिसके एकपाद में विश्व है [ऐसा] (अजः) अजन्मा (असि) है। (अहिः) [सब विद्याओं में] व्यापनशील (बुध्न्यः) तथा अन्तरिक्ष में होनेवाला (असि) है, और (वाक्) वाणीरूप (असि) है। वैसे ‡ (अध्वपते) हे धर्म व्यवहार के मार्ग को पालन करने हारे विद्वान् ! (ऐन्द्रम्) परमैश्वर्य का [निमित्त (असि) है], (सदः) स्थानरूप [(असि)] है और [जैसे वह परमेश्वर] (ऋतस्य) सत्य के (द्वारौ) सुखों को सन्ताप कराने वाला नहीं है वैसे तुम भी [(मा) मुझको] {} (मा सन्तासम्) सन्ताप न करो। हे ईश्वर ! (मा) मुझको (अध्वनाम्) धर्म शिल्प के मार्ग से (प्रतिर) पार कीजिये और (मे) मेरे (अस्मिन्) इस (देवयाने) विद्वानों के जाने आने योग्य (पथि) मार्ग में जैसे (स्वस्ति) सुख (भूयात्) हो वैसा अनुग्रह कीजिये ॥ ३३ ॥

इस मन्त्र में [वाचकलुप्त] उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—[जैसे कृपालु जगदीश्वर इस संसार में जीवों के शिक्षण में प्रवृत्त है, वैसे ही विद्वानों को भी प्रवृत्त होना चाहिये। जिस प्रकार] ईश्वर, जगत् का कारण, तथा जीव, इनका अनादि होने के कारण जन्म न होने से अविनाशिपन है [वैसे हम भी अविनाशी हैं, ऐसा समझना चाहिये । जैसे] परमेश्वर की कृपा, उपासना, सृष्टि की विद्या वा अपने पुरुषार्थ के साथ वर्त्तमान हुए, मनुष्यों को विद्वानों के मार्ग की प्राप्ति और उसमें सुख होता है, वैसे आलसी मनुष्यों को नहीं होता ॥ ३३ ॥

मित्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। स्वराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनर्विद्वांसः कीदृशाः सन्तीत्युपदिश्यते[1] ॥

मित्रस्यं मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माग्नयः पिपृत माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिंसिष्ट॥ ३४ ॥

मित्रस्यं। मा। चक्षुषा। ईक्षध्वम्। अग्नयः। सगराः। सगराः। स्थ। सगरेण। नाम्ना। रौद्रेण अनीकेन। पात। मा। अग्नयः। पिपृत। मा। अग्नयः। गोपायत। मा। नमः। वः। अस्तु। मा। मा। हिंसिष्ट ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(मित्रस्य) सुहृदः। (मा) माम्। (चक्षुषा) दृष्ट्या। (ईक्षध्वम्) सम्प्रेक्षध्वम्। (अग्नयः) नेतारो[2] नयन्ति श्रेष्ठान् पदार्थान्। (सगराः) सगरोऽन्तरिक्षमवकाशो येषान्ते। अर्थआदित्या॥

१ "मैत्रो ब्राह्मण उच्यते" इति वचनाद् व्यवहारे मैत्र-प्राधान्यमाह—

२ अग्निरग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः॥ निरु० ७। १४॥ अग्निर्वै देवानां मुखम्॥ (कौ० ३। ६॥ ५। ५)॥
शिरोऽग्निः॥ श० ६। २। २। ३४॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सगराः) सह गरेण, समानो वा गरो यस्येति बहुव्रीहिः। तत्राद्ये पक्षे वोपसर्जनस्य (अ० ६। ३। ८२) इत्यनेन, द्वितीयपक्षे समानस्य च्छन्दस्य० (अ० ६। ३। ८४) इति सादेशः। स च निपातनाद् उदात्तः, बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥

‡ '(अध्वपते) हे धर्ममार्ग के व्यवहार को पालन करने हारे विद्वानो' इति पाठोऽग्रेऽस्थान इति कृत्वात्रानीत इति ध्येयम्॥

{} '(मा सन्तासम्)' इति पाठो '(द्वारौ) सुखों को' इत्येतस्मादग्र आसीत्॥

दृचू। (सगराः) सगरोन्तरिक्षं विद्योपदेशावकाशो येषां ते (स्थ) भवत। (सगरेण) अन्तरिक्षेण सह। (नाम्ना) प्रसिद्ध्या। (रौद्रेण) शत्रुरोदयितृणामिदं तेन। (अनीकेन) सैन्येन। (पात) रक्षत। (मा) माम्। (अग्नयः) ज्ञानवन्तः। (पिपृत) विद्यागुणैः पूर्णान् कुरुत। (मा) माम्। (अग्नयः) सभाध्यक्षादयः। (गोपायत) पालयत। (मा) माम्। (नमः) नमस्कारः। (वः) युष्मभ्यम्। (अस्तु) भवतु। (मा) निषेधे। (मा) माम्। (हिंसिष्ट) ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसः सगरा अग्नयो यूयं [मा] मां मित्रस्य चक्षुषेक्षध्वम्, यूयं सगराः स्थ। हे अग्नयः सगरेण रौद्रेण नाम्नानीकेन [मा] मां पात, [अग्नयः] [मा] मां [पिपृत, मा मां] गोपायत, [मा] मां मा हिंसिष्टैतदर्थं वो युष्मभ्यं नमोऽस्तु ॥ ३४ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा विद्यादानेन विद्वांसः सर्वान् मनुष्यान् सुखयन्ति, तथैतान् कार्य्येषु विद्ययोपयुक्ताः सन्तोऽध्येतारोऽपि सुखयन्तु ॥ ३४ ॥

फिर विद्वान् कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! (सगराः) अन्तरिक्ष अवकाश युक्त (अग्नयः) अच्छे २ पदार्थों को प्राप्त करनेवाले आप लोग ! (मा) मुझको (मित्रस्य) मित्र की [(चक्षुषा)] दृष्टि से (ईक्षध्वम्) देखिये, आप (सगराः) विद्योपदेश अवकाश युक्त (स्थ) हूजिये,‡ और हे (अग्नयः) संसाधित विद्युदादि अग्नियों को जाननेवाले विद्वानो आप (सगरेण) अन्तरिक्ष के साथ वर्त्तमान (रौद्रेण) शत्रुओं को रोदन करानेवाली (नाम्ना) प्रसिद्ध (अनीकेन) सेना से (मा) मुझे (पात) पालिये। हे (अग्नयः)※ ज्ञानी लोगो ! आप [(मा) मुझे] (पिपृत) सुखों से पूरण कीजिये और [(मा) मुझे] (गोपायत) सब ओर से पालन कीजिये, और कभी (मा) मुझको (मा हिंसिष्ट) नष्ट मत कीजिये, इससे (वः) आपके लिये मेरा (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे विद्या देने से विद्वान् लोग सब मनुष्यों को सुखी करते हैं, वैसे इन विद्वानों को कार्यों के करने में चतुर और विद्यायुक्त होकर विद्यार्थी लोग सेवा से सुखी करें ॥ ३४ ॥

(रौद्रेण) तस्येदम् (अ० ४। ३। १२०) इत्यणि छान्दसमाद्युदात्तत्वम् ॥

(अनीकेन) अनिहृषिभ्यां किच्च (उ० ४। १७) इति ईकन्। नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(पात, पिपृत) वाक्यभेदेन निघाताभावः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(गोपायत) अत्रापि वाक्यभेदेन निघाताभावः। तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्व० (अ० ६। १। १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सतिशिष्टधातुस्वरेण 'य'उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अत्रापि पूर्ववदूहनीयम् ॥

२ "मित्रता गुणवाला ब्राह्मण होता है" इस वचन के प्रमाण से व्यवहार में मित्रभाववालों की ही प्रधानता है, अतः दर्शाते हैं—॥ ३४ ॥

‡ 'और जैसे आप (अग्नयः)······अग्नियों की रक्षा करते हैं, वैसे' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः ॥

※ 'जैसे ज्ञानी लोग सब प्रकार सबको सुख देते हैं वैसे' इति सार्वत्रिकः पाठः, स च व्यस्त इति ध्येयम् ॥

ज्योतिरसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । †विराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

*ईश्वरः कीदृश इत्युपदिश्यते[१] ॥

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाᳬं समित् । त्वᳬं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य ऽ उरु यन्तासि वरूथᳬं स्वाहा जुषाणो ऽ अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा ॥ ३५ ॥

ज्योतिः । असि । विश्वरूपमिति विश्वऽरूपम् । विश्वेषाम् । देवानाम् । समिदिति सम्ऽइत् ॥ त्वम् । सोम । तनूकृद्भ्य इति तनूकृत्ऽभ्यः । द्वेषोभ्य इति द्वेषःऽभ्यः । अन्यकृतेभ्य इत्यन्यऽकृतेभ्यः । उरु । यन्ता । असि । वरूथम् । स्वाहा । जुषाणः । अप्तुः । आज्यस्य । वेतु । स्वाहा ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(ज्योतिः) सर्वप्रकाशकः । (असि) । (विश्वरूपम्) ()यथा सर्वं रूपं यस्मिंस्तथा (विश्वेषाम्) अखिलानाम् । (देवानाम्) विदुषाम् । (समित्) §यथा सम्यगिध्यते तथा । (त्वम्) । (सोम[२]) ऐश्वर्य्यप्रद ! (तनूकृद्भ्यः) ‡यथा विस्तारकारिभ्यस्तथा । (द्वेषोभ्यः) ‡यथा द्विषन्ति तेभ्यस्तथा । (अन्यकृतेभ्यः) ‡यथाऽन्यैर्यानि क्रियन्ते तेभ्यः । (उरु) बहु । (यन्ता) नियमकर्त्ता । (असि) (वरूथम्) ‡वर्त्तमर्हं गृहम् । वरूथमिति गृहनामसु पठितम् । निघ० ३ । ४ । (स्वाहा) वाचम् । (जुषाणः) प्रीतः । (अप्तुः) व्यापकः । (आज्यस्य[३]) विज्ञानस्य । (वेतु) जानातु । (स्वाहा) वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ३ । ६–८ व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः[४]—हे सोम ! यथा त्वं विश्वेषां देवानां विश्वरूपं ज्योतिः समिदसि, तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यश्च यन्तासि, तथोरु वरूथं स्वाहाप्तुराज्यस्य जुषाणः सन् मनुष्यः स्वाहा वेतु ॥ ३५ ॥

भावार्थः—()यस्मात् परमेश्वरः सर्वेषां लोकानां नियन्तास्ति, तस्मादेते नियमेषु चलन्ति ॥ ३५ ॥

---

१ अनुकार्यस्येश्वरस्याग्रणीत्वसाधकान् गुणान् वर्णयति–

२ यो वै विष्णुः सोमः सः ॥ श० ३ । ३ । ४ । २१ ॥
सोमो हि प्रजापतिः ॥ श० ५ । १ । ५ । २६ ॥
सोमो राजा राजपतिः ॥ तै० २ । ५ । ७ । ३ ॥

३ तेजो वा ऽऽज्यम् ॥ तां० १२ । १० । १९ ॥
तेज आज्यम् ॥ तै० १ । ६ । ३ । ४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(तनूकृद्भ्यः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(द्वेषोभ्यः) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन् । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(अन्यकृतेभ्यः) अन्यैः कृतानि यानि तेभ्यः । तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(यन्ता) तृचि चित्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन् (उ० २ । ६) इति 'ऊथन्'प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अप्तुः) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च (उ० १ । ७९) इति 'तु' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४ अत्रापि पूर्ववत् सर्वमूहनीयम् ॥

---

† 'निचृद् ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ।' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः । क. कोशे तूपरिनिर्दिष्ट एव पाठ इति ध्येयम् ॥

* 'पुनरीश्वरविदुषौ कीदृशावित्युपदिश्यते' इति क. पाठः ॥

() 'सर्वं रूपं यस्मिन् यस्य वा तं' इति क. पाठः ॥

§ 'सम्यगिध्यते येन, यया वा सा' इति क. पाठः ॥

‡ 'येन तनूः शरीराणि कुर्वन्ति तेभ्यः' इति क. पाठः ।

‡ 'ये द्विषन्ति तेभ्यः' इति क. पाठः ॥

‡ 'अन्यैर्यानि क्रियन्ते तेभ्यः' इति क. पाठः ॥

‡ 'वरीतुम्' इति साम्प्रतिकानां मते स्यात् ॥

() 'अत्र श्लेषालंकारः' इति क. पाठः, तथैव भाषापदार्थेऽपि ॥

ईश्वर कैसा है, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (सोम) ऐश्वर्य्य देनेवाले जगदीश्वर ! [(त्वम्)] आप (विश्वेषाम्) सब (देवानाम्) विद्वानों के (विश्वरूपम्) सब रूप युक्त (ज्योतिः) सबके प्रकाश करनेवाले (समित्) अच्छे प्रकाशित (असि) हैं, (तनूकृद्भ्यः) शरीरों को सम्पादन करने (द्वेषोभ्यः) और द्वेष करनेवाले जीवों तथा (अन्यकृतेभ्यः) अन्य मनुष्यों के किये हुए दुष्ट कर्म्मों से (यन्ता) नियम करनेवाले (असि) हैं, उनसे (उरु) बहुत (वरुथम्) उत्तम गृह (स्वाहा) वाणी (असुः) व्यापक (आज्यस्य) विज्ञान को (जुषाणः) सेवन करता हुआ मनुष्य (स्वाहा) वेदवाणी से (वेतु) जाने ॥ ३५ ॥

भावार्थः—जिससे परमेश्वर सब लोकों का नियम करनेवाला है, इससे ये नियम में चलते हैं ॥३५॥

अग्ने नयेत्यस्यागस्त्य ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरीश्वरः किमर्थः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते[2] ॥

अग्ने नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये ऽ अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान् ।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम ॥३६॥

अग्ने॑ । नय॑ । सु॒पथेति॑ सु॒ऽपथा॑ । रा॒ये । अ॒स्मान् । विश्वा॑नि । दे॒व । व॒युना॑नि । वि॒द्वान् ॥ यु॒यो॒धि । अ॒स्मत् । जु॒हु॒रा॒णम् । एन॑ः । भूयि॑ष्ठाम् । ते॒ । नम॑उक्तिमिति॒ नम॑ःऽउक्तिम् । वि॒धे॒म ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(अग्ने[3]) सर्वनेतः परमात्मन् ! (नय) प्रापय । (सुपथा) *यथा सुकृतः शोभनेन धर्म्यमार्गेण गच्छन्ति तथा । (राये) परमश्रीमोक्षसुखप्राप्तये । (अस्मान्) अभ्युदयनिःश्रेयससुखस्पृहावतः ।

---

1 अनुकरण करने के योग्य जगदीश्वर के अग्रणी होने में साधक गुणों का निरूपण करते हैं—॥ ३५ ॥

2 पूर्वोक्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण पोषयति—

3 पूर्वं व्याख्यातः । य० भा० १ । ५ विवरणे (पृ० ४७) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नय) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इत्यविद्यमानवद्भावान्निघाताभावः । तत्र शपोऽनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तः । अविद्यमानवद्भावे 'अपादादौ' इत्यस्यानुवृत्तौ तु व्यत्यय एव शरणम् ॥

(सुपथा) न पूजनात् (अ० ५ । ४ । ६९) इति समासान्तप्रतिषेधः । पथो विभाषा (अ० ५ । ४ । ७२) इति कश्चित् । तदयुक्तम्, नञोऽनुवृत्तेः ॥ परादिश्छन्दसि० (अ० ६ । २ । १९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । 'क्त्वादिर्वा' इति भट्टभास्करः (तै० सं० भा० १ पृ० ८८) तदयुक्तम्, बहुव्रीहिस्तत्रानुवर्त्तते, न चैष बहुव्रीहिः । 'पथिन्' शब्दस्यान्तोदात्तत्वाद् आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६ । २ । ११९) इत्यपि न प्रवर्त्तते ॥

(वयुनानि) अजियमिशीङ्भ्यश्च (उ० ३ । ६१) इत्युनन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते बाहुलकात् प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः । दशपादीवृत्तौ चित्त्वमुक्तम्, तत्र, अन्तोदात्तत्वप्रसक्तेः ॥ उज्ज्वलवृत्तौ 'कित्' इत्युक्तम्, तदपि न, गुणाप्रसक्तेः । अजेर्व्यघञपोः (अ० २ । ४ । ५६) इति 'वी' भावः ॥

(विद्वान्) विदेः शतुर्वसुः (अ० ७ । १ । ३६) इति वस्वादेशः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

* 'शोभनश्चासौ पन्थाः तेन' इति क. पाठः ॥

(विश्वानि) सर्वाणि । (देव) सर्वानन्दप्रापक सर्वजगत्प्रकाशक ! (वयुनानि) प्रशस्तानि कर्माणि प्रज्ञाश्च । वयुनमिति प्रशस्यनामसु पठितम् । निघ० ३ । ८ । प्रज्ञानामसु च । निघ० ३ । ९ । †पदनामसु च । निघ० ४ । २ ॥ वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा । निरु० ५ । १४ । वयुनानि विद्वान् प्रज्ञानानि प्रजानन् । निरु० ८ । २० । (विद्वान्) यः सर्वं वेत्ति सः । (युयोधि) दूरीकुरु । अत्र बहुलं छन्दसीति शपः श्लुः । (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् । (जुहुराणम्) कुटिलम् । ()हुर्च्छेः सनो० । उ० २ । ९१ ॥ अनेनायं सिद्धः । (एनः) दुःखफलं पापम् । (भूयिष्ठाम्) बहुतमाम् । (ते) तव । (नमउक्तिम्) §यथा नमोभिरुक्तिं विदधति तथा । (विधेम) वदेम ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ३ । ११ व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः[1]—हे अग्ने देव जगदीश्वर विद्वांस्त्वं यथा सुकृतो राये सुपथा विश्वानि वयुनानि प्राप्नुवन्ति, तथास्मान्नय, जुहुराणमेनोऽस्मद्युयोधि, वयं ते तव भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम ॥ ३६ ॥

अत्र [वाचकलुप्त]ोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः[2]—यथा प्रेम्णोपासितः सन् जगदीश्वरो जीवान् दुष्टमार्गाद् वियोज्य धर्ममार्गे स्थापयित्वा [तेभ्यः] ऐहिकपारमार्थिकसुखानि तत्तत्कर्मानुसारेण ददाति, तथा न्यायाधीशैरपि विधेयम्[3] ॥ ३६ ।

फिर ईश्वर की प्रार्थना किस लिये करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः[2]—हे (अग्ने) सबको अच्छे मार्ग में चलाने और (देव) सब आनन्दों को देने वाले [सब जगत् के प्रकाशक] (विद्वान्) समस्त विद्यान्वित जगदीश्वर ! आप कृपा से जैसे धार्मिक जन (राये) मोक्ष रूप उत्तम धन के लिये (सुपथा) उत्तम मार्ग से (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) उत्तम कर्म विज्ञान वा प्रज्ञा को प्राप्त होते हैं, वैसे (अस्मान्) हम लोगों को (नय) प्राप्त कीजिये, और (जुहुराणम्) कुटिल (एनः) दुःखफलरूपी पाप को (अस्मत्) हम लोगों से (युयोधि) दूर कीजिये, हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) अत्यन्त (नमउक्तिम्) नमस्कार रूप वाणी को (विधेम) कहते हैं ॥ ३६ ॥

(युयोधि) वा छन्दसि (अ० ३ । ४ । ८८) इति पित्त्वाद् अङित्तश्च (अ० ६ । ४ । १०३) इति धिभावो गुणश्च, छान्दसत्वादपित्त्वमाश्रित्य प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अस्मत्) मदिक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तोऽस्मच्छब्दः । पञ्चम्या अत् (अ० ७ । १ । ३१) इत्यदादेश एकादेशस्वरेण, टिलोपपक्षे तूदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(जुहुराणम्) हूर्छेः सनो लुक् छलोपश्च (उ० २ । ९१) इत्यानच् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(भूयिष्ठाम्) इष्ठनि नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(नमउक्तिम्) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति तृतीयापूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्यसुनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अध्यात्मपरोऽत्रान्वयः ।

२ (क) मन्त्रोऽयमर्थभेदेन य० ७ । ४३ ॥ ४० । १६ अपि व्याख्यातः ॥ ऋ० १ । १८९ । १ च । अन्यत्रापि बहुषु ग्रन्थेषु व्याख्यातस्तत्र तत्र द्रष्टव्यः ॥

(ख) तै० ब्रा० २ । ८ । २ । ३ ॥ तै० आ० ४ सायणभाष्येऽपि सुव्याख्यातोऽयं मन्त्रः ॥

३ पूर्वोक्त विषय को प्रकारान्तर से दर्शाते हैं—॥ ३६ ॥

---

† 'पदनामसु च । निघ० ४ । २' इति पाठः क. कोश एवोपलभ्यते । ग. कोशे अ. मुद्रिते च नास्ति ।

() पाठोऽयं क. कोश एवोपलभ्यते ॥

§ 'या नमोभिरुक्तिस्ताम्' इति क. पाठः ॥

† इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे सत्यप्रेम से उपासना किया हुआ परमेश्वर जीवों को दुष्ट मार्गों से अलग और धर्म मार्ग में स्थापन करके इस लोक के सुखों को उनके कर्मानुसार देता है, वैसे ही न्याय करनेहारे भी किया करें ॥ ३६ ॥

अयं न इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । अग्निर्देवता । [भुरिग्] आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

⊛ पुनः शूरगुणा उपदिश्यन्ते ॥

अयं नो ऽ अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर ऽ एतु प्रभिन्दन् ।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा ॥ ३७ ॥

अयम् । नः । अग्निः । वरिवः । कृणोतु । अयम् । मृधः । पुरः । एतु । प्रभिन्दन्निति प्रऽभिन्दन् ॥ अयम् । वाजान् । जयतु । वाजसाताविति वाजऽसातौ । अयम् । शत्रून् । जयतु । जर्हृषाणः । स्वाहा ॥ ३७ ॥

पदार्थः—❀(अयम्) परमेश्वरोपासको जनः । (नः) अस्माकं प्रजास्थानां जीवानाम् । (अग्निः) स्वयंप्रकाशमानोऽग्निरिव पापिनां दग्धा । (वरिवः) भृशं रक्षणम् । (कृणोतु) । करोतु (अयम्) युद्धकुशलः । (मृधः[२]) कुत्सितान् । (पुरः) पुरस्तात् । (एतु) गच्छतु । (प्रभिन्दन्) यथा शत्रुदलं

१ एवं संघनायकानुपवर्ण्य तद्रक्षकान् वर्णयति—

२ 'मृधः' इति सङ्ग्रामनाम ॥ निघ० २ । १७ ॥

अत्र देवराजः—"मिहो न पापममृधम्" ऋ० ३। १४ । १ इत्यादौ मृधिर्हिंसार्थ इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् (पृ० २७२) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वरिवः) 'वृञ् वरणे' अस्माद् यङ्लुगन्तादसुनि बाहुलकादादिलोप (?) इति देवराजः (पृ० २२३) । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् (अ० ३ । १ । १९) इति निपातनात् सर्वेष्टसिद्धिरिति ध्येयम् ॥

(मृधः) मृधिर्हिंसार्थ इति स्कन्दस्वामी (ऋ० ३।१४।१) तस्मात् क्विपि शसि रूपम् । धातुस्वरः ॥

(प्रभिन्दन्) प्रपूर्वाद् भिदेः (रु० उ०) शतृप्रत्ययः । श्नम् । श्नसोरल्लोपः (अ० ६।४।१११) इत्यकारलोपः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे शतृस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधत इत्युक्तम् ॥

(जर्हृषाणः) हृषेर्यङ्लुगन्ताद् व्यत्ययेन शानचि अभ्यस्तानामादिः (अ० ६ । १ । १८९) इत्याद्युदात्तत्वम् । यद्वा यङन्तात् छन्दस्युभयथा (अ० ३ । ४ । ११७) इत्यार्द्धधातुकत्वाच्छप् न, यस्य हलः (अ० ६ । ४ । ४९) इति यलोपः । सार्वधातुकत्वादभ्यस्तस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† 'अत्रोपमा०' इति ग. कोशे अ. मुद्रिते च पाठः ॥ ⊛ क. पाठस्तु—"पुनरीश्वरशूरवीरगुणा उपदिश्यन्ते" ॥

❀ "पदार्थः—(अयम्) परमेश्वरः शूरो वा । (नः) अस्मभ्यम् । (अग्निः) ज्ञानस्वरूपो बलैः प्रकाशमानो वा । (वरिवः) परिचर्याम् । (कृणोतु) करोतु । (अयम्) अन्यायनिवर्तकः । (मृधः) ये मर्धन्ते उन्दन्ति तान् दुष्टान् । (पुरः) पूर्वम् । (एतु) प्राप्नोतु गच्छतु वा । (प्रभिन्दन्) प्रकर्षेण विदारयन् । (अयम्) विजयप्रदः । (वाजान्) संग्रामान् । (जयतु) विजयताम् । (वाजसातौ) संग्रामे । वाजसाताविति संग्रामनामसु पठितम् ।

विदारयंस्तथा । (अयम्) वीराणां प्रहर्षकः । (वाजान्) संग्रामान् । [(जयतु) जयति वा ।] (वाजसातौ) यथा सग्रामे तथा । (अयम्) विजयप्रापकः । (शत्रून्) अरीन् । (जयतु) । (जर्हृषाणः) अतिशयेन हृष्टः । (स्वाहा) शोभनां वाचं वदन् सन् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ३ । १२ व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अयमग्निः परमेश्वरोपासको जनो नो वरिवः कृणोतु, यथा कश्चिद्वीरः वाजसातौ मृधः शत्रून् पुर एति तथायं ❀ पुर एतु, यथा च कश्चिद्वीरो मृधः शत्रून् प्रभिन्दन् वाजान् जयति [तथायं जयतु] तथाऽयं जर्हृषाणः स्वाहा शोभनां वाचं वदन् जयतु ॥ ३७ ॥

भावार्थः—ये परेशोपासनां न विदधते, नैव तेषां सर्वत्र विजयो जायते । ये सुशिक्षितान् वीरान् सत्कृत्य सेनां न रक्षन्ति, तेषां सर्वत्र पराजयो भवति, तस्मादेतद्द्वयं मनुष्यैः सदानुष्ठेयमिति ॥ ३७ ॥

फिर ईश्वर की उपासना करनेहारे शूरवीर के गुणों का उपदेश किया है[2] ॥

पदार्थः—[(अयम्)] यह (अग्निः) परमेश्वर का उपासक जन (नः) हम प्रजास्थ जीवों की (वरिवः) निरन्तर रक्षा (कृणोतु) करे । जैसे कोई वीर पुरुष अपनी सेना को लेकर संग्राम में निन्दित दुष्ट वैरियों को पहिले ही जा घेरता है, वैसे (अयम्) यह युद्ध करने में कुशल सेनापति (वाजसातौ) संग्राम में [(मृधः)] दुष्ट [(शत्रून्)] शत्रुओं को (पुरः) पहिले ही (एतु) जा घेरे । और जैसे [कोई वीर पुरुष] (प्रभिन्दन्)

१ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥

२ इस प्रकार सेनानायकों का निरूपण करके उनके रक्षकों का वर्णन करते हैं:—॥ ३७ ॥

निघ० २ । १७ (अयम्) व्यवस्थाकर्त्ता शत्रुदलछेदको वा । (शत्रून्) अन्यायकारिणः । (जयतु) विजयं प्रापयतु । (जर्हृषाणः) अत्यन्तं हर्षप्रदो हर्षितो वा । अयं यङ्लुगन्तः प्रयोगः । (स्वाहा) वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ३ । १२ व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अयमग्निर्जगदीश्वरः शूरो वा नोऽस्मभ्यं वरिवस्कृणोत्वयं पुरो मृधः प्रभिन्दन्नेत्वयं वाजान् जयतु जर्हृषाणोऽयं स्वाहा वाचा वाजसातौ शत्रून् जयतु ॥ ३७ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । न खलु परमेश्वरकृपाज्ञापालनाभ्यां विद्युदादिना शस्त्रास्त्रशिक्षाशूरसेनापुरुषार्थैश्च विना मनुष्याणां शत्रुपराजयो विजयप्राप्तिर्वा जायते, तस्मादेतत् सर्वैः सर्वदाऽनुष्ठेयम् ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(अयम्) यह (अग्निः) ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर वा बलों से प्रकाशमान शूरवीर विद्वान् (नः) हम लोगों के लिये (वरिवः) सेवा को (कृणोतु) करे । (अयम्) यह अन्यायनिवृत्त करने वाला ईश्वर वा सभाध्यक्ष (पुरः) पूर्व (मृधः) क्लेदन करनेवाले दुष्टों को (प्रभिन्दन्) अच्छे प्रकार विदारण करता हुआ (एतु) प्राप्त होवे । (अयम्) यह विजय का देनेवाला (वाजान्) संग्रामों को (जयतु) जीते । (जर्हृषाणः) अत्यन्त हर्ष को देने वा हर्षयुक्त (अयम्) व्यवस्था करने वा शत्रुदलों को छेदन करनेवाला (स्वाहा) वाणी से (वाजसातौ) संग्राम में (शत्रून्) अन्याय करनेवाले शत्रुओं को (जयतु) पराजय कर विजय को प्राप्त होवे ॥ ३७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । निश्चय करके परमेश्वर की कृपा और आज्ञा का पालन, बिजुली आदि शस्त्र-अस्त्रों की शिक्षा, शूरवीर सेना और अपने पुरुषार्थ के विना मनुष्यों को शत्रुओं को जीतना वा अपने विजय की प्राप्ति नहीं हो सकती । इस से इनका सब मनुष्यों को सदा अनुष्ठान करना चाहिये" ॥ ३७ ॥ इति क. पाठः ॥

❀ 'पुर एतु' इति पाठो 'वाजान् जयति' इत्येतस्मादग्र आसीत् ॥

छिन्न भिन्न करता हुआ (वाजान्) संग्रामों को [जीतता है वैसे]† (अयम्) यह वीरों को हर्ष देनेवाला सेनापति दुष्ट शत्रुओं को (जयतु) जीते । (अयम्) यह विजय करानेवाला सेनापति (जर्हृषाणः) निरन्तर प्रसन्न होकर (स्वाहा) युद्ध के प्रवन्ध की श्रेष्ठ बोलियों को बोलता हुआ (जयतु) अच्छी तरह जीते ॥ ३७ ॥

भावार्थः—जो लोग परमेश्वर की उपासना नहीं करते हैं, उनका विजय सर्वत्र नहीं होता । जो अच्छी शिक्षा देकर शूरवीर पुरुषों का सत्कार करके सेना नहीं रखते हैं, उनका सब जगह सहज में पराजय हो जाता है । इससे मनुष्यों को चाहिये कि दो प्रवन्ध अर्थात् एक तो परमेश्वर की उपासना और दूसरा वीरों की रक्षा सदा करते रहें ॥ ३७ ॥

उरु विष्णविसस्यागस्त्य ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

‡ पुनरीश्वरभौतिकौ {} कीदृशावित्युपदिश्यते[1] ॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥ ३८ ॥

उरु । विष्णोऽइति विष्णो । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः । कृधि ॥ घृतम् । घृतयोन इति घृतऽयोने । पिब । प्रप्रेति प्रऽप्र । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । तिर । स्वाहा ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(उरु) बहु । (विष्णो) यथा सर्वव्यापकेश्वरः सर्वं जगन्निर्मातुं तथा । (विक्रमस्व[2]) गच्छ । (उरु) बहु । (क्षयाय) निवासार्थाय[3] गृहाय विज्ञानादिप्राप्तये वा । (नः) अस्मान् । (कृधि)

1 तेषामपीश्वर एवादर्शभूत इति दर्शयति—

2 वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः (अ० १ । ३ । ३८) इत्यात्मनेपदम् ॥

3 निवासाय, 'निवासस्य षष्ठ्यर्थे चतुर्थी' इति भट्टभास्करः (तै० सं० १ । ३ । ४ । १), तथैव सायणोऽपि अथर्व० ७ । २७ । ३ ॥

† '(अयम्) यह वीरों······शत्रुओं को' इति पाठः '(अभिक्रन्दन्)' इत्येतस्मादग्र आसीत् , अस्थान इति मत्वाऽस्माभिरत्रानीतः ॥

‡ 'पुनस्तौ' इति ग. हस्तलेखानुसारी अ० मुद्रितपाठः ॥ {} क. पाठस्तु "पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

पदार्थः—(उरु) बहु । (विष्णो) सर्वविद्याव्यापकेश्वर व्यापनशीला विद्युद् वा । (वि) विविधे । (क्रमस्व) विद्यादिशुभगुणक्रमान् प्रापय प्रापयति वा । (उरु) बहु । (क्षयाय) निवासाय । (नः) अस्मान् । (कृधि) करोति वा । (घृतम्) प्रदीप्तं ज्ञानमुदकं वा । (घृतयोने) घृतं प्रदीप्तं ज्ञानं क्षरणं वा योनिर्यस्य तत्सम्बुद्धावग्निर्वा । (पिब) पायय पाययति वा । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । (प्र प्र) प्रकृष्टार्थे । प्रसमुपोदः पाद० अ० ८ । १ । ६ इति द्वित्वम् । (यज्ञपतिम्) यज्ञस्य पालकम् । (तिर) संतारय संतारयति वा । (स्वाहा) वेदवाण्या ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ३ । १५ व्याख्यातः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—विष्णो घृतयोने त्वमयं विद्युद्रूपोऽग्निश्च सुखान्युरु विक्रमस्व विक्रमते वोरुक्षयाय नोऽस्मान् कृधि करोति वा घृतं प्र प्र पिब प्रकृष्टतया प्रापय प्रापयति वा स्वाहा यज्ञपतिं तिर संतर संतारयति वा ॥ ३८ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । परमेश्वरः स्वपराक्रमेण, ईश्वराधारेण विद्युच्च सर्वान् लोकान् धृत्वा सुखानि विस्तारयतः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—हे (विष्णो) सर्वविद्याव्यापकेश्वर व्यापनशील बिजुलीरूप अग्नि (घृतयोने) प्रदीप्त ज्ञान वा क्षरणरूप योनियुक्त आप वा यह (उरु) बहुत विद्यादिशुभगुणयुक्त सुखों को (विक्रमस्व) प्राप्त कीजिये वा करता

कुरु। (घृतम्) आज्यम्। (घृतयोने) यथा घृतयोनिरग्निस्तथा तत्सम्बुद्धौ। (पिब)। (प्रप्र) प्रकृष्टार्थे। (यज्ञपतिम्) यथा होत्रादयो यज्ञपतिं रक्षन्तो यतन्ते तथा। (तिर[1]) प्लवस्व। (स्वाहा) यज्ञक्रियायाः॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ६। ३। १५ व्याख्यातः। ३८॥

अन्वयः—यथा [विष्णो] विष्णुर्विक्रमते तथोरु विक्रमस्व, नः क्षयाय उरु कृधि, हे घृतयोने! यथाग्निराज्यं पिबति, तथा त्वं घृतं प्रप्रपिब, यथा च ऋत्विगादयो यज्ञपतिं संरक्ष्य दुःखं तरन्ति, तथा त्वं स्वाहा वाचं वदन् सन् विजयेन यज्ञेन यज्ञं प्रप्रतिर॥ ३८॥

अत्र [वाचकलुप्त]ोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—यथा परमेश्वरो व्यापकत्वात् सर्वं जगद्रचितुं रक्षितुं समर्थः सर्वान् सुखयति, तथानन्दयितव्यम्। यथा चाग्निरिन्धनानि प्रदहति, तथा शत्रवः प्रदग्धव्याः। यथा होत्रादयो धार्मिकं यज्ञपतिं प्राप्य स्वकार्य्याणि साध्नुवन्ति, तथा प्रजास्थाः पुरुषा धर्मात्मानं सभापतिं प्राप्य सुखानि साध्नुवन्तु[3]॥ ३८॥

फिर वे कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4]॥

पदार्थः—जैसे [(विष्णो)] सर्वव्यापक परमेश्वर सब जगत् की रचना करता हुआ जगत् के कारण को प्राप्त हो सबको रचता है, वैसे हे विद्यादि गुणों में व्याप्त होने वाले वीर पुरुष! अपने विद्या के फल को (उरु) बहुत (वि) अच्छी तरह (क्रमस्व) पहुंच, (क्षयाय) निवास करने योग्य गृह और विज्ञान की प्राप्ति के योग्य (नः) हम लोगों को [(उरु) बहुत] (कृधि) कीजिये, हे (घृतयोने) विद्यादि सुशिक्षायुक्त पुरुष! जैसे अग्नि घृत पी के प्रदीप्त होता है, वैसे तू भी अपने गुणों से (घृतम्) घृत को (प्रप्र पिब) बारंबार पी के शरीर बलादि से प्रकाशित हो, और जैसे ऋत्विज् आदि विद्वान् लोग (यज्ञपतिम्) यजमान की रक्षा करते हुए उसे यज्ञ से पार करते हैं, वैसे तू भी (स्वाहा) यज्ञ की क्रिया से यज्ञ के (तिर) पार हो॥ ३८॥

---

१ अतिशयेन वर्धय, प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थ इति सर्वे॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्र प्र) प्रशब्दो निपातत्वादाद्युदात्तः। प्रसमुपोदः पादपूरणे (अ० ८। १। ६) इति द्विर्वचनम्। अनुदात्तं च (अ० ८।१।३) इति परस्य निघातः। ततः स्वरितत्वम्॥

(तिर) तॄ प्लवनसंतरणयोः (भ्वा० प०) इत्यस्माद् विकरणव्यत्ययेन शः। तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः॥

शेषं सर्वं पूर्वं व्याख्यातम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

२ अत्रापि पूर्ववत् सर्वमूहनीयम्॥

३ स्वल्पार्थभेदेन य० ५। ४१ व्याख्यातोऽयं मन्त्रः॥

४ उनका भी आदर्श ईश्वर ही है, अतः दर्शाते हैं—॥ ३८॥

है। (उरु) बहुत उत्तम (क्षयाय) निवास के लिये (नः) हम लोगों को (कृधि) कीजिये वा करता है। (घृतम्) प्रदीप्त विज्ञान वा जल को (प्र प्र पिब) पान कराइये वा पान कराता है। (स्वाहा) वेदवाणी से (यज्ञपतिम्) यज्ञ के पालने वाले यजमान को (तिर) पार कीजिये वा पार करता है॥ ३८॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। परमेश्वर अपने पराक्रम से और बिजुली ईश्वर के आधार से सब लोकों को धारण कर सुखों का विस्तार करते हैं॥ ३८॥" इति क. पाठः॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—जैसे परमेश्वर अपनी व्यापकता से सब जगत् के रचने और पालने में [समर्थ होकर] सब जीवों को सुख देता है, वैसे आनन्द में हम सभों को रखना उचित है। जैसे अग्नि काष्ठ आदि इन्धन वा घृत आदि पदार्थों को प्राप्त हो प्रकाशमान होता है, वैसे हम लोगों को भी शत्रुओं को जीत प्रकाशित होना चाहिये, और जैसे होता आदि विद्वान् लोग धार्मिक यज्ञ करने वाले यजमान को पाकर अपने कामों को सिद्ध करते हैं, वैसे प्रजास्थ लोग धर्मात्मा सभापति को पाकर अपने २ सुखों को सिद्ध किया करें ॥ ३८ ॥

देव सवितरित्यस्यागस्त्य ऋषिः। सोमसवितारौ देवते। आद्यस्य साम्नी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥
एतत्त्वमित्युत्तरस्य [निचृद्] आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

†पुनः ‡सभाध्यक्षः किं कुर्याद् इत्युपदिश्यते[1] ॥

देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्।
एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२ऽउपागा ऽ इदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा
निर्वरुणस्य पाशान् मुच्ये ॥ ३९ ॥

देव। सवितः। एषः। ते। सोमः। तम्। रक्षस्व। मा। त्वा। दभन् ॥ एतत्। त्वम्। देव। सोम। देवः। देवान्। उप। अगाः। इदम्। अहम्। मनुष्यान्। सह। रायः। पोषेण। स्वाहा। निः। वरुणस्य। पाशात्। मुच्ये ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(देव) सकलविद्याद्योतक। (सवितः[2]) ऐश्वर्यवन्। (एषः) प्रत्यक्षः। (ते) तव। (सोमः) ऐश्वर्यसमूहः[3]। (तम्)। (रक्षस्व) अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम्। (मा) निषेधे। (त्वा)

१ पूर्वोक्तमेव पोषयति—
२ सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः ॥ तै० २। ५। ७। ४ ॥
३ यशो वै सोमः ॥ श० ४। २। ४। ९ ॥ तै० २। २। ८। ८ ॥ वर्चः सोमः ॥ श० ५। २। ५। १०, ११ ॥

† 'पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते' इति ग. हस्तलेखानुसारी पाठो अ० मुद्रिते च ॥
‡ क. पाठस्तु—"पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते ॥

पदार्थः—(देव) सर्वसुखप्रदातः प्रकाशको वा। (सवितः) सकलजगदुत्पादक वृष्ट्यादेः प्रसविता वा। (एषः) प्रत्यक्षः। (ते) तव तस्य वा। (सोमः) पदार्थसमूहः। (तम्) (रक्षस्व) रक्षति वा। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम्। (मा) निषेधे। (त्वा) त्वां तं वा। (दभन्) हिंसन्तु। (एतत्) वर्तमानं जगत्। (त्वम्) स वा। (देव) सकलकामप्रद सर्वस्य दीपको वा। (सोम) सकलैश्वर्यविधायकैतत्प्राप्तिहेतुर्वा। (देवः) विद्यादिगुणप्रकाशकः। (देवान्) विदुषो दिव्यगुणान् वा। (उप) सामीप्ये। (अगाः) प्राप्नोषि प्राप्नोति वा। (इदम्) सुखम्। (अहम्) विद्वान् सन्। (मनुष्यान्) धार्मिकान् सुखमिच्छुकान्। (सह) सङ्गे। (रायः) विज्ञानस्य धनसमूहस्य वा। (पोषेण) पुष्ट्या सह। (स्वाहा) सुविद्यायुक्तया वाचा। (निः) नितराम्। (वरुणस्य) आच्छादकस्याज्ञानस्य वा। (पाशात्) बन्धनात्। (मुच्ये) मुक्तो भवेयम्। अयं मन्त्रः श० ३। ६। ३। १८–२० व्याख्यातः ॥ ३९ ॥

त्वाम् । (दभन्) हिंस्युः । अत्र लिङर्थे ❀ लङडभावश्च । (एतत्) एतस्मात् । (त्वम्) सभाध्यक्षो राजा। (देव) सुखप्रद । (सोम) सन्मार्गे प्रेरक । (देवः) विद्याप्रकाशस्थः । (देवान्) दिव्यान् विदुषः। (उप) सामीप्ये । (अगाः) गच्छ । (इदम्) त्वदनुष्ठितम् । (अहम्) । (मनुष्यान्) मननशीलान्। (सह) । (रायः) धनसमुदायस्य । (पोषेण) पुष्ट्या । (स्वाहा) सत्यां वाचं वदन् सन् । (निः) नितराम् । (वरुणस्य) दुःखेनाच्छादकस्य तिरस्कर्त्तुः । (पाशात्) बन्धनात् । (मुच्ये) मुक्तो भवामि॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ३ । १८-२० व्याख्यातः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे देव सवितः सभाध्यक्ष ! यथाऽहं भवत्सहायेन स्वकीयमैश्वर्य्यं रक्षामि, तथा त्वं य एष ते सोमोऽस्ति तं रक्षस्व, यथा मां शत्रवो न हिंसन्ति तथा त्वा त्वामस्मत्सहाये[न] मा दभन् । हे देव सोम देवस्त्वं यथैतदेतस्माद् देवानुपागास्तथाऽहमप्युपागाम् । यथाऽहमिदमनुष्ठाय रायस्पोषेण सह वर्त्तमानो मनुष्यान् देवांश्चेत्य { स्वाहा } वरुणस्य पाशान् निर्मुच्ये तथा त्वमपि निर्मुच्यस्व ॥ ३९ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

१ वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति वरुणेनैवैनं वरुण्यान् मुञ्चत्यन्तो भवत्यन्तत एवैनं वरुणपाशात् प्रमुञ्चति ॥ श० १२ । ७ । २ । १७ ॥ वारुणो वै पाशः ॥ तै० ३ । ३ । १० । १ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मनुष्यान्) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (अ० ४ । १ । १६१) इति यत् । तित्स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८५) इत्यन्तस्य स्वरितत्वम् ॥

शिष्टं प्राग् व्याख्यातम् ॥

२ अत्रापि सर्वं पूर्ववत् ॥

अन्वयः—हे देव सवितः सोम जगदीश्वर सूर्यो वा ते तव तस्य वा य एष सोमोऽस्ति तं रक्षस्व रक्षति वा, केऽपि मनुष्यास्त्वां तमेतज्जगच्च मा दभन्, हे सोम देव यो देवो यान् देवानुपागाः सामीप्यं प्राप्नोषि प्राप्नोति वा तान् विदुषो रायस्पोषेणेदं विज्ञानं विज्ञाप्य मोचयित्वैतानहमुपागाः स्वाहा वरुणस्य पाशादहमपि निर्मुच्ये ॥ ३९ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । मनुष्यैर्येनायं सूर्यलोकादिः संसार उत्पादितस्तमुपास्य विद्यादानेनाविद्यान्धकारबन्धनात् सर्वान् मनुष्यान् पृथक्कृत्य स्वयं पृथग्भूत्वाऽस्यां सृष्टौ परोपकाराख्यो धर्मः सततं सेवितव्यः ॥३९॥

पदार्थः—हे (देव) सब सुख देने वा प्रकाश करने (सवितः) सब जगत् को उत्पन्न करने वा वृष्टि आदि को उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर वा सूर्य लोक (ते) आप वा उसका जो (एषः) यह (सोमः) पदार्थसमूह है । (तम्) उसकी (रक्षस्व) रक्षा कीजिये वा करता है, कोई मनुष्य भी (त्वा) आप वा (एतत्) इस जगत् की (मा दभन्) हिंसा न करे । हे (सोम) सकल ऐश्वर्य विधायक वा उसकी प्राप्ति का हेतु (देव) सब कामनाओं के देने वाले जगदीश्वर वा सबके प्रकाश करने वाले सूर्य लोक जो (देवः) विद्यादि गुणों के प्रकाश करने वाले (त्वम्) आप वह जिन (देवान्) विद्वान् वा दिव्यगुणों को (उपागाः) समीप प्राप्त करते व प्राप्त करता है। उन (मनुष्यान्) धर्म की इच्छा करने वाले मनुष्यों को (रायस्पोषेण) विज्ञान धन की पुष्टि के साथ (इदम्) इस विज्ञानरूपी सुख को जनाकर पापों से छुटाकर इनको (अहम्) विद्वान् हुआ मैं (उपागाः) प्राप्त करता हूँ। (स्वाहा) उत्तम विद्यायुक्त वाणी से (वरुणस्य) आच्छादन करने वाले अज्ञान की (पाशात्) फांसी रूप बन्धन से मैं भी (निर्मुच्ये) अलग होता हूँ ॥ ३९ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । मनुष्यों को जिस परमेश्वर ने सूर्य लोक आदि संसार को रचा है उसकी उपासना कर विद्या के देने से अविद्या अन्धकाररूपी बन्धन से आप अलग होकर सब मनुष्यों को पृथक् कर इस सृष्टि में परोपकार करने रूपी धर्म को निरन्तर सेवन करना चाहिये ॥ ३९ ॥" इति क. पाठः ॥

❀ लङि 'बहुलं छन्दसि' (अ० २ । ४ । ७३) इति शपो लुकि श्नोरभावे रूपम् । द्र०पृ० ८०-८१ पादटिप्पणी॥

भावार्थः—सर्वेषां मनुष्याणामियं योग्यतास्ति यदप्राप्तस्यैश्वर्यस्य पुरुषार्थेन प्राप्तिस्तद्रक्षोन्नती कृत्वा धार्मिकान् मनुष्यान् संगत्यैतेन सत्कृत्य च धर्ममनुष्ठाय विज्ञानमुन्नीय दुःखबन्धनात् [ते] मुक्ता भवन्तु ॥३९॥

† फिर सभाध्यक्ष क्या करे इसका उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (देव) सब विद्याओं के प्रकाश करने वाले [(सवितः)] ऐश्वर्यवान् विद्वान् सभाध्यक्ष ! जैसे मैं आपके सहाय से अपने ऐश्वर्य को रखता हूँ वैसे तू जो (एषः) यह (ते) तेरा (सोमः) ऐश्वर्य समूह है (तम्) उसको (रक्षस्व) रख। जैसे मुझको शत्रुजन दुःख नहीं दे सकते हैं, वैसे (त्वा) तुझे भी [हमारी सहायता से] (मा दभन्) [दुःख] न दे सकें। हे (देव) सुख के देने और (सोम) सज्जनों के मार्ग में चलाने हारे राजा (त्वम्) तू (एतत्) इस कारण सभाध्यक्ष और (देवः) परिपूर्ण विद्या प्रकाश में स्थित हुआ (देवान्) श्रेष्ठ विद्वानों के (उप) समीप (अगाः) जा, और मैं भी जाऊँ। जैसे [(अहम्)] मैं (इदम्) इस आचरण को करके (रायः) अत्यन्त धन की (पोषेण) पुष्टता के [(सह)] साथ (मनुष्यान्) विचारवान् पुरुष और विद्वानों को प्राप्त होकर [(स्वाहा) सत्यवाणी को कहता हुआ] (वरुणस्य)❀ दुःख से आच्छादित करने वाले दुष्ट जन का तिरस्कार करने वाले (पाशात्) बन्धन से (निः) निरन्तर (मुच्ये) छूटूँ, वैसे तू भी [निरन्तर] छूट ॥३९॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को योग्य है कि जिस अप्राप्त ऐश्वर्य की पुरुषार्थ से प्राप्ति हो, उसकी रक्षा और उन्नति, धार्मिक मनुष्यों का संग और इससे सज्जनों का सत्कार तथा धर्म का अनुष्ठान कर, विज्ञान को बढ़ा के दुःख बन्धन से छूटें ॥ ३९ ॥

अग्ने व्रतपा इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तौ ❀ [गुरुशिष्यौ] कथं वर्त्तेयातामित्युपदिश्यते[2] ॥

---

१ पूर्वोक्त की ही पुष्टि करते हैं— ॥ ३९ ॥ २ ईश्वरशूरयोर्व्यवहारसाम्यं प्रदर्शयति—

---

† 'फिर वे कैसे हैं, यह अगले मन्त्र में कहा है' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः । क. कोशे तु नास्त्येव ॥

❀ दुःख से तिरस्कार करने वाले दुष्ट जन की' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥

❀ क. पाठस्तु—पुनरीश्वरविद्युद्गुणा उपदिश्यन्ते ।

पदार्थः—(अग्ने) विदितव्रन् विद्युद्रूपो वा । (व्रतपाः) यो व्रतानि सत्यानि पाति पालयति वा सः । (ते) तव तस्य वा । (व्रतपाः) व्रतं पाति यया सा । (या) वक्ष्यमाणा । (तव) तस्य वा । (तनूः) विस्तृता व्याप्तिः । (मयि) जीवात्मनि । (अभूत्) अस्ति । (एषा) वक्ष्यमाणा । (सा) (त्वयि) तस्यां वा । (यो) या । (मम) (तनूः) शरीरम् । (त्वयि) तस्मिन् वा । (अभूत्) भवति । (इयम्) प्रत्यक्षा । (सा) (मयि) महात्मनि । (यथायथम्) यथायोग्यम् । (नौ) आवयोः । (व्रतपते) व्रतानां पालयिता रक्षणहेतुर्वा । (व्रतानि) सत्याचरणनियतानि । (अनु) पश्चादर्थे । (मे) मह्यम् । (दीक्षाम्) व्रतादेशम् । (दीक्षापतिः) सत्यार्थोपदे [शे] न धर्म्यकार्यस्य रक्षो रक्षको वा । (अमंस्त) विज्ञापयतु विज्ञापयति वा । (अनु) आनुकूल्ये । (तपः) धर्मोपदेशनम् । (तपस्पतिः) अध्यापनस्वामी । अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ३ । २१ व्याख्यातः ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे अग्ने व्रतपा जगदीश्वर ! या तव व्रतपास्तनूरभूत् सेयं मय्यस्ति यो मम व्रतपास्तनूरभूत् सा त्वय्यस्ति या त्वयीयं शोभाभूत् सा मय्यस्तु नावावां व्याप्यव्यापकभावेन यथायथं वर्तावहे व्रतपते दीक्षापतिर्भवान् मे मह्यं व्रतानि दीक्षां चान्वमंस्त तपस्पतिर्भवान् मे मह्यं तपोऽन्वमंस्त विज्ञापयतीत्येकः ॥

अग्ने॑ व्रतपास्ते† व्र॑तपा या तव॑ तनूर्मय्यभू॑देषा सा त्वयि॒ यो मम॑ तनूस्त्वय्यभू॑दि॒यꣳ सा मयि॑ । य॒था॒य॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒रम॑ꣳस्ता॒नु तप॒स्तप॑स्पतिः ॥४०॥

अग्ने॑ । व्र॒त॒पा इति॑ व्रत॒ऽपाः । ते॒ । व्र॒त॒पा इति॑ व्रत॒ऽपाः । या । तव॑ । त॒नूः । मयि॑ । अभू॑त् । ए॒षा । सा । त्वयि॑ । योऽइति॒ यो । मम॑ । त॒नूः । त्वयि॑ । अभू॑त् । इ॒यम् । सा । मयि॑ ॥ य॒था॒य॒थमिति॑ यथाऽय॒थम् । नौ॒ । व्र॒त॒प॒त॒ऽइति॑ व्रतऽपते । व्र॒तानि॑ । अनु॑ । मे॒ । दी॒क्षाम् । दी॒क्षाप॑ति॒रिति॑ दी॒क्षाऽप॑तिः । अम॑ꣳस्त । अनु॑ । तपः॑ । तप॑स्पति॒रिति॒ तपः॑ऽपतिः ॥ ४० ॥

पदार्थः—(अग्ने[1]) विज्ञानोन्नत । (व्रतपाः) यथा सत्यपालको विद्वांस्तथा तत्सम्बुद्धौ ।

1 पूर्वं व्याख्यातः (यजुः १ । ५ पृ० ४७) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अभूत्) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधेऽट्स्वरः ॥

(यथायथम्) यथास्वे यथायथम् (अ० ८ । १ । १४) इति यथाशब्दस्य द्विर्वचनं नपुंसकलिङ्गता च निपात्यते । कर्मधारयवदुत्तरेषु (अ० ८ । १ । ११) इति कर्मधारयवदतिदेशात् समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(अमंस्त) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावे ऽट्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

योऽयं व्रतपा अग्निरस्ति या तस्य व्रतपास्तनूरभूत् सैषा मयि वर्त्तते यो मम तनूरभूदियं तस्मिन्नस्ति या मयि कान्तिः सा तस्मिन् वर्त्तते नौ सोऽहं च द्वौ यथायथं व्याप्यव्यापकभावेन वर्त्तावहे अयं व्रतपतिर्दीक्षापतिरग्निर्व्रतानि दीक्षां चान्वमंस्तानुज्ञापयत्ययं तपस्पतिस्तपोऽन्वमंस्तेति द्वितीयः ॥ ४० ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । मनुष्यैः परमेश्वरविद्युतौ व्यापकौ, जीवशरीरादयः पदार्था व्याप्याश्चेति मन्तव्यम् ॥४०॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विदित होने (व्रतपाः) सत्य आदि व्रतों के पालन करने वाले जगदीश्वर ! (या) जो (तव) आपकी (व्रतपाः) व्रत पालन करने वाली (तनूः) विस्तृत व्याप्ति (अभूत्) है । (एषा) वह (मयि) मुझ जीवात्मा में हो । (यो) जो (मम) मेरा (तनूः) शरीर (अभूत्) है । (सा) वह (त्वयि) आप में है जो आप में (इयम्) यह शोभा है वह मेरे में हो । (नौ) हम आप दोनों व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध से (यथायथम्) यथायोग्य वर्तते हैं । हे (व्रतपते) व्रतों के पालन करने वाले ईश्वर (दीक्षापतिः) सत्य अर्थ के उपदेश करने वाले आप (मे) मेरे लिये (व्रतानि) सत्याचरणादि व्रत (दीक्षाम्) व्रतादेश को (अन्वमंस्त) अनुकूल विज्ञानयुक्त कीजिये वा (तपस्पतिः) पढ़ाने के स्वामी आप (तपः) धर्मोपदेश को (अन्वमंस्त) विज्ञापन कीजिये ॥ १ ॥

जो यह (व्रतपाः) व्रत के पालने वाला (अग्ने) अग्नि है, (तव) (या) जो उसका (व्रतपाः) व्रत पालन करने वाला (तनूः) शरीर (अभूत्) है वह मुझ में है । (यो) जो (मम) मेरा (तनूः) शरीर है (इयम्) वह (त्वयि) इसमें है । (नौ) वह और मैं परस्पर (यथायथम्) यथायोग्य व्याप्यव्यापकभाव से वर्तते हैं । (व्रतपतिः) व्रत और (दीक्षापतिः) धर्म कार्य की रक्षा करने वाला अग्नि (मे) मेरे लिये (व्रतानि) व्रत और (दीक्षाम्) व्रतादेश का (अन्वमंस्त) ज्ञान करता है और यह (तपस्पतिः) अध्ययन का हेतु अग्नि (तपः) धर्मोपदेश का (अन्वमंस्त) ज्ञान कराता है ॥ ४० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । मनुष्यों को परमेश्वर वा बिजुली रूप अग्नि व्यापक और सब पदार्थ व्याप्य हैं ऐसा मानना चाहिये" ॥ ४० ॥ इति क. पाठः ॥

† अत्राजमेरमुद्रितेषु सर्वसंस्करणेषूपरिनिर्दिष्टः 'अग्ने व्रतपास्ते व्रतपा०' इति 'ते'पदघटित एव पाठ उपलभ्यते । तदतिरिक्तेषु सर्वसंस्करणेषु, शतपथब्राह्मणे, काण्वसंहितायाञ्चापि 'अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा'० इति 'त्वे'पदघटितः पाठ उपलभ्यते । अस्मिन्नपि भाष्ये पूर्वं यजुः ५ । ६ मन्त्रे त्वे' इत्येव पाठो धृतो व्याख्यातश्च तत्रत्यपदपाठेऽपि 'त्वे' इत्येव विद्यते । अत्र स्वरानुरोधादपि 'त्वे' इत्येव पाठः सम्यग् । नहि युष्मदर्थकं 'ते' पदं क्वचिदप्युदात्तं दृष्टचरम् । अत्र कथं व्यत्यासो जात इति तु न विद्मः ॥

(ते) तव। (व्रतपाः) पूर्ववत्। (या)। (तव)। (तनूः) व्याप्तिनिमित्तं शरीरम्। (मयि) त्वत्सखे। (अभूत्) भवतु। (एषा) समक्षे वर्त्तमाना (सा)। (त्वयि) मन्मित्रे। (यो) या (मम)। (तनूः) विद्याविस्तृतिः। (त्वयि) मदध्यापके। (अभूत्) भवति। (इयम्) गोचरा। (सा)। (मयि) त्वच्छिष्ये। (यथायथम्) यथार्थम्। (नौ) आवाम्। (व्रतपते) यथा सत्यानां रक्षकस्तथा तत्सम्बुद्धौ। (व्रतानि) नियतानि सत्याचरणानि। (अनु) पश्चादर्थे। (मे) मम। (दीक्षाम्) व्रतादेशम्। (दीक्षापतिः) यथा व्रतादेशपालकः। (अमंस्त) मन्यते तथा [(अनु)] पश्चाद्योगे। (तपः) प्राक्क्लेशमुत्तरानन्दं ब्रह्मचर्य्यम्। (तपस्पतिः) यथाखण्डब्रह्मचर्य्यादिपालकः॥ अयं मन्त्रः शत०। ३। ६। ३। २१ व्याख्यातः॥ ४०॥

अन्वयः—व्रतपा अग्ने विद्वंस्त्वं यथा मे व्रतपा अभूत्, तेऽहं व्रतपा भवेयम्। या तव तनूः सा मयि भवतु, यैषा त्वयि मतिरस्ति सा मयि स्यात्। यो या मम तनूः सा त्वयि भवतु [इयं मय्यभूत्] हे व्रतपते! यथाऽयं जनो व्रतपतिर्भवति, तथा त्वं चाहं च नौ सखायौ भूत्वा यथायथं व्रतानि सत्याचरणान्यनुचरेव। हे मित्र! यथा तव दीक्षापतिस्तुभ्यं दीक्षाम [न्व] मंस्त तथा मे मम दीक्षामन्वमंस्त। यथा ते तव तपस्पतिस्त्वदर्थं तपोऽन्वमंस्त तथा मे ममापि तपस्पतिर्मदर्थं तपोऽमंस्त॥ ४०॥

भावार्थः—यथा पूर्वं विद्वत्कारिणोऽध्यापका अभूवन्, तथाऽस्मदादिभिरपि भवितव्यम्। यावन्मनुष्याः सुखदुःखहानिलाभव्यवस्थायां परस्परं स्वात्मवन्न वर्त्तन्ते, न तावत् पूर्णं सुखं लभन्ते तस्मादेतत्सर्वं मनुष्यैः कुतो नानुष्ठेयमिति॥ ४०॥

फिर वे [गुरु शिष्य] कैसे वर्तें, यह अगले मन्त्र में कहा है[3]॥

पदार्थः—(व्रतपाः) जैसे सत्य का पालने हारा विद्वान् हो वैसे (अग्ने) हे विशेष ज्ञानवान् पुरुष जो (व्रतपाः) सत्यविद्या गुणों का पालनेहारा आचार्य (अभूत्) हुआ था वैसे मैं (ते) तेरा होऊँ (या) जो (तव) तेरी (तनूः) विद्या आदि गुणों में व्याप्त होने वाली देह है (सा) वह (मयि) तेरे मित्र मुझ में भी हो (एषा) यह (त्वयि) मेरे मित्र तुझ में बुद्धि हो। (यो) जो (मम) मेरी (तनूः) विद्या की फैलावट है (सा) वह (त्वयि) मेरे पढ़ाने वाले तुझ में हो। (इयम्) यह (मयि) तेरे शिष्य मुझ में बुद्धि [(अभूत्)] हो। (व्रतपते) हे सत्य आचरणों के पालने हारे! जैसे सत्य गुण सत्य उपदेश का रक्षक विद्वान् होता है वैसे [(नौ)] मैं और तू (यथायथम्) यथायुक्त मित्र होकर (व्रतानि) सत्य आचरणों का वर्त्ताव वर्त्तें। हे मित्र जैसे तेरा (दीक्षापतिः) यथोक्त उपदेश का पालनेहारा तेरे लिये (दीक्षाम्) सत्य का उपदेश (अमंस्त) करना जान रहा है वैसे मेरा [(मे)] मेरे लिये भी (अनु) जाने। जैसे तेरा (तपस्पतिः) अखंड ब्रह्मचर्य का पालनेहारा आचार्य तेरे लिये (तपः) पहिले क्लेश और पीछे सुख देनेहारे ब्रह्मचर्य्य को करना [(अनु)] जान रहा है, वैसे मेरा अखंड ब्रह्मचर्य्य का पालनेहारा मेरे लिये जाने॥ ४०॥

भावार्थः—जैसे पहिले विद्या पढ़ा देने वाले अध्यापक लोग हुए, वैसे हम लोगों को भी होना चाहिये। जब तक मनुष्य सुख दुःख हानि और लाभ की व्यवस्था में परस्पर अपने आत्मा के तुल्य दूसरे को नहीं जानते, तब तक पूर्णसुख को प्राप्त नहीं होते, इस से मनुष्य लोग श्रेष्ठ व्यवहार ही किया करें॥ ४०॥

---

[1] अत्रापि पूर्ववत् सर्वम्॥
[2] मन्त्रोऽयं स्वल्पभेदेन य० ५। ६ व्याख्यातः॥
[3] ईश्वर और शूरवीर की समता दर्शाते हैं—॥ ४०॥

उरु विष्णवित्यस्यागस्त्य ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

*पुनर्विदुषा [1]कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥ ४१ ॥

उरु । विष्णोऽइति विष्णो । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः । कृधि ॥ घृतम् । घृतयोन इति घृतऽयोने । पिब । प्रप्रेति प्रऽप्र । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । तिर । स्वाहा ॥ ४१ ॥

पदार्थः[2]—(उरु) बहु । (विष्णो) यथा व्यापनशीलो वायुर्विक्रमते तथा, तत्संबुद्धौ । (विक्रमस्व) पादैः विद्याङ्गैः संपद्यस्व । (उरु) विस्तीर्णे । (क्षयाय) विज्ञानोन्नतये । (नः) अस्मान् । (कृधि) कुर्य्याः । (घृतम्) उदकम् । (घृतयोने) यथा जलनिमित्ता विद्युद्वर्त्तते तथा, तत्संबुद्धौ । (पिब) । (प्रप्र) प्रकृष्टमिव । (यज्ञपतिम्) यथाऽहं यज्ञपतिं तथा त्वम् । (तिर) दुःखं प्लवस्व । (स्वाहा) सुहुतं हविः ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ४ । २-३ व्याख्यातः ॥ ४१ ॥

अन्वयः[3]—हे विष्णो ! त्वं उरु क्षयाय विक्रमस्व नोऽस्मान् सुखिनः [उरु] कृधि । हे घृतयोने ! यथा विद्युत् तथा घृतं पिब, यथाऽहं यज्ञपतिं संतरामि तथा स्वाहानुतिष्ठन् प्रप्रतिर ॥ ४१ ॥

१ पूर्वोक्तं संवलयति—
२ पूर्वं व्याख्यातः (य० ५ । ३८ पृ० ४९७) ॥
३ पूर्ववदत्रापि ॥ स्वल्पभेदेन च व्याख्यातोऽयं य० ५ । ३८ (पृ० ४९७-४९८) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

पूर्वं (पृ० ४९८) व्याख्यात इति बोध्यम् ॥

* 'पुनस्तौ कथं वर्त्तेयाताम्' इति गहस्तलेखानुसारी अ० मुद्रिते पाठः ॥

† क. पाठस्तु—"पुनरीश्वरयजमानगुणा उपदिश्यन्ते ॥

पदार्थः—(उरु) बहु । (विष्णो) अनेकविद्यागुणव्यापकशील यज्ञानुष्ठातर्वा । (वि) विशेषार्थे । (क्रमस्व) वर्धयानुतिष्ठ वा । (उरु) अनेकविधम् । (क्षयाय) सुखेषु निवासाय (नः) अस्मान् । (कृधि) (घृतम्) विज्ञानमाज्यं वा । (घृतयोने) घृतं विज्ञानं योनिर्निमित्तं यस्य तत्संबुद्धौ । (पिब) ग्राहय गृहाण वा । (प्रप्र) प्रकृष्टार्थे । (यज्ञपतिम्) यजमानम् । (तिर) सन्तारय । (स्वाहा) वेदवाण्या । अयं मन्त्रः श० ३ । ६ । ४ । २-३ व्याख्यातः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—हे विष्णो त्वमुरु विक्रमस्व नोऽस्मानुरु क्षयाय कृधि, हे घृतयोने घृतं पिब यज्ञपतिं स्वाहा प्र प्र तिर ॥ ४१ ॥

भावार्थः—[अत्र श्लेषालङ्कारः] । ईश्वर उपदिशति–हे विद्वांसो भवन्तो विद्यादानकर्मैः सर्वान् मनुष्यान् विदुषः सम्पाद्य सततं यज्ञानुष्ठातॄन् कुर्युः ॥ ४१ ॥

पदार्थः—हे (विष्णो) अनेकविद्यागुणों को व्याप्त करने वाले जगदीश्वर वा यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले विद्वान् मनुष्य ! आप (उरु) बहुत सुखों को (विक्रमस्व) प्राप्त कीजिये वा अनुष्ठान कीजिये । (नः) हम लोगों के (उरु क्षयाय) बहुत उत्तम निवास के लिये (कृधि) कीजिये । । हे (घृतयोने) विज्ञान ही योनि अर्थात् निमित्तवाले आप (घृतम्) विज्ञानको (पिब) ग्रहण कराइये वा कीजिये । (स्वाहा) वेदवाणी से (यज्ञपतिम्) यज्ञ के स्वामी को (प्र प्र तिर) दुखों से पार कीजिये ॥ ४१ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । ईश्वर उपदेश करता है—कि हे विद्वान् मनुष्यो तुम विद्यादान कर्मों से सब मनुष्यों को विद्वान् करके निरन्तर यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले करो ॥ ४१ ॥"

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा पवनः सर्वान् सुखयन् सर्वाधिष्ठानोऽस्ति, तथैव विदुषा संपत्तव्यम् ॥ ४१ ॥

---

§फिर विद्वान् कैसे वर्ते, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—[(विष्णो)] हे विद्यागुणों में व्याप्त होने वाले विद्वन् ! †जैसे सब पदार्थों में व्याप्त होने वाला पवन चलता है वैसे (उरु) अत्यन्त विस्तारयुक्त (क्षयाय) विज्ञान की उन्नति के लिये (विक्रमस्व) अपनी विद्या के अंगों से परिपूर्ण हो, और (नः) हम लोगों को [(उरु) बहुत] सुखी (कृधि) कर। जैसे [(घृतयोने)] जल का निमित्त बिजली है, वैसे हे पदार्थ ग्रहण करने वाले बिजली के समान विद्वन् (घृतम्) जल (पिब) पी और जैसे मैं [(यज्ञपतिम्)] यज्ञपति को दुःखों से पार करता हूँ, वैसे तू भी (स्वाहा) अच्छी प्रकार हवन आदि कर्म्मों को सेवन करके (प्रप्रतिर) दुःखों से अच्छे प्रकार पार हो ॥ ४१ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे पवन सबको सुख देता हुआ सबके रहने का स्थान हो रहा है, वैसे ही विद्वान् को होना चाहिये ॥ ४१ ॥

अत्यन्यानित्यस्यागस्त्य ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

§मनुष्यैः पूर्वोक्तेभ्यो‡ विरुद्धा मनुष्या न सेवनीया इत्युपदिश्यते[2] ॥

---

१ पूर्वोक्त विषय में ही कहते हैं—॥ ४१ ॥ २ सामाजिकसंघटने ब्रह्मक्षत्रशक्त्योः प्राधान्यमाह—

---

§ 'फिर वे कैसे वर्तें' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥

† 'जैसे सब पदार्थों में व्याप्त होने वाला पवन चलता है, वैसे' इति पाठः 'हे विद्यागुणों······' इति पाठात् पूर्वमासीत् अ० मु० ग. कोशे च ॥ § 'मनुष्यैः पूर्वोक्ताभ्यां' इति ग. हस्तलेखानुसारी पाठो ऽजमेरमुद्रिते ॥

‡ क. पाठस्तु—"पुनः स कथंभूत इत्युपदिश्यते ॥

पदार्थः—(अति) अत्यन्ते । (अन्यान्) मूर्तिमतः पदार्थान् । (अगाम्) प्राप्नुयाम् । (न) निषेधे (अन्यान्) विद्वत्सङ्गादिव्यवहारान् । (उप) सामीप्ये । (अगाम्) प्राप्नुयाम् । (अर्वाक्) पश्चात् । (त्वा) तं वा । (परेभ्यः) उत्कृष्टेभ्यो विद्वद्भ्यः । (अविदम्) जानीयाम् । (परः) प्रकृष्टः । (अवरेभ्यः) अनुत्कृष्टेभ्यः पदार्थेभ्यः । (तम्) (त्वा) तं वा । (जुषामहे) सेवामहे । (देव) दिव्यगुणैः सम्पन्न युक्तो वा । (वनस्पते) वनानां विद्यारश्मीनां पालयितः पालयितारं वा । (देवयज्यायै) देवा विद्वांसो यजन्ति यस्यां ज्ञानक्रियाविद्यायां तस्यै । (देवाः) विद्वांसः । (त्वा) त्वां तं वा । (देवयज्यायै) विद्वत्संगत्यै । (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् । (विष्णवे) यज्ञानुष्ठानाय । (त्वा) त्वां तं वा । (ओषधे) सर्वदुःखनिवारक ज्वरादिपीडानिवारको वा । (त्रायस्व) त्रायते वा । (स्वधिते) रोगविनाशाय वज्रतुल्य वज्रसमो वा । (मा) निषेधे । (एनम्) विद्याव्यवहारम् (हिंसीः) हिंस्याः हिंस्याद् वा ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । ६ । ४ । ५–१० व्याख्यातः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे परब्रह्मन् ! भवत्कृपयाऽहं तव सृष्टावुपकाराय प्राप्तानन्यान् पदार्थानन्यांश्च गुणान् नोपागामर्वाक् परेभ्योऽवरेभ्यः पदार्थेभ्यस्तं गुणसमूहं परमुत्कृष्टमुपकारं चाविदं जानीयां, वयं देवा देवयज्यायै वनस्पतिं त्वां जुषामहे यं वयं सेवामहे तं देवयज्यायै सर्वे देवा विद्वांसो जुषन्ताम् । हे स्वधिते ओषधे त्वं रोगेभ्यस्त्रायस्व यं विष्णवे वयं जुषामहे तं त्वां सर्वे देवाश्च जुषन्ताम् । त्वमेनं कदापि मा हिंसीः विनाशयेरित्येकः ॥

अत्यन्याँ२ऽ अगां नान्याँ२ऽ उपागामर्वाक् त्वा परेभ्योऽविदं परोऽवरेभ्यः । तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥ ४२ ॥

अति । अन्यान् । अगाम् । न । अन्यान् । उप । अगाम् । अर्वाक् । त्वा । परेभ्यः । अविदम् । परः । अवरेभ्यः ॥ तम् । त्वा । जुषामहे । देव । वनस्पते । देवयज्याया इति देवऽयज्यायै । देवाः । त्वा । देवयज्याया इति देवऽयज्यायै । जुषन्ताम् । विष्णवे । त्वा ॥ ओषधे । त्रायस्व । स्वधिते । मा । एनम् । हिꣳसीः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(अति) अत्यन्ते । (अन्यान्) पूर्वोक्तविज्ञानविदुषः । (अगाम्) प्राप्नुयाम् । (न) निषेधे । (अन्यान्) अविदुषो विरुद्धान् विदुषः । (उप) सामीप्ये । (अगाम्) प्राप्नुयाम् । (अर्वाक्[1]) अवरः । (त्वा) त्वाम् । (परेभ्यः) उत्तमेभ्यः । (अविदम्) लभेय । (परः) उत्कृष्टः । (अवरेभ्यः) अनुत्कृष्टेभ्यः । (तम्) । (त्वा) त्वाम् । (जुषामहे) प्रीणीयाम । (देव) कमनीय । (वनस्पते[2]) वनानां रक्षक । (देवयज्यायै) यथा दिव्यानां संगतये तथा । (देवाः) विद्वांसः । (त्वा) त्वाम् । (देवयज्यायै) यथोत्तमगुणदानाय तथा । (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् । (विष्णवे) यज्ञाय । (त्वा) त्वाम् । (ओषधे) यथा सोमाद्योषधिगणस्त्रायते तथा । (त्रायस्व) रक्ष । (स्वधिते[3]) दुःखविच्छेदक ।

---

१ अवरे त्वर्वाक्, अवरेऽञ्चतीति, अस्तातिः, अञ्चेर्लुक्, पृषोदरादित्वात् साधुः ॥

२ अग्निर्वै वनस्पतिः ॥ कौ० १० । ६ ॥

३ स्वधितिः वज्रनाम । निघ० २ । २० ॥ तैत्तिरीयपदकारस्तु स्व-धिते इत्यवजग्राह ॥

हे देव मनुष्य ! यथाहमन्यानन्यानुत्तमान् व्यवहारान् पदार्थानुपागां दुःखानत्यगां, यथा सर्वे वयं विद्याध्ययनादर्वाक् तं पदार्थविद्यासमूहं परेभ्योऽवरेभ्यो विद्वद्भ्योऽविदं, यथा वयं देवयज्यायै तं वनस्पतिमोषधिं जुषामहे यथा देवा विद्वांसो देवयज्यायै त्वामेतं जुषन्ते तं विष्णवे सेवन्ते यथा स्वधितिर्वनस्पतिरोषधी रोगात् त्रायते कंचन हिनस्ति तथैव त्वमेतत् सर्वस्वमुपागा विद्याः जुषस्व । कदाचिदेनं मा हिंसीरिति द्वितीयः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषलुप्तोपमालङ्कारौ । मनुष्यैर्वर्तमानायामीश्वरसृष्टावप्राप्तान् सर्वान् पदार्थानित्वा संरक्ष्योन्नीयैतेभ्यो बहूनुपकारान् संगृह्य नित्यं सुखयितव्यम् ॥ ४२ ॥

पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से मैं आपकी सृष्टि में उपकार के लिए प्राप्त करने योग्य (अन्यान्) मूर्त्तिवाले पदार्थ वा (अन्यान्) विद्वानों के सङ्ग आदि व्यवहार को (उपागाम्) प्राप्त होऊँ और (अति) अत्यन्त दुःखों को (नागाम्) प्राप्त नहीं होऊँ । (अर्वाक्) फिर (परेभ्यः) उत्तम वा (अवरेभ्यः) निकृष्ट पदार्थों से (त्वा) उस गुणसमूह वा (परः) उत्तम उपकार को (अविदम्) जानूँ । हम (देवाः) विद्वान् लोग (देवयज्यायै) विद्वानों के यजन करने वाली शिल्पविद्या के लिये (देव) दिव्य गुणों से सम्पन्न (वनस्पते) विद्यादिगुणों के पालन करने वाले (त्वा) आपको (जुषामहे) सेवन करते हैं जिसको हम लोग सेवन करते हैं (तम्) उस को सब विद्वान् लोग (देवयज्यायै) विद्वानों की संगति के लिये (जुषन्ताम्) सेवन करें । हे (स्वधिते) रोगनाश के लिये वज्र के समान (ओषधे) सब दुःखों के नाश करनेवाले आप सब रोगों से (त्रायस्व) रक्षा कीजिये । जिस ईश्वर को हम लोग (विष्णवे) यज्ञ के अनुष्ठान के लिये (जुषामहे) सेवन करते हैं । (त्वा) उन आपको सब विद्वान् लोग सेवन करें आप (एनम्) इस विद्याव्यवहार को (मा हिंसीः) कभी नष्ट न कीजिये ॥ १ ॥

हे (देव) विद्वान् मनुष्य ! जैसे मैं (अन्यान्) उत्तम पदार्थ वा (अन्यान्) उत्तम व्यवहारों को (उपागाम्) प्राप्त करूँ वा (अति) अत्यन्त दुःखों को (नागाम्) नहीं प्राप्त करूँ, जैसे हम सब लोग विद्या पढ़ने के (अर्वाक्) पीछे (परेभ्यः) उत्तम (अवरेभ्यः) निकृष्ट विद्वानों से पदार्थविद्यासमूह को (अविदम्) जानें, जैसे हम लोग (देवयज्यायै) शिल्पविद्या की प्राप्ति के लिये (वनस्पते) विद्या के पालनकरनेवाली (ओषधे) ओषधी को (जुषामहे) सेवन करते हैं, जैसे (देवाः) विद्वान् लोग (देवयज्यायै) विद्वानों की संगति के लिये तथा

(मा) निषेधे । (एनम्) ओषधिगणं ❀ यज्ञं वा । (हिंसीः) विनाशयेः ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ४ । ५-१० व्याख्यातः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे वनस्पते देव विद्वन् ! यथा त्वमन्यान [अति] तीत्यान्यानुपागच्छसि, तथाहमन्यान् नागामन्यानुपागाम्, यस्त्वं परेभ्यः परोऽस्यवरेभ्योऽर्वाक् च, तं त्वामविदं, यथा देवा देवयज्यायै त्वा त्वां जुषन्ते, तथा त्वा त्वां वयं जुषामहे । यथा वयं देवयज्यायै [त्वा] त्वां जुषामहे, तथैते सर्वे तं त्वां जुषन्ताम् । यथौषधिगणो विष्णवे संभूय सर्वान् [त्रायस्व] त्रायते, तथा हे ओषधे ! सर्वरोगनिवारक स्वधिते दुःखविच्छेदक विद्वन् ! त्वा त्वां विष्णवे यज्ञाय वयं जुषामहे, हे देव विद्वन् ! यथाऽहमिमं यज्ञं न हिंसामि, तथैनं त्वमपि मा हिंसीः ॥ ४२ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्नीचव्यवहारान् नीचपुरुषांश्च त्यक्त्वोत्तमा व्यवहारा उत्तमाः पुरुषाश्च प्रतिदिनमेषितव्याः । उत्तमेभ्य उत्तमशिक्षाऽवरेभ्योऽवरा च ग्राह्या यज्ञो यज्ञसामग्री च कदाचिन्न हिंसनीया, सर्वैः परस्परं सुखेन भवितव्यम् ॥ ४२ ॥

मनुष्यों को उक्त व्यवहारों से विरुद्ध मनुष्य न सेवने चाहियें, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है[२] ॥

पदार्थः—हे (वनस्पते) बन बूटियों की रक्षा करने वाले (देव) विद्वान् जन ! जैसे तू (अन्यान्) विद्वानों के विरोधी मूर्ख जनों को [(अति)] छोड़ के (अन्यान्) मूर्खों के विरोधी विद्वानों के समीप जाता है, वैसे मैं भी विद्वानों के विरोधियों को छोड़ [उनके समीप (नागाम्) न जाऊँ और विद्वानों के] (उप) समीप (अगाम्) जाऊँ । जो तुम (परेभ्यः) उत्तमों से (परः) उत्तम और (अवरेभ्यः) छोटों से (अर्वाक्) छोटे हो, (तम्) उन्हें मैं (अविदम्) पाऊं, जैसे (देवाः) विद्वान् लोग (देवयज्यायै) उत्तम गुण देने के लिये (त्वा) तुझको चाहते हैं, वैसे हम लोग भी (त्वा) तुझे (जुषामहे) चाहें । और जैसे हम लोग (देवयज्यायै) अच्छे २ गुणों का संग होने के लिये (त्वा) तुझे चाहते हैं, वैसे और भी ये लोग [(जुषन्ताम्)] चाहें जैसे ओषधियों (विष्णवे) यज्ञानुष्ठान के लिये (जुषन्ताम्) सेवन करते हैं, जैसे (स्वधितिः) वज्रतुल्य (ओषधे) ज्वरादिपीड़ानिवारक ओषधी रोगों से (त्रायस्व) रक्षा करता है, वैसे ही तुम इस सब को प्राप्त हो विद्या को सेवन करो । (एनम्) इस व्यवहार को (मा हिंसीः) कभी नष्ट न कीजिये ॥ २ ॥ ४२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में श्लेष और लुप्तोपमालङ्कार है । मनुष्यों को ईश्वर की इस वर्त्तमान सृष्टि में अप्राप्त सब पदार्थों को खोज कर उसकी रक्षा वा उन्नति कर इनसे बहुत उपकारों को ग्रहण कर निरन्तर सुखी रहना चाहिये ॥ ४२ ॥"

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अति) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(अगाम्) एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम् (अ० ८ । १ । ६५) इति निघातप्रतिषेधेऽडुत्स्वरः ॥

(अविदम्) अडुत्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आधिदैविकार्थपरोऽत्रान्वयः ॥

२ सामाजिक संगठन में ब्राह्मण और क्षात्र शक्तियों की प्रधानता है, अतः दर्शाते हैं—॥ ४२ ॥

❀ 'परमपुरुषं वा' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः, क. कोशे तु नास्त्येव । स चात्रासंबद्ध इति कृत्वा संस्कृतान्वयानुसारं भाषापदार्थानुसारं चास्माभिः संशोधित इति ध्येयम् ॥

का समूह (विष्णवे) यज्ञ के लिये सिद्ध होकर सबकी [(त्रायस्व)] रक्षा करता है, वैसे हे [ओषधे] रोगों को दूर करने और (स्वधिते) दुःखों का विनाश करने वाले विद्वान् जन ! हम लोग (त्वा) तुझे यज्ञ के लिये चाहते हैं । श्रेष्ठ विद्वान् जन ! जैसे मैं इस यज्ञ का विनाश करना नहीं चाहता, वैसे तू भी (एनम्) इस यज्ञ को (मा) मत (हिंसीः) बिगाड़ ॥ ४२ ॥

यहां वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि नीच व्यवहार और नीच पुरुषों को छोड़ के अच्छे २ व्यवहार तथा उत्तम विद्वानों को नित्य चाहें, और उत्तमों से उत्तम तथा न्यूनों से न्यून शिक्षा का ग्रहण करें । यज्ञ और यज्ञ के पदार्थों का तिरस्कार कभी न करें, तथा सबको चाहिये कि एक दूसरे के मेल से सुखी हों ॥ ४२ ॥

द्याम्मा लेखीरित्यस्यागस्त्य ऋषिः । यज्ञो देवता । ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

[*]मनुष्यैर्यज्ञार्था विद्या सर्वदा संसेवनीयेत्युपदिश्यते[1] ॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भव ।
अयꣳहि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय ।
अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳ रुहेम ॥ ४३ ॥

द्याम् । मा । लेखीः । अन्तरिक्षम् । मा । हिꣳसीः । पृथिव्या । सम् । भव ॥ अयम् । हि । त्वा । स्वधितिरिति स्वऽधितिः । तेतिजानः । प्रणिनाय । प्रनिनायेति प्रऽनिनाय । महते । सौभगाय ॥ अतः । त्वम् । देव । वनस्पते । शतवल्श इति शतऽवल्शः । वि । रोह । सहस्रवल्शा इति सहस्रऽवल्शाः । वि । वयम् । रुहेम ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(द्याम्) सूर्य्यप्रकाशम् । (मा) निषेधे । (लेखीः) लिखेः । (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् । (मा) निषेधे । (हिंसीः) हन्याः । (पृथिव्या) सह । (सम्) क्रियायोगे । (भव) । (अयम्) वक्ष्यमाणः । (हि) यतः । (त्वा) त्वाम् । (स्वधितिः) यथा वज्रस्तथा । (तेतिजानः) भृशं तीक्ष्णः ।

१ सर्वस्य ज्ञानस्य यज्ञहेतुतामाह—

२ अस्मिन्नध्याये य० ५ । २२ आरभ्य ५ । ४३ पर्यन्तं 'यथा तथा' क. पाठविषये च यद् वक्तव्यमासीत् तदस्माभिः पूर्वं य० ५ । २२ मन्त्र उक्तम्, तत्तत एव द्रष्टव्यम् ॥

[*] क. पाठस्तु—"स यज्ञः सदा सेवनीय इत्युपदिश्यते ॥

पदार्थः—(द्याम्) सुखप्रकाशम् । (मा) निषेधे । (लेखीः) लिखतु । (अन्तरिक्षम्) आकाशस्थपदार्थसमूहम् । (मा) निषेधे । (हिंसीः) हिंस्याः । (पृथिव्या) भूम्या । (सम्) सम्यगर्थे । (भव) निष्पद्यस्व । (अयम्) यज्ञः । (हि) खलु । (त्वा) त्वां तं वा । (स्वधितिः) दुर्गन्धादिदोषजन्यदुःखविनाशकः । (तेतिजानः) अतिशयेन तीक्ष्णः । (प्रणिनाय) प्रणय प्रणयति वा । (महते) महासुखगुणविशिष्टाय । (सौभगाय) सुभगानामैश्वर्य्याणामयं लाभस्तस्मै । (अतः) कारणात् । (त्वम्) अयं वा । (देव) देवो वा । (वनस्पते) वनस्पतिर्वा । (शतवल्शः) यः शतानि बहूनि सुखानि वलते संवृणुते सः । अत्र बाहुलकादौणादिकः शक्प्रत्ययः । (वि) विविधार्थे । (रोह) वर्धय वर्धयति वा । (सहस्रवल्शाः) ये सहस्राणि बहूनि विज्ञानानि वलन्ते ते । (वि) विशिष्टार्थे । (वयम्) । (रुहेम) वर्धेमहि ॥ अयं मन्त्रः श० ३ । ६ । ४ । १३-१६ व्याख्यातः ॥ ४३ ॥

(प्रणिनाय) यथा त्वं प्रणयेस्तथा । (महते) विशिष्टाय पूज्यतमाय । (सौभगाय) सुष्ठु भगानामैश्वर्याणां ❀ भावाय । (अतः) कारणात् । (त्वम्) । (देव) आनन्दित । (वनस्पते[1]) वनानां रक्षक । (शतवल्शः) यथा बह्वङ्कुरो वृक्षस्तथा । (विरोह) विविधतया प्रादुर्भव । (सहस्रवल्शाः) यथा बहुमूला वृक्षा रोहन्ति तथा । (वि) विविधतया । [(वयम्)] (रुहेम) वर्द्धेमहि ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ६ । ४ । १३–१६ व्याख्यातः ॥ ४३ ॥

अन्वयः[2]—हे विद्वन् ! यथाहं द्यां न लिखामि, तथा त्वमेनां मा लेखीः । यथाऽहमन्तरिक्षं न हिंसामि, तथा त्वमेतन्मा हिंसीः । यथाहं पृथिव्या सह सं भवामि, तथैतया सह त्वमपि संभव । हि यतः कारणात् यथा [ऽयं] तेतिजानः, स्वधितिः शत्रून् विच्छिद्यैश्वर्य्यं प्रापयति, तथा त्वमपि प्रापयेः । अतो वयं [त्वा] त्वां महते सौभगाय सम्भावयेम । यथा कश्चिदैश्वर्यं प्रणिनाय प्रापयति, तथा वयं त्वां प्रापयेम । हे देव वनस्पते पूर्वोक्तेन महता सौभगेन यथा शतवल्शो वृक्षो विरोहति तथा विरोह यथा सहस्रवल्शा वनस्पतोय विरोहन्ति तथा वयमपि वि [रुहेम] रोहेम ॥ ४३ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—इह संसारे केनचिन्मनुष्येण विद्याप्रकाशाभ्यासः कदाचिन्नैव त्याज्यः, स्वातन्त्र्यावकाशश्चैश्वर्य्यसंभावनायोगेनासंख्यातोन्नतिकरणं चेति ॥ ४३ ॥

❀❀अत्र यज्ञानुष्ठानस्वरूपसंपादकविद्वत्परमात्मप्रार्थना विद्याप्राप्तिविद्वद्व्याप्तिनिरूपणमग्न्यादिना यज्ञसाधनं सर्वविद्यानिमित्तवाचोऽव्याख्याध्ययनाध्यापनयज्ञविवृतियोगाभ्यासलक्षणं सृष्ट्युत्पत्तिरीश्वरसूर्य-

---

१ पूर्वं (य० ५ । ४२) व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(तेतिजानः) यङ्लुगन्ताद् व्यत्ययेन शानच् । अभ्यस्तानामादिः (अ० ६ । १ । १८९) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(प्रणिनाय) हि च (अ० ८ । १ । ३४) इति निघातप्रतिषेधे लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् । तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति गतिरनुदात्तः । यद्वा पादादित्वान्निघाताभावः ॥

(सौभगाय) सुभग मन्त्रे (ग०सू० ५।१।१२९) इत्युद्गात्रादिपाठाद् अञ् । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(शतवल्शः, सहस्रवल्शाः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे शतशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । सहस्रशब्दे दशानां शतानां सहभावोऽस्त्रश्च प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः कर्दमादीनां चेति सायणः (ऋ० १ । ११ । ८) ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अध्यात्मपरोऽयमन्वयः । त्रिविधोऽप्यर्थः पदार्थत ऊहनीयः ॥

अन्वयः—हे वनस्पते देव विद्वंस्त्वं द्यां स्वप्रकाशं यज्ञं मा लेखीः अन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सह संभव च यतस्ते तव तेतिजानः स्वधितिर्यज्ञो हि महते सौभगाय पृथिव्या सह संभवति तं प्रणिनाय सुखसमूहं प्रणयति यं देवः शतवल्शो वनस्पतिर्वर्धयति यमनुष्ठाय सहस्रवल्शा वयं विरुहेम अतस्त्वं विरोह ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वसुखसम्पादकं यज्ञमनुष्ठाय स्वेषामन्येषां चोन्नतिः सततं कार्येति ॥ ४३ ॥

❀ 'भवाय' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः । स चापपाठः, भाषापदार्थे तथैव दर्शनात् ॥

❀❀क. पाठस्तु—"अत्र यज्ञाग्निस्वामित्वप्राप्तिरीश्वराग्निव्याप्तिर्यज्ञानुष्ठानपुष्टिः सर्वत्र मूर्तिमद्द्रव्येष्वग्निस्थितिविद्युद्गुणवर्णनं वाग्विद्योपदेशो यज्ञेन निश्चलसुखसम्पादनं योगाभ्यासवर्णनं विष्णुकार्यस्वरूपगुणप्रकाशो दुष्टप्राणिनिवारणमीश्वरसभाध्यक्षलक्षणोपदेशनं व्यापकेश्वरोपकारग्रहणं सृष्ट्युपकारकरणं निश्चलज्ञानसम्पादनं सत्यव्रतगुणसेवनमिन्द्रशब्देन सूर्येश्वरादिवर्णनं शूरवीरसेनादिसम्पादनं नियन्तृप्रकाशनं सत्यमार्गविजयप्राप्त्यर्थमीश्वरप्रार्थना दुःखाद्

कर्माभिधानं प्राणापानक्रियानिरूपणं विभोरीश्वरस्य व्याप्त्युक्तियज्ञानुष्ठानं सृष्टेरुपकारग्रहणं सूर्यसभाध्यक्षगुणाभिलाषो यज्ञानुष्ठानशिक्षादानं सवितृसभाध्यक्षकृत्योपदेशो यज्ञात्सिद्धिरीश्वरसभाध्यक्षाभ्यां कार्य्यनिष्पत्तिरेतयोः स्वरूपकृत्यवर्णनमीश्वरवद्विदुषां वर्त्तमानं लक्षणं चेश्वरोपासनं शूरवीरगुणकथनमीश्वरविद्युद्गुणवर्णनं परमैश्वर्य्यप्राप्तिराकाशादिदृष्टान्तेन विद्युद्गुणवर्णनमीश्वरोपासकगुणप्रकाशनं सर्वबन्धनाद्विमुक्तिः परस्परवर्णनप्रकारो दुष्टत्यागेन विदुषां संगकरणावश्यकता मनुष्यैर्यज्ञसिद्धये विद्यासंग्रहणं ❀ चोक्तमतः पञ्चमाध्यायोक्तार्थानां चतुर्थाध्यायोक्तार्थैः साकं संगतिरस्तीति वेदितव्यम् ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतमहाविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥ ५ ॥]

प्राणिनो विमोचनं परमेश्वरादिगुणवर्णनं जगत्पदार्थेभ्य उपकारग्रहणं सततं यज्ञानुष्ठानं चोक्तम्, अतोऽस्य पञ्चमाध्यायोक्तार्थस्य चतुर्थाध्यायोक्तार्थेन सह संगतिरस्तीति वेदितव्यम् । अयमप्यध्याय उवटमहीधरादिभिरन्यथैव व्याख्यातः ॥

पदार्थः—हे (वनस्पते) (देव) विद्वान् मनुष्य ! तुम (द्याम्) अपने सुखस्वरूप प्रकाश को (मा लेखीः) नष्ट मत करो। (अन्तरिक्षम्) आकाश [में] रहने वाले पदार्थों को (मा हिंसीः) नष्ट मत करो और (पृथिव्या) भूमि के सा [थ] (संभव) निष्पादन करो जिस कारण (अयम्) यह (तेतिजानः) अत्यन्त तीक्ष्ण (स्वधितिः) दुर्गन्धादि दोषों से उत्पन्न हुए दुःखों का नष्ट करने वाला यज्ञ (महते) महासुखगुणविशिष्ट (सौभगाय) ऐश्वर्यों के लाभ के लिये भूमि के साथ सिद्ध होता और (त्वा) उस विद्यादि सुखसमूह को (प्रणिनाय) प्राप्त कराता है जिसको दिव्यगुण विद्यादि के पालन करने (शतवल्शः) अनेक सुखों को संवरण करनेवाला विद्वान् बढ़ाता है जिसका अनुष्ठान कर (सहस्रवल्शाः) हजारों विज्ञानरूपी सुखों को संवरण करनेवाले (वयम्) हम लोग (विरुहेम) बढ़ते हैं। (अतः) इस से (त्वम्) तुम उसको (विरोह) वृद्धियुक्त करो ॥ ४३ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को सब सुखों के सम्पादन करने वाले यज्ञ का अनुष्ठान करके अपनी और अन्य मनुष्यों की उन्नति निरन्तर करनी चाहिये ॥ ४३ ॥

इस अध्याय में यज्ञ अग्नि स्वामिपन की प्राप्ति ईश्वर अग्नि की व्याप्ति यज्ञानुष्ठान की पुष्टि सर्वत्र मूर्त्तिवाले द्रव्यों में अग्नि की स्थिति बिजुली के गुणों का वर्णन वाणी की विद्या का उपदेश यज्ञ से निश्चल सुखों का सम्पादन योगाभ्यास का वर्णन विष्णु के कार्य, स्वरूप और गुणों का प्रकाश दुष्टप्राणियों का निवारण ईश्वर सभाध्यक्ष का लक्षण वा उपदेश व्यापक ईश्वर से उपकार लेना सृष्टि से उपकार करना निश्चल ज्ञान का सम्पादन सत्यव्रतगुणों का सेवन इन्द्र शब्द से सूर्य ईश्वर आदि का वर्णन शूरवीर सेनादि का सम्पादन नियम करने वाले का प्रकाश सत्यमार्ग वा विजय की प्राप्ति के लिये ईश्वर की प्रार्थना दुःखों से प्राणियों को छुड़ाना परमेश्वरादि का गुणवर्णन जगत् के पदार्थों से उपकार लेना और निरन्तर यज्ञ का अनुष्ठान करना कहा है। इस से इस पञ्चमाध्याय के कहे हुए अर्थों की चौथे अध्याय के कहे अर्थों के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

यह भी अध्याय उवट महीधर आदि ने कुछ का कुछ वर्णन किया है ॥"

❀ 'चोक्तत्वात्' इति ग. कोशे पाठः ॥

मनुष्यों को योग्य है कि यज्ञ को सिद्ध कराने वाली जो विद्या है, उसका नित्य सेवन करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वान् ! जैसे मैं सूर्य्य के सामने होकर (द्याम्) उसके प्रकाश को दृष्टिगोचर नहीं करता हूँ वैसे तू भी उसको (मा) (लेखीः) † दृष्टिगोचर मतकर जैसे मैं (अन्तरिक्षम्) यथार्थ पदार्थों के अवकाश को नहीं बिगाड़ता हूँ वैसे तू उसको (मा) (हिंसीः) मत बिगाड़। जैसे मैं (पृथिव्या) पृथिवी के साथ होता हूँ वैसे तू भी उसके साथ (सम्) (भव) हो (हि) जिस कारण जैसे (अयम्) यह (तेतिजानः) अत्यन्त पैना (स्वधितिः) वज्र, शत्रुओं का विनाश करके ऐश्वर्य्य को देता है [वैसे (त्वम्) तू भी प्राप्त करा] (अतः) इस कारण [(वयम्)] हम (त्वा) तुझे (महते) अत्यन्त श्रेष्ठ (सौभगाय) सौभाग्यपन के लिये संपन्न करें और भी पदार्थ जैसे ऐश्वर्य्य को (प्रणिनाय) प्राप्त करते हैं वैसे तुझे ऐश्वर्य पहुंचावे। हे (देव) आनन्दयुक्त (वनस्पते) वनों की रक्षा करने वाले विद्वन् ! जैसे (शतवल्शः) सैकड़ों अङ्कुरों वाला पेड़ फलता है, वैसे तू भी इस उक्त प्रशंसनीय सौभाग्यपन से (वि रोह) अच्छी तरह फल, और जैसे (सहस्रवल्शाः) हजारों जड़ों वाला पेड़ फले, वैसे हम लोग भी उक्त सौभाग्यपन से [(विरुहेम)] फलें फूलें ॥ ४३ ॥

यहाँ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—इस संसार में किसी मनुष्य को विद्या के प्रकाश का अभ्यास, अपनी स्वतन्त्रता और सब प्रकार से अपने कामों की उन्नति को न छोड़ना चाहिये ॥ ४३ ॥

इस अध्याय में यज्ञ का अनुष्ठान, यज्ञ के स्वरूप का संपादन, विद्वान् और परमात्मा की प्रार्थना, विद्या और विद्वान् की व्याप्ति का निरूपण, अग्नि आदि पदार्थों से यज्ञ की सिद्धि, सब विद्या निमित्त वाणी का व्याख्यान, पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ का विवरण, योगाभ्यास का लक्षण, सृष्टि की उत्पत्ति, ईश्वर और सूर्य के कर्म्म का कहना, प्राण और अपान की क्रिया का निरूपण, सबके नियम करने वाले परमेश्वर की व्याप्ति का कहना, यज्ञ का अनुष्ठान सृष्टि से उपकार लेना, सूर्य और सभाध्यक्ष के गुणों का कहना, यज्ञ के अनुष्ठान की शिक्षा का देना, सविता और सभाध्यक्ष के कर्म का उपदेश, यज्ञ से सिद्धि, ईश्वर और सभाध्यक्ष से कार्य्यों की सिद्धि, तथा उनके स्वरूप और कर्मों का वर्णन, ईश्वर और विद्वानों का वर्त्ताव और उनके लक्षण, शूरवीरों के गुणों का कहना, ईश्वर और विद्वान् के गुणों का वर्णन ‡परमैश्वर्य की प्राप्ति, आकाशादि दृष्टान्त से बिजली के गुणों का वर्णन, ईश्वर की उपासना करनेवाले के गुणों

---

1 सम्पूर्ण ज्ञान में यज्ञ की कारणता दर्शाते हैं--॥४३॥

---

† क. कोशे तु '(मा लेखीः) नष्ट मत करो' इति पाठो वर्तते। तथैव यद्यत्रापि 'हे विद्वन् यथाहं द्यां न लिखामि तथा त्वमेनं मा लेखीः' इत्यस्यायमर्थः—'हे विद्वन् ! जैसे मैं (द्यां) सूर्य के प्रकाश को नष्ट नहीं करता वैसे तू भी (मा लेखीः) नष्ट मत कर' इति क्रियेत तर्हि युक्ततरं स्यात्। अस्यायमभिप्रायः—एवंभूतानि गृहाणि रचनीयानि येषु सूर्यप्रकाशस्यावरोधो न स्यात् ॥

‡ 'परमेश्वर······वर्णन' इत्येतावान् पाठो ग. कोशे वर्त्तते। मुद्रणे प्रमादात् त्यक्तः स्यादिति ध्येयम् ॥

का प्रकाश, सब बन्धन से छूटना, परस्पर की चर्चा, दुष्टों से छूटने का प्रकार इन अर्थों के कहने से पञ्चमाध्याय में कहे हुए अर्थों की संगति चतुर्थाध्याय के अर्थों से जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीयुतमहा-
विदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण
दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते
संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते
सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
पञ्चमोऽध्यायः पूर्त्ति-
मगात् ॥ ५ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥

अथ देवस्य त्वेत्यस्यागस्त्य ऋषिः । सविता देवता । [निचृत्] पङ्क्तिश्छन्दः । ‡ पञ्चमः स्वरः ॥
यवोऽसीत्यस्यासुरी [उष्णिक्], दिवे इत्यस्य च भुरिगार्च्युष्णिक् छन्दसी । ऋषभः स्वरः ॥

अथ राज्याभिषेकाय सुशिक्षितं सभाध्यक्षं विद्वांसं प्रत्याचार्यादयः
किं किमुपदिशेयुरित्युपदिश्यते¹ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा ऽ अपि कृन्तामि । यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातीर्दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥ १ ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ॥ आ । ददे । नारि । असि । इदम् । अहम् । रक्षसाम् । ग्रीवाः । अपि । कृन्तामि ॥ यवः । असि । यवय । अस्मत् । द्वेषः । यवय । अरातीः । दिवे । त्वा । अन्तरिक्षाय । त्वा । पृथिव्यै । त्वा । शुन्धन्ताम् । लोकाः । पितृषदनाः । † पितृसदना इति पितृऽसदनाः । पितृषदनम् । + पितृसदनमिति पितृऽसदनम् । असि ॥ १ ॥

पदार्थः × —(देवस्य) द्योतमानस्य । (त्वा) त्वां सभाध्यक्षम् । (सवितुः) सर्वैश्वर्योत्पादकस्य । (प्रसवे) ✿यथेश्वरसृष्टौ । (अश्विनोः) प्राणोदानयोः । (बाहुभ्याम्) ✿यथा बलवीर्याभ्याम् ।

---

१ एवं पञ्चस्वध्यायेषु यजुषां प्रधानप्रतिपाद्यं यज्ञं निरूप्य तदुद्देश्यभूतान् राजधर्मान् व्यवहारधर्मांश्च वक्तुमुपक्रमते, सर्वस्य व्यवहारस्य धर्मस्य वा राजधर्ममूलत्वात् 'सर्वे धर्मा राजधर्मे निविष्टाः' इति महाभारतोक्तेः ॥ अध्यक्षादृते किंचित् संघटनजातं कार्यकारि न भवितुमर्हतीत्यतः प्रथमं सभाध्यक्षः कथं शिक्षणीय इति वर्णयति—

---

‡ 'धैवतः' इत्यजमेरमुद्रिते ग कोशे चापपाठः । स च लेखकप्रमादपरः, अग्रेऽपि तथैव दर्शनात् ॥

† 'पितृषदना इति' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

+ 'पितृषदनमिति' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

× इतोऽग्र आष्टमाध्यायपरिसमाप्तेः क कोशो नोपलभ्यते । ख कोशस्तु पूर्वमेव यजुः ४ । २६ मन्त्रे परिसमाप्तः । अत एषु ६, ७, ८ अध्यायेषु ग कोशस्यैव पाठभेदाः प्रदर्शयिष्यन्ते ॥

✿ अत्रापि कतिपयानां मन्त्राणां भाष्यपदार्थे क्वचिद् 'यथा' क्वचिच्च 'यथा, तथा' इत्युभयमपि पूर्वाध्यायवदनावश्यकमुपलभ्यत इति । यद्यप्यत्र क कोशस्यानुपलम्भात्तत्पाठे 'यथा तथा' शब्दौ विद्येते न वेति न सुनिश्चितं वक्तुं शक्यते, तथापि यथा पूर्वाध्याये क कोशे इमौ 'यथा तथा' शब्दौ नोपलभ्येते, तद्वदत्रापि क कोशेऽनयोः शब्दयोरभाव एव स्यादित्यनुमीयते ॥

(पूष्णः) पुष्टिनिमित्तस्य प्राणस्य[1] । (हस्ताभ्याम्) धारणाकर्षणाभ्याम् । (आददे) गृह्णामि । (नारि[2], यज्ञसहकारिणी, [तत् सम्बुद्धौ]$ । (असि) । (इदम्) युद्धाख्यम् † । (अहम्) । (रक्षसाम्) दुष्टकर्मकारिणाम् । (ग्रीवाः) कण्ठान् । (अपि) । (कृन्तामि) छिनद्मि । (यवः) संयोगविभागकर्त्ता । (असि) । (यवय) [वियुङ्हि ।] वा छन्दसि [अ० १।४।६। मा० वा०] इति वृद्ध्यभावः । (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् । (द्वेषः) द्वेषकान्[3] । (यवय) वियुङ्हि × । (अरातीः) शत्रून् । (दिवे) विद्यादिप्रकाशाय । (त्वा) त्वां न्यायप्रकाशम् । (अन्तरिक्षाय) अन्तरक्षयमिति [निरु० २।१०], अन्तरिक्षमित्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघ० १।१।३। (त्वा) सत्यानुष्ठानावकाशदम् । (पृथिव्यै) भूमिराज्याय । (त्वा) राज्यविस्तारकम् । (शुन्धन्ताम्) । (लोकाः) न्यायदृष्ट्या समीक्षणीयाः । (पितृषदनाः) ÷ यथा पितृषु विद्वत्सु रक्षकेषु सीदन्ति ते । पितर इति पदनामसु पठितम् । निघ० ५।५। (पितृषदनम्) यथा विद्वत्स्थानम् । (असि) ॥ अयं मन्त्रः श० ३।७।१।१-२ व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः[4]—हे सभाध्यक्ष ! यथा पितृषदना देवस्य सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां [त्वा] त्वामाददति, तथाहमाददे । यथाऽहं [इदं युद्धाख्यं कर्म कृत्वा] रक्षसां ग्रीवाः कृन्तामि, तथा त्वमपि कृन्त । हे सभाध्यक्ष ! त्वं यवोऽस्यस्मद् द्वेषो यवयारातीर्यवय यथाऽहं दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा त्वां शुन्धामि, तथेमे पितृषदना लोकास्त्वां शुन्धन्ताम्, यतस्त्वं पितृषदनमिवासि तस्मात् पितृ [वत्] पालको भव । हे सभापतेर्नारि भवत्याऽप्येवमेव कार्य्यम् ॥ १ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—ये विद्यानिष्णाता ईश्वरसृष्टौ स्वस्य परेषां च दुष्टतां विधूय राज्यं सेवन्ते, ते सुखिनो भवन्ति ॥ १ ॥

अब पांचवें अध्याय के पश्चात् षष्ठाऽध्याय का आरम्भ है । इसके प्रथम मन्त्र में राज्याभिषेक के लिये अच्छी शिक्षायुक्त सभाध्यक्ष विद्वान् को आचार्य्यादि विद्वान् लोग क्या २ उपदेश करें, यह उपदेश किया है[5] ॥

---

१ पुष्टिकरत्वात् पूषा प्राणः ॥

२ पूर्वं य० ५ । २६ पृ० ४७५ व्याख्यातः ॥

अत्र च भट्टभास्करः—"नृ नये ऋसि संज्ञायां घः । नरः नेता, निपुणः कर्मकारः । तस्यापत्यमसि तेनोत्पादितत्वात् ॥ यद्वा 'नयतेष्टिलोपश्च' इति ऋप्रत्यये ना, तस्यापत्यमिति बाह्वादेराकृतिगणत्वाद् इञ्प्रत्ययः" तै० स० भट्टभा० भाग १, पृ० २५२ ॥

३ धर्मादिनियमानामप्रीतिकरान् इति भावः, यथा च भाषापदार्थे ।

४ (क) पूर्ववदत्रापि त्रिविधोऽर्थ ऊहनीयः ॥

(ख) मन्त्रोऽयं स्वल्पभेदेन य० ५। २६ व्याख्यातः ।

सागशस्त्वन्यत्रापि य० ५ । २२ ॥ ६ । ३० इत्यादौ ॥

५ पूर्वोक्त पांच अध्यायों में यजुर्वेद के प्रधान प्रतिपाद्य यज्ञ का निरूपण करके, उसके उद्देश्यभूत राजधर्मों और व्यवहारधर्मों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि सभी व्यवहारों वा धर्मों का मूल राजधर्म है, जैसा कि महाभारत में लिखा है—'सभी धर्म राजधर्म के अन्तर्गत हैं' ॥

अध्यक्ष के विना कोई भी संगठन सफल नहीं हो सकता, इसलिये पहिले सभाध्यक्ष की शिक्षा का प्रकार वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

$ तथैव च य० ५ । २६ भाष्ये ।

× 'वियुधि' इति गकोशेऽजमेरमुद्रिते चापपाठः ।

† इतः परं 'कृत्वा' इति व्यर्थः पाठो अ० मुद्रिते ।

÷ पूर्ववदत्रापि 'यथा' इति व्यर्थः पाठः ।

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष! जैसे (पितृषदनाः) पितरों [अर्थात् विद्वानों वा रक्षा करनेवालों] में रहने वाले विद्वान् लोग (देवस्य) प्रकाशमय और (सवितुः) सब विश्व के उत्पन्न करनेवाले जगदीश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अश्विनोः) प्राण और उदान के (बाहुभ्याम्) बल और उत्तम वीर्य्य से तथा (पूष्णः) पुष्टि का निमित्त जो प्राण है उसके (हस्ताभ्याम्) धारण और आकर्षण से (त्वा) तुझे ग्रहण करते हैं, वैसे ही मैं (आददे) ग्रहण करता हूँ। जैसे [(अहम्)] मैं [(इदम्) इस युद्धकर्म को करके] (रक्षसाम्) दुष्ट काम करनेवाले जीवों के (ग्रीवाः) गले (कृन्तामि) काटता हूँ, वैसे तू (अपि) भी काट। हे सभाध्यक्ष! जिस कारण तू (यवः) संयोग विभाग का करनेवाला (असि) है, इस कारण (अस्मत्) मुझसे (द्वेषः) द्वेष अर्थात् अप्रीति करने-वाले वैरियों को (यवय) अलग कर और (अरातीः) जो मेरे निरन्तर शत्रु हैं, उनको (यवय) पृथक् कर। जैसे मैं न्यायव्यवहार से रक्षा करने योग्य जन (दिवे) विद्या आदि गुणों के प्रकाश करने के लिये (त्वा) न्यायप्रकाश करनेवाले तुझ को (अन्तरिक्षाय) आभ्यन्तर व्यवहार में रक्षा करने के लिये (त्वा) तुझे सत्य अनुष्ठान करने का अवकाश देने वाले को तथा (पृथिव्यै) भूमि के राज्य के लिये (त्वा) तुझे राज्यविस्तार करने वाले को पवित्र करता हूँ, वैसे ये [(लोकाः)] लोग भी आप को (शुन्धन्ताम्) पवित्र करें जिस कारण तू (पितृषदनम्) विद्वानों के घर के समान (असि) है, इसलिये पिता के सदृश सब प्रजा को पाला कर। हे सभापति की (नारि) स्त्री! तू भी ऐसा ही किया कर॥ १॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है॥

भावार्थः—जो विद्या में अति विचक्षण पुरुष ईश्वर की सृष्टि में अपनी और औरों की दुष्टता को छुड़ा-कर राज्य सेवन करते हैं वे सुख [से] संयुक्त होते हैं॥ १॥

अग्रेणीरित्यस्य शाकल्य ऋषिः। सविता देवता। निचृद्गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥
देवस्त्वेत्यस्य स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः। + पञ्चमः स्वरः॥
पुनः सोऽभिषिक्तः सभाध्यक्षः कथं प्रवर्त्तेतेत्युपदिश्यते[1]

अग्रेणीरसि स्वावेशऽउन्नेतॄणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः। द्यामग्रेणास्पृक्ष आन्तरिक्षं मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादृꣳहीः॥ २॥

अग्रेणीः। अग्रेनीरित्यग्रेऽनीः। असि। स्वावेश इति सुऽआवेशः। उन्नेतॄणामित्युत्ऽनेतॄणाम्। एतस्य। वित्तात्। अधि। त्वा। स्थास्यति। देवः। त्वा। सविता। मध्वा। अनक्तु। सुपिप्पलाभ्य इति सुऽपिप्पलाभ्यः। त्वा। ओषधीभ्यः॥ द्याम्। अग्रेण। अस्पृक्षः। आ। अन्तरिक्षम्। मध्येन। अप्राः। पृथिवीम्। उपरेण। अदृꣳहीः॥ २॥

पदार्थः—(अग्रेणीः) * यथाऽध्यापकः शिष्यान्, पिता स्वसन्तानान् वा पुरस्तादेव सुशि-क्षया विद्यां प्रापयति तथा। (असि) (स्वावेशः) ‡ यथा शोभनं धर्ममाविशति तथा नेता। (उन्नेतृ-

१ स च शिक्षितोऽध्यक्षः कथमाचरेदित्युच्यते।

+ 'धैवतः' इत्यजमेरमुद्रिते मकोशे चापपाठः, यथा पूर्वमन्त्र उक्तम्।

* अत्र 'योऽध्यापकः······प्रापयति सः' इति युक्तः पाठः स्यात्।

‡ अत्र 'यः शोभनं धर्ममाविशति स नेता' इति युक्तः पाठः स्यात्।

णाम) यथोन्नेतृणाम् + उत्कर्षं प्रापयितृणां राज्यं तथा (एतस्य) प्रकृतं राज्यं पालयितुम्। (वित्तात्) विजानीहि। (अधि) उपरिभावे। (त्वा) त्वाम्। (स्थास्यति) (देवः) अखिलराज्येश्वरः। (त्वा) त्वाम। (सविता) सर्वस्य विश्वस्य जनिता। (मध्वा) मधुरगुणेन। (अनक्तु) सिञ्चतु। (सुपिप्पलाभ्यः[1]) × यथा सुष्ठुफलाभ्यः। (त्वा) त्वाम्। (ओषधीभ्यः) प्रसिद्धाभ्यः। (द्याम्) विद्यान्यायप्रकाशम्। (अग्रेण) पुरस्तात्। (अस्पृक्षः) स्पृश। अत्र सर्वत्र लोडर्थे लुङ्। (आ) समन्तात्। (अन्तरिक्षम्) धर्मप्रचारस्यावकाशम्। (मध्येन) मध्यमावस्थाविशेषेण। (अप्राः) ÷ पिपृहि। (पृथिवीम्) भूमिराज्यम्। (उपरेण) उत्कृष्टनियमेन। (अदृंहीः) प्राप्य वर्द्धस्व॥ अयं मन्त्रः शत० ३।७।१।९। व्याख्यातः॥ २॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष! यथाग्रेणीरस्ति, तथा त्वमसि उन्नेतॄणां स्वावेशः सन्नेतस्यैतं राज्यं वित्तात्। हे राजन्! यथा ‡ त्वा त्वां राजपुरुषसमूहः सुपिप्पलाभ्य ओषधीभ्यो मध्वाऽनक्तु, एवं प्रजापुरुषसमूहोऽपि त्वा त्वां चानक्तु। त्वमग्रेण यशसा द्यामस्पृक्षो मध्येनान्तरिक्षमाप्राः, उपरेण पृथिवीं प्राप्यैवादृंहीः। देवः सविता सर्वप्रेरको जगदीश्वरस्त्वाऽधि स्थास्यति॥ २॥

---

१ पिप्पलं फलमिति वैजयन्तीकोशः, किञ्च 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया········ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति ···' (ऋ० १।१६४।२०) इत्यनेन फलसामान्यवाच्ययं पिप्पलशब्द इति दिक्॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अग्रेणीः) कृत्स्वरेणान्तोदात्तः॥

(स्वावेशः) अयमपि कृत्स्वरेणान्तोदात्तः॥

(उन्नेतॄणाम्) नामन्यतरस्याम् (अ० ६।१।१७७) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

(मध्वा) फलिपाटिनमि० (उ० १।१८) इति 'उ' प्रत्ययः। नित्त्वानुवृत्त्याऽऽद्युदात्तत्वम्॥

(सुपिप्पलाभ्यः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

(मध्येन) मन्यते येन तन्मध्यम्, अघ्न्यादयश्च (उ० ४।११२) इति यक्। निपातनान्नकारस्य धकार आद्युदात्तत्वं च॥

भोजराजस्तु—'मध्यविन्ध्यशिक्य० (२।३।४) इत्यादिना क्यप्प्रत्ययान्तो निपात्यत इत्याह। अस्मिन् पक्षे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम्॥

(उपरेण) उपसर्गे च संज्ञायाम् (अ० ३।२।९९) इति जनेर्विधीयमानो 'ड' प्रत्ययो बहुलवचनाद् रमेरपि भवति, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वं बाधित्वाऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च। व्युत्पत्त्यनवधारणाच्च नावगृह्यत इति भट्टभास्करः (तै० सं० भा० १, पृ० २९४)॥

भोजराजस्तु—वृषिनटिदेविकेविवपि० (२।३।९७) इत्यादिना 'वप्'धातोः 'अलक्' प्रत्ययान्तं निपातयति। अस्मिन् पक्षे चित्त्वविधानाच्चित्स्वरे प्राप्ते बाहुलकादाद्युदात्तत्वं रेफत्वं च॥

यद्वा वपेः कृदरादित्वात् (उ० ५।४१) 'अरन्' द्रष्टव्यः, सम्प्रसारणं च बाहुलकाद् इति देवराजः निघ० टी० पृ० ६९॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

+ अत्र 'उत्कर्षं प्रापयितॄणाम्' इत्येव युक्तः पाठः स्यात्।

× अत्र 'यथा' इति पदं पूर्ववद् व्यर्थम्।

÷ 'पॄ पालनपूरणयोः' (जु० प०) 'ह्रस्वान्तोऽयमित्येके' इति ह्रस्वान्तस्य रूपमिदम्॥

‡ इतोऽग्रे 'ते त्वां' इति पाठो हस्तकोशेऽजमेरमुद्रिते च वर्त्तते। मन्त्रे 'ते' पदस्यादर्शनात् संभाव्यते मन्त्रगतस्य 'त्वा' पदस्य स्थाने 'ते' इति लेखकप्रमादात् संजातः स्यात्।

भावार्थः—नहि कश्चिज्जनो राजप्रजापुरुषैरस्वीकृतो राज्यमर्हति, न चापि राज्ञानादृतो [सभया च] * मन्त्रित्वं, कीर्त्यनुक्रमेण विना () सैनापत्यं, दण्डनेतृत्वं, सर्वलोकाधिपतित्वं च ॥ २ ॥

फिर वह तिलक किया हुआ सभाध्यक्ष कैसे वर्ते, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष ! जैसे (अग्रेणीः) पढ़नेवाला अपने शिष्यों को वा पिता अपने पुत्रों को उनके पठनारम्भ से पहिले ही अच्छी शिक्षा से उन्हें सुशील जितेन्द्रिय धार्मिकतायुक्त करता है, वैसे हम सभों के लिये तू (असि) है, (उन्नेतॄणाम्) † जैसे उत्कर्षता पहुँचाने वालों का राज्य हो वैसे (स्वावेशः) अच्छे गुणों में प्रवेश करनेवालों का नेता + के समान होकर तू (एतस्य) इस राज्य के पालने को (वित्तात्) जान । हे राजन् ! जैसे (त्वा) तुझे सभासद् जन (सुपिप्पलाभ्यः) अच्छे २ फलों वाली (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (मध्वा) निष्पन्न किये हुए मधुर गुणों से युक्त रसों से (अनक्तु) सींचें [भरपूर करें], वैसे प्रजाजन भी [(त्वा)] तुझे सींचें । तू इस राज्य में अपने (अग्रेण) प्रथम यश से (द्याम्) विद्या और राजनीति के प्रकाश को (अस्पृक्षः) स्पर्श कर [अर्थात् प्राप्त कर] (मध्येन) मध्य अर्थात् तदनन्तर बढ़ाए हुए यश से (अन्तरिक्षम्) धर्म के विचार करने के मार्ग को (आप्राः) पूरा कर और (उपरेण) अपने राज्य के नियम से (पृथिवीम्) इस भूमि के राज्य को प्राप्त होकर (अदृंहीः) ‡ दृढ़ कर बढ़ाता जा और (देवः) समस्त राजाओं का राजा (सविता) सब जगत् को अन्तर्यामीपन से प्रेरणा देनेवाला जगदीश्वर (त्वा) तुझ को राजा करके तेरे पर ([(अधि)] स्थास्यति) अधिष्ठाता होकर रहेगा ॥ २ ॥

भावार्थः—प्रजा पुरुषों के स्वीकार किये बिना राजा राज्य करने को योग्य नहीं होता, तथा राजा आदि सभा जिस को आदर से न चाहे, वह मन्त्री होने को वा कोई पुरुष अपनी कीर्ति की उत्तरोत्तर दृढ़ता के बिना सेना का ईश्वर, यथायोग्य न्याय से दण्ड करने अर्थात् न्यायाधीश होने, और राज्य के मण्डल की ईश्वरता के योग्य नहीं हो सकता ॥ २ ॥

या ते धामानीत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । विष्णुर्देवता । आर्च्युष्णिक् छन्दः ॥ अत्राहेति ÷ भुरिगार्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥ ब्रह्मवनि त्वेत्यस्य निचृत्प्राजापत्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः [ब्रह्म दृंहेत्यस्यासुरी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः] ॥

पुनस्तं कीदृशं विदित्वा वाणिज्यकर्म्म कुर्वाणा जना आश्रयन्तीदमुपदिश्यते[2] ॥

[1] शिक्षित अध्यक्ष कैसा आचरण करे, इस विषय को कहते हैं ॥ २ ॥

[2] स एवाध्यक्षो वणिजामप्याश्रयः, इतरथा दस्य्वादिभिः पीड्यमानो व्यापारो नश्येदेवेत्यत आह—

* "साम्राज्यम्" इति तु अ० मुद्रितेऽपपाठः, पूर्वेण 'राज्यमर्हति' पाठेन पौनरुक्त्यदोषात् । अस्माभिस्तु भाषानुसारं संशोधितः ।

() 'सैन्यापत्यं' इति गकोशेऽजमेरमुद्रिते चापपाठः ।

† अत्र "उत्कर्षता पहुँचाने वालों का" इति युक्तः पाठः स्यात् ।

+ इतोऽग्रे 'के समान' इति व्यर्थः पाठः ॥

‡ अत्र "दृढ़ कर बढ़ता न जा और" इति अ० मुद्रितपाठः ।

÷ 'साम्न्युष्णिक् छन्दः' इति गकोशेऽजमेरमुद्रिते च पाठः ।

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाऽअयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरि । ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
रायस्पोषवनि पर्यूहामि । ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥ ३ ॥

या । ते । धामानि । उश्मसि । गमध्यै । यत्र । गावः । भूरिशृङ्गा इति * भूरिशृङ्गाः । अयासः ॥ अत्र । अह । तत् । उरुगायस्येत्युरुऽगायस्य । विष्णोः । परमम् । पदम् । अव । भारि । भूरि ॥ ब्रह्मवनीति ब्रह्मऽवनि । त्वा । क्षत्रवनीति क्षत्रऽवनि । रायस्पोषवनीति रायस्पोषऽवनि । परि । ऊहामि ॥ ब्रह्म । दृꣳह । क्षत्रम् । दृꣳह । आयुः । दृꣳह । प्रजामिति † प्रऽजाम् । दृꣳह ॥ ३ ॥

पदार्थः—(या) यानि । (ते) तव सभाध्यक्षस्य । (धामानि) दधति सुखानि येषु तानि, राजप्रबन्धस्थानानि देशदेशान्तरगाणिज्याहाणि । (उश्मसि) उश्मः कामयामहे । (गमध्यै) गन्तुं प्राप्तुम् । (यत्र) येषु । (गावः) रश्मयः । गाव इति रश्मिनामसु पठितम् । निघ० १ । ५ । (भूरिशृङ्गाः) भूरीणि शृङ्गाणि प्रकाशा यासु ताः । शृङ्गाणीति ज्वलतो नामसु पठितम् । निघ० १ । १७ । (अयासः) अयन्त इत्ययासः । महीधरेणात्रायगतावित्यस्य यद् अयन्तीति परस्मैपदमुक्तम्, तदसदात्मनेपदोपयोगित्वात् (अत्र) येषु । (अह) निश्चये । (तत्) तस्य । (उरुगायस्य) उरुर्बहुर्गायः स्तुतिर्यस्य तस्य, गैशब्द इत्यस्माद् [घञ्] ‡ । (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य । (परमम्) सर्वथोत्कृष्टम् । (पदम्) पत्तुं योग्यम् । घञर्थे कविधानम् [अ० ३ । ३ । ५८ भा० वा०] इति कर्मणि कः । (अव) क्रियायोगे । (भारि) ध्रियते । अत्र लडर्थे लुङ् भृञ्धातोश्चिणि () बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि [अ० ६ । ४ । ५७] इति सूत्रेणाडभावः । (भूरि) बहु । (ब्रह्मवनि) § ब्रह्मणो वेत्तॄणां संविभक्तारं तत्तथा । (त्वा) त्वाम् । (क्षत्रवनि) क्षत्रस्य राज्यस्य क्षत्रियाणां वा संविभाजकम् । (रायस्पोषवनि) रायो धनस्य + पोषो दृढता तस्याः संविभाजिनम् । (परि) परितः । (ऊहामि) विविधतया तर्कयामि । (ब्रह्म) परमात्मानं वेदं[2] वा । (दृंह) स्थिरीकुरु । (क्षत्रम्) राज्यं धनुर्वेदविदं क्षत्रियं वा । (दृंह) उन्नय । (आयुः) जीवनम् । (दृंह) (प्रजाम्) स्वसन्तानान् संरक्षणीयान् जनान् । (दृंह) ब्रह्मचर्य्यराज्यधर्माभ्यां परिपालय ॥

१ 'बहुभिर्गीयमानं विद्याबोधम्' इति ऋ० ७ । ३५ । १५ द० भाष्ये । 'उरुगायं विस्तीर्णगमनम्' इति ऋ० ६ । २८ । ४ 'उरुगायो बहुस्तुतिः' ऋ० ९ । ६२ । १३ ॥ 'प्रभूतकीर्तिः' ऋ० ४ । ३ । ७ सायणभाष्ये । 'उरुगायस्य महागतेः उरुगायस्य उरुगायनस्येति दुर्गः नि० टी० २ । ७ ॥

२ ब्रह्म वै मन्त्रः । श० ७ । १ । १ । ५ ॥ वेदो ब्रह्म । जै० उ० ४ । २५ ३ ॥

* 'भूरिशृङ्गा' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ † 'प्रजाम्' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

‡ इतः परं "घञर्थे कविधानमिति कर्मणि कः" इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । स चास्थाने इति मत्वाऽस्माभिः 'पदम्' इत्यस्य व्याख्याने योग्ये स्थाने स्थापितः । सम्भाव्यते यदत्र कस्मिंश्चिद्धस्तलेखे उभावप्यंशौ समीपमेव मार्जने परिवर्धितौ स्याताम् । तत्र प्रतिलिपिकर्त्रैकस्मिन्नेव स्थाने सर्वोऽपि पाठो वर्धित इति मत्वा घञ् पदस्य द्विः प्रयोगोऽयुक्त इति विचार्यैव 'घञ्' पदं निष्कासितं स्याद् इत्यनुमिनुमः । पूर्वत्र यजुः ५।१५ मन्त्रभाष्ये "(पदम्) पद्यते गम्यते यत्तत् । अत्र घञर्थे कविधानम् (अ० ३ । ३ । ५८ भा० वा०) इत्यनेनाप्यस्मदनुमानस्य पुष्टिर्जायते इति सुव्यक्तम् ॥

() इतोऽग्रे "परेऽडभावः । अथ" इति पाठः कोशेषु अ० मुद्रिते च वर्तते, स चानावश्यक इति ध्येयम् ॥

§ अत्र कदाचित् 'ब्रह्मणो वेदानां वा संविभक्तारम्' इति युक्तः पाठः स्यात् । 'तत्तथा' इति त्वनावश्यकमेव ।

\+ इतोऽग्रे 'पोषो दृढतां संविभाजिनम्' इति अ० मु० पाठः ।

अत्र हि यास्कमुनिः—ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि [ऋ० १।१५४।६]। तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरिशृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेयं, प्रभवतीति सतः, शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा ऽयासोऽयनास्तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थमवभाति भूरि, पादः पद्यतेः। निरु० २।७ [अयं मन्त्रः श०३।७।१।१५ व्याख्यातः] ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष या यानि ते धामानि गमध्यै गन्तुं वयमुश्मसि, तानि किं भूतानि सन्ति यत्र येषूरुगायस्य विष्णोर्भूरिशृङ्गा गावो अयासो भवन्ति, तदुक्तन्यायमार्गाः प्रकाशन्त एवेति यावत्। अत्राह एषु हि तत् तस्य विष्णोः परमं पदं विद्वद्भिर्भूर्यवमारि, अतः [त्वा] त्वां *यथा ब्रह्मवनि *यथा क्षत्रवनि *यथा रायस्पोषवनि *तथा पर्यूहामि, त्वं ब्रह्म दंह, क्षत्रं दंहायुर्दंह प्रजां चापि दंह ॥ ३ ॥

भावार्थः—नहि सभाध्यक्षरक्षितस्थानकामनया विना कश्चिदपि सुखं प्राप्तुं शक्नोति, नहि कोपि जनः परमेश्वरमनादृत्य धर्मराज्यं भोक्तुमर्हति, नैव कोपि विज्ञानं सेनां जीवनं प्रजां चारक्षित्वा समेधत इति ॥ ३ ॥

फिर वाणिज्य कर्म करनेवाले मनुष्य उसको कैसा जानकर आश्रय करते हैं, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष (या) † जो (ते) तेरे (धामानि) धाम अर्थात् जिन में प्राणी सुख पाते हों उन स्थानों को हम (गमध्यै) प्राप्त होने को (उश्मसि) इच्छा करते हैं, वे स्थान कैसे हैं कि जैसे सूर्य का प्रकाश है वैसे ‡ (यत्र) जिन में (उरुगायस्य) स्तुति करने के योग्य (विष्णोः) सर्वव्यापक परमेश्वर की (भूरिशृङ्गाः) अत्यन्त प्रकाशित (गावः) किरणें [अर्थात्] चैतन्यकला (अयासः) फैली हैं, (अत्र) (अह) इन्हीं में (तत्) उस परमेश्वर का (परमम्) सब प्रकार उत्तम (पदम्) और प्राप्त होने योग्य परमपद विद्वानों ने (भूरि) (अव)

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गमध्यै) गमधातोः तुमर्थे सेसेन० (अ० ३।४।९) इत्यादिना 'अध्यैन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(यत्र) लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तम् ॥

(भूरिशृङ्गाः) बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरे अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४।६५) इति क्रिन्, कित्त्वाद् गुणाभावः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अयासः) अयन्त इत्ययाः। पचाद्यचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। आज्जसेरसुक् (अ० ७।१।५०) इत्यसुगागमः ॥

(उरुगायस्य) पूर्वं य० ५।१८ पृ० ४६० व्याख्यातः ॥ अत्र तु भावे घञ्, बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते परादिश्च परान्तश्च पूर्वान्तश्चापि दृश्यते (अ० ६।२।१९९ भा० वा०) इति वचनादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(भूरि) भूरिशृङ्गा इत्यत्र व्याख्यातः ॥

(क्षत्रम्) गुधृवीपचि''क्षदिभ्यस्त्रः (उ० ४।१६७) इति 'त्र'प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

१ वही अध्यक्ष वैश्यवर्ग का भी आश्रयस्थान है, नहीं तो दस्यु आदि सारे व्यापार को नष्ट कर दें, इस कारण कहते हैं कि— ॥ ३ ॥

---

* अत्र "यथा तथा" इति पाठोऽधिकः प्रतिभाति ॥ † 'जिनमें' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ अत्र "जैसे सूर्य का प्रकाश है, वैसे" इति पूर्ववद् व्यर्थः पाठः प्रतीयते ॥

(भारि) बहुधा अवधारण किया है, इस कारण (त्वा) तुझे (ब्रह्मवनि) परमेश्वर वा वेद का विज्ञान (क्षत्रवनि) राज्य और वीरों की चाहना (रायस्पोषवनि) धन की पुष्टि के विभाग करनेवाले आप को मैं (पर्यूहामि) विविध तर्कों से समझाता हूँ, कि तू (ब्रह्म) परमात्मा और वेद को (दृंह) दृढ़कर अर्थात् अपने चित्त में स्थिर कर, बढ़ा (क्षत्रम्) राज्य और धनुर्वेदवेत्ता क्षत्रियों को (दृंह) उन्नति दे (आयुः) अपनी अवस्था को (दृंह) बढ़ा {} तथा (प्रजाम्) अपने सन्तान वा रक्षा करने योग्य प्रजाजनों को (दृंह) उन्नति दे अर्थात् ब्रह्मचर्य और राजधर्म से पालनकर ॥ ३ ॥

भावार्थः—सभाध्यक्ष के रक्षा किए हुए स्थानों की कामना के विना कोई भी पुरुष सुख नहीं पासकता, न कोई जन परमेश्वर का अनादर करके चक्रवर्त्ती राज्य भोगने के योग्य होता है, न ही कोई भी जन विज्ञान, सेना, जीवन अर्थात् प्राण और प्रजा की रक्षा के विना अच्छी उन्नति कर सकता है ॥ ३ ॥

विष्णोः कर्म्माणीत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । निचृदार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ सभाध्यक्षः सभ्यादीन् मनुष्यान् प्रति किं किमुपदिशेदित्याह[1] ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ४ ॥

विष्णोः । कर्म्माणि । पश्यत । यतः । व्रतानि । पस्पशे ॥ इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ४ ॥

पदार्थः—(विष्णोः) व्यापकस्य ❀ (कर्माणि) जगत उत्पत्तिस्थितिसंहृत्यादीनि (पश्यत) संप्रेक्षध्वम् (यतः) येन विज्ञानेन (व्रतानि) नियतसत्यभाषणादीनि (पस्पशे) † बध्नामि, अत्र लडर्थे लिट् (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (युज्यः) युनक्ति सदाचारेणेति युज्यः, अत्रौणादिकः क्यप् ‡ (सखा) मित्रम् ॥ अयं मन्त्रः । शत० ३ । ७ । १ । १७ । व्याख्यातः ॥ ४ ॥

1 सभाध्यक्षश्च व्यवहारस्य सम्यक्प्रवृत्त्यै प्रजाः कथं शिक्षयेदित्यत आह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(यतः) तसिप्रकरण आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् (अ० ५ । ४ । ४४ भा० वा०) इति तसिः । तसेश्च (अ० ५ । ३ । ८) इति तसिलादेशः । यद्वा इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ५ । ३ । १४) इति तसिल् । सावेकाचः० (अ० ६ । १ । १६८) इति विभक्त्युदात्तत्वे प्राप्ते न गोश्वन् साववर्ण० (अ० ६ । १ । १८२) इति प्रतिषेधे लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति लित्स्वरः ॥

(पस्पशे) सामान्यकाले छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३ । ४ । ६) इति लिट् ॥ यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावे प्रत्ययस्वरः ।

(युज्यः) बाहुलकादौणादिकः क्यप्, धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

भट्टभास्करस्तु—"योगो युक् । सम्पदादित्वाद् युजेः क्विप् । युजि साधुर्युज्यः । तत्र साधुः (अ० ४ । ४ । ९८) इति यत् । यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वम् । यद्वा युञ्जाना युजो योगिनः । 'सत्सूद्विष०' (अ० ३ । २ । ६१) इत्यादिना क्विप् । तत्र भवो दिगादिद्रष्टव्यः" इत्याह (तै० सं० १ । ३ । ६ । २ भाष्ये भा० १, पृ० २९७) ॥

{} इतोऽग्रे 'अर्थात् ब्रह्मचर्य और राजधर्म से दृढ़कर तथा (प्रजाम्)' इति अ० मु० कोशे च पाठः ॥

❀ इतः पूर्वं य० ६ । ३ पर्यन्तं संस्कृतपदार्थे विरामाः सर्वत्रोपलभ्यन्ते । इतोऽग्रे न सन्ति । कोऽत्र भाष्यकारस्याशय इति सुधियो विभावयन्तु ॥

† 'बध्नाति' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः स्यात्, अन्वये 'अहं······बध्नामि' इति निर्देशात् ॥

‡ 'कप्' इति तु अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्वयः—हे सभ्यजना यूयं यथेन्द्रस्य युज्यः सखा विष्णोः कर्म्माणि पश्यन्नहं यतो विज्ञानेन मनसि व्रतानि सत्यभाषणादिनियमान् पस्पशे बध्नामि, तथा तेनैव विज्ञानेन तानि () पश्यत, यतो राज्यकर्म्मणि सत्यानुष्ठातारो भवत ॥ ४ ॥

भावार्थः—नहि परमेश्वराविरोधसत्याचरणाभ्यां विना कश्चिदीश्वरगुणकर्मस्वभावान् द्रष्टुमर्हति, न तथाभूतेन विना राज्यकर्माणि यथार्थतया सेवितुं शक्नोति, नो खलु सत्याचरणमन्तरा राज्यं वर्धयितुं प्रभुर्भवति ॥ ४ ॥

अब सभापति अपने सभासद् आदि को क्या २ उपदेश करे, यह अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे सभासदो ! जैसे (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (युज्यः) सदाचारयुक्त (सखा) मित्र (विष्णोः) उस व्यापक ईश्वर के (कर्माणि) जो संसार का बनाना, पालन और संहार करना सत्यगुण हैं, उनको देखता हुआ मैं (यतः) जिस ज्ञान से (व्रतानि) अपने मन में सत्यभाषणादि नियमों को (पस्पशे) बाँध रहा अर्थात् नियम कर रहा हूँ, वैसे उसी ज्ञान से तुम भी परमेश्वर के उत्तम गुणों को (पश्यत) दृढ़ता से देखो कि जिससे राज्यादि कामों में सत्य व्यवहार के करनेवाले होओ ॥ ४ ॥

भावार्थः—परमेश्वर से प्रीति और सत्याचरण के विना कोई भी मनुष्य ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव को देखने के योग्य नहीं हो सकता, न वैसे हुए विना राज्यकर्मों को यथार्थ न्याय से सेवन कर सकता है, न सत्य धर्माचार से रहित जन राज्य बढ़ाने को कभी समर्थ हो सकता है ॥ ४ ॥

तद्विष्णोरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । † आर्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तदनुष्ठानेन किं फलमित्याह[3] ॥

तद्विष्णोः प॒र॒मं प॒द॒ꣳ सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ । दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ ५ ॥

तत् । विष्णोः॑ । प॒र॒मम् । प॒दम् । सदा॑ । प॒श्य॒न्ति॒ । सू॒रयः॑ ॥ ‡ दि॒वी॒वेति॑ दि॒विऽइ॑व । चक्षुः॑ । आत॑त॒मित्याऽत॑तम् ॥ ५ ॥

(सखा) समाने ख्यः स चोदात्तः (उ० ४ । १३७) इति इण् प्रत्ययः. प्रत्ययस्वरप्राप्तौ सादेशस्योदात्तत्वशासनादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

अपि व्याख्यातस्तत्र द्रष्टव्यः ॥

२ सभाध्यक्ष व्यवहारों को भलीभाँति चलाने के लिये प्रजाओं को शिक्षित करें, यह बतलाते हैं—

३ तत्फलं च ब्रवीति—

१ मन्त्रोऽयं य० १३ । ३३, आर्याभिविनये पृ० ६०

() इतः परं 'यूयं' इति पाठः, स च ग कोशे नास्ति, अन्वयारम्भे वर्तमानाच्च व्यर्थ इति ध्येयम् ॥

† 'निचृदार्षी' इत्यजमेरमुद्रित ग कोशे चापपाठः ॥ ‡ 'दिवि इवेति' अजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

पदार्थः—(तत्) (विष्णोः) पूर्वमन्त्रप्रतिपादितस्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहृतिविधातुः परमेश्वरस्य (परमम्) सर्वोत्कृष्टम् (पदम्) प्राप्तुमर्हम् (सदा) सर्वस्मिन् काले (पश्यन्ति) अवलोकन्ते (सूरयः) वेदविदः स्तोतारः, सूरिरिति स्तोतृनामसु पठितम् । निघ० ३ । १६ । (दिवीव) आदित्यप्रकाश इव (चक्षुः) चष्टेऽनेन तत् (आततम्) व्याप्तिमत् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ७ । १ । १८ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः[1]—भो सभ्यजना येन पूर्वोक्तेन कर्मणा सूरयः स्तोतारः विष्णोर्यत् परमं पदं दिवि आततं चक्षुरिव सदा पश्यन्ति, तेनैव तद् यूयमपि सततं पश्यत ॥ ५ ॥

अत्र मन्त्रे पूर्वमन्त्रात् (पश्यत) इत्यस्य पदस्यानुवृत्तिः क्रियते, पूर्णोपमालङ्कारश्चास्ति ॥

भावार्थः—निर्धूतमला विद्वांसः स्वविद्याप्रकाशेन यथेश्वरगुणान् दृष्ट्वा विशुद्धाचरणशीला जायन्ते, तथाऽस्माभिरपि भवितव्यम् ॥ ५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पदम्) पद धातोः खनो घ च (अ० ३ । ३ । १२५) इति 'घ'प्रत्ययः । कथमिति चेत् उच्यते—खनेर्घो विधीयते न च खनेः कश्चिदवयवः कुत्वभागस्ति, तेन घित्करणमनर्थकं सञ्ज्ञापयति अन्येभ्योऽप्ययं भवतीति, तेन भजेर्भगः, पदेः पदम्, खलेरधिकरणे खल इत्येवमादयः सिद्ध्यन्ति । द्र० पदमञ्जरी (अ० ३ । ३ । ११५) ॥ यद्वा कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०) इति कर्मणि पचाद्यच्, चित्वादन्तोदात्तत्वम् । 'पदशब्दः पचाद्यजन्तः चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः' इति सायणः '(ऋ० १।२२।५) पदं यजमानेन प्राप्यं स्थानम्' इति स्वोक्तार्थविरोधादयुक्तम् । बाहुलकाद् वा समाधेयम् । अत्र विषये यजुः ५।१५ ॥ ६।३ भाष्यमपि द्रष्टव्यम् ॥

(सदा) सर्वैकान्य० (अ० ५ । ३ । १५) इति 'दा' प्रत्ययः । सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि (अ० ५ । ३ । ६) इति सादेशः । स च निपातनादुदात्तः । अयं निपातनस्वरः प्रत्ययस्वरं बाधते विधानसामर्थ्यात् । व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् (ऋ० १ । २२ । २०) इति सायणः ॥

(सूरयः) सूङः क्रिः (उ० ४ । ६४) इति क्रिः, प्रत्ययस्वरः ॥

यत्तु 'सुञो रिन् दीर्घश्च' (दश० उ० १ । ३३) इत्यत्र दशपादीवृत्तिकारैर्निरत्वं स्वीकृत्य 'सूरिः' इत्युदाहृतम् , तदयुक्तम् , आद्युदात्तत्वापत्तेः । अपि च दशपा० उ० १ । ३४ इत्यग्रिमसूत्रे पठ्यमानः क्रिन् लाघवादिहैव पठ्येत । तेन ज्ञायते रिनो नकारो नात्रानुबन्धः, तथा सति 'सूरी' इत्युदाहर्तव्यम् ॥

(दिवीव) इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । ऊडिदं० (अ० ६ । १ । १७१) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(चक्षुः) चक्षेः शिच (उ० २ । ११९) इत्युसिः । निदनुवृत्तेराद्युदात्तत्वम् । शिदतिदेशात् ख्याञादेशो न भवति ॥

(आततम्) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

[1] मन्त्रोऽयमृग्भाष्ये (ऋ० १ । २२ । २०), ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पृ० ४६, तथाऽर्याभिविनये पृ० ५६ चापि व्याख्यातस्तत्र तत्र द्रष्टव्यः ॥

उक्त मन्त्र के विषय में जो अनुष्ठान कहा है, उससे क्या सिद्ध होता है, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे सभ्यजनो ! जिस पूर्वोक्त कर्म से (सूरयः) स्तुति करनेवाले वेदवेत्ता जन (विष्णोः) संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले परमेश्वर के जिस (परमम्) अत्यन्त उत्तम (पदम्) प्राप्त होने योग्य पद को (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (आततम्) व्याप्त (चक्षुः) नेत्र के (इव) समान (सदा) सब समय में (पश्यन्ति) देखते हैं, (तत्) उसको तुम लोग भी निरन्तर देखो ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से (पश्यत) इस पद का अनुवर्त्तन किया जाता है और पूर्णोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—निर्धूत अर्थात् छूट गये हैं पाप जिनके, वे विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से जैसे ईश्वर के गुणों को देख के सत्य धर्माचारयुक्त होते हैं, वैसे हम लोगों को भी होना चाहिये ॥ ५ ॥

परिवीरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । विद्वांसो देवताः । आर्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥ दिवः सूनुरसीत्यस्य भुरिक्साम्नी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनरेतदुपासकः सभाध्यक्षः कीदृशीत्युपदिश्यते[2] ॥

परि॒वीर॑सि॒ परि॑ त्वा॒ दैवी॒र्विशो॑ व्ययन्तां॒ परी॒मं यज॑मान॒ꣳ रायो॑ मनु॒ष्या॒णाम् । दि॒वः सू॒नुर॑स्ये॒ष ते॑ पृथि॒व्याँल्लो॒कऽआ॑र॒ण्यस्ते॑ प॒शुः ॥ ६ ॥

प॒रि॒वीरिति॑ परि॒ऽवीः । अ॒सि॒ । परि॑ । त्वा॒ । दैवीः॑ । विशः॑ । व्य॒य॒न्ता॒म् । परि॑ । इ॒मम् । यज॑मानम् । रायः॑ । म॒नु॒ष्या॒णाम् ॥ दि॒वः । सू॒नुः । अ॒सि॒ । ए॒षः । ते॒ । पृ॒थि॒व्याम् । लो॒कः । आ॒र॒ण्यः । ते॒ । प॒शुः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(परिवीः) * यथा परितः सर्वतः सर्वा विद्या व्येति व्याप्नोति † तथा (असि) (परि) सर्वतः (त्वा) त्वां सभाध्यक्षम् (दैवीः) देवानां विदुषामिमाः (विशः) प्रजाः (व्ययन्ताम्[3]) विशिष्ट-

---

१ इस शिक्षा का फल बताते हैं— ॥ ५ ॥

२ ईश्वरादेशपालकं सभाध्यक्षं सर्वे आश्रयन्त्वित्युपदिश्यते—

३ 'व्यय गतौ' (भ्वा० उ०) इति धातोर्लोटि रूपम् । यद्वा 'व्येञ् संवरणे' (भ्वा० उ०) इत्येतस्य रूपम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(परिवीः) परिविपूर्वाद् 'इण् गतौ' इत्यस्मात् क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । तुगभावश्छान्दसः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥ तथैव ऋ० ३ । ५ । ३ यः प्राप्तव्यानि पदानि व्येति प्राप्नोति सः; ऋ० ७ । ११ । २ यः पदं व्येति स इति 'पदवीः'-शब्दव्युत्पत्तिः प्रदर्शिता । अत्रापि तुगभावश्छान्दसः ॥

यद्वा परिपूर्वाद् 'व्येञ् संवरणे' इत्यस्माद् क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । वचिस्वपि० (अ० ६ । १ । १५) इति संप्रसारणे हलः (अ० ६ । ४ । २) इति दीर्घत्वे रूपमिदम् । तथा सति 'व्ययन्ताम्' इति मन्त्रपदमपि संगच्छेत इति ध्येयम् । शतपथब्राह्मणे (३ । ७ । १ । १८-२०)

---

* 'यथा' इति व्यर्थः पाठो अ० मुद्रिते गकोशे च ॥ † 'तथा' इति अ० मुद्रिते गकोशे च व्यर्थः पाठः ॥

तथा प्राप्नुवन्तु जानन्तु वा (परि) सर्वतः (इमम्) प्रत्यक्षम् (यजमानम्) ‡ यज्ञानुष्ठातारम् (रायः) धनानि (मनुष्याणाम्) (दिवः) प्रकाशमयात् सूर्यात् [(सूनुः)] सूयत उत्पद्यते किरणसमूह इव (असि) (एषः) (ते) तव (पृथिव्याम्) (लोकः) राष्ट्रं राज्यस्थानम् (आरण्यः) अरण्ये भवः (ते) तव (पशुः) पश्यकश्चतुष्पात् सिंहादिः ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ७ । १ । २१ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष राजँस्त्वं परिवीः सर्वविद्याव्यापकवदसि त्वा त्वां दैवीर्विशः परिव्ययन्ताम् [इमं यजमानं मनुष्याणां रायः परिव्ययन्ताम्] त्वं दिवः सूनुरिवासि, पृथिव्यामेष ते तव लोकोऽस्तु, आरण्यः पशुः सिंहादिरप्यधीनोऽस्तु ❀ ॥ ६ ॥

भावार्थः—राज्यमाचरन्तं राजानं प्रजाजना अभ्याश्रित्य करं {} विनयन्तु, स राजा प्रजापालनाय सिंहादिपशून् दस्युप्रभृतींश्च निहत्य स्वप्रजा यथायोग्यं धर्मे संस्थापयेत् ॥ ६ ॥

फिर इस [विष्णु की] उपासना करनेवाला सभाध्यक्ष किस प्रकार का होता है, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष राजन् ! तू (परिवीः) सब विद्याओं में अच्छे व्याप्त होनेवाले के समान (असि) है, (त्वा) तुझे (दैवीः) विद्वानों के (विशः) सन्तान के समान प्रजा (परि) सर्व [तः] (व्ययन्ताम्) व्याप्त अर्थात् सब ठिकाने प्राप्त हुए तेरे कार्यकारी हों, [(इमम्) इस प्रत्यक्ष (यजमानम्) यज्ञ के अनुष्ठान करने वाले को (मनुष्याणाम्) मनुष्य सम्बन्धी (रायः) धन आदि पदार्थ (परि) सब ओर से प्राप्त हों] तू (दिवः) प्रकाश के पुञ्ज सूर्य से (सूनुः) उत्पन्न हुए किरण समुदाय के तुल्य (असि) है, (पृथिव्याम्) पृथिवी में [(एषः) यह] (ते) तेरा (लोकः) राजधानी का देश हो और (आरण्यः) बनैले सिंहादि दुष्ट [(पशुः)]† पशु भी [(ते)] तेरे वश में हों ॥ ६ ॥

भावार्थः—राज्य का आचरण करते हुए राजा को प्रजालोग प्राप्त होकर अपने पदार्थों का कर चुकावें और वह राजा उन प्रजाओं की रक्षा करने के लिये सिंह और शूकर वा अन्य और दुष्ट जीव तथा डाकू

ऽपि व्येञ् धातोरेव 'परिवीः' व्युत्पाद्यते, तद्भाष्येऽपि । भट्टभास्करोऽपि (तै० सं० १ । ३ । ६) व्येञ् संवरणे इत्यस्मादेव व्युत्पादितवान् ॥

(दैवीः) देवात् यञञौ (अ० ४ ।१। ८५ भा० वा०) इति प्राग्दीव्यतीयेऽर्थे 'अञ्'। ञित्त्वादाद्युदात्तः। टिड्ढाणञ्० (अ० ४ १ । १५) इति ङीप् । वा च्छन्दसि (अ० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः ॥

(विशः) क्विपि धातुस्वरः ॥

(लोकः) पूर्वं य० २ । ३० उक्तः । कश्चिद् उञ्छादित्वादन्तोदात्तत्वमाह । तन्न । ण्यन्ताद् एरच् (अ० ३ । ३ । ५६) इत्यनेनैवेष्टसिद्धेः । यत्तु एरजण्यन्तानाम् (अ० ६ । १ । १६०) इति काशिकायामुक्तम् । तदपि न । भाष्ये तददर्शनात्, एवमजेव भविष्यति, तथा सति चित्त्वादेवान्तोदात्तत्वम् ॥

(आरण्यः) तत्र भवः (अ० ४ । ३ । ५३) इत्यर्थे 'अरण्याण्णो वक्तव्यः (अ० ४ । ३ । १०४ भा० वा०) इति 'ण' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] ईश्वर की आज्ञापालन करनेवाले सभापति का सब लोग आश्रय लें, यह बतलाते हैं— ॥ ६ ॥

---

‡ 'यज्ञानुष्ठातारम्' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥
{} 'विनयन्ताम्' इति साम्प्रतिकानां मते स्यात् ॥
❀ 'भवतु' इति ग. पाठः ॥
† 'पशु तेरे वश्य भी हों' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

चोर उठाईगीरे और गाँठकटे आदि दुष्ट जनों को दण्ड से वश में कर अपनी प्रजा को यथायोग्य धर्म में प्रवृत्त करे ॥ ६ ॥

उपावीरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । त्वष्टा देवता । [निचृद्] आर्षी बृहतीच्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनः स तान् प्रति किं कुर्यात्, ते च तं प्रति किं कुर्युरित्युपदिश्यते[1] ॥

उपावीरस्युप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

* उपावीरित्युपऽअवीः । असि । उप । देवान् । दैवीः । विशः । प्र । अगुः । उशिजः । वह्नितमानिति † वह्निऽतमान् ॥ देव । त्वष्टः । वसु । रम । हव्या । ते । स्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(उपावीः) उपागतपालक इव (असि) [(उप)] (देवान्) विदुषः (दैवीः) $देवसम्बन्धिनीर्दिव्याः (विशः) प्रजाः (प्र) प्रकृष्टार्थे (अगुः) अगमन् (उशिजः) कमनीयान् (वह्नितमान्) अतिशयिता वह्नयो वोढारस्तान् (देव) दिव्यगुणसम्पन्न (त्वष्टः) सर्वदुःखच्छित् (वसु) वसूनि धनानि, अत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति शसो लुक् (रम) रमस्व, अत्रात्मनेपदे व्यत्ययेन परस्मैपदम् (हव्या) होतुमत्तुमर्हाणि (ते) तव (स्वदन्ताम्) भुञ्जताम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ७ । ३ । ९–१२ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे देव त्वष्टः सभापते ! यतस्त्वमुपावीरिवासि तस्माद् दैवीर्विशो यथा उशिजो वह्नितमान् देवान् उपप्रागुस्तथा त्वां प्राप्नुवन्ति, यथैतास्त्वदाश्रयेणाढ्या भूत्वा रमन्ते, तथा त्वमपि तासु रम रमस्व, [यथा] भवानेतेषां पदार्थान् भुङ्क्ते तथैते ते हव्या [होतु] मर्हाणि हव्यानि वसु वसूनि स्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

भावार्थः—यथा गुणग्राहिण उत्तमगुणं [विद्वांसं] सेवन्ते, तथा न्याय-विचक्षणं राजानं प्रजाः सेवन्ते, येन मिथः प्रीत्या पर[स्पर]स्योन्नतिर्भवतीति ॥ ७ ॥

फिर वह प्रजाजनों के प्रति क्या करे, और वे प्रजाजन उस राजा के प्रति क्या करें, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

१ स चाश्रितैः सह कथं व्यवहरेत्, ते च तं प्रति कथं व्यवहरेयुरित्यत आह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उपावीः) उपपूर्वादवतेः अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः (उ० ३ । १५८) इति 'ईः'प्रत्ययः । कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वरः ॥

तैत्तिरीयसंहितायां 'उपवीः' इति पठ्यते । वेतेः क्विप् । उपवीयते सङ्गम्यत उपाक्रियत इति उपवीः इति भट्टभास्करः (भा० १ पृ० ३००) ॥ अस्मिन् पक्षे 'उप-आङ्' पूर्वाद् वेतेः क्विपि रूपमिति दिक् । यद्वा उपाङ्पूर्वाद् व्ययतेः क्विपि रूपसिद्धिः । कृदुत्तर-पदप्रकृतिस्वरे च सर्वमिष्टं सिध्यति ॥ ६ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ सभापति अपने आश्रितों के साथ कैसा व्यवहार करे, और वे उस के प्रति कैसा व्यवहार करें, इस के लिये बताते हैं—

* उपावीरित्युप अवीः' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
† 'वह्नितमान्' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते । $ 'सम्बन्धिन्यः' इति स्यात् ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्यगुण संपन्न (त्वष्टः) सब दुःख के छेदन करनेवाले सभाध्यक्ष ! जिस से तू (उपावीः) शरणागत के पालक सदृश (असि) है, इसी से (दैवीः) विद्वानों से सम्बन्ध रखनेवाली दिव्यगुणसम्पन्न (विशः) प्रजा जैसे (उशिजः) श्रेष्ठ गुण से शोभित कामना के योग्य (वह्नितमान्,) अतिशय धर्ममार्ग में चलने और चलानेवाले (देवान्) विद्वानों को (उपप्रागुः) प्राप्त हुए, वैसे तुझे भी प्राप्त होती हैं, जैसे तेरे आश्रय से प्रजा धनाढ्य होके सुखी हों, वैसे तू भी प्राप्त हुए प्रजाजनों से सत्कृत होकर (रम) हर्षित हो, जैसे तू भी प्रजा के पदार्थों को भोगता है, वैसे प्रजा भी [(ते)] तेरे (हव्या) भोगने योग्य अमूल्य (वसु) धनादि पदार्थों को (स्वदन्ताम्) भोगें ॥ ७ ॥

भावार्थः—जैसे गुण के ग्रहण करनेवाले उत्तमगुणवान् विद्वान् का सेवन करते हैं, वैसे न्याय करने में चतुर राजा का सेवन प्रजाजन करते हैं, जिससे परस्पर की प्रीति से सब की उन्नति होती है ॥ ७ ॥

रेवतीरमध्वमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । प्राजापत्यानुष्टुप् छन्दः । ‡ गान्धारः स्वरः ॥
ऋतस्य त्वेत्यस्य {} भुरिक् प्राजापत्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ पित्रादयः स्वसन्तानान् कथमध्यापकाय + प्रदद्युः, स च तान् कथं गृह्णीयादित्युपदिश्यते[1] ॥

रेव॑ती॒ रम॑ध्वं॒ बृह॑स्पते धा॒रया॒ वसू॑नि ।
ऋ॒तस्य॑ त्वा देवह॒विः पाशे॑न॒ प्रति॑मुञ्चामि॒ धर्षा॒ मानु॑षः ॥ ८ ॥

रेव॑तीः । रम॑ध्वम् । बृह॑स्पते । धा॒रय॑ । वसू॑नि ॥ ऋ॒तस्य॑ । त्वा॒ । दे॒व॒ह॒वि॒रिति॑ ♦ देवऽहविः । पाशे॑न । प्रति॑ । मु॒ञ्चा॒मि॒ । धर्ष॑ । मानु॑षः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(रेवतीः) रायः प्रशस्तानि धनानि विद्यन्ते यासु ताः, प्रजाः (रमध्वम्) ÷ क्रीडध्वम् । (बृहस्पते) बृहत्या वेदवाचः पते पातः[2] परमविद्वन् ! (धारय) अत्रान्येषामपि दृश्यते [अ०

---

१ नचाज्ञानिनः सम्यग् व्यवहर्त्तुं समर्थाः, न च शिक्षणादृतेऽज्ञताऽपहर्त्तुं शक्या, तत्र चाध्यापका एवाधिकृता इत्यतस्तत्कृत्यमुच्यते—

२ पातेस्तृचि सम्बोधनम् ।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रेवतीः) पूर्वं यजुः १ । २१ व्याख्यातः अत्रामन्त्रितत्वादाद्युदात्तत्वमिति विशेषः ॥

(बृहस्पते) भिन्नवाक्यत्वान्निघातो न भवति ॥

(धारय) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इत्यविद्यमानत्वान्निघातत्वं न प्रवर्त्तते । तथा सति चित्वाद् धातुस्वरत्वाद् वा 'धारि' इत्यन्तोदात्तः, ततः शप् , स चानुदात्तः ॥

(ऋतस्य) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः पूर्वं य० २ । १ व्याख्यातः ॥

(धर्ष) 'निधृषा प्रागल्भ्ये' इति धातोर्लोटि

---

‡ 'ऋषभः स्वरः' इति अ० मु० गकोशे च पाठः ॥
+ 'प्रददुः' इति अ० मु० गकोशे च पाठः ॥
÷ साम्प्रतिकानां मते 'क्रीडत' इति स्यात् ॥
{} 'निचृत् प्राजापत्या' इति अ० मु० ग कोशे च पाठः ॥
♦ 'देवहविः' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

६।३।१३७] इति दीर्घः (वसूनि) (ऋतस्य) सत्यन्यायाख्ययज्ञस्य [(त्वा) त्वाम्] (देवहविः) ❀ यथा देवानां हविरादातुमर्हं चरित्रमस्ति तथा (पाशेन) बन्धनेन (प्रति) (मुञ्चामि) (धर्षं) धृष्णुहि, द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः, विकरणव्यत्ययेन शप् च (मानुषः) सर्वशास्त्र-मननशीलः॥ अयं मन्त्रः शत० ३।७।३।१३ तथा ७।४।१।२ [व्याख्यातः]॥८॥

अन्वयः—हे रेवतीः रेवत्यः प्रजा यूयं विद्यासुशिक्षासु रमध्वम्। हे बृहस्पते! त्वमृतस्य वसूनि धारय। †अथ शिष्यायोपदिशति गुरुः—हे राजन् प्रजाजन वा! मानुषो ऽहं पाशेनाविद्याबन्धनेन देवहविर्यथा तथा [त्वा] त्वां प्रतिमुञ्चामि, त्वं विद्यासुशिक्षासु धर्षं ‡ धृष्टो भव॥८॥

भावार्थः—विद्वद्भिः सुशिक्षया कुमाराणां कुमारीणां चाजगदीश्वरात् ÷ पृथिवीपर्यन्तं पदार्थानां बोधः संपादनीयो यतस्ते मूर्खत्वबन्धनं परित्यज्य सदा सुखिनः स्युरिति॥८॥

अब पिता आदि रक्षकजन अपने सन्तानों को पढ़ानेवालों को कैसे दें, और वह उनको कैसे स्वीकार करें, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है॥

पदार्थः—हे (रेवतीः) अच्छे धनवाले सन्तानो प्रजाजनो! तुम विद्या और अच्छी शिक्षा में (रमध्वम्) रमो। हे (बृहस्पते) वेदवाणी के पालनेवाले विद्वन्! आप (ऋतस्य) सत्य न्याय व्यवहार से प्राप्त (वसूनि) धन अर्थात् हम लोगों के दिये द्रव्य आदि पदार्थों को (धारय) स्वीकार कीजिये (अब अध्यापक का शिष्य के लिये उपदेश है) हे राजन्! प्रजापुरुष वा (मानुषः) सर्व शास्त्र का विचार करनेवाला मैं (पाशेन) अविद्या बन्धन से [जैसे (देवहविः) विद्वानों का हविः अर्थात् ग्रहण करने योग्य चरित्र तुम को प्राप्त हो वैसे (त्वा)] तुझे (प्रति मुञ्चामि) छुड़ाता हूँ, तू विद्या और अच्छी शिक्षाओं में [(धर्ष)] धृष्ट [प्रगल्भ] हो॥८॥

भावार्थः—विद्वानों को अपनी शिक्षा से कुमार ब्रह्मचारी और कुमारी ब्रह्मचारिणियों को परमेश्वर से ले के पृथिवी पर्य्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिये, जिस से वे मूर्खपन रूपी बन्धन को छोड़ के सदा सुखी हों॥८॥

देवस्य त्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। सविता + आश्विनौ पूषा च देवताः। प्राजापत्या बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥ अग्नीषोमाभ्यामित्यस्य पङ्क्तिश्छन्दः। [पञ्चमः स्वरः। अग्नीषोमाभ्यां त्वेत्यस्य याजुषी त्रिष्टुप् छन्दः]। धैवतः स्वरः॥

मध्यमैकवचने रूपम्, व्यत्ययेन शब्विकरणः। भिन्नवाक्यत्वान्निघातस्वं न प्रवर्त्तते॥

(मानुषः) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (अ० ४।१।१६१) इत्यण्। ञित्वादाद्युदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ अज्ञानी मूर्खजन योग्य व्यवहार नहीं कर सकते, और विना शिक्षा अज्ञान दूर नहीं हो सकता, शिक्षा देने का अधिकार अध्यापकों को ही है, इस लिये उनका कर्त्तव्य बतलाते हैं—॥८॥

२ य० १।१० अस्य भागस्य 'सवितैव देवता' इति ध्येयम्॥

❀ 'यथा, अस्ति, तथा' इति पदानि व्यर्थानि॥

† 'अथ शिष्यायोपदिशति गुरुः, हे राजन् प्रजाजन वा' इति अ० मु० पाठः। तत्र च 'हे शिष्य' इत्येव साधुतरं स्यात्। कदाचिदत्रान्वयो व्यस्तः स्यात्।

‡ प्रगल्भोऽतितीक्ष्ण इत्यर्थः॥

÷ अत्र 'पृथिवीपर्यन्तपदार्थानां' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः॥

+ अत्र 'अश्विनौ' इति स्यात्॥

पुनः स शिष्यं किमुपदिशेदित्याह[1] ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि । अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु
पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः । अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ ९ ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति × प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति × बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ॥ अग्नीषोमाभ्याम् । जुष्टम् । नि । युनज्मि ॥ अद्भ्य × इत्यत्ऽभ्यः । त्वा । ओषधीभ्यः । अनु । त्वा । माता । मन्यताम् । अनु । पिता । अनु । भ्राता । सगर्भ्य इति ※सऽगर्भ्यः । अनु । सखा । सयूथ्य इति {} सऽयूथ्यः ॥ अग्नीषोमाभ्याम् । त्वा । जुष्टम् । प्र । उक्षामि ॥ ९ ॥

पदार्थः—(देवस्य) वेदविद्याप्रकाशकस्य (त्वा) विद्यार्थिनम् (सवितुः) सकलैश्वर्य्यवतः (प्रसवे) + प्रसूयते विश्वस्मिन् यस्तस्मिन् (अश्विनोः) सूर्याचन्द्रमसोः (बाहुभ्याम्) तत्तद्गुणाभ्याम् (पूष्णः) पृथिव्याः । पूषेति पृथिवीनामसु पठितम् । निघ० १ । १ (हस्ताभ्याम्) हस्त इव वर्त्तमानाभ्यां धारणाकर्षणाभ्याम (अग्नीषोमाभ्याम्) एनयोस्तेजःशान्तिगुणाभ्याम (जुष्टम्) प्रीतम् (नि) (युनज्मि) (अद्भ्यः) † यथा जलेभ्यः [(त्वा) त्वाम्] (ओषधीभ्यः) रोगनिवारिकाभ्यः (अनु) (त्वा) त्वाम् (माता) जननी (मन्यताम्) (अनु) (पिता) जनकः (अनु) (भ्राता) बन्धुः (सगर्भ्यः) सोदरः (अनु) (सखा) सुहृत् (सयूथ्यः) सैन्यः (अग्नीषोमाभ्याम्) पूर्वोक्ताभ्याम् (त्वा) (जुष्टम्) प्रीतम् (प्र) (उक्षामि) सिञ्चामि ॥ अयम्मन्त्रः शत० ३ । ७ । ४ । ३–५ । व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे शिष्य ! अहं सवितुर्देवस्य प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा त्वामाददे । अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं त्वा त्वां या ‡ ब्रह्मचर्य्यधर्मानुकूला आप ओषधयश्च सन्ति ताभ्योऽद्भ्य ओषधीभ्यो नियुनज्मि । [त्वा] त्वां मत्समीपे स्थातुं माता जननी अनुमन्यताम् पितानुमन्यताम् सगर्भ्यो भ्रातानुमन्यताम् , सखानुमन्यताम् सयूथ्योऽनुमन्यताम् अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं प्रीतियुक्तं [त्वा] त्वामहं प्रोक्षामि तद्गुणैरभिषिञ्चामि ॥ ९ ॥

भावार्थः—अस्मिन् संसारे मात्रादिभिः पित्रादिभिर्बन्धुवर्गैर्मित्रवर्गैश्च स्वापत्यादीनि सुशिक्ष्य तैर्ब्रह्मचर्य्यं कारयितव्यं यतस्ते सद्गुणिनस्स्युरिति ॥ ९ ॥

फिर वह गुरु शिष्य को क्या उपदेश करे, यह अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

---

१ तदेव द्रढयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अद्भ्यः) ऊडिदंपदाद्यप्पु० (अ० ६ । १ । १७१) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

२ पूर्वोक्त अर्थ को पुष्ट करते हैं— ॥ ९ ॥

× अत्र पदपाठे सर्वेऽपि चिह्निता अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते ।
※ 'सगर्भ्य इति सगर्भ्यः' इत्यवग्रहरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
{} 'सयूथ्य इति सयूथ्यः' इत्यवग्रहरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
+ 'प्रसूयते यस्तस्मिन् विश्वस्मिन्' इति युक्ततरः पाठः स्यात् ॥
† अत्र 'यथा' इति व्यर्थः पाठः ॥
‡ 'ये' इति अ० मु० ग कोशे च पाठः ॥

पदार्थः—हे शिष्य ! मैं (सवितुः) समस्त ऐश्वर्ययुक्त (देवस्य) वेदविद्या प्रकाश करनेवाले परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए इस जगत् में (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) गुणों से वा (पूष्णः) पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) हाथों के समान धारण और आकर्षण गुणों से (त्वा) तुझे स्वीकार करता हूँ तथा (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों से (जुष्टम्) प्रीति करते हुए (त्वा) तुझ को जो ब्रह्मचर्य धर्म के अनुकूल जल और ओषधि हैं, उन (अद्भ्यः) जल और (ओषधीभ्यः) गोधूम आदि अन्नादि पदार्थों से (नियुनज्मि) नियुक्त करता हूँ [(त्वा)] तुझे मेरे समीप रहने के लिये तेरी (माता) जननी (अनु) (मन्यताम्) अनुमोदित करे (पिता) पिता (अनु) अनुमोदित करे (सगर्भ्यः) सहोदर (भ्राता) भाई (अनु) अनुमोदित करे (सखा) मित्र (अनु) अनुमोदित करे और (सयूथ्यः) तेरा सहवासी अनुमोदित करे (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों में (जुष्टम्) प्रीति करते हुए (त्वा) तुझको (प्र उक्षामि) उन्हीं गुणों से ब्रह्मचर्य के नियम पालने के लिए अभिषिक्त करता हूँ ॥ ९ ॥

भावार्थः—इस संसार में माता पिता बन्धुवर्ग और मित्रवर्गों को चाहिये कि अपने सन्तान आदि को अच्छी शिक्षा देकर ब्रह्मचर्य [धारण] करावें, जिससे वे गुणवान् हों ॥ ९ ॥

अपां पेरुरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आपो देवताः । प्राजापत्या बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥
सन्त इत्यस्य ❀ विराडार्ची बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथोपनीतेन शिष्येण विद्यासुशिक्षाग्रहणाग्निहोत्राद्याख्यो यज्ञोऽवश्यमनुष्ठातव्य इति गुरुरुपदिशेत्[१] ॥

अपां पेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित् सद्देवहविः ।
सं ते प्राणो वातेन गच्छतासमङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपतिराशिषा ॥ १० ॥

अपाम् । पेरुः । असि । आपः । देवीः । स्वदन्तु । स्वात्तम् । चित् । सत् । देवहविरिति † देवऽहविः ॥ सम् । ते । प्राणः । वातेन । गच्छताम् । सम् । अङ्गानि । यजत्रैः । सम् । यज्ञपतिरिति † यज्ञऽपतिः । आशिषेत्या † ऽशिषा ॥ १० ॥

१ सर्वकर्मसु यज्ञानुष्ठानस्य प्राधान्यात् तदेवादौ शिक्षणीयमित्यत आह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पेरुः) मीपीभ्यां रुः (उ० ४ । १०१) इति रुप्रत्ययो बाहुलकात् पातेरपि, ईकारश्चान्तादेशः । दशपादुणादौ तु मापोरुरी च (द० पा० १ । १५७) इत्येव निर्देशः । प्रत्ययस्वरः ॥

(स्वात्तम्) आङ्पूर्वाद् ददातेः क्तः । अच उपसर्गात् तः (अ० ७ । ४ । ४७) इति तकारादेशः । आदेः परस्य (अ० १ । १ । ५४) इति नियमेन दकारस्थानप्रसक्तिर्द्विस्तकारनिर्देशाद्, अच इत्यस्यानुवृत्त्या वा न भवति (द्र० महा० काशिका च अ० ७ । ४ । ४७) । ततः कर्तृकरणे कृता बहुलम् (अ० २।१।३२) इति स्वशब्देन समासः । तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति प्राप्तौ छान्दसत्वात् याथघञ्क्ता० (अ० ६ । २ । १४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

यद्वा प्रवृद्धादीनां च (अ० ६ । २ । १४७) इत्यन्तोदात्तत्वं बोध्यम् ॥

यदा तु 'सु आत्तम्' = स्वात्तम्, तदापि सूपमानात् क्तः (अ० ६ । २ । १४५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

❀ 'निचृदार्षी' इति अ० मु० ग कोशे त्वपपाठः ॥

† अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते॥

पदार्थः—(अपाम्) जलानाम् (पेरुः) रक्षकः (असि) (आपः) (देवीः) शुद्धा दिव्यसुखप्रदाः (स्वदन्तु) (स्वात्तम्) स्वेन समन्ताद् गृहीतम् (चित्) अपि (सत्) (देवहविः) देवेभ्यो हविरिव (सम्) (ते) तव (प्राणः) (वातेन) पवनेन सह (गच्छताम्) [(सम्)] (अङ्गानि) शिरआदीनि (यजत्रैः) यज्ञसाधकैर्विद्वद्भिः सह [(सम्)] (यज्ञपतिः) यज्ञस्य पालकः ‡ (आशिषा) ॥ अयम्मन्त्रः शत० ३ । ७ । ४ । ६–९ व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे शिष्य ! त्वमपां पेरुरसि संसारस्थाः प्राणिनस्त्वद्यज्ञशोधिता देवीरापश्चित् स्वात्तं धर्मानुष्ठानस्वीकृतं [सद्] देवहविरिव संस्वदन्तु मदाशिषा [ते] तवाङ्गानि यजत्रैः सह [सम्] गच्छन्ताम्, प्राणो वातेन संगच्छतां त्वं यज्ञपतिः भव ॥ १० ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—या यज्ञे प्राप्ताहुतयस्ता आदित्यमुपतिष्ठन्ते, आदित्याकर्षणशक्त्या पृथिवीजलाकर्षणेन वृष्टिर्भवति, ततोऽन्नमन्नाद् भूतानीति परम्परासंबन्धेन यज्ञशोधिता अपो हुतद्रव्यं च सर्वे जीवा † भुञ्जते ॥ १० ॥

अब यज्ञोपवीत होने के पश्चात् शिष्य को अत्यावश्यक है कि विद्या [तथा] उत्तम शिक्षा [का] ग्रहण और अग्निहोत्रादि यज्ञ का अनुष्ठान करे ऐसा उपदेश गुरु किया करे, यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे शिष्य ! तू (अपाम्) जल आदि पदार्थों का (पेरुः) रक्षा करनेवाला (असि) है, संसारस्थजीव तेरे यज्ञ से शुद्ध हुए (देवीः) दिव्य सुख देनेवाले (आपः) जलों को (चित्) और (स्वात्तम्) धर्मयुक्त व्यवहार से [(सत्)] प्राप्त हुए पदार्थों को (देवहविः) विद्वानों के भोगने के समान (सं स्वदन्तु) अच्छी तरह से भोगें, मेरे (आशिषा) आशीर्वाद से (ते) तेरे (अङ्गानि) शिर आदि अवयव (यजत्रैः) यज्ञ करानेवालों के साथ (सम्) सम्यक् नियुक्त हों और (प्राणः) प्राण (वातेन) पवित्र वायु के सङ्ग (संगच्छताम्) उत्तमता से रमण करे और तू (यज्ञपतिः) विद्याप्रचार रूपी यज्ञ का पालन करनेहारा हो ॥ १० ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो यज्ञ में दी हुई आहुति हैं वे () सूर्य तक पहुँचती हैं, अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति से परमाणु रूप होकर सब पदार्थ पृथिवी के ऊपर आकाश में [रहते] हैं, उसी से पृथिवी का जल ऊपर खिंचकर वर्षा

(देवहविः) समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(अङ्गानि) अगि गतावित्येतस्माद् अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३ । १ । १३४ मा० वा०) इत्यच् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ यद्वा घञि यथेष्टस्वरसिद्धिः ॥

(यजत्रैः) अमिनक्षियजि० (उ० ३ । १०५) इति 'अत्रन्'प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ सब कर्मों में यज्ञ ही मुख्य है, इसलिये पहिले उसी की शिक्षा देनी चाहिये, यह बतलाते हैं—॥१०॥

‡ '(आशिषा) इच्छया' इति ग पाठः ॥

† 'भुञ्जन्ते' इति अ० मु० प्रथमसंस्करणे पाठः । ग. कोशे तु 'भुञ्जते ब्रह्मज्ञानान्मुक्तिमाप्नुवन्ति' इति पाठः ॥

() 'के उपस्थित रहती हैं' इति अ० मु० पाठः । 'सूर्य की किरणों में उपस्थित रहती हैं' इति ग. पाठः ॥

होती है, उस वर्षा से अन्न और अन्न से सब जीवों को सुख होता है, इस परम्परा सम्बन्ध से यज्ञशोधित जल और होम किये द्रव्य को सब जीव भोगते हैं ॥ १० ॥

घृतेनाक्तावित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । वातो देवता । भुरिगार्च्युष्णिक् छन्दः [उरोरित्यस्य भुरिगार्च्युष्णिक् छन्दः । वर्षो इत्यस्य स्वराडार्च्युष्णिक् छन्दः] । ऋषभः स्वरः ॥

अथ कर्तृकारयित्रोः कर्त्तव्यमुपदिश्यते[1] ॥

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाᳬं रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश । उरोरन्तरिक्षात् सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव । वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

घृतेन । अक्तौ । पशून् । त्रायेथाम् । रेवति । यजमाने । प्रियम् । धाः । आ । विश ॥ उरोः । अन्तरिक्षात् । सजूरिति सऽजूः । देवेन । वातेन । अस्य । हविषः । त्मना । यज । सम् । अस्य । तन्वा । भव ॥ वर्षोऽइति * वर्षो । वर्षीयसि । यज्ञे । यज्ञपतिमिति † यज्ञऽपतिम् । धाः । स्वाहा । देवेभ्यः । देवेभ्यः । स्वाहा ॥ ११ ॥

पदार्थः—(घृतेन अक्तौ) घृतेनासक्तचित्तौ ‡ यज्ञकर्त्ता यज्ञकारयिता च (पशून्) गवादीन् (त्रायेथाम्) रक्षेताम् (रेवति) प्रशस्तैश्वर्य्ययुक्ते (यजमाने) यज्ञानुष्ठातरि (प्रियम्) प्रसन्नतासम्पादि सुखम् (धाः) धेहि । अत्र लोडर्थे लुङ् अडभावश्च (आ) समन्तात् (विश) (उरोः) बहोः (अन्तरिक्षात्) (सजूः) मित्रमिव (देवेन) सर्वगतेन (वातेन) वायुना सह (अस्य) (हविषः) होतव्यस्य, कर्मणि षष्ठी (त्मना) आत्मना (यज) संगच्छस्व, एकीभव (सम्) (अस्य) (तन्वा) (भव) (वर्षो) यज्ञकर्म्मणा सर्वसुखसेचक ! (वर्षीयसि) सर्वसुखमभिवर्षति [(यज्ञे) पूर्वोक्ते] (यज्ञपतिम्) यज्ञपालकम् (धाः) धेहि (स्वाहा) सत्कृत्यनुकूलाम् (देवेभ्यः) दीव्यन्ति प्रकाशन्ते सत्कर्मानुष्ठानेन ये तेभ्यो धर्म्मिष्ठेभ्यो विद्वद्भ्यः (देवेभ्यः) शुभेभ्यो गुणेभ्यः (स्वाहा) सत्कृत्यनुरूपाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ८ । १ । ५–१६ व्याख्यातः ॥ ११ ॥

१ अथोभौ यजमानयाजकौ कस्मै प्रयोजनाय यज्ञमाचरेतामिति वर्णयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(घृतेन) अग्निघृसिभ्यः क्तः (उ० ३ । ८९) इति क्तः । प्रत्ययस्वरः । अव्युत्पत्तिपक्षे घृतादीनां च (फि० २१) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।

(रेवति) मतुबुदात्तत्वे रेग्रहणम् (अ० ६ । १।१७६ भा० वा०) इति मतुप उदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसः प्रातिपदिकस्वरः ॥

(त्मना) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उ० ४ । १५३) इति मनिण्प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः । मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः (अ० ६ । ४ । १४१) इत्यादिलोपः ॥

(अस्य) इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ (अ० २ । ४ । ३२) इत्यनुदात्तोऽशादेशः, ततो विभक्तिरप्यनुदात्ता ॥

(तन्वा) उदात्तस्वरितयोर्यणः० (अ० ८ । २ । ४) इति विभक्तेः स्वरितत्वम् ॥

(वर्षो) वर्षतेः शॄस्वृस्निहि० (उ० १ । १०) इति बाहुलकाद् 'उ'प्रत्ययः । निदनुवर्त्तनादाद्युदात्त-

* 'वर्षो' इति नास्त्यजमेरमुद्रिते ॥
‡ 'प्रसक्तौ' इति ग० पाठः ॥

† अवग्रहचिह्नरहितोऽयपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

अन्वयः—हे ‡ यज्ञकर्त्ताकारयितारौ घृतेनाक्तौ घृतमनस्कौ युवां पशून् त्रायेथाम्, त्वमेकैको देवेन वातेन सजूरुरोरन्तरिक्षात् प्रियं प्रेमोत्पादकं सुखं रेवति यजमाने () धास्तथा आविश तत्स्वान्तवृत्तमाप्नुहि, अस्य हविषः त्मना आत्मना यज, अस्य तन्वा सम्भवैकीभव, न द्वैधमाचर । हे वर्षो यज्ञकर्म्मणा सुखसेचक त्वं § देवेभ्यः स्वाहा देवेभ्यः स्वाहा तद्यज्ञं दिदृक्षुभ्यः पुनः पुनरागतेभ्यो विद्वद्भ्यो ǂ ऽसकृत् सत्कृत्यनुरूपां वाचमुदीरयन् वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः ॥ ११ ॥

भावार्थः—यज्ञार्थं घृतादिमभीप्सुभिर्मनुष्यैः ❀ पशवो रक्षणीयाः, घृतादिसद्द्रव्येणाग्निहोत्रादियज्ञान् सम्पाद्य तैर्जलवायू संशोध्य सर्वेषां प्राणिनामभीष्टं सुखं संसाध्यम् ॥ ११ ॥

अब यज्ञ करने और करानेवालों के कर्त्तव्य कर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (घृतेन अक्तौ) घृतप्रसक्त अर्थात् घृतचाहने और यज्ञ के [करने] करानेहारो ! तुम (पशून्) गौ आदि पशुओं को (त्रायेथाम्) पालो, तुम एक २ जन (देवेन) सर्वगत (वातेन) पवन से (सजूः) [मित्र के] समान प्रीति करते हुए (उरोः) विस्तृत (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुए (प्रियम्) प्रिय सुख को (रेवति) अच्छे ऐश्वर्ययुक्त (यजमाने) यज्ञ करनेवाले धनी पुरुष में (धाः) स्थापन करो, तथा (आविश) उसके अभिप्राय को प्राप्त होओ, और (अस्य) इस के (हविषः) होम के योग्य पदार्थ को (त्मना) आप ही ⊙ (यज) अग्नि में होमो अर्थात् यज्ञ की किसी क्रिया का विपरीत भाव न करो और (अस्य) इस के (तन्वा) शरीर के साथ (सम् भव) एकीभाव रक्खो, किन्तु विरोध से द्विधा आचरण मत करो। हे (वर्षो) यज्ञकर्म से सर्व सुख के पहुँचानेवाले ! (देवेभ्यः) सत्कर्म के अनुष्ठान से प्रकाशित धर्म्मिष्ठ ज्ञानी पुरुष [के लिये (स्वाहा) सत्कर्मानुकूल वाणी] (देवेभ्यः) जो कि यज्ञ देखने की इच्छा करते हुए बार-बार यज्ञ में आते हैं, उन विद्वानों के लिये (स्वाहा) अच्छे सत्कार करानेवाली वाणियों को उच्चारण करते हुए [(यज्ञपतिम्)] यज्ञपति को (वर्षीयसि) सर्व सुख वर्षाने वाले [(यज्ञे)] यज्ञ में (धाः) † लगाओ ॥ ११ ॥

भावार्थः—यज्ञ के लिये घृत आदि पदार्थ चाहनेवाले मनुष्यों को गाय आदि पशु रखने चाहियें और घृतादि अच्छे २ पदार्थों से अग्निहोत्र से लेकर उत्तम २ यज्ञों से जल और पवन की शुद्धि कर सब प्राणियों का सुख उत्पन्न करना चाहिये ॥ ११ ॥

स्वम् । ततः सम्बुद्धौ सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (अ० १ । १ । १६) इति प्रगृह्यसंज्ञा ॥ (वर्षीयसि) ईयसुनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ यजमान और यज्ञ करनेवाले दोनों किस प्रयोजन के लिये यज्ञ किया करें, यह दर्शाते हैं—॥ ११ ॥

---

‡ 'कर्तृकारयितारौ' इति तु साम्प्रतिकानां मते । अस्यैव मन्त्रस्य संगत्यां 'यज्ञस्य कर्तृकारयितारौ' इत्युपलम्भाद् उभयथापि प्रयोगोऽभिप्रेतः स्यादिति प्रतीमः । पूर्वं पृष्ठ ५१ अपि द्रष्टव्यम् ॥

() 'धा आविश च तत्स्वान्तवृत्तिमाप्नुहि' इति अ० मु० अपपाठः । हस्तलेखे तूपरिप्रदर्शितः शुद्ध एव पाठः ॥

§ 'देवेभ्यः स्वाहा' इति ग. कोशे नास्ति ॥

ǂ 'ऽसकृत्' इति ग. कोशे नास्ति ॥

❀ 'मनुष्यैः' इति पदं 'यज्ञार्थं' इत्यस्मात् पूर्वं गकोशे ॥

⊙ इतोऽग्रे 'निष्पाद किये हुए के समान' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

† 'अभियुक्त करो' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

माऽहिर्भूरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विद्वांसो देवताः । भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप् छन्दः ।
[घृतस्येत्यस्य भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः] । गान्धारः स्वरः ॥

स विद्वान् कीदृग् भवेदित्युपदिश्यते[1] ॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त ऽ आतानानर्वा प्रेहि ।
घृतस्य कुल्या ऽ उप ऽ ऋतस्य पथ्या ऽ अनु ॥ १२ ॥

मा । अहिः । भूः । मा । पृदाकुः । नमः । ते । आतानेत्याऽतान ‡ । अनर्वा । प्र । इहि ॥ घृतस्य । कुल्याः । उप । ऋतस्य । पथ्याः । अनु ॥ १२ ॥

पदार्थः—(मा) निषेधे (अहिः) सर्पवत् (भूः) भवेः, अत्र लिङर्थे लुङ् [(मा)] (पृदाकुः) मूढवदभिसाली व्याघ्रवद् वा हिंसकः (नमः) अन्नम् । नम इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ (ते) तुभ्यम् (आतान) समन्तात् सुखं तनितः (अनर्वा) अश्वहीनः । अर्वेत्यश्वनामसु पठितम् । निघ० १ । १४ (प्र) प्रकृष्टार्थे (इहि) गच्छ (घृतस्य) उदकस्य (कुल्याः) ❀ घृतधाराः (उप) (ऋतस्य) {} सत्यस्य (पथ्याः) वीथीः (अनु) ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ८ । २ । १-३ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—† हे आतान ! त्वं अहिर्माभूः पृदाकुर्माभूस्ते तुभ्यं नमोऽस्तु, सर्वत्र त्वत्सुखायान्नादिपदार्थः पुरत एव प्रवर्त्तत इति भावः । अनर्वा घृतस्य कुल्या इवर्तस्य पथ्या (ऽनु) प्रोपेहि ✤ ॥ १२ ॥

भावार्थः—केनापि मनुष्येण § धर्ममार्गे कुटिलमार्गगामिसर्पादिवत् कुटिलाचरणेन न भवितव्यं, किन्तु सर्वदा सरलभावेनैव भवितव्यम् ॥ १२ ॥

---

[1] कौटिल्यादिरहित एव विद्वान् यजमानं शिक्षयितुं समर्थ इत्यतस्तद्गुणानाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पृदाकुः) पर्देर्नित् सम्प्रसारणमल्लोपश्च (उ० ३ । ८०) इति काकुप्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(आतान) तनोतेर्ण उपसंख्यानम् (अ० ३ । १ । १४० भा० वा०) इति णप्रत्ययः । सम्बुद्धावाष्टमिकः स्वरः ॥

(अनर्वा) स्नामदिपद्यर्त्ति० (उ० ४ । ११३) इति वनिप् । पित्त्वादाद्युदात्तस्वर एव । ततो नञ्समासे नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(कुल्याः) कुल संस्त्याने बन्धुषु च (भ्वा० प०) एतस्माद् अघ्न्यादयश्च (उ० ४ । ११२) इति यक् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(पथ्या) पथिन्शब्दाद् 'भवे छन्दसि' (अ० ४ । ४ । ११०) इति यत् । नस्तद्धिते (अ० ६ । ४ । १४४) इति टिलोपः । यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

‡ '०त्यातान' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
❀ अत्र 'घृत' इति पदं व्यर्थं प्रतिभाति । 'घृतवद् धाराः' इति ग. पाठः ॥
{} 'जलस्य' इति ग. पाठः ॥ † अस्पष्टोऽत्रान्वयो भाषापदार्थश्च ॥
✤ "अनर्वाऽपि सन् घृतस्य कुल्या घृतस्य पथ्यानुयान्तीव धर्म्यमार्गे प्रोपेहि" इति गपाठः ॥
§ 'धर्ममार्गे' इति पदं गकोशे 'किन्तु सर्वदा' इत्येतयोः पदयोर्मध्ये वर्तते ॥

वह विद्वान् कैसा हो, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (आतान) अच्छे प्रकार सुख के विस्तार करनेवाले विद्वन् ! तू (मा) मत (अहिः) सर्प के समान कुटिल मार्गगामी और (मा) मत (पृदाकुः) मूर्खजन के समान अभिमानी, व्याघ्र के समान हिंसा करनेवाला (भूः) हो, (ते) सब जगह तेरे सुख के लिये (नमः) अन्न आदि पदार्थ, पहिले ही प्रवृत्त हो रहे हैं और (अनर्वा) अश्व आदि सवारी के बिना निराश्रय पुरुष जैसे (घृतस्य) जल की (कुल्याः) बड़ी धाराओं को प्राप्त हो, वैसे (ऋतस्य) () सत्य के (पथ्याः) मार्गों को [(अनुप्रेहि)] प्राप्त हो ¶ ॥ १२ ॥

भावार्थः—किसी मनुष्य को कुटिलगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्ममार्ग में कुटिल न होना चाहिये, किन्तु सर्वदा सरलभाव से ही रहना चाहिये ॥ १२ ॥

देवीराप इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। आपो देवताः। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

※गृहाश्रममभीप्सुभिर्ब्रह्मचारिभिः, ब्रह्मचारिणीभिश्च कथम्भूता पत्नी वरो वा स्वीकर्त्तव्य इत्युपदिश्यते[2] ॥

देवीरापः शुद्धा वोढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म ॥ १३ ॥

देवीः। आपः। शुद्धाः। वोढ्वम्। सुपरिविष्टा इति सुऽपरिविष्टाः। देवेषु। सुपरिविष्टा इति सुऽपरिविष्टाः। वयम्। परिवेष्टार इति परिऽवेष्टारः। भूयास्म ॥ १३ ॥

पदार्थः—(देवीः) सद्विद्याप्रकाशवत्यः (आपः) आप्नुवन्ति सद्गुणान् यास्ताः (शुद्धाः) सत्कर्म्मानुष्ठानपूताः (वोढ्वम्) स्वयंवरविवाहविधिं प्राप्नुत। अत्र वह प्रापण इत्यस्माल्लोटि मध्यमबहुवचने बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति शपो लुकि कृते सहिवहोरोदवर्णस्य। अ० ६।३।११२ इत्यनेनौकारः (सुपरिविष्टाः) तत्तत्सेवासम्मुख्यां† एव‡ (देवेषु) सद्विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु

१ कुटिलतादि से रहित विद्वान् ही यजमान को शिक्षित करने में समर्थ होता है, अतः उस के गुणों का वर्णन करते हैं— ॥ १२ ॥

२ गृहमेधिनामेव यज्ञेऽधिकारात्, आचार्यसन्निधावधीतविद्या उपासितब्रह्मचर्यव्रता ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचारिण्यश्च परस्परं कथं वृणुयुरित्याकाङ्क्षायामाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शुद्धाः) 'शुध शौचे' (दिवा० प०) इत्यस्मात् क्तः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(वोढ्वम्) छान्दसत्वान्निघाताभावः ॥

(सुपरिविष्टाः) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२।) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(परिवेष्टारः) गतिकारकोपपदात्० (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्त्वादन्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

() 'जल के' इति गपाठः ॥

¶ 'मार्गों को प्राप्त होके अनुगत चलने के समान धर्ममार्ग में ही चला कर' इति गपाठः ॥

※ "अथ वधूभिर्ब्रह्मचारिणीभिश्च गुरुपत्न्यः कथं सम्माननीया इत्युपदिश्यते" इति अ० मुद्रिते मन्त्रार्थेन सहासम्बद्धः पाठः ॥

† 'सेवासुमुख्य' इति अ० मुद्रिते गकोशे च पाठः।

‡ इतोऽग्रे 'वर्त्तमाने लोट्' इति अ० मुद्रितपाठः ॥ 'स्वसदृशान् पतीन् (वोढ्वम्) यथा तत्तत्सत्कृत्यानुकूलां प्राप्नुवन्ति तथा अत्र वर्त्तमाने लोट्' इति गपाठः। उभावपि पाठावसम्बद्धाविति प्रतीमः ॥

(सुपरिविष्टाः) तथाभूता एव (वयम्) (परिवेष्टारः) परितो व्याप्ताः (भूयास्म) ॥ [अयं मन्त्रः श० ३ । ८ । २ । ३ । व्याख्यातः] ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे कुमार्यो यथापः सद्गुणेषु व्याप्ताः शुद्धा देवीः विदुष्यः सत्स्त्रियो देवेषु सद्विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु + सुपरिविष्टाः कृतब्रह्मचर्याः स्वसमानवरान् स्वीकृतवत्यः, यथा च ते विद्वांसस्ता विदुषीः प्राप्तास्तथा यूयं ❦ [वोढ्वं] प्राप्नुतैवं वयमपि [सुपरिविष्टाः] परिवेष्टारो भूयास्म ॥ १३ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा विदुष्यो विदुषां स्त्रियः पातिव्रत्यधर्मतत्परा भवन्ति, तथा ब्रह्मचारिण्यः कन्यास्तद्गुणस्वभावा भवेयुर्ब्रह्मचारिणश्च* गुरुजनस्वभावाः स्युः, यतः सुशिक्षया स्त्रीपुत्रादिरक्षणशीला भवेयुरिति ॥ १३ ॥

†गृहाश्रम की चाहना करनेवाले ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी को कैसी पत्नी और पति का स्वीकार करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—‡हे कुमारियो ! तुम जैसे (आपः) श्रेष्ठगुणों में रमण करनेवाली (शुद्धाः) सत्कर्मानुष्ठान से पवित्र (देवीः) विद्याप्रकाशवती विदुषी स्त्री जन (देवेषु) श्रेष्ठ विद्वान् पतियों के निमित्त (सुपरिविष्टाः) उनकी सेवा करने को सन्मुख प्रवृत्त होकर अपने समान पतियों को (वोढ्वम्) प्राप्त होती हैं और वे विद्वान् पतिजन उन स्त्रियों को प्राप्त होते हैं, वैसे तुम हो और [(वयम्)] हम भी [(सुपरिविष्टाः) पूर्वोक्त प्रकार] (परिवेष्टारः) उस कर्म की योग्यता को (भूयास्म) पहुंचें [अर्थात् प्राप्त हों] ॥ १३ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे विदुषी अर्थात् विद्वानों की स्त्री पतिव्रतधर्म में तत्पर रहती हैं, वैसे ब्रह्मचारिणी कन्या भी उन के गुण और स्वभाववाली हों और ब्रह्मचारी भी [गुरुजनों के स्वभाववाले हों जिससे] गुरुजनों की शिक्षा से स्त्री और पुत्र आदि की रक्षा करने में तत्पर हों ॥ १३ ॥

१ गृहस्थ दम्पती का ही यज्ञ में अधिकार है, इस लिये आचार्य के समीप समस्त विद्या पढ़ कर ब्रह्मचर्यव्रत का यथावत् पालन करनेवाले ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियां एक दूसरे को कैसे वरें, यह वर्णन करते हैं— ॥ १३ ॥

+ इतोऽग्रे 'स्वपतिषु' इत्यधिकः पाठोऽसम्बद्ध इव प्रतिभाति ॥

❦ इतोऽग्रे 'स्त्रीभावेन अस्मान्' इत्यधिकोऽसम्बद्धश्च पाठोऽजमेरमुद्रिते। गकोशे तु 'सत्यो भवत्यस्तथा···प्राप्नुतैवं' इति पाठः ॥

* 'गुरुजनस्वभावाः स्युः यतः' स्थाने 'गुरुपत्न्यादयस्तु लब्धु' इति गपाठः ॥

† "अब ब्रह्मचारी बालक और ब्रह्मचारिणी कन्याओं को गुरुपत्नियों का कैसे मान करना चाहिये, यह अगले मन्त्र में कहा है" इति पूर्ववदयमप्यसम्बद्धः पाठः ॥

‡ भाषार्थोऽत्र न संस्कृतानुसारी । संस्कृतान्वयभाषापदार्थौ व्यस्तौ स्त इति ध्येयम् ॥

वाचन्त इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। विद्वांसो देवताः। भुरिगार्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

अथ कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया स्वस्वान्तेवासिनः सद्गुणेषु प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते[1]॥

वाचं॑ ते शुन्धामि प्रा॒णं तें॑ शुन्धामि॒ चक्षु॑स्ते शुन्धामि॒ श्रोत्रं॑ ते शुन्धामि॒ नाभिं॑ ते शुन्धामि॒ मेढ्रं॑ ते शुन्धामि पा॒युं तें॑ शुन्धामि च॒रित्राँ॑स्ते शुन्धामि ॥ १४ ॥

वाच॑म्। ते॒। शु॒न्धा॒मि॒। प्रा॒णम्। ते॒। शु॒न्धा॒मि॒। चक्षुः॑। ते॒। शु॒न्धा॒मि॒। श्रोत्र॑म्। ते॒। शु॒न्धा॒मि॒। नाभि॑म्। ते॒। शु॒न्धा॒मि॒। मेढ्र॑म्। ते॒। शु॒न्धा॒मि॒। पा॒युम्। ते॒। शु॒न्धा॒मि॒। च॒रित्रा॑न्। ते॒। शु॒न्धा॒मि॒॥ १४॥

पदार्थः—(वाचम्) वक्त्यनया तां वाणीम् (ते) तव (शुन्धामि) निर्मलीकरोमि (प्राणम्) प्राणिति येन तं जीवनहेतुम् (ते) (शुन्धामि) (चक्षुः) चष्टेऽनेन तन्नेत्रम् (ते) (शुन्धामि) (श्रोत्रम्) शृणोति येन तत् (ते) (शुन्धामि) (नाभिम्) नह्यते बध्यते यया ताम् (ते) (शुन्धामि) (मेढ्रम्) मेहत्यनेन तदुपस्थेन्द्रियम् (ते) (शुन्धामि) (पायुम्) पात्यनेन तं गुह्येन्द्रियम् [(ते)] (शुन्धामि) (चरित्रान्) व्यवहारान् (ते) (शुन्धामि)॥ अयं मन्त्रः शत० ३।८।२।६ व्याख्यातः॥ १४॥

अन्वयः—हे शिष्य! विविधशिक्षाभिस्तेऽहं वाचं शुन्धामि, ते प्राणं शुन्धामि, ते चक्षुः शुन्धामि, ते श्रोत्रं शुन्धामि, ते नाभिं शुन्धामि, ते मेढ्रं शुन्धामि, ते पायुं शुन्धामि, ते चरित्राञ्छुन्धामि॥ १४॥

भावार्थः—गुरुभिर्गुरुपत्नीभिश्च † वेदोपवेदवेदाङ्गोपाङ्गशिक्षया देहेन्द्रियान्तःकरणात्मनः शुद्धिशरीरपुष्टिप्राणसंतुष्टीः प्रदाय सर्वे कुमाराः सर्वाः कन्याश्च सद्गुणेषु प्रवर्त्तयितव्या इति॥ १४॥

अब वे गुरुपत्नी और गुरुजन यथायोग्य शिक्षा से अपने २ विद्यार्थियों को अच्छे २ गुणों में कैसे प्रकाशित करते हैं, यह अगले मन्त्र में कहा है[2]॥

पदार्थः—हे शिष्य! मैं विविधशिक्षाओं से (ते) तेरी (वाचम्) जिससे बोलता है, उस वाणी को (शुन्धामि) शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूँ। [(ते) तेरे (प्राणम्) जिससे जीते हैं उस जीवन हेतु

---

१ पूर्वोक्तवेदाध्ययनब्रह्मचर्यपालनादौ विविधगुणग्रामावाप्तौ च शिक्षका एव कारणमित्यत आह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्राणम्) प्रपूर्वादनितेः हलश्च (अ० ३।३।१२१) इति घञ्। थाथघञ्क्ताज० (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम्॥

(मेढ्रम्) दाम्नीशसयुयुज० (अ० ३।२।१८२) इति ष्ट्रन्। नित्वादाद्युदात्तत्वम्।

(पायुम्) कृवापाजिमि० (उ० १।१) इत्युण्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(चरित्रान्) अर्त्तिलूधूसू० (अ० ३।२।१८४) इति इत्रः। प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

२ पूर्वोक्त वेदाध्ययन तथा ब्रह्मचर्यपालन आदि में और विविधगुणसमूह की प्राप्ति में शिक्षक ही कारण हैं, इसलिये कहते हैं—॥ १४॥

† वेदाः—ऋग्यजुःसामाथर्वाणः। उपवेदाः—अर्थवेदधनुर्वेदगान्धर्ववेदायुर्वेदाः। वेदाङ्गानि—शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। उपाङ्गानि—मीमांसावैशेषिकन्यायपातञ्जलसाङ्ख्यवेदान्ताः [इति ऋषिदयानन्दः]॥

प्राण को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूँ] (ते) तेरे (चक्षुः) जिस से देखता है, उस नेत्र को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूँ। {} (ते) तेरे (श्रोत्रम्) जिनसे सुनते हैं उन कानों को (शुन्धामि) शुद्ध करता हूँ (ते) तेरी (नाभिम्) जिस से नाड़ी आदि † बन्धे होते हैं उस नाभि को (शुन्धामि) पवित्र करता हूँ। (ते) तेरे (मेढ्रम्) जिस से मूत्रोत्सर्गादि किये जाते हैं, उस लिङ्ग को (शुन्धामि) पवित्र करता हूँ। (ते) तेरे (पायुम्) जिस से रक्षा की जाती है, उस गुदेन्द्रिय को (शुन्धामि) पवित्र करता हूँ। [(ते) तेरे] (चरित्रान्) समस्त व्यवहारों को (शुन्धामि) पवित्र शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूँ, तथा गुरुपत्नीपक्ष में सर्वत्र करती हूँ, यह योजना करनी चाहिये ॥ १४ ॥

भावार्थः—गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिये कि वेद और उपवेद तथा वेद के अङ्ग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह इन्द्रिय अन्तःकरण [आत्मा] और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे २ गुणों में प्रवृत्त करावें ॥ १४ ॥

मनस्त इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विद्वांसो देवताः । × भुरिगार्ची त्रिष्टुप् छन्दः [धैवतः स्वरः ।

यत्ते क्रूरमित्यस्यार्षीपङ्क्तिश्छन्दः ।] पञ्चमः स्वरः ॥

पुनरुक्तोऽर्थः प्रकारान्तरेण प्रकाश्यते[1] ॥

मनस्त ऽ आप्यायतां वाक् त ऽ आप्यायतां प्राणस्त ऽ आप्यायतां चक्षुस्त ऽ आप्यायताꣳ श्रोत्रं त ऽ आप्यायताम् । यत् ते क्रूरं यदास्थितं तत् त ऽ आप्यायतां निष्ट्यायतां तत् ते शुध्यतु शमहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥ १५ ॥

मनः । ते । * आ । प्यायताम् । वाक् । ते । * आ । प्यायताम् । प्राणः । ते । * आ । प्यायताम् । चक्षुः । ते । * आ । प्यायताम् । श्रोत्रम् । ते । * आ । प्यायताम् ॥ यत् । ते । क्रूरम् । यत् । आस्थितमित्याऽस्थितम् । तत् । ते । आ । प्यायताम् । निः । + स्त्यायताम् । तत् । ते । शुध्यतु । शम् । अहोभ्य ‡ इत्यहःऽभ्यः ॥ ओषधे । त्रायस्व । स्वधित इति ‡ स्वऽधिते । मा । एनम् । हिꣳसीः ॥ १५ ॥

पदार्थः—(मनः) संकल्पविकल्पात्मकम् (ते) तव (आ) (प्यायताम्) सत्कर्म्मानुष्ठानेन वर्द्धताम् (वाक्) (ते) (आ) (प्यायताम्) (प्राणः) (ते) (आप्यायताम्) [(चक्षुः) (ते)

[1] पूर्वोक्तमेव प्रकारान्तरेण द्रढयति—

{} "(ते)······शुद्ध करता हूँ" इति पाठो हस्तलेख उपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते प्रमादात् त्यक्त इति दिक् ॥
† 'बान्धे जाते हैं' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
× 'निचृदार्षी' इति अ० मुद्रिते गकोशे च पाठः ॥
* सर्वत्र 'आप्यायताम्' इत्येकपदत्वेन मुद्रणमजमेरमुद्रिते ॥
+ पदपाठे संस्कृतपदार्थे च 'स्यायताम्' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
‡ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

(आप्यायताम्)] (श्रोत्रम्) (ते) (आप्यायताम्) (यत्) (ते) तव (क्रूरम्) दुश्चरित्रम् (यत्) (आस्थितम्) निश्चितम् (तत्) (ते) (आप्यायताम्) (निः) पृथगर्थे । (स्त्यायताम्) संहन्यताम् [(तत्)] (ते) (शुध्यतु) (शम्) सुखम् (अहोभ्यः) कालविशेषेभ्यः (ओषधे) ओषो विज्ञानं धीयते यस्मिँस्तत्संबुद्धौ, अत्र ओष गतावित्यस्माद् [अच्], गतिरत्र विज्ञानं गृह्यते (त्रायस्व) (स्वधिते) स्वेष्वात्मीयेषु धितिः पोषणं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ (मा) निषेधे (एनम्) पूर्वोक्तम् (हिंसीः) कुशिक्षया लालनेन वा मा विनाशयेः ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे शिष्य ! मदीयशिक्षणेन ते तव मन आप्यायताम्, [ते वाग् आप्यायताम्], ते प्राण आप्यायताम्, ते चक्षुराप्यायताम्, ते श्रोत्रमाप्यायताम्, ते यत्क्रूरं दुश्चरित्रं तत् निष्ट्यायतां दूरीगच्छतु, यत् ते तवास्थितं निश्चितं तदाप्यायताम्, इत्थं ते सर्वं शुध्यतु, अहोभ्यो दिनेभ्यस्तुभ्यं शमस्तु । अथ स्वस्वामिनि शिष्यलालनापरं गुरुपत्नीवाक्यम्—हे ओषधे विज्ञानवराध्यापक त्वमेनं शिष्यं त्रायस्व मा हिंसीः । † स च स्वपत्नीं प्रत्याह—हे स्वधितेऽध्यापिके स्त्रि ! त्वमेनां त्रायस्व मा हिंसीश्च ॥ १५ ॥

भावार्थः—सत्कर्म्मानुष्ठानेन सर्वस्योन्नतिर्भवत्यतः सर्वैर्मनुष्यैर्गुरुशिक्षया समस्तसत्कर्म्मानुष्ठेयम्, ❀ गुरवो गुणग्रहणायैव शिष्याणां ताडनं विदधति + ततस्तेषामिदमभ्युदयनिःश्रेयसकारि जायत एवेति बोध्यम् । दम्पती परस्परमेवमुपदिशेताम् । हे पते ! भवानयं शिष्यो यथा सद्यो विद्वान् स्यात्तथा × प्रयतताम्, हे धर्मपत्नि ! भवती यथेयं कन्या तूर्णं विदुषी भवेत्तथा ‡ विदधातु ॥ १५ ॥

फिर भी प्रकारान्तर से अगले मन्त्र में उक्त अर्थ का प्रकाश किया है[3] ॥

पदार्थः—हे शिष्य ! मेरी शिक्षा से (ते) तेरा (मनः) [सङ्कल्पविकल्पात्मक] मन (आप्यायताम्) [सत्कर्म के अनुष्ठान से] पर्य्याप्त गुणयुक्त हो, [(ते) तेरी (वाक्) वाणी (आप्यायताम्) उन्नत हो], (ते) तेरा (प्राणः) प्राण (आप्यायताम्) बलादिगुण युक्त हो, (ते) तेरी (चक्षुः) (आप्यायताम्) निर्मल दृष्टि हो, (ते) तेरे (श्रोत्रम्) कर्ण (आप्यायताम्) सद्‌गुण व्याप्त हों, (ते) तेरा (यत्) जो (क्रूरम्) दुष्ट व्यवहार है [(तत्)] वह (निः) (स्त्यायताम्) दूर हो, और (यत्) जो (ते) तेरा (आस्थितम्) निश्चय है

---

१ पदकारास्त्वत्र नावगृह्णन्ति । शतपथानुसारं त्ववग्रहेण भवितव्यम् । 'पदकारा एवावग्रहे प्रमाणम्' इति नैष शास्त्रसिद्धान्त इत्यनेनावगन्तुं शक्यते ॥

२ कथमिति विस्तरशस्तु पृ० १० द्रष्टव्यम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आस्थितम्) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ यद्वा कर्त्तरि भावे वा क्ते सति प्रादिसमासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

(शम्) निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्युदात्तः ॥

अन्यत् सर्वं पूर्वं व्याख्यातम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ पूर्वोक्त अर्थ की ही प्रकारान्तर से पुष्टि करते हैं—॥ १५ ॥

---

† 'स च' इति ग कोशे नास्ति ॥
+ 'तथापि तेषां' इति ग. पाठः ॥
‡ 'विधेहीति' इति ग. पाठः ॥
❀ 'यद्यपि गुरवो' इति ग. पाठः ॥
× 'प्रयतस्व' इति ग. पाठः ॥

[(तत्)] वह (आप्यायताम्) पूरा हो, इस प्रकार से (ते) तेरा समस्त व्यवहार (शुध्यतु) शुद्ध हो, और (अहोभ्यः) प्रतिदिन तेरे लिये (शम्) सुख हो। [अब शिष्य का लालन करनेवाले अध्यापक के प्रति गुरुपत्नी कहती है कि] हे (ओषधे) प्रवर अध्यापक ! आप (एनम्) इस शिष्य की (त्रायस्व) रक्षा कीजिये और (मा हिंसीः) व्यर्थ ताड़ना मत कीजिये। [इसी प्रकार गुरु अपनी धर्मपत्नी से कहता है कि] हे (स्वधिते) प्रशस्ताध्यापिके तू इस कुमारिका शिष्या की रक्षा कर और इस को अयोग्य ताड़ना मत दे ॥ १५ ॥

भावार्थः—सत्कर्म करने से सब की उन्नति होती है, इस से सब मनुष्यों को चाहिये कि सुशिक्षा पाकर समस्त सत्कर्मों का अनुष्ठान करें। इसी से अध्यापक जन गुणग्रहण कराने ही के लिये शिष्यों को ताड़ना देते हैं, वह उनकी ताड़ना अत्यन्त सुख की करनेवाली होती है [ऐसा जानना चाहिये]। स्त्री और पुरुष इस प्रकार उपदेश करें कि हे सर्वोत्तम अध्यापक ! यह आप का विद्यार्थी जैसे शीघ्र विद्वान् हो जाय, वैसा प्रयत्न कीजिये। हे प्रिये ! यह कन्या जिस प्रकार अतिशीघ्र विद्यायुक्त हो, वैसा काम कर ॥ १५ ॥

रक्षसां भाग इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ देवते। [उभयोर्भागयोः] ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

अथ शिष्यवर्गेषु यथायोग्योपदेशकरणमाह[1] ॥

रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳ रक्षऽइदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳ रक्षोऽधमं तमो नयामि। घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृते ऽऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम् ॥ १६ ॥

रक्षसाम्। भागः। असि। निरस्तमिति निःऽअस्तम्। रक्षः। इदम्। अहम्। रक्षः। अभि। तिष्ठामि। इदम्। अहम्। रक्षः। *अव। बाधे। इदम्। अहम्। रक्षः। अधमम्। तमः। नयामि॥ घृतेन। द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी। प्र। ऊर्णुवाथाम्। वायोऽइति वायो। वेः। स्तोकानाम्। अग्निः। आज्यस्य। वेतु। स्वाहा। स्वाहाकृतेऽइति† स्वाहाऽकृते। ऊर्ध्वनभसमित्यूर्ध्वऽनभसम्†। मारुतम्। गच्छतम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(रक्षसाम्) रक्षन्ति परार्थहननेन स्वार्थमिति रक्षांसि तेषाम् (भागः) सेवनीयः (असि) (निरस्तम्) निःसृतम् (रक्षः) सर्वतः स्वार्थरक्षकः परार्थहन्ता (इदम्) (अहम्) (रक्षः) (अभि)‡ सम्मुखे (तिष्ठामि) (इदम्) (अहम्) (रक्षः) रक्षति सर्वतः स्वार्थनिमित्तीभूतं कर्म (अव) अर्वागर्थे (बाधे) नाशयामि (इदम्) (अहम्) (रक्षः) (अधमम्) नीचं (तमः) अन्धकारम् (नयामि) प्रापयामि (घृतेन) जलेन (द्यावापृथिवी) भूमिप्रकाशौ (प्र) प्रकृष्टार्थे (ऊर्णुवाथाम्) आच्छादयताम् (वायो[2]) वाति जानाति सूचयति सदसत्पदार्थानिति वा

१ शिष्याणामनेकविधत्वात्, असमानबुद्धित्वाच्च कथं ते शिक्षणीया इत्याशङ्कायामाह—

२ वा गतिगन्धनयोः। गतिः = ज्ञानम्, गन्धनं = सूचनमित्यर्थः ॥

* 'अवबाधे' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

‡ 'सन्मुखे' इति अ. मु. गकोशे च पाठः ॥

† अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ।

वायुस्तत्सम्बुद्धौ (वेः) विद्धि, अत्र लोडर्थे लङ् (स्तोकानाम्) स्वल्पानाम्, शेषविवक्षातः कर्मणि षष्ठी (अग्निः) सर्वविद्याप्राप्तो विद्वान् (आज्यस्य) स्नेहद्रव्यस्य [पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी (वेतु) (स्वाहा)] (स्वाहाकृते) सत्यवाचामुपगते व्यवहारे + (ऊर्ध्वनभसम्) ऊर्ध्वं नभो जलं यस्मात् तम् (मारुतम्) (गच्छतम्) ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे दुष्टकर्मकारिन् ! त्वं रक्षसां भागोऽस्यतो रक्षो निरस्तं भव, अहं इदं रक्षोऽभितिष्ठामि तिरस्करणाय ॐ तत्सम्मुखमुपविशामि, न केवलमभितिष्ठामि किन्तु, अहमिदं रक्षो दुष्टस्वभाविनमववाधेऽर्वाचीनो यथा स्यात् तथा हन्मि, यतो न पुन.† सम्मुखीभूयादिति भावः । अहमिदं रक्षोऽधमं तमो नयामि दुःसहदुःखं प्रापयामि च । [अथ श्रेष्ठगुणग्राहिणं शिष्यमुपदिशति—] हे वायो गुणग्राहक सदसद्विवेचनशील शिष्य ! त्वं स्तोकानां स्तोकान् सूक्ष्मेभ्योपि सूक्ष्मव्यवहारान् वेः विद्धि, त्वद्यज्ञशोधितेन घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथाम् आच्छादयेताम् । ‡अग्निः समस्तविद्यापन्नो विद्वाँस्तदाज्यस्य स्नेहद्रव्यं स्वाहा +वेतु जानातु, तथा स्वाहाकृते पूर्वोक्ते द्यावापृथिव्यौ ऊर्ध्वनभसं त्वद्यज्ञशोधितजलमूर्ध्वप्रापकं मारुतं गच्छतम् प्राप्नुतम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—बुद्धिमन्तः सदसद्विवेचका विद्वांसः शिष्येषु यथायोग्यशिक्षणमनुविदधति, यज्ञकर्मणा जलवायुशुद्ध्या वृष्टिर्भवति, वृष्ट्यैव सर्वप्राणिभ्यः सुखं सम्पद्यते ॥ १६ ॥

---

१ (i) ईडे अग्निं विपश्चितं गिरा यज्ञस्य साधनम् (ऋ० ३ । २७ । २) अस्मिन् मन्त्रे विपश्चितम् अग्निम् इति दर्शनात् ॥

(ii) अग्निर्वै महान् । जै० उ० ३ । ४ । ७ ॥

(iii) एष वै देवाननु विद्वान् यदग्निः स एवाननुविद्वाननुष्ठ्या यक्षदित्येवैतदाह ॥ शत० १। ५ । १ । ६ ।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(निरस्तम्) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(अभि) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इत्युपसर्गाद्युदात्तत्वस्थानेऽन्तोदात्तत्वम् ॥

(तिष्ठामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अव. बाधे) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति तिङनुदात्तः । उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अधमम्) अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते (उ० ५ । ५४) इति अवतेः 'अमच्' प्रत्ययः । वस्य धः, चित्वादन्तोदात्तः । 'अम' इति केचित्, तथा सति निपातनादन्तोदात्तत्वम् ॥

(तमः) ताम्यतेरसुन् प्रत्ययः, नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(वायो) भिन्नवाक्यत्वान्निघाताभावे षाष्ठिकस्वरः । सम्बुद्धौ शाकल्यस्येति प्रगृह्यसंज्ञा ॥

(स्तोकानाम्) स्तौतेः कृदाधाराचिकलिभ्यः कः (उ० ३ । ४०) इति बाहुलकात् कः, प्रत्ययस्वरः । भोजस्तु—कुतुस्तूयिकृदा० (उ० २ । २ । ४) इति व्यक्तमेवाह ॥

(ऊर्ध्वनभसम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । ऊर्ध्वशब्दः पूर्वं (य० २ । ८ पृ० १७५) व्याख्यातः ॥

(मारुतम्) मरुद् एव मारुतम्, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण् । प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

+ पाठोऽयमन्वयेन सहानन्वित इव प्रतिभाति ॥

ॐ 'तत्सम्मुख०' इत्यजमेरमुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥

‡ 'अयमग्निः' इति ग. पाठः ॥

† 'सन्मुखी०' इत्यजमेरमुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥

+ अजमेरमुद्रिते 'वेत्तु' इत्यपपाठः ॥

अब शिष्यवर्गों[1] में से प्रति शिष्य को यथायोग्य उपदेश करना अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे दुष्टकर्म करनेवाले जन ! तू (रक्षसाम्) दुष्टों अर्थात् परार्थ नाशकर अपना अभीष्ट करनेवालों का (भागः) भाग (असि) है, इस कारण (रक्षः) राक्षस-स्वभावी तू (निरस्तम्) निकल जा, (अहम्) मैं (इदम्) ऐसे (रक्षः) स्वार्थसाधक को (अभितिष्ठामि) तिरस्कार करने के लिये सम्मुख होता हूँ, और केवल सम्मुख ही नहीं किन्तु (अहम्) मैं (इदम्) ऐसे (रक्षः) दुष्ट जन को (अव) (बाधे) अत्यन्त तिरस्कार के साथ पीटता हूँ, जिस से वह फिर सामने न हो । और (अहम्) मैं (इदम्) ऐसे (रक्षः) दुष्टजन को (अधमम्) दुःसह [(तमः)] दुःख को (नयामि) पहुंचाता हूँ । अब श्रेष्ठ गुणग्राही शिष्य के लिये उपदेश है—हे (वायो) गुणग्राहक ! सत् असत् व्यवहार की विवेचना करनेवाला तू (स्तोकानाम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यवहारों को (वेः) जान, और तेरे यज्ञशोधित [(घृतेन)] जल से (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (प्रोर्णुवाथाम्) अच्छे [प्रकार] आच्छादित हों (अग्निः) समस्त विद्यायुक्त विद्वान् तेरे [(आज्यस्य)] घृत आदि पदार्थ के (स्वाहा) अच्छे होम किये हुए को (वेतु) जाने तथा (स्वाहाकृते) हवन किये हुए स्नेहद्रव्य को प्राप्त पूर्वोक्त जो सूर्य और भूमि हैं, वे (ऊर्ध्वनभसम्) तेरे यज्ञ से शुद्ध हुए जल को ऊपर पहुंचानेवाले (मारुतम्) पवन को (गच्छतम्) प्राप्त हों ॥ १६ ॥

भावार्थः—बुद्धिमान् श्रेष्ठ और अनिष्ट के विवेक करनेवाले विद्वान् लोग अपने शिष्यों में यथायोग्य शिक्षाविधान करते हैं । यज्ञ कर्म से जल और पवन की शुद्धि, उसकी शुद्धि से वर्षा और उस से सब प्राणियों को सुख उत्पन्न होता है ॥ १६ ॥

इदमाप इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आपो देवताः । निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

❀ *स्वकल्याणमभीप्सुभिः शिष्यैराचार्याः कथं प्रार्थनीया इत्युपदिश्यते[2] ॥*

इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत् । यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे ऽअभीरुणम् ।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु ॥ १७ ॥

इदम् । आपः । प्र । वहत । अवद्यम् । च । मलम् । च । यत् ॥ यत् । च । अभिदुद्रोहेत्यभिऽदुद्रोह † । अनृतम् । यत् । च । शेपे । अभीरुणम् ॥ आपः । मा । तस्मात् । एनसः । पवमानः । च । मुञ्चतु ॥ १७ ॥

पदार्थः—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (आपः) आप्नुवन्तीत्यापः (प्र) (वहत) अत्र लडर्थे लोट् (अवद्यम्) निन्द्यम् (च) ‡ विकारसमुच्चये (मलम्) अशुद्धिकरम् (च) प्रकृतिविरुद्धग्रहणे (+यत्) (यत्) (च) लोकविक्रुष्टसमुच्चये (अभिदुद्रोह) यथाभिद्रुह्यति तथा (अनृतम्) असत्यम्

१ शिष्य अनेक प्रकार के होते हैं, और सब की बुद्धि भी समान नहीं होती, इस लिये उनको कैसे शिक्षित करना चाहिये, यह बताते हैं—॥ १६ ॥

२ आचार्याणां शिक्षामन्तरा शिष्या न कायिकात्मिकमलान्यपहर्त्तुमुन्नतिपथमधिरोढुं च समर्था इत्यत आह—

❀ 'शुद्धेन जलेन किं भावनीयमित्युपदिश्यते' इति अ० मुद्रिते मन्त्रार्थेनानन्वितः पाठः ॥
† 'त्यभिदुद्रोह' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ ‡ 'विकारिसमुच्चये' इति अ. मु. ग. कोशे च पाठः ॥
+ इदं पदमजमेरमुद्रिते कोशे च '(च) प्रकृतिविरुद्धग्रहणे' इत्यस्मात् पूर्वमासीत्, तन्मन्त्रक्रमविरोधादुचिते स्थाने नीतम् ॥

(यत्) (च) परुषवचःसमुच्चये (शेपे) आक्रुश्यामि [] (अभीरुणम्) निर्भयम् (आपः) (मा) माम् (तस्मात्) (एनसः) धर्मविरुद्धाचरणात् (पवमानः) पवित्रीकरो व्यवहारः (च) शुद्धोपदेशसमुच्चये (मुञ्चतु) पृथक् करोतु ॥ १७ ॥

अन्वयः[२]—[भो] आपः सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितो यूयं यथापः शुद्धिकरास्तथा मम यदवद्यं-निन्द्यं कर्म यच्च मलमविद्यारूपं तदिदं प्रवहत अपनयत च-पुनः यदहमनृतं कं च [अभि] दुद्रोह च यत् अभीरुणं निरपराधिनं पुरुषं शेपे तस्मात् पूर्वोक्तादेनसः मा मां पृथक् * रक्षत, यथा पवमानो मालिन्यान्मां सद्यो दूरीकरोति, तथा 8चान्यानपि मुञ्चतु पृथक् करोतु ॥ १७ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः () ॥

भावार्थः—†विद्वान् जलमिव सांसारिकपदार्थानां शोधको भूत्वा धर्म्यं †कर्माचरेत्। मनुष्यैरीश्वरप्रार्थनया दुष्टाचारात् पृथग् भूत्वा निर्मलेषु विद्यादिग्रहणकर्मसु सदा प्रवर्त्तितव्यमिति ॥ १७ ॥

---

१ आपो वै सर्वे देवाः । श० १० । ५ । ४ । १४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मलम्) मृजेष्टिलोपश्च (उ० १ । ११०) इति कलप्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अभिदुद्रोह) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः । उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति समासः । तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति गतिरनुदात्तः । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वम् ॥

(शेपे) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः । शप उपलम्भने (अ० १ । ३ । २१ भा० वा०) इत्यात्मनेपदम् ॥

(अभीरुणम्) विनाऽपि भावप्रत्ययेन भावार्थो गम्यते (द्र० महाभा० अ० १ । ४ । २७) इति नियमेन भीरुशब्देन भीरुता लक्ष्यते, सा नास्त्यस्मिन् इति बहुव्रीहौ नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् । ततो द्वितीयैकवचने छान्दसो नुमागमः ॥

महीधरादिभिः 'बिभेतीति भीरुः, न भीरुः, अभीरुः, तमभीरुणमनपराधिनम् इत्युक्तम् । तदयुक्तम् । तथा सति तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्रसक्तेः ।

अथर्ववेदे 'अभीरुणम्' इति पूर्वपदान्तोदात्तो दृश्यते तत्र, सायणस्यायमर्थः—

"उत्तमर्णाय देयं वस्तु 'ऋणम्' इत्युच्यते । तद् ऋणमभिप्राप्य इति (अथ० ७ । ९४ । ३ भा०) ॥

अस्य सिद्धिः—कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इति पर्युदासात् प्रातिपदिकस्वरेणाभिरन्तोदात्तः । अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६ । ३ । १३७) इति दीर्घत्वम् ॥

(पवमानः) पूङ्यजोः शानन् (अ० ३ । २ । १२८) इति शानन्, सार्वधातुकत्वात् शप् । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अव्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ॥

[] दिवादेराकृतिगणत्वात्तत्रापि 'क्रुश' द्रष्टव्यः ॥ * 'रक्षन्तु' इति अ. मु. ग. कोशे चापपाठः ॥

8 'च' इति अ. मु. नास्ति । ग कोशे तु 'तथा चादन्यानपि' इति पाठः ॥

() इतोऽग्रे 'उपमालङ्कारश्च' इति अ. मुद्रिते पाठः । 'अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारौ' इति ग. पाठः ॥

† 'विद्वांसो जल..............कर्माचरेयुः' इति ग. पाठः ॥

अपने कल्याण की कामना करनेवाले शिष्यों को आचार्यों से किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] † ॥

पदार्थः—भो (आपः) सर्वविद्याव्यापक विद्वान् लोगो ! आप जैसे (आपः) जल शुद्धि करते हैं, वैसे मेरा जो (अवद्यम्) अकथनीय निन्द्यकर्म (च) और विकार तथा (यत्) जो (मलम्) अविद्यारूपी मल है, (इदम्) इस को (प्रवहत) बहाइये अर्थात् दूर कीजिये, (च) और (यत्) जो मैं (अनृतम्) झूठ मूठ किसी से ([अभि] दुद्रोह) द्रोह करता होऊँ, (च) और (यत्) जो (अभीरुणम्) निर्भय निरपराधी पुरुष को (शेपे) उलहने देता हूँ, (तस्मात्) उस उक्त (एनसः) पाप से (मा) मुझे अलग रक्खो [(च)] और जैसे (पवमानः) पवित्र [करनेवाला] व्यवहार मुझ को पाप व्यवहार से [(मुञ्चतु)] अलग रखता है, वैसे (च) अन्य मनुष्यों को भी रक्खे ॥ १७ ॥

[इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—जैसे जल सांसारिक पदार्थों का शुद्धि का निदान है, वैसे विद्वान् लोग सुधार का निदान हैं, इस से वे अच्छे कामों को करें । मनुष्यों को चाहिए कि ईश्वर की उपासना और विद्वानों के संग से दुष्टाचरणों को छोड़ सदा धर्म में प्रवृत्त रहें ॥ १७ ॥

सन्त इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता । प्राजापत्यानुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥ रेडसीत्यस्य दैवीपङ्क्तिश्छन्दः [श्रीणात्वित्यस्यार्चीपङ्क्तिश्छन्दः] पञ्चमः स्वरः ॥

अथ रणे योद्धा कीदृग्भवेदित्युपदिश्यते[2] ॥

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् । रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऽ ऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः ॥ १८ ॥

सम् । ते । मनः । मनसा । सम् । प्राणः । प्राणेन । गच्छताम् ॥ रेट् । असि । अग्निः । त्वा । श्रीणातु । आपः । त्वा । सम् । अरिणन् । वातस्य । त्वा । ध्राज्यै । पूष्णः । रंह्यै । ऊष्मणः । व्यथिषत् । प्रयुतमिति ‡ प्रऽयुतम् । द्वेषः ॥ १८ ॥

पदार्थः—(सम्) (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (मनसा) विज्ञानेन (सम्) (प्राणः) (प्राणेन) बलेन (गच्छताम्) (रेट्) शत्रुहिंसकः । अत्र रिषतेर्हिंसार्थात् कर्त्तरि विच् [(असि)] (अग्निः) युद्धजन्यक्रोधाग्निः (त्वा) त्वाम् (श्रीणातु) परिपचतु (आपः) जलानि (▯ त्वा)

१ आचार्यों की शिक्षा के बिना शिष्यों के शारीरिक एवं आत्मिक मल नष्ट नहीं हो सकते, और न वे उन्नतिपथ पर आरूढ़ हो सकते हैं, इसलिये कहते हैं—॥ १७ ॥

२ प्रथमावस्थायां ब्रह्मचर्याश्रमस्य शक्तिसञ्चयहेतुत्वात्, शक्तेश्च सर्वविधकार्यकारित्वात्, तत्प्राप्त्यै च प्राणायामस्यात्यावश्यकत्वात् प्राणानां माहात्म्यं वर्णयितुं युद्धं वर्णयति—

† "अब निर्दोष जल से क्या सम्भावना करनी चाहिये, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है" इति अ० मुद्रिते पूर्ववत् पाठः ॥

‡ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठो ऽजमेरमुद्रिते ॥

▯ '(त्वा) त्वाम्' अयं पाठोऽजमेरमुद्रिते कोशे च '(आपः) जलानि' इत्यस्मात् पूर्वमासीत्, स मन्त्रक्रमविरोधादुचिते स्थाने नीतः ॥

त्वाम् (सम्) (अरिणन्[1]) प्राप्नुवन्तु, रिणातीति गतिकर्मसु पठितम् निघ० २।१४ (वातस्य) वायोः [(त्वा)] (ध्राज्यै) गत्यै। अत्र गत्यर्थाद् ध्रजधातोः इञ् वपादिभ्यः [अ० ३।३।१०८ मा० वा०] इतीञ् प्रत्ययः (पूष्णः) पोषकस्यादित्यस्य (रंह्यै) गत्यै (ऊष्मणः) आतपात् (व्यथिषत्[2]) व्यथते (प्रयुतम्) एतत्संख्याकम् (द्वेषः) द्वेष्टि येन सः॥ अयं मन्त्रः शत० ३।८।३।५-३१ व्याख्यातः॥ १८॥

अन्वयः—हे योद्धः! संग्रामे ते मनो मनसा प्राणः प्राणेन च संगच्छताम्। हे वीर! त्वं रेडसि त्वा त्वामभियुद्धजन्यक्रोधाग्निः श्रीणातु, त्वं प्रयुतं शत्रुसैन्यं प्राप्य ‡ तज्जन्यादूष्मणो द्वेषो [त्वा त्वां] मा [सम्] व्यथिषत् वातस्य ध्राज्यै वातस्य गतिरिव युद्धकर्म्मणि गत्यै यद्वा पूष्णो रंह्यै सूर्यस्य गतिरिव युद्धभूमिषु गत्यै, यथार्थतया युद्धकर्मणि प्रवृत्त्यै आपः [त्वा त्वां] समरिणन्॥ १८॥

भावार्थः—मनुष्यैः संग्रामे मनः समाधाय स्वबलवर्द्धकान्नपानशस्त्रादिपदार्थान् संपाद्य शत्रून् निहत्य संग्रामो विजेतव्य इति॥ १८॥

अब रण में युद्ध करनेवाला शिष्य कैसा हो, यह अगले मन्त्र में कहा है[3]॥

पदार्थः—हे युद्धशील शूरवीर! संग्राम में (ते) तेरा (मनः) मन (मनसा) विचारबल और (प्राणः) प्राण (प्राणेन) प्राण के साथ (सम्) (गच्छताम्) संगत हो, हे वीर! तू (रेट्) शत्रुओं को मारनेवाला (असि) है, (त्वा) तुझे (अग्निः) युद्ध से उत्पन्न हुए क्रोध का अग्नि (श्रीणातु) सुदृढ़ करे† तू (प्रयुतम्) करोड़ों प्रकार के शत्रुओं की सेना को प्राप्त होता है [(त्वा)] तुझ को तज्जन्य (ऊष्मणः) गर्मी का (द्वेषः) द्वेष मत ([सम्] व्यथिषत्) अत्यन्त पीड़ायुक्त करे, जिस से (वातस्य) (ध्राज्यै) पवन की गति के तुल्य गति के लिये वा (पूष्णः) पुष्टिकारक सूर्य के (रंह्यै) वेग के तुल्य वेग के लिये अर्थात् यथार्थता से युद्ध करने में प्रवृत्ति होने के लिये (आपः) अच्छे २ जल [(त्वा) तुझको] (सम्) (अरिणन्) अच्छे प्रकार प्राप्त हों॥ १८॥

१ 'री गतिरेषणयोः' (क्र्या० पर०), प्वादिह्रस्वत्वम्। यद्वा 'रिणाति' गतिकर्मेति (निघ० २।१४) गतिकर्मसु॥

२ 'व्यथ भयसञ्चलनयोः' (भ्वा० आ०) लेटि सिपि रूपमिति॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रेट्) विचि धातुस्वरेणोदात्तः॥
(ध्राज्यै) नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥
(रंह्यै) रंहधातोः पूर्ववदिञ् स्वरश्च॥
(ऊष्मणः) उषिकुषिह्वृषिभ्यः० (श्वे० उ० ४। १५७) इति मनिन्। बाहुलकाद् दीर्घो नित्स्वराभावश्च। भोजस्तु—व्योमन्रोमन्० (उ० २।१। २८९) इत्यत्र 'ऊष्मन्' इत्यपि निपातयति। तत्रोभयमपि निपातनात् सिद्धम्॥

(प्रयुतम्) गतिरनन्तरः (अ० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥
(द्वेषः) घञि नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

३ प्रथम आयु में ब्रह्मचर्याश्रम शक्तिसंग्रह के लिये होता है, और शक्ति से ही सब प्रकार के कार्य किये जाते हैं, उस की प्राप्ति के लिये प्राणायाम अत्यन्त आवश्यक है, इसलिये प्राणों की महत्ता वर्णन करने के लिये युद्ध का वर्णन करते हैं—॥ १८॥

‡ अत्र व्यस्तः पाठः। 'प्राप्य' इत्यस्य स्थाने 'प्राप्नोति' इति स्यात्। यथा च भाषापदार्थे॥
† 'अच्छे पचावे' इति तु अ० मुद्रिते पाठः॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अपने बल के बढ़ानेवाले अन्न, जल और शस्त्र-अस्त्र आदि पदार्थों को इकट्ठा करके शत्रुओं को मारकर संग्राम जीतें ॥ १८ ॥

घृतं घृतपावान इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्तत्र किं भवितुमर्हतीत्युपदिश्यते[1] ॥

घृतं घृतपावानः पिबत् वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा ।
दिशः प्रदिश ऽ आदिशो विदिश ऽ उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥ १९ ॥

घृतम् । घृतपावान इति * घृतऽपावानः । पिबत । वसाम् । वसापावान इति * वसाऽपावानः । पिबत । अन्तरिक्षस्य । हविः । असि । स्वाहा ॥ दिशः । प्रदिश इति * प्रऽदिशः । आदिश इत्या*ऽदिशः । विदिश इति * विऽदिशः । उद्दिश इत्युत्*ऽदिशः । दिग्भ्य इति * दिक्ऽभ्यः । स्वाहा ॥ १९ ॥

पदार्थः—(घृतम्) उदकम् । घृतमित्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । (घृतपावानः) उदकपा वीराः (पिबत) (वसाम्) वीररसनीतिम्[2] (वसापावानः) वसां निवासं पान्ति ते (पिबत) (अन्तरिक्षस्य) आकाशस्य (हविः) [हूयते] आदीयत इति (असि) (स्वाहा) युद्धानुकूलां शोभनां वाचम् (दिशः) पूर्वाद्याः (प्रदिशः) अभ्यन्तरदिशः (आदिशः) आभिमुख्यदिशः (विदिशः) विरुद्धदिशः (उद्दिशः) या उद्दिश्यन्ते ताः (दिग्भ्यः) पूर्वप्रतिपादिताभ्यः सर्वाभ्यः (स्वाहा) तत्तत्स्थानानुकूलां शोभनां वाचम् । [युद्धानुरूपया क्रियया वा] ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ८ । ३ । ३२ ३६ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे घृतपावानो वीरा यूयं घृतं पिबत, हे वसापावानो यूयं वसां पिबत, हे सेनाध्यक्ष चक्रव्यूहादिसेनारचक त्वं प्रतिवीरमन्तरिक्षस्य हविरसीति स्वाहा शोभनया वाचा सर्वान् वीरान् या दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशश्च सन्ति, ताभ्यः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सर्वाः सेना विभज्य शत्रून् विजयध्वम् ॥ १९ ॥

भावार्थः—सेनाध्यक्षाणामुचितमस्ति स्वसेनास्थान् वीरान् शरीरबलयुक्तान् युद्धविद्यासुशिक्षितान् सम्पाद्य युद्धे सर्वासु दिक्षु यथायोग्यान् स्वसेनाभागान् संस्थाप्य सर्वतः शत्रूनावृत्य विजित्य च [ते] न्यायेन प्रजां पालयेयुरिति ॥ १९ ॥

---

१ पुनस्तदेवाह—

२ वासनहेतुत्वाद् 'वसा' वीररसनीतिरत्र ग्राह्या ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(घृतपावानः, वसापावानः) घृते वसायां चोपपदे यथासंख्यं पिबतेः पातेश्च आतो मनिन्० (अ० ३ । २ । ७४) इति वनिप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(वसाम्) वसतेर्भिदादिपाठात् (अ० ३ । ३ । १०४) अङ् । प्रत्ययस्वरे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तत्वम् । यद्वा पचाद्यचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते पूर्ववदाद्युदात्तत्वम् ॥

(दिशः) धातुस्वरः ॥

(प्रदिशः, विदिशः, आदिशः, उद्दिशः) गतिकारकोपपदा० (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

* अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते ॥

फिर युद्धकर्म में क्या होना चाहिये, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (घृतपावानः) जल के पीनेवाले वीरपुरुषो ! तुम (घृतम्) अमृतात्मक जल को (पिबत) पिओ, हे (वसापावानः) नीति के पालनेवाले वीरो ! तुम (वसाम्) जो वीररस की वाणी अर्थात् शत्रुओं को स्तम्भन करनेवाली [नीति] है उसको (पिबत) पिओ [अर्थात् अपने में सुदृढ़ करो]। हे सेनाध्यक्ष चक्रव्यूहादि सेनारचक ! प्रत्येक वीर को तू जिस से (अन्तरिक्षस्य) आकाश की (हविः) रुकावट अर्थात् युद्ध में बहुतों के बीच शत्रुओं को घेरने योग्य (असि) है, उस (स्वाहा) शोभन वाणी से जो (दिशः) पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण (प्रदिशः) आग्नेयी नैर्ऋति वायवी और ऐशानी उपदिशा (आदिशः) आमने सामने सुहाने की दिशा (विदिशः) पीछे की दिशा और (उद्दिशः) जिस ओर शत्रु लक्षित हों ⁞⁞ उन सब (दिग्भ्यः) दिशाओं से यथायोग्य वीरों को बाँट के शत्रुओं को † जीतो ॥ १९ ॥

भावार्थः—सेनाध्यक्षों को उचित है कि अपनी २ सेना के वीरों को अत्यन्त पुष्टकर ‡ युद्ध के समय चक्रव्यूह श्येनव्यूह तथा शकटव्यूह आदि रचनादि युद्ध कर्मों से सब दिशाओं में अपनी सेनाओं के भागों को स्थापन कर सब प्रकार से शत्रुओं को घेरवार जीतकर न्याय से प्रजापालन करें ॥ १९ ॥

ऐन्द्रः प्राण इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। त्वष्टा देवता। ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनस्तत्रान्योन्यं कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते[2] ॥

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः।
देव त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति।
देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ २० ॥

ऐन्द्रः। प्राणः। अङ्गेऽअङ्ग इत्यङ्गेऽअङ्गे। नि। दीध्यत्। ऐन्द्रः। उदान इत्युत् * ऽआनः। अङ्गेऽअङ्ग इत्यङ्गे * ऽअङ्गे। निधीत इति * निऽधीतः॥ देव। त्वष्टः। भूरि। ते। सꣳसमिति सम्ऽसम्। एतु। सलक्ष्मेति * सऽलक्ष्म। यत्। विषुरूपमिति * विषुऽरूपम्। भवाति॥ देवत्रेति * देवऽत्रा। यन्तम्। अवसे। सखायः। अनु। त्वा। माता। पितरः। मदन्तु ॥ २० ॥

पदार्थः—(ऐन्द्रः) इन्द्रो जीवो देवताऽस्य स ऐन्द्रः (प्राणः) शरीरस्थो वायुविशेषः (अङ्गे अङ्गे) यथा प्रत्यङ्गं प्रकाशते (नि) नितराम् (दीध्यत्) ⟬ युद्धे शत्रून् वञ्चित्वा स्वयं प्रकाशेत (ऐन्द्रः) विद्वद्देवताकः (उदानः) य ऊर्ध्वमनिति (अङ्गे अङ्गे) प्रत्यङ्गम् (निधीतः) निहित इव (देव) दिव्यविद्यासंपन्न सेनाध्यक्ष (त्वष्टः) शत्रुबलच्छेत्तः (भूरि) बहु (ते) तव (सम् सम्) एकीभावे, अत्र प्रसमुपोदः पादपूरणे। अ० ८। १। ६। इति समित्यस्य द्वित्वम् (एतु) प्राप्नोतु (सलक्ष्म) समानं लक्ष्म यस्य तत्। अत्रान्येषामपि दृश्यते [अ० ६। ३। १३७] इति दीर्घः [(यत्)] (विषुरूपम्[3])

१ फिर उसी को पुष्ट करते हैं—॥ १९ ॥

२ पुनरपि तदेव द्रढयति—

३ अर्थप्रदर्शनमिदम्। विग्रहस्तु व्यापकं रूपमस्येति।

⁞⁞ इतोऽग्रे 'वे दिशा हैं' इति पाठो व्यर्थो अ० मुद्रिते ॥
† 'स्वाहा' इति पदं संस्कृतान्वये, भाषापदार्थे च त्यक्तम्, न च तत् क्वचिदन्वेतीति ध्येयम् ॥
‡ इतोऽग्रे संस्कृतभावार्थे हिन्दीभाषार्थे च भेदोऽस्ति ॥ * अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते ॥
⟬ 'युद्धे शत्रून् वञ्चित्वा स्वयम्' इत्यध्याहारः ॥

व्यापकं विविधरूपं वा (भवाति) भवतु (देवत्रा) देवं देवमिति देवत्रा (यन्तम्) गच्छन्तम् (अवसे) रक्षणाय (सखायः) सुहृदः सन्तः (अनु) (त्वा) त्वाम् (माता) जननी (पितरः) रक्षका जनकाः (मदन्तु) हर्षन्तु ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ८ । ३ । ३७ व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—हे त्वष्टर्देव सेनापते ! भवान् अङ्गे अङ्गे ऐन्द्रः प्राण इवावसे संग्रामे निदीध्यत्, यद्वा अङ्गे अङ्गे [ऐन्द्रः] उदान इव संग्रामे निधीतो भवति, यत् ते तव विषुरूपं सलक्ष्म भवाति तत्संग्रामे भूरि यथा स्यात् तथा संसमेतु । सखायो माता पितरश्च देवत्रा धर्म्मं युद्धं व्यवहारं वा यन्तं त्वा त्वामनुमदन्तु ॥ २० ॥

भावार्थः—सेनापतिः सर्वमित्रोऽङ्गे ऽङ्गे प्राण उदान इव संग्रामे विचरन् सेनास्थवीरान् प्रजास्थपुरुषांश्च हर्षयित्वा शत्रून् विजयेत * ॥ २० ॥

फिर संग्राम में वीर पुरुष आपस में कैसे वर्त्तें, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (त्वष्टः) शत्रुबलविदारक (देव) दिव्यविद्यासंपन्न सेनापति ! आप (अङ्गे अङ्गे) जैसे अङ्ग अङ्ग में (ऐन्द्रः) इन्द्र अर्थात् जीव जिस का देवता है, वह सब शरीर में ठहरनेवाला [(प्राणः)] प्राण-

---

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ऐन्द्रः) साऽस्य देवता (अ० ४ । २ । २४) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः ॥

(प्राणो अङ्गे अङ्गे) अङ्ग इत्यादौ च (अ० ६ । १ । ११९) इति प्रकृतिभावः । अङ्गशब्दो य० ६ । १० पृ० ५३० व्याख्यातः ॥

(दीध्यत्) 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' (छान्दसः) अस्माद् धातोर्लेटि लेटोऽडाटौ (अ० ३ । ४ । ९४) इति 'अट्' । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (अ० ३ । ४ । ९७) इतीकारलोपः । परस्मैपदं व्यत्ययेन । दीधीवेवीटाम् (अ० १ । १ । ६) इति गुणनिषेधे एरनेकाचो० (अ० ६ । ४ । ८२) इति यण् । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(उदानः) थाथघञ्क्ताज० (अ० ६ । २ । १४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(निधीतः) 'नि' पूर्वाद् 'धीङ् आधारे' इत्येतस्माद् धातोर्निष्ठायां रूपम् । गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(सम् सम्) प्रसमुपोदः पादपूरणे (अ० ८ । १ । ६) इति द्विर्वचनम् । अनुदात्तं च (अ० ८ । १ । ३) इत्युत्तरस्यानुदात्तत्वं च ॥

(सलक्ष्म) समानस्य छन्दस्य० (अ० ६ । ३ । ८४) इति सादेशः, स चोदात्तो निपातनात् । बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(विषुरूपम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । विषुशब्दे कुर्भ्रश्च (उ० १ । २२) इति बाहुलकात् कुप्रत्ययः । वृषादेराकृतिगणत्वाद् आद्युदात्तत्वम् ॥

(भवाति) लेटि सिबभावपक्षे शपि, आटि रूपम् अन्येषामनुदात्तत्वाद् धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(देवत्रा) देवमनुष्यपुरुष० (अ० ५ । ४ । ५६) इति 'त्रा' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (अ० १ । १ । ३८) इत्यव्ययत्वम् ॥

(यन्तम्) प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अवसे) तुमर्थे सेसेन० (अ० ३ । ४ । ९) इति 'असेन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ यद्वा 'अव' धातोः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४ । १८९) इति 'असुन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । 'ङे' विभक्तिरनुदात्ता ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ फिर भी उसी को दृढ़ करते हैं—॥ २० ॥

---

* 'विजयीत' इत्यजमेरमुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥

वायु सब वायुओं को तिरस्कार करता हुआ आपही प्रकाशित होता है, वैसे आप (अवसे) रक्षा आदि के लिये संग्राम में सब शत्रुओं का तिरस्कार करते हुए (निर्दीध्यत्) प्रकाशित हूजिये, अथवा (अङ्गे अङ्गे) जैसे अङ्ग अङ्ग में [(ऐन्द्रः) इन्द्र अर्थात् विद्वान् जिसका देवता है, उस] (उदानः) अन्न आदि पदार्थों को ऊर्द्ध पहुँचाने-वाला उदानवायु प्रवृत्त है, वैसे अपने विभव से सब वीरों को उन्नति देते हुए संग्राम में (निधीतः) निरन्तर स्थापित किये हुए के समान प्रकाशित हूजिये (यत्) जो (ते) आप का (विषुरूपम्) विविध रूप (सलक्ष्म) परस्पर युद्ध का लक्षण (भवाति) हो, वह संग्राम में (भूरि) विस्तार से (संसम्) (एतु) प्रवृत्त हो, हे सेना-ध्यक्ष ! तेरी रक्षा के लिये सब शूरवीर पुरुष (सखायः) मित्र † (माता) माता (पितरः) पिता ‡ चाचा और ताऊ आदि शुभचिन्तक (देवत्रा) देवों अर्थात् विद्वानों, धर्मयुक्त युद्ध और व्यवहार को (यन्तम्) प्राप्त होते हुए (त्वा) तेरा (अनुमदन्तु) अनुमोदन करें [अर्थात् तुझे हर्षित करें] ॥ २० ॥

भावार्थः—सब प्राणियों का मित्रभाव वर्त्तनेवाला सेनापति जैसे प्रत्येक अङ्ग में प्राण और उदान प्रवर्तमान हैं, वैसे संग्राम में विचरता हुआ सेना और प्रजापुरुषों को हर्षित करके शत्रुओं को जीते । २० ॥

समुद्रं गच्छेत्यादेर्दीर्घतमा ऋषिः । सेनापतिर्देवता ❀ [समुद्रमित्यस्य साम्नी, देवमित्यस्य ब्राह्मी, यज्ञमित्यस्य भुरिगार्षी, मनो म इत्यस्यार्षी च] ✤ उष्णिगजगच्छन्दांसि । ऋषभः स्वरः ॥

अथ राष्ट्रकर्मानुष्ठातुमर्हाय शिष्याय गुरुः किं किमुपदिशेदित्याह[1] ॥

समुद्रं गच्छ स्वाहान्तरिक्षं गच्छ स्वाहा देवꣳ सवितारं गच्छ स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहाहोरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मनापृण स्वाहा ॥२१॥

समुद्रम् । गच्छ । स्वाहा । अन्तरिक्षम् । गच्छ । स्वाहा । देवम् । सवितारम् । गच्छ । स्वाहा । मित्रावरुणौ । गच्छ । स्वाहा । अहोरात्रेऽइत्यहोरात्रे । गच्छ । स्वाहा । छन्दाꣳसि । गच्छ । स्वाहा । द्यावा-पृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । गच्छ । स्वाहा । यज्ञम् । () गच्छ । स्वाहा । सोमम् । () गच्छ । स्वाहा । दिव्यम् । नभः । गच्छ । स्वाहा । अग्निम् । वैश्वानरम् । गच्छ । स्वाहा । मनः । मे । हार्दि । यच्छ । दिवम् । ते । धूमः । गच्छतु । स्वः । ज्योतिः । पृथिवीम् । भस्मना । आ । पृण । स्वाहा ॥ २१ ॥

पदार्थः—(समुद्रम्) समुद्द्रवन्ति जलानि यस्मिन् तमुदधिम् (गच्छ) (स्वाहा) ❁ बृहन्नौकारचनादिविद्यासिद्धेन यानेन (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (गच्छ) (स्वाहा) खगोलप्रकाशिकया

[1] गुरुसन्निधौ शिक्षितः सेनापती राष्ट्रे स्वविद्याविज्ञाने कथं चरितार्थयेदिति गुरुस्तमुपदिशेदित्यत आह—

† इतोऽग्रे 'हो के वर्त्तें' इत्यसम्बद्धः पाठोऽजमेरमुद्रिते, 'परस्पर मित्र हों' इति ग कोशे पाठः ॥
‡ 'चाचा ताऊ भृत्य और शुभचिन्तक' इति अ. मु. पाठः । अस्माभिस्तु ग. पाठः स्वीकृतः ॥
❀ इतोऽग्रे 'वाजुष्य उष्णिषश्च' इति अ. मु. ग. कोशे चापपाठः ॥ ✤ 'उष्णिषः' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते कोशेषु च ॥
() स्वरचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ ❁ 'बृहन्नौकायानरचनादि॰ इति ग. पाठः ॥

विद्यया सम्पादितेन ❀ विमानेन (देवम्[3]) द्योतमानम् × (सवितारम्) सर्वस्य प्रसवितारं परमेश्वरम् (गच्छ) † जानीहि (स्वाहा) वेदवाचा सत्सङ्गसंस्कृतया वा (मित्रावरुणौ) प्राणोदानौ (गच्छ) ≣ विद्धि (स्वाहा) प्राणायामाभ्यासेन योगयुक्तया वाचा (अहोरात्रे) अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रे, हेमन्त-शिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि । अ० २।४।२८। अनेन नपुंसकत्वम् । (गच्छ) 8 जानीहि, याहि वा (स्वाहा) कालविद्यया ज्योतिर्बोधयुक्तया वाचा (छन्दांसि) ऋग्यजुःसामाथर्वाणः [सन्ति तान्] चतुरो वेदान् (गच्छ) ⁞ विजानीहि (स्वाहा) पठनपाठनपुरस्सरेण श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारेण वेदाङ्गादि-विज्ञानसहितया वाचा (द्यावापृथिवी) द्यौश्च पृथिवी च तौ भूमिसूर्यौ तद्गतावभीष्टदेशदेशान्तरा-विति यावत् (गच्छ) जानीहि (स्वाहा) भूमियानाकाशयानरचनभूगोलभूगर्भखगोलविद्यया (यज्ञम्[3]) अग्निहोत्रशिल्पराजव्यवहारादिकम् (गच्छ) + प्राप्नुहि (स्वाहा) राजनीतिसंस्कृतया वाचा (सोमम्) ओषधिसमूहम् (गच्छ) जानीहि (स्वाहा) वैद्यकशास्त्रबोधार्हया वाचा (दिव्यम्) व्यवहर्त्तव्यं शुद्धम् (नभः) जलम् (गच्छ) प्राप्नुहि (स्वाहा) तद्गुणविज्ञापयित्र्या वाचा (अग्निम्) विद्युतम् (वैश्वानरम्) सर्वत्र ▯ प्रकाशमानम् (गच्छ) जानीहि (स्वाहा) तद्बोधयुक्तया वाण्या (मनः) चित्तम् (मे) मम (हार्दि) हृदयस्यातिशयेन प्रियम् (यच्छ) निधेहि (दिवम्) सूर्यम् (ते) तव (धूमः) यन्त्रज्वलनबाष्पः [(गच्छतु) प्राप्नोति] (स्वः) सुखम्, अन्तरिक्षम्, अवकाशम् (ज्योतिः) ज्वालाम् (पृथिवीम्) (भस्मना) (आ) समन्तात् (पृण) योजय (स्वाहा) यज्ञानुष्ठानयन्त्ररचनविद्यया ॥ अयम्मन्त्रः शत० ३ । ८ । ४ । ११-१८ तथा ८ । ५ । १-५ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे () धर्मार्थकाममोक्षराजकर्मानुष्ठानार्ह विद्वंस्त्वं स्वाहा समुद्रं गच्छ। स्वाहान्तरिक्षं गच्छ। स्वाहा देवं सवितारं गच्छ। स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ। स्वाहाहोरात्रे गच्छ [स्वाहा छन्दांसि गच्छ। स्वाहा

---

१ "सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः" इति पूर्वं (य० १ । १ पृ० १०) विवरणे व्याख्यातम् ॥

२ स्वाहा वाक् इति पूर्वं (य० ३ । ९ पृ० २५९) व्याख्यातं, पुनरुक्तदोषनिवारणधिया वाचो वैविध्यं दर्शयति ॥

३ 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति धात्वर्थेनार्थोऽयं ग्राह्यः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अहोरात्रे) अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः (अ० ५ । ४ । ८७) इति समासान्तोऽच् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(हार्दि) अत्र भाष्यं त्वर्थप्रदर्शनपरम्। विग्रहस्तु हार्दमस्मिन्नस्ति तत् (ऋ० २ । २९ । ६ भाष्ये) ।

❀ 'विमानयानेन' इति ग. पाठः ॥

× '(सवितारम्) सर्वस्य प्रसवितारम्' इति अ० मुद्रिते नास्ति । ग. कोशे उपलभ्यमानत्वादस्माभिः पूरित इति ध्येयम् ॥

† 'योगविद्यया जानीहि' इति ग. पाठः ॥

≣ इतोऽग्रे 'प्राणायामाभ्यासेन विद्धि (स्वाहा) योगयुक्तया वाचा' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

8 इतोऽग्रे 'कालविद्यया जानीहि, याहि वा, (स्वाहा) ज्योतिर्बोधयुक्तया वाचा' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

⁞ इतोऽग्रे पठनपाठनपुरस्सरेण श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारेण विजानीहि (स्वाहा) वेदाङ्गादिविज्ञानसहितया वाचा' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

+ 'प्राप्नुहि'......'संस्कृतया वाचा' इति पाठोऽजमेरमुद्रिते नास्ति, ग० कोशे तूपलभ्यते ॥

▯ 'प्रकाशमानं विद्युतम्' इति ग. कोशे पाठः ॥

() अत्र 'धर्मार्थकाममोक्ष'० इति पाठोऽजमेरमुद्रिते नास्ति, ग. कोशे उपलम्भात् पूरित इति ध्येयम् ॥

द्यावापृथिवी गच्छ ।]। स्वाहा यज्ञं गच्छ । स्वाहा सोमं गच्छ । स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ । स्वाहाग्निं वैश्वानरं ‡ च गच्छ । मे मम मनो हार्दि यच्छ । ते तव धूमो दिवं ज्योतिः स्वर्गच्छतु । त्वं स्वाहा भस्मना पृथिवीमापृण ॥ २१ ॥

भावार्थः—धर्मादिराज्यव्यापारकरणवृत्तिमभीप्सुभिर्जनैर्भूमियानजल * यानाकाशयानैर्विविधयन्त्रकलारचनैश्च सर्वाः सामग्रीः संपाद्य द्रव्यसंचयः + कार्यः ॥ २१ ॥

अब राज्यकर्म करने योग्य शिष्य को गुरु क्या २ उपदेश करे, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे धर्मादिराज्यकर्म करनेयोग्य [विद्वान्] शिष्य ! तू (स्वाहा) बड़ी २ अश्वतरी नाव अर्थात् धुआँकष आदि बनाने की विद्या से नौकादि यान पर बैठ (समुद्रम्) समुद्रों को (गच्छ) जा । (स्वाहा) खगोलप्रकाश करनेवाली विद्या से सिद्ध किये हुए विमानादि यानों से (अन्तरिक्षम्) आकाश को (गच्छ) जा । (स्वाहा) वेद वाणी से (देवम्) प्रकाशमान (सवितारम्) सब को उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर को (गच्छ) जान । (स्वाहा) वेद और सज्जनों के सङ्ग से शुद्ध संस्कार को प्राप्त हुई वाणी से (मित्रावरुणौ) प्राण और उदान को (गच्छ) जान । (स्वाहा) ज्योतिषविद्या से (अहोरात्रे) दिन और रात्रि वा उनके गुणों को (गच्छ) जान । (स्वाहा) वेदाङ्ग विज्ञान सहित वाणी से (छन्दांसि) ऋग्यजुसाम और अथर्व इन चारों वेदों को (गच्छ) अच्छी प्रकार से जान । (स्वाहा) भूमि यान, × आकाश मार्ग गमन कारक विमान भूगोल, भूगर्भ, और खगोल यान बनाने की विद्या से (द्यावापृथिवी) भूमि और सूर्य प्रकाशस्थ अभीष्ट देश देशान्तरों को (गच्छ) जान और प्राप्त हो । (स्वाहा) संस्कृत वाणी से (यज्ञम्) अग्निहोत्र, कारीगरी और राजनीति आदि यज्ञ को (गच्छ) प्राप्त हो । (स्वाहा) वैद्यक विद्या से (सोमम्) ओषधिसमूह अर्थात् सोमलतादि को (गच्छ) जान । (स्वाहा) जल के गुण और अवगुणों को बोध करानेवाली विद्या से (दिव्यम्) व्यवहार में लाने योग्य पवित्र (नभः) जल को (गच्छ) जान और (स्वाहा) बिजली आग्नेयास्त्रादि तारवरकी तथा प्रसिद्ध सब कलायन्त्रों को प्रकाशित करनेवाली विद्या से (अग्निम्) विद्युत्‌रूप [(वैश्वानरम्)] अग्नि को (गच्छ) अच्छी प्रकार जान । और (मे) मेरे [अनुकूल] (मनः) मन को (हार्दि) प्रीतियुक्त (यच्छ) सत्यधर्म में स्थित कर अर्थात् मेरे उपदेश के अनुकूल वर्त्ताव वर्त्त और (ते) तेरे (धूमः) कलाओं और यज्ञ के अग्नि का धूआं (दिवम्) सूर्य्य प्रकाश को तथा (ज्योतिः) उस की लपट (स्वः) अन्तरिक्ष को (गच्छतु) प्राप्त हो और तू यन्त्रकला अग्नि में (स्वाहा)

हृदयस्येदं हार्दं, तदस्यास्तीति अत इनिठनौ (अ० ५ । २ । ११५), वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् ।

(धूमः) इषियुधीन्धि० (उ० १ । १४५) इति मक्, प्रत्ययस्वरः ॥

(भस्मना) सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४।१४५) इति मनिन् नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ गुरुजनों के समीप शिक्षा प्राप्त कर सेनापति राष्ट्र में अपनी विद्या और ज्ञान को कैसे सफल करे, इस विषय में गुरु उसे क्या उपदेश दे, सो बताते हैं—॥ २१ ॥

---

‡ इतोऽग्रे 'च' इति व्यर्थः पाठः, समुच्चीयमानस्याभावात् ॥

* इतोऽग्रे 'अन्तरिक्ष' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः, अग्रे 'आकाश' इति पदस्योपलम्भात् ॥

\+ 'द्रव्यभुक्तिसाधनसंचयः' इति ग. पाठः, भाषानुसारं तु 'द्रव्यराज्यसंचयः' इति पाठः स्यात् ॥

× ग. हस्तलेखानुसारी पाठोऽयम्, अजमेरमुद्रिते तु 'आकाशमार्ग विमान और भूगोल वा भूगर्भादि यान बनाने की विद्या से' इति पाठः ॥

[यज्ञानुष्ठान तथा यन्त्रों के रचना की विद्या से] काष्ठ आदि पदार्थों को सुहुत अर्थात् भस्म कर, उस (भस्मना) भस्म से (पृथिवीम्) पृथिवी को (आ) (पृण) ढांप दे [अर्थात् त्रिविध यज्ञ का अत्यन्त अनुष्ठान कर] ॥२१॥

भावार्थः—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, राज्य, और व्यापार चाहनेवाले पुरुष भूमियान जलयान † और आकाशमार्ग में जाने आने के विमान आदि रथ वा नाना प्रकार कलायन्त्रों को बनाकर तथा सब सामग्री को जोड़ कर धन और राज्य का उपार्जन करें ॥ २१ ॥

माप इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । वरुणो देवता । स्वराड्ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
सुमित्रिया न इत्यस्य [विराट् त्रिपाद्] विराड्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ वाणिज्यार्थं राजप्रबन्धमाह[1] ॥

मापो मौषधीर्हिꣳसीर्धाम्नोधाम्नो राजँस्ततो वरुण नो मुञ्च ।
यदाहुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ।
सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २२ ॥

मा । अपः । मा । ओषधीः । हिꣳसीः । धाम्नोधाम्न इति* धाम्नःऽधाम्नः । राजन् । ततः । वरुण । नः । मुञ्च ॥ यत् । आहुः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । शपामहे । [ततः । वरुण । नः । मुञ्च ॥] सुमित्रिया इति* सुऽमित्रियाः । नः । आपः । ओषधयः । सन्तु । दुर्मित्रिया इति* दुःऽमित्रियाः । तस्मै । सन्तु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । च । वयम् । द्विष्मः ॥ २२ ॥

पदार्थः—(मा) निषेधे (अपः) जलानि (मा) निषेधे (ओषधीः) यवादीन् । (हिंसीः) (धाम्नोधाम्नः) स्थानात् स्थानात् । (राजन्) सभापते (ततः) तस्मात् (वरुण) प्रशस्त (नः) अस्मान् (मुञ्च) (यत्) (आहुः) (अघ्न्याः) हन्तुमयोग्या गावस्ताः । अघ्न्या इति गोनामसु पठितम् । निघ० २ । ११ । (इति) अनेन प्रकारेण (वरुण) न्यायकारिन्[2] (इति) प्रकारान्तरे । (शपामहे)

१ योग्यसेनापत्यादिना दस्युनाशे सत्येव प्रागुक्तं वाणिज्यादि कर्म सम्यक् प्रवर्त्तेत इत्यत आह—

२ वरुणो वै देवानां राजा ॥ श० १२ । ८ । ३ । १० ॥ वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः ॥ श० ११ । ४ । ३ । १० ॥ वरुणोऽन्नपतिः ॥ श० १२ । ७ २ । २० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आहुः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघातप्रतिषेधे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(वरुण) कृवृदारिभ्य उनन् (उ० ३ । ५३) इत्युनन् , नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । भिन्नवाक्यत्वाद् षाष्ठिक आमन्त्रितस्वरः ॥

(इति) निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

(शपामहे) शप उपलम्भने (अ० १ । ३ । २१ भा० वा०) इत्यात्मनेपदम् । यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः । तास्यनुदात्ते० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकनिघातत्वे धातुस्वरः ॥

† 'अन्तरिक्ष' इति अ० मुद्रितपाठः पूर्ववद् व्यस्तः ॥
* अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते ॥

[(ततः) तस्मात् (वरुण) श्रेष्ठ (नः) अस्मान् (मुञ्च)] (सुमित्रियाः) सुमित्राणीव (नः) अस्मभ्यम् (आपः) (ओषधयः) (सन्तु) (दुर्मित्रियाः) दुर्मित्राणीव (तस्मै) † द्विषते (सन्तु) (यः) अमित्रः (अस्मान्) (द्वेष्टि) (यम्) (च) (वयम्) (द्विष्मः) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ३ । ८ । ५ । ९-११ व्याख्यातः] ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे [वरुण] राजन् ! त्वमप ओषधीश्च मा हिंसीः न केवलमिदमेव कुर्याः, किन्तु ततो धाम्नोधाम्नो नोऽस्मान् मा मुञ्च । हे वरुण ! अघ्न्या इति यद् भवन्त आहुः वयं चेति शपामहे, ततस्त्वं [नोऽस्मान्] मा मुञ्च वयमपि न मुञ्चामः । हे वरुण नोऽस्मभ्यमाप ओषधयश्च सुमित्रियास्सुमित्रवत् सन्तु, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्मै दुर्मित्रियाः शत्रुवत् सन्तु ॥ २२ ॥

भावार्थः—❀ राजपुरुषाः प्रजाभ्योऽनीत्या धनं न गृह्णीयुः । राजरक्षणाय प्रतिज्ञां कुर्युरन्यायं वयं न करिष्याम इति । दुष्टांश्च♣ सततं दण्डयेयुरिति ॥ २२ ॥

अब व्यापार करने के लिये राज्यप्रबन्ध अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे [(वरुण) श्रेष्ठ] (राजन्) सभापति ! आप अपने प्रत्येक स्थानों में (अपः) जल और (ओषधीः) अन्न पान पदार्थ तथा किराने आदि [अर्थात् पंसारी आदि] वणिज पदार्थों को (मा) मत (हिंसीः) नष्ट करो अर्थात् प्रत्येक जगह हम लोगों को सब इष्ट पदार्थ मिलते रहैं, न केवल यही करो, किन्तु (ततः) उस (धाम्नः) (धाम्नः) स्थान २ से (नः) हम लोगों को (मा) मत (मुञ्च) त्यागो । हे (वरुण) न्याय करनेवाले सभापति ! किये हुए न्याय में (अघ्न्याः) न मारने योग्य गौ आदि पशुओं की शपथ है (इति) इस प्रकार [(यत्)] जो आप [(आहुः)] कहते हैं और हम लोग भी [(इति) इस प्रकार] (शपामहे) शपथ करते हैं [(ततः) इसलिये] आप भी [(नः) हम] ‡ को मत [(मुञ्च)] छोड़िये, और हम लोग

शपतिर्हिंसार्थ इत्युवटमहीधरौ । तदयुक्तम् । उपलम्भन आत्मनेपदविधानात् । वाचा शरीरस्पर्शनमेवोपलम्भनम् (द्र० काशिका १ । ३ । २१ । भट्टभास्करः तै० सं० भाष्ये १ । ३ । ११ । १ पृ० २३८), न तु शस्त्रादिना विशसनम् । एतेनाग्नीषोमीयस्य गोर्विशसनमपि प्रत्युक्तं, मन्त्रार्थेन सह विरोधात् ॥

(सुमित्रियाः, दुर्मित्रियाः) छान्दसत्वात् स्वार्थे घच् । चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ योग्य सेनापति आदि के द्वारा दस्युओं का नाश होने पर ही पूर्वमन्त्र में कहा वाणिज्यादि कार्य अच्छे प्रकार हो सकता है, यह बताते हैं—

२ शपथ से यहाँ प्रतिज्ञा का अभिप्राय है, जैसा कि यहाँ के अशुद्ध पाठ से भी प्रतीत होता है । आचार्य दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में समीक्षा सं० १०० में स्पष्ट लिखा है—"क़सम खाना झूठों का काम है, ख़ुदा की बात नहीं क्योंकि बहुधा संसार में ऐसा देखने में आता है कि जो झूठा होता है, वही क़सम खाता है, सच्चा सौगन्द क्यों खावे" ॥ २२ ॥

---

† 'धर्मे द्विषते' इति ग. पाठः ॥

❀ ग. कोशे तु सर्वोऽपि भावार्थो भिन्नस्तद्यथा—"राज्यपुरुषा राज्यपालनाय प्रजाश्च राज्यरक्षणायान्योऽन्यं प्रतिज्ञां कुर्युरन्यायं वयं न करिष्यामः । दुष्टान् सततं दण्डयेयुरिति" ॥

♣ 'दुष्टान्' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

‡ इतोऽग्रे 'उस प्रतिज्ञा को' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

भी न छोड़ेंगे। हे [(वरुण)] वरुण ! आप के राज्य में (नः) हम लोगों को (आपः) जल और [(ओषधयः)] औषधियाँ (सुमित्रियाः) श्रेष्ठमित्र के तुल्य (सन्तु) हों तथा (यः) जो (अस्मान्) हम लोगों से (द्वेष्टि) वैर रखता है (च) और (वयम्) हम लोग (यम्) जिस से (द्विष्मः) वैर करते हैं, (तस्मै) उस के लिये वे ओषधियाँ (दुर्मित्रियाः) दुःख देनेवाले शत्रु के तुल्य (सन्तु) हों ॥ २२ ॥

भावार्थः—‡ राजा और राजाओं के कामदार लोग अनीति से प्रजाजनों का धन न लेवें किन्तु राज्य पालन के लिये राजपुरुष प्रतिज्ञा करें कि हम लोग अन्याय न करेंगे अर्थात् हम सर्वदा तुम्हारी रक्षा [करेंगे] और डाकू चोर लम्पट लबाड़ कपटी कुमार्गी अन्यायी और कुकर्मियों को निरन्तर दण्ड देवेंगे ॥ २२ ॥

हविष्मतीरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। अन्यज्ञसूर्यो देवताः। निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनरन्योन्यं मिलित्वा राजप्रजे केन किं किं कुर्यातामित्याह[1] ॥

हविष्मतीरिमा ऽ आपो हविष्माँ २ऽ आविवासति।
हविष्मान् देवो ऽ अध्वरो हविष्माँ २ ऽ अस्तु सूर्यः ॥ २३ ॥

हविष्मतीः। इमाः। आपः। हविष्मान्। आ। विवासति ॥ हविष्मान्। देवः। अध्वरः। हविष्मान्। अस्तु। सूर्यः ॥ २३ ॥

पदार्थः—(हविष्मतीः) प्रशस्तानि हवींषि विद्यन्ते यासु ताः (इमाः) प्रत्यक्षाः (आपः) जलानि (हविष्मान्) प्रशस्तानि हवींषि विद्यन्ते यस्य वायोः[2] सः, दीर्घादटि समानपादे [अ० ८।३।९] इति रुः। आतोऽटि नित्यम् [अ० ८।३।३] इति सानुनासिकत्वम् (आ) समन्तात् (विवासति) सेवते। विवासतीति परिचरणकर्मसु पठितम् निघ० ३।५। (हविष्मान्) ❀ (देवः) सुखयिता (अध्वरः) यज्ञः (हविष्मान्) (अस्तु) (सूर्यः) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ३।९।२।१० व्याख्यातः] ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो यथेमा आपो हविष्मतीर्हविष्मत्यः स्युरयं वायुर्हविष्मानेवाविवासति सर्वान् †परिचरति देवोऽध्वरो हविष्मान् स्यात्, सूर्यो हविष्मान् अस्तु भवेत्, तथा भवन्तो यज्ञेनैतान् शुद्धान् कुर्वन्तु ॥ २३ ॥

१ राजप्रजयोर्मिथः सहयोगेनैव सर्वव्यवहारसिद्धिरिति तयोर्व्यवहारमाह—

२ सामर्थ्याद् वायोरत्र ग्रहणम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हविष्मतीः) पूर्वं यजुः ३।४ पृ० २४४ व्याख्यातः ॥

(सूर्यः) राजसूयसूर्य्या० (अ० ३।१।११४ भा० वा०) इति क्यप्, धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

‡ 'राजाओं के भृत्योपभृत्य प्रजाजनों का धन न लेवें, किन्तु राज्य पालने के लिये राजपुरुष और प्रजापुरुष परस्पर प्रतिज्ञा करें कि हम लोग अन्याय न करेंगे और हम राजपुरुष सर्वदा तुम्हारी रक्षा और डाकू चोर लम्पट कपटी कुमार्गी अन्यायी और कुकर्मियों को निरन्तर दण्ड देवेंगे। और हम प्रजाजन सदा प्रयत्न सत्य धर्म युक्त व्यवहार और राजा आदि से प्रीति ही करेंगे, इससे विपरीत करे वह दण्ड और त्याग के योग्य हो' (इति ग० प्र० पाठो मार्जने) ॥

❀ '(देवः) सुखयिता (अध्वरः) यज्ञः (हविष्मान्)' इति पाठो गकोशे नास्ति ॥

† 'परिचरेत्' इति ग. पाठः ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—येन वायुजलसंयोगेनानेकानि सुखानि साध्यन्ते, यैर्विविधदेशदेशान्तरगमनेन वस्तुप्रापणं भवति † तैरेतत् कर्म क्रियाविचक्षण एव कर्त्तुं शक्नोति, यो विविधक्रियाप्रकाशकोऽस्ति, स ‡ यज्ञो वृष्ट्यादिसुखकरो भवति ॥ २३ ॥

फिर परस्पर मिल कर राजा और प्रजा किससे क्या २ करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगों* जैसे (इमाः) ये (आपः) जल (हविष्मतीः) अच्छे २ दान और आदान क्रिया शुद्धि और सुख देनेवाले हों अर्थात् जिन से नाना प्रकार का उपकार दिया लिया जाय [तथा] (हविष्मान्) [दान आदान क्रिया के हेतु] पवन{} (आ) अच्छे प्रकार (विवासति) प्राप्त होता है (देवः) सुख का देने वाला (अध्वरः) यज्ञ भी (हविष्मान्) परमानन्दप्रद (सूर्यः) तथा सूर्यलोक भी (हविष्मान्) सुगन्धादि युक्त होके सुखदायक (अस्तु) हो ♣ वैसे आप यज्ञ से इन को शुद्ध कीजिये ॥ २३ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जिस वायु [और] जल के संयोग से अनेक सुख सिद्ध किये जाते हैं, जिनसे देश देशान्तरों में जाने से उत्तम वस्तुओं का पहुँचाना होता है, उन अग्नि जल आदि पदार्थों से उक्त काम को क्रियाओं में चतुर पुरुष ही कर सकता है, और जो नाना प्रकार की कारीगरी आदि अनेक क्रियाओं का प्रकाश करनेवाला है, वही यज्ञ वर्षा आदि उत्तम २ सुख का करनेवाला होता है ॥ २३ ॥

अग्नेर्व इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । [लिङ्गोक्ता देवता] । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
अमूर्या इत्यस्य [निचृद्] त्रिपाद् गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ गुरुपत्न्यो ब्रह्मचर्यमनुवर्त्तिनीः कन्याः किं किमुपदिशेयुरित्याह[2] ॥

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ । अमूर्या ऽउप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह । ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २४ ॥

---

१ राजा और प्रजा के पारस्परिक सहयोग से ही सब व्यवहार सिद्ध हो सकते हैं, इसलिये उनका व्यवहार बताया जाता है—॥ २३ ॥

२ प्रजासु न केवलं पुरुषा एव, स्त्रीणामपि तत्र सद्भावात् सन्ततेश्च तदधीनत्वात् ताः कथं शिक्षणीया इति वक्ति—

---

† 'इत्येतत्' इति ग. पाठः ॥ ‡ 'यज्ञप्रेरणया वृष्ट्यादि०' इति ग. पाठः ॥
* इतोऽग्रे 'तुम उन कामों को किया करो कि जिनसे' इति अ. मुद्रिते व्यर्थः पाठः, स च ग. कोशेऽपि नास्ति ॥
{} इतोऽग्रे 'उपकार अनुपकार को' इति अ० मुद्रितपाठः । 'पवन अर्थात् देने लेने का वायु' इति ग. पाठः ॥
♣ 'वैसे.........कीजिये' इति ग. पाठः, अ० मुद्रिते तु नोपलभ्यते ॥

ऽग्ने । वः । अपन्नगृहस्येत्यपन्न ॥ ऽगृहस्य । सदसि । सादयामि । इन्द्राग्न्योः । भागधेयीरिति ॥ भागऽधेयीः । स्थ । मित्रावरुणयोः । + भागधेयीरिति भागऽधेयीः । स्थ । विश्वेषाम् । देवानाम् । + भागधेयीरिति भागऽधेयीः । स्थ ॥ अमूः । याः । उप । सूर्ये । याभिः । वा । सूर्यः । सह ॥ ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥२४॥

पदार्थः—(अग्ने¹) विद्यादिगुणप्रकाशितस्य सभ्यजनस्य (वः) युष्मान् युष्माकं वा (अपन्नगृहस्य) अप्राप्तगृहस्य कुमारब्रह्मचारिणः (सदसि) सीदन्ति बुद्धिविषया यस्मिन्निति सदः अध्ययनाध्यापननिमित्ता सभा, तत्र (सादयामि) स्थापयामि (इन्द्राग्न्योः) सूर्यविद्युतोर्गुणानाम् (भागधेयीः) विभागविज्ञानयुक्ताः । ❀ नामरूपभागेभ्यः स्वार्थे धेयः प्रत्ययः । अ० ५।४। ३६ वा० ॥ केवलमामक० अ० ४।१।३० इत्यादिना ङीप् (स्थ) भवथ। (मित्रावरुणयोः) प्राणोदानयोः [(भागधेयीः) विभागविज्ञानयुक्ताः (स्थ) भवथ] (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (देवानाम्) विदुषां, पृथिव्यादीनां वा [(भागधेयीः) विभागविज्ञानयुक्ताः (स्थ) भवथ] (अमूः)† प्रत्यक्षाः (याः) (उप) (सूर्ये) सवितृलोके‡ (याभिः) § (वा) पक्षान्तरे (सूर्यः) सूर्यलोकः (सह) (ताः) (नः) अस्माकम् (हिन्वन्तु) प्रीणन्तु (अध्वरम्) गृहाश्रमक्रियासिद्धिकरं यज्ञम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मचारिण्यो या अमूः स्वयंवरविवाहं कृतवत्यः सन्ति [तद्वद् याः] यूयम् इन्द्राग्न्योर्भागधेयीः स्थ, मित्रावरुणयोर्भागधेयीः स्थ, विश्वेषां देवानां भागधेयीः स्थ, ता वो युष्मान् अपन्नगृहस्याग्नेः सदस्यहं सादयामि । ❀या सूर्ये सूर्यगुणेषु ❀उप तिष्ठन्ति वा, याभिः सह सूर्यो वर्त्तते☘ ता नोऽस्माकमध्वरं विवाहं कृत्वा हिन्वन्तु ॥२४॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्यधर्ममनुवर्त्तिनीनां कन्यानामविवाहितैः स्वतुल्यगुणकर्मस्वभावैः पुरुषैः सहैव विवाहकरणयोग्यतास्तीति हेतोर्गुरुपत्न्यो ब्रह्मचारिणीः ◊ कन्यास्तादृशमेवोपदिशन्तु खल्वाप्तकाले कृतविवाहयोर्नियोगो भवितुमर्हति नान्यथेति ॥ २४ ॥

---

१ (क) अत्र जातावेकवचनम् ॥

(ख) पुरुषोऽग्निः ॥ श० १०।४।१।६ ॥ श० १४।९।१।१५, १६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अपन्नगृहस्य) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(सदसि) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१८९) इत्यसुन् प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(इन्द्राग्न्योः) पूर्वं यजुः २।१५। व्याख्यातः ॥

(भागधेयीः) भागरूपनामभ्यो धेयः (अ० ५।४।३६ भा० वा०) इति धेयप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः । केवलमामकभागधेय० (अ० ४।१।३०) इति ङीप्, स्वरः स एव ॥

(विश्वेषाम्) अशुप्रुषिलटि० (उ० १।१५१) इति क्वन् । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अमूः) अदस्–प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । विभक्त्या सहैकादेशे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्युदात्तत्वम् ॥

(सह) एवादीना० (फि०८२) इत्यन्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

॥ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

+ 'भाग…। स्थ ।' नास्त्येतावानंशोऽजमेरमुद्रिते ॥

❀ 'भागरूपनामभ्यो धेय' (अ० ५।४।३६ भा० वा०) इति महाभाष्यपाठः ॥

† 'प्रत्यक्षाः स्वयंवरविवाहकृतवत्यः' इति ग. पाठः ॥

‡ '(याभिः) प्रजाभिः' इति ग. पाठः ॥

§ '(वा) लोकलोकान्तरैः सह' इति ग. पाठः ॥

❀ 'यथा उपसूर्ये' इति ग. पाठः ॥

❀ इदं पदं 'सूर्ये' इत्यस्मात्पूर्वमयुक्ते स्थाने आसीत् ॥

☘ 'तथा ता नः' इति ग. पाठः ॥

◊ 'ब्रह्मचारिण्यः' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । 'ब्रह्मचारिणीः' इति ग. हस्तलेखपाठः ॥

अब गुरुपत्नी, ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाली जो कन्या जन हैं, उनको क्या २ उपदेश करे, यह अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे ब्रह्मचारिणी कन्याओ! (अमूः) वे (याः) जो स्वयंवर विवाह से पतियों को स्वीकार किये हुए हैं, उनके समान जो (इन्द्राग्न्योः) सूर्य और बिजली के गुणों को (भागधेयीः) अलग २ जाननेवाली (स्थ) हैं, (मित्रावरुणयोः) प्राण और उदान के गुणों को (भागधेयीः) अलग २ जाननेवाली (स्थ) हैं, (विश्वेषाम्) विद्वान् और [(देवानाम्)] पृथिवी आदि पदार्थों के [(भागधेयीः)] सेवनेवाली (स्थ) हैं, उन (वः) तुम सभों को (अपन्नगृहस्य) जिसको गृहकृत्य नहीं प्राप्त हुआ है, उस ब्रह्मचर्य धर्मानुष्ठान करनेवाले और (अग्नेः) सब विद्यादि गुणों से प्रकाशित उत्तम ब्रह्मचारी की (सदसि) सभा में मैं (सादयामि) स्थापित करती हूँ और जो (सूर्य्ये) सूर्यलोक के गुणों में (उप) उपस्थित होती हैं (वा) अथवा (याभिः) जिन के (सह) साथ (सूर्यः) सूर्यलोक वर्त्तमान अर्थात् जो सूर्य के गुणों में अति चतुर हैं (ताः) वे सब (नः) हमारे (अध्वरम्) गृहाश्रम ❀ की सिद्धि करनेहारे यज्ञ को (हिन्वन्तु) बढ़ावें [अर्थात् हमारे देश में उत्तम २ सद्गृहस्थ हों] ॥ २४ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्य धर्म को पालन करनेवाली कन्याओं को अविवाहित ब्रह्मचारी और अपने तुल्य गुण कर्म स्वभाव युक्त पुरुषों के साथ विवाह करने की योग्यता है, इस हेतु से गुरुजनों की स्त्रियां ब्रह्मचारिणी कन्याओं को वैसा ही उपदेश करें कि जिस से वे अपने प्रसन्नता के तुल्य पुरुषों के साथ विवाह करके सदा सुखी रहें, और जिस का पति वा जिस की स्त्री मर जाय और सन्तान की इच्छा हो, वे दोनों नियोग करें, अन्य व्यभिचारादि कर्म कभी न करें ॥ २४ ॥

हृदे त्वेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । सोमो देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनस्ताः किं किमुपदिशेयुरित्याह[2] ॥

हृदे त्वा मन॑से त्वा दि॒वे त्वा सूर्य्या॑य त्वा। ऊ॒र्ध्वमि॒मम॑ध्व॒रं दि॒वि दे॒वेषु॒ होत्रा॑ यच्छ ॥२५॥

हृदे । त्वा । मनसे । त्वा । दिवे । त्वा । सूर्य्याय । त्वा ॥ ऊर्ध्वम् । इमम् । अध्वरम् । दिवि । देवेषु । होत्राः । यच्छ ॥ २५ ॥

पदार्थः—(हृदे) हृत्सुखाय । (त्वा) त्वाम् । (मनसे) सदसन्मननाय[3] (त्वा) त्वाम् (दिवे) सर्वसुखद्योतनाय [(त्वा) त्वाम्] (सूर्य्याय) सूर्यगुणाय (त्वा) त्वाम् (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्टम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (अध्वरम्) अविनश्वरं यज्ञम् (दिवि) शुभगुणप्रकाशे (देवेषु) विद्वत्सु (होत्राः) हवनकर्मानुष्ठात्र्यः (यच्छ) † उपगृहाण ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ९ । ३ । ४–५ व्याख्यातः ॥ २५ ॥

---

१ प्रजा में केवल पुरुष ही नहीं हैं, स्त्रियां भी हैं, और सन्तान का कार्य उन्हीं के आधीन है, इसलिये उनकी शिक्षा कैसी होनी चाहिये, सो बताते हैं—॥ २४ ॥

२ पूर्वोक्तमर्थं पोषयति—

३ सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन्, स च कृतो बहुलम् (अ० ३ । ३ । ११३ भा० वा०) इति भावे । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्, ततो विभक्तिरुदात्ता ॥

❀ पाठोऽयं ग. कोशानुसारी, 'घर के काम' इति तु अ० मुद्रिते पाठः ॥
† 'उपगृहीहि' इत्यजेमरमुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मचारिणि कन्ये ! त्वं यथा वयं सर्वा देवेषु स्वपतिषु समीपवर्त्तिन्यो होत्रा हवनकर्मानुष्ठात्र्यः स्मस्तथा भव, यथा वयं हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा ऽनुशिष्म ‡ स्तथा दिवीममध्वरमूर्ध्वं यच्छ ॥ २५ ॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः] ॥

भावार्थः—यथा पतिव्रताः स्वपतिषु तत्प्रियमाचरन्त्योऽग्निहोत्रादिकर्मसु निरताः स्युस्तथा विवाहानन्तरं ब्रह्मचारिणीभिर्ब्रह्मचारिभिरपि परस्परमनुवर्त्तितव्यमिति ॥ २५ ॥

फिर वे क्या २ उपदेश करें, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे ब्रह्मचारिणी कन्या ! तू जैसे हम सब (देवेषु) अपने सुख देनेवाले पतियों के निकट रहने और [(होत्राः)] अग्निहोत्र आदि कर्म का अनुष्ठान करने वाली हैं, वैसी हो, और जैसे हम (हृदे) सौहार्द सुख के लिये (त्वा) तुझे, वा (मनसे) भला बुरा विचारने के लिये (त्वा) तुझे, वा (दिवे) सब सुखों के प्रकाश करने के लिये (त्वा) तुझे, वा (सूर्याय) सूर्य के सदृश गुणों के लिये (त्वा) तुझे, शिक्षा करती हैं, वैसे तू भी (दिवि) समस्त सुखों के प्रकाश करने के निमित्त (इमम्) इस (अध्वरम्) निरन्तर सुख देनेवाले गृहाश्रम रूपी यज्ञ को (ऊर्ध्वम्) उन्नति (यच्छ) दिया कर ॥ २५ ॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है] ॥

भावार्थः—जैसे अपने पतियों की सेवा करती हुई उन के समीप रहने वाली पतिव्रता गुरुपत्नियां अग्निहोत्रादि कर्मों में स्थिरबुद्धि रखती हैं, वैसे विवाह के अनन्तर ब्रह्मचारिणी कन्याओं और ब्रह्मचारियों को परस्पर वर्त्तना चाहिये ॥ २५ ॥

सोम राजन्नित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । [सोमो देवता] । [भुरिग्] गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
शृणोत्वित्यस्यार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ गुरुजनः क्षत्रियं शिष्यं प्रजाजनांश्च प्रत्युपदिशति[2] ॥

सोम॑ राज॒न् विश्वा॒स्त्वं प्र॒जा ऽ उ॒पाव॑रोह॒ विश्वा॒स्त्वां प्र॒जा ऽ उ॒पाव॑रोहन्तु ।
शृ॒णोत्व॒ग्निः स॒मिधा॒ हवं॑ मे शृ॒ण्वन्त्वापो॑ धि॒षणा॑श्च दे॒वीः ।
श्रोता॑ ग्रावाणो वि॒दुषो॒ न य॒ज्ञꣳ शृ॒णोतु॑ दे॒वः स॑वि॒ता हवं॑ मे स्वाहा॑ ॥ २६ ॥

सोम॑ । रा॒ज॒न् । विश्वाः॑ । त्वम् । प्र॒जा इति॑ प्र॒ऽजाः । उ॒पाव॑रो॒हेत्यु॑प॒ऽअव॑रोह । विश्वाः॑ । त्वाम् । प्र॒जा इति॑† प्र॒ऽजाः । उ॒पाव॑रोह॒न्त्वित्यु॑प॒ऽअव॑रोहन्तु ॥ शृ॒णोतु॑ । अ॒ग्निः । स॒मिधेति॑† सम्ऽइधा॑ । हव॑म् । मे॒ । शृ॒ण्वन्तु॑ ।

1 पूर्वोक्त अर्थ को पुष्ट करते हैं—॥ २५ ॥

2 क्षत्रियस्यैव राज्यपालनेऽधिकृतत्वाद् भृशमसौ राष्ट्रकर्मणि शिक्षणीय इत्युच्यते—

‡ 'अनुशास्मः' इत्यजमेरमुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥
† अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते ॥

आपः। धिषणाः। च। देवीः॥ श्रोत। ग्रावाणः। विदुषः। न। यज्ञम्। शृणोतु। देवः। सविता। हवम्। मे। स्वाहा॥ २६॥

पदार्थः—(सोम[1]) प्रशस्तैश्वर्य्ययुक्त (राजन्[2]) सर्वोत्कृष्टगुणैः प्रकाशमान ! (विश्वाः) सर्वाः (त्वम्) (प्रजाः) पालनीयाः (उपावरोह) उपवर्तस्व (विश्वाः) सर्वाः (त्वाम्) पितरमपत्यानीव* सुखाय (प्रजाः) प्रजननीयाः (उपावरोहन्तु) समुपाश्रयन्तु (शृणोतु) (अग्निः) पावकः (समिधा) समिधेव (हवम्) अर्चनम् (मे) मम (शृण्वन्तु) (आपः) शुभगुणकर्मव्याप्ताः (धिषणाः) धृष्टा वाचो यासां ताः। धिषणेति वाङ्ना० निघ० १। ११ (च) पक्षान्तरे (देवीः) विदुष्यः (श्रोत) शृणुत, अत्र तस्य स्थाने तप्तनप्तनथनाश्च अ० ७। १। ४५ अनेन तबादेशः, द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६। ३। १३५] इति दीर्घः, बहुलं छन्दसि [अ० २। ४। ७३] इति श्नुलोपश्च[3]। (ग्रावाणः[4]) सदसद्विवेचका विद्वांसः। ग्रावाण इति पदनामसु पठितम् निघ० ५। ३। (विदुषः) (न) इव (यज्ञम्) (शृणोतु) (देवः) विद्याप्रकाशितः (सविता) ऐश्वर्य्यवान् (हवम्) (मे) मम (स्वाहा) स्तुतियुक्ता वाग्‡ यथा तथा॥ अयम्मन्त्रः शत० ३। ९। ३। ६–२४ व्याख्यातः॥ २६॥

[अत्रोपमालंकारो वाचकलुप्तोपमालंकारश्च]।

अन्वयः—हे सोम राजँस्त्वं पितेव विश्वाः प्रजा उपावरोह, त्वां विश्वाः प्रजा अपत्यानीवोपावरोहन्तु। [हे सभाध्यक्ष[5]] भवान् समिधाग्निरिव मे मम प्रजाजनस्य हवं शृणोतु, † आपो धिषणा देवीः देव्यः पत्न्यश्च मातरमिव स्त्रीन्यायं शृण्वन्तु। हे ग्रावाणः स्तावका विद्वांसः सभासदो यूयं मम हवं श्रोत, देवः सविता भवान् विदुषो यज्ञं न इव मे मम हवं स्वाहा शृणोतु॥ २६॥

भावार्थः—राजा प्रजाश्च परस्परानुमत्या सर्वान् राज्यव्यवहारान् पालयेयुरिति॥ २६॥

---

१ सोमो राजा राजपतिः॥ तै० २। ५। ७। ३॥ सोमो हि प्रजापतिः॥ श० ५। १। ५। २६॥

२ जातावेकवचनम्॥

३ अनेन सूत्रेण शपो लुकि श्नोरभाव इत्यर्थः। विषयोऽयमस्माभिः पूर्वं य० १। १५ टिप्पण्यां विस्तरशो व्याख्यातस्तत्र एव द्रष्टव्यः॥

४ विद्वाꣳसो हि ग्रावाणः॥ श० ३। ९। ३। १४ अस्यैव मन्त्रस्य व्याख्यान इत्यपि ध्येयम्। प्राणा वै ग्रावाणः॥ श० १४। २। २। ३३॥

५ अत्र जातावेकवचनम्॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उपावरोह, उपावरोहन्तु) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति तिङ्निघातः। गतिर्गतौ (अ० ८। १। ७०) इति 'उप'शब्दस्य निघातत्वम्। उदात्तगतिमता च तिङा० (अ० २। २। १८ भा० वा०) इति समासः॥

(विदुषः) विदेः शतुर्वसुः (अ० ७। १। ३६) इति वस्वादेशे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे स्थानिवद्भावात् शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६। १। १७३) इति विभक्त्युदात्तत्वं प्राप्नोति, तत्परिहाराय भगवता भाष्यकारेण 'अनुम' इति तनादिकृञ्भ्य उः (अ० ३। १। ७९) इत्युकारात् आनुमो मकारात् प्रत्याहारग्रहणमुक्तम्, न उम् अनुम्—अनुम्ग्रहणे च न शत्रन्तं विशेष्यते, किं तर्हि शत्रैव विशेष्यते शता योऽनुम्क इति (अ० १। १। ५६ भा०) चोक्तं, तेन विभक्तिरुदात्तैव॥

* अत्र 'पितरमपत्यानीव (प्रजाः) सुखाय प्रजननीयाः' इति अ० मु० पाठः, स च व्यस्तः॥

‡ अत्र 'यथा तथा' इत्यपपाठः॥

† इतः पूर्वं 'या' इति अ० मुद्रिते व्यर्थः पाठः॥

अब गुरुजन क्षत्रिय शिष्य और प्रजाजन को उपदेश करते हैं, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (सोम) श्रेष्ठ ऐश्वर्ययुक्त (राजन्) समस्त उत्कृष्ट गुणों से प्रकाशमान सभाध्यक्ष ! [(त्वम्)] तू पिता के तुल्य (विश्वाः) समस्त (प्रजाः) प्रजाजनों का (उपावरोह) समीपवर्ती होकर रक्षा कर और (त्वाम्) तुझे [(विश्वाः) समस्त] (प्रजाः) प्रजाजन पुत्र के समान (उपावरोहन्तु) आश्रित हों, हे सभाध्यक्ष ! आप जैसे (समिधा) प्रदीप्त करनेवाले पदार्थ से (अग्निः) सर्व गुण वाला अग्नि प्रकाशित होता है, वैसे (मे) मेरी (हवम्) प्रगल्भवाणी को (शृणोतु) सुन के न्याय से प्रकाशित हूजिये । (च) और (आपः) सब गुणों में व्याप्त (धिषणाः) विद्या बुद्धि युक्त (देवीः) उत्तमोत्तम गुणों से प्रकाशमान तुम लोगों की पत्नियां भी माताओं के समान स्त्रीजनों के न्याय को (शृण्वन्तु) सुनें । हे (ग्रावाणः) सत् असत् के विवेक करनेवाले विद्वान् सभासदो ! तुम हम लोगों के अभिप्राय को हमारे कहने से (श्रोत) सुनो । तथा (देवः) विद्या से प्रकाशित (सविता) ऐश्वर्यवान् सभापति (विदुषः) विद्वानों के (यज्ञम्) यज्ञ के (न) समान (मे) हमारे प्रजा लोगों के (हवम्) निवेदन को (स्वाहा) स्तुतिरूप वाणी को जैसे हो वैसे (शृणोतु) सुने ॥ २६ ॥

[इस मन्त्र में उपमा तथा वाचकलुप्तोपमालंकार हैं] ॥

भावार्थः—राजा और प्रजाजन परस्पर सम्मति से समस्त राज्य व्यवहारों की पालना करें ॥ २६ ॥

देवीराप इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आपो देवता । निचृदार्षीत्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरेते कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते[2] ॥

देवीरापो ऽ अपां नपाद्यो वं ऽ ऊर्मिर्हविष्य ऽ इन्द्रियावान् मदिन्तमः ।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषां भाग स्थ स्वाहा ॥ २७ ॥

देवीः । आपः । अपाम् । नपात् । यः । वः । ऊर्म्मिः । हविष्यः । इन्द्रियावान् । ‡ इन्द्रियवानितीन्द्रियऽवान् । मदिन्तम इति † मदिन्ऽतमः ॥ तम् । देवेभ्यः । देवत्रेति † देवऽत्रा । दत्त । शुक्रपेभ्य इति † शुक्रऽपेभ्यः । येषाम् । भागः । स्थ । स्वाहा ॥ २७ ॥

पदार्थः—(देवीः) दिव्याः (आपः[3]) आप्ताः प्रजाः (अपांनपात्) अविनश्वरः (यः) (वः) युष्माकम् (ऊर्मिः) जलतरङ्ग इव (हविष्यः) हविर्भ्यो हितः (इन्द्रियावान्) प्रशस्तानीन्द्रियाणि यस्मिन् सः (मदिन्तमः) मदयतीति [मदः सोऽस्यास्तीति] मदी सोतिशयितः नाद् घस्य अ० ८ । २ । १७ । इति मदिन्शब्दान्नुडागमः (तम्) देवेभ्यः विद्वद्भ्यः (देवत्रा) दिव्यान् गुणान् (दत्त) (शुक्रपेभ्यः)

(शृणोतु) भिन्नवाक्यत्वान्निघाताभावः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 क्षत्रिय का ही राज्यपालन में अधिकार है, इसलिये राजनीति की शिक्षा उसे विशेषरूप से देनी चाहिये, सो बतलाते हैं— ॥ २६ ॥

2 राष्ट्रपालनाय न्यायादिकर्मनिर्वाहाय च प्रजा राज्ञे करं दद्यादित्युच्यते—

3 'आप्लृ व्याप्तौ' इति 'श्रेष्ठगुणेषु व्याप्ताः प्रजाः' इत्यर्थः ॥

‡ 'इन्द्रियावानितीन्द्रियवान्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥ † अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते ॥

शुक्रं वीर्यं [पान्ति] रक्षन्ति तेभ्यः (येषाम्) (भागः) (स्थ) (स्वाहा) ॥ अयम्मन्त्रः शत० ३ । ९ । ३ २५ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे आपो देवीर्देव्यः प्रजा यूयं राजभक्ता स्थ भवत, शुक्रपेभ्यो देवेभ्यो येषां वो युष्माकं [योऽ] पांनपादूर्मिरिन्द्रियावान् मदिन्तमो हविष्यो भागोऽस्ति, तं स्वाहा सद्वाचा गृह्णीत । यथा राजादयः सभ्या जना देवत्रा दिव्यान् भोगान् युष्मभ्यं प्रददति, तथैतेभ्यो यूयमपि दत्त ॥ २७ ॥

भावार्थः—प्रजाजनानामिदमुचितम्, उत्कृष्टगुणं सभापतिं मत्वा राज्यपालनाय करं दत्त्वा [ते] न्यायं प्राप्नुयुरिति ॥ २७ ॥

फिर राजा और प्रजा कैसे वर्त्ताव को वर्तें, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (आपः) श्रेष्ठ गुणों में व्याप्त (देवीः) शुभकर्मों से प्रकाशमान प्रजालोगो ! तुम राजसेवी [राजभक्त] (स्थ) हो, (शुक्रपेभ्यः) शरीर और आत्मा के पराक्रम के रक्षक (देवेभ्यः) दिव्य गुणयुक्त

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आपः, अपां नपात्) आमन्त्रितनिघातः ॥

(अपां, नपात्) व्यत्ययेनात्र प्रथमार्थे सम्बुद्धिः । 'नपात्' इति आमन्त्रितस्य० (८।१।१९) इति निघातः । 'अपाम्' इत्यत्र सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे (अ० २ । १ । २) इति पराङ्गवद्भावे सर्वानुदात्तत्वम् ।

यत्तु कश्चित् 'अपां नपात् इति वनस्पत्यादित्वाद् द्विस्वरः' इत्याह । तदयुक्तम् । वेदे अपांनपात् इत्यत्रान्तिमपकारस्थाकारस्यानुदात्तत्वं तत्पूर्वेषामैकश्रुत्यं च दृश्यते, तस्मान्नात्र द्विस्वरः सम्भवति । अपि चात्र पदकारा 'अपाम् । नपात्' इति पदविभागं कुर्वन्ति, तेन समासाभावोऽत्र स्पष्ट एव, वनस्पत्यादिस्वरस्तु समास एव भवति । अन्यच्च तत्र मूलपाठे 'अपां नपात्' इत्येवं स्वरो मुद्रितः, सोऽप्ययुक्तः सर्वसंहिताविरोधात् ॥

(ऊर्मिः) अर्तेरूच्च (उ० ४।४) इति 'मि' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । क्वचित् 'उच्च' इति पठ्यते, तदयुक्तं, तथासति तपरोच्चारणाद् दीर्घत्वं न स्यात् ॥

देवराजस्तु—'ऊर्णोतेर्णुलोपश्च' इति मिप्रत्यय इति केचित् इत्याह (पृ० ४४) ॥

(हविष्यः) तस्मै हितम् (अ० ५ । १ । ५) इत्यर्थे उगवादिभ्यो यत् (अ० ५ । १ । २) इति यत्, तित् स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८५) इति स्वरितत्वम् ॥

(इन्द्रियावान्) इन्द्रियशब्दो घच्प्रत्ययान्तत्वादन्तोदात्तः, तस्मात् तदस्यास्त्य० (अ० ५ । २ । ९४) इति प्रशंसार्थे मतुप् । ह्रस्वनुड्भ्याम्० (अ० ६ । १ । १७६) इति मतुप उदात्तत्वे प्राप्ते न गोश्वन्साववर्ण० (अ० ६ । १ । १८२) इति प्रतिषेधे पूर्वस्वरः । ततो मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ (अ० ६ । ३ । १३१) इति दीर्घत्वम् ॥

(मदिन्तमः) मदशब्दात् अत इनिठनौ (अ० ५ । २ । ११५) इति मत्वर्थीय इनिः, प्रत्ययस्वरः । ततस्तमप्, स च पित्वादनुदात्तः ॥

(दत्त) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(शुक्रपेभ्यः) शुक्रं पान्तीति शुक्रपाः, आतो मनिन्० (अ० ३।२।७४) इति विच् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

1 राष्ट्रपालन एवं न्यायादिकर्मों को अच्छे प्रकार चलाने के लिये प्रजा राजा को कर दे, यह बताते हैं— ॥ २७ ॥

विद्वानों के लिये (येषाम्) जिन (वः) तुम ✽ विद्वानों का (यः) जो (अपांनपात्) जलों के नाशरहित स्वाभाविक (ऊर्मिः) जलतरंग के सदृश प्रजारक्षक (इन्द्रियावान्) जिसमें प्रशंसनीय इन्द्रियां होती हैं, और (मदिन्तमः) आनन्द देनेवाला (हविष्यः) भोग के योग्य पदार्थों से निष्पन्न (भागः) बलिरूप भाग है, तुम सभी (तम्) उसको (स्वाहा) आदर के साथ ग्रहण करो, जैसे राजादि सभ्यजन (देवत्रा) दिव्य भोग देते हैं, वैसे तुम भी इनको आनन्द (दत्त) देओ ॥ २७ ॥

भावार्थः—प्रजाजनों को यह उचित है कि आपस में संमति कर किसी उत्कृष्टगुणयुक्त सभापति को राजा मान कर राज्यपालन के लिये कर देकर न्याय को प्राप्त हों ॥ २७ ॥

कार्षिरसीत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । प्रजा देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथाध्यापको जनः प्रतिजनं [वैश्यं] किं किमुपदिशेदित्युच्यते[1] ॥

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्या ऽ उन्नयामि । समापो ऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ॥२८॥

कार्षिः । असि । समुद्रस्य । त्वा । अक्षित्यै । उत् । नयामि ॥ सम् । आपः । ⦅⦆ अद्भिरित्यत्ऽभिः । अग्मत । सम् । ओषधीभिः । ओषधीः ॥ २८ ॥

पदार्थः—(कार्षिः[2]) कर्षति हलेन भूमिमिति, इञ् वपादिभ्यः (अ० ३ । ३ । १०८ मा० वा०) इतीञ् (असि) (समुद्रस्य) अन्तरिक्षस्य । समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघ० १ । ३ (त्वा) त्वाम् (अक्षित्यै) (उत्) उत्कृष्टे (नयामि) (सम्) (आपः) जलानि (अद्भिः) जलैरेव (अग्मत) प्राप्नुत । लोडर्थे लुङ् (सम्) (ओषधीभिः) सोमादिभिः (ओषधीः) ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ९ । ३ । २६–३१ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे वैश्यजन ! त्वं कार्षिरसि (त्वा) त्वां समुद्रस्याक्षित्यै समुन्नयामि, सर्वे यूयं यज्ञशोधिताभिरद्भिरेवाप ओषधीभिरोषधीः समग्मत ॥ २८ ॥

भावार्थः—क्षेत्रादिभूमिषु नानौषधयो जायन्त ओषधीभिरग्निहोत्रादयो यज्ञा यज्ञैरन्तरिक्षं जलपरमाणुभिः पूर्णं भवतीति हेतोर्विद्वांसो निर्बुद्धिजनान् क्षेत्रादिषु नयन्ति, कुतस्ते विद्यामभ्यसितुं समर्था एव न भवन्तीति ॥ २८ ॥

अब अध्यापक जन प्रत्येक (वैश्य) जन को क्या २ उपदेश करे, यह अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

---

१ राज्यैश्वर्यसमृद्ध्यै वैश्यानां महत्यावश्यकतेति कृत्वा तच्छिक्षणप्रकारमाह—

२ 'का ऋषिः' इति तैत्तिरीयसंहितापदपाठः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कार्षिः) यद्वा कृषेर्वृद्धिश्छन्दसि (उ० ४ । १२७) इति इञ् । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अक्षित्यै) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ राज्य के ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये वैश्यों की अत्यावश्यकता है, इसलिये उनकी शिक्षा का प्रकार बतलाते हैं—

✽ 'तुम्हारा बलीरूप विद्वानों को' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥ ⦅⦆ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—हे वैश्यजन ! तू (कार्षिः) हल जोतने योग्य (असि) है, (त्वा) तुझे (समुद्रस्य) अन्तरिक्ष के (अक्षित्यै) परिपूर्ण होने के लिये (सम् उत् नयामि) अच्छे प्रकार उत्कर्ष देता हूँ, तुम सब लोग (अद्भिः) यज्ञशोधित जलों से (आपः) जल और (ओषधीभिः) ओषधियों से [(ओषधीः)] ओषधियों को (सम् अग्मत) प्राप्त होओ ॥ २८ ॥

भावार्थः—क्षेत्र आदि स्थानों में अनेक ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, ओषधियों से अग्निहोत्र आदि यज्ञ, यज्ञों से शुद्ध हुए जो जल के परमाणु ऊँचे चढ़ते हैं, उनसे आकाश भरा रहता है, इस कारण विद्वान् लोग निर्बुद्धि जनों को खेती बाड़ी ही के कामों में रखते हैं, क्योंकि वे विद्या का अभ्यास करने को समर्थ ही नहीं होते हैं ॥ २८ ॥

यमग्न इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ स विद्वांसं किमाहेत्युपदिश्यते[1] ॥

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥ २९ ॥

यम् । अग्ने । पृत्स्विति❋ पृत्ऽसु । मर्त्यम् । अवाः । वाजेषु । यम् । जुनाः ॥ सः । यन्ता । शश्वतीः । इषः । स्वाहा ॥ २९ ॥

पदार्थः—(यम्) (अग्ने) सर्वगुणवर ! (पृत्सु[2]) संग्रामेषु । पृत्स्विति संग्रामनामसु पठितम् । निघ० २ । १७ । (मर्त्यम्) मनुष्यम् (अवाः) रक्षेः (वाजेषु[3]) अन्ननिमित्तक्षेत्रादिषु (यम्) (जुनाः) गमयेः (सः) (यन्ता) (शश्वतीः) अविनश्वराः (इषः[4]) इष्यन्ते यास्ताः प्रजाः (स्वाहा) उत्साहिकया वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ९ । ३१–३२ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

---

१ विद्वांस एव सुखसाधनोत्पादने समर्था इत्यत आह—

२ पूर्वं (य० ३ । ४६ पृ० ३२५) विवरणे व्याख्यातः ॥

३ वाजनिमित्तेष्वन्ननिमित्तेषु, निमित्तात् कर्मसंयोगे (अ० २ । ३ । ३६ भा० वा०) इति निमित्तार्थे सप्तमी ॥

४ प्रजा वा इषः । श० १ । ७ । ३ । १४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अवाः) अवतेर्लेटि मध्यमैकवचनं, शप्, आडागमः, इकारलोपश्च । यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः ॥

(जुनाः) 'जु गतौ' सौत्रो धातुः । ततो लेटि मध्यमैकवचने श्ना, शेषं पूर्ववत् ॥

(यन्ता) यमु उपरमे (भ्वा० प०) इत्येतस्मात् तृन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(शश्वतीः) "शश्वत् टुओश्वि गतिवृद्ध्योः संश्वत्तृपद्वेहत् ० (उ० २ । ८५) इत्यादिना द्विर्वचनम्, अभ्यासवका [रस्य लोपः], इकारस्याकारो डित्त्वमाद्युदात्तत्वं च निपात्यत" इति देवराजः (पृ० २९५) । शतृवदतिदेशात् उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीप् ।

शश प्लुतगतौ बाहुलकाद् वत् इति अमरटीकायां (३ । ३ । २४३) भानुजिदीक्षितः । अत्र स्वरसिद्धिरपि बाहुलकाद् बोध्या ॥ 'तृन्' इति कश्चिद्, कथं तत्र रूपसिद्धिरिति न तेनोक्तम् ॥

"ऊनम् शश्वत्" इति चादिषु पठ्यते, ततो निपातसंज्ञायां "निपाता आद्युदात्ताः" (फि० ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

❋ अवग्रहचिह्नरहितोऽयपाठो अजमेरमुद्रिते ॥

अन्वयः[1]—हे अग्ने त्वं पृत्सु यं मर्त्यमवा यं च वाजेषु जुनाः, स स्वाहा शश्वतीरिषो यन्ता स्यात् ॥ २९ ॥

भावार्थः—गुरुशिक्षया सर्वस्य सुखं वर्द्धत एव ॥ २९ ॥

अब वह अध्यापक को क्या कहता है, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सब ❀ गुणों से युक्त ! आप (पृत्सु) संग्रामों में (यम्) जिस [(मर्त्यम्)] मनुष्य की (अवाः) रक्षा करते और (वाजेषु) अन्न आदि पदार्थों की सिद्धि करने के निमित्त [क्षेत्रादि में] (यम्) जिसको (जुनाः) नियुक्त करते हो (सः) वह [(स्वाहा) उत्साहवर्धक वाणी द्वारा] (शश्वतीः) निरन्तर अनादिरूप (इषः) अपनी प्रजाओं का (यन्ता) ¶ नियन्ता होता है, अर्थात् उनको नियमों § में चलाता है ॥ २९ ॥

भावार्थः—गुरुजनों की शिक्षा से सब का सुख बढ़ता ही है ॥ २९ ॥

देवस्य त्वेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । सविता देवता । स्वराडार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
[उत्तमेनेत्यस्य निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥]

अथ सभापतिः करधनप्रदं प्रजापुरुषं कथं स्वीकुर्य्यादित्युपदिश्यते[3] ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे᳖ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
आद॑दे॒ रावा॑सि गभी॒रमि॒मम॑ध्व॒रं कृ॒धीन्द्रा॑य सु॒षूत॑मम् ।
उ॒त्त॒मेन॑ प॒विनोर्ज॑स्वन्तं॒ मधु॑मन्तं॒ पय॑स्वन्तं निग्रा॒भ्या᳖ स्थ दे॒व॒श्रुत॑स्त॒र्पय॑त मा ॥३०॥

दे॒वस्य॑ । त्वा॒ । स॒वि॒तुः । † प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे । अ॒श्विनोः॑ । बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म् । पू॒ष्णः । ‡ हस्ता॑भ्याम् ॥ आ । द॒दे॒ । रावा॑ । अ॒सि॒ । ग॒भी॒रम् । इ॒मम् । अ॒ध्व॒रम् । कृ॒धि॒ । इन्द्रा॑य । () सु॒षूत॑मम् । सु॒सूत॑म॒मिति॑ सु॒ऽसूत॑मम् ॥ उ॒त्त॒मेनेत्यु॑त् ❀ ऽत॒मेन॑ । ❀ प॒विना॑ । ऊर्ज॑स्वन्तम् । मधु॑मन्त॒मिति॒ ❀ मधु॑ऽमन्तम् । पय॑स्वन्तम् । नि॒ग्रा॒भ्या॒ इति॑ ❀ निऽग्रा॒भ्याः᳖ । स्थ॒ । दे॒व॒श्रु॒त॒ इति॑ ❀ दे॒व॒ऽश्रु॒तः॑ । त॒र्पय॑त । मा॒ ॥ ३० ॥

---

१ मन्त्रोऽयं ऋ० १ । २७ । ७ भाष्ये ईश्वरपरत्वेन व्याख्यातः ॥

२ विद्वान् ही सुख के साधन उत्पन्न करने में समर्थ है, अतः कहते हैं—

३ एवं शिक्षाध्यापकयोर्महत्त्वमुपवर्ण्य राजप्रजयोः करदानादानप्रकारमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रावा) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३ । २ । ७४) इति वनिप् । धातुस्वरः ॥

❀ 'सब कभी विवेक के करनेवाले आप' इति अ० मुद्रिते संस्कृतानुसारी पाठः ॥
¶ 'निर्वाह करनेहारा' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥ § 'नियमों को पहुँचता है' इति अ० मुद्रिते ऽपपाठः ॥
† 'प्रसवे' इत्येव द्विरावृत्त्यवग्रहादिरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
‡ 'हस्ताभ्यामिति हस्ताभ्याम्' इत्यपपाठो ऽजमेरमुद्रिते ॥ () 'सुषूतममिति सुषूतमम्' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
❀ अवग्रहचिह्नऽरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते ॥ ❀ पदमिदं न दृश्यतेऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वसुखप्रदातुः (त्वा) त्वाम्, करधनदातारम् (सवितुः) सकलैश्वर्यस्य प्रसवितुर्जगदीश्वरस्य (प्रसवे) प्रसूते जगति (अश्विनोः) सूर्य्याचन्द्रमसोः (बाहुभ्याम्) बलवीर्य्याभ्याम् (पूष्णः) सोमाद्योषधिगणस्य (हस्ताभ्याम्) रोगनाशकधातुसाम्यकारकाभ्यां गुणाभ्याम् (आददे) गृह्णामि (रावा) दाता (असि) (गभीरम्) अगाधगुणम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (अध्वरम्) निष्कौटिल्यम् (कृधि) कुरु (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मह्यम् (सुषूतमम्) सुष्ठु सूते तम् (उत्तमेन) प्रशस्तेनैव (पविना) वाचा । पविरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ (ऊर्जस्वन्तम्) उत्तमपराक्रमसम्बन्धिनम् (मधुमन्तम्) प्रशस्तमध्वादिपदार्थयुक्तम् (पयस्वन्तम्) बहुदुग्धादिमन्तम् (निग्राभ्याः) नितरां ग्रहीतुं योग्याः (स्थ) भवथ (देवश्रुतः) या देवान् शृण्वन्ति ताः (तर्पयत) प्रीणीत (मा) माम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ९ । ४ । ३–६ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे प्रजाजन ! [यतस्त्वं रावाऽसि, अतः] अहं देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां [त्वा] त्वामाददे त्वमिन्द्राय मह्यमुत्तमेन पविना वचसेमं गभीरं सुषूतम मूर्जस्वन्तं [मधुमन्तं] पयस्वन्तं करदायमध्वरं कृधि । हे देवश्रुतः* प्रजा यूयं निग्राभ्या मया नितरां ग्रहीतुं योग्याः स्थ मा मामनेन करदायधनेन तर्पयत ॥ ३० ॥

भावार्थः—प्रजाजनानां योग्यतास्ति [यत्ते] राजानमागत्य तस्मै सर्वेषां स्वकीयपदार्थानां यथायोग्यमंशं दद्युर्यतः स भूमिगतपदार्थानामंशभागी भवतीति ॥ ३० ॥

अब सभापति कर [रूपी] धन देनेवाले प्रजाजन को कैसे स्वीकार करे, यह† अगले मन्त्र में कहा है[२] ॥

(गभीरम्) गमधातोरीरन् प्रत्ययः, निपातनात् (उ० ४ । ३५) । मकारस्य भकारोऽन्तोदात्तत्वं च ।

(कृधि) 'डुकृञ् करणे' इत्यस्माद्धातोर्लोटि हौ बहुलं छन्दसि (अ० २ । ४ । ७३) इति शपो लुकि श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि (अ० ६ । ४ । १०४) इति हेर्धित्वे तिङ्ङतिङः (अ०८।१।२८) इति निघातः ।।

(सुषूतमम्) सुपूर्वात् 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इत्यस्मात् क्विपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ततस्तमप् ।

(उत्तमेन) उच्छब्दात् तमपि आद्युदात्तत्वे प्राप्ते 'उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र' इति गणसूत्रात् (अ० ६ । १ । १६० काशि०) अन्तोदात्तः ।।

यथा तु महाभाष्यम्—(अ० ४ । १ । ७८) तथाऽऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति प्रतीयते, तथा सति फिषोऽन्त उदात्तः (फि० १) इत्येवान्तोदात्तत्वम् ।।

(पविना) 'पूञ् पवने' (क्र्या० उ०) इत्यस्माद् अच इः (उ० ४ । १३९) इति 'इ' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(ऊर्जस्वन्तं, पयस्वन्तम्) ऊर्जःपयश्शब्दावसुन्प्रत्ययान्तावाद्युदात्तौ, ततो मतुप्, सोऽनुदात्तः ।।

(निग्राभ्याः) निपूर्वाद् ग्रहेर्ण्यत् । हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य (अ० ८ । २ । ३२ मा० वा०) इति भकारः । कृत्स्वरे तित् स्वरितम् (अ० ६।१।१८५) इति स्वरितत्वम् ॥

(तर्पयत) भिन्नवाक्यत्वान्निघाताभावः । अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे ण्यन्तस्य धातोः स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अस्य पूर्वार्द्धः पूर्वं (य० ६ । १ पृ० ५१३, ५१४) व्याख्यातः ॥

२ इस प्रकार शिक्षा तथा अध्यापकों का महत्त्व वर्णन करके राजा और प्रजा के कर देने तथा लेने आदि व्यवहार का वर्णन करते हैं— ॥३०॥

---

* 'देवश्रुतो' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

† इतोऽग्रे 'गुरुजन का उपदेश' इति अ० मुद्रिते संस्कृताननुसारी पाठः ॥

पदार्थः—[हे* प्रजाजन ! जिस कारण तू (रावा) देने योग्य (असि) है, अतः मैं (देवस्य)] सब सुख देने (सवितुः) और समस्त ऐश्वर्य के उत्पन्न करनेवाले जगदीश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये हुए संसार में (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्रमा के (बाहुभ्याम्) बल और पराक्रम गुणों से (पूष्णः) पुष्टि करनेवाले सोम आदि औषधिगण के (हस्ताभ्याम्) रोग नाश करने और धातुओं की समता रखनेवाले गुणों से (त्वा) तुझे करधन देनेवाले को (आददे) स्वीकार करता हूँ, तू (इन्द्राय) परमैश्वर्यवाले मेरे लिए (उत्तमेन) उत्तम अर्थात् सभ्यता की (पविना) वाणी से (इमम्) इस (गभीरम्) अत्यन्त समझने योग्य (सुपूतमम्) सब पदार्थों से उत्पन्न हुए (ऊर्जस्वन्तम्) राज्य को बलिष्ठ करनेवाले (मधुमन्तम्) समस्त मधु आदि श्रेष्ठ पदार्थयुक्त (पयस्वन्तम्) दुग्ध आदि सहित करधन को (अध्वरम्) निष्कपट (कृधि) कर दे, (देवश्रुतः) श्रेष्ठ राज्य गुणों को सुननेवाले तुम मेरे (निग्राभ्याः) निरन्तर स्वीकार करने के योग्य (स्थ) हो (मा) मुझे इस कर के देने से (तर्पयत) तृप्त करो ॥ ३० ॥

भावार्थः—प्रजाजनों की योग्यता है कि सभाध्यक्ष को प्राप्त होकर उस के लिए अपने समस्त पदार्थों से यथायोग्य भाग दें, जिस प्रकार राजा प्रजापालन के लिए संसार में उत्पन्न हुआ है, इसी से राज्य करनेवाला यह राजा संसार के पदार्थों का अंश लेनेवाला होता है ॥ ३० ॥

मनो म इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । प्रजासभ्यराजानो देवताः । [× याजुष्यः] उष्णिजश्छन्दांसि । ऋषभः स्वरः ॥

अथ राजा सभ्यजनान्, सभा राजानं च किमुपदिशेदित्याह[1] ॥

मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून् मे तर्पयत गणान् मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन् ॥ ३१ ॥

मनः । मे । तर्पयत । वाचम् । मे । तर्पयत । प्राणम् । मे । तर्पयत । चक्षुः । मे । तर्पयत । श्रोत्रम् । मे । तर्पयत । आत्मानम् । मे । तर्पयत । प्रजामिति ÷ प्रऽजाम् । मे । तर्पयत । पशून् । मे । तर्पयत । गणान् । मे । तर्पयत । गणाः । मे । मा । वि । तृषन् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(मनः) अन्तःकरणम् (मे) मम (तर्पयत) (वाचम्) (मे) (तर्पयत) (प्राणम्) (मे) (तर्पयत) चक्षुः (मे) (तर्पयत) (श्रोत्रम्) (मे) (तर्पयत) (आत्मानम्) (मे) (तर्पयत) (प्रजाम्) सन्तानादिकाम् (मे) (तर्पयत) (पशून्) गोहस्त्यश्वादीन् (मे) (तर्पयत) (गणान्) परिचारकादीन्) [(मे) मम] (तर्पयत) (गणाः) (मे) मम (मा) निषेधार्थे (वि) विरुद्धार्थे (तृषन्) तृषिता भवन्तु, अत्र लोडर्थे लुङ् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३।९।४।७-८ व्याख्यातः ॥३१॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आत्मानम्) पूर्व य० ४।१५ व्याख्यातः ॥
(गणान्) अजपि सर्वधातुभ्यः (अ० ३। १ ।

[1] राजा प्रजां विना, प्रजा च तं विना न किञ्चित् कर्त्तुं समर्था इति तयोर्व्यवहारं वर्णयति—

* 'हे प्रजाजन मैं सब सुख' इति ग. पाठः ॥

× सन्धिविच्छेदे 'आत्मानं मे तर्पयत' इत्यत्रैकाक्षराधिक्येनाष्टाक्षरत्वाद् याजुष्यनुष्टुप् सम्पद्यते । तत्र गान्धारः स्वरो द्रष्टव्यः ॥

÷ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

अन्वयः—हे सभाजनाः प्रजाजना वा ! यूयं स्वगुणैर्मे मम मनस्तर्पयत, मे वाचं तर्पयत, मे प्राणं तर्पयत मे चक्षुस्तर्पयत, मे श्रोत्रं तर्पयत, मे ममात्मानं तर्पयत, मे प्रजां तर्पयत मे पशूँस्तर्पयत, मे गणाँस्तर्पयत, यतो मे गणा मा वितृषन् तृषिता मा भवन्तु ॥ ३१ ॥

भावार्थः—सभाधीनमेव राज्यप्रबन्धो भवितुमर्हति, यतः सर्वे प्रजाजना राजसेवका राजजनाः प्रजासेविनो भूत्वा स्वेषु स्वेषु कर्म्मसु प्रवृत्त्यान्योन्यमभिमोदयेयुरिति ॥ ३१ ॥

अब राजा अपने सभासदों और सभा राजा को क्या उपदेश करे, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे सभ्यजनो अथवा हे प्रजाजनो ! तुम अपने गुणों से (मे) मेरे (मनः) मन को (तर्पयत) तृप्त करो [(मे)] मेरी (वाचम्) वाणी को (तर्पयत) तृप्त करो, (मे) मेरे (प्राणम्) प्राण को (तर्पयत) तृप्त करो, (मे) मेरे (चक्षुः) नेत्रों को (तर्पयत) तृप्त करो, (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कानों को (तर्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (आत्मानम्) आत्मा को (तर्पयत) तृप्त करो, (मे) मेरी (प्रजाम्) सन्तानादि प्रजा को (तर्पयत) तृप्त करो, (मे) मेरे (पशून्) गौ, हाथी, घोड़े आदि पशुओं को (तर्पयत) तृप्त करो, (मे) मेरे (गणान्) सेवकों को (तर्पयत) तृप्त करो, जिससे (मे) मेरे (गणाः) राज्य वा प्रजा कर्माधिकारी वा सेवक जन कामों में (मा) मत (वितृषन्) उदास हों ॥ ३१ ॥

भावार्थः—राज्य का प्रबन्ध सभाधीन ही होने के योग्य है, जिससे प्रजाजन राजसेवक और राजपुरुष प्रजा की सेवा करनेहारे अपने २ कामों में प्रवृत्त होके सब प्रकार एक दूसरे को आनन्दित करते रहें ॥ ३१ ॥

इन्द्राय त्वेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । सभापती राजा देवता । पञ्चपाद् [मध्ये] ज्योतिष्मती जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

राज्यव्यवहारः सभाधीन एव [स्यात्] तर्हि कस्मै प्रयोजनाय प्रजापुरुषैः सभापतिस्स्वीकार्य्य इत्युपदिश्यते[2] ॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत ऽ इन्द्राय त्वादित्यवत ऽ इन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने । श्येनाय त्वा सोमभृतेऽग्नये त्वा रायस्पोषदे ॥ ३२ ॥

---

१३४ भा० वा) इति 'अच्' । यद्वा एरच् (अ० ३।३।५६) इति कर्मणि 'अच्' । चित्वादन्तोदात्तत्वम् । 'एरजण्यन्तानाम्' इति तु न भाष्यारूढम् । सत्यपि वा घञि उञ्छादीनामाकृतिगणत्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(तृषन्) 'ञितृष् पिपासायाम्' (दि० प०) इत्येतस्मात् लुङि पुषादित्वादङि न माङ्योगे (अ० ६।४।७४) इत्यडभावः । तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ राजा और प्रजा एक दूसरे के सहयोग के बिना कुछ नहीं कर सकते, अतः उनके व्यवहार का वर्णन किया जाता है—॥ ३१ ॥

२ यदि सभयैव सर्वं कार्यं निष्पद्यते, तर्हि कृतं नियोजनेन सभाध्यक्षेणेत्याशङ्कां निराकरिष्णुराह—

इन्द्राय। त्वा। वसुमत इति † वसुऽमते। रुद्रवत इति † रुद्रऽवते। इन्द्राय। त्वा। आदित्यवत इत्यादित्यऽवते। इन्द्राय। त्वा। अभिमातिघ्न इत्यभिमातिऽघ्ने॥ श्येनाय। त्वा। सोमभृत इति † सोमऽभृते। अग्नये। त्वा। रायस्पोषद इति * रायस्पोषऽदे॥३२॥

पदार्थः—(इन्द्राय[1]) परमैश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (वसुमते) बहवो वसवश्चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्यसंपन्ना विद्वांसो विद्यन्ते यत्र तस्मै कर्म्मणे (रुद्रवते) प्रशस्ताः कृतचतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्या विद्वांसो वीराः शत्रुरोदयितारो रुद्रा भवन्ति यत्र तस्मै [(इन्द्राय) उत्तमगुणाय (त्वा) त्वाम् (आदित्यवते) कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्याः सूर्यवद् विद्वांसो भवन्ति यत्र तस्मै] (इन्द्राय) परमविद्याप्रकाशेनाविद्याविदारकाय (त्वा) त्वाम् (अभिमातिघ्ने) येनाभिमानयुक्ताः शत्रवो हन्यन्ते तस्मै (श्येनाय) श्येनवत्प्रवर्त्तमानाय (त्वा) त्वाम् (सोमभृते) यः सोममैश्वर्यसमूहं बिभर्त्तीति तस्मै (अग्नये) विद्युदादये (त्वा) त्वाम् (÷ रायस्पोषदे) धनस्य पुष्टिप्रदाय। सुपां सुलुक्० [अ० ७।१।३९] इति ङे स्थाने शे इत्यादेशः॥ अयं मन्त्रः शत० ३।९।४।९, [१०] व्याख्यातः॥ ३२॥

अन्वयः[2]—हे सभापते! वयं [वसुमते] रुद्रवत इन्द्राय त्वा आदित्यवत इन्द्राय त्वा अभिमातिघ्ने इन्द्राय त्वा सोमभृते श्येनाय त्वा रायस्पोषदेऽग्नये त्वा त्वां वृणुमः॥ ३२॥

भावार्थः—य इन्द्रानिलयमार्काग्निवरुणचन्द्रवित्तेशानां[3] गुणैर्युक्तो विद्वत्प्रियो विद्याप्रचारी सर्वेभ्यः सुखं दद्यात्, स एव सर्वैं राजा मन्तव्य इति॥ ३२॥

जो राज्यव्यवहार सभा के ही आधीन हो, तो किस लिये प्रजाजनों को सभापति का स्वीकार करना चाहिये, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है[4]॥

पदार्थः—हे सभापते! (वसुमते) जिस कर्म में चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य सेवन कर अच्छे २ विद्वान् होते हैं, (रुद्रवते) जिस में चवालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य सेवन कर () शत्रुजनों को रुलानेवाले होते हैं उस

---

१ पूर्वं य० १।१ पृ० १६ व्याख्यातः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वसुमते) पूर्वं य० २।८ व्याख्यातः॥

(रुद्रवते, आदित्यवते) इन्द्रियावान् य० ६।२७ शब्दवत् स्वरो द्रष्टव्यः॥

(अभिमातिघ्ने) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः, ततो विभक्तावकारलोपे अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६।१।१६१) इत्युदात्तत्वम्॥

(रायस्पोषदे) पूर्वं य० ५। १० व्याख्यातः। अत्र शे पक्षे अतो गुणे (अ० ६।१।९४) इति पररूपे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। अत्र पदकाराभिप्रेतः क्विप्प्रत्ययपक्षोऽपि पूर्वं यजुः ५।१ पृ० ४२४ द्रष्टव्यः।

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

२ भागशोऽयं मन्त्रः य० ३८।८ व्याख्यातः॥

३ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्। स कुबेरः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ इति मनुस्मृतेः (७।४।७) श्लोकावत्रानुसन्धेयौ॥

४ यदि सभा से ही सब कार्य सिद्ध हो जाये तो सभापति व्यर्थ है इस शङ्का का निवारण करने के लिये कहते हैं—

---

† अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते॥ † 'सोमभृते' इति द्विरुक्त्यवग्रहादिरहितोऽपपाठो ऽजमेरमुद्रिते॥

* 'रायस्पोषदे' इति पूर्ववद् द्विरुक्त्यादिरहितोऽपपाठः॥

÷ '(रायः) धनस्य (पोषदे) पुष्टिप्रदाय' इति० अ० मुद्रितेऽपपाठः। पदपाठे भाषापदार्थे च 'रायस्पोषदे' इत्येकपदस्य दर्शनात्॥

() 'शत्रुजनों को रुलाने वाले होते हैं' इति संस्कृतानुसारी पाठः। अ० मुद्रिते तु 'सेवन करते हैं उस' इति पाठः॥

(इन्द्राय) परमैश्वर्य * के लिए (त्वा) आपको ग्रहण करते हैं। (आदित्यवते) जिसमें अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य सेवन कर सूर्य सदृश परम विद्वान् होते हैं, उस (इन्द्राय) उत्तम गुण पाने के लिए (त्वा) आपको, (अभिमातिघ्ने) जिस कर्म में बड़े २ अभिमानी शत्रुजन मारे जायें उस (इन्द्राय) परमोत्कृष्ट शत्रुविदारक काम के लिए (त्वा) आप [को] (सोमभृते) उत्तम ऐश्वर्य धारण करनेहारे (श्येनाय) युद्धादि कामों में श्येनपक्षी के तुल्य लपट झपट कर मारनेवाले (त्वा) आप [को] (रायस्पोषदे) धन की दृढ़ता देने के लिए और (अग्नये) विद्युत् आदि पदार्थों के गुण प्रकाश कराने के लिए (त्वा) आप को, हम लोग स्वीकार करते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जो इन्द्र [वायु] यम सूर्य अग्नि वरुण [चन्द्र] और धनाढ्य [कुबेर[1]] के गुणों से युक्त विद्वानों का प्रिय विद्या का प्रचार करनेवाला सब को सुख देवे, उसी को राजा मानना चाहिए ॥ ३२ ॥

यत्त इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। सोमो देवता। भुरिगार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

ईदृशः सभापतिः प्रजायै किं प्रापयितुं शक्नोतीत्युपदिश्यते[2]॥

यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः ॥ ३३ ॥

यत्। ते। सोम। दिवि। ज्योतिः। +यत्। पृथिव्याम्। +यत्। ×उरौ। अन्तरिक्षे॥ तेन। ×अस्मै। यजमानाय। उरु। राये। कृधि। अधि। दात्रे। वोचः ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(यत्) (ते) तव (सोम) सकलैश्वर्यप्रेरक ! (दिवि) सूर्ये (ज्योतिः) ज्योतिरिव [(यत्)] (पृथिव्याम्) [(यत्)] (उरौ) विस्तृते (अन्तरिक्षे) अन्तराल आकाशे (तेन) (अस्मै) (यजमानाय[3]) परोपकारार्थयज्ञानुष्ठात्रे (उरु) बहु (राये) धनाय (कृधि) कुरु (अधि) अधिकार्थे (दात्रे) (वोचः) उच्याः। अत्र लिङर्थे लुङ्, [बहुलं] छन्दस्यमाङ्योगेऽपि [अ० ६। ४। ७५ ॥] इत्यडभावः॥ अयं मन्त्रः शत० ३। ९। ४। १२—१५ व्याख्यातः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे सोम सभापते! ते तव यत् दिवि [यत्] पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे ज्योतिरिव राज्यकर्मास्ति, तेन त्वं दात्रेऽस्मै यजमानायोरुकृधि रायेऽधिवोचश्च ॥ ३३ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥

१ पूर्व पृष्ठ की संस्कृत में मनुस्मृति के उद्धृत दोनों श्लोकों को मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट है कि वित्तेश और कुबेर दोनों शब्द एकार्थक हैं।

२ पूर्वोक्तमेवार्थमुपोद्वलयति—

३ यजमानो वै मेधपतिः॥ कौ० १०। ४॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(दात्रे) उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६। १। १७४) इति विभक्तिरुदात्ता॥

(वोचः) लुङि मध्यमैकवचने बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अ० ६। ४। ७५) इत्यडभावः। वच उम् (अ० ७। ४। २०) इत्युम्। तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः।

* इतोऽग्रे 'युक्तपुरुष' इति संस्कृतेनानन्वितः पाठः॥

+ 'यत्' पदं नास्ति अजमेरमुद्रिते॥

× स्वरचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते॥

भावार्थः—सभापतिस्स्वराज्योत्कर्षेण विद्यादिशुभगुणकर्मसु सर्वाञ्जनान् सुशिक्ष्य निरालस्यान् संपादयेत्, यतस्ते + पुरुषार्थमनुवर्तिनो भूत्वा धनादिपदार्थान् सततं वर्द्धयेयुरिति ॥ ३३ ॥

ऐसा सभापति प्रजा को क्या लाभ पहुँचा सकता है, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (सोम) समस्त ऐश्वर्य के निमित्त प्रेरणा करनेहारे सभापति ! (ते) तेरा (यत्) जो (दिवि) सूर्यलोक में [(यत्)] (पृथिव्याम्) पृथिवी में, और (यत्) जो (उरौ) विस्तृत (अन्तरिक्षे) आकाश में (ज्योतिः) जैसे ज्योति हो वैसा राज्यकर्म है, (तेन) उस से तू (अस्मै) इस परोपकार के अर्थ [(दात्रे) दान करने वाले] (यजमानाय) यज्ञ करते हुए यजमान के लिए (उरु) (कृधि) अत्यन्त उपकार कर तथा (राये) धन बढ़ाने के लिए (अधि वोचः) अधिक[2] राज्य-प्रबन्ध कर ॥ ३३ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—सभापति राजा अपने राज्य के उत्कर्ष से सब जनों को [विद्यादि शुभ गुण और कर्मों में सुशिक्षित करके] निरालस्य करता रहे, जिससे वे पुरुषार्थी होकर धनादि पदार्थों को निरन्तर बढ़ावें ॥ ३३ ॥

श्वात्रा स्थ इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराडार्षी पथ्या [वा] बृहतीच्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथोक्तानां सभापत्यादिविदुषां पत्न्यः कीदृशकर्मानुष्ठात्र्यो भवन्तीत्युपदिश्यते[2] ॥

श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ताऽ अमृतस्य पत्नीः ।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ॥ ३४ ॥

श्वात्राः । स्थ । वृत्रतुर इति ÷ वृत्रऽतुरः । राधोगूर्त्ता इति ÷ राधःऽगूर्त्ताः । अमृतस्य । पत्नीः ॥ ताः । देवीः । देवत्रेति ÷ देवऽत्रा । इमम् । यज्ञम् । नयत । उपहूता इत्युप ÷ ऽहूताः । ❀ सोमस्य । पिबत ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(श्वात्राः) श्वात्रं शीघ्रं कर्मविज्ञानं वर्त्तते यासां ताः । अर्शआदित्वादच् श्वात्रमिति क्षिप्रनाम † निरु० ५ । ३ (स्थ) भवत (वृत्रतुरः[3]) वृत्रं मेघं तूर्वन्ति यास्ता विद्युत इव । (राधोगूर्ताः) धनवर्द्धिन्य एव (अमृतस्य) ‡ अतिस्वादिष्टस्य (पत्नीः) पत्न्यः (ताः) (देवीः) देदीप्यमानाः (देवत्रा) देवेषु पतिषु (इमम्) गृहसम्बन्धिनम् (यज्ञम्) संगन्तव्यम् (नयत)

---

१ पूर्वोक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं—

२ यथा सभाध्यक्षाः प्रजापालने समर्थास्तथैव तेषां पत्न्योऽपीति तासां कृत्यमाह—

३ वृत्रशब्दः···शत्रुवचनः, तुरि गतित्वरहिंसनयोः (दि० आ०) इति देवराजः पृ० २७४ ॥

+ साम्प्रतिकानां मतेऽत्र पुरुषार्थस्यानुवर्तिनः 'पुरुषार्थानुवर्तिनः' इति स्यात् । 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्' (अ० २ । २ । ८ भा० वा०) इतिवार्तिकानुरोधात् ॥

÷ अवग्रहचिह्नरहिता अपपाठा अजमेरमुद्रिते ॥ ❀ स्वरचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

† 'क्षिप्रनामसु पठितम् । निघ० ५ । ३' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः, निरुक्ते दर्शनात् ॥

‡ अत्र कदाचित् 'अतिस्वादिष्टं' इति पाठः स्यात्, यथा भान्वये दृश्यते ॥

(उपहूता:) सामीप्यमाहूता: (सोमस्य) [सोमं] सोमाद्योषधिनिष्पादितस्य ❀ सारम्, अत्र कर्मणि षष्ठी । [(पिबत)] ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ९ । ४ । १६-१७ व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—+ हे देवीर्देव्यः पत्न्यः स्त्रियो यूयं वृत्रतुर इव राधोगूर्त्ता एव सत्यः [पत्नीः] यज्ञसहकारिण्यः श्वात्राः स्थ, ता देवत्रेमं यज्ञं नयत, उपहूता इवामृतस्य सोमस्यातिस्वादिष्ठं सोमाद्योषधिरसं पिबत ॥ ३४ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा विदुष्यो विद्वत्स्त्रियः स्वधर्मव्यवहारेण स्वपतीन् प्रसादयन्ति, तथैव पुरुषाः स्वाः स्त्रीस्सततं प्रसादयेयुरित्थं परस्परानुमोदेन गृहाश्रमधर्ममलंकुर्वन्तु ॥ ३४ ॥

अब उक्त सभाध्यक्षादिकों की स्त्रियां कैसे कर्म करनेवाली हों, यह अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—× हे (देवीः) विद्यायुक्त स्त्रियो ! तुम (वृत्रतुरः) ÷ मेघ का नाश करनेवाली बिजली के समान (राधोगूर्त्ताः) धन को ‡ बढ़ानेवाली (पत्नीः) और यज्ञ में सहाय देनेवाली [(श्वात्राः) शीघ्रकारी] (स्थ) हो [ओ] तथा [(ताः) वे तुम] (देवत्रा) अच्छे २ गुणों से प्रकाशित विद्वान् पतियों में प्रीति से स्थित हो, (इमम्) इस [(यज्ञम्)] यज्ञ को (नयत) सिद्धि को प्राप्त † कराओ और (उपहूताः) बुलाई

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(श्वात्राः) भाष्यकारमतेऽर्शआदित्वादचि चित्त्वादन्तोदात्तः । यदा श्वात्रशब्दो धनवाची (निघं० २ । १०) तदा श्वात्रशब्दस्य निर्वचनम् आशुशब्दस्य पूर्वापरवर्णविपर्ययः, आशु त्राता, आतोऽनुपसर्गे कः (अ० ३ । २ । ३) इति कः, क्रियाविशेषणानामपि कर्मत्वात् । याथादि० (अ० ६ । २ । १४४) स्वरेणान्तोदात्तः । यद्वा 'अत सातत्यगमने' 'दादिभ्यश्छन्दसि' (उ० ४ । १७०) इति त्रन्, त्रिचक्रादीनामन्तः (अ० ६ । २ । १९९ भा० वा०) इत्यन्तोदात्तत्वम् इति (तै० सं० भ० भा० १ । पृ० २७०)॥ अन्यत्र—अततेर्वा औणादिकस्त्रप्रत्ययः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् इति च, भट्टभास्करः (तै० सं० भ० भा० २ । पृ० ४) ॥

यद्वा क्षिप्रवाचिनि (नि० २ । १५ ॥ निरु० ६ । १) शुशब्दोपपद आङ्पूर्वादमतेः अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः (उ० ४ । १६४) इति क्त्रः, बाहुलकादनुनासिकलोपः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

यद्वा 'श्वात्रति' गतिकर्मा नैरुक्तो धातुः, तस्मादचि चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(वृत्रतुरः) वृत्रोपपदात् तुर्वतेः क्विप्, राल्लोपः (अ० ६ । ४ । २१) इति वकारलोपः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः, ततः प्रथमाबहुवचनम् ॥

(राधोगूर्त्ताः) पूर्वादयश्च दृश्यन्ते (अ० ६ । २ । १९९ का०) इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वम् ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ जैसे सभाध्यक्ष प्रजाओं के पालन में समर्थ होते हैं, वैसे उनकी अर्द्धाङ्गिनियाँ भी, इसी से उनके कर्त्तव्यों का भी निर्देश करते हैं—

❀ अत्र 'रसं' इति गभूतपूर्वः पाठः । स एवान्वये भाषापदार्थे च प्रयुज्यते ॥

+ 'हे विदुषः पत्युर्देवी' इति गपाठः ॥

× 'हे जीवन्मुक्त आत्मभाव से विनाशरहित विद्वान् पतियों की' इति गपाठः । अस्य मन्त्रस्य भाषार्थोऽस्पष्ट इति ध्येयम् ॥

÷ 'बिजली के सदृश मेघ की वर्षा के तुल्य सुखदायक की गति के तुल्य चलने' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'धन का उद्योग करने' इति अ० मुद्रितपाठः ॥　　† 'किया कीजिये' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

हुई अपने पतिओं के साथ (अमृतस्य) अति स्वादुयुक्त [(सोमस्य)] सोम आदि ओषधियों के रस को (पिबत) पीओ ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे विद्वानों की [विदुषी] पत्नी स्त्रीजन स्वधर्म व्यवहार से अपने पतियों को प्रसन्न करती हैं, उसी प्रकार पुरुष इन अपनी स्त्रियों को निरन्तर प्रसन्न करें, ऐसे परस्पर अनुमोद [प्रसन्नता] से गृहाश्रमधर्म को पूर्ण करें ॥ ३४ ॥

मा भेर्मेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ देवते । भुरिगार्च्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषौ परस्परं कथं वर्त्तेयातामित्युपदिश्यते[1] ॥

मा भेर्मा संविक्था ऽ ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम् । पाप्मा हतो न सोमः ॥ ३५ ॥

मा । भेः । मा । सम् । विक्थाः । ऊर्जम् । धत्स्व । धिषणेऽइति धिषणे । वीड्वीऽइति वीड्वी । सतीऽइति सती । वीडयेथाम् । ऊर्जम् । दधाथाम् ॥ पाप्मा । हतः । न । सोमः ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(मा) (भेः) मा बिभीयाः, लिङर्थे लुङ् (मा) (सम्) (विक्थाः) भयं कम्पनं च कुर्याः (ऊर्जम्) स्वशरीरात्मबलं पराक्रमं वा (धत्स्व) (धिषणे) द्यावापृथिव्याविव (वीड्वी) बलवती वीडिड्वति बलनामसु पठितम् निघ० २ । ६ (सती) सद्गुणयुक्ता (वीडयेथाम्) दृढबलौ भवेताम् (ऊर्जम्) सन्तानादिभ्योऽपि बलं पराक्रमं च (दधाथाम्) (पाप्मा) अपराधः (हतः) नष्टः (न) इव (सोमः) ॥ अयं मन्त्रः शत० २ । ९ । ४ । १८ व्याख्यातः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे स्त्रि ! त्वं वीड्वी सती पत्युः सकाशान् मा भेर्मा संविक्था ऊर्जं धत्स्व, हे पुरुष ! त्वमप्येवं भवेः, युवां धिषणे इवोर्जं दधाथां वीडयेथाम्, एवमनुवर्तिनोर्युवयोः पाप्मा हतो भवतु, सोमो न चन्द्र इवाह्लादशान्त्यादिगुणवृन्दः प्रकाशितो भवतु ॥ ३५ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः [* उपमालंकारश्च] ॥

[1] तयोः परस्परव्यवहारमाह—

[2] कथमत्र मतुबर्थ इति तु न विद्मः ।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(विक्थाः) 'ओविजी भयचलनयोः' इत्येतस्माल्लुङि तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(वीड्वी) वीडयतेः भृमृशीतृ० (उ० १ । ७) इत्यादिना बाहुलकाद् 'उ' प्रत्ययः । वोतो गुणवचनात् (अ० ४ । १ । ४४) इति ङीष्, प्रत्ययस्वरः । ततः सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति पूर्वसवर्णः ॥

(सती) उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीप् । शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति ङीबुदात्तः, ततः पूर्ववत् । 'वीड्वी' 'सती' द्विवचनान्ताविति पदकारः ॥

(वीडयेथाम्) वीड छान्दसो धातुः "वीळयतिश्च व्रीळयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ" निरु० ५ । १६ ॥ तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(पाप्मा) नामन्सीमन्० (उ० ४ । १५१)

* '(न) इव' इति संस्कृतपदार्थे दर्शनाद् उपमालङ्कारोऽपीति ध्येयम् ॥

भावार्थः—इत्थं स्त्रीपुरुषौ व्यवहारमनुवर्त्तयातां, यतः परस्परं भयोद्वेगौ नश्येतामात्मनो दृढोत्साहः प्रीतिर्गृहाश्रमव्यवहारसिद्धिरैश्वर्य्यं च वर्द्धेत, दोषदुःखानि निवर्त्त्य चन्द्रइव परस्परमाह्लादकारिणौ भवेताम् ॥ ३५ ॥

फिर स्त्री पुरुष परस्पर कैसा वर्त्ताव वर्त्तें, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे स्त्री ! तू (वीड्वी) शरीरात्मबलयुक्त [(सती)] होती हुई पति से (मा भेः) मत डर, (मा संविक्थाः) मत कांप, और (ऊर्जम्) देह और आत्मा के बल और पराक्रम को (धत्स्व) धारण कर। हे पुरुष ! तू भी वैसे ही अपनी स्त्री से वर्त्ते। तुम दोनों स्त्री पुरुष (धिषणे) सूर्य्य और भूमि के समान परोपकार और [(ऊर्जम्)] पराक्रम को [(दधाथाम्)] धारण करो, जिससे (वीडयेथाम्) दृढ़ बलवाले हों, ऐसा वर्त्ताव वर्त्तते हुए तुम दोनों का (पाप्मा) अपराध (हतः) नष्ट हो, और (सोमः) चन्द्र के [(न)] तुल्य आनन्द शान्त्यादि गुण बढ़ा कर एक दूसरे का आनन्द बढ़ाते रहो ॥ ३५ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार तथा उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—स्त्री पुरुष ऐसे व्यवहार में वर्त्तें कि जिससे उनका परस्पर भय और उद्वेग नष्ट होकर आत्मा की दृढ़ता उत्साह और गृहाश्रम व्यवहार की सिद्धि से ऐश्वर्य्य बढ़े और वे दोष तथा दुःख को छोड़ चन्द्रमा के तुल्य आह्लादित हों ॥ ३५ ॥

[प्रागपागित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। सोमो देवता। उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥]

अथैतयोरपत्यानि किं किं कुर्युस्तौ कथं पालयेयुरित्याह[2] ॥

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिशऽआधावन्तु। अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् ॥ ३६ ॥

प्राक्। अपाक्। उदक्। अधराक्। सर्वतः। त्वा। दिशः। आ। धावन्तु ॥ अम्ब। निः। पर। सम्। अरीः। विदाम् ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(प्राक्) पूर्वस्याः (अपाक्) पश्चिमायाः (उदक्) उत्तरस्याः (अधराक्) दक्षिणस्याः (सर्वतः) अन्याभ्यः (त्वा) त्वाम् (दिशः) (आ) समन्तात् (धावन्तु) (अम्ब[3]) अमति प्रेमभावेन प्राप्नोति तत्संबुद्धौ, अत्रोणादिर्बन् प्रत्ययः (निः) नितराम् (पर) पालय (सम्) (अरीः) सुखप्रापिकाः प्रजाः (विदाम्) + विदताम्, विद ज्ञान इत्यस्माल्लोटि ❀ प्रथमबहुवचने लोपश्च

इति मनिन्प्रत्ययान्तो निपातितः। निपातनादन्तोदात्तत्वम् ॥

(हतः) क्तप्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ उनके पारस्परिक व्यवहार का उपदेश करते हैं॥३५॥

२ जनन्यपत्ययोर्व्यवहारमाह—

३ 'त्र्यम्बकः' त्रयाणां लोकानामम्बः पितेत्यागमविदः। द्यौर्भूमिरापस्तिस्रोऽम्बा अस्येति भारतम्। अम्बाः त्रयः शब्दा अकारोकारमकाराः प्रतिपादका अस्येति भट्टभास्करः। स एव सृष्टिस्थितिसंहारविषयास्तिस्रोऽम्बा

+ 'समो गमादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' (अ० १। ३। २९ भा० वा०) इत्यात्मनेपदम्। तच्चाकर्मकादित्यनुवर्तनादत्र कथं स्यादिति सुधियो विभावयन्तु ॥

❀ 'लटि' इति अ० मु० पाठः ॥

आत्मनेपदेषु अ० ७।१।४१ अनेन तकारलोपे सवर्णदीर्घे विदामिति रूपम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ३।९।४।२०-२३ [व्याख्यातः] ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे अम्ब ! या अरीः सुखप्रापिकाः प्रजास्ते प्रागपागुदगधराक् सर्वतो दिशस्त्वामाधावन्तु, तास्त्वं निष्पर नितरां रक्ष, ता अपि त्वा त्वां संविदाम् जानन्तु ॥ ३६ ॥

भावार्थः—मातापित्रोर्योग्यतास्ति स्वापत्यानि विद्यादिसद्गुणेषु नियोज्य निरन्तरं रक्षणीयानि, अपत्यानां योग्यतास्ति सर्वतः पित्रोः सेवनं कुर्य्युरिति ॥ ३६ ॥

अब उनके पुत्र क्या २ करें, और वे पुत्रों को कैसे पालें, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः— हे (अम्ब) प्रेम से प्राप्त होने वाली माता ! जो तेरी (अरीः) सन्तानादि प्रजा (प्राक्) पूर्व (अपाक्) पश्चिम (उदक्) उत्तर (अधराक्) दक्षिण और भी (सर्वतः) सब (दिशः) दिशाओं से तुझे (आ) (धावन्तु) धाय धाय [दौड़ दौड़ कर] प्राप्त हों, उन्हें (निः) निरन्तर (पर) ‡पालन कर, और वे भी (त्वा) तुझे [(सम् विदाम्)] अच्छे भाव से जानें ॥ ३६ ॥

भावार्थः— माता और पिता को योग्य है कि अपने सन्तानों को विद्यादि अच्छे २ गुणों में प्रवृत्त कराकर, अच्छी प्रकार उनके शरीर की रक्षा करें अर्थात् जिससे वे नीरोग शरीर और उत्साह के साथ गुण सीखें और इन पुत्रों को योग्य है कि माता पिता की सब प्रकार से सेवा करें ॥ ३६ ॥

त्वमङ्ग इत्यस्य गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ प्रजाजनाः [स्त्री] कृतं सभापतिं कथं प्रशंसेयुरित्युपदिश्यते[2] ॥

शक्त्योऽ स्येति च । माधवीयधातुवृत्तिभ्वादिगणे 'अचि' धातुव्याख्याने पृ० ८४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्राक्, अपाक्, उदक्,) अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये (अ० ६ । २ । ५२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अधराक्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सर्वतः) तसिलप्रत्ययः । लिति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तम् ॥

(अम्ब) आमन्त्रितस्वरः । अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (अ० ७ । ३ । १०७) इति ह्रस्वत्वम् ॥

(पर) पृ पूरणे इत्यस्माल्लोटि मध्यमैकवचनम् । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः । बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७६) इति श्लोरभावः॥

(अरीः) अच इः (उ० ४ । १३९) इति 'इः' । कृदिकारादक्तिनः (अ० ४ । १ । ४५ ग० सू०) इति ङीष् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । वा छन्दसि (अ० ६ । १ । १०२) इति पाक्षिकः पूर्वसवर्णदीर्घः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ माता और पुत्र के व्यवहार का निरूपण करते हैं— ॥ ३६ ॥

---

२ प्रशंसायाः कार्यं उत्साहजनकत्वात् सभाध्यक्षस्य गुणकीर्त्तनादिभिरुत्साहो वर्द्धनीय इत्यत आह—

‡ '(निः) (पर) निरन्तर प्यार कर' इति अ० मुद्रिते पाठः, स च संस्कृताननुसारी ।

त्वमुङ्ग प्रशंꣳसिषो द्वेवः शंविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदुन्यो मंघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवींमि ते वर्चः ॥३७॥

त्वम् । अङ्ग । प्र । शुꣳसिषः । देवः । शविष्ठ । × मर्त्यम् ॥ न । त्वत् । अन्यः । मघवन्निति + मघऽवन् । अस्ति । मर्डिता । इन्द्र । ❀ ब्रवीमि । ते । वचः ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(त्वम्) (अङ्ग) संबोधने (प्र) (शंसिषः) प्रशंस, लेटमध्यमैकवचनप्रयोगः (देवः) शत्रून् विजिगीषुः (शविष्ठ) बहु शवो बलं विद्यते यस्य स शवस्वान् सोतिशयितस्तत्सम्बुद्धौ, अत्र शवः शब्दाद् भूम्न्यर्थे मतुप्[1] तत इष्ठन् विन्मतोर्लुक् अ० ५ । ३ । ६५ । इति मतुपो लुक्, टेः अ० ६ । ४ । १५५ अनेन टिलोपः (मर्त्यम्) प्रजास्थं मनुष्यम् (न) निषेधे (त्वत्) (अन्यः) (मघवन्) ईश्वर इव समृद्धः (अस्ति) (मर्डिता) सुखयिता (इन्द्र[2]) परमैश्वर्य्यान्वित (ब्रवीमि) (ते) तुभ्यम् (वचः) प्राक्प्रतिपादितराजधर्मानुरूपं वचः ॥ अयं मन्त्रः शत० ३ । ९ । ४ । २४ व्याख्यातः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे अङ्ग शविष्ठ मघवन्निन्द्र सभापते ! त्वं मर्त्यं प्रशंसिषो न त्वदन्यो मर्डिता देवोस्त्यतोहं ते तुभ्यं वचो ब्रवीमि ॥ ३७ ॥

भावार्थः—§ यथा पक्षपातविरहः सर्वसुहृदीश्वरस्तदनुकूलः सभापती राज्यधर्मानुवर्ती राजा प्रशंसनीयं प्रशंसयन्, निन्द्यं निन्दन्, दण्डार्हं दण्डयन्, रक्षितव्यं रक्षन् सर्वेषामभीष्टं संपादयेत् ॥ ३७ ॥

अत्राध्याये राज्याभिषेकपुरःसरं शिक्षा, राज्यकृत्यं, प्रजाया राजाश्रयः, सभाध्यक्षादिकृत्यं, विष्णोः परमपदादिवर्णनं, सभाध्यक्षेण तदुपासनं, परस्परं राजसभाकृत्यं, गुरुणा शिष्यस्वीकारः, तच्छिक्षाकरणं, यज्ञानुष्ठानं, हुतद्रव्यफलं, विद्वल्लक्षणं, मनुष्यकृत्यं, मनुष्याणां परस्परं वर्तनं, दुष्टदोषनिवृत्तिफलम्, ईश्वरात् किं किं प्रार्थनीयं, रणे योद्धृवर्णनं, युद्धकृत्यं, युद्धेऽन्योन्यवर्त्तमानप्रकारो, योद्धृणामनुमोदनं, राज्यप्रबन्धकरणं, तत्र साध्यसाधनं, राज्यकर्मकरणं प्रतीश्वरोपदेशो, राज्यकर्मानुष्ठानं, राजप्रजाकृत्यं, प्रजाराजसभयोः परस्परानु [वर्त] मानं, प्रजया सभापत्युत्कर्षकरणं, प्रजाजनं प्रति सभापतिप्रेरणं, प्रजया स्वीकर्तव्यस्य सभापतेर्लक्षणं, प्रजाराजसभयोः परस्परं प्रतिज्ञाकरणं, सभापतिस्वीकरणप्रयोजनं, प्रजासुखाय सभापतेः कर्तव्यकर्मानुष्ठानं, सभापत्यादीनां पत्नीभिः किं किं कर्म कर्त्तव्यं, स्त्रीपुंसयोः परस्परमनुवर्तमानं, पितरौ प्रति संतानकृत्यं, सभापतिं प्रति प्रजाजनोपदेशवर्णनं चास्तीत्यतः पञ्चमाध्यायोक्तार्थैः सहास्य षष्ठाध्यायस्यार्थानां संगतिरस्तीति वेद्यम् ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतमहाविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये षष्ठोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥ ६ ॥]

---

१ बहुलं छन्दसि (अ० ५ । २ । १२२) इति सूत्रेणेति शेषः ।

२ इन्द्रः पूर्वं य० १ । १ पृ० १२ व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शंसिषः) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

× स्वरचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ + अवग्रहचिह्नरहितः स्वरचिह्नदुष्टोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

❀ 'ब्रवीमि' इत्यशुद्धस्वरचिह्नयुक्तोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

§ अत्र 'अत्रोपमालंकारः' इति अ० मुद्रिते पाठः । स च मन्त्र उपमावाचकपदस्याभावादपपाठ एवेति ध्येयम् ॥

अब प्रजाजन [स्वीकार] किये हुए सभापति की प्रशंसा कैसे करें, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (अङ्ग) (शविष्ठ) अत्यन्त बलयुक्त (मघवन्)† ईश्वर के समान समृद्ध (इन्द्र) ऋद्धिसिद्धि देनेहारे सभापते ! (त्वम्) आप (मर्त्यम्) प्रजास्थ मनुष्य को (प्रशंसिषः) प्रशंसायुक्त कीजिये, आप (देवः) देव अर्थात् शत्रुओं को अच्छे प्रकार जीतनेवाले हैं, (न) नहीं (त्वदन्यः) तुम से अन्य (मर्डिता) सुख देने वाला है, [(अस्ति)] ऐसा मैं (ते) आप को (वचः) पूर्वोक्त राज्यप्रबन्ध केअनुकूल वचन (ब्रवीमि) कहता हूँ ॥ ३७ ॥

भावार्थः—‡ जैसे ईश्वर सर्व सुहृत् पक्षपातरहित है, वैसे सभापति राज्यधर्म्मानुवर्ती राजा होकर प्रशंसनीय की प्रशंसा, निन्दनीय की निन्दा, दुष्ट को दण्ड, श्रेष्ठ की रक्षा करके सब का अभीष्ट सिद्ध करे ॥ ३७ ॥

इस अध्याय में राज्य के अभिषेकपूर्वक शिक्षा, राज्य का कृत्य, प्रजा को राजा का आश्रय, सभाध्यक्षादिकों का काम, विष्णु का परम पद वर्णन, सभाध्यक्ष को ईश्वरोपासना करनी, राजा प्रजा का आपस में कृत्य, गुरु को शिष्य का स्वीकार, और उस शिष्य को शिक्षा करना, यज्ञ का अनुष्ठान, होम किये द्रव्य के फल का वर्णन, विद्वानों के लक्षण, मनुष्यकृत्य मनुष्यों का परस्पर वर्त्तमान, दुष्ट दोष निवृत्ति फल, ईश्वर से क्या क्या प्रार्थना करनी चाहिये, रण में योद्धा का वर्णन, युद्धकृत्य निरूपण, युद्ध में परस्पर वर्त्ताव का प्रकार, वीरों को उत्साह देना, राज्यप्रबन्ध का करना और [उसका] साध्य-साधन राजा के प्रति ईश्वरोपदेश, राज्यकर्म का अनुष्ठान, राजा और प्रजा का कृत्य प्रजा और राजा की सभाओं का परस्पर वर्त्ताव, प्रजा से सभापति का उत्कर्ष करना, प्रजाजन के प्रति सभापति की प्रेरणा, प्रजा को स्वीकार करने के योग्य सभापति का लक्षण, प्रजा और राजसभा की परस्पर प्रतिज्ञा करनी, सभापति के स्वीकार करने का प्रयोजन, प्रजासुख के लिये सभापति के कर्त्तव्य कामों का अनुष्ठान, सभापत्यादिकों की पत्नियों को क्या करना चाहिये, स्त्रीपुरुषों का परस्पर वर्त्ताव, मातापिता के प्रति सन्तानों का काम, सभापति के प्रति प्रजाजनों का उपदेश वर्णन है, इस से पञ्चम अध्याय में कहे हुए अर्थों के साथ इस छठे अध्याय के अर्थों की संगति है, ऐसा जानना चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतमहाविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये षष्ठोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥ ६ ॥

इति षष्ठोऽध्यायः

(अन्यः) माच्छाशंसिभ्यो यः (उ० ४ । १०९) इति बाहुलकाद् यः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥
(मर्डिता) तृजन्तोऽन्तोदात्तः ॥
(ब्रवीमि) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८।१।७२) इत्यविद्यमानवद्भावेन निघाताभावः । प्रत्ययस्यानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥
(वचः) असुनि नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥
इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] प्रशंसा से कार्य में उत्साह उत्पन्न होता है, इसलिए सभाध्यक्ष के गुण वर्णन आदि से उसके उत्साह की वृद्धि करनी चाहिये, सो बतलाते हैं — ॥३७॥

† 'महाराज के समान' इति अ० मु० पाठः । स च संस्कृतानुसारी ॥
‡ 'इस मन्त्र में उपमालंकार है' इति अजमेरमुद्रिते पूर्ववदेवापपाठः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

अब सप्तम अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्नऽआसुव ॥ १ ॥

वाचस्पतय इत्यस्य गोतम ऋषिः । प्राणो[1] देवता । + निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

तस्य प्रथममन्त्रे सृष्टिनिमित्तो बाह्याभ्यन्तरव्यवहार उपदिश्यते[2] ॥

वाचस्पतये पवस्व वृष्णो ऽ अꣳशुभ्यां गभस्तिपूतः ।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि ॥ १ ॥

वाचः । पतये । पवस्व । वृष्णः । अꣳशुभ्यामित्यꣳशुऽभ्याम् । गभस्तिपूत इति गभस्तिऽपूतः ॥ देवः । देवेभ्यः । पवस्व । येषाम् । भागः । असि ॥ १ ॥

---

१ प्राणो वाचस्पतिः । श० ६ । ३ । १ । १९ ॥
प्राणा वै देवाः । तै० ३ । ८ । १७ । ५ ॥

२ "सर्वे धर्मा राजधर्मे निविष्टाः इति प्रागुक्तमस्माभिः षष्ठाध्यायारम्भे । महाभारते (शान्तिपर्व अध्याय ६३) अपि च दृश्यते—

(१) सर्वधर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां राज्ञो धर्मादिति वेदाच्छृणोमि ॥ २४ ॥

(२) यथा राजन् हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि ।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं सम्प्रलीनान् निबोध ॥ २५ ॥

(३) "सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः..." ॥ २७ ॥

(४) मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः ।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥ २८ ॥

(५) सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः ।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः ॥ २९ ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ६३ । श्लो० २४–२९॥

अतः पूर्वाध्यायोपक्रान्ता राजधर्मस्य प्रधानत्वेऽत्र सप्तमाध्यायेऽप्युपक्रम्यते । तत्र योगस्य राजधर्मे परमसाधकत्वात्, 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः" (यो० सू० २ । २८), "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" (योग सू० २ । ५२) इत्याद्यृषिवचनैः सुप्रतिपादितत्वात् प्रारम्भ इमं राजधर्मसहायभूतं योगमेव निरूपयति—

तत्रादौ व्यवहारसंस्थितेरेव राज्योद्देश्यत्वात् सृष्टितत्त्वपरिज्ञानाय कीदृशो व्यवहार इत्युच्यते—

+ भुरिगार्ष्यनुष्टुप् इति अ० मु० पाठः ॥

पदार्थः—(वाचः) वाण्याः (पतये) पालकेश्वराय (पवस्व) पवित्रो भव (वृष्णः[2]) वीर्य्यवतः (अंशुभ्यां) बाहुभ्यामिव[3] (गभस्तिपूतः) गभस्तिभिः किरणैः पूत इव । गभस्तय इति रश्मिनामसु पठितम् निघ० १ । ५ (देवः) विद्वान् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (पवस्व) शुद्धो भव (येषां) विदुषाम् (भागः) भजनीयः (असि) ॥ अय मन्त्रः शत० ४ । १ । १ । ८–११ व्याख्यातः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्य ! त्वं वाचस्पतये पवस्व, वृष्णोंऽशुभ्यामिव + बाह्याभ्यन्तरव्यवहाराय गभस्तिपूत इव देवो भूत्वा, येषां विदुषां भागोऽसि, तेभ्यो देवेभ्यः पवस्व ॥ १ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—सर्वेषां जीवानां योग्यतास्ति वेदपतिं सततं पूतं परमेश्वरं विज्ञाय विदुषां संगमेन विद्यादिगुणेषु सुस्नाताः सत्यव्रतानुष्ठातारः स्युरिति ॥ १ ॥

इस सप्तम अध्याय के प्रथम मन्त्र में सृष्टि के निमित्त बाहर और भीतर के व्यवहार का उपदेश है[5] ॥

---

१ 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' (अ० १ । ४ । ३२ । भा० वा०) इति चतुर्थी ॥

२ वृषा वै राजन्यः । तां० ६ । १० । ९ ॥

३ बाहुरूपाभ्यां किरणाभ्यामिव इति भावः ॥

'अंशु' इति रश्मिनामसु पठितम् । अंशवः किरणाः, ते च सूर्यस्य बाहुस्थानीयाः, तस्मादाह बाहुभ्यामिवेति ॥

४ पाणी वै गभस्ती पाणिभ्यां ह्येनं पावयति॥श० (४।१।१।९)॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पतये) पातेर्डतिः (उ० ४ । ५७) इति प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(गभस्तिपूतः) तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । गभस्तिशब्दो गसेर्गट् च (भो० । उ० । २ । १ । १८५) इति भोजीयसूत्रेण तिप्प्रत्यये मध्योदात्ते प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् । यद्वा 'गोशब्दपूर्वादन्तर्णीतण्यर्थाद् भसेः क्तिचि पृषोदरादित्वात् पूर्वपदस्याकारान्तादेश उदात्तत्वं च' इति देवराजः (पृ० ३५) ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

५ " सभी व्यवहारों वा धर्मों का मूल राजधर्म है" यह हम पूर्व षष्ठाध्याय के प्रारम्भ में कह चुके हैं । महाभारत में लिखा है—

(१) द्विजों के सब धर्म और उपधर्म राजधर्म से ही प्रवृत्त होते हैं, यह मैंने वेद में श्रवण किया है ॥ २४ ॥

(२) हे राजन् ! जैसे हाथी के पाँव में सबका पांव आ जाता है । इसी प्रकार सब धर्मों को राजधर्म में ही स्थिर वा लीन समझना चाहिये ॥ २५ ॥

(३) सब धर्म राजधर्म को लेकर ही चलते हैं ॥२६॥

(४) दण्डनीति के नष्ट होने पर वेद शास्त्र भी नष्ट होने लगते हैं । सब धर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं । पुराकाल से चले आ रहे क्षात्र राजधर्म के छूट जाने पर वर्णाश्रमों के सब धर्मों का नाश हो जाता है ॥ २८ ॥

(५) सर्वविध त्याग और दीक्षायें राजधर्म के अन्तर्गत ही कही हुई हैं । सब विद्यायें राजधर्म के ही अन्तर्गत हैं । सब लोक राजधर्म के ही आश्रय हैं ॥ २९ ॥

(महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ६३ । श्लोक २४ से २९) ॥

अतः पूर्वाध्याय में कहे राजधर्म की प्रधानता ही इस सप्तमाध्याय में भी दर्शाते हैं । इस राजधर्म में योग परमसाधन है, क्योंकि योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, जब तक शुद्धि न हो तब तक

+ 'बाह्याभ्यन्तरव्यवहाराभ्याम्' इति स्यात् ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! तू (वाचः) वाणी के (पतये) पालनेहारे ईश्वर के लिये (पवस्व) पवित्र हो, (वृष्णः) बलवान् पुरुष के (अंशुभ्यां) भुजाओं के समान बाहर भीतर का व्यवहार होने के लिये (गभस्तिपूतः) सूर्य्य की किरणों से पदार्थ पवित्र जैसे होते हैं, वैसे शास्त्रों से (देवः) दिव्यगुणयुक्त विद्वान् होकर (येषाम्) जिन विद्वानों से (भागः) सेवन करने के योग्य [(असि)] है, उन (देवेभ्यः) देवों [विद्वानों] के लिये (पवस्व) पवित्र हो ॥ १ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थः—सब जीवों को योग्य है कि वेदों की रक्षा करने वाले नित्यपवित्र परमात्मा को जान और विद्वानों के संग से विद्यादि उत्तमगुणों में निष्णात होकर सत्यवाणी के बोलने वाले हों ॥ १ ॥

मधुमतीरित्यस्य गोतम ऋषिः । सोमो देवता । निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

मनुष्याः परस्परं कथं व्यवहरेयुरित्याह[1] ॥

मधुमतीर्न ऽ इषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ २ ॥

मधुमतीरिति मधुऽमतीः । नः । इषः । कृधि । यत् । ते । सोम । अदाभ्यम् । नाम । जागृवि । तस्मै । ते । सोम । सोमाय । स्वाहा । स्वाहा । उरु । अन्तरिक्षम् । अनु । एमि ॥ २ ॥

पदार्थः—(मधुमतीः) मधुरगुणवतीः (नः) अस्मभ्यम् (इषः) अन्नानि (कृधि) कुरु (यत्) + यस्मात् (ते) तव (सोम) ऐश्वर्य्ययुक्त विद्वन् (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम् (नाम) संज्ञा (जागृवि) जागरूकं प्रसिद्धं (तस्मै) (ते) तुभ्यम् (सोम) × शुभकर्मसु प्रेरक ! (सोमाय[2]) ऐश्वर्य्यस्य प्राप्तये (स्वाहा) सत्यां क्रियाम् (स्वाहा) सत्यां वाचम् (उरु) विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (अनु) (एमि) अनुगच्छामि ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । १ । १ । १२-२१ व्याख्यातः ॥ २ ॥

आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है । इत्यादि ऋषिवचनों के कारण आरम्भ में इस राजधर्म के सहायकरूप योगसाधना का निरूपण करते हैं—

संसार में व्यवहार की यथावत् स्थिति के उद्देश्य से ही राज्य की स्थापना होती है, अतः सृष्टितत्त्व के यथार्थ ज्ञानके लिये व्यवहार कैसा होना चाहिये, सो आरम्भ में दर्शाते हैं —

१ स्वभावमधुरो जनो व्यवहारपटुर्भवितुमर्हतीति व्यवहारे माधुर्यं बोधयति—

२ सोमो वै ब्राह्मणः । तां० २३ । १६ । ५ ॥

३ भावेऽत्र मन् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इषः) द्वितीयाबहुवचने प्रातिपदिकस्वरः ॥

(कृधि) पूर्वं य० ६ । ३० पृ० ५६४ व्याख्यातः । अत्र तु कः करत्० (अ० ८ । ३ । ५०) इति विसर्जनीयस्य सत्वमिति विशेषः ॥

(जागृवि) जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् (उ० ४ । ५४) । जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु (अ० ७ । ३ । ८५) इति गुणनिषेधः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

+ 'यस्य' इति ग. पाठः ॥

× 'शुभकर्मसु' इति ग. नास्ति ॥

अन्वयः——हे सोम ऐश्वर्य्ययुक्त विद्वँस्त्वं नोऽस्मभ्यं मधुमतीरिषस्कृधि, तथा हे सोमाहं यत् + यस्मात् ते तवादाभ्यं जागृवि नामास्ति, [तस्मात्] तस्मै सोमाय ते तुभ्यं च स्वाहा सत्यां क्रियां, स्वाहा सत्यां वाणीम् [उरुं] अन्तरिक्षं चान्वेमि ॥ २ ॥

भावार्थः——मनुष्या यथा स्वसुखायान्नजलादिपदार्थान् सम्पादयेयुस्तथान्येभ्योऽपि देयाः, यथा कश्चित् स्वस्य प्रशंसां ❀ कुर्य्यात् तथान्यस्य स्वयमपि कुर्य्यात्, यथा विद्वांसः सद्गुणवन्तः सन्ति, तथा तेऽपि भवेयुरिति ॥ २ ॥

मनुष्य लोग परस्पर व्यवहार में कैसे वर्त्तें, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः——हे (सोम) ऐश्वर्य्ययुक्त विद्वन् ! आप (नः) हम लोगों के लिये (मधुमतीः) मधुरादि-गुणसहित (इषः) अन्न आदि पदार्थों को (कृधि) कीजिये, तथा हे (सोम) शुभकर्मों में प्रेरणा करनेवाले विद्वन् ! मैं (यत्) जिससे (ते) आपका (अदाभ्यम्) अहिंसनीय अर्थात् रक्षा करने के योग्य (जागृवि) प्रसिद्ध (नाम) नाम है [इस कारण] (तस्मै) उस (सोमाय) ऐश्वर्य्य की प्राप्ति और (ते) आप के लिये अर्थात् आपकी ÷ आज्ञा वर्त्तने के लिये (स्वाहा) सत्यधर्म्मयुक्त क्रिया (स्वाहा) सत्यवाणी और (उरु) [बड़े] (अन्तरिक्षम्) अवकाश को (अन्वेमि) प्राप्त होता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थः——मनुष्य जैसे अपने सुख के लिये अन्न जलादि पदार्थों को सम्पादन करें, वैसे ही औरों के लिये भी दिया करें, और जैसे कोई मनुष्य अपनी प्रशंसा [की इच्छा] करे वैसे ही औरों की आप भी किया करे। जैसे विद्वान् लोग अच्छे गुणवाले होते हैं, वैसे आप भी हों ॥ २ ॥

स्वाङ्कृत इत्यस्य गोतम ऋषिः । विद्वांसो देवताः । विराड्ब्राह्मी जगतीच्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनरात्मकृत्यमाह[2] ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य ऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतो ऽ सौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ ३ ॥

स्वाङ्कृत इति स्वाम् ऽ कृतः । असि । विश्वेभ्यः । इन्द्रियेभ्यः । दिव्येभ्यः । पार्थिवेभ्यः । मनः । त्वा । अष्टु । स्वाहा । त्वा । सुभवेति सुऽभव । सूर्याय । देवेभ्यः । त्वा । मरीचिपेभ्य इति मरीचिऽपेभ्यः । देव । अंशोऽइत्यंशो । यस्मै । त्वा । ईडे । तत् । सत्यम् । × उपरिप्रुतेत्युपरिऽप्रुता । भङ्गेन । हतः । असौ । फट् । प्राणाय । त्वा । व्यानायेति विऽआनाय । त्वा ॥ ३ ॥

पदार्थः—(स्वाङ्कृतः) स्वयंकृत इव (असि) (विश्वेभ्यः) समस्तेभ्यः (इन्द्रियेभ्यः) श्रोत्रादिभ्यः (दिव्येभ्यः) दिवि भवेभ्यः (पार्थिवेभ्यः) पृथिव्यां विदितेभ्यः (मनः[3]) शुद्धं विज्ञानं

---

[1] मधुर स्वभाववाला मनुष्य ही उत्तम व्यवहार कर सकता है, अतः व्यवहार में मधुर गुण का निरूपण करते हैं—

[2] व्यवहारायात्मानं कथं शिक्षयेदित्युपदिश्यते—

[3] मनो वा ऋतम् । जै० उ० ३ । ३६ । ५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(स्वाङ्कृतः) स्वयं क्तेन (अ० २ । १ । २५)

\+ 'यस्य' इति गपाठः ।

÷ 'आज्ञा वर्त्तने के लिये' इति गकोशे नास्ति ॥

❀ 'इच्छेत्' इति युक्ततरं स्यात् ॥

× अत्रावग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते

(त्वा) त्वाम (अष्टु) व्याप्नोतु (स्वाहा) वेदोक्ता वाक् (त्वा) त्वाम् (सुभव) भवतीति भवः, शोभनश्चासौ भवश्च सुभवस्तत्संबुद्धौ (सूर्य्याय) सवित्रे (देवेभ्यः) शोधकेभ्यो वाय्वादिभ्यः (त्वा) त्वाम् (मरीचिपेभ्यः) किरणरक्षितृभ्य‡ इव (देव) दिव्यात्मन् (अंशो) सूर्य्यवत् प्रकाशमान (यस्मै) (त्वा) त्वाम् (ईडे) स्तौमि (तत्) (सत्यम्) (उपरिप्रुता) उपरि प्रवते यस्तेन (भङ्गेन) मर्दनेन (हतः) नष्टः (असौ) शत्रुः (फट्) विशीर्णः (प्राणाय) जीवनहेतवे (त्वा) (व्यानाय) विविधमानयति य [स्त] स्मा इव (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । १ । १ । २२-२८ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः— हे अंशो देव दिव्यात्मन् ! यस्त्वं दिव्येभ्यो विश्वेभ्यो इन्द्रियेभ्यः पार्थिवेभ्यो मरीचिपेभ्यो देवेभ्यस्त्वांकृतोसि, तं [त्वा] त्वां मनः स्वाहा चाष्टु । हे सुभव ! यस्मै सूर्य्याय चराचरात्मने परमेश्वराय [त्वा] त्वामहमीडे, तत्सत्यम् परेशं गृहाणोपरिप्रुतेव + येन त्वया भङ्गेनासौ शत्रुः फड्ढतस्तं त्वा त्वां प्राणायेडे व्यानाय त्वा त्वामीडे ॥ ३ ॥

भावार्थः— स्वयंभूभिर्जीवैर्देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि निर्मलीकृत्य, धर्म्यव्यापारेषु † प्रवृत्य परमेश्वरोपासने च संस्थाय, पुरुषार्थेन दुष्टान् हत्वा, श्रेष्ठान् रक्षित्वानन्दितव्यमिति ॥ ३ ॥

इति सूत्रेण स्वयंशब्दस्य कृतशब्देन सह समासः । तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६ । २ । २) इत्यव्ययत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । यकारलोपश्छान्दसः, सवर्णदीर्घत्वमुदात्तत्वं च । तथाहि ब्राह्मणम्— 'स्वाङ्कृतोऽसि प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जात इति' (श० ४ । १ । १ । २२) ॥

भट्टभास्करस्त्वाह—"स्वाङ्कृतोऽसि स्वीकृतोऽसीत्यर्थः अस्वस्स्वो भवतीति स्वाम्, च्विः ईत्वापवादाभावश्छान्दसः । ऊर्यादिच्विडाचश्च (अ० १।४।६१) इति गतित्वात् गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । 'प्राणमेव स्वमंकृत' इति ब्राह्मणम् (तै० सं० ६ । ४ । ५)' ॥ (तै० सं० १ । ४ । २ भा० २ पृ० १२) ॥

(पार्थिवेभ्यः) तत्र विदित इति च (अ० ५ । १ । ४३) इत्यञ् । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अष्टु) छान्दसं परस्मैपदत्वं बहुलं छन्दसि (अ० २ । ४ । ७३) इति शपो लुक् । स्थानिनोऽभावाच्छ्त्वष्टुत्वादेशोऽपि न भवति ॥

(मरीचिपेभ्यः) मृङ् प्राणत्यागे (तु० आ०) मृकणिभ्यामीचिः (उ० ४ । ७०) इतीचिः प्रत्ययः म्रियते तमोऽस्मिन्निति मरीचिः रश्मिः' इति देवराजः (पृ० ३७) । आतोऽनुपसर्गे कः (अ० ३ । २ । ३) इति कः, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(ईडे) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावे तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यादिना लसार्वधातुकानुदात्तत्वम् ॥

(उपरिप्रुता) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(भङ्गेन) 'भञ्जो आमर्दने' (रु० प०) इत्यतो भावे घञ् । उञ्छादीनामाकृतिगणत्वात् विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः (अ० ५ । २ । ४) इति निपातनाद् वान्तोदात्तः ॥

(फट्) 'ञिफला विशरणे' ततः क्विप् । डलयोरेकत्वस्मरणात् बाहुलकाद् वा डकारत्वम् ॥

(व्यानाय) पूर्वं य० १ । २० व्याख्यातः । अत्र थाथघञ्० (अ० ६।२।१४४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

‡ 'किरणेभ्यः' इति शोभनतर स्यात्, 'मरीचिपाः' इत्यस्य किरणनामसु (निघ० १ । ५) पाठात् ॥

\+ 'इव' शब्दोऽत्र व्यर्थ एव प्रतिभाति ॥

❀ अत्रान्वये द्विः 'त्वा' इति पदं त्यक्तमिति ध्येयम् ॥

† 'प्रवर्त्त्य' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे चापपाठः, 'प्रवृत्य' इति तु भूतपूर्वः पाठः ॥

फिर अगले मन्त्र में आत्मक्रिया का निरूपण किया है[1]॥

पदार्थः— हे (अंशो) सूर्य के तुल्य [(देव)] प्रकाशमान [दिव्यात्मन् !] जो तू (दिव्येभ्यः) दिव्य (विश्वेभ्यः) समस्त (पार्थिवेभ्यः) पृथिवी पर प्रसिद्ध (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों और (मरीचिपेभ्यः) किरणों के ×समान (देवेभ्यः) पवित्र करने वाले वायु आदि पदार्थों के लिए (स्वाङ्कृतः) स्वयंसिद्ध (असि) है, उस (त्वा) तुझको (मनः) विज्ञान और (स्वाहा) वेदवाणी (अष्टु) प्राप्त हों । हे (सुभव) श्रेष्ठ गुणवान्† (यस्मै) जिस (सूर्य्याय) सर्वप्रेरक चराचरात्मा परमेश्वर के लिए (त्वा) तेरी मैं (ईडे) प्रशंसा करता हूँ, तू भी (तत्) उस प्रशंसा के योग्य (सत्यम्) सत्य परमात्मा को प्रीति से ग्रहण कर, (उपरिप्रुता) सबसे उत्तम उत्कर्ष पानेहारे [जिस] तूने (भङ्गेन) मर्दन से (असौ) यह अज्ञानरूप शत्रु (फट्) झट (हतः) मारा उस (त्वा) तुझे (प्राणाय) जीवन के लिए प्रशंसित करता और (व्यानाय) विविध प्रकार के सुख प्राप्त करने के लिए (त्वा) तुझे प्रशंसा देता हूँ [अर्थात् आप की प्रशंसा करता हूँ] ॥ ३ ॥

भावार्थः—जीव आप ही स्वयं सिद्ध अनादिरूप हैं, इस से इन को चाहिये कि देह प्राण इन्द्रियों और अन्तःकरण को निर्म्मल कर धर्म्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त होकर, परमेश्वर की उपासना में स्थिर हों तथा पुरुषार्थ से दुष्टों को झट पट मार, और भलों की रक्षा करके आनन्दित रहें ॥ ३ ॥

उपयामगृहीत इत्यस्य गोतम ऋषिः । मघवा देवता । आर्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

÷ *पुनरात्मनोऽभ्यन्तरे कथं प्रयतितव्यमित्याह[2]* ॥

उपयामगृहीतो ऽ स्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् । उरुष्य राय ऽ एषो यजस्व ॥ ४ ॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । अन्तः । यच्छ । मघवन्निति मघऽवन् । पाहि । सोमम् ॥ उरुष्य । रायः । आ । इषः । यजस्व ॥ ४ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) उपात्तैर्यामैर्गृहीत इव (असि) (अन्तः) आभ्यन्तरस्थान् प्राणादीन् (यच्छ) निगृहाण (मघवन्) परमपूजित धनिसदृश ! (पाहि) रक्ष (सोमम्) योगसिद्धमैश्वर्य्यम् (उरुष्य) बहुना योगाभ्यासेनाविद्यादिक्लेशानन्तं नय, अत्रोरूपपदात् षोऽन्तकर्म्मणीत्य-

१ व्यवहार के लिए मनुष्य को क्या २ सीखना चाहिये, सो दर्शाते हैं—॥ ३ ॥

२ अहिंसादिषु यमनियमेषु निष्णात एव जनो व्यवहारं सम्यक् साधयितुं प्रभवतीत्यात्मशिक्षणाय योगस्यावश्यकतां प्रतिपादयति—

३ तथैव चाग्रे (य० ७ । १२) 'उपयामाः शौचादयो नियमाः गृहीता येन' ॥

४ य० ३ । २६ पृ० २९३ विवरणे व्याख्यातः 'अत्र कण्ड्वादेराकृतिगणत्वाद् उरुषशब्दाद् यक्' इति भाष्य उक्तम् । तथैव ऋ० १ । ५८ । ८ भाष्य आचार्यदयानन्दः । तथैव च सायणः (ऋ० ४ । २ । ६) भाष्येऽपि । उरुष्यति रक्षाकर्मा निरु० ५ । २३ इत्यपि ध्येयम् ॥

× 'समान पवित्र करने वाले (देवेभ्यः) विद्वानों और वायु आदि' इति ग. कोशेऽजमेरमुद्रिते च संस्कृतानुसारी पाठः ॥

† "(यस्मै) जिस" इति ग. पाठोऽजमेरमुद्रिते प्रमादात् त्यक्तः ॥

÷ 'पुनरात्मनाभ्यन्तरे' इति अ० मु० पाठ० ॥

स्मात् ॐ 'कः, ततो नामधातुत्वात् यक्, ततो मध्यमैकवचनप्रयोगः (रायः) ऋद्धिसिद्धिधनानि (आ) समन्तात् (इषः) इच्छासिद्धीः (यजस्व) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । १ । २ । १५ व्याख्यातः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे योगजिज्ञासो ! यतस्त्वमुपयामगृहीत इवासि तस्मादन्तर्यच्छ । हे मघवन् ! सोमं पाहि क्लेशानुरुष्य यतो राय इष आयजस्व ॥ ४ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—योगार्थिना यमादिभिर्योगाङ्गैश्चित्तादीन्निरुध्याविद्यादिदोषान्निवार्य संयमेनर्द्धिसिद्धयो निष्पाद्यन्ताम् ॥ ४ ॥

फिर मन से आत्मा में कैसे प्रयत्न करे, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है[३] ॥

पदार्थः—हे योग चाहनेवाले ! जिस से तू (उपयामगृहीतः) योग में प्रवेश करनेवाले नियमों से ग्रहण किये हुए के समान (असि) है, इस कारण (अन्तः) भीतरले जो प्राणादि पवन, मन, और इन्द्रियां हैं, इन को (यच्छ) नियम में रख । हे (मघवन्) परमपूजित, धनी के समान ! तू (सोमम्) योगविद्यासिद्ध ऐश्वर्य को (पाहि) रक्षा कर और जो अविद्या आदि क्लेश हैं, उन को (उरुष्य) अत्यन्त योगविद्या के बल से नष्ट कर, जिससे (रायः) ऋद्धि सिद्धि [रूपधन] और (इषः) इच्छासिद्धियों को (आयजस्व) अच्छे प्रकार प्राप्त हो ।४।

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—योगजिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि यम नियम आदि योग के अङ्गों से चित्त आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को रोक और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि सिद्धियों को सिद्ध करें ॥ ४ ॥

---

१ नात्र नामान्येव धातव इति कर्मधारयः अपि तु नामानि च धातवश्चेति द्वन्द्वः । तेनोभयसंज्ञकाः कण्ड्वादयो लक्ष्यन्ते । कण्ड्वादीनामाकृतिगणत्वात् अत्र 'यक्' द्रष्टव्यः, यथोक्तं पूर्वत्र (यजु० ३ । २६ पृष्ठ २९३) । पूर्वपदात् (अ० ८ । ३ । १०६), सुषामादित्वात् (अ० ८ । ३ । ९८) वा षत्वम् ॥

२ पाठोऽयं पूर्वं यजुः ३। २६ पृ० २९३ अपि द्रष्टव्यः, इयमेव प्रक्रिया तत्रापि प्रदर्शिता ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उपयामगृहीतः) उपपूर्वाद् यमेर्घञि थाथघञ्० (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं, ततो गृहीतशब्देन तृतीयासमासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते थाथघञ्क्ताज० (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं प्राप्तं, तं प्रबाध्य तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे स एव स्वरः ॥

यत्तु महीधरेण तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमुक्तं तत्तस्य स्वरप्रक्रियाज्ञानाभावसूचकमेव । एतेन महीधरमनुकुर्वन् स्वरसञ्चारिणीकारोऽपि प्रत्युक्तः ॥

(अन्तः) अमेस्तुट् च (उ० ५। ६०) इत्यादि पूर्वं य० ३ । ७ पृ० २५६ विवरणे व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अहिंसादि यमनियमों में निष्णात ही उत्तम व्यवहारों को कर सकता है, अतः आत्मोन्नति वा शिक्षण के लिये योग की आवश्यकता का निरूपण करते हैं—॥ ४ ॥

ॐ इतोऽग्रे 'क्विप् ततो नामधातुत्वाद् क्विप्' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्तस्त इत्यस्य गोतम ऋषिः । ईश्वरो देवता । आर्षीपङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथेश्वरः प्राथमकल्पिकाय योगिने विज्ञानमाह[1] ।

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ५ ॥

अन्तरित्यन्तः । ते । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । दधामि । अन्तः । दधामि । उरु । अन्तरिक्षम् ॥ सजूरिति सऽजूः । देवेभिः । अवरैः । परैः । च । अन्तर्याम इत्यन्तःऽयामे । † मघवन्निति मघऽवन् । मादयस्व ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अन्तः) आकाशाभ्यन्तर इव (ते) तव (द्यावापृथिवी) भूमिसूर्य्याविव (दधामि) स्थापयामि (अन्तः) शरीराभ्यन्तरे (दधामि) स्थापयामि (उरु) बहु (अन्तरिक्षम्) अन्तरालमवकाशम् (सजूः) मित्र इव (देवेभिः) विद्वद्भिः (अवरैः) निकृष्टैः (परैः) ‡ उत्तमैर्व्यवहारैः (च) समुच्चये (अन्तर्यामे) यमानामयं यामः, अन्तश्चासौ यामश्च तस्मिन् (मघवन्[2]) परमोत्कृष्टधनितुल्य [योगिन् !] (मादयस्व) हर्षयस्व ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । १ । २ । १६ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे मघवन् योगिन् ! अहं ते तवान्तर्द्यावापृथिवी इव विज्ञानादिपदार्थान् दधामि, उर्वन्तरिक्षमन्तर्दधामि सजूस्त्वं देवेभिः प्राप्तैरवरैः परैश्च सहान्तर्यामे वर्त्तमानः सन्नन्यान् मादयस्व ॥ ५ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति ब्रह्माण्डे यादृशा यावन्तः पदार्थाः सन्ति, तादृशास्तावन्तो मम ज्ञाने वर्त्तन्ते, योगविद्याविरहितस्तान् द्रष्टुं न शक्नोति, नहीश्वरोपासनया विना कश्चिद्योगी भवितुमर्हति ॥ ५ ॥

अब ईश्वर, जो योग में प्रथम ही प्रवृत्त होता है, उसके लिए विज्ञान का उपदेश अगले मन्त्र से करता है[3] ।

पदार्थः—हे (मघवन्) योगी ! मैं परमेश्वर (ते) तेरे (अन्तः) + हृदयाकाश में (द्यावापृथिवी) भूमि के समान विज्ञानादि पदार्थों को (दधामि) स्थापित करता हूं, तथा (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अवकाश

१ ईश्वरोपासनैव योगस्य प्रथमः प्रयत्नो विज्ञानं वेति योगिभ्यः प्रथमं ज्ञातव्यमुपदिश्यते—

२ इन्द्रो वै मघवान्, इन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मादाह मघवन्निति श० ४ । १ । २ । १६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अन्तः) पूर्वत्र (य० ३ । ७ पृ० २५६) व्याख्यातः ॥

(अवरैः) वृञ् वरणे ग्रहवृदृ० (अ० ३ । ३ । ५८) इति कर्मण्यप् । न वरो अवरः, तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यव्ययस्वरत्वम् ॥

(परैः) पॄ पालनपूरणयोरित्यस्मात् ऋदोरप् (अ० ३ । ३ । ५७) इत्यप् । धातुस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ ईश्वरोपासना ही योग का प्रथम प्रयत्न, वा मुख्य विज्ञान है, अतः योगी को प्रथम क्या जानना आवश्यक है, सो कहते हैं—॥ ५ ॥

† अत्रावग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ।

‡ "उत्तमैश्वर्यव्यवहारैः" इति अ० मुद्रिते पाठः, तत्र च 'ऐश्वर्य' इति पदं ग. कोशे नास्ति इत्यपि ध्येयम् ॥

+ संस्कृत एवं नास्ति, तत्र 'आकाशे' इत्येव वर्तते ॥

को (अन्तः) शरीर के भीतर (दधामि) धरता हूँ (सजूः) मित्र के समान तू (देवेभिः) विद्वानों से विद्या को प्राप्त होके × (अवरैः परैः च) थोड़े वा बहुत योग व्यवहारों से (अन्तर्यामे) भीतरले नियमों में वर्त्तमान होकर अन्य सब को (मादयस्व) प्रसन्न किया कर ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—ईश्वर का यह उपदेश है कि ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार के जितने पदार्थ हैं, उसी प्रकार के ही मेरे ज्ञान में वर्त्तमान हैं। योगविद्या को नहीं जाननेवाला उन को नहीं देख सकता, और मेरी उपासना के बिना कोई योगी नहीं हो सकता है ॥ ५ ॥

स्वाङ्कृतोसीत्यस्य गोतम ऋषिः। योगी देवता। भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनरीश्वरो योगाजिज्ञासुं प्रत्याह[1] ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य ऽ इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य ऽ उदानाय त्वा ॥ ६ ॥

स्वाङ्कृत इति स्वाम्ऽकृतः। असि। विश्वेभ्यः। इन्द्रियेभ्यः। दिव्येभ्यः। पार्थिवेभ्यः। मनः। त्वा। अष्टु। स्वाहा। त्वा। सुभवेति सुऽभव। सूर्याय। देवेभ्यः। त्वा। मरीचिपेभ्य इति मरीचिऽपेभ्यः। उदानायेत्युत्ऽआनाय। त्वा ॥ ६ ॥

पदार्थः—(स्वाङ्कृतः) स्वयंसिद्धोऽनादिस्वरूपः (असि) (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (इन्द्रियेभ्यः) कार्य्यसाधकतमेभ्यः (दिव्येभ्यः) निर्मलेभ्यः (पार्थिवेभ्यः) पृथिव्यां विदितेभ्यः (मनः) योगमननम् (त्वा) त्वां योगमभीप्सुम् । (अष्टु) प्राप्नोतु (स्वाहा) सत्यवचनरूपा क्रिया (त्वा) त्वाम् (सुभव) सुष्ठ्वैश्वर्य्य (सूर्याय) सूर्य्यस्येव योगप्रकाशाय (देवेभ्यः) प्रशस्तगुणपदार्थेभ्यः (त्वा) त्वाम् (मरीचिपेभ्यः) रश्मिभ्यः। मरीचिपा इति रश्मिनामसु पठितम् निघ० १। ५। (उदानाय) उत्कृष्टाय जीवनबलसाधनायैव (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। १। २। २१–२४ [व्याख्यातः] ॥ ६ ॥

अन्वयः[2]—हे सुभव योगिंस्त्वं स्वाङ्कृतोस्यहं [इन्द्रियेभ्यः] दिव्येभ्यो विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरीचिपेभ्यश्च त्वा त्वां स्वीकरोमि, पार्थिवेभ्यस्त्वा त्वां स्वीकरोमि, सूर्य्यायोदानाय च त्वा त्वां स्वीकरोमि, यतस्त्वा त्वां मनः स्वाहा सत्यारूढा क्रिया चाष्टु ॥ ६ ॥

भावार्थः—यावन्मनुष्यः श्रेष्ठाचारी न भवति, तावदीश्वरोऽपि तं न स्वीकरोति, यावदयं न स्वीकरोति तावत्तस्यात्मबलं पूर्णं न भवति। यावदिदं न जायते तावन्नात्यन्तं सुखं भवतीति ॥ ६ ॥

१ प्रभुकृपाभाक्त्वं कथं सम्भवतीति तदर्थमभ्याचरणस्योपयोगितां प्रदर्शयति—

२ अर्थभेदेन प्राक् य० ७। ३ व्याख्यातः। उदानाय इत्यस्य व्याकरणप्रक्रियाऽपि पूर्वं (य० ७। ३ पृ० ५७९, ५८०) 'प्राणाय' इतिवद् ॥

× '(अवरैः) छोटे (च) वा (परैः) बड़े व्यवहारों से' इति संस्कृतानुसारं स्यात् ॥

फिर ईश्वर योगविद्या चाहने वाले के प्रति उपदेश करता है[1] ॥

पदार्थः— हे (सुभव) शोभन ऐश्वर्ययुक्त योगी ! तू (स्वाङ्कृतः) अनादि काल से स्वयंसिद्ध (असि) है, मैं [(इन्द्रियेभ्यः) कार्यों की अत्यन्त साधक इन्द्रियों से तथा] (दिव्येभ्यः) शुद्ध (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) प्रशस्त गुण और प्रशंसनीय पदार्थों से युक्त विद्वानों और (मरीचिपेभ्यः) योग के प्रकाश से युक्त व्यवहारों से (त्वा) तुझको स्वीकार करता हूँ । (पार्थिवेभ्यः) पृथिवी पर प्रसिद्ध पदार्थों के लिए भी (त्वा) तुझको स्वीकार करता हूँ । (सूर्याय) सूर्य के समान योगप्रकाश करने के लिए या (उदानाय) उत्कृष्ट जीवन और बल के अर्थ (त्वा) तुझे ग्रहण करता हूँ, जिस से (त्वा) तुझे, योग चाहनेवाले को (मनः) योगसमाधियुक्त मन और (स्वाहा) सत्यानुष्ठान करने की क्रिया (अष्टु) प्राप्त हो ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्य जबतक श्रेष्ठाचार करनेवाला नहीं होता, तबतक ईश्वर भी उसको स्वीकार नहीं करता । जब तक उस को ईश्वर स्वीकार नहीं करता है, तबतक उसका आत्मबल पूरा २ नहीं हो सकता, और जब तक आत्मबल नहीं बढ़ता, तबतक उसका अत्यन्त सुख भी नहीं होता ॥ ६ ॥

आ वायो भूषेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । वायुर्देवता । निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनर्यौगिकृत्यमाह[2] ॥

आ वा॑यो भू॒ष शु॑चिपा॒ऽ उप॑ नः स॒हस्रं॑ ते नि॒युतो॑ विश्ववार । उपो॑ ते॒ऽ अन्धो॒ मद्य॑मयामि॒ यस्य॑ देव दधि॒षे पू॑र्व॒पेयं॑ वा॒यवे॑ त्वा ॥ ७ ॥

आ । वायोऽइति॑ वायो । भू॒ष॒ । शु॒चि॒पा इति॑ शुचि॒ऽपाः । उप॑ । नः॒ । स॒हस्र॑म् । ते॒ । नि॒युत॒ इति॑ नि॒ऽयुतः॑ । विश्ववा॒रेति॑ विश्व॒ऽवार ॥ उपो॒ऽइत्युपो॑ । ते॒ । अन्धः॑ । मद्य॑म् । अ॒या॒मि॒ । यस्य॑ । दे॒व॒ । द॒धि॒षे । पू॒र्व॒पेय॒मिति॑ पूर्व॒ऽपेय॑म् । वा॒यवे॑ । त्वा॒ ॥ ७ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (वायो) वायुरिव वर्त्तमान (भूष) अलंकुरु (शुचिपाः) शुचि पवित्रतां पालयतीति शुचिपाः पवित्रपालक (उप) (नः) अस्मान् (सहस्रम्) (ते) तव (नियुतः) नियुज्यन्ते ये तान् निश्चितान् शमादिगुणान्, अत्र कर्म्मणि क्विप् (विश्ववार) विश्वान् सर्वानानन्दान् वृणोति तत्सम्बुद्धौ (उपो) समीपम् (ते) (अन्धः) अन्नम् (मद्यम्) तृप्तिप्रदम् (अयामि) प्राप्नोमि (यस्य) (देव) योगेनात्मप्रकाशित (दधिषे[3])धरसि (पूर्वपेयम्) पूर्वैः पातुं योग्यमिव (वायवे) (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । १ । ३ । १८ [व्याख्यातः] ॥ ७ ॥

१ प्रभु की कृपा का पात्र मनुष्य कैसे हो सकता है, अतः ईश्वरोपासना के लिए सदाचार की उपयोगिता दर्शाते हैं—॥ ६ ॥

२ शुभकर्मानुष्ठानेनैव योगबलं समेधत इति सदाचारमेव दृढयति—

३ दधातेर्लिटि रूपम् । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३ । ४ । ६) इति सामान्यकाले लिट् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नियुतः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(विश्ववार) विश्वं वृणोतीति विश्ववारः । कर्मण्यण् (अ० ३ । २ । १) इत्यण् । आमन्त्रितनिघातः ॥

(उपो) ओकारान्त एकनिपात इति पदकाराः, तत्पक्षे ओत् (अ० १ । १ । १५) इति प्रगृह्यसंज्ञा । निपातसमुदाये तु निपात एकाजनाङ् (अ० १ । १ १४) इति ॥

अन्वयः—हे शुचिपा वायो त्वं [नः] सहस्रं नियुत [उप] आभूष, हे विश्ववार ते तव सकाशान्मद्यमन्ध उपो अयामि। हे देव यस्य ते तव पूर्वपेयमस्ति, यच्च त्वं दधिषे, तद् वायवे त्वा त्वामहं स्वीकरोमि ॥ ७ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः × ॥

भावार्थः—यो योगी प्राण इव सर्वानलंकरोति, ईश्वर इव सद्गुणेषु व्याप्नोत्यन्नजले इव सर्वान् सुखयति, स एव योगे प्रभवति ॥ ७ ॥

फिर योगी का कृत्य अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (शुचिपाः) अत्यन्त शुद्धता को पालने और (वायो) पवन के तुल्य योगक्रियाओं में प्रवृत्त होनेवाले योगी ! तू [(नः) हमारे] (सहस्रम्) हजारों (नियुतः) निश्चित शमादिक गुणों को [(उप)] (आभूष) सब प्रकार से सुभूषित कर। हे (विश्ववार) समस्त गुणों के स्वीकार करनेवाले ! जो (ते) तेरा (मद्यम्) अच्छी तृप्ति देनेवाला (अन्धः) अन्न है, उसको (उपो) तेरे समीप (अयामि) पहुंचाता हूँ। हे (देव) योगबल से आत्मा को प्रकाश करनेवाले ! (यस्य) जिस [(ते)] तेरा (पूर्वपेयम्) श्रेष्ठयोगियों से रक्षा करने के योग्य योगबल है, जिसको तू (दधिषे) धारण कर रहा है, (वायवे) उस योग के जानने के लिये (त्वा) तुझे स्वीकार करता हूँ ॥ ७ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो योगी प्राण के तुल्य सब को भूषित करता, ईश्वर के तुल्य अच्छे २ गुणों में व्याप्त होता, और अन्न वा जल के सदृश सुख देता है, वही योग में समर्थ होता है ॥ ७ ॥

इन्द्रवायू इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। इन्द्रवायू देवते। इन्द्रवायू इत्यस्यार्षी गायत्री छन्दः ॥
उपयामगृहीत इत्यस्य स्वराडार्षी गायत्रीच्छन्दः। षड्जः स्वरः ॥
पुनः स योगी कीदृशो भवतीत्युच्यते[2] ॥

इन्द्र॑वायू ऽ इ॒मे सु॒ता ऽ उप॒ प्रयो॑भि॒राग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि वा॒यव॑ ऽ इन्द्रवा॒युभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यां त्वा ॥ ८ ॥

(मद्यम्) गदमदचरयमश्चानुपसर्गे (अ० ३। १। १००) इति यत्। यतोऽनावः (अ० ६। १। २१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥
(दधिषे) यद्वृत्तत्वान्निघाताभावे प्रत्ययस्वरः ॥
(पूर्वपेयम्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे यतोऽनावः (अ० ६। १। २१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥
इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ शुभकर्मों के अनुष्ठान से ही योगबल की वृद्धि होती है, अतः सदाचार को ही दृढ़ करते हैं—॥ ७ ॥

२ उत्कृष्टयोगानुष्ठातृद्वारा राष्ट्रस्यानुपमो लाभ इति पुनर्योगं प्रशंसति—

× अस्य मन्त्रस्य नवमस्य चान्वये उपमावाचकपदस्याभावात् कथमत्र वाचकलुप्तोपमालंकार इति न प्रतीमः। यदि तु पदार्थान्तर्गत इवादिपदप्रयोगात् वाचकलुप्तोपमालंकारत्वं स्यात्तर्ह्युत्तरमन्त्रे (८) तथा वक्तव्यं स्यात्, न च तथोक्तम् ॥

† इन्द्रवायूऽइतीन्द्रऽवायू । इमे । सुताः । उप । प्रयोभिरिति प्रयःऽभिः । आ । गतम् ॥ इन्दवः । वाम् । उशन्ति । हि ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । वायवे । इन्द्रवायुभ्यामितीन्द्रवायुऽभ्याम् । त्वा । एषः । ते । योनिः । सजोषोभ्यामिति सजोषःऽभ्याम् । त्वा ॥ ८ ॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू[1]) प्राणसूर्य्यसदृशौ योगस्योपदेष्टृभ्यासिनौ (इमे) समक्षाः (सुताः) निष्पन्नाः पदार्थाः (उप) समीपे (प्रयोभिः[2]) कमनीयैर्लक्षणैः (आ) (गतम्) आगच्छतम् । गम्लृ गतावित्यस्माद् बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुकि सति शित्त्वाभावाच्छस्याभावोऽनुदात्तोपदेश० [अ० ६ । ४ । ३७] इत्यादिना मलोपश्च (इन्दवः[3]) सुखकारका जलादिपदार्थाः । इन्दुरित्युदकनामसु पठितम् । निघ० १ । १२ । (वाम्) युवाम् (उशन्ति) कामयन्ते (हि) सादृश्ये (उपयामगृहीतः) योगस्य यमनियमाङ्गैः सह स्वीकृतः (असि) (वायवे[4]) वायुवद् गत्यादिसिद्धये, यद्वा वाति प्रापयति योगबलेन व्यवहारानिति वायुर्योगविचक्षणस्तस्मै तादृशसम्पन्नाय (इन्द्रवायुभ्याम्[5]) विद्युत्प्राणाभ्यामिव योगाकर्षणनिष्कर्षणाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (एषः) योगः (ते) तव (योनिः) गृहम् । योनिरिति गृहनामसु पठितम्, निघ० ३ । ४ । (सजोषोभ्याम्) यौ जोषसा सेवनेन सह वर्त्तमानौ ताभ्याम (त्वा) त्वाम ॥ [अयं मन्त्रः श० ४ । १ । ३ । १८ व्याख्यातः] ॥ ८ ॥

अन्वयः[6]—हे इन्द्रवायू हि यत इमे सुता इन्दवो वामुशन्ति, तस्माद् युवामेतैः प्रयोभिः पदार्थैः सहैवोपागतमुपागच्छतम । भो योगसभीप्सो ! त्वमनेनाध्यापकेन वायवे उपयामगृहीतोऽसि, हे भगवन् योगाध्यापक !

[1] इन्द्रो वै मृधां विहन्ता । कौ० ४ । १ ॥ इन्द्रायांहोमुचे । तै० १ । ७ । ३ । ७ । यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः । श० ४ । १ । ३। १९ ॥

[2] प्रीञ् तर्पणे कान्तौ चेत्यस्मादौणादिकोऽसुन् प्रत्ययः ।

[3] इन्दुरित्युदकनामसु (निघ० १।१२)। यज्ञनामसु (निघ० ३ । १७) । पदनामसु (निघ० ५ । ४)॥

[4] वायुर्वै यन्ता । ऐ० । २ । ४ । १ ॥

[5] अथ यदुच्चैर्घोषं स्तनयन् ब ब ब ब कुर्वन्निव दहति, यस्माद् भूतानि विजयन्ते, तदस्य (अग्नेः) ऐन्द्रं रूपम् ॥ ऐ० ३।४ ॥ यदशनिरिन्द्रस्तेन । कौ०६।९॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इन्द्रवायू) देवताद्वन्द्वे च (अ० ६ । २ । १४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते नोत्तरपदेऽनुदात्तादाव० (अ० ६ । २ । १४२) इत्यादिना प्रतिषिद्धे समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् । इह तु आमन्त्रितत्वात् षाष्ठिकाद्युदात्तत्वम् ॥

(सुताः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(प्रयोभिः) प्रीञ् तर्पणे कान्तौ चेत्येतस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः । यद्वा 'प्रपूर्वात् यमतेरसुनि टिलोपो बाहुलकात् । प्रकर्षेण गच्छन्ति इति प्रयः' इति देवराजः (पृ० १११) ॥

'प्रयः शब्द इण् गतौ इत्यस्य धातोः शतृप्रत्ययान्तस्य इणो यण् (अ० ६ । ४ । ८१) इति यणादेशः भिस् । तस्तकारस्य छान्दसः सकारः, ततो रुत्वादि, ततः प्रपूर्वस्य प्रयोभिरिति सिध्यति' इत्युवटमहीधरौ । तदयुक्तम् । तथा सति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरप्राप्त्याऽन्तोदात्तत्वप्रसक्तेः ॥

(इन्दवः) उन्देरिच्चादेः (उ० १ । १२) इत्युप्रत्ययः, निच्च धातोरिकारादेशश्च । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्॥

'ञिइन्धी दीप्तौ' अस्माद् उन्देरिच्चादेः (उ० १ । १२) इति विधीयमान उप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, धकारस्य दकारश्च' इति देवराजः (पृ० १२५) ॥

(उशन्ति) हि च (अ० ८ । १ । ३४) इति निघाताभावः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ।

(सजोषोभ्याम्) सहपूर्वाद् जुषतेरसुनि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे नित्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[6] अस्य पूर्वभागः ऋ० १ । २ । ४ द० भाष्ये बहुशोभनं व्याख्यातस्तत एव द्रष्टव्यः ॥

† अवग्रहचिह्नरहितो ऽत्रापपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

एव योगस्ते तव योनिः सर्वदुःखनिवारकं गृहमिवास्ति। इन्द्रवायुभ्यां जुष्टं त्वा तथा योगमभीप्सो सजोषोभ्यां मुक्तगुणाभ्यां जुष्टं त्वा त्वां चाहं + वश्मि ॥ ८ ॥

भावार्थः—त एव जना योगिनस्सिद्धाश्च × भवितुं शक्नुवन्ति, ये योगविद्याभ्यासं कृत्वेश्वरमारभ्य भूमिपर्यन्तान् पदार्थान् साक्षात्कर्त्तुं प्रयतन्ते, यमादिसाधनान्विताश्च योगे रमन्ते, ये चैतान् सेवन्ते तेऽप्येतत्सर्वं प्राप्नुवन्ति नेतरे ॥ ८ ॥

फिर वह योगी कैसा होता है, यह अगले मन्त्र में कहा है ॥[1]

पदार्थः—हे (इन्द्रवायू) प्राण और सूर्य्य के समान योगशास्त्र के पढ़ने पढ़ानेवालो ! (हि) जिससे (इमे) (सुताः) ये उत्पन्न हुए (इन्दवः) सुखकारक जलादि पदार्थ (वाम्) तुम दोनों को (उशन्ति) प्राप्त होते हैं, इससे तुम (प्रयोभिः) इन मनोहर पदार्थों के साथ ही [(उप)] (आगतम्) अपना आगमन जानो। भो योगचाहनेवाले ! तू इस योगपढ़ाने वाले अध्यापक से (वायवे) पवन के तुल्य योगसिद्धि को पाने के लिए अथवा योगबल से चराचर के ज्ञान की प्राप्ति के लिए (उपयामगृहीतः) योग के यमनियमों के साथ स्वीकार किया गया (असि) है, हे भगवन् योगाध्यापक ! (एषः) यह योग (ते) तुम्हारा (योनिः) सब दुःखों के निवारण करने वाले घर के समान है, और (इन्द्रवायुभ्याम्) बिजली और प्राणवायु के समान योगवृद्धि और समाधि चढ़ाने और उतारने की शक्तियों से प्रसन्न हुए (त्वा) आप को और, हे योगचाहनेवाले ! (सजोषोभ्याम्) सेवन किये हुए उक्त गुणों से प्रसन्न हुए (त्वा) तुझे मैं अपने सुख के लिए चाहता हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थः—वे ही लोग पूर्णयोगी और सिद्ध हो सकते हैं, जो कि योगविद्याभ्यास करके ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यंत पदार्थों को साक्षात् करने का यत्न किया करते, और यमनियम आदि साधनों से युक्त योग में रम रहे हैं, और जो इन सिद्धों का सेवन करते हैं, वे भी इस योगसिद्धि को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं ॥ ८ ॥

अयं वामित्यस्य गृत्समद ऋषिः। मित्रावरुणौ देवते। आर्षी गायत्रीच्छन्दः ॥ उपयामगृहीतोऽसीत्यस्यासुरी गायत्रीच्छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

पुनरध्यापकशिष्यकृत्यमाह[2] ॥

अ॒यं वां॑ मित्रावरुणा सु॒तः सोम॑ ऽऋतावृधा। ममेदि॒ह श्रु॑त॒ꣳ हव॑म्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि मि॒त्राव॑रुणाभ्यां त्वा ॥ ९ ॥

---

१ उत्तम योग का अनुष्ठान करनेवालों के द्वारा राष्ट्र का अनुपम लाभ होता है, अतः पुनः उसी योग की प्रशंसा करते हैं—॥ ८ ॥

२ अध्यापकशिष्यावपि योगमभ्यस्येतामित्याह—

\+ अत्र भाष्यकारः 'घसिवशी छान्दसौ, दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति' (अ० ६ । १ । ६ भाष्ये)। अत्र नागेश आह 'यदि भाष्यवार्तिककारौ प्रमाणं तर्ह्यसाधुरेव स (वष्टिभागुरिरल्लोपम्) प्रयोग इति भावः ॥

× 'सिद्धाश्च' इति गकोशे नास्ति ॥

अयम्। वाम्। मित्रावरुणा। सुतः। सोमः। + ऋतावृधा। ऋतवृधेत्यृतऽवृधा। मम। इत्। इह। श्रुतम्। हवम्॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। मित्रावरुणाभ्याम्। त्वा॥ ९॥

पदार्थः—(अयम्) (वाम्) युवयोः (मित्रावरुणा[1]) प्राणोदानाविव वर्त्तमानौ (सुतः) निष्पादितः (सोमः) योगैश्वर्य्यसमूहः (ऋतावृधा[2]) यौ ऋतं विज्ञानं वर्द्धयतस्तौ ❀(मम) विद्यायोगप्रियस्य (इत्[3]) एव (इह) अस्मिन् योगविद्याग्राहके व्यवहारे (श्रुतम्) शृणुतम् (हवम्) स्तुतिसमूहम् (उपयामगृहीतः) (असि) (मित्रावरुणाभ्याम्) (त्वा) त्वाम्॥ अयं मन्त्रः शत० ४।१।४।८ व्याख्यातः॥ ९॥

अन्वयः—हे मित्रावरुणा ऋतावृधाध्यापकाध्येतारौ! वां युवयोरयं सोमः सुतोऽस्ति, युवामिह मम हवं श्रुतं, हे यजमान! यतस्त्वमुपयामगृहीत इवास्यतोऽहं मित्रावरुणाभ्यां सह वर्त्तमानं त्वा त्वां गृह्णामि॥ ९॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—मनुष्यैरनुचितेनैतद्विद्यां गृहीत्वोपदेशं श्रुत्वा, यमनियमान् धृत्वा, योगाभ्यासेन सह [नैः] वर्त्तितव्यम्॥ ९॥

फिर अध्यापक और शिष्य का कर्म अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे (मित्रावरुणा) प्राण और उदान के समान वर्त्तमान (ऋतावृधा) सत्यविज्ञानवर्द्धक योगविद्या के पढ़ने पढ़ानेवालो! (वाम्) तुम्हारा (अयम्) यह (सोमः) योग का ऐश्वर्य (सुतः) सिद्ध किया हुआ है, इस से तुम (इह) यहां (मम) योगविद्या से प्रसन्न होनेवाले मेरी (हवम्) स्तुति को (श्रुतम्) सुनो, हे यजमान! जिस से तू (उपयामगृहीतः) अच्छे नियमों के साथ स्वीकार किया हुआ (इत्) ही (असि) है, इस से मैं (मित्रावरुणाभ्याम्) प्राण और उदान के साथ वर्त्तमान (त्वा) तुझ को ग्रहण करता हूं॥ ९॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है॥

---

१ सम्बोधन आमन्त्रितनिघातः प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ। श० १।८।३।१२॥ अत्रैव प्रकरणे शतपथे च—'ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः'॥

२ 'वृधु वृद्धौ' इत्यस्माण्णिजन्ताद् बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः (अ० ३।२।२३) इति क्विपि णिलुक्। उपपदस्य अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३५) इति छान्दसं दीर्घत्वं विभक्तिश्च सुपां सुलुक्० (अ० ७।१।३९) इत्याकारः, आमन्त्रितनिघातः॥

३ अन्वयभाषापदार्थानुसारं तु 'एव' इति युक्तं स्यात्।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हवम्) भावेऽनुपसर्गस्य (अ० ३।३।७५) इति 'अप', सम्प्रसारणं च। प्रत्ययस्य पित्त्वाद् धातुस्वरः॥ सायणस्तु ऋ० १।२।१ मन्त्रभाष्ये बहुलं छन्दसि (अ० ६।१।३४) इति संप्रसारणे ऋदोरप् (अ० ३।३।५७) इत्यप् इत्याह। तत्रोक्तसूत्रेणैव सर्वेष्टसिद्धौ बहुलं छन्दसीत्यादिपर्यन्तं धावनं किंफलकमिति तु स एव प्रष्टव्यः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

४ अध्यापक और शिष्य भी योग का अभ्यास करें, अतः कहते हैं—॥ ९॥

+ 'ऋतावृधेत्यृतऽवृधा' इत्येवाजमेरमुद्रितेऽपपाठः॥

❀ "(मम) विद्यायोगप्रियस्य" इति पाठो हस्तलेखेषूपलभ्यमानोऽपि प्रमादेन अ० मुद्रिते त्यक्तः॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि इस योगविद्या का ग्रहण, श्रेष्ठपुरुषों का उपदेश सुन और यमनियमों को धारण करके योगाभ्यास के साथ अपना वर्त्ताव रक्खें ॥ ९ ॥

राया वयमित्यस्य त्रिसदस्युर्ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । ब्राह्मीबृहतीछन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनरेतयोः कृत्यमाह[1] ॥

राया वयᳬ संसवाᳬसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः । तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा ॥ १० ॥

राया । वयम् । ससवाᳬस इति ससऽवाᳬसः । मदेम । हव्येन । देवाः । यवसेन । गावः ॥ ताम् । धेनुम् । मित्रावरुणा । + युवम् । नः । विश्वाहा । धत्तम् । अनपस्फुरन्तीमित्यनपऽस्फुरन्तीम् । एषः । ते । योनिः । * ऋतायुभ्याम् । ऋतयुभ्यामित्यृतयुऽभ्याम् । त्वा ॥ १० ॥

पदार्थः—(राया) धनेन सह (वयम्) पुरुषार्थिनः (ससवाᳬसः) संविभक्ताः (मदेम) हृष्येम (हव्येन) ग्रहीतव्येन (देवाः) (यवसेन) अभीष्टेन तृणबुसादिना (गावः) गवादयः पशवः (ताम्) (धेनुम्) धयति पिबत्यानन्दरसमनया ताम् । धेनुरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ । (मित्रावरुणा) प्राणवत् सखायावुत्तमौ जनौ (युवम्) युवाम् (नः) अस्मभ्यम् (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (धत्तम्) (अनपस्फुरन्तीम्) विज्ञापयित्रीमिव योगविद्याजन्यां वाचम् (एषः) (ते) (योनिः) (ऋतायुभ्याम्[2]) आत्मन ऋतमिच्छद्भ्यामिव (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । १ । ४ । १० व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे ससवांसो देवा वयं यवसेन गाव इव हव्येन राया मदेम । हे मित्रावरुणा युवं युवां नोऽस्मभ्यं विश्वाहा विश्वान्यहान्यनपस्फुरन्तीं तां धेनुं धत्तम् । हे यजमान यस्यैष ते विद्याबोधो योनिरस्ति, अत ऋतायुभ्यां सहितं त्वा त्वां वयमाददामहे † ॥ १० ॥

१ शिक्षितैर्जनैरर्थादिप्राप्तिः कथं करणीयेत्याह—

२ ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः । श० ४ । १ । ४ । १० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(राया) ऊडिदंपदाद्यप्० (अ० ६ । १ । १७१) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(ससवांसः) 'वन षण सम्भक्तौ' इत्यस्मात् क्वसौ अनुनासिकलोपः । प्रत्ययस्वरेण क्वसुरुदात्तः॥

(यवसेन) यौतेः 'अर्त्तिस्तुसु०' (उ० ४ । २) इत्यादिसूत्रे नारायणश्वेतवनवासिनोर्मतेन असप्रत्ययः, छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(धेनुम्) धेट इच (उ० ३ । ३४) इति नुप्रत्ययः, इकारादेशश्च, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(अनपस्फुरन्तीम्) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(ऋतायुभ्याम्) न च्छन्दस्यपुत्रस्य (अ० ७ । ४ । ३५) इतीत्वप्रतिषेधः । सांहितिकं दीर्घत्वं, क्याच्छन्दसि (अ० ६ । २ । १७०) इति उः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

यथा च प्राक् शतपथप्रमाणेनोक्तं तथा तु ऋत + आयु पदयोर्द्वन्द्व इति विज्ञायते । पदकारस्त्वेवमत्र नावगृह्णातीति बोध्यम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

+ स्वरचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

† 'आददीमहे' इति अ० मु० अपपाठः ॥

* 'ऋतायुभ्यामित्यृतयुऽभ्याम्' इत्येवमपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

अत्र † वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैः पुरुषार्थेन विद्वत्संगेन च परोपकारनिष्पादयित्रीं कामदुघां वेदवाचं प्राप्यानन्दयितव्यमिति ॥ १० ॥

फिर भी योग पढ़नेवालों के कृत्य का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—(हे ससवांसः) भले बुरे के अलग २ करनेवाले (देवाः) विद्वानो ! आप और (वयम्) हम लोग (यवसेन) तृण घास भूसा से (गावः) गो आदि पशुओं के समान (इभ्येन) ग्रहण करने के योग्य (राया) धन से (मदेम) हर्षित हों । और हे (मित्रावरुणा) प्राण के समान उत्तमजनो ! (युवम्) तुम दोनों (नः) हमारे लिये (विश्वाहा) सब दिनों में (अनपस्फुरन्तीम्) ठीक २ ज्ञान देनेवाली [(ताम्) उस] (धेनुम्) वाणी को (धत्तम्) धारण कीजिये । हे यजमान ! जिससे (ते) तेरा (एषः) यह विद्याबोध (योनिः) घर है, इस से (ऋतायुभ्याम्) सत्यव्यवहार चाहने वालों के सहित (त्वा) तुझ को हम लोग स्वीकार करते हैं ॥ १० ॥

इस मन्त्र में ❀ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अपने पुरुषार्थ और विद्वानों के संग से परोपकार की सिद्धि अरौ कामना को पूर्ण करनेवाली वेदवाणी को प्राप्त होकर आनन्द में रहें ॥ १० ॥

या वाङ्कशेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । अश्विनौ देवते । ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनरप्येतयोः कर्त्तव्यमुपदिश्यते[2] ॥

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् ।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा ॥ ११ ॥

या । वाम् । कशा । मधुमतीति मधुऽमती । अश्विना । सूनृतावतीति सूनृताऽवती ॥ तया । यज्ञम् । मिमिक्षतम् ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । अश्विभ्यामित्यश्विऽभ्याम् । त्वा । एषः । ते । योनिः । माध्वीभ्याम् । त्वा ॥ ११ ॥

---

[1] शिक्षित जन धनादि की प्राप्ति कैसे करें, यह दर्शाते हैं—॥ १० ॥

[2] मधुरवाचैव सर्वेष्टसिद्धिरित्युपदिश्यते—

---

† 'उपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः, स चापपाठः, मन्त्र उपमावाचकस्य पदस्याभावात् ॥

❀ 'उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

पदार्थः—(या) (वां) युवयोः (कशा) वाणी, कशेति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १।११। (मधुमती) प्रशस्तमाधुर्य्यगुणयुक्तेव (अश्विना) सूर्य्यचन्द्रवत् प्रकाशमानौ (सूनृतावती[1]) उषा इव (तया) (यज्ञम्) योगम् (मिमिक्षतम्) सेक्तुमिच्छतम् (उपयामगृहीतः) उपनियमैः स्वीकृतः (असि) (अश्विभ्याम्[2]) प्राणापानाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (एषः) (ते) तव (योनिः) गृहम् (माध्वीभ्याम्) सुनीतियोगरीतिभ्याम् (त्वा) त्वाम्॥ अयं मन्त्रः शत० ४।१।५।१७ तथा ४।१।६।१-७ [व्याख्यातः]॥ ११॥

अन्वयः—हे अश्विना योगाध्येत्रध्यापकौ! या वां मधुमती सूनृतावती [च] कशाऽस्ति तया यज्ञं मिमिक्षतम्। हे योगमभीप्सो! त्वमुपयामगृहीतोसि किं च ते † तवैष योगो योनिरस्त्यतोऽश्विभ्यां सह वर्त्तमानं [त्वा] त्वां। हे योगाध्यापक! माध्वीभ्यां सह वर्त्तमानं च [त्वा] त्वां वयमुपाश्रयामः॥ ११॥

अत्र [लुप्त]पमालङ्कारः॥

भावार्थः—योगिनो मधुरवाचाध्येतॄन् प्रति योगमुपदिशेयुरात्मसर्वस्वं योगमेव मन्येरन्नितरे जनास्तादृशं योगिनं ‡ सर्वदाऽऽश्रयेयुरिति॥ ११॥

---

१ सूनृतं प्रियं वचनं, तद्वती॥ "सूनृता प्रशस्ता बुद्धि-र्विद्यते यस्यां सा, प्रशंसार्थे मतुप्" इति ऋ० १। २२।३ द० भाष्ये॥

२ यद् व्यश्नुवाते सर्वम्। निरु० १२।१॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कशा) 'कश-गतिशासनयोः', ततः पचाद्यच् प्रत्ययः। वृषादीनां च (अ० ६।१।२०३)इत्याद्युदात्तत्वम्। काशृ दीप्तौ (भू० आ०) अन्तर्णीतण्यर्थः, पचाद्यच् (अ० ३।१।१३४) आकारस्य ह्रस्वत्वं छान्दसम्। प्रकाशयत्यर्थान्॥ इति देवराजः (पृ० ९०)॥

(सूनृतावती) सुष्ठु ऊनयतीति सून्, क्विपि वद् ऋतं यस्यां सा सूनृता, तद्वती। पूर्वपदप्रकृतिस्वरं बाधित्वा परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६। २।१९९) इति ऋकार उदात्तः। यत्तु सायणेन (ऋ० १।२२।३) "नञ्सुभ्याम् (अ० ६। २।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वं बाधित्वा" इत्युक्तं, तदयुक्तम्। नहि बहुव्रीहिं प्रति सुशब्दः पूर्वपदम्, किं तर्हि 'सून्' शब्दः। एवं च 'सूश्च तदृतं च' इति देवराजोक्ते (पृ० ५३) समानाधिकरणसमासेऽपि पूर्वोक्तैव गतिः। न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (अ० ८।२।७) इति पूर्वपदस्य नकारलोपे प्राप्ते पृषोदरादित्वात् तदभावः। देवराजस्त्वन्यथाऽपि बहुधा निरवोचत, तत् तत्रैव (देवराज पृ० ५३, २११) द्रष्टव्यम्॥

(माध्वी) मध्वेव माध्वी, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्, ततो ङीप्। ऋत्व्यवास्त्व्य० (अ० ६।४। १७५) इत्यादिना यणादेशः, आद्युदात्तत्वं च निपातनात्॥

भट्टभास्करस्तु—"मध्वस्यास्तीति मध्वम्, तदन्तान्मत्वर्थीय ईकारः, ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्व० इत्यादौ माध्वीति निपात्यते। यद्वा मध्वेव माध्वी, आग्नीध्रादिवत् स्वार्थेऽञ् माध्वीभ्यामिति मधुमद्भ्यामित्यर्थः" इति तै० सं० भा० २ पृ० २६, २७॥

"मधोरञ् च (अ० ४ ४।१२९) इत्यञ् प्रत्ययः। 'ऋत्व्यवास्त्व्य' इत्यादौ अञि यणादेशो निपात्यते इति" सायणः ऋ० १।९०।६ भाष्ये॥ काशिकादौ मधोर्ञ च (अ० ४।४।१२९) इत्येवं सूत्रपाठ उपलभ्यते, तथा सति ङीन् दुर्लभः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

---

† 'तव' इति गकोशे नास्ति॥ ‡ 'सर्वत्र' इति क्ष० मुद्रिते पाठः॥

फिर भी इन योगविद्या पढ़ने पढ़ानेवालों के करने योग्य काम का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (अश्विना) सूर्य्य और चन्द्र के तुल्य प्रकाशित योग के पढ़ने पढ़ानेवालो ! (या) जो (वाम्) तुम्हारी (मधुमती) प्रशंसनीय मधुरगुणयुक्त (सूनृतावती) प्रभात समय में क्रम २ से प्रदीप्त होने वाली उषा के समान (कशा) वाणी है, (तया) उस से (यज्ञम्) ईश्वर से संग करानेहारे योगरूपी यज्ञ को (मिमिक्षतम्) सिद्ध करने की इच्छा करो । हे योग पढ़नेवाले ! तू (उपयामगृहीतः) यमनियमादिकों से स्वीकार किया गया (असि) है, (ते) तेरा (एषः) यह योग (योनिः) घर के समान सुखदायक है, इस से (अश्विभ्याम्) प्राण और अपान के योगोचित नियमों के साथ वर्त्तमान (त्वा) तेरा और हे योगाध्यापक ! (माध्वीभ्याम्) माधुर्य्य लिए जो श्रेष्ठ नीति और योगरीति हैं, उनके साथ वर्त्तमान (त्वा) आप का हम लोग आश्रय करते हैं अर्थात् समीपस्थ होते हैं ॥ ११ ॥

इस मन्त्र में [लुप्त] उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—योगी लोग मधुर प्यारी वाणी से योग सीखने वालों को उपदेश करें और अपना सर्वस्व योग ही को जानें, तथा अन्य मनुष्य वैसे योगी का सदा आश्रय किया करें ॥ ११ ॥

तं प्रत्नथेत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
उपयामगृहीत इत्यस्य पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्योगिगुणा उपदिश्यन्ते[2] ॥

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदम् । प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे । उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १२ ॥

तम् । प्रत्नथेति प्रत्नऽथा । ❀ पूर्वथेति पूर्वऽथा । विश्वथेति विश्वऽथा । इमथेतीमऽथा । ज्येष्ठतातिमिति ज्येष्ठऽतातिम् । बर्हिषदम् । बर्हिसदमिति बर्हिःऽसदम् । स्वर्विदमिति स्वःऽविदम् ॥ प्रतीचीनम् । वृजनम् । दोहसे । धुनिम् । आशुम् । जयन्तम् । अनु । यासु । वर्द्धसे ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । शण्डाय । त्वा । एषः । ते । योनिः । वीरताम् । पाहि । अपमृष्ट † इत्यपऽमृष्टः । शण्डः । देवाः । त्वा । शुक्रपा इति शुक्रऽपाः । प्र । नयन्तु । अनाधृष्टा । असि ॥ १२ ॥

पदार्थः—(तम्) योगम् (प्रत्नथा[3]) प्राक्तनानां योगिनामिव (पूर्वथा) पूर्वेषां योगिनामिव (विश्वथा) सर्वेषामिव (इमथा) इदानीन्तनानामिव (ज्येष्ठतातिम्) प्रशस्तं ज्येष्ठम् (बर्हिषदम्)

१ मधुर वाणी से ही सब प्रकार की इष्ट सिद्धि होती है, सो कहते हैं—॥ ११ ॥

२ अहिंसादिषु सिद्ध एव मधुरवाचो महत्त्वमवगन्तुं शक्नोतीत्याह—

३ "नश्च पुराणे प्राद् वक्तव्यः, त्नप्तनप्खाश्च प्रत्यया वक्तव्याः । प्रणं प्रत्नं प्रतनं प्रीणम्" । अ० ५ । ४ । ३० भा० ।

❀ 'पूर्वऽथेति' इत्यस्थाने ऽ वग्रहचिह्नमजमेरमुद्रिते ॥ † अवग्रहचिह्नरहितो ऽ जमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

यो बर्हिष्यन्तरिक्षे ❀ सीदति तम् (स्वर्विदम्) स्वः सुखं वेदयति तम् (प्रतीचीनम्) अविद्यादिदोषेभ्यः प्रतिकूलम् (वृजनम्[1]) योगबलम् (दोहसे) प्रपिपर्षि + (धुनिम्) इन्द्रियकम्पकम् (आशुम्) शीघ्रं सिद्धिप्रदम् (जयन्तम्) उत्कर्षप्रापकम् (अनु) क्रियायोगे (यासु) कुशलासु (वर्द्धसे) शमादिषु स्वात्मानमुन्नयसि (उपयामगृहीतः) उपयामाः शौचादयो नियमा गृहीता येन सः (असि) वर्त्तसे। (शण्डाय) (त्वा) त्वाम् (एषः) योगयुक्तः स्वभावः (ते) योगविद्याध्यापकस्य तव (योनिः) सुखहेतुः (वीरताम्) वीरस्य भावम् (पाहि) रक्ष (अपमृष्टः) अपमृज्यते दूरीक्रियतेऽविद्यादिक्लेशैर्यः × सः शुद्धः (शण्डः) शमान्वितः (देवाः) देदीप्यमाना योगिनः (त्वा) त्वाम् (शुक्रपाः) शुक्रं योगवीर्यं योगबलं वा † पान्ति ते (प्र) (नयन्तु) (अनाधृष्टा) समन्ताद्धर्षितुमनर्हा (असि) अस्तु ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । १ । ९-१५ व्याख्यातः[2] ॥ १२ ॥

अन्वयः[3]—हे योगिन् ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि, ते तवैष योगस्वभावो योनिः सुखहेतुरस्ति। येन योगेन त्वमपमृष्टः शण्डोऽसि, यासु योगक्रियासु त्वं वर्द्धसे, विश्वथा प्रत्नथा पूर्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदं प्रतीचीनमाशुं जयन्तं धुनिं वृजनं दोहसे च, तं योगबलं शुक्रपा देवा [त्वा] त्वां प्रणयन्तु, तस्मै शण्डाय तुभ्यमस्य योगस्यानाधृष्टा वीरतास्तु, त्वमिमां वीरतां पाहि तदनु [त्वा] त्वामियं वीरता पातु ॥ १२ ॥

अत्रोपमालङ्कारः[4] ॥

---

१ बलनाम । निघ० २ । ९ ॥ कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः (उ० २ । ८२)। "मध्योदात्तं तु वृजनं वर्त्तते बलयुद्धयोः वृजनेन वृजिनान् सम्पिपेष (ऋ० ३ । ३४ । ६)..............जरयन्ती वृजनं (ऋ० १ । ४८ । ५) तु वर्त्तते उपद्रवे" इति वेङ्कटमाधवः । (द्र० देवराजनिघण्टुटीका पृ० २२०) ॥

२ इतः पूर्वं 'अयं वेनश्चोदयत्०' (य० ७ । १६) इति मन्त्रः शतपथब्राह्मणे व्यतिक्रमेण पूर्वाचार्याणां मतेन विनियुक्तो व्याख्यातश्चेति ध्येयम् ॥

३ मन्त्रोऽयं ऋ० ५ । ४४ । १ । द० भाष्ये भेदेन व्याख्यातः ॥

४ तथा च निरुक्तम्— 'अथात उपमाः' इति प्रकरणे "प्रत्न इव पूर्व इव विश्व इवेम इवेत्ययमेततरो दऽमुष्मासावस्ततरः" इति । निरु० ३ । १६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रत्नथा, पूर्वथा, विश्वथा, इमथा) प्रत्नपूर्व-विश्वेमात् थाल् छन्दसि (अ० ५ । ३ । १११) इतीवार्थे थाल् प्रत्ययः । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वम् ॥

(ज्येष्ठतातिम्) वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि (अ० ५ । ४ । ४१) इति स्वार्थे तातिल्, लित्स्वरश्च ॥

(बर्हिषदम्) सत्सूद्विष० (अ० ३ । २ । ६१) इति क्विप्, पृषोदरादित्वात् सकारलोपः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(स्वर्विदम्) पूर्ववत् कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।

(प्रतीचीनम्) विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् (अ० ५ । ४ । ८) इति स्वार्थे खः, तस्येनादेशे प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्ते प्राप्ते छान्दसत्वादन्तोदात्तत्वम् । यद्वा लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः (अ० ४ । ४ । १२८ भा० वा०) इति स्वार्थे 'अ' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वृजनम्) द्विविधो वृजनशब्द आद्युदात्तो मध्योदात्तश्च (द्र० टिप्पणी १) । इह तु क्युप्रत्यये प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥ सायणस्तु आद्युदात्तेऽपि वृजनशब्दे (ऋ० १ । ४८ । ५ भा०) प्रत्ययस्वरमाह । तदयुक्तम्, प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वप्रसक्तेः ॥

❀ 'बर्हिरन्तरिक्षे' इति सार्वत्रिकः पाठः ॥

+ इतोऽग्रे 'उत्कर्षप्रापकम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः, स च लेखकप्रमादपरः ॥

× '० क्लेशेभ्यो यः' इति युक्ततरं स्यात् ॥

† 'पान्ति ते' इति गकोशे नास्ति ॥

भावार्थः—हे [योगविद्याजिज्ञासो] यथा शमादिगुणप्रसक्तः पुरुषो योगबलेन विद्याबलमुन्नतुं शक्नोति, सा चाविद्याध्वान्तौघविध्वंसिनी योगविद्या () पुरुषानभ्येत्य यथार्थं सुखयति, तथा त्वामपि सुखयतु ॥ १२ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में योगी के गुणों का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे योगिन् ! आप (उपयामगृहीतः) योग के अङ्गों अर्थात् शौच आदि नियमों के ग्रहण करनेवाले (असि) हैं। (ते) आपका (एषः) यह योगयुक्त स्वभाव (योनिः) सुख का हेतु है। जिस योग से आप (अपमृष्टः) अविद्यादि दोषों से अलग हुए (शण्डः) शमादि गुणयुक्त हैं, (यासु) जिन योगक्रियाओं में आप (वर्द्धसे) वृद्धि को प्राप्त होते हैं, और (विश्वथा) समस्त (प्रत्नथा) प्राचीन महर्षि (पूर्वथा) पूर्वकाल के योगी और (इमथा) वर्त्तमान योगियों के समान (ज्येष्ठतातिम्) अत्यन्त प्रशंसनीय (बर्हिषदम्) हृदयाकाश में स्थिर (स्वर्विदम्) सुख लाभ करने (प्रतीचीनम्) अविद्यादि दोषों से प्रतिकूल होने (आशुम्) शीघ्र सिद्धि देने (जयन्तम्) उत्कर्ष पहुंचाने और (धुनिम्) इन्द्रियों को कम्पाने वाले (वृजनम्) योगबल को (दोहसे) परिपूर्ण करते हैं, [(तम्)] उस योगबल को (शुक्रपाः) जो कि योगबल की रक्षा करनेहारे (देवाः) योगबल के प्रकाश से प्रकाशित योगी लोग हैं, वे (त्वा) आप को (प्रणयन्तु) अच्छे प्रकार पहुंचावें। उस योगबल को प्राप्त हुए (शण्डाय) शमदमादिगुणयुक्त आपके लिये उसी योग की (अनाधृष्टा) दृढ़वीरता (असि) हो, आप उस (वीरताम्) वीरता की (पाहि) रक्षा कीजिये (अनु) वह रक्षा को प्राप्त हुई वीरता (त्वा) आप को पाले ॥ १२ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—हे योगविद्या की इच्छा करने वाले ! जैसे शमदमादिगुणयुक्त पुरुष योगबल से विद्याबल की उन्नति कर सकता है, वही अविद्यारूपी अन्धकार का विध्वंस करनेवाली योगविद्या सज्जनों को प्राप्त होकर यथोचित सुख देती है, वैसे आप को दे ॥ १२ ॥

(धुनिम्) घृणिपृश्निपार्ष्णि० (उ० ४ । ५२) इत्यत्र बाहुलकाद् धुनोतेरपि निः। स च नित्,नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्, घृणिवद् गुणाभावश्च ॥ भोजस्तु घृसधु० (भो० उ० २ । १ । २१०) इत्यादिना विस्पष्टमेव निरवोचत् ॥

(आशुम्) कृवापाजिमि० (उ० १ । १) इत्यादिना 'उण्' प्रत्ययस्वरः ॥

(शण्डाय) अमन्ताड्डः (उ० १ । ११४) इति शमेर्डः। "बहुलवचनात् सत्यप्यनुबन्धप्रयोजने डकारस्येत्संज्ञा नास्ति, उत्तरत्र कित्करणाद् वा। यद् वक्ष्यति 'क्वादिभ्यः कित्' इति तत्र गुणप्रतिषेधार्थं कित्करणमनर्थकं स्यात्। तस्माच्छ्रवणमेव डकारस्य, न लोपः" इति दशपादीवृत्तिकारः (पृ० १७७) ॥

(वीरताम्) तलि लित्स्वरः।

(अपमृष्टः) गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे निपातत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 अहिंसादि में सिद्ध पुरुष ही मधुर वचन के महत्त्व को समझ सकता है, अतः कहा—॥ १२ ॥

() 'पुरुषानभ्येति तथा त्वमप्यनुतिष्ठस्व' इति ग. कोशे पाठः ॥

सुवीर इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥
शुक्रस्येत्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥

उक्तयोगमनुष्ठाता योगी कीदृग् भवतीत्युपदिश्यते[1]॥

सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्।
सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः शुक्रस्याधिष्ठानमसि॥१३॥

सुवीर इति+सुऽवीरः। वीरान्। प्रजनयन्निति प्रऽजनयन्। परि। इहि। अभि। रायः। पोषेण। यजमानम्॥ सञ्जग्मान इति सम्ऽजग्मानः। दिवा। पृथिव्या। शुक्रः। शुक्रशोचिषेति शुक्रऽशोचिषा। निरस्त इति+निःऽअस्तः। शण्डः। शुक्रस्य। अधिष्ठानम्। अधिस्थानमित्यधिऽस्थानम्+। असि॥ १३॥

पदार्थः—(सुवीरः) शोभनश्चासौ वीर इव (वीरान्) उत्कृष्टगुणान् (प्रजनयन्) निष्पादयन्नेव (परि) सर्वतः (इहि) प्राप्नुहि (अभि) आभिमुख्ये (रायः) धनस्य (पोषेण) पुष्ट्या (यजमानम्) दातारम् (संजग्मानः) संगतवान् (दिवा) सूर्य्येण (पृथिव्या) भूम्या सह (शुक्रः) वीर्य्यवान् (शुक्रशोचिषा) शुक्रस्य शोधकस्य सूर्य्यस्य शोचिर्दीपनं तेनैव (निरस्तः) निःसारितोऽन्धकार इव (शण्डः) शमादिसहितः (शुक्रस्य) शोधकस्य योगस्य (अधिष्ठानम्) अधितिष्ठन्ति यस्मिन्निति तत् (असि)॥ अयं मन्त्रः शत० ४।२।१।१६ व्याख्यातः[3]॥१३॥

अन्वयः—हे योगिन्! सुवीरस्त्वं वीरान् प्रजनयन् परीहि, एवं यजमानमभि रायस्पोषेण संजग्मानो दिवा पृथिव्या सह शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्त एव विषयवासनारहितः शण्डस्त्वं शुक्रस्याधिष्ठानमसि॥ १३॥

भावार्थः—शमदमादिगुणाधिष्ठानो योगाभ्यासनिरतो योगी स्वयोगविद्याप्रचारेण जिज्ञासूनामात्मबलं वर्द्धयन् सर्वथा सूर्य्य इव प्रकाशमानो भवति॥ १३॥

---

१ व्यवहारे प्रवृत्तस्य योगिजनस्य महिमानं वर्णयति—

२ असौ वा आदित्यः शुक्रः। श० ९।४।२।२१॥ तां० १५।५।९॥

३ शतपथ इतः पूर्वं 'मनो न येषु हवनेषु' (य० ७।१७) इति मन्त्रो व्यतिक्रमेण विनियुक्तो व्याख्यातश्च॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रजनयन्) प्रपूर्वाज्जनयतेः शतृप्रत्ययः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे, तास्यनुदात्ते० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(संजग्मानः) अत्र सकर्मकत्वेऽपि समो गम्यृच्छिभ्याम् (अ० १।३।२९) इति छान्दसत्वादात्मनेपदे कानच्। चित्स्वरः॥

(शुक्रः) ईशुचिर् पूतीभावे (दिवा० उ०) इति धातोः ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० (उ० २।२८) इति रन्,। निपातनात् कुत्वमन्तोदात्तत्वं च। यत्तु 'शुक्रस्य' शुक्रस्य शोचिष्पते' ऋ० ५।६।९ इत्यत्राद्युदात्तत्वं तत्तु पराङ्गवद्भावेन बोध्यम्॥

शोभतेरिति दशपादीवृत्तिकारः (पृ० ३१८)। शोकतेरिति धातुप्रदीपकारः (पृ० १७)। 'शुक्र गतौ' इत्यस्य त्वनार्षः पाठ इति सायणः (धा० वृ० पृ० ५८)।

(शुक्रशोचिषा) समासस्य (अ० ६।१।२२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसं पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधा-

+ अवग्रहचिह्नरहितोऽयपाठोऽजमेरमुद्रिते॥

उक्त योग का अनुष्ठान करनेवाला योगी कैसा होता है, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे योगिन् ! (सुवीरः) श्रेष्ठ वीर के समान योगबल को प्राप्त हुए आप (वीरान्) अच्छे २ गुणयुक्त पुरुषों को (प्रजनयन्) प्रसिद्ध करते हुए (परीहि) सब जगह भ्रमण कीजिये । इसी प्रकार (यजमानम्) धन आदि पदार्थों को देनेवाले उत्तम पुरुषों के (अभि) सन्मुख (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (संजग्मानः) संयुक्त हुए और (दिवा) सूर्य्य और (पृथिव्या) पृथिवी के गुणों के साथ (शुक्रः) अति बलवान् (शुक्रशोचिषा) सबको शोधनेवाले सूर्य्य की दीप्ति से (निरस्तः) अन्धकार के समान पृथक् हुए ही योगबल के प्रकाश से विषय-वासना से छूटे हुए (शण्डः) शमदमादि गुणयुक्त [आप] (शुक्रस्य) अत्यन्त योगबल के (अधिष्ठानम्) आधार (असि) हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः—शमदमादिगुणों का आधार योगाभ्यास में तत्पर योगीजन अपनी योगविद्या के प्रचार से योगविद्या चाहनेवालों का आत्मबल बढ़ाता हुआ सब जगह सूर्य्य के समान प्रकाशित होता है ॥ १३ ॥

अच्छिन्नस्य त इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
+ विराड् जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ शिष्यायाध्यापककृत्यमाह[2] ॥

अच्छि॑न्नस्य ते देव सोम सु॒वीर्य्य॑स्य रा॒यस्पोष॑स्य ददि॒तार॑: स्याम ।
सा प्र॑थ॒मा सँस्कृ॑ति॒र्वि॒श्ववा॑रा॒ स प्र॑थ॒मो वरु॑णो मि॒त्रोऽअ॒ग्निः ॥ १४ ॥

अच्छि॑न्नस्य । ते॒ । दे॒व॒ । सो॒म॒ । सु॒वीर्य्य॒स्येति॑ सुऽवीर्य्य॑स्य । रा॒यः । पोष॑स्य । द॒दि॒तार॑: । स्या॒म ॥ सा । प्र॒थ॒मा । संस्कृ॑तिः । वि॒श्ववा॒रेति॑ वि॒श्वऽवा॑रा । सः । प्र॒थ॒मः । वरु॑णः । मि॒त्रः । अ॒ग्निः ॥ १४ ॥

पदार्थः—(अच्छिन्नस्य) अखण्डितस्य (ते) तुभ्यं तव वा (देव) योगजिज्ञासो (सोम[3]) प्रशस्तगुण शिष्य ! (सुवीर्य्यस्य) शोभनानि वीर्य्याणि पराक्रमाणि यस्मात् तस्यैव (रायः) सर्वविद्या-जनितस्य बोधधनस्य (पोषस्य) पुष्टेः (ददितारः) (स्याम) (सा) (प्रथमा) आदिमा (संस्कृतिः) विद्यासुशिक्षाजनिता नीतिः (विश्ववारा) सर्वैरेव स्वीकर्त्तुं योग्या (सः) (प्रथमः) (वरुणः[4]) श्रेष्ठः (मित्रः) सखा (अग्निः[5]) पावक इव देदीप्यमानः ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । १ । २२–२७ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

दीनामुपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १०६ भा० वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥
(अधिष्ठानम्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे लित्स्वरः ॥
इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ व्यवहार में प्रवृत्त योगिजन की महिमा का वर्णन करते हैं—॥ १३ ॥

२ आत्मबलं वर्धयद्भिर्योगिभिः शारीरिकशक्तिर्नोपेक्षणी-येत्युपदिश्यते—

३ सोमो वै ब्राह्मणः । तां० २३ । १६ । ५ ॥ (ब्रह्म-प्राप्तये यत्नशीलो ब्रह्मचारी इत्यर्थः) ॥

४ वरुण धर्म्मणां पते ! तै० ३ । ११ । ४ । १ ॥ यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरुणोऽभवत् तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण । गो० पू० १ । ७ ॥

५ यो वै वरुणः सोऽग्निः । श० ५ । २ । ४ । १३ । अग्निर्वै धाता ॥ तै० ३ । ३ । १० । २ ॥ अग्निर्वै पथः कर्त्ता ॥ श० ११ । १ । ५ । ६ ॥

+ 'स्वराड् जगती' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः ॥

अन्वयः—हे देव सोम ! वयमध्यापकास्ते तुभ्यं सुवीर्य्यस्येवाच्छिन्नस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम, या प्रथमा विश्ववारा संस्कृतिरस्ति सा तुभ्यं सुखदा भवतु। योऽस्माकं मध्ये वरुणोऽग्निरिवाध्यापकोऽस्ति स प्रथमस्ते मित्रो भवतु ॥ १४ ॥

अत्र [लुप्त] ोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—योगविद्यासंपन्नमनसां योगिनां योग्यतास्ति जिज्ञासुभ्यो नित्यं योगविद्यां प्रदाय ते सुशरीरात्मबलाः संपादनीयाः ॥ १४ ॥

अब शिष्य के लिए पढ़ाने की युक्ति अगले मन्त्र में कही है[1] ॥

पदार्थः—हे (देव) योगविद्या चाहनेवाले (सोम) प्रशंसनीयगुणयुक्त शिष्य + हम अध्यापक लोग (ते) तेरे लिए (सुवीर्य्यस्य) जिस पदार्थ से शुद्ध पराक्रम बढ़े, उसके समान (अच्छिन्नस्य) अखण्ड (रायः) योगविद्या से उत्पन्न हुए धन की (पोषस्य) दृढ़पुष्टि के (ददितारः) देनेवाले (स्याम) हों, जो यह (प्रथमा) पहली (विश्ववारा) सब ही सुखों के स्वीकार कराने योग्य (संस्कृतिः) विद्यासुशिक्षाजनित नीति है वह तेरे लिए इस जगत् में सुखदायक हो और हम लोगों में जो (वरुणः) श्रेष्ठ (अग्निः) अग्नि के समान सब विद्याओं से प्रकाशित अध्यापक है, (सः) वह (प्रथमः) सबसे प्रथम तेरा (मित्रः) मित्रहो ॥ १४ ॥

इस मन्त्र में [लुप्त] उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—योगविद्या में संपन्न शुद्धचित्तयुक्त योगियों को योग्य है कि जिज्ञासुओं के लिए नित्य योगविद्या देकर उन्हें शारीरिक और आत्मबल से युक्त किया करें ॥ १४ ॥

स प्रथम इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ स्वामिसेवककृत्यमाह[2] ॥

स प्र॑थ॒मो बृह॒स्पति॑श्चिकि॒त्वाँस्तस्मा॒ऽइन्द्रा॑य सु॒तमाजु॑होत॒ स्वाहा॑ । तृ॒म्पन्तु॒ होत्रा॒ मध्वो॒ याः स्वि॑ष्टा॒ याः सुप्री॑ताः सुहु॑ता॒ यत्स्वाहा॒याडग्नीत् ॥१५॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अच्छिन्नस्य) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यव्ययस्वरः ॥

(ददितारः) 'दददाने' इत्यतस्तृचि चित्स्वरः ॥

(संस्कृतिः) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । संपरिभ्यां करोतौ भूषणे (अ० ६ । १ । १३७) इति सुडागमः ॥

(विश्ववारा) कर्मणि घञ् । पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणे मरुद्वृधादीनामुपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १०६ भा० वा०) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । तथैव च सायणोऽपि ऋ० १ । ४८ । १२ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आत्मिकबलवृद्धि में संलग्न योगिजनों को शारीरिक शक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अतः दर्शाते हैं— ॥ १४ ॥

२ एवं शिक्षां व्यवहारं च प्रतिपाद्य स्वामिसेवकौ परस्परं कथं व्यवहरेतामित्याह—

+ 'हम अध्यापक लोग' इति ग. कोशे नास्ति ॥

सः । प्र॒थ॒मः । बृह॒स्पतिः॑ । चि॒कि॒त्वान् । तस्मै॑ । इन्द्रा॑य । सु॒तम् । आ । जु॒हो॒त॒ । स्वाहा॑ ॥ ❀ तृ॒म्पन्तु॑ । होत्राः॑ । मध्वः॑ । याः । स्वि॑ष्टा इति॒ सुऽइ॑ष्टाः । याः । सुप्री॑ता इति॒ × सुऽप्री॑ताः । सुहु॑ता इति॒ × सुऽहु॑ताः । यत् । स्वाहा॑ । अया॑ट् । अ॒ग्नीत् ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सः) (प्रथमः) आदिमः (बृहस्पतिः[1]) बृहत्या विद्यायुक्ताया वाचः पालकः (चिकित्वान्) विज्ञानवान् (तस्मै) (इन्द्राय) ऐश्वर्य्याय (सुतम्) निष्पादितं व्यवहारम् (आ) (जुहोत) आदत्त (स्वाहा) सत्यां वाचम् ❀ (तृम्पन्तु) प्रीणन्तु (होत्राः) स्वीकर्त्तुमर्हाः (मध्वः) माधुर्य्यादिगुणोपेताः (याः)(स्विष्टाः) शोभनान्यभीष्टानि याभ्यस्ताः (याः)(सुप्रीताः)+ सुप्रसन्नाः (सुहुताः) सुष्ठु हुतानि योगादानरूपाणि कर्म्माणि याभिर्योगिनीभिः ⁑ स्त्रीभिस्ताः (यत्) † या (स्वाहा) ‡ शोभनया वाचा (अयाट्) अयाक्षीत् (अग्नीत्[2]) संप्रेषितः ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । १ । २७–२८ व्याख्यातः ॥१५॥

अन्वयः—हे शिष्याः ! यूयं यथा स पूर्वोक्तो मित्रः प्रथमश्चिकित्वान् बृहस्पतिर्यस्मै प्रयतेत, तस्मै इन्द्राय स्वाहा सुतमाजुहोत । तथा यद्या होत्रा या मध्वः स्विष्टा याः सुहुताः सुप्रीताः स्त्रियोऽग्नीत् कश्चियोगी च स्वाहा याट् तथा भवन्तस्तृम्पन्तु ॥ १५ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा योगिनो विद्वांसो योगिन्यो विदुष्यश्च परमैश्वर्य्यप्राप्तये प्रयतन्ते, यथा च सेवकः स्वामिसेवनमाचरति, तथैवान्यैस्तत्तत्कर्म्मणि प्रवृत्त्य स्वाभीष्टसिद्धिः सम्पादनीया ॥ १५ ॥

---

१ बृहस्पतिर्ब्रह्म ब्रह्मणस्पतिः ॥ तै० २ । ५ । ७ । ४ ॥ बृहस्पतिः पुर एता ॥ तै० २ । ५ । ७ । ३ ॥

२ पदकारास्तु नावगृह्णन्ति, भाष्यकारास्तु केचिदवगृह्णन्ति ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(चिकित्वान्) 'कित ज्ञाने' इत्यस्मात् क्वसौ द्वित्वम्, अभ्यासस्य चुत्वं च । वस्वेकाजाद्घसाम् (अ० ७ । २ । ६७) इति नियमादिडभावः ॥ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(तृम्पन्तु) सतिशिष्टो ऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधत इत्येवं नियमात् लसार्वधातुकस्वरे प्राप्ते तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विहिते शस्वरः । पादादित्वान्निघाताभावः ।

(मध्वः) मधु + जस् व्यत्ययो बहुलम् (अ० ३ । १ । ८५) इति वचनाद् व्यत्ययेन पुंस्त्वम् । यत्तु अर्द्धर्चादिषु मधुशब्दस्य सम्प्रति पाठ उपलभ्यते, स त्वनार्ष इव प्रतिभाति "मधोस्तृप्ता इवासते मधुन इति प्राप्ते" इति (अ० ३ । १ । ८५ भा०) भाष्यकारवचनात् । जसादिषु छन्दसि वावचनम्० (अ० ७ । ३ । १०९ भा० वा०) इति वचनाद् गुणाभावः । यत्तु 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति जसि च (अ० ७ । ३ । १०९) इति गुणो न भवति' इति सायणवचनम्, तदयुक्तम् । जसादिषु छन्दसि वावचनम् इति वार्तिकेनैव सर्वेष्टसिद्धेः ॥

(सुप्रीताः) सोः कर्मप्रवचनीयत्वे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः ।

(सुहुताः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्यन्तो-

❀ 'तृप्यन्तु' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

❀ '(तृप्यन्तु)' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

⁑ 'स्त्रिभिः क्रियाभिर्वा' इति ग. पाठः ॥

‡ 'शोभनां वाचम्' इति ग. पाठः ॥

× अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

+ 'सुष्ठु प्रीणन्ति याभिस्तताः' इति ग. कोशे पाठः ॥

† 'यत्' इति ग. पाठः ॥

अब स्वामी और सेवक के कर्म को अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे शिष्यो ! तुम लोग जैसे [(सः)] वह पूर्व मन्त्र से प्रतिपादित (प्रथमः) आदि मित्र (चिकित्वान्) विज्ञानवान् (बृहस्पतिः) सब विद्यायुक्त वाणी का पालनेवाला, जिस ऐश्वर्य के लिए प्रयत्न करता है, (तस्मै) उस (इन्द्राय) ऐश्वर्य के लिए (स्वाहा) सत्यवाणी और (हुतम्) निष्पादित श्रेष्ठव्यवहार का (आजुहोत) अच्छे प्रकार ग्रहण करो, और (यत्) जो (होत्राः) योग स्वीकार करने के योग्य वा (याः) जो (मध्वः) माधुर्य्यादिगुणयुक्त (स्विष्टाः) जिनसे कि अच्छे २ इष्ट काम बनते हैं (याः) वा जो ऐसी हैं कि (सुहुताः) जिनसे अच्छे प्रकार हवन आदि कर्म्म सिद्ध होते हैं (सुप्रीताः) और × अच्छी प्रकार प्रसन्न रहती हैं वे विद्वान् स्त्रीजन वा (अग्नीत्) कोई अच्छी प्रेरणा को प्राप्त हुआ विद्वान् योगी (स्वाहा) सत्यवाणी से (अयाट्) सभों को सत्कृत करता और तृप्त रहता है, [वैसे] आप लोग उन स्त्रियों और उस योगी के समान (तृम्पन्तु) तृप्त हूजिये ॥ १५ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे योगी विद्वान् और योगिन विद्वानों की स्त्रीजन परमैश्वर्य के लिए यत्न करें और जैसे सेवक अपने स्वामी का सेवन करता है, वैसे अन्य पुरुषों को भी उचित है कि उन २ कामों में प्रवृत्त होकर अपनी अभीष्ट सिद्धि को पहुंचें ॥ १५ ॥

अयं वेन इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । आद्यस्य निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥ उपयाम इत्यस्य साम्नी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ सभाध्यक्षेण राज्ञा किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते[2] ॥

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने । इममपाᳫं संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति । उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ॥ १६ ॥

अयम् । वेनः । चोदयत् । पृश्निगर्भा इति पृश्निऽगर्भाः । ज्योतिर्जरायुरिति ज्योतिःऽजरायुः । रजसः । विमान इति विऽमाने ॥ इमम् । अपाम् । सङ्गम इति सम्ऽगमे । सूर्यस्य । शिशुम् । न । विप्राः । मतिभिरिति मतिऽभिः । रिहन्ति ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । मर्काय । त्वा ॥ १६ ॥

दात्तत्वे प्राप्ते छान्दसः पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अयाट्) वाक्यादित्वान्निघाताभावः । सति-शिष्टत्वादट उदात्तत्वम् । बहुलं छन्दसि (अ० ७ । ३ । ९७) इति ईटोऽभावः ॥

(अग्नीत्) अग्निशब्दोपपदादिन्धेः क्विप्, अनुनासिकलोपः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः, तत एकादेशः, सोऽप्युदात्त एव ॥

[1] इस प्रकार शिक्षा और व्यवहार का निरूपण करके स्वामी और सेवक परस्पर कैसे वर्त्तें, सो कहते हैं—॥ १५ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[2] श्रेष्ठानन्दाय दुष्टपीडनाय च सूर्यचन्द्रोपमया राज्ञा व्यवहारे क्रौर्यं माधुर्यं चाचरणीयमित्युपदिश्यते—

× 'अच्छी प्रीति करनेवाली' इति ग. पाठः ॥

पदार्थः—(अयम्) (वेनः[1]) कमनीयश्चन्द्रः (चोदयत्) प्रेरयति । अत्र लडर्थे लङडभावश्च (पृश्निगर्भाः) पृश्निरन्तरिक्षं गर्भो येषां ते पृश्निगर्भाः (ज्योतिर्जरायुः) ज्योतिषां जरायुरिवाच्छादकः (रजसः) लोकसमूहस्य (विमाने) विगतं मानं परिमाणं यस्यान्तरिक्षस्य तस्मिन् (इमम्) प्रत्यक्षम् (अपाम्) जलानाम् (संगमे) सङ्ग्राम इव । संगम इति संग्रामनामसु पठितम् । निघ० २ । १७ । (सूर्य्यस्य) मार्तण्डस्य (शिशुम्) शासनीयं कुमारं बालकम् (न) इव (विप्राः) मेधाविनः (मतिभिः) बुद्धिभिः (रिहन्ति) सत्कुर्वन्ति । रिहन्तीत्यर्चतिकर्मसु पठितम् । निघ० ३ । १४ । (उपयामगृहीतः) राज्याङ्गैर्युक्तः [(असि)] (मर्काय[2]) मृत्युनिमित्ताय वायवे (त्वा) त्वाम् ॥

इमं मन्त्रं निरुक्तकार एवं समाचष्टे—वेनो वेनतेः कान्तिकर्म्मणस्तस्यैषा भवति । निरु० १० । ३८ । अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भाः प्राष्टवर्णगर्भा आप इति वा ज्योतिर्जरायुर्ज्योतिरस्य जरायुस्थानीयं भवति, जरायु जरया गर्भस्य जरया यूयत इति वेममपां संगमने सूर्यस्य च शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति वर्द्धयन्ति पूजयन्तीति वा, शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद्दानकर्म्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति । निरु० १० । ३९ ॥

अयं मंत्रः शत० ४ । २ । १ । १०–११ व्याख्यातः[3] ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे शिल्पविधिविद्विद्वन् ! त्वमुपयामगृहीतोऽस्यतोऽहं रजसो मध्ये पृश्निगर्भा लोका इव ज्योतिर्जरायुरिवायं वेनश्चोदयदिमं चन्द्रमपां सूर्यस्य संगमे शिशुं विप्रा मतिभी रिहन्ति नेव मर्काय दुष्टानां प्रशमनाय श्रेष्ठव्यवहारस्थापनाय च विमाने त्वा त्वां गृह्णामि ॥ १६ ॥

भावार्थः—सभाध्यक्षेण सूर्याचन्द्रमसोर्गुणानिव श्रेष्ठगुणान् प्रकाशयित्वा दुष्टप्रशमनेन श्रेष्ठव्यवहारेण सज्जना आह्लादयितव्याः ॥ १६ ॥

---

१ वेन इति मेधाविनामसु पदनामसु च (निघ० ३ । १५ ॥ ५ । ४) वेनतिः कान्तिकर्मा (निघ० २ । ६) ॥

२ इणभीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उ० ३ । ४३) । मर्च इति सौत्रो धातुः । मर्चति चेष्टतेऽसौ मर्कः । शरीरवायुर्वा इति दयानन्दः, उणादिवृत्तिः पृ० ६९ ॥

३ मन्त्रोऽयं शतपथब्राह्मणे व्यतिक्रमेण व्याख्यातो विनियुक्तश्च ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वेनः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३ । ६) इति नः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः । धातोर्वी आदेशः ॥

(पृश्निगर्भाः) बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । पृश्निशब्दः पूर्वत्र (यजुः २ । १६ पृ० १९४) व्याख्यातः ॥

(ज्योतिर्जरायुः) छान्दसत्वाद् दासीभारादीनामाकृतिगणत्वाद् वा पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

ज्योतिःशब्दः पूर्वं (यजुः अ० २ । ९ पृ० १७७) निरुक्तः ॥

(रजसः) असुन्प्रत्ययान्तो नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(विमाने) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(संगमे) संपूर्वाद् गमेः ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (अ० ३ । ३ । ५८) इति अप् । थाथघञ्क्ताज्० (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(शिशुम्) शः कित् सन्वच्च (उ० १ । २०) इत्युः प्रत्ययः, किच्च निच्च, सन्वच्च । कित्त्वाद् गुणाभावः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्, सन्वद्भावाद् द्वित्वम् । दशपादीवृत्तिकारं वर्जयित्वाऽन्य उणादिवृत्तिकारा निद्ग्रहणं नानुवर्त्तयन्ति । तदयुक्तम्, आद्युदात्तत्वदर्शनात् । (द्र० दश० उ० वृत्ति टि० पृ० ५९, ६०)॥

अत्र मन्त्रे उपमावाचकस्य 'न' पदस्य श्रवणात्, अन्वये द्विः 'इव' पदप्रयोगाच्च उपमालंकारवाचकलुप्तोपमालंकारावत्र द्रष्टव्यौ ॥

अब सभाध्यक्ष राजा को क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे शिल्पविधि के जाननेवाले सभाध्यक्ष विद्वन्! आप (उपयामगृहीतः) सेना आदि राज्य के अङ्गों से युक्त (असि) हैं, इससे मैं (रजसः) लोकों के मध्य (पृश्निगर्भाः) जिन में अवकाश अधिक है उन लोकों को (ज्योतिर्जरायुः) तारागणों को ढांपनेवाले के समान (अयम्) यह (वेनः) अतिमनोहर चन्द्रमा (चोदयत्) यथायोग्य अपने २ मार्ग में अभियुक्त करता है, (इमम्) इस चन्द्रमा को (अपाम्) जलों और (सूर्यस्य) सूर्य के (संगमे) संबन्धी आकर्षणादि विषयों में (शिशुम्) शिक्षा के योग्य बालक को [(विप्राः)] विद्वान् लोग (मतिभिः) अपनी बुद्धियों से (रिहन्ति) सत्कार करने के (न) समान आदर के साथ ग्रहण कर रहे हैं, और मैं (मर्काय) दुष्टों को शान्त करने और श्रेष्ठ व्यवहारों के स्थापन करने के लिये (विमाने) अनन्त अन्तरिक्ष में (त्वा) तुझे विविध प्रकार के यान बनाने के लिये स्वीकार करता हूँ ॥ १६ ॥

भावार्थः—सभाध्यक्ष को चाहिये कि सूर्य्य और चन्द्रमा के समान श्रेष्ठगुणों को प्रकाशित और दुष्ट व्यवहारों को शान्त करके श्रेष्ठ व्यवहार से सज्जन पुरुषों को आह्लाद देवे ॥ १६ ॥

मनो न येष्वित्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः ।
स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह[2] ॥

**मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता ।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो ऽअस्याश्रीणीतादिशं गभस्तावेष ते योनिः प्रजाः
पाह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १७ ॥**

मनः । न । येषु । हवनेषु । तिग्मम् । विपः । शच्या । वनुथः । द्रवन्ता ॥ आ । यः । शर्याभिः । तुविनृम्ण इति तुविऽनृम्णः । अस्य । अश्रीणीत । आदिशमित्याऽदिशम् । गभस्तौ । एषः । ते । योनिः । प्रजा इति प्रऽजाः । पाहि । अपमृष्ट इत्यपऽमृष्टः । मर्कः । देवाः । त्वा । मन्थिपा इति मन्थिऽपाः । प्र । नयन्तु । अनाधृष्टा । असि ॥ १७ ॥

(मर्काय) मर्च सौत्रो णिजन्तः, तस्माद् इण्भीकापाशल्यतिº (उº ३ । ४३) इत्यादिना कन्प्रत्ययः । णिलोपः । क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम् (अº १ । १ । ५७ भाº वाº) इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधे चोः कुः (अº ८ । २ । ३०) इति कुत्वम् । केचन वृत्तिकाराः शुद्धधातोर्व्युत्पादयन्ति । "एवमपि णिचा व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति" (अº १ । १ । ५८ भाº) इति भाष्यकारवचनाद् णिजन्तात् साधुः ॥

बाहुलकात् ककारस्येत्संज्ञा न । यत्तु "निरनुनासिकत्वाद् वा, प्रयोजनाभावाद् वा ककारस्येत्संज्ञा न भवति" इति दशपादीवृत्तिकृतोक्तं, तदयुक्तम् । (द्रº दशº उº वृº टिप्पणी पृº १४१) ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ श्रेष्ठजनों को आनन्द देने और दुष्टों को दण्ड देने के लिये सूर्य और चन्द्रमा की उपमा से राज्यव्यवहार में क्रूरता और मधुरता दोनों का ही आचरण करना आवश्यक है, अतः दर्शाते हैं—॥ १६ ॥

१ स्वाश्रितैः सह कथं व्यवहरेदित्युपदिश्यते—

पदार्थः—(मनः) विज्ञानम् । (न) इव (येषु) (हवनेषु) धर्म्मेणैवादानेषु (तिग्मम्) वज्रवत् तीव्रम् । तिग्ममिति वज्रनामसु पठितम् । निघ० २ । २० । (विपः) विविधं पातीति विपो मेधावी । विप इति मेधाविनामसु पठितम् । निघ० ३ । १५ । (शच्या) प्रज्ञया । शचीति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघ० ३ । ९ । (वनुथः) कामयेथे । वनोतीति कान्तिकर्म्मसु पठितम् । निघ० २ । ६ । (द्रवन्ता) गन्तारौ, अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इत्याकारादेशः (आ) (यः) (शर्य्याभिः) गतिभिः (तुविनृम्णः) तुवीनि बहूनि धनानि यस्य सः । तुवीति बहुनामसु पठितम् । निघ० ३ । १ (अस्य) (अश्रीणीत) श्रीणाति पचति (आदिशम्) दिशमभिव्याप्येव (गभस्तौ) अङ्गुल्या निर्देशे । गभस्तय इत्यङ्गुलीनामसु पठितम् । निघ० २ । ५ । (एषः) राजधर्म्मः (ते) तव (योनिः) गृहम् (प्रजाः) संरक्षणीयाः (पाहि) (अपमृष्टः) दूरीकृतः (मर्कः[1]) मरणदुःखदो दुर्जयः (देवाः) विद्वांसः (त्वा) त्वाम् (मन्थिपाः) ये मन्थन्ति शत्रून् तान् वीरान् पान्ति ते (प्र) (नयन्तु) प्रीणयन्तु (अनाधृष्टा) अधर्षणीया (असि) [2]लोडर्थे लट् ॥ अयं मन्त्रः शत० । ४ । २ । १ । १२–१५ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे शिल्पविद्याविचक्षण सभापते विद्वन्नेष राजधर्मस्ते तव योनिरस्ति, त्वं यथा यस्तुविनृम्णः प्रजापतिर्विपः प्रजाजनश्चेतौ द्वौ युवां येषु हवनेषु शर्य्याभिस्तिग्मं मनो न द्रवन्ता सन्तौ शच्या सह आवनुथः, इत्थं प्रत्येकः प्रजाजनोऽस्य गभस्तावादिशं यथा स्यात्तथा शत्रूनाश्रीणीत, मर्कश्चापमृष्टो भवतु । प्रजाः पाहि मन्थिपा देवास्त्वा त्वां प्रणयन्तु, हे प्रजे यतोऽनाधृष्टा निर्भया स्वतन्त्रा त्वमसि तं राजानं सततं रक्ष () ॥ १७ ॥

भावार्थः—प्रजापुरुषा राज्यकर्म्मणि यं राजानमाश्रयेयुस्स तेषां न्यायेन रक्षां कुर्य्यात् । ते च तं न्यायाधीशं प्रति स्वाभिप्रायं प्रवदेयुः । राजसेवकाश्च न्यायकर्म्मणैव प्रजापुरुषान् रक्षेयुरिति ॥ १७ ॥

---

१ 'मर्कः' पूर्वमन्त्रे व्याख्यातः ॥

२ असम्बद्ध इव प्रतिभाति ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हवनेषु) लित्स्वरः ॥

(तिग्मम्) युजिरुचितिजां कुश्च (उ० १ । १४६) इत्यनेन मक्, कुत्वं च । प्रत्ययस्वरः ॥

(विपः) आतश्चोपसर्गे (अ० ३ । १ । १३६) इति कः । छान्दसत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । यद्वा "विप क्षेपे इगुपधलक्षणः कः" इति देवराजः (पृ० ३४२) ॥ यद्वा विपधातोः भूरञ्जिभ्यां कित् (उ० ४ । २१७) इति बाहुलकादसुन् किच्च । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ।

(शच्या) सर्वधातुभ्य इन् (उ० ४ । ११८) इति शचतेरिन् । शार्ङ्गरवादित्वान्ङीन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । अत्र च काशिकाकारः (अ० ६ । २ । १४०)—"शचीशब्दः कृदिकारादक्तिन इति ङीषन्तत्वादन्तोदात्तः" तन्न, आद्युदात्तत्वदर्शनात् ॥

(वनुथः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः । सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते" "इति वचनात् लस्वर एव ॥

(शर्य्याभिः) 'शॄ हिंसायाम्' इति धातोः छान्दसत्वात् अचो यत् (अ० ३ । १।९७) इति यत् । यतोऽनावः (६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वम् । ततष्टाप्, विभक्तिश्च ॥

(तुविनृम्णः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते छान्दसान्तोदात्तत्वम् ॥

(गभस्तौ) गभस्तिशब्दः पूर्वत्र (अ० ७ । १ । पृ० ५७७) व्याख्यातः ॥

() अन्वये 'यथा' 'तथा' पदप्रयोगात् 'अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः' इति पाठोऽत्र नष्टः प्रतिभाति ॥

फिर भी उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे शिल्पविद्या में चतुर सभापते [विद्वन्]! (एषः) यह राजधर्म (ते) तेरा (योनिः) सुखपूर्वक स्थिरता का स्थान है, जैसे तू (यः) जो (तुविनृम्णः) अत्यन्तधनयुक्त प्रजा का पालनेवाला वा (विपः) बुद्धिमान् प्रजाजन ये तुम दोनों (येषु) जिन [(हवनेषु)] हवनादि कर्म्मों में (शच्योभिः) वेगों से (तिग्मम्) वज्र के तुल्य अतिदृढ़ (मनः) मनके (न) समान (प्रवन्ता) वेग से चलते हुए (शच्या) बुद्धि के साथ (आवनुथः) परस्पर कामना करते हो, वैसे प्रत्येक प्रजापुरुष (अस्य) इस प्रजापति के (गभस्तौ) अंगुलीनिर्देश से (आदिशम्) सब दिशाओं में तेज जैसे हो वैसे शत्रुओं को (आ + अश्नीणीत) अच्छी प्रकार दुःख दिया करे, (मर्कः) मरण के तुल्य दुःख देने और कुढंग चालचलन रखनेवाला शत्रु (अपसृष्टः) दूर हो, और तू (प्रजाः) प्रजा का (पाहि) पालन कर (मन्थिपाः) शत्रुओं को मन्थनेवाले वीरों के रक्षक (देवाः) विद्वान् लोग (त्वा) तुझे (प्र + नयन्तु) प्रसन्न करें, हे प्रजाजनो ! तुम जिससे (अनाधृष्टा) अति प्रगल्भ निर्भय और स्वाधीन (असि) हो, उस राजा को रक्षा किया करो ॥ १७ ॥

भावार्थः—प्रजापुरुष राज्यकर्म्म में जिस राजा का आश्रय करें, वह उनकी [न्याय से] रक्षा करे, और वे प्रजाजन उस न्यायाधीश के प्रति अपने अभिप्राय को शंकासमाधान के साथ कहें, राजा के नौकर चाकर भी न्यायकर्म्म ही से प्रजाजनों की रक्षा करें ॥ १७ ॥

सुप्रजा इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
मन्थिनोऽधिष्ठानमित्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

न्यायाधीशेन प्रजाः प्रति कथं वर्त्तितव्यमित्युपादिश्यते[2] ॥

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम् ।
सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥ १८ ॥

सुप्रजा इति सुऽप्रजाः । प्रजा इति प्रऽजाः । प्रजनयन्निति प्रऽजनयन् । परि । इहि । अभि । रायः । पोषेण । यजमानम् ॥ संजग्मान इति + समऽजग्मानः । दिवा । पृथिव्या । मन्थी । मन्थिशोचिषेति मन्थिऽशोचिषा । निरस्त इति + निःऽअस्तः । मर्कः । मन्थिनः । अधिष्ठानम् । अधिस्थानमित्यधिऽस्थानम् । असि ॥ १८ ॥

पदार्थः—(सुप्रजाः) शोभना प्रजा यस्य सः सुप्रजाः ❀ (प्रजाः) एव (प्रजनयन्[3])

१ अपने आश्रितों के साथ कैसा व्यवहार करें, सो कहते हैं—॥ १७ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अनवरतं धनग्रहणादिना प्रजां न पीडयेदपितु "सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः" इतिवत् सदा प्रजासु धनाद्यैश्वर्यं वर्धयेदित्याह—

३ जनी प्रादुर्भावे ण्यन्तः, शतरि । प्रकटीकुर्वन् परमेश्वर इव । यथा परमेश्वरो विविधप्रजाः प्रकटयति विविधगुणयुक्ताः, तथैव न्यायाधीशो ऽपि तासां स्वरूपं सर्वेषां समक्षे प्रकटयतीति ॥

+ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठो ऽजमेरमुद्रिते ॥
❀ इतोऽग्रे 'स यथा स्यात् तथा' इति अ० मुद्रिते पाठः पूर्ववत् (पञ्चमाध्यायान्त इव द्र० य० ५ । २२ टि०) असम्बद्धः प्रतिभाति ॥

परमेश्वर इव प्रकटयन् (परि) सर्वतः (इहि) † जानीहि (अभि) आभिमुख्ये (रायः) धनसमूहस्य (पोषेण) पुष्ट्या (यजमानम्) ‡ सुखप्रदम् (संजग्मानः) धीरतादिशुभगुणेष्वासक्तः (दिवा) सूर्य्येण (पृथिव्या) भूम्या (मन्थी) मन्थितुं शीलमस्य न्यायाधीशस्य सः (मन्थिशोचिषा) सूर्य्यदीप्त्येव (निरस्तः) नितरां प्रक्षिप्त इव (मर्कः[१]) मृत्युनिमित्तः खल्वन्यायकारी (मन्थिनः) न्यायकारिणः (अधिष्ठानम्) आधार इव (असि) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । १ । १७–२० व्याख्यातः ॥ १८ ॥

अन्वयः—भो न्यायाधीश ! सुप्रजास्त्वं प्रजाः प्रजनयन् रायस्पोषेण सह यजमानमभिपरीहि सर्वथा तस्य धनवृद्धिमिच्छ, मन्थी त्वं दिवा पृथिव्या संजग्मानो भव तद्गुणी भवेति भावः । यतस्त्वं मन्थिनोऽधिष्ठानमस्यऽरते मन्थिशोचिषा मर्को निरस्तो भवतु ॥ १८ ॥

अत्रोपमालङ्कारः + ॥

भावार्थः—न्यायाधीशो यजमानस्य पुरोहित इव प्रजाः सततं पालयेत् ॥ १८ ॥

न्यायाधीश को प्रजाजनों के प्रति कैसे वर्तना चाहिए, यह अगले मन्त्र में कहा है[२] ॥

पदार्थः—भो न्यायाधीश ! (सुप्रजाः) उत्तम प्रजायुक्त आप (प्रजाः) प्रजाजनों को (प्रजनयन्) प्रकट करते हुए (रायः) धन की (पोषेण) दृढ़ता के साथ (यजमानम्) यज्ञादि अच्छे कामों के करनेवाले पुरुष को (अभि परि इहि) सर्वथा धन की वृद्धि से युक्त कीजिये । (मन्थी) वादविवाद के मन्थन करने और (दिवा) सूर्य वा (पृथिव्या) पृथिवी के तुल्य (संजग्मानः) धीरतादि गुणों में वर्तनेवाले आप (मन्थिनः) * सदसद्विवेचन करनेयोग्य गुणों के (अधिष्ठानम्) आधार के समान (असि) हो, इस कारण तुम्हारी (मन्थिशोचिषा) सूर्य की दीप्ति के समान न्यायदीप्ति से (मर्कः) मृत्यु देनेवाला अन्यायी (निरस्तः) निवृत्त होवे ॥ १८ ॥

इस मन्त्र में + उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—न्यायाधीश राजा को चाहिये कि ❀ जैसे पुरोहित धर्म्म से यज्ञ करनेवाले सत्पुरुष यजमान की रक्षा करता है, वैसे प्रजा का निरन्तर पालन करे ॥ १८ ॥

---

१ पूर्वं अ० ७ । १६ व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मन्थी) अत इनिठनौ (अ० ५ । २ ।११५) इतीनिः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(मन्थिशोचिषा) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् । (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । मन्थिशब्दः पूर्वं निरुक्तः ॥

(निरस्तः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ प्रजा से धन लेता और निरन्तर उसका रक्त शोषण ही न करता जाये, अपितु 'सूर्य की भांति सहस्रों गुणा अधिक रस पहुंचाने के लिये ही' प्रजा से

† अन्वये 'इच्छ' इति वर्तते । भाषापदार्थे तु 'युक्त कीजिये' इति ध्येयम् ॥

‡ भाषापदार्थानुसारं तु 'यज्ञादिकर्मानुष्ठातारम्' इति स्यात् ॥

+ उपमालंकारत्वे कारणं मृग्यम् ॥ * संस्कृतानुसारं तु 'न्याय करनेवाले के' इति स्यात् ॥

❀ 'चाहिये कि धर्म से यज्ञ करनेवालें सत्पुरुष पुरोहित के समान प्रजा' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

ये देवास इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवो देवताः । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । × पञ्चमः स्वरः ॥

अथ राजसभ्यजनकृत्यमाह

ये दे॑वासो दि॒व्येका॑दश॒ स्थ पृ॑थि॒व्यामध्येका॑दश॒ स्थ ।
अ॒प्सु॒क्षितो॑ महि॒नैका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो य॒ज्ञमि॒मं जु॑षध्वम् ॥ १९ ॥

ये । दे॒वा॒सः॒ । दि॒वि । एका॑दश । स्थ । पृ॒थि॒व्याम् । अधि॑ । एका॑दश । स्थ । अ॒प्सु॒क्षित॒ इत्य॑प्सु॒ऽक्षितः॑ । म॒हि॒ना । एका॑दश । स्थ । ते । दे॒वा॒सः॒ । य॒ज्ञम् । इ॒मम् । जु॒ष॒ध्व॒म् ॥ १९ ॥

पदार्थः—(ये) (देवासः) दिव्यगुणयुक्ताः (दिवि) विद्युति (एकादश) प्राणापानोदानसमाननागकूर्म्मकृकलदेवदत्तधनंजयजीवाः (स्थ) सन्ति, अत्र पुरुषव्यत्ययः (पृथिव्याम्) भूमौ (अधि) उपरिभावे (एकादश) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादित्यचन्द्रनक्षत्राहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतयः (स्थ) सन्ति (अप्सुक्षितः) प्राणेषु ❀ क्षियन्ति निवसन्ति ते (महिना) महिम्ना (एकादश) श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसि (स्थ) सन्ति (ते) (देवासः) राजसभासदो विद्वांसः (यज्ञम्) राजप्रजासंबद्धव्यवहारम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (जुषध्वम्) सेवध्वम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । २ । ९ व्याख्यातः[3] ॥ १९ ॥

अन्वयः—ये महिना स्वमहिम्ना दिव्येकादश देवासः स्थ सन्ति, पृथिव्यामध्येकादश स्थ सन्ति, अप्सुक्षितश्चैकादश स्थ सन्ति, ते यथा स्वस्वकर्म्मसु वर्त्तन्ते, तद्वद्वर्त्तमाना हे देवासो राजसभायाः सभ्यजना यूयमिमं यज्ञं जुषध्वम् ॥ १९ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा स्वस्वकर्म्मणि प्रवर्त्तमाना इमेऽन्तरिक्षादिषु पदार्थाः सन्ति, तथा सभाजनैः स्वस्वन्यायकर्म्मणि प्रवर्त्तितव्यमिति ॥ १९ ॥

धन लेता हुआ प्रजा के धन और ऐश्वर्य की उन्नति सदा ही करता रहे, ऐसा कहते हैं ॥ १८ ॥

१ सभाध्यक्षवत् सभासद्भिरपि न्यायपूर्वकं व्यवहरणीयमित्युच्यते ।

२ प्राणा वा आपः ॥ तै० ३ । २ । ५ । २ ॥ तां० ९ । ९ । ४ ॥

३ मन्त्रोऽयं ऋ० १ । १३९ । ११ अपि व्याख्यातो द्रष्टव्यः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(एकादश) एकश्च दश चेति द्वन्द्वसमासः । ततः संख्या (अ० ६ । २ । ३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । एकशब्दः 'इण्भीकापाशल्यति०' (उ० ३ । ४३) इति कन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः । अत्र प्रागेकादशभ्यो ऽच्छन्दसि (अ०५।३।४९) इति निपातनाद् दीर्घत्वम् ॥

(अप्सुक्षितः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः, तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अ० ६ । ३ । १४) इति विभक्त्यलुक् ॥

× 'धैवतः' इति अ० मु० कोशेषु चापपाठः ॥

❀ अत्र 'क्षयन्ति' इति सार्वत्रिकोऽपपाठः । ऋ० १ । १३९ । ११ '(अप्सुक्षितः) येऽप्सु क्षियन्ति, निवसन्ति ते' इति पाठस्य दर्शनात् ॥

अब राजा और सभासदों के काम अगले मन्त्र में कहे हैं[1] ॥

पदार्थः—(ये) जो (महिना) अपनी महिमा से (दिवि) विद्युत् के स्वरूप में (एकादश) ग्यारह अर्थात् प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, और जीवात्मा (देवासः) दिव्यगुणयुक्त देव (स्थ) हैं, (पृथिव्याम्) भूमि के (अधि) ऊपर (एकादश) ग्यारह अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति (स्थ) हैं, तथा (अप्सुक्षितः) प्राणों में ठहरनेवाले (एकादश) ग्यारह श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाणी, हाथ, पांव, गुदा, लिङ्ग, और मन (स्थ) हैं, (ते) वे जैसे अपने २ कामों में वर्त्तमान हैं, वैसे हे (देवासः) राजसभा के सभासदो ! आप लोग यथायोग्य अपने २ कामों में वर्त्तमान होकर (इमम्) इस (यज्ञम्) राजा और प्रजासंबन्धी व्यवहार का (जुषध्वम्) सेवन किया करें ॥ १९ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे अपने २ कामों में प्रवृत्त हुए अन्तरिक्षादिकों में सब पदार्थ हैं, वैसे राजसभासदों को चाहिये कि अपने २ न्यायमार्ग में प्रवृत्त रहें ॥ १९ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । यज्ञो देवता ।
निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ राज्ञां विदुषां चोपदेशप्रकारमाह[2] ॥

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः ।
पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि ॥२०॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । आग्रयणः । असि । स्वाग्रयण इति * सुऽआग्रयणः ॥ पाहि । यज्ञम् । पाहि । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । विष्णुः । त्वाम् । इन्द्रियेण । पातु । विष्णुम् । त्वम् । पाहि । अभि । सवनानि । पाहि ॥ २० ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) विनयादिराजगुणैर्युक्तः (असि) (आग्रयणः) समन्ताद्-ग्राणि विज्ञानयुक्तानि प्रशस्तानि कर्म्माण्ययते सः । शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्, इति पररूपम् (असि) (स्वाग्रयणः) शोभनश्चासावाग्रयणश्च तद्वत् (पाहि) (यज्ञम्[3]) राजप्रजापालकम् (पाहि)

(महिना) बहुलमन्यत्रापि (उ० २ । ४९) इति बाहुलकान्महेरिनच् प्रत्ययः । चित्स्वरः । सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति डादेशः । स च सुबादेशत्वादनुदात्तः । ततष्टेः (अ० ६।४।१४३) इति टिलोप उदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ सभाध्यक्ष की भांति सभासद् भी न्याययुक्त व्यवहार करें, अतः कहते हैं—॥ १९ ॥

२ न्यायान्यायपरिज्ञानाय राजप्रजे विद्वदुपदेशेन विना न प्रभवतोऽतो विद्वद्भ्य उपदेशप्रकारमुपदिशति—

३ यज्ञ एव प्रजापतिः । श० १ । ७ । ४ । ४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आग्रयणः) आग्रयण एवाग्रयणः, प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थेऽण् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(स्वाग्रयणः) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । उदात्तस्वरितयो-

* अवग्रहचिह्नरहितोऽयपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

(यज्ञपतिम्) संगतस्य न्यायस्य पालकम् (विष्णुः) सकलशुभगुणकर्म्मव्यापी विद्वान् (त्वाम्) (इन्द्रियेण) मनसा धनेन वा। इन्द्रियमिति धननामसु पठितम् निघ० २।१०। (पातु) (विष्णुम्) विद्वांसम् (त्वम्) न्यायाधीशः (पाहि) (अभि) (सवनानि) ऐश्वर्य्याणि (पाहि)॥ अयं मंत्रः शत० ४।२।२।९-११ व्याख्यातः॥ २०॥

अन्वयः—हे सभापते राजन् उपदेशक वा! यतस्त्वमुपयामगृहीतोस्यतो यज्ञम्पाहि स्वाग्रयण इवाग्रयणोसि तस्माद् यज्ञपतिं पाहि। अयं विष्णुरिन्द्रियेण त्वां पातु त्वमेनं विष्णुम्पाहि सवनान्यभिपाहि॥ २०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥

भावार्थः—राज्ञो विदुषां च योग्यतास्ति ते सततं राज्योन्नतिं कुर्य्युर्नहि राज्योन्नत्या विना विद्वांसो स्वास्थ्येन विद्यां प्रचारयितुमुपदेष्टुं च शक्नुवन्ति, न खलु विदुषां संगोपदेशाभ्यां विना कश्चिद् राज्यं रक्षितुमर्हति, न खलु राजप्रजोत्तमविदुषां परस्परं प्रीतिमन्तरैश्वर्य्योन्नतिरैश्वर्य्योन्नत्या विनाऽऽनन्दश्च सततं जायते॥ २०॥

अब राजा और विद्वानों के उपदेश की रीति अगले मन्त्र में कही है[1]॥

पदार्थः—हे सभापते राजन् वा उपदेश करनेवाले! जिस कारण [(त्वम्)] आप (उपयामगृहीतः) विनय आदि राजगुणों वा वेदादि शास्त्रबोध से युक्त (असि) हैं, इससे (यज्ञम्) राजा और प्रजा की पालना करानेहारे यज्ञ को (पाहि) पालो और (स्वाग्रयणः) जैसे उत्तम विज्ञानयुक्त कर्म्मों को पहुँचानेवाले होते हैं, वैसे (आग्रयणः) उत्तम विचार युक्त कर्म्मों को प्राप्त होने वाले [(असि)] हूजिये! इस से (यज्ञपतिम्) यथावत् न्याय की रक्षा करनेवाले को (पाहि) पालो, यह (विष्णुः) जो समस्त अच्छे गुण और कर्म्मों को ठीक २ जाननेवाला विद्वान् है, वह (इन्द्रियेण) मन और धन से (त्वाम्) तुझे (पातु) पाले, और तुम उस (विष्णुम्) विद्वान् की (पाहि) रक्षा करो। (सवनानि) ऐश्वर्य्य देनेवाले कामों की (अभि) सब प्रकार से (पाहि) रक्षा करो॥ २०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है॥

भावार्थः—राजा और विद्वानों को योग्य है कि वे निरन्तर राज्य की उन्नति किया करें, क्योंकि राज्य की उन्नति के बिना विद्वान् लोग सावधानी से विद्या का प्रचार और उपदेश भी नहीं कर सकते और न विद्वानों के संग और उपदेश के बिना कोई राज्य की रक्षा करने के योग्य होता है, तथा राजा प्रजा और उत्तम विद्वानों की परस्पर प्रीति के बिना ऐश्वर्य्य की उन्नति और ऐश्वर्य्य की उन्नति के बिना आनन्द भी निरन्तर नहीं हो सकता॥ २०॥

यैणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८।२।४) इति स्वरितत्वम्। तत ऐकश्रुत्यम्॥
(सवनानि) लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः।
इति व्याकरणप्रक्रिया॥

[1] विद्वानों के उपदेश के विना राजा और प्रजा को न्याय और अन्याय का परिज्ञान नहीं हो सकता, अतः विद्वान् कैसा उपदेश करें, सो दर्शाते हैं—॥ २०॥

सोमः पवत इत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । सोमो देवता । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥ एष त इत्यस्य याजुषी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ राजकृत्यमाह[1] ॥

सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवतऽ इष ऽऊर्जे पवतेऽद्भ्य ऽओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ऽ एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ २१ ॥

सोमः । पवते । सोमः । पवते । अस्मै । ब्रह्मणे । अस्मै । क्षत्राय । अस्मै । सुन्वते । यजमानाय । पवते । इषे । ऊर्जे । पवते । अद्भ्य इत्यत्ऽभ्यः । ओषधीभ्यः । पवते । द्यावापृथिवीभ्याम् । पवते । सुभूतायेति सुऽभूताय । पवते । विश्वेभ्यः । त्वा । देवेभ्यः । एषः । ते । योनिः । विश्वेभ्यः । त्वा । देवेभ्यः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(सोमः[2]) [3]सौम्यगुणसम्पन्नो राजा (पवते[4]) विजानीयात्, लेट्प्रयोगः [(सोमः)] राजसभायाः सभासत् प्रजाजनो वा (पवते) पूतो भवेत् (अस्मै) प्रत्यक्षाय (ब्रह्मणे) परमेश्वराय, वेदाय वा (अस्मै) (क्षत्राय) राज्याय क्षत्रियाय वा (अस्मै) (सुन्वते) सर्वविद्यासिद्धान्तं निष्पादयते (यजमानाय) संगच्छमानाय (पवते) (इषे) अन्नाय (ऊर्जे) पराक्रमाय (पवते) (अद्भ्यः) जलेभ्यः प्राणेभ्यो वा (ओषधीभ्यः) सोमादिभ्यः (पवते) (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य्यभूमिभ्याम् (पवते) (सुभूताय) सुष्ठु [भूताय] सत्याय व्यवहाराय (पवते) (विश्वेभ्यः) समस्तेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) दिव्येभ्यो गुणेभ्यः (एषः) राजधर्म्मगुणग्रहणम् (ते) तव (योनिः) वसतिः (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । २ । १२–१६ तथा ब्रा० ३ । १–९ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो यथाऽयं सोमोऽस्मै ब्रह्मणे पवतेऽस्मै क्षत्राय पवतेऽस्मै सुन्वते यजमानाय पवत इष ऊर्जे पवतेऽद्भ्य ओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते, तद्वत् सोमः सभ्यजनः प्रजाजनोप्येतस्मै सर्वस्मै पवताम् । हे राजन् ! यस्य ते तवैष योनिरस्ति, तं [त्वा] त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यो वयं स्वीकुर्म्मस्तथा विश्वेभ्यो [देवेभ्यः] गुणेभ्यश्च त्वा त्वामङ्गीकुर्महे ॥ २१ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा चन्द्रलोकः सर्वस्मै जगते हितकारी वर्त्तते, यथा च राजा सभ्यजनप्रजाजनाभ्यां सह तदुपकाराय धर्म्मानुकूलं व्यवहारमाचरति, तथैव सभ्यजनप्रजाजनौ राज्ञा सह वर्त्ते [या]-

[1] विद्वांसो राजानं कथमुपदिशेयुरित्युच्यते—

[2] राजा वै सोमः । श० १४ । १ । ३ । १२ ॥ सोमो हि प्रजापतिः । श० ५ । १ । ५ । २६ ॥

[3] सोममर्हति यः (अ० ४ । ४ । १३७) इति यः । केचिच्छन्दसीति नानुवर्त्तयन्ति ॥

[4] पवत इति गतिकर्मा । निघ० २ । १४ ॥ पवस्व इति अध्येषणाकर्मा । निघ० ३ । २१ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुन्वते) शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ।

(सुभूताय) सुष्ठु भूतो यस्मिन्, तस्मै । नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा तत्पुरुषसमासे सूपमानात् क्तः (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

ताम् । य उत्तमव्यवहारगुणकर्म्मानुष्ठाता भवति, स एव राजा सभ्यजनश्च न्यायाधीशो भवितुमर्हति । यो धर्म्मात्मा जनः स एव प्रजायामग्र्या गणनीयोऽस्त्येवमेते त्रयः परस्परं प्रीत्या पुरुषार्थेन विद्यादिगुणेभ्यः पृथिव्यादिपदार्थेभ्यश्चाखिलं सुखं प्राप्तुं शक्नुवन्ति ॥ २१ ॥

अब राजों का कर्म्म अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वान् लोगो ! जैसे यह (सोमः) सोम्यगुणसम्पन्न राजा (अस्मै) इस (ब्रह्मणे) परमेश्वर वा वेद को जानने के लिये (पवते) पवित्र होता है, (अस्मै) इस (क्षत्राय) क्षत्रियधर्म्म के लिये (पवते) ज्ञानवान् होता है, (अस्मै) इस (सुन्वते) समस्तविद्या के सिद्धान्त को निष्पादन और (यजमानाय) उत्तम सङ्ग करनेहारे विद्वान् के लिये (पवते) निर्मल होता है, (इषे) अन्न के गुण और (ऊर्जे) पराक्रम के लिये (पवते) शुद्ध होता है, (अद्भ्यः) जल और प्राण वा (ओषधीभ्यः) सोम आदि ओषधियों को (पवते) जानता है, (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य्य और पृथिवी के लिये (पवते) शुद्ध होता है, (सुभूताय) अच्छे व्यवहार के लिये (पवते) बुरे कामों से बचता है । वैसे (सोमः) सभाजन और प्रजाजन भी सबको यथोक्त जाने माने और आप भी वैसे पवित्र रहें । हे राजन् सभ्यजन वा प्रजाजन ! जिस (ते) आप का (एषः) यह राजधर्म्म (योनिः) घर है, उस (त्वा) आपको (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये तथा (त्वा) आप को (विश्वेभ्यः) संपूर्ण [(देवेभ्यः)] दिव्यगुणों के लिये हम लोग स्वीकार करते हैं ॥ २१ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे चन्द्रलोक सब जगत् के लिये हितकारी होता है, और जैसे राजा सभा के जन और प्रजाजनों के साथ उनके उपकार के लिये धर्म्म के अनुकूल व्यवहार का आचरण करता है, वैसे ही सभ्यपुरुष और प्रजाजन राजा के साथ वर्त्तें । जो उत्तम व्यवहार गुण और कर्म्म का अनुष्ठान करनेवाला होता है, वही राजा और सभापुरुष न्यायकारी हो सकता है, तथा जो धर्म्मात्मा जन है, वही प्रजा में अग्रगण्य समझा जाता है । इस प्रकार ये तीनों परस्पर प्रीति के साथ पुरुषार्थ से विद्या आदि गुण और पृथिवी आदि पदार्थों से अखिल सुख को प्राप्त हो सकते हैं ॥ २१ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । [विराड्] ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृशं जनं सेनापतिं कुर्य्यादित्युपदिश्यते[2] ॥

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि । यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २२ ॥

---

१ विद्वान् राजा को कैसा उपदेश करें, सो दर्शाते हैं—॥ २१ ॥

२ सौम्यत्वस्य प्राधान्यं प्रतिपाद्य पराक्रमाय सेनाप्रबन्धोऽपि कार्यं इतरथा दस्युजननिग्रहस्यासम्भवात् प्रजाः पीडिताः स्युरतः सेनापतिगुणान् ब्रवीति—

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । बृहद्वत इति बृहत्ऽवते । वयस्वते । उक्थाव्यमित्युक्थऽअव्यम् । गृह्णामि ॥ यत् । ते । इन्द्र । बृहत् । वयः तस्मै । त्वा । विष्णवे । त्वा । एषः । ते । योनिः । उक्थेभ्यः । त्वा । देवेभ्यः । त्वा । देवाव्यमिति देवऽअव्यम् ❀ । यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि ॥ २२ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) सुनियमैरधीतविद्यः (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवते (त्वा) त्वाम् (बृहद्वते) प्रशस्तानि बृहन्ति कर्म्माणि यस्य तस्मै (वयस्वते) बहु जीवनं विद्यते यस्य तस्मै (उक्थाव्यम्) प्रशंसार्हाणि स्तोत्राणि शास्त्रविशेषाणि वा यस्य, तमिव सेनापतिम् (गृह्णामि) (यत्) (ते) तव (इन्द्र) (बृहत्) (वयः) जीवनम् (तस्मै) (त्वा) त्वाम् (विष्णवे) परमेश्वराय यज्ञाय वा (त्वा) त्वाम् (एषः) (ते) तव (योनिः) ‡ स्थित्यर्थं स्थानविशेषः (उक्थेभ्यः) प्रशंसनीयेभ्यो वेदोक्तेभ्यः कर्म्मभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्[1]) उक्तानां देवानां पालकम् ❀ (यज्ञस्य) राज्यपालनादेः (आयुषे) जीवनाय (गृह्णामि) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । ३ । १०–११ व्याख्यातः[1] ॥ २२ ॥

अन्वयः—*धर्मार्थकाममोक्षानिच्छुरहं हे इन्द्र सेनापते ! त्वमुपयामगृहीतोऽस्यतो बृहद्वते वयस्वत इन्द्रायोक्थाव्यं त्वा त्वां गृह्णामि । यत् ते बृहद् वयस्तस्मै तत्पालनाय विष्णवे त्वा त्वां गृह्णामि । एष सेनाधिकारस्ते योनिरस्ति, उक्थेभ्यस्त्वा त्वां देवेभ्यो देवाव्यं त्वा त्वां यज्ञस्यायुषे वर्द्धनायापि [त्वा त्वां] गृह्णामि ॥ २२ ॥

भावार्थः—÷ सर्ववेत्ता विद्वान् राज्यव्यवहारे सैन्यवीराणां पालनाय सुशिक्षितं शस्त्रास्त्रप्रवीणं यज्ञकर्म्मानुष्ठातारं वीरपुरुषं सेनापतित्वेऽभियुञ्ज्यात् । सभापतिसेनापती परस्परानुमत्या राज्यं यज्ञं च वर्द्धयेयातामिति ॥ २२ ॥

अब कैसे मनुष्य को सेनापति करे, यह अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) सेनापति ! तू (उपयामगृहीतः) अच्छे नियमों से विद्या को पढ़नेवाला (असि) है, इस हेतु से (बृहद्वते) जिसके अच्छे बड़े २ कर्म हैं (वयस्वते) और जिसकी दीर्घ आयु है, उस

[1] अत्र मन्त्रे 'देवाव्यं' इत्येतस्मादुत्तरं 'गृह्णामि' इति पदं केवलमुवटमहिधरभाष्यमुद्रितो मूलपाठो न काप्यन्यत्रोपलभ्यते, अपपाठ इति कृत्वाऽस्माभिः पृथक्कृतः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(बृहद्वते) प्रशंसार्थे मतुप्, पित्त्वादनुदात्तः । बृहच्छब्दोऽन्तोदात्त इति पूर्वं (यजुः २।४ पृ०१६४) उक्तम् ॥

(वयस्वते) भूम्नि मतुप् । स चानुदात्तः । 'वय गतौ' ततोऽसुन् । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(उक्थाव्यम्, देवाव्यम्) उक्थपूर्वाद् देवपूर्वाच्चावतेः अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः (उ० ३।१५८) इति 'ईः' प्रत्ययः, गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो 'देवावी' शब्दः । ततोऽमि यणादेशे उदात्तस्वरितयोर्यणः० (अ० ८ । २ । ४) इति स्वरितत्वम् (द्र० य० ७ । २३ भाष्ये) ॥

(उक्थेभ्यः) पातॄतुदिवचि० (उ० २ । ७) इति थक्, प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[2] सौम्यगुणों की प्रधानता का निरूपण करके, पराक्रम के लिये सेना का प्रबन्ध भी आवश्यक है, अन्यथा

❀ इतोऽग्रे 'गृह्णामि' इति पदं व्यर्थं अ० मुद्रिते इति बोध्यम् ॥ ‡ 'स्थित्यर्थः' इति अ० मु० पाठ ॥

* 'धर्मार्थकाममोक्षानिच्छुरहम्' इति ग प्रवर्धितः पाठः, अस्य भाषापदार्थो नास्तीति ध्येयम् ॥

÷ अस्मिन् विषये पूर्वं यजुः १।१६ पृष्ठ ८७ विवरण टिप्पणी द्रष्टव्या ॥

(इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवाले सभापति के लिये (उक्थाव्यम्) प्रशंसनीय स्तोत्र वा विशेष शस्त्र विद्यावाले (त्वा) तेरा (गृह्णामि)* ग्रहण मैं करता हूँ, (यत्) जो (ते) तेरा (बृहत्) अत्यन्त (वयः) जीवन है (तस्मै) उसके पालन करने के अर्थ और (विष्णवे) ईश्वरज्ञान वा यज्ञ के लिये (त्वा) तुझे† स्वीकार करता हूँ और (एषः) यह सेना का अधिकारी (ते) तेरा (योनिः) स्थित होने के लिये स्थान है। हे सेनापति ! (उक्थेभ्यः) प्रशंसायोग्य वेदोक्त कर्मों के लिये (त्वा) तुझे (देवेभ्यः) और विद्वानों वा दिव्यगुणों के लिये (देवाव्यम्) उनके पालन करनेवाले (त्वा) तुझको (यज्ञस्य) राज्यपालनादि व्यवहार के (आयुषे) बढ़ाने के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ ॥ २२ ॥

भावार्थः—सब विद्याओं के जाननेवाले विद्वान् को योग्य है कि राज्यव्यवहार में सेना के वीर पुरुषों की रक्षा करने के लिये अच्छी शिक्षायुक्त, शस्त्र और अस्त्र विद्या में परम प्रवीण यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाले वीरपुरुष को सेनापति के काम में युक्त करे, और सभापति तथा सेनापति को चाहिये कि परस्पर सम्मति करके राज्य और यज्ञ को बढ़ावें ॥ २२ ॥

मित्रावरुणाभ्यां त्वेत्यस्य वत्सारः काश्यप ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । मित्रावरुणाभ्यामित्यस्यानुष्टुप्, इन्द्राग्निभ्यामित्यस्य प्राजापत्यानुष्टुप्, इन्द्रावरुणाभ्यामित्यस्य स्वराट् साम्न्यनुष्टुप् छन्दांसि । गान्धारः स्वरः ॥ इन्द्राबृहस्पतिभ्यामित्यस्य भुरिगार्ची गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥ इन्द्राविष्णुभ्यामित्यस्य भुरिक् साम्न्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरश्च ॥

सर्वविद्याप्रवीणं सभापतिं कुर्य्यादित्युपदिश्यते[1] ॥

मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २३ ॥

मित्रावरुणाभ्याम् । त्वा । देवाव्यमिति देवऽअव्यम् । यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि । इन्द्राय । त्वा । देवाव्यमिति देवऽअव्यम् । यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि । इन्द्राग्निभ्यामितीन्द्राग्निऽभ्याम् । त्वा । देवाव्यमिति देवऽअव्यम् । यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि । इन्द्रावरुणाभ्याम् । त्वा । देवाव्यमिति देवऽअव्यम् । यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि । इन्द्राबृहस्पतिभ्यामितीन्द्राबृहस्पतिऽभ्याम् । त्वा । देवाव्यमिति * देवऽअव्यम् । यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि । इन्द्राविष्णुभ्यामितीन्द्राविष्णुऽभ्याम् * । त्वा । * देवाव्यमिति देवऽअव्यम् । यज्ञस्य । आयुषे । गृह्णामि ॥ २३ ॥

दस्युजनों का निग्रह न हो सकने से प्रजाएँ सदा पीड़ित रहेंगी, अतः सेनापति के गुणों का निरूपण करते हैं—॥ २२ ॥

१ सर्वविद्याप्रवीणः सर्वगुणसम्पन्न एव राजा सर्वमेतत् कर्तुं क्षम इतरथा सेनापत्यादिभिरभिभूयेतातः पुनः राजा कीदृशेन भवितव्यमित्युपदिशति—

* 'ग्रहण जैसे मैं करता हूँ वैसे' इति अ० मु० संस्कृताननुसारी पाठः ॥

† इतोऽग्रे 'गृह्णामि' इति पदं व्यर्थं अ० मुद्रिते इति बोध्यम् ॥ * अवग्रहचिह्नरहितो ऽयपाठोऽजमेरमुद्रिते ।

पदार्थः—(मित्रावरुणाभ्याम्) सख्युत्कृष्टाभ्याम् (त्वा) सभापतिं पूर्णविद्यमुपदेशकं वा (देवाव्यम्) यो देवानवति स देवावीस्तम्। अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः। उ० ३। १५८। इति रक्षणाद्यर्थादव-धातोरीः प्रत्ययः (यज्ञस्य[1]) अग्निहोत्रादे राज्यपालनान्तस्य (आयुषे) उन्नत्यै (गृह्णामि) (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवते (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) विद्वद्रक्षकम् (यज्ञस्य) सत्सङ्गतिकरणस्य (आयुषे) (गृह्णामि) (इन्द्राग्निभ्याम्) विद्युत्प्रसिद्धाभ्यां वह्निभ्याम् (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) दिव्यविद्याबोधकम् (यज्ञस्य) [2]शिल्पविद्याकार्य्यसिद्धिकरस्य (आयुषे) (गृह्णामि) वृणोमि (इन्द्रावरुणाभ्याम्) विद्युज्जलाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) एतद्दिव्यविद्याव्यापकम् (यज्ञस्य) क्रियाकौशलसंगतस्य (आयुषे) (गृह्णामि) (इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्) राजानूचानाभ्यां विद्वद्भ्याम् (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) प्रशस्तयोगविद्याप्रापकम् (यज्ञस्य) योगविद्याप्रापकस्य विज्ञानस्य (आयुषे) गृह्णामि) अङ्गीकरोमि। (इन्द्राविष्णुभ्याम्) ईश्वर-वेदज्ञानाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (देवाव्यम्) ब्रह्मविदां तर्पकम् (यज्ञस्य[3]) ज्ञानमयस्य (आयुषे) वृद्धये (गृह्णामि) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। २। ३। १२-१८ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे सभापते ! धर्मार्थकाममोक्षानिच्छुरहं यज्ञस्यायुषे मित्रावरुणाभ्यां देवाव्यं त्वा त्वां गृह्णामि। हे सेनापते विद्वन् ! यज्ञस्यायुष इन्द्राय देवाव्यं त्वा त्वां गृह्णामि। हे शस्त्रास्त्रविद्याविद् यज्ञस्यायुष इन्द्राग्निभ्यां [देवाव्यं] त्वा त्वां गृह्णामि। हे शिल्पिन् ! यज्ञस्यायुष इन्द्रावरुणाभ्यां [देवाव्यं] त्वा त्वां गृह्णामि, तथा यज्ञस्यायुष इन्द्राबृहस्पतिभ्यां [देवाव्यं] त्वा त्वां गृह्णामि। हे विद्वन् ! यज्ञस्यायुष इन्द्राविष्णुभ्यां [देवाव्यं] त्वा त्वां गृह्णामि ॥ २३ ॥

भावार्थः—प्रजाजनैः सकलशास्त्रप्रचाराय सर्वविद्याकुशलोऽतिशयितब्रह्मचर्य्यादिकर्म्मानुष्ठाता सभाध्यक्षः कर्त्तव्यः, सोपि प्रीत्या सकलशास्त्रं प्रचारयेत् ॥ २३ ॥

सब विद्याओं में प्रवीण पुरुष को सभा का अधिकारी करे, यह अगले मन्त्र में कहा है[4] ॥

पदार्थः—हे सभापते ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की इच्छा करनेवाला मैं (यज्ञस्य) अग्निहोत्र से लेकर राज्यपालनपर्य्यन्त यज्ञ की (आयुषे) उन्नति होने के लिये (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्र और उत्तम विद्या-युक्त पुरुषों के अर्थ (देवाव्यम्) विद्वानों की रक्षा करनेवाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ। हे सेनापते विद्वन् ! (यज्ञस्य) सत्संगति करने की (आयुषे) उन्नति के लिये (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवान् पुरुष के

---

1 यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म। तै० ३। २। १। ४॥

2 यज्ञो वै विशो, यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि ॥ श० ८। ७। ३। २१ ॥

3 सैषा त्रयीविद्या (ऋक्सामयजूंषि) यज्ञः। श० १। १। ४। ३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इन्द्राग्निभ्याम्) पूर्वं (अ० ६। २४ पृ० ५५५) व्याख्यातः ॥

(इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्) बृहस्पतिरित्यत्र उभे वनस्पत्यादिषु० (अ० ६। २। १४०) इति युग-पत् प्रकृतिस्वरः। तत इन्द्रशब्देन द्वन्द्वे देवताद्वन्द्वे च (अ० ६। २। १४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरः। एवं त्रय उदात्ताः ॥

(इन्द्रावरुणाभ्याम्, इन्द्राविष्णुभ्याम्) देवताद्वन्द्वे च (अ० ६। २। १४१) इत्युभयपद-प्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

4 समस्त विद्याओं में निष्णात, सर्वगुणसम्पन्न राजा ही यह सब कर सकता है, अन्यथा सेनापति आदि ही उसको दबा लें, अतः राजा कैसा होना चाहिये, यह पुनः दर्शाते हैं—॥ २३ ॥

अर्थ (देवाव्यम्) विद्वानों की रक्षा करनेवाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ । हे शस्त्रास्त्रविद्या के जाननेवाले प्रवीण ! (यज्ञस्य) शिल्पविद्या के कामों की सिद्धि की (आयुषे) प्राप्ति के लिये (इन्द्राग्निभ्याम्) बिजली और प्रसिद्ध आग के गुण प्रकाश होने के अर्थ (देवाव्यम्) दिव्यविद्या बोध की रक्षा करनेवाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ । हे शिल्पिन् ! (यज्ञस्य) क्रियाचतुराई का (आयुषे) ज्ञान होने के लिये (इन्द्रावरुणाभ्याम्) बिजली और जल के गुण प्रकाश होने के अर्थ (देवाव्यम्) उनकी विद्या जाननेवाले (त्वा) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ । हे अध्यापक ! (यज्ञस्य) पढ़ने पढ़ाने की (आयुषे) उन्नति के लिये (इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्) राजा और शास्त्रवक्ताओं के अर्थ (देवाव्यम्) प्रशंसित योगविद्या को जानने और प्राप्त करानेवाले (त्वा) तुझको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ । हे विद्वन् ! (यज्ञस्य) विज्ञान की (आयुषे) बढ़ती के लिये (इन्द्राविष्णुभ्याम्) ईश्वर और वेदशास्त्र के जानने के अर्थ (देवाव्यम्) ब्रह्मज्ञानी को तृप्त करनेवाले (त्वा) तुझको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ ॥ २३ ॥

भावार्थः—प्रजाजनों को उचित है कि सकलशास्त्र का प्रचार होने के लिये सब विद्याओं में कुशल और अत्यन्त ब्रह्मचर्य्य के अनुष्ठान करनेवाले पुरुष को सभापति करें, और वह सभापति भी परमप्रीति के साथ सकलशास्त्र का प्रचार करता कराता रहे ॥ २३ ॥

मूर्द्धानमित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ विद्वत्कृत्यमाह[1] ॥

मूर्धानं दिवो ऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत ऽआ जातमग्निम् ।

कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ २४ ॥

मूर्द्धानम् । दिवः । अरतिम् । पृथिव्याः । वैश्वानरम् । ऋते । आ । जातम् । अग्निम् ॥ कविम् । सम्राजमिति सम्ऽराजम् । अतिथिम् । जनानाम् । आसन् । आ । पात्रम् । जनयन्त । देवाः ॥ २४ ॥

पदार्थः—(मूर्द्धानम्) शिरोवद्वर्त्तमानम् (दिवः) द्योतमानस्य सूर्य्यस्य (अरतिम्) ऋच्छति प्राप्नोति तम् (पृथिव्याः) (वैश्वानरम्) यो विश्वान् नरानानन्दान्नयति तम्, वैश्वानरः कस्माद् विश्वान्नरान्नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात् । निरु० ७ । २१ । (ऋते) सत्ये, ऋतमिति सत्यनामसु पठितम् । निघ० ३ । १० । (आ) समन्तात् (जातम्) प्रसिद्धम् (अग्निम्) शुभगुणैः प्रकाशमानम् (कविम्) क्रान्तदर्शनम् (सम्राजम्) चक्रवर्त्तिनमिव (अतिथिम्[2]) अतिथिवत्पूज्यम् (जनानाम्) सत्पुरुषाणाम् (आसन्) मुखे, अत्रास्यशब्दस्य पद्दन्नोमास्० अ० ६ । १ । ६३ । अनेनासन्नादेशः । सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति सप्तम्येकवचनस्य लुक् (आ) समन्तात् (पात्रम्) पाति रक्षति समस्तं शिल्पव्यवहारं यस्तम् (जनयन्त) उत्पादयन्तु, अत्र लोडर्थे लङडभावश्च (देवाः) धनुर्वेदविदो विद्वांसः ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ । ४ । २४ तथा ब्रा० ५ । १ व्याख्यातः[3] ॥२४॥

अन्वयः—यथा देवा धनुर्विदो विद्वांसो धनुर्वेदशिक्षया दिवो मूर्द्धानं पृथिव्या अरतिमृत आजातं वैश्वानरं जनानामतिथिमासन् पात्रं कविमग्निं सम्राजमिवाजनयन्त, तथा सर्वैरनुष्ठेयम् ॥ २४ ॥

---

१ विद्वांस एव सभापत्यादिनियुक्तौ मुख्यप्रमाणानि इत्यतो विद्वत्कृत्यमुपदिशति—

२ पूर्वं (य० ३ । १ पृ० २३८) व्याख्यातः ॥

३ मन्त्रोऽयं ऋ० ६ । ७ । १ तथा य० ३३ । ८ भेदेन व्याख्यातः ॥

अत्र [वाचकलुप्त] ोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा सत्पुरुषाः धनुर्वेदज्ञाः परोपकारिणो विद्वांसो धनुर्वेदोक्तक्रियाभिर्यानेषु शस्त्रास्त्रविद्यायां चानेकधाग्निं प्रदीप्य शत्रून् विजयन्ते तथैवान्यैरपि सर्वैर्जनैराचरणीयम् ॥ २४ ॥

इसके अनन्तर विद्वानों का कर्म अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—जैसे (देवाः) धनुर्वेद के जाननेवाले विद्वान् लोग धनुर्वेद की शिक्षा से (दिवः) प्रकाशमान सूर्य्य के (मूर्द्धानम्) शिर के समान (पृथिव्याः) पृथिवी के गुणों को (अरतिम्) प्राप्त होनेवाले (ऋते) सत्यमार्ग में (आजातम्) × अच्छे प्रकार प्रसिद्ध (वैश्वानरम्) समस्त मनुष्यों को आनन्द पहुंचाने और (जनानाम्) सत्पुरुषों के (अतिथिम्) अतिथि के समान सत्कार करने योग्य और (आसन्) अपने शुद्ध यज्ञरूप मुख में (पात्रम्) समस्त शिल्पव्यवहार की ÷ रक्षा करने [वाले] और (कविम्) दूरदर्शी (अग्निम्) शुभगुण-प्रकाशित सभापति को (सम्राजम्) एकचक्रराज्य करनेवाले के समान (आ) अच्छे प्रकार से (जनयन्त) प्रकाशित करते हैं, वैसे सब मनुष्यों को करना योग्य है ॥ २४ ॥

इस मन्त्र में [वाचकलुप्त] उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे सत्पुरुष धनुर्वेद के जाननेवाले परोपकारी विद्वान् लोग धनुर्वेद में कही हुई क्रियाओं से यानों और शस्त्रास्त्र विद्या में अनेकप्रकार से अग्नि को प्रदीप्त कर शत्रुओं को जीता करते हैं, वैसे ही अन्य सब मनुष्यों को भी अपना आचरण करना योग्य है ॥ २४ ॥

उपयामगृहीत इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । वैश्वानरो देवता । याजुष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥ ध्रुवोऽसीत्यस्य ध्रुवमित्यस्य च विराडार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथेश्वरगुणा उपदिश्यन्ते[2] ॥

उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तम ऽ एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि । अथा न ऽ इन्द्र ऽ इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ॥ २५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अरतिम्) वहिवस्यर्तिभ्यश्चित् (उ० ४ । ६०) इति 'अति'प्रत्ययः । चिदतिदेशादन्तोदात्तः ॥
(पात्रम्) पातेष्ट्रनि नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ सभापति आदि के निर्वाचन में विद्वान् ही मुख्य प्रमाण हैं, अतः विद्वानों का कर्त्तव्य बतलाते हैं—॥ २४ ॥

२ ईश्वरवत् राज्ञा वर्त्तितव्यमितीश्वरगुणानुपदिशति—

× इतोऽग्रे 'सत्यव्यवहार में अच्छे प्रकार' इति अ० मु० पाठः ॥
÷ 'रक्षा करने (कविम्) और अनेक प्रकार से प्रदीप्त होने वाले (अग्निम्) शुभगुण प्रकाशित अग्नि को' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः ।

उपयामगृहीत ॐइत्युपयामऽगृहीतः । असि । ध्रुवः । असि । ध्रुवक्षितिरिति ध्रुवऽक्षितिः । ध्रुवाणाम् । ध्रुवतम इति ध्रुवऽतमः । अच्युतानाम् । अच्युतक्षित्तम इत्यच्युतक्षित्ऽतमःॐ । एषः । ते । योनिः । वैश्वानराय । त्वा ॥ ध्रुवम् । ध्रुवेण । मनसा । वाचा । सोमम् । अव । नयामि ॥ अथ । नः । इन्द्रः । इत् । विशः । असपत्नाः । समनसऽइति सऽमनसः । करत् ॥ २५ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) यमानां समूहो यामम्, उपगतं च तद्यामं चोपयामसुपयामेन गृहीत उपयामगृहीतः परमेश्वरः (असि) (ध्रुवः) स्थिरः (असि) (ध्रुवक्षितिः) ध्रुवाः क्षितयो भूमयो यस्मिन् (ध्रुवाणाम्) आकाशादीनां मध्ये (ध्रुवतमः) अतिशयेन ध्रुवो ध्रुवतमः (अच्युतानाम्) कारणजीवानाम्[1] (अच्युतक्षित्तमः) अच्युतं + क्षियति निवासयति सोऽतिशयितः (एषः) सत्यमार्गप्रकाशः (ते) तव (योनिः) स्थानमिव (वैश्वानराय) विश्वेषां नराणां नायकाय सत्यप्रकाशकाय (त्वा) त्वाम् (ध्रुवम्) निश्चयम् (ध्रुवेण) निष्कम्पेण (मनसा) अन्तःकरणेन (वाचा) वाण्या (सोमम्) सकलजगतः प्रसवितारम् (अव) (नयामि) स्वीकरोमि (अथ) अनन्तरम् (नः) अस्माकम् (इन्द्रः) सर्वदुःखविदारकः (इत्) एव (विशः) प्रजाः (असपत्नाः) अजातशत्रवः (समनसः) समानं मनः स्वान्तं यासां ताः (करत्[2]) करोतु, लेट्प्रयोगोऽयम् ॥ [अयं मन्त्रः श० ४। २। ४। २४ व्याख्यातः] ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे परमेश्वर ! त्वमुपयामगृहीतोसि ध्रुवोसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमस्तथा चाच्युतानामच्युतक्षित्तमोसि । एष ते योनिरस्ति । अस्मै वैश्वानराय राज्यप्रकाशकाय ध्रुवेण मनसा ध्रुवया वाचा च सोमं [त्वा] त्वां ध्रुवमवनयामि । अथेन्द्रो भवान् नो विशोऽसपत्नाः समनस इदेव करत् करोतु ॥ २५ ॥

भावार्थः—यो नित्यानां नित्यो ध्रुवाणामपि ध्रुवः परमेश्वरस्तस्य सर्वजगत्प्रेरकस्येश्वरस्य प्राप्त्या योगाभ्यासानुष्ठानेन चैव विज्ञानं जायते, नान्यथा ॥ २५ ॥

अब अगले मन्त्र में ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है[3] ॥

---

१ कारणं प्रकृतिः तस्याः, जीवानां चेत्यर्थः ॥

२ यत्तु सायणः (ऋ० १। ८२। १) नायं डुकृञ्धा तुभ्वादिगणान्तर्गतः पठितः "अस्य धातोस्तत्र पाठोऽनार्षः" इत्याद्याह । तन्न हृदयग्राह्यम् । कुतः ? छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३। ४। ६) इति सूत्रेण न लुङ्लङ्लिटां लकाराणां प्रयोगा निराक्रियन्ते, वेदेष्वेषां त्रिविधलकाराणामेव प्रयोगदर्शनात् । किञ्च कः करत्० (अ० ८। ३। ५०) इति सूत्रे 'करति' इति प्रयोगस्य लटि दर्शनात्, ततश्च लङ्यपि सम्भवात् 'इति प्रयोगो न लुङ्येव साधु इति ज्ञापनाच्च । कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि (अ० ३। १। ५९) इत्यत्रापि 'लुङि' इत्यनुवर्त्तनात् अङ्विधानमनर्थकमित्यपि न विचारितरमणीयम् । ननु च 'कः करत्० (अ० ८। ३। ५०) इति शब्दस्वरूपनिर्देशार्थमिति चेत् । नैवम् । कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि (अ० ३। १। ५९) इति लुङ्येव साधु विधानसामर्थ्याद् इत्यपि बोध्यम् ॥

अन्येऽपि वृत्तिकाराः 'डुकृञ्' इत्येवं भ्वादिषु पठन्ति । तद्यथा क्षीरस्वामी, दैवः (पुरुषकारः), हेमचन्द्रः, उणादिदशपादीवृत्तिकार इत्येवमादयः, पूर्वं यजुः ३। ५८ भाष्यमप्यत्र द्रष्टव्यम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उपयामगृहीतः) तृतीया कर्मणि (अ० ६। २। ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व उपयामशब्दः समासस्य (अ० ६। १। २२३) इत्यन्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ ईश्वर के समान राजा को भी सर्वहितकारी होकर वर्त्तना चाहिये, अतः ईश्वर के गुणों का निरूपण करते हैं—॥ २५ ॥

ॐ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ + 'क्षयति' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः कोशेषु चेति ध्येयम् ।

पदार्थः—हे परमेश्वर ! आप (उपयामगृहीतः) शास्त्रप्राप्त नियमों से स्वीकार किये जाते (असि) हैं, ऐसे ही (ध्रुवः) स्थिर (असि) हैं, कि (ध्रुवक्षितिः) जिन आप में भूमि स्थिर हो रही है और (ध्रुवाणाम्) स्थिर आकाश आदि पदार्थों में (ध्रुवतमः) अत्यन्त स्थिर हैं, तथा (अच्युतानाम्) जगत् का अविनाशी कारण और अनादि सिद्ध जीवों में (अच्युतक्षित्तमः) अतिशय करके अविनाशिपन बसानेवाले हैं। (एषः) यह सत्य के मार्ग का प्रकाश (ते) आप के (योनिः) निवासस्थान के समान है, (वैश्वानराय) समस्त मनुष्यों को सत्यमार्ग में प्राप्त करानेवाले वा इस राज्यप्रकाश के लिये (ध्रुवेण) दृढ़ (मनसा) मन और (वाचा) वाणी से (सोमम्) समस्त जगत् के उत्पन्न करनेवाले (त्वा) आप को (ध्रुवम्) + निश्चयपूर्वक जैसे हो, वैसे (अवनयामि) स्वीकार करता हूँ। (अथ) इसके अनन्तर (इन्द्रः) सब दुःख के विनाश करनेवाले आप (नः) हमारे (विशः) प्रजाजनों को (असपत्नाः) शत्रुओं से रहित और (समनसः) एक मन अर्थात् एक दूसरे के सुख चाहनेवाले (इत्) ही (करत्) कीजिये ॥ २५ ॥

भावार्थः—जो नित्य पदार्थों में नित्य और स्थिरों में भी स्थिर परमेश्वर है, उस समस्त जगत् के उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर की प्राप्ति और योगाभ्यास के अनुष्ठान से ही ठीक २ ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २५ ॥

यस्त इत्यस्य देवश्रवा ऋषिः। यज्ञो देवता। स्वराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

अथेश्वरो यज्ञानुष्ठातारमुपदिशति[1]॥

यस्ते॑ द्र॒प्स स्कन्द॑ति॒ यस्ते॑ऽ अ॒ꣳशुर्ग्राव॑च्युतो धि॒षण॑योरु॒पस्था॑त्।
अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॒त्तं ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृत॒ꣳ
स्वाहा॑ दे॒वाना॑मु॒त्क्रम॑णमसि ॥ २६ ॥

यः। ते॒। द्र॒प्सः। स्कन्द॑ति। यः। ते॒। अ॒ꣳशुः। ग्राव॑च्युत॒ इति॒ ग्राव॑ऽच्युतः। धि॒षण॑योः। उ॒पस्था॒दित्यु॒पऽस्था॑त्॥ अ॒ध्व॒र्य्योः। वा॒। परि॑। वा॒। यः। प॒वित्रा॑त्। तम्। ते॒। जु॒हो॒मि॒। मन॑सा। वष॑ट्कृत॒मिति॒ वष॑ट्ऽकृतम्। स्वाहा॑। दे॒वाना॑म्। उ॒त्क्रम॑ण॒मित्यु॑त्ऽक्रम॑णम् ×। अ॒सि॒॥ २६॥

[1] यज्ञस्य सर्वकामप्रपूरकत्वाद् यज्ञस्य सेव्यतां दर्शयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(द्रप्सः) पूर्वं यजुः १। २६ पृ० १२२ व्याख्यातः ॥

(अंशुः) पूर्वं यजुः ५। ७ पृ० ४३८ व्याख्यातोऽपि द्रष्टव्यः ॥

(अध्वर्योः) अध्वरं युनक्तीति यास्कः। अध्वरोपपदात् युजधातोः 'डु' प्रत्ययः, पूर्वपदान्तलोपश्च पृषोदरादित्वात्। यद्वा अध्वरोपपदात् मृगय्वादेराकृतिगणत्वात् (उ० १। ३७) कुप्रत्ययः पूर्वपदान्तलोपश्च ॥

(वषट्कृतम्) गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। वषट्शब्द ऊर्यादित्वाद् गतिसंज्ञकः ॥

(उत्क्रमणम्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

+ 'निश्चल निश्चयपूर्वक (अवनयामि)' इति गकोशे पाठः ॥
× अवग्रहचिह्नरहितोऽयपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(यः) यजमानः (ते) तव (द्रप्सः) यज्ञपदार्थसमूहः । अत्र वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः [अ० ८ । ३ । ३६ मा० वा०] इति विसर्जनीयलोपः (स्कन्दति) अन्यान् प्रति गच्छति (यः) (ते) तव (अंशुः) संविभागः, अत्रामधातोरुः प्रत्ययः शकारागमश्च । (ग्रावच्युतः) ग्राव्णो मेघाच्च्युतः, ग्रावेति मेघनामसु पठितम् । निघ० १ । १० । (धिषणयोः) द्यावापृथिव्योः धिषणे इति द्यावापृथिवीनामसु पठितम् । (निघ० ३ । ३०) (उपस्थात्) समीपस्थात् (अध्वर्य्योः) (वा) होत्रादीनां समुच्चये (परि) सर्वतः (वा) शुद्धगुणानां समुच्चये (यः) शुद्धपदार्थसमूहः (पवित्रात्) निर्मलात् (तम्) (ते) तुभ्यम् (जुहोमि) ददामि (मनसा) सुविचारेण (वषट्कृतम्) संकल्पितमिव (स्वाहा) सत्यवाचा (देवानाम्) आप्तानां विदुषाम् (उत्क्रमणम्) ऊर्ध्वक्रमणं तेज इव (असि) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । २ ५ । २–५ व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे यज्ञपते ! यस्ते द्रप्सः स्कन्दति वायुना सह सर्वत्र गच्छति, यश्च ते ग्रावच्युतोंऽशुर्धिषणयोःपवित्रादुपस्थात् यो वा अध्वर्य्योः सकाशात् [परि] परितो वा प्रकाशते, तस्मात् तमहं ते स्वाहा मनसा वषट्कृतं जुहोमि तत्फलदानेन तुभ्यं प्रयच्छामि, यतस्त्वं यज्ञानुष्ठाता देवानामुत्क्रमणमिवासि ॥ २६ ॥

अत्र [लुप्तो] पमालङ्कारः ॥

भावार्थः—होत्रादयो विद्वांसोऽतीव दृढया[1] सामग्र्या *यज्ञमनुतिष्ठन्तो यान् सुरभियुक्तान् पदार्थानग्नौ प्रक्षिपन्ति, ते जलवायू संशोध्य मेघेन सह पृथिवीं प्राप्य, सर्वान् रोगान्निवर्त्य, सर्वान् प्राणिन आनन्दयन्ति, अतः सर्वैर्मनुष्यैरयं यज्ञः सदा सेव्यः ॥ २६ ॥

अब ईश्वर यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाले को उपदेश करता है[2] ॥

पदार्थः—हे यज्ञपते ! (यः) जो (ते) तेरा (द्रप्सः) यज्ञ के पदार्थों का समूह (स्कन्दति) पवन के साथ सब जगह में प्राप्त होता है, और (यः) जो (ते) तेरे यज्ञ से युक्त (ग्रावच्युतः) मेघमण्डल से छूटा हुआ (अंशुः) यज्ञ के पदार्थों का विभाग (धिषणयोः) प्रकाश और भूमि के (पवित्रात्) (उपस्थात्) गोद के समान स्थान से (वा) अथवा (यः) जो (अध्वर्य्योः) यज्ञ करनेवालों से (वा) अथवा (परि) सब से प्रकाशित होता है, इससे (तम्) उस यज्ञ को मैं (ते) तेरे लिये (स्वाहा) सत्यवाणी और (मनसा) मन से (वषट्कृतम्) किये हुए संकल्प के समान (जुहोमि) देता हूँ । अर्थात् उसके फलदायक होने से तेरे लिये उस पदार्थ को पहुंचाता हूं, जिस लिये यज्ञ का अनुष्ठान करनेहारा तू (देवानाम्) विद्वानों के लिये (उत्क्रमणम्) ऊँची श्रेणी को प्राप्त करनेवाले ऐश्वर्य के समान (असि) है, इस से तुझको सुख प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

इस मन्त्र में [लुप्त] उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—होता आदि विद्वान् लोग अत्यन्त दृढ़ सामग्री से यज्ञ करते हुए जिन सुगन्धि आदि पदार्थों को अग्नि में छोड़ते हैं, वे पवन और जलादि पदार्थों को पवित्र कर उस के साथ पृथिवी पर आ और सब हैं—॥ २६ ॥

---

१ सुव्यस्थितयेति भावः ।

२ यज्ञ सब कामनाओं का पूरा करनेवाला है, अतः यज्ञ का सेवन अवश्य करना चाहिये, सो दर्शाते

* 'यज्ञमनुष्ठीयमानान् सुरभियुक्तान्' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

प्रकार के रोगों को निवृत्त कर के सब प्राणियों को आनन्द देते हैं, इस कारण सब मनुष्यों को इस यज्ञ का सदा सेवन करना चाहिये ॥ २६ ॥

प्राणायेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । यज्ञपतिर्देवता । प्राणायेत्यस्य व्यानायेत्यस्य चासुर्य्यनुष्टुप्, उदानायेत्यस्यासुर्य्युष्णिक्, वाचे म इत्यस्य साम्नी गायत्री, क्रतूदक्षाभ्यामित्यस्यासुरी गायत्री, श्रोत्राय म इत्यस्यासुर्य्यनुष्टुप्, चक्षुर्भ्यामित्यस्य चासुर्य्युष्णिक् छन्दांसि । अनुष्टुभो गान्धारः, गायत्र्याः षड्जः, उष्णिज ऋषभश्च स्वराः ॥

पुनरध्ययनाध्यापनाख्ययज्ञकर्त्तुर्विषयान्तरमाह[1] ॥

प्राणार्य मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानार्य मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानार्य मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २७ ॥

प्राणार्य । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । व्यानायेति विऽआनार्य । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । उदानायेत्युत् ऽ आनार्य । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । वाचे । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । क्रतूदक्षाभ्याम् । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । श्रोत्राय । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । चक्षुर्भ्यामिति चक्षुःऽभ्याम् । मे । वर्चोदसाविति वर्चःऽदसौ । वर्चसे । पवेथाम् ॥ २७ ॥

पदार्थः—(प्राणाय) प्राणिति जीवयतीति प्राणो हृदयस्थो वायुस्तस्मै (मे) मम (वर्चोदाः) यथायोग्यं प्रकाशं ददाति, तत्संबुद्धौ (वर्चसे) विद्याप्रकाशाय (पवस्व) पवित्रतया प्राप्नुहि (व्यानाय) सर्वशरीरगतवायवे (मे) मम (वर्चोदाः) दीप्तिप्रदो जाठराग्निरिव (वर्चसे) अन्नाय । वर्च इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ । (पवस्व) (उदानाय) (मे) मम (वर्चोदाः) वर्चो विद्याबलं ददातीति (वर्चसे) पराक्रमाय (पवस्व) (वाचे) वाण्यै (मे) मम (वर्चोदाः) सत्यवक्तृत्वप्रदः (वर्चसे) प्रागल्भ्याय (पवस्व) प्रवर्त्तस्व, (क्रतूदक्षाभ्याम्) प्रज्ञाबलाभ्याम् (मे) मम (वर्चोदाः) विज्ञानप्रदः (वर्चसे) शब्दार्थसंबन्धविज्ञानाय (पवस्व) उपदिश (श्रोत्राय) शब्दज्ञानाय (मे) मम (वर्चोदाः) तज्ज्ञानदः (वर्चसे) अध्ययनदीप्त्यै (पवस्व) प्रापको भव (चक्षुर्भ्याम्) (मे) मम (वर्चोदसौ) सूर्य्याचन्द्रमसाविवातिश्यव्यापकौ (वर्चसे) शुद्धसिद्धान्तप्रकाशाय (पवेथाम्) प्राप्नुतम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ६ । २ व्याख्यातः[3] ॥ २७ ॥

१ शरीरात्मबलवृद्ध्यै शिक्षायज्ञोऽत्यावश्यक इत्याह—
२ पवते गतिकर्मा इति निघ० २ । १४ ॥
३ मन्त्रोऽयं शतपथब्राह्मणे (श० ४ । ५ । ६ । २) व्यतिक्रमेण व्याख्यातो विनियुक्तश्च ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्राणाय) पचाद्यच्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे कृत्स्वरः ॥

(क्रतूदक्षाभ्याम्) उभे वनस्पत्यादिषु० (अ० ६ । २ । १४०) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरः । अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६ । ३ । १३७) इति दीर्घत्वम् ॥

(वर्चोदाः) अत्र छान्दसव्यत्ययेनामन्त्रितस्वराभाव इति ध्येयम् ॥

(वर्चोदसौ) वर्चउपपदात् ददातेः कसुन् छान्दसः । यद्वा भूरञ्जिभ्यां कित् (उ० ४ । २१७) इति 'असुन्', किच्च । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

अन्वयः—हे वर्चोदा अध्येतरध्यापक ! त्वं [मे] मम प्राणाय वर्चसे पवस्व । हे वर्चोदा [मे] मम व्यानाय वर्चसे पवस्व । हे वर्चोदा मे समोदानाय वर्चसे पवस्व । हे वर्चोदा मे मम वाचे वर्चसे पवस्व [हे वर्चोदा मे मम क्रतूदक्षाभ्यां वर्चसे पवस्व ।] हे वर्चोदा मे मम श्रोत्राय वर्चसे पवस्व । हे वर्चोदसौ युवां मे मम चक्षुर्भ्यां वर्चसे पवेथाम् ॥ २७ ॥

भावार्थः—यो मनुष्यो विद्यावृद्धये पठनपाठनरूपं यज्ञं कर्म करोति, स सर्वपुष्टिसंतुष्टिकरो भवत्यत एवं सर्वैरनुष्ठातव्यम् ॥ २७ ॥

फिर पठनपाठन यज्ञ के करनेवाले का विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (वर्चोदाः) यथायोग्यविद्या पढ़ने पढ़ाने रूप यज्ञकर्म करनेवाले आप (मे) मेरे (प्राणाय) हृदयस्थ जीवन के हेतु प्राण वायु और (वर्चसे) वेदविद्या के प्रकाश के लिये (पवस्व) पवित्रता से वर्त्तें । हे (वर्चोदाः) ज्ञान-दीप्ति के देनेवाले जाठराग्नि के समान आप (मे) मेरे (व्यनाय) सब शरीर में रहनेवाले पवन और (वर्चसे) अन्न आदि पदार्थों के लिये (पवस्व) पवित्रता से प्राप्त होवें । हे (वर्चोदाः) विद्याबल के देनेवाले आप (मे) मेरे (उदानाय) श्वास से ऊपर को आनेवाले उदान संज्ञक पवन और (वर्चसे) पराक्रम के लिये (पवस्व) ज्ञान दीजिये । हे (वर्चोदाः) सत्य बोलने का उपदेश करनेवाले आप (मे) मेरी (वाचे) वाणी और (वर्चसे) प्रगल्भता के लिये (पवस्व) प्रवृत्त हूजिये । [हे] (वर्चोदाः) विज्ञान देनेवाले आप (मे) मेरे (क्रतूदक्षाभ्याम्) बुद्धि और आत्मबल की उन्नति और (वर्चसे) अच्छे बोध के लिये (पवस्व) शिक्षा कीजिये । हे (वर्चोदाः) शब्दज्ञान के देनेवाले यज्ञपति आप (मे) मेरे (श्रोत्राय) शब्द ग्रहण करनेवाले कर्णेन्द्रिय के लिये (वर्चसे) शब्दों के अर्थ और सम्बन्ध का (पवस्व) उपदेश करें । हे (वर्चोदसौ) सूर्य और चन्द्रमा के समान अतिथि और पढ़ानेवाले आप दोनों (मे) मेरे (चक्षुर्भ्याम्) नेत्रों के लिये (वर्चसे) शुद्ध सिद्धान्त के प्रकाश को (पवेथाम्) प्राप्त हूजिये ॥ २७ ॥

भावार्थः—जो विद्या की वृद्धि के लिये पठनपाठन रूप यज्ञकर्म करनेवाला मनुष्य है, वह अपने यज्ञ के अनुष्ठान से सबकी पुष्टि तथा सन्तोष करनेवाला होता है, इससे ऐसा प्रयत्न सब मनुष्यों को करना उचित है ॥ २७ ॥

आत्मन इत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । यज्ञपतिर्देवता । ब्राह्मी बृहतीच्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह[2] ॥

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २८ ॥

---

१ शरीर और आत्मा के बल की वृद्धि के लिये शिक्षारूपी महायज्ञ की परमावश्यकता दर्शाते हैं—॥ २७ ॥

२ पूर्वोक्तमेवोपोद्बलयति—

आत्मने । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । ओजसे । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । आयुषे । मे । वर्चोदा इति वर्चःऽदाः । वर्चसे । पवस्व । विश्वाभ्यः । मे । प्रजाभ्य इति प्रऽजाभ्यः । वर्चोदसाविति वर्चःऽदसौ । वर्चसे । पवेथाम् ॥ २८ ॥

पदार्थः—(आत्मने) इच्छादिगुणसमवेताय स्वस्वरूपाय (मे) मम (वर्चोदाः) योगब्रह्मविद्याप्रद ! (वर्चसे) निजात्मप्रकाशाय (पवस्व) प्रापय (ओजसे) आत्मबलाय । ओज इति बलनामसु पठितम् । निघ० २ । ९ । (मे) मम (वर्चोदाः) विद्याप्रद ! (वर्चसे) योगबलप्रकाशाय (पवस्व) विज्ञापय (आयुषे) जीवनाय (मे) (वर्चोदाः) वर्चो बलं ददाति तत्सम्बुद्धौ (वर्चसे) रोगापहारकायौषधाय (पवस्व) गमय (विश्वाभ्यः) समस्ताभ्यः (मे) मम (प्रजाभ्यः) पालनीयाभ्यः (वर्चोदसौ) न्यायप्रकाशकौ सर्वाधिष्ठातारौ सभापतिन्यायाधीशाविव योगारूढयोगजिज्ञासू (वर्चसे) सद्गुणप्रकाशाय (पवेथाम्) प्रापयेथाम् ॥ [अयं मन्त्रः श० ४ । ५ । ६ । ३ व्याख्यातः][1] ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे वर्चोदा विद्वंस्त्वं मे ममात्मने वर्चसे पवस्व । हे वर्चोदा म ओजसे वर्चसे पवस्व । हे वर्चोदा मे ममायुषे वर्चसे पवस्व । हे वर्चोदसौ युवां मे मम विश्वाभ्यः प्रजाभ्यो वर्चसे पवेथाम् ॥ २८ ॥

भावार्थः—नैव योगेन विना कश्चिदपि पूर्णविद्यो भवति, न च पूर्णया विद्यया विना स्वात्मपरमात्मनोर्बोधः कथंचिज्जायते । नापि तेन विना सत्पुरुषवत् प्रजाः पालयितुं कश्चिदपि शक्नोति, तस्माद् योगविधिरयं सर्वजनैः संसेव्यः ॥ २८ ॥

फिर भी उक्त विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (वर्चोदाः) योग और ब्रह्मविद्या देनेवाले विद्वन् ! आप (मे) मेरे (आत्मने) इच्छादिगुणयुक्त चेतन के लिये (वर्चसे) अपने आत्मा के प्रकाश को (पवस्व) प्राप्त* कराइये । हे (वर्चोदाः) उक्त विद्या देनेवाले विद्वन् ! आप (मे) मेरे (ओजसे) आत्मबल होने के लिये (वर्चसे) योगबल को (पवस्व) जनाइये । हे (वर्चोदाः) बल देनेवाले ! (मे) मेरे (आयुषे) जीवन के लिये (वर्चसे) रोग छुड़ानेवाले औषध को (पवस्व) प्राप्त* कराइये । हे (वर्चोदसौ) योगविद्या के पढ़ने पढ़ानेवालो ! तुम दोनों (मे) मेरी (विश्वाभ्यः) समस्त (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (वर्चसे) सद्गुण प्रकाश करने को (पवेथाम्) प्राप्त कराया करो ॥ २८ ॥

भावार्थः—योगविद्या के बिना कोई भी मनुष्य पूर्ण विद्यावान् नहीं हो सकता, और न पूर्णविद्या के बिना अपने स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान कभी होता है, और न इसके बिना कोई न्यायाधीश सत्पुरुषों के समान प्रजा की रक्षा कर सकता है, इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस योगविद्या का सेवन निरन्तर किया करें ॥ २८ ॥

---

1 अयमपि मन्त्रः पूर्ववच्छतपथब्राह्मणे (श० ४ । ५ । ६ । ३) व्यतिक्रमेण विनियुक्तः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वर्चोदाः) अत्रापि पूर्ववन्निपाताभाव इति ध्येयम् ॥

(ओजसे) उब्जेर्बले बलोपश्च (उ० ४।१९२) इति 'असुन्', नित्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ पूर्वोक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं—॥ २८ ॥

* 'कीजिये' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

कोऽसीत्यस्य देवश्रवा ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः। भूर्भुवः स्वरित्यस्य भुरिक्साम्नी पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

सभापती राजा प्रजासेनासभ्यजनान् प्रति किं किं वदेदित्याह[1]॥

कोऽसि कतुमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥ २९॥

कः। असि। कतमः। असि। कस्य। असि। कः। नाम। असि॥ यस्य। ते। नाम। अमन्महि। यम्। त्वा। सोमेन। अतीतृपाम॥ *भूः। भुवः। स्वरिति स्वः। सुप्रजा इति सुऽप्रजाः। †प्रजाभिरिति प्रऽजाभिः। स्याम्। सुवीर इति सुऽवीरः। वीरैः। सुपोष इति सुऽपोषः। पोषैः॥ २९॥

पदार्थः—(कः) (असि) (कतमः) बहूनां मध्ये कः (असि) कस्य (असि) (कः) (नाम) ख्यातिः (असि) (यस्य) (ते) तव (नाम) (अमन्महि)‡ विजानीमहि, अत्र लिङर्थे लङ् बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति विकरणलुक् (यम्) (त्वा) त्वाम् (सोमेन) ऐश्वर्य्येण (अतीतृपाम) तर्प्पयाम[2] (भूः) भूमेः (भुवः) अन्तरिक्षस्य (स्वः) आदित्यलोकस्य (सुप्रजाः) सुष्ठुप्रजासहितः (प्रजाभिः) अनुकूलाभिः पालनीयाभिः सह (स्याम्) भवेयम् (सुवीरः) प्रशस्तवीरयुक्तः (वीरैः) शरीरात्मबलयुक्तैर्युद्धकुशलैः सह (सुपोषः) प्रशस्तपुष्टिः (पोषैः) पुष्टिभिः॥ [अयं मन्त्रः श० ४।५।६।४ व्याख्यातः][4]॥ २९॥

अन्वयः—सभ्यसेनास्थप्रजाजना वयं त्वं कोसि कतमोसि कस्यासि को नामासि किन्नाम्ना प्रसिद्धोऽसि यस्य ते तव नाम वयममन्महि, यं त्वा त्वां सोमेनातीतृपामेति पृच्छामो ब्रूहि। तान् प्रति सभापतिराह भूर्भुवः स्वर्लोकसुखमिवात्मसुखमभीप्सुरहं युष्माभिः प्रजाभिः सुप्रजाः वीरैः सुवीरः पोषैः सुपोषश्च स्यामिति प्रतिजाने॥२९॥

भावार्थः—सभापती राजा सत्यन्यायप्रियव्यवहारेण सभ्यसैन्यप्रजाजनानभिरक्ष्य वर्द्धयेत्, प्रबलतरवीरान् सेनासु संपादयेद्, यत उत्कृष्टसुखवर्द्धकेन राज्येन भूम्यादिसुखं प्राप्नुयादिति॥ २९॥

---

१ अधिकारादिप्रदानकाले राजा प्रजाजनान् प्रति कथं प्रतिजानीत इत्युपदिश्यते—

२ अन्नं वै सोमः। श० ३।९।१।८॥ तां० ६।६।१॥
यशो वै सोमः। श० ४।२।४।९॥

३ अत्र लोडर्थे लुङ्॥

४ अयमपि मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ४।५।६।४ व्यतिक्रमेण विनियुक्तो व्याख्यातश्च॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कतमः) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् (अ० ५।३।९३) इति डतमच्, चित्स्वरः॥ (अमन्महि, अतीतृपाम) उभयत्र यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे 'अट्'स्वरः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

* 'भूरिति भूः। भुवरिति भुवः' इत्यजमेरमुद्रिते ग. कोशे चापपाठः। द्र० य० ३।५, ३७॥
† 'प्रजाभिः' इत्येव द्विरुक्ति-अवग्रहरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते॥
‡ 'विजानीयाम' इति साम्प्रतिकानां मते स्यात्॥

समापति राजा, प्रजा, सेना और सभ्यजनों को क्या २ कहें, यही अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—सभा सेना और प्रजा में रहनेवाले हम लोग पूछते हैं कि तू (कः) कौन (असि) है, (कतमः) बहुतों के बीच कौन सा (असि) है, (कस्य) किसका (असि) है, (कः) क्या तेरा (नाम) नाम (असि) है । (यस्य) जिस (ते) तेरी (नाम) संज्ञा को (अमन्महि) जानें, और (यम्) जिस (त्वा) तुझको (सोमेन) धन आदि पदार्थों से (अतीतृपाम) तृप्त करें, *सो कहिये । उनसे सभापति कहता है—कि (भूः) भूमि (भुवः) अन्तरिक्ष और (स्वः) आदित्यलोक के सुख सदृश आत्मसुख की कामना करनेवाला मैं तुम (प्रजाभिः) प्रजालोगों के साथ (सुप्रजाः) श्रेष्ठप्रजावाला (वीरैः) तुम वीरों से (सुवीरः) श्रेष्ठ वीरयुक्त (पोषैः) पुष्टिकारक पदार्थों से (सुपोषः) अच्छा पुष्ट (स्याम्) होऊं, अर्थात् तुम सब लोगों से पृथक् न तो स्वतन्त्र मेरा कोई नाम और न कोई विशेष सम्बन्धी है [ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ] ॥ २९ ॥

भावार्थः—सभापति राजा को योग्य है कि सत्यन्याययुक्त प्रियव्यवहार से सभा, सेना और प्रजा के जनों की रक्षा करके उन सभों को उन्नति देवे और अतिप्रबल वीरों को सेना में रक्खे, जिससे कि बहुत सुख बढ़ानेवाले राज्य से भूमि आदि लोकों के सुख को प्राप्त होवे ॥ २९ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । आद्यस्य साम्नी गायत्री, द्वितीयस्यासुर्य्यनुष्टुप्, तृतीयचतुर्थपञ्चमानां साम्नी गायत्री, षष्ठस्यासुर्य्यनुष्टुप्, सप्तमाष्टमयोर्याजुषी पङ्क्तिर्नवमस्य साम्नी गायत्री, दशमस्यासुर्य्यनुष्टुप्, एकादशस्य साम्नी गायत्री, द्वादशस्यासुर्य्यनुष्टुप्, त्रयोदशस्यासुर्य्युष्णिक् छन्दांसि । अत्र गायत्र्याः षड्जः, अनुष्टुभो गान्धारः, पङ्क्तेः पञ्चमः, उष्णिज ऋषभश्च स्वराः ॥

पुनर्विषयान्तरेण तदेवाह[2] ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ मध॑वे त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसि॒ माध॑वाय त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसि शु॒क्राय॑ त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसि॒ शुच॑ये त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसि॒ नभ॑से त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसि न॒भ॒स्या॒य त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसी॒षे त्वो॑पया॒मगृ॑हीतोऽस्यू॒र्जे त्वो॑पया॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सह॑से त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसि स॒ह॒स्या॒य त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसि॒ तप॑से त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽसि त॒प॒स्या॒य त्वोपया॒मगृ॑हीतोऽस्यꣳहसस्प॒तये॑ त्वा ॥ ३० ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । मध॑वे । त्वा॒ । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒‡ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । माध॑वाय । त्वा॒ । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । शु॒क्राय॑ । त्वा॒ । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒‡ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । शुच॑ये । त्वा॒ । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । नभ॑से । त्वा॒ । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । न॒भ॒स्या॒य । त्वा॒ । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । इ॒षे । त्वा॒ । उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः ।

[1] अधिकारादि देने के समय राजा प्रजाजनों से कैसी प्रतिज्ञा करे, सो कहते हैं—॥ २९ ॥

[2] प्रजापुरुषाश्च कथमुत्तरेयुरित्युपदिश्यते—

* 'यह कह' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

असि । ऊर्जे । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । सहसे । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । सहस्याय । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । तपसे । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । तपस्याय । त्वा । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । अंहसस्पतये । अंहसःपतय इत्यंहसःऽपतये । त्वा ॥ ३० ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) सुनियमैस्स्वीकृतः (असि) (मधवे[1]) चैत्रमासाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (माधवाय[1]) वैशाखमासाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (शुक्राय[2]) ज्येष्ठाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (शुचये[2]) आषाढाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (नभसे[3]) श्रावणाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (नभस्याय[3]) भाद्राय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (इषे[4]) आश्विनाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (ऊर्जे[4]) कार्त्तिकाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (सहसे[5]) मार्गशीर्षाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (सहस्याय[5]) पौषाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (तपसे[6]) माघाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (तपस्याय[6]) फाल्गुनाय (त्वा) त्वाम् (उपयामगृहीतः) (असि) (अंहसस्पतये) सर्वेषां वेगस्य पालकाय (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । १ । १४–२३ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे राजन् ! यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मात् त्वा त्वां मधवे वयं स्वीकुर्म्मः । सभापतिराह—हे प्रजासभासेनाजना यतो युष्माकं प्रत्येक उपयामगृहीतोस्ति तस्मादेकैकं त्वा त्वाम् मधवेऽहं स्वीकरोमि, इत्थं सर्वत्र योजना कार्य्या ॥ ३० ॥

भावार्थः—सभापतिर्यथाकालं श्रेष्ठं राज्यं प्राप्याप्तव्यवहारेण प्रजाजनेभ्यः सर्वं सुखं दद्यात्, ते च राजाज्ञानुकूलव्यवहारे वर्त्तेरन्निति ॥ ३० ॥

---

१ एतौ (मधुश्च माधवश्च) एव वासन्तिकौ (मासौ) । स यद् वसन्त ओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनो हैतौ मधुश्च माधवश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १४ ॥

२ एतावेव (शुक्रश्च शुचिश्च) ग्रैष्मौ (मासौ) । स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति तेनो हैतौ शुक्रश्च शुचिश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १५ ॥

३ एतावेव वार्षिकावमुतो वै दिवो वर्षति तेनो हैतौ नभश्च नभस्यश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १६ ॥

४ एतावेव शारदौ (मासौ) स यच्छरद्यूर्ग्रस ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविषश्चोर्जश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १७ ॥

५ एतावेव हैमन्तिकौ (मासौ) स यद्धेमन्त इमाः प्रजाः सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हैतौ सहश्च सहस्यश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १८ ॥

६ एतावेव शैशिरौ (मासौ) स यदेतयोर्बलिष्ठं श्यायते तेनो हैतौ तपश्च तपस्यश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मधवे) फलिपाटि० (उ० १ । १८) इति 'उः' नित्त्वादाद्युदात्तः । ततो लुगकारेकाररेफाश्च (अ० ४ । ४ । १२८ भा० वा०) इति **मत्वर्थीयस्य यतो लुक्** ॥

(माधवाय) मधोर्ञ च (अ० ४ । ४ । १२९) **इति ञः, ञित्स्वरः** ॥

(शुक्राय) लुगकारेकाररेफाश्च (अ० ४ । ४ । १२८ भा० वा०) इति वचनाच्छुक्लशब्दाद् रेफः । यद्वा ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २ २८) इति रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । निपातनादन्तोदात्तः ॥

फिर भी विषयान्तर से वही उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे राजन् ! जिस से आप (उपयामगृहीतः) अच्छे २ राज्यप्रबन्ध के नियमों से स्वीकार किये हुए (असि) हैं, इससे (त्वा) आपको (मधवे) चैत्रमास को सभी के लिये अर्थात् चैत्रमास प्रसिद्ध सुख कराने-वाले व्यवहार की रक्षा के लिये हम लोग स्वीकार करते हैं । सभापति कहता है कि हे सभासदो तथा प्रजा वा सेनाजनो ! तुम में से एक २ (उपयामगृहीतः) अच्छे २ नियमों से स्वीकार किया हुआ (असि) है, इस लिये तुम को चैत्रमास के सुख के लिये, स्वीकार करता हूं । इसी प्रकार बारहों महीनों के यथोक्त सुख के लिये राजा राजसभासद् प्रजाजन और सेनाजन परस्पर एक दूसरे को स्वीकार करते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थः—सभाध्यक्ष राजा को चाहिये कि यथोचित समय को प्राप्त होकर श्रेष्ठ राज्य व्यवहार से प्रजाजनों के लिये सब सुख देता रहे और प्रजाजन भी राजा की आज्ञा के अनुकूल व्यवहारों में वर्त्ता करें ॥ ३० ॥

इन्द्राग्नी इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ राज्यव्यवहारे नियुक्ते कर्म्मणि प्रवर्तमानौ राजप्रजापुरुषौ प्रति कश्चित् सत्कारेणाह[2] ॥

इन्द्राग्नी ऽआगतꣳ सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा ॥ ३१ ॥

इन्द्राग्नी ऽइतीन्द्राग्नी । आ । गतम् । सुतम् । गीर्भिरिति गीःऽभिः । नभः । वरेण्यम् ॥ अस्य । पातम् । धिया । इषिता ॥ उपयामगृहीत + इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राग्निभ्यामितीन्द्राग्निऽभ्याम् + । त्वा । एषः । ते । योनिः । इन्द्राग्निभ्यामितीन्द्राग्नि ऽ भ्याम् । त्वा ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी[3]) सूर्य्याग्नी इव प्रकाशमानौ सभापतिसभासदौ (आगतम्) आगच्छतम् (सुतम्[4]) सुनुतम् । अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति विकरणस्य लुक् (गीर्भिः) सुशिक्षिताभिर्वाग्भिः (नभः) सुखम्, नभ इति साधारणनामसु पठितम् । निघ० १ । ४ (वरेण्यम्) (अस्य) नभसः, कर्म्मणि षष्ठी (पातम्) रक्षतम् (धिया) प्रज्ञया, कर्म्मणा वा (इषिता) प्रेषितौ प्रार्थितौ

(शुचये) इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) इति 'इन्', नित्स्वरः ॥

(नभसे) नहेर्दिवि भश्च (उ० ४ । २११) इति 'असुन्' । ततो लुगकारेकार० (अ० ४ । ४ । १२८ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन मत्वर्थीयस्य यतो लुक् ॥

(नभस्याय) मत्वर्थे मासतन्वोः (अ० ४ । ४ । १२८) इति यत् । तित् स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८८) इति स्वरितत्वम् ॥

(सहसे) (सहस्याय) (नभसे) (नभस्याय) पूर्ववत् ॥

(अंहसस्पतये) षष्ठ्याः पतिपुत्र० (अ० ८ । ३ । ५३) इति सत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ प्रजापुरुष कैसे उत्तर दें, सो दर्शाते हैं—॥ ३० ॥

२ राजानं तदधिकृतं पुरुषं प्रजापि प्रशंसतीत्याह—

३ ब्रह्मक्षत्रे वा इन्द्राग्नी ॥ कौ० १२ । ८ ॥

४ ऋ० ३ । १२ । १ द० भाष्ये 'पुत्रं विद्यार्थिनं वा' इति व्याख्यातं, य० ७ । ३३ चापि । अस्मिन् पक्षे तु प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तत्वं सिद्धम् ॥

+ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
य० ७९

वा (उपयामगृहीतः) (असि) (इन्द्राग्निभ्याम्) (त्वा) त्वाम् (एषः) राजन्यायः (ते) तव (योनिः) गृहम् (इन्द्राग्निभ्याम्) (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । १ । २४ व्याख्यातः[1] ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजनौ ! युवामिन्द्राग्नी इवागतं गीर्भिरस्मभ्यं वरेण्यं नभः सुतं धियेषिता युवामस्य नभसः पातं रक्षतम् । तावाहतुः—हे प्रजाजन ! त्वमुपयामगृहीतोसि त्वा त्वामिन्द्राग्निभ्यां स्वीकृतं वयं मन्यामहे, एष ते योनिरस्त्यतः (त्वा) त्वामिन्द्राग्निभ्यां चेतयामहे ॥ ३१ ॥

भावार्थः—नह्येकाकी पुमान् यथोक्तराज्यकर्म्म कर्तुं शक्नोति, अतः प्रजाजनान् सत्कृत्य राज्यकर्म्मणि नियोजयेत्, ते च यथोक्तव्यवहारेण तं राजानं सत्कुर्य्युरिति ॥ ३१ ॥

अब राज्य के व्यवहार से नियत राज्यकर्म में प्रवृत्त हुए राजा और प्रजा के पुरुषों के प्रति कोई सत्कार से कहता है, यह अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि के तुल्य प्रकाशमान सभापति और सभासद् ! तुम दोनों (आगतम्) आओ, मिलकर (गीर्भिः) अच्छी शिक्षायुक्त वाणियों से हमारे लिये (वरेण्यम्) श्रेष्ठ (नभः) सुख को (सुतम्) उत्पन्न करो, तथा (इषिता) + प्रेरणा किये हुए वा हमारी प्रार्थना को प्राप्त हुए तुम (धिया) अपनी बुद्धि वा राजशासन कर्म्म से (अस्य) इस सुख की (पातम्) रक्षा करो । वे राजा और सभासद् कहते हैं कि हे प्रजाजन ! तू (उपयामगृहीतः) प्रजा के धर्म्म और नियमों से स्वीकार किया हुआ (असि) है, (त्वा) तुझ को (इन्द्राग्निभ्याम्) उक्त महाशयों के लिये हम लोग वैसा ही मानते हैं, (एषः) यह राजनीति (ते) तेरा (योनिः) घर है, (इन्द्राग्निभ्याम्) उक्त महाशयों के लिये (त्वा) तुझ को हम चिताते हैं, अर्थात् राजशासन को प्रकाशित करते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थः—अकेला पुरुष यथोक्त राजशासन कर्म्म नहीं कर सकता, इस कारण श्रेष्ठ पुरुषों का सत्कार करके राजकार्य्यों में युक्त करे, वे भी यथायोग्य व्यवहार से इस राजा का सत्कार करें ॥ ३१ ॥

तिङ्पक्षे तु तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति तिङ उत्तरत्वात् अनुदात्तस्य प्राप्त्यभावात् सुनूधातोः तसि प्रत्ययस्वरेणैवान्तोदात्तत्वम् ॥

१ मन्त्रोऽयं भेदेन ऋ० ३ । १२ । १ पठितो व्याख्यातश्च ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इन्द्राग्नी) अजाद्यदन्तम् (अ० २ । २ । ३३) इति 'इन्द्र' शब्दस्य पूर्वनिपातः । षाष्ठिकामन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ॥

(वरेण्यम्) 'एण्य' प्रत्यये प्रत्ययस्वरप्राप्तौ वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् । 'एण्यन्' इति श्वेतवनवासी (उ० ३ । ९२) । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । पूर्वं ३ । ३५ अपि व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ राजा और उसके आधीन पुरुषों की प्रजाजन भी प्रशंसा करते हैं—॥ ३१ ॥

+ 'पढ़ाये हुए' इति अ० मु० पाठः ॥

आ घा ये अग्निमित्यस्य त्रिशोक ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। आद्यस्यार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥ उप [याम] इत्यस्यार्च्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथोक्तमर्थं प्रकारान्तरेणाह[1]॥

आ घा ये ऽअग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्। येषामिन्द्रो युवा सखा। उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा॥ ३२॥

आ। घ। ये। अग्निम्। इन्धते। स्तृणन्ति। बर्हिः। आनुषक्॥ येषाम्। इन्द्रः। युवा। सखा॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। अग्नीन्द्राभ्याम्। त्वा। एषः। ते। योनिः। अग्नीन्द्राभ्याम्। त्वा॥३२॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (घ) एव, अत्र ऋचि तुनुघ० [अ० ६। ३। १३३] इति दीर्घः (ये) वेदपारगा विद्वांसः (अग्निम्) विद्युदादिस्वरूपम् (इन्धते) प्रदीपयन्ति (स्तृणन्ति) यन्त्रैश्छादयन्ति (बर्हिः) अन्तरिक्षम् (आनुषक्[2]) अनुकूलतया (येषाम्) विदुषाम् (इन्द्रः) सकलैश्वर्य्यवान् सभापतिः प्रत्येकाङ्गपुष्टः (युवा) तरुणावस्थः (सखा) सुहृत् (उपयामगृहीतः) (असि) (अग्नीन्द्राभ्याम्[3]) सकलराज्यकर्म्मविचारविचक्षणाभ्यामग्नीन्द्रगुणयुक्ताभ्याम् (त्वा) त्वाम् (एषः) (ते) (योनिः) (अग्नीन्द्राभ्याम्) (त्वा) त्वाम्[4]॥ ३२॥

अन्वयः—ये वेदपारगा विद्वांसस्सभासदोऽग्निं घेन्धते। येषामानुषग्बर्हिरास्तृणन्ति, युवेन्द्रः सभापतिः सखास्ति, यस्त्वमग्नीन्द्राभ्यामुपयामगृहीतोसि, यस्य ते तवैष योनिरस्ति तं [त्वा] त्वां प्राप्ता वयमग्नीन्द्राभ्यां [त्वा] त्वामुपदिशामः॥ ३२॥

भावार्थः—राजधर्मे सर्वकर्म्मणः सभाधीनत्वाद् विचारसभासु प्रवृत्तेषु राजवर्गीयजनेषु द्वौ त्रयो बहवो वा सभासदः स्वविचारेण यमर्थं निष्पादयेयुस्तदनुकूला एव राजप्रजाजना वर्त्तेरन्॥ ३२॥

अब उक्त विषय को प्रकारान्तर से अगले मन्त्र में कहा है[5]॥

पदार्थः—(ये) जो वेदविद्यासंपन्न विद्वान् सभासद् (अग्निम्) विद्युत् आदि अग्नि (घ) ही को (इन्धते) प्रकाशित करते और (आनुषक्) × अपनी अनुकूलता से (बर्हिः) अन्तरिक्ष का (आ)

१ प्रागुक्तमुपोद्बलयति—

२ आनुषगिति नामानुकूल्यस्यानुषक्तं भवति॥ निरु० ६। १४॥

३ अजाद्यदन्तम् (अ० २।२।३३) इति छान्दसत्वाच्च प्रवर्त्तत इत्यग्निशब्दस्य पूर्वनिपातः॥

४ अव्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इन्धते) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८। १। ६६) इति निघाताभावः॥

(स्तृणन्ति) पादादित्वान्निघाताभावे सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते इति न्यायेन लसार्वधातुकस्वरः॥

(आनुषक्) आङ् अनुपूर्वात् सञ्जेः क्विप् च (अ० ३। २। ७६) इति क्विप्। अनिदितां हल० (अ० ६। ४। २४) इत्यनुनासिकलोपः। उपसर्गात् सुनोति० (अ० ८। ३। ६५) इति षत्वम्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

५ पूर्वोक्त अर्थ का ही उपपादन करते हैं—॥ ३२॥

× 'अनुक्रम अर्थात् यज्ञ के यथोक्त क्रम से' इति अ० मु० पाठः॥

(स्तृणन्ति) [[1]यन्त्रों द्वारा] आच्छादन करते हैं, तथा (येषाम्) जिनका (युवा) सर्वाङ्गपुष्ट, सर्वाङ्गसुन्दर सर्वविद्याविचक्षण, तरुण अवस्था और (इन्द्रः) सकलैश्वर्य्ययुक्त सभापति (सखा) मित्र है, [जो तू] (अग्नीन्द्राभ्याम्) [सम्पूर्ण राज्यकर्म के विचार में चतुर] अग्नि और सूर्य्य के समान प्रकाशमान [सभापति और] सभासदों से (उपयामगृहीतः) प्रजाधर्म से युक्त ग्रहण किया गया (असि) है, जिस (ते) तेरा (एषः) न्याययुक्त सिद्धान्त (योनिः) घर के सदृश है, उस (त्वा) तुझ को प्राप्त हुए हम लोग (अग्नीन्द्राभ्याम्) उक्त ÷ सभापति और सभासदों के लिये (त्वा) तुझ को उपदेश करते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थः—राजधर्म्म में सब काम सभा के आधीन होने से विचारसभाओं में प्रवृत्त राजवर्गी जनों में से दो तीन, वा बहुत सभासद मिल कर अपने विचार से जिस अर्थ को सिद्ध करें, उसी के अनुकूल राजपुरुष और प्रजाजन अपना वर्त्ताव रक्खें ॥ ३२ ॥

ओमास इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । आद्यस्यार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥
उपयाम इत्यस्यार्ची बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अध्यापकाध्येतॄणां परस्परं कर्त्तव्यमुपदिश्यते [2] ॥

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑ देवास॒ ऽआग॑त । दा॒श्वाꣳसो॑ दा॒शुषः॑ सु॒तम् ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ ऽए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॑ ॥ ३३ ॥

ओमा॑सः । च॒र्ष॒णी॒धृ॒तः॒ । च॒र्ष॒णि॒धृ॒त॒ इति॑ + चर्षणिऽधृतः । विश्वे॑ । दे॒वा॒सः॒ । आ । ग॒त॒ ॥ दा॒श्वाꣳसः॑ । दा॒शुषः॑ । सु॒तम् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । विश्वे॑भ्यः । त्वा॒ । दे॒वेभ्यः॑ । ए॒षः । ते॒ । योनिः॑ । विश्वे॑भ्यः । त्वा॒ । दे॒वेभ्यः॑ ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(ओमासः) अवन्ति सद्‌गुणै रक्षन्ति ते (चर्षणीधृतः) चर्षणयो मनुष्यास्तान् धरन्ति पोषयन्ति ते, अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घः (विश्वे) सर्वे (देवासः) विद्वांसः (आ) (गत) (दाश्वांसः) उत्कृष्टज्ञानं दत्तवन्तः, दाश्वान्साह्वान्० अ० ६ । १ । १२ इति निपातनम् (दाशुषः) दानशीलस्योत्तमजनस्य (सुतम्) सवति सत्कर्मानुष्ठानेनैश्वर्य्यं प्राप्नोति तं बालकम् (उपयामगृहीतः) अध्यापननियमैः स्वीकृतः (असि) (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (त्वा) त्वाम् × (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (एषः) विद्याशिक्षासंग्रहः (ते) तव (योनिः) कारणम् (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः(त्वा) त्वाम् ॥ [अयं मन्त्रः श० ४ । ३ । १ । २७ व्याख्यातः [3]] ॥३३॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ओमासः) अवतेः अविसिवि० (उ० १ । १४४) इत्यादिना कर्त्तरि मन् किच्च । ज्वरत्वर० (अ० ६ । ४ । २०) इत्यूठ्, क्विवेऽपि बाहुलकाद् गुणः । आजसेरसुक् (अ० ७ । १ । ५०) इत्यसुक् ॥

[1] अर्थात् यन्त्रों के द्वारा अन्तरिक्ष को आच्छादित करते हैं, उसमें यन्त्रों द्वारा गमनागमन करते हैं ॥

[2] पूर्वोक्तव्यवहारायाबाल्यादेव बालकबालिकाः शिक्षणीया इत्युपदिश्यते—

[3] अस्य मन्त्रस्य पूर्वभागो निरु० १२ । ४० व्याख्यातस्तत्र द्रष्टव्यः, स्कन्दभाष्यं चापि द्रष्टव्यम् ॥

÷ 'उक्त महापदार्थों के लिये' इति अ० मु० पाठः ॥ + अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

× इतोऽग्रे '(देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (ते) तव (एषः) विद्याशिक्षासंग्रहः (योनिः) कारणम्' इति व्यस्तः पाठोऽजमेरमुद्रिते । स च लेखकप्रमादपर इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे चर्षणीधृत ओमासो विश्वे देवासो यूयं दाश्वांसो दाशुषः सुतमागत, हे दाशुषः सुताध्येतस्त्वमुपयामगृहीतोसि। अतस्त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यस्तत्सेवनायाज्ञापयामि, यतस्त एष योनिरस्ति। अतस्त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यः शिक्षयामि ॥ ३३ ॥

भावार्थः—सर्वेषां विदुषां विदुषीणां च योग्यतास्ति [यत्ते] सर्वेभ्यो बालकेभ्यः कन्याभ्यश्चाहर्निशं विद्यादानं, राज्ञां धनिनां च पदार्थैः स्वजीविकां च कुर्य्युः। ते राजानो धनिनश्च विद्यासुशिक्षाभ्यां प्रवीणा भूत्वा स्वस्वाध्यापकेभ्यो विद्वद्भ्यो विदुषीभ्यश्च धनादिपदार्थान् दत्त्वा तेषां सेवनं कुर्य्युः। मातापितरावष्टवार्षिक [ान्] कुमारान् कुमारीश्च विद्याब्रह्मचर्य्यसेवनशिक्षाकरणाय विद्वद्भ्यो विदुषीभ्यश्च समर्पयेताम्! तेऽध्येतारो विद्याग्रहणे चेतो नित्यमभिदध्युस्तथाध्यापकाश्च विद्यासुशिक्षादाने नित्यं प्रयतेरन् ॥ ३३ ॥

पढ़ने और पढ़ानेवालों का परस्पर व्यवहार अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (चर्षणीधृतः) मनुष्यों की पुष्टि संतुष्टि करने और (ओमासः) उत्तम २ गुणों से रक्षा करनेहारो (विश्वे) समस्त (देवासः) विद्वानो! तुम (दाश्वांसः) उत्कृष्ट ज्ञान को देते हुए (दाशुषः) दान करनेवाले उत्तम जन का (सुतम्) जो अच्छे कर्मों के करने से ऐश्वर्य्य को प्राप्त होनेवाला बालक है उसको (आ + गत) ❀ सब ओर से प्राप्त होओ। हे उक्त दानशील पुरुष के पढ़नेवाले बालक! तू (उपयामगृहीतः) पढ़ाने के नियमों से ग्रहण किया हुआ (असि) है, इस लिये (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये अर्थात् उनकी सेवा करने को आज्ञा देता हूँ, जिस लिये (ते) तेरा (एषः) यह विद्या और अच्छी अच्छी शिक्षा का संग्रह होना (योनिः) कारण है, इस लिये (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) विद्वानों से विद्या और अच्छी २ शिक्षा दिलाता हूँ ॥ ३३ ॥

यद्वा आङ्पूर्वादवतेर्मनि आद् गुणः (अ० ६ । १ । ८७) इति गुणः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। यद्वाऽमन्त्रितस्वरेणाद्युदात्तः। अस्मिन् पक्षेऽवग्रहः प्राप्नोति। यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यमित्यदोषः ॥

यद्वा विविधव्युत्पत्तिसम्भवान्नावगृह्यत इत्यवधेयम्, यथा आशुशुक्षणीत्यादयः ॥

(चर्षणीधृतः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम् (अ० ८ । १ । ७४) इत्यविद्यमानवद्भावप्रतिषेधे निघातः ॥

यत्तु सायणः—"ननु अत एव विद्यमानवत्त्वात् सुबामन्त्रिते० (अ० २ । १ । २) इति पराङ्गवत्त्वेनैकपदीभावात् पदादपरत्वेन कथं निघात इति चेत्? न, तत्करणं स्वाश्रयमपि यथा स्यात् इति वचनात् पदभेदप्रयुक्तस्य निघातस्याप्युपपत्तेः। ऐकपद्येऽप्याद्युदात्तत्वे 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (अ० ६ । १ । १५८) इति सुतरामेव निघातो भविष्यति ॥" इत्याद्युक्तं (ऋ० १ । ३ । ७ भाष्ये)। तदयुक्तम्। सुबामन्त्रिते० (अ० २ । १ । २) इति सूत्रे 'आमन्त्रितस्य पराङ्गवद्भावे षष्ठ्यामन्त्रितकारकवचनम्', "तन्निमित्तग्रहणं वा" इत्युभयविधवार्त्तिकस्य भाष्यकारेण सिद्धान्तितत्वाद् नात्र पराङ्गवद्भावप्राप्तिप्रसङ्गः, कुत ऐकपद्यं कुतश्च निघातप्रतिषेध इति सुधियो विभावयन्तु ॥

(दाश्वांसः) दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च (अ० ६ । १ । १२) इति द्वित्वाभावो निपातितः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ पूर्वोक्त व्यवहार के लिये बाल्यकाल से ही बालक और बालिकाओं को शिक्षा दी जानी चाहिये, सो दर्शाते हैं—॥ ३३ ॥

❀ 'सम्मुख आओ' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—सब विद्वान् और विदुषी स्त्रियों की योग्यता है कि समस्त बालक और कन्याओं के लिये निरन्तर विद्यादान करें, राजा और धनी आदि लोगों के धन आदि पदार्थों से अपनी जीविका करें, और वे राजा आदि धनी जन भी विद्या और अच्छी शिक्षा से प्रवीण होकर अपने [अपने] पढ़ानेवाले विद्वान् वा विदुषी स्त्रियों को धन आदि अच्छे २ पदार्थों को देकर उनकी सेवा करें। माता और पिता आठ २ वर्ष के पुत्र वा आठ २ वर्ष की कन्याओं को विद्याभ्यास ब्रह्मचर्य्य सेवन और अच्छी शिक्षा किये जाने के लिये विद्वान् और विदुषी स्त्रियों को सौंप दें। वे भी विद्याग्रहण करने में नित्य मन लगावें और पढ़ानेवाले भी विद्या और अच्छी शिक्षा देने में नित्य प्रयत्न करें ॥ ३३ ॥

विश्वे देवास आगत इत्यस्य गृत्समद ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। आद्यस्यार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥ उपयाम इत्यस्य निचृदार्ष्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

अथ प्रत्यहमध्यापनविषयमाह[1] ॥

विश्वे देवास ऽआगत शृणुता म ऽइमꣳ हवम्। एदं बर्हिर्निषीदत।
उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य ऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥३४॥

विश्वे। देवासः। आ। गत। शृणुत। मे। इमम्। हवम् ॥ आ। इदम्। बर्हिः। नि। सीदत ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। विश्वेभ्यः। त्वा। देवेभ्यः। एषः। ते। योनिः। विश्वेभ्यः। त्वा। देवेभ्यः ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(विश्वे) सर्वे (देवासः) विद्वांसः (आ) (गत) आगच्छत (शृणुत) अत्र संहितायाम् [अ० ६। ३। ११४] इति दीर्घः (मे) मम विद्यार्थिनः (इमम्) वक्ष्यमाणम् (हवम्[2]) स्तुतिवादम् (आ) समन्तात् (इदम्) अस्माभिर्दत्तम् (बर्हिः[3]) उत्तममासनम् (नि) नितराम् (सीदत) आध्वम् (उपयामगृहीतः) (असि) (विश्वेभ्यः) समस्तेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) अध्यापकेभ्यः (एषः) सकलविद्यासंग्रहः (ते) तव (योनिः) गृहम् (विश्वेभ्यः) (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः[4]) ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे पूर्वमन्त्रप्रतिपादितगुणकर्म्मस्वभावा विश्वे देवासो यूयमस्माकं निकटमागत, अस्माभिर्दत्तमिदं बर्हिरासनमानिषीदत, मे ममेमं हवं शृणुत। गृहस्थाः स्वपुत्रादीन् प्रत्येवं ब्रूयुर्यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वा त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः प्रयच्छेम, ते तवैष योनिरस्ति, त्वा त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्योधिकां विद्यां दापयेम ॥ ३४ ॥

१ अध्यापनप्रक्रियामुपदिशति—

२ ह्वेञ्धातो रूपम्, तथा च यास्कनिर्वचनम् (निरु० १०। २) ॥

३ बर्हिरित्यन्तरिक्षनाम। निघ० ।१।३॥ आसनमित्यत्राभिप्रेयते ॥

४ अध्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हवम्) धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥
(बर्हिः) बृंहेर्नलोपश्च (उ० २। १०९) इति 'इसिः' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

भावार्थः—एके विद्वांसोऽन्वहं विद्यार्थिनः पाठयेयुरपरे विपश्चितो विद्वांसः प्रतिमासमध्येतॄणां परीक्षणं च कुर्युः । तत्कृत्वाऽध्यापकाः प्रतीततीव्रबुद्धीन् परिश्रमं कुर्वतोऽध्येतॄनतिश्रमेण पाठयेयुरिति ॥ ३४ ॥

अब प्रतिदिन पढ़ाने की योग्यता का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ।

पदार्थः—हे पूर्वमन्त्रप्रतिपादितगुणकर्मस्वभाव वाले (विश्वेदेवासः) समस्त विद्वान् लोगो ! आप हमारे समीप (आगत) आइये और हम लोगों के दिये हुए (इदम्) इस (बर्हिः) आसन पर (आनिषीदत) यथावकाश सुखपूर्वक बैठिये (मे) मेरो [(इमम्)] इस (हवम्) स्तुतियुक्त वाणी को (श्रृणुत) सुनिये । गृहस्थ अपने पुत्रादिकों के प्रति कहें कि हे पुत्र ! जिस कारण तू (उपयामगृहीतः) विद्वानों से ग्रहण किया हुआ (असि) है, इससे हम (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) अच्छे २ विद्या पढ़ानेवाले विद्वानों को सौंपें, जिस लिये (एषः) यह समस्त विद्याका संग्रह (ते) तेरा (योनिः) घर के तुल्य है, इस लिये (त्वा) तुझे (विश्वेभ्यः) (देवेभ्यः) समस्त उक्त महाशयों से विद्या दिलाना चाहते हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थः—विद्वान् लोगों को उचित है कि प्रतिदिन विद्यार्थियों को पढ़ावें और परम विद्वान् पण्डित लोग उनकी परीक्षा भी प्रत्येक महीने में किया करें । उस परीक्षा से जो तीक्ष्णबुद्धियुक्त परिश्रम करनेवाले प्रतीत हों, उनको अत्यन्त परिश्रम से पढ़ाया करें ॥ ३४ ॥

इन्द्र इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । +आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥ उपयाम इत्यस्यार्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ राजाऽध्यापनादिव्यवहाररक्षणं कथं कुर्यादित्युपदिश्यते[2] ॥

इन्द्र॑ मरुत्व ऽ इ॒ह पा॑हि॒ सोम॑ं॒ यथा॑ शार्या॒ते ऽ अपि॑बः सु॒तस्य॑ । तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्नावि॑वासन्ति क॒वयः॑ सु॒य॒ज्ञाः । उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ऽ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३५ ॥

इन्द्र॑ । म॒रुत्वः॒ । इ॒ह । पा॒हि॒ । सोम॑म् । यथा॑ । शा॒र्य्या॒ते । अपि॑बः । सु॒तस्य॑ ॥ तव॑ । प्रणी॑ती । प्रनी॒तीति॒ प्रऽनी॑ती । तव॑ । शू॒र॒ । शर्म॑न् । आ । वि॒वा॒स॒न्ति॒ । क॒वयः॑ । सु॒य॒ज्ञा इति॑ सु॒ऽय॒ज्ञाः ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑प॒या॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । म॒रुत्व॑ते । ए॒षः । ते॒ । योनिः॑ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । म॒रुत्व॑ते ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(इन्द्र) सर्वविघ्नविदारक सकलैश्वर्य्ययुक्तसम्राट् (मरुत्वतः) मरुतः प्रशस्ता धर्म्मसम्बद्धाः प्रजा यस्य तत्सम्बुद्धौ (इह) अस्मिन् संसारे (पाहि) रक्ष (सोमम्[3]) सकलगुणैश्व-

---

1 अध्यापनप्रक्रिया का निरूपण करते हैं—॥ ३४ ॥

2 राजा शिक्षकाः सदा माननीया इत्युपदिशति—

3 वर्चः सोमः ॥ श० ५ । २ । ५ । १ ॥ स (सोमः) तापमानो जायते ॥ श० ३ । ९ । ४ । २३ ॥

+ 'निचृदार्षी अनुष्टुप् छन्दः' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥

र्य्यकल्याणकर्म्माध्ययनाध्यापनाख्यं यज्ञम् (यथा) † (शार्याते) शर्य्याभिरङ्गुलिभिर्निर्वृत्तानि कर्म्माणि शार्य्याणि तान्यतति व्याप्नोति स शार्य्यातस्तस्मिन्। शर्य्या इत्यङ्गुलिनामसु पठितम्। निघ० २। ५। (अपिबः) (सुतस्य) (तव) (प्रणीती) प्रकृष्टां नीतिम्। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] इति पूर्वसवर्णादेशः (तव) (शूर) धर्म्मविरोधिहिंसक (शर्म्मन्) न्यायगृहे, अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] इति ङेर्लुक्। न ङिसम्बुद्ध्योः अ० ८। २। ८। इति नलोपाभावः (आ) (विवासन्ति) परिचरन्ति। विवासतीति परिचरणकर्म्मसु पठितम्। निघ० ३। ५। (कवयः) मेधाविनः, कविरिति मेधाविनामसु पठितम्। निघ० ३। १५। (सुयज्ञाः) शोभनोऽध्ययनाध्यापनाख्यो यज्ञो येषां त इव (उपयामगृहीतः) (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्य्याय (त्वा) त्वाम् (मरुत्वते) प्रजासम्बन्धाय, अत्र सम्बन्धे मतुप्[1], झयः [अ० ८। २। १०] इति मस्य वत्वम् (एषः) (ते) (योनिः) * (इन्द्राय) [परमैश्वर्याय] (त्वा) (मरुत्वते) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ३। ३। १३ व्याख्यातः[2] ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे मरुत्व इन्द्र ! त्वमिह यथा शार्य्याते सुतस्यापिबस्तथा सोमं पाहि, हे शूर ! तव शर्म्मन् न्यायगृहे सुयज्ञा इव कवयस्तव [प्रणीती] प्रणीतिमाविवासन्ति, यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मात् [त्वा] त्वामिन्द्राय मरुत्वते वयं सेवेमहि ते तवैष विद्याप्रचारो योनिरस्त्यतः [त्वा] त्वामिन्द्राय मरुत्वते सन्यामहे ॥ ३५ ॥

[अत्रोपमालंकारः] ॥

भावार्थः—सर्वेषां विदुषामुचितमस्ति [यत्ते] न्यायराजसभाज्ञां नोल्लङ्घेरन्, तथैते राजसभासभ्यजना अपि विद्वदाज्ञां नोल्लङ्घेरन्। यः सर्वोत्कृष्टस्तं सभापतिं कुर्य्युः। स सभापतिरुत्तमनीत्या सर्वराज्यप्रबन्धं कुर्य्यात् ॥ ३५ ॥

अब राजा पढ़ाने आदि व्यवहार की रक्षा किस प्रकार से करे, यह अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) सब विघ्नों को दूर करनेवाले सब सम्पत्ति से युक्त तेजस्वी (मरुत्वः) प्रशंसनीय धर्मयुक्त प्रजा पालनेहारे सभापति राजन् ! आप (इह) इस संसार में (यथा) जैसे (शार्याते) अपने हाथ पैरों के परिश्रम से निष्पन्न किये हुए व्यवहार में (सुतस्य) अभ्यास किये हुए विद्यारस को (अपिबः) पी चुके हो वैसे (सोमम्) समस्त अच्छे गुण ऐश्वर्य और सुख करनेवाले पठनपाठनरूपी यज्ञ को (पाहि) पालो। हे

---

१ भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ (अ० ५। २। ९४ भाष्ये) ॥

२ ऋ० ३। ५१। ७ स्वल्पभेदेन मन्त्रोऽयं पठितो व्याख्यातश्च ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(शार्याते) शर्याभिर्निर्वृत्तानि तेन निर्वृत्तम् (अ० ४। २। ६८) इत्यण्। ततोऽततेः पचाद्यच्। गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(प्रणीती) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६। २। ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। ततो द्वितीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णादेशे दीर्घत्वम् ॥

(सुयज्ञाः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६। २। १७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ राजा शिक्षकों का सदा मान करे, सो दर्शाते हैं ॥ ३५ ॥

---

† '(शार्याते)' इति ग कोशे उपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते प्रमादात् त्यक्त इति ध्येयम्।
* '(इन्द्राय)' इति ग कोशे पाठः, अजमेरमुद्रिते प्रमादत्यक्त इति ध्येयम् ॥

(शूर) धर्म्म-विरोधियों को दण्ड देनेवाले ! (तव) तुम्हारे (शर्म्मन्) राज्य घर में (सुयज्ञाः) अच्छे पढ़ने पढ़ाने वाले विद्वानों के समान (कवयः) बुद्धिमान् लोग (तव) तुम्हारी (प्रणीती) उत्तम नीति का (आविवासन्ति) सेवन करते हैं। हे शूर ! जिस कारण तुम (उपयामगृहीतः) प्रजापालनादि नियमों से स्वीकार किये हुए (असि) हो, इससे (त्वा) आपको (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य और (मरुत्वते) प्रजासम्बन्ध के लिये हम लोग चाहते हैं कि जो (ते) तेरा (एषः) यह विद्या का प्रचार (योनिः) घर के समान है, इससे (त्वा) तुम को (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य और (मरुत्वते) प्रजापालनसम्बन्ध के लिये मानते हैं ॥ ३५ ॥

[इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—सब विद्वानों को उचित है कि § न्यायाधीशों की न्याययुक्त सभा से जो आज्ञा हो, उसको कभी उलंघन न करें, †और वे राजसभा के सभासद् भी वेदज्ञ विद्वानों की आज्ञा को उलंघन न करें। जो सब गुणों से उत्तम हो, उसी को सभापति करें और वह सभापति भी उत्तम नीति से समस्त राज्य के प्रबन्धों को चलावे ॥ ३५ ॥

मरुत्वन्तमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥
उपयामेत्यस्य द्वितीयभागस्यार्षी, तृतीयस्य [च] साम्न्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनाराजप्रजाकृत्यमाह[१] ॥

मुरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रम्।
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳ सहोदामिह तꣳ हुवेम।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मुरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मुरुत्वते।
उपयामगृहीतोऽसि मुरुतां त्वौजसे ॥ ३६ ॥

मुरुत्वन्तम्। वृषभम्। वावृधानम्। ववृधानमिति ववृधानम्। ‡ अकवारिमित्यकवऽअरिम्। दिव्यम्। शासम्। इन्द्रम्॥ विश्वासाहम्। विश्वसहमिति विश्वऽसहम्। अवसे। नूतनाय। उग्रम्। सहोदामिति सहःऽदाम्। इह। तम्। हुवेम॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। इन्द्राय। त्वा। मरुत्वते। एषः। ते। योनिः। इन्द्राय। त्वा। मरुत्वते॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। मुरुताम्। त्वा। ओजसे॥ ३६॥

पदार्थः—(मरुत्वन्तम्) प्रशस्तप्रजायुक्तम् (वृषभम्) सर्वोत्तमम् (वावृधानम्) अतिशयेन शुभगुणकर्म्मसु वर्द्धमानम् (अकवारिम्) कौति धर्म्ममुपदिशतीति कवो न कवोऽकवोऽधर्म्मो-

१ विद्वांसो राजवरणकाले कथमुपदिशेयुरित्युच्यते—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अकवारिम्) कौतीति कवः, पचाद्यच्। कवा अरयो यस्य सः कवारिः, न कवारिः अकवारिः। तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः (द्र० तै० सं० भट्टभा० भा० २ पृ० ५१) ॥ षष्ठीसमासपक्षे तु छान्दसस्वरसिद्धिः ॥

(शासम्) पचाद्यचि चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

§ इतोऽग्रे 'जैसे' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
† 'वैसे' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
‡ 'अकवारिमित्यकवारिम्' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

त्सा तस्यारिः शत्रुस्तम् (दिव्यम्) शुद्धम् (शासम्) शासितारम् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवन्तम् (विश्वासाहम्) विश्वान् सर्वान् सहते तम् । अत्र विश्वपूर्वात् सहधातोः छन्दसि सहः अ० ३ । २ । ६३ इति ण्विः । अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६ । ३ । १३७] इति दीर्घश्च । (अवसे) रक्षणाद्याय (नूतनाय) नवीनाय (उग्रम्) प्रचण्डपराक्रमम् (सहोदाम्) यः सहो बलं ददाति तम् (इह) अस्यां प्रजायाम् (तम्) (हुवेम) स्वीकुर्वीमहि (उपयामगृहीतः) सर्वनियमोपनियमसामग्रीसहितः (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (मरुत्वते) प्रशंसितप्रजायुक्ताय (एषः) (ते) (योनिः) (इन्द्राय) (त्वा) (मरुत्वते) (उपयामगृहीतः) (असि) (मरुताम्) (त्वा) त्वाम् (ओजसे) बलाय ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ३ । १४ व्याख्यातः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—कवयो वयं नूतनायावसे मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं विश्वासाहमुग्रं सहोदां शासं तं पूर्वोक्तमिन्द्रं [इह] हुवेम । हे मुख्यसभासद् ! यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वा त्वां मरुत्वत इन्द्राय यतस्ते तवैष योनिरस्त्यतस्त्वा मरुत्वत इन्द्राय यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि तस्मात् मरुतामोजसे बलाय च त्वा त्वां हुवेम ॥ ३६ ॥

भावार्थः—अत्र पूर्वस्मात् मन्त्रात् (कवयः) इत्येतत् पदमनुवर्त्तते । प्रजाजनानां योग्यतास्ति यः सर्वोत्तमः सकलगुणयुक्तो विपश्चिच्छूरवीरो भवेत्, तं सभाया मुख्यकर्मणि संस्थापयेयुः, स सभायां नियुक्तः सत्यन्यायधर्मयुक्तराज्यकर्म्मणा प्रजाबलं वर्द्धयेत् ॥ ३६ ॥

फिर भी राजा और प्रजा को क्या करना चाहिये, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—(कवयः) पूर्वोक्त हम विद्वान् लोग (नूतनाय) नवीन २ (अवसे) रक्षा आदि गुणों के लिये (मरुत्वन्तम्) प्रशंसनीय प्रजायुक्त (वृषभम्) सबसे उत्तम (वावृधानम्) अत्यन्त शुभ गुण और कर्म्मों में उन्नति को प्राप्त (अकवारिम्) समस्त धर्म्मविरोधी दुष्टों का निवारण करनेवाले (दिव्यम्) शुद्ध (विश्वासाहम्) सर्वसहनशील (उग्रम्) प्रचण्ड पराक्रमयुक्त (सहोदाम्) सहायता (शासम्) और सबको शिक्षा देनेवाले (तम्) उस पूर्वोक्त(इन्द्रम्) परमैश्वर्य्य युक्त सभापति को निम्नलिखित प्रकार से [(इह) प्रजामें] (हुवेम) स्वीकार करें । हे मुख्य सभासद् राजन् ! तू जिस कारण (उपयामगृहीतः) समस्त बड़े २ और छोटे २ नियमों की सामग्री के सहित (असि) है, इससे (त्वा) तुझको (मरुत्वते) प्रशंसनीय प्रजायुक्त (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् सभापति होने के लिये स्वीकार करते हैं, (एषः) यह सभा में न्याय करने का काम (ते) तेरा (योनिः) घर के तुल्य है इससे (त्वा) तुझे (मरुत्वते) उत्तम प्रजा से युक्त (इन्द्राय) अत्यन्त ऐश्वर्य के पालन और वृद्धि होने के लिये स्वीकार करते हैं, और जिस कारण तू (उपयामगृहीतः) उक्त सब नियम और उपनियमों से संयुक्त (असि) है इससे (मरुताम्) प्रजाजनों का (ओजसे) बल बढ़ाने के लिये (त्वा) तुझे ग्रहण करते हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पिछले मन्त्र से (कवयः) इस पद की अनुवृत्ति आती है । प्रजाजन को योग्य है कि जो सर्वोत्तम, समस्त विद्याओं में निपुण, सकलशुभगुणयुक्त विद्वान्, शूरवीर हो उसको सभा के मुख्य काम में स्थापन करें, और वह सभा के सब कामों में स्थापित किया हुआ सभापति सत्यन्याययुक्त धर्म्म कार्य्य से प्रजा के उत्साह की उन्नति करे ॥ ३६ ॥

(सहोदाम्) उत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥ सो कहते हैं—॥ ३६ ॥
इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ विद्वान् राजा के निर्वाचन समय कैसा उपदेश करें,

सजोषा इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिर्देवता । आद्यस्य निचृदार्षी त्रिष्टुप्,
उपयामेत्यस्य प्राजापत्या त्रिष्टुप् छन्दसी । धैवतः स्वरः ॥

अथ सेनापतिकृत्यमाह[1] ॥

सजोषा॑ऽ इन्द्र॒ सग॑णो म॒रुद्भिः॒ सोमं॑ पिब वृत्र॒हा शू॑र वि॒द्वान् ।
ज॒हि शत्रूँ॑१ऽ रप॒ मृधो॑ नुदस्वा॒थाभ॑यं कृणुहि वि॒श्वतो॑ नः ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ऽ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३७ ॥

स॒जोषा॒ इति॑ *स॒ऽजोषाः॑ । इन्द्र॑ । सग॑ण॒ इति॒ सऽग॑णः । म॒रुद्भि॒रिति॑ म॒रुत्ऽभिः॑ । सोम॑म् । पि॒ब । वृ॒त्र॒हेति॑ वृत्र॒ऽहा । शू॒र॒ । वि॒द्वान् ॥ ज॒हि । शत्रू॑न् । अप॑ । मृधः॑ । नु॒द॒स्व॒ । अथ॑ । अ॒भ॒यम्॑ । कृ॒णु॒हि॒ । वि॒श्वतः॑ । नः॒ ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । म॒रुत्व॑ते । ए॒षः । ते॒ । योनिः॑ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । म॒रुत्व॑ते ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(सजोषाः) समानं जोषः प्रीतिर्यस्य सः† (इन्द्र) सर्वसुखधारक सेनापते ! (सगणः) गणेन स्वजनसेनापरिकरेण सहितः (मरुद्भिः) वायुभिरिव (सोमम्) सकलपदार्थरसम् (पिब) (वृत्रहा) यो वृत्रं मेघं हन्ति स वृत्रहा सूर्यस्तद्वत् (शूर) शत्रुविनाशक निर्भय (विद्वान्) सकलविद्यावेत्ता (जहि) विनाशय (शत्रून्) सत्यन्यायविरोधे प्रवर्त्तमानान् (अप) दूरीकरणे (मृधः[2]) मर्द्धन्ति उन्दन्ति परसुखैः स्वमनांसि ‡ येषु तान् संग्रामान् (नुदस्व) प्रेरय (अथ) अनन्तरम् (अभयम्) (कृणुहि) (विश्वतः) सर्वतः (नः) अस्मभ्यम् (उपयामगृहीतः) सेनासुनियमस्वीकृतः (असि) (इन्द्राय[3]) परमैश्वर्यप्रापकाय युद्धाय (त्वा) त्वाम् (मरुत्वते[4]) प्रशस्तानि मरुद्रूपाणि विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै (एषः) सेनाकृत्यव्यवहारः (ते) (योनिः) (इन्द्राय) त्वा (मरुत्वते)[5] ॥३७॥

अन्वयः—हे इन्द्र सेनापते शूर ! यतस्त्वमुपयामगृहीतोस्यतो मरुत्वत इन्द्राय त्वा त्वामुपदिशामि । किमित्यपेक्षायामाह ते तत्रैष योनिरस्त्यतः [त्वा] त्वां मरुत्वत इन्द्राय प्रयतमानमङ्गीकरोमि, सजोषाः सगणस्त्वं मरुद्भिर्वृत्रहा इव सोमं पिब, तं पीत्वा विद्वान् सन् शत्रून् जहि, अथ मृधोपनुदस्व, नोऽस्मभ्यं विश्वतोऽभयं कृणुहि ॥३७॥

अत्र [लुप्त] उपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा जीवः प्रेम्णा स्वस्य मित्रस्य वा शरीरस्य रक्षणं करोति, तथा राजा प्रजां पालयेत् । यथा वा सूर्य्यो वायुविद्युद्भ्यां संहत्य मेघान् निहत्य जलेन सर्वस्मै सुखं ददाति, तथा राजा युद्धसाधनानि सम्पाद्य शत्रून्निहत्य प्रजायै सुखं दद्यात्, धर्म्मात्मभ्योऽभयं दुष्टेभ्यो भयं च दद्यात् ॥ ३७ ॥

१ शिक्षासुपवर्ण्येदानीं प्रकृतं 'राजधर्मं' वर्णयन् 'दुष्टजनविनाशाय संग्राम आवश्यकः' इति कृत्वा सेनापतिशिक्षाप्रकारमाह—

२ मृध इति संग्रामनाम (निघ० २ । १७) ॥

३ इन्द्रायांहोमुचे ॥ तै० १ । ७ । ३ । ७ ॥

४ मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्षभाजनाः ॥ कौ० ७।८ ॥

५ अव्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मृधः) मृधिर्हिंसार्थ इति स्कन्दस्वामी (ऋ० ३।१४।१) तत्र क्विपि शसि रूपम् । धातुस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

* अवग्रहचिह्नरहितो ऽपपाठो अ० मुद्रिते ॥ † 'सः' इति हस्तलेखपाठो अ० मुद्रिते नास्ति ॥
‡ 'ये' इति ग. कोशे पाठः ॥

अब सेनापति का काम अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—ईश्वर कहता है कि हे (इन्द्र) सब सुखों के धारण करनेहारे (शूर) शत्रुओं के नाश करने में निर्भय [सेनापते]! जिस से तू (उपयामगृहीतः) सेना के अच्छे २ नियमों से स्वीकार किया हुआ (असि) है, इस से (मरुत्वते) जिस में प्रशंसनीय वायु की अस्त्रविद्या है, उस (इन्द्राय) परमैश्वर्य पहुंचानेवाले युद्ध के लिये (त्वा) तुझ को उपदेश करता हूँ, कि (ते) (एषः) यह सेनाधिकार (योनिः) इष्ट सुखदायक है, इस से (मरुत्वते) (इन्द्राय) उक्त युद्ध के लिये यत्न करते हुए [(त्वा)] तुझ को मैं अङ्गीकार करता हूँ, और (सजोषाः) सब से समान प्रीति करनेवाला (सगणः) अपने मित्र जनों के सहित तू (मरुद्भिः) जैसे पवन के साथ (वृत्रहा) मेघ के जल को छिन्न भिन्न करनेवाला सूर्य्य (सोमम्) समस्त पदार्थों के रस को खींचता है, वैसे सब पदार्थों के रस को (पिब) सेवन कर, और इस से (विद्वान्) ज्ञानयुक्त हुआ तू (शत्रून्) सत्यन्याय के विरोध में प्रवृत्त हुए दुष्टजनों का (जहि) विनाश कर (अथ) इसके अनन्तर (मृधः) जहां दुष्ट जन दूसरे के सुख से अपने मन को प्रसन्न करते हैं, उन संग्रामों को (अपनुदस्व) दूर कर और (नः) हम लोगों को (विश्वतः) सब जगह से (अभयम्) भयरहित (कृणुहि) कर ॥ ३७ ॥

इस मन्त्र में [लुप्त] उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे जीव प्रेम के साथ अपने वा मित्र के शरीर की रक्षा करता है, वैसे ही राजा प्रजा की पालना करे, और जैसे सूर्य्य वायु और बिजली के साथ [मिलकर] मेघ का भेदन कर जल से सबको सुख देता है, वैसे राजा को चाहिये कि युद्ध की सामग्री जोड़ और शत्रुओं को मार कर प्रजा को सुख, धर्मात्माओं को निर्भयता और दुष्टों को भय देवे ॥ ३७ ॥

मरुत्वानित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् [छन्दः], उपयामेत्यस्य प्राजापत्या त्रिष्टुप्छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ सभाध्यक्षोपदेशः क्रियते[2] ॥

मरुत्वाँ२ऽइन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय ।
आसिञ्चस्व जठरे मध्वऽऊर्मिं त्वꣳ राजासि प्रतिपत्सुतानाम् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥३८॥

मरुत्वान् । इन्द्र । वृषभः । रणाय । पिब । सोमम् । अनुस्वधम् । अनुस्वधमित्यनुऽस्वधम् । मदाय ॥ आ । सिञ्चस्व । जठरे । मध्वः । ऊर्मिम् । त्वम् । राजा । असि । प्रतिपदिति प्रतिऽपत् । सुतानाम् ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । मरुत्वते । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । मरुत्वते ॥३८॥

पदार्थः—(मरुत्वान्[3]) प्रशस्ता मरुतः प्रजाः सेना वा विद्यन्ते यस्य सः (इन्द्र) शत्रुजित् (वृषभः) शरीरात्मबलैश्वर्य्ययुक्तः (रणाय) संग्रामाय । रण इति संग्रामनामसु पठितम् । निघ० २ । १७ ।

१ शिक्षा का निरूपण करके अब प्रकृत राजधर्म का प्रतिपादन करते हुये "दुष्टों के विनाश के लिये संग्राम आवश्यक है" इस कारण सेनापति को कैसी शिक्षा दी जानी चाहिये, सो दर्शाते हैं ॥३७॥

२ दुष्टजनानां स्थितिः सार्वकालिकी, अवश्यम्भाविनी च, इत्यतः संग्रामोऽपि सार्वकालिकोऽवश्यम्भावी चेति सर्वेभ्यः प्राक् शरीरात्मबलवृद्धिरुपदेष्टव्येत्याह—

३ विशो वै मरुतो देवविशः ॥ श० २ । ५ । १ । १२ ॥

(पिब) अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः (सोमम्) सोमाद्योषधिसमूहम् (अनुष्वधम्) सर्वेषु पक्वान्नेष्वनुकूलम्, अत्र विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः समासः (मदाय) हर्षाय (आसिञ्चस्व) (जठरे) उदरे (मध्वः) † मधुरस्य (ऊर्मिम्[१]) लहरीम् (त्वम्) सभासेनापतिः (राजा) प्रकाशमानः (असि) (प्रतिपत्) पद्यते विचार्य्यते योऽर्थविषयः स पत्, ‡पदं पदं प्रतीति प्रतिपत् (सुतानाम्) सुसंस्कारेण निष्पादितानामन्नानाम् (उपयामगृहीतः) राजनियमैः स्वीकृतः (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यप्रापकाय रणाय (त्वा) (मरुत्वते) प्रशस्तानि मरुदस्त्राणि विद्यन्ते यत्र तस्मै (एषः) (ते) (योनिः) (इन्द्राय) राज्यैश्वर्य्याय (त्वा) (मरुत्वते) प्रजापालनसम्बद्धाय[२] ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तस्माद् वयं त्वा त्वां मरुत्वत इन्द्राय नियोजयामो यतस्ते तवैष योनिर [स्थ] स्ति तस्मात् त्वा त्वां मरुत्वत इन्द्राय ब्रूमः । किं तत् तदाह त्वं प्रतिपद्राजा प्रत्येककर्म्मणि प्रकाशमानो मरुत्वान् वृषभोऽहत्यतो रणायानुष्वधं मदाय सोमं पिब, सुतानामन्नानां मध्व ऊर्मिं जठर आसिञ्चस्व ॥ ३८ ॥

भावार्थः—❀ सभासेनापत्यादिमनुष्या उत्तमोत्तमान् पदार्थान् भुक्त्वा शरीरात्मबलं सम्पाद्य शत्रून् विजित्य न्यायव्यवस्थया सर्वान् पालयेयुरिति ॥ ३८ ॥

अब सभाध्यक्ष के लिये अगले मन्त्र में उपदेश किया है[३] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) शत्रुओं के जीतनेवाले सभापते ! जिस कारण आप (उपयामगृहीतः) राजनियमों से स्वीकार किये हुए (असि) हो, इसलिये हम लोग [(त्वा)] तुम को (मरुत्वते) जिस में अच्छे २ अस्त्रों और शस्त्रों का काम है, उस (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य को प्राप्त करानेवाले युद्ध के लिये युक्त करते हैं, जिस से

१ ऊर्मिरूर्णोतेः । नौः प्रणोतव्या भवति, नमतेर्वा ॥ निरु० ५ । २३ ॥

अर्त्तेरूच ॥ उ० ४।४४॥ ऋच्छति गच्छतीत्यूर्मिः । जलतरङ्गो वा ॥

२ अव्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रणाय) वशिरण्योरुपसंख्यानम् (अ० ३ । ३ । ५८ भा० वा०) इत्यप्, धातुस्वरः ॥

(अनुष्वधम्) अनोरप्रधानकनीयसी (अ० ६ । २ । १८९) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

यद्वा स्वधामनुगस्य वर्त्तमानं, अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति समासः । निरुदकादीनि च (अ० ६ । २ । १८४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(जठरे) जनेररष्ठ च (उ० ५ । ३८) इति 'अर' प्रत्ययः, ठश्चान्तादेशः, प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(ऊर्मिम्) 'मि'प्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(राजा) 'राजृ दीप्तौ' इत्यस्मात् कनिन् युवृषितक्षिराजि० (उ० १ । २५६) इति कनिन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(प्रतिपत्) छान्दसं पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ संसार में दुष्ट जन सदा बने रहते हैं, अतः संग्राम भी सर्वकाल में अवश्यम्भावी रहेगा, इस कारण सब से पहिले शरीर और आत्मा के बल की वृद्धि का उपदेश अवश्य करना चाहिये, सो कहते हैं—॥३८॥

† 'मधुरस्य' इति ग. पाठः, अजमेरमुद्रिते त्यक्त इति ध्येयम् ॥
‡ 'पतं पतं' इति अजमेरमुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥
❀ इतः पूर्वं 'अत्रोपमालङ्कारः' इति अ०मुद्रिते पाठः । स चापपाठ उपमाया अभावात् ॥

(ते) आप का (एषः) यह युद्ध परमैश्वर्य्य का (योनिः) कारण [(असि)] है, इस लिये (त्वा) तुम को (मरुत्वते) (इन्द्राय) उस युद्ध के लिये कहते हैं, कि [(त्वम्)] आप (प्रतिपत्) प्रत्येक बड़े २ विचार के कामों में (राजा) प्रकाशमान (मरुत्वान्) प्रशंसनीय प्रजायुक्त और (वृषभः) अत्यन्त श्रेष्ठ हो, इस से (रणाय) युद्ध और (मदाय) आनन्द के लिये (अनुष्वधम्) प्रत्येक भोजन में अनुकूल † (सोमम्) सोमलतादि पुष्ट करने वाली ओषधियों के रस को (पिब) पिओ (सुतानाम्) उत्तम संस्कारों से बनाये हुए अन्नों के (मध्वः) मधुर रसकी (ऊर्म्मिम्) लहरी को अपने (जठरे) उदर में (आसिञ्चस्व) अच्छे प्रकार स्थापन करो ॥ ३८ ॥

भावार्थः—‡ सभा और सेनापति आदि मनुष्यों को चाहिये कि उत्तम से उत्तम पदार्थों के भोजन से शरीर और आत्मा को पुष्ट और शत्रुओं को जीत कर न्याय की व्यवस्था से सब प्रजा का पालन किया करें ॥ ३८ ॥

महानित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । प्रजासेनापतिर्देवता । आद्यस्य भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥
उपयामेत्यस्य साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरः स्वगुणानाह[1] ॥

**म॒हाँ२ऽइन्द्रो॑ नृ॒वदा च॑र्षणि॒प्रा ऽ उ॒त द्वि॒बर्हा॑ ऽ अ॒मि॒नः सहो॑भिः ।
अ॒स्म॒द्र्य॑ग्वावृधे वी॒र्या॑यो॒रुः पृ॒थुः सुकृ॑तः क॒र्तृभि॑र्भूत् ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि म॒हेन्द्राय॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्म॒हेन्द्राय॑ त्वा ॥ ३९ ॥**

म॒हान् । इन्द्रः॑ । नृ॒वदिति॑ नृ॒ऽवत् । आ । च॒र्ष॒णि॒प्रा इति॑ चर्षणि॒ऽप्राः । + उ॒त । द्वि॒बर्हा॒ इति॑ द्वि॒ऽबर्हाः॑ । अ॒मि॒नः । सहो॑भि॒रिति॒ सहः॑ऽभिः ॥ अ॒स्म॒द्र्य॑क् । वा॒वृ॒धे । व॒वृ॒ध इति॑ ववृधे । वी॒र्या॑य । उ॒रुः । पृ॒थुः । सुकृ॑त॒ इति॑ सुऽकृ॑तः । क॒र्तृभि॒रिति॑ क॒र्तृऽभिः॑ । भू॒त् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । म॒हेन्द्रा॒येति॑ महाऽइ॒न्द्राय॑ । त्वा॒ । ए॒षः । ते॒ । योनिः॑ । म॒हेन्द्रा॒येति॑ महाऽइ॒न्द्राय॑ । त्वा॒ ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(महान्) सर्वोत्कृष्टः पूज्यतमश्च (इन्द्रः) अत्युत्कृष्टैश्वर्य्यः (नृवत्) न्यायशीलैर्मनुष्यैस्तुल्यः (आ) (चर्षणिप्राः) चर्षणीन् मनुष्यान् प्राति सुखैः प्रपूरयति सः (उत) अपि (द्विबर्हाः) द्वे बर्हसी व्यावहारिकपारमार्थिके वृद्धिकरे विज्ञाने यस्य सः । द्विर्बर्हा इति पदनामसु पठितम् । निघ० ४ । ३ । (अमिनः) अनुपमोऽतुलपराक्रमः । अमिनोऽमितमात्रो महान् भवत्यमितो वा । निरु० ६ । १६ । (सहोभिः) बलैः (अस्मद्र्यक्) अस्मानञ्चति, सर्वज्ञतया जानाति (वावृधे) वर्द्धते, वर्द्धयति वा (वीर्य्याय) पराक्रमाय (उरुः) बहुः (पृथुः) विस्तीर्णः (सुकृतः) शोभनं कृतं क्रियते येन सः (कर्त्तृभिः) सुकर्म्मकारिभिर्जीवैः सह (भूत्) भवति, अत्राडभावः (उपयामगृहीतः) योगाभ्यासेन स्वीकर्त्तुं योग्यः (असि) (महेन्द्राय) अनुत्तमायैश्वर्य्याय (त्वा) (एषः) (ते) (योनिः) (महेन्द्राय) (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ३ । १८ व्याख्यातः ॥ ३९ ॥

१. संग्रामादिषु प्रवर्त्तमाना अप्यन्तर्यामिनं जगदीश्वरं न विस्मरेयुरित्यत ईश्वरगुणानाह—

२ पूर्वं (य० ७ । १ पृ० ५७६) व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नृवत्) तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः (अ० ५ । १ ।११५) इति 'वति' प्रत्यये प्रत्ययस्वरः ॥

† 'अनुकूल' इति हस्तलेखपाठोऽजमेरमुद्रिते नास्ति ॥
‡ इतः पूर्वं ' इस मन्त्र में उपमालङ्कार है' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥
+ 'उतः' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्वयः—हे भगवन् जगदीश्वर ! यतस्त्वमुपयामगृहीतोसि, तस्मान्महेन्द्राय त्वा वयमुपास्महे, अपि यतस्ते तवैष योनिरस्ति, तस्मात् [त्वा] त्वां महेन्द्राय वयं सेवामहे। यो महान् नृवदाचर्षणिप्रा द्विबर्हा असमृद्ध् अमिन उरुः पृथुः कर्तृभिः सह सुकृत इन्द्रो भूत्, तमेवाश्रितः सर्वो जनः सहोभिः सह वीर्य्याय वावृधे ॥ ३९ ॥

अत्रोपमालंकारः ॥

भावार्थः—ईश्वरमनाश्रित्य कश्चिदपि पुरुषः प्रजाः पालयितुं न शक्नोति, यथेश्वरः शाश्वतं न्यायमाश्रित्य सर्वान् प्राणिनः सुखयति, तथैव राजापि सर्वान् तर्पयेत् ॥ ३९ ॥

अब ईश्वर अपने गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में करता है ॥

पदार्थः—हे भगवन् जगदीश्वर ! जिस कारण आप (उपयामगृहीतः) योगाभ्यास से ग्रहण करने के योग्य (असि) हैं, इससे (महेन्द्राय) अत्यन्त उत्तम ऐश्वर्य के लिये हम लोग (त्वा) आपकी उपासना करते हैं। (उत) और जिससे (ते) आपकी (एषः) यह उपासना हमारे लिये (योनिः) कल्याण का कारण है, इस से (त्वा) तुम को (महेन्द्राय) परमैश्वर्य पाने के लिये हम सेवन करते हैं, जो (महान्) सर्वोत्तम अत्यन्त पूज्य (नृवत्) मनुष्यों के तुल्य (आ) अच्छी प्रकार (चर्षणिप्राः) सब मनुष्यों को सुखों से परिपूर्ण करने (द्विबर्हाः) व्यवहार और परमार्थ के ज्ञान को बढ़ाने वाले दो प्रकार के ज्ञान से संयुक्त (असमृद्धक्) हम सब प्राणियों को अपनी सर्वज्ञता से जाननेवाले (अमिनः) अतुल पराक्रम युक्त †(उरुः) बहुत (पृथुः) विस्तारयुक्त (कर्तृभिः) अच्छे कर्म्म करनेवाले जीवों ने (सुकृतः) अच्छे कर्म्म करनेवाले के समान ग्रहण किये हुए और (इन्द्रः) अत्यन्त उत्कृष्ट ऐश्वर्य्य वाले आप [(भूत्)] हैं। उन्हीं का आश्रय किये हुए समस्त हम लोग (सहोभिः) अच्छे २ बलों के साथ (वीर्य्याय) परम उत्तम बल की प्राप्ति के लिये (वावृधे) दृढ़ उत्साहयुक्त होते हैं ॥३९॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—ईश्वर का आश्रय न करके कोई भी मनुष्य प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता। जैसे ईश्वर सनातन न्याय का आश्रय करके सब जीवों को सुख देता है, वैसे ही राजा को भी चाहिये कि प्रजा को अपनी न्यायव्यवस्था से सुख देवे ॥ ३९ ॥

(चर्षणिप्राः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अमिनः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६। २। १७२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(असमृद्धक्) अद्रिसध्र्योरन्तोदात्तवचनं कुत्स्वरनिवृत्त्यर्थम् (अ० ६। ३। ९५ भा० वा०) इति वार्त्तिकेनान्तोदात्तत्वे उदात्तस्वरितयोर्यणः० (अ० ८। २। ४) इति स्वरितत्वम् ॥

(पृथुः) प्राक् पृथुबुध्नशब्देन (अ० १। १४ पृ० ७८) व्याख्यातः ॥

(महेन्द्राय) समासस्य (अ० ६। १। २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ संग्रामादि में प्रवृत्त होते हुये भी अन्तर्यामी जगदीश्वर को न भुला दें, अतः ईश्वर के गुणों का निरूपण करते हैं— ॥ ३९ ॥

---

† '(उरुः) बहुत (पृथुः) विस्तारयुक्त' इति हस्तलेखपाठो ऽजमेरमुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

महाँ इन्द्र इत्यस्य वत्स ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । आर्षी गायत्रीच्छन्दः, उपयामेत्यस्य विराडार्षी गायत्रीच्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरीश्वरगुणा उपदिश्यन्ते[1] ॥

म॒हाँ२ऽ इन्द्रो॒ य ऽ ओज॑सा प॒र्जन्यो॑ वृष्टि॒माँ२ ऽ इ॑व । स्तोमै॑र्व॒त्सस्य॑ वावृधे । उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि म॒हेन्द्रा॑य त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्म॒हेन्द्रा॑य त्वा ॥ ४० ॥

म॒हान् । इन्द्रः॑ । यः । ओज॑सा । प॒र्जन्यः॑ । वृ॒ष्टि॒माँ२इ॒वेति॑ वृ॒ष्टि॒मा॒न्ऽइ॑व ॥ स्तोमैः॑ । व॒त्सस्य॑ । वा॒वृ॒धे । व॒वृ॒ध इति॑ ववृधे ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । म॒हेन्द्रा॒येति॑ + महाऽइ॒न्द्रा॑य । त्वा॒ । ए॒षः । ते॒ । योनिः॑ । × म॒हेन्द्रा॒येति॑ महाऽइ॒न्द्रा॑य । त्वा॒ ॥ ४० ॥

पदार्थः—(महान्) महागुणकर्मस्वभावः (इन्द्रः) अखिलैश्वर्य्यः (यः) (ओजसा) अनन्तबलेन (पर्जन्यः) मेघः (वृष्टिमाँ इव) बह्व्यो वृष्टयो विद्यन्ते यस्मिँस्तद्वत् (स्तोमैः) स्तुतिभिः (वत्सस्य) यो वदति तस्य (वावृधे) अत्यन्तं वर्द्धते (उपयामगृहीतः) यमनियमादिभिर्योगाङ्गैः साक्षात् स्वीकृतः (असि) (महेन्द्राय) योगजाय महैश्वर्य्याय (त्वा) त्वाम् (एषः) (ते) तव (योनिः) निमित्तम् (महेन्द्राय) मोक्षप्रापकाय महैश्वर्य्याय (त्वा) त्वाम्[2] ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे अनादिसिद्ध महायोगिन् सर्वव्यापिन्नीश्वर ! यतस्त्वं योगिभिरुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वा त्वां महेन्द्रायोपश्रयामहे, यतस्ते तवैष योगो योनिरस्त्यतस्त्वा त्वां महेन्द्राय वयं ध्यायेम । यो महान् वृष्टिमान् पर्जन्य इव वत्सस्य स्तोमैरोजसेन्द्रः सुखवर्षको भवति, तं विदित्वा योगी वावृधेऽत्यन्तं वर्द्धते ॥ ४० ॥

❀[अत्रोपमालङ्कारः]॥

भावार्थः—यथा मेघो वृष्टिसमये स्वजलसमूहेन सर्वान् पदार्थान् तर्पयन् सन् वर्द्धयति, तथैवेश्वरो योगाराधनतत्परं योगिनमभिवर्द्धयति ॥ ४० ॥

फिर भी ईश्वर के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

---

१ पूर्वोक्तमेव द्रढयति —
२ अव्याख्यातोऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पर्जन्यः) पर्जन्यः (उ० ३ । १०३) इति 'अन्य'प्रत्ययान्तो निपात्यते । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः । 'अर्जतेः पुगागमः' इति श्वेतवनवासी (पृ० १२२) ॥ 'पृणातेरन्यप्रत्ययो जुट् च' इति नारायणः (पृ० ७२) । 'पृषु सेचने षस्य जः' इति दीक्षितः उज्वलदत्तश्च (पृ० १२९) । वर्षतेः परिपूर्वस्य जकारादेशो निपात्यते, इकारलोपश्चोपसर्गस्य । गर्जतेश्च गकारेफोपसर्गान्तलोपो निपात्यत इति दशपादीवृत्तिकारः । तृपेराद्यन्तविपर्ययेण तकारलोपे च जन्यप्रत्ययान्तस्य रूपमिति निरुक्तसमुच्चयकारः(पृ०५६)॥

(वृष्टिमाँ इव) मन्त्रे वृषेषपचमन० (अ० ३ । ३ । ९६) इति क्तिन्, उदात्तवचनात् प्रत्ययस्वरः । ततो मतुपि ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६ । १ । १७६) इति मतुप उदात्तत्वम् । तत इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चेति समासस्वरः।

(वत्सस्य) वृतॄवदि० (उ० ३ । ६२) इति सः, प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ पूर्वोक्त की ही पुष्टि करते हैं—॥ ४० ॥

+ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठ ऽजमेरमुद्रिते । × 'म॒हेन्द्रा॑य' इत्येव द्विरुक्त्यवग्रहरहितो ऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
❀ 'अत्रोपमालङ्कारः' इति पाठोऽत्र त्यक्तः ॥

पदार्थः—हे अनादिसिद्ध योगिन् सर्वव्यापी ईश्वर ! जो आप योगियों के (उपयामगृहीतः) यम-नियमादि योग के अङ्गों से स्वीकार किये हुए (असि) हैं, इस कारण हम लोग (त्वा) आप का (महेन्द्राय) योग से प्रगट होनेवाले अच्छे ऐश्वर्य्य के लिये आश्रय करते हैं, (ते) आपका (एषः) यह योग हमारे कल्याण का (योनिः) निमित्त है, इस लिये (त्वा) आपका (महेन्द्राय) मोक्ष कराने वाले ऐश्वर्य्य के लिये ध्यान करते हैं। (यः) जो (महान्) बड़े २ गुण कर्म्म और स्वभाव वाला (वृष्टिमान्) वर्षनेवाले (पर्जन्यइव) मेघ के तुल्य (वत्सस्य) स्तुतिकर्त्ता की (स्तोमैः) स्तुतियों से (ओजसा) अनन्तबल के साथ [(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर] *सुख की वर्षा करता है, उस ईश्वर को जान कर योगी (वावृधे) अत्यन्त उन्नति को प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

† इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे मेघ वर्षासमय में अपने जल के समूह से सब पदार्थों को तृप्त करता हुआ उन्नति देता है, वैसे ईश्वर भी योगाभ्यास करने के समय में योगाभ्यास करनेवाले योगी पुरुष के योग को अत्यन्त बढ़ाता है ॥ ४० ॥

उदु त्यमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्य्यो देवता । भुरिगार्षी गायत्रीच्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ सूर्य्यदृष्टान्तेनेश्वरस्य गुणा उपदिश्यन्ते[1] ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य्यँ स्वाहा ॥ ४१ ॥

उत् । ऊँऽइत्यूँ । त्यम् । जातवेदसमिति जातऽवेदसम् । देवम् । वहन्ति । केतवः ॥ दृशे । विश्वाय । सूर्य्यम् । स्वाहा ॥ ४१ ॥

पदार्थः—(उत्) क्रियायोगे (उ) वितर्के (त्यम्) अमुम् (जातवेदसम्) जातानि भूतानि सर्वाणि वेद, जातान् मूर्त्तिमतः पदार्थान् विन्दत इति वा तम् । ‡इदं पदं यास्कमुनिरेवं निर्वक्ति जातवेदाः कस्माज्जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो जातविद्यो वा जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति । निरु० ७ । १९ (देवम्) दिव्यगुणसम्पन्नम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (केतवः) प्रज्ञानानि, केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघ० ३ । ९ (दृशे) द्रष्टुम् । दृशे विख्ये च । अ० ३ । ४ । ११ (विश्वाय) सर्वार्थाय (सूर्य्यम्) यः स्रियते +विज्ञायते विज्ञाप्यते वा ×विप्रैर्विद्वद्भिश्च तम् (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥

इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं व्याचष्टे उद्वहन्ति तं जातवेदसम् रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्य्यमिति कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत् । निरु० १२ । १५ ॥

अयं मन्त्रः शत० ४ । ६ । २ । २ व्याख्यातः ॥ ४१ ॥

१ दृष्टान्तभेदेन पूर्वोक्तमेव वर्णयति—

२ मन्त्रोऽयं ऋ० १ । ५० । १ भाष्ये पञ्चमहायज्ञविधौ चार्थभेदेनाचार्येण सुव्याख्यातस्तत्र तत्र द्रष्टव्यः ॥

* 'प्रकाशित होता है' इति अजमेरमुद्रितपाठः, स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥
† पाठोऽयं हस्तलेख उपलभ्यमानोऽपि अजमेरमुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥
‡ 'इमं मन्त्रं' इति अजमेरमुद्रितेऽपपाठः, स च लेखकप्रमादपरः ॥
+ 'विज्ञायते' इति म. पाठः ॥ × अत्र 'विदैर्विद्वद्भिश्च' इति अजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्वयः—यथा किरणा विश्वाय दृशे जातवेदसं त्यं सूर्य्यं देवमुद्वहन्त्येवं† विदुषः केतवः स्वाहाऽन्यान् मनुष्यान् परं ब्रह्म प्रापयन्ति ॥ ४१ ॥

‡ [अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥]

भावार्थः—यथा प्राणिभ्यः किरणाः सूर्य्यं प्रकाशयन्ति, तथा मनुष्यस्य प्रज्ञानानीश्वरं प्रापयन्ति ॥ ४१ ॥

इसके पीछे सूर्य को उपमा से ईश्वर के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—जैसे किरण (विश्वाय) समस्त जगत् के प्रयोजन के (दृशे) देखने जानने के लिये (जातवेदसम्) जो उत्पन्न हुये सब पदार्थों को जानता वा मूर्त्तिमान् पदार्थों को प्राप्त होता है (त्यम्) उस (सूर्य्यम्) (देवम्) दिव्यगुणसम्पन्न सूर्य्य को (उ) तर्क के साथ (उत्)(वहन्ति) प्राप्त कराते हैं, वैसे विद्वान् के (केतवः) प्रकृष्ट ज्ञान और (स्वाहा) सत्यवाणी का उपदेश मनुष्य को परब्रह्म की प्राप्ति करा देता है ॥ ४१ ॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—जैसे प्राणियों के लिये सूर्य्य के किरण उसको प्रकाशित करते हैं, वैसे मनुष्य की अनेक विद्यायुक्त बुद्धियाँ ईश्वर का प्रकाश करा देती हैं ॥ ४१ ॥

चित्रं देवानामित्यस्य कुत्स ऋषिः । सूर्य्यो देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनरित्थमेवेश्वरस्य गुणा उपदिश्यन्ते[2] ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥४२॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ॐ) उञ ऊँ (अ० १ । १ । १७) इति प्रगृह्यत्वमनुनासिकत्वं च ॥

(जातवेदसम्) पूर्वं य० ३ । २ पृ० २४१ व्याख्यातम् ॥

(वहन्ति) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(केतवः) चायः की (उ० १ । ७४) इति 'तुः', प्रत्ययस्वरः ॥

(दृशे) दृशे विख्ये च (अ० ३ । ४ । ११) इति केप्रत्ययान्तो निपातितः, प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ दृष्टान्तभेद से पूर्वोक्त का ही प्रतिपादन करते हैं ॥ ४१ ॥

२ उपर्युक्तमर्थमेव पोषयति—

---

† 'उद्वहन्तीव' इति अजमेरमुद्रिते पाठः ॥ ‡ तथैव यजुः ३३ । ३१ अपि द्रष्टव्यम् ।

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः ॥ आ । अप्राः । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । अन्तरिक्षम् । सूर्य्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च । स्वाहा ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(चित्रम्) अद्भुतम् (देवानाम्) चक्षुरादीनामिव विदुषाम् (उत्) उद्गमने (अगात्) प्राप्नोति (अनीकम्[1]) बलवत्तरं सैन्यमिव प्रसिद्धम् । अनिति जीवयति सर्वान् प्राणिनः सः, अनिहृषिभ्यां किच्च । उ० ४ । १७ अनेन ईकन् प्रत्ययः (चक्षुः) दर्शकम् (मित्रस्य[2]) सख्युः प्राणस्य वा (वरुणस्य[3]) श्रेष्ठस्योदानस्य वा (अग्नेः[4]) विद्युतः (आ) समन्तात् (अप्राः) यः प्राति पिपर्त्ति, अत्र लडर्थे लुङ् (द्यावापृथिवी) भूमिवियतौ (अन्तरिक्षम्) + सर्वान्तर्गतमनन्तमाकाशम् (सूर्य्यः) स्वयंप्रकाशः (आत्मा) अतति सर्वत्र व्याप्नोति (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य (च) जीवानां समुच्चये (स्वाहा) सत्यया क्रियया ॥

इमं मन्त्रं यास्कमुनिरेवं समाचष्टे—चायनीयं देवानामुदगमदनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चापूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन तेन सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च । निरु० १२ । १६ ॥

अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ४ । १० व्याख्यातः[5] ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या युष्माभिः सूर्यः स्वाहा देवानां मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चित्रमनीकं चक्षुरुदगात्, जगतस्तस्थुषश्चात्मा सन् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमाप्रा इव ❀ यो जगदीश्वरोऽस्ति स एव सततमुपासनीयः ॥ ४२ ॥

भावार्थः—यतः परमेश्वर आकाश इव सर्वत्र व्याप्तः, सवितेव स्वयम्प्रकाशः, प्राण इव सर्वान्तर्य्याम्यस्त्यतः सर्वेभ्यो जीवेभ्यः सत्यासत्यविज्ञापकोस्ति । यस्य परमेश्वरस्य ज्ञीप्सा भवेत् स योगमभ्यस्य स्वात्मन्येव तं द्रष्टुं शक्नोति, नान्यत्रेति ॥ ४२ ॥

फिर भी वैसे ही ईश्वर के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[6] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम को अति उचित है कि जो (सूर्य्यः) सविता (स्वाहा) सत्यक्रिया से (देवानाम्) नेत्र आदि के समान विद्वानों (मित्रस्य) मित्र वा प्राण (वरुणस्य) श्रेष्ठ पुरुष वा उदान और (अग्नेः) अग्नि के (चित्रम्) अद्भुत (अनीकम्) बलवत्तर सेना के तुल्य प्रसिद्ध (चक्षुः) प्रभाव के दिखलाने वाले गुणों को (उत्) (अगात्) अच्छे प्रकार प्राप्त होता और (जगतः) जङ्गम प्राणी [(च)] और (तस्थुषः) स्थावर संसारी पदार्थों का (आत्मा) आत्मा के तुल्य होकर (द्यावापृथिवी) आकाश तथा भूमि और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आ) सब प्रकार से (अप्राः) व्याप्त होने वाले के समान परमात्मा है, उसी की उपासना निरन्तर किया करो ॥ ४२ ॥

---

१ सेनाया वै सेनानीरनीकम् ॥ श० ५ । ३ । १ । १ ॥

२ प्राणो मित्रम् ॥ जै० उ० ३ । ३ । ६ ॥

३ व्यानो वरुणः ॥ श० १२ । ९ । १ । १६ ॥

४ मरुतोऽद्भिरग्निमतनयन् । तस्य तान्तस्य हृदयमच्छिन्दन् साशनिरभवत् ॥ तै० १ । १ । ३ । १२ ॥

५ (क) मन्त्रोऽयं ऋ० १ । ११५ । १ पञ्चमहायज्ञविधौ च व्याख्यातः, तत एव द्रष्टव्यः ॥

(ख) सम्यग् व्याख्यातश्च श० ७ । ५ । २ ।२७॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(तस्थुषः) प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

६ पहिले अर्थ की ही पुष्टि करते हैं—॥ ४२ ॥

+ 'सर्वं निर्गतमनन्तमाकाशम्' इति अ० मु० गकोशे च पाठः ॥

❀ इवशब्दयोगाद् 'अत्र लुप्तोपमालंकारः' इति भवितव्यम् ॥

भावार्थः—जिस कारण परमेश्वर आकाश के समान सब जगह व्याप्त, सूर्य्य के तुल्य स्वयम्प्रकाशमान और सूत्रात्मा वायु के सदृश सब का अन्तर्य्यामी है, इस से सब जीवों के लिये सत्य और असत्य को बोध कराने-वाला है। जिस किसी पुरुष को परमेश्वर को जानने की इच्छा हो, वह योगाभ्यास कर के अपने आत्मा में उसे देख सकता है, अन्यत्र नहीं ॥ ४२ ॥

अग्ने नयेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः। अन्तर्य्यामी जगदीश्वरो देवता। भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथैतदीश्वरप्रार्थनामाह[1] ॥

अग्ने नयं सुपथा राये ऽ अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्युस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा ॥ ४३ ॥

अग्ने। नय। सुपथेति सुऽपथा। राये। अस्मान्। विश्वानि। देव। वयुनानि। विद्वान्॥ युयोधि। अस्मत्। जुहुराणम्। एनः। भूयिष्ठाम्। ते। नमउक्तिमिति नमःऽउक्तिम्। विधेम। × स्वाहा॥ ४३॥

पदार्थः—(अग्ने) सर्वेषां प्रकाशक! (नय) प्रापय (सुपथा) योगमार्गेण (राये) योग-सिद्धये (अस्मान्) योगिनः (विश्वानि) अखिलानि (देव) योगप्रद! (वयुनानि) योगविज्ञानानि (विद्वान्) यो वेत्ति सर्वं योगं सः (युयोधि) वियोजय (अस्मत्) अस्माकं योगानुष्ठातॄणां सकाशात् (जुहुराणम्) अस्मदन्तःकरणस्य कौटिल्यम् (एनः) दुष्कृतात्मकमपराधम् (भूयिष्ठाम्) भूयसीम् (ते) तव योगोपदेष्टुः परमगुरोः (नमउक्तिं) नतिपुरःसरां स्तुतिम् (विधेम) कुर्य्याम (स्वाहा) सत्यया स्वकीयया वाचा, वेदवाचा वा॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ३। ४। १२ व्याख्यातः॥ ४३॥

अन्वयः—हे अग्ने! त्वं † सुपथा राये अस्मान् विश्वानि वयुनानि नय। यतो वयं स्वाहा ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम। हे देव विद्वांस्त्वं कृपया जुहुराणमेनश्चास्मद्युयोधि॥ ४३॥

भावार्थः—न कश्चिदपि पुरुषः परमात्मनः सत्यप्रेमभक्त्या विना योगसिद्धिं प्राप्नोति, यश्चेत्थम्भूतो योगबलेन परमेश्वरं स्मरति, तस्मै स दयालुः शीघ्रं योगसिद्धिं ददाति॥ ४३॥

अब ईश्वर की प्रार्थना अगले मन्त्र में कही है[3]॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सब के अन्तःकरण में प्रकाश करनेवाले परमेश्वर! आप (सुपथा) सत्यविद्या-धर्म्मयोगयुक्त मार्ग से (राये) योग की सिद्धि के लिये (अस्मान्) हम लोगों को (विश्वानि) समस्त (वयुनानि)

---

१ सङ्ग्रामेषु प्रवृत्ताः सदैव परं ब्रह्म ध्यायं ध्यायमेव तत्र प्रवर्त्तेरन्, इत्यत ईश्वरः कथं प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते—

२ मन्त्रोऽयं पूर्वं य० ५।३६ पृ० ४९३, ४९४ व्याख्यातः॥

३ संग्रामों में प्रवृत्त सदा ही परब्रह्म का ध्यान करते हुए युद्ध में प्रवृत्त रहें, अतः ऐसे समय में ईश्वर की प्रार्थना कैसे करनी चाहिये, सो दर्शाते हैं—॥ ४३॥

× पदमिदमजमेरमुद्रिते प्रमादात्त्यक्तम्॥ † 'सुपथा' इति मपाठोऽजमेरमुद्रिते प्रमादात्त्यक्तः॥

योग के विज्ञानों को (नय) पहुंचाइये, जिस से हम लोग (स्वाहा) अपनी सत्यवाणी वा वेदवाणी से (ते) आप की (भूयिष्ठाम्) बहुत (नमउक्तिम्) नमस्कारपूर्वक स्तुति को (विधेम) करें। हे (देव) योगविद्या को देनेवाले ईश्वर ! (विद्वान्) समस्त योग के गुण और क्रियाओं को जानने वाले आप कृपा करके (जुहुराणम्) हम लोगों के अन्तःकरण के कुटिलतारूप (एनः) दुष्ट कर्म्मों को (अस्मत्) योगानुष्ठान करनेवाले हम लोगों से (युयोधि) दूर कर दीजिये ॥ ४३ ॥

भावार्थः—कोई भी पुरुष परमात्मा की (सत्य) प्रेम भक्ति के बिना योगसिद्धि को नहीं प्राप्त होता और जो प्रेमभक्तियुक्त होकर योगबल से परमेश्वर का स्मरण करता है, उसको वह दयालु परमात्मा शीघ्र योगसिद्धि देता है ॥ ४३ ॥

अयमित्यस्याङ्गिरस ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

अथ संग्रामे ब्रह्मोपासकैः शूरवीरैः कथं योद्धव्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

अयं नो॑ऽ अ॒ग्निर्वरि॑वस्कृणोत्व॒यं मृधः॑ पु॒र ऽए॑तु प्रभि॒न्दन् ।
अ॒यं वाजा॒ञ्जयतु॒ वाज॑साताव॒यꣳ शत्रू॒ञ्जयतु॒ जर्हृ॑षाणः॒ स्वाहा॑ ॥ ४४ ॥

अ॒यम्। नः॒। अ॒ग्निः। वरि॑वः। कृ॒णो॒तु॒। अ॒यम्। मृधः॑। पु॒रः। ए॒तु॒। प्र॒भि॒न्दन्निति॑ प्रऽभि॒न्दन् ॥ अ॒यम्। वाजा॑न्। ज॒य॒तु॒। वाज॑साता॒विति॒ वाज॑ऽसातौ। अ॒यम्। शत्रू॑न्। ज॒य॒तु॒। जर्हृ॑षाणः। स्वाहा॑ ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(अयम्) सर्वाभिरक्षकः (नः) अस्माकम् (अग्निः) वैद्यविद्याप्रकाशकः सर्वरोगनिवारकः सद्वैद्यः (वरिवः) सुखकारकं सेवनम् (कृणोतु) करोतु (अयम्) मुख्ययोद्धा (मृधः) संग्रामात् (पुरः) पुरस्तात् (एतु) गच्छतु (प्रभिन्दन्) विदारयन् (अयम्) वक्तृत्वेनोपदेष्टुं कुशलो योद्धा (वाजान्[2]) वेगादिगुणयुक्तान् स्वसेनास्थान् वीरान् (जयतु) उत्कर्षतु (वाजसातौ) वाजानां संग्रामाणां संविभागे (अयम्) सर्वोत्कृष्टः (शत्रून्) धर्मशातकान् (जयतु) स्वोत्कर्षाय तिरस्करोतु (जर्हृषाणः) भृशमाह्लादितः (स्वाहा) वैद्यकयुद्धविद्यया शिक्षितया वाचा स्वाहेति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १। ११ ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ३। ४। १३ व्याख्यातः[3] ॥ ४४ ॥

अन्वयः— अयमग्निः स्वाहा वाजसातौ नो वरिवस्कृणोतु। अयं प्रभिन्दन् मृधः पुर एतु। अयं वाजान् जयतु। अयं जर्हृषाणः सन् शत्रून् जयतु ॥ ४४ ॥

भावार्थः—यदा युद्धकर्मणि चत्वारो वीरा अवश्यमेव भवेयुस्तेष्वेको वैद्यकक्रियाकुशलः सर्वरक्षकः, द्वितीयो हि शौर्य्यादिगुणप्रदेन व्याख्यानेन हर्षयिता, तृतीयः शत्रूणां तिरस्कर्ता, चतुर्थः शत्रुविघातुकः स्यात् तदा सर्वा युद्धक्रिया प्रशस्ता भवेत् ॥ ४४ ॥

---

१ स्वान्तःशत्रुविनाशक ईश्वरोपासक एव विजयत इति युद्धव्यवहारे कीदृशाः पुरुषा अपेक्ष्यन्त इत्यत आह—

२ वाज इति बलनाम ॥ निघ० २। ९ ॥ वीर्यं वै वाजाः ॥ श० ३। ३। ४। ७ ॥

३ देवताभेदेन, अन्वयार्थभेदेन च मन्त्रोऽयं पूर्वं य० ५। ३७ पृ० ४९५, ४९६ व्याख्यातः ॥

अब संग्राम में परमेश्वर के उपासक शूरवीरों को किस प्रकार युद्ध करना चाहिये,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—(अयम्) यह प्रथम (अग्निः) वैद्यकविद्या का प्रकाश करनेवाला वैद्य (स्वाहा) वैद्यक और युद्ध की शिक्षायुक्त वाणी से (वाजसातौ) युद्ध में (नः) हम लोगों का (वरिवः) सुखकारक सेवन (कृणोतु) करे (अयम्) यह दूसरा युद्ध करनेवाला मुख्य वीर (प्रभिन्दन्) शत्रुओं को विदीर्ण करता हुआ (मृधः) संग्राम के (पुरः) आगे (एतु) चले, (अयम्) यह तीसरा वीररसकारक उपदेश करनेवाला योद्धा (वाजान्) अत्यन्त वेगादिगुणयुक्त वीरों को (जयतु) उत्साहयुक्त करता रहे, (अयम्) यह चौथा वीर (जर्हृषाणः) निरन्तर आनन्दयुक्त (शत्रून्) धर्म्मविरोधी शत्रुजनों को (जयतु) जीते ॥ ४४ ॥

भावार्थः—जब युद्धकर्म्म में चार वीर अवश्य हों, उन में से एक तो वैद्यकशास्त्र की क्रियाओं में चतुर सब की रक्षा करनेहारा वैद्य, दूसरा सब वीरों को हर्ष देनेवाला उपदेशक, तीसरा शत्रुओं का अपमान करनेहारा और चौथा शत्रुओं का विनाश करनेवाला हो, तब समस्त युद्ध की क्रिया प्रशंसनीय होती है ॥ ४४ ॥

रूपेणेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । †विराड्जगतीच्छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ सभात्रयेण राज्यं शासनीयमित्युपदिश्यते[2] ॥

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु ।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्युन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः ॥४५॥

रूपेण । वः । रूपम् । अभि । आ । अगाम् । तुथः । वः । विश्ववेदा इति विश्वऽवेदाः । वि । भजतु ॥ ऋतस्य । पथा । प्र । इत । चन्द्रदक्षिणा इति ‡ चन्द्रऽदक्षिणाः । वि । स्वरिति स्वः । पश्य । वि । अन्तरिक्षम् । यतस्व । सदस्यैः ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(रूपेण) चक्षुर्ग्राह्येण प्रियेण (वः) युष्माकम् (रूपम्) स्वरूपम् (अभि) सम्मुखे (आ) समन्तात् (अगाम्) (तुथः) ज्ञानवृद्धः, अत्र तु गतिवृद्धिहिंसास्वित्यस्मादौणादिकस्थक् प्रत्ययः [उ० २ । ७] (वः) युष्मान् (विश्ववेदाः) यः परमात्मा विश्वं सर्वं वेत्ति तद्वद्वर्त्तमानः (वि) (भजतु) विभागं करोतु (ऋतस्य) सत्यस्य (पथा) मार्गेण (प्र) (इत) प्राप्नुत (चन्द्रदक्षिणाः) चन्द्रं सुवर्णं दक्षिणा दानं येषां ते । चन्द्रमिति हिरण्यनामसु पठितम् । निघ० १ । २ । (वि) (स्वः) उपतपन्नादित्य इव । स्वरादित्यो भवति । निरु० २ । १४ । (पश्य) प्रचक्ष्व (वि) विविधार्थे (अन्तरिक्षम्) क्षयरहितमन्तर्य्यामि स्वाभाविकं ब्रह्म[3] विज्ञानं वा । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्त-

१ अपने आन्तरिक शत्रुओं (काम-क्रोधादि) का विनाश करनेवाले ईश्वर-उपासक ही विजयी होते हैं, अतः युद्ध-व्यवहार में कैसे पुरुष चाहियें, सो दर्शाते हैं—॥ ४४ ॥

२ नहि प्रजानुमत्या विनैकाकी राज्यस्य शासनं कुर्यादिति परिषदावश्यकतां दर्शयति—

३ ब्रह्म वै तुथस्तदेना ब्रह्मणा विभजति ॥ श० ४ । ३ । ४ । १५ ॥

† 'निचृज्जगती छन्दः' इति अजमेरमुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥
‡ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

स्वमिति वा । निरु० २ । १० । (यतस्व) प्रयत्नं कुरु (सदस्यैः) सदसि भवैः सभ्यैर्जनैः सह ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ४ । १४–१८ व्याख्यातः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हे सेनाप्रजाजना यथाहं रूपेण वो युष्माकं रूपमभ्यागाम् तथा विश्ववेदा वो युष्मान् विभजतु, तुथस्त्वं स्वरिवर्त्तस्य पथान्तरिक्षं विपश्य, सभायां सदस्यैः सहर्तस्य पथा प्रयतस्व, चन्द्रदक्षिणा यूयमृतस्य धर्म्यं मार्गं वीत ॥ ४५ ॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः ॥]

भावार्थः—सभापती राजा स्वात्मजानिव प्रजासेनासभ्यपुरुषान् प्रीणयेत्, तथा पक्षपातरहितः परमेश्वर इव सततं न्यायं कुर्यात् । धार्मिकाणां सभ्यानां जनानां तिस्रः सभा भवेयुः । तास्वेका राजसभा–यया राजकार्याणि निष्पद्येरन् सर्वे विघ्ना निवर्त्तेरँश्च । द्वितीया विद्यासभा–यया विद्याप्रचारः स्यादविद्या नश्येत् । तृतीया धर्मसभा–यया धर्मोन्नतिरधर्महानिश्च सततं भवेत्, सर्वे स्वात्मानं परमात्मानं समीक्ष्या-न्यायमार्गात् पृथग्भूत्वा, धर्मं सेवित्वा, समयं पर्यालोच्य, सत्यासत्यनिर्णये प्रयतेरन् ॥ ४५ ॥

अब तीन सभाओं से राज्य ‡का शासन करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे सेना और प्रजाजनो ! जैसे मैं (रूपेण) अपने दृष्टिगोचर आकार से (वः) तुम्हारे (रूपम्) स्वरूप को (अभि) (आ) (अगाम्) प्राप्त होता हूँ । वैसे (विश्ववेदाः) सब को जाननेवाले परमात्मा के समान सभापति (वः) तुम लोगों को (वि) (भजतु) पृथक् २ अपने अपने अधिकार में नियत करे । हे सभापते (तुथः) सब से अधिक ज्ञानवाले प्रतिष्ठित आप (स्वः) प्रताप को प्राप्त हुए सूर्य्य के समान (ऋतस्य) सत्य के (पथा) मार्ग से (अन्तरिक्षम्) अविनाशी राजनीति वा ब्रह्मविज्ञान को (वि) अनेक प्रकार से (पश्य) देखो और सभा के बीच में (सदस्यैः) सभासदों के साथ सत्य मार्ग से (प्र) (यतस्व) विशेष २ यत्न करो तथा हे (चन्द्रदक्षिणाः) सुवर्ण के दान करनेवाले राजपुरुषो ! तुम लोग धर्म्म को (वीत) विशेषता से प्राप्त होओ ॥ ४५ ॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥]

भावार्थः—सभापति राजा को चाहिये कि प्रजा सेना के पुरुषों को अपने पुत्रों के तुल्य प्रसन्न रक्खे और परमेश्वर के तुल्य पक्षपात छोड़ कर न्याय करे । धार्म्मिक सभ्य जनों की तीन सभा होनी चाहियें । उनमें से एक राजसभा–जिसके आधीन राज्य के सब कार्य्य चलें और सब उपद्रव निवृत्त रहें । दूसरी विद्यासभा-जिससे विद्या का प्रचार अनेकविधि किया जावे और अविद्या का नाश होता रहे । और तीसरी धर्म्मसभा-जिससे धर्म्म की उन्नति और अधर्म्म की हानि निरन्तर की जाय । सब लोगों को उचित है कि अपने आत्मा और परमात्मा को देख

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(तुथः) 'तु गतिवृद्धिहिंसासु' सौत्रः, तस्माद् पातृतुदि० (उ० २ । ७) इति बाहुलकात् 'थक्', प्रत्ययस्वरः ॥

(चन्द्रदक्षिणा) स्फायितञ्चिवञ्चि० (उ० २ । १३) इति रक्, प्रत्ययस्वरः, पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 प्रजा की अनुमति के बिना एकाकी राजा राज्य का संचालन नहीं करे, इस लिये सभाओं की आवश्यकता का निरूपण करते हैं—॥ ४५ ॥

‡ 'राज्य की शिक्षा करनी' इति अ० मु० पाठः ॥

कर अन्याय मार्ग से अलग हों, धर्म्म का सेवन और सभासदों के साथ समयानुकूल अनेक प्रकार से विचार करके सत्य और असत्य के निर्णय करने में प्रयत्न किया करें ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणमित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । विद्वांसो देवताः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ दक्षिणा कस्मै कथं च दातव्येत्युपदिश्यते[1] ॥

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम् । अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणम् । अद्य । विदेयम् । पितृमन्तमिति पितृऽमन्तम् । पैतृमत्यमिति पैतृऽमत्यम् । ऋषिम् । आर्षेयम् सुधातुदक्षिणमिति सुधातुऽदक्षिणम् ॥ अस्मद्राता इत्यस्मत्ऽराताः । देवत्रेति देवऽत्रा । गच्छत । प्रदातारमिति प्रऽदातारम् । आ । विशत ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(ब्राह्मणम्[2]) वेदेश्वरविदम् (अद्य) (विदेयम्) अत्र छान्दसो वर्णलोपो वे[3]ति नलोपः (पितृमन्तम्) प्रशस्ताः पितरो रक्षकाः सत्यासत्योपदेशका विद्यन्ते यस्य तमिव (पैतृमत्यम्) पितृमतां ❀ भावं प्राप्तं (ऋषिम्[4]) वेदार्थविज्ञापकम् (आर्षेयम्) ऋषीणामिदं योगजं विज्ञानं प्राप्तम् (सुधातुदक्षिणम्) शोभना धातवो दक्षिणा यस्य दातुस्तम् (अस्मद्राताः) येऽस्मभ्यं रान्ति शुभान् गुणान् ददति ते (देवत्रा) देवेषु ‡ पवित्रगुणकर्मस्वभावेषु वर्त्तमानाः (गच्छत) प्राप्नुत (प्रदातारम्) प्रकृष्टतया दानशीलम् (आ) समन्तात् (विशत) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ४ । १९–२४ व्याख्यातः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे प्रजासभासेनाजना यथाहमद्य ब्राह्मणं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयं सुधातुदक्षिणं प्रदातारं च विदेयं,तथास्मद्राताः सन्तो यूयं देवत्रा गच्छत, शुभान् गुणानाविशत ॥ ४६ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—उत्साहितेन पुरुषेण किमाप्तुमशक्यमस्ति, को नाम खलु प्रयत्नेन विदुषः सेवित्वार्षं योगविज्ञानं साधितुन्न शक्नुयात् । नहि कश्चिदपि विद्वान् सद्गुणस्वभावग्रहणाद् विरज्येत,

१ सर्वे स्वकर्मसु योग्यतया पुरुषार्थेन च प्रयतमानाः पुरस्कारादिभिः सत्कार्या इत्युच्यते—

२ वेदाभ्यासात् ततो विप्रो ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः ॥ मनु ॥

३ अ० ८ । २ । २५ भा० वा० ॥

४ (क) साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः ॥ निरु० १ । २० ॥
(ख) "यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः" । अत्रैव शतपथब्राह्मणव्याख्याने (श० ४ । ३ । ४ । १९) ॥

❀ 'भावमेव' इति अ० मु० ग. कोशे च पाठः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ब्राह्मणः) तदधीते तद् वेद (अ० ४ । २ । ५९) इति 'अण्' । प्रत्ययस्वरः ॥

(पितृमन्तम्) ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् (अ० ६ । १ । १७६) इति मतुप उदात्तत्वम् ॥

(पैतृमत्यम्) वाङ्मतिपितृमतां छन्दसि ण्यः (अ० ४ । १ । ८५ भा० वा०) इति 'ण्यः', बाहुलकाद् भावे । प्रत्ययस्वरः ॥

‡ 'दिव्येषु' इति ग. पाठः ॥

नहि दातॄन् कार्पण्यं कदाचिदाविशत्यतो यैर्दक्षिणायां प्रशस्ताः पदार्थाः प्रदीयन्ते, तेषामतुला कीर्त्तिः कुतो न जायेत ॥ ४६ ॥

अब दक्षिणा किसको और किस प्रकार देनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे प्रजा सभा और सेना के मनुष्यो ! जैसे मैं (अद्य) आज (ब्राह्मणम्) वेद और ईश्वर को जाननेवाले (पितृमन्तम्) प्रशंसनीय पितृ अर्थात् सत्यासत्य के विवेक से [उपदेश करनेवाले] जिस के सर्वथा रक्षक हैं उस (पैतृमत्यम्) पितृभाव को प्राप्त (ऋषिम्) वेदार्थ विज्ञान करानेवाला ऋषि (आर्षेयम्) जो ऋषिजनों के इस योग से उत्पन्न हुए विज्ञान को प्राप्त (सुधातुदक्षिणम्) जिसके अच्छी अच्छी पुष्टिकारक दक्षिणारूप धातु हैं उस (प्रदातारम्) अच्छे दानशील पुरुष को (विदेयम्) प्राप्त होऊँ, वैसे तुम लोग (अस्मद्राताः) हमारे लिये अच्छे गुणों के देनेवाले होकर (देवत्रा) शुद्ध गुण कर्म स्वभाव युक्त विद्वानों के (गच्छत) समीप आओ और शुभ गुणों में (आविशत) प्रवेश करो ॥ ४६ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—उत्साही पुरुष को क्या नहीं प्राप्त हो सकता, कौन ऐसा पुरुष है कि जो प्रयत्न के साथ विद्वानों का सेवन कर ऋषि लोगों के प्रकाशित किये हुये योग विज्ञान को न सिद्ध कर सके। कोई भी विद्वान् अच्छे गुण कर्म्म और स्वभाव से विपरीत नहीं हो सकता और दाता जनों को कृपणता कभी नहीं आती है। इससे जो देनेवाले दक्षिणा में प्रशंसनीय पदार्थ सुपात्र धार्मिक सर्वोपकारक विद्वानों को देते हैं, उनकी अचल कीर्ति क्यों कर न हो ॥ ४६ ॥

अग्नये त्वेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । वरुणो देवता । आद्यस्य भुरिक्प्राजापत्या, रुद्राय त्वेत्यस्य स्वराट्प्राजापत्या, बृहस्पतये त्वेत्यस्य निचृदार्ची, यमाय त्वेत्यस्य विराडार्ची जगत्यश्छन्दांसि । निषादः स्वरः ॥

अथ कस्मै प्रयोजनाय दानं प्रतिग्रहणं च सेवितव्यमित्युपदिश्यते[2] ॥

अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्र ऽ एधि वयो मह्यं

(आर्षेयम्) इतश्चानिञः (अ० ४ । १ । १२२) इति ढक् । कितः (अ० ६ । १ । १६५) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(सुधातुदक्षिणम्) सुपूर्वाद् दधातेः सितनिगमि० (उ० १ । ६९) इति तुन् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे मध्योदात्तः, ततो बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(अस्मद्राताः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते छान्दसं पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(प्रदातारम्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अपने २ कर्त्तव्य कर्मों में योग्यता वा पुरुषार्थ से प्रवृत्त विद्वानों तथा अन्य जनों का पुरस्कारादि द्वारा अवश्य सत्कार होना चाहिये, सो दर्शाते हैं—॥ ४६ ॥

२ पूर्वोक्तस्य किं फलमित्याह—

प्रतिग्रहीत्रे बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सो ऽ मृतत्वमशीय त्वग्दात्र ऽ एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्रऽ एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

अग्नये । त्वा । मह्यम् । वरुणः । ददातु । सः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । अशीय । आयुः । दात्रे । एधि । मयः । मह्यम् । प्रतिग्रहीत्र इति + प्रतिऽग्रहीत्रे । रुद्राय । त्वा । मह्यम् । वरुणः । ददातु । सः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । अशीय । प्राणः । दात्रे । एधि । वयः । मह्यम् । प्रतिग्रहीत्र इति + प्रतिऽग्रहीत्रे । बृहस्पतये । त्वा । मह्यम् । वरुणः । ददातु । सः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । अशीय । त्वक् । दात्रे । एधि । मयः । मह्यम् । प्रतिग्रहीत्र इति प्रतिऽग्रहीत्रे । यमाय । त्वा । मह्यम् । वरुणः । ददातु । सः । अमृतत्वमित्यमृतऽत्वम् । अशीय । हयः । दात्रे । एधि । वयः । मह्यम् । प्रतिग्रहीत्र इति + प्रतिऽग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(अग्नये[1]) चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तम्ब्रह्मचर्य्यं संसेव्याग्निवत्तेजस्विभवाय (त्वा) वसुसंज्ञकमध्यापकम् (मह्यम्) (वरुणः) वरः सर्वोत्तमः प्रशस्तविद्योऽनूचानो विद्वानध्यापकः (ददातु) (सः) विद्यार्थी (अमृतत्वम्) क्रियासिद्धं नित्यं विज्ञानम् (अशीय) प्राप्नुयाम् (आयुः) अधिकं जीवनम् (दात्रे) विद्यादानशीलाय वरुणाय (एधि) वर्धयिता भव (मयः) सुखम्, मय इति सुखनामसु पठितम् । निघ० ३ । ६ । (मह्यम्) विद्यार्थिने (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रहकर्त्रे ❀स्वस्तु (रुद्राय) चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तम्ब्रह्मचर्य्यं सुसेव्य रुद्रगुणधारणाय (त्वा) रुद्राख्यमध्यापकम् (मह्यम्) विद्यार्जनतत्पराय (वरुणः) वरगुणप्रदः (ददातु) (सः) (अमृतत्वम्) †मुक्तिसाधनम् (अशीय) (प्राणः) योगसिद्धबलयुक्तः (दात्रे) (एधि) वर्द्धय (वयः) अवस्थात्रये सुखभोगं जीवनम् (मह्यम्) विद्याग्रहणप्रवृत्ताय (प्रतिग्रहीत्रे) अध्यापकादागताया विद्यायाः संवेत्रे (बृहस्पतये) अष्टचत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तं ब्रह्मचर्य्यं सेवित्वा बृहत्या वेदविद्यावाचः पालकाय (त्वा) पूर्णविद्याध्यापयितारम् (मह्यम्) पूर्णविद्यामभीप्सवे (वरुणः) (ददातु) (सः) (अमृतत्वम्) (अशीय) (त्वक्) स्पर्शेन्द्रियसुखम् (दात्रे) (एधि) (मयः) सुखविशेषम् (मह्यम्) (प्रतिग्रहीत्रे) (यमाय) गृहाश्रमजन्यविषयसेवनादुपरताय यमनियमादियुक्ताय (त्वा) सर्वदोषरहितमुपदेशकम् (मह्यम्) सत्यासत्ययोर्निश्चयकरणशीलाय (वरुणः) सत्योपदेष्टाप्तः (ददातु) (सः) (अमृतत्वम्) (अशीय) (हयः) ज्ञानवर्द्धनम्, हि गतिवृद्ध्योरित्यस्मादौणादिकोऽसुन् प्रत्ययः (दात्रे) (एधि) (वयः) चिरजीवनसुखम् (मह्यम्) सर्ववृद्धिं चिकीर्षवे (प्रतिग्रहीत्रे) ॥ अयं मन्त्रः श० ४ । ३ । ४ । २८–३१ व्याख्यातः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे वसुसंज्ञकाध्यापक ! यस्मा अग्नये मह्यं त्वा वरुणो ददातु, सोऽहं यदमृतत्वमशीय प्राप्नुयां तत्तस्मै दात्रे वरुणायायुश्चिरजीवनमेधि, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं शिष्याय मयः सुखं च । हे रुद्रसंज्ञकाध्यापक !

[1] स एषो (अग्निः) ऽत्र वसुः ॥ श० ९ । ३ । २ । ५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अमृतत्वम्) प्रत्ययस्वरः ॥

(दात्रे) उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(प्रतिग्रहीत्रे) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(बृहस्पतये) उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६ । २ । १४०) इति द्व्युदात्तत्वम् । पूर्वं अ० २ । १२ व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

\+ अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ ❀ 'स्वस्तु' इति सन्दिग्धः पाठः ॥

† 'मुक्तिसाधनम्' इति गपाठोऽजमेरमुद्रिते प्रमादत्यक्तः ॥

यस्मै रुद्राय मह्यं त्वा वरुणो ददातु, सोऽहं यदमृतत्वमशीय तत् तस्मै दात्रे वरुणाय प्राणस्त्वमेधि, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं वयोऽवस्थात्रयसुखं च । हे आदित्यनामाध्यापक ! यस्मै बृहस्पतये मह्यं त्वा वरुणो ददातु, सोऽहं यदमृतत्वमशीय, तत्तस्मै दात्रे वरुणाय त्वगिन्द्रियसुखं त्वमेधि, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं त्वा वरुणो ददातु, सोऽहं यदमृतत्वमशीय, तत्तस्मै दात्रे वरुणाय त्वगिन्द्रियसुखं त्वमेधि, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं [मयः] सुखं च । यस्मै जितेन्द्रिययमाय मह्यं त्वा वरुणो ददातु, सोऽहं यदमृतत्वमशीय, तत्तस्मै दात्रे वरुणाय हयो ज्ञानवर्द्धनं त्वमेधि, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं वयोऽवस्थात्रयसुखं च ॥ ४७ ॥

भावार्थः—सर्वेषां जनानां योग्यमस्ति [यत्] यः सर्वोत्कृष्टोऽनूचानो विद्वान् भवेत् तस्य सकाशादितरानध्यापकान् परीक्ष्य स्वस्वकन्याः पुत्रान् तत्तत्सदृशाध्यापकान् पाठयेयुः । अध्येतारश्च स्वस्वबुद्धिं न्यूनाधिकां ज्ञात्वा स्वस्वसदृशानध्यापकान् प्रीत्या सेवमानास्तेभ्यो नैरन्तर्य्येण विद्याग्रहणं कुर्य्युः ॥ ४७ ॥

अब किस प्रयोजन के लिये दान और प्रतिग्रह का सेवन करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे वसुसंज्ञक पढ़ानेवाले ! जिस (अग्नये) चौबीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य का सेवन कर के अग्नि के समान तेजस्वि होनेवाले (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) तुझ अध्यापक को (वरुणः) सर्वोत्तम विद्वान् (ददातु) देवे, (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) अपने शुद्ध कर्मों से सिद्ध किये सत्य आनन्द को (अशीय) प्राप्त होऊँ । उस (दात्रे) दानशील विद्वान् का (आयुः) बहुत कालपर्य्यन्त जीवन (एधि) बढ़ाइये, और (प्रतिग्रहीत्रे) विद्याग्रहण करनेवाले (मह्यम्) मुझ विद्यार्थी के लिये (मयः) सुख बढ़ाइये । हे दुष्टों को रुलानेवाले अध्यापक ! जिस (रुद्राय) चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम का सेवन करके रुद्र के गुण धारण करने की इच्छावाले (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) रुद्र नामक पढ़ानेवाले आपको (वरुणः) अत्युत्तमगुणयुक्त (ददातु) देवे (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) मुक्ति के साधनों को (अशीय) प्राप्त होऊँ, उस (दात्रे) विद्या देनेवाले विद्वान् के लिये (प्राणः) योगविद्या का बल (एधि) प्राप्त कराइये, और (प्रतिग्रहीत्रे) विद्याग्रहण करनेवाले (मह्यम्) मेरे लिये (वयः) तीनों अवस्था का सुख प्राप्त * कराइये । हे सूर्य्य के समान तेजस्वि अध्यापक ! जिस (बृहस्पतये) अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य सेवन की इच्छा करनेवाले (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) पूर्णविद्या पढ़ानेवाले आप को (वरुणः) पूर्णविद्या से शरीर और आत्मा के बलयुक्त विद्वान् (ददातु) देवे, (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) विद्या के आनन्द का (अशीय) भोग करूँ । उस (दात्रे) पूर्णविद्या देनेवाले महाविद्वान् के अर्थ (त्वक्) सरदी गरमी के स्पर्श का सुख (एधि) बढ़ाइये और (प्रतिग्रहीत्रे) पूर्णविद्या के ग्रहण करनेवाले (मह्यम्) मुझ शिष्य के लिये (मयः) पूर्णविद्या का सुख उन्नत कीजिये । हे गृहाश्रम से होनेवाले विषय सुख से विमुख विरक्त सत्योपदेश करनेहारे आप्त विद्वन् ! जिस (यमाय) गृहाश्रम के सुख के अनुराग से होनेवाले (मह्यम्) मेरे लिये (त्वा) सर्वदोषरहित उपदेश करनेवाले आप को (वरुणः) सकलशुभगुणयुक्त विद्वान् (ददातु) देवे (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) मुक्ति के सुखको (अशीय) प्राप्त होऊँ । उस (दात्रे) ब्रह्मविद्या देने वाले महाविद्वान् के लिये (हयः) ब्रह्मज्ञान की (एधि) वृद्धि कीजिये और (प्रतिग्रहीत्रे) मोक्ष विद्या के ग्रहण करनेवाले (मह्यम्) मेरे लिये (वयः) तीनों अवस्था के सुख को प्राप्त * कराइये ॥ ४७ ॥

भावार्थः—सब मनुष्यों को योग्य है कि जो सब से उत्तमगुण वाला सब विद्याओं में सब से बढ़कर विद्वान् हो, उसके आश्रय से अन्य अध्यापक विद्वानों की परीक्षा करके अपनी अपनी कन्या और पुत्रों को उन उन

---

1 पूर्वोक्त का क्या फल है, सो दर्शाते हैं—॥ ४७ ॥

---

* इतोऽग्रे 'कीजिये' इत्युभयत्र पाठः ॥

के पढ़ाने योग्य विद्वानों से पढ़वावें, और पढ़ने वालों को चाहिये कि अपनी अपनी अधिक न्यून बुद्धि को जान के अपने अपने अनुकूल अध्यापकों की प्रीतिपूर्वक सेवा करते हुए, उनसे निरन्तर विद्या का ग्रहण करें ॥ ४७ ॥

कोऽदादित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । आत्मा देवता । आर्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथेश्वरो जीवानुपदिशति[1] ॥

कोऽदात्कस्मा ऽ अदात् कामोऽदात् कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥ ४८ ॥

कः । अदात् । कस्मै । अदात् । कामः । अदात् । कामाय । अदात् ॥ कामः । दाता । कामः । प्रतिग्रहीतेति × प्रतिऽग्रहीता । काम । एतत् । ते ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(कः) (अदात्) कर्म्मफलानि ददाति (कस्मै) (अदात्) (कामः) † काम्यते यः परमेश्वरः (अदात्) ददाति (कामाय) कामयमानाय जीवाय (अदात्) ददाति (कामः) यः काम्यते सर्वैर्योगिभिः स परमेश्वरः (दाता) सर्वपदार्थप्रदायकः (कामः) जीवः (प्रतिग्रहीता) (काम) कामयते असौ तत्सम्बुद्धौ (एतत्) आज्ञापनम् (ते) त्वदर्थम् ॥ अयं मन्त्रः श० ४ । ३ । ४ । ३२ व्याख्यातः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता । हे काम जीव ते त्वदर्थमेतत् सर्वं मयाज्ञप्तमिति त्वं निश्चिनुहि ॥ ४८ ॥

भावार्थः—अस्मिञ्जगति कर्म्मकर्त्तारो जीवाः, फलप्रदातेश्वरोस्तीति विज्ञेयम् । नहि कामनया विना केनचित् चक्षुषो निमेषोन्मेषणङ्कर्त्तुं शक्यते, तत्सर्वैर्मनुष्यैर्विचारेण धर्म्मस्यैव कामना कार्य्या नेतरस्य वेतीश्वराज्ञास्ति ॥ अत्राह मनुः—कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता । काम्यो हि वेदाधिगमः कर्म्मयोगश्च वैदिकः ॥ अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४८॥

अस्मिन्नध्याये बाह्याभ्यान्तरव्यवहारो, मनुष्याणां परस्परं वर्त्तनमात्मकर्म्मात्मनि मनसः प्रवर्त्तनं, प्रथमकल्पाय योगिन ईश्वरोपदेशो जिज्ञासुं प्रति च, योगिकृत्यं तल्लक्षणमध्यापकशिष्यकर्म्म, योगविद्याभ्यासिनां कृत्यं, योगेनान्तःकरणशोधनं, योगाभ्यासिलक्षणं, शिष्याध्यापकव्यवहारः, स्वामि-

१ सर्वं एव व्यवहारः काममूलक इत्याह, "अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्" इति मनूक्तेः, निष्कामस्य व्यवहारे ऽनधिकारात्—

२ कामो हि दाता कामः प्रतिग्रहीता ॥ तै० २।२।५।६

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कामः) वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) आकृतिगणत्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

× अवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठो ऽजमेरमुद्रिते ॥

† 'कामयते' इति अ०मुद्रितेऽपपाठः ॥

सेवकक्कत्यं न्यायाधीशेन प्रजारक्षणप्रकारो, राजसभ्यजनकृत्यं, राजोपदेशकरणं, राजभिः कार्यं, परीक्ष्य सेनापतिकरणं, पूर्णविद्यस्य सभापतित्वाधिकारो, विद्वत्कृत्यमीश्वरोपासकोपदेशो, यज्ञानुष्ठातुर्विषयः, प्रजादीन् प्रति सभापतेर्वर्त्तनं, राजप्रजाजनसत्कारो ऽध्यापकाध्येतृणां परस्परं प्रवृत्तिः, प्रतिदिनं पठनविषयो, विद्यावृद्धिकरणं राज्ञः कर्त्तव्यं कर्म्म, सेनापतिकृत्यं, सभाध्यक्षक्रियेश्वरगुणवर्णनं, तत्प्रार्थना शूरवीरैर्युद्धानुष्ठानं, सेनास्थपुरुषकृत्यं,[सभात्रयेण राज्यशासनं, दक्षिणादानप्रकारः] ब्रह्मचर्य्यसेवनप्रकारः, ईश्वरस्य जीवान् प्रत्युपदेशश्चोक्तोऽत एतदध्यायार्थस्योक्तषष्ठाध्यायार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इति श्रीमत्परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतपरमविदुषा दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये सप्तमोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥ ७ ॥

अत्र अगले मन्त्र में ईश्वर जीवों को उपदेश करता है[१] ॥

पदार्थः—(कः) कौन कर्म्मफल को (अदात्) देता और (कस्मै) किसके लिये (अदात्) देता है । इन दो प्रश्नों के उत्तर (कामः) जिसकी कामना सब करते हैं वह परमेश्वर (अदात्) देता और (कामाय) कामना करनेवाले जीव को (अदात्) देता है । अब विवेक करते हैं कि (कामः) जिसकी योगीजन कामना करते हैं, वह परमेश्वर (दाता) देनेवाला है (कामः) कामना करनेवाला जीव (प्रतिग्रहीता) लेनेवाला है । हे (काम) कामना करनेवाले जीव (ते) तेरे लिये मैंने वेदों के द्वारा (एतत्) यह समस्त आज्ञा की है, ऐसा तू निश्चय करके जान ॥४८॥

भावार्थः—इस संसार में कर्म्म करनेवाले जीव और फल देनेवाला ईश्वर है । यहां यह जानना चाहिये कि कामना के विना कोई आंख का पलक भी नहीं हिला सकता, इस कारण जीव कामना करे, परन्तु धर्म्म-सम्बन्धी कामना करे, अधर्म्म की नहीं । यह निश्चय कर जानना चाहिये कि जो इस विषय में मनुजी ने कहा है, वह वेदानुकूल है जैसे—इस संसार में अति कामना करना प्रशंसनीय नहीं, और कामना के बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये धर्म्म की कामना करनी और अधर्म की नहीं, क्योंकि वेदों का पढ़ना पढ़ाना और वेदोक्त धर्म्म का आचरण करना आदि कामना इच्छा के विना कभी सिद्ध नहीं हो सकती । इस संसार में तीनों काल में इच्छा के विना कोई क्रिया नहीं दीख पड़ती, जो २ कुछ किया जाता है, सो २ सब इच्छा ही का व्यापार है, इसलिये श्रेष्ठ वेदोक्त कामों की इच्छा करनी, इतर दुष्ट कामों की नहीं ॥ ४८ ॥

इस अध्याय में बाहर भीतर का व्यवहार, मनुष्यों का परस्पर वर्त्ताव, आत्मा का कर्म्म, आत्मा में मन की प्रवृत्ति, प्रथम सिद्ध योगी के लिये ईश्वर का उपदेश, ज्ञान चाहनेवाले को योगाभ्यास करना, योग का लक्षण,

१ "मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच विकास का होना भी सर्वथा असम्भव है, इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ भी मनुष्य करता है; वह चेष्टा वा कामना के बिना नहीं है" मनु के इस वचन से, तथा कामना-रहित का व्यवहार में प्रवेश कहाँ, इस कारण सब व्यवहार काममूलक हैं, यह दर्शाते हैं—॥ ४८ ॥

पढ़ने पढ़ानेवालों की रीति, योगविद्या के अभ्यास करनेवालों का वर्त्ताव, योगविद्या से अन्तःकरण की शुद्धि, योगाभ्यासी का लक्षण, गुरु शिष्य का परस्पर व्यवहार, स्वामिसेवक का वर्त्ताव, न्यायाधीश को प्रजा के रक्षा करने की रीति, राजपुरुष और सभासदों का कर्म्म, राजा का उपदेश, राजाओं के कर्त्तव्य, परीक्षा करके सेनापति का करना, पूर्ण विद्वान् को सभापति का अधिकार देना, विद्वानों का कर्त्तव्य कर्म्म, ईश्वर के उपासक को उपदेश, यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाले का विषय, प्रजाजन आदि के साथ सभापति का वर्त्ताव, राजा और प्रजा के जनों का सत्कार, गुरु-शिष्य की परस्पर प्रवृत्ति, नित्य पढ़ने का विषय विद्या की वृद्धि करना, राजा को कर्त्तव्य, सेनापति का कर्म्म, सभाध्यक्ष की क्रिया, ईश्वर के गुणों का वर्णन उसकी प्रार्थना, शूरवीरों को युद्ध का अनुष्ठान, सेना में रहनेवाले पुरुषों का कर्त्तव्य, ब्रह्मचर्य्य सेवन की रीति [तीन सभाओं से कार्य चलाना, दक्षिणा देने का प्रकार], और ईश्वर का जीवों के प्रति उपदेश, इस वर्णन के होने से सप्तम अध्याय के अर्थ की षष्ठाध्याय के अर्थ के साथ संगति जानना चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां
शिष्येण परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतपरमविदुषा
दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते
संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते
सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
सप्तमोऽध्यायःपूर्त्ति-
मगात् ॥ ७ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥

अथाष्टमाध्यायस्यारम्भः ॥

अब आठवें अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है ॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ १ ॥

उपयाम इत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । बृहस्पतिस्सोमो देवता । आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

तस्य प्रथममन्त्रेण गृहस्थधर्माय ब्रह्मचारिण्या कन्यया कुमारो ब्रह्मचारी स्वीकरणीय इत्युपदिश्यते[1] ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्यादि॒त्येभ्य॑स्त्वा ।
विष्ण॑ ऽ उरुगा॒यै॒ष ते॒ सोम॒स्तꣳ र॑क्षस्व॒ मा त्वा॑ दभन् ॥ १ ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ + इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । आ॒दि॒त्येभ्य॑ः । त्वा॒ ॥ विष्णोऽइति॒ विष्णो॑ । उ॒रु॒गा॒येत्यु॑रुऽगाय । ए॒षः । ते॒ । सोम॑ः । तम् । र॒क्ष॒स्व॒ । मा । त्वा॒ । द॒भ॒न् ॥ १ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) शास्त्रनियमोपनियमा गृहीता येन सः (असि) (आदित्येभ्यः[2]) कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्येभ्योऽयैः[3] पुम्भ्यः (त्वा) त्वाम्, सेविताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्यम्

---

१ यज्ञरूपोऽयं पुरुषः, यज्ञरूपं चेदं मानवजीवनमिति हेतोर्यज्ञस्वरूपं प्रथमं निरूप्य तत्साधनसम्पत्तिप्रकारं चोपवर्ण्य, तत्र यज्ञेऽग्नेर्मुख्यतामुक्त्वा तद्गुणा उपपादिताः । ततो यज्ञफलं निदर्श्य, कर्मकलापमात्रे च शिक्षा राजव्यवस्था च निरूपिता षष्ठाध्याये । 'सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः' इति कृत्वा राजधर्मो ऽपि पूर्वस्मिन् (सप्तमे) अध्याये निरूपितः ॥

इदानीं 'तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही' (मनु० ३ । ७८) इति वचनाद् गृहाश्रमस्य सर्वप्रधानत्वात्, सर्वेषां वर्णाश्रमिणां गृहस्थस्यैवाश्रयभूतत्वात्, सर्वविधव्यवस्थानां च गृहाश्रमायैवोपयोगार्हत्वात्, अध्ययनाध्यापन-ज्ञान-सत्सङ्गति-सद्विचार-तपश्चर्यातितिक्षादीनां गृहाश्रम एव परीक्ष्यमाणत्वादस्मिन्नष्टमाध्याये गृहस्थधर्म उपदिश्यते । तत्र च—अधीतानेकविधविद्याः कृतगुरुगृहवासाः स्नातका ब्रह्मचारिणः स्नातिकाश्च ब्रह्मचारिण्य एव—

"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥" (मनु, ३।२) इत्यादिशास्त्रवचनैर्गृहाश्रमाधिकारिणो गृहाश्रमस्यारम्भका इति कृत्वा तेषां मिथो वरणप्रकारमाह—

२ एते खलु वावादित्या यद् ब्राह्मणाः ॥ तै० ब्रा० १ । १ । ९ । ८ ॥

भूमो एष देवानां यदादित्यः श० ॥ ६ । ६ । १ । ८ ॥

३ पञ्चमी विभक्ते (अ० २ । ३ । ४१) इति पञ्चमी ।

+ 'इत्युपयामगृहीतः' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

(विष्णो[1]) सर्वशुभविद्यागुणकर्मस्वभावव्याप्तप्रज्ञ ! (उरुगाय[2]) उरूणि बहूनि शास्त्राणि गायति पठति, तत्सम्बुद्धौ (एषः) प्रत्यक्षो गृहाश्रमः (ते) तव (सोमः) मृदुगुणवर्धकः (तम्) (रक्षस्व) (मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (दभन्) दभ्नुवन्तु, हिंसन्तु । अत्र लोडर्थे लुङ् [सिचो लुग्] अडभावश्च ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ५ । ६–८व्याख्यातः ॥१॥

अन्वयः—हे कुमार ब्रह्मचारिन् ! सेवितचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्याऽहं ब्रह्मचारिण्यहमादित्येभ्यः [त्वा] त्वामङ्गीकरोमि, त्वमुपयामगृहीतोऽसि, हे विष्णो ! ते तवैष सोमोऽस्ति तं त्वं [रक्षस्व] रक्ष । हे उरुगाय ! त्वा त्वां कामबाणा मा दभन् मा हिंसन्तु ॥ १ ॥

भावार्थः—सर्वासां[3] सेवितब्रह्मचर्याणां युवतीनां कन्यानामिदमवश्यमभीप्सितव्यम् [यत्] ताः स्वस्वसदृशरूपगुणकर्मस्वभावविद्यान्, बलाधिकान् स्वाभीष्टान् हृद्यान् पतीन् स्वयंवरविधिनोरीकृत्य परिचरेयुः । एवं ब्रह्मचारिभिरपि स्वतुल्ययुवत्यः स्त्रीत्वेनाङ्गीकर्त्तव्याः । एवं द्वाभ्यां सनातनो गृहस्थधर्मः पालनीयः । परस्परमत्यन्तं विषयभोगलोलुप[ता]वीर्यक्षयाः कदाचिन्न विधेयाः, किन्तु सदृतुगामिनौ सन्तौ दशसन्तानानुत्पाद्य तान् सुशिक्ष्यैश्वर्यमुन्नीय प्रीत्या रमेताम् । यथा इतरेतरस्मिन्नप्रसन्नता वियोगव्यभिचारादयो दोषा न भवेयुः, तथानुष्ठाय परस्परं सर्वथा सर्वदा रक्षा कार्य्या ॥ १ ॥

उसके प्रथम मन्त्र से गृहस्थ धर्म के लिये ब्रह्मचारिणी कन्या को कुमार ब्रह्मचारी का ग्रहण करना चाहिये, यह अगले मन्त्र में उपदेश किया है[4] ॥

पदार्थः—हे कुमार ब्रह्मचारिन् ! चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य सेवनेवाली मैं [ब्रह्मचारिणी] (आदित्येभ्यः) जिन्होंने अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य सेवन किया है उन सज्जनों* में से (त्वा) अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य सेवन करनेवाले आप को स्वीकार करती हूँ, आप (उपयामगृहीतः) शास्त्र के नियम और उपनियमों को ग्रहण करनेवाले (असि) हो । हे (विष्णो) समस्त श्रेष्ठविद्या गुण कर्म और स्वभाववाले श्रेष्ठजन ! (ते) आपका

---

१ अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः ॥ ऐ० १ । १ ॥ अग्निर्वै देवानामवरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यः ॥ कौ० ब्रा० ७ । १ ॥

तस्मादाहुर्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठ इति ॥ श० १४।१।१।५॥

२ प्राक् य० ५ । १८ पृ० ४६० व्याख्यातः ॥

३ अत्र सर्वत्र पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्य० (अ० २।२।११) सूत्रे 'ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्' इतिवत् षष्ठी विभक्तिर्द्रष्टव्या । सा च कृत्यानां कर्त्तरि वा (अ० २ । ३ । ७१) इत्यनेन भवति ॥

४ पुरुष यज्ञरूप है, अथवा यह मानवजीवन ही यज्ञ है । इस कारण प्रथमाध्याय में यज्ञ को बताकर उसके स्वरूप का वर्णन दूसरे अध्याय में किया । तत्पश्चात् तृतीय अध्याय में उस यज्ञ के साधनों का निरूपण करके, उस यज्ञ में अग्नि की प्रधानता को चतुर्थ अध्याय में कह कर, उस अग्नि के गुणों और यज्ञ के फल को पांचवें अध्याय में कहा और षष्ठ में कर्मकलापमात्र की शिक्षा का निरूपण किया। तत्पश्चात् 'सब धर्म राजधर्म के आश्रित हैं' अतः राजधर्म का निरूपण सप्तमाध्याय में किया ॥ अब मनु महाराज के इसलिये गृहस्थाश्रमी सब से श्रेष्ठ है (मनु० ३ । ७८) इस वचन से गृहाश्रमी के सब से श्रेष्ठ होने के कारण, और सब वर्णाश्रमियों के गृहाश्रमियों के ही आश्रित होने से, और सब प्रकार की व्यवस्थाओं के गृहाश्रमियों के लिये उपकारी होने के कारण, तथा अध्ययन-अध्यापन-ज्ञान-विज्ञान-सत्सङ्गति-सद्विचार-तपश्चर्या-

* 'की सभा में' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

(एषः) यह गृहस्थाश्रम (सोमः) कोमलता आदि † गुणों का बढ़ानेवाला है, (तम्) उसकी (रक्षस्व) रक्षा करें। हे (उरुगाय) बहुत शास्त्रों को पढ़नेवाले! (त्वा) आप को काम के बाण जैसे (मा दभन्) दुःख देने वाले न होवें वैसा साधन कीजिये ‡॥ १॥

भावार्थः—सब ब्रह्मचर्याश्रम सेवन की हुई युवती कन्याओं को ऐसी आकाङ्क्षा अवश्य रखनी चाहिये कि अपने सदृश रूप गुण कर्म स्वभाव और विद्यावाला, अपने से अधिक बलयुक्त, अपनी इच्छा के योग्य, अन्तःकरण से जिस पर विशेष प्रीति हो, ऐसे पति को स्वयंवर विधि से स्वीकार करके उसकी सेवा किया करें। ऐसे ही कुमार ब्रह्मचारी लोगों को भी चाहिये कि अपने अपने समान युवति स्त्रियों का पाणिग्रहण करें। इस प्रकार दोनों स्त्री पुरुषों को सनातन गृहस्थों के धर्म का पालन करना चाहिये, और परस्पर अत्यन्त विषय की लोलुपता तथा वीर्य का विनाश कभी न करें, किन्तु सदा ऋतुगामी हों। दश सन्तानों को उत्पन्न करें और उन्हें अच्छी शिक्षा देकर अपने ऐश्वर्य्य की वृद्धि कर प्रीतिपूर्वक रमण करें। जैसे आपस में एक से दूसरे का वियोग अप्रीति और व्यभिचार आदि दोष न हों, वैसा बर्ताव वर्त कर आपस में एक दूसरे की रक्षा सब प्रकार सब काल में किया करें॥ १॥

कदा चन इत्यस्याङ्गिरस ऋषिः। गृहपतिर्मघवा देवता। भुरिक् [आर्षी] पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः।

पुनस्तमेवाह[१]॥

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय ऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत ऽआदित्येभ्यस्त्वा॥ २॥

कदा। चन। स्तरीः। असि। न। इन्द्र। सश्चसि। दाशुषे॥ उपोपेत्युपऽउप। इत्। नु। () मघवन्निति मघऽवन्। भूयः। इत्। नु। ते। दानम्। देवस्य। पृच्यते। आदित्येभ्यः। त्वा॥ २॥

पदार्थः—(कदा) कस्मिन् काले (चन) अपि (स्तरीः) स्वभावाच्छादकः संकुचितः (असि) भवसि (न) निषेधे (इन्द्र) परमैश्वर्य्य [युक्त] पते! (सश्चसि) प्राप्नोषि। सश्चतीति गतिकर्मसु पठितम्। निघ० २।१४ (दाशुषे) दानशीलाय (उपोप) सामीप्ये। + प्रसमुपोदः पादपूरणे। अ० ८।१।६।

तितिक्षा आदि सब गुणों की परीक्षा गृहस्थाश्रम में ही ठीक २ होती है, इत्यादि कारणों से इस अष्टमाध्याय में गृहस्थाश्रम का उपदेश किया गया है॥ उसके—

प्रथम मन्त्र में गृहाश्रम के कौन अधिकारी हैं, सो बताया अर्थात् अनेकविध विद्याओं में निष्णात, सद्गुरु के कुल में निवास किये हुये, जिन्होंने एक वेद—दो वेद—या सब वेदों का अध्ययन किया है, अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया है, वे ही गृहाश्रम के अधिकारी हैं और उन्हीं से गृहाश्रम चलना चाहिये, अतः वे पुरुष और स्त्री आपस में एक दूसरे का स्वीकार कैसे करें, सो दर्शाते हैं—॥ १॥

१ तत्र च कुमारी कीदृग्गुणेन पुंसा सह संयुञ्ज्याद् इति दर्शयति—

† 'के तुल्य ऐश्वर्यका' इति अ० मुद्रिते पाठः॥

‡ 'वैसा साधन कीजिये' अस्य मूलं संस्कृते नास्ति॥

() 'मघवन्' इत्येव द्विरावृत्त्यवग्रहादिरहितोऽपपाठो ऽजमेरमुद्रिते॥

+ 'उपर्य्यध्यधसः सामीप्ये। अ० ८।१।७।' इति अ० मु० अपपाठः॥

इति द्विरुक्तम् (इत्) एव (नु) क्षिप्रम् । न्विति क्षिप्रनामसु पठितम् । निघ० २ । १५ । (मघवन्) प्रशंसित-धनयुक्त (भूयः) अधिकम् (इत्) एव (नु) शीघ्रम् (ते) तव (दानम्) (देवस्य) विदुषः (पृच्यते) संबध्यते (आदित्येभ्यः) मासेभ्यः (त्वा) त्वां सुखदातारम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ५ । १०, ११ व्याख्यातः[2] ॥ २ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र परमैश्वर्य्ययुक्त पते ! यतस्त्वं कदाचन स्तरीर्नासि, तस्मा [द्] दाशुष इन्नूपोपसश्चसि । हे मघवन् ! देवस्य ते तव यद् दानमिन्नु भूयः पृच्यते, अतोऽहं स्त्रीत्वेनादित्येभ्यः सदा सुखप्रापकं त्वा त्वामाश्रये ॥२॥

भावार्थः—विवाहकामनया युवत्या स्त्रिया × यश्छलकपटाचरणरहितः सत्यभावप्रकाशक एकस्त्रीव्रतो जितेन्द्रिय उद्योगी धार्मिको दाता विद्वान् भवेत्, तमुपयम्य निरन्तरमानन्दितव्यम् ॥ २ ॥

फिर भी गृहस्थों के धर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य्य से युक्त पति ! जिस कारण आप (कदा) कभी (चन) भी (स्तरीः) अपने स्वभाव को छिपानेवाले (न) नहीं (असि) हैं, इस कारण (दाशुषे) दान देनेवाले पुरुष के लिये [(इत्) ही (नु) शीघ्र] (उपोप) समीप (सश्चसि) प्राप्त होते हैं । हे (मघवन्) प्रशंसित धनयुक्त भर्त्ता ! (ते) आप (देवस्य) विद्वान् का जो (दानम्) दान अर्थात् अच्छी शिक्षा वा धन आदि पदार्थों का देना है, (इत्) वही (नु) शीघ्र (भूयः) अधिक करके मुझको (पृच्यते) प्राप्त होवे, इसी से मैं स्त्रीभाव से (आदित्येभ्यः) प्रति महीने सुख देनेवाले [(त्वा)] आपका आश्रय करती हूं ॥ २ ॥

भावार्थः—विवाह की कामना करनेवाली युवती स्त्री को चाहिये कि जो छल कपट आदि आचरणों से रहित [सत्यभाव का] प्रकाश करने, और एक ही स्त्री को चाहनेवाला, जितेन्द्रिय, सब प्रकार का उद्योगी, धार्मिक [दानी] और विद्वान् पुरुष हो, उसके साथ विवाह करके आनन्द में रहें ॥ २ ॥

कदा चन प्रयुच्छसीत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । आदित्यो गृहपतिर्देवता ।
निचृदार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थधर्म्ममाह[4] ॥

कदा चन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी ।
तुरीयादित्य सवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

---

१ कतमा आदित्या इति । द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः । एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति, ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ श० ११ । ६ । ३ । ८ ॥

२ मन्त्रोऽयं पूर्वं य० ३ । ३४ पृ० २०५ अर्थभेदेन व्याख्यातः । 'आदित्येभ्यस्त्वा' इत्यन्तिमपाठस्त्व-त्राधिक इत्यपि ध्येयम् ॥

× 'यच्छलकपट०' इति अ० मु० पाठः ॥

३ उस गृहाश्रम का ग्रहण करने में कुमारी ब्रह्मचारिणी किस प्रकार के गुणों से सुभूषित ब्रह्मचारी पुरुष के साथ अपना वैवाहिक सम्बन्ध जोड़े, सो दर्शाते हैं—॥ २ ॥

४ दम्पती परस्परं न वियुज्येतामित्याह—

कदा । चन । प्र । युच्छसि । उभेऽइत्युभे । नि । पासि । जन्मनीऽइति + जन्मनी ॥ तुरीय । आदित्य । सवनम् । ते । इन्द्रियम् । आ । तस्थौ । अमृतम् । दिवि । आदित्येभ्यः । त्वा ॥ ३ ॥

पदार्थः—(कदा) (चन) (प्र) (युच्छसि) अत्यन्तं प्रमाद्यसि (उभे) द्वे (नि) नितराम् (पासि) (जन्मनी) वर्त्तमानं प्राप्स्यमानं च (तुरीय) चतुर्थवत्, अत्रार्षआदित्वाच्च् (आदित्य) विद्यया सूर्य्य इव प्रकाशमान ! (सवनम्) सवति प्रसूयतेऽनेन तत् (ते) तव (इन्द्रियम्) मनआदिकार्य्यसाधकम् (आ) (तस्थौ) (अमृतम्) मरणधर्म्मरहितम् (दिवि) द्योतनात्मके व्यवहारे (आदित्येभ्यः) संवत्सरेभ्यः (त्वा) त्वां दृढेन्द्रियम ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ५ । १२ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अत्र नेत्यध्याहार्य्यम् ॥ हे पते ! त्वं यदि कदाचन न प्रयुच्छसि तर्हि स्वकीये उभे जन्मनी निपासि । हे आदित्य यदि ते तव सवनमिन्द्रियमातस्थौ तर्हि दिव्यमृतं प्राप्नुयाः । हे तुरीय आदित्येभ्यस्त्वा त्वामहमुपयच्छे ॥ ३ ॥

भावार्थः—यः प्रमादी विवाहितां स्त्रियं त्यक्त्वा परस्त्रियं सेवते, स इहामुत्र च दुर्भगो भवति । यश्च संयमी स्वस्त्रीसेवी त्यक्तपर स्त्री [क]:स उभयत्र परमं सुखं कथं न भुञ्जीत,अतः सर्वासां स्त्रीणां योग्यतास्ति [यत् ताः] जितेन्द्रियान् पतीन् × सेवेरन्निति ॥ ३ ॥

फिर भी गृहस्थ का धर्म्म अगले मन्त्र में कहा है[२] ॥

पदार्थः—इस मन्त्र में नकार का अध्याहार आकाङ्क्षा के होने से होता है ॥ हे पते ! आप जो (कदा) कभी (चन) भी (प्रयुच्छसि) प्रमाद नहीं करते हो, तो अपने (उभे) दोनों (जन्मनी) वर्त्तमान और परजन्म को ([नि] पासि) निरन्तर पालते हो । हे (आदित्य) विद्यागुणों में सूर्य्य के तुल्य प्रकाशमान !

---

१ आदित्या इति पूर्वं य० २।५ पृ० १६६ व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उभे) पूर्वं ३।१३ व्याख्यातः ।

(जन्मनी) सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४ । १४५) इति मनिन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ।

(तुरीय) चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च (अ० ५ । २ । ५१ । भा० वा०) इति छप्रत्यय आद्यक्षरलोपश्च ॥ प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् । तत्र आयनेयी० (अ० ७ । १ । २ ।) इति सूत्रेण 'छ' इत्येतस्य स्थाने 'ईय' त्यादेशस्योपदेशावस्थायामेव सत्त्वात् सर्वमिष्टं सिध्यति । कथमुपदेशिवद्वचनमिति चेत् घच्छौ च (अ० ४ । ४ ।११७) इत्यत्र चित्करणाज्ज्ञापकात् ॥ यत्तु सायणः ऋ० १ १५ । १० इत्यत्र 'उपदेशिवद्वचनं वार्त्तिकेन' इत्याह । तन्न । पूर्वोक्तज्ञापकेनैव सर्वेष्टसिद्धेः तथा चात्र भाष्यम् न वा क्वचिच्चित्करणात् (अ० ७ । १ । २ भा०) इति यथाभाष्यं तथा तु चितः (६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसव्यत्ययेनेष्टस्वरसिद्धिः ॥

(आदित्य) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ पति और पत्नी दोनों एक दूसरे का त्याग न करें, सो दर्शाते हैं— ॥ ३ ॥

+ 'जन्मनी' इति अ० मुद्रिते ऽ शुद्धः स्वरः ॥

× अत्र च पूर्वमन्त्रान्वयवद् 'आश्रयेयुः,' 'स्वीकुर्मः' इति वा शोभनतरं प्रतिभाति । अन्वये 'उपयच्छे' इति च दर्शनात् ॥

जो (ते) आपके (सवनम्) उत्पत्ति धर्म्म युक्त कार्य्य सिद्ध करनेहारे (इन्द्रियम्) मन आदि इन्द्रिय + (आ) [भलीप्रकार] (तस्थौ) वश में रहें, तो आप (दिवि) प्रकाशित व्यवहारों में (अमृतम्) अविनाशी सुख को प्राप्त हो जावें। हे (तुरीय) चतुर्थाश्रम के पूर्ण करनेवाले (आदित्येभ्यः) प्रतिमास के सुख के लिये (त्वा) दृढेन्द्रिय आप को मैं स्त्री स्वीकार करती हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो प्रमादी पुरुष विवाहित स्त्री को छोड़ परस्त्री का सेवन करता है, वह इस लोक और परलोक में दुर्भागी होता है, और जो संयमी अपनी ही स्त्री का चाहनेवाला दूसरे की स्त्री को नहीं चाहता, वह दोनों लोक में परम सुख को क्यों न भोगे। इस से सब स्त्रियों को योग्य है कि जितेन्द्रिय पति का सेवन [=स्वीकार] करें अन्य को नहीं ॥ ३ ॥

यज्ञो देवानामित्यस्य कुत्स ऋषिः। आदित्यो गृहपतिर्देवता। निचृज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः॥

पुनर्गृहाश्रमविषयमाह[1] ॥

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥ ४ ॥

यज्ञः। देवानाम्। प्रति। एति। सुम्नम्। आदित्यासः। × भवत। मृडयन्तः॥ आ। वः। अर्वाची। सुमतिरिति सुऽमतिः। ववृत्यात्। अꣳहोः। चित्। या। वरिवोवित्तरेति वरिवोवित्ऽतरा। असत्। आदित्येभ्यः। त्वा ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यज्ञः) स्त्रीपुरुषाभ्यां सङ्गमनीयः (देवानाम्) विदुषाम् (प्रति) प्रतीतम् (एति) प्रापयति[2] (सुम्नम्[3]) सुखम्। सुम्नमिति सुखनामसु पठितम्। निघ० ३। ६। (आदित्यासः) आदित्यवद्विद्यादिशुभगुणैः प्रकाशमानाः (भवत) (मृडयन्तः) सर्वान् सुखयन्तः (आ) (वः) युष्माकम् (अर्वाची) सुशिक्षाविद्याभ्यासात् पश्चाद्विज्ञानमञ्चति प्राप्नोत्यनया सा (सुमतिः) शोभना चाऽसौ मतिः (ववृत्यात्) वर्त्तताम्, अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २। ४। ७६] इति शपः श्लुर्व्यत्ययेन परस्मैपदञ्च (अंहोः[4]) सुखप्रापकस्य गृहाश्रमस्याऽनुष्ठानस्य (चित्) अपि (या)

१ गृहाश्रमे सर्वविधकर्मसु दम्पतिभ्यां हितचिन्तकाः सत्पुरुषा अवश्यमाश्रयणीया इति वर्णयति—मन्त्रोऽयं ऋ० १। १०७। १॥ य० ३३। ६८ इत्यत्रापि व्याख्यातः, तत्र चान्वयो युक्ततर एवास्ति॥

२ अत्र पदार्थोऽन्वयश्चासम्बद्ध इव प्रतिभाति॥ 'एति प्रापयति' इत्यत्र 'प्रापयतु' इति युक्तं स्यात् उत्तरत्र 'ववृत्यात्-वर्त्तताम्' 'असद्-भवेत्' इति प्रयोगात्, तथा सत्येव चात्रान्वये सम्बन्धसम्भवात्। 'आदित्येभ्यः—सर्वेभ्यो मासेभ्यः' इत्यत्र 'आप्तेभ्यो विद्वद्भ्यः' इति स्यात्, अन्वये भावार्थे च तथैव सम्बन्धात्॥ 'वा वाम्' इत्यपि नान्वेति, एकवचनान्तसम्बोधनस्याभावात्, 'आदित्यासः' इति बहुवचनान्तस्य दर्शनाच्च॥

३ शोभनेन कर्मणा मीयते निमीयते, सुष्ठु मीयते परिच्छिद्यते भागेनेति वा इति देवराजः, पृ० ३१७॥

४ 'अहि गतौ' (गतिः ज्ञानं गमनं प्राप्तिरिति)। औणादिक 'उ' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरः॥

भट्टभास्करस्तु—"यद्वा अहि गतौ, स (उः) एव प्रत्ययः। गत्यर्थाश्च बुद्ध्यर्थाः॥ अंहोरिव शत्रोरिव वा या मतिः सा आवर्त्तताम्"॥ तै० सं० १। ४। २२ भाष्ये॥

+ 'इन्द्रिय के वश में रहें तो आप (आ) (तस्थौ)' इति अ० मुद्रिते पाठः॥
× 'भवता' इत्यपपाठः अ० मु०॥

(वरिवोवित्तरा) वरिवः सत्यं व्यवहारं वेत्त्यनया साऽतिशयिता (असत्) भवेत्, लेट्प्रयोगोऽयम् (आदित्येभ्यः) सर्वेभ्यो मासेभ्यः (त्वा) त्वाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ५ । १५ व्याख्यातः ॥४॥

अन्वयः—हे आदित्यासो यूयं देवानां वो युष्माकं यो गृहाश्रमाख्यो यज्ञः सुम्नं प्रत्येति, यांहो[र]र्वाची वरिवोवित्तरा सुमतिराववृत्यात्, या त्वादित्येभ्यः प्राप्तोत्तमविद्याशिक्षाऽसत् तया चिद् युक्ता वा वां सदा मृडयन्तो भवत[1] ॥ ४ ॥

भावार्थः—विवाहं कृत्वा स्त्रीपुरुषाभ्यामाप्तानां विदुषां सङ्गत्येन येन कर्मणा विद्या सुशिक्षा*बुद्धिर्धनं सौहार्दं परोपकारश्च वर्द्धेत, तत्तदनुष्ठेयमिति ॥ ४ ॥

फिर भी गृहाश्रम का विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (आदित्यासः) सूर्य्य लोक के समान विद्या आदि शुभ गुणों से प्रकाशमान आप† [लोग] जो (वः) आप (देवानाम्) विद्वान् लोगों का यह (यज्ञः) स्त्रीपुरुषों के वर्त्तने योग्य गृहाश्रम व्यवहार (सुम्नम्) सुख को (प्रति) (एति) निश्चय करके प्राप्त करता है और (या) जो (अंहोः) गृहाश्रम के सुख सिद्ध करनेवाली (अर्वाची) अच्छी शिक्षा और विद्याभ्यास के पीछे विज्ञान प्राप्ति का हेतु (वरिवोवित्तरा) सत्यव्यवहार का

१ मन्त्रो ऽयं देवताभेदेन ऋ० १ । १०७ । १ व्याख्यातः, अन्तिमपाठस्तु भिन्न इत्यपि बोध्यम् । किञ्च य० ३३ । ६८ अपि व्याख्यातस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥ उभयत्र चान्वयो युक्ततरः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(भवत) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति सूत्रेण निघाते प्राप्ते आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इति निघाताभावः ॥

(मृडयन्तः) 'मृड सुखने' (तु० प०) इति धातोर्णिचि शतरि चापि रूपम् । छान्दसत्वाल्लघूपधगुणाभावः । सनाद्यन्ता धातवः (अ० ३ । १ । ३२) इति धातोरन्तोदात्तत्वं शपः पित्त्वे शतृप्रत्ययस्वरेण बाध्यत इतीष्टस्वरसिद्धिः । तास्यनुदात्ते० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वं तु छन्दस्युभयथा (अ० ३ । ४ । ११७) इति शतुरार्द्धधातुकत्वेन वार्यते । मृडयन्ती (ऋ० ५ । ४१ । १८) इत्यत्र तु लसार्वधातुकानुदात्तत्वमेव दृश्यते ।

(अर्वाची) अर्वमञ्चतीति 'अर्वाक्', ऋत्विग्दधृग्स्रग्दिगु० (अ० ३ । २ । ५९) इत्यादिना सुबन्तमात्र उपपदे क्विन् प्रत्ययो भवति । उपपदमतिङ् (अ० २ । २ । १९) इति समासः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे, स्त्रियां ङीपि, पित्त्वादनुदात्तत्वे अचः (६ । ४ । १३८) इत्यकारलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरे प्राप्ते चौ (अ० ६ । १ । २२२) चकारात्पूर्वोऽकार उदात्तः । ततः चौ (६ । ३ । १३८) इति दीर्घत्वं च । यद्वा अवरे पूर्वकालतः पश्चादञ्चतीति पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६ । ३ । १०९) ततो दिग्देशकालेष्वस्तातिः (अ० ५ । ३ । २७) इत्यस्तातिः, तस्य च अञ्चेर्लुक् (अ० ५ । ३ । ३०) इति लुक् । ततो ङीप् । स्वरः पूर्ववत् ॥

(सुमतिः) अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम् ॥

(ववृत्यात्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अंहोः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वरिवोवित्तरा) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तत्वम्, ततश्च तरपि टापि च स एव स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ गृहस्थ आश्रम में स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि सब प्रकार के कार्यों में हित चाहनेवाले सत्पुरुषों का आश्रयण करें, इसलिये कहते हैं— ॥ ४ ॥

* 'वर्द्धनं' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः, 'बुद्धिर्धनं' इति गपाठः ॥

† 'आप जो (देवानाम्) विद्वान (वः) आप' इति अ० मुद्रिते व्यस्तः पाठः ॥

निरन्तर विज्ञान देने वाली आप लोगों की (सुमतिः) श्रेष्ठबुद्धि, श्रेष्ठ मार्ग में (आ) निरन्तर (ववृत्यात्) प्रवृत्त होवे जो (आदित्येभ्यः) आप्त विद्वानों से (त्वा) तुझको उत्तम विद्या और शिक्षा (असत्) प्राप्त हो (चित्) उस बुद्धि से ही युक्त हम दोनों स्त्रीपुरुष को (मृडयन्तः) सदा सुख देते [(भवत)] रहिये ॥ ४ ॥

भावार्थः—विवाह करके स्त्रीपुरुषों को चाहिये कि [आप्त विद्वानों के संग से] जिस २ काम से विद्या अच्छी शिक्षा, बुद्धि, धन, सुहृद्भाव और परोपकार बढ़े, उस २ कर्म का सेवन अवश्य किया करें ॥ ४ ॥

विवस्वन्नित्यस्य कुत्स ऋषिः । गृहपतयो देवताः । आद्यस्य प्राजापत्याऽनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः॥
अदित्युत्तरस्य निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
पुनरपि गृहस्थधर्म्ममाह[1] ॥

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व ।
श्रदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः ।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप ऽ एधते गृहे ॥ ५ ॥

विवस्वन् । आदित्य । एषः । ते । सोमपीथ इति ‡ सोमऽपीथः । तस्मिन् । मत्स्व ॥ श्रत् । अस्मै । नरः । वचसे । दधातन । यत् । आशीर्देत्याशीःऽदा । दम्पती ऽइति दम्ऽपती । वामम् । अश्नुतः ॥ पुमान् । पुत्रः । जायते । विन्दते । + वसु । अध । विश्वाहा । अरपः । एधते । गृहे ॥ ५ ॥

पदार्थः—(विवस्वन्) विविधे स्थाने वसति तत् संबुद्धौ (आदित्य) अविनाशिस्वरूप विद्वन् ! (एषः) गृहाश्रमः (ते) तव (सोमपीथः[2]) सोमः पीयते यस्मिन् सः (तस्मिन्) गृहाश्रमे (मत्स्व) आनन्दितो भव (श्रत्) सत्यम् । श्रद् इति सत्यनामसु पठितम् । निघ० ३ । १० (अस्मै) (नरः) ये नयन्ति तत् सम्बुद्धौ (वचसे) गृहाश्रमवाग्व्यवहाराय (दधातन[3]) × धरत (यत्) यस्मिन् सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति सुपो लुक् (आशीर्दा) आशीरिच्छां ददाति, सः (दम्पती) जायापती (वामम्) प्रशस्यं गृहाश्रमं धर्मम्, वाम इति प्रशस्यनामसु पठितम् । निघ० ३ । ८ (अश्नुतः) व्याप्नुतः (पुमान्) (पुत्रः) पुन्नाम्नो वृद्धावस्थाजन्यदुःखात् त्रायते सः, अत्राह मनुः—पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ अ० ९ श्लो० १३८ ॥ (जायते) उत्पद्यते (विन्दते) लभते (वसु) धनम् (अध) अथेत्यनन्तरे । अत्र पृषोदरादित्वात् थस्य धः, निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३६] इति दीर्घः (विश्वाहा) बहूनि च तान्यहानि च, अत्र शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । ७०] इति लुक्[4] । विश्वमिति बहुनामसु पठितम् । निघ० ३ । १ (अरपः[5]) निष्पापः (एधते) वर्द्धते (गृहे) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ३ । ५ । १६–२४ तथा ४ । ४ । १ । १–५ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

१ तैः सत्पुरुषैः कथं स्त्रीपुरुषौ उपदिश्येतामिति दर्शयति—

२ इन्द्रियं वै सोमपीथः ॥ तै० ब्रा० १ । ३ । १० । २ ॥

३ तप्तनप्तनथनाश्च (अ० ७।१।४५) इति तनप् ॥

४ नात्र पारिभाषिकस्य लुको ग्रहणमपि तु यौगिकार्थो ऽदर्शनार्थो गृह्यते । 'लुक्' धातोर्धातुष्वपाठात् कथं यौगिक इति चेत् 'लुकना' क्रियाया हिन्दीभाषायां दर्शनात् 'लुक्' धातुरदर्शनार्थक ऊहनीयः । तस्यैव क्विपि लुक् पदम् ॥ किं च पूर्वं (य० ४ । ३७ पृष्ठ ४०९) भाष्ये 'शेर्लोपः' इति स्पष्टमेव दृश्यते ॥ अपि च 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्' इत्यस्यां परिभाषायां 'लुग्विकरण' पदेन लुग्विकरणालुग्विकरणयोः सामान्येनैव ग्रहणमाचक्षते वैयाकरणाः ॥

५ 'रपो रिप्रमिति पापनाम्नी भवतः' निरु० ४ । २१ ॥

‡ 'सोमपीथ' इत्यवग्रहचिह्नरहितो ऽपपाठः अ० मु० ॥ + 'वसु' इति अ० मुद्रिते प्रमादात् त्यक्तः ॥
× 'धरत, सुपां सुलुक् इति सुपो लुक् (यत्) यस्मिन्' इत्यजमेरमुद्रिते व्यस्तः पाठः ॥

अन्वयः—हे विवस्वन्नादित्य गृहिन्नेष ते तव सोमपीथो गृहाश्रमोस्ति, तस्मिँस्त्वं विश्वाहा मत्स्व हर्षितो भव। हे नरो गृहाश्रमस्था यूयमस्मै वचसे श्रद्धातन, यत् यस्मिन् गृहे दम्पती वाममश्नुतस्तस्मिन् आशीर्दा अरपः पुमान् पुत्रो जायते, वसु विन्दते अधैधते च ॥ ५ ॥

भावार्थः—स्त्रीपुंसौ सुप्रेम्णा परस्परपरीक्षापूर्वकं स्वयंवरोद्वाहं विधाय, सत्याचरणेन सन्तानानुत्पाद्य, महदैश्वर्यं लब्ध्वा सुखमितश्चमुन्नोयेताम्॥ ॥ ५ ॥

फिर भी गृहस्थ का धर्म्म अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (विवस्वन्) विविध प्रकार के स्थानों में बसनेवाले (आदित्य) अविनाशी स्वरूप विद्वन् गृहस्थ ! (एषः) यह जो (ते) आपका (सोमपीथः) जिसमें सोमलता आदि ओषधियों के रस पीने में

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(विवस्वन्) आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ॥

(सोमपीथः) पातृतु० (उ० २।७) इति थक् प्रत्ययो बाहुलकादधिकरणे। कृत्स्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

(मत्स्व) 'मदी हर्षग्लेपनयोः'। बहुलं छन्दसि (अ० २ । ४ । ७३) इति शपो लुक्। व्यत्ययेन चात्मनेपदम्। तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(श्रत्) ऊर्यादिच्विडाचश्च (अ० १ । ४ । ६१) इत्यूर्यादिषु पाठात् निपातः । निपाता आद्युदात्ताः (फिट्८०) इत्याद्युदात्तत्वम्। यद्वा प्रातिपदिकस्वरेणोदात्तः ॥

(नरः) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १८) इत्याष्टमिकेन निघातः ।

(दधातन) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(आशीर्दा) कृत्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(दम्पती) राजदन्तादिषु परम् (अ० २ । २ । ३१) इत्यत्र परत्वं, जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते। पत्यावैश्वर्ये (अ० ६ । २ । १८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः। यद्वा निपातनादेवाद्युदात्तत्वमपि ॥

(वामम्) "टुवम उद्गिरणे अस्माद् धातोर्हलश्च [अ० ३ । ३ । १२१] इति घञ्। [नोदात्तोपदेशस्य० (अ० ७ । ३ । ३४) इत्यादिना] उपधावृद्धिनिषेधे प्राप्ते अनाचमिकमिनमीनामिति वक्तव्यम् [अ० ७ । ३ । ३४ वा०] इति वार्तिकेन वृद्धिः सिद्धा" इति दयानन्द ऋग्भाष्ये(१ । ३२ । ३)। अस्मिन् पक्षे कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६ । १ । १५९) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

यद्वा "वन षण सम्भक्तौ (भ्वा० प०) इषियुधीन्धिदसिश्यासुहुम्यो मक् (उ० १ । १४२) इति बाहुलकान्मक् प्रत्ययः नकारस्याकारश्च। संभजनीयो हि प्रशस्यः" इति देवराजः (निघण्टुभाष्ये पृ० ३३४)। अत्र प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

निरुक्त ४ ।२६ 'अस्य वामस्य वननीयस्य'। तथैव निरु० ६ । ३१ ॥ ११ । ४६ ॥ अत्र सर्वत्र कृतो बहुलम् (अ० ३।३।११३अ०वा०) इति कर्मणि 'मक्' प्रत्ययः॥

(अश्नुतः) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः ॥

(पुमान्) पातेर्डुम्सुन् (उ० ४ ।१७८) पाति रक्षतीति पुमान्। ञ्नित्यादिर्नित्यम् (अ० ६ । १ । १९७) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(जायते) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ ।२८) इति निघातः ॥

(विन्दते) पूर्वं (यजु० ४ । २९) व्याख्यातः।

(अध) निपाताद्युदात्तत्वम्।

(विश्वाहा) समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसं मध्योदात्तत्वमिति ध्येयम्।

(अरपः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तः ॥

(एधते) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ ।२८) इति निघातः।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] वे पूर्वोक्त सत्पुरुष स्त्रीपुरुषों को किस प्रकार उपदेश करें, सो कहते हैं—॥ ५ ॥

❀ 'उन्नयेताम्' इत्यर्थः। कर्मकर्त्तरि प्रयोगोऽयं द्रष्टव्यः ॥

आवें ऐसा गृहाश्रम है, (तस्मिन्) उसमें आप (विश्वाहा) सब दिन (मत्स्व) आनन्दित रहो। हे (नरः) गृहाश्रम करनेवाले गृहस्थो ! आप लोग (अस्मै) इस (वचसे) गृहाश्रम के वाग्व्यवहार के लिये (ऋत्) सत्य ही का (दधातन) धारण करो (यत्) जिस (गृहे) गृहाश्रम में (दम्पती) स्त्रीपुरुष (वामम्) प्रशंसनीय गृहाश्रम के धर्म को (अश्नुतः) प्राप्त होते हैं, उसमें (आशीर्दा) कामना देनेवाला (अपः) निष्पाप धर्मात्मा (पुमान्) पुरुषार्थी (पुत्रः) वृद्धावस्था के दुखों से रक्षा करनेवाला पुत्र (जायते) उत्पन्न होता है, और वह उत्तम (वसु) धन को (विन्दते) प्राप्त होता है (अथ) इसके अनन्तर वह कुटुम्ब विद्या और धन के ऐश्वर्य से (एधते) बढ़ता है ॥ ५ ॥

भावार्थः—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि अच्छी प्रीति से परस्पर परीक्षापूर्वक स्वयंवर विवाह और सत्य आचरणों से सन्तानों को उत्पन्न कर बहुत ऐश्वर्य को प्राप्त होके नित्य उन्नति पावें ॥ ५ ॥

वाममद्येत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। गृहपतयो देवताः। निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनश्च गृहाश्रमिणा कथं प्रयतितव्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यꣳ सावीः।
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ॥ ६ ॥

वामम्। अद्य। सवितः। वामम्। ऊँऽइत्यूँ। श्वः। दिवेदिव इति दिवेऽदिवे। वामम्। अस्मभ्यम्। सावीः॥ वामस्य। हि। क्षयस्य। देव। भूरेः। अया। धिया। वामभाज इति वामऽभाजः। स्याम॥ ६॥

पदार्थः—(वामम्) प्रशस्यं सुखम् (अद्य) अस्मिन्नहनि (सवितः) सर्वस्यैश्वर्यस्य प्रसवितरीश्वर ! (वामम्) [पूर्वोक्तम्] (उ) वितर्के (श्वः) परस्मिन् दिने (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (वामम्) (अस्मभ्यम्) (सावीः[2]) सव, अत्र लोडर्थे लुङडभावश्च (वामस्य) अत्युत्कृष्टस्य (हि) खलु (क्षयस्य) गृहस्य (देव) सुखप्रद ! (भूरेः) बहुपदार्थान्वितस्य (अया) अनया, छान्दसो वर्णलोपो वा [अ० ८। २। २५ मा०] इति नलोपः (धिया) श्रेष्ठबुद्ध्या (वामभाजः) प्रशस्यकर्म्मसेविनः (स्याम) भवेम॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ४। १। ६ व्याख्यातः॥ ६॥

अन्वयः—हे देव सवितः † ईश्वर त्वं कृपयाऽस्मभ्यमद्य वाममु श्वो वामं वा दिवेदिवे वामं सावीः सव। येन वयमया धिया भूरेर्वामस्य क्षयस्य गृहाश्रमस्य मध्ये वामभाजो हि स्याम॥ ६॥

1 गृहाश्रमस्थैः सर्वेभ्यः प्राक् सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर एवाश्रयणीय इत्यत आह—

२ 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' लुङि रूपम्। छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३। ४। ६) इति लुङ्। तथैव च भट्टभास्करः तै० सं० १। ४। २३। १ भाष्ये॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वामम्) पूर्वमन्त्रे व्याख्यातः॥

(उ) (अ० १। २८) व्याख्यातः॥

(क्षयः) क्षयो निवासे (अ० ६। १। २०१) इत्याद्युदात्तत्वम्॥

(अया) ऊडिदं० (अ० ६। १। १७१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्॥

(वामभाजः) कृत्स्वरेणान्तोदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

† इतोऽग्रे 'पुरुषार्थेन बह्वैश्वर्यजनकत्वम्' इति अ० मुद्रिते पाठः। अस्माभिः क. ख. पाठोऽभिमतः यश्च ग. कोशे ऽपमृष्टः।

भावार्थः—‡ गृहस्था जना ईश्वरानुग्रहेण परमपुरुषार्थेन प्रशस्तधिया माङ्गलिकाः सन्तो गृहाश्रमिणो {} भूत्वैवं प्रयतेरन् यतस्त्रिषु कालेषु प्रवृद्धसुखाः स्युः ॥ ६ ॥

फिर भी गृहस्थों को किस प्रकार प्रयत्न करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (देव) सुख देने (सवितः) और समस्त ऐश्वर्य के उत्पन्न करनेवाले*ईश्वर ! आप (अस्मभ्यम्) हम लोगों के लिये (अद्य) आज (वामम्) अति प्रशंसनीय सुख (उ) और आज ही क्या किन्तु (श्वः) अगले दिन (वामम्) उक्त सुख तथा (दिवेदिवे) दिन दिन (वामम्) उस सुख को (सावीः) उत्पन्न कीजिये, जिससे हम लोग आप की कृपा से उत्पन्न हुई (अया) इस (धिया) श्रेष्ठ बुद्धि से (भूरेः) अनेक पदार्थों से युक्त (वामस्य) अत्यन्त सुन्दर (क्षयस्य) गृहाश्रम के बीच में (वामभाजः) प्रशंसनीय कर्म करनेवाले (हि) ही (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थः—†गृहस्थ जन ईश्वर के अनुग्रह परम पुरुषार्थ और प्रशंसनीय बुद्धि से मङ्गलकारी गृहाश्रमी होकर इस प्रकारका प्रयत्न करें कि जिससे तीनों अर्थात् भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में अत्यन्त सुखी हों ॥ ६ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । सविता गृहपतिर्देवता ।
विराड् ब्राह्म्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनश्च गृहस्थधर्ममुपदिश्यते[1][2][3] ॥

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा ऽअसि चनो मयि धेहि ।
जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥७ ॥

---

१ गृहाश्रमियों को सब से प्रथम सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर का ही आश्रयण करना चाहिये, इसलिये कहते हैं—॥ ६ ॥

२ कृत्यमित्यर्थः । कर्मवाची धर्मशब्दो नपुंसकलिङ्गः, तद्यथा—'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (य० ३१ । १६) । द्र० काशिका २ । ४ । ३१ ॥

३ 'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्' (अ० ३ । ३० । २) इति वेदाज्ञाया विद्यमानत्वात् 'सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः' (मनु० ३ । ५६)इत्याद्यृषिवचनाच्च पत्न्य एव गृहदीप्तयः, ताभिरेव गृहाश्रमः स्वर्गयितुं शक्य इति कृत्वा तासां स्वपतिभिः सह व्यवहारमग्रिमदशमन्त्रेषु ब्रवीति । तत्रास्मिन् सप्तममन्त्रे परस्परं नियमपालनेन विना कार्यासम्भव इत्यत आह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया ॥

(सावित्रः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

---

‡ 'गृहस्थैर्जनैरी०' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः, उत्तराभिः क्रियाभिरनन्वयात् ।
{} 'भूत्वैव' इति तु अ० मुद्रितेऽपपाठः । भाषार्थे तथैव दर्शनात् ॥
* इतोऽग्रे 'मुख्यजन' इति अ० मुद्रिते पाठः । अस्माभिः क. ख. पाठः स्वीकृतः, यश्च ग. कोशेऽपमृष्टः ॥
† 'गृहस्थजनों को चाहिये कि ईश्वर के अनुग्रह से प्रशंसनीय बुद्धियुक्त मंगलकारी' इत्यजमेरमुद्रिते पाठः । स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । सावित्रः । असि । चनोधा इति चनःऽधाः । चनोधा इति चनःऽधाः । असि । चनः । मयि । धेहि ॥ जिन्व । यज्ञम् । जिन्व । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । ‡भगाय । देवाय । त्वा । सवित्रे ॥ ७ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) उपयामेन विवाहनियमेन गृहीतः (असि) (सावित्रः) सविता सकलजगदुत्पादकः परमेश्वरो देवता यस्य सः (असि) (चनोधाः) चनांस्यन्नानि दधातीति । चन इत्यन्ननाम । निरु० ६ । १६ (चनोधाः) अभ्यासेनाधिकार्थो ग्राह्यः, सर्वेभ्योऽधिकान्नवान् गम्यते । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते । निरु० १० । ४२ (असि) (चनः) (मयि) अन्नग्रहणनिमित्तायां विवाहितायां स्त्रियां (धेहि) धर (जिन्व) प्राप्नुहि, जानीहि वा, जिन्वतीति गतिकर्मसु पठितम् । निघ० २ । १४ (यज्ञम्) धर्म्यदृढैः पुरुषैः संगन्तव्यम (जिन्व) प्रीणीहि (यज्ञपतिम्) गृहाश्रमस्य पालकं पुरुषपालिकां स्त्रियं वा (भगाय) धनाढ्याय सेवनीयायैश्वर्य्याय, भग इति धननामसु पठितम् । निघ० २ । १० (देवाय) दिव्याय कमनीयाय (त्वा) त्वाम् (सवित्रे) सन्तानोत्पादकाय ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । १ । ६ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे पुरुष ! त्वया यथाहं नियमोपनियमैः संगृहीतास्मि, तथा मया त्वमुपयामगृहीतोसि, त्वं [चनोधाः] चनोधा असि सावित्रश्चासि, तथाहमस्मि, त्वं मयि चनो धेहि । अहमपि त्वयि दध्याम् । त्वं यज्ञं जिन्व अहमपि जिन्वेयम् । सवित्रे देवाय भगाय यज्ञपत्नीं मां जिन्व, एतस्मै यज्ञपतिं [त्वा] त्वामहमपि जिन्वेयम् ॥ ७ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—विवाहितस्त्रीपुरुषौ प्राप्त्यनुकूलव्यवहारेण परस्परमैश्वर्यं प्राप्नुयातां, प्रीत्या सन्तानोत्पत्तिं चाचरेताम् ॥ ७ ॥

फिर भी गृहाश्रम का धर्म अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे पुरुष ! तुझ से जैसे मैं [विवाह के] नियम और उपनियमों से ग्रहण की गयी हूँ, वैसे मैंने आपको (उपयामगृहीतः) विवाह नियम से ग्रहण किया (असि) है । जैसे आप (चनोधाः चनोधाः) अन्न अन्न के धारण करनेवाले (असि) हैं, और (सावित्रः) †सविता समस्त जगत् को उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर

(चनः) चायतेरन्ने ह्रस्वश्च (उ० ४ । २००) इत्यसुन्, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । चाय्यते पूज्यते ऽनेन तत् चनो भक्तम् ।

(चनोधाः) कृत्स्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(धेहि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ।

(जिन्व) वाक्यादित्वान्निघाताभावे धातुस्वरः ॥

(भगाय) पूर्वं य० ५ । ७ । पृ० ४३८ व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] 'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्'' (अथर्व० ३ । ३० । २) अर्थात् पत्नी पति के लिये मधुर सुन्दर शान्ति देनेवाली वाणी बोले' वेद की इस आज्ञा, तथा मनु० ३ । ५६ में 'स्त्रियां जहां प्रसन्न नहीं रहतीं, वहां सब कुछ निष्फल है' इस ऋषि-वचन से 'पत्नी घर का दीपक है' उनके द्वारा ही गृहस्थाश्रम स्वर्ग बनाया जा सकता है, इस कारण उन्हें अपने पतियों से कैसा व्यवहार करना चाहिये,

‡ 'भर्गाम' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

† इतोऽग्रे 'सविता समस्त सन्तानादि सुख उत्पन्न करनेवाले आपको अपना' इति अ० मु० पाठः ॥

को अपना इष्टदेव माननेवाले (असि) हैं, वैसे मैं भी हूँ। जैसे आप (मयि) मेरे निमित्त (चनः) अन्न को (धेहि) धरिये, वैसे मैं भी आप के निमित्त धारण करूं। जैसे आप (यज्ञम्) दृढ़ पुरुषों के सेवन योग्य धर्म्म व्यवहार को (जिन्व) प्राप्त हों, वैसे मैं भी प्राप्त होऊँ। और जैसे (सवित्रे) सन्तानों की उत्पत्ति के हेतु (भगाय) धनादि सेवनीय (देवाय) दिव्य ऐश्वर्य्य के लिये ※ मुझ यज्ञपत्नी को (जिन्व) तृप्त कीजिये, और इस उक्त ऐश्वर्य्य के लिये (यज्ञपतिम्) गृहाश्रम के पालने वाले (त्वा) आप को मैं भी तृप्त करूँ ॥ ७ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—विवाहित स्त्रीपुरुषों को योग्य है कि लाभ के अनुकूल व्यवहार से परस्पर ऐश्वर्य्य पावें, और प्रीति के साथ सन्तानोत्पत्ति का आचरण करें ॥ ७ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः। आद्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः॥ सुशर्म्मेत्यस्य निचृदार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनरपि गृहिकर्तव्यमुपदिश्यते[1] ॥

उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽ एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥ ८॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। सुशर्म्मेति सुऽशर्म्मा। असि। सुप्रतिष्ठानः। सुप्रतिस्थान इति सुऽप्रतिस्थानः। बृहदुक्षायेति बृहत्ऽउक्षाय। नमः॥ विश्वेभ्यः। त्वा। देवेभ्यः। एषः। ते। योनिः। विश्वेभ्यः। त्वा। देवेभ्यः॥ ८॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) (असि) (सुशर्म्मा) शोभनानि गृहाणि यस्य सः। शर्म्मेति गृहनामसु पठितम्। निघ० ३। ४ (असि) (सुप्रतिष्ठानः) सुष्ठु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा यस्य सः (बृहदुक्षाय) बृहद्वीर्य्यमुक्षति सिञ्चति तस्मै, बृहदिति महन्नामसु पठितम्। निघ० ३। ३ (नमः) अन्नम्। नम इत्यन्ननामसु पठितम्। निघ० २। ७ (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) कमनीयदिव्यसु-

सो आगे दस मन्त्रों में कहते हैं। उनमें इस सातवें मन्त्र में परस्पर नियम पालन के बिना कार्य हो ही नहीं सकता, इसलिये कहा—॥ ७॥

[1] पत्नीभिः स्वपतिदेवाः शुभकर्मसु प्रेरयितुं शक्यन्त इत्यत आह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुशर्मा) सोर्मनसी अलोमोषसी (अ० ६। २। ११७) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(सुप्रतिष्ठानः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६। २। १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(बृहदुक्षाय) छान्दसत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा उक्षणमुक्षः, बृहदुक्षो यस्य स बृहदुक्षस्तस्मै। बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६। २। १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। भाष्यन्तवर्थप्रदर्शनपरं न तु विग्रहपरम् इति ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

※ इतोऽग्रे '(यज्ञपतिम्) गृहाश्रम को पालनेहारे आपको मैं प्रसन्न रक्खूं, वैसे आप भी (जिन्व) तृप्त कीजिये' इति अ० मुद्रिते पाठः। स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥

ख्येभ्यः (एषः) (ते) (योनिः) गृहम् (विश्वेभ्यः) समस्तेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ४। १। १४-१८ तथा ४। ४। २। १-११ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे पते ! अहं यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, सुप्रतिष्ठानः सुशर्म्मासि, तस्मै बृहदुक्षाय तुभ्यं नमोऽस्तु, सुसंस्कृतं हृद्यमन्नमुचितसमये ददामि । यथाहं यस्य ते तवैष योनिः प्रासादोऽस्ति, तं त्वा त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः सेवे, [त्वा त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियुनज्मि] तथा त्वं विश्वेभ्यो देवेभ्यो मां † नियुङ्ग्धि ॥ ८ ॥

भावार्थः—यस्य गृहाश्रममभीप्सोर्जनस्य सर्वर्त्तुसुखसम्पादकं गृहं स्यात्, स्वयं च वीर्यवान्, तमेव स्त्री पतित्वेन गृह्णीयात् । तस्मै यथोचितसमये सुखं दद्यात्, स्वयञ्च तस्माद् ※ दिव्यसुखमादद्यात् । तौ द्वौ विदुषां सेवनमाचरेताम् ॥ ८ ॥

फिर भी गृहस्थ को सेवने योग्य धर्म्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे पति ! जो ‡ आप मेरे द्वारा (उपयामगृहीतः) [विवाह के] नियम उपनियमों से ग्रहण किये हुये (असि) हैं और (सुप्रतिष्ठानः) अच्छी प्रतिष्ठा और (सुशर्मा) अच्छे घरवाले (असि) हैं, उन (बृहदुक्षाय) अत्यन्त वीर्य देनेवाले आप को (नमः) अच्छे प्रकार संस्कार किया हुआ, चित्त का प्रसन्न करनेवाला अन्न उचित समय पर देती हूँ । जिस [(ते)] आप का (एषः) यह (योनिः) सुखदायक महल है, (त्वा) उस आप को (विश्वेभ्यः) सब (देवेभ्यः) दिव्य सुखों के लिये सेवन करती हूँ । और (त्वा) आप को (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये नियुक्त करती हूँ, वैसे आप मुझ को कीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थः—जिस गृहाश्रम भोगने की इच्छा रखनेवाले पुरुष का सब ऋतुओं में सुख देनेवाला घर हो और आप वीर्य्यवान् हो, उसी को स्त्री जन पति भाव से स्वीकार करें और उसके लिये यथोचित समय पर सुख देवें तथा आप उस पति से उचित समय में दिव्य सुख भोगें और वे स्त्री पुरुष दोनों विद्वानों का सत्संग किया करें ॥ ८ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । गृहपतयो विश्वेदेवा देवताः । आद्यस्य प्राजापत्या गायत्री, बृहस्पतिसुतस्येति मध्यमस्यार्च्युष्णिक्, अहमित्युत्तरस्य स्वराडर्षी पङ्क्तिश्च छन्दांसि । क्रमेण षड्जर्षभपञ्चमाः स्वराः ॥

पुनर्गार्हस्थ्यधर्म्ममाह[2] ॥

उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम तऽ
इन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ२ऽ ऋध्यासम् ।

---

१ पत्नियां अपने पतियों को शुभकर्मों में प्रेरणा कर सकती हैं, अतः दर्शाते हैं—॥ ८ ॥

२ पूर्वोक्तमेवोपोद्बलयति—

---

† 'नियुङ्क्ष्व' इति अ० मुद्रिते ऽपपाठ इति ध्येयम् ॥ ※ 'तस्यै' इति अ० मुद्रिते ऽपपाठः । भाषानुसारं तु 'तस्मात्' अपेक्ष्यते ।

‡ 'जैसे मैंने आपको''''ग्रहण किया है (असि)' हैं इति अ० मु० पाठः । 'जैसेआप''''किये हुये (असि) हैं' इति गपाठः ॥

अहं पुरस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत् ।
अहꣳ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत् ॥ ९ ॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । बृहस्पतिसुतस्येति बृहस्पतिऽसुतस्य । देव । सोम । ते । इन्दोः । इन्द्रियावतः । इन्द्रियवत इतीन्द्रियऽवतः । पत्नीवत इति पत्नीऽवतः । ग्रहान् । ऋध्यासम् ॥ अहम् । पुरस्तात् । अहम् । अवस्तात् । यत् । अन्तरिक्षम् । तत् । ❀ ऊँऽइत्युँ । मे । पिता । अभूत् ॥ अहम् । † सूर्यम् । उभयतः । ददर्श । अहम् । देवानाम् । परमम् । गुहा । यत् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) (असि) (बृहस्पतिसुतस्य) बृहत्या वेदवाण्याः पतेः पालकस्य पुत्रस्य (देव) कमनीयतम (सोम[1]) ऐश्वर्यसम्पन्न (ते) तव (इन्दोः) सोमगुणसम्पन्नस्य (इन्द्रियावतः) बहुधनयुक्तस्य, इन्द्रियमिति धनना० । निघ० २ । १० (पत्नीवतः) प्रशस्ता यज्ञसम्बन्धिनी जाया यस्य (ग्रहान्[2]) गृह्यन्ते स्वीक्रियन्ते विवाहकाले नियतशिक्षाविषया ये तान् (ऋध्यासम्) वर्द्धिषीय (अहम) (परस्तात्) उत्तरस्मात् (अहम्) (अवस्तात्) अर्वाचीनात् समयात् (यत्) (अन्तरिक्षम्[3]) अन्तरक्षयम् = अन्तःकरणे क्षयरहितं विज्ञानम् (तत्) (उ) वितर्के (मे) मम (पिता) पालको जनकः (अभूत्) भवति, वर्तमाने ‡ लुङ् (अहम्) (सूर्यम्) चराचरात्मानमीश्वरम् (उभयतः) उक्तपूर्वापरभावतः (ददर्श) दृष्टवान् दृष्टवती चास्मि (अहम) (देवानाम्) विदुषाम् (परमम्) अत्युत्तमम् (गुहा) गुह्यन्ते संव्रियन्ते सकला विद्या यया बुद्ध्या तस्याम्, अत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति ङेर्लुक् (यत्) ॥ अयं मन्त्रः शत० । ४ । ४ । २ । १२–१४ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे सोम देव यस्त्वम्मया कुमार्य्योपयामगृहीतोसि तस्येन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो बृहस्पतिसुतस्य ते तव ग्रहान् प्राप्याहम्परस्ताद [हम] वस्तादध्यासं यद्देवानां गुहास्थितमन्तरिक्षं विज्ञानम [हम] न्वेमि, तत् त्वमपि प्राप्नुहि, यः [उ] मे मम पिता पालकोऽध्यापको वा विद्वानभूत्तत्सकाशात् पूर्णां विद्यां प्राप्याहं [यत्] यं परमं सूर्य्यमुभयतो ददर्श, तं त्वमपि पश्य ॥ ९ ॥

१ सोमो वा इन्दुः ॥ श० २ । २ । ३ । २३ ॥
२ यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रहः ॥ श० १० । १ । १ । ५ ॥
३ अन्तरेव वा इदमिति तदन्तरिक्षस्यान्तरिक्षत्वम् ॥ तां० २० । १४ । २ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(बृहस्पतिसुतस्य) समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते दासीभारादीनामिति वक्तव्यम् (अ० ६ । २ । ४२ भा०वा०)इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(इन्दोः) उन्देरिच्चादेः (उ० १ । १२) इति 'उ' प्रत्ययो नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(पत्नीवतः) पतिशब्दः प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः, ततो ङीपि मतुपि च स एव स्वरः ॥

(ग्रहान्) ग्रहवृदनिश्चिगमश्च (अ० ३ । ३ । ५८) इति 'अप्', धातुस्वरः ॥

(ऋध्यासम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(परस्तात् , अवस्तात्) विभाषा परावराभ्याम् (अ० ५ । ३ । २९) इति पक्षे 'अस्ताति' प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वमुभयत्र ॥

(उभयतः) पञ्चम्यास्तसिल् (अ० ५ । ३ । ७) इति तसिल् प्रत्ययः । लिति (अ० ६ । १ । १८७) प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तः ॥

❀ 'ऊँऽइत्यूँ' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

† 'सूर्य्यम्' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

‡ 'वर्त्तमाने लट् उक्तपूर्वापरभावतः' इति अ० मुद्रितेऽपपाठो लटोऽभावात् । 'उक्तपूर्वापरभावतः' इति पाठोऽत्रानावश्यक इति मत्वाऽस्माभिः '(उभयतः)' इत्येतस्मादग्रे नीतः ॥

भावार्थः—स्त्रीपुरुषौ परस्परं विवाहात् पूर्वं सम्यक् परीक्षां कृत्वा तुल्यगुणकर्म्मस्वभावरूपबलारोग्यपुरुषार्थविद्यायुक्तौ स्वयंवरविधानेन विवाहं विधायेत्थम्प्रयतेतां यतो धर्म्मार्थकाममोक्षाणां वृद्धिं प्राप्नुयाताम्। ययोः ❀ मातापितरौ विद्वांसौ न स्यातां तयोरपत्यान्यप्युत्तमानि भवितुं न शक्नुवन्ति, अतः पूर्णविद्यासुशिक्षौ भूत्वैव गृहाश्रममारभेताम् ॥ ९ ॥

फिर गृहस्थ का धर्म्म अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (सोम) ऐश्वर्य्यसम्पन्न (देव) अति मनोहर पते! जिस आप को मैं कुमारी ने (उपयामगृहीतः) विवाह नियमों से स्वीकार किया (असि) है, उन (इन्दोः) सोमगुणसम्पन्न (इन्द्रियावतः) बहुत धनवाले और (पत्नीवतः) यज्ञ सम्बन्ध में प्रशंसनीय स्त्री ग्रहण करनेवाले (बृहस्पतिसुतस्य) और बड़ी वेदवाणी के पालनेवाले के पुत्र (ते) आप के [(ग्रहान्)] गृह और संबन्धियों को प्राप्त होके [(अहम्)] मैं (परस्तात्) आगे और [(अहम्) मैं] (अवस्तात्) पीछे के समय में (ऋध्यासम्) सुखों से बढ़ती जाऊँ। (यत्) जिस (देवानाम्) विद्वानों की (गुहा) बुद्धि में स्थित (अन्तरिक्षम्) सत्यविज्ञान को [(अहम्)] मैं प्राप्त होती हूं [(तत्)] उसी को आप भी प्राप्त हो [(उ)] और जो (मे) मेरा (पिता) पालन करनेहारा [पिता वा अध्यापक] (अभूत्) है † [उससे पूर्ण विद्या को प्राप्त कर] (अहम्) मैं [(यत्)] जिस [(परम्) उत्कृष्ट] (सूर्य्यम्) चर अचर के आत्मा रूप परमेश्वर को (उभयतः‡) पूर्वापरभाव से (ददर्श)◊ देखती हूँ उसी को आप भी देखो ॥ ९ ॥

भावार्थः—स्त्री और पुरुष विवाह से पहिले परस्पर एक दूसरे की परीक्षा करके अपने समान गुण कर्म्म स्वभाव रूप बल आरोग्य पुरुषार्थ और विद्यायुक्त होकर स्वयंवर विधि से विवाह करके ऐसा यत्न करें कि जिस से धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि को प्राप्त हों। जिसके माता और पिता विद्वान् न हों उनके सन्तान भी उत्तम नहीं हो सकते, इससे अच्छी शिक्षा और पूर्ण विद्या को ग्रहण करके ही गृहाश्रम के आचरण करें, इसके पूर्व नहीं ॥ ९ ॥

अग्ना ३ इ पत्नीवन्नित्यस्य भरद्वाज ऋषिः। गृहपतयो देवताः। विराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

(ददर्श) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः ॥

(गुहा) गुहः कन् (उ० ५। ४६ श्वेतवन०) नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] पूर्वोक्त को ही दृढ़ करते हैं—॥ ९ ॥

❀ 'यस्य' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥　　† 'हो' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ '(उभयतः) उसके अगले पिछले उन शिक्षा विषयों से' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

◊ 'देखूं उसी को तू भी देख' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

पत्नी स्वपुरुषस्य कथं प्रशंसां प्रार्थनाञ्च कुर्य्यादित्युपदिश्यते[1] ॥

अग्ना३इ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा ।
प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥ १० ॥

अग्ना३इ । पत्नीवन्निति पत्नीऽवन् । सजूरिति सऽजूः । देवेन । त्वष्ट्रा । सोमम् । पिब । स्वाहा ॥ प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । वृषा । असि । रेतोधा इति रेतःऽधाः । रेतः । मयि । धेहि । प्रजापतेरिति प्रजाऽपतेः । ते । वृष्णः । रेतोधस × इति रेतःऽधसः । रेतोधामिति ॐ रेतःऽधाम् । अशीय ॥ १० ॥

पदार्थः—(अग्ना ३ इ[2]) सर्वसुखप्रापक ! (पत्नीवन्) प्रशस्ता यज्ञसम्बन्धिनी पत्नी यस्य तत्सम्बुद्धौ (सजूः) यः समानं जुषते सः (देवेन) दिव्यसुखप्रदेन (त्वष्ट्रा) सर्वदुःखविच्छेदकेन गुणेन (सोमम्) सोमवल्ल्यादिनिष्पन्नमाह्लादकमासवविशेषम् (पिब) (स्वाहा) सत्यवाग्विशिष्टया क्रियया (प्रजापतिः) सन्तानादिपालकः (वृषा) वीर्य्यसेचकः (असि) (रेतोधाः) रेतो वीर्य्यं दधातीति (रेतः) वीर्य्यम् (मयि) विवाहितायां स्त्रियाम् (धेहि) धर (प्रजापतेः) सन्तानादिरक्षकस्य (ते) तव (वृष्णः) वीर्य्यवतः (रेतोधसः) पराक्रमधारकस्य (रेतोधाम्) वीर्य्यधारकमिति पराक्रमवन्तम्पुत्रम् (अशीय) प्राप्नुयाम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । २ । १५–१८ व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे अग्ने स्वामिन् ! यथा सजूस्त्वं देवेन त्वष्ट्रा स्वाहा सोमं पिब । हे पत्नीवन् त्वं वृषा रेतोधाः प्रजापतिरसि मयि रेतो धेहि । हे स्वामिन्नहं वृष्णो रेतोधसः प्रजापतेस्ते तव सकाशाद् रेतोधां पुत्रमशीय ॥ १० ॥

भावार्थः—इह जगति मनुष्यजन्म प्राप्य स्त्रीपुरुषौ ब्रह्मचर्य्योत्तमविद्यासद्गुणपराक्रमिणौ भूत्वा विवाहं कुर्य्यातां, विवाहमर्य्यादयैव सन्तानोत्पत्तिरतिक्रीडाजन्यसुखसम्भोगं प्राप्य नित्यं ‡ प्रमोदेताम् । विना विवाहेन पुरुषः स्त्रियं, † स्त्री पुरुषं वा मनसापि नेच्छेद्, यतः स्त्रीपुरुषसंबन्धेनैव मनुष्यवृद्धिर्भवति, तस्माद् गृहाश्रमं कुर्य्याताम् ॥ १० ॥

---

[1] पत्युरुपहर्षेण कथं पुत्रोत्पत्तिरतः पतिप्रेमप्राप्त्यै च पत्नी तं कथं प्रशंसेदित्याह—

[2] एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्द्धस्यादुत्तरस्येदुतौ (अ० ८ । २ । १०७) इति छान्दसो प्लुतविकारः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पत्नीवन्) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इत्यविद्यमानत्वे पूर्ववत् स्वरः ॥

(पिब) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ।

(रेतोधाः) कृत्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(रेतः) सुरिभ्यां तुट् च (उ० ४ । २०२) इत्यसुन् प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः ।

(रेतोधाम्) अत्र क्विप् प्रत्ययः, स्वरः पूर्ववत् ।

(वृषा, वृष्णः) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः (उ० १ । १५६) इति कनिन्, नित्त्वादाद्युदात्तः ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

× 'इति रेतःऽधसः' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ ॐ '०मिति रेतः धाम्' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥
‡ 'प्रमुदेताम्' इति अ० मुद्रिते कोशेषु चापपाठ इति ध्येयम् ॥
† 'वा स्त्री पुरुषं मनसा' इति अ० मु० पाठः ॥

स्त्री अपने पुरुष की किस प्रकार से प्रशंसा और प्रार्थना करे इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) समस्त सुख पहुंचानेवाले स्वामिन् ! ‡ (सजूः) समान प्रीति करनेवाले आप मेरे (देवेन) दिव्य सुख देनेवाले (त्वष्ट्रा) समस्त दुःख विनाश करनेवाले गुण के साथ (स्वाहा) सत्य वाणी युक्त क्रिया से (सोमम्) सोमवल्ली आदि ओषधियों के विशेष आसव को (पिब) पियो । हे (पत्नीवन्) प्रशंसनीय यज्ञ सम्बन्धिनी स्त्री को ग्रहण करने (वृषा) वीर्य्य सीचने (रेतोधाः) वीर्य्य धारण करने (प्रजापतिः) और सन्तानादि के पालने वाले जो आप (असि) हैं, वह (मयि) मुझ विवाहित स्त्री में (रेतः) वीर्य्य को (धेहि) धारण कीजिये । हे स्वामिन् मैं (वृष्णः) वीर्य्य सीचने (रेतोधसः) पराक्रम धारण करने (प्रजापतेः) सन्तान आदि की रक्षा करने वाले (ते) आप के संग से (रेतोधाम्) वीर्य्यवान् अति पराक्रम युक्त पुत्र को (अशीय) प्राप्त होऊँ ॥ १० ॥

भावार्थः—इस संसार में मनुष्य जन्म को पाकर स्त्री और पुरुष ब्रह्मचर्य उत्तम विद्या अच्छे गुण और पराक्रम युक्त होकर विवाह करें । विवाह की मर्यादा ही से सन्तानों की उत्पत्ति और रति क्रीडा से उत्पन्न हुए सुख को प्राप्त होकर नित्य आनन्द में रहें । विना विवाह के स्त्री पुरुष वा पुरुष स्त्री के समागम की इच्छा मन से भी न करें, ॐ क्योंकि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध से ही मनुष्य व्यक्ति की बढ़ती होती है, इससे गृहाश्रम का आरम्भ स्त्री-पुरुष करें ॥ १० ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । गृहपतयो देवताः ।
† भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनर्गार्हस्थ्यधर्म्ममाह[2] ॥

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा ।
हर्य्योर्धाना स्थ सहसोमाऽइन्द्राय ॥ ११ ॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । हरिः । असि । हारियोजन इति हारिऽयोजनः । हरिभ्यामिति हरिऽभ्याम् । त्वा ॥ हर्य्योः । धानाः । स्थ । सहसोमा इति सहऽसोमाः । इन्द्राय ॥ ११ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) उपयामाय[3] गृहाश्रमाय गृहीतः (असि) (हरिः) हरते वहते यथायोग्यं गृहाश्रमव्यवहारान् (असि) (हारियोजनः) हरीन् योजयति यः सारथिः स हरियोजनः हरियोजन एव हारियोजनस्तद्वत् (हरिभ्याम्) सुशिक्षिताभ्यां तुरङ्गाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (हर्य्योः) अश्वयोः (धानाः) धारकाः, अत्र दधातेरौणादिको नप्रत्ययः (स्थ) भवत (सहसोमाः) सोमेन श्रेष्ठगुणसमूहेन सह वर्त्तमाना इव (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यप्राप्तये ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ३ । १–१० व्याख्यातः ॥ ११ ॥

१ पति की प्रसन्नता के विना पुत्रोत्पत्ति कैसे हो सकती है, पति का प्रेम स्त्री को अवश्य प्राप्तव्य है, इस कारण पत्नी अपने पतिदेव की प्रशंसा कैसे करे सो दर्शाते हैं— ॥ १० ॥

२ तत्फलमाह—

३ उपयम्यतेऽनेनेति उपयामः, करणे घञ् ॥

‡ '(सजूः) समानप्रीतिगुणों के साथ (स्वाहा)' इति पाठोऽस्पष्टः, संस्कृतपदार्थे संस्कृतान्वये, भाषापदार्थे च भेद इति ध्येयम् ॥

ॐ इतोऽग्रे 'जिससे मनुष्य व्यक्ति की बढ़ती होती' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

† 'निचृदार्ष्यनु०' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

अन्वयः—हे पते ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि हारियोजन इव हरिरसि, अतो हरिभ्यां युक्ते स्यन्दने विराजमानं त्वा त्वामहं सेवे । यूयं गृहाश्रमिणः सन्त इन्द्राय सहसोमाः सन्तो हर्य्योर्धाना स्थ ॥ ११ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्य्यसंस्कृता विवाहमिच्छवो युवतयः कन्या युवानश्चान्योन्यस्य धनोन्नतिं परीक्ष्य विवाहं ❀कुर्युः, नो चेद्धनाभावे दुःखोन्नतिर्भवेत् । एवमुपयम्य परस्परमाह्लादयन्तः सन्तः प्रतिदिनमैश्वर्य्यमुन्नयेयुः ॥ ११ ॥

फिर गृहस्थों का धर्म अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे पते ! आप (उपयामगृहीतः) गृहाश्रम के लिये ग्रहण किये हुए (असि) हैं (हारियोजनः) घोड़ों को जोड़नेवाले सारथि के समान (हरिः) यथायोग्य गृहाश्रम के व्यवहार को चलानेवाले (असि) हैं, इस कारण (हरिभ्याम्) अच्छी शिक्षा को पाए हुए घोड़ों से युक्त रथ में विराजमान (त्वा) आप की मैं सेवा करूँ । तुम लोग गृहाश्रम करनेवाले (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (सहसोमाः) उत्तम गुणयुक्त होकर (हर्य्योः) वेगादि गुणवाले घोड़ों को (धानाः) रथादिकों में स्थापन [= धारण] करनेवाले (स्थ) होओ ॥ ११ ॥

भावार्थः—ब्रह्मचर्य्य से शुद्ध शरीर सद्गुण सद्विद्या युक्त होकर विवाह की इच्छा करनेवाले कन्या और पुरुष युवावस्था को पहुंच और परस्पर एक दूसरे के धन की उन्नति को अच्छे प्रकार देखकर विवाह करें, नहीं तो धन के अभाव में दुःख की उन्नति होती है । इस लिये उक्त गुणों से विवाह कर [परस्पर] आनन्दित [करते] हुए प्रतिदिन ऐश्वर्य्य की उन्नति करें ॥ ११ ॥

यस्त इत्यस्य ☙ भरद्वाज ऋषिः । गृहपतयो देवताः । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ गृहस्थानां मित्रतामाह[2] ॥

यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य तऽइष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि ॥ १२ ॥

यः । ते । अश्वसनिरित्यश्वऽसनिः । भक्षः । यः । गोसनिरिति गोऽसनिः । तस्य । ते । इष्टयजुष इतीष्टऽयजुषः† । स्तुतस्तोमस्येति स्तुतऽस्तोमस्य । शस्तोक्थस्येति शस्तऽउक्थस्य । उपहूतस्येत्युपऽहूतस्य । उपहूत इत्युपऽहूतः । भक्षयामि ॥ १२ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हारियोजनः) प्रज्ञादिभ्यश्च (अ० ५ । ४ । ३८) इति स्वार्थेऽण् , प्रत्ययस्वरः ॥

(धानाः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सहसोमाः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । एवादीनामन्तः (फिट्सूत्र ८२) इत्यन्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥ ११ ॥

[1] पूर्वोक्त का फल दर्शाते हैं—

[2] अतिसम्मानयुक्तेन मनसा हृदयान्तर्भावैश्च पत्नी स्वपतिं प्रसादयेद् इत्याह—

❀ 'कुर्याताम्' इति अ० मुद्रिते ऽपपाठः ॥

† 'इति इष्टऽयजुषः' इति सन्धिरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

☙ 'भारद्वाजः' इति अ० मु० अपपाठः ॥

पदार्थः—(यः) (ते) तव (अश्वसनिः) अश्वानामग्न्यादिपदार्थानां वा सनिर्दाता (भक्षः) सेवनीयः (यः) (गोसनिः) गोः संस्कृतवाचो भूमेर्विद्याप्रकाशादेः सनिर्दाता (तस्य) (ते) तव (इष्टयजुषः) इष्टानि यजूंषि यस्य (स्तुतस्तोमस्य) स्तुतः स्तोमः[1] सामवेदगानविशेषो येन * तस्य (शस्तोक्थस्य) शस्तानि प्रशंसितानि उक्थानि ऋक्सूक्तानि येन तस्य (उपहूतस्य) † सत्कारेणाहूतस्योपस्थितस्य (उपहूतः) सम्मानित उपस्थितः (भक्षयामि) लेट्प्रयोगोऽयम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ३ । ११–१३ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे प्रिय वीरपते ! यस्त्वं मयोपहूतोऽश्वसनिर्गोसनिरसि, तस्य शस्तोक्थस्येष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्योपहूतस्य [ते] तव यो भक्षोऽस्ति तमुपहूता सत्यहं भक्षयामि । हे प्रिये सखि ! या त्वमश्वसनिर्गोसनिरसि, तस्याः शस्तोक्थाया इष्टयजुषः स्तुतस्तोमाया उपहूतायास्ते तव यो भक्षोऽस्ति तमुपहूतोऽहं भक्षयामि ॥ १२ ॥

भावार्थः—सदुत्साहवर्द्धकेषु कार्य्येषु गृहाश्रममाचरन्त्यः स्त्रियः स्वसखिस्त्रीजनान् गृहाश्रमिणः पुरुषा वा स्वेष्टमित्रबन्धुजनादीनाहूय यथायोग्यं सत्कारेण भोजनादिना प्रसादयेयुरन्योन्यमुपदेशं शास्त्रार्थं विद्यावाग्विलासं च कुर्य्युः ॥ १२ ॥

अब गृहस्थों की मित्रता अगले मन्त्र में कही है[2] ॥

पदार्थः—हे प्रिय वीर पुरुष मित्र [पतिदेव ! (यः)] जो आप (उपहूतः) मुझ से सत्कार [को] प्राप्त होकर (अश्वसनिः) अग्नि आदि पदार्थ वा घोड़ों और (गोसनिः) संस्कृत वाणी भूमि और विद्या प्रकाश आदि अच्छे पदार्थों के देनेवाले (असि) हैं, [(तस्य)] उन (शस्तोक्थस्य) ‡ऋक्सूक्तों के उच्चारण करनेवाले (इष्टयजुषः) ()यजुर्वेद से यज्ञ करनेवाले (स्तुतस्तोमस्य) सामवेद के गान के प्रशंसा करनेहारे [(उपहूतस्य) सत्कार से बुलाने पर उपस्थित हुये] (ते) आप का (यः) जो (भक्षः) चाहना से भोजन करनेयोग्य

१ 'प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्' इति मीमांसकाः । स च स्तोम एव ॥

'अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्' इति मीमांसकाः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अश्वसनिः, गोसनिः) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् (अ० ३ । २ । २७) इति इन् प्रत्ययः । ततः कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । सवनादित्वात् (अ० ८ । ३ । ११०) इति गोसनिशब्दे षत्वं न भवति । ऋग्वेदे (ऋ० ६ । ३ । १०) तु षत्वं दृश्यते । भाष्यं स्वर्थपरम्, न विग्रहपरम्, विग्रहस्तु 'अश्वान् गाः वा सनोति' इत्येव ॥

(भक्षः) भक्ष्यत इति भक्षः । कर्मणि घञ् । भक्षमन्थभोगदेहाः (अ० ६ । १ । १६० ग० सू०) इत्यन्तोदात्तत्वम् ।

(इष्टयजुषः, स्तुतस्तोमस्य, शस्तोक्थस्य) सर्वत्र बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अन्तिमशब्दे स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८ । २ । ६) इत्येकादेश उदात्तः ॥

(उपहूतस्य) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ पत्नी अत्यन्त आदर तथा हृदय के आन्तरिक भावों से अपने पतिदेव को सदैव प्रसन्न रखे, अतः कहते हैं—॥ १२ ॥

* 'स' इत्यपपाठो अ० मुद्रिते ॥ † 'सत्कारेणाहूयोपस्थितस्य' इत्यजमेरमुद्रिते कोशेषु च पाठः ॥
‡ 'प्रशंसित ऋग्वेद के सूक्तयुक्त' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः ॥
() 'इष्टसुखकारक यजुर्वेद के भागयुक्त वा' इति अ० मुद्रिते पाठः, कोशेषु च ॥

पदार्थ है उसको आप से सत्कृत हुई मैं (भक्षयामि) भोजन करूं। तथा हे प्रिये सखि [पत्नि] जो तू अग्नि आदि पदार्थ वा घोड़ों के देने और संस्कृत वाणी भूमि विद्या प्रकाश आदि अच्छे २ पदार्थ देनेवाली है, उस + ऋक्सूक्तों के उच्चारण यजुर्वेद से यज्ञ और सामगान करनेवाली तेरा जो यह भोजन करने योग्य पदार्थ है, उसको अच्छे मान से बुलाया हुआ मैं भोजन करता हूँ ॥ १२ ॥

भावार्थः—अच्छे उत्साह बढ़ानेवाले कामों में गृहाश्रम का आचरण करनेवाली स्त्री अपनी सहेलियों❀ को तथा गृहाश्रमी पुरुष अपने इष्टमित्र और बन्धुजन आदि को बुलाकर भोजन आदि पदार्थों से यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करें, और परस्पर भी सदा प्रसन्न रहें और उपदेश शास्त्रार्थ विद्यावाग्विलास को करें ॥ १२ ॥

देवकृतस्येत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। गृहपतयो विश्वेदेवा देवताः। [देवकृतस्येत्यस्य निचृत्साम्न्युष्णिक्]। मनुष्यकृतस्येत्यस्य साम्न्युष्णिक्। पितृकृतस्येत्यस्यात्मकृतस्येत्यस्य च निचृत्साम्न्युष्णिक्। एनस इत्यस्य प्राजापत्योष्णिक्। यच्चाहमित्यस्य निचृदार्ष्युष्णिक् च छन्दांसि। ऋषभः स्वरः॥

पूर्वोक्तविषयं प्रकारान्तरेणाह[१]॥

दे॒वकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि मनु॒ष्य॒कृतस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि पि॒तृकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमस्यात्मकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमस्येन॑स ऽ एनसोऽव॒यज॑नमसि। यच्चा॒हमेनो॑ वि॒द्वाँश्च॒कार॒ यच्चावि॑द्वाँ॒स्तस्य॒ सर्व॑स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि ॥ १३ ॥

दे॒वकृ॑त॒स्येति॑ दे॒वऽकृ॑तस्य। एन॑सः। अ॒व॒यज॑न॒मित्य॑व॒ऽयज॑नम्। अ॒सि॒। म॒नु॒ष्य॒कृ॒त॒स्येति॑ * मनुष्यऽकृतस्य। एन॑सः। अ॒व॒यज॑न॒मित्य॑व॒ऽयज॑नम्। अ॒सि॒। पि॒तृकृ॑त॒स्येति॑ पि॒तृऽकृ॑तस्य। एन॑सः। अ॒व॒यज॑न॒मित्य॑व॒ऽयज॑नम्। अ॒सि॒। आ॒त्मकृ॑त॒स्येत्या॒त्मऽकृ॑तस्य। एन॑सः। अ॒व॒यज॑न॒मित्य॑व॒ऽयज॑नम्। अ॒सि॒। † एन॑स एन॒स॒ इत्येन॑सःऽएनसः। अ॒व॒यज॑न॒मित्य॑व॒ऽयज॑नम्। अ॒सि॒॥ यत्। च॒। अ॒हम्। एनः॑। वि॒द्वान्। च॒कार॑। यत्। च॒। अवि॑द्वान्। तस्य॑। सर्व॑स्य। एन॑सः। अ॒व॒यज॑न॒मित्य॑व॒ऽयज॑नम्। अ॒सि॒॥ १३ ॥

पदार्थः—(देवकृतस्य) दानशीलकृतस्य (एनसः) पापस्य (अवयजनम्) पृथक्करणम् (असि) (मनुष्यकृतस्य) साधारणजनेनाचरितस्य (एनसः) अपराधस्य (अवयजनम्) दूरीकरणम् (असि) (पितृकृतस्य) जनककृतस्य (एनसः) विरोधाचरणस्य (अवयजनम्) परिहरणम् (असि) (आत्मकृतस्य) स्वयमाचरितस्य (एनसः) पापस्य (अवयजनम्) (असि) (एनसः) (एनसः) अधर्मस्याधर्मस्य (अवयजनम्) परिहरणम् (असि) (यत्) (च) अतीते काले वर्त्तमाने [भविष्यति च] (अहम्) (एनः) अधर्माचरणम् (विद्वान्) जानन् सन् (चकार) कृतवान् करोमि करिष्यामि वा। अत्र छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अ० ३। ४। ६] इति कालसामान्ये लिट्। (यत्) (च) अविद्यासमुच्चये (अविद्वान्) अजानन् सन् (तस्य) (सर्वस्य) (एनसः) दुष्टाचरणस्य (अवयजनम्) दूरीकरणम् (असि) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ३। ६। १ व्याख्यातः[२]॥ १३ ॥

१ तदेव प्रकारान्तरेण ब्रवीति—

२ प्रतीकरहितो ऽयं मन्त्रः शतपथब्राह्मणे व्याख्यातः। पृ० २३८ ॥

+ 'प्रशंसनीय ऋक्सूक्त यजुर्वेद भाग से स्तुति किये हुए सामगान' इति अ० मु० पाठः।

❀ 'सहेलियों वा पुरुष गृहाश्रमि पुरुष' इति अ० मुद्रिते ऽपपाठः॥

* 'मनुष्य ऽ कृतस्य' इत्यशुद्धः स्वरोऽजमेरमुद्रिते॥ † 'एनस ऽ एनस इत्येनसः' इति बहुधाऽशुद्धोऽजमेरमुद्रिते।

अन्वयः—हे सर्वोपकारिन् सखे ! त्वं देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि, आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। एनस एनसोऽवयजनमसि, विद्वानहं यच्चैनः पापं चकार कृतवान्, करोमि, करिष्यामि, अविद्वानहं यच्चैनः कृतवान् करोमि करिष्यामि वा तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनं चासि ॥ १३ ॥

अत्रोपमालङ्कारः † ॥

भावार्थः—यथा विद्वान् गृहाश्रमी पुरुषो दानादिप्रसक्तपुरुषाणामपराधदूरीकरणे प्रयतेत, जानन्नजानन् वात्मकृतमपराधं स्वयं त्यजेदन्यकृतमन्यस्मान्निवारयेत् । तथानुष्ठाय सर्वे यथोक्तं सुखं प्राप्नुयुरिति ॥ १३ ॥

अगले मन्त्र में पूर्वोक्त विषय प्रकारान्तर से कहा है[२] ॥

पदार्थः—हे सबके उपकार करनेवाले मित्र ! आप (देवकृतस्य) दान देनेवाले के (एनसः) अपराध के (अवयजनम्) विनाश करनेवाले (असि) हो, (मनुष्यकृतस्य) साधारण मनुष्यों के किये हुए (एनसः) अपराध के (अवयजनम्) विनाश करनेवाले (असि) हो, (पितृकृतस्य) पिता [आदि] के किये हुए (एनसः) विरोध आचरण के (अवयजनम्) अच्छे प्रकार हरनेवाले (असि) हो, (आत्मकृतस्य) अपने‡ किये (एनसः) पाप के (अवयजनम्) दूर करनेवाले (असि) हो, (एनसः) (एनसः) अधर्म्म अधर्म्म के (अवयजनम्) नाश करनेहारे (असि) हो, (विद्वान्) जानता हुआ [(अहम्)] मैं (यत्) जो (च) कुछ भी [तीनों कालों में] (एनः) अधर्माचरण (चकार) किया, करता हूँ वा करूँ, (अविद्वान्) ❀न जानता हुआ मैं (यत्) जो (च) कुछ भी पाप किया, करता हूँ वा करूँ, (तस्य) उस (सर्वस्य) सब (एनसः) दुष्ट आचरण के (अवयजनम्) दूर करनेवाले आप (असि) हैं ॥ १३ ॥

१ मन्त्रोऽयं आर्याभिविनये प्रकाश २ मं० १९ च व्याख्यातः । पृ० १८९ (लवपुरसंस्करणम्) ।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(देवकृतस्य) तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।

(एनसः) य० ३ । ४५ पृ० ३२४ व्याख्यातः ॥

(अवयजनम्) कृत्स्वरेण प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् ॥

(मनुष्यकृतस्य) पूर्ववदत्रापि पूर्वपदप्रकृतिस्वरे तित् स्वरितम् (अ० ६ । १ । १८५) इतीष्टस्वरसिद्धिः ॥

(पितृकृतस्य) तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।

(आत्मकृतस्य) तृतीया कर्मणि (अ०६।२।४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे सातिभ्यां मनिन्मनिणौ (उ० ४ । १५३) इति प्रत्ययस्वरेण पूर्वपदस्यान्तोदात्तत्वम् ॥

(एनस एनसः) वीप्सायां द्वित्वं, अनुदात्तं च (अ० ८ । १ । ३) इत्यनुदात्तः ॥

(विद्वान्) विदेः शतुर्वसुः (अ० ७ । १ । ३६) इति वस्वादेशे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(चकार) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः ॥

(अविद्वान्) नञ्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ पूर्वोक्त विषय को प्रकारान्तर से कहते हैं—

† पाठोऽयं मन्त्रार्थेन सहासम्बद्ध इव प्रतिभाति, तथैव च भाषायामपीति ॥
‡ 'अपने कर्त्तव्य' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥ ❀ 'अनजान मैं' इति अ० मु० पाठः ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे विद्वान् गृहस्थ पुरुष दान आदि अच्छे काम के करनेवाले जनों के अपराध दूर करने में अच्छा प्रयत्न करें। जाने वा बिना जाने अपने† किये अपराध को आप छोड़ें तथा औरों के किये हुए अपराध को औरों से छुड़ावें, वैसे कर्म करके सब लोग यथोक्त समस्त सुखों को प्राप्त हों ॥ १३ ॥

सं वर्चसेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। गृहपतयो देवताः। विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह[1] ॥

सं वर्चसा पर्यसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १४ ॥‡

सम्। वर्चसा। पयसा। सम्। तनूभिः। अगन्महि। मनसा। सम्। शिवेन ॥ त्वष्टा। सुदत्र इति सुऽदत्रः। वि। दधातु। रायः। अनु। मार्ष्टु। तन्वः। यत्। विलिष्टमिति विऽलिष्टम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—(सम्) क्रियायोगे (वर्चसा) अध्ययनाध्यापनप्रकाशेन (पयसा) जलेनान्नेन वा, पय इत्युदकनामसु पठितम्। निघ० १।१२। अन्ननामसु च। निघ० २।७। (सम्) (तनूभिः) शरीरैः (अगन्महि) प्राप्नुयाम, अत्र गम्लृधातोर्लिङर्थे लुङ्। मन्त्रे घसह्वर० [अ० २।४।८०] इत्यादिना च्लेर्लुक्। म्वोश्च। अ० ८।२।६५ इति मस्य नः। (मनसा) विज्ञानवतान्तःकरणेन (सम्) (शिवेन) कल्याणकारकेण (त्वष्टा) सर्वव्यवहाराणां ()तनुकर्ता (सुदत्रः) सुदानः (वि) (दधातु) करोतु (रायः) धनानि (अनु) (मार्ष्टु) पुनः पुनः शुन्धतु (तन्वः) शरीरस्य (यत्) (विलिष्टम्) विशेषेण न्यूनमङ्गम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४।४।३।१४-१५ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे अध्यापक त्वष्टा सुदत्रो विद्वान् भवान् संशिवेन मनसा संवर्चसा पयसा यत्तन्वो विलिष्टमनुमार्ष्टु रायो विदधातु तत्तानि च वयं तनूभिः समगन्महि[2] ॥ १४ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः❀ ॥

भावार्थः—मनुष्याणां योग्यतास्ति [यत्ते] पुरुषार्थेन विद्यां सम्पाद्य, विधिवदन्नोदकं संसेव्य, शरीराण्यारोग्यीकृत्य, मनो धर्म्मे निवेश्य सदा सुखोन्नतिं कृत्वा या काचिन्न्यूनतास्ति तां सम्पूरयन्तु, यथा कश्चित् सुहृत् सख्युः सुखाय वर्त्तेत, तथा तत्सुखाय स्वयमपि वर्तेत ॥ १४ ॥

---

१ परस्परं मैत्रीभावेनैव दम्पती व्यवहरेतां, तेनैव सुखसम्पत्तिसम्भव इत्यत आह—

२ मन्त्रोऽयं देवताभेदेन पूर्वं (य० २। २४ पृ० २१४) व्याख्यातः। अग्रेऽपि य० ८।१६ अर्थभेदेन व्याख्यातः॥

† 'कर्त्तव्य अर्थात् जिसको किया चाहता हो उस' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ अत्र मन्त्रे ग हस्तलेखे मार्जनस्थानेऽधोलिखितः पाठः ऋषिदयानन्देन स्वहस्तेन लिखितः—"सर्वत्र त्वष्टा ही है। इसी को मन्त्र और पद में त्वष्टा ही को शोध के त्वष्टा बना ही दिया है। जिसको हम करते हैं वह तो ठीक होता है, जो दूसरे से कराते हैं वही गड़बड़ होता है। हमने मन्त्र पद शोधवाया था सो शुद्ध है और बाकी पण्डित से शोधवाया था वही अशुद्ध रहा" । ग हस्तलेख पृ० १०२ ॥

() 'तनुकर्त्ता' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः। अन्यथा पूर्वा टिप्पणी द्रष्टव्या ॥

❀ पाठोऽयं मन्त्रार्थेन सहासम्बद्ध इव प्रतिभाति, तथैव च भाषायामपि ॥

फिर भी मित्र कृत्य का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे सब विद्याओं के पढ़ाने [वाले अध्यापक] (त्वष्टा) सब व्यवहारों के विस्तारकारक (सुदत्रः) अत्युत्तम दान के देनेवाले विद्वन्! आप (संशिवेन) ठीक २ कल्याणकारक (मनसा) विज्ञानयुक्त अन्तःकरण (संवर्चसा) अच्छे अध्ययन अध्यापन के प्रकाश (पयसा) जल और अन्न से (यत्) जिस (तन्वः) शरीर की (विलिष्टम्) विशेष न्यूनता को (अनुमार्ष्टु) अनुकूल शुद्धि से पूर्ण और (रायः) उत्तम धनों को (विदधातु) विधान करो, *उस पूर्णता और उन धनों को हम लोग (तनूभिः) ब्रह्मचर्यव्रतादि सुनियमों से बलयुक्त शरीरों से (समगन्महि) सम्यक् प्राप्त हों ॥ १४ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि पुरुषार्थ से विद्या का सम्पादन, विधिपूर्वक, अन्न और जल का सेवन, शरीरों को नीरोग और मन को धर्म में निवेश करके सदा सुख की उन्नति करें और जो कुछ न्यूनता हो उसको परिपूर्ण करें, तथा जैसे कोई मित्र तुम्हारे सुख के लिये वर्त्ताव वर्त्ते, वैसे उसके सुख के लिये आप भी वर्त्तो ॥ १४ ॥

समिन्द्रेत्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतिर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मित्रकृत्यमाह[2] ॥

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सꣳ सूरिभिर्मघवन्त्सꣳ स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाꣳ सुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा ॥ १५ ॥

सम् । इन्द्र । नः । मनसा । नेषि । गोभिः । सम् । सूरिभिरिति सूरिऽभिः । मघवन्निति मघऽवन् । सम् । स्वस्त्या ॥ सम् । ब्रह्मणा । देवकृतमिति देवऽकृतम् । यत् । अस्ति । सम् । देवानाम् । सुमताविति सुऽमतौ । यज्ञियानाम् । स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सम्) (इन्द्र) परमैश्वर्य्ययुक्त गृहपते ! (नः) अस्मान् (मनसा) विज्ञानसहितेनान्तःकरणेन (नेषि) प्राप्नोषि[3] । अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७२] इति शबभावः[4] । (गोभिः)

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वर्चसा, सुदत्रः) पूर्वं य० २ । २४ पृ० २१५ व्याख्यातः ॥

(तनूभिः) य० १ । १५ पृ० ८२ व्याख्यातः॥

(मार्ष्टु) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ।

(तन्वः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः तनुशब्दः, तत ऊङ्, एकादेशः । ततो यणादेशे उदात्तस्वरितयोर्यणः० (अ० ८ । २ । ४) इति ङसः स्वरितत्वम् उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति तु नोङ्धात्वोः (अ० ६ । १ । १७५) इत्यनेन निषिध्यते ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ स्त्री पुरुष आपस में मित्रभाव से वर्त्तें, उसी से सुख की प्राप्ति हो सकती है, इस कारण कहते हैं—॥१४॥

२ पूर्वोक्तमेव प्रकारान्तरेणाह—

३ अन्तर्णीतण्यर्थोऽत्र बोध्यः ॥

४ लुगित्यर्थः ॥

* 'उस देह और शरीरों को हम लोग' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

धेनुभिः सुष्ठुवाग्युक्तैर्व्यवहारैर्वा (सम्) (सूरिभिः[1]) मेधाविभिर्विद्वद्भिरिव (मघवन्) परमपूजितधनयुक्त! (सम्) (स्वस्त्या) सुखेन (सम्) (ब्रह्मणा) बृहता वेदज्ञानेन धनेन वा, ब्रह्मेति धननामसु पठितम्। निघ० २।१०। (देवकृतम्) इन्द्रियकृतं कर्म्म (यत्) (अस्ति) [(सम्)] (देवानाम्) आप्तानां विपश्चिताम् (सुमतौ) शोभनायां बुद्धाविव (यज्ञियानाम्) यज्ञस्य पर्ति विधातुमर्हाणाम् (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ४।४।४।७ व्याख्यातः ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे मघवन्निन्द्र विद्यादिपरमैश्वर्य्ययुक्त समध्यापकोपदेशक! यतस्त्वं मनसा सन्मार्गं गोभिः संस्वस्त्या पुरुषार्थं सूरिभिः सह ब्रह्मणा विद्यां [यत्] यज्ञियानां देवानां स्वाहा सुमतौ देवकृतं ❀यज्ञकृतम् [अस्ति तत्] नोऽस्मान् संनेषि तस्मात् †त्वमस्माभिः सत्कर्त्तव्योऽसि ॥ १५ ॥

भावार्थः—गृहस्थैर्विद्वांसोऽतः पूजनीया यतस्ते बालकान् स्वशिक्षया सुगुणयुक्तान् राजप्रजाजनांश्चैश्वर्य्यसहितान् सम्पादयन्ति ॥ १५ ॥

फिर मित्र का कृत्य अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (मघवन्) पूज्य धनयुक्त (इन्द्र) सत्यविद्यादि ऐश्वर्य सहित [गृहपते!] (सम्) सम्यक् पढ़ाने और उपदेश करनेहारे आप जिससे (सम् मनसा) उत्तम अन्तःकरण से (सम्) अच्छे मार्ग (गोभिः) गौओं वा (सम्) (स्वस्त्या) अच्छे २ वचनयुक्त सुखरूप व्यवहारों से (सूरिभिः) विद्वानों के साथ (ब्रह्मणा) वेद के विज्ञान वा धन से विद्या और (यत्) जो (यज्ञियानाम्) यज्ञ के पालन करनेवाले वा करने योग्य (देवानाम्) विद्वानों की (स्वाहा) सत्य वाणी युक्त (सुमतौ) श्रेष्ठ बुद्धि में (देवकृतम्) विद्वानों का* किया कर्म [(अस्ति)] है उनको सत्यवाणी से (नः) हम लोगों को (संनेषि) सम्यक् प्रकार से प्राप्त कराते हो, इसी से आप हमारे पूज्य हो ॥ १५ ॥

भावार्थः—‡गृहस्थ जनों के द्वारा विद्वान् लोग इसलिये सत्कार करने योग्य हैं कि वे बालकों को अपनी शिक्षा से गुणवान् और राजा तथा प्रजा के जनों को ऐश्वर्य्ययुक्त करते हैं ॥ १५ ॥

---
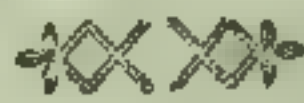
1 सूरिः इति स्तोतृनाम। निघ० ३।१६॥ सूङः क्रिः उ० ४।६४ इति 'क्रिः' प्रत्ययः, सूते प्राणिनः प्रसवति समर्थयतीति। (द्र० पूर्व यजुः ६।५ पृ० ५२२)॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नेषि) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

(स्वस्त्या) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तत्व उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६।१।१७४) इति विभक्तिरुदात्ता॥

(यज्ञियानाम्) यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ (अ० ५।१।७१) इति घः, इयादेशे प्रत्ययस्वरेण द्वितीय उदात्तः।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

2 प्रकारान्तर से पूर्वोक्त ही कहते हैं— ॥ १५ ॥

❀ 'देवकृतम्' इत्यस्य संस्कृतपदार्थे 'इन्द्रियकृतं कर्म', भाषापदार्थे तु 'विद्वानों के किए हुए कर्म' इति भिन्नार्थौ पाठावुपलभ्येते ॥

† 'भवान्' इत्यशुद्धोऽजमेरमुद्रिते। उत्तरत्रासिक्रियादर्शनात् पूर्वं च त्वं श्रवणात् ॥

* 'विद्वानों के किये कर्म हैं' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'गृहस्थ जनों को विद्वान्' इति अ० मु० पाठः ॥

सं वर्चसा इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतिर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह[1] ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

सम् । वर्चसा । पयसा । सम् । तनूभिः । अगन्महि । मनसा । सम् । शिवेन ॥ त्वष्टा । सुदत्र इति सुऽदत्रः । वि । दधातु । रायः । अनु । मार्ष्टु । तन्वः । यत् । विलिष्टमिति विऽलिष्टम् ॥ १६ ॥

पदार्थः—(सम्) एकीभावे (वर्चसा) तेजसा (पयसा) रात्र्या । पय इति रात्रिनामसु पठितम् । निघ० १ । ७ (सम्) (तनूभिः) बलविस्तृतशरीरैर्विद्वद्भिः (अगन्महि) प्राप्नुयाम (मनसा) मननेन (सम्) (शिवेन) सुखप्रदेन (त्वष्टा) अविद्याविच्छेदकः (सुदत्रः) सुष्ठुज्ञानकर्ता (विदधातु) (रायः) विद्यादिधनानि (अनु) (मार्ष्टु) (तन्वः) शरीरस्य (यत्) (विलिष्टम्) रोगादिमलक्लेशम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ४ । ८ व्याख्यातः ॥ १६

अन्वयः—हे आप्ता विद्वांसो युष्माकं सुमतौ प्रवृत्ता वयं यो युष्माकं मध्ये श्रेष्ठः सुदत्रस्त्वष्टा विद्वानस्मभ्यं संवर्चसा पयसा संशिवेन मनसा यान् रायो विदधातु, यत्तन्वो विलिष्टमनुमार्ष्टु, तैस्तांस्तच्च [तनूभिः सम्] अगन्महि[2] ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरहर्निशमाप्तसङ्गेन धर्म्मार्थकाममोक्षाः सम्यक् साधनीयाः ॥ १६ ॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

पदार्थः—हे आप्त अत्युत्तम विद्वानो ! आप लोगों की सुमति में प्रवृत्त हुए हम लोग जो आप लोगों के मध्य (सुदत्रः) विद्या के दान से विज्ञान को देने और (त्वष्टा) अविद्यादि दोषों का नष्ट करनेवाला विद्वान् हम को (संवर्चसा) उत्तम [प्रकाशयुक्त] दिन और (पयसा) रात्रि से (संशिवेन) अतिकल्याण कारक (मनसा) विज्ञान से [जिन] (रायः) पुष्टिकारक द्रव्यों को (विदधातु) प्राप्त करावे [और] (यत) ❀ जिस (तन्वः) शरीर [(विलिष्टम्)] हानिकारक + रोगादिमलों को (अनुमार्ष्टु) दूर करे उस [विज्ञान] और इन पदार्थों को [हम लोग (तनूभिः) ब्रह्मचर्य व्रत आदि सुनियमों से बलयुक्त शरीरों वाले विद्वानों के द्वारा] (समगन्महि) प्राप्त हों ॥ १६ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि दिन रात उत्तम सज्जनों के सङ्ग से धर्म्मार्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करते रहें ॥ १६ ॥

---

१ आप्तविद्वांस आश्रयणीया इति तद्दर्शयन्नाह—
२ मन्त्रोऽयं पूर्वं य० २ । २४ तथा य० ८ । १४ व्याख्यातः ॥
३ आप्त विद्वानों का आश्रय लेना चाहिये, सो दर्शाते हैं—॥ १६ ॥

❀ '(यत् जिस'……'दूर करे, और' इति पाठो अजमेरमुद्रितेऽस्थान इति मत्वात्रानीतोऽस्माभिः ॥
+ 'कर्म को' इति अ० मु० पाठः ॥

धाता रातिरित्यस्यात्रिर्ऋषिः । विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः ।
स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्गार्हस्थ्यकर्म्म आह[1] ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा[2] देवो ऽ अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥ १७ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । निधिपा इति निधिऽपाः । देवः । अग्निः ॥ त्वष्टा । विष्णुः । प्रजयेति प्रऽजया । सꣳरराणा इति () सम् ऽ रराणाः । यजमानाय । द्रविणम् । दधात । स्वाहा ॥ १७ ॥

पदार्थः—(धाता) गृहाश्रमधर्त्ता (रातिः) सर्वेभ्यः सुखदायकः (सविता) सकलैश्वर्योत्पादकः (इदम्) गृहकृत्यम् (जुषन्ताम्) प्रीत्या सेवन्ताम् (प्रजापतिः) सन्तानादिपालकः (निधिपाः) विद्यावृद्धिरक्षकाः (देवः) दोषविजेता (अग्निः) अविद्यान्धकारदाहकः (त्वष्टा) सुखविस्तारकः (विष्णुः) सर्वशुभगुणकर्म्मसु व्याप्तः (प्रजया) स्वसन्तानादिना (संरराणाः) सम्यग्दातारः सन्तः (यजमानाय) यज्ञानुष्ठात्रे (द्रविणम्) द्रवन्ति भूतानि यस्मिन् तद्धनम्, द्रविणमिति धननामसु पठितम् । निघ० २ । १० । (दधात) धरत (स्वाहा) सत्यया क्रियया ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ४ । ९ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे गृहस्थाः ! भवन्तो धाता रातिः सविता प्रजापतिर्निधिपा देवोऽग्निस्त्वष्टा विष्णुरिवै[3]तत्स्वभावा भूत्वा प्रजया सह संरराणास्सन्तः स्वाहेदं जुषन्तां बलवन्तो भूत्वा यजमानाय × स्वाहा द्रविणं दधात ॥ १७ ॥

भावार्थः—गृहस्थैः यथोचितसमये गृहाश्रमे स्थित्वा सद्गुणकर्म्मधारणमैश्वर्य्योन्नतिरक्षणे, प्रजापालनं सुपात्रेभ्यो दानं, दुःखिनां दुःखच्छेदनं, शत्रुविजयः शरीरात्मबलव्याप्तिश्च सततं † धार्य्या ॥ १७ ॥

---

१ आप्तोपदेशमन्तरा गृहस्थधर्मपालनासम्भव इति तदावश्यकतां दर्शयति—

२ 'निधिपाः' बहुवचनमित्युवटभाष्ये । प्रथमान्तोऽयमिति महीधरः । उभयथाऽपि सम्भवः ॥

३ इवशब्दप्रयोगादत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारो द्रष्टव्यः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रातिः) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (अ० ३ । ३ । १७४) इति क्तिच् । चित्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(जुषन्ताम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(निधिपाः) कृत्स्वरः ॥

(संरराणाः) लिटः कानज् वा (अ० ३ । २ । १०६) इति कानच्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(दधात) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

() 'सम्ऽरराणाः' इति अ० मु० पाठः ॥

× 'स्वाहा' पदं मन्त्रात् बहिर्भूतमसंबद्धं च प्रतिभाति । भाषापदार्थानुसारं त्वत्र 'बलवर्धकं द्रविणं' इति पाठेन भवितव्यम् ॥

† पदमेतत् पूर्वं 'गृहस्थैः' इत्यतो ऽ ग्रे सदस्यस्माभिरत्रानीतं समीपसम्बन्धार्थमिति ॥

फिर गृहस्थों के कर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे गृहस्थो ! तुम (धाता) गृहाश्रम धर्म के धारण करने (रातिः) सब के लिये सुख देने (सविता) समस्त ऐश्वर्य के उत्पन्न करने (प्रजापतिः) सन्तानादि के पालने (निधिपाः) विद्या आदि ऋद्धि अर्थात् धन समृद्धि के रक्षा करने (देवः) दोषों के जीतने (अग्निः) अविद्यारूप अन्धकार के दाह करने (त्वष्टा) सुख के बढ़ाने और (विष्णुः) समस्त उत्तम २ शुभ गुण कर्म्मों में व्याप्त होनेवालों के सदृश हो के (प्रजया) अपने सन्तानादि के साथ (संरराणाः) उत्तम दानशील होते हुए (स्वाहा) सत्य क्रिया से (इदम्) इस गृहकार्य्य को (जुषन्ताम्) प्रीति के साथ सेवन करो, और बलवान् गृहाश्रमी होकर (यजमानाय) यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले के लिये जिस बल से उत्तम २ बली पुरुष बढ़ते जायें, उस (द्रविणम्) धन को (दधात) धारण करो ॥ १७ ॥

भावार्थः—गृहस्थों को उचित है कि यथायोग्य रीति से गृहाश्रम में रह के अच्छे गुण कर्मों का धारण, ऐश्वर्य की उन्नति तथा रक्षा, प्रजा का पालन, योग्य पुरुषों को दान, दुःखियों का दुःख छुड़ाना, शत्रुओं को जीतना और शरीरात्मबल में प्रवृत्ति आदि गुण निरन्तर ❀ धारण करें ॥ १७ ॥

सुगा व इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतयो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्गृहकृत्यमाह[2] ॥

सुगा वो देवाः सदना ऽ अकर्म य ऽ आजग्मेदꣳ सवनं जुषाणाः ।
भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥ १८ ॥

सुगेति सुऽगा । वः । देवाः । सदना । अकर्म । ये । × आजग्मेत्याऽजग्म । इदम् । सवनम् । जुषाणाः ॥ ‡ भरमाणाः । वहमानाः । हवीꣳषि । अस्मेऽइत्यस्मे । धत्त । वसवः । वसूनि । स्वाहा ॥ १८ ॥

पदार्थः—(सुगा) सुष्ठु गन्तुं प्राप्तुं योग्यानि, अत्र शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । ७०] इति लुक्[3] (वः) युष्माकम् (देवाः) व्यवहरमाणाः (सदना) सीदन्ति गच्छन्ति पुरुषार्थेन येषु तानि गृहाणि (अकर्म) अकार्ष्म, कुर्याम, अत्र डुकृञ्धातोर्लुङि मन्त्रे घस० [अ० २ । ४ । ८०] इत्यादिना च्लेर्लुक् (ये) (आजग्म) प्राप्नुवन्तु (इदम्) प्रत्यक्षम् (सवनम्) ऐश्वर्य्यम् (जुषाणाः) सेवमानाः (भरमाणाः) धरमाणाः (वहमानाः) प्राप्नुवन्तः (हवींषि) दातुमादातुमर्हाणि (अस्मे) अस्मभ्यम्, अत्र भ्यसः स्थाने सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति शे इत्यादेशः (धत्त) धरत

१ आप्त पुरुषों के उपदेश के बिना गृहस्थ आश्रम के धर्मों का पालन असम्भव है, इस लिये उन की आवश्यकता दर्शाते हैं—॥ १७ ॥

२ पूर्वोक्तमेवोपोद्बलयन्नाह—

३ अत्र पूर्वा य० ८ । ५ (पृ० ६६२) टिप्पणी द्रष्टव्या ॥

❀ पदमिदं पूर्वं 'रीति से' इत्यतोऽग्रे सदप्यस्माभिरत्रानीतं समीपसम्बन्धार्थमिति ॥
× 'आजग्मे०' इत्यशुद्धः स्वरोऽजमेरमुद्रिते ॥
‡ 'भरमाणाः' इति स्वररहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

(वसवः[1]) वसन्ति सद्‌गुणकर्म्मसु ते (वसूनि) धनानि, वस्विति धननामसु पठितम्। निघं० २।१०। (स्वाहा) श्रेष्ठक्रियया॥ अयं मन्त्रः शत० ४।४।४।१० व्याख्यातः॥ १८॥

यास्कमुनिरत्राह—सुगा वो देवाः सदनमकर्म्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वागमनानि वो देवाः सुपथान्यकर्म्म य आगच्छत सवनानीमानि जुषाणाः खादितवन्तः पीतवन्तश्च सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि॥ निरु० १२।४२॥ १८॥

अन्वयः—हे वसवो देवाः! ये वयं स्वाहेदं सवनं जुषाणा भरमाणा वहमाना वो युष्मभ्यं यानि सुगा सदना हवींषि वसूनि अकर्माजग्म तेभ्योऽस्मे तानि यूयमपि धत्त॥ १८॥

भावार्थः—यथा पितृपतिश्वशुरश्वश्रूमित्रस्वामिनः पदार्थैः पुत्रपुत्रीस्त्री [स्नुषा] सखिभृत्यानां पालनं कुर्वन्तः सुखं ददति, तथैव पुत्रादयोऽप्येतेषां सेवनं कुर्य्युः॥ १८॥

फिर गृहकर्म्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2]॥

पदार्थः—हे (वसवः) श्रेष्ठ गुणों में रमण करनेवाले (देवाः) व्यवहारी जनो! (ये) जो (स्वाहा) उत्तम क्रिया से (इदम्) इस (सवनम्) ऐश्वर्य्य का (जुषाणाः) सेवन (भरमाणाः) धारण करने (वहमानाः) औरों से प्राप्त होते हुए हम लोग [(वः)] तुम्हारे लिये (सुगा) अच्छी प्रकार प्राप्त होने योग्य (सदना) जिनके निमित्त पुरुषार्थ किया जाता है उन (हवींषि) देने लेने योग्य (वसूनि) धनों को (अकर्म) प्रकट कर रहे और (आजग्म) प्राप्त हुए हैं, (अस्मे) हमारे लिये उन धनों को आप [भी] (धत्त) ❀ धारण कराइये॥ १८॥

भावार्थः—जैसे पिता, पति, श्वशुर, सास, मित्र और स्वामी, पुत्र, कन्या, स्त्री, स्नुषा, सखा और भृत्यों का पालन करते हुए सुख देते हैं, वैसे पुत्रादि भी इन की सेवा करना उचित समझें॥ १८॥

१ एते हीद ँ सर्वं वासयन्ते, ते यदिद ँ सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति॥ श० ११।६।३।६॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुगा) कृत्स्वरः। सुदुरोरधिकरणे (अ० ३।२।४८ भा० वा०) इति 'ड' प्रत्ययः, कृत्स्वरः॥

(सदना) करणाधिकरणयोश्च (अ० ३।३।११७) इत्यधिकरणे ल्युट्, लिति (अ० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः।

(अकर्म) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः।

(आजग्म) क्रोडर्थे लिटि छान्दसत्वाद् व्यत्ययेन प्रथमपुरुषबहुवचनस्थाने मध्यमपुरुषबहुवचनम्। यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८।१।६६) इति निघाताभावे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे तिङि चोदात्तवति (अ० ८।१।७१) इति गतेरनुदात्तत्व उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ भा० वा०) इति समासे स्वरः स एव॥

(भरमाणाः, वहमानाः) उभयत्र तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६।१।१८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः॥

(धत्त) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

२ पूर्वोक्त विषय को ही दृढ़ करते हैं—॥ १८॥

❀ 'धरो' इति अ० मुद्रिते पाठः॥

याँ २ ऽआवह इत्यस्यात्रिर्ऋषिः विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः ।
× निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ।

पुनर्गृहकृत्यमाह[1] ॥

याँ२ऽ आवह ऽ उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे ऽ अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽसुं घर्मꣳ स्वरातिष्ठतानु स्वाहा ॥ १९ ॥

यान् । आ । अवहः । उशतः । देव । देवान् । तान् । प्र । ईरय । स्वे । अग्ने । सधस्थ इति सधऽस्थे ॥ जक्षिवाꣳस इति जक्षिऽवाꣳसः । पपिवाꣳस इति पपिऽवाꣳसः । च । । विश्वे । असुम् । घर्म्मम् । स्वः । आ । तिष्ठत । अनु । स्वाहा ॥ १९ ॥

पदार्थः—(यान्) वक्ष्यमाणान् (आ) (अवहः[2]) प्राप्नुयाः (उशतः) विद्यादिसद्गुणान् कामयमानान् (देव) दिव्यशीलयुक्ताध्यापक ! (देवान्) विदुषः (तान्) (प्र) (ईरय) नियोजय (स्वे) स्वकीये (अग्ने) विज्ञानाढ्य विद्वन् ! (सधस्थे) सहस्थाने (जक्षिवांसः) अन्नं जग्धवन्तः (पपिवांसः) पीतवन्तः (च) अन्यसुखसेवनसमुच्चये (विश्वे) सर्वे (असुम्) प्रज्ञाम्, असुरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघ० ३ । ९ । अस्यति दोषाननेन सोऽसुः प्रज्ञा, ताम् (घर्म्मम्) अन्नं यज्ञं वा, घर्म्म † इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० १ । ९ ॥ यज्ञनामसु च । निघ० ३ । १७ । (स्वः) सुखम् (आ) सर्वतः (तिष्ठत) (अनु) (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ४ । ११ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे देवाग्ने ! त्वं स्वे सधस्थे यानुशतो देवानावहस्तान् घर्म्मे प्रेरय । हे गृहस्था जक्षिवांसः पपिवांसो विश्वे यूयं स्वाहा घर्म्ममसुं स्वश्चान्वातिष्ठत ॥ १९ ॥

भावार्थः—इहाध्यापकेनोपदेष्ट्रा ये जना विद्यां शिक्षां प्रापिताः सत्यधर्म्मैकर्मचारिणो भवेयुस्ते सुखभाजिनः स्युर्नेतरे ॥ १९ ॥

---

१ सर्वमेतत् पूर्वोक्तं व्यवहारं त एव कर्त्तुं शक्ता य आ शैशवाद् विद्वद्भिः सम्यक् शिक्षिता इत्यतो विदुषामुपदेशेन गृहस्थाः सुखभाजो भवन्तीति तन्महिमानं वर्णयति—

२ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३ । ४ । ६) इति सामान्यकाले लङ् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अवहः) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघाते प्राप्ते यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६७) इति निघाताभावे ऽट्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(उशतः) वशः शतरि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(सधस्थे) सधमादस्थयोश्छन्दसि (अ० ६ । ३ । ९६) इति सहस्य 'सध' इत्यादेशः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इति प्राप्ते छान्दसत्वात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । यद्वा निपातनात् सधशब्दोऽन्तोदात्तः, इदं च निपातनं कृत्स्वरं बाधते ॥

(ईरय, तिष्ठत) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

× 'भुरिगार्षी' इति अ० मुद्रिते अपपाठः ॥ † मुद्रिते निघण्टावन्ननामसु न दृश्यते ।

फिर भी घर का काम अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्य स्वभाववाले [(अग्ने) विज्ञानयुक्त विद्वन्] अध्यापक ! तू (स्वे) अपने (सधस्थे) साथ बैठने के स्थान में (यान्) जिन (उशतः) विद्या आदि अच्छे २ गुणों की कामना करते हुए (देवान्) विद्वानों को (आ) (अवहः) प्राप्त हो [सको] (तान्) उनको धर्म्म में (प्र) (ईरय) नियुक्त कर। हे गृहस्थ ! (जक्षिवांसः) अन्न खाते और (पपिवांसः) पानी पीते हुए (विश्वे) सब तुम लोग (स्वाहा) सत्य वाणी से (घर्म्मम्) अन्न और यज्ञ तथा (असुम्) श्रेष्ठ बुद्धि वा (स्वः) अत्यन्त सुख को (अनु) (आ) (तिष्ठत) प्राप्त होकर सुखी रहो ॥ १९ ॥

भावार्थः—इस संसार में उपदेश करनेवाले अध्यापक से विद्या और श्रेष्ठगुण को प्राप्त जो❀ मनुष्य सत्य धर्म्म कर्म वर्त्तनेवाले हों, वे सुख भागी () हो सकते हैं और नहीं ॥ १९ ॥

वयमित्यस्याग्निर्ऋषिः । गृहपतयो देवताः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ व्यवहारिणे गृहस्थायोपदिशति[2] ॥

व॒यꣳ हि त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे ऽ अ॒स्मिन्नग्ने॒ होता॑रमवृ॑णीमही॒ह ।
ऋध॑गया॒ ऽ ऋध॑गु॒ताश॑मिष्ठाः प्रजा॒नन्य॒ज्ञमुप॑याहि वि॒द्वान्त्स्वाहा॑ ॥ २० ॥

व॒यम् । हि । त्वा॒ । प्र॒य॒तीति॑ प्रऽय॒ति । य॒ज्ञे । अ॒स्मिन् । अग्ने॑ । होता॑रम् । अवृ॑णीमहि । इ॒ह ॥ ‡ ऋध॑क् । अया॒ः । ऋध॑क् । उ॒त । अश॑मि॒ष्ठाः । प्र॒जा॒नन्निति॑ प्रऽजा॒नन् । य॒ज्ञम् । उप॑ । या॒हि॒ । वि॒द्वान् । स्वाहा॑ ॥ २० ॥

पदार्थः—(वयम्) गृहाश्रमस्थाः (हि) यतः (त्वा) विद्वांसम् (प्रयति) प्रयत्यते जनैर्यस्तस्मिन्, कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ वा०] इति कर्मणि क्विप् (यज्ञे) सम्यग्ज्ञातव्ये, (अस्मिन्) (अग्ने) विज्ञापक विद्वन् ! (होतारम्) यज्ञनिष्पादकम् (अवृणीमहि) स्वीकुर्वीमहि, अत्र लिङर्थे

(जक्षिवांसः, पपिवांसः) क्वसौ प्रत्ययस्वरः ॥

(असुम्) शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० (उ० १ । १०) इति 'उ' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ पूर्वोक्त-व्यवहार को वही कर सकते हैं, जो बाल्यकाल से ही विद्वानों के द्वारा शिक्षित बनाये गये हों, विद्वानों के उपदेश से ही गृहाश्रमी सुखी होते हैं, अतः विद्वानों की महिमा दर्शाते हैं ॥ १९ ॥

२ विद्वत्समाश्रयमेव वर्णयन्नाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रयति) कृत्स्वरेणान्तोदात्तः 'प्रयत्' शब्दः । ततश्छान्दसत्वाद् विभक्तिरुदात्ता । यद्वा शतृप्रत्यये शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति विभक्तिरुदात्ता ॥

(अग्ने) पादादित्वान्निघातोऽत्र न भवति ॥

(अवृणीमहि) हि च (अ० ८ । १ । ३४) इति निघाताभावेऽटूस्वरः ॥

(ऋधक्) स्वरादिपाठाद् निपाते, निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

❀ 'बालक' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'ऋधक् । अयाः' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ।

() 'भागी हों' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

लङ् (इह) अस्मिन् संसारे (ऋधक्) समृद्धिवर्द्धके (अयाः) यजेः[1] सङ्गच्छस्व, अत्र लिङर्थे लङ् (ऋधक्) समृद्धिर्यथा स्यात् तथा (उत) अपि (अशमिष्ठाः) शमादिगुणान् गृहाण (प्रजानन्) (यज्ञम्) (उप) (याहि) उपगतं प्राप्नुहि (विद्वान्) वेत्ति यज्ञविद्याक्रियाम् (स्वाहा) शास्त्रोक्तया क्रियया ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ४। ४। १२ व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! वयमिह प्रयति यज्ञे त्वा होतारमवृणीमहि, विद्वान् प्रजानँस्त्वमस्मानयाः † ऋधग् यज्ञं स्वाहोपयाहि उत याहि + किन्त्वस्मिन् हि ऋधगशमिष्ठाः ॥ २० ॥

भावार्थः—सर्वेषां व्यवहरतां योग्यतास्ति यो मनुष्यो यत्र कर्म्मणि विचक्षणः स तस्मिन्नेव कार्य्येऽभिप्रयोज्यः ॥ २० ॥

अब व्यवहार करनेवाले गृहस्थ के लिये उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) ज्ञान देनेवाले [विद्वन्!] (वयम्) हम लोग (इह) [इस संसार में] (प्रयति) प्रयत्न साध्य (यज्ञे) गृहाश्रमरूप यज्ञ में (त्वा) तुझ (होतारम्) सिद्धि करानेवाले को (अवृणीमहि) ग्रहण करें (विद्वान्) सब विद्यायुक्त (प्रजानन्) क्रियाओं के जाननेवाले आप (अयाः ×) उसमें दान सत्-सङ्ग श्रेष्ठ गुण वालों का सेवन कराओ (ऋधक्) समृद्धिकारक (यज्ञम्) गृहाश्रमरूप यज्ञ को (स्वाहा) शास्त्रोक्त क्रिया से (उप) (याहि) समीप प्राप्त हो, (उत) और [भली प्रकार प्राप्त हो,] केवल प्राप्त ही नहीं किन्तु (हि) निश्चय करके (अस्मिन्) इस में (ऋधक्) अच्छी ऋद्धि सिद्धि के बढ़ानेवाले गृहाश्रम के निमित्त (अशमिष्ठाः) शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करके सुखी हो ॥ २० ॥

भावार्थः—सब व्यवहार करनेवालों को चाहिये कि जो मनुष्य जिस काम में चतुर हो, उसको उसी काम में प्रवृत्त करें ॥ २० ॥

देवा गातुविदित्यस्यात्रिर्ऋषिः। गृहपतयो देवताः। स्वराडार्ष्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थकर्म्मविधिमाह[3] ॥

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

(अयाः) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः ॥

(उत) एवादीनामन्तः (फिट् ८२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(अशमिष्ठाः, याहि) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः।

(प्रजानन्) शतृस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ पूर्वं (पृष्ठ ६६४) टिप्पणी द्रष्टव्या ॥

२ विद्वानों के आश्रय का ही वर्णन करते हैं—॥२०॥

३ पूर्वोक्तमेव वर्णयन्नाह—

† 'अस्मानयाः' इति पाठो 'ग' कोशे प्रवर्द्धितः ॥

+ 'किन्त्वस्मिन् हि' इति पाठो गकोशे सत्रपि अ० मुद्रिते नास्ति। स च पूर्वस्य 'किलास्मिन्' इति पाठस्य स्थाने गकोशे संशोधित इति ध्येयम् ॥

× मुद्रिते तु '(अयाः)······सेवन कर (ऋधक्)' इति पाठः 'प्राप्त ही नहीं किन्तु' इत्येतस्मादग्रे मुद्रिते सन्नप्यस्माभिरत्रोपर्यानीतः ॥

देवाः । गातुविद् इति गातुऽविदः । गातुम् । वित्त्वा । गातुम् । इत ॥ मनसः । पते । इमम् । देव । यज्ञम् । स्वाहा । वाते । धाः ॥ २१ ॥

पदार्थः—(देवाः) † सत्यस्तावका गृहस्थाः (गातुविदः[1]) स्वगुणकर्मस्वभावेन गातुं पृथ्वीं विदन्तः, गातुरिति पृथिवीनामसु पठितम् निघ० १ । १ । (गातुम्) भूगर्भविद्यान्वितं भूगोलम् (वित्त्वा) विज्ञाय (गातुम्) पृथिवीराज्यादिनिष्पन्नमुपकारम् (इत) प्राप्नुत (मनसस्पते) निगृहीतमनाः (इमम्) प्राप्तम् (देव) दिव्यविद्याऽभ्युत्पन्न (यज्ञम्) सर्वसुखावहं गृहाश्रमम् (स्वाहा) धर्म्यया क्रियया (वाते) विज्ञातव्ये व्यवहारे वात इति पदनामसु पठितम् । निघ० ५ । ४ (धाः) धेहि, अत्राऽडभावः [लोडर्थे लुङ् च] । अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ४ । १३ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे गातुविदो देवा यूयं गातुं वित्त्वा गातुमित । हे मनसस्पते देव ‡ प्रतिगृहस्थस्त्वं स्वाहेमं यज्ञं वाते धाः[2] ॥ २१ ॥

भावार्थः—गृहस्थानां योग्यतास्ति [यत्ते] अतिप्रयत्नेन भूगर्भादिविद्याः संप्राप्य जितेन्द्रियाः परोपकारिणो भूत्वा सद्धर्मेण गृहाश्रमव्यवहारातुन्नीय सर्वान् प्राणिनः सुखयेयुः ॥ २१ ॥

फिर भी गृहस्थों का कर्म अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

पदार्थः—हे (गातुविदः) अपने गुण कर्म और स्वभाव से पृथिवी के जाने आने को जानने (देवाः) तथा सत्य ※ की अत्यन्त प्रशंसा के साथ प्रचार करनेवाले विद्वान् [गृहस्थ] लोगो ! तुम (गातुम्) भूगर्भविद्यायुक्त भूगोल को (वित्त्वा) जान कर (गातुम्) पृथिवी राज्य आदि उत्तम कामों के उपकार को (इत) प्राप्त हूजिये । हे (मनसस्पते) इन्द्रियों के रोकने हारे (देव) श्रेष्ठ विद्या बोध सम्पन्न विद्वानो ! तुम में से प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ (स्वाहा) धर्म्म बढ़ानेवाली क्रिया से (इमम्) इस गृहाश्रमरूप (यज्ञम्) सब सुख पहुंचानेवाले यज्ञ को (वाते) विशेष जानने योग्य व्यवहारों में (धाः) धारण करो ॥ २१ ॥

भावार्थः—गृहस्थों को चाहिये कि अत्यन्त प्रयत्न के साथ भूगर्भ [आदि] विद्याओं को जान इन्द्रियों को जीत परोपकारी होकर और उत्तम धर्म्म से गृहाश्रम के व्यवहारों को उन्नति देकर सब प्राणी मात्र को सुखी करें ॥ २१ ॥

यज्ञ यज्ञमित्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतयो देवताः । ◊ विराडार्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥
एष इत्यस्य विराडार्ची बृहतीच्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थेभ्यो विशेषोपदेशमाह[4] ॥

---

[1] गातुं वित्त्वा यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह ॥ श० ४ । ४ । ४ । १३ ॥ गातुविदो हि देवाः ॥ श० ४ । ४ । ४ । १३ ॥

[2] मन्त्रोऽयं पूर्वं य० २ । २१ पृ० २०८—२१० व्याख्यातः ॥

[3] पूर्वोक्त ही कहते हैं—॥ २१ ॥

[4] गृहपतिर्गृहाश्रमे श्रद्धान्वितो निष्ठावांश्च भूत्वैव प्रविशेदित्यत आह—

† 'सत्यासत्यस्तावकाः' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
※ 'सत्य और असत्य के' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

‡ साम्प्रतिकानां मते 'प्रतिगृहस्थं' इति स्यात् ।
◊ 'भुरिक् साम्न्युष्णिक्' इति अ० मु० अपपाठः ॥

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ।
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा ॥ २२ ॥

यज्ञ । यज्ञम् । गच्छ । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । गच्छ । स्वाम् । योनिम् । गच्छ । स्वाहा ॥ एषः । ते । यज्ञः । यज्ञपत इति यज्ञऽपते । सहसूक्तवाक इति सहऽसूक्तवाकः । सर्ववीर इति सर्वऽवीरः । तम् । जुषस्व । स्वाहा ॥ २२ ॥

पदार्थः—(यज्ञ) यो यजति संगच्छते स यज्ञो गृहस्थस्तत्सम्बुद्धौ,[1] अत्रौणादिको[2] नप्रत्ययः (यज्ञम्) विद्वत्सत्काराख्यं गृहाश्रमधर्म्मम्[3] (गच्छ) प्राप्नुहि (यज्ञपतिम्) संगम्यानां गृहाश्रमिणां पालकं राजानम् (गच्छ) (स्वाम्) स्वकीयाम् (योनिम्[4]) प्रकृतिम्, स्वात्मस्वभावम् (गच्छ) (स्वाहा) सत्यया क्रियया (एषः) विद्यमानः (ते) तव (यज्ञः) सम्पूजनीयः प्रजारक्षणनिमित्तो विद्याप्रचारार्थो गृहाश्रमः (यज्ञपते) राजधर्म्माग्निहोत्रादिपालक (सहसूक्तवाकः) ऋग्यजुरादिलक्षणैः सूक्तैर्वाकैः सह वर्त्तमानः (सर्ववीरः) शरीरात्मबलसुभूषिताः सर्वे वीरा यस्मात् (तम्) (जुषस्व) सेवस्व (स्वाहा) सत्यन्यायप्रकाशिकया वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ४ । १४ । व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे यज्ञ ! त्वं स्वाहा यज्ञं गच्छ, यज्ञपतिं गच्छ, स्वां योनिं गच्छ ! हे यज्ञपते ! ते य एष सहसूक्तवाकः सर्ववीरो यज्ञोऽस्ति तं त्वं स्वाहा जुषस्व ॥ २२ ॥

भावार्थः—प्रजाजनो गृहस्थः पुरुषः प्रयत्नेन गृहकर्म्माणि यथावत् कुर्य्यात्, राजभक्त्या राजाश्रयेण सद्धर्म्मव्यवहारेण च गृहाश्रमं परिपालयेत् । राजा च सद्विद्याप्रचारेण सर्वान् पोषयेत् ॥ २२ ॥

---

१ प्रजापतिर्वै यज्ञः ॥ गो० उ० २ । १८ ॥ यज्ञो वै प्रजापतिः ॥ तै० ब्रा० १ । ३ । १० । १० ॥ पुरुषो वै यज्ञः । कौ० १७ । ७॥ गो० पू० ४ । २४ ॥

२ बाहुलकादिति भावः । मुद्रिते तु 'नन्' इति पाठः । अन्यत्र (य० २२ । ३३) अपि कर्त्तरि व्युत्पादनात्, अन्तोदात्तत्वस्य च दर्शनात् 'न' इत्येव साधीयान् । यजयाच० (अ० ३ । ३ । ९०) इत्यादिना व्युत्पादितस्तु भावे अकर्त्तरि च कारके द्रष्टव्यः । प्रकृते त्वामन्त्रितस्वरः ॥

३ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ॥ श० १ । ७ । १ । ५ ॥

४ यज्ञो वा ऋतस्य योनिः श० १ । ३ । ४ । १६ ॥

भट्टभास्करमिश्र आह (तै० सं० १ । ४ । ४४ । ३ भाष्ये)—

(क) यज्ञं परमात्मानं विष्णुं गच्छ ॥

(ख) योनिः कारणं, सर्वपरिस्पन्दहेतुर्वाताख्या परमेश्वरस्य क्रियाशक्तिः ॥

सायणोऽप्येवमाह शब्दभेदेन तै० सं० भाष्ये ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सहसूक्तवाकः) तेन सहेति तुल्ययोगे (अ० २ । २ । २८) इति बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरे एवादीनामन्तः (फि० ८१) इति सहशब्दोऽन्तोदात्तः ॥

सहस्य सः संज्ञायाम् (अ० ६ । ३ । ७८ भा०) इति भाष्यस्वारस्यात् सहशब्दस्याद्युदात्तत्वं प्रतीयते । उक्तं च कैयटेनापि 'निपाता आद्युदात्ता इति सहशब्द आद्युदात्तः' ॥ प्रयुज्यते च "सह वै देवानाम्' (तै ब्रा० २ । १ । १) ॥

(सर्ववीरः) बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरे सर्वनिघृष्व० (उ० १ । १५३) इति निपातनादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते सर्वस्य सुपि (अ० ६ । १ । १९१) इत्याद्युदात्तत्वम् । न लुमताङ्गस्य (अ० १ । १ । ६३) इति निषेधस्तु न प्रवर्त्तते, अङ्गाधिकारनिर्देशात् । अथापि 'योऽसौ लुमता लुप्यते

फिर गृहस्थों के लिये विशेष उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (यज्ञ) सत् कर्म्मों से संगत होनेवाले गृहाश्रमी ! तू (स्वाहा) सत्य २ क्रिया से (यज्ञम्) विद्वानों के सत्कारपूर्वक गृहाश्रम को (गच्छ) प्राप्त हो (यज्ञपतिम्) सङ्ग करने योग्य गृहाश्रम के पालनेवाले को (गच्छ) प्राप्त हो । (स्वाम्) अपने (योनिम्) घर और स्वभाव को (गच्छ) प्राप्त हो । (यज्ञपते) [राजधर्म अग्निहोत्रादि पालक] गृहाश्रम धर्म्मपालक ! तू (ते) तेरा जो (एषः) यह (सहसूक्तवाकः) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद के सूक्त और अनुवाकों से कथित (सर्ववीरः) जिस से आत्मा और शरीर के पूर्णबलयुक्त समस्त वीर प्राप्त होते हैं (यज्ञः) जो प्रशंसनीय प्रजा की रक्षा के निमित्त विद्या प्रचाररूप यज्ञ है, (तम्) उसका तू (स्वाहा) सत्य विद्या न्याय प्रकाश करनेवाली वेदवाणी से (जुषस्व) प्रीति से सेवन कर ॥ २२ ॥

भावार्थः—प्रजाजन गृहस्थ पुरुष बड़े २ यत्नों से घर के कार्यों को उत्तम रीति से करें, राजभक्ति, राजसहायता और उत्तम धर्म्म से गृहाश्रम को सब प्रकार से पालें और राजा भी श्रेष्ठ विद्या के प्रचार से सब को सन्तुष्ट करे ॥ २२ ॥

माहिर्भूरित्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतयो देवताः । आद्यस्य याजुष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥ उरुमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥ नम इत्यस्यासुरी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ राजोपदेशमाह[2] ॥

माहिर्भूर्मा पृदाकुः । उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा ऽ उ । अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् । नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः ॥ २३ ॥

मा । अहिः । भूः । मा । पृदाकुः ॥ उरुम् । हि । राजा । वरुणः । चकार । सूर्याय । पन्थाम् । अन्वेतवा + इत्यनुऽएतवै । × ऊँ ऽइत्यूँ ॥ अपदे । पादा । प्रतिधातव इति प्रतिऽधातवे । अकः । उत । अपवक्तेत्यपऽवक्ता । ÷ हृदयाविधः । हृदयविध इति हृदयऽविधः । चित् ॥ नमः । वरुणाय । अभिष्ठितः । अभिस्थित इत्यभिऽस्थितः । वरुणस्य । पाशः ॥ २३ ॥

तस्मिन् यदङ्गं तस्य यत् कार्यं तद् भवति' इत्येवार्थस्तथापि 'एवमपि सर्वस्वरो न सिध्यति, कर्त्तव्योऽत्र यत्नः' (अ० १ । १ । ६३ महाभाष्ये) इति वचनात् सर्वस्वरे निषेधो न प्रवर्त्तत इत्यवधेयम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ गृहपति श्रद्धावान् और निष्ठावान् होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, सो दर्शाते हैं—॥ २२ ॥

२ नहि प्रजापीडकं राजानं प्रजाः स्निह्यन्तीत्यतो राज्ञां कर्त्तव्यमुपदिशति—

+ 'इत्यनुंऽएतुवै' इति अ० मु० पाठः ॥

÷ 'हृदयाविधः' इति अ० मु० अपपाठः ॥

× 'उ इत्यूँ' इति अ० मु० अपपाठः ॥

पदार्थः—(मा) निषेधे (अहिः) सर्प्पवत् क्रुद्धो विषधरः (भूः) भवेः (मा) (पृदाकुः) कुत्सितवाक् (उरुम्) बहुगुणान्वितं न्यायम् (हि) खलु (राजा) प्रशस्तगुणस्वभावैः प्रकाशमानः (वरुणः) वरः (चकार) कुर्य्याः, अत्र लिङर्थे लिट् [पुरुषव्यत्ययश्च] (सूर्य्याय) चराचरात्मेश्वरप्रकाशाय (पन्थाम्) न्यायमार्गम् (अन्वेतवै) अनुक्रमेण गन्तुम् (उ) वितर्के (अपदे) चौरादिनिष्पादितेऽप्रसिद्धे व्यवहारे (पादा) चरणौ, अत्राकारादेशः (प्रतिधातवे) प्रतिधर्त्तुम् (अकः) कुरु (उत) अपि (अपवक्ता) मिथ्यावादी (हृदयाविधः) यो हृदयमाविध्यति सः (चित्) इव (नमः) वज्रम् (वरुणाय) प्रशस्तैश्वर्यायक्ष (अभिष्ठितः) अभितः स्थितः जाज्वल्यमानः (वरुणस्य) वीरगुणोपेतस्य (पाशः) बन्धनम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ५ । ३-११ व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे राजन् सभेश्वर ! त्वं वरुणायोरुं न्यायं कुर्वन्नन्वेतवै अपदे पादा प्रतिधातवेऽकः, सूर्य्याय पन्थां [†यथा उ वरुणो हि राजा] चकार [तथा कुरु] उतापवक्ता हृदयाविधश्चिदिव मा पृदाकुर्माहिर्भूर्यथा वरुणस्य तवाभिष्ठितो नमः पाशश्च प्रकाशेत तथा सततं प्रयतस्व ॥ २३ ॥

[अत्रोपमालुप्तोपमालंकारौ ॥]

भावार्थः—प्रजापुरुषाणां योग्यतास्ति [यत्ते] यो हि विद्वान् जितेन्द्रियो धार्म्मिकः पिता पुत्रानिव प्रजापालने तत्परः सर्वेभ्यः सुखकारी भवेत् तं सभापतिं कुर्वीरन्, राजा वा प्रजापुरुषः कदापि दुष्टकर्म्मकारी न भवेत्, कथंचिद्यदि स्यात् तर्हि प्रजा यथापराधं राजानं दण्डयेत् राजा च प्रजापुरुषम्, कदाप्यपराधिनं दण्डेन विना न त्यजेत्, अनपराधिनं च वृथा न पीडयेत, एवं सर्वे न्यायाचरणतत्परा भूत्वा प्रयतेरन् यतोधिका मित्रोदासीनशत्रवा न स्युः। पुनर्विद्याधर्म्ममार्गान् शुद्धान् प्रचार्य्य सर्वे परमात्मात्मभक्तिपरायणा भूत्वा सदा सुखिनः स्युः ॥ २३ ॥

---

१ व्याख्यातोऽयं मन्त्रः ऋ० १ । २४ । ८ भाष्ये ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अहिः) पूर्वं य० ५ । ३३ । पृ० ४८९ व्याख्यातः ॥

(पृदाकुः) प्राग् य० ६ । १२ पृ० ५३३ व्याख्यातः ॥

(हि) निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अन्वेतवै) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते तवै चान्तश्च युगपत् (अ० ६ । २ । ५१) इति युगपदाद्यन्तावुदात्तौ भवतः ॥

(अपदे) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदाद्युदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादुत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(पादा) पद्यते गम्यते याभ्यामिति (ऋ० १ । २४ । ८) द० भाष्ये । घञ् प्रत्ययः । कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६ । १ । १५९) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(प्रतिधातवे) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे उपसर्गाद्युदात्तत्वम् ॥

(अकः) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अपवक्ता) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(हृदयाविधः) अत्रापि पूर्ववदेवोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ भाष्यानुसारं हृदयोपपदात् आङ्

क्ष 'प्रशस्तैश्वराय' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

† अत्रान्वये 'हि राजा वरुणः उ' इति चत्वारि पदानि त्यक्तानि । एषां सम्बन्धो यथा निर्देशस्तथा बोध्यः । यद्वा 'कुर्वन् हि वरुणो राजा भवितुमर्हति उ अन्वेतवै' इत्येवं स्यात् ॥

अथ अगले मन्त्र में राजा के लिये उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे राजन् सभापते ! तू (वरुणाय) उत्तम ऐश्वर्य्य के लिये (उरुम्) बहुत गुणों से युक्त न्याय को [करते हुये (अन्वेतवै) उसके अनुकूल चलने के लिये, (अपदे) चौरादिकों के छिपे हुए व्यवहारों में (पादा) (प्रतिधातवे) गमन करने के लिये उक्त न्याय को] (अकः) कर (सूर्याय) चराचर के आत्मा जगदीश्वर के विज्ञान होने और प्रजागणों को यथायोग्य धर्म्मप्रकाश में चलने के लिये (पन्थाम्) न्यायमार्ग को [जैसे (उ) निश्चय से (वरुणः) श्रेष्ठ (राजा) उत्तम गुण और स्वभावों से प्रकाशमान राजा (हि) अवश्य ही प्रकाशित करता है वैसे] (चकार) प्रकाशित कर (उत) और कभी (अपवक्ता) झूठ बोलनेवाला (हृदयाविधः) धर्म्मात्माओं के मन को सन्ताप देनेवाले के (चित्) सदृश (पृदाकुः) खोटे वचन कहनेवाला (मा) मत हो, और (अहिः) सर्प के समान क्रोधरूपी विष का धारण करनेवाला (मा) मत (भूः) हो, और जैसे (वरुणस्य) वीर गुणवाले तेरा (अभिष्ठितः) अतिप्रकाशित (नमः) वज्ररूप दण्ड और (पाशः) बन्धन करने की सामग्री प्रकाशमान रहे वैसा प्रयत्न सदा किया कर ॥ २३ ॥

[यहाँ उपमा और लुप्तोपमालङ्कार हैं ।]

भावार्थः—प्रजाजनों को चाहिये कि जो विद्वान् इन्द्रियों को जीतनेवाला, धर्म्मात्मा पिता जैसे अपने पुत्रों को वैसे प्रजा की पालना करने में अति चित्त लगावे और सब के लिये सुख करनेवाला सत्पुरुष हो उसी को सभापति करें और राजा वा प्रजाजन कभी अधर्म्म के कामों को न करें, जो किसी प्रकार कोई करे तो अपराध के अनुकूल प्रजा राजा को और राजा प्रजा को दण्ड देवे, किन्तु कभी अपराधी को दण्ड दिये बिना न छोड़े और निरपराधी को निष्प्रयोजन पीड़ा न देवे । इस प्रकार सब कोई न्यायमार्ग से धर्म्माचरण करते हुए अपने अपने प्रत्येक कामों के चिन्तन में रहें जिससे ❀ मित्र, उदासीन और शत्रु अधिक न हों और विद्या तथा धर्म्म के मार्गों का प्रचार करते हुए सब लोग ईश्वर की भक्ति में परायण होके सदा सुखी रहें ॥ २३ ॥

अग्नेरनीकमित्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथोभयेषां गृहस्थानामुपदेशमाह[2] ॥

अ॒ग्नेरनी॑कम॒पऽआवि॑वेशा॒पां नपा॑त् प्रति॒रक्ष॑न्नसु॒र्य॑म् ।
दमे॑दमे स॒मिधं॑ यक्ष्यग्ने॒ प्रति॑ ते जि॒ह्वा घृ॒तमुच्च॑रण्य॒त् स्वाहा॑ ॥ २४ ॥

अ॒ग्नेः । अनी॑कम् । अ॒पः । आ । वि॒वे॒श॒ । अ॒पाम् । नपा॑त् । प्र॒ति॒रक्ष॒न्निति॑ प्रति॒ऽरक्ष॑न् । + अ॒सु॒र्य॑म् ॥ दमे॑दम॒ इति॒ दमे॑ऽदमे । स॒मिध॒मिति॑ स॒म्ऽइध॑म् । य॒क्षि॒ । अ॒ग्ने॒ । प्रति॑ । ते॒ । जि॒ह्वा । घृ॒तम् । उत् । च॒र॒ण्य॒त् । स्वाहा॑ ॥२४॥

पूर्वाद् विध्यतेः क्विप् । पदपाठानुसारं तु शुद्धादेव विध्यतेरप्रत्ययः । अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६ । ३ । १३७) इति दीर्घत्वम् ॥

(अभिष्ठितः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा प्रादिसमासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] प्रजा को पीड़ा देनेवाले राजा को प्रजायें कभी प्रेम नहीं करतीं, अतः इस विषय में राजाओं का कर्त्तव्य बतलाते हैं—॥ २३ ॥

[2] गृहपती राजा कथं स्वप्रजा उन्नयेत् अत आह—

❀ 'अधिक मित्र, थोड़े प्रीति रखनेवाले और शत्रु न हों' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

+ 'असुर्यम्' इत्यशुद्धः स्वरोऽजमेरमुद्रिते ।

पदार्थः—(अग्नेः) पावकस्य (अनीकम्) सैन्यमिव ज्वालासमूहम् (अपः) जलानि (आ) (विवेश) (अपाम्[1]) आप्नुवन्ति याभिस्तासामुदकानाम् (नपात्) नाधःपतनशीलः (प्रतिरक्षन्) पालयन् (असुर्य्यम्) असुरेषु मेघेषु प्राणक्रीडासाधनेषु भवं द्रव्यम् (दमेदमे) दाम्यन्ति जना यस्मिन् तस्मिन् गृहे गृहे, दम इति गृहनामसु पठितम्। निघ० ३। ४। वीप्सया द्वित्वम् (समिधम्) समिध्यते प्रकाश्यतेऽर्थतत्त्वमनया क्रियया ताम् (यक्षि) यजसि सङ्गच्छसे, अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २। ४। ७३] इति शपो लुक् (अग्ने) विज्ञानयुक्त ! (प्रति) (ते) तव (जिह्वा) रसेन्द्रियम् (घृतम्) आज्यम् (उत्) (चरण्यत्) चरणमिवाचरेत्, वा छन्दसि [अ० ६। १। ४। ६ भा०] इत्यत्राल्लोप ईत्वाऽभावश्च (स्वाहा) सत्यया क्रियया ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ४। ५। १२ व्याख्यातः ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे [अग्ने] गृहस्थ ! त्वमग्नेरनीकमपश्च विवेशापां नपात् त्वमसुर्यं प्रतिरक्षन् दमेदमे समिधं [प्रति] यक्षि, ते जिह्वा घृतमुत स्वाहोच्चरण्यत् ॥ २४ ॥

भावार्थः—अग्निजले सर्वेषां सांसारिकपदार्थानां हेतू स्तः, अतो गृहस्थो विशेषतोऽनयोर्गुणान् ज्ञात्वा गृहस्य सर्वाणि कार्याणि सत्यव्यवहारेण कुर्यात् ॥ २४ ॥

---

[1] अपान्नपात् पदनाम (निघ० ५। ४) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अनीकम्) पूर्वं य० ५। ३४ पृ० ४९१ व्याख्यातः ॥

(विवेश) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१। २८) इति निघातः ।

(अपाम्) ऊडिदम्पदाद्यप्० (अ० ६।१।१७१) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ।

(नपात्) न पततीति नपात् । पतधातोर्ण्विः प्रत्ययः । यद्वा पा धातोः शतरि रूपम्, पिबाभावश्छान्दसः । नभ्राण्नपान्नवेदा० (अ० ६। ३। ७५) इति निपातनात् नलोपाभावः । तत्पुरुषे तुल्यार्थसप्तम्युपमानाव्यय० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् । अवग्रहस्तु सन्दिग्धे नावगृह्णन्ति इति न्यायान्न भवति । यत्तु पूर्वं यजु० ६। २७ सर्वानुदात्तत्वं, तत्तु संबुद्धिहेतोरिति ध्येयम् ॥

(प्रतिरक्षन्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६। १। १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेण र उदात्तः ॥

(असुर्यम्) असुरेषु भवमसुर्यम् । असुरस्य स्वम् (अ० ४। ४। १२३) इति यत् प्रत्ययः । तित्स्वरितम् (अ० ६। १। १८५) इति स्वरितत्वम् ॥

(दमेदमे) पूर्वं यजुः ३। २२ पृष्ठ २७५ व्याख्यातः ॥

(यक्षि) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः ।

(जिह्वा) शेवायह्वजिह्वा० (उ० १। १५४) इति 'वन्' प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादन्तोदात्तत्वम् ॥

(घृतम्) पूर्वं य० २। २२ पृ० २११ व्याख्यातः ॥

(चरण्यत्) यद्वा चरण गतौ कण्ड्वादिः, ततो लङ् । अकारलोपः । तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

अब राजा और प्रजाजन गृहस्थों के लिये उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥[1]

पदार्थः—हे [(अग्ने) विज्ञानयुक्त] गृहस्थ ! तू (अग्नेः) अग्नि की (अनीकम्) कपटरूपी सेना के प्रभाव और (अपः) जलों को (आ) (विवेश) अच्छी प्रकार समझ (अपाम्) उत्तम व्यवहार सिद्धि कराने-वाले गुणोंको जान कर (नपात्) अविनाशिस्वरूप ! तू (असुर्यम्) मेघ और प्राण आदि अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुए सुवर्ण आदि धन को (प्रतिरक्षन्) प्रत्यक्ष रक्षा करता हुआ (दमेदमे) घर घर में (समिधम्) जिस क्रिया से ठीक २ प्रयोजन निकले उसको [(प्रति)] (यक्षि) प्रचार कर और (ते) तेरी (जिह्वा) जीभ (घृतम्) घी का स्वाद लेवे । (स्वाहा) सत्यव्यवहार से (उत्) (चरण्यत्) देव आदि साधनसमूह सब काम किया करे ॥ २४ ॥

भावार्थः—अग्नि और जल संसार के सब व्यवहारों के कारण हैं, इस से गृहस्थजन विशेष कर अग्नि और जल के गुणों को जानें और गृहस्थ के सब काम सत्यव्यवहार से करें ॥ २४ ॥

समुद्रे त इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतिर्देवता । भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थोपदेशमाह[2] ॥

स॒मु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्व॒न्तः सं त्वा॑ विश॒न्त्वोष॑धीरु॒तापः॑ ।
य॒ज्ञस्य॑ त्वा यज्ञपते सू॒क्तोक्तौ॒ नमो॑वा॒के वि॑धेम॒ यत् स्वाहा॑ ॥ २५ ॥

स॒मु॒द्रे । ते॒ । हृद॑यम् । अ॒प्स्वित्य॒प्ऽसु । अ॒न्तरित्य॒न्तः । सम् । त्वा॒ । वि॒श॒न्तु॒ । ओष॑धीः । उ॒त । आपः॑ ॥ य॒ज्ञस्य॑ । त्वा॒ । य॒ज्ञ॒प॒त॒ इति॑ यज्ञऽपते । सू॒क्तोक्ता॒विति॑ सू॒क्तऽउ॑क्तौ । न॒मो॒वा॒क ※इति॑ नमः॒ऽवा॒के । वि॒धे॒म॒ । यत् । स्वाहा॑ ॥ २५ ॥

पदार्थः—(समुद्रे) सम्यग् द्रवीभूते व्यवहारे[3] (ते) तव (हृदयम्) (अप्सु) प्राणेषु[4] (अन्तः) अन्तःकरणम् † (सम्) (त्वा) (विशन्तु) (ओषधीः) यवाद्याः (उत) अपि (आपः)

[1] गृहाश्रमी राजा अपनी प्रजाओं की उन्नति कैसे करे, सो दर्शाते हैं—॥ २४ ॥

[2] विद्वांसः कथं गृहस्थानुपदिशेयुरित्युच्यते—

[3] वाग्वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः ॥ तां० ६।४।७॥ वाग्वै समुद्रः ॥ तां० ७।७।९॥

[4] आपो वै प्राणाः ॥ श० ३।८।२।४॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हृदयम्) वृहोः षुग्दुकौ च (उ० ४।१००) इति 'कयन्' प्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(विशन्तु, विधेम) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(सूक्तोक्तौ) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे सूपमानात् क्तः (अ० ६।२।१४५) इति क्तान्तोदात्तत्वे पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(नमोवाके) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते छान्दसमुत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

※ 'इति॑ नमः॑, । ऽवा॒के' इत्यपपाठो ऽजमेरमुद्रिते ॥
† '(सम्) (त्वा)' इत्यस्य स्थाने '(सन्तु) (आ)' इति अ० मुद्रिते ऽपपाठः ॥

जलानि (यज्ञस्य) गृहाश्रमानुकूलस्य व्यवहारस्य (त्वा) त्वाम् (यज्ञपते) गृहाश्रमस्य रक्षक ! (सूक्तोक्तौ) सूक्तानां वेदस्थानां प्रामाण्यस्योक्तिर्यस्मिन् गृहाश्रमे (नमोवाके) वेदस्थस्य नम इत्यन्नस्य सत्कारस्य च वाका वचनानि यस्मिन् (विधेम) निष्पादयेम (यत्) यतः (स्वाहा) प्रेमोत्पादयित्र्या वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ५ । १३–२० व्याख्यातः ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे यज्ञपते ! यथा वयं स्वाहा यज्ञस्य सूक्तोक्तौ नमोवाके समुद्रेऽप्सु च ते तव [यत्] हृदयमप्स्वन्तोऽन्तःकरणं विधेम, तथा तेन विदितः ओषधीस्त्वा समाविशन्तु । उताप्यापस् [त्वा] तव सुखकारिकाः सन्तु ॥ २५ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—अध्यापकोपदेशका गृहस्थान् सत्यां विद्यां ग्राहयित्वा प्रयत्नसाध्ये गृहकृत्यानुष्ठाने सर्वान् युञ्ज्युः*, यतश्चैते शरीरात्मबलं वर्द्धयेरन् ॥ २५ ॥

फिर गृहस्थों के लिये उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (यज्ञपते) गृहाश्रम धर्म्म के पालनेहारे ! जैसे हम लोग (स्वाहा) प्रेमास्पद वाणी से (यज्ञस्य) गृहाश्रमानुकूल व्यवहार के (सूक्तोक्तौ) उस प्रबन्ध कि जिस में वेद के वचनों के प्रमाण से अच्छी २ बातें हैं और (नमोवाके) वेद प्रमाण सिद्ध अन्न और सत्कारादि पदार्थों के वादानुवादरूप (समुद्रे) आर्द्र व्यवहार और (अप्सु) सब के प्राणों में (ते) तेरे (यत्) जिस (हृदयम्) हृदय [और (अन्तः) मन] को संतुष्टि में (विधेम) नियत करें वैसे उससे जानी हुई (ओषधीः) जौ, गेहूँ, चना, सोमलतादि सुख देनेवाले पदार्थ [(त्वा)] तुझे (सम्) सुख रीति से ([आ] विशन्तु) प्राप्त हों (उत) और न केवल ये ही किन्तु (आपः) अच्छे जल भी [(त्वा)] तुझको उत्तम सुख करने वाले हों ॥ २५ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—पढ़ाने और उपदेश करनेवाले सज्जनपुरुष गृहस्थों को सत्य विद्या को ग्रहण कराकर अच्छे यत्नों से सिद्ध होने योग्य घर के कामों में सब को युक्त करें, जिस से गृहाश्रम चाहने और करनेवाले पुरुष शरीर और अपने आत्मा का बल बढ़ावें ॥ २५ ॥

देवीराप इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । गृहपतयो[2] देवताः । स्वराडार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ विवाहितस्त्रीभ्यः‡ कर्त्तव्योपदेशमाह[3] ॥

---

१ विद्वान् लोग गृहस्थ स्त्रीपुरुषों को कैसा उपदेश करें, सो कहते हैं—॥ २५ ॥

२ स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽयम्, अत्रैव मन्त्रसंगत्यां 'विवाहितस्त्रीभ्यः' इति वचनात् । विभाषा सपूर्वस्य (अ० ४ । १ । ३४) इति पक्षे नकारादेशाभावः ॥

३ गृहदीप्तयो देव्य एव गृहरक्षणे मुख्या इत्यतः सामान्यतो गृहस्थकर्त्तव्यमुपदिश्य पत्नीकर्त्तव्यमुपक्रमते—

* 'युञ्जीयुः' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

‡ 'कर्तव्यमुपदेशमाह' इति अ० मु० अपपाठः ॥

देवीराप ऽ एष वो गर्भस्तꣳ सुप्रीतꣳ सुभृतं बिभृत ।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व ॥ २६ ॥

देवीः । आपः । एषः । वः । गर्भः । तम् । सुप्रीतमिति सुऽप्रीतम् । सुभृतमिति सुऽभृतम् । बिभृत ॥ देव । सोम । एषः । ते । लोकः । तस्मिन् । शम् । च । वक्ष्व । परि । च । वक्ष्व ॥ २६ ॥

पदार्थः—(देवीः[1]) देदीप्यमाना विदुष्यः (आपः) सर्वाः शुभगुणकर्म्मविद्याव्यापिन्यः (एषः) (वः) युष्माकम् (गर्भः) (तम्) (सुप्रीतम्) सुष्ठु प्रीतिनिबद्धम् (सुभृतम्) सुष्ठु धारितम् (बिभृत) धरत, पुष्यत (देव) दिव्यगुणैः कमनीय ! (सोम[2]) ऐश्वर्य्याढ्य गृहस्थजन ! (एषः) प्रत्यक्षः (ते) तव (लोकः) लोकनीयः पुत्रपत्यादिसम्बन्धसुखकरो गृहाश्रमः (तस्मिन्) (शम्) कल्याणकारकं ज्ञानम् (च) शिक्षाम् (वक्ष्व) प्रापय (परि) (च) अनुक्तसमुच्चये (वक्ष्व[3]) वह ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ५ । २१ व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे आपो देवीर्देव्यो यूयं वो युष्माकं य एष गर्भो लोकस्तं सुप्रीतं सुभृतं यथा स्यात् तथा बिभृत । हे देव ! सोम ! य एष ते तव लोकोऽस्ति तस्मिन् शं [च] चाच्छिक्षां वक्ष्व [च] चाद्रक्षणं परिवक्ष्व ॥ २६ ॥

भावार्थः—विदुषी स्त्री यथोक्तविवाहविधिना विद्वांसं पतिं प्राप्य, तन्मनोरञ्जनपुरःसरं गर्भमादधीत, स च पतिः स्त्रीरक्षणे तन्मनोरञ्जने च नित्यमुत्सहेत ॥ २६ ॥

अब विवाहित स्त्रियों को करने योग्य [कर्म का] उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (आपः) समस्त शुभ गुण कर्म और विद्याओं में व्याप्त होनेवाली (देवीः) अति शोभायुक्त स्त्रीजनो ! तुम सब (यः) जो (एषः) यह (वः) तुम्हारा (गर्भः) गर्भ पुत्र पति आदि के साथ सुखदायक [गृहाश्रम] है, (तम्) उसको (सुप्रीतम्) श्रेष्ठ प्रीति के साथ (सुभृतम्) जैसे उत्तम रक्षा से धारण किया जाय वैसे (बिभृत) धारण और उसकी रक्षा करो । हे (देव) दिव्य गुणों से मनोहर (सोम)

[1] देव्यो ह्यापः श० १ । १ । ३ । ७ ॥
योषा वापो वृषाग्निः ॥ श० १ । १ । १ । १८ ॥
[2] पुमान् वै सोमः ॥ तै० १ । ३ । ३ । ४ ॥
[3] 'वह प्रापणे' अस्माल्लोटि शपो लुक् छान्दसः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुप्रीतम् , सुभृतम्) सुः पूजायाम् (अ० १ । ४ । ९४) इति कर्मप्रवचनीयत्वे ऽ व्यय-पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।

(बिभृत) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ।

(तस्मिन्) प्रातिपदिकस्वरेणोदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ।

(शम्) प्रातिपदिकस्वरेण निपातस्वरेण वोदात्तः ।

(वक्ष्व) चवायोगे प्रथमा (अ० ८ । १ । ५९) इति प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते, द्वितीया तु निहन्यत एव ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[4] गृहकी दीपकरूप स्त्रियां ही गृह की पालना में मुख्य होती हैं, इस कारण सामान्य गृहस्थधर्म का उपदेश करके पत्नी के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हैं— ॥ २६ ॥

ऐश्वर्य्ययुक्त! तू जो [(एषः)] यह (ते) तुम्हारा (ओकः) देखने योग्य पुत्र स्त्री भृत्यादि सुखकारक गृहाश्रम है, (तस्मिन्) इस के निमित्त (शम्) सुख (च) और शिक्षा (वक्ष्व) पहुँचा (च) तथा इस की रक्षा (परिवक्ष्व) सब प्रकार कर ॥ २६ ॥

भावार्थः—पढ़ी हुई स्त्री यथोक्त विवाह की विधि से विद्वान् पति को प्राप्त होकर उस को आनन्दित कर परस्पर प्रसन्नता के अनुकूल गर्भ को धारण करे, वह पति भी स्त्री की रक्षा और उसकी प्रसन्नता करने को नित्य उत्साही हो ॥ २६ ॥

अवभृथेत्यस्यात्रिर्ऋषिः दम्पती देवते । भुरिक् प्राजापत्यानुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
अव देवैरित्यस्य स्वराडार्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनर्गृहस्थधर्म्मे स्त्रीविषयमाह[1] ॥

अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः ।
अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयासिष॒मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पुरु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि ।
दे॒वाना॑ᳫं स॒मिद॑सि ॥ २७ ॥

× अव॑भृ॒थेत्यव॑ऽभृथ । नि॒चु॒म्पु॒णेति॑ निऽचु॒म्पुण । नि॒चे॒रुरिति॑ निऽचे॒रुः । अ॒सि॒ । नि॒चु॒म्पुण ‡ इति॑ निऽचुम्पुणः ॥ अव॑ । दे॒वैः । दे॒वकृ॑त॒मिति॑ दे॒वऽकृ॑तम् । एनः॑ । अ॒या॒सि॒ष॒म् । अव॑ । मर्त्यैः॑ । मर्त्य॑कृत॒मिति॒ मर्त्य॑ऽकृतम् । पु॒रु॒राव्ण॒ इति॑ पुरु॒ऽराव्णः॑ । दे॒व॒ । रि॒षः । पा॒हि॒ ॥ दे॒वाना॑म् । स॒मिदिति॑ स॒म्ऽइत् । अ॒सि॒ ॥ २७ ॥

पदार्थः—(अवभृथ) यो निषेकेण गर्भं बिभर्त्ति, तत्सम्बुद्धौ (निचुम्पुण) नितरां मन्दगामिन्! (निचेरुः[2]) यो धर्म्मेण द्रव्याणि नित्यं चिनोति [सः (असि)] (निचुम्पुणः) नित्यं कमनीयः (अव) अर्वागर्थे (देवैः) विद्वद्भिः (देवकृतम्) कामिभिरनुष्ठितम् (एनः) दुष्टाचरणम् (अयासिषम्) प्राप्तवती (अव) निषेधे (मर्त्यैः) मृत्युधर्म्मैः (मर्त्यकृतम्) साधारणमनुष्याचरितम् (पुरुराव्णः) पुरवो बहवो रावाणोऽपराधदानशीला यस्मिन् तस्मात् (देव) विजिगीषो! (रिषः) धर्म्मस्य हिंसनात् (पाहि) रक्ष (देवानाम्) विदुषां मध्ये (समित्) सम्यग्दीप्तः (असि) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । १ । २२–२३ तथा ४ । ५ । १ । १–१६ तथा ४ । ५ । २ । १–३ व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे अवभृथ निचुम्पुण पते! त्वं निचुम्पुणो निचेरुरसि देवानां समिदसि । हे देव देवैर्मर्त्यैः सह वर्त्तमानस्त्वं यद् देवकृतमेनोऽपराधमहमवायासिषं [मर्त्यकृतमवायासिषम्] तस्मात् पुरुराव्णो रिषो मां पाहि दूरे रक्ष ॥ २७ ॥

१ पत्न्यः पतीन् सदा प्रसादयेयुरित्युपदिशति—
२ निभृतं चरतीति निभृतं वा चरत्यस्मिन्नित्यौणादिक उ प्रत्यये छान्दसमेत्वम् इति भट्टभास्करः । तै० सं० १ । ४ । ४५ । २ भा० ॥
३ मन्त्रोऽयं निरु० ५ । १८ अपि व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(निचेरुः) निपूर्वाच्चिनोतेर्धातोरुप्रत्यय औणादिकः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६।२।१३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ।
४ पूर्वं अ० ३ । ४८ पृ० ३२९ व्याख्यातः ॥

× 'अव॑भृथेत्यव॑ऽभृथ' इति अ० मु० अपपाठः ॥ ‡ 'इति॑ निऽचु॒म्पु॒णः' इति अ० मु० पाठः ॥

भावार्थः—स्त्री स्वपतिं नित्यं प्रार्थयेद्यथाहं सेव्यं प्रसन्नचित्तं त्वामनुदिनमिच्छामि तथा त्वमपि मामिच्छ स्वबलेन रक्ष च, यतोहं † कस्माच्चिद् दुष्टाचरणशीलाज्जनाद् दुश्चरितं कथंचिन्न प्राप्नुयाम्भवाँश्च नाप्नुयात् ॥ २७ ॥

फिर गृहस्थधर्म्म में स्त्री का विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (अवभृथ) गर्भ के धारण करने के पश्चात् उसकी रक्षा करने (निचुम्पुण) और मन्द मन्द चलनेवाले पति ! आप (निचुम्पुणः) नित्य मन हरने और (निचेरुः) धर्म्म के साथ नित्य द्रव्य का संचय करनेवाले (असि) हैं, तथा (देवानाम्) विद्वानों के बीच में (समित्) अच्छे प्रकार तेजस्वी (असि) हैं । हे (देव) सब से अपनी जय चाहनेवाले ! (देवैः) विद्वान् और (मर्त्यैः) साधारण मनुष्यों के साथ वर्त्तमान आप, जो मैं (देवकृतम्) कामी पुरुषों वा (मर्त्यकृतम्) साधारण मनुष्यों के किये हुए (एनः) अपराध को [(अव)] (अयायासिषम्) प्राप्त होना चाहूँ, उस (पुरुराव्णः) बहुत से अपराध देने वालों के (रिषः) धर्म्म छुड़ानेवाले काम से मुझे (पाहि) दूर रख ॥ २७ ॥

भावार्थः—स्त्री अपने पति से नित्य प्रार्थना करे कि जैसे मैं सेवा के योग्य आनन्दित चित्त आपको प्रतिदिन चाहती हूँ, वैसे आप भी मुझे चाहो, और अपने पुरुषार्थ भर मेरी रक्षा करो, जिस से मैं दुष्टाचरण करनेवाले मनुष्य के किये हुए अपराध की भागिनी किसी प्रकार न होऊँ [और आप भी न हों] ॥ २७ ॥

एजत्वित्यस्यात्रिर्ऋषिः । दम्पती देवते । [एजतु इत्यस्य] एवायमित्यस्यापि [भुरिक्] साम्नी [भुरिक्] आसुरी [वा] उष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥ यथायमित्यस्य प्राजापत्यानुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ गार्हस्थ्यधर्म्मे गर्भव्यवस्थामाह[2] ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽएजति ।
एवायं दशमास्यो ऽ अस्रज्जरायुणा सह ॥ २८ ॥

---

१ पत्नियें सदा ही अपने पतियों को प्रसन्न रक्खें, यह दर्शाते हैं—॥ २७ ॥

२ सन्तत्युत्पादानायैव गार्हस्थ्यमतो गर्भविषयमुपक्रम्य ता देव्यः सामान्यतया सदैव प्रसादनीयाः, गर्भावस्थायां तु विशेषेणेति दर्शयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(एजति) तिपि शपि धातुस्वरः, यावद्यथाभ्याम् (अ० ८ । १ । ३६) इति निघाताभावः ॥

(दशमास्यः) भवे छन्दसि (अ० ४।४।११०) इति यत् । यतोऽनावः (अ० । ६ । १ । २१३) इति द्व्यच्त्वाभावेऽपि छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(जरायुणा) जरामेतीति जरायुः, किञ्जरयोः श्रिणः (उ० १ । ४) इति ञुण् प्रत्ययः । कृत्स्वरेणोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे ञित्वादाद्युदात्ते मध्योदात्तो जरायुशब्दः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(अस्रत्) पादादित्वाद् निघाताभावेऽट्स्वरः ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† 'कस्यचिद्' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः॥

एज॑तु । दश॑मास्य॒ इति॑ दश॑ऽमास्यः । गर्भः॑ । ज॒रायु॑णा । स॒ह ॥ यथा॑ । अ॒यम् । वा॒युः । एज॑ति यथा॑ । स॒मु॒द्रः । एज॑ति ॥ ❀ ए॒व । अ॒यम् । दश॑मास्य॒ इति॑ दश॑ऽमास्यः । अस्र॑त् । ज॒रायु॑णा । स॒ह ॥ २८ ॥

पदार्थः—(एजतु) चलतु (दशमास्यः) दशसु मासेषु भवः (गर्भः) ध्रियते सिच्यते गृह्यते वा स गर्भः, गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्ते [अथ गर्भो भवति] निरु० १० । २३ (जरायुणा) आवरणेन (सह) (यथा) (अयम्) (वायुः) (एजति) कम्पते (यथा) (समुद्रः) उदधिः (एजति) वर्द्धते (एव) अवधारणार्थे (अयम्) वर्त्तमानः (दशमास्यः) (अस्रत्) स्रंसतोऽधः स्रवतु, लोडर्थे लङ् (जरायुणा) (सह) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । २ । ४-९ व्याख्यातः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे दम्पती ! यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति तथा जरायुणा सह दशमास्यो गर्भ एजतु क्रमेण वर्द्धतामेवं वर्द्धमानोऽयं जरायुणा सह दशमास्य एवास्रत् स्रंसताम् ॥ २८ ॥

[अत्रोपमालंकारः ॥]

भावार्थः—ब्रह्मचर्य्येण शरीरपुष्टिमनःसन्तुष्टिविद्यावृद्धिसम्पन्नौ कृतविवाहौ दम्पती यत्नेन गर्भरक्षणं कुर्य्यातां, यतः स दशमास्यो दशमासात् पूर्वं न स्खलेत्, यो हि दशमान्मासादूर्ध्वं जायते स प्रायशो बलबुद्धियुक्तो भवति, तस्मात् पूर्वमुत्पद्यते नायं तादृग्भवति ॥ २८ ॥

अब गृहस्थधर्म्म में गर्भ की व्यवस्था अगले मन्त्र में कही है[1] ॥

पदार्थः—हे स्त्री पुरुष ! [(यथा)] जैसे (अयम्) [यह] (वायुः) पवन (एजति) कम्पता है, वा [(यथा)] जैसे (समुद्रः) समुद्र (एजति) अपनी लहरों से उछलता है, वैसे तुम्हारा ‡ यह [(जरायुणा) आवरण के (सह) साथ] (दशमास्यः) दश महीने में पूर्ण होनेवाला [(गर्भः)] गर्भ (एजतु) क्रम २ से बढ़े और ऐसे बढ़ता हुआ (अयम्) यह [(जरायुणा) आवरण के (सह) साथ] (दशमास्यः) दश महीने में परिपूर्ण होकर [(एव)] हि (अस्रत्) उत्पन्न होवे ॥ २८ ॥

[यहाँ उपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—ब्रह्मचर्य्यधर्म्म से शरीर की पुष्टि, मन की संतुष्टि और विद्या की वृद्धि को प्राप्त होकर और विवाह किये हुए जो स्त्री पुरुष हों वे यत्न के साथ गर्भ को रक्खें, कि जिस से वह दश महीने के पहिले गिर न जाय, क्योंकि जो गर्भ दश महीने से अधिक दिनों का होता है, वह प्रायः बल और बुद्धिवाला होता है, और जो इस से पहिले होता है वह वैसा नहीं होता ॥ २८ ॥

---

१ गृहस्थाश्रम सन्तानकी उत्पत्ति के लिये ही है, अतः गर्भ विषय का उपक्रम करके, वे गृहपत्नियाँ सामान्य करके सदा और गर्भावस्था में तो विशेष तया प्रसन्न रखनी चाहिएँ, यह कहते हैं—॥ २८ ॥

❀ 'एव' इति स्वरचिह्नरहितोऽपपाठः अ० सु० ॥
‡ इतोऽग्रे '(अयम)' इति पाठः, स चास्माभिरन्वयानुसारमुपरि नीतः ॥

यस्या इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । दम्पती देवते । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनरपि गार्हस्थ्यधर्म्मे गर्भव्यवस्थामाह[1] ॥

यस्यै ते युज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरुण्ययी ।

अङ्गान्यह्रुता यस्यु तं मात्रा समजीगमुꣳ स्वाहा ॥ २९ ॥

यस्यै । ते । युज्ञियः । गर्भः । यस्यै । योनिः । हिरुण्ययी ॥ अङ्गानि । अह्रुता । यस्य । तम् । मात्रा । सम् । अजीगमम् । स्वाहा ॥ २९ ॥

पदार्थः—(यस्यै) सुलक्षणायाः स्त्रियाः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (ते) तव (यज्ञियः) यो यज्ञमर्हति (गर्भः) (यस्यै) सुभगायाः (योनिः) जन्मस्थानम् (हिरण्ययी) रोगरहिता शुद्धा (अङ्गानि) अङ्कितानि व्यञ्जकानि वा, अङ्गेति क्षिप्रनामाङ्कितमेवाञ्चितं भवति । निरु० ५ । १७ (अह्रुता) अकुटिलानि सरलानि शोभनानि, शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । ७०] इति लुक्[2] (यस्य) (तम्) (मात्रा) गर्भमानकर्त्र्या ❀ (सम्) (अजीगमम्) सम्यक् प्राप्नुयाम् (स्वाहा) धर्म्मयुक्तया क्रियया ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । २ । १०–११ व्याख्यातः ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे विवाहिते सुभगेऽहं पतिः यस्यै यस्यास्ते तव हिरण्ययी योनिरस्ति, यस्यै यस्यास्तव यज्ञियो गर्भोऽस्ति, तस्यां त्वयि यस्य गर्भस्याह्रुताऽकुटिलान्यङ्गानि स्युस्तम्मात्रा गर्भमानकर्त्र्या त्वया सह [समागम्य] स्वाहा समजीगमम् सम्यक् प्राप्नुयाम् ॥ २९ ॥

भावार्थः—पुरुषेण गृहाश्रमे जितेन्द्रियता वीर्य्यशुद्ध्युन्नतिर्ब्रह्मचर्य्यता सम्पादनीया, स्त्रियाप्येवं, अन्यच्च † गर्भधारणं गर्भाशययोन्यारोग्यकरणं तद्रक्षणं च कार्य्यं, परस्परमाह्लादेन सन्तानोत्पादने कृते प्रशस्तरूपगुणकर्मस्वभावान्यपत्यानि जायन्त इति वेद्यम् ॥ २९ ॥

फिर भी गृहस्थधर्म्म में गर्भ की व्यवस्था अगले मन्त्र में कही है[3] ॥

---

१ प्रकारान्तरेण तदेवाह—

२ पूर्वं यजुः (८ । ५ । पृष्ठ ६६२) टिप्पणी द्रष्टव्या ।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(यस्यै) यत् प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(हिरण्ययी) ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि (अ० ६ । ४ । १७५) इति हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते । निपातनादन्त्यात् पूर्व उदात्तः । ततो ङीप् ॥

(अह्रुता) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(मात्रा) 'माङ् माने' इत्येतस्मात् तृचि रूपम् । चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्व उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(अजीगमम्) गमेर्णिचि लुङि । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ पूर्वोक्त विषय को ही प्रकारान्तर से कहते हैं—॥ २९ ॥

❀ इतो ऽग्रे 'त्वया सह समागम्य' इति अ०मुद्रितेऽनावश्यकः पाठः ॥ † 'चान्यद् गर्भधारणं' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

पदार्थः—हे विवाहित सौभाग्यवती स्त्री ! मैं तेरा स्वामी (यस्यै) जिस (ते) तेरा (हिरण्ययी) रोगरहित शुद्ध [(योनिः)] गर्भाशय है, और (यस्यै) जिस तेरा (यज्ञियः) यज्ञ के योग्य (गर्भः) गर्भ है, (यस्य) जिस गर्भ के (अह्रुता) सुन्दर सीधे (अङ्गानि) अङ्ग हैं, (तम्) उसको (सात्रा) गर्भ की कामना करनेवाली तेरे साथ समागम करके (स्वाहा) धर्म्मयुक्त क्रिया से (सम्) (अजीगमम्) अच्छी प्रकार प्राप्त होऊँ ॥ २९ ॥

भावार्थः—पुरुष को चाहिये कि गृहाश्रम के बीच इन्द्रियों का जीतना, वीर्य की बढ़ती, शुद्धि से उस की उन्नति करे, स्त्री भी ऐसा ही करे, और पुरुष से गर्भ को प्राप्त होके उस की स्थिति [गर्भ] स्थान और योनि आदि की, आरोग्यता तथा रक्षा करे, और जो स्त्रीपुरुष परस्पर आनन्द से सन्तान को उत्पन्न करें तो प्रशंसनीय रूप, गुण, कर्म, स्वभाव और बलवाले सन्तान उत्पन्न हों, ऐसा सब लोग निश्चित जानें ॥ २९ ॥

पुरुदस्म इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । दम्पती देवते । आर्षी जगती छन्दः । निषादः + स्वरः ॥

पुनर्गर्भव्यवस्थामाह[1] ॥

पुरुदस्मो विषुरूप ऽ इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः ।
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्तांᳬ स्वाहा ॥ ३० ॥

पुरुदस्म इति पुरुऽदस्मः । विषुरूप इति विषुऽरूपः । इन्दुः । अन्तः । महिमानम् । आनञ्ज । धीरः ॥ एकपदीमित्येकऽपदीम् । द्विपदीमिति द्विऽपदीम् । त्रिपदीमिति त्रिऽपदीम् । चतुष्पदीम् । चतुःपदीमिति × चतुःऽपदीम् । अष्टापदीमित्यष्टाऽपदीम् । भुवना । {} अनु । प्रथन्ताम् । स्वाहा ॥ ३० ॥

पदार्थः—(पुरुदस्मः) पुरुर्बहुर्दस्म उपक्षयो दुःखानां यस्मात् सः (विषुरूपः) विषूणि व्याप्तानि रूपाणि येन सः (इन्दुः) परमैश्वर्य्यकारी (अन्तः) आभ्यन्तरे (महिमानम्) पूज्यं ब्रह्मचर्य्यजितेन्द्रियत्वादिशुभकर्म्मसंस्कारजन्यम् (आनञ्ज) अञ्जयेत कामयेत, अत्र लिङर्थे लिट् (धीरः) सर्वव्यवहारध्यानशीलः (एकपदीम्) एकमोमिति पदं प्राप्तव्यं यस्यां ताम् (द्विपदीम्) द्वे ‡ अभ्युदयनिःश्रेयसे सुखे पदे यस्यां ताम् (त्रिपदीम्) त्रीणि वाङ्मनःशरीरस्थानि सुखानि यस्यास्ताम् (चतुष्पदीम्) चत्वारि धर्म्मार्थकाममोक्षाः पदानि यया ताम् (अष्टापदीम्) अष्टौ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो वर्णा ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्चत्वार आश्रमाः पदानि प्राप्तव्यानि यस्यास्ताम् (भुवना) भवन्ति भूतानि येषु तानि गृहाणि, शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । ७०] इति लुक्[2] (अनु) (प्रथन्ताम्) प्रख्यान्तु (स्वाहा) सत्यां सकलविद्यायुक्तां वाचम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ २ । १२–१६ व्याख्यातः ॥ ३० ॥

---

१ पूर्वोक्तमेवोपोद्बलयति—

२ अत्र पूर्वं यजुः (८ । ५ पृष्ठ ६६२) टि० द्रष्टव्या ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पुरुदस्मः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते अन्तोदात्तप्रकरणे त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १९९ भा० वा०) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(विषुरूपः) वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्यनेनाद्युदात्तो विषुशब्दः । ततो बहुव्रीहौ

+ 'मध्यमः' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

{} 'अनु' इति अ० मु० अपपाठः ॥

× 'चतुःऽपदीम्' इति अ० मु० अपपाठः ॥

‡ 'अभ्युदये निःश्रेयसे' इति अ० मु० अपपाठः ॥

अन्वयः—पुरुदस्मो विपुरूप इन्दुर्धीरो गृहस्थो धर्म्मेण विवाहितायाः स्त्रियाः अन्तर्महिमानमानञ्ज । हे गृहस्थाः ! यूयं सृष्टयुन्नतिं विधाय यामेकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं स्वाहा समस्तविद्यान्वितां वाचं विदित्वा [भुवना] भुवनानि प्रथन्तां तथा सर्वान् मनुष्याननुप्रथन्ताम् ॥ ३० ॥

भावार्थः—दम्पतीॐसर्वां गृहाश्रमविद्यामभिव्याप्य तदनुसारेण सन्तानानुत्पाद्य मनुष्यवृद्धिं विधाय ब्रह्मचर्य्येणाखिलविद्यास्सर्वान् ग्राहयित्वा सुखानि प्राप्यानुमोदेताम् ॥ ३० ॥

फिर भी गर्भ की व्यवस्था अगले मन्त्र में कही है[1] ॥

पदार्थः—(पुरुदस्मः) जिसके गुणों से बहुत दुःखों का नाश होता है (विपुरूपः) जिसने जन्म-क्रमसे अनेक रूपरूपान्तर विद्याविषयों में प्रवेश किया है (इन्दुः) जो परमैश्वर्य्य को सिद्ध करनेवाला (धीरः) समस्त व्यवहारों में ध्यान देनेहारा पुरुष है, वह गृहस्थ धर्म्म से विवाही हुई अपनी स्त्री के (अन्तः) भीतर (महिमानम्) प्रशंसनीय ब्रह्मचर्य्य और जितेन्द्रियता आदि शुभ कर्मों से संस्कार प्राप्त होने योग्य गर्भ की (आनञ्ज) कामना करे, [हे] गृहस्थ लोगो [तुम] ऐसे सृष्टि की उन्नति का विधान करके जिस (एकपदीम्) जिसमें एक यह ओम् पद (द्विपदीम्) जिसमें दो अर्थात् संसार सुख और मोक्ष सुख (त्रिपदीम्) जिससे वाणी मन और शरीर, तीनों के आनन्द (चतुष्पदीम्) जिससे चारों धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष (अष्टापदीम्) और जिस से आठों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण तथा ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चारों आश्रम प्राप्त होते हैं, उस (स्वाहा) समस्त विद्यायुक्त [सत्य] वाणी को जानकर सब गृहस्थ जन (भुवना) जिन में प्राणीमात्र निवास किया करते हैं, उन घरों की (प्रथन्ताम्) प्रशंसा करें और उस से सब मनुष्यों को (अनु) अनुकूलता से बढ़ावें ॥ ३० ॥

प्रकृत्या० (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृति-स्वरत्वम् ॥

(महिमानम्) 'महत्' शब्दाद् भावे कर्मणि वा पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा (अ० ५ । १ । १२२) इति 'इमनिच्' प्रत्ययः । चित्त्वादन्तोदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(आनञ्ज) अञ्जूधातोर्लिटि तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(एकपदीम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व इण्भीकापा-शल्यति० (उ० ३ । ४३) इति कन्प्रत्यये नित्त्वा-दाद्युदात्तत्वम् ॥

(द्विपदीम्, त्रिपदीम्) उभयत्र द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्द्धसु बहुव्रीहौ (अ० ६ । २ । १९७) इत्यु-त्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(चतुष्पदीम्) चतेरुरन् (उ० ५ । ५८) इति 'उरन्' प्रत्ययः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अष्टापदीम्) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे सप्यशूभ्यां तुट् च (उ० १ । १५७) इति कनिन्' प्रत्ययान्तत्वाद् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते घृतादीनां च(फि० २१) इत्यन्तोदात्तत्वम् । ततश्च अष्टन आ विभक्तौ (अ० ७ । २ । ८४) इत्यात्वे प्राप्ते न लुमताङ्गस्य (अ० १ । १ । ६३) इति प्रत्यय-लक्षणप्रतिषेधे छान्दसत्वात् 'आत्वं' द्रष्टव्यम् ॥

(प्रथन्ताम्) प्रथधातोर्लोटि । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] पूर्वोक्त विषय का ही उपपादन करते हैं—॥३०॥

ॐ 'दम्पतिभ्यां' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

भावार्थः—विवाह किये हुए स्त्री पुरुषों को चाहिये कि गृहाश्रम की विद्या को सब प्रकार जान कर उस के अनुसार सन्तानों को उत्पन्न कर मनुष्यों को बढ़ा और उनको ब्रह्मचर्य्यनियम से समस्त अङ्ग उपाङ्ग सहित विद्या का ग्रहण करा के उत्तम २ सुखों को प्राप्त होके आनन्दित करें ॥ ३० ॥

मरुतो यस्येत्यस्य गोतम ऋषिः । दम्पती देवते । आर्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनरपि गार्हस्थ्यधर्म्मविषयमाह[1] ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥

मरुतः । यस्य । हि । क्षये । * पाथ । दिवः । + विमहस इति विऽमहसः ॥ सः । × सुगोपातम इति सुऽगोपातमः । जनः ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(मरुतः) हिरण्यानि रूपाण्यृत्विजो विद्वांसश्च, मरुदिति हिरण्यनाम० निघ० २ । २, रूपना० । [निघ०] ३ । ७, ऋत्विङ्ना० । [निघ०] ३ । १८, पदनामसु च । निघ० ५ । ५ (यस्य) गृहस्थस्य (हि) खलु (क्षये) गृहे (पाथ) प्राप्नुत, द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः (दिवः) दिव्या गुणाः स्वभावाः क्रिया वा (विमहसः) विविधतया पूजनीयाः (सः) (सुगोपातमः) शोभनधर्म्मेण गां पृथिवीं वाचं वा पाति सोऽतिशयितः (जनः) प्रसिद्धः ॥ अयं मन्त्रः शत० । ४ । ५ । २ । १७ व्याख्यातः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे कृतविवाहा विमहसो मरुत ‡ ऋत्विजो गृहस्था यूयं यस्य गृहस्थस्य क्षये गृहे हिरण्यानि सुरूपाणि दिवः पाथ स हि सुगोपातमो जनः सदा सेव्यः ॥ ३१ ॥

भावार्थः—नहि केनचिन् मनुष्येण किल ब्रह्मचर्य्यसुशिक्षाविद्याशरीरात्मबलारोग्यपुरुषार्थैश्वर्य्यसज्जनसङ्गालस्यत्यागयमनियमसेवनसुसहायैर्विना गृहाश्रमो धर्तुं शक्यः । नह्येतेन विना धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिर्भवितुं योग्या, तस्मादयं सर्वैः प्रयत्नेन सेवितव्यः ॥ ३१ ॥

अगले मन्त्र में भी गृहस्थ धर्म का विषय कहा है[2] ॥

१ दम्पती स्वशान्तये हितचिन्तकं धर्मनिष्ठं विद्वांसं समाश्रयेतामिति वर्णयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मरुतः) आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ॥

(पाथ) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः ॥

(विमहसः) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(सुगोपातमः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः 'सुगोपा' शब्दः । ततस्तमप्, स चानुदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ दम्पती अपनी शान्ति के निमित्त धर्मनिष्ठ हितैषी विद्वान् का आश्रय लें, यह दर्शाते हैं—॥ ३१ ॥

* 'पाथादिवः' इति अ० मु० अपपाठः ॥

+ 'विमहस' इति अ० मु० अपपाठः ॥

× 'सुगोपात इति' इति अ० मु० अपपाठः ॥

‡ 'ऋत्विजो मरुतो' इति पूर्वापरपाठः अ० मु० ॥

पदार्थः— हे (विमहसः) विविध प्रकार से प्रशंसा करने योग्य (मरुतः) विद्वान् [ऋत्विक्] गृहस्थ लोगो ! तुम (यस्य) जिस गृहस्थ के (क्षये) घर में सुवर्ण उत्तम रूप (दिवः) दिव्य गुण स्वभाव वा प्रत्येक कामों के करने की रीति को (पाथ) प्राप्त हो, (सः हि) वह [ही] (सुगोपातमः) अच्छे प्रकार वाणी और पृथिवी की पालना करनेवाला (जनः) मनुष्य सेवा के योग्य है ॥ ३१ ॥

भावार्थः—इस बात का निश्चय है कि ब्रह्मचर्य्य, उत्तम शिक्षा, विद्या, शरीर और आत्मा का बल, आरोग्य, पुरुषार्थ, ऐश्वर्य, सज्जनों का सङ्ग, आलस्य का त्याग, यम नियम, और उत्तम सहाय के विना किसी मनुष्य से गृहाश्रम धारा नहीं जा सकता [इस के विना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिये इस गृहाश्रम का पालन सब को बड़े यत्न से करना चाहिये] ॥ ३१ ॥

मही द्यौरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दम्पती देवते । आर्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनर्गार्हस्थ्यकर्म्मोपदेशमाह[1] ॥

मही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न ऽ इ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम् । पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः ॥ ३२ ॥

म॒ही । द्यौः । पृ॒थि॒वी । च॒ । नः॒ । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । मि॒मि॒क्ष॒ता॒म् ॥ पि॒पृ॒ताम् । नः॒ । भरी॑मभि॒रिति॒ भरी॑मऽभिः ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(मही) महती पूज्या (द्यौः[2]) दिव्या पुरुषाकृतिः (पृथिवी[3]) विस्तृतशीला क्षमाधारणादिशक्तिमती (च) (नः) अस्माकम्) इमम्) वर्त्तमानम् (यज्ञम्) विद्वत्पूज्यं गृहाश्रमम् (मिमिक्षताम्) सुखैः सेक्तुमिच्छताम् (पिपृताम्) पिपूर्त्तः (नः) अस्माकम् (भरीमभिः) धारण-पोषणादिगुणयुक्तैर्व्यवहारैर्वा पदार्थैः सह ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । २ । १८ व्याख्यातः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे दम्पती ! भवन्तौ मही द्यौः महान् प्रकाशमानः पतिः मही पृथिवी स्त्री च※ युवां भरीमभिर्नो † ऽस्माकं चादन्येषामिमं यज्ञं मिमिक्षताम् पिपृताञ्च ॥ ३२ ॥

भावार्थः—यथा सूर्य्यो जलाद्याकृष्य वर्षित्वा पाति, पृथिव्यादिपदार्थान् प्रकाशयति, तद्वद्यम्पतिः सद्गुणान् पदार्थान् संगृह्य तद्दानेन रक्षेत्—विद्यादिगुणान् प्रकाशयेत् । यथेयं पृथिवी सर्वान् प्राणिनो धृत्वा पालयति, तथेयं स्त्री गर्भादीन् धृत्वा पालयेत्, एवं सहितौ भूत्वा स्वार्थं संसाध्य मनोवाक्कर्मभिरन्यान् सर्वान् प्राणिनः सततं सुखयेताम् ॥ ३२ ॥

---

१ सुप्रीता पत्नी कुलाय परिवाराय वा कथं सुखकारिणी जायत इति प्रतिपादयन्नाह—

२ तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः ॥ तै० ब्रा० २ । ७ । १६ । ३ ॥ असौ द्यौः पिता ॥ तै० ब्रा० ३ । ८ । ९ । १ ॥ श० १३ । १ । ६ । १ ॥

३ पृथिवीं मातरं महीम् ॥ तै०ब्रा० २ । ४ । ६ । ८ ।

※ 'च त्वं' इति अ० मुद्रितपाठः । अत्र "युवां भवन्तौ भरीमभिः···मिमिक्षतां पिपृतां च" इति संबन्धो द्रष्टव्यः ॥

† अत्रान्वये भाषापदार्थे च एकं 'नः' इति मन्त्रपदं त्यक्तमिति ध्येयम् ॥

फिर गृहस्थों के कर्मों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे स्त्रीपुरुषो ! तुम दोनों (मही) अति प्रशंसनीय (द्यौः) दिव्य पुरुष की आकृतियुक्त पति, और अति प्रशंसनीय (पृथिवी) बड़े हुए शील और क्षमा धारण करने आदि की सामर्थ्यवाली✽ स्त्री, तुम दोनों (भरीमभिः) धीरता और सब को सन्तुष्ट करनेवाले गुणों से युक्त व्यवहारों वा पदार्थों से (नः) हमारे (च) औरों के भी (इमम्) इस (यज्ञम्) विद्वानों के प्रशंसा करने योग्य गृहाश्रम को (मिमिक्षताम्) सुखों से अभिषिक्त और‡(पिपृताम्) परिपूर्ण† करो ॥ ३२ ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य लोक जलादि पदार्थों को खींच और वर्षा कर रक्षा और पृथिवी आदि पदार्थों का प्रकाश करता है, वैसे वह पति श्रेष्ठ गुण और पदार्थों का संग्रह करके, ‡दान द्वारा रक्षा और विद्या आदि गुणों को प्रकाशित करता है, तथा जिस प्रकार यह पृथिवी सब प्राणियों को धारण कर उनकी रक्षा करती है, वैसे स्त्री गर्भ आदि व्यवहारों को धारण कर सब की पालना करती है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष इकट्ठे होकर स्वार्थ को सिद्ध कर मन वचन और कर्म से सब प्राणियों को भी सुख देवें ॥ ३२ ॥

आतिष्ठेत्यस्य गोतम ऋषिः । गृहपतयो देवताः । आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
उपयामेत्यस्य❀ आर्ष्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अथ प्रकारान्तरेण गृहस्थधर्म्ममाह[2] ॥

आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी । अर्वाचीनꣳ सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३३ ॥

आ । तिष्ठ । वृत्रहन्निति वृत्रऽहन् । रथम् । युक्ता । ते । ब्रह्मणा । हरीऽइति हरी ॥ अर्वाचीनम् । सु । ते । मनः । ग्रावा । कृणोतु । वग्नुना ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । षोडशिने । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । षोडशिने ॥ ३३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मिमिक्षताम्) मिह्धातोः सनि, । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(पिपृताम्) पादादित्वान्निघाताभावे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥ द्र० व्या० प्र० (य० १२ । २२) ॥

(भरीमभिः) हृभृधृसृस्तृसृभ्य ईमनिन् (उ० ४ । १५९ श्वेतवनवासी०) इति 'ईमनिन्'प्रत्ययः । 'इमनिन्' इति क्वाचित्कः पाठः । स चायुक्तो लक्ष्यविसंवादात् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ अत्राह भट्टभास्करः (तै० सं० ३ । ३ । १० । २ भाष्ये)— "भरणप्रकारैः, ...बिभर्त्तेरौणादिक इमनिच्छान्दसं दीर्घत्वम्" । तदप्यकिञ्चित्करम् । चित्वादान्तोदात्तत्वापत्तेः । ऋग्भाष्ये तु (१ । २२ १३) भृञ्धातोर्मनिन् प्रत्ययः, बहुलं छन्दसि (७।३।९७)। इतीडागमो निपात्यत इत्युक्तम् ।

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ उत्तम रीति से प्रसन्न की हुई पत्नी कुल वा परिवार के लिये कहां तक सुख की देनेवाली होती है, यह कहते हैं— ॥ ३२ ॥

२ वेदाभ्यासेन गृहाश्रमः कथं परिपालनीय इत्युच्यते—

✽ 'वाली तू' इति तु अ० मुद्रितपाठः ॥
‡ 'देने से' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
† 'परिपूर्ण करना चाहो' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
❀ 'विराडार्ष्युष्णिक्' इति अ० मु० अपपाठः ॥

पदार्थः—(आ) (तिष्ठ) (वृत्रहन्) वृत्रान् शत्रून् हन्ति तत्सम्बुद्धौ (रथम्[1]) रमणीयं विद्याप्रकाशं यानं वा (युक्ता) युक्तौ (ते) तव (ब्रह्मणा) जलेन धनेन वा (हरी) हरणशीलौ धारणाकर्षणगुणाविवाश्वौ (अर्वाचीनम्) अधोगामि (सु) (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (ग्रावा) मेघः, ग्राव इति मेघनामसु पठितम् । निघ० १ । १० । (कृणोतु) (वग्नुना) वाण्या, वग्नुरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघ० १ । ११ । (उपयामगृहीतः) उपयामा सामग्री गृहीता येन सः (असि) (इन्द्राय) परमैश्वर्य्याय (त्वा) त्वाम् (षोडशिने[2]) प्रशस्ताः षोडश कला[3] विद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै (एषः) गृहाश्रमः (ते) तव (योनिः) गृहम् (इन्द्राय) ऐश्वर्य्यप्रदाय गृहाय (त्वा) त्वाम् (षोडशिने) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ३ । १–९ व्याख्यातः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे वृत्रहन् ! ग्रावेव सुखवर्षिता गृहस्थः [असि] ते तव यत्र [रथं] रथे[4] ब्रह्मणा सह हरी युक्ता युक्तौ *, तं त्वमातिष्ठास्मिन् गृहाश्रमे ते तव यन्मनोऽर्वाचीनमनुत्कृष्टगति जायते तद् वग्नुना वेदवाचा भवान् शान्तं [सु] कृणोतु, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽस्यतः षोडशिन इन्द्राय त्वा त्वामुपदिशामि । हे गृहाश्रमभीप्सो एष ते योनिरस्ति । अस्मै षोडशिन इन्द्राय त्वा त्वां नियुनज्मीति ॥ ३३ ॥

भावार्थः—गृहाश्रमाधीना एव सर्वे आश्रमास्ते वेदोक्तसद्व्यवहारेण सेविताः सन्तोऽभ्युदयनिःश्रेयससुखसम्पत्तये भवन्त्येवातः परमैश्वर्य्यप्राप्तये गृहाश्रमः † सेव्य एव इति ॥ ३३ ॥

अब प्रकारान्तर से गृहस्थ का धर्म्म अगले मन्त्र में कहा है[5] ॥

पदार्थः—हे (वृत्रहन्) शत्रुओं को मारनेवाले गृहाश्रमी ! तू (ग्रावा) मेघ के तुल्य सुख बरसानेवाला है, (ते) तेरे जिस [(रथम्)] रमणीय विद्या प्रकाशमय गृहाश्रम वा रथ में (ब्रह्मणा) जल वा धन से (हरी) धारण और आकर्षण अर्थात् खींचने के समान घोड़े (युक्ता) युक्त किये जाते हैं, उस गृहाश्रम करने की (आतिष्ठ) प्रतिज्ञा कर, इस गृहाश्रम में (ते) तेरा जो (मनः) मन (अर्वाचीनम्) मन्दपन को पहुँचता है,

१ तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते ॥ गो० पू० २ । २१॥

२ (क) किं षोडशिनः षोडशित्वं षोडश स्तोत्राणि षोडश शस्त्राणि षोडशभिरक्षरैरादत्ते ॥ गो० उ० ४ । १९ ॥

(ख) इन्द्रो ह व षोडशी ॥ श० ४।५।३ । २॥

(ग) सच्चाऽसच्चाऽसच्च सच्च । वाक् च मनश्च, मनश्च वाक् च, चक्षुश्च श्रोत्रं च श्रोत्रं च चक्षुश्च, श्रद्धा च तपश्च तपश्च श्रद्धा च तानि षोडश ॥ जै० उ० ४ । २५ । १ ॥

३ इमाः षोडशकला अग्रे ८ । ३६ मन्त्रे स्पष्टमुक्ताः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वृत्रहन्) वृत्रं हन्तीति क्विप् च (अ० ३ । २ । ४६) इति क्विप् । आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(युक्ता) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततः सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इति 'आ' आदेशः ॥

(अर्वाचीनम्) विभाषाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम् (अ० ५। ४ । ८) इति स्वार्थे 'ख' प्रत्ययः । तस्य च ईनादेशे आद्युदात्तश्च (अ० ३ । १ । ३) इतीकार उदात्तः॥

(ग्रावा) पूर्वं य० १।१४ पृ० ७८ व्याख्यातः ॥

(वग्नुना) वचेर्गश्च (उ० ३ । ३३) उच्यत इति वग्नुः । प्रत्ययस्वरः ॥

(कृणोतु) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(षोडशिने) अत इनिठनौ (अ० ५ । २ । ११५) इति प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

४ अर्थस्य स्पष्टतायै सप्तम्यां विपरिणामः ॥

५ वेदशास्त्रों के अनुशीलन से गृहस्थाश्रम का परिपालन कैसे हो, सो बतलाते हैं— ॥ ३३ ॥

* 'युक्तौ स्वीक्रियेते' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

† 'गृहाश्रम एव सेव्यः' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

उसको (वग्नुना) वेदवाणी से शान्त [(सु) भली प्रकार (कृणोतु)] कर, जिससे तू (उपयामगृहीतः) गृहाश्रम करने की सामग्री ग्रहण किये हुए (असि) है, इस कारण (षोडशिने) सोलह कलाओं से परिपूर्ण ‡ (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (त्वा) तुझ को उपदेश करता हूँ, कि [हे गृहस्थाश्रम की इच्छा करनेवाले] जो (एषः) यह (ते) तेरा (योनिः) घर है। इस (षोडशिने) सोलह कलाओं से परिपूर्ण (इन्द्राय) परमैश्वर्य देनेवाले गृहाश्रम करने के लिये [(त्वा) तुझको] आज्ञा देता हूँ ॥ ३३ ॥

भावार्थः—गृहाश्रम के आधीन सब आश्रम हैं, और वेदोक्त + श्रेष्ठ व्यवहार से पालन किये हुए वे आश्रम अभ्युदय और निःश्रेयस सुख के देनेवाले होते हैं, अतः इस लोक और परलोक का × सुख पाने के लिये गृहाश्रम ⁂ सेवना उचित ही है ॥ ३३ ॥

युङ्क्ष्वा हीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। गृहपतिर्देवता। विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥
उपयामेत्यस्य पूर्ववच्छन्दः स्वरश्च॥

अथ राजविषये प्रतिपादितप्रकारेण गृहस्थधर्म्ममाह[1]॥

युङ्क्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा न ऽ इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिनऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ ३४॥

युङ्क्ष्व। हि। केशिना। हरी ऽ इति हरी। वृषणा। कक्ष्यप्रेति कक्ष्यऽप्रा॥ अथ। नः। इन्द्र। † सोमपा इति सोमऽपाः। गिराम्। उपश्रुतिमित्युपऽश्रुतिम्। चर॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। इन्द्राय। त्वा। षोडशिने। एषः। ते। योनिः। इन्द्राय। त्वा। षोडशिने॥ ३४॥

पदार्थः—(युङ्क्ष्व) (हि) खलु (केशिना) प्रशस्ताः केशा विद्यन्ते ययोस्तौ, अत्र सर्वत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७। १। ३९] इति विभक्तेराकारः (हरी) यानस्य हरणशीलौ (वृषणा) वृषवद् बलिष्ठौ (कक्ष्यप्रा) कक्ष्यं प्रातः विपूर्तः (अथ) आनन्तर्य्ये (नः) अस्माकम् (इन्द्र) शत्रुविदारक सेनाध्यक्ष! (सोमपाः) ऐश्वर्य्यरक्षक! (गिराम्) वाचम् (उपश्रुतिम्) उपगतां श्रूयमाणाम् (चर) विजानीहि, अत्र चर इत्यस्य गत्यर्थत्वात् १ ज्ञानार्थो गृह्यते (उपयामगृहीतः) इत्यादि पूर्ववत्॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ५। ३। १०-११ व्याख्यातः॥ ३४॥

अन्वयः—हे सोमपा इन्द्र! त्वं केशिना वृषणा कक्ष्यप्रा हरी रथे युङ्क्ष्व। अथेत्यनन्तरं नोऽस्माकं गिरामुपश्रुतिं हि चर[2]। उपयामेत्यस्यान्वयोऽपि पूर्ववत्॥ ३४॥

अस्मिन् मन्त्रे * रथमिति पदस्य सम्बन्धः॥

१ राजदम्पतिभ्यां गृहाश्रमस्य परिपालने कथं व्यवहर्त्तव्यमित्युपदिश्यताह—

२ अर्थभेदेन सुस्पष्टव्याख्यातोऽयं पूर्वार्धः ऋ० १। १०। ३ भाष्ये॥

‡ अग्रिमः '(इन्द्राय)' इत्यारभ्य 'कलाओं से परिपूर्ण' इत्यन्तः पाठो हस्तलेखे सन्नपि अजमेरमुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः। तन्मध्ये [ ] कोष्ठगतः पाठस्त्वस्मत्परिवर्धितः॥

+ 'श्रेष्ठ व्यवहार से जिस गृहाश्रम की सेवा की जाय, उससे इस लोक' इति अ० मुद्रितपाठः॥

× 'सुख होने से परमैश्वर्य पाने' इति अ० मु० पाठः॥

⁂ 'गृहाश्रम ही सेवना उचित है' इति अ० मुद्रितपाठः॥

१ 'प्राप्त्यर्थो' इति अ० मुद्रिते पाठः॥

† 'सोमपा इति' इति अ० मु० अपपाठः॥

* 'रथे इति' इति अ० मुद्रितपाठः॥

भावार्थः—प्रजासभासेनाङ्गनाः सभाध्यक्षं ब्रूयुः—शुचिना त्वया न्यायस्थितये चत्वारि सेनाङ्गानि सुशिक्षितानि हृष्टपुष्टानि रक्षणीयानि, पुनरस्माकं प्रार्थनानुकूल्येन राज्यैश्वर्य्यरक्षापि कार्य्येति ॥ ३४ ॥

अब राजविषय में उक्त प्रकार से गृहाश्रम का धर्म अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (सोमपाः) ऐश्वर्य्य की रक्षा करने और (इन्द्र) शत्रुओं का विनाश करनेवाले ! तुम (केशिना) जिनके अच्छे २ बाल हैं, उन (वृषणा) बैल के समान बलवान् (कक्ष्यप्रा) अभीष्ट देश तक पहुंचाने वाले (हरी) यान के चलानेहारे † घोड़ों को (रथम्) रथ में (युक्ष्व) जोड़ो, (अथ) इसके अनन्तर (नः) हम लोगों की (गिराम्) विनयपत्रों को (उपश्रुतिम्) प्रार्थना को (हि) चित्त देकर (चर) जानो। आप (उपयामगृहीतः) गृहाश्रम की सामग्री को ग्रहण किये हुए (असि) हैं, इस कारण (षोडशिने) सोलह कलाओं से परिपूर्ण (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (त्वा) तुझ को उपदेश करता हूं कि जो (एषः) यह (ते) तेरा (योनिः) घर है, इस (षोडशिने) सोलह कलाओं से परिपूर्ण (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य देनेवाले गृहाश्रम के लिये (त्वा) तुझे आज्ञा देता हूँ ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र में पिछले मन्त्र से "रथं" * यह पद अर्थ से आता है ॥

भावार्थः—प्रजा, सेना, और सभा के मनुष्य सभाध्यक्ष से ऐसे कहें कि आप को शत्रुओं के विनाश और राज्य भर में न्याय रखने के लिये घोड़े आदि सेना के [चारों] अङ्गों को अच्छी शिक्षा देकर आनन्दित और बलवाले रखने चाहियें, फिर हम लोगों के विनयपत्रों को सुनकर राज्य [और ऐश्वर्य] की [भी] रक्षा करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

इन्द्रमिदित्यस्य गोतम ऋषिः । गृहपतिर्देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

उपयामेत्यस्य सर्वं पूर्ववत् ॥

पुनस्तमेव विषयमाह[2] ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(युक्ष्व) युजिर् योगे (रु० उ०) इत्यस्मात् मध्यमपुरुषैकवचने छान्दसो वर्णलोपो वा (अ० ८ । २ । २५ महा०) इति नलोपः । द्व्यचोऽतस्तिङः (अ० ६ । ३ । १३५) इति दीर्घः । द्र० ऋग्भाष्ये १ । १० । ३ ॥ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ।

(केशिना) इति प्रत्ययस्वरः ॥

(कक्ष्यप्रा) कृत्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सोमपाः) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ ।१९) इति निघातः ॥

(उपश्रुतिम्) कर्मणि क्तिन् । तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर आद्युदात्तत्वम् ।। यद्वा प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(चर) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] राजदम्पती अर्थात् राजा और रानी गृहाश्रम के परिपालन में कैसे वर्त्तें, सो दर्शाते हैं—॥ ३४ ॥

[2] उभावपि परस्परमुपदेशादिभिः स्वप्रजापालनव्यवस्थां परिपालयेतामित्युच्यते—

† 'अश्वों' इति ग० पाठः ॥

* 'रथे' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् । ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३५ ॥

इन्द्रम् । इत् । हरीऽ इति हरी । वहतः । अप्रतिधृष्टशवस × मित्यप्रतिऽधृष्टशवसम् ॥ ऋषीणाम् । च । स्तुतीः । उप । यज्ञम् । च । मानुषाणाम् ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा षोडशिने । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । षोडशिने ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यवर्द्धकं सेनारक्षकम (इत्) एव (हरी) शिक्षितावश्वौ (वहतः) (अप्रतिधृष्टशवसम्) +[प्रति] धृष्टं प्रगल्भं शवो बलं येन [तद् रहितं] तं प्रतीति (ऋषीणाम्[1]) मन्त्रार्थद्रष्टॄणां विदुषां (च) वीराणाम् (स्तुतीः) गुणस्तवनानि (उप) (यज्ञम्) संगमनीयं व्यवहारम् (च) (मानुषाणाम्) उपयामेति पूर्ववत् † ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे सोमपाः [इन्द्र] त्वं षोडशिन इन्द्राय यौ हरी अप्रतिधृष्टशवसमिन्द्रं [इत्] वहतस्ताभ्यामृषीणां [च] चाद् वीराणां स्तुतीर्मानुषाणां यज्ञं [च] चात् पालनमुपचर, यस्य ते तवैष योनिरस्ति, यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तं [त्वा] त्वां षोडशिन इन्द्राय जना उपाश्रयन्तु, वयमपि [त्वा] त्वामाश्रयेम ॥ ३५॥

अत्र पूर्वस्मान्मन्त्राद् इन्द्र सोमपाश्चरेति पदत्रयमनुवर्त्तते ॥

भावार्थः—राज्ञो राजसभास्थानां, प्रजास्थानां () च जनानामिदं योग्यमस्ति [यत्ते] प्रशंसनीयविदुषां सकाशाद्विद्योपदेशं प्राप्यान्येषामुपकारादिकं सततं कुर्य्युः ॥ ३५ ॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (सोमपाः) ऐश्वर्य्य की रक्षा और (इन्द्र) शत्रुओं का विनाश करनेवाले सभाध्यक्ष ! आप [(षोडशिने) षोडश कलायुक्त (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये] जो (हरी) ❀ सुशिक्षित अश्व (अप्रतिधृष्टशवसम्) जिसने अपना अच्छा बल बढ़ा रक्खा है, उस (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्य बढ़ाने

---

१ यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः ॥ श० ४ । ३ । ४ । १९ ॥

एते वै विप्रा यदृषयः ॥ श० १ । ४ । २ । ७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वहतः) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(अप्रतिधृष्टशवसम्) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमान० (अ० ६ । २ । २) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् ॥

(स्तुतीः) क्तिन् प्रत्ययः । नित्वादाद्युदात्ते प्राप्ते छान्दसमन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ परस्पर उपदेशादि से दोनों अपनी प्रजा के पालन की व्यवस्था करने में तत्पर रहें, यह कहते हैं—॥ ३५ ॥

× 'मिति अप्रति०' इति अ० मु० अपपाठः ॥ + विग्रहोऽत्रास्पष्ट इव प्रतिभाति ॥

† इतोऽग्रे 'अयं मन्त्रः श० ४ । ४ । ५ । १ व्याख्यातः' इति अ० मुद्रितपाठः । स चापपाठस्तत्रादर्शनात् ॥

() 'च' इत्येषोऽन्ते 'च सततं कुर्युः' इत्येवमासीत् । तदपेक्षयाऽत्रोपयुक्ततरत्वादस्माभिरिहानीतः ॥

❀ इतोऽग्रे 'हरणकारक बल और आकर्षणरूप घोड़ों से' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

और सेना ❀ की रक्षा करने वाले सेनाध्यक्ष को [(इत्) निश्चय से] (वहतः) ले जाते हैं, उनसे युक्त होकर (ऋषीणाम्) वेदमन्त्र जाननेवाले विद्वानों और (च) वीरों के (स्तुतीः) गुणों के ज्ञान और (मानुषाणाम्) साधारण मनुष्यों के (यज्ञम्) संगम करने योग्य व्यवहार (च) और❀ उनकी पालना करो, और (उप) समीप प्राप्त हो, जिस (ते) तेरा (एषः) यह (योनिः) निमित्त राज्य कर्म्म है, जो तू (उपयामगृहीतः) सब सामग्री से संयुक्त [(असि)] है, उस (त्वा) तुझको (षोडशिने) षोडश कलायुक्त (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य्य के लिये प्रजा सेनाजन आश्रय लेवें और हम भी [(त्वा) तुम्हारा आश्रय] लेवें ॥ ३५ ॥

इस मन्त्र में पिछले मन्त्र से (इन्द्र) (सोमपाः) (चर) इन तीन पदों की योजना होती है ॥

भावार्थः—राजा राज्यकर्म्म में विचार करनेवाले जन और प्रजाजनों को यह योग्य है कि प्रशंसा करने योग्य विद्वानों से विद्या और उपदेश पाकर औरों का उपकार सदा किया करें ॥ ३५ ॥

यस्मान्न इत्यस्य विवस्वानृषिः । परमेश्वरो देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ गृहाश्रममिच्छद्भ्यो जनेभ्यः परमेश्वर एवोपास्य इत्युपदिश्यते[1] ॥

यस्मान्न जातः परो ऽ अन्यो ऽ अस्ति य ऽ आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ ३६ ॥

यस्मात् । न । जातः । परः । अन्यः । अस्ति । यः । आविवेशेत्याऽविवेश । भुवनानि । विश्वा ॥ प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । प्रजयेति प्रऽजया । सꣳरराण इति † सम्ऽरराणः । त्रीणि । ज्योतीꣳषि । सचते । सः । षोडशी ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(यस्मात्) परमात्मनः (न) निषेधे (जातः) प्रसिद्धः (परः) उत्तमः (अन्यः) भिन्नः (अस्ति) (यः) (आविवेश) (भुवनानि) स्थानानि (विश्वा) सर्वाणि, अत्र शेर्लुक्[2] (प्रजापतिः) विश्वस्याध्यक्षः (प्रजया) सर्वेण संसारेण (संरराणः) सम्यग्दातृशीलः, अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदं, बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७६] इति शपः स्थाने श्लुः (त्रीणि) (ज्योतींषि) सूर्य्यविद्युदग्न्याख्यानि (सचते) सर्वेषु समवैति (सः) (षोडशी[3]) प्रशस्ताः षोडश कला विद्यन्ते यस्मिन् सः । इच्छा प्राणः श्रद्धा पृथिव्यापोऽग्निर्वायुराकाशमिन्द्रियाणि मनोऽन्नं वीर्य्यन्तपो मन्त्रा लोको नाम चैताः कलाः प्रश्नोपनिषदि प्रतिपादिताः ‡ ॥ ३६ ॥

१ नाश्रद्दधाना नास्तिकाः शान्त्या व्यवस्थां पालयन्तीत्यतो राज्ञा परमास्तिकेन भाव्यमित्युपदिशति—

२ पूर्वं यजुः ८ । ५ (पृ० ६६२) टिप्पणी द्रष्टव्या ।

३ षोडशकलं वै ब्रह्म ॥ जै० उ० ३ । ३८ । ८ ॥ सच्चाऽसच्चाऽसच्च सच्च, वाक् च मनश्च मनश्च वाक् च, चक्षुश्च श्रोत्रं च श्रोत्रं च चक्षुश्च, श्रद्धा च तपश्च तपश्च श्रद्धा च, तानि षोडश । षोडशकं ब्रह्म ॥ जै० उ० ४ । २५ । १ ॥

४ एताः षोडश कलाः प्रश्नोपनिषदि ६ । ४ निर्दिष्टाः । तत्र 'इच्छा' इत्यस्य निर्देशो नास्ति, 'मन्त्राः' इत्यनन्तरं 'कर्म' पठ्यते । अत्र 'इच्छा' पदं ईक्षणस्य

❀ 'सेना रखनेवाले सेनासमूह को (वहतः) बहाते हैं' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

❀ और (च) 'उनकी पालना करो' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

† 'सम्ऽरराणः' इति अ० मु० पाठः ॥

‡ इतोऽग्रे 'अयं मन्त्रः शत० ४ । ४ । ५ । ६ व्याख्यातः' इति अ० मुद्रितपाठः, स च पूर्ववदपपाठः ॥

अन्वयः—यस्मात् परोऽन्यो न जातः [अस्ति] किंच यो विश्वा भुवनान्याविवेश स प्रजापतिः प्रजया संरराणः षोडशी त्रीणि ज्योतींषि सचते[1] ॥ ३६ ॥

भावार्थः—गृहाश्रममिच्छद्भिर्मनुष्यैर्यः सर्वत्राभिव्यापी सर्वेषां लोकानां स्रष्टा धर्ता दाता न्यायकारी सनातनः सच्चिदानन्दो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सूक्ष्मात् सूक्ष्मो महतो महान् सर्वशक्तिमान् परमात्माऽस्ति, यस्मात् कश्चिदपि पदार्थ उत्तमः समो वा नास्ति, स एवोपास्यः ॥ ३६ ॥

अब गृहाश्रम की इच्छा करनेवालों को ईश्वर ही की उपासना करनी चाहिये, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—(यस्मात्) जिस परमेश्वर से (परः) उत्तम (अन्यः) और दूसरा (न) नहीं (जातः) हुआ [(अस्ति) है] और (यः) जो परमात्मा (विश्वा) समस्त (भुवनानि) लोकों को (आविवेश) व्याप्त हो रहा है (सः) वह (प्रजया) सब संसार से (संरराणः) उत्तम दाता होता हुआ (षोडशी) इच्छा प्राण श्रद्धा पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश दशों इन्द्रिय मन अन्न वीर्य तप मन्त्र लोक और नाम इन सोलह कलाओं[3] का स्वामी (प्रजापतिः) संसार मात्र का स्वामी परमेश्वर (त्रीणि) तीन (ज्योतींषि) ज्योति अर्थात् सूर्य बिजुली और अग्नि को (सचते) सब पदार्थों में स्थापित करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थः—गृहाश्रम की इच्छा करनेवाले पुरुषों को चाहिये कि जो सर्वत्र व्याप्त, सब लोकों का रचने और धारण करनेवाला, दाता, न्यायकारी, सनातन अर्थात् सदा ऐसा ही बना रहता है, सत्, अविनाशी, चैतन्य,

---

वाचकं प्रतीयते । ईक्षणस्य च निर्देशस्तत्रैव पूर्वखण्डे (६ । ३) उपलभ्यते—स ईक्षांचक्रे । अस्मादेवेक्षणाच्च षोडश कला उत्पद्यन्ते । तस्मात् कलास्तु प्राणाद्याः नामान्ताः षोडश । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामपि (पृष्ठ ४५) एतन्मन्त्रव्याख्याने भाषायामिमाः षोडश कला उल्लिखिताः । तत्र इच्छास्थाने ईक्षणस्य निर्देशः । 'मन्त्र' पदानन्तरं च 'कर्म' पठ्यते, परन्तु तदनन्तरं लोक इति पदं नोल्लिख्यते ।

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अस्ति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इत्यनेन पदात् परोऽपि तिङ् नानुदात्तः । तिपः पित्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(आविवेश) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इत्यनेन निघाताभावे लित्स्वरे उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इत्यनेन समासे तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति गतिरनुदात्ता ॥

(संरराणः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे शानच्पक्षे चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः । पक्षान्तरे तु लिटः कानज्वा (अ० ३ । २ । १०६) इति कानच्, चित्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(सचते) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ सुव्याख्यातोऽयं मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पृ० ४४ ॥

२ वेदशास्त्र—धर्म में श्रद्धा न रखनेवाले नास्तिक शान्तिपूर्वक प्रजापालनादि व्यवस्था नहीं कर सकते, इस लिये राजा को परम आस्तिक होना चाहिये, यह बतलाते हैं— ॥ ३६ ॥

---

३ इन सोलह कलाओं का वर्णन प्रश्नोपनिषद् ६ । ४ में है, वहां 'इच्छा' का निर्देश नहीं है । मन्त्र के अनन्तर 'कर्म' का निर्देश है । प्रश्नोपनिषद् के ६ । ३ में 'ईक्षण' का निर्देश है, परन्तु वह सोलह कलाओं से पृथक् है । उस ईक्षण से १६ कलाओं की उत्पत्ति कही है । यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ४५ में भी व्याख्यात है, वहां 'इच्छा'

और आनन्दमय नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव और सब पदार्थों से अलग रहनेवाला, छोटे से छोटा, बड़े से बड़ा, सर्वशक्तिमान् परमात्मा जिससे कोई भी पदार्थ उत्तम वा जिसके समान नहीं है, ❀ उसकी उपासना करें ॥ २६ ॥

इन्द्रश्चेत्यस्य विवस्वानृषिः। सम्राड्माण्डलिकौ राजानौ देवते। साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः॥
तयोरहमित्यस्य विराडार्ची त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

अथ गृहस्थोपयोगिराजविषयमाह[1] ॥

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रऽ एतम्।
तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥ ३७ ॥

इन्द्रः। च। सम्राडिति सम्ऽराट्। वरुणः। च। राजा। तौ। ते। भक्षम्। चक्रतुः। अग्रे। एतम्॥ तयोः। अहम्। अनु। भक्षम्। भक्षयामि। वाक्। देवी। जुषाणा। सोमस्य। तृप्यतु। सह। प्राणेन। स्वाहा ॥३७॥

पदार्थः—(इन्द्रः) परमैश्वर्य्ययुक्तः (च) साङ्गोपाङ्गराज्याङ्गसहितः (सम्राट्) सम्यग्राजते स चक्रवर्ती (वरुणः) श्रेष्ठः (च) माण्डलिकः प्रतिमाण्डलिकश्च (राजा) न्यायादिगुणैः प्रकाशमानः (तौ) (ते) तव प्रजाजनस्य (भक्षम्) भजनं सेवनम्[2] (चक्रतुः) कुर्य्याताम्, अत्र लिङर्थे लिट् (अग्रे) (एतम्) (तयोः) रक्षकयो राज्ञोः (अहम्) (अनु) पश्चात् (भक्षम्) सेवनम्[2] (भक्षयामि) पालयामि[2] (वाक्) वाणी (देवी) दिव्या (जुषाणा) प्रसन्ना सेवमाना सती (सोमस्य) विद्यैश्वर्य्यस्य (तृप्यतु) प्रीणातु (सह) (प्राणेन) बलेन (स्वाहा) सत्यया वाचा ❀ ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे प्रजाजन! य इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजास्ति, तावग्रे ते तव भक्षं चक्रतुः। अहन्तयोरेतं भक्षमनुभक्षयामि, या सोमस्य प्राप्तये जुषाणा देवी वागस्ति, तया स्वाहा प्राणेन सह सर्वो जनस्तृप्यतु ॥ ३७ ॥

भावार्थः—प्रजायां द्वौ सभ्यौ राजानौ भवितुं योग्यौ, एकश्चक्रवर्ती द्वितीयो माण्डलिकश्चैतौ श्रेष्ठन्यायविनयादिभ्यां प्रजाः संरक्ष्य पुनस्ताभ्यः करं सङ्गृह्णीयाताम्। सर्वस्मिन् व्यवहारे

के स्थान में 'ईक्षण' लिखा है। भूमिका में मन्त्र के आगे 'कर्म' का तो निर्देश है, परन्तु अगला 'लोक' पद वहां छूट गया है।

[1] राजा वेदाभ्यासे सुकर्मानुष्ठाने च भृशं प्रयतितव्यमित्याह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सम्राट्) कृत्स्वरेणान्तोदात्तः ॥
(चक्रतुः) कृधातोर्लिटि ॥
(भक्षयामि) भक्षधातोर्णिचि लटि ॥
(तृप्यतु) तृपधातोः लोटि श्यनि, सर्वत्रैव तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातत्वम् ॥
(जुषाणा) जुषी प्रीतिसेवनयोः (तु० आ०) एतस्मात् शानचि बहुलं छन्दसि (अ० २।४।७३) इति विकरणलुकि टापि रूपम्। स्वरस्तु शानचि चितः (अ० ६।१।१६३) इत्यन्तोदात्तत्वे टाप्येकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८।२।५) इत्यन्तोदात्तत्वमेव। पूर्वं अ० ३।१० पृ० २६२ द्रष्टव्यम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[2] अनेकार्थत्वाद् धातूनामिति ध्येयम् ॥

❀ 'वही सब का उपासना करने योग्य है' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥
❀ इतोऽग्रे 'अयं मन्त्रः शत० ४।४।५।८ व्याख्यातः' इति पाठो ऽजमेरमुद्रिते, स च तत्रानुपलब्धेरपपाठः ॥

विद्यावृद्धिं सत्यवचनं चाचरेताम् । † ता एवं धर्म्मार्थकामैः प्रजाः संतोष्य स्वयं संतुष्टौ स्याताम् । आपत्काले राजा प्रजां, प्रजा च राजानं संरक्ष्य परस्परमानन्देताम् ॥ ३७ ॥

अब गृहाश्रम के उपयोगी राजविषय को अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे प्रजाजन ! जो (इन्द्रः) परमैश्वर्य्ययुक्त (च) राज्य के अङ्ग, उपाङ्गसहित (सम्राट्) सब जगह एक चक्र राज करनेवाला राजा (वरुणः) अति उत्तम (च) और (राजा) न्यायादि गुणों से प्रकाशमान माण्डलिक ‡ है (तौ) वे दोनों (अग्रे) प्रथम (ते) तेरा (भक्षम्) सेवन अर्थात् नाना प्रकार से रक्षा [(चक्रतुः)] करें और (अहम्) मैं (तयोः) उनके (एतम्) इस (भक्षम् +) सेवन करने योग्य पदार्थ का (अनु) (भक्षयामि) × पालन करता हूँ । जो (सोमस्य) विद्यारूपी ऐश्वर्य की (जुषाणा) प्रीति करानेवाली (देवी) सब विद्याओं की प्रकाशक (वाक्) वेदवाणी है, {} उस (स्वाहा) [सत्यवाणी से (प्राणेन) (सह) बल के साथ] सब मनुष्य (तृप्यतु) सन्तुष्ट रहें ॥ ३७ ॥

भावार्थः—प्रजा के बीच अपनी २ सभाओं सहित राजा होने के योग्य दो [पुरुष] होते हैं, एक चक्रवर्ती अर्थात् एक चक्र राज करनेवाला, और दूसरा माण्डलिक कि जो मण्डल २ का ईश्वर हो । ये दोनों प्रकार के राजाजन उत्तम २ न्याय, नम्रता, सुशीलता और वीरतादि गुणों से प्रजा की रक्षा अच्छे प्रकार करें । फिर उन प्रजाजनों से यथायोग्य राज्यकर लेवें, और सब व्यवहारों में विद्या की वृद्धि, सत्यवचन का आचरण करें । इस प्रकार धर्म्म, अर्थ और कामनाओं से प्रजाजनों को सन्तोष देकर आप सन्तोष पावें । आपत्काल में राजा प्रजा की तथा प्रजा राजा की रक्षा कर परस्पर आनन्दित हों ॥ ३७ ॥

अग्ने पवस्वेत्यस्य वैखानस ऋषिः । राजादयो गृहपतयो देवताः । ❀ भुरिक्पादनिचृद्गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥ उपयामेत्यस्य स्वराडार्च्यनुष्टुप् छन्दः ॥ अग्ने वर्चस्विन्नित्यस्य भुरिगार्च्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह[2] ॥

१ राजा को वेदशास्त्र के अभ्यास तथा शुभ कर्मों के अनुष्ठान में सदा तत्पर रहना चाहिये, यह दर्शाते हैं— ॥ ३७ ॥

२ पूर्वोक्तानुष्ठानेन स कथमुपकारकरणे समर्थो जायत इति निरूपयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पवस्व) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इत्यविद्यमानत्वे कसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपः पित्वे च धातुस्वर एव ॥

(स्वपाः) आपः कर्माख्यायाम् (उ० ४ । २०८) इत्यसुन् । सोर्मनसी अलोमोषसी (अ०

† 'त एवं' इति अ० मु० अपपाठः । 'एवं' इत्येव हस्तलेखेषु पाठः ॥

‡ 'माण्डलिक सेनापति' इति अ० मुद्रितपाठः ॥ + इतोऽग्रे 'स्थित पदार्थ का' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

× 'सेवन करके कराऊं । ऐसे करते हुये हम तुम सब को (सोमस्य)' इति अ० मु० पाठः ॥

{} 'उससे' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

❀ 'भुरिक् त्रिपादगायत्री' इति अ० मु० अपपाठः ॥

अग्ने पव॑स्व स्वपा ऽ अस्मे वर्चः सुवीर्य॑म् । दध॑द्र॒यिं मयि॒ पोष॑म् ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒ग्नये॑ त्वा॒ वर्च॑स ऽ ए॒ष ते॒ योनि॑र॒ग्नये॑ त्वा॒ वर्च॑से ।
अग्ने॑ वर्चस्वि॒न्वर्च॑स्वाँ॒स्त्वं दे॒वेष्व॒सि॒ वर्च॑स्वान॒हं मनु॒ष्ये॑षु भूयासम् ॥ ३८ ॥

अग्ने॑ । पव॑स्व । स्वपा इति॑ सुऽअपाः । अ॒स्मेऽइत्य॒स्मे । वर्चः॑ । सुवीर्य॒मिति॑ सुऽवीर्य॑म् ॥ दध॑त् । र॒यिम् । मयि॑ । पोष॑म् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । अ॒ग्नये॑ । त्वा॒ । वर्च॑से । ए॒षः । ते॒ । योनिः॑ । अ॒ग्नये॑ । त्वा॒ । † वर्च॑से ॥ अग्ने॑ । व॒र्च॒स्वि॒न् । वर्च॑स्वान् । त्वम् । दे॒वेषु॑ । असि॑ । वर्च॑स्वान् । अ॒हम् । मनु॒ष्ये॑षु । भू॒या॒स॒म् ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(अग्ने) विज्ञानादिगुणप्रकाशक सभापते राजन् ! (पवस्व) शुन्ध (स्वपाः) शोभनान्यपांसि कर्म्माणि यस्य तद्वन् ! (अस्मे) अस्मभ्यम् (वर्चः) वेदाध्ययनम् (सुवीर्य्यम्) सुष्ठु वीर्य्यं बलं यस्मात् (दधत्) धरन् सन् (रयिम्) धनम् (मयि) पालनीये जने (पोषम्) पुष्टिम् (उपयामगृहीतः) राज्यव्यवहाराय स्वीकृतः (असि) (अग्नये) विज्ञानमयाय न्यायव्यवहाराय (त्वा) त्वाम् (वर्चसे) तेजसे (एषः) (ते) तव (योनिः) राज्यभूमिर्निवसतिः (अग्नये) विज्ञानमयाय परमेश्वराय (त्वा) त्वाम् (वर्चसे) स्वप्रकाशाय वेदप्रवर्त्तकाय (अग्ने) तेजोमय (वर्चस्विन्) बहु वर्चोऽध्ययनं विद्यते यस्मिन् (वर्चस्वान्) सर्वविद्याध्ययनयुक्तः (त्वम्) (देवेषु) विद्वद्वर्य्येषु (असि) भवसि (वर्चस्वान्) प्रशस्तविद्याध्ययनः (अहम्) प्रजासभासेनाजनः (मनुष्येषु) मनस्विषु । मनुष्याः कस्मान्मत्वा कर्म्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टा मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे मनोरपत्यं मनुषो वा । निरु० ३ । ७ । (भूयासम्) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ४ । ९–१० व्याख्यातः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे स्वपा वर्चस्विन्नग्ने ! त्वमस्मे सुवीर्य्यं वर्चो मयि रयिं पोषं च दधत् सन् पवस्व । त्वमुपयामगृहीतोसि [त्वा] त्वां वर्चसे अग्नये वयं स्वीकुर्म्मः । ते तव एष योनिस्त्वा वर्चसेऽग्नये सम्प्रेरयामः । हे [अग्ने] सभापते यथा त्वं देवेषु वर्चस्वानसि तथाहम्मनुष्येषु वर्चस्वान् भूयासम् ॥ ३८ ॥

भावार्थः—राजादिसभ्यजनानामिदमुचितमस्ति [यत्ते] मनुष्येषु सर्वाः सद्विद्याः सद्गुणांश्च वर्द्धयेयुर्यतस्सर्वे श्रेष्ठगुणकर्मप्रचारेषूत्तमा + भवेयुरिति ॥ ३८ ॥

---

६ । २ । ११७) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । आमन्त्रितपक्षे छान्दसत्वान्निघाताभावः ॥

(सुवीर्यम्) वीरवीर्यौ च (अ० ६ । २ । १२०) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्, 'वीर्यं' पदं पूर्वत्र पृ० १७४ व्याख्यातम् ॥

(दधत्) अभ्यस्तानामादिः (अ० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(वर्चस्विन्) नामन्त्रिते समानाधिकरणे० (अ० ८ । १ । ७३) इत्यादिनाविद्यमानवद्भावे प्रतिषिद्धे आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः॥

(वर्चस्वान्) 'वर्चः' असुन् प्रत्ययान्तः नित्वाद्युदात्तः । ततो मतुप्, स च पित्वादनुदात्तः ॥

(भूयासम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१२।२८)

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

† 'वंर्चसे' इति अ० मु० अपपाठः ॥

\+ 'भूयासुः' इति अ० मु० पाठः ।

फिर भी प्रकारान्तर से पूर्वोक्त विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (स्वपाः) उत्तम २ काम तथा (वर्चस्विन्) सुन्दर प्रकार से वेदाध्ययन करनेवाले (अग्ने) सभापते ! आप (अस्मे) हम लोगों के लिये (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम (वर्चः) वेद का पढ़ना तथा (मयि) निरन्तर रक्षा करने योग्य अस्मदादि जनों में (रयिम्) धन और (पोषम्) पुष्टि को (दधत्) धारण करते हुए (पवस्व) पवित्र हूजिए । (उपयामगृहीतः) राज्य व्यवहार के लिये हम से स्वीकार किये हुए आप (असि) हैं, (त्वा) तुझ को (वर्चसे) उत्तम तेज बल पराक्रम के लिये वा (अग्नये) विज्ञानयुक्त परमेश्वर की प्राप्ति के लिये हम स्वीकार करते हैं, (ते) तुम्हारी (एषः) यह (योनिः) राजभूमि निवासस्थान है, (त्वा) तेरी (वर्चसे) हम लोग अपने विद्याप्रकाश [(अग्नये)] सब प्रकार सुख के लिये बार २ प्रत्येक कामों में❀प्रार्थना करते हैं । हे [(अग्ने)] तेजधारी सभापते राजन् ! जैसे (त्वम्) आप (देवेषु) उत्तम २ विद्वानों में (वर्चस्वान्) प्रशंसनीय विद्याध्ययन करनेवाले (असि) हैं, वैसे (अहम्) मैं (मनुष्येषु) विचारशील पुरुषों में आपके सदृश [(वर्चस्वान्) प्रशस्त विद्याध्ययनयुक्त] (भूयासम्) होऊं ॥ ३८ ॥

भावार्थः—राजा आदि सभ्य जनों को उचित है कि † सब मनुष्यों में उत्तम २ विद्या और अच्छे २ गुणों को बढ़ाते रहैं, जिस से समस्त †लोग श्रेष्ठ गुण और कर्म्म प्रचार करने में उत्तम होवें ॥ ३८ ॥

उत्तिष्ठन्नित्यस्य वैखानस ऋषिः । राजादयो गृहस्था देवताः ॥ उत्तिष्ठन्नित्यस्योपेत्येतस्य चार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥ इन्द्रेत्यस्य ‡ आर्च्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह[2] ॥

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे ऽ अवेपयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजस ऽ एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे ।
इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३९ ॥

उत्तिष्ठन्नित्युत्ऽतिष्ठन् । ओजसा । सह । पीत्वी । शिप्रेऽइति शिप्रे । अवेपयः ॥ सोमम् । इन्द्र । चमूऽइति चमू । सुतम् ॥ उपयामगृहीत ❀ इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । ओजसे । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । ओजसे ॥ इन्द्र । ओजिष्ठ । ओजिष्ठः । त्वम् । देवेषु । असि । ओजिष्ठः । अहम् । † मनुष्येषु । भूयासम् ॥ ३९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उत्तिष्ठन्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ (पीत्वी) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥ (चमूः) कृषिचमितनि० (उ० १ । ८०) इत्यूः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

1 पूर्वोक्त अनुष्ठान से वह उपकार करने में कैसे समर्थ होता है, इसका निरूपण करते हैं— ॥३८॥

2 युद्धादिकर्मसु विचक्षणेनैव राज्ञा स्वप्रजाः पालयितुं शक्यन्त इत्युपदिशति —

❀ 'प्रेरणा करते हैं' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥
‡ 'आर्ष्युष्णिक्' इति अ० मु० अपपाठः ॥
† 'मनुष्येषु' इत्यजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥
† 'सब मनुष्यों में' 'तथा लोग' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥
❀ 'इत्युपयामऽगृहीतः' इति अ० मु० अपपाठः ॥

पदार्थः—(उत्तिष्ठन्) सद्गुणकर्मस्वभावेषूर्ध्वंन्तिष्ठन् (ओजसा) प्रशस्तशरीरात्मसभा-सेनाबलेन (सह) (पीत्वी) पीत्वा, स्नात्व्यादयश्च । अ० ७ । १ । ४९ इतीकारादेशः (शिप्रे) हनुप्रभृत्यङ्गानि, शिप्रे इत्युपलक्षणमन्येषां [अङ्गानां] शिप्रे हनू नासिके [वा] । निरु० ६ । १७ (अवेपयः) वेपय, अत्र लोडर्थे लङ् (सोमम्) ऐश्वर्य्यं सोमवल्ल्यादिरसं वा (इन्द्र) ऐश्वर्य्याय द्रवन्, ऐश्वर्य्ये रममाण वा । इन्दवे द्रवतीति वेन्दौ रमत इति वा । निरु० १० । ८ (चमू) सेनया, अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति तृतीयैकवचनस्य लुक् (सुतम्) सम्पादितम् (उपयामगृहीतः) (असि) (इन्द्राय) ऐश्वर्य्याय (त्वा) (ओजसे) पराक्रमाय (एषः) (ते) (योनिः) ऐश्वर्य्यकारणम् (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यप्रदाय राज्याय (त्वा) (ओजसे) अनन्तपराक्रमाय (इन्द्र) दुःखविदारक विद्वन् ! (ओजिष्ठ) अतिशयेनौजस्विन् ! (ओजिष्ठः) अतिपराक्रमी (त्वम्) (देवेषु) विजिगीषमाणेषु राजसु (असि) (ओजिष्ठः) अतिशयेन पराक्रमी (अहम्) (मनुष्येषु) (भूयासम्) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ४ । १० व्याख्यातः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र सभापते ! त्वं चमू सुतं सोमं पीत्वी ओजसा सहोत्तिष्ठन् सन् युद्धादिकर्म्मसु शिप्रे अवेपयः । अस्माभिस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि ते तवैष योनिरस्त्यतस् [त्वा] त्वां स्वस्थतयेन्द्रायौजसे परिचरामः । ओजस इन्द्राय परमेश्वराय [त्वा] त्वां प्रणोदयामः । हे ओजिष्ठेन्द्र ! यथा त्वं देवेष्वोजिष्ठोऽसि तथाऽहम्मनुष्येष्वोजिष्ठो भूयासम् ॥ ३९ ॥

भावार्थः—राज्यपुरुषाणां योग्यमस्ति यत्ते भोजनाच्छादनादिपरिकरैश्शरीरबलमुन्नयेयुर्व्यभिचारादिदोषेषु कथंचिन्न प्रवर्त्तेरन्, परमेश्वरोपासनं च यथोक्तव्यवहारेण कुर्य्युरिति ॥ ३९ ॥

फिर भी उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) ऐश्वर्य्य रखनेवाले वा ऐश्वर्य्य में रमनेवाले सभापति ! आप (चमू) सेना के साथ (सुतम्) उत्पादन किये हुए (सोमम्) सोम को (पीत्वी) पीके (ओजसा) शरीर आत्मा राजसभा और सेना के बल के (सह) साथ (उत्तिष्ठन्) अच्छे गुण कर्म्म और स्वभावों में उन्नति को प्राप्त होते † हुए युद्धादि कर्म्मों में (शिप्रे) डाढ़ी और नासिका आदि अङ्गों को (अवेपयः) कम्पाओ अर्थात् कामों में अङ्गों की यथायोग्य चेष्टा करो । हम लोगों द्वारा आप (उपयामगृहीतः) राज्य के नियम उपनियमों से ग्रहण किये (असि) हैं, ‡(ते) आपका (एषः) यह राज्य कर्म (योनिः) ऐश्वर्य का कारण है, इससे (त्वा) आपको सावधानता से [(ओजसे) अनन्त पराक्रमयुक्त] (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य देने वाले जगदीश्वर की प्राप्ति के लिये सेवन करते हैं (ओजसे) अत्यन्त पराक्रम और (इन्द्राय) शत्रुओं के विदारण के लिये (त्वा) आपको प्रेरणा करते हैं । हे (ओजिष्ठ)

(शिप्रे) "स्फायितञ्चि० (उ० २ । १३) इति रक् । बाहुलकात् सुशब्दस्य शिभावः" इति देवराजः पृ० ३९२ ॥ अस्मिन् पक्षे वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अवेपयः) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 युद्धादि क्रियाओं में निपुण राजा ही अपनी प्रजाओं का परिपालन उत्तम रीति से करने में समर्थ होता है, यह बतलाते हैं— ॥ ३९ ॥

† 'हुए (शिप्रे) युद्धादि कर्मों से डाढ़ी' इति अ० मु० पाठः ॥

‡ '(ते)....कारण है' इति कोशेषूपलभ्यमानः पाठो अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

अत्यन्त तेजधारी [(इन्द्र) दुःख का नाश करनेवाले विद्वन् !] जैसे (त्वम्) आप (देवेषु) शत्रुओं को जीतने की इच्छा करनेवालों में (ओजिष्ठः) अत्यन्त पराक्रमवाले (असि) हैं, वैसे ही [(अहम्)] मैं भी (मनुष्येषु) साधारण मनुष्यों में [(ओजिष्ठः) अत्यन्त पराक्रमवाला] (भूयासम्) होऊं ॥ ३९ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को यह योग्य है कि भोजन वस्त्र और खाने पीने के पदार्थों से शरीर के बल की उन्नति देवें, किन्तु व्यभिचारादि दोषों में कभी न प्रवृत्त होवें और यथोक्त व्यवहारों से परमेश्वर की उपासना करें ॥ ३९ ॥

अदृश्रमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । गृहपतयो राजादयो देवताः । अदृश्रमित्यस्य सूर्य्येत्यस्य चार्षी गायत्री, उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य स्वराडार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह[1] ॥

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ२ऽ अनु । भ्राजन्तो ऽ अग्नयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय । सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ४० ॥

अदृश्रम् । अस्य । केतवः । वि । रश्मयः । जनान् । अनु ॥ भ्राजन्तः । अग्नयः । यथा ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । सूर्याय । त्वा । भ्राजाय । एषः । ते । योनिः । सूर्याय । त्वा । भ्राजाय ॥ सूर्य । भ्राजिष्ठ । भ्राजिष्ठः । त्वम् । देवेषु । *असि । भ्राजिष्ठः । अहम् । मनुष्येषु । भूयासम् ॥ ४० ॥

पदार्थः—(अदृश्रम्) पश्येयम्, अत्र लिङर्थे लुङ्, उत्तमैकवचनप्रयोगो बहुलं छन्दसि [अ० ७ । १ । ८] इति रुडागमः । ऋदृशोऽङि गुणः [अ० ७ । ४ । १६] इति प्राप्तौ गुणाभावश्च (अस्य) जगतः (केतवः) ज्ञापकाः (वि) विशेषेण (रश्मयः) किरणाः (जनान्) मनुष्यादीन् प्राणिनः । (अनु) (भ्राजन्तः) प्रकाशमानाः (अग्नयः) सूर्य्यविद्युत्प्रसिद्धाग्नयः (यथा) (उपयामगृहीतः) (असि) (सूर्य्याय) सूर्य्य इव विद्यादिसद्गुणैः प्रकाशमानाय (त्वा) (भ्राजाय) जीवनादिप्रकाशाय (एषः) (ते) (योनिः) (सूर्य्याय) चराचरात्मने जगदीश्वराय (त्वा) (भ्राजाय) सर्वत्र प्रकाशमानाय (सूर्य्य) सूर्य्यस्येव न्यायविद्यासु प्रकाशमान ! (भ्राजिष्ठ) अतिशयेन सुशोभित (भ्राजिष्ठः) (त्वम्) (देवेषु) अखिलविद्यासु प्रकाशमानेषु विद्वत्सु ♣(असि) (भ्राजिष्ठः) (अहम्) (मनुष्येषु) विद्यान्यायाचरणे प्रकाशमानेषु मानवेषु (भूयासम्) ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ४ । ११-१२ व्याख्यातः ॥ ४० ॥

अन्वयः—यथाऽस्य जगतः पदार्थान् [वि] भ्राजन्तो रश्मयः केतवोऽग्नयस्सन्ति, तथैव जनानन्वहमदृश्रम् । त्वमुपयामगृहीतोऽसि यस्य ते तवैष योनिरस्ति तं [त्वा] त्वां भ्राजाय सूर्याय प्रचोदयामि । तं [त्वा]

[1] अग्निगुणकेन सूर्यगुणकेन वा राज्ञा रश्मिवत् प्रजाः पालनीया इत्याह—

* 'असि' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

♣ '(असि)' इति पदं हस्तलेखेषु नास्ति ॥

त्वां भ्राजाय सूर्याय परमात्मने नियोजयामि । हे भ्राजिष्ठ सूर्य यथा त्वं देवेषु भ्राजिष्ठोऽसि तथाऽहं मनुष्येषु [भ्राजिष्ठः] भूयासम् ॥ ४० ॥

अत्रोपमालङ्कारः[1] ॥

भावार्थः—यथेह सूर्य्यकिरणाः सर्वत्र प्रसृताः प्रकाशन्ते तथा राजप्रजासभाजनाश्शुभगुणकर्म्मस्वभावेषु प्रकाशमानास्सन्तु । कुतो नहि मनुष्यशरीरं प्राप्य कस्यचिदुत्साहपुरुषार्थसत्पुरुषसंगयोगाभ्यासाचरितस्य जनस्य धर्म्मार्थकाममोक्षसिद्धिः शरीरात्मसमाजोन्नतिश्च † दुर्लभास्ति, तस्मात् सर्वैरालस्यं त्यक्त्वा नित्यं प्रयतितव्यम् ॥ ४० ॥

फिर भी प्रकारान्तर से पूर्वोक्त विषय ही अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—[(यथा)] जैसे (अस्य) इस जगत् के पदार्थों ‡ में [(वि)] (भ्राजन्तः) प्रकाश को प्राप्त हुई (रश्मयः) कान्ति (केतवः) वा{} उन पदार्थों को जनानेवाले (अग्नयः) सूर्य्य, विद्युत् और प्रसिद्ध अग्नि हैं वैसे ही (जनान्) मनुष्यों को (अनु) एक अनुकूलता के साथ (अदृश्रम्) मैं *देखूं । हे सभापते ! आप (उपयामगृहीतः) राज्य के नियम और उपनियमों से स्वीकार किये हुए (असि) हैं, जिन (ते) आपका (एषः) यह राज्यकर्म्म (योनिः) ऐश्वर्य्य का कारण है, उन (त्वा) आप को (भ्राजाय) जिलानेवाले (सूर्य्याय) ☒सूर्य्य के समान विद्यादि शुभ गुणों से प्रकाशमान विद्वान् के लिए प्रेरित करता हूँ । तथा उन्हीं [(त्वा)] आप को (भ्राजाय) सर्वत्र प्रकाशित (सूर्य्याय) चराचरात्मा जगदीश्वर के लिये भी ⁂ नियुक्त करता हूँ । हे (भ्राजिष्ठ) अति पराक्रम से प्रकाशमान (सूर्य्य) सूर्य्य के समान सत्यविद्या और गुणों से प्रकाशमान ! जैसे (त्वम्) आप (देवेषु) समस्त विद्याओं से युक्त विद्वानों में प्रकाशमान [(भ्राजिष्ठः) अत्यन्त प्रकाशित [(असि)] हैं, वैसे [(अहम्)] मैं भी (मनुष्येषु) साधारण मनुष्यों में [(भ्राजिष्ठः) अत्यन्त प्रकाशित] (भूयासम्) होऊं ॥ ४० ॥

इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥

भावार्थः—जैसे इस संसार में सूर्य्य की किरण सब जगह ॐ फैल के प्रकाश करती हैं, वैसे राजा प्रजा और सभासद् जन शुभ गुण कर्म और स्वभावों में प्रकाशमान हों, क्योंकि मनुष्य शरीर पाकर किसी उत्साह

---

१ निरु० ३ । १५ उपमार्थे उदाहृतोऽयं मन्त्रः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अदृश्रम्) अट्स्वरः ॥

(केतवः) चायः की (उ० १ । ७४) इति 'तु' प्रत्ययः । स चोदात्तः ॥

(भ्राजन्तः) धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(यथा) यथेति पादान्ते (फि० ८६) इति सर्वानुदात्तत्वम् ॥

(भ्राजिष्ठ) नामन्त्रिते समाना० (अ० ८ । १ । ७३) इत्यविद्यमानवद्भावे प्रतिषिद्ध आष्टमिकामन्त्रितस्वरः ॥

(भ्राजिष्ठः) इष्ठनि नित्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अग्नि वा सूर्य के समान गुणवाले राजा को किरणों के समान प्रजा का पालन करना चाहिये, यह कहते हैं— ॥ ४० ॥

---

† 'च' इति पदं हस्तलेखेषु नास्ति ॥

{} 'उन पदार्थों को' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥

☒ 'प्राण के लिए चिताता हूं' इति अ० मु० पाठः ॥

ॐ 'फैलती हुई' इति हस्तलेखपाठः ॥

‡ 'की' इति हस्तलेखपाठः ॥

* 'दिखलाऊं' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

⁂ 'चिताता हूँ' इति अ० मु० पाठः ॥

पुरुषार्थ सत्पुरुषों का संग और योगाभ्यास का आचरण करते हुए मनुष्य को धर्म्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि तथा शरीर आत्मा और समाज × की उन्नति करना दुर्लभ नहीं है। इस से सब मनुष्यों को चाहिये कि आलस्य को ÷ छोड़ के नित्य प्रयत्न किया करें ॥ ४० ॥

उदु त्यमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः। सूर्य्यो देवता। पूर्वस्य निचृदार्षी, उपयामेत्यस्य स्वराडार्षी गायत्री च छन्दः। षड्जः स्वरः॥

अथेश्वरपक्षे गृहस्थकर्म्माह[1] ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्य्यम्।
उपयामगृहीतोऽसि सूर्य्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्य्याय त्वा भ्राजाय॥ ४१ ॥

उत्। ऊँ ऽ इत्यूँ। त्यम्। जातवेदसमिति जातऽवेदसम्। देवम्। वहन्ति। केतवः॥ दृशे। विश्वाय। सूर्य्यम्॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। सूर्य्याय। त्वा। भ्राजाय। एषः। ते। योनिः। सूर्य्याय। त्वा। भ्राजाय॥ ४१ ॥

पदार्थः—(उत्) (उ) वितर्के (त्यम्) अमुम् (जातवेदसम्) यो जातान् वेत्ति विन्दते वा, जाता वेदसो वेदाः पदार्था वा यस्मात् तम् (देवम्) शुद्धस्वरूपम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (केतवः) किरणा इव प्रकाशमाना विद्वांस (दृशे) द्रष्टुम् (विश्वाय) सर्वजगदुपकाराय (सूर्य्यम्) चराचरात्मानमीश्वरम् (उपयामगृहीतः) उपगतैर्यामैर्यमैः स्वीकृतः (असि) (सूर्य्याय) प्राणाय सवित्रे वा (त्वा) त्वाम् (भ्राजाय) प्रकाशकाय (एषः) कार्यकारणप्रसंगतया यदनुमीयते (ते) तव (योनिः) असमं[2] प्रमाणम् (सूर्य्याय) ज्ञानसूर्य्यस्य प्राप्तये (त्वा) त्वाम् (भ्राजाय)॥ अयं मन्त्रः शत० ४।३।४।९ व्याख्यातः॥ ४१ ॥

अन्वयः—यं जातवेदसं देवं सूर्य्यं जगदीश्वरं विश्वाय दृशे केतवो विद्वांस उद्वहन्तु तं जगदीश्वरं वयं प्राप्नुयाम। हे जगदीश्वर ! यस्त्वमस्माभिर्भ्राजाय सूर्य्यायोपयामगृहीतोऽसि तं त्वा त्वां सर्वे तदर्थं गृह्णन्तु, यस्य ते तवैष योनिरस्ति, तं (त्वा) त्वां भ्राजाय सूर्य्याय कारणं विजानीमः[3]॥ ४१ ॥

भावार्थः—यथा वेदविदो विद्वांसो वेदाऽनुकूलमार्गेण परमेश्वरं विज्ञाय श्रेष्ठविज्ञानेन तदुपासनं कुर्वन्ति, तथैव स ईश्वरः सर्वैरुपासनीयः। न तादृशेन ज्ञानेन विनेश्वरोपासना भवितुं शक्या, कुतो विज्ञानमेव परमेश्वरोपासनावधिरिति॥ ४१ ॥

१ सर्वमेतत् कुर्वताऽपीश्वरो न विस्मर्त्तव्य इत्याह—
२ अनुपममित्यर्थः। 'कारणं बीजं परमं प्रमाणम्' इति ३ मन्त्रोऽयं पूर्वं य० ७। ४१ पृ० ६४१ व्याख्यातः॥
४. हस्तलेखपाठः॥

× 'की बढ़ती किया करें' इति हस्तलेखपाठः॥
÷ 'छोड़ यत्न के साथ बर्ताव करें' इति हस्तलेखेषु पाठः॥

अब ईश्वरपक्ष में गृहस्थ के कर्म का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—(जातवेदसम्) जो उत्पन्न हुए पदार्थों को जानता वा प्राप्त कराता वा वेद और संसार के पदार्थ जिससे उत्पन्न हुये हैं [उस] (देवम्) शुद्धस्वरूप [(सूर्यम्)] जगदीश्वर जिसको (विश्वाय) संसार के उपकार के लिये (दृशे) ज्ञानचक्षु से देखने को (केतवः) किरणों के तुल्य सर्व अंशों में प्रकाशमान विद्वान् (उत्) (वहन्ति) अपने उत्कर्ष से वादानुवाद कर व्याख्यान करते हैं (उ) तर्क वितर्क के साथ (त्यम्) उस जगदीश्वर को हम लोग प्राप्त हों। हे जगदीश्वर ! जो आप हम लोगों से (भ्राजाय) प्रकाशमान अर्थात् अत्यन्त उत्साह और पुरुषार्थ युक्त (सूर्याय) प्राण के लिये (उपयामगृहीतः) यम नियमादि योगाभ्यास उपासना आदि साधनों से स्वीकार किये हुए (असि) हैं, उन (त्वा) आपको उक्त कामना के लिये समस्त जन स्वीकार करें और हे ईश्वर ! जिन (ते) आपका (एषः) यह कार्य और कारण ❁ की व्याप्ति से जिसका अनुमान होता है (योनिः) अनुपम प्रमाण है, उन (त्वा) आपको (भ्राजाय) प्रकाशमान (सूर्याय) ज्ञानरूपी सूर्य को पाने के लिये एक कारण जानते हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थः—जैसे वेद के वेत्ता विद्वान् लोग वेदानुकूल मार्ग से परमेश्वर को जानकर उत्तम ज्ञान से उस का सेवन करते हैं, वैसे ही वह जगदीश्वर सबको उपासनीय अर्थात् सेवन करने के योग्य है। वैसे ज्ञान के बिना ईश्वर की उपासना कभी नहीं हो सकती, क्योंकि विज्ञान ही परमेश्वरोपासना की अवधि है ॥ ४१ ॥

आजिघ्रेत्यस्य कुसुरुबिन्दुर्ऋषिः। पत्नी देवता। स्वराड् ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

अथ गृहस्थकर्म्मणि पत्न्युपदेशविषयमाह[2] ।

आजि॑घ्र क॒लशं॑ म॒ह्या त्वा॑ विश॒न्त्विन्द॑वः ।
पुन॑रू॒र्जा निव॑र्त्तस्व॒ सा नः॑ स॒हस्रं॑ धुक्ष्वो॒रुधा॑रा॒ पय॑स्वती॒ पुन॒र्मावि॑शताद्र॒यिः ॥ ४२ ॥

आ। जि॒घ्र॒। क॒लश॑म्। म॒हि॒। आ। त्वा॒। वि॒श॒न्तु॒। इन्द॑वः ॥ पुन॑रिति॒ पुनः॑। ऊ॒र्जा। नि। †व॒र्त्त॒स्व॒। सा। नः॒। स॒हस्र॑म्। ‡धु॒क्ष्व॒। उ॒रु॒धा॒रेत्यु॑रुऽधा॑रा। पय॑स्वती। पुनः॑। मा॒। आ। वि॒श॒ता॒त्। र॒यिः ॥ ४२ ॥

पदार्थः—(आ) (जिघ्र) (कलशम्) नूतनं घटम् (महि) महागुणविशिष्टे पत्नि ! (आ) (त्वा) (विशन्तु) (इन्दवः) सोमाद्योषधिरसाः (पुनः) (ऊर्जा) पराक्रमेण (नि) (वर्त्तस्व) (सा) (नः) अस्मान् (सहस्रम्) असंख्यम् (धुक्ष्व) ❀ विपूर्हि (उरुधारा) उर्वी धारा विद्यासुशिक्षाधारणा यस्याः सा (पयस्वती) प्रशस्तानि पयांस्यन्नान्युदकानि वा यस्यां सा (पुनः) (मा)

---

१ यह सब करते हुये प्रभु को न विसार दे, यह दर्शाते हैं— ॥ ४१ ॥

२ शरीरात्मबलप्राप्तये साधुभोजनमावश्यकमिति पत्न्युपदेशं वर्णयति—

३ कला अस्मिञ्छेरत इति निरु० ११।१२ ॥

४ रसो वै पयः ॥ श० ४।४।४।८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(जिघ्र) तिङ्ङतिङः (अ० ८।१।२८) इति निघातः ॥

(कलशम्) कलेरशः (दुर्ग० उणा० ६।३१)

❁ 'कारण की व्याप्ति से एक अनुमान होना' इति अ० मुद्रितपाठः, स च ग. भूतपूर्वसंस्कृतानुसारीति ध्येयम् ॥

† 'वृर्त्तस्व' इति अ० मु० अपपाठः ॥

‡ 'धुक्ष्व' इति अ० मु० अपपाठः ॥

❀ 'प्रपूर्द्धि' इत्यजमेरमुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥

माम् (आ) [(विशतात्)] विशताम् (रयिः) धनम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ८ । ६-९ व्याख्यातः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हे महि पत्नि ! या त्वमुरुधारा पयस्वत्यसि सा गृहस्थशुभकर्म्मसु कलशमाजिघ्र पुनस्त्वा त्वां सहस्रमिन्दव आविशन्तु, *यतस्त्वं दुःखान्निवर्त्तस्व पुनरूर्जा नोऽस्मान् धुक्ष्व, पुनर्म्मा मां रयिराविशतात् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—विदुषीणां स्त्रीणां योग्यताऽस्ति [ताः] यादृशान् सुपरीक्षितान् पदार्थान् स्वयं भुञ्जीरन्, तादृशानेव पत्ये दद्युः, यतो बुद्धिबलविद्यावृद्धिः स्यात्, धनादिपदार्थानामुन्नतिं च कुर्य्युः ॥ ४२ ॥

अब गृहस्थ के कर्म्म में स्त्री के उपदेश विषय को अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (महि) प्रशंसनीय गुणवाली स्त्री ! जो तू (उरुधारा) विद्या और अच्छी २ शिक्षाओं को अत्यन्त धारण करने (पयस्वती) प्रशंसित अन्न और जल रखनेवाली है, [(सा)] वह [तू] गृहाश्रम के शुभ कामों में (कलशम्) नवीन घट का (आजिघ्र) आघ्राण कर अर्थात् उसको जल से पूर्ण कर, उसकी उत्तम सुगन्धि को प्राप्त हो (पुनः) फिर (त्वा) तुझे (सहस्रम्) असंख्यात (इन्दवः) सोम आदि ओषधियों के रस (आविशन्तु) प्राप्त हों, जिस से तू दुःख से (निवर्त्तस्व) दूर रहे अर्थात् कभी तुझ को दुःख न प्राप्त हो तू (ऊर्जा) पराक्रम से (नः) हम को (धुक्ष्व) परिपूर्ण कर, (पुनः) पीछे (मा) मुझे (रयिः) धन (आविशतात्) प्राप्त हो ॥ ४२ ॥

भावार्थः—विदुषी स्त्रियों को योग्य है कि अच्छी परीक्षा किए हुए पदार्थों को जैसे आप खावें, वैसे ही अपने पति को भी खिलावें कि जिससे बुद्धि बल और विद्या की वृद्धि हो, और धनादि पदार्थों को भी बढ़ाती रहें ॥ ४२ ॥

इडे रन्त इत्यस्य कुसुरुबिन्दुर्ऋषिः । पत्नी देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह[2] ॥

कलस्युदकानीति कलशः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(वर्त्तस्व) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(सहस्रम्) पूर्वं य० १ । २४ पृ० ११५ सहस्रभृष्टिशब्दे व्याख्यातः ॥

(धुक्ष्व) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(उरुधारा) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे महति ह्रस्वश्च (उ० १ । ३१) इति कुः । प्रत्ययस्वरेण पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(पयस्वती) असुन्प्रत्यय आद्युदात्तत्वम् । ततो मतुब्ङीपावनुदात्तौ ॥

(विशतात्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ शरीर और आत्मा के बल की प्राप्ति के लिये उत्तम भोजन आवश्यक है, अतः पत्नी को कैसे समझावे सो कहते हैं—

२ पत्नी गुणवती सती कथं गृहस्य दीप्तिर्जायत इति प्रतिपादयति—

---

* 'यतस्त्वं दुःखान्निवर्त्तस्व' इति पाठोऽन्वयान्तेऽजमेरमुद्रिते ॥

इडे॒ रन्ते॒ हव्ये॒ काम्ये॒ चन्द्रे॒ ज्योतेऽदि॑ते॒ सर॑स्वति॒ महि॒ विश्रु॑ति ।
ए॒ता ते॑ ऽ अघ्न्ये॒ नामा॑नि दे॒वेभ्यो॒ मा सु॒कृतं॑ ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

इडे॑ । रन्ते॑ । हव्ये॑ । काम्ये॑ । चन्द्रे॑ । ज्योते॑ । अदि॑ते । सर॑स्वति । महि॑ । विश्रु॑तीति॒ विऽश्रु॑ति ॥ ए॒ता । ते॒ । ऽ॒अघ्न्ये॒ । नामा॑नि । दे॒वेभ्यः॑ । + मा॒ । सु॒कृत॒मिति॑ सुऽकृत॑म् । ब्रू॒तात् ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(इडे) स्तोतुमर्हे (रन्ते) रमणीये (हव्ये) स्वीकर्तुमर्हे (काम्ये) कमनीये (चन्द्रे) आह्लादकारिके (ज्योते[1]) सुशीलेन द्योतमाने (अदिते) आत्मस्वरूपेणाविनाशिनि (सरस्वति) प्रशस्तं सरो विज्ञानं विद्यते यस्यास्तत्सम्बुद्धौ (महि) पूज्यतमे (विश्रुति) विविधाः श्रुतयः श्रवणानि तद्वति (एता) एतानि (ते) तव (अघ्न्ये) हन्तुं तिरस्कर्तुमयोग्ये (नामानि) गौणिक्य आख्याः (देवेभ्यः) ॐ दिव्यगुणेभ्यः (मा) माम् (सुकृतम्) सुष्ठु कर्तव्यं कर्म (ब्रूतात्) ब्रूहि ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ८ । १८ व्याख्यातः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—हे अघ्न्येऽदिते ज्योते इडे हव्ये काम्ये रन्ते चन्द्रे विश्रुति महि सरस्वति पत्नि ! त एता नामानि सन्ति, त्वं देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

भावार्थः—या विद्वद्भ्यः शिक्षां प्राप्तवती विदुषी स्त्री सा यथोक्तया शिक्षया शिक्षेत्। यतस्सर्वा अधर्ममार्गे न प्रवर्त्तेरन्। परस्परं विद्यावृद्धिं स्वतनयान् कन्याश्च शिक्षिताः कुर्युः ॥ ४३ ॥

फिर भी प्रकारान्तर से उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (अघ्न्ये) ताड़ना न देने योग्य (अदिते) आत्मा [स्वरूप] से विनाश को प्राप्त न होनेवाली (ज्योते) श्रेष्ठशील से प्रकाशमान (इडे) प्रशंसनीय गुणयुक्त (हव्ये) स्वीकार करने योग्य (काम्ये) मनोहर स्वरूप (रन्ते) रमण करने योग्य (चन्द्रे) अत्यन्त आनन्द देनेवाली (विश्रुति) अनेक अच्छी बातें और वेद जाननेवाली (महि) अत्यन्त प्रशंसा करने योग्य (सरस्वति) प्रशंसित विज्ञानवाली पत्नि ! उक्त गुण प्रकाश करनेवाले (ते) तेरे (एता) ये (नामानि) नाम हैं, तू (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (मा) मुझको (सुकृतम्) उत्तम उपदेश (ब्रूतात्) किया कर ॥ ४३ ॥

---

1 ज्योतते इति ज्वलतिकर्मा, निघ० १ । १६ । ज्योतते या सा ज्योता, सम्बुद्धौ ज्योते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इडे, रन्ते, हव्ये, काम्ये, चन्द्रे, ज्योते, अदिते, सरस्वति, महि, विश्रुति) एषु आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इत्यविद्यमाने षाष्ठिकामन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ॥ 'सामान्यवचनम्' इति वचनादत्र नामन्त्रिते समा० (अ० ८।१।७३) इति न प्रवर्त्तते ॥ अत्र स्वरविषये य० प्राति० २।२१ अपि द्रष्टव्यम् ॥

(सुकृतम्) क्विपि गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(ब्रूतात्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

2 गुणवती होकर पत्नी किस प्रकार गृहदीप्ति बन जाती है, सो दर्शाते हैं— ॥ ४३ ॥

+ 'मा' इति स्वरचिह्नरहितोऽपपाठः अ० मु० ॥

ॐ 'दिव्यगुणयुक्तपतिभ्यः' इति तु अ० मुद्रितेऽनावश्यकः पाठोऽसंबद्धश्चापि ॥

भावार्थः—जो विद्वानों से शिक्षा पाई हुई [विदुषी] स्त्री हो, वह अपने २ पति† और अन्य सब स्त्रियों को यथायोग्य उत्तम कर्म्म सिखलावे, जिससे किसी तरह वे अधर्म्म की ओर न डिगें। वे दोनों स्त्री पुरुष विद्या की वृद्धि और [अपने] बालकों तथा कन्याओं को शिक्षा किया करें ॥ ४३ ॥

वि न इत्यस्य शास ऋषिः । इन्द्रो देवता । ❀निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
उपयामेत्यस्य ‡ स्वराडार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

सिंहावलोकनन्यायेन गृहस्थधर्म्मे राजपक्षे किंचिदाह[1] ॥

वि न॑ऽ इन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः ।
यो ऽ अ॒स्माँ२ऽ अ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑ ।
उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा वि॒मृध॑ ऽ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा वि॒मृधे॑ ॥ ४४ ॥

वि । नः॒ । इन्द्रः॑ । मृधः॑ । ज॒हि॒ । नी॒चा । य॒च्छ॒ । पृ॒त॒न्य॒तः ॥ यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒दास॒तीत्य॑भि॒ऽदास॑ति । अध॑रम् । ग॒म॒य॒ । तमः॑ ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीत॒ इत्यु॑पया॒मऽगृ॑हीतः । अ॒सि॒ । [इन्द्रा॑य । त्वा॒ ।] वि॒मृध॒ इति॑ वि॒ऽमृधे॑ । ते॒ । योनिः॑ । इन्द्रा॑य । त्वा॒ । वि॒मृध॒ इति॑ वि॒ऽमृधे॑ ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(वि) विशेषेण (नः) अस्माकम् (इन्द्र) सेनाध्यक्ष ! (मृधः[2]) शत्रून् (जहि) (नीचा) दुष्टकारिणः (यच्छ) + निगृह्णीष्व (×पृतन्यतः) आत्मनः सेनामिच्छतः (यः) (अस्मान्) (अभिदासति) सर्वत उपक्षयति । दसु उपक्षये, अत्र वर्णव्यत्ययेनाकारस्य स्थान आकारः । (अधरम्) अधोगतिम् (गमय) अत्र संहितायाम् [अ० ६ । ३ । ११४] इति दीर्घः । (तमः) अन्धकारं (उपयामगृहीतः) सेनादिसामग्रीसंगृहीतः (असि) (इन्द्राय) ऐश्वर्य्यप्रदाय (त्वा) (विमृधे) विशिष्टा मृधः शत्रवो यस्मिंस्तस्मै संग्रामाय (एषः) (ते) (योनिः) (इन्द्राय) परमानन्दप्राप्तये (त्वा) त्वाम् (विमृधे) () विगतशत्रवे ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ६ । ४ व्याख्यातः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र सेनापते ! त्वं नोऽस्माकं ❁मृधो विजहि । पृतन्यतो नीचा नीचान् यच्छ । यः शत्रुरस्मानभिदासति, तं तमस्सूर्य्यइवाधरं गमय, यस्य ते तवैष योनिरस्ति, स त्वमस्माभिरुपयामगृहीतोऽसि । अत एवेन्द्राय विमृधे [त्वा] त्वां स्वीकुर्म्मो विमृध इन्द्राय त्वा नियोजयामश्च[3] ॥ ४४ ॥

1 नह्यराजके राष्ट्रे कापि व्यवस्था प्रचलतीत्यतो राज्ञ उपयोगं पुनर्दर्शयति—

2 द्र० य० ७ । ३७ पृ० ६३५ । मृधिर्हिंसार्थः इति (ऋ० ३ । १४ । १ भा०) ॥

3 मन्त्रोऽयं निरु० ७ । २ उदाहृतः ॥

† 'और अन्य सब स्त्रियों को' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥
‡ 'विराडार्षी' इति अ० मु० पाठः ॥
× ऋ० १ । ८ । ४ ऋग्वेद एवाकारलोपः ॥
() 'विगता मृधः शत्रवो यस्य तस्मै' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥
❁ 'विमृधो जहि' इति तु अ० मुद्रितपाठः ॥
❀ 'भुरिगनुष्टुप्' इति अ० मु० पाठः ॥
+ 'निगृह्णीहि' इत्यजमेरमुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥

भावार्थः—यो दुष्टकर्म्मशीलपुरुषोऽनेकधा बलमुन्नीय सर्वान् पीडयितुमिच्छति, तं राजा सर्वथा दण्डयेत्। यदि स प्रबलतरोपाधिशीलतां न त्यजेत् तर्हि राष्ट्रादेनं दूरं गमयेद् विनाशयेद् वा[1] ॥ ४४ ॥

अब सिंह जैसे पीछे लौटकर देखता है, इस प्रकार गृहस्थकर्म के निमित्त राजपक्ष में कुछ उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (इन्द्र) सेनापते ! तू (नः) † हमारे [(मृधः) शत्रुओं को (वि) अच्छी प्रकार] (जहि) मार। (पृतन्यतः) हमसे युद्ध करने के लिये सेना की इच्छा करनेहारे शत्रुओं को और उन (नीचा) [दुष्ट कर्म करनेहारे] नीचों को (यच्छ) वश में ला, और [(यः)] जो शत्रुजन (अस्मान्) हम लोगों को (अभिदासति) सब प्रकार दुःख देवे, उस दुष्ट को (तमः) अन्धकार को जैसे सूर्य्य नष्ट करता है, वैसे (अधरम्) अधोगति को (गमय) प्राप्त करा, जिस (ते) तेरा (एषः) उक्त कर्म्म करना (योनिः) राज्य का कारण है, इस से तू ‡ हम लोगों से (उपयामगृहीतः) सेना आदि सामग्री से ग्रहण किया हुआ (असि) है, इसी से (त्वा) तुझको (विमृधे) जिसमें बड़े २ युद्ध करनेवाले शत्रुजन हैं, उस (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य देनेवाले युद्ध के लिये स्वीकार करते हैं, (त्वा) तुझको (विमृधे) जिसके शत्रु नष्ट हो गये हैं, उस (इन्द्राय) [अत्यन्त सुख के देनेवाले] राज्य के लिये प्रेरणा करते हैं, अर्थात् [तू] अधर्म्म से अपना वर्त्ताव न वर्त्ते ॥ ४४ ॥

---

१ अत्र मनु० ८ । २२५, २६९–२७१ श्लोकाः द्र० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नीचा) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ।

(यच्छ) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(पृतन्यतः) 'पृतनाः' इति सङ्ग्रामनाम, निघ० २ । १७, तदिच्छतीति क्यच्, कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः (अ० ७ । ४ । ३९) । ततः शतृप्रत्यये शपि एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इति शपोऽकारस्यैकादेश उदात्तः । ततः शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् इति स्वरसिद्धिक्रमः । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः (अ० ७।४। ३९) सूत्रे ऋचिग्रहणात् यजुर्मन्त्रेषु (गद्यमन्त्रेषु) 'पृतनायतः' इत्येव भवति यथा य० १३ । २६ ॥

(अभिदासति) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावे धातुस्वरेण 'दा' उदात्तः । तत्र उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति समासः । समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते परत्वात् तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इत्येव भवति ॥

(अधरम्) 'धृङ् अवस्थाने' इत्येतस्मात् पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अ० ३ । ३ । ११८) इति घः । नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्यय० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

अत्र तु निरुक्तम्—"अधरोऽधोरः । अधो न धावतीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा" (निरु० २ । ११) ॥ अस्मिन् पक्षे छान्दसाद्युदात्तत्वम् ॥

(गमय) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(विमृधे) छान्दसत्वादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अराजक राष्ट्र में कोई भी व्यवस्था नहीं चल सकती, अतः राजा की उपयोगिता का पुनः निरूपण करते हैं— ॥ ४४ ॥

---

† हमारे (पृतन्यतः) हमसे युद्ध करने के लिये सेना की इच्छा करने हारे शत्रुओं को (जहि) मार और उन (नीचा)' इति अ० मु० पाठः । स च अन्वयानुसारीति ध्येयम् ॥

‡ 'तू हम लोगों से' इति पाठो हस्तलेखयोरुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते प्रमादात् त्यक्तः ॥

भावार्थः—जो खोटे काम करनेवाला पुरुष अनेक प्रकार से अपने बलको उन्नति देकर सबको दुःख देना चाहे, उसको राजा सब प्रकार से दण्ड दे। यदि फिर भी वह अपनी अत्यन्त खोटाइयों को न छोड़े तो उसको मार डाले अथवा नगर से दूर निकाल बन्द रक्खे ॥ ४४ ॥

वाचस्पतिमित्यस्य शास ऋषिः। ईश्वरसभेशौ राजानौ देवते। भुरिगार्षी त्रिष्टुप् छन्दः, उपयामेत्यस्य × विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः। आद्यस्य धैवतः, + परस्य गान्धारः स्वरश्च॥

अथ गृहस्थकर्म्माणि राजविषयमीश्वरविषयं चाह[1] ॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥ ४५ ॥

वाचः। पतिम्। विश्वकर्म्माणमिति विश्वऽकर्म्माणम्। ऊतये। मनोजुवमिति मनःऽजुवम्। वाजे। अद्य। हुवेम॥ सः। नः। विश्वानि। हवनानि। जोषत्। विश्वशम्भूरिति विश्वऽशम्भूः। अवसे। साधुकर्मेति साधुऽकर्म्मा॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। इन्द्राय। त्वा। विश्वकर्म्मण इति विश्वऽकर्म्मणे। एषः। ते। योनिः। इन्द्राय। त्वा। विश्वकर्म्मण इति विश्वऽकर्म्मणे ॥ ४५ ॥

पदार्थः—(वाचः) देववाण्याः (पतिम्) स्वामिनं पालकं वा (विश्वकर्म्माणम्) विश्वानि सर्वाणि ※ धर्म्याणि कर्म्माणि यस्य तम् (ऊतये) रक्षणाय (मनोजुवं) मनोगतिम् (वाजे) विज्ञाने युद्धे वा (अद्य) अस्मिन्नहनि, निपातस्य[2] [च] (अ० ६। ३। १३६) इति दीर्घः। (हुवेम) आह्वयेम (सः) (नः) अस्माकम् (विश्वानि) अखिलानि (हवनानि) प्रार्थनावाग्दत्तानि (जोषत्) जुषेत्, अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदम्। (विश्वशम्भूः) विश्वं सर्वं शं सुखं भावयति (अवसे) प्रीतये (साधुकर्म्मा) साधूनि श्रेष्ठानि कर्म्माणि यस्य (उपयामगृहीतः) (असि) (इन्द्राय) ऐश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (विश्वकर्म्मणे) ‡ अखिलकर्मोत्पादनाय (एषः) (ते) (योनिः) (इन्द्राय) शिल्पविद्यैश्वर्याय (त्वा) त्वाम् (विश्वकर्मणे) अखिलकर्म्मसाधनाय ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ६। ४। ५ व्याख्यातः ॥ ४५ ॥

---

1 प्रभुपरायणेन, अनेकविधविज्ञानयुक्तेन च राज्ञा सर्वा व्यवस्थाः स्थापयितुं शक्या इति तत्प्रकारमाह—

2 अत्र केचिद् अन्येषामपि दृश्यते (अ० ६।३।१३७) इति दीर्घ इत्याहुः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(विश्वकर्माणम्) बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६। २। १०६) छान्दसत्वादसंज्ञायामपि पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्॥

(ऊतये) ऊतियूतिजूति० (अ० ३। ३। ९७) इति निपातनादन्तोदात्तत्वम्॥

(मनोजुवम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे विभक्तिरनुदात्ता॥

(हुवेम) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः॥

× ‘स्वराडार्ष्यनुष्टुप्’ इति अ० मु० अपपाठः॥
※ ‘धर्माणि’ इति अ० मु० पाठः॥
+ ‘परस्य च गान्धारः स्वरः’ इति सम्यक् स्यात्॥
‡ ‘अखिलकर्मणोत्पादनाय’ इति अ० मु० पाठः॥

अन्वयः—वयमद्य वाज ऊतये यं वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणं मनोजुवं हुवेम। स † साधुकर्म्मा विश्वशम्भूः [जगदीश्वरः] सभापतिर् [वा] नोऽवसे विश्वानि हवनानि जोषत्। यस्य ते तवैष योनिरस्ति यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसतस् [त्वा] त्वां विश्वकर्म्मणे इन्द्राय हुवेम विश्वकर्म्मण इन्द्राय [त्वा] त्वां सेवेमहि चे ÷ त्युपाश्लिष्टोऽन्वयार्थः ॥ ४५ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—यः परमेश्वरो न्यायाधीशो वाऽस्मदनुष्ठितानि कर्म्माणि विदित्वा तदनुसारेणास्मान् नियच्छति। यः कस्याप्यकल्याणमधर्म्मकं कर्म च न करोति, यस्य सहायेन मनुष्यो योगमोक्षव्यवहारविद्याः प्राप्य धर्म्मशीलो जायेत, स एवास्माभिः परमार्थव्यवहारसिद्धये सेवनीयोऽस्ति ॥ ४५ ॥

अब गृहस्थ कर्म्म राजा और ईश्वर का विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हम (अद्य) अब [(ऊतये) रक्षा] (वाजे) विज्ञान वा युद्ध के निमित्त जिन (वाचः) वेदवाणी के [(पतिम्)] स्वामी वा रक्षा करने वाले (विश्वकर्म्माणम्) जिनके सब धर्म्मयुक्त कर्म्म हैं, जो (मनोजुवम्) मन चाहती गति का जाननेवाला है उस परमेश्वर वा सभापति को (हुवेम) चाहते हैं, सो [(सः) वह] आप (साधुकर्म्मा) अच्छे २ कर्म्म करनेवाले (विश्वशम्भूः) समस्त सुख को उत्पन्न करानेवाले जगदीश्वर वा सभापति (नः) हमारे (अवसे) प्रेम बढ़ाने के लिये (विश्वानि) (हवनानि) दिये हुये सब प्रार्थना-वचनों को (जोषत्) प्रेम से मानें। जिन (ते) आपका (एषः) यह उक्त कर्म्म (योनिः) एक प्रेमभाव का कारण है, वे आप (उपयामगृहीतः) यमनियमों से ग्रहण किये हुए (असि) हैं, इस से (विश्वकर्म्मणे) समस्त कामों के उत्पन्न करने तथा (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य के लिये (त्वा) आपकी प्रार्थना तथा (विश्वकर्म्मणे) समस्त काम की सिद्धि के लिये (❀ इन्द्राय) शिल्पक्रिया कुशलता से उत्तम ऐश्वर्य्यवाले (❀ त्वा) आपका सेवन करते हैं ॥ ४५ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो परमेश्वर वा न्यायाधीश सभापति हमारे किये हुए कामों को जान कर उनके अनुसार हमको यथायोग्य नियमों में रखता है, जो किसी को दुःख देनेवाले छल कपट के काम को नहीं करता, जिस परमेश्वर वा सभापति के सहाय से मनुष्य मोक्ष और व्यवहारसिद्धि को पाकर धर्म्मशील होता है, वही ईश्वर परमार्थसिद्धि, वा सभापति व्यवहारसिद्धि के निमित्त हम लोगों को सेवने योग्य है ॥ ४५ ॥

(विश्वशम्भूः) भाष्यन्त्वन्नार्थप्रदर्शनपरम्, विश्वस्तु विश्वं शम्भूर्यस्य। बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६। २। १०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्॥

(साधुकर्मा) पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। साधुशब्द उण्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ प्रभुपरायण तथा अनेकविध विज्ञान से युक्त राजा सब व्यवस्था करने में समर्थ होता है, यह कहते हैं—

---

† 'यः' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥ ÷ 'इत्युपाश्लिष्टोऽन्वयार्थः' इति पाठो हस्तलेखयोर्नास्ति ॥

❀ ('इन्द्राय) (त्वा') इति पदे हस्तलेखेषु स्तः। मुद्रणे प्रमादात् त्यक्ते ॥

विश्वकर्मन्नित्यस्य शास ऋषिः । विश्वकर्मेन्द्रो देवता । () निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥
उपयामेत्यस्य विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ राजधर्ममुपदिशति[1] ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥ ४६ ॥

विश्वकर्मन्निति विश्वऽकर्मन् । हविषा । वर्द्धनेन । त्रातारम् । इन्द्रम् । अकृणोः । अवध्यम् ॥ तस्मै । विशः । सम् । अनमन्त । पूर्वीः । अयम् । उग्रः । विहव्य इति विऽहव्यः । यथा । असत् ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । विश्वकर्मण इति विश्वऽकर्मणे । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । विश्वकर्मण इति विश्वऽकर्मणे ॥ ४६ ॥

पदार्थः—(विश्वकर्म्मन्) अखिलसाधुकर्मयुक्त ! (हविषा) आदातव्येन (वर्द्धनेन) वृद्धिनिमित्तेन न्यायेन सह (त्रातारम्) रक्षितारम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यप्रदम् (अकृणोः) कुर्य्याः (अवध्यम्) हन्तुमनर्हम् (तस्मै) (विशः) प्रजाः (सम्) (अनमन्त) नमन्ते, ❀ अत्र लडर्थे [लिङर्थे वा] लङ् । (पूर्वीः) प्राक्तनैर्धार्मिकैः प्राप्तशिक्षाः, अत्र पूर्वसवर्णादेशः । (अयम्) सभाधिकृतः (उग्रः) दुष्टदलने तेजस्वी (विहव्यः) विविधानि हव्यानि साधनानि यस्य (यथा) (असत्) भवेत् । (उपयामगृहीतः) इत्यादि पूर्ववत् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ६ । ४ । ६ व्याख्यातः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हे विश्वकर्म्मंस्त्वं वर्द्धनेन हविषा यमवध्यमिन्द्रं त्रातारमकृणोस्तस्मै पूर्वीर्विशः समनमन्त यथायमुग्रो विहव्योऽसत् तथा विधेहि । उपयामेत्यस्यान्वयः पूर्ववद्† योजनीयः ॥ ४६ ॥

---

[1] ऐहिकामुष्मिकसुखावाप्तये परमेश्वरो राजा चोपास्यः सेवनीयश्चेति तयोः स्तुतिप्रकारं वर्णयति--

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वर्धनेन) ल्युटि लिति (अ० ६ । १ ।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः ॥

(अकृणोः, अनमन्त) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(पूर्वीः) पृणातेर्वः किंच । प्रत्ययस्वरः । ततो ङीपि उदात्तनिवृत्तिस्वरः ॥

(असत्) यावद्यथाभ्याम् (८ । १ । ३६) इति निघाताभावः । लेटि धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(उग्रः) ऋजेन्द्राग्र० (उ० २ । २९) इति रक्-प्रत्ययान्तो निपात्यते, प्रत्ययस्वरः ॥

(त्रातारम्) चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तः, ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(अवध्यम्) वधं नार्हतीत्यर्थे 'अवध' शब्दाद् छन्दसि च (अ० ५ । १ । ६७) इति यत् । स्वरस्तु छान्दसः ॥

(विहव्यः) विशेषेण होतुं योग्य इति विहव्य इति निर्वचनम् । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे यतोऽनावः (अ० ६ । १ । २१३) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥ 'विविधैः साधनैरादातुमर्हः' इति तु व्युत्पत्तिः, यथा च य० १७ । २४ भाष्ये । बहुव्रीहिपक्षे तु छान्दसत्वात् स्वरसिद्धिः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

() 'भुरिगार्षी' इति अ० मु० अपपाठः ॥

❀ 'लङर्थे लुङ्' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । 'नमन्ते' इत्यत्र कर्मकर्तर्यात्मनेपदम् । 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (अ० ३ । १ । ८९) इति यगभावः ॥

† 'योजनीयः' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥

भावार्थः—अस्मिन् संसारे केचिदपि सर्वजगद्रक्षितारमीश्वरं सभाध्यक्षं च नैव तिरस्कुर्य्युः, किन्तु तदनुमतौ ‡ सर्वे जना वर्त्तेरन्। न प्रजाविरोधेन कश्चिद् राजापि समृध्नोति, न चैतयोराश्रयेण विना प्रजा धर्म्मार्थकाममोक्षसाधकानि कर्म्माणि कर्तुं शक्नुवन्ति, तस्मादेतौ × प्रजाराजानावीश्वरमाश्रित्य परस्परोपकाराय धर्म्मेण वर्त्तेयाताम् ॥ ४६ ॥

अब अगले मन्त्र में राजधर्म का उपदेश किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (विश्वकर्म्मन्) समस्त अच्छे काम करनेवाले जन ! आप (वर्द्धनेन) वृद्धि के निमित्त (हविषा) ग्रहण करने योग्य विज्ञान से जिस (अवध्यम्) बुरे व्यसन और अधर्म्म से रहित [अहिंसनीय] (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य्य देने तथा (त्रातारम्) समस्त प्रजाजनों की रक्षा करनेवाले सभापति को (अकृणोः) ÷ स्वीकार करते हो (तस्मै) उसको (पूर्वीः) प्राचीन धार्मिक जनों ने जिन प्रजाओं को शिक्षा दी हुई है, वे (विशः) प्रजाजन (समनमन्त) अच्छे प्रकार मानें, [(यथा)] जैसे (अयम्) यह सभापति (उग्रः) दुष्टों को दण्ड देने को अच्छे प्रकार चमत्कारी [तेजस्वी] और (विहव्यः) अनेक प्रकार के राज्य साधन पदार्थ अर्थात् शस्त्र आदि रखनेवाला (असत्) हो, वैसे प्रजा भी इस के साथ वर्त्ते, ऐसी युक्ति कीजिये। (उपयामगृहीतः) यहां से लेकर मन्त्र का पूर्वोक्त ही अर्थ जानना चाहिये ॥ ४६ ॥

भावार्थः—इस संसार में मनुष्य सब जगत् की रक्षा करनेवाले ईश्वर तथा सभाध्यक्ष + का तिरस्कार न करें, किन्तु उनकी अनुमति में सब कोई अपना २ वर्त्ताव रक्खें। प्रजा के विरोध से कोई राजा भी अच्छी ऋद्धि को नहीं पहुंचता और ईश्वर वा राजा के [आश्रय के] विना प्रजाजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सिद्ध करनेवाले काम भी नहीं कर सकते, इस से प्रजाजन और राजा ईश्वर का आश्रय कर एक दूसरे के उपकार में धर्म्म के साथ अपना वर्त्ताव रक्खें ॥ ४६ ॥

उपयामगृहीतोऽसीत्यस्य शास ऋषिः। विश्वकर्म्मेन्द्रो देवता।
विराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

पुनः प्रकारान्तरेण तदेवाह[2] ॥

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रछन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः ॥ ४७ ॥

उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः। असि। अग्नये। त्वा। गायत्रछन्दसमिति गायत्रऽछन्दसम्। गृह्णामि। इन्द्राय। त्वा। त्रिष्टुप्छन्दसम्। त्रिस्तुप्छन्दसमिति त्रिस्तुप्ऽछन्दसम्। गृह्णामि। विश्वेभ्यः। त्वा।

[1] इस लोक तथा परलोक में सुखों की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की उपासना और राजा का सेवन करना चाहिये, अतः दोनों की स्तुति कैसे की जावे, सो बतलाते हैं— ॥ ४६ ॥

[2] पूर्वोक्तमेव द्रढयति—

‡ 'सर्वे जना' इति हस्तलेखपाठः ॥ × 'प्रजाराजानौ' इति हस्तलेखपाठः ॥
÷ 'कीजिये कि' इति अ० मु० पाठः ॥ + 'को न भूलें' इति अ० मु० पाठः, स च संस्कृतानुसारीति ध्येयम् ॥

देवेभ्यः । जगच्छन्दसमिति जगत्ऽछन्दसम् । गृह्णामि । अनुष्टुप् । अनुस्तुबित्यनुऽस्तुप् । ते । अभिगर इत्यभिऽगरः ॥ ४७ ॥

पदार्थः—(उपयामगृहीतः) साङ्गोपाङ्गसाधनैः स्वीकृतः {} (असि) (अग्नये) अग्न्यादिपदार्थविज्ञानाय (त्वा) त्वाम् (गायत्रच्छन्दसम्) गायत्रीछन्दोर्थविज्ञापकम् (गृह्णामि) वृणोमि (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यप्राप्तये (त्वा) त्वाम् (त्रिष्टुप्छन्दसम्) त्रिष्टुप्छन्दोऽर्थबोधयितारम् (गृह्णामि) (विश्वेभ्यः) अखिलेभ्यः (त्वा) त्वाम् (देवेभ्यः) दिव्यगुणकर्मस्वभावेभ्यः (जगच्छन्दसम्) जगच्छन्दोऽवगमकम् (गृह्णामि) (अनुष्टुप्) अनुष्टौमते स्तम्भनात्यज्ञानं यः (ते) तव (अभिगरः[1]) अभिगतस्तवः ॥ अयं मन्त्रः शत० ११ । ५ । ९ । ७ व्याख्यातः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—हे विश्वकर्म्मन्नहं यस्य ते तवानुष्टुबभिगरोऽस्ति, तं गायत्रच्छन्दसं त्वाग्नये गृह्णामि, त्रिष्टुप्छन्दसं त्वेन्द्राय गृह्णामि, जगच्छन्दसं त्वा विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णामि । एतदर्थमस्माभिस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि ॥ ४७ ॥

अत्र मन्त्रे पूर्वस्मान्मन्त्राद् विश्वकर्म्मन्निति पदमनुवर्त्तते ॥

भावार्थः—मनुष्यैरग्न्यादिविद्यासाधनक्रियाविज्ञापकानां गायत्र्यादिछन्दोन्वितानामृग्वेदादीनां बोधायाध्यापकः संसेवनीयोऽस्ति, नह्येतेन विना कस्यचिद् विद्याप्राप्तिर्भवितुं शक्या ॥ ४७ ॥

फिर भी प्रकारान्तर से उसी विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (विश्वकर्म्मन्) अच्छे २ कर्म्म करनेवाले जन ! मैं जो (ते) आप का (अनुष्टुप्) अज्ञान का छुड़ानेवाला (अभिगरः) सब प्रकार से विख्यात प्रशंसा वाक्य है, उन [(गायत्रछन्दसम्)] अग्नि आदि पदार्थों के गुण कहने वाले गायत्री छन्दयुक्त वेदमन्त्रों के अर्थ के जाननेवाले (त्वा) आप को (अग्नये) अग्नि आदि पदार्थों के गुण जानने के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ, वा (त्रिष्टुप्छन्दसम्) परम ऐश्वर्य देनेवाले त्रिष्टुप् छन्दयुक्त वेदमन्त्रों का अर्थ [बोधन] करानेहारे (त्वा) आप को (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ । (जगच्छन्दसम्) समस्त जगत् के दिव्य २ गुण कर्म्म और स्वभाव के बोधक वेदमन्त्रों का अर्थ विज्ञान करानेवाले (त्वा) आप को (विश्वेभ्यः) समस्त (देवेभ्यः) अच्छे २ गुण कर्म्म और स्वभावों के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ, (उपयामगृहीतः) उक्त सब काम के लिये हम लोगों ने आप को सब प्रकार स्वीकार कर रक्खा (असि) है ॥ ४७ ॥

इस मन्त्र में पिछले मन्त्र से (विश्वकर्म्मन्) इस पद की अनुवृत्ति आती है ॥

---

१ गृणातीति गरः पचाद्यच् । गतिसमासे कृत्स्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

२ पूर्वोक्त विषय को ही दृढ़ करते हैं— ॥४७॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गायत्रछन्दसम्, त्रिष्टुप्छन्दसम्, जगच्छन्दसम्) सर्वत्र बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । तत्र गायत्रं गायते स्तुतिकर्मणः (निरु० १ । ३ ।) इति यास्कवचनात् 'गै शब्दे' इत्यस्मात् अत्रच् प्रत्ययः चित्त्वादन्तोदात्तः । त्रिष्टुप् इत्यत्र गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । जगत् क्विपि द्विर्वचने (अ० ३ । २ । १७८ भा० वा०) अनुदात्ते च (अ० ६ । १ । १९०) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

{} '(असि)' इति हस्तलेखपाठोऽजमेरमुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अग्नि आदि पदार्थविद्या के साधन × तथा क्रियाओं का उत्तम बोध करानेवाले गायत्री आदि छन्दयुक्त ऋग्वेदादि वेदों के बोध होने के लिये उत्तम पढ़ाने वाले का सेवन करें, क्योंकि उत्तम पढ़ानेवाले के बिना किसी को विद्या नहीं प्राप्त हो सकती ॥ ४७ ॥

त्रेशीनां त्वेत्यस्य देवा ऋषयः । प्रजापतयो देवताः । [आद्यस्य] ❀ आसुरी त्रिष्टुप्, कुक्कूननानामित्यस्य याजुषी जगती, भन्दनानामित्यस्य [याजुषी त्रिष्टुप्], मदिन्तमानामित्यस्य मधुन्तमानामित्यस्य च ‡ याजुषी जगती, शुक्रं त्वेत्यस्य साम्नी बृहती छन्दांसि । तेषु त्रिष्टुभो धैवतः, जगत्या निषादः, बृहत्या मध्यमश्च स्वराः ॥

अथ गार्हस्थ्यकर्म्मणि पत्नी पतिमुपदिशति[1] ॥

त्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि कुक्कूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि
भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि
मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि शुक्रं त्वा शुक्र ऽ आधूनोम्यह्नो
रूपे सूर्यस्य रश्मिषु ॥ ४८ ॥

† त्रेशीनाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । ✿कुक्कूननानाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । भन्दनानाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । मदिन्तमानामिति मदिन् ऽतमानाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । मधुन्तमानामिति मधुन् ऽतमानाम् । त्वा । पत्मन् । आ । धूनोमि । शुक्रम् । त्वा । शुक्रे । आ । धूनोमि । अह्नः । रूपे । सूर्यस्य । रश्मिषु ॥ ४८ ॥

---

१ दुराचारिणो राज्ञः सभापतीन् वा तेषां पत्न्यः कथमुपदिशेयुरित्याह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(त्रेशीनाम्) वृषादित्वादाद्युदात्तः । सिद्धिस्तु बाहुलकाच्छान्दसत्वाद्वेति ध्येयम् ॥

(पत्मन्) 'पत्लृ गतौ' इत्यस्माद् सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४ । १४५) इति मनिन् । छान्दसत्वादाष्टमिको निघातो न भवति ॥

(कुक्कूननानाम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादुत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(धूनोमि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(भन्दनानाम्) कॄपॄवृजिमन्दि० (उ० २ । ८१) इति बाहुलकात् क्युः । अनादेशे प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(मदिन्तमानाम्) नाद् घस्य (अ० ८ । २ । १७) इति नुडागमः । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (अ० ८ । २ । ७) इति नलोपः । प्रत्ययस्वरः ॥

यत्तूवटः—'नाद् घस्येति नुमागमः' इत्याह, तदयुक्तम् । नुडित्यनुवर्त्तनात् । यथा तु पदपाठस्तथा 'नुक्' भवति । अत्र महाभाष्यं ८ । २ । १६ द्रष्टव्यम् ॥

(मधुन्तमानाम्) मधुशब्द आद्युदात्तोऽन्यत्र (य० १ । २१ पृ० १०७) । इह तु व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् । वस्तुतः 'मधुन्' प्रातिपदिकं

× 'साधन करानेवाली क्रियाओं' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
‡ 'याजुषी त्रिष्टुप्' इति अ० मु० अपपाठः ॥
✿ 'कुक्कूननानाम्' इति अ० मु० अपपाठः ॥
❀ 'याजुषी त्रिष्टुप्' इति अ० मु० अपपाठः ॥
† 'त्रेशीनाम्' इति अ० मु० पवर्गीयोऽपपाठः ॥

पदार्थः—(त्रेशीनाम्) दिव्यानामपामिव निर्मलविद्यासुशीलव्याप्तानाम्, एता वै दैवीरापस्त-याश्चैव दैवीरापो याश्चेमा मानुष्यस्ताभिरेवास्मिन्नेतदुभयीमी रसं दधाति। शत० ११।५।६।८ (त्वा) त्वाम् (पत्मन्) धर्मात् पतनशील ! (आ) (धूनोमि) समन्तात् कम्पयामि, अत्रान्तर्गतो णिच्। (कुक्रूननानाम्) भृशं शब्दविद्यया नम्राणाम्, कुङ् शब्दे इत्यस्माद्यङि गुणाभावेऽभ्यस्ततः [क्विबन्तात्] कुक्रूपदान्नम-धातोरौणादिको नक् प्रत्ययश्च, ततः षष्ठीबहुवचनम् (त्वा) (पत्मन्) (आ) (धूनोमि) (भन्दनानाम्) कल्याणाचरणानाम् (त्वा) (पत्मन्) (आ) (धूनोमि) (मदिन्तमानाम्) अतिशयितानन्दितानां परस्त्रीणां समीपे (त्वा) (पत्मन्) चञ्चलचेतः ! (आ) (धूनोमि) (मधुन्तमानाम्) अतिशयेन माधुर्यगुणोपेतानाम्, + वा छन्दसि [सर्वे विधयो भवन्ति। अ० १।४।९ भा०] इति नुडागमः। (त्वा) (पत्मन्) (आ) (धूनोमि) (शुक्रम्) शुद्धं वीर्यवन्तम् (त्वा) (शुक्रे) (आ) (धूनोमि) (अह्नः) दिनस्य (रूपे) (सूर्यस्य) (रश्मिषु) ॥ अयं मन्त्रः शत० ११।५।९।८-९ व्याख्यातः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—हे पत्मन् त्रेशीनामपामिव वर्तमानानां पत्नीनां मध्ये व्यभिचारेण वर्तमानं त्वाऽह-माधूनोमि। हे पत्मन् कुक्रूननानां समीपे मौर्ख्येण वर्तमानं त्वाहमाधूनोमि। हे पत्मन् मन्दनानां सन्निधावधर्मचा-रित्वेन प्रवृत्तं त्वाहमाधूनोमि। हे पत्मन् मदिन्तमानां सनीडे दुःखदायित्वेन चरन्तं त्वाहमाधूनोमि। हे पत्मन् मधुन्तमानां समर्यादं[1] कुचारिणं त्वाहमाधूनोमि। हे पत्मन्नह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु च गृहे संगतिमभीप्सुं शुक्रं त्वा शुक्रे आधूनोमि ॥ ४८ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा सूर्यस्य रश्मीन् प्राप्य जगत्पदार्थाः शुद्धा जायन्ते, तथैव दुराचारी सुशिक्षां [स्त्रीभ्यः सत्योपदेशं] दण्डं च प्राप्य पवित्रो भवति, गृहस्थैरत्यन्तदुष्टो व्यभिचारव्यवहारः सदैव निवर्त-नीयः, कुतोऽस्य शरीरात्मबलनाशकत्वेन धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रतिबन्धकत्वात् ॥ ४८ ॥

अब गार्हस्थ्य कर्म में पत्नी अपने पति को उपदेश देती है, यह अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (पत्मन्) धर्म्म में न चित्त देनेवाले पते ! (त्रेशीनाम्) जलों के समान निर्म्मल विद्या और सुशीलता में व्याप्त जो पराई पत्नियां हैं उनमें व्यभिचार से वर्त्तमान (त्वा) तुमको मैं वहां से (आधूनोमि) अच्छे प्रकार डिगाती हूँ। हे (पत्मन्) अधर्म्म में चित्त देनेवाले पते ! (कुक्रूननानाम्) निरन्तर शब्द विद्या से नम्रीभाव को प्राप्त हो रही हुई औरों की पत्नियों के समीप मूर्खपन से जानेवाले (त्वा) तुमको मैं (आ) (धूनोमि) वहां से अच्छे प्रकार छुड़ाती हूँ। हे (पत्मन्) कुचाल में चित्त देनेवाले पते ! (भन्दनानाम्) अच्छे कल्याण का आचरण करती हुई परपत्नियों के समीप अधर्म से जानेवाले (त्वा) तुझको वहां से मैं (आ) अच्छे प्रकार (धूनोमि) पृथक् करती हूँ। हे (पत्मन्) चंचल चित्तवाले पते ! (मदिन्तमानाम्) अत्यन्त आनन्दित

'उनि' प्रत्ययान्तं, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तम्, यथा 'मदिन्' इनिप्रत्ययान्तम् ॥

(अह्नः) नञि जहातेः (उ० १। १४६ नारा०) इति कनिनि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते दासीभारा-दित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणोदात्तः 'अहन्' शब्दः। ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

[1] समीपमित्यर्थः। 'समर्यादं समीपमि'ति कोशः ॥

[2] दुराचारी राजाओं वा सभापतियों को उनकी धर्म-पत्नियां कैसे उपदेश करें, यह बतलाते हैं—॥४८॥

+ 'वा छन्दसि प्राप्ते नुडागमः' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

परपत्नियों के समीप उनको दुःख देते हुए (त्वा) तुमको मैं वहां से (आ) बार २ (धूनोमि) कंपाती हूं । हे (पत्मन्) कठोरचित्त पते ! (मधुन्तमानाम्) अतिशय करके मीठी २ बोलियां बोलनेवाली परपत्नियों के निकट कुचाल से जाते हुए (त्वा) तुमको मैं (आ) अच्छे प्रकार (धूनोमि) हटाती हूँ । हे अविद्या में रमण करनेवाले ! (अह्नः) दिन के (रूपे) रूप में अर्थात् (सूर्यस्य) सूर्य की [(रश्मिषु)] फैली हुई किरणों के समय में घर में संगति की चाह करते हुए (शुक्रम्) शुद्ध वीर्यवाले (त्वा) तुमको (शुक्रे) वीर्य के हेतु (आ) भले प्रकार (धूनोमि) छुड़ाती हूँ ॥ ४८ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे सूर्य्य की किरणों को प्राप्त होकर संसार के पदार्थ शुद्ध होते हैं, वैसे ही दुराचारी पुरुष अच्छी शिक्षा और स्त्रियों के सत्य उपदेश और दण्ड को पाकर पवित्र होते हैं, गृहस्थों को चाहिये कि अत्यन्त दुःख देने और कुल को भ्रष्ट करनेवाले व्यभिचार कर्म्म से सदा दूर रहें, क्योंकि इससे शरीर और आत्मा के बल का नाश होने से धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं होती ॥ ४८ ॥

ककुभमित्यस्य देवा ऋषयः । विश्वेदेवा प्रजापतयो देवताः । विराट् प्राजापत्या जगती छन्दः । ※ निषादः स्वरः ॥ यत्ते सोमेत्यस्य † निचृदार्ष्युष्णिक् छन्दः । ‡ ऋषभः स्वरः ॥

अथ गृहस्थान् राजपक्षे पुनरुपदिशति[1] ॥

ककुभꣳ रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः । यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ॥ ४९ ॥

ककुभम् । रूपम् । वृषभस्य । रोचते । बृहत् । शुक्रः । शुक्रस्य । पुरोगा इति पुरःऽगाः । सोमः । सोमस्य । पुरोगा इति पुरःऽगाः ॥ यत् । ते । सोम । अदाभ्यम् । नाम । जागृवि । तस्मै । त्वा । गृह्णामि । तस्मै । ते । सोम । सोमाय । स्वाहा ॥ ४९ ॥

पदार्थः—(ककुभम्) दिग्वच्छुद्धम् (रूपम्) (वृषभस्य[2]) सुखाभिवर्षकस्य सभापतेः (रोचते) प्रकाशते (बृहत्) (शुक्रः[3]) शुद्धः (शुक्रस्य) शुद्धस्य धर्म्मस्य (पुरोगाः) पुरःसराः (सोमः) सोमगुणसम्पन्नः (सोमस्य) ऐश्वर्य्यगुणयुक्तस्य गृहाश्रमस्य (पुरोगाः) पुरोगामिनः (यत्)

१ कथम्भूतो राजा राज्यकर्मणि स्वीकर्तव्य इत्याह—

२ वृषभ इति। एष (आदित्यः) ह्येवासां प्रजानामृषभः ॥ जै० उ० १ । २९ । ८ ॥

३ सत्यं वै शुक्रम् ॥ श० ३ । ९ । ३ । २५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ककुभम्) ककुभ इति दिङ्नाम (निघ० १ । ६), ततो मत्वर्थीयोऽच् , चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(वृषभस्य) य० ४ । ३० पृ० ४०८ व्याख्यातः ॥

(रोचते) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(पुरोगाः) कृत्स्वरः ॥

(अदाभ्यम्) पूर्वं यजुः ३ । १८ व्याख्यातः । तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् ॥

(जागृवि) पूर्वं (यजुः ७ । ३) व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

※ 'मध्यमः स्वरः' इति हस्तलेखेष्वपपाठः ॥ † 'भुरिगार्ष्युष्णिक्' इति अ० मु० अपपाठः ॥
‡ 'धैवतः स्वरः' इति अ० मु० अपपाठः । हस्तलेखेषु 'ऋषभः स्वरः' इत्येव दर्शनात् ॥

यस्य (ते) तव (सोम) प्राप्तैश्वर्य्य विद्वन् ! (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम् (नाम) ख्यातिः (जागृवि) जागरूकम् (तस्मै) (त्वा) त्वाम् (गृह्णामि) (तस्मै) (ते) तुभ्यम् (सोम) सत्कर्म्मसु प्रेरक (सोमाय) शुभकर्म्मसु प्रवृत्ताय (स्वाहा) सत्या वाक् ॥ अयं मन्त्रः शत० ११ । ५ । ९ । १०-११ व्याख्यातः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—हे सोम यद्यस्य वृषभस्य बृहत्ककुभं रूपं रोचते, स त्वं शुक्रस्य पुरोगाः शुक्रः सोमस्य पुरोगाः सोमो भव । यत्ते तवादाभ्यन्नाम जागृव्यस्ति तस्मै नाम्ने त्वा गृह्णामि । हे सोम तस्मै सोमाय ते तुभ्यं स्वाहाऽस्तु ॥ ४९ ॥

भावार्थः—सभाप्रजाजनैर्यस्य पुण्या प्रशंसा सौन्दर्य्यगुणयुक्तं रूपं विद्या न्यायो विनयः शौर्य्यं तेजः पक्षराहित्यं सुहृत्त्वोत्साह आरोग्यं बलं पराक्रमो धैर्य्यं जितेन्द्रियता वेदादिशास्त्रे श्रद्धा प्रजापालनप्रियत्वं च वर्त्तते, स एव सभाधिपती राजा मन्तव्यः ॥ ४९ ॥

अब फिर गृहस्थों को राजपक्ष में उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (सोम) ऐश्वर्य्य को प्राप्त हुए विद्वन् ! जिस (वृषभस्य) सब सुखों के वर्षानेवाले आपका (ककुभम्) दिशाओं के समान शुद्ध (बृहत्) बड़ा (रूपम्) सुन्दर स्वरूप (रोचते) प्रकाशमान होता है, सो आप (शुक्रस्य) शुद्ध धर्म के (पुरोगाः) अग्रगामी वा (शुक्रः) शुद्ध (सोमस्य) अत्यन्त ऐश्वर्य्य के (पुरोगाः) अग्रगन्ता (सोमः) सोमगुणसम्पन्न ऐश्वर्य्ययुक्त हूजिये । [(यत्)] जिस ❀ [(ते)] आपका (अदाभ्यम्) प्रशंसा करनेयोग्य (नाम) नाम (जागृवि) जाग रहा है (तस्मै) उसी के लिये (त्वा) आपको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ और हे (सोम) उत्तम कामों में प्रेरक (तस्मै) उन (सोमाय) श्रेष्ठ कामों में प्रवृत्त हुए (ते) आपके लिये (स्वाहा) सत्य वाणी प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

भावार्थः—सभाजन और प्रजाजनों को चाहिये कि जिसकी पुण्य प्रशंसा सुन्दर रूप विद्या न्याय विनय शूरता तेज अपक्षपात मित्रता सब कामों में उत्साह आरोग्य बल पराक्रम धीरज जितेन्द्रियता वेदादि शास्त्रों में श्रद्धा और प्रजापालन में प्रीति हो, उसी को सभा का अधिपति राजा मानें ॥ ४९ ॥

उशिक् त्वमित्यस्य देवा ऋषयः । प्रजापतयो देवताः । †भुरिगार्षी जगती छन्दः । ‡निषादः स्वरः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण राजविषयमाह[2] ॥

उशिक् त्वं दे॑व सोमा॒ग्नेः प्रि॒यं पाथोऽपी॑हि व॒शी त्वं दे॑व सो॒मेन्द्र॑स्य प्रि॒यं पाथोऽपी॑हि॒ऽस्मत्स॑खा॒ त्वं दे॑व सोम॒ विश्वे॑षां दे॒वानां॑ प्रि॒यं पाथोऽपी॑हि ॥ ५० ॥

---

१ राज्यकर्म में किन २ गुणों से युक्त राजा को स्वीकार करना चाहिये, यह दर्शाते हैं— ॥ ४९ ॥ २ पूर्वोक्तमेवोपोद्बलयन्नाह—

❀ अत्र 'जिससे आपका' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥ † 'स्वराडार्षी' इति अ० मु० अपपाठः ॥
‡ 'मध्यमः स्वरः' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥

उशिक् । त्वम् । देव । सोम । अग्नेः । प्रियम् । पार्थः । अपि । इहि । वशी । त्वम् । देव । सोम । इन्द्रस्य । प्रियम् । पार्थः । अपि । इहि । अस्मत्सखेत्यस्मत्ऽसखा । त्वम् । देव । सोम । विश्वेषाम् । देवानाम् । प्रियम् । पार्थः । अपि । इहि ॥ ५० ॥

पदार्थः—(उशिक्[1]) कामयमानः (त्वम्) (देव) दिव्यगुणसम्पन्न (सोम) सकलैश्वर्याढ्य (अग्नेः) सद्विदुषः (प्रियम्) प्रीतिजनकम् (पाथः) रक्षणीयमाचरणम्, पाथ इति पदनामसु पठितम्, निघ० ४ । ३ (अपि) निश्चयार्थे (इहि) प्राप्नुहि जानीहि वा (वशी) जितेन्द्रियः (त्वम्) (देव) दातः (सोम) ऐश्वर्य्योन्नतौ प्रेरक (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य धार्मिकस्य राज्ञः (प्रियम्) सुखैस्तर्पकम् (पाथः[2]) ज्ञातव्यं कर्म्म (अपि) (इहि) (अस्मत्सखा) वयं सखायो यस्य सः (त्वम्) (देव) विद्यासु द्योतमान (सोम) विद्यैश्वर्य्यसहित (विश्वेषाम्) सर्वेषाम् (देवानाम्) धार्म्मिकाणामाप्तानां विदुषाम् (प्रियम्) कमनीयम् (पाथः) विज्ञानाचरणम् (अपि) (इहि) ॥ अयं मन्त्रः शत० ११ । ५ । ९ । १२ व्याख्यातः ॥ ५० ॥

अन्वयः—हे देव सोम राजन् ! त्वमुशिग्भवन्नग्नेः प्रियम्पाथोऽपीहि । हे देव सोम ! त्वं वशी भूत्वेन्द्रस्य प्रियम्पाथोऽपीहि । हे देव सोम ! त्वमस्मत्सखा विश्वेषां देवानां प्रियं पाथोऽपीहि ॥ ५० ॥

भावार्थः—राज्ञो राजपुरुषाणां सभ्यानां चोचितमस्ति (यत्ते) पुरुषार्थेन संयमेन मित्रतया धार्म्मिकाणां वेदपारगाणां मार्गे गच्छेयुर्नहि सत्पुरुषसंगानुकरणाभ्यां विना कश्चिद् विद्यां धर्म्मं सार्वजनिकप्रियतामैश्वर्य्यं च प्राप्तुं शक्नोति ॥ ५० ॥

फिर प्रकारान्तर से राजविषय को अगले मन्त्र में कहा है[3] ।

पदार्थः—हे (देव) दिव्य गुण सम्पन्न (सोम) समस्त ऐश्वर्य्य युक्त राजन् ! [(त्वम्)] आप (उशिक्) अतिमनोहर होके (अग्नेः) उत्तम विद्वान् के (प्रियम्) प्रेम उत्पन्न करानेवाले (पाथः) रक्षा योग्य व्यवहार को (अपि) निश्चय से (इहि) + प्राप्त करो और जानो, हे (देव) दानशील (सोम) हर एक प्रकार से ऐश्वर्य्य की उन्नति करानेवाले ! [(त्वम्)] आप (वशी) जितेन्द्रिय होकर (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यवाले धार्मिक जन के (प्रियम्) प्रेम उत्पन्न करानेवाले (पाथः) जानने योग्य कर्म को (अपि) निश्चय से (इहि) + प्राप्त करो और जानो । हे (देव) समस्त विद्याओं में प्रकाशमान (सोम) ऐश्वर्य युक्त ! [(त्वम्)] आप (अस्मत्सखा) हम लोग जिनके मित्र हैं, ऐसे आप होकर (विश्वेषाम्) समस्त (देवानाम्) विद्वानों के [(प्रियम्)] प्रेम उत्पन्न करानेहारे (पाथः) विज्ञान के आचरण को (अपि) निश्चय से (इहि) ‡ प्राप्त हो तथा जानो ॥ ५० ॥

---

१ पूर्वं य० ५ । ३२ पृ० ४८६ व्याख्यातः ॥

२ पूर्वं य० २ । १७ भाष्ये पृ० १९७ व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वशी) प्रत्ययस्वरः ॥

(अस्मत्सखा) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ अस्मच्छब्दो मदिक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ पूर्वोक्त विषय का ही निरूपण करते हैं— ॥५०॥

+ 'प्राप्त करो' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥

‡ 'प्राप्त हो तथा' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥

भावार्थः—राजा राजपुरुष सभासद् तथा अन्य सब सज्जनों को उचित है कि पुरुषार्थ * संयम और मित्रभाव से धार्म्मिक वेद के पारगन्ता विद्वानों के मार्ग पर चलें, क्योंकि † सज्जनों के सङ्ग और उनके तुल्य आचरण किये विना कोई विद्या धर्म्म सब से प्रीतिभाव और ऐश्वर्य्य को नहीं पा सकता है ॥ ५० ॥

इह रतिरित्यस्य देवा ऋषयः। प्रजापतयो गृहस्था देवताः। [भुरिग्] आर्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

अथ गार्हस्थ्यविषये विशेषमाह[1] ॥

इह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा।
उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा ॥ ५१ ॥

इह। रतिः। इह। रमध्वम्। इह। धृतिः। इह। स्वधृतिरिति स्वऽधृतिः। स्वाहा ॥ उपसृजन्नित्युपऽसृजन्। धरुणम्। मात्रे। धरुणः। मातरम्। धयन् ॥ रायः। पोषम्। अस्मासु। दीधरत्। स्वाहा ॥ ५१ ॥

पदार्थः—(इह) अस्मिन् गृहाश्रमे (रतिः) रमणम् (इह) (रमध्वम्) (इह) (धृतिः) सर्वेषां व्यवहाराणां धारणा (इह) (स्वधृतिः) स्वेषां पदार्थानां धारणम् (स्वाहा) सत्या वाक्, क्रिया वा (उपसृजन्) समीपं प्रापयन्निव (धरुणम्) धर्त्तव्यं पुत्रम् (मात्रे) मान्यकर्त्र्यै (धरुणः) धर्त्ता (मातरम्) मान्यप्रदाम् (धयन्) तस्याः पयः पिबन् (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष्टिम् (अस्मासु) (दीधरत्) धारय, अत्र लोडर्थे लुङडभावश्च। (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ४। ६। ९। ८–९ व्याख्यातः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—हे गृहस्था युष्माकमिह रतिरिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा चास्तु। यूयमिह रमध्वम्। हे गृहिँस्त्वमपत्यस्य मात्रेयं धरुणं गर्भमुपसृजन् स्वगृहे रमस्व, स धरुणो मातरं धयन्निवास्मासु रायस्पोषं स्वाहा दीधरत् ॥ ५१ ॥

१ गृहाश्रमस्य फलं निरूपयन्नाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(रतिः) नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(धृतिः) क्तिनि नित्स्वरेणाद्युदात्तः ॥

(स्वधृतिः) समासस्य (अ० ६। १। २२३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(उपसृजन्) 'सृजन्' इत्यत्र शतरि शः। अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरेण 'ज' उदात्तः। समासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे स एव स्वरः ॥

(धरुणम्) धारेर्णिलुक् च (उ० ३। ५९ श्वे० वृ०) इति 'उनन्' प्रत्ययो णिलुक् च। नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते बाहुलकात् प्रत्ययस्वरः। तथा चाह नारायणः—अस्य नित्त्वं चित्त्वं च विना प्रत्ययस्वर एव दृष्टः (नारा० उ० वृ० पृ० ६९) ॥

(धयन्) शतुर्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे शपः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(दीधरत्) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

* 'अच्छे २ नियम' इति अ० मु० पाठः ॥ † 'सज्जनों के संग और' इति हस्तलेखपाठः ॥

भावार्थः—यावद् राजादयः सभ्याः प्रजाजनाश्च सत्ये धैर्ये, सत्येनोपार्जितेषु पदार्थेषु, धर्म्मे व्यवहारे च न वर्त्तन्ते, तावत् प्रजासुखं राज्यसुखं च प्राप्तुं न शक्नुवन्ति। यावद् राजपुरुषः प्रजापुरुषाश्च पितृपुत्रवत् परस्परं प्रीत्युपकारं[1] न कुर्वन्ति, तावत् ॐ सततं सुखं न जायते ॥ ५१ ॥

अब गार्हस्थ्य धर्म में विशेष उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे गृहस्थो ! तुम लोगों की (इह) इस गृहाश्रम में (रतिः) प्रीति (इह) इस में (धृतिः) सब व्यवहारों की धारणा (इह) इसी में (स्वधृतिः) अपने पदार्थों की धारणा (स्वाहा) † तथा तुम्हारी सत्यवाणी और सत्यक्रिया हो। तुम (इह) इस गृहाश्रम में (रमध्वम्) रमण करो। हे गृहाश्रमस्थ पुरुष ! तू सन्तानों की माता जो कि तेरी विवाहित स्त्री है, उस (मात्रे) पुत्र का मान करनेवाली के लिये (धरुणम्) सब प्रकार से धारण पोषण करने [जिस] योग्य गर्भ को (उपसृजन्)‡ उत्पन्न करता हुवा अपने घर में रमण कर और वह (धरुणः) उक्त गुणवाला पुत्र (मातरम्) उस अपनी माता का [जैसे] (धयन्) दूध पीवे, वैसे (अस्मासु) हम लोगों के निमित्त (रायः) धन की (पोषम्) समृद्धि को (स्वाहा) सत्यभाव से (दीधरत्) उत्पन्न कीजिये ॥ ५१ ॥

भावार्थः—जबतक राजा आदि सभ्यजन वा प्रजाजन सत्य धैर्य वा सत्य से जोड़े हुए पदार्थ वा सत्यव्यवहार में अपना वर्त्ताव न रक्खें, तबतक प्रजा और राज्य के सुख नहीं पा सकते और जबतक राजपुरुष तथा प्रजापुरुष पिता और पुत्र के तुल्य परस्पर प्रीति और उपकार नहीं करते, तबतक निरन्तर सुख भी प्राप्त नहीं हो सकता ॥५१॥

सत्रस्येत्यस्य देवा ऋषयः। प्रजापतिर्देवता। + निचृदार्षी बृहती छन्दः। मध्यमः स्वरः ॥

पुनरपि गृहस्थविषये विशेषमाह[3] ॥

सत्रस्य ऽ ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता ऽ अभूम।
दिवं पृथिव्या ऽ अध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः ॥ ५२ ॥

---

१ सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति इति एकवचनम् ॥
२ गृहाश्रम के फल का निरूपण करते हैं—॥ ५१ ॥

---

३ सर्वमेतद् राज्ञः साधुत्व एव नान्यथेत्युपदिशति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सत्रस्य) गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः (उ० ४। १६७) इति 'त्र' प्रत्ययः, प्रत्ययस्वरः ॥

(अगन्म) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति अतिङः पर्युदासात् निघातत्वं न प्रवर्तते। तदभावे ऽड्स्वरः ॥

(ऋद्धिः) नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अरुहाम) तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः। अत्र लङि विकरणव्यत्ययो द्रष्टव्यः। लुङि तु कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि (अ० ३। १। ५९) इत्यङि सिद्धमेवेति ध्येयम् ॥

(अविदाम) पादादित्वान्निघाताभावस्ततोऽड्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

ॐ 'तावत् सुखं क' इति अ० मुद्रिते पाठः। 'सततं सुखं न जायते' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥
† 'तथा तुम्हारी' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥ ‡ इतोऽग्रे 'उत्पन्न कर और वह' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
+ 'भुरिगार्षी' इति अ० मु० पाठः ॥

सुत्रस्यं । ऋद्धिः । असि । अगन्म । ज्योतिः । अमृताः ॥ अभूम ॥ दिवम् । पृथिव्याः । अधि । आ । अरुहाम । अविदाम । देवान् । स्वः । ज्योतिः ॥ ५२ ॥

पदार्थः—(सत्रस्य) संगतस्य राजप्रजाव्यवहाररूपस्य यज्ञस्य (ऋद्धिः) सम्यग् वृद्धिः (असि) (अगन्म) प्राप्नुयाम (ज्योतिः) विज्ञानप्रकाशम् (अमृताः) प्राप्तमोक्षाः (अभूम) भवेम, अत्रोभयत्र लिङर्थे लुङ् । (दिवम्) सूर्यादिम् (पृथिव्याः) भूम्यादेश्च जगतः (अधि) उपर्य्युत्कृष्टभावे (आ) समन्तात् (अरुहाम) प्रादुर्भवेम, अत्र विकरणव्यत्ययः । (अविदाम) विन्देमहि (देवान्) विदुषो दिव्यान् भोगान् वा (स्वः) सुखम् (ज्योतिः) विज्ञानविषयम् ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ६ । ९ । ११-१२ व्याख्यातः । ५२ ॥

अन्वयः—हे विद्वँस्त्वं सत्रस्य ऋद्धिरसि त्वत्सङ्गेन वयं ज्योतिरगन्म, अमृता अभूम, दिवं पृथिव्या अध्यारुहाम, देवाञ्ज्योतिः स्वश्चाऽऽविदाम ॥ ५२ ॥

भावार्थः—यावत् सर्वेषां रक्षको धार्म्मिको राजाऽऽप्तो विद्वांश्च न भवेत्, तावत् कश्चिन्निर्विघ्नं() विद्यामोक्षानुष्ठानं कृत्वा तत्सुखं प्राप्तुन्नार्हति, न च मोक्षसुखादधिकतरं किञ्चित् सुखमस्ति ॥ ५२ ॥

फिर भी गृहस्थों के विषय में उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वन् ! आप (सत्रस्य) प्राप्त हुए राजप्रजा व्यवहाररूप यज्ञ के (ऋद्धिः) समृद्धिरूप (असि) हैं, आप के संग से हम लोग (ज्योतिः) विज्ञान के प्रकाश को (अगन्म) प्राप्त होवें और (अमृताः) मोक्ष पाने के योग्य (अभूम) हों, (दिवम्) सूर्यादि (पृथिव्याः) पृथिवी आदि लोकों के (अधि) बीच ([आ] अरुहाम) पूर्ण वृद्धि को पहुंचें, (देवान्) विद्वानों वा दिव्य २ भोगों (ज्योतिः) विज्ञान विषय और (स्वः) अत्यन्त सुख को (अविदाम) प्राप्त होवें ॥ ५२ ॥

भावार्थः—जब तक सब की रक्षा करनेवाला धार्मिक राजा वा आप्त विद्वान् न हो, तब तक कोई भी मनुष्य विद्या और मोक्ष के साधनों❀ का अनुष्ठान करके निर्विघ्नता से उनके सुख पाने के योग्य नहीं हो सकता और न मोक्ष सुख से अधिक कोई सुख है ॥ ५२ ॥

युत्रमित्यस्य देवा ऋषयः । गृहपतयो देवताः । पूर्वस्यार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥
दूरे चेत्यस्यासुर्य्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥ अस्माकमित्यस्य प्राजापत्या
बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥ भूर्भुवरित्यस्य विराट्प्राजापत्या
पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

---

१ यह सब कुछ राजा के उत्तम होने पर ही होना सम्भव है, अन्यथा नहीं, यह कहते हैं—॥ ५२ ॥

() 'निर्विघ्नो' इति हस्तलेखपाठः ॥
❀ ' साधनों को निर्विघ्नता से पाने के योग्य कोई भी मनुष्य नहीं होता और' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

पुनस्तमेव विषयमाह[1] ॥

युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं वज्रेण तंतमिद्धतम् ।
दूरे चत्ताय छन्त्सद्गहनं यदिनक्षत् ।
अस्माकꣳ शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः ।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः ॥ ५३ ॥

युवम् । तम् । इन्द्रापर्वता । पुरोयुधेति पुरःऽयुधा । यः । नः । पृतन्यात् । अप । तन्तमिति तम्ऽतम् । इत् । हतम् । वज्रेण । तन्तमिति तम्ऽतम् । इत् । हतम् ॥ दूरे । चत्ताय । छन्त्सत् । गहनम् । यत् । इनक्षत् ॥ अस्माकम् । शत्रून् । परि । शूर । विश्वतः । दर्मा । दर्षीष्ट । विश्वतः ॥ भूरिति भूः । भुवरिति भुवः । स्वरिति स्वः । सुप्रजा इति सुऽप्रजाः । प्रजाभिः । स्याम । सुवीरा इति सुऽवीराः । वीरैः । सुपोषा इति सुऽपोषाः । पोषैः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(युवम्) युवाम् (तम्) (इन्द्रापर्वता) सूर्यमेघसदृशौ सेनापतिसेनाजनौ, अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इत्याकारः (पुरोयुधा) पूर्वं युध्येते तौ (यः) (नः) अस्माकम् (पृतन्यात्) पृतनां सेनामिच्छेत् (अप) (तन्तम्) शत्रुम् (इत्) एव (हतम्) हन्याताम् (वज्रेण) शस्त्रास्त्रविद्याबलेन (तन्तम्) (इत्) एव (हतम्) विनश्यतम् (दूरे) (चत्ताय) आह्लादाय (छन्त्सत्) ऊर्जेत् (गहनम्) कठिनं सैन्यम् (यत्) (इनक्षत्) व्याप्नुयात् ※इनक्षतीति [2]व्याप्तिकर्मसु पठितम् । निघ० २ । १८ । [इकारोपजनश्छान्दसः] (अस्माकम्) (शत्रून्) (परि) सर्वतः (शूर) शृणाति शत्रून् तत्सम्बुद्धौ (विश्वतः) सर्वतः (दर्मा) शत्रुविदारयिता (दर्षीष्ट) विदारय (विश्वतः) (भूः) भूमौ (भुवः) अन्तरिक्षे (स्वः) सुखे (सुप्रजाः) प्रशस्तसन्तानाः (प्रजाभिः) (स्याम) (सुवीराः) बहुश्रेष्ठवीरयुक्ताः (वीरैः) उत्तमबलयुक्तैः पुरुषैः (सुपोषाः) अनुत्तमपुष्टयः (पोषैः) पुष्टिभिः ॥ अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ११ । १४ व्याख्यातः ॥ ५३ ॥

अन्वयः[3]—हे पुरोयुधेन्द्रापर्वता युवं यो यो नः पृतन्यात् तन्तं वज्रेणेदपहतम् । ‡यद्गहनं शत्रुदलमस्माकं सैन्यमिनक्षत् । यच्च छन्त्सत् तन्तं चत्तायानन्दायेद्धतं दूरे प्रापयतम् । हे शूर सभापते दर्मा त्वमस्माकं शत्रून् विश्वतः परि दर्षीष्ट, यतो वयं [भूर्भुवः स्वः] प्रजाभिः सुप्रजा वीरैः सुवीराः पोषैस्सुपोषा विश्वतः स्याम ॥ ५३ ॥

१ तदेव द्रढयति—

२ अत्र स्कन्दस्वामी ऋ० १ । ५१ । ९ भाष्ये—
"इनक्षतः । इन्वति नक्षति इत्यस्य व्याप्तिकर्मसु पठितस्य 'नक्ष तृक्ष णक्ष गतौ' इत्यस्य वा गत्यर्थस्य । इनक्षतः, अयमिकारश्छान्दस आगमो द्रष्टव्यः । व्याप्नुवतः गच्छतो वेत्यर्थः ॥" पृ० २०५ ॥
तथैव सायणभाष्ये ऋ० १ । ५१ । ९, तथा ऋ० १ । १३३ । ६ अपि द्रष्टव्यम् ॥

३ अत्रान्वये 'तं' इत्येकं पदं त्यक्तमिति ध्येयम् ॥

४ अस्य मन्त्रस्य पूर्वभाग ऋ० १ । १३२ । ६ व्याख्यातस्तत्र द्रष्टव्यः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(युवम्) मदिक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः प्रत्ययस्वरेण युष्मच्छब्दः । सुपा सहैकादेश एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्युदात्तः । यदा तु शेषे लोपष्टिलोपस्तदोदात्तनिवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तत्वं बोध्यम् । प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (अ० ७ । २ । ८८) इति भाषायामात्वविधानादिह छन्दसि न भवति ॥

(इन्द्रापर्वता) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

※ उपलब्धनिघण्टुषु 'नक्षति' इति पठ्यते ॥ ‡ 'तद्' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः, 'यद्गहनम्' इति हस्तलेखपाठः ।

भावार्थः—यावत् सभापतिसेनापती प्रगल्भौ सन्तौ सर्वकार्येषु पुरस्सरौ न स्याताम्, तावत् सेनावीरा हर्षतो युद्धे न प्रवर्त्तन्ते, नह्येतेन कर्मणा विना कदाचिद् विजयो जायते, यावद्जातशत्रवः सभापत्यादयो न जायेरन्न तावत् प्रजाः पालयितुं शक्नुवन्ति, न च सुप्रजाः सन्तः सुखिनः स्युः ॥ ५३ ॥

फिर उसी विषय को अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (पुरोयुधा) युद्ध समय में आगे लड़नेवाले (इन्द्रापर्वता) सूर्य और मेघ के समान सेनापति और सेना जन ! (युवम्) तुम दोनों (यः) जो (नः) हमारी (पृतन्यात्) सेना से लड़ना चाहे (तन्तम्) (इत्) उसी २ को (वज्रेण) शस्त्र और अस्त्र विद्या के बल से [(अप)] (हतम्) मारो और (यत्) जो (अस्माकम्) हमारे शत्रुओं की (गहनम्) दुर्जय सेना हमारी सेना को (इनक्षत्) व्याप्त हो और जो २ (छन्त्सत्) बल को बढ़ावे (तंतम्) उस २ को (चत्ताय) आनन्द बढ़ाने के लिये (इद्धतम्) अवश्य मारो और (दूरे) दूर पहुंचा दो। हे (शूर) शत्रुओं को मारनेवाले [(दर्मा) शत्रुओं को विदीर्ण करनेवाले] सभापते ! आप हमारे (शत्रून्) शत्रुओं को (विश्वतः) सब प्रकार से (परिदर्षीष्ट) विदीर्ण कर दीजिये, जिस से हम लोग (भूः) इस भूलोक (भुवः) अन्तरिक्ष और (स्वः) सुखकारक अर्थात् दर्शनीय अत्यन्त सुखरूप लोक में (प्रजाभिः) अपने सन्तानों से (सुप्रजाः) प्रशंसित सन्तानों वाले (वीरैः) वीरों से (सुवीराः) बहुत अच्छे २ वीरों वाले और (पोषैः) पुष्टियों से (सुपोषाः) अच्छी २ पुष्टिवाले (विश्वतः) सब ओर से (स्याम) होवें ॥ ५३ ॥

(पुरोयुधा) कृत्स्वरः। छान्दसत्वात् सम्बुद्ध्यर्थे प्रथमा ॥

(पृतन्यात्) पृतनाशब्दात् कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः (अ० ७ । ४ । ३९) इत्यनेनाकारलोपे लेटि प्रथमैकवचने इकारलोपे अडागमे च रूपम्। यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावे धातुस्वरः।

(तन्तम्) वीप्सायां द्वित्वम्। अनुदात्तं च (अ० ८ । १ । ३) इति परमनुदात्तम् ॥

(हतम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(वज्रेण) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० (उ० २ । २८) इति रन्प्रत्यये निपातितः। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(दूरे) दुरीणो लोपश्च (उ० २ । २०) इति रक्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(चत्ताय) 'चदि' धातोः ग्रसितस्कभित० (अ० ७ । २ । ३४) इति क्तप्रत्यये निपातितः, सुपोऽनुदात्तत्वे प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

(छन्त्सत्) 'छदि' (चु०) धातोर्लेटि सिपि रूपम्। तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(गहनम्) 'गाहू' (भ्वा० आ०) धातोर्बाहुलकादौणादिको युन् प्रत्यय उपधाह्रस्वत्वञ्च। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। यद्वा कृच्छ्रगहनयोः कषः (अ० ७ । २ । २२) इति निपातनात् सर्वेष्टसिद्धिः ॥

(इनक्षत्) "इन्वति नक्षतीति व्याप्तिकर्मसु पठितस्य इकार आगमश्छान्दस इति स्कन्दस्वामीभाष्यम्" इति देवराजः पृ० २७८ ॥ छान्दसत्वादेवाद्युदात्तत्वम् ॥

(शूर) आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥

(दर्मा) 'दॄ विदारणे' इत्यस्मादौणादिको 'मनिः' प्रत्ययः। मन्प्रत्यये तु बाहुलकाद् नकारस्येत्संज्ञा न भवति। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(दर्षीष्ट) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥ ॥ ५३ ॥

[1] पूर्वोक्त विषय को ही दृढ़ करते हैं—

भावार्थः—जबतक सभापति और सेनापति प्रगल्भ हुए सब कामों में अग्रगामी न हों, तबतक सेना-वीर आनन्द से युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो सकते और इस काम के विना कभी विजय नहीं होता। तथा जबतक शत्रुओं को निर्मूल करनेहारे सभापति आदि नहीं होते, तबतक प्रजा का पालन नहीं कर सकते और न प्रजाजन सुखी हो सकते हैं ॥ ५३ ॥

परमेष्ठीत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। परमेष्ठी प्रजापतिर्देवता। ॐ निचृद् ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनर्गार्हस्थ्यकर्म्माह[1] ॥

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धो ऽ अच्छेतः
सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयण्याम् ॥ ५४ ॥

परमेष्ठी। परमेस्थीति † परमेऽस्थी। अभिधीत इत्यभिऽधीतः। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः। वाचि। व्याहृतायामिति विऽआहृतायाम्। ‡ अन्धः। अच्छेत इत्यच्छऽइतः। सविता। सन्याम्। विश्वकर्मेति विश्वऽकर्म्मा। दीक्षायाम्। पूषा। सोमक्रयण्यामिति सोमऽक्रयण्याम् ॥ ५४ ॥

पदार्थः—(परमेष्ठी) परमे प्रकृष्टे स्वरूपे तिष्ठतीति (अभिधीतः) निश्चितः (प्रजापतिः) प्रजायाः स्वामी (वाचि) वेदवाण्याम् (व्याहृतायाम्) उपदिष्टायां सत्याम् (अन्धः) अद्यते यत्तदन्धोऽन्नम्, अदेर्नुम्धौ च। उ० ४। २०६। अनेनादधातोरसुनि नुम् धश्च। अन्ध इत्यन्ननामसु पठितम्। निघ० २।७। उपलक्षणं चान्येषां पदार्थानाम् (अच्छेतः) अच्छं निर्मलं स्वरूपमितः प्राप्तः (सविता) जगदुत्पादकः (सन्याम्[2]) सत्यं नीयते यया तस्याम् (विश्वकर्म्मा) सर्वोत्तमकर्म्मा सभापतिः (दीक्षायाम्) नियमधारणारम्भे (पूषा) पोषको वैद्यः (सोमक्रयण्याम्) सोमाद्योषधीनां ग्रहणे ॥ अयं मन्त्रः शत० १२। ६। १। १–८ व्याख्यातः ॥ ५४ ॥

1 गृहाश्रमपालनाय वेदाद्यध्ययनं विज्ञानस्यानुशीलनं चावश्यकमिति निरूपयति—

2 'समानान् पदार्थान् नयति यया तया' इति पूर्वं य० ५। ७ पृ० ४३८ भाष्ये व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(परमेष्ठी) परमे कित् (उ० ४। १०) इति इनिः प्रत्ययः कित्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अभिधीतः) गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इति पर्युदासात् प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(व्याहृतायाम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६। २। १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इत्यनन्तरो गतिः 'आ' प्रकृतिस्वरं लभते न तु व्यवहितः, तेनाकार उदात्तः। शेषत्वाद् 'वि' अनुदात्तः ॥

(अच्छेतः) अच्छ गत्यर्थवदेषु (अ० १। ४। ६९) इति गतिसंज्ञायां गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व आद्युदात्तत्वम् ॥

(विश्वकर्मा) पूर्वं य० ८। ४५ पृ० ७२४ व्याख्यातः ॥

(दीक्षायाम्) गुरोश्च हलः (अ० ३। ३। १०३) इति 'अङ्' प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः, ततष्टापो विभक्तेश्चानुदात्तत्वम् ॥

ॐ 'साम्न्युष्णिक्' इति अ० मु० अपपाठः ॥

‡ 'अन्धः' इति स्वरचिह्नरहितोऽपपाठः अ० मु० ॥

† 'परमेस्थी' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

अन्वयः—हे गृहस्था युष्माभिर्यदि व्याहृतायां वाचि परमेष्ठी प्रजापतिरच्छेतो विश्वकर्मा दीक्षायां सोमक्रयण्यां पूषा सविता सन्यां चाभिधीतोऽन्धश्च प्राप्तं, तर्हि सततं सुखिनः स्युः ॥ ५४ ॥

भावार्थः—यदीश्वरो वेदविद्यायाः स्वस्य जीवानां जगतश्च गुणकर्मस्वभावान् न प्रकाशयेत्, तर्हि कस्यापि मनुष्यस्य विद्यैतेषां विज्ञानं च न स्यात्, एताभ्यां विना कुतः सततं सुखं च ॥ ५४ ॥

फिर भी गृहस्थ का कर्म्म अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे गृहस्थो ! तुमने यदि (व्याहृतायाम्) उच्चारित उपदिष्ट की हुई (वाचि) वेदवाणी में (परमेष्ठी) परमानन्दस्वरूप में स्थित (प्रजापतिः) समस्त प्रजा के स्वामी को (अच्छेतः) अच्छे प्रकार प्राप्त [किया है और] (विश्वकर्म्मा) सब विद्या और कर्मों को जाननेवाले सर्वथा श्रेष्ठ सभापति को (दीक्षायाम्) सभा के नियमों के धारण में (सोमक्रयण्याम्) ❀ सोमादि औषधियों को ग्रहण करने में (पूषा) सबकी पुष्टि करनेहारे उत्तम वैद्य को और (†सविता) सब जगत् का उत्पादक (सन्याम्) ‡ जिससे एक जैसा सत्य प्राप्त हो, उसमें (अभिधीतः) सुविचार से धारण किया (अन्धः) उत्तम सुसंस्कृत अन्न का सेवन किया है, तो सदा सुखी हों ॥५४॥

भावार्थः—जो ईश्वर वेदविद्या से अपने, सांसारिक जीवों, और जगत् के गुण कर्म्म स्वभावों को प्रकाशित न करता तो किसी मनुष्य को विद्या और इनका ज्ञान न होता और विद्या वा उक्त पदार्थों के ज्ञान के विना निरन्तर सुख क्योंकर हो सकता है ॥ ५४ ॥

इन्द्रश्चेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रादयो देवताः । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्गार्हस्थ्यविषयमाह[2] ॥

इन्द्र॑श्च म॒रुत॑श्च क्र॒याये॒पोत्थि॑तोऽसु॑रः प॒ण्यमा॑नो मि॒त्रः क्री॒तो विष्णुः॑ शिपिवि॒ष्टऽ ऊ॒रावास॑न्नो॒ विष्णु॑र्न॒रन्धि॑षः ॥ ५५ ॥

इन्द्रः॑ । च॒ । म॒रुतः॑ । च॒ । ÷ क्र॒याय॑ । उ॒पोत्थि॑त॒ इत्यु॑प॒ऽउत्थि॑तः । असु॑रः । प॒ण्यमा॑नः । ❀मि॒त्रः । क्री॒तः । विष्णुः॑ । शि॒पि॒वि॒ष्ट इति॑ शिपिऽवि॒ष्टः । ऊ॒रौ । आस॑न्न इत्याऽस॑न्नः । विष्णुः॑ । न॒रन्धि॑षः ॥ ५५ ॥

(सोमक्रयण्याम्) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे ल्युटि लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययपूर्वस्योदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ गृहाश्रम के परिपालनार्थ वेदाध्ययन तथा विविध विज्ञान का अनुशीलन आवश्यक है, सो दर्शाते हैं— ॥ ५४ ॥

२ पूर्वोक्तं विज्ञानमेव प्रकारान्तरेण वर्णयति—

❀ 'ऐश्वर्य ग्रहण करने में' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

† '(सविता) सब जगत् का उत्पादक' इति पाठोऽग्रेऽस्थान आसीत्, अतोऽस्माभिरत्रानीतः ॥

‡ 'जिस से सनातन सत्य' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

÷ 'क्रपाये' इत्यपपाठः अ० मु० ॥ ❀ 'मित्रः' इति स्वरचिन्हरहितोऽपपाठः अ० मु० ॥

पदार्थः—(इन्द्रः) विद्युत् (च) पृथिव्यादयः (मरुतः) वायवः (च) जलादिकम् (क्रयाय) व्यवहारसिद्धये (उपोत्थितः) समीपे प्रकाशित इव (असुरः) मेघः, असुर इति मेघनामसु पठितम् । निघ० १ । १० । (पण्यमानः) स्तूयमानः (मित्रः) सुहृत् (क्रीतः) व्यवहृतः (विष्णुः) व्याप्तो धनञ्जयः (शिपिविष्टः[1]) शिपिषु पदार्थेषु प्रविष्टः (ऊरौ) आच्छादने (आसन्नः) सर्वेषां निकटः (विष्णुः) हिरण्यगर्भः (नरन्धिषः) नरान् दिधेष्टि शब्दयति ॥ अयं मन्त्रः शत० १२ । ३ । १ ९-१३ व्याख्यातः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं विद्वद्भिर्यो क्रयायेन्द्रः [च] मरुतः [च] असुरः पण्यमानो मित्रः शिपिविष्टो विष्णुर्नरन्धिषो विष्णु‡श्च [ऊरा] वासन्न उपोत्थितः क्रीतोऽस्ति, तं विजानीत ॥ ५५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः परब्रह्मप्रकाशितानामग्न्यादीनां पदार्थानां सकाशात् क्रियाकौशलेनोपयोगं गृहीत्वा गार्हस्थ्यव्यवहारास्साधनीयाः ॥ ५५ ॥

फिर भी उक्त [गृहस्थ धर्म] विषय को अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग जो विद्वानों ने (क्रयाय) व्यवहार सिद्धि के लिये (इन्द्रः) बिजली [(च) और] (मरुतः) पवन [(च) और] (असुरः) मेघ (पण्यमानः) स्तुति के योग्य (मित्रः) सखा

---

१ यज्ञो वै विष्णुः शिपिविष्टः ॥ तां० ९ । ७ । १० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इन्द्रः) पूर्वं अ० १ । १ पृ० १६, १ । ४ पृ० ३४ च व्याख्यातः ॥

(मरुतः) मृग्रोरुतिः (उ० १ । ९४) प्रत्ययस्वरः ॥

(क्रयाय) 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (क्र्या०) अस्माद् एरच् (अ० ३ । ३ । ५६) इत्यचि चित्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(उपोत्थितः) 'उत्थित' शब्दो व्यत्ययेन प्रादिसमासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरेण वा ऽऽद्युदात्तः । तत उपेन सह समासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेणोकार उदात्तः । न च थाथादिस्वरेण बाधः शङ्कनीयः । कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि (अ० ६ । २ । १४८) इत्यत्र योगविभागेन 'कारकात् परमेव सगतिकं क्तान्तमन्तोदात्तं, न गतेः परम्' इति नियमात्तस्यात्राप्रवृत्तेः । एवं निर्बाधे उत्तरपदप्रकृतिस्वरे एकादेश उदात्तेनोदात्तः (अ० ८ । २ । ५) इत्योकार उदात्तः । यत्त्वन्यत्रैवंविधेषु स्थलेषु गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इत्यनेन स्वर उच्यते, तत्पुनरनन्तरस्तत्रैव तात्पर्यादिति बोध्यम् ॥

(पण्यमानः) यक्स्वरः । शानचश्चित्स्वरोऽपि परत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तस्वरेण बाध्यते ॥

(क्रीतः) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(शिपिविष्टः) थाथघञ्क्त० (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(ऊरौ) ऊर्णोतेर्नुलोपश्च (उ० १ । ३०) इति कुप्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः ॥

(आसन्नः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(नरन्धिषः) कृत्स्वरेणोत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते दासीभारादित्वात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वं, सुमागमश्च ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ प्रकारान्तर से पूर्वोक्त विज्ञान का ही निरूपण करते हैं— ॥ ५५ ॥

‡ 'विष्णुश्चैवासन्नः' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

(शिपिविष्टः) समस्त पदार्थों में प्रविष्ट (विष्णुः) सर्व शरीर व्याप्त धनञ्जय वायु और इनमें से एक २ पदार्थ (नरन्धिषः) मनुष्यादि के आत्माओं में साक्षी (विष्णुः) हिरण्यगर्भ ईश्वर (क्रौ) ढांपने आदि क्रियाओं में (आसन्नः) संनिकट वा (उपोत्थितः) + समीप में प्रकाशित के समान और जो (क्रीतः) व्यवहार में वर्त्ता हुआ पदार्थ है, इन सब को जानो ॥ ५५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि परब्रह्म × ईश्वर से प्रकाशित अग्नि आदि पदार्थों की क्रिया कुशलता से उपयोग लेकर गार्हस्थ्य व्यवहारों को सिद्ध करें ॥ ५५ ॥

प्रोह्यमाण इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा गृहस्था देवताः । आर्षी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह[1] ॥

प्रोह्यमाणः सोम ऽ आगतो वरुण ऽ आसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्र ऽ इन्द्रो हविर्धानेऽथर्वोपावह्रियमाणः ॥ ५६ ॥

प्रोह्यमाण इति प्रऽउह्यमानः । सोमः । आगत इत्याऽगतः । वरुणः । आसन्द्यामित्याऽसन्द्याम् । आसन्न इत्याऽसन्नः । अग्निः । () आग्नीध्रे । इन्द्रः । हविर्धान इति हविःऽधाने । अथर्वा । उपावह्रियमाण इत्युपऽअवह्रियमाणः ॥ ५६ ॥

पदार्थः—(प्रोह्यमाणः) प्रकृष्टतर्केणाऽनुष्ठितः, प्रोह्यमाण इति पदं **महीधरेण** भ्रान्त्या पूर्वस्मिन् मन्त्रे पठितम् । (सोमः) ऐश्वर्यसमूहः (आगतः) समन्तात् प्राप्तः सहायकारी पुरुष इव (वरुणः) जलसमूहः (आसन्द्याम्) यानासनविशेषे (आसन्नः) समीपस्थः (अग्निः) (आग्नीध्रे) प्रदीपनसाधन इन्धनादौ (इन्द्रः) विद्युत् (हविर्धाने) हविषां ग्रहीतुं योग्यानां पदार्थानां धारणे (अथर्वा) अहिंसनीयः (उपावह्रियमाणः) क्रियाकौशलेनोपयुज्यमानः ॥ अयं मन्त्रः शत० १२ । ६ । १ । १४-१८ व्याख्यातः ॥ ५६ ॥

१ तदेव द्रढयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रोह्यमाणः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे यक्स्वरेणोदात्तः ॥

(आगतः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(आसन्द्याम्) प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तत्वम् । उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(अथर्वा) 'थुर्वी हिंसार्थः' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् श्वन्नुक्षन्० (उ० १ । १५९) इत्यत्र 'थर्वन्' शब्दः कृत्यार्थे द्रष्टव्यः । ततो नञ्समासेऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(उपावह्रियमाणः) 'ह्रियमाण' शब्दे कर्मार्थधातुकानुदात्तत्वे यक्स्वरः । ततो गतिसमासे गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे स एव यकार उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

+ 'समीपस्थ प्रकाश के समान' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

× 'परब्रह्म' इति हस्तलेखपाठः ॥

() 'आग्नीध्रः' इति अ० मु० अपपाठः ॥

अन्वयः—हे गृहस्था युष्माभिरस्यामीश्वरस्य सृष्टावासन्द्यामागत [आसन्नः] इव प्रोह्यमाणः सोमो वरुण आग्नीध्रेऽग्निरुपावह्रियमाणोऽथर्वा हविर्द्धाने इन्द्रः सततमुपयोजनीयः ॥ ५६ ॥

[अत्र लुप्तोपमालंकारः ॥]

भावार्थः—नहि तर्केण विना काचिद् विद्या कस्यचिद् भवति, नहि विद्यया विना कश्चित् पदार्थेभ्य उपयोगं ग्रहीतुं शक्नोति ॥ ५६ ॥

फिर उक्त विषय को अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे गृहस्थो ! तुमको इस ईश्वर की सृष्टि में (आसन्द्याम्) बैठने की एक अच्छी चौकी आदि स्थान पर (आगतः) आया हुआ † सहायकारी पुरुष जैसे [(आसन्नः)] विराजमान हो, वैसे (प्रोह्यमाणः) तर्क वितर्क के साथ वादानुवाद से जाना हुआ (सोमः) ऐश्वर्य का समूह (वरुणः) जल का समूह (आग्नीध्रे) बहुत इन्धनों में (अग्निः) अग्नि (उपावह्रियमाणः) क्रिया की कुशलता से युक्त किया हुआ (अथर्वा) + जो हिंसा करने के योग्य नहीं है, (हविर्द्धाने) ग्रहण करने योग्य पदार्थों में (इन्द्रः) बिजली [है, उसको] निरन्तर युक्त करना चाहिये ॥ ५६ ॥

[इस मन्त्र में लुप्तोपमालंकार है ।]

भावार्थः—तर्क वितर्क के विना कोई भी विद्या किसी मनुष्य को नहीं होती, और विद्या के विना पदार्थों से उपयोग भी कोई नहीं ले सकता ॥ ५६ ॥

विश्वे देवा इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । ❀निचृद् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

अथ गार्हस्थ्यकर्म्मणि विद्वत्पक्षे किंचिदाह[2] ॥

विश्वे॑ दे॒वा ऽ अ॒ꣳशुषु॒ न्यु॑प्तो विष्णु॑राप्रीत॒पा ऽ आ॑प्या॒य्यमा॑नो य॒मः सू॒यमा॑नो॒ विष्णुः॑ सम्भ्रि॒यमा॑णो वा॒युः पू॒यमा॑नः शु॒क्रः पू॒तः शु॒क्रः क्षी॑र॒श्रीर्म॒न्थी स॑क्तु॒श्रीः ॥ ५७ ॥

---

[1] पूर्वोक्त विषय को ही दृढ़ करते हैं— ॥ ५६ ॥

[2] विद्वांस एव ज्ञानदायकास्तान् प्रशंसति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अंशुषु) पूर्वं यजुः ५ । ७ व्याख्यातम् ॥

(न्युप्तः) निपूर्वाद् वपतेः क्तः, गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(आप्रीतपाः) कृत्स्वरेणान्तोदात्तः ॥

(आप्याय्यमानः, सूयमानः, सम्भ्रियमाणः, पूयमानः) यक्स्वरेणोदात्तत्वम् ॥

(क्षीरश्रीः, सक्तुश्रीः) कृत्स्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

(मन्थी) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

† इतोऽग्रे 'सहायकारी मनुष्य के समान' इति पाठो अ० मुद्रिते '(वरुणः)' इत्येतस्मादग्रे सन्नप्यस्माभिरत्रानीतः ॥

+ इतोऽग्रे 'प्रशंसा करने योग्य के समान पदार्थ और' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

❀ 'भुरिक्साम्नी' इति अ० मु० अपपाठः ॥

विश्वे । देवाः । अंशुषु । न्युप्त इति निऽउप्तः । विष्णुः । आप्रीतपा इत्याप्रीतऽपाः । आप्याय्यमान इत्याऽप्याय्यमानः । यमः । सूयमानः । विष्णुः । सम्भ्रियमाण इति सम्ऽभ्रियमाणः । वायुः । पूयमानः । शुक्रः । पूतः । शुक्रः । क्षीरश्रीरिति क्षीरऽश्रीः । मन्थी । सक्तुश्रीरिति सक्तुऽश्रीः ॥ ५७ ॥

पदार्थः—(विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अंशुषु) विभक्तेषु सांसारिकेषु पदार्थेषु (न्युप्तः) नित्यं स्थापितो व्यवहारः (विष्णुः) व्यापिका विद्युत् (आप्रीतपाः) समन्तात् प्रीतान् कमनीयान् पदार्थान् पाति रक्षति (आप्याय्यमानः) वृद्ध इव (यमः) यच्छति सोऽयं सूर्य्यः (सूयमानः) उत्पद्यमानः (विष्णुः) व्यापकः (सम्भ्रियमाणः) सम्यक् पोषितः (वायुः) प्राणः (पूयमानः) पवित्रीकृतः (शुक्रः) वीर्य्यसमूहः (पूतः) शुद्धः (शुक्रः) आशुकर्त्ता (क्षीरश्रीः) यः क्षीरादीनि ‡शृणाति (मन्थी) मथ्नातीति (सक्तुश्रीः) यः सक्तूनि समवेतानि द्रव्याणि श्रयति ॥ अयं मन्त्रः शत० १२ । ६ । १ । १९–२६ व्याख्यातः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे विश्वे देवा युष्माभिरंशुषु न्युप्त आप्रीतपा विष्णुराप्याय्यमानो यमः सूयमानो विष्णुः संभ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः शुक्रो मन्थी सेवमानः सन् क्षीरश्रीः सक्तुश्रीश्च जायते ॥ ५७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्युक्तिविद्याभ्यां सेविता विद्युदादयः पदार्थाः शरीरात्मसमाजसुखप्रदा जायन्ते ॥ ५७ ॥

अब गृहस्थ कर्म्म में कुछ विद्वानों का पक्ष अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वानो ! तुम्हारा (अंशुषु) अलग २ संसार के पदार्थों में (न्युप्तः) नित्य स्थापित किया हुआ व्यवहार (आप्रीतपाः) अच्छी प्रीति के साथ (विष्णुः) व्याप्त होनेवाली बिजली (आप्याय्यमानः) अति बढ़े हुए के समान (यमः) सूर्य्य (सूयमानः) उत्पन्न होनेहारा (विष्णुः) व्यापक अव्यक्त (सम्भ्रियमाणः) अच्छे प्रकार पुष्टि किया हुआ (वायुः) प्राण (पूयमानः) पवित्र किया हुआ (शुक्रः) पराक्रम का समूह (पूतः) शुद्ध (शुक्रः) शीघ्र चेष्टा करनेहारा और (मन्थी) विलोड़ने वाला ये सब प्रत्येक सेवन किये हुए (क्षीरश्रीः) दुग्धादि पदार्थों को पकाने और (सक्तुश्रीः) प्राप्त हुए पदार्थों का आश्रय करनेवाले होते हैं॥५७॥

भावार्थः—मनुष्यों को युक्ति और विद्या से सेवन किये हुए सब [विद्युत् आदि] सृष्टिस्थ पदार्थ शरीर आत्मा और सामाजिक सुख करानेवाले होते हैं ॥ ५७ ॥

विश्वे देवाश्चेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । ❀ निचृदार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥ ॥ ५७ ॥

[1] विद्वान् ही ज्ञान के देनेवाले होते हैं, अतः उनकी प्रशंसा करते हैं—

---

‡ अत्र 'श्रीणातीति' युक्ततरं स्यात् ॥ ❀ 'भुरिगार्षी' इति अ० मु० अपपाठः ॥

पुनः प्रकारान्तरेण विद्वद्विषयमाह[1] ॥

विश्वे॑ दे॒वाश्च॑म॒सेषू॒न्नी॑तोऽसु॒र्होमा॑यो॒द्य॑तो रु॒द्रो हू॒यमा॑नो॒ वातो॒ऽभ्यावृ॑त्तो नृ॒चक्षाः॒ प्रति॑ख्यातो भ॒क्षो भ॒क्ष्यमा॑णः पि॒तरो॑ नाराश॒ꣳसाः ॥ ५८ ॥

विश्वे॑ । दे॒वाः । च॒म॒सेषु॑ । उन्नी॑त॒ इत्यु॒त्ऽनी॑तः । असुः॑ । होमा॑य । उद्य॑त॒ इत्यु॒त्ऽय॑तः । रु॒द्रः । हू॒यमा॑नः । वातः॑ । × अ॒भ्यावृ॑त्त॒ इत्य॑भि॒ऽआवृ॑त्तः । नृ॒चक्षा॒ इति॑ नृ॒ऽचक्षाः॑ । प्रति॑ख्यात॒ इति॒ प्रति॑ऽख्यातः । भ॒क्षः । भ॒क्ष्यमा॑णः । पि॒तरः॑ । ना॒रा॒श॒ꣳसाः ॥ ५८ ॥

पदार्थः—(विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (चमसेषु) मेघेषु चमस इति मेघनामसु पठितम् । निघ० १ । १० । (उन्नीतः) ऊर्ध्वं नीतः सुगन्धादिपदार्थः (असुः) प्राणः (होमाय) दानायादानाय वा (उद्यतः) प्रयत्नेन प्रेरितः (रुद्रः) जीवः (हूयमानः) स्वीकृतः (वातः) बाह्यो वायुः (‡अभ्यावृत्तः) आभिमुख्येनाङ्गीकृतः (नृचक्षाः) नॄन् मनुष्यान् चष्ट इति (प्रतिख्यातः) ख्यातंख्यातं प्रतीति (भक्षः) भोज्यसमूहः (भक्ष्यमाणः) भुज्यमानः (पितरः) ज्ञानिनः (नाराशंसाः) नरानाशंसन्ति [इति नराशंसाः, तेषां] नराशंसानामिमे उपदेशकाः ॥ अयं मन्त्रः शत० १२ । ३ । १ । २७–३३ व्याख्यातः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—यैर्होमाय यज्ञविधानेन चमसेषु सुगन्ध्यादिरुन्नीतोऽसुरुद्यतो रुद्रो हूयमानो नृचक्षाः प्रतिख्यातो वातोऽभ्यावृत्तस्तच्छोधितो भक्ष्यमाणो भक्षः कृतस्ते विश्वे देवा नाराशंसाः पितरश्च वेद्याः ॥ ५८ ॥

भावार्थः—ये विद्वांसः परोपकारबुद्ध्या विद्यां विस्तार्य्य सुगन्धिपुष्टिमधुरतारोगनाशकगुण-युक्तानां द्रव्याणां यथावन्मेलनं कृत्वाऽग्नौ हुत्वा वायुवृष्टिजलौषधीः सेवित्वा शरीरारोग्यं जनयन्ति, त इह पूज्यतमाः सन्ति ॥ ५८ ॥

फिर प्रकारान्तर से विद्वद्विषय को अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

---

१ वदेवाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(चमसेषु) 'चमु अदने' (भ्वा०) अस्माद् अत्यविचमि० (उ० ३ । ११७) इत्यसच् । चित्त्वादन्तोदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(उन्नीतः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(होमाय) अर्तिस्तुसुहु० (उ० १ । १४०) इति मन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(उद्यतः, प्रतिख्यातः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(हूयमानः) यक्स्वरेणोदात्तत्वम् ॥

(अभ्यावृत्तः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरेण गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इत्यनन्तरो गतिः 'आ' पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेनाद्युदात्तः । शेषनिघातेन 'भि' इत्यस्यानुदात्तत्वम् ॥

(भक्ष्यमाणः) यक्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ पूर्वोक्त विषय का ही निरूपण करते हैं—॥ ५८ ॥

× 'अभ्यावृत्त इत्यभि ऽ आवृत्तः' इति अ० मु० अपपाठः ॥ ‡ 'अभ्यावृतः' इति अ० मु० अपपाठः ॥

पदार्थः × —जिन विद्वानों ने (होमाय) दान आदानक्रिया के लिये यज्ञविधान से (चमसेषु) मेघों में सुगन्धि आदि [गुणयुक्त] वस्तुओं को (उन्नीतः) ऊँचा पहुँचाया है, (असुः) अपना प्राण (उद्यतः) अच्छे प्रयत्न से कगाया है (रुद्रः) जीव को पवित्र कर (हूयमानः) स्वीकार किया है, (नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने-वाले का (प्रतिख्यातः) अच्छी प्रकार से वर्णन किया है, [(वातः) बाह्य वायु को (अभ्यावृत्तः) स्वीकार किया और] उससे शुद्ध किया हुआ (भक्ष्यमाणः) भोजन करने योग्य (भक्षः) खाद्य पदार्थों का सेवन किया है, उनको (विश्वेदेवाः) विद्वान् (नाराशंसाः) मनुष्यों के उपदेशक और (पितरः) ज्ञानी समझना चाहिये ॥ ५८ ॥

भावार्थः—जो विद्वान् लोग परोपकार बुद्धि से विद्या का विस्तार करके, सुगन्धि, पुष्टि, मधुरता और रोगनाशक गुणयुक्त पदार्थों का यथायोग्य मेल [करके] अग्नि के बीच में उनका होम कर, शुद्ध वायु वर्षा का जल वा ओषधियों का सेवन करके शरीर को आरोग्य करते हैं, वे इस संसार में अत्यन्त प्रशंसा के योग्य होते हैं ॥ ५८ ॥

सन्न इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । ※निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः । या पर्य्येते इत्यस्य विराडार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ गार्हस्थ्यकर्म्मणि यज्ञादिव्यवहारमाह [1] ॥

सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजांसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा । या पत्येते ऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णू ऽअगन् वरुणा पूर्वहूतौ ॥ ५९ ॥

सन्नः । सिन्धुः । अवभृथायेत्यवऽभृथाय । उद्यत इत्युत्ऽयतः । समुद्रः । अभ्यवह्रियमाण इत्यभिऽअवह्रियमाणः । सलिलः । प्रप्लुत इति प्रऽप्लुतः । ययोः । ओजसा । स्कभिता । रजांसि । ‡ वीर्येभिः । वीरतमेति वीरऽतमा । शविष्ठा ॥ या । पत्येतेऽइति पत्येते । अप्रतीतेत्यप्रतिऽइता । सहोभिरिति सहःऽभिः । विष्णूऽइति विष्णू । अगन् । वरुणा । पूर्वहूताविति पूर्वऽहूतौ ॥ ५९ ॥

पदार्थः—(सन्नः) अवस्थापितः, सन्न इति पदं महीधरेण भ्रान्त्या पूर्वस्य मन्त्रस्यान्ते स्वीकृतम् (सिन्धुः) नदी, सिन्धव इति नदीनामसु पठितम् । निघ० १ । १३ (अवभृथाय [2]) पवित्रीकरणाय

१ यज्ञादीनामवश्यकर्त्तव्यतां दर्शयति—

२ तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादवभृथः ॥ श० ४ । ४ । ५ । १ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सन्नः) क्तप्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सिन्धुः) स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च (उ० १ ।

× अत्र अ० मुद्रिते त्वेवं पाठः—"जिन विद्वानों ने यज्ञविधान से (चमसेषु) मेघों में सुगन्धि आदि वस्तु (उन्नीतः) ऊँचे पहुँचाया (असुः) अपना जीवन (उद्यतः) अच्छे यत्न में लगा रखा (रुद्रः) जीव को पवित्र कर (हूयमानः) स्वीकार किया (नृचक्षाः) मनुष्यों को प्रसन्न करनेवाला (प्रतिख्यातः) जिन्होंने वादानुवाद से चाहा (वातः) बाहर के वायु अर्थात् मैदान के कठिन वायु के सह वायु शुद्ध किये फल (भक्ष्यमाणः) कुछ भोजन करने-योग्य पदार्थ (भक्षः) खाइये (नाराशंसाः) प्रशंसा कर मनुष्यों के उपदेशक (विश्वे देवाः) सब विद्वान् (पितरः) उन सबके उपकारकों को ज्ञानी समझने चाहियें ॥ ५८ ॥"

※ 'भुरिगार्षी बृहती' इति अ० मु० अपपाठः । हस्तलेखे तु शुद्धः पाठ उपलभ्यते ।

‡ 'वीर्येभिः' इति अ० मु० अपपाठः ॥

यज्ञान्तस्नानाय वा (उद्यतः) उत्कृष्टतया यतः (समुद्रः) अन्तरिक्षम्, समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्। निघ० १।३ (अभ्यवह्रियमाणः) भुज्यमानः (सलिलः) शुद्धं जलं विद्यते यस्मिन् सः, अर्शआदित्वादच्, सलिलमित्युदकनामसु पठितम्। निघ० १।१२ (प्रप्लुतः) प्रकृष्टगुणैः प्राप्तः (ययोः) होतृयजमानयोः× (ओजसा) बलेन (स्कभिता) स्तम्भितानि धृतानि (रजांसि) लोकाः (वीर्येभिः) (वीरतमा) अतिशयेन वीरौ, अत्र सर्वत्राकारादेशः (शविष्ठा) अतिशयेन नित्यबलसाधकौ (या) यौ (पत्येते) श्रेष्ठैः प्राप्येते (अप्रतीता) अप्रतीतगुणौ (सहोभिः) बलादिभिः (विष्णू) व्याप्तिशीलौ (अगन्) गच्छन्तु प्राप्नुवन्तु, अत्र गमधातोर्लोडर्थे लुङ्, मन्त्रे घसह्वरण॰ [अ॰ २।४।८०] इति च्लेर्लुगनुनासिकलोपश्च (वरुणा) श्रेष्ठौ (पूर्वहूतौ) पूर्वैः शिष्टैर्विद्वद्भिराहूतौ ॥ अयं मन्त्रः शत॰ १२।६।१।३४–३६ व्याख्यातः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—यैरवभृथायाभ्यवह्रियमाणः सलिल उद्यतः सिन्धुः सन्नः समुद्रः प्रप्लुतः क्रियते, ययोरोजसा रजांसि स्कभिता †स्कभितानि, या वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा सहोभिरप्रतीता विष्णू वरुणा पूर्वहूतौ पत्येते तावगंस्ते सुखिनो भवन्ति ॥ ५९ ॥

भावार्थः—मनुष्याणां यज्ञादिव्यवहारेण विना गार्हस्थ्यकर्मणि सुखं न जायते ॥ ५९ ॥

अब गृहस्थ के कर्म में यज्ञादि व्यवहार का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—जिन्होंने (अवभृथाय) यज्ञान्त स्नान और अपने आत्मा के पवित्र करने के लिये (अभ्यवह्रियमाणः) भोगने योग्य (सलिलः) जिसमें उत्तम जल है, वह व्यवहार (उद्यतः) नियम से संपादन किया (सिन्धुः) नदियाँ (सन्नः) निर्माण कीं (समुद्रः) समुद्र (प्रप्लुतः) अपने उत्तम गुणों से पाया है, ॐ (ययोः)

११) इत्युः प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(अभ्यवह्रियमाणः) कृत्स्वरे यकृस्वरः ॥

(सलिलः) सलिकल्यनि॰ (उ॰ १।५४) इतीलच्। तत अर्शआद्यच्। चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(प्रप्लुतः) गतिरनन्तरः (अ॰ ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(स्कभिता) प्रसितस्कभित॰ (अ॰ ७।२।३४) इति निपात्यते। शेश्छन्दसि बहुलम् (अ॰ ६।१।७०) इति शेर्लोपः। इट आगमानुदात्ततया प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वीर्येभिः) पूर्वं य॰ २।८ पृ॰ १७४ व्याख्यातः ॥

(वीरतमा) स्फायितञ्चि॰ (उ॰ २।१३) इति रकि प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो वीरशब्दः। तमपः पित्त्वादनुदात्तत्वे स एव स्वरः ॥

(शविष्ठाः) अतिशायने तमबिष्ठनौ (अ॰ ५।३।५५) इतीष्ठन्। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(पत्येते) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ॰ ८।१।६६) इति निघाते प्रतिषिद्धे यक्स्वरे प्राप्ते छान्दसो धातुस्वरः। दिवादौ 'पत ऐश्वर्ये' इति पाठे तु श्यनि नित्त्वादिष्टस्वरसिद्धिः ॥

(अप्रतीता) तत्पुरुषे तुल्यार्थ॰ (अ॰६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(अगन्) तिङ्ङतिङः (अ॰ ८।१।२८) इति निघातः ॥

(पूर्वहूतौ) तृतीया कर्मणि (अ॰ ६।२।४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे वप्रत्ययान्तः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः पूर्वशब्दः। (द्र॰ यजुः ८।४६ पृ॰ ७२६ व्या॰ प्र॰ पूर्वशब्दः) ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ यज्ञादि अवश्य करने चाहियें, सो दर्शाते हैं–॥५९॥

× इतोऽग्रे 'प्रशंसिता गुणाः सन्ति' इति अ॰ मुद्रितेऽसम्बद्धः पाठः ॥

† 'स्कभितानि' इति मन्त्रगत'स्कभिता' पदस्य सविभक्तिकरूपप्रदर्शनपरम् ॥

ॐ इतोऽग्रे 'वे विद्वान् लोग' इति अ॰ मुद्रितपाठः ॥

जिनके (ओजसा) बल से (रजांसि) लोकलोकान्तर (स्कभिता) स्थित हैं, और (या) जो (वीर्येभिः) पराक्रमों से (वीरतमा) अत्यन्त वीर (शविष्ठा) नित्य बल संपादन करनेवाले (सहोभिः) बलों से (अप्रतीता) मूर्खों को जानने के अयोग्य (विष्णू) व्याप्त होनेहारे (वरुणा) अतिश्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य (पूर्वहूतौ) जिनका सत्कार पूर्व उत्तम विद्वानों ने किया हो जो (पत्येते) श्रेष्ठ सज्जनों को प्राप्त होते हैं, उन यज्ञकर्म भक्ष्य पदार्थ और विद्वानों को (अगन्) प्राप्त होते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं[1] ॥ ५९ ॥

भावार्थः—यज्ञ आदि व्यवहारों के विना गृहाश्रम में सुख नहीं होता ॥ ५९ ॥

देवान् इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । † स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तदेवाह[2] ॥

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ ६० ॥

देवान् । दिवम् । अगन् । यज्ञः । ततः । मा । ‡ द्रविणम् । अष्टु । मनुष्यान् । अन्तरिक्षम् । अगन् । यज्ञः । ततः । मा । द्रविणम् । अष्टु । पितॄन् । पृथिवीम् । अगन् । यज्ञः । ततः । मा । द्रविणम् । अष्टु । यम् । कम् । च । लोकम् । अगन् । यज्ञः । ततः । मे । भद्रम् । अभूत् ॥ ६० ॥

पदार्थः—(देवान्) दिव्यभोगान् (दिवम्) विद्याप्रकाशम् (अगन्) × प्राप्नुयुः, अत्र लिङर्थे लुङ् (यज्ञः) पूर्वोक्तस्सर्वैः संगमनीयः (ततः) तस्मात् (मा) माम् (द्रविणम्) विद्यादिकम् (अष्टु) प्राप्नोतु (मनुष्यान्) (अन्तरिक्षम्) मेघमण्डलम् (अगन्) (यज्ञः) (ततः) (मा) (द्रविणम्) धनादिकम् (अष्टु) (पितॄन्[3]) ऋतून् (पृथिवीम्) (अगन्) (यज्ञः) (ततः) (मा) (द्रविणम्) ※ प्रत्यृतुसुखम् (अष्टु) (यम्) (कम्) (च) (लोकम्) (अगन्) गच्छन्तु (यज्ञः) (ततः) (मे) मम (भद्रम्) भजनीयं कल्याणम् (अभूत्) भवतु ॥ [अयं मन्त्रः शत० ४ । ५ । ७ । ८ व्याख्यातः] ॥६०॥

अन्वयः—यो यज्ञो दिवं देवान् प्रापयति तं ❀विद्वांसोऽगँस्ततो मा द्रविणमष्टु, यो यज्ञोऽन्तरिक्षं मनुष्यानाप्नोति तमगँस्ततो मा द्रविणमष्टु, यो यज्ञः पृथिवीं पितॄन् प्रापयति तमगँस्ततो मा द्रविणमष्टु, यो यज्ञो यं कं च लोकं [प्राप्नोति त] मगँस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ ६० ॥

१ अस्पष्टोऽत्र भाषापदार्थः ॥

२ पूर्वोक्तमेव प्रतिपादयति—

३ ऋतवः पितरः ॥ कौ० ५ । ७ ॥ गो० उ० १ । २४ ॥
ऋतवः खलु वै देवाः पितरः ॥ तै० २ । १ । ३ । १ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(द्रविणम्) द्रुदक्षिभ्यामिनन् (उ० २ । ५०) इतीनन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† 'स्वराट् साम्नी त्रिष्टुप्' इति अ० मु० अपपाठः ॥
‡ 'दविणम्' इति अ० मु० अपपाठः ॥
× 'प्राप्नुवन्ति' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
※ 'प्रत्युतसुखकरम्' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
❀ 'विद्वांसो' इति पदं पूर्वं सस्माभिरत्रानीतम् ॥

भावार्थः—यस्माद् यज्ञात् सर्वाणि सुखानि जायन्ते तस्यानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैः कुतो न कार्य्यमिति ॥ ६० ॥

फिर भी यज्ञविषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—जो (यज्ञः) पूर्वोक्त सबके करनेयोग्य यज्ञ (दिवम्) विद्या के प्रकाश और (देवान्) दिव्य भोगों को प्राप्त कराता है, जिसको विद्वान् लोग (अगन्) प्राप्त हों, (ततः) उससे (मा) मुझको (द्रविणम्) विद्यादि गुण (अष्टु) प्राप्त हों । जो (यज्ञः) यज्ञ (अन्तरिक्षम्) मेघमण्डल और (मनुष्यान्) मनुष्यों को प्राप्त होता है, जिसको भद्र मनुष्य (अगन्) प्राप्त होते हैं, (ततः) उससे (मा) मुझको (द्रविणम्) धनादि पदार्थ (अष्टु) प्राप्त हों । जो (यज्ञः) यज्ञ (पृथिवीम्) पृथिवी और (पितॄन्) वसन्त आदि ऋतुओं को प्राप्त होता है, जिसको आप्त लोग (अगन्) प्राप्त होते हैं, (ततः) उससे (मा) मुझको (द्रविणम्) प्रत्येक ऋतु का सुख (अष्टु) प्राप्त हो । जो (यज्ञः) [यज्ञ (यं) जिस] (कम्) किसी (च) [और] (लोकम्) लोक को प्राप्त होता है, जिसको धर्मात्मा लोग (अगन्) प्राप्त होते हैं, (ततः) उससे (मे) मेरा (भद्रम्) कल्याण (अभूत्) हो ॥६०॥

भावार्थः—जिस यज्ञ से सब सुख होते हैं, उसका अनुष्ठान सब मनुष्यों को क्यों न करना चाहिये ॥६०॥

चतुस्त्रिंशदित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । ‡ ब्राह्म्युष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

अस्य जगत उत्पत्तौ काति कारणानि सन्तीत्याह[2] ॥

चतु॑स्त्रिꣳशत्तन्त॑वो॒ ये वि॑तत्नि॒रे य ऽइ॒मं य॒ज्ञꣳ स्व॒धया॒ दद॑न्ते ।
तेषां॑ छि॒न्नꣳ सम्वे॒तद्द॑धामि॒ स्वाहा॑ घ॒र्मो ऽ अप्ये॑तु दे॒वान् ॥ ६१ ॥

चतु॑स्त्रिꣳश॒दिति॒ चतुः॑ऽत्रिꣳशत् । तन्त॑वः । ये । वि॒त॒त्नि॒र इति॑ विऽत॒त्नि॒रे । ये । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । स्व॒धया॑ । दद॑न्ते ॥ तेषा॑म् । छि॒न्नम् । सम् । ऊँ ऽइत्यूँ । ए॒तत् । द॒धा॒मि॒ । स्वाहा॑ । घ॒र्मः । अपि॑ । ए॒तु । दे॒वान् ॥६१॥

---

[1] पूर्वोक्त का ही निरूपण करते हैं— ॥ ६० ॥

[2] यज्ञोऽयं जगद्यज्ञरूपक इति जगदुत्पत्तिकारणमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(चतुस्त्रिंशत्) संख्या (अ० ६ । २ । ३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे चतेरुरन् (उ० ५ । ५८) इति नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(तन्तवः) सितनि० (उ० १ । ६९) इति तुन् । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(वितत्निरे) तनिपत्योश्छन्दसि (अ० ६ । ४ । ९९) इत्युपधालोपः । यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावः । इरेचश्चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् । तिङि चोदात्तवति (अ० ८ । १ । ७१) इति गतेर्निघातः ॥

(स्वधया) पूर्वं यजु० १ । २८ पृ० १२९ व्याख्यातः ॥

(ददन्ते) 'दद दाने' (भ्वा० आ०) लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(एतु) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

‡ 'साम्न्युष्णिक्' इति अ० मु० पाठः ॥

पदार्थः—(चतुस्त्रिंशत्) अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्रः प्रजापतिः प्रकृतिश्चेति (तन्तवः) सूत्रवत् समवेतुं शीलाः (ये) (वितत्निरे) (ये) (इमम्) (यज्ञम्) सौख्यजनकम् (स्वधया) अन्नादिना (ददन्ते) (तेषाम्) (छिन्नम्) द्वैधीकृतम् (सम्) (उ) वितर्के (एतत्) (दधामि) (स्वाहा) सत्यया क्रियया वाचा वा (घर्म्मः) यज्ञः, घर्म्म इति यज्ञनामसु पठितम्। निघं० ३। १७ (अपि) निश्चये (एतु) (देवान्) विदुषः॥ अयं मन्त्रः शत० १२। ६। १। ३७ व्याख्यातः॥ ६१॥

अन्वयः—ये चतुस्त्रिंशत् तन्तवो यज्ञं वितत्निरे, ये च स्वधयेमं ददन्ते, तेषां छिन्नं यद् द्वैधीकृतं तदेतत् स्वाहा सन्दधामि उ इति वितर्के घर्म्मो देवानप्येतु॥ ६१॥

भावार्थः—अस्य प्रत्यक्षस्य जगतश्चतुस्त्रिंशत् तत्त्वानि कारणानि सन्ति, तेषां गुणदोषान् ये जानन्ति तानेव सुखमेति॥ ६१॥

इस जगत् की उत्पत्ति में कितने कारण हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1]॥

पदार्थः—(ये) जो (चतुस्त्रिंशत्) आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र, प्रजापति और प्रकृति (तन्तवः) सूत के समान (यज्ञम्) सुख उत्पन्न करनेहारे यज्ञ को (वितत्निरे) विस्तार करते हैं, और (ये) जो (स्वधया) अन्न आदि उत्तम पदार्थों से (इमम्) इस यज्ञ को (ददन्ते) देते हैं, (तेषाम्) उनका जो (छिन्नम्) अलग किया हुआ यज्ञ (एतत्) उसको (स्वाहा) सत्यक्रिया वा सत्यवाणी से (सम् दधामि) इकट्ठा करता हूँ, (उ) और वही (घर्म्मः) यज्ञ (देवान्) विद्वानों को (अपि) निश्चय से (एतु) प्राप्त हो॥ ६१॥

भावार्थः—इस प्रत्यक्ष चराचर जगत् के ३४ चौंतीस तत्त्व कारण हैं, उनके गुण और दोषों को जो जानते हैं, उन्हीं को सुख मिलता है॥ ६१॥

यज्ञस्येत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। यज्ञो देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनर्यज्ञविषयमाह[2]॥

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवमन्वाततान।
स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजाया रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा॥ ६२॥

---

१ यह यज्ञ इस जगत्रूपी यज्ञ का रूपक है, अतः जगत् की उत्पत्ति का कारण दर्शाते हैं—॥ ६१॥

२ यज्ञस्य फलमाह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(दोहः) घनि निरवादाद्युदात्तः॥

(विततः) गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥

(पुरुत्रा) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः० (अ० ५। ४। ५६) इत्यादिना 'त्रा' प्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(अष्टधा) संख्याया विधार्थे धा (अ० ५। ३। ४२) इति धाप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(आयुः) पूर्वे यजुः ४। २५ व्याख्यातम्॥

(अन्वाततान) गतिर्गतौ (अ० ८। १। ७०) इति गतेरनुदात्तत्वे 'आ' इत्येतस्योपसर्गाद्युदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

य॒ज्ञस्य॑ । दोहः॑ । वित॑त॒ इति॒ विऽत॑तः । पु॒रु॒त्रेति॑ पुरुऽत्रा । सः । अ॒ष्ट॒धा । दिव॑म् । अ॒न्वात॑ता॒नेत्य॑नु॒ऽआत॑तान । सः । य॒ज्ञ । धु॒क्ष्व॒ । महि॑ । मे॒ । प्र॒जाया॒मिति॑ प्र॒ऽजाया॑म् । रा॒यः । पोष॑म् । विश्व॑म् । आयुः॑ । अ॒शी॒य॒ । स्वाहा॑ ॥६२॥

पदार्थः—(यज्ञस्य) (दोहः) प्रपूर्णः सामग्रीसमूहः (विततः) विस्तीर्णः (पुरुत्रा) पुरुषु बहुषु पदार्थेषु (सः) (अष्टधा) दिग्भिरष्टप्रकारः (दिवम्) सूर्य्यप्रकाशम् (अन्वाततान) आच्छाद्य विस्तारयति (सः) सूर्य्यप्रकाशः (यज्ञ) यः संगम्यते तत्सम्बुद्धौ (धुक्ष्व) (महि) महान्तं महद्वा (मे) मम (प्रजायाम्) (रायः) धनादेः (पोषम्) पुष्टिम् (विश्वम्) सर्वम् (आयुः) जीवनम् (अशीय) प्राप्नुयाम् (स्वाहा) सत्यवाग्युक्तया क्रियया ॥ ६२ ॥

अन्वयः—हे [यज्ञ] यज्ञसम्पादक विद्वन् ! यो यज्ञस्य पुरुत्रा विततोऽष्टधा दोहोऽस्ति, स‡ दिवमन्वाततान, स त्वं तं यज्ञं धुक्ष्व, यो मे मम प्रजायां विश्वं महि रायस्पोषमायुश्चान्वातनोति तमहं स्वाहाशीय ॥ ६२ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदा यज्ञारम्भपूर्त्ती कृत्वा प्रजाभ्यो महत्सुखं प्रापणीयमिति ॥ ६२ ॥

फिर यज्ञ का विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (यज्ञ) संगति करनेयोग्य [वा यज्ञसंपादक] विद्वन् ! आप जो (यज्ञस्य) यज्ञ का (पुरुत्रा) बहुत पदार्थों में (विततः) विस्तृत (अष्टधा) आठों दिशाओं से आठ प्रकार का (दोहः) परिपूर्ण सामग्रीसमूह है (सः) वह (दिवम्) सूर्य्य के प्रकाश को (अन्वाततान) ढाँपकर फिर फैलने देता है, (सः) वह आप सूर्य्य के प्रकाश में यज्ञ करनेवाले गृहस्थ तू उस यज्ञ को (धुक्ष्व) परिपूर्ण कर, जो (मे) मेरी (प्रजायाम्) प्रजा में (विश्वम्) सब (महि) महान् (रायः) धनादि पदार्थों की (पोषम्) समृद्धि को वा (आयुः) जीवन को बार २ विस्तृत करता है, उसको मैं (स्वाहा) सत्ययुक्त क्रिया से (अशीय) प्राप्त होऊँ ॥ ६२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सदा यज्ञ का आरम्भ और समाप्ति करें और संसार के जीवों को अत्यन्त सुख पहुँचावें ॥ ६२ ॥

आ पवस्वेत्यस्य कश्यप ऋषिः । यज्ञो देवता । स्वराडार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मनुष्यैः किंवद् यज्ञः सेवनीय इत्याह[2] ॥

आ प॑वस्व॒ हिर॑ण्यव॒दश्व॑वत्सोम वी॒रव॑त् । वाजं॒ गोम॑न्त॒मा भ॑र॒ स्वाहा॑ ॥ ६३ ॥

आ । प॒व॒स्व॒ । हिर॑ण्यव॒दिति॒ हिर॑ण्यऽवत् । अश्व॑व॒दित्यश्व॑ऽवत् । सो॒म॒ । वी॒रव॒दिति॑ वी॒रऽव॑त् ॥ वाज॑म् । गोम॑न्त॒मिति॒ गोऽम॑न्तम् । आ । भ॒र॒ । स्वाहा॑ ॥ ६३ ॥

---

[1] यज्ञ के फल का निरूपण करते हैं— ॥ ६२ ॥ [2] कीदृग्जना यज्ञं कर्त्तुं प्रभवन्तीत्याह—

---

‡ अस्य स्थाने 'तं त्वं' इति अ० मुद्रिते पाठः, स चासंबद्धः ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (पवस्व) पवित्रीकुरु (हिरण्यवत्) हिरण्यादिना तुल्यम् (अश्ववत्) अश्वादिभिः समानम् (सोम) ऐश्वर्य्यमिच्छुक गृहस्थ ! (वीरवत्) प्रशस्तवीरसदृशम् (वाजम्※) अन्नादिपदार्थमयं यज्ञम्, अत्राशंआदित्वादच् (गोमन्तम्) प्रशस्तेन्द्रियादिसम्बन्धम् (आ) (भर) धर (स्वाहा) सत्यया वाचा, सत्यक्रियया वा ॥ ६३ ॥

अन्वयः—हे सोम ! त्वं स्वाहा हिरण्यवदश्ववद् वीरवद् गोमन्तं† वाजमन्नमाभर, तेन जगदापवस्व ॥६३॥

अत्रोपमालंकारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैः पुरुषार्थेन सुवर्णादिधनमासाद्याश्वादयो रक्षणीयास्तदनन्तरं वीरश्च, कुतो यावदेतां सामग्रीं नाभरन्ति, ‡ तावद् गृहाश्रमाख्ययज्ञमप्यलंकर्त्तुं न शक्नुवन्ति । [अतः पुरुषार्थेन गृहाश्रमस्योन्नतिः कर्त्तव्या] ॥ ६३ ॥

× अस्मिन्नध्याये गृहस्थधर्मसेवनाय ब्रह्मचारिण्या कन्यया कुमारब्रह्मचारिस्वीकरणं, गृहाश्रमधर्मवर्णनं, राजप्रजासभापत्यादिकृत्यमुक्तमत एतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह संगतिरस्तीति बोद्धव्यम् ॥

[इति श्रीयुतपरिव्राजकाचार्य्यमहाविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्येऽष्टमोऽध्यायः समाप्तिं गतः ॥ ८ ॥]

मनुष्य किसके तुल्य यज्ञ का सेवन करें, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (सोम) ऐश्वर्य्य चाहनेवाले गृहस्थ ! तू (स्वाहा) सत्यवाणी वा सत्यक्रिया से (हिरण्यवत्) सुवर्ण आदि पदार्थों के तुल्य (अश्ववत्) अश्व आदि उत्तम पशुओं के समान (वीरवत्) प्रशंसित

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हिरण्यवत्) 'हिरण्य' शब्दः पूर्वं य० १ । १६ पृ० ८७ व्याख्यातः, ततो मतुप् । वतिप्रत्यये तु छान्दसः स्वरः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥

(अश्ववत्) अश्वशब्दः पूर्वं यजुः २ । ५९ व्याख्यातः । ततो मतुप् ॥

(वीरवत्) स्फायितञ्चि० (उ० २ । १३) इति रक्, प्रत्ययस्वरः । ततो मतुप् ॥

(गोमन्तम्) प्रत्ययस्वरेणोदात्तो 'गो' शब्दः । ततो मतुप् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 कैसे जन यज्ञ का अनुष्ठान करने में समर्थ होते हैं, यह दर्शाते हैं— ॥ ६३ ॥

※ पदमिदं ग. कोशे सन्नपि अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तम् ॥ † 'अन्नं वाजमाभर' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
‡ 'तावद् गृहाश्रमाख्यव्यो यज्ञम्' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥
× 'अस्मिन्······बोद्धव्यम्' इति पाठो हस्तलेखेषु नास्ति ॥

वीरों के तुल्य (गोमन्तम्) उत्तम इन्द्रियों से सम्बन्ध रखनेवाले (वाजम्) अन्नादिमय यज्ञ का (आभर) आश्रय रख और उस से संसार को (आ) अच्छे प्रकार (पवस्व) पवित्र कर ॥ ६३ ॥

[इस मन्त्र में उपमालंकार है ॥]

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि अपने पुरुषार्थ से सुवर्ण आदि धन को इकट्ठा कर, घोड़े आदि उत्तम पशुओं को रक्खें, तदनन्तर वीरों को रक्खें, क्योंकि जबतक इस सामग्री को नहीं रखते, तबतक गृहाश्रमरूपी यज्ञ परिपूर्ण नहीं कर सकते, इसलिये सदा पुरुषार्थ से गृहाश्रम की उन्नति करते रहें ॥ ६३ ॥

❀ इस अध्याय में गृहस्थधर्म सेवन के लिये ब्रह्मचारिणी कन्या को कुमार ब्रह्मचारी का स्वीकार, गृहस्थधर्म का वर्णन, राजा प्रजा और सभापति आदि का कर्त्तव्य कहा है, इसलिये इस अध्यायोक्त अर्थ के साथ पूर्व अध्याय में कहे अर्थ की संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीयुतपरिव्राजकाचार्य्यमहाविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्येऽष्टमोऽध्यायः समाप्तिं गतः ॥ ८ ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः

❀ 'इस······जाननी चाहिये' इति पाठो हस्तलेखेषु नास्ति ॥

अथ नवमाऽध्यायारम्भः

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

देव सवितरित्यस्य इन्द्राबृहस्पती ऋषी । सविता देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

विद्वद्भिश्चक्रवर्त्ती कथं कथमुपदेष्टव्य इत्युपदिश्यते[1] ॥

देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥

देव । सवितुरिति सवितः । प्र । सुव । यज्ञम् । प्र । सुव । यज्ञपतिमिति यज्ञऽपतिम् । भगाय ॥ दिव्यः । गन्धर्वः । केतपूरिति केतऽपूः । केतम् । नः । पुनातु । ‡ वाचः । पतिः । वाजम् । नः । स्वदतु । स्वाहा ॥ १ ॥

पदार्थः—(देव) दिव्यगुणसंपन्न (सवितः) सकलैश्वर्यसंयुक्त सम्राट् ! (प्र) (सुव) ईर्ष्व (यज्ञम्) सर्वेषां सुखजनकं राजधर्मम् (प्र) (सुव) (यज्ञपतिम्)[2] राजधर्मपालकम् (भगाय) समग्रैश्वर्याय (दिव्यः) प्रकाशमानेषु क्षत्रगुणेषु भवः (गन्धर्वः) गां पृथिवीं धरतीति, पृषोदरादिना गोशब्दस गम्भावः (केतपूः) यः केतं प्रज्ञां पुनाति पवित्रीकरोति सः (केतम्) प्रज्ञाम् केतमिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघ० ३ । ९ । (नः) अस्माकं प्रजाराजपुरुषाणाम् (पुनातु) शुन्धतु (वाचस्पतिः) अध्ययनाध्यापनोपदेशैर्वाण्याः पालकः (वाजम्) अन्नम् (नः) अस्माकम् (स्वदतु) ❀आभुनक्तु (स्वाहा) वेदवाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । १ । १६ व्याख्यातः ॥ १ ॥

---

१ षष्ठाध्याये राजधर्ममुपक्रम्य सप्तमे चापि तदेवोपवर्ण्याष्टमे गृहाश्रमं निरूप्येदानीं नवमाध्याये प्रकारान्तरेण पूर्वप्रसक्तमेव राजधर्ममुपोद्बलयति । तत्र चादौ चक्रवर्त्तिनोऽपि स्वकल्याणाय राष्ट्रकल्याणाय च सत्यसंस्थानामाचारनिष्ठानां विदुषामनुचराः स्युरिति तेषां विदुषामुपदेशप्रकारं दर्शयति—

२ सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः । तै० २ । ५ । ७ । ४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गन्धर्वः) पूर्वं य० २ । ३ पृ० १६१ व्याख्यातः । तत्रोद्धृतं गवि गन् धृञो वः इति सूत्रं केवलं नारायणवृत्तौ [उ० ५ । ८४] एव दृश्यते, अतोऽत्र प्रकारान्तरेण पृषोदरादित्वात् सिद्धमित्याह भाष्यकारः ॥

(केतपूः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(केतम्) 'कित ज्ञाने' इत्यस्माद् भावे घञ् । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

देवराजस्तु—'चायृ पूजानिशामनयोः, चायः की (उ० १ । ७४) इति तप्रत्ययो धातोः कीरादेशो गुणश्च' इत्याह पृ० ३२५ । तन्न, चायः की इत्यस्य तु प्रत्ययप्रकरणे पाठात् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

‡ 'वाचः ऽपतिः' इति अ० मु० अपपाठः ॥

❀ साम्प्रतिकानां मते तु 'आभुङ्क्ताम्' ॥

अन्वयः—हे देव सवितः ! त्वं भगाय स्वाहा यज्ञं प्रसुव, यज्ञपतिं प्रसुव यतो दिव्यो गन्धर्वः केतपूर्वाचस्पतिः [1]प्रजाराजजनः स्वाहा नः केतं पुनातु, नः स्वाहा वाजं स्वदतु[2] ॥ १ ॥

भावार्थः—न्यायेन प्रजापालनं विद्याप्रदानकरणमेव राज्ञां यज्ञोऽस्ति ॥ १ ॥

विद्वान् लोग चक्रवर्त्ती राजा को कैसा २ उपदेश करें, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

पदार्थः—हे (देव) दिव्य गुण युक्त (सवितः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाले राजन् ! आप (भगाय) सब ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (स्वाहा) वेदवाणी से (यज्ञम्) सबको सुख देनेवाले राजधर्म का (प्र) (सुव) प्रचार और (यज्ञपतिम्) राजधर्म के रक्षक पुरुष को (प्र) (सुव) प्रेरणा कीजिये, जिससे (दिव्यः) प्रकाशमान दिव्य गुणों में स्थित (गन्धर्वः) पृथिवी को धारण और ‡(केतपूः) बुद्धि को शुद्ध करनेवाला (वाचस्पतिः) पढ़ने पढ़ाने और उपदेश से विद्या का रक्षक सभापति, राजपुरुष है, वह (नः) हमारी (केतम्) बुद्धि को (पुनातु) शुद्ध करे और [(नः)] हमारे (वाजम्) अन्न को सत्यवाणी से (स्वदतु) अच्छे प्रकार भोगे ॥ १ ॥

भावार्थः—न्याय से प्रजा का पालन और विद्या का दान करना ही राजपुरुषों का यज्ञ करना है ॥ १ ॥

ध्रुवसदं त्वेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । ध्रुवसदमिति पूर्वस्यार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । ※पञ्चमः स्वरः । अप्सुसदमित्यस्य विकृतिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ।

मनुष्याः कीदृशं राजानं स्वीकुर्य्युरित्याह[4] ॥

ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनःसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ २ ॥

---

1 अत्र प्रजाजनशब्देनाध्यापकोपदेशकौ गृह्येते ॥

2 मन्त्रोऽयमर्थभेदेन य० ११ । ७ तथा ३० । १ व्याख्यातः ॥

3 षष्ठाध्याय में राजधर्म का उपक्रम तथा सप्तम में उसका वर्णन करके, अष्टम में गृहाश्रम सम्बन्धी कर्त्तव्यों का निरूपण करते हुए अब नवमाध्याय में प्रकारान्तर से पूर्व-प्रसङ्ग-प्राप्त राजधर्म का ही निरूपण करते हैं ॥

प्रथम मन्त्र में चक्रवर्त्ती राजा तक भी अपने वा अपने राष्ट्र के कल्याण के लिये सत्य तथा आचार में निष्ठावान् विद्वानों की आज्ञा में चलनेवाले हों, अतः उन विद्वानों का उपदेश किस प्रकार का होना चाहिये, सो दर्शाते हैं— ॥ १ ॥

4 सुसमीक्ष्यैव राज्ञो निर्वाचनं सर्वसुखावहमिति तत्स्वीकारे नियमान् दर्शयति—

---

‡ '(केतपूः)' इदं पदं क. कोशे वर्तते ॥

※ 'पञ्चमःस्वरः' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥

ध्रुवसदमिति ध्रुवऽसदम् । त्वा । नृषदम् । नृसदमिति नृऽसदम् । ❀ मनःसदमिति मनःऽसदम् । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् ॥ अप्सुषदम् । अप्सुसदमित्यप्सुऽसदम् । त्वा । घृतसदमिति घृतऽसदम् । व्योमसदमिति व्योमऽसदम् । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् ॥ पृथिविसदमिति पृथिविऽसदम् । त्वा । अन्तरिक्षसदमित्यन्तरिक्षऽसदम् । दिविसदमिति दिविऽसदम् । देवसदमिति देवऽसदम् । नाकसदमिति नाकऽसदम् । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् ॥ २ ॥

पदार्थः—(ध्रुवसदम्) ध्रुवेषु विद्याविनययोगधर्मेषु सीदन्तम् (त्वा) त्वाम् (नृषदम्) † नृषुनायकेषु सीदन्तम् (मनःसदम्) मनसि विज्ञाने तिष्ठन्तम् (उपयामगृहीतः) उपगतैर्यमानामिमकैः {} सेवकैः पुरुषैः स्वीकृतः (असि) भवसि (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय जगदीश्वराय (त्वा) (त्वाम्) (जुष्टम्) जुषमाणम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (एषः) (ते) तव (योनिः) कारणम् (इन्द्राय) राज्यैश्वर्याय (त्वा) (जुष्टतमम्) अतिशयेन जुषमाणम् (अप्सुसदम्) जलेषु गच्छन्तम् (त्वा) (घृतसदम्) आज्यं प्राप्नुवन्तम् (व्योमसदम्) विमानैर्व्योम्नि गच्छन्तम् (उपयामगृहीतः) उपयामैः प्रजाराजजनैः स्वीकृतः (असि) (इन्द्राय) ऐश्वर्य्यधारणाय (त्वा) (जुष्टम्) प्रीतम् (गृह्णामि) (एषः) (ते) (योनिः) ‡ गृहम् (इन्द्राय) दुष्टशत्रुविदारणाय[1] [(त्वा)] (जुष्टतमम्) (पृथिविसदम्[2]) पृथिव्यां गच्छन्तम्, अत्र ङ्यापोः सञ्ज्ञाछन्दसोर्बहुलम् । अ० ६ । ३ । ६३ इति पूर्वपदस्य ह्रस्वः (त्वा) (अन्तरिक्षसदम्) अवकाशे गमकम् (दिविसदम्) न्यायप्रकाशे व्यवस्थितम् (देवसदम्) देवेषु धार्मिकेषु विद्वत्सु व्यवस्थितम् (नाकसदम्) अविद्यमानं कं सुखं यस्मिन् तदकमेतन्नास्ति यस्मिन् परमेश्वरे धर्मे वा तत्रस्थम् (उपयामगृहीतः) साधनोपसाधनैः संयुक्तः (असि) (इन्द्राय) विद्यायोगमोक्षैश्वर्याय (त्वा) (जुष्टम्) (गृह्णामि) (एषः) (ते) (योनिः) निवसतिः (इन्द्राय) सर्वैश्वर्य्यसुखप्राप्तये (त्वा) (जुष्टतमम्) ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । २ । ३–६ व्याख्यातः ॥ २ ॥

अन्वयः—हे सम्राडहमिन्द्राय यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तं ध्रुवसदं नृषदं [त्वा] मनःसदं जुष्टं [च] त्वा गृह्णामि । यस्यैष ते योनिरस्ति तं जुष्टतमं त्वेन्द्राय गृह्णामि । हे राजन्नहमिन्द्राय यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तमप्सुसदं घृतसदं [त्वा] व्योमसदं जुष्टं [च] त्वा गृह्णामि । हे सर्वरक्षक सभाध्यक्ष यस्यैष ते योनिरस्ति तं जुष्टतमं त्वेन्द्राय गृह्णामि । हे सार्वभौम राजन्नहमिन्द्राय यस्त्वमुपयामगृहीतोसि, पृथिविसदमन्तरिक्षसदं [त्वा] दिविसदं देवसदं नाकसदं जुष्टं [च] त्वा गृह्णामि । हे सर्वसुखप्रद प्रजापते यस्यैष ते योनिरस्ति तं जुष्टतमं त्वेन्द्राय गृह्णामि ॥ २ ॥

१ अत्राग्रेऽपि च भावे रक् प्रत्यय इति बोध्यम् ॥

२ 'पृथिवीसदम्' इति क्वाचित्कः पाठः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ध्रुवसदम्, नृषदम्, मनःसदम्, अप्सुषदम्, घृतसदम्, व्योमसदम्, पृथिविसदम्, अन्तरिक्षसदम्, दिविसदम्, देवसदम्, नाकसदम्) अत्र सर्वत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरो द्रष्टव्यः । 'नृषदम्' 'अप्सुषदम्' इत्यत्र सुषामादिषु च (अ० ८ । ३ । ९८) इति षत्वम्, 'अप्सुषदं' 'दिविसदं'मित्यत्र च तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अ० ६ । ३ । १४) इत्यलुक् । पृथिविसदमित्यत्र ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (अ० ६ । ३ । ६३) इति ह्रस्वत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

❀ 'मनःऽसदमिति मनःऽसदम्' इति अ० मु० अपपाठः ॥

† 'नायकेषु' इति अ० मु० पाठः ॥

{} 'मिमैः' इति अ० मु० पाठः ॥

‡ 'गृहम्' इति कोशेषु वर्तते ॥

भावार्थः—हे राजप्रजाजना यथा सर्वव्यापकेन परमेश्वरेण सर्वैश्वर्य्याय जगन्निर्माय सर्वेभ्यः सुखं दीयते तथा यूयमप्याचरत, अतो धर्मार्थकाममोक्षफलानां प्राप्तिः सुगमा स्यात् ॥ २ ॥

फिर मनुष्य लोग किस प्रकार के पुरुष को राज्याऽधिकार में स्वीकार करें, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे चक्रवर्त्ति राजन् ! मैं (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिये जो आप (उपयामगृहीतः) योगविद्या के प्रसिद्ध अङ्ग यम के सेवनेवाले पुरुषों से स्वीकार किये (असि) हो। उस (ध्रुवसदम्) निश्चल विद्या विनय और योग धर्मों में स्थित (नृषदम्) नायक पुरुषों में अवस्थित [(त्वा) आपको तथा] (मनःसदम्) विज्ञान में स्थिर (जुष्टम्) प्रीतियुक्त (त्वा) आपको (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ। जिस (ते) आपका (एषः) यह (योनिः) सुख निमित्त है, उस (जुष्टतमम्) अत्यन्त सेवनीय (त्वा) आपको [(इन्द्राय) राज्य और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये] धारण करता हूँ। हे राजन् ! मैं (इन्द्राय) ऐश्वर्य धारण के लिये जो आप (उपयामगृहीतः) प्रजा और राजपुरुषों से स्वीकार किये (असि) हो। उस (अप्सुसदम्) जलों के बीच चलते हुए (घृतसदम्) घी आदि पदार्थों को प्राप्त हुए [(त्वा) आपको] और (व्योमसदम्) विमानादि यानों से आकाश में चलते हुए (जुष्टम्) सबके प्रिय (त्वा) आपका (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ। हे सबकी रक्षा करनेहारे सभाध्यक्ष राजन् ! जिस (ते) आपका (एषः) यह (योनिः) सुखदायक घर है, उस (जुष्टतमम्) अति प्रसन्न (त्वा) आपको (इन्द्राय) दुष्ट शत्रुओं के मारने के लिये स्वीकार करता हूँ। हे सब भूमि में प्रसिद्ध राजन् ! मैं (इन्द्राय) विद्या, योग और मोक्षरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये जो आप (उपयामगृहीतः) साधन उपसाधनों से युक्त (असि) हो, उस (पृथिविसदम्) पृथिवी में भ्रमण करते हुए (अन्तरिक्षसदम्) अवकाश में चलने वाले [(त्वा) आपको और] (दिविसदम्) न्याय के प्रकाश में नियुक्त (देवसदम्) धर्मात्मा और विद्वानों के मध्य में अवस्थित (नाकसदम्) सब दुःखों से रहित परमेश्वर और धर्म्म में स्थिर (जुष्टम्) सेवनीय (त्वा) आपको (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ। हे सब सुख देने और प्रजापालन करनेहारे राजपुरुष ! जिस (ते) तेरा (एषः) यह (योनिः) रहने का स्थान है, उस (जुष्टतमम्) अत्यन्त प्रिय (त्वा) आपको (इन्द्राय) समग्र‡ऐश्वर्य सुख होने के लिये (गृह्णामि) ग्रहण करता हूँ ॥२॥

भावार्थः—हे राजप्रजाजनो ! जैसे सर्वव्यापक परमेश्वर सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य के लिये जगत् रच के सब के लिये सुख देता है, वैसा ही आचरण तुम लोग भी करो कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों की प्राप्ति सुगम होवे ॥ २ ॥

अपामित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। इन्द्रो देवता। [निचृद्] अतिशक्वरी छन्दः। पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः प्रजाजनैः कथंभूतो जनो राजा माननीय इत्युपदिश्यते[2] ॥

अपाꣳ रसमुद्वयसꣳ सूर्ये सन्तꣳ समाहितम्। अपाꣳ रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ३ ॥

१ सब प्रकार परीक्षा के पश्चात् ही राजा का निर्वाचन सब सुखों का हेतु होता है, अतः राजा के निर्वाचन में प्रजाजन किन २ नियमों का परिपालन करें, सो कहते हैं— ॥ २ ॥

२ पूर्वोक्तमेवोपोद्बलयति—

‡ 'ऐश्वर्य' इति हस्तलेखपाठः ॥

अपाम् । रसम् । उद्वयसमित्युत्ऽवयसम् । सूर्ये । सन्तम् । समाहितमिति समऽआहितम् ॥ अपाम् । रसस्य । यः । रसः । तम् । वः । गृह्णामि । उत्तममित्युत्ऽतमम् । उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अपाम्) जलानाम् (रसम्) सारम् (उद्वयसम्) उत्कृष्टं वयो जीवनं यस्मात् तम् (सूर्ये) सवितृप्रकाशे (सन्तम्) वर्त्तमानम् (समाहितम्) सम्यक् सर्वतो धृतम् (अपाम्) जलानाम् (रसस्य) सारस्य (यः) (रसः) वीर्यं धातुः (तम्) (वः) युष्मभ्यम् (गृह्णामि) (उत्तमम्) श्रेयांसम् (उपयामगृहीतः) साधनोपसाधनैः स्वीकृतः (असि) (इन्द्राय) परमेश्वराय (त्वा) (जुष्टम्) प्रीत्या वर्त्तमानम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (एषः) (ते) तव (योनिः) गृहम् (इन्द्राय) परमैश्वर्याय (त्वा) (जुष्टतमम्) ॥ अयं मन्त्रः । शत० ५ । १ । २ । ७ व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे राजन्नहमिन्द्राय वः *युष्मभ्यं सूर्ये सन्तं समाहितमुद्वयसमपां रसं गृह्णामि । योऽपां रसस्य रसस्तमुत्तमं वो गृह्णामि । ‡यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तमिन्द्राय [त्वा] जुष्टं गृह्णामि, यस्यैष ते योनिरस्ति तमिन्द्राय जुष्टतमं त्वा गृह्णामि ॥ ३ ॥

भावार्थः—राजा स्वभृत्यप्रजाजनान् शरीरात्मबलवर्धनाय ब्रह्मचर्य्यौषधविद्यायोगाभ्याससेवने नियुञ्जीत, यतः सर्वे रोगरहिताः सन्तः पुरुषार्थिनः स्युः ॥ ३ ॥

फिर प्रजाजनों को कैसा पुरुष राजा मानना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[१] ॥

पदार्थः—हे राजन् ! मैं (इन्द्राय) ऐश्वर्य्य प्राप्ति के लिये (वः) तुम्हारे लिये (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में (सन्तम्) वर्त्तमान (समाहितम्) सर्व प्रकार चारों ओर धारण किये (उद्वयसम्) उत्कृष्ट जीवन के हेतु (अपाम्) जलों के (रसम्) सार को [(गृह्णामि)] ग्रहण करता हूँ, (यः) जो (अपाम्) जलों के (रसस्य) सार का (रसः) सार वीर्य धातु है, (तम्) उस (उत्तमम्) कल्याणकारक रस का तुम्हारे लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूँ, जो आप (उपयामगृहीतः) साधन तथा उपसाधनों से स्वीकार किये गये (असि) हो, उस †आपको (इन्द्राय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (जुष्टम्) प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले [(त्वा)] आपको

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उद्वयसम्) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(सन्तम्) शतृस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(समाहितम्) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इत्याकार उदात्तः ॥

(उत्तमम्) उत्पूर्वात् तमधातोर्घञि नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः (अ० ७ । ३ । ३४) इति वृद्ध्यभावः । थाथघञ्क्ताज० (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । यद्वा 'उद्गतस्य प्रकर्षोऽयं गतशब्दोऽत्र लुप्यते' (अ० ४ । १ । ७८ भाष्ये) इति महाभाष्यवचनात् प्रकर्षे तमपि पित्त्वादनुदात्तत्वे प्राप्ते 'उत्तमशश्वत्तमशब्दौ सर्वत्र' (अ० ६ । १ । १६० ग. सू.) इत्युञ्छाद्यन्तर्गतगणसूत्रेणान्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[१] पूर्वोक्त विषय को ही सुदृढ करते हैं—

* 'युष्मभ्यं' इति हस्तलेखपाठः ॥

‡ 'यस्त्वम्'''''जुष्टं गृह्णामि' इति पाठः 'क' कोशे सन्नपि 'ग' कोशे प्रमादेन त्यक्तः ॥

† 'आपको' इति हस्तलेखपाठः ॥

ग्रहण करता हूँ, जिस (ते) आपका (एषः) यह (योनिः) घर है, उस (जुष्टतमम्) अत्यन्त सेवनीय (त्वा) आपको परम सुख होने के लिये ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि अपने नौकर, प्रजा पुरुषों को शरीर और आत्मा के बल बढ़ाने के लिये ब्रह्मचर्य, ओषधि, विद्या और योगाभ्यास के सेवन में नियुक्त करे, जिससे सब मनुष्य रोगरहित होकर पुरुषार्थी होवें ॥ ३ ॥

ग्रहा इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । राजधर्मराजादयो देवताः । भुरिक्कृतिश्छन्दः । निषादः[1] स्वरः ॥

+ *मनुष्यैराप्तो विद्वान् सुपरीक्ष्य × संगन्तव्य इत्युपदिश्यते[2] ॥*

ग्रहा ऽ ऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम् । तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जꣳ समग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

ग्रहाः । ऊर्जाहुतय ‡ इत्यूर्जाऽआहुतयः । व्यन्तः । विप्राय । मतिम् । तेषाम् । विशिप्रियाणामिति विऽशिप्रियाणाम् । वः । अहम् । इषम् । ऊर्जम् । सम् । अग्रभम् ॥ उपयामगृहीत इत्युपयामऽगृहीतः । असि । इन्द्राय । त्वा । जुष्टम् । गृह्णामि । एषः । ते । योनिः । इन्द्राय । त्वा । जुष्टतममिति जुष्टऽतमम् ॥ सम्पृचाविति सम्ऽपृचौ । स्थः । सम् । मा । भद्रेण । पृङ्क्तम् । विपृचाविति विऽपृचौ । स्थः । वि । मा । पाप्मना । पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(ग्रहाः) ग्रहीतारो गृहाश्रमिणः (ऊर्जाहुतयः) ऊर्जा बलप्राणनकारिका आहुतयो ग्रहणानि दानानि वा येषां ते (व्यन्तः) वेदविद्यासु व्याप्नुवन्तः (विप्राय) मेधाविने (मतिम्) बुद्धिम् (तेषाम्) (विशिप्रियाणाम्) विविधे धर्म्ये कर्मणि हनुनासिके[3] येषाम्, शिप्रे ❀हनुनासिके वा । निरु० ६ । १७ (वः) युष्मभ्यम् (अहम्) गृहस्थो राजा (इषम्) अन्नम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (सम्) (अग्रभम्) गृहीतवानस्मि (उपयामगृहीतः) राज्यगृहाश्रमसामग्रीसहितः (असि) (इन्द्राय) पुरुषार्थे द्रवणाय (त्वा) (जुष्टम्) सेवमानम् (गृह्णामि) (एषः) (ते) (योनिः) सुखनिमित्तम् (इन्द्राय) शत्रुविदारकाय बलाय (त्वा) (जुष्टतमम्) अतिशयेन प्रसन्नम् (सम्पृचौ) राजगृहाश्रमव्यवहाराणां सम्यक् पृङ्क्तारौ राजप्रजाजनौ (स्थः) भवतम् (सम्) (मा) माम् (भद्रेण) भजनीयेन सुखप्रदेनैश्वर्येण

१ पक्षान्तरे षड्जः स्वरः ॥

२ पूर्वोक्तकार्ये धार्मिका आप्ता विद्वांस एवोपयुज्यन्त इत्यत आह—

३ उपलक्षणमिदम्, सामान्येन सर्वाणीन्द्रियाणीति यावत् ॥

४ 'पृची सम्पर्चने' 'इदितोऽयमिति दुर्गकाश्यपनन्दिधनपालादयः' इति धातुवृत्तिः (पृ० २३५) तन्मते नुमि प्रयोगोऽयम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ग्रहाः) ग्रहधातोः कर्तरि पचाद्यचि चितः

+ 'मनुष्यै'रित्यस्य 'संगन्तव्यः' इत्यनेन सह संबन्धः ॥

× क. कोशे तु 'संगन्तव्यम्' इति पाठः ॥

‡ 'इत्यूर्जा आ ऽ हुतयः' इत्यस्थानेऽवग्रहचिह्नम् अ० मु० ॥

❀ निरुक्ते तु "शिप्रे हनूनासिके वा" इत्युभयत्र द्विवचनान्तपाठ उपलभ्यते ॥

(पृङ्क्तम्) स्पर्शं कुरुतम् (विपृचौ) विगतसम्पर्कौ (स्थः) स्यातम् (वि) (मा) माम् (पाप्मना) अधर्मात्मना जनेन (पृङ्क्तम्) ॥ अयं मन्त्रः । शत० ५ । १ । २ । ८ व्याख्यातः ॥ ४॥

अन्वयः—हे प्रजाराजपुरुष ! यथाऽहं विप्राय मतिं [ददामि तथा त्वमपि कुरु], [ये] व्यन्त ऊर्जाहुतयो ग्रहाः सन्ति यथा तेषां विशिप्रियाणां मतिमिषमूर्जं च [वः] समग्रभं, तथा त्वमपि गृहाण । हे विद्वन् ! यथा त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तथाहमपि भवेयम्, यथाहमिन्द्राय जुष्टं त्वा गृह्णामि, तथा त्वमपि मां गृहाण । यस्यैष ते योनिरस्ति, तमिन्द्राय जुष्टतमं त्वाहं यथा गृह्णामि, तथा त्वमपि मां गृहाण । यथा स त्वं च युवां धर्म्ये व्यवहारे संपृचौ स्थस्तथा भद्रेण मा मां संपृङ्क्तम् । यथा युवां पाप्मना विपृचौ स्थस्तथाऽनेन मा मामपि विपृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—ये राजप्रजाजना [विद्वांसो] गृहस्था मेधाविने सन्तानाय विद्यार्थिने वा विद्याप्रज्ञां जनयन्ति, दुष्टाचारात् पृथक् स्थापयन्ति, कल्याणकारकं ❀ कर्माचारयन्ति, असत्सङ्गं † विहाय सत्संगं सेवयन्ति, त एवाभ्युदयनिःश्रेयसे लभन्ते, नातो विपरीताः ॥ ४ ॥

मनुष्यों को चाहिये कि आप्त विद्वान् की अच्छे प्रकार परीक्षा करके [उसका] सङ्ग करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राजप्रजापुरुष ! जैसे (अहम्) मैं गृहस्थ जन (विप्राय) बुद्धिमान् पुरुष के ‡ लिये (मतिम्) बुद्धि को देता हूँ, वैसे तू भी किया कर, (व्यन्तः) जो सब विद्याओं में व्याप्त (ऊर्जाहुतयः) बल और

(अ० ६ । १ । ६३) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(ऊर्जाहुतयः) ऊर्क् शब्दः पूर्वं (य० १ । १ पृ० १४) व्याख्यातः । तस्मात् वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः । आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥ (द्र० न्यास अ० ६ । २ । ३७) ॥ इति वचनादाप् । यद्वा ऊर्क् शब्दान्मत्वर्थेऽच्, ततष्टाप् । ततो बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरेऽत्र छान्दसामन्त्रितस्वरः ॥

देवराजस्तु—ऊर्क् शब्दाद् हेतौ तृतीया । ऊर्जा हेतुभूतया आह्वातव्ये इत्याह (पृ० ४७४) ॥

(व्यन्तः) गत्यादिषु वर्त्तमानाद् 'वी' धातोः शतृप्रत्ययः, प्रत्ययस्वरः ॥

(विप्राय) पूर्वं (यजुः ३ । ५) व्याख्यातः ॥

(विशिप्रियाणाम) "सृ गतौ (भू० प०) स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपि० (उ० २।१३) इति रक्, बाहुलकात् सृशब्दस्य शिभावः" (देवराजः पृ० ३९२) ॥ ततो बाहुलकात् कर्मणि कप्रत्ययः । विशब्देन समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अग्रभम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(सम्पृचौ, विपृचौ) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तौ, ततो विभक्तौ अनुदात्ते ॥

(पृङ्क्तम्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(पाप्मना) नामन्सीमन्व्योमन्पाप्मन् (उ० ४ । १५१) इति मनिन् प्रत्ययान्तो निपात्यते । नित्स्वरे प्राप्ते निपातनात् प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ पूर्वोक्त कार्य में आप्त धार्मिक विद्वान् ही उपयुक्त हैं, यह बतलाते हैं— ॥ ४ ॥

❀ 'कर्माचरन्ति'······'सत्संगं भजन्ते' इति क. पाठः ॥

† अन्तर्णीतण्यर्थो द्रष्टव्यः, 'विहाय' इत्यर्थः ॥

‡ 'के सुख के लिये' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

जीवन बढ़ने के लिये दान देने और (ग्रहाः) ग्रहण करनेहारे गृहस्थ लोग हैं, जैसे (तेषाम्) उन (विश्वप्रियाणाम्) अनेक प्रकार के धर्मयुक्त कर्मों में सुख और नासिकावालों के बुद्धि (इषम्) अन्न आदि और (ऊर्जम्) पराक्रम को [(वः) तुम्हारे लिये] (समग्रभम्) ग्रहण कर चुका हूँ, वैसे तुम भी ग्रहण करो। हे विद्वन् मनुष्य! जैसे तू (उपयामगृहीतः) राज्य और गृहाश्रम की सामग्री के सहित वर्त्तमान (असि) है, वैसे मैं भी होऊं। जैसे मैं (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य्य के [निमित्त पुरुषार्थ करने के] लिये (जुष्टम्) प्रसन्न (त्वा) आपको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं, वैसे तू भी मुझे ग्रहण कर! जिस (ते) तेरा (एषः) यह (योनिः) * सुख का निमित्त घर है, उस (इन्द्राय) † शत्रुओं को नष्ट करने के लिये (जुष्टतमम्) अत्यन्त प्रसन्न (त्वा) तुझे मैं [ग्रहण करता हूँ, वैसे तू भी मुझे ग्रहण कर] जैसे वह और तुम दोनों धर्मयुक्त कर्मों में (संपृचौ) संयुक्त (स्थः) हो, वैसे (भद्रेण) सेवनेयोग्य सुखदायक ऐश्वर्य से (मा) मुझको (संपृङ्क्तम्) संयुक्त करो, जैसे तुम [दोनों] (पाप्मना) अधर्मी पुरुष से (विपृचौ) पृथक् (स्थः) हो, इससे (मा) मुझको भी (विपृङ्क्तम्) पृथक् करो ॥ ४ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो राजा और प्रजा में [विद्वान्] गृहस्थ लोग बुद्धिमान् सन्तान वा विद्यार्थी के लिये विद्या होने की बुद्धि देते, दुष्ट आचरणों से पृथक् रखते, कल्याणकारक कर्मों को सेवन कराते और दुष्ट सङ्ग छुड़ा के सत्सङ्ग कराते हैं, वे ही इस लोक और परलोक के सुख को प्राप्त होते हैं, इनसे विपरीत नहीं ॥ ४ ॥

इन्द्रस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। सविता देवता। भुरिगष्टिश्छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

अथ किमर्थः सेनापतिरत्र प्रार्थनीय इत्याह[1] ॥

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि वाज॒सास्त्वया॒यं वाज॑ꣳ सेत्।
वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे।
यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत् ॥ ५ ॥

इन्द्र॑स्य। वज्रः॑। अ॒सि॒। वा॒ज॒सा इति॑ वाज॒ऽसाः। त्वया॑। अ॒यम्। वाज॑म्। से॒त्॥ वाज॑स्य। नु। प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे। मा॒तर॑म्। म॒हीम्। अदि॑तिम्। नाम॑। वच॑सा। क॒रा॒म॒हे॒॥ यस्या॑म्। इ॒दम्। विश्व॑म्। भुव॑नम्। आ॒वि॒वेशेत्या॑ऽवि॒वेश॑। तस्या॑म्। नः॒। दे॒वः। स॒वि॒ता। धर्म॑। सा॒वि॒ष॒त्॥ ५॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य राज्ञः (वज्रः) वज्र इव शत्रुच्छेदकः पुरुषः (असि) भवसि (वाजसाः) यो वाजान् संग्रामान् [सनति] विभजति सः (त्वया) रक्षकेण सेनापतिना सह (अयम्) जनः (वाजम्) संग्रामम् (सेत्) सिनुयात्, अत्र सिञ् बन्धन इत्यस्माल्लिङि विकरण-लुगडभावश्च (वाजस्य) संग्रामस्य (नु) क्षिप्रम् (प्रसवे) ऐश्वर्य्ये (मातरम्) मान्यप्रदाम् (महीम्) पृथिवीम् (अदितिम्) अखण्डिताम् (नाम) प्रसिद्धौ (वचसा) वेदोक्तन्यायोपदेशवचनेन (करामहे) कुर्य्याम, अत्र लेटि व्यत्ययेन शप्, अथवा भ्वादिर्मन्तव्यः (यस्याम्) पृथिव्याम् (इदम्)

[1] राष्ट्रपतिं स्वीकृत्यारम्भ एव पुत्रस्थानीयाः प्रजास्था जनास्तं प्रति स्वभूत्यर्थं स्वहृद्गतभावानुद्भावयेयुरिति दर्शयति—

* 'सुख का निमित्त' इति क. पाठः, गकोशे अ० मु० च नास्ति ॥
† 'पशुओं' इति अ० मु० पाठः। 'शत्रुओं' इति गकोशे शुद्धः पाठः ॥

प्रत्ययालम्बनम् (विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) जगत् (आविवेश) आविष्टमस्ति (तस्याम्) (नः) अस्माकम् (देवः) सर्वप्रकाशकः (सविता) सकलजगदुत्पादकः (धर्म) धारणम् (साविषत्) सवेत् । अत्र सिब्बहुलं णिद्० [अ० ३ । १ । ३४ मा० वा०] इति सिपि वृद्धिः ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ४ । ३, ४ व्याख्यातः ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे वीर ! यस्यां त्वमिन्द्रस्य वाजसा वज्रोऽसि, तेन त्वया सहाऽयं वाजं सेद् यत्रेदं विश्वं भुवनमाविवेश, यत्र देवः सविता नो धर्म साविषत्, तस्यां नाम वाजस्य प्रसवे मातरमदितिं महीं वचसा ‡ वयं नु करामहे ॥५॥

अत्र ❀ वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—हे मनुष्या येयं भूमिर्भूतानां सौभाग्यजननी मातृवत् पालिकाऽऽधारभूता प्रसिद्धास्ति, तां विद्यान्यायधर्मयोगेन राज्याय यूयं सेवध्वम् ॥ ५ ॥

अब किस लिये सेनापति की प्रार्थना यहां करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे वीरपुरुष ! (यस्याम्) जिस [पृथिवी] में आप (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्ययुक्त राजा के (वाजसाः) संग्रामों का विभाग करनेवाले (वज्रः) वज्र के समान शत्रुओं को काटनेवाले (असि) हो, उस (त्वया) रक्षक आपके साथ (अयम्) यह पुरुष (वाजम्) संग्राम का (सेत्) प्रबन्ध करे । जहाँ (इदम्) प्रत्यक्ष वर्तमान (विश्वम्) सब (भुवनम्) जगत् (आविवेश) प्रविष्ट है, और जहां (देवः) सबका प्रकाशक

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वज्रः) वजधातो ऋज्रेन्द्राग्र० (उ० २ । २८) इति रन् । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(वाजसाः) जनसनखन० (अ० ३ । २ । ६७) इति विट् जनसनखनां सञ्झलोः (अ० ६ । ४ । ४२) इत्यात्वे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(सेत्) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥

(करामहे) अस्मिन् विषये य० ३ । ५८ पृ० ३४५ भाष्यम्, य० ७ । २५ पृ० ६१६ विवरणं टि० २ च द्रष्टव्यम् ॥

(आविवेश) पूर्वं (यजुः ८ । ३६) पृष्ठ ७१० व्याख्यातः ॥

(साविषत्) सवतेर्लेटि शपः स्थाने सिब्बहुलं लेटि (अ० ३ । १ । ३४) इति सिपि इटि णिद्वद्भावे वृद्धौ तिपि, अटि इतश्च लोपः० (अ० ३ । ४ । ९७) इतीकारलोपे 'साविषत्' इति रूपम् ॥

भट्टभास्करस्तु—"सुवतेर्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' इति सिब्विकरणलुक्, इतश्च लोपः, गुणे कृते छान्दसं दीर्घत्वम्" इत्याह (तै० सं० भा० १ । ७ । ९ भा० ३ पृ० ५४) । तत् सर्वमयुक्तम्, तस्य लेट् प्रक्रियानभिज्ञत्वं च सूचयति ॥

(धर्म) मनिन्प्रत्ययान्त आद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

▮ राष्ट्रपति के निर्वाचन के पश्चात् पुत्रतुल्य प्रजाजन आरम्भ में ही अपने कल्याणार्थ उसे अपने हृदयगत भावों को प्रकट कर दें, यह कहते हैं—॥५॥

---

‡ 'वयं' इति पदं अ० मु० नास्ति, हस्तलेखेषु वर्तते ॥

❀ अत्रान्वये 'वज्रोऽसि वज्र इवासि' इत्यभिप्रायः (द्र० संस्कृतपदार्थे), तन्निमित्तक एवात्र वाचकलुप्तोपमालंकारो दर्शित इति ध्येयम् ।

(सविता) सब जगत् का उत्पादक परमात्मा (नः) हमारा (धर्म) धारण (साविषत्) करे । (तस्याम्) उसमें (नाम) प्रसिद्ध (वाजस्य) संग्राम के (प्रसवे) ऐश्वर्य्य में (मातरम्) मान्य देनेहारी (अदितिम्) अखण्डित (महीम्) पृथिवी को (वचसा) वेदोक्त न्याय के उपदेशरूप वचन से हम लोग (नु) शीघ्र (करामहे) ग्रहण करें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो यह भूमि प्राणियों के लिये सौभाग्य के उत्पन्न, माता के समान रक्षा और सबको धारण करनेहारी प्रसिद्ध है, उसका विद्या न्याय और धर्म्म के योग से राज्य के लिये तुम लोग सेवन करो ॥ ५ ॥

अप्स्वन्तरित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । अश्वो देवता । भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

पुनः स्त्रीपुरुषैः कथं भवितव्यमित्याह[1] ॥

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः ।
देवीरापो यो व ऽ ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजꣳ सेत् ॥ ६ ॥

अप्स्वित्यप्ऽसु । अन्तः । अमृतम् । अप्स्वित्यप्ऽसु । भेषजम् । अपाम् । उत । प्रशस्तिष्विति प्रऽशस्तिषु । अश्वाः । भवत । वाजिनः ॥ देवीः । आपः । यः । वः । † ऊर्मिः । प्रतूर्त्तिरिति प्रऽतूर्त्तिः ‡ ककुन्मानिति ककुत्ऽमान् । वाजसा इति वाजऽसाः । तेन । अयम् । वाजम् । सेत् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अप्सु) प्राणेषु (अन्तः) मध्ये (अमृतम्) मरणधर्मरहितं कारणम् ❀अल्पमृत्युनिवारकं वा (अप्सु) जलेषु (भेषजम्) रोगनाशकमौषधम् (अपाम्) उक्तानाम् (उत) अपि (प्रशस्तिषु) गुणानां प्रशंसासु (अश्वाः) वेगवन्तः (भवत) (वाजिनः) वाजः प्रशस्तः पराक्रमो बलं वा येषां ते (देवीः) दिव्यगुणाः (आपः) अन्तरिक्षे व्याप्तिशीलाः (यः) (वः) युष्माकम् (ऊर्मिः) आच्छादकस्तरङ्गः (प्रतूर्तिः) प्रकृष्टा तूर्णगतिर्यस्य सः (ककुन्मान्) प्रशस्ताः ककुतः लौल्या गुणा विद्यन्ते यस्मिन्, अत्र ककधातोरौणादिक उतिः [उ० १ । ९४] (वाजसाः) वाजान् संग्रामान् सनन्ति संभजन्ति येन सः (तेन) (अयम्) सेनापतिः (वाजम्) संग्राममन्नं च (सेत्) संबध्नीयात् ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ४ । ६ व्याख्यातः ॥ ६ ॥

[1] कल्याणकामः पितृस्थानीयः स राष्ट्रपतिः स्वप्रजाजनानां हृत्सु संविशेत् तांश्चोद्बोधयेदिति निरूपयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अप्सु) ऊडिदंपदाद्यप्० (अ० ६ । १ । १७१) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(उत) पूर्वं (यजुः ३ । २५) व्याख्यातः ॥

(भवत) वाक्यादौ वर्तमानस्य 'अश्वाः' इत्यामन्त्रितस्य आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इति अविद्यमानवत्त्वे निघाताभावे धातुस्वरः ।

(वाजिनः) पूर्वं (यजुः १।२९) व्याख्यातः ॥

(देवीः) वा च्छन्दसि (अ० ६ । १ । १०६) इति पूर्वसवर्णः । आमन्त्रितस्य च (अ० ६ । १ । १९८) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(आपः) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ०

† 'ऊर्मिः' इति स्वररहितः पाठः अ० मु० ॥

‡ 'ककुन्मानिति' इत्यपस्वरपाठः अ० मु० ॥

❀ 'अपमृत्यु' इति युक्तं स्यात् ॥

अन्वयः—हे देवीरापो देवा विद्वांसश्च यूयं यो वः समुद्रस्य ककुन्मान् वाजसाः प्रतूर्त्तिरूर्मिरिव पराक्रमोऽस्ति, [उत] यदप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजं चास्ति, येनायं वाजं सेत्, तेनाऽपां प्रशस्तिषु वाजिनोऽश्वा इव भवत ॥ ६ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—स्त्रियः सागर इव गम्भीरा जलमिव शान्तस्वभावा वीरप्रसवाः सदौषधसेविन्यो जलादिपदार्थाभिज्ञाः स्युः, एवं ये पुरुषा वायुजलवेत्तृभिः सह संप्रयुञ्जते, तास्ते चारोगाः सन्तो विजयिनश्च स्युः ॥ ६ ॥

फिर स्त्रीपुरुषों को कैसा होना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (देवीः) दिव्यगुणवाली (आपः) ※अन्तरिक्ष में व्यापक स्त्रियो [और विद्वान्] पुरुष लोगो ! तुम (यः) जो (वः) तुम्हारा सागर के [समान] (ककुन्मान्) प्रशस्त चञ्चल गुणों से युक्त (वाजसाः) संग्रामों के सेवने का हेतु (प्रतूर्त्तिः) अति शीघ्र चलनेवाला समुद्र के (ऊर्मिः) आच्छादन करनेहारे तरंगों के समान पराक्रम [(उत)] और जो (अप्सु) प्राण के (अन्तः) मध्य में (अमृतम्) मरणधर्मरहित [अथवा] †अल्पमृत्यु से छुड़ानेवाला कारण और जो (अप्सु) जलों के मध्य (भेषजम्) रोगनिवारक औषध के समान गुण है, जिससे (अयम्) यह सेनापति (वाजम्) संग्राम और अन्न को ‡(सेत्) प्रबन्ध करे (तेन) उससे (अपाम्) उक्त प्राणों और जलों की (प्रशस्तिषु) गुण प्रशंसाओं में (वाजिनः) प्रशंसित बल और पराक्रमवाले (अश्वाः) कुलीन घोड़ों के समान वेगवाले (भवत) हूजिये ॥ ६ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—स्त्रियों को चाहिये कि समुद्र के समान गम्भीर, जल के समान शान्तस्वभाव, वीरपुत्रों की उत्पन्न करने, नित्य [उत्तम] ओषधियों को सेवने और जलादि पदार्थों को ठीक २ जाननेवाली होवें। इसी प्रकार जो पुरुष वायु और जल के गुणों के वेत्ता पुरुषों से संयुक्त होते हैं, वे रोगरहित होकर विजयकारी होते हैं ॥ ६ ॥

---

८ । १ । ७२) इत्यविद्यमानत्वे प्राप्ते नामन्त्रिते समानाधिकरणे० (अ० ८ । १ । ७३) इति निषेधे सर्वनिघातः ॥

(प्रशस्तिषु, प्रतूर्त्तिः) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६ । २ । ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(ककुन्मान्) ककुच्छब्दः पूर्वं (यजु० ३ । १२) अपि द्रष्टव्यः । उतिप्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ककुच्छब्दः, ततो मतुप् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ पिता के तुल्य, कल्याण का इच्छुक वह राष्ट्रपति अपने प्रजाजनों के हृदयों में प्रविष्ट होकर उन्हें शिक्षा देवे, यह दर्शाते हैं— ॥ ६ ॥

※ 'अन्तरिक्ष के समान व्यापक' इति स्यात् ॥ † यहां 'अपमृत्यु' पाठ होना चाहिए ।

‡ 'सेत्' इति र पाठः, अ० मु० नास्ति ॥

वातो वेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । सेनापतिर्देवता । भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

मनुष्याः कथं किं कृत्वा वेगवन्तो भवेयुरित्याह[1] ॥

वातो॑ वा मनो॑ वा गन्ध॒र्वाः स॒प्तवि॑ꣳशतिः ।
ते ऽ अग्रेऽश्व॑मयुञ्जँ॒स्ते ऽ अ॒स्मिञ्ज॒वमाद॑धुः ॥ ७ ॥

वातः॑ । वा । मनः॑ । वा । ✱गन्ध॒र्वाः । स॒प्तवि॑ꣳशति॒रिति॑ स॒प्तऽवि॑ꣳशतिः ॥ ते । अग्रे॑ । अश्व॑म् । अयु॒ञ्ज॒न् । ते । अ॒स्मिन् । ज॒वम् । आ । अ॒द॒धुः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(वातः) वायुः (वा) इव (मनः) स्वान्तम् (वा) इव (गन्धर्वाः) ये ✱वायून् इन्द्रियाणि ✱भूतानि च †धरन्ति ते (सप्तविंशतिः) एतत्संख्याकाः (ते) (अग्रे) (अश्वम्) व्यापकत्व-वेगादिगुणसमूहम् (अयुञ्जन्) युञ्जन्ति (ते) (अस्मिन्) जगति (जवम्) वेगम् (आ) (अदधुः) ‡आदधति ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ४ । ८ व्याख्यातः ॥ ७ ॥

अन्वयः—ये विद्वांसो वातो वा मनो वा +यथा सप्तविंशतिर्गन्धर्वाः [ते] अस्मिन् जगत्यग्रेऽश्वमयुञ्जँस्ते खलु जवमादधुः ॥ ७ ॥

भावार्थः—यान्येकः समष्टिर्वायुः प्राणाऽपानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जया दश, द्वादशं मनस्तत्सहचरितानि श्रोत्रादीनि दशेन्द्रियाणि, पञ्च सूक्ष्मभूतानि च मिलित्वा सप्तविंशतिः, पूर्वमीश्वरेणास्मिन् जगति वेगवन्ति निर्मितानि, य एतानि यथागुणकर्मस्वभावं विज्ञाय यथायोग्यं कार्य्येषु संप्रयुज्य स्वस्त्रीभिरेव साकं रमन्ते, तेऽखिलमैश्वर्य्यं जनयित्वा राज्यं कर्त्तुमर्हन्ति ॥ ७ ॥

मनुष्य लोग किस प्रकार क्या करके वेगवाले हों, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—जो विद्वान् लोग (वातः) वायु के (वा) समान (मनः) मन के (वा) समतुल्य और जैसे (सप्तविंशतिः) सत्ताईस (गन्धर्वाः) वायु इन्द्रिय और भूतों के धारण करनेहारे [(ते) वे] (अस्मिन्) इस जगत् में

१ सर्वक्रियासु विदुषामेव प्रेरणया प्रजासु सुखसम्पत्ति-सम्भव इत्यत आह—

२ व्यभिचारादिभिर्दोषैर्हीनपौरुषो जायत इति भावः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सप्तविंशतिः) सप्त च विंशतिश्च सप्तविंशतिः । समाहारद्वन्द्वसमासः । नपुंसकत्वन्तु 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' । द्रष्टव्यं महाभाष्ये (अ० २ । २ । २९) ॥ संख्या (अ० ६ । २ । ३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे सप्तशब्दः सप्यशूभ्यां तुट् च (उ० १ । १५७) इति कनिन् । नित्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्त उञ्छादेराकृतिगणत्वादन्तोदात्तः ॥

(जवम्) जवसवौ छन्दसि (अ० ३ । ३ । ५६ मा० वा) इति 'अच्', चित्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ सब क्रियाओं में विद्वानों की प्रेरणा से ही प्रजा में सुख सम्पत्ति होना सम्भव है, अतः कहते हैं—॥७॥

✱ 'गन्धर्वाः' इत्यपस्वरः पाठः अ० मु० ॥ ✱ 'वायवः' इति० अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥
✱ 'भूतानि' इति क. पाठः, आवश्यकश्च ॥
† कदाचिदत्र 'वायव इन्द्रियाणि भूतानि च' इत्येव पाठः स्यात्, एतेषामेव गन्धर्वपदेन विवक्षितत्वात् ॥
‡ 'आदधति' इति हस्तलेखपाठः ॥ + 'यथा' इति पदं ग. प्रवर्धितम्, तच्चानावश्यकं प्रतिभाति ॥

(अग्रे) पहिले (अश्वम्) व्यापकता और वेगादि गुणों को (अयुञ्जन्) संयुक्त करते हैं, (ते) वे ही (जवम्) उत्तम वेग को (आदधुः) धारण करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थः—जो एक× समष्टि वायु, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, और धनञ्जय दश, बारहवां मन, तथा इसके साथ श्रोत्र आदि दश इन्द्रिय और पांच सूक्ष्म भूत ये सब २७ सत्ताईस पदार्थ ईश्वर ने इस जगत् में पहिले रचे हैं, जो पुरुष इनके गुण कर्म और स्वभाव को ठीक २ जान और यथायोग्य कार्यों में संयुक्त करके अपनी २ ही स्त्री के साथ क्रीड़ा करते हैं, वे सम्पूर्ण ऐश्वर्य को संचित कर राज्य के योग्य होते हैं ॥ ७ ॥

वातरंहेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । भुरिक्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

[1]तं राजानं विद्वांसः किं किमुपदिशेयुरित्याह[2] ।

वातरंहा भव वाजिन्युज्यमान ऽ इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि ।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस ऽ आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ ८ ॥

वातरंहा इति वातऽरंहाः । भव । वाजिन् । युज्यमानः । इन्द्रस्येवेतीन्द्रस्यऽइव । दक्षिणः । श्रिया । एधि ॥ युञ्जन्तु । त्वा । मरुतः । विश्ववेदस इति विश्वऽवेदसः । आ । ते । त्वष्टा । पत्स्विति पत्ऽसु । जवम् । दधातु ॥ ८ ॥

पदार्थः—(वातरंहाः) वायुवद्रंहो वेगो यस्य सः (भव) (वाजिन्) शास्त्रोक्तक्रियाकुशलताबोधयुक्त (युज्यमानः) समाहितः सन् (इन्द्रस्येव) यथा परमैश्वर्य्ययुक्तस्य राज्ञः (दक्षिणः) दक्षः प्रशस्तं बलं गतिर्विद्यते यस्य तस्य (श्रिया) शोभायुक्तया राज्यलक्ष्म्या देदीप्यमानया राज्ञ्या वा (एधि) वृद्धो भव (युञ्जन्तु) प्रेरताम् (त्वा) त्वाम् (मरुतः) विद्वांसो मनुष्याः (विश्ववेदसः) सकलविद्यावेत्तारः (आ) (ते) तव (त्वष्टा) वेगादिगुणविद्यावित् (पत्सु) पादेषु (जवम्) वेगम् (दधातु) ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ४ । ९ व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे वाजिन् † राजन् ! यं त्वा विश्ववेदसो मरुतो राज्यशिल्पकार्य्येषु युञ्जन्तु त्वष्टा ते तव पत्सु जवमादधातु, स त्वं वातरंहा भव, युज्यमानस्त्वं दक्षिण इन्द्रस्येव श्रिया सहैधि ॥ ८ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—हे राजस्त्रीपुरुषा यूयं निरभिमानिनो[4] निर्मत्सरा भूत्वा, विद्वत्सङ्गेन राज्यधर्मं पालयित्वा, विमानादियानेषु स्थित्वाऽभीष्टदेशेषु गत्वाऽऽगत्य जितेन्द्रियाः सन्तः प्रजाः सततं प्रसाद्य श्रीमन्तो भवत ॥ ८ ॥

---

१ व्यवहितमपि राजानं 'तं' इति पदेन स्मारयति ॥
२ धार्मिकाणां विदुषामनुमत्यैव राज्ञाऽपि स्वराज्यव्यवस्था विधेयेति दर्शयति—
३ मरुतो वै देवानां विशः ॥ ऐ० १ । ९ ॥ तां० ६ । १० । १० ॥
४ 'निरभिमानाः' इत्यर्थः ॥

× 'समिष्ट' इति अ० मु० पाठः ॥ † 'राजन्' इति पदं हस्तलेखेषु सदपि न जाने कथं त्यक्तम् ॥

उस राजा को विद्वान् लोग क्या २ उपदेश करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (वाजिन्) शास्त्रोक्त क्रिया कुशलता से प्रशस्त बोध से युक्त राजन्! जिस (त्वा) आपको (विश्ववेदसः) समस्त विद्याओं के जाननेहारे (मरुतः) विद्वान् लोग राज्य और शिल्प विद्याओं के कार्यों में (युञ्जन्तु) युक्त ❀ करें और (त्वष्टा) वेगादि गुण, विद्या का जाननेहारा मनुष्य (ते) आपके (पत्सु) पगों में (जवम्) वेग को (आदधातु) अच्छे प्रकार धारण करे। वह आप (वातरंहाः) वायु के समान वेगवाले (भव) हूजिये और (युज्यमानः) सावधान होके (दक्षिणः) प्रशंसित धर्म से चलने के बल से युक्त होके (इन्द्रस्येव) परम ऐश्वर्यवाले राजा के समान (श्रिया) शोभायुक्त राज्य संपत्ति वा राणी के सहित (एधि) वृद्धि को प्राप्त हूजिये ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—हे राजसम्बन्धी स्त्रीपुरुषो! आप लोग अभिमानरहित और निर्मत्सर अर्थात् दूसरों की उन्नति देखकर प्रसन्न होनेवाले होकर विद्वानों के साथ मिल के राजधर्म की रक्षा किया करो, तथा विमानादि यानों में बैठ के अपने अभीष्ट देशों में जा जितेन्द्रिय हो और प्रजा को निरन्तर प्रसन्न करके श्रीमान् हुआ कीजिये ॥ ८ ॥

जव इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। वीरो देवता। धृतिश्छन्दः। ऋषभः स्वरः ॥

पुनः स राजा कीदृशो भवेदित्याह[2] ॥

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तो ऽ अचरच्च वाते।
तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः।
वाजिनो वाजजितो वाजꣳसरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥ ९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वातरंहाः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे हसिमृग्रिण्०' (उ० ३। ८६) इत्यादिना तनि नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(युज्यमानः) सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (अ० ६। १। १५८ भा०) इति न्यायेन शानचः चित्स्वरे प्राप्ते परत्वात् तास्यनुदात्तेन्ङिद्० (अ० ६। १। १८६) इत्यादिना अदुपदेशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे यकस्वरः ॥

(इन्द्रस्येव) इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २। २। १८ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। उ० २। २८ रन्प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(दक्षिणः) 'दक्ष गतौ' इत्येतस्माद् द्रुदक्षिभ्यामिनन् (उ० २। ५०) इति 'इनन्' प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(श्रिया) सावेकाचस्तृतीयादि० (अ० ६। १। १६८) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 राजा को भी अपनी सब राज्यव्यवस्था धार्मिक विद्वानों की अनुमति से ही करनी चाहिये, यह दर्शाते हैं— ॥ ८ ॥

2 विद्वद्भिः प्रेरितः सभाध्यक्षः कथं स्वात्मनि गुणानादधीत इत्याकाङ्क्षायामाह—

❀ 'करें' इति हस्तलेखेषु पाठः, अ० मु० त्यक्त इति ध्येयम् ॥

जवः । यः । ते । वाजिन् । निहित इति निऽहितः । गुहा । यः । श्येने । परीत्तः । अचरत् । च । वाते ॥ तेन । नः । वाजिन् । बलवानिति बलऽवान् । बलेन । वाजजिदिति वाजऽजित् । च । भव । समने । च । पारयिष्णुः ॥ वाजिनः । वाजजित इति वाजऽजितः । वाजम् । सरिष्यन्तः । बृहस्पतेः । भागम् । अव । जिघ्रत ॥९॥

पदार्थः—(जवः) वेगः (यः) (ते) तव (वाजिन्) प्रशस्तशास्त्रयोगाभ्यासकृत्यसहित (निहितः) स्थितः (गुहा) गुहायां बुद्धौ (यः) वेगः (श्येने) पक्षिणीव (परीत्तः) सर्वतो दत्तः (अचरत्) चरति (च) (वाते) वायाविव (तेन) (नः) अस्माकम् (वाजिन्) वेगवन् (बलवान्) बहुबलयुक्तः (बलेन) सैन्येन पराक्रमेण वा (वाजजित्) संग्रामं विजयमानः (च) (भव) समने) संग्रामे (च) (पारयिष्णुः) दुःखात् पारयिता (वाजिनः) प्रशस्तवेगयुक्ताः (वाजजितः) संग्रामं जयन्तः (वाजम्) बोधमन्नादिकं वा (सरिष्यन्तः) प्राप्स्यन्तः (बृहस्पतेः) महतां वीराणां पालयितुः सेनाध्यक्षस्य (भागम्) सेवनम् (अव) अधोऽर्थे (जिघ्रत) सुगन्धान् बोधान् वा गृह्णीत ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ४ । १०–१५ व्याख्यातः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे वाजिन् सेनाध्यक्ष राजन् ! ते तव यो जवो गुहा निहितो यः श्येने इव परीत्तो वाते इवाचरच्च, तेन नो बलेन बलवान् भव । हे वाजिन् तेन च समने पारयिष्णुर्वाजजिच्च भव । हे वाजिनो योद्धारो यूयं बृहस्पतेः [भागं] सेवनं प्राप्य वाजं सरिष्यन्तः [वाजजितः] सन्तो भवत, सुगन्धानवजिघ्रत ॥ ९ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—राजा पूर्णं शरीरात्मबलं संप्राप्य श्येनवद्वायुवच्छत्रुविजये यशस्वी भूत्वा स्वामात्यान् सेनास्थान् सर्वान् भृत्याँश्च सुशिक्षितान् बलसुखयुक्तान् [कृत्वा] धार्मिकान् सततं रक्षेत्, सर्वे राजप्रजाजनाश् ॐचेदृशा भूत्वा शत्रून् विजित्य परस्परं प्रीणन्तु ॥ ९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(वाजिन्) वज गतौ, ताच्छील्ये 'णिनिः' प्रत्ययः । गतिर्ज्ञानमित्यर्थः । सम्बुद्धौ आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १९) इति निघातः ॥ यद्वा हलश्च (अ० ३ । ३ । १२१) इति घञ् । वाजः = गतिर्ज्ञानमित्यर्थः । ततो अत इनिठनौ (अ० ५ । २ । ११५) इतीनिः । प्रत्ययस्वरः । इह सम्बुद्धौ रूपम् ॥

(निहितः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(परीत्तः) परिपूर्वाद् ददातेः क्तप्रत्यये, अच उपसर्गात्तः (अ० ७ । ४ । ४७) इति तकारादेशे कर्त्तव्येऽच इति पञ्चमीनिर्देशात् परस्यादेरलः स्थाने प्राप्ते द्वितकारनिर्देशादनेकाल्त्वात् सर्वादेशः । ततो दस्तिः (अ० ६ । ३ । १२४) इत्युपसर्गस्य दीर्घत्वे गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट् ८१) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(अचरत्) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावेऽट्स्वरः ॥

(बलेन) 'बल प्राणने' इत्यस्मादचि वृषादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(समने) 'षम वैक्लव्ये' इत्यस्माल्ल्युटि लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तम् ॥

(पारयिष्णुः) णेश्छन्दसि (अ० ३ । २ । १३७) इतीष्णुच् । अयामन्ता० (अ० ६ । ४ । ५५) इत्ययादेशः, चित्वादन्तोदात्तः ॥

ॐ 'चेदृशा भूत्वा' इति हस्तलेखेषु पाठः, अ० मु० नास्ति ॥

फिर वह राजा कैसा होवे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (वाजिन्) श्रेष्ठ शास्त्र बोध और योगाभ्यास से युक्त सेना वा सभा के स्वामी राजन् ! (ते) आपका (यः) जो (जवः) वेग (गुहा) बुद्धि में (निहितः) स्थित है, (यः) जो (श्येने) पक्षी में जैसा (परीत्तः) सब ओर दिया हुआ (च) और जैसे (वाते) वायु में (अचरत्) विचरता है, (तेन) उससे (नः) हम लोगों के (बलेन) सेना वा पराक्रम से (बलवान्) बहुत बल से युक्त (भव) हूजिये । [(च) और] हे (वाजिन्) वेग युक्त राजपुरुष ! इसी बल से (समने) संग्राम में (पारयिष्णुः) दुःख के पार करने [(च)] और (वाजजित्) संग्राम के जीतनेवाले हूजिये । हे (वाजिनः) प्रशंसित वेग से युक्त योद्धा लोगो ! तुम (बृहस्पतेः) बड़ों की रक्षा करनेहारे सभाध्यक्ष की (भागम्) सेवा को प्राप्त होके (वाजम्) बोध वा अन्नादि पदार्थों को (सरिष्यन्तः) प्राप्त होते हुए (वाजजितः) संग्राम के जीतनेहारे होवो और सुगन्धियुक्त पदार्थों का (अवजिघ्रत) सेवन करो ॥ ९ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को पा और शत्रुओं के जीतने में श्येन पक्षी और वायु के तुल्य शीघ्रकारी होके, अपने सब सभासद् सेना के पुरुष और सब नौकरों को अच्छे शिक्षित बल तथा सुख से युक्त कर, धर्मात्माओं की निरन्तर रक्षा करे और सब राजा प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि इस प्रकार के हो [के] और शत्रुओं को जीत के परस्पर प्रसन्न रहें ॥ ९ ॥

देवस्याहमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । इन्द्राबृहस्पती देवते । विराडुत्कृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः[2] ॥

मनुष्यैर्विदुषामेवाऽनुकरणं कार्य्यं न मूढानामित्युपदिश्यते[3] ॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहेयम् ।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवस ऽ इन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम् ।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम् ।
देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवस ऽ इन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम् ॥ १० ॥

देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यसवस इति सत्यऽसवसः । बृहस्पतेः । उत्तममित्युत्ऽतमम् । नाकम् । रुहेयम् ॥ देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यसवस इति सत्यऽसवसः । इन्द्रस्य । उत्तममित्युत्ऽतमम् । नाकम् । रुहेयम् ॥ देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यप्रसवस इति सत्यऽप्रसवसः । बृहस्पतेः । उत्तम-

---

(सरिष्यन्तः) तास्यनुदात्ते० (अ० ६ । १ । १८६) इति शतुरनुदात्तत्वे विकरणस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] विद्वानों द्वारा प्रेरित किया हुवा सभाध्यक्ष अपने आत्मा में किस प्रकार गुणों का आधान करे, इस विषय में कहते हैं— ॥ ९ ॥

[2] पक्षान्तरे निषादः स्वरः ॥

[3] विद्वज्जनसङ्गतिः मूर्खजनासंसर्गश्चोन्नतेः कारणमिति दर्शयन्नाह—

मित्युत्ऽतमम् । नाकम् । ❀अरुहम् ॥ देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यप्रसवस इति सत्यऽप्रसवसः । इन्द्रस्य । उत्तममित्युत्ऽतमम् । नाकम् । ❀अरुहम् ॥ १० ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वतः प्रकाशमानस्य (अहम्) सभाध्यक्षो राजा (सवितुः) सकलजगत्प्रसवितुः परमेश्वरस्य (सवे) प्रसूते जगति (सत्यसवसः) सत्यं सव ऐश्वर्यं जगतः कारणं कार्यं च यस्य तस्य (बृहस्पतेः) बृहतां प्रकृत्यादीनां पालकस्य (उत्तमम्) सर्वथोत्कृष्टम् (नाकम्[1]) अविद्यमानदुःखं सर्वसुखयुक्तं तत्स्वरूपं मोक्षपदम् (रुहेयम्) (देवस्य) सर्वसुखप्रदातुः (अहम्) परोपकारी (सवितुः) सकलैश्वर्यप्रसवितुः (सवे) ऐश्वर्य्ये (सत्यसवसः) सत्यन्याययुक्तस्य (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यसहितस्य सम्राजः (उत्तमम्) प्रशस्तम् (नाकम्) अविद्यमानदुःखं भोगम् (रुहेयम्) (देवस्य) अखिलविद्याशुभगुणकर्मस्वभावद्योतकस्य❀(अहम्) विद्यामभीप्सुः (सवितुः) समग्रविद्याबोधप्रसवितुः (सवे) विद्याप्रचारैश्वर्ये (सत्यप्रसवसः) सत्योऽविनाशी प्रसवः प्रकटो बोधो यस्मात् तस्य (बृहस्पतेः) बृहत्या वेदवाण्याः पालकस्य (उत्तमम्) (नाकम्) सर्वदुःखप्रणाशकमानन्दम् (अरुहम्) आरूढोऽस्मि (देवस्य) धनुर्वेदादियुद्धविद्या†प्रकाशकस्य (अहम्) योद्धा (सवितुः) शत्रुविजयप्रसवितुः (सवे) प्रेरणे (सत्यप्रसवसः) सत्यानां न्यायविजयादीनां प्रसवो यस्मात् तस्य (इन्द्रस्य) दुष्टशत्रुविदारकस्य (उत्तमम्) विजयाख्यम् (नाकम्) सर्वसुखप्रदम् (अरुहम्) आरूढोऽस्मि ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । २-५ व्याख्यातः ॥ १० ॥

अन्वयः—हे प्रजाराजजना यथाऽहं सत्यसवसो देवस्य बृहस्पतेः सवितुर्जगदीश्वरस्य सव उत्तमं नाकं रुहेयम् । हे राजामात्यपुरुषा यथाऽहं सत्यसवसो देवस्य सवितुरिन्द्रस्य सम्राजः सव उत्तमं नाकं रुहेयम् । हे ‡अध्येताध्यापका विद्याप्रिया जना यथाऽहं सत्यप्रसवसः सवितुर्देवस्य बृहस्पतेः [सवे] उत्तम नाकमरुहं, हे विजयाभिकाङ्क्षिणो योद्धारो वीरा यथाऽहं सत्यप्रसवसो देवस्य सवितुरिन्द्रस्य सव उत्तमं नाकमरुहं, तथा यूयमप्यारोहत ॥ १० ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—राजप्रजाजनैः परस्परमविरोधेनेश्वरचक्रवर्तिराज्यसमग्रविद्याः सम्भज्य, सर्वाण्युत्तमानि सुखानि प्राप्तव्यानि प्रापयितव्यानि च ॥ १० ॥

मनुष्य लोगों को उचित है कि विद्वानों का अनुकरण करें मूढों का नहीं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे राजा और प्रजा के पुरुषो ! जैसे (अहम्) मैं सभाध्यक्ष राजा (सत्यसवसः) जिसका ऐश्वर्य्य और जगत् का कारण सत्य है, उस (देवस्य) सब ओर से प्रकाशमान (बृहस्पतेः) बड़े प्रकृत्यादि पदार्थों

---

१ स्वर्गो वै लोको नाकः ॥ श० ६ । ३ । ३ । १४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नाकः) पूर्वं (यजुः १ । २२) व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ विद्वानों की सङ्गति तथा मूर्खजनों के परित्याग से मनुष्य उन्नति कर सकता है, सो बतलाते हैं—॥१०॥

❀ ‘अरुहम्’ इत्यपस्वरः पाठः अ० मु० ॥ ❀ ‘अरुहम्’ इत्यपस्वरः पाठः अ० मु० ॥
❀ ‘अहं विद्यामभीप्सुः’ इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥ † ‘प्रापकस्य’ इति अ० मु० पाठः । ‘प्रकाशकस्य’ इति हस्तलेखपाठः ॥
‡ साम्प्रतिकानां मते ‘अध्येत्रध्यापकाः’ इति ध्येयम् ॥

के रक्षक (सवितुः) सब जगत् को उत्पन्न करनेहारे जगदीश्वर के (सवे) उत्पन्न किये जगत् में (उत्तमम्) सबसे उत्तम (नाकम्) सब दुःखों से रहित [सर्वसुखयुक्त] सच्चिदानन्द स्वरूप [मोक्षपद] को (रुहेयम्) आरूढ होऊँ। हे राजा के + अमात्य लोगो ! जैसे (अहम्) मैं परोपकारी पुरुष (सत्यसवसः) सत्य न्याय से युक्त (देवस्य) सब सुख देने (सवितुः) संपूर्ण ऐश्वर्य के उत्पन्न करनेहारे (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य के सहित चक्रवर्त्ति राजा के (सवे) ऐश्वर्य में (उत्तमम्) प्रशंसा के योग्य (नाकम्) दुःख रहित भोग को प्राप्त होके (रुहेयम्) आरूढ होऊं। हे पढ़ने पढ़ानेहारे विद्याप्रिय लोगो ! जैसे (अहम्) मैं विद्या चाहनेहारा जन (सत्यप्रसवसः) जिससे [सत्य] अविनाशी बोध प्रकट हो उस (देवस्य) संपूर्ण विद्या और शुभ गुण कर्म और स्वभाव के प्रकाश से युक्त (सवितुः) समग्र विद्या बोध के उत्पन्नकर्त्ता (बृहस्पतेः) उत्तम वेदवाणी की रक्षा करनेहारे वेद वेदाङ्गोपाङ्गों के पारदर्शी के (सवे) उत्पन्न किये विज्ञान में (उत्तमम्) सबसे उत्तम (नाकम्) सब दुःखों से रहित आनन्द को (अरुहम्) आरूढ हुआ हूँ, हे विजयप्रिय लोगो ! जैसे (अहम्) मैं योद्धा मनुष्य (सत्यप्रसवसः) जिससे सत्य न्याय विनय और विजयादि उत्पन्न हों उस (देवस्य) धनुर्वेद युद्धविद्या के प्रकाशक (सवितुः) शत्रुओं के विजय में प्रेरक (इन्द्रस्य) दुष्ट शत्रुओं को विदीर्ण करनेहारे पुरुष की (सवे) प्रेरणा में (उत्तमम्) विजय नामक उत्तम (नाकम्) सब सुख देनेहारे संग्राम को (अरुहम्) आरूढ हुआ हूँ, वैसे आप भी सब लोग आरूढ हूजिये ॥ १० ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—राजा और प्रजा के सब पुरुषों को चाहिये कि परस्पर विरोध को छोड़ ईश्वर, चक्रवर्त्ति राज्य और समग्र विद्याओं का सेवन करके, सब उत्तम सुखों को आप प्राप्त हों और दूसरों को × प्राप्त करावें ॥१०॥

बृहस्पत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। इन्द्राबृहस्पती देवते। जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

अथोपदेश्योपदेष्टृविधिमाह[1] ॥

बृह॑स्पते॒ वाजं॑ जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाचं॑ वदत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाजं॑ जापयत।
इन्द्र॒ वाजं॑ ज॒येन्द्रा॑य॒ वाचं॑ व॒द॒तेन्द्रं॒ वाजं॑ जापयत ॥ ११ ॥

बृह॑स्पते। वाज॑म्। ज॒य॒। बृह॒स्पत॑ये। वाच॑म्। व॒द॒त॒। बृह॒स्पति॑म्। वाज॑म्। जा॒प॒य॒त॒ ॥ इन्द्र॑। वाज॑म्। ज॒य॒। इन्द्रा॑य। वाच॑म्। व॒द॒त॒। इन्द्र॑म्। वाज॑म्। जा॒प॒य॒त॒ ॥ ११ ॥

पदार्थः—(बृहस्पते[2]) सकलविद्याप्रचारकोपदेशक ! (वाजम्) विज्ञानं सङ्ग्रामं वा (जय) ()उत्कर्षं प्रापय (बृहस्पतये) अध्ययनाध्यापनाभ्यां विद्याप्रचाररक्षकाय (वाचम्) वेदसुशिक्षाजनितां वाणीम् (वदत) अध्यापयतोपदिशत वा (बृहस्पतिम्[3]) सम्राजमनूचानमध्यापकं वा (वाजम्) विद्याबोधं युद्धं वा (जापयत[4]) उत्कर्षेण बोधयत (इन्द्र[5]) विद्यैश्वर्य्यप्रकाशक शत्रुविदारक वा ! (वाजम्) परमैश्वर्य्यं

१ तदेव द्रढयति—
२ वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ श० १४ । ४ । १ । २२ ॥
३ ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥ श० ५।१।५।८ ॥
४ जप जल्प व्यक्तायां वाचि, ततो णिच्। अनेकार्थत्वाद् धातूनां वृद्धावपि ॥
५ क्षत्रं हीन्द्रः ॥ श० ५ । १ । ५ । ९ ॥

+ 'राजा के सभासद्' इति अ० मुद्रितपाठः ॥ × 'प्राप्त करें' इति अ० मु० पाठः ॥ ()'उत्कर्षं प्रापय' इति कपाठः ॥

शत्रुविजयाख्यं युद्धं वा (जय) उत्कर्ष (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्रापकाय (वाचम्) राजधर्मप्रचारिणीं वाणीम् (वदत) (इन्द्रम्) (वाजम्) (जापयत) उत्कृष्टतां प्रापयत ॥ अयं मन्त्रः शत० ५।१।५।८, ९ व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे बृहस्पते सर्वविद्याध्यापकोपदेशक वा ! त्वं वाजं जय । हे विद्वांसो यूयमस्मै बृहस्पतये वाचं वदतेमं बृहस्पतिं वाजं जापयत । हे इन्द्र ! त्वं वाजं जय । हे युद्धविद्याकुशला विद्वांसो यूयमस्मा इन्द्राय वाचं वदतेममिन्द्रं वाजं जापयत[1] ॥ ११ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ॥

भावार्थः—राजा तथा प्रयतेत यथा वेदविद्याप्रचारः शत्रुविजयश्च सुगमः स्यात् । उपदेशका योद्धारश्चेत्थं प्रयतेरन्, यतो राज्ये वेदादिशास्त्राध्ययनाऽध्यापनप्रवृत्तिः स्वराजा विजयाऽलङ्कृतो भवेद्, येन धर्मवृद्धिरधर्महानिश्च ❀ सुस्थिरा भवेत् ॥ ११ ॥

अब उपदेश करने और सुननेवालों का विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (बृहस्पते) सम्पूर्ण विद्याओं का प्रचार और उपदेश करनेहारे राजपुरुष ! आप (वाजम्) विज्ञान वा संग्राम को (जय) जीतो । हे विद्वानो ! तुम लोग इस (बृहस्पतये) † अध्ययन और अध्यापन के द्वारा विद्या के प्रचार और रक्षा करनेवाले के लिये (वाचम्) वेदोक्त सुशिक्षा से प्रसिद्ध वाणी को (वदत) पढ़ाओ और उपदेश करो । इस (बृहस्पतिम्) राजा वा सर्वोत्तम अध्यापक को (वाजम्) विद्या बोध वा युद्ध को (जापयत) बढ़ाओ और जिताओ । हे (इन्द्र) विद्या के ऐश्वर्य्य का प्रकाश वा शत्रुओं को विदीर्ण करनेहारे राजपुरुष ! आप (वाजम्) परम ऐश्वर्य्य वा शत्रुओं के विजयरूपी युद्ध को (जय) जीतो । हे युद्धविद्या में कुशल विद्वानो ! तुम लोग इस (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य्य को प्राप्त ‡ करानेवाले राजपुरुष के लिये (वाचम्) राजधर्म का प्रचार करनेहारी वाणी को (वदत) कहो, इस (इन्द्रम्) राजपुरुष को (वाजम्) संग्राम को (जापयत) जिताओ ॥ ११ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ॥

भावार्थः—राजा को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे + राज्य में वेदविद्या का प्रचार और शत्रुओं का विजय सुगम हो और उपदेशक तथा योद्धा लोग ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राज्य में वेदादि शास्त्र पढ़ने पढ़ाने की प्रवृत्ति और अपना राजा विजयरूपी आभूषणों से सुशोभित होवे कि जिससे अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि अच्छे प्रकार स्थिर होवे ॥ ११ ॥

१ ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां वेदस्य रक्षणं कर्त्तव्यं कारणीयं चेत्यत्रोपदिश्यते ॥

२ पूर्वोक्त विषय को ही दृढ़ करते हैं— ॥११॥

❀ 'सुतिष्ठेत्' इति अ० मुद्रिते पाठः । 'सुस्थिरा भवेत्' इति गपाठः ।

† इतोऽग्रे 'राजपुरुष के लिये' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

‡ 'करनेवाले' इति अ० मु० अपपाठः ॥

\+ 'राज्य में' इति क० पाठः ॥

एषा व इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । इन्द्राबृहस्पती देवते । स्वराडतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैः सर्वदा सर्वथा सत्यं वक्तव्यं श्रोतव्यं चेत्याह[1] ॥

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपताजीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् । एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् ॥ १२ ॥

एषा । वः । सा । सत्या । संवागिति सम् ऽ वाक् । अभूत् । यया । बृहस्पतिम् । वाजम् । अजीजपत । अजीजपत । बृहस्पतिम् । वाजम् । वनस्पतयः । वि । मुच्यध्वम् ॥ एषा । वः । सा । सत्या । संवागिति सम्ऽवाक् । अभूत् । यया । इन्द्रम् । वाजम् । अजीजपत । अजीजपत । इन्द्रम् । वाजम् । वनस्पतयः । वि । मुच्यध्वम् ॥१२॥

पदार्थः—(एषा) उक्ता वक्ष्यमाणा च (वः) युष्माकम् ❀ (सा) (सत्या) यथार्थोक्ता (संवाक्) राजनीतिनिष्ठा सम्यग्वाणी (अभूत्) भवतु (यया) (बृहस्पतिम्[2]) वेदशास्त्रपालकम् (वाजम्[3]) वेदशास्त्रबोधम् (अजीजपत) उत्कर्षयत (अजीजपत) (बृहस्पतिम्) बृहतो राज्यस्य पालकम् (वाजम्) संग्रामम् (वनस्पतयः) वनस्य किरणसमूहस्येव न्यायस्य पालकाः, वनमिति रश्मिनामसु पठितम् । निघ० १ । ५ (वि) (मुच्यध्वम्) मुक्ता भवत, विकरणव्यत्ययेन श्यन् (एषा) पूर्वापरप्रतिपादिता (वः) युष्माकम् (सा) (सत्या) ‡ सत्यभाषणयुक्ता (संवाक्) विनयपुरुषार्थयोः सम्यक् प्रकाशिनी वाणी (अभूत्) भवेत् † (यया) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यप्रापकम् (वाजम्) युद्धम् (अजीजपत) जापयत (अजीजपत) सम्यक् प्रापयत (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्ययुक्तम् (वाजम्) उत्तमश्रीप्रापकमुद्योगम् (वनस्पतयः) वनानां जङ्गलानां पालकाः (वि) (मुच्यध्वम्) ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । ११, १२ व्याख्यातः ॥ १२ ॥

---

१ सत्यव्यवहारेणैव सर्वविघ्नशान्तेः सम्भव इत्यत आह-

२ बृहस्पतिः पुर एता ॥ तै० २ । ५ । ७ । ३ ॥ पूर्वं यजु० २ । १२ पृ० १८४ व्याख्यातः ॥

३ वज गतौ, गत्यर्थानां ज्ञानर्थता प्रसिद्धैव ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(संवाक्) कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति समासः । निरुदकादीनि च (अ० ६ । २ । १८४) इत्यन्तोदात्तः ॥

(अजीजपत) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ ।६६) इति निघाताभावेऽट्स्वरः ॥

अत्रायं प्रवृत्तिक्रमः—जयतेर्णिचि क्रीङ्जीनां णौ (अ० ६ । १ ।४८) इत्यात्वे पुकि लुङि चङि अटि च कृते णिलोपः, उपधाह्रस्वत्वं द्विर्वचनं च । ततः सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (अ० ७ । ४ । ९३)

❀ 'सा' इति कपाठः ॥

‡ 'सत्यभाषणादिलक्षणयुक्ता' इति हस्तलेखपाठः ॥

† अत्र संस्कृतपदार्थे लेखकानवधानतया पाठो व्यस्तः । तद्यथा—क॰ कोशे—"(यया) (इन्द्रम्) परमैश्वर्यप्रापकम् (वाजम्) उत्तमश्रीप्रापकमुद्योगम् (अजीजपत) (अजीजपत) (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं सैन्यम् (वाजम्) वेगयुक्तम् (वनस्पतयः) ···" इति पाठः ॥ गकोशे तु—"(यया) (अजीजपत) जापयत (अजीजपत) सम्यक् प्रापयत (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तम् (वाजम्) उत्तमश्रीप्रापकमुद्योगम् (वाजम्) वेगयुक्तम् (वनस्पतयः) ···" इति पाठः ॥ अजमेरमुद्रिते तु—"(यया) (अजीजपत) जापयत (अजीजपत) सम्यक् प्रापयत (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (वाजम्) युद्धम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तमुत्तमश्रीप्रापकमुद्योगम् (वाजम्) वेगयुक्तम् (वनस्पतयः)" इति पाठः ॥

अस्माभिस्तु भाषापदार्थमनुसृत्य त्रिषु पाठेषु मध्ये यथायोग्यपाठः स्वीकृत इति ध्येयम् ॥

अन्वयः—हे वनस्पतयो यूयं यया बृहस्पतिं वाजमजीजपत बृहस्पतिं [वाज] मजीजपत सैषा वः संवाक् सत्याऽभूत् [तया यूयं विमुच्यध्वम्] हे वनस्पतयो यूयं ययेन्द्रं वाजमजीजपतेन्द्रं [वाज] मजीजपत सैषा वः संवाक् सत्याऽभूत् [तया यूयं विमुच्यध्वम्] ॥ १२ ॥

भावार्थः—नैव कदाचिदपि राजा राजाऽमात्यभृत्याः प्रजाजनाश्च स्वकीयां प्रतिज्ञां वाचं चासत्यां कुर्युः। यावतीं ब्रूयुस्तावतीं तथ्यामेव कुर्युः। यस्य वाणी सर्वदा सत्याऽस्ति, स एव सम्राड् भवितुमर्हति, यावदेवं न भवति तावद्राजप्रजाजना {} विश्वसिताः सुखस्योत्कर्षकाश्च भवितुं नार्हन्ति ॥१२॥

मनुष्यों को अति उचित है कि सब समय सब प्रकार से सत्य ही बोलें, यह उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे (वनस्पतयः) किरणों के समान न्याय के पालनेहारे राजपुरुषो ! तुम लोग (यया) जिससे (बृहस्पतिम्) वेदशास्त्र के पालनेहारे विद्वान् को और (वाजम्) वेदशास्त्र के बोध को (अजीजपत) ❀बढ़ाओ, [अर्थात् बढ़ाने में समर्थ होसको] (बृहस्पतिम्) बड़े राज्य के रक्षक राजपुरुष और ‡(वाजम्) संग्राम को (अजीजपत) जिताओ, [अर्थात् जिताने में समर्थ होसको] (सा) वह (एषा) पूर्व कही वा आगे जिसको कहेंगे (वः) तुम लोगों की (संवाक्) राजनीति में स्थित अच्छी वाणी (सत्या) सत्यस्वरूप (अभूत्) होवे [उससे आप लोग (विमुच्यध्वम्) दुःखों से मुक्त होओ]। हे (वनस्पतयः) सूर्य की किरणों के समान न्याय के प्रकाश से प्रजा की रक्षा करनेहारे राजपुरुषो ! तुम लोग (यया) जिससे (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य्य प्राप्त करानेहारे सेनापति को [और] (वाजम्) युद्ध को (अजीजपत) जिताओ, [अर्थात् जिताने में समर्थ होसको] (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य्य युक्त पुरुष को (वाजम्) अत्युत्तम लक्ष्मी को प्राप्त करानेहारे उद्योग को (अजीजपत) अच्छे प्रकार प्राप्त करावें, (सा) वह (एषा) आगे पीछे जिसका प्रतिपादन किया है (वः) तुम लोगों की (संवाक्) विनय और पुरुषार्थ का अच्छे प्रकार प्रकाश करनेवाली वाणी (सत्या) सदा सत्य भाषणादि लक्षणों से युक्त (अभूत्) होवे, [उस वाणी से आप लोग (विमुच्यध्वम्) दुःख क्लेशादि से मुक्त होओ] ॥ १२ ॥

भावार्थः—राजा उसके † मन्त्री, नौकर और प्रजापुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य होने न दें, जितना कहें उतना ठीक २ करें। जिसकी वाणी सब काल में सत्य होती है, वही पुरुष राज्याऽधिकार के योग्य होता है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक उन राजा और प्रजा के पुरुषों का [परस्पर] विश्वास [नहीं हो सकता] और वे सुखों को नहीं बढ़ा सकते ॥ १२ ॥

इति सन्वद्भावः। पूर्वं प्रवृत्तिक्रमे सन्वद्भावे विधीयमाने ह्रस्वत्वस्य अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (अ० १। १। ५७) इति स्थानिवत्त्वं न भवति, अनादिष्टादचः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावस्य विधीयमानत्वात् ॥

(वनस्पतयः) वनानां पतिः पालकः, उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६। २। १४०) इति युगपत्क्रप्रकृतिस्वरे प्राप्ते भिन्नवाक्यत्वात् षाष्ठिकामन्त्रितस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ सत्यव्यवहार से ही सब प्रकार की शान्ति का सम्भव है, इसलिये कहते हैं— ॥ १२ ॥

{} 'विश्वसिता न भवन्ति' इति हस्तलेखपाठः ॥
❀ 'पढ़ाओ' इति ग. पाठः ॥
‡ '(वाजम्)' इति क. पाठः ॥
† 'मन्त्री' इति अ० मु० नास्ति, कोशेषु वर्तते ॥

देवस्याहमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । सविता देवता । [निचृदति] जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

राजपुरुषैर्धार्मिक{}राजजनानामनुकरणं कर्त्तव्यं नेतरेषां ‡क्षुद्राशयानामित्याह ॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम् ।
वाजिनो वाजजितोऽध्वन स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत ॥ १३ ॥

देवस्य । अहम् । सवितुः । सवे । सत्यप्रसवस इति सत्यऽप्रसवसः । बृहस्पतेः । वाजजित इति वाजऽजितः । वाजम् । जेषम् ॥ वाजिनः । § वाजजित इति वाजऽजितः । अध्वनः । स्कभ्नुवन्तः । योजना । मिमानाः । काष्ठाम् । गच्छत ॥ १३ ॥

पदार्थः—(देवस्य) सर्वप्रकाशकस्य जगदीश्वरस्य (अहम्) शरीरात्मबलयुक्तः सेनापतिः (सवितुः) सकलैश्वर्य्यप्रदस्य (सवे) उत्पादितेऽस्मिन्नैश्वर्ये (सत्यप्रसवसः[2]) सत्यानि प्रसवांसि जगत्स्थानि कारणरूपेण नित्यानि यस्य, तस्य (बृहस्पतेः) ※बृहत्या वेदवाण्याः पालकस्य (वाजजितः) संग्रामं विजयमानस्य (वाजम्) संग्रामम्) (जेषम्) जयेयम्, † लेडुत्तमैकवचने प्रयोगः (वाजिनः) विज्ञानवेगयुक्ताः (वाजजितः) संग्रामं जेतुं शीलाः (अध्वनः) शत्रोर्मार्गान् (स्कभ्नुवन्तः) प्रतिष्टम्भनं कुर्वन्तः (योजना:) योजनानि बहून् क्रोशान् (मिमानाः) शत्रून् प्रक्षेपमाणाः[3] (काष्ठाम्) दिशम् (गच्छत) ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । १५–१७ व्याख्यातः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे वीरा यथाऽहं सत्यप्रसवसः सवितुर्देवस्य वाजजितो बृहस्पतेः सवे वाजं जेषं, तथा यूयमपि जयत । हे वाजिनो वाजजितो जना यथा यूयं योजना मिमाना अध्वनः स्कभ्नुवन्तः काष्ठां गच्छत, तथा वयमपि गच्छेम ॥ १३ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

---

१ सत्यव्यवहारस्य सिद्धिः कथं सम्भावयत इत्याकाङ्क्षायामाह—

२ 'सत्यसवसः' इति पूर्वं यजु० ४ । १८ पृ० ३८६ व्याख्यातः, तथैवायम् ॥

३ भ्वादेराकृतिगणत्वात् शप् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(स्कभ्नुवन्तः) स्कम्भुधातोः शतृप्रत्ययः, स्तम्भुस्तुम्भु० (अ० ३ । १ । ८२) इति श्नुप्रत्ययेऽनुनासिकलोपः । सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वर० (अ० ६ । १ । १५९ भा०) इत्यादिपरिभाषया शतृस्वरः ॥

(योजना:) युजधातोः करणाधिकरणयोर्ल्युटि लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वम् ॥

(मिमानाः) माङ् माने जौहोत्यादिकः, तस्माच्छानचि शपः श्लौ द्विर्वचनम् । भृञामित् (अ० ७ । ४ । ७६) इत्यभ्यासस्येत्वम् । अभ्यस्तानामादिः (अ० ६ । १ । १८९) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(काष्ठाः) हनिकुषिनीरमि० (उ० २ । २) इति क्थन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । तितुत्रतथ० (अ० ७ । २ । ९) इतीडभावः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

{} 'राज' इति अ० मु० नास्ति, हस्तलेखेष्वस्ति ॥ ‡ 'क्षुद्राशयानाम्' इति अ० मु० नास्ति, क कोशे तु वर्तते ॥
§ 'वाजजित इति वाजऽजितः' इत्यपपाठः अ० मु० ॥
※ 'बृहत्या' इति क. पाठः ॥ † 'लोडुत्तमैकवचने' इति अ० मु० ग कोशे चापपाठः ॥

भावार्थः—योद्धारः सेनाऽध्यक्षसहायपालनाभ्यामेव शत्रून् जेतुं शक्नुवन्ति । शत्रूणां मार्गान् प्रतिबद्धुं च प्रभवन्ति, यस्यान्दिशि शत्रवो विकुर्वते, ‡ तत्र तान् वशं नयेयुः ॥ १३ ॥

राजपुरुषों को चाहिये कि धर्मात्मा राजपुरुषों का अनुकरण करें, अन्य तुच्छबुद्धियों का नहीं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

पदार्थः—हे वीरपुरुषो ! जैसे (अहम्) मैं शरीर और आत्मा के बल से पूर्ण सेनापति (सत्यप्रसवसः) जिसके बनाये जगत् में कारणरूप से पदार्थ नित्य हैं, उस (सवितुः) सब ऐश्वर्य के देने (देवस्य) सबके प्रकाशक (वाजजितः) () विज्ञान आदि से उत्कृष्ट (बृहस्पतेः) उत्तम वेदवाणी के पालनेहारे जगदीश्वर के (सवे) उत्पन्न किये इस ऐश्वर्य में (वाजम्) संग्राम को (जेषम्) जीतूं, वैसे तुम लोग भी जीतो । हे (वाजिनः) विज्ञानरूपी वेग से युक्त (वाजजितः) संग्राम को जीतनेहारे [वीर पुरुषो] (योजनाः) बहुत कोशों से शत्रुओं को (मिमानाः)× भगाते हुये और (अध्वनः) शत्रुओं के मार्गों को [(स्कभ्नुवन्तः)] रोकते हुए तुम लोग, जैसे (काष्ठाम्) दिशाओं में (गच्छत) चलते हो, वैसे हम लोग भी चलें ॥ १३ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—योद्धा लोग सेनाध्यक्ष के सहाय और रक्षा से ही शत्रुओं को जीत और उनके मार्गों को रोक सकते हैं, और इन अध्यक्षादि राजपुरुषों को चाहिए कि जिस दिशा में शत्रु लोग उपाधि करते हों, वहीं जाके उनको वश में करें ॥ १३ ॥

एष स्येत्यस्य दधिक्रावा ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

यदा सेनासेनेशौ सुशिक्षितौ परस्परं प्रीतियुक्तौ स्यातां, तदैव विजयलाभः स्यादित्याह[4] ॥

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो ऽ अपिकक्ष ऽ आसनि ।
क्रतुं दधिक्रा ऽ अनु सꣳसनिष्यदत् पथामङ्कांꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा ॥ १४ ॥

एषः । स्यः । वाजी । क्षिपणिम् । तुरण्यति । ग्रीवायाम् । बद्धः । अपिकक्ष इत्यपिऽकक्षे । आसनि ॥ क्रतुम् । दधिक्रा इति दधिऽक्राः । अनु । सꣳसनिष्यदत् । सꣳसनिस्यददिति समऽसनिस्यदत् । पथाम् । अङ्कांꣳसि । अनु । आपनीफणदित्याऽपनीफणत् । स्वाहा ॥ १४ ॥

१ विनाऽपि भावप्रत्ययेन भावप्रधानोऽयं निर्देशः । आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह (मनु० ६ । ४९) दर्शनात् ॥

२ 'बध बन्धने' असनन्तस्यैतद् रूपम् ॥

३ सत्यव्यवहार की सिद्धि कैसे हो सकती है, इसको स्पष्ट करते हैं— ॥ १३ ॥

४ राज्ये संग्रामोऽनिवार्यः, तत्र च प्रजासहयोगमन्तरा न कदाचित् कश्चिदपि संग्रामो जेतुं शक्य इति वर्णयति—

‡ 'तत्र' इति हस्तलेखेषु नास्ति ॥ () संस्कृतपदार्थानुसारं तु 'संग्राम के जितानेवाले' इति स्यात् ॥

× 'देख और' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । 'खदे और' इति क. पाठः । कदाचिदत्र 'खदेड़ और' इति पाठः स्यात् ॥

पदार्थः—(एषः) वारः (स्यः) असौ, अत्र स्यश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । १३३] इति सोर्लोपः (वाजी[1]) वेगवान् (क्षिपणिम्[2]) दूरे ✽ क्षिपन्ति शत्रून् यया तां सेनाम् (तुरण्यति) त्वरयति (ग्रीवायाम्) कण्ठे (बद्धः) (अपिकक्षे) निश्चितपार्श्वावयवे (आसनि) आस्ये (क्रतुम्[3]) कर्म (दधिक्राः) यो दधीन् धारकान् क्रामयति स दधिक्रा अश्वः । दधिक्रा इत्यश्वनामसु पठितम् । निघ० १ । १४ (अनु) (संसनिष्यदत्) अतिशयेन प्रस्रवन्, अत्र स्यन्दू धातोर्यङ्लुक् शतृप्रत्ययेऽभ्यासस्य निक् निपात्यते (पथाम्[4]) मार्गाणाम् (अङ्कांसि) लक्षणानि (अनु) (आपनीफणत्) अतिशयेन गच्छन् (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । १९ व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अन्वयः—यथैष स्योऽसौ वाज्यासनि ग्रीवायां बद्धः क्रतुं [अनु] संसनिष्यददपिकक्षे पथामङ्कांस्यन्वापनीफणद् दधिक्राः क्षिपणिं गच्छति, तथा सेनेशः † स्वसेनां स्वाहा ✽✽ तुरण्यति पराक्रमयेत्[5] ॥ १४ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—सेनापतिरक्षिता वीरा अश्ववद्धावन्तः सद्यः शत्रून् हन्तुं शक्नुवन्ति. सेनापतिः सुकर्मकारिभिः संशिक्षितैर्वीरैः सहैव ‡ युद्ध्यमानः प्रशंसितः सन् विजयते अन्यथा पराजय एव भवति ॥१४॥

जब सेना और सेनापति अच्छे शिक्षित होकर परस्पर प्रीति करनेवाले होवें, तभी विजय प्राप्त होवे,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[6] ॥

पदार्थः—जैसे (स्यः) वह (एषः) और यह (वाजी) वेगयुक्त (आसनि) मुख और (ग्रीवायाम्)

---

१ 'वेजनवान्' इति निरु० २ । २८ ॥
२ 'क्षेपणम्' इति निरु० २ । २८ ॥
३ 'कर्म वा प्रज्ञां वा' इति निरु० २ । २८ ॥
४ आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (अ० ३ । २ । १७१) इति किप्रत्ययः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(क्षिपणिम्) क्षिपेः किच्च (उ० २ । १०७) इति 'अनिः' । कित्वाद् गुणाभावः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वे प्राप्ते उञ्छादित्वादन्तोदात्तः ॥

(बद्धः) प्रत्ययस्वरः ॥

(अपिकक्षे) सह सुपा (अ० २ । १ । ४) इति समासः । समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति समासः, निरुदकादीनि च (अ० ६ । २ । १८४) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(आसनि) पद्दन्नोमास्० (अ० ६ । १ । ६३) इत्यास्यशब्दस्यासन्नादेशः । निपातनादन्तोदात्तः । काशिकाकारस्तु आसनशब्दस्य स्थाने आसन्नादेशमाह । तदयुक्तम्, तदर्थस्यासम्भवात् ॥

(दधिक्राः) जनसनखन० (अ० ३ । २ । ६७) इति विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अ० ६ । ४ । ४१) इत्यात्त्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(संसनिष्यदत्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे अभ्यस्तानामादिः (अ० ६ । १ । १८९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । दाधर्त्तिदर्धर्त्ति० (अ० ७ । ४ । ६५) इत्यादिना निपातनात् प्रयोगसिद्धिः ॥

(अङ्कांसि) 'अकि लक्षणे' अस्मात् असुन् प्रत्ययः, नित्स्वरः ॥

(आपनीफणत्) संसनिष्यदत्वत् स्वरो निपातनं च ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

५ मन्त्रोऽयं पाठभेदेन देवताभेदेन च ऋ० ४ । ४० । ४ भाष्ये व्याख्यातः ॥
६ राज्य में संग्राम कभी न हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता, ऐसे अवसर पर प्रजा के सहयोग के बिना

✽ 'क्षियन्ति' इति अ० मु० अपपाठः ॥
† 'स्वाहा स्वसेनां' इति अ० मु० पाठः ॥
✽✽ 'तुरण्यति' इति क. पाठः, ग अ० मु० च नास्ति ॥
‡ 'युध्यमानः सन् प्रशंसितो विजयते, नान्यथा' इति अ० मु० पाठः ॥

कण्ठ में (बद्धः) बंधा (क्रतुम्) कर्म अर्थात् गति को [(अनु)] (संसनिष्यदत्) अतीव फैलाता हुआ (पथाम्) मार्गों के (अङ्कांसि) चिह्नों के (अनु) समीप (आपनीफणत्) अच्छे प्रकार चलता हुआ (दधिक्राः) धारण करनेहारों को चलानेहारा घोड़ा (क्षिपणिम्) सेना को जाता है, वैसे ही (अपिकक्षे) इधर उधर के ठीक २ अवयवों में सेनापति अपनी सेना को (स्वाहा) सत्य वाणी से (तुरण्यति) वेगयुक्त करता है ॥ १४ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—सेनापति से रक्षा को प्राप्त हुए वीरपुरुष घोड़ों के समान दौड़ते हुए शत्रुओं को शीघ्र मार सकते हैं, सेनापति उत्तम कर्म्म करनेहारे अच्छे शिक्षित वीर पुरुषों के साथ ही युद्ध करता हुआ, [तथा] प्रशंसित होता हुआ विजय को प्राप्त होता है, अन्यथा पराजय ही होता है ॥ १४ ॥
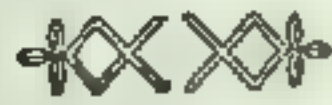
उतेत्यस्य दधिक्रावा ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

सेनापत्यादयः कथं पराक्रमेरन्नित्युपदिश्यते[1] ॥

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पुर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः ।
श्येनस्येव ध्रजतोऽअङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा ॥ १५ ॥

उत । स्म । अस्य । द्रवतः । तुरण्यतः । पुर्णम् । न । वेः । अनु । वाति । प्रगर्धिन इति प्रऽगर्धिनः ॥ श्येनस्येवेति श्येनस्यऽइव । ध्रजतः । अङ्कसम् । परि । दधिक्राव्ण इति दधिऽक्राव्णः । सह । ऊर्जा । तरित्रतः । स्वाहा ॥ १५ ॥

पदार्थः—(उत) अपि (स्म) एव (अस्य) (द्रवतः) द्रवीभूतस्य (तुरण्यतः) शीघ्रं गच्छतः (पर्णम्) पत्रं पक्षो वा (न) इव (वेः) पक्षिणः (अनु) (वाति) गच्छति (प्रगर्धिनः) प्रकर्षणाभिकाङ्क्षिणः (श्येनस्येव) (ध्रजतः) गच्छतः (अङ्कसम्) लक्षणान्वितं मार्गम् (परि) (दधिक्राव्णः) अश्वस्य (सह) (ऊर्जा) पराक्रमेण (तरित्रतः) अतिशयेन संप्लवतः[2] (स्वाहा) सत्यया क्रियया ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । २० व्याख्यातः ॥ १५ ॥

कभी कोई युद्ध जीता नहीं जा सकता, यह दर्शाते हैं — ॥ १४ ॥

१ सेनाऽल्पीयस्त्वेऽपि सेनानायकानामदम्योत्साहेन दूरदर्शित्वेन चैव सर्वं सम्पद्यत इत्यत आह—

२ 'सम्प्लव' शब्दात् आचारे क्विप्, ततः शतृप्रत्ययः । चक्षिङः ख्याञ् (अ० २ । ४ । ५४) सूत्रे आत्मनेपदविधिरनित्य इति ज्ञापितत्वाद्धाऽऽत्मनेपदाभावः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अस्य) अन्वादेशेऽनुदात्तः ॥

(द्रवतः) शतृप्रत्ययस्य तास्यनुदात्तेन्ङिद० (अ० ६ । १ । १८६) इत्यनुदात्तत्वे धातुस्वरः । शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति न प्रवर्त्तते ऽन्तोदात्तत्वाभावात् ॥

(तुरण्यतः) शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(पर्णम्) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३ । ६) इति नः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(वेः) वातेर्डिच्च (उ० ४ । १३४) इति इण्, डित्त्वाट्टिलोपः । प्रत्ययस्वरः ॥

(प्रगर्धिनः) प्रपूर्वाद् गृधेः सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (अ० ३ । २ । ७८) इति णिनिः,

अन्वयः—हे राजजना य ऊर्जा स्वाहा [सह] अस्य द्रवतस्तुरण्यतो वेः पर्णं नोत प्रगर्धिनो भ्रजतः श्येनस्येव तरित्रतो दधिक्राव्ण इवाङ्कसं पर्यनुवाति स्म स एव शत्रूं जेतुं शक्नोति[1] ॥ १५ ॥

अत्रोपमावाचकलुप्तोपमालङ्कारौ स्तः ॥

भावार्थः—ये वीरा नीलकण्ठपक्षिवच्छ्येनवदश्ववच्च पराक्रमन्ते, तेषां शत्रवः सर्वतो निलीयन्ते ॥ १५ ॥

सेनापति आदि राजपुरुष कैसा पराक्रम करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे राजपुरुषो ! जो (ऊर्जा) पराक्रम और (स्वाहा) सत्यक्रिया के (सह) साथ (अस्य) इस (द्रवतः) रसप्रद वृक्ष का पत्ता और (तुरण्यतः) शीघ्र उड़नेवाले (वेः) पक्षी के (पर्णम्) पंखों के (न) समान (उत) और (प्रगर्धिनः) अत्यन्त इच्छा करनेवाले (भ्रजतः) [ऊर्ध्वगति से] ※ चलते हुए (श्येनस्येव) बाज पक्षी के समान तथा (तरित्रतः) अति शीघ्र चलते हुए (दधिक्राव्णः) घोड़े के सदृश (अङ्कसम्) अच्छे लक्षणयुक्त मार्ग में (परि) (अनु) (वाति) सब प्रकार अनुकूल चलता है (स्म) वही पुरुष शत्रुओं को जीत सकता है ॥ १५ ॥

इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार हैं ॥

भावार्थः—जो वीर पुरुष नीलकण्ठ, श्येन पक्षी और घोड़े के समान पराक्रमी होते हैं, उनके शत्रु लोग सब ओर से ‡ विलीन हो जाते हैं ॥ १५ ॥

शन्न इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । भुरिक् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

के प्रजापालने शत्रुविनाशने च शक्तिमन्तो भवन्तीत्याह[3] ॥

शं नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः ।
ज॒म्भय॒न्तोऽहिं॒ वृक॒ꣳ रक्षा॑ꣳसि॒ सने॑म्य॒स्मद्यु॑यव॒न्नमी॑वाः ॥ १६ ॥

कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ।

(श्येनस्येव) इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे श्येनशब्दः श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् (उ० २ । ४६) इतीनचि चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(भ्रजतः) 'द्रवतः' शब्दवत् ॥

(अंकसम्) अत्यविचमितमि० (उ० ३ । ११७) इति विधीयमानोऽसच्, बाहुलकादङ्केरपि बोध्यम्, चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(दधिक्राव्णः) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३ । २ । ७४) इति वनिप् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अ० ६ । ४ । ४१) इत्यात्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(तरित्रतः) तरतेः शतरि श्लौ षष्ठ्येकवचनेऽभ्यासस्य रिगागमो निपात्यते, । शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इत्येतद् बाधित्वा परत्वाद् अभ्यस्तानामादिः (अ० ६ । १ । १८९) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 अयमपि मन्त्रः ऋ० ४ । ४० । ३ पाठभेदेन देवताभेदेन च व्याख्यातस्तत्रापि द्रष्टव्यः ॥

2 सेना थोड़ी होने पर भी सेनापतियों के अदम्य उत्साह और दूरदर्शिता से सब कुछ बन सकता है, यह बतलाते हैं— ॥ १५ ॥

3 पूर्वोक्तमेव प्रकारान्तरेण पोषयति—

※ 'चाहते हुए' इति अ० मुद्रितपाठः 'चलते हुए' इति गपाठः ॥

‡ 'बिलाइ जाते हैं' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

शम् । नः । भवन्तु । वाजिनः । हवेषु । देवतातेति देवऽताता । मितद्रवऽइति मितऽद्रवः । स्वर्का इति सुऽअर्काः ॥ जम्भयन्तः । अहिम् । वृकम् । रक्षांसि । सनेमि । अस्मत् । युयवन् । अमीवाः ॥ १६ ॥

पदार्थः—(शम्) सुखम् (नः) अस्माकम् (भवन्तु) (वाजिनः) प्रशस्तयुद्धविद्याविदः सुशिक्षितास्तुरङ्गाः (हवेषु) सङ्ग्रामेषु (देवताता) देवानां विदुषां कर्मसु, अत्र सर्वदेवात्तातिल् [अ० ४ । ४ । १४२ इति तातिल्] सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति डादेशश्च (मितद्रवः) ये परिमितं द्रवन्ति गच्छन्ति ते (स्वर्काः) शोभनोऽर्कोऽन्नं सत्कारो वा येषां ते, अर्क इत्यन्ननामसु पठितम् । निघ० २ । ७ (जम्भयन्तः) गात्राणि विनमयन्तः (अहिम्) मेघमिव चेष्टमानमुन्नतम् (वृकम्) चोरम् (रक्षांसि) हिंसकान् दस्यून् (सनेमि) सनातनम्, सनेमीति पुराणनामसु पठितम् । निघ० ३ । २७ (अस्मत्) (युयवन्) युवन्तु पृथक् कुर्वन्तु, अत्र लेटि शपः श्लुः (अमीवाः) ये रोगवद्वर्त्तमानाः शत्रवस्तान् ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । २२ व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(देवताता) सर्वदेवात् तातिल् (अ० ४ । ४ । १४२) इति तातिल् । लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तः । ततो विभक्तेर्डादेशः ॥

यत्तु ऋग्भाष्ये (१ । ३४ । ५) 'देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा तनुतः । अत्र दुतनिभ्यां दीर्घश्च (उ० ३ । ८८) इति क्त प्रत्ययः' । अत्र विभक्तेराकारः, दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

यद्वा देवास्तायन्ते विस्तीर्यन्ते यस्मिन् इति तनोतेरधिकरणे क्तिन् । अनुनासिकलोपे, कुदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते दासीभारादीनामिति वक्तव्यम् (अ० ६ । २ । ४२ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(मितद्रवः) हरिमितयोर्द्रुवः (उ० १ । ३४) इति 'डुः' डिच्च । दासीभारादीनां० (अ० ६ । २ । ४२ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ यद्वा मितं द्रवतीति 'द्रु द्रु गतौ' इति द्रुधातोः डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानं धातुविधितुक्प्रतिषेधार्थम् (अ० ३ । २ । १८० भा० वा०) इति 'डु' प्रत्ययः । स्वरस्तु पूर्ववदेव ॥ यद्वा परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६ । २ । १९९) इत्यत्र 'पूर्वान्तश्चापि दृश्यते' इति वचनात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥ यद्वा द्रवणं द्रवः, ऋदोरप् (अ० ३ । ३ । ५७) इति भावे 'अप्' प्रत्ययः । मितो द्रवो येषाम् इति बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदान्तोदात्तस्वरसिद्धिः ॥

(स्वर्काः) नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अर्कशब्दे अर्चतेः कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः (उ० ३ । ४०) इति कः । चोः कुः (अ० ८ । २ । ३०) इति कुत्वे, झरो झरि सवर्णे (अ० ८ । ४ । ६५) इति ककारलोपः । महाभाष्ये अर्चयतेरयं व्युत्पादितः, अस्मिन् पक्षे णिलोपे कृते कुत्वे कर्त्तव्ये 'अचः परस्मिन्०' (अ० १ । १ । ५७) इति स्थानिवद्भावे प्राप्ते 'क्विलुगुपधात्व०' (अ० १ । १ । ५८ भा० वा०) इति वार्त्तिकेन कुत्वविधिं प्रति स्थानिवद्भावे प्रतिषिद्धे प्रयोगोऽयं निष्पद्यते (द्र० महाभाष्य १।१।५८) ॥

(जम्भयन्तः) णिजन्ताज्जम्भेः शतरि शपि तास्यनुदात्ते० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(सनेमि) 'अव्ययम्' इति देवराजः पृ० ३६८ । निरुक्ते (१२ । ४४) क्षिप्रार्थः, तथैव च दुर्गस्कन्दावपि । अस्मिन् पक्षे निपातानुदात्तत्वम् ॥

यद्वा नेमिना सह तेन सहेति तुल्ययोगे (अ० २ । २ । २८) इति समासः । वोपसर्जनस्य (अ० ६ । ३ । ८२) इति सादेशः । पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

सनेमि शब्दोऽग्रे य० ९ । २५ 'सनातनेन नेमिना सह वर्त्तमानं राज्यमण्डलम्' इति ऋ० १ । १६४ । १४ भाष्ये 'समानो नेमिर्यस्मिंस्तत्' इति च व्युत्पादितः । अव्युत्पन्नस्तु बहुत्र व्याख्यातः ॥

अत्र सायणः—"सनेमि समाननेमि एकप्रकारवर्हिर्वलयमक्षीणनेमि चक्रं संवत्सराख्यं" ऋ० १ । १६४ । १४ भा०) ॥ आत्मानन्दोऽप्याह अस्यवामीयसूक्त-

अन्वयः—ये मितद्रवः स्वर्का अहिं वृकं रक्षांसि च जम्भयन्तो वाजिनो वीरा नो देवताता हवेषु सनेमि शम्भवन्तु, ते ऽस्मदमीवा इव वर्त्तमानानरीन् युयवन्[1] ॥ १६ ॥

भावार्थः—ये श्रेष्ठाः प्रजापालने तत्परा व्याधिवच्छत्रूणां विनाशका न्यायकारिणो राजजनाः सन्ति, त एव सर्वेषां सुखं कर्त्तुं शक्नुवन्ति ॥ १६ ॥

कौन पुरुष प्रजा के पालने और शत्रुओं के विनाश करने में समर्थ होते हैं, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—जो (मितद्रवः) नियम से चलने (स्वर्काः) जिनका अन्न वा सत्कार सुन्दर हो, वे योद्धा-लोग (अहिम्) मेघ के समान चेष्टा करते और बढ़े हुए (वृकम्) चोर और (रक्षांसि) दूसरों को क्लेश देनेहारे डाकुओं के (जम्भयन्तः) हाथ पांव तोड़ते हुए (वाजिनः) श्रेष्ठ युद्धविद्या के जाननेवाले वीर पुरुष (नः) हम (देवताता) विद्वान् लोगों के कर्मों तथा (हवेषु) सङ्ग्रामों में (सनेमि) सनातन (शम्) सुख को (भवन्तु) प्राप्त होवें (अस्मत्) हमारे लिये (अमीवाः) रोगों के समान वर्त्तमान शत्रुओं को (युयवन्) पृथक् करें ॥ १६ ॥

भावार्थः—[जो] श्रेष्ठ प्रजापुरुषों के पालने में तत्पर और रोगों के समान शत्रुओं के नाश करनेहारे [न्यायकारी] राज पुरुष [हैं वे] ही सबको सुख दे सकते हैं, अन्य नहीं ॥ १६ ॥

ते न इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

प्रजाजनाः स्वरक्षार्थमेव करं दद्युस्तदर्थमेव राजजना गृह्णन्तु नान्यथेत्याह[3] ॥

ते नो॒ऽअर्व॑न्तो हवन॒श्रुतो॒ हवं॒ विश्वे॑ शृण्वन्तु वा॒जिनो॑ मि॒तद्र॑वः ।
स॒ह॒स्र॒सा मे॒धसा॑ता सनि॒ष्यवो॑ म॒हो ये धनं॑ समि॒थेषु॑ जभ्रि॒रे ॥ १७ ॥

भाष्ये पृ० १६ "जडाजडप्रपञ्चौ नेमिनौ ताभ्यां सहितं कृत्स्नं जगत् स नेमि । अन्ये त्वाहू रथनेमिरिव जडप्रपञ्चस्योपरि स्थितश्चेतनप्रपञ्चो नेमिस्तेन युक्तं जगच्चक्रम्" (ऋ० १ । १६४ । १४ भा०) ॥

(अमीवाः) 'अम रोगे' इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिक ईवन्प्रत्ययः (द्र० य० १ । १ पृ० १७ भाष्यविवरणे) । नित्वादाद्युदात्तत्वमित्युक्तं पुरस्तात् ॥ इदमत्रावधेयम्—शेवायह्वाजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः (उ० १ । १५४) इत्यत्र केचन वृत्तिकृतः 'मीवा' इति पदं व्युत्पादयन्ति । 'अप्वामीवाः' इत्यत्रोभयथाऽपि संहितायास्तुल्यत्वे 'अमीवा' इत्यपि निपात्यते । अत्र च आङ्पूर्वात् मीनातेर्वन्, उपसर्गस्य ह्रस्वत्वं च निपात्यते, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते निपातनादेवाद्युदात्तत्वम् ।' वस्तुतस्त्वस्मिन् सूत्रे अमीवापदमेव निपात्यते, तस्य प्रायेणोपलभ्यमानत्वात् ॥ तथैव श्वेतवनवासिनारायणाख्यावाहतुः । 'अमीवा जलम्' इति नारायणः पृ० ३१ । 'अमीवा मनः उदकं वा' इति श्वेतवनवासी पृ० ५४ ॥ एतेन 'अमीवा' इत्येव साधुतरं स्यात् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ मन्त्रोऽयं सुव्याख्यातो निरु० १२ । ४४ तद्यथा—

"सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे । मितद्रवः सुमितद्रवः । स्वर्काः स्वञ्चना इति वा, स्वर्चना इति वा, स्वर्चिष इति वा । जम्भयन्तोऽहिं च वृकं च रक्षांसि च । क्षिप्रमस्मद्यावयन्तु । अमीवा देवाश्चा इति वा" ॥

"रश्मयोऽभिधेयाः" इति स्कन्दः, निरु० टी० भा० ३ पृ० १४४ ॥

२ प्रकारान्तर से पूर्वोक्त विषय की ही पुष्टि करते हैं— ॥ १६ ॥

---

३ सर्वोऽपि राज्यव्यवस्था धनेनैव सम्पद्यते, महता परिश्रमेण चोत्पादितं धनं प्रयोजनमन्तरा न कश्चिदपि दित्सतीति करदानस्य प्रयोजनं तदुपयोगं च वर्णयति—

ते । नः । अर्वन्तः । हवनश्रुत इति हवनऽश्रुतः । हवम् । विश्वे । शृण्वन्तु । वाजिनः । मितद्रव इति मितऽद्रवः ॥ सहस्रसा इति सहस्रऽसाः । मेधसातेति मेधऽसाता । सनिष्यवः । महः । ये । धनम् । समिथेष्विति सम्ऽइथेषु । जभ्रिरे ॥ १७ ॥

पदार्थः—(ते) (नः) अस्माकम् (अर्वन्तः) जानन्तः (हवनश्रुतः) ये हवनानि ग्राह्याणि शास्त्राणि शृण्वन्ति ते (हवम्) अध्ययनाध्यापनजन्यं बोधशब्दसमूहम्, अर्थिप्रत्यर्थिनां विवादं च (विश्वे) सर्वे विद्वांसः (शृण्वन्तु) (वाजिनः) प्रशस्तप्रज्ञाः (मितद्रवः) ये मितं शास्त्रप्रमितं विषयं द्रवन्ति ते (सहस्रसाः) ये सहस्रं विद्याविषयान् सनन्ति ते (मेधसाता) मेधानां संगमानां सातिर्दानं येषु, अत्र सप्तमीबहुवचनस्य सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति डादेशः (सनिष्यवः) आत्मनः[1] सनिं संविभागमिच्छवः, सनिशब्दात् क्यचि लालसायां सुक्, तत उः (महः) महत् (ये) (धनम्) श्रियम् (समिथेषु) संग्रामेषु, समिथ इति सङ्ग्रामनामसु पठितम् । निघ० २ । १७ (जभ्रिरे) भरेयुः, अत्राभ्यासस्य वर्णव्यत्ययेन बस्य जः ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । २३ व्याख्यातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—येऽर्वन्तो हवनश्रुतो वाजिनो मितद्रवः सहस्रसाः सनिष्यवो राजजना मेधसाता समिथेषु नो महो धनं जभ्रिरे, ते विश्वेऽस्माकं हवं शृण्वन्तु ॥ १७ ॥

भावार्थः—य इमे राजपुरुषा अस्माकं सकाशात् करं गृह्णन्ति, तेऽस्मान् सततं रक्षन्तु, नोचेन्मा गृह्णन्तु, वयमपि तेभ्यः करं नैव दद्याम । अतः प्रजारक्षणायैव करदानं दुष्कर्मिभिः सह योद्धुं च नान्यदर्थमिति निश्चयः ॥ १७ ॥

प्रजाजन अपनी रक्षा के लिये कर देवें, और इसी लिये राजपुरुष ग्रहण करें अन्यथा नहीं,
यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—(ये) जो (अर्वन्तः) ज्ञानवान् (हवनश्रुतः) ग्रहण करने योग्य शास्त्रों को सुनने (वाजिनः)

---

१ 'आत्मशब्दोऽत्र शरीरवाची, तथा चाहुर्महाभाष्यकाराः—द्वावात्मानौ, अन्तरात्मा शरीरात्मा च (अ० १ । ३ । ६७ महाभाष्ये) ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अर्वन्तः) अर्तेः अन्येभ्योऽपि दृश्यते (अ० ३ । २ । ७५) इति 'वनिप्' । धातुस्वरः ॥

(हवनश्रुतः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(हवम्) ह्वयतेः भावेऽनुपसर्गस्य (अ० ३ । ३ । ७५) इति 'अप्', सम्प्रसारणं च ॥

(सहस्रसाः) जनसनखनक्रम० (अ० ३ । २ । ६७) इति विट् । जनसनखनां सञ्झलोः (अ० ६ । ४ । ४२) इत्यात्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(मेधसाता) 'मेध संगमे', ततोऽच् । बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । स्यतेः क्तिनि क्तिचि वा सप्तमीबहुवचनस्य डादेशः ॥

(सनिष्यवः) प्रत्ययस्वरः । शिष्टं भाष्ये व्याख्यातम् ॥

(समिथेषु) समीणः (उ० २ । ११) इति थक् । थाथघञ्० (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(जभ्रिरे) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावे चितः (अ० ६ । १ । १६३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ राज्य की सब प्रकार की व्यवस्था धन से ही चल सकती है, और अति कष्टों से कमाया हुवा धन प्रयोजन के बिना कोई भी कभी देने की इच्छा नहीं करता, अतः कर देने का प्रयोजन और उसका उपयोग बतलाते हैं— ॥ १७ ॥

प्रशंसित बुद्धिमान् (मितद्रवः) शास्त्रयुक्त विषय को प्राप्त होने (सहस्रसाः) असंख्य विद्या के विषयों को सेवने और (सनिष्यवः) अपने आत्मा की सुन्दर भक्ति करनेहारे राजपुरुष (मेधसाता) *उत्तम सङ्गति के प्राप्त करानेहारे (समिथेषु) संग्रामों में (नः) हमारे [(महः)] बड़े (धनम्) ऐश्वर्य्य को (जभ्रिरे) धारण करें [(ते)] वे (विश्वे) सब विद्वान् लोग हमारा (हवम्) पढ़ने पढ़ाने से होनेवाले शब्दबोध और वादी प्रतिवादियों के विवाद को (शृण्वन्तु) सुनें ॥ १७ ॥

भावार्थः—जो ये राजपुरुष हम लोगों से कर लेते हैं, वे हमारी निरन्तर रक्षा करें, नहीं तो न लें, हम भी उनको कर न देवें। इस कारण प्रजा की रक्षा और दुष्टों के साथ युद्ध करने के लिये ही कर देना चाहिये, अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं, यह निश्चित है ॥ १७ ॥

वाजेवाज इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः। † धैवतः स्वरः ॥

अथैते परस्परस्मिन् कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते[1] ॥

वाजे॑वाजेऽवत वाजिनो नो धने॑षु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः॑ पिबत मादय॑ध्वं तृप्ता या॑त पथिभि॑र्देवयानैः॑ ॥ १८ ॥

वाजे॑वाज इति वाजे॑ऽवाजे। अवत। वाजिनः। नः। धने॑षु। विप्राः। अमृताः। ऋतज्ञा इत्यृ॑तऽज्ञाः ॥ अस्य। मध्वः॑। पिबत। माद॑यध्वम्। तृप्ताः। यात। पथिभिरिति॑ पथिऽभिः॑। देवयानै॑रिति॑ देवऽयानैः॑ ॥ १८ ॥

पदार्थः—(वाजेवाजे) सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे (अवत) पालयत (वाजिनः) वेगवन्तः (नः) अस्मान् (धनेषु) (विप्राः)[2] विद्यासुशिक्षाजातप्रज्ञाः (अमृताः) स्वस्वरूपेण नाशरहिताः, प्राप्तजीवन्मुक्तिसुखाः (ऋतज्ञाः) ये ऋतं सत्यं जानन्ति ते (अस्य) प्रत्यक्षस्य (मध्वः) मधुनो मधुरस्य रसस्य अत्र कर्मणि षष्ठी (पिबत) (मादयध्वम्) हृष्यत (तृप्ताः) प्रीणिताः (यात) गच्छत (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः[3]) देवा विद्वांसो यान्ति यैर्धर्म्यैः ॥ अयं मन्त्रः शत० ५। १। ५। २४ व्याख्यातः ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे ऋतज्ञा अमृता वाजिनो विप्राः! यूयं वाजेवाजे नोऽवत। अस्य मध्वः पिबताऽस्माकं [धनेषु[4]]

१ पारस्परिकसहयोगमन्तरा न किञ्चित् कार्यं सिध्यतीति विपत्तिकाले सर्वेऽपि संयुक्ताः स्युः, तदैव प्रजासंरक्षणस्य सर्वविधसुखशान्तेश्च सम्भव इति तदुपायं वर्णयति—

२ प्रजापतिर्वै विप्रो देवा विप्राः ॥ श० ६। ३। १। १६ ॥ एते वै विप्रा यदृषयः ॥ श० १। ४। २। ७ ॥

३ देवयाना वै ज्योतिष्मन्तः पन्थानः ॥ ऐ० ३। ३८ ॥

४ निमित्तार्थे सप्तमी ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(विप्राः) पूर्वं (यजुः ३। ५१) व्याख्यातः ॥ विपूर्वात् प्राधातोः आतश्चोपसर्गे (अ० ३। १। १३६) इति कप्रत्ययः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः।, इह तु आमन्त्रितस्य च (अ० ८। १। १९) इति सर्वनिघातः ॥

(वाजिनः, अमृताः, ऋतज्ञाः) इत्यत्रापि पूर्ववदेव सर्वनिघातत्वम् ॥

(मध्वः) नुमभावश्छान्दसः। मधुशब्दे फलिपाटि० (उ० १। १८) इति 'उः', नित्वादाद्युदात्तत्वम्। पूर्वं यजुः ७। १५ अपि द्रष्टव्यम् ॥

(मादयध्वम्) 'मद तृप्तियोगे' इति चौरादि-

* इतोऽग्रे 'समागमों के दान से युक्त' इति अ० मुद्रिते पाठः। सोऽपि संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥

† 'निषादः' इति अ० मुद्रिते हस्तलेखेषु चापपाठः ॥

धनैस्तृप्ताः सन्तो मादयध्वम् । देवयानैः पथिभिः सततं यात[1] ॥ १८ ॥

भावार्थः—राजपुरुषैर्वेदादीनि शास्त्राण्यधीत्य सुशिक्षया यथार्थं बोधं प्राप्य धार्मिकाणां विदुषां मार्गेण सदा गन्तव्यं, नेतरेषाम् । शरीरात्मबलक्षवृद्धये वैद्यकशास्त्रपरीक्षितान् सुसंस्कृतान्नादियुक्तान् रसान् संसेव्य प्रजापालनेनैव सततमानन्दितव्यं, प्रजाजनाः स्वधनैरेतान् सततं तर्पयन्तु ॥ १८॥

अब ये राजा और प्रजा के पुरुष आपस में कैसे वर्तें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (ऋतज्ञाः) सत्यविद्या के जाननेहारे (अमृताः) अपने अपने स्वरूप से नाशरहित, जीते ही मुक्तिसुख को प्राप्त (वाजिनः) वेगयुक्त (विप्राः) विद्या और अच्छी शिक्षा से बुद्धि को प्राप्त हुए विद्वान् राजपुरुषो ! तुम लोग (वाजेवाजे) संग्राम २ के बीच (नः) हमारी (अवत) रक्षा करो (अस्य) इस (मध्वः) मधुर रस को (पिबत) पीवो । हमारे [(धनेषु)] धनों से (तृप्ताः) तृप्त होके (मादयध्वम्) आनन्दित होओ । और (देवयानैः) जिनमें विद्वान् लोग चलते हैं, उन (पथिभिः) मार्गों से सदा (यात) चलो ॥ १८ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि वेदादि शास्त्रों को पढ़ और सुन्दर शिक्षा से ठीक २ बोध को प्राप्त होकर, धर्मात्मा विद्वानों के मार्ग से सदा चलें, अन्य मार्ग से नहीं । तथा शरीर और आत्मा का बल बढ़ने के लिये वैद्यक शास्त्र से परीक्षा किये और अच्छे प्रकार पकाये हुए अन्न आदि से युक्त रसों का सेवन कर, प्रजा की रक्षा से ही आनन्द को प्राप्त होवें । और प्रजा पुरुषों को चाहिये कि अपने धनों से इन राजपुरुषों को निरन्तर प्रसन्न रक्खें ॥ १८ ॥

आ मा वाजस्येत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । निचृद्धृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

मनुष्यैर्धर्माचरणेन किं किमेष्टव्यमित्याह[3] ॥

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे ।
आ मा गन्तां पितरामातरा चा मा सोमो ऽ अमृतत्वेन गम्यात् ।
वाजिनो वाजजितो वाजꣳ ससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः ॥ १९ ॥

कात् स्वार्थे णिचि न भित्संज्ञा, घटादिषु दैवादिकस्यैव ग्रहणात् । तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति न प्रवर्ततेऽतिङः इति पर्युदासात् । ततो लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः ॥

(देवयानैः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अर्थभेदेन देवताभेदेन च मन्त्रोऽयं ऋ० ७ । ३८ । ८ ॥ य० २१ । ११ भाष्ये च व्याख्यातः ॥

२ परस्पर के सहयोग के विना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, अतः विपत्तिकाल में सबको संगठित रहना चाहिये, तभी प्रजा की रक्षा तथा सब प्रकार की सुख शान्ति का होना सम्भव है, सो इसके उपाय बतलाते हैं— ॥ १८ ॥

३ मानवानां विविधा हृद्गताभिलाषाः स्वभावतः उत्पद्यन्त एव, तत्र कथंभूता अभिलाषाः कर्तव्या इति बोधयति —

* 'वृद्धये······संसेव्य प्रजा' इति पाठः क. कोशे उपलभ्यमानोऽपि ग. कोशे प्रमादेन त्यक्तः ॥

आ । मा । वाजस्य । प्रसव इति प्रऽसवः । जगम्यात् । आ । इमेऽ इतीमे । द्यावापृथिवीऽइति द्यावापृथिवी । विश्वरूपेऽ इति विश्वऽरूपे ॥ आ । मा । गन्ताम् । पितरामातरा । च । आ । मा । सोमः । अमृतत्वेनेत्यमृतऽत्वेन । गम्यात् ॥ वाजिनः । वाजजित इति वाजऽजितः । वाजम् । ससृवाꣳस इति ससृऽवाꣳसः । बृहस्पतेः । भागम् । अव । जिघ्रत । निमृजाना इति निऽमृजानाः ॥ १९ ॥

पदार्थः—(आ) (मा) माम् (वाजस्य) वेदादिशास्त्रार्थप्रसूतज्ञानबोधस्य (प्रसवः) प्रकृष्टैश्वर्य्यसमूहः (जगम्यात्) भृशं प्राप्नुयात् (आ) (इमे) (द्यावापृथिवी) प्रकाशभूमी [1]राज्यार्थे (विश्वरूपे) विश्वानि सर्वाणि रूपाणि ययोस्ते (आ) (मा) माम् (गन्ताम्) प्राप्नुतः, अत्र विकरणलुक् (पितरामातरा) पिता च माता च ते, अत्र पितरामातरा च च्छन्दसि । अ० ६ । ३ । ३३ इति पूर्वपदस्याऽराङ्, † उत्तरपदस्याऽकारादेशश्च निपात्यते (च) सुसहायः (आ) (मा) माम् (सोमः[2]) सोमवल्ल्याद्योषधिगणः (अमृतत्वेन) सर्वरोगनिवारकत्वेन सह (गम्यात्) प्राप्नुयात् (वाजिनः) प्रशस्तबलिनः (वाजजितः) विजितसङ्ग्रामाः (वाजम्) सङ्ग्रामम् (ससृवांसः) प्राप्तवन्तः (बृहस्पतेः) बृहत्याः सेनायाः स्वामिनः (भागम्) भजनीयम् (अव) (जिघ्रत) (निमृजानाः) नितरां ‡ शुन्धन्तः ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । १ । ५ । २६–२७ व्याख्यातः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे पूर्वोक्ता विद्वांसो येषां भवतां सहायेन वाजस्य प्रसवो मा ऽऽ जगम्यात् समन्तात् प्राप्नुयादिमे विश्वरूपे द्यावापृथिवी चामृतत्वेन सोमो [माऽऽ] गम्यात् । पितरामातरा च [मा] आगन्ताम् । ते वाजिनो वाजजितो वाजं ससृवांसो निमृजानाः सन्तो यूयं बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥ १९ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्वत्सङ्गेन विद्यासुशिक्षे प्राप्य धर्ममाचरन्ति, तानिहामुत्र परमैश्वर्यसाधकं राज्यं, विद्वांसौ मातापितरौ, रोगराहित्यं च प्राप्नोति । ये विदुषां सेवनं कुर्वन्ति, ते शरीरात्मबलं प्राप्ताः सन्तः सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ति, नातो विरुद्धाचरणा एतत्सर्वमाप्तुं शक्नुवन्ति ॥ १९ ॥

---

१ राज्यमर्थः प्रयोजनं ययोस्ते इति समासः, न तु राज्यं चार्थं च । तथा सति अर्थपदस्य पूर्वनिपातप्रसंगात्, अनन्वयाच्च ॥

२ हविर्वै देवानां सोमः ॥ श० ३ । ५ । ३ । २ ॥ एतद् वै परममन्नाद्यं यत् सोमः ॥ कौ० १३ । ७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(जगम्यात्) 'गम्लृ गतौ'इत्यस्य यङ्लुगन्तस्य लिङि रूपम् । नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (अ० ७ । ४ । ८५) इति नुक् छान्दसत्वान्न भवति ॥

(वाजिनः) पूर्वं य० १ । २९ । पृ० १३२ व्याख्यातः ॥

(विश्वरूपे) बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६ । २ । १०६) इति छान्दसत्वादसंज्ञायामपि पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(पितरामातरा) पदकारस्तु द्वे पदे इत्यवोचत्, परन्तु पितरामातरा च च्छन्दसि (अ० ६ । ३ । ३३) इति भगवतः पाणिनेर्वचनप्रामाण्याद्, महाभाष्यकृताऽस्यैव मन्त्रस्य तत्रोदाहरणत्वेन प्रदर्शनाच्चैकपद्यमप्यवबोध्यम् ॥

अत्राह नागेशः—"यद्यपि तैत्तिरीये माध्यन्दिनशाखायां च पितरेत्यादि भिन्नपदत्वेन पदपाठे पठन्ति, तथापि शाखान्तरे ऐकपद्येन पाठो भाष्यप्रामाण्याद् द्रष्टव्यः । यद्वा पदच्छेदपाठो भ्रान्त्येति बोध्यम् । तत्र तत्रावग्रहवत्, आधुनिकानां वा सम्प्रदायभ्रंश इति कल्प्यम् ॥" (अ० ६ । ३ । ३३ भाष्योद्योते) ॥

स्वरस्तु—उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६ । २ । १४०) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरः । यद्वा पूर्वोक्तसूत्रे निपातनाद् बोध्यः ॥

---

† 'अनङ्' इति अ० मु० कोशेषु चापपाठः ॥

‡ 'शुन्धानाः' इति हस्तलेखेषु पाठः ॥

मनुष्यों को धर्माचरण से किस पदार्थ की इच्छा करनी चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे पूर्वोक्त विद्वान् लोगो ! जिन आप लोगों के सहाय से (वाजस्य) वेदादि शास्त्रों के अर्थों के बोधों का (प्रसवः) सुन्दर ऐश्वर्य (मा) मुझको [(आ)] (जगम्यात्) शीघ्र प्राप्त होवे, (इमे) वे (विश्वरूपे) सब रूप [आदि] विषयों के सम्बन्धी (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि का राज्य (च) और (अमृतत्वेन) सब रोगों के निवृत्तिकारक गुण के साथ (सोमः) सोमवल्ली आदि ओषधी विज्ञान [(मा)] मुझको [(आगम्यात्)] प्राप्त हो और (पितरामातरा) विद्यायुक्त पिता माता [(मा)] मुझको (आगन्ताम्) प्राप्त होवें, वे आप (वाजिनः) प्रशंसित बलवान् (वाजजितः) सङ्ग्रामों के जीतनेवाले (वाजम्) संग्राम को [(ससृवांसः)] प्राप्त होते हुए (निमृजानाः) निरन्तर शुद्ध हुए तुम लोग (बृहस्पतेः) बड़ी सेना के स्वामी के (भागम्) सेवने योग्य भाग को (अवजिघ्रत) निरन्तर प्राप्त होओ ॥ १९ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्वानों के साथ विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त होके धर्म का आचरण करते हैं, उनको इस लोक और परलोक में परमैश्वर्य का साधक राज्य, विद्वान् माता पिता और नीरोगता प्राप्त होती है। जो पुरुष विद्वानों का सेवन करते हैं, वे शरीर और आत्मा की शुद्धि को प्राप्त हुए, सब सुखों को भोगते हैं। इससे विरुद्ध चलनेहारे ‡ पूर्वोक्त सब बातों को प्राप्त नहीं हो सकते ॥ १९ ॥

आपय इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । भुरिक्कृतिश्छन्दः । निषादः[2] स्वरः ॥

विद्यासुशिक्षितया वाचा ※ मनुष्याणां किं किं प्राप्नोतीत्याह[3] ॥

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिन ऽ आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा ॥ २० ॥

आपये । स्वाहा । स्वापय इति सुऽआपये । स्वाहा । अपिजायेत्यपिऽजाय । स्वाहा । क्रतवे । स्वाहा । वसवे । स्वाहा । अहर्पतये । अहःपतय इत्यहःऽपतये । स्वाहा । + अह्ने । मुग्धाय । स्वाहा । मुग्धाय । वैनꣳशिनाय । स्वाहा । विनꣳशिन इति विऽनꣳशिने । आन्त्यायनायेत्यान्त्यऽआयनाय । स्वाहा । आन्त्याय । भौवनाय । स्वाहा । भुवनस्य । पतये । स्वाहा । अधिपतय इत्यधिऽपतये । स्वाहा ॥ २० ॥

(ससृवांसः) क्वसुप्रत्यये प्रत्ययस्वरः ॥
(निमृजानाः) निपूर्वात् मृजेः शानचि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ मनुष्यों की हृदयस्थ अनेकविध अभिलाषायें स्वभावतः उत्पन्न होती ही हैं, मनुष्यों को किस प्रकार की अभिलाषा करनी चाहिये, सो दर्शाते हैं ॥ १९ ॥

२ पक्षान्तरे षड्जः स्वरः ॥

३ सर्वव्यवहारेषु वाग्व्यवहारस्य प्राधान्यात् तदुच्यते—

‡ 'पूर्वोक्त सब बातों को प्राप्त नहीं हो सकते' इति हस्तलेखपाठः, अ० मु० नास्ति ॥
※ 'साम्प्रतिकानां मते 'मनुष्यान्' 'मनुष्येभ्यः' इति वा स्यात् ॥ + 'अन्हे' इत्यपपाठः अ० मु० ॥

पदार्थः—(आपये) सकलविद्याव्याप्तये (स्वाहा) सत्या क्रिया (स्वापये) सुखानां सुष्ठु प्राप्तये (स्वाहा) धर्म्या क्रिया (अपिजाय) निश्चयेन जायमानाय (स्वाहा) पुरुषार्थयुक्ता क्रिया (क्रतवे[1]) प्रज्ञायै (स्वाहा) अध्ययनाध्यापनप्रवर्त्तिका क्रिया (वसवे) विद्यानिवासाय (स्वाहा) सत्यां वाणीं (अहर्पतये) पुरुषार्थेन गणितविद्यया दिवसपालकाय (स्वाहा) कालविज्ञापिका वाणी (अह्ने) दिनाय (मुग्धाय) प्राप्तमोहनिमित्ताय (स्वाहा) विज्ञानयुक्ता वाक् (मुग्धाय) मूर्खाय (वैनंशिनाय) विनाशशीलेषु कर्मसु भवाय (स्वाहा) चेतयित्री वाणी (विनंशिने) विनष्टुं शीलाय (आन्त्यायनाय) आन्त्यं नीचमयनं प्रापणं यस्य तस्मै (स्वाहा) नष्टकर्मनिवारिका वाणी (आन्त्याय) अन्ते भवाय (भौवनाय) भुवनेषु प्रभवाय (स्वाहा) पदार्थविज्ञापिका वाक् (भुवनस्य) संसारस्य (पतये) स्वामिने ईश्वराय (स्वाहा) योगविद्या जनिता प्रज्ञा (अधिपतये) सर्वाधिष्ठातॄणामुपरि वर्त्तमानाय (स्वाहा) सर्वव्यवहारविज्ञापिका वाक् ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । १ । २ व्याख्यातः ॥ २० ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो यूयं यथा मामापये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा *वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहा मुग्धायाह्ने स्वाहा मुग्धाय वैनंशिनाय स्वाहा । आन्त्यायनाय विनंशिने स्वाहाऽऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये च स्वाहा प्राप्नुयात्, तथा प्रयतध्वम् ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सकलविद्या प्राप्त्यादिप्रयोजनाय विद्यासुशिक्षायुक्ता वाणी प्राप्तव्या, यतः सर्वाणि सुखानि †प्राप्तानि स्युः ॥ २० ॥

---

१ स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुः ॥ श० ४ । १ । ४ । १ ॥ क्रतुर्मनोजवः ॥ श० ३ । ३ । ४ । ७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आपये) जनिघसिभ्यामिण् (उ० । ४ । १३०) इति विधीयमान इण् बाहुलकाद् बोध्यः । प्रत्ययस्वरः ॥

(स्वापये) पूर्ववद् इण्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अपिजाय) पूर्ववदत्रापि डप्रत्यये कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अहर्पतये) समासान्तोदात्तत्वम् ॥

(अह्ने) नञि जहातेः (उ० १ । १५८) इति कनिन् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(मुग्धाय) प्रत्ययस्वरः ॥

(वैनंशिनाय) तत्र भवः (अ० ४ । ३ । ५३) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः ॥

(विनंशिने) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (अ० । ३ । २ । ७८) इति णिनिः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(आन्त्यायनाय) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरप्राप्तौ त्रिचक्रादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् (अ० ६ । २ । १९९ भा० वा०) इत्यनेनोत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(आन्त्याय) अन्तशब्दाद् भवार्थे छान्दसो ञ्यः । ञित्स्वरः ॥

(भौवनाय) तत्र भवः (अ० ४ । ४ । ५३) इत्यण् । प्रत्ययस्वरः ॥

(अधिपतये) अधिकृतानां पतिः, अधिपतिः । कुगतिप्रादयः (अ० २ । २ । १८) इति समासः ; तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे निपाताद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

* 'वसवे स्वाहा' इति पाठः क. कोशे सत्रपि ग. कोशे प्रमादेन त्यक्तः ॥ † 'प्राप्नुयुः' इति अ० मु० पाठः ॥

विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त वाणी से मनुष्यों को क्या २ प्राप्त होता है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे विद्वानो ! तुम लोग जैसे मुझको (आपये) संपूर्ण विद्या की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) सत्य क्रिया, (स्वापये) सुखों की अच्छी प्राप्ति के लिये (स्वाहा) धर्मयुक्त क्रिया, (क्रतवे) बुद्धि बढ़ाने के लिये (स्वाहा) [पढ़ने] पढ़ाने की प्रवृत्ति करानेहारी क्रिया ❀(अपिजाय) निश्चय करके प्रकट होने के लिये (स्वाहा) पुरुषार्थ क्रिया, (वसवे) विद्यानिवास के लिये (स्वाहा) सत्य वाणी, (अहर्पतये) पुरुषार्थपूर्वक गणित विद्या से दिन पालने [वाले अर्थात् दिनों की गणना करनेवाले ज्योतिर्वित्] के लिये (स्वाहा) कालगति की जाननेहारी वाणी, (मुग्धाय) †जिसको मोह प्राप्त हुवा है उसके लिये (अह्ने) दिन होने के लिये (स्वाहा) विज्ञानयुक्त वाणी, (वैनंशिनाय) नष्ट स्वभावयुक्त कर्मों में रहनेहारे (मुग्धाय) मूर्ख के लिये (स्वाहा) चितानेवाली वाणी (आन्त्यायनाय) नीच प्राप्ति वाले (विनंशिने) नष्ट स्वभावयुक्त पुरुष के लिये ‡(स्वाहा) नष्ट भ्रष्ट कर्मों का निवारण करनेहारी वाणी (आन्त्याय) अधोगति में होनेवाले (भौवनाय) लोगों के बीच समर्थ पुरुष के लिये (स्वाहा) पदार्थों की जनानेहारी वाणी, (भुवनस्य पतये) संसार के स्वामी ईश्वर के लिये (स्वाहा) योग विद्या को प्रकट करनेहारी बुद्धि, और (अधिपतये) सब अधिष्ठाताओं के ऊपर रहनेवाले पुरुष के लिये (स्वाहा) सब व्यवहारों की जनानेहारी वाणी प्राप्त होवे, वैसा प्रयत्न +आलस्य छोड़ के किया करो ॥ २० ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सब विद्याओं की प्राप्ति आदि प्रयोजनों के लिये विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त वाणी को प्राप्त होवें, कि जिससे सब सुख सदा मिलते रहें ॥ २० ॥

आयुर्यज्ञेनेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । यज्ञो देवता । अत्यष्टिश्छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

अथ मनुष्यान् प्रतीश्वरः [किम्] आहेत्युपदिश्यते[2] ॥

आयुर्यज्ञेन॑ कल्पतां प्राणो यज्ञेन॑ कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन॑ कल्पताᳪं श्रोत्रं॑ यज्ञेन॑ कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन॑ कल्पतां यज्ञो यज्ञेन॑ कल्पताम् । प्रजाप॑तेः प्रजा ऽ अ॑भूम स्व॑र्देवा ऽ अग॑न्मामृता॑ ऽ अभूम ॥ २१ ॥

आयुः । यज्ञेन॑ । कल्पताम् । ×प्राणः । यज्ञेन॑ । कल्पताम् । चक्षुः । यज्ञेन॑ । कल्पताम् । श्रोत्रम् । यज्ञेन॑ । कल्पताम् । पृष्ठम् । यज्ञेन॑ । कल्पताम् । यज्ञः । यज्ञेन॑ । कल्पताम् ॥ प्रजाप॑तेरिति॑ प्रजाऽप॑तेः । प्रजा इति॑ प्रऽजाः । अभूम । स्वः॑ । देवाः । ()अगन्म । अमृताः॑ । अभूम ॥ २१ ॥

१ सब व्यवहारों में वाणी के व्यवहार की प्रधानता होने से, उसका कर्म कहते हैं— ॥ २० ॥

२ सुखे वा दुःखे वा, विपदि सम्पदि वा स जगदीश्वरो नैव विस्मर्त्तव्य इत्युच्यते—

❀ '(अपिजाय)······पुरुषार्थ क्रिया' इति पाठः क. कोश उपलभ्यमानोऽपि ग. कोशे प्रमादेन त्यक्तः ॥

† 'मोह प्राप्ति के निमित्त' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

‡ '(स्वाहा)······पुरुष के लिये' इति पाठोऽपि क० कोश उपलभ्यमानः ग. कोशे प्रमादेन त्यक्तः ॥

+ 'आलस्य छोड़ के' इति पाठो हस्तलेखे नास्ति ॥

× 'प्राणः' इत्यस्वरः पाठः अ० मु० ॥ () 'अगन्म' इत्यपपाठः अ० मु० ॥

पदार्थः—(आयुः) जीवनम् (यज्ञेन[1]) धर्म्येणेश्वराज्ञापालनेन (कल्पताम्) समर्थताम् (प्राणः) जीवनहेतुर्बलकारी (यज्ञेन[2]) धर्म्येण विद्याभ्यासेन (कल्पताम्) (चक्षुः) चष्टेऽनेन तत् (यज्ञेन[2]) शिष्टाचरितेन प्रत्यक्षविषयेण (कल्पताम्) (श्रोत्रम्) शृणोति येन तत् (यज्ञेन[3]) शब्दप्रमाणाभ्यासेन (कल्पताम्) (पृष्ठम्)[4] प्रच्छनम् (यज्ञेन[3]) संवादाख्येन (कल्पताम्) (यज्ञः) यजधातोरर्थः (यज्ञेन[5]) ब्रह्मचर्य्याद्याचरणेन (कल्पताम्) (प्रजापतेः) विश्वम्भरस्य जगदीश्वरस्येव धार्म्मिकस्य राज्ञः (प्रजाः) तदधीनपालनाः (अभूम) भवेम (स्वः) सुखम् (देवाः) विद्वांसः (अगन्म) प्राप्नुयाम (अमृताः) प्राप्तमोक्षसुखाः (अभूम) भवेम ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । १ । ४ व्याख्यातः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या युष्माकमायुः सततं यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पतां, चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां, श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, [यज्ञो यज्ञेन कल्पतां,] यथा वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम देवाः सन्तोऽमृता अभूम स्वरगन्मेति, तथा यूयं निश्चिनुत[6] ॥ २१ ॥

भावार्थः—ईश्वरः सर्वान् मनुष्यानिदमाज्ञापयति यूयं मत्सदृशस्य सत्यगुणकर्मस्वभावस्यैव प्रजा भवतेतरस्य क्षुद्राऽऽशयस्य च कदाचित् प्रजाभावं मा स्वीकुरुत । यथा मां न्यायाधीशं मत्वा मदाज्ञायां वर्त्तित्वा सर्वं स्वं धर्मेण सहचरितं कृत्वाऽऽभ्युदयिकनिःश्रेयसे सुखे नित्यं *प्राप्नुत, तथा यो हि धर्मेण न्यायेन युष्मान् निरन्तरं पालयेत् तं च सभेशं राजानं मन्यध्वम् ॥ २१ ॥

पुनः मनुष्यों के प्रति ईश्वर [क्या] उपदेश करता है, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[7] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम्हारी (आयुः) अवस्था (यज्ञेन) ईश्वर की आज्ञा पालन [तथा धर्मयुक्त व्यवहार] से निरन्तर (कल्पताम्) समर्थ होवे, (प्राणः) जीवन का हेतु बलकारी प्राण (यज्ञेन) धर्मयुक्त विद्याभ्यास से (कल्पताम्) समर्थ होवे, (चक्षुः) नेत्र (यज्ञेन) प्रत्यक्ष के विषय शिष्टाचार से (कल्पताम्) समर्थ

---

१ यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म ॥ तै० ३ । २ । १ । ४ ॥

२ सैषा त्रयी विद्या यज्ञः ॥ श० १ । १ । ४ । ३ ॥

३ वाग् वै यज्ञः ॥ ऐ० ५ । २४ ॥ श० १ । १ । २ । २ ॥

४ बाहुलकात् प्रच्छतेरपि निपातनमिति बोध्यम् ॥

५ ब्रह्म वै यज्ञः ॥ ऐ० ७ । २२ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आयुः) पूर्वं यजुः १ । २० ॥ ४ । १५ व्याख्यातः ॥

(अगन्म) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इति 'देवाः' पदस्याविद्यमानत्वेऽपि 'स्वः' पदापेक्षया तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः प्रवर्त्तत एव ॥

(पृष्ठम्) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः (उ० २ । १२) इति पृच्छतेरपि थकि निपातनं द्रष्टव्यम् । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(अमृताः) नञो जरमरमित्रमृताः (अ० ६ । २ । ११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

६ (क) मन्त्रोऽयमर्थभेदेन, देवताभेदेन च य० १८ । २९, २२ । ३३ च व्याख्यातः ॥

(ख) मन्त्रोऽयमृग्वेदादिभाष्यभूमिकायां पृ० १५९ आर्याभिविनये च पृ० १७० व्याख्यातः ॥

७ सुख हो या दुःख, विपद् हो या सम्पद्, उस जगदीश्वर को कदापि नहीं भुला देना चाहिये, सो कहते हैं— ॥ २१ ॥

* 'प्राप्नुतः' इति अ० मु० कोशेषु चापपाठः ॥

हो, (श्रोत्रम्) कान (यज्ञेन) वेदाभ्यास से (कल्पताम्) समर्थ हो और (पृष्ठम्) पूछना (यज्ञेन) संवाद से (कल्पताम्) समर्थ हो, (यज्ञः) यज धातु का अर्थ [देवपूजा-सङ्गतिकरण-दान] (यज्ञेन) ब्रह्मचर्यादि के आचरण से (कल्पताम्) समर्थ हो, जैसे हम लोग (प्रजापतेः) सबके पालनेहारे ईश्वर के समान धर्मात्मा राजा के (प्रजाः) पालने योग्य सन्तानों के सदृश (अभूम) होवें, तथा (देवाः) विद्वान् हुए (अमृताः) जीवन मरण से छूटे ❀ (अभूम) हों (स्वः) मोक्ष सुख को (अगन्म) अच्छे प्रकार प्राप्त होवें [ऐसा तुम सबको निश्चय करना चाहिये] ॥ २१ ॥

भावार्थः—† ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि तुम लोग मेरे तुल्य धर्मयुक्त गुण कर्म और स्वभाववाले पुरुष ही की प्रजा होओ, अन्य किसी मूर्ख क्षुद्राशय पुरुष की प्रजा होना स्वीकार कभी मत करो। जैसे मुझको न्यायाधीश मान मेरी आज्ञा में वर्त्तो और अपना सब कुछ धर्म के साथ संयुक्त करके इस लोक और परलोक के सुख को नित्य प्राप्त ‡ होते हो, वैसे जो पुरुष धर्मयुक्त न्याय से तुम्हारा निरन्तर पालन करे, उसी को सभापति राजा मानो ॥ २१ ॥

अस्मे इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। दिशो देवताः। निचृदत्यष्टिश्छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

ईश्वराज्ञातो मनुष्यैरिह कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

अस्मे वो॑ऽ अस्त्विन्द्रियम॒स्मे नृ॒म्णमु॒त क्रतु॑र॒स्मे वर्चा॑ᳪसि सन्तु वः।
नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्यै नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्या ऽ इ॒यं ते॒ राड् य॒न्तासि॒ यम॑नो ध्रु॒वोऽसि ध॒रुणः॑।
कृ॒ष्यै त्वा॒ क्षेमा॑य त्वा र॒य्यै त्वा॒ पोषा॑य त्वा ॥ २२ ॥

अ॒स्मेऽइत्य॒स्मे। व॒ः। अ॒स्तु। इ॒न्द्रि॒यम्। अ॒स्मेऽइत्य॒स्मे। नृ॒म्णम्। उ॒त। क्रतुः॑। अ॒स्मेऽइत्य॒स्मे। वर्चा॑ᳪसि। स॒न्तु। व॒ः॥ नमः॑। मा॒त्रे। पृ॒थि॒व्यै। नमः॑। मा॒त्रे। पृ॒थि॒व्यै। इ॒यम्। ते॒। राट्। य॒न्ता। अ॒सि॒। यम॑नः। ध्रु॒वः। ध॒रुणः॑॥ कृ॒ष्यै। त्वा॒। क्षेमा॑य। त्वा॒। र॒य्यै। त्वा॒। पोषा॑य। त्वा॒॥ २२॥

पदार्थः—(अस्मे) अस्माकमस्मभ्यं वा (वः) युष्माकम् युष्मभ्यं वा (अस्तु) भवतु (इन्द्रियम्) मन आदीनि (अस्मे) (नृम्णम्) धनम् (उत) अपि (क्रतुः)[2] प्रज्ञा कर्म वा (अस्मे) (वर्चांसि) प्रकाशमानाध्ययना [ध्यापना] नि, + अन्नानि [च] वर्च इत्यन्ननामसु पठितम्। निघ० २।७ (सन्तु) (वः) युष्माकं युष्मभ्यं वा (नमः) अन्नादिकम् (मात्रे) मान्यनिमित्तायै[3] (पृथिव्यै) विस्तृ

१ पूर्वोक्तमेव द्रढयन्नाह—
२ प्रज्ञानाम। निघ० ३।९॥ कर्मनाम॥ निघ० २।१, निरुक्ते चापि॥
३ 'मान माने' इत्येतस्मात् ऋहलोर्ण्यत् (अ० ३।१।१२४) इति ण्यत् प्रत्यये 'मान्य' शब्दः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नृम्णम्) नॄन् नयति इति पृषोदरादित्वात् साधुः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥
(राट्) राजतेः क्विपि धातुस्वरः। प्रश्नभ्रस्ज०

❀ '(अभूम) हों' इति ग. कोशे अ० मु० च नास्ति। क. कोशे तु '(अभूम) प्राप्त होवें' इति पाठः॥
† 'मैं ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता हूँ' इति अ० मुद्रितपाठः॥
‡ 'प्राप्त होते रहो' इति अ० मुद्रितपाठः। 'प्राप्त हो' इति क. पाठः॥
+ 'अन्नानि' इति क. पाठः, अजमेरमुद्रिते त्यक्त इति ध्येयम्॥

तायै भूमये (नमः) जलादिकम् (मात्रे) (पृथिव्यै) (इयम्) (ते) तव (राट्) राजमाना (यन्ता) नियन्ता (असि) (यमनः) उपयन्ता (ध्रुवः) निश्चलः (असि) (धरुणः) धर्त्ता (कृष्यै) कृषन्ति विलिखन्ति भूमिं यया तस्यै (त्वा) त्वाम् (क्षेमाय) रक्षणाय (त्वा) (रय्यै) श्रियै (त्वा) (पोषाय) पुष्टये (त्वा) ॥ अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । १ । १५–२५ व्याख्यातः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याऽहमीश्वरः कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा नियुनज्मि, यस्त्वं ध्रुवो यन्तासि धरुणो यमनोऽसि यस्य ते तवेयं राडस्ति। अस्यै मात्रे पृथिव्यै नमोऽस्यै मात्रे पृथिव्यै नमो विधेहि। सर्वे यूयं [एवं वदत वर्तध्वं च] यदस्मे इन्द्रियं तद्वोऽस्तु। यदस्मे नृम्णं तद्वोऽस्तु। उतापि योऽस्मे क्रतुः स वोऽस्तु। यान्यस्माकं वर्चांसि, तानि वः सन्तु। यदेतत् सर्वं वोऽस्ति * तदस्माकम[प्य]स्त्वित्येवं परस्परं यूयं समाचरत ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्यान् प्रतीश्वरस्येयमाज्ञाऽस्ति भवन्तः सदैव सत्कर्मसु प्रयतन्ताम्, आलस्यं मा कुर्वताम्, पृथिव्याः सकाशादन्नादीन्युत्पाद्य संरक्ष्यैतत् सर्वं परस्परमुपकाराय यथा स्यात् † तथा ऽनुतिष्ठन्तु कदाचित् विरोधं मा कुर्वन्तु तथा तद्धितं विदधताम् ॥ २२ ॥

ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल मनुष्यों को संसार में कैसे वर्त्तना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य ! मैं ईश्वर (कृष्यै) खेती के लिये (त्वा) तुझे (क्षेमाय) रक्षा के लिये (त्वा) तुझे (रय्यै) संपत्ति के लिये (त्वा) तुझे और (पोषाय) पुष्टि के लिये (त्वा) तुझको नियुक्त करता हूँ। जो तू (ध्रुवः) दृढ़ (यन्ता) नियमों में चलनेहारा (असि) है, (धरुणः) धारण करनेवाला (यमनः) उद्योगी (असि) है, जिस (ते) तेरी (इयम्) यह (राट्) शोभायुक्त नीति है, इस (मात्रे) मान्य की हेतु (पृथिव्यै) विस्तारयुक्त भूमि से (नमः) अन्नादि पदार्थ प्राप्त हों, इस (मात्रे) मान्य देनेहारी (पृथिव्यै) पृथिवी को अर्थात् भूगर्भ विद्या को जान के इससे (नमः) अन्नजलादि पदार्थ प्राप्त कर सब तुम लोग परस्पर ऐसे कहो और वर्त्तो कि जो (अस्मे) हमारे (इन्द्रियम्) मन आदि इन्द्रिय हैं, वे (वः) तुम्हारे लिये [(अस्तु)] हों, जो (अस्मे) हमारा (नृम्णम्) धन है वह तुम्हारे लिये हो, (उत) और जो (अस्मे) हमारे (क्रतुः) बुद्धि वा कर्म हैं वे तुम्हारे हित के लिये हों,

(अ० ८ । २ । ३६) इति षत्वम्, ततो विभक्तौ जश्त्वं चर्त्वं च ॥

(यमनः) नन्दिग्रहि० (अ० ३ । १ । १३४) इति ल्युः । लित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥

(धरुणः) पूर्वत्र य० १ । १८ पृ० ९५ व्याख्यातः ॥

(कृष्यै) इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) इत्यत्र वृत्तिकाराः कृषिपदमुदाहरन्ति, तत्र 'इन्' प्रत्ययस्यानुवर्त्तनात् कृषिपदे चान्तोदात्तत्वदर्शनात्। केचिद् 'इगुपधात् किः' इति पाठमाहुः (द्र० उज्ज्वलवृत्तिः पृ० १७५) तदपि न, ऋषिशुच्यादिपदानां सर्वत्राद्युदात्तत्वदर्शनात्, तस्मात् कृषिपदं इक् कृष्यादिभ्यः (अ० ३ । ३ । १०९ भा० वा०) इत्यनेन वार्त्तिकेन व्युत्पादनीयम्। यद्वा उञ्छादित्वादन्तोदात्तत्वं कल्प्यं, बाहुलकाद् वा। ङिति ह्रस्वश्च (अ० १ । ४ । ४) इति नदीसंज्ञा ॥

(रय्यै) रीङ् गतौ अच इः (उ० ४ । १३९) इति इः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] पूर्वोक्त विषय को ही दृढ़ करते हैं— ॥ २२ ॥

* 'अस्ति' इति अ० मु० कोशेषु चासंबद्धः पाठो वर्तत इति ध्येयम् ॥
† 'तथा……कुर्वन्तु' इति क. पाठः ॥

जो हमारे (वर्चांसि) पढ़ा पढ़ाया और अन्न हैं वे (वः) तुम्हारे लिये (सन्तु) हों, जो यह सब तुम्हारा है वह हमारा भी हो, ऐसा आचरण आपस में करो ॥ २२ ॥

भावार्थः—मनुष्यों के प्रति ईश्वर की यह आज्ञा है कि तुम लोग सदैव पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहो और आलस्य मत करो और जो पृथिवी से अन्न आदि उत्पन्न हों, उनकी रक्षा करके यह सब जिस प्रकार परस्पर उपकार के लिये हो वैसा यत्न करो। कभी विरोध मत करो, * जो कोई अपना कार्य सिद्ध करे, उसका तुम भी किया करो ॥ २२ ॥

वाजस्येत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

पुनस्तैरत्र कथं भवितव्यमित्याह[1] ॥

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳ राजानमोषधीष्वप्सु।
ताऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳ राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥२३॥

वाजस्य। इमम्। प्रसव इति प्रऽसवः। सुषुवे। सुसुव इति सुसुवे। अग्रे। सोमम्। राजानम्। ओषधीषु। अप्स्वित्यप्ऽसु ॥ ताः। अस्मभ्यम्। मधुमतीरिति मधुऽमतीः। भवन्तु। वयम्। राष्ट्रे। जागृयाम। पुरोहिता इति पुरःऽहिताः। स्वाहा ॥ २३ ॥

पदार्थः—(वाजस्य) बोधस्य सकाशात् (इमम्) (प्रसवः) ऐश्वर्य्ययुक्तः (सुषुवे) प्रसुव उत्पादये (अग्रे) पूर्वम् (सोमम्[2]) सोममिव सर्वदुःखप्रणाशकं (राजानम्) विद्यान्यायविनयैः प्रकाशमानं स्वामिनम् (ओषधीषु) पृथिवीस्थासु यवादिषु (अप्सु) जलेषु वर्त्तमानाः (ताः) (अस्मभ्यम्) (मधुमतीः) प्रशस्ता मधवो[3] मधुरादयो गुणा विद्यन्ते यासु ताः (भवन्तु) (वयम्) अमात्यादयो भृत्याः (राष्ट्रे) राज्ये (जागृयाम) सचेतना अनलसाः सन्तो वर्तेमहि (पुरोहिताः) सर्वेषां हितकारिणः (स्वाहा) सत्यया क्रियया सह ॥ अयं मन्त्रः शत० ५। २। २। ५ व्याख्यातः ॥२३॥

---

१ राष्ट्रे पुरोहिता एव सर्वजागृतिमूलाः, ते च कथमत्र गुणानादधीरन्नित्याकाङ्क्षायामाह—

२ सोमो वैष्णवो राजेत्याह ॥ श० १३। ४। ३। ८ ॥ सोमो वै प्रजापतिः ॥ श० ५। १। ३। ७ ॥

३ मधुशब्दोऽर्धर्चादित्वात् पुंल्लिङ्गोऽपि इति मतेन स्यात् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(राजानम्) कनिन्प्रत्यये नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(राष्ट्रे) गुधृवीपचिवचि० (उ० ४। १६७) इति विधीयमानः 'त्र' प्रत्ययो बाहुलकाद् राजतेरपि बोध्यः, प्रत्ययस्वरः। व्रश्चभ्रस्ज० (अ०८।२।३६) इति षत्वम् ॥

(पुरोहिताः) पूर्वाधरावराणामसि० (अ० ५। ३। ३९) इति पुरःशब्दोऽसिप्रत्ययान्तो ञ्नित्स्वरादितः, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। पुरोऽव्ययम् (अ० १। ४। ६७) इति गतिसंज्ञा, ततः समासे गतिरनन्तरः (अ० ६। २। ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

सायणेनर्ग्वेदभाष्ये (ऋ० १। १। १) पक्षान्तरे गतिसंज्ञामकृत्वैव तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६। २। २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्रदर्शितः। सोऽयुक्तः। गतिसंज्ञामन्तरेण समास एव न प्राप्नोति। कुतोऽव्ययस्वर इति सायणस्य स्वभाष्यारम्भ एव प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातो विभावनीयः स्वरशास्त्रज्ञैः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

* 'जो' इति ग. पाठः ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथाऽहमग्रे प्रसवः सन् वाजस्येमं सोमं राजानं सुषुवे यथा तद्रक्षणेन या ओषधीष्वप्स्वोषधयः सन्ति, ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु । यथा स्वाहा पुरोहिता वयं राष्ट्रे सततं जागृयाम, तथा यूयमपि वर्त्तध्वम् ॥ २३ ॥

भावार्थः—शिष्टा मनुष्याः सर्वविद्याचातुर्य्यारोग्यसहितं सौम्यादिगुणालङ्कृतं राजानं + संस्थापयेयुः, तद्रक्षको वैद्य एवं प्रवर्त्तेत, यथाऽस्य शरीरे बुद्धावात्मनि च रोगावेशो न स्यात् । इत्थमेव राजवैद्यौ सर्वानमात्यादीन् भृत्यानरोगान् संपादयेताम् । यत एते राज्यस्थसज्जनपालने दुष्टताडने [च] सदा प्रयतेरन्, राजा प्रजा च पितापुत्रवत् सदा वर्त्तेयाताम् ॥ २३ ॥

फिर उनको इस विषय में कैसा होना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो ! जैसे मैं (अग्रे) प्रथम (प्रसवः) ऐश्वर्य्ययुक्त होकर (वाजस्य) वैद्यक शास्त्र बोध सम्बन्धी (इमम्) इस (सोमम्) चन्द्रमा के समान सब दुःखों के नाश करनेहारे (राजानम्) विद्या न्याय और विनयों से प्रकाशमान राजा को (सुषुवे) ऐश्वर्ययुक्त करता हूँ, जैसे उनकी रक्षा में (ओषधीषु) पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाली यव आदि ओषधियों और (अप्सु) जलों के बीच में वर्त्तमान ओषधी हैं (ताः) वे (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (मधुमतीः) प्रशस्त मधुर गुणवाली (भवन्तु) हों, जैसे (स्वाहा) सत्यक्रिया के साथ (पुरोहिताः) सबके हितकारी हम लोग (राष्ट्रे) राज्य में निरन्तर (जागृयाम) आलस्य छोड़ के जागते रहें, वैसे तुम भी वर्त्ता करो ॥ २३ ॥

भावार्थः—शिष्ट मनुष्यों को योग्य है कि सब विद्याओं की * चतुराई रोगरहित और सुन्दर गुणों से शोभायमान पुरुष को ‡ राज्याधिकार देवे । उसकी रक्षा करनेवाला वैद्य ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे इसके शरीर बुद्धि और आत्मा में रोग का प्रवेश न हो । इसी प्रकार राजा और वैद्य दोनों सब मन्त्री आदि भृत्यों और प्रजाजनों को रोगरहित करें । जिससे ये राज्य के सज्जनों के पालने और दुष्टों के ताड़ने में प्रयत्न करते रहें, राजा और प्रजा के पुरुष परस्पर पिता पुत्र के समान सदा वर्त्तें ॥ २३ ॥

वाजस्येमामित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

राजा किमाश्रित्य केन किं कुर्य्यादित्युपदिश्यते[2] ॥

वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट् ।
अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिꣳ सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा ॥ २४ ॥

---

१ राष्ट्र में पुरोहित ही सब प्रकार की जागृति के कारण होते हैं, सो वे किस प्रकार गुणों का आधान करें, यह दर्शाते हैं—

२ यः प्रजावत्सलः पुरुषोऽदित्सतोऽपि करं दापयति, स एव राज्येऽधिकृतः स्यादिति तद्गुणान् बोधयन्नाह—

+ 'संस्थाप्य' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥ * 'चतुराई और आरोग्य से सहित' इति संस्कृतानुसारी पाठ उचितः ॥

‡ 'राज्याधिकार देकर' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

वार्जस्य । इमाम् । प्रसव इति प्रऽसवः । शिश्रिये । दिवम् । इमा । च । विश्वा । भुवनानि । सम्राडिति सम्ऽराट् ॥ अदित्सन्तम् । दापयति । †प्रजानन्निति प्रऽजानन् । सः । नः । रयिम् । सर्ववीरमिति सर्वऽवीरम् । नि । यच्छतु । स्वाहा ॥ २४ ॥

पदार्थः—(वाजस्य) राज्यस्य (इमाम्) भूमिम् (प्रसवः) प्रसूतः (शिश्रिये) समाश्रये (दिवम्) देदीप्यमानां राजनीतिम् (इमा) इमानि (च) (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि)[1] गृहाणि (सम्राट्) यो राजधर्मे सम्यग्राजते सः (अदित्सन्तम्) राजकरं दातुमनिच्छन्तम् (दापयति) (प्रजानन्) प्रज्ञावान् सन् (सः) (नः) अस्माकं प्रजास्थानाम् (रयिम्) धनम् (सर्ववीरम्) सर्वे वीरा यस्मात् तत् (नि) नितराम् (यच्छतु) गृह्णातु (स्वाहा) धर्म्यया वाचा ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । २ । ६ व्याख्यातः] ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वाजस्य मध्ये प्रसवः सम्राडहमिमां दिवमिमा विश्वा भुवनानि च शिश्रिये, तथा यूयमेनमेतानि चाश्रयत । यः स्वाहा प्रजानन्नदित्सन्तं दापयति, स नः सर्ववीरं रयिं नियच्छतु ॥ २४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्या यो मूलस्य राज्यस्य मध्ये सनातनीं राजनीतिं विदित्वा राज्यं संरक्षितुं शक्नुयात्, तमेव चक्रवर्तिनं राजानं कुरुत । यः ❀करस्यादातुः करं दापयेत्, सोऽमात्यो भवितुमर्हेत् । यः शत्रून् निग्रहीतुं शक्नुयात् तं सेनापतिं कुरुत । यो विद्वान् धार्मिको भवेत् तं न्यायाधीशं कोशाध्यक्षं वा कुरुत ॥ २४ ॥

राजा किसका आश्रय लेके किसके साथ क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो ! जैसे (वाजस्य) राज्य के मध्य में (प्रसवः) उत्पन्न हुए (सम्राट्) अच्छे प्रकार राजधर्म्म में प्रवर्तमान मैं (इमाम्) इस भूमि को (दिवम्) प्रकाशित [राजनीति (च)] और (इमा) इन (विश्वा) सब और (भुवनानि) घरों को (शिश्रिये) अच्छे प्रकार आश्रय करता हूँ, वैसे तुम भी ‡इनका अच्छे प्रकार आश्रय करो और जो (स्वाहा) धर्म्मयुक्त सत्यवाणी से (प्रजानन्) जानता हुआ (अदित्सन्तम्) राज्य कर देने की इच्छा न करनेवाले से (दापयति) दिलाता है, (सः) सो (नः) हमारे (सर्ववीरम्) सब वीरों को प्राप्त करानेहारे (रयिम्) धन को (नियच्छतु) ग्रहण करे ॥ २४ ॥

भावार्थः—हे मनुष्य लोगो ! मूल राज्य के बीच सनातन राजनीति को जानकर जो राज्य की रक्षा करने को समर्थ हो, उसी को चक्रवर्त्ती राजा बनाओ और जो कर [न] देनेवालों से कर दिलावे वह मन्त्री होने के योग्य है, सो दर्शाते हैं— ॥ २४ ॥

---

१ भुवनमिति गृहनाम ॥

२ जो प्रजा का प्रिय जन न देने की इच्छावालों से भी कर दिला दे; वही राज्य में अधिकारी होने के योग्य है, सो दर्शाते हैं—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सर्ववीरम्) पूर्वं यजु० ८ । २२ पृ० ६८८ व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

---

† 'प्रजानन्निति' इति अ० मु० अपपाठः ॥

❀ 'करस्य दातारं' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । 'करस्यादातारं' इति क. पाठः ॥

‡ 'इसको अच्छे प्रकार शोभित करो' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

के योग्य होवे, जो शत्रुओं को बाधने में समर्थ हो उसे सेनापति नियुक्त करो और जो विद्वान् धार्मिक हो उसे न्यायाधीश वा कोषाध्यक्ष करो ॥ २४ ॥

वाजस्य न्वित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनाराजा कीदृशो भवेदित्याह[1] ॥

वाजस्य नु प्रसव आ बभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।

सनेमि राजा परि याति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो ऽ अस्मे स्वाहा ॥ २५ ॥

वाजस्य । नु । प्रसव इति प्रऽसवः । आ । बभूव । इमा । च । विश्वा । भुवनानि । सर्वतः ॥ सनेमि । राजा । परि । याति । विद्वान् । प्रजामिति प्रऽजाम् । पुष्टिम् । वर्धयमानः । अस्मे ऽइत्यस्मे । स्वाहा ॥ २५ ॥

पदार्थः—(वाजस्य) वेदादिशास्त्रोत्पन्नबोधस्य (नु) शीघ्रम् (प्रसवः) यः प्रसूते सः (आ) समन्तात् (बभूव) भवेत् (इमा) इमानि (च) (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) माण्डलिक-राजनिवासस्थानानि (सर्वतः) (सनेमि[2]) सनातनेन नेमिना धर्मेण सह वर्त्तमानं राज्यमण्डलम् (राजा) वेदोक्तराजगुणैः प्रकाशमानः (परि) (याति) प्राप्नोति (विद्वान्) सकलविद्यावित् (प्रजाम्) पालनीयाम् (पुष्टिम्) पोषणम् (वर्धयमानः) (अस्मे) अस्माकम् (स्वाहा) सत्यया नीत्या ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । २ । ७ व्याख्यातः] ॥ २५ ॥

अन्वयः—यो वाजस्य स्वाहा प्रसवो विद्वानाबभूवेमा विश्वा भुवनानि सनेमि च प्रजां पुष्टिं नु [सर्वतः] वर्धयमानः परियाति सो अस्मे राजा भवतु ॥ २५ ॥

भावार्थः—ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या यूयं [यः] प्रशंसितगुणकर्मस्वभावो राज्यं रक्षितुं समर्थो भवेत्, तं सभाध्यक्षं कृत्वाऽऽप्तनीत्या साम्राज्यं कुरुतेति ॥ २५ ॥

फिर राजा कैसा हो, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—जो (वाजस्य) वेदादि शास्त्रों से उत्पन्न बोध को (स्वाहा) सत्य नीति से (प्रसवः)* भली प्रकार उत्पन्न करनेवाला (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्या को जाननेवाला पुरुष (आ) अच्छे प्रकार (बभूव) होवे (च) और (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) माण्डलिक राजनिवासस्थानों और (सनेमि) सनातन नियम,

१ पूर्वोक्तमेवोपोद्वलयति—

२ 'सनेमि' इति पुराणनाम ॥ निघ० ३ । २७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सनेमि) पूर्वं यजु० ९ । १६ पृ० ७८० व्याख्यातः ॥

(वर्धयमानः) णिजन्ताल्लटि शानच् । तास्यनुदात्तेत्० (अ० ६ । १ । १८६) इति लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरेण द्वितीय उदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ पूर्वोक्त की ही पुष्टि करते हैं— ॥ २५ ॥

* 'प्राप्त होकर' इति तु अ० मुद्रिते पाठः ॥

धर्म में वर्त्तमान (प्रजाम्) पालने योग्य प्रजाओं को (पुष्टिम्) पोषण (नु) शीघ्र [(सर्वतः) सब ओर से] (वर्धयमानः) बढ़ाता हुआ (परि) सब ओर से (याति) प्राप्त होता है, वह (अस्मे) हम लोगों का [(राजा)] राजा होवे ॥ २५ ॥

भावार्थः—ईश्वर सब को उपदेश करता है कि हे मनुष्य लोगो तुम जो प्रशंसित गुण कर्म स्वभाव-वाला राज्य की रक्षा में समर्थ हो, उसको सभाध्यक्ष करके आप्तनीति से चक्रवर्ती राज्य करो ॥ २५ ॥

सोममित्यस्य तापस ऋषिः । सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्य्यब्रह्मबृहस्पतयो देवताः ।

अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः कीदृशं राजानं स्वीकुर्य्युरित्युपदिश्यते[1] ॥

सोमꣳराजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे ।

आदित्यान् विष्णुꣳ सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिꣳ स्वाहा ॥ २६ ॥

सोमम् । राजानम् । अवसे । अग्निम् । अन्वारभामह इत्यनुऽआरभामहे ॥ आदित्यान् । विष्णुम् । सूर्यम् । ब्रह्माणम् । च । बृहस्पतिम् । स्वाहा ॥ २६ ॥

पदार्थः—(सोमम्[2]) सोमगुणसम्पन्नम् (राजानम्) धर्माचरणेन प्रकाशमानम् (अवसे) रक्षणाद्याय[3] (अग्निम्) अग्निमिव शत्रुदाहकम्[4] (अन्वारभामहे) (आदित्यान्) विद्याऽर्जनाय कृताऽष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्यान् विदुषः[5] (विष्णुम्) व्यापकं परमेश्वरम् (सूर्य्यम्) सूरिषु[6] विद्वत्सु भवम् (ब्रह्माणम्) अधीतसाङ्गोपाङ्गचतुर्वेदम् (च) (बृहस्पतिम्) बृहतामाप्तानां पालकम् (स्वाहा) सत्यया वाण्या ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । २ । ८ व्याख्यातः] ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यथा वयं स्वाहाऽवसे सह वर्त्तमानं विष्णुं सूर्य्यं ब्रह्माणं बृहस्पतिमग्निं सोमं राजानमादित्यांश्च [संसेव्य गृहाश्रमम्] अन्वारभामहे, तथा यूयमप्यारभध्वम् ॥ २६ ॥

भावार्थः—ईश्वराज्ञाऽस्ति सर्वे मनुष्या रक्षणाद्याय ब्रह्मचर्य्यादिना विद्यापारगान् विदुषस्तन्मध्य उत्तमं सूर्य्यादिगुणसम्पन्नं राजानं च स्वीकृत्य सत्यां नीतिं वर्धयन्त्विति ॥ २६ ॥

१ तदेवाह—

२ यशो वै सोमो राजा ॥ ऐ० १ । १३ ॥

३ रक्षणमाद्यं (आदौ भवं) यस्य समुदायस्य स रक्षणाद्यः, अर्थात् 'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगम०' इत्याद्युक्तेभ्योऽर्थेभ्यः ॥

४ अयं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च ॥ श० ६ । ६ । ३ । १५ ॥

५ एते खलु वावादित्या यद् ब्राह्मणाः ॥ तै० १ । १ । ९ । ८ ॥

६ सूर्य उद्गाता ॥ गो० पू० १ । १३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अवसे) अवधातोः सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इति 'असुन्' । नित्त्वादाद्युदात्तः ॥

(अन्वारभामहे) उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २।२।१८ भा०वा०) इति समासे तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति निघातः ॥ गतिर्गतौ (अ० ८ । १ । ७०) इति 'अनु' अनुदात्तः, आङुदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

फिर कैसे राजा का स्वीकार करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे मनुष्य लोगो ! जैसे हम लोग (स्वाहा) सत्यवाणी से (अवसे) रक्षा आदि के अर्थ (विष्णुम्) व्यापक परमेश्वर (सूर्य्यम्) विद्वानों में * सूर्यवत् विद्वान् (ब्रह्माणम्) साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को पढ़नेवाले (बृहस्पतिम्) बड़ों [अर्थात् आप्तों] के रक्षक (अग्निम्) अग्नि के समान शत्रुओं को जलानेवाले (सोमम्) शान्त गुणसम्पन्न (राजानम्) धर्माचरण से प्रकाशमान राजा [(च)] और (आदित्यान्) विद्या [प्राप्ति] के लिये अड़तालीस वर्ष तक † ब्रह्मचारी रहकर पूर्ण विद्या पढ़ सूर्यवत् प्रकाशमान विद्वानों के सङ्ग से विद्या पढ़ के गृहाश्रम का (‡ अनु आरभामहे) आरंभ करें, वैसे तुम भी किया करो ॥ २६ ॥

भावार्थः—ईश्वर की आज्ञा है कि सब मनुष्य रक्षा आदि के लिये ब्रह्मचर्य्य व्रतादि से विद्या का पारगन्ता विद्वानों के बीच [उत्तम सूर्यादि गुणों से युक्त अर्थात्] जिसने अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य्यव्रत किया हो, ऐसे राजा को स्वीकार करके सच्ची नीति को बढ़ावें ॥ २६ ॥

अर्य्यमणमित्यस्य तापस ऋषिः । अर्य्यमादिमन्त्रोक्ता देवताः । स्वराडनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनाराजा कान् कस्मिन् प्रेरयेदित्याह[2] ॥

अर्य्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वाचं विष्णुꣳ सरस्वतीꣳ सवितारं च वाजिनꣳ स्वाहा ॥ २७ ॥

अर्य्यमणम् । बृहस्पतिम् । इन्द्रम् । दानाय । चोदय ॥ वाचम् । विष्णुम् । सरस्वतीम् । + सवितारम् । च । वाजिनम् । स्वाहा ॥ २७ ॥

पदार्थः—(अर्य्यमणम्) पक्षपातराहित्येन न्यायकर्त्तारम् (बृहस्पतिम्) सकलविद्याध्यापकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्ययुक्तम् (दानाय) (चोदय) प्रेरय (वाचम्)[3] वेदवाणीम् (विष्णुम्) सर्वाधिष्ठातारम् (सरस्वतीम्[4]) बहुविधं सरो वेदादिशास्त्रविज्ञानं विद्यते यस्यास्तां त्रिज्ञानयुक्तामध्यापिकां स्त्रियम् (सवितारम्) वेदविद्यैश्वर्य्योत्पादकम् (च) (वाजिनम्) प्रशस्तबलवेगादियुक्तं शूरवीरम् (स्वाहा) सत्यया नीत्या ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । २ । ९ व्याख्यातः] ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे राजँस्त्वं स्वाहा दानायार्य्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं वाचं विष्णुं सवितारं वाजिनं सरस्वतीं च सत्कर्मसु सदा चोदय ॥ २७ ॥

---

१ पूर्वोक्त विषय का ही प्रतिपादन करते हैं—॥२६॥

२ राज्ये न्यायाधीशा अन्ये वाऽधिकारिणः सुपरीक्ष्यैव नियोक्तव्याः, प्रेरयितव्याश्चेति तत्प्रकारं दर्शयति—

३ त्रिधा विहिता हि वाक् ऋचो यजूंषि सामानि ॥ श० ६ । ५ । ३ । ४ ॥

४ सरस्वती वाचमदधात् ॥ तै० १ । ६ । २ । २ ॥

* 'विद्वानों में उत्पन्न' इति क. पाठः, स च संस्कृतानुसारी । ग. हस्तलेखे तु 'उत्पन्न' इति स्थाने 'सूर्यवत् विद्वान्' इत्येवं संशोधितः । तथा सति संस्कृतेऽपि 'सूरिषु सूर्य इव' विद्वान् इति भवितव्यम् । तथा सत्यत्र वाचकलुप्तोपमालंकारेणापि भाव्यम् ॥

† 'ब्रह्मचर्य रह कर' इति ग. कोशे अ० मुद्रिते चापपाठः । क. कोशे तु 'ब्रह्मचारी रहकर' इति पाठः ॥

‡ 'अन्वारभामहे' इति क. पाठः ॥ + 'सवितारम्' इत्यपस्वरः पाठः अ० मु० ॥

भावार्थः—ईश्वरोऽभिवदति राजा स्वयं धार्मिको विद्वान् भूत्वा सर्वान् न्यायाधीशान् मनुष्यान् विद्याधर्मवर्धनाय सततं प्रेरयेद्, यतो विद्याधर्मवृद्ध्याऽविद्याऽधर्मौ निवृत्तौ स्याताम् ॥ २७ ॥

फिर राजा किनको किस [कार्य] में प्रेरणा करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे राजन् ! आप (स्वाहा) सत्य नीति से (दानाय) विद्यादि दान के लिए (अर्यमणम्) पक्षपातरहित न्याय करने (बृहस्पतिम्) सब विद्याओं को पढ़ाने (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्ययुक्त (वाचम्) वेदवाणी (विष्णुम्) सबके अधिष्ठाता (सवितारम्) वेद विद्या तथा सब ऐश्वर्य उत्पन्न करने (वाजिनम्) अच्छे बल वेगो से युक्त शूरवीर [(च)] और (सरस्वतीम्) बहुत प्रकार वेदादि शास्त्र विज्ञानयुक्त पढ़ानेवाली विदुषी स्त्री को अच्छे कर्मों में (चोदय) सदा प्रेरणा किया कीजिये ॥ २७ ॥

भावार्थः—ईश्वर सब से कहता है कि राजा आप धर्मात्मा विद्वान् होकर सब न्याय के करनेवाले मनुष्यों को विद्या धर्म्म बढ़ाने के लिये निरन्तर प्रेरणा करे, जिससे विद्या धर्म्म की बढ़ती से अविद्या और अधर्म्म दूर हो ॥ २७ ॥

अग्न इत्यस्य तापस ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

पुनः स राजा किं किं कुर्यादित्याह[2] ॥

अग्ने ऽ अच्छावदेह नः प्रति नः सुमना भव ।
प्र नो यच्छ सहस्रजित् त्वꣳ हि धनदा ऽ असि स्वाहा ॥ २८ ॥

अग्ने । अच्छ । वद । इह । नः । प्रति । नः । सुमना इति सुऽमनाः । भव ॥ प्र । नः । यच्छ । सहस्रजिदिति सहस्रऽजित् । त्वम् । हि । धनदा इति धनऽदाः । असि । स्वाहा ॥ २८ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अर्यमणम्) अर्यं श्वन्नुक्षन्० (उ० १ । १५९) इत्यत्र कनिन्प्रत्ययान्तो निपातितः, नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते निपातनादन्तोदात्तः ॥

अरीन् नियच्छति इति निरु० ११ । २३ ॥ अस्मिन् पक्षे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते परान्तश्चापि दृश्यते (अ० ६ । २ । १९९ भा० वा०) इति वचनादन्तोदात्तत्वम् ॥

शब्दोऽयं पूर्वत्र यजु० ३ । ३१ पृ० ३०२ भा० विवरणेऽपि व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अच्छ) अच्छ गत्यर्थवदेषु (अ० १ । ४ । ६९) इति निपातसंज्ञा, निपाता आद्युदात्ताः (फि० ८०) इत्याद्युदात्तः । संहितायां निपातस्य च (अ० ६ । ३ । १३६) इति दीर्घः ॥

(सहस्रजित्) क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् प्रत्ययः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः, ह्रस्व तु

---

[1] राज्य में न्यायाधीश वा अन्य अधिकारी भली प्रकार परीक्षित होकर ही नियुक्त और प्रेरित किये जाने चाहियें, सो दर्शाते हैं— ॥ २७ ॥

[2] राज्ञः सौमनस्यमेव राष्ट्रस्य सर्वसुखसाधकमित्यवस्त-दावश्यकतां वर्णयति—

पदार्थः—(अग्ने) विद्वन्! (अच्छ) सम्यक् निपातस्य च [अ० ६।३।१३६] इति [संहितायां] दीर्घः (वद) सत्यमुपदिश (इह) अस्मिन् समये (नः) अस्मान् (प्रति) (नः) अस्मान् (सुमनाः) सुहृद्भावः (भव) (प्र) (नः) अस्मभ्यम् (यच्छ) देहि (सहस्रजित्) असहायः सन् सहस्रं योद्धॄन् जेतुं शीलः (त्वम्) (हि) यतः (धनदाः) ऐश्वर्य्यदाता (असि) (स्वाहा) सत्यया वाण्या ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५।२।२।१० व्याख्यातः] ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे अग्ने! त्वमिह स्वाहा नोऽच्छ वद नोऽस्मान् प्रति सुमना भव। त्वं हि सहस्रजिद् धनदा असि तस्मान्नः सुखं प्रयच्छ ॥ २८ ॥

भावार्थः—ईश्वर आह—राजा प्रजासेनाजनान् प्रति सदा सत्यं प्रियं ❀ वदेत्, तेभ्यो धनं च दद्याद् गृह्णीयाच्च, शरीरात्मबलं वर्धित्वा नित्यं शत्रून् जित्वा धर्मेण प्रजाः पालयेदिति ॥ २८ ॥

फिर वह राजा क्या क्या करे यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन्! आप (इह) इस समय में (स्वाहा) सत्य वाणी से (नः) हमको (अच्छ) अच्छे प्रकार (वद) सत्य उपदेश कीजिये और (नः) हमारे [(प्रति)] ऊपर (सुमनाः) मित्रभाव युक्त (भव) हूजिये, (हि) जिस से [(त्वम्)] आप (सहस्रजित्) विना सहाय हजारों को जीतने [और] (धनदाः) ऐश्वर्य्य देनेवाले (असि) हैं, इससे (नः) हमारे लिये सुख को (प्रयच्छ) दीजिये ॥ २८ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदेश करता है कि राजा प्रजा और सेना के मनुष्यों से सदा सत्य प्रिय वचन कहे, उनको धन दे, उनसे धन ले, शरीर और आत्मा का बल बढ़ा और नित्य शत्रुओं को जीतकर धर्म से प्रजा को पाले ॥ २८ ॥

प्र न इत्यस्य तापस ऋषिः। अर्य्यमादिमन्त्रोक्ता देवताः। भुरिगार्षी गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

राजा मात्रादयश्च प्रजाः किं किमुपदिशेयुरित्याह[2] ॥

प्र नो॑ यच्छत्वर्य॒मा प्र पू॒षा प्र बृह॒स्पतिः॑। प्र वाग्दे॒वी द॑दातु नः॒ स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

प्र। नः॒। य॒च्छ॒तु॒। अ॒र्य्य॒मा। प्र। पू॒षा। प्र। बृह॒स्पतिः॑ ॥ प्र। वाक्। दे॒वी। द॒दा॒तु॒। नः॒। स्वाहा॑ ॥२९॥

पदार्थः—(प्र) (नः) अस्मभ्यम् (यच्छतु) ददातु ([3]अर्य्यमा) न्यायाधीशः (प्र)

आमन्त्रितनिघातः, प्रथमार्थे सम्बुद्धिरित्यपि ध्येयम् ॥
(धनदाः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ राजा की प्रजा में प्रीति अर्थात् सौजन्य ही राष्ट्र में सब सुखों का साधन होता है, अतः उसकी आवश्यकता दर्शाते हैं— ॥ २८ ॥

२ मातृवत् राज्ञा व्यवहर्त्तव्यं, तदैव पूर्वोक्तसौमनस्यस्य सम्भव इति दर्शयन्नाह—

३ अरीन् नियच्छति इति निरु० ११। २३ ॥

❀ 'वदेत् तेभ्यो धनं' इति पाठः क. कोशे सन्नपि ग. कोशे प्रमादेन त्यक्तः ॥

(पूषा[1]) पोषकः (प्र) (बृहस्पतिः) विद्वान् (प्र) (वाक्) विद्यासुशिक्षितवाणीयुक्ता (देवी) देदीप्यमानाऽध्यापिका माता (ददातु) (नः) अस्मभ्यम् (स्वाहा) सत्यविद्यायुक्तां वाणीम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । २ । ११ व्याख्यातः] ॥ २९ ॥

अन्वयः—यथाऽर्यमा नोऽस्मभ्यं सुशिक्षां प्रयच्छतु यथा पूषा पुष्टिं प्रददातु यथा बृहस्पतिः स्वाहा प्रार्पयतु, तथा वाग् देवी माता [नो] ऽस्मभ्यं विद्यां [प्र] ददातु ॥ २९ ॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमाऽलङ्कारः ॥]

भावार्थः—अत्राऽऽह जगदीश्वरः—राजादयः सर्वे पुरुषा मात्रादयः स्त्रियश्च सर्वदा प्रजाः पुत्रादीन् [च] प्रति सत्यमुपदेशं कुर्युर्विद्यां सुशिक्षां च सततं ग्राहयेयुर्यतः प्रजाः सदाऽऽनन्दिताः स्युः ॥ २९ ॥

---

‡राजा और माता आदि प्रजा और सन्तानों को क्या क्या शिक्षा दें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—जैसे (अर्य्यमा) न्यायाधीश (नः) हमारे लिये उत्तम शिक्षा (प्रयच्छतु) देवे, जैसे (पूषा) पोषण करनेवाला शरीर और आत्मा की पुष्टि की शिक्षा (प्र) अच्छे प्रकार देवे, जैसे (बृहस्पतिः) विद्वान् (स्वाहा) अत्युत्तम विद्या (प्र) देवे, वैसे (वाक्) उत्तम विद्या सुशिक्षा सहित वाणीयुक्त (देवी) प्रकाशमान पढ़ानेवाली माता [(नः)] हमारे लिये सत्य विद्या युक्त वाणी का (प्र ददातु) उपदेश सदा किया करे ॥२९॥

[यहां वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—यहां जगदीश्वर उपदेश करता है कि राजा आदि सब पुरुष और माता आदि स्त्री सदा प्रजा और पुत्रादिकों को सत्य सत्य उपदेश कर विद्या और अच्छी शिक्षा को निरन्तर ग्रहण करावें, जिससे प्रजा और पुत्र पुत्री आदि सदा आनन्द में रहें ॥ २९ ॥

देवस्येत्यस्य तापस ऋषिः । सम्राड् देवता । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

†पुनः क कीदृशं राजानं कुर्य्युरित्युपदिश्यते[3] ॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म् पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।
सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॒न्त्रिये॑ दधामि॒ बृह॒स्पते॑ष्ट्वा साम्रा॑ज्येना॒भिषि॑ञ्चाम्यसौ ॥ ३० ॥

---

१ पूषा विशां विट्पतिः ॥ तै० २ । ५ । ७ । ४ ॥ पूषा वै पथीनामधिपतिः ॥ श० १३ । ४ । १ । १४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अर्यमा) पूर्वमन्त्रे व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ राजा को अपनी प्रजा से माता के समान व्यवहार करना चाहिये, तभी पूर्वोक्त प्रीति रह सकती है, यह बतलाते हैं— ॥ २९ ॥

३ बहुगुणागारस्यैव राज्याऽभिषेकः प्रजया कर्त्तव्य इति प्रकारान्तरेण तद्गुणान् वर्णयति—

‡ 'प्रजा और सन्तानों से राजा और माता आदि कैसे वर्तें इस' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः ॥
† 'पुनः क केन कीदृशं' इति हस्तलेखपाठः ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रसव इति प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुभ्यामिति ‡बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् ॥ सरस्वत्यै । वाचः । यन्तुः । यन्त्रिये । दधामि । बृहस्पतेः । त्वा । साम्राज्येनेति साम्ऽराज्येन । अभि । सिञ्चामि । असौ ॥ ३० ॥

पदार्थः—(देवस्य) प्रकाशमानस्य (त्वा) त्वाम् (सवितुः) सकलजगत्प्रसवितुरीश्वरस्य (प्रसवे) जगदुत्पादे (अश्विनोः) ❀सूर्याचन्द्रमसोर्बलाकर्षणाभ्यामिव (बाहुभ्याम्) भुजाभ्याम् (पूष्णः) पोषकस्य वायोर्धारणपोषणाभ्यामिव (हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (सरस्वत्यै) विज्ञानसुशिक्षायुक्तायाः, अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (वाचः) वेदवाण्याः (यन्तुः) §नियन्तुः (यन्त्रिये) शिल्पविद्यासिद्धानां यन्त्राणामर्हे योग्ये निष्पादने (दधामि) धरामि (बृहस्पतेः) परमविदुषः (त्वा) (साम्राज्येन) सम्राजो भावेन (अभि) आभिमुख्ये (सिञ्चामि) सुगन्धेन रसेन मार्ज्मि (असौ) अदोनामा ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । २ । १२–१५ व्याख्यातः] ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे अखिलशुभगुणकर्मस्वभावयुक्त विद्वन् ! असावहं सवितुर्देवस्य जगदीश्वरस्य प्रसवे सरस्वत्यै वाचोऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वा दधामि, यन्तुर्बृहस्पतेर्यन्त्रिये साम्राज्येन त्वामभिषिञ्चामि ॥ ३० ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वरप्रियं बलवीर्यपुष्टियुक्तं प्रगल्भं सत्यवादिनं जितेन्द्रियं धार्मिकं प्रजापालनक्षमं विद्वांसं सुपरीक्ष्य सभाया अधिष्ठातृत्वेनाभिषिच्य †राजधर्म उन्नेयः ॥ ३० ॥

() फिर कहां कैसे को राजा करें, इसविषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे सब अच्छे गुणकर्मस्वभावयुक्त विद्वन् ! (असौ) यह मैं (सवितुः) सब जगत् के उत्पन्न करनेवाले (देवस्य) प्रकाशमान जगदीश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में (सरस्वत्यै) अच्छे प्रकार शिल्पविद्यायुक्त (वाचः) वेदवाणी के मध्य (अश्विनोः) सूर्य चन्द्रमा के † बल और आकर्षण के समान (बाहुभ्याम्)

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(यन्त्रिये) अत्र छान्दसो घप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् ॥

(साम्राज्येन) भावे ष्यञ् । ञित्वादाद्युदात्तः ॥

(अभि) उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इति पर्युदासे प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सिञ्चामि) तिङ्ङतिङः (अ० ८ । १ । २८) इति सर्वनिघातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ पदार्थे इवपदप्रयोगात् अन्वयेऽपि तत्सद्भावो द्रष्टव्यः ।

२ प्रजा को भरपूर गुणों से अलङ्कृत का ही राज्याभिषेक करना चाहिये, अतः प्रकारान्तर से उसके गुणों का वर्णन करते हैं— ॥ ३० ॥

---

‡ 'बाहुभ्याम्' इत्यवग्रहचिह्नरहितः पाठः ॥

❀ अत्र 'बाहुभ्यां' 'हस्ताभ्यां' इत्युभयत्र लुप्तोपमालंकारसत्त्वादेवं पदार्थयोजना साधीयसी स्यात्—"(अश्विनोः) सूर्याचन्द्रमसोः (बाहुभ्याम्) भुजाभ्यामिव बलाकर्षणाभ्याम् (पूष्णः) पोषकस्य वायोः (हस्ताभ्याम्) कराभ्यामिव धारणपोषणाभ्याम् । (सरस्वत्यै)" ॥

§ 'नीतिर्यातः' इति हस्तलेखपाठः ॥

† 'राजधर्मोन्नतिः साधनीया' इति हस्तलेखपाठः ॥

() "फिर कहां कौन, किससे, कैसे को" इति हस्तलेखपाठः ॥

† 'बल और आकर्षण······वायु के' इति पाठः क. कोश उपलभ्यमानोऽपि ग. कोशे अ० मुद्रिते च प्रमादेन त्यक्तः ॥

भुजाओं से (पूष्णः) वायु के समान धारण पोषणगुण युक्त (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) तुझको (दधामि) धारण करता हूँ, और ‡ [(यन्तुः) नियम में चलानेवाले] (बृहस्पतेः) बड़े विद्वान् के (यन्त्रिये) कारीगरी विद्या से सिद्ध किये राज्य में (साम्राज्येन) चक्रवर्ती राजा के गुणों से (त्वा) तुझको (अभि) सब ओर से (सिञ्चामि) सुगन्धित रसों से मार्जन करता हूँ ॥ ३० ॥

+ इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को योग्य है कि ईश्वर में प्रेमी, बल पराक्रम पुष्टियुक्त, चतुर, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, प्रजापालन में समर्थ, विद्वान् को अच्छे प्रकार परीक्षा कर सभा का स्वामी करने के लिये अभिषेक करके राजधर्म की उन्नति अच्छे प्रकार नित्य किया करें ॥ ३० ॥

अग्निरेकेत्यस्य तापस ऋषिः । अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । स्वराडतिधृतिश्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

राजा प्रजाः, प्रजाश्च राजानं सततं वर्द्धयेयुरित्याह[1] ॥

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीँल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषꣳ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् ॥ ३१ ॥

अग्निः । एकाक्षरेणेत्येकऽअक्षरेण । प्राणम् । उत् । अजयत् । तम् । उत् । जेषम् । अश्विनौ । द्व्यक्षरेणेति द्विऽअक्षरेण । द्विपद इति द्विऽपदः । मनुष्यान् । उत् । अजयताम् । तान् । उत् । जेषम् । विष्णुः । त्र्यक्षरेणेति त्रिऽअक्षरेण । त्रीन् । लोकान् । उत् । अजयत् । तान् । उत् । जेषम् । सोमः । चतुरक्षरेणेति चतुःऽअक्षरेण । चतुष्पदः । चतुःपद इति चतुःऽपदः । पशून् । उत् । अजयत् । तान् । उत् । जेषम् ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(अग्निः) अग्निरिव वर्त्तमानो राजा[2] (एकाक्षरेण) ओमित्यनेन विज्ञापकेन दैव्या गायत्र्या छन्दसा (प्राणम्) शरीरस्थं वायुमिव प्रजाजनम् (उत्) उत्कृष्टया नित्या (अजयत्) जयेदुत्कर्षेत्[3] (तम्) (उत्) (जेषम्) जयेयमुत्कर्षेयम् (अश्विनौ[4]) सूर्य्याचन्द्रमसाविव राजराजपुरुषौ (द्व्यक्षरेण) दैव्या उष्णिहा (द्विपदः) (मनुष्यान्) मननशीलान् (उत्) (अजयताम्) (तान्) (उत्) (जेषम्) (विष्णुः) परमेश्वर इव न्यायकारी (त्र्यक्षरेण) दैव्यानुष्टुभा (त्रीन्) जन्मस्थाननामवाच्यान् (लोकान्) दर्शनीयान् (उत्) (अजयत्) (तान्) (उत्) (जेषम्) (सोमः[5]) ऐश्वर्य्यमिच्छुः (चतुरक्षरेण) दैव्या बृहत्या (चतुष्पदः) (पशून्) ❀ हरिणादीनारण्यान्

१ मिथः परमविश्वासेन श्रद्धयैव च शङ्कस्य सर्वविधोन्नतेः सम्भव इति तत्प्रकारमाह—
२ अग्निर्वाव यमः ॥ गो० उ० ४ । ८ ॥
३ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अ० ३ । ४ । ६) इति सामान्यकाले लङ् ॥
४ तत् कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके, राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः ॥ निरु० १२ । १ ॥
५ राजा वै सोमः ॥ श० १४ । १ । ३ । १२ ॥

‡ '(यन्तुः) नीति को प्राप्त' इति हस्तलेखपाठः ॥
+ पाठोऽयं क. कोशे उपलभ्यते, ग. पुस्तके अ० मुद्रिते च प्रमादेनैव त्यक्तः ॥
❀ 'हिरण्यादीन्' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः । क. कोशे 'हिरणादीन्' इति, सोऽप्ययुक्त एव ॥

(उत्) (अजयत्) (तान्) (उत्) (जेषम्)॥ [मन्त्रोऽयं शत० ५।२।२।१७ अंशतो व्याख्यातः]॥ ३१॥

अन्वयः—हे राजन्नग्निर्भवान् यथा एकाक्षरेण प्राणमिव यं प्रजाजनमुदजयत् तथा तमहमप्युज्जेषम्। हे राजजनावश्विनौ! भवन्तौ यथा द्व्यक्षरेण यान् द्विपदो मनुष्यानुदजयताम्, तथा तानहमप्युज्जेषम्। हे सर्वप्रधानपुरुष! विष्णुर्भवान् यथा त्र्यक्षरेण यान् त्रीँल्लोकानुदजयत्, तथा तानहमप्युज्जेषम्। हे न्यायाधीश! सोमो भवान् यथा चतुरक्षरेण याँश्चतुष्पदः पशूनुदजयत्, तथा तानहमप्युज्जेषम्॥ ३१॥

❀ [अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः॥]

भावार्थः—यदि राजा सर्वान् प्रजाजनानुन्नयेत्, तर्हि प्रजापुरुषास्तं कथं नोन्नयेयुर्नो चेन्न॥३१॥

राजा प्रजाओं को और प्रजा राजा को निरन्तर बढ़ाया करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1]॥

पदार्थः—हे राजन्! (अग्निः) अग्नि के समान वर्त्तमान आप जैसे (एकाक्षरेण) [ओम् यह जो] चितानेहारी एक अक्षर की दैवी गायत्री [है उस] छन्द से (प्राणम्) शरीर में स्थित वायु के समान प्रजाजनों को (उत्) उत्तम नीति से (अजयत्) उत्तम †करते हो, वैसे (तम्) उसको मैं भी (उत्) (जेषम्) उत्तम करूं। हे राजप्रजाजनो! (अश्विनौ) सूर्य्य और चन्द्रमा के समान आप जैसे (द्व्यक्षरेण) दो अक्षर की दैवी उष्णिक् छन्द से जिन (द्विपदः) दो पैर वाले (मनुष्यान्) मननशील मनुष्यों को (उदजयताम्) उत्तम ‡करते हो, वैसे (तान्) उनको मैं भी (उज्जेषम्) उत्तम करूं। हे सर्वप्रधान पुरुष! (विष्णुः) परमेश्वर के समान न्यायकारी आप जैसे (त्र्यक्षरेण) तीन अक्षर की दैवी अनुष्टुप् छन्द से जिन (त्रीन्) जन्म स्थान और नामवाची (लोकान्) देखने योग्य लोकों को (उदजयत्) उत्तम करते हो, वैसे (तान्) उनको मैं भी (उज्जेषम्) उत्तम करूं। हे

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(एकाक्षरेण, द्व्यक्षरेण, त्र्यक्षरेण, चतुरक्षरेण) सर्वत्र बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। एकशब्द इण्भीकापाशल्यति० (उ० ३।४३) इति कन्प्रत्ययान्तः, नित्वादाद्युदात्तः। द्विशब्दः उभेर्द्वश्च (दश० उ० १।६९) इति 'इ' प्रत्ययः, द्वादेशश्च। प्रत्ययस्वरेणोदात्तः। नारायणवृत्तौ उभेर्द्विः (ना० उ० ४।१५२) इत्यशुद्धः पाठ उपलभ्यते। त्रिशब्दः उभे द्वत्रौ च (भो० उ० २।१।१५४) इति भोजीयसूत्रेण 'इ' प्रत्ययान्तः पूर्ववत्। चतुःशब्दः चतेरुरन् (उ० ५।५८) इति 'उरन्' प्रत्यये नित्वादाद्युदात्तः। रेफेऽकार उच्चारणार्थः॥

(द्विपदः) द्वौ पादौ येषां ते इति बहुव्रीहौ संख्यासुपूर्वस्य (अ० ५।४।१४०) इति पदादेशः। द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ (अ० ६।२।१९७) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। शसि पादः पत् (अ० ६।४।१३०) इति पदादेशः॥

(मनुष्यान्) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (अ० ४।१।१६१) इति यत्प्रत्ययः। तित् स्वरितम् (अ० ६।१।१८५) इत्यन्तस्वरितत्वम्॥

(त्रीन्) पूर्वत्र 'त्र्यक्षरेण' इति व्याख्यातः॥

(चतुष्पदः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। चतुःशब्दः पूर्वत्र चतुरक्षरपदे व्याख्यातः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

[1] परस्पर के परमविश्वास और श्रद्धा से ही राष्ट्र की सब प्रकार की उन्नति हो सकती है, अतः उसका प्रकार बतलाते हैं— ॥ ३१॥

❀ भाषायामुपलभ्यतेऽयम्॥

† 'उत्तम करें' इति अ० मुद्रितपाठः॥

‡ 'उत्तम करो' इति अ० मुद्रितपाठः॥

(सोम) ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले न्यायाधीश ! आप जैसे ⁂(चतुरक्षरेण) चार अक्षर के दैवी बृहती छन्द से (चतुष्पदः) चौपाये (पशून्) हिरणादि [जङ्गली] पशुओं को (उदजयत्) उत्तम करते हो, वैसे (तान्) उनको मैं भी (उज्जेषम्) उत्तम करूं ॥ ३१ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो राजा सब प्रजाओं को अच्छे प्रकार बढ़ावे, तो उसको भी प्रजाजन क्यों न बढ़ावें, और जो ऐसा न करे तो उसको प्रजा भी कभी न बढ़ावे ॥ ३१ ॥

पूषेत्यस्य तापस ऋषिः । पूषादयो मन्त्रोक्ता देवताः । कृतिश्छन्दः । निषादः[1] स्वरः ॥

पुनाराजप्रजाजनाः किंवत् किं कुर्य्युरित्याह[2] ॥

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिशः उदजयत्ताऽउज्जेषꣳ सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत्तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ॥ ३२ ॥

पूषा । पञ्चाक्षरेणेति पञ्चऽअक्षरेण । पञ्च । दिशः । उत् । अजयत् । ताः । उत् । जेषम् । सविता । षडक्षरेणेति षट्ऽअक्षरेण । षट् । ऋतून् । उत् । अजयत् । तान् । उत् । जेषम् । मरुतः । सप्ताक्षरेणेति सप्तऽअक्षरेण । सप्त । ग्राम्यान् । पशून् । उत् । अजयन् । तान् । उत् । जेषम् । बृहस्पतिः । अष्टाक्षरेणेत्यष्टऽअक्षरेण । गायत्रीम् । उत् । अजयत् । ×ताम् । उत् । जेषम् ॥ ३२ ॥

पदार्थः—(पूषा[3]) चन्द्र इव सर्वस्य पोषकः (पञ्चाक्षरेण) दैव्या पङ्क्त्या (पञ्च) चतस्रः पार्श्वस्था एका अध ऊर्ध्वस्था [वा] (दिशः) (उत्) ❋(अजयत्) (ताः) [(उत्)] (जेषम्) (सविता) सूर्य इव (षडक्षरेण) दैव्या त्रिष्टुभा (षट्) (ऋतून्) वसन्तादीन् (उत्) (अजयत्) (तान्) (उत्) (जेषम्) (मरुतः) वायव इव (सप्ताक्षरेण) दैव्या जगत्या (सप्त) गोऽश्वमहिषोष्ट्राजाविगर्दभान् (ग्राम्यान्) ग्रामे भवान् (पशून्) गवादीन् (उत्) (अजयन्) (तान्) (उत्) (जेषम्) (बृहस्पतिः[4]) अनूचानो विद्वानिव (अष्टाक्षरेण) याजुष्याऽनुष्टुभा (गायत्रीम्) यया गायन्तं त्रायते तां नीतिम् (उत्) (अजयत्) (ताम्) (उत्) (जेषम्) ॥ ३२ ॥

१ पक्षान्तरे षड्जः स्वरः ॥
२ पूर्वोक्तमेवोपोद्बलयति—
३ पूषा वै पथीनामधिपतिः ॥ श० १३।४।१।१४॥
४ बृहस्पतिः पुर एता ॥ तै० २।५।७।३॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पञ्चाक्षरेण, षडक्षरेण, सप्ताक्षरेण, अष्टाक्षरेण) सर्वत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । पञ्च इति पूर्वं य० १।९ पृष्ठ ६१ व्याख्यातः ॥ षट् इति षष् लुक् च (श्वे० उ० १।१४५) इति कनिन्, तस्य च लुक् । दशपादीवृत्तौ (९।७) क्विप्प्रत्ययः, धातोः षषादेशः प्रत्ययस्य च लुक् इत्युक्तम्, अतो धातुस्वरः एव ॥

⁂ '(चतुरक्षरेण)…चौपाये' इति पाठः क. कोश उपलभ्यमानोऽपि ग. कोशे अ० मुद्रिते च त्यक्तः ॥
× 'तम्' इति अ० मुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥
❋ '(अजयत्) (ताः)' इति पाठो हस्तलेखयोरुपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते त्यक्तः ॥

अन्वयः—हे राजन्! पूषा भवान् यथा पञ्चाक्षरेण याः पञ्च दिश उदजयत्, तथाऽहमपि ता उज्जेषम्। हे राजन्! सविता भवान् यथा षडक्षरेण यान् षड् ऋतूनुदजयत्, तथा तानहमप्युज्जेषम्। हे सभ्या जनाः! मरुतो भवन्तो यथा सप्ताक्षरेण यान् ग्राम्यान् सप्त पशूनुदजयंस्तथा तानहमप्युज्जेषम्। हे विद्वन् सभाध्यक्ष! बृहस्पति-र्भवान् यथाऽष्टाक्षरेण यां गायत्रीमुदजयत्, तामहमप्युज्जेषम्[1] ॥ ३२ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यो राजा सर्वस्य पोषकः समस्तदिक्षु[2]कीर्त्तिरैश्वर्य्यवान्, सुसभ्यः पशुपालको वेदविद् भवेत्, तं सर्वे राजप्रजासेनाजना उत्कर्षयेयुः ॥ ३२ ॥

फिर राजा और प्रजाजन किनके दृष्टान्तों से क्या २ करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे राजन्! (पूषा) चन्द्रमा के समान सबको पुष्ट करनेवाले आप जैसे (पञ्चाक्षरेण) पांच अक्षर की दैवी पङ्क्ति से (पञ्च) पूर्वादि चार और एक ऊपर [वा] नीचे की (दिशः) दिशाओं को (उदजयत्) उत्तम कीर्ति से भरते हो, वैसे (ताः) उनको मैं भी (उज्जेषम्) श्रेष्ठ कीर्ति से भर देऊं। हे राजन्! (सविता) सूर्य्य के समान आप जैसे (षडक्षरेण) छः अक्षरों की दैवी त्रिष्टुप् से जिन (षट्) छः (ऋतून्) वसन्तादि ऋतुओं को (उदजयत्) शुद्ध करते हो, वैसे (तान्) उनको मैं भी (उज्जेषम्) शुद्ध करूं। हे सभाजनो! (मरुतः) वायु के समान आप जैसे (सप्ताक्षरेण) सात अक्षरों की दैवी जगती से (सप्त) गाय, घोड़ा, भैंस, ऊँट, बकरी, भेड़, और गधा इन सात (ग्राम्यान्) गाँव के (पशून्) पशुओं को (उदजयत्) बढ़ाते हो, वैसे (तान्) उनको मैं भी [(उज्जेषम्)] बढ़ाऊँ। हे सभेश! (बृहस्पतिः) समस्त विद्याओं के जानने वाले विद्वान् के समान आप जैसे (अष्टाक्षरेण) आठ अक्षरों की याजुषी अनुष्टुप् से जिस (गायत्रीम्) गान करनेवाले की रक्षा करने वाली * नीति की (उदजयत्) प्रतिष्ठा करते हो, वैसे (ताम्) उसकी मैं भी (उज्जेषम्) प्रतिष्ठा करूं ॥ ३२ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जो राजा सब का पोषक, जिसकी सब दिशाओं में कीर्ति, ऐश्वर्ययुक्त, सभा के कामों में चतुर, पशुओं का रक्षक, और वेदों का ज्ञाता हो, उसी को राज प्रजा और सेना के सब मनुष्य अपना अधिष्ठाता बनाकर उन्नति देवें ॥ ३२ ॥

मित्र इत्यस्य तापस ऋषिः। मित्रादयो मन्त्रोक्ता देवताः। कृतिश्छन्दः। निषादः[4] स्वरः ॥

सप्ताष्टशब्दौ सप्यशूभ्यां तुट् च (उ० १।१५७) इति कनिन्प्रत्ययान्तौ, नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते उञ्छादेराकृतिगणत्वादन्तोदात्तौ। अव्युत्पत्तिपक्षे त्रः संख्यायाः (फि० २८) इत्याद्युदात्तत्वे प्राप्ते घृतादीनां च (फि० २१) इत्यन्तोदात्तौ ॥

(पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट) पुरस्तादेव व्याख्याताः ॥

(ग्राम्यान्) ग्रामाद्यखञौ (अ० ४।२।९४) इति यः, प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ मन्त्रोऽयं शत० ५।२।२।१७ मध्य एव व्याख्यात इति ध्येयम् ॥

२ सप्तम्या अलुगत्र द्रष्टव्यः ॥

३ पूर्वोक्त को ही दृढ़ करते हैं— ॥ ३२ ॥

४ पक्षान्तरे षड्जः स्वरः ॥

*'विद्वान् स्त्री की' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

राज्ञः सत्याचाराऽनुकरणं प्रजया प्रजायाश्च राज्ञा कार्य्यमित्याह[1] ॥

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृत॑ꣳ स्तोम॒मुद॑जय॒त् तमु॒ज्जे॑षं॒ वरु॑णो दशाक्षरेण वि॒राज॒मुद॑जय॒त्तामु॒ज्जे॑ष॒मिन्द्र॒ ऽ एका॑दशाक्षरेण त्रि॒ष्टुभ॒मुद॑जय॒त्तामु॒ज्जे॑षं॒ विश्वे॑ दे॒वा द्वाद॑शाक्षरेण॒ जग॑तीमु॒द॑जयँ॒स्तामु॒ज्जे॑षम् ॥ ३३ ॥

मि॒त्रः । † नवा॑क्षरे॒णेति॒ नव॑ऽअक्षरेण । ‡ त्रि॒वृत॒मिति॒ त्रि॒ऽवृत॑म् । स्तोम॑म् । उत् । अ॒ज॒य॒त् । तम् । उत् । जे॒ष॒म् । वरु॑णः । दशा॑क्षरे॒णेति॒ दश॑ऽअक्षरेण । वि॒राज॒मिति॒ वि॒ऽराज॑म् । उत् । अ॒ज॒य॒त् । ताम् । उत् । जे॒ष॒म् । इन्द्र॑ः । ⁅ एका॑दशाक्षरे॒णेत्येका॑दशऽअक्षरेण । त्रि॒ष्टुभ॑म् । त्रि॒स्तु॒भ॒मिति॑ त्रि॒ऽस्तुभ॑म् । उत् । अ॒ज॒य॒त् । ताम् । उत् । जे॒ष॒म् । विश्वे॑ । दे॒वाः । द्वाद॑शाक्षरे॒णेति॒ द्वाद॑शऽअक्षरेण । जग॑तीम् । उत् । अ॒ज॒य॒न् । ताम् । उत् । जे॒ष॒म् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(मित्रः) सर्वस्य सुहृत् (नवाक्षरेण) याजुष्या बृहत्या (त्रिवृतम्[2]) कर्मोपासनाज्ञानयुक्तम् (स्तोमम्) स्तोतुं योग्यम् (उत्) (अजयत्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (वरुणः) श्रेष्ठः (दशाक्षरेण) याजुष्या पङ्क्त्या (विराजम्) विराट्छन्दोवाच्यम् (उत्) (अजयत्) (ताम्) (उत्) (जेषम्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (एकादशाक्षरेण) आसुर्या पङ्क्त्या (त्रिष्टुभम्) त्रिष्टुप्छन्दोवाच्यम् (उत्) (अजयत्) (ताम्) (उत्) (जेषम्) (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (द्वादशाक्षरेण) साम्न्या गायत्र्या (जगतीम्) एतच्छन्दोऽभिहितां नीतिम् (उत्) (अजयन्) (ताम्) (उत्) (जेषम्) ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! मित्रो भवान् यथा नवाक्षरेण छन्दसा यं त्रिवृतं स्तोममुदजयत्, तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे प्रशंसनीय सभेश ! वरुणो भवान् यथा दशाक्षरेण छन्दसा यां विराजमुदजयत्, तथा तामहमप्युज्जेषम् । हे परमैश्वर्य्यप्रदेन्द्रो भवान् यथैकादशाक्षरेण यां त्रिष्टुभमुदजयत्, तथा तामहमप्युज्जेषम् । हे सभ्यजना विश्वे देवा भवन्तो यथा द्वादशाक्षरेण यां जगतीमुदजयँस्तामहमप्युज्जेषम् ॥ ३३ ॥

भावार्थः—राजजनाः सर्वेषु प्राणिषु मैत्रीं विधाय सुशिक्षयोत्कृष्टान् विदुषः संपादयेयुर्यतस्ते ऐश्वर्य्यभागिनो भूत्वा राजभक्ता भवेयुः[3] ॥ ३३ ॥

१ तदेव प्रकारान्तरेण पोषयति—

२ ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत् ॥ तै० २ । ७ । १ । १ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नवाक्षरेण, दशाक्षरेण) पूर्ववत् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे नुदंशोर्गुणश्च (श्वे० उ० १ । १४४) इति कनिन्प्रत्ययान्तौ, नित्वादाद्युदात्तौ ॥

(त्रिवृतम्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(विराजम्) क्विपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(एकादशाक्षरेण) एकादशाक्षराण्यस्मिन्निति पूर्ववद् बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्त्व एकादशशब्दे द्वन्द्वसमासः । संख्या (अ० ६ । २ । ३५) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥ एकशब्दो नित्स्वरेणाद्युदात्त इत्युक्तं पुरस्तात् (य० ९ । ३१ पृ० ८०३) ॥

(त्रिष्टुभम्) त्रिपूर्वपदात् स्तोभतेः क्विपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(द्वादशाक्षरेण) एकादशाक्षरवत् स्वरः, द्व्यष्टनः० (अ० ६ । ३ । ४७) इत्यात्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ अयमपि मन्त्रः पूर्ववदेव शत० ५ । २ । २ । १७ अन्तर्भूत एव व्याख्यात इति मन्तव्यम् ॥

† 'नवा॑क्षरे॒णेति॒' इत्यपपाठः अ० मु० ॥ ‡ 'त्रि॒वृत॒मिति॒ त्रि॒ऽवृत्त॑म्' इत्यपपाठः अ० मु० ॥
⁅ 'एका॑दशाक्षरे॒णेत्येका॑०' इत्यपपाठः अ० मु० ॥

राजा के सत्याचार के अनुसार प्रजा, और प्रजा के अनुसार राजा करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे राजन्! (मित्रः) सब के हितकारी आप जैसे (नवाक्षरेण) नव अक्षर की याजुषी बृहती से जिस (त्रिवृतम्) कर्म्म, उपासना और ज्ञान के (स्तोमम्) स्तुति के योग्य को (उदजयत्) उत्तमता से जानते हो, वैसे (तम्) उसको मैं भी (उज्जेषम्) अच्छे प्रकार जानूं। हे प्रशंसा के योग्य सभेश ! (वरुणः) सब प्रकार से श्रेष्ठ आप जैसे (दशाक्षरेण) दश अक्षरों की याजुषी पङ्क्ति से जिस (विराजम्) विराट् छन्द से प्रतिपादित अर्थ को (उदजयत्) प्राप्त हुए हो, वैसे (ताम्) उसको मैं भी (उज्जेषम्) प्राप्त होऊं, * हे (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य्य देनेवाले आप जैसे (एकादशाक्षरेण) ग्यारह अक्षरों की आसुरी पङ्क्ति से जिस (त्रिष्टुभम्) त्रिष्टुप् छन्द-वाची को (उदजयत्) अच्छे प्रकार जानते हो, वैसे (ताम्) उसको मैं भी (उज्जेषम्) अच्छे प्रकार जानूं। हे सभ्य जनो (विश्वे) सब (देवाः) विद्वानो ! आप जैसे (द्वादशाक्षरेण) बारह अक्षरों की साम्नी गायत्री से जिस (जगतीम्) जगती से कही हुई नीति का (उदजयत्) प्रचार करते हो, वैसे (ताम्) उसका मैं भी (उज्जेषम्) प्रचार करूँ ॥ ३३ ॥

भावार्थः—राजपुरुषों को चाहिये कि सब प्राणियों में मित्रता से अच्छे प्रकार शिक्षा कर इन प्रजाजनों को उत्तम गुणयुक्त विद्वान् करें, जिससे ये ऐश्वर्य्य के भागी होकर राजभक्त हों ॥ ३३ ॥

वसव इत्यस्य तापस ऋषिः। वस्वादयो मन्त्रोक्ता देवताः। वसव इत्यस्य निचृज्जगती छन्दः। निषादः स्वरः। आदित्या इत्यस्य निचृद्धृतिश्छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनरपि राजप्रजाधर्मकृत्यमाह[2] ॥

वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषꣳ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमादित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ॥ ३४ ॥

वसवः। त्रयोदशाक्षरेणेति त्रयोदशऽअक्षरेण। त्रयोदशमिति त्रयःऽदशम्। स्तोमम्। उत्। अजयन्। तम्। उत्। जेषम्। रुद्राः। चतुर्दशाक्षरेणेति चतुर्दशऽअक्षरेण। चतुर्दशमिति चतुःऽदशम्। स्तोमम्। उत्। अजयन्। तम्। उत्। जेषम्। आदित्याः। पञ्चदशाक्षरेणेति पञ्चदशऽअक्षरेण। पञ्चदशमिति पञ्चऽदशम्। स्तोमम्। उत्। अजयन्। तम्। उत्। जेषम्। अदितिः। षोडशाक्षरेणेति षोडशऽअक्षरेण। †षोडशम्। स्तोमम्। उत्। अजयत्। तम्। उत्। जेषम्। प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः। सप्तदशाक्षरेणेति सप्तदशऽअक्षरेण। सप्तदशमिति सप्तऽदशम्। स्तोमम्। उत्। अजयत्। तम्। उत्। जेषम् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(वसवः) कृतेन चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्य्येण गृहीतविद्याः (त्रयोदशाक्षरेण) आसुर्य्याऽनुष्टुभा (त्रयोदशम्) दशप्राणजीवमहत्तत्त्वानां संख्यापूरकमव्यक्तं कारणम् (स्तोमम्) स्तोतुं

[1] प्रकारान्तर से पूर्वोक्त की ही पुष्टि करते हैं ॥३३॥

[2] पूर्वोक्तमेवोपपादयति—

* 'हे सजन' इति हस्तलेखपाठः ॥

† 'षोडशमिति षोडश' इत्यपपाठः अ० मु० ॥

योग्यम् (उत्) (अजयन्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (रुद्राः (कृतेन चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्य्येणाधीतविद्याः (चतुर्दशाक्षरेण) साम्न्युष्णिहा (चतुर्दशम्) दशेन्द्रियमनोबुद्धिचित्तानां संख्यापूरकमहङ्कारम् (स्तोमम्) स्तवनीयम् (उत्) (अजयन्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (आदित्याः) समाचरितेनाष्टचत्वारिंशद्वर्षपरिमितब्रह्मचर्य्येण गृहीतसमस्तविद्याः (पञ्चदशाक्षरेण) आसुर्य्या गायत्र्या (पञ्चदशम्) चत्वारो वेदाश्चत्वार उपवेदाः षडङ्गानि च मिलित्वा चतुर्दशविद्यास्तासां संख्यापूरकं क्रियाकौशलम् (स्तोमम्) स्तोतुमर्हम् (उत्) अजयन्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (अदितिः) अविद्यमाना दितिर्नाशो यस्याः सा राजपत्नी (षोडशाऽक्षरेण) साम्न्याऽनुष्टुभा (षोडशम्) प्रमाणादिपदार्थसमूहम् (स्तोमम्) प्रशंसनीयम् (उत्) (अजयत्) (तम्) (उत्) (जेषम्) (प्रजापतिः) प्रजायाः पालकः (सप्तदशाक्षरेण) निचृदार्च्या गायत्र्या (सप्तदशम्) चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमाः श्रवणमननिदिध्यासनानि च कर्माणि, अलब्धस्य लिप्सा, लब्धस्य प्रयत्नेन रक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिः, वृद्धस्य सन्मार्गे सर्वोपकारके सत्कर्मणि व्ययकरणमेष चतुर्विधः पुरुषार्थः, मोक्षाऽनुष्ठानं चेति सप्तदशम् (स्तोमम्) अतिप्रशंसनीयम् (उत्) उत्कृष्टरीत्या (अजयत्) उत्कर्षेत् (तम्) (उत्) (जेषम्) उत्कर्षेयम् ॥ [मन्त्रोऽयं शत० ५ । २ । २।१७ व्याख्यातः]॥३४॥

अन्वयः—हे राजादयः सभ्या वसवो विद्वांसो जना भवन्तो यथा त्रयोदशाक्षरेण यं त्रयोदशं स्तोममुदजयंस्तथा [तम] हमप्युज्जेषम् । हे बलवीर्यवन्तः पुरुषार्थिनो रुद्रा भवन्तो यथा चतुर्दशाक्षरेण यं चतुर्दशं स्तोममुदजयंस्तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे पूर्णविद्यया शरीरात्माखिलबला आदित्या भवन्तो यथा पञ्चदशाऽक्षरेण यं पञ्चदशं स्तोममुदजयंस्तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे सभाध्यक्षस्य राज्ञः पत्न्यदितिः अखण्डितैश्वर्य्या भवति यथा षोडशाऽक्षरेण यं षोडशं स्तोममुदजयत् तथा तमहमप्युज्जेषम् । हे सर्वाऽभिरक्षक सज्जन नरेश प्रजापतिर्भवान् यथा सप्तदशाऽक्षरेण यं सप्तदशं स्तोममुदजयत् तथा तमहमप्युज्जेषम् ॥ ३४ ॥

[अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥]

भावार्थः—हे मनुष्या एतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैर्यावान् राजप्रजाधर्मो विहितस्तमनुष्ठाय यूयं सुखिनो भवत ॥ ३४ ॥

फिर भी राजा और प्रजा के धर्मकार्य्य का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[3] ॥

पदार्थः—हे राजादि सभ्यजनो (वसवः) चौबीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़नेवाले विद्वानो ! आप लोग जैसे (त्रयोदशाक्षरेण) तेरह अक्षरों की आसुरी अनुष्टुप् वेदस्थ छन्द से जिस (त्रयोदशम्) दश प्राण

---

१ इमा एव चतुर्दश विद्या ग्रन्थकारेणान्यत्रापि परिगणिताः (द्र० ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १, २) । अन्यत्र चतुर्दश विद्या एवं परिगणिताः—अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः । पुराणं धर्मशास्त्राणि विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ विष्णु पुराण पूर्व ६१ । ७८ । वायु पुराण ६१ । ७८ ॥ आस्वेव चतुर उपवेदान् परिगणय्य अष्टादश विद्या गण्यन्ते । वायु पु० ६१ । ७९ ॥

२ न्यायदर्शनस्थप्रथमसूत्रप्रतिपादिताः प्रमाणादिपदार्थाः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(त्रयोदशाक्षरेण, चतुर्दशाक्षरेण, पञ्चदशाक्षरेण, षोडशाक्षरेण, सप्तदशाक्षरेण) सर्वत्र एकादशाक्षरवत् स्वरः । त्रेस्त्रयः (अ० ६ । ३ । ४८) इति 'त्रयस्' आदेशः, स च निपातनादाद्युदात्तः ॥ षोडशाक्षरेण इत्यत्र षष उत्वं दद्दशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च (अ० ६ । ३ । १०९ वा०) इति वचनात् प्रयोगसिद्धिः ॥

(त्रयोदशं, चतुर्दशं, पञ्चदशं, षोडशं, सप्तदशम्) सर्वत्र तस्य पूरणे डट् (अ० ५ । २ । ४८) इति डट्, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥ ॥ ३४ ॥

३ पूर्वोक्त का ही उपपादन करते हैं—

जीव महत्तत्व और अव्यक्त कारणरूप (स्तोमम्) प्रशंसा के योग्य पदार्थसमूह को (उद्जयन्) श्रेष्ठता से जानें, वैसे (तम्) उसको मैं भी (उज्जेषम्) उत्तमता से जानूं। हे बलपराक्रम और पुरुषार्थयुक्त (रुद्राः) चवालीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़नेहारे विद्वानो ! जैसे आप (चतुर्दशाक्षरेण) चौदह अक्षरों की साम्नी उष्णिक् छन्द से (चतुर्दशम्) दश इन्द्रिय मन बुद्धि चित्त और अहङ्काररूप (स्तोमम्) प्रशंसा के योग्य पदार्थविद्या को (उद-जयन्) प्रशंसित करें, वैसे मैं भी (तम्) उसको (उज्जेषम्) प्रशंसित करूं। हे (आदित्याः) अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण करनेहारे पूर्ण विद्या से शरीर और आत्मा के समस्त बल से युक्त सूर्य के समान प्रकाशमान विद्वानो ! आप लोग जैसे (पञ्चदशाक्षरेण) पन्द्रह अक्षरों की आसुरी गायत्री से (पञ्चदशम्) चार वेद, चार उपवेद अर्थात् आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद = गानविद्या तथा अर्थवेद = शिल्पशास्त्र छः अङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) ❀ मिल के [1]चौदह उनका संख्यापूरक पन्द्रहवां क्रियाकुशलता रूप (स्तोमम्) स्तुति के योग्य को (उदजयन्) अच्छे प्रकार से जानें, वैसे मैं भी (तम्) उसको (उज्जेषम्) अच्छे प्रकार जानूं। हे (अदितिः) आत्मरूप से नाशरहित सभाध्यक्ष राजा की विदुषी स्त्री ! अखण्डित ऐश्वर्ययुक्त आप जैसे (षोडशाऽक्षरेण) सोलह अक्षर की साम्नी अनुष्टुभ् से (षोडशम्) प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों की व्याख्या युक्त (स्तोमम्) प्रशंसा के योग्य को (उदजयत्) उत्तमता से जानें, वैसे मैं भी (तम्) उसको (उज्जेषम्) उत्तमता से जानूं। हे नरेश ! (प्रजापतिः) प्रजा के रक्षक आप जैसे (सप्तदशाक्षरेण) सत्रह अक्षरों की निचृदार्ची गायत्री छन्द से (सप्तदशम्) चार वर्ण, चार आश्रम, सुनना, विचारना, ध्यान करना, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त का रक्षण, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुए को अच्छे मार्ग सब के उपकार में खर्च करना, यह चार प्रकार का पुरुषार्थ और मोक्ष के अनुष्ठानरूप (स्तोमम्) अच्छे प्रकार प्रशंसनीय को [(उदजयत्)] उत्तमता से जानें, वैसे मैं भी [(तम्) उसको] (उज्जेषम्) उत्तमता से जानूं ॥ २४ ॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—हे मनुष्य लोगो ! इन चार मन्त्रों से जितना राजा और प्रजा का धर्म कहा, उसका अनुष्ठान कर तुम सुखी होवो ॥ २४ ॥

एष त इत्यस्य वरुण ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। † विराडुत्कृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः[2] ॥

कीदृग्जनः साम्राज्यं सेवितुं योग्यो जायत इत्याह[3] ॥

एष ते॑ निर्ऋते भा॒गस्तं जु॑षस्व॒ स्वाहा॒ऽग्निने॑त्रेभ्यो दे॒वेभ्यः॑ पुरः॒सद्भ्य॒ः स्वाहा॑ य॒मने॑त्रेभ्यो दे॒वेभ्यो॑ दक्षिणा॒सद्भ्य॑ः स्वाहा॑ वि॒श्वदे॑वनेत्रेभ्यो दे॒वेभ्यः॑ प॒श्चात्सद्भ्य॑ः

---

१ इन्हीं चौदह विद्याओं को ग्रन्थकार ने अन्यत्र भी गिनाया है। देखो ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १, २ ॥ अन्यत्र विष्णु पुराण (पूर्व० ६१। ७८) तथा वायुपुराण (६१। ७८) में इस प्रकार १४ विद्याएँ गिनाई हैं—४ वेद, ६ अंग, मीमांसा, न्याय, पुराण, तथा धर्मशास्त्र(= १४)। इन्हीं १४ विद्याओं में ४ उपवेद की गिनती करने पर १८ विद्याएँ मानी जाती हैं। द्र० वायु० ६१।७९॥

२ पक्षान्तरे निषादः स्वरः ॥

३ विद्वत्सङ्गेन तत्सेवया वा राज्यस्य सर्वकार्याणि सिध्यन्ति नान्यथेति विद्वज्जनसहायस्य राज्ञः सामर्थ्यमाह—

❀ इतोऽग्रे 'और उपाङ्ग अर्थात् मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त छ शास्त्र' इति हस्तलेखपाठः, स चायुक्तः, विंशतिसंख्यासम्पत्तेः ॥ † निचृदुत्कृतिश्छन्दः इति अ० मुद्रिते कोशेषु पापपाठः ॥

स्वाहा॑ मि॒त्रावरु॑णनेत्रेभ्यो वा म॒रुन्ने॑त्रेभ्यो वा दे॒वेभ्य॑ऽ उत्त॒रा॒सद्भ्य॒ः स्वाहा॒ सोम॑नेत्रेभ्यो दे॒वेभ्य॑ऽ उपरि॒सद्भ्यो॒ दुव॑स्वद्भ्य॒ः स्वाहा॑ ॥ ३५ ॥

ए॒षः । ते॒ । नि॒र्ऋ॑त॒ इति॑ निःऽऋते । भा॒गः । तम् । जु॒ष॒स्व॒ । स्वाहा॑ । अ॒ग्निने॑त्रेभ्य॒ इत्य॒ग्निऽने॑त्रेभ्यः । † दे॒वेभ्यः॑ । पु॒रःसद्भ्य॒ इति॑ पु॒रःसत्ऽभ्यः॑ । स्वाहा॑ । य॒मने॑त्रेभ्य॒ इति॑ य॒मऽने॑त्रेभ्यः । † दे॒वेभ्यः॑ । द॒क्षि॒णा॒सद्भ्य॒ इति॑ दक्षि॒णा॒सत्ऽभ्यः॑ । स्वाहा॑ । वि॒श्वदे॑वनेत्रेभ्य॒ इति॑ वि॒श्वदे॑वऽनेत्रेभ्यः । दे॒वेभ्यः॑ । प॒श्चा॒त्सद्भ्य॒ इति॑ प॒श्चा॒त्सत्ऽभ्यः॑ । स्वाहा॑ । मि॒त्रावरु॑णनेत्रेभ्य॒ इति॑ मि॒त्रावरु॑णऽनेत्रेभ्यः । वा॒ । म॒रुन्ने॑त्रेभ्य॒ इति॑ म॒रुत्ऽने॑त्रेभ्यः । ❀ वा॒ । दे॒वेभ्यः॑ । उ॒त्त॒रा॒सद्भ्य॒ इत्यु॑त्त॒रा॒सत्ऽभ्यः॑ । × स्वाहा॑ । सोम॑नेत्रेभ्य॒ इति॒ सोम॑ऽनेत्रेभ्यः । दे॒वेभ्यः॑ । उ॒प॒रि॒सद्भ्य॒ इत्यु॑परि॒सत्ऽभ्यः॑ । {} दुव॑स्वद्भ्य॒ इति॒ दुव॑स्वत्ऽभ्यः । स्वाहा॑ ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(एषः) पूर्वापरप्रतिपादितः (ते) तव (निर्ऋते[1]) नितरामृतं सत्यमाचरणं यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ (भागः) भजनीयः, सेवितुं योग्यः (तम्) (जुषस्व) सेवस्व (स्वाहा) सत्यां वाचम् (अग्निनेत्रेभ्यः) अग्नेः प्रकाश इव नेत्रं नयनं येषां तेभ्यः (देवेभ्यः) धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यः (पुरःसद्भ्यः) ये पुरः पूर्वं सभायां राष्ट्रे वा सीदन्ति तेभ्यः (स्वाहा) धर्म्यां क्रियाम् (यमनेत्रेभ्यः) यमस्य वायोर्नेत्रं नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्यः (देवेभ्यः) विपश्चिद्भ्यः (दक्षिणासद्भ्यः) ॐये दक्षिणस्यां दिशि सीदन्ति तेभ्यः (स्वाहा) दानक्रियाम् (विश्वदेवनेत्रेभ्यः) ‡ विश्वेषां देवानां विदुषां नेत्रं नीतिरिव नीतिर्येषां तेभ्यः (देवेभ्यः) दिव्यसुखप्रदेभ्यः (पश्चात्सद्भ्यः) ये पश्चात् सीदन्ति तेभ्यः

१ तिग्मतेजा वै निर्ऋतिः ॥ श० ७ । २ । १ । १० ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अग्निनेत्रेभ्यः) बहुव्रीहिसमासे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेऽग्निशब्दः प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(यमनेत्रेभ्यः, विश्वदेवनेत्रेभ्यः, मित्रावरुणनेत्रेभ्यः, सोमनेत्रेभ्यः, मरुन्नेत्रेभ्यः) सर्वत्र पूर्ववत् पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥ यमशब्दोऽच्प्रत्ययान्तः, प्रत्ययस्वरेण चित्स्वरेण वान्तोदात्तः ॥ विश्वदेवे बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् (अ० ६ । २ । १०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । मित्रावरुणे उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६ । २ । १४०) इति युगपत्प्रकृतिस्वरः । मरुच्छब्दे मृग्रोरुतिः (उ० १ । ९४) इति 'उतिः', प्रत्ययस्वरः । सोमशब्दो मन्प्रत्यय आद्युदात्तः ॥

(पुरःसद्भ्यः, दक्षिणासद्भ्यः, पश्चात्सद्भ्यः, उत्तरासद्भ्यः, उपरिसद्भ्यः) सर्वत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† 'देवेभ्यः' इत्यपस्वरः पाठः अ० मु० ॥

❀ 'वा' इति स्वररहितोऽपपाठः अ० मु० ॥ × 'स्वाहा' इति पदं त्यक्तम् अ० मु० ॥

{} 'दुवस्वद्भ्य इति' इत्यंशस्त्यक्तः अ० मु० ॥

ॐ 'ये दक्षिणस्यां दिशि सीदन्ति तेभ्यः' इति पाठः क. कोश उपलभ्यमानोऽपि ग. कोशे अ० मुद्रिते च त्यक्तः ॥

‡ 'विश्वेषां देवानां······तेभ्यः' इति पाठः पूर्वं "(दक्षिणासद्भ्यः)" इत्येतस्मादग्रे सन्नप्यस्माभिरत्रानीतः । इयमत्र वस्तुस्थितिः—'(दक्षिणासद्भ्यः)' इत्येतस्मादनन्तरस्थः पाठः ग. कोशलेखकेन दृष्टिदोषात् परित्यज्य '(विश्वदेवनेत्रेभ्यः)' इत्येतस्मादनन्तरस्थः पाठो लिखितः । मुद्रणकाले च '(विश्वदेवनेत्रेभ्यः)' इति मन्त्रपदं तत्पदार्थं चादृष्ट्वा तन्मन्त्रपदं तदनु च 'सर्वविद्वत्तुल्या नीतिर्येषाम्' इति पाठो लिखित्वा पूरितः । स च क. हस्तलेखे सम्यक् पाठोपलम्भाद् नावश्यकः ॥

किञ्चात्र 'सर्वविद्वत्तुल्या नेत्रा नीतिर्येषां तेभ्यः' इति पाठोऽजमेरमुद्रित आसीत्, स चानवश्यक इति हेतोरस्माभिः पृथक् कृतः ॥

(स्वाहा) उत्साहकारिकां वाचम् (मित्रावरुणनेत्रेभ्यः) ‡ मित्रावरुणयोः प्राणोदानयोर्नेत्रं नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्यः (वा) पक्षान्तरे (मरुन्नेत्रेभ्यः) मरुतामृत्विजां प्रजास्थानां सज्जनानां वा नेत्रमिव नायकत्वं येषां तेभ्यः (वा) (देवेभ्यः) दिव्यन्यायप्रकाशकेभ्यः (उत्तरासद्भ्यः) य उत्तरस्यां दिशि सीदन्ति तेभ्यः (स्वाहा) दौत्यकुशलताम् (सोमनेत्रेभ्यः) सोमस्य चन्द्रस्यैश्वर्य्यवतो नेत्रं नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्यः (देवेभ्यः) सकलविद्याप्रचारकेभ्यः (उपरिसद्भ्यः) सर्वोपरि विराजमानेभ्यः (दुवस्वद्भ्यः) विद्याविनयधर्मैश्वरान् सेवमानेभ्यः (स्वाहा) आप्तवाणीम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५। २। ३। ३। १० ॥ ५। २। ४। १–५ व्याख्यातः] ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे निर्ऋते राजँस्ते तव य एष भागो भजनीयो न्यायोऽस्ति, तमग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा, पुरःसद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा। यमनेत्रेभ्यो दक्षिणासद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा। विश्वदेवनेत्रेभ्यः पश्चात्सद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा। मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वोत्तरासद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा। सोमनेत्रेभ्य उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा च प्राप्य त्वं धर्मेण राज्यं सदा जुषस्व ॥ ३५॥

भावार्थः—हे राजन् सभाध्यक्ष ! यदा भवान् सर्वतो विद्वद्वरेभ्यः परिवृतः प्राप्तशिक्षः कृतसभो रक्षितसेनः सुसहायः सन् सनातन्या वेदोक्तया राजधर्मनीत्या प्रजाः पालयेत् तदैवेहामुत्र च सुखमेव प्राप्नुयात्। एतद्विरुद्धश्चेत्तर्हि ते कुतः सुखमिति, नहि मूर्खसहायः सुखमेधते, न खलु विद्वदुपदेशानुगामी कदाचित्सुखं जहाति, अस्माद्राजा सदैव विद्याधर्माप्तसहायेन राज्यं रक्षेत्। यस्य सभायां राज्ये वा पूर्णविद्या धार्मिका वर्त्तन्ते, मिथ्यावादिनो व्यभिचारिणोऽजितेन्द्रियाः परुषवाचोऽन्यायाचाराः स्तेना दस्यवश्च न सन्ति, स्वयमप्येवंभूतोऽस्ति, स एव चक्रवर्त्तिराज्यं कर्त्तुमर्हति, नातो विरुद्धो जन इति बोध्यम् ॥ ३५ ॥

कैसा मनुष्य चक्रवर्त्ति राज्य सेवने को योग्य होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (निर्ऋते) सदैव सत्याचरणयुक्त राजन् ! (ते) आप का जो (एषः) यह (भागः) सेवने योग्य है [(तम्)] उस को (अग्निनेत्रेभ्यः) अग्नि के प्रकाश के समान नीतियुक्त (देवेभ्यः) विद्वानों से (स्वाहा) सत्यवाणी, (पुरःसद्भ्यः) जो प्रथम सभा वा राज्य में स्थित हों उन न्यायाधीश विद्वानों से (स्वाहा) धर्मयुक्त क्रिया, (यमनेत्रेभ्यः) जिन की वायु के समान सर्वत्र गति (दक्षिणासद्भ्यः) जो दक्षिण दिशा में राजप्रबन्ध के लिये स्थित हों उन (देवेभ्यः) विद्वानों से (स्वाहा) दानक्रिया, (विश्वदेवनेत्रेभ्यः) सब विद्वानों के तुल्य नीति के ज्ञानी (पश्चात्सद्भ्यः) जो पश्चिम दिशा में राजकर्मकारी हों, उन (देवेभ्यः) दिव्य सुख देनेहारे विद्वानों से (स्वाहा) उत्साहकारक वाणी (मित्रावरुणनेत्रेभ्यः) प्राण और उदान के समान (वा) वा (मरुन्नेत्रेभ्यः) ऋत्विक् यज्ञ के कर्त्ता सत्पुरुष के समान न्यायकारक (वा) [अथवा] (उत्तरासद्भ्यः) जो उत्तर दिशा में न्यायाधीश हों उन (देवेभ्यः) विद्वानों से [(स्वाहा)] दूतकर्म की कुशलक्रिया [वाले],

[1] विद्वानों के सङ्ग और उनकी सेवा से साम्राज्य के सब कार्यों की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से नहीं, अतः विद्वज्जनों की सहायता प्राप्त कर सकने वाले राजा की सामर्थ्य बतलाते हैं— ॥ ३५ ॥

‡ 'मित्रावरुणयोः······तेभ्यः' इति पाठः क. कोश उपलभ्यमानोऽपि ग. कोशलेखकेन प्रमादेन त्यक्तो मुद्रणकाले च तदभावपूर्त्यर्थं 'प्राणापानतुल्येभ्यः' इत्येवं परिवर्धितः। स च क-हस्तलेखे शुद्धपाठदर्शनादनावश्यक इति कृत्वा ऽस्माभिः परित्यक्तः ॥

(सोमनेत्रेभ्यः) चन्द्रमा के समान ऐश्वर्ययुक्त होकर सबको आनन्ददायक (उपरिसद्भ्यः) विद्या, विनय, धर्म और [(दुवस्वद्भ्यः)] ईश्वर की सेवा करनेहारे (देवेभ्यः) विद्वानों से (स्वाहा) आप्त पुरुषों की वाणी को प्राप्त होके तू सदा धर्म का (जुषस्व) सेवन किया कर ॥ ३५ ॥

भावार्थः—हे राजन् सभाध्यक्ष ! जब आप सब ओर से उत्तम विद्वानों से युक्त होकर सब प्रकार की शिक्षा को प्राप्त, सभा का [निर्माण] करनेहारा सेना का रक्षक, उत्तम सहाय से युक्त होकर सनातन वेदोक्त राजधर्मनीति से प्रजा का पालन करें तभी इस लोक और परलोक में सुख ही को प्राप्त होवें। जो इस कर्म से विरुद्ध रहेगा तो तुझको सुख भी न होगा। कोई भी मनुष्य मूर्खों के सहाय से सुख की वृद्धि नहीं कर सकता, और न कभी विद्वानों के [उपदेश के] अनुसार चलनेवाला मनुष्य सुख को छोड़ देता है, इससे राजा सर्वदा विद्या धर्म और आप्त विद्वानों के सहाय से राज्य की रक्षा किया करे। जिसकी सभा वा राज्य में पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक मनुष्य सभासद् वा कर्मचारी होते हैं और जिसकी सभा वा राज्य में मिथ्यावादी, व्यभिचारी, अजितेन्द्रिय, कठोर वचनों के बोलनेवाले, अन्यायकारी, चोर और डाकू आदि नहीं होते, और आप भी इसी प्रकार का धार्मिक होता है, वही पुरुष चक्रवर्त्ती राज्य करने के योग्य होता है, इससे विरुद्ध नहीं ॥ ३५ ॥

ये देवा इत्यस्य वरुण ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। विकृतिश्छन्दः। मध्यमः स्वरः॥

मनुष्याः सर्वत्र भ्रमणं विधाय विद्यां गृह्णीयुरित्युपदिश्यते[1] ॥

ये दे॒वा ऽ अ॒ग्निने॑त्राः पु॒रः॒सद॒स्तेभ्य॒ः स्वाहा॒ ये दे॒वा य॒मने॑त्रा दक्षि॒णा॒सद॒स्तेभ्य॒ः स्वाहा॒ ये दे॒वा वि॒श्वदे॑वनेत्राः प॒श्चात्सद॒स्तेभ्य॒ः स्वाहा॒ ये दे॒वा मि॒त्रावरु॑णनेत्रा वा म॒रुन्ने॑त्रा वोत्त॒रा॒सद॒स्तेभ्य॒ः स्वाहा॒ ये दे॒वाः सोम॑नेत्राऽउपरि॒सदो॒ दुव॑स्वन्त॒स्तेभ्य॒ः स्वाहा॑ ॥ ३६ ॥

ये। दे॒वाः। अ॒ग्निने॑त्रा इत्य॒ग्निऽने॑त्राः। पु॒रः॒सद॒ इति॑ पु॒रः॒ऽसदः॑। तेभ्यः॑। स्वाहा॑। ये। दे॒वाः। य॒मने॑त्रा॒ इति॑ य॒मऽने॑त्राः। द॒क्षि॒णा॒सद॒ इति॑ दक्षिणा॒ऽसदः॑। तेभ्यः॑। स्वाहा॑। ये। दे॒वाः। वि॒श्वदे॑वनेत्रा॒ इति॑ विश्वदे॑वऽनेत्राः। प॒श्चात्सद॒ इति॑ पश्चा॒त्ऽसदः॑। तेभ्यः॑। स्वाहा॑। ये। दे॒वाः। मि॒त्रावरु॑णनेत्रा॒ इति॑ मि॒त्रावरु॑णऽनेत्राः। वा॒। म॒रुन्ने॑त्रा॒ इति॑ म॒रुत्ऽने॑त्राः। वा॒। उ॒त्त॒रा॒सद॒ इत्यु॑त्तरा॒ऽसदः॑। तेभ्यः॑। स्वाहा॑। ये। दे॒वाः। सोम॑नेत्रा॒ इति॒ सोम॑ऽनेत्राः। उ॒प॒रि॒सद॒ इत्यु॑परि॒ऽसदः। दुव॑स्वन्तः। तेभ्यः॑। स्वाहा॑ ॥ ३६ ॥

पदार्थः—(ये) (देवाः) विद्वांसः (अग्निनेत्राः) अग्नौ विद्युदादौ नेत्रं नयनं विज्ञानं येषां ते (पुरःसदः) ये सभायां राष्ट्रे वा पुरः पूर्वस्यां दिशि सीदन्ति (तेभ्यः) (स्वाहा) सत्यां वाचम् (ये) (देवाः) योगिनो न्यायाधीशाः (यमनेत्राः) यमेष्वहिंसादिषु योगाङ्गेषु नीतिषु वा नेत्रं प्रापणं येषां ते (दक्षिणासदः) ये दक्षिणस्यां दिश्यवतिष्ठन्ते (तेभ्यः) (स्वाहा) सत्यां क्रियाम् (ये) (देवाः) सर्वविद्याविदः (विश्वदेवनेत्राः) विश्वेषु देवेषु नेत्रं प्रज्ञानं येषां ते (पश्चात्सदः) ये पश्चिमायां दिशि सीदन्ति (तेभ्यः) (स्वाहा) आन्वीक्षिकीं विद्याम् (ये) (देवाः) सर्वेभ्यः सुखदातारः (मित्रावरुणनेत्राः) प्राणोदानवत् सर्वान् धर्म्मं नयन्तः (वा) (मरुन्नेत्राः) मरुति ब्रह्माण्डस्थे वायौ नेत्रं

१ उत्कृष्टं वैदुष्यं नैकस्मिन् देशे कूपमण्डूकस्थित्या प्राप्यत इति देशदेशान्तरेषु योग्यान् पुरुषान्

नयनं येषां ते (वा) अथ ऊर्ध्वस्थाः (उत्तरासदः) ये प्रश्नोत्तराणि समादधाना उत्तरस्यां दिशि सीदन्ति (तेभ्यः) (स्वाहा) सर्वोपकारिणीं विद्याम् (ये) (देवाः) आयुर्वेदविदः (सोमनेत्राः) सोमलतादिष्वोषधीषु नेत्रं नयनं येषां ते (उपरिसदः) ये उपरि उत्कृष्ट आसने व्यवहारे वा सीदन्ति ते (दुवस्वन्तः) दुवो बहु विद्याधर्मपरिचरणं विद्यते येषु (तेभ्यः) (स्वाहा) धर्मोपधिविद्याम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । ४ । ६ व्याख्यातः] ॥ ३६ ।

अन्वयः—हे सभाध्यक्ष राजँस्त्वं येऽग्निनेत्राः पुरःसदो देवाः सन्ति, तेभ्यः स्वाहा जुषस्व । ये यमनेत्रा दक्षिणासदो देवाः सन्ति, तेभ्यः स्वाहा जुषस्व । ये पश्चात्सदो विश्वदेवनेत्रा देवाः सन्ति, तेभ्यः स्वाहा जुषस्व । य उत्तरासदो वाऽथ ऊर्ध्वस्था मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा देवाः सन्ति, तेभ्यः स्वाहा जुषस्व । ‡ ये उपरिसदो दुवस्वन्तः सोमनेत्रा देवाः सन्ति, तेभ्यः स्वाहा जुषस्व ॥ ३६ ॥

भावार्थः—हे राजादयो मनुष्या यूयं यदा धार्मिकाः सुशीला विद्वांसो भूत्वा सर्वदिक्स्थानां सर्वविद्याविदामाप्तानां विदुषां परीक्षासत्कारार्थं सर्वा विद्याः प्राप्नुयात, तदैते भवत्समीपमागत्य युष्माभिः सह संगत्य धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं कुर्युः । ये देशदेशान्तरं द्वीपद्वीपान्तरं [च गत्वा] विद्याविनयसुशिक्षाक्रियाकौशलानि गृह्णन्ति, त एव सर्वेषां सुसुखैरलङ्कर्त्तारः स्युः ॥ ३६ ॥

मनुष्य लोग सर्वत्र घूम घाम कर विद्या ग्रहण करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे सभाध्यक्ष राजन् ! आप (ये) जो (अग्निनेत्राः) बिजुली आदि पदार्थों के ❀ विज्ञान को जाननेवाले (पुरःसदः) जो सभा वा देश में पूर्व की दिशा में स्थित (देवाः) विद्वान् हैं, (तेभ्यः) उनसे (स्वाहा) सत्य वाणी [को ग्रहण करो ।] (ये) जो (यमनेत्राः) अहिंसादि योगाङ्ग रीतियों में निपुण (दक्षिणासदः) दक्षिण दिशा में स्थित (देवाः) योगी और न्यायाधीश हैं, (तेभ्यः) उनसे (स्वाहा) सत्यक्रिया [को ग्रहण करो ।] (ये) जो (पश्चात्सदः) पश्चिम दिशा में (विश्वदेवनेत्राः) सब पृथिवी आदि पदार्थों के ज्ञाता (देवाः) सब विद्या जाननेवाले विद्वान् हैं, (तेभ्यः) उनसे (स्वाहा) † तर्क विद्या [को जानो ।] (ये) जो (उत्तरासदः) प्रश्नोत्तरों का समाधान करने वाले उत्तर दिशा में (वा) नीचे ऊपर स्थित (मित्रावरुणनेत्राः) प्राण उदान के समान सब धर्मों के बतानेवाले (वा) अथवा (मरुन्नेत्राः) ब्रह्माण्ड के वायु में नेत्र [अर्थात्] विज्ञान और (देवाः) सबको सुख देनेवाले विद्वान् हैं, (तेभ्यः) उनसे (स्वाहा) सब की उपकारक विद्या को

राज्यसाहाय्येन सम्प्रेष्य प्रगल्भज्ञानेभ्य उन्नतमस्तिष्केभ्यश्च विद्वद्भ्यः सर्वविधविज्ञानस्य संग्रहो राज्ञैव कारयितव्य इति दर्शयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(दुवस्वन्तः) दुधातोरसुन् प्रत्ययः, स च बाहुलकात् कित्, तत उवङ् । नित्त्वादाद्युदात्तः, ततो मतुप् पित्त्वादनुदात्तः ॥ यद्वा 'दुवस् परिचरणे परितापे च' कण्ड्वादिः । तानि च कण्ड्वादीनि धातवः प्रातिपदिकानि चेत्युभयं भाष्यकारसम्मतम् । ततो मतुप् । दुवस्शब्दो वृषादित्वादाद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ कूप मण्डूक की भांति एक ही स्थान पर पड़े रहने से उत्कृष्ट विद्वत्ता प्राप्त नहीं हो सकती, अतः राजा को चाहिये कि देशदेशान्तरों में योग्य पुरुषों को राज्य की सहायता से भेजकर प्रगल्भ ज्ञानवाले, उन्नत मस्तिष्क युक्त विद्वानों से सब प्रकार के विज्ञान की उपलब्धि करावें, यह दर्शाते हैं—॥३६॥

---

‡ 'ये···जुषस्व' इति पाठः क कोश उपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥
❀ 'समान जानने वाले' इति अ० मु० पाठः ॥ † 'दण्डनीति' इति अ० मु० पाठः ॥

सेवन करो। और (ये) जो (उपरिसदः) ऊँचे आसन वा व्यवहार में स्थित (दुवस्वन्तः) बहुत प्रकार से धर्म के सेवन से युक्त (सोमनेत्राः) सोम आदि ओषधियों के जानने तथा (देवाः) आयुर्वेद को जाननेहारे हैं (‡ तेभ्यः) उनसे (स्वाहा) अमृतरूपी ओषधीविद्या का सेवन कीजिये ॥ ३६ ॥

भावार्थः—हे राजा आदि मनुष्यो ! तुम लोग जब धार्मिक सुशील विद्वान् होकर, सब दिशाओं में स्थित, सब विद्याओं के जाननेवाले आप्त विद्वानों की परीक्षा और सत्कार के लिये सब विद्याओं को प्राप्त होवोगे, तब ये तुम्हारे समीप आके तुम्हारे साथ सङ्ग करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करावेंगे। जो देश देशान्तर तथा द्वीप द्वीपान्तर में जाकर विद्या, नम्रता, अच्छी शिक्षा और काम की चतुराई को ग्रहण करते हैं, वे ही सब को अच्छे सुख प्राप्त करानेवाले होते हैं ॥ ३६ ॥

अग्ने सहस्वेत्यस्य देववात ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः॥

पुनरपि राजादिभिः कथं वर्त्तितव्यमित्युपदिश्यते[2]॥

अग्ने सहस्व पृतना ऽ अभिमातीरपास्य। दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि ॥ ३७ ॥

अग्ने। ※ सहस्व। पृतनाः। अभिमातीरित्यभिऽमातीः। अप। अस्य॥ दुष्टरः। दुस्तर इति दुःऽतरः। तरन्। अरातीः। वर्चः। धाः। यज्ञवाहसीति यज्ञऽवाहसि ॥ ३७ ॥

पदार्थः—(अग्ने) सकलविद्याविद्विद्वन् राजन् ! (सहस्व) क्षमस्व (पृतनाः) बलसुशिक्षान्विता वीरमनुष्यसेनाः (अभिमातीः) अभिमानहर्षयुक्ताः (अप) दूरे (अस्य) प्रक्षिप (दुष्टरः) दुःखेन तरितुं संप्लवितुं योग्यः (तरन्) शत्रुबलं संप्लवन्[2] (अरातीः) अदानशीलान् शत्रून् (वर्चः) विद्याबलन्यायदीपनम् (धाः) धेहि (यज्ञवाहसि) यज्ञान् संगतान् राजधर्मादीन् वहन्ति यस्मिन् राज्ये तस्मिन् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५। २। ४। १६ व्याख्यातः] ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! दुष्टरस्तरँस्त्वं यज्ञवाहस्यभिमातीः ¶ पृतनाः सहस्वारातीरपास्य वर्चो धाः ॥ ३७ ॥

१ सुशिक्षितेन राज्ञा राष्ट्रोन्नत्यै किमाचरितव्यमित्याह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पृतनाः) पृतना इति मनुष्यनाम (निघ० २। ३)। पृभूभ्यां कित् (भो० उ० २। २। २०६) इति भोजीयसूत्रेण तनन्, किच्च। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(अभिमातीः) तादौ च निति कृत्यतौ (अ० ६। २। ५०) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इति प्रतिषेधादुत्सर्गसूत्रेणाभ्यन्तोदात्तः। ततो द्वितीयाबहुवचनम् ॥

(दुष्टरः) ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (अ० ३। ३। १२६) इति खल्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे लित्स्वरः ॥

(यज्ञवाहसि) गतिकारकयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (उ० ४। २२७) इति 'असिः', पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं, बाहुलकात् णित्वं च। यज्ञशब्दो नङ्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ अत्र पूर्वं यजु० ९। १५ टिप्पणी द्रष्टव्या ॥

‡ '(तेभ्यः)' इति पाठः क. कोशे सन्नपि अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

※ 'सहस्व' इति स्वररहितोऽपपाठः अ० मु० ॥

¶ 'पृतनाः सहस्वारातीः' इति पाठः कोशे उपलभ्यमानोऽपि अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

भावार्थः—राजादयः सभासेना [ध्यक्षा] दयः स्वकीयेन दृढेन विद्यासुशिक्षायुक्तेन धृतेन सैन्येन सहिताः स्वयमजयाः सन्तः शत्रून् विजयमानाः पृथिव्यां कीर्तिं प्रसारयेयुः ॥ ३७ ॥

फिर भी राजा आदि किस प्रकार वर्त्तें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (अग्ने) सब विद्या जाननेवाले विद्वान् राजन्! (दुष्टरः) दुःख से तरने योग्य (तरन्) शत्रुसेना ‡ पर विजय प्राप्त करते हुए आप (यज्ञवाहसि) † राजधर्म युक्त राज्य में (अभिमातीः) अभिमान [तथा] आनन्द युक्त (पृतनाः) बल और अच्छी शिक्षायुक्त वीरसेना को (सहस्व) सहो (अरातीः) दुःख देनेवाले शत्रुओं को (अपास्य) दूर निकालिये और (वर्चः) विद्या बल और न्याय को (धाः) धारण कीजिये ॥ ३७ ॥

भावार्थः—राजादि सभा [तथा] सेना के स्वामी लोग अपनी दृढ़ विद्या और अच्छी शिक्षा से युक्त () [दृढ़] सेना से स्वयं अजय होकर शत्रुओं को जीतते हुए भूमि पर उत्तम यश का विस्तार करें ॥ ३७ ॥

देवस्य त्वेत्यस्य देवव्रात ऋषिः । रक्षोघ्नो देवता । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

प्रजाजना इह कीदृशं सभाधीशं राजानं स्वीकुर्युरित्याह[2] ॥

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् । उ॒पा॒ꣳशोर्वी॒र्ये॑ण जु॒हो॒मि ह॒तꣳ रक्षः॒ स्वाहा॒ रक्ष॑सां त्वा व॒धाया॒व॑धिष्म॒ रक्षो॒ऽव॑धिष्मा॒मुम॒सौ ह॒तः ॥ ३८ ॥

१ उत्तम शिक्षा को प्राप्त राजा राष्ट्र की उन्नति के लिये क्या २ आचरण करे, सो बतलाते हैं—॥३७॥

२ यः प्रजारक्षणे, दुष्टानां विनाशने, विद्याधर्मेषु च निष्ठावान् स्यात् स एवाध्यक्षत्वेन स्वीकर्तव्य इति दर्शयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उपांशोः) गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९) इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्रत्ययस्वरः । अंशुशब्दः 'अंश विभाजने' इति चौरादिकात् कुप्रत्यये पूर्वं (यजु० ५ । ७ पृ० ४३८) व्याख्यातः ॥ इदमपरमत्रानुसन्धेयम्—अत्रैव भाष्ये पूर्वं (यजु० ७।२६ भाष्ये पृ० ९१८) शब्दोऽयं 'अम् धातोरुः प्रत्ययः शकारागमश्च' इति व्याख्यातः । अस्मिन् मन्त्रभाष्ये तु 'अत्रानधातोरुः शुगागमश्च' इति व्याख्यायते । तदेतत् सर्वमपि प्रमाणं बह्वर्थगामित्वाद् वैदिकानां शब्दानाम् । तथा चोक्तम्—

"अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु ।
बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते ॥"

वाक्यपदीय २ । १७१ ॥

विवृतं चैतत् स्वयमेव भर्तृहरिणा—"अनेकशक्तियुक्तेऽर्थे या काचिन्निमित्तभावेनाश्रीयमाणा शक्तिः साधुत्वान्वाख्यानेऽङ्गत्वं प्रतिपद्यते । तद्यथा 'वुल्लदितनिताडिभ्य उलच् तण्डश्च' (उणादि०

‡ 'शत्रुसेना को अच्छे प्रकार तरते हुये' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
† 'जिसमें राजधर्म युक्त' इति अ० मुद्रितपाठः ॥
() 'शिक्षा से युक्त सेना से सहित आप अजय और' इति अ० मुद्रितपाठः ॥

देवस्य॑ । त्वा । स॒वि॒तुः । प्र॒स॒व इति॑ प्रऽस॒वे । अ॒श्विनोः॑ ।+ बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुऽभ्या॑म् । पू॒ष्णः । हस्ता॑भ्याम् ॥ × उ॒पा॒ꣳशोरित्यु॑प ऽ अ॒ꣳशोः । वी॒र्ये॑ण । जु॒हो॒मि॒ । ह॒तम् । रक्षः॑ । स्वाहा॑ । रक्ष॑साम् । त्वा॒ ।† व॒धाय॑ । अव॑धिष्म । रक्षः॑ । ‡ अव॑धिष्म । अ॒मुम् । अ॒सौ । ह॒तः ॥ ३८ ॥

पदार्थः—(देवस्य) प्रकाशितन्यायस्य (त्वा) त्वाम् (सवितु) ऐश्वर्योत्पादकस्य सेनेशस्य (प्रसवे) ऐश्वर्ये (अश्विनोः) सूर्य्याचन्द्रमसोरिव सभासेनापत्योः (बाहुभ्याम्) (पूष्णः) पुष्टिकर्त्तु-र्वैद्यस्य (हस्ताभ्याम्) (उपांशोः) उप समीपेऽनिति तस्य, अत्रानधातोरुः शुगागमश्च (वीर्य्येण) सामर्थ्ये (जुहोमि) गृह्णामि (हतम्) विनष्टम् (रक्षः) राक्षसम्, रक्षो रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षत इति वा । निरु० ४ । १८ (स्वाहा) सत्यया क्रियया (रक्षसाम्) दुष्टानाम् (त्वा) त्वाम् (वधाय) विनाशाय (अवधिष्म) हन्याम (रक्षः) दुष्टाचारम् (अवधिष्म) ‡ ताडयेम (अमुम्) परोक्षम् (असौ) दूरस्थः (हथः) विनष्टः ।, [अयं मन्त्रः शत० ५ । २ । ४ । १७–२० व्याख्यातः]॥३८॥

अन्वयः—हे राजन्नहं स्वाहा सवितुर्देवस्य प्रसव उपांशोर्वीर्य्येणाश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां रक्षसां वधाय त्वा जुहोमि, यथा त्वया रक्षो हतं, तथा वयमप्यवधिष्म । यथासौ [रक्षः] हतः स्यात् तथा वय [ममु] मेतमवधिष्म ॐ ॥ ३८ ॥

भावार्थः—प्रजाजनाः स्वरक्षणाय दुष्टनिवारणाय विद्याधर्मप्रवृत्तये च सुशीलं ❀ विद्याधर्मप्रचारकं वीरपुरुषं जितेन्द्रियं सत्यवादिनं सभाध्यक्षं राजानं स्वीकुर्य्युः ॥ ३८ ॥

प्रजा जन राज्य में कैसे सभाधीश को स्वीकार करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे राजन् ! मैं (स्वाहा) सत्यक्रिया से (सवितुः) ऐश्वर्य्य के उत्पन्न करनेवाले (देवस्य) प्रकाशित न्याययुक्त [सेनापति के] (प्रसवे) ऐश्वर्य्य में (उपांशोः) समीपस्थ सेना के (वीर्य्येण) सामर्थ्य से (अश्विनोः) सूर्य्यचन्द्रमा के समान [सभापति और] सेनापति के (बाहुभ्याम्) भुजाओं से (पूष्णः) पुष्टिकारक वैद्य के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (रक्षसाम्) राक्षसों के (वधाय) नाश के अर्थ (त्वा) आपको (जुहोमि) ग्रहण करता हूं, जैसे तूने (रक्षः) दुष्ट को (हतम्) नष्ट किया, वैसे हम लोग भी दुष्ट को (अवधिष्म) मारें जैसे (असौ) वह [(रक्षः)] दुष्ट (हतः) नष्ट हो जाय, वैसे हम लोग [(अमुम्)] इन सब को (अवधिष्म) नष्ट करें ॥ ३८ ॥

५।९) । शक्यो ह्यन्येभ्योऽपि धातुभ्यः शब्दव्युत्पत्ति-कर्मण्युलच् प्रत्ययो विधातुं तण्डादेशं च कर्तुमिति"॥

अपि चोक्तम्—

कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः ।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ॥ १७५ ॥

(अवधिष्म) भिन्नवाक्यत्वान्निघाताभावेऽद्स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 जो प्रजा के पालन में, दुष्टों के नाश तथा विद्या और धर्म में निष्ठावान् हो, वही अध्यक्षरूप में स्वीकार करने के योग्य होता है, यह दर्शाते हैं— ॥ ३८ ॥

\+ 'बा॒हुभ्या॒मिति॑ बा॒हुभ्या॑म्' इत्यपपाठः अ० मु० ॥ × 'उ॒पा॒ꣳशोरित्यु॑प अ॒ꣳशोः' इत्यपपाठः अ० मु० ॥

† 'व॒धाय॑, अव॑धिष्म' इति पवर्गीयोऽपपाठः अ० मु० ॥

‡ 'ताडये' इति अ० मु० अपपाठः । 'ताडयेम' इति हस्तलेखपाठः ॥

ॐ अत्रान्वये भाषापदार्थे च मन्त्रगतमेकं 'त्वा' पदं त्यक्तम्, तच्चास्मिन्नन्वये न क्वचिदन्वेति ॥

❀ 'विद्याधर्म...सभाध्यक्षं इति पाठः अ० मुद्रिते त्यक्तः, कोश उपलभ्यमानत्वात् ॥

भावार्थः—प्रजाजनों को चाहिये कि अपने बचाव और दुष्टों के निवारणार्थ विद्या और धर्म की प्रवृत्ति के लिये अच्छे स्वभाव विद्या और धर्म के प्रचार करनेहारे वीर जितेन्द्रिय सत्यवादी सभा के स्वामी राजा का स्वीकार करें ॥ ३८ ॥

सविता त्वेत्यस्य देववात ऋषिः । रक्षोघ्नो देवता । अतिजगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

सभ्यैर्मनुष्यै राजा क क्व प्रेरयितव्य इत्याह[1] ॥

सुविता त्वा सुवानाᳬं सुवतामुग्निर्गृहपतीनाᳬं सोमो वनस्पतीनाम् ।
बृहस्पतिर्वाचऽइन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पुशुभ्यो मित्रः सुत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् ॥ ३९ ॥

सुविता । त्वा । सुवानाम् । सुवताम् । अग्निः । गृहपतीनामिति गृहऽपतीनाम् । सोमः । वनस्पतीनाम् ॥ बृहस्पतिः । वाचे । इन्द्रः । ज्यैष्ठ्याय । रुद्रः । पशुभ्य इति पशुऽभ्यः । मित्रः । सत्यः । वरुणः । धर्मपतीनामिति धर्मऽपतीनाम् ॥ ३९ ॥

पदार्थः—(सविता) ऐश्वर्य्यस्य प्रसविता (त्वा) त्वाम् (सवानाम्) ऐश्वर्य्याणाम् (सुवताम्) प्रेरताम्, अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् (अग्निः[3]) प्रकाशयुक्तः (गृहपतीनाम्) गृहाऽश्रमपालकानाम् (सोमः) सोम्यगुणसंपन्नो वैद्यकविषय ओषधीराजः (वनस्पतीनाम्) पिप्पलादीनाम्[4] (बृहस्पतिः[5]) पूर्णविद्य आप्तः (वाचे) वेदाऽर्थसुशिक्षायुक्तवाणीविज्ञानाय (इन्द्रः) परमैश्वर्य्ययोगारूढो वृद्धः (ज्यैष्ठ्याय) अतिशयेन वृद्धस्य भावाय (रुद्रः) शत्रूणां रोदयिता शूरवीरः (पशुभ्यः) गवादीनाम् (मित्रः) सर्वस्य सुहृत् (सत्यः) सत्पुरुषेषु भवः (वरुणः) धर्म्माऽऽचरणेन श्रेष्ठः (धर्मपतीनाम्) धर्मस्य रक्षितॄणाम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ३ । १० व्याख्यातः] ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हे सभेश राजन् ! यस्त्वं सवानां सवितेव गृहपतीनामग्निरिव वनस्पतीनां सोम इव धर्मपतीनां सत्यो वरुणो मित्र इव वाचे बृहस्पतिरिव ज्यैष्ठ्यायेन्द्र इव पशुभ्यः, रुद्र इवासि, तं त्वाम् उपदेष्टा प्रजापालने सुवताम् ॥ ३९ ॥

[अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ॥]

भावार्थः—हे राजँस्त्वं ये त्वामधर्मान्निवर्त्त्य धर्म्माऽनुष्ठाने प्रेरयेयुस्तेषामेव सङ्गं सदा कुरु, नेतरेषाम् ॥ ३९ ॥

---

१ आप्तजनानां विदुषामाश्रयेण राष्ट्रस्योन्नतेः सम्भव इति प्रकारान्तरेण दर्शयन्नाह—

२ सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः ॥ तै० २ । ५ । ७ । ४ ॥

३ अग्निर्वै ज्योती रक्षोहा ॥ श० ७ । ४ । १ । ३४ ॥ य० १०३ अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता ॥ श० १ । २ । १ । ६ ॥

४ अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः (मनु)॥

५ यदस्यै वाचो बृहत्यै पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः ॥ जै० उ० २ । २ । ५ ॥

सभ्य मनुष्य राजा को किस २ विषय में प्रेरणा करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे सभापते राजन्! जो तू (सवानाम्) ऐश्वर्यों के (सविता) सूर्य के समान प्रेरक (गृहपतीनाम्) गृहस्थों के उपकारक (अग्निः) पावक के सदृश (वनस्पतीनाम्) पीपल आदि वृक्षों में (सोमः) सोमवल्ली के सदृश (धर्मपतीनाम्) धर्म के पालनेहारों के मध्य में (सत्यः) सज्जनों में सज्जन (वरुणः) शुभगुण कर्मों में श्रेष्ठ (मित्रः) सखा के तुल्य (वाचे) वेदवाणी के लिये (बृहस्पतिः) महाविद्वान् के सदृश (ज्यैष्ठ्याय) श्रेष्ठता के लिये (इन्द्रः) परमैश्वर्य्य से युक्त के तुल्य (पशुभ्यः) गौआदि पशुओं के लिये (रुद्रः) शुद्ध वायु के सदृश है, उस (त्वा) तुझ को धर्मात्मा सत्यवादी विद्वान् धर्म से प्रजा की रक्षा में (सुवताम्) प्रेरणा करे ॥ ३९ ॥

[यहाँ लुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—हे राजन्! जो आप को अधर्म से हटाकर धर्म के अनुष्ठान में प्रेरणा करें, इन्हीं का सङ्ग सदा करो, औरों का नहीं ॥ ३९ ॥

इमं देवा इत्यस्य देववात ऋषिः। यजमानो देवता। * स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

कस्मै कस्मै प्रयोजनाय कथंभूतो राजा स्वीकार्य्य इत्याह[2] ॥

इमं देवाऽ असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश ऽ एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ ४० ॥

इमम्। देवाः। असपत्नम्। सुवध्वम्। महते। क्षत्राय। महते। ज्यैष्ठ्याय। महते। जानराज्यायेति जानऽराज्याय। इन्द्रस्य। इन्द्रियाय ॥ इमम्। अमुष्य। पुत्रम्। अमुष्यै। पुत्रम्। अस्यै। विशे। एषः। वः। अमीऽइत्यमी। राजा। सोमः। अस्माकम्। ब्राह्मणानाम्। राजा ॥ ४० ॥

पदार्थः—(इमम्) समक्षे वर्त्तमानम् (देवाः) धार्मिका विद्वांसः (असपत्नम्) अजातशत्रुम् (सुवध्वम्) निष्पादयत (महते) महागुणविशिष्टाय (क्षत्राय) क्षत्रियाणां पालनाय (महते) (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठत्वाय (महते) (जानराज्याय) † जनानां राजसु भावाय (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य पुरुषस्य (इन्द्रियाय) धनाय (इमम्) (अमुष्य) प्रतिष्ठितस्य धार्मिकस्य विदुषः सन्तानम् (अमुष्यै)

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठशब्दः पूर्वं यजुः ७। १२ व्याख्यातः। ततो गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (अ० ५।१।१२४) इति भावे ष्यञ्। नित्स्वरः ॥

(धर्मपतीनाम्) पत्यावैश्वर्ये (अ० ६। २। १८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे धर्मशब्दो मन्प्रत्ययान्त आद्युदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] आप्त विद्वानों के आश्रय से ही राष्ट्र की उन्नति हो सकती है, यह प्रकारान्तर से दर्शाते हैं—॥ ३९ ॥

[2] सर्वगुणसम्पन्नः सर्वश्रेष्ठतमो धार्मिको विद्वान् राजा भवेद् इत्युपसंहरन्नाह—

[3] 'इन्द्रियम्' इति धननामसु ॥ निघ० २। १० ॥

* 'भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः' इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः ॥

† कदाचिदत्र जनानां राजा जनराजः, तस्य भावे जानराज्यं तस्मै इति स्यात् ॥

अमुष्या धार्मिकाया विदुष्याः (पुत्रम्) पवित्रमपत्यम् (अस्यै) वर्त्तमानायाः (विशे) प्रजायाः (एषः) सर्वैः स्वीकृतः (वः) युष्माकं क्षत्रियादीनाम् (अमी) परोक्षे वर्त्तमानाः (राजा) न्यायप्रकाशकः (सोमः) सोम इव प्रजासु वर्त्तमानः (अस्माकम्) (ब्राह्मणानाम्[1]) ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वेदचतुष्टयस्य वा सेवकानाम् (राजा) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ३ । ११ व्याख्यातः] ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे प्रजास्था देवा यूयं य ‡ एष सोमो वोऽस्माकं च ब्राह्मणानां राजा येऽमी परोक्षे वर्त्तन्ते तेषाञ्च राजाऽस्ति, तमिममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश इममेव महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियायाऽसपत्नं सुवध्वम् ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे राजप्रजाजना यो विद्वद्भ्यां मातापितृभ्यां सुशिक्षितः कुलीनो महागुणकर्मस्वभावो जितेन्द्रियत्वादिगुणयुक्तः सेवितोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यविद्यासुशिक्षः पूर्णशरीरात्मबलः प्रजापालनप्रियो विद्वानस्ति तं सभाध्यक्षं राजानं कृत्वा साम्राज्यं सेवध्वम् ॥ ४० ॥

अस्मिन्नध्याये राजधर्मवर्णनादेतदर्थस्य पूर्वाध्यायार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति जानन्तु ॥

[इति श्रीयुतपरिव्राजकाचार्य्यमहाविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्विते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये नवमोऽध्यायः समाप्तिं गतः ॥ ९ ॥]
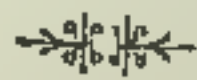
किस किस प्रयोजन के लिये कैसे राजा का स्वीकार करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे प्रजास्थ (देवाः) विद्वान् लोगो ! तुम जो (एषः) यह (सोमः) चन्द्रमा के समान प्रजा में प्रियरूप (वः) तुम क्षत्रियादि और [(अस्माकम्)] हम [(ब्राह्मणानाम्)] ब्राह्मणादि [का (राजा) राजा है,] और जो (अमी) परोक्ष में वर्त्तमान हैं, उन सब का [(राजा)] राजा है, उसको (इमम्) इस

[1] ब्राह्मणो वा उपद्रष्टा ॥ गो० उ० २ । १९ ॥

तद्वयेव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद् ब्रह्मवर्चसी स्यादिति ॥ श० १ । ९ । ३ । १६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(असपत्नम्) नञ्सुभ्याम् (अ० ६ । २ । १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ॥

(महते) महच्छब्दो वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महत्० (उ० २ । ८४) अतिप्रत्ययान्तो निपात्यते । बृहन्महतोरुपसंख्यानम् (अ० ६ । १ । १७३ भा० वा०) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(जानराज्याय) जनराजशब्दाद् ब्राह्मणादित्वाद् (अ० ५ । १ । १२४) भावे ष्यञ् । ञित्त्वादादिवृद्धिराद्युदात्तत्वं च ॥

(अमुष्यै) अदस्शब्दः प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः । ततो विभक्तिरनुदात्ता ॥

(ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मण इमे सेवकाः तस्येदम् (अ० ४ । ३ । १२०) इत्यण् ब्राह्मोऽजातौ (अ० ६ । ४ । १७१) इति जातौ पर्युदासाट्टिलोपाभावः ॥

अत्रेदं बोध्यम्—अस्मिन् सूत्रे प्रयुक्तो जातिशब्दो गुणवृद्धिशब्दादिवत् पारिभाषिकः (अस्य पारिभाषिकोऽर्थो अ० ४ । १ । ६३ भाष्ये द्रष्टव्यः), न लौकिकः, तेन ब्राह्मणादीनां जातित्वमप्रसक्तमिति ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[2] सब गुणों से सम्पन्न, सब से श्रेष्ठ तथा धार्मिक और विद्वान् ही राजा हो, यह उपसंहार में कहते हैं—

‡ 'त एष' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः, 'य एष' इति हस्तलेखे दर्शनात् ॥

(अमुष्य) उस उत्तम पुरुष के (पुत्रम्) पुत्र (अमुष्यै) उस विद्यादि गुणों से श्रेष्ठ धर्मात्मा विदुषी स्त्री के [(पुत्रम्)] पुत्र को (अस्यै) इस (विशे) † प्रजा के ‡ (इमम्) इसी पुरुष को [(महते) महागुणों से युक्त (क्षत्राय) क्षत्रियों के पालन के लिये](महते) बड़े (ज्यैष्ठ्याय) प्रशंसा के योग्य (महते) बड़े (जानराज्याय) धार्मिक जनों के राज्य करने [और] (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्य युक्त के (इन्द्रियाय) धन के वास्ते (असपत्नम्) शत्रुरहित (सुवध्वम्) कीजिये ॥ ४० ॥

भावार्थः—हे राजा और प्रजा के मनुष्यो ! तुम जो विद्वान् माता और पिता से अच्छे प्रकार सुशिक्षित, कुलीन, बड़े उत्तम २ गुण कर्म और स्वभाव युक्त, जितेन्द्रियादि गुण युक्त, ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य से पूर्ण विद्या से सुशील, शरीर और आत्मा के पूर्ण बल युक्त, धर्म से प्रजा का पालक, प्रेमी, विद्वान् हो, उसको सभापति राजा मान कर चक्रवर्त्तिराज्य का सेवन करो ॥ ४० ॥

इस अध्याय में राजधर्म्म के वर्णन से इस अर्थ की पूर्व अध्याय के अर्थ के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना
निर्मिते संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
नवमोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥ ९ ॥

इति नवमोऽध्यायः

† 'प्रजा के लिए' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः । स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥
‡ '(इमम्)' इति अ० मु० नास्ति । ग कोशे तु 'इममेव' इति पाठः ॥

अथ दशमोऽध्यायारम्भः ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

अपो देवा इत्यस्य वरुण ऋषिः । आपो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

अथ मनुष्यैर्विदुषामनुकरणेन पदार्थेभ्य उपयोगो ग्राह्य इत्याह[1] ॥

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः ।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः ॥ १ ॥

अपः । देवाः । मधुमतीरिति मधुऽमतीः । अगृभ्णन् । ऊर्जस्वतीः । राजस्व इति राजऽस्वः । चितानाः ॥ याभिः । मित्रावरुणौ । अभि । असिञ्चन् । याभिः । इन्द्रम् । अनयन् । अति । अरातीः ॥ १ ॥

पदार्थः—(अपः[2]) जलानि प्राणान् वा (देवाः) विद्वांसः (मधुमतीः) प्रशस्तमधुरादिगुणयुक्ताः (अगृभ्णन्) गृह्णीत (ऊर्जस्वतीः) बलपराक्रमप्रदाः (राजस्वः) राजजनिकाः (चितानाः) संज्ञाकारिण्यः, अत्र विकरणलुग् व्यत्ययेनात्मनेपदं च (याभिः) (मित्रावरुणौ) प्राणोदानौ[3] (अभि) (असिञ्चन्) सिञ्चन्ति (याभिः) क्रियाभिः (इन्द्रम्) विद्युतम्[4] (अनयन्) प्राप्नुवन्ति (अति) (अरातीः) शत्रून् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ४ । २, ३ व्याख्यातः] ॥ १ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं विचश्चितो देवा याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमरातीश्चानयन् ताभिर्मधुमतीरूर्जस्वतीश्चिताना राजस्वोऽपोऽगृभ्णन् गृह्णीत ※ ॥ १ ॥

---

१ "सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥" इति मनुवचनात्, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति (निरु० १ । १६) इति यास्कवचनप्रामाण्याच्च विद्वांस एव सर्वलोकनायका भवितुं क्षमाः । ते च प्रजावत्सलाः, प्राणिमात्रहिते रताः, देशकालपरिस्थित्यभिज्ञाः, समासादितस्थिरसमाश्रयाः, निरस्तसमस्ताश्रयाः, निरुद्धान्तःकरणवृत्तयः, निष्कम्पदीपकल्पाः सन्त एव सर्वविधशिक्षाविज्ञानादिविस्तरे सर्वविधा अपि राज्यव्यवस्थाः संचालयितुं समर्था इति पूर्वाध्यायप्रसक्तमेव विदुषां माहात्म्यं वर्णयति, तत्र च विदुषामेवानुगमनेन सुखसम्भव इति दर्शयन्नाह—

२ आपो वै प्राणः ॥ श० ३ । ८ । २ । ४ ॥
प्राणो ह्यापः ॥ जै० उ० ३ । १० । ९ ॥

३ प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ ॥ श० १ । ८ । ३ । १२ ॥

४ यदशनिरिन्द्रस्तेन ॥कौ० ६ । ९ ॥
स्तनयित्नुरेवेन्द्रः ॥ श० ११ । ६ । ३ । ९ ॥

※ अत्र संस्कृतान्वये भाषापदार्थे च 'अति' इति मन्त्रगतं पदं त्यक्तम् । तच्च न क्वचिदन्वेतीति ध्येयम् ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्विद्वत्सहायेनापः सुपरीक्ष्योपयुज्यन्ताम् । शत्रून् निवर्त्य प्रजया सह प्राणवत् प्रियत्वे वर्त्तितव्यमाभ्य उपकारो नेयः ॥ १ ॥

इसके पश्चात् इस दशवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में † मनुष्यों को चाहिये कि पदार्थों से विद्वानों के सदृश उपयोग लेवें, इस विषय का उपदेश किया है[१] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! तुम लोग (देवाः) चतुर विद्वान् लोग (याभिः) जिन क्रियाओं से (मित्रावरुणौ) प्राण तथा उदान को (अभ्यसिञ्चन्) सब प्रकार सींचते और [(याभिः)] जिन क्रियाओं से (इन्द्रम्) विजुली को प्राप्त और (अरातीः) शत्रुओं को (अनयन्) जीतते हैं, उन क्रियाओं से (मधुमतीः) प्रशंसनीय मधुरादि गुणयुक्त (ऊर्जस्वतीः) बल पराक्रम बढ़ाने (चितानाः) चेतनता देने और (राजस्वः) ज्ञान प्रकाश युक्त राज्य को प्राप्त करानेहारे (अपः) जल वा प्राणों को (अगृभ्णन्) ग्रहण करो ॥ १ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के सहाय से जल वा प्राणों की परीक्षा करके उनसे उपयोग लेवें । शत्रुओं को निवृत्त करके प्रजा के साथ प्राणों के समान प्रीति से वर्त्तें, और इन जल तथा प्राणों से उपकार लेवें ॥ १ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अपः) ऊडिदंपदा० (अ० ६ । १ । १७१) इति विभक्त्युदात्तत्वम् ॥

(राजस्वः) राजानं सूत इति राजसूः, क्विप् च (अ० ३ । २ । ७६) इति क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ततो जस्यनुदात्तत्वे यणादेशे च उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (अ० ८ । २ । ४) इति जसः स्वरितत्वम् ॥

(चितानाः) विकरणलुकि शानचश्चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसो धातुस्वरः । यद्वा विकरणलुगभावे लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सुगभावगुणाभावौ छान्दसौ द्रष्टव्यौ । सर्वथाऽपि कार्यत्रयं छान्दसमेवैषितव्यं भवति ॥

अत्र तु भट्टभास्करः—"चिती संचेतने चुरादिरनुदात्तेत् । बहुलमन्यत्रापि० (उ० २ । २३ श्वे०वृ०) इति णिलुक्, बहुलं छन्दसि (अ० २ । ४ । ७३) इति शपो लुक्, लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः" इत्याह ॥ (तै० सं० १ । ८ । ११ । २० भाष्ये भाग ३ पृ० १६२) । अस्मिन् पक्षे कार्यद्वयमेव छान्दसमाश्रयितव्यं भवति ॥

(असिञ्चन्) (अनयन्) यद्वृत्तान्नित्यम् (अ० ८ । १ । ६६) इति निघाताभावेऽट्स्वरः ॥

(अरातीः) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यव्ययस्वरः । तस्माच्छसो नः पुंसि (अ० ६ । १ । १०३) इति नत्वाभावश्छान्दसः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ "सेना का संचालन, राज्य का शासन, दण्ड की व्यवस्था तथा प्रजा का सब प्रकार का नियन्त्रणादि वेद शास्त्र का ज्ञाता कर सकता है" (मनु०) । महर्षि मनु के इस वचन, तथा 'वेदशास्त्र के ज्ञाताओं में भी बहुश्रुत ही उत्कृष्ट होता है' (निरु० १।१६) यास्क मुनि के इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि विद्वान् ही सबके नेता हो सकते हैं । वे विद्वान् प्राणिमात्र के हितचिन्तक, देश काल परिस्थितियों के विज्ञ, स्थिरसमाधियुक्त, सब क्लेशों से रहित, अन्तःकरण की वृत्तियों के वशीकर्त्ता, निर्द्वन्द्व प्रकाश के समान वर्त्तमान होते हुए ही सब प्रकार की शिक्षा और विज्ञान आदि के विस्तार तथा राज्य की सब प्रकार की व्यवस्थायें संचालन करने में समर्थ होते हैं, अतः पूर्वाध्याय से प्रसङ्ग प्राप्त विद्वानों की महिमा का वर्णन करते हैं—

विद्वानों के अनुगामी बनने से ही सुख हो सकता है, सो दर्शाते हैं—

† 'मनुष्य लोग विद्वानों के अनुकूल चलें' इति अ० मुद्रिते ग० कोशे चापपाठः, क० कोशे सम्यगुपलभ्यमानत्वात् ॥

वृष्ण ऊर्मिरित्यस्य वरुण ऋषिः । वृषा देवता । स्वराड्ब्राह्मी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

अथ विद्वांसः कीदृशं राजानं प्रति किं किं याचेरन्नित्याह[1] ॥

वृष्णं ऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्णं ऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥

वृष्णः । ऊर्मिः । † असि । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । ॐ राष्ट्रम् । मे । देहि । स्वाहा । वृष्णः । ऊर्मिः । असि । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । देहि । वृषसेन इति ‡ वृषऽसेनः । असि । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । देहि । स्वाहा । वृषसेन इति वृषऽसेनः । असि । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । देहि ॥ २ ॥

पदार्थः—(वृष्णः) सुखवर्षकस्य विज्ञानस्य (ऊर्मिः) प्रापकः, अर्त्तेरूच्च, उ० ४ । ४४ इति ऋधातोर्मिः (असि) (राष्ट्रदाः) राष्ट्रं ददातीति (राष्ट्रम्) राज्यम् (मे) मह्यम् (देहि) (स्वाहा) सत्यया नीत्या (वृष्णः) सुखवर्षकस्य राज्यस्य (ऊर्मिः) ज्ञाता (असि) (राष्ट्रदाः) राज्यप्रदाः (राष्ट्रम्) न्यायप्रकाशितम् (अमुष्मै) राज्यपालकाय (देहि) (वृषसेनः) वृषा बलयुक्ता सेना यस्य सः (असि) (राष्ट्रदाः) राज्ञां कर्मप्रदाः (राष्ट्रम्) राज्यम् (मे) प्रत्यक्षाय मह्यम् (देहि) (स्वाहा) सुष्ठुवाचा (वृषसेनः) हृष्टपुष्टसेनः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) परोक्षाय जनाय (देहि) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ४ । ५, ६ व्याख्यातः] ॥ २ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! यतस्त्वं वृष्ण ऊर्मी राष्ट्रदा असि तस्मान्मे स्वाहा राष्ट्रं देहि । वृष्ण ऊर्मी राष्ट्रदा असि, अमुष्मै राष्ट्रं देहि । राष्ट्रदा वृषसेनोऽसि *मे स्वाहा राष्ट्रं देहि । राष्ट्रदा वृषसेनोऽसि त्वममुष्मै राष्ट्रं देहि ॥ २ ॥

भावार्थः—यो मनुष्यो दुष्टान् जित्वा, प्रत्यक्षाप्रत्यक्षान् श्रेष्ठान् सत्कृत्य राज्याधिकारं राज्यश्रियं ददाति, स चक्रवर्त्ती भवितुं योग्यो जायते ॥ २ ॥

अब विद्वान् लोग कैसे राजा से क्या २ मांगें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे राजन् ! जिस कारण आप (वृष्णः) सुख के वर्षाकारक ज्ञान के [(ऊर्मिः)] प्राप्त कराने (राष्ट्रदाः) राज्य के देनेहारे (असि) हैं, इससे (मे) मुझे (स्वाहा) सत्य नीति से (राष्ट्रम्) राज्य

---

१ विदुषां स्वीकृत्यैव राजा राजकर्मणि नियुक्तो भवेन्नान्यथेति बोधयति—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(राष्ट्रम्) पूर्वत्र यजु० ९।२३ पृ० ७९२ व्याख्यातः॥

(राष्ट्रदाः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(वृषसेनः) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते परान्तश्चापि दृश्यते (अ० ६ । २ । १९९ भा० वा०) इति छान्दसत्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ राजा विद्वानों की स्वीकृति से ही राजकर्म में नियुक्त होना चाहिये, यह दर्शाते हैं—

---

† 'असि' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ ॐ 'राष्ट्रम्' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

‡ 'वृषसेनः' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ * 'मे' इति हस्तलेखपाठो अजमेरमुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

को (देहि) दीजिये । (वृष्णः) सुख की वृष्टि करनेवाले राज्य के (ऊर्मिः) जानने और (राष्ट्रदाः) राज्य प्रदान करनेहारे (असि) हैं, (अमुष्मै) उस राज्य की रक्षा करनेवाले को (राष्ट्रम्) न्याय से प्रकाशित राज्य को (देहि) दीजिये । (राष्ट्रदाः) राजाओं के कर्मों के देनेहारे (वृषसेनः) बलवान् सेना से युक्त (असि) हैं, (मे) प्रत्यक्ष वर्त्तमान मेरे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये । तथा (राष्ट्रदाः) प्रत्यक्ष राज्य को देने वाले (वृषसेनः) आनन्दित पुष्ट सेना से युक्त (असि) हैं, इससे आप (अमुष्मै) उस परोक्ष पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये ॥ २ ॥

भावार्थः—जो × पुरुष दुष्ट प्राणियों को जीत, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रेष्ठ पुरुषों का सत्कार करके राज्य के अधिकार और शोभा [=सम्मान] को देता है, {} वही चक्रवर्त्ती राजा होने के योग्य है ॥ २ ॥

अर्थेत इत्यस्य वरुण ऋषिः । अपांपतिर्देवता । पूर्वस्याभिकृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ।
देहीत्यस्य निचृज्जगती छन्दः । निषादः स्वरः[1] ॥

पुना राजाऽमात्यसेनाप्रजाजनाः परस्परं कथं वर्त्तेरन्नित्युपदिश्यते[2] ॥

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहार्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ ३ ॥

अर्थेत इत्यर्थऽइतः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । अर्थेत इत्यर्थऽइतः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । ओजस्वतीः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । ओजस्वतीः । स्थ । राष्ट्रदा इति ❀ राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । आपः । परिवाहिणीः । परिवाहिनीरिति परिऽवाहिनीः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । आपः । परिवाहिणीः । परिवाहिनीरिति परिऽवाहिनीः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । अपाम् । पतिः । असि । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । देहि । स्वाहा । अपाम् । पतिः । असि । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । देहि । अपाम् । गर्भः । असि । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । देहि । स्वाहा । अपाम् । गर्भः । असि । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । देहि ॥ ३ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अर्थेतः) अर्थोपपदादेतेः क्विप्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणेकारोदात्तत्वे एकादेश उदात्तेनोदात्तः

१ पक्षान्तरे तु धैवतः स्वरः ॥

२ परस्परं प्रीतिमन्तरा न किमपि कर्म राज्ये सुखावहमिति तत्प्रकारमुपवर्णयन्नाह—

× 'जो राजपुरुष' इति अजमेरमुद्रिते पाठः । स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥

{} 'उसके लिये चक्रवर्ती राज्य का अधिकार होना योग्य है' इति अजमेरमुद्रिते पाठः ॥

❀ 'राष्ट्रऽदा' इति स्वररहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(अर्थेतः) येऽर्थं यन्ति (स्थ) भवत (राष्ट्रदाः) राज्यप्रदाः सभासदः (राष्ट्रम्) राज्यम् (मे) मह्यम् (दत्त) (स्वाहा) सत्यया वाचा (अर्थेतः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (ओजस्वतीः) विद्यावलपराक्रमयुक्ता राजस्त्रियः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) मह्यम् (दत्त) (स्वाहा) न्याययुक्तया नीत्या (ओजस्वतीः) जितेन्द्रियाः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) ❀ (आपः) जलप्राणवत् प्रियाः (परिवाहिणीः) स्वसदृशान् पतीन् परिवोढुं शीलाः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) विनययुक्तया वाण्या (आपः) (परिवाहिणीः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (अपाम्) पूर्वोक्तानाम् (पतिः) पालकः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (देहि) (स्वाहा) प्रियया वाचा (अपाम्) प्राणानाम् (पतिः) रक्षकः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (देहि) (अपाम्) (गर्भः) अन्तर्हितः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (देहि) (स्वाहा) युक्तिमत्या वाचा (अपाम्) (गर्भः) स्तोतुं योग्यः (असि) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (देहि) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ४ । ७–११ व्याख्यातः] ॥३॥

अन्वयः—हे मनुष्या ये यूयमर्थेतस्सन्तः स्वाहा राष्ट्रदाः स्थ ते मे राष्ट्रं दत्त । ये यूयमर्थेतः सन्तो राष्ट्रदाः स्थ तेऽमुष्मै राष्ट्रं दत्त । या यूयं स्वाहौजस्वतीः सत्यो राष्ट्रदाः स्थ ता मे राष्ट्रं दत्त । या ओजस्वती राष्ट्रदाः स्थ ता अमुष्मै राष्ट्रं दत्त । या यूयं स्वाहा परिवाहिणो [रापो] राष्ट्रदाः स्थ ता मे राष्ट्रं दत्त । या यूयं परिवाहिणीरापो राष्ट्रदाः स्थ ता अमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यस्त्वं राष्ट्रदा अपां पतिरसि † स मे स्वाहा राष्ट्रं देहि । यस्त्वं स्वाहा राष्ट्रदा अपां पतिरसि सोऽमुष्मै राष्ट्रं देहि । यस्त्वं स्वाहा राष्ट्रदा अपां गर्भोऽसि स त्वं मे राष्ट्रं देहि । यस्त्वं राष्ट्रदा अपां गर्भोऽसि सोऽमुष्मै राष्ट्रं देहि ॥ ३ ॥

भावार्थः—ये पुरुषा राजानो या राजस्त्रियश्च स्युस्ताः स्वोत्कर्षार्थं परोत्कर्षसहनं, सर्वान् मनुष्यान् विद्यासुशिक्षायुक्तांश्च कृत्वा राज्यभागिनो राज्यसेविन्यश्च स्युः, न खल्वीर्ष्यया परेषां हानिकरणात् स्वराज्यभ्रंशमाकारयेयुः ॥ ३ ॥

राजा, मन्त्री, सेना और प्रजा के पुरुष आपस में किस प्रकार वर्तें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! जो तुम लोग (अर्थेतः) श्रेष्ठ पदार्थों को प्राप्त होते हुए (स्वाहा) सत्य नीति से (राष्ट्रदाः) राज्य ‡ देनेहारे सभासद् (स्थ) हो, वे आप लोग (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये, जो तुम लोग (अर्थेतः) पदार्थों को जानते हुए (राष्ट्रदाः) राज्य देनेवाले (स्थ) हो, वे तुम लोग (अमु-

(अ० ८ । २ । ५) इत्येकादेश उदात्ते वतो विभक्त्यनुदात्तत्वे स्वरितत्वम् ॥

(ओजस्वतीः) ओजःशब्दः उब्जेर्बले बलोपश्च (उ० ४ । १९२) इत्यसुन् । नित्वादाद्युदात्तः । ततो मतुप्, ततो ङीप्, पित्वादनुदात्तौ ॥

(परिवाहिणीः) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये (अ० ३ । २ । ७८) इति णिनिः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 परस्पर प्रीति के विना राज्य में कोई भी कार्य सुखदायी सिद्ध नहीं हो सकता, वह प्रीति कैसे होनी चाहिये, सो बतलाते हैं— ॥ ३ ॥

❀ '(आपः) जलप्राणवत् प्रियाः······(राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त)' इति पाठः ख. ग. कोशयोरुभयत्राप्युपलभ्यमानो अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

† 'स मे······अपां पतिरसि' इति पाठोऽप्युभयकोशयोरुपलभ्यमानः प्रमादात् अ० मुद्रिते नोपलभ्यते ॥

‡ 'राज्य सेवनेहारे सभासद्' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

स्मै) राज्य के रक्षक उस पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये, जो तुम लोग (स्वाहा) सत्य नीति के साथ (ओजस्वतीः) विद्या बल और पराक्रम से युक्त हुई रानी लोग आप (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारी (स्थ) हैं, वे (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जो आप लोग (ओजस्वतीः) जितेन्द्रिय (राष्ट्रदाः) राज्य की देनेवाली (स्थ) हैं, वे आप लोग (अमुष्मै) विद्या बल और पराक्रम से युक्त पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जो तुम लोग (स्वाहा) सत्य नीति से (परिवाहिणीः) अपने † तुल्य पतियों के साथ विवाह करनेहारी (आपः) जल तथा प्राण के समान प्यारी (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारी (स्थ) हैं, वे आप लोग (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जो तुम लोग (परिवाहिणीः) अपने अनुकूल पतियों के साथ प्रसन्न होनेवाली (आपः) आत्मा के समान प्रिय (राष्ट्रदाः) राज्य देनेवाली (स्थ) हैं, वे आप (अमुष्मै) उस ब्रह्मचारी वीर पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे सभाध्यक्ष ! जो आप (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारे (अपाम्) जलाशयों के (पतिः) रक्षक (असि) हैं, सो (मे) मुझे (स्वाहा) सत्यनीति के साथ (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये । हे सभापति जो आप सत्यवचनों से (राष्ट्रदाः) राज्य देनेवाले (अपाम्) प्राणों के (पतिः) रक्षक (असि) हैं, वे (अमुष्मै) उस प्राणियों के पोषक पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये । हे वीर पुरुष राजन् ! जो आप (स्वाहा) सत्यनीति के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देनेवाले (अपाम्) सेनाओं के बीच (गर्भः) गर्भ के समान रक्षित (असि) हैं, सो आप (मे) विचारशील मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये । हे राजन् ! जो आप (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारे (अपाम्) प्रजाओं के विषय (गर्भः) स्तुति के योग्य (असि) हैं, सो आप (अमुष्मै) उस प्रशंसित पुरुष को (राष्ट्रम्) राज्य को (देहि) दीजिये ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो राज्य के अधिकारी पुरुष और उनकी स्त्रियां हों, उनको चाहिये कि अपनी उन्नति के किये दूसरों की उन्नति को सह के, सब मनुष्यों को राज्य के योग्य करें, और आप भी चक्रवर्ती राज्य का भोग किया करें, ऐसा न हो कि ईर्षा से दूसरों की हानि करके अपने राज्य का भङ्ग करें ॥ ३ ॥

सूर्य्यत्वचस इत्यस्य वरुण ऋषिः । सूर्य्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । पूर्वस्य जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥
सूर्यवर्चस इति द्वितीयस्य स्वराट् पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥ व्रजक्षित इति तृतीयस्य
शविष्ठा इति चतुर्थस्य च स्वराट् ‡ ब्राह्मीबृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥ जनभृत
इति पञ्चमस्यार्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥ विश्वभृत इति षष्ठस्य
मधुमतीरिति सप्तमस्य च भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः ।
धैवतः स्वरः ॥

मनुष्याः कीदृशा भूत्वा कस्मै कस्मै किं किं प्रदद्युरित्याह[1] ॥

सूर्य्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्य्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा

१ विद्वद्भी राजपुरुषैः कथं प्रजास्थजनानां कल्याणं कर्तुं शक्यत इति दर्शयति—

† 'तुल्य पतियों .... प्राण के' इति पाठो हस्तलेखे विद्यमानोऽपि अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥
‡ 'विकृतिश्छन्दः' इति ग. पाठः ।

राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शर्विष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना ऽ अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥ ४ ॥

सूर्यत्वचस इति सूर्यऽत्वचसः । * स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । सूर्यत्वचस इति सूर्यऽत्वचसः । * स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । सूर्यवर्चस इति सूर्यऽवर्चसः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । सूर्यवर्चस इति सूर्यऽवर्चसः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । मान्दाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । मान्दाः । ※ स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । † व्रजक्षित इति व्रजऽक्षितः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । ‡ दत्त । स्वाहा । † व्रजक्षित इति व्रजऽक्षितः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । वाशाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । वाशाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । शविष्ठाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । शविष्ठाः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । शक्वरीः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । शक्वरीः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । जनभृत इति जनऽभृतः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । जनभृत इति जनऽभृतः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । विश्वभृत इति विश्वऽभृतः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । मे । दत्त । स्वाहा । विश्वभृत इति विश्वऽभृतः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त । आपः । स्वराज इति ※ स्वऽराजः । स्थ । राष्ट्रदा इति राष्ट्रऽदाः । राष्ट्रम् । अमुष्मै । दत्त ॥ मधुमतीरिति मधुऽमतीः । मधुमतीभिरिति मधुमतीऽभिः । पृच्यन्ताम् । महि । क्षत्रम् । क्षत्रियाय । वन्वानाः । अनाधृष्टाः । सीदत । सहौजस इति सहऽओजसः । महि । क्षत्रम् । क्षत्रियाय । दधतीः ॥४॥

पदार्थः—(सूर्य्यत्वचसः) सूर्य्यस्य त्वचः संवारइव त्वचो येषां ते (स्थ) भवथ (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (सूर्य्यत्वचसः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (सूर्य्यवर्चसः) सूर्य्यस्य [वर्चः] प्रकाशइव वर्चो विद्याध्ययनं येषां ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (सूर्य्यवर्चसः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (मान्दाः)

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सूर्यत्वचसः) सूर्यस्य त्वग् इव त्वचो येषामित्युत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः, उष्ट्रमुखादिवत् । पूर्वपदप्रकृतिस्वरे सूर्यशब्दः राजसूयसूर्य० (अ० ३ । १ । ११४) इत्यत्र सरतेः सुवतेर्वा क्यबन्तो निपात्यते । प्रत्ययस्य पित्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः ।

* 'स्थ' इति स्वररहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

※ 'स्थः' इति सविसर्गोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

† 'व्रजक्षित इति व्रजक्षितः' इति पवर्गीयोऽवग्रहचिह्नरहितश्चापपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

‡ 'दत्त' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

※ 'स्वऽराजः' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

ये जनान् मन्दयन्त्यानन्दयन्ति त एव मान्दाः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (मान्दाः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (व्रजक्षितः) व्रजान् गवादिस्थित्यर्थान् देशान् क्षियन्ति निवासयन्ति ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (व्रजक्षितः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (वाशाः) य उशन्ति कामयन्ते ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (वाशाः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (शविष्ठाः) अतिशयेन बलवन्तः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (शविष्ठाः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (शक्वरीः) शक्तिमत्यः (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (शक्वरीः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (जनभृतः)†ये जनान् बिभ्रति ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (जनभृतः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (विश्वभृतः) ये विश्वं बिभ्रति ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (मे) (दत्त) (स्वाहा) (विश्वभृतः) (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (आपः) सकलविद्याधर्मव्यापिनः (स्वराजः) ये स्वं राजन्ते ते (स्थ) (राष्ट्रदाः) (राष्ट्रम्) (अमुष्मै) (दत्त) (मधुमतीः) मधुरादिगुणयुक्ता ओषध्यः ‡ (मधुमतीभिः) मधुरादिगुणयुक्ताभिर्वसन्तादिभिर्ऋतुभिः (पृच्यन्ताम्) परिपच्यन्ताम् (महि) महत्पूज्यं (क्षत्रम्) क्षत्रियाणां राज्यम् (क्षत्रियाय) क्षत्रस्य पुत्राय (वन्वानाः) याचमानाः (अनाधृष्टाः) शत्रुभिरधर्षिताः (सीदत) (सहौजसः) ओजसा बलेन सह वर्त्तमानाः (महि) (क्षत्रम्) (क्षत्रियाय) (दधतीः) धरमाणाः ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ४ । १२–१८ व्याख्यातः] ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे राजपुरुषा यतो यूयं सूर्य्यत्वचसः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतः सूर्य्यत्वचसः सन्तो यूयं राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं सूर्य्यवर्चसः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं सूर्य्यवर्चसो राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । ◊ यतो यूयं मान्दाः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं मान्दा राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं व्रजक्षितः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं व्रजक्षितः सन्तो राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त । यतो यूयं वाशाः सन्तः स्वाहा

(सूर्यवर्चसः) पूर्ववत् ॥

(मान्दाः) मन्दयतेः पचाद्यचि मन्दः, स एव मान्दः प्रज्ञादिभ्यश्च (अ० ५ । ४ । ३८) इति स्वार्थेऽण् । णित्वादादिवृद्धिः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(व्रजक्षितः, जनभृतः, विश्वभृतः) सर्वत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(वाशाः) मान्दावत् प्रत्ययः, स्वरश्च ॥ यद्वा अनेकार्था हि धातवो भवन्ति (अ० १ । ३ । १ भाष्ये) इति महाभाष्यवचनात् 'वाशृ शब्दे' इत्येतस्मात् पचाद्यच् । स्वरः पूर्ववत् ॥

(शविष्ठाः) पूर्वं यजुः ८ । ५९ व्याख्यातः ॥

(शक्वरीः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (अ० ३ । २ । ७५) इति क्वनिप् । वनो रच (अ० ४ । १ । ७) इति ङीप् । उभयोः पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरः । जसि वाच्छन्दसि (अ० ६ । १ । १०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः ।

(स्वराजः) स्वयं राजन्त इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(क्षत्रम्) पूर्वत्र यजु० ६ । ३ । पृ० ५१९ व्याख्यातः ॥

(क्षत्रियाय) क्षत्राद् घः (अ० ४ । १ । १३८) इति घः । आयनेयी० (अ० ७ । १ । २) इति इयादेशः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

† 'या जनान् श्रेष्ठान् मनुष्यान् बिभ्रति ताः' इति ख. पाठो भाषापदार्थानुसारी च ॥
‡ अन्वये 'हे स्त्रियः' इति सम्बोधनदर्शनादत्र लुप्तोपमा द्रष्टव्या । तेन 'ओषध्य इव' इत्यर्थः ॥
◊ 'यतो यूयं......राष्ट्रं दत्त' इति पाठः क. कोशे विद्यमानोऽपि ग. कोशे अ० मुद्रिते च प्रमादेन त्यक्तः ॥

राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त। यतो यूयं वाशा राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त। यतो यूयं शविष्ठाः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त। यतो यूयं शविष्ठा राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त। [हे राज्ञ्यः] यतो यूयं शक्वरीः सत्यः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त। यतो यूयं शक्वरी राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त। यतो यूयं जनभृतः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त। यतो यूयं जनभृता राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त। [हे राजपुरुषाः] यतो यूयं विश्वभृतः सन्तः स्वाहा राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त। यतो यूयं विश्वभृतो राष्ट्रदा स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त। ‡ यतो यूयमापः स्वराजः [राष्ट्रदा] स्थ तस्मादमुष्मै राष्ट्रं दत्त। हे सज्जनाः स्त्रियो युष्माभिः क्षत्रियाय महि क्षत्रं वन्वानाः सहौजसः क्षत्रियाय महि क्षत्रं दधतीरनाधृष्टा मधुमतीर्मधुमतीभि ꣸ रोषधिभिः सुखानि पृच्यन्ताम्। हे सज्जनाः पुरुषा यूयमीदृशी स्त्रियः सीदत प्राप्नुत ॥ ४ ॥

भावार्थः—हे स्त्रीपुरुषा ये मनुष्याः सूर्य्यवन्न्यायप्रकाशकाः सूर्यइव विद्यादीपकाः सर्वेषामानन्दप्रदा गवादिपशुरक्षकाः शुभगुणैः कमनीया बलवन्तः स्वसदृशस्त्रियः विश्वम्भराः स्वाधीनाः सन्ति तेऽन्येभ्यो राज्यं दातुं सेवितुं च शक्नुवन्ति नेतर इति यूयं विजानीत ॥ ४ ॥

मनुष्यों को कैसा हो के किस २ के लिये क्या २ देना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे राजपुरुषो ! तुम लोग (सूर्य्यत्वचसः) सूर्य के समान अपने न्यायप्रकाश से सब तेज को ढांकनेवाले होते हुए (स्वाहा) सत्य न्याय के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारे (स्थ) हो, इसलिये (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे मनुष्यो ! जिस कारण (सूर्य्यत्वचसः) * सूर्य के समान तेजधारी होते हुए तुम लोग (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारे (स्थ) हो, इसलिये (अमुष्मै) उस विद्या में सूर्यवत् प्रकाशमान पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे विद्वान् मनुष्यो ! (सूर्यवर्चसः) † सूर्य्यप्रकाश के समान विद्या पढ़नेवाले होते हुए तुम लोग (स्वाहा) सत्यवाणी से (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हो, इस कारण (मे) ꣸ मुझ तेजस्वी को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण (सूर्य्यवर्चसः) सूर्य्य के समान प्रकाशमान होते हुए आप लोग (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारे (स्थ) हो, इसलिये (अमुष्मै) उस प्रकाशमान पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण (मान्दाः) मनुष्यों को आनन्द देनेहारे होते हुए आप लोग

(अनाधृष्टाः) पूर्ववत् यजु० ५ । ५ पृ० ४३३ व्याख्यातः ॥

(सहौजसः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । सहशब्दस्य स्वरः पूर्वत्र (यजु० ८ । २२ पृ० ६८८) प्रपञ्चितस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥

(दधतीः) अभ्यस्तानामादिः (अ० ६ । १ । १८९) इत्याद्युदात्तत्वम् । अन्तोदात्तादित्यनुवर्त्तनाद् शतुरनुमो नद्यजादी (अ० ६ । १ । १७३) इति लोप उदात्तत्वं न भवति ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

1 विद्वान् राजकर्मचारियों को प्रजा के पुरुषों का कल्याण किस रीति से करना सम्भव है, सो कहते हैं—॥४॥

---

‡ इतोऽग्रे 'यतो यूयमापः स्वराजः सन्तो राष्ट्रदा स्थ तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त' इति अ० मुद्रितेऽनावश्यकोऽधिकः पाठः ॥

꣸ 'ओषधिभिः' इति हस्तलेखपाठो अ० मुद्रिते त्यक्तः ॥

* 'सूर्य के समान तेजधारी होते हुए तुम लोग' इति पाठः '(सूर्यवर्चसः)' इत्येतस्मादग्रेऽस्थाने सन्नत्रानीतः, अत्रत्यश्च तत्र नीतः ॥

† 'सूर्यप्रकाश''''तुम लोग' इति पाठः '(सूर्यत्वचसः)' इत्यस्मादग्रेऽस्थान आसीत्, स चास्माभिरत्रानीतः ॥

꣸ 'तेजस्वी मुझे' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

(स्वाहा) सत्यवचनों के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देनेवाले (स्थ) हो, इसलिये (मे) आनन्द देनेहारे मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप लोग (मान्दाः) प्राणियों को सुख देनेवाले हो के (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हो, इसलिये (अमुष्मै) उस सुखदाता जन को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (व्रजक्षितः) गौ आदि पशुओं के स्थानों को बसाते हुए (स्वाहा) सत्य क्रियाओं के सहित (राष्ट्रदाः) राज्य दाता (स्थ) हैं, इसलिये (मे) पशुरक्षक मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आपलोग (व्रजक्षितः) स्थान आदि से पशुओं के रक्षक होते हुए (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारे (स्थ) हैं इससे (अमुष्मै) उस गौ आदि पशुओं के रक्षक पुरुष के लिये [(राष्ट्रम्)] राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप लोग (वाशाः) कामना करते हुए (स्वाहा) सत्यनीति से (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हैं, इसलिये (मे) इच्छायुक्त मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (वाशाः) इच्छायुक्त होते हुए (राष्ट्रदाः) राज्य देनेवाले (स्थ) हैं, इसलिये (अमुष्मै) उस इच्छायुक्त पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (शविष्ठाः) अत्यन्त बलवाले होते हुए (स्वाहा) सत्य पुरुषार्थ से (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हैं इस कारण (मे) + मुझ बलवान् को (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप लोग (शविष्ठाः) अति पराक्रमी (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हैं, इस कारण (अमुष्मै) उस अति पराक्रमी जन के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे राणी लोगो ! जिस लिये आप (शक्वरीः) सामर्थ्यवाली होती हुई (स्वाहा) सत्य पुरुषार्थ से (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारी (स्थ) हैं, इसलिये (मे) सामर्थ्यवान् मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस कारण आप (शक्वरीः) सामर्थ्ययुक्त (राष्ट्रदाः) राज्य देनेवाली (स्थ) हैं इस कारण (अमुष्मै) उस सामर्थ्ययुक्त पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप लोग (जनभृतः) श्रेष्ठमनुष्यों का पोषण करनेहारी होती हुई (स्वाहा) सत्य कर्मों के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाली (स्थ) हैं, इसलिये (मे) श्रेष्ठ गुणयुक्त मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिस लिये आप (जनभृतः) सज्जनों का धारण करनेहारी (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हैं, इसलिये (अमुष्मै) उस सत्यप्रिय पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे सभाध्यक्षादि राजपुरुषो ! जिस लिये आप लोग (विश्वभृतः) सब संसार का पोषण करनेवाले होते हुए (स्वाहा) सत्यवाणी के साथ (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारे (स्थ) हैं, इसलिये (मे) सबके पोषक मुझे (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । जिसलिये आप लोग (विश्वभृतः) विश्व को धारण करनेहारे (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हैं, इसलिये (अमुष्मै) उस धारण करनेहारे मनुष्यों के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये❀ । जिस लिये आप लोग (आपः) सब विद्या और धर्म मार्ग को जाननेहारे (स्वराजः) आप से आप ही प्रकाशमान (राष्ट्रदाः) राज्यदाता (स्थ) हैं, इसलिये (अमुष्मै) उस धर्मज्ञ पुरुष के लिये (राष्ट्रम्) राज्य को (दत्त) दीजिये । हे सज्जन स्त्री लोगो ! आपको चाहिये कि (क्षत्रियाय) राजपूतों के लिये (महि) बड़े पूजा के योग्य (क्षत्रम्) क्षत्रियों के राज्य को (वन्वानाः) चाहती हुई (सहौजसः) बल पराक्रम के सहित वर्त्तमान (क्षत्रियाय) राजपूतों के लिये (महि) बड़े (क्षत्रम्) राज्य को (दधतीः) धारण करती हुई (अनाधृष्टाः) शत्रुओं के वश में न आनेवाली (मधुमतीः) मधुर आदि रसवाली †ओषधी (मधुमतीभिः) मधुरादिगुणयुक्त वसन्त आदि ऋतुओं के सुखों को (पृच्यन्ताम्) सिद्ध किया करें । हे सज्जनपुरुषो ! तुम लोग इस प्रकार की स्त्रियों को (सीदत) प्राप्त होओ ॥ ४ ॥

+ 'बलवान् मुझे' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

❀ इतोऽग्रे 'जिस कारण आप लोग (आपः) सब विद्या और धर्म विषय में व्याप्ति वाले होते हुए (स्वाहा) (राष्ट्रम्) सत्य क्रिया से (राष्ट्रदाः) राज्य देनेहारे (स्थ) हैं, इस कारण (मे) शुभ गुणों में व्याप्त मुझे राज्य को (दत्त) दीजिये' इति अ० मुद्रिते अनावश्यकोऽधिकः पाठः ॥

† इस वाक्य में 'हे सज्जन स्त्री लोगो' ऐसा सम्बोधन होने से (मधुमतीः) इस पद का लुप्तोपमा से सम्बन्ध होगा, अर्थात् 'मधुर आदि रसवाली ओषधियों के समान' ॥

भावार्थः—‡हे स्त्री पुरुषो ! जो सूर्य्य के समान न्याय और विद्या का प्रकाश कर सबको आनन्द देने, गौ आदि पशुओं की रक्षा करने, शुभगुणों से शोभायमान बलवान् अपने तुल्य स्त्रियों से विवाह और संसार का पोषण करनेवाले स्वाधीन हैं, वे ही औरों के लिये राज्य देने और आप सेवन करने को समर्थ होते हैं, अन्य नहीं ॥ ४ ॥

सोमस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । स्वराड्धृतिश्छन्दः । ऋषभः स्वरः ॥

राजन्यैराप्तराज्ञामेवाऽनुकरणं कार्य्यं नेतरेषां क्षुद्राशयलुब्धान्यायाजितेन्द्रियाणामित्युपदिश्यते¹ ॥

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात् । अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ घोषा॑य॒ स्वाहा॒ श्लोका॑य॒ स्वाहाꣳशा॑य॒ स्वाहा॒ भगा॑य॒ स्वाहा॑र्य॒म्णे स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

सोम॑स्य । त्विषिः॑ । अ॒सि॒ । तवे॒वेति॒ तव॑ऽइव । मे॒ । त्विषिः॑ । भू॒या॒त् ॥ अ॒ग्नये॑ । स्वाहा॑ । सोमा॑य । स्वाहा॑ । स॒वि॒त्रे । स्वाहा॑ । सर॑स्वत्यै । स्वाहा॑ । पू॒ष्णे । स्वाहा॑ । बृ॒ह॒स्पत॑ये । स्वाहा॑ । इन्द्रा॑य । स्वाहा॑ । घोषा॑य । स्वाहा॑ । श्लोका॑य । स्वाहा॑ । ॐअꣳशा॑य । स्वाहा॑ । भगा॑य । स्वाहा॑ । अ॒र्य॒म्णे । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

पदार्थः—(सोमस्य) ऐश्वर्य्यस्य (त्विषिः) ज्योतिः (असि) (तवेव) यथा भवतस्तथा (मे) मम (त्विषिः) विज्ञानप्रकाशः (भूयात्) (अग्नये) विद्युदादये (स्वाहा) सत्यवाक्क्रियाचरणयुक्ता विद्या (सोमाय) ओषधविज्ञानाय (स्वाहा) वैद्यकपुरुषार्थविद्या (सवित्रे) सूर्य्यविज्ञानाय (स्वाहा) ज्योतिर्विद्या (सरस्वत्यै) वेदार्थसुशिक्षाविज्ञापिकायै वाचे (स्वाहा) व्याकरणाद्यङ्गविद्या (पूष्णे) प्राणपशुपालनाय (स्वाहा) योगव्यवहारविद्या (बृहस्पतये) बृहतां प्रकृत्यादीनां पत्युरीश्वरस्य विज्ञानाय (स्वाहा) ब्रह्मविद्या (इन्द्राय) इन्द्रियाधिष्ठातुर्जीवस्य बोधाय (स्वाहा) विवेकविद्या (घोषाय) सत्प्रियभाषणादियुक्तायै वाण्यै (स्वाहा) तथ्योपदेशे वक्तृत्वविद्या (श्लोकाय) तत्त्वसंघातसत्काव्यगद्यपद्यछन्दोनिर्माणादिविज्ञानाय (स्वाहा) तत्त्वकाव्यशास्त्रादिविद्या (अंशाय) परमाण्ववगमाय (स्वाहा) सूक्ष्मपदार्थविद्या (भगाय) ऐश्वर्याय (स्वाहा) पुरुषार्थविद्या (अर्य्यम्णे) न्यायाधीशत्वाय (स्वाहा) राजनीतिविद्या ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ५ । ३–९ व्याख्यातः] ॥ ५ ॥

अन्वयः²—हे राजन् ! यथा त्वं सोमस्य त्विषिरसि तथाहमपि भवेयम् । यतस्तवेव मे त्विषिर्भूयाद् यथा भवताऽग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा बृहस्पतये स्वाहेन्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहांऽशाय स्वाहा भगाय स्वाहाऽर्य्यम्णे च स्वाहा गृह्यते, तथा मयापि ()गृह्येत ॥ ५ ॥

१ आप्तविद्वांस एव राजकर्मणि विनियुक्ताः सर्वामपि व्यवस्थां संचालयितुं समर्था इत्यतस्तेषामाज्ञयैव सर्वकार्यसम्पत्तिसम्भव इति प्रतिपादयति—

२ अस्य मन्त्रस्य पूर्वभागोऽग्रे यजु० १० । १५ देवताभेदेन व्याख्यास्यते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(त्विषिः) त्विषतेः इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) इति इन् , किच्च नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(तवेव) इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति पूर्वपदप्रकृति-

‡ 'जो स्त्रीपुरुषो' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥ ॐ 'अꣳशाय' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

() 'गृह्येते' इति प्रथमसंस्करणे पाठः । 'गृह्यते' इति द्वितीयसंस्करणे पाठः । ग. कोशे तु 'गृह्येत' इत्येव पाठः ॥

भावार्थः—मनुष्यैरिदमाशंसितव्यं यथाऽस्माकं राज्ञां शुभगुणस्वभावाः सन्ति, तथैव नो भूयासुरिति ॥ ५ ॥

राजा लोगों को चाहिये कि सत्यवादी धर्मात्मा राजाओं के समान अपने सब काम करें, और क्षुद्राशय, लोभी, अन्यायी तथा लम्पटी के तुल्य कदापि न हों, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे राजन्! जैसे आप (सोमस्य) ऐश्वर्य्य के (त्विषिः) प्रकाश करनेहारे (असि) हैं, वैसा मैं भी होऊँ, जिससे (तवेव) आप के समान (मे) मेरा (त्विषिः) विद्याओं का प्रकाश [(भूयात्)] होवे, जैसे आपने (अग्नये) बिजुली आदि के लिये (स्वाहा) सत्यवाणी और प्रियाचरणयुक्त विद्या (सोमाय) ओषधि जानने के लिये (स्वाहा) वैद्यक की पुरुषार्थयुक्त विद्या (सवित्रे) सूर्य्य को समझने के लिये (स्वाहा) भूगोलविद्या (सरस्वत्यै) वेदों का अर्थ और अच्छी शिक्षा जाननेवाली वाणी के लिये (स्वाहा) व्याकरणादि वेदों के अङ्गों का ज्ञान (पूष्णे) प्राण तथा पशुओं की रक्षा के लिये (स्वाहा) योग और ※ व्यवहार की विद्या (बृहस्पतये) बड़े प्रकृति आदि के पति ईश्वर को जानने के लिये (स्वाहा) ब्रह्मविद्या (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा के † बोध के लिये (स्वाहा) विचारविद्या (घोषाय) सत्य और प्रिय भाषण से युक्त वाणी के लिये (स्वाहा) सत्य उपदेश और व्याख्यान देने की विद्या (श्लोकाय) तत्त्वज्ञान का साधक शास्त्र श्रेष्ठ काव्य गद्य और पद्य आदि छन्दरचना के लिये (स्वाहा) ‡ तत्त्व और काव्य शास्त्र आदि की विद्या (अंशाय) परमाणुओं के समझने के लिये (स्वाहा) सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान (भगाय) ऐश्वर्य्य के लिये (स्वाहा) पुरुषार्थज्ञान (अर्यम्णे) न्यायाधीश होने के लिये (स्वाहा) राजनीति विद्या को ग्रहण करते हैं, वैसे मुझे भी करना अवश्य है ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को ऐसी + इच्छा करनी चाहिये कि जैसे सत्यवादी धर्मात्मा राजा लोगों के गुण, कर्म, स्वभाव होते हैं, वैसे ही हम लोगों के भी होवें ॥ ५ ॥

स्वरे युष्मदस्मदोर्ङसि (अ० ६ । १ । २११) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(श्लोकाय) श्लोकतेः हलश्च (अ० ३ । ३ । १२१) इति घनि ञित्वाद्युदात्तत्वम् । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (अ० ३ । ३ । ११८) इति घो न भवति प्रायग्रहणात् । यद्वा इणभीका० (उ० ३ । ४३) इति विधीयमानः कन् बाहुलकाद् श्रुणोतेरपि बोध्यः । कपिलकादी० (अ० ८ । २ । १८ भा० वा०) इत्यनेन लत्वम् । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥ (घोषाय) घनि ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ राजकर्म में आप्त विद्वानों की नियुक्ति से ही सब प्रकार की व्यवस्था यथावत् रीति से चल सकती है, इसलिये उनकी आज्ञा से ही सब कार्यों की पूर्ति होना सम्भव है, यह दर्शाते हैं— ॥ ५ ॥

※ 'व्याकरण की विद्या' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे चापपाठः ॥

† 'बोध के' इति अ० मु० नास्ति । ग. कोशे तूपलभ्यते ॥

‡ 'छन्द और शुभ मूल काव्यशास्त्र आदि की विद्या' इति अ० मुद्रितेऽपपाठः ॥

+ 'आशा प्रशंसा' इति अ० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे पाठः । 'आशंसा (इच्छा)' इति द्वितीयसंस्करण इति बोध्यम् ॥

पवित्रे स्थ इत्यस्य वरुण ऋषिः । आपो देवताः । स्वराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

यथा कुमारा ब्रह्मचर्येण विद्या गृह्णीयुस्तथैव कुमार्योऽपि पठेयुरित्याह[1] ॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव ऽ उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥ ६ ॥

पवित्रेऽइति पवित्रे । स्थः । वैष्णव्यौ । सवितुः । वः । प्रसव इति प्रऽसवे । उत् । पुनामि । अच्छिद्रेण । पवित्रेण । सूर्यस्य । रश्मिभिरिति रश्मिऽभिः ॥ अनिभृष्टमित्यनिऽभृष्टम् । असि । वाचः । बन्धुः । तपोजा इति तपःऽजाः । सोमस्य । दात्रम् । असि । स्वाहा । राजस्व इति राजऽस्वः ॥ ६ ॥

पदार्थः——(पवित्रे) शुद्धाचरणे (स्थः) स्याताम् (वैष्णव्यौ) सकलविद्यासुशिक्षाशुभगुणस्वभावव्यापिनौ (सवितुः) सकलजगत्प्रसवितुरीश्वरस्य (वः) युष्मान् ❀ ब्रह्मचारिणीर्विद्यार्थिनीः कुमारिकाः (प्रसवे) प्रसूतेऽस्मिन् जगति (उत्) उत्कृष्टतया (पुनामि) पवित्रीकरोमि (अच्छिद्रेण) अविच्छिन्नेन निरन्तरेण (पवित्रेण) विद्यासुशिक्षाजितेन्द्रियत्वब्रह्मचर्यादिभिः पवित्रीकारकेण व्यवहारेण (सूर्य्यस्य) अर्कस्य (रश्मिभिः) किरणैरिव (अनिभृष्टम्) † पापरहितम् (असि) (वाचः[2]) वेदवाण्याः (बन्धुः) भ्राता (तपोजाः) ब्रह्मचर्यादितपसा जातः (सोमस्य) ओषधिगणस्य (दात्रम्) दाति रोगान् येन तद्वान् (असि) (स्वाहा) सत्यक्रियया (राजस्वः) राजवीरप्रसविकाः ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ५ । १६–१८ व्याख्यातः] ॥ ६ ॥

अन्वयः——हे सभेश राजन् ! यतस्त्वं वाचोऽनिभृष्टं बन्धुरसि, सोमस्य दात्रं तपोजा असि। तवाज्ञया सवितुः प्रसवे वैष्णव्यौ पवित्रे स्थः । हे अध्यापिकाः ‡ परीक्षिका अध्येत्र्यश्च स्त्रियो यथाहं सवितुः प्रसवे सूर्यस्य रश्मिभिरिवाच्छिद्रेण पवित्रेण व उत्पुनामि, तथा यूयं स्वाहा राजस्वो भवत[3] ॥ ६ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः——हे राजादयो राजपुरुषाः ! यूयमस्मिन् जगति यथा कुमाराध्यापने सज्जना नियुज्यन्ते, तथा पवित्रविद्यापरीक्षाकारिकाः स्त्रियः कन्यानामध्यापने नियुङ्ग्ध्वम् । + यत इमा विद्यासुशिक्षाः प्राप्य युवत्यः सत्यः स्वसदृशैः प्रियैर्वरैः पुरुषैः सह स्वयंवरं विवाहं कृत्वा वीरपुरुषान् जनयेयुः ॥ ६ ॥

१ सर्वमपि राज्यस्य कर्म सन्ततिगुणग्रहणक्षमतायामेव संभवतीत्यतो यावत् स्त्रियोऽपि विदुष्यो न स्युः, तावद् राज्योन्नतेरप्यसम्भव एवेति तासामपि ब्रह्मचर्यकाले विद्याग्रहणं बोधयति——

२ त्रेधा विहिता हि वाक्, ऋचो यजूंषि सामानि ॥ श० ६ । ५ । ३ । ४ ॥

३ अस्य मन्त्रस्य पूर्वभागः पूर्वं यजु० १ । १२ पृ० ६९-७१ देवताभेदेन व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अनिभृष्टम्) 'भृशु भ्रंशु अधःपतने' इत्येतस्मान्निष्ठायां नञ्समासे तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इत्यव्ययस्वरत्वम् ॥

(बन्धुः) शॄस्वृस्निहि० (उ० १ । १०) इत्यादिना विधीयमान उः, स च नित्, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

❀ इतोऽग्रे 'ब्रह्मचारिणो' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः ॥

† 'नित्यं भ्रष्टं पतिरहितमाचरितवान्' इति अ० मुद्रितेऽनन्वितः पाठः ॥

‡ 'अध्यापकपरिचारिकाः' इति अ० मुद्रितपाठः, 'परीक्षिका' इति क. पाठः ॥

+ 'यत एत इमाश्च' इति अ० मुद्रितेऽनन्वितः पाठः ॥

जैसे कुमार पुरुष ब्रह्मचर्य्य से विद्या ग्रहण करें, वैसे कन्या भी पढ़ें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे सभापति राजपुरुष ! जिस लिए आप (वाचः) वेदवाणी के (अनिभृष्टम्) भ्रष्टता-रहित आचरण करनेवाले (बन्धुः) भाई (असि) हैं, (सोमस्य) ओषधियों के [(दात्रम्)] काटनेवाले (तपोजाः) ब्रह्मचर्य्यादि तप से प्रसिद्ध (असि) हैं, आप की आज्ञा से (सवितुः) सब जगत् को उत्पन्न करने हारे ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न हुए जगत् में (वैष्णव्यौ) सब विद्या अच्छी शिक्षा शुभ गुण कर्म और स्वभाव में व्यापनशील और (पवित्रे) शुद्ध आचरणवाली (स्थः) तुम दोनों हो । हे पढ़ाने परीक्षाकरने और पढ़नेहारी स्त्री लोगो ! [जैसे] मैं ईश्वर के उत्पन्न किये इस जगत् में (सूर्य्यस्य) सूर्य्य की (रश्मिभिः) किरणों के समान (अच्छिद्रेण) छेदरहित (पवित्रेण) विद्या अच्छी शिक्षा, धर्मज्ञान, जितेन्द्रियता और ब्रह्मचर्य्य आदि करके पवित्र किये हुए [व्यवहार] से (वः) तुम लोगों को (उत्पुनामि) अच्छे प्रकार पवित्र करता हूँ, [वैसे] तुम लोग (स्वाहा) सत्यक्रिया से (राजस्वः) राजाओं में वीर को उत्पन्न करनेवाली हो ॥ ६ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥

भावार्थः—हे राजा आदि पुरुषो ! तुम लोग इस जगत् में [जैसे बालकों के अध्यापन में सज्जन पुरुष नियुक्त किये जाते हैं वैसे] कन्याओं को पढ़ाने के लिये शुद्ध विद्या की परीक्षा करनेवाली स्त्री लोगों को नियुक्त करो । जिससे ये कन्या लोग विद्या और शिक्षा को प्राप्त हो के ⁕युवान हुई प्रिय वर [= श्रेष्ठ] पुरुषों के साथ स्वयंवर विवाह करके वीर पुरुषों को उत्पन्न करें ॥ ६ ॥

सधमाद इत्यस्य वरुण ऋषिः । वरुणो देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

राज्ञामिदमावश्यकं यत् सर्वस्याः प्रजायाः स्वकुलस्य चापत्यानि ब्रह्मचर्य्येण विद्यासुशिक्षान्वितानि कार्य्याणीत्याह[२] ॥

सधमादो द्युम्निनीराप ऽ एता ऽ अनाधृष्टा ऽ अपस्यो वसानाः ।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाꣳ शिशुर्मातृतमास्वन्तः ॥ ७ ॥

सधमाद इति सधऽमादः । द्युम्निनीः । आपः । एताः । अनाधृष्टाः । अपस्युः । वसानाः ॥ पस्त्यासु । चक्रे । वरुणः । सधस्थमिति सधऽस्थम् । अपाम् । शिशुः । मातृतमास्विति ×मातृऽतमासु । अन्तरित्यन्तः ॥ ७ ॥

(तपोजाः) जनसनखनक्रम० (अ० ३ । २ । ६७) इति विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् (अ० ६ । ४ । ४१) इत्यात्त्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥ (दात्रम्) दाम्नीशसयुयुज० (अ० ३ । २ । १८२) इति ष्ट्रन् । तत अर्शआदिभ्योऽच् (अ० ५ । २ । १२७) इत्यचि चित्स्वरेणान्तोदात्तः ॥ (राजस्वः) पूर्वं यजु० १० । १ पृ० ८२२ व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ राज्य के सब कार्य सन्तानों के उत्तम गुण ग्रहण करने की तत्परता पर आश्रित हैं, इसलिये जब तक स्त्रियें विदुषी न बनेंगी, तब तक राज्य की उन्नति नहीं हो सकती, इसलिये ब्रह्मचर्यकाल में स्त्रियों को भी विद्याप्राप्ति अवश्य करनी चाहिये, सो बतलाते हैं—

२ तच्च शिक्षणं कथं स्यादिति दर्शयति—

⁕ 'जवान हुई' इति अ० मुद्रिते द्वितीयसंस्करणे पाठः । 'युवान हुई' इति ह्स्तलेखे मुद्रिते प्रथमसंस्करणे पाठः ॥
× 'मातृ ऽतमासु' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(सधमादः) याः सह मादयन्ति हृष्यन्ति ताः, (द्युम्निनीः) प्रशस्तं द्युम्नं धनं यशो वा विद्यते यासां ताः (आपः) जलानीव शान्ताः (एताः) प्राप्तविद्यासुशिक्षाः (अनाधृष्टाः) धर्षितुमयोग्याः (अपस्यः) अपःसु कर्मसु साध्व्यः, अत्र सुपां सुलुक्० [अ० ७।१।३९] इति + जसः स्थाने सुः (वसानाः) वस्त्राभूषणैराच्छादिताः (पस्त्यासु) गृहशालासु (चक्रे) कुर्य्यात् (वरुणः) वरो राजा (सधस्थम्) सहस्थानम् (अपाम्) व्याप्तविद्यानां स्त्रीणाम् (शिशुः) बालकः (मातृतमासु) अतिशयेन शास्त्रोक्तशिक्षया मानकर्त्रीषु धात्रीषु (अन्तः) समीपे ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५।३।५।१९ व्याख्यातः] ॥ ७ ॥

अन्वयः—यो वरुणो राजा भवेत् स [याः] एताः सधमादो द्युम्निनीरनाधृष्टा आपो वसानाः पस्त्यास्वपस्यः स्त्रियो विदुष्यो भवेयुस्तासामपां यः शिशुस्तं मातृतमास्वन्तः सधस्थं समीपस्थं शिक्षार्थं [चक्रे] रक्षेत् ॥७॥

भावार्थः—राज्ञा प्रयत्नेन स्वराज्ये सर्वाः स्त्रियो विदुष्यः कार्य्यास्तासां सकाशाज्जाता बालका विद्यायुक्तधात्र्यधीनाः कार्य्याः, यतो न कस्याप्यपत्यं विद्यासुशिक्षाहीनं स्त्री निर्बला च स्यात् ॥ ७ ॥

---

१ आपो वरुणस्य पत्न्य आसन् ॥ तै० १।१।३।८ ॥ योषा वा आपः ॥ श० २।१।१।४।

२ 'पस्त्यम्' इति गृहनाम ॥ निघ० ३।४॥

३ वरुणो वै देवानां राजा ॥ श० १२।८।३।१०॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सधमादः) सहोपपदान्मादयतेः क्विप् च (अ० ३।२।७६) इति क्विप्। सधमादस्थयोश्छन्दसि (अ० ६।३।९६) इति सधादेशः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(द्युम्निनीः) द्युम्नमिति धननाम (निघ० २।१०), तद् यस्या अस्तीति मतुबर्थे अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति इनिः। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। ऋन्नेभ्यो ङीप् (अ० ४।१।५) इति स्त्रियां ङीप्। पित्त्वादनुदात्तत्वम्। वा छन्दसि (अ० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णः ॥

(अपस्यः) तत्र साधुः (अ० ४।४।९८) इति यत्। तित् स्वरितम् (अ० ६।१।१८५) इति स्वरितत्वम् ॥

(वसानाः) 'वस आच्छादने' ततः शानच्। अदादित्वात् शपो लुक्। अनुदात्तेत्वात् तास्यनुदात्ते० (अ० ६।१।१८६) इति चित्स्वरं परत्वाद् बाधित्वाऽनुदात्तत्वम् ॥

(पस्त्यासु) पस्धातोः मध्यविन्ध्य० (उ० २।३।४) इत्यादिभोजीयसूत्रे निपातनात् क्यप्, तुडागमोऽन्तस्वरितत्वं च। यद्वा वसेः पकारोऽपि निपातनादेव बोध्यः। मद्रासमुद्रितपुस्तके 'वस्त्य' इति सूत्रे पाठः। 'वसेरादिवत्वं तुट् च' इति टीकायां पाठ उपलभ्यते। 'वस्त्य' इति सूत्रपाठे सति वसेरादिवत्वनिपातनमयुक्तमेव, धातोर्वकारादित्वात्। तस्मात् तत्र कदाचिद् 'वसेरादिपत्वं' इति युक्तः पाठः स्यात्। एवं वस्त्यशब्दे तुडागमः क युज्यते इति सम्पादक एव प्रष्टव्यः। 'तुट् च' इति तु युक्तः पाठोऽत्र द्रष्टव्यः ॥

(सधस्थम्) पूर्वत्र यजु० ५। १८ पृ० ४६० व्याख्यातः ॥

(मातृतमासु) मातृशब्दः तृजन्त औणादिकोऽन्तोदात्तस्ततस्तमप्, पित्त्वादनुदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

+ 'शसः स्थाने' इत्यजमेरमुद्रिते कोशेषु चापपाठः ॥

राजाओं को यह अवश्य चाहिये कि सब प्रजा अपने कुल के बालकों को ब्रह्मचर्य्य के साथ विद्या और सुशिक्षायुक्त करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—जो (वरुणः) श्रेष्ठ राजा हो वह [जो] (एताः) विद्या और अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुई (सधमादः) एक साथ प्रसन्न होनेवाली (द्युम्निनीः) प्रशंसनीय धन कीर्त्ति से युक्त (अनाधृष्टाः) जो किसी से न दबें (आपः) जल के समान शान्तियुक्त (वसानाः) वस्त्र और आभूषणों से ढपी हुईं (पस्त्यासु) घरों के (अपस्यः) कामों में चतुर विदुषी स्त्री होवें, उन (अपाम्) विद्याओं में व्याप्त स्त्रियों का जो (शिशुः) बालक हो उसको (मातृतमासु) अतिमान्य करनेहारी धायियों के (अन्तः) समीप (सधस्थम्) एक* स्थान में शिक्षा के लिये [(चक्रे)] रक्खे ॥ ७ ॥

भावार्थः—राजा को चाहिये कि अपने राज्य में प्रयत्न के साथ सब स्त्रियों को विदुषी और †उनसे जो उत्पन्न हुए बालक हों, उनको विद्यायुक्त धाइयों के आधीन करे कि जिससे किसी के बालक विद्या और अच्छी शिक्षा के बिना न रहें, और स्त्री भी निर्बल न हों ॥ ७ ॥

क्षत्रस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । ‡कृतिश्छन्दः । निषादः[2] स्वरः ॥

सर्वाः प्रजाः सर्वथा योग्यं सभेशं राजानं सततं सर्वतो रक्षेयुरित्याह[3] ॥

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं वधेत् । दृवासि रुजासि क्षुमासि । पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात ॥ ८ ॥

क्षत्रस्य । उल्बम् । असि । क्षत्रस्य । जरायु । असि । क्षत्रस्य । योनिः । असि । क्षत्रस्य । नाभिः । असि । इन्द्रस्य । वार्त्रघ्नमिति वार्त्रऽघ्नम् । असि । मित्रस्य । असि । वरुणस्य । असि । त्वया । अयम् । वृत्रम् । ◊ वधेत् ॥ दृवा । असि । रुजा । असि । क्षुमा । असि ॥ पात । एनम् । प्राञ्चम् । पात । एनम् । ()प्रत्यञ्चम् । पात । एनम् । तिर्यञ्चम् । दिग्भ्य इति दिक्ऽभ्यः । पात ॥ ८ ॥

१ उक्त शिक्षाकार्य कैसे होना चाहिये, सो दर्शाते हैं— ॥ ७ ॥

२ पक्षान्तरे तु षड्जः स्वरः ॥

३ राज्ये शिक्षादिकर्माणि राज्ञामेव विशिष्टगुणैः प्रयत्नैश्च सम्भवन्तीति राजनियोजनकर्मणि बहुगाम्भीर्यमपेक्ष्यत इत्यत आह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उल्बम्) उल्बादयश्च (उ० ४ । ९५) इति बन् , निपातनाच्छिष्टं कार्यम् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । बकारवकारयोस्तु विवदन्ते प्रायेण सर्वेऽपि वृत्तिकाराः ॥

(जरायु) पूर्वत्र यजु० ८.२८ पृ० ६९७ व्याख्यातः ॥

* 'एक समीप के स्थान में' इति अजमेरमुद्रिते पाठः ॥

† 'जो उत्पन्न हुए बालक विद्यायुक्त' इति अजमेरमुद्रितपाठः । अस्माभिस्तु ख. पाठः स्वीकृतः ॥

‡ 'स्वराट् कृतिश्छन्दः' इति ग. कोशेऽजमेरमुद्रिते चापपाठः ॥

◊ 'व्रधेत्' इति पवर्गीयोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ () 'प्रत्यञ्चम्' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(क्षत्रस्य) राजकुलस्य (उल्बम्) बलम् (असि) (क्षत्रस्य) क्षत्रियस्य (जरायु) वृद्धावस्थाप्रापकम् (असि) (क्षत्रस्य) राजन्यस्य (योनिः) निमित्तम् (असि) (क्षत्रस्य) राज्यस्य (नाभिः) बन्धनम् (असि) (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (वार्त्रघ्नम्) मेघविनाशकम् (असि) (मित्रस्य) सुहृदः (असि) (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य (असि) (त्वया) राज्ञा (अयम्) वीरः (वृत्रम्) मेघमिव न्यायावरकं शत्रुम् (वधेत्) हन्यात् (दृवा) यः शत्रून् दृणाति, अत्रान्येभ्योऽपि दृश्यन्ते [अ० ३। २। ७५] इति क्वनिप् (असि) (रुजा) शत्रूणां रोगकारकः, अत्रौणादिकः कनिन् (असि) (क्षुमा) सत्योपदेशक अत्रौणादिको मनिन् किच्च (असि) (पात) रक्षत (एनम्) राजानम् (प्राञ्चम्) प्राक्प्रबन्धस्य कर्त्तारम् (पात) (एनम्) सेनाध्यक्षम् (प्रत्यञ्चम्) पश्चात् स्थितम् (पात) (एनम्) पार्श्वस्थं वीरम् (तिर्य्यञ्चम्) तिरश्चीनम् (दिग्भ्यः) सर्वाभ्य आशाभ्यः (पात)॥ [अयं मन्त्रः शत० ५। ३। ५। २०-३० व्याख्यातः]॥ ८॥

अन्वयः—हे राजन् ! यस्त्वं क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जराय्वसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्य मित्रोऽसि वरुणस्य वरोसि दृवासि रुजासि क्षुमासि, यः [अयम्] त्वया सह वृत्रं वधेत्, तमेनं प्राञ्चं सर्वे यूयं [पात], दिग्भ्यः पात, तमेनं प्रत्यञ्चं पात, तमेनं तिर्य्यञ्चं पात॥ ८॥

भावार्थः—यत्पुत्रीपुत्रेषु स्त्रीनरेषु च विद्यावर्धनं कर्मास्ति, तदेव राज्यवर्धकं शत्रुविनाशकं धर्मादिप्रवर्त्तकं च भवति। अनेनैव सर्वेषु कालेषु सर्वासु दिक्षु रक्षणं भवति॥ ८॥

सब प्रजापुरुषों को योग्य है कि सब प्रकार से योग्य सभापति राजा को निरन्तर सब ओर से रक्षा करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1]॥

पदार्थः—हे राजन् ! जो आप (क्षत्रस्य) अपने राजकुल में (उल्बम्) बलवान् (असि) हैं, (क्षत्रस्य) क्षत्रिय पुरुष को (जरायु) वृद्धावस्था [अर्थात् बड़ी आयु के] देनेहारे (असि) हैं, (क्षत्रस्य) राज्य के (योनिः) निमित्त (असि) हैं, (क्षत्रस्य) राज्य के (नाभिः) प्रबन्धकर्त्ता (असि) हैं, (इन्द्रस्य) सूर्य्य के (वार्त्रघ्नम्) मेघ का नाश करनेहारे के समान कर्मकर्त्ता (असि) हैं, (मित्रस्य) मित्र के मित्र (असि) हैं,

---

(नाभिः) पूर्व यजु० १।११ पृ० ६५ व्याख्यातः॥

(वार्त्रघ्नम्) उद्गात्रादिभ्योऽञ् (अ० ५। १। १२९) इति भावे कर्मणि वा अञ्। ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम्।

(दृवा) क्वनिपि धातुस्वरे प्राप्ते उञ्छादीनां च (अ० ६। १। १६०) इत्याकृतिगणत्वादन्तोदात्तत्वम्॥

(रुजा, क्षुमा) उभयत्र नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते उञ्छादित्वात् (अ० ६। १। १६०) अन्तोदात्तत्वम्॥

(प्राञ्चम्) अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये (अ० ६। २। ५२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥

(प्रत्यञ्चम्) अनिगन्तोऽञ्चतौ० (अ० ६। २। ५२) इत्यत्र इगन्तपर्युदासात् कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर एव॥

(तिर्यञ्चम्) तिरसस्तिर्यलोपे (अ० ६। ३। ९४) इति 'तिरि' आदेशे कृते इगन्तत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे प्रतिषिद्धे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

[1] राज्य में शिक्षादिकार्यों की व्यवस्थाएं राजाओं के ही विशेष गुणों तथा प्रयत्नों द्वारा होनी सम्भव होती हैं, इसलिये राजा की नियुक्ति में बहुत ही गम्भीरता, दूरदर्शिता की आवश्यकता है सो दर्शाते हैं—॥८॥

(वरुणस्य) श्रेष्ठ पुरुषों के साथ श्रेष्ठ (असि) हैं, (द्रवा) शत्रुओं के विदारण करनेवाले (असि) हैं, (रुजा) शत्रुओं को रोगातुर करनेहारे (असि) हैं, और (क्षुमा) सत्य का उपदेश करनेहारे (असि) हैं, जो (अयम्) यह वीरपुरुष (त्वया) आप राजा के साथ (वृत्रम्) मेघ के समान न्याय के छिपानेवाले शत्रु को (वधेत्) मारे, (एनम्) इस (प्राञ्चम्) प्रथम प्रबन्ध करनेवाले राजपुरुष† की तुम लोग [(पात) रक्षा करो], (दिग्भ्यः) सब दिशाओं से (पात) रक्षा करो, (+एनम्) उस (प्रत्यञ्चम्) पीछे खड़े हुये ※सेनापति की (पात) रक्षा करो, इस (तिर्यञ्चम्) तिरछे खड़े हुए (एनम्) ×पार्श्वरक्षक की (पात) रक्षा करो ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो कन्या और पुत्रों में, स्त्री और पुरुषों में विद्या बढ़ाने वाला कर्म है, वही राज्य का बढ़ाने, शत्रुओं का विनाश और धर्म आदि की प्रवृत्ति करानेवाला होता है। इसी कर्म से सब कालों और सब दिशाओं में रक्षा होती है ॥ ८ ॥

आविर्मर्या इत्यस्य वरुण ऋषिः प्रजापतिर्देवता । भुरिगष्टिश्छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

मनुष्यैः सुशीलतयाऽऽप्तविद्वदादयोऽवश्यं प्राप्तव्या इत्याह ॥

आविर्मर्या ऽ आवित्तो ऽ अग्निर्गृहपतिरावित्त ऽ इन्द्रो वृद्धश्रवा ऽ आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदा ऽ आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥९॥

आविः । मर्याः । आवित्त इत्याऽवित्तः । अग्निः । गृहपतिरिति गृहऽपतिः । आवित्त इत्याऽवित्तः । इन्द्रः । वृद्धश्रवा इति वृद्धऽश्रवाः । आवित्तावित्याऽवित्तौ । मित्रावरुणौ । धृतव्रताविति धृतऽव्रतौ । आवित्त इत्याऽवित्तः । पूषा । विश्ववेदा इति विश्वऽवेदाः । आवित्ते ऽ इत्याऽवित्ते । द्यावापृथिवी ऽ इति द्यावाऽपृथिवी । विश्वशम्भुवाविति विश्वऽशम्भुवौ । ※※आवित्तेत्याऽवित्ता । अदितिः । उरुशर्मेत्युरुऽशर्मा ॥ ९ ॥

पदार्थः—(आविः) प्राकट्ये (मर्याः) मर्या इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघ० २ । ३ (आवित्तः) प्राप्तपूर्णभोगो लब्धप्रतीतो वा, वित्तो भोगप्रत्ययोः । अ० ८ । २ । ५८ । अनेनायं निपातितः (अग्निः) पावक इव विद्वान्[2] (गृहपतिः) गृहाणां पालकः (आवित्तः) (इन्द्रः[3]) शत्रुविदारकः सेनाधीशः

१ विदुषां सङ्गत्यैव विविधविज्ञानेन जनाः सुखभाजो भवितुमर्हन्तीति तत्प्राप्तिमहत्त्वमाह—

२ पुरुषोऽग्निः ॥ श० १० । ४ । १ । ६ ॥
अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारत ॥ श० १।४।२।२ ॥

३ क्षत्रं वा इन्द्रः ॥ श० ४ । ३ । ३ । ६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(आविः) स्वरादिपाठादव्ययत्वम्, तत्रैवाय-मन्तोदात्तः पठ्यते । यद्वा एवादीनामन्तः (फि० ८३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(आवित्तः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(गृहपतिः) पूर्वत्र यजु० २ । २७ पृ० २२१ तथा यजु० ३ । ३९ पृ० ३१४ व्याख्यातः ॥

(वृद्धश्रवाः , धृतव्रतौ) उभयत्र बहुव्रीहौ

† संस्कृतपदार्थे तु '(एनम्) राजानम्' इति राजार्थो गृहीतस्तथैव च मन्त्रसंगतावपि । अन्वये तु '(एनम्) राजपुरुषम्' इत्येवार्थः संगच्छत इति ध्येयम् ॥

+ '(एनम्)''''पात रक्षा करो' इति पाठः क. कोश उपलभ्यमानोऽपि ग. कोशे अ० मुद्रिते च प्रमादेन त्यक्तः ॥

※ 'राजपुरुष की' इति तु अ० मु० कोशेषु च पाठः । स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥

× 'राजपुरुष की' इति अ० मु० कोशेषु च पाठः । स च संस्कृताननुसारीति ध्येयम् ॥

※※ 'आवित्तेत्यावित्ता' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

(वृद्धश्रवाः) वृद्धं श्रवः सर्वशास्त्रश्रवणं यस्य सः (आवित्तौ) (मित्रावरुणौ) सुहृद्वरौ (धृतव्रतौ) धृतानि व्रतानि सत्यादीनि याभ्यां तौ (आवित्तः) (पूषा) पोषको वैद्यः (विश्ववेदाः) विश्वं सर्वमौषधं विदितं येन सः (आवित्ते) (द्यावापृथिवी) विद्युद्भूमी (विश्वशम्भुवौ) विश्वस्मै शं सुखं भावुके (आवित्ता) (अदितिः) विदुषी माता (उरुशर्मा) उरूणि बहूनि [शर्माणि] सुखानि यस्याः सा ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ५ । ३१–३७ व्याख्यातः] ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे मर्त्या युष्माभिर्यदि गृहपतिरग्निराविराविवित्तो वृद्धश्रवा इन्द्र आविराविवित्तो धृतव्रतौ मित्रावरुणावाविराविवित्तौ विश्ववेदाः पूषाऽऽविराविवित्तो विश्वशम्भुवौ द्यावापृथिवी † आविराविवित्ते उरुशर्म्माऽदितिश्चाविराविवित्ता स्यात्तर्हि सर्वाणि सुखानि प्राप्यन्ते ॥ ९ ॥

भावार्थः—यावन्मनुष्याः सद्विदुषः सतीं विदुषीं मातरं सत्यपदार्थविज्ञानं च नाप्नुवन्ति, तावत् सुखवृद्धिं दुःखनिवृत्तिं च कर्त्तुं न शक्नुवन्ति ॥ ९ ॥

मनुष्यों को चाहिये कि अपना स्वभाव अच्छा करके आप्त विद्वान् आदि का अवश्य प्राप्त होवें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[१] ॥

पदार्थः—हे (मर्त्याः) मनुष्यो ! तुम लोग जो (गृहपतिः) घरों के पालन करनेहारे (अग्निः) प्रसिद्ध अग्नि के समान विद्वान् पुरुष को (आविः) प्रकटता से (आवित्तः) प्राप्त वा निश्चय करके जाना, (वृद्धश्रवाः) श्रेष्ठता से सब शास्त्रों को सुने हुए (इन्द्रः) शत्रुओं के मारनेहारे सेनापति को प्रकटता से (आवित्तः) प्राप्त हो वा जाना, (धृतव्रतौ) सत्य आदि व्रतों को धारण करनेहारे (मित्रावरुणौ) मित्र और श्रेष्ठ जनों को प्रकटता से (आवित्तौ) प्राप्त वा जाना, (विश्ववेदाः) सब ओषधियों को जाननेहारे (पूषा) पोषणकर्त्ता वैद्य को प्रसिद्धि से (आवित्तः) प्राप्त हुए [वा जाना], (विश्वशम्भुवौ) सबके लिये सुख देनेहारे (द्यावापृथिवी) बिजुली और भूमि को प्रकटता से (आवित्ते) जाने (उरुशर्मा) बहुत सुख देनेवाली (अदितिः) विदुषी माता को प्रसिद्धि से (आवित्ता) प्राप्त हुए, [वा जाना] तो तुमको सब सुख प्राप्त होजावें ॥ ९ ॥

भावार्थः—जब तक मनुष्य लोग श्रेष्ठ विद्वानों, उत्तम विदुषी माता और प्रसिद्ध पदार्थों के विज्ञान को प्राप्त नहीं होते, तब तक सुख की प्राप्ति और दुःखों की निवृत्ति करने को समर्थ नहीं होते ॥ ९ ॥

प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे क्तान्तौ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तौ ॥

(विश्ववेदाः) पूर्वं यजु० ३ । ३८ पृ० ३१२ व्याख्यातः ॥

(द्यावापृथिवी) पूर्वं यजु० ४ । ६ पृ० ३६५ व्याख्यातः ॥

(विश्वशम्भुवौ) पूर्वं यजु० ८ । ४५ पृ० ७२५ व्याख्यातः ॥

(उरुशर्मा) बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरे ऊर्णोतेर्नुलोपश्च (उ० १ । ३०) इति 'उ' प्रत्ययान्त उरुशब्दः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ विद्वानों की सङ्गति से ही अनेकविध विज्ञान की प्राप्ति द्वारा मनुष्य सुखी हो सकते हैं, अतः उसकी प्राप्ति की महिमा का वर्णन करते हैं— ॥ ९ ॥

† अत्र 'आविः' इत्येकं पदमनावश्यकम् अ० मुद्रिते ॥

अवेष्टा इत्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । विराडार्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्यैः किं कृत्वा किं किं प्राप्तव्यमित्युपदिश्यते[1] ॥

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरꣳ साम त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऽऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥

अवेष्टा इत्यवऽइष्टाः । दन्दशूकाः । प्राचीम् । आ । रोह । गायत्री । त्वा । अवतु । रथन्तरमिति रथम्ऽतरम् । साम । त्रिवृदिति त्रिऽवृत् । स्तोमः । वसन्तः । ऋतुः । ब्रह्म[2] । द्रविणम् ॥ १० ॥

पदार्थः—(अवेष्टाः) विरुद्धस्य संगन्तारः (दन्दशूकाः) परस्मै दुःखप्रदानाय दंशनशीलाः (प्राचीम्) पूर्वां दिशम् (आ) (रोह) प्रसिद्धो भव (गायत्री) पठितं गायत्रीछन्दः (त्वा) त्वाम् (अवतु) प्राप्नोतु (रथन्तरम्) रथैस्तरन्ति येन† तत् (साम) सामवेदः (त्रिवृत्)‡त्रयाणां मनोवाक्शरीरबलानां बोधकारकः (स्तोमः) स्तूयमानः (वसन्तः) (ऋतुः) (ब्रह्म) वेदो जगदीश्वरो ब्रह्मवित्कुलं वा (द्रविणम्) विद्याद्रव्यम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । १ । १–३ व्याख्यातः] ॥ १० ॥

अन्वयः—हे राजन् ! यस्त्वं येऽवेष्टा दन्दशूकाः सन्ति, तान् जित्वा प्राचीं दिशमारोह, तं त्वा गायत्री रथन्तरं साम त्रिवृत् स्तोम ऋतुर्वसन्तो ब्रह्म द्रविणं चावतु ॥ १० ॥

भावार्थः—ये मनुष्या विद्यासु प्रादुर्भवन्ति, ते शत्रून् विजित्यैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

फिर मनुष्य क्या करके किस किस को प्राप्त हों, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

पदार्थः—हे राजन् ! आप जो (अवेष्टाः) विरोधी का सङ्ग करनेवाले (दन्दशूकाः) दूसरों को दुःख देने के लिये काट खाने वाले हैं, उनको जीत के (प्राचीम्) पूर्व दिशा में (आरोह) प्रसिद्ध हों, उस (त्वा) आपको (गायत्री) पढ़ा हुआ गायत्री छन्द (रथन्तरम्) रथों से जिसके पार हों *ऐसा (साम) सामवेद, (त्रिवृत्) तीन मन वाणी और शरीर के बलों का बोध करानेवाला (स्तोमः) स्तुति के योग्य (वसन्तः) वसन्त (ऋतुः) [और] (ब्रह्म) वेद, ईश्वर और ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणकुल रूप (द्रविणम्) धन (अवतु) प्राप्त होवे ॥१०॥

---

१ पूर्वोक्तमेव द्रढयन्नाह—

२ ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत् ॥ तै० २ । ७ । १ । १ ॥
ब्रह्म वै स्तोमानां त्रिवृत् ॥ ऐ० ८ । ४ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अवेष्टाः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(दन्दशूकाः) यजजपदशां यङः (अ० ३ । २ । १६६) इत्यूकः । प्रत्ययस्वरः ॥

(रथन्तरम्) संज्ञायां भृतृ० (अ० ३ । २ । ४६) इति खच् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(वसन्तः) तॄभूवहिवसि० (उ० ३ । १२८) इति झच् । चित्त्वादन्तोदात्तः ॥

(द्रविणम्) पूर्वं अ० ८ । ६० पृ० ७४८ व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥ ॥१०॥

३ पूर्वोक्त विषय को ही दृढ़ करते हैं—

---

† कदाचिदत्र 'यत्' इति पाठः स्यात् । भाषापदार्थोऽप्यत्रार्थेऽनुकूलः ॥

‡ 'त्रिभि'रिति अजमेरमुद्रितेऽपपाठः ॥

* 'ऐसा बन' इति अजमेरमुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—जो मनुष्य विद्याओं में प्रसिद्ध होते हैं, वे शत्रुओं को जीत के ऐश्वर्य को प्राप्त हो सकते हैं ॥ १० ॥

दक्षिणामित्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

पुनः स सभेशः किं कृत्वा किं कुर्यादित्याह[1] ॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऽ ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥११॥

दक्षिणाम् । आ । रोह । त्रिष्टुप् । त्रिस्तुबिति त्रिऽस्तुप् । त्वा । अवतु । बृहत् । साम । पञ्चदश इति पञ्चऽदशः । स्तोमः । ग्रीष्मः । ऋतुः । क्षत्रम् । द्रविणम् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(दक्षिणाम्) दिशम् (आ) (रोह) (त्रिष्टुप्) एतच्छन्दोऽभिहितं विज्ञानम् (त्वा) त्वाम् (अवतु) प्राप्नोतु (बृहत्) महत् (साम[2]) सामवेदभागः (पञ्चदशः) प्राणेन्द्रियभूतानां पञ्चदशानां पूरकः (स्तोमः) स्तोतुं योग्यः (ग्रीष्मः) (ऋतुः) (क्षत्रम्) क्षत्रियधर्मरक्षकं कुलम् (द्रविणम्) राज्योद्भवं द्रव्यम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । १ । ४ व्याख्यातः] ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे विद्वन् राजन् ! यं त्वा त्रिष्टुप् छन्दो बृहत् साम पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणञ्चावतु, स त्वं दक्षिणां दिशमारोह शत्रून् विजयस्व ॥ ११ ॥

भावार्थः—यो राजा प्राप्तविद्यः क्षत्रियकुलं वर्धयेत्, †स शत्रुभिः कदापि न तिरस्क्रियेत ॥११॥

फिर वह सभापति राजा क्या करके क्या करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

पदार्थः—हे विद्वन् राजन् ! जिस (त्वा) आपको (त्रिष्टुप्) इस नाम के छन्द से सिद्ध विज्ञान (बृहत्) बड़ा (साम) सामवेद का भाग (पञ्चदशः) पांच प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, पांच इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण; पांच भूत अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पन्द्रह की पूर्ति करनेहारा (स्तोमः) स्तुति के योग्य (ग्रीष्मः) (ऋतुः) ग्रीष्म ऋतु (क्षत्रम्) क्षत्रियों के धर्म का रक्षक क्षत्रियकुलरूप और (द्रविणम्) राज्य से प्रकट हुआ धन (अवतु) प्राप्त हो। वह आप (दक्षिणाम्) दक्षिण दिशा में (आरोह) प्रसिद्ध हूजिये, और शत्रुओं को जीतिये ॥ ११ ॥

१ विद्वान् धृतब्रह्मचर्यव्रतः कुलवर्धनः सभापतिरेव सर्वाः प्रजा वशे स्थापयितुं क्षम इति दर्शयन्नाह—

२ साम वै बृहत् ॥ तां० ७ । ६ । १७ ॥ यद्ध्रस्वं तद् रथन्तरं, यद् दीर्घं तद् बृहत् ॥ कौ० ३ । ५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(ग्रीष्मः) घर्मग्रीष्मौ (उ० १ । १४९) इति ग्रसतेर्मक्प्रत्ययो निपात्यते । प्रत्ययस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ विद्वान्, ब्रह्मचर्यव्रतधारी, कुल की वृद्धि का हेतु, सभापति ही सब प्रजाओं को वश में रख सकता है, सो दर्शाते हैं— ॥ ११ ॥

† 'स एव' इति अजमेरमुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—जो राजा विद्या को प्राप्त हुआ क्षत्रिय कुल को बढ़ावे, उसका तिरस्कार शत्रुजन कभी नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

प्रतीचीमित्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

राजपुरुषैर्नित्यं वैश्यकुलं वर्द्धनीयमित्याह[1] ॥

प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳ साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऽ ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥१२॥

प्रतीचीम् । आ । रोह । जगती । त्वा । अवतु । वैरूपम् । साम । सप्तदश इति सप्तऽदश । स्तोमः । वर्षाः । ऋतुः । विट् । द्रविणम् ॥ १२ ॥

पदार्थः—(प्रतीचीम्) पश्चिमां दिशम् (आ) (रोह) (जगती) एतच्छन्दोभिहितमर्थम् (त्वा) त्वाम् (अवतु) (वैरूपम्) विविधानि रूपाणि यस्मिन् तत् (साम) सामवेदांशः (सप्तदशः) पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पञ्चविषयाः पञ्च महाभूतानि कार्य्यं कारणं चेति सप्तदशानां पूरकः (स्तोमः) स्तुतिसमूहः (वर्षाः[2]) (ऋतुः) (विट्) वणिग्जनः (द्रविणम्) द्रव्यम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । १ । ५ व्याख्यातः] ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! यं त्वा जगती वैरूपं साम सप्तदश स्तोम ऋतुर्वर्षा द्रविणं विट् चावतु, स त्वं प्रतीचीं दिशमारोह धनं च लभस्व ॥ १२ ॥

भावार्थः—ये राजपुरुषा राजनीत्या वैश्यानुन्नयेयुस्ते श्रियमाप्नुयुः ॥ १२ ॥

राजपुरुषों को चाहिये कि वैश्यकुल को नित्य बढ़ावें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

पदार्थः—हे राजपुरुष ! जिस (त्वा) आपको (जगती) जगती छन्द में कहा हुआ अर्थ (वैरूपम्) विविध प्रकार के रूपों वाला (साम) सामवेद का अंश (सप्तदशः) पांच कर्म इन्द्रिय, पांच शब्द, स्पर्श, रूप,

---

१ सद्वैश्यानामर्जितधनेन राष्ट्रोन्नतेः सम्भव इति राज्ञाऽत्र यत्नो विधेय इति वर्णयति—

२ वर्षा ह्यस्य (वैश्यस्य) ऋतुः ॥ तां ६ । १ । १० ॥ तस्माद् वैश्यो वर्षास्वादधीत । विड्ढि वर्षाः ॥ श० २ । १ । ३ । ५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रतीचीम्) अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये (अ० ६ । २ । ५२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे पर्युदस्ते उगितश्च (अ० ४ । १ । ६) इति ङीपि, अचः (अ० ६ । ४ । १३८) इत्यकारलोपे चौ (अ० ६ । १ । २२२) इतीकार उदात्तः ॥

(वैरूपम्) विरूपमेव वैरूपम् । प्रज्ञादित्वादण्, प्रत्ययस्वरः ॥

(विट्) विशतेः क्विप्, धातुस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ उत्तम वैश्यों के अर्जित धन से राष्ट्र की उन्नति होना सम्भव है, अतः राजा को इस विषय में यत्नशील रहना चाहिये, सो बतलाते हैं— ॥ १२ ॥

रस, गन्ध विषय, पांच महाभूत अर्थात् सूक्ष्म भूत, कार्य और कारण, इन सत्रह का पूरण करने वाला (स्तोमः) स्तुतियों का समूह (वर्षाः) वर्षा (ऋतुः) ऋतु (द्रविणम्) द्रव्य और (विट्) वैश्य जन (अवतु) प्राप्त हों। सो आप (प्रतीचीम्) पश्चिम दिशा को (आरोह) आरूढ़ और धन को प्राप्त हूजिये ॥ १२ ॥

भावार्थः—जो राजपुरुष राजनीति से वैश्यों की उन्नति करें, वे ही लक्ष्मी को प्राप्त होवें ॥ १२ ॥

उदीचीमित्यस्य वरुण ऋषिः। यजमानो देवता। आर्ची पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥

पुनाराजादिनरैः किं लब्धव्यमित्याह[1] ॥

उदी॒ची॒मारो॑हानु॒ष्टुप् त्वा॑वतु वै॒रा॒जꣳ सामै॑कवि॒ꣳश स्तोमः॑ श॒रदृ॒तुः फलं॒ द्रवि॑णम् ॥ १३ ॥

× उदी॑चीम्। आ। रो॒ह॒। अ॒नु॒ष्टुप्। अ॒नु॒स्तु॒बित्य॑नु॒ऽस्तुप्। त्वा॒। अ॒व॒तु॒। वै॒रा॒जम्। साम॑। + ए॒क॒वि॒ꣳश इत्ये॑कऽवि॒ꣳशः। स्तोमः॑। श॒रत्। ऋ॒तुः। फल॑म्। द्रवि॑णम् ॥ १३ ॥

पदार्थः—(उदीचीम्[2]) उत्तराम् (आ) (रोह) (अनुष्टुप्) यया पठित्वा पुनः सर्वा विद्या अन्येभ्यः स्तुवन्ति सा (त्वा) (अवतु) (वैराजम्[3]) यद्विविधैरर्थैं राजते तदेव (साम) (एकविंशः) षोडशै कलाश्चत्वारः पुरुषार्थोऽवयवाः कर्त्ता चेति तेषामेकविंशतेः पूरणः (स्तोमः) स्तुतिविषयः (शरत्) (ऋतुः) (फलम्) सेवाफलदं शूद्रकुलम् (द्रविणम्)॥ [अयं मन्त्रः शत० ५। ४। १। ६ व्याख्यातः]॥ १३ ॥

अन्वयः—हे सभापते ! त्वमुदीचीं दिशमारोह। यतोऽनुष्टुब् वैराजं सामैकविंशस्तोम ऋतुः शरद् द्रविणं फलं च त्वाऽवतु ॥ १३ ॥

भावार्थः—ये जना आलस्यं विहाय सर्वदा पुरुषार्थमेवानुतिष्ठन्ते†, ते सच्छूद्रान् प्राप्य फलवन्तो जायन्ते ॥ १३ ॥

---

१ समाजे पादस्थानीयाः सच्छूद्रा अपि राष्ट्रस्योन्नतिमूला इति दर्शयति—

२ साम्नामुदीची महती दिगुच्यते ॥ तै० ३। १२। ९। १॥

३ अथ हैनमुदीच्यां दिशि विश्वेदेवाः...अभ्यषिञ्चन्... वैराज्याय ॥ ऐ० ८। १४॥

४ षोडशकलाः पूर्वं य० ८। ३६ पृ० ७०९ व्याख्याताः॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(उदीचीम्) अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये (अ० ६। २। ५२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः॥

(अनुष्टुप्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

(वैराजम्) विराजमेव वैराजम्। प्रज्ञादित्वादण्। प्रत्ययस्वरः॥

(एकविंशः) तस्य पूरणे डट् (अ० ५। २। ४८) इति डट्। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

(शरत्) शॄदृभसोऽदिः (उ० १। १३०) इति 'अदिः'। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः॥

× 'उदीचीम्' इति स्वरहितोऽपपाठो ऽजमेरमुद्रिते॥

+ 'ए॒क॒वि॒ꣳश इत्ये॑कऽवि॒ꣳशः' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते॥

† साम्प्रतिकानां मते 'अनुतिष्ठन्ति' इति स्यात्॥

फिर राजा आदि पुरुषों को क्या प्राप्त करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे सभापति राजा ! आप (उदीचीम्) उत्तर की दिशा में (आरोह) प्रसिद्धि को प्राप्त हूजिये । जिससे (अनुष्टुप्) ॐजिसके द्वारा पढ़के सब विद्याओं का दूसरों के लिये उपदेश करें, वह छन्द (वैराजम्) अनेक प्रकार के अर्थों से शोभायमान (साम) सामवेद का भाग (एकविंशः) सोलह कला[2], चार पुरुषार्थ के अवयव, और एक कर्त्ता, इन इक्कीस को पूरण करनेहारा (स्तोमः) स्तुति का विषय (शरत्) शरद् (ऋतुः)ऋतु (द्रविणम्) ऐश्वर्य्य और (फलम्) फलरूप सेवाकारक शूद्रकुल (त्वा) आपको (अवतु) प्राप्त होवे ॥ १३ ॥

भावार्थः—जो पुरुष आलस्य को छोड़ सब समय में पुरुषार्थ का अनुष्ठान करते हैं, वे [उत्तम शूद्रों को प्राप्त होके] अच्छे फलों को भोगते हैं ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वामित्यस्य वरुण ऋषिः । यजमानो देवता । भुरिग्जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैरुत्कृष्टविद्ययाऽनेके पदार्था विज्ञातव्या इत्याह[3] ॥

ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वाम् । आ । रोह । पङ्क्तिः । त्वा । अवतु । शाक्वररैवतेऽइति शाक्वररैवते । सामनीऽइति सामनी । × त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ । + त्रिनवत्रयस्त्रिꣳशाविति त्रिनवऽत्रयस्त्रिꣳशौ । स्तोमौ । हेमन्तशिशिरौ । ऋतूऽइत्यृतू । वर्चः । द्रविणम् । प्रत्यस्तमिति प्रतिऽअस्तम् । नमुचेः । शिरः ॥ १४ ॥

पदार्थः—(ऊर्ध्वाम्) दिशम् (आ) (रोह) (पङ्क्तिः[4]) (त्वा) (अवतु) (शाकररैवते) शाकरं च रैवतं च ते (सामनी) (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) ये त्रयश्च कालाः, नवाङ्कविद्याश्च, त्रयश्च त्रिंशच्च वस्वादयः पदार्था व्याख्याता याभ्यां, तयोः पूरणौ, तौ (स्तोमौ) स्तुतिविशेषौ (हेमन्तशिशिरौ (ऋतू) (वर्चः) विद्याध्ययनम् (द्रविणम्) द्रव्यम् (प्रत्यस्तम्) प्रतिक्षिप्तम् (नमुचेः) न मुञ्चति परपदार्थान् दुष्टाचारान् वा यः स्तेनस्तस्य (शिरः) उत्तमाङ्गम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । १ । ७ व्याख्यातः] ॥ १४ ॥

(फलम्) फल निष्पत्तौ, तस्मात् पचाद्यचि वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्यस्याकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ समाज में पादस्थानीय सत् शूद्र भी राष्ट्र की उन्नति के निमित्त होते हैं, सो कहते हैं— ॥ १३ ॥

२ सोलह कला पूर्व य० ८ । ३६, पृ० ७०९ पर व्याख्यात हैं ॥

३ उत्कृष्टज्ञानेन विज्ञानवृद्धेः सम्भव इत्यत आह—

४ पङ्क्तिरूर्ध्वा दिक् ॥ श० ८ । ३ । १ । १२ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पङ्क्तिः) पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्० (अ० ५ । १ । ५९) इति तिप्रत्ययान्तो निपात्यते, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(शाकररैवते) समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

ॐ 'जिसको पढ़ के सब विद्याओं से दूसरों की स्तुति करें वह छन्द' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

× 'त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

+ त्रिनवत्रयस्त्रिꣳशाविति त्रिनवऽत्रयस्त्रिꣳशौ' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

अन्वयः—हे राजन् ! यद्यूर्ध्वां दिशमारोह तर्हि त्वा पङ्क्तिः शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं चावतु नमुचेः शिरश्च प्रत्यस्तं स्यात् ॥ १४ ॥

भावार्थः—ये मनुष्या अन्वृतु योग्याऽऽहारविहारास्सन्तो विद्यायोगाभ्याससत्सङ्गान् समाचरन्ति, ते सर्वेष्वृतुषु सुखं भुञ्जते । न चैभ्यः ❀ कश्चिद् रोगः पीडां दातुं शक्नोति ॥ १४ ॥

मनुष्यों को चाहिये कि उत्तम विद्या से अनेक पदार्थों को जानें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे राजन् ! आप जो (ऊर्ध्वाम्) ऊपर की दिशा में (आरोह) प्रसिद्ध होवें, तो (त्वा) आपको (पङ्क्तिः) पङ्क्ति नाम का † छन्द (शाक्वररैवते) () शक्वरी और रेवती ऋचाओं से युक्त (सामनी) + सामवेद के दो अवयव (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) तीन काल, नव अंकों की विद्या और तैंतीस वसु आदि पदार्थ जिन दोनों से व्याख्यान किये गये हैं, उनके पूर्ण करनेवाले (स्तोमौ) स्तोत्रों के दो भेद (हेमन्तशिशिरौ) हेमन्त और शिशिर (ऋतू) ऋतु (वर्चः) ब्रह्मचर्य्य के साथ विद्या का पढ़ना और (द्रविणम्) ऐश्वर्य (अवतु) तृप्त करें और (नमुचेः) दुष्ट चोर का (शिरः) मस्तक (प्रत्यस्तम्) नष्ट भ्रष्ट होवे ॥ १४ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सब ऋतुओं में समय के अनुसार आहार विहार युक्त होके विद्या योगाभ्यास और सत्सङ्गों का अच्छे प्रकार सेवन करते हैं, वे सब ऋतुओं में सुख भोगते हैं और इनको कोई ❁ रोग आदि भी पीड़ा नहीं दे सकता ॥ १४ ॥

सोमेत्यस्य वरुण ऋषिः । परमात्मा देवता । विराडार्ची पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

राजप्रजाजनैराप्तवद् ♣ वर्तित्वा परस्परेषां रक्षणं विधेयमित्याह[2] ॥

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात् । मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि ॥१५॥

(त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) तस्य पूरणे डट् (अ० ५ । २ । ४८) इति डट् । पूर्ववदन्तोदात्तत्वम् ॥

(हेमन्तशिशिरौ) समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वमत्रापि ॥

(प्रत्यस्तम्) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फि० ८१) इत्याद्युदात्तत्वम् ॥

(नमुचेः) न मुञ्चतीति मुचेः इगुपधात् कित् (उ० ४ । १२०) इतीन् । नञ्समासे नभ्राण्नपान्नवेदा० (अ० ६ । ३ । ७५) इति ननः प्रकृतिभावे, तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(शिरः) श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च (उ० ४ । १९४) इति 'असुन्', शिरादेशश्च, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ उत्कृष्ट विद्या द्वारा ही विज्ञान की वृद्धि होना सम्भव है, यह दर्शाते हैं— ॥ १४ ॥

२ विद्वांसः स्वभावतः सर्वेषां कल्याणाय यतन्ते इत्यत आह—

❀ 'कश्चिच्चोरः' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

() 'शक्वरी और रेवती छन्द से युक्त' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

\+ 'सामवेद के पूर्व उत्तर दो अवयव' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

❁ 'कोई चोर आदि' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

† 'पढ़ा हुआ छन्द' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

♣ 'ईश्वरवद्' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

सोम॑स्य । त्विषिः॑ । अ॒सि॒ । तवे॒वेति॒ ‡ तव॑ऽइव । मे॒ । त्विषिः॑ । भू॒या॒त् । मृ॒त्योः । पा॒हि॒ । ओजः॑ । अ॒सि॒ । सहः॑ । अ॒सि॒ । अ॒मृत॑म् । अ॒सि॒ ॥ १५ ॥

पदार्थः—(सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (त्विषिः) दीप्तिः (असि) (तवेव) (मे) (त्विषिः) (भूयात्) (मृत्योः) मरणात् (पाहि) (ओजः) पराक्रमयुक्तः (असि) (सहः) बलवान् (असि) (अमृतम्) मरणधर्मरहितम् (असि) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । १ । ११–१४ व्याख्यातः] ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे परमाप्त ! यथा त्वं सोमस्य त्विषिरस्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि तथाऽहं भवेयम् । तवेव मे त्विषिरोजः सहोऽमृतं च भूयात्[1] । त्वं मृत्योर्मां पाहि ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे पुरुषा यथाऽऽप्ताः स्वेष्टं [इच्छन्ति तथा] प्रजाभ्योऽपीच्छेयुः, यथा प्रजा राजपुरुषान् रक्षेयुस्तथा राजपुरुषाः [अपि] प्रजाजनान् सततं रक्षन्तु ॥ १५ ॥

राजा और प्रजा पुरुषों को उचित है कि + आप्त के समान न्यायाधीश होकर आपस में एक दूसरे की रक्षा करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे परम आप्त विद्वन् ! जैसे आप (सोमस्य) ऐश्वर्य का (त्विषिः) प्रकाश करनेहारे (असि) हैं (ओजः) पराक्रमयुक्त (असि) हैं × (सहः) बलवान् (असि) हैं (अमृतम्) जन्म मरणादि धर्म से रहित (असि) हैं, वैसा मैं भी होऊं । (तवेव) आपके समान (मे) मेरा (त्विषिः) * विद्या प्रकाश, पराक्रम, बल और मोक्ष सुख (भूयात्) हो, आप मुझको (मृत्योः) मृत्यु से (पाहि) बचाइये ॥ १५ ॥

भावार्थः—हे पुरुषो ! जैसे धार्मिक विद्वान् †अपने लिये जिसकी इच्छा करते हैं, वैसे प्रजा के लिये भी इच्छा करें, जैसे प्रजा के जन राजपुरुषों की रक्षा करें, वैसे राजपुरुष भी प्रजाजनों की निरन्तर रक्षा करें ॥१५॥

हिरण्यरूपावित्यस्य वरुण ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । स्वराडार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ विद्वद्भिर्निष्कपटतयाऽऽप्ताः सत्यमुपदिश्य विद्वांसो मेधाविनः संपादनीया इत्याह[3] ॥

हिर॑ण्यरूपा ऽ उ॒षसो॑ विरो॒क ऽ उ॒भावि॑न्द्रा ऽ उदि॑थः॒ सूर्य॑श्च ।
आरो॑हतं वरुण मित्र॒ गर्त्तं॒ तत॑श्चक्षाथा॒मदि॑तिं॒ दितिं॑ च मि॒त्रो॑ऽसि॒ वरु॑णोऽसि ॥ १६ ॥

---

१ अयं भागः पूर्वं यजु० १० । ५ पृ० ८३१, ८३२ व्याख्यातः ॥

२ विद्वान् स्वभाव से ही सबके कल्याण के लिये यत्न करते हैं, अतः कहा है—

३ उपदेशाय, सर्वविधविद्याप्रकाशने च विद्वांस एवोपयुज्यन्त इत्यत आह—

---

‡ 'तव इव' इत्यवग्रहचिह्नरहितोऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ + 'ईश्वर के समान' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

× '(सहः)···(असि) है' इति क. कोशे उपलभ्यमानोऽपि ग. कोशे अ० मुद्रिते च प्रमादेन त्यक्तः ॥

* 'विद्याप्रकाश से भाग्योदय' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

† 'अपने को जो इष्ट है उसी को प्रजा के लिये' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

हिरण्यरूपाविति हिरण्यऽरूपौ । उषसः । विरोक इति विऽरोके । उभौ । इन्द्रौ । उत् । इथः । सूर्यः । च ॥ आ । रोहतम् । वरुण । मित्र । गर्त्तम् । ततः । चक्षाथाम् । अदितिम् । दितिम् । च । मित्रः । असि । वरुणः । असि ॥ १६ ॥

पदार्थः—(हिरण्यरूपौ[1]) ज्योतिःस्वरूपौ (उषसः) प्रभातान् (विरोके) विविधतया रुचिकरे व्यवहारे (उभौ) (इन्द्रौ) परमैश्वर्य्यकारकौ (उत्) (इथः) प्राप्नुथः (सूर्यः) (च) चन्द्रइव (आ) (रोहतम्) (वरुण) शत्रुच्छेदक उत्कृष्टसेनापते ! (मित्र) सर्वस्य सुहृत् ! (गर्तम्) X उपदिश्यमानगृहम् गर्त्त इति गृहनामसु पठितम् । निघ० ३ । ४ । (ततः) तदनन्तरम् (चक्षाथाम्) उपदिशेताम् (अदितिम्) अविनाशिनं पदार्थम् (दितिम्) नाशवन्तम् (च) (मित्रः) सुखप्रदः (असि) (वरुणः) सर्वोत्तमः (असि) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । १ । १५-१७ व्याख्यातः] ॥१६॥

अन्वयः—हे उपदेशक मित्र ! यतस्त्वं मित्रोऽसि, हे वरुण यतस्त्वं वरुणोऽसि, ततस्तौ युवां गर्त्तमारोहतम् । अदितिं दितिं च चक्षाथाम् । हे हिरण्यरूपावुभाविन्द्रौ यथा विरोके सूर्यश्चन्द्रश्चोषसो विभातस्तथा युवामुदिथो[2] विद्याः प्रभातम् ॥ १६ ॥

भावार्थः—यत्र देशे सूर्य्यचन्द्रवदुपदेशका व्याख्यानैः सर्वा विद्याः प्रकाशयन्ति, तत्र सत्याऽसत्यपदार्थबोधेन सहितत्वात् कश्चिदप्यविद्यया न विमुह्यति, यत्रेदं न भवति तत्राऽन्धपरम्परा-ग्रस्ता जनाः प्रत्यहमवनतिं प्राप्नुवन्ति ॥ १६ ॥

अब विद्वानों को चाहिये कि आप निष्कपट हो और अज्ञानी पुरुषों के लिये सत्य का उपदेश करके उनको बुद्धिमान् विद्वान् बनावें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥[3]

पदार्थः—हे उपदेश करनेहारे (मित्र) सबके सुहृद् ! जिस लिये आप (मित्रः) सुख देनेवाले (असि) हैं, तथा हे (वरुण) शत्रुओं को मारनेहारे बलवान् सेनापति ! जिस लिये आप (वरुणः) सबसे उत्तम (असि) हैं, [(ततः)] इसलिये आप दोनों (गर्त्तम्) † जिसको उपदेश करना है, उसके घर पर

१ वर्चो वा एतद् यद्धिरण्यम् ॥ श० ३ । २ । ४ । ९ ॥ देवानां वा एतद् रूपं यद्धिरण्यम् ॥ श० १२ । ८ । १ ॥ १५ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हिरण्यरूपौ) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६ । २ । १) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरे हर्यतेः कन्यन् हिर् च (उ० ५ । ४४) इति नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(विरोके) विपूर्वाद् रोचतेर्घञि चजोः कु घिण्ण्यतोः (अ० ७ । ३ । ५२) इति कुत्वे थाथघञ्क्ता० (अ० ६ । २ । १४४) इत्युत्तर-पदान्तोदात्तत्वम् ॥

(गर्त्तम्) हसिमृग्रिण्वामि० (उ० ३ । ८६) इति तन्, नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(दितिम्) 'दो अवखण्डने' इत्यस्मात् स्त्रियां क्तिन् (अ० ३ । ३ । ९४) इति क्तिन् । नित्त्वादा-द्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ उभयत्रान्तर्णीतो ण्यर्थ इति बोध्यम् ॥

३ उपदेश करने, तथा सब प्रकार की विद्याओं के प्रकाश करने में विद्वान् ही उपयुक्त हैं, यह दर्शाते हैं—॥ १६ ॥

X 'उपदेशकगृहम्' इति अ० मुद्रितेऽसम्बद्धः पाठः, अन्वये उपदेशकपदस्य सम्बोधनपरत्वात् ॥

† 'उपदेश करने वाले के घर पर' इति पूर्ववदजमेरमुद्रितेऽसम्बद्धः पाठः ॥

(आरोहतम्) जाओ (अदितिम्) अविनाशी (च) और (दितिम्) नाशवान् पदार्थों का (चक्षाथाम्) उपदेश करो [अर्थात् उनके भेद को बताओ], हे (हिरण्यरूपौ) प्रकाशस्वरूप ! (उभौ) दोनों (इन्द्रौ) परमैश्वर्य करनेहारे जैसे (विरोके) विविध प्रकार की रुचि करानेहारे व्यवहार में (सूर्य्यः) सूर्य्य (च) और चन्द्रमा (उषसः) प्रातः और निशा काल के अवयवों को प्रकाशित करते हैं, वैसे तुम दोनों जन (उदिथः) विद्याओं का उपदेश करो ॥ १६ ॥

भावार्थः—जिस देश में सूर्य चन्द्रमा के समान उपदेश करनेहारे व्याख्यानों से सब विद्याओं का प्रकाश करते हैं, वहां सत्यासत्य पदार्थों के × बोध से युक्त होके कोई भी विद्याहीन होकर भ्रम में नहीं पड़ता, जहां यह बात नहीं होती, वहां अन्धपरम्परा में फंसे हुए मनुष्य नित्य ही क्लेश पाते हैं, [उन्नति को प्राप्त नहीं होते] ॥ १६ ॥

सोमस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । क्षत्रपतिर्देवता । आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

एतत्प्रवृत्तये कीदृशो राजाभिषेचनीय इत्याह[1] ॥

सोम॑स्य त्वा द्यु॒म्नेना॒भिषि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॒सेन्द्र॑स्येन्द्रि॒येण॑ ।
क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑तिरे॒ध्यति॑ दि॒द्यून् पा॑हि ॥ १७ ॥

सोम॑स्य । त्वा॒ । + द्यु॒म्नेन॑ । अ॒भि । सि॒ञ्चा॒मि॒ । अ॒ग्नेः । भ्राज॑सा । सूर्य॑स्य । वर्च॑सा । इन्द्र॑स्य । इ॒न्द्रि॒येण॑ ॥ क्ष॒त्राणा॑म् । क्ष॒त्रप॑ति॒रिति॑ क्ष॒त्रऽप॑तिः । ए॒धि॒ । अति॑ । दि॒द्यून् । पा॒हि॒ ॥ १७ ॥

पदार्थः—(सोमस्य) चन्द्रस्येव[2] (त्वा) (द्युम्नेन) यशःप्रकाशेन (अभि) आभिमुख्ये (सिञ्चामि) अधिकरोमि (अग्नेः) अग्नितुल्येन (भ्राजसा) तेजसा (सूर्य्यस्य) सवितुरिव (वर्चसा) अध्ययनेन (इन्द्रस्य) विद्युतइव[3] (इन्द्रियेण) मनआदिना (क्षत्राणाम्) क्षत्रकुलोद्गतानाम् (क्षत्रपतिः)

१ विद्वान् जितेन्द्रियो राजैव विद्यावृद्धिं सम्पादयितुमर्हतीत्यत आह—

२ चन्द्रमा उ वै सोमः ॥ श० ६ । ५ । १ । १ ॥

३ स्तनयित्नुरेवेन्द्रः ॥ श० ११ । ६ । ३ । ९ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(द्युम्नम्) पूर्वत्र यजु० ३ । ३८ पृ० ३१२ व्याख्यातः ॥

(भ्राजसा) सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४ । १८९) इत्यसुन् । नित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(क्षत्रपतिः) पत्यावैश्वर्ये (अ० ६ । २ । १८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । 'क्षत्र' शब्दः पूर्वं (यजु० ६ । ३ । पृ० ५१९) त्रप्रत्ययान्तो व्याख्यातः ॥

(दिद्यून्) पूर्वत्र (यजु० २ । २० पृ० २०६,) भाष्ये विवरणे च व्याख्यातः ॥

सायणस्तु 'दिद्युमस्मै स्वायाम् (ऋ० १ । ७१ । ५)' इत्यत्र 'दिद्युत् इति वज्रनाम, अन्त्यलोपश्छान्दसः' इत्याह । तदयुक्तम् । 'दिद्यवः' (ऋ० ४ । ४१ । ११), 'दिद्युम्' (ऋ० १ । ७१ । ५), 'दिद्यून्' (यजु० १० । १७) 'दिद्योः' (यजु० २ । २०) इत्यादौ सर्वविभक्त्यन्तस्वदर्शनात् 'दिद्यु' इत्युकारान्तः स्वतन्त्रशब्द एव स्वीकर्तुं योग्यः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

× 'पदार्थों के बोध से सहित' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
+ 'द्युम्नेन' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

(एधि) भव (अति) (दिद्यून्) विद्याधर्मप्रकाशकान् व्यवहारान् (पाहि) सततं रक्ष ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५।४।२।२ व्याख्यातः] ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे प्रशस्तगुणकर्मस्वभावयुक्त राजन्! यथाऽहं यं *त्वा त्वां सोमस्येव द्युम्नेनाग्नेरिव भ्राजसा सूर्यस्येव वर्चसेन्द्रस्येवेन्द्रियेणाऽभिषिञ्चामि। तथा स त्वं क्षत्राणां क्षत्रपतिरत्येधि दिद्यून् पाहि ॥ १७ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—मनुष्या यः सोमादिगुणयुक्तो विद्वान् जितेन्द्रियो जनो भवेत् तं राजत्वे स्वीकुर्वन्तु। स च राज्यं प्राप्यातिप्रवृद्धः सन् विद्याधर्मप्रकाशकादीन् राजप्रजाजनान् सततमतिवर्द्धयेत् ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त कार्यों की प्रवृत्ति के लिये कैसे पुरुष को राज्याऽधिकार देना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे प्रशंसित गुण कर्म और स्वभाववाले राजन्! जैसे मैं + जिस (त्वा) आपको (सोमस्य) चन्द्रमा के समान (द्युम्नेन) यशरूप प्रकाश से (अग्नेः) अग्नि के समान (भ्राजसा) तेज से (सूर्यस्य) सूर्य्य के समान (वर्चसा) पढ़ने से और (इन्द्रस्य) बिजुली के समान (इन्द्रियेण) मन आदि इन्द्रियों के सहित (अभिषिञ्चामि) राज्याधिकारी करता हूँ। वैसे वे आप (क्षत्राणाम्) क्षत्रियकुल में जो उत्तम हों, उनके बीच (क्षत्रपतिः) राज्य के पालनेहारे (अत्येधि) अति [पुरुषार्थ से] तत्पर हूजिये और (दिद्यून्) विद्या तथा धर्म का प्रकाश करनेहारे व्यवहारों की (पाहि) निरन्तर रक्षा कीजिये ॥ १७ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि जो शान्ति आदि गुणयुक्त जितेन्द्रिय विद्वान् पुरुष हो, उसको राज्य का अधिकार देवें। और उस राजा को चाहिये कि राज्याधिकार को प्राप्त हो अतिश्रेष्ठ होता हुआ विद्या और धर्म आदि के प्रकाश करनेहारे प्रजापुरुषों को निरन्तर बढ़ावे ॥ १७ ॥

इमं देवा इत्यस्य देववात ऋषिः। यजमानो देवता। स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

सत्योपदेशकैर्विद्वद्भिर्बाल्याऽवस्थामारभ्य सुशिक्षया सर्वे राजकन्याकुमाराः
श्रेष्ठाचाराः संपादनीया इत्याह[2] ॥

इमं देवा ऽ असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश ऽ एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ १८ ॥

---

[1] विद्वान्, जितेन्द्रिय राजा ही विद्यावृद्धि करने में समर्थ होता है, यह बतलाते हैं— ॥ १७ ॥

[2] 'आचारः परमो धर्मः' आचारवान् हि सुखं लभत इति श्रेष्ठाचारस्यावश्यकतां दर्शयन्नाह—

* 'त्वा' इत्ययं शब्दः 'अभिषिञ्चामि' इत्यतः पूर्वमासीत्, तस्य तत्रानन्वयादस्माभिरत्रापकृष्टः ॥

\+ 'जिस तुझको' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

इमम् । देवाः । असपत्नम् । सुवध्वम् । महते । क्षत्राय । महते । ज्यैष्ठ्याय । महते । जानराज्यायेति जानऽराज्याय । इन्द्रस्य । इन्द्रियाय ॥ इमम् । अमुष्य । पुत्रम् । अमुष्यै । पुत्रम् । अस्यै । विशे । एषः । वः । अमीऽइत्यमी । राजा । सोमः । अस्माकम् । ब्राह्मणानाम् । राजा ॥ १८ ॥

पदार्थः—(इमम्) (देवाः) वेदशास्त्रविदः सेनापतयः (असपत्नम्) अजातशत्रुम् (सुवध्वम्) प्रेर्ध्वम् (महते) सत्कर्त्तव्याय (क्षत्राय) क्षत्रियकुलाय (महते) (ज्यैष्ठ्याय) विद्याधर्मवृद्धानां भावाय (महते) (जानराज्याय) जनानां राज्ञां माण्डलिकानामुपरि प्रभवाय (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य्ययुक्तस्य धनिकस्य (इन्द्रियाय) धनवर्धनाय (इमम्) (अमुष्य) सद्गुणसम्पन्नस्य राजपूतस्य (पुत्रम्) तनयम् (अमुष्यै) प्रशंसनीयाया राजपुत्र्याः, अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी (पुत्रम्) पवित्रगुणकर्मस्वभावैर्मातापितृपालकम् (अस्यै) वर्त्तमानायाः सुशिक्षितव्यायाः (विशे) प्रजायाः (एषः) (वः) युष्माकं पालनाय (अमी) धार्मिका राजपुरुषाः (राजा) सर्वत्र विद्याधर्मसुशिक्षाप्रकाशकः (सोमः) शुभगुणैः प्रसिद्धः (अस्माकम्) (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मवेदभक्तानाम् (राजा) वेदेश्वरोपासनया प्रकाशमानः ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ३ । ३ । १२ तथा ५ । ४ । २ । ३ व्याख्यातः] ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे देवा यूयं य एष उपदेशकः सेनेशो वा वोऽस्माकं च ब्राह्मणानां राजाऽस्ति । येऽमी राजपुरुषाः सन्ति, तेषां सोमो राजाऽस्ति, तमिममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशे महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियायासपत्नं सुवध्वम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—यद्युपदेशका राजपुरुषाश्च सर्वस्योन्नतिं चिकीर्षेयुस्तर्हि † प्रजाजना राजराजपुरुषोन्नतिं कुतो न कर्त्तुमिच्छेयुः । यदि राजप्रजाजना वेदेश्वराज्ञां विहाय स्वेच्छया प्रवर्त्तेरन् , तर्ह्येषामनुन्नतिः कुतो न भवेत् ॥ १८ ॥

सत्य के उपदेशक विद्वानों को चाहिये कि बाल्यावस्था से लेके अच्छी शिक्षा से राजाओं की कन्या और पुत्रों को श्रेष्ठ आचारयुक्त करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[2] ॥

पदार्थः—हे (देवाः) वेद शास्त्रों को जाननेहारे सेनापति लोगो ! जो (एषः) यह उपदेशक वा सेनापति (वः) तुम्हारा और (अस्माकम्) हमारा (ब्राह्मणानाम्) ईश्वर और वेद के सेवक ब्राह्मणों का (राजा) वेद और ईश्वर की उपासना से प्रकाशमान अधिष्ठाता है, [और] जो (अमी) वे धर्मात्मा राजपुरुष हैं, उनका (सोमः) शुभ गुणों से प्रसिद्ध (राजा) सर्वत्र विद्या धर्म और अच्छी शिक्षा का करनेहारा है, उस [(इमम्) इस] (अमुष्य) श्रेष्ठ गुणों से युक्त राजपूत के (पुत्रम्) पुत्र को [(इमम्) इस] (अमुष्यै)

---

१ सत्यसंहिता वै देवाः ॥ ऐ० १ । ६ ॥
जाग्रति देवाः ॥ श० २ । १ । ४ । ७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(असपत्नम् सुवध्वम्) इति पूर्वं यजु० ९ । ४० पृ० ८११ व्याख्यातौ ॥

(ज्यैष्ठ्याय जानराज्याय) यजु० ९ । ३, ४० पृ० ८०९, ८११ व्याख्यातौ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ "सदाचार ही परमधर्म है," आचारवान् ही सुख को प्राप्त होता है, इसलिये श्रेष्ठाचार की आवश्यकता दर्शाते हैं— ॥ १८ ॥

---

† 'प्रजाराजजना राजपुरुषान्नतिं' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

प्रशंसा करने योग्य राजपुत्री के (पुत्रम्) पवित्र गुण कर्म और स्वभाव से माता पिता की रक्षा करनेवाले पुत्र [को], (अस्यै) अच्छी शिक्षा करने योग्य इस वर्त्तमान (विशे) प्रजा के लिये तथा (महते) सत्कार करने योग्य (क्षत्राय) क्षत्रियकुल के लिये (महते) बड़े (ज्यैष्ठ्याय) विद्या और धर्म विषय में श्रेष्ठ पुरुषों के होने के लिये (महते) श्रेष्ठ (जानराज्याय) माण्डलिक राजाओं के ऊपर बलवान् समर्थ होने के लिये (इन्द्रस्य) सब ऐश्वर्यों से युक्त धनाढ्य के (इन्द्रियाय) धन बढ़ाने के लिये आप (असपत्नम्) जिसका कोई शत्रु न हो, ऐसे पुत्र को (सुवध्वम्) उत्पन्न करो ॥ १८ ॥

भावार्थः—जो उपदेशक और राजपुरुष सब प्रजा की उन्नति किया चाहें तो प्रजा के मनुष्य राजा और राजपुरुषों की उन्नति करने की इच्छा क्यों न करें। जो राजपुरुष और प्रजापुरुष वेद और ईश्वर की आज्ञा को छोड़ के अपनी इच्छा के अनुकूल प्रवृत्त होवें, तो इनकी उन्नति का विनाश क्यों न हो ॥ १८ ॥

प्र पर्वतस्येत्यस्य देववात ऋषिः। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः॥

पुनरत्र राजप्रजाजनैः कीदृशानि यानानि रचनीयानीत्याह[1]॥

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच ऽ इयानाः।
ता ऽ आववृत्रन्नधरागुदक्ता ऽ अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः।
विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥ १९ ॥

प्र। पर्वतस्य। वृषभस्य। पृष्ठात्। नावः। चरन्ति। स्वसिच इति स्वऽसिचः। इयानाः॥ ताः। आ। ववृत्रन्। अधराक्। उदक्ता इत्युत्ऽअक्ताः। अहिम्। बुध्न्यम्। अनु। रीयमाणाः॥ विष्णोः। विक्रमणमिति विऽक्रमणम्। असि। विष्णोः। विक्रान्तमिति विऽक्रान्तम्। असि। विष्णोः। क्रान्तम्। असि॥ १९॥

पदार्थः—(प्र) (पर्वतस्य) मेघस्य, पर्वत इति मेघनामसु पठितम्। निघ० १। १०। (वृषभस्य) वर्षकस्य (पृष्ठात्) उपरिभागात् (नावः) सागरोपरि नाव इव विमानानि[2] (चरन्ति) (स्वसिचः) याः स्वैर्जनैर्जलेन सिच्यन्ते ताः (इयानाः) गन्त्र्यः (ताः) (आ) (अववृत्रन्) अर्वाचीनो वृत्र इवाचरन्, अत्राचारे सुबन्तात् क्विप् (अधराक्) मेघादधस्तात् (उदक्ताः) पुनरूर्ध्वं गच्छन्त्यः (अहिम्)

१ राज्ये शिल्पविद्याविस्तरः, विविधयानादिनिर्माणं च विचक्षणैः कर्त्तव्यमित्याह—

२ नौविमानविषये पूर्वं यजु० १। १४ पृ० ९३, ९४ द्रष्टव्यम् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(नावः) ग्लानुदिभ्यां डौः (उ० २। ६४) इति डौः। डित्वाट्टिलोपः प्रत्ययस्वरः॥

(स्वसिचः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

(इयानाः) छान्दसः शानच्, अदादित्वाच्छपो लुक्, इयङादेशः। चित्वादन्तोदात्तः॥

(अववृत्रन्) वृत्रमिवाचरति वृत्रति। लुङि छान्दसश्च्लेश्चङ्। तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति निघातः। संहितायां स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ (अ० ८। २। ६) इत्याकारस्योदात्तत्वम्॥

यद्वा वृत्रप्रातिपदिकात् तत्करोति तदाचष्टे (अ० ३। १। २६ भा० वा०) इति णिचि लुङि रूपम्॥ यद्वा 'वृतु वर्त्तने' इत्यस्मात् णिचि छान्दसो रगागमः॥

(अधराक्) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः, ततो दीर्घैकादेशः॥

मेघम् (बुध्न्यम्) बुध्नेऽन्तरिक्षे भवम् (अनु) पश्चात् (रीयमाणाः) चालनेन गच्छन्त्यः (विष्णोः) व्यापकस्येश्वरस्य (विक्रमणम्) विक्रमतेऽस्मिंस्तत् (असि) (विष्णोः) व्यापकस्य वायोः (विक्रान्तम्) विविधतया क्रान्तम् (असि) (विष्णोः) व्यापकस्य विद्युद्वस्तुनः (क्रान्तम्) क्रमणाधिकरणम् (असि) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । २ । ५–६ व्याख्यातः] ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे राजशिल्पिन् ! ❀ याः स्वसिच इयाना उदक्ता आर्हि बुध्न्यमनुरीयमाणा नावो वृषभस्य † पर्वतस्य पृष्ठात् प्रचरन्ति याभिस्त्वं विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि या अधराग्वावृत्रंस्तास्त्वं साध्नुहि ॥ १९ ॥

भावार्थः—[1]यथा मेघो वर्षित्वा भूमितलं प्राप्याकाशमाप्नोति, तज्जलं नदीर्गत्वाऽन्ततः समुद्रं प्राप्नोति तत्पृष्ठे नावो गच्छन्ति । या अप्स्वन्तरर्थाद्यासामुपर्यधो जलं भवति, तद्वत्सर्वैः शिल्पिभिर्विमानानि नावश्च यानानि रचयित्वा भूमिजलाऽन्तरिक्षमार्गेणाभीष्टे देशे गमनागमने यथेष्टे कार्य्ये । यावदेतानि न साध्नुवन्ति, तावद् द्वीपद्वीपान्तरं गन्तुं कश्चिदपि न शक्नोति, यथा पक्षिण इदं शरीरमयं संघातं गमयन्ति, तथैव विचक्षणैः शिल्पिभिरेतदाकाशं यानैर्विक्रमणीयम् ॥ १९ ॥

फिर इस जगत् में राज और प्रजाजनों को किस प्रकार के यान बनाने चाहियें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे राजा के कारीगर पुरुष ! जो (स्वसिचः) जिनको अपने लोग जल से सींचते हैं, (इयानाः) चलते हुए (उदक्ताः) फिर २ ऊपर को जाते हैं, (आर्हि, बुध्न्यम्) अन्तरिक्ष में रहनेवाले मेघ के (अनुरीयमाणाः) पीछे २ चलाने से चलते हुए (नावः) समुद्र के ऊपर नौकाओं के समान चलते हुए विमान (वृषभस्य) वर्षा करनेहारे (पर्वतस्य) मेघ के (पृष्ठात्) ऊपर के भाग से (प्रचरन्ति) चलते हैं जिनसे तू (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के इस जगत् में (विक्रमणम्) पराक्रम सहित (असि) है, (विष्णोः) व्यापक वायु के बीच (विक्रान्तम्) अनेक प्रकार चलनेहारा (असि) है और (विष्णोः) व्यापक बिजुली के बीच (क्रान्तम्) चलने का आधार (असि) है जो (अधराक्) मेघ से नीचे (आववृत्रन्) मेघ के समान विचरते हैं [(ताः)] उन विमानादि यानों को तू सिद्ध कर ॥ १९ ॥

भावार्थः—जैसे मेघ वर्ष के भूमि के तले को प्राप्त होके पुनः आकाश को प्राप्त होता है । वह जल नदियों में जाके पीछे समुद्र को प्राप्त होता है ‡ । उस जल के ऊपर नावें चलती हैं जो जल के भीतर अर्थात्

(उदक्ताः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(रीयमाणाः) रीङ् श्रवणे दैवादिकः, निघण्टौ गतिकर्मसु पठ्यते । ततः श्यन्शानचौ । अदुपदेशात्वाच्छानचोऽनुदात्तत्वे श्यनो नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

(विक्रान्तम्) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(क्रान्तम्) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ अत्र भाषायां च भावार्थोऽनन्वित इव प्रतिभाति ॥

२ राज्य में शिल्पविद्या का विस्तार, और विविध यानादि की रचना विद्वानों द्वारा होनी चाहिये, सो बतलाते हैं— ॥ १९ ॥

❀ 'यदि त्वया याः' इति अ० मुद्रितेऽनन्वितः पाठः ॥

† 'प्रपर्वतस्य' इति अ० मुद्रिते पाठः । हस्तलेखेषु 'प्र' इति नास्ति ॥

‡ 'उस जल के ऊपर नावें चलती हैं' इति पाठः कोशयोः सन्नपि अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

जिनके ऊपर नीचे जल होता है। वैसे ही सब कारीगर लोगों को चाहिये कि विमानादि यानों और नौकाओं को बनाके भूमि जल और आकाश मार्ग से अभीष्ट देशों में यथेष्ट जाना आना करें। जब तक ऐसे यान नहीं बनाते तब तक द्वीप द्वीपान्तरों में कोई भी नहीं जा सकता। जैसे पक्षी अपने शरीर रूप संघात को आकाश में उड़ा ले चलते हैं, वैसे चतुर कारीगर लोगों को चाहिये कि इस अपने शरीर आदि को यानों के द्वारा आकाश में फिरावें ॥ १९ ॥

प्रजापत इत्यस्य देववात ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। स्वराडतिधृतिश्छन्दः। षड्जः स्वरः॥

मनुष्यैरीश्वरोपासनाऽऽज्ञापालनेन सर्वाः कामनाः प्राप्तव्या इत्याह[1] ॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॒ परि॒ ता ब॑भूव।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ऽअस्त्व॒यम॒मुष्य॑ पि॒ताऽसाव॒स्य पि॒ता व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाꣳस्वाहा॑। रुद्र॒ यत्ते॒ क्रिवि॒ परं॒ नाम॒ तस्मि॑न् हु॒तम॑स्यमे॒ष्टम॑सि॒ स्वाहा॑ ॥२०॥

प्रजा॑पत॒ इति॒ प्रजा॑ऽपते। न। त्वत्। ए॒तानि॑। अ॒न्यः। विश्वा॑। रू॒पाणि॑। परि॑। ता। ब॒भू॒व॒॥ यत्का॑मा॒ इति॒ यत्ऽका॑माः। ते॒। जु॒हु॒मः। तत्। नः॒। अ॒स्तु॒। अ॒यम्। अ॒मुष्य॑। पि॒ता। अ॒सौ। अ॒स्य। पि॒ता। व॒यम्। स्या॒म॒। पत॑यः। र॒यी॒णाम्। स्वाहा॑॥ रुद्र॑। यत्। ते॒। क्रिवि॑। पर॑म्। नाम॑। तस्मि॑न्। हु॒तम्। अ॒सि॒। अ॒मे॒ष्टमित्य॑माऽइ॒ष्टम्। अ॒सि॒। स्वाहा॑ ॥ २० ॥

पदार्थः—(प्रजापते[2]) + प्रजायाः स्वामिन्नीश्वर ! (न) निषेधे (त्वत्) तव सकाशात् (एतानि) जीवप्रकृत्यादीनि वस्तूनि (अन्यः) भिन्नः पदार्थः (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) इच्छा रूपादिगुणविशिष्टानि (परि) (ता) तानि (बभूव) अस्ति (यत्कामाः) यस्य यस्य कामः कामनं येषां ते (ते) तव (जुहुमः) गृह्णीमः (तत्) (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) भवतु (अयम्) (अमुष्य) प्रत्यक्षस्य जनस्य (पिता) पालकः (असौ) सः (अस्य) प्रत्यक्षवर्त्तमानस्य (पिता) रक्षकः (वयम्) (स्याम) भवेम (पतयः) स्वामिनः पालकाः (रयीणाम्[3]) विद्याचक्रवर्त्तिराज्योत्पन्नश्रियाम् (स्वाहा) सत्यया क्रियया (रुद्र[4]) दुष्टानां रोदयितः (यत्) (ते) तव (क्रिवि) कृणोति हिनस्ति येन तत्, नकारस्थाने वर्णव्यत्ययेनेकारः (परम्) प्रकृष्टम् (नाम) (तस्मिन्) (हुतम्) × स्वीकृतम् (असि) (अमेष्टम्) अमायां गृहे इष्टम् (असि) (स्वाहा) सत्यया वाचा ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५।४।२। ८-१० व्याख्यातः] ॥ २० ॥

१ ईश्वरनिष्ठाः प्रभुभक्ता विद्वांस एव त्यागभावेन कर्माणि कर्त्तुं समर्था नान्य इति दर्शयति—

२ अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता स प्रजापतिः॥ श० २।५।१।८॥

३ वीर्यं वै रयिः॥ श० १३।४।२।१३॥ पुष्टं वै रयिः श० २।३।४।१३॥ पशवो वै रयिः॥ तै० १।४।४।९॥

४ तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रः॥ श० ११।६।३।७॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(यत्कामाः) बहुव्रीहिपक्षे बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति **पूर्वपदप्रकृतिस्वरः।** यद्वा शीलिकामिभिक्षाचारिभ्यो णः, पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० ३।२।१ भा० वा०)

+ 'प्रजायां' इति अ० मुद्रिते पाठः हस्तलेखेषु 'प्रजायाः' इत्येव पाठः॥

× 'स्वीकृतम्' इति क. पाठः। ग. कोशेऽजमेरमुद्रिते च नास्ति॥

अन्वयः—हे प्रजापते यान्येतानि विश्वा रूपाणि सन्ति ता तानि त्वदन्यो न परिबभूव। ते तव सकाशाद् यत्कामाः सन्तो वयं जुहुमस्तत् तव कृपया नोऽस्तु, यथा † अयं भवान् अमुष्य परोक्षस्य जगतः पिताऽसौ भवानस्य समक्षस्य विश्वस्य पिताऽस्ति, तथा वयं स्वाहा रयीणां पतयः स्याम। हे रुद्र ते तव यत् क्रिवि परं नामाऽस्ति तस्मिँस्त्वं हुतमस्यमेष्टमसि तं वयं स्वाहा जुहुमः॥ २०॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! यः सर्वस्मिन् जगति व्याप्तः सर्वान् प्रति मातापितृवद् वर्त्तमानो दुष्टदण्डक उपासितुमिष्टोऽस्ति, तं जगदीश्वरमेवोपाध्वम्। एवमनुष्ठानेन युष्माकं सर्वे कामा अवश्यं सेत्स्यन्ति॥ २०॥

मनुष्यों को चाहिये कि ईश्वर की उपासना और उसकी आज्ञा पालने से सब कामनाओं को प्राप्त हों, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है॥

पदार्थः—हे (प्रजापते) प्रजा के स्वामी ईश्वर! जो (एतानि) जीव प्रकृति आदि वस्तु (विश्वा) सब (रूपाणि) इच्छा रूप आदि गुणों से युक्त हैं (ता) उनके ऊपर [(त्वत्)] आपसे (अन्यः) दूसरा कोई (न) नहीं (परिबभूव) जा सकता ❀ है (ते) आप के सेवन से (यत्कामाः) जिस २ पदार्थ की कामना वाले होते हुए हम लोग (जुहुमः) आप का सेवन करते हैं [(तत्)] वह २ पदार्थ आप की कृपा से (नः) हम लोगों के लिये (अस्तु) प्राप्त होवे। जैसे [(अयं) प्रत्यक्ष] आप (अमुष्य) उस परोक्ष जगत् के (पिता) रक्षा करनेहारे हैं (असौ) सो आप [(अस्य)] इस प्रत्यक्ष जगत् के [(पिता)] रक्षक हैं। वैसे (वयम्) हम लोग (स्वाहा) सत्य वाणी से (रयीणाम्) विद्या और चक्रवर्त्ति राज्य आदि से उत्पन्न हुई लक्ष्मी के (पतयः) रक्षा करनेवाले (स्याम) हों। हे (रुद्र) दुष्टों को रुलानेहारे परमेश्वर! (ते) आप का [(यत्)] जो (क्रिवि) दुःखों से छुड़ाने का हेतु (परम्) उत्तम (नाम) नाम है, (तस्मिन्) उसमें आप (हुतम्) स्वीकार किये (असि) हैं, (अमेष्टम्) घर में इष्ट (असि) हैं, उन आप को हम लोग (स्वाहा) सत्य वाणी से ग्रहण करते हैं॥ २०॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है॥

इति णः। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च विधीयते॥

(रयीणाम्) पूर्वं य० ३। १२ व्याख्यातः॥

(क्रिवि) कृवि हिंसायाम्, अस्मात् सर्वधातुभ्यः इन् (उ० ४। ११८) इति इन्। नुमो नकारस्य बाहुलकाद् व्यत्ययेन वा इकारादेशः। नित्वादाद्युदात्तः॥

सायणस्तु—'आ व इन्द्रं क्रिविं' (ऋ० १। ३०। १) इत्यादौ क्विन्प्रत्ययान्तो निपात्यते, अत एव [कृतेः] तशब्दलोपः, नित्वादाद्युदात्तम्' इत्याह। उणादिपाठे तु 'कृवि' इत्येव पठ्यते।

उवटमहिधरौ 'क्रिवि हिंसाकरणयोः' इत्याहतुः। तन्न। धातुपाठे तादृशस्य धातोरनुपलम्भात्॥

(अमेष्टम्) थाथादिस्वरेणान्तोदात्तत्वम्॥

इति व्याकरणप्रक्रिया॥

१ ईश्वर में आस्थावान्, प्रभुभक्त विद्वान् ही त्यागभाव से पूर्वोक्त कार्यों को कर सकते हैं, सो दर्शाते हैं—॥ २०॥

---

† 'त्वममुष्य' इति अ० मुद्रिते पाठः॥

❀ 'जान सकता' इति अ० मुद्रिते पाठः॥

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो सब जगत् में व्याप्त, सबके लिये माता पिता के समान वर्त्तमान, दुष्टों को दण्ड देनेहारा, उपासना करने को इष्ट है, उसी जगदीश्वर की उपासना करो। इस प्रकार के अनुष्ठान से तुम्हारी सब कामना अवश्य सिद्ध हो जावेंगी ॥ २० ॥

इन्द्रस्येत्यस्य देववात ऋषिः । क्षत्रपतिर्देवता । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः स्वरः ॥

पुनर्विद्वद्भिः किं कर्त्तव्यमित्याह[1] ॥

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि मि॒त्रावरु॑णयोस्त्वा प्रशा॒स्त्रोः प्र॒शिषा॑ युनज्मि । अव्य॑थायै त्वा स्व॒धायै॒ त्वाऽरि॑ष्टो॒ ऽ अर्जु॑नो म॒रुतां॑ प्रस॒वेन॑ ज॒यापा॑म॒ मन॑सा समि॑न्द्रि॒येण॑ ॥ २१ ॥

इन्द्र॑स्य । वज्रः॑ । अ॒सि॒ । मि॒त्रावरु॑णयोः । {} त्वा॒ । प्र॒शास्त्रोरिति॑ प्रऽशा॒स्त्रोः । प्र॒शिषेति॑ प्रऽशिषा॑ । यु॒न॒ज्मि॒ ॥ अव्य॑थायै । त्वा॒ । स्व॒धायै॑ । त्वा॒ । अरि॑ष्टः । अर्जु॑नः । म॒रुता॑म् । प्र॒स॒वेनेति॑ प्रऽस॒वेन॑ । ज॒य॒ । *आपा॑म । मन॑सा । सम् । इ॒न्द्रि॒येण॑ ॥ २१ ॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यस्य[2] (वज्रः) विज्ञापकः (असि) (मित्रावरुणयोः) सभासेनेशयोः (त्वा) त्वाम् (प्रशास्त्रोः) सर्वस्य ‡प्रशासनकर्त्रोः (प्रशिषा) प्रशासनेन (युनज्मि) समादधे (अव्यथायै) अविद्यमानपीडायै क्रियायै (त्वा) (स्वधायै) स्ववस्तुधारणलक्षणायै राजनीत्यै (त्वा) (अरिष्टः) अहिंसितः (अर्जुनः) ※अर्जुनः प्रशस्तं रूपं विद्यतेऽस्य सः, अर्शआदित्वादच्, अर्जुनमिति रूपनामसु पठितम् । निघ० ३ । ७ (मरुताम्) ऋत्विजाम् (प्रसवेन) प्रेरणेन (जय) उत्कर्ष (आपाम) आप्नुयाम (मनसा) मननशीलेन (सम्) (इन्द्रियेण) इन्द्रेण जीवेन जुष्टेन प्रीतेन वा ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । ३ । ४–१० व्याख्यातः] ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे राजन् ! यस्त्वमरिष्टोऽर्जुन इन्द्रस्य वज्रोऽसि, यं त्वाऽव्यथायै प्रशास्त्रोर्मित्रावरुणयोः प्रशिषा युनज्मि । मरुतां प्रसवेन स्वधायै यं त्वा युनज्मि । मनसेन्द्रियेण यं त्वा वयं समापाम,स त्वं अत्र दुष्टान् जित्वोत्कर्ष ॥ २१ ॥

१ वेदेश्वरनिष्ठा विद्वांस एव स्वप्रजा धर्ममनुशासितुं समर्था इति तद्दर्शयन्नाह—

२ पूर्वं यजु० १ । १ पृ० १६ व्याख्यातः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(प्रशास्त्रोः) तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ (उ० २ । ९४) इति तृच् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः । उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ॥

(प्रशिषा) प्र शास क्विप् । क्वौ च शास इत्वं भवति (अ० ६ । ४ । ३४ वा०) इतीत्वे शासिवसिघसीनां च (अ० ८ । ३ । ६०) इति षत्वे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अव्यथायै) तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (अ० ६ । २ । २) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ॥

(अर्जुनः) अर्जेर्णिलुक्च (उ० ३ । ५८) इत्युनन् । अर्शआद्यचि छान्दसमाद्युदात्तत्वम् । यद्वा

{} 'प्रकाशनकर्त्रोः' इति अ० मुद्रिते पाठः, 'प्रशासनकर्त्रोः' इति क० पाठः ॥

* 'त्वा' इति स्वरचिह्नरहितो ऽपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

‡ 'अपाम' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

※ 'अर्जुनः' इति अ० मुद्रिते नास्ति । ग० कोशे तूपलभ्यते ॥

भावार्थः—विद्वद्भीराजा प्रजापुरुषाश्च धर्मार्थं सदा प्रशासनीयाः। यत एते [कस्यचित्] पीडां राजनीतिविरुद्धं कर्म नाचरेयुः। सर्वतः प्राप्तबलाः शत्रून् जयेयुः। येन कदाप्यैश्वर्य्यस्य हानिर्न स्यात् ॥ २१ ॥
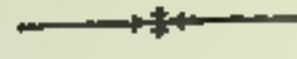
फिर विद्वान् पुरुषों को क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है ॥

पदार्थः—हे राजन्! जो आप (अरिष्टः) किसी के मारने में न आनेवाले (अर्जुनः) प्रशंसा के योग्य रूप से युक्त (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य्यवाले के (वज्रः) शत्रुओं के लिये वज्र के समान (असि) हैं, जिस (त्वा) आपको (अव्यथायै) पीड़ा न होने के लिये (प्रशास्त्रोः) सबको शिक्षा देनेवाले (मित्रावरुणयोः) सभा और सेना के स्वामी की (प्रशिषा) शिक्षा से मैं (युनज्मि) ❀ संयुक्त करता हूँ, (मरुताम्) ऋत्विज् लोगों के (प्रसवेन) कहने से (स्वधायै) अपनी चीज को धारण करने रूप राजनीति के लिये + (त्वा) आप को नियुक्त करता हूं (मनसा) विचारशील मन (इन्द्रियेण) × जीव से सेवन की हुई इन्द्रिय से जिस (त्वा) आपको हम लोग (समापाम) सम्यक् प्राप्त होते हैं, सो आप (जय) दुष्टों को जीत के निश्चित उत्कृष्ट हूजिये ॥ २१ ॥

भावार्थः—विद्वानों को चाहिये कि राजा और प्रजा पुरुषों को धर्म और अर्थ की सिद्धि के लिये सदा शिक्षा देवें। जिससे ये किसी को पीड़ा देने रूप, राजनीति से विरुद्ध, कर्म न करें। सब प्रकार बलवान् होके शत्रुओं को जीतें। जिससे कभी धन सम्पत्ति की हानि न होवे ॥ २१ ॥

मा त इत्यस्य देवव्रात ऋषिः। इन्द्रो देवता। विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः। धैवतः स्वरः ॥

प्रजाजनै राजप्रसङ्गे कथं वर्त्तितव्यमित्याह[2] ॥

मा ते ऽ इन्द्र ते व॒यं तु॑राषा॒डयु॑क्तासो ऽ अब्र॒ह्मता॒ विद॑साम।
तिष्ठा॒ रथ॒मधि॒ यं वज्र॑हस्ता र॒श्मीन् दे॑व यमसे॒ स्वश्वा॑न् ॥ २२ ॥

मा। ते॒। इन्द्र॑। ते॒। व॒यम्। तु॒रा॒षा॒ट्। अयु॑क्तासः। अब्र॑ह्मता। वि। द॒सा॒म॒ ॥ तिष्ठ॑। रथ॑म्। अधि॑। यम्। ‡ व॒ज्र॒ह॒स्तेति॑ वज्र॑ऽहस्त। आ। र॒श्मीन्। दे॒व॒। य॒म॒से॒। स्वश्वा॒निति॑ सु॒ऽअश्वा॑न् ॥ २२ ॥

गुणवचनेभ्यो मतुपो लुग्वक्तव्यः (अ०५।२।९४ वा०)। इति लुकि नित्स्वरेणैवाद्युदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

अपनी प्रजाओं पर धर्मानुकूल शासन करने में समर्थ होते हैं, यह बतलाते हैं—

१ वेद और ईश्वर में निष्ठा रखनेवाले विद्वान् ही

२ पूर्वोक्तमेव प्रकारान्तरेणाह—

❀ 'समाहित करता हूँ' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
+ इतोऽग्रे 'जिस (त्वा) आपका योगाभ्यास से चिन्तन करता हूँ' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
× 'जीव ने सेवे हुए इन्द्रिय से' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
‡ 'व॒ज्र॒ह॒स्ते॒ति॒ वज्र ऽहस्त' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(मा) निषेधे (ते[1]) तव (इन्द्र) सभेश राजन् ! (ते) तव (वयम्) राजप्रजाजनाः (तुराषाट्) तुरान् त्वरितान् शत्रून् सहते (अयुक्तासः) अधर्मकारिणः (अब्रह्मता) वेदेश्वरनिष्ठारहितता (वि) (दसाम) उपक्षयेम (तिष्ठ) अत्र द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः (रथम्) (अधि) (यम्) (वज्रहस्त) वज्रतुल्यानि शस्त्राणि हस्तयोर्यस्य तत्संबुद्धौ (आ) (रश्मीन्) अश्वनियमार्थां रज्जुः (देव) (यमसे) नियच्छसि (स्वश्वान्) शोभनाश्च तेऽश्वाश्च तान् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । ३ । १४ व्याख्यातः] ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे देवेन्द्र राजन् वज्रहस्त ! वयन्ते तव सम्बन्धेऽयुक्तासो मा भवाम, ते तवाब्रह्मता माऽस्तु, [तां] विदसाम, यस्तुराषाट् त्वं यान् रश्मीन् स्वश्वान् [आ] यमसे यं रथमधितिष्ठ, तांस्तं च वयमप्यधितिष्ठेम ॥ २२ ॥

भावार्थः—राजप्रजाजना राज्ञा सहायोग्यं व्यवहारं कदाचिन्न कुर्य्युः, राजा चैतैः सहान्यायं न कुर्यात् । वेदेश्वराज्ञानुष्ठातारः सन्तः सर्वे समानयानासनव्यवहाराः स्युः । न कदाचिदालस्ये प्रमादे वेदेश्वरनिन्दामये नास्तिकत्वे वा वर्त्तेरन् ॥ २२ ॥

प्रजापुरुषों को राजा के साथ कैसे वर्त्तना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[2] ॥

पदार्थः—हे (देव) प्रकाशमान (इन्द्र) सभापति राजन् ! (वज्रहस्त) जिसके हाथों में वज्र के समान शस्त्र हों, उस आप के साथ (वयम्) हम राजप्रजा पुरुष (ते) आपके सम्बन्ध में (अयुक्तासः) अधर्मकारी (मा) न होवें, (ते) आपकी (अब्रह्मता) वेद तथा ईश्वर से ※ विमुखता न हो, और हम उस विमुखता को (विदसाम) नष्ट करें । जो (तुराषाट्) शीघ्रकारी शत्रुओं को सहनेहारे आप जिन (रश्मीन्) घोड़े के लगाम की रश्मि और (स्वश्वान्) सुन्दर घोड़ों को [(आ)] (यमसे) नियम में रखते हैं । और [(यम्)] जिस (रथम्) रथ के ऊपर (अधितिष्ठ) बैठें, उन घोड़ों और उस रथ के हम लोग भी अधिष्ठाता होवें ॥ २२ ॥

भावार्थः—राजा और प्रजा के पुरुषों को योग्य है कि राजा के साथ अयोग्य व्यवहार कभी न करें तथा राजा भी इन प्रजाजनों के साथ अन्याय न करे । वेद और ईश्वर की आज्ञा का सेवन करते हुए सब लोग एक

---

१ अत्र मन्त्रे 'मा न इन्द्रः' इति पाठः शतपथब्राह्मणे प्रायेणोपलभ्यते । क्वचिद् हस्तलेखेषु 'मा त इन्द्रः' इत्यपि दृश्यते ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अयुक्तासः) अव्ययस्वरः ॥

(अब्रह्मता) त्वतलभ्यां नञ्समासः पूर्वविप्रतिषिद्धं त्वतलोः स्वरसिद्ध्यर्थम् (अ० ५ । १ । ११९ भा० वा०) इति वचनात् पूर्वं नञ्समासे कृते भावे तल्, लिति (अ० ६ । १ । १९३) इति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तत्वम् ॥

उवटमहीधराभ्यां तलन्तान्नञ्समासः प्रदर्श्यते । तदयुक्तम्, स्वरदोषात् ॥

(स्वश्वान्) आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि (अ० ६ । २ । ११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । यथा तु भाष्यं तथा छान्दसत्वात् स्वरसिद्धिः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ प्रकारान्तर से पूर्वोक्त विषय का ही उपपादन करते हैं— ॥ २२ ॥

※ 'ईश्वर से रहित निष्ठा (मा) न हो, और न (विदसाम) नष्ट करें' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

[जैसी] सवारी एक [जैसे] बिछौने पर बैठें और एकसा व्यवहार करनेवाले होवें, और कभी आलस्य प्रमाद वा ईश्वर और वेदों की निन्दा रूप नास्तिकता में न फंसें ॥ २२ ॥

अग्नय इत्यस्य देववात ऋषिः । अग्नयादयो मन्त्रोक्ता देवताः । जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

अथ माताऽपत्यानि [च] परस्परं कीदृशं संवदेयुरित्याह[1] ॥

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा । पृथिवि मातर्मा मा हिंसीर्मो ऽअहं त्वाम् ॥ २३ ॥

अग्नये । गृहपतय इति गृहऽपतये । स्वाहा । सोमाय । वनस्पतये । स्वाहा । मरुताम् । ओजसे । स्वाहा । इन्द्रस्य । इन्द्रियाय । स्वाहा ॥ पृथिवि । मातः । मा । मा । हिंसीः । मोऽइति मो । अहम् । त्वाम् ॥ २३ ॥

पदार्थः—(अग्नये) धर्मविज्ञानाढ्याय (गृहपतये) गृहाश्रमस्वामिने (स्वाहा) सत्यां नीतिम् (सोमाय) सोमलताद्यायौषधिगणाय (वनस्पतये) वनानां पालकायाश्वत्थप्रभृतये (स्वाहा) वैद्यकशास्त्रबोधजनितां क्रियाम् (मरुताम्[2]) प्राणानामृत्विजां वा (ओजसे) बलाय (स्वाहा) योगशान्तिदां वाचम् (इन्द्रस्य) जीवस्य (इन्द्रियाय) नेत्राद्याय, अन्तःकरणाय वा (स्वाहा) सुशिक्षायुक्तां † वाचमुपदिष्टिं (पृथिवि) भूमिवत् पृथुशुभलक्षणे (मातः) मान्यकर्त्रि जननि (मा) निषेधे (मा) माम् (हिंसीः) कुशिक्षया मा हिंस्याः (मो) (अहम्) (त्वाम्) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । ३ । १५–२१ व्याख्यातः] ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे प्रजाजना यथा राजजना वयं गृहपतयेऽग्नये स्वाहा, सोमाय वनस्पतये स्वाहा, मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा चरेम, तथा यूयमप्याचरत । हे पृथिवी मातस्त्वं मा मा हिंसीस्त्वामहं च मो हिंस्याम् ॥ २३ ॥

भावार्थः—राजादिराजजनैः प्रजाहिताय प्रजाजनैरेतेषां सुखाय सर्वस्योन्नतये च परस्परं

---

१ विद्वांसो मातापितर एव स्वयत्नेन विदुषां च साहाय्येन स्वसन्तानानां सर्वविधोन्नतिकरणे समर्थाः, तत्रापि मातुः प्राधान्यं भवति, सुशिक्षितान्यपत्यान्येव च मातरं सुखयन्तीत्युभयोः पारस्परिकं संवादप्रकारं दर्शयति—

२ प्राणा वै मरुतः ॥ श० ९ । ३ । १ । ७ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(गृहपतये) पूर्वं (यजु० ३ । ३९ पृ० ३१४) व्याख्यातः ॥

(वनस्पतये) उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् (अ० ६ । २ । १४०) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरे, वनशब्दो वनधातोरच्प्रत्ययान्तः । अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनां च (अ० ६ । १ । २०३) इत्याद्युदात्तः । पतिशब्दः पातेर्डतिः (उ० ४ । ५७) इति प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(मो) ओत् (अ० १ । १ । १५) इति प्रगृह्यसंज्ञा । अत एव पदपाठे 'इति' शब्दे परतोऽवादेशो न भवति ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

† अत्र 'वाचम्' इति व्यर्थः पाठः, स च हस्तलेखेषु नास्ति ।

वर्तितव्यम् । माता कुशिक्षयाऽविद्यादानेन स्वसन्तानान् नष्टबुद्धीन् कदाचिन्न कुर्यात्, सन्तानाश्च मातुरप्रियं नाचरेयुः ॥ २३ ॥

अब माता और पुत्र आपस में कैसे संवाद करें, यह अगले मन्त्र में कहा है[1] ॥

पदार्थः—हे प्रजा के मनुष्यो ! जैसे *राजपुरुष हम लोग (गृहपतये) गृहाश्रम के स्वामी (अग्नये) धर्म और विज्ञान से युक्त पुरुष के लिये (स्वाहा) सत्यनीति, (सोमाय) सोमलता आदि ओषधि और (वनस्पतये) वनों की रक्षा करनेहारे पीपल आदि के लिये (स्वाहा) वैद्यक शास्त्र के बोध से उत्पन्न हुई क्रिया, (मरुताम्) प्राणों वा ऋत्विज लोगों के (ओजसे) बल के लिये (स्वाहा) योगाभ्यास और शान्ति की देनेहारी वाणी, और (इन्द्रस्य) जीव के (इन्द्रियाय) [नेत्रादि वा] मन इन्द्रिय के लिये (स्वाहा) अच्छी शिक्षा से युक्त उपदेश का आचरण करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी करो। हे (पृथिवि) भूमि के समान बहुत से शुभ लक्षणों से युक्त (मातः) मान्य करनेहारी जननी ! तू (मा) मत (हिंसीः) बुरी शिक्षा से दुःख दे और (त्वाम्) तुझको (अहम्) मैं भी (मो) न दुःख देऊँ ॥ २३ ॥

भावार्थः—राजा और राजपुरुषों को प्रजा के हित, प्रजापुरुषों को [राजा और] राजपुरुषों के सुख और सबकी उन्नति के लिये परस्पर वर्त्तना चाहिये। माता को योग्य है कि बुरी शिक्षा और मूर्खता रूप अविद्या देकर सन्तानों की बुद्धि नष्ट न करे और सन्तानों को उचित है कि अपनी + माता का अप्रियाचरण न करें ॥ २३ ॥

हंस इत्यस्य वामदेव ऋषिः । सूर्य्यो देवता । भुरिगार्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैरीश्वरोपासनेन न्यायसुशिक्षे कार्य्ये इत्याह[2] ॥

हुꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत् ॥ २४ ॥

× हुꣳसः । शुचिषत् । शुचिसदिति शुचिऽसत् । वसुः । अन्तरिक्षसदित्यन्तरिक्षऽसत् । होता । वेदिषत् । वेदिसदिति वेदिऽसत् । अतिथिः । दुरोणसदिति दुरोणऽसत् ॥ नृषत् । नृसदिति नृऽसत् । वरसदिति

---

[1] विद्वान् माता पिता ही अपने यत्न तथा विद्वानों के सहयोग से अपने सन्तानों की सब प्रकार की उन्नति करने में समर्थ होते हैं, उनमें भी माता की प्रधानता होती है और उत्तम शिक्षा को प्राप्त सन्तानें ही माता के सुख का हेतु होती हैं, अतः दोनों का संवाद कैसा होना चाहिये, सो बतलाते हैं— ॥ २३ ॥

[2] ईश्वरोपासनेन सर्वं सम्पद्यते, ईश्वरोपासका एव जगदीश्वरं सर्वज्ञं मत्वा न्याय्ये वर्त्तितुं शक्नुवन्तीत्यत आह—

---

* 'जैसे राजा और राजपुरुष' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
+ 'माता के साथ कभी द्वेष न करें' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
× हुꣳसः इत्यपपाठो ऽत्र० मु० ॥

वर॒ऽसत् । ऋ॒त॒सदित्यृ॑त॒ऽसत् । व्यो॒म॒सदिति॑ व्यो॒म॒ऽसत् । अ॒ब्जा इत्य॑प्ऽजाः । गो॒जा इति॑ गो॒ऽजाः । ऋ॒त॒जा इत्यृ॑त॒ऽजाः । अ॒द्रि॒जा इत्य॑द्रि॒ऽजाः । ऋ॒तम् । बृ॒हत् ॥ २४ ॥

पदार्थः—(हंसः) यः संहन्ति सर्वान् पदार्थान् स जगदीश्वरः (शुचिषत्) यः शुचिषु पवित्रेषु पदार्थेषु सीदति सः (वसुः) वस्ता वासयिता वा (अन्तरिक्षसद्) योऽन्तरिक्षेऽवकाशे सीदति (होता) दाता ग्रहीताऽत्ता वा (वेदिषत्) वेद्यां पृथिव्यां[1] सीदति (अतिथिः[2]) अविद्यमाना तिथिर्यस्य तद्वन्मान्यः (दुरोणसत्) यो दुरोणे गृहे सीदति सः, दुरोण इति गृहनामसु पठितम् । निघ० ३ । ४ । (नृषत्) यो नृषु सीदति सः (वरसत्) यो वरेषूत्तमेषु पदार्थेषु सीदति सः (ऋतसत्) य ऋतेषु सत्येषु प्रकृत्यादिषु सीदति सः (व्योमसत्) यो व्योमनि सीदति सः (अब्जाः) योऽपो जनयति (गोजाः) यो गाः पृथिव्यादीन् जनयति (ऋतजाः) यः सत्यविद्याश्रयं वेदं जनयति (अद्रिजाः) यो मेघपर्वतवृक्षादीन् जनयति सः (ऋतम्) सत्यस्वरूपम् (बृहत्) महद् ब्रह्म ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । ३ । २२ व्याख्यातः] ॥ २४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या भवन्तो यः परमेश्वरो हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसन्नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहदस्ति, तमेवोपासीरन् ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वव्यापकं पवित्रकरं ब्रह्मैवोपास्यमस्ति । न खल्वेतस्योपासनेन विना *कस्यचिदपि पूर्णं धर्मार्थकाममोक्षजं सुखं भवितुं शक्यम् ॥ २४ ॥

मनुष्य लोग ईश्वर की उपासनापूर्वक सबके लिये न्याय और अच्छी शिक्षा करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[3] ॥

१ पृथिवी वेदिः ॥ ऐ० ५ । २८ ॥
इयं (पृथिवी) वै वेदिः ॥ श० ७ । ३ । १ । १५ ॥

२ (क) 'अतिथि' शब्दो विस्तरेण पूर्वं य० ३ । १ पृ० २३८, २३९ विवरणे स्वरप्रक्रियायां च व्याख्यातस्तत्र द्रष्टव्यः ॥

(ख) मन्त्रोऽयं ऋ० ४ । ४० । ५ अन्यत्रापि ऐ० ब्रा० ४ । २० । ५ ॥ तै० आ० १ । १३ । ३ ॥ १० । १० । २ ॥ तै० ब्रा० १ । ७ । ९ । ६ ॥ का० श्रौ० १५ । ६ । २६ तथा निरु० १४ । २९ विनियुक्तो व्याख्यातश्च ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(हंसः) वृतॄवदिवचि० (उ० ३ । ६२) इति सः । प्रत्ययस्वरः ॥

(शुचिषत् , अन्तरिक्षसत् , वेदिषत्, दुरोणसत् , नृषत् , वरसद् , ऋतसद्, व्योमसद्) सर्वत्र सत्सूद्विषद्रुहदुह० (अ० ३ । २ । ६१) इति क्विप्, कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । शुचिषत् नृषद् अनयोः पूर्वपदात् (अ० ८ । ३ । १०६) इति षत्वम् ।

(वसुः) शुद्धाद् वसधातोरुप्रत्यये पूर्वं (यजु० १ । २ पृ० ३६ पदार्थटिप्पणे तथा यजु० ४ । २९ पृ० ४०७) व्याख्यातः । इह भाष्यकारेण णिजन्तादपि व्युत्पाद्यते बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः (उ० २ । २३ श्वे० वृ०) इति णेर्लुक् । तथा च ब्राह्मणम्—एते हीदं सर्वं वासयन्ते, ते यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसवः (श० ११ । ६ । ३ । ६) इति ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ ईश्वरोपासना से सब कुछ सिद्ध हो सकता है, ईश्वरोपासक ही जगदीश्वर को सर्वज्ञ मान और जानकर न्याययुक्त व्यवहारों में चलते हैं, सो कहते हैं— ॥ २४ ॥

* 'किञ्चिद्' इति अ० मुद्रिते ग. कोशे च पाठः । अस्माभिस्तु क. पाठः स्वीकृतः ॥

पदार्थः—हे मनुष्यो ! आप लोगों को चाहिये कि जो परमेश्वर (हंसः) सब पदार्थों को स्थूल करता (शुचिषत्) पवित्र पदार्थों में स्थित (वसुः) निवास करता और कराता (अन्तरिक्षसत्) अवकाश में रहता (होता) सब पदार्थ देता, ग्रहण करता, और प्रलय करता (वेदिषत्) पृथिवी में व्यापक (अतिथिः) अभ्यागत के समान सत्कार करने योग्य (दुरोणसत्) घर [आदि कार्य पदार्थों] में स्थित (नृषत्) मनुष्यों के भीतर रहता (वरसत्) उत्तम पदार्थों में वसता (ऋतसत्) सत्यप्रकृति आदि नाम वाले कारण में स्थित (व्योमसत्) पोल में रहता (अब्जाः) जलों को प्रसिद्ध करता (गोजाः) पृथिवी आदि तत्त्वों को उत्पन्न करता (ऋतजाः) सत्य विद्याओं के पुस्तक वेदों को प्रसिद्ध करता (अद्रिजाः) मेघ पर्वत और वृक्ष आदि को रचता (ऋतम्) सत्यस्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा, अनन्त है, उसी की उपासना करो ॥ २४ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को उचित है कि सर्वत्र व्यापक और पदार्थों की शुद्धि करनेहारे ब्रह्म परमात्मा की उपासना करें, क्योंकि उसकी उपासना के बिना किसी को धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष से होनेवाला पूर्ण सुख कभी नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

इयदित्यस्य वामदेव ऋषिः । सूर्यो देवता । आर्षी जगती छन्दः । निषादः स्वरः ॥

मनुष्यैः किमर्थं ब्रह्मोपासनीयमित्युपदिश्यते[1] ॥

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि । इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥

इयत् । असि । आयुः । असि । आयुः । मयि । धेहि । युङ् । असि । वर्चः । असि । वर्चः । मयि । +धेहि । ऊर्क् । असि । ऊर्जम् । मयि । धेहि । इन्द्रस्य । वाम् । वीर्यकृत इति वीर्यऽकृतः । बाहू इति बाहू । अभ्युपावहरामीत्यभिऽउपावहरामि ॥ २५ ॥

पदार्थः—(इयत्) एतावत्परिमाणम् (असि) (आयुः) जीवनम् (असि) (आयुः) (मयि) जीवात्मनि (धेहि) (युङ्) समाधाता (असि) (वर्चः) स्वप्रकाशम् (असि) (वर्चः) (मयि) (धेहि) (ऊर्क्) बलवान् (असि) (ऊर्जम्) (मयि) (धेहि) (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यस्य

1 ईश्वराश्रयमन्तरेण न किमपि कर्मजातं फलभाग् भवितुमर्हतीत्यत आह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(इयत्) किमिदंभ्यां वो घः (अ० ५ । २ । ४०) इति वतुपो वकारस्य घकारादेशः, एतज्ज्ञापकादेव इदमो वतुब्विधानं द्रष्टव्यम् । आयनेयीनीयियः० (अ० ७ । १ । २) इति 'इया'देशः । इदंकिमोरीश्की (अ० ६ । ३ । ९०) इतीशादेशः । यस्येति च (अ० ६ । ४ । १४८) इतीकारलोपः । अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः (अ० ६ । १ । १६१) इति प्रत्ययादेरुदात्तत्वम् ॥

(युङ्) ऋत्विग्दधृक्० (अ० ३ । २ । ५९) इति क्विन् प्रत्ययलोपे धातुस्वरः । युजेरसमासे (अ० ७ । १ । ७१) इति नुम् । क्विन्प्रत्ययस्य कुः (अ० ८ । २ । ६२) इति कुत्वम् ॥

(वीर्यकृतः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

(अभ्युपावहरामि) उदात्तगतिमता च तिङा (अ० २ । २ । १८ भा० वा०) इति 'अवहरामि' इत्यनेन सह 'उप' इत्येतस्य समासे, पुनरनेनैव वार्तिकेन 'अभिना' सह समासः । समासे समासा-

+ 'धेहि' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

(वाम्) युवयो राजप्रजाजनयोः (वीर्य्यकृतः) यो वीर्य्यं करोति तस्य (बाहू) बाधते याभ्यां बलवीर्य्याभ्यां तौ (अभ्युपावहरामि) अभितः सामीप्येऽर्वाक् स्थापयामि ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५।४।३।२५-२७ व्याख्यातः] ॥ २५ ॥

अन्वयः—हे ब्रह्मंस्त्वमायुरसीयदायुर्मयि धेहि। त्वं युङ्ङसि वर्चोऽसि योगजं वर्चो मयि धेहि। त्वमूर्गस्यूर्जं मयि धेहि। हे राजप्रजाजनौ वीर्य्यकृत इन्द्रस्येश्वरस्याश्रयेण वां युवयोर्बाहू बलवीर्य्ये अहमभ्युपावहरामि† ॥ २५ ॥

भावार्थः—य आत्मस्थं ब्रह्मोपासते, ते शोभनं जीवनादिकमश्नुवते। नहि केनचिदीश्वरस्याश्रयमन्तरा पूर्णौ बलपराक्रमौ लभ्येते ॥ २५ ॥

मनुष्य ईश्वर की उपासना क्यों करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे परमेश्वर आप [(आयुः) जीवन देनेवाले (असि) हैं] (इयत्) इतना (आयुः) जीवन (मयि) मुझमें (धेहि) धरिये, जिससे आप (युङ्) सबको समाधि करानेवाले (असि) हैं (वर्चः) स्वयंप्रकाशस्वरूप (असि) हैं, इस कारण *(वर्चः) योगाभ्यास से प्रकट हुये तेज को (मयि) मुझमें (धेहि) धरिये। आप (ऊर्क्) अत्यन्त बलवान् (असि) हैं, इसलिये (ऊर्जम्) बल पराक्रम को (मयि) मेरे में (धेहि) धारण कराइये। हे राज और प्रजा के पुरुषो (वीर्य्यकृतः) बल पराक्रम को बढ़ानेहारे (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य और परमात्मा के आश्रय से (वाम्) तुम राज प्रजा पुरुषों के (बाहू) बल और पराक्रम को (अभ्युपावहरामि) सब प्रकार तुम्हारे समीप में स्थापन करता हूँ ॥ २५ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य अपने हृदय में ईश्वर की उपासना करते हैं, वे सुन्दर जीवन आदि सुखों को भोगते हैं, और कोई भी पुरुष ईश्वर के आश्रय के विना पूर्ण बल और पराक्रम को प्राप्त नहीं हो सकता[1] ॥ २५ ॥

स्योनासीत्यस्य वामदेव ऋषिः। आसन्दी राजपत्नी देवता। भुरिगनुष्टुप् छन्दः। गान्धारः स्वरः ॥

स्त्रीणां न्यायो विद्यासुशिक्षे च स्त्रीभिरेव कार्य्ये, नराणां नरैश्चेत्याह[2] ॥

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि।
स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

न्तोदात्तत्वं परत्वाद् बाधित्वा गतिर्गतौ (अ० ८। १। ७०) इति 'अभि' 'उप' अनुदात्तौ। तिङ्ङतिङः (अ० ८। १। २८) इति तिङ् अनुदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ ईश्वर के आश्रय के विना कोई भी कर्म फलावह नहीं हो सकता, अतः कहते हैं— ॥ २५ ॥

२ विदुष्यः स्त्रियः संसारस्य जातेश्चोन्नतेर्मूला इति तासां कर्माह—

† अत्रान्वये भाषापदार्थे च 'असि' इति मन्त्रगतपदं त्यक्तमिति ध्येयम् तच्च नान्वेति।
* '(वर्चः)···(धेहि) धरिये आप' इति कोशयोरुपलभ्यमानोऽपि पाठोऽजमेरमुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

स्योना । असि । सुषदा । सुसदेति सुऽसदा । असि । क्षत्रस्य । योनिः । असि ॥ स्योनाम् । आ । सीद । सुषदाम् । सुसदामिति सुऽसदाम् । आ । सीद । क्षत्रस्य । योनिम् । आ । सीद ॥ २६ ॥

पदार्थः—(स्योना) सुखरूपा [(असि)] (सुषदा) या शोभने व्यवहारे सीदति सा (असि) (क्षत्रस्य) राज्यन्यायस्य (योनिः) गृहे न्यायकर्त्री (असि) (स्योनाम्) सुखकारिकाम् (आ) (सीद) (सुषदाम्) शुभसुखदात्रीम् (आ) (सीद) (क्षत्रस्य) क्षत्रियकुलस्य (योनिम्) (आ) (सीद) ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । ४ । २-४ व्याख्यातः] ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे राज्ञि ! यतस्त्वं स्योनासि सुषदासि, क्षत्रस्य † योनिरसि तस्मात् स्योनां सुशिक्षामासीद, सुषदां विद्यामासीद क्षत्रस्य योनिं राजनीतिमासीद ॥ २६ ॥

भावार्थः—राजपत्नी सर्वासां स्त्रीणां न्यायसुशिक्षे च सदैव कुर्य्यात् । नैतासामेते पुरुषैः कारयितव्ये । कुतः ? पुरुषाणां समीपे स्त्रियो लज्जिता भीताश्च भूत्वा यथावद् वक्तुमध्येतुं च न शक्नुवन्त्यतः ॥ २६ ॥

स्त्रियों का न्याय, विद्या और उनको शिक्षा स्त्री लोग ही करें, और पुरुषों के लिये पुरुष,
इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे राणी ! जिस लिये आप (स्योना) सुखरूप (असि) हैं (सुषदा) सुन्दर व्यवहार करनेवाली (असि) हैं (क्षत्रस्य) राज्य के न्याय के (योनिः) करनेवाली (असि) हैं । इसलिये आप (स्योनाम्) सुखकारक अच्छी शिक्षा में (आसीद) तत्पर हूजिये, (सुखदाम्) अच्छे सुख देनेहारी विद्या को (आसीद) अच्छे प्रकार प्राप्त कीजिये तथा कराइये और (क्षत्रस्य) क्षत्रिय कुल की (योनिम्) राजनीति को (आसीद) सब स्त्रियों को जनाइये ॥ २६ ॥

भावार्थः—राजाओं की स्त्रियों को चाहिये कि सब स्त्रियों के लिये न्याय और अच्छी शिक्षा देवें और स्त्रियों का न्यायादि पुरुष न करें क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भययुक्त होकर यथावत् बोल वा पढ़ नहीं सकती ॥ २६ ॥

अथव्याकरणप्रक्रिया

(सुषदाम्) पूर्वं (यजु० १ । २७ पृ० १२६ तथा यजु० २ । २० पृ० २०६) व्याख्यातः ॥ अथवा ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (अ० ३ । ३ । १२६) इति खल् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ विदुषी स्त्रियां संसार और जाति की उन्नति का मूल हैं, अतः उनके कर्त्तव्य कर्मों का निर्देश करते हैं— ॥ २६ ॥

† 'योनिरसि···'क्षत्रस्य' इति हस्तलेखपाठः अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ।

निषसादेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । पिपीलिकमध्या प्रतिष्ठागायत्री छन्दः ।
षड्जः स्वरः ॥

राजवद् राजपत्नयोऽपि राजधर्ममाचरेयुरित्याह[1] ॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा । साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥

नि । ॐ ससाद । धृतव्रत इति धृतऽव्रतः । वरुणः । पस्त्यासु । आ ॥ साम्राज्यायेति साम्ऽराज्याय । सुक्रतुरिति सुऽक्रतुः ॥ २७ ॥

पदार्थः—(नि) नित्यम् (ससाद) सीदतु (धृतव्रतः) धृतानि सत्याचरणब्रह्मचर्यादीनि व्रतानि येन सः (वरुणः) पुरुषोत्तमः (पस्त्यासु) न्यायगृहेषु (आ) समन्तात् (साम्राज्याय) सम्राजां भावाय कर्मणे वा (सुक्रतुः) शोभना क्रतुः प्रज्ञा क्रिया वा यस्य सः ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । ४ । ५ व्याख्यातः] ॥ २७ ॥

अन्वयः—हे राज्ञि ! यथा तव धृतव्रतः सुक्रतुर्वरुणः पतिः साम्राज्याय पस्त्यास्वा निषसाद तथा तत्र त्वमपि न्यायं कुरु[2] ॥ २७ ॥

भावार्थः—यथा सम्राट् साम्राज्यं × पालितुं न्यायासने स्थित्वा पुरुषाणां सत्यं न्यायं कुर्य्यात् तथा राजपत्नी स्त्रीणां नित्यं न्यायं कुर्य्यात् । अतः किमागतं यादृशो नीतिविद्याधर्मयुक्तः स्वामी पुरुषाणां न्यायं कुर्य्यात् + तादृश्यैव तत्स्त्रिया भवितव्यमिति ॥ २७ ॥

राजा के समान राणी भी राजधर्म का आचरण करे, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥[3]

पदार्थः—हे राणी ! जैसे आपका (धृतव्रतः) सत्य का आचरण और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का धारण करनेहारा (सुक्रतुः) सुन्दर बुद्धि वा क्रिया से युक्त (वरुणः) उत्तम पति (साम्राज्याय) चक्रवर्ती राज्य होने और उसके काम करने के लिये (पस्त्यासु) न्यायघरों में (आ) निरन्तर (नि) नित्य ही (ससाद) बैठ के न्याय करे, वैसे तू भी न्यायकारिणी हो ॥ २७ ॥

---

१ स्त्रीणां न्यायादिकं राजा याथार्थ्येन कर्तुं न शक्यत इत्यतस्तत्पत्न्यैतत् सम्पादनीयमित्याह—

२ मन्त्रोऽयं ऋ० १ । २५ । १० अर्थभेदेन व्याख्यातः ॥

अथव्याकरणप्रक्रिया

(धृतव्रतः) पूर्वं (यजु० १० । ९ पृ० ८३८) व्याख्यातः ॥

(साम्राज्याय) पूर्वं (यजु० ४ । २४ पृ० ३९७) व्याख्यातः ॥

(सुक्रतुः) पूर्वं (यजु० ४ । २५ पृ० ४००) व्याख्यातः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

३ राजा स्त्रियों का न्याय उत्तम रीति से नहीं कर सकता, अतः यह कार्य उसकी पत्नी के द्वारा होना चाहिये, सो दर्शाते हैं— ॥ २७ ॥

ॐ 'षसाद' इत्यपपाठोऽजमेरमुद्रिते ॥ × 'साम्प्रतिकानां मते 'पालयितुं' इति स्यात् ॥
+ 'तादृश्येव' इति अ० मुद्रिते पाठः । 'तादृश्यैव' इति तु हस्तलेखपाठः ॥

भावार्थः—जैसे चक्रवर्तिराजा चक्रवर्ती राज्य की रक्षा के लिये न्याय की गद्दी पर बैठ के पुरुषों का ठीक २ न्याय करे, वैसे ही नित्यप्रति राणी लोग स्त्रियों का न्याय करें। इससे क्या आया कि जैसा नीति और विद्या धर्म से युक्त पति हो, वैसा ही स्त्री को भी होना चाहिये ॥ २७ ॥

अभिभूरित्यस्य शुनःशेप ऋषिः। यजमानो देवता। [विराड्] धृतिश्छन्दः। ऋषभः स्वरः॥

पुनः स राजा कीदृशो भूत्वा कस्मै किं कुर्यादित्युपदिश्यते[1] ॥

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

अभिभूरित्यभिऽभूः। असि। एताः। +ते। ×पञ्च। दिशः। कल्पन्ताम्। ब्रह्मन्। त्वम्। ब्रह्मा। असि। सविता। असि। सत्यप्रसव इति सत्यऽप्रसवः। वरुणः। असि। सत्यौजा इति सत्यऽओजाः। इन्द्रः। असि। विशौजाः। रुद्रः। असि। सुशेव इति सुऽशेवः॥ बहुकारेति बहुऽकार। श्रेयस्कर। श्रेयःकरेति श्रेयःऽकर। भूयस्कर। भूयःकरेति भूयःऽकर। इन्द्रस्य। वज्रः। असि। तेन। मे। रध्य ॥ २८ ॥

पदार्थः—(अभिभूः) दुष्टानां तिरस्कर्त्ता (असि) (एताः) (ते) तव (पञ्च) पूर्वादयश्चतस्रोऽध ऊर्ध्वा चैका (दिशः) (कल्पन्ताम्) सुखयुक्ता भवन्तु (ब्रह्मन्) प्राप्तब्रह्मविद्य! (त्वम्) (ब्रह्मा) चतुर्वेदविदखिलराजप्रजासुखनिमित्तानां पदार्थानां निर्माता (असि) (सविता) ऐश्वर्योत्पादकः (असि) (सत्यप्रसवः) सत्येन कर्मणा प्रसव ऐश्वर्यं यस्य सः (वरुणः) वरस्वभावः (असि) (सत्यौजाः) सत्यमोजो बलं यस्य सः (इन्द्रः) सुखानां धाता (असि) (विशौजाः) विशा प्रजया सहौजः पराक्रमो यस्य सः (रुद्रः) शत्रूणां दुष्टानां रोदयिता (असि) (सुशेवः) शोभनं शेवं सुखं यस्य सः शेवमिति सुखनामसु पठितम्। निघ० ३।६ (बहुकार) बहूनां सुखानां कर्त्तः (श्रेयस्कर) कल्याणकर्त्तः (भूयस्कर) पुनः पुनरनुष्ठातः (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यस्य (वज्रः) प्रापकः (असि) (तेन) (मे) मह्यम् (रध्य) संराध्नुहि ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५।४।४।६–२१ व्याख्यातः] ॥ २८ ॥

१ स्वयं राज्ञा कथं विदुषा भवितव्यमित्याह—

२ अथ केन ब्रह्मत्वम्? इत्यनया त्रय्या विद्ययेति ह ब्रूयात्॥ श० ११।५।८।७॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(अभिभूः) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः॥

(सत्यप्रसवः) बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। 'सत्य' शब्दः पूर्वं (य० १।५ पृ० ४८॥ ४।१८ पृ० ३८६) व्याख्यातः॥

(सत्यौजाः) पूर्ववद् प्रकृतिस्वरः॥

(विशौजाः) यथा तु भाष्यं तथा 'विशौजाः' इत्यत्र छान्दसत्वाद् तृतीयाया अलुग् द्रष्टव्यः। बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (अ० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। 'विट्' शब्दः पूर्वं यजु० १०।१२ पृ० ८४२ व्याख्यातः॥

+ 'ते' इति स्वररहितोऽपपाठो ऽजमेरमुद्रिते ॥
× 'पञ्च' इत्यपस्वरः पाठो ऽजमेरमुद्रिते ॥

अन्वयः—हे बहुकार श्रेयस्कर भूयस्कर ब्रह्मन् ! यथा यस्य ते तवैताः पञ्च दिशः कल्पेरन्, तथा मम भवत्पत्न्याः कल्पन्ताम् । यथा त्वं [ब्रह्माऽऽसि] अभिभूरसि, सवितासि, सत्यप्रसवो वरुणोसि, सत्यौजा इन्द्रोऽसि, विशौजाः सुशेवो रुद्रोसीन्द्रस्य वज्रोसि, तथाऽहमपि भवेयं, यथाऽहं येन तुभ्यमृद्धिसिद्धी कुर्यां तथा त्वं तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा पुरुषः सर्वदिक्सुकीर्त्तिः*वेदविद् धनुर्थवेदप्रवीणः सत्यकारी सर्वस्य सुखप्रदो धार्मिको जनो भवेत् तथा तत्पत्नी स्यात् †ते राजधर्मे स्वीकृत्यास्माद् बहुसुखं बहुश्रियं च प्राप्नुवन्तु ॥२८॥

फिर वह राजा कैसा हो के किसके लिये क्या करे, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे (बहुकार) बहुत सुखों (श्रेयस्कर) कल्याण और (भूयस्कर) बार-बार अनुष्ठान करनेवाले (ब्रह्मन्) आत्मविद्या को प्राप्त हुए ! जैसे जिस (ते) आपके (एताः) ये (पञ्च) पूर्व आदि चार और ऊपर [वा] नीचे एक [अर्थात्] पांच (दिशः) दिशा सामर्थ्ययुक्त हों, ‡वैसे मुझ आपकी पत्नी के लिये भी (कल्पन्ताम्) सुखयुक्त होवें । जैसे [(त्वम्)] आप [(ब्रह्मा) चारों वेदों के ज्ञाता और राजा और प्रजा के सम्पूर्ण सुखों के साधनरूप पदार्थों के निर्माता (असि) हैं] (अभिभूः) दुष्टों का तिरस्कार करनेवाले (असि) हैं (सविता) ऐश्वर्य के उत्पन्न करनेहारे (असि) हैं (सत्यप्रसवः) + सत्य कर्म के साथ ऐश्वर्य है जिसका ऐसे (वरुणः) उत्तम स्वभाव वाले (असि) हैं (सत्यौजाः) सत्य बल से युक्त (इन्द्रः) सुखों के धारण करनेहारे (असि) हैं (विशौजाः) प्रजाओं के बीच पराक्रम वाले (सुशेवः) सुन्दर सुखयुक्त (रुद्रः) शत्रु और दुष्टों को रुलानेवाले (असि) हैं (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य के (वज्रः) प्राप्त करनेहारे (असि) हैं वैसे मैं भी होऊँ, जैसे मैं आपके वास्ते ऋद्धि सिद्धि करूं वैसे (तेन) उससे (मे) मेरे लिये (रध्य) कार्य्य करने का सामर्थ्य कीजिये ॥ २८ ॥

विशूशब्दाद् 'आपं चैव हलन्तानाम्' (न्यासाद्युद्धृत) इति भागुरिमतानुसारं टाप्येकादेशे 'विशौजाः' इति पदसिद्धिः । यथा तु ङ्याप्प्रातिपदिकसूत्रभाष्यं तथा अकारान्तोऽपि विशशब्दः कप्रत्ययान्तो द्रष्टव्यः, परं न तेनात्र कार्यमाद्युदात्तस्वरप्रदर्शनात् । तत्रैव भाष्ये कस्यचिन्मते 'देवविशा' इत्यत्र हलन्तादपि टाबुक्तः ॥

(सुशेवः) शेवशब्दः शीवायहाजिह्मा० (उ० १। १५५) इत्यत्र वन्नन्तो निपात्यते, नित्त्वादाद्युदात्तः । आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि (अ० ६ । २ । ११९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(बहुकार) दिवाविभानिशा० (अ० ३ । २ । २१) इति बहूपपदाट्टः प्राप्नोति । छान्दसत्वादत्राण् द्रष्टव्यः । वाक्यादित्वादत्र षाष्ठिकामन्त्रितस्वरः ॥

(श्रेयस्कर, भूयस्कर) आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (अ० ८ । १ । ७२) इत्यविद्यमानवद्भावे षाष्ठिकामन्त्रितस्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[1] राजा को स्वयं कैसा विद्वान् होना चाहिये, सो कहते हैं— ॥२८॥

---

* 'वेदविद्धनुरर्थ' इति पाठोऽअ०मुद्रिते ग. कोशे च प्रमादेन त्यक्तः ॥

† कदाचिदत्र 'तौ राजधर्मे स्वीकृत्यास्माद् बहु०' इति पाठः स्यात् । यथा त्वस्य भाषापदार्थस्तथात्र परिवर्तने संशोधने वा पाठो व्यस्तः स्यात् ॥

‡ 'वैसे मेरे लिये आपकी पत्नी की कीर्त्ति से भी' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

\+ 'सत्यकर्म के साथ···(सुशेवः)' इति पाठो हस्तलेखयोरुभयोरप्युपलभ्यमानोऽ अ० मुद्रिते प्रमादेन त्यक्तः ॥

[इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥]

भावार्थः—सब मनुष्यों को चाहिये कि जैसा पुरुष सब दिशाओं में कीर्त्तियुक्त, वेदों को जानने, धनुर्वेद और अर्थवेद की विद्या में प्रवीण, सत्य करने और सबको सुख देनेवाला, धर्मात्मा पुरुष होवे, उसकी स्त्री भी वैसी ही होवे। उनको राजधर्म में स्थापन करके बहुत सुख और बहुत सी शोभा को प्राप्त हों ॥ २८ ॥

अग्निरित्यस्य शुनःशेप ऋषिः। अग्निर्देवता। स्वराडार्षी जगती छन्दः। निषादः स्वरः ॥

पुना राजप्रजाजनाः किंवत् किं कुर्युरित्याह[1] ॥

अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॑र्जु॒षा॒णो अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॒राज्य॑स्य वेतु॒ स्वाहा॑ स्वाहा॑कृता॒ः सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑र्यतध्व॒ꣳ स॒जा॒ता॒नां म॑ध्य॒मे॒ष्ठ्या॑य ॥ २९ ॥

अ॒ग्निः। पृ॒थुः। धर्म॑णः। पति॑ः। जु॒षा॒णः। अ॒ग्निः। पृ॒थुः। धर्म॑णः। पति॑ः। आज्य॑स्य। वे॒तु॒। स्वाहा॑ ॥ स्वाहा॑कृता॒ इति॑ स्वाहा॑ऽकृताः। सूर्य॑स्य। र॒श्मिभि॒रिति॑ र॒श्मिऽभिः। य॒त॒ध्व॒म्। स॒जा॒ता॒ना॒मिति॑ सऽजा॒ता॒नाम्। म॒ध्य॒मे॒ष्ठ्या॑य। म॒ध्य॒मे॒स्थ्या॒येति॑ + म॒ध्य॒मेऽस्थ्या॑य ॥ २९ ॥

पदार्थः—(अग्निः) सूर्यइव (पृथुः) विस्तीर्णपुरुषार्थः (धर्मणः) धर्मस्य (पतिः) पालयिता (जुषाणः) सेवमानः (अग्निः) विद्युदिव (पृथुः) महान् (धर्मणः) न्यायस्य (पतिः) रक्षकः (आज्यस्य) घृतादेर्हविषः (वेतु) व्याप्नोतु (स्वाहा) सत्यया क्रियया (स्वाहाकृताः) याः स्वाहा सत्यां क्रियां कुर्वन्ति[2] ताः (सूर्यस्य) (रश्मिभिः) (यतध्वम्) (सजातानाम्) जातैः सह वर्त्तमानानाम् (मध्यमेष्ठ्याय) मध्ये ❋ भवे पक्षपातरहिते न्याये तिष्ठति तस्य भावाय ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५।४।४।२२-२३ व्याख्यातः] ॥ २९ ॥

अन्वयः—हे राजन् राज्ञि वा ! यथा पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणोऽग्निः सजातानां मध्यमेष्ठ्याय स्वाहाऽऽज्यस्य वेति। सूर्यस्य रश्मिभिः सह हविः प्रसार्य्य सुखयति, तथा धर्मणस्पतिः पृथुर्जुषाणोऽग्निर्भवान् राष्ट्रं वेतु, तथा च हे स्वाहाकृताः सभासत्स्त्रियो यूयमपि प्रयतध्वम् ॥ २९ ॥

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः ॥

---

१ पुनरपि राज्ञो वैदुष्यकर्माह—

२ आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च (अ० ३।४।७१) इति क्त आदिकर्मणि द्रष्टव्यः ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(मध्यमेष्ठ्याय) सुपि स्थः (अ० ३।२।४) इति कः। तत्पुरुषे कृति बहुलम् (अ० ६।३।१४) इति विभक्तेरलुक्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे दासीभारादीनां च (अ० ६।२।४२ भा० वा०) आकृतिगणत्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे मध्यान्मः (अ० ४।३।८) इति मप्रत्यये प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः। सुषामादिषु च (अ० ८।३।९८) इत्यस्याकृतिगणत्वात् षत्वम्। ततो भावे पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (अ० ५।१।१२८) इति यक्, छान्दसमनुदात्तत्वम्। यद्वा भावे छान्दसो ष्यप्रत्ययो द्रष्टव्यः, तस्य पित्त्वात् स एव स्वरः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

+ 'मध्यमेऽस्थ्याय' इत्यपपाठोऽअ०मुद्रिते ॥

❋ 'पक्षपातरहिते भवे' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

भावार्थः—हे राजप्रजाजना ♣ यूयं प्रसिद्धसूर्यविद्युदग्निवद्वर्त्तित्वा पक्षपातं विहाय समानजन्मसु मध्यस्थाः सन्तो न्यायं कुरुत । ✪ यथाऽयमग्निः सवितृप्रकाशे वायौ च सुगन्धं द्रव्यं प्राप्य वायुजलौषधिशुद्धिद्वारा सर्वान् प्राणिनः सुखयति, तथा [यूयं] न्याययुक्तैः कर्मभिः सहचरिता भूत्वा सर्वाः प्रजाः सुखयत ॥ २९ ॥

फिर राजा और प्रजा के जन किसके समान क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे राजन् वा राजपत्नि ! जैसे (पृथुः) महापुरुषार्थयुक्त [(धर्मणः)] धर्म का (पतिः) रक्षक (जुषाणः) सेवक (अग्निः) बिजुली के समान व्यापक (सजातानाद्) उत्पन्न हुए पदार्थों के साथ वर्त्तमान पदार्थों के (मध्यमेष्ठ्याय) मध्य में स्थित होके (स्वाहा) सत्य क्रिया से (आज्यस्य) घृत आदि होम के पदार्थों को प्राप्त कराता ❀ है और (सूर्य्यस्य) सूर्य्य की (रश्मिभिः) किरणों के साथ होम किये पदार्थों को फैला के सुख देता है, वैसे (धर्मणः) न्याय के (पतिः) रक्षक (पृथुः) बड़े सेवा करनेवाले (अग्निः) तेजस्वी आप राज्य को (वेतु) प्राप्त हूजिये । वैसे ही हे (स्वाहाकृताः) सत्य काम करनेवाले सभासद् पुरुषों की स्त्री लोगो तुम भी (यतध्वम्) प्रयत्न किया करो ॥ २९ ॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—हे राज और प्रजा के पुरुषो तथा राणी वा राणी के सभासदो ! तुम लोग सूर्य्य और प्रसिद्ध विद्युत् अग्नि के समान वर्त्तो, पक्षपात छोड़ × समान जन्म अर्थात् एक जैसी स्थितिवालों में मध्यस्थ हो के न्याय करो । जैसे यह अग्नि सूर्य्य के प्रकाश में और वायु में सुगन्धियुक्त द्रव्यों को प्राप्त कर, वायु जल और ओषधियों की शुद्धि द्वारा सब प्राणियों को सुख देता है, वैसे ही [आप लोग] न्याययुक्त कर्मों के साथ आचरण करनेवाले होके सब प्रजाओं को सुखयुक्त करो ॥ २९ ॥

सवित्रेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । सवित्रादिमन्त्रोक्ता देवताः । भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

कीदृग्गुणैः सह राज्ञा राज्या वा भवितव्यमित्युपदिश्यते[2] ॥

स॒वि॒त्रा प्र॑सवि॒त्रा सर॑स्वत्या वा॒चा त्वष्ट्रा॑ रू॒पैः पू॒ष्णा प॒शुभि॒रिन्द्रे॑णा॒स्मे बृह॒स्पति॑ना ब्रह्म॑णा॒ वरु॑णे॒नौज॑सा॒ऽग्निना॒ तेज॑सा॒ सोमे॑न॒ राज्ञा॒ विष्णु॑ना दश॒म्या दे॒वत॑या॒ प्रसू॑तः प्रस॑र्पामि ॥ ३० ॥

---

१ फिर भी राजसम्बन्धी विद्वत्ता के कार्यों का निरूपण करते हैं— ॥ २९ ॥

२ विद्वांसः प्रशस्तविज्ञानक्रियायुक्ताः पतिपत्न्य एव सर्वं सम्पादयितुं समर्था इति निर्दिशन्नाह—

♣ इतोऽग्रे 'यथा' इति न्यस्तः पाठः ॥

❀ 'प्राप्त कराता हुआ' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

✪ 'तथायमग्निः' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

× 'एक जन्म में मध्यस्थ होकर' इति अ० मुद्रिते पाठः

सुवित्रा । प्रसवित्रेति प्रऽसवित्रा । सरस्वत्या । वाचा । त्वष्ट्रा । रूपैः । पूष्णा । पशुभिरिति पशुऽभिः । इन्द्रेण । अस्मेऽइत्यस्मे । बृहस्पतिना । ब्रह्मणा । वरुणेन । ओजसा । अग्निना । तेजसा । सोमेन । राज्ञा । विष्णुना । दशम्या । देवतया । प्रसूत इति प्रऽसूतः । प्र । सर्पामि ॥ ३० ॥

पदार्थः—(सवित्रा) प्रेरकेण वायुना[1] (प्रसवित्रा[2]) सकलचेष्टोत्पादकेनेव शुभकर्मणा (सरस्वत्या) प्रशस्तविज्ञानक्रियायुक्तया (वाचा) वेदवाण्येव[3] सत्यभाषणेन (त्वष्ट्रा) छेदकेन प्रतापिना सूर्येणेव न्यायेन (रूपैः) सुखस्वरूपैः (पूष्णा) पृथिव्या, पूषेति पृथिवीनामसु पठितम्। निघ० १।१ (पशुभिः) गवादिभिरिव प्रजायाः पालनेन (इन्द्रेण) विद्युदिवैश्वर्येण (अस्मे) अस्माभिः (बृहस्पतिना) बृहतां पालकेन चतुर्वेदविदा विदुषेव विद्यासुशिक्षाप्रचारेण (ब्रह्मणा) वेदार्थज्ञानेन ज्ञापनेनेवोपदेशकेन (वरुणेन) वरेण जलसमूहेनेव शान्त्या (ओजसा) बलेन (अग्निना) पावकेन (तेजसा) तीक्ष्णेन ज्योतिषेव शत्रुदाहकत्वेन (सोमेन) चन्द्रेण प्रकाशमानेनेवाल्हादकत्वेन (राज्ञा) प्रकाशमानेन (विष्णुना) व्यापकेन परमेश्वरेणेव शुभगुणकर्मस्वभावेन (दशम्या) दशानां पूरिकया (देवतया) देदीप्यमानया सह (प्रसूतः) प्रेरितः (प्र) प्रगतः (सर्पामि) चलामि ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ४ । ५ । २ व्याख्यातः] ॥ ३० ॥

अन्वयः—हे प्रजाराजजना यथाऽहं सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे ब्रह्मणा बृहस्पतिनौजसा वरुणेन तेजसाऽग्निना राज्ञा सोमेन दशम्या देवतया विष्णुना च सह प्रसूतः सन् प्रसर्पामि तथा यूयमपि ❀ प्रसर्पध्वम् ॥ ३० ॥

भावार्थः—यो जनः सूर्य्यादिगुणयुक्तः पितृवत् प्रजापालकः स्यात्, स राजा भवितुं योग्यः । यश्चैवं पुत्रवद् वर्त्तमानो भवेत् स प्रजा भवितुमर्हति ॥ ३० ॥

राजा वा राणी को कैसे गुणों से युक्त होना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[4] ॥

पदार्थः—हे प्रजा और राजपुरुषो ! जैसे मैं (सवित्रा) प्रेरणा करनेवाले वायु (प्रसवित्रा) संपूर्ण चेष्टा उत्पन्न करनेहारे के समान शुभ कर्म (सरस्वत्या) प्रशंसित विज्ञान और क्रिया से युक्त (वाचा) वेदवाणी के समान सत्य भाषण (त्वष्ट्रा) छेदक और प्रतापयुक्त सूर्य के समान न्याय (रूपैः) सुखस्वरूपों (पूष्णा) पृथिवी (पशुभिः) गौ आदि पशुओं के समान प्रजा के पालन (इन्द्रेण) बिजुली [के समान ऐश्वर्य] (अस्मे) हम (बृहस्पतिना) बड़ों के रक्षक, चारों वेदों के जाननेहारे विद्वान् के समान विद्या और सुन्दर शिक्षा के प्रचार [(ब्रह्मणा) वेदार्थ का बोध करने करानेहारे उपदेशक] (ओजसा) बल (वरुणेन) जल के समुदाय [के समान शान्ति] (तेजसा) तीक्ष्ण ज्योति के समान शत्रुओं के जलाने (अग्निना) अग्नि (राज्ञा) प्रकाशमान †

---

1 वायुरेव सविता ॥ गो० पू० १ । ३३ ॥ श० १४ । २ । १ । १ ॥

2 सविता वै देवानां प्रसविता ॥ श० १ । १ । २ । १७ ॥ सविता वै प्रसविता ॥ कौ० ६ । १४ ॥

3 सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता । ऋचो यजूंषि सामानि । श० १० । ४ । ५ । २ । ॥

4 विद्वान्, उत्तम ज्ञान क्रिया से सम्पन्न, पति पत्नी ही सब कार्य उत्तम रीति से कर सकते हैं, सो निर्देश करते हैं— ॥ ३० ॥

❀ साम्प्रतिकानां मते तु 'प्रसर्पत' इति स्यात् ॥

† 'प्रकाशमान आनन्द के होने' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥

(सोमेन) चन्द्रमा [के समान आह्लादक] (दशम्या) दशसंख्या को पूर्ण करनेवाली (देवतया) प्रकाशमान और (विष्णुना) व्यापक ईश्वर के समान शुभ गुण कर्म और स्वभाव से (प्रसूतः) प्रेरणा किया हुआ मैं (प्रसर्पामि) अच्छे प्रकार चलता हूँ, वैसे तुम लोग भी चलो ॥ ३० ॥

भावार्थः—जो मनुष्य सूर्यादिगुणों से युक्त, पिता के समान, रक्षा करनेहारा हो, वह राजा होने के योग्य है, और जो पुत्र के समान वर्त्ताव करे, वह प्रजा होने योग्य है ॥ ३० ॥

अश्विभ्यामित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । क्षत्रपतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

पुनर्मनुष्याः कीदृशा भूत्वा किं कुर्युरित्युपदिश्यते[1] ॥

अश्विभ्यां[2] पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व । वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्सोमो अतिस्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३१ ॥

अश्विभ्यामित्यश्विऽभ्याम् । पच्यस्व । सरस्वत्यै । पच्यस्व । इन्द्राय । सुत्राम्ण इति ‡ सुऽत्राम्णे । पच्यस्व ॥ वायुः । पूतः । पवित्रेण । प्रत्यङ् । सोमः । () अतिस्रुत इत्यतिऽस्रुतः । इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(अश्विभ्याम्) सूर्याचन्द्रमोभ्यामिवाऽध्यापकोपदेशकाभ्याम् (पच्यस्व) परिपक्वो भव (सरस्वत्यै) सुशिक्षितायै वाचे (पच्यस्व) (इन्द्राय) परमैश्वर्य्याय (सुत्राम्णे) सुष्ठु रक्षकाय (पच्यस्व) (वायुः) वायुरिव (पूतः) (पवित्रेण) शुद्धेन धर्माचरणेन निर्दोषः (प्रत्यङ्) प्रत्यञ्चतीति ❀ पूजितः (सोमः) ऐश्वर्य्यवान् सोमगुणसंपन्नो वा (अतिस्रुतः) अत्यन्तज्ञानवान् (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (युज्यः) युक्तः (सखा) मित्रः ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ५ । ४ । २०-२२ व्याख्यातः] ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे राजप्रजाजन ! त्वमश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्व सुत्राम्ण इन्द्राय पच्यस्व । पवित्रेण वायुरिव पूतः प्रत्यङ् सोमोऽतिस्रुत इन्द्रस्य युज्यः सखा भव ॥ ३१ ॥

भावार्थ—मनुष्या आप्तयोरध्यापकोपदेशकयोः सकाशात् सुशिक्षां प्राप्य, शुद्धैर्धर्माचरणैः स्वात्मानं पवित्रीकृत्य, योगाङ्गैरीश्वरमुपास्यैश्वर्य्याय प्रयत्य परस्परं सखायो भवन्तु ॥ ३१ ॥

१ अश्विभ्यामाप्ताभ्यामध्यापकोपदेशकाभ्यां सुशिक्षां प्राप्य मनुष्यैः शुद्धैर्धर्माचरणैर्भवितव्यमित्याह—

२ 'अश्विभ्यामिति गुरुशिष्याभ्याम्' इति ऋ० १ । १६४ । २७ आत्मानन्दभाष्ये पृ० ३६ ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुत्राम्णे) सुपपदात् त्रायतेः आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (अ० ३ । २ । ७४) इति मनिन् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे नित्त्वादाद्युदात्तत्वमुत्तरपदस्य ॥

(अतिस्रुतः) गतिरनन्तरः (अ० ६ । २ । ४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

‡ 'सुऽत्राणे' इत्यपपाठोऽअ०मुद्रिते ॥

❀ 'पूजितो भव' इति अ०मुद्रिते पाठः ॥

() 'अतिस्रुत इत्यतिऽस्रुतः' इत्यपस्वरः पाठोऽअ०मुद्रिते ॥

फिर मनुष्य कैसे होके क्या करें, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है[1] ॥

पदार्थः—हे राजा तथा प्रजा पुरुषो ! तुम (अश्विभ्याम्) सूर्य चन्द्रमा के समान अध्यापक और उपदेशक [के द्वारा] (पच्यस्व) शुद्धबुद्धिवाले हो (सरस्वत्यै) अच्छी शिक्षायुक्त वाणी के लिये (पच्यस्व) उद्यत हो, (सुत्राम्णे) अच्छी रक्षा करनेहारे (इन्द्राय) परमैश्वर्य के लिये (पच्यस्व) दृढ़ पुरुषार्थ करो, (पवित्रेण) शुद्ध धर्म के आचरण से (वायुः) वायु के समान (पूतः) निर्दोष (प्रत्यङ्) पूजा को प्राप्त (सोमः) अच्छे गुणों से युक्त ऐश्वर्यवाले (अतिस्रुतः) अत्यन्त ज्ञानवान् (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (युज्यः) योगाभ्यास युक्त (सखा) मित्र हो ॥ ३१ ॥

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिये कि सत्यवादी, धर्मात्मा, आप्त अध्यापक और उपदेशक से अच्छी शिक्षा को प्राप्त हो, शुद्ध धर्म के आचरण से अपने आत्मा को पवित्र [करके] योग के अङ्गों से ईश्वर की उपासना और सम्पत्ति होने के लिये प्रयत्न करके आपस में मित्रभाव से वर्त्तें ॥ ३१ ॥

कुविदङ्गेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । क्षत्रपतिर्देवता । निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

राजादिसभ्यैः प्रजाय किंवत् किं किं कर्त्तव्यमित्याह[2] ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूयं ।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति ।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३२ ॥

कुवित् । अङ्ग । यवमन्त इति यवऽमन्तः । यवम् । चित् । यथा । दान्ति । अनुपूर्वमित्यनुऽपूर्वम् । वियूयेति विऽयूयं ॥ इहेहेतीहऽइह । एषाम् । कृणुहि । भोजनानि । ये । बर्हिषः । नमउक्तिमिति नमःऽउक्तिम् । यजन्ति ॥ उपयामगृहीत† इत्युपयामऽगृहीतः । असि । अश्विभ्यामित्यश्विऽभ्याम् । त्वा । सरस्वत्यै । त्वा । इन्द्राय । त्वा । सुत्राम्ण इति सुऽत्राम्णे ॥ ३२ ॥

१ अश्वियों अर्थात् आप्त अध्यापक उपदेशकों के द्वारा उत्तम शिक्षा को प्राप्त करके मनुष्यों को शुद्धाचारी होना चाहिये, सो दर्शाते हैं— ॥ ३१ ॥

२ ज्ञानी राजा तत्सभ्याश्च सत्यासत्ये विविच्य प्रजानां रक्षणं कुर्युरित्याह—

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(कुवित्, अङ्ग) एवादीनामन्तः (फि० ८२) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥ 'अङ्ग' इत्यत्र यथा भाष्यं तथा तु छान्दसान्तोदात्तत्वम् ॥

(यवमन्तः) यवशब्दान्मतुप्, स च पित्वादनुदात्तः । यवशब्द ऋदोरप् (अ० ३ । ३ । ५७) इत्यवन्तः, पित्वाद् धातुस्वरः । पूर्व (यजु० ५ । २६ पृ० ४७५) अपि द्रष्टव्यः ॥

(दान्ति) यावद्यथाभ्याम् (अ० ८ । १ । ३६) इति निघाताभावः ॥

(अनुपूर्वम्) समासस्य (अ० ६ । १ । २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम् ॥

(वियूय) कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे ल्यपो लित्वाद् लित्स्वरः । लुकि प्राप्ते छान्दसं दीर्घत्वम् ॥

† 'इत्युपयाम॒ऽगृ॒हीतः' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेरमुद्रिते ॥

पदार्थः—(कुवित्) बह्वैश्वर्य्यः, कुविदिति बहुनामसु पठितम् । निघ० ३ । १ (अङ्ग) योऽङ्गति जानाति तत्सम्बुद्धौ (यवमन्तः) बहवो यवा विद्यन्ते येषां ते, कृषीवलाः (यवम्) (चित्) अपि (यथा) (दान्ति) लुनन्ति (अनुपूर्वम्) क्रमशः (वियूय) बुसादिकं पृथक्कृत्य (इहेह) अस्मिन्नस्मिन् व्यवहारे (एषाम्) कृषीवलानाम् (कृणुहि) कुरु (भोजनानि) (ये) (बर्हिषः) वृद्धाः (नमउक्तिम्) नमसोऽन्नस्योक्तिं वचनम् (यजन्ति) संगच्छन्ते (उपयामगृहीतः) ब्रह्मचर्यनियमैः स्वीकृतः (असि) (अश्विभ्याम्) व्याप्तविद्याभ्यां शिक्षकाभ्याम् (त्वा) त्वाम् (सरस्वत्यै) विद्यायुक्तवाचे (त्वा) (इन्द्राय) उत्तमैश्वर्य्याय (त्वा) (सुत्राम्णे) सुष्ठु त्राणाय ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ५ । ४ । २४ व्याख्यातः] ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे अङ्ग राजन् ! यः कुवित् त्वमश्विभ्यामुपयामगृहीतोऽसि तं सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा *सुत्राम्णे त्वा वयं स्वीकुर्मः । ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति तेभ्यः सत्कारेण † भोजनानि देहि । यथा यवमन्त इहेह यवमनुपूर्वं दान्ति बुसाच्चिद् यवं वियूय रक्षन्ति तथैषां सत्यासत्ये विविच्य रक्षणं कृणुहि ॥ ३२ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ॥

भावार्थः—यथा कृषीवलाः परिश्रमेण पृथिव्याः सकाशादनेकानि फलादीन्युत्पाद्य संरक्ष्य भुञ्जते, निस्सारं त्यजन्ति, यथाविहितं भागं राज्ञे ददति, तथैव राजादिभिर्जनैरतिश्रमेणैतान् संरक्ष्य, न्यायेनैश्वर्य्यमुत्पाद्य, सुपात्रेभ्यो दत्त्वाऽऽनन्दो भोक्तव्यः ॥ ३२ ॥

राजा आदि सभा के पुरुष किसके तुल्य क्या क्या करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[१] ॥

पदार्थः—हे (अङ्ग) ज्ञानवान् राजन् ! जो (कुवित्) बहुत ऐश्वर्य्यवाले आप (अश्विभ्याम्) विद्या को प्राप्त हुए शिक्षक लोगों के लिये (उपयामगृहीतः) ब्रह्मचर्य के नियमों से स्वीकार किये (असि) हैं, उन (सरस्वत्यै) विद्यायुक्त वाणी के लिये (त्वा) आपको (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्य्य के लिये (त्वा) आपको और (सुत्राम्णे) अच्छी रक्षा के लिये (त्वा) आपको हम लोग स्वीकार करते हैं । ‡(ये) जो (बर्हिषः) वृद्धपुरुष (नमउक्तिम्) अन्न के कहने को (यजन्ति) सङ्गत करते हैं, उनके लिये सत्कार के साथ [(भोजनानि)] भोजन आदि दीजिये । [(यथा)] जैसे (यवमन्तः) बहुत जौ आदि धान्य से युक्त खेती करनेहारे लोग (इहेह) इस व्यवहार में (यवम्) यवादि अन्न को (अनुपूर्वम्) क्रम से (दान्ति) लुनते [❁काटते] हैं, भुस से (चित्)

(इहेह) नित्यवीप्सयोः (अ० ८ । १ । ४) इति द्वित्वम् । अनुदात्तं च (अ० ८ । १ । ३) इत्यनुदात्तत्वं परस्य । 'इह'शब्दः विभक्तिस्वरेणान्तोदात्तः द्र० पूर्वं य० २ । १३ ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

[१] ज्ञानी राजा और उसकी सभा के सभ्यजन सत्यासत्य का विवेक करके प्रजाओं की रक्षा करें, यह बतलाते हैं— ॥३२॥

---

* 'सुत्राम्णे त्वा' इति हस्तलेखयोरुपलभ्यमानोऽपि अजमेरमुद्रणे प्रमादेन त्यक्तः ॥

† 'भोजनादीनि' इति अजमेरमुद्रिते पाठः

‡ '(ये) जो ...... सङ्गत करते हैं' इति अजमेरमुद्रिते प्रमादात् त्यक्तः ॥

❁ पदमिदम् अजमेरमुद्रिते द्वितीयसंस्करणे केनचित् परिवर्द्धितम् । अस्माभिस्तु प्रथमसंस्करणेऽदर्शनात् कोष्ठे परिवर्द्धितम् ॥

भी जौं आदि को (वियूय) पृथक् करके रक्षा करते हैं वैसे [(एषाम्) इनके] सत्य असत्य को ठीक ठीक विचार के इनकी रक्षा [(कृणुहि)] कीजिये ॥ ३२ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ॥

भावार्थः—जैसे खेती करनेवाले लोग परिश्रम के साथ पृथिवी से अनेक फलों को उत्पन्न और रक्षा करके भोगते और असार को फेंकते हैं, और ठीक ठीक राज्य का भाग राजा को देते हैं, वैसे ही राजा आदि पुरुषों को चाहिये कि अत्यन्त परिश्रम से इनकी रक्षा न्याय के आचरण से ऐश्वर्य्य को उत्पन्न कर और सुपुत्रों के लिये देते हुए आनन्द को भोगें ॥ ३२ ॥

युवमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । अश्विनौ देवते । निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

सभासेनेशाभ्यां प्रयत्नतो वणिग्जनाः संरक्ष्या इत्याह[1] ॥

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ।
विपिपाना शुभस्पतीऽइन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ३३ ॥

युवम् । सुरामम् । अश्विना । नमुचौ । आसुरे । सचा ॥ विपिपानेति † विऽपिपाना । शुभः । पतीऽइति पती । इन्द्रम् । कर्मस्विति कर्मऽसु । आवतम् ॥ ३३ ॥

पदार्थः—(युवम्) युवाम् (सुरामम्) सुष्ठु रमन्ते यस्मिन् तम् (अश्विना) सूर्य्यचन्द्रमसाविव[2] सभासेनेशौ (नमुचौ) न मुञ्चति स्वकीयं कर्म यस्तस्मिन् (आसुरे) असुरस्य मेघस्याऽयं व्यवहारस्तस्मिन् । असुर इति मेघनामसु पठितम् । निघ० १ । १० (सचा) सत्यसमवेतौ (विपिपाना) विविधं राज्यं ‡ रक्षमाणौ (शुभः) कल्याणकरस्य व्यवहारस्य (पती) पालयितारौ (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं धनिकम् (कर्मसु) कृष्यादिक्रियासु प्रवर्त्तमानम् (आवतम्) रक्षतम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ५ । ४ । २५ व्याख्यातः] ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हे सचा विपिपाना शुभस्पती अश्विना युवं नमुचावासुरे कर्मसु वर्त्तमानं सुराममिन्द्रं सततमावतम् ॥ ३३ ॥

भावार्थः—दुष्टेभ्यः श्रेष्ठानां रक्षणायैव राजभावः प्रवर्त्तते । नहि राजरक्षणेन विना कस्यचित् कर्मचारिणः कर्मणि * निर्विघ्नेन प्रवृत्तिर्भवितुं योग्याऽस्ति, न च खलु प्रजाजनाऽनुकूल्यमन्तरा

[1] विद्वान् सभापतिरेव प्रजावत्सलो भवितुमर्हतीत्यत आह—

[2] तत् कावश्विनौ । द्यावापृथिव्यावित्येके । अहोरात्रावित्येके । सूर्याचन्द्रमसावित्येके ॥ निरु० १२ । १ ॥

† 'विऽपिपाना' इत्यपस्वरः पाठोऽजमेर मुद्रिते ॥

‡ अत्र 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (अ० ३।२।१२९) इति ताच्छील्ये शक्तौ वा चानश् प्रत्ययो द्रष्टव्यः ॥

* भावप्रधानो निर्देशः । 'निर्विघ्नतया' इत्यर्थः । यद्वाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः । तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् (अ० २।४।८४) इति विभक्तेरलुक् ॥

राजपुरुषाणां सुस्थिरता जायते, तस्माद् वनसिंहवत् परस्परं सहायेन सर्वे राजप्रजाजनाः सदा सुखिनः स्युः ॥ ३३ ॥

सभा और सेनापति प्रयत्न से वैश्यों की रक्षा करें, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है ॥

पदार्थः—हे (सचा) मिले हुए (विपिपाना) विविध राज्य के रक्षक (शुभः) कल्याणकारक व्यवहार के (पती) पालन करनेहारे (अश्विना) सूर्य चन्द्रमा के समान सभापति और सेनापति (युवम्) तुम दोनों (नमुचौ) जो अपने ※ कर्म को न छोड़े (आसुरे) मेघ के व्यवहार में (कर्मसु) खेती आदि कर्मों में वर्त्तमान (सुरामम्) अच्छी तरह जिसमें रमण करें ऐसे (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवाले धनी की निरन्तर (आवतम्) रक्षा करो ॥ ३३ ॥

भावार्थः—दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों की रक्षा के लिये ही राजा होता है, राज्य की रक्षा के विना किसी चेष्टावान् [कार्य करनेवाले] नर की कार्य में निर्विघ्न प्रवृत्ति कभी नहीं हो सकती । और न प्रजाजनों के अनुकूल हुये विना राजपुरुषों की स्थिरता होती है । इसलिये † जिस प्रकार वन और सिंह परस्पर एक दूसरे की रक्षा में सहायता करते हैं, वैसे सब राजा और प्रजा के मनुष्य सदा [पारस्परिक सहयोग से] आनन्द में रहें ॥३३॥

पुत्रमिवेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । अश्विनौ देवते । भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः । पञ्चमः स्वरः ॥

राजप्रजे पितापुत्रवद् वर्त्तेयातामित्याह[3] ॥

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्द्दंसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥

१ विनाऽपि भावप्रत्ययेन भावार्थो गम्यते । पटस्य शुक्ल इति यथा ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(सुरामम्) सुपूर्वाद् रमतेः हलश्च (अ० ३ । ३ । १२१) इति अधिकरणे घञ् । थाथघञ्क्ताज० (अ० ६ । २ । १४४) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६ । २ । १९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥

(आसुरे) प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तः ॥

(सचा) सचत इति सक् औकारस्याकारादेशश्छान्दसः धातुस्वरेणाद्युदात्तः ॥

(विपिपाना) विपूर्वात् पातेश्छान्दसत्वात् कानच्, द्विर्वचने अभ्यासस्य बहुलं छन्दसि (अ० ७। ४ । ७८) इति इत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे चित्त्वादन्तोदात्तत्वम् ॥

(शुभस्पती) सुबामन्त्रिते० (अ० २ । १ । २) इति पराङ्गवद्भावे आमन्त्रितस्य च (अ० ८ । १ । १८) इत्यनुदात्तत्वम् ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

२ विद्वान् सभापति ही प्रजा का प्रिय हो सकता है, सो कहते है— ॥३३॥

३ आप्तो राजा स्वप्रजासु पितृवद् वर्त्तेत इत्याह—

※ अ०मुद्रिते तु 'दुष्टकर्म' इत्यनन्वितः पाठः ॥

† 'वन के सिंहों के समान परस्पर सहायी होके' इति अजमेरमुद्रिते पाठः ॥

पुत्रमि॒वेति॑ पु॒त्रम्ऽइ॑व । पि॒तरौ॑ । अ॒श्विना॑ । उ॒भा । इन्द्र॑ । आव॑थुः । काव्यैः॑ । द॒ꣳसना॑भिः ॥ यत् । सु॒राम॑म् । वि । अपि॑बः । शची॑भिः । सर॑स्वती । त्वा॒ । म॒घ॒व॒न्निति॑ मघऽवन् । अ॒भि॒ष्ण॒क् ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(पुत्रमिव) यथाऽपत्यानि (पितरौ) जननीजनकौ (अश्विना) सभासेनेशौ (उभा) द्वौ (इन्द्र[1]) सर्वसभेश राजन् ! (आवथुः) सर्वराज्यं रक्षेथाम् (काव्यैः) कविभिः परमविद्वद्भिर्धार्मिकैर्निर्मितैः (दंसनाभिः[2]) कर्मभिः (यत्) यः (सुरामम्) शोभन आरामो येन रसेन तम् (व्यपिबः) विविधतया पिब (शचीभिः) प्रज्ञाभिः (सरस्वती) विद्यासुशिक्षिता वागिव पत्नी (त्वा) त्वाम् (मघवन्[3]) पूजितधनवन् (अभिष्णक्) उपसेवताम्, भिष्णज् उपसेवायामिति कण्ड्वादिधातोर्लेङि ‡ विकरणव्यत्ययेन यक्रो लुक् । अन्यत्कार्य्यं स्पष्टम् ॥ [अयं मन्त्रः शत० ५ । ५ । ४ । २६ व्याख्यातः] ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे मघवन्निन्द्र ! यत् त्वं शचीभिः सुरामं व्यपिबस्तं त्वा सरस्वत्यभिष्णक् । हे अश्विना राजाज्ञापितावुभौ सेनापतिन्यायाधीशौ ! युवां काव्यैर्दंसनाभिः पितरौ पुत्रमिव ※ सर्वं राज्यमावथुः ॥ ३४ ॥

[अत्रोपमालङ्कारः]

भावार्थः—सर्वशुभगुणयुक्तो राजधर्ममाश्रितः धार्मिकोऽध्यापको युवा सन् हृद्यां स्वसदृशीं विदुषीं सुलक्षणां रूपलावण्यादिगुणैः सुशोभितां स्त्रियमुद्वहेत् । या सततं पत्यनुकूला भवेत् । स्वयं च तदनुकूलः स्यात् । सामात्यभृत्यस्त्रीकः प्रजास्वाप्तरीत्या पितृवद् वर्त्तेत, प्रजाश्च पुत्रवत् । एवं परस्परं प्रेम्णा सह ऽऽह्लादिताः सर्वे स्युरिति ॥ ३४ ॥

अत्र राजप्रजाधर्मोक्तत्वादेतदर्थस्य पूर्वाऽध्यायार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां श्रीमत्परमविदुषां विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये दशमोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥१०॥]
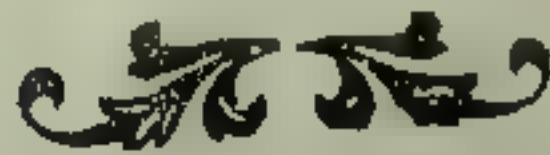
1. इन्द्रो मृधां हन्ता ॥ कौ० ४ । १ ॥
2. दंस इति कर्मनाम ॥ निघ० २ । १ ॥
3. प्रशंसार्थे मतुप् ॥

अथ व्याकरणप्रक्रिया

(पुत्रमिव) इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च (अ० २ । १ । १८ भा० वा०) इति समासः, स्वरश्च पुत्रशब्दः पूर्वत्र (यजु० ४ ३५ पृ० ४१७) व्याख्यातः ॥

(काव्यैः) कवीनां कर्म गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (अ० ५ । १ । १२४) इत्यत्र ब्राह्मणादीनाम् आकृतिगणत्वात् ष्यञ् । ञित्वादाद्युदात्तत्वम् ॥

‡ छान्दसत्वाद् यक्रो लुगिति भावः ॥ ※ 'सर्वम्' इति पदं हस्तलेखयोरुपलभ्यमानोऽपि प्रमादेन त्यक्तः ॥

राजा और प्रजा को पिता पुत्र के समान वर्त्तना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में कहा है[1]।

पदार्थः—हे (मघवन्) () उत्तम धनवाले (इन्द्र) सब सभाओं के मालिक राजन् ! (यत्) जो आप (शचीभिः) अपनी बुद्धियों के बल से (सुरामम्) अच्छा आराम देनेहारे रस को (व्यपिबः) विविध प्रकार से पीवें, उस [(त्वा)] आपका (सरस्वती) विद्या से अच्छी शिक्षा को प्राप्त हुई, वाणी के समान स्त्री (अभिष्णक्) सेवन करे (अश्विना) राजा से आज्ञा को प्राप्त हुए + सेनापति और न्यायाधीश (उभा) तुम दोनों (काव्यैः) परम विद्वान् धर्मात्मा लोगों के लिये (दंसनाभिः) कर्मों से (पितरौ) जैसे मातापिता (पुत्रमिव) अपने सन्तान की रक्षा करते हैं, वैसे सब राज्य की (आवथुः) रक्षा करो ॥ ३४ ॥

[इस मन्त्र में उपमालङ्कार है]

भावार्थः—सब अच्छे २ गुणों से युक्त राजधर्म का सेवनेहारा × युवा अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष अपने हृदय को प्यारी, अपने योग्य अच्छे लक्षणों से युक्त, रूप और लावण्य आदि गुणों से शोभायमान, विदुषी स्त्री के साथ विवाह करे, जो कि निरन्तर पति के अनुकूल हो। और पति भी उसके अनुकूल हो। राजा अपने मन्त्री नौकर और स्त्री के सहित प्रजाओं में सत्पुरुषों की रीति से पिता के समान [वर्त्ते] और प्रजापुरुष पुत्र के समान राजा के साथ वर्त्तें। इस प्रकार आपस में प्रीति के साथ मिल के आनन्दित होवें ॥ ३४ ॥

इस अध्याय में राजा प्रजा के धर्म का वर्णन होने से इस अध्याय में कहे अर्थ की पूर्व अध्याय के साथ संगति जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां श्रीमत्परमविदुषां
विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वती-
स्वामिना निर्मिते संस्कृतभाषाऽऽर्यभाषाभ्यां
विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते यजुर्वेदभाष्ये
दशमोऽध्यायः संपूर्णः ॥ १० ॥

इति दशमोऽध्यायः

नं. ३७७

(दंसनाभिः) दंसधातोः कृपॄवृजिमन्दि० (उ० २ । ८१) इति बाहुलकाद् क्युः। अनादेशे प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः ॥

इति व्याकरणप्रक्रिया ॥

१ आप्त राजा अपनी प्रजाओं में पिता के समान वर्त्ताव करे, इसका प्रतिपादन करते हैं—॥ ३४ ॥

() 'विशेष धन के होने से सत्कार के योग्य' इति अ० मुद्रिते पाठः ॥
+ 'सेनापति और न्यायाधीश' इति पाठः 'तुम दोनों' इत्यस्मादग्र आसीत्। अस्माभिरत्रानीत इति ध्येयम्।
× इतोऽग्रे 'धर्मात्मा अध्यापक और पूर्ण' इति पाठो अ० मुद्रितेऽनन्वित इवास्ति ॥

यजुर्वेदभाष्यविवरणान्तर्गतायां व्याकरणप्रक्रियायां पदार्थटिप्पण्यां च व्याख्यातपदानामनुक्रमणिका.

अ

आ

त

फ

ब

श

ह

परिशिष्टम्

संशोधनं परिवर्त्तनं परिवर्धनं च

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	
८।२	१६	"मतभेदात्" इति स्थाने "दृष्टिभेदाद्" इति पठनीयम् ॥
१०।१	३२	"गत्यर्था ज्ञानार्थाः" इत्यत्र, "(ख ii)" इतोऽग्रे पठनीयम् "(ii) णौ गमिरबोधने (अ० २ । ४ । ४६) इति सूत्रेण स्पष्टं ज्ञायते, यद् 'गम्लृ' धातोः बोधनमित्यर्थः । अन्यथा 'अबोधने' इति निषेधो ऽनर्थकः स्यात्, भाष्येऽपि तथैव स्वीकारात्" ॥
,, ।२	११	इतोऽग्रे "(छ ii) भरतस्वामिसामवेदभाष्ये पृ० १९३ 'ऋष गतौ', गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः ॥" इति पठनीयम् ॥
१७	९	"पूर्वसवर्णे" इत्यस्य स्थाने "पूर्वरूपे" इति पठनीयम् ॥
३७।२	२३	इतोऽग्रे पठनीयम्—"य० १ । २६ पृ० १२१ पं० १३ भाष्य आचार्येण 'दिवु' धातोर्डोम्प्रत्ययः प्रदर्शितः" ॥
५७।२	२३	"तृतीयातत्पुरुषः" इत्येतस्य स्थाने "उपपदसमासस्वरसिद्धिः" इति पठनीयम् ॥
६३।१	३१	"नामन्सीमन्० (उ० ४ । १५१) इत्यादिना मनिन्प्रत्ययान्तो निपातितः" इत्यस्य स्थाने "अर्त्तिस्तुसु० (उ० १ । १४०) इत्यादिना मन्प्रत्ययान्तः" इति पठनीयम् ॥
६४	१५	"आदेशः", इत्यस्य स्थाने "आदेशः, सकारलोपाभावश्च" इति सम्यक् पाठः स्यात् । स चाग्रिमपङ्क्तौ लेखकप्रमादेन गतः स्याद् इति प्रतिभाति । सकारलोपाभावोऽत्रास्ति, स चार्द्धधातुकत्वादेव सम्भवति, सार्वधातुकत्वात्तु सकारलोप एव स्यादिति । विषयोऽयमग्रे य० २ । ८ पृ० १७३ (स्थेषम्) इति सिद्धौ, य० २ । ३२ पृ० २३१ (देष्म) इत्यस्य सिद्धौ च स्वयमेव भाष्यकारेण सम्यक् प्रतिपादितस्तत्रापि द्रष्टव्यः ॥
७३	१४	"आपः" स्थाने 'अपः' इति सम्यक्तरं स्यात्, अन्वये तथा दर्शनात् ।
,,	३२	इतोऽग्रे टि० पठनीयम्—"विराड् गायत्री इति अजमेरमुद्रिते कोशेषु च पाठः" । स च भाष्ये तृतीयपङ्क्तौ 'भुरिगार्ची गायत्री' इत्यस्य टिप्पणी द्रष्टव्या ॥
८२	२९	"इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण०" इति स्थाने "इत्येकादेशस्वरेण०" इति पठनीयम् ॥
८६।१	२४	"वृषादित्वादा०" इति स्थाने "नित्त्वादा'० इति पठनीयम् ।
८६।२	२९	"क्तः । गतिकारकोपपदात् कृत् (अ० ६ । २ । १३९)" इत्यस्य स्थाने "घञ् । थाथघञ्क्ता० (अ० ६ । २ । १४४)" इति पठनीयम् ॥
,,	३२	"वर्षवृद्धस्तं मूलविभुजादित्वात् कः" इत्यस्य स्थाने "वर्षवृद्धः कर्त्तरि क्तः" इति पठनीयम् ॥
८७	१६	"प्रतिगृभ्णाति" अत्र "प्रतिगृह्णाति" इति पाठस्तु साधीयान् स्यात् ॥
९१।२	१४	"इतीन् । नित्त्वादाद्युदात्तः" इत्यस्य स्थाने "इतीन् ।" इत्येव पठनीयम् ॥
९६	३७	अन्ते 'घृतवान्' इति पाठोऽग्रे य० ४ । ३१ पृ० ४११ वर्त्तते । सोऽपि तथैवावगन्तव्यः ॥
१००।२	२८	"प्रत्ययस्वरेणोदात्तः'''व्याख्यातः" इति स्थाने "प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तः" इति पठनीयम् ॥
१०३।२	२०	"कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः (अ० ६ । १ । १५९)" इति स्थाने "थाथघञ्क्ता० (अ० ६ । २ । १४४)" इति पठनीयम् ॥

---

*. यहां ८।२ १६ से तात्पर्य आठवें पृष्ठ के दूसरे कालम की १६ वीं पङ्क्ति है, १०।१ ३२ से तात्पर्य दसवें पृष्ठ के पहिले कालम की ३२ वीं पङ्क्ति है । इसी प्रकार आगे शुद्धिपत्र में भी समझना चाहिये ॥

पृष्ठम् पङ्क्तिः

१०३ ३६ प्रथमा टिप्पणीत्थं पठनीया—"दधाति इति ख. ग. कोशयोः, अजमेरमुद्रिते च पाठः, स च लेखकप्रमादपर इत्यपि ध्येयम्" ॥

१०४।२ २१ 'पय गतौ' इत्येतस्मादग्रे "यद्वा पीङ् पाने इत्यतेस्माद्" इति पठनीयम् ॥

१०६ १९ "(रेवतीः)······ अत्र सुपां सुलुक्०" इति स्थाने "वा छन्दसि (अ० ६ । १ । १०६)" इति पठनीयम्, यथा चाग्रे पृ० १०७ पं० ३ वर्त्तते ॥

१०७।१ ३१ "इति सम्प्रसारणम् । ह्रस्वनुड्भ्यां······प्रशंसार्थे मतुप् । मतुबुदात्तत्वे०" इति स्थाने "इति सम्प्रसारणम् । मतुबुदात्तत्वे०" इत्येव पठनीयम् ॥

" ।२ १८ 'निपातितः' एतस्मादग्रे "निपातनादेवेष्टसिद्धिः । यद्वा" इति पठनीयम् ॥

११२।२ २४ "कर ली हो । अथवा श्रौतसूत्रकार······विचारणीय है" इति स्थाने "कर ली हो।" इत्येव पठनीयम् ॥

११५।२ ३६ ४ टि० इदमपि पठनीयम्—"अभिसम्बन्धयित्वा इति दुर्गनिरुक्तटी० पृ० ४०७ अपि प्रयोगोऽयमुपलभ्यत इति ध्येयम्" ॥

११७।२ १६,१७"ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यति । विदुरनीति १ । ९३···एव ॥" इति पठनीयम् ॥

११९ ८ 'आकर्षितस्य' इत्यत्र "अध्वकर्षिता' इति चरकप्रयोगोऽपि द्रष्टव्यः (चर० सूत्रस्थान अ० ३१ । ३९) इति" टिप्पणीति द्रष्टव्यम् ॥

१२० ३० "[उभयत्र]" इति स्थाने "उभयत्र" इति पठनीयम् ॥

१२२।१ ३६,३७"छन्दस्यपि दृश्यते (अ० ६ । ४ । ७३)" इति स्थाने "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अ० ६ । ४ । ७५)" इति पठनीयम् ॥

१२६।१ १८ "कः" इतोऽग्रे "यद्वा घञर्थे कविधानम्० (अ० ३ । ३ । ५८ वा०) इति कः" इति पठनीयम् ॥

१२८।१ ३० "प्रकृतिस्वरत्वे ल्यपः पित्त्वात् धातुस्वर एवावशिष्टः" इति स्थाने "प्रकृतिस्वरत्वे लित्स्वरः" इति पठनीयम् ॥

१३१ ९, १० "सर्वस्य" इत्यतोऽग्रे "पूर्वार्द्धे उत्तरार्द्धे च त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः" इति पठनीयं सर्वस्य स्थाने । सर्वान्ते द्वितीया टिप्पण्यपीत्थं पठनीया "पूर्वार्द्धे भुरिग् जगती छन्दः । निषादः स्वरः । उत्तरार्द्धे त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वर इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः" ॥

१३४ १२ "निचृज्जगती छन्दः" इत्यस्य टिप्पणे "स्वराट्त्रिष्टुप् छन्दः । धैवतः स्वरः इति अ० मुद्रिते कोशेषु च पाठः" इति पठनीयम् । तच्च भ्रान्त्या त्यक्तमिति ध्येयम् ॥

१६३।२ २२ "पूर्वपदप्रकृतिस्वरे छान्दसव्यत्ययेन" इत्यस्य स्थाने "पूर्वपदप्रकृतिस्वरे" इत्येव पठनीयम् ॥

" ३४ 'निपातितः' इत्यतोऽग्रे "निपातनादिष्टसिद्धिः । यद्वा" इति पठनीयम् ॥

१६५ १०, ११ "स्वासुस्थमिति सुऽआसुस्थम् ।" इत्यस्य स्थाने "स्वासुस्थमिति सुऽआसुस्थम्" इति पठनीयम् ॥

१६९।२ ३१ "प्रतिषिध्यते" इत्यतोऽग्रे "वाक्यादित्वाद्वा निघाताभावः" इति पठनीयम् ॥

१७२।२ १४ "प्रत्ययः" इत्यतोऽग्रे "यमः समुपनिविषु च (अ० ३ । ३ । ६३) इति 'अप्' प्रत्ययः" इति पठनीयम् ॥

१७६ ११, १२ "द्यावाऽपृथिवी" इत्यस्य स्थाने "द्यावापृथिवी" इत्युभयत्र पठनीयम् ॥

१७७।१ ३१ "छान्दसत्वान्न भवति" इत्यस्य स्थाने "वाक्यादित्वान्न भवति" इति पठनीयम् ॥

१८८ २ "पूर्वोऽनुष्टुप् छन्दः" इत्यस्य स्थाने "पूर्वस्यानुष्टुप् छन्दः" इति सम्यक्तरं प्रतिभाति ॥

पृष्ठम्   पङ्क्तिः

१८८।२   २४ "इत्यनुदात्तता ।......यथाप्राप्तस्वरः ॥" इत्यस्य स्थाने "इत्यनुदात्तता" इत्येव पठनीयम् ॥

१९४।१   ३३ "गुणाभावश्च" इतोऽग्रे "निपातनेनैवेष्टसिद्धिः । यद्वा" इति पठनीयम् ॥

२०९   ११ "प्रथमः" इत्यस्य स्थाने "मध्यमः" इति सम्यक्तरं प्रतिभाति ॥

२०९   १५ "त्वमिमं वाते धाः" इत्यस्य स्थाने "त्वमिमं [यज्ञं] वाते धाः" इति पठनीयम् ॥

२०९।२   २० "मनसः इति ... इत्यनेन" इति स्थाने "मनसः' इति, अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अ० ६ । १ । १५८) इत्यनेन" इति पठनीयम् ॥

२१५।१   २१ "तत ऊङुतः......इति" इति स्थाने "अप्राणिजातेश्चारज्वादीनामिति वक्तव्यम् (अ० ४ । १ । ६२ भा० वा०)" इति पठनीयम् ॥

२१७   ४,५ "विरुणद्धि" "विरुन्ध्मः" इत्यनयोः स्थाने 'विरुध्यति", "विरुध्यामः" इति पठनीयम् ॥

२१७   ३२ "विरुध्यतीति सर्वहस्तलेखेषु पाठः । 'विरुध्यामः' इति सर्वहस्तलेखेषु पाठः" इति टिप्पणीद्वयं निरस्त-मिति ध्येयम् । अत्र च विषये यजु० १ । २५ पृ० ११७ टि० २, किञ्च यजु० २ । १५ पृ० १९१ टि० २ अपि द्रष्टव्या ॥

२३०   १७ "स्वराड्बृहती छन्दः" इति स्थाने "निचृद्बृहती छन्दः" इति पठनीयम् ॥

२३९।२   ३४ इतोऽग्रे "(हव्या) उदात्तयणो हल्पूर्वात् (अ० ६ । १ । १७४) इति विभक्तिरुदात्ता" इति पठनीयम् ॥

२४४।२   १७ "दृश्यते ।......(मम)" इति स्थाने "दृश्यते । (मम)" इति पठनीयम् ॥

२७७   १६ "साधन है" इतोऽग्रे "[ऐसा सबको जानना चाहिये]" इति पठनीयम् ॥

२८५।२   २३ '......आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ।" इतोऽग्रे "अत्र सायणादयो भ्रान्ता इति ध्येयम् ॥" इति पठनीयम् ॥

२८७   २७ " पदों" इत्यस्य स्थाने "नमः, भरन्तः, धिया, इन पदों" इति पठनीयम् ॥

२९३।२   १७ "धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम्" इति स्थाने "भावेऽनुपसर्गस्य (अ० ३ । ३ । ७५)" पठनीयम् ॥

६६१   २० "दिग्देशकालेष्वस्तातिः (अ० ५ । ३ । १९)" इत्यस्य स्थाने "दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः (अ० ५ । ३ । २७)" इति पठनीयम् ॥

७१३।२   २९ "(अ० ८ । १२ । २८)" इति स्थाने "(अ० ८ । १ । २८) इत्यनेन निघातः" इति पठनीयम् ॥

७६१   २६ "सिञ् बन्धने" इति स्थाने "षिञ् बन्धने" इति पाठः साधीयान् स्यात् ॥

७८६   ११ अत्र मन्त्रे [आ] इति मन्त्रगतं पदं त्यक्तमिति ध्येयम् ॥ तच्च '(च)' इत्यस्य स्थाने पठनीयं, '(च)' चाग्रे 'हो' इत्यस्मादग्रे नेयम् ॥

७९०   २० 'ध्रुवः ।' इत्येतस्मादग्रे "अस्ति ।" इति त्यक्तमिति ध्येयम् ॥

७९३   १५ "हितकारी हम लोग" इति स्थाने "हितकारी [(वयम्)] हम लोग" इति पठनीयम् ॥

८०३।१   ३३ "इति पदादेशः" इत्येतस्य स्थाने "इति समासान्तोऽकारलोपः" इति पठनीयम् ॥

पदानुक्रमण्यां पृ० १—"अग्रे" इत्येतस्मादग्रे "(आपः) '(अग्रेगुवः) ७० ॥' '(अग्रेपुवः) ७० ॥" इत्यपि पठनीयम् । भ्रान्त्या मुद्रणालये त्यक्तमित्यपि ध्येयम् ॥

भाष्यविवरणयोः शुद्धिपत्रम्

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
८।१	२१	हृचे	हृयृचे
८।२	१४	एवमेतेषां	एवमेतेषां
९	३४	पुताहशा	एतादृश्यो
१२।१	२६	शृण्वे	हृण्वे
१५	३०	प्रति०	प्राति०
"	३६	सम०	सम०
१८	१३	अ० प०	(श्रा० प०)
"	२२	···कद्रः	···कद्रूः
१९	२२	···सर्वधातुक०	···सार्वधातुक०
"	२३	···निधाते	·· निघाते
"	३२	···विषय अप्य०	···विषयोऽप्य०
२०	१८	···तानिति	···तानीति
२२	१२	४····विधक्रिया	३···विधप्रक्रिया
२३	११	वायवादयः	वाय्वादयः
"	२५	ताम्य	ताभ्य
२४	१९	पश्चून	पश्चून्
३१	१६	पूर्वक पृ० २०	पूर्व पृ० २० पर
३६	१२	श्वनु०	श्वन्नु०
३७।१	३४	(अ० ६।१।१५७)	(अ० ६।१।१५८)
३८।१	२१	(उ० २।७८नारा०)	(उ० २।८० नारा०)
"।१	२३	···रनुदोत्तत्वं	···रनुदात्तत्वे
३८।२	१६	३।२।९०)	३।३।९०)
४१।२	२३	इति 'ह'	इति'(फि० २।४२)ह'
४३	४	किस २	कौन २
"	१०	त्रीण्यत्तराण्यु···	त्रीण्युत्तराण्यु···
४४।१	३०	अशिप्रु०	अद्यप्रु०
४५।२	३१	विश्वधाया	विश्वधायाः
४७।१	१३	शब्देने०	शब्देने०
४७।२	१७	संराधौ	संराद्धौ
४८।१	२३	संहताया०	संहिताया०
"	३६	(अ० ८।१।२२)	(अ० ८।१।२८)
४८।२	२७	२।२१३)	२१३)
४९	२४	मुद्रित्ते	(क) अ० मुद्रिते
५१।२	२८	(अ० ८।२।६६)	(अ० ८।४।६६)
५२	१६	कस्मै	कस्मै
५२।१	३१	मनुष्य	मनुष्य
५३।२	२८	प्रतिबन्ध	प्रतिबन्ध
५५।२	३२	विशेषणावाची	विशेषणवाची
५६	३	···केश्चरो	केश्वरो
५६।१	२४	द्रष्ठ०	द्रष्ट०
५६।२	१८	सार्वधातु०	सार्वधातु०
"	२७	युप्यासि०	युष्यसि०
५७।१	२१	२७	१६१
"	२८	६१	६।१
५७।२	१५	(अ० ५।२	(अ० ५।३
"	२०	जुष् प्रीतौ	जुषी प्रीतिसेवनयोः
५९	२२	ह्वार्षीद्	ह्वार्षीद्
६०।१	२०	ह्वा अस्मान्	ह्वाः अस्मान्
६०।२	३०	यस	यसु
६४	६	गृहाण	गृहाणि
"	१०	अनु	अनु
६४।२	२१	प्राप्त	प्राप्ते
६४	३२	सकाशत्	सकाशात्
७३	१८	इन्द्रण	इन्द्रेण
७३।१	२२	···धायका	···धायिका
७३।२	२४	युष्मसि०	युष्यसि०
८०	२	सशमीर्ति	सुशमीर्ति
८१	३६	सुधिय	सुधियो
८३	३	गृहणामि	गृह्णामि
८३।२	१२	हति	इति
८६	३	संवा०	संघ्रा०
"	४	विविंनक्तु	विविंनक्तु
"	७	संवातं	संघ्रातं
"	७	ऽवृद्धम्	ऽवृद्धम् (पुनरपि)
"	९	देवः	देवः
८६।१	३५	लकुटम०	नकुटम०
८६।२	३४	(अ० ६।२।९१)	(अ० ६।२।१९९)
८७।१	१९	द्वितीयाया	द्वितीयायाः
८७।२	१७	हिर च	हिर् च
८९	१७	पृथिवीम्	पृथिवीम्

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
९०	९	ब्राह्मणं	ब्रह्माणं
९२	३२	प्ररस्परं	परस्परं
९५	५	वक्तव्य	वक्तव्यः
९५।१	३४	पृ० १७७,	पृ० ११२,
९६।१	२०	अशिशु०	अशूशु०
"	२१	(उ० १।५१)	(उ० १।१५१)
"	२७	(१।१९७)	(१।२०३)
९६।२	१९	अङ्गेरिरसिः	अङ्गेरसिः
१००	१०	निध०	निघ०
१०२।२	३०	ऽनूचानस्ते	ऽनूचानास्ते
१०६	८	ब्राहुभ्यामिति	बाहुभ्यामिति
१०७	१५	···षधीवधयति	··षधीर्वर्धयति
"	१६	सर्व	सर्वं
१०७।१	३१	(अ० ६।१।२४वा०)	(अ० ६।१।३७वा०)
"	३७	तमिम	तमिमं
१०९	११	इषे	इषे
"	१२	उरुप्रथा	उरुप्रथा
११०	३	वषिष्ठस्त०	वर्षिष्ठस्त०
"	१७	६४	६३
११४	११	स्वराड् ब्राह्मी	स्वराड् ब्राह्मी
११४।२	३३	अथ य स	अथ यः स
११५	११	सूयलोकस्य	सूर्यलोकस्य
११८	२	लुब्धयदभावे	लुब्धयदभावे
११९।१	२०	तत	ततः
११९।२	२१	बृहद्त०	बृहद्त०
११९	३२	'वषतु'	'वर्षतु'
१२०	२४	शतेन्	शतेन
"	३५	'गोष्ठानम्	गोष्ठानम्
१२२	६	द्यौविद्या०	द्यौर्विद्या
"	७	नित्य	नित्यं
"	१०	वषति	वर्षति
"	१२	कषणेन	कर्षणेन
"	१६	भावार्थः	भावार्थ[२]ः
"	१७	···वृद्धिनित्यं	वृद्धिर्नित्यं
१२२।१	३४	हलड्याब्०	हलड्याब्०
१२४	११	पयस्वती	पयस्वती
१२५।२	१२	···पद्वप्रहृष्वा···	···पद्वप्रह्वेष्वा···
१२६	२	अन्वयः-येन यज्ञे०	अन्वयः-येन यज्ञेन
१२६।१	२७	चेव हलन्तानां०	चैव हलन्तानां०
१२६।२	१४	सर्वं	सर्वं
१२७	२३	विरप्शि०	विरप्शि०
१२८	४, ५	विशिष्टश्वर	विशिष्टेश्वर
१२८।१	२३	क्तातासुन्–	क्तातोसुन्–
"	२६	पदाथविवरणे	पदार्थविवरणे
१२८।२	२३	अदनुक्०	अदानुक्०
१२९।१	२३	(अ० ६।२।१०६)	(अ० ६।२।११९)
१३०	२	अन्वयः–	अन्वयः–
"	१०	युद्ध०	युद्ध०
१३१	१२	निष्टृतुरं	निष्टप्तुरं
"	१५	वाजिनी	वाजिनीं
"	१६	प्रतिऽउप्टाः	प्रतिऽउष्टाः
"	१९	निःऽतसम् ।	निःऽतप्तम् ।
"	२०	दुध्यायै	दुध्यायै
१३२।१	२२	क्षिणोप्युतु०	क्षिणोऽप्युतु०
१३३	१३	गुणबाले	गुणवाले
"	२३	विरोधः	विरोधी
"	३५	अ० मु० च०	अ० मु० च
१३५	५	चिह्नस्वामि०	चिन्नस्वामि०
"	१६	···सुपयागः	सुपयोगः
"	१७	स्फुटाभविष्यति	स्फुटीभविष्यति
१३६	२३	२२	२३
१३७	७	···वृत्ता	···वृत्तौ
"	२८	मध्ये	मध्ये
१३८	२८	नकाशवशा०	नवकाशवशा०
१३८।२	१०,११	सम्वत	संवत्
१४१	२०	विवेचनन्	विवेचनम्
१४२	३४	(ii)	(iv)
१४३	२६	महोदयोः	महोदयो
"	३५	नोदेष्यत्	नोदैष्यत्
१४४	९	ज्ञानपरकता	ज्ञानपरता
"	१९,२७	मन्त्रपदानां	मन्त्रपादानां
"	३१	पाठतेषाम०	पाठस्तेषाम०
१४६	६	३१००	३१०
"	८	विषू व्यासौ	विषूल व्यासौ
"	२३	(अ० ५।१।६२)	(अ० ५।१।६३)
१४७	८	(अ० ५।१।६२)	(अ० ५।१।६३)
१४८	३	सुहूरिति	सुहूरिति
,,।२	१७	ऊज	ऊर्जं

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४८।२	२८	उदोत्तनोदात्तः	उदात्तेनोदात्तः
१४९।१	३२	(उ० २।१२७)	(उ० २।११७)
१५०	२५	धाम	धाम
१५१	८	शुद्धिकारके	शुद्धिकारकेण
१५२	१२	वय	वयं
„।१	३३	···विस्येवगन्तव्यम्	विस्येवावगन्तव्यम्
१५६।२	२३	प्रकशायित्री	प्रकाशयित्री
१५७	११	सुऽआस०	सुऽआस०
१५८।१	३६	डुप्	डुप
१६०	१०	विश्वव०	विश्वव०
„	१२	ईडितः	ईडितः
१६१।१	१५	शृस्तृ-	शृस्तृ-
१६३	९	त्वा	त्वा
„	„	···मन्तम्	मन्तम्
„	१०	बृहन्तम्	बृहन्तम्
१६६।१	२३	दातेर्दी०	ददातेर्दी०
१६८	१०	प्रियेण	प्रियेण
„	„	ध्रुवा	ध्रुवा
„	२०	बिभत्य०	बिभर्त्य०
१७१	१३	(सम्मार्ज्मि)	(सम्मार्ज्मि)
„।१	३१	स्वधो वै	स्वधा वै
१७४।१	१९	···कोपदात्···	···कोपपदात्···
१७४।२	७	वङ्क्र्यदयाश्च	वङ्क्र्यादयश्च
१७६।२	२९	१५९	१७४
१७९	३	···मिन्द्र	मिन्द्र
„	६	मघवान्	मघवान्
„२।२	२०	महतेर्दा०	मंहतेर्दा०
१८१	२३	अश्नामि	अश्नामि
१८८	७	प्यायस्व	प्यायस्व
१८८।१	३३	(अ० ८।१।५८)	(अ० ८।१।५९)
१९१	७	जुषम्	जेषम्
„।२	३४	तिङ्ङतिङः	तिङ्ङतिङः
१९३	१५	पृश्निभूत्वा	पृश्निर्भूत्वा
„	१९	नः	नः
१९४	११	यज्ञनेमे	यज्ञेनेमे
१९७	२९	तत्पूर्व	तत्पूर्व
१९८	३	तवाग्नः	तवाग्नेः
२०२	२२	सुम्ने	सुम्ने
२०५	८	प्रऽसित्यै	प्रऽसित्यै

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०६।१	३६	असेर्मुद् च	अदेर्मुद् च
२०६।२	२३	आकारदेशः	आकारादेशः
२१५	३	सर्वा	सर्वान्
२१५।१	२२	प्रस्यय···	प्रत्यय···
„	३०	···नेष्टु···	···नेष्टु···
२१७	२	सवत्र	सर्वत्र
„	२२	निर्भक्त,	निर्भक्तः,
२२०।१	२४	ङित्रप्	क्विप्
२२१	१२	भूयासम्	भूयासम्
२२४	९	वतपत०	व्रतपत०
२२६।१	२६	३।२।१३९)	३।२।६१)
२२७	१०	वत्तमानाः	वर्त्तमानाः
२२८	२	अन्वयः	अन्वयः
२२९	१८	कुर्य्यामेति	कुर्य्यामेति
„।१	३२	लादेशोः,	लादेशः,
२३५	८	ते	ते सर्वदा
२४२	१६	बृहत्	बृहत्
२४३	३	लोट	लोट्
२५१।२	१६	तद्येदनं	तद्यदेनं
२५७	१८	त्रिंशद्	त्रिंशद्
२५८।२	२१	१८२	१८३
२६२	३	उत्पाद···पाद्दितया	उत्पाद···पादितया
„।२	२६	१२८	१२९
„	३४	९५	९४
२७०	२	लडथ	लडर्थे
„।१	१६	प्रतिपदिक	प्रातिपदिक
२७२	३	कुवन्ति	कुर्वन्ति
२७२।१	३०	उ० ४	उ० २
२७६	२२	सर्वैवदि०	सर्वैर्वेदि०
२७८।१	३३	···कोपदात्	···कोपपदात्
२८५।१	२३	विश्वरुपी	विश्वरूपी
„।१	३१	२ । ३	२ । ५
२८७।१	३०	···द्व्युदात्तः	···द्युदात्तः
२९१।१	२२	४।) इति भवा०	४।२०) इति भत्वा०
२९२।२	२४	विद्वान	विद्वान्
२९३	९	दीर्घो	दीर्घौ
२९५	१६	सर्य०	सर्वं०
२९७।१	३०	११३	२१३
२९८।२	२३	१३९	१९३

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३०१।१	१७	२१०	२१२
,,	२३	१०८	११२
,,	२८	८३	८६
३०१।२	१८	११९	११०
,,	२०	२१०	२१३
३०९।१	२४	मतुष्य	मनुष्य
,,।२	२२	तसिल	तसिल्
३१२।१	२४	अशिप्रु०	अश्प्रु०
३१४	२२	पदाथ	पदार्थ
३२०	१५	धातोन	धातोर्न
३२२।२	२२	भोज्य	भोज्य
३२३	३२	कोशोयस्तु	कोशयोस्तु
३४७।१	२८	१७५	१७४
३५१	११	(कृत्तिवासः)	(कृत्तिवासाः)
३५२	३	म्यायुष०	त्र्यायुष०
३५६	८	स्वधिते	स्वधिते
३६०	९	(प्रवहन्ति)	([हि] प्रवहन्ति)
३७२	३७	मुद्रित	मुद्रिते
३७३	१६	क्रियाअ	क्रियाओं
३८८	६	बध्रीताम्	बध्नीताम्
३९०।१	३४	११	१९
३९१।१	२८	विद्युत	विद्युत्
,,	३१	प्रमोदेन	प्रमादेन
३९६	३	सदृशि	संदृशि
३९८	१३	त्रैष्टभः	त्रैष्टुभः
३९९।१	३२	५४	४५
४०५	३२	सोमक्रयिणाः	सोमक्रयणाः
४०६	३२	कमणाहम्	कर्मणाहम्
,,	३४	कार्वत्रिकः	सार्वत्रिकः
४०७।१	२१	पूर्वोक्तमर्थ	पूर्वोक्तमर्थं
,,।२	२१	यद्वृत्ता०	यद्वृत्ता०
४११	१७	सोमबल्ली	सोमवल्ली
४२४।१	३२	···कोपदा	···कोपपदा०
४३३।२	२६	१।७५	२।७५
४३६।१	२९	१७	१८
४३८।२	३१	८०	७८
४४१।१	२९	३१	२८
४४२	१५	इह्वि	इहि
४४५।२	२६	प्रत्यस्वरेण	प्रत्ययस्वरेण
४४६	३०	नास्स्य०	नास्त्य०
४५०	१८	पुरीषमसि	पुरीषमसि
,,	२२	पदासर्थमूहं	पदार्थसमूहं
४५६।१	१२	ऋज्रन्द्र०	ऋज्रेन्द्र०
,,।२	१८	ङीप	ङीप्
४५८	८	२।३९	१।३९
४६३	२९	नायौ	नीयौ
४६६	९	सत्त	सत्ता
४६७।२	१६	शेवयह्वा०	शेवायह्वा०
४७०।१	२१	१०२	१०४
,,	३३	३८	७८
४७८	२	मिनातु	मिनोतु
,,	३	भ्रुवेण	ध्रुवेण
४८२	३०	कोशायास्तु	कोशयोस्तु
४८७	७	भावाथः	भावार्थः
,,।२	३२	निदिष्ट	निर्दिष्ट
४९०	२५	अर्श आदित्वा ॥	अर्श आदित्वा–
४९६	३	सग्रामे	संग्रामे
४९८	९	सर्वे	सर्वं
,,	१४	पदाथः	पदार्थः
५०३	१७	नानुष्ठयमिति	नानुष्ठेयमिति
५०९	११	वनस्पतोय	वनस्पतयो
,,	१७	सवविद्या०	सर्वविद्या०
५१४।१	२८	तै० स०	तै० सं०
,,।२	२४	युजुर्वेद	यजुर्वेद
५१६	१३	सवप्रे०	सर्वप्रे०
५१७	५	पढ़नेवाला	पढ़ानेवाला
,,	२३	षङ्जः	षड्जः
५१८	१७	५७	७५
,,	३०	परिवर्धितौ	परिवर्धितौ
५१९	१०	पय्यूहामि	पर्य्यूहामि
५२१	४	सत्यानुष्ठतारो	सत्यानुष्ठातारो
,,	१९	पदुः	पुदुः
५२२।१	१३	खमो	खनो
,,।२	१६	आद्यदात्त०	आद्युदात्त०
५२७	८	घर्ष	घर्ष
५३३।१	२१	पदेनित्	पदेर्नित्
५३४	१२	उपदिश्यत	उपदिश्यते
५५७	८	करे	करें
,,	२३	शृणो०	शृणो०

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५५८।२	२७	'अनुम'	'अनुम्'
५५९	२५	देवभ्यः	(देवेभ्यः)
५६०	४	राजभक्ता	राजभक्ताः
,,।१	१३	अपा	अपां
,,	२८	४ । ४	४ । ४४
५६३	२०	उत्तभेने०	उत्तमेने०
५६४।१	२२	१०४	१०२
,,।१	२४	···गर्भवि०	···गर्भवि०
५६७	८	(वते)	वते
५६७	१२	हे स्थाने	हेः स्थाने
५६८	१९	लिङर्थे	लिङर्थे
५६९	२६	कुद्योगा	कृद्योगा
५७१।१	२८	भूसृशी०	भूस्पृशीङ्०
५७३	४	माघावन्तु	माधावन्तु
,,।२	२२	१०२	१०६
५७६	९	देवेभ्यः	देवेभ्यः
५७९	६	कुर्य्यात	कुर्य्यात्
५८४	१४	अष्ट ।	अष्टु ।
५८६।१	२६	(दविषे)	(दधिषे)
,,।२	२६	प्रशसति	प्रशंसति
५८९	५	योगश्वर्य०	योगैश्वर्यं
,,।१	२६	१३५	१३७
,,	३२	'अप'	'अप्'
५९०।१	२९	अर्त्तिन्यक्षि०	अर्त्तितन्यक्षि०
,,।२	२७	६ । २	३ । २
५९१	१४	श्रौ	और
६०५	९	संजम्मानो	संजग्मानो
६०५।१	२३	गतिरन्तर	गतिरनन्तरः
६०६	२	विश्वेदेवो	विश्वेदेवा
,,	८	देवाः स	देवासः
६०७	७	स्वक	स्वक्
६११।१	३२	उक्यपूर्वाद्	उक्थपूर्वाद्
,,	३३	पाठ	पाठः
६१२	२५	इन्द्राग्रह०	इन्द्राग्रह०
६१४	२८	लोडथ	लोडर्थे
६१६।२	३४	निरुपण	निरूपण
६१९	६	चासुर्य्य०	चासुर्य्यु०
,,	२४	तजज्ञानदः	तजज्ञानदः
,,।१	३०	विनियुक्तश्च	विनियुक्तश्च
६२०	११	(व्यनाय)	(व्यानाय)
६२४	१४	अहंस०	अंहस०
६२५।१	२९	१८८	१८५
,,	३१	(नभसे) (नभस्याय)	(तपसे) (तपस्याय)
६३१	२१	रिन्द्राय	रिन्द्राय
,,	२५	(मरुत्वतः)	(मरुत्वः)
६३३	१०	उलंघन	उल्लंघन
,,	१७	राज्व	राज्य
६३५।१	२८	कुत्चा	कृत्वा
६३६	९	पदार्थों	पदार्थों
६३७	६	उपयामगृ०	उपयामगृ०
,,।१	१९	उर्मिरू०	ऊर्मिरू०
,,	२१	···रूच	·· रूच
,,।२	२४	२५६	१५६
६४०	१७	स्तौमै०	स्तोमै०
,,।१	२७	पुनागमः	पुडागमः
६४७	२४	परमेश्वर	परमेश्वर
६४८।२	२३	(ब्राह्मणः)	(ब्राह्मणम्)
६४९	२२,२३	तत्त्व०	तत्व०
६५०	२	,,	,,
,,	६	ग्रही०	ग्रही०
६५४	८	ध्यक्ष	ध्यक्ष
६५५।२	१८	गृहाश्राम०	गृहाश्रम
,,	२५	४१	४२
६५६।२	२२	साधनों	साधनों
६५९।१	२९	त्यादेश०	इत्यादेश०
६६३	६	लबध्वा	लब्ध्वा
६६३।१	६	२ । २८	१ । २८
,,	२२	१८	१९
,,	३५	···कमिनमी०	···कमित्रमी०
६६३।२	१३	···श्यासुसू०	···श्याधूसू०
,,	१३	१४२	१४५
६६४।२	२८	१७०	१७१
६६५।१	२४	शान्तिवां	शन्तिवां
६६६	७	अन्नानाम	अन्ननाम
,, ।२	२४	,,	,,
६६८	१८	ओर	और
,,	२२	स्वराडर्षी	स्वराडार्षी

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६६८।१	२७	शुभकर्मो	शुभकर्मों
६६९	२०	गृहान्	ग्रहान्
" ।२	३४	१८७	१९३
६७१	४	देहि	धेहि
"	६	इति रेतःऽधाः	इति रेतःऽधाः
६७१।१	२३	सुरिभ्यां	सूरिभ्यां
६७२	१७	स्वर	स्वरः
६७३	२२	उपहूत	उपहूत
६८२	२०	२ । ७०	१ । ७०
६८३	४	पापिवां०	पपिवां०
६८४।१	३०	६७	६६
६८८।२	२७	आद्यदात्ता	आद्युदात्ताः
६९०	१८	शत्रवा	शत्रवो
६९१	१८	निपराधी	निरपराधी
६९२।१	२७	स्वत्व	स्वरत्व
"	२८	गृह्वन्ति	गृह्णन्ति
"	२९	नक्	यक्
६९३	१३	पुनर्गृहं०	पुनर्गृह०
६९७।१	२४	···उत्पादानाय	···उत्पादनाय
६९८	५	गृह्वन्ते	गृह्णन्ते
७०४	४	बड़े	बड़े
"।२	२६	परिवरा	परिवार
७०५।१	२५	व···२	वे···१
"	३३	४६	७६
७१३	९	पदाथः—	पदार्थः—
" ।२	२७	नित्त्वा०	नित्त्वाद०
७१४	३	उत्तम ६	उत्तम २
७१६	१६	।–हम् ।	। अहम् ।
७१८	१८	शतः	शत०
७१९	११	सूटर्याय	सूर्य्याय
७२१।१	२३	ज्वलिति०	ज्वलति०
७२२	१३	ते	एषः । ते
"	२२	मामि०	माभि०
७२५	१७	यमनिमयों	यमनियमों
७२६।१	३१	ऋजे०···२९	ऋज्रे०···२८
७२८	२	अनुष्टुप ।	अनुष्टुप्
"	२०	त्रिष्टप्	त्रिष्टुप्
" ।१	३३	गायते	गायतेः

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७२९।१	३३	अपपपाठः	अपपाठः
७३४।२	२३	प्रत्ययत्स्वर०	प्रत्ययस्वर०
७३८।१	२१	अडागमे	आडागमे
"	२६	-तिङतिङः	तिङ्ङतिङः
७४०	३०	चिन्ह०	चिह्न०
७४२	६	पदार्थो	पदार्थों
७४७।१	१९	प्रत्यः	प्रत्ययः
७४९	२०	निरुपण	निरूपण
७५४	२७	अपपाठः	पाठः
७५५	५	करे	करें
"	१४	अप्सुसदम्	अप्सुषदम्
७५६	८	गह्णामि	गृह्णामि
७५६	१४	अप्सुसदम्	अप्सुषदम्
७५७	११	"	"
७५८	२१	गृहणामि	गृह्णामि
७६०	३	पृड्क्तम्	पृङ्क्तम्
" ।१	१७	६३	१६३
७६२	४	सिव्बुद्दु०	सिव्बहु०
७६३	१४	···त्यप्सु	···त्यप्ऽसु
"	१९	प्राक्रमो	पराक्रमो
७६८।२	२१	दस्तिः	दस्ति
७७३	१८	जङ्गलानां	जङ्गलानां
" ।१	२१	पूर्व	पूर्व
" ।२	२५	९६	९३
७७४।१	३१	युगपत्क्र०	युगपत्०
७७५।२	२६	(काष्ठाः)	(काष्ठाम्)
७७७	६	निक	निक्
७७७।१	२१	१७३	१७१
" ।२	१८	६३	६७
"	२३	२।६५	४।६५
७७८	१३	सहोर्जाः	सहोर्जा
७८०।१	१९	८८	९०
"	३१	द्रवादिभ्य	द्रवादिभ्य
७८१।२	२५	देवाश्वा	देवाश्वा
७८२	१२	वस्य	बस्य
७८४।२	२६	स्वभावतः	स्वभावत
७८५	१२	सङ्ग्रामस्	सङ्ग्रामम्
७८६	१३	मुग्धाय	मुग्धाय
७८७	१४	हर्षतये	हर्षतये

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,, ।२	२७	४ । ५३	३ । ५३
७८८	२३	ते	ते
७९१	१८	विस्तारयुक्ता	विस्तारयुक्त
,,	१९	विद्य	विद्या
,, ।२	२६	४।४	४।६
,,	२८	हल	हल्
७९२।१	२९	गुधूवी०	गुध्वी०
,,	३१	बोध्थः	बोध्यः
७९५	२	बाधने	बांधने
७९८	३	विद्याधम०	विद्याधर्म०
,,	७	वेगो	वेगों
८०१	२८	पाठः ॥	पाठः, अ० मु० ॥
८०२	१७	जैषम्	जेषम्
८०४	२	(सोम)	(सोमः)
,,	१५	अक्षरेण	अंक्षरेण
,,	१७	पाषकः	पोषकः
,, ।२	२४	प्रकृति०	प्रकृति०
८०५	१६	(उदजयत्)	(उदजयन्)
,,	२२	राज प्रजा	राजा प्रजा
८०७	११	(उदजयत्)	(उदजयन्)
,,	२०	···उदयत्त०	···उदजयत्त०
८०९	६	कर्र	करें
,,	२५	सोवतुं	सेवितुं
८१०।२	२४	उपरिसद्म्यः	उपरिसद्भ्यः
८११	२२	अग्नि	अग्नि
८१२	२३	ऽसदः	ऽसदः
८१३	२१	स्वाहा	स्वाहा
८१४।१	३०	णाम्यन्तोदात्तः	णाभिरन्तोदात्तः
८१५।२	२८	वुलुटितनि०	वृलुटितनि०
८१६	३	वीर्येण	वीर्येण
,,	८	सामर्थ्ये	सामर्थ्येन
,,	९	नङ्क्षत	नक्षत
,,	१३	वघाय	वधाय
,,	३३	क्रिचद्०	क्वचिद्०
८१७	८	धर्मं प०	धर्मप०
,,	२०	ज्यैष्ठ्याय	ज्यैष्ठ्याय
८१९।२	२०	प्रातिपादिक०	प्रातिपदिक०
८२१	१	दशमोऽध्याया०	दशमाध्याया०
८२२।१	२८	२३	२५

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
८२३	५	राष्ट्र०	राष्ट्र०
,,	६	देहि	देहि
,,	५	वृषसेनो	वृषसेनो
८२७	१३	ऽक्षितः	ऽक्षितः
,,	१७	राष्ट्रम्	राष्ट्रम्
८२९	९	ईदृशी	ईदृशीः
,,	११	स्त्रियः	स्त्रियो
८३१	२३	···रिसि	···रसि
,,	३२	इति	इति अ० मु०
,,	३२	इति	इति अ० मु०
८३२।१	२३	नित्त्वा०	नित्त्वादा०
८४०	६	दन्दशूर्काः	दुन्दुशूर्काः
८४२	१४	सप्तदश	सप्तदशः
८४३	२९	स्वरहितो	स्वररहितो
८४४।१	२७	उन्तति	उन्नति
८४८।१	२५	द्युम्नम्	द्युम्नेन
८४९	२८	शब्दः	शब्दः, अ० मु०
८५०	१५	पुत्रमसुष्यै	पुत्र[मिम]मसुष्यै
,,	२४	इश्वर	ईश्वर
८५१	१७	ववृत्रन्	अववृत्रन्
८५३	१७	इच्छा।	इच्छा
,,	१८	कामन	कामना
,,।२	३१	···भिक्षाचारि०	···भक्ष्याचरि०
,,	३२	स्वरत्वं	स्वरं
८५४।१	२७	···धातुभ्यः	···धातुभ्य
,,	३३	नित्त्वादाद्युदात्तम्	नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्
,,।२	२४	पथ्यते	पठ्यते
८५५	५	देवयात	देववात
,, ।२	२२	शास	शासः
८५६	२१	दुसाम्	दुसाम्
,,	,,	अधि	अधि
,,	२२	सुऽअश्वान्	सुऽअर्श्वान्
८५७।१	२९	त्वतलाभ्यां	त्वतल्भ्यां
८५८	९	मा	मा
,,	१९	पृथिवी	पृथिवि
८५९	१५	नष्ठ	नष्ट
८६०	१४	बृहद०	बृहद०
,,।१	३३	सत्सु०	सत्सु०
,,।२	२०	षत्वम्	षत्वम्

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
८६०।२	२५	२३	२५
८६२	६	ऊर्जे	ऊर्जं
८६५	४	वैसा	वैसी
”	१२	रुद्रः	रुद्रः
८६६।१	२९	१५५	१५४
८६७	१०	पृथुः	पृथुः
”	११	रश्मिऽभिः	रश्मिऽभिः
८७०	२१	भावार्थ	भावार्थः
८७१	१३	प्रजाय	प्रजायै
८७५	१२	उभौ	उभा
”	१७	सहऽऽ	सहाऽऽ
”।१	२९	१ । १८	२ । १८

भूमिकास्थ–शुद्धिपत्रम्

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
९	२	हानिकार	हानिकर
·	३४	वड़ी	बड़ी
१०	५	भा	भी
१६	८	सम्पूण	सम्पूर्ण

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६	३५	अपौरुपेय	अपौरुषेय
३०	३१	कर्मोणाति	कर्माणीति
३३	२३	का	की
३९	३	ब्रवाणीति	ब्रवाणीति
५१	१३	सकत्ता	सकता
५४	४१	वेदवाण	वेदवाणी
५५	२९	पत	पता
”	३०	का	या
७९	३४	ऽग्रेः	ऽग्निः
१०५	४	भाष्थ	भाष्य
१०६	१३	कृत्वा	कृत्वा
११२	३३	प्रातिशाख्य	प्रातिशाख्य
११४	२२	सवानु०	सर्वानु०
११६	२४	गानदि	गानादि
११८	२९	विद्वांसो वि०	विद्वांसा वि०
१२८	२९	कापियो	कापियों
१३१	१५	वात	बात

॥ ओ३म् ॥

आर्य्यसमाज के नियम
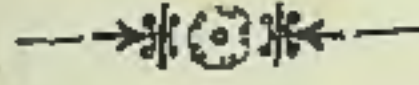
१–सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

२–ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३–वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४–सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५–सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६–संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७–सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८–अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९–प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०–सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥

"जिस समय चारों वेदों का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्यापुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोल भर में विदित हो जावेगा। ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है, ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्यों की वेदों में परम प्रीति होगी इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जानलेना" ॥

ऋषि दयानन्द

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३६१)

"परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे तो निस्सन्देह इस आर्यावर्त्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जावेगा" ॥

"मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से ले के पूर्व मीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग [प्रमाण] मानता हूँ" ॥

ऋषि दयानन्द

(भ्रान्ति निवारण पृ० ४)